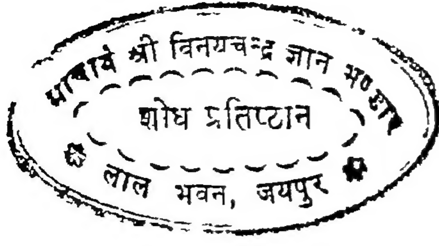


मरुधर केसरी

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज

अभिनन्दन ग्रन्थ



मरुधरकेसरी-अभिनन्दनग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

प्रकाशक

मरुधरकेसरी-अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति,
जोधपुर

वी० स० २४९५ सन् १९६८
प्रथम सस्करण १००० प्रति

मूल्य चालीस रुपये

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस
(हरिजन सेवक सघ)
किंग्सवे, दिल्ली–९

प्रधान सम्पादक

शोभाचन्द्र भारिल्ल

सम्पादक-परिवार

१ डॉ दौलतसिंह कोठारी	७ मधुकर मुनि
२ हरिभाऊ उपाध्याय	८ कमल मुनि
३ अगरचन्द नाहटा	९ रजत मुनि
४ चिम्मनसिंह लोढा	१० डा० लक्ष्मीमल सिंघवी
५ डा० मोहनलाल महता	११ प० मोहनलाल गोटेचा
६ डा० कमलचन्द सोगानी	१२ लालचन्द जैन

व्यवस्थापक

चिम्मनसिंह लोढा

मरुधरकेसरी-अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति

जोधपुर व्यावर

सम्पादकीय

जगत् के प्रलोभन इतने गहरे होते है कि मनुष्य का भोग से योग की ओर या राग से विराग की ओर उन्मुख होना अत्यन्त कठिन होता है। फिर यदि स्थिति सम्पन्न हो, आमोद-प्रमाद की सामग्री सहज सुलभ हो तब तो और कठिन। इतने पर भी जब जीवन मे नवतारुण्य का वसन्त खिल रहा हो उस स्थिति मे तो कोई असामान्य लोकोत्तर पुरुष ही निश्रेयस के पथ का अवलम्बन लेने की सोचता है। मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज ऐसे ही असामान्य लोकोत्तर पुरुषो मे है। उन्हे क्या नही प्राप्त था ? मगर कोई भी प्रलोभन उन्हे उस पथ पर चलने मे नही रोक सका जिसके विषय मे कहा गया है—'**पणया वीरा महावीहिं**' अर्थात वीर पुरुष उस महामार्ग पर चले है। मुनिश्री के विषय मे शताधिक सज्जनो के उद्‌गार ग्रथ मे अकित है। उनसे अधिक यहा कुछ नही कहना है।

मुनिश्री के श्रद्धालु भक्तो की सख्या विपुल है। जब उन्होने आपकी दीक्षास्वर्णजयन्ती के पुनीत प्रसग पर अभिनन्दन ग्रथ समर्पित करने का सकल्प किया तो उसके सम्पादन का भार अकस्मात् मेरे कन्धो पर आ पडा। इस वृहत्तर एव गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने के लिए समय अत्यल्प था और मैने प्रकाशन समिति से एक वर्ष का समय बढा देने का अनुरोध किया किन्तु वह स्वीकार नही किया गया। तब मै अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ इसमे जुटा और उसका जो फल आया वह पाठको के समक्ष है।

शीघ्रता के कारण ग्रथ के एक साथ अनेक खण्ड व्यतिक्रम से मुद्रित कराने पडे और चतुर्थ खण्ड के मुद्रणार्थ दूसरे प्रेस को भी सहायता लेनी पडी। ऐसी स्थिति मे सम्पादन और मुद्रण सम्बन्धी जो त्रुटिया रह गई है उनके लिए मैं क्षमाप्रार्थना का अधिकारी अवश्य हूँ। प्रारम्भ मे कल्पना नही थी कि ग्रथ का कलेवर इतना बढ जाएगा, किन्तु असाधारण पुरुष के अभिनन्दनग्रथ को असाधारण ही होना था। नियति के इस विधान को टालने वाला मै कौन होता था ?

ग्रथ मे सकलित अधिकाश सामग्री उच्च कोटि की है मौलिक एव गम्भीर है। चक्रवर्ती षट् खण्डाधिपति माने गए हैं। चारित्रचक्रवर्त्ती मुनिश्री के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत ग्रथ भी षट्खण्डो मे विभक्त हो, यह विचार समीचीन जान पडा। तदनुसार इसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड मे मुनिश्री का सक्षिप्त जीवनवृत्त, सस्मरण आदि हैं। दूसरे खण्ड मे जैनदर्शन और धर्म सबधी महत्वपूर्ण निबन्ध है। इनमे कितने ही निबन्ध अपने-अपने विषय की गम्भीर और विशद विवेचना से सम्पन्न हैं। यही खण्ड सबसे बडा है। तृतीय खण्ड मे सस्कृति, कला एव इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ खण्ड मे साहित्य का परिचय और तत्सम्बन्धी गवेषणा है। पचम खण्ड सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। वह विशेषत राजस्थानी जनपदीय सस्कृति का दिग्दर्शन कराता है। इस खण्ड की सामग्री के सकलन और सम्पादन का भार प्रसिद्ध विद्वान डा० बद्रीप्रसाद पचोली ने वहन किया है। छठे खण्ड मे आग्लभाषाविदो के लिए मननीय सामग्री सकलित की गई है।

वे सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र है जिन्होने सामग्री, अर्थ तथा अन्य प्रकार से सहयोग प्रदान किया है। साथ ही उन सहयोगी लेखको के प्रति मैं क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके निबन्ध ग्रन्थ मे स्थान नही पा सके। सकोच से काम न लिया गया होता तो ग्रन्थ को अपना कलेवर सभालना कठिन हो जाता। कुछ बन्धुओ के सस्मरण और श्रद्धा-निवेदन भी विलम्ब से प्राप्त होने के कारण स्थान न पा सके।

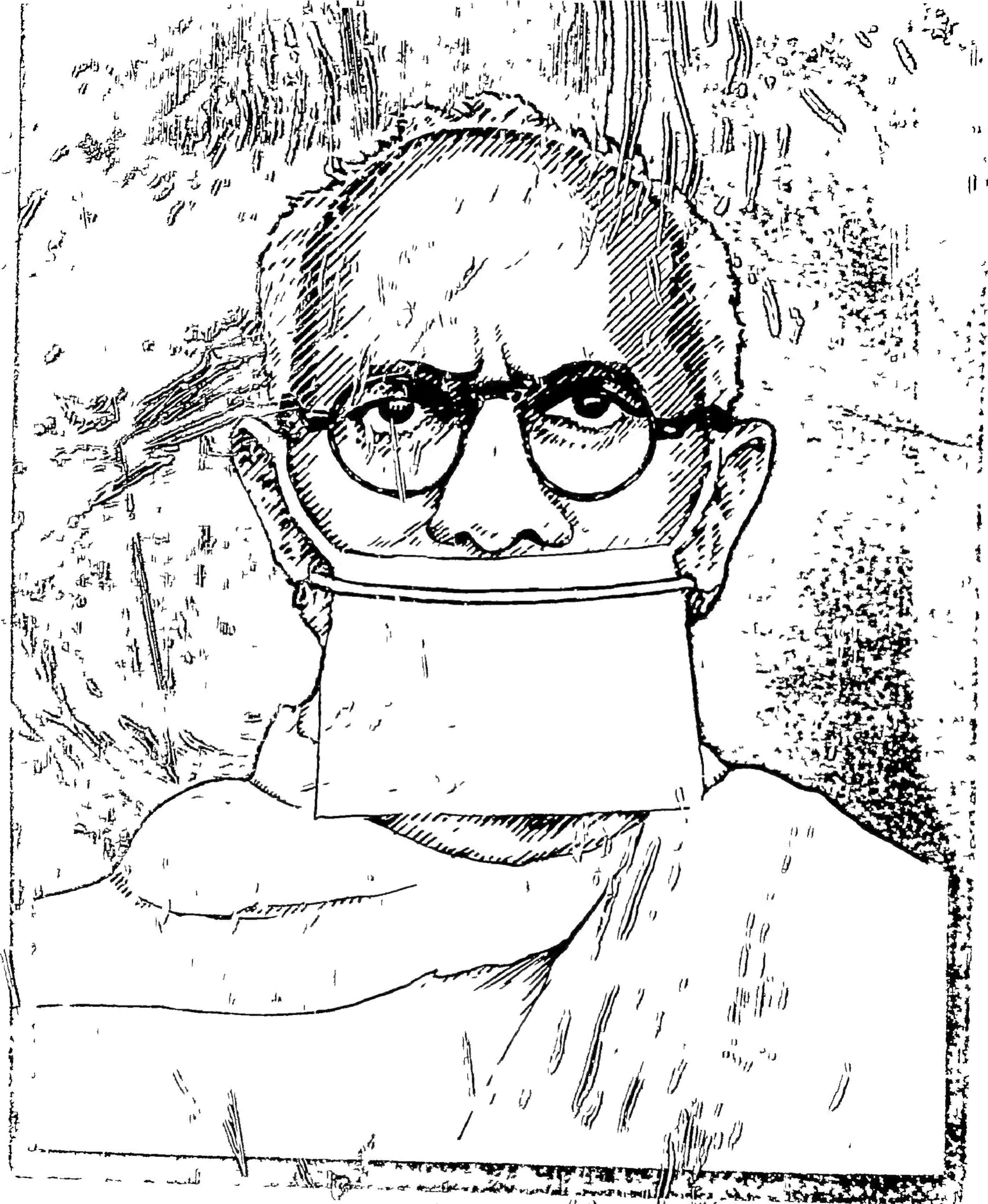
अर्थसहायको के चित्र वर्णानुक्रम से देने का विचार था। समिति के अध्यक्ष इसके लिए पुन पुन आग्रह भी करते थे, किन्तु बहुत-से चित्र बहुत विलम्ब से आए और अन्तिम समय तक आते ही रहे। उनके कारण चित्रो का मुद्रण रोक रखने का समय नही था। अतएव उस विचार को त्याग देना पडा। लेखको के चित्र खण्डश दिए गए है।

उद्योगशाला प्रेस के व्यवस्थापक श्री शान्तिलाल व० शेठ का हार्दिक सहयोग तो रहा ही, साथ ही सहृदय और कुशल मशीन-मैन श्री भवानीसिह जी तथा श्री सहदेवजी की लगन और तत्परता भी अविस्मरणीय है। ग्रथमुद्रण को उन्होने अपना ही काम न समझा होता तो समय पर उसका तैयार होना कठिन था।

आशा है प्रस्तुत ग्रथ हिन्दी के गौरव की और साथ ही जैन साहित्य के भण्डार मे एक महान् रचना की वृद्धि करेगा।

महावीर जयन्ती
वी० स० २४९५

शोभाचन्द्र भारिल्ल
प्रधान सम्पादक



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्राक्कथन

बात सवत् २०१८ की है। श्रद्धेय गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी का चातुर्मास सादडी मे था। उत्साही युवक स्व० श्री मदनलालजी सकलेचा जालना (आन्ध्र प्रदेश) निवासी गुरुदेव के दर्शनार्थ पधारे। अपार गुरुभक्ति एव श्रद्धा के वशीभूत हो आपने स्थानीय सघ के प्रमुख कार्यकर्त्ताओ से मरुधरकेसरीजी की ७० वी दीक्षा-जयती पर समारोह अभिनन्दन करने की योजना रखी। उत्साही कार्यकर्त्ताओ ने श्री सकलेचाजी की योजना का सोत्साह स्वागत किया।

उसके बाद गुरुदेवश्री के जोधपुर, सोजत चावण्डिया, कोटडा, निम्बाज आदि के चातुर्मासो के समय भी इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता रहा। इसी बीच समय की विचित्र गति और कराल काल की दुर्घटना ने हम पर वज्राघात किया और सवत् २०२३ मे श्री मदनलालजी साहब को हमारे बीच मे सदा-सदा के लिये उठा लिया। आपके असामयिक निधन ने अभिनन्दन-योजना मे कार्यरत युवको को झकझोर दिया।

२०२३ का निम्बाज चातुर्मास पूर्णकर गुरुदेव श्री का जोधपुर पदार्पण हुआ। जोधपुर मे ही ऊपरलावास स्थित महावीर भवन प्रथम बार आपश्री के चरण-स्पर्श से पवित्र हुआ। स्वर्गीय सकलेचाजी की भावना को मूर्तरूप देने की विधिवत् योजना उत्साही कार्यकर्त्ता श्री लालचदजी खीवसरा बिलाडा निवासी द्वारा रखी गई और मरुधर-केसरी अभिनन्दनग्रथ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया। जिसका मुख्यालय जोधपुर तथा शाखालय ब्यावर मे स्थापित किया गया। इस समिति के अध्यक्ष पद के लिये श्रीमान् पुखराजजी शिशोदिया ब्यावर निवासी का नाम चयन हुआ तथा प्रकाशन की देखरेख, व सामग्री सकलन एव सम्पादन का कार्य विद्वान् लेखक प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सुपुर्द किया गया।

अभिनन्दनग्रथ समर्पण-समारोह का विशद आयोजन करने का कार्य सोजत सघ ने अपने ऊपर लेकर एक महान् प्रशसनीय कार्य किया है। ग्रथ प्रकाशन के लिये आर्थिक सहयोग जुटाने के लिये सोजत के युवक कार्यकर्त्ता श्री जवरीलालजी बोका, मोहनलालजी राठोड, जुगराजजी कोठारी, मदनलालजी तालेडा आदि ने अपना अमूल्य समय निकाल कर भारतव्यापी पर्यटन द्वारा श्रद्धावान् भक्तजनो से लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया है। इन सज्जनो के परिश्रम के फलस्वरूप आज यह विशाल ग्रथ आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस ग्रथ के प्रकाशन के पीछे स्वर्गीय श्री मदनलालजी सा० की प्रबल भावना रही है। इस नाशवान ससार मे आज उनका भौतिक शरीर भले ही नही रहा हो, किन्तु ग्रथ उनकी प्रेरणा के अमिट प्रतिबिम्ब के रूप मे रहेगा।

गुरुदेवश्री की स्थानकवासी जैन समाज को प्रदत्त सेवाओ के प्रति यह अभिनन्दनग्रथ समर्पित करते हुए हमे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। समयाभाव से ग्रथ को वर्तमान रूप मे प्रकाशित कर देने की विवशता के कारण अनेको लेखो को अप्रकाशित अवस्था मे रोकना पड रहा है, जिसका हमे खेद है। आशा है लेखकगण इसका कोई अन्य कारण नही मानकर हमे क्षमा करेगे।

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि भारतीय सघ के उपराष्ट्रपति महामना श्री वी० वी० गिरि ने अभिनन्दनग्रथ-समर्पण की रस्म अदा करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इसका श्रेय अ० भा० स्था० जैन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष एव विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री दौलतसिहजी कोठारी, माननीय श्री आनन्दराजजी सा० सुराणा, सेठ अचलसिहजी सदस्य लोकसभा, लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर सदस्य राज्यसभा, श्री माणकलालजी माथुर, श्री पुखराजजी कालानी सदस्य विधानसभा एव श्री चिम्मनसिहजी सा० लोढा आदि को है। जिनका हम सहृदय आभार प्रकट किये बिना नही रहसकते।

अत मे, मैं उन सभी सज्जनो का जिन्होने इस अभिनन्दन ग्रथ के प्रकाशन मे तन, मन, धन एव समय का योगदान दिया है, हार्दिक अभिवादन करता हूँ। आशा है हमारा यह प्रयास उच्चकोटि के प्रकाशन की न्यूनता की पूर्ति मे सहयोग करेगा एव पाठकवृन्द अधिकाधिक लाभान्वित होकर सामाजिक जागृति की ओर बढेंगे।

जोधपुर
चैत्री स्थापना, २०२५

सम्पतराज बरडिया
मत्री, श्रीमरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रथ प्रकाशन समिति,
जोधपुर

प्रासंगिक

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज सोजत सिटी पधारे तो मेरे मन में दर्शन करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई और मैं सोजत पहुँचा। व्याख्यानश्रवण आदि के पश्चात् मध्याह्न मे महाराजश्री की सेवा मे बैठा था। स्थानीय श्रावकसमुदाय भी उपस्थित था। उस समय अन्यान्य चर्चाओ के बीच सोजत वालो की ओर मे यह चर्चा आई कि गुरुदेव की दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण हो रहे है। इस शुभ अवसर एक अभिनन्दनग्रंथ अर्पित किया जाय तो हम लोग अच्छे ढग मे उच्च स्तर पर समारोह का आयोजन करे। आखिर यह तय हुआ कि इस विचार को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध मे जोधपुर मे मुख्य-मुख्य श्रावको की एक बैठक आयोजित की जाय।

विचार की यह लहर शान्त नही हुई। सोजत-सघ की भावना गहरी और स्थायी थी। जोधपुर मे मीटिंग का आयोजन किया गया। उसमे अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय कर लिया गया और तदर्थ अभिनन्दनग्रन्थ-प्रकाशन समिति का भी निर्माण हो गया। जो सज्जन उसमे सम्मिलित हुए थे उन्होने अपना आत्मीय समझ कर मेरी अनुपस्थिति मे ही मुझे उसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। मैं इकार नही कर सकता।

जोधपुर में मीटिंग करने का सुझाव मैंने ही दिया था और वह इस कारण कि वहाँ व्यावर की अपेक्षा प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्य व्यक्ति मिलना सभव था। वहाँ श्री इन्दरचन्दजी मकलेचा जैसे सुयोग्य एव गुरुदेव के परम भक्त सज्जन है। सम्पन्न और प्रतिभाशाली है। उनकी देख-रेख मे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेगा।

लेकिन हुआ यह कि अध्यक्ष पद पर मुझे आसीन कर देने के कारण तथा व्यावर निवासी प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रधान सम्पादक के रूप मे नियुक्ति होने के कारण समिति का प्रधान कार्यक्षेत्र व्यावर हो गया। इससे मेरे ऊपर जो उत्तरदायित्व आ पडा उसे मैंने अपनी योग्यता और अवकाश के अनुसार निभाने का प्रयत्न किया है। इसमे व्यावर निवासी उत्साही और कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री चिम्मनसिंहजी लोढा का मुझे पूर्ण सहयोग मिला है। उनके बहुमूल्य सहयोग के बिना इस गुरुतर कार्य को सभालना मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

इतने विशाल ग्रन्थ का इतने अल्प समय मे तैयार हो जाना पण्डित भारिल्लजी के ही पुरुषार्थ का फल है। इसके लिए उन्होने जो श्रम किया है, वास्तव मे वह अविस्मरणीय है।

समिति की ओर से मैं उन सब सहयोगियो को शतश धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिन्होने ग्रन्थ के लिए द्रव्य, सामग्री तथा अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

अन्त मे सोजत सघ का आभार मानना मेरा परम कर्त्तव्य है जिसकी भावनास्वरूप यह ग्रथरत्न अस्तित्व मे आया और जिसने उसका समर्पण समारोह विशाल पैमाने पर मनाना तय किया है। मुनिश्री के दीक्षास्थान पर ही दीक्षा स्वर्णजयन्ती का आयोजन सर्वथा उपयुक्त है।

व्यावर
वैशाखी पूर्णिमा
वि० स० २०२५

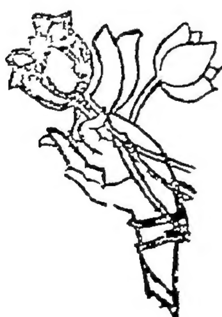
—पुखराज सिसोदिया
अध्यक्ष
मरुधरकेसरी अभिनदनग्रथप्रकाशन समिति



समर्पण

गुरुदेव !

समर्पण और केवल समर्पण ही जिनके जीवन का व्रत है, उनसे ग्रहण करने का अनुरोध करना अति साहस ही है। किन्तु इस समर्पण का अर्थ है श्रद्धा का प्रकाशन, भक्ति का अभिव्यंजन और प्रमोदभावना का व्यक्तीकरण। अतएव यह कृति आपके पावन कर-कमलो मे सविनय समर्पित है।



मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

कतिपय शुभ सन्देश



राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-५

पत्रावली स० १८ (२)-एच/६८

फरवरी ७, १९६८
माघ १८, १८८९ (शक)

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम आपके पत्र सख्या १००८/६८ दिनाक १२ जनवरी, १९६८ से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया जा रहा है।

मुनिश्री की दीर्घायु के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनाये भेजते है।

भवदीय,

खेमराज गुप्त

राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव



उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली-१

शिविर-तन्जोर, जनवरी १७, १९६८

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनाक १२ जनवरी, १९६८ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री मरुधरकेसरी जी को एक 'अभिनन्दन-ग्रथ' आगामी मास अप्रैल मे भेंट करने जा रहे है।

मै अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

आपका

(वी० वि० गिरि)

राजभवन, जयपुर

क्रमाक ६२७६,

२६ नवम्बर १९६७

राज्यपाल महोदय की इस प्रकाशन के लिए शुभ कामनाए प्रेषित की जाती हैं। राज्यपाल महोदय आशा करते है कि मुनिश्री मिश्रीमलजी जैसे तपस्वी सन्त के सानिन्ध्य मे जनसाधारण मे नैतिक मूल्यो के प्रति आस्था और भी दृढ होगी।

भवदीय

सचिव, राज्यपाल राजस्थान

यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि स्थानकवासी समाज मरुधरा के एक महान् ज्योतिपुञ्ज कविसम्राट् व्याख्यानवाचस्पति एव समाजसुधारक सत मरुधरकेसरी प० रत्न १००८ मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वी दीक्षास्वर्णजयन्ती पर अभिनन्दन ग्रथ का प्रकाशन कर रहा है।

श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसगठन के प्रति की गई सेवायें अत्यन्त ही स्तुत्य है। आपकी स्पष्टवादिता के कारण जन-मानस सदा ही आपके प्रति आकर्षित एव श्रद्धावान् रहा है। ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन करते हुए हमे अपार हर्ष व उल्लास होना स्वाभाविक है।

यह अभिनन्दनग्रन्थ श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसेवाओ के प्रति एक श्रद्धा का सुमन तथा समाजोपयोगी सामग्रीयुक्त प्रकाशन हो, यही शुभकामना है। ग्रथ मे सकलित सामग्री से आध्यात्मिकता का विकास हो जिससे आज भौतिकवादी युग का मानव लाभान्वित हो सके। यही एक महान् सन्त के प्रति हमारी सही और रचनात्मक श्रद्धाजलि होगी।

चाँदमल लोढा

न्यायाधीश, राजस्थान उच्चन्यायालय,
जोधपुर (राजस्थान)

जोधपुर
दिनाक २४-३-६८

डा० गोपीनाथ शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, राजस्थान वि० वि०, जयपुर

आप अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने जा रहे हैं। यह पुनीत कार्य हमारे राजस्थान के शोधकार्य को आगे बढाने मे बडा सहायक होगा ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रो० भागचन्द जैन, एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, इटारसी

हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ है। हम आपके इस मगलमय पवित्र कार्य की सफलता चाहते हैं।

श्री गोवर्धन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अहमदाबाद,

महाराजश्री मिश्रीमलजी के सम्मान मे आप एक अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहे हैं इसकी सूचना मिली। बडा ही नेक काम है। आपकी योजना अति उत्तम है।

डा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे है, यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विशिष्ट सन्तो और विद्वानो का इस प्रकार अभिनन्दन करके हम उनके प्रति कुछ कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। साथ ही इस बहाने स्वय लाभान्वित होते है—एक सुन्दर साहित्यिक सकलन प्रकाश मे आ जाता है।

श्री रामवल्लभ सोमाणी, जयपुर।

मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ का आपने बहुत ही सुन्दर सम्पादन किया है। राजस्थान मे इतना सुन्दर स्मृतिग्रन्थ अब तक छपा प्रतीत नही होता। सामग्री भी इसमे बहुत ही अच्छी है। आशा है यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी ऐसा ही सुन्दर होगा।

डा० राजाराम जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा (बिहार)

ग्रन्थ प्रकाशन योजना मुझे सुरुचिकर लगी। इसकी शानदार सफलता के लिये मेरी मगल कामना है।

मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'

केसरीजी का अभिनन्दन समाज के लिये अत्यन्त गौरव का विषय है। समाज उनकी मूल्यवान सेवाओ के ऋण से अभिनन्दनग्रन्थ भेंट कर कुछ अश मे उऋण हो सकेगा।

मोतीलाल जैन 'विजय' एम० ए०

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के पावन अभिनन्दन समारोह पर मुद्रित हो रहे ग्रन्थ के प्रकाशन पर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। मुनियो, तपस्वियो, साध्वियो, विद्वानो ने स्वसाधना के साथ-साथ लोककल्याणकारी प्रवृत्तियो द्वारा समाज को यथाकाल नई दिशा दी है। आपकी समिति के इस प्रयास पर हार्दिक बधाई देता हूँ।

महता शिखरचन्द कोचर

बी० ए०, एल-एल० बी०,
एफ० एस० आर० आई०,
साहित्यशिरोमणि, साहित्याचार्य,
डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन्स जज

पो० झूंझनू (राज०)

ता० २-१०-६७

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दीक्षा की स्वर्ण जयन्ती के सुअवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मै इस सुअवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

विषयानुक्रम

प्रथम खंड पृ० १—१६८

जीवन-परिचय, संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, परम्परा

द्वितीय खण्ड पृ० १—३५५

धर्म, दर्शन, अध्यात्म

तृतीय खण्ड पृ० १—१७९

संस्कृति, कला, इतिहास

चतुर्थ खण्ड पृ० १८१-४७०

साहित्य

पचम खण्ड पृ० १—११८

जनपदीय संस्कृति

षष्ठ खण्ड पृष्ठ १-१००

अंग्रेजी भाषा-निबन्ध



प्रधान सम्पादक

श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल





प्रधान व्यवस्थापक

श्री चिम्मनसिंह लोढा

अध्यक्ष

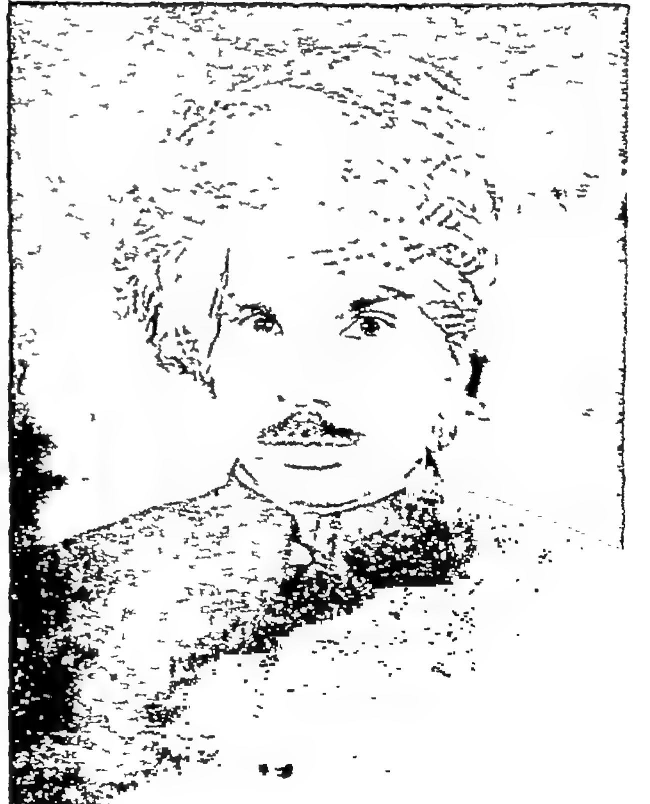
सेठ श्री पुखराजजी सीसौदिया

ब्यावर

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।

कोषाध्यक्ष

सेठ श्री इन्दरमलजी सकलेचा





उपाध्यक्ष

सेठ श्री केवलचंदजी चौपड़ा

सोजत

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ३ पर देखिये ।



उपाध्यक्ष

सेठ श्री बालचंदजी बाफणा

सादडी

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



सहमंत्री
श्री मदनराजजी नाहटा
सोजत

प्रकाशन सहयोगी
श्री शान्तिलाल सेठ





परामर्शदाता

श्री प्रेमराजजी कामदार

चावण्डिया

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



परामर्शदाता

श्री पारसमलजी धोका सोजत

सोजत सीटी

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



श्री सोहनलालजी राठौड़



श्री पुखराजजी कोठारी



श्री जवरीलालजी धोका

कार्यकर्त्ता



श्री लादूरामजी कामदार



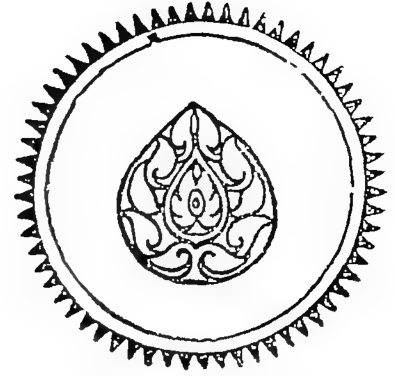
प्रथम खण्ड



जीवन-परिचय, संस्मरण
श्रद्धानिवेदन, परम्परा

मरुधरकेसरी-जीवनपरिचय

शोभाचंद्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ



स जातो येन जातेन, याति वंश समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि ससारे, मृत को वा न जायते ।।

जो निरन्तर गतिशील है—जिसमे क्षण भर के लिए भी स्थिरता नही, जिसमे परिवर्तन की अजस्रगामिनी धारा प्रवाहित हो रही है, वही ससार है।

इस परिवर्तनशील समार मे असख्य प्रकार के अनन्त-अनन्त जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं। वे इस धरातल पर आते, अपनी जीवनलीला पूरी करते और अन्त मे सदा के लिए आखें मूंद लेते हैं। अधुना ज्ञात इस क्षुद्र विश्व मे ही प्रतिदिन दो लाख मानवो के जन्म का औसत है। फिर हमारे द्वारा अज्ञात जगत् तो बहुत विशाल है। इसके अतिरिक्त ज्ञात अज्ञात जगत् मे मनुष्येतर प्राणियो की गणना करना असभव है। ऐसी स्थिति मे कौन जाने कितने प्राणी प्रतिदिन जन्म लेते और महाकाल के भक्ष्य बन जाते है? कौन उनका नाम लेता है? कौन उन्हे जानता-पहचानता है?

किन्तु मानवेतर प्राणियो की बात जाने दीजिए। उनमे मनुष्य जैसी जागृत चेतना नही होती—उन्हें विशिष्ट विवेकबुद्धि उपलब्ध नही है। वे नही जानते कि जीवन का क्या मूल्य है? क्या उपयोगिता है? किस महान् उद्देश्य की पूर्ति मे जीवन की सार्थकता है?

मनुष्य ने इन गहनतम प्रश्नो पर विचार किया है। उस विचार के निष्कर्ष मे यद्यपि एकरूपता नही है और रुचि एव सस्कार की भिन्नता के कारण वह हो भी नही सकती, तथापि अभ्युदय-साधना मे मानव-जीवन की सफलता है, इस विचार मे मतभेद को अवकाश नही।

मगर अभ्युदयसाधना क्या है? इस प्रश्न के उत्तर अनेक और परस्पर विरोधी है। एक महत्त्वाकाक्षी समग्र विश्व पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर ही जीवन को सफल समझता है। दूसरा अर्थप्राण विपुल धनराशि सचित कर और धनकुबेर कहला कर अपने अहकार की तुष्टि मे जीवन की कृतार्थता अनुभव करता है। तीसरा किसी अन्य प्रकार की भौतिक समृद्धि प्राप्त करने मे जीवन की सार्थकता मानता है।

दृष्टिकोण सबधी इस भिन्नता का मूल 'स्व' के प्रति विविध प्रकार की धारणाओ मे निहित है। बहुत लोग हैं जो अपने 'स्व' को वर्तमान जीवन की परिधि मे ही घिरा समझते है। वे मानते हैं कि इस जीवन तक ही हमारा अस्तित्व है, न इससे पूर्व था, न आगे रहेगा। वे आत्मा के अनादि, अनन्त, अक्षय, अव्यय अस्तित्व पर विश्वास नही करते। ऐसे लोग ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उत्कर्ष को ही परम और चरम मानें, यह स्वाभाविक है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं और उनकी सख्या नगण्य नही है जो सिद्धान्त रूप मे आत्मतत्व को अजर-अमर मानते हैं मगर भौतिक समृद्धि की बलवती कामना उनकी मान्यता का दबा देती है। जीवनव्यवहार मे वे उसे विस्मृत

कर देते हैं और ऐहिक सम्पत्ति को ही अभ्युदयसाधना समझ लेते हैं। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियो मे व्यवहारत कोई विशेष अन्तर नही रह जाता।

तीसरी श्रेणी मे ऐसे व्यक्तियो का समावेश होता है जो आत्मा के अमरत्व की आस्था से प्रेरित और प्रवृत्त होते है। उनके लिए वर्तमान जीवन आत्मा की सुदीर्घ विजय-यात्रा का पडाव मात्र है। वे अतीत और अनागत से वर्त्तमान को विच्छिन्न करके नही देखते। अतएव जिस अभ्युदय का सम्बन्ध केवल वर्त्तमान से है, — ऐसी धन-सम्पत्ति, सत्ता तथा अन्य भौतिक विभूतियो का उनके मन मे कोई महत्व नही होता। वे आत्मा मे निहित विराट् वैभव को ही अपना मानते और उसी के विकास की साधना मे जीवन की सफलता समझते है।

जो अभ्युदय इसी जीवन तक सीमित है और इस जीवन मे भी बीच मे ही विनष्ट हो जाता है उससे आत्मा का स्थायी श्रेयस् सिद्ध नही हो सकता। वह प्राय आत्मा के पतन का ही कारण बनता है। अतएव सच्चा अभ्युदय है आत्मिक गुणो का विकास। आत्मा मे पारमात्मिक गुणो की सत्ता है—ईश्वरत्वप्राप्ति की क्षमता है। उसे प्राप्त करने के लिए जीवन को सयममय, तपोनिष्ठ और नियमपरायण बनाने की आवश्यकता है। अपने 'स्व' को इतना विराट् बनाना पडता है कि जगत् के समस्त चराचर प्राणियो का उसमे समावेश हो सके। परोपकार को आत्मोपकार अनुभव करने की उदार दृष्टि का विकास करना होता है। शास्त्रकार इस स्थिति की ओर सकेत करते है—

अत्तसम मन्नेज्ज छप्पि काए।

षट् निकायो मे वर्गीकृत विश्व के समस्त प्राणियो को साधक आत्मसदृश माने।

प्राणिमात्र के प्रति आत्मभावना उत्पन्न होने पर मनुष्य के जीवन के समस्त मानदण्ड बदल जाते हैं। वह शरीर मे समाहित होता हुआ भी अपने हृदय और मस्तिष्क मे विश्वव्यापी बन जाता है। उसकी भावना और विचारणा समस्त सकीर्ण सीमाओ को पार करके असीम हो जाती है। इसी स्थिति मे साधुता का विकास होता है। वस्तुत यही मानवजीवन की सर्वोत्कृष्ट साथकता है।

यहा इसी श्रेणी के एक महामानव की जीवनी के कतिपय चित्र अकित किए जा रहे है। उन्होने अपने जीवन को 'सर्वभूतहिताय' अर्पित किया है। उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक शक्ति जगत् के शाश्वत श्रेयस् की साधना मे सलग्न है। उनका सात्त्विक 'अहम्' बिखर कर व्यापक बन गया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व वास्तव मे अद्भुत है। उनके हृदय मे नवनीत की कोमलता है तो सकल्प मे वज्र की कठोरता।

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतासि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

—लोकोत्तर पुरुषो के चित्त की गहनता को कौन समझ सकता है ? वह वज्र से अधिक कठोर तो फूल से भी अधिक मृदु होता है।

हमारे चरितनायक 'कडक मिश्री' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिसने सर्वप्रथम यह उपसज्ञा प्रदान की उसकी सूझ-बूझ निस्सन्देह सराहना के योग्य है।

मुनिश्री दूसरो के प्रति अतीव सदय होते हुए भी अपने प्रति, अपने आचार-विचार और शरीर के प्रति अत्यन्त कठोर हैं। जिस महामार्ग का उन्होंने अवलम्बन किया है उसमे तिल भर डिगने की बात नही सोचते। अपने शरीर पर दया किए बिना उन्होने 'चरैवेति चरैवेति'—चलते रहो, चलते रहो, इस प्रेरणा को जीवन मे अपनाया है। इस अपेक्षा वे सच्चे 'परिव्राजक' हैं। वृद्धावस्था मे और रुग्णावस्था मे भी उनके सतत विहार का क्रम भग नही होता। धर्मविचलित जनो को पथारूढ करना, जन-मानस मे नीति, धर्म और अध्यात्म के बीज बोना, धर्मभावना को उद्दीपन

करना, सयम और तप की प्रेरणा देना, भारत की पुरातन आध्यात्मिक सस्कृति के सरक्षण के प्रयास मे अपने आचार और विचार से दत्तचित रहना एव ऋषि-महर्षियो की परम्परा को अक्षुण्ण रख कर अग्रसर करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।

मुनिश्री के जीवन मे अनेकानेक तत्व विद्यमान हैं जिन्हें अपनाकर पाठक अपने जीवन को सफल एव सुफल बना सकते हैं। उससे सुन्दर प्रेरणाए ग्रहण की जा सकती हैं। उनकी जीवनी एक ऐसा साचा है जिसमे अपने जीवन को ढाल कर कोई भी कृतार्थ हो सकता है।

उनके जीवन के पचहत्तर और मुनिजीवन के पचास सवत्सर पूर्ण होने जा रहे है। इस दीर्घकाल मे उन्होने धर्म और सघ के लिए जो कुछ किया है उसका मूल्याकन करना सरल नही है, फिर इस सक्षिप्त रूप-रेखा मे तो सभव ही नही। यहा मुनिश्री के जीवन की एक झलक ही अकित की जाएगी।

जन्म और शैशव

भारतवर्ष के पश्चिमी भाग मे राजस्थान प्रान्त का जो मारवाड भाग है, उसकी अपनी कुछ विशेषताए हैं। स्वतन्त्रतासेनानी राठौड वीर दुर्गादास, भक्तमणि मीरा और इतिहास प्रसिद्ध वीर अमरसिंह जैसे महामनस्वियो की जन्मभूमि होने का गौरव इसी मरुस्थलक्षेत्र को प्राप्त हुआ है। इस प्रदेश के पूर्वी, पश्चिमी तथा उत्तरी भाग रेगिस्तान से व्याप्त हैं तो दक्षिणी भाग मे अरावली पर्वतमाला के क्रीडागण मे छलकती लूणी तथा जवाई जैसी सरिताए भी कभी-कभी उसका चरणप्रक्षालन कर देती हैं। यही कारण है कि इस क्षेत्र के कुछ भाग मे जहा रबी और खरीफ की फसलें होती है वहा अधिकाश भूभाग मे केवल बाजरा, ज्वार, मू ग, मोठ, तिल आदि खरीफ की फसल ही प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होती है।

प्रकृति की विचित्र लीलास्थली होने के कारण स्वल्प वर्षा होने पर भी यहा के अनुपम तथा स्वादिष्ट फल काकडी, मतीरे, कैर, सागरी, काचरे, ढालू और पीलू आदि देश-देशान्तर मे प्रसिद्ध है।

प्राचीन काल मे इस क्षेत्र का प्रशासन क्षत्रिय जाति के राठौडो के अधिकार मे चिरकाल तक रहा।

इसी मरुभूमि के दक्षिणी भाग मे पाली नामक विशाल नगर है जो आज विशिष्ट व्यापारिक केन्द्र होने के कारण समस्त भारत मे प्रसिद्ध है। इस नगर का भूतकाल भी कम गौरवपूर्ण नही रहा है। इसके गौरव को प्रकट करने के लिए एक ही तथ्य पर्याप्त है।

कहा जाता है, यहा कभी करीब एक लाख पालीवाल ब्राह्मणो के घर थे। वे प्राय वैश्योचित व्यवसाय करते थे और इस कारण खूब सम्पन्न थे। कोई सामान्य स्थिति का व्यक्ति पाली मे आकर निवास करता तो उसे प्रत्येक घर से एक-एक रजतमुद्रा (रुपया) और गृहनिर्माण करने के लिए एक-एक ईंट भेंट के रूप मे प्रदान की जाती थी। इस प्रकार समागत व्यक्ति तत्काल लक्षाधिपति होकर नगर का गौरव बढाने लगता था।

आज साम्यवाद और समाजवाद का ढोल पीटा जाता है। कानूनो के बल पर समाजवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया जा रहा है, मगर दिनोदिन आर्थिक वैषम्य की वृद्धि होती दिखाई दे रही है। किन्तु पाली नगर का वह समाजवाद कानून के बल पर नही, धर्मप्रेरित कर्तव्य के आधार पर प्रतिष्ठित था। जनतत्र और समाजवाद की स्थापना प्रजा के जीवन मे राष्ट्रधर्म की भावना की प्रतिष्ठा के बिना नही होती।

धनबल के साथ ही पाली का बुद्धिबल भी प्रसिद्ध हो चुका था। मारवाडी कहावत "पाली की पचायत" आज भी प्रदेश के कोने-कोने मे प्रख्यात है।

इसी पाली नगर मे श्रेष्ठिवर्य सोलकी महता श्रीशेषमलजी निवास करते थे। आपकी पत्नी श्रीमती केसर-कुवर बाई अत्यन्त धर्मपरायणा, पतिव्रता एव शीलसौजन्य की प्रतिमूर्ति थी।



श्रीमती केसरकुवर बाई की पावन कुक्षि से श्रावण शुक्ला १४, विक्रम स० १९५५ की रात्रि के उत्तरार्द्ध मे एक नररत्न का जन्म हुआ। वही नररत्न आज 'मरुधरकेसरी' की गरिमा से मडित है और कोटि-कोटि जनो की श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए हैं। । वही हमारे चरितनायक है।

चरितनायक के पिता श्रीशेषमलजी भाद्राजून नगर के राजा के यहा प्रमुख अधिकारी थे। राजस्थान मे उन्हे 'कामदार' कहते हैं। भाद्राजून के राजा जोधपुर नरेश के प्रमुख सामन्त थे। उनके पूर्वजो ने अपनी प्रचण्ड शूरता और रणकुशलता के कारण 'राजा' की पदवी प्राप्त की थी। राजा साहब का सम्पूर्ण कार्यभार श्री शेषमलजी साहब के कधा पर था। आप अपने असाधारण कार्यकौशल और प्रामाणिकता के कारण राजा और प्रजा के पूर्ण विश्वासभाजन थे। राजकाय आपके लिए निजकाय था।

महापुरुष पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट सस्कारो को लेकर अवतीर्ण होते हैं। प्राय देखा गया है कि उन सस्कारो को प्रबुद्ध करने के लिए प्रकृति अज्ञात रूप मे प्रयास करती है। उनके जीवन मे कोई उद्वेगजनक घटना घटित होती है जिसमे व्यक्त या अव्यक्त रूप मे सवेग और निर्वेद का बीजारोपण हो जाता है और वह क्रमश विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। चरितनायक के जीवन मे भी हम यही देखते हैं।

पाच वष की वय मे आपको मातृवियोग सहन करना पडा। प्रकृति ने मोह-ममता का एक बडा बन्धन काट कर फेक दिया।

माता का विछोह होने पर आपके पिता महताजी आपको भी भाद्राजून ले गए। उस समय तक आपके जीवन मे कुछ ऐसी स्पृहणीयता उद्भूत हो चुकी थी कि जो भी आपको देखता, मुग्ध हो जाता था अपरिचित को भी आकर्षित कर लेने वाला आपका शैशव अनेक दृष्टियो से असाधारण था। राजा साहब की माता देवडीजी ने जब आपको देखा तो आपकी अलौकिक प्रतिभा से अनायास ही आकृष्ट होकर लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। समस्त राजपरिवार मेहता साहब की सेवाओ से प्रसन्न था। अत चरितनायक का लालन-पालन राजमहल मे राजकुमार की तरह ही होने लगा। यही क्रम चलता रहता तो आप एक उच्च पदप्राप्त कुशल प्रशासक होते। किन्तु आपका जीवन तो किसी दूसरी ही दिशा मे अग्रसर होने वाला था। अतएव प्रकृति ने पुन अपना पार्ट किया। वि० स० १९६७ मे मेहता साहब का भाद्राजून के शासक से मतभेद हो गया, यहा तक कि पारस्परिक सम्बन्धो मे भी कटुता आ गई। स्वाभिमानी और अपने सिद्धान्त पर अटल रहने वाले मेहताजी ने भाद्राजून त्याग दिया और पाली आ गए। चरितनायकजी के जीवन की दिशा मे पुन एक मोड आ गया।

विद्याभ्यास

भाद्राजून मे पाली लौटने पर आपके विद्याध्ययन का नियमित क्रम प्रारभ हुआ। केवल ६-७ मास जितने स्वल्प काल मे ही भाषाज्ञान के साथ उच्चकोटि के गणित का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। कठिनतम कटमामिति के व्याजसिद्धान्त आदि का इतने से समय मे अध्ययन कर लेना आपकी जन्मजात प्रतिभा का परिचायक है। पाठको को यह जानकर आश्चय हो सकता है कि इसी अन्तराल मे आपने चाणक्यनीति के चार अध्याय, उर्दू भाषा के दो कायदे और अगरेजी भाषा की दो रीडर भी पढ डाली। इस प्रकार छह-सात महीनो मे ही आपने सस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अगरेजी भाषाओ का प्राथमिक और गणितशास्त्र का अच्छा खासा अभ्यास किया।

चरितनायक की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि और मेधाशक्ति पर उस समय विस्मय व्यक्त किया गया। आज भी साधारण व्यक्ति को आश्चर्य, यहा तक कि अविश्वास भी हो सकता है, किन्तु जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा रखते है, उनके लिए इसमे अविश्वास का कोई कारण नही। ज्ञान और दर्शन ऐसे आत्मिक गुण है जो भवान्तरगामी हो जाते है। पूर्वभव मे अर्जित ज्ञान वर्तमान भव मे सस्कार के रूप मे आता है और साधारण निमित्त मिलते ही 'दैवेन्द्रा वर्गीयसी' वह व्यक्त हो उठता है।

महापुरुषो की लक्ष्यसिद्धि मे वातावरण स्वत अनुकूल होता जाता है। अलक्ष्य रूप मे प्रकृति उनके जीवन-निर्माण मे योग देती रहती है। हमारे चरितनायक का मार्ग भी सदा स्वत प्रशस्त होता रहा है। जब वे बाल्यजीवन समाप्त कर ही रहे थे, लगभग १३ वर्ष की आयु मे उन्हे एक साथ अनेक व्याधियो ने आ घेरा। चेचक और निकाला उनमे प्रधान थी। स्थिति इतनी विषम हो गई कि चरितनायक के पिता महता साहब निराशा अनुभव करने लगे। पत्नी का वियोग पहले ही हो चुका था, पुत्ररत्न के वियोग की सभावना उनके हृदय को मर्माहत करने लगी। पुत्रप्रेम से व्याकुल मेहता साहब के धैर्य का बाध टूट गया। नयनो से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। चिकित्सक पूरा मनोयोग लगा कर चिकित्सा कर रहे थे, परीक्षण हो रहे थे किन्तु चरितनायक की दशा सुधरती नही दिखाई देती थी। अन्तत वे भी निराशा के गहन तिमिर मे भटकने लगे।

अब जीवन का प्रदीप किसी भी क्षण बुझ सकता था किन्तु प्रकृति तो महापुरुष के जीवन-निर्माण मे सलग्न थी। उसकी लीला का पार किसने पाया है। निसर्ग का व्यापार अत्यन्त निगूढ और रहस्यमय होता है। अचानक एक घटना होती है और वह चरितनायक के जीवन को उस पथ की ओर उन्मुख करती है जिस पर उन्हे आगे चल कर अग्रसर होना था।

चरितनायक जब मूर्छित अवस्था मे शय्याशरण हो रहे थे, उसी समय परमतपस्वी सन्त श्रीमानमलजी महाराज तथा सन्तसत्तम श्रीबुधमलजी महाराज का अकस्मात् पदार्पण हुआ। कहना चाहिए, प्रकृति ने उन्हे भिक्षा के निमित्त से मेहता साहब के द्वार पर भेज दिया। उस समय मेहता साहब के निवासस्थान पर भीतर और बाहर भीड लग रही थी। मुनियुगल को वहा आया देख लोगो ने प्रार्थना की—पूज्यवर ! अन्दर प्रवेश करने का अवसर नही है। मेहता साहब का पुत्र अन्तिम स्थिति मे है। उसके प्राण-पखेरू उडने ही वाले हैं।

गुरुदेव ने कहा—'दैवेच्छा बलीयसी।' अन्दर जाकर मगलपाठ सुना देने मे क्या हानि है ?

गुरुदेव अन्दर पधारे ! दृष्टि पडते ही मेहताजी ने उनके चरणो मे मस्तक रख दिया और बच्चे की भाति बिलखते हुए कहा—गुरुदेव ! मेरा सर्वस्व लुटा जा रहा है। मेरे जीवन का एक मात्र आधार छिन रहा है। प्रभो ! उसे बचाइए ! मेरी रक्षा कीजिए !

अद्भुत चमत्कार

गुरुदेव का अन्त करण करुणा से परिपूर्ण हो गया। उन्होने गभीर भाव से उत्तर दिया—श्रावकजी ! धैर्य धारण करो ! जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अगर आयु का अन्त आ गया है तो देवराज इन्द्र भी किसी को बचा नही सकता। अनन्त शक्ति के धनी तीर्थंकर भी अपने आयुष्य मे पल भर की वृद्धि नही कर सकते। उपाय तभी तक कारगर होते हैं जब आयु के दलिक अवशिष्ट हो। किन्तु आप सर्वथा निराश हो चुके हैं। आपको अपने चिरजीव के जीवन की आशा नही रही है। ऐसी स्थिति मे कर्मवशात् यदि बालक स्वास्थ्यलाभ कर ले तो क्या आप इसे विश्वहित के हेतु सक्षम बनाने के लिए हमे सौंप देंगे ?

निरीह सन्त लोकोपकार और धर्मप्रचार के लिए ही जीवित रहते हैं, मेहताजी इस तथ्य से भलीभाति परिचित थे। अतएव गुरुदेव की इस वाक्यावली से उनके हृदय मे आशा का किंचित् सचार हुआ। उन्होने हाथ जोड कर निवेदन किया—भगवन् ! आपके आदेशपालन मे मुझे किंचित् भी सकोच नही होगा।

गुरुदेव ने मगलपाठ का उच्चारण करने के पश्चात् दयार्द्रभाव से चरितनायक के मस्तक पर कर-स्पर्श किया। गुरुदेव पधार गए। पूरे दिन और रात तो ज्यो की त्यो स्थिति बनी रही किन्तु दूसरे दिन की अरुण वेला के साथ ही चेतना का पुनरागमन होने के लक्षण प्रकट होने लगे।

तपश्चर्या की शक्ति तर्क और अनुमान से अगोचर है। जहा समग्र भौतिक साधन विफल हो जाते हैं वहा भी तप का दिव्य प्रभाव अपना चमत्कार दिखलाता है। यह घटना राजर्षि नमि का स्मरण दिला देती है।



श्रीमती केसरकुवर बाई की पावन कुक्षि से श्रावण शुक्ला १४, विक्रम स० १९५५ की रात्रि के उत्तरार्द्ध मे एक नररत्न का जन्म हुआ । वही नररत्न आज 'मरुधरकेसरी' की गरिमा से मंडित है और कोटि-कोटि जनों की श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए हैं । । वही हमारे चरितनायक हैं।

चरितनायक के पिता श्रीशेषमलजी भाद्राजून नगर के राजा के यहां प्रमुख अधिकारी थे । राजस्थान मे उन्हे 'कामदार' कहते हैं । भाद्राजून के राजा जोधपुर नरेश के प्रमुख सामन्त थे । उनके पूर्वजो ने अपनी प्रचण्ड शूरता और रणकुशलता के कारण 'राजा' की पदवी प्राप्त की थी । राजा साहब का सम्पूर्ण कार्यभार श्री शेषमलजी साहब के कंधों पर था । आप अपने असाधारण कार्यकौशल और प्रामाणिकता के कारण राजा और प्रजा के पूर्ण विश्वासभाजन थे । राजकाय आपके लिए निजकाय था ।

महापुरुष पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट संस्कारो को लेकर अवतीर्ण होते हैं । प्राय देखा गया है कि उन संस्कारो को प्रबुद्ध करने के लिए प्रकृति अज्ञात रूप मे प्रयास करती है । उनके जीवन मे कोई उद्वेगजनक घटना घटित होती है जिससे व्यक्त या अव्यक्त रूप मे संवेग और निर्वेद का बीजारोपण हो जाता है और वह क्रमश विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है । चरितनायक के जीवन मे भी हम यही देखते है ।

पांच वर्ष की वय मे आपको मातृवियोग सहन करना पडा । प्रकृति ने मोह-ममता का एक बडा बन्धन काट कर फेंक दिया ।

माता का विछोह होने पर आपके पिता मेहताजी आपको भी भाद्राजून ले गए । उस समय तक आपके जीवन मे कुछ ऐसी स्पृहणीयता उद्भूत हो चुकी थी कि जो भी आपको देखता, मुग्ध हो जाता था अपरिचित को भी आकर्षित कर लेने वाला आपका शैशव अनेक दृष्टियो से असाधारण था । राजा साहब की माता देवड़ीजी ने जब आपको देखा तो आपकी अलौकिक प्रतिभा मे अनायास ही आकृष्ट होकर लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया । समस्त राजपरिवार मेहता साहब की सेवाओ से प्रसन्न था । अत चरितनायक का लालन-पालन राजमहल मे राजकुमार की तरह ही होने लगा । यही क्रम चलता रहता तो आप एक उच्च पदप्राप्त कुशल प्रशासक होते । किन्तु आपका जीवन तो किसी दूसरी ही दिशा मे अग्रसर होने वाला था । अतएव प्रकृति ने पुन अपना पाट किया । वि० स० १९६७ मे मेहता साहब का भाद्राजून के शासक से मतभेद हो गया, यहा तक कि पारस्परिक सम्बन्धो मे भी कटुता आ गई । स्वाभिमानी और अपने सिद्धान्त पर अटल रहने वाले मेहताजी ने भाद्राजून त्याग दिया और पाली आ गए । चरितनायकजी के जीवन की दिशा मे पुन एक मोड आ गया ।

विद्याभ्यास

भाद्राजून से पाली लौटने पर आपके विद्याध्ययन का नियमित क्रम प्रारभ हुआ । केवल ६-७ मास जितने स्वल्प काल मे ही भाषाज्ञान के साथ उच्चकोटि के गणित का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया । कठिनतम कटमामिति के व्याजसिद्धान्त आदि का इतने से समय मे अध्ययन कर लेना आपकी जन्मजात प्रतिभा का परिचायक है । पाठको को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि इसी अन्तराल मे आपने चाणक्यनीति के चार अध्याय, उर्दू भाषा के दो कायदे और अंगरेजी भाषा की दो रीडर भी पढ डाली । इस प्रकार छह-सात महीनो मे ही आपने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंगरेजी भाषाओ का प्राथमिक और गणितशास्त्र का अच्छा खासा अभ्यास किया ।

चरितनायक की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि और मेधाशक्ति पर उस समय विस्मय व्यक्त किया गया । आज भी साधारण व्यक्ति को आश्चर्य, यहा तक कि अविश्वास भी हो सकता है, किन्तु जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा करते हैं, उनके लिए इसमे अविश्वास का कोई कारण नही । ज्ञान और दर्शन ऐसे आत्मिक गुण है जो भवान्तरगामी हो सकते हैं । पूर्वभव मे अर्जित ज्ञान वर्तमान भव मे संस्कार के रूप मे आता है और साधारण निमित्त मिलते ही 'दैवेच्छा बलीयसी' वह व्यक्त हो उठता है ।

महापुरुषो की लक्ष्यसिद्धि मे वातावरण स्वत अनुकूल होता जाता है। अलक्ष्य रूप मे प्रकृति उनके जीवन-निर्माण मे योग देती रहती है। हमारे चरितनायक का मार्ग भी सदा स्वत प्रशस्त होता रहा है। जब वे बाल्यजीवन समाप्त कर ही रहे थे, लगभग १३ वर्ष की आयु मे उन्हे एक साथ अनेक व्याधियो ने आ घेरा। चेचक और निकाला उनमे प्रधान थी। स्थिति इतनी विषम हो गई कि चरितनायक के पिता महता साहब निराशा अनुभव करने लगे। पत्नी का वियोग पहले ही हो चुका था, पुत्ररत्न के वियोग की सभावना उनके हृदय को मर्माहत करने लगी। पुत्रप्रेम से व्याकुल मेहना साहब के धैर्य का बाध टूट गया। नयनो से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। चिकित्सक पूरा मनोयोग लगा कर चिकित्सा कर रहे थे, परीक्षण हो रहे थे किन्तु चरितनायक की दशा सुधरती नही दिखाई देती थी। अन्तत वे भी निराशा के गहन तिमिर मे भटकने लगे।

अब जीवन का प्रदीप किसी भी क्षण बुझ सकता था किन्तु प्रकृति तो महापुरुष के जीवन-निर्माण मे सलग्न थी। उसकी लीला का पार किसने पाया है। निसर्ग का व्यापार अत्यन्त निगूढ और रहस्यमय होता है। अचानक एक घटना होती है और वह चरितनायक के जीवन को उस पथ की ओर उन्मुख करती है जिस पर उन्हे आगे चल कर अग्रसर होना था।

चरितनायक जब मूर्छित अवस्था मे शय्याशरण हो रहे थे, उसी समय परमतपस्वी सन्त श्रीमानमलजी महाराज तथा सन्तसत्तम श्रीबुधमलजी महाराज का अकस्मात् पदार्पण हुआ। कहना चाहिए, प्रकृति ने उन्हे भिक्षा के निमित्त से मेहता साहब के द्वार पर भेज दिया। उस समय मेहता साहब के निवासस्थान पर भीतर और बाहर भीड लग रही थी। मुनियुगल को वहा आया देख लोगो ने प्रार्थना की—पूज्यवर ! अन्दर प्रवेश करने का अवसर नही है। मेहता साहब का पुत्र अन्तिम स्थिति मे है। उसके प्राण-पखेरू उडने ही वाले हैं।

गुरुदेव ने कहा—'दैवेच्छा बलीयसी।' अन्दर जाकर मगलपाठ सुना देने मे क्या हानि है ?

गुरुदेव अन्दर पधारे ! दृष्टि पडते ही मेहताजी ने उनके चरणो मे मस्तक रख दिया और बच्चे की भाति बिलखते हुए कहा—गुरुदेव ! मेरा सर्वस्व लुटा जा रहा है। मेरे जीवन का एक मात्र आधार छिन रहा है। प्रभो ! उसे बचाइए ! मेरी रक्षा कीजिए !

अद्भुत चमत्कार

गुरुदेव का अन्त करण करुणा से परिपूर्ण हो गया। उन्होने गभीर भाव से उत्तर दिया—श्रावकजी ! धैर्य धारण करो ! जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अगर आयु का अन्त आ गया है तो देवराज इन्द्र भी किसी को बचा नही सकता। अनन्त शक्ति के धनी तीर्थंकर भी अपने आयुष्य मे पल भर की वृद्धि नही कर सकते। उपाय तभी तक कारगर होते है जब आयु के दलिक अवशिष्ट हो। किन्तु आप सर्वथा निराश हो चुके हैं। आपको अपने चिरजीव के जीवन की आशा नही रही है। ऐसी स्थिति मे कर्मवशात् यदि बालक स्वास्थ्यलाभ कर ले तो क्या आप इसे विश्वहित के हेतु सक्षम बनाने के लिए हमे सौंप देंगे ?

निरीह सन्त लोकोपकार और धर्मप्रचार के लिए ही जीवित रहते है, मेहताजी इस तथ्य से भलीभाति परिचित थे। अतएव गुरुदेव की इस वाक्यावली से उनके हृदय मे आशा का किंचित् सचार हुआ। उन्होने हाथ जोड कर निवेदन किया—भगवन् ! आपके आदेशपालन मे मुझे किंचित् भी सकोच नही होगा।

गुरुदेव ने मगलपाठ का उच्चारण करने के पश्चात् दयार्द्रभाव से चरितनायक के मस्तक पर कर-स्पर्श किया। गुरुदेव पधार गए। पूरे दिन और रात तो ज्यो की त्यो स्थिति बनी रही किन्तु दूसरे दिन की अरुण वेला के साथ ही चेतना का पुनरागमन होने के लक्षण प्रकट होने लगे।

तपश्चर्या की शक्ति तर्क और अनुमान से अगोचर है। जहा समग्र भौतिक साधन विफल हो जाते हैं वहा भी तप का दिव्य प्रभाव अपना चमत्कार दिखलाता है। यह घटना राजर्षि नमि का स्मरण दिला देती है।



चरितनायक दूसरे दिन से उत्तरोत्तर आरोग्यलाभ करने लगे। पूज्य महाराज साहब बीच-बीच में दर्शन देते रहे। नियमानुसार महाराजश्री का अन्यत्र विहार हो गया और चरितनायक पूर्ण स्वस्थ हो कर समय यापन करने लगे।

ममता की मार

कुछ काल के पश्चात् पूज्य श्री मानमलजी महाराज साहब पुन पाली पधारे। चरितनायक के पिता मेहता साहब दर्शनार्थ पहुचे तो गुरुदेव ने प्रश्न किया—मेहताजी कुवर साहब के विषय मे क्या विचार है ?

महता साहब प्रश्न का आशय समझ गए। पर सकट टल जाने के पश्चात् उनके हृदय मे परिवर्तन हो चुका था। उनका मन पुत्र-ममता का परित्याग करने मे असमर्थ हो गया था। अतएव बडे सकोच के साथ उन्होंने निवेदन किया—गुरुदेव ! मेरा अन्य कोई उत्तराधिकारी नही है। मुझ पर अनुग्रह कीजिए। आप की चरणसेवा से विमुख नही होना चाहता किन्तु पुत्र का मोह त्यागने की क्षमता भी नही पाता।

गुरुदेव ने निस्पृहभाव से कहा—जैसी आपकी इच्छा ! मगर ध्यान रखिए मिश्रीमल (चरितनायक) आपके घर मे रहने वाला नही है। उसका विराट् व्यक्तित्व परिवार की परिधि मे समा नही सकता। उसके द्वारा सघ और शासन का बहुत उपकार होने वाला है।

जिन लोगो ने मुनिराज का यह वक्तव्य सुना वे विस्मित हुए। उनमे से जो अवशिष्ट है वे आज भी मुनिराज की भविष्यवाणी की यथार्थता देख कर अत्यन्त विस्मय अनुभव करते है।

गुरुदेव के प्रति आकर्षण

दिन पर दिन व्यतीत होते गए। चरितनायक गुरुदेव के द्वारा रुग्णावस्था मे किए उपकार से और अपने विषय मे की गई भविष्यवाणी से भलीभाति परिचित हो चुके थे। इस कारण गुरुदेव के प्रति सहज ही श्रद्धा का भाव पनप गया था।

गुरुदेव का पुन पाली मे पदार्पण हुआ। मेहता साहब उस समय कार्यवश बाहर गए हुए थे। चरितनायक गुरुदेव के दर्शन और उपदेशश्रवण के लिए पधारे। उपदेश श्रवण करके आपके मन मे अपूर्व आह्लाद उत्पन्न हुआ। जो श्रद्धा भीतर ही भीतर पनप रही थी वह विकसित हुई। जब तक गुरुदेव वहा विराजमान रहे, आप प्रतिदिन उपदेशश्रवण के लिए जाते रहे। आकर्षण तीव्र होता गया, श्रद्धा प्रगाढ होती गई। गुरुदेव के चरणो मे जीवन अर्पित कर देने का सत्सकल्प सजीव हो उठा।

एक दिन आपने मेहता साहब के अन्यतम मित्र बखतावरमलजी, नथमलजी बुबुकिया और पूनमचन्दजी खारीवाल के समक्ष अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया—मै गुरुदेव के चरणो म रह कर सयम का पालन करना चाहता हू।

तीनो सज्जनो ने एक स्वर मे कहा—बापू ! यह सभव नही है। तुम मेहता साहब के एकाकी पुत्र हो। वे उग्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे तुम्हे सयमग्रहण करने की कदापि अनुमति नहीं देंगे। तुम्हारी यह इच्छा, कितनी ही ही प्रशस्त क्यो न हो, पूर्ण नही हो सकेगी।

तेजस्वी पिता के तेजस्वी पुत्र ने दृढ स्वर मे कहा—यदि मेरे मन मे किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं है और भावना मे पवित्रता है तो मेरे निर्दिष्ट पथ मे कोई अवरोध खडा नही कर सकता। मेरी विचारधारा जिस दिशा मे प्रवाहित हो चली है, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। मेरा निश्चय अडिग है। बचपन मे, रुग्णावस्था मे, इस देह का अन्त आ जाता तब भी पिताजी को धैर्य धारण करना पडता। फिर मेरे स्वस्थ होने पर गुरुदेव को भेट कर देने का वे वचन भी दे चुके है। मेरे जीवनदाता गुरुदेव हैं, मैं उन्ही की शरण ग्रहण करना चाहता हू।

इसके अतिरिक्त, पिता के सत्य की रक्षा करना पुत्र का कर्त्तव्य है। मोहग्रस्त होने के कारण पिताजी प्रतिज्ञा से विचलित हो तो भी मैं उनकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होने दूंगा।

चरितनायक की इस दृढता से तीनों सज्जन प्रभावित हुए और वे लोककल्याण की भावना से उन्हें परोक्ष रूप से प्रोत्साहन देने लगे।

प्रचंड पितृकोप

अक्षयतृतीया पर्व अत्यन्त पुरातन है। भगवान् आदिनाथ के समय में, इस कर्मभूमियुग के प्रारंभ में ही, इस पर्व की स्थापना हुई। तत्पश्चात् बीच-बीच में घटित होने वाली अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं इस पर्व को नूतन गौरव से मंडित करती रही हैं। यही पर्वदिन था जब हमारे चरितनायक ने गुरुदेव के साथ विरागी अवस्था में प्रथम विहार किया। इसी दिन आगे चल कर आपने प्रव्रज्या अंगीकार करके मुनिजीवन में प्रवेश किया। धन्य है अक्षय-तृतीया पर्व!

गुरुदेव ने अक्षयतृतीया के दिन पाली से विहार किया तो चरितनायक ने भी उनके पथ का अनुगमन किया। अन्य भक्तजन शिष्टाचार के नाते कुछ दूर तक जाकर लौट गए मगर चरितनायक किसी दूसरे नाते गए थे। वे अगले पड़ाव 'नीमली' तक साथ-साथ गए। सन्ध्या का समय हो गया। मेहता साहब तब तक भी पाली नहीं लौटे थे। आपकी काकी साहबा के उद्वेग का पार न रहा। सभी ओर तलाश की गई किन्तु कहीं पता नहीं लगा। काकीजी ने मेहता साहब के पास भी एक सेवक भेज दिया कि वे जल्दी पधारें और 'बना' साहब का पता लगाएं।

मेहता साहब यह संवाद सुनते ही पाली लौटे। तब तक पता लग चुका था कि बना साहब (चरितनायक) महाराजश्री को पहुंचाने गए थे, संभवतः उन्हीं के साथ चले गए हैं।

गुरुदेव उस समय 'सूरपुरा' पहुंच चुके थे। मध्याह्न के १२ बजे होंगे कि ऊंट पर सवार मेहताजी सूरपुरा पधार गए। उधर सूर्य तप रहा था, इधर मेहता साहब का तेजस्वी चेहरा तमतमा रहा था।

पुत्रवियोग की भीषण कल्पना ने मेहता सा० के विवेक को आच्छादित कर दिया था। अतएव आते ही उन्होंने आवेश के साथ गुरुदेव को मर्यादाहीन शब्दों में उपालम्भ देना आरंभ कर दिया। मगर क्षमासागर गुरुदेव का मुखमण्डल ज्यों का त्यों निर्विकार रहा। उन्होंने शान्त एवं गंभीर स्वर में कहा—हम आपके सुपुत्र को साथ नहीं लाए हैं। वह अपनी इच्छा से चला आया है। यदि आपके साथ लौटता है तो हमें क्या आपत्ति है। हम रोकने वाले नहीं हैं। हमें बुरा-भला कह कर आप अपने गौरव को क्यों कम करते हैं?

मेहता साहब का कोप चरितनायक पर बरस पड़ा। उन्होंने आपकी कटुक और कठोर शब्दों से भर्त्सना ही नहीं की, दो-चार चपत भी जड़ दिए। वे भूल गए कि पुत्र वयस्क है और गुरुदेव तथा अन्य सम्भ्रान्त पुरुष यहां मौजूद हैं।

चरितनायक फिर भी दृढ रहे। बोले—पिताजी! आप घर पधारिए। मेरा भाव घर चलने का अब सर्वथा नहीं है।

इन थोड़े-से शब्दों ने आग में घी का काम किया। मेहता साहब का क्रोध और अधिक भड़क उठा। जिस ऊंट पर सवार होकर वे आए थे, उसे बिठलाते हुए बोले—देखता हूं कैसे नहीं चलते हो। सीधी तरह तैयार न हुए तो ऊंट से बांध कर ले चलूंगा।

सूरपुरा के श्रावक अब तक पूरी तरह मौन थे। मेहता साहब को आपे से बाहर होते देख सेठ हीराचंद जी बोले—आप क्यों इतने उग्र होते हैं? धीरज रखिए। आपके कुंवर साहब स्वेच्छा से जाते हैं तो ले जाइए। इस प्रकार बल प्रयोग पूर्वक तो हम इन्हें ले जाने नहीं देंगे।



मेहता साहब की उत्तेजना की सीमा न रही। सेठजी के शब्दो मे स्पष्ट चुनौती थी। उसे स्वीकार करते हुए उन्होने कहा – किसकी हिम्मत है जो बलपूर्वक मेरे लडके को रोक सके! मैं एक-एक को समझ लूगा! अभी मैं जाता हू। आप और आपके गुरुजी किस प्रकार इनको दीक्षा देते है, मै देख लूगा।

मेहताजी जैसे गए थे वैसे ही पाली लौट आए। खाना दूर, पानी तक ग्रहण नही किया। मगर उनका क्रोध शान्त नही हुआ। आपने परिणाम का विचार किये बिना ही गुरुदेव तथा उक्त तीन सज्जनो (रघुनाथमलजी नथमलजी बुबुकिया तथा पूपारामजी खारीवाल) के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा दायर कर दिया।

इधर सेठ हीराचन्दजी जोधपुर गए और भडारी सुखचन्दजी साहब को सारी घटना सुनाई। भडारी साहब जोधपुर के प्रभावशाली व्यक्ति थे और ऊपर तक उनकी पहुच थी। उन्होने सेठ हीराचन्दजी द्वारा पूज्य गुरुदेव के पास सवाद भेज दिया—'आप आनन्दपूर्वक विचरें। किसी प्रकार उद्वेग अनुभव करने की आवश्यकता नही। चिन्ता और भय तो हम गृहस्थो के लिए है। हम सब निबटते रहेगे, आप निर्भय रहे।'

सेठ हीराचन्दजी के लौटते ही भडारी साहब ने राज्य के उच्चाधिकारियो को सकेत करवा दिया कि इस मामले मे वे यथार्थ निणय लें। मेहताजी के प्रभाव से कोई गलत निर्णय न ले लिया जाए।

परिणाम यह हुआ कि अभियोग फाइलो मे ही दबा रहा। चिरकाल तक कोई निणय सामने नही आया।

विलक्षण विचक्षणता

गुरुदेव सूरपुरा से विहार कर मादलिया पधारे। दो दिन ठहर कर तीसरे दिन विहार करने लगे तो मूथा नन्दरामजी, रावतमलजी, मूलचन्दजी तथा लोढा उम्मेदमलजी ने गुरुदेव के चरणस्पर्श कर प्रार्थना की - गुरुदेव! कुछ दिन और विराजिए। आज तो हम हर्गिज न जाने देंगे।

गुरुदेव के उत्तर देने से पूर्व ही चरितनायक ने कहा—भाइयो! आप अतीव आग्रह के साथ महाराज से विराजने का अनुरोध कर रहे हैं किन्तु इन दो दिनो मे मैने देखा कि आप बडे-बडे सरदारो मे से एक ने भी कभी सामायिक नही की। धर्मध्यान न होता हो तो सन्तो को रोकना निरर्थक है।

वैरागीजी के इस सक्षिप्त कथन मे अनेक तथ्य सन्निहित थे। एक ओर मादलिया के श्रावको के प्रति उपालम्भ था तो दूसरी ओर यह सत्य भी स्पष्ट झलकता था कि श्रावको के साथ सन्तो का जो नाता है वह धर्मक्रिया का ही है।

मूथा नन्दरामजी विवेकवान् श्रावक थे। वैरागीजी का कथन उन्हे अप्रिय नही लगा, बल्कि उन्होने उक्त कथन का समर्थन करते हुए विनोद मे कहा—गुरुदेव, तीन पीढी तक तो हमे बडे ही वात्सल्य से रखा गया है, यह चौथी पीढी (चरितनायक) तो बडी ओजस्वी प्रतीत हो रही है। जान पडता है, अब ढिलाई से काम चलने वाला नही। हमे अभी से इनके अनुशासन के अनुकूल अपने को बदलना पडेगा। अनुग्रह कर आज से ही सामायिक का नियम दिला दीजिए।

गुरुदेव उस दिन मादलिया मे ही विराजे। एक नूतन वातावरण निर्मित हो गया।

गुरुदेव ने वि० स० १९६९ का चौमासा जयतारण मे और १९७० का कट्लवाज मे व्यतीत किया। इस अवधि मे चरितनायक ने गुरुदेव के चरणो मे रहते हुए श्रावक और साधु का प्रतिक्रमण, दो सौ थोकडे, दशवैकालिक-सूत्र, नन्दीसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र के १३ अध्ययन कठस्थ कर लिये थे। अनेक स्तवन तथा सज्झाय भी कण्ठस्थ हो चुके थे। रात्रि के समय जब आप सुमधुर स्वर मे स्तवनगान करते तो एक समा बन्ध जाता और भक्ति तथा वैराग्य की लहरें श्रोताओ के मानस-सर मे लहराने लगती थी। आप प्राय निरन्तर स्वाध्याय मे लीन रहते थे। आपकी दैनदिन प्रवृत्तियो से लोगो को आप मे एक प्रकार की अलौकिकता का आभास होने लगा था।

गुरुदेव की भविष्यवाणी

वि० स० १६७१ के भावी—चातुर्मास्य मे पिचाक निवासी श्री छोटमलजी चोरडिया ने गुरुदेव की सेवा मे रहकर चार मास व्यतीत किए। चातुर्मास्य के अन्त मे गुरुदेव ने फर्माया—छोटमलजी, दीपक मे अब तैल कम है, अत आत्मसाधना का विशेष ध्यान रक्खो। अपरिग्रहवृत्ति मनुष्य को सच्ची शान्ति प्रदान करती है। वृद्धावस्था मे तो उमे पूरी तरह अपना ही लेना चाहिए।

चोरडियाजी ने घर जाकर अपने पौत्र को व्यापार-व्यवसाय का भार सभला दिया। वे आत्माराधन मे ही लीन रहने लगे। अन्त तक गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया और कुछ दिनो वाद स्वर्गवासी हो गए।

अद्भुत घटना

इस चौमासे मे एक और उल्लेखनीय घटना घटित हुई। एक श्रावक चौविहार अष्टमभक्त की तपस्या मे उपाश्रय मे धर्मध्यान कर रहे थे। रात्रि मे चोर घर मे सेंध लगा कर ५-७ हजार की चोरी कर ले गए। जब वे गाव के बाहर पहुचे तो गुरुदेव के अलौकिक प्रभाव से दिग्भ्रान्त हो गए और सूर्योदय तक ग्राम के आसपास ही चक्कर काटते रहे। प्रभात मे चोरी का पता लगा। लोगो ने पीछा किया और पूरे माल के साथ चोर पकड लिये गए। चोरो ने गुरुदेव के चरणो मे नतमस्तक होकर क्षमायाचना की।

इन चमत्कारो का देखकर जनता अतीव श्रद्धालु हो गई। समस्त ग्रामनिवासियो ने मिलकर वैरागीजी (चरितनायक) को दीक्षा का ममारोह भावी मे ही करने का अनुरोध किया किन्तु गुरुदेव ने उसे स्वीकार नही किया। उत्तर मे फर्माया - वैरागीजी को अभी तक आज्ञा प्राप्त नही हुई है और आज्ञा के बिना दीक्षा नही दी जा सकती।

अद्भुत परीक्षा और शुभाशी

भावी चातुर्मास्य की समाप्ति के पश्चात् गुरुदेव के साथ चरितनायक जोधपुर होते हुए सोजत पधारे। वयोवृद्ध जिनागममर्मज्ञ स्वामीजी श्रीसन्तोषचन्द्रजी म० का भी वहा पदार्पण हुआ। चरितनायक इस समय तक अपनी प्रखर प्रज्ञा और मेधा के कारण पर्याप्त ख्याति उपार्जित कर चुके थे। सन्तो और श्रावको का ध्यान अनायास ही आपकी ओर आकर्षित हो जाता था। सोजत मे उक्त स्वामीजी ने चरितनायक के आगमज्ञान की परीक्षा ली। प्रश्न किया—तुम्हारे अन्दर उपयोग कितने है ?

चरितनायक – स्वामिन् ! समुच्चय रूप मे छह है और इस समय की अपेक्षा तीन। क्योकि जब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं तब अज्ञान नही हो सकते एव चक्षुदर्शन के समय अचक्षुदर्शन सभव नहीं है। यह तीन उपयोग भी लब्धि की अपेक्षा से है। उपयोग की अपेक्षा से तो एक समय मे दो उपयोग हो ही नही सकते।

स्वामीजी—तुम आहारक हो या अनाहारक ?

चरितनायक—स्वामिन् ! आहारक हू।

स्वामीजी—भाषक हो या अभाषक ?

चरितनायक—स्वामिन् ! भाषक हू।

स्वामीजी ये उत्तर सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। बोले—पूर्ण आशा है, हमारे सम्प्रदाय मे यह एक आदर्श मुनि होगा। यह कह कर उन्होने चरितनायक के शिर पर कर-कमलाश्लेप किया और शुभाशीर्वाद दिया।

अद्भुत स्मरणशक्ति

स्वामी श्रीप्रसन्नचन्द्रजी म० के गुरुजी द्वारा रचित 'द्विशत पणट्ठी' नामक एक रचना थी जो महाभारत



विद्युद्वेग से यह दु संवाद समग्र जोधपुर मे और दूर-दूर तक अन्यत्र भी फैल गया। अन्तत माघ कृष्णा ७ के दिन गुरुदेव ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। इस आकस्मिक दुर्घटना का चरितनायक के हृदय पर गभीर प्रभाव पड़ा। आपकी विरक्ति अब चरम सीमा तक पहुच गई। पूज्य श्री मानमलजी म० के स्थान पर अब स्वामीजी श्रीबुधमलजी म० आपके गुरु, अभिभावक एव पथप्रदर्शक थे।

दीक्षा मे विघ्न

गुरुदेव के स्वर्गारोहण के पश्चात् चरितनायक श्रीबुधमलजी महाराज के साथ विहार करते हुए साजत पधारे। सोजत-श्रीसघ ने गुरु महाराज से प्रार्थना की—गुरुदेव ! वैरागीजी के वैराग्य की खूब परीक्षा हो चुकी है। उन्होने अपने आपको सयम का उत्कृष्ट पात्र सिद्ध कर दिया है। अब उनकी दीक्षा की स्वीकृति प्रदान कीजिए।

गुरुदेव ने फर्माया—वैरागीजी की योग्यता तो सर्वविदित है किन्तु उनके पिताजी की आज्ञा प्राप्त नही हुई है।

श्री सघ ने निवेदन किया —छह वर्ष व्यतीत हो गए है। श्रीसघ उन्हे आज्ञा देगा। अब अधिक प्रतीक्षा करना उचित नही।

गुरुदेव मौन रहे। 'मौन स्वीकृतिलक्षणम्' की उक्ति को अनुसरण करके सघ ने वैरागीजी की दीक्षा के लिए अक्षयतृतीया का शुभ मुहूर्त निश्चित कर लिया। नगर भर मे दीक्षा सस्कार की धूम मच गई। चरितनायक को बिन्दौले बिठाकर अनेकानेक उत्सव किए जाने लगे। सघ मे अपूर्व उत्साह था, गहरा उल्लास था और अनुपम हर्ष था। एक दैवी वातावरण की सृष्टि हो गई।

तीन बिन्दौले निर्विघ्न हो गए। चौथे दिन ज्यो ही आप जुलूस के साथ स्थानक मे लौटे कि पुलिस सुपरिटेंडेंट, सर्किल इस्पेक्टर और सब इस्पेक्टर दल-बल के साथ आ धमके। चरितनायक के पिताजी ने पुलिस मे रिपोर्ट कर दी थी और उसी के आधार पर पुलिस ने कार्रवाई शुरू की थी। मेहता साहब ने अपनी रिपोर्ट मे दीक्षा न होने देने के दो कारण बतलाए थे—

(१) दीक्षार्थी अल्पवयस्क अर्थात् नाबालिक है, और
(२) साधु उसे भगा कर ले आए हैं।

पुलिस ने आकर दीक्षाकार्य मे विघ्न उपस्थित कर दिया। सघ के प्रमुख जनो से प्रतिज्ञापत्र (मुचलके) लिखवा लिये कि दीक्षा नही दी जाएगी।

सघ मे जितना हर्ष था उतना ही विषाद व्याप गया। गुरुदेव की सेवा मे सघ एकत्र हुआ। गुरुदेव उस समय भी सस्मित मुद्रा मे थे। बोले—शीघ्रता करने का परिणाम देख लिया न आपने ! किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नही। धर्म के प्रताप मे सब ठीक होगा।

इतने मे ही स्थानीय ज्युडीशियल सुपरिटेंडेंट श्रीमोतीलाल अग्रवाल और हाकिम साहब श्रीकेशू भाई गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे। उन्होने। सारी परिस्थिति का अध्ययन किया तो स्पष्ट हो गया कि उक्त दोनो आरोप मिथ्या हैं। फलत इधर इन अधिकारियो के प्रयत्न से और उधर श्रीखूबचन्दजी भडारी के प्रयत्न से विघ्न के बादल बिखर गए और राजाज्ञा प्राप्त हो गई कि दीक्षासस्कार सम्पन्न कर दिया जाए।



दीक्षा-समारोह

राजाज्ञा प्राप्त होते ही सघ मे द्विगुणित उत्साह और उमग उत्पन्न हो गई। सभी मगलकार्य सम्पन्न होने लगे। आखिर दीक्षा का समय आ पहुचा। सोजत नगर के राजपोल द्वार के बाहर, वट वृक्ष के नीचे अगणित मानव-समूह की उपस्थिति मे दीक्षासस्कार का विधिविधान प्रारम्भ हो गया।

पाली के श्रीहस्तीमलजी रातडिया तथा रतनचन्द्रजी अखावत चरितनायक के पिता मेहता साहव को भी मना कर ले आए। मेहता साहब पर दृष्टि पडते ही गुरुदेव ने फर्माया—मेहता साहब, क्या विचार है ? दीक्षा दी जाय ?

मेहता साहव ने नत्रो से उज्ज्वल मोती वरसाते हुए दोनो हाथ जोड कर उत्तर दिया गुरुदेव ! अपराध क्षमा करें। पुत्र के मोह से मूढ होकर मैंने आपका अविनय किया है। अब आप खुशी से मेरी तरफ से दीक्षा दिलाइए।

सम्पूर्ण वातावरण मे अचानक परिवर्तन हो गया। सघ मे मेहता साहब के प्रति जो कटुता थी वह मधुरता के रूप मे परिणत हो गई। चरितनायक ने वैरागी अवस्था से मुनि अवस्था में प्रवेश किया।

अनेकानेक कठिनाइयो और विघ्न-बाधाओ को अपने दृढ सकल्पबल मे एव गुरुदेव के अलौकिक प्रभाव से पार करके मुनि बने हमारे चरितनायक आज मरुधरकेसरी, आशुकवि, पण्डितरत्न, मत्री मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज के रूप मे विराजमान है।

प्रव्रज्या-पर्याय अगीकार किये पचास वर्ष-आधी शताब्दी का लम्बा काल बीत गया। इस सुदीर्घ काल मे मुनिश्री ने सयमसाधना के द्वारा आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के साथ सघ, शासन और राष्ट्र के उत्थान मे भी बहुमूल्य योग प्रदान किया है।

इस आधी शताब्दी के कार्यकलाप का परिचय प्राप्त करने के लिए पाठको को एक विस्तृत ग्रथ की प्रतीक्षा करनी पडेगी। यहा अतिसक्षेप मे कतिपय विषयो का ही अकन किया जाएगा।

ज्ञानार्जन

मुनिश्री की प्रतिभा, प्रज्ञा, मेघा और स्मरणशक्ति कितनी तीव्र है, इसका परिचय पाठक प्राप्त कर चुके है। ६-७ मास जितने स्वल्प काल मे हिन्दी, उर्दू, सस्कृत और अग्रेजी, इन चार भाषाओ का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नही है। पूर्वार्जित सस्कारो की सहायता से ही इस प्रकार की सफलता प्राप्त की जा सकती है।

इस प्राथमिक शिक्षण के पश्चात् छह वर्षों तक विरक्त दशा मे गुरुदेव के निरन्तर सान्निध्य मे रहकर आपने आगमो का अभ्यास किया। जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया जा चुका है, एक ही चातुर्मास्यकाल मे आपने दो सौ थोकडे, सात आगम तथा अन्य स्तवन सज्झाय आदि कठस्थ कर लिये थे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि छह वर्षों मे आपने कितना अध्ययन, चिन्तन और मनन किया !

मनीषी जन अध्ययन करते-करते कभी अघाते नही हैं। उनका ज्ञान ज्यो-ज्यो गहन होता जाता है त्यो त्यो उनकी जिज्ञासा प्रबल से प्रबलतर होती जाती है। मुनिदशा मे प्रवेश करने के पश्चात् आपकी अध्ययनविषयक उत्कट अभिलाषा और भी बढ गई। आपका प्रथम चौमासा वि० स० १९७६ मे जयतारण मे हुआ। इस चौमासे मे आपने जोधपुर निवासी पण्डित देवीदत्तजी से लघुकौमुदी, पचतत्र, तर्कसग्रह तथा अमरकोष आदि का अध्ययन किया। इनके तात्पर्य को भलीभाति हृदयगम कर लिया।

तत्पश्चात् दूसरे चौमासे मे, जोधपुर मे, आपके अध्यापन के लिए भारतविख्यात विद्वान् प० भगवतीलालजी की सेवाए प्राप्त की गई। पण्डितजी की अध्यापनशैली अनूठी थी। दुर्बोध से दुर्बोध विषय को भी सुबोध शैली से विद्यार्थी को हृदयगम करा देते थे। मुनिश्री जैसे कुशाग्रबुद्धि सुपात्र को पाकर उन्होंने अपना ज्ञानभडार मुक्त कर दिया और मुनिश्री ने भी उस भण्डार के बहुमूल्य रत्नो को आत्मसात् कर लिया। इस चौमासे मे आपने अनेक विषयो का प्रौढ ज्ञान प्राप्त किया।

तीसरे सोजत—चातुर्मास्य मे पुन प० देवीदत्तजी तथा प० सुन्दरलालजी को आमंत्रित किया गया और मुनिश्री ने पाण्डित्य के अनेक सोपानों को पार किया।

वि० स० १९८३ के चातुर्मास्य मे चरितनायक की रुचि प्राकृतभाषा के अध्ययन की हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि समस्त प्राचीन एव मौलिक जैन वाङ्मय प्राकृतभाषा मे निबद्ध है और उसे भलीभाति जाने विना आगमों के वास्तविक और गभीर अर्थ को समझना कठिन होता है। आपकी इस जिज्ञासा की पूर्ति प्राकृत भाषा के धुरन्धर विद्वान् प० रामकर्णजी आसोपा के सहयोग मे हुई। साथ ही प० भगवतीलालजी ने आपको व्याकरण, साहित्य और न्यायशास्त्र का उच्चकोटि का अध्ययन कराया।

वि० स० १९८५ के जयतारण चातुर्मास्य मे आपका अध्ययन और भी अधिक विकसित हुआ। इस बार व्याकरण-साहित्य-न्यायाचार्य पण्डितप्रवर विश्वेश्वरदत्तजी पाच मास तक जयतारण मे ही रहे। चरितनायक ने सिद्धान्तकौमुदी, न्यायमुक्तावली, स्याद्वादमञ्जरी, तत्त्वार्थराजवार्त्तिकालकार, सन्मतितर्क तथा महाभाष्य जैसे उच्च कोटि के ग्रथों का अध्ययन किया। आपके समय का बहुभाग अध्ययन मे ही व्यतीत होता था। अब आप व्याकरण, साहित्य, न्याय और आगम के विशिष्ट विज्ञाता हो गए। आपका पाण्डित्य प्रखर होकर निखर उठा। इस समय तक आप सस्कृत गद्य-पद्य मे सुन्दर रचनाए करने लगे थे। अजमेर कालेज के प्रिंसिपल प० शकरलालजी भी मुनिश्री की परीक्षा के हेतु प्राय प्रतिमास पधारते रहे।

मुनिश्री ने हिन्दीसाहित्य का विशेष अध्ययन भी इस चौमासे मे किया। इस प्रकार आपका अध्ययन स्नातककोटि पर पहुच गया और आप प्रथम कोटि की विद्वत्ता से सम्पन्न हुए।

विविध भाषाओ और विविध विषयो का ज्ञानार्जन कर लेने के पश्चात् आगमो के अध्ययन का मार्ग स्वत प्रशस्त हो गया। आपका बुद्धिवैभव विलक्षण तो था ही, स्वाध्यायशील वृत्ति के कारण सैद्धान्तिक ज्ञान भी गहन हो गया।

कवित्व और साहित्यसर्जना

वि० स० १९८४ से आप काव्यप्रणयन कर रहे है। सर्वप्रथम आपकी दो रचनाए प्रकाश मे आईं 'समाज-सुधार' और 'जैन दिल खुशबहार।' तत्पश्चात् आपका कवित्व गभीर और व्यापक होता ही गया। आज तक आपके कवित्व की विमलधारा अस्खलित गति से प्रवाहित हो रही है। लाखो पद्यो का आपकी लेखिनी से निर्माण हुआ है। जोधपुर मे मरुधरा के कविसमाज ने आपकी असाधारण कवित्वशक्ति से विस्मित होकर 'आशुकवि' के वरिष्ठ विरुद से विभूषित किया। राजस्थानी भाषा, व्रजभाषा और खडी हिन्दी मे आप समान रूप से लिखते हैं। 'महाभारत' आपकी राजस्थानी भाषा की एक विराट् और उत्कृष्ट कृति है। सहस्रो स्तवनो और भजनो की रचना कर चुके है। कठिन से कठिन समस्या की तत्काल पूर्ति कर देना आपके लिए खिलवाड है।

हिन्दी और राजस्थानी भाषा मे आपका गद्य भी अतीव मनोहर होता है। सर्वसाधारण जनता के जीवन के अभ्युदय के दृष्टिकोण से ही आप प्राय लिखते है जो आपके सन्तजीवन के अनुरूप ही है। आपका साहित्य जीवन मे धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाला एव नैतिकता की प्रतिष्ठा करने वाला है। आधुनिकता के नाम पर वासनाओ को भडकाने वाले, सामाजिक मर्यादाओ को भग करने वाले और उच्छृखलता उत्पन्न करने वाले कथित साहित्य को आप हलाहल विष समझते हैं। दुर्भाग्य से आज इस प्रकार का गदा साहित्य प्रचुर मात्रा मे दिखाई पड़ने लगा है, मुनिश्री के लिए यह परिताप का विषय है।

मुनिश्री की साहित्यिक साधना के सम्बन्ध मे एक पृथक् निबन्ध मे मीमासा की जा रही है, अतएव यहा विस्तार मे जाना अभीष्ट नही है।



वक्तृत्व

तत्त्वज्ञान के अमृत का आकण्ठ पान करने वाले विद्वज्जन जब जगत् के उपकार या भव्य जीवों के उद्धार के लिए प्रवृत्त होते हैं तो दो प्रकार के उपायों का ही उन्हें अवलम्बन लेना पड़ता है। या तो लेखन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करें अथवा वक्तृत्व द्वारा। किसी में लेखनकला की विशेषता दृष्टिगोचर होती है तो कोई विद्वान् अपने चामत्कारिक वक्तृत्व के द्वारा जनता का पथप्रदर्शन करते हैं। कोई विरल प्रतिभावान् ऐसे भी होते हैं जो दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। हमारे चरितनायक में अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की दोनों क्षमताओं का समान रूप से विकास हुआ है।

वि० सं० १९७७ के जोधपुर चातुर्मास में ही आपने प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी नैसर्गिक प्रवचनप्रतिभा को देखकर प्रसिद्धवक्ता जैनदिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने यह संकेत करके फरमाया था—मुनिजी एक बात ध्यान में कर लेना—जब व्याख्यान करो या स्तवन आदि सुनाओ तब अपने मन में यही सोचो कि मैं स्वयं ही सब कुछ सुन रहा हूँ। इससे आपकी वक्तृत्वशक्ति विकसित हो जाएगी और उत्तरोत्तर प्रस्फुटित होती रहेगी।

चरितनायक ने दिवाकरजी की सूचना को सदैव ध्यान में रखा और पूर्ण सफलता के साथ सिद्धि प्राप्त की।

आज मुनिश्री मरुधरा के सन्तों में प्रथम श्रेणी के वक्ताओं में गिने जाते हैं। आपका व्याख्यान प्रायः राजस्थानी भाषा में होता है। अत्यन्त ओजपूर्ण, प्रभावोत्पादक और श्रोताओं के अन्तस्तल का स्पर्श करने वाला। सिंह-गर्जना के समान आपकी गर्जना को सुनकर शायद ही कोई अभव्य ऐसा हो जो प्रभावित न हो।

सर्वसाधारण जनता की मनोरुचि के ज्ञाता मुनिश्री प्रायः किसी प्राचीन चरित का माध्यम बनाकर प्रवचन करते हैं। जिस चरित को आप लेते हैं, सजीव बना देते हैं। धार्मिक उपदेशों द्वारा उसे विभूषित कर देते हैं। वास्तव में आपके उपदेशों से सहस्रों पतितों का उद्धार हुआ है। बहुतों ने आत्मज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्राप्त किया है। न जाने कितने श्रोताओं ने जीवन की दिव्यता और भव्यता प्राप्त की है।

वादशक्ति

मरुधरकेसरीजी शासन, संघ एवं सम्प्रदाय के सजग प्रहरी हैं। ऐसे प्रहरी, जो सदा सतर्क और सावधान रहते हैं और क्षण भर के लिए भी कभी गफलत में नहीं पड़ते। आपके जीवन की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। जब कभी शासन या संघ पर अथवा स्थानकवासी सम्प्रदाय पर किसी ओर से आक्रमण हुआ, आपने दृढ़तापूर्वक उसका सफल प्रतिरोध किया है। इस युग में तो प्रायः धार्मिक वादविवाद होते नहीं हैं, पण्डितवर्ग और जनसाधारण की मनोवृत्ति में बहुत परिवर्तन हो गया है, किन्तु अब से पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व प्रायः वादविवाद और शास्त्रार्थ होते ही रहते थे।

आर्यसमाज की ओर से जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का प्रभावशाली उत्तर देने के लिए दिगम्बर जैन-समाज ने शास्त्रार्थ संघ नामक एक पृथक् संस्था की स्थापना की थी किन्तु उसका कार्यक्षेत्र प्रायः पंजाब और उत्तर-प्रदेश था। स्थानकवासी समाज का ऐसा कोई संगठन नहीं था। ऐसी स्थिति में हमारे चरितनायक ने स्वयं ही एक संगठन का रूप धारण किया और जहाँ कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ, आप स्वयं पहुँचे और जैनधर्म के सिद्धान्तों की स्थापना करके विजय-वैजयन्ती फहराई।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के एक वर्ष पश्चात् ही एक प्रसंग उपस्थित हो गया। सोजत के निकटवर्ती शीरवादा ग्राम में वैष्णव सन्यासियों ने जैनधर्म का उपहास किया। कहा—"जैनसमाज और जैनधर्म हिंसा का पोषक है। उनके पंचपरमेष्ठी मंत्र का प्रथम चरण है—'नमो अरिहंताणं' अर्थात् जो शत्रुओं का घात करने वाला है उसे नमस्कार हो। इसी प्रकार और भी कुछ असत्य आरोप किए।'

सीरवाड़ा के श्रावक गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए। गुरुदेव उस समय चरितनायक के साथ सोजत-रोड में विराजमान थे। श्रावकों की प्रार्थना स्वीकार कर गुरुदेव सीरवाड़ा पधारे। वहां पहुंच कर चरितनायक ने सन्यासियों को ललकारा और उनकी जिह्वा पर ताला लगाया। आपने स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक उन्नति के बाधक काम, क्रोध, मद, मोह आदि शत्रुओं का विनाश करने वाले ही अरिहन्त होते हैं। काम-क्रोधादि के विजेता देव ही सच्चे देव हैं। जो कामी है, क्रोधी है, राग-द्वेष में जिसकी आत्मा कलुषित है, वह देवत्व की गरिमा को नहीं पा सकता और न हमारा आराध्य हो सकता है।

लम्बा विवाद हुआ। आखिर सन्यासी के वयोवृद्ध गुरुजी ने ही उन्हें समझाया—मूर्ख, क्यों प्रलाप करता है। तेरे प्रश्न का उत्तर तो मिल ही गया है।

उपस्थित जैन-जैनेतर जनता ने मुनिश्री के पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और श्रावकों का चित्त प्रफुल्लित हो गया।

वि० सं० १९८४ के सोजतरोड—चातुर्मास्य में आर्यसमाजियों से ईश्वरकर्तृत्व विषय पर गंभीर चर्चा हुई। गुरुदेव तो स्वभावतः शान्त, दान्त तथा धीरोदात्त महापुरुषों में थे किन्तु मुनिश्री प्रतिपक्षियों से चर्चा करने से कभी हिचके नहीं। आर्यसमाज के विद्वानों के साथ हुए शास्त्रार्थ में भी आपने ही प्रमुख भाग लिया और आपके अकाट्य तर्कों के सामने उन्हें परास्त होना पड़ा।

इसी प्रकार बिलाड़ा तथा आउवा की देवली में मूर्तिपूजक समाज के साथ चर्चा करने के प्रसंग उपस्थित हुए। कई बार तेरापंथी सम्प्रदाय के सन्तों से भी आपका वाद हुआ।

अभिप्राय यह है कि आपकी वादशक्ति भी बड़ी प्रखर है। स्थानकवासी परम्परा के संरक्षण का आपको सदैव ध्यान रहता है। जैनधर्म अथवा स्थानकवासी परम्परा पर होने वाले आक्षेपों का आपने सदैव अपने प्रगाढ वैदुष्य से निराकरण किया है। इस विषय में आपकी जागरूकता असाधारण है।

जैनशास्त्रों में आठ प्रकार के प्रभावक माने गए हैं। मगर हम देखते हैं कि मरुधरकेसरीजी अकेले में ही प्रवचन, धर्मकथा, तप, व्रत, कवित्व एवं वाद आदि के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभावकत्व का समावेश है। उनके समग्र जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मरुधरकेसरी वास्तव में जिनशासन के एक सुदृढ स्तम्भ हैं और जैनसंघ के सबल संरक्षक एवं परित्राता हैं।

संघ-एकता

संघ और धर्म में आधाराधेय का सम्बन्ध है। यही कारण है कि जैनागमों में संघ की महिमा बड़े उदात्त शब्दों में प्रकट की गई है। नन्दीसूत्र में संघ की वन्दना अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृदयग्राही शब्दों में की गई है। वास्तव में संघ के बिना धर्म टिक नहीं सकता। संघ जितना सुसंगठित और दृढ होगा, धर्म का प्रभाव भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। जब संघ में अनैक्य उठ खड़ा होता है, परस्पर ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है और संघ के सदस्य एक दूसरे को गिरा कर अपनी शक्ति को क्षीण करने लगते हैं तो धर्म को भी आघात पहुंचे बिना नहीं रहता।



मुनिश्री ने इस तथ्य को बड़ी गहराई से अनुभव किया है। इसी कारण आप संघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं। आपने कितने ही स्थानों में फैली हुई फूट को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

मारवाड के बर्मी ग्राम में करीब सौ घर श्रावकों के हैं। ग्राम में दो दल हो रहे थे। आपने उनमें एकता कराने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वहां का एक स्वार्थी यति एकता में बाधक था। उसे भंग से बहुत प्रेम था और उसने भंग-भवानी के भक्तों का एक गिरोह बना रखा था। उसे आपका एकता का प्रयास अरुचिकर हुआ। एक

दिन आप जब बाहर पधारे तो यति ने उपहासपूर्वक कहा—क्या दलबन्दी मिटा कर स्नेहसम्मेलन करा दिया ? कुटिया ही दलबन्दी भग करा देंगे तो हम यहा बैठे क्या गीत गाएगे ?

गुरुदेव ने फर्माया—यतिजी, दलबन्दी रहे या न रहे, उसमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा काम उपदेश देना है। हम शान्ति चाहते हैं। आप फूट के पक्षपाती हो तो आप जानें, मगर इसमें आपकी शोभा तो नही है।

उसी दिन गुरुदेव और चरितनायक ने श्रावकों के समक्ष ऐसा ओजस्वी भाषण किया कि तत्काल उसका गहरा प्रभाव पडा और लम्बे काल से चला आने वाला विवाद एक ही दिन मे समाप्त हो गया। सब लोग मतभेदों को भूल कर परस्पर स्नेहसूत्र मे आबद्ध हुए और 'महावीर स्वामी की जय' के तुमुल नाद मे आकाश व्याप्त हो गया।

वि० स० २००४ मे चरितनायक का चौमासा सादडी (मारवाड) मे था। उसी समय श्रीलोंकाशाह गुरुकुल का वार्षिक उत्सव आयोजित किया गया। सेठ केवलचन्दजी चोपड़ा अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उत्सव धूमधाम से प्रारम्भ हुआ। किन्तु उस समय भी स्थानकवासी समाज मे दो दल थे। चोपडाजी ने अध्यक्षीय भाषण मे इस अनैक्य पर गहरा खेद प्रकाशित किया, यहा तक कि अनशन की घोषणा कर दी। आपके साथ ही स्थानीय तथा बाहर से आए लगभग ७०० नवयुवकों ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विषम परिस्थिति मे चरितनायक किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते थे ? आपने भी आहार का परिहार कर दिया। एक दिन बीत गया।

दूसरे दिन चरितनायक ने हृदय को हिला देने वाला मर्मस्पर्शी प्रवचन किया। प्रवचनपीयूष की धारा प्रवाहित होते ही लोगो के मन की मलीनता धुल गई और जो हृदय कषाय के ताप से तप्त थे वे स्नेह-सलिल मे शीतल हो गए। सघ मे एकता और प्रेम का प्रसार हुआ। चिरकाल से चली आ रही तकरार दूर हो गई।

वि० स० २०१० का चातुर्मास्य बिलाडा मे व्यतीत कर अनेक ग्रामों और नगरो मे विचरण करते हुए मरुधरकेसरीजी बालोतरा पधारे। वहा करीब २५ वर्षों से जैन समाज मे चार दल चले आ रहे थे। इस अन्तराल मे एकता स्थापित करने के अनेक बार प्रयास किए गए थे पर वे सभी विफल रहे थे। किन्तु आपके प्रभाव एव कौशल ने ऐसा चमत्कार प्रदर्शित किया कि दलबन्दी समाप्त हो गई और बालोतरा-समाज एकता के बन्धन मे आबद्ध हो गया।

वि० स० २०११ मे सिवाना (मारवाड) मे आपने वर्षावास व्यतीत किया। वहा भी चिरकाल से क्लेशपूर्ण दलबन्दी चली आ रही थी। एकता स्थापित करने के लिए आपको अत्यधिक प्रयास करना पडा फिर भी आपके सत्प्रयत्न अन्त मे सफल हुए। मुकदमेबाजी का अन्त हुआ। कषाय की आग शान्त हुई। सघ मे सौमनस्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार समदडी-सघ मे व्याप्त कलहाग्नि आपके प्रयासो से शान्त हुई। धवे मे तेरह घरो मे तीन दल थे। समाज तीन तेरह हो रहा था। इसी कारण धर्मध्यान के लिए कोई ठिकाना नही था। एकता स्थापित करने के आपके सत्प्रयत्न सफल हुए। धवे से विहार कर लुणावा पधारे। वहा १० घरो मे ही फूट का साम्राज्य था। समझा-बुझाकर वहाँ भी शान्ति स्थापित की। ब्यावर मे व्याप्त कलह की आग को बुझाने के लिए तो आपको अनशन करना पडा। आपकी सहानुभूति मे अनेक श्रावकों और श्राविकाओं ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। एकता के प्रयत्न सफल होते न देख राव नारायणसिंहजी साहब मसूदा तथा स्थानीय उद्योगपति सेठ मुकुन्ददासजी राठी आदि ने अनशन समाप्त करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया। किन्तु चरितनायक अपने सकल्प पर दृढ रहे। आपने उत्तर दिया—

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्त शिलालिखितमक्षरम्।

सत्पुरुष मनोविनोद मे भी जो कह देते है, वह शिखालेख की तरह अमिट हो जाता है।

आपने फर्माया—सघ की अपेक्षा इस शरीर का मूल्य अधिक नही है। सघ के श्रेयस् के लिए शरीर का उत्सर्ग कर देने मे मुझे कोई झिझक नही है।

आखिर आपकी तपश्चर्या प्रभावजनक सिद्ध हुई और सघ मे शान्ति तथा एकता स्थापित हुई।

चरितनायक सघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं और उसके लिए उग्र से उग्र प्रयत्न करने मे भी कभी नहीं हिचके। कुछ उदाहरण ही यहा प्रस्तुत किए गए हैं। इस दिशा मे आपके प्रयास बहुत व्यापक और महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

श्रमणसघ की एकता के लिए किए गए आपके स्तुत्य प्रयासो का उल्लेख पृथक् निबन्ध में किया जा रहा है।

जीवदया

'दया धर्म का मूल है' यह उक्ति विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायो का मान्य है। जैनधर्म की सम्पूर्ण आचारप्रणाली का केन्द्र अहिंसा है और जीवदया उसका प्राण है। इसी कारण अपने श्रमणजीवन के इस लम्बे काल मे आपने जीवदया के निमित्त अगणित कार्य किए हैं। अपने प्रभावक प्रवचनो द्वारा तो आप जीवदया की प्रतिष्ठा करते ही रहते हैं किन्तु अनेक बार उसके लिए अन्यान्य उपायो का भी अवलम्बन लेते रहे हैं।

वि० स० १९८७ की घटना है। बलुन्दा-चातुर्मास्य मे एक बार करीब १५०० पशु फाटक में बन्द कर दिए गए। निस्सहाय मूक पशु अकारण ही बन्धनबद्ध हो दुखी हो रहे थे। चरितनायक को इस घटना का पता चला। आपके हृदय मे दया का सागर उमड पडा। तत्काल वहाँ के ठाकुर साहब को सदेश प्रेषित किया—'दण्ड अपराधी को मिलना चाहिए, निरपराध को नही। इन मूक पशुओ ने अगर कोई अपराध किया भी हो तो सहज बुभुक्षा के वशीभूत होकर ही। वह दण्डनीय अपराध की कोटि मे नही है। अत तत्काल पशुओ को मुक्त कर देना ही दयालुता है।'

ठाकुर साहब मुनिश्री के तप-त्याग से प्रभावित थे। उन्होने तत्काल आदेश का पालन किया और पशुओ ने स्वाधीनता की सास ली।

मगर ससार मे सर्वत्र समान रुचि और मति के मनुष्य नही हैं। यहा भव्य भी हैं, अभव्य भी हैं, धार्मिक भी हैं और अधार्मिक भी है। सुलभबोधि भी है तो दुर्लभबोधि भी है। बिलाडा मे दुर्लभबोधि जनो का सामना करना पडा। वि० स० २०१० मे आपका चौमासा बिलाडा मे था। नगर प्रवेश के समय ही किसी श्रावक ने आपको सूचना दी थी कि कुछ लोग बाणगगा मे से मछलिया पकड कर बेचते हैं। कई बार बाहर पधारने पर मुसलमान व्यापारी सिर पर मछलियो के टोकरे लिये आपको भी मिले।

एक दिन आपश्री ने उन्हे समझाया—यह तीर्थस्थान है। यहा मछलिया पकडना चिरकाल से बन्द है। तुम समय का लाभ उठा कर यह निषिद्ध कार्य करते हो, यह अनुचित है। इससे यहा की अहिंसाप्रिय जनता को बहुत दुख है। अत मछलिया पकडना बन्द कर देना चाहिए।

किन्तु जिनका हृदय जीवहिंसा करते-करते पाषाण बन चुका हो उन पर ऐसी बातो का कहा प्रभाव पडने वाला है? वे बोले—हमे मछलिया पकडने से कौन रोक सकता है? स्वामीजी, अपना रास्ता लो।

मृदु भाषा मे स्वामीजी ने कहा—मित्रो! रास्ता तो एक दिन तुम और हम सबको लेना है। कयामत का दिन देखना ही पडेगा।

मच्छीमार चले गए। चरितनायक इस हिंसाकाण्ड को सहन न कर सके। उपाय सोचने लगे।



एक दिन चरितनायक शौच-निवृत्त होकर वापिस लौट रहे थे कि एक मौल्वी २-३ मुस्लिम नवयुवकों के साथ सामने आ गया। उसने कहा—'तू मछलिया मारना रुकवाना चाहता है! ले मजा चख। और मौल्वी ने आपके शरीर पर लाठिया बरसाना आरम्भ कर दिया। साथी मुनिश्री रूपचन्द्रजी कुछ आवेश मे आए तो आपने उन्हे शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—यही परीक्षा का समय है। आक्रमणकारी का प्रतिरोध करना सन्तजनो के लिए पराजय का चिह्न है। फिर भी लाठिया बरसती रही। करीब बीस प्रहारो के बाद जब लाठी के तीन टुकडे हो गए तब मौलवी को प्रहार करना बन्द करना पडा। मुनिश्री ने शान्त और गम्भीर भाव से यह यातना सहन की।

लोहूलुहान शरीर लिए मुनिश्री किसी प्रकार स्थानक मे पहुचे। नगर मे तहलका मच गया। प्रहार-कर्त्ता का नाम पूछा गया किन्तु चरितनायक ने तथा मुनिश्री रूपचन्द्रजी ने बताने से इन्कार कर दिया। मगर प्रत्यक्ष-दर्शी एक कुम्भकार ने सारा भेद खोल दिया।

सवेगी मुनि श्रीकवीन्द्रसागरजी चरितनायक की दशा देख दयाद्रवित हो उठे। सहसा उनके मुख मे निकला—'अरे जैनियो! मर मिटो! यह अत्याचार भी क्या सह्य है?,

नगर मे हाहाकार मच गया। हडताल हो गई। स्थानक के बाहर विराट जनसमूह एकत्र हो गया। देखते ही देखते दुष्टो से बदला लो, उन्हे समाप्त करके ही दम लेंगे आदि नारे लगने लगे। ५-६ हजार लोगो ने मुस्लिम मुहल्ले को घेर लिया। पुलिस भी घटनास्थल पर जा पहुची। मगर जोश से उफनती जनता पर नियत्रण पाना पुलिस के लिए सम्भव न था।

स्थिति की अत्यन्त विषमता देख आहत अवस्था मे भी चरितनायक को हस्तक्षेप करना पडा। आप अपनी पीडा को भूल गए और मौलवी की सभाव्य पीडा आपके हृदय को मथने लगी। आखिर मछलियो पर करुणा की वर्षा करने वाला धर्मपुरुष मानव के प्रति करुणाहीन कैसे हो सकता था?

आपने मौलवी की सुरक्षा के लिए सदेश प्रेपित किया। अधिकारियो ने कौशल से मस्जिद के पिछले द्वार से मौलवी को निकाल कर तहसील मे पहुचा दिया और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था कर दी। जनता को ज्यो ही इस छल का पता चला कि उसने तहसील को घेर लिया। दरवाजे तोड डाले। गुरुदेव के अपमान का पूरा बदला लिये विना लोग शान्त नही होना चाहते थे। खाली फायर किए गए, फिर भी जान की बाजी लगाकर जूझने वाले लोग इञ्च भर भी नही हटे।

स्थिति विषम मे विषमतर होती जा रही थी। जनता नियत्रण से बाहर हो चुकी थी। भयानक हत्याकाण्ड की सम्भावना हृदय को हिला रही थी। इस स्थिति मे पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट भागे-भागे चरितनायक की सेवा मे पहुचे। बोले—गुरुदेव! अनर्थ होने जा रहा है। रक्त की नदिया बह जाएगी। आप ही इस स्थिति को सभाल सकते हैं।

दयाद्रवित चरितनायक ने किसी प्रकार जनता पर नियत्रण स्थापित किया। लोग किंचित् शान्त हुए।

अवसर पाकर मुसलमानो के अगुवा आपकी सेवा मे उपस्थित हुए। कहने लगे—'भगवन! आप दयालु है। हमारे बालबच्चो की जिन्दगी आपकी मुट्ठी में है। उस नालायक ने आपके ऊपर क्या, हम सब पर लाठी बरसाई है। हम शर्मिन्दा हैं। क्षमा चाहते है। हमारे ऊपर रहम कीजिए।' गुरुदेव ने उन्हे क्षमा का आश्वासन दिया और तीन बातें उनके सामने रखी—

१ आज से मछलियो का पकडना पूरी तरह बन्द किया जाय।

२ अभी २१ बकरे अमर कर दिए जाए।

३ मौलवी को तत्काल यहा से हटा दिया जाय, क्योकि उसके हित मे भी उसका यहा रहना उचित नही।

मुस्लिम नेताओं ने तीनो बातें स्वीकार की। गुरुदेव ने जनता से कहा —भाइयो ! अपना जीवदया का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब मुसलमानो के प्रति किसी प्रकार का वैरभाव नही रखना चाहिए।

जनसमूह मुसलमानो को साथ लेकर वडरे के चौक मे पहुचा और सभा के रूप मे परिणत हो गया। वहा जनता की ओर मे पुन तीन अतिरिक्त शर्तें पेश की गईं—

१ अष्टमी और एकादशी को पशुवध सर्वथा न किया जाय।

२ हिन्दुओ के जिन दो मकानो पर अधिकार कर तकिया का रूप दे दिया गया है उन्हे तत्काल लौटाया जाय।

३ भविष्य मे ऐसा दुस्साहस न करने की शपथ ली जाय।

मुस्लिम नेताओ ने कहा—गुरुदेव की शर्तें हमे स्वीकार हैं। आपकी दो शर्तों को मानन मे जरा कठिनाई है।

इतना कहते ही शान्त हुई ज्वालाए फिर भडक उठी। सभा ने मुसलमानो के सामाजिक बहिष्कार का फैसला किया। जिन दो मकानो को तोड कर तकिये बना लिये गए थे उनमे से एक मे 'रामदेवजी' और दूसरे मे "शिवजी" की स्थापना करदी गई। दस मिनिट मे ही यह कार्य सम्पन्न हो गया। फिर भी लोगो का जोश ठडा नही हुआ। एक बडा दल जामामस्जिद पर हमला करने के लिए बढा। चरितनायक को जब यह सवाद मिला तो आपने सदेश भेजा—मस्जिद पर हमला हुआ तो मैं अनशन कर दूगा।

इस सन्देश से लोग शान्त हुए। तत्पश्चात् आपने लोगो को समझा-बुझा कर प्रकृतिस्थ किया।

उल्लिखित दो घटनाए ही आपकी करुणापरायणता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। वास्तव मे मुनिश्री जीवदया के प्रबल समर्थक हैं। आपका अन्तस्तल करुणा-वरुणालय है। जीवदया के लिए आप द्वारा किए गए प्रयत्नो का उल्लेख करना सभव नही है। आपके जीवन मे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

महर्षि पतजलि ने योगशास्त्र मे लिखा है— **'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग ।'** अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साधक के इर्दगिर्द हिंसक जन्तु भी वैर का त्याग करके अहिंसक बन जाते हैं। तीर्थंकर के समवसरण मे सिंह और मृग जैसे जातिविरोधी जीव भी एक साथ प्रेमपूर्वक बैठते हैं। यह अहिंसा का ही लोकोत्तर प्रभाव है।

चरितनायक के जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा किस कोटि तक हुई है, इसका प्रमाण हमे एक सिंह के आचरण से मिलता है।

चरितनायक को एक बार जाभुडा चौकी पर रात्रिविश्राम करना पडा। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होते ही अचानक वहा एक मृगराज (नौहत्था सिंह) आ पहुचा। किन्तु मुनिराज के साथ चार आखे होते ही मृगराज के अन्दर का देवत्व जाग उठा और पालतू कुत्ते के समान वह वही बैठ गया। इससे पूर्व कई दिनो से वह प्रतिरात्रि वन्य और ग्राम्य पशुओ का वध करता रहा था। खरवा के कुवरसाहब द्वारा बाधे गए महिष का शिकार करके भी वह साफ निकल भागा था। मगर मुनिराज के सान्निध्य मे मृगराज रात्रि भर शान्त बैठा रहा।

मुनिश्री के साथ जो श्रद्धालु जन थे, उन्होंने प्रात काल गुरुदेव के दिव्य प्रभाव का बखान किया तो आपने फर्माया—व्यक्ति क्या चीज है ? यह सब अहिंसाधर्म का ही अलौकिक प्रभाव है।

चरितनायक की अहिंसासाधना को परखने के लिए यह एक अभ्रान्त कसौटी है।



तप प्रभाव

वि० स० २००८ की एक विशिष्ट घटना भी उल्लेखनीय है। मादलिया ग्राम मे आपका चातुर्मास्य था।

एक दिन चरितनायक शौच-निवृत्त होकर वापिस लौट रहे थे कि एक मौलवी २-३ मुस्लिम नवयुवकों के साथ सामने आ गया। उसने कहा—'तू मछलिया मारना रुकवाना चाहता है! ले मजा चख।' और मौलवी ने आपके शरीर पर लाठिया बरसाना आरम्भ कर दिया। साथी मुनिश्री रूपचन्द्रजी कुछ आवेश मे आए तो आपने उन्हे शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—यही परीक्षा का समय है। आक्रमणकारी का प्रतिरोध करना सन्तजनो के लिए पराजय का चिह्न है। फिर भी लाठिया बरसती रही। करीब बीस प्रहारो के बाद जब लाठी के तीन टुकडे हो गए तब मौलवी को प्रहार करना बन्द करना पडा। मुनिश्री ने शान्त और गम्भीर भाव मे यह यातना सहन की।

लोहूलुहान शरीर लिए मुनिश्री किसी प्रकार स्थानक मे पहुचे। नगर मे तहलका मच गया। प्रहार-कर्त्ता का नाम पूछा गया किन्तु चरितनायक ने तथा मुनिश्री रूपचन्द्रजी ने बताने मे इन्कार कर दिया। मगर प्रत्यक्ष-दर्शी एक कुम्भकार ने सारा भेद खोल दिया।

सवेगी मुनि श्रीकवीन्द्रसागरजी चरितनायक की दशा देख दयाद्रवित हो उठे। सहसा उनके मुख से निकला—'अरे जैनियो! मर मिटो! यह अत्याचार भी क्या सह्य है?'

नगर मे हाहाकार मच गया। हडताल हो गई। स्थानक के बाहर विराट जनसमूह एकत्र हो गया। देखते ही देखते दुष्टो से बदला लो, उन्हे समाप्त करके ही दम लेंगे आदि नारे लगने लगे। ५-६ हजार लोगो ने मुस्लिम मुहल्ले को घेर लिया। पुलिस भी घटनास्थल पर जा पहुची। मगर जोश से उफनती जनता पर नियत्रण पाना पुलिस के लिए सम्भव न था।

स्थिति की अत्यन्त विषमता देख आहत अवस्था मे भी चरितनायक को हस्तक्षेप करना पडा। आप अपनी पीडा को भूल गए और मौलवी की सभाव्य पीडा आपके हृदय को मथने लगी। आखिर मछलियो पर करुणा की वर्षा करने वाला धर्मपुरुष मानव के प्रति करुणाहीन कैसे हो सकता था?

आपने मौलवी की सुरक्षा के लिए सदेश प्रेषित किया। अधिकारियो ने कौशल से मस्जिद के पिछले द्वार से मौलवी को निकाल कर तहसील मे पहुचा दिया और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था कर दी। जनता को ज्यो ही इस छल का पता चला कि उसने तहसील को घेर लिया। दरवाजे तोड डाले। गुरुदेव के अपमान का पूरा बदला लिये बिना लोग शान्त नही होना चाहते थे। खाली फायर किए गए, फिर भी जान की बाजी लगाकर जूझने वाले लोग इन्च भर भी नही हटे।

स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही थी। जनता नियत्रण से बाहर हो चुकी थी। भयानक हत्याकाण्ड की सम्भावना हृदय को हिला रही थी। इस स्थिति मे पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट भागे-भागे चरितनायक की सेवा मे पहुचे। बोले—गुरुदेव! अनर्थ होने जा रहा है। रक्त की नदिया बह जाएगी। आप ही इस स्थिति को सभाल सकते हैं।

दयाद्रवित चरितनायक ने किसी प्रकार जनता पर नियत्रण स्थापित किया। लोग किंचित् शान्त हुए।

अवसर पाकर मुसलमानो के अगुवा आपकी सेवा मे उपस्थित हुए। कहने लगे—'भगवन! आप दयालु है। हमारे बालबच्चो की जिन्दगी आपकी मुट्ठी मे है। उस नालायक ने आपके ऊपर क्या, हम सब पर लाठी बरसाई है। हम शर्मिन्दा है। क्षमा चाहते हैं। हमारे ऊपर रहम कीजिए।' गुरुदेव ने उन्हे क्षमा का आश्वासन दिया और तीन बातें उनके सामने रखी—

१ आज से मछलियो का पकडना पूरी तरह बन्द किया जाय।

२ अभी २१ बकरे अमर कर दिए जाए।

३ मौलवी को तत्काल यहा से हटा दिया जाय, क्योकि उसके हित मे भी उसका यहा रहना उचित नही।

मुस्लिम नेताओं ने तीनों बातें स्वीकार की। गुरुदेव ने जनता से कहा—भाइयो! आपका जीवदया का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार का वैरभाव नहीं रखना चाहिए।

जनसमूह मुसलमानों को साथ लेकर बड़े के चौक में पहुंचा और सभा के रूप में परिणत हो गया। वहां जनता की ओर से पुनः तीन अतिरिक्त शर्तें पेश की गई—

१ अष्टमी और एकादशी को पशुवध सर्वथा न किया जाय।

२ हिन्दुओं के जिन दो मकानों पर अधिकार कर तकिया का रूप दे दिया गया है उन्हें वापस लौटाया जाय।

३ भविष्य में ऐसा दुस्साहस न करने की शपथ ली जाय।

मुस्लिम नेताओं ने कहा—गुरुदेव की शर्तें हमें स्वीकार हैं। आपकी दो शर्तों का पालन में जरा कठिनाई है।

इतना कहते ही शान्त हुई ज्वाला फिर भड़क उठी। सभा ने मुसलमानों के सामाजिक बहिष्कार का फैसला किया। जिन दो मकानों को तकिया बना लिये गए थे उनमें से एक में 'रामदेवजी' और दूसरे में "शिवजी" की स्थापना कर दी गई। इस स्थिति में ही यह काम सम्पन्न हो गया। फिर भी लोगों का रोष ठंडा नहीं हुआ। एक बड़ा दल जामामस्जिद पर हमला करने के लिए बढ़ा। चरित्रनायक को जब यह संवाद मिला तो आपने संदेश भेजा—मस्जिद पर हमला हुआ तो मैं अनशन कर दूंगा।

इस सन्देश से लोग शान्त हुए। तत्पश्चात् आपने लोगों को समझा बुझा कर प्रसन्न किया।

उल्लिखित दो घटनाएं ही आपकी करुणापरायणता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में मुनिश्री जीवदया के प्रबल समर्थक हैं। आपका अन्तःकरण करुणा-वरुणालय है। जीवदया के लिए आप द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करना संभव नहीं है। आपके जीवन में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में लिखा है—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साधक के इर्दगिर्द हिंसक जन्तु भी वैर का त्याग करके अहिंसक बन जाते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में सिंह और मृग जैसे जातिविरोधी जीव भी एक साथ प्रेमपूर्वक बैठते हैं। यह अहिंसा का ही लोकोत्तर प्रभाव है।

चरितनायक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस कोटि तक हुई है, इसका प्रमाण हमें एक सिंह के आचरण से मिलता है।

चरितनायक को एक बार जामुड़ा चौकी पर रात्रिविश्राम करना पड़ा। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होते ही अचानक वहां एक मृगराज (नौहत्था सिंह) आ पहुंचा। किन्तु मुनिराज के साथ चार आँखें होते ही मृगराज के अन्दर का देवत्व जाग उठा और पालतू कुत्ते के समान वह वहीं बैठ गया। इससे पूर्व कई दिनों से वह प्रतिरात्रि वन्य और ग्राम्य पशुओं का वध करता रहा था। खरवा के कुंवरसाहब द्वारा बांधे गए महिष का शिकार करके भी वह साफ निकल भागा था। मगर मुनिराज के सान्निध्य में मृगराज रात्रि भर शान्त बैठा रहा।

मुनिश्री के साथ जो श्रद्धालु जन थे, उन्होंने प्रातःकाल गुरुदेव के दिव्य प्रभाव का बखान किया तो आपने फर्माया—व्यक्ति क्या चीज है? यह सब अहिंसाधर्म का ही अलौकिक प्रभाव है।

चरितनायक को अहिंसासाधना को परखने के लिए यह एक अभ्रान्त कसौटी है।



तपः प्रभाव

वि० सं० २००८ की एक विशिष्ट घटना भी उल्लेखनीय है। मादलिया ग्राम में आपका चातुर्मास्य था।

दीपावली के दूसरे दिन संध्या समय ३५ ऊंटों पर सवार ६५ दस्युओं ने चारों ओर से गांव को घेर लिया। दस्यु बड़े ही खूंखार और साहसी थे। उसी दिन प्रातःकाल मुण्डाणा और मल्हार गांवों के करीब २० जाटों को मौत के घाट उतार दिया था। उनके शरीर के वस्त्र रक्तरंजित दिखाई दे रहे थे।

भयंकर डाकुओं द्वारा गांव घिरा देख लोग आतंकित हो उठे। जो लोग खाते-पीते थे उन्हें मौत सामने नजर आने लगी। धन के साथ प्राणों का खतरा था। ऐसी स्थिति में लोग भाग कर चरितनायक की चरण-शरण में आए। सबकी जिह्वा पर एक ही प्रश्न था — क्या होगा?

चरितनायक ने सबको धैर्य बंधाते हुए कहा—घबराओ मत। घबराहट किसी भी मर्ज की दवा नहीं है। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। धर्मो 'धर्मो रक्षति रक्षितः' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

उधर दस्युओं के नेता को चरितनायक के विराजमान होने का पता चला तो उसने साथियों को आदेश दिया—गुरुदेव (चरितनायक) मेरे पिताजी के गुरु हैं। जहां वे विराजमान हों वहां हमें कोई अत्याचार नहीं करना है। जल्दी प्रस्थान करो। ऐसा न हो कि गुरुदेव से कोई उपालम्भ सुनना पड़े।

दस्युराज कल्याणसिंहजी की गुरुदेव के प्रति यह अद्भुत श्रद्धा देख किसे विस्मय न होगा! जैन एवं जैनेतर जनता ने तप और अहिंसा के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा। सिद्धपुरुष के प्रभाव से जब जन्मजात हिंसक जन्तु भी हिंसा का त्याग कर देते हैं तो डाकू तो मनुष्य थे!

राष्ट्रीय भावना

सन्त जन प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते हैं। निज-पर की संकीर्ण भावना उनके निकट नहीं फटकती। फिर भी वे जिस देश में जन्म लेते हैं, जो देश उनका कार्यक्षेत्र होता है, उसे विश्व का एक अंग मान कर वे उसके उत्थान में योग देते ही हैं। अन्य राष्ट्रों की अविरोधी उदार राष्ट्रीयता सन्तजनों में भी होती है। चरितनायक के जीवन के कार्यकलापों का मन्थन करने पर हमें उसका दर्शन हुए बिना नहीं रहता।

वि० सं० १९८४ का समय स्वाधीनतासंग्राम का समय था। समग्र देश अपनी दासतामुक्ति के लिए जूझ रहा था। मगर रियासतों से व्याप्त होने के कारण राजस्थान की चेतना मूर्छित-सी हो रही थी। राजाओं के प्रचण्ड आतंक ने जनता को दबा रक्खा था। ऐसे समय में रियासतों में जागृति का मन्त्र फूंकना साहस का काम था। किन्तु हमारे चरितनायक महान् साहसियों में अग्रगण्य हैं। जिसे सत्य और न्यायसंगत समझा, सारी दुनिया विरोध में खड़ी हो जाय तब भी आप परवाह नहीं करते।

सोजतरोड—वर्षावास में आपने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण प्रवचन किए। श्रोताओं में नूतन स्फूर्ति और प्राणों का संचार हुआ। दासता से मुक्त होने की तड़फ पैदा हो गई। दूर-दूर तक आपके जोशीले व्याख्यानों की प्रसिद्धि हुई। देश के प्रथम कोटि के नेताओं के कानों तक बात पहुंच गई। उससे आकृष्ट होकर महात्मा गांधी, सरदार पटेल, भूला भाई देसाई तथा मणिलाल कोठारी आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आपका प्रवचन सुनकर सभी ने सन्तोष व्यक्त किया और गुजरात पधारने की प्रार्थना की।

इस प्रकार जहां कहीं भी आपका पदार्पण हुआ, आपने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में सुन्दर योग प्रदान किया।

आपकी राष्ट्रीयभावना धर्मसापेक्ष होती है और वह आपके जीवन का एक अंग बन चुकी है।

जोधपुर में एक बार आप करीब १५ फुट ऊंचाई से जमीन पर गिर गए। नीचे जोधपुरी पत्थरों का फर्श था। इस कारण गहरी चोट ही नहीं आई वरन् वाम पाद की नितम्बास्थि भी भग्न हो गई। खड़ा होना असंभव हो गया। भयानक वेदना का प्रसंग था, फिर भी आपने असाधारण धैर्य एवं सहनशीलता का परिचय दिया।

गुरुभक्त सेठ श्रीरामचन्दजी उसी समय डाक्टरों को ले आए। डाक्टरों द्वारा उपचार कराने का निश्चय किया गया। अस्पताल में प्रविष्ट कराने पर भी विचार होने लगा। मगर चरित्रनायक ने स्पष्ट कह दिया—शरीर शाश्वत नहीं, कभी न कभी जाने को है। इसकी मुझे चिन्ता नहीं। रहे तो भले रहे, जाए तो चला जाए। शरीर के जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जाता। मैं विदेशी चिकित्सा नहीं कराऊंगा। डाक्टरों ने बहुतेरा विश्वास दिलाया कि किसी निषिद्ध दवा का प्रयोग नहीं किया जाएगा, किन्तु चरित्रनायक ने मौन धारण कर लिया। विवश होकर डाक्टरों को चला जाना पड़ा। एक देशी जर्राह का इलाज चालू किया गया और उसी से स्वास्थ्यलाभ हुआ।

इसे कहते है सच्ची राष्ट्रीयता!

उग्र विहार

चरितनायक के जीवन की अनेक विशेषताओं मे एक बहुत बड़ी विशेषता है—उग्र विहार की। खेद है कि आज उग्र विहार का अर्थ जल्दी-जल्दी चलना समझा जाने लगा है। अगर कोई सन्त एक ही दिन मे १५-२० माईल मार्ग पार कर लेता है तो उसे उग्रविहारी कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नही है। साधु को ईर्यासमिति से यतनापूर्वक, आगे की चार हाथ भूमि का अच्छी भांति निरीक्षण करते हुए चलना चाहिए। द्रुतगति से चलने पर ईर्यासमिति का पालन नही होता।

तो उग्रविहार का समीचीन आशय क्या है? यह मरुधरकेसरीजी की जीवनी से जाना जा सकता है। आप किसी एक स्थान पर अधिक दिनो तक नही ठहरते। जहा एक मास तक ठहरा जा सकता है वहा भी प्राय एक सप्ताह से अधिक नही ठहरते। ग्रामो मे अक्सर दो-तीन दिन ठहरते है। विशेष कारण की बात अलग है पर साधारणतया कम से भी कम ठहरना आपकी प्रकृति है। यही कारण है कि चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ महीनो मे आपके विहार का औसत करीब आठ सौ मील होता है। जिसमे १००-१५० गावो मे पर्यटन हो जाता है। वास्तव मे यही उग्रविहार है।

आपके चातुर्मास्य स्थलो की सूची देखने से विदित होगा कि आप नगरो की अपेक्षा गावो मे चौमासा करना और विहार करना अधिक पसन्द करते है। आप स्वय फर्माते है—

'गावो मे आजकल प्राय सन्त-महात्माओ का सयोग लोगो को बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है, क्योकि सन्त जन भी प्राय आवश्यक साधन-सुविधाओ की सुलभताओ के कारण बड़े-बड़े शहरो मे ही अधिक मस्त रहने लगे है। छोटी बस्तियो की ओर उनका ध्यान आकर्षित नही होता। गावो मे बहुत कम ही सन्त पुरुष पहुचते है। चातुर्मास्य जैसे चार मास का लम्बा निवास तो अत्यन्त ही दुर्लभ-सा है। फिर भी जो सन्त शुद्ध आहार पानी और खुली परिष्ठापनिका भूमि का साधन चाहते है, वह तो केवल गावो मे ही सुलभ है। शहरो मे तो वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।' मगर आपका प्रभाव बड़ा ही अद्भुत है। छोटे ग्रामो मे भी आपके भक्तजनो की भीड़ लगी रहती है। जहा आप पहुचते है वही किसी बड़े नगर का सा दृश्य खड़ा हो जाता है।

आपकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुभक्ति से प्रेरित होकर आप श्रीरघुनाथजयन्ती, भूधरजयन्ती, श्रीबुधमल गुरुजयन्ती आदि समारोह प्रतिवर्ष आयोजित करते है। लोकाशाह जयन्ती भी सोत्साह मनाते है। ऐसे अवसरो पर सहस्रो नर-नारी ग्रामो मे एकत्र होते है और उनमे आप धार्मिकता के सस्कारो का आरोपण करते है।

अन्य विशेषताए

चरितनायक की पितृपरम्परा क्षत्रियो की है जैसा कि आपके सोलकी गोत्र से प्रतीत होता है। आपके पिताश्री भी राजकीय अधिकारी रहे और बाल्यकाल मे आपका पालन-पोषण राजमाता की देखरेख मे राजमहल मे हुआ। इन सब घटनाओ का प्रभाव चरितनायक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके जीवन



दीपावली के दूसरे दिन सध्या समय ३५ ऊटो पर सवार ६५ दस्युओ ने चारो ओर से गाव को घेर लिया। दस्यु बडे ही खू ख्वार और साहसी थे। उसी दिन प्रात काल मुण्डाणा और मल्हार गावो के करीब २० जाटो का मौत के घाट उतार दिया था। उनके शरीर के वस्त्र रक्तरजित दिखाई दे रहे थे।

भयकर डाकुओ द्वारा गाव घिरा देख लोग आतकित हो उठे। जो लोग खाते-पीते थे उन्हे मौत सामने नजर आने लगी। धन के साथ प्राणो का खतरा था। ऐसी स्थिति मे लोग भाग कर चरितनायक की चरण-शरण मे आए। सबकी जिह्वा पर एक ही प्रश्न था क्या होगा ?

चरितनायक ने सबको धैर्य बधाते हुए कहा—घबराओ मत। घबराहट किसी भी मर्ज की दवा नही है। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। धर्मो '**धर्मो रक्षति रक्षित**' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

उधर दस्युओ के नेता को चरितनायक के विराजमान होने का पता चला तो उसने साथियो को आदेश दिया—गुरुदेव (चरितनायक) मेरे पिताजी के गुरु है। जहा वे विराजमान हो वहा हमे कोई अत्याचार नही करना है। जल्दी प्रस्थान करो। ऐसा न हो कि गुरुदेव से कोई उपालभ सुनना पडे।

दस्युराज कल्याणसिंहजी की गुरुदेव के प्रति यह अद्भुत श्रद्धा देख किसे विस्मय न होता! जैन एव जैनेतर जनता ने तप और अहिंसा के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा। सिद्धपुरुष के प्रभाव से जब जन्मजात हिंसक जन्तु भी हिंसा का त्याग कर देते है तो डाकू तो मनुष्य थे!

राष्ट्रीय भावना

सन्त जन प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते है। निज-पर की सकीर्ण भावना उनके निकट नही फटकती। फिर भी वे जिस देश मे जन्म लेते है, जो देश उनका कार्यक्षेत्र होता है, उसे विश्व का एक अग मान कर वे उसके उत्थान मे योग देते ही है। अन्य राष्ट्रो की अविरोधी उदार राष्ट्रीयता सन्तजनो मे भी होती है। चरितनायक के जीवन के कार्यकलापो का मन्थन करने पर हमे उसका दर्शन हुए विना नही रहता।

वि० स० १९८४ का समय स्वाधीनतासग्राम का समय था। समग्र देश अपनी दासतामुक्ति के लिए जूझ रहा था। मगर रियासतो से व्याप्त होने के कारण राजस्थान की चेतना मूर्छित-सी हो रही थी। राजाओ के प्रचण्ड आतक ने जनता को दबा रक्खा था। ऐसे समय मे रियासतो मे जागृति का मन्त्र फूकना साहस का काम था। किन्तु हमारे चरितनायक महान् साहसियो मे अग्रगण्य हैं। जिसे सत्य और न्यायसगत समझा, सारी दुनिया विरोध मे खडी हो जाय तब भी आप परवाह नही करते।

सोजतरोड—वर्षावास मे आपने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण प्रवचन किए। श्रोताओ मे नूतन स्फूर्ति और प्राणो का सचार हुआ। दासता से मुक्त होने की तडफ पैदा हो गई। दूर-दूर तक आपके जोशीले व्याख्यानो की प्रसिद्धि हुई। देश के प्रथम कोटि के नेताओ के कानो तक बात पहुच गई। उससे आकृष्ट होकर महात्मा गाधी, सरदार पटेल, भूला भाई देसाई तथा मणिलाल कोठारी आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आपका प्रवचन सुनकर सभी ने सन्तोष व्यक्त किया और गुजरात पधारने की प्रार्थना की।

इस प्रकार जहा कही भी आपका पदार्पण हुआ, आपने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने मे सुन्दर योग प्रदान किया।

आपकी राष्ट्रीयभावना धर्मसापेक्ष होती है और वह आपके जीवन का एक अग बन चुकी है।

जोधपुर मे एक बार आप करीब १५ फुट ऊचाई से जमीन पर गिर गए। नीचे जोधपुरी पत्थरो का फर्श था। इस कारण गहरी चोट ही नही आई वरन् वाम पाद की नितम्बास्थि भी भग्न हो गई। खडा होना असभव हो गया। भयानक वेदना का प्रसग था, फिर भी आपने असाधारण धैर्य एव सहनशीलता का परिचय दिया।

गुरुभक्त सेठ सीखमचन्दजी उसी समय डाक्टरों को ले आए। डाक्टरी उपचार कराने का निश्चय किया गया। अस्पताल में प्रविष्ट कराने पर भी विचार होने लगा। मगर चरितनायक ने स्पष्ट कह दिया—शरीर शाश्वत नही, कभी न कभी जाने को है। इसकी मुझे चिन्ता नही। रहे तो भले रहे, जाए तो भले जाए। शरीर के जाने पर भी मेरा कुछ नही जाता। मैं विदेशी चिकित्सा नही कराऊंगा। डाक्टरों ने बहुतेरा विश्वास दिलाया कि किसी निषिद्ध दवा का प्रयोग नही किया जाएगा, किन्तु चरितनायक ने मौन धारण कर लिया। विवश होकर डाक्टरों को लौटा जाना पडा। एक देशी जर्राह का इलाज चालू किया गया और उसी से स्वास्थ्यलाभ हुआ।

इसे कहते है सच्ची राष्ट्रीयता!

उग्र विहार

चरितनायक के जीवन की अनेक विशेषताओं मे एक बहुत बडी विशेषता है—उग्र विहार की। खेद है कि आज उग्र विहार का अर्थ जल्दी-जल्दी चलना समझा जाने लगा है। अगर कोई सन्त एक ही दिन मे १५-२० माईल मार्ग पार कर लेता है तो उसे उग्रविहारी कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नही है। साधु को ईर्यासमिति मे यतनापूर्वक, आगे की चार हाथ भूमि का भली भाति निरीक्षण करते हुए चलना चाहिए। द्रुतगति से चलने पर ईर्यासमिति का पालन नही होता।

तो उग्रविहार का समीचीन आशय क्या है? वह मरुधरकेसरीजी की जीवनी से जाना जा सकता है। आप किसी एक स्थान पर अधिक दिनो तक नही ठहरते। जहा एक मास तक ठहरा जा सकता है वहा भी प्राय एक सप्ताह से अधिक नही ठहरते। गामो मे अक्सर दो-तीन दिन ठहरते है। विशेष कारण की बात अलग है पर साधारणतया कल्प से भी कम ठहरना आपकी प्रकृति है। यही कारण है कि चातुर्मास्य के अतिरिक्त शेष आठ महीनो मे आपके विहार का औसत करीब आठ सौ मील होता है। जिसमे १००-१५० ग्रामो मे पर्यटन हो जाता है। वास्तव मे यही उग्रविहार है।

आपके चातुर्मास्य स्थलो की सूची देखने से विदित होगा कि आप नगरो की अपेक्षा गामो मे चौमासा करना और विहार करना अधिक पसन्द करते है। आप स्वय फर्माते है—

'गावो मे आजकल प्राय सन्त-महात्माओ का सयोग लोगो को बडी ही कठिनाई से प्राप्त होता है, क्योकि सन्त जन भी प्राय आवश्यक साधन-सुविधाओ की सुलभताओ के कारण बडे-बडे शहरो मे ही अधिक मस्त रहने लगे है। छोटी वस्तियो की ओर उनका ध्यान आकर्षित नही होता। गावो मे बहुत कम ही सन्त पुरुष पहुचते है। चातुर्मास्य जैसे चार मास का लम्बा निवास तो अत्यन्त ही दुर्लभ-सा है। फिर भी जो सन्त शुद्ध आहार पानी और खुली परिष्ठापनिका भूमि का साधन चाहते है, वह तो केवल गावो मे ही सुलभ है। शहरो मे तो वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।' मगर आपका प्रभाव बडा ही अद्भुत है। छोटे ग्रामो मे भी आपके भक्तजनो की भीड लगी रहती है। जहा आप पहुचते है वही किसी बडे नगर का सा दृश्य खडा हो जाता है।

आपकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुभक्ति से प्रेरित होकर आप श्रीरघुनाथजयन्ती, भूधरजयन्ती, श्रीबुधमल गुरुजयन्ती आदि समारोह प्रतिवर्ष आयोजित करते है। लौकाशाह जयन्ती भी सोत्साह मनाते है। ऐसे अवसरो पर सहस्रो नर-नारी ग्रामो मे एकत्र होते हैं और उनमे आप धार्मिकता के सस्कारो का आरोपण करते है।

अन्य विशेषताए

चरितनायक की पितृपरम्परा क्षत्रियो की है जैसा कि आपके सोलकी गोत्र से प्रतीत होता है। आपके पिताश्री भी राजकीय अधिकारी रहे और बाल्यकाल मे आपका पालन-पोषण राजमाता की देखरेख मे राजमहल मे हुआ। इन सब घटनाओ का प्रभाव चरितनायक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके जीवन



नगरों में फैली कलहाग्नि का उपशमन किया है, शान्ति, सौमनस्य और एकता की स्थापना की है और समाज का गला घोटने वाली कुरूढियों के विरुद्ध सिंहनाद किया है।

आप अतीत की अनुपम गरिमा से मंडित राजस्थान के अन्तर्गत मरुधरा की वरिष्ठ विभूति हैं। उन्होंने अपने जन्म और जीवन से उसे नूतन गौरव प्रदान किया है और उसके विश्वविश्रुत यश में चार चांद लगाए हैं।

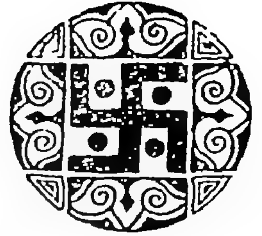
मरुधरकेसरीजी अखिल जैनसंघ-आकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, श्रमणसंघ के प्रकाशमान सूर्य हैं, आधार-स्तम्भ हैं, शोभा हैं, सजग प्रहरी हैं।

हार्दिक कामना है कि मरुधरकेसरीजी चिरजीवी होकर संघ और शासन के अभ्युदय के महान् उत्तर-दायित्व को सफलता के साथ वहन करते रहें।

०



मरुधरकेसरी और उनकी संघसेवा



चिम्मनसिंह लोढा

जैन समाज का एक इतिहास है और वह महत्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक का इतिहास यद्यपि क्रमबद्ध नही है, किन्तु पार्श्वनाथ से महावीर तक का क्रमबद्ध मिलता है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी से आज तक का इतिहास बहुत अशो मे स्पष्ट है तथा पट्टावलियो से या अन्य आधारो से आगे पीछे का क्रम प्राय बराबर मिल जाता है। जैन इतिहासकारो ने इस दिशा मे प्रयत्न नही किया, यह कहने का तो मैं साहस नही कर सकता, किन्तु जितना करना चाहिये, उतना नही किया। ऐतिहासिक गवेषणा के लिये विपुल धनराशि की जरूरत होती है तथा जीवन देने वाले व्यक्तियो की। यहा उस इतिहास तथा उस काल की मान्यताओ मे मै नही पडना चाहता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो का प्रचार था और दोनो आम्नायो के आचार्य आज तक होते आये है। उदभट विद्वान, साहित्यकार तथा क्रियाकाण्डी सभी तरह के आचार्यों तथा सन्तो की जीवनिया मिलती है। बडे बडे राजा महाराजा भी जैनधर्मावलम्बी थे तथा उन्होने जैनधर्म की महत्वपूर्ण सेवा की है।

चीज जब पुरानी पड जाती है तो उसमे विकार पैदा होता ही है। विभिन्न युगो की विभिन्न परम्पराये! पार्श्वनाथ और महावीर की परम्पराओ मे भी कितना अन्तर? पार्श्वनाथयुग की मान्यताओ तथा परम्पराओ मे महावीर ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, यह कह दू तो भी चल सकता है। हर चीज के अच्छाई और बुराई दो पहलू हो सकते हैं। समय के साथ परिवर्तन अवश्यभावी है। जब किसी बात की अति हो जाती है तो उसमे परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। तापस से सन्त हुए और सन्त से यति। धर्म के नाम पर जब यतियो का पाखण्ड अत्यधिक बढ गया तो क्रान्ति का आना स्वाभाविक हो गया।

पन्द्रहवी शताब्दी की बात है। धर्मप्राण लौंकाशाह धर्मक्षेत्र मे अवतरित हुए। लौंकाशाह का जन्म कहा हुआ तथा किस सवत् मे हुआ, इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। विभिन्न लेखको ने विभिन्न जन्म स्थान तथा विभिन्न जन्म-सवत् बताये हैं। हमारी धारणा यही है कि उनका जन्मस्थान अरहटवाडा था तथा जन्म सवत् १४७२। धर्मप्राण लौंकाशाह का कार्यक्षेत्र निस्सन्देह अहमदाबाद रहा है, क्योकि उस काल मे अहमदाबाद धर्म का केन्द्र-स्थान था तथा यहा यतियो का बोलबाला था। यतियो मे भी चमत्कारी यतियो की कमी नही थी, किन्तु धर्म अलग है और चमत्कार अलग। हमारा सम्बन्ध धर्म का था। धार्मिक दृष्टि से शिथिलाचार बेहद घर कर गया था। उसे धर्मप्राण लौंकाशाह सह न सके। उन्हे बचपन मे शास्त्रवाचन का शौक था, किन्तु यतियो ने ऐसी स्थिति पैदा कर रखी थी कि गृहस्थ को शास्त्र मिल ही न सके। लौंकाशाह लिखते बडा सुन्दर थे। यह बात जब यतियो को मालूम हुई तो जिन्हे जिस शास्त्र के लिखवाने का काम पडता, वे लौंकाशाह को बुलवाते। लौंकाशाह जो चाहते थे, वही होने लगा। वे लिख कर देते और उन्हें जानने को मिलता। अनेक ग्रन्थो के लेखन का काम उन्होने किया, अत ग्रन्थो मे उपपादित धर्म के रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक था। गम्भीर जानकारी, ज्ञान तथा मनन के पश्चात शनै शनै उन्होने जबान खोली तो धर्म के ठेकेदार आग बबूला हो गये। लौंकाशाह चाटूप्रवृत्ति को किसी भी हालत मे सहन करने की स्थिति मे नही थे, अत वे प्रगट मे आये और सत्य धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनके प्रवचनो को यति तथा उनके भक्त सह न सके और हर कीमत पर उस प्रचार को रुकवाना चाहा। लौंकाशाह तो चूकि युग-पुरुष थे अत प्रलोभन, भय या आतक किसी का उन पर प्रभाव नही पडा। वे निर्भीकतापूर्वक आगमप्ररूपित धर्म के प्रचार मे लग गये। उनके तर्कसगत प्रवचनो का प्रभाव भी वैसा ही पडा और असख्य नरनारी उनके भक्त हो गये। यतियो के पाखण्ड और शिथिलाचार का भण्डा फूटा और

लोगों को वास्तविक धर्म के दर्शन हुए।

धर्म के नाम पर महत्वपूर्ण क्रान्ति हुई। यतियों की दूकानदारी समाप्त हुई। यही समय स्थानकवासी समाज का जन्मकाल हुआ। आगमानुरूप सन्तपरम्परा प्रारम्भ हुई जिस की शाखायें-उपशाखायें विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न नामों से चल रही है।

लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति तथा संघसेवा के तौर-तरीका की मरुधरकेसरी के जीवन पर गहरी छाप है। वे हर वर्ष कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को लोंकाशाह-जयन्ती का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनवाते हैं। आसपास के क्षेत्रों से सैकड़ों स्त्री-पुरुष आकर समारोह में सम्मिलित होते हैं। जयन्ती और भी स्थानों पर मनाई जाती है, किन्तु जो जोश और उत्साह यहां होता है, अन्यत्र दिखाई नहीं देता। मरुधरकेसरी स्वयं कई बार कह भी चुके कि मुझे तो प्रेरणा ही लोंकाशाहजी के जीवन से मिलती है। लोंकाशाह हमारे धर्मशासक हैं अतः उनकी जयन्ती मनाना हमारा धर्म है। यही भावना सर्वत्र होनी चाहिये।

मरुधरकेसरी भी धर्मप्राण लोंकाशाह की तरह क्रान्तिकारी विचारों के सन्त हैं। वे जो सोचते हैं, कर गुजरते हैं। सन्तबल अवश्य कम है, किन्तु मानबल की कमी नहीं। उनके भक्त उनके नाम पर निछावर हैं। मरुधर-केसरी के जीवन में अनुपम ओज तथा धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा है। धर्म के किसी भी काम में पीछे रहना, उनकी प्रकृति के विरुद्ध है।

यों तो दीक्षाकाल से ही संघसेवा की ओर उनका झुकाव रहा है, किन्तु मैं यहां उनके जीवन की संघसेवा सम्बन्धी उन घटनाओं को ही प्रस्तुत करूंगा, जिन्हें मैंने अपनी आंखों से देखा है। समय परिवर्तनशील है अतः समय के साथ हर चीज में परिवर्तन आना ही है। स्थानकवासी समाज की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से दुखी होकर धर्मवीर दुर्लभजीभाई आदि श्रावकों ने संगठन का शंखनाद फूंका। साम्प्रदायिक भावनाओं को समाप्त करने का एक ही तरीका हो सकता था और वह था संघऐक्य-श्रमणसंघ का निर्माण। दुर्लभजीभाई इस पुण्यकार्य के लिये निकल पड़े। सभी सम्प्रदायों के प्रमुख सन्तों से उन्होंने सम्पर्क साधा। वे मरुधरकेसरी की सेवा में भी गये। मरुधरकेसरी उस समय जोधपुर में विराजते थे। मरुधरकेसरी के उग्र स्वभाव के कारण हर मिलनेवाला व्यक्ति हिचकिचाता था, अतः दुर्लभजीभाई में भी उस भावना का होना स्वाभाविक था। वे मरुधरकेसरी की सेवा में पहुंचे। वन्दनापूर्वक वार्तालाप आरम्भ हुआ। उस समय के कुछ शब्द आज भी कानों में गूंज रहे हैं।

दुर्लभजी भाई ने कहा —मिश्री मीठी होती है, उसमें से रस टपकता है, उसके रसास्वादन का लाभ समाज को मिलना चाहिये। साम्प्रदायिकता के कारण समाज में जो कटुता व्याप्त है, उसे मिठास से दूर करना है तथा संघ-ऐक्य का काम हाथ में लेना है।

मरुधरकेसरी —वाणी में कठोरता प्रतीत हो सकती है, किन्तु हृदय में मिठास है। आप जिस पवित्र योजना को लेकर आये हैं, मैं हृदय से उसका स्वागत करता हूं। इस नश्वर शरीर से आप जो भी सेवा लेना चाहें, ले सकते हैं। संघ ऐक्य के लिये मेरी सभी सेवायें समर्पित समझिये।

मरुधरकेसरी उसी रोज से जुट पड़े। योजनानुसार सर्वप्रथम मरुधरा के श्रावकों का सम्मेलन बगड़ी नगर में आयोजित किया। सभी मारवाड़ी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में उपस्थित हुए तथा श्रीसरदारमलजी छाजेड़ शाहपुरा निवासी की अध्यक्षता में सम्मेलन सम्पन्न हुआ। श्रावक जब एक राय हो गये तो सन्तों को एकत्रित करने की ठानी। अजमेर में साधुसम्मेलन करने का निश्चय हो ही चुका था, अतः वहां जाने के पूर्व आपसी विचार-विनिमय तो कर ही लेना चाहिये, इस दृष्टि से प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी म०, वयोवृद्ध मुनिश्रीताराचन्दजी म०, सरलस्वभावी मुनिवर्य श्रीहजारीमलजी स्वामी तथा चौथमलजी म०, तपस्वी मुनिश्रीचतुर्भुजजी महाराज, वयोवृद्ध श्रीशार्दूलसिंहजी, पं० मुनि श्रीछगनमलजी महाराज तथा फतेहचन्दजी म० आदि सभी से पत्रव्यवहार किया तथा मिलने का स्थान पाली तय हुआ।





स्वयं मरुधरकेसरी सम्मेलन के पहले पाली पहुचे तथा श्रावकों मे जोश फूंका । मरुधरमुनि-सम्मेलन का यह रूप हो सकता है, यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी । एक मास पहिले से ही विचित्र चहल-पहल थी । बूढे जवान बच्चे सभी के मुह पर साधु-सम्मेलन की चर्चा । सभी लोग सम्मेलन की तैयारी मे व्यस्त । कही स्थानकों मे सफाई हो रही है तो कही अतिथियों के लिये मकानों की देखभाल । कही पण्डाल बनाने की तैयारी तो कही सम्मेलन के बोर्ड लगाने की । जोश फूक कर वातावरण ही धर्ममय-सा (सम्मेलनमय) बना दिया । सम्मेलन के पहले धर्मवीर दुलभजीभाई तथा श्री धीरजभाई पाली आये और वातावरण देखकर चकित हो गये । दुलभजीभाई ने मरुधरकेसरी से कहा—मुझे प्रसन्नता है कि आपने मेरी जोधपुर यात्रा को सफल कर दिया । आप जैसा उत्साह तथा सघप्रेम सभी सन्तो मे व्याप्त हो जाय तो समाज का कल्याण हो जाय । मुझे यहाँ की स्थिति से बडी प्रसन्नता है । इस सम्मेलन का प्रभाव अन्य प्रान्तो पर बहुत अच्छा पडेगा तथा वृहत् सम्मेलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जायगा ।

मरुधरकेसरी ने वहा की व्यवस्था को तो सम्भाला ही, आने वाले सन्तो के स्वागत की भी सुन्दर योजना बनाई । युवक सन्त उत्साह के साथ जाते और सन्तो का स्वागत करते । २०-२०, ३०-३० मील दूर श्रावकों के झुण्ड जाते और सन्तो की जय-जयकार करते । पधारने वाले सन्तो के दिल भी हरे हो गये । प्रचार ऐसा हुआ कि दूर-दूर से स्वागत-समिति के पास दर्शनार्थियों के आगमन एवं आवासव्यवस्था के लिए पत्र तथा तार आने लगे । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, खानदेश-बरार आदि प्रदेशो से लोग पहुचने लगे । मरुधरकेसरी जमे हुए थे ही, अत उत्साह मे अभिवृद्धि होती रही । कई युवक तो आपे को भूल गये । जब देखा, मरुधरमुनि-सम्मेलन का काम या उसी की चर्चा ।

ज्यो-ज्यो सम्मेलन का समय नजदीक आता, त्यों-त्यो, लोगो के उत्साह मे वृद्धि होती ।

सन्तो का आगमन —सम्मेलन से पहले ही एक-एक करके सभी सन्त पाली पहुच गये । क्या उनका स्वागत था ! तीन-तीन चार-चार मील तक स्वागतार्थ स्त्री-पुरुष सामने जाते, साथ मे मरुधरकेसरी होते । जय-जयकार के साथ सन्तों का नगर मे प्रवेश होता । आसपास के जैन बडी सख्या मे आकर यही बस गये थे तथा बाहर से भी काफी लोग आगये थे, अत स्वागत मे अपार भीड होती थी । सभी सन्तो का ऐसा ही स्वागत हुआ, क्योंकि साम्प्रदायिकता का त्याग करने के लिये ही सम्मेलन हो रहा था, अत आने मे साम्प्रदायिक दृष्टि होने का सवाल ही नही था । जो उस समय नही पहुचे, उन्हे पश्चात्ताप करते ही देखा या सुना । लोग पाली नगर का अहोभाग्य मान रहे थे ।

आपस मे वर्षों से न मिलने वाले सन्तो के दिल भी उदार ! बिना किसी के प्रयत्न के मनोमालिन्य समाप्त । मतभेद वाले सन्त भी ऐसे मिलते, मानो इनमे कभी मतभेद था ही नही । वातावरण का प्रभाव पडता ही है । शिक्षा लेने के लिये एक सुन्दर अवसर था ।

सम्मेलन का दिन आया । प्रथम तथा अन्तिम दिन की सभा का दृश्य देखने जैसा था । समय की बलिहारी है । मगलाचरण के पश्चात् मरुधरकेसरी का प्रारम्भिक प्रवचन हुआ, जिसमे उन्होने सम्मेलन की रूपरेखा रक्खी । रही सही कमी की उन्होंने यहा पूर्ति कर दी । लोगो मे ऐसा जोश भरा कि, सम्मेलन के सिवाय कुछ सूझे ही नही । बाद मे एक-एक करके सभी प्रमुख सन्तो के प्रवचन हुए । एकता के विषय मे सभी एकमत थे ।

सघऐक्य तथा श्रमणसघ के सम्बन्ध मे सभी के एक से एक बढकर प्रवचन । बीच-बीच मे तालियो के स्थान पर जय-जयकार । ऐसे तो नेतृत्व प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा ही था, मानो सचालन मरुधरकेसरीजी कर रहे हो । वास्तविकता भी यही थी । मरुधरकेसरी के दिल का ही जौहर था कि सम्मेलन का यह रूप बना ! इसे कौन प्रान्तीय सम्मेलन कहता । मीटिंग मे करीब पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुष थे । छोटे से नगर मे, जहा स्थानकवासी जैनों के मुश्किल से ६०० घर होंगे, इतना बडा समूह ! जैन-जैनेतर सभी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे । सभी आतिथ्य तथा सम्मेलन की सफलता के लिये तत्पर थे । मरुधरकेसरी अपने गुरुतर उत्तर-दायित्व को अनुभव कर रहे थे । प्रथम दिन की सभा के बाद सन्तमण्डल सम्मेलन सम्बन्धी काम मे लग गया । यो देखा जाय तो सन्तो के उदार प्रवचनो के पश्चात् करना शेष रह ही क्या गया था ? प्रेम से मिले, वन्दना की, साथ बैठे तथा

सभी ने एक आवाज से अजमेर-सम्मेलन का समर्थन किया। यह सब कुछ होने के बावजूद सम्मेलन का होना ही। सम्मेलन हुआ। वातावरण का क्या कहना ? जिधर देखो अपार जनसमूह तथा जय-जयकार।

प्रस्तावों की रूपरेखा तैयार करने मे भी मरुधरकेसरी का प्रमुख भाग। सभी प्रस्तावों तथा निश्चयों मे एकता के दर्शन। धर्मवीर दुर्लभजीभाई की प्रसन्नता का पार नहीं था। यहा के वातावरण, जोश तथा उत्साह को देखकर वे गद्‌गद हो गये। कार्रवाई समाप्त हुई। अन्दर क्या किया, यह अन्दर ही था। किसी चर्चा की हवा बाहर जाती भी थी तो उतनी हुई। सम्मेलन के अन्तिम दिन विशाल सभा हुई। जिधर देखो उधर ही दूर-दूर तक विशाल जन-समूह दिखाई देता। प्रवर्तक मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने सगठन तथा श्रमणसघ के सम्बन्ध मे हृदयस्पर्शी विचार व्यक्त किये। सभी सन्तो के दिल मे प्रसन्नता थी तथा अजमेर-सम्मेलन के लिये उत्साह और जोश था। मरुधरकेसरी जब बोलते तब तो ऐसा लगता था, मानो उनके रोम-रोम मे श्रमणसघ समाया हुआ है।

इस सम्मेलन मे अन्य आवश्यक कार्रवाई तो हुई, किन्तु एक निश्चय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सम्मेलन अजमेर मे होने जा रहा था तथा यह क्षेत्र खास तौर से मरुधर मुनियो का है अत मरुधर-मुनि सम्मेलन ने यह भी निर्णय किया कि बाहर से पधारने वाले सन्तो का स्वागत करने तथा मार्ग की कठिनाई न होने दिये जाने की दृष्टि से उन्हे लेने जायें। इस सब काम की जिम्मेदारी का वहन करने की घोषणा की। घोषणा के साथ जय-जयकार हुई और ऐसी हुई, मानो आकाश गूज उठा हो। मरुधरसम्मेलन के तुरन्त पश्चात् तरुण मुनियो का दल साथ लेकर मरुधरकेसरीजी आगे के काम मे जुट गये। कुछ ऐसा भी है कि उन्हे बेकाम रहना सुहाता भी कम है।

साधु-सम्मेलन के लिये देश के सभी भागो से सन्तमण्डल अजमेर के लिये निकल पड़े। आबू, जयपुर तथा भीलवाडा तक स्वागतकर्ता सन्त पहुचे गये और अतिथि सन्तो की सेवा मे लग गये। सन्तो के पैर लहू लुहान हो गये, किन्तु न घबडाये और न विचलित हुए। सामने से आने वाले महापुरुषो के पैरो की भी यही हालत थी।

दक्षिण भारत से, पजाब से, सौराष्ट्र और मध्यप्रदेश से, उत्तरप्रदेश और देहली से, चारो ओर से सन्त तेजी से अजमेर की ओर बढ रहे थे। सभी का भावभीना स्वागत राजस्थानी सन्तो ने किया और उन्हे लेकर अजमेर पहुचे। इस स्वागत अभियान से मरुधरकेसरी की युवक सन्तमण्डली की प्रतिष्ठा मे चार चाद लग गये। अजमेर मे लगभग पाच सौ सन्त-सतिया तथा एक लाख से ऊपर श्रावक-श्राविकाये एकत्रित हुए। अजब समेला था। मरुधरकेसरी ने इस महासम्मेलन मे भी अपना महत्त्वपूर्ण "पार्ट" अदा किया और यशस्वी बने। स्थानकवासी समाज के इतिहास मे शायद यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विशाल धर्ममेला था। जैनो तथा अजैनो की दृष्टि मे सगठन के इस महामेले के फलस्वरूप स्थानकवासी समाज को अच्छा यश मिला।

सम्मेलन मे रही कमी की पूर्ति के लिये सादडी मारवाड तथा सोजत, भीनासर मे भी सम्मेलन हुए तथा वहा भी सैकडो सन्त तथा महासतिया तथा असख्य नर-नारी एकत्रित हुए। सघऐक्य-श्रमणसघ निर्माण के महत्त्व का आज कोई किसी रूप मे महसूस करे, किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतेगा, उसका महत्व बढेगा।

सादडी-सम्मेलन के समय तो मरुधरकेसरी का वही स्थान था जो मरुधर-मुनि-सम्मेलन पाली के समय था। सादडी मरुधरकेसरी का प्रमुख क्षेत्र है। सादडी सघ का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। गोडवाड प्रदेश भर मे प्रमुख रूप से सादडी ही एक ऐसा शहर है, जहा स्थानकवासियो के घर हैं। धर्म-रक्षा के लिये इन्हे बडे-बडे कष्ट सहने पडे, किन्तु ये विचलित नही हुए। मरुधरकेसरी तथा इनके गुरुओं ने समय-समय पर इन्हे साज दिया तथा धर्म पर टिके रहने के लिए हिम्मत दिलाई।

इनके भक्त यहा बडी सख्या मे है, अत यहा साधुसम्मेलन होने का बहुत बडा श्रेय मरुधरकेसरी को ही है। पहले पहुच कर आवश्यक व्यवस्था करवाने मे उनका अच्छा योग रहा। लोगो मे जोश भरने की कला मे तो आप सिद्धहस्त हैं ही। ऐसा जोश भरा कि लोग साधु-सम्मेलन, सेवा तथा अतिथिसत्कार के लिए पागल से हो गये। बाहर से आकर भी सैकडो घर बस गये तथा उनके चौके चलने लगे। कान्फ्रेन्स के अधिवेशन तीनो ही सम्मेलनो



स्वय मरुधरकेसरी सम्मेलन के पहले पाली पहुचे तथा श्रावको मे जान फूका । मरुधरमुनि-सम्मेलन का यह रूप हो सकता है, यह कल्पना ही नही हो सकती थी । एक मास पहिले से ही विचित्र चहल-पहल थी । बूढे जवान बच्चे सभी के मुह पर साधु-सम्मेलन की चर्चा । सभी लोग सम्मेलन की तैयारी मे व्यस्त । कही स्थानको मे सफाई हो रही है तो कही अतिथियो के लिये मकानो की देखभाल । कही पण्डाल बनाने की तैयारी तो कही सम्मेलन के बोर्ड लगाने की । जोश फूक कर वातावरण ही धर्ममय-सा (सम्मेलनमय) बना दिया । सम्मेलन के पहले धर्मवीर दुर्लभजीभाई तथा श्री धीरजभाई पाली आये और वातावरण देखकर चकित हो गये । दुर्लभजीभाई ने मरुधरकेसरी से कहा—मुझे प्रसन्नता है कि आपने मेरी जोधपुर यात्रा को सफल कर दिया । आप जैसा उत्साह तथा सत्प्रेम सभी सन्तो मे व्याप्त हो जाय तो समाज का कल्याण हो जाय । मुझे यहाँ की स्थिति से बडी प्रसन्नता है । इस सम्मेलन का प्रभाव अन्य प्रान्तो पर बहुत अच्छा पडेगा तथा बृहत् सम्मेलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जायगा ।

मरुधरकेसरी ने वहा की व्यवस्था को तो सम्भाला ही, आने वाले सन्तो के स्वागत की भी सुन्दर योजना बनाई । युवक सन्त उत्साह के साथ जाते और सन्तो का स्वागत करते । २०-२०, ३०-३० मील दूर श्रावको के झुण्ड जाते और सन्तो की जय-जयकार करते । पधारने वाले सन्तो के दिल भी हरे हो गये । प्रचार ऐसा हुआ कि दूर-दूर से स्वागत-समिति के पास दर्शनार्थियो के आगमन एव आवासव्यवस्था के लिए पत्र तथा तार आने लगे । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, खानदेश-बरार आदि प्रदेशो से लोग पहुचने लगे । मरुधरकेसरी जमे हुए थे ही, अत उत्साह मे अभिवृद्धि होती रही । कई युवक तो आपे को भूल गये । जब देखो, मरुधरमुनि-सम्मेलन का काम या उसी की चर्चा ।

ज्यो-ज्यो सम्मेलन का समय नजदीक आता, त्यो-त्यो, लोगो के उत्साह मे वृद्धि होती ।

सन्तों का आगमन —सम्मेलन से पहले ही एक-एक करके सभी सन्त पाली पहुच गये । क्या उनका स्वागत था ! तीन-तीन, चार-चार मील तक स्वागतार्थ स्त्री-पुरुष सामने जाते, साथ मे मरुधरकेसरी होते । जय-जयकार के साथ सन्तो का नगर मे प्रवेश होता । आसपास के जैन बडी सख्या मे आकर यही बस गये थे तथा बाहर से भी काफी लोग आगये थे, अत स्वागत मे अपार भीड होती थी । सभी सन्तो का ऐसा ही स्वागत हुआ, क्योकि साम्प्रदायिकता का त्याग करने के लिये ही सम्मेलन हो रहा था, अत जाने मे साम्प्रदायिक दृष्टि होने का सवाल ही नही था । जो उस समय नही पहुचे, उन्हे पश्चात्ताप करते ही देखा या सुना । लोग पाली नगर का अहोभाग्य मान रहे थे ।

आपस मे वर्षों से न मिलने वाले सन्तो के दिल भी उदार ! बिना किसी के प्रयत्न के मनोमालिन्य समाप्त । मतभेद वाले सन्त भी ऐसे मिलते, मानो इनमे कभी मतभेद था ही नही । वातावरण का प्रभाव पडता ही है । शिक्षा लेने के लिये एक सुन्दर अवसर था ।

सम्मेलन का दिन आया । प्रथम तथा अन्तिम दिन की सभा का दृश्य देखने जैसा था । समय की बलिहारी है । मगलाचरण के पश्चात् मरुधरकेसरी का प्रारम्भिक प्रवचन हुआ, जिसमे उन्होने सम्मेलन की रूपरेखा रखखी । रही सही कमी की उन्होने यहा पूर्ति कर दी । लोगो मे ऐसा जोश भरा कि, सम्मेलन के सिवाय कुछ सूझे ही नही । बाद मे एक-एक करके सभी प्रमुख सन्तो के प्रवचन हुए । एकता के विषय मे सभी एकमत थे ।

सघऐक्य तथा श्रमणसघ के सम्बन्ध मे सभी के एक से एक बढकर प्रवचन । बीच-बीच मे तालियो के स्थान पर जय-जयकार । ऐसे तो नेतृत्व प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा ही था, मानो सचालन मरुधरकेसरीजी कर रहे हो । वास्तविकता भी यही थी । मरुधरकेसरी के दिल का ही जौहर था कि सम्मेलन का यह रूप बना ! इसे कौन प्रान्तीय सम्मेलन कहता । मीटिंग मे करीब पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुष थे । छोटे से नगर मे, जहा स्थानकवासी जैनो के मुश्किल से ६०० घर होगे, इतना बडा समूह ! जैन-जैनेतर सभी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे । सभी आतिथ्य तथा सम्मेलन की सफलता के लिये तत्पर थे । मरुधरकेसरी अपने गुरुतर उत्तर-दायित्व को अनुभव कर रहे थ । प्रथम दिन की सभा के बाद सन्तमण्डल सम्मेलन सम्बन्धी काम मे लग गया । यो देखा जाय तो सन्तो के उदार प्रवचनो के पश्चात् करना शेष रह ही क्या गया था ? प्रेम से मिले, वन्दना की, साथ बैठे तथा

सभी ने एक आवाज से अजमेर-सम्मेलन का समर्थन किया। यह सब कुछ होने के बावजूद सम्मेलन तो होना ही। सम्मेलन हुआ। वातावरण का क्या कहना ? जिधर देखो अपार जनसमूह तथा जय-जयकार।

प्रस्तावो की रूपरेखा तैयार करने मे भी मरुधरकेसरी का प्रमुख भाग। सभी प्रस्तावो तथा निश्चयो मे एकता के दर्शन। धर्मवीर दुर्लभजीभाई की प्रसन्नता का पार नही था। यहा के वातावरण, जोश तथा उत्साह को देखकर वे गद्गद हो गये। कारवाई समाप्त हुई। अन्दर क्या किया, वह भ दर ही था। किसी चर्चा की हवा बाहर आती भी थी तो उडती हुई। सम्मेलन के अन्तिम दिन विशाल सभा हुई। जिधर देखो उधर ही दूर-दूर तक विराट जन-समूह दिखाई देता। प्रवर्तक मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने सगठन तथा श्रमणसघ के सम्बन्ध मे हृदयस्पर्शी विचार व्यक्त किये। सभी सन्तो के दिल मे प्रसन्नता थी तथा अजमेर-सम्मेलन के लिए उत्साह और जोश था। मरुधरकेसरी जब बोलते तब तो ऐसा लगता था, मानो उनके रोम-रोम मे श्रमणसघ समाया हुआ है।

इस सम्मेलन मे अन्य आवश्यक कारवाई तो हुई, किन्तु एक निश्चय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सम्मेलन अजमेर मे होने जा रहा था तथा यह क्षेत्र खास तौर से मरुधर मुनियो का है अत मरुधर-मुनि सम्मेलन ने यह भी निर्णय लिया कि बाहर से पधारने वाले सन्तो का स्वागत करने तथा मार्ग की कठिनाई से राहत मिले इस दृष्टि से उन्हे लेने जावें। इस सब काम की जिम्मेदारी का वहन करने की घोषणा की। घोषणा के साथ जय-जयकार हुई और ऐसी हुई, मानो आकाश गूज उठा हो। मरुधर-सम्मेलन के तुरन्त पश्चात् तरुण मुनियो का सहयोग लेकर मरुधरकेसरीजी आगे के काम मे जुट गये। कुछ ऐसा भी है कि उन्हे बेकाम रहना सुहाता भी कम है।

साधु-सम्मेलन के लिये देश के सभी भागो से सन्तमण्डल अजमेर के लिये निकल पडे। आबू, जयपुर तथा भीलवाडा तक स्वागतकर्त्ता सन्त पहुचे गये और अतिथि सन्तो की सेवा मे लग गये। सन्तो के पैर लहू लुहान हो गये, किन्तु न घबडाये और न विचलित हुए। सामने से आने वाले महापुरुषो के पैरो की भी यही हालत थी।

दक्षिण भारत से, पजाब से, सौराष्ट्र और मध्यप्रदेश से, उत्तरप्रदेश और देहली से, सभी ओर से सन्त तेजी से अजमेर की ओर बढ रहे थे। सभी का भावभीना स्वागत राजस्थानी सन्तो ने किया और उन्हे लेकर अजमेर पहुचे। इस स्वागत अभियान मे मरुधरकेसरी की युवक सन्तमण्डली की प्रतिष्ठा मे चार चाद लग गये। अजमेर मे लगभग पाच सौ सन्त-सतिया तथा एक लाख से ऊपर श्रावक-श्राविकाये एकत्रित हुए। अजब समेला था। मरुधरकेसरी ने इस महासम्मेलन मे भी अपना महत्त्वपूर्ण "पार्ट" अदा किया और यशस्वी बने। स्थानकवासी समाज के इतिहास मे शायद यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विशाल धर्ममेला था। जैनो तथा अजैनो की दृष्टि मे सगठन के इस महामेले के फलस्वरूप स्थानकवासी समाज को अच्छा यश मिला।

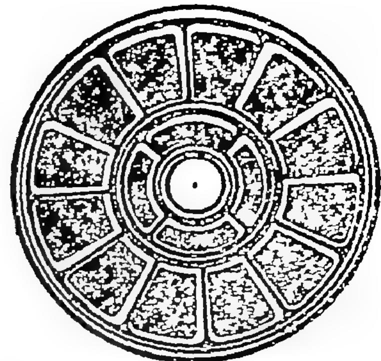
सम्मेलन मे रही कमी की पूर्ति के लिये सादडी मारवाड तथा सोजत, भीनासर मे भी सम्मेलन हुए तथा वहा भी सैकडो सन्त तथा महासतिया तथा असख्य नर-नारी एकत्रित हुए। सघऐक्य-श्रमणसघ निर्माण के महत्त्व को आज कोई किसी रूप मे महसूस करे, किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतेगा, उसका महत्व बढेगा।

सादडी-सम्मेलन के समय तो मरुधरकेसरी का वही स्थान था जो मरुधर-मुनि-सम्मेलन पाली के समय था। सादडी मरुधरकेसरी का प्रमुख क्षेत्र है। सादडी सघ का एक महत्वपूर्ण इतिहास है। गोडवाड प्रदेश भर मे प्रमुख रूप से सादडी ही एक ऐसा शहर है, जहा स्थानकवासियो के घर है। धर्म-रक्षा के लिये इन्हे बडे-बडे कष्ट सहने पडे, किन्तु ये विचलित नही हुए। मरुधरकेसरी तथा इनके गुरुओ ने समय-समय पर इन्हें साज दिया तथा धर्म पर टिके रहने के लिए हिम्मत दिलाई।

इनके भक्त यहा बडी सख्या मे हैं, अत यहा साधुसम्मेलन होने का बहुत बडा श्रेय मरुधरकेसरी को ही है। पहले पहुच कर आवश्यक व्यवस्था करवाने मे उनका अच्छा योग रहा। लोगो मे जोश भरने की कला मे तो आप सिद्धहस्त हैं ही। ऐसा जोश भरा कि लोग साधु-सम्मेलन, सेवा तथा अतिथिसत्कार के लिए पागल से हो गये। बाहर से आकर भी सैकडो घर बस गये तथा उनके चौके चलने लगे। कान्फ्रेन्स के अधिवेशन तीनो ही सम्मेलनो

मरुधरकेसरी की संयमनिष्ठा

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मन एव इन्द्रियो को अपने वश में करने तथा प्राणियो की रक्षा करने का ही नाम सयम है। जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि पर नियत्रण प्राप्त कर लेना है, वही श्रेष्ठ साधक है। आत्मविकास के क्रम मे दो बातें महत्वपूर्ण होती है—एक तो अपने आपके दोषो का निरीक्षण-परीक्षण करना और उनके विश्लेषण द्वारा त्याग का सकल्प ग्रहण करना, दूसरे आध्यात्मिक रहस्य को समझकर, सम्यक्चारित्र को आत्मनिधि जान कर ससार के समस्त वैभव का परित्याग करना और निर्ग्रंथ होकर जिन-दीक्षा लेना। यह दृढ आस्था रखना कि जगत् मे अपने आत्मगुणो का विकास ही श्रेयस्कर है और इसी मे जीवन की सार्थकता है।

समस्त ससार इन्द्रियो का दास बना हुआ है। इस कारण प्राय प्रत्येक जीव निर्बल, दीन-हीन और पराधीन बना हुआ है। आत्मा के पराक्रम और स्वाधीनता को इन्द्रियो की दासता छीन लेती है।

आत्मा को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल, उन्नत और शक्तिशाली बनाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् सयम-निष्ठा अनिवार्य है। दिनचर्या मनुष्य की सयमनिष्ठा की कसौटी है। नियमबद्ध दिनचर्या ही प्राणी के लिए उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होती है। महान् पुरुषो की दिनचर्या मे वह विशिष्टता होती है, जो साधारण प्राणियो मे नही पाई जाती है। इस भेद (विशिष्टता) की चर्चा करते हुए श्रुतिकार ने लिखा है—

सरसव मेरु रैन दिन, सिन्धु-बिन्दु सम लेख।
शठ-पडित चाकर धनी, तिम यह अन्तर पेख॥

यदि व्यक्ति दिनचर्या मे सयम से काम लेता है, परन्तु अपने जीवन मे विषय-भोग, कलह और प्रलाप आदि को महत्व देने लग जाता है तो उसकी सयम-निष्ठा अर्थहीन हो जाती है।

सयमी जीवन बडा कठिन है। सयम के लिए सभी प्रकार के बधन आवश्यक हैं, जिससे शिथिलता नही आने पाये। जीवन मे जो कार्य हमे शान्ति के समीप पहुचा सकें, वही सयमनिष्ठा के लक्षण है। दिनचर्या को नियमबद्ध करके व्यक्ति सभी आवश्यक कार्यों को उचित रूप से निबटा सकता है और अपनी साधना मे अग्रसर हो सकता है। आत्म-साधन के लिए तो नियमित दिनचर्या अनिवार्य है।

नियमित दिनचर्या हर व्यक्ति को नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। यहा मै एक महान् योग-युक्तात्मा सत मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दिनचर्या की झाकी प्रस्तुत कर रहा हू—

मरुधरकेसरीजी ऐसे महान् व्यक्ति है जिन्होने अपनी सयमनिष्ठा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आप के जीवन मे नियमो का पालन और इन्द्रियनिग्रह उच्चस्तरीय है। आप प्रतीदिन रात्रि के पिछले प्रहर मे ढाई-तीन बजे जाग जाते हैं। सर्वप्रथम आप पचपरमेष्ठी महामत्र का १०८ बार स्मरण करते है फिर शास्त्र-स्वाध्याय मे मग्न हो अमूल्य समय का लाभ उठाते हैं। सूर्योदय के आसपास प्राचीन आध्यात्मिक सगीतबद्ध पद्यो का पठन एव

मनन आदि आवश्यक क्रिया करते है। तत्पश्चात् प्रार्थना मे पधार कर भक्तगणो को मगलपाठ सुनाते है। आपके वाचन की मधुरता से सभी मुग्ध हो उठते है। शौचादि से निवृत्त होकर पुन कविता एव लेखनकार्य मे व्यस्त हो जाते है। तत्पश्चात् व्याख्यान आदि कार्यों मे अपना समय लगाते है।

आप पहर दिन के पहले विशिष्ट कारण के बिना किसी खाद्य एव पेय पदार्थ का उपयोग नही करते। इस युग मे इस प्रकार की कठोर निष्ठा का पालन बहुत कठिन है।

आप प्रतिदिन सात द्रव्यो (वस्तुओ) का ही आहार मे उपयोग करते हैं। दूध दही और छाछ आदि गृहस्थो के निजी घरो का ही काम मे लेते है। बाजार मे खरीदी हुई किसी वस्तु का उपयोग नही करते है। व्यजन भी आप सूखा और बहुत कम (विशेषकर ५-६ तरह का) नियमानुसार ही काम मे लेते है। बाजार के मिष्ठान्न भी आप काम मे नही लेते। केवल मिश्री व दूध की वस्तु ही काम मे लेते है।

आप सादा भोजन ही पसद करते है। जिस जाति-कुल मे मासादि का प्रयोग होता है, उस के घर से आहार पानी ग्रहण नही करते। इसी व्यवस्था के कारण आप प्राय राजस्थान मे ही भ्रमण करते है। आप अपने शरीर पर भी शुद्ध खादी के बने हुए वस्त्र ही पहनते है।

आप चातुर्मास के प्रारभ मे मौन का तेला अवश्य करते है। दिवाली पर भी मौन का तेला करते है, जिसमे १०-१२ हजार सूत्र गाथाओ का स्वाध्याय किया करते है।

आप सध्या को प्रतिक्रमण के समय हमेशा मौन रहते है। रात्रि को शयन के बाद प्रार्थना के समय ही आपका मौन खुलता है। दिन मे भी १२ बजे एक घटा मौन रखते है। हर मास मे शुक्ला एकादशी और कृष्णा प्रतिपदा को मौन किया करते है। आप विदेशी दवा का प्रयोग नही करते, अत्यावश्यक होने पर देशी दवा का ही उपयोग करते है। बिना शारीरिक कारण के दिन मे शयन नही करते। हमेशा दो विगय से ज्यादा नही लगाते। आप प्रतिदिन दो बार के सिवाय आहार नही करते है। मरुधरकेसरीजी की यही दिनचर्या है।

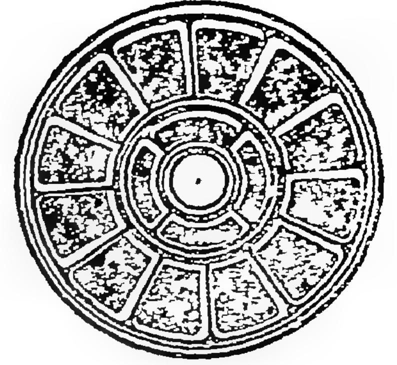
सयम की सुरक्षा के लिए किस प्रकार आहार-विहार को नियमित रखना चाहिए, इस तथ्य को आपने भलीभाति समझा है और इसी कारण आप अपनी रसना-इन्द्रिय पर पूरा नियत्रण रखते है। वस्तुत आपकी सयम-निष्ठा प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है।

•



मरुधरकेसरी की संयमनिष्ठा

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मन एव इन्द्रियो को अपने वश मे करने तथा प्राणियो की रक्षा करने का ही नाम सयम है। जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि पर नियत्रण प्राप्त कर लेता है, वही श्रेष्ठ साधक है। आत्मविकास के क्रम मे दो बाते महत्वपूर्ण होती है—एक तो अपने आपके दोषो का निरीक्षण-परीक्षण करना और उनके विश्लेषण द्वारा त्याग का सकल्प ग्रहण करना, दूसरे आध्यात्मिक रहस्य को समझकर, सम्यक्चारित्र को आत्मनिधि जान कर ससार के समस्त वैभव का परित्याग करना और निर्ग्रथ होकर जिन-दीक्षा लेना। यह दृढ आस्था रखना कि जगत् मे अपने आत्मगुणो का विकास ही श्रेयस्कर है और इसी मे जीवन की सार्थकता है।

समस्त ससार इन्द्रियो का दास बना हुआ है। इस कारण प्राय प्रत्येक जीव निर्बल, दीन-हीन और पराधीन बना हुआ है। आत्मा के पराक्रम और स्वाधीनता को इन्द्रियो की दासता छीन लेती है।

आत्मा को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल, उन्नत और शक्तिशाली बनाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् सयम-निष्ठा अनिवार्य है। दिनचर्या मनुष्य की सयमनिष्ठा की कसौटी है। नियमबद्ध दिनचर्या ही प्राणी के लिए उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होती है। महान् पुरुषो की दिनचर्या मे वह विशिष्टता होती है, जो साधारण प्राणियो मे नही पाई जाती है। इस भेद (विशिष्टता) की चर्चा करते हुए श्रुतिकार ने लिखा है—

> **सरसव मेरु रैन दिन, सिन्धु-बिन्दु सम लेख।**
> **शठ-पडित चाकर धनी, तिम यह अन्तर पेख॥**

यदि व्यक्ति दिनचर्या मे सयम से काम लेता है, परन्तु अपने जीवन मे विषय-भोग, कलह और प्रलाप आदि को महत्व देने लग जाता है तो उसकी सयम-निष्ठा अर्थहीन हो जाती है।

सयमी जीवन बडा कठिन है। सयम के लिए सभी प्रकार के बधन आवश्यक हैं, जिससे शिथिलता नही आने पाये। जीवन मे जो कार्य हमे शान्ति के समीप पहुचा सकें, वही सयमनिष्ठा के लक्षण है। दिनचर्या को नियमबद्ध करके व्यक्ति सभी आवश्यक कार्यों को उचित रूप से निबटा सकता है और अपनी साधना मे अग्रसर हो सकता है। आत्म-साधन के लिए तो नियमित दिनचर्या अनिवार्य है।

नियमित दिनचर्या हर व्यक्ति को नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। यहा मैं एक महान् योग-युक्तात्मा सत मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दिनचर्या की झाकी प्रस्तुत कर रहा हू—

मरुधरकेसरीजी ऐसे महान् व्यक्ति हैं जिन्होने अपनी सयमनिष्ठा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आप के जीवन मे नियमो का पालन और इन्द्रियनिग्रह उच्चस्तरीय है। आप प्रतीदिन रात्रि के पिछले प्रहर मे ढाई-तीन बजे जाग जाते हैं। सर्वप्रथम आप पचपरमेष्ठी महामत्र का १०८ बार स्मरण करते है फिर शास्त्र-स्वाध्याय मे मग्न हो अमूल्य समय का लाभ उठाते हैं। सूर्योदय के आसपास प्राचीन आध्यात्मिक सगीतबद्ध पद्यो का पठन एव

मनन आदि आवश्यक क्रिया करते है। तत्पश्चात् प्रार्थना मे पधार कर भक्तगणो को मगलपाठ सुनाते है। आपके वाचन की मधुरता से सभी मुग्ध हो उठते है। शौचादि से निवृत्त होकर पुन कविता एव लेखनकार्य मे व्यस्त हो जाते है। तत्पश्चात् व्याख्यान आदि कार्यों मे अपना समय लगाते है।

आप पहर दिन के पहले विशिष्ट कारण के विना किसी खाद्य एव पेय पदार्थ का उपयोग नही करते। इस युग मे इस प्रकार की कठोर निष्ठा का पालन बहुत कठिन है।

आप प्रतिदिन सात द्रव्यो (वस्तुओ) का ही आहार मे उपयोग करते है। दूध दही और छाछ आदि गृहस्थो के निजी घरो का ही काम मे लेते है। बाजार मे खरीदी हुई किसी वस्तु का उपयोग नही करते हैं। व्यजन भी आप सूखा और बहुत कम (विशेषकर ५-६ तरह का) नियमानुसार ही काम मे लेते है। बाजार के मिष्ठान्न भी आप काम मे नही लेते। केवल मिश्री व दूध की वस्तु ही काम मे लेते हैं।

आप सादा भोजन ही पसद करते है। जिस जाति-कुल मे मासादि का प्रयोग होता है, उस के घर से आहार पानी ग्रहण नही करते। इसी व्यवस्था के कारण आप प्राय राजस्थान मे ही भ्रमण करते हैं। आप अपने शरीर पर भी शुद्ध खादी के बने हुए वस्त्र ही पहनते हैं।

आप चातुर्मास के प्रारभ मे मौन का तेला अवश्य करते हैं। दिवाली पर भी मौन का तेला करते हैं, जिसमे १०-१२ हजार सूत्र गाथाओ का स्वाध्याय किया करते हैं।

आप सध्या को प्रतिक्रमण के समय हमेशा मौन रहते है। रात्रि को शयन के बाद प्रार्थना के समय ही आपका मौन खुलता है। दिन मे भी १२ बजे एक घटा मौन रखते है। हर मास मे शुक्ला एकादशी और कृष्णा प्रति-पदा को मौन किया करते है। आप विदेशी दवा का प्रयोग नही करते, अत्यावश्यक होने पर देशी दवा का ही उपयोग करते हैं। बिना शारीरिक कारण के दिन मे शयन नही करते। हमेशा दो विगय से ज्यादा नही लगाते। आप प्रतिदिन दो बार के सिवाय आहार नही करते है। मरुधरकेसरीजी की यही दिनचर्या है।

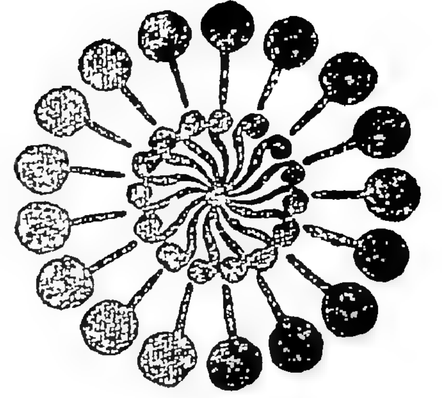
सयम की सुरक्षा के लिए किस प्रकार आहार-विहार को नियमित रखना चाहिए, इस तथ्य को आपने भली-भाति समझा है और इसी कारण आप अपनी रसना-इन्द्रिय पर पूरा नियत्रण रखते है। वस्तुत आपकी सयम-निष्ठा प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है।

●



मरुधरकेसरी की काव्य-कला

डा० नरेन्द्र भानावत,
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर



मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० उन कवियो मे हैं जिनमे एक ओर सत कवि का प्रचलित रुढ परम्पराओ के प्रति विद्रोह और भक्त कवि का अपने आराध्य के प्रति स्नेह-समर्पण है तो दूसरी ओर चमत्कारप्रिय कवि का बौद्धिक विलास और इतिवृत्तकार का तथ्यनिरूपक उल्लास है। इनकी समस्त काव्यचेतना लोक-जीवन से रस-ग्रहण करती है। यही कारण है कि क्या कथा, क्या चरित्र, क्या शिल्प, सभी मे लोक-तत्व उभर कर सामने आया है। मरुधरकेसरी के व्यक्तित्व का ओज इनके प्रभावशाली पात्रो को मिला है तो 'मिश्री' की मिठास काव्यगत शिल्प मे विभिन्न राग-रागिनियो मे घुलमिल गई है।

काव्य-रचना

मरुधरकेसरी की दृष्टि जीवन के व्यापक फलक पर टिकी है, पर वह सतही नही है। अनुभव की गहराई मे डूबकर उन्होने जीवन के सत्यो का मार्मिक उद्घाटन किया है। उनकी तलस्पर्शिनी अनुभूति और तथ्यभेदिनी दृष्टि ने इतिहास के अस्थिपजर मे नवीन प्राण-चेतना फूकी है, नवल रुधिर प्रवाहित किया है। उपदेश की दुनिया मे प्रचलित लोकदृष्टान्तो, लोक-कथाओ और लोक-उपमानो के माध्यम से रस-चर्वणा की है। 'महाभारत' के कथानक मे उन्हे जीवन के विविध रूप दिखाई दिये, अच्छे और बुरे पात्र दिखाई दिये। जीवन को सपूर्ण सदर्भों मे देखने-परखने की दृष्टि से उन्होने विशालकाय 'पाण्डव यशोरसायन' की रचना की। जीवन-सयम और जीवन-विकास मे दृष्टान्तो का बडा हाथ रहता है। शास्त्रीयता से दूर हटकर विशुद्ध लोकभूमि पर मुनिश्री ने जिस 'मधुर दृष्टान्त मजूषा' की रचना की वह वर्षों के अनुभवो का सचित कोष है। मुनिश्री की दृष्टि ज्योतिषविज्ञान की ओर भी गई। जैन ज्योतिष के सार-तत्वों को उन्होने 'बुधविलास' के तरग २ मे निबद्ध किया। इसे रचनात्मक साहित्य मे न गिनकर भले ही सूचनात्मक साहित्य मे ही क्यो न लिया जाय, पर इससे कवि की जीवन-दृष्टि को जानने का तो अवसर मिलता ही है। विभिन्न चरितकाव्यो के माध्यम से मुनिश्री ने कर्मवाद, जीवनाचार, जीवनादर्श की ओर सकेत किया है।

मुनिश्री ने सौ से भी अधिक ग्रथो का प्रणयन किया है। उनकी सूची इस प्रकार है—

श्रीमरुधरकेसरीविरचित साहित्य (प्रकाशित)

१	पाडव यशोरसायन	(महाभारत)
२.	मरुधरा के महान् सत	(८ चरित्र)
३	सकल्पविजय	(३५ चरित्र)
४	सच्ची माता का सपूत	(गजसिंह चरित्र)
५	नव निधान	(नव चरित्र)

६ मधुर पचामृत (५ चरित्र)
७ पतगसिंह चरित्र
८ वसन्त-माधा मजुघाप चरित्र
९ भविष्यदत्त चरित्र
१० गोविन्दसिंह चरित्र
११ शीललता चरित्र
१२ विनयवती चरित्र
१३ वकचूल चरित्र
१४ वसदत्त-चरित्र
१५ पुण्यवती चरित्र
१६ असाढा ठाकुर चरित्र
१७ मदनरेखा चरित्र
१८ शीलसिंह चरित्र
१९ कयवन्नाशाह चरित्र
२० मान मुनि चरित्र
२१ क्रातिकारी वीर लोकाशाह (हरिगीतिका)
२२ धर्मवीर लोकाशाह (राजस्थानी)
२३ धर्मप्राण लोकाशाह (गद्य)
२४ दिगम्बरमतसमीक्षा (गद्य)
२५ क्या मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है ? (गद्य)
२६ मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त नही है (गद्य)
२७ सच्चा सपूत (गद्य)
२८ समलोट का सफन्दर (गद्य)
२९ भायलारो भीडू (गद्य)
३० टणकाई रो तीर (गद्य)
३१ मानव बनो (गद्य)
३२ अहिंसा (गद्य)
३३ आदतरो ओखद (नाटक)
३४ बुध-विलास जैनज्योतिष (गद्य पद्य)
३५ बुध-विलास द्वितीय भाग (गुरुशिष्य सवाद) (पद्य-गद्य)
३६ बुध बावनी (पद्य)
३७ पद्यप्रबन्धपट्टावली (पद्य)
३८ श्रमणसुरतरु (चार्ट)
३९ जैन दिल खुश बहार (भाग १-२)
४० जैन समाज सुधार (भजन)
४१ जैन सगीत सुधार (भजन)
४२ मधुर वीणा (भजन)
४३ नवरत्नलता (भजन)
४४ मिश्री के मोदक (भजन)
४५ मिश्री का कुजा (भजन)





४६ मिश्री के रवे (भजन)
४७ मधुर मलय सगीतमाला (भजन)
४८ मीठी वशी (भजन)
४९ मोहन-सोहन सवाद (नाटक)
५० जैन मगलमाला (भजन)
५१ अछूतो के अपमान का फल (गद्य)
५२ मधुरगायन (भजन)
५३ मधुर स्तवनवाटिका (भजन)
५४ गुरुभक्तिभजनमाला भाग १-२ (भजन)
५६ वीरदल गायन (भजन)
५५ मधुर काव्य (भजन)
५७ मधुर कविता कुज (भजन)
५८ अमृत-गुटका (भजन)
५९ मधुर रूपमाला (भजन)
६० मधुर स्तवन सगीत (भजन)
६१ मिश्री के लड्डू भाग १, २, ३ (भजन)
६२ चम्पा भजनामृत (भजन)
६३ मधुर काव्य (द्वि० भाग) (भजन)
६४ सुन्दर-मुख चपेटिका (भजन)
६५ मधुर शिक्षा खडकाव्य (पद्य)
६६ मनोहर फूल (भजन)
६७ जिनागम सगीत भाग १, २ (शास्त्रीय पद्य सगीत)
६८ तत्वज्ञानतरगिणी (तात्विक ग्रथ)
६९ पथिकप्रबोध (भजन)
७० पार्श्वप्रभा (भजन)
७१ पार्श्वपच्चीसी (पद्य)
७२ मधुर चतुर्विंशति (भजन)
७३ पूज्य पच्चीसी (भजन)
७४ रेणु-रसविनोद (भजन)
७५ भक्तिरस भजनावली (भजन)
७६ भक्ति के पुष्प (भजन)
७७ मधुर हरियाली (भजन)
७८ चम्पक कली (भजन)
७९ मधुर मनन (भजन)
८० मधुर मगलप्रार्थना (भजन)
८१ मधुर भजनावली (भजन)
८२ मधुर बत्तीसी (भजन)
८३ भगवान महावीर जन्म कल्याणचरित्र
८४ उपदेश बावनी (विविध विषयक छन्द)
८५ जागे ओमा (नाटक)

८६	जडपूजको । पढो	(गद्य-चर्चा)
८७	मधुर मगल	(ढालें)
८८	मधुर काव्यमाला	(भजन)
८९	मधुर स्तवननुमनमाला	(भजन)
९०	नित्य स्मरण	(भजन)
९१	दिव्य मगीत	(भजन)
९२	जयन्ती गायन	(भजन)
९३	श्रीमद् रघुनाथचरित्र	
९४	मधुर माहित्यमाला १	(पद्य)
९५	जैन धर्म पुष्पलता	(भजन)
९६	मधुर दृष्टान्तशतक	(काव्य पद्य)
९७	गजब गे गोटालो	
९८	गोगेरो गोटालो	

अप्रकाशित साहित्य

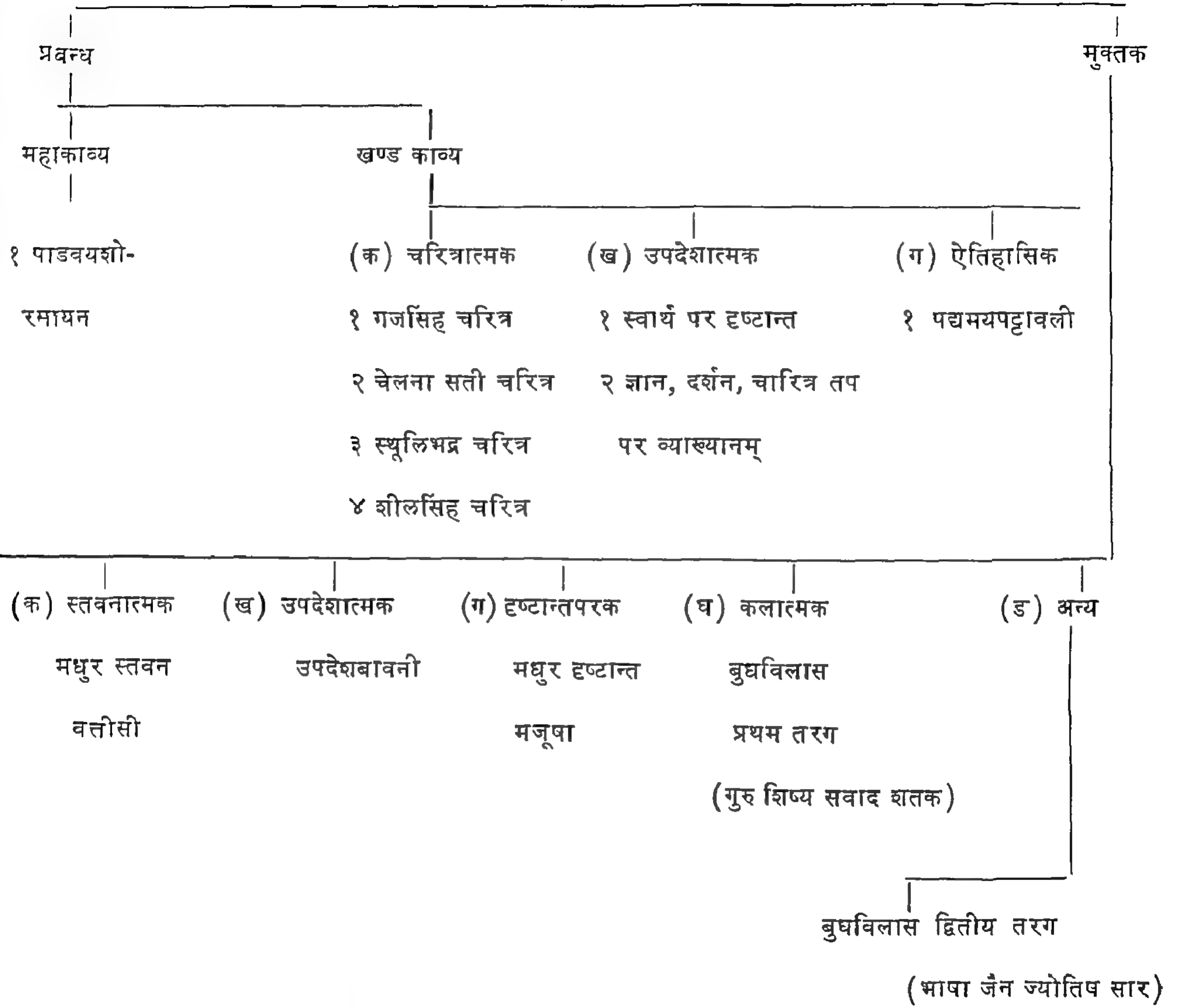
१	विक्रमसेन चरित्र	
२	मिश्री काव्यविनोद	(पद्य) अनेक विषयो पर
३	हर्टिसिंह चरित्र	
४	विमलहस चरित्र	
५	वैराग्योपदेश चरित्र	
६	चौवाली चरित्र	
७	पचदडचरित्र	
८	सती लक्ष्मी चरित्र	
९	महेन्द्रसिंह	
१०	दलथमनसिंह	

काव्य-वर्गीकरण

मरुधरकेसरी की रचनाओ को मोटे तौर से दो भागो मे वाटा जा सकता है—(१) प्रबन्धकाव्य और (२) मुक्तक काव्य । प्रबन्ध काव्य का फिर दो उपवर्गो मे विभक्त कर सकते है (क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य । महाकाव्य मे चरित-नायक की सम्पूर्ण जीवनकथा विस्तार से गाई जाती है जब कि खण्डकाव्य मे जीवन के किसी मार्मिक अश को वर्ण्य-विषय बनाया जाता है । मरुधरकेसरी की दृष्टि मे शायद यह भेद इतना स्पष्ट नही रहा है । इनके चरित्राख्यान खण्डकाव्य की कोटि मे ही आयेंगे यद्यपि उनमे नायक के जीवन की पूरी कथा है । इन्हे एक शब्द मे 'कथाकाव्य' की सज्ञा दी जा सकती है । मुक्तक काव्य मे कथा की कोई धारा नही चलती । वह पूर्व-परम्परा से आबद्ध नही होकर अपने आप मे स्वतत्र और पूर्ण अर्थ का बोधक होता है । मुनिश्री ने मुक्तक काव्य सर्जन मे कई नये प्रयोग किये है ।

स्थूल रूप से मरुधरकेसरी के काव्य-वैभव को रेखा-चित्र द्वारा यो दर्शाया जा सकता है—





१ यह वर्गीकरण प्राप्त प्रतिनिधि रचनाओ के आधार पर किया गया है।

काव्य-विवेचन

प्रबन्धकाव्य

'पाडव यशोरसायन' मुनिश्री का बृहद् महाकाव्य है। यह जैन दृष्टि से लिखा गया 'महाभारत' है। इसमें कवि का ध्यान इतिवृत्त पर अधिक रहा है। इतना विशालकाय ग्रथ लिख कर मुनिश्री ने पाठकों को जीवन सबधी विविध दृष्टिकोण प्रदान किए हैं जो पुरातन आदर्शों के अनुरूप हैं।

कृष्ण हिन्दी कवियों का प्रिय पात्र रहा है। भक्ति एव रीतियुगीन कवियों ने उसके सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन दिल खोलकर किया है। आलोच्य कवि की दृष्टि कृष्ण के सौन्दर्य पक्ष पर न टिककर उसके शक्ति पक्ष पर अधिक केन्द्रित हुई है। यह प्रयत्न श्लाघनीय है। जैन दृष्टि से कृष्ण वासुदेव हैं। वे शक्ति के धनी हैं। उनकी यह शक्ति कस जैसे अत्याचारी शासक के उन्मूलन मे तो लगती ही है, पूतना-वध,[1] कालिया-दमन[2] मे भी उनका शक्तिरूप उभरा है। इस शक्ति के साथ-साथ करुणा-भाव भी गुथा हुआ है। नागिन की विनति और लब्धिप्रभाव से कृष्ण के सहस्र कर होने मे[3] करुणा और आश्चर्य भाव की मिली-जुली अनुभूति है।

शक्ति का यह रूप द्रौपदी की प्रतिज्ञा मे भी प्रतिबिम्बित है। नारी की त्यागभावना और अन्यायी-अत्याचारी से प्रतिशोध लेने की बलवती कामना का एक ही छन्द मे वर्णन सुन्दर बन पडा है—

> सुखडी न खाऊ मुख, वसन नवीन तन,
> ओढवा को सूस लीनो, सूवणो पिलग पे।
> काजर न आख आजू, लेवू ना तबोल मुख,
> कचुकी न डोरी कसू, शोभा हित अग पे।

---

१ पूतना राक्षसि बुलवाई, भेद को लेन गोकुल माहीं,
भेज दी कस उठै आई, जसोदा दे सुत धवराऊ,
मेरी गोदी मे हुलराऊ।
जसोदा नहीं देन खातिर डाकिन सा लेन भई आतुर,
वशीधर छूट चल्यो जाहिर, करता पय-पान चीर डारी,
कृष्ण फिर कीनी किलकारी।
—पाडव यशोरसायन, पृ० १८०

२ गेंद की परवा नहीं है नागिन ! मामा से गयो जुवे हार रे।
वासग शिर देसू मामा ने, आया छू इण त्हार रे।।
नागिन भागी नाग चेतायो, आयो वैरी बलधार रे।
वासग ऊठयो कोपे चढियो, इत पहुच्यो है मुरार रे।
इक कर मे झट गेंद उठाई, दूजा मे फण लियो धार रे।
युद्ध मच्यो दोनों मे जानो, फुण किया नाग हजार रे।। —पृ० १८३

३ सहस कर कर लब्धि प्रभावे, जीत्यो माधव जिणवार रे।
पकड घीस ले चल्यो कन्हैयो, नागिन करी है पुकार रे।।
कालो वदन अरु डक जहरीलो, मत मारो निरधार रे।
पति भिक्षा अब दे दो दयालु, अर्ज करो चरणार रे।।
कृष्ण कहे नहीं मारु इसको नाथ लेवू गो इकवार रे।
वदन सुकोमल वृन्दावन मे, ऊपर रमाला चौपड सार रे।। —पृ० १८३





माल पै न ब्रिंदी देऊ, वेणी ना गुथाऊ भैया,
होट रु नाखून नाही, रगू टुक रग पै ।
जोलो दु शासन भुज, उखाडे ना पति मम,
और ना जमावे गदा-भीम उसी जघ पै ।।[1]

शक्ति के साथ-साथ प्रेम और सौन्दर्य व्यजना के लिए भी कवि ने उपयुक्त अवसर ढूढ निकाला है । रुक्मणी ने स्नानोपरान्त शृ गार क्या किया है मानो इन्द्राणी का रूप धारण कर लिया है—

स्नान कियो सखरो तब सुन्दर और अनूपम रूप सवारचो ।
माग भरी गज मोतिन से, नथ बेसर टीकि दे, अजन सारचो ।।
कुच कु भ कसे, गल हार विराजित, साडि निलाम्बर को पट डार्‌यो ।
कटि मेखल नूपुर नीके पने निज देह शचीपन सो तब धार्‌यो ।।[2]

हिन्दी मे सामान्यत कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसग को लेकर विपुल पदसाहित्य का निर्माण हुआ पर मुनिश्री ने स्वकीय प्रेम-भाव को ध्यान में रखते हुए प्रेम की पवित्रता और एकरसता की अभिव्यक्ति के लिए रुक्मणी को विशिष्ट पद दिया है । रुक्मणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है । दोनो मे प्रगाढ प्रेम है । फूल मे सुगन्ध, शरीर मे सास, सूर्य मे किरण, चाद मे चादनी, सर्प मे मणि, मुनि-मन मे करणी, केवली के मुख मे वाणी आदि की तरह कृष्ण और रुक्मणी परस्पर हिले-मिले हैं—

सुमन विषै जिम वास, सास पींजर रवि किरणा ।
चन्द सुधारस जाण, अहि मणि, मुनि मन जिरणा ।।
लोभी धन की रास, भव्य चाहत ज्यो तिरणा ।
उदधि मे अरविन्द, केवली मुख ज्यों निरणा ।।
काष्ठ वह्नि, हिंगलू मही, ज्यो पासे हिल-मिल रहे ।
त्यों हरि रुखमणि मन मिल्यो, कहो अतर कैसे गहे ।।[3]

नेमिनाथ और राजमती के प्रसग मे 'बारहमासा' का वर्णन सुन्दर बन पडा है । नेमिनाथ के तोरण से वापस लौटने पर राजमती उनकी अनन्त प्रतीक्षा मे बेचैन है । चैत्र मास मे वसन्त खिल गया है । वह पल-पल प्रिय का पथ निहारा करती है ।[4] विरह की पीडा से नेत्रो से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है और ऊपर से वैशाख तप रहा है, वह कैसे धैर्य धारण करे ?[5] जेठ की गर्मी मे वह शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो से जल रही है ।[6] आपाढ मे

---

१ पाडव यशोरसायन, पृ० ३७३

२ ,, पृ० २२६

३ पाण्डव यशोरसायन, पृ० २३३-३४

४ चैत्र चहूदिश खिल रह्योजी, रग भर राग वसत ।
पल-पल पेखू प्रेमसू जी, कथ तुम्हारो पथ जी ।।

५ खलक्या वाला नीर का जी, नयन विरह की पीर ।
ऊपर मास वैशाखरो स्वामी, किण विध धारु धीर ।।

६ जोग लीजो मत जेठ मे जी काई, वाजे लूओं वाय ।
दोनू तरफ सू जल रहोजी, कमधज म्हारी काय ।।

बादलों की घटा देखकर उसका मन-मयूर प्रिय की स्मृति में कूक उठता है।[1] इस प्रकार शेष महीनों में रो-रोकर राजुल पिंजर मात्र रह गई है। उसने संयम-पथ पर बढ़ कर ही अन्ततः अपना कल्याण किया।[2]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस विशालकाय[3] महाकाव्य में मुनिश्री ने शिल्पगत कई नये प्रयोग किये हैं। पूरा ग्रंथ गेय है और विभिन्न तर्जों में लिखा गया है।

मुनिश्री द्वारा लिखित खण्डकाव्य के मोटे तौर से तीन भाग किये जा सकते हैं। चरित्रात्मक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक।

चरित्रात्मक खण्डकाव्यों में राजसिंह चरित्र, चेलना सती चरित्र, स्थूलिभद्र चरित्र और शीलसिंह चरित्र उल्लेखनीय हैं। 'राजसिंह चरित्र' लोक-रूढ़ियों पर आश्रित काव्य है जिसमें राजसिंह के चरित्र को उभारा गया है। काव्य में स्थान-स्थान पर पुण्य-पाप के प्रभाव की विवेचना, कपट का प्रतिफल और कर्मवाद की मीमांसा की गई है। 'चेलना सती चरित्र' में सती चेलना का प्रेरणाशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो श्रेणिक जैसे राजा को भी उद्बोधना देकर सत्पथ की ओर अभिमुख करती है। नारी के अदम्य साहस, असीम धैर्य और विरति-विवेक की गाथा है यह चरित्र। 'स्थूलिभद्र चरित्र' जीवन के अनुराग और विराग दोनों पक्षों को कुशलता के साथ उद्घाटित करने वाला मार्मिक प्रेमाख्यान है। इस काव्य का सन्देश है—भोग से योग की ओर अभिमुख होना। स्थूलिभद्र कोश्या के रूप-रंग में आकंठ डूबा है और जब विरक्त हुई है तो रूप के सरोवर में रह कर भी वह कमल की तरह योग और संयम-मार्ग पर आरूढ़ है। उसमें ईर्ष्या रहित संयम की वह ऊँचाई है जिसे छू पाना सहज नहीं।[4] 'शीलसिंह चरित्र' भी कथानक-प्ररूढ़ियों पर आधारित काव्य है। इसमें शीलसिंह की वीरता, साहसिक कार्य और विरति की विवेचना है।

उपदेशात्मक खण्डकाव्यों में 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' और 'ज्ञान, दर्शन, चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रमुख हैं। 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' काव्य में नर-भाषा में बोले सिंह की स्वार्थ की चुनौती को नन्दनशाह स्वीकार करता है। नन्दनशाह के स्थान पर उनके पिता[5] माता,[6] पत्नी[7] आदि कोई भी सिंह-मुख के आगे जाने को तैयार नहीं होते। जीवन का यह

---

१ आयो मास आषाढ रो जी, घन चढियो घनघोर।
ओलु आवे आपरी ओ तो, कूक रह्यो मन मोर॥ पृ० ६४७

२ झुर झुर पींजर हो गई जी, राजुल बारा मास।
समता धर संजम लियो, सती छोड दियो घर-वास॥ पृ० ६४८

३ ६७४ पृष्ठों का यह ग्रंथ ५ खण्डों और ३०९ ढालों में विभक्त है जिसमें २६४५ गाथाएं, ४५६ दोहे, १३६ सवैये, १३१ कवित्त, ८५ चन्द्रायणा, ७० सोरठे, ६३ पद्धरी, ३९ हरिगीतिका, ३५ शिखरिणी, ३२ मोतीदाम, ३२ छप्पय, १९ त्रोटक, १६ त्रिभंगी, ९ थियेटर, ९ शार्दूल, ६ कुंडलिया, ५ छंद और ४ द्रुतविलम्बित छंद हैं।

४ होड करे मत डोड वनी कब गीदड शेर सजोड लगे।
कंचन पीतल नाहिं बराबर, वायस हंस हिजार पगे॥
क्या जघनू रवि जोड जचे, नरराज अगारि जु भील भगे।
त्यो मतिहीन कहे 'मिश्री', सतसंग समान सुखार जगे॥ —संकल्पविजय पृ० १६६

५ सेठ कहे रीसाय रे, मरसी मेरी बलाय रे॥टेर॥
कुण-कुण मरिया पुत्र पिछाडी, देवेनी एक बताय रे॥
कई जिणांरा बेटा मरिया, हुयगो कोण अन्याय रे।
मैं दुख पाऊं अबको मरणो, पुत्र आडो नहीं आय रे॥
जा-जा मुझ से आघो जरदी, भल जन्म्या दुखदाय रे।
सेवा भगती कीध रती ना, दूं इण धन के लाय रे॥ —संकल्पविजय, पृ० ८२





कठोर सत्य नन्दनशाह की आंखें खोल देता है और वह अनुभव करने लगता है कि यह ससार स्वार्थ का मेला है।[6] सयमपथ पर चलने मे ही जीवन की सार्थकता है। नन्दनशाह सयमी बन कर अपना उद्धार करता है। ज्ञानदर्शन-चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रतीकात्मक काव्य है। इसमे चार मित्र-मत्री-पुत्र, खाती-पुत्र, द्विज-पुत्र और राजकुमार समरसिंह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के प्रतीक हैं।[2] चारो कलाकार है। एक अपने विद्या-बल से बीस कोस की सब बाते जान लेता है, दूसरा आकाश-मार्ग मे गमन कर अभीष्ट स्थल पर पहुचने की क्षमता रखता है, तीसरा मरे हुए को पुनर्जीवित कर देता है और चौथा निर्भीक वीर की भांति शत्रु का परास्त कर सर्वत्र विजयी बनता है। चारो परस्पर सहयोग और सद्भाव से मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को पार कर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे खुदा तक पहुचने के लिए बन्दे को चार दशाए—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत-पार करनी पड़ती है। आलोच्य कृति मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की वही स्थिति है। कुमार समरसिंह आदर्शप्रेमी है। वह प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए सूफी प्रेम-काव्यो के नायक की भांति योगी बनकर नही निकलता। वह अपने बाहुबल एव पुरुषार्थ से मार्ग मे पड़ने वाली समस्त बाधाओं को दूर कर विजयी बनता है और अन्त मे सयम-मार्ग का पथिक बनकर आत्मोद्धार करता है। समरसिंह सर्वगुणसम्पन्न है। वह वीर नायक का मानक है। सेना मे हाथी, आकाश मे सूर्य, देवताओ मे इन्द्र, नक्षत्रो मे चाँद, मनुष्यो मे राजा, पशुओ मे सिंह, बादलो मे

---

६ जरडी बोली रे, करटका मोरी।
कैसो कुपातर पड्यो पेट मे, आवत मौत चहे मोरी।
कांई निहाल करी निरभागी, खाली जनम दे भई दोरी।
मरसी तो मरजासी मुझे क्या, मै न मरु बनकर भोरी।
फिन फिन का जग नाम रहता है, दुनिया कथन करती कोरी।
आखों अदीठ होय जा जरदी, अगर अकल राखे थोरी ॥-पृ० ८४

७ पर-मीत मरू गतिया बिगरे, पति काल मरे भल आज मरे।
पतिहीन तिया कितरी जग मे, बन मूरख कोई जरे सग मे।
मुझको नहि चाह रती सुख की, परवा न करु पति के दुख की ॥-पृ० ८६

१ देख लियो, देख लियो, देख लियो रे,
चिरताली प्रेम थारो पेख लियो रे ॥टेर॥
कपट कटारी कारी नागण सी भारी,
आज तो उघड गई पोल सब थारी,
जैसे ढोंगी जन साधु भेख लियो रे ॥चि०॥१॥
धूड थारा साजना मे मै भी धोखो खायो,
मीठोडी बोली मे होनी रूप लख पायो,
तू तो स्वारथ रो बाटियो सेकलियो रे ॥चि०॥२॥ पृ० ८६ ८७

२ मत्रि सुतसन् ज्ञान जाणो, श्रद्धा सूतजधार है,
चारित्र द्विज सुत समझ लीजे तप जु राजकुमार है।
ज्ञान दर्शन चरित तप चहु कर्म काटन को दवा,
जो अराधे शुद्ध भावे लहे शिव सुख की हवा ॥पृ० १०४-१०६

बिजली, बागन में दूल्हा और शाप में फणीन्द्र के समान वीरों में समरसिंह है।[1]

ऐतिहासिक खण्डकाव्य के रूप में 'पद्यमय पट्टावली' का उल्लेख किया जा सकता है। वस्तुतः शास्त्रीय अर्थ में यह खण्डकाव्य नहीं है पर मुनिश्री ने इसे ६ परिच्छेदों में विभक्त कर महावीर से लेकर वर्तमान समय तक के विभिन्न सम्प्रदायों के पट्टधर आचार्यों का परिचय प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद में भगवान महावीर से लेकर २७ वें पट्टधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद आठ निह्नवों से सम्बन्धित है। इसी में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के बाद होने वाले ७४ वें आचार्य जीवराजजी तक का पट्ट-परिचय दिया गया है। तृतीय परिच्छेद में लवजी ऋषि की परम्परा के साथ खंभात सम्प्रदाय तथा पंजाबी श्री अमरसिंहजी का पाटानुक्रम वर्णित है। चतुर्थ परिच्छेद दरियापुरी सम्प्रदाय के संस्थापक श्री धर्मसिंहजी महाराज से सम्बन्धित है। पंचम परिच्छेद में श्री जीवराजजी म०, श्री हुक्मीचंदजी म०, श्री नानकरामजी म०, श्री स्वामीदासजी म०, श्री शीतलदास जी म०, श्री अमरसिंहजी म० और श्री नाथूरामजी म० का पाटानुक्रम वर्णित है। षष्ठ परिच्छेद धर्मोद्धारक श्री धर्मदासजी म० से सम्बन्धित है। इसमें धर्मदासजी म० की परम्परा के साथ श्री रघुनाथजी म०, श्री जयमल्लजी म०, श्री कुशलाजी म०, श्री चौथमलजी म०, लींबडी बड़ी सम्प्रदाय, लींबडी छोटी शाखा, आठ कोटि मोटी पक्ष, मेवाड़ी सम्प्रदाय, श्री मनोहरदासजी म०, उज्जैन सिंघाडा, श्री ज्ञानचंदजी म०, तथा रतलाम सिंघाड़ा के पाटानुपाट का वर्णन है। विभिन्न छन्दों में निबद्ध यह पद्य-पट्टावली कवि की भाषाधिकार क्षमता व ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायिका है।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य में कोई सानुबन्ध कथा नहीं होती। वह किसी भाव विशेष को तीव्र आवेग के साथ व्यक्त करने के लिए लिखा जाता है। उसमें विस्तार की अपेक्षा गहराई अधिक होती है। मुनिश्री ने अनुभूत जीवन-सत्य को विभिन्न मुक्तक-मुक्ताओं में प्रतिभासित किया है। उनके समस्त मुक्तक काव्य को अध्ययन की सुविधा के लिए ५ वर्गों में बाँटा जा सकता है—स्तवनात्मक, उपदेशात्मक, दृष्टान्तात्मक, कथात्मक और ख्यालिए।

स्तवनात्मक मुक्तक मुख्यतः 'मधुर स्तवन बत्तीसी' में संगृहीत हैं। इन मुक्तकों में सामान्यतः तीर्थंकरों, विहरमानों, पंच परमेष्ठी आदि का स्तवन किया गया है। तीर्थंकरों में कवि २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से विशेष प्रभावित है। प्रबन्ध काव्य का समारम्भ करते हुए भी कवि ने कई स्थलों पर पार्श्वनाथ का मंगलाचरण किया है। वह पार्श्वनाथ के 'परचा' से चमत्कृत है। उसने बालक की भाँति माँ के रूप में अपने मनोरथ पूरे करने की आशा की है—

> श्री पारस परचाधारी, तोरे चरणन से इकतारी।
> चिन्तामणि चित्त चिंतित आये, ज्यों बालक महितारी॥
> त्यों पुरसादानी जिन पारस, हाजर हाथ विचारी।
> पूरे आसा बलिहारी॥



---

१ फौज में गयद नभ बीच में दिनंद जैसे,
सुर में सुरेंद चंद तारों बीच चमके।
नरों में नरिन्द पशु बीच में मृगेन्द्र और,
चमरेंद असुरान विज्जु घन क्षमके॥
कला में कविन्द अरु ज्ञान में जु बींद छाजे,
रोष में फनिन्द दाता वनिंद ज्यों धमके।
ऐसो गुणपूर सूर समर सु-वीर अहो!
नैनन की कीकी सम मन भायो सबके।
—सकलपविजय, पृ० ९८

भक्त के रूप में कवि भ० पार्श्वनाथ से उसी प्रकार का नैकट्य अनुभव करता है जैसा चकोरी चाँद से, शंकर पार्वती से, कृष्ण राधा से और राम सीता से—

मोहनगारो मन वस्यो, चित्त चरणो मे, हाँ चद चकोरी जेम ।
ज्यो शंकर मन गोरजा, हरी राधा मे, राम सिया सग प्रेम ॥

वह उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहता। जिस प्रकार चकमक पत्थर अग्नि को, बादल बिजली को, मछली जल को, कमल सूर्य को, मधुकर मालती को और हंस मानसरोवर को नहीं त्यागता उसी प्रकार कवि अपने आराध्य से अलग नहीं होना चाहता—

चकमक अगनि ना तजै, घन ज्यों विजरी, मच्छि निर्मल नीर ।
कमल रवि विसरे नहीं, मावे मोले, तरकस हदो तीर ॥
मधुकर को मन मालती, निस दिन घूमै, मानसरोवर हंस ।
प्यारी पियू भूले नहीं, शशधर सर पै, ज्यो उत्तम निज वंस ॥
इण विधि प्रीति आपसे, अविचल म्हारी, चढ़ती कला पिछान ।
तू मुझ जीवनवाल हो, अन्तर्यामी, विसरामी शिवथान ॥

अपनी लघुता और प्रभु की महत्ता के प्रतिपादन में भक्त को विशेष आनन्द आता है। वह निष्कपट रूप से निःशंक हो अवगुणों को बढ़ा-चढ़ा कर आराध्य के सम्मुख प्रकट करता है। मुनिश्री का भक्त मन गौतमस्वामी के चरणों में निवेदन करता है कि वह सांसारिक फंदों में फंसा हुआ है, तृष्णा के तम्बू में कसा हुआ है और ममता रूपी मेरुपर्वत से भी उसकी 'वित्त शिला' भारी है—

गोयम गुरुवर गुणधारी, हूँ चरणन की बलिहारी ।
काम स्याम रामा को रसियो, फसियो, फद फिरारी ॥
कसियो तम्बू तृष्णा कैसो, वसियो विषय मझारी ।
समल गुण दीना डारी ॥
दाम धाम निज नाम वधारण, ले लीनी मुख त्यारी ।
है ममता मेरु से म्होटी, वित्त सिल्ला विस्तारी ॥
लगे अब कहाँ लो कारी ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' में अपने सम्बन्ध में ऐसे भाव व्यक्त किये हैं। यह भावना कवि की विनम्रता, शालीनता और निरभिमानता की परिचायक है।

उपदेशात्मक मुक्तक मुख्यतः 'उपदेशबावनी' में संग्रहीत हैं। ये कुंडलिया छन्द में लिखे गये हैं। इनमें सागारिक प्राणियों को नाम-स्मरण,[1] दया-धर्म-पालन,[2] गुरु-भक्ति, वाणी-संयम,[3] सम्यग्ज्ञान-साधना,[4] कर्मवाद,[5] स्वार्थ-त्याग

---

१ कहे 'मिश्री' अणगार प्यार-उर पारस जप ले। पृ० ६

२ कहे 'मिश्री' अणगार, दयामय धर्म अरावे ॥ पृ० ७

३ कहे 'मिश्री' अणगार बोलता जतना राखो।
प्रथम हिया मे तोल, बोल फिर बाहर भाखो ॥ पृ० ९

४ कहे 'मिश्री' अणगार भक्त मत बण रे भोलो ।
अन्तर आँख उघाड, दूध थोहर रो धोलो ॥
धोलो पुनरपि आक को, वटला रो पिण जाण ।
गाय भैंस बकरी तणो, उनको करे, पिछाण ॥ पृ० ११

५ कहे 'मिश्री' अणगार, कठिन कर्मो रो कांटो ।
चुनियो मर्के न चल्ल, अचानक काढ़े आंटो ॥ पृ० २६

आदि की शिक्षा दी गई है। तत्वज्ञान को सरल और बोधगम्य बनाने के लिए व्यापार[1] हवाई यात्रा,[2] खेती,[3] स्नान[4] आदि व्यावहारिक लौकिक कार्यों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। समाज में व्याप्त ढोंग, पाखण्ड और कदाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए नकली वैरागियों की खूब खबर ली है।[5] कवि की उद्बोधना है कि यदि आप 'मर्द मुछाले' है तो लोभ, मोह का उन्मूलन कर सच्चे आत्म वीर बनें।[6]

दृष्टान्तपरक मुक्तक काव्य में 'मधुर दृष्टान्त मंजूषा' उल्लेखनीय है। इसमें १५३ दृष्टान्त हैं जो 'कवित' छन्द में लिखे गये हैं। कहीं कहीं 'दोहा' छन्द में निष्कर्ष दिया गया है। जैन मत गूढ व गम्भीर तत्व-सिद्धान्त को इस प्रकार विवेचित करते रहे हैं कि वह बालक जैसे मंद बुद्धि वाले व्यक्ति के हृदय में भी उतर सके। इसके लिए प्राचीन

१, टोटो है बिन समझ रो, नर-तन रूप दुकान।
माल भर्‌यो जिन धर्म रो, तेजी भाव पिछान।।
तेजी भाव पिछान, करो शुभ करणी आले।
कहै 'मिश्री' अणगार, विणज मे नफो कमाले।। पृ० १८

२. कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म की एरोप्लेन है।
ड्राईवर गुरुराज, पावर-सा जैन वैन है।।
वैन चैन लाईट है, पुनि यतना दुर्बीन।
चढी सत्य के पौन से, है नभ श्रद्धाधीन।।
श्रद्धाधीन चैतन्य, दुखो की मिटै देन है।
कहै 'मिश्री' अणगार, धर्म की एरोप्लेन है।। पृ० १९

३ कहै 'मिश्री' अणगार खेत पुन्यो को पाको।
साधन मिलिया सर्व, आयो आनन्द को आको।। पृ० २०

४ कहै 'मिश्री' अणगार साच रो साबू लेलो।
शील सरोवर जाय, शिक्षा करणीरी झेलो।।
झेलो घोटो जाप रो, जासी सारो मैल।
आतम होसी ऊजली, मिलै मुगत री शैल।।
शैल करेला, स्वच्छ, ज्ञान रो सुन्दर गेलो।
कहै 'मिश्री' अणगार, साच रो साबू लेलो।। पृ० ४७

५ कहै 'मिश्री' अणगार, भभूति खूब रमाई।
जटाजूट-सो मुकुट, तिलक, माला गल भाई।।
भाई जुगती जोग, हृदय मे बडो धुतारो।
करे जुलम हद तोड, मिसकरो मोडो न्यारो।।
न्यारो प्रभु से निपट मात कह करे लुगाई।
कहै 'मिश्री' अणगार, भभूति खूब रमाई।। पृ० ४१

६ कहै 'मिश्री' अणगार, अगर ह्वै मरद मुछालो।
खग धार सौधर्म, सधर बनकर के चालो।।
चालो डालो लोभ पै, धोबा भर-भर धूल।
ओ अन्यायी आकरो, सकल पाप को मूल।।
मूल उखाडो मोह, भूल सम्मुख मत मालो।
कहै 'मिश्री' अणगार अगर ह्वै मरद मुंछालो।।





का समपात सन्तुलन आवश्यक है । इस जीवन-सत्य को दो मित्रो के परस्पर व्यवहार द्वारा उद्घाटित किया गया है ।[1]

सामान्यत कहा जाता है कि उदार व्यक्तियो के पास लक्ष्मी का अभाव रहता है और मक्खीचूस धनी होते है । प्रेमचन्द के शब्दो मे 'सरस्वती की कृपा लक्ष्मी की अभक्ति है ।' इसका व्यग्य मिश्रित उत्तर देते हुए एक ओर मुनिश्री ने मक्खीचूस का हूबहू चित्र उतारा है[2] तो दूसरी ओर मक्खीचूस पर लक्ष्मी के प्रसन्न होने के कारणो की विवरणिका स्वय लक्ष्मी के मुख से प्रस्तुत कराई है ।[3]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन दृष्टान्तपरक मुक्तको के सर्जन मे मुनिश्री लोक-जीवन को विविध पार्श्वों मे देख सके हैं । अनुभव की व्यापकता का प्रमाण तो यही है कि इनमे चोर-साहूकार, वेश्या-सती, गुरु-शिष्य, मूर्ख-बुद्धिमान, जाट-जाटनी तथा परिवार के अन्य सम्बन्ध यथार्थ रूप मे चित्रित हुए हैं ।

कलात्मक मुक्तक काव्य के अन्तर्गत 'बुधविलास' प्रथम तरग उल्लेखनीय कृति है । इसका अपर नाम 'गुरु-शिष्यसवाद-शतक' है । इसमे गुरु द्वारा लौकिक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये हैं । शिष्य उनका बडा ही कलात्मक उत्तर देता है । यह उत्तर सामान्यत एक ही शब्द मे दिया गया है । श्लेष के कारण उसके दो या दो से अधिक अर्थ होने के कारण वह कई प्रश्नो का समाधान एक साथ कर देता है । यहां कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

१ कमावन दोय मित्र जावे हैं विदेश जब,
एक घोडे चढ चाल्यो, दूजे सीस ढोलियो ।
पन्थ मे निहार लोग ऐसो जो खयाल कियो,
चढ्यो सो ठाकुर बोझवारो भृत्य तोलियो ।।
पनघट ढोल्यो ढार, मित्र एक सोय गयो,
दूजो नीचे सूतो पाय नौकर ही बोलियो ।
दोनो समतुल्य धनी, चाकर को काम कहा,
'मिश्री' ज्ञान क्रिया ऐसे युगपत हो लियो ।। पृ० २६

२ सूमडो सूज्योडो मूडो, गीड से गडी है आंख,
मेलो है वदन, धेलो खावे न खवावे है ।
भूत सो है भयानक निकेतन जूवा केरो,
फटे हैं वसन सारे, सेडो सरडावे है ।।
उट की सी चाल, गाल बैठेगे बन्दर सम,
मक्खीचूस आणे-टाणे जावे न बुलावे है ।
अरे मतिहीन लच्छी रसिक उसी पै होगी,
'मिसरी' भनत तोकू दाय कैसे आवे है ।। पृ० ८

३ लिछमी कहत सूर जग मे मरत कट,
ज्ञानी गुनियों के हम, दाय नहीं आवे हैं ।
छैल जे छोगाला आला दिल के विलाले होत,
रखवाला बने काहा अन्य को लुटावे हैं ।।
बुद्धिवान बात के करैया सो तो राडी कहै,
चचल छिनाल भद्दी ओपमा चढ़ावे हैं ।
इसीलिए सूम सेती जमी है हमारी तो जी,
'मिसरी' भनत सदा बन्दगी बजावे हैं ।। पृ० ८

(१) आडो अवलो चालणु, तवे न रोटी पाय।
थाभो दीसे ठींगणो, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'सीधो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि आदमी आडा-टेढा चलता है ? तवे पर रोटी नही है ? थाभा नीचा दीखता है ?

शिष्य उत्तर देता है —मार्ग सीधो (सरल) नही है, तवे पर रोटी बनाने के लिए सीधो (आटो, सामान विशेष) नही है और थाभा भी सीधो (ऊँचो) नही है।

(२) ढोल्यो ढले न चौक मे, शाख सूखती जाय।
महल डिगे प्यासो मरे कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'पायो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि पलग चौक मे नही ढलता, फसल सूखती जा रही है, महल डिगता है और आदमी प्यासा है ?

शिष्य उत्तर देता है—पलग के पायो (पागा) नही है, फसल को पायो (पानी पिलायो) नही है, महल के पायो (सहारा) नही और प्यासे आदमी को पायो (पानी पिलाया) नही।

(३) टोटो पडियो माल मे, करणी निरफल जाय।
कविता फीको कवियणों, कहो चला किण न्याय ।।
उत्तर—'भाव' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि माल मे घाटा पड रहा है, तपस्या निष्फल जा रही है और कवि की कविता अच्छी नही लगती ?

शिष्य उत्तर देता है—माल के लिए भाव (बाजार भाव) नही है, तपस्या मे भाव (शुद्ध भावना) नही है और कविता मे भाव (अच्छे विचार) नही हैं।

(४) पटवासू पदमण लडै, हाली भूखो जाय।
दर्जीडो धाकल करै, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'पोयो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि स्त्री पटवा से लडती है, मजदूर भूखा रह जाता है और दर्जी अपने आदमी को फटकारता है।

शिष्य उत्तर देता है—स्त्री के पटवा से लडने मे पोयो (हार पिरोया) नही है, मजदूर के भूखा जाने मे पोयो (रोटी बनी) नही है और दर्जी के फटकारने मे पोयो (सूई मे डोरा पोया) नही है।

(५) रगरेजा रूलता फिरै, घर नारी धुरकाय।
मैंदा ज्यों मैंदी भई, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'रग नहीं'।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि रगरेज के पास काम नही है, धर्मपत्नी प्रेम नही करती है, मेहदी मैदा जैसी ह. [illegible] है।

शिष्य उत्तर देता है—रगरेज के काम नही करने मे रग (रगने का रग) नही है, स्त्री के प्रेम नही करने

मे रग (आनन्द) नहीं है, मेहदी मैंदा जैसी होने मे रग (मेहदी का रग) नहीं है।

इन उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि कवि ने व्यापक अनुभव, अपार बुद्धि-कौशल और शब्द शास्त्र की सूक्ष्म पकड मे इन कलात्मक मुक्तको की रचना की है। इन्हे लोक अनुभवो का कोष कहा जा सकता है।

अन्य मुक्तको मे ज्योतिष, पाचवा आरा तथा जैनधर्म के सामान्य सिद्धान्तो पर लिखे गये मुक्तक गिनाये जा सकते है।

लोकतत्त्व

मरुधरकेसरी की काव्य-साधना का विशिष्ट गुण उसकी लोकतात्त्विकता है। यह लोकतत्व वस्तु और शिल्प दोनो मे समान रूप से अनुस्यूत है। मुनिश्री के कथानक लोकप्ररूढियो से प्रभावित है। उदाहरण के लिए गजसिंह चरित मे मुख्यत निम्नलिखित कथानकप्ररूढियो को देखा जा सकता है—

१ राजा के ७ रानियाँ होने पर भी उसका नि सन्तान होना।
२ बाझ का मुह न देखना।
३ बाँझ के चावल खाने से पेट दुखना व मर जाना।
४ सन्तति के अभाव मे दुखी होकर राजा का जगल मे जाना।
५ रात्रि को सपना आना।
६ जगल मे किसी पद्मिनी स्त्री का चरखा कातते हुए देखना।
७ पद्मिनी स्त्री का राक्षस के चगुल मे फसा होना।
८ राक्षस से बचने के लिए राजा का वापी मे गिरना।
६ पाताल मे पहुँचने पर राजा को सुर-वनिताओ का मिलना।
१० उनके द्वारा राजा को चार विशिष्ट गुटिकाएँ देना।
११ गुटिकाओ के प्रभाव से राजा का राक्षस को पराजित कर, अन्य बन्दी जनो को बन्धनमुक्त करना।
१२ बारह बेला, तेरह तेला, पाँच अट्ठाया, पाच पाँचा व ग्यारह उपवास की तपस्या करने से मनोकामना पूरी होना।
१३ रानियो को अभिमन्त्रित आम देने से उनका पुत्रवती होना।
१४ ईर्ष्यावश पटरानी को आम न देना व शेष रानियो द्वारा परस्पर बाँट कर उसका सेवन करना।
१५ पटरानी का फेंकी हुई गुठली आदि को पीस कर खा जाना
१६ ईर्ष्यालु रानियो की सन्तानो का विकलाग और अपाहिज होना।
१७ पटरानी के (गजसिंह कुमार जैसे) रूपवान पुत्र का जन्म होना।
१८ ऐसे रूपवान पुत्र को कारणवशात् देश निकाला देना।
१६ देशनिकाल की बारहवर्षीय स्थिति मे कुमार का चार स्त्रियो से विवाह होना।
२० कुमार के प्रभाव से सूखे बाग का हरा-भरा हो उठना, तोते का विद्याधर हो जाना, अधे को आँख मिल जाना आदि।
२१ तपस्वी की प्रभावनाशक्ति से सेना का आगे न बढना।
२२ पिता पुत्र का अन्त मे सुखद मिलन होना।
२३ श्रमण-दीक्षा अगीकृत कर आत्म-कल्याण करना।

'सकल्पविजय' म सगृहीत दो कथा-काव्य भी कथानक-प्ररूढियो के आधार पर ही निर्मित प्रतीत होते है। 'स्वार्थ पर दृष्टान्त' आख्यान मे निम्नलिखित कथानक प्ररूढियाँ ढूँढी जा सकती है—

१ पूर्वभव-सखा-देव का सिंह बनकर, जगल मे रास्ता रोक, मित्र को उद्बोधन देना।
२ मित्र द्वारा परीक्षा लेने पर पिता, माता, पत्नी द्वारा सिंह-मुख मे न जाने की घोषणा करना।





३ दुनिया मे सभी को स्वार्थरत देखकर नायक का सयम ग्रहण करना।
४ कठोर साधनामय जीवन जीते हुए अन्तत देवगति प्राप्त करना।

ज्ञान, दशन, चारित्रोपरि व्याख्यान की कथानकप्ररूढियाँ भी इस प्रकार गिनायी जा सकती हैं—

१ मत्री-पुत्र, विप्र-पुत्र, खाती-पुत्र और राज-पुत्र की परस्पर मित्रता होना।
२ कारणवश चारो का परदेश-गमन करना।
३ चारो का किसी न किसी विद्या मे पारगत होना। मत्री-सुत का अपने ज्ञान-बल से सब कुछ जानना, विप्र-पुत्र का मृत को जीवित करना, खाती-पुत्र का आकाश मे सचरण करने वाला यत्र बनाना तथा राजकुमार का सबको परास्त कर सदैव विजयी होना।
४ मार्ग मे भयकर राक्षस का मिलना।
५ मित्रो का परस्पर भटक जाना।
६ राक्षस का नित प्रति किसी न किसी मनुष्य का भक्षण करना।
७ अपनी बारी आई जानकर किसी कन्या का चिन्तित होना।
८ ऐसे अवसर पर किसी राजकुमार द्वारा राक्षस का वध होना।
९ कन्या और राजकुमार का परस्पर विवाह होना।
१० कन्या का अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी या अप्सरा होना।
११ नाई द्वारा राजकुमारी के बालो को लेकर प्रतिनायक को देना व उसके सौन्दर्य का वर्णन कर विष-मिश्रित आहार खिलाकर, नायक को मारकर, उसकी प्राप्ति का उपाय बताना।
१२ बालो को देखकर प्रतिनायक का मूर्च्छित होकर गिर पडना।
१३ धोखे से नायक को मारकर प्रतिनायक द्वारा नायिका को ले जाना।
१४ मित्रो की सहायता से नायक का पुनर्जीवित होना।
१५ प्रतिनायक को परास्त कर नायिका को छुडाना।
१६ प्रतिनायक की कन्याओ से मित्रो का विवाह करना।
१७ नाई जैसे दुष्ट पात्रो को उनके किये का दण्ड देना।
१८ सयम ग्रहण कर चारो मित्रो का आत्मकल्याण करना।

उपर्युक्त कथानक-प्ररूढियो के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि की दृष्टि वस्तुचयन मे लोकतत्व पर रही है। शिल्पविधान मे भी मुनिश्री लोकतत्व से अनुप्रेरित होते रहे हैं। अलकारो का प्रयोग करते समय उनकी दृष्टि शास्त्रीय उपमानो को ढूंढने मे नही लगी रही। उनके प्रभावशाली जितने भी उपादान हैं वे लौकिक हैं। यथा—

१— कहे मिश्री अणगार, मूढ रा मता हजारो।
डरे न करता पाप, बन्यो ज्यू ऊँट नगारो॥—(उपदेश बावनी, पृ० २७)

२— कहे 'मिश्री' अणगार, खुशामद मीठी गोली।—(उपदेश बावनी, पृ २८)

३— कहे 'मिश्री' अणगार, मिल्यो स्वास्थ्य रो मेलो।
अपणायतवश होय, कियो धन अघ कर भेलो॥
मेलो हुयगो एम, शहद लिपटी जिम माखी।
पूव पुण्य सब खोय, रखी बदनामी बाकी॥—(उप० बावनी, पृ० ३७)

४— कहे 'मिश्री' अणगार, धान मे पडगी ईली।
खा—कर कियो खराब, रह्या फोफलिया पीली —उप० बावनी, पृ० ५२

५ — कहे 'मिश्री' अणगार, झूठ का दौडे टट्टू ।
फिरतो लगे न वार, जोर का जैसे लट्टू[१] ।।—(उप० बावनी, पृ० ५४)

६ — धोला ने धीरप करो, धूल नखाणो नाय ।
तेली केरा बैल ज्यो, चौरासी रे माय ।।—(उप० बावनी, पृ० ५७)

७— कसियो तम्बू तृष्णा केसो – वसियो विषय मजारी—(मधुर स्त० बत्तीसी, पृ० ३)

८— है ममता मेग से म्होटी वित्त सिरला विस्तारी —(म० स्त० बत्तीसी, पृ० ३)

९ — गज-गति गैल रूपारेल सी बत्तीस नार —(मधुर दृष्टान्त मजूषा, पृ० २)

१०— गजगमनी गोखे चढ़ी, देखे डावर नैन —(पाडव यशोरसायन, पृ० ६४२)

११— मुखडो घणो उदास पडत जस दृग ज्यो रैंटो रे (सकल्पविजय, पृ० ९३)

१२— नैनन की कीकी सम मन भायो सबके (सकल्पविजय, पृ० ९८)

१३— खटमल तजे न खाट को, तजत न कूप कपोत ।
स्यार खोह पुनि गोह सर, प्राणधारि जिय मौत ।।
तैसे वेश्या विषय-सुख, स्थूलिभद्र लव लीन (सकल्पविजय, पृ १५३)

लोकोक्तियो और मुहावरो के प्रयोग मे भी कवि की दृष्टि लोक-जीवन पर रही है । उसके मुहावरे शास्त्रीय न होकर सहज हैं और हृदय पर सीधी चोट करते है । यथा—

१ डरने का क्या काम, मार दू यम के चेंटो रे (सकल्पविजय, पृ० ९३
२ भैसा रोल मचाई रे भोला, भैसा रोल मचाई (म० स्तवन बत्तीसी, पृ० २०)
३ पापी पेठ डुबाई रे सारी, पापी पेठ डुबाई (म० स्त० बत्तीसी, पृ० २१)
४ इण पर भी नहिं हो करे हो पचो ! अे घोडा मैदान । (पाडव यशोरसायन पृ० ८)
५ मात कहे लडना मत लालू, राड को मुंडो मैं वालू (पाडव यशोरसायन, पृ० २५)

शब्द-चयन मे भी कवि पर्याप्त सजग रहा है । भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से कवि का कृतित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है । 'ताण' 'पाणी' 'पोयो' 'साजी' 'दाणो', जैसे अनेक शब्दो को कवि ने नई अर्थवत्ता दी है ।

काव्यादर्श

कवि के जो जीवनादर्श हैं वे ही काव्यादर्श है । जीवन मे वह कर्मवाद, पुरुषार्थ, पराक्रम, स्वार्थ-त्याग, सयम, निष्कपटता, ईमानदारी आदि चारित्रिक गुणो की अवतारणा करना चाहता है इन्ही गुणो की अवधारणा के लिए यह काव्य-सृष्टि है । जीवन सुखी और समृद्ध हो । उसमे अभयकुमार-सी बुद्धि, शालिभद्र-सी ऋद्धि, शाह कैवन्ना-सा सुख-सौभाग्य, गौतमस्वामी-सी लब्धि, भरत चक्रवर्ती-सी ऋद्धि और बाहुबली-सा बल उतरे, यही कवि के आदर्श-जीवन के मूल्य हैं ।[१] इन्ही मूल्यो की प्रतिष्ठा मे कवि-कर्म की सार्थकता है ।



यद्यपि कवि ने कोई काव्यशास्त्रीय ग्रथ नही लिखा है तथापि यथाप्रसग काव्य-सर्जन के उद्देश्यो, उसकी भाव-क्षमता एव शब्द-शक्ति पर विचार प्रकट किये है । कवि का उद्देश्य न धनोपार्जन है, न यश-अर्जन । यह जीवन मे व्याप्त असदवृत्तियो और विकारो को दूर कर सच्चे अर्थों मे आत्मानन्दी बनना चाहता है ।[२] जीवन मे विवेक जागृत

---

१ मधुर दृष्टान्तमजूषा, पृ० २-५
२ दुरित दलन सुकरत भरन, काटन कर्म कलेश ।
आतमानदी होन हित, मिश्री दे उपदेश ।।—उपदेश बावनी, पृ० ५

कर चित्त की चतुरता का उल्लास बढ़ाना चाहता है।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कविता की आन्तरिक शक्ति देकर प्रभावकारी बनाना चाहता है और कला का पुट देकर आकर्षक भी। इसीलिए मंगलाचरण करते समय कवि ने जो कामना प्रकट की है या शब्द-शक्ति का जो वरदान मांगा है उसमें शब्दों की कोमलता[2] और सुन्दरता के साथ साथ उनकी प्रभावक शक्ति की भी याचना की है।[3] कविता का प्रभाव ऐसा हो कि पाठक या श्रोता उसे पढ़कर या सुनकर उमगित हो उठे,[4] उसका रोम-रोम नाच उठे, वह सीधी हृदय में पैठ जाय।[5] अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर और शक्तिसम्पन्न हों, यही कवि का इष्ट है। इसीलिए उसने अपनी कविता को मोतियों की लड़ी कहा है जो प्यार के साथ हृदय पर धारण की जा सके[6] और 'वान्दरमाल'[7] की तरह सबको प्रसाद दे सके, रसमय बना सके।

---

१ गुरु-शिष्य-संवाद-शुभ, विरच्यो मन री मौज।
'मिश्री' मुनि कहै मनुज के, चतुरपणा रो चोज॥ —बुधविलास, १ पृ० ४३

२ (क) गौतम-पद-अरविन्द अलि यो मन मोद अतीव।
वसन चहत वरदान रस, कोमल वच कमनीय॥ —पाण्डव यशोरसायन, पृ० २०९

(ख) नाथ आपजो निपट ही, ललित वयण की लूवे। —पाण्डव यशोरसायन, पृ० ९९

३ सुमता सदन भर, कुमता निकार कर,
दीनन-दयार सार, शब्दकोष सूप दो। —मधुर दृष्टान्त मंजूषा पृ० २

४ सुणतां परिषद ऊमगे, जस कवि पावे सूत्र।—पाण्डवयशोरसायन, पृ० ९९

५ रची बावनी रुचिकर जची सुजन हिय जाम।
रची फली-फलित सुन निपट, पची सु मनसादाम।—उपदेशबावनी, पृ० ५९

६ पट्टावली सुयना-लरी, पहनो हिय धरि प्यार।—पद्यमय पट्टावली, पृ० ७०

७ आ कविता री वान्दरमाल। 'संकल्पविजय' का समर्पण।

मरुधरकेसरी के चातुर्मासः स्थलों की सूची

मुनिश्री रूपचंद जी 'रजत'



क्रम सख्या	सवत्	स्थान	क्रम सख्या	सवत्	स्थान
१	१९६९ (वैराग्य भाव मे)	जेतारन	२९	१९९७	वीलाडा
२	१९७०	केलवाज	३०	१९९८	बुना
३	१९७१	गावी	३१	१९९९	बुमी-मकारन
४	१९७२	कुन्डाया	३२	२०००	मिग्यारी
५	१९७३	जैनारन	३३	२००१	जेनारन
६	१९७४	मोजत शहर	३४	२००२	जोधपुर
७[1]	१९७५	देवली आउवा	३५	२००३	मोजन शहर
८	१९७६	जेतारन	३६	२००४	मादडी (मारवाड)
९	१९७७	जोधपुर	३७	२००५	वगडी-मज्जनपुर
१०	१९७८	मोजन शहर	३८	२००६	कुरडाया
११	१९७९	जेतारन	३९	२००७	जेतारन
१२	१९८०	जोधपुर	४०	२००८	मादलिया
१३	१९८१	सहवाज	४१	२००९	मादडी
१४	१९८२	जेतारन	४२	२०१०	वीलाडा
१५	१९८३	जोधपुर	४३	२०११	सीवाणा
१६	१९८४	सोजत रोड	४४	२०१२	महवाज
१७	१९८५	जेतारन	४५	२०१३	कुमालपुरा
१८	१९८६	मोजत शहर	४६	२०१४	मोजतशहर
१९	१९८७	वलुदा	४७	२०१५	व्यावर
२०	१९८८	कालू आणदपुर	४८	२०१६	सादडी (मारवाड)
२१	१९८९	महवाज	४९	२०१७	खवासपुरा
२२	१९९०	कालू आणदपुर	५०	२०१८	मोजत शहर
२३	१९९१	जोधपुर	५१	२०१९	जोधपुर
२४	१९९२	सोजत शहर	५२	२०२०	साडेराव
२५	१९९३	टाँटोटी	५३	२०२१	कोटडा
२६	१९९४	जोधपुर	५४	२०२२	चावण्डिया
२७	१९९५	सोजत शहर	५५	२०२३	निंवाज
२८	१९९६	केसरसिंहजी का गुढ़ा	५६	२०२४	गोठन

१ प्रारम्भ के सात चातुर्मास दीक्षा की अनुमति न मिलने के कारण वैराग्य भाव मे गुरुदेव के साथ रहकर किये ।

मरुधरकेसरीजी म० की आज्ञा मे विचरण करने वाले सन्तो और सतियों की शुभ नामावली

(क) सन्त

(१) प० मुनिश्री रूपचदजी महाराज
(२) श्री सुकन मुनिजी ,,
(३) श्री महेन्द्र मुनिजी ,,

(ख) सतियाँ

(१) श्री पानकुँवरजी
(२) श्री हुलासाजी
(३) श्री तखताजी
(४) श्री गुणवन्तीजी
(५) श्री भीलमाजी
(६) श्री झणकार कुँवरजी
(७) श्री पवनकुँवरजी ।

(१) श्री लक्ष्मी कुँवरजी
(२) श्री सज्जनकुँवरजी
(३) श्री मगनकुँवरजी
(४) श्री दाखाजी
(५) श्री सायर कुँवरजी ।

(१) श्री तेजकुँवरजी (२) श्री मनोहर कु वरजी (३) श्री धन कु वरजी ।
(१) श्री पवनकु वरजी (२) श्री बादाम कु वरजी (३) श्री कसु बाजी ।
(१) श्री प्रेम कु वरजी (२) श्री श्रीकु वरजी (३) श्री मोहनकु वरजी ।
(१) श्री रतनकुँवरजी (२) श्री छोगाजी (३) श्री जतन कु वरजी ।

श्री मणिकु वरजी म० ठाणा २ से पालनपुर मे विराजमान है ।



संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, अभिनन्दन

कार्यकुशल कर्मठ सन्त

जैनधर्मदिवाकर आचार्यसम्राट्
श्री आनन्दऋषिजी महाराज

स्नेहास्पद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमल जी म० हमारे श्रमणसघ के एक प्रतिष्ठित सत है। श्रमणसघीय सगठन के सवर्द्धन तथा परिवर्द्धन मे आपने अनुकरणीय प्रयत्न किए है। बृहत् अजमेर साधु-सम्मेलन मे सतो को लाने मे आपका जो सहयोग रहा है, उसे कभी विस्मृत नही किया जा सकता। स्थानकवासी समाज के बिखरे मोतियो को एक माला मे पिरोने के लिए सादडी-सम्मेलन मे श्रमण-सघ को जो सेवाए अर्पित की तथा अन्य उपसम्मेलनो मे सघ को उन्नत करने मे आपने सच्ची निष्ठा के साथ जो सहयोग दिया, वह श्रमणसघ के इतिहास मे सदा सस्मरणीय एव उल्लेखनीय रहेगा।

आपके जीवनपृष्ठो का मैने निकट से अध्ययन किया है, उसके आधार पर मै कह सकता हू कि आप श्रमणसघ के उत्साही सगठनप्रिय और एक कर्मठ सत है। मुझे अपने श्रमणसघ मे आप जैसे कार्य-कुशल समाज-सेवी मुनिराज को देख कर बडा सतोष होता है।

मरुधरकेसरीजी एक अच्छे व्याख्याता होने के साथ-साथ आशुकवि भी है। आपके अनेक काव्यग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं। जनता ने उनको आदर से देखा है। पद्य के अलावा आपने गद्यग्रथ भी लिखे है। स्थानकवासी समाज के इतिहास की आपको अच्छी जानकारी है।

धर्मप्रचार के क्षेत्र मे भी आपका योगदान प्रशसनीय रहा है क्षेत्रो की सार सभाल करना, धर्मविमुख जनता मे जहा उदासीनता छाई हो, वहा पहुचकर धर्म का प्रचार करते हुए धार्मिक वातावरण तैयार करना, ये सब आपकी ऐसी विशेषताए है, जो सभी श्रमणसघीय साधु-मुनिराजो के लिए अनुकरणीय हैं।

अपने अनुभव के आधार पर मैं नि सकोच कह सकता हू कि आपकी श्रमणसघ को सगठित देखने की सदा भावना रही है और उसके सवर्द्धनार्थ पूर्णतया सहयोग देने का भाव दिखलाया है।

अभिनन्दनग्रथ समर्पित करके समाज आपकी सेवाओ के प्रति आदरभाव अभिव्यक्त कर रहा है, यह सतोष की बात है।

मेरी हार्दिक भावना है कि आप सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की आराधना करते हुए श्रमणसघीय ऐक्य के सवर्द्धन मे अधिकाधिक सहयोग देते रहेगे, जिससे श्रमणसघ जन-जन तक भगवान् महावीर के सिद्धातो का प्रचार करने मे सफल बन सकेगा। शुभम्।

०

श्रीमरुधरकेसरी : मेरी दृष्टि में

उपाध्याय श्री अमर मुनि

शरीर से दुबले-पतले, लघुकाय किन्तु दृढ सकल्प और अद्भुत कार्यक्षमता से युक्त श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व बडा ही दिलचस्प और विलक्षण है।

विचार-भेद को वैषम्य और विरोध का आधार बनाकर लडना एक बौद्धिक क्षुद्रता है। मन का छोटापन है। मरुधरकेसरी के जीवन की सात्विक विराटता का विचार करता हू तो लगता है कि क्यो न हमारा साधु एव श्रावक समाज उनके इस महान आदर्श से प्रेरणा ग्रहण करे और जैनसघ की श्री-समृद्धि के लिए कृतनिश्चय बनकर आगे बढे।

मरुधरकेसरी के अभिनन्दनप्रसग पर उनकी प्रेरक एव उल्लेखनीय सेवाओ तथा सद्गुणो का सादर स्मरण हो रहा है। उनका अभिनन्दन उनकी सेवाओ का अभिनन्दन है। यह 'गुणिषु प्रमोद' की प्रमोदभावना का प्रतीक है। श्रमण-सघ के सगठन तथा सवर्धन के लिये इस प्रकार के सत्प्रयत्नो की अत्यन्त उपयोगिता एव आवश्यकता है।

०

स्वामी श्रीमिश्रीमलजी म० ज्यू मू जाण पायो

प्रवतक श्री अम्बालालजी म०

कणी रा जीवन री व्याख्या करणी ने वणी पे आपाणा सही सही विचार बतावणा, म्हू खाडा री धार पे चालवा सू भी ज्यादा कठण मानू। अणी ज वास्ते म्हू कणीराइ जीवन पे केवा सूं मोको लागे जठा तक बचतो रहू। गाढी आणवणे तो के टूटू—गाई, जो है सो थाणाउ छान नी है, ज्यादा कई कू।

अस्यो लवारपणो भी मनेनी सुवावे के मूडा आगे तो प्रशसारी लाम्बी चोडी डीगा हाकणी ने मन मे समझतो रेणो के ये तो बणावा री बाता है। या सभाव वेबा सूइज म्हू कणीराई जीवन मे गेरो उतरवारी कोशिस नी करू, तो भी थोडाक अस्या लोगाँ रो सम्पर्क तो जीवन मे वणीज ग्यो जणाने मे जाणवा री कोशिस नी कीदी तो भी वे आपो आप जणाइ ग्या। वणा थोडा व्यक्तिया मे एक नाम स्वामीजी श्रीमिश्रीमलजी म० रो भी है। अणारे साथ म्हारो सम्बन्ध बहुत पुराणो है। सघ बण्या रे पेली ने पछे, आज दिन ताई घणी वार भेला रया ने वात्ता-चीता कीदी पण मैं अणारी बाता ने अणारा जीवन री कसौटो पे परखवा रो विचार कदेइ नी कीदो। पण मने अचरज यो वे के जो ये केता रया वीने कस्योइ वणीतरे सू करता भी ग्या। आपो आप मोका भी अस्या आवता गया के अणारी परीक्षा होती री। म्हू कदेइ छेटी सूं ने कदेइ नजदीक सू सेजे ही देखतो रयो ये सब दाण खरा उतरता ग्या।

सुणवा मे आयो के सघ वणवाउ पेली भी आने नराई सघष करणा पड्या पण हार्या नी, सप्रदाय रो झडो खडो राख्यो।

सघ वणवा रे बाद जो जो बाता पैदा वी वा रो समाधान करवा मे, ने सघ री वाहवाही राखवा मे जो अणा हाथ वटायो वी सू कुण अणजाण है।

यू हरेक मनख मे थोडी-घणी कमी लादे ही है, थोडा आपणा आग्रह भी व्या करे, जणारी मौत वो नी देख सके, पण स्वामीजी रा स्वभाव मे एक बात देखी, अवसर व्हे तो-ताण लेणी ने मोकोनी देख्यो तो छोड भी देणी। पण आपणा आग्रह रे पाछे समाज रो व्यापक अहित नी व्हे अणी बात रो ध्यान बराबर रहे।

अणी रो मतलब यो नी है के ये 'गगा ग्या गगादास ने जमना ग्या जमनादास' ज्यू अवसरवादी है पण अवसर रा जाण जरूर है। अवसर रो जाण नो वेणो तो मुर्खताई है।

कोई कोई, अणाने कडक मिश्री पण के, या बात अणारी बोली रा स्वभाव री है। आपाणें केणावत है 'खरी केवा वालो खोटो लागे' या बिलकुल साच है क्यू के स्वामीजी खरी-खरी बात बना लाग-लपेट साफ सुणाय दे, जीसू लोग समझे ये भाटाफटक है पण असल मे वात दूसरी है। कडवी दवाई बना मादगी नी जावे ज्यू खरी क्या बिना काम भी हो नी व्हे।



मनरा साफ ने वोली रा कडवा मनख खतरनाक नी व्या करे । खतरनाक तो वे व्हे है, जो जेंर रा तो घडा है ने अमरत रा ढाकणा है । मन मे तो भाटा राखे ने उपर सू मोरिया ज्यू मीठा बोले । देख ने देखा तो आणा री बोली रा तेज सू समाज मे फायदोइज व्यो ।

बोली रा कडक वेता थका भी स्वामीजी मने स्वभाव सू बडा नरम ने सहिष्णु लाग्या । सघ री समस्याओ रे विषे म्हाणे आपस मे नरी दाण वातचीत ने पूछताछ करवा रो मोको आयो, कणी कणी बात मे म्हाणे विचे जबर्दस्त विचार भेद भो र्‌यो, अबे भी व्हे सके, पण म्हू जाणूहू के वो मतभेद, मतभेद इज र्‌यो ने रेगा, मनभेद नी व्यो, नी वेगा।

अणा री या सहनशीलता री ने खमवारी आदत मने अणारा पूरा जीवन मे व्यापक लागी, अणीज गुणसू बीलाडा के वारणे दुष्टा रा हाथ सू मार भी खमलीदी पण चू तक नी क्यो ।

अबाणू ग्या फागण री बात है । म्हू विचरतो थको जेतारण आयो । वठे सुणी, स्वामीजी कुशालपुरा मे एकाएक पड ग्या ने जोर की लागी । म्हारो थोडा दिन जेतारण मे रेवा रो मन हो पण स्वामीजी रे लागवारी सुणी तो वणी टेम व्यार कर दीदो । कुशालपुरे पौच ने अणा ने देख्या लागी तो गेरी ही पण मने कई चिन्ता नी वी, क्यू के, स्वामीजी को धीरज भी गेरो हो । मैं सोच्यो धीरज देखता झट ही सब ठीक व्हे जावेला । व्यो भी यू इज, थोडा ही दना मे म्हाणो व्यार होग्यो । म्हा सोजत ताई साथ आया भेलो ही होली चोमासो कीदो । वडो आनन्द र्‌यो । साथ रैंता थका कदी भी भेद नी दिख्यो । म्हू उमर ने दिक्षा दोई तरे सू स्वामीजी सू कम हू पण स्वामीजी हमेशा बराबरी रो समझने ही उचित ने सम्मान पूर्ण वेवार राखे, या अणारा मन रा मोटापा री बात है । ई मे मने दीखावट नी लागी ।

मने मारवाड मे विचरता थका जाण वी के अस्या एकान्त ने छोटा-छोटा गाम जठे अक्सर सत-सत्यारा दर्शन दुर्लभ व्हे, स्वामीजी पहोच-पहोच ने वाने सम्भाले, जीसू वे धर्मध्यान री दृष्टि सू आज भी हर्या-भर्या है । अस्या बुढापा मे अतरो व्यार करणो, अपणास राखने कष्ट उठाता थका हर गाम मे पहोचणो, यो शासनसेवा री साची हूस घना नी व्या करे ।

म्हू तो मानु हू के मारवाड मे स्वामीजी एक जगमगाती जोत है, जो सब तरफ घूम-घूम ने सब ने उजालो देती रे । म्हारी तो तहे दिल सू या ही भावना है के ज्योतस्वरूप स्वामीजी आपणा प्रखर तेज सू जुगजुग तक सघ ने और समाज ने जगमगाता रहे ने सघ, समाज अणारा प्रकाश मे आगे सू आगे वढता रहे ।

सवरो सार सोरठा मे—

मरुधर री या ज्योत, जगमगती रेवे सदा ।
सघ करे उद्योत, ऊजालो नित पाय ने ।।

०

मरुधरा के महान् सन्त ! शतश अभिवन्दन

श्री मधुकर मुनि

परम श्रद्धेय पूज्य मुनिराज मरुधरकेसरीजी श्रीमिश्रीमलजी महाराज मरुधरा के एक महान् सन्त, महापुरुष है ।

यद्यपि मरुधरा को सजला-सुफला व शस्य-श्यामला होने का गौरव न भी मिला हो, परन्तु सन्तजनो की जन्म-भूमि होने का सौभाग्य तो उसे अवश्य मिला ही है ।

सुदूर अतीत की ओर न जाकर भी अगर हम निकटतम अतीत की ओर ही चलें तो भी यह बात सुदृढता के साथ कह सकते हैं कि इस अवधि मे भी यहा शतश महतो महान् सन्तजन अवतरित हुए हैं। इतिहास के स्वर्णिम पत्र उद्घाटित हैं, वे इस बात के सजग साक्षी हैं।

सन्तजन चाहे मरुधरा के हो या अन्य किसी भी धरा के हो, वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्चना के अवदात आवास ही होते हैं।

मरुधरा मे भी अनेक धर्म-परम्पराए प्रचलित है प्राय वे सभी धर्म-परम्पराए सन्तजनो की विकास-भूमि बनी हैं।

दिग्दिगन्तर-व्यापिनी जैनधर्म-परम्परा भी मरुधरा की एक विशिष्टतम धर्म-परम्परा है। यह जितनी विशिष्टतम है, उतनी ही उच्च उच्चतम सन्तजनो की जननी भी है।

इस परम्परा के सन्त-जनो का त्याग-वैराग्यमय जीवन सदा सर्वांगीण सुन्दर रहा है। आज भी इस परम्परा के सन्त जैनधर्म-पथ के प्रकाशस्तम्भ बने हुए हैं, जिनके अमल आलोक का आश्रय पाकर साधकजन अपनी साधना के सुपथ पर चलते चले जा रहे हैं।

एक मेरा ही नही, ससार के सभी सहिष्णु सुधीजनो का यह डिण्डिम आघोष है कि त्याग और वैराग्य की तुलना में जैन-परम्परा के सन्तजनो के साथ साम्य रखने का अधिकार आज के युग तक अन्य किसी भी धर्म के सन्त-समाज को नही मिला है।

हा, तो मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के एक महान सन्त है। सन्त-जीवन की गुण-गरिमा आप मे है, यह एक तथ्य है।

मुख-मुद्रा और अन्तस्तेज आपकी विशेषता प्रकट कर रही है। आप मे अनुकम्पा की सपदा का समावेश है। भूत-दया और विश्वप्रेम सन्त-जीवन की सात्विक सम्पत्ति मानी गई है। आप मे भूत-दया है और विश्व-प्रेम की भावना है। यह विश्व-प्रेम की भावना ही व्यष्टि का समष्टि की ओर ले जाती है। यद्यपि केसरीजी महाराज स्वय मे एक व्यष्टि है परन्तु वे समष्टि मे सम्मिलित है। अतएव वे विघटन के नही किन्तु सगठन के प्रेमी है।

व्यवस्था करना भी आपकी एक विशेषता है। साधु-सम्मेलनो के प्रिय प्रसगो पर सम्मिलित होने वाले सभी सदस्यो ने इस बात का अनुभव अवश्य किया है।

सकेत पाकर आपके आदेश से कोई भी व्यक्ति विमुख हो जाता हो—ऐसा कम देखने मे आया है। यह आपके व्यक्तित्व का उत्कर्ष है।

आप और हम (उपप्रवर्तक श्री व्रजलालजी म० और मधुकर मुनि) सन्निकट है—बहुत सन्निकट है। आज आप और हम श्रमण-सघ मे है इस नाते ही यह निकटता नही है, यह निकटता तो पूर्वजो से सम्बन्धित है।



आप आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय के एक सदस्य हैं तो हम पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज की सम्प्रदाय के सदस्य है। आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज व पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज दोनो सगे गुरुभ्राता थे। हमारी सन्निकटता का यह प्रथम सोपान है।

आप के परम पूजनीय गुरुदेव श्री बुधमलजी महाराज और मेरे परमपूजनीय गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के पारस्परिक सम्पर्क अतीव गहरे थे। हमारी सन्निकटता का यह द्वितीय सोपान है।

सयोग की बात है मुझे आपके गुरु महाराज के दर्शनो का सौभाग्य नही मिला परन्तु आपने मेरे पूज्य गुरुदेव के दर्शन किए हैं। आज भी जब कभी वार्ता का प्रसग उपस्थित होता है तब यह आभास मिलता है कि अब भी आपका

स्थान मेरे गुरुदेव के प्रति श्रद्धावनत है।

बात प्रथम अजमेर सम्मेलन के समय की है। यद्यपि उस समय मेरा बचपन था फिर भी मेरी स्मृति सजग है कि उस अवसर पर जब वहाँ मरुधरा की सभी सम्प्रदायों के मुनिराजों का एक आचार्य की अधीनता में आने की विचारणा चल रही थी तब होने वाले मारवाड़ी श्रमणसंघ के आचार्य पद के लिये आपकी ओर से ही स्वर्गीय स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज का नाम उपस्थित किया गया था।

मैं अधिक क्या सूचित करूँ? ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनसे हमारी यह सन्निकटता दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रही है और आगे भी बढ़ती ही रहेगी।

मेरे जीवन के अनेक क्षण आपकी सत्संगति में बीते हैं। मुझे सन्तोष है आप के सन्त-जीवन से। मैं आपके प्रति श्रद्धावनत हूँ। मेरी ओर से इस मरुधरा के महान् तेजस्वी सन्त के लिये सविनय अभिवंदन।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी म०

पं० र० श्री ज्ञानमुनि

विक्रम सम्वत् २०१२ में, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ का बृहत् साधु सम्मेलन भीनासर (बीकानेर) में था। जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट् परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का आदेश पाकर श्रद्धेय तपस्वी श्रीस्वामी लालचन्द्रजी महाराज के साथ मुझे उस सम्मेलन में जाने का अवसर मिला। उसी समय समाजहितैषी, समाजसुधारक, मरुधरकेसरी श्रद्धेय श्रीमिश्रीमलजी महाराज के दर्शन करने तथा उनके सम्पर्क में आने का शुभावसर मिला था। सम्मेलन के कारण लगभग २० दिनों तक यह सम्पर्क रहा। इन दिनों मुझे मरुधर-केसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज को निकट से देखने का मौका मिला। उसी के आधार पर कुछ विवेचन करने लगा हूँ।

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज एक कार्यदक्ष, कर्मठ, उदारहृदय सर्वहितैषी मुनिराज हैं, सम्मेलन के संचालन की इनमें विलक्षण क्षमता है। मैंने देखा है कि भीनासर-सम्मेलन में श्रमणसंघ की जितनी भी बैठकें होती थीं, उनका नेतृत्व प्रायः मरुधरकेसरीजी म० ही किया करते थे। वैसे श्रमणसंघ के उपाचार्य, प्रधानमंत्री, उपाध्याय तथा मन्त्री मुनिवर भी योग्यतापूर्ण पद्धति के साथ अपना दायित्व निभा रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से सम्मेलन का संचालन इन्हीं के हाथों में देखा जा रहा था। यही सम्मेलन की कार्य-वाही को आगे चलाते थे। एक कार्यकर्ता में कार्य-सम्पादन की कितनी क्षमता होनी चाहिए? कितनी सूझ बूझ, दीर्घ-दर्शिता, समयसूचकता और कितनी गम्भीरता होनी चाहिए? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर मरुधरकेसरीजी के जीवन से सम्प्राप्त हो जाते हैं। यदि इनके जीवन को उक्त प्रश्नों का सजीव उत्तर ही कह दें तो मेरी दृष्टि में उपयुक्त ही दिखाई देता है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी महाराज के पवित्र जीवन में एक खास बात और देखने में आई। वह थी-स्थानक-वासी श्रावक तथा श्रमणजगत् को संगठित सुव्यवस्थित तथा अनुशासित देखने की महान् लालसा। वे स्थानकवासी समाज में आचार-विचार सम्बन्धी ऐसी उत्क्रान्ति लाना चाहते हैं जिससे यह समाज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक् चारित्र की छाया तले अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करे। इनकी हार्दिक इच्छा रही है कि प्रत्येक श्रमण विद्वान हो, क्रियापात्र हो, त्याग-वैराग्य के महापथ का पथिक हो। सामाजिक भविष्य को समुज्ज्वल बनाने में समर्थ हो। इनकी अन्तर्वीणा के यही स्वर सुनाई पड़ते हैं कि—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका सभी आचार-विचार की दृष्टि से ऊपर उठें। सभी में धार्मिक संगठन हो, अनुशासन हो, निजी महत्त्वाकांक्षाओं को एक ओर रखकर संघैक्य को ही

प्रश्रय देना चाहिए। इसके सरक्षण और सवर्धन के लिए सभव और शक्य प्रयत्न होने चाहिए। भीनासर सम्मेलन मे इसी स्वर को गुजाया गया था, इसे ही क्रियात्मक रूप देने के लिए इन्होने अपनी समस्त शक्तियो का उपयोग किया और वर्तमान मे करते चले जा रहे है। यही कारण है कि आज श्रमणसघ के सन्तो मे इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और समाज इनको अभिनन्दनग्रथ भेट करके अपनी हार्दिक निष्ठा को अभिव्यजित करने का स्तुत्य प्रयास कर रहा है।

नाम और गुण ये दो वस्तुए है। वह शब्द जिससे किसी व्यक्ति, वस्तु या समूह का बोध हो, उस नाम कहते है। निपुणता, विशेषता, कमाल, अच्छी सिफतो का नाम गुण है। इन दोनो को लेकर विद्वान लोगो ने चार भग-प्रकार बताए है। जैसे कही नाम प्रशस्त है और उसके अनुसार गुण भी प्रशस्त है। कही नाम प्रशस्त है, गुण प्रशस्त नही है। कही गुण प्रशस्त है, किन्तु गुण के अनुसार नाम प्रशस्त नही है। कही नाम और गुण दोनो प्रशस्त नही है—न अच्छा नाम है और न अच्छा गुण है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण से समझिए—एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, जब उसके जीवन-व्यवहार को देखते है तो उसमे शान्ति के दर्शन होते है, वह किसी से लडता, झगडता नही, किसी के कुछ अनुचित कह देने पर भी व्याकुल नही होता, सदा शान्ति रखता है। यहा नाम भी प्रशस्त है और गुण भी प्रशस्त है। एक व्यक्ति का नाम शान्ति है, परन्तु जीवन मे शान्ति नही, क्रोध की आग मे जलता रहता है, समझाने पर भी नही समझता, बिना कुछ कहे-सुने लडने मरने को तैयार बैठा है। ऐसे व्यक्ति का नाम प्रशस्त है, परन्तु गुण प्रशस्त नही है। एक व्यक्ति का नाम ज्वालाप्रसाद, है, प्रकृति से सहिष्णु है, शान्ति-प्रिय है, जीवन के किसी क्षेत्र मे अशान्त नही होता प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी शान्त है, कभी गरमी को निकट नही आने देता। ऐसा व्यक्ति नाम से अप्रशस्त है, किन्तु गुण से प्रशस्त है। एक व्यक्ति है, जिसका नाम मूर्खशिरोमणि है। लोगो के ताले तोडना, झूठी गवाहिया देना और किसी की बहिन-बेटी को बुरी दृष्टि से देखना ही उस का काम है। ऐसा व्यक्ति नाम से भी अप्रशस्त है और कार्य से भी।

उक्त चार भगो मे मनुष्यो के चार प्रकार बताने का प्रयत्न हुआ है। समस्त ससार इन चार भगो मे विभक्त हो जाता है। हमारे महामान्य सम्माननीय श्रद्धेय वन्दनीय मरुधरकेसरीजी महाराज प्रथम श्रेणी मे आते है। इनका नाम भी प्रशस्त है, और इनके गुण भी प्रशस्त है। जैनजगत् मे ये मरुधरकेसरी के नाम से प्रख्यात है। "मरुधरकेसरी' कितना सुन्दर और प्रशस्त नाम है? जैसे सिंह निर्भय रहता है, भय को निकट नही आने देता और जगल का बादशाह माना जाता है वैसे ही हमारे परमश्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० भी बिल्कुल निर्भीक मुनिराज है। डर क्या होता है ? यह इन्होने कभी जाना नही। भीनासर-सम्मेलन मे मैने देखा है कि ये सम्मेलन की बैठको मे सिंह की तरह गरजते थे, बेधडक होकर अपनी बात कहा करते थे। जिन सतो की धाक थी, डर के मारे जिनके सामने लोगो की जबान नही खुलती थी, समय आने पर ये उन पर बरस पडते थे। इनके हृदय मे सदा समाज एव सघ के नवनिर्माण की एक बलवती तडप रही है। धन्य है स्थानकवासी जैन श्रमणसघ जिसे मरुधर-केसरी के रूप मे एक निष्काम समाजसेवी सयमप्रिय मुनिराज उपलब्ध हुआ है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरिन्! लिखने को बहुत कुछ लिखा जासकता है, किन्तु सक्षेप मे यदि अपनी बात निवेदन करू तो यह मैं दृढता के साथ कह सकता हू कि आपकी सामाजिक जीवनगत विशेषताओ को अक्षरो की सीमित रेखाओ मे बाधा नही जा सकता, तथा आपने स्थानकवासी जैनजगत् पर जो उपकार किए है उनका बदला भी चुकाया नही जा सकता। "श्रीमरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रथ-प्रकाशक-समिति" आपको "अभिनन्दनग्रथ' समर्पित करके आपके पुण्य-चरणो मे जो श्रद्धासुमन समर्पित कर रही है, यह बहुत सुन्दर दूरदर्शिता तथा कृतज्ञतापूर्ण प्रयास है। मैं हृदय से इसका अभिनन्दन करता हू।

०



कोटि-कोटि अभिनन्दन

मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

पूज्य मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के महान् सन्तरत्न है। आपने श्रमणजीवन की इस अर्धशताब्दी मे चतुर्विध सघ की जो सेवा की है वह इतिहास के अमर पृष्ठो पर स्वर्णिम पंक्तियों मे सर्वदा अंकित रहेगी। अब तक हुए साधुसम्मेलनो मे आपने जो कार्य किया है उसके मूल्यांकन मे आज मरुधरा का एक-एक कण मुखरित हो उठा है। सादडी और सोजत के सम्मेलन के तो आप प्रमुख सूत्रधार रहे हैं। वर्धमान श्रमणसघ के सगठन का बीजारोपण आप के असीम प्रयासो का ही सुफल है। आप के द्वारा लोकहित के अनेक कार्य सम्पन्न हुए है। आप की श्रुतसेवा एव सघ-सेवा अमोघ सिद्ध हुई है। आपकी ओजस्वी वाणी से सघ को जो स्फूर्त चेतना प्राप्त हुई है उसे शब्दशृंखला मे आबद्ध करना गागर मे सागर समाने जैसा प्रयत्न सिद्ध होगा।

बाल्यकाल से अब तक अनेक बार आपके अति निकट सम्पर्क मे रहने के प्रसग मुझे प्राप्त हुए है। मैंने देखा है—आप उदारमना, स्पष्ट, निर्भीक वक्ता, रसमयी राजस्थानी गद्य-पद्य गीतगाथा के प्रणेता, मन्मथ-विजेता, सर्वप्रिय लोकनेता हैं। आप के इस लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रति मेरा शत-शत अभिवादन, कोटि-कोटि अभिनन्दन।

०

दिल की दिवाल पर टगे संस्मरण

हीरामुनि 'हिमकर'

महापुरुषो का गुणानुकीर्तन करना जीवन को निर्मल और पवित्र बनाने का एक साधन है। क्योंकि महा-पुरुष का जीवन परोपकारी होता है। दूसरो के लिए वे स्वय को अर्पित कर देते है। मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी म० भी एक ऐसे ही महापुरुष है। उनके जीवन के अनेक सस्मरण मेरे दिल की दीवार पर सुनहरे और रगीन चित्रो की तरह टगे हुए है।

विक्रम स० २००४ का प्रसग है। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्दजी म० की आज्ञा से मैं अपने भूतपूर्व सम्प्रदाय के सुलेखक श्रीनारायणचन्दजी महाराज एव सेवामूर्ति श्री प्रतापमलजी म० की सेवा मे था। उस वर्ष श्री नारायणचन्द्रजी म० के साथ मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० का सयुक्त वर्षावास सादडी राजस्थान मे हुआ। उस समय मैंने बहुत ही नजदीक से मरुधरकेसरीजी म० को देखा। वे ऊपर से वस्तुत मिश्री की तरह कठोर थे। उनका अनुशासन गजब का था। उन्होंने मुझ पर जिस तरह उस समय कडक अनुशासन किया वह प्रारम्भ मे मन को कुछ अखरता रहा। मैने सोचा—ये महाराज तो काफी तेज स्वभाव के हैं। पर ज्यो-ज्यो मैं उनके अत्यधिक सन्निकट होता गया त्यो-त्यो मुझे यह भी अनुभव होने लगा कि यह तो मिश्री की तरह मीठे भी हैं। ये बाहर से जितने कडक है उतने ही अन्दर से मुलायम भी है। कवि की भाषा मे उनका वस्तुत यही परिचय है

नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जना ।

मरुधरसकेरीजी का हृदय मक्खन से भी अधिक मुलायम है। जब कभी कोई दीनहीन जन उनके पास जाकर अपनी करुण कथा सुनाता है तो वे करुणा से विह्वल हो जाते है। विह्वल ही नही होते पर किसी भावुक भक्त को प्रेरणा कर उसके दुख-दर्द को जब तक नही मिटाते तब तक उन्हे चैन नही पडता। मैंने आँखो से देखा है—सैकडो गरीब बन्धुओ को गुप्त रूप से सहायता के लिये उनको सकेत करते हुए। यदि कोई अनुदार सपन्न व्यक्ति ननु-नच करता है तो उस पर केसरी की तरह गरज भी पडते है। और उनकी गभीर गर्जना के बाद अनुदार भी उदार

की श्रेणी मे बैठ जाता है। ऐसे भी अनुदार व्यक्ति देखे है जो मन न होते हुए भी केवल मरुधरकेसरी के आदेश को पालन करने के लिए मुक्त हाथ से दान देने मे सकोच नही करते।

आपकी दूसरी विशेषता, जो मेरे को आकर्षित करती है, यह है कि आपके तन-मन और वचन मे स्थानकवासी जैन समाज के प्रति गहरी निष्ठा है। स्थानकवासी समाज के सिद्धान्तो के प्रति अपूर्व आस्था है। समाजोत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना आपका स्वभाव है। जहा कही भी आपने चातुर्मास किया या शेष काल विराजे वहाँ के भावुक भक्तो मे सो यही भावना भरी है कि समाज के कार्य के लिए यदि तुम्हे प्राण अर्पित करना हो तो वीर सैनिक की तरह अर्पित करो। जड की उपासना नही किन्तु गुणो की उपासना करो। वीर लोकाशाह की तरह तुम्हे भी क्रान्ति का शखनाद फूंकना है तो उन महापुरुषो की जयन्तियाँ बडे ही उत्साह और उल्लास के साथ मनाओ।

आपका भाषण बडा ही जोशीला होता है। विषय के प्रतिपादन के साथ जब किसी भी विषय का खण्डन या मण्डन करना होता है, उस समय भाषण ऐसा जमता है जैसे श्रावण की वर्षा जमी हो। तर्क पर तर्क बरस पडते है।

आपका साहित्य अधिकाशत राजस्थानी भाषा मे है। आपकी राजस्थानी भाषा मुहावरेदार और प्राजल है। पाठक पढते-पढते आनन्द-विभोर हो जाता है।

मरुधरकेसरीजी का अभिनन्दन-ग्रन्थ निकाला जा रहा है, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है। उनका अभिनन्दन ग्रथ होना ही चाहिये। मैं आशा करता हूँ—मरुधरकेसरीजी म० दीर्घकाल तक सयमसाधना कर जैनधर्म की प्रभावना करते रहे।

●

श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व

जैनसिद्धान्ताचार्य श्रीमानृऋषिजी म०

मरुस्थली ऋषि, महर्षि, सन्त, तपस्वी, चिन्तक और विचारको की भूमि रही है। वहाँ की मिट्टी के कण-कण से पवित्रता की सुगन्ध आती है। ऐसी मरुधरा मे मरुधरकेसरीजी का अवतार हुआ है।

आप जैन सिद्धान्तो के प्रखर विद्वान् एव ज्ञाता है। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओ मे पाण्डित्य प्राप्त किया है। राजस्थानी भाषा तो आपकी अपनी ही है। आपके लेख प्राय राजस्थानी भाषा मे ही रहते हैं। आप न्याय, दर्शनशास्त्र, साहित्य एव इतिहास मे भी पारगत है। आपने खूब परिश्रम के साथ इतिहास का अवलोकन करके सन्तो की नामावली श्रमणतरु वशावली बनाकर प्रकाशित कर जैनो की परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

आपके उपदेश की प्रेरणा से अनेक विद्यालय तथा गौशालाएँ, स्थापित हुई है। लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी (मारवाड), जिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर सिरीयारी, गौतम जैन गुरुकुल सोजत आदि अनेक सस्थाओ की स्थापनाएँ की एव उनको प्रोत्साहन दिया, सिंचन किया।

आप मरुधरा के सन्तो मे प्रसिद्ध वक्ता है। आपका राजस्थानी भाषा के प्रति विशेष आकर्षण है। राजस्थानी भाषा मे ही अधिकतर प्रवचन फरमाते हैं। सिंह जैसी गर्जना करते है इसलिये आपको 'मरुधरकेसरी' का विरुद प्राप्त है। राजस्थानी भाषा आपके मुखारविन्द से अच्छी लगती है। जनता मुग्ध बन जाती है और व्याख्यान मे से उठने को जी नही चाहता है। जनता आप की वाणी की प्यासी रहती है।



आपने प्रचुर साहित्य का सृजन किया है। अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वास्तव में आप की साहित्यिक सेवा प्रशंसनीय है। उम्र में वृद्ध होते हुए भी आपका विहार एवं उपदेश जवानों को मात कर देता है। आत्मविश्वास एवं आत्मभावना के साथ प्रचार कार्य करते हैं।

साधुसम्मेलन के आयोजना में आपका विशेष सहयोग रहा है। अजमेर, सादड़ी, सोजत, भीनासर के सम्मेलनों में आपका विशेष भाग रहा है। सभी सम्मेलनों के आप प्राण थे। आपकी विचारधारा समाज के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

आप स्थानकवासी समाज में एक योग्य विद्वान्, साहसिक, क्रान्तिकारी, मुमुक्षु, मिलनसार, सहृदय व्याख्यानी कवि, लेखक, महर्षि एवं महापुरुष है। आप जहाँ भी पधारते हैं वहाँ आनन्द छा जाता है। दर्शनार्थियों का तांता-सा लग जाता है। राजा, महाराजा, जागीरदार आदि आपके प्रभाव से आकर्षित हो जाते हैं। आपको देहात बहुत प्रिय लगता है और चातुर्मास भी प्रायः वहीं कर डालते हैं जिससे देहाती जनता धर्माराधना के सम्मुख आ जाती है।

आपकी कीर्ति और नाम काफी अर्से से सुनता था, मगर प्रत्यक्षदर्शन एवं मिलन का प्रथमावसर सादड़ी सम्मेलन में आया। तत्पश्चात सोजत सम्मेलन एवं व्यावर में मिलन का अवसर इस लेखक को मिला। मरुधरकेसरीजी जैसे महान् क्रान्तिकारी सन्त का अभिनन्दन उनकी सेवा का अभिनन्दन है।

०

व्यक्तित्व और सयमनिष्ठा का अभिनन्दन

श्री पुखराज सीसोदिया, अध्यक्ष, श्रीस्था० जैन वीर सघ,व्यावर

वि० सवत् २०१५ की घटना है। मैं मरुधरकेसरीजी म० के महान् व्यक्तित्व से भलीभाँति परिचित था, वे मुझे शायद न भी जानते हों। उस समय तीन भागो में विभक्त व्यावर का श्रीसघ एक-सूत्र में आवद्ध था। सब ने प० र० मत्री श्रीपुष्कर मुनिजी म० का चौमासा कराना सर्वसम्मति से निश्चित किया। उस समय मुनिश्री पडगडा मे विराजमान थे। तीनो दलो के मुखिया आपकी सेवा मे विनति करने गए किन्तु कारणवश उनका चौमासा व्यावर मे न होकर वाघपुरा मे निश्चित हो गया। व्यावर सघ के प्रतिनिधि निराश होकर देलवाडा मे विराजित पूज्य श्री-मोतीलालजी म० के दर्शन करते हुए व्यावर लौटे।

इसी अवसर पर सेठ देवराजजी सुराणा निजी कार्य से सोजत गए थे। मरुधरकेसरीजी म० वहा विराज-मान थे। उन्हे विदित हुआ कि मुनिश्री का चौमासा व्यापारी गाव मे होने वाला था परन्तु वह किसी कारण से स्थगित हो गया है। सुराणाजी ने मरुधरकेसरीजी म० से प्रार्थना की कि व्यावर मे किसी का चौमासा तय नही हुआ है। व्यावर सघ शीघ्र आप की सेवा मे प्रार्थना करने आएगा। तब तक आप कही चौमासे की प्रार्थना स्वीकार न करें। मुनिश्री ने फर्माया—जैसी फरसना।

सुराणाजी व्यावर लौटे। तत्पश्चात् विजयनगर मे विराजमान स्थविर मत्री मुनि श्री पन्नालाल म० की आज्ञा प्राप्त कर तीन कारो मे व्यावर सघ के प्रमुख प्रतिनिधि सोजत गए। चौमासे की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हो गई।

दूसरे दिन से ही व्यावर का वातावरण दूषित होने लगा। तरह-तरह की चर्चाएँ और गलतफहमिया फैलने लगी। सयोगवशात् उस समय व्यावर मे मत्री मुनिश्री थेपमलजी म० तथा मत्री मुनि श्रीपुष्कर मुनिजी पधारे हुए थे। उनके समक्ष सारी बातें रखी गईं जो उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० के श्रावकों की ओर से उठाई गई थी। तीनो तरफ के श्रावकों के समक्ष वार्त्ता हुई जिसमे उपाचार्यश्री के श्रावक भी सम्मिलित थे, परन्तु उपाचार्यश्रीजी के श्रावकों को मत्री युगल के समाधान से सन्तोष नही हुआ। उन्होंने उपाचार्यजी म० से समाधान कराना चाहा। उपाचार्यजी विहार मे थे और समय

इतना स्वल्प रह गया था कि उनसे सम्पर्क साधकर समाधान करवाना सभव नही था। तब आचार्य श्री आत्मारामजी म० से समाधान मागा गया और वह मिल गया। मरुधरकेसरीजी पूर्व निश्चयानुसार चौमासे के लिए पधार गए। विरोधी वातावरण बना ही रहा बल्कि दिनोदिन बढता गया।

इस प्रकार के विरोधपूर्ण वातावरण मे भी श्री मरुधरकेसरीजी की शान्ति अभग थी, समाधि अबाध थी और धैर्य अडिग था। बडी वीरता के साथ उन्होने स्थिति का सामना किया। उनकी इस विशिष्टता का परिचय देना ही इस घटना के उल्लेख का प्रयोजन है।

इस घटना के बाद मैं उनके निकट आया। मैंने अनुभव किया कि उनका धैर्य अथाह है, साहस अविचल है, चारित्र उज्ज्वल है, क्रिया उच्चकोटि की है, भावना सन्तो के अनुरूप है। इसके पश्चात् ज्यो-ज्यो मैं आपके निकट आता गया त्यो-त्यो मेरी उल्लिखित धारणा पुष्ट पुष्टतर ही होती गई है।

मरुधरकेसरीजी इतने स्पष्टवक्ता है कि अपने भक्त से भक्त श्रावको को उचित बात कहने मे नही हिचकते। श्रावको की भी आपके प्रति इतनी प्रगाढ श्रद्धा है कि वे आप के वचन को टाल नही सकते। आप के तेज के समक्ष सभी को अभिनत हो जाना पडता है। कच्ची-पक्की बात कहने का किसी को साहस ही नही होता।

वास्तव मे मरुधरकेसरीजी हमारे समाज के एक महार्घ्य रत्न है। उनके अनूठे और असाधारण व्यक्तित्व एव सयमनिष्ठा का शत-शत अभिनन्दन।

o

गुणो के सागर

श्री अनोपचद पुनमिया

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० श्रीमिश्रीमलजी म० से मेरा करीब २५-३० वर्ष से निकट का परिचय रहा है। पुण्यभूमि भारतवर्ष इस ससार मे ऐसे उत्कृष्ट क्रियापात्र, सगठन के अपूर्व हिमायती सतो के कारण ही सर्वोत्कृष्ट होने का दावा करता है।

आपको मैने बहुत ही समीप मे देखा है। आपका अन्तरग फूल से भी ज्यादा कोमल है। जब कभी किसी दीनदुखी असहाय रोगग्रस्त प्राणी को देखते है तो उसे सहायता पहुचाने हेतु सतत प्रयत्नशील रहते है लेकिन जब स्वय पर भयकर से भयकर रोग आक्रमण करता है या बाहर से कोई कष्ट देता है तो आप उसे हसते हुए सहन करते हैं, तनिकमात्र भी घबराते नही है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमने बिलाडा मे प्रत्यक्ष देखा है। जब एक कसाई मछलियो को तालाब पर मार रहा था और उनको पकड रहा था तब आपने उसको प्रेमपूर्वक समझाया कि ऐसा करना तुम्हारे अल्लाह ने भी मना किया है। इस पर वह क्रुद्ध हो उठा और आप पर लाठियो से कई एक प्रहार किये। आपने सब प्रहारो को शातिपूर्वक सहन किया और मन मे यही चिन्तन करते रहे कि यह तो केवल शरीर को पीट रहा है, आत्मा को नही। आत्मा तो अजर अमर है। धन्य है भारत के इस पुनीत सत की क्षमा और दया एव सहनशीलता।



जब बिलाडा-स्थानक मे पधारे तो यू तक नही कहा कि उस व्यक्ति ने मुझ को इसलिये पीटा है। जब यह वृत्तात बिलाडा नगर मे फैला तो उस व्यक्ति की खोज की गई। उसको सामने लाया गया। उस समय गुरुदेव ने यही फरमाया कि मैं अन्न-जल तभी ग्रहण करूगा जब आप इसे क्षमा कर दो और इसको सुरक्षित स्थान पर पहुचा दो। इसे कोई हानि न हो। इस भाति आपने अपूर्व क्षमाप्रदान की जो स्थानकवासी जैन इतिहास मे सदैव के लिये अजर अमर रहेगी।

आप अनुशासन एव सगठन के अपूर्व हिमायती हैं। अनुशासनरहित जीवन आप कतई पसन्द नही करते हैं।



इसी कारण कभी २ आपको कुछ कठोर शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ता है। उसमे कुछ सज्जन आपसे रुष्ट हो जाते हैं। चाहे कोई बड़े से बड़ा भी क्यों न हो, आप निःसंकोच होकर उस अनुशासन हेतु आदेश देने से तनिक भी पीछे नहीं हटते। इसके लिये चाहे कितनी भी बाधाएं आवें आप शान्ति के साथ सहन करने की अपूर्व शक्ति रखते हैं।

सादड़ी में १६ वर्ष पूर्व जब अखिल भारतवर्षीय साधु सम्मेलन व कान्फ्रेन्स का १२ वां अधिवेशन हुआ था, तब इन दोनों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने का एक मात्र सर्वोच्च श्रेय आपको ही है। आपके पुण्यप्रताप से ही श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ की और श्रावकसंघ की प्रथम स्थापना हुई है। कइयों को इस साधुसम्मेलन के सफल होने में बड़ा भारी संदेह था परन्तु आप अपूर्व उत्साह, प्रेम, परिश्रम, लगन के साथ इस कार्य को सफल बनाने में संलग्न हो गए। अन्त में उसको सफल बनाकर ही सांस ली।

जिस भांति एक सिंह जंगल में निर्भय होकर सर्वत्र घूमता है और उसके अनुशासन को सभी जंगल के प्राणी नतमस्तक होकर मानते हैं, क्योंकि सिंह में अपूर्व शक्ति रही हुई है और वह जंगल का राजा समझा जाता है, उसी भांति पूज्य गुरुदेव का संयमी जीवन सिंह के समान है। आपके पास सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की अपूर्व शक्ति रही हुई है। इसके आगे मिथ्यात्वी लोग नतमस्तक हो जाते हैं। कोई भी नास्तिक या विधर्मी आपसे बहस करने आता है तब उसको युक्तियुक्त प्रत्युत्तर देकर शान्त कर देते हैं और निरुत्तर कर देते हैं। वह नतमस्तक होकर ही जाता है। इसी कारण मारवाड़ में आप 'मरुधरकेसरी' के नाम से पुकारे जाते हैं।

आपकी विहारभूमि प्रायः मारवाड़ ही रही है। यहीं आपने अपनी ओजस्विनी सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त भाषा की गंगा प्रवाहित की है। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर इस मरुधरभूमि में कई संस्थाएं खुली हैं जिनमें 'श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी मारवाड़' भी एक प्रमुख संस्था है जो गोडवाड़ प्रांत में लोकाशाह के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली एवं अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की शिक्षा देने वाली एक मात्र संस्था है। विशेष क्या लिखूं? पूज्य गुरुदेव शतायु हों जिससे जैनधर्म की अधिक से अधिक प्रभावना हो।



श्रद्धाकुसुम-समर्पण

श्री माधोमल लोढ़ा

मुझ में यह योग्यता नहीं कि किसी सतजीवन का सही-सही विश्लेषण कर सकूं। फिर भी एक श्रावक के नाते मुनिजीवन से मेरा सम्पर्क अवश्य रहा है। श्रीयुत मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज सा० मरुधर के एक जाने पहिचाने सन्त रत्न हैं। उनकी पवित्र सेवा का अवसर भी मुझे यदा-कदा मिलता रहा है। मुख्यतया संवत् २०१९ में जबकि मरुधरकेसरीजी म० सा० का चातुर्मास जोधपुर में था, और जोधपुर श्रीसंघ ने मुझे मन्त्रीत्व का भार सौंप रखा था—उस अवसर पर केसरीजी महाराज साहब की सेवा का सर्वोत्तम सौभाग्य मुझे मिला। मैंने जिस रूप में मरुधरकेसरीजी को पाया वह आज भी स्मृति के रूप में मेरे विचारों में जमा हुआ है। मैंने अनुभव किया कि मरुधर-केसरी एक ऐसे मुनिवर हैं कि जिनके कठोर अनुशासन के नीचे करुणा का स्रोत भी बहता है। श्रमणसंघ के सजग प्रहरी, एकता के हामी व साहस के पुंज हैं। श्रमणसंघ का कार्य उनके जिम्मे आया, उन्होंने बहुत ही दृढ़ता व सहनशीलता के साथ उसे सम्पूर्ण किया। मरुधरकेसरीजी म० के व्यक्तित्व और उनकी वाणी में एक ओज है, एक आकर्षण है। मारवाड़ी भाषा में स्फुरित होनेवाले इनके प्रवचन बड़े रोचक एवं प्रभावशाली होते हैं। अधिक विस्तार में नहीं जाते हुए केवल इस आशा के साथ कि मरुधरकेसरीजी म० अपनी विशिष्ट योग्यताओं के द्वारा संघ शक्ति व एकता को बढ़ाते हुए शासन को लाभान्वित करेंगे, मैं अपने हार्दिक श्रद्धाकुसुम समर्पित करता हूँ।



श्रद्धा-सुमन

श्री चम्पालाल कर्णावट

स्थानकवासी समाज का प्रत्येक प्रौढ व्यक्ति मरुधरकेसरी के शुभनाम से परिचित है। जिनवाणी का एक सेवक होने के नाते मैं महाराजश्री के शुभ नाम को तो बहुत पहिले से ही जानता था पर जब मैं जोधपुर आया व 'वीर लोकाशाह' को साप्ताहिक बनाकर उसका संपादन—प्रारम्भ किया तब से निकट संपर्क में आया। उसके बाद तो निरन्तर सेवा का लाभ भी लेता आया हूँ।

नवयुवकों के हृदय सम्राट्—मरुधरकेसरीजी—नवयुवकों को खूब पहचानते हैं और सामाजिक सेवाओं में नवयुवकों की टोली बनवाकर बड़े से बड़े काम कराने में सदा सफल रहे हैं।

लोकाशाह के परम पुजारी

सारा स्थानकवासी समाज लोकाशाह की सही सिद्धान्तप्ररूपणा का सुफल है, अत हम सभी उस महापुरुष के बड़े ही ऋणी हैं। मरुधरकेसरीजी ने लोकाशाह के झंडे को अदम्य उत्साह व जोश के साथ उठाया तथा जगह-जगह इसी शुभनाम से सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं को सबद्ध किया। लोकाशाह पत्र आदि तो काफी प्रसिद्धि पा चुके हैं व समाज की बहुत सेवा इन संस्थाओं के द्वारा हो चुकी है। लोकाशाहजयंती जितनी उमंग व उत्साह से मुनिश्री के तत्वावधान में मनाई जाती है, उतनी और कहीं नहीं।

महाराजश्री केवल अपने कल्याण की ओर ही लक्ष्य न देकर सामाजिक कल्याण की ओर भी पूरी तरह से लगते व सतत प्रेरणा देते रहे हैं। स्पष्ट वक्ता होने से कभी-कभी कई लोग उन्हें कडक मिश्री भी कहा करते हैं पर वे हैं—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'। दीन दुखी व असहायों के लिये करुणा के आगार हैं।

कार्यकर्त्ताओं के कद्रदान

आप कार्यकर्त्ताओं को पहचानने में बड़े विचक्षण हैं। सभी सामाजिक संस्थाओं की सहायता के लिये सदा तत्पर रहते हैं—चाहे वे किसी सप्रदाय से सबंधित क्यों न हों।

सादडी का ऐतिहासिक सम्मेलन

स्थानकवासी समाज के अजमेर साधुसम्मेलन से भी यह विशालरूप में था और सभी सप्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी सप्रदायों का मोह छोड लोकाशाह के एक ही झंडे के नीचे—वर्धमान श्रमणसंघ व श्रावकसंघ की स्थापना की। इस सम्मेलन की महान् सफलता का बहुत बड़ा श्रेय मरुधरकेसरीजी को है।

राजस्थानी भाषा के हिमायती

आप राजस्थानी के सदा पक्ष में रहे हैं और आज तक भी इस भाषा की सेवा में सलग्न हैं। आपने काफी साहित्य राजस्थानी भाषा में लिखा है।

साहित्यकार के रूप में आपकी सेवाओं का उल्लेख स्वतंत्र रूप से किया जाय तो कुछ आभास पाठकों को हो सकता है। आपने अध्यात्म-चरित्र तथा ऐतिहासिक गवेषणा से सबंधित काफी साहित्य लिखा जो प्रसिद्ध हो चुका है।

ओजस्वी वक्ता

जैन समाज के अनेक ख्यातिप्राप्त वक्ताओं में आपका विशिष्ट स्थान है। आपकी वाणी में ओज व प्रेरणा-दायक संदेश मिलता है।



औद्योगिक प्रतिष्ठान

श्री लोकाशाह जैन उद्योगमदिर की स्थापना आपके समाज की उन्नति के लिये प्रेरणाप्रद विचारो से ही हुई थी। यह लिखते हुए मुझे अवश्य खेद होता है कि यह महत्त्व की योजना सफल न हो सकी व सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव मे बीच मे ही छोड देनी पडी।

स्वतत्रता के पुजारी

भारत के स्वातत्र्यसग्राम मे अपनी मर्यादा मे रहते हुए मुनिश्री ने सदा पूर्ण सहयोग दिया है। स्वर्गीय शेरे राजस्थान श्रीजयनारायणजी व्यास जैसे नेताओ ने आपसे प्रेरणा व समय समय पर उद्बोधन प्राप्त किया है। आपकी रचनाओ मे स्वदेशप्रेम की मदाकिनी सदा प्रवाहित है और आज भी जनहित के कार्यो मे उसी तरह उत्साहपूर्ण प्रेरणा देते हैं।

आपका 'मरुधरकेसरी' विरुद यथार्थ ही है। केसरीजी की हुकार ने समाज मे नवजीवन का सचार किया है।

आपके त्याग व वैराग्यमय जीवन पर जितना लिखा जाय थोडा ही है। मुनिश्री के चरणो मे मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

•

क्या गुरुदेव ओसवाल थे और अब भी हैं ?

श्री धरमचन्द खारीवाल

श्री मिश्रीमलजी म० उन्ही व्यक्तियो मे एक है जो जन्म से ही अपनी जाति धर्म के प्रति विशेष प्रेमी व अनुरागी थे। कहते है, जब वे ११ वर्ष के थे, पाली के बाजार मे एक पब्लिक मीटिंग मे किसी वक्ता के इन शब्दो पर अड पडे—"ओसवाल जो बनिया कहलावे, बडा ही निर्दयी कजूस होवे है। घीरत मे पडीयोडी माक्खी भी ले लेवे है।" आप बोल उठे "वक्ता महोदय, शब्द वापिस ले लीजिये, क्यो राई का पर्वत खडा करते हो ? यह अपमान मेरी जाति का है।" वक्ता महोदय को घुटने टेकने ही पडे व प्रत्युत्तर मे क्षमा याचना भी की। बस, अब क्या था, सितारा चमक उठा, सीना खुल गया। प्रगति का पथ सुलभ हो गया। अध्ययन मनन की ओर रुचि बढ चली।

तदुपरान्त ससारी मिश्रीमलजी वैरागी बन गये लेकिन जातीयता के भावो की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रही। बिना हिचकिचाये भाषणकला में प्रवीण हो द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रगति करने लगे, निर्भीक होकर। तरुण अवस्था मे ही प्रकाड व्याख्याता की सज्ञा पाली।

वर्षों गुरुचरण की सेवा करते रहे फिर विहार भी किया तथा गुरु के रूप मे जैन पताका लहरा रहे हैं। लेकिन वह जोश क्रमवत् चलता ही रहा है।

मनसा वाचा कर्मणा रात दिन इसी भावना मे ओतप्रोत रहने वाले गुरुदेव समाज व जाति के गौरव रहे हैं तथा मृत्यु पर्यन्त रहेगे भी।

अभी अभी नीमाज के वर्षाकाल मे मैंने देखा कि किसी मुसलमान ने गुरुदेव को सडक पर शौचादि हेतु निकलते देख कहा कि ये तो वाणियो के महाराज हैं।

बन्दूक की गोली की नाई झट उनके मुखारविद से माधुर्यमय वाणी निकली कि भाई सुल्तानजी, है तो हम महाराज ओसवशीय जैन सन्त ही, पर तुम लोगो से कोई विरोध है क्या ? यह सुनते ही मियाजी लज्जित हो क्षमा मागने लग गये।

मानव मे सच्चाई, नैतिकता, सहिष्णुता, परोपकारिता, निर्भीकता मधुरभाषण एव सद्भावना का होना उतना ही जरूरी है जितना निज जाति-धर्म का मान होना अनिवार्य है।

•

कोमल और कठोर

मुथा लादुराम कामदार, हाजीवास

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी म० सा० राजस्थान के एक विद्वान, योग्य एव आदर्श सन्त हैं। आपका स्वभाव जितना सरल है, सिद्धान्त और साधना के आदर्शो का पालन करते समय वही कठोरतम भी हो जाता है। आप भक्तो की शकाओ का समाधान इतना मधुर ढग से करते हैं कि जो आपसे एक बार मिल लेता है उसके हृदय मे बार-बार मिलने की कामना रहती है। आप भक्तो को सुधारने के लिए कभी-कभी कटु शब्दो का प्रयोग भी करते हैं परन्तु उसका प्रभाव अमृत के समान होता है। सामायिक आदि के नियमो का आप कठोरता से पालन करवाते हैं। फटकार का प्रभाव ऐसा होता है कि भक्त जीवन मे कभी भी उस प्रकार की भूल करने का साहस नही करता है।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि म० सा० की दृष्टि मन के मर्म को पहिचान लेती है। वे आने वाले भक्त की इच्छाओ को समझकर यथाविधि व्यवहार करते है। ऐसे कर्णाटककेसरी गणेशीलालजी म० खादीधारी भी थे, जिनकी परखने की दृष्टि बडी पैनी थी। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा है। आपके पूर्वजो की हम पर परम्परा से कृपा रही है, हम लोगो की पीढियो से सतो के प्रति कितनी श्रद्धा रही है, उसे शब्दो द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता है। हमारी भगवान एव पूज्य श्री से प्रार्थना है कि इस प्रकार की कृपा सदैव बनी रहे। पूज्य श्री के आदर्श हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहे जिससे हमारे समाज का उद्धार हो सके। पूज्य श्री से मेरा निवेदन है कि वे इसी प्रकार हमे सन्मार्ग की ओर अग्रसर करते रहे।

•

वक्ता, लेखक एव कवि के रूप में मरुधरकेसरी

ललितकुमार जैन

गत श्रावण शुल्का १४ को नीमाज मे मरुधर के महान् सत, समाजोद्धारक एव सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता मरुधरकेसरी प० रत्न मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० का जन्मदिवस मनाया गया था। पाली (मारवाड) मे श्री सहस्रमलजी के परिवार मे केशरदे की कोख मे जन्म लेने वाली इस महान् विभूति ने अपने साथ ही अपने माता-पिता का नाम भी स्थानकवासी जैन इतिहास मे अमर कर दिया। मारवाड मे कहावत है **"चादनी चवदस रा जाया अमर राज करजो रे"**। वस्तुत विरले ही पुण्यवान् प्राणियो का इस तिथि को ससार मे पदार्पण होता है।



गुरुदेवश्री ने अपनी अल्प वय मे ही १९७५ की अक्षय तृतीया को स्वर्गीय बुधमलजी स्वामी से मुनि-दीक्षा ग्रहण कर अक्षय तृतीया के महान् महत्व को चार चाँद लगा दिये। बचपन से ही विद्या-अध्ययन की धुन के कारण योग्य गुरु के सम्पर्क से शास्त्रो का अध्ययन, हिन्दी, प्राकृत, राजस्थानी, उर्दू, आदि भाषाओ का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर समाजोद्धार के कार्य मे लगने वाले महान् सत ने समूचे मरुधर मे क्राति का शखनाद फूंक दिया।

जब बचपन के दिनो की बातें याद आती हैं तो स्मरण हो आता है कि स्वर्गीय मूर्तिपूजक ज्ञानसुन्दरजी ने स्थानकवासी समाज को चुनौती दे रखी थी। नाना भाति के आक्षेपो से परिपूर्ण ग्रथो की रचना, जैसे पेशावपथी

ढूंढियों की उत्पत्ति, क्या तीर्थंकरो ने डोरा डालकर मुँहपती बांधी, श्रीमद् लोकाशाह आदि की चर्चा की जा रही थी। स्थानकवासी समाज के बडे-बडे दिग्गज मुनिराज यह सब कुछ देखकर भी केवल इसीलिए शात थे कि विरोध करने से सभवत मूर्तिपूजक समाज नाराज हो जायगा। यह कैसी विडम्बना थी। माना कि हम किसी पर आक्षेप न करें किन्तु हमारी मान्यता पर किया गया प्रहार अगर हम सहन कर लें तो उसका तात्पर्य यह होगा कि हमारी उन विरोधी विचारधाराओ को मौन स्वीकृति प्राप्त है।

समाज के इस नर-रत्न का खून खौल उठा। गुरुदेव श्री ने अश्लील और आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशकों को ललकारा। मुँहतोड उत्तर देने वाले ग्रन्थो की रचना की गयी। आखिर सूर्य की किरणो के सामने रात्रि का घोर अन्धकार टिक नही सका। मूर्तिपूजक समाज के आक्षेपपूर्ण ग्रन्थो का शास्त्रसम्मत विरोध कर उन्हे शास्त्रार्थ करने को आह्वान किया। फिर क्या था। जनता को गुमराह करने वाले ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन अविलम्ब बद हो गया।

गुरुदेव श्री ने अनेको ग्रथो की रचनाए की। जिनका प्रकाशन श्री बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल, जोधपुर के तत्वावधान मे किया गया। इन ग्रन्थो मे जीवनचरित्र, स्थानकवासी जैन मान्यताओ का शास्त्रसम्मत विवेचन, समाज पर किये आक्षेपो का उत्तर आदि अत्यन्त प्रभावशाली एव रोचक प्रकाशन हैं। कुछ ग्रथ अभी भी प्रकाशनाधीन हैं, जो समयानुकूल परिस्थितियो मे प्रकाशित होते जायेगे।

वक्ता के रूप मे गुरुदेव श्री की सिंहगर्जना से मरुधर का चप्पा-चप्पा परिचित है। वाणी की ओजस्विता, सरलता और स्पष्टवादिता से श्रोतागण इतने प्रभावित हैं कि वे स्वय गुणानुवाद किये बिना नही रह सकते। आपमे विशेषता यह है कि वर्गभेद आपके पास नही है। चाहे कोई बडा से बडा पूँजीपति हो या सामान्य स्थिति का श्रावक, आपके सम्मुख सभी एक ही श्रेणी के हैं। एक बार का वृत्तान्त स्मरण हो आता है। गुरुदेव जोधपुर मे विराज रहे थे। तत्कालीन सघ के एक प्रमुख श्रावकजी के पास एक सज्जन गये और उन्होने कहा— आजकल कमजोरी बहुत आ गयी है, कोई उपचार हो तो बतावे। उन्होंने अण्डे का प्रयोग करने का आग्रह किया। जब यह स्थिति गुरुदेव के सम्मुख रखी गयी तो बडा दु ख हुआ। दूसरे ही दिन व्याख्यान मे उन प्रतिष्ठित एव श्रीमन्त कहे जाने वाले श्रावकजी को गुरुदेव ने ललकारा और कहा, क्या हम अण्डे के प्रयोग का प्रचार कर अपनी मान्यता का पोषण कर रहे है ? शर्म के मारे वे नतमस्तक अवश्य हुए किन्तु गुरुदेव श्री की स्पष्टवादिता से चिढकर उन्होने व्याख्यान मे आना बन्द कर दिया। मरुधरकेसरी की यही गर्जना रही कि मुझे किसी से राग-द्वेष नही। मैं यह चाहता हूँ कि समाज का श्रावक-समुदाय अपनी मान्यताओ के विरुद्ध आचरण न करे। चाहे वह छोटा है या बडा मेरे लिये सब बराबर हैं।

स्पष्टवादी नीति के कारण ही आज श्रमणसघ के बडे-बडे मुनिराजो मे आपके प्रति अगाध श्रद्धा है। आपमे कथनी और करणी का अन्तर लेश मात्र भी नही है। वाणी की ओजस्विता के कारण हजारो के जनसमुदाय मे आपके प्रवचन सहज ही सुनने मे आ सकते है। "लोकाशाह अर्धसहस्राब्दी" के अवसर पर सोजत मे दस हजार से ज्यादा एकत्रित जनसमूह के समक्ष आपका प्रभावशाली भाषण ऐतिहासिक वस्तु बन चुका है।

सैंकडो हजारो राजस्थानी, हिन्दी और उर्दू की कविताए, दोहे, सोरठे, चौपाइयाँ आपको याद है। जिन्हे सुनकर श्रोता सहज ही आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ऐसा अनुभव होता है कि आप पर देवी सरस्वती की महान् कृपा है। व्याख्यान मे प्रसगानुसार कविता बनाकर कह देना तो आपके लिये कोई कठिन कार्य नही। अनेको कविताओ की रचनाए आपश्री ने की हैं। वीररस की कविताओ को पढकर मुर्दा दिलो मे भी जीवन का सचार हो जाता है।

एक बार सादडी चातुर्मास मे गुरुदेवश्री ने गोडवाड प्रान्त मे स्थानकवासी मान्यताओ के प्रचार-प्रसार के लिए लोकाशाह गुरुकुल स्थापित करने की योजना रखी। यह तो गुरुदेव श्री की वाणी का ही प्रताप था कि एक ही दिन मे लगभग २॥ लाख रुपये की टीप कर दी गयी। आज यह गुरुकुल समूचे भारत मे अपनी शानी का एक अद्वितीय गुरुकुल है।

आपश्री की सदैव यही प्रेरणा रही कि समाज मे सगठन हो, सम्प्रदायवाद की दीवार ढह जाय और एक ही

आचार्य के अधीन रह कर सारा श्रमणवर्ग धर्म का प्रचार करे। सादड़ी का बृहत् साधुसम्मेलन आप की इस नीति का ही सुफल था जिसे स्थानकवासी जैन इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से लिखा जायगा। अपनी इसी एकता की धुन मे रत गुरुदेव अनेक परिषहो को सहन करते हुए प्रतिवर्ष सैकडो छोटे-मोटे गावो मे धर्मप्रचार से आम जनता को लाभान्वित करते रहे है जबकि अधिकाश श्रमणवर्ग शहरो की ओर विचरण ही अधिक पसन्द करते है।

शासनदेव से प्रार्थना है कि हमे मरुधरा की महान् विभूति त्यागी, तपस्वी, श्रमणश्रेष्ठ सन्त की जन्मजयन्ती मनाने का जीवनभर अवसर प्राप्त होता रहे। गुरुदेवश्री शतायु हो जिससे हमे उनके मुखारविन्द से जिनवाणी श्रवण का अवसर प्राप्त होता रहे।

o

आदरणीय मरुधरकेसरीजी को अभिनन्दन

श्री सुधीन्द्र गेमावत

परम श्रद्धेय, प्रातःस्मरणीय मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज से मेरा साक्षात्कार वलून्दा मे एक रात्रि को हुआ था और मै जब वापस लौटा तो मुझे अपने प्रयास की सफलता की खुशी थी। आप से शल्यचिकित्सा लगवाने हेतु आशीर्वाद प्राप्त हो चुका था और जनवरी सन् १९६६ के प्रथम सप्ताह मे नीम्बाज मे जो शिविर लगा वह अपने आप मे अभूतपूर्व था। उसका उद्‌घाटन भी आप के आशीर्वचन से हुआ जिस समारोह की अध्यक्षता डा० एस० सी० मेहता सचालक, भ्रमणशील शल्यचिकित्सा इकाई, राजस्थान ने की।

वह उस वर्ष का सर्वोत्तम शिविर था और उसके बाद अब प्रतिवर्ष नीम्बाज मे यह शिविर लगता है और सहस्रो व्यक्तियो को नि शुल्क शल्यचिकित्सा (ओपरेशन) का लाभ मिलता है। एक जैन साधु साधारणतया इन कार्यों मे रुचि नही लेता। उसका दायरा तो धर्मग्रन्थो, मन्दिरो, उत्सवो तक ही सीमित होता है। श्रद्धेय गुरुदेव, आम जनहित और जनसेवा के मामलो मे अत्यन्त रुचि लेते है और जहा भी जनकल्याण की बात हो अपने पूर्ण सहयोग और प्रभाव से उस कार्य को पूरा करा लेने की क्षमता रखते है।

इस एक सयोग के बाद आपकी मुझ पर असीम अनुकम्पा रही है। और आपके सान्निध्य मे एक आत्मिक शान्ति का मैने सदा अनुभव किया है। मेरे जैसे सहस्रो, लाखो लोग आपके दर्शनार्थ दूर-दूर से आते है और आपके एक सकेत पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते है। ऐसी अटूट श्रद्धा और भक्ति का एक मात्र कारण है आपका उच्च चारित्रबल, जीवनपर्यन्त त्याग एव तपस्या। आपके अमृत-वचन सुनकर मनुष्य मात्र सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित हो उठता है। आप के लिये जाति, रग, धर्म का कोई भेदभाव नही है। अत सभी वर्गो के लोग अपना सुख-दुख सुनाने आपके पास आते है। और आपके अनन्त प्रेम और दयाभाव से प्रेरित एव आनन्दित होकर लौटते है।

मै परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा हमारे बीच अन्धकारमय समुद्र मे देदीप्यमान प्रकाश-स्तम्भ की तरह समाज का मार्गदर्शन करते रहे और मध्याह्न के प्रखर सूर्य की तरह अपने तपोबल और तेजस्विता से मनुष्यमात्र के मन से कलुष, घृणा, द्वेष, लोभ, मोह-माया के अन्धकार को नष्ट करते रहे।

जिसे ऐसे अलभ्य गुरु मिल जाय, उसका जीवन सफल हो जाता है।



❁



मरुहरकेसरिमुणिसिरिमल्लस्साऽहिणन्दण

सिरी पुप्फ भिक्खू

मंगलाचरण

णायपुत्तं महावीरं, सव्वन्नुं सव्वदंसिणं ।
णमंसित्ता करिस्सामि, सिरिमल्लाभिणन्दणं ॥१॥

सवोहण—वसी । णिण्णीयतराहु । जम्मभूमुहूणिप्पिह ।
गावककुवतिगेहोऽसि सीलवीवसमभव । २
सवकममणनिव्विण्ण । अणासत्त । विरत्त । या
कायासणपिहामुत्त । भव्वमारगतप्पर । ३
देहभावनिरवेक्ख । सामणसेवा पारग ।
सिद्धिमग्गसमावेवख । सुमेरु इव निच्चल । ४
जोईपहुत्तअमल । निम्मलो पवणो वि या ।
निम्ममत्तसमाउत्त । विस्सविज्जाविसारअ । ५

दण्डओ—सस्सजमवरावारआणधणेसर ।
माणावमाणासुरदलणमहेसर ।
गामकण्टगपरीसहवालनिव्वअ ।
सियजाणचिन्तणत्तमत्थ अच्चुअ ।
रागाइरयणीयरक्ममायागरवियारग ।
तवतिव्वइंगालसरकामणयर दाहग ।
निस्संगत्तयाए णाणग्गजसासग ।
काम-कोह-मोह-लोह-आइपावणासग । ६

चउप्पई—तण्हच्चीहिम । तण्हाकालजलुग्गम हे ।
दुस्सगमणोमायगनिग्गहे अकुस भे ।
अइउग्गतवग्गिणमोहकट्ठभस्सीकय णे ।
उद्दामघटामायगसत्तरसवाउहणे । ७

गाहा—सरीराहारवीहारस्समारभोगणिप्पिह ।
विसुद्धवोहपीऊसपाणपुण्णीकयासअ । ८
विरोहो जगज्जन्तुकरुणावरुणालय ।
असेई कामधेणुव्व । अभिणन्दन्ति न जणा ९

गज्ज—परमआराहियसहम्मसामिणामवेत्तसम्पया सम्भाविया । ते य अणुकम्पा वच्छल्लया वास वासित्ता अज्जनमावे थिरिकया । पइविसिट्ठगामेसु परिकहियसव्वगामेसु गामाणुगामं दूइज्जिन्ता तेसु धम्मुल्लासेण सिरिजीवणाय मूल-वुणाहारायि-य-सगुरुवुहम-जाइयाण सूसि-ण करावेसि तेसु भत्तिसन्निवीरग्गस च ओयप्पीय करसि, ते सामणसेवा-वियाररहं निमालाए पुणो पुणोऽभिणंदण । तुमाए सव्वेसु सत्तवीरस्सुयस्स च नत्थि धम्मुज्जोआ कआ । भत्तभावुगा य न कयावि न मुल्लिउ सक्का । अहो केरिसो अणुण्णासयसम्बन्धो पयडिए सजोइओ । सच्चं नु इण ज नडरायव्वपसायणया नियगुरुवुहसत्तेण उद्दिसिजपस्माणुगागत्ता कया । अहो सारदी-सुवइआयरियकुरुसिरोमणि ते इणमेव जुत्तं । दिट्ठा परिक्खिया य नव रायव्वया सव्वउट्टि साउडीसम्मउणे, निरिक्खिया ते आयतेसपहाणा । दिट्ठा सीणासन नव पयावतावो

इस अभिनन्दन का अभिनन्दन

श्री सुरेन्द्रमुनि शास्त्री

[illegible] ।
[illegible] । —[illegible]

सन्त किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का एक सजग प्रहरी है। अपनी आत्म-साधना के उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह लोक-हित के लिए भी अपने आपको अर्पित करता रहता है। अपने वैराग्य-मूलक पुनीत-पावन विचारो से वह जनमानस को जगाता और 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपनी वैचारिक थाती को अभेद-अखेद भाव से लुटाता रहता है। जीवन-पथ के भूले-भटके पथिकों का वह सफल-निष्काम मार्ग-दर्शन करता है। प्यासी आत्माओ को वह अपनी वाणी का अमृत पिलाता है और व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र का सतत कल्याण-साधन करता है।

और, जन-मानस को जगाना, सामाजिक उदय-अभ्युदय की प्रेरणा प्रदान करना—सन्त जीवन की यह जीविका-साधना नहीं, प्रत्युत उसकी जीवन-साधना, अध्यात्म-साधना तथा संयम-साधना का एक महत्वपूर्ण अग है—जिसके लिए वह निरन्तर नगर-नगर, डगर-डगर घूमता है, हंसता मुस्कराता, हजार-हजार कष्टो-कठिनाइयो को झेलता है, अपमान-तिरस्कार के जहरीले घूट पीकर भी, वह जन-जन को अमृत बाटता है, अपने मजबूत हाथो मे ज्ञान की जलती मशाल लेकर मन-मानस का अन्धेरा मिटाता है और समाज तथा राष्ट्र के सोये भाग्य को जगाता है।

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज राजस्थान मे स्थानकवासी जैन-समाज के एक ऐसे ही प्रबल समाज-सुधारक, निर्भीक प्रचारक, प्रतिष्ठित, यशस्वी तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी संत है। राजस्थान की मरुधरा मे उन्होने अपने आचार-विचारमूलक ज्ञान की मन्दाकिनी प्रवाहित की है। समाज का वैचारिक एव चारित्रिक धरातल ऊचा उठे, समाज विकास एव प्रगति की मंजिल पर सतत आगे बढे—यह उनके मन की साध रही है। और इसके लिए वे सर्वतोभावेन गतिशील तथा प्रयत्नशील रहे है। समाज का नैतिक एव शैक्षणिक स्तर ऊचा उठाने के लिए अनेक शिक्षण-संस्थाओ के संस्थापन मे उनका ठोस योगदान रहा है। सामाजिक एकीकरण तथा रूढिवाद के उन्मूलन के लिए भी वह जन-मानस के लिए स्रोत रहे है। सादडी, सोजत, भीनासर के सामाजिक सम्मेलनो के मच



पर भी उन्होने अपनी कठोर कर्मठता, विलक्षण कुशलता तथा सतत सतर्कता का साकार परिचय दिया है। उनकी इन लोकोपयोगी एव सामाजिक उपलब्धियो को कैसे भुलाया जा सकता है ?

तो, लोकोपकारी प्रवृत्तिया, व्यक्तित्व की कर्मठता और जीवन की गरिमा लोक-लोचनो पर चढ ही जाती हैं, जनता के अन्त स्तल-मर्मस्थल को छू ही जाती है। जन समाज के हृदय की श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति तथा लोकोपयोगी कार्यों के प्रति मानसिक आकर्षण की शाब्दिक अभिव्यक्ति का नाम ही तो अभिनन्दन है। इसका स्पष्टत यही तो अर्थ है कि, मरुधरकेसरीजी के प्रखर व्यक्तित्व, निर्भीक वक्तृत्व, एव कुशल कर्तृत्व ने राजस्थानी जैन-समाज का ध्यान बलात् अपनी ओर आकर्षित किया है। "अभिनन्दन" और होता ही क्या है ? व्यक्ति के विलक्षण व्यक्तित्व, प्रभावशील वक्तृत्व, सक्षम कर्तृत्व तथा समाजहित के प्रयत्नो मे उनके योग-सहयोग की मुक्त-कठ से प्रशसा एव सराहना !

भारत मे सयम, त्याग, तप, सदाचार-मूलक जीव के उच्च आदर्शों का सदा ही स्वागत-सत्कार होता आया है। यह व्यक्ति का नही, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओ तथा तत्प्रेरक सामाजिक उपलब्धियो का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। "गुण-पूजा" का एक महत्वपूर्ण एव जीवित-जाग्रत ढग है यह एक।

राजस्थान के जैन समाज का यह परम सौभाग्य है कि, ऐसे कर्मठ, समाज-हितैषी, एव समाजसुधारक सन्त उसके बीच मे आज भी विद्यमान हैं। राजस्थानी दुनिया के इस जाने माने सत की सयम-साधना के पचास वर्ष की पूर्ति की हार्दिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के रूप मे राजस्थानी जैनसमाज ने जो अपनी आस्था-श्रद्धा के सुमन अर्पित-समर्पित किए हैं और उनके जीवन की सामाजिक सेवाओ तथा लोकोपयोगी उपलब्धियो का सार्वजनिक अभिनन्दन किया है, यह हर्ष का विषय है। इस अभिनन्दन का अभिनन्दन। अपनी सयम-साधना के पथ पर अग्रसर होते हुए, वह जनहितकारी ध्येय की दिशा मे सतत गतिशील रहें। इस हृदय की यही मगल कामना !

•

श्रद्धा के फूल

मुनिश्री सुशीलकुमार

मरुधरकेसरीजी समाज की वह ज्योति हैं, जो सदा ही जाज्वल्यमान रही है। उनकी स्पष्टवादिता, कडकपना, गावो के प्रति मोह-ममता, कर्त्तव्यपरायणता, मरुधर देश को ही नही, पूरे ही भारत को एक देन है।

उनके सघ-सगठन का अद्वितीय कार्य इतिहास के लिए एक सुनहरा पृष्ठ है। बिखरे समाज के हीरे-पन्नो को श्रमणसघ मे गूथना एव 'श्रमणसुरतरु' का निर्माण उनके मस्तिष्क की अमूल्य देन समाज को है। मेरी तहृदिली श्रद्धाजलि इसी रूप मे सदा ही उनके साथ रही है। इसी भावना के साथ ये 'श्रद्धा के फूल' प्रस्तुत हैं।

•

कलाधर महान् केसरी

प० सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

भूमडल पर कुछ ऐसे आश्चर्यजनक व्यक्तित्व पाये जाते हैं जिनमे विरोधी तत्वो का अद्भुत मिश्रण होता है। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० सा० का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसी विविधता लिये हुए है कि यकायक कोई अपने निश्चित मापदड से उसे नही माप सकता।

शान्ति, क्रान्ति दोनो अपने आप मे चरम सीमाए रखती हैं किन्तु केसरीजी का व्यक्तित्व दोनो की अति से

विरहित है। फलत दोनो का एक ऐसा मधुर तथा अविरोधी समिश्रण उसमे पाया जाता है कि जिसका यत्र-तत्र पाया जाना कठिन है। क्रान्ति-पूर्ण ओजस्वी भाषा मे कडकते हुए केसरीजी को सुनकर शायद ही ऐसा कोई सोच पाए कि जिह्वा 'मधुरादपि मधुरम्' भी है, किन्तु श्रोता कुछ समय मे ही अनुभव करने लगता है कि वह फून्कार बहुत सहजरूपेण प्यार मे परिवर्तित हो चुकी है। विशेषता यह है कि वे किसी अति मे नही जाएगे। वस्तुत उनका यह खट्टा-मीठा स्वभाव ही उनमे महान् कर्त्तव्य-शक्ति का निर्माण करता हुआ समाज मे सर्जनात्मक उपलब्धियो का भडार भर रहा है।

समाज मे पैदा होने वाली प्रत्येक स्फुरणा को केसरीजी का व्यक्तित्व प्रभावित करता है। इतना ही नही उसे समुचित मोड देने की क्षमता भी रखता है। श्रमणसघीय इतिहास की अनेकानेक घटनाओ से आपका महान् व्यक्तित्व सबद्ध है व वर्तमान गतिविधियो से भी सलग्न है।

व्यक्तित्व की वास्तविक सफलता उसका समुचित प्रभावप्रयोग है और इसमे आवश्यकता होती है बौद्धिक सजगता की। सम्यग् बौद्धिक निर्देशन के बिना कई प्रभावशाली व्यक्तित्व भी लडखडाते, गिरते व दबते देखे गये हैं। जहा तक केसरीजी के व्यक्तित्व का प्रश्न है यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि उसके पीछे समुचित सम्यग् बौद्धिक निर्देशन काम करता रहा है और यही कारण है कि केसरीजी का व्यक्तित्व व्यापक, व्यापकतर, व्यापकतम होता चला जा रहा है।

आपके मुखमडल की शान्ति-क्रान्ति मिश्रित प्रतिभा मे ही एक ऐसा जादू है कि दर्शक बरबस आकर्षित व प्रभावित हो जाता है। शशि के समान सौम्यता व सिंह के समान विक्रान्त तेजस्विता का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र मिलना कठिन है। इसीलिए मैं उन्हे 'कलाधर महान् केसरी' के रूप मे देखता हू।

आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि अभी कई युगो तक कलाधर महान् केसरी अपनी मौलिक-कलाओ को प्रकट करते हुए सघ व समाज को उन्नति की ओर बढाते रहेगे।

●

चमकते दिन के सम केसरी

श्री हीरामुनिजी 'हिमकर'

जगत मे मिसरी मुनि राजते,
नगर मे पुर मे नित गाजते।
गरजते रहते जिम केसरी,
बन गये मरु के तुम केसरी ॥

बन रहे अब तो सुर केसरी
अमर हो दिल के तुम केसरी।
नगर मे घर मे चरचा सुनी,
तरन तारन है मिसरी गुनी ॥

करत हू गुन गायन आपके,
कटत हैं जिससे जड पाप के।
सुगुन शिष्य सुधाकर आपके,
सुगन के गुन आकर भावते ॥

मरुधरे मिसरी मुनि केसरी,
चमकते दिन के सम केसरी।
कु-जड पूजन की जड काटते,
वचन वीर जिनेश सुनावते ॥

नित करो मिसरी गुण गान ये,
उतर जो जिन से भव पार ये।
हिमकरो विधि से कर वन्दना,
विनय से विनवे मुझ तारना ॥



●

गौरव-गीत

श्री रसिक मुनि

तर्ज—थारी मोह माया ने छोड

हो जिनशासन-सिनगार, सदा गुणधारी ।
गुरुदेव आपकी बारबार बलिहारी—टेर ।
"मरुधर" मे सुन्दर पाली शहर कहलावे ।
है जन्मस्थान वहा सौम्य-छटा मन भावे ।।
है मिश्रीमल्लजी नाम जगत मे जहारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
थे पिता आपके सहसमलजी नामी ।
थे धर्मी और धनवान श्रावक गुण धामी ।।
लिया केसर कुवर की गोद जन्म सुखकारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
नित मात पिता परिवार सभी हर्षाया ।
पुण्यवान पुत्र यह पुण्योदय से पाया ।।
मुख-मण्डल शशिवत सूरत मोहन गारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
जब पाँच वर्ष मे जननी स्वर्ग सिधाई ।
तब से दिल मे वैराग्य भावना आई ।।
मै लेऊँ सयम बनू महाव्रत धारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
आराध्य देव श्री बुधमल जी थे प्यारे ।
महा ज्ञानवान वे षट्काया रखवारे ।।
कर लिया सयम स्वीकार आत्महितकारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
किया ज्ञान ध्यान महापडित बन गये ज्ञानी ।
मरुधर मे मोटा सन्त, सकल गुण खानी ।।
आगम के ज्ञाता तत्व ननन मन हारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
हो निर्भय-वक्ता आप सुपथ बतलाओ ।
भगवान वीर का अमर सन्देश सुनाओ ।।
हो मरुधर-केसरी रटे सदा नर नारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—
शासन की बढाओ शान भारत के माही ।
युग-युग तक जीयो मगल-कामना या ही ।।
अभिनन्दन चाहे 'रसिक' मोद मन हारी ।
गुरुदेव आपकी बार बार बलिहारी—

जय मारवाड़ का सन्त पुनीत

श्री गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

जय मारवाड का सत पुनीत ! बोले जन जय तेरी हो विनीत !

तमसामयी निशा चीरकर, तू भानुसम प्रकटा कुल मे,
खिले परिजन के आनन, ज्यो कमलदल सुजल मे,
शैशवावस्था बीत चली और तरुणाई आकर फूट पडी,
तभी सयम-रश्मि बरसने को, एक विराग-रेखा अड पडी,

चला तू करने अपनी जीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

अन्तरिक्ष-सा निर्मोही बन, साधना मे कदम बढाया,
वीर-शासन की सेवा का, सुदृढ सकल्प बनाया,
आये थे विघ्न कई पथ मे, फिर भी न उनसे तू डरा,
धर्म-ध्वस्तकों ने भय दिखाये, रहा ध्येय पर मेरु-सा खडा,

निभाता धर्म की सत्य-रीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

मरुधरा की पावन धरा पर, जहाँ भी पडे तेरे चरण,
सघ-सगठन और धर्म का होता मानो वहा नया वरण,
शिथिलाचार मिटाने मे, फूक दिया निज जीवन बल,
सत्य-तथ्य बतलाने मे, किंचित् रखता न मन मे छल,

जय हो एकता के सुमीत ! जय मारवाड के सत पुनीत !

पाण्डित्य तेरा अति श्लाघ्य, साहित्य भी तेरा है खरा,
अद्‌भुत तेरी यश-रेखा, तू नन्दनवन-सा हरा-भरा,
तू केसरी सत्य ही 'केसरी' गिरा मे अमित ओज-बल,
करता है तू अभिगुजित, समाज हित का गीत प्रतिपल,

बनी रहती सदा सुनीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

जन श्रुति से कडक मिश्री, पर, अन्तर मे तू नवनीत,
दयालु, कृपालु, भावुकता की, बहती त्रिवेणी अपरिमित,
सुवर्ण-जयन्ती पर हे तपस्वी, करते हम तेरा अभिनन्दन,
महके तू चहु दिशि-दिशि मे, ज्यो धूप, मलयज-चन्दन,

रखता साधुता से सुप्रीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

●





म्हारो पण अभिनन्दन

मदन मुनि 'पथिक'

मरुधरकेसरी मुनिराज श्रीमिश्रीमलजी म० सा० आपणी समाजरा जाण्या पिछाण्या पुरुपरत्न स्वयभू रूपसू चमक रह्या है। अठे गुसाईजी महाराज रो दुहो चोखो फिट व्हियो—

"जेते तारे गगन मे तेते दुश्मन होय।
कृपा होय रघुनाथ की, बाल न बाका होय ॥"

खरोखर आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज री 'दया पालो' घोषणा मुनिराज रा विराजवा सू सार्थक है। इणी तरह सू आप पर भी घणा विघ्न आया ने आई रह्या है पर अणाहीज दयालु आचार्य श्री रघुनाथजी म० सा० रो कृपा सू आपरो एक रोम पण वाको नी व्हो। बडी ज्योति रो हवा काई बिगाड सके ? उल्टी वत्ती-वत्ती तेज वणे।

वद्धमान सघ ने वृद्धि सू कुण रोक सके ? आपरो अन्त करण मिश्री जस्यो मधुर है। पण शब्द भी मिश्री जम्या ही कडक है। ढिलो-ढालो सीधो साधो मधु व्हे पण उण मे घणा जन्तु मर जाय। पण आप तो आपरा रूप ने श्री रघुनाथजी की कृपा सू तरास, तरास ने अस्यो वणाई दीधो जो अणी स्मृतिग्रन्थ रा रूप मे शोभे है। म्हारो पण अभिनन्दन !

श्रद्धांजलि

कविरत्न श्रीचन्दन मुनिजी

मरुधरा के केसरी जी, इक सितारे सघ के
है उन्हें श्री सघ प्यारा, वे हैं प्यारे सघ के,

सघ-सगठन से उन्हें है, प्रेम सच्चा जिस कदर
काश ! हर इक ही मुनि को, हो मुहब्बत इस कदर।

सघ से ही जैन की ससार मे इक शान है
है जुडा श्री सघ से हर—जैन का कल्याण है,

सघ का जिसने बढाया-मान आगे बढ गया
उन्नति के पथ पे वह इसान आगे बढ गया।

पर, अह का त्याग करना, है भला आसान क्या ?
त्यागियो को तग करता ये नहीं अभिमान क्या ?

छू नहीं किन्तु गया ये, आपको मिश्री मुनि !
आप-सा दुनिया मे होगा, सयमी कोई गुणी।

सौम्यता भी, सरलता भी, वीरता भी, धीरता
है अनूठी आपके सद् ज्ञान की गम्भीरता,

लीन रहते हैं सदा, स्वाध्याय, तप मे, ध्यान मे
इक अनोखा आ रहा है, आपको रस ज्ञान मे।

दूर रहते जा रहे हैं, दम्भ, छल से द्वेष से
कर लिया भक्तो को वश आचरणयुत उपदेश से ।

आगमो के ज्ञान की हो, इक लगाते हैं झडी
लोग यो एकाग्र बनते, देखते फिर ना घडी ।

हम कहे भाषण उसे या मोतियों की इक लडी
जब मिलाते आप जाते, हैं कडी से ही कडी,

आप की शुभ प्रेरणाए, खूब जिनके साथ हैं,
सादडी, सोजत, गुरुकुल, विश्व मे विख्यात हैं ।

हैं अनेको सस्थाए, और राजस्थान मे
आपके सकेत पर रत, हैं जो जन-कल्याण मे ।

सादगी के हो पुजारी, तडक है न भडक है
त्याग की वैराग्य की पर, आप मे इक भडक है ।

आप अपने श्रावको का, खूब रखते हैं खयाल
घूम आते हैं अत हर गाव मे हरएक साल

खूबिया कुछ और भी तो, आप श्री मे खास हैं,
मोह तज नगरों का करते, गाव मे चौमास हैं ।

क्या कहू मैं आपके जीवन की जो भी शान है
आप पर श्रीसघ को, ससार को अभिमान है,

है अभिनन्दन 'मुनि चन्दन' के द्वारा आप का
और भी जग जलवा देखे, आपके प्रताप का ।

●

मैं टकरा गया

मुनि रजत जैन

इस जिन्दगी मे मैं कठिन पाषाण से टकरा गया,
हा ! साथ खल-दल के गिरा भ्रमधार मे चकरा गया ।
सच्चा सहारा आपका उस वक्त था मुझको मिला,
जिसके सुबल पर ही सुखद जीवन सुमन मेरा खिला ।
सौजन्य-शुचि पीयूष से सब आधि मेरी दूर कर ।
पुनि पूर्ण-प्रेम-प्रवाह से मेरी तमन्ना पूर कर ।।
दुर्दान्त करि-अरि हेतु श्रीमन् ! आप मरुधर केसरी ।
कर जोड अभिनन्दन करू -गई भूल मम-जीवन तरी ।।
तेरा विमल विश्वास मेरे श्वास के सग घुल रहा ।



म्हारो पण अभिनन्दन

मदन मुनि 'पथिक'

मरुधरकेसरी मुनिराज श्रीमिश्रीमलजी म० सा० आपणी समाजरा जाण्या पिछाण्या पुरुपरत्न स्वयभू रूपमू चमक रह्या है। अठे गुसाईजी महाराज रो दुहो चोखो फिट व्हियो—

"जेते तारे गगन मे तेते दुश्मन होय।
कृपा होय रघुनाथ की, बाल न बाका होय।।"

खरोख्वर आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज री 'दया पालो' घोपणा मुनिराज रा विराजवा सू सार्थक है। इणी तरह सू आप पर भी घणा विघ्न आया ने आई रह्या है पर अणाहीज दयालु आचाय श्री रघुनाथजी म० सा० री कृपा सू आपरो एक रोम पण वाको नी व्हो। बडी ज्योति रो हवा काई विगाड सके ? उल्टी वत्ती-वत्ती तेज वणे।

वद्धमान सघ ने वृद्धि सू कुण रोक सके ? आपरो अन्त करण मिश्री जस्यो मधुर है। पण शब्द भी मिश्री जस्या ही कटक है। ढिलो-ढालो सीधो सादो मधु व्हे पण उण मे घणा जन्तु मर जाय। पण आप तो आपरा रूप ने श्री रघुनाथजी की कृपा सू तरास, तरास ने अस्यो वणाई दीधो जो अणी स्मृतिग्रन्थ रा रूप मे शाभे है। म्हारो पण अभिनन्दन !

श्रद्धांजलि

कविरत्न श्रीचन्दन मुनिजी

मरुधरा के केसरी जी, इक सितारे सघ के
है उन्हें श्री सघ प्यारा, वे हैं प्यारे सघ के,

सघ-सगठन से उन्हें है, प्रेम सच्चा जिस कदर
काश ! हर इक ही मुनि को, हो मुहब्बत इस कदर।

सघ से ही जैन की ससार मे इक शान है
है जुडा श्री सघ से हर—जैन का कल्याण है,

सघ का जिसने बढाया-मान आगे वढ गया
उन्नति के पथ पे वह इसान आगे वढ गया।

पर, अह का त्याग करना, है भला आसान क्या ?
त्यागियो को तग करता ये नहीं अभिमान क्या ?

छू नहीं किन्तु गया ये, आपको मिश्री मुनि !
आप-सा दुनिया मे होगा, सयमी कोई गुणी।

सौम्यता भी, सरलता भी, वीरता भी, धीरता
है अनूठी आपके सद् ज्ञान की गम्भीरता,

लीन रहते हैं सदा, स्वाध्याय, तप मे, ध्यान मे
इक अनोखा आ रहा है, आपको रस ज्ञान मे।

दूर रहते जा रहे हैं, दम्भ, छल से द्वेष से
तर लिया सदस्यों को बस आचरण युत उपदेश से।

आगमों के ज्ञान की हो, इस लगाते हैं झडी
लोग थो एकाग्र बनते, देखते फिर ना घडी।

हम कहें भाषण उसे या मोतियों की इक लडी
जब मिलाते आप जाते, हैं कडी से ही कडी,

आप की शुभ प्रेरणाएं, खूब जिनके साथ हैं,
सादडी, सोजत, गुरुकुल, विश्व मे विख्यात हैं।

हैं अनेकों संस्थाए, और राजस्थान मे
आपके संकेत पर रत, हैं जो जन-कल्याण में।

सादगी के हो पुजारी, तडक है न भडक है
त्याग औ वैराग्य की पर, आप मे इक भडक है।

आप अपने श्रावकों का, खूब रखते हैं खयाल
घूम आते हैं जन हर गाव मे हरएक साल

खूबिया कुछ और भी हो, आप श्री मे खास हैं,
मोह तज नगरों का करते, गाव मे चौमास हैं।

क्या कहू मैं आपके जीवन की जो भी शान है
आप पर श्रीसघ को, ससार को अभिमान है,

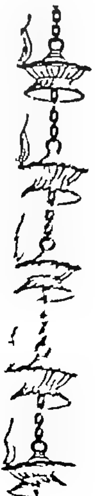
है अभिनन्दन 'मुनि चन्दन' के द्वारा आप का
और भी जग जलवा देखे, आपके प्रताप का।

●

मैं टकरा गया

मुनि रजत जैन

इस जिन्दगी मे मैं कठिन पाषाण से टकरा गया,
हा ! साथ खल-दल के गिरा भ्रमधार मे चकरा गया।
सच्चा सहारा आपका उस वक्त था मुझको मिला,
जिसके सुबल पर ही सुखद जीवन सुमन मेरा खिला।
सौजन्य-शुचि पीयूष से सब आधि मेरी दूर कर।
पुनि पूर्ण-प्रेम-प्रवाह से मेरी तमन्ना पूर कर।।
दुर्दान्त करि-अरि हेतु श्रीमन् ! आप मरुधर केसरी।
कर जोड अभिनन्दन करू-गई मूल मम-जीवन तरी।।
तेरा विमल विश्वास मेरे श्वास के सग घुल गया।





ऐसी वरिष्ठ विभूति इस युग मे भला पाता कहा—
है मुक्ति करतल-विश्वकी मन त्याग कर जाता नही।
सत्य का शिवरूप सुन्दर, ज्ञान जग को भा गया।
है मुक्त जगती पर वही जो शरण गुरु के आ गया॥
कट जाए बन्धन कर्म के इसमे भला शका कहा।
परस पारस लोह कचन, बन गया कुन्दन महा॥
इस दुर्गम भव की अटवी-मे-उपदेशवि तुम्हारा स्पन्दन है।
अतएव विभो अन्तस से मेरा प्रेमभरा अभिनन्दन है॥

०

मेरी श्रद्धांजलि

श्रीसुकन मुनि

मनुष्यजीवन की प्राप्ति के साथ कर्म के प्रभाव से आशिक सदिच्छाए अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है, वही कालान्तर मे सद्गुरु और सत्सग से विकासशील स्वरूप ले लेती हैं। मेरा जीवन भी इसी प्रकार प्रारभ होना है।

प्राय निश्चित है कि बाल्यकाल मे जीवन जिस ओर मोड लेता है, वही आगे जाकर पुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर सशक्त होता जाता है। आवश्यकता है, सद्गुरु की चाह, सद्गुरु का साक्षात्कार और सद्गुरु की सेवा।

मैंने अपने जीवन मे पहली बार जब गुरु के दर्शन किये तो पूर्व कर्म गतिशील न होने पर भी प्रगतिपथ पर अग्रसर होने लगा और मैं गुरुदेव की ओर आकर्षित होता ही गया। मैं पहली बार जान पाया कि सद्गुरु साक्षात् पर-ब्रह्म स्वरूप है, जो कचन से कुन्दन बनाकर निराली आभा उत्पन्न कर देते हैं।

मुझे गुरुभक्त एकलव्य की साधना याद हो आई जो अरण्य मे रहकर गुरु द्रोण के लाख मना करने पर भी प्रिय शिष्य बन ही गया। इसमे उसकी साधना ही एकमात्र निमित्त कारण बनी किन्तु गुरु भी यदि ऐसा हो जो परीक्षा भी ले और वरद हस्त सर पर भी धरें, तो क्या कहना!

मेरी किशोरावस्था होने पर भी मेरे पूर्व कर्मों ने जहा मुझे पहुचना चाहिए, वही पहुचा दिया। यह बात वि० स० २०१६ के लगभग की है। मुझमे वैराग्य भाव विकसित होने लगा और अन्त मे सद्गुरु पडितरत्न मरुधर-केसरी महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के चरण-कमल की सेवा प्राप्त हो गई।

वैराग्य भाव का उदय स० २०१६ के चैत्र शुक्ला पचमी को होता है और इसी वर्ष के अन्त मे फागुन शुक्ला ५ को मेरी भागवती मुनि दीक्षा भी बडी धूमधाम से थावला (पुष्कर) मे सम्पन्न हो गयी। यद्यपि मेरी दीक्षा हेतु ब्यावर, बनूदा, सोजत आदि नगरो के श्रावको ने काफी प्रयास एव प्रयत्न किया किन्तु थावले के श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी सोजतिया तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी कौशल्या बाई का आग्रह और सदिच्छा ही प्रबल रही और थावला गाव मानवमेदिनी से व्याप्त हो गया।

दीक्षा महोत्सव का इसी से अन्दाज लगाए कि राज्य की विविध शिक्षण सस्थाओ को पचास हजार रुपया सहायनार्थ प्रदान किया गया। यह गुरुदेव का महान प्रभाव है कि मुझ अकिंचन के हेतु श्रावकसघ कटिबद्ध हो कार्य-रत रहा और आयोजन को सफलता के साथ सम्पन्न कर पाया।

मेरे पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से ही सद्गुरु की प्राप्ति हुई, जिसका संक्षिप्त वर्णन कर गया हूँ। किन्तु गुरुदेव के सान्निध्य में मैं क्या से क्या हुआ ? इसकी चर्चा लोह-लेखनी से कागज पर उतारना कठिन है। इतना ही काफी होगा कि सद्गुरु के चरण छूते ही मैं लोह से स्वर्ण में बदल गया। आज मेरा जीवन जगत्जन की धरोहर है और मैं गुरु-पद-पंकज का चचरीक समझा जाता हूँ।

सचमुच सद्गुरु ने मुझे क्या नहीं दिया ? सब कुछ प्राप्त है और आपके चरण-कमलों में मुझे विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त हो रही है। इस बार हमारा चातुर्मास गोठन ग्राम में है, और एक नूतन ही विषय हमारे सामने आ गया है। गुरुदेव को धर्मप्रचार करते आज पचास वर्ष होने जा रहे हैं और आपकी आयु भी पचहत्तर से आगे पहुंच रही है। इस अवसर पर श्रावकसंघ स्वर्ण-जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, श्रद्धांजलि भेंट करूँ जिसका जीवन ही मिट्टी से सोना बन गया ?

उपकार अनुपम आपका, जाने श्रमण-ससार है।
जो स्नेह-कर सिर पर धरा उसका भी बेड़ा पार है।।
जिसको न छाया आपकी, वह भटकता लाचार है।
जिसको न आश्रय आपका वह डूबता मझधार है।।
मैं क्या कहूं, क्या-क्या कहूं, इसका न मुझ को ज्ञान है।
गुरुदेव ! तुमसा अन्य अवनी पर नहीं मतिमान है।।
आपके पद-पद्म का पूजक रहूं यह चाह है।
आपसे ही मिल सकी यह सिद्धि की शुभ राह है।

मेरी श्रद्धा

श्रीमहेन्द्र मुनि

मैं अकिंचन हूं, पढ़ा लिखा भी नहीं। मेरे जीवन में जो भी प्राप्त है, वह मरुधरकेसरी की ही देन है। मैं, जब से आपके चरणों का चाकर बना हूं—सभी उपलब्धियां, सभी साधन और समस्त सुख स्वाधीन बन गये हैं।

सचमुच गुरु की कृपा से क्या नहीं है ? रंक से राजा, और राजा से महाराज यह जीवन बन गया और आगे भी अक्षय बनकर रहेगा, यह मेरा इतना अटूट विश्वास है। सचमुच यदि गुरुदेव की कृपा न होती तो मैं कहीं का न रहता और जीवन व्यर्थ चला जाता।

गुरुदेव पण्डितरत्न महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब ने जिसे छू लिया उसे कंचन बना दिया। विविध भावनाएं और विमल विवेक उसे प्राप्त हो गया। आज मैं कृतकृत्य हूं। अपने जैसे जनों को मैं विश्वास दिला सकता हूं कि सद्गुरु प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले को इस दिव्य तथा दयालु प्रतिभापुंज गुरु की शरण लेनी चाहिए।



सफल पथिक के प्रति

जैनसाध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'

निज को साधना के अतुल समुद्र में निमग्न कर पदार्थ को साधने वाला महान् है, स्वमुक्ति के साथ-साथ परमुक्ति की आकांक्षा को क्रियान्वित करने वाला सबसे महान् है।



पथ की अनन्तता साधना की अनन्तता को प्रेरित करती है और साधना की अनन्तता पथ की अनन्तता को बनाए रखती है।

दोनों अन्योन्याश्रित हैं। साध्य पवित्र हो तो साधन भी पवित्र होना चाहिए, पथ पवित्र हो, लम्बा हो, तो पाथेय भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए अन्यथा पथिक भटक जाता है।

विचारों का अजस्र प्रवाह चिरकाल से चला आ रहा है। यह सतत प्रवहणशीला वेगमयी स्रोतस्विनी कभी नहीं सूखी। यह अपने प्रवाह की उपयोगिता पर कभी नहीं रुकी, यह बहती गई और अपने सुमधुर कलरव से जन-मानस को आप्लावित करती गई। जिन्होंने इसका पान किया वे धन्य हो गए, जिन्होंने इसके नाद को सुना वे कृत-कृत्य हो गए।

श्रमणसंस्कृति के अग्रदूत भगवान महावीर से पूछा गया—भगवन्! इसमें लम्बा पथ कौन-सा है? उसका पाथेय क्या है?

भगवान् ने कहा—संसार का पथ ही सबसे लम्बा पथ है उसे पार करने के लिए पाथेय है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० सफल पथिक हैं, पथदर्शक हैं, और पाथेय के विवेकदाता। वे मानव मन के मूर्च्छित दीपों को पुनः ज्योतिर्मय बनाते हैं। और स्वयं शुभ आलोक बन प्रकाश बिखेरते हैं। जो भी इस प्रकाश में अपने आप को देखेगा, वह अवश्य ही लाभान्वित होगा।

महान सन्त

साध्वी कंचनकुमारी

इस विश्व रूपी बाजार में अनेक प्राणी आते हैं। वे अपने कर्तव्य के द्वारा अपने जीवन में क्या करना चाहिये, किस तरह से रहना है, अपने जीवन को उन्नत कैसे बनायें, संसार में आकर दूसरों के साथ कैसा बर्ताव करना है, यहाँ तक कि जीने की कला को भी नहीं जानते हैं। उनमें सोचने की शक्ति नहीं होती। संज्ञाहीन होते हैं। कीड़ा-मकोड़ों की तरह जन्म लेते हैं और यों ही चल जाते हैं। जंगली मनुष्य ऐसे ही होते हैं जिन्हें आज की भाषा में लोग अनार्य आदि कहते हैं। उनके मन में न कोई दया है, न कोई हमदर्दी है। अपने आपको पहचानने या जीवन के तत्त्व को समझने की तो बात ही क्या?

लेकिन ऐसे भी कई महान् सन्त इस संसार में जन्म लेते हैं जो स्वयं तरते हैं और दूसरों को तारते हैं। खुद मोक्ष के राही हैं, दूसरों का मार्गप्रदर्शन करते हैं। उनमें से एक महान् सन्त हैं मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज। मैं उनके चरणों में भक्ति भरे हृदय से श्रद्धांजलि के पुष्प भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त कर महान् हर्ष का अनुभव कर रही हूँ।

आपका जीवन सत्य, अहिंसा, संयम और शान्ति से सम्पूर्ण गंभीर एवं प्रशंसनीय है। आपके गुण बहुत हैं लेकिन मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं आपका गुणानुवाद कर सकूँ।

मगल-कामना

जैन साध्वी मुशीलाकुमारी शास्त्री,(मन्नु श्री)

जैनसमाज के लिए विशेषत स्थानकवासी जैनसमाज के लिए यह गौरव का विषय है कि आज उसमे 'मरुधरकेसरीजी' जैसे महान् सन्त अपनी अलौकिक सुवास से विश्व को सुवासित कर रहे हैं।

'मरुधरकेसरी' यह नाम यथार्थता को लिए हुए है। क्योकि सम्पूर्ण मरुधरा मे आप सिंह की भाति विचरण करते हैं। ७५ वर्ष की आयु होने पर भी यह आपकी विशेषता है कि आप अपने प्रान्त मे अभी तक भी सर्वत्र विहार करते है। इसके अतिरिक्त 'मिश्रीमल' यह नाम भी मधुरता को प्रकट करने के कारण सार्थक है। अपनी मिश्री जैसी मधुरता के कारण लोकप्रिय होना ही इस नाम की सार्थकता है।

आप जैन-आगमो मे वर्णित स्थविर की तीनो उपाधियो से विभूषित हैं। वय स्थविर तथा सूत्रस्थविर होने के साथ ही विशेषरूप मे दीक्षास्थविर हैं। विशति वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दीक्षास्थविर कहा जाता है। किन्तु आपकी दीक्षा पर्याय तो उससे अढाई गुण अधिक है। यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। इसी प्रसन्नता से अभिप्रेरित होकर ही तो आज जन-जन का मन आपकी दीक्षा अर्धशताब्दी दिवस पर आपका अभिनन्दन करने के लिए तत्पर हो उठा है।

आप सगठन के अग्रदूत हैं। सादडी-सम्मेलन के वास्तविक सूत्रधार तो आप ही थे। अजमेर और सोजत सम्मेलनो मे भी आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह आपकी शान्तिप्रियता और एकताप्रियता का परिचायक है।

हे तेजोमूर्तिन्! सधन-निर्धन, राव-रक कोई भी आपके सम्पर्क मे आ जाय किन्तु आप उससे प्रभावित नही होते प्रत्युत अपने साम्यभाव से उसे ही प्रभावित कर देते हैं।

अगरबत्ती अपने प्रज्वलन क्षण से लेकर निरन्तर अपने मनोहर सौरभ से चतुर्दिक् को सुवासित करती है। इसी प्रकार जीवन के दोनो (मानव और साधुजन्म के) प्रारम्भो से अब तक आप अपने महामानवीय गुणो की सुगन्ध से दिग्दिगन्त को सुवासित करते रहे हैं।

इस पुनीत अवसर पर आपको कोटि-कोटि अभिवन्दन और अभिनन्दन! आप शतायु हो, यही मगल-कामना है।

०

हार्दिक अभिनन्दन

हरिभाऊ उपाध्याय
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी

नैतिकता का ह्रास मानवजाति की बडी से बडी क्षति है। नैतिकता किसी भी देश की सर्वोत्तम पूजी है। इसके विकास पर राष्ट्र का विकास निर्भर है। हमारे देश मे आज नैतिक मूल्यो की जितनी अवगणना हो रही है, सभवत इतनी इससे पूर्व कभी नही हुई। प्रत्येक सभ्य नागरिक के लिए स्वभावत यह चिन्ता का विषय है। ऐसे अवसर पर जो सन्त-महात्मा आगे आकर नैतिकता के विकास के लिए प्रेरणा करते है वे वस्तुत अभिनन्दनीय हैं। मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० उन्ही सन्तो मे से एक है। नैतिक जागरण का शखनाद फूकते हुए वे मारवाड मे पैदल विचरण करके जनता को जागृत कर रहे है। आपका व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली और वक्तृत्व बडा ओजस्वी है। दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती के शुभावसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।



गुरुदेव के चरणकमल में सादर अभिनन्दन

आर्या रोशनकुवर, जैनप्रभाकर

धन्य मात तात जात जगत विख्यात आत, मरुधर पाली नग्र ओसवशरारी ।
जाहि मे जनम पाय, पूरण वैराग्य लाय, जग छिटकाय लीनी दीक्षा जैन वेशरी ।।
तरत अनेक तार-भार मोह मच्छरता, धैर्य को दृढाय क्षमा तजि बात क्लेशरी ।
प्रतख चमत्कार निहारे अनेकवार-ऐसे योगीराज महा मरुधरकेसरी ।।

●

वीर प्रभु से प्रार्थना

जैनार्या जैनमती

आपने स्थानकवासी जैन समाज के ऊपर जो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नही जा सकता, फिर भी भुलाया नही जा सकेगा । पूज्यश्री की अवस्था वृद्ध होते हुए भी कार्यप्रणालिका युवको को लज्जित कर रही है । आप अप्रमत्त रूप से ग्राम-ग्राम विहार करके धर्मप्रचार का कार्य अविश्रान्त करते रहते है ।

शारीरिक मानसिक कष्टो की परवाह न करते हुए भगवान् की वाणी का अमृतमय पान कराने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं । आपने अत्यन्त परिश्रम से जैन-जैनेतर जनता पर असीम उपकार किया है ।

हमारी सुप्तप्राय समाज मे अगर आप जैसे योग्य विद्वान और महाकवि अनेक हो तो ज्ञान, चरित्र तथा सघ का शीघ्र दिन-प्रति-दिन उदय होता रहे ।

परमपिता महावीर प्रभु से प्रार्थना है कि आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त हो ताकि जैनसमाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे ।

आप चिरजीवी हो, आयुष्मान् हो ।

●

उपाधि चरितार्थ है

अचलसिह जैन, एम० पी०

श्री मरुधरकेसरी हमारे समाज के वास्ते उत्तम देन हैं। आप दृढप्रतिज्ञ, त्यागी और वक्ता हैं । मुझे आपके व्याख्यान दो एक बार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है । आपको जो 'मरुधरकेसरी' की उपाधि दी गई है वह चरितार्थ है। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि श्रमणसघ को दृढ और मजबूत बनाने मे उनका पूर्ण सहयोग आवश्यक है । मुझे विश्वास है कि वे इसमे कोई कोर कसर नही रखेंगे ।

●

पूज्य गुरुदेव के चरण-सरोज मे

आर्या विलमकवर जैन

आदि अन्त टीकामय भार्या महाभारत को,जिव्हा जग दीनो है अनाय सुधा स्वर मे ।
कीनो है उद्धार अति जैन अन्य जातीय को, गुरु मिश्री मुनि आय नग्र पालीपुर में ।।
आवत अनेको लोग पायपर पाने दर्श श्रावक हुलास रहै मास की चतुर में ।
भाषण दे हमेसरी "मरुधरकेसरी" ने धर्मध्यान जूको बीज बोये भव्य उर में ।।

●

श्रद्धा-सुमन

डॉ०दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष वि० वि० अनुदान-आयोग, दिल्ली

युग-युग से चली आ रही भारतीय सस्कृति की प्रतिष्ठा मे सन्तो, महात्माओ, ऋषियो और मुनियो का स्थान सब से ऊपर है। इन निस्पृह तपोधनो के महत्वपूर्ण योगदान के कारण ही हमारे देश की सस्कृति महान् बन सकी है। अन्य दृष्टियो से पश्चात्पद होने पर भी भारत सास्कृतिक महत्व की दृष्टि मे आज भी विश्व मे गौरवशाली गिना जाता है। अतएव हम सन्तो के प्रति ऋणी है, कृतज्ञ है। उनका सस्तवन, अभिनन्दन और उनके प्रति श्रद्धाभिव्यजन करना स्वय हमारे ही लाभ मे है । मैं समारोह की और अभिनन्दन ग्रथ की सफलता चाहता हुआ मुनिश्री के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त करता हू ।

●

श्रद्धांजलि-अर्पण

शोभाराम

कृषिमत्री, राजस्थान

राजस्थान वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास मे राजस्थान का स्थान समग्र विश्व मे अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु धर्म के क्षेत्र मे राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उससे कम ही लोग परिचित हैं।

मुनी श्री मिश्रीमलजी महाराज राजस्थान के एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष हैं । उनकी वाणी से सहस्रो मानवो ने अपने जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। मैं उन्हे हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हू ।

●

विशिष्ट साधक

शिवचरण मायुर

शिक्षामत्री राजस्थान

भारतीय सस्कृति सन्तो की साधना से ही अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है । सन्तजनो की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक सस्कृति का इतिहास है।



भारतवर्ष मे अज्ञात अतीत काल से लेकर आधुनिक युग तक सन्तो की अनवच्छिन्न परम्परा चालू है। इन सन्तो ने जन-जीवन के विभिन्न अगो को परिमार्जन करने मे महत्वपूर्ण योग दिया है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० उसी परम्परा मे हैं। आप एक विशिष्ट साधक है। आपने अपना समग्र जीवन स्वपरकल्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया है। वे जनजीवन को उन्नत बनाने मे सदैव प्रयत्नशील रहे है। मैं उनकी दीर्घायु का कामना करते हुए हृदय से श्रद्धांजलि अर्पित करता हू।

•

सराहनीय देन

दामोदरदास व्यास
गृहमत्री, राजस्थान

भारतीय सस्कृति के निर्माण मे सन्तो, ऋषियो, मुनियो का महत्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि यह सस्कृति अपने अनूठेपन के कारण विश्व को प्रभावित करती रही है। उसने देश को गौरव प्रदान किया है। हम उन सन्तो के ऋणी हैं। मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी उसी परम्परा की एक कडी के रूप मे है। विविध क्षेत्रो मे उनकी देन सराहनीय है। दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मैं मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हू।

•

श्रद्धा सुमन

रामप्रसाद लड्ढा
विकासमत्री, राजस्थान

राजस्थान की भूमि ने जहाँ अनेकानेक शूराग्रणी महान् पुरुषो का जन्म दिया वही उच्च से उच्च कोटि के सन्त महात्माओ को भी जन्म दिया है। सन्तो की यह परम्परा आज तक अखड रूप मे चली आ रही है, यह इस प्रदेश का सौभाग्य है। हर्ष का विषय है कि उनमे से एक वयोवृद्ध सन्त के अभिनन्दन का शुभ आयोजन किया गया है। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० की साधना सदा अभिनन्दनीय रही है। इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करनेवालो मे एक मैं भी हू।

•

शत-शत श्रद्धाजलियां

(राव) नारायणसिंह, मसूदा,
वनमत्री, राजस्थान

पच्चीस वर्ष के उठते यौवन मे जिसने सासारिक प्रलोभनो को ठुकरा अकिंचनता अगीकार की और त्याग-वैराग्य की राह पकडी और जो निरन्तर पचास वर्ष से स्व-पर के अभ्युदय मे निरत है और पचहत्तर वर्ष की उम्र मे भी पैदल घूम-घूम कर जनता को धर्म और नीति का पथ प्रदर्शित कर रहा है, उस महान् सन्त का अभिनन्दन करना भी एक पुण्यकृत्य है।

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० ने राजस्थान मे महत्वपूर्ण कार्य किया है—अपने प्रवचनो द्वारा, साहित्यसर्जना द्वारा और सम्पर्क द्वारा उनका समग्र जीवन इसी पुण्यकार्य मे व्यतीत हुआ है। इस परम अध्यवसायी सन्त को मेरी शत शत श्रद्धाजलिया समर्पित हैं।

अभिनन्दन

श्री बरकतुल्ला खां
विधिमंत्री, राजस्थान

आत्मसाधना के साथ साहित्यसृजन की प्रवृत्ति का विशिष्ट महत्त्व है। साधक साहित्यकार अपने पाठकों के जीवन में ऐसी उदात्त भावनाएं जगाता है जिनसे उनका जीवन दिव्यता की दिशा में अग्रसर होता है। वह साहित्य पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए न होकर यदि जनसाधारण की रोजमर्रा की भाषा में हो तो उससे विशेष लाभ पहुंचता है। मरुधरकेसरीजी के साहित्य में सर्वत्र यही विशेषता परिलक्षित होती है। राजस्थानी में आपने विपुल साहित्य की रचना की है। उनके अभिनन्दन का आयोजन वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

●

हार्दिक अभिनन्दन

श्री मथुरादास माथुर
वित्तमंत्री, राजस्थान

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय में कुछ कहना या लिखना कठिन है। फिर जिन्होंने उस साधना के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों से सर्वसाधारण को जो लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता। ह

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असंख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शतशः अभिनन्दन।

●

शतायु हो

प्रभा मिश्रा
उपमंत्री, राजस्थान

मुनिश्री मिश्रीमलजी म० लगातार पचास वर्षों से मरुभूमि में पैदल भ्रमण करते हुए जन-जीवन के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। पचहत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में भी उनका विचरण वायु-वेग की तरह अप्रतिहत गति से चल रहा है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा ही नहीं बल्कि अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा भी उन्होंने मानव-जीवन के उच्चतर आदर्शों को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। विशेषता तो यह है कि आप जिन आदर्शों के लिए प्रेरणा देते हैं, वे आपके जीवन में मूर्त्तरूप में विद्यमान हैं। यही कारण है कि लाखों नर-नारी आपको अपना पथ-प्रदर्शक, परित्राता और उद्धारक मान कर अपने को धन्य समझते हैं। मुनिश्री का संयममय जीवन सर्वथा स्तुत्य है। हार्दिक कामना है कि आप शतायु होकर जनता का कल्याण करते रहें।

●

नैतिक जागरण के अग्रदूत

जगन्नाथसिंह महता

किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनिवार्य है कि उस देश की प्रजा का चरित्र उच्चकोटि का हो, उसमें नैतिकता हो और उसका दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार हो। इस आवश्यकता की पूर्ति सन्तजन प्रभावशाली ढंग



मे कर सकते है जिनकी संख्या हमारे देश मे कम नही है। मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान मे नैतिक जागरण के लिए अपने प्रवचनो और निबन्धो आदि के द्वारा दीर्घकाल से यही प्रयास करते आ रहे है। पैदल भ्रमण करके गाँव-गाव मे जनता के नैतिक स्तर को ऊचा उठाने के उनके प्रयास सुविदित है। दीक्षास्वर्णजयन्ती के अवसर पर हम उनका अभिनन्दन करते है—दीर्घजीवन की कामना करते है।

प्रकाशपथ के नेता

सत्यप्रसन्नसिंह भडारी

जो तत्व मानव जीवन मे सर्वोत्तम है और जिसकी बदौलत ससार मे आज भी प्रशस्त भावनाए प्रभावहीन नही हुई है वह उच्च तत्व प्राणिमात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तो की ही देन है। सन्त का जीवनव्यवहार और उपदेश मानवजाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। ससार ऐसे सन्तो का सदा ऋणी रहा है।

राजस्थान की एक विशिष्ट विभूति मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी ऐसे ही सन्तो मे से एक है। मै उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

श्रद्धाभिव्यक्ति

टी० वी० रमणन

सचिव, राजस्थान विद्युत् बोर्ड

सन्त पुरुष मानवजाति की सर्वोत्तम विभूति है। जीवन के उच्चतम आदर्शों की उपलब्धि के लिए वे तप-त्यागमय जीवन यापन करते हैं और ससार के समक्ष सयम एव त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं। इससे जनसाधारण को बडी प्रेरणा मिलती है। सन्तो की यह देन बहुत मूल्यवान् है। सौभाग्य से हमारे देश मे आज भी ऐसे अनेक सन्त विद्यमान है जो सयम, तप और त्याग की महान् परम्परा को स्थिर रखने का पुण्य-प्रयास कर रहे है। वयोवृद्ध मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी उन्ही मे से एक महान् सन्त है। पचहत्तर वर्ष की वय मे भी आपका पाद-विहार सतत चालू रहता है। आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती का आयोजन उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए ही नही वरन् लोकजीवन को दैवी प्रेरणा प्रदान करने का भी निमित्त सिद्ध होगा। मैं हृदय से इस आयोजन की सफलता चाहता हू।

श्रद्धासुमन-समर्पण

बालकृष्ण जुत्सी

पवित्रता सादगी, और उच्चता भारतीय सस्कृति का मूल है। हमारे सन्तो ने हमारी सस्कृति के इन मूल्यवान् तत्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। उनके जीवन से प्रेरित होकर हम आज भी अपनी इस महान् सस्कृति की धारा के साथ चलते है और बढते है।

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त का जीवन है। मैं उनके चरणो मे अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

कोटि-कोटि अभिनन्दन

कन्हैयालाल कोचर

जनकल्याण की तीव्र भावना से मनुष्य कितना कार्य कर सकता है, यह समझने के लिए गाधीजी का जीवन मननीय है। उन्होने जनजीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नही छोडा था। गाधीजी की यही प्रवृत्ति मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० के जीवन मे भी परिलक्षित होती है। पचास वर्ष के अपने मुनिजीवन मे उन्होने जो बहुमुखी प्रवृत्तिया की है उनका लेखा-जोखा करना भी वडा कठिन कार्य है। शताधिक ग्रन्थो का प्रणयन, अनेक शिक्षासस्थाओ की स्थापना, पुस्तकालयो और वाचनालयो की प्रतिष्ठा, शराबखोरी के विरुद्ध किया गया अभियान, समाज मे नैतिक मूल्यो को बढावा देने के लिए किए गए उनके प्रयास, एकता और सगठन के लिए किए गए सत्याग्रह, प्रतिदिन के प्रार्थना-प्रवचन, पीडितो की सहायता के लिए उठाई गई वुलद आवाज, आदि-आदि उनके कार्यकलाप मारवाड की ग्रामीण जनता कदापि भुला नही सकती। मुनिजी आत्मसाधना के साथ लोक-कल्याण की साधना मे भी सदा अग्रसर रहते है। उनका परहितपरायण जीवन कोटिश अभिनन्दनीय है।

o

मुनिश्री का महत्वपूर्ण योगदान

रानी उर्मिला देवी, मसूदा
अध्यक्ष, समाज कल्याणविभाग, राज०

जन जीवन मे नैतिकता की भावना का ह्रास किसी भी देश के लिए सब से वडा खतरा है और जब वह निरन्तर वृद्धिगत हो रहा हो तो देश के नेताओ के लिए शोचनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति का सामना करने मे देश के सन्त, जो निस्वार्थभाव से साधना मे निरत है, उपयोगी और प्रभावशाली कार्य कर सकते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मरुधरकेसरी मुनिजी इस देश मे महत्वपूर्ण योग दे रहे है। धर्म, नीति, सदाचार आदि सात्विक भावो का प्रचार कर रहे हैं। मुनिश्री के इस महान् "मिशन" का मैं हृदय से अभिनन्दन करती हू और उनकी दीर्घायु की कामना करते है।

महान् उपदेशक

बी० एन० भाटिया
लॉ सेक्रेटरी केन्द्रीय सरकार

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय मे कुछ कहना या लिखना कठिन है फिर जिन्होने उस साधना के क्षेत्र मे प्रवेश ही नही किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधको के उपदेशो से सर्वसाधारण को लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध मे तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक है, प्रखर वक्ता है। सफल साहित्यकार भी है। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शतश अभिनन्दन।



मे कर सकते हैं जिनकी सख्या हमारे देश मे कम नही है। मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान मे नैतिक जागरण के लिए अपने प्रवचनो और निबन्धो आदि के द्वारा दीर्घकाल से यही प्रयास करते आ रहे हैं। पैदल भ्रमण करके गाँव-गाव मे जनता के नैतिक स्तर को ऊचा उठाने के उनके प्रयास सुविदित है। दीक्षास्वर्णजयन्ती के अवसर पर हम उनका अभिनन्दन करते है—दीर्घजीवन की कामना करते है।

प्रकाशपथ के नेता

सत्यप्रसन्नसिंह भडारी

जो तत्व मानव जीवन मे सर्वोत्तम है और जिसकी बदौलत ससार मे आज भी प्रशस्त भावनाए प्रभावहीन नही हुई है वह उच्च तत्व प्राणिमात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तो की ही देन है। सन्त का जीवनव्यवहार और उपदेश मानवजाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। ससार ऐसे सन्तो का सदा ऋणी रहा है।

राजस्थान की एक विशिष्ट विभूति मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी ऐसे ही सन्तो मे से एक है। मै उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

श्रद्धाभिव्यक्ति

टी० वी० रमणन

सचिव, राजस्थान विद्युत् बोर्ड

सन्त पुरुष मानवजाति की सर्वोत्तम विभूति है। जीवन के उच्चतम आदर्शों की उपलब्धि के लिए वे तप-त्यागमय जीवन यापन करते हैं और ससार के समक्ष सयम एव त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं। इससे जनसाधारण को बडी प्रेरणा मिलती है। सन्तो की यह देन बहुत मूल्यवान् है। सौभाग्य से हमारे देश मे आज भी ऐसे अनेक सन्त विद्यमान हैं जो सयम, तप और त्याग की महान् परम्परा को स्थिर रखने का पुण्य-प्रयास कर रहे है। वयोवृद्ध मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी उन्ही मे से एक महान् सन्त है। पचहत्तर वर्ष की वय मे भी आपका पाद-विहार सतत चालू रहता है। आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती का आयोजन उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए ही नही वरन् लोकजीवन को दैवी प्रेरणा प्रदान करने का भी निमित्त सिद्ध होगा। मैं हृदय से इस आयोजन की सफलता चाहता हू।

श्रद्धासुमन-समर्पण

बालकृष्ण जुत्सी

पवित्रता सादगी, और उच्चता भारतीय सस्कृति का मूल है। हमारे सन्तो ने हमारी सस्कृति के उन मूल्यवान् तत्त्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। उनके जीवन से प्रेरित होकर हम लोग भी अपनी इस महान् सस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढते हैं।

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त का जीवन है। मैं उनके चरणो मे अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

कोटि-कोटि अभिनन्दन

कन्हैयालाल कोचर

जनकल्याण की तीव्र भावना से मनुष्य कितना कार्य कर मकता है, यह ममझने के लिए गाधीजी का जीवन मननीय है। उन्होने जनजीवन के किमी भी क्षेत्र को अछूता नही छोडा था। गाधीजी की यही प्रवृत्ति मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० के जीवन मे भी परिलक्षित होती है। पचास वर्ष के अपने मुनिजीवन मे उन्होने जो बहुमुखी प्रवृत्तिया की है उनका लेखा-जोखा करना भी बडा कठिन कार्य है। शताधिक ग्रन्थो का प्रणयन, अनेक शिक्षासस्थाओ की स्थापना, पुस्तकालयो और वाचनालयो की प्रतिष्ठा, शराबखोरी के विरुद्ध किया गया अभियान, ममाज मे नैतिक मूल्यो को वढावा देने के लिए किए गए उनके प्रयास, एकता और मगठन के लिए किए गए सत्याग्रह, प्रतिदिन के प्रार्थना-प्रवचन, पीडितो की सहायता के लिए उठाई गई बुलद आवाज, आदि-आदि उनके कार्यकलाप मारवाड की ग्रामीण जनता कदापि भुला नही सकती। मुनिजी आत्मसाधना के साथ लोक-कल्याण की साधना मे भी सदा अग्रसर रहते है। उनका परहितपरायण जीवन कोटिश अभिनन्दनीय है!

o

मुनिश्री का महत्वपूर्ण योगदान

रानी उर्मिला देवी, मसूदा
अध्यक्ष, समाज कल्याणविभाग, राज०

जन जीवन मे नैतिकता की भावना का ह्रास किमी भी देश के लिए सब से बडा खतरा है और जब वह निरन्तर वृद्धिगत हो रहा हो तो देश के नेताओ के लिए शोचनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति का सामना करने मे देश के सन्त, जो निस्वार्थभाव मे साधना मे निरत है, उपयोगी और प्रभावशाली कार्य कर सकते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मरुधरकेसरी मुनिजी इस देश मे महत्वपूर्ण योग दे रहे है। धर्म, नीति, सदाचार आदि सात्विक भावो का प्रचार कर रहे है। मुनिश्री के इस महान् "मिशन" का मै हृदय से अभिनन्दन करती हू और उनकी दीर्घायु की कामना करते है।

महान् उपदेशक

बी० एन० भाटिया
लॉ सेक्रेटरी केन्द्रीय सरकार

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय मे कुछ कहना या लिखना कठिन है फिर जिन्होने उस साधना के क्षेत्र मे प्रवेश ही नही किया, उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधको के उपदेशो से सर्वसाधारण को लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध मे तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक है, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्तृत्व और लेखन जन-जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते है। महान् साधक का शतश अभिनन्दन।



o

यथा नाम तथा गुण

ओकारलाल बोहरा,
ससद सदस्य

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० एक तपस्वी श्रमण के रूप मे ही नही, प्रत्युत राजस्थानी साहित्य के साधनाशील सर्जक के रूप मे शतश अभिनन्दनीय है। राजस्थानी साहित्य की पुरातन परम्परा को अग्रसर करने मे आपका बडा हाथ है। आपने बहुसख्यक ग्रथो की रचना करके राजस्थानी साहित्य के भडार को भरपूर करने का प्रयत्न किया है। आपके साहित्य मे तप, त्याग, सयम आदि की उदात्त भावनाए ही अभिव्यक्त हुई है, जिनके कारण मानव का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन ऊचा उठता है और जिनसे राष्ट्र को प्रेरणा मिलती है। आपके प्रवचन भी प्राय राजस्थानी मे होते है। निस्सन्देह मरुधरकेसरीजी मरुधरा की एक विशिष्ट विभूति हैं। उनका जीवन आदर्श है। मैं इस उदात्त सन्त के चरणो मे अपनी श्रद्धा प्रकट करता हू।

•

एक मनीषी को

मगलादेवी तलवार,
ससद सदस्य

भारतवर्ष मे सन्तो की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। इस महान परम्परा की इस देश को जो देन है, उसका पूरी तरह आकलन कर सकना सभव नही। हमारी समग्र सस्कृति, जिसके कारण विश्व मे भारतवर्ष को अद्वितीय गौरव प्राप्त है, सन्त महात्माओ की साधना का ही सुफल है। देश का सौभाग्य है कि यहा आज भी उच्च चरित्र के धनी सन्त विद्यमान हैं। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी भी उनमे से एक है। पचहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था मे वे निरन्तर पदयात्रा करते हुए धर्म, अध्यात्म और नैतिकता का प्रचार कर रहे हैं। दीक्षा के पचास वर्षों की पूर्ति के अवसर पर मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन!

•

सर्वजनहिताय

श्री भोलानाथ
ससद सदस्य

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट सन्तो मे से एक है जिनका समग्र जीवन बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय ही नही वरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होता है। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण करना सन्तो का सहज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वसाधारण जनता का प्रवचनो और साहित्यसृजन द्वारा जो उपकार किया है, वह भुलाया नही जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था मे भी वे सदैव परोपकारनिरत रहते हैं। हम हृदय से मुनिश्री का अभिनन्दन करते है और कामना करते हैं कि वे चिरकाल तक जनता का पथ-प्रदर्शन करते रहे। एवमस्तु।

•

चिरायु हो

विश्वेश्वरनाथ भार्गव
सदस्य लोकसभा

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० राजस्थान के एक उच्चकोटि के व्यक्तित्वसम्पन्न मनीषी सन्त हैं। उनका जीवन आदर्श है। संयम साधना और तपोनिष्ठ उनके जीवन की प्रेरक शक्तियां हैं। मुनिजी ने अपने उज्ज्वल चरित्र से तो जनसाधारण के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया ही है, अपने उपदेशों से तथा स्वरचित विपुल साहित्य से भी उज्जल पथ प्रदर्शित किया है। स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और आपकी चिरायु की कामना करते हैं।

●

सिंह-सी दहाड़ और संगठनशक्ति रूप गुरुवर

आनन्दराज सुराणा

विश्व में महामानव अवतार ले भांति-भांति के पाठ पढ़ाते गये हैं। उनके वचन, काय, कर्म सदा ही अनुकरणीय रहे हैं। "करो या मरो" का सात्विक सबक जीवन पर्यन्त, बौद्धिक दृष्टि से जग को सदा ही पान कराते आये हैं।

मानवता पददलित हो अवनति की ओर मुडी कि तेजस्वी बन सदा ही प्रकाश-स्तम्भ प्रकाश दिया करते हैं।

मुझे अनेकों अवसर आपके दर्शन के हाथ लगे व आपका साहित्य भी हाथ लगता रहा है। मेरे मनन चिन्तन व अध्ययन के उपरान्त मेरे विचार ने अगर सही निष्कर्ष निकाला है तो यही कि आपकी स्मरणशक्ति, सिंह-सी दहाड व संगठन शक्ति सर्वोपरि है।

स्मरणशक्ति तो आपका जन्मजात विशेष गुण ही है। सिंह-सी दहाड में कटुता के साथ ही माधुर्य टपकता देखा है। संगठन-शक्ति के तो आप अटूट स्रोत ही हैं। मिसाल के तौर पर "श्रमण-संघ" ही देखिये।

अगर आपके मन व मस्तिष्क में यह भावना घर नहीं करती तो ऐसे श्रमणसंघ का शायद ही कभी निर्माण होता। भले ही कुछ सन्तगण उससे परे हो गये पर आप तो आज भी उस हिम-प्रहरी के समान जागरूक हैं। मारवाड के बाहर विहार नहीं कर गाँवों की मस्ती में मस्त रहे, ममत्व को तिलांजलि दे सादडी में जो श्रीगणेश किया वह सदियों तक अनुकरणीय सबक इस विश्व को देता रहेगा ही।

आपकी सलाह मशविरा पूज्य गुरुदेव आचार्य, महामंत्री, उपाध्याय व प्रवर्तक सन्त-गण ही नहीं मानते हैं बल्कि सारा श्रावक-समाज भी श्रद्धा से मानता है। आप अवस्था या शरीर से भले ही वृद्ध हैं पर आपका नाटा कद व देदीप्यमान चेहरा आज भी जवान-सा ही दृष्टिगोचर होता है।

शहरी कोलाहल से परे रहते हुए आपने गांवों में अपना जीवन व्यतीत करते या वर्षाकाल बिताते, जैनधर्म की आन शान एवं मर्यादा सदा बढ़ाई है।

मेरी वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि इन धर्मवीर व कर्मवीर योद्धा, नेता, सन्त की आयु सौ से भी परे जाय ताकि जैनशासन आपके दिव्य गुणों से सिर ऊंचा कर सके।



●



सच्चे मणिकार, कर्षक, वणिक

डा० लक्ष्मीमल सिंघवी

श्रद्धेय मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व हमारी भारतीय धर्म-परम्परा की सर्वलोकात्मकता का प्रतीक है। उनके धर्म-प्रवचन जन-जन को सुबोधगम्य भाषा में व्यापक और गहरा प्रभाव करते हैं, उनके उपदेश अपनी निर्भीक सत्यान्वेषी विशेषताओं के कारण जन-साधारण के हृदय में समा जाते हैं। उनका स्वभाव मधुर करुणाचित और उनकी शिक्षा यथार्थ पर आधारित है।

धर्मगुरुओं का समाज में आचार-विचार के संयम और निर्देशन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे जीवन की प्रबलताओं और उदात्त आदर्शों के बीच सामंजस्य का सेतु बनाते हैं। धर्म के माध्यम से जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देते हैं। वे हमें आत्मशुद्ध, आत्मविकास और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रवृत्त करते हैं और इस प्रकार समूचे समाज और उसकी इकाइयों को सशक्त बनाते हैं। समाज की अन्तरात्मा उनके स्वर से जीती और जागती है। यही मुनियों की साधना का सामाजिक अन्तःप्राण है। श्रद्धेय मुनिवर मिश्रीमलजी महाराज इसी सेवा और साधना की अन्तर-चेतना के प्रतीक हैं।

श्रद्धा, ज्ञान और कर्म की जीवन-त्रयी में मरुधरकेसरीजी ने अपनी साधना और सेवा से कई अनमोल मोती-मनके पिरोये हैं। वे जैन श्रमण-परंपरा के अनुसार सही माने में सद्विचारों का सफल सार्थक रोपण और वाणिज्य करते हैं। उनका वरद हस्त मरुधर में सुदीर्घकाल तक रहे।

•

हार्दिक कामना

सरदारमल छाजेड़

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० सा० की दीक्षास्वर्णजयन्ती के शुभावसर पर आयोजित अभिनन्दन-समारोह सर्वथा उचित है। मुनिश्री के दर्शन करने और पावन प्रवचन सुनने का मुझे अनेक बार पुण्यावसर प्राप्त हुआ है। आपके प्रवचन आपके व्यक्तित्व के ही अनुरूप प्रभावशाली होते हैं। मारवाड़ प्रदेश में आप निरन्तर धार्मिक चेतना को जागृत रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आपके सदुपदेश से अनेक शिक्षा संस्थाएँ स्थापित हुई और चल रही हैं। साहित्यिक क्षेत्र में भी आपकी सेवाएँ सराहनीय हैं। मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी समाज के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। संगठन के प्रबल समर्थक हैं। हार्दिक कामना है कि मुनिश्री चिरकाल तक श्रमणसंघ की शोभा की वृद्धि करते रहें और अपने उच्च आचार-विचार से समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

•

कडक मिश्री और सघ

श्री सूरजचन्द डागी

सगठन के विरोधी बहुत तडपते रहे परन्तु कडक मिश्री तो मधुर ही प्रमाणित हुई। सारे साधुमार्गी-सघ को सादडी मे बुला लिया। राजस्थान को पुन पुन धन्य बना दिया। कोलाहल-पूर्ण वातावरण मे भी अपने रूप को ऐसा निखारा कि समाज उनकी शोभा गान करने लगा है अभिनन्दन समर्पित कर रहा है। यदि सगठन सुदृढ रहा तो इस कडक मिश्री मे इतनी ताकत है कि ममत्ववादी मस्तक पर लगते ही उसमे से खून के स्थान पर अमृत झरने लगे। इसी के छिडकाव से सघ की नीव मजबूत जमे।

इस पर ज्ञान-दर्शन-सुख और पुरुषार्थ के सुदर भवन निर्माण हो।

श्रद्धा-सुमन

विज्ञान भारिल्ल,
साहित्यरत्न, बी० कॉम०, सी० ए०

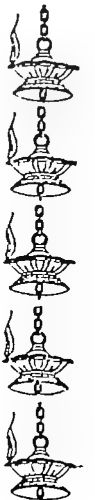
विरागी ! ससार के समस्त जीवधारियो के कोमल प्राणो को आबद्ध कर देने वाले सौन्दर्य एव मोह के बधनो को तुमने तोड दिया है और अपने अलौकिक ज्ञान के नेत्रो के प्रकाश की अग्नि मे नीलकठ की तरह विश्व के आकर्षण रूप कुसुमायुध को भस्म कर दिया है !

योगी ! तुम्हारी तपस्या की अनुपम तेजपुञ्ज किरणो मे बालरवि की विविधवर्णी आलोक-रश्मिया मन्द पड जाती है और अस्ताचल के गिरि-शिखरो को अपने गुलाबी सौन्दय मे अलकृत कर देने वाली जगमोहिनी सान्ध्य सुषमा धरा पर तुम्हारी तपोभूमि मे उतरने के पूर्व ही यामिनी की कालिमा मे विलीन हो जाती है ! मृत्युजय ! अनन्त बहुमूल्य मोतियो के स्वामी समुद्र की लहरे अनादिकाल से तुम्हारा यशोगान गाती है और मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली तुम्हारे चरणो की रज अमर लोक के अधिपति अपने मस्तक पर लगा कर कृतार्थ होते है । हे तपोधन ! उन्ही चरणो मे, मानस निकुज मे प्रस्फुटित श्रद्धा के सुमन समर्पित है जिन्हे स्वीकार करना।

मरुधरकेसरी अमर हो

शाह हीराचन्द भीकमचन्द,जोधपुर

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० का अनुशासन बडा कठोर, ओजस्वी एव कडक मालूम होता है मगर आत्मकल्याण के लिए अतीव हितकारी है । पूज्य गुरुदेव के पूर्वजो की हमारे पूर्वजो पर कृपा बनी रही है, उसी प्रकार गुरुदेव की हम पर है हमारे पूर्वजो की और हमारी, गुरुदेव के पूर्वजो और गुरुदेव के प्रति कितनी और कैसी श्रद्धा-भक्ति है, शब्दो द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। हमारी हार्दिक कामना यही है कि पूज्य गुरुदेव अमर बने जिससे मानव-समाज का सदा पथप्रदर्शन होता रहे और कल्याण का मार्ग मिलता रहे।



प्रेरणा-स्रोत

रिखवराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के नवरत्नो मे से हैं। समाजहित मे उनकी सयमयात्रा निर्विघ्न अबाध गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियो की आकाक्षा है। इस आयु मे भी समाज को उद्बोधित करने की उनमे अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन से कर्मठ जीवन बिताने की बडी प्रेरणा मिलती है।



नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनो से उठकर मेरा मन-भ्रमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-कमलो मे पहुच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है। आपके सान्निध्य मे शान्तिपथ का अनुपमेय पाथेय प्राप्त करता है। नमस्कार! शत बार नमस्कार।



एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता सत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा हैं। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण से जनसमुदाय को वास्तविक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रातिकारी सत्य मोते समाज के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। जोधपुर मे ही अभी हाल के प्रवास मे आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव मे आयविलखाता का समुचित सचालन होना प्रारभ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नही, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रो मे हैं। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान मे आपका सहयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बडी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कठस्थ है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेको वर्षो तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् सत, चितक, एव प्रभावक वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अन्तस् से विधिवत् अभिनन्दन करता हू।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार शर्मा, नीमाज

मानव मे मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, सवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्याकन करना हो तो इसे मरुधरकेसरीजी के दरबार मे जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करे, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनो मे किया जा सकता है।

सासारिक जीवन मे गुरुदेवश्री सत्यवादी, निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। सन्तश्रेणी मे आ चुकने के पश्चात् आपके इन गुणो म वृद्धि ही हुई है।

मरुधरकेसरीजी के प्रवचनो को श्रवण करने के लिए जैनो की अपेक्षा जैनेतर जनता का अपार समूह उपस्थित होता है। जहाँ जैनो के स्वल्प घर होते हैं वहा भी आपके श्रोताओ की सख्या विपुल होती है।

आपकी जिज्ञासावृत्ति कभी शान्त नही होती। व्याकरण, न्याय, भूगोल, खगोल, प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी आदि का अध्ययन आप बढाते ही रहते हैं।

आपका अन्यमतावलम्बियो के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार होता है। जहा कोई गलत बात कही जाती है चाहे स्वमत के सम्बन्ध मे या परमत के सम्बन्ध मे, चाहे किसी व्यक्ति के विषय मे या समूह के विषय मे, आपको सह्य नही होती। तत्काल मुहतोड उत्तर देते हैं। कहने वाला चाहे अमीर सेठ, मन्त्री, ठाकुर या राजा ही क्यो न हो! हिचक जैसी चीज उनके निकट नही फटकती। वे कहते सुने गए हैं—'क्यो सही कहने म डरु, पेटभराई ता कम से होती है।'

फटकार लगाते समय आपने आज तक कभी विचार ही नही किया कि भक्तगण अप्रसन्न या असन्तुष्ट हो जाएगे। कोमल या कठोर, जो भी कहना हो, सामने ही कह देते हैं। असत्य के सामने मौन धारण कर लेना आपने सीखा ही नही।

जब कभी प्रभावना की जाती है तो आप जैनेतर भाइयो का कभी नही भूलते। जैसा सम्बन्ध स्वमत वालो से वैसा ही अन्यमतावलम्बियो से रखते हैं।

कुरान की आयतें, गीता के श्लोक और सत्यार्थप्रकाश आदि के उद्धरण आपके मुखारविन्द से नित्य ही टपकते सुने जाते हैं। ऐसे सैकडो वाक्य आपके कण्ठस्थ हैं। राम और कृष्ण के उदाहरण तो आपके लिए रोजमर्रा की चीज हैं।

अभिप्राय यह है कि गुरुदेव का हृदय अत्यन्त विशाल है। आपकी हितकामना किसी एक वर्ग तक सीमित नही है। आपका जीवन, चिन्तन और प्रवचन 'सर्वभूतहिताय' होता है। यही कारण है कि आप वास्तव मे समस्त जैन-जैनेतर जनता के गुरु माने जाते हैं। मरुधरा के जमीदार, जागीरदार, ठाकुर आदि सभी वर्गो की जनता हृदय से आपका सम्मान करती है, आपको गुरु मानती है। गरीब से गरीब भी आपका आत्मीय मानता है। उसे आप कभी अनुभव नही होने देते कि उसकी उपेक्षा की जा रही है। जिन ग्रामो मे आपका पदार्पण होता है, वहा सर्वसाधारण का कोई उत्सव हो, ऐसा प्रतीत होने लगता है।

प्रभावक गुरुदेव! आपका कोटि-कोटि अभिनन्दन!

०

अभिनन्दन!

गजराज भडारी, एडवोकेट

तथा स्था० जैनसमाज, बाली

परमपूज्य मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की दीक्षा की अर्द्धशताब्दी के शुभ अवसर पर हम बाली नगर के स्थानकवासी जैन आपका अभिनन्दन करते हुए असीम आनन्द अनुभव करते हैं।

मुनिश्री से हमारा काफी लम्बी अवधि से सम्पर्क रहा है। हमे समय-समय पर आपके महान् ओजस्वी विचारो को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। आपके विचारो मे समीचीनता, गम्भीरता तथा परिपक्वता का आभास



प्रेरणा-स्रोत

रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के नवरत्नो मे से हैं। समाजहित मे उनकी संयमयात्रा निर्विघ्न अबाध गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियो की आकाक्षा है। इस आयु मे भी समाज को उद्बोधित करने की उनमे अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन मे कर्मठ जीवन बिताने की बडी प्रेरणा मिलती है।

●

नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनो से उठकर मेरा मन-भ्रमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-कमलो मे पहुच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है। आपके सान्निध्य मे शान्तिपथ का अनुपमेय पाथेय प्राप्त करना है। नमस्कार! शत वार नमस्कार।

●

एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता सत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा हैं। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण से जनसमुदाय को वास्तविक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रातिकारी सत्य सोते समाज के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। जोधपुर मे ही अभी हाल के प्रवास मे आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव से आयविलखाता का समुचित सचालन होना प्रारभ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नही, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रो मे है। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान मे आपका सहयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बडी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कठस्थ है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेको वर्षों तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् सत, चिंतक, एव प्रसिद्ध वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अतस् से विधिवत् अभिनन्दन करता हू।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार राका, नीमाज

मानव मे मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, सवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्याकन करना हो तो हमे मरुधरकेसरीजी के दरबार मे जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करे, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनो से किया जा सकता है।



स्पष्ट दृष्टिगत होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी आपकी शैली, भाषा, विचार, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदर्श आदि से आत्मविभोर हुए बिना नही रह सकता।

आप मन वचन व कर्म से पाचो महाव्रतो का निष्ठा से पालन करते हुए सत्य मार्ग के अनुगामी है। आपने अहिंसा का प्रदीप जनजीवन मे प्रदीप्त किया है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की प्रेरणा की है। आपका जीवन त्याग व तप की सच्ची व सजीव तस्वीर है। आप अन्तरग मे वीतरागभाव की ज्योति जला रहे है, इसमे हमारा मस्तक आपके चरणस्पर्श को झुक जाए, यह स्वाभाविक है।

आप विशुद्ध भावना से जैनधर्म के प्रचार हेतु अनवरत अथक प्रयत्न कर रहे है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की पूर्णता का ज्ञान कराना ही आपका अभीष्ट ध्येय है। जहा-जहा भी आपका पदार्पण हुआ है, आपने उस क्षेत्र की जनता मे धर्म की लहर फैला दी है।

वर्तमान समय मे, जब कि जन-जीवन कई समस्याओ मे उलझा है, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याए दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है, धर्म की ओर रुचि होना कठिन होता है, श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री ने समय के आह्वान को भलीभाति पहचाना तथा धर्म का ऐसा विश्लेषण किया है जिससे धर्म मानव-जीवन का अग बन सके।

आगामी अक्षयतृतीया के दिन आपके दीक्षापर्याय के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे है। इस अवसर पर सघ की प्रमोदभावना को साकार करने के लिए हम आपका अभिनन्दन करते है तथा आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं।



प्रणामाञ्जलि

लालचन्द जैन, जोधपुर

श्रमण सस्कृति के महान् नेता, समाजोद्धारक एकता के अग्रणी, जन-जागृति के प्रतीक, चारित्रचूडामणि बालब्रह्मचारी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वी दीक्षा-जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ' की योजना अत्यन्त स्तुत्य है।

स्वनामधन्य मरुधरकेसरीजी के पावन चरणो से मरुधर का चप्पा चप्पा पुलकित होता रहा है। मस्त योगी की भाति प्रतिवर्ष सैकडो मील का उग्र विहार कर हजारो लाखो प्राणियो को प्रतिबोध द्वारा सन्मार्ग बताने वाले महामनीषी के उपकारो को लिपिबद्ध करना असम्भव कार्य है। फिर भी श्रद्धालुजनो द्वारा जो प्रयास किया जा रहा है, वह प्रशसनीय है। मै अपनी प्रणामाजलि अर्पित करता हूँ।



अहिंसा के पुजारी के प्रति

केवलचन्द पगारिया, सोजत

महान् हर्ष का विषय है कि जैन धर्मोपदेष्टा, मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० दीक्षा के पचास वर्ष की एक लम्बी मजिल महान सफलतापूर्वक तय कर ५१ वे वर्ष मे प्रवेश करने जा रहे है। मुनिश्री के सदुपदेशो

एव तप त्याग ने जन-जन के हृदय मे एक विशिष्ट स्थान बना लिया है, और यही मात्र कारण है कि आज हजारो की सख्या मे भक्तो का मुनिश्री के दर्शनो के लिये मेला-सा लगा रहता है।

पूज्य-स्वामीजी के त्यागमय जीवन से, प्रभावित होकर जैनसमाज ने दीक्षा स्वर्णजयन्ती समारोह मनाने का निश्चय किया है। इसी अवसर पर पूज्य गुरुदेव के कर-कमलो मे अभिनन्दनग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है। यह एक महान् ऐतिहासिक प्रसग है कि सत्य एव अहिंसा के पुजारी के त्यागमय जीवन की अर्धशताब्दी मनाई जा रही है। जिसमे जन-जन मे मुनिश्री के त्यागमय जीवन की अमिट छाप बनी रहे।

•

हमारे गुरुदेव

श्री पारसमल धोका,

मत्री, श्रीरघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजतसिटी

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा० एक उच्चकोटि के महान् योगी अध्यात्म-निष्ठ एव दीर्घ सयमी सन्त हैं।

आप जैसे बाहर हितकर हैं वैसे ही भीतर हैं। आप आत्मिक और समाजिक जीवन के उत्थान मे सतत सलग्न रहते हैं।

आपके नेत्रो मे पवित्रतम सात्विक तेज और व्यवहार मे सन्तजनोचित सहृदयता का प्रभाव भी फूटता रहता है। आपकी बात सुनने मे कुछ कठोर-सी प्रतीत होती है परन्तु आपका हृदय नवनीत-सा मृदुल है। मैंने गुरुदेव को निकट से देखा है, परखा है। मेरा सम्पर्क बहुत काल से जुडा हुआ है।

आपका प्रभावशाली उपदेश हर व्यक्ति को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। आपका स्नेह हमारे व हमारे नगर पर अपार रहा है।

आपके अनगार-जीवन का प्रारम्भ इसी पवित्र भूमि मे हुआ है, आपके प्रेमोपहार के रूप मे ही हमारे यहा पूज्यवश्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय की स्थापना हुई है।

आप मरुधर के एक निर्मल निश्चल यशस्वी निडर सन्त है। आप समाज की नि स्वार्थ और निष्काम भाव से सेवारत होकर समाजोत्थान के पूर्ण इच्छुक हैं। मैं महान् गुरुदेव के गुणो से आकर्षित होकर चरणो मे दो शब्द लिख कर अपने आपको गौरवशाली समझता हू।

•

श्रद्धा के फूल

फूलचन्द बोरुदिया



तरुण वय मे सयम ग्रहण करके और उत्तम ज्ञान-चारित्र की आराधना करके प० र० मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्व-पर के परम कल्याण मे अपना समग्र जीवन समर्पित किया है। अज्ञानान्धकार मे भटकती जनता को शाश्वत शान्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित किया है। उनके जीवन मे अपूर्व तेजस्विता और कर्मठता है। सघ पर उनका महान् उपकार है। ग्राम-ग्राम मे विचरण करके धर्म और नीति का प्रभावक सदेश और उपदेश देने वाले तपोधन सन्त के पावन चरणो मे मेरा बार-बार वन्दन।

•

प्रेरणा-स्रोत

रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के रत्नों में से हैं। समाजहित में उनकी यशगाथा निर्विघ्न प्रवाह गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियों की आकांक्षा है। इस आयु में भी समाज को उद्-बोधित करने की उनमें अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन से कर्मठ जीवन बिताने की बड़ी प्रेरणा मिलती है।

●

नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनों से उठकर मेरा मन-भ्रमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-कमलों में पहुँच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है। आपके सान्निध्य में शान्तिपथ का अनुपमेय पाथेय प्राप्त करता है। नमस्कार! शत बार नमस्कार।

●

एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता संत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा हैं। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण से जनसमुदाय को वास्तविक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रान्तिकारी सत्य मोर्चे समाज के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। जोधपुर में ही अभी हाल के प्रवास में आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव से आयंबिलखाता का समुचित संचालन होना प्रारम्भ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नहीं, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रों में हैं। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान में आपका सहयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बड़ी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कण्ठस्थ है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेकों वर्षों तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् संत चिंतक, एवं प्रसिद्ध वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अन्तस् से विधिवत् अभिनन्दन करता हूँ।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार राणा, नीमाज

मानव में मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, संवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्यांकन करना हो तो हमें मरुधरकेसरीजी के दरबार में जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करे, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनों से किया जा सकता है।

सासारिक जीवन मे गुरुदेवश्री सत्यवादी, निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। सन्तश्रेणी मे आ चुकने के पश्चात् आपके इन गुणो म वृद्धि ही हुई है।

मरुधरकेसरीजी के प्रवचनो को श्रवण करने के लिए जैनो की अपेक्षा जैनेतर जनता का अपार समूह उपस्थित होता है। जहाँ जैनो के स्वल्प घर होते हैं वहा भी आपके श्रोताओ की सख्या विपुल होती है।

आपकी जिज्ञासावृत्ति कभी शान्त नही होती। व्याकरण, न्याय, भूगोल, खगोल, प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी आदि का अध्ययन आप बढाते ही रहते हैं।

आपका अन्यमतावलम्बियो के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार होता है। जहा कोई गलत बात कही जाती है चाहे स्वमत के सम्बन्ध मे या परमत के सम्बन्ध मे, चाहे किसी व्यक्ति के विषय मे या समूह के विषय मे, आपको सह्य नही होती। तत्काल मुहतोड उत्तर देते हैं। कहने वाला चाहे अमीर सेठ, मन्त्री, ठाकुर या राजा ही क्यो न हो! हिचक जैसी चीज उनके निकट नही फटकती। वे कहते सुने गए हैं—'क्यो नही कहने मे डरू, पेटभराई तो कम मे होती है।'

फटकार लगाते समय आपने आज तक कभी विचार ही नही किया कि भक्तगण अप्रसन्न या असन्तुष्ट हो जाएगे। कोमल या कठोर, जो भी कहना हो, सामने ही कह देते हैं। असत्य के सामने मौन धारण कर लेना आपने सीखा ही नही।

जब कभी प्रभावना की जाती है तो आप जैनेतर भाइयो को कभी नही भूलते। जैसा सम्बन्ध स्वमत वालो से वैसा ही अन्यमतावलम्बियो से रखते हैं।

कुरान की आयतें, गीता के श्लोक और सत्यार्थप्रकाश आदि के उद्धरण आपके मुखारविन्द मे नित्य ही टपकते सुने जाते हैं। ऐसे सैकडो वाक्य आपके कण्ठस्थ हैं। राम और कृष्ण के उदाहरण तो आपके लिए रोजमर्रा की चीज हैं।

अभिप्राय यह है कि गुरुदेव का हृदय अत्यन्त विशाल है। आपकी हितकामना किसी एक वर्ग तक सीमित नही है। आपका जीवन, चिन्तन और प्रवचन 'सर्वभूतहिताय' होता है। यही कारण है कि आप वास्तव मे समस्त जैन-जैनेतर जनता के गुरु माने जाते हैं। मरुधरा के जमीदार, जागीरदार, ठाकुर आदि सभी वर्गों की जनता हृदय से आपका सम्मान करती है, आपको गुरु मानती है। गरीब से गरीब भी आपको आत्मीय मानता है। उसे आप कभी अनुभव नही होने देते कि उसकी उपेक्षा की जा रही है। जिन ग्रामो मे आपका पदार्पण होता है, वहा सर्वसाधारण का कोई उत्सव हो, ऐसा प्रतीत होने लगता है।

प्रभावक गुरुदेव! आपका कोटि-कोटि अभिनन्दन!

o

अभिनन्दन!

गजराज भडारी, एडवोकेट

तथा स्था० जैनसमाज, बाली

परमपूज्य मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की दीक्षा की अर्द्धशताब्दी के शुभ अवसर पर हम बाली नगर के स्थानकवासी जैन आपका अभिनन्दन करते हुए असीम आनन्द अनुभव करते है।

मुनिश्री से हमारा काफी लम्बी अवधि से सम्पर्क रहा है। हमे समय-समय पर आपके महान् ओजस्वी विचारो को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। आपके विचारो म समीचीनता, गम्भीरता तथा परिपक्वता का आभास



स्पष्ट दृष्टिगत होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी आपकी शैली, भाषा विचार, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदर्श आदि से आत्मविभोर हुए विना नही रह सकता।

आप मन वचन व कर्म से पाचो महाव्रतो का निष्ठा मे पालन करते हुए सत्य मार्ग के अनुगामी हैं। आपने अहिंसा का प्रदीप जनजीवन मे प्रदीप्त किया है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की प्रेरणा दी है। आपका जीवन त्याग व तप की सच्ची व सजीव तस्वीर है। आप अन्तरग मे वीतरागभाव की ज्योति जला रहे है, इससे हमारा मस्तक आपके चरणस्पर्श को झुक जाए, यह स्वाभाविक है।

आप विशुद्ध भावना से जैनधर्म के प्रचार हेतु अनवरत अथक प्रयत्न कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की पूर्णता का ज्ञान कराना ही आपका अभीष्ट ध्येय है। जहा-जहा भी आपका पदार्पण हुआ है, आपने उस क्षेत्र की जनता मे धर्म की लहर फैला दी है।

वर्तमान समय मे, जब कि जन-जीवन कई समस्याओ मे उलझा है, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याए दिन-प्रतिदिन वढती जा रही हैं, धर्म की ओर रुचि होना कठिन होता है, श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री ने समय के आह्वान को भलीभाति पहचाना तथा धर्म का ऐसा विश्लेषण किया है जिससे धर्म मानव-जीवन का अग वन सके।

आगामी अक्षयतृतीया के दिन आपके दीक्षापर्याय के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं। इस अवसर पर सघ की प्रमोदभावना को साकार करने के लिए हम आपका अभिनन्दन करते है तथा आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं।

●

प्रणामाञ्जलि

लालचन्द जैन, जोधपुर

श्रमण सस्कृति के महान् नेता, समाजोद्धारक एकता के अग्रणी, जन-जागृति के प्रतीक, चारित्रचूडामणि वालब्रह्मचारी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहव की ५० वी दीक्षा-जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ' की योजना अत्यन्त स्तुत्य है।

स्वनामधन्य मरुधरकेसरीजी के पावन चरणो से मरुधर का चप्पा चप्पा पुलकित होता रहा है। मस्त योगी की भाति प्रतिवर्ष सैंकडो मील का उग्र विहार कर हजारो लाखो प्राणियो को प्रतिबोध द्वारा सन्मार्ग वताने वाले महामनीषी के उपकारो को लिपिवद्ध करना असम्भव कार्य है। फिर भी श्रद्धालुजनो द्वारा जो प्रयास किया जा रहा है, वह प्रशसनीय है। मैं अपनी प्रणामाजलि अर्पित करता हूँ।

●

अहिसा के पुजारी के प्रति

केवलचन्द पगारिया, सोजत

महान् हर्ष का विषय है कि जैन धर्मोपदेष्टा, मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० दीक्षा के पचास वर्ष की एक लम्बी मजिल महान सफलतापूर्वक तय कर ५१ वे वर्ष मे प्रवेश करने जा रहे हैं। मुनिश्री के सदुपदेशो

एव तप त्याग ने जन-जन के हृदय मे एक विशिष्ट स्थान बना लिया है, और यही मात्र कारण है कि आज हजारो की सख्या मे भक्तो का मुनिश्री के दर्शनो के लिये मेला-सा लगा रहता है ।

पूज्य-स्वामीजी के त्यागमय जीवन मे, प्रभावित होकर जैनसमाज ने दीक्षा स्वर्णजयन्ती समारोह मनाने का निश्चय किया है । इसी अवसर पर पूज्य गुरुदेव के कर-कमलो मे अभिनन्दनग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है । यह एक महान् ऐतिहासिक प्रसग है कि सत्य एव अहिंसा के पुजारी के त्यागमय जीवन की अर्धशताब्दी मनाई जा रही है । जिससे जन-जन मे मुनिश्री के त्यागमय जीवन की अमिट छाप बनी रहे ।

•

हमारे गुरुदेव

श्री पारसमल धोका,

मत्री, श्रीरघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजतसिटी

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा० एक उच्चकोटि के महान् योगी अध्यात्म-निष्ठ एव दीर्घ सयमी सन्त हैं ।

आप जैसे बाहर हितकर है वैसे ही भीतर हैं । आप आत्मिक और समाजिक जीवन के उत्थान मे सतत सलग्न रहते हैं ।

आपके नेत्रो मे पवित्रतम सात्त्विक तेज और व्यवहार मे सन्तजनोचित सहृदयता का प्रभाव भी फूटता रहता है । आपकी बात सुनने मे कुछ कठोर-सी प्रतीत होती है परन्तु आपका हृदय नवनीत-सा मृदुल है । मैने गुरुदेव को निकट से देखा है, परखा है । मेरा सम्पर्क बहुत काल से जुडा हुआ है ।

आपका प्रभावशाली उपदेश हर व्यक्ति को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । आपका स्नेह हमारे व हमारे नगर पर अपार रहा है ।

आपके अनगार-जीवन का प्रारम्भ इसी पवित्र भूमि मे हुआ है, आपके प्रेमोपहार के रूप मे ही हमारे यहा पूज्यश्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय की स्थापना हुई है ।

आप मरुधर के एक निर्मल निश्चल यशस्वी निडर सन्त हैं । आप समाज की निस्वार्थ और निष्काम भाव से सेवारत होकर समाजोत्थान के पूर्ण इच्छुक हैं । मैं महान् गुरुदेव के गुणो से आकर्षित होकर चरणो मे दो शब्द लिख कर अपने आपको गौरवशाली समझता हू ।

•

श्रद्धा के फूल

फूलचन्द बोरुदिया

तरुण वय मे सयम ग्रहण करके और उत्तम ज्ञान-चारित्र की आराधना करके प० र० मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्व-पर के परम कल्याण मे अपना समग्र जीवन समर्पित किया है । अज्ञानान्धकार मे भटकती जनता को शाश्वत शान्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित किया है । उनके जीवन मे अपूर्व तेजस्विता और कर्मठता है । सघ पर उनका महान् उपकार है । ग्राम-ग्राम मे विचरण करके धर्म और नीति का प्रभावक सदेश और उपदेश देने वाले तपोधन सन्त के पावन चरणो मे मेरा बार-बार वन्दन ।



•

अनूठा व्यक्तित्त्व

वैद्य मोहनलाल गौड, आयुर्वेदरत्न

सयम की साकार मूर्त्ति मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत है। उसमे परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले अनेकानेक सद्गुणो का सुन्दर समावेश हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वभाव मे जहा मिश्री का माधुर्य है वहा भवरोगो का समूल उन्मूलन करने के लिए वे कुटकी के समान भी है। दूसरे के प्रति अतिशय दयालु है तो स्वकीय सयमसाधना मे वज्र के समान कठोर हैं। उनकी भाषा मे सुधा का पुट होता है तो कभी कभी कटुकता भी आ जाती है। किन्तु उस कटुकता मे भी उनकी अनन्त करुणा का मिश्रण होता है, मगल-कामना छिपी रहती है। वे अतीव सहृदय, प्रतिभाशाली और ज्ञानी सन्त हैं। गोठन चातुर्मास मे आपके इन गुणो का परिचय पाकर मैं धन्य हो गया। राजस्थान भाग्यशाली है जिसे ऐसे श्रेष्ठ सन्त पावन कर रहे हैं।

●

मरुधरकेसरी का अभिनन्दन

कविराज प० मूलचन्द्र भट्ट

हमारे चिरपरिचित मरुधरकेसरी तपोधन महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज एक आदर्श सन्त हैं।

आपके जीवन के साथ एक महान पृष्ठभूमि है। आपका जन्म ऐसे स्थान से है, जिसके इतिहास मे समाज सस्कृति एव धर्मसाधना की एक विशाल कडी है। पाली नगर पुण्यवती पारा नगरी तथा सम्प्रति पाली है। मारवाड मे राठौड राज्य के मूल पुरुष पाली से ही अपना इतिहास प्रारम्भ करते है। इसके पहले चौहान, परमार, चालुक्य आदि का सदियो तक शासन रहना पाया जाता है।

सेठ सहसमलजी और केसरवाई महामुनियो की पदरजप्राप्त पाली नगर मे ही रहते थे। मरुधरकेसरी के पिता श्री सहसमलजी उदारचेता थे और केसरवाई सरल प्रकृति की महिला रही, यह दोनो महान् गुण मुनि श्री मिश्रीमलजी का विरासत मे मिले। जिस पर पूज्य गुरु की शरण २५ वर्ष के पूर्ण यौवन में प्राप्त हो गई। पूज्य बुधमलजी महाराज साहब परम शान्त विरक्त तपस्वी तथा तप पुज पुरुष थे।

पाली नगर ऐतिहासिक एव सस्कृतियुक्त रहा है तो साहित्यिक रुचि भी यहा प्रबल रूप मे रही है। योगी-राज कवि गिर, भक्तराज पूनमचन्द, महाकवि मनोहर तथा देवकरण, महात्मा गणेशानद एव कविराज लालचन्द जैसी महान कविआत्माओ तथा विभूतियो ने जन्म लेकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को ही प्रकट किया। हम अपने चरित्रनायक मे इन सभी गुणो को प्रचुर मात्रा मे पाते हैं।

मुनिश्री के जीवन मे क्या नही पाते ? उदारता का पितृगुण प्रत्येक प्रेमी देखता आ रहा है। सरलता व सेवापरायणता मातृदुग्धामृत का प्रभाव रहा। जैन-अजैन बालाओ की शिक्षा और धर्मशिक्षाशालाओ की व्यवस्था से भी प्रत्यक्ष है। बीलाडा चातुर्मास वि० स० २०१० म यवनो द्वारा किए गए प्रबल प्रहारो का सहकर भी क्षमा दे देना किस पाठक मे छुपा है ? मुनिधर्म की महान् सेवा के साथ समाजसेवा से आप विमुख नही।

महाकवियो के काव्यगुण का विकास भी आप मे असीम है। आपने दीर्घकाय महाभारत आदि विविध ग्रथो की रचना कर महाकवि की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

तप पुज महामुनि बुधमलजी महाराज साहब से वि० स० १९७५ मे मुनिव्रत ग्रहण किये आज ५० वर्ष हो जाते है और श्रद्धालु श्रावक स्वर्णजयन्ती मनाएं तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेट करें यह परम श्रद्धा का द्योतक ही है।

मैं स्वय मुनिराज के नगर का निकटतम परिचित हू। अत अधिक कुछ कहना सत्य होने पर भी पाठक कही अतिशयोक्ति ममझ सकते हैं। इस भय से आयोजको से सहमत होता हुआ विराम लेता हू

•

प्रकृष्ट पुण्य का परिणाम

कामदार प्रेमराज तिलेसरा

किसी पूर्वभव मे कोई विशेष तपश्चर्या की होगी, धर्मक्रिया मे रुचि जगाई होगी, दीन-दुखियो को दान दिया होगा, उनकी सेवा मे मन पिरोया होगा अथवा अन्य साधना की होगी, जिसके फलस्वरूप श्री मरुधरकेसरीजी महाराज जैसे परमपावन सन्त के चरणो मे स्थान मिला। गुरुदेव अज्ञान का निवारण करने के लिए भानु के समान हैं। आपका उपदेशामृत भवरोगो को दूर करने वाला और अमरत्व प्रदान करने वाला है। हार्दिक कामना है कि गुरुदेव की कृपा चिरकाल तक बनी रहे और हम अपने जीवन को सार्थक बना सकें।

•

प्रतिभापुज मरुधरकेसरी

भैरुलाल धक, एम० एस-सी० 'पकज'

गुरुदेव की अनन्य गुणरश्मियो का प्रकाश सर्वव्याप्त है। उनका बखान करना न तो मेरी जिह्वा की शक्ति मे है, नही मेरे अल्पज्ञान मे उपयुक्त शब्दकोष ही उपलब्ध है। फिर भी मेरा तुच्छ अनुभव आपके विशाल चरित्र को प्रकट किए बिना नही रह सकता।

कडकडाती सर्दी और तपती गर्मी मे भी राजस्थान की मरुभूमि और पहाडी क्षेत्रो मे केसरी सिंह, निष्कपट भाव से डके की चोट सत्य का उद्घोष करते हुए विचरण करता है। यह निर्भीक सन्त-रत्न भी आत्मा की आवाज को सहज भावो मे प्रकट करता है, जिन मे खरापन निखरता है। सामाजिक चेतना और सघीय एकता की टीस झलकती है जो श्रोता के हृदय मे स्पदन पैदा करती है। आशा का अटूट सम्बल लेकर यह सजग धर्मप्रहरी जब नगर-नगर ग्राम-ग्राम आगे बढता है तो प्रेम से उमडी जनता उनकी अगवानी के लिए बडी सख्या मे उपस्थित हो जाती है। प्रवास के समय दिनभर दर्शनार्थी भाई-बहनो का ताता लगा रहता है।

इतने पर भी इस महान् विभूति को चैन कहाँ ? न जाने कब समय मिलता होगा, छोटे-मोटे सवा सौ से अधिक ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमे अनेक काव्य और वृहत् काव्य भी है। डिंगल और पिंगल का समावेश करते हुए मारवाडी, राजस्थानी और हिन्दी भाषा मे आपकी लोकप्रिय रचनाए खूब प्रचलित है। ५० वर्षों की कठोर सयम-साधना मे क्रियाशील आपने इतना सब कैसे किया ? वर्तमान समाज मे व्याप्त अव्यवस्था और अनवस्था को देखकर आपका कोमल हृदय क्षुब्ध है। लुप्त होती जा रही गौरवशाली प्राचीन और विशुद्ध परम्पराओ को पुन प्रकाशित करने की तीव्र अभिलाषा से आपने सत्साहित्य के द्वारा पुनर्जागरण का सकल्प किया है। नवीनतम वृहत्काव्य 'महाभारत' के कौरवो पाण्डवो के माध्यम से आपने धर्म की अधम पर विजय और सत्य की असत्य पर विजय के प्रमाण प्रस्तुत किये है। आपने 'सिहनाद" नामक एक छोटी-सी कृति मे गागर मे सागर भरने की कला का परिचय देते हुए जीवनोपयोगी उपदेशो का खजाना खोल दिया है। "बिगाड होता है" शीर्षक मे सूक्ष्म दृष्टि से विनाश के कारणो का पता बताते हुए आपने लिखा है—



अनूठा व्यक्तित्व

वैद्य मोहनलाल गौड, आयुर्वेदरत्न

संयम की साकार मूर्ति मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत है। उनमें परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले अनेकानेक सद्गुणों का सुन्दर समावेश हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वभाव में जहा मिश्री का माधुर्य है वहा भवरोगों का समूल उन्मूलन करने के लिए वे कुटकी के समान भी है। दूसरे के प्रति अतिशय दयालु है तो स्वकीय संयमसाधना में वज्र के समान कठोर हैं। उनकी भाषा में सुधा का पुट होता है तो कभी-कभी कटुकता भी आ जाती है। किन्तु उस कटुकता मे भी उनकी अनन्त करुणा का मिश्रण होता है, मंगल-कामना छिपी रहती है। वे अतीव सहृदय, प्रतिभाशाली और ज्ञानी सन्त हैं। सोजत चातुर्मास मे आपके इन गुणों का परिचय पाकर मैं धन्य हो गया। राजस्थान भाग्यशाली है जिसे ऐसे श्रेष्ठ सन्त पावन कर रहे हैं।

●

मरुधरकेसरी का अभिनन्दन

कविराज पं० मूलचन्द्र भट्ट

हमारे चिरपरिचित मरुधरकेसरी तपोधन महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज एक आदर्श सन्त हैं।

आपके जीवन के साथ एक महान पृष्ठभूमि है। आपका जन्म ऐसे स्थान से है, जिसके इतिहास मे समाज संस्कृति एव धर्मभावना की एक विशाल कडी है। पाली नगर पुण्यवती पारा नगरी तथा सम्प्रति पाली है। मारवाड के राठौड राज्य के मूल पुरुष पाली मे ही अपना इतिहास प्रारम्भ करते है। इसके पहले चौहान, परमार, चालुक्य आदि का सदियों तक शासन रहना पाया जाता है।

सेठ सहसमलजी और केसरबाई महामुनियो की पदरजप्राप्त पाली नगर मे ही रहते थे। मरुधरकेसरी के पिता श्री सहसमलजी उदारचेता थे और केसरबाई सरल प्रकृति की महिला रही, यह दोनो महान् गुण मुनि श्री मिश्रीमलजी को विरासत मे मिले। जिस पर पूज्य गुरु की शरण २५ वर्ष के पूर्ण यौवन में प्राप्त हो गई। पूज्य बुधमलजी महाराज साहब परम शान्त विरक्त तपस्वी तथा तप पुंज पुरुष थे।

पाली नगर ऐतिहासिक एव संस्कृतियुक्त रहा है तो साहित्यिक रुचि भी यहा प्रबल रूप मे रही है। योगीराज कवि गिर, भक्तराज पूनमचन्द, महाकवि मनोहर तथा देवकरण, महात्मा गणेशानंद एव कविराज लालचन्द जैसी महान कविआत्माओ तथा विभूतियो ने जन्म लेकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को ही प्रकट किया। हम अपने चरित्रनायक मे इन सभी गुणो को प्रचुर मात्रा में पाते हैं।

मुनिश्री के जीवन मे क्या नही पाते ? उदारता का पितृगुण प्रत्येक प्रेमी देखता आ रहा है। सरलता व सेवापरायणता मातृदुग्धामृत का प्रभाव रहा। जैन-अजैन बालाओ की शिक्षा और धर्मशिक्षाशालाओ की व्यवस्था मे भी प्रत्यक्ष है। बीलाडा चातुर्मास वि० स० २०१० मे यवनो द्वारा किए गए प्रबल प्रहारों का सहकर भी क्षमा दे देना किस पाठक से छुपा है ? मुनिधर्म की महान् सेवा के साथ समाजसेवा से आप विमुख नही।

महाकवियो के काव्यगुण का विकास भी आप मे असीम है। आपने दीर्घकाय महाभारत आदि विविध ग्रथो की रचना कर महाकवि की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

तप पुंज महामुनि बुधमलजी महाराज साहब से वि० स० १९७५ मे मुनिव्रत ग्रहण किये आज ५० वर्ष हो जाते है और श्रद्धालु श्रावक स्वर्णजयन्ती मनाए तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेट करें यह परम श्रद्धा का द्योतक ही है।



झूठ बिगाड़े पेठने, रुठ बिगाड़े खेल।
फूट बिगाड़े फौजने, टूट बिगाड़े रेल॥

इस महान् सन्तरत्न का समाज युगों तक ऋणी रहेगा। ऐसे प्रतिभापुञ्ज मरुधरकेसरीजी म० सा० के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन के पश्चात् मेरी यही कामना है कि पूज्यश्री चिरायु हों, आपकी यश-कीर्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़े और समाज के बहुमुखी विकास में आपका पूर्ण योगदान रहे।

श्रद्धा-पुष्प

बादलचन्द कांकरिया

सद्‌वक्ता सोभानदन, रक्त-शील गुणरास।
मिश्री मुनि अनमोल मणि, करता ज्ञान प्रकाश॥
ओसवाल वंश को उजावला हुलास होय,
एकदम त्यागी-भो सजोग ज्ञान गेन को।
शिक्षा सद पाय "बुधगुरु" हु से दीक्षा लेके,
गाय जिनवाणी रूप जाण्यो है जिनेश को॥
भाषण विस्तार सार-भार अघताड हुए,
श्वेत रंग कीनो रहै सोनित हमेश को।
मार लीनों मार-को अपार तपताप तप-
तन को सुधार कीनो तार दीनो देश को॥

पुष्पाञ्जलि

कृपाराम परमहंस

मुनिवर की वर म्हेर से, आनन्द रहै अपार।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि दे, मनरा मिटै विकार।
मनुष्ययोनि आछी मिली, कर लो सुकृत काम।
दरसण मुनियां देखना, इनमें है आराम॥
मिसरीमल मुनिराज को, वन्दन वार हजार।
केहरि-पदवी मत कहो, धरम भुजा पर धार॥
शरणागत रक्षक सदा, केहर-मत कृपान।
'कृपाराम' मत कहत हैं, झलक रयो निज भाल॥

सूरवीर संत यही संत है सराहनीय,
धरमरुखाला ध्यानी धर्म मतवाला है।
विकट समस्याओ को दूर कर दीनी सब,
पक्षपात पाले नहीं सभी भव वाला है॥
वैष्णव व जैन भाई एक निगा देखे आप,
दिव्यभाव दानी दया संत का रसाला है।
मरुधरकेसरी की जय जै पुकारे जन,
कृपाराम कहै ऐसे एक ही निराला है॥

●

गुरु स्वागत-गीत

धर्मचन्द जैन

आ तिरण तारण री जहाज, कि भवजल तारेला जी तारेला।
श्री जैन सव सिरताज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥ टेर॥
चंदा सुं ज्यादा उज्जवल है, अमृत सु ज्यादा मीठा है।
है सिंग जैसी आवाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥१॥
ज्ञान ध्यानसगम गुण भरिया, शम दम शील रतन का दरिया।
मरुधरकेसरीराज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥२॥
जिनमत धाक जमाने वाला, वीर ध्वजा फहराने वाला।
जग जाहिर मुनिराज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥३॥
आज भाग्य को चंदो चमकियो, सोना रो सूरजडो दमकियो।
धन्य हुआ मैं आज कि भवजल तारेला जी तारेला॥४॥
आज खुशी को पार नहीं है, धर्म की गंगा अठै वही है।
हरख्यो सकल समाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥५॥
स्वागत गुरुवर स्वागत थारो, मरुधरा रा उजयाला थारो।
'धर्म' की राखो लाज, कि भवजल तारेला जी तारेला॥६॥

○

शत शत वन्दन

श्री प्रेमचन्द लोढ़ा, जयपुर

त्यागी संत तप पूत होते हैं, उनमे अहंकाररहित ज्ञान-गरिमा होती है। स्वभाव मे वे एक निश्चल बालक के समान अत्यन्त निस्पृह होते हैं। उनका दिव्य व्यक्तित्व और मौन साधना स्वतः शत-शत रूप मे मुखरित होती है। वे आत्मसाधनारत महापुरुष अंधकार मे भटकने वालो के लिये एक प्रकाश-दीप होते हैं। ऐसे संयमी तपोधन श्री



मिश्रीमलजी महाराज साहब के चरणो मे मेरा शत-शत वदन हो ।

जब मैं छह वर्ष का बाल था, मुझे तपोधन वैराग्यमूर्ति, परमकारुणिक आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज साहब के वचनामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी अमृतवाणी के वे मनोवैज्ञानिक शब्द आज भी मेरे अन्तर मे गूंज रहे हैं। इस तरह बालवय से ही मेरा ऐसे सतो के प्रति सहज अनुराग रहा है जिनका अन्तर-बाह्य एक है। मेरे देवतुल्य स्व० पिता के लाख चाहने और सतो के सम्पर्क रखने पर भी जब उनका साया अचानक उठ गया, मेरे मे पडिताई मुखरित हो नही पाई। इस प्रपची जीवन मे जब कभी किसी दिव्यज्योति के दर्शन होते, मन मे एक अन्तर-द्वन्द्व छिड जाता। फिर भी मैं भटक जाता। इस वर्तमान भौतिक ससार मे सत्याचरण और सत्य निष्ठामय जीवन जीना कितना कष्टसाध्य है। छल दभ और बाहरी दिखावे मे हमारे जीवन का अधिकाश भाग जब खप जाता है तब हम अपने को स्वयभू मान बैठते हैं। जीवन की यह कैसी विडम्बना है। हमारे अन्तर मे बैठे हुए इस पिशाच को हम बाहर प्रकट नही होने देते और जब तक हम इस दैत्य (राक्षसी) जीवन से छुटकारा नही पाते, हम सतजीवन के सच्चे अनुरागी नही होते।

पर सौभाग्य से जब कभी हमे सच्ची साधुता के दर्शन होते है, हमारे अन्तर का यह पिशाच रूप जब तिल-मिला उठता है वही हमारा वास्तविक अभिनन्दन होता है।

●

सतशिरोमणि श्री मिश्रीमलजी महाराज

कविराज हेमबिहारीदास

सततत्व शताब्दियो से मानव सस्कृति को अनुप्राणित करता रहा है। सत-श्रमण-साधु-मुनियो ने भारतीय सस्कृति के अमर और उत्प्रेरक तत्वो को दैनिक जीवन मे स्थान देकर अध्यात्म की मौलिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु, युगानुकूल नव्य-भव्य उपादानो द्वारा उसका प्रवर्द्धन भी किया। किसी भी समाज और राष्ट्र की यही एक ऐसी विरासत है जिसके आधार पर वह अपना भावी ऊर्ज्जस्वल पथ निर्माण करता है। मेरा तो दृढ विश्वास है कि राजनीति द्वारा प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा और उत्कर्ष नैतिकतामूलक सतो के सदाचारमय जीवन के माध्यम से ही सम्भव है, करणी और कथनी को ही वे आदर्श मानते आये हैं और इसीलिए जन-हृदय पर सतो का अमिट स्थान बना हुआ है।

जैनधम क्रातिकारियो का धर्म रहा है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार महापुरुषो द्वारा इसे वेग मिलता रहा है। महाप्राण लोकाशाह ऐसे ही क्रान्तिवीर महामना थे। आपने अपने समुज्ज्वल चारित्र के बल पर ऐसी शखध्वनि की कि उस समय का सारा जैनसमाज उनका घोर विरोधी बन गया। पर कहना उचित होगा कि लोकाशाह सत्य के अनुयायी और सद्धर्म के पोषक थे। धर्म के नाम पर परिवर्द्धित आडबरो के प्रति उनके हृदय मे स्थान न था। वे वीतराग प्रतिपादित सिद्धान्तो को मुनियो के दैनिक जीवन मे देखना चाहते थे। उनका भवभीरु मन सस्कृतिगत विकारो से त्रसित हो उठा था। इसीलिए आपने परमत्यागमूलक मार्ग का न केवल अनुसरण ही किया, बल्कि तन्मूलक परम्परा भी कायम की। इस परम्परा के सक्षम पालको ने जैन-सस्कृति को गौरवमय स्थान प्रदान किया।

महामुनि श्री मिश्रीमलजी उसी मणिमाला के एक रत्न हैं, आपने कष्ट सहन कर विरोधो की पर्वाह न करते हुए जिनप्रणीत धर्म और सत्य को सामने रख कर ही औपदेशिक अमृत वाणी के माध्यम से जनता को नैतिकता की ओर आकृष्ट किया। उनका बहुमूल्य जीवन आज एक आदर्श उपस्थित करता है।

●

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

शैले शैले न माणिक्य, मौक्तिक न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने ।।

महानीतिज्ञ चाणक्य का यह कथन अक्षरश सत्य है। प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नही होता, प्रत्येक हाथी मे मुक्ता नही मिलती, सर्वत्र साधु उपलब्ध नही होते और सब वनो मे चन्दन नही होता ।

विश्व-वारिधि के असीम अन्तस्थल मे अगणित रत्न निकलते है । और उनकी काति जन-मानस को प्रभावित और आकर्षित करती है । किन्तु विश्व की पैनी दृष्टि उनमे से भी सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, सर्वोपरि और अमूल्य रत्नो को चुनकर अपने वक्ष का हार बनाती है ।

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भी ससार के उन जगमगाते रत्नो मे से एक है । आपकी प्रतिभा, विद्वत्ता, निर्भयता, तथा चारित्र निष्ठा जन-जन के अन्त करण मे अपना उच्च स्थान बना ही रही है । विराट व्यक्तित्व, उत्कृष्ट आचार एव श्रेष्ठ विचारो को लेकर आप इस प्रागण मे जहा भी चरण रखते है, वहाँ जागरण की लहर दौड जाती है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सिंह जहा भी जाता है अपना राज्य कायम कर लेता है ।

आपको "मरुधरकेसरी" की उपाधि दी गई है । वह सर्वथा उपयुक्त ही है । सिंह-गर्जना के समान ही आप की ओज-पूर्ण वाणी श्रोताओ को जीवन और जगत के रहस्यो को समझाती हुई सचेत कर देती है । अद्भुत जागृति पैदा करती है। अनेको पथभ्रष्टो के लिए पथप्रदर्शक बनती है और अधर्म तथा मिथ्यात्व के पाश मे जकडे हुओ को मुक्त करती है । आपकी वाणी मे अपूर्व बल है । जो भी भाग्य का धनी आपके सम्पर्क मे आता है, प्रभावित हुए बिना नही रहता । तभी कहा गया है—"The finest eloquence is that which gets things done"

वाणी के समान ही आपकी लेखनी को भी लोहलेखनी की सज्ञा प्राप्त है । इसके द्वारा आपने अनेकानेक विषयो का भडार अपनी अनूठी प्रतिभापूंजी द्वारा भरा है । आपका अध्ययन अत्यन्त प्रगाढ और विशाल है ।

आपकी कवित्वशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण है । पद्यो का निर्माण आपके लिये क्रीडा है । अनेक पद्यमय रचनाए तथा महाभारत के सदृश पद्यमय बृहत्काय ग्रन्थ भी आपने समाज को भेट किया है । इस अद्भुत शक्ति ने आपको एक सफल आशुकवि के रूप मे भी हमारे समक्ष उपस्थित किया है ।

कि बहुना, आप आज के श्रमणसघ की एक बहुमूल्य वरिष्ठ विभूति है । हार्दिक कामना है कि आप शतजीवी हो और आपकी प्रतिभा व कीर्ति युगो तक जीवित रहे । अगणित काल तक वह विश्व की श्रद्धाजलि का पात्र बनी रहे ।

•



श्रद्धा के फूल

गोरधनदास सोनी
एम० एल० ए०

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का नाम जिज्ञासु लोगो से कई बार सुना था । लोग उन्हे महान सन्त बताकर उनकी चर्चा किया करते थे ।

सयोग से सन् ६७ के आम चुनाव से पहिले जनवरी मास मे महाराजश्री से साक्षात्कार करने व उनके



मिश्रीमलजी महाराज साहब के चरणो मे मेरा शत-शत वदन हो ।

जब मैं छह वर्ष का बाल था, मुझे तपोधन वैराग्यमूर्ति, परमकारुणिक आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज साहब के वचनामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी अमृतवाणी के वे मनोवैज्ञानिक शब्द आज भी मेरे अन्तर मे गूंज रहे है। इस तरह बालवय से ही मेरा ऐसे सतो के प्रति सहज अनुराग रहा है जिनका अन्तर-बाह्य एक है। मेरे देवतुल्य स्व० पिता के लाख चाहने और सतो के सम्पर्क रखने पर भी जब उनका साया अचानक उठ गया, मेरे मे पडिताई मुखरित हो नही पाई। इस प्रपची जीवन मे जब कभी किसी दिव्यज्योति के दर्शन होते, मन मे एक अन्तर-द्वन्द्व छिड जाता। फिर भी मैं भटक जाता। इस वर्तमान भौतिक ससार मे सत्याचरण और सत्य निष्ठामय जीवन जीना कितना कष्टसाध्य है। छल दभ और बाहरी दिखावे मे हमारे जीवन का अधिकाश भाग जब खप जाता है तब हम अपने को स्वयभू मान बैठते हैं। जीवन की यह कैसी विडम्बना है। हमारे अन्तर मे बैठे हुए इस पिशाच को हम बाहर प्रकट नही होने देते और जब तक हम इस दैत्य (राक्षसी) जीवन से छुटकारा नही पाते, हम सतजीवन के सच्चे अनुरागी नही होते।

पर सौभाग्य से जब कभी हमे सच्ची साधुता के दर्शन होते हैं, हमारे अन्तर का यह पिशाच रूप जब तिल-मिला उठता है वही हमारा वास्तविक अभिनन्दन होना है।

●

सतशिरोमणि श्री मिश्रीमलजी महाराज

कविराज हेमबिहारीदास

सततत्व शताब्दियो से मानव सस्कृति को अनुप्राणित करता रहा है। सत-श्रमण-साधु-मुनियो ने भारतीय सस्कृति के अमर और उत्प्रेरक तत्वो को दैनिक जीवन मे स्थान देकर अध्यात्म की मौलिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु, युगानुकूल नव्य-भव्य उपादानो द्वारा उसका प्रवर्द्धन भी किया। किसी भी समाज और राष्ट्र की यही एक ऐसी विरासत है जिसके आधार पर वह अपना भावी ऊर्ज्जस्वल पथ निर्माण करता है। मेरा तो दृढ विश्वास है कि राजनीति द्वारा प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा और उत्कर्ष नैतिकतामूलक सतो के सदाचारमय जीवन के माध्यम से ही सम्भव है, करणी और कथनी को ही वे आदर्श मानते आये है और इसीलिए जन-हृदय पर सतो का अमिट स्थान बना हुआ है।

जैनधर्म क्रातिकारियो का धर्म रहा है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार महापुरुषो द्वारा इसे वेग मिलता रहा है। महाप्राण लोकाशाह ऐसे ही क्रान्तिवीर महामना थे। आपने अपने समुज्ज्वल चारित्र के बल पर ऐसी शखध्वनि की कि उस समय का सारा जैनसमाज उनका घोर विरोधी बन गया। पर कहना उचित होगा कि लोकाशाह सत्य के अनुयायी और सद्धर्म के पोषक थे। धर्म के नाम पर परिवर्द्धित आडबरो के प्रति उनके हृदय मे स्थान न था। वे वीतराग प्रतिपादित सिद्धान्तो को मुनियो के दैनिक जीवन मे देखना चाहते थे। उनका भवभीरु मन सस्कृतिगत विकारो से त्रसित हो उठा था। इसीलिए आपने परमत्यागमूलक मार्ग का न केवल अनुसरण ही किया, बल्कि तन्मूलक परम्परा भी कायम की। इस परम्परा के सक्षम पालको ने जैन-सस्कृति को गौरवमय स्थान प्रदान किया।

महामुनि श्री मिश्रीमलजी उसी मणिमाला के एक रत्न है, आपने कष्ट सहन कर विरोधो की पर्वाह न करते हुए जिनप्रणीत धर्म और सत्य को सामने रख कर ही औपदेशिक अमृत वाणी के माध्यम से जनता को नैतिकता की ओर आकृष्ट किया। उनका बहुमूल्य जीवन आज एक आदर्श उपस्थित करता है।

●

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

> शैले शैले न माणिक्य, मौक्तिक न गजे गजे।
> साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने॥

महानीतिज्ञ चाणक्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है। प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नही होता, प्रत्येक हाथी मे मुक्ता नही मिलती, सर्वत्र साधु उपलब्ध नही होते और सब वनो मे चन्दन नही होता।

विश्व-वारिधि के असीम अन्तस्तल मे अगणित रत्न निकलते है। और उनकी काति जन-मानस को प्रभावित और आकर्षित करती है। किन्तु विश्व की पैनी दृष्टि उनमे से भी सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, सर्वोपरि और अमूल्य रत्नो को चुनकर अपने वक्ष का हार बनाती है।

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भी संसार के उन जगमगाते रत्नो मे से एक है। आपकी प्रतिभा, विद्वत्ता, निर्भयता, तथा चारित्र निष्ठा जन-जन के अन्त करण मे अपना उच्च स्थान बना ही रही है। विराट व्यक्तित्व, उत्कृष्ट आचार एव श्रेष्ठ विचारो को लेकर आप इस प्रागण मे जहा भी चरण रखते है, वहाँ जागरण की लहर दौड जाती है। ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि सिंह जहा भी जाता है अपना राज्य कायम कर लेता है।

आपको "मरुधरकेसरी" की उपाधि दी गई है। वह सर्वथा उपयुक्त ही है। सिंह-गर्जना के समान ही आप की ओज-पूर्ण वाणी श्रोताओ को जीवन और जगत के रहस्यो को समझाती हुई सचेत कर देती है। अद्भुत जागृति पैदा करती है। अनेको पथभ्रष्टो के लिए पथप्रदर्शक बनती है और अधर्म तथा मिथ्यात्व के पाश मे जकडे हुओ को मुक्त करती है। आपकी वाणी मे अपूर्व बल है। जो भी भाग्य का धनी आपके सम्पर्क मे आता है, प्रभावित हुए बिना नही रहता। तभी कहा गया है—"The finest eloquence is that which gets things done"

वाणी के समान ही आपकी लेखनी को भी लोहलेखनी की सज्ञा प्राप्त है। इसके द्वारा आपने अनेकानेक विषयो का भडार अपनी अनूठी प्रतिभापूंजी द्वारा भरा है। आपका अध्ययन अत्यन्त प्रगाढ और विशाल है।

आपकी कवित्वशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण है। पद्यो का निर्माण आपके लिये क्रीडा है। अनेक पद्यमय रचनाए तथा महाभारत के सदृश पद्यमय बृहत्काय ग्रन्थ भी आपने समाज को भेट किया है। इस अद्भुत शक्ति ने आपको एक सफल आशुकवि के रूप मे भी हमारे समक्ष उपस्थित किया है।

कि बहुना, आप आज के श्रमणसघ की एक बहुमूल्य वरिष्ठ विभूति है। हार्दिक कामना है कि आप शतजीवी हो और आपकी प्रतिभा व कीर्ति युगो तक जीवित रहे। अगणित काल तक वह विश्व की श्रद्धाजलि का पात्र बनी रहे।

●

श्रद्धा के फूल

गोरधनदास सोनी
एम० एल० ए०

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का नाम जिज्ञासु लोगो से कई बार सुना था। लोग उन्हे महान सन्त बताकर उनकी चर्चा किया करते थे।

सयोग से सन् ६७ के आम चुनाव से पहिले जनवरी मास मे महाराजश्री से साक्षात्कार करने व उनके



विचार सुनने का अवसर मिला। महाराजश्री वास्तव मे महान विद्वान सन्त हैं। साथ ही विचारक एव ओजस्वी वक्ता भी। यही कारण है कि महाराज श्री का प्रवचन मानव की हृदयतत्री को झकृत करते हुए उमे ज्ञान के साथ देश व समाजहित की प्रेरणा देता है।

देश की दयनीय अवस्था, चारित्रिक पतन, गोवश का वध व देश की गदी राजनीति ने भी महाराजश्री के हृदय को काफी झकझोरा है। इसी कारण आप मे एक महर्षि के साथ साथ राजश्री के भी दर्शन होते हैं। हमारे देश के सतो-ऋषियो और मुनियो का, जब भी देश पर विपत्ति आई, अन्याय व अत्याचार बढे, उसे निरस्त करने के लिये, समाज को सत्य एव कर्तव्य की प्रेरणा देने के लिये समय समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है। उन्ही मे मरुधरकेसरी भी है, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

●

जैन जगत की विमल विभूति

मदनलाल जैन

परम श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साक्षात् स्नेह की मूर्ति है। आपके हृदय मे पवित्र प्रेम का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता है। मायावी ससार के मोह जाल को त्यागकर आपने अपने खिलते यौवन, उभरती जवानी के २५ वें वर्ष मे स्वामीजी श्री बुधमलजी महाराज के चरणो मे पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की। तब से आज जीवन के लम्बे पचास वर्षों तक समाज एव साहित्य की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया एव शिक्षा प्रसार के कार्य मे सलग्न रहे।

आप युगप्रवर्तक महापुरुष है। जैन दर्शन, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पिंगल आदि के ज्ञाता एव अनूठी प्रतिभा के धनी हैं। आशुकवित्व जिनके लिये मात्र क्रीडा है। महाभारत जैसा बृहत्काय ग्रन्थ जिनकी कवित्व शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। मरुधरा के कवि समाज ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही आपको आशुकवि की पदवी से विभूषित किया है। आपने राजस्थानी भाषा मे प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया है।

मरुधरकेसरीजी सर्वजन हितैषी महापुरुष हैं। आपके दिल मे सभी के उत्थान की मगल कामना बनी रहती है। आप एक दीर्घदृष्टा अनुभवी सत हैं। जिन्होने सदा ही जीवन मे सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिये ममता सत्य और अहिंसा को ही परम आवश्यक बताया है। भगवान महावीर के "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अपने जीवन मे पूर्णरूप से उतारा और उसका घर घर मे प्रचार किया है।

मरुधरकेसरीजी स्थानकवासी जैनसमाज के एक प्रकाश-स्तम्भ है। आपने श्रमणसघ के सगठन के लिये भागीरथ प्रयत्न किया और उसे सुदृढ बनाया। समाज की गला घोटने वाली अनेक कुरूढियो के विरुद्ध सिंहनाद किया और शुद्ध धार्मिक भावनाओ का प्रसार किया। और साधारण जनता को सन्मार्ग का दर्शन कराया।

आपने श्रमणसघ की मर्यादा मे रहकर गत पचास वर्षों मे जैन-शासन, जैन-सघ और जैन-सस्कृति की जो महान् सेवा की है वह अनेको साधको के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगी। जैन समाज के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करने वाले कर्मठ सन्त को हार्दिक श्रद्धा एव सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और यह मगल कामना करता हू कि आप दीर्घायु हो। इति।

●

हार्दिक अभिनन्दन

मदनलाल काटेढ ब्यावर

जीवननिर्माण मे सन्तो की सगति और उनके उपदेशो का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० सा० भी एक ऐसे सन्त हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक साधना एव मानव कल्याण के हेतु समर्पित कर दिया। आपके उपदेशो को श्रवण कर अगणित व्यक्तियो एव परिवारो ने अपना कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषो के सान्निध्य मे रहने का मुझे अवसर मिला है। इस मगल-कामना के साथ कि वे शतायु बन समाज का हित साधन करते रहे, मै अपना हार्दिक अभिनन्दन एव शत शत प्रणाम समर्पित करता हू।

०

मानव हुआ कृतज्ञ

श्री दिनेशचन्द शर्मा,
सोजत उपखडाधीश

अभिमन्यू की वेदना, द्रुपद सुता की भीर,
यशो रसायन मे प्रगट, मानव मन की पीर।
अलकार बहु, छद बहु, बहु उपमा, बहु प्रास,
तारक खचित खगोल सा, यशो रसायन खास।
भाषा की मदाकिनी, श्रेष्ठ भाव अनुरूप,
छद प्रबध विचित्र, कवि मिश्री चद स्वरूप।
सत वाणी, सत आचरण, सत्य भावमर्मज्ञ,
मिश्रीमल महाराज मे, मानव हुआ कृतज्ञ।

०

श्रद्धाजलि

माधवप्रसाद जैन

पूज्य श्री मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्थानकवासी जैन समाज मे शासन सेवा का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। आज वयोवृद्ध होने पर भी वे उग्र विहार करते हुए जनता को सत्य और अहिंसा का अमृत पान करा रहे है। आपका उपकार भुलाया नही जा सकता। समाज पर आपकी छत्रछाया चिरकाल तक बनी रहे यही हार्दिक भावना।



०

पहले दोस्त आज गुरुदेव के रूप मे

पारसमल सुराणा, सोजतशहर-मैसूर

मैं और वे (मरुधरकेसरी) बालपणारा दोस्त हाँ। साथ ही पढिया ने खेलिया कूदिया, एक दिन एडो आयो कि वे मने छिटकाय साधुपणो अगीकार कर लियो। जो दोस्त हा गुरुजी बन गया। मने तो या ही बडी खुशी है कि



विचार सुनने का अवसर मिला। महाराजश्री वास्तव मे महान विद्वान सन्त है। साथ ही विचारक एव ओजस्वी वक्ता भी। यही कारण है कि महाराज श्री का प्रवचन मानव की हृदयतंत्री को झकृत करते हुए उसे ज्ञान के साथ देश व समाजहित की प्रेरणा देता है।

देश की दयनीय अवस्था, चारित्रिक पतन, गोवश का वध व देश की गदी राजनीति ने भी महाराजश्री के हृदय को काफी झकझोरा है। इसी कारण आप मे एक महर्षि के साथ साथ राजश्री के भी दर्शन होते हैं। हमारे देश के सतो-ऋषियों और मुनियो का, जब भी देश पर विपत्ति आई, अन्याय व अत्याचार बढे, उसे निरस्त करने के लिये, समाज का सत्य एव कर्तव्य की प्रेरणा देने के लिये समय समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है। उन्ही मे मरुधरकेसरी भी है, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

●

जैन जगत की विमल विभूति

मदनलाल जैन

परम श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साक्षात् स्नेह की मूर्ति हैं। आपके हृदय मे पवित्र प्रेम का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता है। मायावी ससार के मोह जाल को त्यागकर आपने अपने खिलते यौवन, उभरती जवानी के २५ वें वर्ष मे स्वामीजी श्री बुधमलजी महाराज के चरणो मे पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की। तब से आज जीवन के लम्बे पचास वर्षो तक समाज एव साहित्य की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया एव शिक्षा प्रसार के काय मे सलग्न रहे।

आप युगप्रवर्तक महापुरुष हैं। जैन दर्शन, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पिंगल आदि के ज्ञाता एव अनूठी प्रतिभा के धनी ह। आशुकवित्व जिनके लिये मात्र क्रीडा है। महाभारत जैसा बृहत्काय ग्रन्थ जिनकी कवित्व शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। मरुधरा के कवि समाज ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही आपको आशुकवि की पदवी से विभूषित किया है। आपने राजस्थानी भाषा मे प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया है।

मरुधरकेसरीजी सवजन हितैषी महापुरुष हैं। आपके दिल मे सभी के उत्थान की मगल कामना बनी रहती है। आप एक दीघदृष्टा अनुभवी सत हैं। जिन्होंने सदा ही जीवन मे सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिये समता सत्य और अहिंसा को ही परम आवश्यक बताया है। भगवान महावीर के "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अपने जीवन मे पूर्णरूप से उतारा और उसका घर घर मे प्रचार किया है।

मरुधरकेसरीजी स्थानकवासी जैनसमाज के एक प्रकाश-स्तम्भ हैं। आपने श्रमणसघ के सगठन के लिये भागीरथ प्रयत्न किया और उसे सुदृढ बनाया। समाज की गला घोटने वाली अनेक कुरूढियो के विरुद्ध सिंहनाद किया और शुद्ध धार्मिक भावनाओ का प्रसार किया। और साधारण जनता को सन्मार्ग का दर्शन कराया।

आपने श्रमणसघ की मर्यादा मे रहकर गत पचास वर्षों मे जैन-शासन, जैन-सघ और जैन-सस्कृति की जो महान् सेवा की है वह अनेको साधको के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगी। जैन समाज के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को सर्मर्पित करने वाले कर्मठ सन्त को हार्दिक श्रद्धा एव सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और यह मगल कामना करता ह कि आप दीर्घायु हो। इति।

●

हार्दिक अभिनन्दन

मदनलाल कटेढ ब्यावर

जीवननिर्माण मे सन्तो की सगति और उनके उपदेशो का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० सा० भी एक ऐसे सन्त है जिन्होने अपना सम्पूर्ण बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक भावना एव मानव कल्याण के हेतु समर्पित कर दिया। आपके उपदेशो को श्रवण कर अगणित व्यक्तियो एव परिवारो ने अपना कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषो के सान्निध्य मे रहने का मुझे अवसर मिला है। इस मगल-कामना के साथ कि वे शतायु बन समाज का हित साधन करते रहे, मै अपना हार्दिक अभिनन्दन एव शत शत प्रणाम समर्पित करता हू।

०

मानव हुआ कृतज्ञ

श्री दिनेशचन्द शर्मा,
सोजत उपखडाधीश

अभिमन्यू की वेदना, द्रुपद सुता की भीर,
यशो रसायन मे प्रगट, मानव मन की पीर।
अलकार बहु, छद बहु, बहु उपमा, बहु प्रास,
तारक खचित खगोल सा, यशो रसायन खास।
भाषा की मदाकिनी, श्रेष्ठ भाव अनुरूप,
छद प्रबध विचित्र, कवि मिश्री चद स्वरूप।
सत वाणी, सत आचरण, सत्य भावमर्मज्ञ,
मिश्रीमल महाराज से, मानव हुआ कृतज्ञ।

०

श्रद्धाजलि

माधवप्रसाद जैन

पूज्य श्री मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्थानकवासी जैन समाज मे शासन सेवा का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। आज वयोवृद्ध होने पर भी वे उग्र विहार करते हुए जनता को सत्य और अहिंसा का अमृत पान करा रहे है। आपका उपकार भुलाया नही जा सकता। समाज पर आपकी छत्रछाया चिरकाल तक बनी रहे यही हार्दिक भावना।

०

पहले दोस्त आज गुरुदेव के रूप मे

पारसमल सुराणा, सोजतशहर-मैसूर



मैं और वे (मरुधरकेसरी) बालपणारा दोस्त हाँ। साथ ही पढिया ने खेलिया कूदिया, एक दिन एडो आयो कि वे मने छिटकाय साधुपणो अगीकार कर लियो। जो दोस्त हा गुरुजी बन गया। मने तो या ही बडी खुशी है कि

वे तारण तीरण बन तिर गया ने मैं हाल तक भव-जजाल ही मे भटक रहियो हू । मरुधरकेसरीजी ने हाथ जोड वदना करू हू है । आही मारी छोटी-सी भक्ति भावना भेंट है ।

•

गाढी रुचि और विश्वास

फूलचन्द लूणिया बेंगलौर

पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी म० सा० का परिचय पहले पहल करीब ४२ वर्ष पहले चडावल मे हुआ था । और फिर जब २ भी मेरा मारवाड जाने का अवसर होता कही न कही दर्शन का लाभ मिल ही जाता था । वैसे गुरुदेव श्री बडे ही विद्वान् और व्याख्यान वाचस्पति है । आप मे वह आकर्षण शक्ति है कि कोई भी व किसी भी मजहब वाला क्यो न हो उसको अपने मे मिला ही लेते है । मुझे आपके सिद्धान्तो पर गाढी रुचि और विश्वास है ।

•

तपे-तपाये स्वर्ण

मिश्रीमल कातरेला बेंगलौर

सन्त, अनगार, महाराज, महात्मा ससार के लिये प्रकाश-स्तम्भ हैं । वे जगत् के भूले भटको को प्रकाश देते ही जीये और मरे है । सारा इतिहास इसी सत्य का प्रमाण है । वैसे मुझे सन्तो के सम्पर्क मे आने का बहुत अवसर मिलता है तथा उनके चरणो मे बैठ विश्राम भी लेना ही पडता है ।

मैं मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब के सम्पर्क मे बहुत बार आया हू । आप तपे तपाये स्वर्ण-वत् समाज के जगमगाते अनगार महात्मा हैं । श्रमणसघ सगठन के प्राण एव सच्चे कर्म-धर्मवीर सन्त है ।

•

कामना

राजेन्द्र सुमन, सिगोडी

प्रणाम पूज्य श्री सुसन्त प्रणाम पुण्यधी अनन्त
प्रणाम शत प्रणाम प्रभु ! मुमुक्षु और कर्म हन्त
सत्य ज्ञान-दृष्टि से विवेक यत्न-यष्टि से
सद्धर्म का किया प्रचार साधना की वृष्टि से
इस तरह बता दिया हमे सहज सुपित पन्थ ।
शत्रु-मित्र सब से प्रीत सदा स्वरस आत्म-गीत
पचास वर्ष साधना के आपके गये हैं बीत
आपको खबर नहीं मृत्यु का भी डर नहीं

स-वोध, धन्य धैर्यवन्त चिरायु आपको वरे
आप ऋद्धि-सिद्धिदा रहें हमारे मध्य मे—
'समृद्ध वर्ष यो अनन्त ।"

●

गुरु गुणगान

के० मधराज जैन मयक

"मिश्री गुरु महाराज, तुमको लाखो प्रणाम ।
"रूप" मुनि महाराज, तुमको लाखों प्रणाम ॥टेर॥
नवयौवन मे सयम लीना, पच महाव्रत धारण कीना ।
धवल सुयश है जग मे लीना ॥१॥
शान्ति सुधाके सागर गुरुवर, दयानिधी सबके हो हितकर ।
"मिश्री" मन मोहन मुनिवर ॥२॥
सब जन को उपदेश सुनाते, शाति सुधा का पान कराते ।
मोक्ष मार्ग वतलाते ॥३॥
ज्ञानामृत का जल वरसाते, शुष्क चमन को हरा वनाते ।
जन मन अति हरपाते ॥४॥
महक रही मरुधर फुलवारी, नमन करत है जनता सारी ।
वन्दन है वारम्वार ॥५॥

●

कार्यकुशल कर्मठ सन्त

गेन्दमल देशलहरा, गुडरदेही

महाराज श्री की तपस्या, सयम, उच्च चारित्र, साहित्यिक योग्यता, अपूर्व कवित्वशक्ति, आदि दैवी गुणो ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया है। एक तपोवन सन्त मुनिराज मे जो गुण एव विशेषताएँ होनी चाहियें उन सव के दर्शन आपमे होते हैं। आपका रचित भावपूर्ण कविताएँ पढ कर मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हू। मैं मुनिश्री के प्रति हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

●

जीवन के अनेक पहलू

पारसमल वाफना, ब्यावर

मरुधरकेसरीजी म० का स्थानकवामी श्रमणसघ के प्रतिभा-सम्पन्न मुनिराजो मे नाम लिया जाता है। आपका जीवन प्रारम्भ से ही विकासोन्मुखी रहा है। निरन्तर प्रगति करना, आगे वढते रहना, अपनी साधना मे





प्रमाद न करना ये आपके पावन जीवन के सहज गुण है ।

मारवाड प्रांत मे पूज्य रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय मे अनेक तेजस्वी सतो मे आपका भी उच्च स्थान है । ज्ञानसाधना के बल पर, सत्य बात पर अडिग रहने के कारण, आगम एव शास्त्रो व दर्शन ग्र थो का गम्भीर अध्ययन करने से सत्य बात हो वह अपनी मानना, प्रखर प्रतिभा और स्मरण शक्ति के बल पर, जो पाण्डित्य आपको सरस्वती देवी की कृपा से मिला है, वह वस्तुत सम्मान की वस्तु है ।

आपने अनेक पुस्तके लिखी व मारवाडी भाषा मे कवितामय शैली से जीवन चरित्र लिखे है, तथा 'श्रमण कल्पतरु' का पाट आपके ज्ञान का प्रकाश चमकाता है ।

आपका व्यक्तित्व बडा ही अदभुत एव प्रभावशाली है । जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय मे आगया, वह सदा के लिए आपका अनुरागी बन गया । बातचीत मे आप बडे पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी है । समाज को मार्ग-दर्शन कराना व प्रेरणा देना, समाज की कुरीतियो व कुरूढियो को दूर कराना, हिंसा को बद कराना आदि कारणो से आप लोकप्रिय है ।



क्रातिकारी वीर मरुधरकेसरीजी

मेघराज मेहता

मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भारतप्रसिद्ध जैन साधु है । आपने जैन समाज के उत्थान के लिये विशेष कार्य किया है । राजस्थान मे आपके सैकडो क्षेत्र हैं। हर तीन साल मे आप उन सभी का दौरा करते है । आप हर सम्प्रदाय से मिलजुल कर रहने की भावना मे विश्वास रखते है । स्थानकवासी सम्प्रदाय पर अटूट श्रद्धा होने पर भी सम्प्रदायवादिता उनमे नही है ।

आपकी साहित्यिक सेवाए प्रशसनीय है । आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है और हो रहे हैं । आपके उपदेशो मे सदैव नवीनता रहती है । उम्र मे वृद्ध होते हुए भी आपके विहार और उपदेश जवानो को मात कर देते है । आप देश और समाज के उत्थान मे विश्वास रखते है ।

साधुसम्मेलन के आयोजनो मे आपका विशेष सहयोग रहता है । अजमेर, सादडी, सोजत, भीनासर और द्वितीय (साधुसम्मेलन) अजमेर के सम्मेलनो की सफलता मे आपका विशेष हाथ रहा है । सादडी सम्मेलन और उसके पश्चात् के सम्मेलनो के तो आप प्राण थे । आपने आपसी विरोध को मिटाकर शाति स्थापना के सफल प्रयत्न किये । आपकी विचारधारा समाज के लिये बडी उपयोगी सिद्ध हुई ।

आपकी सदैव यही भावना रहती है कि समाज मे एक ही रीति और नीति हो । इसी भावना के आधार पर समाज मे सगठन कायम रह सकता है । श्रमणसघ के तो आप प्राण है ।

आप स्थानकवासी समाज मे एक विद्वान, क्रातिकारी, मधुर, मिलनसार और व्याख्यानी सत है । आपके व्याख्यानो मे भीड़ जमी रहती है । आपकी आज्ञा मे प्रमुख तीन सत और है । अनेक साध्विया भी आपकी आज्ञा मे है ।

आपके उपदेश से कई शिक्षणसस्थाओ का भी निर्माण हुआ है जैसे लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी, सिरयारी भी गौतम गुरुकुल, सोजत और बिलाडा आदि कई स्थानो मे वाचनालय आदि भी खुले है। सादडी क्षेत्र पर तो आपकी विशेष कृपा है । उम्र होते हुए भी आप समय निकाल कर पधारते है । सादडी, घुन्डारा, राणी, सान्डेराव,

वुसी आदि क्षेत्रो मे आपके उपदेशो का विशेष प्रभाव है।

आप कठिन परिश्रमी है। साचोर (राजस्थान) जैसे दूर क्षेत्र मे जाकर चतुर्मास कर चुके है। आप छोटे छोटे क्षेत्रो मे विहार करना विशेष रूप मे पसन्द करते है।

शासन देव से यही प्रार्थना है कि मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज जैसे महान् क्रातिकारी सत को राष्ट्र और समाज की सेवा करने के लिये विशेष बल प्रदान करे।

०

एक आदर्श महर्षिवर

वैद्य अमरचन्द जैन, बरनाला

मरुधरकेसरी का जीवन क्या है? अहिसा, सत्य, सयम, तप और क्षमा का साक्षात् दिव्य अलौकिक जगमगाता जीवन है। जो जन-जन मे धर्म की निर्मल गगा का स्रोत बहाकर, उनके मानस को पवित्र स्वच्छ बना रहा है।

ऐसा कौनसा व्यक्ति जैन समाज मे होगा जो आपके नाम, तप, त्याग और वैराग्य से परिचित न हो? आप समाज के ही नही भारतवर्ष के इने गिने महर्षियो म से एक है।

आप तप त्याग तथा सद्-ज्ञान की प्रखर ज्योति किरणो से मरुधरा का प्रकाशित कर रहे है। सत्प्रकाश द्वारा आप जीवन के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा कर सभी का सत्-मार्ग के पथिक बना रहे है।

आपके सत्य, सयम और वैराग्यपूर्ण जीवन की सुमधुर सुगन्ध भारत क कण-कण को सुगधित कर सौम्यता और शाति प्रदान कर रही है। ऐसे महानमानव का पथ-प्रदर्शन सुदीर्घ काल तक जन-जन को मिलता रहे।

०

मरुधरकेसरी एक परिचय

कपूरचन्द पितलीया, सादडी



परमपूज्य गुरुदेव कविकुलशिरोमणि मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज जैन जगत् के युगपुरुष है। आपने "दोरो जैनधर्म को मार्ग वहणो है खाडे की धार" को समझते हुए समग्र आधिभौतिक सवेदनाओ को तिलाजलि देकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली दीक्षा का स्वीकार किया। आप अपने जीवनपथ को ज्ञान दर्शन की ओर निरतर अग्रसर करते आरहे हैं।

निरन्तर भ्रमणशील रहते हुए भी आप अध्ययन को अपना जीवनसाथी मानते है। आप इस वृद्ध अवस्था मे भी प्रत्येक क्षण का उपयोग विद्या के चिन्तन मे सतत करते रहते है। दर्शनार्थ आने वाले श्रावक-श्राविकाओ को अपने वचनामृत से सतुष्ट कर शेष समय अध्ययन तथा साहित्यनिर्माण मे लगाते है। आप प्रारभ से ही दृढ निश्चयी रहे हैं, तथा प्रारभ किये हुये कार्य को पूर्ण करने को कठिन श्रम भी करते रहे हैं। चाहे उसमे कितनी ही कठिनाइया उपस्थित हो परन्तु समस्त बाधाओ को पारकर समाज के हित को ही लक्ष्य मे रखते हुए आपका सदा आर्शीवाद एव सहयोग बना रहता है। आपका महान् मत्र "तिन्नाण तारियाण" आज लोकप्रिय है।

प्रमाद न करना — ये आपके पावन जीवन के सहज गुण हैं।

मारवाड प्रांत मे पूज्य रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय मे अनेक तेजस्वी सतो में आपका भी उच्च स्थान है। ज्ञानसाधना के बल पर, सत्य बात पर अडिग रहने के कारण, आगम एव शास्त्रो व दर्शन ग्र थो का गम्भीर अध्ययन करने से सत्य बात हो वह अपनी मानना, प्रखर प्रतिभा और स्मरण शक्ति के बल पर, जो पाण्डित्य आपको सरस्वती देवी की कृपा से मिला है, वह वस्तुत सम्मान की वस्तु है।

आपने अनेक पुस्तकें लिखी व मारवाडी भाषा मे कवितामय शैली से जीवन चरित्र लिखे है, तथा 'श्रमण कल्पतरु' का चार्ट आपके ज्ञान का प्रकाश चमकाता है।

आपका व्यक्तित्व बडा ही अद्भुत एव प्रभावशाली है। जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय मे आगया, वह सदा के लिए आपका अनुयायी बन गया। बातचीत मे आप बडे पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी है। समाज को मार्ग-दर्शन कराना व प्रेरणा देना, समाज की कुरीतियो व कुरूढियो को दूर कराना, हिंसा को बद कराना आदि कारणो से आप लोकप्रिय हैं।



क्रातिकारी वीर मरुधरकेसरीजी

मेघराज मेहता

मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भारतप्रसिद्ध जैन साधु हैं। आपने जैन समाज के उत्थान के लिये विशेष कार्य किया है। राजस्थान मे आपके सैकडो क्षेत्र हैं। हर तीन साल मे आप उन सभी का दौरा करते हैं। आप हर सम्प्रदाय से मिलजुल कर रहने की भावना मे विश्वास रखते हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय पर अटूट श्रद्धा होने पर भी सम्प्रदायवादिता उनमे नही है।

आपकी साहित्यिक सेवाए प्रशसनीय है। आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है और हो रहे हैं। आपके उपदेशो मे सदैव नवीनता रहती है। उम्र मे वृद्ध होते हुए भी आपके विहार और उपदेश जवानो को मात कर देते है। आप देश और समाज के उत्थान मे विश्वास रखते है।

साधुसम्मेलन के आयोजनो मे आपका विशेष सहयोग रहता है। अजमेर, सादडी, सोजत, भीनासर और द्वितीय (साधुसम्मेलन) अजमेर के सम्मेलना की सफलता मे आपका विशेष हाथ रहा है। सादडी सम्मेलन और उसके पश्चात् के सम्मेलनो के तो आप प्राण थे। आपने आपसी विरोध को मिटाकर शाति स्थापना के सफल प्रयत्न किये। आपकी विचारधारा समाज के लिये बडी उपयोगी सिद्ध हुई।

आपकी सदैव यही भावना रहती है कि समाज मे एक ही रीति और नीति हो। इसी भावना के आधार पर समाज मे सगठन कायम रह सकता है। श्रमणसघ के तो आप प्राण है।

आप स्थानकवासी समाज मे एक विद्वान, क्रातिकारी, सुमधुर, मिलनसार और व्याख्यानी सत हैं। आपके व्याख्यानो मे बडी धूम रहती है। आपकी आज्ञा मे प्रमुख तीन सत और है। अनेक साध्वियाँ भी आपकी आज्ञा मे हैं।

आपके उपदेश से कई शिक्षणसस्थाओ का भी निर्माण हुआ है जैसे भामाशाह जैन गुरुकुल सादडी, सिरयारी श्री गौतम गुरुकुल, सोजत और बिलाडा आदि कई क्षेत्रो मे वाचनालय आदि भी खुले है। सादडी क्षेत्र पर तो आपकी विशेष कृपा है। व्यस्त होते हुए भी आप समय निकाल कर पधारते है। सादडी, मुन्डारा, बाली, सान्डेराव,

वुसी आदि क्षेत्रो मे आपके उपदेशो का विशेप प्रभाव है।

आप कठिन परिश्रमी है। नाचोर (राजस्थान) जैमे दूर क्षेत्र मे जाकर चतुर्मास कर चुके है। आप छोटे छोटे क्षेत्रो मे विहार करना विशेप रूप से पसन्द करते है।

शासन देव से यही प्रार्थना है कि मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज जैसे महान् क्रातिकारी सन को राष्ट्र और समाज की सेवा करने के लिये विशेप वल प्रदान करें।

o

एक आदर्श महर्षिवर

वैद्य अमरचन्द जैन, वरनाला

मरुधरकेसरी का जीवन क्या है? अहिंसा, सत्य, सयम, तप और क्षमा का साक्षात् दिव्य अलौकिक जगमगाता जीवन है। जो जन-जन मे धर्म की निर्मल गगा का स्रोत वहाकर, उनके मानस को पवित्र स्वच्छ वना रहा है।

ऐसा कौनसा व्यक्ति जैन समाज मे होगा जो आपके नाम, तप, त्याग और वैराग्य से परिचित न हो? आप समाज के ही नही भारतवर्ष के इने गिने महर्पियो म मे एक है।

आप तप त्याग तथा सद्-ज्ञान की प्रखर ज्योति किरणो से मरुधरा का प्रकाशित कर रहे है। सत्प्रकाश द्वारा आप जीवन के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा कर सभी को सत्-मार्ग के पथिक वना रहे हैं।

आपके सत्य, सयम और वैराग्यपूर्ण जीवन की सुमधुर सुगन्ध भारत के कण-कण को सुगधित कर सौम्यता और शाति प्रदान कर रही है। ऐसे महानमानव का पथ-प्रदर्शन सुदीर्घ काल तक जन-जन को मिलता रहे।

o

मरुधरकेसरी एक परिचय

कपूरचन्द पितलीया, सादडी



परमपूज्य गुरुदेव कविकुलशिरोमणि मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज जैन जगत् के युगपुरुप है। आपने "दोरी जैनधर्म को मार्ग वहणो है खाडे की धार" को समझते हुए समग्र आधिभौतिक सवेदनाओ को तिलाजलि देकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली दीक्षा को स्वीकार किया। आप अपने जीवनपथ को ज्ञान दर्शन की ओर निरतर अग्रसर करते आरहे हैं।

निरन्तर भ्रमणशील रहते हुए भी आप अध्ययन को अपना जीवनसाथी मानते है। आप इस वृद्ध अवस्था मे भी प्रत्येक क्षण का उपयोग विद्या के चिन्तन मे सतत करते रहते है। दर्शनार्थ आने वाले श्रावक-श्राविकाओ को अपने वचनामृत से सतुष्ट कर शेप समय अध्ययन तथा साहित्यनिर्माण मे लगाते है। आप प्रारभ से ही दृढ निश्चयी रहे हैं, तथा प्रारभ किये हुये कार्य को पूर्ण करने को कठिन श्रम भी करते रहे हैं। चाहे उसमे कितनी ही कठिनाइया उपस्थित हो परन्तु समस्त वाधाओ को पारकर समाज के हित को ही लक्ष्य मे रखते हुए आपका सदा आर्शीवाद एव सहयोग वना रहता है। आपका महान् मत्र "तिन्नाण तारियाण" आज लोकप्रिय है।

आप लोकहित के लिये भ्रमण करते हुए अपनी ज्ञानसाधना से सासारिक सुख मे लिप्त व किंकर्तव्य-विमूढ मानवो का अपने वचनामृत से अज्ञान दूर कर सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करते है। आपके व्याख्यान सर्वदा समाज-वाद की प्रेरणा देते है। आप इस समय म अत्यन्त विस्तृत भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी आदि का निरतर वहिष्कार करते ह। इसके लिये आप प्रारम्भ से ही शुद्ध खद्दर के वस्त्रो को धारण कर अपने तपस्वी जीवन को सच्चे कर्मयोगी की तरह यापन कर रहे हैं। आप विश्व मे शान्ति के सदा पुजारी रहे हैं परन्तु सर्वदा शान्ति की प्राप्ति वीरता मे करने मे विश्वास रखते है।

आप नियमो का पालन साग्रह करते हैं। जैन शब्द का निर्माण 'इन्द्रियजय' से हुआ है जिसके कि यम-नियम मूर्तिमन्त उदाहरण है। सतत चिन्तन अध्ययन लेखन आदि विषयो मे इतने व्यस्त रहते हुए भी सगठन में आप पूर्ण विश्वास रखते है। सगठन मे दरार होना आपको कतई अभीष्ट नही तथा सगठन हेतु आप महान् से महान् त्याग करने का भी सतत तत्पर रहते है।

आपकी शारीरिक सुषमा तप के तेज से सतत दीप्त रहती है। इतना होते हुए भी आपका जीवन त्याग तपस्या एव सरलता-सादगी की साक्षात् प्रतिकृति है।

हम सर्वदा से अनुभव करते आये है कि आपका अमूल्य उपदेश मानव के समस्त दुर्गुणो को दूर करने वाला महौषधिवत् काय कर रहा है क्योकि प्रवचन मे सदा समभाव, सहिष्णुता और विश्वमैत्री की त्रिवेणी प्रवाहित होती हैं। विश्वशान्ति की साकार कल्पना की अनुभूति आपके वचनो मे मानव प्राप्त करता है।

●

श्री मिश्रीमलजी म० सा० के प्रति मेरी अभिव्यक्ति

जगदीशकुमार वैष्णव, सादडी

मेरे दृष्टिकोण से श्री मिश्रीमलजी महाराज हमारे मारवाड प्रदेश के अवतारी है। आप अनेक सद्गुणो की खान ह जिनका सपूर्ण वर्णन मेरी यह लेखनी सैकडो वर्षों मे भी नही कर सकती, किन्तु "अकरणात् मदकरण श्रेय" तथा वास्तव मे "महापुरुषो के कुछ गुणवर्णन भी अपने आपको पवित्र करने वाले होते है" की उक्ति अनुसार यथा-सामर्थ्य कुछ लिखना अपना कर्तव्य समझता हू।

इस वैज्ञानिक चकाचौंध के समय जबकि सब प्रकार के आनन्द के साधन मानव मात्र के इन्द्रिय सुखो को प्रदर्शित कर रहे है, उस समय समस्त आकाक्षाओं को रोककर अपने आपको जैनसाधु के रूप मे दीक्षित कर प्रतिवर्ष हजारो मील की पैदल यात्रा करते हुए तथा छोटे-बडे नगरो मे रहने वाले अज्ञान मे लिप्त हमारे आबालवृद्ध मानवो को अपने त्यागमय सादगी के जीवन के सारभूत अमृतमय उपदेशो का आप दान करते रहते हैं। आपने कई पथभ्रष्ट तथा विलुठित व्यक्तियो का केवल मात्र दर्शन देकर या साधारण उपदेश से भी इतना प्रभावित किया कि अपने समस्त जीवन के संचित दुर्गुणो को क्षण मात्र मे ही त्यागने को उद्यत हो गये। यह मैं तो आपकी सच्ची तपस्या का ही वरदान समझता हू। आपके एक बार दर्शन करने वाले व्यक्ति की सदा यही लालसा बनी रहती है कि वह आपका सान्निध्य सदासर्वदा बनाये रखे। आपने भी स्वाभाविकतया सबको सँभालते रहना अपना कर्मक्षेत्र बना रखा है जो कि हम सासारिक मानवो पर उपकार करने हेतु है।

●

मेरे हृदय मे मरुधरकेसरीजी महाराज का स्थान

कन्हैयालाल सेठ, सादडी

मरुधरकेसरीजी जैनधर्म का आलोकप्रसारण करने के लिए इस मोहमयी विश्वनगरी मे सूर्य के समान कार्य करते जा रहे है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अति प्रखर होते हुए भी प्राणीमात्र के जीवन की स्थिति को बनाये रखने के लिये अत्यत आवश्यकीय होता है तदनुरूप ही मरुधरमुनि के प्रवचन बाहर से दीखन पर कठोर होते हुए भी इहलोक परलोक के लिये श्रेयस्कर होते हैं। आपकी उक्तिचातुर्य के सामने अच्छे से अच्छे साहित्यिक भी द्रवीभूत हो जाते हैं। आप जैनधर्म के गूढ रहस्यो को जनसाधारण के मानस मे तथा अनिविचारवान् व्यक्तियो के लिये भी समभाव से मारवाडी भाषा मे सरल बनाकर समझाने का सतत प्रयत्न करते आरहे हैं। आपने देश विदेश मे जैनतत्व के प्रचार का बहुत बडा कार्य किया है।

आपका हृदय दुखी पीडित एव आर्त जनो के प्रति फूल से भी कोमल है, जबकि आप नियम पालन करने मे वज्र से कठोर है। आपके दर्शन या प्रवचन सुन लेने के बाद कोई भी व्यक्ति आपसे प्रभावित होकर आकर्षित नही हो सकता हो, ऐसा प्रतीत नही होता। प्राय यही देखा गया है कि आपके उपदेशामृत का सुनने वाला व्यक्ति अपने जीवन मे उन बातो को प्रायोगिकरूप मे उतारने का प्रयत्न करता ही है। यह मै आपकी तपस्या का ही ज्वलन्त प्रभाव मानता हू।

ढाई हजार वर्ष पूर्व या प्राचीन काल मे जिस प्रकार स्वामी महावीर या लोकाशाह ने जैनधर्म की प्रक्रियाओ का अपने जीवन मे उतार कर उनकी शाश्वतसिद्धियो को प्राणी मात्र को दिया ठीक उसी प्रकार आज हमारे सामने कालपरपरा से तिरोहित जैनधर्म का पुन निदर्शन कराने हेतु आप महापुरुष का जीवन हमारे सम्मुख है। आप निरतर भ्रमण करते हुए जैनधर्म के ध्वज का, तथा उनके वाक्यो और सूत्रों का आलोक प्रसारित कर रहे है। मैं तो यहा तक भी कहने का साहस कर सकता हू कि इस विचित्र परिवर्तित समय मे जैनधर्म के अस्तित्व को रखने के लिये आपने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया है। आप प्राणपण से इसी चेष्टा मे लगे रहते हैं कि विश्वशान्ति के लिये धर्म की आराधना तथा उसके नियमो का पालन येन केन रूप मे बनता रहे।

●

विनम्र अभिव्यक्ति

मागीलाल भडारी अधिष्ठाता,
सादडी गुरुकुल



पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज से भारतवर्ष का स्थानकवासी समाज बहुत अच्छी तरह परिचित है। स्थानकवासी जैन समाज ही क्या, समस्त भारतवर्ष के जैन समाज तथा मारवाड प्रान्त के जैनेतर समाज पर भी आपके प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, वैराग्य और चारित्र आदि का अमिट प्रभाव है। आपके ओजस्वी सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणो से परिपूर्ण अमृतमय व्याख्यानो से एव काव्यरस से परिपूर्ण कविताओ के कारण जैन व जैनेतर समाज के आबालवृद्ध नर-नारी प्रभावित है।

आपका जीवन फूल से भी अधिक कोमल एव वज्र से भी अधिक कठोर है। ऐसा समिश्रण इनीगिनी लोकोत्तर विभूतियो मे ही प्राप्त होता है। जब भी आपके समक्ष कोई अनाथ असहाय दीन छात्रवृत्ति का इच्छुक ब्रह्मचारी व दुखी रोगग्रस्त आ जाता है और अपने दुख से मुक्त होने की प्रार्थना करता है तब आप उसे सच्चे दिल से सान्त्वना देते हैं जिससे कि उसे तत्क्षण शाति प्राप्त हो जाती है। वह अपने दुख को विस्मरण कर देता है।



आप अनुशासन और सगठन के भी पूर्ण हिमायती हैं। इन दोनों के बिना समाज का अस्तित्व खतरे से खाली नहीं है। इसी कारण से आपकी कृपा से श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी के भव्य विशाल प्रांगण मे अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन साधु सम्मेलन सफलीभूत हुआ उसी समय करीब ३०० सत सती और पचास हजार श्रावक-श्राविकाए आबालवृद्ध नर-नारी समुपस्थित थे। इनको एक सूत्र मे पिरोने, सम्प्रदायवाद को समाप्त करने, आचार्य पदवी को सघहितार्थ समर्पित करवाने मे आपका अथक परिश्रम, अनुपम त्याग, मधुर व्यवहार सयमनिष्ठ जीवन और सब सत-सतियो को स्नेहपूर्वक समझाना ही अधिक काम आया है। इस वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ व श्रावक सघ को समस्त भारतवर्ष मे स्थापित करवाने मे प्रमुख भाग आप श्री ही ने लिया है। इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जावे उतना ही कम है। जब कभी श्रमणसघ की कठिन समस्या मुनिराजो के सामने आ पड़ती है तब उस कठिनाई के समय आप द्वारा सहज सरल शान्ति का मार्ग प्रदर्शन कर दिया जाता है। यह आपकी अपूर्व सूझबूझ का सफल परिचायक है। इसी कारण से प्रमुख मुनिवृन्द समय-समय पर सघहितार्थ आपकी सम्मति की प्रतीक्षा किया करते हैं। आप जैन समाज को सुसस्कृत एव सुशिक्षित देखना चाहते हैं। आपकी मान्यता है कि साधुवर्ग और सतीवर्ग चाहे कितना भी सयमनिष्ठ चरित्रनिष्ठ क्रियावद क्यो न हो यदि उसके अनुयायी सच्चे सुसस्कृत सुसभ्य विनीत न हो तो उनका सयमी जीवन अधिक दिन तक सुरक्षित रहना असभव तो नहीं मगर दुष्कर अवश्य होगा। हमारी जैन समाज के बालक व बालिकाए अधिक से अधिक मात्रा मे सुशिक्षित होवें, धर्माध्ययन करें, विनीत बनें, जैन धर्म की विशालता को अपनावें, यह पूज्य गुरुदेव की हृदय मे तमन्ना रहती है। इसी कारण आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर कई सस्थाए स्थापित हुई।

स्व० प्रधानमत्री श्री नेहरू का यह नारा कि आराम हराम है, आपने कई वर्षों से अपने जीवन मे कार्यान्वित कर रखा है। आप एक क्षण भी व्यर्थ नही जाने देना चाहते हैं। हर समय कुछ न कुछ जनसमाज के हितार्थ विचारा करते हैं या कविता या लेख के रूप मे लिखते रहते हैं। आपके अनमोल वचन गद्य, पद्य, कहानिया, कविता आदि के रूप मे प्रस्फुरित हुए हैं। इनका प्रकाशन भी पूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजत सिटी ने और बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल जोधपुर ने करवाया है। जब आप विक्रमादित्यचरित्र, रामायण, महाभारत आदि रचनाओ को सुनाने बैठते है तो श्रोतागणो का हृदय ऐसा हो जाता है कि हम हर समय पढा करें और सुना करे तो अच्छा हो। इनको पढे बिना या सुने बिना कही भी जाने की इच्छा नही होती है। सच्चे और सुयोग्य वक्ता लेखक कवि की असली पहचान भी तो यही है कि श्रोतागण या पाठकगण उसकी रचना को पढ या सुनकर अधिक से अधिक पढने सुनने को आतुर हो उठें।

पूज्य गुरुदेव को अपने मिशन मे सहयोग देने हेतु विद्या-विनोदी उपप्रवर्तक श्री रूपचन्दजी म०, शातस्वभाव सेवाभावी श्री महेन्द्र मुनिजी म० विद्यार्थी श्रीसुकन मुनिजी म० जैसे शिष्यरत्न प्राप्त हुए हैं जो आपको प्रतिदिन प्रतिक्षण सहयोग देते रहते हैं और आपके आदर्श जीवन को अपने जीवन मे उतारने के लिये सदैव सचेष्ट रहते हैं। पूज्य गुरुजनो की सेवा-सुश्रूषा करते हुए ये शिष्यगण अतीव आनन्दानुभव करते है।

पूज्य गुरुदेव इस मरुधरधरा के केसरी हैं। आपका विहार प्राय इस मारवाड की धरा मे हुआ है। जिस भाति सिंहगर्जना को सुनकर सियाल, लोमडी, हाथी, व्याघ्र आदि प्राणी रफूचक्कर हो जाते हैं इसी भाति आपकी सम्यग्-ज्ञानदर्शन से युक्त जिनवाणी की सिंहगर्जना को सुनकर मिथ्यात्व, अज्ञान, हिंसा, झूठ, चोरी, दम्भ, जडपूजा, निर्दयता आदि तमोगुण भाग जाते हैं। जिस भाति तिमिर सूर्य के उदित होते ही स्वत समाप्त हो जाता है तद्वत् मिथ्यात्वी देवी-देवताओ की उपासना, अज्ञानान्धकार, अनुकम्पारहित भावना स्वत जहा जहा आपका पदार्पण हो जाता है वहा से समाप्त हो जाते हैं।

०

गुण गान

गिरधरात्मज सवाईराम शर्मा, सोजत

(तर्ज — घनश्याम तेरी वशी हमको भी सुना देना)

बुद्धमल गुरु के शिष्यवर, मरुधर के केशरी हो ,
रघुनाथ सम्प्रदाय मे, मुनिवीर केशरी हो ॥ टेर ॥
मन्त्री मुनि श्री मिश्रीमल क्यो न केशरी हो ,
अवतार शाह कुल मे, श्री सघ केसरी हो ॥ १ ॥
सयम ले सिद्ध पद पे, अधिकार यू जमाया ,
त्यागी हो वीतरागी, जिनवीर केशरी हो ॥ २ ॥
गुरु वाल ब्रह्मचारी, वसु कर्म को विडारे ,
सिद्ध अष्ट गुन को धारे, बलवान केशरी हो ॥ ३ ॥
सिद्धान्त सूत्र ज्ञाता, उद्देश के हैं दाता ।
भवि जीव तत्त्व बोधक, गुनवान केशरी हो ॥ ४ ॥
उपकार भी अनेको करते, सदा विचर के ।
सत शील ज्ञान जप तप, तप-तेज केशरी हो ॥ ५ ॥
धरते चरण जे भूमि, होती पवित्र धन धन ।
बलिहार इन चरण पे, मम ध्यान केशरी हो ॥ ६ ॥
दयानिधि दिवाकर गुन हैं अनन्त धारे ।
अनुचर सुकवि सवाई, कवि किरत केशरी हो ॥ ७ ॥

•

श्रद्धेय मरुधरकेसरी, काव्य-काननकेसरी के चरणो में

अम्बादान भट्ट, 'अम्ब' कुण्डाया (राज०)

दोहा — जयजिनेन्द्र भवदुखहरण, मगलकरण महान ।
चारुवरण-तारनतरण, असरण सरण निधान ॥

मत्तगयन्द—जो करुनानिधि राज निरन्तर, जाहिर जाकी विभूति भलाई ।
देवतरु सम "कामद-अम्ब" अघासुर हेतु हु यादवराई ॥
सशय-लक विध्वसक मारुति, ज्ञाननिधान सुव्यास जुन्हाई ।
"मिश्री मुनीश्वर" सो कविराज, हरे मम मानस की जडताई ॥

•





मरुधरकेसरीजी म० के चरणो मे श्रद्धासुमन

हरिसिंह बारहट, जोधपुर

महिमा "मिश्री" मुनीश की, पृथ्वी माहि प्रसिद्ध ।
सेवा सधिया सापरत, शीघ्र कार्य व्हे सिद्ध ।।
पारस-कहै सारा पुरुष देख्या आपन दोय ।
ए "मिश्रीमुनि" है अठे, जन लीजो मह जोय ।।
लोह दूर मेलो परो, मूरख लोह समान ।
पर मिश्री मुनि के परस, हाटक होतु महान ।।
है जु पख हमायुमी, मिश्री जग-महान ।
झकलेत जन दिश जरा, हुवे रकताहान ।।१।।
ज्ञान मतवालो-आलो वालो जिनराय हू को,
जैन उजवालो तेज-सविता समान है ।
वर बुद्धिवालो वर सत्य-व्रत वालो सदा,
शीत प्यालो पीन वालो सर्वगुणखान है ।।
भाषण भान वालो दुनिया को टालो दुख,
धर्म-ध्यान वालो झण्डो रोप्यो महान है ।
भगती को भालो-चमकानवालो चहु दिश—
"मिश्री" निरालो मुनि सयमी सुजान है ।।
तुम केसरी देश-मरुस्थल के, अघनासन तेज गिरा उनी है ।
किरणा नित ज्ञान हू की प्रगटा, धम-ध्यान झलान रखे धुनी हैं ।।
सतवन्त रटे अरिहन्त सदा, कर दर्शन होत खुशी दुनी है ।
मुनिऔर विभाकर से भव मे सुदिवाकर जैन "मिश्री" मुनि है ।।
घर अम्बर श्वेत भये यश से, रसभाषण हूत प्रजा मई हैं ।
उमडे नित ज्ञानघटाअत ही, दशहू दिश माहि छटा छई है ।।
अघ दीन दरा घट ज्ञान थटा, सुध श्रावक लोग भये सइ हैं ।
सुख सान्ति सदैव "हरिसिंहरे" मुनि मिश्रीकृपा से वणी रही है ।।

•

केसरी हमारे है

मोहब्बतसिंह राठोर, मोवतेश'
सिविल एण्ड ए० शेसन्स जज, जोधपुर

मीठे मीठे बैन वारे धर्मज्ञान देन हारे,
शुभचित्त चैन वारे दया उर धारे हैं ।
कहे 'मोवतेश' अहो, भालहू विशाल वारे,
सार सार शास्त्रन को, मिश्री सारे हैं ।
जैन मुनि कवि महा करत कविता बहु,
सिंहनाद सम कई ग्रथ रच डारे हैं ।
औगुन हरन वारे, तप के करन वारे,
धर्म के धरन हारे, 'केसरी' हमारे है ।

•

हमारे आराध्य

मोहनकुमार पूनमिया, साहित्यरत्न

हमारे आराध्य, श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव, मरुधरकेसरी, पडितरत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज साधुत्व के लक्षणो मे पूर्ण तथा सपुष्ट हैं। यथार्थ मे मरुधर के केसरी ही हैं। निर्भीक हैं। शेर के सदृश गर्जक है, जिनकी दहाड से मरुधर ही क्या समस्त समाज थर्राता है। उनकी भाषा मे ओज है, उनके मानस मे स्वाभिमान है, व्यवहार मे अपनापन है। मानस स्थिर है। विचार स्थिर हैं जो अपने आप मे स्पष्ट हैं। सत्यवक्ता हैं। निष्कपट हैं। सरल हैं। केवल क्रियाकाण्डी ही नही हैं, जैसा अन्तर हैं वैसा बाह्य है। अन्तमन व बहिर्मन मे एकरूपता है। बनावट उनमे कोसो दूर है। धूर्तता उनमे रच मात्र नही है।

पडितरत्न हैं। शीघ्र कवि (आशुकवि) हैं। अजोड स्मरण-शक्तिमान् हैं। ज्ञान पुज है। प्रकाश पुंज हैं। नेत्ररुग्ण होते हुए भी साहित्यसाधक हैं। वृद्धावस्था होते हुए भी अविचल विहारी हैं। शान्तदान्त हैं, वक्ता हैं, गायक हैं, कार्यकर्त्ता हैं, नेता हैं। नेतृत्व की क्षमतावान् हैं। पद-प्रतिष्ठा का उन्हे मान है।

वे दीन दुखी के प्रति कृपालु हैं, साथ ही आत्मनिष्ठ भी हैं, सामाजिक भी है और राष्ट्रवादी भी हैं। पुरातन और नवीनतम युग की सधि-कडी हैं। वृद्ध भी हैं, युवक भी हैं, धार्मिक जनो के हृदयसम्राट हैं। सबके अपने हैं। पराये तो किसी के हैं ही नही। ऐसे अनूठे व्यक्तित्व के धनी गुरुदेव का शत-शत अभिनन्दन।

•

श्रमणसघ के केसरी

अमरचन्द मोदी

भारतीय सस्कृति व्यक्तिपूजा मे नही, गुणपूजा मे विश्वास करती है। सन्त भारतीय सस्कृति के प्राण हैं। सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। उनके दर्शन और प्रेरणा से जीवन पावन हो जाता है। भारतीय सस्कृति मे 'सन्त' विचारो का केन्द्र माना जाता है। भारत की पुण्यभूमि मे समय-समय पर सन्त पुरुषो के आगमन ने यहा की मिट्टी और हवा मे अपने जीवन से, अपने उज्ज्वल कर्म मे और अपनी वाणी से जो सस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग-तपस्या और ज्ञान के रूप मे अकुरित हैं। सन्त जीवन भारतीय सस्कृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्थानकवासी समाज के युग पुरुषो की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है।

पूज्य मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी जैन समाज के एक अनमोल रत्न है जिन्होने समाज के लिये अगणित महान् कार्य किये हैं। सघ ऐक्य के लिये आप हमेशा अग्रणी रहते हैं। आप प्रकाश-स्तभ की तरह विषयान्धकार मे भूले-भटके जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। श्रमण सघ के निर्माण मे आपका अत्यधिक योगदान रहा। आप श्रमणसघ के 'केसरी' हैं।



•



मरुधरकेसरीजी म० के चरणो मे श्रद्धासुमन

हरिसिंह वारहट, जोधपुर

महिमा "मिश्री" मुनीश की, पृथ्वी माहि प्रसिद्ध ।
सेवा सधिया सापरत, शीघ्र काय व्है सिद्ध ।।
पारस-कहै सारा पुरुष देख्या आगम टोय ।
ए "मिश्रीमुनि" है अठे, जन लीजो सह जोय ।।
लोह दूर मेलो परो, सूरत लोह समान ।
पर मिश्री मुनि के परस, हाटक होतु महान ।।
है जु परस हमायुगी, मिश्री अग-महान ।
झकलेत जन दिश जरा हुवे रुकताहान ।।१।।
ज्ञान मतवालो-आला वालो जिनराय हू को,
जैन उजवालो तेज-सविता समान है ।
वर बुद्धिवालो वर सत्य-व्रत वालो सदा,
शीत प्यालो पीन वालो सवगुणखान है ।।
भाषण भान वालो दुनिया को टालो दुख,
धर्म-ध्यान वालो झण्डो रोप्यो महान है ।
भगती को भालो-चमकानवालो चहु दिश–
"मिश्री" निरालो मुनि सधमी सुजान हे ।।
तुम केसरी देश-मरुस्थल के, अघनासन तेज गिरा उनी हे ।
किरणा नित ज्ञान हु की प्रगटा, धर्मध्यान झलान रखे धुनी हैं ।।
सतवन्त रटे अरिहन्त सदा, कर दर्शन होत सुखी दुनी हे ।
मुनि और विभाकर से भव मे सुदिवाकर जेन "मिश्री" मुनि है ।।
धर अम्बर श्वेत भये यश से, रसभाषण हूत पजा भई हैं ।
उमडे नित ज्ञानघटाअत ही, दशहू दिश माहि छटा छई है ।।
अघ दीन दरा घट ज्ञान थटा, सुध श्रावक लोग भये सइ हैं ।
सुख सान्ति सदैव "हरिसिंहरे" मुनि मिश्रीकृपा से बणी रही है ।।

●

केसरी हमारे है

मोहब्बतसिंह राठोर, मोबतेश'
सिविल एण्ड ए० शेसन्स जज, जोधपुर

मीठे मीठे बैन वारे धर्मज्ञान देन हारे,
शुभचित्त चैन वारे दया उर धारे हैं ।
कहे 'मोबतेश' अहो, भालहू विशाल वारे,
सार सार शास्त्रन को, मिश्री सारे हैं ।
जैन मुनि कवि महा करत कविता बहु,
सिंहनाद सम कई, ग्रथ रच डारे हैं ।
औगुन हरन वारे, तप के करन वारे,
धर्म के धरन हारे, 'केसरी' हमारे हैं ।

●

हमारे आराध्य

मोहनकुमार पूनमिया, साहित्यरत्न

हमारे आराध्य, श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव, मरुधरकेसरी, पडितरत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज साधुत्व के लक्षणो मे पूर्ण तथा सपुष्ट है। यथार्थ मे मरुधर के केसरी ही हैं। निर्भीक हैं। शेर के सदृश गर्जक हैं, जिनकी दहाड से मरुधर ही क्या समस्त समाज थर्राता है। उनकी भाषा मे ओज है, उनके मानस मे स्वाभिमान है, व्यवहार मे अपनापन है। मानस स्थिर है। विचार स्थिर हैं जो अपने आप मे स्पष्ट हैं। सत्यवक्ता है। निष्कपट है। सरल है। केवल क्रियाकाण्डी ही नही हैं, जैसा अन्तर है वैसा बाह्य है। अन्तर्मन व बहिर्मन मे एकरूपता है। बनावट उनमे कोसो दूर है। धूर्तता उनमे रच मात्र नही है।

पडितरत्न हैं। शीघ्र कवि (आशुकवि) हैं। अजोड स्मरण-शक्तिमान् है। ज्ञान पुज हैं। प्रकाश पुंज है। नेत्ररुग्ण होते हुए भी साहित्यसाधक हैं। वृद्धावस्था होने हुए भी अविचल विहारी हैं। शान्तदान्त है, वक्ता है, गायक हैं, कार्यकर्ता हैं, नेता है। नेतृत्व का क्षमतावान् है। पद-प्रतिष्ठा का उन्हे मान है।

वे दीन दुखी के प्रति कृपालु हैं, साथ ही आत्मनिष्ठ भी हैं, सामाजिक भी है और राष्ट्रवादी भी हैं। पुरातन और नवीनतम युग की सधि-कडी हैं। वृद्ध भी हैं, युवक भी है, धार्मिक जनो के हृदयसम्राट है। सबके अपने है। पराये तो किसी के हैं ही नही। ऐसे अनूठे व्यक्तित्व के धनी गुरुदेव का शत-शत अभिनन्दन।

●

श्रमणसघ के केसरी

अमरचन्द मोदी

भारतीय सस्कृति व्यक्तिपूजा मे नही, गुणपूजा मे विश्वास करती है। सन्त भारतीय सस्कृति के प्राण हैं। सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। उनके दर्शन और प्रेरणा से जीवन पावन हो जाता है। भारतीय सस्कृति मे 'सन्त' विचारो का केन्द्र माना जाता है। भारत की पुण्यभूमि मे समय-समय पर सन्त पुरुषो के आगमन ने यहा की मिट्टी और हवा मे अपने जीवन मे, अपने उज्ज्वल कर्म मे और अपनी वाणी से जो सस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग-तपस्या और ज्ञान के रूप मे अकुरित हैं। सन्त जीवन भारतीय सस्कृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्थानकवासी समाज के युग पुरुषो की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है।

पूज्य मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी जैन समाज के एक अनमोल रत्न हैं जिन्होने समाज के लिये अगणित महान् कार्य किये है। सघ ऐक्य के लिये आप हमेशा अग्रणी रहते हैं। आप प्रकाश-स्तभ की तरह विषयान्धकार मे भूले-भटके जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। श्रमण सघ के निर्माण मे आपका अत्यधिक योगदान रहा। आप श्रमणसघ के 'केसरी' हैं।



●



पेखो मुनि मिश्री प्रभा

प० बालाराम 'बाल' जोधपुर

सोरठा

सद्गुरु ने सो वार, करू नमन कर जोर ने ।
जिण निज विरद विचार, वर्ण बोध दोनो विमल ॥१॥

अनुपम ओ उपकार, सद्गुरुरो स्वीकार कर ।
सुगुन लिखू श्रीकार मिश्री मुनि रा मोदसू ॥२॥

धरकर उर मे ध्यान, आदिनाथ अरिहन्तरो ।
कायारो कल्यान, करते मरुधर—केशरी ॥३॥

सिद्धा ने सो वार, शीस नमावे स्नेहसू ।
उर ज्यारो उपकार, माने मिश्री मुनि महा ॥४॥

अति उत्तम उपकार, उर मे धर आचार्यरो ।
वन्दन वारम्वार, करते मरुधर—केशरी ॥५॥

आछो ओ उपकार, उपाध्याय रो है सही ।
सुत्तागम रो सार, समजायो मुनि मिश्री ने ॥६॥

अधिकारी अणगार, जेते है इण जगत मे ।
व्हाने वारम्वार, वन्दे मिश्री मुनि विमल ॥७॥

सादर और सहर्ष, पूज पञ्च—परमेष्ठि पद ।
उत्तम गुण आदर्श, मिश्री मुनि मन मे मढे ॥८॥

जबर बतायो जाप, सद्गुरु श्री बुधमल अहा ।
जिणरे पुण्य प्रताप, मोहे जन-मन मिश्री मुनि ॥९॥

भाव सुद्ध हो भक्ति, सद्गुरु री कीवी सरस ।
इण कारण आ शक्ति, पाई मिश्री मुनि प्रबल ॥१०॥

करन आत्म कल्यान, अपनायो गुरु-ज्ञान उर ।
पेखो पुण्य प्रधान, मिश्री मुनिरा जगमगे ॥११॥

निगमागमरो नाण, गुरुमुख सेती ग्रहण कर ।
काया रो कल्याण, करते मरुधर केशरी ॥१२॥

सुत्तागमरो सार, सद्गुरु समजायो सही ।
उणहीरे अनुसार, वाणी मुनि मिश्री वदे ॥१३॥

सुज्ञ न करते स्नेह, सुगुरु-भक्ति तज मुक्ति से ।
अति उत्तम मत एह, मन मे धरयो मिश्री मुनि ॥१४॥

काटन अरि करि क्रोध, तरकस सम निज तोद मे।
बाण सरिस गुरु बोध, धारयो मरुधर - केशरी ।।१५।।
जा दरशनरी दौर षट-दरशन दौरे सदा।
प्रतिपल उणरी पोर, धुनि मुनि मिश्री री धुके ।।१६।।
जगरी ममता जीत, प्रभू पारस से प्रीत कर।
इन्द्रियजीत अतीत, बनिगे मिश्री मुनि विमल ।।१७।।
हिय मे अति हरषाय, पारस—प्रभुरा पाय ने।
मिश्रीमल मुनिराय, पूजे प्रतिदिन प्रेमसू ।।१८।।
भेदन भव—भय भ्रान्ति, जाप शाति रो नित जपै।
मिश्री मुनिरी क्राति, पसरी याते पुहुमि पै ।।१९।।
पूरन पाले प्रेम, नित्य नेम से निरखलो।
टाले टुक ना नेम, गुरु मिश्री गुनसिंधु अस ।।२०।।
क्षुधा, तृषा अरु, शीत, उष्ण आदि परिषह सहे।
पर ना तोडे प्रीत, महावीर से मिश्री—मुनि ।।२१।।
चार कषाय विसार, पचमहाव्रत ऐखलो।
ए मिश्री अणगार, पाले पूरन प्रेमसू ।।२२।।
मुक्ति—हेतु तज मार, सयमरे समरागणे।
ए मिश्री अणगार, जबरा जूझे जाचलो ।।२३।।
अविचल धृति उर-धार, मार तणो मद मार के।
त मिश्री अणगार, महि मे विचरे मोदसू ।।२४।।
जारन जग जजार सयम ले बुध सुगुरु से।
पार ब्रह्मसू प्यार, करते मरुधर केशरी ।।२५।।
तज तामस ततकार, उरबिच समता आदरे।
पुरुष इसासू प्यार, करते मरुधर केशरी ।।२६।।
मन की ममता मार, जल मे रहता जलज जिमि।
अे मिश्री अणगार, सादर जग मे सचरे ।।२७।।
अनशन, कायाक्लेश, ऊनोदरि, भिक्षाचरि।
"रस परिहर रु हमेश" प्रतिसलीनता तप तपै ।।२८।।
प्रायश्चित्त रु ध्यान, वियुत्सर्ग स्वाध्याय पुनि।
वेयावच्च महान, तपै विनय तप मिश्री मुनि ।।२९।।
मन को रख मजबूत, मेख लेख पै मारते।
अैसे अे अवधूत, मिश्रीमल मुनिराज है ।।३०।।





शोधन आत्म—स्वकीय, दीनबन्धु, गुनसिन्धु की ।
कविता अति कमनीय, करते मरुधर—केशरी ॥३१॥

घन सम अति-गम्भीर, गुरु मिश्री री सुन गिरा ।
धरते मन मे धीर, चातक-से चातुर लखो ॥३२॥

सज्जन को सन्मान, करते पै करते नहीं—
मन मे अपने मान, कबहू मरुधर—केशरी ॥३३॥

मुनि-मग की मर्याद, पाले प्रतिदिन प्रेमसू ।
पै पल भर न प्रमाद, करते मरुधर—केशरी ॥३४॥

भव्जन-हित भव-भीर, धीर बधावे धीर ने ।
गुन ऐसे गम्भीर, गुरु मिश्री मे हैं घनें ॥३५॥

देकर विद्यादान, शुचि शिष्यन की सर्वदा ।
भद्रात्मा को मान, मिश्री मुनि करवा रहे ॥३६॥

महिमा लखो महान, जग मे जिनकी जलद सम ।
अल्प न पै अभिमान, करते मरुधर केशरी ॥३७॥

गिरते आ जो गोद, भव-भय से भयभीत हो ।
उनको दे आमोद, मलयागिरि सम मिश्री मुनि ॥३८॥

चचल चित चार्वाक, चरपर चरपर जे करें ।
मिश्री मुनि की धाक, सुन शरमाये वे सभी ॥३९॥

शरणागत को साज, सदय हृदय से सर्वदा ।
मिश्रीमल मुनिराज, सुर पादप सम दे सही ॥४०॥

विमल सुधा सम वेण, दूर करे दिल वेण ने ।
सुण सुख पावे सेण, मिश्रीमल मुनिराजरा ॥४१॥

शील तणो शृङ्गार, अनुपम लखि के अग पर,
मन मूर्छित हो मार, गुरु मिश्री रा पद गहे ॥४२॥

जिनवाणी री जोड, क्रोढ छोड, अडब न करे ।
मन मे विमल मरोड, गुरु मिश्रीरे आ धणी ॥४३॥

दम्भ-तिमिर को दूर, सतत करण-हित सुर सम ।
मुनि मिश्री रो नूर, जगमगात जग मे जबर ॥४४॥

करि-सम शत्रु करूर, कर्म करन चकचूर ओ ।
मुनि मिश्री रो नूर, हेरो है हर्यक्ष-शम ॥४५॥

सन्तन की सुचि सेव, तन से, मन से, वचन से ।
अलगो रख अहमेव, करते मरुधर—केशरी ॥४६॥

पेखो यह परतच्छ, विद्या, विनय, विवेक वल ।
श्रमण-संघ के स्वच्छ, मंत्री सोहे मिश्री मुनि ।।४७।।
त्यागी त्रिगुणातीत, वीतराग-पद कंज के ।
वनिगे और वनीन, मिश्रीमल मुनिराज अे ।।४८।।
छल-छिद्र को छोर, दौर-दौर मिथ्यात्वि द्रुत ।
वनिगे भावुक भौंर, मिश्री मुनि-पद कञ्ज के ।।४९।।
दीन दुखी की दाज, देखि दया मे द्रवित हो ।
मिश्रीमल मुनिराज, खुलवाये शिक्षा सदन ।।५०।।
जग मे प्राणी जेह आत्म-सरित उनको अहा,
निरखि करे है नेह, मिश्रीमल मुनिराज अे ।।५१।।
वसु विधु नभ कर वर्ष, माल वाल शशि गादवे ।
हुई प्रकट है हर्ष, पेखो मुनि मिश्री प्रभा ।।५२।।

०

प्रणाम अर्पण

बुद्धमल्ल मुरया 'वन्धुवर'

जय जय गुरुवर ! जयगुणधाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
"मिश्री मुनि शुभनाम तुम्हारा, लगता है सबको अति प्यारा ।।
भाव मधुरता के शुभ धाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
तरुण अवस्था मे जग छोडा, माया-ममता से मुह मोडा ।।
धन्य-धन्य मुनिवर अभिराम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।
पिता शेषमलजी के प्यारे, 'केसर' अगज विश्व दुलारे ।।
ओसवश अवतंस प्रणाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।।
गुरुवर के जो गुण गण गावें, भव सागर से वे तिर जावें ।
दुख सकट कट जाय तमाम, अर्पित शत-शत सतत प्रणाम ।।

०

सगठन के अमर साधक

फतहसिंह, जैन
सम्पादक 'तरुण जैन'

महामना मरुधरकेसरी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा० से मेरा सम्पर्क मेरे स्वनामधन्य मूक-समाजसेवक स्व० पिता श्री वाबू पद्मसिंहजी (सम्पादक जैन पथ प्रदर्शक, वीर लोकाशाह और तरुण जैन) द्वारा ८-१० वर्ष पूर्व हुआ था। तभी से श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० का असीम हार्दिक स्नेह मेरे प्रति उत्तरोत्तर बढता रहा है, जहाँ तक मुझे अनुभव है, आपके हृदय मे समाज के प्रति जो दर्द है, वह अन्यत्र मिलना कठिन है।





समाज के प्रागण मे आपका विशिष्ट व्यक्तित्व है। आप सामाजिक एव धार्मिक दृष्टिकोण मे सर्वोच्चता रखते हैं।

अन्त मे मैं परम श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी के प्रति हार्दिक मगल कामना करता हूँ। आप युग-युगो तक इसी तेजस्विता-ओजस्विता के साथ चिरजीवी रहे।

•

मरुधरकेसरी सिलोका

जोगीलाल सेवक

समरू शारदने गौतम गुण ज्ञाता, सानिधकारी करजो सुख शाता।
मिश्री मुनि की महिमा सुख गाऊ, शब्द सुकोमल आपसू चाऊ ॥१॥
मरुधर पाली मे जन्म्या जयकारी, महता सोलकी जाति है म्हारी।
सहसमलजी तात कहाया माता केसरदे निज कूखे जाया ॥२॥
रूप अनोपम बुद्धि रा सागर पूरा पुनवता वश उजागर।
बाल बुद्धि मे विद्या बहु सीखी, चाल चतुराई देखी मैं नीकी ॥३॥
सवत उन्नीसे गुणतर नामी, पाली पधार्या बुद्धमलजी स्वामी।
वाणी सुणीने वैरागी वेगा, दिक्षा लेवागा मुख से यो केगा।
स्वामी जी साथे आप सचर्या, मुथाजो आय गुरुवर सू लडिया ॥४॥
मारा टाबर ने सिखा कर लाया, आछी कीनी घर ताला जडवाया।
माखे स्वामीजी म्होतो नहीं लाया पाछा चाले तो ले जावो भाया ॥३॥
बोले वैरागी घरे पधारो म्हारे श्रावणरी आसा निवारो।
करियो झमेलो कारी नहीं लागी आखिर मे सजम लीनो वड भागी ॥६॥
बोलचाल ने थोकडा गहरा, सूत्र अठारा शिख्या गुण शहरा।
काव्य न्याय ने व्याकरण पढिया, विनय करी ने अच्छा गुण मडिया ॥७॥
वर्ष सतरा लो सेवा गुरु कीनी, भक्ति करीने आशिसो लीनी।
समत उन्नीसे पिच्यासी वर्षे, स्वर्ग सुगुरुजी पधार्या हर्षे ॥८॥
विरह गुरुवर रो खमियो नहीं जावे पल पल ज्याने यादज आवे।
आखिर विचारियो ज्ञान गुणवता, सघर छाती तो करली सतवता ॥९॥
केई विगयरा त्याग कर लीना, खाना पीना सब ऊँचा धर दीना।
सात द्रव्य तो राख्या गुण जाहर, सहन परिषह गुरु बनिया ज्यो नाहर ॥१०॥
वाणी अमृतसी वर्षे एक धारा, सुणतो हरसावे नर नारी सारा।
हेतु जुगती तो स्वामी इसडो जो मेले ग्यान गगा तो घर घर रेले ॥११॥
कविता करवा मे बुद्धि अनमोली मानो घट मे तो शारदा बोली।
आसू कवि री पदवीजो पाया, चर्चावादी तो सोरे मन भाया ॥१२॥

नाम सुणतो ही पाखडी धूजे, 'मिश्री' मुनि तो सिंह ज्यो गूजे ।
ऐसो वज्रतोडा केई आल चढावे, गुरु कृपा सू सारा ढह जावे ॥१३॥
छोटा मोटा परवा नहीं राखे, साची वात तो चौडे ही भाखे ।
मिथ्या अधारो कई गामो रो टार्यो उग्रविहारी काज सुधार्यो ॥१४॥
गुरुकुल विद्यालय कई खुलवाया, लाखो द्रव्यो रा दान दिराया ।
उपदेश महा परचो है ऐसो, काय वन जावे मन चाहे जैसो ॥१५॥
गुरु करुणासागर ने करुणा वहू आवे गोशाला केई गामो खुलवावे ।
श्रद्धा पक्की है लाखो नहीं चूके, केई पन्थवादी उभोड़ा कूके ॥१६॥
जैन धर्म रा झडा लहराया दया धर्म रा ठाट लगाया ।
पुज्य रघुपतजी गादी दीपाई, भलो सुत जायो केशरदे माई ॥१७॥
चारो दिशा मे वाजे इक डको, स्वमत परमत रा आणे मन सको ।
सामी वोलन री हिम्मत नहीं होवे, निगुरा निंदक छानेजी रोवे ॥१८॥
छोटा मोटा कई ग्रथ वनाया, स्तवन चौप्यो रा पार न पाया ।
स्वामी वुधमलजी रा माथे जी गाजे, ज्यारी गादी पे आप विराजे ।
कीरति कमला तो फैल करावे, दिन-दिन स्वामीजी नाम दिपावे ॥१९॥
साधू सम्मेलन नादडी माई, भारत रा मुनिवर मिलिया सब आई ।
वाडा वन्दी तो जनता नहीं चावे, भेद गच्छो रा क्यूनी दफनावे ॥२०॥
मचियो झमेलो अद्भुत रग छायो मानस मन्दिर तो एकदम पलटायो ।
वीर लोकाशाह कीनी ललकारो, सूतोडा जाग्या सवही अणगारो ॥२१॥
गुरुवर हमारा कमरा कस लीनी, मनना गच्छो री मागी तज दीनी ।
मिश्री मुनिवर महनत कर भारी, प्रेम वर्षायो खिलगी फुलवारी ॥२२॥
दूजो सम्मेलन सोजत रो चगो उठे पण मुनिवर वरियो उच्छरगो ।
शहर विलाडे उर्पलि आया, सघ सारा मे हर्ष सवाया ॥२३॥
अमावस नादन केरी छल आई, गुरुवररे दिल मे दया दर्शाई ।
मरती मछीया ने रोकी वडभागी, मारण वालो ने तामस अति जागी ॥२४॥
मारण रे काजे लाठी वर्षाई, धन वन हो मुनिवर समता अपनाई ।
शहर सारा री जनता जव हिलगी, वसी प्रेम री सारा में वजगी ॥२५॥
हिन्द आखा में होगयो हाको, नाम तो वढियो गुरुवरजी थाको ।
शर्तो मजूर होगी पल माहीं, लाभ कमायो स्वामी इत आई ॥२६॥
जैन मुनियों री शान्ति व्हे केसी चौडे दिखलाई जनता में वेसी ।
ताजुव तो पाया वड वड ओफिसर, इसडी खम्या किम राखी इण अवसर ।
लोग हजारो दर्शन ने आया, शहर विलाडे आनन्द रग छाया ।
सुकरत में रुपिया हलारों उडिया सोनारा आखर चौमासे मडिया ॥२८॥





समाज के प्रागण मे आपका विशिष्ट व्यक्तित्व है। आप सामाजिक एव धार्मिक दृष्टिकाण से सर्वोच्चता रखते हैं।

अन्त मे मैं परम श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी के प्रति हार्दिक मगल कामना करता हूँ। आप युग-युगो तक इसी तेजस्विता-ओजस्विता के साथ चिरजीवी रहे।

•

मरुधरकेसरी सिलोका

जोगीलाल सेवक

समरू शारदने गौतम गुण ज्ञाता, सानिधकारी करजो मुख शाता ।
मिश्री मुनि की महिमा मुख गाऊ, शब्द सुकोमल आपसू चाऊ ।।१।।
मरुधर पाली मे जन्म्या जयकारी, महता सोलकी जाति है म्हारी ।
सहसमलजो तात कहाया माता केसरदे निज कूखे जाया ।।२।।
रूप अनोपम बुद्धि रा सागर पूरा पुनवता वश उजागर ।
बाल बुद्धि मे विद्या बहु सीखी, चाल चतुराई देखी मैं नीकी ।।३।।
सवत उन्नीसे गुणतर नामी, पाली पधार्या बुद्धमलजी स्वामी ।
वाणी सुणीने वैरागी वैगा, दिक्षा लेवागा मुख से यो केगा ।
स्वामी जी साथे आप सचर्या, मुथाजी आय गुरुवर सू लडिया ।।४।।
मारा टाबर ने सिखा कर लाया, आछी कीनी घर ताला जडवाया ।
भाखे स्वामीजी म्होतो नहीं लाया पाछा चाले तो ले जावो भाया ।।३।।
बोले वैरागी घरे पधारो म्हारे श्रावणरी आसा निवारो ।
करियो झमेलो कारी नहीं लागी आखिर मे सजम लीनो बड भागी ।।६।।
बोलचाल ने थोकडा गहरा, सूत्र अठारा शिख्या गुण शहरा ।
काव्य न्याय ने व्याकरण पढिया, विनय करी ने अच्छा गुण मडिया ।।७।।
वर्ष सतरा लो सेवा गुरु कीनी, भक्ति करीने आशिसो लीनी ।
समत उन्नीसे पिच्यासी वर्षे, स्वर्ग सुगुरुजी पधार्या हर्षे ।।८।।
विरह गुरुवर रो खमियो नहीं जावे पल पल ज्याने यादज आवे ।
आखिर विचारियो ज्ञान गुणवता, सघर छाती तो करली सतवता ।।९।।
केई विगयरा त्याग कर लीना, खाना पीना सब ऊँचा धर दीना ।
सात द्रव्य तो राख्या गुण जाहर, सहन परिषह गुरु बनिया ज्यो नाहर ।।१०।।
वाणी अमृतसी वर्षे एक धारा, सुणतो हरसावे नर नारी सारा ।
हेतु जुगती तो स्वामी इसडो जो मेले ग्यान गगा तो घर घर रेले ।।११।।
कविता करवा मे बुद्धि अनमोली मानो घट से तो शारदा बोली ।
आसू कवि री पदवीजी पाया, चर्चावादी तो मोरे मन भाया ।।१२।।

नाम सुणतो ही पाखडी धूजे, 'मिश्री' मुनि तो सिंह ज्यो गू जे ।
रिसो वलतोडा केई आन चढावे, गुरु कृपा सू सारा ढह जावे ।।१३।।
छोटा मोटा परवा नही राखे, साची वात तो चौडे ही भाखे ।
मिथ्या अधारो कैई गामो रो टार्यो उग्रविहारी काज सुधार्यो ।।१४।।
गुरुकुल विद्यालय कई खुलवाया, लाखो द्रव्यो रा दान दिराया ।
उपदेश महा परचो है ऐसो, कार्य वन जावे मन चाहे जैसो ।।१५।।
गुरु करुणासागर ने करुणा वहू आवे गोशाला केई गामो खुलवावें ।
श्रद्धा पक्की है लाखो नहीं चूके, केई परवादी उभोडा कूके ।।१६।।
जैन धर्म रा झडा लहराया दया धर्म रा ठाट लगाया ।
पूज्य रघुपतजी गादी दीपाई, भलो सुत जायो केशरदे माई ।।१७।।
चारो दिशा मे वाजे इक डको, स्वमत परमत रा आणे मन सको ।
सामी वोलन री हिम्मत नहीं होवे, निगुरा निंदक छानेजी रोवे ।।१८।।
छोटा मोटा कई ग्रथ वनाया, स्तवन चौप्यो रा पार न पाया ।
स्वामी वुधमलजी सा माथे जी गाजे, ज्यारी गादी पे आप विराजे ।
कीरति कमला तो फेल करावे, दिन-दिन स्वामीजी नाम दिपावे ।।१९।।
साधू सम्मेलन सादडी माई, भारत रा मुनिवर मिलिया सव आई ।
वाडा वन्धी तो जनता नहीं चावे, भेद गच्छो रा मयुनी दफनावे ।।२०।
मचियो झमेलो अद्‌भुत रग छायो मानस मन्दिर तो एकदम पलटायो ।
वीर लोकाशाह कीनी ललकारो, सूतोडा जाग्या सबही अणगारो ।।२१।।
गुरुवर हमारा कमरा कस लीनी, ममता गच्छो री सारी तज दीनी ।
मिश्री मुनिवर महनत कर भारी, प्रेम वर्षायो खिलगी फुलवारी ।।२२।।
दूजो सम्मेलन सोजत रो चगो उठे पण मुनिवर वरियो उछरगो ।
शहर विलाडे वर्षालि आया, सघ सारा मे हर्ष सवाया ।।२३।।
अमावस सावन केरी छल आई, गुरुवरने दिल मे दया दर्शाई ।
मरती मछीया ने रोकी बडभागी, मारण वालो रे तामस अति जागी ।।२४।।
मारण रे काजे लाठी वर्षाई, धन धन हो मुनिवर समता अपनाई ।
शहर सारा री जनता जब हिलगी, वसी प्रेम री सारा में बजगी ।।२५।।
हिन्द आखा में होगयो हाको, नाम तो बढियो गुरुवरजी थाको ।
शर्तो मजूर होगी पल माहीं, लाभ कमायो स्वामी इत आई ।।२६।।
जैन मुनियों री शान्ति व्हे केसी चौडें दिखलाई जनता में वेसी ।
ताजुब तो पाया बड बड ओफिसर, इसडी खम्या किम राखी इण अवसर ।
लोग हजारो दर्शन ने आया, शहर बिलाडे आनन्द रग छाया ।
सुकरत में रुपिया हलारो उडिया सोनारा आखर चौमासे मडिया ।।२८।।





वीरवल मडल रा सेवक गुण दरिया, किनी भल भक्ति करके केशरिया ।
कितरा गुण भाखू बुद्धि छै थोडी, वाल लीलावत मैंने या जोडी ।।२६।।
रूप मुनि की सेवा अति भारी, सरल स्वभावी आनन्दकारी ।
गुरु आज्ञा में रहते उपकारी, धन्य धन्य मुनिश्वर जाऊ बलिहारी ।।३०।।
दोय हजार वर्ष दसारो, मास कार्तिक ने पक्ष उजियारो ।
ज्ञान पचमी बुधजवारो, 'जोगी सेवग' कहे विलाडा वारो ।
मिश्री मुनि रो जस सवायो, 'विजयमोहन' तो जोड वणायो ।।३१।।

मिश्रीमल-बत्तीसी

कविराज बदरीदास, एडवोकेट, जोधपुर

१— भूमि धन धन आर्यावृत, रिषि मुनियो रो राज ।
जिण घर पाली जनमिया, मिश्रीमल महाराज ।।

२— मगला राजस्थान मे, ऊचो मरुधर आज ।
बड त्यागी कीधो विशद, मिश्रीमल महाराज ।।

३— धन धन है मारुधरा, पाली पुन ही पाज ।
जिण पाली मे जनमिया, मिश्रीमल महाराज ।।

४— मा केशर पितु सेसमल, ओसवाल विन श्राज ।
जाया जठे पुजाविया, मिश्रीमल महाराज ।।

५— वालपणें वैराग्य वढ, करिया उन्नति काज ।
चमत्कारि कुल चानणा, मिश्रीमल महाराज ।।

६— जिन प्रभु जैनी धर्म ने, ऊचो कीवो आज ।
चीले हुआ हि ज चल रह्या, मिश्रीमल महाराज ।।

७— भक्त कवीश्वर वीरवर, साराए सिरताज ।
उण धरती मे अवतर्या, मिश्रीमल महाराज ।।

८— सती सूरमा व्हा सुदृढ, कर्मवीर भ्रम काज ।
जिण धरती मे जनमिया, मिश्रीमल महाराज ।।

९— वचनामृत रा वाहला, गहरा करे अग्राज ।
ग्यान तणी देवे गुटक, मिश्रीमल महाराज ।।

१०— वाला वहै व्याख्यान रा, ग्रीषम वरसा गाज ।
तू पायर कर दै तृप्त, मिश्रीमल महाराज ।।

११— अलग रहै आडम्वरा, तपस्या रा सिरताज ।
ज्ञानी ध्यानी अनगहर, मिश्रीमल महाराज ।।

१२— वडभागी त्यागी विहद, जाहिर पुन्न जहाज ।
चरण-कमल दरमण करा, मिश्रीमल महाराज ।।

१३— शुद्ध भाव हद मादगी, लोयण मर्या लिहाज।
निर्मल आत्मा अत निडर, मिश्रीमल महाराज॥

१४— शान्त चित्त हिय भाव शुध, समता जाति समाज।
मोटो तार्किक महामुनी, मिश्रीमल महाराज॥

१५— वैर भाव वर्ते नही, कितरो इ करो अकाज।
समदृष्टी रैवे सदा, मिश्रीमल महाराज॥

१६— गर्मी सर्दी नहि गणै, समता सुख दुख साज।
विण जुती पैदल वहे, मिश्रीमल महाराज॥

१७— घूमे घर घर गाव प्रति, सारा तज सुखसाज।
आछ रु छाछ अरोग ले मिश्रीमल महाराज॥

१८— जाणे स्वाद न जीभ रो, सूका लूका साज।
घर घर सूं ले गोचरी, मिश्रीमल महाराज॥

१९— जनता मे जागृति करे, गाव गाव प्रति गाज।
राजस्थान रो केसरी, मिश्रीमल महाराज॥

२०— सन्त विनोवा साहसी, इणरे जिसो न आज।
सूको रह पैदल वहै, मिश्रीमल महाराज॥

२१— वृद्ध वीर क्रान्ति विहद, साहस पण हद साज।
पैदल थके न पथ मे, मिश्रीमल महाराज॥

२२— प्राकृत सस्कृत पारसी, घण गुजराती गाज।
डिंगल रो दिग्गज कवी, मिश्रीमल महाराज॥

२३— कठिण व्रत कुण कर सके, इतै बुढापै आज।
साहस फूके श्रावको, मिश्रीमल महाराज॥

२४— शिष्य साध ने श्रावको, साध्वी जैन समाज।
सारा नै इ सुधारिया, मिश्रीमल महाराज॥

२५— फूट धडा पड फेलगी, इया सु हुवे अकाज।
कूट फूट ने काढ दी, मिश्रीमल महाराज॥

निवेदन

२६— गीदड री गत व्है गयो, सारो ई जैन समाज।
भर दो वामे वीरता, मिश्रीमल महाराज॥

२७— हिन्दू साराई हिन्द रा, डालराडा ज्यूं गाज।
नरता फूको व्है निशक, मिश्रीमल महाराज॥

२८— व्यवसायी व्योपार घण, पूजीपत श्रम पाज।
दया पालता दृढ करो, मिश्रीमल महाराज॥

२९— फूट माहि हिन्दू फस्या, दिल मे पडी दराज।
सगठिन कर भर शूरता, मिश्रीमल महाराज॥





३०— महावीर प्रभु आदि मही शूरवीर सिरताज।
अनुयाई उणरा करो, मिश्रीमल महाराज।।

३१— अहिंसा वरतो अवल पर, सबला दया न साज।
दमन करावो दुष्ट दिल, मिश्रीमल महाराज।।

३२— वैष्णव वैरागी विहद, मगता मोड समाज।
सगठित कर समभाग दो, मिश्रीमल महाराज।।

०

श्रीमरुधरसिंहाष्टकम्

देवकीनन्दन शर्मा, शास्त्री

यो हि क्रियाज्ञानविशिष्टरूप, सच्छिष्यख्यातो बुधपुगवस्य।
स्थितो मरौ केसरिवन्मुनीन्द्र नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।१।।

रत सदा धर्मसमाजकार्ये, जैनेन्द्रमार्गमतिक्रामति नो।
सम्मेलने मन्त्रिपदेऽभिषिक्त, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।२।।

गोवशरक्षामभिवाञ्छति य-स्त्रिभिर्हि योगैस्तद् रक्षणे मन।
बिभेति नो दण्डप्रहार-मृत्यो र्नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।३।।

कुवादवुश्शीलनिवारणाय कडकेति नाम्ना जगति पसिद्धो।
मधु इवाभाति परोपकार्ये नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।४।।

रजत-शुकुन-नामधरौ हि शिष्यौ आचारनिष्ठौ श्रुतसम्पदौ च।
ताभ्या सदा पट्टविराजमान, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।५।।

ध्यानाद्विनश्यन्ति भवदु खपीडा डाकिन्य शाकिन्य पिशाचभूता।
अभीप्सितार्थं लभते मनुष्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।६।।

स्मरामि गुरुवर तव नाम पूतम्, न कामये राज्यपद न ऋद्धिम्।
जिनेश्वराघ्रौ मम प्रीतिरस्तु नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।७।।

श्रीनन्दनो यस्य पदारविन्दमहर्निशो ध्यायति दत्तचित्त।
श्रेयस्करो भव्यजनेषु भूयात् नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम्।८।

०

पद्यपुष्पांजलि

श्री रघुवरदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मरुधरकेसरीति विरुदालङ्कृताना विद्वत्कुलावतंसाना
पूज्यमुनिवर्याणा श्री मिश्रीमल्लमहाराजाना
स्वर्णजयन्त्युपलक्ष्ये पद्यपुष्पाञ्जलि ॥

(१)

मरुस्थलालङ्करणेऽतिरम्ये पालीतिनाम्ना प्रथिते पुरे य ।
सहस्रमल्लाख्यपितुर्निकाये श्रीकेसरीमातुरलब्ध जन्म ॥

(२)

पञ्चाशताधिक्ययुते शतेऽभूच्चैकोनविंशे खलु वैक्रमेऽब्दे ।
महात्मनो यस्य जनु प्रशस्त पित्रोर्महाममदमाततान ॥

(३)

दैवयोगात्पञ्चमेऽब्दे जननीविरहे सति ।
यस्यान्त करणे जज्ञे निर्वेदस्य शुभाकुर ॥

(४)

अनेकशास्त्राध्ययनेन शैशवे विद्वन्मुनीनामुपदेशनस्तथा ।
शनै शनै वृद्धिमवाप यस्य ना समास्भोगेषु विरागभावना ॥

(५)

पुण्यात्मना लोकहितानुबन्धिना कामानुरागेषु न जायते मति ।
स्वकर्मबन्धक्षयमात्रभावना यतन्त एते ननु मुक्त्येऽनिशम् ॥

(६)

वत्सरे पञ्चविंशेऽतो बुद्धमल्लमुनीश्वरात् ।
श्रामण्यदीक्षामादाय श्रमणत्वमवाप्नुवन् ॥

(७)

काव्यालङ्कृतिकोशशब्दरचनामभ्यस्य बुद्धेर्बलाद्
विद्वद्भ्यश्च परिलभ्यतत्त्वनिचय पाण्डित्यपूर्णा इमे ।
मिश्रीमल्लमहोदया मुनिवरा लोके प्रसिद्धि गता
नानापद्यविधायकाशुकवय ख्याता पुनर्भूतले ॥

(८)

तपस्विन कोविदवशमानवो न केवल बुद्धिवलोपबृंहिता ।
शारीरसम्मापणशंसिततोऽप्यहो मरुस्थले केसरितामुपागता ॥

(९)

मरुधरकेसरिवर्या विहाय विषयवासनाजालम् ।
सयमवर्मपरीता निर्वाणार्थमेव प्रयतन्ते ॥





३०— महावीर प्रभु आदि मही शूरवीर सिरताज।
अनुयाई उणरा करो, मिश्रीमल महाराज॥

३१— अहिंसा वरतो अबल पर, सबळा दया न साज।
दमन करावो दुष्ट दिल, मिश्रीमल महाराज॥

३२— वैष्णव वैरागी विहद, सगना साठ समाज।
सगठित कर समझाग दा, मिश्रीमल महाराज॥

श्रीमरुधरसिंहाष्टकम्

देवकीनन्दन शर्मा, शास्त्री

यो हि क्रियाज्ञानविशिष्टरूप, सच्छिष्यख्यातो बुधपुंगवस्य।
स्थितो मरौ केसरिवन्मुनीन्द्र नमामि मिश्री गुरुवरवरेण्यम् ।१॥

रत सदा धर्मसमाजकार्ये, जैनेन्द्रमार्गमतिक्रामति नो।
सम्मेलने मन्त्रिपदेऽभिषिक्त, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।२॥

गोवशरक्षामभिवाञ्छति य-स्त्रिभिर्हि योगैस्तद् रक्षणे मन।
बिभेति नो दण्डप्रहार-मृत्यो र्नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।३॥

कुवादकुश्शीलनिवारणाय कडकेति नाम्ना जगति प्रसिद्धो।
मधु इवाभाति परोपकार्ये नमामि मिश्री गुरुवरवरेण्यम् ।४॥

रजत-शकुन-नामधरौ हि शिष्यौ आचारनिष्ठौ श्रुतसम्पदौ च।
ताभ्या सदा पट्टविराजमान, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।५॥

ध्यानाद्विनश्यन्ति सवदु खपीडा डाकिन्य शाकिन्य पिशाचभूता।
अभीप्सितार्थं लभते मनुष्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।६॥

स्मरामि गुरुधर तव नाम पूतम्, न कामये राज्यपद न ऋद्धिम्।
जिनेश्वराघ्रौ मम प्रीतिरस्तु नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम ।७॥

श्रीनन्दनो यस्य पदारविन्दमहर्निशो ध्यायति वत्तचित्त।
श्रेयस्करो भव्यजनेषु भूयात् नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।८।

पद्यपुष्पांजलि

श्री रघुवरदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मरुधरकेसरीति विरुदालङ्कृताना विद्वत्कुलावतसानां
पूज्यमुनिवर्याणा श्री मिश्रीमल्लमहाराजाना
स्वर्णजयन्त्युपलक्ष्ये पद्यपुष्पाञ्जलि ॥

(१)

मरुस्थलालङ्करणेऽतिरम्ये पालीतिनाम्ना प्रथिते पुरे य ।
सहस्रमल्लाख्यपितुर्निकाये श्रीकेसरीमातुरलब्धजन्म ॥

(२)

पञ्चाशताविश्ययुते शतेऽशूच्चैकोर्नविंशे खलु वैक्रमेऽब्दे ।
महात्मनो यस्य जनु प्रशस्त पित्रोर्महासमदनाततान ॥

(३)

दैवयोगात्पञ्चमेऽब्दे जननीविरहे सति ।
यस्यान्त करणे जज्ञे निर्वेदस्य शुभाङ्कुर ॥

(४)

अनेकशास्त्राध्ययनेन शैशवे विद्वन्मुनीनामुपदेशतस्तथा ।
शनै शनै वृद्धिमवाप यस्य सा समारभोगेषु विरागभावना ॥

(५)

पुण्यात्मना लोकहितानुबन्धिना कामानुरागेषु न जायते मति ।
स्वकर्मबन्धक्षयमात्रभावना यतन्त एते ननु मुक्तयेऽनिशम् ॥

(६)

वत्सरे पञ्चविंशेऽतो बुद्धमल्लमुनीश्वरात् ।
श्रामण्यदीक्षामादाय श्रमणत्वमवाप्नुवन् ॥

(७)

काव्यालङ्कृतिकोशशब्दरचनामभ्यस्य बुद्धेर्बलाद्
विद्वद्भ्यश्च परिलभ्यतत्त्वनिचय पाण्डित्यपूर्णा इमे ।
मिश्रीमल्लमहोदया मुनिवरा लोके प्रसिद्धि गता
नानापद्यविधायकाशुकवय ख्याता पुनर्भूतले ॥

(८)

तपस्विन कोविदवशमानवो न केवल बुद्धिविलोपबृंहिता ।
शारीरसम्मापणशक्तितोऽप्यहो मरुस्थले केसरितामुपागता ॥

(९)

मरुधरकेसरिवर्या विहाय विषयवासनाजालम् ।
सयमवर्मपरीता निर्वाणार्थमेव प्रयतन्ते ॥





(१०)

समस्तजीवेषु दयालवोऽपि ससारभोगेषु कठोरभावा ।
परोपकारेषु च मोदमाना कषायवृन्देषु निरुद्धचित्ता ।।

(११)

अय किं मार्तण्ड स तु विपुलसन्तापनिवह
सुराचार्य किं वा नहि खलु स नार्ककनिलय ।
अहो किं पञ्चास्यो नहि स पशुहिंसाप्रकृतिको
विशङ्कन्ते लोका मुनिवरमवेक्ष्येत्यमवनौ ।।

(१२)

श्रीमद्भि प्रतिभाबलेन नितरा जैनीयसद्दर्शने
ज्योतिर्व्याकृतिकाव्यपिङ्गलविधौ ग्रन्था अनेके कृता ।
नानापद्यमय विधाय विपुल श्रीभारत प्रस्तुत
यद् दृष्ट्वा भवता कवित्वपटुता सर्वैरभिज्ञायते ।।

(१३)

नानाशास्त्रविचक्षणा कृतधियो वाक्पाटवालङ्कृता-
दृश्यन्ते भुवि मानवा बहुतरा शिष्यप्रदेयागमा ।
किन्तु ज्ञानसदृक्षकर्मकुशलाश्चारित्रचर्यापरा
स्वल्पा एव भवादृशा बुधवरा लक्ष्यन्त अत्राधुना ।।

(१४)

सयम्येन्द्रियवाजिनो दृढतया चित्त विशोध्यात्मन-
स्त्यक्त्वाभोगसुख स्वबुद्धिबलतो वैराग्यनिष्ठा इमे ।
दग्ध्वा कर्मतति कषायनिचय प्रोत्सार्य स्वच्छान्तरा
निर्वाणैकरसा स्वधर्मनिरता मुक्त्यै यतन्तेऽनिशम् ।।

(१५)

मान्या मानविवर्जिता ममतया मुक्ता मनोहारिणो
मर्त्यामोदमनोविनोदरसिका मात्सर्यमन्दादरा ।
माधुर्यामृतमण्डितान्तरधियो मोमुद्यमाना मुहु-
र्मोहध्वान्तदिवाकरा मरुधरासिंहा महीमण्डले ।।

(१६)

परोपकारैकधिया भवद्भि श्रामण्यसघ परिनिष्ठितोऽत्र ।
अनेकशिक्षालयनिर्मितिश्च विद्यानुराग भवता व्यनक्ति ।।

(१७)

कालक्रमेणाद्य समाजमध्ये कुरीतयो भूरितरा प्ररूढा ।
तासा निरासार्थकृतप्रयत्ना स्तुत्या न केषा मुनयो जनानाम् ।।

(१८)

साध्नोति यो वै परकार्यजात स एव साधु कथितो मुनीन्द्रै ।
सा साधुता मूर्तिमती प्रदृष्टा भवत्सु लोकै स्मयमानचित्तै ॥

(१९)

धन्यास्त एव भुवने नरपुङ्गवा ये
स्वार्थं विहाय परकार्यपरा लसन्ति ।
तेषा जनु सफलमत्र मनुष्यलोके
स्वार्थैकपूर्तिनिरतान् नृपशून् मुहुर्धिक् ॥

(२०)

जाड्यान्धकारमलिनीकृतमानसाना
कस्मान्नृणा समभविष्यदिहोपकार ।
श्रीमद्दृशा मुनिवरा न भरस्यन्ने चेद्
विद्वद्वरा समवतारमवाग्रहीष्यन ॥

(२१)

आजन्मधर्मपरिषेवणजातकीर्ति-
रासूर्यचन्द्रमिह लोकमलङ्करिष्णु ।
स्वर्गे क्षितौ क्षितितले वसता जनाना
चेतश्चमत्कृतिमवाप्स्यति व समन्तात ॥

(२२)

सम्यक् चारित्रलब्ध्या विगलितकलुषा स्त्यसत्कर्मचर्चा
सम्यग्दृष्टेरवाप्त्या शुभमतिलसिता धर्मचर्यानुरक्ता ।
सम्यग्ज्ञानोपलम्भात्समुदितरुचयस्तत्ववेत्तार एते
मिश्रीमल्लाभिधाना मुनिवरचरणा कस्य न स्युर्नमस्या ॥

(२३)

अधीतसकलागमा समुपलब्धबोधोच्चया
शुभाचरणशीलिन प्रसृतशास्त्रचर्याध्वगा ।
भवादृशमनीषिणस्त्रिचतुरा भवेयुर्यदि
जना भुवि कथ पुन सुकृतिन समे स्यु र्नहि ॥

(२४)

धन्येयमद्य धरणी भवदाश्रयेण
धन्या वय मुनिवराद्भुतदर्शनेन ।
धन्याऽखिलश्रमणमण्डलिका भवद्भि-
र्धन्यो भवद्भिरभवत् किल जैनसङ्घ ॥

(२५)

श्रीमत्स्वर्णजयन्त्या श्रद्धासम्भ्रममोदमानचित्त ।
साञ्जलिबन्धमह भो पद्याञ्जलि समर्पये व ॥





अभिनन्दनम्

कविभूषण रामचन्द्र शास्त्री, थावला

(१)

विश्वस्थप्राणिना यो वै, हिताचारपरायण ।
वरो विश्वम्भरो देव, प्रसीदतु दयापर ॥

(२)

प्रभवतु जन-वृन्दद्वेषदुर्वोधहारी,
सकलमनुजवन्द्यो ज्ञान-विज्ञानधारी ।
जयतु भुवितलेऽस्मिन् जैनसिद्धान्तसूर्य,
निखिलनिरपराघो "मिश्रिमल्लो" मुनीन्द्र ॥

(३)

जैनसिद्धान्तमार्त्तण्डो मरुमडलकेसरी ।
यतीन्द्र "श्रीमिश्रिमल्लो" जीयाद्वै शरदा शतम् ॥

(४)

श्रीजैनधर्मागमपारदृश्वा,
अहिंसया भासितदिव्यदेह ।
विद्या-तपोज्ञानवरिष्ठवृत्त,
"श्रीमिश्रिमल्लो" मुनिराजराज ॥

(५)

जिननयजननेता धन्यमत्री महात्मा,
विमलमतिविशुद्धप्रौढविज्ञानराशि ।
विबुधजनसमाजप्राप्तसम्मानवृन्द,
जयतु जगति वन्द्यो "मिश्रिमल्लो" कवीन्द्र ॥

(६)

यो लोकाञ्जिनधर्मकर्मरहितान् हिंसारताञ्छिक्षयन्,
सच्छास्त्रप्रपटून्मनीषिसुजनान्नित्य मुदा वर्धयन् ।
अज्ञानान्धविमूढबुद्धि- कुपयान्सन्दर्शयन्सत्पथम्,
पूर्णज्ञानदिवाकर प्रतिदिश "श्रीमिश्रिमल्लो" ह्यटन् ॥

(७)

सेवकाना कल्पवृक्षो, वन्द्यो विश्वहितैषिणाम् ।
"श्रीमिश्रिमल्लो" दिव्यात्मा, पावक पापसन्तते ॥

श्री मिश्रीमल्लमहाराजजीवनचरितम्

१— ज्ञानागाधपयोधिमग्नवपुषो ज्ञानप्रभाभासुरा ।
ज्ञानश्रीमकरागिवाञ्छितप्रदा ज्ञानाखिलप्रेक्षिण ।
ज्ञानाऽऽगमविरामविश्वविभवा स्वात्मस्वरूपस्थिता ।
नाभेयादिजिनेश्वरा शिवकरा व सन्तु सन्त सदा ।

२ — अज्ञानैकमहान्धकारपटलीपाटात्मभाभामिनी ।
मुक्तास्वादमरालयानविदिता चर्चद्विपचीकरा ।
सारासारविचारवाचनपरा विद्वज्जनामादिनी ।
सर्वाधारजिनेश्वरास्यनिलया वाग्वादिनी स्ताच्छ्रिये ।

३ — चारित्रनन्दनवनीघनवारिवाहश्शान्तस्वभावविमलीभवदात्मराजी ।
ध्यानी जिनागमपटु परबोधदक्षाय बुद्धाख्यमल्लगुरुराड् जयताद्धिताय ।

४— सर्वागमादरमतेर्विलसत्सुकीर्तेर्व्याख्याननिजरगुरो कविपद्मभाना ।
श्रीमिश्रिमल्लमरुदेशमहामृगारे सवर्णयामि चरित मुनिरूपचन्द्र ।

५ - क्वायम्मुनिर्लघुमतिर्विगतास्मशक्ति क्वायम्मुनिमृगपतिर्निगमागमज्ञ
ईश कथम्भवति नाम गुणानुवादे, मन्ये कृपा गुरुवरस्य ममास्तु सिद्धयै

६— श्रीमिश्रिमल्लमुनिराजगुणानुवादे, स्याद्दोषता क्वचिदहो मम मन्दबुद्धया
प्रादशयन्तु विबुधा मुनय सुखेन, नो नासिकाभ्रकुटिकुञ्चनमाविदध्यु

७— लक्षैकयोजनमितो गिरिकूलनीभिर्द्वीपोऽस्ति मेदुरतम किल जाम्बुनाम ।
यो विश्ववैभवगणे विभवप्रधानो, यत्रस्थितास्तनुभरा सुखिन सदैव ।

८— सा यत्र सौजन्यविचारमुख्या, सराजते भारतभूरमाघा ।
देवैर्मनुष्यैरपि किन्नराद्यै र्या श्लाघ्यते श्लाघ्यतमा सदैव ।

९— नद्य सतोया गिरयो महान्त कालत्रयज्ञा मुनयश्च शान्ता ।
मत्यश्च नार्यो पुरुपा गुणज्ञा, धान्यादिसम्पद्विपुला च यत्र ।

१०— दीर्घायुपो यौवनशालिदेहा रम्भाकलारावपरा विशोका ।
ते निर्जरा या बहुकामयन्ते मन्ये ततो भारतभू प्रधाना ।

११— विद्याप्रभावे कमलानिधाने, शिक्षाप्रधाने विनयैकमूले ।
सद्योगियोग्ये सकलेष्टपूरे, पुण्येन जन्तु र्लभतेऽत्र जन्म ।

१२— वर्गेत्र देशोऽखिलदेशमान्य पिशाक्षमातेजमहामहेभ्य ।
सराजते व्यायतधन्वनामा, धर्मप्रधानो गुरुदेवभक्त ।

१३— कैलाशकल्पा क्वचिदन्तराले, यत्रास्ति सा सैकतपुञ्जमाला ।
गम्यस्तथाप्येप विचित्रमेतत् सर्वैर्मनोवाछितवस्तुदायी ।





१४— तत्रास्ति पालीनगरी विशाला, नामानुकूला बहुरक्षिका च ।
धर्मप्रधाना नगरीप्रधाना व्यापारसिद्धा विदिता हरित्सु ।

१५— मन्ये च या सिन्धु नदी नदाश्च, सन्तर्जयन्तीव सगौरवेण ।
केषां न मोदाय विराजतेत्र का साऽलका केवलनामगम्या ।

१६— गव्यं प्रभूतं विपुलं च धान्यं, सुस्वादुमिष्टान्नमथातिशाकम् ।
स्वर्गांगनाभा ललना ललामा-स्ते श्रेष्ठिनो यत्र विभान्ति विज्ञाः ।

१७ — श्रीजैनधर्मं सदयो विशिष्टं यत्रास्ति दैवादधुनाधिमस्य ।
तस्मिन्न केषां श्रुतिगोचरोभूत्सोलंकिवंशोऽमरशाखिरूप ।

१८— वंशेऽतिपुण्ये शुभकर्मकारी जज्ञे धनी पावनवृत्तरम्य ।
श्रीमान् यशस्वी कुलवारिजार्को भाग्येन शेषाग्रमलाभिधान ।

१९— अर्थानुकूला गुणराजयोस्मिन् प्रादुर्बभूवुर्जलधौ तरंगा ।
कास्कान्न लोके कुरुते गुणौघो नैजाग्निपद्मभ्रमराभिवृत्तीन् ।

२०— शाखीव नाऽकेऽमृतपायिनां यो दाता पराशापरिपूरकोऽभूत् ।
सोलंकिवंशे नितरां रराज पुण्यं कृतं धावति धावतीह ।

२१— श्रीकेशराख्या गृहिणी तदीया जज्ञे गुणैश्चारुतमैर्विशिष्टा ।
नामापि यस्या निखिलागिधार्यं रेजे च या येन सचोव धन्या ।

२२— सा चेष्टभार्या भुवि या स्वभर्तु स्वान्तानुगा स्याच्छुभशीलभूषा ।
भैमी नलस्य कियता न चास्ये, सस्तूयते शीलपरापरा वा ।

२३— पुण्यात्मनो सौख्यमनल्पमेतयोर्भुंजानयोर्मंक्षु गता हि वासरा ।
कालेन कुक्षौ शुभभाग्यराशि दधे च गर्भे गृहिणीमलस्य ।

२४— प्रासोष्ट माता समये सुखेन, सत्पुत्ररत्नं शुभयोगयोग्यम् ।
श्रुत्वा शिशोर्जन्म मुदो न पारं, लेभे पितासौ निजवंशभानु ।

२५— जाते सुते पुण्यनमे च तातो, माता तथा बान्धवमित्रवर्गः ।
लेभे यथानन्दमहो तथा त्वं, वक्तुं क ईशः शरदां शतैश्च ।

२६— हर्षाच्छिशोर्नाम चकार तातो, वितानकूलं सह बान्धवैश्च ।
मिश्रीतिमल्लो महता महेन, मिष्टान्नपानाम्बरदानपूर्वम् ।

२७— केलिप्रियोप्येष प्रभावधीरो, बाल्यैविनोदैः सह पांशुलोलैः ।
क्रीडंश्च बालैर्नितरां जहार, चेतांसि पित्रोरपि बान्धवानाम् ।

२८— दैनन्दिनं वृद्धिमवाप बालः शुक्ले शशीव प्रबलप्रभाव ।
बालोपि बालश्चटुलोक्तिदक्ष सर्वेषु बालेषु बभूव मुख्य ।

२९— शास्त्रिप्रधान किल केन गोप्य शिशुर्गभस्मिन्स्त्विव निगमस्थमे ।
दृष्ट्वास्य सर्वे विपणा विशिष्टामाश्चर्यभाज कतमे बभूवु ।

३०— कण्ठीरवस्याभकवद्विरेजे, बालोऽयमार्यो विभयो यशस्वी ।
सूर्यस्य बिम्ब फलवाञ्छया वै जग्राह सूनु पवनस्य किम् न ।

३१— प्रातिष्ठिपच्चाऽरुमिम पिता स, विद्यालयेऽध्यापकपादमूले ।
अल्पेन कालेन धिया निधाना, जज्ञेऽनिशिक्ष श्रुनिमात्रतो हि ।

३२— अध्यापकाश्चास्य निरीक्ष्य बुद्धि लेभेऽनिदर्प विषयेऽखिलेपि ।
धत्ते पद ना किल यन्यचित्ते चातुर्यगाम्भीर्यमुखा गुणौघ ।

३३ — निस्सारसंसारविलासवारो भद्राय नान्ते निखिलञ्च मिथ्या ।
स्याच्चेत् सुख चात्र तथ प्रवीणा राज्य समृद्ध मुमुचु क्षणेन ।

३४— वैराग्यभावाकुलना यदाऽस्य, शान्तात्मगेह पदमाश्वेऽलम ।
तावद्गुरुर्वृद्धमलाभिशानो, भाग्येन पाली समलञ्चकार ।

३५— श्रुत्वागति जैनसमस्तसघ, प्राजीगमत सन्मुखमस्य मक्षु ।
हर्षा न केषा समुदेति चात्र चिन्तामणौ पाणिगते प्रयासात् ।

३६— तत्स्वागतार्थं मह सवरेन, बालोप्यसौ शुद्धमना जगाम ।
कृत्वा गुरोर्दर्शनमात्मनोपी मेने जनुर्धन्यतम नितान्तम् ।

३७ - शैले मृगारीव गुरु सुपाटे, राजश्च चारित्र्यमणिप्रभाभि ।
व्याख्यासुधा श्राद्धजनान्तरेभ्य प्रापी पिबन्छास्त्रपयाविपार ।

३८— वैराग्यमार्ग विधिवन्निशम्य, वाणी गुरोर्बालक एप भव्य ।
दीक्षा ग्रहीतु मनस प्रवृत्तिञ्चक्रे क्रिया सत् फलत्यमोघे ।

३९— दीक्षाग्रहे वीक्ष्य मनस्तु तस्य मोहेन मुग्धो जनको बभूव ।
वशस्य केतु सहसा विहातु कस्को जनो वाञ्छति पुत्ररत्न ।

४०— ह्यापि बालो गुरुणा सहैव, पद्भ्या विहर्तु मुदितो बभूव ।
सस्कारितात्मा भवभावलाभैर्ना बध्यते क्वापि विशुद्धनाथ ।

४१— आनीय पुत्र निजगेहमध्ये, द्वार पिधायावरुरोध तात ।
वैराग्यरगाञ्चितशुद्धवृत्तेर्मीवा त्रने तादृश एव चासीत् ।

४२ — मधा तदीयातिदृढा हि तात दीक्षाकृते साधु वशीचकार ।
प्रादायि चाज्ञा विधिराजयोग, क शक्तिमान् खण्डयितु मनस्वी ।

४३ — बालापि याग्या गुरुराट् तथैव, भाग्येन योग सुधियो भवेद्धि ।
लब्ध्वाज्ञयाऽस्गे मुमुदे शिखीव, पर्जन्यरावेणलसत्प्रताप ।





४४— बाणाद्रिनन्देन्दुमिते हि वर्षे वैशाखमासे सितवह्निघस्रे ।
श्रीसोजताख्ये नगरे महेन, दीक्षा ग्रहीताऽशुभकर्महन्त्री ।

४५— दीक्षा च शिक्षा समकालमेव, स्वात्मीकृताऽनेन गुरूदयेन ।
राज्यञ्च पैत्र्य रिपुवाहिनीञ्च, गृह्णाति किं नो भुवि राजसूनु ।

४६— सस्कारित साधु चकार सेवा, वृद्धादिमल्लस्य गुरोस्त्रिवाऽयम् ।
सेवा गुरूणाम् मफली भवेच्चेत्-प्राप्य ततोन्यच्च किमस्ति लोके ।

४७— द्वात्रिशसूत्राध्ययनैकदक्षो, जग्राह सार जिनभारतीयम् ।
शब्दे च तर्के परशास्त्रबोधे, वेलेव सिन्धो प्रसृताऽस्य वुद्धि ।

४८— दाक्षिण्ययोगाज्जनराजिमध्ये, ख्याति मुलेभे मुनिरेप सद्य ।
ध्वान्त विनाश्यैव हरित्सु भानुर्धत्ते पद त्विन्न च राजमान ।

४९— व्याख्यानदाने कवितावि‍नोदे, लोकोक्तिवादे परवोधने च ।
काप्यस्य शक्तिर्हृदये रराज, प्राग्जन्मदत्त फलतीह सर्वम् ।

५०— शुश्रूपमाणे सुगुरौ दिनानि, श्रौतार्थतत्त्वान्तरवुद्धिवोधे ।
यातानि कालो महता सदैव, सत्कर्मणा याति शिवाध्वहेतु ।

५१— ससार एप क्षणभगुरो हि, नित्या स्थिति कस्य न चात्र दृष्टा ।
कालस्य पन्था कुटिल करालो, नापेक्षते क समये कदाऽयम् ।

५२— पञ्चाष्टनन्देन्दुमिते हि वर्षे, निर्वाणमाच्छंद्‌गुरवुद्धमल्ल ।
नाम्ना गुणै को गुरुराजमेन, वक्तु समर्थो गुरुगौरवाढ्यम् ।

५३— यातेऽव्यये वारिधिधीरभावो, मिश्रीतियोगी स्वगुरौ दयालौ ।
तत्पाटराजी गुरुता दधान सर्वाङ्गिमान्य समभूत् क्षणेन ।

५४— शोको गुरूणा मनसोन्तराले, कीदृक् कथ तस्य स एव वेत्ता ।
ज्ञानी यथा ज्ञानमहामाहात्म्य, जानाति नान्यो विषयी विबोध ।

५५— वैराग्यभूमिर्मुनिरेष धीमान्, मद्योतयामास समाजमध्ये ।
आख्याङ्गुरोश्चारुविचारधामा किं हेलिरश्मिर्नच हेलिरूप ।

५६— ध्यानक्रियाब्रह्मतप समाधियोगैश्च योग्यैर्मुनिमिष्टमल्ल ।
वन्वे विहार परितो विशेषात्, कुर्वन्न केपा विदितो वभूव ।

५७— शक्तिश्च मा कापि यया मुनीशो निर्दम्भनिर्भीविचरत्यल कौ ।
भद्राणि कार्याणि वचोविलासै सङ्कारयत्यत्र वहूनि योगी ।

जैना परे वैतत्कार्यशैली दृष्ट्वा जहर्षु प्रकृतिर्गुणानाम् ।
ग्राह्यो गुणज्ञ सकलै सदैव, नो पक्षपातो गुणगम्नि पुमि ।

५६— वाणी यदीया श्रुतसारपूना, नार्यो नरा वा भवभावभेत्रीम् ।
श्रुत्वा कियन्तो विरता बभूवु, सिद्धि सदा यान्ति महामुनीनाम् ।

६०— उत्पातवृन्द्रे पुरतोऽस्य नेपि वादे कदा नो जयिनो बभूवु ।
शैलप्रमाणापि घटा गजाना, का रक्तवक्त्रैणपते पुरस्तात् ।

६१— उभ्येऽऽकेशे ननु दीनवर्गे स्वीये परे वा गतपक्षपात ।
वक्ता यथार्थस्य यतोऽखिलेषु, मिश्रीतिमिष्टोऽपि पटुप्रवाद ।

६२— सर्वत्र सर्वेषु समानबुद्धिर्यावा भवेत् सोत्र महामहात्मा ।
भेदे जिनाज्ञो वत दोषपातो रक्षा ततोऽस्या मुनिभि गुरुर्यो ।

६३ -- मिथ्यान्धकारम् निजवाग्दीप्त्या, सञ्चरमाणा हरतेऽखिलानाम् ।
श्रेयो ह्यया कीर्तिकर सदैव कस्को न वाञ्छेद्वि विना समूढम् ।

६४ -- उग्र विहारी मुनिराजिचारी, वाग्मी जिनादिष्ट प्रप्रपाली ।
चञ्चन्मुनिश्चैव जन सुभापी, तोष्टूयमानो नितरा विभाति ।

६५— विद्याधन सर्वधनप्रधान, बुद्धयेति सर्वत्र मुनीश एप ।
विद्याभिवृद्ध्यै विमलोपदेशै प्रावोधयच्छ्रावकवर्गमादौ ।

६६— प्रोद्घाटिता येन पुरे पुरेत्र विद्यालया जीवनसारभूता ।
दरथङ्गदं पीडितजीवराशे, कल्याणहेतोर्विविधौषधीक ।

६७— धन्या जनि सैव यका जनाना दु खौघनाशाय सदोद्यतास्ति ।
जीवन्ति नश्यन्ति परे मुधात्र, सज्ञा पर हा गणनाभिकाले ।

६८— नन्दाष्टनन्देन्दु मिते च वर्षे, मासे शुभे फाल्गुनशुल्क वह्नौ ।
पाल्यामभून्मेलनमार्यवृत्त्या, धन्वीयपट्पूज्यमुनीश्वराणाम् ।

६९— तस्मिन् गुणैस्तस्य विकृष्टचित्तै प्रादायि तन्मन्त्रिपद मुनीशै ।
मत्सम्प्रदाये रघुनाथकस्य, योग्ये रुचि कस्य भवेन्न पुसि ।

७०— या सादडी कस्य न कर्णमूला, व्योमोन्नत यत्र विभाति दिव्यम् ।
गुर्वादि कौन मुनिभिश्रिकीर्ति सद्योतयद्दिक्षु प्रकाशमानाम् ।

७१— सघे तथा यत्र विभेदताऽऽसीत्तत्रापि मेल मुनिरेप चक्रे ।
शक्ते प्रभाव किल चेदृशास्ति सर्वत्र सा नो विरले च पुसि ।

७२— गोगोष्ठदीनादिमहत्तरेभ्य सन्दापित दानमनेन भूरि ।
पद्माविरामोपि गुणैजनेभ्य कल्पायते या मरुदेशसिंह ।

७३— मघट्टन नित्यममी करोति, धर्मर्द्धिहेतोर्जिनशासनस्य ।
वकसघकस्य, मघे कलौ शक्तिरपूर्वशस्त्रम् ।





४४— वाणाद्रिनन्देन्दुमिते हि वर्षे वैशाखमासे सितवह्निघस्रे ।
श्रीसोजताख्ये नगरे महेन, दीक्षा ग्रहीताऽशुभकर्महन्त्री ।

४५— दीक्षा च शिक्षा समकालमेव, स्वात्मीकृताऽनेन गुरूदयेन ।
राज्यञ्च पैत्र्य रिपुवाहिनीञ्च, गृह्णाति किं नो भुवि राजसूनु ।

४६— सस्कारित साधु चकार सेवा, वृद्धादिमल्लस्य गुरोस्त्रिधाऽयम् ।
सेवा गुरूणाम् सफली भवेच्चेत्-प्राप्य ततोन्यच्च किमस्ति लोके ।

४७— द्वात्रिंशसूत्राध्ययनैकदक्षो, जग्राह सार जिनभारतीयम् ।
शब्दे च तर्के परशास्त्रबोधे, वेलेव सिन्धो प्रसृताऽस्य वृद्धि ।

४८— दाक्षिण्ययोगाज्जनराजिमध्ये, ख्याति सुलेभे मुनिरेष सद्य ।
ध्वान्त विनाश्यैव हरित्सु भानुर्धत्ते पद किन्न च राजमान ।

४९— व्याख्यानदाने कविताविनोदे, लोकोक्तिवादे परबोधने च ।
काप्यस्य शक्तिर्हृदये रराज, प्राग्जन्मदत्त फलतीह सर्वम् ।

५०— शुश्रूषमाणे सुगुरौ दिनानि, श्रौतार्थतत्वान्तरबुद्धिबोधे ।
यातानि कालो महता सदैव, सत्कर्मणा याति शिवाध्वहेतु ।

५१— ससार एष क्षणभगुरो हि, नित्या स्थिति कस्य न चात्र दृष्टा ।
कालस्य पन्था कुटिल करालो, नापेक्षते क समये कदाऽयम् ।

५२— पञ्चाष्टनन्देन्दुमिते हि वर्षे, निर्वाणमाच्छद्गुरुवृद्धमल्ल ।
नाम्ना गुणै को गुरुराजमेन, वक्तु समर्थो गुरुगौरवाढ्यम् ।

५३— यातेऽव्यये वारिधिधीरभावो, मिश्रीतियोगी स्वगुरौ दयालौ ।
तत्पाटराजी गुरुता दधान सर्वाङ्गिमान्य समभूत् क्षणेन ।

५४— शोको गुरूणा मनसोन्तराले, कीदृक् कथ तस्य स एव वेत्ता ।
ज्ञानी यथा ज्ञानमहामाहात्म्य, जानाति नान्यो विषयी विबोध ।

५५— वैराग्यभूमिर्मुनिरेष धीमान्, सद्योतयामास समाजमध्ये ।
आख्याद्गुरोश्चारुविचारधामा किं हेलिरश्मिर्नच हेलिरूप ।

५६— ध्यानक्रियाब्रह्मतप समाधियोगैश्च योग्यैर्मुनिमिष्टमल्ल ।
धन्वे विहार परितो विशेषात्, कुर्वन्न केषा विदितो बभूव ।

५७— शक्तिश्च सा कापि यया मुनीशो निर्दम्भनिर्भीविचरत्यल कौ ।
भद्राणि कार्याणि वचोविलासै सङ्कारयत्यत्र बहूनि योगी ।

जैना परे वैतत्कार्यशैली दृष्ट्वा जहर्षु प्रकृतिगुणानाम् ।
ग्राह्यो गुणज्ञ सकलै सदैव, नो पक्षपातो गुणधाम्नि पुंसि ।

५९— वाणी यदीया श्रुतसारपूता, नार्यो नरा वा भवभावभेत्रीम् ।
श्रुत्वा कियन्तो विरता बभूवु, सिद्धि मदा वाचि महामुनीनाम् ।

६०— उत्पातवृन्दे पुरतोऽस्य नेपि वादे यदा नो जयिता बभूवु ।
शैलप्रमाणानि घटा गजाना, का स्कन्दवर्मेणपते पुरस्तात् ।

६१— दम्येऽरुकेशे ननु दीनवर्गे स्वीये परे वा गनाक्षपात ।
वक्ता यथार्थस्य यतोऽखिलेषु, मिथ्रीनिमिष्टो न न्द्रवाद ।

६२— सर्वत्र सर्वेषु समानबुद्धिर्योवा भवेत् मोन्न सन्नामहात्मा ।
भेदे जिनोक्तौ यत दोषपानो रक्षा ततोऽस्या मुनिभि सुकार्या ।

६३— मिथ्यान्धकारम् निराबाधदीप्त्या, गच्छन्क्रमाणा हरतेऽखिलानाम् ।
श्रेयो ह्या कीनिज सदैव कस्मो न जातेऽद्वि विना सुमूढम् ।

६४— उग्र विहारी मुनिराजिनारी, वाग्मी जिनादेशप्रचारी ।
चन्दनमुनिश्चैष जन ममापी, तोष्टूयमानो निगग विभाति ।

६५— विद्याबल सर्वबलप्रधान, बुद्धयेति नतत्र मुनीश एष ।
विद्याभिवृद्ध्यै विमलोपदेशै प्रायो प्रचक्रारा वकमादौ ।

६६— प्राद्राटिता येन पुरे पुरेन विद्यालया जीवनसारभूता ।
दयधर्मदे पीडितजीवरागे, रक्षाणहेत्वार्विविधैरपीक ।

६७— धया जनि सैव यका जनाना दुर्बोधनाशाय मदोन्नतास्ति ।
जीवन्ति नश्यन्ति परे मुधात्र, सज्ञा परहा गणनाभिकाले ।

६८— नन्दाष्टनन्देन्दु मिते च वर्षे, मासे शुभे फाल्गुनशुक्ल बह्नौ ।
पाल्यामभून्मेलनमार्यवृत्या, धन्वीयपद्पूज्यमुनीश्वराणाम् ।

६९— तस्मिन् गुणैरस्य विकृष्टचित्तै प्रादायि तन्मन्त्रिपद मुनीशै ।
सत्सम्प्रदाये रघुनाथकस्य, योग्ये रुचि कस्य भवेन्न पुसि ।

७०— या सादडी कस्य न कर्णमूला, व्योमोन्नत यत्र विभाति दिव्यम् ।
गुर्वादि कौल मुनिभिश्चिकीर्ति सद्योतयद्दिक्षु प्रकाशमानाम् ।

७१— सघे तथा यत्र विभेदताऽऽसीत्तत्रापि मेल मुनिरेष चक्रे ।
शक्ते प्रभाव किल चेदृशास्ति सर्वत्र सा नो विरले च पुसि ।

७२— गोगोष्ठदीनादिमहत्तरेभ्य सन्दापित दानमनेन भूरि ।
पद्माविरामोपि गुणैजनेभ्य कल्पायते या मरुदेशसिंह ।

७३— सघट्टन नित्यममी करोति, वर्मद्धिहेतोर्जिनशासनस्य ।
ग्रामे पुरे श्रावकसघकस्य, सघे कलौ शक्तिरपूर्वशस्त्रम् ।



७४— धन्वे प्रचारो मुनिना ह्यकारि धर्मस्य तस्मान्मुदितो हि सघ ।
धन्वेणसिंह पदमित्थमस्मै युक्त ददौ तत्र गुणा हि हेतु ।

७५— व्यस्तारि धर्मो जिनशासनीया नादस्तथाऽकारि दयापदव्या ।
प्रादायि यस्मै पशुभिश्च चाशीर्योगिश्चिरजीव त्विति त्राणे ।

७६— यो दीपयामास धिया मुभूमि, पाट गुरो श्रीरघुनाथकस्य ।
पात्रे च शिष्ये विमला क्रिया वै, सद्य फलन्तीह विकारमुक्ते ।

७७— मन्ये प्रसू सा वरकेशराख्या कुक्षौ च यस्या सुत ईदृशोऽभूत ।
येनात्र भूम्ना वृषवैजयन्ती चारोपिता शासनयूपमूर्ध्नि ।

७८— पत्युर्ग्रहाणा पुरतो दशा या दीपस्य सैवास्य पुर परेषाम् ।
जाता, प्रभावो महता सदैव सवत्र सर्वेषु पद विधत्ते ।

७९— ग्रन्था कियन्त कविकोविदेन, विनिर्मिता उत्तमबोधपूरा ।
आस्येऽस्ति यस्यामरभारती सा मन्ये च सिद्धि करपङ्कजेऽलम्।

८०— ध्यानस्थराजद्गुरुबुद्धमल्ल-पादाब्जरोलम्बमृगारिरेष ।
तत्पाटसिंहासनमार्यमार्ये सन्दीपयत्यत्र मरौ समस्ते ।

८१— यत्कीर्तिपद्मा सुखदा मनोज्ञा, चान्द्रीव ताप हरते बहूनाम् ।
अद्यापि य कीर्तिरमाप्रमादात् सम्पूज्यते देव इवात्र पुम्भि ।

८२— सा सादडी सादरपूजिताऽभूत् सम्मेलनेनैव महामुनीनाम् ।
तत्रापि वादे मुनिरेष रेजे चक्रीव भूपेषु रणोद्यमेषु ।

८३— जैनागमेष्वन्यप्रसिद्धशास्त्रे, दक्षस्य चास्य प्रतिवादिनस्ते ।
मूका इव क्षीणप्रभावशून्या के के न जाता प्रथित यशोऽत ।

८४— आचार्यमुख्या मुनयोऽपि चासन् गम्भीरवादस्य विप्रश्निकायाम् ।
वक्ता यथाय निरपेक्षतोऽभून्नान्यस्तथा केपि वदन्ति विज्ञा ।

८५— मस्यास्य कीर्ति मुनिमेलनेऽस्य, देवेष्विवाचार्यगुरुर्महीयान् ।
बभ्राम भूयस्तकसिद्धयेऽल, धन्वान्तरालेषु पुरान्तरेषु ।

८६— श्रीसोजते मन्त्रिमहामुनीना निर्व्याजमाकार्यपरम्परायाम् ।
सन्दर्शयामास प्रभावमेष, शान्त्या यत सिद्धिरभूत क्षणेन ।

८७— शैलेन्द्रप्रस्थावलिमिन्द्रशस्त्र मेघावलि वायुरिवाति गाढाम ।
दारिद्र्यशाप तरुवरमुराणा चिच्छेद मिश्र सकल विवादम् ।

८८— तद्द्वेषभाजा अपि ये महान्तस्तद्वाक्-छटाभि स्वयमेव लीना ।
अग्रे मृगाणा सरितो गति का वर्षाभिकाले प्रचलन्नदीनाम् ।

८९— इत्थं मुनिर्मिष्ट महार्थनामा वीरत्ववात्सल्यपटुत्वभावान् ।
सम्मेलनादौ बहुधा विधाय, नगाजनस्तत्कगुणाभिरामः ।

९०— कार्याणि भूरीणि निजोपदेशैश्चक्रे मुनिः मारुपरापराणे ।
येनात्र देशे परदेशकेतु, सिंहाभिधानेन प्रसिद्धिमेति ।

९१— शून्येन्दुशून्याक्षिमिते च वर्षे श्रीमद्विनाडोत्तमयाचकेन ।
सम्प्रार्थितोऽत्र विनयेन योगी, वर्षाध्विवासाय रवीन्द्रमिश्रः ।

९२— स्वीकृत्य तेषां विनतिं महात्मा, सम्स्वागतेन प्रमाविवशः ।
व्याख्यासुधाभिर्नविना मनांसि, प्रीतोपयत्नाकरताप्रवीणः ।

९३— तत्रास्ति नाम्ना पुरि दाणगङ्गा सदाच्छतोया विमलप्रवाहा ।
पाठीनराजिर्निजकल्लोला, मराजने यत्र निभाऽत्नीया ।

९४— तान् प्रियतो मुस्लिममनोऽभिमान गच्छन्मुनिः स्थण्डिलभूमिकायाम् ।
दैवेन दृष्ट्वा करुणापयोधिस्तान् शान्तवृत्त्या प्रथमं न्यषेधीत् ।

९५ क्रूराः प्रकृत्या यवना हि हिंस्रा वाराम्भसा स्युः क्षितिकाय शकाः ।
नो मेनिरे वाचमयीं हसन्तो, मूढा यथा ज्ञानिवचः प्रमाणम् ।

९६— वैदग्धिकं वञ्चनं तत्र काजी पीनाङ्गयष्टिर्निनरां विमूढः ।
पार्श्वेऽस्य जग्मुस्त्वरितञ्च बालाः वत्सा यथा मातरमाव्रजन्तीम् ।

९७ श्रुत्वा च काजी मुनितर्जनादि, सोऽपि च यात्रु नशमान्वरोषः ।
मूढो विचारे मुनिमेष हन्तुं, व्याधो यथा गां करयष्टिकोऽभूत् ।

९८— रक्तेक्षणश्चाशु मुनेः शरीरे, हा यष्टिवृष्टिं विदयश्चकार ।
दम्भोनिपातं गिरिवन्मुनीशः, समोढवान् कर्मप्रधानमत्वा ।

९९— कालादनादेर्महता स्वभावश्चार्थो परस्यात्मसमर्पणं हि ।
छायां करोत्येव तरुः स्वभेत्तुर्नु मूर्ध्निगन्धो हि तथा कुठारे ।

१००— अन्यायमेतं मुनिरूपचन्द्रो, दृष्ट्वाऽऽह तं सौम्य! करोषि किं त्वम् ।
वाणी सदा मिष्टमयी मुनीनां, शैत्यं हिमांशोरिव राजनऽत्र ।

१०१— तस्मिन्नपि म्लेच्छजनैस्त्वरैव, चक्रे प्रहारं लगुडैः कियद्भिः ।
शान्तिः खलेभ्यो न च रोचतेऽत्र नीतिर्यथा गृध्नुमहीपकेभ्यः ।

१०२— मिश्रीमुनिर्मौनितयैव धीरः, धर्मैक एवागमदायभावः ।
कष्टे प्रभूतेऽपि जगाद नैव, श्राद्धान् परान् वा प्रतिशान्तचेताः ।

१०३— ज्ञातं महानिष्टमिदं जनौघैः सर्वत्र वार्ता प्रससार सद्यः ।
श्लाघ्यमानो भवतीह केषां, शोकाय नो हेऽसिनि राहुयोगः ।





१०४— दुष्टो विमूढो यवनो दुरात्म पाणिङ्गनोऽभूल्लगुडप्रहारी ।
रुद्ध खलोऽसौ नगरान्तरीयैर्भेद विहायैव मुनिप्रताडी ।

१०५ — हन्तव्य एप श्रमणप्रहारी, सर्वैमिलित्वेति मिथो न्यगादि ।
केचित् मकोपा लगुडैस्त्वरैव, चाङ्गाभिभङ्गोऽस्य विधेय आहु ।

१०६— इत्थञ्च तान् शान्तिपदाभिलाषी, क्रुद्धानहो धैर्यपदावलम्बी ।
मिश्रीति योगी सदयो न्यपेधीत् पन्था सदा शान्तिमयो मुनीनाम् ।

१०७— जिनवचनप्रमाणी योगिराट् वा परो वा, परकुशलविघाती जायते नो कदात्र ।
कुमतियवनमल्ले योगिमिश्रीर्दयावान्, समजनिशिवमार्गश्चान्यथा लभ्यते कै ।

१०८— निजचरणरताना भक्तिभाजा नराणामुपरि यदि दयालु स्वार्थता तत्र हेतु ।
परमरिपुजने योऽवाच्यवादोक्तिनिघ्ने, भवति सदयभाव स मुनि कैर्न वन्द्य ।

१०९— शशिनि हिमकदम्बे चन्दने शीतता या, सुमुनिगणमकाशात्तैरलम्भीति मन्ये।
कनकरजतमणीना भूषणान्यत्र पुसामथ परममुनीना भूपण शान्तिरेव ।

११०— अतिविदयप्रहारै पीडितोप्येप योगी मधुरवचनयोगाद्बोधयामास सर्वान् ।
असु-रहितकृतेस्मिन् सज्जना कात्रसिद्धिर्निवनपथविचारस्त्यज्यता त्यज्यता भो ।

१११— भद्राभिवाछी मुनिराह भूयो म्लेच्छैरमीभिर्यवनै समस्तै ।
सन्धाश्च तिस्र परिपालनीया कल्याणवाछा ननु चेदमीपाम् ।

११२— मीना न मार्या जलहर्म्यभाजो, निष्काषनीयो यवन प्रहारी ।
कार्यास्तथाजा अमरा इदानी, तैर्गेकविंशा प्रतियष्टिसख्या ।

११३— वृत्त मुनीना परम पवित्र यत्ते सहन्ते स्वयमेव कष्टम् ।
नो चेत्स्थिरेय धरणि कथ स्याद् धर्मस्य पन्था हि सदोज्ज्वलोऽत्र।

११४— इत्थ समाधानमय मुनीशो धर्मैकनिष्ठ पुग्तो समेपाम् ।
चक्रे च सर्वैर्यवनैर्मिलित्वा, सर्वं च तत् स्वीकृतमेव सद्य ।

११५— हिंसापि नाभूत्प्रथन वृषस्य, जाता च सिद्धिर्मुनिवाक्प्रमाणा ।
देहो विनाशी ममता मुधा का, पाठोऽयमस्मान्निखिलैरपाठि ।

११६— ये राजकीया पुरुपा प्रधाना आसन्मुनेर्वृत्तमिद समीक्ष्य ।
कर्तव्यमूढाश्चकिता बभुवु शिक्षा च शान्तेर्हृदयेपु दद्यु ।

११७— अङ्गाभिभङ्गेऽपि सुशान्तभावो दुष्टे मुनिश्चैष कृतापराधे ।
इत्थ ब्रुवाणाञ्च मिथोऽखिलास्ते, श्रद्धायिता स्वैरमयुर्यथेष्टम् ।

११८— वृतान्त एप त्वरित दिशासु, प्राजीगमद भेव दिवाकरस्य ।
श्रुत्वा हि भक्तेपु पद दधाते, साक व्यथाकारकमन्युशाकौ ।

११६— तद्वृत्तबोधाय च दर्शनाय श्राद्धा कियन्तस्त्वगित प्रचेलु ।
श्रुत्वा न कि यान्ति भटा रणाग्रे, कष्टे परीक्षा भवतीह पुमाम् ।

१२०— वृष्टिम्नदाऽभूद् हरिदम्वगत्मा याऽदृष्टपूर्वा घनतारकाणाम् ।
जैपूरराज्येऽथ मुने प्रवृत्ति काम्कान्न सभ्यान् विकलीचकार ।

१२१— भूपालदिक्पालप्रधानभृत्यौ, दृष्टा न चेत्थ किल नाग्वृष्टि ।
कोय मुनिर्यस्य कृते प्रयासो जाजायते जैनसमाजमध्ये ।

१२२— जैनेषु मिश्रीमुनिराज एष स्यात पुरासीदधुनाऽखिलेषु ।
पूज्येषु मान्येषु मुनीश्वरेषु विघ्नोपि भद्राय नयातिकीर्त्यै ।

१२३— यैर्वृत्तमश्रावि मुनेरिद हि, शान्तोदश्रेम्तैर्जिनवापभाणाम् ।
प्राशमि धर्मो मुनिराड् विशेषाल्लोकोत्तरे पुसि न पक्षपात ।

१२४— इत्थ विलाडानगरे स्वकीर्ति सस्थाप्य मिश्री गुरुगौरवाढ्य ।
वर्षान्तकाले विहृतिञ्चकार, नैकत्रवासा मुनयो भवन्ति ।

१२५— अस्वस्थदेहेऽपि जिनस्वगणामाज्ञानुवर्ती प्रतिपौरमेप ।
गच्छञ्जनान् धमपथे प्रभावी सस्थापयत्याशु निजान्परान्वा ।

१२६— विलाडानगरादेपोऽस्वस्थोऽपि दिव्यसत्वत ।
विहरन्नाययो पाल्या यत्रासन् मुनयस्त्विमे ।

१२७— सदानन्दमना शिष्यै प्रशिष्यैश्चाथ सेवित ।
स्थवीयान् शक्तिमान ध्यानी, श्रीमच्छार्दूलसिहक ।

१२८— उपाचार्यपदासीना गणेशीलालयोगिन ।
इतरेऽपि महाभागा मुनय श्रुतशालिन ।

१२९— सध्रीचीना व्यवस्था वै, सघस्य तत्र नाभवत् ।
यत्नेनास्य मुनेस्तत्र स्थापित श्राद्धसघक ।

१३०— वालोतरामहापोरे गत्वैते मुनिपुङ्गवा ।
दिव्योपदेशदानेन स्थापितस्तत्र सघक ।

१३१— तत्रासीद्द्वहुभिवर्षै मिथ सघे विभेदता ।
साऽभेदि शान्तिनो मान्यैरिन्द्रेणेव गिरिव्रज ।

१३२— नाकोडापार्श्वनाथेऽभूत् सघो हि मिलितस्तदा ।
तस्य प्रार्थनया तत्र जग्मुरेते तपस्विन ।

१३३— सघैक्ये मुनिभिस्तेभ्यो दत्तोपदेशमालिका ।
रागद्वेषौ विहायैव कार्यं कार्यं प्रयत्नत ।



१३४— इत्थ सर्वत्र सघैक्यस्थापनाविषये सुधी ।
परामर्शञ्च प्रस्तावाश्चक्रे शासनवृद्धये ।

१३५— साचोरादिप्रदेशेषु प्रथम पदमादधे ।
प्रतिपौर प्रतिग्राम यश स्तम्भ नियोजयन् ।

१३६— श्रीक्षावनगरे रम्ये चन्द्रभूशून्यनेत्रके ।
राकाया चैत्रमासे च शुभोदयशुभाशके ।

१३७— महोत्साहेन सघस्य वाद्यघोषपुरस्सरम् ।
दीक्षाऽभत्पूर्णमल्लस्य श्रीमन्मत्रिमुनिस्थितौ ।

१३८— महादीक्षा ततो जाता दास्पानामपुरान्तरे ।
तत्रापि वरसघेन महोत्साह प्रदर्शित ।

१३९— जालोरनगरे तस्मादाययौ मन्त्रिराडयम् ।
वार्षिकपारणाहेतोस्तत्रासीद्वापिक तप ।

१४०— दुन्धाडानगरे चासीत्स्वामिनारायणो मुनि ।
सर्वमान्य प्रसन्नात्मा तदानी रोगपीडित ।

१४१— तन्निरामयपृच्छाया धन्वेणकेसरी तत ।
दुन्धाडानगरे रम्ये प्राढौकिष्ट महायशा ।

१४२— समदडीमहापुर्यां दुन्धाडायान्तथैव च ।
सघैक्यस्थापना चक्रे मुनिनाऽनेन मन्त्रिणा ।

१४३ — पालीपुर्या महापुर्या ततोऽय अग्निवान् मुनि ।
सीवाणास्थमहासघश्चाययौ तत्र शावत ।

१४४— सेवाणापौरसघेन चातुर्मासाय प्रार्थित ।
रूपेन्दुमुनिना तत्र चातुर्मासाय सस्थित ।

१४५— चातुर्मासे पुरे तत्र धर्मकार्याणि भूरिश ।
जातानि ज्ञानवृद्धिश्च भाग्येन मुनिसगम ।

१४६— सघैक्यस्थापना तत्र श्राद्धानाहूय सर्वत ।
कारिता पुष्टये तस्य द्रव्यकोशोऽपि पुष्कल ।

१४७— प्रवचनपटुचारो न्यक्कृतानङ्गचार श्रुतकलगलहारस्तीर्थपादेशधार ।
मरुधरनृगनाथश्चातुरीसिन्धुपारो जयतु जयतु दीर्घ ज्ञानसिद्धान्तसार ।

१४८— श्रीमन्मुनीना गुणवर्णनेन, कल्याणमाला भवता जनानाम् ।
वुद्ध्येति तावच्चरित मनोज्ञ दृब्ध मया स्तात् पठना शिवाय ।

श्रद्धासुमन-समर्पण

शान्तिलाल व० सेठ

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान के उन विशिष्ट सन्तो मे से एक है जिनका समग्र जीवन बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, ही नही वरन् सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय व्यतीत होता है। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण करना सन्तो का सहज स्वभाव है। मुनिश्री ने सर्वसाधारण जनता का प्रवचनो और साहित्य सृजन द्वारा जो उपकार किया है, वह भुलाया नही जा सकता। उनकी देन महान् है। इस वृद्धावस्था मे भी वे सदैव परोपकार निरत रहते हैं। हम हृदय से मुनिश्री का अभिनन्दन करते है और कामना करते हैं कि वे चिरकाल तक जनता का पथप्रदर्शन करते रहें। एवमस्तु।



श्री धर्मदासजी महाराज

मुनिश्री रूपचंदजी 'रजत'



अहमदाबाद के पास एक सरखेजा नामक ग्राम था। वहा लगभग सात सौ भावसार रंगेरे जाति के सद्-गृहस्थ रहते थे। ये सभी लोकागच्छीय जैनधर्म के अनुयायी थे। इनका जीवन बडा ही सुखमय था। ये सभी श्रीसम्पन्न एव उच्चकोटि के व्यापारी थे। कालिदास के पुत्र जीवनदास भी उसी वर्ग के सौभाग्यशाली बन्धुओ मे से थे। वे स्वभाव से बहुत सरल, शात और उदार थे। उनके चरित्र की उच्चता एव व्यक्तित्व की गम्भीरता के कारण समाज मे उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। उनकी पत्नी हीरादेवी सुशील एव धार्मिक प्रवृत्ति वाली थी।

वि० स० सत्तरह सौ एक की चैत्र शुक्ला एकादशी को अर्धरात्रि के समय जीवनदासजी के यहा पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का जन्म भाग्यशाली नक्षत्रो मे हुआ। नवजात शिशु का नाम 'धर्मदास' दिया गया। आपका बचपन बडे ही सुखमय वातावरण मे बीता।

आठ वर्ष की अवस्था मे धर्मदासजी ने लोकागच्छीय जैन यति की पाठशाला मे अध्ययन प्रारम्भ किया। इन यति का नाम केशवजी था। व्यावहारिक एव नैतिक अध्ययन के साथ ही आपने धार्मिक शिक्षा भी वहा प्राप्त की। आपकी बुद्धि बडी प्रखर थी एव प्रश्नो का उत्तर आप इतनी गम्भीर तर्कपूर्ण शैली मे दिया करते थे कि सुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। दार्शनिक विषयो पर चर्चा करने की इनकी प्रवृत्ति देखकर केशवजी यति ने दर्शन के गहन तत्त्वो की व्याख्या आपको समझायी। आप सदैव दार्शनिक तत्त्वो के गूढ रहस्यो का चिन्तन किया करते थे। आपने लोकागच्छीय यति तेजसिंह से भी इस सम्बन्ध मे चर्चा की। आध्यात्मिक तथ्यो के अध्ययन, मनन और चिन्तन मे इनकी रुचि परिमार्जित हो गई और परमतत्त्व को जानने की इच्छा प्रबल हो उठी।

सासारिक विषयो के प्रति आपकी रुचि प्रारम्भ से ही नही थी। बचपन से ही एकान्तप्रिय एव कम बोलने वाले थे। अध्ययन ने इस वैराग्य की भावना को प्रोत्साहन दिया और आपने सन्मार्ग पर चलने के लिये किसी धार्मिक सम्प्रदाय मे दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया।

आप माता-पिता के बडे आज्ञाकारी थे। अत उचित अवसर देखकर धर्मदासजी ने अपने माता-पिता से विनयपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मागी। उनके वचनो को सुनकर माता-पिता और परिवार वाले आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने बहुत ही दयनीय स्वर मे कहा—"तुम ही तो हमारे एक मात्र जीवन के आधार हो, अन्धे की लकडी हो, यदि तुम ही हमे बेसहारा करके चले जाओगे तो हमारा क्या होगा ? इस प्रकार के शब्दो को कहते हुए सभी विलाप करने लगे। दुख और वेदना का इतना तीव्र प्रवाह बह उठा कि सभी कहना चाह कर भी कुछ नही कह सके।

धर्मदासजी के हृदय मे पूर्ण आस्था, स्थिरता एव धैर्य था। उन्होने सभी बन्धुओ को धैर्य, विनय और प्रेम से समझाया कि यह जगत् नश्वर है। मनुष्य काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह मे पडकर धर्म और दर्शन के तथ्यो को भूल जाता है। मनुष्य की यह काया भी नश्वर है और जिसने जन्म लिया है, उसे निश्चित रूप से एक दिन मृत्यु

मरुधरकेसरी जी की वंशावली



नोट: पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज आदि से अनेक शाखायें प्रशाखायें प्रवृत्त हुई है किन्तु केवल दो शाखाओं का ही उल्लेख किया गया है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्री मरुधर केसरीजी से है.

विशेष विवरण श्री मरुधर केसरी जी द्वारा निर्मित श्रमण सुरतरु में दिया गया है.

की गोद मे सोना पडेगा । मनुष्य माया के जाल मे उलझा हुआ इन सत्यो को जानता हुआ भी नही जानता है । अत मनुष्य मात्र को चाहिए कि जीवन रूपी इस अमूल्य रत्न को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करे ।

परिवार के सासारिक बन्धनो और आपश्री के त्यागमय भावो के बीच लगातार सघर्ष चलता रहा । उस समय भी महाराज सा० धर्म ज्ञान एव गुरु की खोज मे प्रयत्नशील रहते थे ।

इन दिनो 'पोतियाबध पथ' का प्रचार राजस्थान और गुजरात मे बडी तेजी से हो रहा था । इस सम्प्रदाय का सस्थापक जयमाल का पुत्र प्रेमचन्द कहा जा सकता है । यह प्रेमचन्द पहिले लोकागच्छीय कुँवर यतिजी का शिष्य था और सखन्या ग्राम का रहने वाला था । किसी विशेष कारण से वि० स० १६६० मे उसने इस पथ को छोडकर स्वय एक नये पथ की स्थापना की ।

साचोर, जालोर, सिरोही, मालवा, गुजरात और मेवाड मे इसके अनुयायी विशेष रूप से बढने लगे । कल्याणजी इस पथ के पथपति थे । उनके पथ का प्रचार करने के लिए ये पैदल यात्राए किया करते थे । इस पथ मे बाह्याडम्बर की ही प्रधानता है । साधु के समस्त लक्षणो का इस पथ मे अभाव ही दिखाई देता है । इस पथ का न तो दार्शनिक पक्ष ही पुष्ट है और न ही सिद्धान्तो की स्थिरता मिलती है । इस पथ के अनुयायी लाल रग के वस्त्र पहनते थे और केवल एक पात्र साथ मे रखते थे । ये सिर पर चोटी रखते थे और कथा का वाचन करके जनसाधारण को प्रभावित करते थे ।

कल्याणजी के साथ उनके बासठ रक्ताबर शिष्य अपने पथ का प्रचार करते हुए धर्मदासजी के गाव पहुचे । कल्याणजी बडे वाकपटु थे और कथा का वाचन इतने मधुर एव प्रभावशाली ढग से किया करते थे कि सुनने वाले मुग्ध हो उठते थे । धर्मदासजी ने भी उनकी कथा श्रवण की । कथा के वाचन की शैली से आप बहुत प्रभावित हुए और कल्याणजी के पास जाकर आपने हृदयजनित वैराग्य एव अपनी श्रद्धा प्रगट की । योग्य व्यक्ति को देखकर कल्याणजी ने इन्हे अपने पथ मे ले लिया । पथ स्वीकार करने के पश्चात् भी आप इस पथ के सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष से सन्तुष्ट नही हो सके । आप सत्यमार्ग की ओर अग्रसर होने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा करते थे । सौभाग्य से आपको लवजी ऋषि के सम्पर्क मे आने का अवसर मिला । लवजी ऋषि से आपने धर्म एव दर्शन सबधी चर्चा की । उन्हे इक्कीस प्रश्नो का जो उत्तर मिला उससे हृदय को सन्तोष नही हुआ । कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद मे आचार्य धर्मसिंहजी से भी आपने धर्म सम्बन्धी चर्चा की परन्तु फिर भी 'सात बोलो' का अन्तर रह गया ।

योग्य गुरु एव सत्य मार्ग की खोज मे घूमते हुए धर्मदासजी मालवा पहुचे । मालवा मे आपको जगाजर यति के शिष्य ज्योतिर्धर जीवराजजी महाराज के दर्शन हुए । जीवराजजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था । वे ज्ञान के अथाह भडार और सौम्यता की मूर्ति थे । आप क्रियाशील एव योग्य साधक थे । जब धर्मदासजी ने उनके दर्शन किये तो वे अध्यात्मचिन्तन मे रत थे । उनके दर्शनमात्र से ही धर्मदासजी के हृदय मे भावो का तूफान उठ खडा हुआ और श्रद्धा की लहरें उमड पडी । धर्मदासजी ने श्रद्धापूर्वक उनसे अध्यात्म चर्चा की । जीवराजजी ने ज्ञान एव स्थिर बुद्धि से धर्मदासजी की शकाओ का समाधान किया । वाणी के माधुर्य एव ज्ञान की गरिमा ने धर्मदासजी की प्यासी आत्मा को शाति प्रदान की ।

धर्मदासजी एक वर्ष और कुछ दिनो तक 'पोतियाबध' पथ के अनुयायी रहे । योग्य गुरु के मिल जाने पर उन्होने एक पात्र और रक्त वस्त्रो वाले पोतियाबध पथ के प्रपचो से सदैव के लिये किनारा कर लिया । जीवराजजी की कृपा से अन्धकार रूपी बादल टूट गए और ज्ञान रूपी प्रकाश फैल गया ।

वि० स० सत्रह सौ उन्नीस की कार्तिक शुक्ला पचमी के दिन बीस अन्य व्यक्तियो के साथ धर्मदासजी ने जीवराजजी से दीक्षा ग्रहण की और शुद्ध सयम व्रत को धारण कर लिया ।

गुरु की आज्ञा लेकर आप प्रथम दिवस ही 'गोचरी' के लिये निकले । विरोधी लोगो ने आपके प्रति कोई रुचि नही दिखाई और न ही आहार-पानी आदि दिया । आप शात एव निर्लेप भाव से सब कुछ सहन करते रहे । घूमते-घूमते एक प्रजापति (कुम्हार) के यहा पहुचे । उसने हास्यमिश्रित व्यग्य से कहा—'हमारे यहा क्या रखा है ?



खाने के लिये यह राख पडी है, यदि चाहो तो दे दूं।' उसने कुटिलता से महाराज की ओर देखा। सौम्यमूर्ति धर्मदासजी महाराज ने कहा - "बन्धु ! यदि तुम्हारी इच्छा राख देने की ही है तो राख दे दो।" कुम्हार ने हाथो से राख उठा कर महाराज की ओर फैंक दी। उसमे से कुछ तो हवा के प्रवाह के साथ उड गई, शेष बची हुई राख पात्र मे लेकर आप गुरु की सेवा मे उपस्थित हुए। शात और कोमल शब्दो मे आपने गुरुदेव को सभी वृत्तान्त सुनाया अपने शिष्य के धैर्य एव आत्मविश्वास से गुरुदेव गद्‌गद् हो उठे। उन्होने कहा—"तुम बडे सौभाग्यशाली हो। प्रथम दिवस ही तुम को राख जैसी पवित्र भिक्षा मिली है। इस कलियुग मे तुम धर्मरक्षा करने मे समर्थ होगे और तुम्हारे द्वारा धर्म का प्रचार और प्रसार होगा। तुम्हारे अनुयायी बहुत अधिक सख्या मे बढेंगे। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार मे हमे राख मिल सकती है ठीक उसी प्रकार ग्राम-ग्राम मे तुम्हे शिष्य मिलेंगे।"

श्रद्धापूर्वक गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर आपने राख को पानी मे मिलाकर तीन बार पिया।

चातुर्मास्य के पश्चात् विहार कर आप एव गुरुदेव यात्रा करते हुए उज्जैन की ओर चले। वहा अचानक गुरुदेव के शरीर मे वेदना उठी। पीडा की असहनीय स्थिति और अन्त समय को नजदीक जानकर उन्होंने सथारा ले लिया। मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को जीवराजजी महाराज स्वर्ग सिधारे।

धर्मदासजी महाराज पर गुरुदेव की छत्र-छाया केवल इक्कीस दिन तक ही रही। इस अल्प समय तक ही गुरुसम्पर्क मे रहने के कारण ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि आप स्वय दीक्षित थे। गुरु की कृपा से ही आपके हृदय मे सत्य की प्रेरणा मिली थी एव आपने गुरुजी की पूर्ण श्रद्धा से सेवा भी की थी।

सयम, शुद्धि एव साधना के साथ धर्मदासजी महाराज ने धर्म प्रचार का कार्य तीव्र रूप से प्रारम्भ किया। धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए आपके मार्ग मे अनेक बाधाए आई, परन्तु आपने असीम धैर्य से उन पर विजय प्राप्त की।

धर्मप्रचार के लिये आप विविध यात्राए करते रहते थे। वि० स० सत्तरह सौ चालीस मे यात्रा करते हुए आप ग्वालियर पहुचे। ग्वालियर नगर के बाहर शीतल जलाशय के किनारे विशाल वृक्ष देखकर रात्रि मे विश्राम किया। विश्राम के पश्चात् आप आध्यात्मिक चिन्तन मे लीन हो गए। दैवयोग की बात है, उसी दिन वहा का राजा शिकार खेलने के लिये अपने दल-बल सहित जगल मे गया। जगल मे राजा को किसी जहरीले सर्प ने काट खाया जिससे राजा को मूर्छा आ गयी। मूर्छा की स्थिति मे राजा पृथ्वी पर गिर पडा। राजा की यह हालत देखकर उसका मन्त्री बहुत घबराया। राजा के मृत (वस्तुत मूर्छित, जिसे उन लोगो ने मृत समझ रखा था) शरीर को लेकर जब वे नगर की ओर लौट रहे थे तो उनकी दृष्टि धर्मदासजी महाराज पर पडी। मन्त्री राजा की मृत्यु से उद्विग्न तो था ही, जब उसने महाराज को ध्यानस्थ देखा तो उसका क्रोध उमड पडा। बहुत ही कटु शब्दो मे (परन्तु शीश नमाकर जैसे कि उस युग की परम्परा थी) उसने कहा —'हे सन्त ! आप आँखें खोलकर मेरी बात ध्यान से सुन लो। आपका इस नगर मे आना बहुत ही अशुभ हुआ है। सब जगह त्राहि-त्राहि मच गई है। सारी जनता राजा के विरह मे दुखी हो रही है। महाराज ! यदि तुम सच्चे साधु और ज्ञानी हो तो किसी प्रकार राजा को जीवित करो अन्यथा आपको निश्चित रूप से सोच लेना चाहिए कि आपके प्राण भी सकट मे हैं। निवेदन है कि आप साँप के जहर को दूरकर राजा को स्वस्थ कर दें।"

गुरुवर धर्मदासजी मन्त्री की बात को सुनते रहे। फिर उन्होने गम्भीर ओजस्वी शब्दो मे कहा—"मन्त्री ! तुम अज्ञानी हो। मनुष्य को मृत्यु का भय नही करना चाहिए। मुझे मृत्यु से किंचित् मात्र भी भय नही है। परन्तु यदि तुम्हे विश्वास हो कि तुम्हारा राजा भविष्य मे शिकार न खेलने की प्रतिज्ञा करेगा और अन्य जीवो को अपने ही समान जीवन का अधिकार देगा तो उसकी चेतना लौट सकती है।" मन्त्री ने ससम्मान नतमस्तक होकर कहा—"महाराज ! ऐसा ही होगा।"

उसी समय राजा को स्वास्थ्यलाभ हो गया। उसने श्रद्धा सहित महाराज के चरणो मे सिर रख दिया। राजा ने जीवहत्या न करने की प्रतिज्ञा की।

नगर मे महाराज का भव्य स्वागत किया गया। राजा एव प्रजा ने आचार्यश्री से वही चातुर्मास्य करने की बार-बार प्रार्थना की। आचार्य श्री ने वही पर चातुर्मास किया और धार्मिक सिद्धान्तों पर चर्चा होती रही। इन्ही दिनो पाच महानुभावो ने आपसे श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

इन दिनो धर्म का खूब प्रचार और प्रसार हुआ। महाराज की वाणी मे इतना मिठास और गाम्भीर्य था कि श्रावक मुग्ध हो जाते थे। आपने वहा प्रमुख निन्नानवे (९९) शिष्य बनाये और अनेक परिवारो ने आपके सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया। आचार्य श्री ने वि० स० १७७२ के चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को २२ सघाटक (सिंघाडे) स्थापित किये। धनराज, लालचन्द, हरिदास, जीवराज, (बडा) पृथ्वीराज, लघु हरि, लघु पृथ्वेश, मूलचन्द प्रेम, खेतसी, लोकपन्न, भवानी, मूल मुनि, पुरुषोत्तम मुनि, मुकुटसी, गुरुसहाय, मनोहर, वागसी, सिमरथ और मुरारसी आदि। आचार्य श्री ने धारा नगरी मे बाईस सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार सघ की व्यवस्था होने से प्रचार एव प्रसार मे स्थिरता आई।

महाराजश्री धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए गुजरात, पजाब, उत्तरप्रदेश, काठियावाड, कच्छ महाराष्ट्र और राजस्थान मे भ्रमण करते रहते थे। महाराज के अनुयायियो की सख्या बढती जा रही थी। महाराज की वाणी इतनी मधुर और प्रभावशाली थी कि उसका प्रभाव आत्मा पर पडता था, उससे रोम-रोम आप्लावित हो उठता था और आत्मा शुद्ध हो जाती थी। महाराज सदैव धर्मप्रचार और आध्यात्मिक चिन्तन मे रत रहा करते थे।

महाराज के एक शिष्य ने धारानगरी मे 'सथारा' लेने की घोषणा की। कुछ समय तक तो उस शिष्य का चित्त स्थिर रहा परन्तु बाद मे उसकी भावना अस्थिर होने लगी। उसने सघ के सामने आहार लेने की इच्छा प्रगट की। उपस्थित समुदाय ने स्थिर रहने के लिये निवेदन किया परन्तु वह स्थिर नही रह सका। सघ ने उपर्युक्त घटना की सूचना शीघ्र ही महाराज सा० को दी। महाराज सा० का इसका बहुत दुख हुआ और वे उसी समय धारा-नगरी के लिये रवाना हो गए। मार्ग मे केवल तेल के भुजिये का ही आहार कर आपश्री और अन्य सन्त धारानगरी पहुचे। आप इतने अधिक चिंतित हो उठे थे कि आपको मार्ग मे जल ग्रहण करने की भी इच्छा नही हुई। सन्ध्या समय आचार्य धारानगरी पधारे। आपने शिष्य को सभी प्रकार से उपदेश दिया परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो सका। तब गुरुदेव ने बडे ही गम्भीर एव शान्त स्वर मे उस स्थान पर बैठकर अपने सथारा लेने की घोषणा की।

महाराज सा० की इस घोषणा को सुनकर उपस्थित जनसमुदाय किंकर्तव्यविमूढ हो गया। महाराज ने उन्हे धर्म का उपदेश दिया और जल ग्रहण करना बन्द कर दिया। उस समय गर्मी की ऋतु थी और गर्मी इतनी प्रचड थी कि मनुष्यो के प्राण सूखते जा रहे थे। परन्तु महाराजश्री के चेहरे पर वही कान्ति और भावपूर्ण मुस्कराहट थी। श्रद्धा से जनसमुदाय उमड पडा। उनके बैठने की व्यवस्था करना भी एक समस्या बन गई। महाराजश्री तीन दिन तक शान्त, स्थिर एव मौन रहे और वि० स० १७७२ की ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को उन्होने इस नश्वर काया को छोड दिया।

आचार्यप्रवर श्री धर्मदासजी का जीवन आदर्श जीवन था। उन्होने सत्य, अहिंसा, सयम शुद्धि, गहन चिन्तन और वीरत्व, सभी को अपने चरित्र मे समेट रखा था। जीवन भर उन्होने धर्म का प्रचार और प्रसार किया और धर्म के नाम पर ही उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

आज भी उनके अनुयायी बडी सख्या मे विद्यमान है और उनके 'पाट' की पूजा धारानगरी मे आज तक होती है।



धन्नाजी महाराज

श्री सुकन मुनि



मारवाड के साचोर परगने के मालवाडा ग्राम मे पोरवाड जातीय वागाजी मूथा रहते थे। उनकी गणना वहाँ के श्रेष्ठ नागरिको मे की जाती थी। उनकी पत्नी का नाम झमकुबाई था। वि० स १७०१ की चैत्र शुक्ला दशमी को उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का नाम 'धन्ना' रखा गया। बच्चे का लालन-पालन बडे प्रेम से हुआ। धन्ना जी बचपन से ही शात एव एकान्तसेवी थे। परिवार वालो ने उनकी बाल-प्रवृत्तियो पर ध्यान नही दिया और वे लगातार गहन चिन्तन मे व्यस्त रहने लगे।

१३ वर्ष की अवस्था तक आपने व्यावहारिक जीवन की शिक्षा ग्रहण कर ली थी। आप प्रकृति से ही बडे दयालु भावुक थे। एक दिन किसी कार्यवश आप बाहर जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने एक साप को लोगो द्वारा मारते देखा। इस घटना ने उनके हृदय को प्रबुद्ध कर दिया। उन्होने सोचा यह ससार नश्वर है। प्राणी मात्र जीवन लेकर कर्मों के फल को भोगता है और मृत्यु के पश्चात् फिर जीवन का यह क्रम चलता ही रहता है। उन्होने जन्म-मरण के इस चक्कर से छूटने के लिये चिन्तन प्रारम्भ किया।

जीवन और जगत् के प्रति आपके हृदय मे तीव्रतम वैराग्य था। मुक्ति का मार्ग बताने वाले किसी योग्य गुरु की आपने खोज प्रारम्भ की। उस समय राजस्थान मे पोतियाबध पथ का विशेष रूप से प्रचार हो रहा था। अपने माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर धन्नाजी ने उस पथ मे दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय तक उन्ही के साथ रहकर आप ज्ञान की चर्चा करते रहे परन्तु उन्हे इस पथ के सिद्धान्त और साधना से कोई सतुष्टि नही मिली। उनका मन स्थिर नही रह सका और वे किसी योग्य गुरु की खोज निरन्तर करते रहे।

करीब आठ वर्ष तक वे लगातार गुरु की खोज के लिये प्रयत्नशील रहे। एक दिन सौभाग्य से आपको श्रीधमदासजी महाराज के दर्शन हुए। उनके साथ धार्मिक चर्चा करने पर आपको परम शाति का अनुभव हुआ। वि० स १७२१ की कार्तिक शुक्ला को धन्नाजी ने धमदासजी से दीक्षा ग्रहण की।

धन्नाजी ने सभी प्रकार के प्रपचो का त्याग कर साधना प्रारम्भ कर दी। वे सच्चे साधक थे। उन्होने इतनी कठोर साधना की जो कल्पना से भी परे है। जेठ महीने की भयानक गर्मी मे वे नदी की तपी हुई बालू पर सो जाते थे। उनके लिये सर्दी और गर्मी की ऋतु का कोई विशेष भेद नही था। उनकी काया इस तरह से ढल गई थी ऋतुओ के परिवर्तन का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता था। वे गर्मी मे मिट्टी पर और सर्दी मे पहाडो पर इस प्रकार विश्राम करते थे मानो आराम मे सो रहे हो। सर्दी की ऋतु मे भी वे केवल एक 'चादर' से काम चलाते थे। इस प्रकार का कायसयम आश्चर्य की ही वस्तु है। उन्हे भोजन मे स्वाद की इच्छा ही नही रहती थी। वे मौन रहकर अध्यात्मचिन्तन ही किया करते थे। उनकी स्मरणशक्ति विचित्र थी। उन्होने सभी सूत्रो को कठस्थ कर रखा था और उनकी बडी मार्मिक व्याख्या करते थे।

धन्नाजी महाराज का जिस प्रकार काया पर अधिकार था ठीक उसी प्रकार वाणी पर भी पूर्ण सयम था। उनकी वाणी सारगर्भित एव माधुर्य से ओतप्रोत थी। श्रावक मत्रमुग्ध से उनके उपदेशो को सुनते रहते थे। आप बडे वाक्पटु थे। समझाने का तरीका बडा मार्मिक था। आपकी भाषा बडी सरल थी और उसी भाषा मे आप जनसमुदाय

को उपदेश दिया करते थे। आपके प्रमुख पाच शिष्य हुए। वे क्रम से श्री भूधरजी, श्री मूलचन्दजी, श्री रूपचन्दजी, श्री नवलमलजी और श्री देवीचन्दजी थे। सभी शिष्य योग्य एव गुणवान थे। सभी ने मिलकर जैनधर्म के उत्थान मे सहयोग दिया। आपके शिष्यो ने अलग-अलग क्षेत्रो मे जाकर धर्म का प्रचार किया।

वि० स० १७८४ मे मेडता के बाहर कडवा नामक तालाब के पास बनी हुई छतरियो मे आपने रात्रि विश्राम किया। रात्रि के समय आप ध्यानमग्न थे तभी आपको आन्तरिक प्रेरणा मिली। आप छतरी के बने हुए थभे के पास खडे होकर ध्यान मे रत हो गये। प्रातःकाल सभी ने आपको थभे के सहारे ध्यानमग्न देखा और नाश्ते के के लिये निवेदन किया तो आपने मुस्कराते हुए कहा कि यदि पत्थर (थभा) धान खाएगा तो मैं भी धान खाऊगा। धन्नाजी के इन वचनो को सुनकर सभी विस्मित हो गये। धन्नाजी महाराज ने सथारे की घोषणा करके मौन रख लिया।

दो दिन तक वे लगातार मौन रहे और तत्पश्चात् इस नश्वर काया को छोडकर स्वर्गासीन हुए। मृत्यु के पश्चात् भी धन्नाजी की कमल के समान बडी आखें खुली हुई थी और उनके मुह पर तपस्या का तेज झलक रहा था। राजा के दीवान खीवसी ने जब उन्हे इस स्थिति मे देखा तो बडा आश्चर्य हुआ। भडारीजी ने ही उनका सस्कार किया।

आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। आपने सयम की साधना उत्कृष्ट रूप मे की थी। कायासयम और वाणीसयम आपकी विशिष्टताए कही जा सकती हैं। आपके शिष्य श्रीभूधर स्वामी आदि ने धर्म का खूब प्रचार और प्रसार किया।





श्री भूधरजी महाराज

श्री रजत मुनि

मारवाड के नागौर क्षेत्र मे मुणोयत खाप के माणकचन्दजी बहुत ही विद्वान् पुरुष हुए है। उनकी पत्नी का नाम रूपादे था। वि० स० १७१२ की विजयादशमी के दिन उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। परिवार मे बडा आनन्द और उत्सव मनाया गया। सभी ने मिलकर इनका नाम 'भूधर' रखा। भूधरजी बचपन से ही बहुत सुन्दर और भावुक थे। जितने ही वे सुन्दर थे उतने ही गुणी और चतुर भी थे। आपकी चाल मन को बडी ही लुभाने वाली थी और चेहरा अत्यन्त आकर्षक था। उनकी आखें सदैव लाल रहा करती थी और उनसे मादकता बरसती थी। भ्रमरो के समान श्याम रगो वाली आपकी जुल्फे सदैव लहराया करती थी।

शिक्षा के प्रति आपकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। आपने व्यावहारिक एव सैनिक शिक्षा विशेष रूप से ग्रहण की। फौजी शिक्षा मे विशेष रुचि थी। युद्धकला मे निपुणता प्राप्त करने के कारण यौवन मे आपको फौज के ऊचे अधिकारी का पद दिया गया। आपने स्वेच्छा से सोजत नगर मे अपनी नियुक्ति करवायी। सोजत की कचहरी मे आपने सुव्यवस्थित रूप से काय करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय सोजत राज्य मे अधिकतर उपद्रव होते रहते थे। डाकुओ आदि के कारण अराजकता फैलती जा रही थी। भूधरजी ने अपनी बुद्धि और बल द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर ली। उन दिनो सोजत ही आपका प्रिय स्थान रहा। यही पर शाह दलाजी रातडिया मूथा के यहा आपका विवाह हो गया। राज्यकार्य के साथ सामाजिक कार्यों मे भी आप सदैव रुचि लिया करते थे।

वि० स १७४० के लगभग की घटना है। कटालिया ग्राम पर चौरासी डाकुओ ने ऊट पर सवार होकर हमला बोल दिया। वहा के ठाकुर के निमत्रण पर भूधरजी वहा सहायता के लिये पहुँचे। बल और बुद्धि के प्रयोग से आपने डाकुओं को पीछे हटा दिया। भूधरजी ने डाकुओ का पीछा किया और काजलवाल नामक स्थान पर फिर आपने लडाई प्रारम्भ की। इस सघर्ष मे भूधरजी की विजय हुई।

इस लडाई के बीच एक मार्मिक घटना हुई जिसने आपके हृदय मे वैराग्य उत्पन्न कर दिया। युद्ध के समय एक डाकू की तलवार से उनका घोडा घायल हो गया और उसकी गर्दन एक तरफ लटक गयी। असीम वेदना से तडफ-तडफ कर घोडे ने आपके ही सामने प्राण दे दिये। इस घटना का प्रभाव आप पर इतना गहरा पडा कि आपको हिसा मे ग्लानि और ससार मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। सोजत पहुँचकर आपने सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर धार्मिक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। परिवार वालो ने आपको लौकिक सुखो मे उलझाये रखने के लिये हर सभव प्रयत्न किये। परन्तु उन्हे सफलता नही मिली।

एक दिन आपने 'पोतियाबध पथ' के प्रचारको के आगमन की बात सुनी और उनसे साक्षात्कार किया। उनके सिद्धान्तो को सुनकर आपके हृदय मे इस सम्प्रदाय मे दीक्षित होने की भावना प्रबल हो उठी। आपने परिवार और वैभव के मोह को छोडकर पोतियाबध पथ को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय तक इस पंथ के अनुयायियों के साथ रहकर भी जब आपको संतोष प्राप्त नहीं हुआ तो आपने ग्लानि से योग्य गुरु की खोज प्रारम्भ की। मानसिक शान्ति के लिये आप यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे।

सौभाग्य से अचानक मारवा के पादरल गांव में आपकी भेंट आचार्य श्री धन्नाजी म० से हो गई। महाराज उन दिनों मारवाड़ में धर्म प्रचार का कार्य किया करते थे। श्री धन्नाजी म० के उपदेशों को श्रवण कर आप बहुत अधिक प्रभावित हुए और पूज्यश्री धर्मदासजी से भी आध्यात्मिक चर्चा करने का अवसर आपको मिला। इस सम्प्रदाय के दर्शन और सिद्धान्त से प्रभावित होकर आपने इसमें दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। वि० सं० १७५१ की फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन आपने धन्नाजी म० से संयम की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आप सदैव आत्म चिन्तन में मग्न रहा करते थे।

आप सदैव प्रसन्नभाव से गुरु की सेवा में तत्पर रहते थे। अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करके भी भूधर-जी धर्मप्रचार किया करते थे। आपने अहिंसा पर विशेष बल दिया। उपदेशों का प्रचार इस तरह हुआ मानो किसी जनक्रान्ति का तीव्र स्वर प्रवहमान हुआ हो। अनेक श्रद्धालु व्यक्ति आकर आप से विविध प्रकार के प्रश्न पूछा करते थे और आप अनूठी युक्तियों से उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे। बाह्याडम्बर का प्रचार करने वालों की आपने कटु आलोचना की। आपने तर्क एवं बुद्धि द्वारा जनता को इतना अधिक प्रभावित कर दिया कि विरोधी भी आकर आपके चरणों में गिरने लगे।

भूधरजी महाराज का प्रभाव उन दिनों सब जगह फैल रहा था। उनकी बुद्धि की अलौकिकता प्रशंसनीय थी। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इतनी अधिक तर्कपूर्ण शैली में दिया करते थे कि सुनने वाले को उसे स्वीकार करना पड़ता था। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है, वह इस प्रकार है—

जोधपुर के खींवसीजी भंडारी बड़े बुद्धिमान् और योग्य नागरिक थे। महाराज जसवंतसिंहजी की आप पर विशेष कृपा थी। आपकी प्रशंसा सुनकर दिल्ली के बादशाह ने आपको दिल्ली बुलाकर सैनिक उच्च अधिकारी का पद दिया। शीघ्र ही अपनी योग्यता से आप बादशाह के विश्वासपात्र एवं कृपापात्र बन गए। बादशाह ने आपको सिरपाव और दुशाला देकर सम्मानित किया।

बादशाह की प्रिय बेगम की पुत्री (शाहजादी) बहुत ही सौन्दर्य वाली थी। उसके रूप की प्रशंसा चर्चा का विषय थी। किसी कारण से राजकुमारी सगर्भा हो गई। जब विमाता को उसका पता लगा तो उसने इस घटना की चर्चा बादशाह से की। बादशाह इस घटना को सुनकर आग-बबूला हो गया। बादशाह ने क्रोधित होकर राजकुमारी से कहा—तूने मेरे सिर पर कलंक लगाया है। उस व्यक्ति का नाम बता जिसने मुझे नीचा दिखाने की गुस्ताखी की है।

राजकुमारी ने कहा—"धर्मावतार! बादशाह-ए-आलम! पिताजी! मैं कसम खाकर कहती हूँ कि मैं सदैव नेक राह पर चलती रही हूँ और पवित्रता से ही अपने महल में रहती हूँ। यह गर्भ किस तरह से हो गया है, यह तो केवल खुदा ही जानता है। यह कुदरत का कोप है जिसके षड्यन्त्र में मैं उलझा दी गयी हूँ। यथार्थ में इस तथ्य का मुझे कोई पता नहीं है।"



शहजादी के इस उत्तर से बादशाह का क्रोध और भी भड़क उठा। क्रोधित होकर बादशाह कचहरी में आया और उसने काजी, मुल्ला, औलिया और पंडितों को शीघ्र बुलवाया। उन सभी की उपस्थिति में बादशाह ने प्रश्न किया कि—"आप सभी अपने अपने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करके बताओ कि बिना शारीरिक संगम के गर्भ रह सकता है या नहीं? मुझे इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही शीघ्र चाहिए।"

ग्रंथों का अध्ययन कर सभी ने हाथ जोड़कर बादशाह से निवेदन किया—"खता माफ हो, श्रीमन्! सभी धार्मिक ग्रंथों की छानबीन से केवल इतना ही पता चलता है कि सम्भोग के बिना गर्भ नहीं रह सकता है।"

बादशाह की आज्ञा पाकर खीवसी भंडारी ने शीघ्रता से आचार्य श्री भूधरजी की खोज प्रारम्भ की। महाराज भूधरजी के दर्शन करके भंडारीजी ने श्रद्धा से अपना सिर झुका दिया। उन्होंने निवेदन किया कि स्वयं बादशाह आपके दर्शनों के लिये व्याकुल हो रहा है, अतः आप दिल्ली की ओर विहार करने के लिये अपना कार्यक्रम बनाओ। इस प्रकार आपकी यात्रा से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी हो जायेगा और हमें आपके वाणीश्रवण का सौभाग्य भी मिलेगा। जब भंडारीजी ने अनुनय विनय की तो आचार्यश्री ने आपकी बात मान ली और दिल्ली की ओर गमन किया। महाराज ने भंडारीजी को कहा कि हमारे साथ चलने से मार्ग में अनेक कष्ट होंगे अतः तुम हमसे दूर ही रहो। खीवसी ने जब इस प्रकार की आज्ञा सुनी तो वे तीन कोस आगे या पीछे दूरी से चलने लगे। इस प्रकार यात्रा करते हुए आचार्य श्रीभूधरजी महाराज भरतपुर नगर पधारे। नगर के बाहर तालाब के किनारे पर आकर आपने विश्राम किया। वहाँ के व्यक्तियों ने इनकी वेश-भूषा आदि देखकर इन पर शंका व्यक्त की और चोर समझकर इनका तिरस्कार करने लगे। उन्होंने महाराज से अनेक प्रश्न किये और पूछा कि तुम यहाँ आकर क्यों ठहरे हो? यदि तुमने संतोषजनक कारण नहीं बतलाया तो हम राज्य में तुम्हारे आने की सूचना दे देंगे। आचार्यश्री ने कहा कि हम चोर नहीं हैं। हम धर्मप्रसार करने के लिए निकले हैं। इस पर उन्होंने म० सा० से धर्मप्रचार के उपदेशों का श्रवण करने की इच्छा प्रगट की आचार्य श्रीभूधरजी महाराज ने जब उनको आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन दिया तो सभी उपस्थित जन-समुदाय सुनकर मुग्ध हो उठा। यहाँ पर अनेक पल्लीवालों और अग्रवालों ने आप से शिक्षा ग्रहण की।

यात्रा करते करते आचार्यश्री भूधरजी महाराज आगरा पहुँचे। आगरा में कुछ समय रहकर भूधरजी दिल्ली से तीन कोस दूर ठहरे। आचार्यजी पेड़ की छाया में विश्राम कर रहे थे तभी खीवसी भण्डारी वहाँ उपस्थित हुए। म० सा० ने उनसे कहा कि आज हमारे आने की खबर तुमको किस प्रकार मिल गई? और तुम इतने शीघ्र यहाँ पर किस प्रकार पहुँचे? उन्होंने कहा—,आपके डर से मैं कुछ दूरी पर चल रहा था। महाराजश्री की आज्ञा लेकर भंडारीजी बादशाह के पास गये। बादशाह ने बड़ी प्रसन्नता और उत्साह से श्रीभूधरजी को लाने की आज्ञा दी, महाराज भूधरजी का भव्य स्वागत किया गया। राजकुमारी भी महाराज भूधरजी के दर्शनों के लिये आई, बादशाह ने भी भूधरजी को सब तरह से प्रसन्न किया।

आचार्यश्री ने दिल्ली में ही चातुर्मास किया। वहाँ महाराज के उपदेशों को सुनने के लिये सभी वर्ग के अपार बन्धु आने लगे। भूधरजी न्याययुक्त, सरल भाषा में बोलते थे। खीवसी ने उचित अवसर जानकर मरुधर की ओर चलने का निवेदन किया। भूधरजी ने चातुर्मास के पश्चात् चलना तय कर लिया। बादशाह ने आचार्यश्री की कुशल-यात्रा की व्यवस्था की। यात्रा करते हुए आपश्री वि० सं० १७८० में मेड़ता आये। यहाँ पर आपश्री के गुरु धन्नाजी ने संथारे की घोषणा कर दी और वहीं उन्होंने इस नश्वर देह को त्याग दिया। वहाँ से यात्रा करते हुए भूधरजी कालू ग्राम पहुँचे। वहाँ आपने उपदेशों का प्रचार किया और अनुयायी भी बढ़े। आप सच्चे साधक थे और ऋतु की परवाह न करके भूधरजी तपस्या में लीन रहा करते थे।

एक समय की बात है। महाराज गाँव के बाहर ध्यानस्थ थे। एक रामा नाम का जाट उधर से निकल रहा था। उसने देखा कि यह महाजनों का साधु है। सभी महाजन मिलकर इसे अपार द्रव्य देंगे जिससे यह अपनी तपस्या और मंत्रों द्वारा वर्षा को रोक लेगा। इससे सभी व्यक्तियों का जीवन दुखमय हो जायेगा, अतः इसी को मार डालना चाहिए। यह सोचकर उसने आचार्यश्री के पाँव पकड़ कर बिछे हुए काँटों की ओर खींचा। काँटे पूरे अंग-अंग में चुभ गए पर आचार्यश्री ने उसे कुछ नहीं कहा। फिर गुस्से में आकर उसने अपने हाथ पकड़ी हुई फरसी को महाराजश्री के सिर पर दे मारा जिससे उनके सिर से खून बहने लगा। सामने से एक पुरोहित शौच जाने के लिये आया था। उसने इस कुकृत्य को देखा और बाजार में आकर सभी को सूचना दी। महाजनों को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उनमें से कुछ तो आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए और कुछ ने जाकर हवलदार से इस कांड की शिकायत की। हवलदार ने उस जाट को पकड़ कर बुलवाया और उसे बहुत बुरी तरह से पीटना शुरू किया।



गाँव के बाहर भूधरजी की स्थिति देखकर कई व्यक्ति रो पड़े। सभी ने उनकी सहनशीलता की सराहना की

वादशाह ने उसी समय अपने दरबार को बर्खास्त करके आज्ञा दी कि दुष्ट राजकुमारी को शीघ्र ही मार डाला जाय। वादशाह की क्रोधित मुद्रा देखकर किसी की हिम्मत नही हुई कि वे उनसे रहम के लिए निवेदन कर सके। तभी बहुत ही नम्र स्वर मे खीवसी ने कहा --"खता माफ हो स्वामी! निवेदन है कि मुझे एक बार महल मे जाकर राजकुमारी से मिलने की आज्ञा दी जाय।" वादशाह ने पहिले तो आनाकानी की परन्तु खीवसी ने कहा 'शीघ्र निर्णय देने से सभव है अन्याय हो जाय और आपकी बदनामी हो, अतः आप इस तथ्य पर शान्ति से विचार करे।"

वादशाह की आज्ञा लेकर खीवसी भडारी महल मे गए और सारा हाल पूछताछ करके वापिस लौट आए। उन्होने वादशाह से निवेदन किया—"राजकुमारी को तब तक दड नही दिया जाय जब तक कि सत्य की पुष्टि न हो जाय।" इस तथ्य के निर्णय के लिये उन्होने वादशाह से कुछ समय मागा। वादशाह ने उन्हे सत्य का पता लगाने के लिये अवसर दे दिया।

भडारीजी ने फिर सभी धार्मिक विद्वानो से सम्पर्क स्थापित किया और विना सम्भोग के ही गर्भ ठहरने के तथ्य की पुष्टि के लिये प्रमाण एकत्रित करना चाहा। सभी ने कहा— कि हमने शास्त्रो का पूर्ण मन्थन कर लिया है और उसी के आधार पर निर्णय दे दिया है। परन्तु भडारीजी को उनके उत्तर से सतोष नही मिला।

विशेष काम से उन्ही दिनो भडारीजी को इन्दौर जाना पडा। वे अपने दल बल सहित इन्दौर की ओर जा रहे थे। इन्दौर के पास एक पादरुल नामक गाव है। वहा भूधरजी महाराज अपनी अमृत-वाणी से जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। भडारीजी उधर से ही निकल रहे थे। भूधरजी की सौम्यता और गम्भीर वाणी का आप पर विशेष प्रभाव पडा। खीवसीजी भडारी अपना खेमा स्थापित कर फौजी वस्त्रो मे ही महाराज के पास आये और उनकी वन्दना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपना परिचय दिया और भूधरजी के सामने यह शका प्रस्तुत की कि क्या विना सम्भोग के गर्भ ठहर सकता है? भण्डारीजी ने कहा कि मैने इस तथ्य की खोज अनेक विद्वानो से की परन्तु मुझे कही भी सतोषप्रद उत्तर नही मिला। अत आप से निवेदन है कि आप इस शका का समाधान करे और आगमो से उसकी पुष्टि करें।

भूधरजी महाराज ने कहा —स्थानाग सूत्र के पचम ठाणे मे गर्भ के पाच प्रमुख कारण लिखे है। वे सत्य हैं और हमे उन पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्होने कहा—"जिस जल मे पुरुष ने स्नान किया हो और पुरुष के वीर्य-पुद्गल उसमे तैर रहे हो वही पर यदि कोई स्त्री विना वस्त्रो के स्नान करे तो उसे गर्भ ठहर जाता है। यदि कोई स्त्री खुले मे विना वस्त्रो के सो रही हो और ऊपर से वीर्य गिर पडे तो उससे भी गर्भ रह सकता है। यदि किसी वस्त्र पर वीर्य गिरा हुआ हो और रजयुक्त योनि का उससे ससर्ग हो जाय तो भी गर्भ ठहर सकता है। दैवयोग से भी गर्भ ठहर सकता है। इस पाचवें प्रकार को तुर्य भोग कहते है।"

भूधरजी म० ने आगे कहा —यदि सम्भोग से गर्भ ठहरेगा तो बच्चे के शरीर मे हड्डियाँ बटेंगी परन्तु यदि शारीरिक सम्भोग नही किया गया तो बच्चे के शरीर मे अस्थि नही होगी। भण्डारीजी ने कहा—महाराज, यदि आपका यह वचन सत्य हो जायेगा तो आपसे सयम की शिक्षा ग्रहण कर श्रावक बन जाऊगा।

इन्दौरयात्रा से लौटकर खीवसीजी भडारी ने सारी घटना विस्तार से वादशाह को सुनाई। वादशाह यह तथ्य सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा— मुझे इसमे बहुत कम सत्य दिखाई देता है, फिर भी यदि तुम कहते हो तो मैं इसे मान लेता हू। वादशाह ने महल मे पूरी व्यवस्था कर दी। यथासमय राजकुमारी ने बच्चे का प्रसव किया। उसने महाराज के वचनो को सत्य सिद्ध कर दिया। नवजात बच्चे के शरीर मे हड्डियाँ नही थी और वह रुई के समान नरम ही था। जब वादशाह को यह समाचार मिला तो उसका हृदय सन्तुष्ट हो गया।

वादशाह बहुत प्रभावित हुए और उन्होने खीवसी को कहा—"मैं भूधरजी महाराज के दर्शन करना चाहता हू। उनका कथन पूर्ण सत्य है। ऐसी आत्माए बहुत ही कम होती हैं। तुम ऐसे महान् व्यक्ति से मेरे मिलने की शीघ्र व्यवस्था करो। यदि यह महान् आत्मा सही समय पर मेरा मार्ग-दर्शन नही करती तो क्रोध मे शहजादी की हत्या कर देता और वह कलक मेरे पर उम्र भर के लिये लग जाता अत शीघ्र ही उसे खोजकर ले आओ।"

बादशाह की आज्ञा पाकर खीवसी भंडारी ने शीघ्रता से आचार्य श्री भूधरजी की खोज प्रारम्भ की। महाराज भूधरजी के दर्शन करके भंडारीजी ने श्रद्धा से अपना सिर झुका दिया। उन्होंने निवेदन किया कि स्वयं बादशाह आपके दर्शनों के लिये व्याकुल हो रहा है, अतः आप दिल्ली की ओर विहार करने के लिये अपना कार्यक्रम बनाओ। इस प्रकार आपकी यात्रा से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी हो जायेगा और हमें आपके वाणीश्रवण का सौभाग्य भी मिलेगा। जब भंडारीजी ने अनुनय विनय की तो आचार्यश्री ने आपकी बात मान ली और दिल्ली की ओर गमन किया। महाराज ने भंडारीजी को कहा कि हमारे साथ चलने से मार्ग में अनेक कष्ट होंगे अतः तुम हमसे दूर ही रहो। खीवसी ने जब इस प्रकार की आज्ञा सुनी तो वे तीन कोस आगे या पीछे दूरी से चलने लगे। इस प्रकार यात्रा करते हुए आचार्य श्रीभूधरजी महाराज भरतपुर नगर पधारे। नगर के बाहर तालाब के किनारे पर आकर आपने विश्राम किया। वहाँ के व्यक्तियों ने इनकी वेश-भूषा आदि देखकर इन पर शंका व्यक्त की और चोर समझकर इनका तिरस्कार करने लगे। उन्होंने महाराज से अनेक प्रश्न किये और पूछा कि तुम यहाँ आकर क्यों ठहरे हो ? यदि तुमने सतोषजनक कारण नहीं बतलाया तो हम राज्य में तुम्हारे आने की सूचना दे देंगे। आचार्यश्री ने कहा कि हम चोर नहीं हैं। हम धर्मप्रसार करने के लिए निकले हैं। इस पर उन्होंने म० सा० से धर्मप्रचार के उपदेशों का श्रवण करने की इच्छा प्रगट की आचार्य श्रीभूधरजी महाराज ने जब उनको आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन दिया तो सभी उपस्थित जन-समुदाय सुनकर मुग्ध हो उठा। यहां पर अनेक पल्लीवालों और अग्रवालों ने आप से शिक्षा ग्रहण की।

यात्रा करते करते आचार्यश्री भूधरजी महाराज आगरा पहुँचे। आगरा में कुछ समय रहकर भूधरजी दिल्ली से तीन कोस दूर ठहरे। आचार्यजी पेड़ की छाया में विश्राम कर रहे थे तभी खीवसी भण्डारी वहां उपस्थित हुए। म० सा० ने उनसे कहा कि आज हमारे आने की खबर तुमको किस प्रकार मिल गई ? और तुम इतने शीघ्र यहां पर किस प्रकार पहुँचे ? उन्होंने कहा—,आपके डर से मैं कुछ दूरी पर चल रहा था। महाराजश्री की आज्ञा लेकर भंडारीजी बादशाह के पास गये। बादशाह ने बड़ी प्रसन्नता और उत्साह से श्रीभूधरजी को लाने की आज्ञा दी, महाराज भूधरजी का भव्य स्वागत किया गया। राजकुमारी भी महाराज भूधरजी के दर्शनों के लिये आई, बादशाह ने भी भूधरजी को सब तरह से प्रसन्न किया।

आचार्यश्री ने दिल्ली में ही चातुर्मास किया। वहां महाराज के उपदेशों को सुनने के लिये सभी वर्ग के अपार बन्धु आने लगे। भूधरजी न्याययुक्त, सरल भाषा में बोलते थे। खीवसी ने उचित अवसर जानकर मरुधर की ओर चलने का निवेदन किया। भूधरजी ने चातुर्मास के पश्चात् चलना तय कर लिया। बादशाह ने आचार्यश्री की कुशल-यात्रा की व्यवस्था की। यात्रा करते हुए आपश्री वि० स० १७८० में मेड़ता आये। यहां पर आपश्री के गुरु धन्नाजी ने संथारे की घोषणा कर दी और वहीं उन्होंने इस नश्वर देह को त्याग दिया। वहां से यात्रा करते हुए भूधरजी कालू ग्राम पहुँचे। वहां आपने उपदेशों का प्रचार किया और अनुयायी भी बढ़े। आप सच्चे साधक थे और ऋतु की परवाह न करके भूधरजी तपस्या में लीन रहा करते थे।

एक समय की बात है। महाराज गांव के बाहर ध्यानस्थ थे। एक रामा नाम का जाट उधर से निकल रहा था। उसने देखा कि यह महाजनों का साधु है। सभी महाजन मिलकर इसे अपार द्रव्य देंगे जिससे यह अपनी तपस्या और मंत्रों द्वारा वर्षा को रोक लेगा। इससे सभी व्यक्तियों का जीवन दुखमय हो जायेगा, अतः इसी को मार डालना चाहिए। यह सोचकर उसने आचार्यश्री के पाँव पकड़ कर बिछे हुए कांटों की ओर खींचा। कांटे पूरे अंग-अंग में चुभ गए पर आचार्यश्री ने उसे कुछ नहीं कहा। फिर गुस्से में आकर उसने अपने हाथ पकड़ी हुई फरसी को महाराजश्री के सिर पर दे मारा जिससे उनके सिर से खून बहने लगा। सामने से एक पुरोहित शौच जाने के लिये आया था। उसने इस कुकृत्य को देखा और बाजार में आकर सभी को सूचना दी। महाजनों को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उनमें से कुछ तो आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए और कुछ ने जाकर हवलदार से इस कांड की शिकायत की। हवलदार ने उस जाट को पकड़ कर बुलवाया और उसे बहुत बुरी तरह से पीटना शुरू किया।

गांव के बाहर भूधरजी की स्थिति देखकर कई व्यक्ति रो पड़े। सभी ने उनकी सहनशीलता की सराहना की



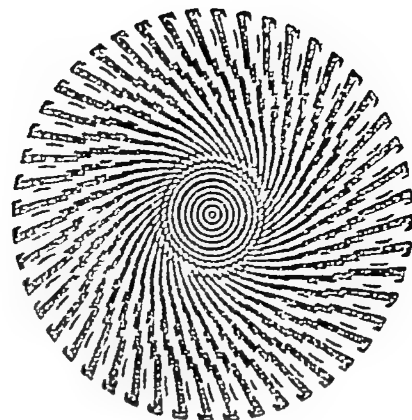
और स्थानक मे उनका उपचार किया गया। आचार्यश्री को जब जाट के पिटवाने की खबर पडी तो उन्हे बहुत दुःख हुआ। उन्होने कहा कि किसी तरह से जाट को थाने मे छुडवाकर लाओ, फिर मैं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रद्धालु जनों ने दौडकर रावले मे और हवलदार को जाकर महाराज की प्रतिज्ञा सुनायी। सभी महाराज के वचनों को सुन कर दग रह गये। जाट को छुडवाकर महाराज के पास मे ले जाया गया। जाट ने म० सा० के चरण पकड लिये और बार बार माफी मागी। महाराज ने कहा कि तुम्हे मांस और मदिरा छोड देनी चाहिए इसी मे तुम्हारा कल्याण है। यह घटना महाराजश्री भूधरजी की सहनशीलता और दयालुता की प्रतीक है।

यात्रा करते हुए भूधरजी सोजत पहुँचे। वहा पर विरोधी लोगो ने मिलकर कुछ झूठे आदर के साथ आप श्री को ठहरने के लिये गेरवालो की हवेली मे स्थान दिया। आपश्री ने रात्रिवास उसी हवेली मे किया। यह हवेली बडी भयानक थी और लोगो की ऐसी मान्यता थी कि इस हवेली मे ठहरा हुआ व्यक्ति प्रभात को जिन्दा नही उठ सकता। रात्रि को महाराज के सामने भी वह आत्मा आई पर म० सा० ने उसे समझाया जिससे उसको शाति मिली। प्रातःकाल जब आपश्री को लोगो ने स्वस्थ अवस्था मे देखा तो सभी को परम आनन्द हुआ। विरोधियो ने आपश्री से क्षमायाचना की। उसी समय जोधपुर के भडारी जीवराजजी वहा पर आए और उन्होने आदर से आपश्री के सामने सिर झुकाया। शहर के कोट के मोहल्ले मे, पहले जहा चारभुजा मन्दिर था और बाद मे उसे मस्जिद बना दिया गया था, उस स्थल पर आपश्री ने ठहर कर उपदेश दिया। उस स्थान का पट्टा स्थानक के नाम कर दिया गया।

आपने प्रमुख ९९ शिष्य बनाये थे। यह शिष्य, प्रशिष्यो की शाखा आगे चलकर खूब फैली। महाराज ने अनेक अज्ञानी मानवो को सत्य मार्ग की ओर अग्रसर किया।

वीरशासन की वरिष्ठ विभूति आचार्य श्री रघुनाथजी

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मारवाड के अन्तर्गत सोजतनगर प्रसिद्ध है जिसका ऐतिहासिक महत्व है। इस नगर में बलावत (बाफणा) गोत्रीय शाह नथमलजी थे। उनकी शीलवती पत्नी सोमादे थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त प्रतिष्ठित था उनका परिवार। शाहजी पहले रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। एक बार सोमादे ने स्वप्न में रामचन्द्रजी को देखा और उसके कुछ ही समय के पश्चात् एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। स्वप्न के अनुसार पुत्र का नाम 'रघुनाथ' रखा गया।

नवजात शिशु बडा ही तेजस्वी, गौरवर्ण और कमल के समान नयनो से सुशोभित था। उसके मुख पर एक असाधारण आभा झलकती थी जो उसके भाग्यशाली होने की सूचना देती थी। बाल्यकाल से ही उसकी चाल बडी मतवाली और वाणी इतनी मधुर थी कि अनायास ही प्रत्येक का मन मोह लेती थी।

सात वर्ष की उम्र मे आपके शिक्षण की सुन्दर व्यवस्था की गई। एक सुयोग्य विद्वान की विशेष व्यवस्था की गई। रघुनाथजी जन्मजात प्रतिभा के धनी थे और अतीव विनयवान् भी। अल्पकाल मे ही आपने शिक्षा प्राप्त करली। अध्ययन के प्रति आपकी रुचि बहुत गाढी थी। परिचित जन कहा करते थे – बालक बहुत होनहार है।

सोलह वर्ष की अवस्था मे पिता ने आपको घर का काम-काज सम्हालने की आज्ञा दी। पिता के आदेशानुसार आप पारिवारिक कार्य मे सलग्न हुए। आपकी योग्यता देख जोधपुर-नरेश ने आप को सोजत का हाकिम नियुक्त कर दिया। काम इतनी कुशलता से सम्हाला कि देखने वाले चकित रह गए। आप की विनम्रता एव दयालुता के साथ शरीर की सुन्दरता प्रत्येक का मन मुग्ध कर लेती थी। यौवन की चचलता आपमे नही थी, था वह गाभीर्य जो सम्पर्क मे आने वालो को विस्मित कर देता था।

अचानक एक मित्र की मृत्यु ने आपके जीवन मे नया मोड ला दिया। मित्र के वियोग ने मस्तिष्क मे एक नूतन विचारधारा प्रवाहित कर दी। आप सोचने लगे—मनुष्य किस प्रकार जन्म-मरण की व्यथा से मुक्ति पा सकता है ? इसका सही मार्ग कौनसा है ? अपने मित्रो से भी वे यही प्रश्न किया करते—अमर होने का मूल मन्त्र क्या है ? मै अमरत्वप्राप्ति की दिशा मे प्रस्थान करना चाहता हू। मित्र कहते—'अमर होना सभव नही है। जन्म-मरण का चक्र अनादि और अनन्त है।' मगर रघुनाथजी के हृदय मे बात बैठती नही और वे निरन्तर इसकी चर्चा करते रहते।

कुछ लोगो को उपहास करने की सूझी। उन्होंने आपको सलाह दी—यदि चामु डा देवी को अपना सिर काटकर चढा दिया जाय तो अमरत्व प्राप्त हो सकता है। देवी ही प्रसन्न होकर अमर कर सकती है। और तो कोई मार्ग दिखाई नही देता।

रघुनाथजी के चित्त मे अमरत्वप्राप्ति की लिप्सा इतनी गहरी घुस गई थी कि उन्होने यही मार्ग अपनाने की ठान ली। मित्रो का पता चला तो समझाया—'यह क्या पागलपन सवार हुआ है तुम्हारे मन मे ! उधर

विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं, इधर तुम देवी का प्रसाद पाने के लिए सिर काट कर चढ़ा देने की तैयारी कर रहे हो।'

मित्रों की बात का रघुनाथजी के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मित्रगण उनके पिता के पास पहुँचे। पिता ने सभी तरह से समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अमर होने की स्पृहा दब न सकी। उन्होंने पिता से कहा —'मेरा ध्यान अब चामुण्डा माता के चरणों में है। मुझे किसी ने बहकाया नहीं, मेरे ही मन में मातृचरणों में अपने आपको अर्पित करने की भाव उत्पन्न हुई है। मुझे आशीर्वाद दीजिए। मैं जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना चाहता हूँ।'

रघुनाथ की अटल मनोदशा देख सब हताश हो गए। दैवयोग से गोचरी करते हुए आचार्य श्री भूधर स्वामी का अचानक पदार्पण हुआ। समग्र वृत्तान्त विदित कर स्वामीजी ने कहा 'बालक! किसने तुम्हें भ्रम में डाल दिया है? जरा सोचकर तो देखो कि क्या कोई किसी को अमर बना सकता है? अपने पुरुषार्थ और साधना के द्वारा ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है—यह दान में नहीं मिलता, न आत्महत्या करने से मिल सकता है। आत्मवध तो जन्म-मरण की श्रृंखला को सुदृढ़ करने वाला घोर पातक है! अमर होना है तो मैं तुम्हें मार्ग दिखा सकता हूँ।

भूधरजी स्वामी के अत्यन्त सौम्य मुख-मण्डल, स्निग्ध नेत्रों और प्रभावोत्पादक वाणी ने रघुनाथजी को तत्काल प्रभावित किया। वे स्वामीजी के साथ स्थानक पहुँचे। स्वामीजी ने आपके समक्ष अध्यात्म एवं दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध ऐसी प्ररूपणा की कि उनका मन संतुष्ट हो गया। यह तत्त्वचर्चा लगातार तीन दिन तक चालू रही। अन्त में रघुनाथजी आत्मकल्याण का समीचीन मार्ग समझे और बोले — 'गुरुदेव! आपके ज्ञानांजन ने मेरे नेत्र खोल दिए हैं। अब मैं आपकी चरण-शरण छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। मुझे अपने से अलग न कीजिए। अपने चरणों में स्थान दीजिए।'

पारिवारिक जनों के अत्यधिक विलाप और निवेदन के कारण आचार्यदेव ने आपको घर लौट जाने के लिए कहा। मगर आपका हृदय तड़प उठा। अतीव दुखी होकर उन्होंने आचार्य महाराज के पैर पकड़ लिए। कहा—'गुरुदेव! आप मुझे कीचड़ में फँसने का परामर्श किस प्रकार दे सकते हैं? मेरा तो निश्चय है कि मैं लौटकर परिवार में नहीं रहूँगा।'

मगर आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य करके वे एक बार घर जाने को उद्यत हुए। मार्ग में सोचते जाते थे—प्रभु की लीला कैसी विचित्र है! मनुष्य बंधनों को तोड़ना चाहता है और माया के बंधन उसे उलझाना चाहते हैं।

मार्ग में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं घर वालों को इस प्रकार समझाऊँगा कि उनका मोह हट जाए, वे प्रसन्नतापूर्वक मुझे आत्मसाधना की अनुमति प्रदान करें। उन्होंने यही किया। माता-पिता को समझाने का यत्न किया, भावी श्वसुर के सामने संसार की असारता प्रदर्शित की। मगर न वे समझे, न ये समझे। दोनों पक्ष अपने-अपने विचार पर दृढ़ थे। कुटुम्बी राग का त्याग न कर सके, रघुनाथजी विराग न त्याग सके। आखिर कुटुम्बियों के प्रबल आग्रह को देखकर आचार्यश्री ने रघुनाथजी से कहा—वत्स! काललब्धि अभी आई नहीं है। इस समय गृहत्याग करना उचित नहीं होगा। अवसर की प्रतीक्षा करो। माता-पिता के आग्रह का आदर करके चार वर्ष तक घर में रहने में क्या हानि है?

रघुनाथजी ने इस आग्रह का मान तो लिया मगर वे गृहसन्यासी की भाँति विरक्त रूप में रहते और अपनी साधना में व्यस्त रहते। किसी प्रकार चार वर्ष की अवधि पूरी हुई और आप गृह-कारागार से बाहर निकलने का उपाय खोजने लगे। आचार्यश्री के जोधपुर-पदार्पण का समाचार सुनकर एक दिन वे बिना किसी से कहे, पैदल, नंगे पैरों, जोधपुर की ओर चल पड़े। कितना साहस, कैसी लगन!

जोधपुर पहुच कर आपने रियासत के दीवान से मुलाकात की। प्रभावशाली ढग से अपनी स्थिति समझाई। उधर आचार्यश्री महाराज के समक्ष भी दीक्षा ग्रहण की प्रार्थना की। जोधपुर के राजमान्य प्रतिष्ठित गृहस्थ भडारी खीवसीजी को तैयार कर लिया। खीवसीजी ने जोधपुर-नरेश से अनुमति मागी। नरेश ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान करते हुए कहा—तुम्हारे गुरु प्रशसा के पात्र हैं, उच्चकोटि के सयम के धनी हैं। तुम निश्चिन्त होकर दीक्षा-समारोह का आयोजन करो। जो भी खर्च हो वह राजकीय कोष मे किया जाय।

इस प्रकार राजानुमति प्राप्त कर खीवसीजी ने दीक्षा की उच्चस्तर पर व्यवस्था की। वैरागी का जुलूस बडा ही भव्य, दर्शनीय और विशाल था। उस ठाठ का क्या कहना ! अद्भुत दृश्य था। एक हजार घोडे, दो सौ हाथी और बहु-सख्यक पैदल सैनिक उस शोभा यात्रा के दृश्य को असाधारण बना रहे थे। प्रभावशाली वेश-भूषा से सुसज्जित अनेक सरदार, उच्चपदाधिकारी और उनके कामदार सम्मिलित थे। सुन्दर, स्वस्थ, सम्पन्न तरुण आज जगत् के प्रलोभनो को ठुकराकर, वाग्दत्ता भावी पत्नी के मोह को त्याग कर और समस्त भोग-उपभोगो से विमुख होकर त्याग-वैराग्य के कण्टकाकीर्ण पथ पर प्रयाण कर रहा है, इस भावना ने वातावरण मे अपूर्व गम्भीरता भर दी थी। भारत की चिरागत तप-त्याग की सस्कृति ने आज मानो मूर्तिमान् रूप धारण किया था। देवदुर्लभ वह दृश्य कितना स्पृहणीय था।

नियत समय पर रघुनाथजी अपने केशो का लुचन करके तथा हिम-धवल श्वेत वस्त्रो से मडित होकर, साधु वेश से आचार्य श्रीभूधर स्वामी के समक्ष करबद्ध उपस्थित हुए। प्रव्रजित होने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उन्हे प्रव्रज्या प्रदान की। वे मुनिमडली मे सम्मिलित हो गए।

उपस्थित विराट जनसमूह मे वैद्य गडमलजी नामक एक सज्जन थे। उस समय उन्होने जिज्ञासा व्यक्त की—"जैनधर्म क्या है ? मैं इसका मर्म जानना चाहता हू।"

गुरु की अनुमति प्राप्तकर सद्य प्रव्रजित श्री रघुनाथजी ने सक्षेप मे जैनधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी जिज्ञासा का समाधान किया। इस घटना से आपके प्रतिभा-वैभव का ओज, तेज एव साहस का अनुमान किया जा सकता है। गडमलजी आदि अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसी समय से पाच पाच की तपश्चर्या आरभ कर दी और चार विगयो का त्याग कर दिया।

सुखेर ग्राम मे आपकी बडी दीक्षा सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् आप पूज्यश्री की सेवा मे रहते हुए ज्ञान-चारित्र की आराधना मे निरत रहने लगे। अल्पकाल मे ही आप मे असाधारण तेज का प्रादुर्भाव हो गया। आगम मे कहा है—

देव-दानव-गधव्वा-जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बभयारिं नमसति दुक्कर जे करेंति त॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के चरणो मे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी मस्तक टेकते हैं। मुनि रघुनाथजी बाल ब्रह्मचारी थे। और ज्ञान तथा तपस्या के तेज से देदीप्यमान। यही कारण था कि मेडता मे भैरव को भी आपने भक्त बना दिया।

बात यो हुई कि मेडता मे आप एक सूने स्थान मे ठहरे। लोगो ने उस स्थान मे ठहरने के लिए सावधान किया मगर आत्मबली सन्त भूत-प्रेतो से भयभीत नहीं होते। आप पूज्यश्री के साथ वही ठहरे। अर्द्धरात्रि मे क्रोधमय मुद्रा मे भैरवजी का आगमन हुआ। अनेक प्रकार से डराने-धमकाने का प्रयत्न किया। तब मुनि रघुनाथजी ने भैरव से कहा—'आपकी महिमा से हम अवगत हैं। जैनसूत्रो मे आप की प्रशसा की गई है। फिर क्यो आप उत्पात मचाते हैं ? इतना कहकर आपने भानुद्वार थोकडा सुनाया। भैरवजी सुनकर प्रसन्न हुए और बोले—'आप ज्ञानी सत हैं। सुख से विश्राम कीजिए।'





प्रात काल कौतूहलवश लोगो की भीड लग गई। सभी सतो को सकुशल देख लोग अत्यन्त चकित और प्रभावित हुए। सैकडो नये भक्त बन गए। आपके बढते प्रभाव को देख स्थानीय यति जल-भुन गए। उन्होने इन सतो को सताने के प्रयत्न मे कोई कसर न रखी —यहा तक कि मूठ भी चलाई। किन्तु 'धर्मो रक्षति रक्षित' अर्थात् जो धर्म को रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। किसी सन्त का बाल भी बाका न हुआ। यही नही, यतियो की कुत्सित करतूतो के कारण मुनियो के प्रभाव मे बहुत वृद्धि हुई। यतियो के साथ शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करके तो श्री रघुनाथजी ने अपनी प्रतिष्ठा मे चार चाद लगा लिए। वहा के अनेक प्रतिष्ठित आगेवान आपके श्रद्धालु बन गए। वही आपका चौमासा हुआ। पर्युषण पर्व की आराधना के निमित्त जोधपुर के भडारी खीवसीजी भी अपने लश्कर के साथ सेवा मे आए। भडारीजी के समक्ष मेडता-निवासियो ने मुनि श्रीरघुनाथजी की मुक्त कठ से भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए कहा— उनकी महिमा का वर्णन करना बुद्धि से परे है। वे ज्ञान के अथाह सागर और शान्ति तथा धैर्य के प्रतीक है।

इस चातुर्मास मे मुनिश्री ने १२८ दिन की तीव्र तपस्या की। इससे जहा आपकी काया कृश हो गई वहा आत्मिक तेज मे अपूर्व वृद्धि भी हुई। पारणा के दिन नगर के समस्त कारखाने बन्द रक्खे गए। उस समय मेडता मे जैनो के ३००० परिवार थे, अतएव उसे जैनपुरी कहा जाता था। यही श्रीजयमलजी महाराज ने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यश्री भूधरजी का शिष्यत्व स्वीकार किया जो आगे चल कर सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य पद से विभूषित हुए।

श्रीरघुनाथजी महाराज ने गाव-गाव विचरण करके अपने गभीर तत्वज्ञान और शुद्ध सयम के बल से सहस्रो नर-नारियो को सन्मार्ग पर आरूढ किया, धर्म का प्रकाश दिया और धर्म की प्रशस्त प्रभावना की।

किन्तु यह सब सहज ही नही हो गया। इसके लिए उन्हे भीषण से भीषण कष्ट सहन करने पडे। यतियो और पोतियाबन्दो की ओर से किये गये उपसर्गों को सहना पडा। कई बार निराहार रहना पडा, बस्ती से बाहर वृक्षो की छाया मे निवास करना पडा, कटुक वचनो को सुनना पडा, अपमान और तिरस्कार के गरल को अमृत समझना पडा! विरोधियो ने छुछकार कर कुत्ते आपके पीछे छोडे, तरह तरह से परेशान किया और लक्ष्य से च्युत करने के लिए कोई उपाय शेष न रक्खा। मगर महात्मा रघुनाथजी इन सभी उपसर्गों को हिमालय की तरह अचल, समुद्र की तरह गभीर और पृथ्वी की तरह सर्वसह भाव से सहन करते हुए अपने पथ पर अग्रसर ही होते गए। भयानक विपत्तिया उन्हे निराश न कर सकी, उनकी प्रगति को धीमी न कर सकी और उनके विजय प्रयाण की दिशा को बदल न सकी। यही, घोर-अतिघोर विपदाओ को उन्होने आत्मबल की वृद्धि का साधन बना लिया। उनसे उनका सत्त्व और उत्साह बढा।

वि० स० १८०४ की विजयादशमी के दिन, पचोले की पारणा मे खडे-खडे वीरस्तुति का पाठ करते हुए, ८२ वर्ष की उम्र मे आचार्यश्री भूधरजी ने नश्वर शरीर का त्याग किया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी म० पर गच्छ के नेतृत्व का उत्तरदायित्व आ गया। आप आचार्य के पद पर आसीन हुए। आचार्य पद की प्राप्ति के पश्चात् भी आपकी धर्मप्रचार और आत्मसाधना का 'मिशन' यथापूर्व चलता रहा।

तेरापथ के प्रवर्तक श्री भीखमजी आपके शिष्य थे। सैद्धान्तिक मतभेद के कारण बगडी (मारवाड) मे आचार्यश्री ने आपको सघबाह्य घोषित किया और तेरह साधुओ के साथ पृथक् होकर उन्होने तेरापथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

इस महान् ज्योतिर्धर आचार्य ने लगातार साठ वर्ष तक जिन शासन की अपूर्व सेवा की। जन-मानस मे पैठे अज्ञानान्धकार का निरसन किया। अपने दिव्य तेज से सघ की महिमा बढाई।

राजस्थान तो आपकी प्रधान विहारभूमि थी, जोधपुर, बीकानेर, जालौर, सोजत, मेडता आदि राजस्थान के विभिन्न प्रदेश आपके चरणरज से पावन हुए। मगर आपका प्रचार-क्षेत्र यही तक सीमित नही रहा। गुजरात, काठियावाड कच्छ, मेवाड, मालवा, उत्तरप्रदेश, दिल्ली यहा तक कि जम्मू जैसे सुदूरवर्ती प्रान्तो तक

इन महापुरुष ने पदार्पण करके धर्म का उद्घोष किया। सर्वत्र जिनशासन की प्रभावना की और ज्ञानामृत की वर्षा की। इतना विस्तृत विहारक्षेत्र आपकी धर्मप्रचार-भावना को प्रकट करता है। उस काल मे स्थानकवासी मुनियो का विहार आज की तरह सरल नही था। उस समय यतिसमाज का काफी प्रभाव था और साम्प्रदायिक दुराग्रह बहुत उग्र था। अतएव जगह-जगह प्रबल विरोध का सामना करना पडता था। अनेक प्रकार की कठिनाइया और मुसीबतें झेलनी पडती थी। आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज ने उन सभी को झेलते हुए भारत के अनेकानेक प्रदेशो मे धर्म-जाग्रति का शखनाद किया। आप अद्वितीय प्रतापशाली महापुरुष थे। आपका विशाल शिष्यपरिवार था। पाच सौ पच्चीस दीक्षाए आपने प्रदान की। आपके बाईस प्रसिद्ध, सुशील और विनीत शिष्य थे, पच्चीस प्रशिष्य, पैसठ प्रशिष्यो के शिष्य थे। सात सौ गृहस्थो को दृढ सम्यक्त्वधारी बनाया। महाराजाओ ने आपके चरणो मे नतमस्तक होकर अपने जीवन को धन्य माना।

श्रीजैतसी, जयमलजी तथा कुशलजी आदि महाप्रभावशाली गुरुभ्राता थे, जो उच्चकोटि के सयमी और ज्ञानी थे।

आपकी आज्ञानुयायिनी सतियो की सख्या भी विपुल थी, उनमे महामती श्रीरत्नकुवरजी मुख्य थी जिनके साथ आपका विवाह होने वाला था। चरितनायक के दीक्षित होने पर आपके माता-पिता ने किसी सुयोग्य वर के साथ आपका विवाह कर देना चाहा था, परन्तु राजनीति की परम्परा मे पली इस आदर्श नारी ने दृढतापूर्वक स्पष्ट कह दिया था—इस भव मे कोई अन्य पुरुष मेरा पति नही हो सकता! मै किसी भी स्थिति मे विवाह करना स्वीकार नही करूगी। आखिर ग्यारह अन्य महिलाओ के साथ वह दीक्षित हो गई थी। उसी समय सत्तरह स्त्री-पुरुषो ने भी दीक्षा अगीकार की थी।

वास्तव मे आचार्य श्रीरघुनाथजी ने जिनशासन के उद्योत मे महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। वे जैनसघ की अमूल्य विभूति थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय की जडे जमाने वाले प्रमुख महापुरुष थे। उनके महान् उपकारो को समाज कभी विस्मृत नही कर सकता।

अन्तिम दिनो मे पूज्यश्री ने वि० स० १८८६ मे पाली नगर मे पदार्पण किया। नही कहा जा सकता किस योगबल से अथवा विशिष्ट ज्ञान से आपने भविष्य का साक्षात्कार कर लिया था। पाली मे पधारते ही आपने सब सतो को शीघ्र आकर मिलने की सूचना भिजवा दी। स्थानीय सघ इस आकस्मिक निमत्रण की बात जान कर चकित था। लोग सोचते थे—न जाने क्या घटना घटित होने वाली है! उसके रहस्य को आचार्य श्री जानते ही थे।

आदेश पाकर सन्तो और सतियो का आगमन प्रारभ हो गया। सोजत से महासती रत्नकुवरजी भी जा पहुची। माघ कृष्णा अष्टमी के दिन आपने चतुर्विध सघ से क्षमा का आदान-प्रदान किया। सन्त-सतियो को बुलाने का रहस्य खुलने लगा। सघ काप उठा। लोगो के नेत्र अश्रु-वर्षा करने लगे और निवेदन करने लगे—अन्नदाता! अभी अवसर नही है। बिना अवसर का कार्य!

महान् पुरुषो की महत्ता उनके अटल सकल्प मे रहती है। पूज्यश्री का सकल्प भी सुमेरु के समान अटल था। उन्होने सथारे का सकल्प प्रकाशित कर दिया।

एक ओर सयमी-जीवन की अद्भुत, अन्तिम और देदीप्यमान साधना चल रही थी, दूसरी ओर विषाद की सघन मेघ-माला उमड रही थी और वह दिनानुदिन सघन से सघनतर होती जा रही थी। अन्त मे माघ शुक्ला एकादशी के दिन, सत्तरह दिनो का सथारा सम्पन्न हुआ और जैन-सघ का देदीप्यमान सूर्य अस्त हो गया।

अन्तिम अवस्था मे प्रणाम करते हुए शिष्यो को उनका अन्तिम सदेश था—

"वत्स! चिन्ता न करो। वीर प्रभु के धर्म को उज्ज्वल करना। आत्मा मे समता-सुधा का निर्झर बहाना। ससार असार और शरीर अनित्य है।"



श्री बुधमलजी महाराज

ज्ञान भारिल्ल,
एम० ए०



स्थानकवासी जैन सन्तो की परम्परा मे स्वामी श्रीबुधमलजी महाराज का नाम इतिहास मे सदा आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा । स्वामीजी महाराज एक आदर्श त्यागी, तपस्वी, प्रभावशाली और अनासक्त सन्त थे । आपका व्यक्तित्व अत्यन्त उच्च कोटि का था और आप साधुजीवन की समग्र विशिष्टताओं से सम्पन्न थे ।

सन्तजीवन का प्रमुख लक्ष्य है—राग-द्वेष आदि कषायो को अधिक से अधिक उपशान्त करके वीतरागभाव को जागृत करना और जगत् के प्रपच से अलिप्त रह कर आत्मस्वरूप मे निष्ठा प्राप्त करना । स्वामीजी की जीवनी का पर्यालोचन करने पर यही तथ्य स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है । वास्तव मे आप उच्च कोटि के कषायविजेता थे और साधुचर्या मे सदा निरत रह कर अनासक्तभाव से विचरण करते थे । अपनी प्रतिष्ठा का प्रसार करना या होना आपको अभीष्ट नही था । प्रसिद्धि की कामना से योजनो दूर रहते थे । मानसम्मान की वाछा नही थी । फिर भी आपके सद्‌गुणो ने, आपके निर्मल चारित्र ने, आपकी सादगी और सात्विकता ने, आपकी तपोनिष्ठा और अनासक्ति ने आपको जो प्रतिष्ठा, प्रख्याति और प्रसिद्धि प्रदान की, वह विरले ही महापुरुषो को प्राप्त होती है ।

स्वामीजी महाराज के जीवनकाल मे, जिन्हे उनके सम्पर्क मे आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे धन्य हुए । जीवनपर्यन्त स्वामीजी आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करते रहे । किन्तु मरुधरकेसरीजी म० के रूप मे अपने उत्तराधिकारी को छोड कर आज भी वे परम्परया महान् उपकारक है ।

स्वामीजी का जन्म भरतपुर मे हुआ था । आपके पिता श्रीहीरालाल जी छाजेड (बटेसाजन) गोत्रीय ओसवाल थे । यशोधना श्रीमती चम्पादेवी के उदर से आपका जन्म हुआ । वि० सवत् १९२४ की श्रावणशुक्ला १५ को अर्थात् रक्षाबन्धन पर्व के दिन आपने इस भूतल को पावन किया । आपके जन्मदिवस ने ही मानो आपके भावी जीवन की सूचना दे दी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म लेने वाला यह महाभाग शिशु भविष्य मे ससार के सभी प्राणियो का रक्षक होगा । लोकोक्ति प्रसिद्ध है 'पूत के पाव पालने मे दीख जाते हैं ।' अर्थात् बालक के शैशव से ही उसके भविष्यत् जीवन की सूचना मिल जाती है । ,किन्तु आपके भावी जीवन की सूचना प्रकृति ने जन्म होने के साथ ही प्रदान कर दी । वास्तव मे प्रकृति के रहस्य इतने निगूढ होते है कि उन्हे बडे-बडे सुधीजन भी नही समझ पाते ।

किसने कल्पना की होगी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म ग्रहण करने वाला यह बालक षट्काया को रक्षा प्रदान करने वाला बनेगा । मगर चौदह वर्ष बीतते ही जो रहस्य छिपा हुआ था वह प्रकाश मे आ गया । श्रीबुधमलजी के अन्त करण मे वैराग्य की उत्ताल तरगें तरगित होने लगी । ससार का कोई भी प्रलोभन उन्हे अपनी ओर आकर्षित करने मे समर्थ नही हो सका । विरक्ति के बीज हृदय क्षेत्र मे पनपने लगे और वे किसी सुयोग्य पथ-प्रदर्शक की बाट जोहने लगे । सौभाग्य से आपको विरक्तात्मा स्वामी श्रीमानमलजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हो गया । स्वामी मानमलजी महाराज उस समय बडे तेजस्वी और ओजस्वी सन्त थे और उच्च श्रेणी के सयमपरायण सन्तो मे से थे । स्वामीजी के सत्समागम से श्रीबुधमलजी को अपने जीवन की सही दिशा प्राप्त हुई । आपके विचारो मे नूतन स्फूर्ति आई । जीवन का उच्चतर लक्ष्य निश्चित हो गया ।

सत्वशाली पुरुषो का सकल्प अटल होता है। वि० सवत् १९३९ मे, एक वर्ष के पश्चात् ही १५ वर्ष की आयु मे आपने भागवती जिनदीक्षा अगीकार कर ली। आपके दीक्षासमारोह का सौभाग्य ब्यावर नगर को प्राप्त हुआ जो धर्मवृद्धि और शासन प्रभावना के कार्यों मे सदा अग्रसर रहा है।

स्वामी श्री मानमलजी महाराज पूज्य श्री रघुनाथजी म० के सम्प्रदाय के एक रत्न थे। आपके शिष्यत्व को अगीकार करके श्रीबुधमलजी महाराज सयमसाधना मे प्रवृत्त हुए और ज्ञान तथा चारित्र की आराधना करने लगे।

उन दिनो विविध भाषाओ के अध्ययन की अपेक्षा आगमो के और उनके मर्म को समझने के लिए चाबी के समान थोकडो के अध्ययन को विशेष महत्व दिया जाता था। तदनुसार आपने भी थोकडो के तथा जिनागमो के अभ्यास पर बल दिया और उसे समझने के उद्देश्य से व्याकरण तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इस प्रकार ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न होकर आप स्वपर के श्रेयस् मे अपना समय यापन करने लगे। कल्पमर्यादा के अनुसार विचरण करते हुए आपने जन समाज का महान् उपकार किया। अपने जीवनव्यवहार से तो आप जनता के समक्ष उत्तम आदर्श उपस्थित करते ही थे, प्रवचनो द्वारा भी उद्बोधन देते थे। आपका प्रवचन बडा ही मार्मिक होता था। श्रोताओ के अन्तस्तल तक पहुच कर उसे स्पर्श करता था। उसमे अद्भुत प्रभावशक्ति थी। इन विशेषताओ के साथ आपके व्याख्यानो की एक विशेषता थी—रोचकता। श्रोता गहरी रुचि के साथ उसे श्रवण करते थे। गहन से गहन और नीरस से नीरस विषय भी आपकी मनोहर शैली के कारण सरल, सरस और रुचिकर बन जाता था। श्रोता कभी ऊबता नही था। इच्छा होती - आपके प्रवचन-पीयूष का पान करते ही रहे!

आपके प्रवचनो का प्रभाव तत्काल पडता दिखाई देता था। आपकी देशना ने कितने ही लोगो के जीवन को मोड दिया। न जाने कितने पथभ्रष्टो को सुपथ पर लगाया। अगणित अन्धकार मे ठोकरें खाने वालो को दिव्य प्रकाश दिखलाया। भाषा आपकी सरल सुबोध राजस्थानी थी। श्रमण परम्परा के सन्तो ने कभी भाषा के प्रति किसी प्रकार का ममत्व या आग्रह नही रखा। उन्होने सदैव इस सिद्धान्त का अनुसरण किया—'भाव अनूठो चाहिए भासा कोऊ होइ।' श्रमण जिस प्रदेश मे गए यथाशक्य उसी प्रदेश की भाषा को उन्होने अपनाया और अधिक से अधिक जनता को कल्याण का मार्ग समझाया। स्वामी बुधमलजी म० का मुख्य विहारस्थल राजस्थान रहा और इस कारण आपकी प्रवचनभाषा भी राजस्थानी ही रही। स्वामीजी ने यद्यपि राजस्थान से बाहर गुजरात और सयुक्तप्रदेश तक भ्रमण किया था और वहा भी धर्म का उद्घोष किया था, मगर आपका अधिकाश समय राजस्थान मे ही व्यतीत हुआ।

स्वामीजी का जीवन तप और त्याग का निदर्शन था। समय समय पर आप उपवास, वेला, तेला आदि तप करते ही रहते थे। आपने इक्कीस बार अठाइया की और एक पक्ष तक की भी उग्र तपश्चर्या की। यो आपका समग्र जीवन ही तपोमय था। हाथ से कते-बुने रेजे की एक ही चादर तन पर रखते थे, चाहे शीतकाल की कडकडाती सर्दी पडती हो या ग्रीष्म का ताप हो! तन पर आपकी ममता न थी। सयम-साधना मे जिस प्रकार वह सहायक बना रहे, बस उतनी ही सहायता वे उसकी करते थे।

आगमो के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त आप आगमो की प्रतिलिपिया करके भी श्रुतसेवा किया करते थे। आपकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। आपके द्वारा लिखित अनेक शास्त्रो की प्रतिया आज भी मौजूद है जो आप की ज्ञानाराधना की साक्षी दे रही है।



स्वामीजी प्रकृति से अतीव सौम्य और शान्त थे। उत्तेजना के प्रसगो पर भी कभी उत्तेजित नही होते थे। भाषा का प्रयोग कम करते थे। आपकी भाषा नपी-तुली होती, हित-मित होती और कटुकता तो उसमे कभी आती ही नही। यही कारण था कि आपकी वाणी मे अत्यन्त ही आदेयता और चमत्कृति थी। वचनसिद्ध सन्त के रूप मे उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी।

रत्नत्रय के समान आपके तीन शिष्य हुए—(१) श्रीजसवन्तमलजी, श्रीधूलचद्रजी और मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म०।

इनमें से श्रीजसवन्तमलजी म० तथा श्रीधूलचद्रजी म० आपकी विद्यमानता मे ही स्वर्गगामी हो चुके थे।

स्वामीजी महाराज ने ४३ वर्ष तक निर्दोष सयम का पालन किया। ६१ वर्ष की आयु पाई। वि० स० १९८५ की पौष कृष्णा प्रतिपद् के दिन कुरडाया (राजस्थान) मे भौतिक शरीर का परित्याग कर स्वर्गलोक के लिए प्रयाण किया। अन्तिम समय मे पाच दिन का सथारा आया। आपका स्वर्गवास स्थानकवासी जैन समाज की एक गभीर क्षति थी। समाज का एक तेजस्वी नक्षत्र अस्त हो गया।

स्वामीजी जैसे अपने गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे उसी प्रकार आपके सुशिष्य मरुधरकेसरीजी महाराज की आपके प्रति अप्रतिम आस्था, श्रद्धा और भक्ति थी। स्वर्गवास के समय मरुधरकेसरीजी म० ने ही भक्ति भाव से आपकी अन्तिम आराधना मे सहयोग दिया।

स्वामी बुधमलजी महाराज के प्रति किस भाषा और किस शब्दावली मे हम अपनी कृतज्ञता की भावना प्रकट करे ? उन्होंने अपने जीवन के अतिम क्षण तक अपने व्यवहार और वचनो के द्वारा समाज का उपकार किया और मरुधरकेसरी जैसा ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी उत्तराधिकारी तैयार कर अपने जीवन के पश्चात् भी जन-समाज का महान् कल्याण किया।

आपके जीवन की अनेक घटनाए श्रीमरुधरकेसरीजी म० के जीवनपरिचय के अन्तर्गत हो चुकी हैं, अतएव उनका पृथक् उल्लेख नही किया गया है।

०

लौंकाशाह : व्यक्तित्व और विचार

कुं० लालचंद्र नाहटा 'तरुण'



भस्मकग्रह—श्रीकल्पसूत्र[1] मे उल्लेख है कि शक्रेंद्र ने श्री महावीर स्वामी से पूछा—भगवन् ! आपके निर्वाण के समय आपके जन्मनक्षत्र (उत्तरफाल्गुनी) पर संक्रांत हुए भस्मकग्रह का क्या प्रभाव होगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—इन्द्र ! इस ग्रह के फलस्वरूप २००० वर्ष तक साधु-साध्वियों का उदय, पूजा, सम्मान नही होगा। अर्थात् धर्म की अवनति होगी। जब भस्मकग्रह दूर होगा तभी सच्चे साधु-साध्वियों का पूजा-सम्मान होगा।

भगवान् की भविष्यवाणी अक्षरश ठीक निकली। दो हजार वर्ष तक धर्म की क्रमिक अवनति हुई। यद्यपि बीच-बीच मे स्थिति सभालने के लिये छुटपुट प्रयत्न भी हुए किन्तु वे व्यापक नही हो सके, केवल साहित्य क्षेत्र मे प्रज्वलित हुए और बुझ गये। दो हजार वर्ष की अन्तिम शताब्दियो तक तो परिस्थितियां अत्यन्त गंभीर हो गई। श्रमणवर्ग मे शिथिलाचार का बोलबाला हो गया। उनके आचार-विचार गृहस्थो से भी निकृष्ट हो गये। इधर गृहस्थो मे भी तरह तरह के आडबरो का प्रादुर्भाव हो गया। धर्म का मूल भुला दिया गया और धर्म की लाश को ही धर्म माना जाने लगा। धर्म के चमकते सूर्य को ग्रहण लग गया। त्याग और वैराग्य पर आधारित धर्म मे विलासिता और आडबर का घुन लग गया। तप, त्याग, अहिंसा और सयम के स्थान पर परिग्रह और बाह्य क्रियाकाडो का जोर हो गया। चैत्यवाद का विकार सर्वत्र व्याप्त हो गया। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, कृष्ण के बाद शुक्ल और शुक्ल के पश्चात् कृष्ण-पक्ष आता ही है। आखिर एक दिन धर्म का सूर्य उदय होता है और पाखड का अधकार छू-मंतर होता ही है। प्रकृति के इसी अटल नियमानुसार जैनधर्म मे जब विकार-तिमिर अत्यत घना हो गया तब लोंकाशाह रूपी भास्कर का उदय हुआ।

जन्म और बाल्यकाल—राजस्थान के सिरोही राज्य मे, सिरोही नगर से लगभग १८ मील उत्तर मे अठवारा नामक एक छोटा-सा गाव है। पहले इसे अर्हतवाडा अथवा अरहटवाडा के नाम से पुकारा जाता था। पद्रहवी शताब्दी मे यह अच्छा नगर और व्यापार का केंद्र था। वर्तमान मे, प्राचीनकाल के खडहर, भग्नावशेष इसके गौरवशाली इतिहास का स्मरण कराते है। इसी गाव[2] के सुप्रसिद्ध, धर्मपरायण सेठ हेमाशाह की धर्मपत्नी गगाबाई की कुक्षि से

---

१ ज रयणि च ण समणे भगव महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे त रयणि च ण खुद्दाए भासरासी नाम महागहे दो—वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत सकते। जप्पभिई च ण से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्त सकते, तप्पभिइ च ण समणाण निग्गथाण निग्गथीण य नो उदिए पूआ सक्कारे पवत्तई। जया ण से खुद्दाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कते भविस्सई तया ण समणाण निग्गथाण निग्गथीण य उदिए पूआ सक्कारे भविस्सइ।

—श्री कल्पसूत्र, श्री जैनदिवाकरजी द्वारा सपादित, पृष्ठ १५९-६०

२ लोंकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे कुछ मतभेद हैं यथा—

(१) दिगबर श्री रत्ननदी स्वामी भद्रबाहु चरित्र पृ० ९० पर लिखते हैं कि लोंकाशाह का जन्म पाटन मे हुआ था।

(२) इन्हीं का अनुकरण करते हुए वि० स० १६२७ मे हुए दि० श्री सुमतिकीर्तिजी ने भी जन्मस्थान पाटन ही बताया है।

(३) लो० गच्छीय यति केशवजी २४ कडी का शिलोका मे लिखते हैं—

'इण कालई सोरष्ट्र धरा मई नागवेश तटिनी तट गामई
हरिचद श्रेष्टि तिहा वसई, मउघी बाई घरणी शील लसई ॥१०॥'

इन्होने लोकाशाह का जन्मस्थान सौराष्ट्र का नागवेश ग्राम बताया है व माता पिता का नाम मउघी बाई व हरिचद सेठ बताया है।

(४) कच्छी मुनि श्री नागेद्रचद्र जी —

एह अवसर पोसालिया गढ जालोर मझार,
ताडपत्र जीरण थया कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लु को महतो तहा वसे अक्षर सु दर तास,
आगम लिखवा सू पिया लिखे शुद्ध सुविलास ॥४०॥

इसमे उनका जन्मस्थान जालोर बताया गया है।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ सम्मानीय लेखक— श्री वा० मो० शाह, आचार्य श्री अमोलख ऋषिजी म० एव श्री सतबालजी उन्हें अहमदाबादवासी बताते है।

(६) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६) लिखते हैं—

—आ महात्मानो जन्म अरहटबाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटक्ना सेठ हेमाभाईनो पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगानी कुक्षि थीं सवत १४८२ चौदा सो ब्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो। प्रभुवीर पट्टावली, पृष्ठ १६१

स्वामी मणिलाल जी म० ने स्वय ने भी पट्टावली मे उक्त मत का समर्थन किया है।

(७) श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० सा० ने भी अरहठबाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है। धर्मवीर लोकाशाह पृष्ठ ११-१४

(८) सिरोही राज्य के अरहटवाडा ग्राम की चर्चा अभय जैन गथालय बीकानेर की स्थविरावली प्रति न ७५८८ पत्र ५ मे भी हुई है, किन्तु वहा लोकाशाह को नही, माणो जी को अरहटबाडावासी बताया है और उनकी दीक्षा का उल्लेख भी किया गया है— जिनवाणी वर्ष २४ अक ६ एव पुस्तक १५ भाग २

इससे भी सिद्ध होता है कि लोकाशाह या लोकागच्छ के साथ अरहटबाडा का सबध रहा है।

उक्त मतो के अनुसार लोकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे (१) पाटन (२) नागवेश (३) जालोर (४) अहमदावाद (५) अरहटबाडा। पाच स्थानों का वर्णन मिलता है।

जहा तक जालोर का प्रश्न है, श्री वा० मो० शाह को उपलब्ध कुछ पन्नो के अतिरिक्त किसी भी लोकागच्छीय अथवा विरोधी साहित्य मे, किसी भी पट्टावली मे, कहीं भी उसका उल्लेख नही पाया जाता है। यह सभव है कि लोकाशाह युवावस्था मे कभी जालोर गये हो। वहा भी कुछ समय तक श्रुतसेवा की हो। अत उन्हें जालोर का किसी लेखक ने लिख दिया हो। परतु इस मत का समर्थन भी अन्य प्रमाणो से नहीं होता। इसी प्रकार नागवेश का समर्थन भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। स्वय लोकागच्छीय यति भानुचद्रजी भी इसे सही नहीं मानते। पाटन अहमदाबाद का ही उपनाम था अत पाटन और अहमदाबाद मे कोई विरोध नहीं है। रहा अहमदाबाद, सो अहमदावाद

विक्रम सवत[1] १४८२ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्नामयी दुग्धधवल निर्मल निशा मे लोकाशाह का जन्म हुआ ।

बालका नाम लोकचद्र रखा गया । शुक्ल-पक्ष के रजनी-पति की तरह बालक वृद्धि को प्राप्त होने लगा । पाच वर्ष की अवस्था मे बालक को पाठशाला म प्रविष्ट कराया गया । बालक पूर्व सस्कारो के कारण प्रारभ मे ही तीव्र मेधावी था । उसकी अपूर्व धारणाशक्ति से अध्यापकगण भी चकित रह जाते थे । अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण लोकचद्र स्वल्प समय मे ही व्यावहारिक शिक्षण मे पारगत हो गया । हेमाभाई एव गगाबाई स्वय धर्मप्रेमी थे । उनके घर का वातावरण सस्कारिता शुचिता एव धार्मिकता मे व्याप्त था । अत लोकचद्र पर इसका गहरा प्रभाव पडा ।

तो लोकाशाह का कर्मक्षेत्र भी था और धर्मक्षेत्र भी । उनके जीवन का अधिकाश और महत्त्वपूर्ण भाग अहमदाबाद में ही बीता था अत उन्हे इसी दृष्टि से अहमदाबाद का मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य और आपत्ति नहीं । इसके अतिरिक्त जन्म ही अहमदाबाद मे हुआ हो ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जैसा अरहटवाडा के विषय मे होता है । स० १६३६ मे हुए काति विजयजी के लेखन से भी इसकी पुष्टि होती है ।

(६) अभी २ प्रकाशित लुका ना सद्दहिआ ५८ बोल की भाषा भी राजस्थानी प्रभावित गुजराती है । यदि उनका जन्म सौराष्ट्र, गुजरात, मे ही होता, तो उनकी भाषा शुद्ध गुजराती होती, यदि उनका जन्म और कर्मक्षेत्र दोनो राजस्थान मे होते तो भाषा शुद्ध राजस्थानी होती । परतु भाषा सिरोही जैसे दोनो राज्यो के सीमात पर स्थित जिलो की सी है जिससे उनका जन्मस्थान अरहटवाडा होना अधिक सभव लगता है । तथा भाषा मे गुजराती प्रभाव से उनका चिरकाल तक अहमदाबाद रहना भी सिद्ध होता है ।

श्री मरुधरकेसरी जी म० ने भी जेतारण कुरडाया जेसलमेर आदि भडारो के लोकाशाह सबधी साहित्य के अवलोकन के पश्चात् अरहटवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है ।

उपरोक्त सभी मतो पर विचार करने के पश्चात् अरहटवाडा ही लोकाशाह का जन्मस्थल सिद्ध होता है ।

१ इसी प्रकार जन्मसवत के विषय मे भी मतभेद हैं यथा—

(१) पडित मुनिश्री लावण्यसमयजी (वि० स० १५४३)

"सइ उगणीस वरिस थया पणयालीस प्रसिद्ध ।
त्योर पछी लुकु हई असमजस तीणई किद्ध ।।३।।"

—सिद्धातचौपाई

श्री महावीर स्वामी से १९४५ वर्ष बाद अर्थात् वि० स० १४७५ मे इन्होने लोकाशाह का जन्म बताया है ।

(२) मुनिश्री बीका उत्सूत्रनिराकरण बत्तीसी मे—

"वीर जिणेसर मुक्ति गया सइ ओगणीस वरस जब थया,
पणयालीस अधिक माजनई प्रागवाट पहलई साजनई ।"

आप भी लोकाशाह का जन्म उपरोक्त मतानुसार स० १४७५ मे मानते हैं ।

(३) लोकागच्छीय यति केशवजी २८ कडी का शिलोका मे—

"पुत्र सगुण थयो लखु हर्षि, शत चउदे सत सितर वर्षि ।"

आपका मत है कि लोकाशाह का जन्म वि० स० १४७७ मे हुआ था ।



(२) इन्हीं का अनुकरण करते हुए वि० स० १६२७ मे हुए दि० श्री सुमतिकीर्तिजी ने भी जन्मस्थान पाटन ही बताया है।

(३) लो० गच्छीय यति केशवजी २४ कडी का शिलोका मे लिखते है—

'इण कालई सोरष्ट्र घरा मई नागवेश तटिनी तट गामई
हरिचद श्रेष्टि तिहा वसई, मउघी बाई घरणी शील लसई ॥१०॥'

इन्होंने लोकाशाह का जन्मस्थान सौराष्ट्र का नागवेश ग्राम बताया है व माता पिता का नाम मउघी बाई व हरिचद सेठ बताया है।

(४) कच्छी मुनि श्री नागेन्द्रचद्र जी —

एह अवसर पोसालिया गढ जालोर मझार,
ताडपत्र जीरण थया कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लु को महतो तहा वसे अक्षर सु दर तास,
आगम लिखवा सू पिया लिखे शुद्ध सुविलास ॥४०॥

इससे उनका जन्मस्थान जालोर बताया गया है।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ सम्मानीय लेखक—श्री वा० मो० शाह, आचार्य श्री अमोलख ऋषिजी म० एव श्री सतबालजी उन्हे अहमदाबादवासी बताते है।

(६) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६) लिखते हैं—

—आ महात्मानो जन्म अरहटबाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाईनी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगानी कुक्षि थीं सवत १४८२ चौदा सो व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो। प्रभुवीर पट्टावली, पृष्ठ १६१

स्वामी मणिलाल जी म० ने स्वय ने भी पट्टावली मे उक्त मत का समर्थन किया है।

(७) श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० सा० ने भी अरहठवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है। धर्मवीर लोकाशाह पृष्ठ ११-१४

(८) सिरोही राज्य के अरहटवाडा ग्राम की चर्चा अभय जैन ग्रथालय बीकानेर की स्थविरावली प्रति न ७५८८ पत्र ५ में भी हुई है, किन्तु वहा लोंकाशाह को नहीं, माणो जी को अरहटबाडावासी बताया है और उनकी दीक्षा का उल्लेख भी किया गया है—जिनवाणी वर्ष २४ अक ६ एव पुस्तक १५ भाग २

इससे भी सिद्ध होता है कि लोकाशाह या लोकागच्छ के साथ अरहटवाडा का सबध रहा है।

उक्त मतो के अनुसार लोकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे (१) पाटन (२) नागवेश (३) जालोर (४) अहमदाबाद (५) अरहटबाडा। पाच स्थानो का वर्णन मिलता है।

जहा तक जालोर का प्रश्न है, श्री वा० मो० शाह को उपलब्ध कुछ पन्नो के अतिरिक्त किसी भी लोकागच्छीय अथवा विरोधी साहित्य मे, किसी भी पट्टावली मे, कही भी उसका उल्लेख नही पाया जाता है। यह सभव है कि लोकाशाह युवावस्था मे कभी जालोर गये हो। वहा भी कुछ समय तक श्रुतसेवा की हो। अत उन्हें जालोर का किसी लेखक ने लिख दिया हो। परन्तु इस मत का समर्थन भी अन्य प्रमाणो से नहीं होता। इसी प्रकार नागवेश का समर्थन भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। स्वय लोकागच्छीय यति भानुचद्रजी भी इसे सही नहीं मानते। पाटन अहमदाबाद का ही उपनाम था अत पाटन और अहमदाबाद मे कोई विरोध नहीं है। रहा अहमदाबाद, सो अहमदाबाद

विक्रम सवत[1] १४८२ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्नामयी दुग्धधवल निर्मल निशा मे लोकाशाह का जन्म हुआ ।

बालक का नाम लोकचद्र रखा गया । शुक्ल-पक्ष के रजनी-पति की तरह बालक वृद्धि को प्राप्त होने लगा । पाच वर्ष की अवस्था मे बालक को पाठशाला म प्रविष्ट कराया गया । बालक पूर्व सस्कारो के कारण प्रारभ से ही तीव्र मेधावी था । उसकी अपूर्व धारणाशक्ति से अध्यापकगण भी चकित रह जाते थे । अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण लोकचद्र स्वल्प समय म ही व्यावहारिक शिक्षण मे पारगत हो गया । हेमाभाई एव गगाबाई स्वय धर्मप्रेमी थे । उनके घर का वातावरण सस्कारिता शुचिता एव धार्मिकता से व्याप्त था । अत लोकचद्र पर इसका गहरा प्रभाव पडा ।

तो लोकाशाह का कर्मक्षेत्र भी था और धर्मक्षेत्र भी । उनके जीवन का अधिकाश और महत्वपूर्ण भाग अहमदाबाद मे ही बीता था अत उन्हे इसी दृष्टि से अहमदाबाद का मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य और आपत्ति नहीं । इसके अतिरिक्त जन्म ही अहमदाबाद मे हुआ हो ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जैसा अरहटवाडा के विषय मे होता है । स० १६३६ मे हुए काति विजयजी के लेखन से भी इसकी पुष्टि होती है ।

(६) अभी २ प्रकाशित लुका ना सद्दहिआ ५८ बोल की भाषा भी राजस्थानी प्रभावित गुजराती है । यदि उनका जन्म सौराष्ट्र, गुजरात, मे ही होता, तो उनकी भाषा शुद्ध गुजराती होती, यदि उनका जन्म और कर्मक्षेत्र दोनो राजस्थान मे होते तो भाषा शुद्ध राजस्थानी होती । परतु भाषा सिरोही जैसे दोनो राज्यो के सीमात पर स्थित जिलो की सी है जिससे उनका जन्मस्थान अरहटवाडा होना अधिक सभव लगता है । तथा भाषा मे गुजराती प्रभाव से उनका चिरकाल तक अहमदाबाद रहना भी सिद्ध होता है ।

श्री मरुधरकेसरी जी म० ने भी जैतारण कुरडाया जेसलमेर आदि भडारो के लोकाशाह सबधी साहित्य के अवलोकन के पश्चात् अरहटवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है ।

उपरोक्त सभी मतो पर विचार करने के पश्चात् अरहटवाडा ही लोकाशाह का जन्मस्थल सिद्ध होता है ।

१ इसी प्रकार जन्मसवत के विषय मे भी मतभेद हैं यथा—

(१) पडित मुनिश्री लावण्यसमयजी (वि० स० १५४३)

"सइ उगणीस वरिस थया पणयालीस प्रसिद्ध ।
त्योर पछी लुकु हई असमजस तीणई किद्ध ।।३।।"
—सिद्धातचौपाई

श्री महावीर स्वामी से १६४५ वर्ष बाद अर्थात् वि० स० १६७५ मे इन्होने लोकाशाह का जन्म बताया है ।

(२) मुनिश्री बीका उत्सूत्रनिराकरण,बत्तीसी में—

"वीर जिणेसर मुक्ति गया सइ ओगणीस वरस जब थया,
पणयालीस अधिक माजनई प्रागवाट पहलई साजनई ।"

आप भी लोकाशाह का जन्म उपरोक्त मतानुसार स० १४७५ मे मानते हैं ।

(३) लोंकागच्छीय यति केशवजी २८ कडी का शिलोका मे—

"पुत्र सगुण थयो लखु हरखि, शत चउदे सत सितर वर्ष ।"

आपका मत है कि लोकाशाह का जन्म वि० स० १४७७ मे हुआ था ।



प्रारभ से ही उसके सस्कार निर्मल, प्रवृत्ति धार्मिकता की थी। सामायिक प्रतिक्रमण स्वाध्याय गुरुवदन प्रवचनश्रवण आदि का सयोग मिलते रहने से उसकी धार्मिक भावनाये प्रतिदिन बढने लगी। लोकचद्र की स्मरणशक्ति भी इतनी तीव्र थी कि एक वार सुना हुआ व्याख्यान उन्हे पूरा याद हो जाता था। इस प्रकार कुछ ही काल मे लोकचद्र ने अपना शिक्षण सपूर्ण कर लिया।

गृहस्थ जीवन जब लोकचद्र किशोर हुए तो हेमाशाह ने अपने कारोबार का उत्तरदायित्व लोकचद्र को सौप दिया। सतोष वृत्ति, न्यायनीति, सत्यता, प्रामाणिकता एव उदारता से लोकचद्र का कारोबार जम गया और अधिकाधिक विस्तृत होता गया, उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गयी। लोकचद्र वाक्चातुर्य, कार्यकौशल एव भाषणमाधुर्य से ग्राहको का मन जीत लेते थे। लोग उन्हे प्रेम से लोकाशाह कहने लगे। उन्हे अपने व्यापार के निमित्त दूर २ तक जाना पडता था। एक वार जब वे सिरोही गये तो वहा के नगरसेठ ओघवजी शाह से परिचय हुआ। ओघवजी शाह मानव-मन के पारखी थे। वे लोकाशाह की कुशाग्र बुद्धि और तेजस्विता से अत्यन्त प्रभावित हुए। दूसरे ही दिन वे अरहटवाडा आये और अपनी कन्या सुदर्शना की सगाई लोकाशाह के साथ कर दी तथा कुछ समय पश्चात् विवाह भी हो गया। विवाह के तीन साल बाद लोकाशाह के पुत्र हुआ जिसका नाम पूनमचद रखा गया। पौत्र प्राप्ति के पश्चात् हेमाशाह और गगाबाई निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

अहमदाबाद प्रवास—कुछ समय पश्चात् उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। इसी समय अनावृष्टि आदि कारणो से अकाल की स्थिति भी उत्पन्न हो गयी, एव तत्कालीन छोटे २ राज्यो के आपसी वैर के कारण चोरी, डकैती आदि से वहा का जनजीवन भी असुरक्षित हो गया। अत लोकाशाह परिवार सहित अहमदाबाद आकर बस गये और वहा पर जवाहरात का व्यापार पारभ किया।

विलक्षण प्रज्ञा के धनी तो थे ही लोकाशाह, स्वल्प समय मे ही जवाहरात के व्यापार मे परख मे वे पारगत हो गये। एक बार मुहम्मदशाह बादशाह के दरबार मे सूरत का एक जौहरी दो मोती लेकर आया जिसकी परख के लिये बादशाह ने नगर के सभी प्रमुख जौहरियो को बुलाया। सभी ने दोनो को सच्चा और मूल्यवान बताया किन्तु

---

(४) लोंकागच्छीय यति भानुचद (वि० स० १५७८) दयाधर्म चोपाइ मे—

"चौदसय व्यासी वइसाखई वद चौदस नाम लु को राखई।
आठ वरिसनो लु को थयो सा डु गर परलोकई गयो ॥४॥"

ये लोकाशाह का जन्म स० १४८२ मानते हैं।

(५) तपागच्छीय यति कांतिविजय जी (स० १६३६)

'आ महात्मानो जन्म अरहटवाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाई नी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगा बाई नी कुक्षि थी सवत १४८२ चौदा सो ब्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो।"

ये भी लोकाशाह का जन्म स० १४८२ मानते है।

(६) इनके अतिरिक्त लोकाशाह के जीवन पर विशिष्ट प्रकाश डालने वाले श्री सतबालजी एव श्री स्वामी मणिलालजी आदि भी उनका समय सवत १४८२ ही स्थिर करते है।

हमे भी यही मत उपयुक्त लगता है, कारण यति भानुचद्रजी लोकाशाह के ही अनुयायी थे और उनके कुछ समय (४० वर्ष) बाद ही उन्होने लोकाशाह का चरित्र लिखा है, तथा यति कांतिविजय जी ने यही लिखा है।

श्री सतबालजी द्वारा लिखित 'क्रातिनो युगसृष्टा' एव श्री मरुधरकेसरीजी द्वारा लिखित 'धर्मवीर लोकाशाह' के आधार पर।

लोकाशाह ने एक को मूल्यवान् और दूसरे को खोटा बताया। परीक्षा किये जाने पर लोकाशाह की बात सत्य सिद्ध हुई, अत बादशाह बहुत प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर लोकाशाह को अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। बहुत समय तक उन्होंने बडी योग्यता से अपने पद का निवाह किया। वे बादशाह को सदैव सच्ची सम्मति दिया करते थे। गरीबों की सहायता करना तो उनका दैनिक कार्य था ही।

अतर्द्वन्द्व—एक महान् राजकर्मचारी होते हुए भी लोकाशाह राजकीय दावपेच एव छल-प्रपच से सदा दूर रहे। दया और दान, सयम और सरलता से उनका जीवन ओतप्रोत था। लोकाशाह जब कभी चिन्तन-मनन को बैठते तो वे विचार किया करते थे कि आखिर जीवन का ध्येय क्या है? लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है? धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? धर्म और धार्मिकों की वर्तमान दशा क्या है? क्या खाने-पीने और लोकव्यवहार चलाने मे ही जीवन की इतिश्री है? नही। इन तुच्छ कार्यो मे जीवन को न बिताकर जीवन का सदुपयोग अन्य महत्वपूर्ण कार्यो मे करना है। धर्म और दर्शन, जीवन और जगत् की गहन गभीर गुत्थियो पर चिन्तन-मनन मे उन्हे बहुधा घटो बीत जाते।

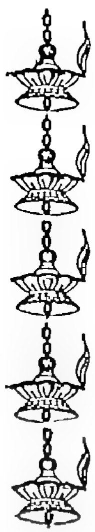
तत्कालीन परिस्थिति—जैसा कि प्रारभ मे लिखा जा चुका है, उस समय तथाकथित साधुसमाज मे शिथिलाचार भयकर रूप मे व्याप्त हो गया था। इसका वर्णन हरिभद्रसूरि ने सबोधप्रकरण मे तथा जिनचद्रसूरि ने सघपट्टक मे यो किया है—ये साधु प्रात काल सूर्योदय होते ही खाते हैं, बार-बार खाते हैं, माल-मलीदा और मिष्ठान उडाते हैं, शय्या जोडा वाहन शस्त्र और ताबा आदि के पात्र अपने साथ रखते हैं, इत्र फुलेल लगाते हैं, तेल की मालिश कराते हैं, स्त्री-प्रसग भी अत्यधिक रखते हैं, शालाओ और घरो मे पक्वान्न बनवाते हैं, अमुक गाव अमुक घर मेरा है ऐसे अखाडे जमाते हैं, प्रवचन के बहाने निंदा विकथा करते है, भिक्षा के लिये गृहस्थो के घर नही जाकर उपाश्रय मे मगाते है, खरीद बिक्री के कार्य करते हैं, छोटे बच्चो को चेला बनाने के लिये खरीदते बेचते हैं। औषधोपचार एव मारण मोहन उच्चाटन आदि की क्रिया करते है। ये साधु नही किन्तु पेट भरो की टोलिया है।

यह वर्णन तो आठवी शताब्दी का है। किन्तु सघपट्टक के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि स्थिति दिन पर दिन अधिकाधिक बिगडती गयी। अब विचार कीजिये कि लोकाशाह के समय तक तो परिस्थितिया कितनी गभीर हो गयी थी?

यति लोग भिन्न भिन्न उपायो से भक्तो को अपने बाडो मे बद रखते थे। दूसरे यतियो से उनका सपर्क नही होने देते थे तथा अपने शिथिलाचार की पोल खुल जाने के भय से उन्होने श्रावको के लिये शास्त्रपठन भी निषिद्ध करार दिया था। अर्थात् श्रावको के जीवन पर यतियो का शिकजा दृढता से कसा हुआ था। न वे दूसरे धर्माचार्यों से चर्चा कर सकते थे, न ही शास्त्र पढ सकते थे। बस जो कुछ भी ये शिथिलाचारी यति कहे उसे 'बाबा वाक्य प्रमाण' करके श्रावक लोग शिरोधार्य करले इसके सिवा कोई चारा न था उस समय। लोकाशाह जैसे तीव्र मेधावी और महा विचक्षण पुरुष ऐसी स्थिति कैसे सहन कर सकते थे? अधिकारवाद की इस शृखला को छिन्न-भिन्न करने का लोकाशाह ने दृढ निश्चय किया। परन्तु सैकडो वर्षो से स्थापित, अनेकानेक सूरिसम्राटो द्वारा सरक्षित अधविश्वासो के इस महालय को भूमिसात् कर देना सरल नही था।

सत्यान्वेषण—लोकाशाह ने अपने असाधारण भाषाज्ञान और आगमज्ञान को और भी आगे बढाने का सकल्प किया। आगमो की प्राप्ति और अनुसधान के लिये वे प्रयत्नशील रहने लगे। वे अपने विचारो एव उपलब्ध ग्रथो को लिखने लगे। अक्षर तो उनके सुदर थे ही। अकस्मात ही उनको एक दिन मनवाछित सयोग मिल गया। एक दिन ज्ञानजी यति उनके घर भिक्षार्थ आये। जब वे भिक्षा लेकर वापस जाने लगे तो उनकी दृष्टि लोकाशाह द्वारा लिखित कुछ पन्नो पर पडी। आश्चर्यविमुग्ध हो गये यति श्री, लोकाशाह के अक्षरो को देख कर बोले ओहो इतने सुदर! इतने सुवाच्य अक्षर। क्या ही अच्छा होता यदि जीर्ण शीर्ण आगमो की प्रतिलिपि इन सुदर अक्षरो मे हो जाती। यतिजी ने लोकाशाह को उपाश्रय मे आकर मिलने को कहा।





इधर मुहम्मदशाह बादशाह को विषप्रयोग से मार दिया गया था। इसकी लोकाशाह पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पहले ही वे जल-कमलवत् जीवन तो बिता ही रहे थे, अब उन्होने नौकरी त्याग कर नये बादशाह कुतुबशाह द्वारा दिये गये बडे-बडे भौतिक प्रलोभनो को अस्वीकार कर निवृत्तमय जीवन बिताने का निश्चय किया। इसके बाद मिल गया ज्ञानजी यति का सयोग। ज्ञानजी यति ने उपाश्रय मे लोकाशाह के समक्ष समस्त आगमो की प्रतिलिपि का प्रस्ताव किया। लोकाशाह को तो मुहमागी मुराद मिली, उन्होने यतिश्री का प्रस्ताव तुरत स्वीकार कर लिया। शास्त्रो की वे दो दो प्रतिलिपिया करने लगे—एक अपने लिये, एक यति श्री के लिये। अन्य लेखको का भी सहयोग लिया। इस प्रकार उनको कई वर्षों तक शास्त्रो के चिन्तन-मनन और स्वाध्याय का अवसर मिला। सतत साधनो मे स्नान कर उनका अध्ययन निखर गया। उनके जीवन का प्याला ज्ञान के सोमरस मे परिपूर्ण हो छलकने लगा।

लोकाशाह ने अपने साधना-शिविर से बाहर की ओर देखा-चारो ओर धर्म के नाम पर शैतानियत का साम्राज्य छाया हुआ था। उनकी साधना विद्रोही हो उठी। उस समय भस्मक ग्रह का प्रभाव भी समाप्त हो रहा था। एक दिन उन्हे ऐसा आभास हुआ मानो कोई कह रहा हो—ओ महान क्रातिकार ! उठ, उठ। निराश होने का कोई कारण नही है, शिथिलाचारियो के पापो का घडा भर गया है, उसे फोड दे अब समय आ गया है। ऐसी अतर्ध्वनि सुनते ही उनके दिल मे नया उत्साह, नयी चेतना, नयी ज्योति जागृत हो गयी।

क्रांतिनाद—अब लोकाशाह ने प्रवचन देना प्रारभ कर दिया। प्रवचन क्या थे क्रातिनाद थे। उन्होने कहा अधे होकर शैतानियत के पीछे दौडने वालो ! आखे खोल कर देखो ! किसी भी विचार को किसी भी पथ को बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करो। जहा हिंसा है वहा धर्म नही हो सकता। आगमसाहित्य मे मूर्तिपूजा का विधान कही नही है। शास्त्रो के पठन-पाठन का सब को अधिकार है। रूढियो और अधविश्वासो का तोडना जैनत्व है। सच्चा धर्म आडबरयुक्त क्रियाकाडो मे नही किन्तु आन्तरिक गुणो के विकास मे है। वर्तमान यतियो का आचार विचार निकृष्ट, हीन, गया गुजरा एव आगमविरुद्ध है। इन मुख्य मुख्य शीर्षको की व्याख्या जब लोकाशाह विभिन्न नयनिक्षेपो, आगमप्रमाणो, युक्तियो, तर्कों, एव हेतु-दृष्टान्तो के साथ करते तो जनता अत्यन्त प्रभावित होती थी।

अधविश्वास की उस अधेरी दुनियाँ मे लोकाशाह के बुद्धिवाद की गर्जना प्रलयकालीन बिजली की तरह कोंध गयी। जनता चौकी, स्वार्थांध धर्माधिकारी घबराए। उन्होने देखा उनके दुर्धर्ष दुर्ग मे एक नर-नाहर कही से आ घुसा है और उनके गुरुडम के गढ की दीवारें उसकी दहाड से डगमगा रही हैं। इससे तत्कालीन रूढिवादियो मे भगदड प्रारभ हो गयी। पुरातन पथी कठमुल्लो के खेमे मे खलबली मच गयी। उन्होने अणहलपुर पाटन के प्रभावशाली सेठ श्री लखमसी शाह को लोकाशाह को समझाने-बुझाने भेजा। लखमसी शाह को पहले लोकाशाह के विरुद्ध खूब बरगलाकर एव तर्कशस्त्र से सज्जित कर भेजा। जब लखमसी शाह आये तो लोकाशाह स्वाध्याय मे तल्लीन थे।

दोनो के बीच मूर्तिपूजा आदि विषयो पर लम्बी चर्चा हुई। लोकाशाह ने आगम प्रमाणो से अपने विचारो को प्रमाणित किया। उनकी सबल युक्तिया सुन कर लखमसी अत्यन्त प्रभावित हुए। तत्पश्चात् लखमसी शाह लोकाशाह के अनुयायी हो गये[1] और दोनो ने मिल कर शुद्ध जैनधर्म का सफल प्रचार किया।

---

१ लुकइ बात प्रकासी इसि, तेहनु सीस हुइ लखमसी।
तिणई बोल उथाप्या घणा ते सघला जिनशासन तणा ॥११॥
लावण्यसमय कृत सिद्धात चौपाई (स० १५४३)

(क) तेहवई शिष्य मिलई लखमसी, तेहनो बुद्धि ही आर्थी रिवसी।
टालई जिन पतिमा नई मान दया दया करि टालई दान ॥३॥
(खरतरगच्छीय उपाध्याय कमलसयम कृत सिद्धातसारोद्धार चौपाई)

घातप्रत्याघात—लोंकाशाह का प्रचार प्रचण्ड वेग से जब बढ़ने लगा तो कुछ दुस्साहसी व्यक्तियों ने उनका प्रतिवाद किया किन्तु लोंकाशाह ने, आगम प्रमाणों एवं युक्तियों से सबको निरस्त कर दिया। कुछ नमूने उस समय की भाषा मे देखिये—

पूर्वपक्ष[1]—जु दयाई धर्म, तु चारित्रीउ नदी काई उतरई ?

लोंकाशाह—जउ नदी उतरई धर्म हुई, तउ बहू बहूसि न उतरई।

श्रीवीतरागे तु नदी उतरवानी संख्या बोली। तथा श्री समवायागनई एकवीस मे समवायें। तथा दशाश्रुत मध्ये एहवा कह्या जे—अतो मासस्स तउ उदकलेवे करमाणे सबले। इहा तउ इम कह्यु। जे महीनाना मध्ये त्रिणि लेप लगाडई ते न बरउ। वरसदीनमाही दस लेप लगाडई ते सबलु। तु हवई जुओ नई नदी उतरई धर्म, तु श्री वीतरागे जिको अधिकी नदी उतरई तेहनई सबलउ का कहई ? तथा जे धर्मकर्त्तव्य छई ते बहू बहू कीजई। अनई-वली करीनई अनुमोदीई। अनई नदी तु बहू बहू उतरवी नहीं। अनई उतरिया पछी अनुमोदई पणि नही। जे विराधना हुई हुई ते निंदई गर्हई। तथा साधुनई विहार करतइ केहइक वरिसई तथा केहइकट मासट तथा केहइ कइ दिवसि क्षेत्र विशेषइ तथा देश विशेषइ नदी, नावी तथा न उतरिवुं काई साधु नदी अणऊतरि आनउ पश्चात्ताप तउ न करइ। पणि प्रतिमानउ पूजणहार केहई कई मासि केहई कई दिवसि कारण विशेषट प्रतिमा पूजी न सकई तु पश्चात्ताप करइ इम चीतवई जे माहरइ पोतइ पाप जे मइ प्रतिमा न पूजाणी। पणि साधू नदी अणऊतरतइ इम न चीतवइ जे - "माहरइ पोतइ पाप जे नदी न ऊतराणी।" जि को प्रतिमा ऊपरि नदी नु दृष्टान्त माडई छट ते सूत्रविरुद्ध दीसई छई। ते भणी भणिजे प्रतिमा ना पूजणहारनइ प्रतिमानी पूजा अनुमोदणनइ वातइ छई। अनई साधू नई नदी नु उतार निंदवानइ वातइ छइ। तथा हवइ जेणइ वातट नदी छइ ते पीछवा। नदी अणवय परिहार छइ। अनई असाकुटि छट ते अनाकुटि श्री समवायाग मध्ये एक वीसमइ समवायइ छई। विवेकी हुइ ते विचारी जाजे।

टीका और निर्युक्तियों के विषय मे लोंकाशाह ने कहा— "तथा केतलाएक इम कहई छइ जे अम्हारइ वृत्ति टीका चूर्णि निर्युक्ति भाष्य सहू प्रमाण।" त डाहू हुइ ते विचारी जाज्यो। जे सिद्धातनई मिलइ ते प्रमाण। अनइ जे सिद्धातविरुद्ध हुई ते किम प्रमाण थाइ। वृत्ति टीकामाहि एहवा अधिकार छई ते लिखीइ छट-जे साधू चारित्रीओ चक्रवर्तिना कटक चूर्ण करइ। उत्तराध्ययननी वृत्ति चूर्णि मध्ये। तथा चारित्रिओ पचक माहि काल करइ तु डाभ ना पूतला कह्या छइ ते लिखीइ छइ-दुन्नि अ दिवड्ढ खित्त दब्भमया पूतला य कायव्वा, समखित्तमि अ इक्को, अवड्ढ आभई न कायव्वो ॥२॥ आवश्यक निर्युक्ति परिठावणिया समिति माहि। तथा बृहत्कल्प नी वृत्तिमध्ये पणि पूतला करवा कह्या। ते वृत्ति चूर्णि किम मनाइ ? डाहु हुइ ते विचारी जोज्ये। एह सत्तावनवु बोल ॥५७॥

अंतिम अट्ठावनवे बोल मे लोंकाशाह कहते हैं—जे अनता मोक्ष पुहता। वर्तमान कालइ मोक्ष जे मोक्ष पुहचइ छइ। अनइ अनागत कालइ अनता मोक्ष पहुचस्यइ।—सूत्रपाठ—जीवदयाइ करी मोक्ष पुहता। अर्थ स्पष्ट है।

(ख) लखमसी ते तिहा छई कारभारी, सा० लु का नो थयो सहचारी।
अमारा राजिमा उपदेश करो दया धर्म छई सहुथी खरो ॥१०॥
लोंकागच्छीय यति भानुचद्र कृत दयाधर्म चौपाई।

(ग) हिव सोरठई लीबडी ग्राम कामदार अछे लखमशी नाम।
लु का गुरु नो ग्रही उपदेश धर्म पसार ओ देश विदेश ॥१६॥
(लोंकागच्छीय केशव ऋषि कृत लोंकाशाह को सिलोको)

(घ) तस अनुवई हुओ लखमसीह जिणवर तणी तीण लोपी लीह।
चउप्पदी कीधउ सिद्धात सता ससार अनत ॥३॥
(मुनि वीका कृत असूत्रनिराकरण बत्तीसी)।

1 प० दलसुख भाई मालवणिया द्वारा प्रकाशित 'लु का न सद्दहिआ अट्ठावन बोल विवरण' मे का छठा बोल।





लोकाशाह ने मूर्तिपूजा के पक्ष मे दी जाने वाली युक्तियो का तो सफलतापूर्वक खडन किया ही था, किन्तु उस समय के यतियो मे व्याप्त भयकर शिथिलाचार एव अनागमिक प्रथाओ पर भी भरपूर प्रहार किया था। ऐसी ही ५४ बातो का वर्णन लुंका ना सद्दहिया ५८ बोल विवरण के ग्रन्थ मे किया गया जैसे—दीक्षा लेकर नाम फिराना, वासक्षेप डालना, ग्रघोल करना, ज्योतिषप्रयोग, औषधि बनाकर देना, मुखवस्त्रिका कानो मे पिराने के लिये छेद बढाना, उठावना करना, प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना, झूला करना, ओघा फेरना, देवद्रव्य रखना, पर्युषण पर्व का प्रतिक्रमण चौथ को करना, आदि।

प्रचार-प्रसार—अहमदाबाद उस समय व्यापार का एव आवागमन का केन्द्र था। तीर्थयात्री भी वहा होकर जाया करते थे, अत वहा पर मनुष्यो का आवागमन प्राय बना ही रहता था। लोकाशाह की कीर्ति उस समय दिग्-दिगतव्यापिनी हो रही थी। अत जो भी श्रावक अहमदाबाद आते वे लोकाशाह के प्रवचन सुनने (श्रद्धावश, कुतूहलवश अथवा ईर्ष्यावश भी) अवश्य आते और जो भी एक बार उनका उपदेश सुन लेते वे उनके ही हो जाते।[1] एक बार अरहतवाडा सूरत आदि स्थानो के चार बडे २ सघ शत्रु जय की यात्रा को जाते हुए अहमदाबाद आये और कुतूहलवश लोकाशाह के पास उपदेश श्रवण को चले गये। लोकाशाह की अमोघ युक्तियो एव प्रमाणो से प्रभावित होकर उन्होने अपनी यात्रा त्याग दी और लोकाशाह की धर्मयात्रा मे शामिल हो गये।[2] अब तक लोकाशाह ने किसी को दीक्षा नही दी थी न स्वय ने ही ली थी। अब लोकाशाह के उपदेशो से प्रेरित होकर भाणाजी, जगमालजी, सर्वाजी, दयालजी आदि ४५ व्यक्तियो ने लोकाशाह से प्रार्थना की—हमें दीक्षा लेकर प्रचार करने की अनुमति दीजिये। लोकाशाह ने कहा—मै तो स्वय गृहस्थ हू, यदि आपको दीक्षा लेनी है तो किसी शुद्धाचारी के पास दीक्षा लो। आखिर ज्ञानजी ऋषि के पास उनकी दीक्षा हुई।[3]

लोकाशाह की दीक्षा – लोकाशाह की दीक्षा के विषय मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। अधिकाश विद्वानो का मत है कि उन्होने स्वय ने दीक्षा नही ली, किन्तु तपागच्छीय यति कातिविजयजी, स्वामी मणिलालजी म०, शास्त्रोद्धारक पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म० का मत है कि उन्होने दीक्षा ली थी। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० को शाह जी की दीक्षा का उल्लेख कल्याणजी भसाली जैलसमेर वालो के सस्कृतमय पट्ठे से, जयतारण के गुजराती उपाश्रय के भडार से प्राप्त पुराने पन्नो से, एव ज्ञानसागरजी यति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा नाटक मे मिला है। तदनुसार उन्होने स० १५३८ की मगसर सुदि ५ को दीक्षा ली।

बलिदान—दीक्षा के उपरात उनका प्रचार और अधिक बढ गया। उनके दिन दुगुने रात चौगुने बढते हुए प्रचड प्रताप से प्रतिक्रियावादियो का सिंहासन डोल उठा। उनके मस्तिष्क का सतुलन समाप्त हो गया। उनके हृदय मे ईर्ष्याद्वेष की अग्नि भभक उठी। उन्होने षड्यन्त्र रचकर तेले के पारने पर उन्हे विषमिश्रित आहार बहरा दिया। विष का आभास होने पर भी उन्होने समता बनाय रखी और सथारेपूर्वक स० १५४६ मे स्वर्गवासी हुए।[4]

अहिंसा के अवतार, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता, क्राति के युगसृष्टा धर्मप्राण श्री लोकाशाह धर्म के दीवानो द्वारा अधविश्वास की बलिवेदी पर बलिदान कर दिये गये। प्रत्येक महामानव की—चाहे ईसा हो या सुकरात मीरा हो या गाधी प्रतिक्रियावादी लोग ऐसी ही गति किया करते हैं। किन्तु इससे उनका उद्देश्य पूरा नही होता।

---

१ दया धर्मो थयो बहु लोग। एहविमिलियो भाणा नो सयोग।

—लो० गच्छीय यति भानुचन्द्रकृत दयाधर्मचौपाई

२ 'पट्टावलीपराग' मे इस घटना का वर्णन यो है—'तेणे समय मारवाडथी एक सघ सेत्रुजानी जात्राइ जाई तेमा आठ सघ मुखि छे, भाणा भीमा जगमाल सखा प्रमुख ते पाटण आव्या ते लोकाशाहनो नवीन धर्मप्रबोध सामलवा आव्या, तेणे प्रबोध दई सिद्धात ओलखाव्यो तेणे पोसाली धर्म, देहरो प्रतिमापुजा मुकी, साध थया।

३ 'धर्मवीर लोकाशाह' (म० के० श्री मिश्रीमलजी म०) पृष्ठ ५८

४ धर्मवीर लोकाशाह

लोंकाशाह के बलिदान से उनकी ज्योति बुझी नहीं अपितु अधिकाधिक प्रज्वलित होती गयी । आज भी लाखों आदमी उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को मानते हैं ।

लोंकाशाह के समकर्मी – पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्राय संसार के सभी धर्मों में विकार अत्यधिक बढ गये थे । ईसाई धर्म में पोप का शिकंजा यूरोपीय जनता पर बुरी तरह कस गया था । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चर्च का हस्तक्षेप बुरी तरह व्याप्त हो गया था । कुठाओं और अवरोधों से जनजीवन त्रस्त हो गया था । पाप व पादरी पैसे लेकर स्वर्ग के टिकिट दिया करते थे । पोप और चर्च के विरुद्ध एक वाक्य भी कहने वाले का शिरच्छेद कर दिया जाता था । लोंकाशाह के कुछ ही समय पश्चात् जर्मनी के एक महान् सुधारक मार्टिन लूथर हुए, जिन्होंने इस पोपशाही के विरुद्ध आवाज उठायी । उन्होंने भी मूर्तिपूजा का अस्वीकार कर दिया । एक अंग्रेज लेखिका लिखती है—

About A D 1452 Lonka sect arose and was followed by Sthanakwasi, sect, dates coincid strictly with the Luther and Puritan movement in Europe (Heart of Jainism)

हिन्दू समाज की हालत भी कम खस्ता नहीं थी । लोंकाशाह के बाद उसमें भी कई क्रान्तिकारी हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का बहिष्कार कर धर्म में सुधार किया । इनमें कबीर, दादू, सिक्खमत प्रवर्तक नानक, रामचरणजी महाराज, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि हुए, दिगम्बर जैन समाज में मूर्तिपूजा को अस्वीकार करने वाले तारण स्वामी हुए ।

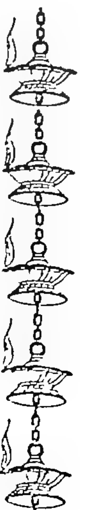
इसी प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय में भी विकृतियां बढ़ कर गयी थीं, किन्तु उसमें लोंकाशाह और मार्टिन लूथर जैसे समर्थ क्रान्तिकारी नहीं होने से भारतवर्ष में उसका नामोनिशान ही मिट गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंकाशाह संसार में धर्मक्रान्ति की सर्वप्रथम वीणा बजाने वाले थे, सत्य का शंख सबसे पहले फूकने वाले थे । शताब्दियों से फैली विकट अन्धकारमयी रात्रि में सुषुप्त जनमानस को क्रान्तिज्योति का सर्वप्रथम दर्शन कराने वाले थे ।

लोंकाशाह पर आक्षेप—लोंकाशाह के धर्म प्रचार से जिन स्वार्थी व्यक्तियों के स्वार्थ पर आघात हुआ वे उन पर विभिन्न प्रकार के निराधार आक्षेप किया करते हैं ।

जहाँ तक उनके लहिया होने की बात है, यह सर्वथा निस्सार है क्योंकि कोई व्यक्ति पैसे लेकर कोई काम करता है तो उसकी दृष्टि में फिर वह आजीविका ही मुख्य रहती है । लोंकाशाह ने जो प्रचार किया उससे तो उनकी उस तथाकथित आजीविका पर ही कुठाराघात होता था । पैसा लेकर काम करने वाला अपनी आमदनी पर आघात का काम कभी नहीं करेगा । हाँ, वे श्रुतसेवा की दृष्टि से अवश्य लिखते होंगे जिससे द्वेषवश पहले लहिये जैसा और बाद लहिया ही लिखा जाने लगा होगा । जहाँ तक उन पर अज्ञानता का आरोप है वह सरासर ही मिथ्या है । शताब्दियों से जमे अन्धविश्वासों व मन्त्रशक्ति, तन्त्रशक्ति, औषधशक्ति, धनबल, जनबल, राज्यबल, एवं ज्ञानबल आदि सुसम्पन्न सूरि-सम्राटों से उन्हीं के गढ़ में घुस कर टक्कर लेना और विजयदुंदुभि बजाना क्या किसी साधारण या अल्पज्ञानी से संभव है ? कदापि नहीं । "लुंकाना सद्दहिया ५८बोल" प्रकाशित होने के बाद इस विषय में मूर्तिपूजक विद्वानों का भी भ्रम विध्वंसित हो गया है । उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ा कि—

'ऐवा उल्लेखो मले छे के लोंकाशाह लहिया हता, पण आ हस्त प्रत एक बाबत स्पष्ट करी आपे छे के तेओ श्रमण लहिया हता नहि, अनेको शास्त्रानुं अवगाहन तेमणे कर्युं हतुं । अहीं आपेला सूत्रपाठो प्राय शुद्ध छे अने प्राकृत जाणकारे ते उतारेला होय एम स्पष्ट जणाय छे, एटले लहिया-मात्र नकल करनार-एवा अर्थथी कांई विशेष अर्थमां लोंकाशाह लहिया हशे' आ उपरान्त स्वयं लोंकाशाहना स्वभाव विषे, तेमना ज्ञान विषे पण जे बाबत मा ज्यारे इतिहास दृष्टिए लगभग अंधारू प्रवर्ते छे — आ कृतिमांथी घणुं जाणवानुं मले छे । अनेक मूल आगमो निर्युक्ति चूर्णि अने वृत्ति मांथी साक्षी पाठो आप्या छे ते तेमनुं शास्त्रीय अवगाहन बतावे छे ।"



लोकाशाह ने अपने मत के समर्थन मे जिन युक्तियो आगमप्रमाणो एव टीकाओ आदि के साक्षी पाठो को उपस्थित किया है उनमे उनके पाडित्य, अद्भुत तर्कशक्ति एव प्राकृतादि भाषाओ पर उनके अधिकार एव उनके गभीर शास्त्रज्ञान का पता चलता है।

रही मुसलमानो के प्रभाव की बात सो कुछ व्यक्तियो को जहा मूर्तिपूजा का विरोध दीखता है वही उनको मुसलमान नजर आने लगते है। परतु यह उनका दृष्टिदोष और मतिविभ्रम ही है।

लोकाशाह के पास मूर्तिपूजा के विरोध मे गहन चिन्तन, सबल आधार और प्रबल युक्तिया थी जिनका उत्तर विरोधियो से न बन पडा। इनके सद्भाव मे यह आरोप, आरोपकर्त्ताओ के ओछेपन का प्रतीक बनकर रह गया है।

हमारा कर्त्तव्य—लोकाशाह ने जिस अद्वितीय अनुपम क्राति का सर्जन किया, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस क्राति की मशाल को जलाये रखे। उन्होने जिन रूढियो का, बुराइयो का विरोध किया यदि वे हम मे हो तो हम उनको दूर करे। श्रीमालवणिया जी उनके विषय मे एक महत्त्वपूर्ण कृति को प्रकाश मे लाये इसके लिये उन्हे धन्यवाद है। अन्य विद्वानो को भी लोकाशाह के जीवन एव साहित्य के विषय मे अधिक शोध-खोज करनी चाहिये ताकि हम अधिक प्रकाश को प्राप्त कर सके।



द्वितीय खण्ड

- धर्म
- दर्शन
- अध्यात्म

धर्मतत्त्व का विश्लेषण

पं० चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

आचार्य, दि० जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर



भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द के व्यवहार ने काफी स्थान रोक रखा है। वह कहां नहीं है? आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य में तो वह ओतप्रोत है ही, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विद्याओं के विभागों में भी किसी न किसी रूप में वह उलझा पड़ा है। ज्योतिष शास्त्रों में प्रतिकूल ग्रहों के बुरे असर का निष्फल करने के लिये विभिन्न धार्मिक क्रियाकाण्डों का वर्णन है। इसी तरह आयुर्वेद में भी रोगों को दूर करने के लिए अनेक धार्मिक विधि-विधानों का आश्रय लिया गया है। राजनीति भी अनेक बार धर्म के आधार के बिना नहीं चलती। क्योंकि उसमें भी युद्ध में विजय पाने के हेतु मन्त्रादि की साधनाओं के विधानों की कमी नहीं है। इस तरह धर्म का प्रभाव अथवा आतंक हमें हर जगह देखने को मिलता है।

धर्म शब्द का अर्थ और प्रयोग

अमरकोषकार धर्म शब्द के कई अर्थ करते है। उन्होंने इसका लिंगभेद भी स्वीकार किया है। पुण्यवाचक धर्म शब्द को वे पुलिंग और नपुंसकलिंग मानते हैं।[1] उन्होंने धर्म का अर्थ पुण्य, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और सोमरस का पीनेवाला माना है।[2] विश्वलोचन कोष के कर्ता आचार्य श्रीधर[3] पुण्य, न्याय, स्वभाव, उपमा, यमराज आचार, वेदान्त, यज्ञ, योग, धनुष, अहिंसा और सोमरस का पीने वाला धर्म शब्द का अर्थ करते हैं। इनमें पुण्यवाची शब्द पुलिंग और नपुंसकलिंग एवं अवशिष्ट पुल्लिंग हैं। यजुर्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। इस प्रकार धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हुये भी हमें यहां उस धर्म शब्द से प्रयोजन है, जिसका अर्थ है स्वभाव तथा मनुष्य का आचरण। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता है। ईशावास्योपनिषद्,[4] केनोपनिषद्,[5]

---

१ स्याद् धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः।-अमरकोष प्र० काण्ड, २४

२ धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः।—अमरकोष तृतीय काण्ड, श्लोक १३६

३ धर्मं स्यादस्त्रियां पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयोः।
उपमायां यमाचारे वेदान्तेऽपि धनुष्यपि॥ १॥
यागे योगेऽप्यहिंसायां सोमपेऽपि क्वचिन्मतः। —विश्वलोचनकोष मान्त द्वितीय

४ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥—ईशावास्योपनिषद्

५ ओं आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।—केनोपनिषद् शान्तिपाठ

कठोपनिषद्[1] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[2] आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे इसका अनेक स्थाना पर उल्लेख मिलेगा। इन ग्रन्थो मे भक्ति के अर्थ मे भी धर्म शब्द आया है। मीमासा आदि सभी दर्शनसूत्रो मे इसका बहुतायत से प्रयोग हुआ है। धर्मसूत्रो और स्मृतिग्रथो का तो प्रधानतया विषय यही है। रामायण, महाभारत और गीता तो इससे अत्यन्त प्रभावित हैं ही। जैन और बौद्ध साहित्य भी इस शब्द के व्यवहार से भरा पडा है। कहना यह है कि समूचा भारतीय वाङ्मय धर्म तत्व के प्रतिपादन, इसकी विभिन्न व्याख्याओ और विविध परिभाषाओ से भरा पडा है।

धर्म की आवश्यकता कब और क्यो हुई ?

कोई समय था जब मनुष्य मे जिज्ञासा का उदय नही था। पशुओ की तरह उसका जीवन भी सघर्पविहीन था। उसकी इच्छायें अत्यत सीमित थी और प्रकृति ही उन्हे स्वत पूरी कर देती थी। लाखो वर्षों तक उसकी यही स्थिति रही, किन्तु युगपरिवर्तन हुआ और मनुष्य की इस स्थिति ने पलटा खाया। पहले वह वर्त्तमान ही मे तन्मय था। न उसे भविष्य की चिन्ता थी और न भूत का विचार। अब वह आने वाले कल के विषय मे भी सोचने लगा। उसकी जिज्ञासाये बढने लगी, प्रकृति भी पहले की तरह उसके अनुकूल न रही, इसीलिये भविष्य की चिन्ता ने उसमे सग्रह की भावना भी उत्पन्न कर दी और उसके जीवन मे सघर्ष का जन्म हुआ। जीवन मे अनेक अभाव उसे खटकने लगे और इन अभावो की पूर्ति को ही वह मानव-जीवन का उद्देश्य मानने लगा। उसके सामने जीवन की सुविधाओ का प्रश्न तो था ही, जिसे भारतीय मनीषियो ने 'काम' कहा है, किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न अर्थ, अर्थात् धन का था। बहुत दिनो तक अकेला काम ही पुरुष का प्रयोजन बना रहा। अब अर्थ भी उसके साथ हो गया और इसी तरह काफी अर्से तक इन दो पुरुषार्थों के बीच यह मनुष्य जूझता रहा। तब तक धर्म की उत्पत्ति नही हुई थी, पर अब उसे धर्म की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। अभावों की पूर्ति के लिये जो सघर्ष हुआ उसके लिये हिसा, झूठ आदि का आश्रय लेना पडा। किन्तु ये चीजें सभी के लिये प्रतिकूल थी, इसलिए इनका निषेध करना जरूरी माना गया और यही मनुष्य का धर्मतत्व कहलाया।

धर्म की विविध परिभाषायें और व्याख्यायें

धर्म की उत्पत्ति के बाद विभिन्न विद्वानो ने उसकी विभिन्न व्याख्याये की। पूर्वमीमासादर्शन के निर्माता महर्षि जैमिनि ने अपने द्वादशाध्यायात्मक मीमासादर्शन मे धर्म-जिज्ञासा को सबसे अधिक महत्त्व दिया और अपने दशनसूत्र को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारम्भ किया। वे धर्म का लक्षण करते हुये इससे अगले सूत्र मे कहते है कि "चोदनालक्षणार्थो धर्म"। इस लक्षण से ज्ञात होता है कि वे धर्म के विषय मे एक मात्र वेद को ही प्रमाण मानते है। "वेद्वाद् धर्मो हि निर्बभौ" इत्यादि वाक्य भी इसी बात का अनुमोदन करते है। मनुस्मृति भी "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" कहकर इसका समर्थन करती है। यद्यपि वह वेद जानने वालो की स्मृति, शील और आचार को भी धर्म कहती है। धर्म का यह लक्षण बिलकुल स्पष्ट है। किन्तु वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्रग्रन्थ मे धर्म का लक्षण इससे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है कि "यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म" अर्थात् जिससे लोकाभ्युदय और मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है। जैमिनि की तरह यह भी धर्म को कम महत्व नही देते और अपने वैशेषिक-दर्शन की रचना केवल धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से ही करते है। तभी तो इस दर्शन का पहला सूत्र 'अथातो धर्मं व्याख्यास्याम' के रूप मे प्रकट होता है। इन दोनो ही दर्शनो मे धर्म की जिज्ञासा अथवा व्याख्या को असाधारण महत्व दिया गया है। आचार्य कणाद ने धर्म की व्याख्या अधिक व्यापक और मनोग्राह्य की है। साथ ही आत्मा के

---

१ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥—कठोपनिषद्

२ स वृक्षकालाकृतिभि परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ॥ ६ ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद षष्ठ अध्याय

चरम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर भी इनका लक्ष्य है। इसके विपरीत जैमिनि मोक्ष का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे परलोक को अवश्य मानते हैं फिर भी मीमांसाकार का चरम पुरुषार्थ मुक्ति नहीं अपितु स्वर्ग है और वह केवल यज्ञ से प्राप्त होता है। इस दर्शन में यज्ञ धर्म का पर्यायवाची बन गया है। जितना महत्त्व धर्म को इन दोनों दर्शनों ने दिया है उतना महत्त्व वेदान्तदर्शन के प्रणेता महर्षि व्यास नहीं देना चाहते। यह बात नहीं है कि इन्होंने अपने वेदान्तसूत्र में धर्म शब्द का प्रयोग न किया हो, किन्तु वे धर्म की अपेक्षा ब्रह्म को अधिक महत्त्व देते हैं और उनके दर्शन का प्रयोजन धर्मव्याख्या नहीं अपितु ब्रह्मजिज्ञासा है। वह दर्शन धर्म और वेदान्त में भेद नहीं मानता और यही कारण है कि वेदान्त शब्दकोषों में धर्म शब्द का पर्यायवाची मान लिया गया है।

सांख्यदर्शनकार मुनि कपिल धर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि वे धर्म को ऊर्ध्वगति का कारण मानते हैं[1], किन्तु इस दर्शन में जो महत्ता ज्ञान को दी गई है वह धर्म को नहीं। अपवर्ग अर्थात् मुक्ति धर्म से नहीं अपितु ज्ञान से मिलती है। बुद्धि के सात्विक रूप चार हैं — धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनमें धर्म का लक्षण दया, दान, यम और नियम माना गया है। किन्तु ये सामाजिक सुखों के कारण हैं, मुक्ति के नहीं। इस दर्शन ने यज्ञादि धर्मों को अविशुद्धि, क्षय और अतिशय युक्त मानकर उनकी हेयता बतलाई है। गीता भी यही कहती है —

> ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल,-
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।
> एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
> गतागत कामकामा लभन्ते॥

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्ग को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य-लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुये सकाम कर्म के आश्रित हुए और भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार आना-जाना करते रहते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर पुन मर्त्य लोक में आ जाते हैं।

न्यायदर्शन में यद्यपि धर्म शब्द की व्याख्या नहीं मिलती, फिर भी धर्म शब्द का प्रयोग यहा मिलता है। इस दर्शन का उद्देश्य लोगों को केवल आन्वीक्षिकी (तर्क) विद्या के तत्त्व को समझाना था, धर्म की व्याख्या करना नहीं। इसलिये इस ओर इसने ध्यान नहीं दिया। न्यायसूत्रों में जो स्थान-स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह दूसरे अर्थों से सम्बन्धित है।

पातञ्जल योगदर्शन में कई स्थानों पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस दर्शन का लक्ष्य धर्म तत्त्व की व्याख्या करना नहीं अपितु योगतत्त्व को समझाना है। यहा मुख्यता योग की है, धर्म की नहीं। यहा योग को इतना महत्त्व दिया गया है कि कोषकारों ने योग को भी धर्म शब्द का एक पर्यायवाची मान लिया।

जैनदर्शन के तत्त्वार्थसूत्र नामक प्रख्यात ग्रन्थ में कहीं भी धर्मतत्त्व का लक्षण नहीं मिलता। वहा धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु उनका मतलब है जीव और पुद्गलों की क्रमश गति और स्थिति का माध्यम। इस धर्मतत्त्व से इन दोनों द्रव्यों का कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सूत्रग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य मोक्षमार्ग का विवेचन करना है, धर्मतत्व की व्याख्या करना नहीं। फिर भी इस ग्रन्थ में उत्तम क्षमादि धर्म के दस भेदों को अवश्य गिनाया गया है। पर जैनों के दूसरे आकर-ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत और विशद व्याख्या मिलती है। जैनों के प्रख्यात तार्किक विद्वान् आचार्य समन्तभद्र अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ में सबसे पहले धर्म शब्द की निरुक्ति करते हैं "ससारदुःखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" अर्थात् जो जीवों को ससार के दुःखों से हटाकर उत्तम सुख में धारण करता



---

१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध।—साख्यकारिका, ४४

है, वह धर्म है। इसके बाद वे कहते है कि—"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु" और तीर्थंकारो ने सच्ची श्रद्धा, सच्चे ज्ञान और सच्चे चरित्र को ही धर्म कहा है। इनसे भी पहले जैनो के महान् आचार्य कुन्दकुन्द वस्तु (आत्मा) के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। 'धम्मो वत्थुसहावो'। अर्थात् आत्मादि पदार्थों का स्वभाव ही धर्म है। जैनो के प्राचीन सूत्रो मे धर्म के विषय मे लिखा है कि —

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् धर्म ही उत्कृष्ट मगल है। जिसका मन उस धर्म मे लगा रहता है, देव भी सदा उसे प्रणाम करते हैं।

बौद्धधर्म के 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ मे धर्म के नाना रूपो का वणन किया गया है। इसमे सबसे अधिक मनुष्य के आचरण पर जोर दिया गया है। इसमे यमक वर्ग आदि २६ वर्गों मे धर्मतत्व का विस्तृत विवेचन है। बौद्ध साहित्य मे धर्म की कोई खास परिभाषा या लक्षण दृष्टिगोचर नही हुआ अपितु वहा उसके विभिन्न रूपो का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ मे कहा गया है कि —

नहि वेरेन वेरानि सम्मती ध कदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एसे धम्मो सनातनो॥

अर्थात् वैर से वैर कभी नष्ट नही होता, किन्तु अवैर से वैर का नाश होता है। यही सनातन धर्म है।

धर्मों की विभिन्नता

दुनिया मे इस समय करीब आठ सौ धर्म हैं। जिनमे ग्यारह धर्म ऐतिहासिकता, साहित्य और सख्या आदि अनेक दृष्टियो से उल्लेखनीय है। चाहे कुछ भी हो, धर्मो की इस विभिन्नता मे भी मनुष्य मे विवेक और सहृदयता हो तो समन्वय और एकता को हृदयगम कर सर्वधर्मसमभाव के तत्व को समझा जा सकता है। तो भी इसमे कोई शक नही है कि धर्मों की विभिन्नताओ ने धर्म के विषय मे मानव के मन मे व्यामोह पैदा कर दिया है और धर्मतत्त्व विवादो का कारण बन गया है। किसी धर्मतत्व के गवेषी विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतिर्विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्,
महाजनो येन गत स पन्था॥

धर्मतत्व के प्रतिपादन के विषय मे श्रुति अर्थात् वेद एकमत नही है। वह विभिन्नताओ से भरी पडी हैं। और यही बात स्मृतियो के विषय मे भी है। कोई एक मुनि नही है जिसका वचन प्रमाण माना जाय। इसलिये यही कहना ठीक है कि धर्मतत्व गुहा मे छिपा हुआ है। इस विषय मे वही रास्ता पकडना चाहिए जिससे महाजन (महापुरुष) गया हो।

कठोपनिषद्[1] की द्वितीय वल्ली के बारहवें पद और मुण्डकोपनिषद[2] के प्रथम खण्ड के आठवें सूक्त एव

---

१ त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

—कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली

२ सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष समिध सप्त होमा।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥ ८॥

—मुण्डकोपनिषद्, प्रथमखण्ड

श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ऊपर के पद्य मे गुहा का अर्थ हृदय है। धर्म का सम्बन्ध भी हृदय से ही है और वडे लोगो ने धर्म को प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को ही टटोला है तथा उसी के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करके वे सफल हुये हैं। दया, सहानुभूति, परदु खकातरता आदि धर्म के लक्षण भी हृदय से ही सम्बन्ध रखते है। इससे हम कह सकते हैं कि चाहे श्रुति, स्मृति और विभिन्न मुनियो के वचनो मे कितना ही विरोध क्यो न हो, उसका समझना और पाना उतना निगूढ नही है जितना साधारणतया माना जाता है।

धर्म जीवन के लिए अनिवार्य

धर्म के विषय मे चाहे कितने ही मतभेद क्यो न हो, फिर भी वह जीवन के लिये अनिवार्य है। धर्म के विना मानवजीवन की कोई कीमत नही है। किन्तु अवश्य ही उस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राण-रहित शरीर की तरह उस जीवन का कोई मूल्य नही है जिसमे धर्म अथवा नैतिकता नही रहती। अगर जीवन मे धर्म का प्रकाश न हो तो वह अन्धा है और वह अपने लिये भी भारस्वरूप है एव दूसरे के लिये भी। मनुष्य मे से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य मे सामाजिकता लाता है, किन्तु थोथे क्रियाकाण्ड के नाम से जिस धर्म को वहुत से लोग लिये बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नही ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमे दया, दान, सतोष, करुणा, अनुकम्पा क्षमा, अहिसा आदि अनेक गुणो को उत्पन्न करती है। जितने-जितने अशो मे जहा-जहा धर्म की प्रतिष्ठा है वहा-वहा शान्ति, सुख और वैभव का विलास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशसा मे एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणभद्र कहते है --

> धर्मो वसेन्मनसि यावदल स तावद्,-
> हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
> दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानाम्,-
> रक्षा ततोऽस्य जगत खलु धर्म एव।

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन मे धर्म रहता है तब तक वह मारने वाले को भी नही मारता। किन्तु देखो, जब उसके मन मे से धर्म निकल कर चला जाता है तब औरो की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को, अत यह निश्चित है कि जगत् की रक्षा का कारण धर्म ही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन विताने के लिये धर्म अनिवार्य है।

धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है, किन्तु उसका स्वरूप एकान्त बाह्याचार कभी नही है। 'आचार प्रथमो धर्म' अर्थात् आचार ही सर्वप्रथम धर्म है। शास्त्र के इस वाक्य को लोगो ने इस तरह पकडा कि यथार्थ आचार इनकी पकड मे न आया। आचार तो मनुष्य को उठाने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न मनुष्य मे न हो तो उसके जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मर जाती है। मनुष्य वह नही है जो हमे दीख रहा है, वह तो केवल उसका वाह्य रूप है। मनुष्यत्व को ढूढना हो तो हमे उसके सत् प्रयत्नो मे ढूढना होगा। पर उसके वे प्रयत्न केवल वाह्य न होगे, क्योकि उनमे धोखा होना सम्भव है। आचार मे मनुष्य के उन क्षेमकर प्रयत्नो की गणना है जो अन्तर्मुख हो। जगत् मे अधिकाश मनुष्य मानवता से बहिर्मुत है, चाहे वे कितने ही वडे आचारी साधु, नेता अथवा शास्त्रप्रणेता क्यो



३, अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥
— श्वेताश्वतरोपनिषद्, तृतीय अध्याय



न हो। यदि बहुत समीप जाकर उनका अध्ययन करें तो हमे निराशा के अतिरिक्त और कुछ नही मिलेगा। यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकान्त बाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पडे है। एकान्त बाह्याचार मे न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न सच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस सदाचार मे है उसे अधविश्वास और अज्ञान कहते है। यह इतना निष्फल और असह्य हो जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यो करता है ? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रूढियो के विरोध मे उठकर वह क्यो नई आफत मोल ले ? मल-घट की तरह वह पापो से भरा पूरा रहने पर भी अपने बाह्याचार के बल पर दूसरो से अपने को ऊचा समझता है, उनसे घृणा करता है और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठकर वह अपने को एक भिन्न वर्गीय समझने की धृष्टता करता है।

आचारतत्त्व मे खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने आदि क्रियाओ का समावेश करना हो तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोडना होगा। निराग्रहपूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहा तक इनकी आवश्यकता का सबध है इन्हे स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हे आचार जैसा महामहिमाशाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन बाह्य क्रियाओ से आचार मे भी कभी सजीवता नही आती। इसीलिये महावीर और बुद्ध ने स्थान-स्थान पर इनकी नि सारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहकार को छोडो, समभाव धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, शान्ति, शम, दम, आदि को जीवन मे उतारो। यही आचारतत्व के मूलावयव है।

सदाचार और धर्म मे कोई भेद नही है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वय ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन मे स्फूर्ति और चैतन्य आता है। सदाचारी मनुष्य पर जगत् के घात-प्रतिघात का कोई असर नही होता। वह प्रलय की बात सुनकर भी क्षुब्ध न होगा। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सकता है जब उसमे आचारवान् मनुष्यो का बाहुल्य हो। भूतकाल मे जो महात्मा हो गये है वे भी आचार-व्यवस्था के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने मे सफल हो सके थे। हमे इसका ताजा उदाहरण देखना हो तो महात्मा गाधी के जीवन से देख सकते हैं।

आचार की तेजस्विता बाते बनाने से नही, उन्हे जीवन मे उतारने से आती है और वह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओ के पैरो मे गिरकर सम्राट् भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु तेजस्विता बाह्याचारियो के जीवन मे कदापि नही आती। आचार अथवा आचरण के नाम से हमारे देश मे आज जो कुछ प्रचलित है उसने राष्ट्र की प्रगति मे बहुत कुछ बाधा पहुचाई है। इसने राष्ट्र के प्राण निकाल कर हमे निर्जीव बना दिया है। इस बाह्याचार के एकान्त आग्रह ने ही हमारे देश मे करोडो अछूत पैदा किये और इसी की राक्षसी सस्कृति और कृपा से करोडो भारतवासियो का ऐसे धर्मों मे परिवर्तित होने को बाध्य होना पडा जो उनकी सस्कृति और सभ्यता के बिल्कुल प्रतिकूल थे। और दु ख तो यह है कि आज भी यह स्थिति बदली नही है। इस बाह्याचार ने सचमुच हमारे जीवन को कलाहीन बना दिया है।

जीवनकला और धर्म

कला शब्द से हम बहुत परिचित हैं। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला आदि शब्दो का प्रयोग हम बहुत बार करते है। पुरुष की बहत्तर और स्त्री की चौसठ कलाओ के बारे मे भी हमने सुना है किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दो से हम परिचित नही है। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओ को जानकर भी यदि जीवन कला को न जाने अर्थात् अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका कला-ज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिए भार स्वरूप है, किन्तु किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन मे धर्म उतरे।

हम कैसे जीवे ? जीवन की उचित विधि क्या है ? किस क्रम से जीने से हमारे जीवन मे उपयोगिता है ? आदि अनेक प्रश्न, यदि हममे विवेक हो तो, हमारे मन मे जरूर उठेगे। कोई प्रश्न बिना उत्तर का नही होता, इसलिये

इन प्रश्नो का भी अवश्य है। इसके उत्तर मे ही जीवनकला की परिभाषा है।

धर्म हमे बतलाता है कि इस तरह जीने की आदत डालनी चाहिये जिससे हमारे अन्त करण मे अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योकि वह सब जीवन-रस को नष्ट करने वाली है। जीवन-रस वह वस्तु है जो आत्मा की खुराक बनकर उसको पोषण देता है। जगत् मे ऐसा क्यो होता है कि मनुष्य जीवन के सारे बाह्य साधनो को पाकर भी अपने आपको दुखी कहता सुना जाता है? इसका कारण ढूंढना होगा। महाशासक को भी शान्ति नही है। कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी सुख के लिये तडप रहा है। सब कुछ होते हुये भी उनके पास क्या नही है जिससे उन्हे बेचैनी हो रही है? इस सारे विपर्यास का एक यही उत्तर है कि रको की तरह उन्हे भी अभाव सता रहे है। उनके पक्ष मे इतना अधिक और है कि उनके अभाव मोटे, विशाल, बृहत्तम है, इससे उनके दुख का परिमाण भी बढ जाता है। हम दूर से सग्रहशालियो को सुखी देखने का विभ्रम करते-रहते हैं, सम्राट, धनकुबेर एव वैभवशाली को बहुत नजदीक से नही देखते। यदि देखे तो नि सन्देह हमारा यह भ्रम दूर हो जायेगा कि उनको, अभावो का अभाव है और वे सारे दुखो पर विजय पाये हुए हैं। सच तो यह है कि वे केवल देखने भर के सुखी हैं। नही तो उनमे और साधारणजन मे कोई अन्तर नही है। ऐसे कई वैभव के भार से लदे हुये लोग हमे मिल सकते हैं जो अपने अन्तर मे अनेक दुखो को लिये बैठे हैं जिनसे उनके सारे सुख के साधन व्यर्थ हो जाते हैं। जो अपनी व्यापक सन्तोषवृत्ति द्वारा सारे अभावो को नि शेष करने की कला को नही जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? नही तो पृथ्वी का चक्रवर्ती स्वर्ग इन्द्र या और कोई भी हो, अशान्त, असन्तुष्ट, क्षुब्ध एव दुखी ही रहेगा। इससे हमे इस परिणाम पर पहुचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवन-कला से ही सुखी बना सकता है, बाह्य साधनो से नही, और उसका अर्थ है जीवन मे धर्म को उतारना।

यह एक आध्यात्मिक सत्य है कि अधिकाश मनुष्य जीवन-विधि से अपरिचित हैं। उनके मन मे यह प्रश्न ही नही उठता कि वे कैसे जीये? जो कुछ प्रवाहित हो रहा है उससे भिन्न जीवन की उपयोगिता उनके सामने नही आती। पदार्थोपभोग ही ऐसे लोगो के जीवन का उद्देश्य है। उनकी इच्छा का किसी के साथ सघर्ष न हो और यदि हो तो वे उसे परास्त कर आगे बढ जावें, इतना भर वे चाहते है। पर यह क्या सभव है? उनकी यह चाह ही उनके जीवन मे सकट लाती है, जिसका अर्थ है उनके मानस मे धर्म नही है।

जीवन की विधि यही है कि हम परिस्थितियो को समर्पित न हो जायें। जब तक परिस्थितिया हम पर शासन करती रहेगी तब तक जीवन-कला हमारे हाथ न लगेगी। परस्थितियो को अपने काबू मे रखने के लिए हम मे शक्ति सग्रह हो तो हम प्रतिकूल को अनुकूल बना सकते हैं। पर यह शक्ति बाहर से आने वाली शक्ति नही है। यह तो हमारा ही जाग्रत चैतन्य है जो बडे-बडे भौतिक शक्तिधारियो को परास्त कर देता है। प्रतिकूल को अनुकूल अनुभव करने लगना जीवनविधि का आत्मभूत लक्षण है। जो प्रतिकूल हमारे बाह्य प्रयत्नो से, हमारी आत्मशान्ति को बिना विकृत किये, अनुकूल बन सके, वह सफल अध्यवसाय हमारे जीवन रस को नष्ट नही करता। पर जो प्रतिकूलता प्रयत्न (बाह्य) चिकित्स्य नही है उसका उपचार तो हमे अपना चैतन्यबल जाग्रत करके ही करना होगा। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओ के सतत अभ्यास से हम अपना चैतन्यबल जाग्रत कर सकते हैं। प्रतिकूलता का यह उपचार अधिक रसोत्पादक होगा। किन्तु इन सबका यह अर्थ कदापि नही है कि मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठ जाय, प्रवृत्तियो से घबराने लगे और पाषाण की तरह निश्चेष्ट होकर पडा रहे। समझने की बात केवल इतनी ही है कि ससार सघर्षमय है, प्रतिक्रियाशील है, प्रतिकूलताए यहा अधिक टकराती है। उनकी चिकित्सा यही है कि मनुष्य उनकी बिना परवाह किये उन पर शासन करता हुआ अपनी सारी शान्ति और धैर्य को अपने मे समेट कर चलता रहे, न उनमे उसे हर्ष हो और न विषाद। वह रोना और हसना दोनो भूल जाये। मनुष्य यदि इस क्रम से जीने का अभ्यासी हो जाये तो उसमे निरुत्साह, निराशा एव नीरसता जैसी वृत्तिया कभी उत्पन्न न हो। हर्ष, विषाद, हसना, रोना, सफलता, विफलता आदि द्वन्द्व ऐसे हैं कि किसी एक ने हमे पकडा तो दूसरा भी अवश्य पकडेगा। इन द्वन्द्वो की पकड ही जीवन को कलामय बनाने मे बाधक है। धर्म हमे बतलाता है कि यह द्वन्द्व धोखा है और उनके द्वारा मनुष्य अपनी मन शान्ति को व्यतीत न होने दे।





कला, अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रस-प्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक बजाना और हर एक नाचना कला नही है वैसे ही प्रत्येक जीवन कलामय नही कहला सकता। गाना, बजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमे इनमे रहने वाली अव्यवस्था, अक्रम एव अनौचित्य को दूर करना पडता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमे रसोत्पादन आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध मे भी यही बात है। यदि वह अव्यवस्थित अनुचितोपयुक्त एव रसहीन है तो उसमे कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिये उसकी ये बुराइया दूर करनी होगी। हम यह जान लें कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असयम है। असयम दूर हो तो जीवन व्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमे रसोत्पादकता भी आ जाती है। यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी एव विषयापेक्षी है और जगत् की नानाविध एपणाओ के द्वारा सताये हुए हैं उनका जीवन कलामय नही है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दु ख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम मे पडना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इसी का दूसरा नाम अधर्म है।

अहिंसा और धर्म

यहा यह नही भूलना चाहिये कि अहिंसा और धर्म न केवल एक दूसरे से पूरक है अपितु एक दूसरे के लक्षण हैं। यही कारण है कि ससार का ऐसा कोई धर्म नही है जिसमे अहिंसा की महत्ता का उल्लेख न मिलता हो। धर्म का मूल स्रोत अहिंसा है, इसलिये प्रत्येक धर्म ने अपने को प्रतिष्ठित एव गौरवान्वित करने के लिये अहिंसा को किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार किया है। अहिंसा इतना व्यापक धर्मतत्त्व है कि कोई भी सम्प्रदाय इससे पृथक् रहकर धर्म कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है कि —

"अहिंसा भूतानाम् जगति विदित ब्रह्म परमम्।"

"अहिंसा परमो धर्म, हिंसा सर्वत्र गर्हिता।" व्यास का यह वचन भी कम महत्वपूर्ण नही। अहिंसा प्राणी की स्वाभाविक आकाक्षा है। जगल के भयकर पशु भी अनेक अशो में अहिंसक रहकर ही जीवित रह सकते हैं। सिंह भी अपने बच्चो से प्रेम करता है और उनकी रक्षा करने के लिये हर तरह का प्रयत्न करता है। दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने से भलीभाति ज्ञात होता है कि ससार के सभी देशो के साहित्य अहिंसा की प्रतिष्ठा से अनुप्राणित है।

यूनान के सत पीथागोरस ने अहिंसा की महत्त का जो वर्णन किया है उसे पढकर ऐसा कौन है जो दयार्द्र न हो? ससार के सभी सतो ने अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया। भारतीय सस्कृति मे तो अहिंसा को सर्वादरणीय स्थान प्राप्त हुआ है। जैन और बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस देश के मनीषियो ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्यायें की हैं और उसे जीवन मे उतारने की मानव को हर प्रकार की प्रेरणा दी है। जैनशास्त्रो मे हिंसा व अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्यायें हमे आश्चर्यचकित कर देती हैं। उसकी अहिंसा का विस्तार कीट, पतग, वनस्पति और पौधो तक पहुँचा है। अहिंसा का इतना गहन वर्णन शायद ही कही पर मिलता हो। इससे हम कह सकते है कि अहिंसा और धर्म का अभेद सम्बन्ध है।

धर्म के दस भेद

धर्म के दस भेद जैनो की तरह बौद्धो, ईसाइयो और हिन्दुओ ने भी माने है। बौद्धो के दस धर्म ये हैं — (१) अधिकारी मनुष्य को दान देना (२) सदाचार की शिक्षाओ के अनुकूल अपना जीवन बिताना (३) सद्विचारो की उत्पत्ति तथा वृद्धि मे सदा तत्पर रहना (४) सेवा को ही अपना उद्देश्य बना कर दूसरो की सेवा मे लगना (५) अपने माता-पिता और अपने से बडे लोगो की रोगादिक कष्टो मे सेवा शुश्रूषा और सदा उनका आदर-सत्कार करना (६) अपने गुणो का लाभ दूसरो को भी देना (७) दूसरो के गुणो को ग्रहण करना (८) न्यायपथ पर चलने वाले

सिद्धान्तो को सुनना (९) न्यायमार्ग पर चलने वाले सिद्धान्तो का अन्य लोगो को भी उपदेश देना (१०) अपने धर्म सम्बन्धी विश्वास को सदा निर्मल और शुद्ध रखना ।

ईसाइयो के दस धर्म

(१) तुम अपने लिए कुराई की हुई मूर्ति मत बनाओ । न तो स्वर्ग मे ऊपर को जो है उनकी, न पृथ्वी पर नीचे है उनकी । तुम मेरे सामने और किसी को ईश्वर मत मानो । (२) इन मूर्तियो के सामने मस्तक मत नमाओ (३) अपने स्वामी ईश्वर का नाम व्यर्थ मत लो, क्योकि ईश्वर का नाम जो लोग व्यर्थ लेते हैं उनको ईश्वर निरपराध नही समझता (४) पवित्र दिन को याद रक्खो । इसको पवित्र ही रखो, ६ दिन तक परिश्रम करो और अपना पूरा, काम करो, परन्तु सातवा दिन तुम्हारे ईश्वर का पवित्र दिन है । इस दिन तुम कोई काम मत करो । न तो तुम, न तुम्हारे लडके न लडकी, न नौकर न नौकरानी, न तेरी मवेशी और न तुम्हारे घर के अतिथि इस दिन काम करें । क्योकि ईश्वर ने छ दिन मे सम्पूर्ण स्वर्ग, पृथ्वी, समुद्र और जो कुछ भी वस्तुए है उन सबको बनाया और सातवे दिन आराम किया । अत ईश्वर ने सबाथ के दिन को बरकत दी और पवित्र कर दिया (५) तुम्हारे माता-पिता का आदर करो ताकि पृथ्वी पर जो दिन तुमको ईश्वर ने दिये हैं उनकी वृद्धि हो । (६) किसी को मारो मत (हत्या मत करो) (७) व्यभिचार मत करो । (८) चोरी मत करो । (९) अपने पडोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो (१०) अपने पडोसी के घर को छीनने का लालच मत करो । न उसकी स्त्री के विषय मे, न उसके नौकरो के विषय मे, न नौकरानी के विषय मे, न उसके बैल या गधो के विषय मे, और न किसी भी वस्तु के विषय मे जो तुम्हारे पडोसी की हैं, कभी भी छीनने का विचार करो ।

हिन्दुओ के दस धर्म

(१) धैर्य धारण करना, (२) सहनशील होना, (३) मन को वश मे करना, (४) बिना दिये किसी की चीज न लेना (५) लोभ न करना (६) इन्द्रियो को वश मे करना, (७) बुद्धि का उपयोग करना (८) ज्ञान बढाते रहना, (९) सच बोलना और (१०) क्रोध न करना ।

जैनो के दस धर्म

(१) क्षमा-कैसी भी परिस्थिति मे, मन मे क्रोध के भाव न उत्पन्न होने देना ।(२) मार्दव-जाति, कुल, शक्ति, वैभव विद्या रूपादि का कभी अभिमान न करना (३)आर्जव-छल, कपट, विश्वासघात, दगाबाजी आदि न करना । (४) शौच-धन मे आसक्ति न रखना, लोभ, लालच, तृष्णा आदि के प्रसार को रोकना । (५)सत्य-झूठ न बोलना, हर एक के साथ हित, मित और प्रिय शब्दो का प्रयोग करना । (६)सयम-मन और इन्द्रियो को वश मे करना (७)तप-इच्छाओ का विस्तार न होने देना और ध्यान एव अध्ययन मे अपने को लगाना । (८) त्याग-हमारे पास जो कुछ है, शक्ति के अनुसार उसका दीनो, अनाथो और असहायो मे वितरण करना (९) आकिंचन्य- परिग्रह का सचय न करना, क्योकि यही सब पापो की जड है । (१०) ब्रह्मचर्य- सम्पूर्ण स्त्री तथा पुरुषो को माता, बहन, भाई आदि की तरह समझना ।

धर्मों की यह दस की सख्या सबमे समान क्यो हैं, यह ऐतिहासिक गवेषणा का विषय है ।

क्या धर्म भारस्वरूप है ?

नाना रूपो मे धर्म की महत्ता का अनुभव होने पर भी कभी-कभी लोग यह कहते सुने गये हैं कि धर्म मनुष्य के लिये एक बोझा है । पर उनका यह कहना गलत है । धर्म का स्वरूप तो हल्का है। वह स्वय हल्का होकर ही तो प्राणी को ऊपर उठाता है । प्राणी का जड मे विमुख और आत्मा के अभिमुख होना ही उसका ऊपर उठना है । जो भारी होगा वह गिरेगा और दूसरो को भी गिराएगा । धर्म भारी हो तो उसका पतनशील होना निश्चित है । तब वह अभ्युदयाभिमुख न होकर पतनाभिमुख होगा और अपने आश्रित को भी गिरायेगा । इसीलिए यह मानना चाहिये कि जो अनुष्ठान के समय बोझा-सा मालूम पडे वह धर्म नही है । उसमे मनुष्य कभी न उठेगा ।



जो नित्य है, जो कालातीत और क्षेत्रातीत है, जिसे पात्र की भी अपेक्षा नही है, न जिसके लिये किसी प्रकार की योग्यता ही अपेक्षित है, वह धर्म कभी किसी के लिये भारस्वरूप नही हो सकता, पर इसे पाने के लिये मनुष्य जो विधि-विधान करता है, वह यदि युगानुसारी न हो तो वह उसको थका देता है। अत इस यथार्थ धर्म की प्राप्ति के लिये साधनो को बदलते रहने की जरूरत है। यदि मनुष्य ऐसा करने लगे तो उसे धर्म कभी भारस्वरूप ज्ञात नही होगा।

जैसे सुख के साधन परिवर्तित एव युगानुसारी होते है वैसे धर्म के साधन भी बदलते रहते हैं। पर मनुष्य जितना जल्दी सुख को पहिचानता है उतना जल्दी धर्म को नही पहचानता और न उसको आवश्यक ही समझता है। इसलिये सुख के साधनो को बदलने मे किसी की सलाह लेने की जरूरत नही होती, वह इस विषय मे अपने आप ही प्रबुद्ध है। गर्मी बीत जाने पर जाडा लगे तो वह किसी के पास कब यह पूछने जाता है कि कहो मुझे जाडा लग रहा है, लिहाफ ओढूं या नही ? किन्तु अहिंसादि नित्य धर्म पाने के साधनो को अपनाने मे मनुष्य इतना स्वतन्त्र नही है। इसलिये शास्त्रो की शरण लेनी पडती है। पर शास्त्र तो भूतकाल के विधानो से भरे पडे हैं। वर्तमान मे उन साधनों का क्या उपयोग हो सकता है ? गर्मी के खसखस के पखे अतुलित शीत बरसाने वाली हेमन्त ऋतु के समय किस काम के है ? हमारे देश मे धर्म के प्राय नब्बे प्रतिशत अश केवल चौके, खाने-पीने, नहाने-धोने, किसी को न छूने आदि मे उलझे पडे है और अवशिष्ट दस अश नानाविध क्रियाकाण्ड ने रोक रखे है। बेचारे यथार्थ धर्म के हिस्से मे तो निश्चित रूप से एक भी अश नही आता, इसलिये यह मृतप्राय-सा हो रहा है। परम्पराओ ने उसका गला घोट रखा है। खाने पीने मे धर्म का इतना दखल है कि कई उच्चकुलाभिमानी स्थिति-पालक नर-नारी तो सुबह से शाम तक केवल चौके की चिन्ता मे ही व्यस्त रहते है। रसोई मे कोई न चला जाय, किसी की छाया भी वहा न पड जाय, इस बात के लिये वे इतने सतर्क रहते है कि इसकी तुलना मे अपनी अन्यान्य बडी-बडी हानियो की भी चिन्ता नही करते। जिस देश मे युद्ध के समय विदेशी आक्रमणकारियो के भयकर तात्कालिक आक्रमण का आशका बनी रहने पर भी फौज की दाल-बाटी के लिये धर्म के ठेकेदारो के द्वारा न्यारे-न्यारे जगरे जलवाये जाते हो उस देश मे यदि शाति के समय चौके के लिये सारा धर्म-सर्वस्व अर्पण कर दिया जाय तो क्या आश्चर्य है ? इस बात को समझाना न होगा कि जब बाहरी दिखावे मे ही मनुष्य सतोष पा लेता है, चाहे वह कृत्रिम ही क्यो न हो, तो उसे आभ्यन्तर का यथार्थ पाने की उत्सुकता प्राय नही होती। धर्म के सम्बन्ध मे भी यह बात हम सोलहो आना देखते हैं। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य यथार्थ धर्म से दूर हटता गया और बाह्याचार के व्यवहार मे ही अपने को भुला दिया। अज्ञानावस्था मे यह व्यवहार भार-स्वरूप अनुभव नही हुआ पर ज्यो ही आखें खुली, बाह्याडम्बर भार की तरह सताने लगा और मनुष्य को इसके प्रति घृणा हो गई। इस अधश्रद्धा को दूर करने का एक ही मार्ग है कि हम धर्म के साधनो को युगानुसारी बनावें। ऐसा करने से धर्म के नष्ट होने की आशका करने का कोई कारण नही है। सब धर्मप्रवर्तको एव आचार्यों ने ऐसा किया है। धर्म को समझने के लिये हमे उनके भेदो की ओर ध्यान देना चाहिये। मोटे रूप से धर्म के तीन भेद हैं — नित्य धर्म, युगानुसारी धर्म और आपद्धर्म।

इनमे पहला अपरिवर्तनीय और दूसरे दोनो परिवर्तनीय हैं। युगानुसारी और आपद्धर्म धर्म के साधनो के नाम है। आयुर्वै घृतम्— घी ही आयु है, 'अन्न प्राणा' — अन्न ही प्राण हैं, धन वै प्राणा — धन ही प्राण है, आदि की तरह उपचारकल्पना से धर्म के साधनो को भी धर्म कह दिया गया है। ऐसा कहने की प्राचीन शास्त्रकारो की आदत थी। वस्तुत मूल साध्य तो नित्य धर्म ही है। इसी को पाने के लिये उन दोनो की आवश्यकता है। नही तो ये निरर्थक और निर्जीव ही है। इन भेदो का सक्षेप इस प्रकार है —

नित्य धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि है, क्योकि ये त्रिकालाबाधित हैं और काल तथा क्षेत्र की सीमा का भी इन पर कोई असर नही पडता। इनमे धर्म शब्द का व्यवहार भी मुख्य वृत्ति से होता है। यही प्राप्तव्य और यथार्थ धर्म है।

युगानुसारी धर्म —उपासना की बाह्य विधियाँ, खानपान के नियम, विवाहादि सारे सस्कार और अन्य सभी

क्रियाकाण्ड युगानुसारी धर्म हैं, अर्थात् ये स्वतः धर्म नहीं किन्तु धर्म के साधन हैं। हमारे वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यापार और शासन के तरीके एवं शिक्षापद्धति आदि सभी परिवर्तनीय हैं। प्रत्येक युग की आचार-संहितायें भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमें परिवर्तन होना आवश्यक है। यह माना कि धर्म शाश्वत है, पर उसके साधन शाश्वत कैसे हो सकते हैं ? साधनों पर परिस्थितियों का प्रभाव अनिवार्य है। यदि हम इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो धर्म सर्वथा उपेक्षा का कारण बन जायेगा, जैसा कि आज हो रहा है। धर्म को युगानुसारी बनाये बिना हम उससे राष्ट्रीयता का सम्बन्ध नहीं जोड सकते। कोई धर्म राष्ट्रीय बन कर ही विश्वजनीन बन सकता है। धर्म का सम्बन्ध यदि मानवता से जोडना हो तो उसके साधनों पर आग्रह करना मूर्खता होगी। इसमें परिवर्तन स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता, नहीं तो धर्म भारस्वरूप हो जायगा। राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म आदि युगानुसारी धर्म के भेद हैं।

आपद्धर्म — यह तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये है। इसके बाद इसका परित्याग कर देना ही उचित है। यदि स्वार्थ के आग्रहवश फिर भी उसका उपयोग करते रहे तो यह यथार्थ धर्म के विरुद्ध पडेगा। इसमें जो नियमोल्लंघन होता है उसका कारण मनुष्य की अशक्ति है। सभी सम्प्रदायों के शास्त्रों में आपद्धर्म के उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य को इसका निर्णय अपने विवेक के द्वारा ही करना चाहिये कि वह कैसे संकट के समय क्या करे, क्योंकि धर्म को परखने की कसौटी तो विवेक ही है। विवेक हो तो किसी के भी दुरुपयोग होने की आशंका नहीं होती है।

धर्मों का यह स्थूल विभाग है। मनुष्य इसको समझे तो धर्म को अपनाने के सम्बन्ध में उससे गलती न होगी, और न यह उसे बोझा ही मालूम पडेगा। अपने आपके लिये यह समझता हुआ भी कि मैं धर्म का सेवन कर रहा हूँ, मनुष्य अपने को न समझे तो समझना चाहिये कि उसका वह धर्म-सेवन अधर्म ही है, नहीं तो उसका विपरीत फल क्यों हो रहा है ? जो धर्म व्यक्ति समाज, अथवा राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता, अथवा उसके उत्थान में बाधा उपस्थित कर देता है, वह किसी परिभाषा के अनुसार धर्म नहीं कहला सकता। धर्म का सर्वोत्तम एवं अनन्य फल मानव की स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता केवल पारलौकिक ही नहीं ऐहलौकिक भी है। यह फल जहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है समझो कि वहाँ धर्म भी है। इसके विपरीत जहाँ सब ओर केवल परतन्त्रता ही दिखाई पडे तो समझना चाहिये कि वहाँ एकांश में भी धर्म नहीं है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र में धर्म के अस्तित्व को परखने की कसौटी यही है। इस कसौटी का उपयोग कर जो अपना चैतन्य जाग्रत करते हैं उन्हें यथार्थ धर्म का प्रकाश दिखाई देता है। इसलिये उनको धर्म के साधन भारात्मक मालूम होने लगते हैं।



अनेकान्त

स्व० मुनिश्री श्रीमलजी



प्रत्येक दर्शन एवं धर्म का एक विशिष्ट मौलिक सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारों का महल खड़ा होता है। जैनदर्शन एवं जैनधर्म भी एक स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन तथा धर्म है। उसका भी अपना सिद्धान्त है, अपनी दृष्टि है, अपना मौलिक चिन्तन है। और उसका मौलिक रूप आगम एवं दर्शनसाहित्य के पृष्ठों पर अंकित है।

भगवतीसूत्र में उल्लेख मिलता है कि श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व दस स्वप्न आये थे। उनमें एक स्वप्न का वर्णन करते हुए आगम में लिखा है—"एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे" अर्थात् एक महान् चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए।

इस स्वप्न का क्या फल मिलेगा, इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है— "जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त जाव पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमय- परसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेहिति पन्नवेहिति परूवेहिति।" अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने स्वप्न में एक चित्र-विचित्र पंखवाले पुंस्कोकिल को देखा है, उसका फल यह है कि वे स्व-पर सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशांग का उपदेश देंगे।

प्रस्तुत पाठ का पारायण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने अनेकान्त सिद्धान्त का कितने सुन्दर एवं व्यवस्थित ढंग से वर्णन किया है। यह चित्र विचित्र पंख वाला पुंस्कोकिल अनेकांत या स्याद्वाद का प्रतीक है। श्रमण भगवान् महावीर ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह एक वर्ण के पंख वाला कोकिल नहीं, विभिन्न रंगों के पंखों वाला है। जहाँ एक ही वर्ण के पंख होते हैं, वहाँ अनेकांत नहीं एकान्तवाद होता है।

एकान्त और अनेकान्तवाद में यही मौलिक भेद है कि एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को एक ही दृष्टि से देखता है। अनेकान्तवादी उसके स्वरूप को एक दृष्टि से ही नहीं, विभिन्न दृष्टियों से देखता है। वस्तु एक रंगवाली नहीं, विभिन्न रंगों से संयुक्त है। अतः उसे किसी एक विशेष रंग की मानना और उसमें स्थित अन्य रंगों का अपलाप करना सत्य का तिरस्कार करना है। इसलिए एकान्तवाद सत्य नहीं, मिथ्या है। वह वस्तुस्वरूप को जानने की परिपूर्ण एवं सही दृष्टि नहीं है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने-समझने की सही दृष्टि है अनेकान्त या स्याद्वाद।

जैनविचारणा की भांति जैन साधना का भी प्राण अनेकान्तदृष्टि है। अनेकान्त की नींव पर ही समस्त विचार और आचार का भव्य भवन खड़ा है। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार क्या है? आगम साहित्य एवं अनेकान्तवाद का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर स्थित है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है परन्तु उसकी दृष्टि में अन्तर रहता है। हम देखते हैं कि तथागत बुद्ध भी सत्य को जानना चाहते थे। परन्तु सत्य को देखने की उनकी दृष्टि दूसरी थी। आचार्य शंकर ने भी वेदों एवं उपनिषदों के आधार पर सत्य को समझने का प्रयत्न किया है। अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी सत्य को परखने का प्रयास किया। परन्तु सत्य को देखने की सबकी दृष्टि एकांगी रही है। श्रमण भगवान् महावीर की दृष्टि इन सबसे भिन्न थी। उन्होंने सत्य को एक दृष्टि से, एक अपेक्षा से नहीं, प्रत्युत अनेकान्त-मयी दृष्टि से देखा। इसलिए भगवान् महावीर की सत्यप्रतिपादनशैली का नाम अनेकान्तवाद पड़ा। उसके मूल में दो

बातें है—पूर्णता और यथार्थता। जो तत्व पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थरूपेण परिलक्षित होता है, वही सत्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को वस्तु का पूर्णरूपेण त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन हो सके, यह सभव नही है। उसके त्रिकालाबाधित पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार पूर्ण पुरुष ही कर सकते हैं, साधारण व्यक्ति नही। पूर्ण पुरुष भी अपने ज्ञान से वस्तु के पूर्ण एव यथार्थ स्वरूप को देख सकते है, परन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित नही कर सकते। इसलिए देश, काल, परिस्थिति, भाषा एव शैली आदि की विचित्रता के कारण पूर्ण पुरुषो के कथन मे भी शाब्दिक भेद दिखाई दे सकता है। जैसे भगवान् महावीर एक स्थान पर कहते हैं —'एगे आया'–आत्मा एक है। और अपने उपदेश मे दूसरे स्थान पर कहते हैं 'अनेगे आया' अर्थात् आत्मा अनेक हैं। शाब्दिक दृष्टि से दोनो कथनो मे अन्तर दिखाई देता है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमे कोई विरोध नही है, केवल भेद है, अत उन दोनो मे सत्यता है।

यथार्थता की दृष्टि से देखते हैं तो आत्मा का एकत्व और अनेकत्व दोनो यथार्थ हैं परन्तु दोनो मे से किसी भी एक कथन में पूर्णता नही है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माए एक समान प्रदेशो से युक्त है एव अनन्तज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य का अस्तित्व लिए हुए है। अत सामान्य की अपेक्षा से आत्मा एक है। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से सबका अस्तित्व भिन्न भिन्न है। इसलिए आत्मा अनेक है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मद्रव्य एक है परन्तु प्रदेशो एव पर्यायो की दृष्टि से एक नही, अनेक हैं। दोनो दृष्टियाँ यथार्थ होते हुए भी पृथक्-पृथक् रूप मे अपूर्ण है। इसलिए उनमे शाब्दिक भेद दृष्टिगोचर होता है।

जब पूर्ण पुरुष भी वस्तु के पूर्ण रूप को शब्दो के द्वारा प्रकट नही कर सकते, तब अपूर्ण व्यक्ति यथार्थ-वादी होने पर भी वस्तु के पूर्ण रूप को प्रकट करने की क्षमता रखते हों, ऐसा कभी हो नही सकता है। जब वे वस्तु के एक अश को जानते-देखते एव प्रकट करते है, तब दूसरो द्वारा विभिन्न दृष्टियो से देखे एव प्रकाशित किये गए वस्तु के स्वरूप मे भेद होना स्वाभाविक है। इसका यह अर्थ नही है कि उनकी दृष्टि मे यथार्थता नही है। यथार्थता होने पर भी उसमे पूर्णता नही है। इसी कारण उनकी विभिन्न दृष्टियाँ परस्पर टकराती हैं और फलस्वरूप सघर्ष होता है। इस प्रकार के टकराव एव सघर्ष को कैसे रोका जाए, इसके लिए भगवान् महावीर ने विश्व को अनेकान्तदृष्टि दी। अनेकान्त दृष्टि अपूर्ण अशो को जोडकर वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करने की एक कला है। वह समग्र सत्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

वस्तु अपने आप मे पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, परन्तु वह अनन्त धर्मों से युक्त है जिसे आगमिक भाषा मे 'गुण' और 'पर्याय' कहते है। वस्तु मे स्थित समस्त गुणो और पर्यायो को पूर्ण पुरुष—सर्वज्ञ ही युगपत् देख सकते हैं, अपूर्ण व्यक्ति नही। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का 'युगपत्' प्रतिपादन शक्य नही है। सत्य अनन्त है और शब्द का सामर्थ्य सीमित है, असीम नही।

वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। उसमे उत्पत्ति, विनाश एव स्थिति तीनो धर्म युगपत् स्थित हैं। आगम एव दार्शनिक साहित्य मे इनके लिए क्रमश उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य शब्दो का प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थसूत्र म सत् की व्याख्या करते हुए कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" अर्थात् सत् वह है, जो उत्पाद व्यय, और ध्रौव्य से युक्त है। उक्त विचार को आगे इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया—"गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्"— अर्थात् द्रव्य गुण और पर्याय से सयुक्त है। उत्तराध्ययनसूत्र मे भी कहा है— द्रव्य गुणो का आश्रय है, और गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण उभय के आश्रित होता है।

गुणाणमासओ दव्व एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे॥

इसमे ध्रौव्य के स्थान पर गुण शब्द का प्रयोग किया है और उत्पाद एव व्यय के स्थान पर पर्याय शब्द का। इनमे उत्पाद और व्यय परिवर्तन के प्रतीक हैं और ध्रौव्य स्थिति या नित्यता का ससूचक है। गुण नित्यता



का बोधक है और पर्याय अनित्यता का। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, स्थायित्व-परिवर्तनशीलता, सदृशता-विसदृशता आदि। इनमें प्रथम पक्ष ध्रौव्य गुण का सूचक है और उत्तर पक्ष उत्पाद और व्यय-पर्याय का परिचायक है।

वस्तु के स्थायित्व मे एकरूपता रहती है, समानता रहती है, स्थिरता रहती है, और परिवर्तन में वस्तु के पूर्व रूप का विनाश एवं उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। वस्तु के परिवर्तन मे व्यय और उत्पाद के होते हुए भी न तो वस्तु का सर्वथा नाश होता है न पूर्णरूपेण नए रूप से उत्पादन ही होता है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण के कंकण को तोडकर हार बनाता है। इसमें कंकण का नाश होता है और हार की उत्पत्ति होती है। परन्तु इस व्यय और उत्पाद दोनो मे स्वर्ण का स्थायित्व बना रहता है। इसी तरह वस्तु के उत्पाद एवं व्यय के समय मे मूल स्वरूप की स्थिरता रहती है। उसका न तो कभी विनाश होता है और न उत्पाद। वस्तु की जो यह स्थिरता है, एकरूपता है, उसी को आगमिक भाषा मे ध्रौव्य-नित्यता कहते है, इसी को तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तद्भावाऽव्ययं' कहा है।

भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है—भगवन्! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् महावीर कहते है—हे गौतम! द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से परमाणु पुद्गल शाश्वत नित्य है। और वर्ण पर्यायो से लेकर स्पर्श पर्यायो की अपेक्षा से अर्थात् पर्यायार्थिक नयदृष्टि से वह अशाश्वत अनित्य है, अस्थिर है, क्षणिक है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य।

द्रव्य और सत् एक है, इसलिए जो लक्षण द्रव्य का है वही सत् का है। इस प्रकार जैनदर्शन द्रव्य या सत् को न तो एकान्त रूप से नित्य मानता है और न एकान्त रूप से अनित्य। वह उसे नित्यानित्य स्वीकार करता है। वह गुण की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

जैन दर्शन वस्तु मे उत्पाद और व्यय मानता है। परन्तु वह वास्तव मे मूल वस्तु का व्यय या उत्पाद नही, प्रत्युत वस्तु की पर्यायो का व्यय और उत्पाद है। जैन परम्परा मे उत्पाद एवं व्यय की व्याख्या इस प्रकार की गई है "स्वजाति का परित्याग किए बिना पर्यायान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है और स्वजाति का बिना छोडे पर्याय के पूर्व भाव का विगम होना व्यय है। उदाहरण के लिए मिट्टी का पिण्ड स्वजाति का परित्याग किए बिना घट रूप पर्यायान्तर को ग्रहण करता है, यह उसका उत्पाद है। और घट की आकृति मे परिणत होते ही मिट्टी-पिण्ड की आकृति का नाश हो जाता है, यह व्यय है और पिण्ड एवं घट रूप दोनो अवस्थाओ मे जो मिट्टी का अन्वय है, वह ध्रौव्य है। यहाँ जो मिट्टी का उदाहरण दिया गया है, वह केवल वस्तु के स्वरूप को समझाने के लिए दिया गया है क्योंकि मृत्तिका कोई द्रव्य नही, पुद्गलद्रव्य का पर्याय है, अतएव जैनदर्शन उसे एकान्त नित्य नही मानता। परमाणु पुद्गल नित्य है, वह सदा परमाणुरूप मे रहेगा। परन्तु मिट्टी, पानी वस्त्र आदि पर्याय है और इनमे परिवर्तन होता रहता है। मिट्टी रूप मे दिखाई देने वाले परमाणु वस्त्र के या वनस्पति के रूप मे भी परिवर्तित हो सकते है, परन्तु परमाणु द्रव्य का कभी नाश नही होता।

निष्कर्ष यह रहा कि वस्तु मे नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, आदि अनेक धर्म है और उनको हम एक एक अपेक्षा से समझ सकते है। इस अपेक्षादृष्टि को जैनदर्शन मे नय कहते है। नय मे वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने की समस्त दृष्टियो एवं दर्शनो का समावेश हो जाता है। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हम वस्तु के नित्यत्व स्वरूप को देखते हैं और उसे नित्य कहते है, और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से हम उसके पर्यायो को परिवर्तित होते हुए देखकर अनित्य कहते है। दोनो दृष्टियां यथार्थ भी है और दोनो मे सत्यांश भी है। हम दोनो को तब तक असत्य नही कह सकते, जब तक दोनो मिलकर चलती है। एक नय अपनी दृष्टि से वस्तु स्वरूप का अवलोकन करता है, परन्तु दूसरे नय का तिरस्कार करके उसे असत्य या मिथ्या नही कहता है, तो वह सम्यक् नय है और उस नय से या उस दृष्टि से वस्तुस्वरूप को देखने वाला दर्शन भी सम्यग्दर्शन है।

नयवाद मे जितने भी एकान्तवादी दर्शन है। उन सबका समावेश हो जाता है क्योंकि वे वस्तु के स्वरूप

को एक दृष्टि से देखते हैं और उनकी दृष्टि मे सत्यांश है। परन्तु वे अपनी दृष्टि को सत्य और दूसरो की दृष्टि को एकान्तत मिथ्या बताते हैं अत वे स्वय मिथ्या हो जाते है। उनमे परस्पर सघर्ष शुरू हो जाता है। जैसे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा के नित्यत्व को देखने वाला विचारक यह आग्रह रखता है कि आत्मा नित्य ही है, वह अनित्य नहीं है। नित्यवाद ही सही है, अनित्यवाद का सिद्धान्त पूर्णत गलत है। इस एकान्त आग्रह के कारण वह नय मिथ्यानय हो जाता है। उसे नय नही नयाभास कहते हैं और इस अपेक्षा से उस दर्शन को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उसमे सत्यांश होते हुए भी एकान्त का आग्रह, अन्य सत्यांशो का अस्वीकार और अपनी दृष्टि के व्यामोह का जो विकार है, वह उसे मिथ्या रूप मे परिणत कर देता है।

इस तरह विचारको एव दार्शनिकों ने समस्त नयो मे स्थित सत्यांशो को जोडकर सत्य के पूर्ण रूप को देखने के स्थान मे एक अंश को ही पूर्ण सत्य समझ लिया, उसे अपने-अपने दर्शन की कारा मे कैद कर लिया। वे अपने से भिन्न दर्शन के सत्यांश को झुठलाने लगे। एक-दूसरे को मिथ्यावादी कहकर परस्पर कीचड उछालने लगे। तब दार्शनिक क्षेत्र मे सघर्ष शुरू हुआ और सभी दार्शनिक एव विचारक अपने माने हुए सत्यांशो को पूर्णत सत्य और दूसरे के अभिमत सत्यांशो को पूर्णत असत्य सिद्ध करने के लिए तर्क-वितर्क के तीर-तलवार लेकर वाग्युद्ध के मैदान मे आकर खडे हो गए।

इस सघर्ष की ज्वाला को शान्त करने के लिए श्रमण भगवान महावीर ने एकान्त के स्थान मे अनेकान्त की शीतल सरिता प्रवाहित की। उन्होंने नित्य-अनित्य आदि पक्षो को लेकर झगडने वाले दार्शनिकों को स्पष्ट भाषा मे कहा कि तुम सत्य का समझ नही रहे हो। तुम्हारा एकान्तवाद गलत है, भूल से भरा हुआ है। वस्तुत वस्तु न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य। उसमे एकत्व भी है और अनेकत्व भी है। वस्तु अनन्त—अनेक धर्मों से युक्त है। इसलिए उसे एक स्वरूप या एक ही धर्म से युक्त कहना सत्य का तिरस्कार करना है। इस तरह सत्य को समझने के लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि दी और उसे अभिव्यक्त करने लिए स्याद्वाद की भाषा दी।

अनेकान्त और स्याद्वाद दोनो एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। इसी कारण साधारण व्यक्ति दोनो को एक समझ लेते हैं। बाहर से एक प्रतीत होते हुए भी दोनो मे थोडा-सा अन्तर है। अनेकान्त वस्तु के स्वरूप को देखने की विचारपद्धति है और स्याद्वाद देखे-परखे हुए स्वरुप को अभिव्यक्त करने की भाषापद्धति है। अनेकान्त दार्शनिक दृष्टि है और स्याद्वाद उसकी भाषा। अनेकान्तवाद मे सभी दर्शनो का समावेश होता है और स्याद्वाद उस सिद्धान्त का प्ररूपण है।

अनेकान्त का आधार नयवाद है। नय का तात्पर्य है—वस्तु के स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से समझना, वस्तु मे स्थित अनन्त धर्मों को अनेक दृष्टियो एव अपेक्षाओ से समझना। जैसे फल मे आकार भी है, रूप भी है, रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है, और भी अनेक धर्म हैं। किन्तु जब हम आकार की दृष्टि से देखते हैं तो हमे वह गोल, त्रिकोण या किसी अन्य आकार वाला प्रतीत होगा। रस की दृष्टि से देखने पर खट्टा-मीठा आदि प्रतीत होगा। इसी तरह अन्य धर्मों की दृष्टि से देखने पर वह वैसा ही दिखाई देगा। ये सब दृष्टियाँ नयवाद मे समाविष्ट हो जाती है।

स्याद्वाद का आधार है सप्तभगीवाद। वस्तुगत धर्म सापेक्ष है, इसलिए उसका विश्लेपण भी सापेक्ष ही होगा। स्याद्वाद जहाँ वस्तु का विश्लेपण करता है वहाँ सप्तभगीवाद वस्तुगत अनन्त धर्मो मे से प्रत्येक धर्म का विश्लेपण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। इसके लिए जैनदर्शन मे सप्तभग बताए है, इसी कारण इसे सप्तभगी कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) स्याद् अस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति-नास्ति, (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्याद् अस्ति और अवक्तव्य, (६) स्याद् नास्ति और अवक्तव्य, (७) स्याद् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य।

ये सात भग अस्तित्व धर्म को लेकर हैं। इस प्रकार अन्य धर्मो के आश्रय से भी सप्तभगी बन सकती है।



इनमे प्रथम भग विधेयात्मक विचार के आधार पर निर्मित है। इसमे वस्तु के अस्तित्व का विधेयात्मक ढग से प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय भग का आधार निषेध है। इस मे वस्तु के अस्तित्व रूप का निषेध की भाषा मे विवेचन किया गया है। प्रथम मे अस्तित्व की स्थापना की गई है, और इसमे उसका निषेध किया गया है।

तृतीय भग विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और द्वितीय भग के सयोग से बना है।

चतुर्थ भग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनो का युगपत् प्रतिपादन करना वाणी के सामर्थ्य से बाहर है। अत इसे अवक्तव्य कहा गया है।

पञ्चम भग विधि और अवक्तव्य दोनो का प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और चतुर्थ के सयोग से बना है।

षष्ठ भग निषेध और अवक्तव्य का विवेचन है। यह द्वितीय और चतुर्थ के सयोग से बना है।

सप्तम भग विधि, निषेध, और अवक्तव्य का प्रतिपादक है। यह तृतीय और चतुर्थ भग के सयोग से बना है।

जब हम आगम और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे ये प्रश्न चर्चा के महत्त्वपूर्ण विषय थे। कोई विचारक वस्तु के अस्तित्वरूप को प्रधानता देता था और उसी को सत्य मानता था। कोई उसके निषेध रूप को प्रधानता देकर उसका प्रतिपादन करता था।

यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मूल रूप से वस्तु मे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म विद्यमान है। इनका अपेक्षा से विवेचन करना स्याद्वाद है। जैसे हम कहते है कि मनुष्य मनुष्य रूप से है। उसी समय इसका विरोधी पक्ष हमारे सामने उभर आता है कि मनुष्य पशु रूप से नही है। वह मनुष्य रूप से अस्ति है, और पशु रूप से नास्ति।

अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु मे जो अस्तित्व है वह निरपेक्ष नही वरन् उसके अपने स्वरूप की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से सत् वस्तु पररूप की अपेक्षा से असत् भी है। इसके बाद तृतीय पक्ष को हम उभय के स्वीकार रूप मे कह सकते है—वस्तु सत् भी है असत् भी है। यह पक्ष स्वरूप-पररूप दोनो की क्रमिक अपेक्षा से है।

प्रथम के दो भगो मे वस्तु का एक-एक रूप सामने आता है परन्तु तीसरे भग मे दो रूप है। उसमे उभय पक्ष को स्वीकार किया गया है। अगर हमसे पूछा जाय कि वस्तु सत् है या असत् ? तो हमारा उत्तर यही होगा कि वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् है। यही तीसरा भग है। इसी कारण जैनविचारको ने सदसत् के क्रमपूर्वक कथन को तृतीय भग मे रखा। 'स्याद् अवक्तव्य' नामक चतुर्थ भग मे उभय के युगपत् प्रतिपादन को स्वीकार किया। इसका अभिप्राय यह है कि सत्ता और असत्ता दोनो धर्म अपेक्षाभेद से विद्यमान है परन्तु इनका एक साथ प्रतिपादन नही हो सकता, क्योकि शब्दकोश मे ऐसा कोई शब्द ही नही है और न हो सकता है जो युगपत् दोनो का वाचक हो। ऐसी स्थिति मे विवश होकर हमे वस्तु को अवक्तव्य ही कहना पडता है।

अन्तिम तीन भग सयोगज होने से सुगम हैं। वस्तु का और वस्तुगत धर्म का विश्लेषण करने की यह एक अनूठी पद्धति है जो हमे सत्य की ओर ले जाती है और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षो मे समन्वय स्थापित करने की सुन्दरतम कला का निदर्शन कराती है। यह जैन विचारको की अनुपम सूझ एव अनुपम देन है।

स्याद्वाद मे वस्तु के स्वरूप का निश्चित बोध होता है। यहाँ स्यात् का अर्थ शायद नही, अपेक्षा है। जब हम कहते हैं—आत्मा स्याद् अस्ति, तो इसका यह अर्थ नही है कि शायद आत्मा है परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा से है। इसी तरह स्यात् नास्ति का तात्पर्य यह है कि पररूप अथवा जडता की

अपेक्षा से आत्मा नही है। तीसरे पक्ष मे चैतन्यस्वरूप की अपेक्षा से आत्मा है और पररूप अर्थात् जडता की अपेक्षा से नही है। उभय पक्ष के युगपत् कथन की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है। इस प्रकार भगवान् महावीर के कथन मे सशय को स्थान नही है। सर्वत्र वस्तु का निश्चयात्मक वोध होता है।

इतने लम्बे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य ये चारो भग मौलिक है। शेष भग अस्ति-नास्ति के सयोग से वने है। इन सात भगो मे समस्त अपेक्षाओ का समावेश हो जाता है।

इस तरह दार्शनिक क्षेत्र मे चलने वाले सघर्षो को समाप्त करने के लिए भगवान् महावीर ने विश्व को अनेकात एव स्याद्वाद की भाषा मे वस्तु स्वरूप को समझाया। जीव की नित्यता-अनित्यता की तरह, जब उनके सामने यह प्रश्न आया—नारक शाश्वत है या अशाश्वत है? इसके समाधान मे भी उन्होने स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करते हुए स्पष्ट कहा—वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

यह कैसे हो सकता है ?

अव्युच्छित्ति-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नारक शाश्वत है और व्युच्छित्ति-पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत है। जिस प्रकार जीवसामान्य को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारक आदि गति रूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा, उसी तरह नारकादि जीवो को जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारकत्व आदि पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य कहा है।

भगवतीसूत्र श० ९, उ० ६ सूत्र ३८७ मे जीव नित्य है या अनित्य, इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर जमाली को समझा रहे हैं—हे जमाली! जीव शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है, अक्षय है। क्योकि भूत, भविष्य एव वर्तमान तीनो कालो मे ऐसा कोई क्षण नही जिस समय जीव का अस्तित्व नही रहा हो।

हे जमाली! जीव अशाश्वत है, क्योकि वह नरक भव का त्याग करके तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होता है, तिर्यंच भव से निकल मनुष्य वनता है, मनुष्य से देवगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होने के कारण वह अनित्य है।

नित्यता-अनित्यता की तरह भगवान् से प्रश्न किया गया—जीव सान्त है या अनन्त ?

उत्तर दिया गया—जीव सान्त भी है और अनन्त भी है। द्रव्यदृष्टि से जीव द्रव्य एक है। अत वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असख्यात प्रदेश से युक्त है, इसलिए वह सान्त है। काल की अपेक्षा से जीव सदा-सर्वदा से है और सर्वदा रहेगा, इसलिए वह अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञान-पर्याय हैं, अनन्त दर्शनपर्याय है, अनन्त चारित्रपर्याय हैं, अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं, इस कारण वह अनन्त है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से जीव ससीम है, इसलिए वह सान्त है। काल और भाव की अपेक्षा से वह असीम है, अत अनन्त है।

इस प्रकार सोमिल के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर कहते है—हे सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मै एक नही, दो हू। कभी नही वदलने वाले आत्मप्रदेशो की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूं, अवस्थित हूँ। और परिवर्तनशील उपयोग की अपेक्षा से मैं अनेक रूप हूँ।

इसके अतिरिक्त अस्ति और नास्ति के सम्बन्ध में भी सघर्ष चलता था। एक विचार कहता 'सर्वमस्ति' सव सत् है, दूसरा कहता 'सर्वं नास्ति'— सव असत् है। परन्तु भगवान् महावीर ने दोनो के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होने अस्ति और नास्ति दोनो को परिणमनशील माना। और स्याद्वाद की भाषा मे कहा कि अस्ति और नास्ति दोनो सापेक्ष हैं। घटत्व की दृष्टि से घट को हम सत् कहते हैं और पटत्व की अपेक्षा से असत् कहते हैं। पट पटत्व की अपेक्षा से सत् है और घटत्व की अपेक्षा असत् है। इसलिए सव वस्तुओ मे अस्तित्व भी है और नास्तित्व भी है।



भगवती सूत्र श० ७ उ० १० सूत्र ३०४ मे भगवान् महावीर ने कहा—"हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते। जो पदार्थ जिस अपेक्षा से है, उमे अस्तित्व कहते है और जो नही है, उसे नास्ति रूप कहते है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अनेकान्त एव स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के यथार्थ एव सत्य स्वरूप को समझा कर दार्शनिक सघर्षो को समाप्त करने का प्रयत्न किया और इस बात पर जोर दिया कि सघर्षों को समाप्त करने का अमोघ उपाय अनेकान्त है। एकान्त आग्रह असत्य पर अवलम्बित होने के साथ-साथ सघर्षो की जड है, वैमनस्य, राग द्वेष, एव वैर-विरोध को वढाने वाला है। अत पूर्ण सत्य को जानने-देखने एव पूर्ण शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग अनेकान्त ही है।

आज भी हम सैद्धान्तिक चर्चा के समय अनेकान्त को सामने रखते हैं। अपने आपको अनेकान्तवादी कहने एव मानने मे गौरवानुभूति करते हैं। परन्तु जब जीवन-व्यवहार की ओर देखते है तो अनेकान्तवाद से बहुत ही दूर नजर आते है। प्रत्येक जैन विचारक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन मे इस बात का अवलोकन करे कि उसने अपने जीवन मे अनेकात एव स्याद्वाद को कितना उतारा है।

प्रत्येक जैन, भले ही वह दिगम्बर हो, श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक हो, स्थानकवासी हो या तेरहपथी हो, अपने आपको अनेकान्तवादी मानता है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको अनेकान्तवाद का उपासक मानता है। फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आप को सम्यग्दृष्टि और अपने से भिन्न सम्प्रदाय को मिथ्यादृष्टि कहने मे सकोच नही करता और विचारभेद को लेकर कभी-कभी एक दूसरे से सघर्ष करता है।

यह सत्य है कि जैनेतर दर्शनो की मान्यता मे भी सत्याश है। परन्तु उनके विचारो मे एकान्तवाद का आग्रह होने के कारण वे पूर्ण सत्य को समझ नही पाते। इसलिए उनमे सघर्ष होता है। और इस एकान्तवाद के कारण ही हम उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं परन्तु अनेकान्त के उपासको मे भी विचारभेद को लेकर सघर्ष होते हो और वे एक दूसरे को मिथ्यात्वी समझते हो, यह कितने दु ख एव आश्चर्य की बात है। यदि अनेकातवाद मे तू-तू-मैं-मैं को पनपने का अवकाश है, और वहाँ भी मिथ्यात्व रह सकता है, तब फिर पूर्ण शान्ति कहा मिलेगी और सम्यक्त्व का उदय कहा होगा? जहाँ अनेकान्त है वहाँ सघर्ष एव मिथ्यात्व सभव ही नही है। यदि अनेकान्तवादियो मे भी पारस्परिक सघर्ष होता है, तो समझना चाहिये कि उन्होने अनेकान्त को न तो पूरी तरह समझा है और न जीवन मे उतारा है। वे अनेकान्त के स्वर मे एकान्तवाद का पोषण करते हैं, जिससे मन मे वैर-विरोध, ईर्ष्या, मत्सर एव प्रतिशोध की भावना जागृत होती है और परिणामस्वरूप हिंसा की ज्वाला भभक उठती है। धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक सघर्षों का मूल कारण एकान्तवाद का आग्रह है।

●

जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष अनेकान्तवाद



प्रो० भागचन्द्र भागेन्दु,

एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ,
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
महात्मा गांधी स्मारक महाविद्यालय, इटारसी

दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे 'जैनदर्शन' या "आर्हतदर्शन" वस्तुवादी एव बहुतत्व वादी है। इसके अनुसार ससार मे अनेक वस्तुयें है। प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म-पक्ष होते है। आचार्य गुणरत्न ने "अनन्त-धर्मात्मक वस्तु"[1] कह कर वस्तु के अनन्त धर्मों की ओर सकेत किया है। किन्तु मनुष्य का ज्ञान अधूरा है, अत वह एक ही समय मे और एक साथ उन सभी धर्मों को, वस्तु के विविध पक्षो या स्वरूपो को नही जान सकता। भारतीय दर्शन व्यक्तित्व के विकास हेतु समुचित अवसर प्रदान करता है। जैनदर्शन मे भी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर्यन्त विविध प्रकारीय परियोजनायें (प्रक्रियायें) परिलक्षित होती हैं। प्रथमत श्रावक की ११ प्रतिमाओं के रूप मे और तत्पश्चात् १४ गुणस्थानो के रूप मे। एकादश प्रतिमायें तो विद्यार्थी के क्रमिक अध्ययन की ग्यारह कक्षाओं के तुल्य हैं, जिनमे श्रावक अपने व्यक्तित्व को क्रमश उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता जाता है और १४ गुण-स्थान आध्यात्मिक विकास के लिए सोपान की भाति है।

व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास के पूर्व जैन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति का ज्ञान अपूर्ण एव आशिक होता है किन्तु परिपूर्ण विकास के पश्चात् वही ज्ञान परिपूर्ण और परिपक्व हो जाता है। ऐसे महामानवो को जैन दर्शन मे 'जिन'[2] सज्ञा प्राप्त है। ये 'केवल-ज्ञान' सम्पन्न होते है "और केवलज्ञान" द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों-पक्षो को एक साथ जानते है।

भारत मे जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमे अहिंसा को उतना महत्व किसी ने नही दिया, जितना जैनधर्म ने दिया है। बौद्धधर्म मे फिर भी अहिंसा की एक सीमा है कि—स्वय किसी का वध न करो, किन्तु जैनो की अहिंसा पूर्णत निस्सीम है। स्वय हिंसा करना, दूसरो से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा मे योग देना, जैनधर्म के विपरीत है। जैनधर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नही, वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैनदर्शन का 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्तवाद' है। यह विश्व के दर्शनो मे अनूठी वस्तु है। इसके महत्व को देशी-विदेशी सभी दार्शनिको ने उच्च स्वर से स्वीकार किया है।

आज विश्व मे अशाति का मूल कारण यही है कि एक मत या वाद को मानने वाले लोग अपने से भिन्न

---

१ पूरी व्याख्या के लिए देखिए—षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ५५ तथा उसपर आचार्य गुणरत्न की टीका।

२ (अ) डा० हर्मन याकोबी – जैनसूत्राज्, प्रथम भाग (भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र)
(ब) मिसेस स्टीवेनसन—हार्ट ओफ जैनिज्म, चतुर्थ अध्याय।



मत या वाद को मानने वाले लोगो को आख बन्द कर गलत समझते है। लोग अपने प्रतिपक्षियो के प्रति असहिष्णु हो गये हैं। ऐसी स्थिति मे भी यह सत्य है कि—कोई भी मत सोलह आने सत्य एव सोलह आने असत्य नही है। वस्तु एक ओर से जैसी दिखाई पडती है, दूसरी ओर से भी वैसी ही दिखाई नही पडती। अत विना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सवथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरूढ व्यक्ति का दुराग्रह और हठधर्मी समाप्त हो जाती है। सत्यान्वेपक की दृष्टि उदार होती है। समन्वय, सह अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर है। जनसाधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दशन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु चिन्तको और विचारको को हिंसामय प्रवृत्तियो से विरत करने के लिए 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

जैनदर्शन का कथन है कि दर्शन नाना रूपिणी सत्ता के अश मात्र का विवेचन करने मे अपना महत्व रखते हैं। उनमे आपस मे किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नही है। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशाल-हृदयता के कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नही है। जैनदशन युक्तिपूण तथ्यो को ग्रहण करने का सदैव सदेश प्रस्तुत करता है, उसका व्यक्तिविशेष मे कोई आग्रह नही, बल्कि वह तो सिद्धान्त की उदात्त प्रवृत्ति पर बल देता है। आचार्य हरिभद्र का कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह.॥

भगवान महावीर के प्रति न तो मेरा विशेष अनुराग है, और न ही साख्यदर्शन के प्रवर्त्तक कपिल आदि से कोई द्वेप ही है, जिसका कथन युक्तिपूर्ण हो, उसे स्वीकार करना चाहिये।

इतनी उदारता सभवत अन्य दर्शनो मे नही दिखाई पडती। इस उदारता का मुख्य आधार है—अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नही है। उसमे अनन्त दृष्टिकोणो से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हे जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पडे, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विपयभूत धर्म वस्तु मे विद्यमान प्रतीत होगा। चित्त से पक्षपात की दुरभिसधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विपय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहा लहरा रहा है।

भारतीय सस्कृति के विशेपज्ञ मनीपी डा० दिनकर का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसासाधना का चरम उत्कर्ष है, और सारा ससार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व मे शान्ति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।[1]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिप्रकरण (३-४७) मे अनेकान्त को एक ऐसे समुद्र की भाति निरूपित किया है जिसमे सभी वाद विलीन होते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डा० आर्चीब्राह्म अनेकान्तवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते है—

"अनेकान्त जैनदर्शन का वह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका पाश्चात्य अथवा हिन्दू दार्शनिको ने समुचित मूल्याकन नही किया है। यह अपने तत्वज्ञान के द्वारा ससार का वडा उपकार कर सकता है।"[2]

---

१ दिनकर, डा० रामधारीसिंह—सस्कृति के चार अध्याय।

२ जैन, स्व० डा० कामताप्रसाद, विश्व को जैनधर्म की देन, पृष्ठ १६ से उद्धृत—
The Anekant is an important principle of Jain Logic not commonly asserted by the Western or Hindu logician, which promises much for world peace through Metaphysical harmony

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक डा० सी० डी० शर्मा अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में स्याद्वाद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं।

"स्याद्वाद, जिसका सप्त-भंगीनय भी कहते हैं, ज्ञानप्राप्ति के संदर्भ में सापेक्षता का सिद्धान्त है। स्यात शब्द का शाब्दिक अर्थ है सम्भावित, शायद, हो सकता है। और इसीलिये यदा कदा स्याद्वाद का अनुवाद "सम्भावना का सिद्धान्त" (Theory of Probability) अथवा 'हो सकता की मान्यता (Doctrine of the may be) किया जाता है, किन्तु 'स्याद्वाद' शब्द यहा सम्भावना के शाब्दिक अर्थ मे नही ग्रहण किया गया है। क्योंकि सम्भावना में संदेह-वाद (Scepticism) को स्थान प्राप्त है, जब कि जैनदर्शन मे 'सन्देहवाद' का कोई स्थान नही है।

कभी कभी 'स्यात्' शब्द का अनुवाद 'किसी तरह' (Some-how) किया जाता है किन्तु इस शब्द में 'अज्ञेय-वाद' (Agnosticism) की गन्ध निहित है, जब कि जैनदर्शन कदापि अज्ञेयवाद नहीं है।

यहा जैनदर्शन मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग सापेक्षता के अर्थ मे हुआ है और स्याद्वाद का समुचित अनुवाद सापेक्षता का सिद्धान्त" (Theory of Relativity) है।[1]

जैनदर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य उमास्वामी के 'तत्वार्थ-सूत्र' के प्रथम अध्याय का द्वितीय सूत्र "तत्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन" है। वस्तुत तत्वों पर यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना नहीं हो सकती। स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है, जो तत्व के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक तत्व या पदार्थ अनन्त गुणों का भंडार है, उन अनन्त गुणो मे वे गुण भी सम्मिलित है, जो परस्पर विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं। इन विरोधी तथा भिन्न गुणो को विचार-जगत् मे परस्पर न टकराने देकर उनका सुष्ठुरीत्या सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद, सापेक्षवाद या अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम 'अनेकान्त' है और उक्त प्रकारीय चिन्तन की 'अभिव्यक्ति की शैली' स्याद्वाद है। अर्थात् अनेकान्तवाद का सम्बन्ध मनुष्य के विचारो से है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार का व्यक्त करने योग्य अहिंसामय भाषा की खोज करता है।

अनेकान्तवाद शब्द के तीन शब्दांश है—अनेक, अन्त और वाद। अनेक=नाना, अन्त=वस्तुधर्म, वाद=मान्यता। एक वस्तु में विभिन्न धर्मो=स्वभावो (विरोधी और अविरोधी) की मान्यता का नाम अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद, एक वस्तु मे परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मो का विधाता है। वह वस्तु को नानाधर्मा-

---

१. शर्मा, डा० सी० डी० इंडियन फिलासफी

Syadvada which is also called "Sapta Bhanginaya" is the theory of relativity of knowledge The word Syat literally means probable, perhaps, may be Ant Syadvad is sometimes translated as the theory of probability or the doctrine of the may be But it is not in the literal sense of probability that the word 'Syat' is used here probability suggests scepticism and Jainism is not scepticism

Sometimes the word 'Syat' is translated as 'some how' But this too smacks of angnosticism and Jainism again is not agnosticism

The word 'Syat' is used here in the sense of the relative and the current translation of 'Syadvad' is the theory of relativity of knowledge.



त्मक बतलाकर ही चरितार्थ हो जाता है। जहा अनेकान्तवाद हमारी बुद्धि को वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से खीचता है, वहा स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप से बोध कराने मे समर्थ है। नाना धर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद बतलाता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अनेकान्त-वाद का फल विधानात्मक और स्याद्वाद का फल उपयोगात्मक है। यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद की मान्यता ने ही स्याद्वाद की मान्यता को जन्म दिया है। क्योकि जहा नाना धर्मों का विधान नही है, वहा दृष्टिभेद की कल्पना हो ही कैसे सकती है।

स्याद्वाद और सप्तभगीवाद

सप्तभगीवाद जैनदर्शन के स्याद्वाद' का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपो मे विभक्त कर समझाने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपो को ही 'सप्तभग' कहते है। प्रश्न हो सकता है कि यह सप्तभगी क्या है और उसका क्या उपयोग है? इसका उत्तर स्याद्वादमजरी के रचयिता आचार्य मल्लिषेण के शब्दो मे निम्न प्रकार है—

"सप्तभि प्रकारै वचनविन्यास सप्तभगीति गीयते।"[1]

(विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूपकथन मे सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है, यही 'सप्तभगी' है।)

सप्तभगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि —

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधविकल्पना सप्तभगी"[2]

(प्रश्न उठने पर एक वस्तु मे अविरोध भाव से एक धर्म-विषयक जो विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभगी कहते है।)

भग का अर्थ है—विकल्प, प्रकार या भेद। किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय मे सात प्रकार से ही विवेचन सभव होने से इसे 'सप्त भगीवाद' कहते है।

अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभगी

अनेकान्त दृष्टि का ध्वनितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु मे सामान्य रूप से, और विशेष रूप से भिन्नता की और अभिन्नता की दृष्टि से नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप से अनन्त धर्म होते है। अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन यही प्रकट करना है कि "प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु मे रहता है"। परन्तु सप्तभगी की उपयोगिता इस बात मे है कि वह वस्तुगत अनेक धर्मों की दोषहीन भाषा मे अपेक्षा का विश्लेषण करे।

उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि—अनेकान्त, अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद तथा सप्तभगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षासूचक एक वचनपद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है और सप्तभगी एव स्याद्वाद एक साधन है, उसे समझने का प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य व्याप्य है, दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है।

स्यात् शब्द के विभिन्न अर्थ

'स्यात्' पद सस्कृत की 'अस्-भुवि' धातु से बना है। स्यात् का ही बिगडा हुआ हिन्दी मे 'शायद' मिलता है।

---

१ आचार्य मल्लिषेण-स्याद्वादमजरी डॉ० जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित, (बम्बई, १९३५ ई०) कारिका २३—टीका

२ आचार्य अकलकदेव तत्वार्थराजवार्तिक सूत्र १—६ टीका।

"हो सकता है", "Perhaps, May be, Probable" के अर्थ मे इसका प्रयोग होता है। कुछ विद्वान इसका अर्थ "Some-how" 'किसी तरह' भी करते है। किन्तु जैनदर्शन मे इसका प्रयोग इनमे से किसी भी अर्थ मे नही हुआ है।

भारत को पुरातन भाषाओ-पाली और प्राकृत मे 'स्यात्' पद का रूप 'सिया' उपलब्ध होता है। वहा यह वस्तु के सुनिश्चित भेदो के साथ प्रयुक्त दिखाई पडता है।

'स्यात्' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग

जैनदर्शन मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे किया गया है। इसका अर्थ है—सापेक्ष, कथचित्, सापेक्षता का सिद्धान्त। 'स्यात्' व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार 'अस्' धातु का विधिलिंग लकार, अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है, जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' या एक सम्भावना यह भी है। जैनदर्शन मे इसे सापेक्ष विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन बताया गया है। इसे अनिश्चयबोधक समझना कदापि युक्तिसगत नही है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी इसका उल्लेख और विश्लेषण 'सापेक्षता का सिद्धान्त" (Theory of Relativity" के नाम से किया है।)

स्याद्वादमजरीकार आचार्य मल्लिषेण 'स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम् तत स्याद्वाद अनेकान्तवाद इति यावत्'[१] कहकर अनेकान्त के प्रतिपादन मे 'स्यात्' पद का महत्व स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी 'स्यात्' को अनेकान्तबोधक मानते हैं।[२]

आचार्य अकलक देव लघीयस्त्रय टीका मे 'अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद' उल्लेख कर यह स्पष्ट करते हैं कि विद्यमान अनेक धर्मों का सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन 'स्याद्वाद' है।

'स्यात्' और 'कथचित्' ये दोनो शब्द एक अर्थ के बोधक है। 'कथचित्' शब्द का अर्थ है—किसी प्रकार। 'स्यात्' शब्द का भी यही अर्थ समझना चाहिये। किसी प्रकार के अर्थात् दृष्टि विशेष से या किसी विशेष अभिप्राय से—इस प्रकार की मान्यता का ही नाम 'स्याद्वाद है।

स्व० प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है कि —

" कोई ऐसा शब्द नही है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह, जब शब्दो मे स्वभावत विवक्षानुसार अमुक धर्म का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब तक यह आवश्यक हो जाता है अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है, वह श्रोता को विवक्षित धर्म का, प्रधानता से, ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन करता है।

'स्यात्' शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु मे रहने वाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।[३]



स्याद्वाद का प्रयोग

प्रत्येक शब्द के दो वाच्य होते है—विधि और निषेध, प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप मे न कोई विधि है और न कोई निषेध। प्रत्येक वस्तु का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और

---

१ स्याद्वादमजरी, कारिका ५ टीका।

२ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, कारिका २८।

३ जैनदर्शन, प्रथम सस्करण, काशी १९५५ ई०, पृ० ६८।

भाव की अपेक्षा से किया जाता है। विवेचन के पूर्व विवेच्य वस्तु के साथ 'स्यात' पद का प्रयोग आवश्यक है। गौण अथवा प्रधान विवक्षा की सूचना इस पद के माध्यम से प्राप्त होती है।[1]

'स्यात्' शब्द के साथ किसी वस्तु का विश्लेषण अधिक से अधिक ७ प्रकार मे हो सकता है। प्रयास करने पर भी ७ से अधिक प्रणालियो से विवेचन सभव नही है। वे सात प्रकार या भग अग्रलिखित है

(१) स्याद् अस्ति
(२) स्याद् नास्ति
(३) स्यादस्ति नास्ति
(४) स्याद् अवक्तव्य
(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य
(६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य
(७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

इस पद्धति मे मूल भग तीन ही है। पहला दूसरा और चौथा, अर्थात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। उक्त सात भगो मे से तीन द्विसयोगी और त्रिसयोगी है।

उदाहरणार्थ —

(१) स्याद् अस्ति	लौकिक प्रयोग	=	नमक
(२) स्याद् नास्ति	" "	=	मिर्च
(३) स्याद् अवक्तव्य	" "	=	जीरा

देखिये, सर्व प्रथम तो इन तीनो वस्तुओ का पृथक् पृथक् उपयोग हो सकता है, तत्पश्चात् एक को दूसरे मे मिश्रित करके उपयोग कर सकते हैं और अन्त मे तीनो को एक साथ मिलाकर काम मे ला सकते है। जैसे —

(१) नमक, (२) मिर्च, (३) जीरा, (४) नमक मिर्च, (५) नमक जीरा, (६) मिर्च जीरा, (७) नमक, मिर्च, जीरा,

उपर्युक्त ७ भगो या प्रणालियो से वस्तु की विवेचना सभव है। उससे अधिक से नही।

विवेचन

(१) स्याद् अस्ति

पदार्थ कथचित् सत् है। उदाहरणार्थ एक घडे का विवेचन करना है। घट के अनन्त धर्मो मे एक सत् (Existence) अस्तित्व है। प्रश्न हो सकता है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा से है? इसी का उत्तर स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की पद्धति से पहले प्रकार मे प्राप्त होता है।

---

१ इस सदर्भ मे देखिये —आचार्य अकलकदेव का 'लघीयस्त्रय' जहा उन्होंने उल्लेख किया है कि वक्ता और श्रोता यदि शब्दशक्ति और वस्तु के स्वरूप के विवेचन मे निपुण हैं, तो 'स्यात्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। उसके अभाव मे भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है —
अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥

घट का अस्तित्व कथचित् 'स्यात्' है, 'स्यात् अस्ति घट' अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यह घडा है। यह घडे के अस्तित्व की विधि है, अत यह विधि भग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा से नही है, क्योकि—

'सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च'

यह पक्ति 'स्याद् अस्ति' इस कथनपद्धति की विवेचिका है।

यदि स्वपर्याय से भिन्न पर स्वरूप से भी घडे का अस्तित्व हो तो घडा एक घडा ही क्यो रहे ? वह विश्व-रूप क्यो न हो जावे ? और वैसी स्थिति मे उसमे घट-व्यवसाय के अतिरिक्त वस्त्र आदि के क्रिया-कलापो का समावेश हो जाना चाहिये और वैसा हो सकना सभव नही है। अतएव यह स्पष्ट है कि घडे की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओ से नही।

(२) स्याद् नास्ति

दूसरी वार जब उसी का कथन होगा तो यह कहा जावेगा कि पूर्व मे जिस घट का प्रतिपादन हुआ है, उसका यदि उससे छोटे या उससे बडे घडे को दृष्टि मे रख कर अथवा सोने, पीतल या कपडे को दृष्टि मे रखकर प्रतिपादन किया जाय कि पूर्व स्थिति के अनुरूप क्या यह घडा है, तो उत्तर होगा—'स्याद्नास्ति घट'

यहा घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से किया गया है। अत घट कथचित् नही है, घट से भिन्न वस्त्र, सोने, चादी आदि की—परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नही है।

(३) स्याद् अस्ति-नास्ति

पदार्थ कथचित् सत् असत् उभय रूप है। पूर्व वर्णित घडे का स्पष्ट रूप यह है कि "घडा तो है, किन्तु सोने, पीतल या कपडे की अपेक्षा वह नही है।"

यहा पर स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का, अर्थात् दोनो का किन्तु क्रमश. कथन किया गया है।

प्रथम और द्वितीय विवेचन-पद्धति क्रमश विधि और निषेध का स्वतत्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतिपादन करती हैं, जब कि यह तीसरी पद्धति विधि-निषेध दोनो का किन्तु क्रमश उल्लेख करती है।

'स्याद् अस्ति नास्ति घट।' स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा घडा है, किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घडा नही है।

(४) स्याद् अवक्तव्य

अवक्तव्य का अर्थ है कहा नही जा सकता। जब एक ही समय मे विधि और निषेध दोनो की विवक्षा होती है, तब दोनो को एक ही समय मे एक साथ व्यक्त करने वाला कोई शब्द न होने से उसे 'अवक्तव्य' कहते हैं।

शब्द की क्षमता सीमित होती है। जब वस्तु के विधि पक्ष का विश्लेषण होता है, तो निषेध पक्ष उपेक्षित हो जाता है, और जब निषेध पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है, तो विधिपक्ष गौण हो जाता है, यदि वस्तु के विधिनिषेध पक्षो का पृथक् पृथक् या क्रमश एक साथ प्रतिपादन करना हो तो पूर्ववर्णित तीन विवेचनपद्धतियो मे क्रमश (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) अस्ति नास्ति शब्दो के द्वारा काम चल जाता है, परन्तु विधिनिषेध की एक साथ अभिव्यक्ति मे कठिनाई है, जिसे 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा हल किया गया है।

इस पद्धति से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तु के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नही है।



इसलिये विधिनिषेध का युगपत् कथन असंभव है। परन्तु स्मरणीय है कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सवक्तव्यतानिन नही है। अत 'स्याद् अवक्तव्य' पद से विदित होता है कि घडे के संबन्ध मे पूर्व वर्णित जो तीन दृष्टिकोण है, वे एक साथ कहे नही जा सकते। यह है 'स्याद् घट अवक्तव्य'।

(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य

कथचित् सत् है किन्तु अवक्तव्य। इसका अभिप्राय है—घट है, और अवक्तव्य भी है। किसी विशेष दृष्टि से घडे को लाल कह सकते है, किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो, तो घडे के रग का वर्णन असम्भव हो जाता है, अत अपने स्वरूप से घडा है तो, किन्तु उसका रूप स्पष्ट न होने के कारण उसका प्रतिपादन नही कर सकते।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य

कथचित् असत् है किन्तु अवक्तव्य। यहा पर प्रथम समय मे निषेध और द्वितीय समय मे एक साथ-युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा होने से 'स्यात् नास्ति घट अवक्तव्यश्च' घडा नही है, और वह अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता है।

(७) स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्यश्च

पदार्थ कथचित् सत् है, कथचित् असत् है, साथ ही उभय दृष्टिकोणो का युगपत् प्रतिपादन सभव नही है। किसी दृष्टि से घट है, किसी दूसरे पदार्थ की विवक्षा से घट नही है, और परस्पर विरोधी इन दोनो धर्मो का एक साथ निरूपण करना सभव नही है।

उपरिविवेचित सातो वचन-पद्धतिया अपनी अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि अलग अलग रूप मे वस्तु-स्थिति के एक अश को ही प्रकट करती है, उसके सपूर्ण स्वरूप को नही। इसीलिए जैनदर्शन इस बात पर बल देता है कि पूर्वविवेचित सात वचन-पद्धतियो मे से प्रतिपादनकर्ता अपने अभिप्राय के अनुसार चाहे जिस वचन-पद्धति का उपयोग करे, परन्तु उसके पूर्व 'स्यात्' शब्द अवश्य सयुक्त करे, जिससे यह सुस्पष्ट ज्ञात होता रहे कि वस्तुस्थिति मे अन्य सम्भावनायें भी है। अत प्रतिपादनकर्ता का कथन सापेक्ष रूप से ग्रहण किया जावे।

ऊपर प्रतिपादित भिन्न भिन्न दृष्टियो से विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्मस्वरूप या पक्ष होते है। प्रत्येक वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तो दूसरी दृष्टि से अभावात्मक किसी वस्तु के सम्बन्ध मे हम जो विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचार सीमित ज्ञान तथा हमारे हुआ करते है। हमे यह नही सोचना चाहिये कि किसी विषय सबधी कोई एक मत ही एकान्त सत्य है, दूसराअभिमत भी सत्य हो सकता है।

जैन तीर्थंकरो ने मानव की अहकारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानस का स्पष्ट दर्शन कर उन तत्वो की ओर प्रारभ से ध्यान आकृष्ट किया है, जिससे मानव की दृष्टि का एकागीपन दूर हो और उसमे अनेका-गिता का समावेश हो, वह अपनी दृष्टि की तरह सामनेवाले मनुष्य की दृष्टि का भी सम्मान करना सीखे, उसके प्रति सहिष्णु बने। दृष्टि मे इस प्रकार के भावो का समावेश हो जाने से उसकी भाषा परिवर्तित हो जाती है, उसमे स्वमत की हठाग्रहिता हटकर समन्वय की प्रवृत्ति आ जाती है। उसकी भाषा मे दूसरो के तिरस्कार का भाव न होकर उनके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षादृष्टि को समझने की क्षमता आ जाती है। यही स्थिति उसकी मानसिक शुद्धि अर्थात स्याद्वादमय वाणी के स्वीकरण की है और वैसी स्थिति मे मानव का आचारव्यवहार पूर्णत 'मनस्येक वचस्येक कर्मण्ये-कम्' के अनुरूप हो जाता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पूर्णत समझने मे अनेक वैदिक और बौद्ध, प्राचीन और अर्वाचीन पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानो को बहुत भ्रम हुआ है। उसके अनेक कारण रहे हैं, परन्तु अब उन मतो या आलोचनाओ का विस्तारपूर्वक निराकरण हो चुका है और अनेकान्तवाद के सार्वभौम रूप को सभी विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते ह।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद सिद्धान्त मे यह स्पष्ट है कि जैनो की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारो को नगण्य नही समझते, प्रत्युत अन्य दृष्टियो से उन्हे भी सत्य मानते है। हा, वे किसी एक दर्शन की हठोक्ति को नही मानते क्योकि ऐसी हठोक्तियो में 'एकान्तवाद' (Fallacy of exclusive particularity) का दोष होना स्वाभाविक है। वर्तमान मे अमेरिका के नव्य वस्तुवादियो ने इस 'एकान्तवाद' का घोर विरोध किया है।[1]

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक विद्वानो का यह अभिमत अत्यन्त सुविचारित है कि "इस एकान्तवाद के दोष से मुक्त होने की जैसी युक्ति जैनो ने निकाली है, वैसी किसी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने नही।[2]"

जैनदर्शन का यह सिद्धान्त अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके सूक्ष्म अध्ययन तथा मनन की नितान्त आवश्यकता है। समन्वय, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व आदि की भावनाओ से ओतप्रोत इस अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त के आधार पर आचार्यप्रवर श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने अब से लगभग १७ सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के जैनशासन को सर्वप्रकारीय आपत्तियो का निवारक, शाश्वत तथा सर्वाभ्युदयकारी तीर्थ के रूप मे स्मरण किया है—

सर्वापदामन्तकर निरन्तम् सर्वोदय तीर्थमिद तवैव।[3]

आज जबकि सम्पूर्ण विश्व बारूद के ढेर पर बैठा हो और एटम बम्बो 'Atom Bombs' के जार पर ऐंठा हो, तब इस प्रकार के अनेकान्तात्मक विचारो के अनुशीलन से अन्धविश्वास, साम्प्रदायिक सकीर्णता और असहिष्णुता आदि कुप्रवृत्तिया नष्ट हो सकती है और मानव लोककल्याणवादी हो सकता हैं।

●

१ देखिये दि न्यु रियलिज्म, पृ० १४—१५

२ देखिये डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और डा० धीरेन्द्रमोहनदत्त कृत 'भारतीय दर्शन' पटना, पृष्ठ ५४

३ आचार्य समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन' कारिका ६१

जैनदर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

प्रो० निहालचन्द्र जैन
एम० एस-सी०

मडावरा (झासी)



(१) धर्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता

आज के इस वैज्ञानिक युग म बुद्धिजीवी मानव अपने को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयोग कर रहा है और वह उन्ही सत्या एव तथ्यो को मान्यता दे रहा है, जो प्रयोग-परीक्षण (Experimental verification) की कसौटी पर खरे उतर रहे है। इसके बावजूद वह अपने भीतर एक शून्यता (vaccume) और अशान्ति का गहन अधकार पा रहा है। लगता है, शक्ति-उपलब्धि मे शान्ति खोता जा रहा है। इसमे एक तथ्य सामने अवश्य आया है कि जिन्होने मात्र विज्ञान की खोज की, वे शक्तिशाली हो गये पर अशान्त और विपन्नता मे डूबे हुए है। और जिन्होंने मात्र धर्म का अनुसधान किया, वे शान्त हो गये पर अशक्त और पिछडे है। ऐसा मानव या राष्ट्र जो अपने को शक्ति और शान्ति मे अखण्ड रूप मे प्रवर्तमान रखना चाहता है, उसे विज्ञान और धर्म, दोनो की शरण लेनी होगी, क्योकि एक की भी कमी से मानव की साधना और राष्ट्र की सस्कृति अधूरी रह जायेगी। इतिहास इसका साक्षी है कि ऐसी शक्ति, जो शान्ति से अछूती रही, क्रूरता और सहारकता के विकृति रूप मे पनपी और मानव का उससे कुछ शुभ नही हो पाया।

विज्ञान ने जहाँ मानव को ज्ञान (knowledge) से भरा, वहाँ धर्म की भिन्नता मे वह विवेक-शून्य हुआ। और फिर विवेकरहित ज्ञान ने अणुबम्ब और उदजन बम्बों का निर्माण कर मानवसस्कृति पर कुठाराघात किया, जिसका दोषारोपण विज्ञान पर थोपा गया। मानव ज्ञान की आवश्यकता के साथ विवेक की अनिवार्यता भुला बैठा। परिणाम मे विवेकशून्य ज्ञान से उसमे गति (speed) तो भरी लेकिन वेग (velocity) उत्पन्न नही किया और बिना वेग के वह दिशा-भ्रष्ट हो मात्र भटकता रहा। लक्ष्य की सिद्धि मात्र गति करने मे नही मिल सकती, उसके लिए तो एक खास दिशा मे जाना होगा।

मानव ने धर्म (अन्तस् की चेतना) के विस्मरण-मूल्य पर शक्ति की होड मे सघर्ष खरीदा है, जो मात्र विज्ञान रूपी करघे से मौत का कफन बुनने जैसा ही है

एतएव धर्म और विज्ञान मे समन्वय लाने की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि विज्ञान का विषय उन प्रयोगो का अध्ययन और निरीक्षण है। जो प्रकृति की गतिविधियों से सम्बद्ध है, जबकि दर्शन वहाँ से शुरू होता है जहाँ विज्ञान अपनी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। फिर भी सत्य हर पहलू मे सत्य होता है और इसलिए धर्म या दर्शन के सत्य भी किसी भी तराजू के पलडे से तौले जा सकते है। यह विश्लेषण, सिद्धान्तो के प्रति अधिक आस्था पैदा करे बस यही इसका उद्देश्य है।

(२) जैनदर्शन का परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान की मान्यता

जैनदर्शन ससार की रचना छह द्रव्यो (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से हुई मानता

है। इनमें से केवल पुद्गल द्रव्य (matter and energy) मूर्तिक या रूपी है, शेष अमूर्तिक। मुख्य रूप से यह संसार जीव और पुद्गल का सम्मिश्रण है, शेष चार द्रव्य इनके सहायक हैं।

चूंकि भौतिक विज्ञान मूर्तिक पुद्गल द्रव्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए यहाँ पुद्गल द्रव्य (परमाणुवाद) की चर्चा दर्शन और विज्ञान की पृष्ठभूमि में करेंगे।

'पुद्गल' दो पदों से मिलकर बना हुआ है। पहला पुद् जिसका अर्थ है मिलना (Combination) और दूसरा गल—जिसका अर्थ गलना या विनाश (Disintegration) से है। इस घटना को इस प्रकार समझाया गया है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध से मिलकर अधिक रूक्ष या स्निग्ध गुणयुत स्कन्ध उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध निकल जाने से कम स्निग्ध या रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध प्राप्त होगा।

वैज्ञानिक-पारिभाषिक शब्दों में स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं से तात्पर्य अविभाज्य धनात्मक विद्युन्मय कण (Positive charged particle) और ऋणात्मक विद्युन्मय कण (Negative charged particle) ही है। इन्हीं दोनों प्रकार के कणों से मिलकर उदासीन (Neutral) परमाणु (Atom) बनता है जिन्हें क्रमशः प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन (Electron) नाम से पुकारा जाता है। इसके अलावा न्यूट्रान उदासीन कण भी परमाणु में अपना स्थान रखता है।

परमाणु की रचना में इलेक्ट्रॉन (Electron), नाभि (Nucleus) के चारों ओर बाह्य परिपथों में तीव्रगति से घूमते रहते हैं। परमाणुओं के बीच इलेक्ट्रॉनों की सहकारिता (Co-valency) और विद्युत-संयोजकता (Electrovalency) से जो बन्धता (Combination) होती है वह ठीक जैनदर्शन के सिद्धान्त से मेल खाती है।[1] इसके अनुसार दो वे ही परमाणु मिलकर किसी यौगिक के स्कन्ध बनेंगे जिनके बाह्य कक्ष में इलेक्ट्रॉनों (रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेद) की संख्या समान नहीं होती तथा दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है। चाहे यह बन्ध स्निग्ध-स्निग्ध या रूक्ष-रूक्ष अथवा स्निग्ध-रूक्ष का हो।

उदाहरणार्थ—साधारण नमक, सोडियम और क्लोरीन परमाणुओं से मिलकर बना होता है जिनके बाह्य-कक्ष में क्रमशः एक और सात इलेक्ट्रॉन होते हैं। परन्तु अरगॉन (Argon), क्रिप्टॉन (Krypton), जेनॉन जैसी अक्रियाशील गैसों के परमाणु जिनके बाह्य-कक्ष में आठ आठ इलेक्ट्रॉन होते हैं कभी भी आपस में बन्धता को प्राप्त नहीं होते हैं।

१९वीं शती के प्रारम्भ में डाल्टन ने अपने पारमाणविक सिद्धान्त (Daltons' Atomic theory) में यह कहा था कि एक तत्व के परमाणु दूसरे तत्व के परमाणुओं में नहीं बदले जा सकते, लेकिन जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य (जिसके अन्तर्गत विज्ञान सम्मत १०२ तत्व हैं) अपने द्रव्य-लक्षण के अनुसार एक तत्व की पर्याय (Modification) से दूसरे तत्व की पर्याय धारण कर सकता है। इस तथ्य की पुष्टि आधुनिक भौतिक विज्ञान के तेजोद्गरण घटना (Radio-activity) ने कर दी है। जिसके अनुसार यूरेनियम अथवा एक्टिनियम धातु के अणु अपनी कई शृङ्खलाओं को पार करने के बाद सीसा (Lead) के अणु में परिवर्तित हो जाते हैं। खानों में प्राप्त होने वाली विविध धातुएँ और हीरा (Diamoud) आदि इसी सिद्धान्त से एक रूप से दूसरे रूप में उसी पृथ्वी के गर्भ-गृह में पड़े बदलते रहते हैं।

परन्तु पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य कण परमाणु अविनाशी है, शब्द रहित है, एक प्रदेशी तथा



---

१ गुण साम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥

—तत्वा० सूत्र अ० ५

मूर्तिक है। परमाणु-ध्रुवता की पुष्टि डाल्टन के परमाणुवाद के अन्तिम नियम तथा उर्जा-अविनश्वरता के सिद्धान्त (Principle of conservation of energy) ने की है। जिसके अनुसार द्रव्य न तो पैदा किया जा सकता और न ही नष्ट, परन्तु उसके रूप मे ही परिवर्तन आ सकता है। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविध उर्जाओं का मान हमेशा एक ही रहता है।

पुद्गल द्रव्य की अन्य कुछ और विशेषताए है जिनको विज्ञान के आलोक मे अध्ययन कर सकते है—

(१) पुद्गल द्रव्य मे स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये चार गुण पाये जाते है।
(२) पुद्गल-परमाणु गतिशील, सक्रिय तथा अनन्त शक्ति वाला होता है।
(३) शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान (आकार), भेद, अधकार, छाया, आताप, और उद्यात ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय है।

(i) **पुद्गल-परमाणु की गतिशीलता** —पुद्गल के एक परमाणु मे एक समय मे (Absolute unit of time) १४ राजू गमन करने की जो शक्ति बतलायी है उसमे इसकी गतिशीलता का प्रमाण मिलता है। इतना तो वैज्ञानिको ने अपने प्रयोगो द्वारा बतला दिया कि प्रकाश-पिण्डो (Quantam) का वेग १८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। ये प्रकाश पिण्ड जो कि प्रकाशीय-कणो (Photons) के खजाने है, पुद्गल के रूप हैं। विद्युत्-चुम्बकीय तरगो, प्रकाशकिरणो, ताप-किरणो आदि के गमन का तरग-सिद्धान्त (Wave theory) इस बात का द्योतक है कि पुद्गल परमाणु तीव्रतम गति रखता है और अन्त मे परमाणु रचना मे इलेक्ट्रानो का अपने वाह्य कक्षो मे तीव्रतम गति से हमेशा घूमते रहना इस बात की पुष्टि का सबल-प्रमाण है।

(ii) **पुद्गल अनन्त शक्ति का खजाना** —आइन्स्टॉइन के सहति-उर्जासूत्र (mass-energy relation) [$E=mc^2$ जहाँ $E=$उर्जा, $m=$सहति, $c=$प्रकाश-वेग] ने यह स्पष्ट कर दिया कि वस्तु की मात्रा को उर्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है। एक ग्राम यूरेनियम धातु जब शक्ति मे परिवर्तित होती है तो उससे उतनी ही शक्ति प्राप्त होती है जितनी ३ हजार टन कोयला जलाने से मिल सकती है। इसी प्रकार Annihilation Phenomenon द्वारा यह देख लिया गया कि शक्ति को सहति मे बदला जा सकता है। डॉ भाभा ने अपनी Cosmic Rays की थ्योरी मे यह बतलाया है कि निश्चित सहति वाले प्रकाशीय कण (Photon), अ-कणो (a-particles) से मिलकर बनते हैं जो कि शक्ति के रूप मे होते है।

इसी प्रकार जब एक शक्ति, दूसरी शक्ति के रूप मे परिवर्तित होती है तो परिणाम मे भारी अतिरिक्त उर्जा निकलती है। जो इस बात का प्रमाण है कि पुद्गल अनन्त शक्ति रखता है।

(iii) **बन्ध** —पुद्गल परमाणुओ के बन्ध की प्रक्रिया पहिले ही बता आये हैं। आगे कर्म सिद्धान्त मे कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणु, जीव के साथ कैसे बन्ध को प्राप्त होते है, बतायेंगे।

(iv) **शब्द** —वैशेषिक दर्शन का मत था कि शब्द (ध्वनि) आकाश द्रव्य का गुण है। परन्तु आधुनिक प्रयोगो ने जैनदर्शन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सिद्ध कर दिया है कि यह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है क्योकि ध्वनि को ग्रामोफोन या टेपरिकार्डर द्वारा बाँधा जा सकता है। सग्राहक (Receiver) द्वारा पकडा जा सकता है। वायरलेस द्वारा भेजा जा सकता है। यह परावर्तित होकर प्रतिध्वनि (Echo) उत्पन्न करता है। तथा हवा के माध्यम से अनुप्रस्थ और अनुदैर्ध्य तरगो मे गमन करता है। गमन करने का अनुनाद नली (Resonance-tube) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। चूंकि इसे मूर्तिक कर्णेन्द्रियाँ ग्रहण करती है इसलिए, भले ही आँखो से वह न दिखे, मूर्तिक ही है। इस प्रकार स्कन्धो के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न शब्द पुद्गल की ही पर्याय है।

(v) **छाया** — जिस प्रकार ध्वनि को रोका या पकडा जा सकता है उसी प्रकार छाया को भी तरगो के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजकर टेलीविजन द्वारा पकडा जा सकता है। जिसमे वस्तु की प्रतिच्छाया

(Image) पर्दे पर बनती है। इन प्रतिच्छायाओ के देखने से यह बात स्वयसिद्ध हो जाती है कि आकार भी पुद्गल का एक रूप है।

(vi) **तम या अन्धकार** —यह केवल प्रकाश का अभाव ही नही जैसा कि कणाद आदि दार्शनिको ने स्वीकार किया है, बल्कि पृथक् पदार्थ है। क्योंकि प्रकाश की अनुपस्थिति मे भी अन्धकार मे से Ultravisible, Infrared और Cosmic rays आदि जैसी किरणें गुजरती रहती हैं जो फोटोग्राफिक प्लेट पर अपना प्रभाव डालती हैं। इसलिए विज्ञान इसको पुद्गल का एक विशेष रूप स्वीकारता है।

(vii) **प्रकाश और आताप** —प्रकाश प्रकाशीय पिण्डो (Optical Quauta) के रूप मे गमन करता है। ये प्रकाशीय पिण्ड फोटॉन कणो के समूह होते हैं जो निश्चित सहति वाले प्रकाशीय-कण होते है। यही Photon तरगो के रूप मे चलकर प्रकाश उर्जा का विसरण करते रहते है।

इसी प्रकार ताप, विकरण-तरगो (Radiation) के रूप मे उच्च तापक्रम वाली वस्तुओ से निम्न तापक्रम वाली वस्तुओ मे गमन करता रहता है। ताप की मात्रा भी प्रयोगो द्वारा कलरी मे नापी जा सकती है। इस प्रकार प्रकाश और आताप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है।

(३) वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है जिसे जैनदर्शन के अनुसार उपग्रह या उपकार कहते है। यह उपकार पुद्गल-द्रव्य अपने स्वय मे या अन्य पुद्गल द्रव्यो के साथ करता है तथा जीव द्रव्य के प्रति भी करता है।

पुद्गल द्रव्य को २३ वर्गणाओ (Classifications) मे रखा जाता है।[1] इन वर्गणाओ मे से कार्मण वर्गणा भी है जिसका अर्थ ऐसे पुद्गल परमाणुओ मे है जा जीव द्रव्य के परिणमन के अनुसार (कभी शरीर, कभी मन, कभी वचन और कभी श्वासोच्छ्वास के रूप मे) अपना स्वय का परिणमन करते हुए जीव द्रव्य का उपकार करते हैं। इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओ का जीव द्रव्य के साथ सयोग होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक आधार से यो समझ सकते है —

यह सम्पूर्ण लोकाकाश इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओ से ठीक उसी प्रकार भरा पडा है जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे विद्युत्-चुम्बकीय तरगें (Electromagnetic waves)। ये परमाणु बहुत ही सूक्ष्मतम होने के कारण तरगरूप मे गमन करते हुए मान सकते हैं। यदि तरग लम्बाई—उनकी बारम्बारता (Frequency) n तथा c प्रकाश के वेग के द्वारा दर्शायें तो ($c = n\lambda$) ये प्रकाश वेग से तरगो के रूप मे लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करते रहते हैं। इनकी कम्पन-शक्ति बहुत ही उच्च, यहा तक कि x—Rays की कम्पन-शक्ति ($१०^{१३}$ से $१०^{१७}$ कि० साईकिल प्रति से०) से करोडो गुनी ज्यादा होती है।

अब एक खास बारम्बारता की विद्युत्चुम्बकीय तरगो को एक प्राप्तक द्वारा पकडने के लिए उसमे एक ऐसे ओसिलेटर का उपयोग किया जाता है कि यह उन्ही बारम्बारता पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से वे आकाश मे व्याप्त तरगें प्राप्तक द्वारा आसानी से ग्रहण कर ली जाती हैं।

ठीक यही घटना आत्मा मे कार्मण-स्कन्धो के आकर्षित होन मे होती है। विचारो या भावो के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओ द्वारा आत्मा के प्रदेशो मे कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे जैनदर्शन मे 'योग' सज्ञा दी गई है अर्थात् योग शक्ति से आत्मा मे पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्गल परमाणुओ (जो आत्मा के प्रदेशो मे एकक्षेत्रावगाही



---

१ शरीरवाड्मन प्राणापान पुद्गलानाम् ॥ तत्वार्थसूत्र अ० ५, १९ ॥

होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) मे कम्पन होता है। इन कम्पनो की बारम्बारता की न्यूनाधिकता कषायो की ऋजुता या घनी सक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामो मे विभिन्न तरग लम्बाइयो की तरगें आत्मा के प्रदेशो से उत्पन्न होती रहती है और इस प्रकार की कम्पनक्रिया से इसे एक ओसिलेटर की भांति मान सकते है, जो लोकाकाश मे उपस्थित उन्ही तरग लम्बाई के लिए साम्य (Tunned or resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे (भाव कर्मों के माध्यम से ठीक उसी प्रकार की तरगें आत्मा के प्रदेशो से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। और आत्मा को अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी नयी तरगे पुन आत्मा मे उत्पन्न करती है। इस तरह यह स्वचालित ओसिलेटर (Self Oscillated Oscillator) की भांति व्यवहार कर नयी नयी तरगो को हमेशा खीचता रहता है। इसे जैनदर्शन मे आस्रव नाम से कहा है।

लेकिन एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं न कि वे दोनो एक दूसरे मे परिवर्तित हो जाते है। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु अपने परमाणुओ मे ही। दोनो अपने मौलिक गुणो (Fundamental Properties) को एक समय के लिए भी नही छोडते। जैनदर्शन मे इस एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को ही बन्ध कहा है।

यदि आत्मा के प्रदेशो मे परमाणुओ की कम्पन-प्रक्रिया ढीली पडने लगे, जो कि योगो की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात मे कार्मण परमाणु कम आयेंगे अर्थात् आकर्षण-क्रिया हीन होगी अर्थात् सवर होगा। जब नयी तरगो के माध्यम से पुदगल परमाणुओ का आना बन्द हो जाता है तो पहिले से बैठे हुए कार्मण परमाणु Damped Oscillation करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी। और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तक का ओसिलेटर कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति मे योगो की प्रवृत्ति एक-दम बद हो जायेगी और सचित कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशो की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नही उठेगा अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरग सिद्धान्त के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से शेष पाच तत्व (आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष) समझाये जा सकते है।

कर्मों की बध अवस्था के अलावा अन्य नौ अवस्थाये होती हैं, जैसे —उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना, जिन्हे करण कहते है। इनका स्पष्टीकरण उपर्युक्त सिद्धान्त से दिया जा सकता है।

(४) आकाश और काल द्रव्य की रूपरेखा

[१] जिसमे अस्तित्व हो वही द्रव्य है और जो उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य सहित होता है वही अस्तित्व वाला कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते है कि जिसमे गुण (जो निरन्तार द्रव्य के साथ रहे और द्रव्य के रूप-परिवर्तन के समय भी द्रव्य से पृथक् न होता हो) और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते है। [२] द्रव्य की परिभाषा के अनुसार "काल" भी द्रव्य सिद्ध होता है जिसका अविभाज्य कण या परमाणु "समय" कहलाता है।

काल द्रव्य अनन्त समय वाला होता है। व्यवहार मे आने वाला समय उस निश्चय काल द्रव्य की पर्याय है जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित हैं तथा ये कालाणु आपस मे नही मिलते है।

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२६॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥३०॥ गुणपर्यायवद् द्रव्यम ॥३८॥ तत्वार्थ सू० अ० ५-२ कालश्च ॥३६॥

2, Minko four Dimention theory

$$(dx)^2+(dy)^2+(dz)^2+(ict)^2=O$$

इस काल द्रव्य का मुख्य काय पुद्गलो मे परिणमन उत्पन्न करना है। व्यवहार काल की अपेक्षा यह हमेशा उपजता तथा विनशता है परन्तु द्रव्य रूप निश्चय काल की अपेक्षा अविनाशी है।

मिन्को के चतुथआयाम सिद्धान्त (Four-dimensional theory) ने आधुनिक विज्ञान को नयी दिशा-दृष्टि दी है और मिन्को ने अपने क्रान्तिकारी विचारो एव सिद्धान्तो से इस बात की पुष्टि कर दी है कि वस्तु के परिवर्तन मे उसकी लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई के साथ एक चौथा पद समय भी है जिसको छोडा नही जा सकता। अर्थात् पदाथ के रूप मे अन्तर डालने वाला मात्र आकृति ही का परिवर्तन नही वल्कि उसके साथ समय भी परिवर्तन मे सहायक होता है। मिन्को का यह सिद्धान्त जैनदर्शन के कालद्रव्य-सिद्धान्त से बिलकुल मेल खा रहा है।

आइस्टायन ने अपने आपेक्षिक-सिद्धान्त (Theory of Relativity) मे गणित-सिद्धान्तो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि किसी वस्तु के समय-पद को वदल दिया जाय तो वह वर्तमान मे भी अतीत या भविष्य का स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

इसी प्रकार उसने व्यवहार काल के ऊपर अपने सिद्धान्तो का निरूपण करते हुए लिखा कि यदि दो एक-सी घडी, जो वैज्ञानिक ढग मे निर्मित की हुई माइक्रोसेकेण्ड मे भी समय को बतलाती हो, को लेकर उनमे से एक तो ध्वनि के वेग से कई गुने तीव्र गति से चलने वाले वायुयान मे और दूसरी को विराम स्थिति वाले वायुयान में रखें, तो पहिले वायुयान की घडी, दूसरे वायुयान की घडी से तेज चलती हुई नजर आयेगी।

ये सब तथ्य इस बात के प्रमाण है कि वस्तु के परिणमन मे काल अपना सक्रिय सहयोग देता है।

आकाश द्रव्य (Space, Medium of Location of Soul, Matter and Energies etc)

[1]जो सब जीवो को, धर्म, अधर्म एव काल को अवकाश देता है वह आकाश कहलाता है। परन्तु यह जीवादि द्रव्यो के गमन और स्थिति मे सहायक नही होता। लोक में असख्यात (Countless) प्रदेश (Absolute-Units of Space) ही होते है जिसमे अनन्तान्त (Infinite in number) जीव और उनसे अनन्तगुणे पुद्गल परमाणु तथा आकाश-प्रदेश के प्रमाण कालाणु तथा असख्य प्रदेशी धर्म और अधर्म द्रव्य अवस्थित है।

इससे यह शका उठ सकती है कि असख्यात प्रदेशी आकाश मे ये सब किस तरह अवकाश पा लेते है ?

इसका समाधान तत्वार्थ सूत्र अ० ५ का १६वाँ सूत्र "प्रदेश-सहार विसर्पाभ्या प्रदीपवत्" करता है।

जैसे एक कोठरी मे अनेको दीपको का प्रकाश व एक तहखाने मे अनेको उपकरणो से उत्पन्न शब्द अवगाहना पा लेते है ठीक उसी प्रकार प्रदेशो के सकोच और विस्तार गुण के द्वारा भी जीव व अन्य द्रव्य लोकाकाश के असख्यात प्रदेशो मे तिष्ठे रहते है।

इस प्रकार जैनदर्शन के कतिपय सिद्धान्तो का अवलोकन आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि मे करने पर इनकी शाश्वतता एव सत्यता का सहज भान हो जाता है। युग ऐसे विश्लेषण की अपेक्षा करता है जो धर्म-दर्शन और विज्ञान मे तालमेल बैठा सके।



---

१ सव्वेसिं जीवाण सेसाण तहय पोग्गलाण च।
ज देदि विवरमखिल त लोए हवदि आयास ॥ —पचास्तिकाय
आकाशस्यावगाह ॥१८॥ तत्वा० सू० अ० ५

जैनदर्शन और विज्ञान

श्री महावीरसिंह मुडिया,
एम० एस-सी०
उदयपुर



जैनदर्शन एक प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन है। निस्सन्देह विज्ञान-जगत् में हो रहे नित नूतन आविष्कारों तथा अनेक वैज्ञानिक मान्यताओं का अभूतपूर्व वर्णन जैन शास्त्रों में किया गया है। यही नहीं, अनेक ऐसी जटिल समस्याएँ, जिनके बारे में आज के वैज्ञानिक प्रायः हतप्रभ हैं, उनका अनूठा समाधान भी कई जगह पर जैन आगमों में प्राप्त होता है। वनस्पति में जीव है, यह मान्यता जैनदर्शन की बहुत पुरानी है। वैज्ञानिक लोग इस बात को मानने के लिए तब तक तैयार नहीं हुए जब तक कि श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने यन्त्रों के द्वारा यह पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं कर दिया। इसी प्रकार पानी में भी कीड़े (germs) हैं और इसलिये जैन साधु कच्चे पानी का उपयोग नहीं करते हैं, इस वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप के आविष्कार के बाद ही मान्यता दी। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन का यदि वैज्ञानिक रूप से गंभीर अध्ययन किया जाए तो विज्ञान-जगत् को अभूतपूर्व लाभ तो होगा ही, साथ ही वैज्ञानिकों की अनेक समस्याएँ, जिन्हें वे दिन-रात प्रयोग कर सुलझाने में लगे हैं, स्वतः ही हल हो जाएगी।

जैनदर्शन और परमाणुवाद—जैनदर्शन में परमाणुवाद पर विस्तृत वर्णन किया गया है। आश्चर्य तो यह है कि जैनदर्शन में जिस परमाणु का वर्णन आया है, वह आज के परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जैनदर्शन के अनुसार वैज्ञानिकों के परमाणु (Atom) से भी छोटा कण, जो अविभाज्य है, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, और अग्राह्य है, किसी भी उपचार, उपाय या उपाधि से जिसका भाग नहीं हो सकता, किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से जिसका विभाजन नहीं हो सकता, जो अग्नि से जलता नहीं, जिसकी न लम्बाई है, न चौड़ाई है और न गहराई है, ऐसे इकाई रूप को परमाणु माना गया है। सूक्ष्मता के कारण वह परमाणु स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भीतर भी कई कणों की खोज निकाला है, जो कि परमाणु की बनावट जानने में बड़े सहायक हुए हैं। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लोग जिस छोटे कण को परमाणु समझ बैठे थे, अब वे ही उससे भी छोटे छोटे कण, यानि इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, मेसोन, पोजीट्रान, न्यूट्रिनो आदि अत्यन्त सूक्ष्म कणों का पता लगाने में समर्थ हुए हैं। उपर्युक्त कण भी जैनदर्शन के परमाणु से बड़े हैं। स्पष्ट है कि आगे आने वाले आविष्कार जैनदर्शन के परमाणु की यथार्थता को पुष्ट कर सकेंगे। वैज्ञानिक प्रगति बड़ी तेजी से हो रही है और अब तक परमाणु के भीतर इस प्रकार ३३ कणों का पता लगा लिया गया है। यह विश्वासपूर्वक साधिकार कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कण के अस्तित्व का पता भी विज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

जैन शास्त्रों में परमाणु की गति के सम्बन्ध में बताया गया है—"परमाणु एक समय में कम से कम एक आकाश-प्रदेश का अतिक्रमण कर सकता है और अधिक से अधिक एक ही समय में चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त या उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तक पहुँच सकता है। 'समय' एक जैन पारिभाषिक शब्द है। परमाणु की तरह वह काल का अन्तिम टुकड़ा है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि आँखों के पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। इस एक समय में परमाणु चतुर्दश रज्ज्वात्मक सारे विश्व का भ्रमण करता है। यदि एक हजार मन लोहे के गोले को इस अनन्त आकाश से छोड़ा जाए और वह गोला छः महीने तक गिरता ही जाए, इस अवधि में जितने आकाश-देश का अवगाहन गोला करता है, वह एक रज्जु

है। यह ब्रह्माण्ड ऐसे चौदह रज्जुओ का है। अत एक समय मे इस छोर से उस छोर तक पहुँचने वाला परमाणु अत्यन्त तीव्र गति करता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी अणु और परमाणु की गति को खोज निकाला है। एक इलेक्ट्रान अपने कक्ष मे १३०० मील प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से गति करता है। प्रकाश की गति १,८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। हीरे आदि ठोस पदार्थ मे अणुओ (Molecules) की गति प्रतिघण्टा ६६० मील है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन के अनुसार प्रकाश की गति अन्तिम है अर्थात् कोई भी कण १,८६००० मील प्रतिसेकेण्ड की गति से अधिक नही कर सकता है। काफी समय तक वैज्ञानिक जगत् मे यह मान्यता थी और आइन्स्टीन का यह निर्णय सर्वमान्य हो गया था। प्लाज्मा कणो पर शोध के फलस्वरूप अब यह गति अन्तिम नही मानी जाने लगी है। प्लाज्मा कणो को प्रकाश की गति से भी अधिक गति प्रदान की गई है। बहुत सम्भव है आने वाले नये आविष्कारो के फलस्वरूप वैज्ञानिक अभी तक प्राप्त तथ्यो से भी आगे बढने मे सफल हो सकेंगे।

जैनदर्शन के अनुसार थोडे से परमाणु एक विस्तृत आकाशखण्ड को घेर लेते है और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश-देश मे समा जाते हैं। पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको की पहुँच इस पराकाष्ठा तक तो नही हुई है, किन्तु आये दिन ऐसे निविड पदार्थों का पता चल रहा है, जो परमाणु की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको द्वारा कही गई बातो की पुष्टि करते हैं। एक एक स्क्वायर फीट लकडी के टुकडे मे और उतने ही बडे लोहे के टुकडे के वजन मे काफी अन्तर होता है। इस विस्तृत आकाश मे ऐसे भी ग्रहपिण्ड देखे गये है जो प्लेटिनम धातु से भी दो हजार गुना सघन है। इन आकाशीय पिण्डो मे से कुछ पिण्डो मे तो पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इच मे २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही मे खोजा गया है, उसके एक क्यूबिक इच मे १६७४० मन वजन होता है।

जैनदर्शन के अनुसार छोटे से छोटे एक बालू कण मे अनन्त परमाणु होते हैं। वह एक स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध द्विप्रदेशात्मक अर्थात् दो परमाणुओ का भी हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी स्कन्ध को यदि तोडा ही जाता रहा तो एक स्कन्ध असख्य स्कन्धो मे बँट जाएगा। विज्ञान के क्षेत्र मे भी माना गया है कि एक बूंद पानी के अन्दर ५० लाख स्कन्ध होते है तथा इसमे भी अधिक हो सकते है।

सहस्रो वर्ष पूर्व प्रतिपादित जैनदर्शन का परमाणुवाद आज भी बिलकुल नया लगता है। आज के इस यन्त्रप्रधान युग मे जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है, तो उस युग मे जब प्रयोगशालाएँ और यान्त्रिक साधन नही थे, जैनदार्शनिको ने परमाणु की सूक्ष्मता का जो वर्णन किया है, निश्चय ही अद्वितीय है।

यह पृथ्वी-लोक —मानवमस्तिष्क मे पृथ्वी हमेशा ही एक रहस्य बन कर रही है। पृथ्वी कब बनी, इसका नाश कब होगा और अभी क्या अवस्था है, आदि प्रश्नो को मनुष्य सुलझाता रहा है। मनुष्य का ज्ञान ज्यो-ज्यो आगे बढता गया, पहले की कल्पनाएँ उसके लिए निरर्थक होती गईं। प्राचीन हिन्दू धर्मावलम्बियो का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कला है और शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है। यूनानियो का विश्वास था कि पृथ्वी बारह खम्भो पर टिकी हुई है। आकार के बारे मे भी नाना प्रकार के मत थे। किसी ने पृथ्वी को नल के समान माना तो किसी ने खरबूजे के समान।



आधुनिक विज्ञान मे भी पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे मे यह माना गया है कि कम से कम दो अरब वर्ष पूर्व एक तारा आकाश मे चलता हुआ सूर्य के पास आया। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र ज्वार पैदा करते हैं उसी प्रकार उस तारे ने भी सूर्य की सतह पर ज्वार पैदा किये होंगे और एक भयकर लहर सूर्य की समूची सतह पर फैल गई। ज्यो ज्यो वह तारा निकट आया वह लहर एक ऊँचे पर्वत का रूप लेती गई। कालान्तर मे पर्वत के टुकडे टुकडे हो गये और ये छोटे टुकडे अपने सूर्य के चारो ओर घूमने लगे। ये ही हमारे छोटे और बडे ग्रह हैं जिनमे पृथ्वी भी एक है।



पृथ्वी के भविष्य के बारे मे विज्ञान का मत है कि धीरे धीरे पृथ्वी की परिक्रमा-गति भी मन्थर होती जा रही है। अभी पृथ्वी को धुरी की परिक्रमा करने मे २८ घंटे लगते है किन्तु पहले कभी वह तीन-चार घंटे मे ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर लेती थी। उस समय दो घंटे के दिन और दो घंटे की रात होती थी। एक लम्बी अवधि के बाद पृथ्वी की गति इतनी मन्द हो जायगी कि २४ घंटो का अहोरात्र, १४०० घंटो का हो जायगा। गति के साथ पृथ्वी की उष्णता भी कम होती जायगी और कल्पनातीत भयकर शीत मे पृथ्वी पर से प्राणीमात्र का लोप हो जायगा। यह भी हो सकता है कि कभी यह सारी पृथ्वी अणु अणु होकर अनन्त शून्य मे विलीन हो जाए।

पृथ्वी की उत्पत्ति विनाश आदि के सम्बन्ध मे जैनदर्शन मे माना गया है कि विश्व की अनेक पृथ्वियो मे से हमारी यह पृथ्वी (तिर्यक्लोक) एक है। इससे ऊपर भी अनन्त आकाश मे पृथक् २ अनेक पृथ्वियाँ है और नीचे भी अनेक पृथ्वियाँ है। इस प्रकार यह चतुर्दश रज्ज्वात्मक समस्त विश्व है। यह शाश्वत है और अनेक द्वीपात्मक व अनेक समुद्रात्मक यह हमारी पृथ्वी भी उसकी एक शाश्वत इकाई है। साराश यह हुआ कि पृथ्वी न कभी बनी, और न इसका कोई अन्त है। न यह सूर्य से टूटी और न चन्द्रमा इससे अलग हुआ। पृथ्वी अनादि काल से है अनन्त काल तक रहेगी। जैनदर्शन का यह अभिमत तर्क एव बुद्धि-सगत है। पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो नाना प्रकार के विचार है वे काल्पनिक ही लगते हैं।

पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध मे पुरातत्ववेत्ता व भूगर्भशास्त्री, पर्वत, खान एव भूगर्भ की रासायनिक प्रक्रियाओ के यथार्थ प्रमाणो से उसकी उत्पत्ति और विनाश की जो कल्पना करते है, जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार उसका उल्लेख अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालक्रम से लिया जा सकता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है ह्रास व विकास का एक सुदीर्घ कालचक्र। यह कालचक्र सख्यातीत वर्षों मे पूरा होता है। उत्सर्पिणी के आधे कालचक्र मे पृथ्वी की सारी क्रियाएं क्रमश निर्माण की ओर बढती है और अवसर्पिणी के आधे कालचक्र मे क्रमश ध्वस की ओर। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। यह कालचक्र हमारे क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रो मे नही होता। प्रकृति के इतिहास मे होने वाले इस अध्यायपरिवर्तन को प्रलय और सृष्टि कहा जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नही, वह ध्वस की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि ध्वस और निर्माण के भूदेह पर और भूगभ मे होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओ के हेतु हो।

वैज्ञानिक आज इस तथ्य की खोज मे जुटे है कि अन्य ग्रहो पर भी जीव है अथवा नही ? नाना प्रकार के यन्त्रो के द्वारा अध्ययन किया जा रहा है कि मगलग्रह पर मनुष्य का निवास सम्भव है या नही ? किसी भी अनहोनी घटना से यह भी माना जाता है कि जिस प्रकार आज इस पृथ्वी के निवासी अन्तरिक्ष मे नये नये राकेट छोडकर पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं, उसी प्रकार सम्भवत इस पृथ्वी पर भी बाहर से कभी इसी प्रकार के अन्तरिक्ष यान मे बैठकर अन्य निवासी आए हो। जैनदर्शन का स्पष्ट अभिमत है और वह मानता है कि हमारी पृथ्वी की तरह इस विश्व मे अनेक पृथ्वियाँ है। इस प्रकार जैन पदार्थविज्ञान युग के इस नवीन चिन्तन मे नाना प्रकार के रहस्यो को प्रकट करने मे विविध प्रकार के योगदान कर सकता है।

धर्मद्रव्य और ईथर —भगवान् महावीर ने बताया—"धर्मद्रव्य एक है। वह लोकव्याप्त है, शाश्वत है। वर्णशून्य है, गन्धशून्य है, रसशून्य है, स्पर्शशून्य है। वह जीव और अणु की गतिक्रिया मे सहायक है। जीवो का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मानसिक वाचिक कायिक व अन्य प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती है।"

पचास्तिकाय मे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—'धर्मास्तिकाय न स्वय चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशील जीव व पुद्गल की प्रसाधन है। मछलियो के लिए जल जैसे गति मे अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलो के लिये धर्मद्रव्य है।" रेल के लिए पटरी की सहायता जिस प्रकार अनिवार्यत अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल की गति मे धर्मद्रव्य की अनिवार्य अपेक्षा है। पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित

नही करती, फिर भी रेल के चलने मे उसकी सहायक रहती है। जीव और पुद्गल की गति मे यही सम्बन्ध धर्मद्रव्य का है।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व वैज्ञानिकों मे ईथर का कोई स्थान नही था। इस ओर वैज्ञानिको का ध्यान तब तक नही गया था। फिर प्रश्न सामने आया–सूर्य, ग्रह और तारो के बीच जो इतना शून्य प्रदेश पडा है, प्रकाश किरणे कैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है? उनकी गति का माध्यम क्या है? बिना माध्यम यह असम्भव माना गया कि प्रकाश, जो एक भारवान् वस्तु है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँच सके। परिणामस्वरूप ईथर की कल्पना की गई। माना गया—ईथर तारो, ग्रहो और दूसरे आकाशीय पिण्डो की खाली जगह मे नही भरा है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के रिक्त देश मे भी व्याप्त है। आइन्सटीन के अनुसार ईथर अभौतिक, अपारमाणविक लोकव्याप्त, नही देखा जा सकने वाला एक अखण्ड द्रव्य है। ईथर की गति मालूम करने के लिए अनेको प्रयोग हुए और अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि ईथर मे कोई गति नही है। वह नितान्त निष्क्रिय है। ऐसा लगता है कि आज से सहस्रो वर्ष पूर्व, जब कि विज्ञान का प्रादुर्भाव ही नही हुआ था, जैन-दार्शनिको ने सृष्टि के इस सूक्ष्मतम तत्त्व का प्रामाणिकता के साथ निरूपण कर दिया था।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद —स्याद्वाद जैनदर्शन की अनोखी देन है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। अर्थात् वस्तु अनन्तगुण व विशेषताओ को धारण करने वाली है। जिस प्रकार एक घडे के विषय मे यह कहा जा सकता है कि यह मिट्टी का है, राजस्थान मे बना है, ग्रीष्मऋतु मे बना है, उसी समय दूसरा व्यक्ति यह कहता है —यह सोने का घडा नही है, मध्यप्रदेश का नही है, यह हेमन्त ऋतु मे नही बना है। यहां "है" व "नही है" देश काल सापेक्ष है। 'अस्ति, नास्ति' की बात जैसे स्याद्वाद मे मिलती है उसी प्रकार सापेक्षवाद मे पायी जाती है। यदि किसी वस्तु का भार १०० पौंड है, सापेक्षवाद कहता है यह है भी और नही भी। क्योकि भूमध्य रेखा पर यह १०० पौंड है तो दक्षिणी ध्रुव पर १०१ पौंड है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद मे कई प्रसग समान ही दिखाई देते है। एक नीहारिका मे होने वाला विस्फोट, एक लाख प्रकाशवर्ष दूर स्थित हमारी पृथ्वी पर एक लाख वर्ष बाद मालूम पडेगा, क्योकि प्रकाश को हम तक पहुँचने मे एक लाख वर्ष लगेंगे और हमे ऐसा मालूम पडेगा कि यह घटना अभी ही हुई है। सयोग से यदि उस नीहारिका का कोई प्राणी हमसे मिले तो इस घटना के विषय मे दोनो के निर्णय विपरीत होंगे, पर अपने अपने क्षेत्र की अपेक्षा से दोनो निर्णय सही है। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता आइन्सटीन कहते हैं—"हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते है, सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है।" गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म है। एक जहाज जो स्थित है, वह पृथ्वी की अपेक्षा स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति मे है और जहाज भी फिर गतिशील है। सूर्य भी यदि गतिशून्य हो जाए तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओ की अपेक्षा से गतिशील होगे। तात्पर्य यह है कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व पदार्थ चर भी है। और स्थिर भी है स्याद्वाद कहता है, परमाणु नित्य भी है और अनित्य भी, ससार शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनो ही सिद्धान्त अपने अपने क्षेत्र मे सरल भी है और कठिन भी है। स्याद्वाद की जटिलता विश्वप्रसिद्ध है। शकराचार्य ने स्याद्वाद को सशयवाद कहा है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त भी गणित की गुत्थियो से भरा पडा है और विश्व के केवल सौ वैज्ञानिक ही इसे समझ पाए है। आज सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत् मे बीसवीं सदी का महान् आविष्कार मान लिया गया है। यही सिद्धान्त स्याद्वाद के क्षेत्र मे आज से सहस्रो वर्ष पूर्व व्यवस्थित रूप मे जैनदर्शन मे प्रतिपादित किया गया है।

●



जैनदर्शन का मूलाधार

डा० कुन्दनलाल जैन,
एच० ए०, पी-एच० डी०



प्रत्येक दर्शन मे इहलोक और परलोक आदि के विषय मे तात्त्विक अनुशीलन एव परिशीलन करने के पश्चात् उसके मूलभूत तत्वो की स्थापना की गई है। प्रसिद्ध षड्दर्शनयोग, न्याय, वैशेषिक, साख्य, मीमासा और वेदान्त मे यही बात प्रत्यक्ष होती है। जैनदर्शन मे भी, इसी प्रकार, उसके मूल तत्वो को आधार मानकर, उनका सविस्तार विवेचन किया गया है।

जहा अन्य दर्शनो मे इन तत्वो की सख्या चौबीस तक परिगणित की गई है, वहा जैन-दर्शन मे केवल दो तत्व ही मूल तत्वो के रूप मे स्वीकार किए गए है। वे तत्व है जीव और अजीव। वस्तुत यह दो तत्व ही जैन-दर्शन के मूलाधार हैं। इन्ही तत्वो के पारस्परिक समन्वय, आदान-प्रदान से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रूप प्रत्यक्ष होता है।

जब तक जीव तत्व का अजीव तत्व से सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह जीवात्मा या ससारी जीव के नाम से अभिहित होता है, किन्तु ज्योही आत्यन्तिक रूप से जीव तत्व से अजीव तत्व का सम्बन्ध टूट जाता है तभी वह शुद्धात्मा, परमात्मा या मुक्तात्मा कहलाने लगता है। मुक्तात्मा हो जाने पर फिर कभी उसका अजीव से सम्बन्ध होने की सभावना नही होती है। जीव की यही वह अवस्था है जो उसका चरम लक्ष्य होती है और इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा सदैव प्रयत्नशील रहता है। इन अवस्थाओ को ही दृष्टि मे रखते हुए जैन-दर्शन मे जीव के दो भेद परिकल्पित किए गए है —ससारी जीव और मुक्त जीव।

जीव या आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ 'द्रव्यसग्रह' मे आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ने लिखा है:

तिक्काले चदुपाणा इन्दिअ बालमायु आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स॥

अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से तीनो कालो मे जिसके इन्द्रिय, बल (मनोबल, वचोबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण पाये जाते है, किन्तु निश्चयात्मक दृष्टि से जिसमे चेतना (उपयोग-ज्ञान दर्शनादि) पाई जाती है वह जीव कहलाता है।

इसी जीव की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है —

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई॥

जीव उपयोगमय (ज्ञानदर्शनयुक्त), अमूर्त, स्वकर्मों का कर्ता, अपनी देह के परिमाण वाला, कर्मफल का भोग करने वाला, होता है। कर्मरहित विशुद्ध अवस्था प्राप्त करने पर वह नियम से ऊर्ध्वगति वाला होता है।

जीव (आत्मा) ज्ञानदर्शनमय तथा सूक्ष्म होने के कारण अमूर्त्त है । उसका कोई रूप नही होता, इसीलिए इन्द्रियातीत (अगोचर) होता है । किन्तु जब तक रागद्वेषादि कषाय रूप परिणामो के कारण अजीव (पुद्गल) शरीर मे उसका सम्बन्ध है, तब तक यह शरीरधारी होने से मूर्त्त (स्पर्श गन्धादि गुणवाला) रहता है । दूसरे शब्दो मे शुद्धावस्था मे वह अमूर्त्त (अचाक्षुष) और अशुद्धावस्था मे मूर्त्त (चाक्षुष) होता है । आत्मा मे सकोच-प्रसारण की शक्ति होती है अत वह सूक्ष्म एव स्थूल शरीरो मे प्रवेश करके तत्तत्शरीर के परिमाण वाला होने मे समर्थ होता है । वह स्वकर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता भी है । किन्तु जब कषाय रूप परिणामो के भार से हल्का हो जाता है, तब ऊर्ध्वगमन करके सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार मिट्टी मे सनी हुई तूमडी मिट्टी के भार के कारण जल मे डूब जाती है, परन्तु ज्यो ही उसका मिट्टी का भार हल्का हो जाता है वह ऊर्ध्वगति मे पानी के ऊपर आ जाती है, क्योकि यह उसका स्वभाव है । उसी प्रकार जीवात्मा भी कर्मों के भार से भारी होने के कारण ससार रूपी जलोदधि मे डूबा रहता है, परन्तु कर्मों का भार हल्का हो जाने पर (शुद्धावस्था मे) वह भी ऊर्ध्वगति करता हुआ सिद्धावस्था को प्राप्त करके शुद्ध अथवा मुक्त जीव बन जाता है ।

ससारी जीव इन्द्रियसम्पन्न होता है अत इन्द्रियो की दृष्टि से भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है । इन्द्रियाँ पाच होती है —स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण । इन्द्रियो का यह क्रम वस्तुत बडा वैज्ञानिक है । कर्णेन्द्रिय वाला अवश्य ही पाचो इन्द्रियो का स्वामी होता है, चक्षुरिन्द्रिय वाला चार इन्द्रियो वाला होगा । उसके कर्णेन्द्रिय नही होगी । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो के विषय मे भी समझना चाहिये । अत इन्द्रियो की दृष्टि से ससारी जीव पाच प्रकार का ही हो सकता है ।

(१) एकेन्द्रिय जीव (इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होगी, अन्य इन्द्रिया नही—जैसे पेड पौधे आदि । इसे स्थावर जीव की सज्ञा दी गई है ।) (२) द्वीन्द्रिय जीव (३) त्रीन्द्रिय जीव (४) चतुरिन्द्रिय जीव (५) पञ्चेन्द्रिय जीव । इन चार प्रकार के जीवो को त्रस जीव कहा जाता है । पञ्चेन्द्रिय जीवो मे भी कुछ ऐसे होते है, जो मन वाले होते है, वे समनस्क या सज्ञी जीव कहलाते है, किन्तु कुछ जीव बिना मन के भी होते है, वे अमनस्क या असज्ञी जीव कहलाते हैं ।

जैन-दर्शन मे इस जीव तत्व का विवेचन बडे विस्तार के साथ किया गया है । अनेको ग्रन्थ केवल इसी तत्व को लेकर लिखे गए उपलब्ध होते हैं । विस्तृत जानकारी के लिए जिज्ञासुओ को गोम्मटसार जीवकाण्ड, समयसार, प्रवचनसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थो का अनुशीलन करना चाहिये । इस लघुकलेवर सक्षिप्त निबन्ध मे विस्तृत विवेचन सभव नहीं है ।

अजीव तत्व जीव तत्व से विपरीत स्वरूपवाला है । आत्मा के गुणो से विहीन जितने भी पदार्थ अस्तित्व मे है वे सब अजीव तत्व के अन्तर्गत आते है । धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल भी अजीव ही हैं, किन्तु ये सब द्रव्य रूप है । इनमे धर्म द्रव्य जीव और अजीव को गति करने मे और अधर्म द्रव्य उन्हे स्थिर होने मे सहायक होता है । आकाश द्रव्य सबको स्थान देने का कार्य करता है । किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल मे (यद्यपि ये सभी अजीव है) थोडा अन्तर होता है । पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सहित होने के कारण रूपी होता है, जबकि धर्म अधर्म और आकाश नित्य एव स्पर्शादि गुणो से रहित होते हैं । इनमे पुद्गल द्रव्य का ही जीवात्मा से अनित्य सम्बन्ध होता है । दर्शन की भाषा मे जीवात्मा से सम्बन्ध करने वाले पुद्गलो को कार्माण या कर्मवर्गणा या कर्म कहते है । इन कर्मों का कार्य है आत्मा के स्वाभाविक गुणो पर आवरण डालना । इसी आवरण मे पड जाने पर जीवात्मा अपने शुद्ध रूप का विस्मरण करके ससार मे परिभ्रमण करता है, आवागमन करता है । इन कर्मों मे सम्बन्धित सिद्धान्त को जैन दर्शन मे 'कर्मवाद' की सज्ञा दी गई है । यह 'कर्मवाद' गीता के कर्मयोग से बिल्कुल भिन्न है । इस कर्मवाद का भी बडा व्यापक विशद विवेचन जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध है । देखिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ आदि ।

जब आत्मा मे इन पौद्गलिक कर्मों का आना प्रारम्भ हो जाता है, तब इस आगमन को दार्शनिक भाषा मे 'आस्रव' तत्व की सज्ञा दी जाती है । इस के कारण ही जीव और अजीव तत्वो का सम्बन्ध होना है और जब तक यह



सम्बन्ध बना रहता है तब तक जीव ससारावस्था मे ही रहता है।

'आश्रव' के कारण आते हुए कर्म आत्मा से चिपटते जाते हैं-बन्धते जाते है और आत्मा इन कर्मों के बन्धन मे निश्चित कालस्थिति तक बधा रहता है। इसी बन्धन का नाम है 'बन्ध' तत्व।

किन्तु जब जीवात्मा अपनी साधना द्वारा कर्मों के आगमन को रोकने का प्रयास करता है तो उस रुकने का नाम है 'सवर'। किन्तु वह 'सवर' तत्व आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मो का क्षय करने मे समर्थ नही होता। पूर्वबद्ध कर्मों का अभाव करने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता होती है और तपस्या द्वारा ही उन कर्मों का शनै शनै अभाव होता है।

निर्जरा करते करते जब कर्मों का आत्यन्तिक अभाव या विनाश हो जाता है तब आत्मा बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। इस अवस्था का नाम है 'मोक्ष'। मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है।

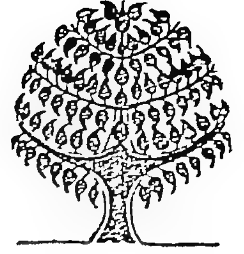
इस प्रकार ये—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष—जैन दर्शन मे सप्ततत्व कहे जाते हैं।

'जीवाजीवाश्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' (तत्वार्थसूत्र)

इनमे जीव और अजीव ही मुख्य तत्व हैं, शेष तत्व उन दोनो के ही सम्बन्धित रूप है। अत यही तत्व जैन-दर्शन के मूलाधार कहे जाते है। जैन दर्शनकारो ने इन्ही को आधार मानकर उनका बडा विशद व्यापक विवेचन किया है। वस्तुत इन्ही तत्वो के ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रहस्य प्रत्यक्ष हो सकता है।

●

जैनदर्शन की द्रव्य-व्यवस्था



पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

जैनदर्शन मे द्रव्य के मूल भेद छह प्रतिपादित हुए है, जिनके नाम है-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन छहो द्रव्यो मे जीवद्रव्य चेतनामय (चेतन) और शेष चेतनारहित अचेतन हैं । पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक है, काल द्रव्यप्रदेशप्रचय से रहित होने के कारण अकाय है और शेष प्रदेश-प्रचय से युक्त होने के कारण अस्ति-काय कहे जाते हैं । परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य यद्यपि एक प्रदेशी है, परन्तु नाना स्कन्धो का कारण तथा उनमे मिलकर स्कन्धरूप हो जाने के कारण उपचार से 'सकाय' कहा जाता है ।[1] जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सर्व निष्क्रिय हैं, ये ही दोनो द्रव्य कदाचित् विभाव रूप भी परिणमते है, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते है । धर्म अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य सख्या मे एक-एक ही है, काल द्रव्य असख्यात है, जीव द्रव्य अनन्त है और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त है । जीव, पुद्गल दोनो द्रव्यो मे सकोच-विस्तार सभव है, शेष द्रव्यो मे वह नही होता अथवा उनकी सभा-वना नही । आकाश अखण्ड एक द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद कहे जाते है-लोकाकाश और अलोकाकाश आकाश के जिस बहुमध्य प्रदेश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाच द्रव्य 'अवलोकित' होते है उसे लोकाकाश और शेष को 'अलोकाकाश कहते है । धर्म और अधर्म दो द्रव्य सदा सारे लोकाकाश को व्याप्त कर स्थिर रहते है, जब कि दूसरे द्रव्यो की स्थिति वैसी नही । कालाणुरूप कालद्रव्य तो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे स्थिर है और इसलिये लोका-काश के जितने प्रदेश है उतने ही कालद्रव्य है । एक जीव की अपेक्षा जीव लोक के एक असख्यातवें भाग से लेकर दो आदि असख्येय भागो मे व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-समुद्घात के समय सारे लोकाकाश को व्याप्त कर तिष्ठता है । नाना जीवो की अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवो से भरा है । पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद है । अणु का अवगाह्य-क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है, द्वचणुकादिरूप स्कन्धो का अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाश के द्विप्रदेशादिको मे है ।

द्रव्य का लक्षण सत् है, और सत् उसे कहते हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो । जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार का है और इसलिये जीव द्रव्य को 'ज्ञानदर्शनलक्षण' भी कहा जाता है । जीवो के ससारी और मुक्त ऐसे दो भेद है । ससारी जीव त्रस, और 'स्थावर' के भेद से दो भेदो मे विभक्त है, जिनमे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव 'स्थावर कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते है । त्रस जीवो का निवासस्थान लोक के मध्यवर्तिनी त्रसनाडी है और स्थावर जीव त्रसनाडी और उससे बाहर सारे ही लोक मे निवास करते हैं ।

जो स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण गुण वाले होते है उन्हे 'पुद्गल' कहते है । स्पर्श के कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ, रस के तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पाच, गन्ध के सुगन्ध दुर्गन्ध ऐसे दो, और वर्ण के नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ऐसे पाँच मूलभेद है । शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद तम, छाया, आतप और उद्योत वालो को भी 'पुद्गल' कहा जाता है अथवा यो कहिये कि पुद्गल के इन दस विशेषो अथवा पर्यायो मे से जिस किसी से भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है ।

गतिरूप परिणत हुए जीवो तथा पुद्गलो को जो उनके गमन में उस प्रकार सहायक-उपकारक होता है जिस

---

१ एय-पदेसो वि अणूणाणा-खधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणति सव्वण्हू ।। (द्रव्यसग्रह, २६)



प्रकार जल मछलियो के चलने मे, परन्तु गमन न करनेवालो को उनके गमन मे प्रेरक नही है, उसे धर्मद्रव्य कहते है। अधर्मद्रव्य[२] उसका नाम है जो स्थिति रूप परिणत हुए जीवो तथा पुद्गलो को उनके ठहरने मे उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिको को ठहरने मे वृक्षादि की छाया, परन्तु चलते हुए को ठहरने की प्रेरणा नही करता और न उन्हे बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्यो को अपने मे अवगाह अवकाश-दान देने की योग्यता रखता है उसे आकाश द्रव्य[3] कहते है, जिसके लोक-अलोक के विभाग से दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके है। जो द्रव्यो के परिवर्तन रूप है—उनके परिवर्तन मे सहकारी है—उसे कालद्रव्य[४] कहते है। कालद्रव्य के भी दो भेद है—एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश मे जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है, जो जीव पुद्गलादि द्रव्यो को उनके प्रतिक्षण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्रूप वर्तन मे सहायक अथवा स्व-सत्तानुभूति मे कारण है— उसे निश्चय काल द्रव्य कहते है। व्यवहार कालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घडी, घटा मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद को लिए हुए आदि-अन्त-सहित है, निश्चय कालद्रव्य के पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण है। द्रव्य मे अपनी जाति को न छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन-पर्याय से पर्यायान्तर होता है उसे 'परिणाम' कहते है। बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणो से द्रव्य मे जो परिस्पन्दात्मक-परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बडापन को 'परत्व' और छोटापन को 'अपरत्व' कहते है।

इस प्रकार जैन-दर्शन की द्रव्यव्यवस्था और उसके अन्तर्गत छहो द्रव्यो का यह सक्षिप्त सार है, विशेष तथा विस्तृत परिचय के लिए तत्वार्थ-सूत्र की तत्वार्थ-राजवार्तिकादि टीकाओ तथा दूसरे आगम-ग्रन्थो को देखना चाहिये।

०

---

१ गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी।
तोय जह मच्छाण अच्छता णेव सो णेई॥ (द्रव्यसग्रह)

२ ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई॥१८॥ (द्रव्यसग्रह)

३ अवगास-दान जोग्ग जीवादीण वियाण आयास ॥१९॥ (द्रव्यसग्रह)

४ दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥२१॥ (द्रव्यसग्रह)

सम्प्रदाय या धर्म ?

सौभाग्यमल जैन



भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है, तथापि जनसाधारण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नही है। यही नही अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्वर्ग मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नही कर पाता। वास्तव मे धर्म तथा सम्प्रदाय मे महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पथ सकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष मे प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब सघशासन ने "धर्मनिरपेक्ष नीति" की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र मे भी बहुचर्चित रहा है। धर्मनिरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है कि जनसाधारण मे यह भ्रान्त धारणा गहराई मे बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक सिद्धान्तो से कोई सबध नही है। जहा तक मै समझता हू, यह तात्पर्य नही था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नही देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप मे नीति का नाम यदि "सम्प्रदाय-निरपेक्ष नीति" रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व मे सम्प्रदायो के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काल मे हुआ है वह इस नीति के निर्माताओं की दृष्टि मे था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उक्त सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति को अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय मे आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो से कोई विरोध नही हो सकता। आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत मे जिन सिद्धान्तो से मनुष्य का जीवन उदार, उन्नत, सामाजिक जीवन बन सके, नैतिकता के उन उच्चतम नियमो का नाम "धर्म" है। किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल मे ही भारतीय जन-जीवन में नैतिकता, सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारकवर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। भारतीय जनजीवन मे आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकतावादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् दो वर्ष मे जो घटनाए देश में, लोकसभा, विधानसभाओ मे घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पडता है कि क्या भारतीयो मे सार्वजनिक प्रश्नो, समस्याओं को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है ? हमारे जन-जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठभूमि मे यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैनधर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रथ आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर ने यह सद्घोषणा की है कि —

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहता भगवनो, ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासति, एव पण्णविति, एव परूविति — सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए सासए, समिच्च लोय खेयन्नेहि पवेइय तजहा-उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदडेसु वा अणुवरयदडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा सजोगरएसु वा

असजोगरएसु वा, तच्च चेय, तहा चेय अस्सि चेय पवुच्चइ ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नही मारना चाहिये उन पर आज्ञा नही चलाना चाहिये, उनको दास की भांति अपने अधिकार मे नही रखना चाहिये, उन्हे शारीरिक मानसिक सताप नही देना चाहिये और उन्हे प्राणो से रहित नही करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है । ससार के दु खो को जानकर जगत-हितकारी भगवान ने सयम मे तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, योगी, भोगी को समान भाव से यह उपदेश दिया है, यह सत्य है यह तथारूप है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन मे कहा गया है ।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्वस्तकर्त्ता धर्म किसी भी दृष्टिकोण मे सम्प्रदाय नही हो सकता । वह धर्म शब्द मे निहित उच्च तथा महान् विचारो से समन्वित होने के कारण "धर्म" है । यह सर्वविदित है कि 'धर्म" शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न सदर्भों मे विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहा जिस अर्थ का सदर्भ है यह कर्त्तव्य अथवा आचार-सहिता का द्योतक है । एक प्राचीन आचार्य ने जैनधर्म की व्याख्या निम्न श्लोक मे अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु महत्व-पूर्ण की है—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडन किंचित् जैनधर्म स उच्यते ।।

जिस दर्शन मे स्याद्वाद हो, अनेकाती दृष्टिकोण अपनाया जाता हो, विभिन्न धर्म, दर्शनो के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जाती हो, जिसमे किसी के प्रति पक्षपात न हो, जिसमे किसी प्राणी को पीडा न पहुचाने का विधान हो उसको जैनधर्म कहते है । यह सर्वविदित है कि विश्व मे विभिन्न वादो की प्ररूपणा करने वाले कई धर्म विद्यमान है । उन विभिन्न वादो मे एकागी सत्य (Partial Truth) का अस्तित्व जैनधर्म मानता है । यदि उन आशिक सत्यो को एकत्र कर लिया जावे, उनमे समन्वय कर लिया जाये तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । इस प्रकार जैनधर्मानुसार विश्व मे प्रचलित विभिन्न धर्मों के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है । यह सुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय विभिन्न वादो के विस्तार से ३६३ मतो का प्रचलन था । भगवान महावीर ने विभिन्न मतो के दृष्टिकोण मे उन सबके प्रति अनेकाती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना मतव्य समन्वयात्मक रूप से प्रकट किया । उस शैली को स्याद्वाद कहा जाता है । यह सत्य है कि जैनागम मे स्याद्वाद के विचार बीज रूप मे सक्षिप्त विद्यमान थे । पश्चात्-वर्ती जैनाचार्यों ने उन बीज रूपी विचारो को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ।।

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका महावीर के प्रति कोई पक्षपात नही है, न कपिल आदि मुनियो के प्रति द्वेष ही है । जिसका वचन युक्तिपुरस्सर होगा उसको अगीकार करने मे हिचक नही है "पन्ना समिक्खए तत्त" तत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (बुद्धिपूर्वक) की जानी चाहिये । इसी विचारसरणि के अनुरूप जैनाचार्यों ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शना मे विभिन्न नयो के दृष्टिकोण से 'आशिक' सत्य का दर्शन किया जैसा कि महान् साहित्यकार समदर्शी विचारो के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के "षडदर्शनसमुच्चय" के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अकित किया है कि—

बौद्धदर्शन	ऋजुसूत्रनय
वेदान्त साख्य मीमासा	} सग्रह नय

चार्वाक	व्यवहारनय
न्याय वैशेषिक	नैगमनय
शब्द-ब्रह्मवादी	शब्दनय

यही नहीं, आचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने तो यहा तक प्ररूपित करने मे हिचकिचाहट नही की कि जैनधर्म "मिच्छादसणसमूहा" है। स्पष्टवादिता की यह चरम सीमा है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न वादो मे आंशिक सत्य होने के कारण वे मिथ्या दर्शन है क्योकि वह एकागी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी को समग्र सत्य के रूप मे प्ररूपणा करते है और अपने से भिन्न वाद को असत्य मानते है,। जैनधर्म समस्त वादो के प्रति उदार विचार रखकर अनेकातो दृष्टिकोण अपनाता है। आचार्य श्री सिद्धसेन इसी कारण उसको मिथ्या दर्शनो का समूह कहते है। वास्तविकता यह है कि तात्विक रूप से अन्य प्राचीन ग्रथो मे भी कहा गया है कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदति" एक ही सत्य को विभिन्न रूप से विप्र (विद्वान्) कहते है। यहा तक तो तत्वनिरूपण की बात हुई। किन्तु जैनाचार्यो ने इसे व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। पाठक जानते है कि जैनधर्म मे "नवकार मत्र" का अत्यन्त महत्त्व है। वास्तव मे वह नमस्कार का मन्त्र है जिसमे आध्यात्मिक पूर्णता का प्राप्त सिद्ध आदि को तथा मुक्तिमार्ग के पथिक साधको को नमस्कार किया गया है। इस मन्त्र मे जैन दृष्टि कितनी व्यापक हो गई है, इस तरफ बहुत कम विद्वानो का ध्यान गया है। इस मन्त्र मे अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय के पश्चात् "विश्व के समस्त साधुजनो" को नमस्कार अर्पित किया गया है। पूर्व मे ४ पद विशिष्ट अवस्था के द्योतक है जो प्राथमिक सीढी "साधुता" के विकास क्रम से प्राप्त होती है। प्राथमिक इकाई साधु है। 'साधु' मे विश्व के समस्त साधुजनो को सम्मिलित कर लिया जाना जैन धर्म की विशालता का ज्वलन्त प्रमाण है। यहा गणधर भगवान् ने विशेष चिह्न-लिंग धारक जैन साधु को ही मान्यता नही दी। यही नही, जो साधुतायुक्त आत्मा है उन सबको नमस्कार करके अपना सन्मान व्यक्त किया है। एक जैनाचार्य ने बहुत सुन्दर ढग से अन्य धर्मो द्वारा मान्य देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को भी नमस्कार किया है। उक्त जैनाचार्य ने एक श्लोक मे यह प्रतिपादित किया है कि मै ब्रह्मा, विष्णु, हरि, महेश, जिन, सबको नमस्कार करता हूँ, केवल वह ऐसे हो कि जिनमे भव भ्रमण 'आवा-गमन' के बीज रूप राग, द्वेष समूल नष्ट हो गये हो। यह सर्वविदित है कि जैन धर्मान्तर्गत मुक्ति आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है जहा अनतवीर्य, अनत सुख, अनत ज्ञान, अनन्त दर्शन प्रकट होता है, जहा पर जाकर आत्मा का भवभ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्तिपथ के पथिक का अपने जीवन मे पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब वह आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त होता है। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार से हो सकते है जिसमे यह स्पष्ट बताया गया है कि जैनधर्म के अनुयायी हो या जैनधर्म के अनुयायी न हो अर्थात् जैनधर्म द्वारा मान्य लिंग धारण करते हो या न करते हो, मुक्त हो सकते है। 'तीर्थसिद्धा अतीर्थसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा अन्य लिंगसिद्धा, आदि। यही नही, यह भी आवश्यक नहीं कि वह श्रमणवेश मे ही हो, गृहस्थ के वेश मे भी हो सकता है।

भगवान् महावीर के अनुयायियो मे राजा-महाराजा जैसे आभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यव-सायी, मध्यमवर्ग के लोग, चांडाल जैसे निम्न जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण के लोग भी सम्मिलित थे। यही नही, तत्कालीन विभिन्न परम्पराओ के जैसे परिव्राजक सन्यासी आदि भी भगवान के अनुयायियो मे सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार, स्याद्वादमय समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव मे अनेकाती दृष्टिकोण अथवा स्याद्वादमय भाषा भगवान् की अहिंसानीति का ही एक अग था। भगवान् ने जहा आचार मे अहिंसकता का उपदेश दिया वहा विचारो मे अनेकाती दृष्टिकोण का तथा वाणी मे स्याद्वाद का उपदेश दिया। जहा तक आचारगत अहिंसा का सम्बन्ध है, इस देश मे ही नही अपितु विश्व के ख्यातिप्राप्त विद्वानो ने भी यह स्वीकार किया है कि "अहिंसा" की जो सूक्ष्म व्याख्या तथा जितना विचार जैनधर्म मे किया गया है उतना किसी भी धर्म मे नही किया गया। अहिंसा से तात्पर्य केवल प्राणिवध को रोकना नही है अपितु मन, वचन, काया से किसी भी प्राणी को दुःख देना, सताना, दास बनाना सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना यह सब हिंसा मान कर उसका निषेध किया गया है। यही नही, जहा-जहा जीव की सभावना हो सकती है, चेतनत्व की सभावना है, उस-उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल एक नकारात्मक सिद्धान्त नही है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप





बता कर उसको जीवन मे उतारने का उपदेश भी दिया गया है। अहिंसा का इतना विशाल दृष्टिकोण देकर भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। इस देश मे यत्र तत्र अहिंसक वृत्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान् पुरुष के उन प्रयत्नो के परिणाम हैं जो उन्होने देश भर मे घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव मे जैनधर्म, धर्म है, सम्प्रदाय नही। केवल मानवधर्म नही अपितु प्राणिमात्र का धर्म है। विश्व-धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि "अहिंसा" के नाम पर जो इस लम्बे काल मे भ्रात धारणाए बन गई है, उनका निराकरण करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वयवादी दृष्टिकोण-सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा मे सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बडा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह कि आज के परस्पर राग, द्वेष, असहिष्णुता के इस युग मे अहिंसक, सात्विक विचारो का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है जो हमे देश के जनजीवन मे यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान् क्राति-कारी सन्त महात्मा गाधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने मे किया। गाधीजी ने जीवन के कई क्षेत्रो मे अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतीकार के रूप मे भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गाधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सन्त विनोबा उसका प्रयोग कर रहे है। किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। आज बडी निराशाजनक स्थिति है। आज प्राणीमात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच भी स्नेह, प्रेम, सौहार्द, सज्जनता की कडी नही है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बडा देश, कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन मे भी सबल, निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है। देश मे आज के युग मे भगवान महावीर की वाणी उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बडी विषम है। कोई मार्ग नजर नही आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

"इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात।
वह बात भी बा फजले खुदा, जुर्म हो गई।

०

यन्त्र-युग में जड़-चेतन-विज्ञान



लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

एम० ए०, बी-एड, साहित्यरत्न

आधुनिक मानव जीविकोपार्जन की समस्या मे इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि धर्म और दर्शन साहित्य और संस्कृति, शरीर और आत्मा, जड और चेतन जैसे सार्वभौमिक सार्वकालिक मूल्यो को मान लेने के लिये भी वह समय का अभाव घोषित करने लगा है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण आज के आदमी का जीवन अतीव यान्त्रिक और यन्त्रणा से परिपूर्ण सा हो गया है। चूंकि विविध व्यवसायो के वावजूद भी वेकारी-महगाई-व्यस्तता वढती जा रही है, अतएव आज का मानव दिन-रात यन्त्र सदृश कार्य करके भी सुख, शान्ति, सन्तोष और समृद्धि की सास नही ले पा रहा है।

आज का आदमी 'कामायनी' के कवि जयशकरप्रसाद के शब्दो मे कहना चाहता है—

> **प्रकृत शक्ति यन्त्रो से तुमने सवकी छीनी।**
> **शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी ॥**

आधुनिक यन्त्रवादी युग मे मानव-शरीर की तुलना यन्त्र से की जाती है। यह अकारण नही है, क्योकि वास्तव मे मानव-शरीर है तो एक यन्त्र ही, इसके समर्थक अनेक वैद्य-चिकित्सक है, जो शरीर को नाडी-स्नायु-शिरा-हड्डी का पिंड मानते हैं। इसके अतिरिक्त मानव-शरीर और यन्त्र मे कतिपय समानताए-असमानताए भी हैं।

समानता की दृष्टि मे कहा जा सकेगा कि दोनो कार्य करते है, दोनो गतिशील है, दोनो की गति-शक्ति क्षीण होती है, दोनो के लिए यति और रति (विराम और अनुराग) अपेक्षित हैं। दोनो शक्ति की पुन प्राप्ति मे विश्वास रखते हैं। इस विषय मे विशेषतया उल्लेखनीय यह है कि मानव-शरीर जहाँ अपनी शक्ति हवा, पानी, भोजन, वशानुक्रम, वातावरण, विश्राम, स्वच्छन्दता, सुन्दरता से पाता है वहा यन्त्र अपनी शक्ति के लिए कोयला, तेल, सफाई, परिश्रमी चालक, सुयोग्य सरक्षक पर निर्भर है। विकार-ग्रस्त होने पर मानवशरीर जैसे यन्त्र की भाति विश्राम चाहता है वैसे यन्त्र भी मानव शरीर की भाति क्रमश अपनी अर्जित शक्ति से वचित और जर्जरित क्षीण होता जाता है।

असमानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा—(१) मानव विचारक है। वह आगा-पीछा सोच-विचार कर कार्य करता है। इसीलिये वह एक सी परिस्थिति होने पर भी यन्त्र जैसा एक-सा काम नही कर सकता है। (२) मनुष्य मे यन्त्र के समान लगातार काम करने की क्षमता स्वभावत नही है। इतने पर भी वह यन्त्रवत् काय करने लगे तो न केवल उसका लौकिक जीवन ही नीरस-असामाजिक-अव्यावहारिक होगा वल्कि शीघ्र थककर असमय ही दम तोड देगा और दुनिया से चल वसेगा।

आधुनिक आदमी की अतीव यान्त्रिकता अथवा अस्तव्यस्तता को देखकर मुझे यन्त्रवादी प्रकृतिवादी की स्मृति हो आती है।[1] इस विचारधारा के अनुसार पुद्गल और गति से निर्मित निष्प्राण यन्त्र ही जगत् है। इस दृष्टि से मनुष्य भी एक ऐसा यन्त्र है जो वाह्य प्रभावो से निर्देशित होता है। विस्मय की वात तो यह है कि यन्त्रवादी प्रकृतिवाद

---

१ रूसो प्रकृतिवाद के दर्शनशास्त्र के तीन तत्व हैं। (१) पदार्थविज्ञान प्रकृतिवाद (२) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद (३) जीवविज्ञान प्रकृतिवाद। शक्ति-प्रगति-प्रकृति को भी प्रकृतिवाद का तत्व माना गया।



बता कर उसको जीवन मे उतारने का उपदेश भी दिया गया है। अहिंसा का इतना विशाल दृष्टिकोण देकर भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। इस देश मे यत्र-तत्र अहिंसक वृत्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान् पुरुष के उन प्रयत्नो के परिणाम हैं जो उन्होने देश भर मे घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव मे जैनधर्म, धर्म है, सम्प्रदाय नही। केवल मानवधर्म नही अपितु प्राणिमात्र का धर्म है। विश्व-धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि "अहिंसा" के नाम पर जो इस लम्बे काल मे भ्रात धारणाए बन गई है, उनका निराकरण करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वयवादी दृष्टिकोण-सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा मे सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बडा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह कि आज के परस्पर राग, द्वेष, असहिष्णुता के इस युग मे अहिंसक, सात्विक विचारो का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है जो हमे देश के जनजीवन मे यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान् क्रांतिकारी सन्त महात्मा गाधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने मे किया। गाधीजी ने जीवन के कई क्षेत्रो मे अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतीकार के रूप मे भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गाधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सन्त विनोबा उसका प्रयोग कर रहे है। किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। आज बडी निराशाजनक स्थिति है। आज प्राणीमात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच भी स्नेह, प्रेम, सौहार्द, सज्जनता की कडी नही है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बडा देश, कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन मे भी सबल, निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है। देश मे आज के युग मे भगवान महावीर की वाणी उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बडी विषम है। कोई मार्ग नजर नही आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

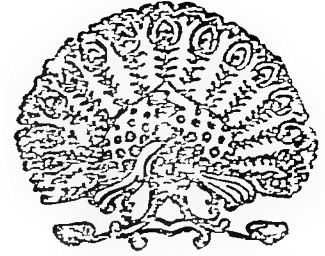
"इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात।
वह बात भी बा फजले खुदा, जुर्म हो गई।

०

यन्त्र-युग में जड़-चेतन-विज्ञान

लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

एम० ए०, बी-एड साहित्यरत्न



आधुनिक मानव जीविकोपार्जन की समस्या में इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि धर्म और दर्शन साहित्य और संस्कृति, शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन जैसे सार्वभौमिक सार्वकालिक मूल्यों को मान लेने के लिये भी वह समय का अभाव घोषित करने लगा है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज के आदमी का जीवन अतीव यान्त्रिक और यन्त्रता से परिपूर्ण-सा हो गया है। चूँकि विविध व्यवसायों के बावजूद भी बेकारी-महगाई-व्यस्तता बढ़ती जा रही है, अतएव आज का मानव दिन-रात यन्त्र सदृश कार्य करके भी सुख, शान्ति, सन्तोष और समृद्धि की साँस नहीं ले पा रहा है।

आज का आदमी 'कामायनी' के कवि जयशंकरप्रसाद के शब्दों में कहना चाहता है—

> प्रकृत शक्ति यन्त्रों से तुमने सबकी छीनी।
> शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी॥

आधुनिक यन्त्रवादी युग में मानव-शरीर की तुलना यन्त्र से की जाती है। यह अकारण नहीं है, क्योंकि वास्तव में मानव-शरीर है तो एक यन्त्र ही, इसके समर्थक अनेक वैद्य-चिकित्सक हैं, जो शरीर को नाड़ी-स्नायु-शिरा-हड्डी का पिंड मानते हैं। इसके अतिरिक्त मानव-शरीर और यन्त्र में कतिपय समानताएं-असमानताएं भी हैं।

समानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा कि दोनों कार्य करते हैं, दोनों गतिशील हैं, दोनों की गति-शक्ति क्षीण होती है, दोनों के लिए यति और रति (विराम और अनुराग) अपेक्षित हैं। दोनों शक्ति की पुनः प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। इस विषय में विशेषतया उल्लेखनीय यह है कि मानव-शरीर जहाँ अपनी शक्ति हवा, पानी, भोजन, वंशानुक्रम, वातावरण, विश्राम, स्वच्छन्दता, सुन्दरता से पाता है वहां यन्त्र अपनी शक्ति के लिए कोयला, तेल, सफाई, परिश्रमी चालक, सुयोग्य संरक्षक पर निर्भर है। विकार-ग्रस्त होने पर मानव-शरीर जैसे यन्त्र की भांति विश्राम चाहता है वैसे यन्त्र भी मानव शरीर की भांति क्रमशः अपनी अर्जित शक्ति से वंचित और जर्जरित क्षीण होता जाता है।

असमानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा—(१) मानव विचारक है। वह आगा-पीछा सोच-विचार कर कार्य करता है। इसीलिये वह एक सी परिस्थिति होने पर भी यन्त्र जैसा एक-सा काम नहीं कर सकता है। (२) मनुष्य में यन्त्र के समान लगातार काम करने की क्षमता स्वभावतः नहीं है। इतने पर भी वह यन्त्रवत् कार्य करने लगे तो न केवल उसका लौकिक जीवन ही नीरस-असामाजिक-अव्यावहारिक होगा बल्कि शीघ्र थककर असमय ही दम तोड़ देगा और दुनिया से चल बसेगा।



के विचारक एक ओर मनुष्य के चेतनत्व मे विश्वास नही करते हैं और दूसरी ओर वे मानते है कि मनुष्य मे एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व है जिसके आधार पर वह मौलिक वस्तु का निर्माण करता है। ये आध्यात्मिक ध्येय-प्रयोजन को कोरी मृगतृष्णा मानते हैं और इन्ही जैसी भावनाओ की नीव के आधार पर उस व्यवहारी मनोविज्ञान का जन्म हुआ, जो मानसिक क्रियाओ को बाह्य क्रियाओ की उत्तेजना कहता है और मानव को गतिशील यन्त्र मानता है।

यन्त्रवादी प्रकृतिवाद ने भले ही जड और चेतन के विज्ञान को, विशिष्ट ज्ञान को, भुला दिया हो पर उन दोनो मे जो मौलिक भेद है, उसे अतीत के धर्माचार्यों की भाँति आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने भी किन्ही अशो मे स्वीकार कर लिया है।

दुनिया दुरगी है। द्विनयात्मक है, द्विधामूलक है। दुनिया के स्वभाव से हमे विदित होता है कि उसके सृजन और सरक्षण के तत्त्व जड और चेतन है। उन दोनो मे एक दूसरे से उतना ही अन्तर है जितना कि शक्य और सम्भव है। ये दोनो तत्त्व बाह्यदृष्टि से एक-दूसरे से दूध और पानी जैसे मिल भी क्यो न जायें, बरसो तक साथ ही क्यो न रहे पर अन्ततोगत्वा हैं ये भिन्न ही, अभिन्न तो कदापि नही। यदि ये दोनो अभिन्न होते तो इनके नाम-गुण पृथक्-पृथक् नही होते और उनका एक दूसरे मे अन्तर्भाव या समावेश कब का ही हो गया होता। पर हुआ नही और हो भी नही सकता।

उल्लिखित अभीष्ट सत्य एव तथ्य को धार्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझ लेना समुचित और श्रेयस्कर होगा।

धार्मिक दृष्टिकोण

(१) चूकि शरीर स्वय कोई कार्य नही करता है और उसे कार्य करने के लिए प्रेरणा देने वाली आत्मा है तथा आत्मा के अभाव मे शरीर निष्क्रिय और नगण्य हो जाता है, अतएव शरीर जड है और आत्मा चेतन।

(२) वह मूर्ति, जिसे मनुष्य जन्म और जीवन देता है, जिसकी प्रतिष्ठा करता है, मन्दिर की वेदी पर स्थापित कर मान्यता देता है, जिसे अपने अन्तर की श्रद्धा का सम्बल मानता है, जड है, पर उसे नगण्य से सर्वस्व घोषित करने वाला मनुष्य चेतन है। मूर्ति और मनुष्य मे आकार-प्रकार विषयक समानता होने पर भी आकाश-पाताल जैसा भेद है, अतएव मनुष्य मूर्ति नही है और मूर्ति मनुष्य नही है।

(३) वह लेखनी, जिससे लेखक निबन्ध लिखता है और ज्ञान की दिशा मे पाठको को अपने साथ ले चलता है, जड है—अचेतन है। लेखनी मे बुद्धि नही। बुद्धि तो लेखनी का प्रयोग करने वाले लेखक मे है। अगर लेखक मे बौद्धिक क्षमता अथवा विचार-शक्ति अथवा भावनामयी सौन्दर्यानुभूति नही होती तो न निबन्ध लिखा जाता और न पाठक लेखक के साथ ही चलता। लेखक चेतन है और लेखनी जड है।

(४) घर के चूल्हे मे अभी जो लकडी जल रही है, वह कभी पेड पर थी। इसमे अणुभर सन्देह नही, पर पेड जहा आज भी अकड लिये शान से खडा है वहा चूल्हे की लकडी जलकर कोयला बन रही और कोयला राख का रूप धारण कर रहा है, चूंकि पेड बढ रहा है, हरा-भरा है। अतएव वह चेतन है और लकडी बढी नही, अतएव अचेतन है।

(५) पुस्तक, शिक्षक की जीवन-सगिनी है। पुस्तक, शिक्षक और शिक्षार्थी के लिये शिक्षा का माध्यम बनी है पर इतने पर भी शिक्षक और पुस्तक मे अथवा विद्यार्थी और पुस्तक मे काफी अन्तर है। शिक्षक और विद्यार्थी के ज्ञान मे न्यूनाधिकता के दर्शन होते हैं पर वे एक पुस्तक से अनेको पुस्तकें तैयार कर सकते है। परन्तु पुस्तक के शब्द,

इसकी पृष्ठभूमि, उसमे पुंजीभूत भावना सीमित है। अत शिक्षक और विद्यार्थी चेतन हैं पर उन्हे बाह्य चेतना देने वाली पुस्तक जड है।

(६) जैसे शिक्षक को पुस्तक प्रिय है वैसे ही योद्धा को तलवार प्रिय है। तलवार मे योद्धा का बल बढता है तलवार के प्रयोग से योद्धा अपने विपक्षी को धराशायी कर सकता है पर इतने पर भी शक्ति योद्धा मे है, तलवार मे नही। चूकि योद्धा को अपनी शक्ति का ज्ञान है पर तलवार का नही, अत योद्धा चेतन है और तलवार जड है।

(७) वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है वक्ता और श्रोता के मध्य शब्द ज्ञान के माध्यम बने हैं। ज्ञान की बात जो अनुभवगम्य है और व्यवहारजन्य है वह वक्ता और श्रोता के हृदय और बुद्धि मे सीमित होकर भी असीमित है। कारण, वक्ता और श्रोता शब्दो के प्रयोग को जानते हैं पर शब्द न वक्ता को जानते है और न श्रोता को तथा न अपने प्रभाव को भी। अतएव शब्द जड है पर वक्ता और श्रोता चेतन हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) भौतिक पदार्थ स्वय कार्य नही करता है। मनुष्य की शक्ति से वह क्रियाशील होता है। मोटर चलाने के लिए मनुष्य चालक (Driver) चाहिये अन्यथा वह स्वय तो टस से मस भी नही हो सकती है। पर चीटी अपने आप चलती है। आकार-प्रकार मे बडी होने पर भी मोटर जड है, अचेतन है और चीटी छोटी होने पर भी चेतन हैं, सवेदनशील है।

(२) प्राणियो का व्यवहार बाहरी वातावरण से कभी कभी प्रभावित होता है पर पूर्ण रूप से वह उसपर उतना निर्भर नही जितना कि आन्तरिक प्रतिक्रिया पर। बिजली के बटन को ऊपर-नीचे कर दो तो तत्काल बिजली बुझ या जल जावेगी पर मनुष्य के सबध मे यह बात नही कि गुलाबजामुन देखते ही भूख लग जावेगी अथवा वह अपमानजनक बात को क्षण दो क्षण मे भूल जावेगा। बिजली यान्त्रिक है, उसमे व्यवहार को ग्रहण करने की क्षमता नही है, अतएव वह जड है। पर मनुष्य जो व्यवहारविद् है वह चेतन है, सवेदनशील है, अत चेतन है। मनुष्य बाहर से बिजली सदृश प्रभावोत्पादक नही बल्कि अन्तरग मे ही मूलत कार्यकारी है।

(३) हम जिस दिशा मे पत्थर फेकेंगे, वह उसी दिशा मे चला जावेगा, क्योकि वह जड है, उसकी गति निश्चित है पर मनुष्य सहसा शेर को निकट देखकर भाग सकता है, बेहोश हो सकता है, पेड पर चढकर अथवा अग्नि जलाकर आत्मरक्षा कर सकता है। कारण, वह चेतन है, उसका अन्तस्तल विविध कार्यकलापो का स्रोत है। वह बलवान होकर किसी को भी द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकार सकता है।

(४) प्रात काल होने की सूचना देने वाली, कलरवकारी चहचहाने वाली चिडिया भविष्य के लिए भोजन का प्रबन्ध करती है क्योकि वे चेतन हैं, ज्ञानमय है, उनमे जीवन की भावना है, पर रेलगाडी का इजन आगे आने के लिए अपने कोयले और पानी का कोई प्रबन्ध नही करता है, क्योकि वह अचेतन है, जड है।

(५) पाच बरस का बालक आरम्भ मे जैसा लिखता है वैसा ही वह आगे नही लिखता रहता है। उसके व्यवहार और आचरण की भाति क्रमश दिनोदिन उसकी लेखनकला का विकास होता है पर हवाई जहाज का इजन ज्यो का त्यो निश्चित दिशा मे निश्चित मात्रा मे निश्चित समय तक कार्य करता है। इस अन्तर का कारण भी बालक का चेतन होना और इजन का अचेतन होना है।

(६) जड पदार्थो मे जब तक शक्ति रहती है, वे कार्यशील बने रहते हैं, पर चेतन प्रेरक शक्ति के होने पर भी रुक सकते हैं। घडी मे चाबी दे दें तो वह चौबीस अथवा छत्तीस घटे बखूबी अवश्य चलती रहेगी पर गाय बालक को मारने के लिए दौडे तो वह दौडने की क्षमता होते हुए भी पडौसी के घर मे घुस जावेगा या सुरक्षित स्थान मे पहुँचते ही दम लेने लगेगा। इसका भी मूलभूत कारण यह है कि घडी जड है और बालक चेतन है।





(७) जड मे विकास नही होता है, चेतन मे विकास होता है। जन्म के समय जिस बालक के मस्तक का वजन ३५० ग्राम होता है उसी बालक का मस्तिष्क, किशोरावस्था मे १२६० ग्राम वजन वाला हो जाता है पर कपडा सीने की मशीन, भले ही वह ऊषा हो या रीता, आदि से अन्त तक वजन की दृष्टि से ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसका भी रहस्य बालक के चेतन और मशीन के जड होने का परिचायक है।

निश्चित निष्कर्ष

पूर्वोक्त एक से अधिक उदाहरणो के आधार पर यह सहज ही ज्ञात किया जा सकता है कि जड और चेतन मे जो मौलिक अन्तर है उसे जीवन (Life) शब्द द्वारा सहज ही जाना जा सकता है। जीवन का अस्तित्व गतिशीलता परिणमनशीलता, सुदूरदर्शिता, आत्म-रक्षा, परिवार-रक्षा, जाति-रक्षा, धर्म-रक्षा, समाज और देश-रक्षा जैसे तत्त्वो से जाना जा सकता है।

(१) यन्त्र मे जीवन नही है, जीवधारी मे है। जीवधारी जीवी (Organism) है। यद्यपि वह इकाई की भाति काम करता है तथापि उसका प्रत्येक भाग यो काम करता है, जैसे वह जानता हो कि दूसरे भाग किस प्रकार काम कर रहे हैं। जीव या देही अथवा जीवात्मा, अपने अगो का सम्मिलित रूप मात्र नही है, वह अतीन्द्रिय चेतन हैं। इसके विरुद्ध यन्त्र जड है, वह पुरजो का पिंड है, एक भी पुरजा न होने पर निष्क्रिय हो जाता है।

(२) सर टी० पर्सीनिन के शब्दो मे "प्रत्येक स्तर पर प्राणी मे अनेकता मे एकता (unity in denersity) की उपलब्धि होती है। पर यन्त्र की स्थिति इससे विपरीत है। वह अनेक पृथक-पृथक अशो का समूह है। उसका एक अग दूसरे अग की क्रिया से नितान्त अनभिज्ञ रहता है। इसका मूलभूत कारण यन्त्र मे जीवनदायिनी चेतना शक्ति का अभाव है।

(३) प्राणधारी मे भोजन के पाचन द्वारा स्व-शरीर की वृद्धि करने की क्षमता है तथा अपनी जाति की रक्षा की योग्यता है। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वशानुक्रम और वातावरण की सम्मिलित अथवा गुणित प्रतिकृति है। उसमे सजीवता, सरलता, सुबोधता जैसे सद्गुण है पर यन्त्र मे ऐसा कुछ भी नही है। और जब वह स्वय ही घट-बढ नही सकता है तब वह दूसरो को क्या घटावेगा-बढावेगा? उसके वशानुक्रम का तो सवाल ही नही पर बाह्य वातावरण से अवश्य उसकी जीवनोपयोगी शक्ति मे न्यूनाधिकता सभव है और यह व्यवस्था भी उसके स्वामी पर निर्भर है।

(४) प्राणधारी शरीरी जीव स्वशासित है, स्वनियन्त्रित है, वह अन्तरात्मा से आदेश भी प्राप्त करता है। वह एक ऐसा खिलाडी है, जो सभी क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ, विधि-निषेधो को करने के लिए स्वतन्त्र है। इससे विरुद्ध यन्त्र है, जो दूसरो के द्वारा शासित है, दूसरा व्यक्ति जिसका नियामक है, सचालक है। यन्त्र वह गेंद है जो पूर्वोल्लिखित खिलाडी के हाथो की कठपुतली बनी है।

(५) जीवधारी का जीवन G W T Patric के शब्दो मे आत्मसयोजन, आत्मपोषण, आत्मरक्षा और आत्मशाश्वतता का द्योतक है परन्तु यन्त्र मे समायोजन, पोषण, रक्षा और शाश्वतता जैसा एक भी गुण नही है।

(६) जीवधारी के पास इन्द्रिया हैं। उनके प्रयोगो की अपनी सीमायें व शक्तिया हैं। जीवात्मा के पास मन और मस्तिष्क है, उसका सन्देशवाहक व्यवहार है जो उसकी और दूसरो की क्रिया प्रतिक्रिया पर आधारित है पर यन्त्र मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है।

(७) जीवात्मा अनुभव करता है। वह ज्ञान-सवेदन-चेष्टा लिये है (भले वह चींटी या अमीबा भी क्यो न हो) और अपने अस्तित्व की घोषणा करता है। जीव आत्मरक्षा और विश्वशान्ति के लिये भी प्रयत्नशील रहता है पर

यन्त्र के पास अनुभवमूलक दृष्टि नहीं। (वह चाहे रेल का इजन अथवा पुतलीघर का भीमकाय लोहयन्त्र भी क्यो न हो, पर उसमे ज्ञान-अनुभव-चेष्टा न होने मे अस्तित्व की घोषणा करने की क्षमता नही है।)

अध्ययन और अनुभव बतलाता है कि जड और चेतन का ताना बाना इतना जटिल बन रहा है कि अणु सी आकस्मिक विभिन्नतायें-समानतायें एक दूसरे के लिये जीवन-सघर्ष और वरिष्ठ अतिजीवित रहने की चेतनावाहक बनी है। जड और चेतन मे, यन्त्र और मनुष्य मे हम सजग दृष्टिकोण लिये सतत भेद किये रहे और समझते-समझाते रहे।

"मनुष्य ने यन्त्र को बनाया। यन्त्र ने मनुष्य को नही बनाया। जो यन्त्र है वह मनुष्य नही और जो मनुष्य है वह यन्त्र नही।"

आज इतना ही मुझे प्रस्तुत प्रसग मे लिखना है।





लोकस्वरूप : समीक्षा

श्री रिखबराज कर्णावट,
एडवोकेट,
जोधपुर,



कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके हृदय मे यह जानने की आकाक्षा न रही हो कि विश्व मे दृष्टिगोचर होनेवाली ये वस्तुए किस प्रकार अस्तित्व मे आई ? यह सूरज, यह चन्द्रमा, ये तारे, यह आसमान, ये पहाड, ये नदियां, ये बडे-बडे समुद्र, झीलें, बाग-बगीचे, पेड-पोधे, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, क्या स्वत अपने आप ही सयोगवश अस्तित्व मे आगये या कोई ऐसा हेतु है जिसके प्रभाव से किसी प्रक्रिया द्वारा इन सब का आविर्भाव हुआ है ?

अत्यन्त प्राचीन समय मे भी मनुष्यो का ध्यान इन बातो की तरफ आकर्षित हुआ था और उनमे से जो विशेष प्रज्ञावान् पुरुष थे, उन्होने ज्ञान की साधना कर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयत्न किये और वे अपने अनुभवो का निचोड अपनी भावी पीढियो को देते गये। उनमे से अनेको ने इस विश्व को रचने वाले की कल्पना की और उस तथाकथित रचयिता को ईश्वर की सज्ञा दी। क्रिश्चियन मतानुसार सृष्टि की रचना यहोवा परमेश्वर ने छ दिन मे की, और अन्त मे आदम को भूमि की मिट्टी से रच कर उसमे जीवन का साँस फूंक दिया। आदम को नीद मे डाल दिया, और इसकी पसली निकाल कर उसे नारी बना दिया। उन दोनो की पुत्र-पुत्रिया बढती गईं। ईश्वर ने पशु-पक्षी भी बनाये और वे भी बढते गये और इस तरह सृष्टि का निर्माण होता गया। मुस्लिम मतानुसार भी खुदा ने मिट्टी से आदम को बनाकर उसको हुक्म दिया कि 'हो' और वह हो गया। पारसी धर्म के अनुसार अहूर मज्द ने तमाम वस्तुए पैदा की। वैदिक धर्म मे भी पुराणो मे सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को माना गया। सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई, इस बारे मे अनेक प्रकार की कल्पनाए पुराणो मे भी की गई हैं। इन कल्पनाओ और मान्यताओ से साधारण लोगो को भले सन्तोष हुआ हो किन्तु विचारशील लोगो का समाधान नही हुआ, क्योकि इन कल्पनाओ मे दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कोई स्थान नही है। अतएव उन कल्पनाओ पर प्रकाश न डालकर यहाँ हम भिन्न-भिन्न दार्शनिको के विचारो पर ही दृष्टिपात करेंगे। पहले पाश्चात्य प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिको के और तदनन्तर भारतीय दार्शनिको के विचारो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी।

यूनान के दार्शनिको की विश्वसमस्या

पाश्चात्य ससार मे यूनानी दार्शनिको ने ही सबसे पहले विश्व-स्वरूप की समस्या का समाधान ढूंढने मे दिलचस्पी ली। जिस तरह बच्चे खिलौने किस वस्तु के बने है, यह जानने के लिए खिलौने को तोडते है, ठीक उसी प्रकार विश्व जिन उपादानो से बना है, उनका पता लगाने मे ये दार्शनिक लग गये। वे केवल कल्पना के आकाश मे उडने वाले न थे बल्कि अपनी समस्या का समाधान वैज्ञानिक आधार पर ढूंढना चाहते थे। थेल (Thales) नामक यूनानी दार्शनिक ने, (जो ईसा से लगभग छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था) विश्व का मूल उपादानकारण जल बताया। उसने देखा कि पानी जम कर ठोस बर्फ के रूप मे आ सकता है और वाष्प के रूप मे भी बदल सकता है। इससे उसने अनुमान लगाया कि कडी से कडी चट्टाने व हल्की से हल्की हवा पानी से निर्मित है और समय पाकर पानी मे परिणत हो जायेगी। इस दार्शनिक के पश्चात् ही यूनान के एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमण्डर (Anaximander) ने कहा कि भूतो के जिन स्थूल मान्त रूप को हम देखते हैं मूल तत्व को उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिये। उसने इसका नाम 'अनन्त' 'अनिश्चित' रखा। इस अनन्त मे उसने गति मानी और यह माना कि गति के कारण अनन्त शनै शनै टुकडो

मे बिखर कर इस विश्व के भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में प्रकट हुआ है। इसी 'अनन्त' मे आग, हवा, पानी आदि तत्व बने हैं।

किन्तु उसके बाद एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमन (Anaximines) ने उपरोक्त विचारको के साथ मत्-मति प्रकट नही की और कहा कि मूल तत्व हवा है जिससे सम्पूर्ण विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है। मनुष्य और पशु-पक्षी भी वायु से ही श्वास लेते हैं और वायु के ही कारण जीवित रहते हैं। बादल, पानी, पृथ्वी, पत्थर इन सबकी उत्पत्ति वायु से हुई है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यूनान के इन दार्शनिको ने यह प्रश्न नही पूछा कि इन्हे किसने बनाया ? उनका प्रश्न था—ये कैसे बने ?

पाश्चात्य दर्शन के विकास मे इन लोगो का चिन्तन पहला प्रयास था। इन दार्शनिको के बाद अगले विकास मे हम विचारको को सूक्ष्म तर्क-वितर्क की ओर लगे देखते है। पिथागोरस (Pythagoras) जैसे दार्शनिक छलाग मारकर आगे बढते नजर आते है। पिथागोरस स्थूल व्यक्ति को छोडकर आकृति की ओर दौडता है। उसका कहना है कि महाभूत मूल तत्व नही है। मूलतत्व आकृति या आकार है। वीणा के तार की लम्बाई और स्वर का सम्बन्ध बतलाकर उसने बताया कि अगुली से दबाकर जितनी लम्बाई या आकार का हम प्रयोग करते है उसी के अनुसार स्वर निकलता है। आकार यानि आकृति सख्या मे प्रकट की जा सकती है। इसलिए सभी चीजें सख्याए है और यह सम्पूर्ण विश्व सख्याओ मे बना हुआ है। इन दार्शनिको ने मूल तत्व का परिवर्तन होना मान कर उससे विश्व-रचना की समस्या सुलझाने की कोशिश की।

हेराक्लितु (Heraclitus) नामक दार्शनिक ने मूल तत्व अग्नि को बताया। क्योकि अग्नि सतत परि-वर्तनशील रहती है। उसका कथन था कि ससार मे कुछ भी स्थायी नही है। नदी मे दूसरी बार डुबकी लगा कर आप उसी पानी मे नही नहा सकते।

इसके विपरीत एलिया के सेनोफेन (Xenophanes) नामक दार्शनिक की यह मान्यता थी की समूचा विश्व एक ठोस वस्तु है जो परिवर्तनशील और गतिमान नही है। दूसरे दार्शनिक परमेनिद् (Parmendes) ने इसी बात को बदलते हुए बताया कि जगत एक अकृत अविनाशी सत्य वस्तु है। गति या दूसरे परिवर्तन, जो हमे दिखाई देते है, भ्रम हैं। एलिया के एक अन्य दार्शनिक जेनो (Zeno) ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि जो लोग परिवर्तन को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है वे अपना स्वय का प्रतीकार करते हैं। यह दार्शनिक भी एलिया के उप-रोक्त दार्शनिको की भाति स्थिर अद्वैतवादी था।

हेराक्लितु और एलिया के उपरोक्त विचारो और थेल आदि दार्शनिको के अनुभव से लाभ उठाकर एम्पे-डोकल (Empedocles) नामक दार्शनिक ने अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी ये चार बीज स्थिर कर दिये और बताया कि इन बीजो मे असख्यात कण (Particles) भरे हुए है। इन सब के सयोग और वियोग से सभी पदार्थ बनते और बिगडते हैं। इस विचारधारा ने परमाणुवादियो के लिए एक रास्ता खोल दिया। परमाणुवादियो मे उस समय लेउक्रिप्यू (Leucippus) और उसका प्रसिद्ध शिष्य डेमोक्रेतु (Democritius) हुए हैं। डेमोक्रेतु चरम परिवर्तन को नही मानता। उसका कहना था कि जो परिवर्तन दिख रहा है वह वस्तुओ की निरन्तर गति से हुआ है। उसका कहना था कि मूल तत्व एक है जिसको वह परमाणु कहता है। सभी परमाणु एक आकार के नही होते, उनके बने पिण्डो के आकारो मे भेद है। ये परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते हैं और हरकत करते रहने से उनका दूसरो मे सयोग होता है तथा इस तरह से जगत तथा दूसरे पिण्डो का निर्माण होता है।



अफलातू (Plato) की विचारधारा (४२७ से ३४७ ई० पू०)

लोकस्वरूप सबधी ये सभी सिद्धान्त यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातू (Plato) को सतुष्ट नहीं कर सके। वह अपने गुरु सुकरात की इस बात से सहमत था कि ठीक ओर से प्रयत्न करने पर ज्ञान सम्भव है। साथ ही हेराक्लितु की



राय से भी सहमत था कि इन्द्रियगम्य वस्तुए सदा बदलती है और उनसे सत्य पर नही पहुँचा जा सकता। वह एलियातिको की भाति एक परिवर्तनशील जगत् को मानता था और उसने परमाणुवादियो के बहुत्ववाद का भी समर्थन किया। इन सब के सम्मिश्रण से इस परिणाम पर पहुचा कि ज्ञान का विषय इस जगत् की दिखती हुई चीजें नही बल्कि एक इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ विज्ञान (Idea) है जो पियागोरस की आकृति से मिलता था। वह सामान्य का पक्षपाती था। उसका कथन था कि विश्व मे जितने पदार्थ है वे वस्तुत सत्य नही है, असली विज्ञान [Idea] की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र हैं। विश्व मे जितने अश्व दिखाई पडते है वे सब अश्व के विज्ञान (Idea) की प्रतिलिपियाँ है। अश्व दिखलाई पडते हैं पर अश्वता (सामान्य) को कोई नही देख सकता। यह सामान्य अनादि अगोचर मूल स्वरूप है और नित्य तत्व है। एक मूल तत्व की अनेको प्रतिलिपिया सम्भव हैं। जिस तरह मूर्ति के सामान्य (Idea) से उस आकृति की अनेको मूर्तिया पत्थरो पर अकित की जा सकती हैं। अफलातू (Plato) की मान्यता के अनुसार सामान्य तत्वो यानि मूल स्वरूपो का इस लोक से परे अन्य लोक है जहाँ पर ये मूल तत्व (Ideas) क्रमश व्यवस्थित है। उनमे पूर्ण शिव (Perfect god) का विज्ञान सर्वोच्च है। चूकि सासारिक वस्तुए उन विज्ञानो की प्रतिलिपिया है और वे प्रतिलिपिया भौतिक तत्वो का आधार लिये हुए हैं, इसलिए अफलातूं ने भौतिक तत्वो का अस्तित्व भी अनादि काल मे माना है। विज्ञान (Idea) और भौतिक तत्वो को साथ लाने के लिए अफलातूं ने एक विधाता 'देमिउर्ग' (Demiurge) की कल्पना की है जिसको उसने मूर्तिकार की उपमा दी है। विधाता मानवमूर्तिकार की भाति विज्ञानजगत् (मानसिक दुनियाँ-World of Ideas) मे मौजूद नमूने (मूल स्वरूप-सामान्य-Ideas) के अनुसार भौतिक विश्व को बनाता है। भौतिक तत्त्व अपूर्ण होने से विज्ञान की शुद्ध प्रतिलिपियाँ पैदा होने मे बाधा पडती है, इस कारण इस विश्व मे कमियाँ नजर आती है। अफलातू ने इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष जगत् से अलग बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् को वास्तविक जगत् बताया है।

अरस्तू (Aristotle-३८४-३२२ ई० पू०)

अफलातू के बाद उसका शिष्य अरस्तू (Aristotle) एक महान् दार्शनिक के रूप मे ससार के समक्ष आया। वह अफलातूं के विज्ञान (Ideas) को तो मानता था किन्तु विज्ञान-जगत् की जरूरत को स्वीकार नही करता था। उसकी मान्यता थी कि विज्ञान (Ideas) जिसे वह आकृति कहता था, भौतिक तत्वो (Matters) मे मौजूद है। उदाहरण के लिये एक वट वृक्ष को लीजिये। इसके बीज मे वट वृक्ष की आकृति समाई हुई रहती है। इसी प्रकार वट वृक्ष मे लकडी के तख्तो की आकृति समाई हुई है और लकडी के तख्तो मे Furniture की आकृति है। इन हरेक मे बीज मे, वृक्ष मे, लकडी के तख्ते मे और Furniture मे भौतिक तत्व और आकृतियाँ समाई हुई है। इन सब वस्तुओ के मूल मे वट वृक्ष की आकृति (मूल-स्वरूप) रही हुई है, वह अपरिवर्तनीय है। केवल भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न आकृतियो मे बदलकर उपरोक्त वस्तुओ के रूप मे हमारे समक्ष आया। भौतिक तत्व सदा आकृति पाने की चेष्टा मे रहता है। भौतिक तत्व और आकृति अनादि काल से है। इनको किसी ने पैदा नही किया और ये सदा शाश्वत रहेंगे। भौतिक तत्वो की आकृति लेने की प्रक्रिया से इस विश्व मे उत्पन्न हुई सब वस्तुए समझाई जा सकती हैं। इस विश्व के स्वरूप को समझने के लिये हम मूर्तिकार द्वारा मूर्ति बनाने के उदाहरण को लेते है। अफलातू का मूर्तिकार मूर्ति के सगमरमर से भिन्न स्वतत्र है। किन्तु अरस्तू का मूर्तिकार सगमरमर पर निर्भर है। पूर्ण मूर्ति का विज्ञान अरस्तू के अनुसार सगमरमर मे रहा हुआ है जो स्वरूप सगमरमर प्राप्त करता है। अरस्तू के विचार से विधाता नही है तो भी सभी वस्तुओ का खिचाव पूर्ण विकसित विज्ञान-ईश्वर की ओर है। अरस्तू की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु चार कारणो से बनती है —

(१) **विज्ञान कारण** (Formal cause) —मूर्तिकार के मन मे मूर्ति के स्वरूप का विचार।

(२) **उपादान कारण** (Material cause) —सगमरमर का भौतिक तत्व जिसमे मूर्ति की रचना की जाने को है।

(३) **निमित्त कारण** (Efficient cause) —वे औजार आदि जो मूर्ति के निर्माण मे सहायक हो।

(४) **अन्तिम कारण** (Final cause) —जिस उद्देश्य के लिये मूर्ति निर्मित की गई हो।

अरस्तू का कहना है कि भौतिक तत्वों और आकृति के मिलने मे गति पैदा होती है। और जब कभी भौतिक तत्व आकृति धारण करने मे रुकावट पैदा करता है तो गलतिया, बुराइया और कमिया हम देखते है। वैसे भौतिक तत्व आकृति प्राप्त करने मे सहायक रहते है। अरस्तू की दुनिया केवल यान्त्रिक पैदाइश नही है किन्तु कुछ बनने के उद्देश्य मे प्रयत्नशील है। इस प्रक्रिया के अन्तिम रूप को अरस्तू 'विश्व का अचल चालक' के नाम से सम्बोधित करता है। यह भौतिक तत्व नही है, न किसी की पैदाइश का कारण है। हम इस अचल चालक का अनुभव नही कर सकते लेकिन विचार कर सकते है। अरस्तू का कहना है कि बिना आकृति के भौतिक वस्तु की कल्पना और बिना भौतिक वस्तु के आकृति की कल्पना एक अन्तिम कल्पना है जिसका अनुभव हमे नही हो सकता। विश्व की वस्तुए टेबल, कुर्सियाँ, मनुष्य, आकाश, तारे आदि भौतिक तत्व और आकृति दोनो के मेल मे बनी हैं।

इस प्रकार अरस्तू ने विश्व के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है।

एपिकुरीय भौतिकवाद व स्तोइको का शारीरिक वाद

अरस्तू के समय यूनानी राज्य का पतन हो गया था, इस कारण इसके दर्शन की भी आगे प्रगति नही हुई। एपिकुरु (Epicuerus) नामक दार्शनिक ने, जो भोगवाद का सस्थापक था, डेमोक्रेतु (Democritus) के परमाणुवाद के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण किया। उसके अनुसार विश्व की सब वस्तुए शरीर है जो छोटे बडे भिन्न प्रकार के अणुओ से बनी है और यह विश्व सयोगवश इस रूप मे बन गया है। इसी काल के स्तोइको (Stoicos) का दर्शन विश्व स्वरूप के सम्बन्ध मे अरस्तू से कुछ मिलता-जुलता था। वे भी विश्व को भौतिक तत्व और आकृति अथवा शक्ति इन दो तत्वो से बना हुआ मानते थे। उनका कहना था कि भौतिक तत्वो के बिना शक्ति नही और शक्ति के बिना भौतिक तत्व नही मिल सकते। इसलिये भौतिक तत्व को सर्वत्र शक्ति (ईश्वर) से व्याप्त मानना चाहिये। अत क्षुद्र से क्षुद्र वस्तुए भी शक्ति का अग हैं। इस प्रकार ईश्वर सब का पिता है।

ईसाई धर्मवादी दार्शनिको के विचार

इसके पश्चात् ईसाई धर्म के विचारको ने अपने धर्म से यूनानी दर्शन का मेल बिठाकर यह बताया कि विज्ञान-आकृति-शक्ति (Idea, Form, Force) यह ईश्वर के मस्तिष्क मे थे और भौतिक तत्वो को ईश्वर ने शून्य से पैदा किया था और इस तरह सृष्टि अपने स्वरूप मे आई। इस मत के प्रणेता अगस्तिन (Augustine) का यह भी कहना था कि विज्ञान (Ideas) दैविक होने से पुन ईश्वर मे मिलना चाहते हैं किन्तु भौतिक तत्व उन्हे रोकने का प्रयत्न करता है। ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के विचार को इसी भाति कुछ जोड-तोड के साथ ईसाईधर्मवादी दार्शनिक कहते रहे।

नवीन यूरोप के जागरण के पश्चात् की दार्शनिक धारा

फ्रान्सिस बेकन —सोलहवी सदी मे फ्रान्सिस बेकन ने धर्म को दर्शन से अलग रूप मे समझाने की कोशिश की। उसने विश्व के स्वरूप को पूरा समझाने की कोशिश तो नही की किन्तु वैज्ञानिक रूप मे विश्व-स्वरूप को समझने का रास्ता खोल दिया। बेकन के मतानुसार इस विश्व मे केवल शरीर (Individual bodies) है जो निश्चित नियमो के नियत्रण मे है। इन नियमो को समझने मे विश्व-स्वरूप की समस्या की गुत्थी सुलझ सकती है।

दकार्त (Descartes, १५९६–१६५०) —दकार्त ने यान्त्रिक तरीके से प्रकृति की प्रक्रिया को समझाया, 'मैं सोचता हू इसलिए मै हू।'' यह स्पष्ट और असदिग्ध है इसलिये यह सच है। स्पष्ट और असदिग्ध विचार होने से दकार्त ने ईश्वर को भी सच मान लिया। जगत् को ईश्वरनिर्मित माना। आत्मा और शरीर (Mind and body) को इसने भिन्न-भिन्न माना और यह कहा कि भगवान की दिव्य सहायता से आत्मा शरीर की गति को



[illegible] कर सकता है। ईश्वर के नाम से [illegible] कहता है कि ईश्वर [illegible]
[illegible]।

स्पिनोजा (Spinoza 1632-1677) [illegible] ईश्वर [illegible]
[illegible] विश्व सम्बन्धित किया है। उसका कहना है कि [illegible] वस्तु [illegible]
[illegible] पर निर्भर है और [illegible] स्वतन्त्र [illegible] निर्भर है। [illegible]
[illegible] एक ऐसा स्वयं प्रकृति या ईश्वर है जो अनन्त
[illegible] गुण है। इनके अन्तिम शक्ति ईश्वर का गुण है। मनुष्य इन गुणों में से दो गुणों को जानता है विस्तार
(Extension) और चिन्तन (Thought)। ये दोनों गुण [illegible] स्वतन्त्र हैं। परन्तु [illegible]
[illegible] ईश्वर के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक तत्त्व है जिसे वह ईश्वर
या प्रकृति के नाम से पुकारता है।

जान लाक (Johan Lock, 1632-1704) —इस दार्शनिक ने दकार्त के विचार को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उसका कथन है कि जगत् द्रव्यों से निर्मित है जो शक्तियों और गुणों के आधार हैं, और जिनमें क्रियाएं निहित रहती हैं और निष्पन्न होती हैं। द्रव्य गुणों और क्रियाओं के कारण और आधार हैं। द्रव्य दो तरह के हैं—शरीर और आत्मा। शरीर द्रव्य के विशेषणप्रधान यानि विस्तार (Extension) कठोरता (Solidity) अभेद्यता (Impenetrability), ये प्रसार (Space) में भरे हैं। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है जिसके विशेषण प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और संकल्प या शरीर को गतिमान करने की शक्ति है। इन गुणों का हम विमर्श (Reflexion) द्वारा जान सकते हैं। आत्मा, मन और शरीर एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते हैं। उदाहरण के लिए शरीर मन पर प्रभाव डालता है जिससे हम रंग, शब्द, स्पर्श आदि को अनुभव करते हैं। लाक का सिद्धान्त द्वैतवादी है। उसके कथनानुसार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य हैं जिससे विश्व का निर्माण होता रहता है।

बर्कले (Barkeley 1685-1753) —बर्कले भौतिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था कि मुख्य या गौण गुणों के सम्बन्ध में हमारे विचार या वेदनाएं हैं, वे किन्हीं वास्तविक बाह्य तत्वों की प्रतिबिम्ब नहीं है। ये सिर्फ मानसिक वेदनाएं हैं। बर्कले के अनुसार सत्य के तत्व हैं भगवान, उसकी बनाई आत्मा और भिन्न भिन्न विचार, जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओं में पैदा होते हैं। बर्कले का कहना है कि मेरे मनस में संवेदना (Sensations) या प्रत्ययों (Ideas) का कोई कारण होना चाहिये। और यह कारण कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिये, क्योंकि यह कारण भौतिक द्रव्य नहीं हो सकता, अतएव यह अमूर्त सक्रिय द्रव्य या स्प्रिट होना चाहिये। स्प्रिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है। हम स्वयं स्प्रिट को नहीं देख सकते किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (Effects) को जान सकते हैं। फिर भी हमें आत्मा या स्प्रिट का और मनस् की क्रियाओं (संकल्प करना, प्यार करना, घृणा करना आदि) का, जिस अर्थ में भी हम उन्हें समझते हों, बोध होता है। इस प्रकार बर्कले ने दकार्त, स्पिनोजा और लाक द्वारा बताये गये भौतिक विश्व को स्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यतानुसार जो कुछ भी अस्तित्व में है वे मनस् में रहे हुए प्रत्यय हैं। उसका कथन था यदि वे मेरे मनस् में नहीं हैं तो आपके मनस् में हैं, परात्मा के मनस् में हैं, वे निस्संदेह भौतिक (Material) दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

ह्यूम (Hume 1711-1777) —इस दार्शनिक ने यह महसूस किया कि बर्कलेप र्याप्त आगे नहीं जा सका। हमको केवल द्रव्य का ही विचार नहीं छोडना चाहिये बल्कि ईश्वर का विचार (Idea) छोड देना चाहिये, जिसके मनस् में सब प्रत्ययों का होना माना है। ह्यूम का कथन है कि द्रव्य (Substance) की धारणा निरर्थक है, चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय या पुद्गल पर। मनस द्रुत गति से एक के बाद एक आने वाले अविच्छिन्न प्रभाव युक्त विभिन्न प्रत्ययों की राशि है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त ज्ञानप्राप्ति का साधन ह्यूम ने स्वीकार नहीं किया, और इसी कारण आत्मा व ईश्वर की सत्ता भी उसने स्वीकार नहीं की। ह्यूम के संदेहवाद से यह स्वाभाविक था कि लोगों को कोई संतोषकारक समाधान नहीं दिखा।

लाइब्निट्ज (Leibnitz १६४६-१७१६)—यह जर्मन दार्शनिक आत्मकणवाद (Monadism) का प्रवर्तक था। इसके अनुसार ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया नहीं करता हो। अत: पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रपंच (Extention) न होकर ओज (Force) है। लाइब्निट्ज के दर्शन में प्रकृति की गतिहीन व्याख्या की जगह गतिशील (dynamic) या ऊर्जस्वी (energetic) व्याख्या की गई है। ओज यांत्रिक जगत् का उद्गम है। चूंकि अनेक वस्तुओं की सत्ता होती है, अतएव प्रकृति में एक ओज न होकर असीमसंख्यक ओज हैं, जिनमें से हर एक विशिष्ट पृथक् द्रव्य होता है, जिसकी इकाई मोनड (Monad) कहलाती है। पदार्थजगत असीमसंख्यक गतिशील इकाइयों या अभौतिक, अप्रपंचित, निरवयव ओज की इकाइयों से निर्मित है। हरेक मोनड में प्रत्यक्ष या उपक्षेप (Representation) शक्ति होती है, वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति और उपक्षेप करता है। इस अर्थ में वह स्वयं एक सूक्ष्म विश्व है। वह विश्व का जीवित दर्पण है या समाहारित जगत् है। मोनड सीमित होता है, वह अलग-अलग होता है और उसके बाहर उससे अन्य मोनड भी होते हैं। मोनड जितनी ऊँची श्रेणी का होगा वह जगत् के उतने भाग की उतनी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करेगा। इससे यह नतीजा निकाला कि 'विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना की अनुभूति प्रत्येक को होती है। जो सब कुछ देखता है वह हरेक विशिष्ट वस्तु में हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान में प्रसर (Space) और काल में उन दूरस्थ चीजों को भी देख सकता है, जो हुई हैं और होंगी।

लाइब्निट्ज के कथनानुसार सभी आत्मकण (Monad) विकास में एक से नहीं हैं। कुछ का विकास अत्यन्त अल्प है, कुछ का विकास इनसे ऊँचा और कुछ का बहुत ऊँचा है। जीवित प्राणियों में आत्मा (Queen Monad) होता है जो सब दूसरे मोनडों का पथप्रदर्शक है। सबसे ऊँचा मोनड चरम विकास को प्राप्त ईश्वर है। इसकी चेतना गंभीर, अनन्त और पूर्ण अत्यन्त सक्रिय है। मनस् ईश्वर का बिलकुल स्पष्ट प्रत्यय (Idea) नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा मोनड है और मनुष्य सीमित है। पूर्ण मनस् को एक पूर्ण मनस् ही पूरी तरह समझ सकता है। ईश्वर की धारणा बुद्धि से परे है किन्तु बुद्धि के विपरीत नहीं है। मोनड एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते किन्तु सर्वोच्च मोनड ईश्वर इस नियम का अपवाद है। उसने एक तरह अपने में से इन आत्मकणों को पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में जो आपस में सहयोग करते दीख पड़ते हैं वह "पहले से स्थापित समन्वय (Harmony) के कारण है।" लाइब्निट्ज अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त को मानता है जिसका आवश्यक परिणाम है कि मोनड में वह चीज नहीं हो सकती जो उसमें सदा से नहीं हो। मोनड विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है जिसमें उसकी पूर्वनिर्मित चीजों का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदम के वीर्य और ईव के गर्भ में सारी मानवजाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह कल बीज रूप पूर्वनिर्मित था। भविष्य की अवस्थाएं पहले की अवस्थाओं में पूर्वनिर्मित रहती हैं। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का संचालन होता रहता है।

इमेनुअल कान्ट (Immanuel Kant १७२४-१८०४)—हाब्ज, स्पिनोजा, दकार्त, लाइब्निट्ज आदि के दर्शनों में या तो भौतिक तत्त्वों को ही मूल तत्त्व होने पर जोर दिया गया है अथवा प्रकृति की उपेक्षा करके विज्ञान (चेतना) को ही एक मात्र परम तत्त्व कहा गया है। जर्मनी के सुविख्यात दार्शनिक कान्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था ह्यूम के संदेहवाद और पुरानी रूढ़ि को सीमित करना तथा भौतिकवाद, अनीश्वरवाद को नष्ट करना। उसने ईसाइयत की तंग चहारदीवारी को बढ़ाकर ईश्वर, धर्म, स्वातन्त्र्य तथा आत्मा के अमरत्व आदि धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करनी चाही। इन्हीं को लेकर उसने अपने प्रकट तर्क के ताने-बाने बुने। उसका कथन था कि मानवबुद्धि बहुत दूर जा सकती है, किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। ईश्वर और परलोक मानव के तजुर्बे के बाहर की चीजें हैं। इसलिये इनके बारे में कोई तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता है, बल्कि उन्हें श्रद्धावश माना जाता है। सैद्धान्तिक तौर से यह श्रद्धा भले ही कमजोर मालूम पड़ती हो, लेकिन व्यवहारमूलक (Practical) होने से वह काफी प्रबल है। ईश्वर तथा परलोक में विश्वास, समाज और व्यक्ति में शान्ति और संयम का प्रचार करते हैं। कान्ट का कहना है कि जो ज्ञान हमें मिलता है वह वास्तविक पदार्थों का उपदर्शक नहीं होता। यह है कान्ट का संदेहवाद। तजुर्बे और प्रयोग से ज्ञान आने की बात कह कर वह प्रयोगवादी-सा मालूम पड़ता है। बाहरी



सचालित कर सकती है। ईश्वर के काम के बारे मे दकार्त का कहना है कि ईश्वर ने प्रकृति मे जो गति पैदा की उसे जारी रखने के लिये ईश्वर को अब भी सक्रिय रहना पडता है।

स्पिनोजा (Spinoza १६३२-१६७७) —किन्तु स्पिनोजा ने ईश्वर को एक परम तत्व के रूप मे माना है और उसी को विश्व सम्बोधित किया है। उसका कहना है कि एक सान्त वस्तु अपनी सत्ता के लिये अगणित तत्वो पर निर्भर है और इनमे से भी प्रत्येक तत्व दूसरे अनगिनती तत्वो पर निर्भर है। इस तरह कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिये जो स्वयसिद्ध, स्वय अपना आधार हो। ऐसा तत्व स्वय प्रकृति या ईश्वर है जो अनन्त और पूर्ण है। हरेक अन्तिम शक्ति ईश्वर का गुण है। मनुष्य इन गुणो मे दो गुणो को जानता है - विस्तार (Extension) और चिन्तन (Thought)। ये दोनो गुण अपने आप मे स्वतत्र हैं। परन्तु एक ही परम तत्व ईश्वर के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक तत्व है जिसे वह परमात्मा या प्रकृति के नाम से पुकारता है।

जोन लाक (Johan Lock, १६३२-१७०४) —इस दार्शनिक ने दकार्त के विचार को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उसका कथन है कि जगत् द्रव्यो से निर्मित है जो शक्तियो और गुणो के आधार है, और जिनमे क्रियाए निहित रहती हैं और निस्सृत होती है। द्रव्य गुणो और क्रियाओ के कारण और आधार है। द्रव्य दो तरह के हैं—शरीर और आत्मा। शरीर द्रव्य के विशेषणप्रपञ्च याने विस्तार (Extension) कठोरता (Solidity) अभेद्यता (Impenetrability), ये प्रसर (Space) मे भरे है। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है जिसके विशेषण प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और सकल्प या शरीर को गतिमान करने की शक्ति है। इन गुणो को हम विमर्श (Reflexion) द्वारा जान सकते हैं। आत्मा, मन और शरीर एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते है। उदाहरण के लिये शरीर मन पर प्रभाव डालता है जिससे हम रग, शब्द,स्पर्श आदि को अनुभव करते हैं। लाक का सिद्धान्त द्वैतवादी है। उसके कथनानुसार आत्मा और शरीर दोनो भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य है जिससे विश्व का निर्माण होता रहता है।

बर्कले (Barkeley १६८५-१७५३) —बर्कले भौतिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नही करता था। उसका कहना था कि मुख्य या गौण गुणो के सम्बन्ध मे हमारे विचार या वेदनाए है, वे किन्ही वास्तविक बाह्य तत्वो की प्रतिबिम्ब नही है। वे सिर्फ मानसिक वेदनाए है। बर्कले के अनुसार सत्य के तत्व हैं भगवान, उसकी बनाई आत्मा और भिन्न-भिन्न विचार, जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओ मे पैदा होते है। बर्कले का कहना है कि मेरे मनस मे सवेदनो(Sensations)या प्रत्ययो(Ideas) का कोई कारण होना चाहिये। और यह कारण कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिये, क्योकि यह कारण भौतिक द्रव्य नही हो सकता, अतएव यह अमूर्त सक्रिय द्रव्य या स्प्रिट होना चाहिये। स्प्रिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है। हम स्वय स्प्रिट को नही देख सकते किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (Effects) को ही देख सकते हैं। फिर भी हमे आत्मा या स्प्रिट का और मनस् की क्रियाओ (सकल्प करना, प्यार करना, घृणा करना आदि) का, जिस अर्थ मे भी हम उन्हे समझते हो, बोध होता है। इस प्रकार बर्कले ने दकार्त, स्पिनोजा और लाक द्वारा बताये गये भौतिक विश्व को स्वीकार नही किया। उसकी मान्यतानुसार जो कुछ भी अस्तित्व मे है वे मनस् मे रहे हुए प्रत्यय हैं। उसका कथन था यदि वे मेरे मनस् मे नही हैं तो आपके मनस् मे है, परात्मा के मनस् मे हैं, वे निस्सदेह भौतिक (Material) दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है।

ह्यूम (Hume १७११-१७७७) —इस दार्शनिक ने यह महसूस किया कि बर्कले पर्याप्त आगे नही जा सका। हमको केवल द्रव्य का ही विचार नही छोडना चाहिये बल्कि ईश्वर का विचार (Idea) छोड देना चाहिये, जिसके मनस् मे सब प्रत्ययो का होना माना है। ह्यूम का कथन है कि द्रव्य (Substance) की धारणा निरर्थक है, चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय या पुद्गल पर। मनस द्रुत गति से एक के बाद एक आने वाले अविच्छिन्न प्रभाव युक्त विभिन्न प्रत्ययो की राशि है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त ज्ञानप्राप्ति का साधन ह्यूम ने स्वीकार नही किया, और इसी कारण आत्मा व ईश्वर की सत्ता भी उसने स्वीकार नही की। ह्यूम के सदेहवाद से यह स्वाभाविक था कि लोगो को कोई सतोषकारक समाधान नही दिखा।

लाइप्निट्ज (Leibnitz १६४६–१७१६)–यह जर्मन दार्शनिक आत्मकणवाद (Monadism) का प्रवर्तक था। इसके अनुसार ऐसा कोई द्रव्य नही है जो क्रिया नही करता हो। अत पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रपच (Extention) न होकर ओज (Force) है। लाइप्निट्ज के दर्शन मे प्रकृति की गतिहीन व्याख्या की जगह गतिशील (dynamic) या ऊर्जस्वी (energetic) व्याख्या की गई है। ओज यात्रिक जगत् का उद्गम है। चूंकि अनेक वस्तुओ की सत्ता होनी है, अतएव प्रकृति मे एक ओज न होकर असीमसख्यक ओज है, जिसमे मे हर एक विशिष्ट प्रथक् द्रव्य होता है, जिसकी इकाई मोनड (Monad) कहलाती है। पदार्थजगत असीमसख्यक गतिशील इकाइयो या अभौतिक, अप्रपचित, निरवयव ओज की इकाइयो से निर्मित है। हरेक मोनड मे प्रत्यक्ष या उपक्षेप (Representation) शक्ति होती है, वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति और उपक्षेप करता है। इस अर्थ मे वह स्वय एक सूक्ष्म विश्व है। वह विश्व का जीवित दर्पण है या समाहारित जगत् है। मोनड सीमित होता है, वह अलग-अलग होता है और उसके बाहर उसमे अन्य मोनड भी होते है। मोनड जितनी ऊँची श्रेणी का होगा वह जगत् के अपने भाग की उतनी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करेगा। इसमे यह नतीजा निकाला कि 'विश्व मे होने वाली प्रत्येक घटना की अनुभूति प्रत्येक का होती है। जो सब कुछ देखता है वह हरेक विशिष्ट वस्तु मे हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान मे प्रसर (Space) और काल मे उन दूरस्थ चीजो को भी देख सकता है, जो हुई हैं और होगी।

लाइप्निट्ज के कथनानुसार सभी आत्मकण (Monad) विकास मे एक से नही है। कुछ का विकास अत्यन्त अल्प है, कुछ का विकास इनमे ऊँचा और कुछ का बहुत ऊँचा है। जीवित प्राणियो मे आत्मा (Queen Monad) होता है जो सब दूसरे मोनडो का पथप्रदर्शक है। सबसे ऊँचा मोनड चरम विकास को प्राप्त ईश्वर है। उसकी चेतना गभीर, अत्यन्त और पूर्ण अत्यन्त सक्रिय है। मनस् ईश्वर का बिलकुल स्पष्ट प्रत्यय (Idea) नही बन सकता, क्योकि ईश्वर सबसे बडा मोनड है और मनुष्य सीमित है। पूर्ण मनस् को एक पूर्ण मनस् ही पूरी तरह समझ सकता है। ईश्वर की धारणा बुद्धि से परे है किन्तु बुद्धि के विपरीत नही है। मोनड एक दूसरे पर प्रभाव नही डालते किन्तु सर्वोच्च मोनड ईश्वर इस नियम का अपवाद है। उसने एक तरह अपने मे मे इन आत्मकणो को पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओ के सम्बन्ध में जो आपस मे सहयोग करते दीख पडते हैं वह "पहले से स्थापित समन्वय (Harmony) के कारण है।" लाइप्निटज अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त को मानता है जिसका आवश्यक परिणाम है कि मोनड मे वह चीज नही हो सकती जो उसमे सदा से नही हो। मोनड विकास की विभिन्न अवस्थाओ से गुजरता है जिससे उसकी पूर्वनिर्मित चीजो का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदम के वीर्य और ईव के गर्भ मे सारी मानवजाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह कल बीज रूप पूर्वनिर्मित था। भविष्य की अवस्थाए पहले की अवस्थाओ मे पूर्वनिर्मित रहती हैं। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का सचालन होता रहता है।

इमेनुअल कान्ट (Immanuel Kant १७२४-१८०४)–हाब्ज, स्पिनोजा, दकार्त, लाइप्निट्ज आदि के दर्शनो मे या तो भौतिक तत्त्वो को ही मूल तत्त्व होने पर जोर दिया गया है अथवा प्रकृति की उपेक्षा करके विज्ञान (चेतना) को ही एक मात्र परम तत्त्व कहा गया है। जर्मनी के सुविख्यात दार्शनिक कान्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था ह्यूम के सदेहवाद और पुरानी रूढि को सीमित करना तथा भौतिकवाद, अनीश्वरवाद को नष्ट करना। उसने ईसाइयत की तग चहारदीवारी को बढाकर ईश्वर, कर्म, स्वातत्र्य तथा आत्मा के अमरत्व आदि धर्मों के मौलिक सिद्धान्तो की रक्षा करनी चाही। इन्ही को लेकर उसने अपने प्रकट तर्क के ताने-बाने बुने। उसका कथन था कि मानवबुद्धि बहुत दूर जा सकती है, किन्तु उसकी गति अनन्त तक नही हो सकती। ईश्वर और परलोक मानव के तजुर्बे के बाहर की चीजें हैं। इसलिये उनके बारे मे कोई तर्क-वितर्क नही किया जा सकता है, बल्कि उन्हे श्रद्धावश माना जाता है। सैद्धान्तिक तौर से यह श्रद्धा भले ही कमजोर मालूम पडती हो, लेकिन व्यवहारमूलक (Practical) होने से वह काफी प्रबल है। ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास, समाज और व्यक्ति मे शान्ति और सयम का प्रचार करते हैं। कान्ट का कहना है कि जो ज्ञान हमे मिलता है वह वास्तविक पदार्थों का उपदर्शक नही होता। यह है कान्ट का सदेहवाद। तजुर्बे और प्रयोग से ज्ञान आने की बात कह कर वह प्रयोगवादी-सा मालूम पडता है। बाहरी



बातो की बिना परवाह किये अपने अनुभवो के चिन्तन से अपने स्वभाव के अनुसार ग्रहण करना बुद्धिवाद है। कान्ट ने अपने मतलब के लिये प्रयोगवाद, सदेहवाद, बुद्धिवाद तीनो का प्रयोग किया है। आत्मा के सम्बन्ध मे उसने कहा कि हम साक्षात्कार नही कर सकते किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन कर सकते हैं। आत्मा को इन्द्रियो की सहायता से नही जान सकते क्योकि वह सीमातीत और इन्द्रियागोचर है। वस्तुसार (Nomeva) भी अज्ञेय है किन्तु वह है अवश्य।

वस्तुसार, अमर आत्मा, कर्मस्वातत्र्य, ईश्वर यदि हमारी समझ के विषय नही है तो उससे उनका न होना साबित नही होता।

शुद्ध बुद्धि लिखने के बाद व्यावहारिक बुद्धि लिखकर कान्ट ने अपने अनुभवशील ज्ञान के सिद्धात पर लीपा-पोती की है। इस प्रकार कान्ट ने दो प्रकार के विश्व बतलाये है— एक अनुभव के आधार पर जिसे उसने फिनोमेनल वर्ल्ड (Phenomenal World) कहा और दूसरा बुद्धि और तर्क के आधार पर (Noumenal World) है। एक शुद्ध वैज्ञानिक, दूसरा व्यावहारिक जगत् है।

फिखटे (Fichta १७६५-१८१४) —कान्ट ने बहुत प्रयत्न से वस्तुसार को समाज की सीमा के पार बुद्धि-अगम्य साबित किया था, किन्तु जर्मनी के एक अन्य दार्शनिक फिखटे ने कहा कि वस्तुसार भी मन से परे की चीज नही। विश्व मे प्रत्येक वस्तु एक सजीव प्रवाह है। फिरवटे का विचार Ego को लेकर प्रारम्भ हुआ जिसे वह स्वतत्र और स्वय निर्माणकर्ता के रूप मे देखता है और उसे "परमात्मा" कहता है। परमात्मा ने अपने को ज्ञाता (आत्म) और ज्ञेय (विषय) के रूप मे विभक्त किया। क्योकि आत्मा के आचारिक विकास के लिये ऐसे बाधा डालने वाले पदार्थों कि जरूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्न से पार करे। इन्ही कारणो से परमात्मा को अनेक आत्माओ मे भी विभक्त होना पडता है। विश्व की समस्त भौतिक दिखने वाली वस्तुए इसी परमात्मा से उत्पन्न हुई है।

हेगेल (Hegel, १७७०-१८३१) —आधुनिक युग मे भौतिकवादी दर्शन का जो नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल के दर्शन के रूप मे चरम सीमा पर पहुँचा। उसके दर्शन के विकास मे अफलातू, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्ट का हाथ है। कान्ट से उसने लिया कि मन सारे विश्व का निर्माता है और हमारे वैयक्तिक मन विश्व-मन के अश हैं। स्पिनोजा से उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्व उसी एक अनादि तत्व के दो रूप है। अफलातूं से उसने यह लिया कि सामान्य विज्ञानो (Ideas) का ही वास्तविक जगत् है, भौतिक जगत् उसी आत्मिक जगत् की प्रतिच्छाया है। हेगेल ने अरस्तू के आत्मिक विकास को भी लेना चाहा। हेगेल की देन है "द्वन्द्वात्मक विकास" (Dialectical Evolution)। उसके अनुसार विश्व निरन्तर होते विकासो का प्रवाह है। परमात्मतत्त्व (Absolute) विश्व के विकास का परिणाम है। वस्तु आगे बढते-बढते अपने विरोधी रूप मे बदल जाती है। इन दोनो का द्वन्द्व चलता है, फिर दोनो का समन्वय एक तीसरी चीज से होता है। इनमे पहली बात वाद (Thesis) दूसरी प्रतिवाद (Anti-thesis) और तीसरी सवाद (Synthesis) कहलाती है। उदाहरण के लिये परमेनिद् ने कहा - मूल तत्त्व स्थिर है, यह वाद हुआ। हेराक्लितु ने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तनशील है यह प्रतिवाद हुआ। परमाणुवादियो ने कहा यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनो है, यह सवाद हुआ। हेगेल के अनुसार जगत् सदा बनाया जा रहा है। वह विश्व मे परिवर्तन की बात करता है किन्तु वास्तविक परिवर्तन को वह एक तरह से इन्कार करता है। क्योकि उसके कथनानुसार जो भविष्य मे होने वाला है वह पहले से ही मौजूद है। इस परम तत्त्व की एकता मे वह विश्व की विचित्रताओ को खपा देना चाहता है।

स्पेन्सर (Spencer, १८२०-१९०३) —स्पेन्सर ने अपने दर्शन के सिद्धातो को डारविन आदि Biologists के सिद्धातो पर विकसित किया है। उसका कहना है कि हम सीमित वस्तु को जान सकते है। परमतत्व को जानना हमारी शक्ति से बाहर है। उसके अनुसार परम तत्त्व अज्ञेय है जो परस्पर विरोधी बडे समुदायो मे अपने को प्रकाशित करता है, वह है अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व। उसका कहना है कि विकास के

प्रभाव मे हम भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं। जैसे मानवशरीर-हाथ, भुजाएँ, हृदय, फेंफडे, पाव आदि पिण्डो से एक व्यवस्थित रूप मे एकीकृत निर्माण मे आता है। इनमे सब पिंड अपने अलग-अलग काम करते रहते हैं। इसके विपरीत वही शरीर विनाश मे विभाजित होता है और भौतिक तत्त्वों को विनाश तितर-वितर कर देता हैं। स्पेन्सर मानव को इन्द्रियो की दुनियाँ तक ही सीमित रखना चाहता है। फिर भी अज्ञेय जगत् को इसलिये स्वीकार करता है कि विकास पर प्रभाव डालने वाले कारण कही होने चाहिये, और उन्ही को अज्ञेय नाम मे उसने सम्भावित किया है।

मार्क्स (Marx, १८१८-१८८३) —यह भौतिकवादी दार्शनिक था। हेगेल के दर्शन परिवर्तनवाद यानि गतिवाद का सस्कार करके मार्क्स ने अपने दर्शन की स्थापना की। उसकी मान्यता है कि भौतिक तत्त्व प्राणी से पहले मौजूद थे। प्राणी बाद की उपज है। मन प्राणी की भी पिछली अवस्था मे पैदा हुआ है। इस तरह साफ है कि मन भौतिकतत्व की उपज है किन्तु मन स्वय भौतिक तत्त्व नही है। मार्क्स के अनुसार मूल भौतिकतत्त्वो मे परमाणु, अणु, गुच्छक, फिर आरम्भिक निर्जीव क्षुद्र पिण्ड, तथा जीव-अजीव के बीच के विरस (Virus) और बैक्टीरिया जैसे एक सेल वाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्व बने। एक सेल वाले प्राणियो से क्रमश विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहले मनुष्य आ उपस्थित हुआ। इस तरह मानवजाति और सारा विश्व प्रकृति की उपज है। प्रकृति ही मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करती है। भौतिक उपज-खाना, कपडा आदि तथा उस उपज के साधनो पर ही मानव-समाज कायम है।

"महान् मानसिक सस्कृति' "दिव्य चिन्तन" चाहे कैसे ही बडे-बडे शब्दो को इस्तेमाल कीजिये, हैं वह सभी भौतिक उपज की करतूतें।

> **ना कुछ देखा भाव-भजन मे ना कुछ देखा पोथी मे।**
> **कहे कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी मे॥**

मार्क्स की इन मान्यताओ ने आध्यात्मिक क्षेत्र के ईश्वर को गायब कर दिया और इस विश्व को भौतिक तत्त्वो के विकास का परिणाम बताया।

जेम्स (Jemes, १८४२-१९१०) —जेम्स के दिल में साइंस के प्रयत्नो, उसकी गवेषणाओ और सच्चाइयों के प्रति बहुत प्रेम था। अमेरिका का यह दार्शनिक मस्तिष्क की कल्पनाओ को महत्त्व नही देता था। इसका विश्वास था कि किसी भी सिद्वात की जाच उसके परिणामो मे करनी चाहिये। जेम्स दर्शन के दर्शन को प्रभाववाद (Pragmatism) कहते है। इसके अनुसार सच्चा ज्ञान वह है जिसकी हम परीक्षा कर सकें। जो प्रयोग या अनुभव से सिद्ध है वही वस्तु सत् है। इसके दर्शन के अनुसार ईश्वर का मानना युक्तिसगत नही है, फिर भी वह ईश्वर को विश्व का एक शक्तिशाली अग मानता है। आत्मा को वह वास्तविक नही मानता है और कहता है कि वास्तविकता एक अश मे हमारी वेदनाओ (Sensation) का निरन्तर चला आता प्रभाव है, जो आते और विलीन होते जरुर है। किन्तु आते कहाँ से हैं, हम नही जानते।



बेर्गसा (Bergson, १८५९-१९४१) —इस फ्रेंच दार्शनिक के अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है न मन यानि विज्ञान, वल्कि दोनो से भिन्न अनुभय है। उससे भौतिक तत्त्व तथा मन दोनो उत्पन्न हाते हैं। ये मूल तत्त्व सदा परिवर्तनशील हैं। बेर्गसा के दर्शन को "परिवर्तन का दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहा जाता है। साइंस इस हिलते-चलते विश्व का केवल एक अश हमे बतलाता है। अश समूचा विश्व नही हो सकता। एक भिन्न हुआ या एक कटा हुआ अश निर्जीव और अवास्तविक होता है। बेर्गसा का कथन है कि विश्व एक सृजनात्मक विकास की क्रिया है, जिसमे नये-नय पदार्थ प्रस्फुटित होते रहते है।

बर्ट्रेंड रसल (Bertrand Russell, जन्म १८७२ ई०) —यह अग्रेज दार्शनिक मानता है कि मूल तत्त्व न विज्ञान (मन) है, न भौतिक तत्त्व। दोनो से अलग "अनुभय तत्त्व" है, जो तत्त्वो की एक जाति है। जगत्



अनेक या असख्य तत्वो का समूह है। यह अपने दर्शन को साध्या की भाषा मे यानि लोग-विलोग भाषा मे प्रकट करता है। जिसे हम रात और दिन दोनो कह सकते है। स्वय रसल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद अनुभयवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, वस्तुवाद कहा है। कही-कही रसल हमारे सारे अनुभवो का विश्लेषण प्रकृति के मूल तत्त्व परमाणुओ के रूप मे करता है।

भारतीय दर्शनो मे विश्व-स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार लोक-स्वरूप के भिन्न-भिन्न पहलू हमने देखे। अब भारतीय दर्शनशास्त्रियो के अनुसार जगत का स्वरूप देखे। भारतीय दर्शनो मे चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते है। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनो मे मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है। सभी दर्शन प्राय सृष्टि-क्रम को अनादि मानते है। वर्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई है तथा अनेक प्रलय भी हुए है। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानो ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। अनन्त आकाश मे पृथ्वी एक बिन्दु मात्र है। जीवन मानो काल-समुद्र मे एक छोटी सी लहर है। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है। आइये, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियो की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखे।

चार्वाक दर्शन — विश्व के मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारो पर अवलम्बित है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इसलिये वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नही मानते। चार्वाक केवल जड को ही एक मात्र तत्व मानते है। जड-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध मे अनेक भारतीय दार्शनिको का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पच भूतो से जगत् बनता है। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नही मानते क्योकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नही। अत वे केवल चार तत्त्वो से ही ससार की उत्पत्ति मानते है। उनके कथनानुसार प्राणियो का जन्म तत्त्वो के सहयोग से होता है। मृत्यु उनका बिखरना है। चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते है। वे जगत् के किसी सृष्टा की कल्पना भी अनावश्यक मानते है। जड तत्त्वो के सम्मिश्रण से ससार की उत्पत्ति होती है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन —ससार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओ (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। परमाणुओ के सयोग और विभाग यो ही नही हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते है। इनके अनुसार परमाणुओ की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवो के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणु की क्रियाओ का प्रवर्तित करता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे मे है जो अनित्य है। नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश। जगत् मे जो क्रम देखने मे आता है उसकी उत्पत्ति के बारे मे उनका कहना है कि जगत् मे परमाणुओ के सयोगजन्य भौतिक कार्य द्रव्य भी है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहकार से युक्त जीवात्मा भी है। ये दिक्, काल, और आकाश मे अवस्थित कार्य व काल की शृखला मे बधे हुए है। जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुख का फल प्राप्त करते है। सृष्टि और सहार का कर्ता परमेश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नही कहा जा सकता। प्रलय के समय केवल चार भूतो के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओ के सस्कार बच जाते है, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते है और जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करते है। जीवात्माओ को कर्मफल भोग कराने तथा अन्तत उन्हे अपना स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका सहार करता है।

साख्य दर्शन (महर्षि कपिल का) —इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जड है, अत अकेली सृष्टि नही कर सकती। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निर्मित होती है तभी सृष्टि

का उद्‌गम होता है। जैसे अन्धा और लगडा एक दूसरे की सहायता से जगल पार कर सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष परस्पर मिल कर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते है। प्रकृति और पुरुप का सयोग होने पर सत्, रज और तम तीनो गुणो की साम्य अवस्था मे विकार उत्पन्न हो जाता है, तीनो गुणो का प्रथक्करण व सयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सासारिक विषय उत्पन्न होते है। साख्यमतानुसार सृष्टि के क्रम मे सबसे पहले "महत्" या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। प्रकृति का दूसरा विकार है अहकार, यह महत् तत्त्व का परिणाम है। अहकार तीन प्रकार का माना जाता है — (१) सात्विक, (२) राजस, (३) तामस। सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियो की उत्पति होती है (पाच ज्ञानेन्द्रिया, पांच कर्मेन्द्रिया और मन) तामम अहकार से पाँच तन्मात्राओ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध) की उत्पत्ति होती है। राजस अहकार, सात्विक अहकार व तामस अहकार का सहायक होता है। पच तन्मात्राओ से पच महाभूतो का आविर्भाव होता है

(१) शब्द से आकाश।

(२) स्पर्श और शब्द के योग मे वायु।

(३) रूप, स्पर्श और शब्द के योग से तेज या अग्नि।

(४) रस, शब्द, स्पर्श और रूप के योग से जल।

(५) गध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिसमे ये पाँचो गुण पाये जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्वो का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है, और पच महाभूतो मे समाप्त होता है। ससार परमाणुओ के अन्धाधुन्ध सहयोग का फल नही है बल्कि एक विशेष प्रयोजन से सृष्टि होती है, ताकि पुरुषो को अपने धर्माधर्म या सुख-दुख का भोग करना सम्भव हो। योग-दर्शन करीब-करीब उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है।

मीमासादर्शन —प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमासा जगत् और उसके समस्त विषयो को सत्य मानती है। प्रत्यक्ष विषयो के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणो के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। ससार इन तत्वो से बना है—

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो सुख-दुखभोग के साधन है।

(२) शरीर या भोगायतन जिसमे जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मों का भोग करते है।

(३) बाह्य वस्तुए जो भोग के विषय है।

कुछ मीमासक वैशेषिको की तरह परमाणुवाद मानते हैं, किन्तु मीमासा मत मे परमाणु ईश्वर द्वारा सचालित नही होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा बन्धन मे आते है और उनसे मोक्ष भी पा लेते है। ये ईश्वर को जगत्कर्ता नही मानते।

वेदान्तदर्शन —बादरायण का अनुसरण करते हुए शकर और रामनुज दानो इस विषय मे सहमत हैं कि अचेतन तत्व से जगत् की सृष्टि नही हो सकती। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है, विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदात साहित्य मे ब्रह्म को मूल तत्व (Ultimate reality) माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते हैं। इसी लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं। माया हम लोगो के लिये भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का स्वरूप छिप जाता है, और ससार के रूप मे दिखलाई पडता है। जब शकर प्रकृति को माया



अनेक या असंख्य तत्वों का समूह है। यह अपने दर्शन को संध्या की भाषा में यानि लोम-विलोम भाषा में प्रकट करता है। जिसे हम रात और दिन दोनों कह सकते हैं। स्वयं रसल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद अनुभववाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, वस्तुवाद कहा है। कहीं-कहीं रसल हमारे सारे अनुभवों का विश्लेषण प्रकृति के मूल तत्त्व परमाणुओं के रूप में करता है।

भारतीय दर्शनों में विश्व-स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जगत-स्वरूप के भिन्न-भिन्न पहलू हमने देखे। अब भारतीय दर्शनशास्त्रियों के अनुसार जगत का स्वरूप देखें। भारतीय दर्शनों में चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। सभी दर्शन प्रायः सृष्टि-क्रम को अनादि मानते हैं। वर्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई हैं तथा अनेक प्रलय भी हुए हैं। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। अनन्त आकाश में पृथ्वी एक बिन्दु मात्र है। जीवन मानो काल-समुद्र में एक छोटी सी लहर है। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है। आइए, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियों की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखें।

चार्वाक दर्शन —विश्व के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर अवलम्बित है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इसलिये वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नहीं मानते। चार्वाक केवल जड को ही एक मात्र तत्व मानते हैं। जड-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक भारतीय दार्शनिकों का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पंच भूतों से जगत् बनता है। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानते क्योंकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं। अतः वे केवल चार तत्वों से ही संसार की उत्पत्ति मानते हैं। उनके कथनानुसार प्राणियों का जन्म तत्वों के संयोग से होता है। मृत्यु उनका बिखरना है। चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते हैं। वे जगत् के किसी सृष्टा की कल्पना भी अनावश्यक मानते हैं। जड तत्त्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन —संसार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। परमाणुओं के संयोग और विभाग यों ही नहीं हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते हैं। इनके अनुसार परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणु की क्रियाओं का प्रवर्तित करता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे में है जो अनित्य है। नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश। जगत् में जो क्रम देखने में आता है उसकी उपपत्ति के बारे में उनका कहना है कि जगत् में परमाणुओं के संयोगजन्य भौतिक कार्य द्रव्य भी हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मक भी है। ये दिक् काल, और आकाश में अवस्थित कार्य व काल की शृंखला में बंधे हुए हैं। जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुख का फल प्राप्त करते हैं। सृष्टि और संहार का कर्ता परमेश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रलय के समय केवल चार भूतों के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओं के संस्कार बच जाते हैं, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते हैं और जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जीवात्माओं को कर्मफल भोग कराने तथा अन्ततः उन्हें अपना स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका संहार करता है।

सांख्य दर्शन (महर्षि कपिल का) —इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जड है, अतः अकेली सृष्टि नहीं कर सकती। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है तभी सृष्टि

का उद्गम होता है । जैसे अन्धा और लगडा एक दूसरे की सहायता से जगल पार कर सकते है, वैसे ही प्रकृति और पुरुप परस्पर मिल कर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते है । प्रकृति और पुरुप का सयोग होने पर सत्, रज और तम तीनो गुणो की साम्य अवस्था मे विकार उत्पन्न हो जाता है, तीनो गुणो का प्रथक्करण व सयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सासारिक विपय उत्पन्न होते है । सास्यमतानुसार सृष्टि के क्रम मे सबसे पहले "महत्" या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है । यह प्रकृति का प्रथम विकार है । प्रकृति का दूसरा विकार है अहकार, यह महत् तत्त्व का परिणाम है । अहकार तीन प्रकार का माना जाता है — (१) सात्विक, (२) राजस, (३) तामस । सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियो की उत्पति होती है (पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाँच कर्मेन्द्रिया और मन) तामस अहकार से पाँच तन्मात्राओ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध) की उत्पत्ति होती है । राजस अहकार, सात्विक अहकार व तामस अहकार का सहायक होता है । पच तन्मात्राओ से पच महाभूतो का आविर्भाव होता है

(१) शब्द से आकाश ।

(२) स्पर्श और शब्द के योग से वायु ।

(३) रूप, स्पर्श और शब्द के योग से तेज या अग्नि ।

(४) रस, शब्द, स्पर्श और रूप के योग से जल ।

(५) गध, शब्द, स्पर्श, रूप और रस के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिसमें ये पाँचो गुण पाये जाते हैं ।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्वो का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है, और पच महाभूतो मे समाप्त होता है । ससार परमाणुओ के अन्धाधुन्ध सहयोग का फल नही है बल्कि एक विशेप प्रयोजन से सृष्टि होती है, ताकि पुरुषो को अपने धर्माधर्म या सुख-दुख का भोग करना सम्भव हो । योग-दर्शन करीब-करीब उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है ।

मीमासादर्शन —प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमासा जगत् और उसके समस्त विपयो को सत्य मानती है । प्रत्यक्ष विपयो के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणो के आधार पर मानती है । आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ है । कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है । ससार इन तत्वो से बना है —

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो सुख-दुखभोग के साधन है ।

(२) शरीर या भोगायतन जिसमे जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मो का भोग करते है ।

(३) बाह्य वस्तुए जो भोग के विपय है ।

कुछ मीमासक वैशेपिको की तरह परमाणुवाद मानते हैं, किन्तु मीमासा मत मे परमाणु ईश्वर द्वारा सचालित नही होते । कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं । इनके अनुसार जितने जीव है उतने ही आत्मा । जीवात्मा बन्धन मे आते हैं और उनमे मोक्ष भी पा लेते है । ये ईश्वर को जगत्कर्ता नही मानते ।

वेदान्तदर्शन —बादरायण का अनुसरण करते हुए शकर और रामनुज दोनो इस विपय मे सहमत हैं कि अचेतन तत्व से जगत् की सृष्टि नही हो सकती । उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है, विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है । वेदात साहित्य मे ब्रह्म को मूल तत्व (Ultimate reality) माना है । सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है । माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है । इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते हैं । इसी लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं । माया हम लोगो के लिये भ्रम का कारण है । इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का स्वरूप छिप जाता है, और ससार के रूप मे दिखलाई पडता है । जब शकर प्रकृति को माया





कहते है तब उनका मतलब रचनात्मक शक्ति से है। शंकर अद्वैत वेदांत को मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नही मानते —"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या"। जो पदार्थ सतत, समभाव से विद्यमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत् की सत्यता अद्वैतवादियो को मान्य नही, क्योकि जगत सदा परिवर्तनशील है। जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नही करते प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिये फलकामनाहीन निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैत मत मे जीव स्वभावत एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज मत मे जीव अनन्त हैं वे एक दूसरे मे नितान्त पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो जाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नही होता। मुक्त जीव मे सर्वज्ञता आ जाती है, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता है। जीव मे अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि का विकास क्रम से हुआ इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न कल्पनाए की गई हैं। परन्तु शंकराचार्य उसका अधिक महत्व नही देते। भिन्न भिन्न श्रुतियो मे सृष्टिविषयक भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। पुराणो मे भी अनेक तरह की कल्पनाओ का सहारा लेकर अनेक कल्पनाए की गई है। शंकराचार्य ने सृष्टि का मूल तत्व शुद्ध, सत् चित्त को ही माना है। जगत् के क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओ से दी गई हैं — (१) सुषुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था, (३) जाग्रतावस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिरण्यगर्भ है, जागतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाए क्रम मे जान पडती हैं, तथापि ये एक ही साथ है ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नही होता।

बौद्धदर्शन —महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्व के अनुसधान करने मे अपना समय नही लगाया। उन्होने दु ख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध ससार मे दिखने वाली सब वस्तुओ को सत्य मानते है। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नही हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचालत नही होते किन्तु स्वय चालित होते है। सामग्री (समग्र कारणो के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के सहयोग से रूपज्ञान हो जाता है। इस नियम को प्रतीत्य समुत्पाद कहते है। प्रतीत्य समुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पाद से सासारिक वस्तुओ की अनित्यता भी प्रमाणित होती है । बुद्ध सभी वस्तुओ को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसलिये बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया।

प्रतीत्य समुत्पाद के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नही मानते, अत वे आत्मा को भी नही मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टात दिया है। एक ज्योति मे दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है, किन्तु दोनो ज्योतिया एक नही समझी जाती। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पाच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वो का सग्रह है जिसे पच स्कध कहते है। पहला स्कध है रूप, जिसके अतर्गत आकार, रग, आदि आते हैं। दूसरा स्कध है वेदनाओ का, जिसके अन्दर सुख-दु ख आते है। तीसरा स्कध सज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानो का है। चौथा स्कध सस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तिया उत्पन्न होती है वे आती है। पाचवा स्कध विज्ञान यानि चेतना है। इन पाँचो स्कधो की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कध नही माना है, किन्तु पीछे जाकर बौद्धदर्शन मे नये विचारो का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। और यह कारण बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने मुक्ति बताई है, यदि आत्मा नही है तो मुक्ति (निर्वाण) प्राप्ति किसकी होगी ?

जैन दर्शन—अब तक हमने पाश्चात्य और अजैन भारतीय दार्शनिकों के लोकस्वरूप सम्बन्धी विचार देखे।

अब इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों की विचारधारा देखें।

जैन दार्शनिकों ने लोक के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करने के लिये चार अपेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं —

(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य अपेक्षा के द्वारा उन्होंने यह लोक किन वस्तुओं मय है, यह प्रकट किया है। क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई चौड़ाई और ऊंचाई बतलाई है। काल के द्वारा लोक की आदि-अनादिता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। तथा भाव के द्वारा उन्होंने यह बतलाया है कि लोकगत द्रव्यों का स्वभाव क्या है और इनमें परिवर्तन कैसे होता है?

द्रव्य की अपेक्षा—द्रव्य की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों का मत है कि आकाश एक सबसे बड़ा द्रव्य है और वह असीम है। उसके एक बहुत लघु क्षेत्र में जहां पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल और जीव ये चार अस्तिकाय विद्यमान हैं, वह (उस आकाश समेत) लोक कहलाता है।

जैनधर्मप्रवर्तकों के अनुसार आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये पाँचों अस्तिकाय हैं क्योंकि ये सभी छोटे-छोटे अत्यन्त सूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं। गणना के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक अखंड द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गल संख्या में अनन्त हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक असंख्य योजन लम्बा, चौड़ा और ऊंचा है, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति बहुत सीमित क्षेत्र में है तथा लोक का अधिकांश भाग मुख्यतः वायुपूरित है।

काल की अपेक्षा—काल की अपेक्षा से ये पांचों ही द्रव्य अनादि हैं, अर्थात् न कभी स्वतः उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐसे ही किसी तत्व के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। जिस प्रकार यह लोक आदि रहित है उसी प्रकार अन्त रहित भी है, अर्थात् यह न कभी स्वतः नष्ट होगा, न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा।

लोक की सर्वथा नवीन उत्पत्ति और सर्वथा विनाश दोनों ही असम्भव इसलिये हैं कि यदि सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानी जाती है तो उसके लिये प्रश्न यह पैदा होता है कि लोक का उपादान द्रव्य क्या रहा होगा? यदि अन्य उपादान द्रव्य को स्वीकार किया जाता है तो उस अन्य उपादान द्रव्य के रूप में ही सही, लोक अनादि सिद्ध हो जायगा यदि लोक की उत्पत्ति के लिये उपादान द्रव्य स्वीकार नहीं किया जाता तो बिना उपादान शून्य से किसी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ईश्वर से लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिये जैन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे सर्वथा नवीन बनाया तो उपादान द्रव्यों को लेकर बनाया या शून्य में ही निर्मित किया? यदि उपादान द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया। ईश्वर चाहे कितना ही शक्तिमान् क्यों न मान लिया जाय, अभाव से किसी पदार्थ को निर्मित नहीं कर सकता। सर्वथा असत् का उत्पाद और सत् का विनाश कदापि सम्भव नहीं है। प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान, दोनों एक स्वर से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वास्तव में पदार्थों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पलटना मात्र है। शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सम्भव नहीं है। कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह खपरों का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपान्तरों के अतिरिक्त और क्या है? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय का त्याग कर घट के रूप में आती है और घट के रूप को त्याग कर कपाल रूप को धारण कर लेती है। प्रत्येक रूपान्तर में मिट्टी अपने रूप में स्थायी है। यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थों पर लागू होती है और समस्त पदार्थराशि ही लोक है। इस प्रकार जैन दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि—अनन्त अबाधित अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का





परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोक नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

पर्यायों के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ रहस्यमयी एवं कल्पनातीत शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह प्राकृतिक कारणों एवं मानवीय आदि प्रयत्नों से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

यह एक ऐसा बुद्धि एवं तर्क से सगत दृष्टिकोण है जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस सबंध मे आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

भाव की अपेक्षा—भाव के अनुसार, जैसा कि पहले कहा है, गुण और पदार्थ दोनों ही ग्रहण किये जाते हैं। पाचों द्रव्यों के गुण क्रमश इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान् जीवों और पुद्गलों की गति मे सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति मे सहायता देना है। आकाशास्तिकाय स्थान (अवकाश) प्रदान करना है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है। अर्थात् द्रव्यों मे रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना और देखना वह उसका गुण है। अशुद्ध दशा मे पदार्थों के प्रति मोहित होना और उनकी प्राप्ति के लिये वीर्य का प्रयोग करना आदि और भी गुण माने गये हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गध, रस और स्पर्श है।

इन पाचों अस्तिकायों मे पर्यायों का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—

धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र मे कुछ जीवों और पुद्गलों की गति मे सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवों और पुद्गलों से अन्य जीवों और पुद्गलों को सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध मे भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति मे सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति मे सहायता देता है।

लोक मे व्याप्त जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड कर अन्य स्थान मे जाते हैं तो आकाश के साथ उनका सयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशों से सयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे सयुक्त हो जाते है। सयोग-वियोग रूप अवस्थाओं का यह परिणमन आकाश का पर्यायपरिवर्तन है।

जीवास्तिकाय मे पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन उपयोग मे रहता है तो कभी ज्ञान उपयोग मे रहता है। अर्थात् वह कभी सब पदार्थों मे रही हुई एकता को जानता है तो कभी पदार्थों मे रही हुई भिन्नता को। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों मे भी उसके पर्यायों का परिवर्तन होता है।

पुद्गलास्तिकाय मे वर्ण की अपेक्षा काले से नीले मे, नीले से लाल मे, लाल से पीले मे, इस प्रकार कभी क्रमबद्ध तो कभी क्रमरहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गध की अपेक्षा सुगध से दुर्गंध मे और दुर्गंध से सुगध मे परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायों का परिवर्तन होता रहता है।

पाचों द्रव्यों के सामान्यत गुण और पर्याय बतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाचों द्रव्यों मे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों को मुख्यतया हमारे लिये अनुमानगम्य बतलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनों की अपेक्षा कुछ शीघ्र होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अब जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय हैं, वे भी जब शुद्ध स्वभाव में तथा शुद्ध पर्याय मे रहते हैं तब तक दूसरे सामान्य लोगों के लिये प्रत्यक्षगम्य नहीं माने गये हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव की शुद्ध दशा सिद्ध दशा मानी गई है, जो कि देहरहित, इन्द्रियरहित और कर्ममुक्त अवस्था है। जीव की अशुद्ध दशा ससार-दशा है जो देह, इन्द्रिय और कर्म सहित होती है। जीव की शुद्ध दशा एक रूप ही होती है किन्तु अशुद्ध दशा के प्रकार विभिन्न हैं। इन प्रकारों को जैनदर्शन मे विभिन्न रीतियों से बाट कर बताया है। उनमे से एक रीति के अनुसार १२ प्रकार हैं—

१ पृथ्वीकाय खान आदि मे रहने वाली वह मिट्टी जो बढती हो ।

२ अप्काय ऐसा जल जिसको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो ।

३ तेजसकाय सघर्ष आदि से उत्पन्न होने वाली अग्नि ।

४ वायुकाय हवा ।

५ वनस्पति वृक्ष, पौधे, झाडिया, लतायें, वेलें, हरा घास, शाक, धान्य ।

६ द्वीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय मिली हो ।

७ त्रीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और सू घने वाली नासिका इन्द्रिय मिली हो ।

८ चतुरिन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, नासिकाइन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु इन्द्रिय हो ।

९ नारक नरक भूमि मे रहने वाले पाच इन्द्रियो से युक्त अति दु खी जीव ।

१० तिर्यंचपचेन्द्रिय पशु-पक्षी, मछली, सर्प, नेवले आदि ।

११ मनुष्य ।

१२ देव देव स्थानो आदि मे रहने वाले जीव ।

पिछले चारो प्रकार के जीव पाच इन्द्रियो से युक्त होते है । सुनने वाली इन्द्रिय पाचवी इन्द्रिय है । कुछ लोगो ने द्वीन्द्रिय से लेकर पिछले जीव-प्रकारो मे ही जीवत्व माना है। परन्तु जैन दार्शनिको के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पाच प्रकारो मे भी जीवत्व विद्यमान है । यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नही है, फिर भी अनुमान एव आगम के आधार पर उनमे भी जीवत्व है, ऐसा जाना जा सकता है । वनस्पति मे जीवत्व होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया है, जिसे वैज्ञानिको द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है । हवा, पानी, अग्नि आदि पदार्थों को अकेले मे या सामूहिक रूप मे कई दार्शनिको ने इस लोक के मूल तत्व के रूप मे माना है और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवो की उत्पत्ति इन्ही से बाद मे हुई, ऐसा कहा है । किन्तु जैन मतानुसार उपरोक्त बारह ही प्रकार के जीव अनादि काल से हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म उपार्जन करके उनके निमित्त से इन विभिन्न प्रकारो मे अनादि काल से परिभ्रमण करते हैं । ये प्रकार भविष्य मे भी सदा विद्यमान रहेगे । इनमें से प्रयत्न करते-२ कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते है । मानव जैसा विकसित प्राणी भी कर्मोदय से पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप मे जन्म ले लेता है । विकासशील जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता से विशुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है। अशुद्ध दशा का कारण कर्म है । कर्म का अर्थ यहा कार्य या आचरण नही, वरन् पुद्गलास्तिकाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार का भौतिक द्रव्य है जिसे जैनदर्शन मे कार्मणवर्गणा कहते हैं। कार्मण-वर्गणा के यह पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त है । राग-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीवप्रदेशो के साथ ऐसे बद्ध हो जाते हैं जैसे दूध और पानी ।

ये कर्म आत्मा के साथ आन्तरिक राग-द्वेष आदि निमित्तो से जुडते हैं। अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हो, उसी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुडते है । वे इस जगत के पौद्गलिक सुखो की प्राप्ति मे तथा दुखो मे निमित्त बनते है ।

जो विचार कर्मबध मे निमित्त बनते हैं, वे मूलत आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य पुद्गलो को लेकर होते है । जब तक विचार बाह्य पुद्गलो को लेकर बनते है तब तक वे नवीन कर्मबध को उत्पन्न करते रहते हैं । जो विचार बाह्य पुद्गलो के निमित्त से नहीं बनते उनके कारण आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध भी नहीं होता । जिन





विचारो से आत्मा के साथ कर्मपुद्गलो का सम्वन्ध होता है, जैन दार्शनिको ने उन्हे 'लेश्या' कहा है।

राग-द्वेष आदि आन्तरिक कारणो से कर्मपुद्गलो का वन्ध होता है और वद्ध कर्मपुद्गल जव अपना फल प्रदान करते है तब राग-द्वेष उत्पन्न होते है। इस प्रकार यह दुतरफा कार्यकारणभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। इस प्रकार जीव की अशुद्ध दशा वनी रहती है। जिस समय जीव अपने आन्तरिक कारणो को दूर करके वाह्य कारणो को हटाता जाता है तब वह क्रमश अनन्त होकर शुद्ध दशा को पहुच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध दशा और अशुद्ध दशा दोनो का ही परिवतन अनादि काल से माना गया है। और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध दशा ही रह जायगी ऐसा भी नही माना है। अर्थात् परमाणु अन्य परमाणुओ के साथ सयुक्त होकर सदा के लिये स्कध रूप मे ही रहे, ऐसा कभी नही होगा और परमाणु स्कध से पृथक् होकर सदा के लिये परमाणु रूप मे ही रहे, ऐसा भी नही होगा।

पुद्गलो मे यह जो परिवर्तन बताया गया है, जैनदर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते है —

१ **स्वत** —अर्थात् बिना किसी चैतन्य शक्ति के भी इन मे सयोग-वियोग चलता रहता है।

२ **परत** —कभी जीव के प्रयोग से भी पुद्गलो मे परिवर्तन होता है।

३ **उभयत** —कभी पुद्गल और जीव दोनो की शक्ति से पुद्गलो मे परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्वन्ध मे जैन दार्शनिको ने जो कुछ बताया है उससे पता यह चलता है कि इस विश्व मे मुख्य रूप से परिवर्तनशील ये दो ही पदार्थ है और विश्व की जितनी रचना दिखाई देती है उसमे इन्ही दो तत्त्वो की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक यानि विश्व का निर्माण या सचालन किये जाने की बात जैनदर्शन कतई नही मानता।

जैन दार्शनिको के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन छ द्रव्यो का समूह है, जो अनादि और अनन्त है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, द्रव्य रूप से ध्रुव हैं और पर्याय रूप से उत्पत्ति-विनाशशील है। द्रव्यो के पर्यायो की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य अश कायम रहता है। यही जैनदर्शन के स्याद्वाद का रहस्य है। जैनदर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य नही है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्याद्वाद के सिद्धात से जैनदर्शन ने पर्याय की दृष्टि से बौद्धदर्शन को और द्रव्य की दृष्टि से साख्यदर्शन को अपने मे अन्तर्भूत कर लिया है।

जैनदर्शन के लोकस्वरूप के विषय मे जो थोडा-सा विवेचन दिया है उससे प्रतीत होगा कि जैनदर्शन सर्वांगसम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एव बुद्धि से सगत है और उसके पीछे विज्ञान का समर्थन है।

डाक्टर एल० पी० टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैनधर्म बहुत ऊची पक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर खडे हुए है। ज्यो-ज्यो पदार्थविज्ञान बढता जाता है त्यो-त्यो वह जैनधर्म के सिद्धातो को सुदृढ कर रहा है।'

अजाक्षर सरकार एम० ए० बी० एल० लिखते हैं कि "जैनदर्शन मे जीवन-तत्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन में नही है।" इग्लेण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार ज्यार्ज बर्नार्डशा ने तो जैन सिद्धातो और दर्शन के प्रति अपना अगाढ प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहाँ तक कह दिया कि वे मृत्यु के वाद जैन परिवार मे जन्म लेना चाहते है। महात्मा गाधी के पुत्र स्व० देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर वर्नार्डशा ने कहा कि "जैनधर्म मे ईश्वर या

परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया गया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य स्वात्मा की उत्क्रान्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें परमात्मपद की प्राप्ति के लिये व्यवस्थित एवं क्रमिक साधना-मार्ग बताया गया है जो वैज्ञानिक भी है। ऐसा व्यवस्थित सक्रिय और वैज्ञानिक साधना-मार्ग अन्यत्र नहीं है।"

इस प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैनदर्शन अत्यन्त उच्च कोटि का दर्शन है। लोक संबंधी इस विज्ञान-सम्मत विवेचना में ही इस तथ्य का आभास मिल सकता है।

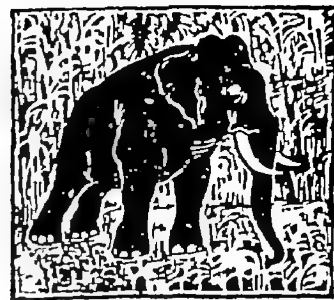
●



जैनदर्शन में मानस विचार

राजकुमार जैन,

एच० पी० ए०, दर्शनायुर्वेदाचार्य,



अन्य दर्शनो की भाति जैनदर्शन मे भी मनोव्यापार या चित्तवृत्ति की अत्यन्त समुचित व्यवस्था की गई है। मानस विचार मे जैनदर्शन ने बिलकुल ही स्वतन्त्र मौलिक और स्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया है। तदनुसार मन का सम्बन्ध शरीर से उतना नही है जितना आत्मा से है। मन की सत्ता स्वतन्त्ररूपेण नही है। वह एक स्वतन्त्र पदार्थ या तत्त्व नही है। वह तो आत्मा की ही एक विशेष शक्ति है। उसकी प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नही है, वह पूर्णत कर्मस्थिति सापेक्ष है अत मन के स्वरूप एव प्रवृत्ति का ज्ञान आत्मा व कर्मज्ञान सापेक्ष है। क्योकि मन का सम्बन्ध इन्ही दो पदार्थों से विशेष है। शरीर से मन के सम्बन्ध का जहा तक प्रश्न है, वह पूर्णत आत्मा पर आधारित है। आत्मा का मूल गुण है चैतन्य। अत चैतन्ययुक्त शरीर में ही मन की अभिव्यक्ति सम्भावित है। आत्मशून्य शरीर मे चेतना एव मन का पूर्णत अभाव रहता है। इसी भाति शरीर रहित आत्मिक स्थिति मे भी मनोव्यापार नही होता। अत शरीरयुक्त आत्मा अथवा आत्मयुक्त शरीर मे ही मन प्रवृत्ति बोधगम्य है।

स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर पर मन एव मन पर शरीर का प्रभाव होता है। इसमे दोनो की ही प्रवृत्ति अन्योन्याश्रित की भाति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त दोनो का विकृतिजन्य प्रभाव भी एक दूसरे पर परिलक्षित होता है। अत शरीर के साथ भी आत्मा की ही भाति मन का घनिष्ठतम सम्बन्ध अपेक्षित लगता है। जैन आगमो मे इस तथ्य को अत्यन्त ही समुचित रूपेण सुस्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन मे मन दो प्रकार का माना गया है—एक चेतन या भावमन और दूसरा पौद्गलिक या द्रव्यमन। चेतन मन ज्ञानात्मक होता है। उसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। किन्तु इसमे सहयोगी होता है पौद्गलिक मन, जो मनोवर्गणा के पुद्गलो से निर्मित है। उसके अभाव मे ज्ञानात्मक मन अपने कार्य मे प्रवृत्त नही हो सकता। क्योकि पौद्गलिक मन वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है और तत्सयोजित चेतन मन उस वस्तु को उपलब्ध करता है। अत कहना न होगा कि दोनो के सयोग से ही समस्त मानसिक व्यापार सचालित होता है। दोनो मे से किसी एक का भी अभाव मानसिक क्रिया प्रतिपादन मे बाधक बन जाता है। अपने अपने स्थान पर दोनो की ही अपेक्षा, आवश्यकता एव महत्ता है। पौद्गलिक मन चेतन मन का सहयोगी है, किन्तु उसके करण या औजार के रूप मे।

ज्ञानात्मक मन चेतन होता है। वस्तुत वह आत्मा की ही एक शक्ति है। उसकी उत्पत्ति निर्माण अथवा अभिव्यक्ति पौद्गलिक परमाणुओ द्वारा सम्भावित नही है। क्योकि पौद्गलिक वस्तु से उत्पन्न वस्तु पौद्गलिक ही होगी। अत ज्ञानात्मक चेतन मन पौद्गलिक नही कहा जा सकता। वस्तु के स्वाभाविक गुण तज्जनित अन्य वस्तु मे भी विद्यमान रहते हैं। वस्तु का स्वरूपान्तर हो जाता है, उसके मूलगुणो मे न्यूनाधिक्य सम्भावित है, किन्तु वह गुण वस्तु से पृथक् नही किया जा सकता। दो या अधिक वस्तुओ का सयोग एक अन्य वस्तु का निर्मापक हो सकता है। उस अन्य वस्तु के गुण भी उपादानभूत वस्तुओ के गुणो से ही निर्मित होते है। ऐसी स्थिति मे पौद्गलिक परमाणु द्वारा चेतन मन की निर्मिति असम्भावित है। क्योकि न तो भावमन का विघटन किया जा सकता है और न ही उसमे पौद्गलिकत्व पाया जाता है।

पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञानात्मक चेतन मन को वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए पौद्गलिक मन

सहयोगी के रूप मे कार्य करता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलो (वस्तुओ) का ग्रहण करना ही पडता है। अन्यथा उसकी प्रवृत्ति असम्भावित है। मानव द्वारा प्रतिपादित चिन्तन कार्य मे जिस प्रकार के भावो का समावेश होता है, उसी प्रकार के पुद्गलो को द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करने मे प्रवृत्त होता है। अनिष्ट भावो का चिन्तन अनिष्ट द्रव्यो के ग्रहण का कारण एव इष्ट भावो का चिन्तन इष्ट द्रव्यो के ग्रहण का कारण होता है। परिणामस्वरूप मानसिक भाव रूप मे परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलो से शरीर की हानि होती है और मन रूप मे परिणत इष्ट पुद्गलो से शरीर को लाभ होता है। इसी तथ्य को निम्न शब्दो मे स्पष्ट किया गया है—

"मनस्त्वपरिणतानिष्ट-पुद्गलनिचयरूप द्रव्यमन अनिष्टचिन्ताप्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या हृन्निरुद्धवायुवद् उपघात जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूप तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्त्या भेषजवदनुग्रह विधत्ते इति ।

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा २२०

इस प्रकार शरीर पर मन का प्रभाव पडता है और शरीर मानसिक क्रियाओ के परिणाम की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। मानस भावो का प्रबल अतिरेक शरीर के बाह्य अवयवो को अभिभूत करता है, जिनके द्वारा अन्त मन की स्थिति का आभास होता है। यद्यपि शरीर पर प्रभाव उसके सजातीय पुद्गलो द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलो का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक प्रभाव कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आख मे विकृति होने पर दर्शनक्रिया का विनाश हो जाता है। उपचार द्वारा विकृति दूर करने पर पुन दर्शनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही बात मन और मस्तिष्क की क्रिया के विषय मे है। इसी प्रकार साधनभूत शरीर के द्वारा सम्पादित भौतिक क्रियाओ से मन प्रभावित होता है।

इन्द्रियाँ, मन और ज्ञान

इन्द्रिया और मन विविध ज्ञान के साधन हैं। जब तक आत्मा की शक्तियो का पूरी तरह विकास नहीं हुआ और वह स्वय अर्थ-ग्रहण मे समर्थ नहीं बन पाया है, तब तक ससार के समस्त भौतिक विषयो का ज्ञान इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। जैनवाङ्मय मे ज्ञान की जो व्यवस्था की गई है, उसके अनुसार उसका विभाजन पचविध रूपेण किया गया है, यथा—मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान एव केवलज्ञान। इनमे से केवल मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान ये दो ही इन्द्रिय और मनजनित होते हैं। शेष समस्त ज्ञान अतीन्द्रिय होते हैं। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो ही इन्द्रिय और मन से होते हैं तथापि दोनो मे भिन्नता है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान होता है। इसमे दर्शन या श्रवण से प्रतीति मात्र होती है जो मतिमूलक है। इससे आगे की स्थिति श्रुतज्ञान का विषय है। अर्थात् श्रुत को शब्द या सकेत की भी अपेक्षा रहती है। किसी वस्तु का ज्ञान जब उसका देखने मात्र से होता है—वह मतिज्ञान है और जहाँ उसी वस्तु का ज्ञान तद्बोधक शब्द या सकेत द्वारा होता है—वह श्रुतज्ञान है। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान के पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रथम इन्द्रियो द्वारा मतिज्ञान होता है, 'घट' को देखने मात्र से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और तत्पूर्वक 'घट' शब्द या सकेत के द्वारा जो घट ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण ग्रन्थो में निम्न प्रकार से किया गया है—

"सकेतकालप्रवृत्त श्रुतग्रन्थसम्बन्धिन वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन सयोज्य 'घटो घट' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारसत शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्त यज्ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमिति।"

—विशेषावश्यक भाष्य वृ० गाथा १००

इसी प्रकार—"श्रुत पुन श्रुतज्ञानमसधिगम्य वस्तूच्यते, विषये विषयिण उपचारात्"

—तत्वानुशासन ९।११



उपर्युक्त क्रमानुसार वस्तु के स्वरूप ज्ञान मे इन्द्रिय और मन की सापेक्ष वृत्ति रही है। वस्तुतस्तु इन्द्रिया प्रतिनियत अर्थग्राही है, किन्तु मन सर्वार्थग्राही है।[1] पाच इन्द्रियो-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के पाच ही विषय है -- स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। अत प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय को ग्रहण करती है। मन समस्त इन्द्रियो के सभी विषयो को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मन का मुख्य विषय श्रुत है। यथा "श्रुतमनिन्द्रियस्य"

—तत्वार्थसूत्र २।२२

'पुस्तक' शब्द सुनते ही अथवा पढते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-सस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर पुस्तक वस्तु मात्र का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर श्रोत्र को उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु पुस्तक का 'पुस्तक' यह वाच्यार्थ है - यह ज्ञान इन्द्रिय को नही होता। इन्द्रियो मे मात्र विषय की उपलब्धि-अवग्रहण शक्ति होती है, उसमे ईहा-गुण-दोषविचारणा, परीक्षा या तर्क शक्ति नही होती। मन मे ईहापोह शक्ति होती है। 'नन्दीसूत्र' मे इसी विषय का विवेचन किया है—

(क) "जस्स ण नत्थि ईहा, अपोहा, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमसा से ण असण्णित्ति लब्भई —४१।

(ख) "जस्स ण अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमसा, से ण सण्णीति लब्भई—४०॥

अर्थात् जिसके इच्छा, ऊहापोह, विचार, गवेषणा, चिन्तन और मीमासा नही है वह असज्ञी कहलाता है और जिसके उपरोक्त समस्त बातें होती है वह सज्ञी (समनस्क) कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय मति और श्रुत दोनो मे वार्तमानिक बोध कराती है। वह सम्बद्ध विषय को जानती है। मन-ईश-गुण-दोषविचारणा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों के परामर्शपूर्वक ज्ञान मे तत्समय त्रैकालिक रूपेण अवस्थित रहता है।

नैयायिको के मतानुसार मन इन्द्रिय से पृथक होता है। साख्य मतानुसार मन का इन्द्रियो मे ही अन्तर्भाव किया गया है। किन्तु जैनदर्शन मे मन को अन-इन्द्रिय माना गया है। कथन का अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय की भाति मात्र प्रतिनियत अर्थग्राही नही है। अत वह इन्द्रिय नही हो सकता, तथापि वह इन्द्रियो को उन्ही के माध्यम से जानता है, अत कथचित् इन्द्रियत्वेन (स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार) वह इन्द्रिय भी कहा जा सकता है। शक्त्यपेक्षया वह इन्द्रिय नही है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से उसमे भी इन्द्रियत्व विद्यमान है।

इस प्रकार जैनदर्शन मे दोनो व्यापार एव मन स्थिति विवेचन भी उतना ही व्यापक रूप से किया गया है, जितना कि अन्य मतो मे। इन्द्रियो को ज्ञान का बाह्य साधन मानकर वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादक मन को ही माना गया है।

●

---

१ सर्वार्थग्रहण मन, प्रमाणमीमासा-आचार्य हेमचन्द्र।

जैन कर्म-सिद्धान्त का मूलमंत्र : स्वावलंबन



श्री शिखरचन्द्र कोचर,
बी० ए०, एल–एल० बी०

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा कर्म करने तथा उसका फल भोगने मे पूर्णरूपेण स्वतत्र है। कहा भी है कि—

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते ।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद्विमुच्यते ।।

अर्थात्, आत्मा स्वय कर्म करती है, और स्वय उसका फल भोगती है। वह स्वय ससार मे भ्रमण करती है और स्वय भव-भ्रमण मे मुक्ति प्राप्त करती है।

पूज्य आचार्य श्री अमितगतिजी ने लिखा है कि—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ।।
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानस, परो ददादीति विमुञ्च शेमुषीम् ।।

अर्थात् आत्मा जैसे कम करती है, उसके अनुसार उसे शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उसे *अन्य-कृत* कर्मो के फल की प्राप्ति मानी जावे तो स्वय-कृत कर्म निरर्थक हो जाते है। वास्तव मे स्वयकृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल-प्रदान करने मे समर्थ नही है। इस बात को भलीभाति समझकर अन्य द्वारा फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिए।

जैन-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा पर से कर्मों का आवरण दूर हो जाने पर वह सिद्धावस्था को प्राप्त करती है, और वह जन्म मरण के बधन से सदा के लिए मुक्त हो जाती है। कहा भी है —

दग्धे बीजे यथात्यत, प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ।।

अर्थात्, जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अकुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर भव-रूपी अकुर उत्पन्न नही हो सकता।

इसी कारण से जैन-मान्यतानुसार आत्मा के परमात्मा बन जाने के पश्चात उसका अवतरण नही हो सकता। इसे दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि जैन-धर्म परमात्मा का अवतार होना स्वीकार नही करता।

जैन-धर्म के सर्वोच्च मत्र "नमोकार मत्र" मे जिन पाँच परमेष्ठियो को वदन किया गया है, वे ईश्वर के अवतार अथवा दैवी-शक्ति सपन्न व्यक्ति नही है, किन्तु उनकी आत्माएँ भी साधारण आत्माओ जैसी थी, अथवा हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने दृढ निष्ठापूर्वक आत्मा के गुणो का विकास किया, अथवा कर रहे है, जबकि

साधारण आत्माओ मे वे गुण प्रसुप्त पडे हैं। जैन-मतानुसार किसी आत्मा को परमात्म-दशा प्राप्ति के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नही है। उस आत्मा को स्वय ही अपने गुणो का क्रमश विकास करते रहने की आवश्यकता है। भगवान् महावीर पर अनेक घोर उपसर्ग आने पर उन्होने सबका वीरतापूर्वक सामना किया। देवराज इन्द्र ने उनकी सेवा करने के लिए उनसे प्रार्थना की, किन्तु उन्होने उस प्रार्थना को यह कर अस्वीकार कर दिया कि तीर्थंकर-पद की प्राप्ति किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से नही, अपितु अपने बल पर ही होती है। जैन-सिद्धान्तानुसार जाति जन्म से नही, किन्तु कर्म से होती है। भगवान् महावीर का कथन है कि—

"कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ।"

किसी भी जाति का स्त्री या पुरुष अपने पुरुषार्थ से अपने कर्मों का ह्रास तथा आत्मिक गुणो का विकास करता हुआ परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार जैन-कर्मसिद्धान्त हमे जिस पुरुषार्थ एव स्वावलम्बन का अनुपम पाठ पढाता है, वह अन्यत्र अत्यत दुर्लभ है।



जैनदर्शन में ईश्वर

श्री ज्ञानमुनिजी



ईश्वर शब्द अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है। प्राकृत के 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' नामक कोप मे ईश्वर शब्द के निम्नोक्त अर्थ दिए गए है --

(१) परमेश्वर, प्रभु, (२) महादेव, शिव, (३) स्वामी, पति, (४) नायक, मुखिया, (५) देवनाओ का एक आवास, वेलधर-देवो का आवास विशेप, (६) एक पातालकलश (७) आढ्य, धनी, (८) ऐश्वर्यशाली, वैभवी, (९) युवराज, (१०) माण्डलिक, सामन्त राजा, (११) मत्री, (१२) इन्द्र विशेप, भूतवादि-निकाय का इन्द्र, (१३) पातालविशेप, (१४) एक राजा का नाम, (१५) एक जैन मुनि, (१६) यक्षविशेप ।

वनारस ज्ञानमण्डल लिमिटेड, द्वारा प्रकाशित 'वृहत् हिन्दी कोप' मे ईश्वर शब्द-स्वामी, राजा, धनी या वडा व्यक्ति, पति, जगन्नियन्ता, परमेश्वर, आत्मा, एक सवत्सर, शिव, कामदेव, पारा, पीतल, रामानुजी वैष्णवो के अनुसार तीन पदार्थों मे से एक, ऐश्वर्ययुक्त, शक्तिमान, समर्थ, इन अर्थों मे प्रयुक्त वताया गया है ।

इस तरह ईश्वर शब्द अनेक अर्थों का परिचायक है । पर दार्शनिक दृष्टि से जव 'ईश्वर' शब्द के सम्वध मे विचार करते है तो यह मानना पडता है कि वह वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है । वैदिक दर्शन के अनुसार उस परम शक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत की निर्मात्री है, भाग्यविधात्री है, कर्मफलप्रदात्री है, एक है, सर्वव्यापक है, और नित्य है । वैदिक दर्शन का विश्वास है कि ससार के कार्य-चक्र की वागडोर ईश्वर के हाथ मे है । ससार के समस्त स्पन्दन उसी की प्रेरणा से हो रहे हैं, वह ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, जो चाहे कर सकता है, कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य वना देना उसके लिए साधारण-सी वात है ।[1] सारा ससार उसकी इच्छा का खेल है ।

वैदिक दर्शन की मान्यता है कि अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख-दुःख का स्वय स्वामी नही है ।[2] इसका स्वर्ग या नरक मे जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है । मनुष्य कुछ नही कर सकता । जीव जीव है, ईश्वर ईश्वर है । भक्ति, धर्म आदि अनुष्ठानो मे जीव ईश्वर कदापि नही वन सकता । ईश्वर और जीव के वीच मे जो फौलादी दीवार खडी है, वह कभी समाप्त नहीं की जा सकती । इस के अलावा, वैदिक दर्शन कहता है—ससार मे जव अधर्म वढ जाता है, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है, तो पापियो का नाश करने के लिये तथा धर्म की सस्थापना करने के लिए ईश्वर किसी न किसी रूप मे अवतार धारण करता है, भगवान से इन्सान वनता है। यही तथ्य भगवद्गीता के शब्दो मे इस प्रकार है ---

---

१ कर्तुमकर्तुमन्यया कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

२ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ।। —महाभारत

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् । —अध्याय ४/७ ।

अर्थात् हे अर्जुन ! जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं (श्री कृष्ण) अवतार धारण करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ॥—अध्याय ४/८

अर्थात् साधुओं के परित्राण-संरक्षण के लिए, दुष्ट कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए, तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग मे प्रकट होता हूँ ।

उपर्युक्त पंक्तियां वैदिक दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप का संक्षेप मे परिचय करा रही हैं । परन्तु जैनदर्शन का परिशीलन करने से पता चलता है कि उसमे परमात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है । जैनदर्शन मे परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परगत, उन्मुक्त-कर्म-कवच, अजर, अमर, असंग, निस्तीर्ण-सर्वदुःख, जाति-जरा मरण बन्धन विमुक्त[1] आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है । ये सब शब्द पर्यायवाचक है । सिद्ध कृतकृत्य को कहते है । केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते हैं । संसार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है । सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है उसे परम्परगत कहते है । सर्व प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओं से रहित अजर, आयुकर्म से रहित अमर, सर्व प्रकार के क्लेशों से रहित असंग, सब प्रकार के दुःखों से रहित निस्तीर्ण-सर्व दुःख, और जन्म तथा मृत्यु के बंधन से विमुक्त जाति-जरा-मरण-बन्धन-विमुक्त कहलाते है ।

इसके अलावा, जैनसाहित्य मे ईश्वर के प्रतिबोधक सर्वदुःखप्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्द भी देखने मे आते है । सर्वदुःख-प्रहीण का अर्थ स्पष्ट ही है । मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र मे फरमाया है —

"मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिये कोई भी शब्द समर्थ नहीं है, तर्क की वहां गति नहीं होती है । बुद्धि वहां तक जा नहीं सकती है । उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है । वह मुक्तात्मा सकल कर्मरहित है, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा मे विराजमान है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है । वह पीला और सफेद भी नहीं है । सुगंध और दुर्गन्ध वाला नहीं है । तीक्ष्ण और कटुक नहीं है । कसैला, खट्टा और मीठा नहीं है । वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न पुरुष है, न नपुंसक है । वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नहीं है, वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है । मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शस्वरूप भी नहीं है ।[2]

जैनदर्शन मे मुक्तात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता है । वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्-कर्तृत्व आदि) जैनदर्शन को स्वीकार भी नहीं है । सम्भव है, इसीलिए वैदिक दर्शन ने जैन-

---

१ सिद्ध त्ति य बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परपरगय त्ति य ।
उम्मुक्क-कम्म-कवया, अजरा अमरा असगा य ॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बधण-विमुक्का ।
अव्वाबाह सुख अणुहोंति सासय सिद्धा ।

२ आचाराग सूत्र प्रथम, श्रुतस्कध, अ० ५ उ० ६

दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। परन्तु जैनदर्शन के अनीश्वरवाद या निरीश्वरवाद का यह अर्थ नही समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नही है। जैनदर्शन ईश्वर को मानता है, पर अपने ढग मे। वस्तुत ईश्वर का जितना शुद्ध, सात्विक और प्रामाणिक रूप जैनदर्शन ने दार्शनिक जगत् के सन्मुख प्रस्तुत किया है, उतना तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नही है। जैनदर्शन ने ईश्वर सम्बधी इतना गभीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है कि कुछ कहते नही बनता। यह सत्य है कि जैनदर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को जगत का कर्त्ता, भाग्यविधाता, कर्मफलदाता तथा ससार का सर्वेसर्वा नही मानता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सत्स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत के विषय मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नही है। वह जगत का निर्माता नही है भाग्य का विधाता नही है, कर्म-फल का प्रदाता नही है तथा वह अवतार लेकर मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप मे ससार मे आता भी नही है।

आज के अध्यात्मजगत मे ईश्वर के सम्बध मे जो विचार पाए जाते हैं मुख्यरूप मे उनके तीन विभाग किए जा सकते है। वे विभाग इस प्रकार हैं —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, ससार मे जो कुछ हो रहा है, वह सब ईश्वर के सकेत मे हो रहा है, उसके इशारे के बिना वृक्ष का पत्ता भी कम्पित नही हो सकता, वह ससार का सर्वेसर्वा है। ईश्वर पापियो का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगो का उद्धार करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप मे ससार मे जन्म लेता है, वैकुण्ठधाम मे नीचे उतरता है, और अपनी लीला दिखाकर वापिस वैकुण्ठधाम मे जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है जिसे आज हमारे सनातन धर्मी भाई मानते हैं। वैदिक धर्म को मानने वाले लोग दो वर्गो में विभक्त है। एक वर्ग को सनातनधर्मी कहते है और दूसरा वर्ग आर्य समाज के नाम से पुकारा जाता है। ईश्वर सम्बधी उक्त मान्यता सनातन धर्मियो की है। ईश्वर का दूसरा रूप यह है —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, इसमे ईश्वर का कोई दखल नही है। जीव अच्छा करे या बुरा, जैसा भी कर्म चाहे, कर सकता है, यह उस की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर का उस पर कोई नियत्रण या अकुश नही है। पर जीवो को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियो का नाश करने के लिए या धर्मियो का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नही करता, भगवान से मनुष्य या पशु नही बनता। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

यह ईश्वर का दूसरा रूप है। या ईश्वर को मानने का यह दूसरा ढग है, जिसे आजकल आर्यसमाजी स्वीकार करते हैं। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है —

ईश्वर एक नही है, अनादि नही है, सर्वव्यापक नही है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिमान है। जगत का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्मफल का प्रदाता नही है, ससार के किसी धन्धे मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, ईश्वर जीव को कर्म करने मे प्रेरणा नही देता, उसे निषिद्ध भी नही करता। जो कर्म करता है, उसका फल उसे स्वत ही मिल जाता है, आत्मा पर लगे कर्म-परमाणु ही कर्मकर्त्ता प्राणी को स्वय अपना फल देते हैं। ईश्वर का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बध नही है। कर्म-फल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार नही खटखटाने पडते, जीव सर्वथा स्वतत्र है। किसी भी दृष्टि मे वह ईश्वर के अधीन नही है, ईश्वर अवतार भी धारण नहीं करता है। वह किसी को मारता नही है और किसी को जिलाता भी नही है। सक्षेप मे—



यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् । —अध्याय ४/७ ।

अर्थात् – हे अर्जुन ! जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं (श्री कृष्ण) अवतार धारण करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ॥—अध्याय ४/८

अर्थात् - साधुओं के परित्राण-संरक्षण के लिए, दुष्ट कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए, तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।

उपर्युक्त पंक्तियां वैदिक दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप का संक्षेप में परिचय करा रही हैं । परन्तु जैनदर्शन का परिशीलन करने से पता चलता है कि उसमें परमात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है । जैनदर्शन में परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परगत, उन्मुक्त-कर्म-कवच, अजर, अमर, असंग, निस्तीर्ण-सर्वदुःख, जाति-जरा मरण बन्धन-विमुक्त[1] आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । सिद्ध कृतकृत्य को कहते हैं । केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते हैं । संसार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है । सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है उसे परम्परगत कहते हैं । सर्व प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओं से रहित अजर, आयुष्कर्म से रहित अमर, सर्व प्रकार के क्लेशों से रहित असंग, सब प्रकार के दुःखों से रहित निस्तीर्ण-सर्व-दुःख, और जन्म तथा मृत्यु के बंधन में विमुक्त जाति-जरा-मरण-बन्धन-विमुक्त कहलाते हैं ।

इसके अलावा, जैनसाहित्य में ईश्वर के प्रतिबोधक सर्वदुःखप्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्द भी देखने में आते हैं । सर्वदुःख-प्रहीण का अर्थ स्पष्ट ही है । मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र में फरमाया है —

"मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिये कोई भी शब्द समर्थ नहीं है, तर्क की वहां गति नहीं होती है । बुद्धि वहां तक जा नहीं सकती है । उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है । वह मुक्तात्मा सकल कर्मरहित है, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा में विराजमान है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है । वह पीला और सफेद भी नहीं है । सुगंध और दुर्गन्ध वाला नहीं है । तीक्ष्ण और कटुक नहीं है । कसैला, खट्टा और मीठा नहीं है । वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न पुरुष है, न नपुंसक है । वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नहीं है, वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है । मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शस्वरूप भी नहीं है ।[2]

जैनदर्शन में मुक्तात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता है । वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्-कर्तृत्व आदि) जैनदर्शन को स्वीकार भी नहीं है । संभव है, इसीलिए वैदिक दर्शन ने जैन-

---

१ सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परंपरगय त्ति य ।
उम्मुक्क-कम्म-कवया, अजरा अमरा असंगा य ॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बंधण-विमुक्का ।
अव्वाबाहं सुखं अणुहोंति सासयं सिद्धा ।

२ आचारांग सूत्र प्रथम, श्रुतस्कंध, अ० ५ उ० ६

दर्शन का अनीश्वरवादी रूप स्थापित किया है। परन्तु जैनदर्शन के अनीश्वरवाद या निरीश्वरवाद का यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं है। जैनदर्शन ईश्वर को मानता है पर अपने ढग से। वस्तुत ईश्वर का जितना [illegible] तार्किक और प्रामाणिक रूप [illegible] प्रस्तुत किया है उतना तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नही। [illegible] इस सम्बन्धी [illegible] और सूक्ष्म चिन्तन किया है कि [illegible]। [illegible] कि जैनदर्शन [illegible] ईश्वर [illegible] भाग्यविधाता, कर्मफल [illegible] नही मानता। [illegible] है, ज्ञानस्वरूप है, [illegible] है, [illegible] है। उसका [illegible] जगत के किसी प्रपंच [illegible] कोई सम्पर्क नही है। [illegible] है।

आज तक [illegible] ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार धाराएँ चल रही हैं उन्हें तीन विभागों में विभक्त किया जा सकते है। वे इस प्रकार है —

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, [illegible] दुष्टों का नाश करने के लिए [illegible] लेता है, वैकुण्ठधाम से नीचे उतरता है [illegible] और [illegible]। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है जिसे आज हमारा सनातन धर्मी भाई मानता है। [illegible] दो वर्गों मे विभक्त है। एक वर्ग को सनातनधर्मी कहते है और दूसरा वर्ग आर्यसमाज के नाम से पुकारा जाता है। ईश्वर सम्बन्धी उक्त मान्यता सनातन धर्मियो की है। ईश्वर का दूसरा रूप यह है

ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है, उसमे ईश्वर का कोई दखल नही है। जीव अच्छा करे या बुरा, जैसा भी कर्म चाहे, कर सकता है, यह उस की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर का उस पर कोई नियत्रण या अकुश नही है। पर जीवो का उनके शुभाशुभ कर्मो का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियो का नाश करने के लिए या धर्मियो का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नही करता, भगवान से मनुष्य या पशु नही बनता। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

यह ईश्वर का दूसरा रूप है। या ईश्वर को मानने का यह दूसरा ढग है, जिसे आजकल आर्यसमाजी स्वीकार करते है। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है —

ईश्वर एक नही है, अनादि नही है, सर्वव्यापक नही है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, अनन्त शक्तिमान है। जगत का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्मफल का प्रदाता नही है, ससार के किसी धन्धे मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, ईश्वर जीव को कर्म करने मे प्रेरणा नही देता, उसे निषिद्ध भी नही करता। जो कर्म करता है, उसका फल उसे स्वत हो मिल जाता है, आत्मा पर लगे कर्म-परमाणु ही कर्मकर्ता प्राणी को स्वय अपना फल देते है। ईश्वर का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है। कर्म-फल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार नही खटखटाने पडते, जीव सर्वथा स्वतत्र है। किसी भी दृष्टि से वह ईश्वर के अधीन नही है, ईश्वर अवतार भी धारण नही करता है। वह किसी को मारता नही है और किसी को जिलाता भी नही है। सक्षेप मे—

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, करके खोटा काम ।

जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद्-असद् वृत्तियों के परिणाम हैं। अपनी नैया को पार करने वाला भी जीव स्वय है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वय ही है। इसमे ईश्वर का कोई सम्बध नही है। इतना होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, अहिंसा, सयम, तप की मगल-मय अध्यात्म साधना द्वारा जीव ने स्वय को ईश्वरीय रूप मे प्रकट किया है। कर्मो के आवरण का हटाकर जीव स्वय ईश्वर बन जाता है। आत्मा और ईश्वर मे कोई मूलभूत पार्थक्य नही है। दोनो सजातीय हैं, अन्तर केवल विकास का है। ईश्वर नमस्करणीय है, सस्मरणीय है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है। ईश्वर के इस रूप को जैनदर्शन स्वीकार करता है। जैनदर्शन ने सिद्ध, बुद्ध आदि पदो से जिस परमोच्च अध्यात्मशक्ति की ओर सकेत किया है, ईश्वर का तीसरा रूप उसी मे समाविष्ट हो जाता है। शब्दकृत भेद को छोड कर अर्थकृत कोई अन्तर नही है। इस प्रकार जैनदर्शन मनुष्य के समक्ष अनन्त आध्यात्मिक विकास प्रस्तुत करता है।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अथविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के यौवन-काल मे ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ मे रूढ था, उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तिया की धारिका महाशक्ति को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियो से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक बन गया है। इसीलिए आज कही ईश्वर शब्द का जब उच्चारण किया जाता है तो उसमे मनुष्य को सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। ईश्वर शब्द से किसी जगत्निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री या ससार की सर्वेसर्वा शक्ति का बोध नही होता है। साधारणतया उससे श्रोता परमात्मा, प्रभु, अजर, अमर या एक परमोच्च शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है जो सर्वथा निर्विकार है, जन्म-मरण के प्रपच से अलग है, जिसका स्मरण करने से आत्मा परमशान्ति को प्राप्त करता है, तथा उसके ऐहिक और पारलौकिक क्लेश दूर होते है। जैनदर्शन, जो कभी अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नही था, आज उसी के अनुयायी अपने को ईश्वरवादी कहने व मानने मे जरा सकोच नही करते हैं। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा का ही अपना पारिभाषिक शब्द नही रहा है, अब तो सभी अध्यात्म-परम्पराए उसे परमात्मा का पर्यायवाचक मानकर स्वीकार करने लग गयी हैं। आज जैन सन्तो के व्याख्यानो मे —

ईश्वर से करते जाना प्यार, ओ नादान मुसाफिर,
जीवन की कर ले नय्या पार, ओ नादान मुसाफिर।

यह गीत सानन्द सुने जाते हैं, सुनाए जाते है। सकीर्णता की चहारदीवारी से निकल कर यदि स्वस्थ हृदय से चिन्तन करें तो सभी मतभेद समाप्त या समाहित होते एक क्षण नही लगता। जैनदर्शन तो अनेकान्तवाद-प्रधान दर्शन है। वह सकीर्णता मे पृथक् रह कर उपयोगी तत्व को अपना लेता है। इसीलिए जैनजगत मे ईश्वर शब्द का व्यवहार आज दृष्टिगोचर हो रहा है। पर एक बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का, सिद्ध प्रभु का सूचक समझना चाहिए। वैदिकदर्शन-सम्मत ईश्वर के लिए जैन साहित्य मे कोई स्थान नही है। जैनागमो मे परमात्मतत्व को लेकर कहा-कहा वर्णन मिलता है तथा किस-किस रूप मे मिलता है? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सज्जनो को जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा लिखित "जैनागमो मे परमात्मवाद" नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। जैनदर्शन के ईश्वर जगत्-कर्तृत्व आदि से क्यो इन्कार करता है? यह समझने के लिए इन पक्तियो के लेखक की "भगवान महावीर के पाच सिद्धान्त" या "प्रश्नो के उत्तर" (दो खण्ड) पुस्तक पढना चाहिए।[1]

---

१ उक्त पुस्तकें श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक, लुधियाना से प्राप्त की जा सकती हैं।



जैनागमों में अष्ट प्रवचनमाताएं

मुनिश्री कन्हैयालालजी "कमल"

पांच समिति और तीन गुप्ति

(१) ईर्या-समिति[1]

(२) भाषा समिति[2]

(३) एषणा समिति[3]

(४) आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा-समिति[4]

(५) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति[5]

(६) मन-गुप्ति

(७) वचन-गुप्ति

---

१ (क) 'स्त्रीरूप-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का एक नाम है क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय की यतना है। प्रश्न० सू० २७

(ख) 'पूर्वरत-पूर्वक्रीडित-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का ही एक नाम प्रतीत होता है क्योंकि चारित्र ईर्यासमिति का एक आलम्बन है। पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरतिसमिति ब्रह्मचर्य का एक भेद है और ब्रह्मचर्य सामायिक चारित्र का एक भेद है। अतएव यह ईर्यासमिति का ही एक नाम हो सकता है। प्रश्न० सू० २६

२ (क) इसका एक नाम 'अनुविचिन्त्य समिति' है। प्रश्न० सूत्र० २५

(ख) 'स्त्रीकथाविरतिसमिति' भी भाषासमिति का नाम है।

३ (क) इस का एक नाम 'अवग्रहसमिति' है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ख) निर्दोष उपाश्रय की प्राप्ति भी एषणासमिति का विषय है अतः "विविक्तवाससमिति" भी इस का नाम है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ग) आहारसमिति भी इसका नाम है, क्योंकि आहार एषणा द्वारा प्राप्त होता है। प्रश्न० सू० २६

(घ) 'साधारणपिण्डपात्रसमिति' भी एषणासमिति का नाम है। प्रश्न० सू०। २६

(ङ) 'असंसक्तवासवसति समिति' भी एषणासमिति का नाम है।

(च) 'प्रणीत-आहारविरति' परिभोगैषणा समिति का विषय है अतएव यह एषणा समिति का ही एक नाम है।

४ (क) अति संक्षिप्त नाम—'आदान-समिति'। उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'आदान-निक्षेपणा-समिति।—तत्वा० अ० ९, सू० ५

५ (क) संक्षिप्त नाम—'उच्चार-समिति'। यहां नाम के एक अंश का ग्रहण करके पूरे नाम के ग्रहण करने का संकेत है।—उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'उत्सर्ग-समिति'। तत्वा० अ० ९, सू० ५



राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, करके खोटा काम ।

जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद्-असद् वृत्तियो के परिणाम हैं। अपनी नैया को पार करने वाला भी जीव स्वय है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वय ही है। इसमे ईश्वर का कोई सम्बध नही है। इतना होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, अहिंसा, सयम, तप की मगल-मय अध्यात्म साधना द्वारा जीव ने स्वय को ईश्वरीय रूप मे प्रकट किया है। कर्मों के आवरण को हटाकर जीव स्वय ईश्वर बन जाता है। आत्मा और ईश्वर मे कोई मूलभूत पार्थक्य नही है। दोनो सजातीय है, अन्तर केवल विकास का है। ईश्वर नमस्करणीय है, सस्मरणीय है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है। ईश्वर के इस रूप को जैनदर्शन स्वीकार करता है। जैनदर्शन ने सिद्ध, बुद्ध आदि पदो से जिस परमोच्च अध्यात्मशक्ति की ओर सकेत किया है, ईश्वर का तीसरा रूप उसी मे समाविष्ट हो जाता है। शब्दकृत भेद को छोड कर अर्थकृत कोई अन्तर नही है। इस प्रकार जैनदर्शन मनुष्य के समक्ष अनन्त आध्यात्मिक विकास प्रस्तुत करता है।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के यौवन-काल मे ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ मे रूढ था, उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तियो की धारिका महाशक्ति को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियो से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक बन गया है। इसीलिए आज कही ईश्वर शब्द का जब उच्चारण किया जाता है तो उसमे मनुष्य को सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। ईश्वर शब्द से किसी जगत्निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री या ससार की सर्वेसर्वा शक्ति का बोध नही होता है। साधारणतया उससे श्रोता परमात्मा, प्रभु, अजर, अमर या एक परमोच्च शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है जो सर्वथा निर्विकार है, जन्म-मरण के प्रपच से अलग है, जिसका स्मरण करने से आत्मा परमशान्ति को प्राप्त करता है, तथा उसके ऐहिक और पारलौकिक क्लेश दूर होते हैं। जैनदर्शन, जो कभी अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नही था, आज उसी के अनुयायी अपने को ईश्वरवादी कहने व मानने मे जरा सकोच नही करते है। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा का ही अपना पारिभाषिक शब्द नही रहा है, अब तो सभी अध्यात्म-परम्पराए उसे परमात्मा का पर्यायवाचक मानकर स्वीकार करने लग गयी है। आज जैन सन्तो के व्याख्यानो मे —

ईश्वर से करते जाना प्यार, ओ नादान मुसाफिर,
जीवन की कर ले नय्या पार, ओ नादान मुसाफिर।

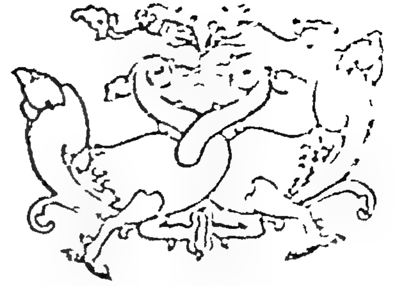
यह गीत सानन्द सुने जाते हैं, सुनाए जाते है। सकीर्णता की चहारदीवारी से निकल कर यदि स्वस्थ हृदय से चिन्तन करे तो सभी मतभेद समाप्त या समाहित होते एक क्षण नही लगता। जैनदर्शन तो अनेकान्तवाद-प्रधान दर्शन है। वह सकीर्णता से पृथक् रह कर उपयोगी तत्व को अपना लेता है। इसीलिए जैनजगत मे ईश्वर शब्द का व्यवहार आज दृष्टिगोचर हो रहा है। पर एक बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का, सिद्ध प्रभु का ससूचक समझना चाहिए। वैदिकदर्शन-सम्मत ईश्वर के लिए जैन साहित्य मे कोई स्थान नहीं है। जैनागमो मे परमात्मतत्व को लेकर कहा-कहा वर्णन मिलता है तथा किस-किस रूप मे मिलता है? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सज्जनो को जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा लिखित "जैनागमो मे परमात्मवाद" नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। जैनदर्शन के ईश्वर जगत्-कर्तृत्व आदि से क्यो इन्कार करता है? यह समझने के लिए इन पक्तियो के लेखक की "भगवान महावीर के पाच सिद्धान्त" या "प्रश्नो के उत्तर" (दो खण्ड) पुस्तक पढना चाहिए।[1]

---

१ उक्त पुस्तकें श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक, लुधियाना से प्राप्त की जा सकती हैं।

जैनागमों में अष्ट प्रवचनमाताएं

मुनिश्री कन्हैयालालजी "कमल"



पांच समिति और तीन गुप्ति

(१) ईर्या-समिति[1]

(२) भाषा समिति[2]

(३) एषणा समिति[3]

(४) आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा समिति[4]

(५) उच्चार प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति[5]

(६) मन-गुप्ति

(७) वचन-गुप्ति

---

१ (क) 'स्त्रीरूप-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का एक नाम है क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय की यतना है। प्रश्न० सू० २७

(ख) 'पूर्वरत-पूर्वक्रीडित-विरतिसमिति' भी ईर्यासमिति का ही एक नाम प्रतीत होता है क्योंकि चारित्र ईर्यासमिति का एक आलम्बन है। पूर्वरत पूर्वक्रीडितविरतिसमिति ब्रह्मव्रत का एक भेद है और ब्रह्मव्रत सामायिक चारित्र का एक भेद है। अतएव यह ईर्यासमिति का ही एक नाम हो सकता है। प्रश्न० सू० २६

२ (क) इसका एक नाम 'अनुविचिन्त्य समिति' है। प्रश्न० सूत्र० २५

(ख) 'स्त्रीकथाविरतिसमिति' भी भाषासमिति का नाम है।

३ (क) इस का एक नाम 'अवग्रहसमिति' है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ख) निर्दोष उपाश्रय की प्राप्ति भी एषणासमिति का विषय है अतः "विविक्तवाससमिति" भी इस का नाम है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ग) आहारसमिति भी इसका नाम है, क्योंकि आहार एषणा द्वारा प्राप्त होता है। प्रश्न० सू० २६

(घ) 'साधारणपिण्डपात्रसमिति' भी एषणासमिति का नाम है। प्रश्न० सू०। २६

(ङ) 'असंसक्तवासवसति समिति' भी एषणासमिति का नाम है।

(च) 'प्रणीत-आहारविरति' परिभोगैषणा समिति का विषय है अतएव यह एषणा समिति का ही एक नाम है।

४ (क) अति संक्षिप्त नाम—'आदान-समिति'। उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'आदान-निक्षेपणा-समिति।—तत्वा० अ० ९, सू० ५

५ (क) संक्षिप्त नाम—'उच्चार-समिति'। यहां नाम के एक अंश का ग्रहण करके पूरे नाम के ग्रहण करने का संकेत है।—उत्त० अ० २४, गाथा २।

(ख) संक्षिप्त नाम—'उत्सर्ग-समिति'। तत्वा० अ० ९, सू० ५

(८) काय-गुप्ति[1]

प्रवचनमाता की सार्थक संज्ञा —

इन अष्ट प्रवचनमाताओ मे सपूर्ण द्वादशागी समाविष्ट है,[2] इसलिए इनकी 'प्रवचनमाता' सज्ञा है। और इस सज्ञा की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया गया है कि —"ये प्रवचनमाताए चारित्ररूपा है। चारित्र, ज्ञान दर्शन के बिना नही होता है।[3] द्वादशागी मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तृत वर्णन है,[4] अत द्वादशागी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है।"

जिस प्रकार माता की कुक्षि मे शिशु सूक्ष्म रूप मे स्थित रहता है और वही शिशु जन्म के पश्चात् क्रमश बढता हुआ माता पिता के समान विशाल शरीर वाला हो जाता है। शिशु के उस विकसित शरीर को देखकर भी हम यह सहसा मान लेते है कि यह एक दिन इस माता की कुक्षि मे सूक्ष्म रूप मे स्थित था, इसी प्रकार इतना विशाल जिनप्रवचन इन अष्ट प्रवचनमाताओं मे समाविष्ट है।

माता की गरिमा जितनी लौकिक जीवन मे है,[5] आध्यात्मिक जीवन मे उतनी ही इन अष्ट प्रवचन-माताओ की है। वास्तव मे ये अष्ट प्रवचन-माताएँ अध्यात्मजगत् की जगदम्बा है और जिन भगवान् जगत्पितामह।[6] इह लौकिक जीवन मे मानव पर माता का जितना उपकार है,[7] उससे अनन्त गुण अधिक आध्यात्मिक जीवन मे इन अष्ट प्रवचन-माताओ का है। इस तथ्य की अनुभूति का अधिकारी मुमुक्षु मानव ही है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध मे मुमुक्षु साधक को ही परिलक्षित कर समस्त विधि-निषेध प्रस्तुत किए गए हैं।

---

१ (क) सम० ८ वा समवाय, सू० २

(ख) अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिइओ, तओ गुत्ती उ आहिया॥
इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु य।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा॥—उत्त० अ० २४, गाथा १, २

(ग) मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता। – योग० प्र० प्रका० २ श्लोक ४५।

२ दुवालसग जिणक्खाय, माय जत्थ उ पवयण। —उत्त०अ० २४, गाथा ३
यत्र यास्वष्टासु मातृषु द्वादशाङ्ग जिनाख्यात प्रवचन श्रुत चारित्र वा 'माय' इति मात—सपूर्णत्वेन सस्थितम्।
—लक्ष्मीवल्लभी टीका।

३ नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण — उत्त० अ० २८, गाथा २९
नादसणिस्स नाण,—उत्त० अ० २८, गाथा २९।

४ यतो हि सर्वा एता अष्टावमी चारित्ररूपा चारित्र हि ज्ञान-दर्शन विना न भवति, ज्ञान-दर्शन-चारित्रेभ्योऽतिरिक्त द्वादशाङ्ग न भवति, तस्माद द्वादशाङ्गयष्टासु मातृषु स्थिता, तेनैतासा प्रवचन-जननीसज्ञा।
— लक्ष्मीवल्लभी टीका।

५ (क) "देव य गुरु जणणी"
जननी-माता देव, गुरु के तुल्य है —उपा० अ० ३, सू० १३१

(ख) जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी॥

६ "जगनाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयव।—नंदी० स्थ० गाथा १

७ तिण्ह दुप्पडियार समणाउसो! त जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स। सपातो वि य ण केइ पुरिसे अम्मापियर सयपाग-सहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भगेत्ता सुरभिणा गधट्टुएण उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालकारविभूसिय करेत्ता मणुन्न थालीपागसुद्ध अट्ठारसवजणाउल भोयण भोयावेत्ता जावज्जीव पिट्ठि-वडेसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियार भवइ।
—स्था० अ० ३, उ० १, सू० १३५

समिति और गुप्ति सज्ञा

ईर्यासमिति आदि पाच की समिति सज्ञा है[1] और मनोगुप्ति आदि तीन की गुप्ति सज्ञा है[2] किन्तु इन आठ की 'समिति सज्ञा' भी है।[3] सयमशील मुमुक्षु साधक की चारित्र मे जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है उसे 'समिति' कहते है।[4] तथा उसी मुमुक्षु की जो शुभ योगो मे प्रवृत्ति होती है उसे भी 'समिति' कहते है।[5] मुमुक्षु का अशुभ योगो से सर्वथा निवृत्त होना "गुप्ति" कहा जाता है।[6] इस प्रकार इन अष्ट प्रवचन माताओ की समिति और गुप्ति सज्ञा भी आगम-साहित्य मे प्रसिद्ध है।

पाच समिति और तीन गुप्ति की आधारभूमि

श्रमण-परम्परा के आदि पुरुष भगवान् आदिनाथ के सान्निध्य मे कुछ साधक श्रमण अध्यात्म-आराधना का अभ्यास करने लगे। वे श्रमण सरल थे किन्तु जड थे[7] अत भगवान् उन्हे कदम कदम पर सावधान करते, शिक्षा देते और प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करने के लिए प्रेरित करते।

एक दिन एक श्रमण भिक्षा के लिए चला। [illegible] दिया। वह [illegible] ग्राम से भोजन लेना था। वह तेज कदमो से चला क्योकि क्षुधा की [illegible] व्याकुल था अत भगवान् के [illegible]-पाठ [illegible] वह भूल गया।

कुछ समय बीता। श्रमण भिक्षा लेकर वापस आ रहा था। [illegible], वह चाहता था स्वस्थान पर शीघ्र पहुच कर [illegible] और वेग [illegible] रहे।

भगवान् यह सब कुछ देख रहे थे। वे जानते थे, इस युग के साधक [illegible] नही है फिर भी उस श्रमण को भगवान् ने कहा—आयुष्मन्! तुम्हे प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करने के लिए कहा गया है, याद है न? विस्मृत तो नही हुए?

भते! याद है विस्मृत नही हुआ।

आयुष्मन्! अभी तुम भिक्षा के लिए गए और आए कितने तेज चल रहे थे?

---

१ पच समिईओ पण्णत्ताओ, त जहा-ईरियासमिई-जाव-पारिट्ठावणियासमिई।
—स्था० अ० ५, उ० ३, सू० ४५७
— सम० अ० ५, सू० ७

२ तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, त जहा मणगुत्ती-जाव-कायगुत्ती।
— स्था० अ० ३, उ० १, सू० १२६
— सम० अ० ३, सू० २

३ (क) अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ, त जहा—ईरिया-समिई-जाव-कायसमिई। —स्था० अ० ८, सू० ६०३
(ख) एयाओ अट्ठसमिईओ, समासेण वियाहिया। —उत्त० अ० २४, गाथा २६३

४ एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे। —उत्त० अ० २४, गाथा ३२६

५ सम्यग् इति प्रवृत्ति समिति,
मनस कुशलताया समिति, वाचोऽकुशलत्वनिरोधे समिति, कायस्य स्थानादिषु समितिरिति।
—स्था० अ० ८, सू० ६०३ की टीका।

६ (क) गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो। —उत्त० अ० २४, गाथा २६
(ख) गोपन गुप्ति —मन प्रभृतीना कुशलाना प्रवर्तनमकुशलाना च निवर्त्तनमिति।
(ग) "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति"—तत्त्वा० अ० ६, सू० ४

७ "पुरिमा उज्जुजडा उ"—उत्त० अ० २३।





हां भते ! एक ओर क्षुधा सता रही थी दूसरी ओर खाद्य एव पेय शीतल होते जा रहे थे, इसलिए भगवन्, मैं जल्दी-जल्दी गया और जल्दी-जल्दी आया हू ।

आयुष्मन् ! यह श्रमण-चर्या नही है । साधक श्रमण को इतना तेज नही चलना चाहिए ।

भते ! आप ने तेज न चलने के लिए तो आज ही कहा है, पहले तो कभी कहा नही था ।

आयुष्मन् ! पहले तू गृहस्थ था, पाप कर्मों से अविरत था । अव तू प्रव्रजित हो गया है, सर्व सावद्य कार्यों से विरत रहने की तूने प्रतिज्ञा ली है । गृहस्थचर्या भिन्न है आयुष्मन् !

तब श्रमण ने सविनय प्रश्न किये—

भते ! मैं कैसे चलूं ? और कैसे खडा होऊँ ?

भते ! मैं कैसे वैठूं ? और कैसे सोऊं ?

भते ! मैं कैसे खाऊँ-पीऊँ ? और कैसे वोलूं ?[१]

जिससे मैं पापकर्म से लिप्त न होऊँ ?

आयुष्मन् ! तू यतना से चल और यतना से खडा हो,

आयुष्मन् ! तू यतना से बैठ और यतना मे सो,

आयुष्मन् ! तू यतना से खा-पी और यतना से वोल ।[२]

इस प्रकार तू पाप कर्म से लिप्त नही होगा ।

ईर्या समिति के ६ निक्षेप

(१) नाम ईर्या, (२) स्थापना ईर्या, (३) द्रव्य ईर्या, (४) क्षेत्र ईर्या, (५) काल ईर्या, (६) भाव ईर्या ।

(१) **नाम-ईर्या**—किसी व्यक्ति या वस्तु का 'ईर्या' नाम हो वह 'नाम ईर्या' निक्षेप है ।

(२) **स्थापना-ईर्या** – चलते हुए व्यक्ति की प्रतिकृति या फोटो ।

(३) **द्रव्य-ईर्या**—तीन प्रकार की है —सचित्त, अचित्त और मिश्र ।
  (क) सचित्त ईर्या—वायु का या पुरुष आदि का चलना ।
  (ख) अचित्त ईर्या—परमाणु आदि पुद्‌गल द्रव्यो का चलना ।
  (ग) मिश्र ईर्या—रथ आदि का चलना ।

(४) **क्षेत्र-ईर्या** किसी क्षेत्र—प्रदेश मे किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(५) **काल-ईर्या** – किसी काल मे किसी व्यक्ति आदि का चलना ।

(६) **भाव-ईर्या**—दो प्रकार की है —(१) चरण ईर्या, (२) सयम ईर्या ।
  चरण ईर्या—
  (क) श्रमण का—निर्दोष चलना ।[३]

---

१ कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए ।
कह भुजतो भासतो, पावकम्म न वधइ ।।—दश० अ० ४, गाथा ७

२ जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए ।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ।।—दश० अ० ४ गाथा ८

३ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०५, ३०६

निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशों के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है।

(१) श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त रहना चाहिए, क्योंकि भ्रान्त अवस्था में चित्त अशान्त रहता है अतः चलते समय जीवरक्षा नहीं कर पाता।

(२) श्रमण को अमूर्च्छित-आसक्ति त्यागकर चलना चाहिए क्योंकि आसक्त व्यक्ति का मन किसी अभिरु-चित वस्तु में लगा रहता है अतः वह जीवरक्षा में उपयोग नहीं लगा सकता।

(३) श्रमण को मन्द गति से चलना चाहिए, क्योंकि शीघ्र गति से चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नहीं चल सकता।

(४) श्रमण को चलते समय 'अनुद्विग्न'—प्रशान्त रहना चाहिए, क्योंकि—उद्विग्न अवस्था में व्यक्ति भयभीत रहता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता।

(५) श्रमण को 'अव्याक्षिप्तचित्त' से चलना चाहिए क्योंकि—विक्षिप्त, चित्त-चंचल चित्त-वाला व्यक्ति मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता।[1]

(६) श्रमण को दौड़ते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि दौड़ने वाला जीवों को बचाता हुआ नहीं चल सकता।

श्रमण धीर और गम्भीर होता है अतः उसका दौड़ना व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि अधीर या भयभीत व्यक्ति ही प्रायः दौड़ते हैं।

(७) श्रमण को चलते समय बातें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब मन बातचीत करने में लगा रहता है तब वह जीवरक्षा करने में दत्तचित्त नहीं हो सकता।

(८) श्रमण को चलते समय हँसना भी नहीं चाहिए, क्योंकि हँसते हुए मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता। इसी प्रकार गाते हुए, नाचते हुए साथियों से कोई अन्य क्रिया करते हुए नहीं चलना चाहिए।[2]

(९) श्रमण को गवाक्ष, गली, स्नानगृह आदि पर दृष्टि डालते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने वाला रास्ते के जीव-जन्तुओं को नहीं देख सकता। गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने से श्रमण की साधुता के विषय में शंका उत्पन्न होती है। अतः श्रमण को मार्ग पर दृष्टि रखते हुए ही चलना चाहिए।[3]

(१०) श्रमण को क्रुद्ध होकर नहीं चलना चाहिए, क्योंकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता।[4]

(११) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड़ पर, समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे पर चरते हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अंगुली निर्देश करके या हाथ लम्बा करके न दिखावे। ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते हैं।

(१२) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड़ पर बने किले आदि की ओर संकेत करके न दिखावे ऐसा करने से किले आदि के रक्षकों को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशंका होती है।



---

१ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १, २
२ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १४
३ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १५
४ दश० अ० ८, गाथा २५

(१३) श्रमण को मनहर शब्द सुनते हुए नही चलना चाहिए।

(१४) श्रमण को मनहर रूप देखते हुए नही चलना चाहिए।

(१५) श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध मे राग-द्वेष भरे सकल्प रखकर नही चलना चाहिए। सुगन्ध के सम्बन्ध मे—"अहा, कैसी मनहर गन्ध आ रही है, सुगन्ध का आनन्द लेता हुआ धीमे धीमे चलूं" ऐसे विचारो से आसक्ति बढती है।

दुर्गन्ध के सम्बन्ध मे—"अरे, कैसी दुर्गन्ध आ रही है, नाक फट रहा है, दम घुट रहा है" इस प्रकार के घृणा भरे सकल्पो से पुद्गलपरिणति का विवेक नष्ट हो जाता है।

अत सुगन्ध आते समय मन्द गति से और दुर्गन्ध आते समय द्रुत गति से श्रमण को नही चलना चाहिए। अपितु दोनो स्थानो पर स्वाभाविक गति से चलना चाहिए।

(१६) श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नही चलना चाहिए।

(१७) श्रमण को सुखद स्पर्श का सवेदन करते हुए नही चलना चाहिए।

(ख) सयम ईर्या – सत्तरह प्रकार के सयम का विवेकपूर्वक पालन करते हुए चलना।[1]

१ ईर्यासमिति

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर मे युगपरिमाण भूमि[2] (चार हाथ प्रमाण) को एकाग्र चित्त से देखते हुए प्रशस्त पथ मे यतनापूर्वक (जीवरक्षार्थ प्रयत्न करते हुए) गमनागमन करना ईर्यासमिति है।[3]

ईर्यासमिति की विशुद्ध आराधना के लिए मुमुक्षु साधक को आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का विवेक करना अत्यावश्यक है, क्योंकि ये चार ईर्यासमिति की विशुद्धि के हेतु है।[4]

(क) आलम्बन

ईर्यासमिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। जिस प्रकार स्थविर आलम्बन से बिना किसी असुविधा के अभिलषित ऊँचाई पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार साधक भी ज्ञान-दर्शन चारित्र के आलम्बन से उग्र एव कठिन परीषह सहे बिना सर्वोच्च शिवपद प्राप्त कर सकता है। क्योंकि ज्ञानादि की आध्यात्मिक शक्ति का सम्बल ही दुरूह शिवपथ पर साधक को अग्रसर करता है।

अधा और पगु भी आलम्बन के बल से इष्ट स्थान पर पहुच सकता है। पक्षी पखो के आलम्बन से गगन-गामी होता है। सामान्यतया पत्नी को पति का, शिष्य को गुरु का, भृत्य को स्वामी का, पथिक को साथी का, शिशु को माता का, समाज को नेता का और भक्त को भगवान् का आलम्बन ही जीवनयापन व जीवननिर्माण मे उपयोगी होता है।

यहा आलम्बन का अर्थ सहारा तो है ही, उद्देश्य और लक्ष्य अर्थ भी यहा संगत है। साधक-जीवन मे जितनी आवश्यक क्रियाएँ है उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि है। गौण लक्ष्य अनेक है और वे प्रत्येक

---

१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०७

२ "जुगमित्त च खेत्तओ"—उत्त० अ० २४, गाथा ७, पद २

३ उत्त० अ० २४, गाथा ७

४ "चउकारणपरिसुद्ध"

क्रिया में निष्पन्न कार्य है जो साधक जीवन में [illegible] किए जाते हैं। [illegible] है कि श्रमण आहार करता है तो उसका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की [illegible] है और गौण लक्ष्य [illegible]। [illegible] की सिद्धि सर्वप्रथम होती है और प्रधान लक्ष्य की [illegible]। [illegible] सम्बन्ध में समझना चाहिए। जिस क्रिया द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति [illegible] साधक श्रमण न तो [illegible] और न उस क्रिया [illegible]।

साधक जीवन में [illegible] सिद्धि के लिए अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि के लिए [illegible]।

यथा—
1. ज्ञान की प्राप्ति के लिए
2. दर्शन की प्राप्ति के लिए
3. चारित्र की प्राप्ति के लिए
4. [illegible]
5. [illegible]।

उत्सर्ग मार्ग में वर्षावास में [illegible] वर्षावास में श्रमण-[illegible]।[2]

(१) [illegible] ईर्या-समिति का ज्ञान आलम्बन।

(२) किसी विशिष्ट [illegible] के लिए [illegible] वर्षावास में [illegible] विहार करना पड़ता है। यह है [illegible] समिति का [illegible] आलम्बन।

(३) वर्षावास स्थित श्रमण को यह अनुभव हो कि—"यहाँ उत्पात [illegible] की प्राप्ति के लिए श्रमण का चारित्र में विचलित करने वाली कुछ विशिष्ट वर्ग की [illegible], अब यहाँ रहने पर मेरा चारित्र सुरक्षित नहीं रहेगा"—ऐसी स्थिति में श्रमण वर्षावास में ही विहार कर सकता है। यह है ईर्यासमिति का चारित्र आलम्बन।

यहाँ ईर्यासमिति का प्रधान लक्ष्य ज्ञानादि की प्राप्ति, गुरुजनों के अनुशासन में रहना और गुरुजनों की सेवा करना है। वर्षाकाल में उत्पन्न हुए जीवजन्तु, वनस्पति और अंकुर आदि की रक्षा यहाँ गौण है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि होने पर गौण लक्ष्य की सिद्धि हो या न हो अथवा गौण लक्ष्य की उपेक्षा कर दी जाय—यहाँ यह अभिप्राय नहीं है। यहाँ केवल प्राथमिकता देने की विचारणा है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हुए जीवरक्षा के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहना साधक का कर्तव्य है। साधक के सजग रहने पर भी यदि जीव-जन्तुओं की हिंसा हो जाए तो यह केवल "द्रव्यहिंसा" ही मानी जाएगी।



---

१ आचारांग श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, सू० १११
२ स्थाना० अ० ५, उद्दे० २ सूत्र ४१२

साधक श्रमण के चलने के चार मुख्य उद्देश्य —

(१) स्वाध्याय तथा ध्यान के लिए स्वाध्यायभूमि (विहारभूमि) या ध्यानभूमि तक पहुचने के लिए साधक श्रमण चलता है।[1]

(२) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, और वसति आदि एषणीय पदार्थों की एषणा के लिए साधक श्रमण चलता है।[2]

(३) आवश्यक शारीरिक क्रिया (मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि के परिष्ठापनार्थ निश्चित भूमि तक साधक श्रमण चलता है।[3]

(४) एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए साधक श्रमण चलता है।[4]

मुमुक्षु श्रमण निरुद्देश्य नही चलता, वह जब कही जाना चाहता है तो अपने स्थविर गुरुजनो या साथी श्रमणो को आवश्यक कार्य सम्बन्धी विवरण बताकर जाता है।[5]

उपाश्रय से बाहर जाते समय वह उच्चस्वर से "आवस्सिया" और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय "णिसीहिया" का तीन-तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी समाचारी आचरण-पद्धति है।[6] यह है ईर्या समिति का आलम्बन।

(ख) काल

अब ईर्यासमिति के काल के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यहा काल का विभाजन दो भागो मे किया गया है। ये दो विभाग है—दिन और रात। ईर्यासमिति का पालन दिन मे हो सकता है,[7] रात्रि मे नही। दिन मे सभी साधक श्रमण-श्रमणिया देख कर चल सकते हैं। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तुओ को बचाकर चल सकते हैं और इस प्रकार वे स्व-रक्षा और पर-रक्षा करते हुए सयम का पालन कर सकते है।

साधक श्रमण-श्रमणियो को रात्रि मे नही चलना चाहिए, यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय कदाचित् मार्ग मे सूर्यास्त हो जाए तो वही ठहर जाना चाहिए। भूमि सम हो या विषम, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कदाचित् रात्रि मे वहाँ श्वापद या सर्प आदि का भय हो तो समभाव से सहन करना चाहिए।[8] रात्रि मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना या भिक्षा के लिए जाना सर्वथा निषिद्ध है। केवल शारीरिक आवश्यक क्रिया के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि भूमि तक, स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि तक तथा ध्यान के लिए ध्यान करने योग्य किसी स्थान तक रात्रि मे साधक श्रमण जा सकता है किन्तु रजोहरण से प्रमार्जन करते हुए ही जा सकता है, किन्तु विना प्रमार्जन किए उसे एक कदम भी नहीं चलना चाहिए।

---

१ आचा० श्रुत०, अ० ८, सू० ६०, १६३, १६४

२ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

३ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

४ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

५ कल्पसूत्र० सूत्र ६१

६ उत्त० अ० २६, गाथा २

७ उत्त० अ० २४, गाथा ५

८ (क) वृह० उद्दे० १, सूत्र० ४७

(ख) जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाई मुणिऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया॥
—सूत्र० श्रुत० १, अ० २, उद्दे० २, गाथा १४

विकाल

विकाल सन्ध्या समय को कहते हैं। सन्ध्या में भी चलने का निषेध है क्योंकि सन्ध्या स्वाध्याय प्रतिक्रमण का काल है। श्रमण को सभी क्रियाएं निश्चित समय पर करनी चाहिए। अतः सूर्यास्त के समय और सूर्योदय के समय ग्रामानुग्राम आदि के लिए गमनागमन नहीं करना चाहिए।

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म

प्रमुख ऋतु-विभागों के अनुसार एक वर्ष के तीन विभाग हैं। वर्षाकाल के चार मास हैं —श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासों में श्रमण-श्रमणियों का ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। यह आगमोक्त विधान है।[1]

वर्षाकाल के दो विभाग हैं —प्रावृट् और वर्षा। प्रावृट् के भी दो विभाग हैं - प्रथम प्रावृट् और द्वितीय प्रावृट्। प्रथम प्रावृट् में ग्रामानुग्राम विहार करने का सर्वथा निषेध है, क्योंकि प्रथम प्रावृट् में सूक्ष्म क्षुद्र जीवों की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। नदी नाले उफान और कीचड़ से मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रमण-श्रमणियां आगमोक्त पांच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए प्रथम प्रावृट् में भी वर्षावास स्थल को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। यथा-

(१) अराजकता फैलने पर या सुरक्षाव्यवस्था समाप्त हो जाने पर।

(२) दुष्काल होने पर या भिक्षा दुर्लभ होने पर।

(३) किसी के व्यथा पहुँचाने पर।

(४) बाढ़ आने पर।

(५) अनार्यों का उपद्रव होने पर।[3]

यहाँ ईर्यासमिति का प्रमुख उद्देश्य "आत्मरक्षा" है क्योंकि आत्मरक्षा के बिना ज्ञान दर्शन चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। पर-रक्षा अर्थात् प्रावृट् काल में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के जीव जन्तुओं की रक्षा यहाँ गौण है।

वर्षाकाल के तीन विभाग भी माने गए हैं। यथा—जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट।

(१) जघन्य वर्षाकाल —भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त ७० दिन का।

(२) मध्यम वर्षाकाल— इसके ग्यारह विकल्प हैं। कार्तिक पूर्णिमा से आषाढ़ पूर्णिमा तक व्यतिक्रम से जघन्य वर्षाकाल के ७० दिनों में ५-५ बढ़ाने पर १२० दिनों तक ग्यारह विकल्प होते हैं।

(३) उत्कृष्ट वर्षाकाल — ६ मास का। प्रथम प्रावृट् का एक आषाढ़ मास, वर्षावास के चार मास, यदि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो एक मार्गशीर्ष मास मिलाने पर वर्षावास के ६



---

१ जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियंसि दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ। —निशीथ उद्दे० १०, सूत्र ६४१

२ अभिधान०—'पाउस' शब्द।

३ (क) नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए।
(ख) पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—(१) भयंसि वा, (२) दुब्भिक्खंसि वा, (३) पव्वहेज्जे वा णं कोइ, (४) दओघंसि वा एज्जमाणंसि, (५) महया वा अणारिएसु।
—स्थाना० अ० ५, उद्दे० २, सूत्र ४१२

साधक श्रमण के चलने के चार मुख्य उद्देश्य —

(१) स्वाध्याय तथा ध्यान के लिए स्वाध्यायभूमि (विहारभूमि) या ध्यानभूमि तक पहुचने के लिए साधक श्रमण चलता है।[1]

(२) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, और वसति आदि एषणीय पदार्थों की एपणा के लिए साधक श्रमण चलता है।[2]

(३) आवश्यक शारीरिक क्रिया (मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि के परिष्ठापनार्थ निश्चित भूमि तक साधक श्रमण चलता है।[3]

(४) एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए साधक श्रमण चलता है।[4]

मुमुक्षु श्रमण निरुद्देश्य नही चलता, वह जब कही जाना चाहता है तो अपने स्थविर गुरुजनो या साथी श्रमणो को आवश्यक कार्य सम्बन्धी विवरण बताकर जाता है।[5]

उपाश्रय से बाहर जाते समय वह उच्चस्वर से "आवस्सिया" और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय "णिसीहिया" का तीन-तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी समाचारी आचरण-पद्धति है।[6] यह है ईर्या समिति का आलम्बन।

(ख) काल

अब ईर्यासमिति के काल के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यहा काल का विभाजन दो भागो मे किया गया है। ये दो विभाग है—दिन और रात। ईर्यासमिति का पालन दिन मे हो सकता है,[7] रात्रि मे नही। दिन मे सभी साधक श्रमण-श्रमणिया देख कर चल सकते हैं। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तुओ को बचाकर चल सकते हैं और इस प्रकार वे स्व-रक्षा और पर-रक्षा करते हुए सयम का पालन कर सकते हैं।

साधक श्रमण-श्रमणियो को रात्रि मे नही चलना चाहिए, यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय कदाचित् मार्ग मे सूर्यास्त हो जाए तो वही ठहर जाना चाहिए। भूमि सम हो या विपम, इसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। कदाचित् रात्रि मे वहाँ श्वापद या सर्प आदि का भय हो तो समभाव से सहन करना चाहिए।[8] रात्रि मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना या भिक्षा के लिए जाना सर्वथा निषिद्ध है। केवल शारीरिक आवश्यक क्रिया के लिए उच्चार-प्रश्रवणादि भूमि तक, स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि तक तथा ध्यान के लिए ध्यान करने योग्य किसी स्थान तक रात्रि मे साधक श्रमण जा सकता है किन्तु रजोहरण से प्रमार्जन करते हुए ही जा सकता है, किन्तु बिना प्रमार्जन किए उसे एक कदम भी नहीं चलना चाहिए।

---

१ आचा० श्रुत०, अ० ८, सू० ६०, १६३, १६४

२ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

३ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

४ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

५ कल्पसूत्र० सूत्र ६१

६ उत्त० अ० २६, गाथा २

७ उत्त० अ० २४, गाथा ५

८ (क) वृह० उद्दे० १, सूत्र० ४७

(ख) जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाई मुणिऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया॥
—सूत्र० श्रुत० १, अ० २, उद्दे० २, गाथा १४

विकाल

विकाल सन्ध्या समय को कहते हैं। सन्ध्या मे भी चलने का निषेध है, क्योंकि सन्ध्या वेला प्रतिक्रमण का काल है। श्रमण को सभी क्रियाएँ निश्चित समय पर करनी चाहिए। अत सूर्यास्त के समय और सूर्योदय के समय ग्रामानुग्राम आदि के लिए गमनागमन नहीं करना चाहिए।

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म

प्रमुख ऋतु-विभागो के अनुसार एक वर्ष के तीन विभाग हैं। वर्षाकाल के चार मास हैं —श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासो मे श्रमण-श्रमणियों का ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। यह आगमोक्त विधान है।[1]

वर्षाकाल के दो विभाग हैं —प्रावृट् और वर्षा। प्रावृट् के भी दो विभाग हैं —प्रथम प्रावृट् और द्वितीय प्रावृट्। प्रथम प्रावृट् मे ग्रामानुग्राम विहार करने का सर्वथा निषेध है[2], क्योंकि प्रथम प्रावृट् मे सूक्ष्म-स्थूल जीवो की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। नदी नाले कर्दम और काई से मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रमण-श्रमणियाँ आगमोक्त पाँच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए प्रथम प्रावृट् मे भी वर्षावास क्षेत्र को छोडकर अन्यत्र जा सकते हैं। यथा-

(१) अराजकता फैलने पर या सुरक्षाव्यवस्था समीचीन न होने पर।
(२) दुष्काल होने पर या भिक्षा दुर्लभ होने पर।
(३) किसी के व्यथा पहुँचाने पर।
(४) बाढ आने पर।
(५) अनार्यो का उपद्रव होने पर।[3]

यहाँ ईर्यासमिति का प्रमुख उद्देश्य "आत्मरक्षा" है क्योंकि आत्मरक्षा के बिना ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। पर-रक्षा अर्थात् प्रावृट् काल मे उत्पन्न हुए नाना प्रकार के जीव-जन्तुओ की रक्षा यहाँ गौण है।

वर्षाकाल के तीन विभाग भी माने गए है। यथा—जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट।

(१) जघन्य वर्षाकाल—भाद्रपद शुक्ला पचमी से कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त ७० दिन का।
(२) मध्यम वर्षाकाल— इसके ग्यारह विकल्प है। कार्तिक पूर्णिमा से आषाढ पूर्णिमा तक व्यतिक्रम से जघन्य वर्षाकाल के ७० दिनो मे ५-५ बढाने पर १२० दिनो तक ग्यारह विकल्प होते हैं।
(३) उत्कृष्ट वर्षाकाल— ६ मास का। प्रथम प्रावृट् का एक आषाढ मास, वर्षावास के चार मास, यदि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो एक मार्गशीर्ष मास मिलाने पर वर्षावास के ६



---

१ जे भिक्खू वासावास पज्जोसवियसि दूइज्जइ, दूइज्जत वा साइज्जइ।—निशीथ उद्दे० १०, सूत्र ६४१

२ अभिधान०—'पाउस' शब्द।

३ (क) नो कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा पढमपाउससि गामाणुगाम दूइज्जित्तए।
(ख) पर्चाहि ठाणेहि कप्पइ, त जहा—(१) भयसि वा, (२) दुब्भिक्खसि वा, (३) पव्वहज्जे वा ण कोइ, (४) दओघसि वा एज्जमाणसि, (५) महया वा अणारिएसु।
—स्थाना० अ० ५, उद्दे २, सूत्र ४१२

मास होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट ६ मास पर्यन्त के वर्षावास मे श्रमण-श्रमणियो को ग्रामानुग्राम विहार नही करना चाहिए।[1]

प्रथम समवसरण और द्वितीय समवसरण

एक वर्ष के ये दो विभाग समवसरण शब्द से बने हुए हैं। समवसरण शब्द गमनागमन अर्थ का सूचक है। प्रथम समवसरण—वर्षावास काल को कहते हैं और द्वितीय समवसरण--हेमन्त और ग्रीष्म के ८ मास को कहते हैं। प्रथम समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार का निषेध है और द्वितीय समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार करने का विधान है।[2]

वर्षावास और ऋतुबद्ध काल

एक वर्ष के ये दो विभाग भी आगमो मे उपलब्ध है—वर्षावासकाल के चार मास और ऋतुबद्ध काल के आठ मास। हेमन्त आदि चार ऋतुओ मे आठ मास विभाजित है इसलिए यह ऋतुबद्ध काल है।[3] यदि आपवादिक स्थिति न हो तो ऋतुबद्ध काल मे श्रमण एक स्थान मे उत्कृष्ट एक मास तथा श्रमणियाँ एक स्थान मे उत्कृष्ट दो मास ठहर कर अवश्य विहार कर देते है।[4] ग्रामानुग्राम विहार के नौ कल्प (विभाग) है। आठ मास के आठ कल्प और नौवाँ चार मास का वर्षावासकल्प है।[5]

मार्ग

मार्ग दो प्रकार के होते है —द्रव्यमार्ग और भावमार्ग।

द्रव्यमार्ग तीन प्रकार के होते हैं — (१) स्थलमार्ग (२) जलमार्ग और (३) नभमार्ग।

स्थलमार्ग दो प्रकार के होते है —सम और विषम। सभी स्थलचर प्राणी सम मार्ग पर ही चलना चाहते है। सम मार्ग के अभाव मे या भय तथा त्वरावश उन्हे विषम मार्ग पर चलना पडता है। साधक श्रमण-श्रमणियो के लिए भी सम मार्ग पर ही चलने का विधान है, किन्तु विशेष हेतु से उन्हे विषम मार्ग पर भी चलना पडता है।

विषम मार्ग पर चलते समय या चढते-उतरते समय सहारे की अपेक्षा हो तो दण्ड अथवा किसी पथिक के हाथ आदि का सहारा लिया जा सकता है क्योकि विषम मार्ग मे गिरने पर आत्म-विराधना और अन्य जीवो की विराधना होने की सम्भावना रहती ही है।

प्रकारान्तर से मार्ग तीन प्रकार के —है

(१) संक्रमण मार्ग, (२) स्थलमार्ग, (३) नोस्थलमार्ग।

१ **संक्रमणमार्ग**—पुलपर होकर जाने वाला मार्ग।

२ **स्थलमार्ग**—दो प्रकार का होता है-सम और विषम।

३ **नोस्थल मार्ग**—चार प्रकार का होता है—

(१) पाषाणशिलाओ पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

(२) बालू-रेती पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

---

१ निशीथ० उद्दे० १०, सूत्र० ६४१

२ बृहत्कल्प उद्दे० ३, सूत्र० १७ और १८ मे 'प्रथम, समवसरण' और 'द्वितीय समवसरण' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

३ आचा० श्रुत०२, अ० २, उद्दे० ?, सूत्र०७८ और ७९ मे 'ऋतु बद्धकाल तथा 'वर्षाकाल' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

४ बृहत्कल्प० उद्दे० १ सूत्र० ३७

५ कल्प० सूत्र०

(३) सचित्त पृथ्वी पर वहने वाले जल मे हो कर जाने वाला मार्ग ।

(४) पकमिश्रित जल मे होकर जाने वाला मार्ग ।

उन्मार्ग का परित्याग

मानव सदा मार्ग पर ही चलना चाहता है, उन्मार्ग पर[1] नही । यदि पथ विस्मृत हो जाए, दिग्मूढ हो जाए या विषम विप्लव हो जाए तो उसे उन्मार्ग पर चलना पडता है । श्रमण-श्रमणियाँ भी पथ पर ही चलते हैं, किन्तु पूर्वोक्त कारणो से उन्हे यदा-कदा उत्पथ भी चलना पडता है ।[2]

सक्षिप्तमार्ग और लम्बा मार्ग

साधारण मानव हो या साधक श्रमण, सभी सक्षिप्तमार्ग (पगदडी) मे जाना चाहते है । अल्प समय मे अभीष्ट स्थान तक पहुचने की इच्छा होना मानव का स्वभाव है, किन्तु सक्षिप्तमार्ग मे कुछ कठिनाइया होती है ।

सक्षिप्तमार्ग प्राय विषम होते है, दुरूह होते है या उनमे श्वापदो तथा लुटेरो का भय होता है । यदि सक्षिप्त मार्ग मे अकुर, बीज या घास हो, खेत या खडहर हो, कर्दम या काटे हो, पर्वत-पहाड या झाड-झखाड हो, फिसलन हो या बीहड वन हो, क्रुद्ध साड या श्वापद हो, उन्मत्त मनुष्य या महिष हो, शूकर या श्वान कुछ खा रहे हो, कुर्कुट या कपोत दाने चुग रहे हो अथवा ऐसी ही कोई अन्य बाधा हो तो श्रमण-श्रमणियो को उस मार्ग से नही जाना चाहिए । यदि सक्षिप्त मार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न हो तो विवेकपूर्वक अपनी या अन्य प्राणियो की रक्षा करते हुए उसी सक्षिप्त मार्ग से श्रमण-श्रमणिया जा सकते हैं । ऐसे लम्बे मार्ग से जाना भी निषिद्ध है जो अटवी मे होकर जाता है और अनेक दिन चलने के पश्चात् समाप्त होता हो । जो लम्बा मार्ग सम विशाल तथा निरापद हो उसी से साधको को जाना चाहिए ।

सुमार्ग और कुमार्ग

भाव मार्ग दो प्रकार के हैं —सुमार्ग और कुमार्ग । यह दोनो सन्मार्ग और असन्मार्ग और प्रशस्त मार्ग अप्रशस्त मार्ग भी कहे जाते हैं ।

सुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि होती है ।

कुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होती है ।

वेश्याओ की वीथी मे होकर या समीप होकर जाने-आने से चारित्र की हानि होती ।[3] द्यूतगृह के समीप होकर जाने-आने से जनसाधारण मे आशङ्का पैदा होती है । राज-प्रासाद या अन्त पुर के समीप होकर जाने-आने से तथा सेनाशिविरो[4] के या गुप्त मन्त्रणालय के समीप[5] होकर जाने-आने से श्रमण-श्रमणियो के प्रति गुप्तचर होने की आशका हो जाती है अत कायिक क्लेश होना सभव है । जिस मार्ग से जाने-आने मे मानसिक, वाचिक या कायिक क्लेश हो उस मार्ग से जाना-आना सर्वथा निषिद्ध है ।[6]



---

१ मार्ग छोडकर चलना ।

२ (क) आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० ३, सूत्र १३०

(ख) "उप्पह परिवज्जए"

३ दश० अ० ५, उद्दे १, गाथा ९, १०

४ निशीथ० उद्दे० ९, सूत्र ११

५ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १६ का पूर्वार्द्ध ।

६ दश० अ० ५, उद्दे० १, गाथा १ का उत्तरार्द्ध ।



भावमार्ग का अभिप्राय है आचरण करना । सर्वज्ञ या बहुश्रुतविहित विधि-विधानानुसार चलना सुमार्ग पर चलना और इससे विपरीत चलना कुमार्ग पर चलना है । जिस प्रकार लौकिक जीवन मे जाति, कुल और समाज की तथा ग्राम, नगर और राष्ट्र की मर्यादाओ का पालन करना सन्मार्ग पर चलना है और मर्यादाओ को भग करना असन्मार्ग पर चलना है, उसी प्रकार कुल, गण और सघ की मर्यादाओ का पालन करना प्रशस्त पथ पर चलना है और मर्यादाओ का भग करना अप्रशस्त पथ पर चलना है ।

जलमार्ग

मनुष्य स्थलचर प्राणी है इसलिए उसका स्थल-भूमि पर चलना स्वाभाविक है, जल मे चलना अस्वाभाविक । अत बिना विशेष हेतु के वह जलमार्ग से जाना नही चाहता ।

साधक श्रमण भी मानव है, साथ ही अहिंसा महाव्रत का पालक भी । जैनदर्शनप्रतिपादित प्राणी-विज्ञान के अनुसार पानी के एक विन्दु मे असख्य जीव हैं । उन असख्य जीवो की हिंसा करता हुआ जैन श्रमण जलमार्ग से कैसे जा सकता है ? जब जैन श्रमण सजीव (सचित्त) पानी का स्पर्श भी नही कर सकता तो फिर वह पानी मे कैसे चल सकता है ?

ये प्रश्न तर्कसगत है और जैनागमो मे इनका समाधान भी तर्कसगत ही मिलता है । समाधान इस प्रकार है —

साधारण मानव के समान साधक श्रमण भी विशेष कारण होने पर जलमार्ग से जा सकता है जैनागामो मे जिन विशेष कारणो का उल्लेख है वे इस प्रकार है —

(१) वर्षा हो रही हो, पानी बह रहा हो और उस समय श्रमण-श्रमणियो को यदि शौच के लिए गाँव से बाहर कुछ दूरी तक जाना आवश्यक हो तो वे जा सकते हैं ।

इस विधान की पृष्ठभूमि मे श्रमण की स्वास्थ्यरक्षा का विचार प्रधान है और जल के जीवो की रक्षा का विचार गौण । यद्यपि जैनदर्शन ने स्वास्थ्यरक्षा और जीवरक्षा दोनो को महत्वपूर्ण माना है किन्तु स्वास्थ्यरक्षा को प्राथमिकता देने का हेतु यह है कि मल-मूत्र के वेग का अवरोध करने से श्रमण अस्वस्थ हो जाएगा और उसकी सयम-आराधना अवरुद्ध हो जाएगी । औषधोपचार के निमित्त से भी अनेक दोष लगेंगे । मल-मूत्र का वेग रोकने से श्रमण का मरण भी सभव है । इस प्रकार का मरण प्राय असमाधिमरण ही होता है, इसलिए जैनदर्शन का उपरोक्त विधान महत्वपूर्ण है ।

"साधक असमाधिमरण से न मरे" जैनदर्शन का सर्वोपरि लक्ष्य है क्योकि असमाधिमरण से भव-भ्रमण की वृद्धि होती । भव-भ्रमण की वृद्धि से हिंसा आदि अनेक पापकर्मों की वृद्धि होती है । इस भव-परम्परा मे होने वाली जीव-हिंसा से बचने के लिए वर्तमान मे हो रही जल-जीवो की हिंसा नगण्य मानी गई है ।

श्रमण जब जल मे चलता है तब जल के जीवो की हिंसा करने के सकल्प से नही चलता है । वह तो केवल अन्य मार्ग के अभाव मे जल मे होकर जा रहा है ।

श्रमण यद्यपि यह जानता है कि जल मे चलने पर जीवो की हिंसा अवश्य होगी किन्तु उस जीवहिंसा से बचने का कोई उपाय उसके पास नही है अत वह विवश होकर जल मे चल रहा है । यह हिंसा द्रव्यहिंसा है और इस की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण द्वारा हो जाती है । इस प्रकार की द्रव्यहिंसा से कर्मबन्ध भी नही होता क्योकि यह हिंसा कषायपूर्वक नही हुई है । जिस प्रकार काँच पर पडी हुई मिट्टी अल्प प्रयत्न से दूर हो जाती है उसी प्रकार यह द्रव्य-कर्म-रज भी केवल प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित हो जाती है ।

(२) श्रमण या श्रमणियाँ भिक्षा के लिए गए हो और भिक्षा लेकर लौटते समय यदि मार्ग मे वर्षा आ जाए तो कुछ समय तक कही पर रुक कर वर्षा बन्द होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए । यदि वर्षा बन्द न हो तो सायकाल से पूर्व उन्हे उपाश्रय मे पहुँच जाना चाहिए ।

इन विधान की आधारभूमि मे व्यवहार-रक्षा प्रधान है और जीव-रक्षा गौण है। रात्रि मे उपाश्रय के बाहर रहने मे श्रमण या श्रमणी के प्रति अन्य श्रमण-श्रमणियो को अनेक प्रकार की आशकाएं हो सकती है। बाहर रहने वाले श्रमण या श्रमणियो की सयम-साधना मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो सकती है। यद्यपि जीवरक्षा भी सयम साधना है किन्तु यहाँ जीवरक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण व्यवहार-रक्षा है। व्यवहार-रक्षा के सामने जीवरक्षा इतनी नगण्य अवश्य हो गई है कि उसके लिए एक रात्रि उपाश्रय के बाहर नही रहा जा सकता और उसके लिए लोकापवाद या ऐसा ही कोई अन्य परीषह सहा नहीं जा सकता।

जल-प्रवाह को पार करना

(क) श्रमण-श्रमणियाँ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय यदि मार्ग मे ऐडी, पिण्डली, घुटना या जघा जितना गहरा जल-प्रवाह आ जाए तो पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर का प्रमार्जन करके, एक पैर जल मे और एक पैर अवर उठा कर पानी नितारते हुए क्रमश यतनापूर्वक जल-प्रवाह को पार करें।

(ख) जलप्रवाह को पार करते समय एक श्रमण दूसरे श्रमण के हाथ मे हाथ का, पैर से पैर का, शरीर से शरीर का स्पर्श न करें।

इसी प्रकार श्रमणियाँ भी परस्पर स्पर्श न करें।

(ग) जलप्रवाह को पार करते समय श्रमण-श्रमणियाँ शीत सलिल की सुखद स्पर्शानुभूति के लिए गहरे पानी मे डुबकियाँ न लगावें किन्तु जिस तरफ अल्प प्रवाह हो उस तरफ से पार करें।

(घ) जलप्रवाह को पार करने पर शरीर जब तक गीला रहे तब तक किनारे पर शान्त भाव से स्थिर रहे।

(ङ) गीले शरीर को कपडे आदि से पोंछ कर सुखाने का प्रयत्न न करें। जब शरीर का गीलापन स्वत समाप्त हो जाये तब प्रमार्जन करके आगे विहार करें।

पकिल पथ

श्रमण-श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हैं, मार्ग मे कुछ दूरी तक कीचड मे चलने से पैर कीचड से सन गए है। पैरो के कीचड को दूर करने के लिए श्रमण न उन्मार्ग से चले और न घास से पैर साफ करे अपितु घास रहित मार्ग से जावे।

नौका आरोहण का विधान

(क) श्रमण या श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हो और मार्ग मे नौका द्वारा पार होने योग्य नदी आदि का प्रवाह आ गया हो तो नौका मे बैठने से पूर्व नौका के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी करनी चाहिए।

(१) श्रमण के लिए नौका खरीदी गई हो।

(२) श्रमण के लिए नौका उधार ली गई हो।

(३) श्रमण के लिए नौका के बदले नौका ली हो।

(४) श्रमण के लिए नौका जल से स्थल पर या स्थल से जल पर लाई गई हो।

(५) श्रमण के लिए पानी उलीचकर नौका खाली की गई हो।

(६) श्रमण के लिए कीचड मे फसी हुई नौका बाहर निकाली गई हो तो इस प्रकार की नौका





चाहे प्रवाह के सन्मुख अनुकूल या तिरछी जाने वाली हो और योजन, अर्ध योजन या न्यूनाधिक जाने वाली हो, श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार की नौका मे न बैठें। श्रमण-श्रमणियाँ नौका मे बैठने से पहले यह जान लें कि—नौका गृहस्थो के लिए नदी के उस पार जाने वाली है तो अपने उपकरणो को अच्छी तरह व्यवस्थित कर लें पश्चात् शरीर का प्रमार्जन करके सागारिक भक्तप्रत्याख्यान (नदी के उस पार पहुँचने तक चार प्रकार के आहार का त्याग) करे, एक पैर जल मे और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखते हुए क्रमश विवेकपूर्वक नौका पर बैठें।

नौका मे अग्रभाग, पृष्ठ भाग या मध्य भाग से न बैठें अपितु जहाँ से चढने की व्यवस्था हो वहाँ से चढकर बैठें।

नौका के पाश्व भाग को पकडकर किसी ओर अगुली से सकेत न करें और न शरीर को ऊँचा-नीचा करके देखें।

(ख) नौका पर आरूढ श्रमण को नाविक निम्न प्रकार के वाक्य कहे तो श्रमण उनके वाक्यो पर ध्यान न दे अपितु मौन रहे—

(१) हे आयुष्मान् श्रमण! आप इस नौका को आगे खीचें या पीछे खीचें। अथवा नौका को चलावें या नौका का रस्सा खीचें।

(२) यदि आप नौका को आगे-पीछे खीचने मे असमर्थ है तो केवल नौका की रस्सी लादें।

(३) डाड, पाटिया, वास या वल्ले से नौका चलावें।

(४) नौका के पानी को हाथ पैर से पात्र से या किसी और उपकरण से उलीचें (निकाल दें)।

(५) नौका के छिद्र को हाथ, पैर, भुजा, जघा, पेट या किसी शरीर के अवयव से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश से या कमलपत्र से ढँक दो।

(६) हे श्रमण! इस छत्र-यावत्-चर्मछेदक को लो, इन नाना प्रकार के शस्त्रो को धारण करो या इस बालक को पानी पिलाओ।

(ग) (१) नौका पर आरूढ श्रमण या श्रमणिया नौका के छिद्र से पानी आता देखकर या आते हुए उस पानी से नौका डगमगाती देखकर किसी से यह नही कहे कि—आयुष्मन्! छिद्र से पानी आ रहा है और उससे नौका डगमगा रही है।

(२) नौका के छिद्र में से पानी आता देखकर श्रमण या श्रमणिया न मन मे घबरावें और न घबरा कर कुछ वाक्य कहे, अपितु शरीर का मोह त्याग कर शान्त एव स्वस्थ मन से आत्म-रमण करते हुए समाधिस्थ हो जावें।

(घ) (१) नौकारूढ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहे कि "आयुष्मन्! इस श्रमण से नौका मे भार अधिक हो गया है अत इसे इस प्रवाह मे फैंक दो" इस प्रकार के वाक्य सुनकर श्रमण यदि वस्त्रधारी हो तो सारे वस्त्र उतार कर सिर पर धर ले या अत्यल्प वस्त्र पहन ले।

(२) इतने पर भी यदि वे क्रूर व्यक्ति न मानें और भुजाएँ पकडकर फैंकने लगें तो मुनि उनसे इस प्रकार कहे —

आयुष्मन्! मुझे न फैंको, मैं स्वय ही पानी मे उतर रहा हूँ। इतना कहने पर भी यदि वे पानी मे फैंक दे तो श्रमण को उनका अनिष्ट न सोचना चाहिए, न अप्रसन्न होना चाहिए

और न अशान्त होना चाहिए, अपितु स्वस्थ चित्त मे तैरते हुए उस पार पहुच जाना चाहिए ।

(३) पानी मे तैरते हुए किसी दूसरे के हाथ मे हाथ का, पैर मे पैर का —यावत्— शरीर मे शरीर का स्पर्श न होने दें ।

(४) पानी मे तैरते हुए न डुबकियाँ लगावें और न नाक कान या मुँह मे पानी का प्रवेश होने दे ।

(५) तैरते हुए यदि थकान आ जाए तो अधिक भार वाले उपकरणो को त्याग देना चाहिए ।

(६) किनारे पहुँचने पर गीले शरीर का रगड़ना मसलना या कपडे म पोछ कर सुखाना तथा अग्नि मे तपाना नही चाहिए।

(७) गीला शरीर स्वत सूख जाने पर ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए ।

(ङ) (१) जहाँ गहरा पानी हो और उस पार जाने के लिए नौका न हो तो तैर कर ही उस पार पहुँचना चाहिए ।

(२) तैरते हुए आवश्यकता से अधिक हाथ पैर न पटकने चाहिए ।

महानदियो को पार करना

(क) श्रमण या श्रमणियो को निर्दिष्ट पाँच महानदियाँ एक मास मे दो या तीन वार पार नही करनी चाहिए अर्थात् विशेप प्रयोजन हो तो एक मास मे केवल एक वार महानदी को पार कर सकते हैं । वे ये है—गगा, यमुना, सरयू, कोशिका और मही । इन महानदियो मे से किसी महा नदी का पानी कही पर इतना अल्प हो कि एक पैर जल मे और एक पैर ऊपर उठाकर पानी नितार कर रखता हुआ क्रमश उस पार पहुँच सके तो एक मास मे दो या तीन वार भी पार कर सकते है ।

नदी पार करने के प्रमुख कारण

(१) जिस गाँव मे या जिस स्थान पर श्रमण ठहरे हुए हो वहाँ निर्दोप भिक्षा प्राप्त न होती हो ।
(२) श्रमण जिस गाँव जाना चाहते हो वहाँ के लिए स्थलमार्ग सवथा न हो ।
(३) श्रमण जहाँ ठहरे हुए हो वहाँ वस्ती न हो ।
(४) स्थलमार्ग मे जाने मे जहाँ सिंह आदि श्वापदो का भय हो ।
(५) स्थलमार्ग से जाने मे जहाँ चोरो का भय हो ।
(६) दुर्भिक्ष वाले प्रान्त से सुभिक्ष वाले प्रान्त मे जाना चाहते हो ।
(७) अराजकता वाले प्रान्त से शान्ति वाले प्रदेश मे जाना चाहते हो ।
(८) अनार्य आदि के उपद्रव वाले प्रान्त से शान्तिवाले प्रदेश मे जाना चाहते हो ।
(९) सर्पविप या विसूचिका आदि की औपधि के लिए जाना आवश्यक हो ।
(१०) कुल (एक आचार्य के शिष्य) के लिए कोई अत्यावश्यक कार्य हो ।
(११) धार्मिक उपकरणो के लिए जाना आवश्यक हो ।

नौका द्वारा नदी पार करने के हेतु

(१) पूर्वोक्त हेतुओ से नदी पार करना आवश्यक हो किन्तु नदी मे मगरमच्छ का भय हो ।
(२) नदी मे पानी अधिक हो या डूबने का भय हो तो नौका मे बैठकर नदी पार करना चाहिए ।[1]



१ निशीयभाष्य सूत्र० ४२, गाया ४२५४

भ० महावीर का नौकारोहण

"भ० महावीर ने सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश पधारते हुए मार्ग में गंगानदी को नौका द्वारा पार किया।[1] यह भगवान् के द्वितीय वर्षावास के पूर्व का वर्णन है। भगवान उस समय छद्मस्थ थे। इस घटना को स्थानकवासी विद्वानों ने अमान्य नहीं घोषित किया है।[2] अतः यहाँ इस संबंध में कुछ उद्भूत प्रश्नों की विचारणा आवश्यक है।

१ भ० महावीर का थूणाक सन्निवेश की ओर पधारने का हेतु क्या था ?

२ न पधारते तो क्या होता ?

३ नौका द्वारा होने वाली जीवविराधना से होने वाला आस्रव और भ० महावीर।

विना प्रयोजन नौका में बैठना निषिद्ध है।[3] इसलिए यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि—
भ० महावीर के नौकारोहण का हेतु क्या था ?

ग्रामानुग्राम विहार ही यदि नौकारोहण का हेतु माना जाए तो यह हेतु ऐसा नहीं है जिसे अनिवार्य माना जाय।

सुदंष्ट्र देव द्वारा जो उपसर्ग हुआ था वह तो अज्ञात भी हो सकता था।

नौकारोहण के हेतु वे ही हैं जो नदी पार करने के हेतु हैं।[4] भ० महावीर ने जब गंगा नदी पार की थी[5] तब उनमे का एक भी हेतु उनके सामने नही था। फिर भी उन्होंने गंगा नदी नौका द्वारा पार की है।

दो योजन की दूरी तक यदि स्थलमार्ग मिल जाए तो नौका द्वारा नदी पार करना निषिद्ध है।[6] पर इस दूरी के सवध मे तो तब सोचा जाए जब जाने का कोई अनिवार्य हेतु हो।

(२) भ० महावीर थूणाक सन्निवेश की ओर न पधारते तो उन्हे क्या कोई हानि होती। उनके निजी लाभ का तो कही कोई प्रश्न ही नही था क्योंकि वे वीतराग थे। यदि वे भव्य जनों के हित के लिए पधारे तो हमारे सामने यह एक उदाहरण योग्य प्रसग है।

भ० महावीर ने जब गगानदी नौका द्वारा पार की थी उस समय वे छद्मस्थ थे फिर भी उन्हे लगने वाली सभी क्रियाएँ साम्परायिक नही थी—यह निश्चित है। इसलिए इस प्रसग को प्रमाद रूप नही कह सकते क्योंकि छद्मस्थ अवस्था मे भी भगवान अप्रमत्त थे। नौका द्वारा गगा नदी पार करना — उत्सर्ग मार्ग नही है यह तो स्पष्ट है। अपवाद मार्गों मे यह किस प्रकार का अपवाद मार्ग है जिसे भगवान ने अपापरूप कह कर[7] स्वय आचरण किया और श्रमणो के लिए विधान किया।[8]

---

१ आवश्य० चू० प्र० भा० प० २८२

२ स्व० दिवाकरजी म० लिखित-भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृष्ठ २३६-२४३

३ निशीथ० उद्दे० १८, सूत्र १

४ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२५४

५ निशीथ उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२१८

६ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२४७

७ आचा० श्रुत० १, अ० ६, उद्दे० ४, गाथा १५

८ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे २, सूत्र ११८ ११९

विहार क्षेत्र

पूर्व मे अगदेश की राजधानी चपानगरी[1] और मगधदेश की राजधानी राजगृह[2] पर्यन्त ।

पश्चिम में थूणा नगरी[3] पर्यन्त ।

दक्षिण मे कौशाम्बी नगरी[4] पर्यन्त ।

उत्तर मे कुणाल देश (श्रावस्ती नगरी)[5] पर्यन्त ।

इन चार दिशाओ मे चारो राजधानियो की सीमाओ तक जैन श्रमण-श्रमणियो के लिए विहार करने का विधान है और इन सीमाओ से बाहर विहार करने का निषेध है ।

इस विधान का तात्पर्य यह है कि जैन श्रमण-श्रमणिया केवल आर्य क्षेत्र मे ही विहार करें। अनार्य क्षेत्र मे विहार करने से उनकी सयमसाधना मे अनेक विघ्न-बाधायें आती हैं ।

यदि ज्ञान-दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए इन सीमाओ से बाहर जाना उचित प्रतीत हो तो जा सकते है ।[6]

इस आगमोक्त विधान मे आधुनिक विद्वानो की यह धारणा बननी जा रही है कि जैन श्रमण-श्रमणियो का विहारक्षेत्र सर्वदा सीमित रहा है।

भगवान् महावीर एक बार लाढ देश के वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नाम के दोनो प्रान्तो मे पधारे थे । यद्यपि लाढ देश विहार के अयोग्य माना गया है फिर भी भगवान् वहा पधारे और जितने परीषह हुए उन्हे वे समभाव से

---

१ (क) औप० सू० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८
(ख) ज्ञाता० श्रुत० १, अ० ८
(ग) महाभारत के वनपर्व, शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व मे जिस 'चम्पानगरी' का उल्लेख है वह इस अग देश की राजधानी चम्पा से भिन्न है ।
(घ) वर्तमान मे विहार के भागलपुर जिले मे चम्पापुर नाम का गाव ही प्राचीन चम्पा है ।

२ (क) ज्ञाता श्रु० २, अ० १ तथा स्थाना० अ० १०, सू० ७१८
(ख) मगध का उल्लेख महाभारत के सभापर्व आदि अनेक पर्वों मे है ।
(ग) राजगृह का महाभारत के आदिपर्व मे भी वर्णन है ।
(घ) वर्तमान मे विहार प्रान्त के दक्षिणी भाग मे यह राजगिर नाम से पहचाना जाता है । यह पटना से ७ मील और नालन्दा से ८ मील है ।

३ थूणा नगरी किस देश की राजधानी है—यह जानने के लिए प्रयत्न होना चाहिए । उपलब्ध आगमसाहित्य से इस सबन्ध मे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है ।

४ (क) कोशाम्बी नगरी वत्स देश की राजधानी थी। प्रज्ञा० पद १
(ख) महाभारत के सभापर्व मे यह जनपद पूर्व में माना गया है । सभव है यह वत्स देश आगमोक्त वत्स देश से भिन्न है ।
(ग) वर्तमान मे—कोशम नाम से यह प्रसिद्ध है जो इलाहाबाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है ।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २३ का टिप्पण ।

५ (क) कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती है । प्रज्ञा० पद १

६ (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र ५१





सहन करते रहे। यह लाढ देश अनार्य जनपदों में माना गया है।[1]

आगमोक्त चार सीमाओं से बाहर भी अनेक श्रमण गए थे। जैन आगमों और कथाग्रन्थों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं।

आर्य जनपद और उनकी राजधानियां

	जनपद	राजधानी
१	मगध	राजगृह
२	अंग	चम्पा
३	वंग[2]	ताम्रलिप्ती[3]
४	कलिंग[4]	कांचनपुर
५	काशी[5]	वाराणसी[6]
६	कोशल[7]	साकेत (अयोध्या)[8]
७	कुरु[9]	गजपुर[10]

---

१ (ख) आचा० श्रुत० १, अ० ८, गाथा
अनार्य जनपद लाढ बंगाल का वह भाग जो गंगा के पश्चिम में स्थित है। उसमें तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और बर्दवान जिले सम्मिलित थे। मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग उसकी उत्तरी सीमा में था। तीर्थंकर महावीर पृ० २११, १२१ का टिप्पण।

२ वंग-भारत का प्रसिद्ध पूर्वी जनपद है।

३ देखिए—भग० श० ३, उद्दे० १

४ कलिंग पूर्वी समुद्र तट पर एक जनपद।

५ मध्य देश में यह एक जनपद था। —पाणि० पृ० ७४

६ (क) काशी जनपद की वाराणसी राजधानी थी। – पाणि० पृ० ७४ तथा ज्ञाता० अ० ५ और ज्ञाता० अ० ८

७ (क) कोशल-मध्य देश में यह एक जनपद था।—पाणि० पृ० ७४
(ख) महाभारतकाल में कोशल के दो विभाग थे, जो दक्षिण और उत्तर में विभक्त थे। –भीष्म पर्व।

८ (क) देखिए—भरत चक्री वर्णन-जम्बू०।
(ख) इसका एक नाम 'विनीता' भी है—जम्बू०।
(ग) यह महाभारतकाल में भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी थी। देखिए आदि पर्व।
(घ) अयोध्या का साकेत नाम बहुत प्राचीन है। देखिए —स्थाना० अ० १०, सूत्र० ७१८

९ (क) सरस्वती और दृशद्वती नामक नदियों के मध्य का प्रदेश कुरु या कुरुक्षेत्र कहा जाता था।
—महाभारत वनपर्व।
(ख) देखिए—ज्ञाता० अ० ८

१० (क) कुरु-जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है।—ज्ञाता० अ० ८
(ख) कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है। महाभारत आदिपर्व।
(ग) आधुनिक विद्वान् मेरठ से २८ मील उत्तर पूर्व में और बिजनौर से दक्षिण-पश्चिम में इसकी स्थिति मानते हैं।
(घ) हस्तिनापुर का ही अपरनाम 'गजपुर' है।—प्रज्ञा० पद० १

८ कुशावर्त[1]	सौरिकपुर[2]
९ पचाल[3]	कापिल्यपुर[4]
१० जागल[5]	अहिछत्रा[6]
११ सौराष्ट्र[7]	द्वारका[8]
१२ विदेह[9]	मिथिला[10]
१३ वत्स[11]	कौशाम्बी[12]
१४ शाण्डिल्य	नन्दिपुर[13]

---

१ कुशावर्त—महाभारत काल मे इस नाम का एक तीर्थ था । —अनुशासनपर्व ।

२ (क) शौरिकपुर और शौरीपुर दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न, इस सम्बन्ध मे निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता ।
(ख) देखिए—विपाक अ० ८ और उत्त० अ० २२, गाथा० ३

३ (क) पचाल-पचाल क्षत्रियों के सन्निवेश का जो स्थान था वह 'पचाल' कहा जाता था ।—पाणि० पृ० ४२५
(ख) पचाल और कुरुपचाल इन दो जनपदो का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व मे है ।
(ग) पचाल जनपद को वर्तमान मे पजाब कहते है ।

४ (क) कपिलपुर मे भगवान् महावीर का इक्कीसवा वर्षावास हुआ था । —उपा० अ० ६
(ख) कपिलपुर दक्षिण पचाल की राजधानी थी ।—महाभारत आदि पर्व ।

५ (क) जागल-निर्जल जनपद—महाभारत भीष्म पर्व ।
(ख) 'कुरुजागल' नाम से भी यह जनपद प्रसिद्ध है ।

६ (क) अहिच्छत्र-उत्तर पचालवर्ती राज्य, इसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी —महाभारत आदि पर्व ।
(ख) जैनागमों के अनुसार जागल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा है ।

७ (क) सौराष्ट्र-गुजरात और काठियावाड का सम्मिलित जनपद ।
(ख) सोरठ-सौराष्ट्र रेवतकगिरि के समीप का जनपद ।

८ (क) सौराष्ट्र की राजधानी द्वारका के द्वारकावती या द्वारावती नाम भी थे । इसके चारो दिशाओ मे चार पर्वत थे । इस महापुरी के पचास द्वार थे । —महाभारत सभापर्व ।
(ख) द्वारका के विस्तृत वर्णन के लिए—देखिए अन्तकृत प्र० वर्ग० अ० १
(ग) वर्तमान मे यह नगरी समुद्र मे विलुप्त मानी जाती है ।

९ (क) विदेह जनपद का दूसरा नाम 'मिथिला' जनपद था । मिथिला के राजा निमि देहाभिमान से रहित थे इस इसलिए वे 'विदेह' नाम से विख्यात हुए । सारा जनपद भी 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हो गया था ।—उत्त० अ० ९ तथा महाभा० आदि पर्व ।
(ख) वर्तमान मे तिरहुत का प्राचीन नाम 'मिथिला' एव 'विदेह' है ।

१० मिथिला-पूर्वोत्तर भारत का एक प्राचीन जनपद भ० मल्लिनाथ की यह जन्मभूमि है ।

११ वत्स-पूर्वी भारत का एक जनपद । महाभा० सभापर्व ।

१२ (क) कौशाम्बी का वर्णन देखिए—विपा० अ० ५
(ख) प्राचीन भारत की दस राजधानियों मे एक कौशाम्बी नाम की राजधानी ।—देखिए स्था० अ० १० सू० ७१८



१३ शाण्डिल्य जनपद और उसकी नन्दिपुर राजधानी कहा थी, इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं ।



१५	मलय[1]	भद्दिलपुर[2]
१६	वच्छ	वैराटपुर[3]
१७	वरण	अच्छापुरी[4]
१८	दशार्ण[5]	मृत्तिकावती[6]
१९	चेदि[7]	शौक्तिकावती[8]
२०	सिन्धु सौवीर[9]	वीतभयपत्तन[10]
२१	शूरसेन[11]	मथुरा[12]
२२	भंग[13]	पावा[14]

---

१ मलय-दक्षिण मे मलय पर्वत के समीप का एक जनपद ।

२ भद्दिलपुर का वर्णन देखिए अत० अ० ८ १०३,

३ विराट नगर मत्स्य देश की राजधानी थी ।— देखिए महाभा० विराटपर्व । प्राकृत मे मत्स्य का मच्छरूप होता है । सभव है लिपिदोष से मच्छ के स्थान मे वच्छ लिखा गया हो । अन्यथा आय जनपदो में वच्छ नाम के दो जनपद हो जाते हैं । जो सकलनशैली से उचित प्रतीत नहीं होते ।

४ वरण जनपद और उसकी राजधानी अच्छापुरी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है ।

५ (क) दशार्ण जनपद के दो विभाग थे । पूर्वी भाग मे छत्तीसगढ का कुछ भाग और पश्चिमी भाग मे पूर्वी मालवा और भोपाल की रियासत सम्मिलित थी ।

(ख) हिंदी शब्दसागर के अनुसार विन्ध्यपर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित उस प्रदेश का प्राचीन नाम 'दशार्ण' है ।

(ग) मेघदूत के अनुसार इस जनपद की राजधानी विदिशा-आधुनिक 'भेलसा' थी ।

(घ) जैन कथाग्रन्थो के अनुसार इस जनपद की राजधानी 'दशार्णपुर' थी । भ० महावीर के समय मे यहा का राजा 'दशार्णभद्र' था । वह भ० महावीर के समीप दीक्षित हुआ था ।

६ मृत्तिकावती-यह दशार्ण जनपद की राजधानी थी ।—देखिए प्रज्ञा० पद० १

७ (क) चेदि-एक प्राचीन जनपद था, वहा का अधिपति शिशुपाल था ।—महाभा० आदि पर्व ।

(ख) चेदि और वत्स ये दोनो जनपद पास पास मे थे ।—पाणि० पृ० ५७

८ (क) शौक्तिकावती-चेदि जनपद की राजधानी थी ।—प्रज्ञा० पद० १

(ख) शुक्तिमती नाम भी इस नगरी का है ।—देखिए ज्ञाता० अ० १६

(ग) शुक्तिमती नाम की नदी के समीप शिशुपाल की राजधानी थी । – देखिए महाभा० आदि पर्व ।

९ (क) सिन्धुसौवीर दो जनपदों का सयुक्त नाम है ।—देखिए-पाणि० पृ० ५७

(ख) सिंधु नदी के पूर्वी किनारे की तरफ पजाब मे फैला हुआ प्राचीन सिंधु जनपद था ।

(ग) वर्तमान सिंध प्रात का पुराना नाम सौवीर जनपद है ।—देखिए पाणि० पृ० ५०

१० (प) वीतभयपत्तन सिन्धु और सौवीर इन दो जनपदो की सयुक्त राजधानी थी ।

११ (श) शूरसेन एक प्राचीन जनपद है । वर्तमान मे मथुरा के आसपास का प्रदेश जो व्रजमण्डल के नाम से प्रसिद्ध है वह प्राचीन शूरसेन जनपद है ।

१२ (क) मथुरा का एक नाम शूरसेनपुर भी है ।—देखिए महाभा० सभापर्व ।

(ख) मथुरा भारत की प्रमुख दस राजधानियो मे से एक राजधानी है ।—स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

१३ भग-जनपद आधुनिक बिहार के समीप का जनपद है ।

१४ पावा-भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि जो आजकल बिहार प्रान्त मे पावापुरी नाम से प्रसिद्ध है ।

२३	पुरिवर्त	मासा[1]
२४	कुणाल[2]	श्रावस्ती[3]
२५	लाट[4]	कोटीवर्ष[5]
२६	केकयार्ध[6]	श्वेताम्बिका[7]

आकाशमार्ग

श्रमण जब आकाशमार्ग मे इष्ट स्थान पर पहुचना चाहता है तब वह वायुयान (आकाशगामी विमान) आदि किसी साधन का उपयोग नही करता है अपितु केवल लब्धि-बल का ही उपयोग करता है। वह लब्धि चारणलब्धि के नाम से प्रसिद्ध है। उस तपोजन्य चारणलब्धि के दो प्रमुख भेद है—विद्या-चारण और जघाचारण।

चारणलब्धिसम्पन्न श्रमण की आकाशगामिनी गति देवगति के समान तीव्र हो जाती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर मे जम्बूदीप की तीन परिक्रमाए कर लेता है। विद्याचारण श्रमण भी इतनी तीव्र गति से आकाश मे गमनागमन कर सकता है।

निरन्तर षष्ठभक्त तप करते-करते आकाशगामिनी विद्या द्वारा आकाश मे गमनागमन का सामर्थ्य जब श्रमण को प्राप्त हो जाता है तब वह विद्याचरण कहलाता है।

तिरछी दिशा मे वह एक उडान मे मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान मे नन्दीश्वर द्वीप पहुच जाता है। तथा लौटते समय एक ही उडान मे स्वस्थान पर पहुच जाता है।

ऊर्ध्वदिशा मे विद्याचारण एक उडान मे नन्दन वन (मेरुपर्वत पर) और दूसरी उडान मे पडक वन (मेरु-पर्वत पर) पहुच जाता है। लौटते समय एक उडान मे स्वस्थान पर पहुच जाता है।

जघाचारण लब्धि निरन्तर अष्टमभक्त तप करते करते प्राप्त होती है। विद्याचारण से जघाचारण की आकाशगामिनी शक्ति अधिक होती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर मे जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमाए

---

१ पुरिवर्त-जनपद और मासा राजधानी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है।

२ कुणाल जनपद का उल्लेख—देखिए ज्ञाता० अ० ८

३ श्रावस्ती-इस समय 'सहेत महेत' के भग्नावशेषो के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान उत्तरप्रदेश के गोडा और बहराइच जनपदों की सीमा पर स्थित है। सहेत महेत उत्तर पूर्वी रेलवे की गोडा-गोरखपुर लाइन पर बलराम-पुर स्टेशन से बहराइच जाने वाली सडक इसके पास से जाती है। और इस स्थान से छोटी सडक खडहरो तक पहुच जाती है।

४ वर्तमान मे लाट जनपद की भौगोलिक स्थिति उत्तरी बगाल है। अनार्य जनपद लाढ आर्य जनपद लाट से भिन्न है।

५ दिनाजपुर जिले मे स्थित बानगढ का प्राचीन नाम कोटिवर्ष था।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २११

६ (क) केकयार्ध-केकय जनपद का उपनिवेश था। केकय जनपद झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम है। -देखिए पाणि० पृ० ६७

(ख) केकय जनपद व्यास और सतलज के बीच का भू भाग है।—देखिए महाभा० भीष्मपर्व।
केकय जनपद के सबध मे ये दो मत हैं। वास्तव मे केकय जनपद की भौगोलिक स्थिति शोध का विषय है।

७ श्वेताम्बिका-सावत्थी के समीप थी। यह सावत्थी कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ती से भिन्न है या वही है? यह ज्ञातव्य है।



कर लेता है। जघाचारण श्रमण भी इतनी ही तीव्र गति से आकाश मे गमनागमन कर सकता है।

तिरछी दिशा मे जघाचारण एक उडान मे रुचकवर द्वीप पहुच जाता है तथा लौटते समय एक उडान मे नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

ऊर्ध्व दिशा मे जघाचारण एक उडान मे पडग वन (मेरुपर्वत पर) पहुच जाता है। लौटते समय एक उडान मे नन्दन वन और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

विद्याचारण का गमन दो उत्पात (उडान) मे होता है और आगमन एक उत्पात मे होता है।

जघाचारण का गमन एक उत्पात से होता है और आगमन दो उत्पात मे होता है। यह इन लब्धियो का स्वभाव है।

चारण लब्धि के अन्य अनेक भेद है। यथा -

१ जल-चारण-जलकायिक जीवो की हिसा न करता हुआ जो जल पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

२ जघा-चारण-पृथ्वी से चार अगुल ऊपर आकाश मे पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

३ फल-चारण-फलो के जीवो की हिसा न करता हुआ फलो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

४ पुष्प-चारण-पुष्पो के जीवो की हिसा न करता हुआ पुष्पो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

५ पत्र-चारण-पत्तो के जीवो की हिसा न करता हुआ पत्तो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

६ श्रेणी-चारण-चार सौ योजन ऊची निषध और नीलवन्त पर्वत-श्रेणी पर ऊपर या नीचे चलता है।

७ अग्निशिखा-चारण अग्नि कायिक जीवो की हिसा न करते हुए अग्निशिखाओ पर चलता है।

८ धूम चारण ऊपर या तिरछे जाते हुए धूम का आलम्बन करके चलता है।

९ नीहार-चारण-जलकायिक जीवो की हिसा न करते हुए हिमकणो के साथ जो गति करता है।

१० अवश्याय-चारण-जलकायिक जीवो की हिसा न करते हुए ओसकणो का अवलम्बन लेकर जो चलता है।

११ मेघ-चारण-जलकायिक जीवो की हिसा न करते हुए जो मेघ के साथ गति करता है।

१२ वारिधारा-चारण-जलकायिक जीवो की हिसा न करता हुआ जो आकाश से गिरती हुई जल-धारा का अवलम्बन लेकर चलता है।

१३ मर्कटतन्तु-चारण मकडी के तन्तु का अवलम्बन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१४ ज्योति-रश्मि-चारण-चन्द्रादि ग्रहो या नक्षत्रो की रश्मियो का अवलम्बन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१५ वायु-चारण-वायु के अनुकूल या प्रतिकूल जो आकाश मे गमनागमन करता है।[1]

चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण सत्रह हजार योजन ऊपर उठकर तिरछी गति करता है। आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञान के अनुसार जहा आक्सिजन (प्राण वायु) का अभाव है वहा भी चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण गमनागमन करने मे समर्थ होता है।

लब्धिप्रयोग प्रमाद-कार्य है अत लब्धि-प्रयोग करने वाले को लब्धि-प्रयोग के पश्चात् आत्मशुद्धि के लिए आलोचना-प्रतिक्रमण आदि करना आवश्यक होता है अन्यथा वह भगवान् की आज्ञा का आराधक नही माना जाता है।

---

१. अभिधान० राजेन्द्र चारण शब्द।

विद्याचारण और जघाचारण तिरछी दिशा मे या ऊर्ध्व दिशा मे जब जाता है तब चैत्य वदन के लिए ही जाता है। चैत्य क्या है ? इस विषय मे मतभेद हैं। स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार यहाँ चैत्य का अर्थ ज्ञानी साधक श्रमण होता है। चैत्यवासी परम्परा के अनुसार चैत्य का अर्थ—जिन स्मारक होता है। वदन के सबध मे दोनो परम्पराए एक मत हैं। वदन विनय है। विनय आभ्यन्तर तप है। तप निर्जरा का हेतु है। वन्दन विनय तप द्वारा निर्जरा करने के लिए चारण श्रमण को लब्धि प्रयोग का (प्रमाद) आश्रव करना पडता है।

अधिक निर्जरा लाभ हो तो अल्प आश्रव वाले कुछ कार्य, जिनकी शुद्धि सामान्य प्रायश्चित्त मे हो सकती हो, अकरणीय कोटि के नहीं माने जाते हैं। अपितु करणीय कार्य मे भी अधिक उन कार्यों को महत्व का माना जाता है। यह स्थानकवासी मान्यतासम्मत विचारधारा है। एक ओर वायुकाय की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना तथा दूसरी ओर शाश्वत लाखो योजनो तक अति तीव्रतम उडान मे चैत्य वन्दन के लिए जाना ऐसी विसगतियो को अनेकान्त मे सापेक्ष समन्वय का गौरवपूर्ण स्थान देकर जैन-दृष्टि की विशालता जिन अर्हतो ने बताई है उनके चरणो मे हमारा शतशत वन्दन, अभिनन्दन।

वक्रिय लब्धि मे भावितात्मा (उत्कृष्ट चारित्र पालने वाला श्रमण) अनगार अनन्त आकाश मे उडाने भरता है तब अनेक प्रकार के आश्चर्यकारक रूप बनाता है। उनकी एक लबी सूची इस प्रकार है—

१ डोरी बाँधी हुई घटिका लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
२ सोने की पेटी, रत्नो की पेटी, वज्र (हीरे) की पेटी, वस्त्र की पेटी और आभूषणो की पेटी लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
३ वास की या घास की चटाई, चर्मरज्जु मे भरी हुई खाट, कवल का आसन लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बना कर श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
४ लोहा, ताबा, कलई, शीशा, हिरण्य, स्वर्ण और वज्र (हीरा) का भार लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उडाने भरता है।
५ वडवागल (जो वड आदि वृक्षो पर औधा लटकता है) के समान पैर ऊपर और मस्तक नीचे रख कर श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
६ यज्ञोपवीत पहने हुए ब्राह्मण जैसा रूप बनाकर श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
७ जलौका जिस प्रकार पानी में गमन करती है उसी प्रकार श्रमण आकाश मे गमन करता है।
८ बीजबीजक पक्षी (जो घोडे के समान सामने के दोनो पैरो को पेट की ओर मोड कर उडता है) के समान श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
९ विडालक पक्षी (जो एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे वृक्ष से तीसरे वृक्ष पर छलांग मार कर उडता है) के समान श्रमण छलाग मारते हुए आकाश मे उडता है।
१० जीवजीवक पक्षी (घोडे के समान सामने के दोनो पैरो को पेट की ओर मोड कर उडता है) के समान श्रमण आकाश मे उडाने भरता है।
११ हस (जो मानसरोवर के एक किनारे से दूसरे किनारे उडता रहता है) के समान श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
१२ समुद्र-काक (जो एक तरग से दूसरे तरग तक जाता है) के समान श्रमण आकाश मे उडानें भरता है।
१३ चक्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।
१४ छत्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।
१५ चामर लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।



१, २ बीज बीजक पक्षी और जीव जीवक पक्षी भिन्न भिन्न हैं। देखिये भग० श० १३, उ० ९, पृ० ३३६



१६ रत्न, वज्र, वैडूर्य-यावत्-रिष्ट रत्न हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१७ उत्पल, पद्म-यावत्-सहस्रपत्र हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१८ कमलनाल तोडता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार सरोवर मे नौका द्वारा गति करता है उसी प्रकार श्रमण आकाश मे गति करता है।

१९ मृणालिका (जो हवा के झोके से कभी पानी मे डूबती है और कभी ऊपर उठती है) के समान श्रमण आकाश मे गति करता है।

२० श्याम, अतिश्याम-यावत्-मेघवर्ण रमणीय एव दर्शनीय वन का रूप धारण करके श्रमण आकाश मे गति करता है।

२१ चतुष्कोण, समतट सुशोभित प्राकार वाली एव पक्षिसमूह के सुमधुर कलरव वाली पुष्करिणी वापिका के समान रूप धारण करके श्रमण आकाश मे गति करता है।[1]

वैक्रिय-लब्धि से उक्त रूप धारण करके आकाश मे गमन करने का सामर्थ्य श्रमण मे रहता है किन्तु वह धारण करता नही है। यदि सघ-हित के लिए प्रभावोत्पादन के लिए एव जिनप्रवचन के प्रति जनसमूह या विशिष्ट व्यक्तियो को आकर्पित करने के लिए श्रमण को अनेक आश्चर्यजनक रूप धारण करने पडे तो वह लक्ष्यसिद्धि के पश्चात् आलोचना प्रतिक्रमण आदि करके आत्मशुद्धि कर लेता है।

कतिपय भावित आत्मा अनगार जब लब्धिसम्पन्न हो जाते है तब वे ऐसा सोचने लगते है कि—अब हमारी साधना पूर्ण हो गई है, अत हम इस विशिष्ट शक्ति से बहुत कुछ कर सकते है। यह अकुरित अह उन भावित आत्मा अनगारो की आध्यात्मिक प्रगति का अवरुद्ध कर देता है और शनै शनै कठोर तप-साधना से उन्हे विरत कर सयम से विमुख कर देता है। वे अपनी महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए अथवा सामान्य सुख सुविधा के लिए लब्धि का प्रयोग करते हुए नही सकुचाते।

लब्धि-प्रयोग करने वाले अनगार मायावी माने गये है, क्योकि वे लब्धि-प्रयोग से विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक रूप एव गगन मे गमनागमन आदि क्रियाएँ दिखाकर व्यक्ति विशेप को या जनसमूह को प्रभावित करते है।

दस श्रमणधर्मों मे तृतीय श्रमणधर्म 'आर्जव' है। आर्जव अर्थात् सरलता। सरलता साधु का धर्म है। माया अधर्म है। अत श्रमण को लब्धिप्रयोग का प्रायश्चित्त करना पडता है।

परिवर्तित वेप भाषा आदि से जिस प्रकार लौकिक जीवन मे मायावी लोग जनता को प्रभावित कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे श्रमण भी यदि लब्धिप्रयोग से परिवर्तित वेप-भाषा द्वारा जनता को प्रभावित कर इष्टसिद्धि करता है तो वह मायावी ही है।

आगमो मे मायावी और अमायावी के जीवन की झलक दिखाते हुए कहा गया है कि—"मायावी मनुष्य (अनगार) प्रणीत (स्निग्ध घृत आदि का) आहार करता है। और वह जिह्वा लोलुप होकर बारबार स्निग्ध आहार करता है तो उसे कभी कभी वमन भी हो जाता है। अत अस्थि एव मज्जा उसकी घन हो जाती है। मास और रक्त उसके अल्प परिमाण मे बनते हैं। भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलो का परिणमन श्रोत्रेन्द्रिय-यावत्-स्पर्शेन्द्रिय रूप मे, अस्थि एव अस्थि-मज्जा के रूप मे, केश, श्मश्रु, रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप मे होता है।

अमायावी मनुष्य (अनगार) रूक्ष आहार करता है और वह नीरसभोजी इतना अल्प आहार करता है कि वमन तो उसे होता ही नही। अत अस्थि एव मज्जा उसके प्रतनु (अल्प) बनते है। मास और रक्त उसके घन हो जाते

---

१ देखिये भग० श० ३३, उद्दे ९, पृ० ३३६

है। भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलो का परिणमन उच्चार-प्रश्रवण रूप मे यावत् रक्त रूप मे होता है। इसलिए मायावी अनगार लब्धि प्रयोग करता है और अमायावी अनगार लब्धिप्रयोग नही करता है।[1]

आगमकथाओ मे वैक्रिय लब्धिसम्पन्न आपाढभूति अनगार की कथा मायावी तथा अमायावी अनगार का प्रमुख उदाहरण है।

वह आहारप्राप्ति जैसे साधारण कार्य के लिए लब्धिप्रयोग करता है और इस तुच्छ तृष्णावश ही उसका पतन होता है। एक दिन सयम से विमुख हो वह नट बन जाता है। यह है उसके मायावी जीवन का चित्रण।

वही आपाढभूति जब अध्यात्मचिन्तन मे रत हो मायावी जीवन से मुक्त हो जाता है तो एक दिन केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। यह है उसके अमायावी जीवन की सक्षिप्त रूपरेखा।

यतना

यतना का अर्थ है प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार हैं —

(१) द्रव्ययतना (२) क्षेत्रयतना
(३) कालयतना (४) भावयतना

(१) **द्रव्ययतना**—दिन मे आखो मे देख कर चलना। रात्रि मे रजाहरण मे प्रमार्जन करके चलना।

(२) **क्षेत्रयतना**—चार हाथ प्रमाण क्षेत्रो को देखते हुए चलना।

(३) **कालयतना**—जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना।

(४) **भावयतना**—सदा उपयोगपूर्वक चलना।[2]

भावयतना मे श्रमण के सयम की रक्षा होती है। सयम की रक्षा का अर्थ है स्वय श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियो की रक्षा। श्रमण के भाव-विचार-सयम से विचलित न हो यही भावयतना है। वाचिक और कायिक क्रियाओ का महत्व श्रमण के मानसिक सकल्पो के साथ है अत श्रमण को आगमोक्त उन सब नियमो का पालन करना चाहिए जो आत्म-आराधना मे सहायक हो और आत्म-विराधना न होने देते हो। यहा भावयतना के लिए आगमोक्त विधान प्रस्तुत हैं —

श्रमण को इन निर्दिष्ट स्थानो मे नही जाना चाहिए —

१ जहा राजा की मृत्यु के पश्चात् नया राजा पाट पर न बैठा हो
२ जिस गणराज्य मे अशान्ति हो
३ जहा युवराज का राज्याभिषेक न हुआ हो
४ जहा दो राजाओ का शासन हो
५ जहा समीपवर्ती राज्य विरोधी राज्य हो
६ जहाँ राजा के विरुद्ध प्रजा हो

इन स्थानो मे जाने से श्रमण को अनेक परीषह होते है।[3]



---

१ भग० श० ३, उद्दे० ४
१ उत्त० अ० २४, गाथा ७
१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, सूत्र ११६

निर्दिष्ट स्थानो मे होने वाले शब्द सुनने के लिए श्रमण को नहीं जाना चाहिए

१ प्राकार परिखा आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
२ नदी, तालाब या सरोवर आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
३ कच्छ मे होने वाले शब्द
४ वृक्ष पर होने वाले शब्द
५ वन मे होने वाले शब्द
६ वन-दुर्ग मे होने वाले शब्द
७ पर्वत पर होने वाले शब्द
८ पर्वत-दुर्ग मे होने वाले शब्द
९ ग्राम-यावत्-राजधानी मे होने वाले शब्द
१० आश्रम आदि मे होने वाले शब्द
११ आराम आदि मे होने वाले शब्द
१२ देव कुल, सभा या प्रपा आदि मे होने वाले शब्द
१३ अट्टालिका, चरिका, द्वार या गोपुर पर होने वाले शब्द
१४ तिराहे चौराहे आदि मार्गो पर होने वाले शब्द
१५ महिषशाला आदि विविध पशुशालाओ मे होने वाले शब्द
१६ कपिंजल आदि पक्षियो की पक्षिशाला-चिड़िया घर मे होने वाले शब्द
१७ महिष आदि पशुओ मे होने वाले युद्ध के शब्द
१८ कपिंजल आदि पक्षियो के युद्ध के शब्द
१९ लग्नमण्डप मे होने वाले शब्द
२० अश्व-गज आदि के यूथ मे होने वाले शब्द
२१ धर्मकथा के अतिरिक्त शेष कथास्थानो मे होने वाले शब्द
२२ तोल माप होने वाले स्थानो मे होने वाले शब्द
२३ नाट्य मे होने वाले शब्द
२४ कलह मे होने वाला शब्द
२५ जिस राज्य मे श्रमण सस्थित है उस राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२६ पर-राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२७ दो परस्पर विरोधी राज्यो के युद्ध के शब्द
२८ परस्पर विरोध के शब्द
२९ वधस्थान पर ले जाई जाने वाली बालिका का या वधस्थान पर ले जाए जाने वाले पुरुष का शब्द
३० अनेक शकटो के शब्द
३१ अनेक रथो के शब्द
३२ अनेक म्लेच्छो के शब्द

३३ अनेक अत्यजो के शब्द

३४ महोत्सवों में होने वाले शब्द

३५ महाभोज मे होने वाले शब्द

३६ इहलौकिक मनुष्यो के शब्द

३७ पारलौकिक देवो के शब्द

३८ श्रुत शब्द

३९ अश्रुत शब्द

४० इष्ट, कान्त, प्रिय शब्द

४१ स्त्रियो के कूजन-क्रदन, कोलाहल, गायन और हँसने के शब्द

इन शब्दो के सुनने मे राग-द्वेष की वृद्धि होती है। सयम मे मन स्थिर नही रहता अत इस प्रकार के शब्द सुनने के लिए श्रमण को कही नही जाना चाहिए।[1]

ऊपर जितने शब्दस्थान कहे है उनमे से वाद्य स्थानो के अतिरिक्त शेष सभी स्थानो मे दृश्य देखने के लिए भी श्रमण को नही जाना चाहिए।

पथिक प्रश्न

(क) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ साधु या प्रवर्तिनी आदि के साथ साध्विया ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग मे एक दूसरे के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का या शरीर से शरीर का स्पर्श न करते हुए चले। अर्थात् पूज्य गुरुजनो का अविनय न हो इस प्रकार चलें।

(ख) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ श्रमणो को तथा प्रवर्तिनी आदि के साथ श्रमणियो को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग मे पथिक मिलें और "आयुष्मन् श्रमण"! (आयुष्मती श्रमणियो) आप कौन हैं? कहा से आए है और कहा जाएँगे? इत्यादि प्रश्न करे तो जो रत्नाधिक (दीक्षा मे बडा) हो उसे ही उत्तर देना चाहिए।

(ग) रत्नाधिक जब उत्तर दे रहे हो उस समय अन्य किसी श्रमण (श्रमणी) को बीच मे नही बोलना चाहिए।

(घ) वे पथिक पूछे—आपने इधर किसी मनुष्य या स्त्री को, बैल आदि पशुओ को, तीतर आदि पक्षियो को, उरग आदि सरीसृपो को, कूर्म आदि जलचरो को देखा हो तो दिखाइए या कहिए।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नो को सुन कर मौन रहे। न उन्हे दिखावें न उन्हे कुछ कहे और न उन्हे उत्तर देने का आश्वासन दें। यदि किसी प्राणी को पीडा होने की सभावना हो तो जानते हुए भी "हम नही जानते" ऐसा कहे।



इस विधान का प्रमुख उद्देश्य प्राणी-रक्षा है। पथिक के इन विशेष प्रश्नो का उत्तर श्रमण दे या न दे, यह एक समस्या है। इसका सर्वसम्मत समाधान किसी भी परम्परा के आगम-साहित्य मे नही मिलना। यहा समाधान के दो पक्ष दिए गए है। प्रथम पक्ष है —सर्वथा मौन रहना। इसका आशय यह है कि—श्रमण छद्मस्थ है अत पथिक

---

1 आचा० श्रुत० २, अ० ११, सूत्र १६८, १६९

निर्दिष्ट स्थानो मे होन वाले शब्द सुनने के लिए श्रमण को नहीं जाना चाहिए

१ प्राकार परिखा आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
२ नदी, तालाब या सरोवर आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
३ कच्छ मे होने वाले शब्द
४ वृक्ष पर होने वाले शब्द
५ वन मे होने वाले शब्द
६ वन-दुर्ग मे होने वाले शब्द
७ पर्वत पर होने वाले शब्द
८ पर्वत-दुर्ग मे होन वाले शब्द
९ ग्राम-यावत्-राजधानी मे होने वाले शब्द
१० आश्रम आदि मे होने वाले शब्द
११ आराम आदि मे होन वाले शब्द
१२ देव कुल, सभा या प्रपा आदि मे होन वाले शब्द
१३ अट्टालिका, चरिका, द्वार या गोपुर पर होने वाले शब्द
१४ तिराहे चौराहे आदि मार्गो पर होने वाले शब्द
१५ महिषशाला आदि विविध पशुशालाओ मे होने वाले शब्द
१६ कपिंजल आदि पक्षियो की पक्षिशाला-चिडिया घर मे होने वाले शब्द
१७ महिष आदि पशुओ मे होने वाले युद्ध के शब्द
१८ कपिंजल आदि पक्षियो के युद्ध के शब्द
१९ लग्नमण्डप मे होने वाले शब्द
२० अश्व-गज आदि के यूथ मे होने वाले शब्द
२१ धर्मकथा के अतिरिक्त शेष कथास्थानो मे होने वाले शब्द
२२ तोल माप होने वाले स्थानो मे होने वाले शब्द
२३ नाट्य मे होने वाले शब्द
२४ कलह मे होने वाला शब्द
२५ जिस राज्य मे श्रमण सस्थित है उस राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२६ पर-राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२७ दो परस्पर विरोधी राज्यो के युद्ध के शब्द
२८ परस्पर विरोध के शब्द
२९ वधस्थान पर ले जाई जाने वाली बालिका का या वधस्थान पर ले जाए जाने वाले पुरुष का शब्द
३० अनेक शकटो के शब्द
३१ अनेक रथो के शब्द
३२ अनेक म्लेच्छो के शब्द

३३ अनेक अंत्यजो के शब्द

३४ महोत्सवो मे होने वाले शब्द

३५ महाभोज मे होने वाले शब्द

३६ इहलौकिक मनुष्यो के शब्द

३७ पारलौकिक देवो के शब्द

३८ श्रुत शब्द

३९ अश्रुत शब्द

४० इष्ट, कान्त, प्रिय शब्द

४१ स्त्रियो के कूजन-क्रदन, कोलाहल, गायन और हँसने के शब्द

इन शब्दो के सुनने से राग-द्वेष की वृद्धि होती है। सयम मे मन स्थिर नही रहता अत इस प्रकार के शब्द सुनने के लिए श्रमण को कही नही जाना चाहिए।[1]

ऊपर जितने शब्दस्थान कहे हैं उनमे से वाद्य स्थानो के अतिरिक्त शेष सभी स्थानो मे दृश्य देखने के लिए भी श्रमण को नही जाना चाहिए।

पथिक प्रश्न

(क) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ साधु या प्रवर्तिनी आदि के साथ साध्विया ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग मे एक दूसरे के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का या शरीर से शरीर का स्पर्श न करते हुए चलें। अर्थात् पूज्य गुरुजनो का अविनय न हो इस प्रकार चलें।

(ख) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ श्रमणो को तथा प्रवर्तिनी आदि के साथ श्रमणियो को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग मे पथिक मिलें और "आयुष्मन् श्रमण"! (आयुष्मती श्रमणियो) आप कौन हैं? कहा से आए हैं और कहा जाएँगे? इत्यादि प्रश्न करे तो जो रत्नाधिक (दीक्षा मे बडा) हो उसे ही उत्तर देना चाहिए।

(ग) रत्नाधिक जब उत्तर दे रहे हो उस समय अन्य किसी श्रमण (श्रमणी) को बीच मे नही बोलना चाहिए।

(घ) वे पथिक पूछें—आपने इधर किसी मनुष्य या स्त्री को, बैल आदि पशुओ को, तीतर आदि पक्षियो को, उरग आदि सरीसृपो को, कूर्म आदि जलचरो को देखा हो तो दिखाइए या कहिए।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नो को सुन कर मौन रहें। न उन्हे दिखावें न उन्हे कुछ कहे और न उन्हे उत्तर देने का आश्वासन दें। यदि किसी प्राणी को पीडा होने की सभावना हो तो जानते हुए भी "हम नही जानते" ऐसा कहे।



इस विधान का प्रमुख उद्देश्य प्राणी-रक्षा है। पथिक के इन विशेष प्रश्नो का उत्तर श्रमण दे या न दे, यह एक समस्या है। इसका सर्वसम्मत समाधान किसी भी परम्परा के आगम-साहित्य मे नही मिलता। यहा समाधान के दो पक्ष दिए गए है। प्रथम पक्ष है —सर्वथा मौन रहना। इसका आशय यह है कि—श्रमण छद्मस्थ है अत पथिक

---

१ आचा० श्रुत० २, अ० ११, सूत्र १६८, १६९



के पूछने का आशय क्या है ? यह वह नही जान सकता। पथिक ने प्रश्न का उद्देश्य भी बता दिया और वह उद्देश्य भी हिंसा का नही है फिर भी वह उद्देश्य सरल हृदय से बताया गया है या मायापूर्वक ? यह निश्चय नही होता अत मौन रहना ही सर्वथा उचित है।

द्वितीय पक्ष है —"जानते हुए भी नही जानता हू" ऐसा कहना। इस पक्ष के समर्थक हैं टीकाकार आचार्य। इस पक्ष के दो विभाग है —प्रथम पक्ष वह है जो मौन रखने का समर्थक है। उनका कहना है "जानता हुआ भी मै नही जानता हू" यह कथन अतथ्य है अत श्रमणमर्यादा के विरुद्ध है।

द्वितीय पक्ष का कहना है अतथ्य होते हुए भी असत्य नही है, क्योंकि जिन प्राणियों के सबध मे पथिक पूछ रहा है उनका हित मान कर ही श्रमण अतथ्य कह रहा है। वास्तव मे सत्य असत्य तो मानव के सकल्प है। शब्द जड है, वे स्वय न सत्य है और न असत्य। कषायपूर्वक कहा हुआ सत्य जब आगम की परिभाषा के अनुसार असत्य माना जा सकता है तब प्राणिमात्र के हित के सकल्प मे रहे हुए अतथ्य को सत्य न मानने का क्या कारण है ?

दोनो पक्षो के समर्थन के लिए हेतु है, युक्तिया है और प्रमाण है, फिर भी "परम सत्य तो वही है जो जिन भगवान् ने कहा है।"

(ङ) पथिक पूछे—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही जलज, कद, मूल, त्वचा, पत्र-पुष्प, फल, बीज, वनस्पति, जलाशय या अग्नि आदि देखें हो तो दिखावे या कहे।

(च) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही खेतो या खलियानो मे धान्य देखा हो तो दिखावें या कहे।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे। श्रमण-श्रमणियो को आरभजा हिंसा का निमित्त नही बनना चाहिए। इन विधानो की पृष्ठभूमि मे यही भावना है।

(छ) पथिक पूछे—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही सेना का पडाव है ? सैनिक देखे है ? सैनिकों की वेषभूषा कैसी है ? इत्यादि के सम्बन्ध मे बताइए।

श्रमण श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे क्योकि उनका जीवन आध्यात्मिक है। वे ऐसे प्रश्नो का उत्तर देकर सकट मे क्यो पडें ? सेना सबधी जानकारी देने से अनेक प्रकार के उपसर्ग होने की सभावना रहती है। इसलिए यह विधान किया गया है।

(ज) पथिक पूछे —हे आयुष्मन् श्रमण ! आगे कौन-सा गाव-यावत्-राजधानी आएगी ? अथवा-अमुक गाव-यावत् राजधानी को कौन-सा मार्ग जायेगा ?

श्रमण श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर न दे। जानते हुए भी मौन रहे क्योकि न जाने मार्ग पूछने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य बताने वाले ने जो उद्देश्य बताया है वह कपटपूर्वक बताया है या सरलतापूर्वक ? छद्मस्थ को इन तथ्यो का ज्ञान नही होता। इसलिए मौन रहने का विधान किया गया है।

प्रस्तुत अभिनदनग्रन्थ के लिए अष्ट प्रवचनमाता पर निबन्ध लिखने का मैंने सकल्प किया था किन्तु ईर्या-समिति पर लिखे हुए पृष्ठो की पर्याप्त सख्या देख कर आगे लिखना मुझे स्थगित करना पडा क्योकि पूरा निबन्ध इतना विशालकाय बनता कि उसके लिए अनुमानत ग्रन्थ का आधा भाग आवश्यक होता। चरणानुयोग के प्रकाशन का कार्यभार अधिक रहने से इतना लिखना मेरे लिए शक्य भी नही था और इतने बडे निबन्ध को ग्रन्थ मे स्थान मिलना भी सभव नही था, अत इतना लिखकर ही विराम लेता हूँ।

नैतिक उत्थान एवं धर्मशासन



प्रो० अनंत लूनिया

वर्तमान भौतिकवादी युग मे नैतिकता का अवमूल्यन हुआ है। छल, माया, कपट से त्रस्त इस विश्व मे, सच्चाई, ईमानदारी एव परदुखकातरता का स्थान झूठ, बेईमानी एव स्वार्थपरायणता ने ले लिया। भाई-भाई, पिता-पुत्र, और बहन-भाई के स्नेह-सूत्र टूटते जा रहे हैं। नैतिक पतन अपनी चरमसीमा पर है। मानवता एक खोखला आदर्श मात्र रह गया है एव मानवीय भावनाये समाप्त हो चली है। तीर्थंकरो एव महापुरुषो का यह देश भी "सादा जीवन उच्च विचार" के आदर्श मे हटकर भौतिकवाद के चक्कर मे पड गया है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एव सभी क्षेत्रो मे मनुष्य का पतन हुआ है। स्वार्थ, दुराग्रह, असत्यता, सकीर्णता, भ्रष्टाचार, इत्यादि प्रवृत्तियाँ बढ चली है। भगवान महावीर के सदेश "जीओ और जीने दो" के स्थान पर 'न जीओ एव न जीने दो' को महत्व दिया जाने लगा है।

इन परिस्थितियो से छुटकारा पाने का प्रयत्न व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एव विश्व के कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक उत्थान के परिणामस्वरूप, रागबधन और द्वेष बधन से छुटकारा पाकर सुगति प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्मवाद के साये मे मानवीय कमजोरियो पर नियत्रण किया जा सकता है। धर्म, साधना, तप, एव ज्ञान से अनैतिकता को समाप्त किया जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध, समाज-समाज के सम्बन्ध एव राष्ट्र-राष्ट्र के सम्बन्ध नैतिकता की नीव पर ही दृढ हो सकते हैं। अब्राहिम लिंकन, सनयात सेन और महात्मा गाधी नैतिकता को व्यक्तिगत जीवन मे लाने मे सफल रहे। कबीर, रैदास, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द आदि ने नैतिक मूल्यो को समाज मे प्रतिष्ठित करने का गुरुतर प्रयास किया। गाधी नेहरु एव शास्त्री ने तो राष्ट्रीय प्रवृत्तियो के सचालन एव शासन मे भी नैतिकता लाने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे इन विभूतियो के पश्चात् तो नैतिकता की आधारभूमि के निर्माण का कार्य और भी बढ गया है। आधुनिक विश्व के कई दार्शनिक समय-समय पर हमारा ध्यान इस ओर बढने के लिये खेंचते रहे हैं। बर्ट्रेंड रसेल, डा० राधा कृष्णन इत्यादि महानुभाव आज भी नैतिकता का झडा बुलद किये हुये हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक उत्थान का सबसे मुख्य तत्व क्या है ? मनीषियो एव विचारको ने धर्म को नैतिक उत्थान का सर्वश्रेष्ठ माध्यम माना है।—उनके अनुसार धर्म के अभाव मे ही आज विश्व अधकार मे डूबा हुआ है। वर्तमान अनैतिकता का प्रमुख कारण भी धर्मशिक्षा एव सिद्धान्तो का लोप माना गया है। आर्थिक एव व्यवहारवादी मस्तिष्क ने यात्रिक जगत् से मानवता को आत्मशून्य कार्यकुशलता के यत्रजाल के रूप मे ढाल दिया है। अब नैतिक प्रगति के लिये एक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके अन्दर न केवल अर्थशास्त्र और राजनैतिक आवेशपूर्ण जीवन हो, अपितु आत्मा की सुगूढ आवश्यकताओ के लिये भी स्थान हो। किसी समाज के वास्तविक रूप का पता उसकी रूढियो से उतना नही चलता जितना कि उसके आत्मिक मूल्यो और मन की सज्जा से। धर्म, सभ्यता का आतरिक पक्ष है। यह समाज रूपी शरीर की आत्मा है। विज्ञान का उपयोग, आर्थिक समझौते और राजनीतिक कार्य एव सगठन, इस विश्व को, बाह्य रूप से ही सगठित कर सकते है परन्तु, सुदृढ एव स्थिर विचारो एव आदर्शों की कडिया ही, उसे सुदृढता प्रदान कर सकती हैं। धर्म मानव समाज के पुनर्निर्माण मे सक्रिय सहयोग दे सकता है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा का सम्मिश्रण होता है। उसके इन तत्वो को भी पोषक पदार्थ चाहिये। भोजन और व्यायाम शरीर को चुस्त रखता है। विज्ञान और आलोचना द्वारा मन को सज्ञान रखा जा सकता है। परन्तु आत्मा की प्रबुद्धता धर्म पर ही आधारित है। धर्म ही सत्य, प्रेम, चरित्र, त्याग, दया, नम्रता,



विवेक, सयम, ब्रह्मचर्य अहिसा, सत्प्रेरणा, शान्ति एव साहस का स्रोत है। ये विशेषतायें मानव का अनैतिकता से नैतिकता की ओर प्रेरित करती है। इन्ही की सहायता से व्यक्ति छल, कपट, क्रोध अहकार, माया, अविवेक, असयम, इत्यादि बधनो मे बचता है।

आज धर्मशासन की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत रचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास आवश्यक है। आज विश्व का स्वरूप बदल रहा है। पूर्व और पश्चिम के विचारो मे श्रृखलाबद्ध परिवर्तन पैदा हो रहे है। विश्व के राष्ट्र अधिकाधिक परस्पर सबद्ध होते जा रहे हैं। सभ्यतायें और सस्कृतियाँ अपना रूप परिवर्तन कर रही है। ऐसे समय बुद्धि और आत्मा मे एकता स्थापित करने की आवश्यकता है। पृथ्वी पर ईश्वर के सर्वोत्कृष्ट रूप मानव मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इन सभी के लिए आध्यात्मिक पुनरुत्थान जरूरी है।

जैनधर्म एक रचनात्मक धर्म है। वह रूढिवादी, सकीर्ण एव थोथी कल्पनाओ के स्थान पर आदर्श विचारो को साकार रूप प्रदान करता है। जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकात पर आधारित है और उसका आचार अहिसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारो ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओ पर अधश्रद्धा, रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है। वह मूलत एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। इसका विकास एव प्रसार वैज्ञानिक ढग से हुआ है। अहिसा एव अनेकात के सर्वांगीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। यह आत्मा की शुद्धि एव मुक्ति पर विश्वास करता है। भगवान महावीर ने सूत्रकृताग मे बतलाया है।—

"निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा"

अर्थात् सभी धर्मों का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म निर्वाण-प्राप्ति को धर्मसाधना का अन्तिम साध्य मानता है और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष का विधान किया है। जैनधम ने सम्यक्ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एव सम्यक् चारित्र की सीढियो पर चलकर मोक्षप्राप्ति के लिये पथ निर्माण किया है। इन तीन सिद्धान्तो की प्राप्ति मोक्षप्राप्ति का तरीका है।

जैनधर्म की सबसे बडी देन है अहिसा। भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक २४ तीर्थंकरो ने इसी का उपदेश दिया। आज अहिसा का यही सिद्धान्त व्यक्ति समाज एव मानव मात्र के लिये आदर्श बन गया है। व्यक्ति समाज एव राष्ट्र की सुरक्षा, शोषणहीन विश्व की कल्पना एव न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिसा ही की देन है। भगवान महावीर ने फर्माया था—

"सव्वे जीवा न हन्तव्वा"

अर्थात् किसी जीव की हिंसा न करो। किसी को मन सताओ एव न किसी के पराधीन बनो और न किसी को पराधीन बनाओ। जैनधर्म की अहिंसा का तात्पर्य कायरता से नही लिया जा सकता। यह हिंसा पर प्रेम की विजय चाहता है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो पडौसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान करता है। प्रेम का अर्थ स्वाभाविक कोमलता से नही है, जो प्रत्येक व्यक्ति मे उसकी शरीररचना के अनुसार कम या अधिक होता है। अपितु विवेक और धर्मनिष्ठा पर आधारित आत्मा का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त है।

जैनधर्म धार्मिक सहिष्णुता का सदेश देता है। धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस विश्व ने बडे दुख उठाये है और रक्त बहाया है। इतना ही नही, समय-समय पर राजनीतिक असहिष्णुता ने भी धार्मिक जामा ओढ कर महत्वपूर्ण आकाक्षाएँ की। कई बार दर्प आत्म-प्रशस्ति घृणा और अत्याचारो ने मानवता का गला घोट दिया। जैनधर्म ने पीडित विश्व को सहिष्णुता का पाठ पढाकर मानव मात्र की बहुमूल्य सेवा की। अन्य धर्मों के साथ भी बढते हुये जैनधर्म ने एकता का पाठ पढाया। उसने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया।

जैनधर्म ने नैतिकता के एक अन्य पक्ष को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। "स्थानाग सूत्र" मे भगवान महावीर ने धर्म के दो पक्ष बतलाये हैं।

(१) श्रुत और (२) चारित्र

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ सदाचार है। ज्ञान के विभिन्न पक्ष हमे प्रकाश देते हैं और सदाचार निर्वाण का पथ प्रशस्त करता है। कर्म के बन्धनो को तोडने के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। भगवान महावीर फर्माते है कि अहिंसा, सयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। जैनधर्म सयम को भी अत्यधिक महत्व देता है। उसने त्याग और तपस्या को भी प्रमुखता प्रदान की। इन्ही की सहायता से अपरिमित आवश्यकताओ पर नियत्रण लगवा कर माया छल और कपट से मनुष्य मात्र को बचाता है। भगवान ऋषभदेव ने भी सदाचार से प्रीति करने का आदेश दिया।

जैनधर्म असत्यत्याग का उपदेश देता है। भगवान पार्श्वनाथ ने असत्य को त्यागने का अनुरोध कई बार अपने अनुयायियो से किया। भगवान महावीर ने कहा है – झूठ मत बोलो।

नैतिकता का मनुष्य के आचार-विचार से भी सम्बन्ध है। मनुष्य का आचार विचार बहुत हद तक उसकी इन्द्रियो से सचालित होता है। जैनधर्म पाँचो इन्द्रियो पर विजयप्राप्ति का मार्ग बतलाता है, जिससे मानवीय आचार-विचार अनैतिकता की ओर नही जावें। भगवान महावीर मन पर नियत्रण हेतु मन का निग्रह करने को फरमाते हैं। क्रोध को छोडने का उनका उपदेश आवेश मे भी मानसिक सतुलन स्थिर रखता है। लोभ की प्रवृत्तियो से रक्षा करने मे जैनधर्म सहायक सिद्ध हुआ है। मान, माया और लोभ के सम्बन्ध मे भगवान महावीर का फर्माना है कि—

"क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्गुणो का नाश करता है।" **(दशवैकालिक सूत्र० अ० ८ गा० ३८, ३९)**

दशवैकालिक सूत्र मे आगे कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सतोष से लोभ को जीतना चाहिये। भगवान महावीर ने धर्म के साथ ब्रह्मचर्य पर जोर दिया है। उत्तराध्ययन अ० १२ गा० ४६, ४७ मे कहा गया है कि धर्म मेरा जलाशय हैं, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है। इसी प्रकार गाथा ४२ कहती है कि धर्महीन नीति जगत् के लिये अभिशाप है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि नैतिक उत्थान के लिये धर्मशासन की अत्यधिक आवश्यकता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणीधारा मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रही है। जीवन के मूलभूत दोषो जैसे हिंसा, असत्य परिग्रह आदि की समाप्ति करने मे जैनधर्म महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। तीर्थंकरो से लेकर वर्तमान जैन विद्वानो ने धर्म के अनुशासन से अधकार मे प्रकाश फैलाने का प्रयत्न किया। जैनधर्म का सबसे महत्वपूर्ण पर्व पर्युषण पर्व आज भी नैतिकता की ज्योति जलाने मे व्यक्ति समाज और राष्ट्र पर प्रभाव डालता है। क्षमायाचना के स्वर एव प्रेम और मिलन, मन, वचन और काया को शुद्ध करते है। जीवन मे सत्प्रेरणा, विवेक, सयम, साहस जाग्रत करते हैं। क्षमा, विनय, सत्यता, त्याग की उपलब्धि, छल, कपट, लोभ, अनाचार, भ्रष्टाचार, एव घूंसखोरी की समाप्ति मे सहायक हो सकती है।

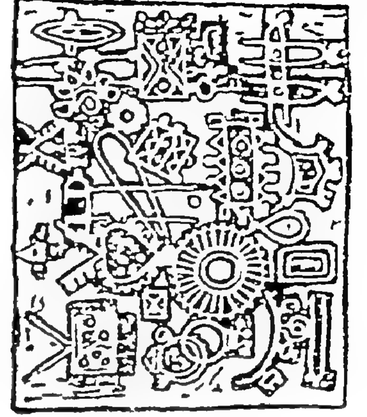
हम नये युग के ऊषाकाल मे हैं। हमसे आशा की उत्तेजना है। सभ्यता के विकास एव मानवता की रक्षा करने के लिये हमे नैतिक उन्नति के लिये प्रयास करने है। यदि हम विश्वबधुत्व की कल्पना को साकार देखना चाहते हैं और समस्त विश्व मे सुख, शान्ति और समृद्धि का विस्तार चाहते हैं तो युग की पुकार को ध्यान मे रखकर धर्म-शासन को महत्ता प्रदान करनी ही होगी। धर्मशासन ही उत्थान की कसौटी एव विश्वकल्याण की चरमसीमा होगी।



●

भावनायोग-एक मीमांसा

मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'



भगवान महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है।[1] उपनिषद् की भाषा मे जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सर्व ज्ञात हो जाता है।[2] किन्तु प्रश्न होता है कि जो आत्मा अदृश्य है, उसे कैसे जाना जाए ? भगवान महावीर की वाणी मे आत्मविद् वह है, जिसे शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श भलीभाति ज्ञात होते है।[3] आत्मोपलब्धि का साधन है—चित्त-स्थैर्य। महर्षि पतजलि ने विषयवती प्रवृत्ति को चित्तस्थैर्य का साधन कहा है।[4] इन्द्रियो के जो विषय हैं, उन्हे सब जानते है किन्तु साधन की भाषा मे ज्ञेय का अर्थ होता है—ज्ञान और हेय का अर्थ होता है—परित्याग। किसी भी वस्तु का प्रतिपादन और त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभाति जान लिया जाय। चक्षु का विषय रूप है। रूप का स्थान कहाँ है ? उसका क्या क्रम है ? प्रकाश कहां से आता है ? कैसे आता है ? आदि प्रश्नो पर विचार करते-करते जब चित्त स्थिर होता है, तब चित्तवृत्ति रूप-विषयवाली कहलाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय के विषयो मे भी चित्त को स्थिर किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियो के विषयो का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। दर्शन के आवरण क्षीण होते हैं - अधकार मे देखने व दूर-श्रवण आदि की शक्तियां विकसित होती हैं।

पुन प्रश्न होता है कि शक्तियो का स्रोत क्या है ? इसका समाधान पाने के लिए भारतीय मनीषियो ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और बहिर्दर्शन की अपेक्षा अन्तर्दर्शन को अधिक महत्व दिया है। तर्क और बहिर्दर्शन जहाँ समाप्त होते हैं, वहाँ अन्तर्दर्शन का आरम्भ होता है। जहां शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियां रुकती हैं, वहां अन्तर्दर्शन प्रवृत्त होता है। जहां इन्द्रिया अपने विषयो से विरत होती है, वहां अन्तर्दर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तर्दर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिन्हे यह प्राप्त हुआ, उनकी भाषा मे सत्य है—आत्मा।

तत्ववाद की परिधि मे जो इस विषय मे है, वह सब सत्य है। असत्य वही है जो नही है। सत् या अस्तित्व की उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। स्वत्व की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन

---

१ आचाराग १।३।४।७४
जे एग जाणइ से सव्व जाणइ। जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

२ बृहदारण्यक २।४।६
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिव विज्ञात भवति

३ आचाराग १।३।१।४
जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गधा य फासा य अभिसमन्नागया भवति से आयव।

४ पातजलयोगदर्शन १।३५
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस स्थितिनिबन्धिनी।

है, वह भी सत्य है। पदार्थोपलब्धि का साधन ज्ञान और आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आचार्य इसे मोक्षमार्ग, पतजलि योग आत्मलीनता तथा बौद्धाचार्य इसे विशुद्धिमार्ग कहते हैं। शब्दार्थ मे तीनो कुछ भिन्न है किन्तु फलितार्थ मे अभिन्न। चित्तवृत्तियो की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलभ्य है, न आत्मलीनता होती है और न विशुद्धमार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनता है तभी ये सब बनते हैं। पतजलि की भाषा मे चित्तवृत्तियो का जो निरोध होता है वह योग है।[1] जैनो की भाषा मे शरीर, वाणी और मन का जो सर्वसवर है—वह योग है।[2] उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[3] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[4] हरिभद्र सूरि के अभिमत मे धर्ममात्र योग है। योग वह है—जो मोक्ष से योग-सम्बन्ध का हेतु हो। धर्म मोक्ष का साधन है। इसलिए धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है—वह सब योग है।[5] यह निश्चयदृष्टि है। व्यवहारदृष्टि से योग स्थान, आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है।

योग शब्द जैन आगमो मे व्यवहृत है। समाधियोग, ध्यानयोग, भावनायोग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध मे समाधितन्त्र, ध्यानशतक, शान्तसुधारस आदि अनेक ग्रथ भी लिखे हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे मुख्यत भावनायोग की ही चर्चा की गई है।

साधना के प्रारम्भ मे प्राचीन जीवन का विघटन और नये जीवन का निर्माण करना होता है। इस प्रक्रिया मे भावना का बहुत बडा उपयोग होता है। जिन चेष्टाओ और सकल्पो के द्वारा मानसिक विचारो को भावित या वासित किया जाता है, उन्हे भावनायोग कहते है।[6] महर्षि पतजलि ने भावना और जप मे अभेद का निरूपण किया है।[7] भगवान महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध है, वह जल म नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब दु खो से मुक्त हो जाता है।[8]

भावना के अनेक प्रकार है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, भक्ति आदि जिन-जिन चेष्टाओ व अभ्यासो से मानस को भावित किया जाता है, वे सब भावनाएँ हैं, अर्थात् भावनाएँ असख्य हैं।[9] फिर भी उनके कई वर्गीकरण मिलते हैं।

---

१ पातजलयोग सूत्र १।२
योगश्चित्तवृत्तिनिरोध

२ उत्तराध्ययन २९

३ तत्वार्थ सूत्र १।१।
सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग

४ अभिधानचिन्तामणि १।७७
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मक

५ योगविंशिका १ व्याख्या

६ पासणाहचरिय पृ० ४६०
भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ

७ पातजलयोगसूत्र १।२८
तज्जपस्तदर्थभावनम्

८ सूत्रकृताग १।१५।५
भावणाजोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

९ पासणाहचरिय पृ० ४६०





पांच महाव्रत की पच्चीस भावनाएँ है ।[1] ये भावनाएँ महाव्रतो की स्थिरता के लिए हैं ।[2] प्रत्येक महाव्रत की पाच-पांच भावनाएँ हैं । आगमो मे इनका वर्णन आचाराग, समवायाग और प्रश्नव्याकरण मे मिलता है, किन्तु उनके क्रम तथा नामो मे एकरूपता न होकर विभेद है । जैसे —आचाराग के अनुमार —[3]

अहिंसा महाव्रत

(१) ईर्यासमिति
(२) मनपरिज्ञा
(३) वचनपरिज्ञा
(४) आदान-निक्षेपसमिति
(५) आलोकित-पान-भाजन

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषण
(२) क्रोधप्रत्याख्यान
(३) लोभप्रत्याख्यान
(४) अभय (भय प्रत्याख्यान)
(५) हास्यप्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) अनुवीचिमितावग्रह याचन
(२) अनुज्ञापित पान-भोजन
(३) अवग्रह का अवधारण
(४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
(५) साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्रियो मे कथा का वर्जन
(२) स्त्रियो के अग-प्रत्यगो के अवलोकन का वर्जन
(३) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन
(४) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
(५) स्त्री आदि से ससक्त शयनासन का वर्जन

---

१ उत्तराध्ययन ३१।१७
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइण ।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले ।।

२ तत्वार्थसूत्र ७।३
तत्स्थैर्यार्थं भावना पच पच ।

३ आचारांग २।३।१५।४०२

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे समभाव
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे समभाव
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे समभाव
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे समभाव

समवायाग के अनुसार महाव्रतो की भावनाओ का वर्गीकरण[1] —

अहिंसा महाव्रत—

(१) ईर्यासमिति
(२) मनोगुप्ति
(३) वचनगुप्ति
(४) आलोक भाजन-भोजन
(५) आदान-भण्डमात्रनिक्षेपणा समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषणता—विचारपूर्वक बोलना
(२) क्रोधविवेक—क्रोध का प्रत्याख्यान
(३) लोभविवेक—लोभ का त्याग
(४) भयविवेक—भय का त्याग
(५) हास्यविवेक—हास्य का त्याग

अचौर्य महाव्रत

(१) अवग्रहानुज्ञापना
(२) अवग्रहसीमापरिज्ञान
(३) स्वय ही अवग्रह की अनुग्रहणता
(४) सार्धमिको के अवग्रह की याचना तथा परिभोग
(५) साधारण भोजन को आचार्य आदि को बताकर परिभोग करना

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्री, पशु और नपु सक से ससक्त शयन और आसन का वर्जन करना
(२) स्त्री-कथा का विवर्जन करना
(३) स्त्रियो की इन्द्रियो के अवलोकन का वर्जन करना
(४) पूर्वभुक्त तथा पूर्वक्रीडित कामभोगो का स्मरण नही करना
(५) प्रणीत आहार का विवर्जन करना

अपरिग्रह महाव्रत

(१) श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति
(२) चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति



---

१ समवायाग २५

(३) घ्राणेन्द्रियरागोपरति
(४) रसनेन्द्रियरागोपरति
(५) रसनेन्द्रियरागोपरति

प्रश्नव्याकरण के अनुसार महाव्रतो की भावनाओ का वर्गीकरण [1]—

अहिंसा महाव्रत—

(१) ईर्यासमिति
(२) अपाप मन
(३) अपाप वचन
(४) एषणा समिति
(५) आदान-निक्षेप समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचि भाषण
(२) क्रोध प्रत्याख्यान
(३) लोभ प्रत्याख्यान
(४) अभय (भय प्रत्याख्यान)
(५) हास्य प्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) विविक्त वास-वसति
(२) अभीक्ष्ण अवग्रह-याचन
(३) शय्या समिति
(४) साधारण पिंड मात्र लाभ
(५) विनय प्रयोग

ब्रह्मचर्य महाव्रत—

(१) असंसक्तवास-वसति
(१) स्त्रीजन मे कथा वर्जन
(३) स्त्री के अग-प्रत्यग और चेष्टाओ के अवलोकन का वर्जन
(४) पूर्वभुक्त भोग की स्मृति का वजन
(५) प्रणीतरस भोजन का वर्जन

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे समभाव
(२) मनोज्ञ ओर अमनोज्ञ रूप मे समभाव
(३) मनोज्ञ ओर अमनोज्ञ गध मे समभाव
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे समभाव

---

१ प्रश्नव्याकरण (सवरद्वार)

(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे समभाव

उपरोक्त तीनो वर्गीकरणो मे आचाराग और प्रश्नव्याकरण के वर्गीकरणो मे अपेक्षाकृत कुछ साम्य है। समवायाग का वर्गीकरण नाम और क्रम दोनो ही दृष्टियो से कुछ भिन्न है।

आगमोत्तर साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्प्राभृत ग्रथ मे पच्चीस भावनाओ का एक वर्गीकरण दिया है, जो इस प्रकार है[1]—

अहिंसा महाव्रत

(१) वचनगुप्ति
(२) मनगुप्ति
(३) ईर्यागुप्ति
(४) सुदान-निक्षेप
(५) अवलोकित पान-भोजन

सत्य महाव्रत

(१) अक्रोध
(२) अभय
(३) अहास्य
(४) अलोभ
(५) अमोह

यहाँ अनुवीचि भाषण के स्थान पर अमोह भावना का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने भगवान गौतम का एक श्लोक उद्धृत करते हुए इसका अर्थ भी अनुवीचि भाषणकुशलता ही किया है।[2] अनुवीचि भाषणता से तात्पर्य है—"वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा-जिनसूत्रानुसारिणी भाषा, अनुवीची भाषा पूर्वाचार्य-सूत्रपरिपाटीमनुल्लध्य भाषणीयमित्यर्थ।"पूर्वाचार्य और सूत्रानुसारिणी भाषा। श्वेताम्बर परम्परा मे अनुवीचि-भाषणता का अर्थ प्राय 'अनुविचिन्त्य भाषण' विचारपूर्वक बोलना ही किया गया है। किन्तु तत्वार्थराजवार्तिक मे

---

१ चारित्र प्राभृत ३१-३५

वयगुत्ती मणगुत्ती इरिया समिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोय भोयणाए हिंसाए भावणा होंति॥
कोहभयहासलोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पचेव य तहा होंति॥
सुण्णायारनिवासो विमोचितवास ज परोध च।
एसणसुद्धि सउत्त साहम्मी सविसवादो॥
महिलालोयण पुव्वरइसरण ससत्त वसहि विकहाहि।
पुट्ठि रसेहिं विरओ भावण पचावि तुरियम्मि॥
अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दफरिसरसरूवगधेसु।
रायद्दोसाईण परिहारो भावणा होंति॥

२ चारित्र प्राभृत ३२ (टीका)

अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो।
अणुवीची भासकुसलो विदिय वदमस्सिदो॥





दोनो ही अर्थों का ग्रहण किया है।[1]

अचौर्य महाव्रत

(१) शून्यागार निवास
(२) विमोचितावास
(३) पर-उपरोध न करना
(४) एषणा शुद्धि
(५) साधर्मि अविसवाद (साधर्मिको के साथ विसवाद न करना)

ये पाँचो भावनाएँ श्वेताम्बर परम्परा से सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) महिला अवलोकन विरति
(२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना
(३) ससक्त वसति विरति
(४) स्त्रीरागकथा विरति
(५) पौष्टिक रस विरति

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ मे जो भावनाविषयक वर्गीकरण दिया है उसमे ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ उक्त भावनाओ से भिन्न है। वे इस प्रकार हैं।[2]—

(१) स्त्री-रागकथावर्जन
(२) मनोहर अगनिरीक्षणविरति
(३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग
(४) वृष्येष्ट रस परित्याग
(५) स्वशरीरसस्कार त्याग

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे रागद्वेष का वर्जन
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे रागद्वेप का वर्जन
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे रागद्वेष का वर्जन
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गध में रागद्वेष का वर्जन
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे रागद्वेष का वर्जन

नामभेद और क्रमभेद होते हुए भी आगमोक्त और आगमोत्तर सभी वर्गीकरणो का प्रतिपाद्य एक है।

धर्म्य और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।[3] वे मिलित रूप मे आठ भावनाएँ है —

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक ७।५
अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थं　　विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा

२ तत्वार्थसूत्र ७।७
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पच'

३ स्थानांग ४।१।२४७

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) एकत्वानुप्रेक्षा — मैं अकेला हूँ।
(२) अनित्यानुप्रेक्षा—सब सयोग अनित्य है।
(३) अशरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई त्राण नही है।
(४) ससारानुप्रेक्षा—जीव ससार मे परिभ्रमण कर रहा है।

धर्म्यध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसकी अनुप्रेक्षाओ मे फलित है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) अनन्तवृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि है।
(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं।
(३) अशुभानुप्रेक्षा—ससार के सब सयोग अशुभ है।
(४) अपायानुप्रेक्षा—आस्रव बन्धन के हेतु हैं।

शुक्लध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित है, यह उससे और अनुप्रेक्षाओ से ज्ञात होता है।

महाव्रतो की भावनाओ व धर्म्य तथा शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाओ के वर्गीकरण आगमकालीन हैं। उत्तरवर्ती साहित्य मे दो वर्गीकरण और प्राप्त होते हैं। एक बारह भावनाओ का तथा दूसरा चार भावनाओ का। इन दोनो वर्गीकरणो की सोलह भावनाओ का प्रकीर्णरूप तो आगमो मे भी मिलता है किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल मे ही हुआ है। विक्रम की दूसरी शताब्दी मे आचार्य कुन्दकुन्द ने "बारस अणुवेक्खा" की रचना की। इसमे बारह भावनाओ का वर्गीकरण दिया गया है, जिसे सर्वप्रथम ही मानना चाहिए। वह इस प्रकार हैं [1] —

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) एकत्व
(४) अन्यत्व
(५) ससार
(६) लोक
(७) अशुचि
(८) आस्रव
(९) सवर
(१०) निर्जरा
(११) धर्म
(१२) बोधिदुर्लभ

चार भावनाओ का वर्गीकरण सर्वप्रथम उमास्वाति ने किया था। वह इस प्रकार हैं [2] —

(१) मैत्री
(२) प्रमोद
(३) कारुण्य
(४) माध्यस्थ

बारह भावनाओ के वर्गीकरण मे उत्तरवर्ती साहित्य मे क्रमभेद है। उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र और प्रश-



---

१ बारस अणुवेक्खा २
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जरधम्म बोहि च चितेज्जा॥

२ तत्वार्थसूत्र ७।११
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु॥

दोनो ही अर्थों का ग्रहण किया है।[1]

अचौर्य महाव्रत

(१) शून्यागार निवास
(२) विमोचितावास
(३) पर-उपरोध न करना
(४) एषणा शुद्धि
(५) साधर्मि अविसवाद (साधर्मिको के साथ विसवाद न करना)

ये पांचो भावनाएँ श्वेताम्बर परम्परा से सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) महिला अवलोकन विरति
(२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना
(३) ससक्त वसति विरति
(४) स्त्रीरागकथा विरति
(५) पौष्टिक रस विरति

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ मे जो भावनाविषयक वर्गीकरण दिया है उसमे ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ उक्त भावनाओ से भिन्न है। वे इस प्रकार है।[2]—

(१) स्त्री-रागकथावर्जन
(२) मनोहर अगनिरीक्षणविरति
(३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग
(४) वृष्येष्ट रस परित्याग
(५) स्वशरीरसस्कार त्याग

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे रागद्वेष का वर्जन
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे रागद्वेष का वर्जन
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे रागद्वेष का वर्जन
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गध में रागद्वेष का वर्जन
(५) मनोज्ञ ओर अमनोज्ञ स्पर्श मे रागद्वेष का वर्जन

नामभेद और क्रमभेद होते हुए भी आगमोक्त और आगमोत्तर सभी वर्गीकरणो का प्रतिपाद्य एक है। धर्म्य और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ है।[3] वे मिलित रूप मे आठ भावनाएँ है —

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक ७।५
अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थ विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा

२ तत्वार्थसूत्र ७।७
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पच।

३ स्थानांग ४।१।२४७

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) एकत्वानुप्रेक्षा — मै अकेला हूँ।
(२) अनित्यानुप्रेक्षा—सब सयोग अनित्य है।
(३) अशरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई त्राण नही है।
(४) ससारानुप्रेक्षा—जीव ससार मे परिभ्रमण कर रहा है।

धर्म्यध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसकी अनुप्रेक्षाओ से फलित है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ

(१) अनन्तवृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि है।
(२) विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील है।
(३) अशुभानुप्रेक्षा—ससार के सब सयोग अशुभ हैं।
(४) अपायानुप्रेक्षा—आस्रव बन्धन के हेतु हैं।

शुक्लध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित है, यह उससे और अनुप्रेक्षाओ से ज्ञात होता है।

महाव्रतो की भावनाओ व धर्म्य तथा शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाओ के वर्गीकरण आगमकालीन हैं। उत्तरवर्ती साहित्य मे दो वर्गीकरण और प्राप्त होते है। एक बारह भावनाओ का तथा दूसरा चार भावनाओ का। इन दोनो वर्गीकरणो की सोलह भावनाओ का प्रकीर्णरूप तो आगमो मे भी मिलता है किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल मे ही हुआ है। विक्रम की दूसरी शताब्दी मे आचार्य कुन्दकुन्द ने "बारस अणुवेक्खा" की रचना की। इसमे बारह भावनाओ का वर्गीकरण दिया गया है, जिसे सर्वप्रथम ही मानना चाहिए। वह इस प्रकार है [1] —

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) एकत्व
(४) अन्यत्व
(५) ससार
(६) लोक
(७) अशुचि
(८) आस्रव
(९) सवर
(१०) निर्जरा
(११) धर्म
(१२) बोधिदुर्लभ

चार भावनाओ का वर्गीकरण सर्वप्रथम उमास्वाति ने किया था। वह इस प्रकार है [2] —

(१) मैत्री
(२) प्रमोद
(३) कारुण्य
(४) माध्यस्थ

बारह भावनाओ के वर्गीकरण मे उत्तरवर्ती साहित्य मे क्रमभेद है। उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र और प्रश-



१ बारस अणुवेक्खा २
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जरधम्म बोहिं च चिंतेज्जा॥

२ तत्वार्थसूत्र ७।११
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

मरतिप्रकरण मे बारह भावनाओ का जो वर्गीकरण दिया है, वे उक्त वर्गीकरण से भिन्न होते हुए परस्पर भी भिन्न हैं। तत्वार्थसूत्र का वर्गीकरण इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) ससार
(४) एकत्व
(५) अन्यत्व
(६) अशुचि
(७) आस्रव
(८) सवर
(९) निर्जरा
(१०) लोक
(११) बोधिदुर्लभ
(१२) धर्म

तत्वार्थ और प्रशमरतिप्रकरण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी है। प्रशमरतिप्रकरण का भावना-विषयक वर्गीकरण इस प्रकार है[2] —

(१) अनित्य
(२) अशरण
(३) एकत्व
(४) अन्यत्व
(५) अशुचि
(६) ससार
(७) आस्रव
(८) सवर
(९) निर्जरा
(१०) लोक
(११) धर्म
(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की पाचवी शताब्दी मे श्रीमद् वट्टकेर ने मूलाचार की रचना की। उसमे भावनाविषयक वर्गीकरण आचार्य कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्खा के अनुरूप है[3] —

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र हुए। उन्होने बृहद्द्रव्य-सग्रह मे भावनाविषयक एक वर्गीकरण दिया है, जो ठीक तत्वार्थसूत्र के समान है।[4] इसी शताब्दी मे श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना की। उसमे बारह भावनाओ का भी वर्णन किया है। इस वर्णन मे पूर्वोक्त वर्गीकरणो की अपेक्षा कुछ क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[5] —

---

१ तत्वार्थसूत्र ९।७
अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

२ प्रशमरतिप्रकरण ८।१४९, १५०
भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्व तथैकतान्यत्वे।
अशुचित्व ससार कर्मास्रवसवरविधिश्च ॥
निर्जरणलोकविस्तर-धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च।
बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥

३ मूलाचार ८।२
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जर धम्म बोधि च चिंतेज्जा ॥

४ बृहद्द्रव्य सग्रह ३५ (वृत्ति)
अध्रुवाशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

५ यशस्तिलकचपू २।१०५–१५७

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) लोक
(४) एकत्व	(१०) निर्जरा
(५) अन्यत्व	(११) धर्म
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की बारहवी शताब्दी मे आचार्य शुभचन्द्र हुए। उन्होने योग के विभिन्न पहलुओ, बारह भावना, पाच महाव्रत, कषायविजय, आसन, प्राणायाम, आज्ञाविचय, विपाकविचय, सस्थान, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, शुक्लध्यान आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ज्ञानार्णव इस विषय मे उनका प्रसिद्ध ग्रथ है। इसमे भी भावनाविषयक वर्गीकरण मे क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) सवर
(३) ससार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) धर्म
(५) अन्यत्व	(११) लोक
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

इसी शताब्दी के लगभग स्वामी कार्तिकेय ने "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" ग्रथ की रचना की। इसमे केवल भावनाओं का ही सविस्तार वर्णन है जो ठीक तत्वार्थसूत्र के अनुरूप है।[2]

विक्रम की इसी शताब्दी मे आचार्य हेमचन्द्र हुए। उन्होने योग विषय पर 'योगशास्त्र" नामक ग्रथ लिखा। इसमे भी बारह भावनाओ का एक वर्गीकरण है जो "ज्ञानार्णव" के अनुरूप ही है।"[3]

विक्रम की सत्रहवी शताब्दी मे उपाध्याय विनयविजयजी ने "शान्तसुधारस" की रचना की। यह सस्कृत भाषा का एक उत्कृष्ट सगीत-काव्य है। इसमें सोलह भावनाओ पर विविध रागनिया मे सोलह गीतिकाएँ हैं। इस काव्य मे बारह भावनाओ का वर्गीकरण ठीक ज्ञानार्णव या योगशास्त्र के अनुरूप है।[4]

---

१ ज्ञानार्णव २

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा २–३
अद्धुवअसरणभणिया ससारामेगमण्णमसुइत्त।
आसव-सवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ ॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणु भावणा णिच्च।
मण-वय-काय-शुद्धी एवा दस दोय भणिया हु ॥

३ योगशास्त्र ४।५५, ५६
सा स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावना श्रयेत्।
अनित्यतामशरण भवमेकत्वमन्यताम् ॥
अशौचमाश्रवविधि सवर कर्मनिर्जराम्।
धर्मस्वाख्याततता लोक द्वादशीं बोधिभावनाम् ॥

४ शान्तसुधारस १।७, ८ (श्लोक)
अनित्यताशरणते भवमेकत्वमन्यताम्।
अशौचमास्रव चात्मन् । सवर परिभावय ॥



विक्रम की इक्कीसवी शताब्दी मे आचार्यश्री तुलसी ने योगविषयक "मनोनुशासन" ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसमे बारह भावनाओ का वर्गीकरण है जो ठीक "शान्तसुधारस" से मिलता है।[3]

इस विषय पर आज तक जो ग्रन्थ लिखे गए उनमे से कुछ एक का ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रश्न होता है—बारह भावनाओ मे यह क्रमभेद क्यो है ? इसका स्पष्ट और निश्चित समाधान तो नही मिल पाता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगमो मे बारह भावनाओ का वर्गीकरण न होना ही इसका मूल कारण है। बारह भावनाओ का जो प्रकीर्ण रूप आगमो मे मिला, उसे उत्तरवर्ती आचार्यो ने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से वर्गीकृत किया। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, सोमदेव सूरि, शुभचन्द्र आदि ने जिन ग्रथो का प्रणयन किया, उनके बीच सैकडो वर्षो का अन्तर है। सभवत उत्तरवर्ती आचार्यो ने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा किए गए वर्गीकरणो को न देखा हो अथवा आगमोक्त न होने से अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण किए हो।

आचार्य कुन्दकुन्द और श्रीमद्वट्टकेर मे लगभग तीन शताब्दी का अन्तर होते हुए भी भावनाओ के वर्गीकरण मे एकरूपता है। आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा मे एक सुप्रसिद्ध आचार्य हो चुके हैं। भावनाविषयक वर्गीकरण भी सर्वप्रथम उन्होने ही किया है। अत सभव है कि श्रीमद्वट्टकेर ने मूलाचार मे भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए कुन्द-कुन्द को ही प्रमाण माना हो।

उमास्वाति, नेमिचन्द्र और स्वामीकार्तिकेय मे काल का व्यवधान अधिक होते हुए भी भावनाओ के वर्गीकरणो मे समरूपता है। तत्वार्थसूत्र के अध्ययन-अध्यापन का क्रम जैन परम्परा मे बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन मे प्रवेश पाने के लिए इसे द्वार के रूप मे माना जाता है। यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्र और स्वामी कार्तिकेय ने अपने ग्रथो मे कही भी तत्वार्थसूत्र या उमास्वाति का उल्लेख नही किया है किन्तु सम्भव है, उन्होने इसका आधार तत्वार्थसूत्र से ही लिया हो। इसमे असगति भी नही लगती क्योकि आचार्य कुन्दकुन्द की "बारस अणुवेक्खा" उतनी प्रसिद्ध नही है जितना कि तत्वार्थसूत्र। और यह पहले कहा जा चुका है कि उमास्वाति और नेमिचन्द्र व कार्तिकेय मे लगभग आठ-नौ शताब्दियो का कालान्तर था। प्रश्न होता है कि उमास्वाति ने ही अपने दो ग्रथो मे दो प्रकार के वर्गीकरण क्यो किए ? इसके समाधान मे तो यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तत्वार्थ की रचना सूत्ररूप मे है और प्रशमरति प्रकरण पद्यात्मक है। सम्भव है प्रशमरति प्रकरण मे छन्दोभग के भय से उन्होने क्रमभेद किया हो। तत्वार्थसूत्र की रचना पहले हो चुकी थी अत बाद मे उसमे परिवर्तन सभव न हुआ हो। परिवर्तन का अधिक आग्रह भी नही रहा होगा क्योकि यह पहले स्पष्ट हो चुका कि बारह भावनाओ का कोई एक निश्चित वर्गीकरण आगमो मे नही मिलता है। उत्तरवर्ती साहित्य मे तो केवल उसका प्रकीर्ण रूप ही सगृहीत है।

आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय विनयविजय और आचार्य तुलसी द्वारा किए गए वर्गीकरणो मे एकरूपता है। इसका कारण यह हो सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से बहुत प्रभावित है। ज्ञानार्णव का अध्ययन करने के पश्चात् यदि योगशास्त्र पढा जाए तो यह महसूस होगा कि सम्पूर्ण योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव छाया हुआ है। ऐसे अनेक स्थल है जहा शब्दसाम्य और उक्तिसाम्य के साथ-साथ उदाहरण और अनुप्रास मे भी साम्य है। श्रीगोपालदास पटेल ने लिखा है—"दोनो ग्रथो का विषय निरूपण देखते हुए ऐसा ही लगता है कि हेमाचार्य का योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित और सक्षिप्त है। जबकि ज्ञानार्णव शास्त्रग्रथ की अपेक्षा उपदेश-ग्रथ अधिक है और इस कारण उसका निरूपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्णव को ही अधिक व्यवस्थित

कर्मणो निर्जरा धर्मसुकृता लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेता भावयन् मुच्यसे भवात्॥

३ मनोनुशासन ३।२२
अनित्याशरणभवैकत्वान्यत्वाशौचास्रवसवरनिर्जराधर्मलोकसस्थानबोधिदुर्लभता ।

और सक्षिप्त करके योगशास्त्र रचा गया होगा, ऐसा जान पडता है।[1]

इस अभिमत को और दृढ करते हुए श्री पटेल ने अपने उपोद्‌घात[2] मे लिखा है—

"हेमचन्द्राचार्य के अन्य शास्त्रीय ग्रथो के विषय मे भी उनके समय मे खूब आक्षेप किए गए थे कि इनमे तुम्हारा नया क्या है ? इस आक्षेप का जवाब उन्होने 'प्रमाणमीमासा' के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है—"पाणिनि, पिगल, कणाद, अक्षपाद आदि आचार्यो ने जब अपने व्याकरणादि सूत्र लिखे तब उसके पहले उस-उस विषय के दूसरे सूत्र थे ही। तो फिर उनको भी तुम किसलिए उन सूत्रों के कर्त्ता कहते हो ? वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि ये सभी विद्याए अनादि है परन्तु उनका सक्षेप किया जाता है या विस्तार किया जाता है। इस अपेक्षा से वे नई-नई होती है और तब उन लोगो को उनका कर्त्ता कहा जाता है।"[3] इस उत्तर मे यह भलीभाति प्रमाणित होता है कि उनके कुछ ग्रथ पूर्वग्रथो के सुव्यवस्थित सक्षेप-विस्तार रूप है और इसमे वे कोई दोष नही समझते। अत योगशास्त्र को भी ज्ञानार्णव का सक्षेपीकरण या अनुकरण कहा जाय तो कोई आश्चर्य नही होगा। ग्रथसाम्य के साथ ही भावनाविषयक वर्गीकरण मे भी साम्य सम्भव है।

आचार्य हेमचन्द्र का उल्लेख जैन परम्परा के दिग्गज विद्वानो की कोटि मे होता है। दर्शन, न्याय, व्याकरण काश, काव्य आदि विभिन्न विषयो मे उनकी लेखनी का असदिग्ध और अप्रतिहत प्रभाव मिलता है। इसी प्रभाव के कारण सभव है उपाध्याय विनयविजयजी ने अपने भावनाविषयक वर्गीकरण मे उनका अनुसरण किया हो।

उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रणीत "शान्तसुधारस" सस्कृत भाषा का सुमधुर गेय काव्य है। श्रमण-परम्परा मे उसके कण्ठीकरण और पुनरावर्तन का एक अनूठा क्रम है। अधिकाश शैक्ष इसे कण्ठस्थ करते है। इसका सह स्वाध्याय आत्मप्रवेशी के लिए अत्यन्त प्रेरक होता है। इस काव्य का अत्यधिक प्रचलन होने के कारण ही मनोनुशासन मे भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए आचार्यश्री तुलसी ने इसका आधार लिया हो तो कोई आश्चर्य नही। मनोनुशासन योगविषयक सद्य प्रणीत ग्रन्थ है। अत इसके पश्चात् भावना विषयक अन्य वर्गीकरण उपलब्ध नही होता।

बारह भावनाओ के वर्गीकरणो में क्रमभेद होते हुए भी आर्षदृष्टि से उनमे किसी प्रकार का भेद नही है। आगमो मे उनका प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

अनित्य भावना

धीर पुरुष को मुहूर्त भर भी प्रमाद नही करना चाहिए। अवस्था बीती जा रही है। यौवन चला जा रहा है। रात्रिया दौडी जा रही है। मनुष्यो के भोग भी नित्य नही है। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे वैसे ही छोड देते है, जैसे क्षीण-फल वाले वृक्ष को पक्षी।[4]

---

१ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्‌घात पृ० ४०।

२ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्‌घात पृ० ७।

३. प्रमाणमीमासा
पाणिनि-पिंगल-कणादाक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व। अनादय एवैता विद्या सक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्च उच्यन्ते।

४ आचाराग १।२।१।१०-१२
इच्चेव समुट्ठिए अहो विहाराए। अतर च खलु इम सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अच्चेइ जोव्वण व।
उत्तराध्ययन १३-३१
अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति दुम जहा खीणफल व पक्खी॥





अशरण भावना

सगे-सबन्धी त्राण नही है। जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता हूँ तब माता, पिता, पुत्र, वधू, भ्राता, पत्नी और औरस पुत्र ये सभी मेरी रक्षा करने मे समर्थ नही होते।[1]

ससार भावना

इस जन्म-मरण के चक्र मे सुख नही है। मैंने सभी जन्मो मे दु खमय वेदना का अनुभव किया है। कही निमिष मात्र भी सुख नही है।[2]

एकत्व भावना

आदमी अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। उसकी सज्ञा, विज्ञान, और वेदना भी व्यक्तिगत होती है। स्त्रिया, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते है, किन्तु वे मृत के पीछे नही दौडते। पुत्र अपने पिता को बडे दुख के साथ श्मशान ले जाते है और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रो को और बन्धुओ को श्मशान ले जाता है।[3]

अन्यत्व भावना

काम-भोग मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। पदार्थ मुझसे भिन्न है और मै उनसे भिन्न हू।[4]

अशौच भावना

यह शरीर अपवित्र है, पित्त, फोडा, फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्रघाती रोग इस शरीर का स्पर्श

---

१ आचाराग १।२।१।२०-२१
जेहिं वा सद्धि सवसति ते वा ण एगया णियगा त पुव्वि परिहरति। सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा। नाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमवि तेसिं नाल ताणाए वा सरणाए वा।
उत्तराध्ययन ६-३

माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नाल ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥

२ उत्तराध्ययन १६-७४

सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तपि ज साया नत्थि वेयणा ॥

३ सूत्रकृताग २
अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कड अन्नो न पडिसवेदेइ पत्तेय जायइ पत्तेय मरइ पत्तेय चयइ पत्तेय उववज्जइ पत्तेय झझा पत्तेय सन्ना पत्तेय मन्ना एव विन्नू वेयणा।
उत्तराध्ययन १८।१४-१५

दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बन्धवा। जीवन्तमणुजीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति य ॥
नीहरन्ति मय पुत्ता पियर परम दुक्खिया। पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू राय तव चरे ॥

४ सूत्रकृताग २।१।१३
पुरिसे वा एगया पुव्वि कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्वि पुरिस विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमसि।

करते है, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट हो जाता है।[1]

आस्रव भावना

आस्रव कर्म-बन्धन का हेतु है। ये हेतु ऊपर भी हैं, नीचे भी है और मध्य मे भी है।[2]

सवर भावना

नाले को वन्द कर देने से जिस प्रकार तालाव मे पानी आना रुक जाता है उसी प्रकार समभाव की साधना से सावद्य योग की विरति होती है। प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन से विरत जीव अनास्रव होता है। पाच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त, अकपाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और नि शल्य जीव अनास्रव होता है।[3]

निर्जरा भावना

तालाव मे भरे हुए जल को उलीच-उलीच कर वाहर निकाल देने से जिस प्रकार महातालाव सूख जाता है, उमी प्रकार पूर्व सचित कर्मों को तपस्या द्वारा निर्जीर्ण करने पर आत्मा कर्ममुक्त वन जाती है।[4]

लोक भावना

जो लोकदर्शी है, वह लोक के अधोभाग को भी जानता है, ऊर्ध्व भाग को भी जानता है और तिर्यग् भाग को भी जानता है।[5]

वोधिदुर्लभ भावना

लोगो ! क्यो नही जाग रहे हो ! जीवन बीता जा रहा है। इस ससार मे प्राणियो के लिए चार परम अग

---

१ उत्तराध्ययन १०-१७

अरई गण्ड विसूइया आयका विविहा फुसति ते।
निवडइ विद्धसइ ते सरीय समय गोयम ! मा पमायए ॥

२ आचाराग १।५।६।११७

उड्ढ सोता अहे सोता, तिरिय सोता वियाहिया।
एते सोया वियक्खाया जेहिं सगति पासहा ॥

३ उत्तराध्ययन ३०।२-३

पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवई अणासवो ॥
पच समिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होई अणासवो ॥

४ उत्तराध्ययन ३०।५-६

जहा महातलायस्य सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ ॥

५ आचाराग १।२।५-१२५

आययचक्खू लोगविपस्सी-लोगस्स अहोभाग जाणइ, उड्ढ भाग जाणइ, तिरिय भाग जाणइ।



दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और सयम मे पराक्रम ।[1]

धर्म भावना

धर्म जीवन का पाथेय है। यात्री के पास पाथेय होने से उसकी यात्रा सुखपूर्वक सपन्न होती है। इसी प्रकार जिसके पास धर्म का पाथेय होता है, उसकी जीवन-यात्राए सुख से सम्पन्न होती हैं ।[2]

अनित्य, अशुचि आदि शब्दो का प्रयोग महर्षि पतजलि ने भी अपने योगदर्शन मे किया है ।[3] वेद, पुराण और उपनिषदो मे इन शब्दो का पूर्णत अभाव है । उत्तरवर्ती ग्रथो मे इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए है । पतजलि ने अपने योगदर्शन मे ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग किया है जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दो से भिन्न हैं और श्रमणो के पारिभाषिक शब्दो से अभिन्न है । इससे यह फलित होता है कि पतजलि की दृष्टि मे श्रमणो की साधना-पद्धति प्रतिबिम्बित थी । पातजल योगदर्शन का रचनाकाल जैन आगमो से उत्तरवर्ती है । मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८५ तक माना जाता है । मौर्य वश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था । वह ई० पू० १८५ मे अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया । महर्षि पातजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे । इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्वकाल ई० पू० दूसरी शताब्दी है । उत्तराध्ययनसूत्र (जिसमे भगवान महावीर की अन्तिम वाणी का सकलन है) इससे पूर्ववर्ती है । अत यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ग्रथो पर जैन आगम साहित्य का प्रभाव रहा है ।

तत्वार्थसूत्र मे चार भावनाओ का जो एक और वर्गीकरण मिलता है उसका आगमो मे प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

मैत्री भावना

सब जीव मेरे मित्र है । इस प्रकार सबके साथ मैत्री का चिन्तन करना मैत्री अनुप्रेक्षा है ।[4]

---

१ सूत्रकृताग १।१।२-१

सबुज्झह कि न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ नो सुलभ पुणरावि जीविय ।।

उत्तराध्ययन ३।१

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ।।

२ उत्तराध्ययन १६।१८-२१

अद्धाण जो महन्त तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ ।।
एव धम्म अकाऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाही-रोगेहि पीडिओ ।।
अद्धाण जो महन्त तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ ।।
एव धम्म पि काऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ।।

३ पातजल योगसूत्र २।५

अनित्याशुचिदु खानात्मसु-नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

४ उत्तराध्ययन ६।२

मेत्ति भूएसु कप्पए

प्रमोद भावना

तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्दव। उत्तम है तुम्हारी क्षमा और उत्तम है तुम्हारी मुक्ति।[१]

कारुण्य भावना

बन्धन से मुक्ति का प्रयत्न और चिन्तन।[२]

माध्यस्थ्य भावना

समझाने बुझाने पर भी सामने वाला व्यक्ति दोष का त्याग न करे, उस स्थिति मे उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करना।[३]

महर्षि पतजलि ने भी अपने योगदर्शन मे चार भावनाओ का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो ठीक उपरोक्त वर्गीकरण से मिलता है।[४] पतजलि ने इसे चित्तप्रसादन और निर्मलता का हेतु माना है।

चार अन्य भावनाओ का एक वर्गीकरण ध्यानशतक मे उपलब्ध होता है।[५] इनके द्वारा पूर्वाभ्यास करने पर साधक ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है। विक्रम की पाँचवी शताब्दी मे आचार्य भद्रबाहु ने ध्यानशतक की रचना की। इसी प्रकार का एक वर्गीकरण आदिपुराण मे मिलता है।[६] विक्रम की नवमी शताब्दी मे आचार्य जिनसेन ने इसकी रचना की। वह इस प्रकार है—

(१) ज्ञान भावना
(२) दर्शन भावना
(३) चारित्र भावना
(४) वैराग्य भावना

---

१ उत्तराध्ययन ६।५७

अहो ते अज्जव साहु अहो ते साहु मद्दव।
अहो ते उत्तमा खन्ती अहो ते मुत्ति उत्तमा॥

२ उत्तराध्ययन १३।१६

तीसे य जाईइ उ पावियाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगछणिज्जा इह तु कम्माइ पुरेकडाइ॥

३ उत्तराध्ययन १३।२३

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो सि आरभपरिग्गहेसु।
मोह कओ एत्तिउ विप्पलाओ गच्छामि राय आमन्तिओसि॥

४ पातजलयोगसूत्र १।३३
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५ ध्यानशतक ३०

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दसण-चरित्त-वेरग्ग जणियाओ॥

६ आदिपुराण २१।६५

भावनाभिरसमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत्।
ज्ञानदर्शनचारित्र-वैराग्योपगताश्च ता॥



ज्ञान भावना

इससे मन का धारण-अशुभ व्यापार का निरोध और शोधन होता है इस प्रकार सुस्थिर मति से तत्वातत्व के विवेकपूर्वक यह ध्यान मे योगभूत होती है। शास्त्रो का अध्ययन, जिज्ञासा, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन, कण्ठीकरण तथा धर्मोपदेश ये सब ज्ञान भावना के प्रकार है।[1]

दर्शन भावना

इससे दर्शन की विशुद्धि होती है। शका, काक्षा आदि दोप दूर होते हैं। प्रशम ग्रौर स्थैर्य गुणो की प्राप्ति होती है व चित्त अभ्रात होता है। सवेग, अमूढता, अगर्व, ग्रनुकम्पा, आदि इसके प्रकार हैं।[2]

चारित्र भावना

इसमे नए कर्मो का अनादान-अग्रहण, पुराने कर्मो का निर्जरण और शुभ का ग्रहण होता है। इसमे ध्यान सुलभता से होता है। पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन तथा परीपहो को सहना इस के प्रकार है।[3]

वैराग्य भावना

इसमे व्यक्ति जगत के स्वभाव को जान लेता है। तथा निस्सग, निर्भय और आशसारहित होकर ध्यान मे सुस्थिर होता है।[4]

---

१ ध्यानशतक ३१

नाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ॥

आदिपुराण २१।९६

वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम्।
सद्धर्मदर्शन चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना॥

२ ध्यानशतक ३२

सकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दसणसुद्धीए झाणमि॥

आदिपुराण २१-९७

सवेगप्रशमस्थैर्यमसमूढत्वमस्मय। आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्वभावना॥

३ ध्यानशतक ३३

नवकम्मणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ॥

आदिपुराण २१-९८

ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तय।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना॥

४ ध्यानशतक ३४

सुविदियजगस्सभावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई॥

आदिपुराण २१-९९

विषयेष्वनभिष्वग कायतत्वानुचिन्तनम्।
जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्थैर्यभावना॥

आचार्य जिनसेन ने इन चारो भावनाओ को मुनि के लिए ज्ञान और चारित्र की सम्पदा मे स्थिरीकरण का हेतु माना है।[1]

साधक मुमुक्षु कैवल्य प्राप्ति के लिए साधना करता है। विभिन्न प्रकार की तपस्या और भावना से आत्मा को भावित करता हुआ वह क्रमश अपने गन्तव्य के प्रति गतिशील होता है। प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पाच भावनाए हैं।[2]

(१) तप भावना
(२) सत्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) एकत्व भावना
(५) बल भावना

भिक्षु इन भावनाओ से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पाच भावनाए पाच तुलाओ के तुल्य हैं। इनसे अपनी आत्मा को तोल कर ही वह प्रतिमा या जिनकल्प स्वीकार करता है।

तप भावना

इससे क्षुधा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।[3] वह परम साधक क्षुधा पर विजय प्राप्त करता हुआ इतना अभ्यास कर लेता है कि छ महीनो तक कुछ न खाने पर भी भूख से पीडित नही होता। उसका मन आर्त नही होता और शरीर मे भी ग्लानि उत्पन्न नही होती।[4]

सत्व भावना

इससे भय और निद्रा पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।[5] इसके क्रमिक अभ्यास के लिए मुनि उपाश्रय, उसके बाहरी भाग, चतुष्क, शून्यगृह और श्मशान इन पाच स्थानो मे कायोत्सर्ग करता है।[6]

रात्रि के समय जब सब साधु सो जाते हैं तब मुनि अकेला उठ कर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए

---

१ आदिपुराण २१।१००

एव भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसपदि।
तत्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धिय ॥

२ मनोनुशासन ७।१
तप सत्वसूत्रैकत्वबलभेदात् पचधा भावना प्रतिमा जिनकल्प वा प्रतिपद्यमानस्य ॥

३ मनोनुशासन ७।२
तपसा क्षुधाजय

४ मनोनुशासन ७-३
षण्मासयावद् न बाध्यते क्षुधया ॥

५ मनोनुशासन ७।४
सत्वभावनया भय निद्राश्च पराजयते ॥

६ मनोनुशासन ७।५
उपाश्रयतद्बहिश्चतुष्कशून्यगृहश्मशानेष्विति स्थानभेदात्पचधा ॥





उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करता है—यह पहली सत्व भावना है ।[1]

पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से बाहर कही एकान्त स्थान मे कायोत्सर्ग करना दूसरी सत्व भावना है ।[2]

इस प्रकार अभ्यास का परिपाक होने होते जब मुनि चौराहे, सूने घर व श्मशान मे कायोत्सर्ग करने लगता है—यह क्रमश तीसरी, चौथी और पाचवी सत्व भावना है ।[3]

सूत्र भावना

इससे समय का ज्ञान होता है ।[4] सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदो का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रो को परिचित करन का अभ्यास किया जाता है । श्वासोच्छ्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है ।[5]

एकत्व भावना

इससे देह और उपकरणो से अपनी आत्मा को भिन्न रूप मे भावित कर निर्लेपता का अभ्यास किया जाता है ।[6]

बल भावना

इससे परीषहो पर विजय प्राप्त की जाती है ।[7] बल दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक ।[8] इन दोनो प्रकार के बलो द्वारा मनोबल इतना परिवर्धित किया जाता है, जिससे मुनि परीषहो व उपसर्गो के उत्पन्न होने पर भी विचलित नही होता ।[9]

---

१ मनोनुशासन ७।६

रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भयनिद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरण प्रथमा ।।

२ मनोनुशासन ७।७

क्वचिदुपाश्रयाद् बहिस्तथाकायोत्सर्गकरण द्वितीया ।।

३ मनोनुशासन ७।८

चतुष्कशून्यगृहश्मशानेषु कायोत्सर्गकरण परा ।।

४ मनोनुशासन ७।९

सूत्रभावनया कालज्ञानम् ।।

५ मनोनुशासन ७।१०

सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वासप्राणादय सर्वे कालभेदा अवगता स्युस्तथा सूत्रपरिचय ।

६. मनोनुशासन ७।११

एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मान भावयन् भवति निरभिष्वग ।।

७ मनोनुशासन ७।१२

बलभावनया परीषहाणा जय ।।

८ मनोनुशासन ७।१३

बल शारीर मानस च ।।

९ मनोनुशासन ७।१४

तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्यते बाधा ।।

प्रतिमाधर व जिनकल्पी मुनि इन भावनाओ से अपने आपको पूर्णत भावित करते हैं। किन्तु यथाशक्ति दूसरे भिक्षु व गृहस्थ भी अपने आपको भावित कर सकते हैं।[7]

इस प्रकार भावना विषयक विभिन्न वर्गीकरण हमे उपलब्ध होते हैं। आगम तथा उत्तरवर्ती ग्रथो मे सक्लिष्ट भावनाओ के भी अनेक वर्गीकरण है किन्तु यहा केवल असक्लिष्ट भावनाओ का ही कथन किया गया है। क्योकि असक्लिष्ट भावना-योग ही मुक्ति का मार्ग है।



७ मनोनुशासन ७-१५
यथाशक्ति चैता परेषामपि ॥

पर्याप्ति-योग

मुनिश्री नथमलजी (निकाय-सचिव)



जैन तत्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तिया) और दस शक्तिकेन्द्र (प्राण) हैं।

छह शक्ति-स्रोत

१, आहार पर्याप्ति
२ शरीर पर्याप्ति
३ इन्द्रिय पर्याप्ति
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति
३ मन पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण
२ चक्षु इन्द्रिय प्राण
३ घ्राणेन्द्रिय प्राण
४ रसनेन्द्रिय प्राण
५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
६ मनोवल-प्राण
७ वचनवल-प्राण
८ कायवल-प्राण
९ श्वासोच्छ्वास प्राण
१० आयुष्य प्राण

इनमे परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण है और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। सख्याविस्तार को सक्षेप मे लाने पर दोनो की सख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति-केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायवल-प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय-प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास-प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनवल-प्राण
मन पर्याप्ति	मनोवल-प्राण

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था मे होते हैं और न अचेतन मे होते है। ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सब चेतन और अचेतन (पुद्गल) के सयोग की अवस्था मे हैं। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नही हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही

हैं। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न हैं, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका मे भी नही है। हम चैतन्य और अचैतन्य की सयुक्त भूमिका मे हैं।

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्व के बीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) है। जिन मे आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व श्वास लेने की शक्ति है वे जीव है और जिनमे ये शक्तिया नही हैं, वे निर्जीव है।

भाषा-शक्ति व चिन्तन-शक्ति जीव के लक्षण नही है, किन्तु वे विकास-क्रम के अग्रिम सोपान है।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरभ-काल मे ही निष्पन्न हो जाते हैं। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य है, ऐसा प्रतीत नही होता। जीवन जब प्रबुद्ध होता है, तब उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन हैं—शोधन और निरोध। विस्तार मे इनके बारह प्रकार हो जाते हैं—

१ आहार-शुद्धि	७ श्वासोच्छ्वास-शुद्धि
२ आहार निरोध	८ श्वासोच्छ्वास–निरोध
३ शरीर-शुद्धि	९ वाक्-शुद्धि
४ शरीर–निरोध	१० वाक्-निरोध
५ इन्द्रिय-शुद्धि	११ मन-शुद्धि
६ इन्द्रिय-निरोध	१२ मन-निरोध

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जब अपने चरम बिन्दु पर पहुच जाती है तब निरोध की भूमिका का प्रारभ हो जाता है।

आहार-शुद्धि के उपाय

१ हिताहार
२ मिताहार
३ सात्विकाहार

हिताहार—जो आहार समधातुओ को प्रकृति में स्थापित करता है और विषम धातुओ को सम करता है, उसका नाम हिताहार है। प्रकृति के अनुकूल भोजन करना, विरुद्ध वस्तुए न खाना, विकृत वस्तुए न खाना आदि-आदि।

मिताहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना कठिन है। जितना खाने पर एक घण्टा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने पर पेट फटता न हो, वह मित-भोजन है।

सात्विकाहार—मादक व उत्तेजक वस्तुओ का वर्जन, शरीर, इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाघव मे बाधा न पडे वैसा भोजन।

काय-शुद्धि के उपाय

कायोत्सर्ग, आसन, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निर्लेपता।

कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चचलता का विसर्जन। काय-शुद्धि के उपयुक्त आसनो का वर्णन आसन-प्रकरण मे किया गया है।

जालधर—ठुड्डी को कण्ठकूप मे स्थापित करने को जालधरबन्ध कहा जाता है।

सर्वागासन, हलासन तथा मत्स्यासन की एक मुद्रा मे यह अपने आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि (थाइरायड ग्लैण्ड) पर उचित दबाव पडता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियो





के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त-ताप तथा प्रेम,ईर्ष्या, द्वेष और आदि वृत्तियो को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रथि है। इस पर जालधरबन्ध के द्वारा हम नियत्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते हैं।

व्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोडते है, फैलाते है, उनका नाम व्यायाम है।

प्राणायाम—श्वास का सकोच और विस्तार। इसके ३ अग है—(१)पूरक, (२) रेचक, (३) कुम्भक। श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे बहि कुम्भक और भीतर रोका जाता है, उसे अन्त कुम्भक कहा जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार है किन्तु वायुशुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाए हाथ के अगूठे से दाएँ नथुने को बदकर बाए नथुने से श्वास लें और दाए नथुने से उसका रेचन करें। दाए हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाए नथुने को बन्दकर दाए नथुने से श्वास ले और बाए नथुने से उसका रेचन करें। प्रारभ मे ऐसी ८-१० आवृत्तिया की जा सकती हैं, फिर धीमे-धीमे ३० तक बढाई जा सकती हैं।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	सोलह मात्रा
रेचक	बत्तीस मात्रा
कुम्भक	आठ मात्रा

सुकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का काल-मान ऊपर बताया गया है।

समूल-बन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयानबन्ध और जुड जाता है।

निर्लेपता—विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते है और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते है। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

इन्द्रियशुद्धि के उपाय—१ इन्द्रियो का सम्यक्-योग २ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियो की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन हैं। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती है, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आख हो और वह रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नही कि कान हो और वह शब्द न सुने। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे रस की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सबध हमारे स्वास्थ्य मे [illegible] हमारी भावना से है। [illegible] को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है

पर उसके साथ कल्पनाओं का योग नहीं करता। स्पर्शन और विकार एक नहीं हैं। इन्द्रियों के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित हो राग-द्वेष से जुड़ जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है, वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द सुनना, केवल गंध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय-शुद्धि की प्रथम भूमिका में विषय और इन्द्रियों के संबंध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका में विषयों से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आंख बंद कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का संबंध-विच्छेद है। कान बंद कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का संबंध-विच्छेद है। नाक को बंद कर लेना—यह गंध के साथ घ्राण का संबंध-विच्छेद है। स्पर्श नहीं करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का संबंध-विच्छेद है। इन्द्रियों का बहिर्जगत् में प्रयोग न करना, उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियों की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमें अन्तरलीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसंलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाएं हैं बाह्य और अन्तरंग। इन्द्रियों की शक्ति अन्तरंग आकर्षण की ओर मुड़ जाए तो अन्तरंग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनों भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यंत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर-आकर्षण
बाह्यध्वनि	अन्तर-ध्वनि
बाह्यदर्शन	अन्तर्-दर्शन
बाह्यरस	अन्तर-रस
बाह्यस्पर्श	अन्तःस्पर्श
बाह्यगंध	अन्तर-गंध

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अरस, अस्पर्श और अगंध है।

हम अन्तर्ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका में नहीं पहुंच जाते हैं। इस प्रयत्न में हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुंच पाते हैं। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का संबंध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते हैं।

श्वासोच्छ्वास शुद्धि के उपाय

१ प्राणायाम, २ समतालश्वास, ३ दीर्घश्वास, ४ कायोत्सर्ग

इस प्रकरण में भस्त्रिका आदि अनेक प्राणायामों के नाम सुझाए जा सकते हैं, फिर भी श्वास-शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम प्राणायाम को ही अधिक उपयोगी मानता हूं। श्वास के दोष विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते हैं और वे मन को चंचल बनाते हैं। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितान्त आवश्यक है। भावना की भाषा में, जैसा कि मैं समझ पाया हूं श्वास और मन का गहरा संबंध है। श्वास की चंचलता मन की चंचलता को जन्म देती है और मन की चंचलता फिर श्वास को चंचल बनाती है। इस क्रम से स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है।



समताल श्वास—जितनी मात्रा में पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा में दूसरा, तीसरा, इस प्रकार तार-बद्ध श्वास लेना समताल श्वास होता है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।



के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त-ताप तथा प्रेम,ईर्ष्या, द्वेष और आदि वृत्तियो को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रथि है। इस पर जालधरबन्ध के द्वारा हम नियत्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते हैं।

व्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोडते है, फैलाते हैं, उसका नाम व्यायाम है।

प्राणायाम—श्वास का सकोच और विस्तार। इसके ३ अग है—(१)पूरक, (२) रेचक, (३) कुम्भक। श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे बहिर्कुम्भक और भीतर रोका जाता है, उसे अन्त कुम्भक कहा जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार है किन्तु वायुशुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाए हाथ के अगूठे से दाएँ नथुने को बदकर बाए नथुने से श्वास लें और दाए नथुने से उसका रेचन करें। दाए हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाए नथुने को बन्दकर दाए नथुने से श्वास ले और बाए नथुने से उसका रेचन करें। प्रारभ मे ऐसी ८-१० आवृत्तिया की जा सकती हैं, फिर धीमे-धीमे ३० तक बढाई जा सकती है।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	सोलह मात्रा
रेचक	बत्तीस मात्रा
कुम्भक	आठ मात्रा

सुकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का काल-मान ऊपर बताया गया है।

समूल-बन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम--इस प्रक्रिया मे कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयानबन्ध और जुड जाता है।

निर्लेपता—विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते हैं और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते है। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

इन्द्रियशुद्धि के उपाय—१ इन्द्रियो का सम्यक्-योग २ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते है। इन्द्रियो की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन है। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती है, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आख हो और वह रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नही कि कान हो और वह शब्द न सुने। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे रस की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सबध हमारे स्वास्थ्य मे है, जबकि उनके सम्यग्-योग का सबध हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है

पर उसके साथ कल्पनाओ का योग नही करता । स्पर्शन और विकार एक नही है । इन्द्रियो के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है । यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित हो राग-द्वेष मे जुड जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है । सम्यग् योग का अर्थ है, वर्तमान मे प्राप्त विषयो को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओ को न जोडना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द सुनना, केवल गध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना ।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसलीनता है । इन्द्रिय शुद्धि की प्रथम भूमिका मे विषय और इन्द्रियो के सबध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका मे विषयो से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है । आख बद कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का सबध-विच्छेद है । कान बद कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का सबध-विच्छेद है । नाक को बद कर लेना—यह गध के साथ घ्राण का सबध विच्छेद है । स्पर्श नही करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का सबध-विच्छेद है । इन्द्रियो का बहिर्जगत मे प्रयोग न करना, उन्हे अपने-अपने क्षेत्रो मे ही सीमित रखना प्रतिसलीनता है ।

इन्द्रियो की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमे अन्तरलीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसलीनता है । यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है । अन्तर के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा । बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर के प्रति आकर्षण बढ जाएगा । आकर्षण की दो भूमिकाए है बाह्य और अन्तरग । इन्द्रियो की शक्ति अन्तरग आकर्षण की ओर मुड जाए तो अन्तरग शक्ति का स्रोत खुल जाता है । दोनो भूमिकाओ का तुलनात्मक रूप निम्न यत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर-आकर्षण
बाह्यध्वनि	अन्तर-ध्वनि
बाह्यदर्शन	अन्तर-दर्शन
बाह्यरस	अन्तर-रस
बाह्यस्पर्श	अन्त स्पर्श
बाह्यगध	अन्तर-गध

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अरस, अस्पर्श और अगध है ।

हम अन्तरध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका मे नही पहुच जाते है । इस प्रयत्न मे हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुच पाते हैं । हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का सबध होता है । उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते है ।

श्वासोच्छ्वास शुद्धि के उपाय

१ प्राणायाम, २ समतालश्वास, ३ दीर्घश्वास, ४ कायोत्सर्ग

इस प्रकरण मे भस्त्रिका आदि अनेक प्राणायामो के नाम सुझाए जा सकते हैं, फिर भी श्वास-शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम प्राणायाम को ही अधिक उपयोगी मानता हू । श्वास के दोष विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते है और वे मन को चचल बनाते है । मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितान्त आवश्यक है । साधना की भाषा मे, जैसा कि मै समझ पाया हू श्वास और मन का गहरा सबध है । श्वास की चचलता मन की चचलता को जन्म देती है और मन की चचलता फिर श्वास को चचल बनाती है । इस क्रम मे स्थिरता कम होती चली जाती है । अत मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है ।



समताल श्वास—जितनी मात्रा मे पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा मे दूसरा, तीसरा, इस प्रकार ताल-बद्ध श्वास लेना समताल श्वास होता है ।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना ।

वाक्-शुद्धि के उपाय—१ प्रलम्ब नाद का अभ्यास, २ सत्यपरक प्रयोग।

वाक् मनपरिष्कृत होकर ही प्रगट होती है। मन की सरलता होती है, तब वाणी शुद्ध रहती है। मन की कुटिलता होने पर वह भी अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होना है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है, वही हो जाता है। वाणी मे यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ओ, अह, सोहम् आदि मत्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन, वाणी के साथ जुड जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वह वायुमण्डल मे तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते हैं और इष्ट परमाणुओ का परिपार्श्व बन जाता है।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारभ कर १५ मिनट तक बढाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढाया जा सकता है। इस अभ्यास मे मन को समस्याओ मे मुक्त और सरल रखना आवश्यक है।

मन की शुद्धि के उपाय

१ दृढ सकल्प   २ एकाग्र सन्निवेशन

दृढ़ सकल्प—हमारे मन मे कामनाए उठती रहती है। उन कामनाओ मे कार्यरूप मे बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हे सकल्प कहा जाता है। समुद्र मे उर्मियो की भाति सकल्प हमारे मन मे उत्पन्न होते है और विलीन हो जाते है। वे अस्थिर सकल्प होते हैं। उनसे हमे कोई लाभ प्राप्त नही होता। स्थिर सकल्प कार्यरूप मे परिवर्तित हुए बिना विलीन नही होता। वह दीर्घकाल तक टिका रहता है। उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने से वह रूढ बन जाता है। दृढ सकल्प मे कार्यरूप मे परिणत होने की क्षमता पैदा होती है। उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते हैं। बुरे विचारो को छोडने व अच्छे विचारो की आदत डालने मे दृढ सकल्प हमारी बहुत सहायता करता है।

एकाग्रसन्निवेशन

एकाग्रता मन की विरोधावस्था नही है। यह उसकी किसी एक विषय मे निरोधावस्था है। अनेक भागो मे जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग मे मोड देना है। नदी का प्रवाह जब अनेक भागो मे बहता है, तब वह क्षीण हो जाता है। एक प्रवाह मे जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहो मे नही हो सकती। सूर्य की बिखरी रश्मियो मे वह शक्ति नही होती, जो केन्द्रित किरणो मे होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरन्तर बहता है तब उसमे अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षेत्र मे मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन प्रवाह को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतिया है। उनमे मे कुछेक पद्धतियो को मै यहा प्रस्तुत करना चाहूगा।

१ **द्रष्टा की स्थिति**—मन की चचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहा जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेय मन को ही बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नही कर पाएगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लेंगे।

२ **विकल्पो की उपेक्षा**—आपके मन मे जो विकल्प उठते है, उनकी उपेक्षा कीजिए, जो प्रश्न उठते हैं, उनके उत्तर मत दीजिए। जैसे प्रश्न करनेवाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पा कर (प्रश्नो के उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३ **अप्रयत्न**—मन को स्थिर करने का वलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास को मद कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मद होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा।

४ **श्वास-योग**—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान

लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास मे लीन हो जाएगा।

५ **आकृति-आलम्बन**—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्रण बनाइए। पहले देश-काल और बाह्य-वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए फिर उसे मानसिक चित्र मे बदल दीजिए। वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राणवान् जैसा कीजिए।

यदि प्रारभ मे ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियो पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्रण बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

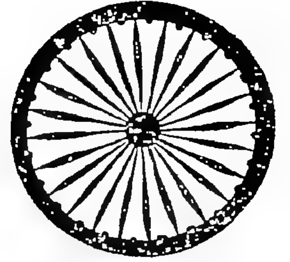
६ **शब्द-आलम्बन**—इष्ट मत्रो मे मन को लगाइए। मन का प्रवाह शब्द की दिशा मे प्रवाहित होकर अन्य विकल्पो से शून्य हो जाता है।

७ **दृढ़-इच्छा-शक्ति**—इच्छा-शक्ति भावो से उत्पन्न होती है। भावो की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावो को इच्छा-शक्ति के रूप मे बदलने का साधन है, स्वत सूचना (ओटोसजैसन)। मन को सूचना देने से भावो मे उत्तेजना आरभ होती है, और वही इच्छाशक्ति के रूप मे परिणत हो जाती है। इच्छाशक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ हो जाती है। दृढ इच्छा-शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।



भाषा और शब्द

मुनिश्री मिश्रीमलजी "मधुकर"



मानव जाति के सास्कृतिक विकास मे भाषा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा विचारो के आदान-प्रदान का असाधारण माध्यम है। कल्पना कीजिए, कदाचित् मनुष्य को भाषा का साधन प्राप्त न होता तो उसकी क्या स्थिति होती ? न उसे वैचारिक समृद्धि उपलब्ध होती, न आज जैसा ज्ञान विज्ञान प्राप्त होता, यहाँ तक कि समाज-रचना भी सभव न होती और मानव-जीवन पशुजीवन के सदृश ही होता। अतएव असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मानवीय अभ्युदय मे भाषा का स्थान अद्वितीय है। व्यक्त भाषा ने मानव को जागृत चेतना प्रदान की है।

सिंह गर्जना करता है, घोडा हिन-हिनाता है, गाय रभाती है, कुत्ता भोकता है, पक्षी चहचहाते है और इसे हम श्रुतिगोचर करते है। अतएव गजना, रभाना आदि भी भाषा की परिधि मे है किन्तु यह निरर्थक भाषा है, वर्णात्मक नही। यहा हम सार्थक भाषा के विषय मे ही विचार करेंगे।

भाषा शब्दो से बनती है और शब्द वर्णात्मक है अतएव भाषा के तात्विक एव मौलिक विचार के लिए वर्ण-विचार भी अनिवार्य है। जैसे उपाग और अग शरीर से अभिन्न हैं उसी प्रकार वर्ण और शब्द भाषासे अभिन्न है।

चिरतन काल से भारतीय दार्शनिक शब्द के विषय मे विचार करते आ रहे है। अनेक दार्शनिको ने शब्द-विचार मे गहरे गोते लगाए है। शब्द क्या है ? उसका मूल उपादान क्या है ? वह किस प्रकार उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है ? उत्पन्न या अभिव्यक्त शब्द किस प्रकार श्रोता को कर्णगोचर होता है ? इत्यादि प्रश्नो पर भारत के दर्शन-शास्त्रो मे हमे गभीर विचार मिलते है।

शब्दविषयक मान्यताए

कणाद आदि कतिपय दार्शनिक शब्द को द्रव्य न मानकर आकाश का गुण मानते है। साख्यदर्शन उसे आकाश का जनक अथवा आविर्भावक स्वीकार करता है। मीमासादर्शन की मान्यता है कि शब्द की उत्पत्ति ही नही होती, वह नित्य और व्यापक है। आकाश की भाति उसकी सर्वत्र सर्वदा सत्ता है। जब व्यजक निमित्त मिलते है तब वह हमारे श्रवण मे जाता है, अन्यथा नही।

भर्तृहरि जैसे वैयाकरणो की मान्यता के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जगत् मे जो कुछ है, शब्द ही है। शब्द के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ-वाच्य की वास्तविक सत्ता नही है। शब्द का ही विविध अर्थों के रूप मे प्रतिभास होता है।

जैनदर्शन का अभिमत

जैनदर्शनानुसार शब्द पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत है। वह भाषा-वर्गणा के पुद्गलो का पर्याय है। पुद्गल-द्रव्य मूर्तिक होता है अत शब्द भी मूर्तिक है। रूप रस गध और स्पर्श ये सभी पुद्गलधर्म उसमे विद्यमान है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

> सद्दधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवत्ति वा।
> वण्ण-रस गध फासा, पुग्गलाण तु लक्खण॥
>
> —उत्तरा० २८, १२

(क) शब्द की पौद्‌गलिकता का निषेध करने के लिए निम्नलिखित युक्तिया दी जाती है शब्द आकाश का गुण है, अतएव शब्द का आधार आकाश द्रव्य है । आकाश स्पर्श से रहित है, इस कारण उसका गुण शब्द भी स्पर्श रहित होना चाहिए। जब शब्द मे स्पर्श नही हो सकता तो उसे पौदगलिक स्वीकार करना भी तर्क सगत नही।

(ख) पुद्‌गल रूपी होता है मगर शब्द रूपी नही है, क्योकि इसका प्रवेश सघन वस्तु मे भी देखा जाता है। वह स्थगित-कपाट अपवरक के भीतर प्रवेश कर जाता है और उससे बाहर निकलता है। जैसे रूपी घट दीवाल मे प्रवेश नही कर सकता उसी प्रकार शब्द यदि रूपी होता तो वह भी प्रवेश न कर पाता।

(ग) घट बनने से पहले उसका पूर्वरूप-मृत्तिका दिखाई देता है और घट नष्ट होने के पश्चात् उसका उत्तर रूप कपालसमूह दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार प्रत्येक पौद्‌गलिक पदार्थ का पूर्ववर्ती और परवर्ती रूप देखा जाता है। किन्तु शब्द का न पूर्ववर्ती रूप उपलब्ध होता है और न परवर्ती । अत शब्द पुद्‌गल नही माना जा सकता।

(घ) प्रत्येक पौद्‌गलिक पदार्थ दूसरे पौद्‌गलिक पदार्थ मे किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है। शब्द पुद्‌गल होता तो वह भी अन्य पौद्‌गलिक पदार्थों मे प्रेरणा उत्पन्न करता किन्तु ऐसा देखा नही जाता। ऐसी स्थिति मे शब्द को पुद्‌गलरूप स्वीकार करना समीचीन प्रतीत नही होता।

(क) जैन दार्शनिको ने इन युक्तियो पर भलीभाति विचार किया है। उनका कथन है कि शब्द का आधार आकाश मानना ही भ्रमपूर्ण है। शब्द का आधार तो वस्तुत पुद्‌गल भाषावर्गणा है और उसमे स्पर्श होता ही है। यह सत्य है कि शब्द मे रहे हुए स्पर्श का हमे प्रत्यक्ष प्रतिभास नही होता, तथापि इससे स्पर्श का अभाव नही माना जा सकता। हमारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अत्यत स्थूल होता है। वह परमाणु का साक्षात्कार नही कर सकता फिर भी उसकी सत्ता अनुमान प्रमाण के आधार पर निर्विवाद स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार शब्द के स्पर्श का निर्णय भी अनुमान के आधार पर किया जा सकता है। वायु का रुख अनुकूल होता है तो दूरी पर प्रयुक्त शब्द भी स्पष्ट कर्णगोचर होता है। वायु का रुख प्रतिकूल होने पर समीप मे बोला गया शब्द भी स्पष्ट सुनाई नही देता। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रतिकूल वायु शब्द के प्रसार मे प्रतिबध उपस्थित करती है जबकि अनुकूल वायु उसके सचार मे सहायक होती है। शब्द स्पर्शहीन होता तो वायु उसके सचार को प्रभावित कर ही नही पाती।

(ख) बाहर प्रयुक्त शब्द का बद द्वार वाले कमरे मे और बद द्वारवाले कमरे मे प्रयुक्त शब्द का बाहर सुनाई देना सघन वस्तु मे प्रवेश करना नही कहा जा सकता, क्योकि वहाँ विद्यमान सूक्ष्म छिद्रो मे होकर ही शब्द का प्रवेश-निर्गम होता है। इसीसे खुले मे जैसा स्पष्ट सुनाई देता है वैसा बद किवाडो मे होकर सुनाई नही देता।

(ग) विद्युत् और इन्द्र धनुष आदि दृष्टिगोचर होने के कारण पौद्‌गलिक तो है मगर उत्पत्ति से पहले उनका पूर्वरूप और नष्ट हो जाने के पश्चात् उत्तरकालीन रूप दिखाई नही देता। इसी प्रकार शब्द का पूर्व-उत्तर पर्याय यदि दृष्टिगोचर न हो तो भी उसे पौद्‌गलिक ही स्वीकार करना चाहिए।

(घ) शब्द यदि पौद्‌गलिक होता तो दूसरे पदार्थो को प्रेरित करता, यह युक्ति भी समीचीन नही कही जा सकती। यह नियम स्थूल पुद्‌गलो मे ही देखा जाता है। गध तथा रजकण जैसे सूक्ष्म पुद्‌गल दूसरे पुद्‌गलो को प्रेरित नही करते फिर भी उनकी पौद्‌गलिकता अव्याहत है। शब्द सूक्ष्म होने के कारण अन्य पुद्‌गलो को प्रेरित नही करता है।



शब्द की वाचक शक्ति

वस्तु चाहे चेतन हो या जड, मूर्तिक हो या अमूर्तिक, उसमे अनत शक्तिया विद्यमान रहती है। दीपक मे पदार्थों को प्रकाशित करने का नैसर्गिक सामर्थ्य है, इसी प्रकार शब्द मे पदार्थ का बोध कराने की शक्ति स्वभावत विद्यमान है। किन्तु यहाँ ज्ञातव्य यह है कि शब्द की अर्थबोधक शक्ति नियत या सीमित नही है, बल्कि प्रत्येक शब्द मे विश्व के समस्त पदार्थो का प्रतिपादन करने की शक्ति विद्यमान है। 'घट' शब्द जैसे कलश वस्तु का वाचक है उसी प्रकार वस्त्र का वाचक हो सकता है, मेज कुर्सी कलम पुस्तक आदि का भी वाचक हो सकता है किन्तु मानव ने शब्द

के इस वाचक-सामर्थ्य को सकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अतएव शब्द समस्त पदार्थों का वाचक होने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी मानव समाज द्वारा निर्धारित सकेतप्रणाली के अनुरूप ही अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है।

सकेत की आवश्यकता

शब्द के व्यापक सामर्थ्य को यदि सकेत द्वारा नियत न किया जाय तो वह वक्ता के अभीष्ट निर्धारित अर्थ का प्रतिपादक न होकर श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक हो जाएगा और उस अवस्था मे शब्द के प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। गाय मगवाने की इच्छा से वक्ता कहेगा "गो लाओ।" यदि गो शब्द जगत् के सभी पदार्थों का वाचक है तो श्रोता अपनी इच्छा से किसी भी पदार्थ को ले आएगा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में भाषा का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होगा। इस अव्यवस्था से बचने के लिए शब्द की वाचकत्व-शक्ति सकेतद्वारा निर्धारित कर दी गई है। पूर्व परम्परा से जो शब्द जिस अर्थ के वाचक रूप मे रूढ है उसी के अनुसार वह अर्थ का उद्बोधक होता है। हाँ, सकेत नये भी बनाए जाते है। उन नवीन सकेतो का अनुसरण करके शब्द नवीन अर्थ का बोधक हो जाता है। पिछले कुछ समय मे ऐसे सैकडो शब्द गढे गये है और जो विज्ञजन उन सकेतो से परिचित हो चुके हैं वे उन सकेतो के अनुसार शब्दप्रयोग करते है। पचास वर्ष पहले अग्रेजी शब्द Police के लिए हिन्दी भाषा मे 'पुलिस' शब्द ही व्यवहृत होता था, आज उसके स्थान पर "आरक्षी" शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार के बहुसख्यक दूसरे शब्दो का भी प्रचलन हुआ है।

अभिप्राय यह कि शब्द अपनी स्वाभाविक अर्थप्रतिपादन शक्ति और सकेत से पदार्थों का वाचक होता है।

नयदृष्टि

मगर जैनदर्शन का शब्दार्थ-विचार इससे भी आगे चलता है। उसने विभिन्न दृष्टियो के आधार पर उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण हमारे समक्ष प्रस्तुत किये है। शब्दनय की मान्यता के अनुसार लिंग काल पुरुष और वचन आदि के भेद से एक ही शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है।

समभिरूढ नय शब्दभेद से ही अर्थभेद स्वीकार करता है, चाहे लिंगादि का भेद हो अथवा न हो। इस नय की दृष्टि से कोई भी दो शब्द एकार्थक नही हो सकते क्योकि उनकी व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् होती है। राजा नृपति और भूपति जैसे एकार्थक समझे जाने वाले शब्द वास्तव मे एकार्थक नही है। इन शब्दो की बनावट पर ध्यान दिया जाय तो इस दृष्टिकोण की वास्तविकता सहज ही समझ मे आ सकती है। छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज्य-चिह्नो से सुशोभित होने वाला पुरुष 'राजा' कहा जा सकता है। मानवप्रजा का पालन-पोषण करने वाला 'नृपति' और भूमि की रक्षा करने वाला 'भूपति' कहलाता है।

तीसरा दृष्टिकोण एवभूत नय कहलाता है। यह सबसे सूक्ष्म दृष्टिकोण है जो क्रिया के भेद से ही शब्द के वाच्य मे भिन्नता स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति को तभी भिक्षु कहा जा सकता है जब वह भिक्षावृत्ति कर रहा है। तभी मुनि कहा जा सकता है जब मनन क्रिया कर रहा हो और तभी साधु कहा जा सकता है जब स्वपर का कार्य कर रहा हो। भिक्षा करते समय वह मुनि नही कहा जा सकता और मनन करते समय भिक्षु नही कहा जा सकता।

शब्द का ग्रहण—

श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। वक्ता द्वारा उत्सृष्ट शब्द-पुद्गल श्रोता के कर्णकुहर को जब भर देते हैं तब श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। किन्तु श्रोत्रइन्द्रिय मात्र करण है, शब्द को ग्रहण करने मे कर्त्ता नही है। शब्द के वाच्य अर्थ की प्रतीति तो आत्मा को ही होती है।

शब्द का सचार

वक्ता के द्वारा बोले हुए शब्द को श्रोता किस प्रकार श्रवण करता है? शब्द कितनी दूर तक जा सकता है?

किस वेग से जाता है ? इत्यादि प्रश्नो का विशद उत्तर जैन शास्त्रो मे मिलता है।

बतलाया जा चुका है कि शब्द भाषावर्गणा के परमाणुओं मे बनते हैं। भाषावर्गणा के परमाणु सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हैं। जब वक्ता बोलने को उद्यत होता है तो उन पुद्गलो को ग्रहण करता है, उन्हे शब्द रूप मे परिणत करता है और फिर उन्हे बाहर निकालता है। उनका वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय मे वे लोक के अत तक जा पहुचते हैं। इस वेग की तीव्रता का हम अनुमान तक नही कर सकते।

जैसे पृथ्वी पर राजमार्ग, पथ या पगडडियाँ बनी हैं और पथिक उनका अनुसरण करके चलते हैं इसी प्रकार आकाश मे भी उसके प्रदेशो की श्रेणिया हैं। ये श्रेणिया पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण ऊपर तथा नीचे इस प्रकार छहो दिशाओं मे विद्यमान हैं। इन्ही श्रेणियो मे होकर शब्द गति करता है और सिर्फ चार समयो (काल के सूक्ष्मतम अशो) में सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हो जाता है।

मिश्र और वासित शब्द

श्रोता यदि समश्रेणी मे स्थित होता है तो वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा को अथवा वाद्य आदि के शब्दो को मिश्र रूप मे सुनता है और यदि विश्रेणी मे स्थित हो तो वासित शब्दो को ही श्रवण कर सकता है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त कोरे शब्द ही श्रोता को श्रुतिगोचर नही हो सकते।

मिश्र एव वासित शब्द क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। जब वक्ता भाषाद्रव्यो का निसर्ग करता है अर्थात् ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्यो को शब्द रूप मे परिणत करके उनका त्याग करता है तो आकाश मे फैलते हुए वे शब्द आकाश मे व्याप्त अन्यान्य भाषा-पुद्गलो को भी शब्द के रूप मे परिणत करते चलते हैं। इस प्रकार उनका रूप मिला-जुला हो जाता है अर्थात् वक्ता द्वारा त्यक्त पुद्गल और उनके सयोग से शब्द रूप मे परिणत हुए अन्य पुद्गल मिश्रित हो जाते हैं, ऐसे पुद्गल मिश्र शब्द कहलाते हैं। ये मिश्र शब्द समश्रेणी मे ही गति करते हैं। यही कारण है कि समश्रेणी मे स्थित श्रोता मिश्र शब्दो को ही सुनता है।

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-पुद्गलो के सम्पर्क से आकाश मे व्याप्त जो अन्य भाषाजातीय पुद्गल शब्द रूप मे परिणत हो जाते हैं, जिनमे प्रयुक्त शब्द बिल्कुल नही होते—वे वासित शब्द कहलाते हैं। विश्रेणी मे स्थित श्रोता इन शब्दो को ही सुन पाता है क्योकि वक्ता द्वारा त्यागे गये पुदगल विश्रेणी मे जाते नही है। उनका सचार समश्रेणी मे ही होता है।

प्रश्न हो सकता है कि शब्द एक ही समय मे श्रेणी के अनुसार लोक के चरम भाग तक पहुच जाता है, दूसरे समय मे विदिशा मे जाता है और चौथे समय मे समस्त लोक मे व्याप्त हो जाता है तो विदिशा मे स्थित श्रोता भी मिश्रशब्द क्यो नही सुन सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैनदर्शन के अनुसार भाषा जिस समय बोली जाती है उसी समय मे वह भाषा कहलाती है। उस एक समय के पश्चात् भाषा अभाषा हो जाती है।[1] इस प्रकार विश्रेणी मे जो शब्द सुनाई देता है वह प्रथम समयवर्ती न होने के कारण मूल शब्द नही है। मूल शब्द ने अन्य भाषा-जातीय पुद्गलो को शब्द-परिणत कर दिया है, अतएव वह वासित शब्द है और वही विदिशा मे सुनाई देता है। भरे हुए सरोवर मे पत्थर या अन्य कोई भारी वस्तु डाली जाय तो उसके चारो ओर एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर दूसरी लहरो को उत्पन्न करती है और लहरो का प्रवाह सरोवर के अत तक पहुच जाता है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा उच्चारित शब्दद्रव्य आगे बढते हुए आकाश मे स्थित अन्यान्य भाषाद्रव्यो को शब्द रूप मे परिणत करते हुए लोक के अत तक पहुचते हैं। वहा पहुचने पर शब्दो की सुनाई देने की योग्यता समाप्त हो जाती है।

भाषा द्रव्यो का ग्रहण और निसर्ग

प्रज्ञापना सूत्र मे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भाषा-द्रव्यो का विशद और सूक्ष्म प्रतिपादन किया



१ भाष्यमाणैव भाषा, भाषा-समयानन्तर भाषाऽभाषा।



गया है। यहा सक्षेप मे उसका उल्लेख करेंगे। इससे विदित होगा कि जैनदर्शन का शब्दविचार विश्व के समस्त दर्शनो मे अनूठा परिपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न—जीव स्थित-अचल भाषाद्रव्यो को ग्रहण करता है अथवा चल द्रव्यो को ?

उत्तर—स्थित द्रव्यो को ग्रहण करता है, चल द्रव्यो को नही।

प्रश्न—स्थित द्रव्यो को द्रव्य से क्षेत्र से काल से अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

उत्तर—द्रव्य से भी, क्षेत्र से भी, काल से भी, भाव से भी।

प्रश्न—द्रव्य से एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी या अनत प्रदेशी द्रव्यो को ग्रहण करता है ?

उत्तर—असख्यात प्रदेशी तक के भाषाद्रव्य सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण नही किये जा सकते, अनत प्रदेशी द्रव्यो को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—आकाश के कितने प्रदेशो मे अवगाढ द्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं ?

उत्तर—जो भाषाद्रव्य आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ होते है उन्ही को जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—कितने समय की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—एक समय की, दो समयो की यहा तक कि असख्यात समयो की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जाते है।

प्रश्न—भाव से क्या वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान् भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है ?

उत्तर—हाँ, ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यो मे कोई एक वर्णवाले होते हैं, किसी मे दो, किसी मे तीन, किसी मे चार और किसी मे पाचो वर्ण हाते हैं। किन्तु इन सब द्रव्यो का समूह नियमत पचवर्ण ही होता है। यही नियम रस और गध के सबध मे समझना चाहिए।

हा, एक स्पर्श किसी भी पुद्गल द्रव्य मे नही होता। छोटे से छोटा पुद्गल अणु है और उसमे भी दो स्पर्श अवश्य होते है अतएव दो स्पर्शों वाले, तीन स्पर्शो वाले तथा चार स्पर्शों वाले भाषा-द्रव्यो को ही जीव ग्रहण करता है।

जीव उन्ही भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है जो उसके साथ स्पृष्ट ही नही बल्कि एक क्षेत्रावगाढ होते है। अभिप्राय यह है कि जिन आत्मप्रदेशो मे जो भाषाद्रव्य स्थित हैं उन आत्मप्रदेशो मे उन्ही भाषाद्रव्यो को ग्रहण करता है, व्यवहित द्रव्यो को ग्रहण नही करता।

जब जीव मे भाषण करने का सकल्प उत्पन्न होता है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है। भाषाद्रव्यो का यह ग्रहण सान्तर अर्थात् समय का व्यवधान करके भी हो सकता है और निरतर अर्थात् लगातार भी होता है। सान्तर ग्रहण मे एक समय से लेकर असख्यात समयो तक का अन्तर पड सकता है। अगर जीव निरतर भाषा द्रव्यो को ग्रहण करे तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक असख्य समयो तक लगातार ग्रहण करता रहता है।

गृहीत भाषाद्रव्यो को जीव धारण करके नही रखता किन्तु जिस समय मे ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे ही समय मे शब्द के रूप मे परिणत करके उन्हे त्याग देता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय मे ग्रहण और उत्तर-उत्तर समय मे त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग की इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथम समय	द्वितीय स०	तृतीय स०	चतुर्थ स०	पचम स०	षष्ठ स०
ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	०
०	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग

स्पष्ट है कि प्रथम समय मे भाषा द्रव्यो का सिर्फ ग्रहण ही होता है और अतिम समय मे सिर्फ निसर्ग ही होता है। मध्य के समयो मे ग्रहण और निसर्ग दोनो चालू रहते है किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम समय मे गृहीत पुद्गलो का दूसरे समय मे, दूसरे समय मे गृहीत पुद्गलो का तीसरे समय मे, इसी प्रकार आगे के समयो मे ग्रहण और निसर्ग होता रहता है। जिस समय जो भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है उसी समय उनका निसर्ग नही किया जा सकता।

निसर्ग के दो प्रकार

वक्ता दो प्रकार के होते है—तीव्र प्रयत्नवान् और मद प्रयत्नवान्। निरोग, बलवान् एव गहरी लगन वाला वक्ता तीव्र प्रयत्नवाला कहलाता है और जो इससे विपरीत हो वह मद प्रयत्न वाला। तीव्र प्रयत्नवाला वक्ता भाषा-द्रव्यो को ग्रहण एवं निसर्ग सबधी प्रयत्न के द्वारा खण्ड-खण्ड करके त्यागता है। उसके द्वारा त्यक्त भाषाद्रव्य सूक्ष्म और बहुत होने के कारण बहुसख्यक द्रव्यो को शब्द रूप मे वासित करते है और अनत गुण वृद्धि को प्राप्त होते हुए छहो दिशाओ मे लोकान्त तक जा पहुचते है। इसके विपरीत मद प्रयत्नवाला वक्ता जैसे पूर्व मे थे वैसे ही अखडित भाषाद्रव्यो को भाषा रूप मे परिणत करके त्यागता है। ये भाषाद्रव्य असख्यात अवगाहन-वर्गणाओ तक ही जाते है और विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द रूप परिणति को त्याग देते है। ये सख्यात योजनो से आगे नही पहुचते।

तीव्र प्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा भाषा द्रव्यो का जो भेदन किया जाता है वह पाँच प्रकार का होता है—

१ खण्डभेद—लोहे के टुकडे टुकडे कर देने के समान।
२ प्रतरभेद—अभ्रक के तह पृथक्-पृथक् करने के समान।
३ चूर्णिका भेद—चूरा-चूरा कर देना।
४ अनुतटिका भेद—ईख के छिलके को हटाने के समान।
५ उत्करिका भेद—किसी वस्तु को रगडकर पीस देने के समान।[1]

औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर वाला जीव कायिक प्रयत्न के द्वारा भाषा द्रव्यो को ग्रहण करता है और वाचनिक प्रयत्न के द्वारा उनका त्याग करता है।

जैनागमो मे भाषा की सत्यता असत्यता आदि के सबध मे भी अत्यत सूक्ष्म और मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु उनका सबध धर्म-नीतिशास्त्र के साथ है, दर्शनशास्त्र के साथ नहीं। अतएव यहाँ उसका विचार नही किया गया है।

०



१ प्रज्ञापना सूत्र, भाषा पद, विशेषावश्यक भाष्य, तथा निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य।

गया है। यहा सक्षेप मे उसका उल्लेख करेंगे। इससे विदित होगा कि जैनदर्शन का शब्दविचार विश्व के समस्त दशनो मे अनूठा परिपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न—जीव स्थित-अचल भाषाद्रव्यो को ग्रहण करता है अथवा चल द्रव्यो को ?

उत्तर—स्थित द्रव्यो को ग्रहण करता है, चल द्रव्यो को नही।

प्रश्न—स्थित द्रव्यो को द्रव्य से क्षेत्र से काल से अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

उत्तर—द्रव्य से भी, क्षेत्र से भी, काल से भी, भाव से भी।

प्रश्न—द्रव्य से एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी या अनत प्रदेशी द्रव्यो को ग्रहण करता है ?

उत्तर—असख्यात प्रदेशी तक के भाषाद्रव्य सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण नही किये जा सकते, अनत प्रदेशी द्रव्यो को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—आकाश के कितने प्रदेशो मे अवगाढ द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—जो भाषाद्रव्य आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ होते है उन्ही को जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—कितने समय की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—एक समय की, दो समयो की यहा तक कि असख्यात समयो की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं।

प्रश्न—भाव से क्या वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान् भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है ?

उत्तर—हाँ, ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यो मे कोई एक वर्णवाले होते हैं, किसी मे दो, किसी मे तीन, किसी मे चार और किसी मे पाचो वर्ण हाते हैं। किन्तु इन सब द्रव्यो का समूह नियमत पचवर्ण ही होता है। यही नियम रस और गध के सबध मे समझना चाहिए।

हा, एक स्पर्श किसी भी पुद्गल द्रव्य मे नही होता। छोटे से छोटा पुद्गल अणु है और उसमे भी दो स्पर्श अवश्य होते है अतएव दो स्पर्शों वाले, तीन स्पर्शो वाले तथा चार स्पर्शों वाले भाषा-द्रव्यो को ही जीव ग्रहण करता है।

जीव उन्ही भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है जो उसके साथ स्पृष्ट ही नही बल्कि एक क्षेत्रावगाढ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन आत्मप्रदेशो मे जो भाषाद्रव्य स्थित हैं उन आत्मप्रदेशो से उन्ही भाषाद्रव्यो को ग्रहण करता है, व्यवहित द्रव्यो को ग्रहण नही करता।

जब जीव मे भाषण करने का सकल्प उत्पन्न होता है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है। भाषाद्रव्यो का यह ग्रहण सान्तर अर्थात् समय का व्यवधान करके भी हो सकता है और निरतर अर्थात् लगातार भी होता है। सान्तर ग्रहण मे एक समय से लेकर असख्यात समयो तक का अन्तर पड सकता है। अगर जीव निरतर भाषा द्रव्यो को ग्रहण करे तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक असख्य समयो तक लगातार ग्रहण करता रहता है।

गृहीत भाषाद्रव्यो को जीव धारण करके नही रखता किन्तु जिस समय मे ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे ही समय में शब्द के रूप मे परिणत करके उन्हे त्याग देता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय मे ग्रहण और उत्तर-उत्तर समय मे त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग की इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथम समय	द्वितीय स०	तृतीय स०	चतुर्थ स०	पचम स०	षष्ठ स०
ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	०
०	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग

स्पष्ट है कि प्रथम समय मे भाषा द्रव्यो का सिर्फ ग्रहण ही होता है और अंतिम समय मे सिर्फ निसर्ग ही होता है। मध्य के समयो मे ग्रहण और निसर्ग दोनो चालू रहते है किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम समय मे गृहीत पुद्गलो का दूसरे समय मे, दूसरे समय मे गृहीत पुद्गलो का तीसरे समय मे, इसी प्रकार आगे के समयो मे ग्रहण और निसर्ग होता रहता है। जिस समय जो भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते है उसी समय उनका निसर्ग नही किया जा सकता।

निसर्ग के दो प्रकार

वक्ता दो प्रकार के होते हैं—तीव्र प्रयत्नवान् और मद प्रयत्नवान्। निरोग, बलवान् एव गहरी लगन वाला वक्ता तीव्र प्रयत्नवाला कहलाता है और जो इससे विपरीत हो वह मद प्रयत्न वाला। तीव्र प्रयत्नवाला वक्ता भाषा-द्रव्यो को ग्रहण एव निसर्ग सबधी प्रयत्न के द्वारा खण्ड-खण्ड करके त्यागता है। उसके द्वारा त्यक्त भाषाद्रव्य सूक्ष्म और बहुत होने के कारण बहुसख्यक द्रव्यो को शब्द रूप मे वासित करते है और अनत गुण वृद्धि को प्राप्त होते हुए छहो दिशाओ मे लोकान्त तक जा पहुचते हैं। इसके विपरीत मद प्रयत्नवाला वक्ता जैसे पूर्व मे थे वैसे ही अखडित भाषाद्रव्यो को भाषा रूप मे परिणत करके त्यागता है। ये भाषाद्रव्य असख्यात अवगाहन-वर्गणाओ तक ही जाते है और विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द रूप परिणति को त्याग देते है। ये सख्यात योजनो से आगे नही पहुचते।

तीव्र प्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा भाषा द्रव्यो का जो भेदन किया जाता है वह पाँच प्रकार का होता है—

१ खण्डभेद—लोहे के टुकडे टुकडे कर देने के समान।
२ प्रतरभेद—अभ्रक के तह पृथक्-पृथक् करने के समान।
३ चूर्णिका भेद—चूरा-चूरा कर देना।
४ अनुतटिका भेद—ईख के छिलके को हटाने के समान।
५ उत्करिका भेद—किसी वस्तु को रगडकर पीस देने के समान।[1]

औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर वाला जीव कायिक प्रयत्न के द्वारा भाषा द्रव्यो को ग्रहण करता है और वाचनिक प्रयत्न के द्वारा उनका त्याग करता है।

जैनागमो मे भाषा की सत्यता असत्यता आदि के सबध मे भी अत्यत सूक्ष्म और मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये है किन्तु उनका सबध धर्म-नीतिशास्त्र के साथ है, दर्शनशास्त्र के साथ नही। अतएव यहाँ उसका विचार नही किया गया है।

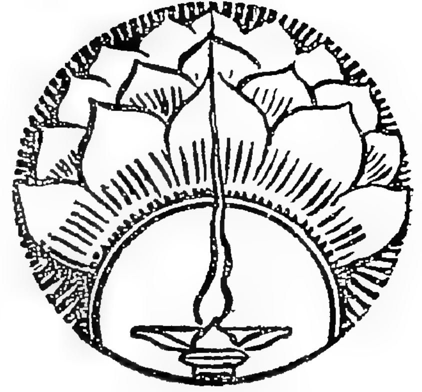


१ प्रज्ञापना सूत्र, भाषा पद, विशेषावश्यक भाष्य, तथा निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य।

'जैन आगमों में वनस्पतिविज्ञान'

श्री कन्हैयालाल लोढा,

बी० ए०, केकड़ी,



प्रारम्भिक —जैनदर्शन एक मौलिक दर्शन है और विश्व के अन्य दर्शनो से अपने मे अनेक विशेषताएँ रखता है। आज से सहस्रो वर्ष पूर्व जब वर्तमान युग के समान न वैज्ञानिक यत्र थे और न प्रयोगशालाएँ, उस समय इसने अनेक ऐसे विलक्षण सूत्रो व सिद्धान्तो का निरूपण किया जो तत्कालीन किसी भी अन्य दर्शन मे विद्यमान नही थे। वे सूत्र इतने मर्म व अर्थगाभीर्य लिए हुए थे कि अन्य दर्शनो के विद्वान् उनके अन्तस्तल तक नही पहुँच पाते थे। फलत उनकी ओर से उन सूत्रो का विरोध व खडन होता रहता था और यह खडन तब तक चलता रहा जब तक कि विज्ञान ने विकसित होकर उन सूत्रो का रहस्योद्घाटन कर उनकी सत्यता को प्रत्यक्ष प्रमाणित न कर दिया। उदाहरणार्थ 'स्याद्वाद' सिद्धान्त को ही लीजिये। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ को अनन्त गुणात्मक मानता है और उन गुणो मे परस्पर विरोधी गुणो को भी स्थान देता है। अन्य दर्शनकार दो विरोधी गुण एक साथ रह सकें इससे सहमत नही थे परन्तु विज्ञान के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरोधी समागम' (Unity of opposition) के सिद्धान्त ने आज इसे सत्य प्रमाणित कर दिया है। दूसरा उदाहरण लीजिये—जैनदर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा आदि को अलग-अलग तत्व स्वीकार न कर समस्त पार्थिव या भौतिक द्रव्यो का एक ही उपादान तत्व 'पुद्गल-परमाणु' मानता है। अन्य दर्शनकार इससे सहमत नही थे परन्तु आज विज्ञान-जगत् मे यह सिद्ध हो गया है। यही बात जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त, ग्रन्थिभेद, लेश्या आदि अन्य विलक्षण सिद्धान्तो के विषय मे कही जा सकती है।

जैनदर्शन के विलक्षण सिद्धान्तो मे 'वनस्पतिविज्ञान' भी एक है। जैनदर्शन वनस्पति को सजीव कहकर ही विराम नही लेता अपितु उसमे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियो या प्रवृत्तियो का भी सविस्तार वर्णन करता है और आज उसकी सच्चाई विज्ञान से सिद्ध है। मैं इस विषय मे पाठको का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि सर्वसाधारण जन वनस्पति को चल-फिर, बोल न सकने के कारण प्रथम तो सजीव मानने को तैयार ही नही हो सकते, यदि सजीव मान भी लें तो उसमे माया, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियो की विद्यमानता को तो स्वीकार कर ही नही सकते, क्योकि उनका इन्द्रिय और बुद्धिज्ञान इसका समर्थन करने मे असमर्थ है। इस प्रकार जो ज्ञान मानव की इन्द्रियो और बुद्धि के साधारण ज्ञान की सीमा से परे हो उसका निरूपण वही कर सकता है जिसे अतिशय अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान हो।

हर्ष की बात है कि आज विज्ञान ने मानव की ऐन्द्रियिक व बौद्धिक शक्ति मे असीम वृद्धि करने वाले यत्रो का निर्माण कर लिया है। फलत आज का मानव पदार्थों के उन रहस्यो को भी समझने मे सक्षम होता जा रहा है जो उसकी इन्द्रियो की सामान्य शक्ति की परिधि या पहुँच से परे हैं। अब वह अतीन्द्रिय ज्ञानियो द्वारा प्रतिपादित वनस्पतिविषयक सूत्रो को यत्रो के माध्यम से किसी सीमा तक निरखने, परखने व समझने मे समर्थ है। प्रस्तुत निबध का क्षेत्र भी यही विषय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम मे प्ररूपित विषय सर्वज्ञप्रणीत होने से स्वत प्रमाण है फिर उन्हे विज्ञान से प्रमाणित करने से क्या लाभ है?

उत्तर मे यह निवेदन है कि प्रथम तो प्रमाण के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम इन चार प्रमाणो मे सबसे सबल प्रमाण प्रत्यक्ष ही है और विज्ञान किसी भी सिद्धान्त को प्रयोगशाला मे प्रत्यक्ष प्रमाणित होने पर ही अपने यहाँ स्थान देता है। अत किसी सिद्धान्त को विज्ञानसम्मत सिद्ध करना, प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित करना है। इस प्रकार आगम प्रमाण को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने से उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का बल मिलता है और वह सबल बनता है। उसकी सत्यता सर्वसाधारण के लिए भी असदिग्ध हो जाती है। इससे आगमप्रणेता के प्रति श्रद्धा-भाव का उद्भव होता है। इसके अतिरिक्त मेरी ऐसी मान्यता है कि सम्यक्ज्ञान के समान ही सम्यक् विज्ञान भी साधना का सोपान या सहायक बन सकता है। कारण कि विज्ञान का उद्देश्य भी 'सत्य' का उद्घाटन करना है और धर्म या आत्मज्ञान का उद्देश्य भी सत्य का अनुभव करना है। अत दोनो का उद्देश्य एक ही है और वह है सत्योपलब्धि। सत्य धर्म है, सत्य ईश्वर है, यह अध्यात्मक्षेत्र मे भी मान्य है। अत सत्य की ओर आगे बढाने वाला 'विज्ञान' धर्म या आत्मज्ञान का विरोधी हो, यह सभव नही लगता है, प्रत्युत विज्ञान आत्मज्ञान मे पूरक व सहायक हो सकता है, यह अधिक सगत प्रतीत होता है।

इसी प्रसग मे यह शका उठायी जा सकती है कि विज्ञान के विकास ने प्रलयकारी विश्वयुद्ध का वातावरण व खतरा उत्पन्न कर दिया है अत यह कथन उचित प्रतीत नही होता कि विज्ञान आध्यात्मिक साधना में सहायक हो सकता है।

इस विषय मे यदि यह कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान मे विज्ञान से जो विश्वयुद्ध का खतरा नजर आ रहा है इसका कारण विज्ञान का विकास नही है अपितु आध्यात्मिक विकास की प्रगति का धीमापन है। अत आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है आध्यात्मिक विकास की, न कि विज्ञान के विकास को अवरुद्ध करने की। इस तथ्य को विश्व के दो महान् देश रूस और अमेरिका ने समझ लिया है। आज दोनो ही देशो मे भौतिक-विज्ञान के विकास के साथ पुनर्जन्म परामनोविज्ञान, टेलीपैथी आदि अध्यात्म से सबधित सिद्धान्तो का जितना वैज्ञानिक अनुसधान हो रहा है, अध्यात्म-प्रधान देश मे उसका शताश भी नही हो रहा है। लक्षणो मे ऐसा लगता है कि वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब भौतिक विज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान से अनुप्राणित होकर एक नये ही विलक्षण मगलकारी रूप मे प्रकट होगा। इस विषय मे विश्वविख्यात विद्वान् विनोबा भावे का यह विचार द्रष्टव्य है कि "विज्ञान् आत्मज्ञान के अतर्गत ही है उसका विरोधी नही, वह आत्मज्ञान का ही एक भाग है, वह अदर आत्मज्ञान के रूप मे प्रकट होता है, तो बाहर विश्वज्ञान के रूप मे। अन्तत वह (आत्मज्ञान और विज्ञान) एक ही है।"[1]

सच तो यह है कि विज्ञान अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे है और वह अभी अपना विस्तार भौतिक क्षेत्र तक ही कर पाया है परन्तु अब उसकी कुछ शाखाएँ आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढने लगी है, परामनोविज्ञान, पुनर्जन्म का अन्वेषण, आध्यात्मिक चिकित्सा (Sophrology) आदि इसके दिशासकेत है। अत जब विज्ञान का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र मे हो जायेगा तब भौतिक विज्ञान और आत्मज्ञान का विरोध मिटकर सामञ्जस्य हो जायेगा तथा दोनो परस्पर पूरक व सहचर बनकर प्रगति-पथ पर आगे बढने लगेंगे।

जैनागमविशेषज्ञो के लिए आत्मज्ञान और विज्ञान का एक क्षेत्र के अन्तर्गत रहना कोई नवीन या आश्चर्य-जनक बात नही है क्योकि वे इस बात से पूर्वत ही परिचित है कि अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरो ने परमाणुवाद के सूत्रो की जिस स्तर पर रचना की है वहाँ तक आज का भौतिक (परमाणु) विज्ञान अभी तक भी नही पहुँच पाया है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि अगर वे तत्वज्ञ 'तीर्थंकर' परमाणुविज्ञान को साधक के लिए आवश्यक न समझते तो अपने प्रवचनो मे उसका इतना विशद विवेचन कदापि न करते।

स्थिति यह है कि ज्ञान हो चाहे विज्ञान, जैनधर्म की दृष्टि मे वह स्वय मे हेय उपादेय अथवा सम्यक्-असम्यक् नही है अपितु उसका सम्यक्त्व, असम्यक्त्व उसके उपयोगकर्ता की सम्यक्-असम्यक् दृष्टि पर निर्भर करता है। एक ही विषय का ज्ञान सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान रूप और मिथ्यादृष्टि के असम्यक्ज्ञान रूप मे प्रकट होता है। चाहे ज्ञान हो या



१ भूदान-यज्ञ, १८ अगस्त १९६७ पृष्ठ ४४७।



विज्ञान, सम्यक्त्व होने पर ही साधना के क्षेत्र मे स्थान पाता है । असम्यक् होने पर तो विज्ञान ही नही ज्ञान भी अहितकर होता है ।

इसी विषय पर दूसरी दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि सासारिक प्राणियो का जीवन न केवल भौतिक है, और न केवल आध्यात्मिक, प्रत्युत दोनो प्रकार का है । अत प्राणी के विकास या मुक्ति हेतु दोनो ही पक्षो पर प्रकाश डालना आवश्यक होता है । जैन आगमकारो से यह तथ्य छिपा नही था । उन्होने साधना के विकासक्रम का विवेचन करते हुए उक्त दोनो ही पक्षो के ज्ञान पर यथोचित प्रकाश डाला । आगम मे निरूपित वनस्पतिविषयक वर्णन भी इसी ज्ञान का एक भाग है ।

यह भी प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि आगमो मे वनस्पति के विषय का इतना विशद विवेचन क्यो किया गया ? इससे साधनाक्षेत्र मे क्या लाभ ?

इस विषय मे सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि आगम मे पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर जीवो पर सज्ञा, कषाय, लेश्या, उपयोग आदि जिन पचासो द्वारो (प्रकारो) से प्रकाश डाला गया, उन्ही द्वारो से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि अन्य समस्त जीवो पर भी प्रकाश डाला गया है । इस वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से प्राणी के विकास-क्रम और कर्मफल-प्राप्ति के समझने में सहायता मिलती है तथा उनकी हिंसा के पाप से बचने मे भी सहायता मिलती है, जिसका साधना के क्षेत्र मे बडा महत्व व उपयोगी स्थान है ।

जैनागमो मे वनस्पतिविषयक विपुल विलक्षण विवेचन सूत्रात्मक भाषा मे किया गया है, उसे समक्ष रखते हुए, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण व समर्थन करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है । इस प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि जैन आगमो मे वनस्पतिविषयक जो गूढ सूत्र आये है उनका आधुनिक विज्ञान की शाखा 'वनस्पतिविज्ञान' व उसकी उप-शाखाएँ भ्रूणविज्ञान (एम्ब्रियालाजी) आदि जैसा रहस्योद्घाटन कर रही हैं वह जैन ही नही जैनेतर जनता के लिए भी आश्चर्यजनक, रोचक, कौतूहलकारक तथा उपयोगी है । प्रस्तुत निबध के पढने पर पाठक स्वय भी चमत्कृत हो इस सत्यता का अनुभव कर सकेंगे ।

जैनदर्शन

जैनदर्शन विश्व का वर्गीकरण दो तत्वो मे करता है—"जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए ।"[1] अर्थात् लोक मे जीव और अजीव ये दो ही मुख्य तत्व है । विश्व की समस्त वस्तुएँ इन्ही दो तत्वो के मिश्रण के विविध-रूप व परिणाम है ।

जीव तत्व के मुख्यत दो भेद कहे है—"ससारसमावन्नगा तसा चेव[2] थावरा चेव ।" अर्थात् ससारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर । जो जीव चलते-फिरते हैं वे त्रस और जो जीव स्थिर रहते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं । स्थावर जीवो के पाँच भेद हैं—

'पच थावरकाया पण्णत्ता तजहा—इदे थावरकाए, बभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए, समती थावरकाए, पायावच्चे थावरकाए ।"[3]

पृथ्वी स्थावरकाय, जल स्थावरकाय, अग्नि स्थावरकाय, वायु-स्थावरकाय, और वनस्पति स्थावरकाय, ये स्थावरकाय के पाँच भेद है ।

स्थावर के इन पाँच भेदो मे से इस निबन्ध का क्षेत्र केवल 'वनस्पतिकाय' के विवेचन तक ही सीमित है ।

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० २

२ स्थानाग स्थान २ उ० १ सू० ५७

३ स्थानाग स्थान ५।३९४

साधारण जन, चल-फिर व बोल न सकने से वनस्पति सजीव है, इसके प्रति भी सन्देहशील होते हैं। अत सर्वप्रथम वनस्पति की सजीवता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाता है।

सजीवता

विज्ञानजगत् मे वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले वैज्ञानिको मे सर्वप्रथम नाम श्रीजगदीशचन्द्र वसु का आता है। उन्होने सन् १९२० ई० मे वनस्पति मे चेतना अभिव्यक्त करने वाले ऐसे यत्रो की रचना की जो पौधो की गति-विधि को एक करोड गुणे वडे रूप मे दिखाते थे। साथ ही इनसे समय का बोध भी एक सैकेण्ड के सहस्रव भाग तक होता था। ये यत्र स्वयलेखी थे। इनसे पौधो की गतिविधि की क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया, स्वत अकित होती थी। इन यत्रों से उन्होने स्पष्ट रूप मे यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियो और प्राणियो के ततुओ पर नीद, ताप, वायु, आहार आदि का प्रभाव बहुत कुछ एक तरह का ही पडता है।[1]

एक वार 'वसु' जब पेरिस मे वनस्पति को सचेतन सिद्ध करने वाले प्रयोग दिखा रहे थे, उस समय इन्होने पौधे पर 'पाटाशियम साइनाइड' विप का प्रयोग किया। यह विप इतना तीव्र होता है कि इसकी तिल भर जितनी-सी मात्रा मुँह मे रखने से मनुष्य की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। परन्तु वहाँ उस विप के प्रयोग से पौधा मुरझाने के स्थान पर प्रसन्न हो गया। यह बात यत्रो ने उपस्थित दर्शको के समक्ष प्रत्यक्ष कर दी। वसु विचार मे पड गये। परन्तु वसु को अपने सिद्धान्त की सच्चाई पर अडिग विश्वास था। अत अनुमान से जान लिया कि यह विप न होकर कोई अन्य स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ही हो सकता है। अत आपने तथाकथित उस अत्यन्त घातक विप को सवके समक्ष खा लिया और वतला दिया कि दवाखाने से आया हुआ यह विप विप नही चीनी है। दवाखाने से यह विप देने वाला व्यक्ति भी वहाँ दर्शको मे उपस्थित था। उसने उक्त तथ्य स्वीकार किया और विष के बदले चीनी देने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा —'मुझे ज्ञात नही था कि विष का उपयोग इस प्रयोग मे होने वाला है तथा यह सदेह हो गया था कि विप-क्रेता व्यक्ति आत्मघात करना चाहता है, इसीलिए विष के बदले उसी वर्णवाली यह चीनी दी थी।'

'वसु' ने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियो मे पाये जाने वाले[1] सचेतनता (Irritability),[2] स्पदनशीलता (Movement) (३) शारीरिक गठन (Organisation) (४) भोजन (Food) (५) वधन (Growth) (६) श्वसन (Respiration), (७) प्रजनन (Reproduction), अनुकूलन (Adoptation) (९) विसर्जन (Exeretion), (१०) मरण (Death) आदि समस्त विशेप गुण वनस्पतियो मे विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों मे नही पाये जाते हैं, अत वनस्पति निर्जीव पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान-जगत् मे वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान की प्रमुख शाखा बन गयी है। आगे वनस्पति जीवो मे पाये जाने वाले उपरोक्त विशेप गुणो पर क्रमश प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) **सचेतनता** —जीवित पदार्थों का प्रथम प्रमुख गुण है सचेतनता अर्थात् अनुभव या सवेदन करने की शक्ति। इस गुण के कारण ही जीव बाहरी वस्तुओ के प्रभाव का अनुभव करता है तथा उनके प्रति उचित क्रिया या प्रतिक्रिया करता है। वनस्पति मे भी सचेतनता उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य आदि अन्य प्राणियो मे। प्यासे केले के पौधे को जल मिलते ही वह उसे पीने लगता है। उसके जलपान की इस क्रिया की आवाज पौधे के पास बैठे व्यक्ति को स्पष्ट सुनाई देती है। पौधो को जल मिलने पर उनके मुरझाये हुए फूल पुन खिल उठते है, कुम्हलाये हुए पत्ते हरे हो जाते हैं।

प्रकाश, पानी, पवन, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, परिस्थिति-परिवर्तन ताप आदि उत्तेजको का प्रभाव वनस्पति पर विभिन्न प्रकार से पडता है। वनस्पतिविज्ञान मे प्रकाश के प्रभाव को हिलियोट्रापिज्म (Heliotropism)



---

१ नवनीत फरवरी १९५७ पृ० ३५

पानी के प्रभाव को हाइड्रोट्रापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोट्रापिज्म (Geotropism) कहते हैं। प्रयोगो से इन उत्तेजको के प्रभावो के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोट्रापिज्म —प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अगो पर अलग-अलग प्रकार से पडता है। तना प्रकाश की ओर बढता है, जडें प्रकाश से विरुद्ध दशा मे बढती है, पत्तिया अपने को प्रकाश-किरणो से समकोण पर रखने का यत्न करती है।

प्रयोग १ —पौधे लगे गमले को एक अधेरे कमरे मे रख दिया जाय और कमरे की खिडकी को थोडा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनो मे यह दिखाई देगा कि पौधो के सिरे उसी ओर मुड गये हैं जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २ —एक अकुरित चने को एक आलपिन द्वारा एक बोतल के कार्क से जड-नीचे की ओर लटकती रखकर लगा दिया जाय। इस बोतल को उलट कर ऐसे बक्स मे बद कर दिया जाय जिसके ऊपर से कुछ छेदो द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति मे चने की जड ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनो के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड अपने आप ही मुड गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा मे बढने लगी है।

पौधो की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि से ऊपर प्रकाश की ओर व जडें जमीन के अदर प्रकाश से विरुद्ध अधकार की दिशा मे बढती है।

हाइड्रोट्रापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जडें उधर ही मुड जाती हैं। यदि किसी पौधे को एक ओर जल से सीचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पौधो का बहुत बढा भाग मुडकर जलवाले भाग की ओर बढने लगेगा।

जियोट्रापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अतरिक्ष की ओर रखता है, इसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते हैं। वे अपने पैर (जडें) धरती की ओर और धड (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड, देवदारु आदि के किसी वृक्ष को देखिए। वह वृक्ष ढलानवाली सतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अर्थात् वहाँ भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही खडा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक पौधे युक्त गमले को खडे की बजाय आडा लिटा दीजिये। कुछ दिनो मे आप देखेंगे कि पौधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती मे समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा असह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी असह्य होती है। पौधा अधिक जल मे गल जाता तथा जल के अभाव मे सूख जाता है। अधिक धूप मे जल जाता तथा अधिक शीत मे ठिठुर कर ठूंठ बन जाता है। यही नही, वनस्पति मे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यजक सब गुण पाये जाते है। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणो मे किया जायेगा।

समय स्वत बद हो जाती है और सूर्योदय होने पर पुन खिल उठती है। सनड्यू और वीनस-फ्लाइ-ट्रेप के पौधे अपने फूलो पर कीट-पतगो के बैठते ही उन्हे अपने नागपाश मे बाँध लेते हैं। इस शिकार-क्रिया की फुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक सैकिण्ड के शतांश मे ही खेल खत्म हो जाता है।"[1]

शारीरिक गठन (Organisation)—जीवधारियो के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार-प्रकार और रूप रग का होता है। एक ही जाति के जीव-जन्तु रूप व आकार मे एक से होते है। निर्जीव वस्तुओ मे यह वात नही होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार-प्रकार, रूप-रग का व छोटा-वडा हो सकता है परन्तु सजीव कुत्ता न तो चीता के बराबर बडा ही और न चीटी के बराबर छोटा ही हो सकता है। साथ ही कुत्तो के शरीर का गठन व आकृति एक-सी व अन्य प्राणियो से भिन्न होती है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार शारीरिक गठन, रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एकसा होता है।

भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थों को शारीरिक तत्वो के रूप मे परिणमन कर उसे शरीर का अग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अगीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी मे ही पाई जाती है, जड वस्तु मे नही। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अगो को पुष्ट करती है। यही नही, अन्य प्राणियो के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी, निरामिषाहारी, मासाहारी आदि कई प्रकार की होती है। इसका विशेष वर्णन 'आहार के प्रकार' प्रकरण मे देखने को मिलेगा।

प्रवर्धन (Growth)—जीवित पदार्थों के शरीर मे वृद्धि होती है। पशु-पक्षी आदि जीवो के बच्चे बढकर बडे होते हैं। यह वृद्धि आतरिक होती है। इस वृद्धि मे समय, आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जड पदार्थों मे नही पाया जाता है, केवल जीवित प्राणियो मे ही पाया जाता है। वनस्पतियो मे भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा-सा बीज अपनी आतरिक शक्ति से बढकर विशाल वृक्ष वन जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढते हैं। उसके फल बढकर न तो लौकी जैसे लम्बे ही होते हैं और न पैठे जैसे मोटे ही।

श्वसन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह मान्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियो मे श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय मे वैज्ञानिको का कथन है कि जीवित प्राणियो मे सतत क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवो को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार से उत्पन्न आक्सीकरण मे होती है। आक्सीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-आक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर से वाहर निकालना अत्यावश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इससे उत्पन्न कार्बनडाइ आक्साइड बाहर निकालना नितात आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छ्वास के रूप मे कार्बन डाइ-आक्साइड शरीर से बाहर फेंकता है। जीव-विज्ञानशास्त्र मे इसी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। त्रस जीवो मे यह क्रिया श्वसन-सस्थान (फेफडे, गलफडे आदि) द्वारा होती है और वनस्पति मे पत्रो आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव मे अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी श्वसनक्रिया मे अवरोध उत्पन्न होने पर मुरझा कर मर जाती है। वनस्पति मे श्वसन-क्रिया होती है, इसे निम्नाकित प्रयोगो से देखा जा सकता है।

प्रयोग १ —काँच के एक जार मे कोई पौधा रखिये। उसे किसी बडे वेलजार मे ढकिए। वेलजार के अन्दर एक कांच के गिलास मे चूने का साफ पानी भर कर रख दीजिए। वेलजार को काले कपडे से ढककर रात भर पडा रहने दीजिए। प्रात चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे



---

१ विज्ञान लोक, अप्रैल १९६२ पृ० १४



पानी के प्रभाव को हाइड्रोट्रापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोट्रापिज्म (Geotropism) कहते है। प्रयोगो से इन उत्तेजको के प्रभावों के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोट्रापिज्म —प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अगो पर अलग-अलग प्रकार से पडता है। तना प्रकाश की ओर बढता है, जडे प्रकाश से विरुद्ध दशा मे बढती है, पत्तिया अपने को प्रकाश-किरणो से समकोण पर रखने का यत्न करती है।

प्रयोग १ —पौधे लगे गमले को एक अधेरे कमरे मे रख दिया जाय और कमरे की खिडकी को थोडा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनो मे यह दिखाई देगा कि पौधो के सिरे उसी ओर मुड गये है जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २ —एक अकुरित चने को एक आलपिन द्वारा एक बोतल के कार्क से जड-नीचे की ओर लटकती रखकर लगा दिया जाय। इस बोतल को उलट कर ऐसे बक्स मे बद कर दिया जाय जिसके ऊपर से कुछ छेदो द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति मे चने की जड ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनो के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड अपने आप ही मुड गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा मे बढने लगी है।

पौधो की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि से ऊपर प्रकाश की ओर व जडें जमीन के अदर प्रकाश से विरुद्ध अधकार की दिशा मे बढती है।

हाइड्रोट्रापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जडें उधर ही मुड जाती हैं। यदि किसी पौधे को एक ओर जल से सीचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पौधो का बहुत बढा भाग मुडकर जलवाले भाग की ओर बढने लगेगा।

जियोट्रापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अतरिक्ष की ओर रखता है, इसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते है। वे अपने पैर (जडें) धरती की ओर और धड (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड, देवदारु आदि के किसी वृक्ष को देखिए। वह वृक्ष ढलानवाली सतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अर्थात् वहाँ भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही खडा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक पौधे युक्त गमले को खडे की बजाय आडा लिटा दीजिये। कुछ दिनो मे आप देखेंगे कि पौधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती मे समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा असह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी असह्य होती है। पौधा अधिक जल मे गल जाता तथा जल के अभाव मे सूख जाता है। अधिक धूप मे जल जाना तथा अधिक शीत मे ठिठुर कर ठूंठ बन जाता है। यही नही, वनस्पति मे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यजक सब गुण पाये जाते है। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणो मे किया जायेगा।

स्पदनशीलता (Movement) जीव अपनी आतरिक शक्ति तथा प्रेरणा से स्पदन, हलन-चलन व गति करते हैं। जीव की इन्ही गतिविधियो को जीव-विज्ञान मे गति कहा जाता है। यह गति दो प्रकार की होती है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना व शरीर के अग-उपागो मे स्पदन व सचरण होना। चर जीवो मे दोनो प्रकार की गतियाँ पाई जाती हैं। साधारणत वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही स्थिर रहती हैं। उनमे गति तने, पत्र, पुष्पआदि की वृद्धि के रूप मे या सवेदन मे होने वाली हलन-चलन के रूप मे देखी जाती है। छुई-मुई के पौधे को छूते ही उसमे हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसकी पत्तियाँ सट जाती हैं व टहनियाँ झुक जाती है। सूरजमुखी फूल सदा सूर्य की ओर मुंह किए रहता है और सूर्य के घूमन के साथ-साथ अपना मुह भी घुमाता रहता है। कमलिनी की कलियाँ सूर्यास्त के

समय स्वत बद हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर पुन खिल उठती हैं। सनड्यू और वीनस-फ्लाइ-ट्रेप के पौधे अपने फूलो पर कीट-पतगो के बैठते ही उन्हे अपने नागपाश मे बाँध लेते हैं। इस शिकार-क्रिया की फुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक सैकिण्ड के शताश मे ही खेल खत्म हो जाता है।"[1]

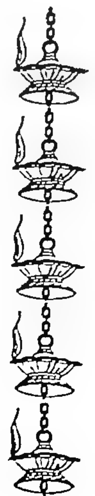
शारीरिक गठन (Organisation)—जीवधारियो के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार-प्रकार और रूप रग का होता है। एक ही जाति के जीव-जन्तु रूप व आकार मे एक से होते हैं। निर्जीव वस्तुओ मे यह बात नही होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार-प्रकार, रूप-रग का व छोटा-बडा हो सकता है परन्तु सजीव कुत्ता न तो चीता के बराबर बडा ही और न चीटी के बराबर छोटा ही हो सकता है। साथ ही कुत्तो के शरीर का गठन व आकृति एक-सी व अन्य प्राणियो से भिन्न होती है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार शारीरिक गठन, रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एकसा होता है।

भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थो को शारीरिक तत्वो के रूप मे परिणमन कर उसे शरीर का अग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अगीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी मे ही पाई जाती है, जड वस्तु मे नहीं। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अगो को पुष्ट करती है। यही नही, अन्य प्राणियो के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी, निरामिषाहारी, मासाहारी आदि कई प्रकार की होती है। इसका विशेष वर्णन 'आहार के प्रकार' प्रकरण मे देखने को मिलेगा।

प्रवर्धन (Growth)—जीवित पदार्थो के शरीर मे वृद्धि होती है। पशु-पक्षी आदि जीवो के बच्चे बढकर बडे होते है। यह वृद्धि आतरिक होती है। इस वृद्धि में समय, आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जड पदार्थो मे नही पाया जाता है, केवल जीवित प्राणियो मे ही पाया जाता है। वनस्पतियो मे भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा-सा बीज अपनी आतरिक शक्ति से बढकर विशाल वृक्ष बन जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढते हैं। उसके फल बढकर न तो लौकी जैसे लम्बे ही होते है और न पेंठे जैसे मोटे ही।

श्वसन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह मान्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियो मे श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय मे वैज्ञानिको का कथन है कि जीवित प्राणियो मे सतत क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवो को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार से उत्पन्न आक्सीकरण मे होती है। आक्सीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाइ-आक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर से बाहर निकालना अत्यावश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इसमे उत्पन्न कार्बनडाइ आक्साइड बाहर निकालना नितात आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छ्वास के रूप मे कार्बन डाइ-आक्साइड शरीर से बाहर फेंकता है। जीव-विज्ञानशास्त्र मे इसी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। त्रस जीवो मे यह क्रिया श्वसन-सस्थान (फेफडे, गलफडे आदि) द्वारा होती है और वनस्पति मे पत्रो आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव मे अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी श्वसनक्रिया मे अवरोध उत्पन्न होने पर मुरझा कर मर जाती है। वनस्पति मे श्वसन-क्रिया होती है, इसे निम्नाकित प्रयोगो से देखा जा सकता है।

प्रयोग १—काँच के एक जार मे कोई पौधा रखिये। उसे किसी बडे बेलजार मे ढकिए। बेलजार के अन्दर एक काँच के गिलास में चूने का साफ पानी भर कर रख दीजिए। बेलजार को काले कपडे से ढककर रात भर पडा रहने दीजिए। प्रात चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे



---

[1] विज्ञान लोक, अप्रैल १९६२ पृ० १४

के उच्छ्वास द्वारा छोड़ी गई कार्बन-डाई-आक्साइड गैस ही है।

प्रयोग २ —शीशे की चौड़े मुँह वाली बोतल में थोड़े से अंकुरित चने भरकर डाट इस प्रकार बंद कर दीजिये कि हवा उसमें न जा सके। उसे अन्धेरे में रख दीजिये। इसी प्रकार की दूसरी बोतल में कुछ अंकुरित चना को पानी में उबालने के बाद भरकर उसी प्रकार रख दीजिये। दूसरे दिन पहली बोतल को खोलकर उसमें जलता हुआ पलीता छोड़िये। पलीता तुरन्त बुझ जायगा। दूसरी बोतल में भी ऐसा ही कीजिये। इसमें पलीता जलता रहेगा। इसका कारण यह है कि पहली बोतल में जो अंकुरित चने थे, वे जीवित थे। अतः उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न हुई और इसी गैस की विद्यमानता में उसमें पलीता बुझ गया। दूसरी बोतल में जो अंकुरित चने थे वे उबाले जाने से मृत हो गये थे। इसलिए उनमें श्वासोच्छ्वास नहीं हुआ और कार्बनडाई-आक्साइड गैस पैदा नहीं हुई। इसीलिए पलीता जलता रहा। इससे सिद्ध होता है कि जीवित पौधों में श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, मृत में नहीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागमों में उबलने से वनस्पति का मृत या निर्जीव हो जाना बतलाया गया है जो जीव-विज्ञान विषयक उपर्युक्त प्रयोगों से प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है।

उत्पादन या प्रजनन (Reproduction) जीवधारियों में अपनी जाति को स्थायी रखने के लिए प्रजनन की शक्ति होती है। पक्षी अंडे देकर तथा पशु अपनी ही आकृति-प्रकृति के बच्चे पैदा करके अपनी जाति की वंश-परम्परा को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार वनस्पति भी अपने बीज से अपने ही समान नये पौधों को जन्म देकर अपनी वंश-परम्परा को बनाये रखती है। इतना ही नहीं, अन्य प्राणियों के समान इनमें संभोग व गर्भाधान भी होता है। आज इस विषय का ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि वनस्पति-विज्ञान में भ्रूण-विज्ञान नामक एक नई शाखा ही खुल गई है।

अनुकूलन (Adoptation) जीवधारियों में अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढालने की अनुपम क्षमता होती है। घास में रहनेवाले जन्तुओं का रंग हरा या उसी घास के रंग का तथा मिट्टी में रहने वाले जन्तुओं का रंग मटमैला या उसी मिट्टी के रंग का होता है, जिससे वे जन्तु अपने को शत्रुओं से छिपाकर जीवन निर्वाह व रक्षा कर सकें। गिरगिट तो प्रकृति के अनुरूप रंग बदलने में विख्यात ही है। पौधों में भी यह अनुकूलन क्रिया होती है। रेगिस्तान के पौधों की पत्तियाँ सजल स्थानों के पौधों की अपेक्षा छोटी होती हैं, जिससे उनके द्वारा भाप बनकर कम पानी उड़े और वे कम पानी में जीवन-यापन कर सकें।

विसर्जन (Excretion) जीवों की शारीरिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप यूरिया, यूरिक अम्ल, कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अनेक दूषित व मल पदार्थ बनते हैं। इनको शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को विसर्जन या नीहार कहा जाता है। पशु-पक्षियों में यह क्रिया गुर्दा, त्वचा, फेफड़ों, आंतों आदि द्वारा होती है। पौधों में यह क्रिया पत्तियों द्वारा श्वसन, स्वेदन व झड़ने के रूप में होती है।

मृत्यु (Death) जीवित पदार्थ कुछ समय तक तीव्र वृद्धि करते हैं। फिर वृद्धि धीमी पड़ जाती या रुक जाती है और अन्त में वे मर जाते हैं। यहाँ मर जाने का अर्थ है जीवन-क्रियाओं का सदा के लिए बंद हो जाना। जीवों की अधिकतम आयु निश्चित होती है। वनस्पति भी जन्म लेती, बढ़ती व जीवन-क्रिया बन्द हो जाने पर मुरझाकर मर जाती है।

सजीवता-निर्देशक उपर्युक्त लक्षणः—चेतनता, स्पंदनशीलता शरीर निर्माण, भोजन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन और मरण-केवल जीव-धारियों में ही पाये जाते हैं। निर्जीव पदार्थों में इनमें से एक भी नहीं पाया जाता है। इनमें केवल एक गुण या लक्षण की उपलब्धि या अभिव्यक्ति ही सजीवता का ज्वलन्त प्रमाण होता है। उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वनस्पति में सजीवता-प्रदर्शक उक्त सभी लक्षण या गुण विद्यमान हैं। अतः वनस्पति की सजीवता में सन्देह का स्थान नहीं रह जाता है।

जैनदर्शन की समानता —जैन आगमों में वनस्पतिविषयक विभिन्न वर्गीकरणों द्वारा जो वर्णन आया

है उसमे और उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन मे पर्याप्त समानता है, यथा-वनस्पति मे चार पर्याप्तियाँ कही गई है —

तेमि ण भते ! जीवाण कइ पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ? चत्तारि पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तजहा-आहारपज्जत्ती, सरीरपज्जत्ती, इदियपज्जत्ती, आणपाणुपज्जत्ती । — **जीवाभिगम**

अर्थात् पृथ्वीकाय के समान वनस्पतिकाय जीवो मे भी आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तिया होती हैं । अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय के जीव उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आहार करते है । आहार मे शरीर का गठन व वर्धन होता है । शरीर के गठन मे इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता हैं जिससे प्राणी मे सवेदन-स्पदन आदि क्रियाएँ होती हैं । पश्चात् जीवनक्रम व्यवस्थित चलाये रखने के लिए श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रारम्भ होती है । इस प्रकार पर्याप्ति के कथन मे सचेतनता के साथ आहारपर्याप्ति मे भोजन, शरीरपर्याप्ति मे शारीरिक गठन एव वर्धन, इन्द्रिय-पर्याप्ति मे सवेदन व स्पदनशीलता तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति मे श्वसन क्रिया रूप मे विज्ञान-जगत् मे कथित सजीवता के ६ लक्षण समाहित हो जाते हैं । जैन आगमो मे वनस्पति मे चार प्राण-स्पर्शेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य— कहे हैं । इसमे कथित आयुष्य प्राण की अतिम स्थिति ही विज्ञान मे कथित "मरण" है । भगवतीसूत्र शतक १९ उ० ३ सू० ८ मे वनस्पति गृहीत आहार के निस्सार पदार्थ का विसर्जन या नीहार करती है, यह स्पष्ट उल्लेख है । प्रजनन, मैथुनसज्ञा का व अनुकूलन की प्रवृत्ति मति-श्रुत ज्ञान की द्योतक है । मैथुन-सज्ञा और मति-श्रुत ज्ञान जैनागम वनस्पति मे मानते हैं । इन सब का विशेष वर्णन आगे प्रसगानुसार प्रकरणो मे मिलेगा । आशय यह है कि जैनागमो मे विज्ञान-जगत् मे कथित वनस्पति की सजीवता के सभी लक्षणो का विशद वर्णन मिलता है ।

उपर्युक्त वनस्पतिविषयक 'जैनागमो मे आए सूत्रो' एव "वैज्ञानिक विवेचन" के तुलनात्मक अध्ययन मे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले जो तथ्य विज्ञानजगत् मे अन्वेषणो से अभी सामने आए हैं, उनके बीज जैन-शास्त्रो मे पूर्वत ही विद्यमान हैं । जैनागमकार उनसे सहस्रो वर्ष पूर्व ही परिचित थे ।

वनस्पतिकाय के भेद

"वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तजहा-सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य ।"

—**पन्नवणा प्रथम पद, सूत्र १३**

अर्थात् वनस्पति काय के दो भेद हैं सूक्ष्म वनस्पतिकाय, बादर वनस्पति काय ।

बायरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता तजहा-पत्तेअसरीरबायर-वणस्सइकाइया य, साहारणसरीरबायरवणस्सइ-काइआ य । से कि त पत्तेअसरीरबायरवणस्सइकाइया ? पत्तेअसरीरबायरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता, तजहा-रुक्खा, गुच्छा, गुम्मा, लता य वल्ली य पव्वगा, चेव तण-वलय-हरिय-ओसहि-जलरुह-कुहणा य बोद्धव्वा ।

—**पन्नवणा पद प्रथम**

बादर वनस्पतिकाय दो प्रकार की है, यथा —प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय और साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकाय के १२ भेद कहे है— (१) वृक्ष (२) गुच्छ (३) गुल्म (४) लता (५) वल्ली (६) पर्व (७) तृण (८) वलय (९) हरित (१०) औषधि (११) जलरुह (१२) कुहन ।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान भी वनस्पति के उपर्युक्त वर्गीकरण को प्राय पूरा का पूरा स्वीकार करता है । यही नही, पन्नवणासूत्र मे उक्त प्रकरण मे आये इन वनस्पतियो के उपभेदो को भी स्वीकार करता है । विस्तार के भय से यहा सक्षेप मे ही उल्लेख किया जा रहा है ।

प्रत्येकशरीरी जीव उन्हे कहा जाता है जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो अर्थात् प्रत्येक जीव का अपना शरीर पृथक्-पृथक् होता है, यथा —"जह सगलसरिसवाण, सिलेसमिस्साण वट्टिआवट्टा । पत्तेअसरीराण तह होति सरीरसघाया ।

—**पन्नावणा प्रथम पद**



जैसे अनेक सरसव के दानो को गुड मे मिलाकर उसका लड्डू बनावें। वह लड्डू एक पिण्ड रूप मे रहता है। इसमे सरसो के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते है, वैसे ही बाह्य मे एक ही पिण्ड रूप मे दीखने पर भी जो जीव अपना शरीर या व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते है वे प्रत्येकशरीरी कहलाते है। ये प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के हैं। पूरे पौधे मे रहनेवाला एक जीव भी प्रत्येकशरीरी है और उसके भाग मूल, स्कध, शाखा, पत्र, पुष्प व फल मे व इनके विभिन्न भागो मे सयुक्त रूप मे रहनेवाले भी प्रत्येकशरीरी है। ये सख्या मे एक, दो, सख्यात, असख्यात, अनन्त हो सकते है। एक बार स्व० बाबू छोटेलालजी ने एक मडली सहित श्रीजगदीशचन्द्र वसु की प्रयोगशाला मे इसका समाधान चाहा कि वृक्ष के पत्ते, फल, फूल, बीज आदि मे भी अलग-अलग जीव है या नही? अनुसधानशाला मे यत्रो के माध्यम से पत्र-पुष्प आदि मे पृथक्-पृथक् जीव प्रमाणित किए थे। पौधे के अतिरिक्त पुष्प मे भी अपना पृथक्-पृथक् जीव है, यह निम्नाकित प्रयोग से सिद्ध होता है —

"एक तुरन्त के तोडे डठल सहित सफेद गुलाब को या अन्य किसी फूल को लाल पानी मे डठल डुबाकर रखिये। थोडी देर मे फूल की पखुडियो पर लाल रग जगह-जगह दिखलाई देगा।"[1]

उपर्युक्त प्रयोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि फूल मे अपना पृथक् जीव न होता तो वह पौधे से टूटने पर मृत हो गया होता और लाल रग का जलपान न कर सकता। फूल ही नही प्रत्येक बीज भी सजीव होता है। कहा भी है —

जोणिभूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा।
जोवि य मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए॥ —**पन्नवणा प्रथम पद सूत्र १४**

अर्थात् योनिभूत बीज ही उत्पन्न होते हैं। जो बीज छेदन-भेदन करने व भूने जाने से निर्जीव हो गये हैं वे उत्पन्न नही होते है। जो, गेहू, मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि अनाज के दाने योनिभूत बीज ही है और सचित्त(सजीव) हैं, जैन साधु इन जीवो को किसी प्रकार का कष्ट या सताप न हो एतदर्थ छूते भी नही है। आधुनिक वनस्पतिविज्ञान इन्हें जीव स्वीकार करता है। खाद्य-विशेषज्ञ डा० पिंगले का कथन है—"अनाज भी एक जीवित प्राणी है और उसकी सुरक्षा आदमी की तरह ही करनी चाहिये।"[2]

आगे आगमकार साधारण वनस्पतिकाय या निगोद जीवो का वर्णन करते हुए कहते हैं —

सुहुमा आणागिज्झा चक्खुफास न ते एंति।
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, सखेज्जा ण णपासउ सक्का। दीसति सरीराइ णिगोअजीवाणताण।

—पन्नणा, प्रथम पद

अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय या निगोद के जीव इतने सूक्ष्म है कि वे चक्षु से अग्राह्य है और देखने मे नही आते है। तथा बादर निगोद के भी एक, दो, तीन, सख्यात व असख्यात जीवो का शरीरपिण्ड नही देखा जा सकता है परन्तु अनत जीवो का शरीरपिण्ड ही देखा जा सकता है।

जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भगो पदीसइ। अणतजीवे उ से मूले जे आवण्ण तहाविहा। साहारणसरीर-बायर-वणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तजहा-अवए, पणए, सेवाले, लोहिणी, णिहूत्थिभगाय।

—पन्नवणा, प्रथम पद

एत्थ ण बायरवणस्सइकाइयाण पज्जत्तगाण गणा पण्णत्ता, उववाएण, सव्वलोए, समुग्घाएण सव्वलोए,

—पन्नवणा, द्वितीय पद

---

१ प्रारम्भिक जीवविज्ञान पृ० १६७

२ नवभारत टाइम्स १२ अगस्त १६६७

अर्थात् जिस वनस्पति का मूल स्कध, शाखा, पत्ता, पुष्प व फल मे से किसी को तोडकर टुकडा करने से चक्राकार-गोलाकार समविभाग दिखाई दे, वह अनतजीवधारी साधारण वनस्पतिकाय है। इसके अवक, पणक, शैवाल आदि अनेक प्रकार है। बादर वनस्पतिकाय भी सम्पूर्ण लोक मे उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त आगम-कथन से यह स्पष्ट है कि वनस्पति सपूर्ण विश्व के लोकाकाश मे विद्यमान है। साधारण वनस्पतिकाय जीव अत्यन्त सूक्ष्म व गोलाकार है तथा शैवाल, पणक, किण्व, अवक, कुहण आदि भी वनस्पतिकाय जीव हैं।

यहा प्रथम वनस्पति विश्व मे सर्वत्र विद्यमान है, जैनदर्शन के इस सूत्र को लेते है। इस विषय मे "आकाश मे पौधे" शीर्षक वाला निम्नाकित उदाहरण द्रष्टव्य है —

यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया, बर्कले अमरीका की एक विशाल सगोष्ठी में विख्यात औद्योगिक प्रतिष्ठान 'इलेक्ट्रो आप्टिकल सिस्टम' के डा० फ्रेड एम० जान्सन ने एक मौलिक शोधप्रबन्ध में पढा है —"दूर अन्तरिक्ष में फैले धूलिकणो की बाबत यह आम धारणा है कि वे ग्रेफाइट अथवा बर्फ के बने है" अब बहुत सही नही मालूम देती। स्पेक्ट्रम-परीक्षण के आधार पर मेरी राय है कि ये कण क्लोरोफिल से बने हैं। सभी पेड पौधो का वह पदार्थ, जो उन्हें हरा रग प्रदान करता है, क्लोरोफिल ही है।"[1]

सूक्ष्मवनस्पतिकाय के विषय मे आगमो में आया है कि उस पर किसी भी पदार्थ का मरण, छेदन-भेदन, शीत-ताप रूप प्रभाव नही पडता है, इसी सिद्धान्त का समर्थक उद्धरण पठनीय है —

"अमरीका की अतरिक्ष-प्रयोगशालाओ द्वारा किये गये प्रयोगो से यह सिद्ध हुआ है कि प्लैवोवेक्टिन जीवाणु अति सूक्ष्म व अद्भुत प्राणी हैं क्योकि न इनमें जन्म है, न मृत्यु है, न विकास है, न नाश। इन्हें जीवित रहने के लिए न भोजन की आवश्यकता है, न वायु की। वे बिना किसी यान के अन्तर्ग्रहीय यात्राए कर सकते है। "प्लैवोवेक्टिन" जीवाणुओ पर अधिक ताप और शीत का भी कोई प्रभाव नही पडता। ये अवातजीवी है। इनका भोजन भास्वीय है।"[2] जैनागमो मे इसी से मिलता-जुलता वर्णन सूक्ष्म स्थावर व निगोद के जीवो का आता है। केवल विचारणीय है तो जन्म-मरण न होने का विषय है।

इसे समझने के लिए दर्शन मे वर्णित एक विलक्षण तथ्य को ध्यान मे लाना होगा और वह तथ्य यह है कि जैनदर्शन निगोद के शरीर के जन्म-मरण से निगोद के जीवो का जन्म-मरण नही मानता है अपितु उस शरीर के ज्यो के त्यो विद्यमान रहते हुए भी उस शरीर मे स्थित अनन्त जीवो का जन्म-मरण निरन्तर होता रहना मानता है। इस दृष्टि से यदि वैज्ञानिको को इन सूक्ष्मतम जीवो के शरीर नष्ट होते नजर न आये हो और इसलिए उनका जन्म-मरण न माना हो तो इससे जैनागमो से कोई असगति नही होती, प्रत्युत समर्थन ही होता है। वैज्ञानिको द्वारा इन जीवो को एक ओर तो अनाहारी मानना और दूसरी ओर भास्वीय आहारी मानना जैनदर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाला है कि सूक्ष्म-निगोद के जीव आहारी है।

जैनागमो मे निरूपित सूक्ष्म स्थावर जीवो की तुलना बैक्टेरिया जीवो से की जा सकती है। बैक्टेरिया जीवो के विषय मे वैज्ञानिको का कथन है कि "ये कीटाणु इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्म-दर्शक-यत्र से भी इनका पता लगाना कठिन है। ससार मे कोई जगह ऐसी नही जहाँ ये न हो। ये कीटाणु हर किस्म के पानी मे, हवा मे, हर ऊचाई पर, जमीन की गहराई तक, मरे हुए या जीवित जानवरो मे और पौधो के अन्दर पाये जाते है। बहुत से कीटाणु तो हरएक ताप-क्रम पर रह सकते हैं।"[3] यह कथन जैनागमो मे सूक्ष्म स्थावर जीवो के आये हुए विवेचन से



१ नवनीत अगस्त ६७, पृ० २१

२ नवनीत जून १९६३, पृ० ५९-६०

३ कृषि-शास्त्र पृ० १२५

मिलता है। बैक्टेरिया प्राणी आकृति-प्रकृति के अनुसार कितने ही प्रकार के हैं। इन मे से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकाई (Cocai) कहते हैं[१] तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु जिन्हे स्पाइरल (Spiral) कहते है।[२] सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय मे गर्भित हो सकते हैं।

पन्नवणा-जीवाभिगम आदि आगमो मे लीलण-फूलण, काई-फफूंदी आदि को भी वनस्पतिकायिक जीव माना है। उनमे से कुछेक का नीचे सकेत रूप मे विवेचन कर यह दिखाया जायेगा कि सूत्रकारो का उक्त प्रतिपादन पूर्णत विज्ञानसम्मत है —

प्रथम पणक जाति की वनस्पति को ही लिया जाता है—"पणक-सार्द्रेष्टक-भूमि-कुड्योद्भवकालिका"[३] अर्थात् ईंट, भूमि, भीत की नमी मे उत्पन्न हुई कालिक-काई-पणक वनस्पति है। इस विषय मे वनस्पतिविज्ञान का कथन है कि "दीवालो पर तथा नमी वाले स्थानो पर हरी-सी काई होती है यह फ्यूनेरिया (Funaria) जाति की वनस्पति है।"

कुहण-आहारकज्जिकादिगतपुष्पिका।"[५] अर्थात् खाद्य पदार्थ व काजी आदि मे उत्पन्न हुई फफूदी (फूलण) कुहण जाति की वनस्पति है। "किण्व वर्षाकालोद्भवछत्राणि।"[६] वर्षा-काल मे उत्पन्न छतरी-कुक्कुरमुत्ता किण्व वनस्पति है। अर्थात् जैनागम मे अचार पर छाई जाने वाली काली-सी फफूंदी, १-२ दिन की वासी रोटी पर जमने वाला सफेद या काली रूई का सा पदार्थ, सडी-गली वस्तुओ पर आने वाली फुई का कुहण वनस्पति कहा है। वर्तमान वनस्पतिविज्ञान भी इन सब पदार्थों पर आने वाली फुई या फफूंदी को फनगी (Fungi) वनस्पति मानता है।[७] तथा किण्व-कुकुरमुत्ता-साँप को भी फफूदी जाति की ही वनस्पति मानता है।[८]

"शैवालमुदकगतकायिका हरितवर्णा।[९] अर्थात् जल मे रही हरे वर्णवाली शैवाल भी वनस्पति है तथा "कवक शृङ्गोद्भववाकुरा जटाकारा।"[१०] अर्थात् सीगो पर जटाकार अकुरित वनस्पति "कवक" कही जाती है। वर्तमान विज्ञान भी इन दोनो को तथा पन्नवणा सूत्र मे पेड के तने व छाल मे अनतकाय वनस्पति को एलगी (Algae) जाति की वनस्पति मानता है। पशुओ के सीग आदि पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियो मे सिमबियोटिक्ली, जूक्लोरेला, हायड्रा विरिडस आदि मुख्य है।[११]

जैनदर्शन खमीर व मनुष्य के शरीर मे भी निगोद जीव मानता है। आधुनिक कीटाणुवाद के जनक लुईपाश्चर ने खमीर को एक वानस्पतिक जीवकोष सिद्ध किया है। खमीर के पौधे की शारीरिक रचना अन्य वानस्पतिक जीवकोषो जैसी होती है। वह या तो गोलाकार होता है या अडाकार। वजन मे एक ग्राम का दस अरबवा हिस्सा होता है। खमीर का पौधा मिठास का बडा शौकीन होता है इसलिए फूलो के मकरदो मे तथा अगूर-सेव के छिलको पर सफेदी की जो हल्की-सी परत छायी रहती है वह खमीर के पौधो का जगल ही होता है।

खमीर अनेक जाति का होता है। इसकी एक जाति मनुष्य की त्वचा पर भी उग आती है। इसे अग्रेजी मे यीस्ट कहा जता है।"[१२]

"ग्रीष्म ऋतु मे आटे के खट्टा हो जाने, शर्बत के खट्टे पड जाने में भी एक सेल वाली फफूदी ही कारण है। पेनिसिलिन जैसी दवाए भी फफूदी ही से बनती है।"[१३]

आशय यह है कि जीवाभिगम व पन्नणा सूत्र मे साधारण-निगोद वनस्पतिकाय की ऐसी जातियो का उल्लेख मिलता है जो न तो चक्षुओ से दिखाई ही देती है और न बुद्धि जिन्हें वनस्पति मानने को ही तैयार होती है उन्हें

---

१ २ कृषि शास्त्र पृ० १२६

३ ५ ६ ९ १० आशाधर, अनगार धर्मामृत टीका

४ ७ ८ ११ देखिये हा० कृषि शास्त्र पृ० १२०-१२५।

१२ नवनीत मई ६० पृ० ३३

१३ प्रा० कृषि-शास्त्र पृ० १२५

आज वनस्पति-विज्ञान ठीक उसी प्रकार की वनस्पति मानता है जैसा कि आगमों में उनका निरूपण है। यह इस बात की साक्षी है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अतर्द्रष्टा थे। विद्वान् इसे अपने शोध का विषय बनाकर आश्चर्यकारी परिणाम सामने ला सकते हैं।

संज्ञा

जैनदर्शन वनस्पति को मात्र सजीव कहकर ही इति श्री नहीं कर देता है अपितु इसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, प्रभृति का पचासों प्रकार से वर्गीकरण कर विस्तार से प्रकाश डालता है। जीवों में सज्ञाए (इच्छाए) होती हैं। अतः आगमों में सज्ञाओं का समासीकरण करते हुए कहा गया है —

चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तजहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा।

—स्थानाग, स्थान ४ उ० ४ सूत्र २३

अर्थात् सज्ञाए चार होती हैं, यथा —आहार-सज्ञा, भय-सज्ञा, मैथुन-सज्ञा, परिग्रह-सज्ञा। आगम में ससार के समस्त प्राणियों में उक्त चारों ही सज्ञाए मानी गई हैं। वनस्पति भी इसका अपवाद नहीं है। प्रकृत में सर्वप्रथम वनस्पति की "आहारसज्ञा" का विवेचन किया जाता है।

आहार संज्ञा —साधारणत इस बात से प्राय सभी परिचित हैं कि पौधे बढते हैं परन्तु यह बात बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि पौधे की यह वृद्धि उसी प्रकार भोजन से होती है जिस प्रकार हमारे शरीर की वृद्धि भोजन से होती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि पौधों को खाद, जल, वायु, प्रकाश आदि आहार मिलना बन्द हो जाने पर वे मुरझाने तथा सूखने लगते हैं।

जैनागमो में वनस्पति के आहारविषयक विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वनस्पति किस प्रकार का आहार करती है, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है —

'ओसण्ण कारण पडुच्च वण्णओ काल, नील जाव सुक्किलाइ, गधओ सुब्भिगधाइ, दुब्भिगधाइ, रसतो तित्त जाव मधुराइ, फासओ कक्खड मउय जाव निद्ध लुक्खाइ, तेसिं पोराणे वण्णगुणे जाव फासगुणे विपरिणामतित्ता, परिपीलइत्ता, परिसाडइत्ता, परिविद्धसइत्ता, अन्ने अपुव्वे वण्णगुणे, गधगुणे जाव फास गुणे उप्पाएत्ता आतसरीरतो गाढे, पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति।"

—जीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १३

अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव स्वाभाविक कारण रूप से काला, नीला आदि सब वर्णों का, सुगन्ध-दुर्गन्ध का, लवणीय, कटु, मधुर, आदि सब रसों का, कठोर, कोमल, रूक्ष, स्निग्ध आदि सब स्पर्श वाले पदार्थों का आहार ग्रहण करते हैं। ग्रहण किए हुए आहार के पूर्व के पुद्गलों के वर्ण, गध, रस, स्पर्श को नवीन वर्ण, गध, रस, स्पर्श में परिणमन करते हैं तथा सब आत्म प्रदेशो से आहार करते हैं।

आगमवर्णित उपरोक्त तथ्य आज वनस्पति-विज्ञान-अनुसधानशालाओं में किए गये प्रयोगों से प्रगट हो आगए हैं। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि वनस्पति अपनी पत्तियों द्वारा हवा के साथ कार्बन डाइ-आक्साइड का आहार ग्रहण करती है, इसे वह प्रकाश सश्लेषण (Photosynthesis) क्रिया द्वारा ग्लूकोज (शक्कर) में परिणत करती है। फिर ग्लूकोज का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में परिणत होता है तथा शेष भाग जडो द्वारा प्राप्त किए पदार्थों को अनेक तत्वों में बदल देता है। उनमें से कुछ हैं—आक्सीजन, नत्रजन, हाइड्रोजन, सल्फर, फासफोरस, केलशियम, पोटाशियम, मेगनेशियम, आयरन आदि। इनमें से आक्सीजन और हाइड्रोजन पानी के परिवर्तित रूप हैं, इसी प्रकार अन्य तत्व भी दूसरे पदार्थों के रूपान्तर है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोजन को विविध तत्त्वों में ग्रहण करने एव उनका विश्लेषण करने की विलक्षण शक्ति है। इसी शक्ति से मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम समसात्रा में मिले होने पर भी जडें सोडियम की अपेक्षा पोटाशियम को अधिक मात्रा में लेती हैं। जडें फास्फोरिक एसिड जैसे कठोर पदार्थ को-जो जल में भी कठिनाई से घुलता है-भी भोजन में ग्रहण करती हैं। काले व



लाल वर्ण का गोबर-मेगनी खाद, पीले वर्ण का सल्फर, श्वेतवर्ण का सुपरफासफेट, हरे वर्ण का पत्तियो का खाद वनस्पति का आहार बनकर विविध वर्ण, गध, रस, स्पर्श मे परिणत होता है। पौधे इसी से पुष्ट तथा तुष्ट होते है।

वर्तमान मे प्राय सभी नगरपालिकाए मनुष्य के मल का खाद बनाती हैं और वह दुर्गंधित खाद पौधो को दिया जाता है तो वही खाद खरबूजे के पौधे के तने मे कठोर व रूक्ष स्पर्श मे, फूलो मे विविध वर्णों मे, फलो मे खट्टे, मीठे, कडवे आदि विविध रसो मे रूपान्तरित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति मे आहार के पुद्गलो को विविध वर्ण, गध, रस व स्पर्श मे परिणमन करन की विलक्षण शक्ति है।

इसी प्रसग मे श्रीगौतम स्वामी भ० महावीर से पूछते हैं—

कम्हा ण भते ! वणस्सइकाइया आहारेंति कम्हा परिणामेति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा, पुढवीजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेति, तम्हा परिणामेंति, कदा कदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेति, तम्हा परिणामेति एव जाव बीया जीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति तम्हा परिणामेति। —**भगवती शतक ७ उ० ३ सू० ३**

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कैसे आहार करते है ? तथा किये हुए आहार को किस प्रकार परिणमन करते हैं ? भगवान फरमाते हैं—गौतम ! मूल को मूल जीव स्पर्शे हुए है परन्तु पृथ्वीजीव से प्रतिबद्ध हैं इसलिए मूल (जड) के जीव पृथ्वीकाय का आहार करते है और उसे शरीर मे परिणमाते हैं। इसी प्रकार आहार में से कुछ आहार कन्द के जीव आकर्षित करते है। कन्द मे से स्कन्ध (तना) के जीव, स्कन्ध मे से शाखा के जीव, शाखा मे से प्रतिशाखा के जीव, प्रतिशाखा मे से पत्ते और फूल, फूल मे से फल और फल मे से बीज के जीव आकर्षित करते है और शरीर मे परिणमाते है।[1]

वनस्पति की आहार ग्रहण व उसे परिणमन करने की आगम मे प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रिया का उद्घाटन वर्तमान मे विज्ञान के प्रयोगो ने कर दिया है। वनस्पति के आहारग्रहण का विवेचन आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ता इस प्रकार करते हैं —

"मूल रोम मिट्टी के कणो से चिपटे रहते है और उन कणो मे मौजूद खनिज पदार्थों के पतले विलयन के सम्पर्क मे आते हैं। खनिजो का विलयन अन्त रसाकर्षण द्वारा मूल रोमो के भीतर पहुचता है। मूल रोमो की कोशिकाओ मे पदार्थों के गाढे विलयन सदा मौजूद रहते हैं। इन कोशिकाओ के बाहर मिट्टी के खनिज पदार्थों के बहुत पतले विलयन (घोल) रहते हैं। कोशिकाओ की दीवालें अर्धप्रवेश्य झिल्लियो का कार्य करती हैं। अन्दर का गाढा विलयन बाहर के पतले विलयन को रसाकर्षण के नियमानुसार अपनी ओर खीचता है जो अत रसाकर्षण द्वारा कोशिकाओ के भीतर पहुचता है। मूल रोमो की कोशिकाओ मे इस पतले विलयन के पहुच जाने से वहा का विलयन थोडा पतला हो जाता है। इसके पास ही अन्दर की कोशिका विलयन इसकी अपेक्षा गाढा रहता है। अत मूल रोम से पानी और पतला विलयन अन्दर की कोशिका मे रसाकर्षण द्वारा चला जाता है। अब इस अन्दर की कोशिका का विलयन इसके पास की अन्दर की दूसरी कोशिका के विलयन से पतला हो जाता है और फलस्वरूप यह विलयन अन्दरवाली दूसरी कोशिका मे चला जाता है। इस प्रकार कोटेक्स की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में रसाकर्षण द्वारा पानी और पतला विलयन पहुचता जाता है और अन्त में जाइलम नलियो में पहुचता है। इन नलियो द्वारा फिर यह ऊपर तने और पत्तियो में पहुचता है। इस प्रकार कोशिकाओ के अन्दर, बाहर का पानी तथा खनिज पदार्थों का पतला विलयन रसाकर्षण क्रिया द्वारा पहुचकर तुरन्त तने की ओर आगे बढता जाता है और शाखा, प्रशाखा और फूल में होता हुआ फल तक पहुचता है।"[2]

---

१ आचार्यश्री अमोलक ऋषिजीकृत अनुवाद पृ० ८६८
२ प्रा० जीवविज्ञान।

उपर्युक्त कथन का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वनस्पति के आहार की क्रिया व परिणमन-विपयक विवेचन में वर्तमान वनस्पतिविज्ञान व आगमनिरूपित कथन में पूर्ण साम्य है।

वनस्पति के खाद्य पदार्थों का वर्णन आगम में इस प्रकार है —

"ते ण भते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ ण अणनपदेमियाइ दव्वाइ एव जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देमए जाव-मव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति । ते ण भन्ते ! जीवा जमाहारमाहारेंति त चिज्जति, ज नो आहारेंति त नो चिज्जनि, चिन्ने वा से उद्दाइ पलिसप्पति वा ? हता गोयमा ! ते ण जीवा जमाहारेंति त चिज्जति ज नो जाव-पलिमप्पति वा। —भगवती शतक १६, उ० ३, सूत्र ७-८

'हे भगवन् ! वे (पृथ्वी, जल वनस्पति कायिक) जीव कैसा आहार करते हैं ?

हे गौतम ! वे द्रव्य से अनन्त प्रदेशवाले पुद्‌गलो का आहार करते हैं। विशेष वर्णन पन्नवणा के प्रथम आहार उद्देशक के अनुमार समझना यावत् सर्व आत्मप्रदेशो द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—हे भगवन् ! क्या वे जीव जो आहार करते हैं उसका "चय" होता है, जिनका आहार नही करते हैं उनका चय नही होता है ? तथा जिन आहारो का चय होता है, वे आहार असारभाग रूप में बाहर निकलते है और मार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है ? भगवान फरमाते हैं—हे गौतम ! हा, वे जीव जिन पदार्थो का आहार करते है उनका "चय" करते है, जिन पदार्थोका आहार नही करते हैं उनका चय नही करते है तथा जिन आहारो का चय किया है उसका मार भाग शरीर-इन्द्रिय रूप परिणमता है और असार भाग का नीहार या विसर्जन हो जाता है।"[1]

यहाँ सूत्र मे आया 'चिज्जति" शब्द विशेष उल्लेखनीय है। "चिज्जति" शब्द चय अर्थ का द्योतक है। चय का अभिप्राय है अभीष्ट पदार्थों को चुनकर सचय करना। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने सम्पर्क में आए सभी पदार्थों को भोजन रूप में ग्रहण नही करती है अपितु उनमें से आहार योग्य पदार्थों का ही चयन कर उनका ग्रहण या सचय करती है। आहार के अयोग्य पदार्थों का चयन या सचय नही करती है—उन्हें छोड देती है। वनस्पति की इस विलक्षण चयशक्ति को वनस्पतिविशेषज्ञ भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि मिट्टी मे सोडियम और पोटाशियम दोनो ही पदार्थ सममात्रा मे मिले हो तब भी वनस्पति सोडियम की अपेक्षा अपने रुचिकर भोज्य पदार्थ पोटाशियम का ही अधिक सचय करती है।

आगम क उपर्युक्त कथन मे से यह पहले दिखाया जा चुका है कि वनस्पति विविध द्रव्यो के स्कधो का आहार करती है। इस आहार का सार भाग शरीर रूप परिणमता है तथा शेप रहा हुआ निस्सार भाग दूपित मल के रूप मे शरीर से बाहर निकलता है। मलविसर्जन की यह क्रिया वनस्पति में उत्स्वेदन के रूप मे होती है। इसके विपय में कहा है —'जिस प्रकार लोग अपने शरीर से पसीने के रूप में पानी निकालते हैं, उसी प्रकार पत्तियो की सतह मे पानी वाष्प बनकर उडा करता है। वृक्ष जडो द्वारा मिट्टी से पानी सोखते है और जाइलम नलियो द्वारा उसे पत्तियो की सतह तक पहुचाते हैं। जहा से वह वाष्प बनकर उड जाता है।"[2] तात्पर्य यह है कि आज जीव-विज्ञान ने आगम-प्ररूपित इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया है कि वनस्पति आहार करती है। उसे शरीर रूप परिणमन करती है तथा उसके शेप रहे वर्ज्य पदार्थ मल का विसर्जन या नीहार करती है।

वनस्पति किस ऋतु मे अधिक और किस ऋतु मे कम आहार करती है, आगम मे इसका विवेचन इस प्रकार आया है —



---

१ भगवती सूत्र खण्ड ४, पृ० ८१ (प० बेचरदासजी के अर्थ का हिन्दी अनुवाद)

२ प्रा० जीव विज्ञान



वणस्सइकाइयाण भते ! कि काल सव्वप्पाहारगा वा, सव्वमहाहारगा व भवति ? गोयमा ! पाउम-वरिसार-त्तेसु ण एत्थ ण वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवति, तयाणतर च ण सरए, तयाणतर च ण हेमते, तयाणतर च ण वसते, तयाणतर च ण गिम्हासु ण वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवति ।

—भगवती शतक ७ उ० ३ सूत्र १

हे भगवन् ! वनस्पति किस समय अधिकतम आहार करती है और किस समय अल्पतम आहार करती है ? भगवान् फरमाते है—हे गौतम ! पावस व वर्षा ऋतु मे वनस्पतिकायिक जीव सबसे अधिक आहार करते हैं। तदनन्तर अनुक्रम से शरद्, हेमन्त, वसन्त व ग्रीष्म ऋतु मे अल्प से अल्प आहार करते है ।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओ का कथन है कि वर्षा ऋतु मे जल की अधिकता से वनस्पति के खाद्य पदार्थों मे घोल व विलयन अधिक होता है और जडो द्वारा आहार ग्रहण की अधिक मात्रा विलयन की सुलभता पर निर्भर करती है। अत आहार के विलयन की अनुकूलता व सुलभता होने से वर्षा ऋतु मे वनस्पति अन्य ऋतुओ की अपेक्षा अधिक आहार करती है तथा ग्रीष्म ऋतु मे जल की अत्यधिक कमी होने से आहार का घोल या विलयन अत्यल्प बन [illegible] ग्रीष्म ऋतु मे वनस्पति अत्यल्प आहार करती है ।

आगम के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने पर सहज ही जो प्रश्न उठ सकता है उसे उठाते हुए गणधर गौतम श्रीमहावीर प्रभु से पूछते है —"जइ ण भते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पहारगा भवन्ति कम्हा ण भते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया, पुप्फिया, फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उव-सोभेमाणा चिट्ठ ति ? गोयमा ! गिम्हासु ण बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए विउक्कमति चयन्ति उववज्जन्ति । एव खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाया पत्तिया, पुप्फिया जाव चिट्ठन्ति ।"

—भगवती शतक ७ उ० ३ सू० २

हे भगवन् ! जब वनस्पतिकाय के जीव ग्रीष्म ऋतु मे अत्यल्प आहार करते है तब फिर क्या कारण है कि ग्रीष्म ऋतु मे बहुत सी वनस्पतिया अधिक फलती, फूलती व हरीतिमा को प्राप्त होकर अपनी शोभा को बढाती हैं ? हे गौतम ! ग्रीष्म ऋतु मे (गर्मी की अनुकूलता के कारण) बहुत से उष्णयोनिभूत जीव व पुद्गल वनस्पतिकाय रूप उपजते हैं, अधिकता से उपजते हैं, विशेष रूप से बढते है, इसी कारण से ग्रीष्म ऋतु मे बहुत से वनस्पतिकायिक पत्र, पुष्प आदि हरीतिमायुक्त होते हैं ।"[1]

आगम के उपर्युक्त कथन की पुष्टि वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञो द्वारा वनस्पति के आहार-सग्रह, प्रजनन आदि पर किए गए प्रयोगो से प्राप्त परिणामो से होती है । इन विशेषज्ञो का कथन है कि जब वर्षाकाल मे आहार के विलयन की सुविधा व सुलभता अधिक होती है तब पौधे खूब ठूंस-ठूस कर आहार करते ही नही, भरते भी हैं। उसमे से जितना आहार पौधो की वर्तमान आवश्यकता से अधिक होता है वह उनकी जडो, कन्दो व स्कन्धो मे जमा हो जाता है तथा वसन्त व ग्रीष्म ऋतु मे तापमान की वृद्धि से उत्पन्न उष्णता की समीचीनता से पौधो मे सर्जन व प्रजनन शक्ति सक्रिय हो जाती है जिससे पौधे फलते-फूलते व हरीतिमा को प्राप्त होते हैं। उस समय उसी पूर्वसचित आहार से पौधो को पोषण प्राप्त होता है । परिणामस्वरूप पौधे के अन्य अग तो फलते-फूलते व हरे-भरे होते है परन्तु जड, कन्द, स्कध पूर्व की अपेक्षा अधिक दुबले-पतले हो जाते है । इसका कारण पौधे की जड, कन्द आदि मे सचित आहार के पुद्गलो का उष्णता व प्रजनन क्रिया के कारण विक्रमण[2] अर्थात् चलायमान होकर पौधे के अन्य अगो मे पोषण-रूप परिणत होना ही है ।

तात्पर्य यह है कि जैन आगम के इस कथन का वर्तमान विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है कि ग्रीष्म ऋतु मे

---

१ भगवती सूत्र तृतीय खड, पृ० १२ (प० बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपातर)

२ मुनिश्री अमोलकऋषिजी ने विक्कमण का अर्थ चलायमान होना लिया है, यह अधिक उपयुक्त लगता है ।

पौधो के अधिक फलने-फूलने व हरीतिमा मे अपनी शोभा बढाने का कारण उष्णता मे पुद्गलो का चलायमान व प्रजनन शक्ति का सक्रिय होना है।

इसी प्रसग मे प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतिकायिक जीव अपना आहार किस अग से करते है ? इस विषय मे निम्नाकित कथन द्रष्टव्य है—

भन्ते ! किं आदि आहारेंति मज्झे आहारेन्ति पज्जवसाणे आहारेंति ? गोयमा ! आदिपि आहारेंति मज्झेवि आहारेंति पज्जवसाणे वि आहारेंति। —जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव क्या आदि मे आहार करते है ? क्या मध्य मे आहार करते है ? क्या पर्यवसान मे आहार करते है ? भगवान् फरमाते है—हे गौतम ! वनस्पतिकायिक जीव आदि (जड कन्द) मे आहार करते है, मध्य (तना, शाखा, प्रशाखा आदि) मे आहार करते हैं तथा अन्त (फूल-पत्ते आदि) मे आहार करते हैं।

इसी प्रसग में ऊपर कहा गया है कि वनस्पति "सव्वप्पणायाए आहारमाहारेंति"—सब प्रदेशो से आहार करती है। इससे यह फलित होता है कि आगमकार, वनस्पतिकायिक जीवो द्वारा जड, कन्द, स्कध, शाखा, प्रशाखा, फूल, पत्ते आदि सारे शरीर से आहार करना मानते है।

वनस्पतिविज्ञान मे भी इसका स्पष्ट व विस्तृत विवेचन है कि वनस्पति अपने सारे शरीर से आहार करती है। वनस्पति अपने मूल रोमो द्वारा खनिज पदार्थों का विलयन व जल आदि तरल पदार्थों का आहार करती है। स्कध, शाखा, प्रशाखा, पत्तो आदि अन्य अगो के पर्णशाद द्वारा प्रकाश मे बाहरी वातावरण से कार्बन-डाई-ग्राक्साइड आदि अन्य गैसो का ग्राहार करती है। वनस्पति द्वारा प्रत्येक अग से आहार लेने की प्रक्रिया का वनस्पति-शास्त्र मे विस्तार से वर्णन है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने सब अगो से, सारे शरीर से, ग्राहार करती है। यह बात वनस्पतिविज्ञान मे खोज का विषय न रहकर सिद्धान्तत स्वीकार कर ली गई है।

जैन-शास्त्रो मे सामान्यत आहार तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) प्रक्षेपाहार, (२) रोमाहार, (३) ओजाहार। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है —

सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो॥

—चतुर्थ कर्मग्रथ, गा० टी० ७ (भा० पृ० १०४)

अर्थात् शरीर द्वारा लिया जाने वाला ग्राहार ओजाहार है। त्वचा के रोमो के द्वारा स्पर्शपूर्वक लिया जाने वाला आहार रोमाहार है तथा कवल (ग्रास) रूप मे मुख द्वारा लिया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है।[1] इनमे से वनस्पति मे दो ग्राहार-ओजाहार और रोमाहार ही माने गये है।[2] आधुनिक विज्ञान भी वनस्पति मे दो प्रकार की आहारक्रिया मानता है—ऐसीमिलेशन और आसमोसिस। ऐसीमिलेशन की ओजाहार से और आसमोसिस की रोमाहार से तुलना की जा सकती है। वनस्पतिविज्ञान मे आहार की इन दोनो क्रियाओ पर हजारो ग्रथ लिखे हुए हैं। इन क्रियाओ को सक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—

ओजाहार—आहार की इस क्रिया मे पौधे अपनी पत्तियो, शाखाओ आदि शरीर के समस्त हरे भाग (पर्णशाद) द्वारा वायुमडल मे से कार्बनडाई-आक्साइड आदि गैसो को सोखते है। फिर वे शोषित पदार्थ स्टोमटा द्वारा जडो से आये भोजन के जलीय भाग मे घुल जाते है। तदनन्तर प्रकाश-सश्लेषण क्रिया द्वारा इसमे रासायनिक प्रक्रिया होती है जिससे शक्कर बनती है। इसी शक्कर का कुछ भाग स्टार्च मे व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट मे बदल जाता है व कुछ भाग प्रोटीन बनता है।



१ भगवती सूत्र प्रथम खड, पृ० ९४ (प० बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपातर)

२ देखिये—पन्नवणा पद २८ उ० १

रोमाहार—आहार की इस क्रिया मे पौधे मूल (जड) रोमो द्वारा जमीन से जल तथा सोडियम, फासफोरिस एसिड, पोटास आदि खनिज पदार्थों का घोल सोखते हैं। वह घोल जाइलम नलियो द्वारा तने की तरफ जाता है जहा वह पौधे के ओजाहम द्वारा लिये गये कार्बन-डाई-आक्साइड आदि पदार्थों से मिलता है। फिर इन दोनो आहार की प्रक्रियाओ द्वारा तैयार किए पदार्थों का मिश्रण रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन आदि भोज्य सामग्री का रूप ले लेता है। यही भोज्य-सामग्री वनस्पति का पोषण व सवर्धन करती है। इस प्रकार वनस्पति रोमाहार और ओजाहार इन दोनो ही क्रियाओ से भोजन-सामग्री जुटाकर अपना जीवन-सचालन करती है।

आगम मे भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

उरालियसरीरा जाव मणुस्सा सचित्ताहारावि, अचित्ताहारावि, मीसाहाराविं।

—पन्नवणा पद २८ उ० १ सूत्र २

औदारिक शरीर वाले मनुष्य पर्यंत जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र, तीनो प्रकार का आहार करते है। इसमे स्पष्ट है कि औदारिक शरीरधारी वनस्पति भी उक्त तीनो प्रकार का आहार करती है। पौधे जडो द्वारा, फास्फोरस, कैलसियम, सोडियम आदि निर्जीव खनिज पदार्थों का आहार लेते है, यह अचित्त आहार है। मिश्र आहार अचित्त (निर्जीव) और सचित्त (सजीव) इन दोनो पदार्थों के मिश्रण से बना होता है। जड द्वारा लिए जाने वाले घुले विलयन प्राय मिश्र आहार ही होते हैं। वनस्पति द्वारा किया जाने वाला दुग्धाहार भी इसी श्रेणी का है। वनस्पतिविशेषज्ञो का कथन है कि "जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध का आहार लेने मे मनुष्यो के शरीर का पोषण होता है, इसी प्रकार वनस्पतियो मे भी दूध से पोषण होता है। नारियल का दूध पेडो मे वही काम करता है जो साधारण दूध पशु-शावको के लिए करता है। जिस प्रकार शावक के शरीर मे जाकर दूध मासपेशियो मे परिवर्तित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह दूध पौधो मे जाकर काष्ठ आदि मे परिवर्तित हो जाता है और उनके ठोस भाग का पोषण और वर्द्धन करता है।[1] अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय के कृषिविभाग ने इस पर विशेष प्रयोग किए हैं। नारियल का दूध गाजर के पौधो को दिया गया। फलस्वरूप वे कद मे बीसो गुने अधिक बढ गये। अन्य पौधे भी औसत से अधिक ऊचे हुए। जगली चेस्टवर, अग्रेजी अखरोट, मेवे आदि के दूधों के प्रयोगो का प्रभाव भी आश्चर्यजनक देखा गया। इन दूधो मे पौधो का विकास बडी शीघ्रता से होता है।"[2]

सजीव प्राणियो का आहार सचित्ताहार कहा जाता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम मे कहा है—

गोयमा! पुव्वभावपण्णवण पडुच्च एव चेव, पडुप्पण्णभावपण्णवण पडुच्च णियमा एगिंदियसरीराइ आहारेंति।

— पन्नवणा पद २८ उ० १

भगवान् फरमाते हैं—गौतम! पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकायिक जीव पूर्वभावे अर्थात् आहार रूप परिणत होने के पूर्व की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं और वर्तमान की अपेक्षा अर्थात् पुद्गलो के आहार रूप परिणत होने की अपेक्षा एकेन्द्रिय का आहार करते हैं। दूसरे शब्दो मे स्थावरकाय वनस्पति भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवो का आहार करती है।

एकेन्द्रिय के पाच भेद हैं—पृथ्वी, पानी, पावक, पवन, वनस्पति। वनस्पति अपनी जडो से सजीव पृथ्वी व पानी का, पत्तो, शाखाओ आदि से उष्मा व वायु का आहार लेती है। यही नही वनस्पति वनस्पति का भी आहार करती है। ऐसी वनस्पतियाँ परोपजीवी (Perasites) वनस्पतियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकार की होती है, पूर्ण-पराश्रयी व अर्ध-पराश्रयी। पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति वह है जो अन्य पौधो पर उगती है और अपना पूरा का पूरा भोजन उन वनस्पतियो से ही ग्रहण करती है। ये जिन वृक्षो पर उगती है उनमे अपनी पतली जडें घुसा देती है और उनका शोषण कर अपना भोजन बनाती हैं। अमरबेल ऐसी ही पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति है। अर्द्ध-पराश्रयी वनस्पतिया

१ नवनीत अगस्त १९५७, पृ० ५२

२ नवनीत अप्रैल १९६२, पृ० ७५

वे है जो उगती तो दूसरे वृक्षो पर है परन्तु ये कुछ भोजन तो अपनी पत्तियो द्वारा हवा मे से लेती हैं और कुछ भोजन इनकी जडें उन वृक्षो से लेनी है जिन पर ये उगती है। चदन, विमकम, वादा लोरेनथस, मिसटेलेटस आदि अर्धपराश्रयी वनस्पतिया है।

यह तो हुआ वनस्पति द्वारा किया जाने वाला एकेन्द्रिय-आहार का रूप। इसके अतिरिक्त वनस्पतिया बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय जीवो का आहार भी करती हैं। दूसरे शब्दो मे कहे तो वनस्पतिया हलते-चलते जीव-जन्तुओ, कीट-पतगो, पशु-पक्षियो व मानवो का आहार भी करती है। वनस्पति-विज्ञान मे ऐसी वनस्पतियो को मासाहारी वनस्पतिया कहा है। इनके विस्तृत वर्णन से वनस्पति शास्त्र भरे पडे है।

मासाहारी-वनस्पतिया—इनके सर्वाधिक जगल आस्ट्रेलिया मे हैं। इन जगलो को पार करते हुए मनुष्य इन विचित्र वृक्षो को देखने के लिए जैसे ही इनके पास जाते है, इन वृक्षो की डालिया और जटाए इन्हे अपनी लपेट मे जकड लेती हैं जिनसे छुटकारा पाना सहज कार्य नही है। फलत मनुष्य रोता, चिल्लाता, पुकारता है और अत मे दम तोड देता है।

तस्मानिया के पश्चिमी वनो मे 'होरिजिटल स्क्रब' नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु-पक्षी व मनुष्य को अपने क्रूर पजो का शिकार बना लेता है। यहा तक कि यदि कोई घुडसवार भी इसके पास से गुजरे तो यह उसे भी अपना आहार बना लेता है।[1]

कीट-भक्षी-पौधे—ये पौधे कीडे-मकोडे पकड कर खाते है। युट्रीकुलेरियड (Utricularied) इसी जाति का पौधा है। यह उत्तरी अमरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड तथा कुछ अन्य देशो मे पाया जाता है। यह हमारे यहा भी मिलता है। यह पानी का पौधा है और स्थिर पानी मे उगता है। इसकी पत्तिया सुई के आकार की होती हैं और पानी पर तैरा करती हैं। पत्तियो के बीच मे छोटे-छोटे हरे रग के गुब्बारे के आकार के फूले अग रहते हैं। पौधा इन्ही गुब्बारो से कीडो को पकडता है। प्रत्येक गुब्बारा पानी से भरा रहता है और उसके मुह पर एक छोटा-सा छेद रहता है। इस छेद पर एक कपाट रहता है जो केवल अदर की ओर ही खुलता है। कपाट पर बाहर की ओर महीन बाल होते हैं। ये बाल सचेतन होते है और इनमे हमारी त्वचा की भाति स्पर्श अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कोई कीटा पानी मे तैरता-तैरता गुब्बारे के पास पहुचता है और कपाट के बालो को छूता है तो तुरन्त कपाट अदर की ओर खुल जाता है जिससे कीडा गुब्बारे के भीतर गिर जाता है। कीडे के भीतर पडते-पडते ही कपाट फिर ऊपर उठकर गुब्बारे का मुँह बन्द कर देता है। इस प्रकार बेचारा कोडा गुब्बारे मे बन्द हो जाता है। गुब्बारे के भीतर दीवारो से एक रस निकलता है जो कीडे के मास को घुला देता है। इस घोल को गुब्बारे के भीतर की दीवारो के रोए चूस लेते हैं।[2]

"वटर-वार्ट पौधा भी कीडो को पकडने व खाने की कला मे बडा प्रवीण होता है। वटरवार्ट फूल बहुत सुन्दर होते हैं और इसके सम्पर्क मे आने वाला बेचारा कीट यह कल्पना भी नही कर पाता कि इतने रग-बिरगे सुदर फूलो वाला यह पौधा प्राणघातक भी हो सकता है। इस पौधे का पत्ता पूर्ण रूप से विषैला होता है। उस पर एक चिपचिपा लेप रहता है। यह लेप स्वाद मे मीठा होता है। परन्तु यह मीठा रस ही कीटो के लिए मारक विष है। जब कीडा इसके रग-बिरगे सुन्दर फूलो से आकृष्ट हो इसके पत्ते के पास आता है और पत्ते को छू जाता है तो वह चिपचिपा पदार्थ उन पैरो को मजबूती से पकड व जकड लेता है। फिर ज्यो-ज्यो कीडा अपने को छुडाने का प्रयत्न करता है त्यो-त्यो पत्ता ऊपर और अन्दर की ओर मुडता जाता है और कीडा एक जीवित समाधि मे बद हो जाता है। फिर पौधा उसे अपने अदर पचा लेता है।"[3]



---

१ नवनीत जुलाई १९६६

२ प्रा० जीवविज्ञान भाग २, पृ० २१

३ नवनीत मई ६२, पृ० ८२

मानव-भक्षी वृक्ष—"अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जगलो मे कही-कही मानवभक्षी वृक्ष मिलते है, जो मनुष्यो और जगली जानवरो को अपना शिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मनुष्य-भक्षी वृक्ष की ऊँचाई २५ फुट तक होती है। इस विशाल और भयानक लगने वाले वृक्ष की अनेक शाखाओ के अग्र भाग मे थाली के आकार के बडे फूल लगे रहते हैं। ये शाखाए १-२ फुट लवे काटो से भरी रहती हैं।

जब भी अधेरे मे कोई जानवर या मनुष्य असावधान होकर उस वृक्ष के पास से गुजरता है तब वृक्ष की काटेदार शाखाए अपने शिकार को चारो ओर से घेर लेती है। काटे शरीर मे घुसकर खून चूस लेते है और बाहर निकल जाते है। तब वृक्ष की शाखाए निर्जीव शरीर को छोड देती है। शिकार का खून चूस लेने पर फूलो का आकार बढ जाता है, किन्तु कई दिनो बाद वे फिर असली हालत मे आजाते हैं। इस प्रकार वृक्ष के नीचे ककालो का ढेर लग जाता है। कुछ वर्ष पूर्व साइकिल के द्वारा विश्व-भ्रमण करने वाले श्री मिश्रीलाल जायसवाल ने युगाण्डा के भयानक जगल मे मनुष्य-भक्षी वृक्ष की शाखाओ मे फसे हुए एक बारहसिंघे को स्वय अपनी आखो से देखा था।"[1]

रैन हैटट्रम्पट, नेपन्थीज, जीन्सलापोर्टिया, बीनसफ्लाई टैंप, ड्रासरा, पिचर प्लान्ट आदि अन्य मासाहारी पौधे भी कीडो का शिकार करने व उन्हे पकडने मे बडे निष्णात होते है।

तात्पर्य यह है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस काल मे विश्व के अन्य दार्शनिक व विचारक वनस्पति को सजीव मानने मे ही ननु-नच करते थे उस काल मे जैनदर्शन ने वनस्पति को न केवल असदिग्ध रूप से सजीव ही स्वीकार किया अपितु इस पर पचासो दृष्टियो से प्रकाश भी डाला। इनमे से एक दृष्टि आहार के प्रकार व पदार्थों पर भी डाली गई। इसमे वनस्पति द्वारा आहार-ग्रहण क्रिया, आहार-परिणमन प्रक्रिया, नीहार, ओजाहार-रोमाहार तथा वनस्पति के एकेन्द्रिय होने पर भी पचेन्द्रिय जीवो तक का भोजन करना आदि के निरूपक सूत्र सवथा मौलिक व निराले ही थे। ये सूत्र विज्ञान के विकास के पूर्व विद्वानो को आश्चर्यजनक व कल्पनाप्रसूत लगते थे। परन्तु आज ये ही सूत्र विज्ञानजगत् मे प्रयोगो से परिपुष्ट व प्रत्यक्ष प्रमाणित होकर आगमप्रणेताओ के अतीन्द्रिय ज्ञानी होने की उद्घोषणा कर रहे हैं।

भय सज्ञा—भय दो रूपो मे व्यक्त होता है—(१) आगत आपत्ति से भयभीत होना, डरना, कापना, रोओ का खडा होना आदि (२) आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षा का प्रवन्ध करना। सुरक्षा की भावना का उद्गमस्थल भय ही है।

वनस्पति मे 'भय' के दोनो ही रूप स्पष्ट अभिव्यक्त होते है। जिस प्रकार मनुष्य आपत्ति या प्रतिकूल परिस्थिति आते ही भयभीत हो जाता है और उसके निवारण या प्रतिरोध के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वनस्पतिया भी आपत्ति आते ही भयभीत हो जाती है और रक्षात्मक प्रयत्न करती हैं। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता से स्पष्ट दिखाया कि वनस्पति के किसी अग पर प्रहार होते ही या सहार का खतरा उपस्थित होते ही वह थर-थर कापने लगती है—उसके रोए खडे हो जाते है। छुई-मुई वनस्पति पर तो भय का प्रभाव बिना यत्रो के भी देखा जा सकता है। उसके किसी अग को अगुली छू जाय तो वह भयभीत हो जाती है और रक्षा के लिए सारे शरीर की पत्तियो को सिकोड कर अपने सब अग ढक लेती है। कश्मीर मे 'जवागल' नामक वनस्पति होती है। यह हथेली पर रखते ही ज्वर-पीडित मनुष्य की तरह कापने लगती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शत्रुओ से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेता है, ठीक उसी प्रकार पौधे भी अपने शत्रुओ से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेते है। बिच्छू जाति का पौधा अपनी रक्षा पत्तियो के रोओ से करता है। इन पौधो को छूने व खतरा पहुचाने वाले व्यक्ति की खाल मे ये रोए चुभकर एक प्रकार का विष फेकते है जो जलन पैदा करता है। उससे असह्य पीडा होती है। फलत व्यक्ति उसे छोड देता है और पौधा खतरे से छुटकारा पा जाता

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ जून १९६२, पृ० ५२

है।[1] चमचमी नामक वनस्पति को—जो प्राय तालाब के किनारे होती है—छूने से छूने वाले व्यक्ति के सारे शरीर मे खुजली चलने लगती है। अत व्यक्ति इससे दूर ही रहते है और यह खतरे मे परे रहती है। 'काक-तुरई' अपनी रक्षा दुर्गन्ध से करती है। इसे छू लेने मे बहुत समय तक हाथ मे दुर्गन्ध नही जाती है। इसलिए इसे छूना कोई पसद नही करता है। हाथी थूहर के काटे तो इतने तीक्ष्ण होते हैं कि स्पर्श मात्र मे ही ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने सूइया ही चुभोई हो, साथ ही जलन भी इतनी पैदा करते है कि मनुष्य की तो क्या बात, पशु भी उसके निकट जाने का साहस नही कर पाते है।

आक का पौधा अपनी रक्षा चिकनाई से करता है। यह चिकनाई एक लेसदार द्रव की होती है और सारे पौधे पर छाई रहती है। हानिकारक कीडे जब पौधे पर चढते है तो उनके पाव तनेपर छाई कोमल-सी चिकनी तह मे फस जाते है। इस सकट से मुक्ति पाने के लिए ये कीडे पौधे को हानि पहुचाये बिना ही रफुचक्कर हो जाते हैं।[2]

विषैली गैस द्वारा अपनी रक्षा करने वाला पौधा है "उपस"। यह जावा के भीतरी भागो मे घने जगलो मे झाडियो की जाति के कटीले पौधो के रूप मे मिलता है। वनस्पति-शास्त्र मे इसे 'एटियारिस-टोक्सिकारिया' कहा जाता है। इसमें से कपूर जैसा लेसदार द्रव निकलता है जो पोटेसियम साइनाइड के समान अत्यत विषैला होता है। यह जहरीली गैस भी छोडता है जिससे चारो ओर का वायुमडल विषाक्त हो जाता है। इसका दुष्प्रभाव पन्द्रह मील तक पडता है। मनुष्य इसे दूर से ही नमस्कार कर निकल जाते हैं। इन पेडो के विषाक्त प्रभाव से इनके आस पास पशु-पक्षियो के शवो के ढेर व हड्डियो के टीले से लगे रहते हैं। इस प्रकार ये पौधे अपने विषाक्त रस या गन्ध से अपनी रक्षा करते है। सलीबीज और मलाया के घने जगलो मे व बोटानिकल-गार्डन मे आज भी ऐसे वृक्ष मिलते हैं।

जिस प्रकार पक्षी अपनी व बच्चो की सुरक्षा की दृष्टि से अपना घोसला झूलने वाली स्थिति मे बनाते है, उसी प्रकार कुछ वृक्ष अपनी सुरक्षा हेतु हमेशा टीलो के कगारो मे झूलने वाली स्थिति मे उत्पन्न होते है। "यानी-बरेल" ऐसे ही वृक्ष है। ये अर्जेन्टाइना के घने जगलो के भीतरी भागो मे पाये जाते हैं। इन्हे वहा के निवासी "यूचान" कहते है। इनकी आकृति बोतलाकार व आकर्षक होती है। ये अपने तन व डालियो पर भूमि की ओर मुह किए पाँच-पाच इच के लबे व कठोर काटे रखते है। इन काटो की सख्या इतनी अधिक होती है कि तना व डालें पूरी तरह इनसे ढकी रहती हैं। इन्हे किसी प्रकार की हानि पहुचाने का प्रयत्न करने वाले को इनके शूल जैसे काटो का सामना करना होता है। अत ये काटो से अपनी सुरक्षा करते हैं।

पौधे केवल अपनी रक्षा के लिए ही नही अपितु अपनी सतान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। 'लिनेरिया' इसी प्रकार का पौधा है। यह पथरीली चट्टानो मे उगता व पनपता है। चट्टानो के बीच कही छोटा सा छेद अथवा खोखली-सी जगह मिलते ही वह उसमे अपनी जडे जमा लेता है और बाहर निकल कर चट्टान की दीवार पर अपना शरीर झुकाये स्वय को जीवित रखता है। पर मात्र जीवित रहने से ही उसका स्वभावसिद्ध कार्य समाप्त नही हो जाता। अन्यान्य पौधो की भाँति उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वश-वृद्धि करे और सीधी खडी पथरीली दीवार पर वश-वृद्धि करना कोई आसान काम नही है। लिनेरिया अपने इस कार्य को आश्चर्यजनक ढग से सम्पन्न करता है। इसके लिए सबसे पहले मधुमक्खियो की बाट जोहनी पडती है। मधुमक्खिया इसके फूलो का पराग स्त्रीकेसर के साथ मिलाकर गर्भाधान करने मे समर्थ होती हैं। मधुमक्खियो को आकृष्ट करने के लिए इसे अपने फूलो की बहार दिखलानी पडती है और मधुमक्खियो की प्रतीक्षा मे चट्टान की दीवार से फूल कही सड न जाय, यह सोचकर लिनेरिया अपने फूलो को यथासभव दीवार से अलग रखता है। देखा गया है कि लिनेरिया की जो शाखा दीवार से दूर होती है, उसी पर अधिकतर पुष्प खिलते है। बीज तैयार हो जाने पर पौधे के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह उन बीजो को कहाँ डाले क्योकि चट्टान की दीवार मे पौधो के बीज न ठहर सकते हैं,



१ नवनीत जुलाई ५७, पृ० ५६
२ कादबिनी फरवरी ६७, पृ० ८५

न पनप सकते हैं। अत वह अपनी सहज बुद्धि का सहारा लेना है। गर्भाधान की क्रिया ज्यो ही समाप्त होती है त्यो ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे तब तक आगे बढता है जब तक कि उसे बीजो को गिराने के लिए छेद या खोखली जगह न मिल जाय। छेद मिलते ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजो को उगने व पनपने के लिए सुरक्षित स्थान पर रख निर्भय व निश्चिन्त हो जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमो मे प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियो के समान वनस्पति भी भयाक्रात होती हैं और अपनी सतान की रक्षा के लिए विविध एव विचित्र उपायो का सहारा लेती हैं।

मैथुनसज्ञा—आगमो मे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति मे भी मैथुनसज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस विषय को एक अलग उपशाखा का रूप दे दिया है वह है "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का सबध-वनस्पति की "मैथुनक्रिया" गर्भाधान व भ्रूण व बीज बनने आदि से है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो० पचानन माहेश्वरी विश्व के वनस्पतिभ्रूण वैज्ञानिको मे अग्रणी हैं। आपने प्रयोगो द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए है। पुष्पो पौधो के लगभग ८२ कुलो के पौधो के भ्रूण-परिवर्धन की कथा उनके अथक परिश्रम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान मे पौधो मे मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, उसे सक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल मे मुख्य ५ भाग होते हैं—(१) पुष्प-वृन्त (Pedicel)—फूल का डठल (२) बाह्य दलपुज (Calyese)—इसमे स्थित पत्तिया फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती हैं व फूल के भीतरी भागो की रक्षा करती है (३) दल पुज (Carolla)—इसमे स्थित पत्तियाँ या कलिया चित्ताकर्षक चटकीले रग की होती है। ये फूल के जननागो की रक्षा करती तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतगो को आकृष्ट कर परागण कार्य मे सहायता करती है (४) पुमग-परागकेसर (Androecium)—यह पुष्प का नर-जनन अग होता है, यह चटकीली कलियो के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते है पु तन्तु और पराग कोश। पु तन्तु परागकोश को ऊपर उठाये रखते हैं। परागकोश मे पराग कक्ष होते है जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते हैं। (५) जायांग-गर्भकेसर (Gynaecium)—यह फूलो के बीचो-बीच होता है। इसके तीन भाग होते है—(१) अडाशय (Overy), (२) वर्तिका (Style), (३) वर्तिकाग्र (Stigma)। जायाग का निचला चौडा व चपटा भाग अडाशय कहलाता है। वह फूल का सबमे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। इसी मे बीजाण्ड-भ्रूणधानी आदि होते है। इसी से एक लबी नली निकलती है जिसे वर्तिका या योनिनली कहते हैं। उसके सिरे पर एक गोल घुडी सदृश रचना होती है जिसे वर्तिकाग्र या योनिछत्र कहते ह।

पु केसर के परागकणो का स्त्रीकेसर के योनिछत्र से सम्मिलन, सगम या सयोजन ही वनस्पति की प्रजनन-क्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते हैं और योनिनली मे होते हुए अडाशय-गर्भाशय मे चले जाते है, वहा फल और वीज वनते हैं।

वनस्पतिविज्ञान मे परागकोश से परागकण का योनिछत्र तक पहुचने की क्रिया को सेचन (Polination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-सेचन और पर-सेचन। जब किसी फूल का परागकण उसी फूल के योनिछत्र तक पहुचता है तो यह स्वसेचन कहलाता है, जैसा कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलो मे होता है। जब किसी फूल का परागकण दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुचता है तो उसे पहुचने मे वायु, कीट-पतग, जानवर, जल आदि अन्य माध्यमो की आवश्यता होती है। यह पर-सेचन कहलाता है। वायु-सेचन, गेहूँ, जौ आदि मे, कीटसेचन-सु दर-सुगधित

१ नवनीत जुलाई १९५७ पृ० ५३

फूलो मे, जलसेचन वैलिसनेरिया आदि जल मे लगे पौधो मे तथा जन्तुओ द्वारा सेचन-कदब आदि पेडो के फूलो मे होता है ।

गर्भाधान —सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय (Overy) मे पहुचते है । वहा प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुडता है । परागकण और रजकण का यह मिलन ही गर्भाधान है । गर्भाधान के फलस्वरूप बीजो की उत्पत्ति होती है । गर्भाशय मे जितने रजकण होते है उनमे जितने मे परागकणो द्वारा गर्भ स्थिति हो जाती है उतने ही बीज गर्भाशय मे पैदा होते हैं ।

यदि परागकणो का रजकणो से मिलन न हो तो बीज नही बन सकते । फूल तीन प्रकार के होते हैं नरलिंगी, मादालिंगी व उभयलिंगी । पपीता खरबूजा, करेला, लौकी आदि मे नरलिंगी और मादालिंगी फूल अलग-अलग से होते है और मादा फूल पैदा करने वाले पेड अलग होते हैं। इस प्रकार के फूलो मे गर्भाधान परसेचन से ही होता है । यही कारण है कि पपीते के बगीचे मे मादावृक्षो के साथ यदि कोई नरवृक्ष न हो तो वे फलते ही नही है । गुलाब, गुडहल, मल, सेम आदि उभय लिंगी हैं । इनमे एक ही फूल मे पु केसर तथा स्त्रीकेसर दोनो ही मिलते है ।

मैथुन या गर्भाधान की यह क्रिया केवल फूल देने वाली वनस्पतियो मे ही नही अपितु बिना फूल देने वाली वनस्पतियो मे भी होती है । ऐसी वनस्पतियाँ मुख्यत तीन प्रकार की हैं —थैलोफाइटा,ब्रायोफाइटा और टेरीडाफाइटा । थैलोफाइटा मे शैवाल, काई तथा फफूदी मुख्य हैं । शैवाल मे नरयुग्मक और स्त्रीयुग्मक का सायुज्य होता है, फफूदी मे धन तथा ऋण अशुओ का । ब्रायोफाइटा मे नर और नारी के अग अलग-अलग होते हैं । इन्ही के मिलन से स्पोरेनिजियम होकर प्रजनन होता है । टेरीडोफाइटा मे भी इसी से मिलती-जुलती प्रक्रिया से प्रजनन होता है ।

तात्पर्य यह है कि फूल और बिना फूल वाली सब ही जातियो की वनस्पति मे मैथुन व प्रजननक्रिया विद्यमान है, आज यह वनस्पतिविज्ञान मे निर्विवाद मान्य है । इससे जैनागम मे प्रतिपादित इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वनस्पति मे मैथुन सज्ञा है ।

परिग्रह सज्ञा —"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।" — **दश० अध्ययन ६ गाथा २१**

अर्थात् पदार्थों मे मुच्छा या ममत्व भाव रखना, एव उनका सग्रह करना 'परिग्रह' है । वनस्पति मे परिग्रहवृत्ति भोजन-सग्रह रूप मे पायी जाती है । इस विषय के विज्ञान-जगत् मे महत्वपूर्ण तथ्य सामने आए हैं जो द्रष्टव्य है।

वैज्ञानिक समर्थन —(१) पतझड के दिनो मे जब पेडो की पत्तियाँ झडकर गिर जाती हैं तब उनके भोजन बनाने का कार्य रुका रहता है । उस समय यदि पेडो के पास पहले से इकट्ठा किया हुआ भोजन न हो तो वे उन दिनो अपना जीवन धारण न कर सकें । ऐसे अवसरो के लिए बडे पेडो के तनो मे भोजन एकत्रित रहता है जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं । इसी प्रकार बहुत-सी ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं जिनमे पेडो को अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपने किसी भाग मे विशेष रूप से भोजन इकट्ठा करना पडता है ।

(२) एक दूसरा कार्य, जो एकत्रित भोजन द्वारा पेड करते हैं, वह है प्रजनन कार्यों का सम्पादन करना । फूलो को विकसित करने तथा फल और बीज पैदा करने के लिए पेडो को बहुत ऊर्जा की आवश्यकता पडती है जो उन्हे सग्रहीत भोजन द्वारा प्राप्त होती है । पेड बीजो मे भोजन एकत्रित करते हैं जो बीजो के अकुरण-काल मे उनकी आवश्यकता पूर्ति करता है।

(३) बीजो के अतिरिक्त तने तथा जोड मे विशेष रूप से भोजन सग्रहीत कर पेड उनके द्वारा वर्धी प्रजनन का कार्य करते हैं ।

(४) जडो तथा तने के अतिरिक्त पेड प्राय पत्तियो मे भी अपना भोजन एकत्रित करते है । बद गोभी मे पत्तियो मे भोजन इकट्ठा रहता है जिसके कारण वे मोटी हो जाती हैं । प्याज की गाँठ के भीतर भी पत्तियो मे ही भोजन एकत्रित रहता है जिसके सबब से पत्तियाँ मोटी तथा फूली हुई रहती हैं ।



पेडो के बीजो के सग्रहीत भोजन मे स्टार्च, चर्बी तथा प्राटीन तीनो प्रकार के पदार्थ मिलते है । जडो तथा तना के सग्रहीत भोजनो मे स्टार्च विशेष रूप से मिलता है । चर्बी की कुछ मात्रा रहती है किन्तु प्रोटीन बहुत ही कम पायी जाती है । इस प्रकार हमे मालूम हुआ है कि पेड बीज, जड, तना और पत्तियो मे भोजन सग्रहीत करते है ।[1]

बीज मे भोजनसामग्री सग्रह करने वाले पौधो मे नारियल को लिया जा सकता है । यह अपने भीतर इतनी पर्याप्त मात्रा में भोजन-सामग्री सग्रहीत रखता है कि इसका पौधा जब तक खोपरे की तीन आँखो मे से एक को फोडकर अपनी जडें जमीन मे नही जमा लेता है, तब तक उसके भोजन के लिए गरी का सफेद, नरम, पौष्टिक गुदा विद्यमान रहता है । अखरोट, बादाम, सेम, मटर के पौधे भी अपनी सतान के लिए पौष्टिक खाद्यसामग्री सग्रह कर पैतृक सपत्ति के रूप मे अपने बीज मे छोड जाते है । यह पैतृक धन छिलके के नीचे सुरक्षित रहता है । एक भी फूलने वाला पौधा ऐसा नही है जो अपने बच्चे के लिए बीज रूप मे पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो ।[2]

तने मे खाद्य पदार्थ सग्रह करने वाली वनस्पतियो के अनेक प्रकार हैं, यथा— (१) बुलबिल्स-रतालू, अनन्नास, रामबास आदि (२) राइजोम-अदरख-हल्दी आदि (३) घुइयाँ-बडा, जमीकद, घनकद आदि (४) ट्यूबर-आलू, सतावर, डेहलिया आदि । ये पौधे भोजन-सामग्री अपने तने मे विभिन्न प्रकार से सचय करते है । इनके तने भूमि के अन्तगत जडरूप मे रहते हैं ।

पत्तियो मे भोजन-सामग्री सग्रह करने वाली वनस्पतियो मे प्याज, बदगोभी आदि हैं । अनेक जाति के पौधो की पुरानी पत्तियाँ झडने के पूर्व ही नवीन पत्ती पैदा करने वाली कली मे वह सब सामग्री सग्रह करके रखती हैं । जिसका समय आने पर पत्ती उपयोग कर अपने को विकसित कर सके ।

फूलो मे भोजन-सामग्री सग्रह करने वाली वनस्पतियो मे नागफनी जाति के काटेंदार पौधे मुख्य है ।

मनुष्यो की ही भाति कुछ पौधे सुरक्षा की दृष्टि से अपनी सग्रहीत सपत्ति को भूमि मे छिपा देते है । गाजर, मूली, शलजम शकरकद आदि इस प्रकार की वनस्पतिया है । वस्तुत उनका भूमिगत भाग उनकी जड न होकर तना ही होता है । उन पर आखे होती हैं वे उनके बीज व सतानें हैं और आखो के आसपास के चारो ओर का भाग पौधो के द्वारा इनके लिए सचय की हुई भोजनसामग्री है । उसका सेवन कर ये सतानें-नये पौधे उसी प्रकार जीते व बढते हैं, जिस प्रकार बालक माता का दूध पीकर जीते व बढते है । ये आखे ही इनकी सताने हैं, यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि आलू या अदरक के जिस टुकडे को बोया जा सकता है उसमे यदि आखे विद्यमान है तो वह टुकडा नवीन पौधे का रूप ले लेता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है ।

कृपण व्यक्तियो के समान जलघनिया आदि कुछ वनस्पतिया भी कृपण होती हैं जो अपने लिए कुछ भी खर्च न कर सब कुछ अपनी सतान के लिए ही छोड जाती हैं तथा जिस प्रकार सभी मनुष्य अपने व अपनी सतान के लिए समान रूप मे सग्रह नही कर पाते हैं, इसी प्रकार सब वनस्पतिया भी समान रूप से सग्रह नही कर पाती हैं । पीपल, पान्ता, चना, मूंग आदि वनस्पतिया सतान के लिए बहुत ही कम भोजनसामग्री का सग्रह छोड जाती हैं । अत इनके पौधे बीज मे बाहर निकलते ही शीघ्र हरे हो जाते हैं और भोजन-प्राप्ति के लिए स्वय परिश्रम करने लगते है । जिस प्रकार कुछ व्यक्ति बडे निधन होते हैं वे अपनी सतान के लिए कुछ भी नही छोड जाते है, उसी प्रकार दूब आदि के पौधे बडे निर्धन होते हैं और सतान के लिए कुछ नही जोडते व छोडते है । ऐसे पौधे अपनी वश-वृद्धि के लिए एक विशेष रीति काम मे लेते हैं । ये अपने तने भूमि पर फैलाते हुए बढते है । इस प्रकार नवीन पौधे भोजन-सामग्री के भडार के अभाव मे भी अपना पोषण बिना अधिक श्रम किये कर लेते है ।

अभिप्राय यह है कि, वनस्पति-विज्ञान ने प्रयोगो द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव के समान ही

---

१ प्रा० जीव विज्ञान ।

२ नवनीत अप्रैल १९५२, पृ० २६

वनस्पति मे भी परिग्रहसज्ञा विद्यमान है और यह अपने भविष्य व भावी सतान की सुरक्षा, सुविधा के लिए सामग्री व सपत्ति सचित करती है।

कषाय

जैन-ग्रन्थो मे प्रयुक्त 'कषाय' शब्द अपना विशेष पारिभाषिक अर्थ रखता है, यथा —

सुख-दुक्ख सुबहुसस्स कम्मक्खेत करोदि जीवस्स।
ससार-दूरमेर तेण कसाओत्ति ण वेंति॥ — गो० जी० २८२, धवला १-१-४

जीव के सुख-दु ख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ससार रूप मर्यादा अत्यत दूर है, ऐसे कर्म रूप खेती का कर्षण करना, फल देने योग्य बनाता है, उसे 'कषाय' कहते हैं।

आत्मा को कसने-बद्ध करने वाला कर्म है। कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-द्वेष रूप परिणाम-भाव है। अत राग-द्वेषात्मक परिणाम ही कर्षण रूप कषाय हैं। कषाय के चार भेद है।

चेत्तारि कसारा पण्णत्ता, जहा कोह-कसाए, माण-कसाए, माया कसाए, लोभ-कसाए, एव नरइयाण जाव वेमाणियाण॥

— स्थानाग श्रु० १ अ० ४ उ० १ सू० १८

कषाय चार है —क्रोध, मान, माया, और लोभ। ये चारो ही कषाय नारक जीवो से लेकर वैमानिक देवो तक अर्थात् सर्व ससारी जीवो मे पाये जाते हैं। अत वनस्पति मे भी कषाय के ये चारो ही भेद माने गये है।

क्रोध कषाय —जिस प्रकार मनुष्य, पशु आदि अन्य प्राणी कुपित व हर्षित होते है, उसी प्रकार वनस्पतिया भी कुपित व हर्षित होती हैं। "सुडान और वेस्ट इडीज मे एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है, जिसमे से बडी अद्भुत प्रकार की राग-रागनियाँ निकलती रहती है और रात मे इन्ही वृक्षो मे ऐसा रोना धोना आरम्भ होता है कि कभी-कभी यात्री यह समझ बैठता है कि निकट ही कही कोई ऐसा परिवार है, जिसमे कोई मर गया है और सब बैठे रो रहे है, सिसक रहे है।"[1]

क्रोध का एक रूप 'रोष' है। जिस प्रकार बर्र आदि मक्खियो के छत्ते के पास कोई व्यक्ति पहुच जाये तो ये मक्खियाँ रुष्ट होकर उस व्यक्ति को डक मारने लगती हैं। इनके डक मारने से तीव्र पीडा होती है जो तीन-चार दिन तक चलती रहती है, इसी प्रकार क्वीस और न्यू साउथ वेल्स मे एक ऐसा वृक्ष कहा जाता है जो अपने पास आने वाले व्यक्ति को डक मारता है। इसे 'टच मी नाट, या 'डक मारने वाला वृक्ष' कहा जाता है।

इन वृक्षो पर इनके आकार-प्रकार के अनुसार बडे नुकीले और तेज धारवाले काँटे होते है। इसके अलावा इस वृक्ष की चौडी, १२ इच लबी, खूब घनी और पान के आकार की पत्तियाँ होती हैं और उन पत्तियो पर लम्बे बाल के समान रोए होते है। अगर कोई व्यक्ति इस के पास पहुच जाये, तो वे पत्तिया उस व्यक्ति से चिपक जाती है और डक मारने लगती है। इनके डक मारने से बडी मर्मांतक पीडा होती है यदि तुरन्त कोई दवा न दी जावे तो यह पीडा लगातार चार दिन तक चलती है।[2]

कलह-सघर्ष भी क्रोध या कोप का ही एक रूप है। वनस्पतियाँ भी अपनी रक्षा व स्वार्थ हेतु सघर्ष करती है। यथा—"सभी पौधे अपनी विपरीत परिस्थितियो मे सघर्ष करके जीवन-रक्षा करते हैं। जहा सहायता मिल सकती है वहाँ वे पारस्परिक सहायता करते और एक दूसरे का आश्रय लेते है। जहा सहायता सहज मे नही मिलती वहाँ लता वृक्ष के सहारे पनपती है, एक से दूसरा पौधा पोषण पाता है। जहाँ सहायता सहज मे नही मिलती वहाँ बरबस ली



---

१ नवनीत जून १९६६, पृ० ८७
२ नवनीत जुलाई १९६२, पृ० ७०

जाती है। आत्म-रक्षा के लिए आपस मे रगडा-झगडा भी होता है—एक दूसरे का वे नाश भी करते है।"[1]

मान—जैनदर्शन मनुष्य के समान वनस्पति मे भी मान कषाय मानता है। समवायाग सूत्र मे मान के रूपो का वर्णन करते हुए कहा है —

"माणे, मदे, दप्पे, थमे, अत्तुक्कोसे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कोसे, उन्नए, उन्नामे" —**समवायाग — ५२**

अर्थात् मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत और उन्नाम, ये ग्यारह मान के अभिधान हैं। सक्षेप मे कहा जाय तो धन-धान्य आदि पर-पदार्थों व गुणो मे अहत्व भाव होना ही 'मान' है, जैसे धन होने से अपने को धनी मानना, विद्या से अपने को विद्वान् मानना आदि। मानी व्यक्ति की सपत्ति मे अहत्व बुद्धि होती है। अत सम्पत्ति के विस्तार मे अपना विस्तार व उत्कर्ष मानता है। यही कारण है कि मानी प्राणी मे तन धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार की बडी भूख होती है। सपत्ति के विस्तार से उसके अहकार का पोषण होता है और फिर यह अहकार गर्व, मद, उन्मतत्ता आदि रूप धारण करता है। मान के ये रूप वनस्पति मे भी पाये जाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य धन से सम्पन्न होता है तो गर्व से फूला नही समाता है उसी प्रकार पौधे भी फूलो से सम्पन्न होते है तो प्रफुल्लित हो फूले नही समाते है। और गर्व से उन्मुक्त हवा मे झूलने लगते है। उनकी यह उन्मत्तता उनके अग-प्रत्यग से फूट पडती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता मे सिद्ध किया कि मनुष्य की भाँति पौधे भी अनुकूल भोजन-सामग्री पाकर एव मधुर सगीत सुनकर हर्ष से उन्मत हो जाते है और इन्हे और प्रतिकूल पाकर मुरझाने लगते है।

उत्कर्ष मान का ही एक रूप है और उत्कर्ष की यह उपलब्धि धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार से होती है। मनुष्य मे विस्तार की यह भूख कई रूपो मे प्रगट होती है। उनमे मुख्य है वैयक्तिक व पारिवारिक रूप। मनुष्य वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन-धान्य आदि का विस्तार करता है और पारिवारिक उत्कर्ष के लिए वश-वृद्धि करता है। इसी प्रकार वनस्पति मे भी विस्तारवृत्ति के वैयक्तिक और पारिवारिक ये दोनो रूप देखे जाते है। वृक्ष का अपने शरीर व शरीर सबधी विस्तार वैयक्तिक उत्कर्ष का रूप है व अपनी जाति या वश का विस्तार पारिवारिक उत्कर्ष का रूप है।

वनस्पति अपना वैयक्तिक उत्कर्ष भोजन-सग्रह के रूप मे सपत्ति जुटाकर करती है। मूली, गाजर आदि कई पौधे जब अपनी जड मे पर्याप्त भोजन सग्रह कर लेते हैं तो फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। घुइया आदि पौधे अपने तने मे भोजन-सग्रह होने पर गर्वोन्मत्त हो जाते है। बदगोभी आदि पौधे अपने पत्तो मे भोजन का भडार भरकर अहकार का पोषण करते हैं। नागफनी आदि पौधे फूलो मे भोजनसामग्री जमा कर फूले नही समाते हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पतिया अपनी जडे, तने, पत्ते, फल आदि अगो मे खाद्य सपत्ति का सचय होने पर उन्मत हो झूमने लगती है।

वनस्पति अपने वश के विस्तार या उत्कर्ष के लिए भी पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। जिस प्रकार जीव-जन्तु प्रजनन द्वारा अपनी जाति या वश का विस्तार करते हैं, इसी प्रकार वनस्पतिया अपने वश का शीघ्रता से विस्तार कर अपना उत्कर्ष देखना चाहती है। उदाहरणार्थ 'आधाशीशी का डोडा' वनस्पति को ही लीजिये। एक समय था जब इसका डोडा बडी कठिनाई से मिलता था। और बडा महगा बिकता था। परन्तु कुछ समय पूर्व इसने अपने वश का विस्तार करना प्रारभ किया और अल्प काल मे ही अपने जगल के जगल खडे कर लिए। इसका यह विस्तार विस्मयकारी था। जहा कही भी इसे यत्किंचित् भी खाली जमीन मिली, इसने अपनी जडें जमायी और फैलकर उस पर अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित किया जिसमें मानव भी प्रवेश करते हुए हिचकता था।

राजस्थान के अनेक भूभागो का तो यह हाल था कि उनमे स्थित पर्वत, खेत, पडत भूमि आदि पर जहाँ कही भी दृष्टि पडती थी यह वनस्पति अपने विस्तार के गर्व से उन्मत्त हो झूमती दिखाई देती थी।

---

१ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ५२

जीव-जन्तु के समान वनस्पतिया भी अपने वश-वृद्धि के लिए विविध व विलक्षण उपाय काम मे लेती है। अनेक वनस्पतियो के बीजो के पख होते है जिनमे वे उडकर दूर-दूर पडकर वश का विस्तार करते हैं। ब्राजील के वृक्ष 'हुराक्रेपिटान्स' की तो अपने वश-विस्तार की विधि वडी विचित्र है। इसके टेनिस वाल जितने वडे फल का शुष्क काष्ट सरीखा आवरण अचानक फूटता है। फूटने की ध्वनि आधा मील दूर तक सुनाई देती है और फलो मे मे पके बीज उछलकर दूर दूर तक पहुचते है।

विस्तार के भूखे वृक्षो मे मे 'वट' भी एक है। यह अपनी डालियो मे शाखाए फेकता है जो भूमि पर अपने पैर जमाकर तने व जड का रूप ले लेती है। इस प्रकार वरगद अपना विस्तार करता हुआ आगे से आगे बढता जाता है। कलकत्ते के वोटेनिकल वाग मे खडे वरगद के ५०० तने है। वरगद का यह राई मे भी छोटा बीज आज ३००० फुट की परिधि मे विस्तार कर अपने उत्कर्ष का प्रदर्शन कर रहा है।

"मैनग्रोज" वनस्पति भी विस्तारवादी प्रकृति की है। "पृथ्वी के तेवीस अक्षाश मे लेकर अट्ठाईस अक्षाश तक भूमध्यरेखा के उत्तर-दक्षिण दोनो ओर समुद्र के किनारे पर 'मैनग्रोज' वृक्षो के जगल के जगल फैले हुए है और वरावर समुद्र की ओर वढते चलते हैं। ये फ्लोरिडा के समुद्रतट पर हजारो वर्ग मील मे फैले हुए है। प्रशान्त महासागर के किनारे-किनारे इनका बहुत विस्तार है। इनकी जडें ऊपरी तने और शाखाओ से रस्सी की तरह लटकती हैं और ज्वार द्वारा छोडी गई कीचड मिट्टी मे घुसती जाती हैं। ये जडे लवी होती है और इन पर खडा पेड वैसा ही लगता है जैसे कोई व्यक्ति दो लवे-लवे वासो मे पावदान लगाकर लवे-लवे डग भरता हो।"[1]

माया —आगम मे माया के नामो का वर्णन करते हुए कहा है—

"माया, उवही, नियडी, वलए, गहणे, णूमे, कल्के, दभे, कूडे, झिमे,किव्विमे, आयरणया, गूहणया, वचणया, पलिकुचणया, सातिजोगे।"—**समवायाग ५२**

माया, उपधि, निकृति, वलय, गहन, नूम, कल्क, दभ, कूट, जिह्म, किल्विपिक, आयरणया, गूहनता, वचनता परिकुचनता और सातियोग ये माया के नाम है। हिन्दी भाषा मे माया के लिए कपट, कुटिलता, कृत्रिमता, धोखा, धूर्तता, छल, वचना, जिह्म, निकृति आदि शब्दो का प्रयोग होता है।

वनस्पतिविज्ञान के नवीन अनुसधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी माया प्रकृति पायी जाती है। जिस प्रकार मायावी पुरुष पहले तो मिष्ट वचन व शिष्ट व्यवहार मे दूसरे पुरुष को अपने प्रेम-पाश मे फास लेता है और फिर धोखा देकर उसका सर्वस्व छीन लेता है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी दूसरो को अपने मायाजाल मे फासने मे निपुण होती है। ऐसी ही वनस्पतियो मे मे कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे है।

मलाया मे 'फिगस रुत्री जिनोमा' नामक विशाल वृक्ष पाया जाता है। यह अजीर-जाति का वृक्ष होता है। यह वडा मायावी होता है। पहले यह अपने पडौसी पेड-पौधो को वडे प्रेम से गले लगाता है। फिर उनका रस चूसकर लकडियो को फेंक देता है। यहाँ के निवासी इन वृक्षो को देव रूप मानते हैं।

मायावी मनुष्य वडे कुटिल होते है। वे वाहरी व्यवहार मे तो वडे सीधे-सादे भोले-भाले लगते हैं परन्तु जो इनके चगुल मे फँस जाता है उसे तुरन्त दु ख भोगना पडता है, इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी हैं। उनमे मे एक 'जीनस लापोर्टिया' भी है। यह न्यूसाउथवेल्स तथा क्वीस लैण्ट के घने वनो मे पायी जाती है। इसके दैत्याकार वृक्ष की ऊचाई ८०-९० फुट होती है। इसके पत्ते हृदय के आकार के तथा एक फुट से भी अधिक लम्बे होते है। इन पत्तो मे भूरे रग के रोएँदार जहरीले काटे होते है। देखने मे ये वृक्ष वडे सीधे-सादे लगते है। परन्तु भूल मे कोई पशु-पक्षी या मनुष्य इन पत्रो मे छू भी जाय तो उसे कुछ दिन तक मर्मातक वेदना सहन करनी पडती है। इसीलिए इनको वहाँ के निवासी 'टच मी नाट' मुझे मत छूओ, इस नाम मे पुकारते है।



---

[1] नवनीत, अक्टूबर १९६२

कपट व्यवहार मे 'वीनस फ्लाई ट्रॅप' (Venus fly trop) पौधा भी कम निपुण नही है। यह कपट कपाटो के सहारे करता है। यह विशेषतया अमेरिका मे होता है तथा नमी व दलदल वाले स्थानो पर उगता है। इसका पत्रदल बीच लम्बाई से दो भागो मे विभाजित रहता है। ये दोनो भाग कपाट की भाति अन्दर की ओर मुड-कर ब द हो सकते है। पत्रदल के प्रत्येक अर्ध भाग की ऊपरी सतह पर तीन लम्बे बाल होते हैं जो बहुत ही सचेतन होते है। किसी बाल को जरा सा छूने पर ही पत्रदल के दोनो अर्ध भाग शीघ्रता से अन्दर की ओर कपाट की भाति बद हो जाते है। पत्ती की ऊपरी सतह से लाल रग की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। जब कोई कीडा पत्ती की बाल से छू जाता है तो पत्ती बन्द हो जाती है और कीडा उसमे कैद हो जाता है। फिर पत्ती की सतह पर स्थित ग्रन्थियो से एक प्रकार का पाचक रस निकलता है जो कीडे के मास को पचाकर विलयन के रूप मे बदल देता है। यह विलयन फिर पत्तो के रोओ द्वारा चूस लिया जाता है।

धूर्तता भी माया का ही एक रूप है। मनुष्यो के समान कुछ पौधे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे धूर्तता से काम लेते हैं। 'पश्चिमी द्वीप समूह और अर्जेन्टाइना मे विशेष जाति के वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हे वहाँ के निवासी 'क्लोरो फार्म ट्री' कहते है। ये वृक्ष बडे धूर्त होते है। पहले तो वे सुरीली लोरियो जैसे ध्वनि निकालते हैं जिससे शिकार मस्त होकर सो जाता है। फिर ये वृक्ष उस सोये हुए व्यक्ति का खून पिशाच की भाति चूस लेते है।[1]

जिस प्रकार कुछ मनुष्य पहले तो भोले-भाले व भले बनकर किसी के यहाँ जम जाते है, फिर धीरे-धीरे आश्रयदाता के व्यवसाय को छीनकर स्वय उससे कमाने लगते हैं। उनके इस कपटपूर्वक कार्य के परिणाम स्वरूप बेचारा आश्रयदाता तो कगाल हो जाता है और वे स्वय फलने-फूलने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधे भी कपटपूर्ण व्यवहार करने मे बडे निष्णात होते है। उनमे से 'अमरबेल' भी एक है। यह भारत मे प्राय सर्वत्र पायी जाती है। यह दीखने मे बडी सुन्दर, स्पर्श मे बडी मुलायम होती है। इस प्रकार यह अपने रग-रूप से बडी ही भली व भोली-भाली लगती है। यह स्नेह ता इतना दीखाती है कि जिस वृक्ष का सग करती है उससे लिपट ही जाती है। परन्तु फिर यह धीरे-धीरे 'मुह मे राम बगल मे छुरी' कहावत चरितार्थ करती है। यह अपनी शाखाओ का जाल-जिसे मायाजाल ही कहना चाहिये—चारो ओर फैलाती है और उनके द्वारा अपने आश्रयदाता वृक्ष का सर्वस्व हडपकर उसे कगाल व ककाल बनाकर ही छोडती है।

मलेसिया के क्वीस लैण्ड प्रात मे अमरवेल जैसी ही एक अन्य वेल होती है। यह बडी प्राण-घातक होती है। यह बेल जिस वृक्ष पर चढती है, छ मास के भीतर उस पर अपना जाल बिछा देती है जिससे वह वृक्ष सूख जाता है। जब उस वृक्ष पर चूसने व लूटने को कुछ भी शेष नही रहता है तो अपना माया-जाल दूसरे वृक्ष पर फैलाने के लिए इधर-उधर अपने चरण बढाती है।

अपनी माया मे फँसाकर जीव-जन्तुओ का शिकार व आहार करने मे नपेन्थाज या घटपर्णी वनस्पति भी कम नही है। यह आस्ट्रेलिया, बोरनियो, लका व भारत के आसाम के वनो मे मिलती है। अमेरिका मे भी इसकी कई जातियाँ पायी जाती हैं। यह कीचड व दलदली भूमि मे होती है। इसका पौधा छोटा होता है तथा तना जमीन पर रेगता हुआ आगे बढता है। इस तने मे से शाखाएँ निकलती हैं जो ऊपर की ओर उठी रहती है। इन शाखाओ पर मोटी, चीकनी व लम्बी पत्तियाँ होती है। पत्तियो की लम्बाई तीन फुट से भी अधिक तक होती है। प्रत्येक पत्ती का सिरा पतला होकर धागे के रूप मे हो जाता है। यह धागा किसी दूसरे पेड या किसी अन्य वस्तु के चारो ओर लिपट जाता है। इस धागे से लटका हुआ एक खोखले घडे-सा फूल होता है। घडे का मुह सदा ऊपर की ओर रहता है तथा उसके मुह पर एक ढक्कन होता है। मुह के पास मे एक मीठा रस निकलकर उसके चारो ओर लगा रहता है। पौधा अपने इसी रस से या कभी कभी अपनी गध से कीडे-मकोडो को आकृष्ट करता है। बेचारा कीडा स्वाद व गध के वशीभूत हो फूल के मुहद्वार तक पहुँच जाता है। घडे की मुँह की सतह अन्दर की ओर बहुत चीकनी व फिसलनदार

१ नवनीत जुलाई ६६, पृ० ५३

होती है। इस कारण कीडा जैसे ही घडे के मुँह पर बैठता है फिसलकर घडे के भीतर-जिसे मौत का कुआ ही कहना चाहिये-गिर जाता है और अपने को एक पेटी मे, जिसका कुछ भाग पाचक तरल पदार्थ से भरा रहता है, बन्द पाता है। कीडा ऊपर की ओर आने का यत्न करता है तो नीचे की ओर झुके हुए नुकीले बाल उसके इस यत्न को निष्फल कर देते हैं। कीडा मृत्यु-कूप के तरल पदार्थ मे गोते खाने लगता है और प्राण दे देता है। फिर यह तरल पदार्थ उसे पचाकर पौधे का भोजन बना देता है।

सनड्यू या ड्रासरा(Sundew or Drasara) वनस्पति भी धोखेबाज वनस्पतियो मे से एक है। ऐसे तो इसका पौधा प्राय ससार के प्रत्येक महाद्वीप मे पाया जाता है परन्तु भारत के चटगाँव व पूर्वी बगाल के जगलो मे विशेष पाया जाता है। इसके फूल नही, पत्तियाँ चित्ताकर्षक होती हैं। यह पौधा कुछ इच ही ऊँचा होता है और इस पर पत्तियो के गुच्छे निकले रहते हैं जिन्हे टैंटेकिल (Tantacles) कहते हैं। प्रत्येक टैंटेकिल मे एक छोटा डठल होता है जिसके सिरे पर एक फूली हुई घुडी रहती है। घुडी मे से लाल गुलाबी रग का गाढा-सा रस निकलकर घुडी के चारो ओर की पत्तियो पर फैल जाता है। जो धूप मे दूर से ही ओस कणो के समान बहुत तेज चमकता है। कुछ कीडे तो मात्र इस चमक से ही और कुछ इसकी गध से आकृष्ट होकर इसके पास आते है और घुडी पर बैठते हैं। ये कीडे घुडी पर बैठते ही रस मे चिपक जाते हैं। जैसे जैसे कीडा अपने को छुडाने का प्रयत्न करता है वह और भी अधिक चिपकता जाता है। साथ ही पत्ती के बीच का भाग दबकर प्याले की तरह हो जाता है। टैंटेकिल मुडकर कीडे को इसी प्याले मे डाल देता है। अन्य टैटेकिल भी साथ ही मुडकर अपनी अपनी घुडियो द्वारा कीडे को प्याले मे दबोचते हैं। इस प्रकार कीडा इस प्याले में कैद हो जाता है। फिर टैंटेकिल की घुँडियो से एक प्रकार का रस निकलता है जो कीडे के पाच्य भाग को घुला देता है। इसी विलयन को फिर टैटेंकिल चूसकर पौधे का आहार बना देते हैं। टैंटेकिल वापिस सीधे खडे हो जाते हैं। और कीड़े का जो भाग पचने से बच जाता है, वह पत्ती से झडकर नीचे गिर जाता है।

आशय यह है कि वनस्पतियाँ भी माया-जाल रचने मे मनुष्य की भाति विविध उपाय काम मे लेती हैं।

लोभ —राग, आकर्षण या आसक्ति को लोभ कहा गया है। आगम में लोभ के रूप इस प्रकार कहे हैं—

'लोभे, इच्छा, मुच्छा, कखा, गेही, तिण्हा, भिज्जा, अभिज्जा, कामासा, भोगासा, जीवियासा, मरणासा, नदी, रागे ॥

समवायाग—५२

अर्थात् लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, काक्षा, गृद्धता, तृष्णा, भिद्या, अभिद्या, कामाशा भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नदी और राग, ये लोभ के रूप हैं। आगम मे लोभ के ये रूप अन्य प्राणियो के समान वनस्पति मे भी माने हैं। इस विषय मे डॉ० श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो व प्रयोगो की सहायता से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति मे इच्छा, तृष्णा, कामना, ममता आदि रागात्मक वृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ है कि यूकलिप्टिस का पौधा अपनी भोगेच्छा की पूर्ति हेतु अपनी जडें उसी ओर आगे बढाता है जिस ओर उसका भोज्य पदार्थ जल होता है। फिर यह जल चाहे सैकडो फुट दूर ही क्यो न हो व मार्ग मे कितनी ही बाधाए क्यो न आवें।

इच्छा भी लोभ का ही एक रूप है। जिस प्रकार मनुष्य इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होती हैं। विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता 'डार्विन' का कथन है कि इतना तो निस्सदेह मानना ही पडेगा कि जडें कही ऊपर की ओर चलती हैं तो कही नीचे की ओर, कहीं झुकती हैं तो कही हटती हैं। खतरे की आशका होने पर मुडकर आगे बढती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पौधा अपने भोजन की इच्छा-पूर्ति के लिए सोच-विचार पूर्वक अपनी जडो को धरती के भीतर आगे बढाने का प्रयत्न करता है।[1]

तृष्णा भी लोभ का ही एक अग है। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति तृष्णा के वश हो वस्तुओ का सग्रह करता



१, नवनीत, जुलाई ५७ पृ० ५२



है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी तृष्णा के वश हो भोजन-सग्रह करती हैं। इस विषय मे वनस्पतिविज्ञान-विशेषज्ञो का कथन है कि पौधो की वे आखें हैं जिनमे बसत ऋतु मे नई पत्तियाँ फूटती है। वनस्पतिविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति समझते है कि ये पत्तियाँ शुरू से बसत ऋतु मे ही बनती होगी परन्तु सच तो यह है कि पुरानी पत्तियो के गिरने से पहले ही उनका स्थान ग्रहण करने वाली पत्तियाँ बन जाती है। गर्मी भर मेहनत कर पौधे पत्ती पैदा करने वाली कली मे सब सामग्री जमा करके रखते हैं जिससे उचित ऋतु आने पर नयी पत्तियाँ बन सकें।[1]

जैसे कुछ मनुष्यो मे अपने अथवा अपनी सतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए धन-सग्रह करने रूप लोभ-भावना होती है, इसी प्रकार कुछ वनस्पतियो मे अपने या अपनी सतान के भविष्य की सुरक्षा के लिए खाद्य-पदार्थ सग्रह करने की लोभ-भावना होती है। पहले परिग्रह-प्रकरण मे बताया जा चुका है कि पौधे जडो, तनो, कलियो, फूलो, बीजो, आदि मे खाद्य-सामग्री सग्रह करते हैं। वनस्पति की यह सग्रहवृत्ति उसके लोभ या तृष्णा भाव की ही परिचायक है। प्राणी के लोभ या सग्रहवृत्ति का एक रूप बचत करना भी है। पौधे भी बचत करना खूब जानते है। जगली गाजर, सलजम और चुकन्दर की जडें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और कुछेक पौधो मे तो यह जड प्रति साल मोटी होती जाती है क्योकि अपनी आमदनी मे से कुछ न कुछ बचाकर ये पौधे अपनी जड मे जमा कर लेते हैं।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए जमीन मे गाड देते हैं, इसी प्रकार पौधे भी जो कुछ वे बचाते है वह जमीन के नीचे कद के रूप मे जमा कर देते हैं। आलू-शकरकन्द आदि ऐसे ही चतुर पौधे है। सब से बडे मजे की बात यह है कि ससार भर मे अच्छी नस्ल के सभी पौधे इसी प्रकार अपनी भोज्य सामग्री चतुराई से जमीन के अन्दर सुरक्षित रखते हैं अगली फसल या नवीन पौधे के लिए।

जिस प्रकार मनुष्य की लोभ या सचय वृत्ति का एक कारण यह भी है कि भविष्य मे विवाह, बीमारी, मौसर आदि अवसरो पर जरूरत पडने के समय खुलकर खच कर सकें, कुछ पौधो मे भी यही बात लागू होती है। घी-कुवार जाति के पौधे फूलने से पहले वर्षो तक बढते रहते है और अपनी जडो मे भविष्य के लिए आवश्यक सामग्री का सचय करते हैं। इस कार्य मे इन पौधो को अत्यन्त सावधानी व धैर्य का परिचय देना पडता है। बाद मे फल पैदा करने के लिए जब एकाएक शक्ति की आवश्यकता पडती है तो वे अपनी सचित शक्ति का आसानी से उपयोग कर लेते है। शक्तिसचय मे काफी समय लगता है और इसी से ये पौधे शीघ्र नही फूलते। बडी प्रसिद्ध कहावत है कि घीकुवार वर्षो मे एक बार फूलता है।[2]

जैसे कुछ मनुष्य लोभ के वशीभूत हो, जिस हाडी मे खाते है उसी मे छेद करने वाले होते हैं अर्थात् जिनसे पलते हैं उन्ही का व्यवसाय व सपत्ति छीनने वाले होते है। परिणाम-स्वरूप पालक याचक बन जाता है और याचक पालक। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतिया भी ऐसी होती है जो अपने आश्रयदाता पालक को हटाकर स्वय ही वहा जम जाती हैं। पीपल, बरगद आदि मे यह प्रकृति विशेष देखी जाती है। कलकत्ता के 'बोटानिकल गार्डेन' में एक बरगद का पौधा ताड के वृक्ष पर याचक के रूप मे उगा। धीरे धीरे उसने ताड को बर्बाद कर उसके स्थान पर अपना आसन जमा लिया। आज उस स्थान पर ताड का पेड नही, बरगद का पेड है।

आलू, बैंगन, आदि पौधो मे, लगनेवाला गठवा रोग भी और कुछ नही, एक वनस्पति द्वारा डाला गया डाका है। यह वनस्पति अपनी जडें जमीन के अन्दर दूसरे पौधे के पास पहुँचाती है और उसकी पोषण-सामग्री का शोषण कर स्वय पुष्ट बनती है।

तात्पर्य यह है कि वनस्पति मे भोगेच्छा, काक्षा, सग्रहवृत्ति, शोपण आदि लोभ के रूप विद्यमान है।

---

१ नवनीत, जुलाई ६७, पृ० ५२

१ नवनीत जुलाई ५७

उपयोग

'उपयोग' शब्द जैनागम मे अपने विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिसके अन्तराल मे ज्ञान और दर्शन समाहित है। उपयोग का वर्णन पन्नवणा सूत्र मे इस प्रकार है—

कतिविहे ण भते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तजहा-सागारोवओगे य, अणागारोवओगे य ।।
—पन्नवणासूत्र, पद २९ सू० १

गौतम गणधर श्री महावीर प्रभु से पूछते हैं—भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार के हैं ? भगवान् फरमाते हैं-गौतम ! उपयोग दो प्रकार के हैं—साकार उपयोग (ज्ञान) और अनाकार उपयोग (दर्शन)।

पुढविकाइयाण भते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तजहा-मतिअण्णाण-सागारोवओगे, सुयअण्णाण-सागारोवओगे एव जाव वणप्फइकाइयाण ।—पन्नवणा, पद २९ सूत्र ३

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकाय मे साकार उपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यंत मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान यह दो प्रकार का साकारोपयोग है। अज्ञान से प्रकृत मे अभिप्राय ज्ञान रहित अवस्था न होकर असम्यक् या असमीचीन ज्ञान से है। जैनदर्शन ने सम्यग्दृष्टि प्राणियो को छोडकर शेष सभी मे अज्ञानरूप असम्यक्ज्ञान ही माना है।

मति-श्रुत ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते है। जैनदर्शन वनस्पति मे ज्ञान के केवल दो भेद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मानता है। पदार्थ के अभिमुख होने पर अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति मे इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला सामान्य-विशेष अवबोध मति और श्रुत ज्ञान कहा जाता है। इन दोनो मे घनिष्ठ सबध है, यथा—

जत्थ आभिणिबोहियनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थाभिणिबोहियनाण, दो वि एयाइ अण्णमण्णमणुगयाइ।
—नदी सूत्र २४-

अर्थात् जहा मतिज्ञान है वहा श्रुतज्ञान है। जहा श्रुतज्ञान है वहा मतिज्ञान है। दोनो एक दूसरे के अनुगत है तथा साथ-साथ रहते हैं। अत प्रकृत मे इन दोनो ज्ञानो का समुच्चय ही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ता वनस्पति मे सुख दुख का वेदन करने, अपना हिताहित सोचने, स्मृति से लाभ उठाने, सूझ-बूझ से काम लेने की शक्तियाँ मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार इन शक्तियो का अन्तर्भाव मतिश्रुत ज्ञान मे ही होता है। इस विषय मे वनस्पति-वैज्ञानिको के निम्नाकित उद्धरण व मन्तव्य है—

श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने प्रयोगो से यह सिद्ध कर दिया है कि पौधे त्वचा के सहारे अपने वे सब काम कर लेते है जो हम अपनी पाँचो ज्ञानेन्द्रियो से करते हैं। इतना ही नहीं, वे समय पर भोजन करते हैं, समय पर आराम करते हैं, समय पर सोते है और समय पर जागते हैं।

हगेरी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक राउल फ्रोचे ने बुडापेस्ट के विख्यात पत्र 'पेस्टर लाउड' मे लिखा है कि पौधो मे सोचने-समझने की शक्ति वर्तमान है। उनके कथनानुसार पौधो मे दूरदर्शिता और बुद्धिमानी आश्चर्यजनक रीति से विकसित हुई है। कोई भी व्यक्ति ध्यानपूर्वक पौधो की जीवनचर्या का निरीक्षण करता जाये, तो उनकी बुद्धिमत्ता देखकर उसे चकित रह जाना पडे।[1]

"बगीचो, कोठियो की दीवारो तथा जालियो से लिपटी हुई सेम, तोरई, मटर आदि की बेलें आप अक्सर देखते ही होंगे। इसे सिर्फ कहावत ही न समझें बल्कि सचाई है कि ये बेलें आपकी उगली पकडते कलाई भी पकड लेंगी। कुछ बेलें तो चन्द मिनटो मे ही आपको नर्म-नर्म हथकडियाँ पहिनाना शुरू कर देंगी। मार्के की बात है कि इनके लिपटने की वृत्ताकार गति सदैव ही घडी की तरह बायी से दायी दिशा को रहती है।



१ नवनीत जुलाई १९५७



सनड्यू का फूल इतना नाजुकमिजाज है कि स्पर्श की तो बात ही क्या, वर्षा की एक बूद, और उससे भी बढकर हवा के एक झोके मे ही असर दिखा देता है । इस हद दर्जे की नजाकत के बावजूद भी नन्हे-नन्हे जीवो के शिकार मे वह एक और कमाल दिखाता है । उसे धोखा देने की नीयत से रजकण जैसी चीज उसके ऊपर रखकर आप उसे एक दो बार ही बहका सकेंगे, लेकिन बार-बार आपकी वह काठ की हडिया नही चढ सकेगी । फूल काफी होशियार है और असल शिकार न आने तक वह अपना तमाशा आप को फिर नही दिखायेगा ।[1]

'यूकलिप्टस' की दूरदर्शिता तो प्रसिद्ध ही है । यह पेड कही भी उगे, अपनी जड को फैलाकर पानी के उद्गम-स्थान तक ले जायेगा-चाहे पानी उस स्थान से कितनी ही दूर क्यो न हो । यूकलिप्टस के एक पेड के सम्बन्ध मे आँखो-देखी घटना है । वह जहाँ पर उगा था, उससे थोडी दूर पर एक नहर थी । वह पेड़ अपनी जडो को फैलाते-फैलाते नहर की ओर ५० फुट तक तो निर्विघ्न ले गया, फिर रास्ते मे उसे एक दीवार मिली, जिसके भीतर उसकी वह जड प्रवेश नही कर सकती थी । पर हताश नही हुआ । उसने दीवार के ऊपर ही अपनी जड फैलानी शुरूकर दी । अन्त मे, उसे दीवार मे कई फुट ऊपर एक छेद मिला । तुरन्त छेद के भीतर वह प्रवेश कर गया और भीतर ही भीतर तब तक फैलता गया, जब तक कि नहर तक पहुँच नही गया ।

पौधो की बुद्धिमानी यही तक सीमित नही रहती । वे राजनीतिक और सामाजिक नियमो से भी पूर्णरूपेण अभिज्ञ है और अपने जीवन मे उन्हे अपनाते भी है । उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है ।[2]

कुछ पौधो मे अन्त प्रेरणा या सहजज्ञान की अद्भुत शक्ति होती है । इसी शक्ति से उन्हे बिना किसी बाहरी साधन-प्रकाश, तापमान व पृथ्वी के घूर्णन के भी सही समय का पता चल जाता है । उदाहरणार्थ-सेम की पत्तियाँ दिन को खुल जाती हैं और रात को बन्द हो जाती है । उसका यह कार्य घडी के काँटे की तरह बिल्कुल ठीक वक्त पर होता है । जब कोई पौधा ठीक से बढता नही या ठीक ढग से फल नही देता है तो इसका कारण 'जैविक घडी' मे ढूंढा जा सकता है ।[3] भारतीय कृषिअनुसधान परिषद् के पौधाशरीर-विज्ञान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० गिरिराज किशोर सिरोही के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के अनेक रोगो का कारण अन्त करण की विकृति होती है, उसी प्रकार वनस्पति की रुग्णावस्था का कारण भी उसके सहज ज्ञान या अन्त प्रेरक शक्ति की विकृति मे विद्यमान रहता है ।

वनस्पति मे व्यक्त होने वाला यह अन्त प्रेरणा रूप मति-श्रुत-ज्ञान किसी-किसी वनस्पति मे इतना उच्च-स्तरीय होता है कि जिसे जानकर पचइन्द्रियधारी, अपने को अत्यधिक विकसित मानने वाला मानव भी दातो तले अगुली दबाने लगता है । दिक् काल व भविष्य सूचक ऐसे ही विलक्षण ज्ञानधारी वनस्पतियो मे से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

'डार्विन का कहना है कि उद्भिजो के दिमाग नही है ।" इतनी बात तो प्रत्यक्ष है ही कि जडें कही झुकती हैं, कहीं हटती हैं, कही जरा ऊपर की ओर चल पडती हैं, तो कभी फिर नीचे की ओर जाती हैं और इसका अर्थ हुआ कि धरती के भीतर जडे काफी सोच-विचार के साथ अपने भोजन की तलाश करती है । शोधो से यह प्रमाणित हो चुका है कि जड का रेशा बहुत फूक-फूक कर कदम रखता है । जहाँ खतरे की आशका हुई वहाँ से हट जाता है, कडी जमीन पाकर मुड जाता है तथा नमी और जल पाकर चाव से आगे बढता है ।[4]

---

१ विज्ञान लोक अप्रैल १९६७, पृ० १३–१४

२ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ४

३ दिनमान ६ अगस्त १९६७, पृ० २८-२९

४ नवनीत जुलाई ५७, पृ ५२

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि जैन-आगम वनस्पति मे मति-श्रुत ज्ञान तो मानते है परन्तु उसमे मन-मस्तिष्क नही मानते हैं। यह बात सामान्य विचार मे बडी अटपटी-सी लगती है परन्तु विकासवाद के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् 'डार्विन' के उपर्युक्त इस मन्तव्य से कि उद्भिजो के दिमाग नही होता है फिर भी वे बडी सूझ-बूझ पूर्वक कदम उठाते हैं, जैनागमो की उक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन हो जाता है।

इस प्रकार जैनागमो मे प्रतिपादित इस सिद्धान्त का कि वनस्पति मे मति-श्रुत ज्ञान है—विज्ञान पूर्णरूपेण समर्थन करता है। अब वनस्पति मे अनाकार उपयोग (दर्शन) के विषय पर विचार किया जाता है—

पुढविकाइयाण भते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदसणअणागारोवओगे पण्णत्ते, एव जाव वणप्फइकाइयाण।
— पन्नवणा पद २९ सूत्र ४

भगवन् ! पृथ्वीकाय मे अनाकार उपयोग कितने है ? गौतम ! पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय पर्यंत एक ही 'अचक्षुदर्शन' होता है।

अचक्षुदर्शन—देखने की शक्ति को दर्शन कहा जाता है। अचक्षुदर्शन से अभिप्रेत है चक्षु इन्द्रिय के बिना भी स्पर्शन आदि अन्य इन्द्रियो के माध्यम से वस्तु एव उसके आकार-प्रकार को देखना। वनस्पति मे एक ही इन्द्रिय स्पर्शन होती है। अत वनस्पति को यह दर्शन केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही होता है। इस विषय मे वैज्ञानिको के मन्तव्य कौतूहलजनक हैं तथा जैनआगम से कितने मेल खाते है, यह ज्ञातव्य है, यथा—

एक जर्मन वनस्पति-विज्ञानवेत्ता ने वृक्षो की देखने की शक्ति का पता लगाया है। आँखो का मुख्य कार्य होता है बाहर के जगत् के ज्ञान को भीतर पहुँचा देना। पेडो मे यह कार्य उनकी त्वचा करती है। इनकी त्वचा के ऊपरी भाग पर जो बिन्दु सदृश छोटे-छोटे कोश होते है, उनमे से बहुतो मे एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है। इसी तरल पदार्थ की सहायता से वृक्ष बाहरी पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।[1]

आशय यह है कि वैज्ञानिक वनस्पति मे उनकी त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से देखने की शक्ति को स्वीकार करते हैं और वनस्पति मे यह शक्ति उसी प्रकार अधिक तीव्र होती है जिस प्रकार मानव की किसी इन्द्रिय की शक्ति का नाश हो जाने पर उसकी अन्य इन्द्रियो मे अधिक क्षमता आ जाती है। उदाहरणार्थ आँखो के चले जाने पर अधे व्यक्ति की श्रवण आदि इन्द्रियो की शक्ति तीव्र हो जाती है।

लेश्या

"कषायानुरजिता योगप्रवृत्ति लेश्या।"[2] अर्थात् कषाय युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। लेश्या के छ भेद हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या।

एगिदियाण ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ, तजहा-कण्हलेस्सा। जाव तेउलेस्सा। पुढविकाइयाण भते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ! गोयमा ! एव चेव, आउ-वणस्सइकाइयाणवि
—पन्नवणा पद १७ उ० २

अर्थात एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

लक्षण के रूप मे कहे तो लेश्याएँ शुभ-अशुभ वृत्तियो व प्रवृत्ति की द्योतक हैं।[3] अशुभ वृत्तिया क्रूरता के



१ नवनीत दिसम्बर १९६२
२ धवला टीका प्रथम खड प्रथम पुस्तक
३ भगवती सूत्र, खड २ पृ० ९१ के यंत्रगत (प० वेचरदासजी कृत अनुवाद)

रूप मे व शुभ वृत्तिया दयालुता के रूप मे व्यक्त होती है। कृष्ण लेश्या-अशुभतम (क्रूरतम) वृत्ति की, नील लेश्या अशुभतर (क्रूरतर) वृत्ति की, कापोत लेश्या-अशुभ (क्रूर) वृत्ति की, तेजोलेश्या शुभ वृत्ति की, पद्मलेश्या-शुभतर वृत्ति की, शुक्ल लेश्या-शुभतम वृत्ति की परिचायक है। लेश्याओ के अन्तर्हित वृत्तियो, उनकी तरतमता व पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए थर्मामीटर-तापक्रम का उदाहरण लिया जा सकता है। जिस प्रकार तापमापक मे उष्णता से पारा चढता है तथा शीतलता से पारा उतरता है तथा पारे का यह उतार-चढाव तापमान की न्यूनाधिकता के साथ घटता-बढता रहता है, इसी प्रकार प्राणी की वृत्तियो की उष्णता-अशुभत्व (क्रूरत्व) की वृद्धि मे लेश्या रूप पारा चढता जाता है तथा वृत्तियो की शीतलता-शुभता (दयालुता) की वृद्धि से लेश्या का पारा उतरता जाता है। लेश्याओ के पारे का यह उतार-चढाव वृत्तियो के शुभाशुभ अशो की वृद्धि-ह्रास के साथ सदा घटता बढता रहता है। परन्तु जिस प्रकार मानवशरीर का तापमान एक निश्चित सीमा ९४° से १०८° के बीच ही मे रहता है, इससे ऊँचा-नीचा नही जाता है तथा प्रत्येक स्थान, समय आदि की निम्नतम व उच्चतम तापमान की सीमा निश्चित होती है, उसी प्रकार लेश्याओ के उतार-चढाव की भी प्रत्येक वर्ग के पाणियो की, निम्नतम व उच्चतम निश्चित सीमा होती है। वनस्पति-काय के जीवो मे यह सीमा कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक है अर्थात् वनस्पति मे वृत्तियो का उतार-चढाव कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या के बीच चलता रहता है। परन्तु जिस प्राणी मे जिस वृत्ति की अधिकता या मुख्यता होती है उसे उसी वृत्ति या लेश्या वाला कहा जाता है। उक्त चारो लेश्याओ मे से किस लेश्या की प्रधानता किस वनस्पति मे स्पष्टत मिलती है, यह नीचे दिखाया जाता है—

कृष्णलेश्या—यह अशुभतम वृत्ति, प्रवृत्ति व प्रकृति मुख्यत मानव, पशु, पक्षी आदि पचेन्द्रिय जीवो का भक्षण करने वाली होरिजिटल स्क्रब आदि वनस्पतियो मे देखी जाती है। ये अपने क्रूरतम भावो से सदैव शिकार की ताक मे रहती हैं। जैसे ही कोई भूला-भटका अपरिचित पशु-पक्षी या मनुष्य इनके पास पहुँचता है, ये उस पर टूट पडती है। उसे अपने पजे मे ऐसा फसा लेती है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वह छूट नही पाता है। अन्त मे ये उसका रक्त चूसकर ही छोडती है। ऐसी वनस्पतिया अफ्रीका महाद्वीप, तस्मानिया, मेडागास्कर द्वीप मे विशेषत पायी जाती है।

नीललेश्या—यह अशुभतर-क्रूरतर वृत्ति मुख्यत कीट-भक्षी यूट्रीकुलेरिया, वटर-वार्ट, सनड्यू आदि वनस्पतियो मे पायी जाती है। जैसे ही कोई कीडा इनके फूलो पर बैठता है, ये उसे अपनी कलियो के कपाट लगा कारागार मे बद कर लेती हैं व अपना आहार बना लेती है।

कापोतलेश्या—यह अशुभ-क्रूर वृत्ति मुख्यत कटीले, विषैले दुर्गंधित पौधो मे पायी जाती है। ये वनस्पतियाँ आगन्तुक को कांटे चुभोकर, दुर्गंध व विष फैलाकर परेशान करती है। ऐसे वनस्पतियो मे 'टच मी नाट' काक तुरई चमचमी आदि को लिया जा सकता है।

इस लेश्याप्रकरण मे ऊपर जिन वनस्पतियो का नामोल्लेख किया गया है, इनकी प्रवृत्तियो की विलक्षणता का वर्णन इस निवन्ध के अन्य प्रकरणो मे आ चुका है।

तेजोलेश्या—यह शुभ वृत्ति मधुर जल, सरस फल, सुरभित फूल वाली वनस्पतियो मे मुख्यत पायी जाती है। मेडागास्कर मे नारियल के पत्तो के आकार का एक 'जलवृक्ष' पाया जाता है। यह यात्रियो को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा मे जल देता है। यह तीन फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तिया पखे के आकार की चौडी होती है। प्रत्येक पत्ती के डठल के अन्त मे कटोरा-सा बना होता है जिसमे जल भरा रहता है। यात्री उसमे एक छेद बनाता है जिससे जल निकलने लगता है। इस प्रकार यात्री को इस नाल डठल मे लगभग एक किलोग्राम जल मिल जाता है जिसे पीकर यात्री अपनी प्यास बुझा लेता है।

मेडागास्कर के रेतीले प्रान्त मे एक दूसरे प्रकार का झाडीदार पौधा होता है जिसकी जडो मे जल जमा रहता है। यह जल बडा ही स्वच्छ, शीतल स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक प्यासे यात्री इससे प्यास बुझा-

कर अपनी जान बचाते हैं।

"इण्डोनेसिया के सुमात्रा द्वीप मे एक ऐसा वृक्ष होता है जो जल बरसाता है। अत वहाँ के निवासी इसे जल-वर्षक वृक्ष कहते है। दोपहर के समय जब सूर्य की किरणें काफी तेजी से चमकती है, तब यह पेड हवा के द्वारा भाप ग्रहण करता है। कुछ देर बाद यह भाप एकत्र होकर जल के रूप मे बरसने लगती है। पेड के नीचे थोडी देर मे अच्छा खासा घडा भर जाता है।"[1]

"दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश के घने जगलो मे एक विशेष प्रकार का वृक्ष पाया जाता है जिसके तने मे छेद कर देने मे दूध के समान सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। पीने मे यह तरल पदार्थ गाय के दूध के समान मीठा और पौष्टिक होता है। इसलिए वहाँ के जगली लोग बडे चाव से पीते हैं। बडे तडके उठकर लोग अपने-अपने बर्तन लेकर पेड के पास पहुँच जाते हैं और तने मे छेद करके पात्र को तरल पदार्थ से भर लेते हैं।

आशय यह है कि आगम मे वनस्पति मे वर्णित लेश्याएँ प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

अन्य विशेषताए

आयु —आगमो मे वनस्पतिकाय की आयु के विषय मे कहा है—

ठिती जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण दस वाससहस्साइ—जीवाभिगम प्र० प्रतिपत्त । अर्थात् वनस्पति की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त व उत्कृष्ट दस हजार वर्ष कही है।

एरीजोना विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानविशेषज्ञ डा० एडमड शूमा ने कैलिफोर्निया के इन्यो नेशनल जगल में एक ऐसा पेड ढूँढा है जिसकी आयु का अनुमान ४६०० वर्ष के लगभग लगाया गया है।

"सयुक्त राज्य अमेरिका के इसी कैलिफोर्निया प्रदेश मे बडे-बडे 'डगलस फर' नामक वृक्ष पाये जाते है, जिनकी ऊँचाई ३०० से ४०० फुट तक होती है। किसी किसी डगलस फर के तने का व्यास ५० फुट से अधिक है। इनमे कुछ वृक्ष ४-५ हजार वर्ष की आयु के हैं। इनकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि किसी एक वृक्ष के तने को खोखला कर दिया जाय तो उसमे २०० से भी अधिक बालक बैठकर आसानी से पढ सकते हैं। वहाँ सडक बनाते समय मार्ग मे बाधा डालने वाले डगलस फर के वृक्षो को गिराया नही जाता है, केवल उनके तनो को खोखला कर सडक आर-पार निकाल दी जाती है। इजीनियरो का कथन है कि एक डगलस वृक्ष की लकडी मे यदि दियासलाई की तीलियाँ बनाई जाय तो वे ससार के कुल दो अरब मे भी अधिक मनुष्यो के उपयोग के लिए एक वर्ष तक पर्याप्त होगी।"[2]

निद्रा

कर्मग्रथ मे तेरह जीवस्थानो मे दर्शनावरणीय कर्म की चार-पाँच प्रकृतियो का उदय माना है।[3] इन तेरह जीव स्थानो मे एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि भी हैं व पाँच प्रकृतियो मे निद्रा भी एक है। अत वनस्पति मे निद्रा लेना माना गया है। और कहा भी है—

'छउमत्थेण भते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ? हता निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा।
—भगवती श० ५ उ० ४ सूत्र ७

गौतम गणधर पूछते है—भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा या ऊघ लेते है ? भगवान् फरमाते है कि केवली को छोडकर शेष सब जीव निद्रा लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पति निद्रा लेती है। इस विषय मे वैज्ञानिक हिरण्य-



---

१ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६२

२ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६२

३ षष्ठ कर्मग्रथ, गाथा ३५

मय वोम का कथन है—"जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात मे सोकर थकावट दूर करते है वैसे ही पेड-पौधे भी रात को सोते हैं।"

"मद्रास मे खजूर का एक ऐसा वृक्ष है जो मध्य रात मे ऊँघकर गिरने लगता है और दोपहर तक सोता है। मध्याह्न के बाद फिर खडा होने लगता है और आधी रात तक पूर्णरूपेण खडा हो जाता है।"

सस्थान —जैनागमो मे वनस्पतिकाय को अनेक प्रकार के सस्थान (आकार) वाली कहा है, यथा-

'अणित्थत्थसठिया'—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १७

इन अनेकविध सस्थानो मे एक वामन भी है। मनुष्य के समान वनस्पतियो मे भी कुछ पौधे बौने होते है। जापान के एक उद्यान मे एक विशेष प्रकार के बेर का पेड लगा है जो पाँच सौ वर्ष पुराना होने पर भी केवल ३ फुट ऊँचा है। यह वृक्ष एक बडे गमले मे उगाया गया है।[1] अमेरिका के न्यूयार्क नगर मे दूसरे प्रेसिडेन्ट मि० जान एडम की स्त्री ने १४६ वर्ष पूर्व अपने ही ग्राम मे गुलाब का पौधा लगाया था जो अब तक फूल देता है।

उद्योत नामकर्म —जैनागमो मे वनस्पति मे उद्योतनाम कर्म का उदय माना है। अर्थात् वनस्पति को प्रकाशमान भी माना है। ऐसे वृक्ष आज भी यत्र-तत्र मिलते हैं जो प्रकाशयुत होते है। अमेरिका के तिवाडी प्रान्त की वस्ती मे सात फीट ऊँचा वृक्ष है, जिसे 'राकी' कहते है। यह एक मील तक रोशनी देता है जिसमे बारीक से बारीक अक्षर पढे जा सकते है।

सागरीय वनस्पतियाँ —आगमो मे जल मे जन्म लेने वाली वनस्पतियो का विस्तार से वर्णन है। वनस्पति-विशेषज्ञो ने शोध करके पता चलाया है कि "धरती पर जितने घने जगल है समुद्र मे उससे कम घने जगल नही हैं। यह बात अजीब सी लगती है, लेकिन सत्य है। समुद्र मे पर्वत है, घाटियाँ हैं और सकरी नहरें हैं। वहाँ पौधो के अनेक समूह हैं, पर ये आज भी अपनी पुरानी ही अवस्था मे है। इनकी जडें नही हैं। और इनमे पुनरुत्पादन बीज द्वारा नही होता, लेकिन अपवाद रूप मे कुछ पौधे ऐसे भी हैं --ईलग्रास (Eelgrass) ऐसा ही उदाहरण है।"[2]

वनस्पति की निर्जीवता —जैनग्रथो मे वनस्पति जिन कारणो से निर्जीव होती है वे इस प्रकार हैं—

सुक्क पक्क तत्त अबिल लवणेण मिस्सअ दव्व।
ज जतेण य छिण्ण त सव्व फासुअ भणिअ॥

अर्थात् वनस्पति सुखाने, पकाने, तपाने, खटाई तथा लवण मिलाने, यत्र द्वारा छेदने से प्रासुक (जीवरहित) हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी वनस्पति को निर्जीव करने के लिए उबालना आदि उपर्युक्त क्रियाओ या उपायों का ही उपयोग करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त गाथा मे विहित तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

उपसहार

वर्तमान युग मे विज्ञान का बोलबाला है और प्रत्येक सिद्धान्त की प्रामाणिकता विज्ञान के प्रकाश मे निरखी-परखी जाती है। दर्शन भी इसका अपवाद नही है। आज वही दार्शनिक सिद्धान्त जगत् मे प्रतिष्ठा पाता है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, साथ ही विज्ञानसम्मत भी हो। इस बात को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत निबन्ध में वनस्पति-विषयक विश्लेषण किया गया है।

यह विश्लेषण आगम और विज्ञान इन दोनो पर विविध विवक्षाओं से तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक दृष्टियो को लिए हुए हैं। तुलनात्मक दृष्टियो से आगम और विज्ञान मे समता तथा विवेचनात्मक दृष्टि से आगम की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है।

---

१ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६२
२ विज्ञानलोक जुलाई ६६

आगमो मे निरूपित निगूढ सूत्रो की सत्यता शब्दश विज्ञान से प्रमाणित होने से सहज ही हृदय मे यह भाव स्फुरित व स्फुटित होता है कि इन सूत्रो के प्रणेता निश्चय ही अतीन्द्रिय ज्ञानी थे, अन्यथा भौतिक प्रयोगशालाओ व यान्त्रिक साधनो से शून्य उस युग मे वे इनका प्रणयन न कर पाते। वनस्पतिविज्ञान के समान ही जैनागमो मे निरूपित परमाणुवाद, कर्म-सिद्धान्त आदि भी विज्ञानसम्मत तो है ही, साथ ही अत्यन्त कल्याणकारी भी है। शास्त्र-प्रणेताओ के इस ज्ञान-दान की महान् देन के आभार से मस्तक उनके चरणो मे स्वत झुक जाता है।

ऊपर वनस्पति-विषयक जिन सूत्रो को विज्ञानसम्मत सिद्ध किया गया है उनमे से एक भी विश्व के अन्य किसी दर्शन ग्रथ मे नही मिलता है तथा वे विज्ञान के जन्म के पूर्व असभव समझे जाते थे। इन सूत्रो की रचना जैन आगमकारो ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारो वर्ष पूर्व की थी। अत यह कहा जाय तो अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी कि वनस्पतिविज्ञान के सूत्रो के मूलप्रणेता जैनागमकार ही थे।

निबन्ध की सीमा मे निबद्ध होने से मैंने प्रस्तुत निबन्ध मे प्रयुक्त सूत्रो का विश्लेपण व विवेचन अति सक्षिप्त व साकेतिक रूप मे किया है परन्तु इनका विस्तृत विवेचन व विश्लेपण भी अत्यन्त अपेक्षित है।





जैन खगोलवि-ज्ञान

पं० मिलापचंद कटारिया

विद्याभूषण,



आसमान मे चमकने वाले सूर्य चद्रमा तारे कौन है ? और इनका स्वरूप जैनधर्म मे कैसा बताया है ? ये हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे है ? इनका आकार कैसा है? लवाई चौडाई इनकी कितनी है ? इनकी कितनी सख्या है ? ये चलते है ? या स्थिर ? और इनके द्वारा किस तरह से रात्रि-दिन वनते है ? इत्यादि वर्णन जैसा भी जैनशास्त्रो मे पाया जाता है उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनो को किंतु कितने ही जैनविद्वानो को भी नही है और न उनको इतना अवकाश है जो वे इस विपय के सस्कृत-प्राकृत के बडे-२ जैन ग्रथो का अध्ययन-मननकर इस विपय को अच्छी तरह हृदयगम कर सके । इसलिये इच्छा हुई कि इस दिशा मे कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है ।

जैनशास्त्रो मे सूर्य चद्रादिको के विमान लिखे है । ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओ से वने है । इनसे भिन्न २ रगो की प्रभा निकलती है । सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चद्रमा से सफेद रग की, राहु-केतु से काले रग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, वृहस्पति से मोती की सीप जैसी, वुध से अर्जुनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मगल से लाल रग की प्रभा निकलती है । किन्ही की प्रभा गहरी है और किन्ही की हलकी । सूर्य चद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये इनकी ५ किस्मे है और ये ज्योतिष्क कहलाते है ।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेंद जैसी हो उसके दो खड करने पर उनमे से एक खड को ऊपर इस प्रकार स्थापन करें कि गाल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्को का समझना चाहिये । ये सव ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौडाई है उतनी ही इनकी लवाई है । चद्रमा की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ५६ भाग प्रमाण है । सूर्य की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण है । शुक्र की १ कोश, वृहस्पति की कुछ कम १ कोश । वुध-मगल-शनि की आधा-२ कोश की चौडाई है । तारो की चौडाई किन्ही की पावकोश, किन्ही की आधकोश, किन्ही की पौन तथा एक कोश की है । किंतु कही यह भी लिखा मिलता है कि—कोई भी तारा आध काश से अधिक विस्तार का नही होता है । और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है ।

मोटाई का हिसाव प्राय ऐसा है कि—जिसकी जितनी चौडाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है । किन्तु राजवार्तिक—श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रो ने शुक्र-वृहस्पति-वुध-शनि-मगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुप की ही लिखी है । प्रसगोपात्त यहा हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते है—

यवधान्य के मध्य की जितनी चौडाई हो उतने माप का एक उत्सेधागुल होता है । ऐसे २४ अगुलो का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष्य, दो हजार धनुपो का १ कोश और ४ कोशो का १ योजन होता है । यह उत्सेध योजन

ऊपर सूर्यादि का माप प्रमाण योजन से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा वह माप पाचसौ गुण अधिक होगा। श्लोकवार्तिक मे लिखा है कि —

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया,सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।"

—मूल मुद्रित पृ० ३७८

अर्थ – सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण बताया वह प्रमाण-योजन की अपेक्षा से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा तो उसका विस्तार कुछ अधिक ३९३ योजनो (१५७२ कोश) का होता है।

श्वेताबरमत मे प्रमाणयोजन को उत्सेध योजन से चारसौ गुणा माना है न कि पाच सौ गुणा। अत उसके अनुसार लोकप्रकाश नामक श्वेतावर ग्रथ मे सूर्य का विस्तार इस प्रकार बताया है—

शतानि द्वादशैकोनषष्टि क्रोशास्तथोपरि।
चापा द्वात्रिंशत् त्रिहस्ती त्र्योगुलाश्च साधिका ॥
ततायत सूर्यबिबमुत्सेधागुलमानत ॥

अर्थ -- १२५९ कोश, ३२ धनुष, ३ हाथ और साधिक ३ अगुल इतना विस्तार उत्सेधागुलकी अपेक्षा से सूर्य-बिंब का समझना चाहिये।

ऊपर चद्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागो मे ५६ भाग प्रमाण बता आये है। यह विस्तार पूर्णचद्र का है। किनु चद्रमा घटता बढता भी दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि—चद्रमा के नीचे राहु का विमान विचरता रहता है। यानी राहु के विमान के ध्वजदड से ४ प्रमाणागुल (उत्सेध की अपेक्षा कुछ अधिक ८३ हाथ) ऊपर चद्रमा विचरता है। राहु के विमान का वर्ण श्याम है अत उसकी ओट मे चद्रमा का अश आजाने से वह अश हमको दिखाई नही देता है। तथा राहु की गति चद्रमा की गति के समान नही है। इसलिये वह चद्रमा से जितना आगे पीछे रह जाता हैं, तदनुसार चद्रमा हमको इस धरातल पर घटवढ दीखता है। दोनो की गति मे अतर कुछ ऐसे ढग का रहता है जिससे कृष्णपक्ष मे चद्रमा का सोलह भागो (१६ कलाओ) मे प्रतिदिन एक एक भाग ढकता रहता है और शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन एक एक भाग प्रगट होता रहता है। सिद्धातसारदीपक ग्रथ मे लिखा है कि—

शुक्ल पक्ष मे राहु की गति चद्रमा से सदैव धीमी रहती है और कृष्ण पक्ष मे सदैव तेज रहती है। इसलिये दोनो पक्षो मे चद्रमा घटता बढता नजर आता है। फलितार्थ इसका यह हुआ कि कृष्णपक्ष के अत मे जब चद्रमा १६ भागो मे से १५ भाग प्रमाण राहु की ओट मे छुप जाता है तो शुक्लपक्ष मे चद्रमा की गति से राहु की गति धीमी होने से शुक्लपक्ष को प्रतिपदा से चद्रमा शनै २ ज्यो ज्यो राहु से आगे निकलता जाता है, त्यो त्यो ही वह हर दिन सोलह भागो में एक-एक भाग अधिक २ बढता हुआ नजर आता है। पद्रहवें दिन वह इतने आगे निकल जाता है कि उसके नीचे राहु की ओट रहती ही नही। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चद्रमा हमे पूर्णरूप मे दिखाई देता है। फिर उसके अनतर जब कृष्णपक्ष शुरू होता है तो राहु की गति चद्रमा की गति से तेज हो जाने के कारण चद्रमा शनै २ पीछे रहता है। और ज्यो ज्यो ही राहु आगे आगे बढता जाता है त्यो त्यो ही चद्रमा हर दिन सोलह भागो मे एक एक भाग ढकता हुआ चला जाता है उससे वह हमे प्रतिदिन कम कम नजर आने लगता है। अमावस को चद्रमा के १५ भाग राहु से आच्छादित हो जाने पर भी उसका एक भाग फिर भी अनावृत ही रहता है और सूर्यास्त के वक्त मे ही चद्रमा भी उस दिन अपने अस्तस्थान पर पहुच जाने के कारण उसका वह अनावरण एक भाग भी हमको अमावस की रात्रि मे नजर नही आता है। यह स्थिति तो नित्य राहु की वजह से होती है। किंतु दूसरा पर्व राहु और होता है, वह भी श्याम होता है जिसकी वजह से चद्रग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहु चद्र के नीचे नही रहता तो कभी-२ उस दिन पर्वराहु चद्रमा के नीचे आजाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उसी माफक चद्रग्रहण हमे दिखाई देता है। इसी तरह श्यामवर्ण का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी २ अमावस के दिन



ज्योतिष्को का आधार।

ये पृथ्वी के पिंड स्वरूप ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुये हैं। घनवात गाढी पवन का नाम है। अपने यहा जो पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते हैं। किंतु ज्यो ज्यो ऊपर को जाइये त्यो त्यो पवन मे गाढापन का अश बढता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि—जब पतग नीचे को रहता है, तब तक वह गोत खाता रहता है यानी अधिक अस्थिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरी हुई है। तनुवात को आधार की जरूरत नही।

ज्योतिष्को का गमन

जैन शास्त्रो मे पृथ्वी का भ्रमण नही माना है। ज्योतिष्को का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत के इर्द-गिर्द मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते है। मेरु से इतनी दूरी पर आ तारे ही घूमते हैं। सूर्य चन्द्रादि तो मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर घूमते हैं। इनमे चन्द्रमा सबसे मदगति वाला है और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये सब चन्द्रमा से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले हैं। किन्तु ग्रहो मे राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी-२ धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक अपवाद नियम है। वर्ना सबमे मद गति चद्रमा की है और सबसे तेज गति तारो की है। सग्रहणी सूत्र (श्वेताबर) मे कहा है कि "ग्रहो की गति परस्पर मे न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहो से मद है। बुध से शुक्र-मगल-बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।"

चद्रमा, सूर्य और ग्रह ये आज जिस वीथी मे घूम रहे है कल वे दूसरी वीथी मे और परसो तीसरी मे, इस प्रकार नित्य ये अलग-२ वीथियो मे घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण अन्य ज्योतिष्को का नही है। जिस आकाशमार्ग मे गोलाकार घूमा जाता है। वह वीथी कहलाती है इसी को मडल भी कहते हैं। चद्र-सूर्य जब मेरु को बीच मे रखकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा गोल चक्कर लगाते है तब वह एक मडल या एक वीथी होता है। फिर दूसरी दफे कुछ आगे बढ कर जब पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब वह दूसरा मडल होता है। इस प्रकार जितने मडल हैं वह उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ-२ आगे बढता हुआ अगले २ मडलो मे चलता है। जब वह अन्तिम मडल पर पहुच जाता है तो उसी क्रम मे वापिस फिर पीछे की ओर आते-२ पूर्ववत् उसी प्रथम मडल मे आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल वीथियें (मडल) १८४ हैं। और चद्रमा की १५ वीथियें हैं। सूर्य की प्रत्येक वीथी मे दो दो योजन का अतराल रहता है तथा चद्रमा की प्रत्येक वीथी मे ३५ $\frac{214}{427}$ योजनो का अतराल रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप मे हैं और ११९ लवण समुद्र मे हैं। तथा चद्रमा की ५ वीथियें जबूद्वीप मे हैं और १० लवण समुद्र मे हैं। सूर्य चद्र की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर है। और दोनो की आखिर की वीथी समुद्रतट से ३३० योजन परे है। दोनो का दक्षिण उत्तर का गमन-क्षेत्र कुल ५१० योजनो का होता है। यह गमन क्षेत्र वीथियो की चौडाई और उनके अतरालो को जोडने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौडाई सूर्य-चद्र के बिंब प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र मे इनके जाने आने को ही दक्षिणायन-उत्तरायन बोलते है। जबूद्वीप मे दो सूर्य और दो चद्रमा हैं। प्रत्येक वीथी मे दो सूर्य घूमते हैं और दो चद्रमा घूमते हैं। किन्तु चद्रमा की वीथी सूर्य की वीथी से जुदी है। सूर्य से वह ८० योजन ऊपर को है और उसमे भी दो चद्रमा घूमते हैं। प्रत्येक वीथी के घेरे मे एक सूर्य जहा से चलना शुरू करता है वहा तक आने मे उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते हैं। और इसी काम मे एक चद्रमा को ६२ $\frac{23}{221}$ मुहूर्त लगते है। प्रत्येक अपनी-२ वीथी मे दो सूर्य और दो चद्रमा परिभ्रमण करते है और वे दोनो बिल्कुल सामने सामने रहकर भ्रमण करते हैं। जब एक सूर्य या एक चद्रमा चलता हुआ किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही शेष आधे घेरे को सामने का दूसरा सूर्य या चद्रमा चलकर पूरा कर देता है। जिस स्थान मे आज हम को जो सूर्य उदय होता दिखता है उस स्थान पर वही सूर्य पुन ६० मुहूर्त मे आवेगा किन्तु हमे ३० मुहूर्त मे ही आता हुआ नजर आता है वह सूर्य दूसरा है। जबूद्वीप मे दो सूर्यो के उदयास्त की व्याख्या इस प्रकार है—

जबूद्वीप की एक लाख योजनो की चौडाई के ३ भाग किये जावे। जब बगल बगल के दो भागो मे सामने



सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३९ मे चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतु-ग्रस्त ही होता बताया है। किन्तु भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक न० १७-१८ मे क्रमश सूर्यचन्द्र दोनो को राहु ग्रस्त ही होना बताया है। श्वे० सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है। चद्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चद्रग्रहण कम मे कम छह मासो मे एक बार और अधिक से अधिक चद्रग्रहण ४२ मासो मे एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षो मे एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्को की ऊचाई

इस धरातल से ७९० योजन की ऊचाई पर तारे है। उनमे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चद्रमा है अर्थात् पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊचाई पर चन्द्रमा है। चद्रमा से४योजन ऊपर नक्षत्र हैं। ग्रहो की सख्या ८८ मे से बुध का स्थान नक्षत्रो से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, बृहस्पति, मगल और शनि ये क्रमश तीन तीन योजन ऊपर-२ है। राहु-केतु का स्थान चद्र-सूर्य से नीचे है। शेष ८१ ग्रहो का स्थान बुध और और शनि के अतराल मे है। इस प्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७९० योजनो की दूरी से प्रारभ होकर ९०० योजनो पर्यंत स्थित है अर्थात् ऊपर ७९० योजनो बाद ११० योजनो तक ज्योतिष्को का सद्भाव पाया जाता है। और उन सबका तिर्यक् अवस्थान प्राय एक राजूप्रमाण त्रसनाली मे है। किंतु इसमे इतना विशेष समझना कि—जबूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनो तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नही है। बल्कि सूर्य-चद्र तो हमेशा जबूद्वीप मे मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते हैं। जिस ज्योतिष्क की धरातल मे जितनी ऊचाई बताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊचा रहता है जैसे सूर्य की ऊचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊचा रहता है। दूर रहने की वजह मे अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चद्रमादि की जो ऊचाई बताई है उसमे यह नही समझना कि चद्रमादि सूर्य की सीध मे इतने ऊचे है। जब परस्पर मे इनकी समानगति नही है तो वे सदा एक सीध मे कैसे रह सकते है ? कदाचित् कोई कभी एक सीध मे भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहा एक मे दूसरे की ऊचाई बताने की विवक्षा नही है। यहा तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह मे घूमता है यह सतह अमुक ज्योतिष्क से उतनी ऊची है। जैसे चद्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह मे नक्षत्र विचरते है वह सतह चद्रमा की विचरने की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान मे रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊचाई पर बताया है वे सब आकाश मे उस स्थान मे एक ही सतह मे विचरते है।

यह नियम है कि जिस द्वीप मे जितने चद्रमा होते है उनमे से प्रत्येक चद्रमा के साथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते हैं। यह उसका परिवार कहलाता है—

"१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोडाकोडी तारे" यहा कोडाकोडी से मतलब है ६६९७५ क्रोड को एक क्रोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली सख्या। वह सख्या प्रचलित के अनुसार ६६ सख, ९७ पद्म ५० नील होती है। जबूद्वीप मे २ चद्रमा होने से ज्योतिष्को की उक्त सख्या जबूद्वीप मे दूनी समझना चाहिये। जबूद्वीप मे जब कभी एक चद्रमा जहा अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई मे विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई मे सामने दूसरा चद्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जबूद्वीप मे जिस समय एक सूर्य अभ्यतर की प्रथम वीथी मे विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी मे (आकाश की गोलाई को वीथी कहते हैं) विचरेगा। उस वक्त दोनो सूर्यों के बीच ९९६४० योजनो का अतर रहेगा। वह इस तरह कि अभ्यतर की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अतिम सीमा से १८० योजन भीतर हैं। अत दोनो तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हे एक लाख योजन प्रमाण जबूद्वीप मे से कम करने पर ९९६४० योजनो की दूरी अभ्यतर की प्रथम वीथी स्थित दोनो सूर्यों के बीच जाननी चाहिये।

ज्योतिष्को का आधार।

ये पृथ्वी के पिंड स्वरूप ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुये हैं। घनवात गाढी पवन का नाम है। अपने यहां जो पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते है। किंतु ज्यो ज्यों ऊपर को जाइये त्यों त्यों पवन में गाढापन का अंश बढता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि—जब पतग नीचे को रहता है, तब तक वह गोते खाता रहता है यानी अधिक अस्थिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरी हुई है। तनुवात को आधार की जरूरत नहीं।

ज्योतिष्को का गमन

जैन शास्त्रो मे पृथ्वी का भ्रमण नहीं माना है। ज्योतिष्को का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत के इर्द-गिर्द मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते है। मेरु से इतनी दूरी पर सब तारे ही घूमते हैं। सूर्य चन्द्रादि तो मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर घूमते हैं। इनमे चन्द्रमा सबसे मदगति वाला है और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये सब चन्द्रमा से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले है। किन्तु ग्रहो मे राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी-२ धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक अपवाद नियम है। वर्ना सबसे मद गति चद्रमा की है और सबसे तेज गति तारो की है। सग्रहणी सूत्र (श्वेतांबर) मे कहा है कि "ग्रहों की गति परस्पर मे न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहो से मद है। बुध से शुक्र-मगल-बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।"

चद्रमा, सूर्य और ग्रह ये आज जिस वीथी मे घूम रहे हैं कल वे दूसरी वीथी मे और परसो तीसरी मे, इस प्रकार नित्य ये अलग-२ वीथियो मे घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण अन्य ज्योतिष्को का नहीं है। जिस आकाशमार्ग मे गोलाकार घूमा जाता है। वह वीथी कहलाती है इसी को मडल भी कहते हैं। चद्र-सूर्य जब मेरु को बीच मे रखकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा गोल चक्कर लगाते है तब वह एक मडल या एक वीथी होता है। फिर दूसरी दफे कुछ आगे बढ कर जब पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब वह दूसरा मडल होता है। इस प्रकार जितने मडल हैं वह उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ-२ आगे बढता हुआ अगले २ मडलो मे चलता है। जब वह अन्तिम मडल पर पहुच जाता है तो उसी क्रम से वापिस फिर पीछे की ओर आते-२ पूर्ववत् उसी प्रथम मडल मे आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल वीथियें (मडल) १८४ हैं। और चद्रमा की १५ वीथियें है। सूर्य की प्रत्येक वीथी मे दो दो योजन का अतराल रहता है तथा चद्रमा की प्रत्येक वीथी मे ३५ $\frac{२१४}{४२७}$ योजनो का अतराल रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप मे है और ११९ लवण समुद्र मे हैं। तथा चद्रमा की ५ वीथियें जबूद्वीप मे हैं और १० लवण समुद्र मे हैं। सूर्य चद्र की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर हैं। और दोनो की आखिर की वीथी समुद्रतट से ३३० योजन परे हैं। दोनो का दक्षिण उत्तर का गमन-क्षेत्र कुल ५१० योजनो का होता है। यह गमन क्षेत्र वीथियों की चौडाई और उनके अतरालो को जोडने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौडाई सूर्य-चद्र के बिंब प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र मे इनके जाने आने को ही दक्षिणायन-उत्तरायन बोलते हैं। जबूद्वीप मे दो सूर्य और दो चद्रमा हैं। प्रत्येक वीथी मे दो सूर्य घूमते हैं और दो चद्रमा घूमते हैं। किन्तु चद्रमा की वीथी सूर्य की वीथी से जुदी है। सूर्य से वह ८० योजन ऊपर को है और उसमे भी दो चद्रमा घूमते है। प्रत्येक वीथी के घेरे मे एक सूर्य जहा से चलना शुरू करता है वहा तक आने मे उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते हैं। और इसी काम मे एक चद्रमा को ६२ $\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त लगते है। प्रत्येक अपनी-२ वीथी में दो सूर्य और दो चद्रमा परिभ्रमण करते हैं और वे दोनो बिल्कुल आमने सामने रहकर भ्रमण करते है। जब एक सूर्य या एक चद्रमा चलता हुआ किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही शेष आधे घेरे को सामने का दूसरा सूर्य या चद्रमा चलकर पूरा कर देता है। जिस स्थान मे आज हम को जो सूर्य उदय होता दिखता है उस स्थान पर वही सूर्य पुन ६० मुहूर्त मे आवेगा किन्तु हमे ३० मुहूर्त मे ही आता हुआ नजर आता है वह सूर्य दूसरा है। जबूद्वीप मे दो सूर्यों के उदयास्त की व्याख्या इस प्रकार है—

जबूद्वीप की एक लाख योजनो की चौडाई के ३ भाग किये जावे। जब अगल बगल के दो भागो मे आमने





सामने के दो सूर्यों से दिन रहता है तब उसी वक्त बिचले भाग मे पूर्व-पश्चिम विदेह मे रात होती है। और बिचले भाग मे आमने सामने के दोनो सूर्यों से पूर्व व पश्चिम विदेह मे दिन रहता है तब अगल बगल दोनो भागो मे (जबू-द्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग मे) रात होती है। जब निषधपर्वत पर पूर्व दिशा मे सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जबूद्वीप के दक्षिण भाग मे दिन हो जाता है। इसी वक्त इसी सूर्य का सामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा मे उदय होकर उससे जबूद्वीप के उत्तर भाग मे दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह मे रात्रि हो जाती है। जब निषधगिरि के पूर्व शिरे पर उदय होने वाला सूर्य चलकर निषध के पश्चिम शिरे पर आ जाता है तब वह जबूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहा रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। तथा इसी तरह जो दूसरा सूर्य नीलगिरि के पश्चिम शिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वीय शिरे पर आता है तब वह जबूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहा भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। यह ध्यान मे रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह मे उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निषध पर आता है तो वही दूसरा सूर्य भरतक्षेत्र मे दूसरे दिन उदय होता है। न कि पूर्व दिन मे भरत मे अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत मे तीसरे दिन उदय होगा। क्योंकि जिस दिन जो सूर्य भरत मे अस्त होता है उस दिन की रात्रि मे वह पश्चिम विदेह मे रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत मे रहता है और दूसरे दिन की रात्रि मे वह पूर्व विदेह में रहता है। वही सूर्य फिर तीसरे दिन भरत मे प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ सूर्य पुन तीसरे दिन ऐरावत मे प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच मे पडे मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते है। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्व-विदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते है। दोनो भागो मे दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निषध और नील पर्वत के बीच मे विदेह क्षेत्र स्थित है। निषध से नील तक जाने मे सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निषध या नील के पूर्व शिरे से पश्चिम शिरे तक जाने मे लगता है। क्योकि जबूद्वीप के कुल १९० भागो मे से ६४ भागो मे बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और शेष ६३-६३ भागो दोनो तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र है।

तत्वार्थसूत्र के श्री अकलकदेवकृत भाष्य मे मेरु को सब क्षेत्रो मे उत्तर मे बताते हुये इस विषय मे निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

"पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति। तत्र प्राड्‌नील, प्रत्यङ्‌निषध, अपाक्‌समुद्र मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदय नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राड्‌ निषध, प्रत्यड्‌ नील अपाक्‌ समुद्र, उदड्‌ मेरु। उदक्कुरुषु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमय। तत्र गधमादन प्राक्, माल्यवान्‌ प्रत्यक्, नील अपाक्, मेरु उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदय, विद्युत्प्रभेऽस्तमय। तत्र सौमनस प्राक्, विद्युत्प्रभ प्रत्यक्, निषधोऽपाक्, मेरुरुदगिति।"

—अध्याय ३ सूत्र १० की व्याख्या

अर्थ—पूर्व विदेह मे सूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है। निषध पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे नीला-चल है, पश्चिम मे निषध है। दक्षिण मे समुद्र और उत्तर मे मेरु है। पश्चिम विदेह मे सूर्य निषध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहाँ पूर्व मे निषध है, पश्चिम मे नील है, दक्षिण मे समुद्र, और उत्तर मे मेरु है। उत्तर-कुरु मे गधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान्‌ पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे गधमादन है, पश्चिम मे माल्य-वान्‌ है, दक्षिण मे नील और उत्तर मे मेरु है। देवकुरु मे सूर्य सौमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहा सौमनस पूर्व मे है, पश्चिम मे विद्युत्प्रभ है, दक्षिण मे निषध और उत्तर मे मेरु है। इस प्रकार सब स्थानो से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सौमनस, विद्युत्प्रभ, और गधमादन ये ४ गजदत पर्वतो के नाम हैं और इनका स्थान क्रमश मेरु की ईशानादि विदिशाओ मे है। गधमादन और माल्यवान्‌ के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सौमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुरु क्षेत्र है।

लोकप्रकाश (श्वेतांवर) ग्रथ के १८ वें सर्ग मे लिखा है कि—

पूर्वापरविदेहेषु निशीथेऽर्हज्जनिर्यदा ।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्न स्यात्तदा यत ॥२४४॥

अर्थ—पूर्वपश्चिम विदेहो मे अर्द्धरात्रि मे जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब भरत-ऐरावत क्षेत्र मे मध्याह्न होता है ।

सूर्य की गमन करने की कुल १८४ वीथिये है । प्रत्येक वीथी मे दो योजन का अन्तराल है । कुल अतराल १८३ हैं । प्रत्येक वीथी मे दो सूर्य आमने सामने चलते हैं । किसी एक वीथी मे चलकर दूसरी वीथी मे आने मे दोनो सूर्यों को एक अहोरात्र (३० मुहूर्त) सम्मिलित काल लगता है । इस तरह एक अयन के १८३ दिन होते है । दो अयनो के ३६६ दिनो का एक सूर्य-वर्ष कहलाता है । अभ्यतर की प्रथम वीथी से लेकर ६३वी वीथी मे तिष्ठता सूर्य भरत-क्षेत्र मे निषधपर्वत पर उदय होता दीखता है । ६४वी ६५वी वीथीयो मे तिष्ठता सूर्य हरिक्षेत्र पर उदय होता दिखता है । और शेष ११९ वीथियो मे तिष्ठता सूर्य भारतवासियो को लवणसमुद्र पर उदय होता दिखता है । प्रथम वीथी स्थित सूर्य निषधपर्वत के उत्तरतट से १४६२१ $\frac{47}{380}$ योजन ओली तरफ (दक्षिण की ओर) आने पर भरतक्षेत्र के अयोध्यावासियो को उदय होता नजर आता है । और निषधपर्वत के दक्षिणतट से करीव ५५७५ योजन परे जाने पर अस्त होता नजर आता है । ये वीथियें ज्यो ज्यो दक्षिण से उत्तर को गई ह त्यो त्यो ही वे गोलाई मे उत्तरोत्तर कम होती गई है । तथापि उन सब मे प्रत्येक को अपनी गति से पूर्ण करने मे एक सूर्य को ६० मुहूर्त से न अधिक समय लगता है न कम । ऐसा नियम है । अत कहा जा सकता है कि सूर्य जब दक्षिण मे उत्तर को आने लगता है तब उसकी चाल प्रत्येक वीथी मे क्रमश धीमी होती जाती है और उत्तर से दक्षिण की ओर जाते वक्त उसकी चाल उत्तरोत्तर तेज होती जाती है । वीथियो मे सब से कम गोलाई वाली अभ्यतर की वीथी है । इसकी गोलाई ३१५०८९ योजनो की है । इसमे ६० का भाग देने से सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५२५१ $\frac{29}{60}$ योजन प्रमाण निकलती है । इसको सवा से गुणा करने पर उतने प्रमाण सूर्य की एक घटे की गति होगी । यह गति सूर्य की अभ्यतर की प्रथम वीथी मे जाननी चाहिए । आगे की वीथियो मे उत्तरोत्तर गति बढती जाती है । अतिम १८४ वी वीथी की गोलाई ३१८३१४ योजनो की है और उसमे सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५३०५ $\frac{14}{60}$ योजनो की होती है।

चद्रमा की कुल १५ ही वीथियें हैं और प्रत्येक वीथी मे ३५ $\frac{214}{427}$ योजनो का अतराल है । ये वीथियें भी दक्षिण से उत्तर की तरफ ज्यो ज्यो आती गई हैं त्यो त्यो ही वे उत्तरोत्तर गोलाई मे कम होती आई हैं । चद्रमा की प्रथम वीथी और अतिम वीथी सूर्य की प्रथम वीथी और अतिम वीथी के ठीक ८० योजन ऊपर सीध मे है । इसलिये सूर्य की इन दो वीथियो की गोलाई जितने योजनो की वताई उतनी ही चद्रमा की भी इन दो वीथियो की समझनी चाहिये । चद्रमा प्रत्येक वीथी को चाहे वह कितनी भी छोटी बडी हो एक से दूसरी पर जाने मे उसे ६२ $\frac{23}{221}$ मुहूर्त लगते है कम अधिक नही । अत वह भी सूर्य की तरह दक्षिण से उत्तर मे आते वक्त उत्तरोत्तर मदगति से और उत्तर से दक्षिण मे जाते हुये उत्तरोत्तर तीव्रगति से गमन करता है ।

यो तो जबूद्वीप मे सभी ज्योतिष्क गमनशील हैं किन्तु इसमे भी एक अपवाद है । इस द्वीप मे कुछ (३६) तारे ऐसे भी है जो गमन नही करते हैं । उन्हे ध्रुवतारे कहते हैं । (त्रिलोकसार गाथा ३४७) ।

श्वे० तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मे लिखा है कि—ध्रुवतारा की गति मेरु की प्रदक्षिणा रूप से नही है । वह अपने ही स्थान पर घूमता रहता है । यथा—

"तस्यैव स्थाने स ध्रुव परिभ्राम्यति न तु मेरो प्रादक्षिण्येन गतिं प्रतिपद्यते । तथाहि तदद्यापि ध्रुवतारा-चक्रमाक्रातोत्तरदिक्क परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव ।" (४ थे अध्याय के १४वें सूत्र का भाष्य)

नक्षत्रो का गमन

जिस प्रकार सूर्य चद्रमा एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदि वीथियो मे भ्रमण करते है उसी प्रकार





नक्षत्र भ्रमण नही करते हैं। जिन नक्षत्रो की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी मे सदा भ्रमण किया करते है ऐसी वीथियें सब नक्षत्रो की कुल ८ है। उनमे २ वीथी जबूद्वीप मे है और ६ लवण समुद्र मे है। प्रथम वीथी से अतिम वीथी उत्तर दक्षिण मे ५१० योजन दूर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी चद्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर है और ८ वी वीथो चद्रमा की अतिम १५ वी वीथो के ऊपर है। नक्षत्रो की शेष २ री से ७ वी वीथी क्रम से चद्रमा की ३ री, सातवी, छठवी, आठवी दशवी, ११ वी वीथी के उपर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी मे १२ नक्षत्र घूमते है, उनके नाम—

अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुणी, भरणी।

तीसरी वीथी मे—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते है। सातवी वीथी मे रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते हैं, छठवी मे कृत्तिका, आठवी मे विशाखा, दशवी मे अनुराधा, और ११ वी मे ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता हे। १५ वी वीथी मे ८ नक्षत्र भ्रमण करते है उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी मे घूमता है वह अपनी चाल से उस वीथी को ५९ $\frac{३०७}{३६७}$ मुहूर्तो मे पूर्ण कर लेना है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेना है।

प्रकाश और अधकार

काई कहते है—"सूर्य जब, मेरु की आड मे आ जाता है तब वह हमे अस्त होता नजर आता है। और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नही है। क्योकि मेरु उत्तर दिशा मे है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा मे होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौडाई जैनागम मे दस हजार योजनो से अधिक नही लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति से करीब दो मुहूर्त से कम मे ही लाघ सकता है। ऐसी अवस्था मे मेरु की आड की बात बनती नही है।

कोई कहते हैं—"पृथ्वी नारगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अत उसकी आड मे आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी से निकलता व उसमे प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मडल दिखाई नही देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नही है, इसका कारण यह है कि—यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊचा है यथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद मे फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आध आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नही कहते कि पृथ्वी बिल्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमे भी कालादिवश से ऊचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानद स्वामी ने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यो में प्रगट की है—

"न च वय दर्पणसमतलामेव भूमि भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्या कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात् तत एव नोदयास्तमययो सूर्यादेर्बिबार्द्धदर्शन विरुध्यते। भूमिसलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतिर्न सभाव्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।"

(अध्याय ४ सूत्र १३)

अर्थ—हम जैन यह भी नही कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश मे घटाबढी होकर पृथ्वी मे ऊचानीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा बिंब दिखाई देने मे कोई आपत्ति नही है। और विपक्षी का यह कहना कि "पृथ्वी नारगीवत् गोल न होती तो

उदयास्त के वक्त सूर्यादि का भूमि मे लगा हुआ दृष्टि मे आना सभव नही था" उचित नहीं है। वैसा तो भूमि मे दूरी होने और दूर की चीज पृथ्वी से लगी हुई नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने मे भी हो सकता है।

इस प्रकार खासतौर मे किसी पदार्थ की आड के कारण सूर्य का उदयास्त नहीं है। किन्तु समतल भूमि मे जहाँतक सूर्य का प्रकाश फैलता है। उसकी दूरी मे सूर्य का उदयास्त समझना चाहिये। जब सूर्य अभ्यन्तर की प्रथम वीथी मे होता है तब उस का कुछ प्रकाश पूर्व मे पश्चिम मे ९४५२६ $\frac{७}{१०}$ योजनो तक फैलता है। उसमें मे आधा आगे को और आधा पीछे को रहता है। यानी साधिक ४७२६३ योजनो की दूरी पर भरत क्षेत्र के अयोध्यावासियों को वह पूर्वदिशा मे उदय होना नजर आता है, और इतनी ही दूरी पर वह पश्चिम मे अस्त होता नजर आता है। निषधाचल के जिस स्थान पर सूर्य का उदयास्त होता है वह स्थान भी अयोध्या मे इतना ही दूर है। इसी अपेक्षा मे भरतक्षेत्र के वास्ते सूर्य का उदयास्त निषध पर्वत पर बताया है। इतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूर्य का रहता है। दोनो तरफ अन्तराल मे अधकार रहता है। ज्यो ज्यो सूर्य आगे चलता जायेगा उसका प्रकाश भी उसके साथ आगे २ बढता जावेगा और पीछे२ अधकार होता आवेगा। इस वीथी की परिधि ३१५०८९ योजनो की है। उनमे से सामने सामने के दोनो सूर्यों का ताप १८९०५३ $\frac{४}{१०}$ योजनो का है। तथा एक तरफ के अतराल मे ६३०१७ $\frac{४}{५}$ योजनो का अधकार रहता है। दोनो तरफ के अधकार का प्रमाण १२६०२५ $\frac{३}{५}$ योजनो का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम (अधकार) की जोड ३१५०८९ योजनो की होती है सो ही अभ्यतर प्रथम वीथी की परिधि (घेरा) होती है। इस वीथी मे सूर्य के गमन करते समय जबूद्वीप मे प्राय सर्वत्र १८ मुहूर्तो का दिन और १२ मुहूर्तो की रात्रि होती है। इस वीथी मे स्थित सूर्य का उत्तर दक्षिण ताप मेरु के मध्य मे लेकर लवण समुद्र के ६वे भाग तक फैला रहता है। ऊपर को आताप एक सौ योजन और नीचे को १८०० योजन तक रहता है। यह वीथी मेरु के मध्य मे ४९८२० योजनो की दूरी पर है। इस वीथी मे ज्यो ज्यो उत्तर की तरफ जाइये त्यो त्यो ही आकाश प्रदेशो की गोलाई उत्तरोत्तर कम होती जायेगी और दक्षिण की तरफ गोलाई बढती जायेगी। अत जो ताप प्रथम वीथी स्थित सूर्य का प्रथम वीथी मे बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ के आकाश प्रदेशो की गोलाई मे उतना नही बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ के आकाश प्रदेशो की गोलाई मे उत्तरोत्तर बढता बताया है। इसका कारण शायद यह हो कि गोलाई का मोड जहाँ जहा कम दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप कम फैला है। और जहा जहाँ मोड अधिक दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप अधिक फैला है।

और जब सूर्य अतिम बाह्यवीथी मे विचरता है तब वहा दोनो तरफ के सूर्यों का ताप १२७३२५ $\frac{३}{५}$ योजनो का रहता है। और दोनो तरफ का अधकार १९०९८ $\frac{२}{५}$ योजन प्रमाण रहता है। प्रकारातर से यो समझिये कि प्रथम वीथी मे जब सूर्य विचरता है तब उस प्रथम वीथी को आदि लेकर सभी वीथियो की अपनी-अपनी परिधियो मे १० भागो मे मे ६ भागो मे ताप रहता है और ४ भागो मे अधकार रहता है। तथा जब सूर्य अतिम बाह्य वीथी मे विचरता है तब उसमें और अन्य सभी वीथियो की परिधियो मे १० भागो मे से ४ भागो मे ताप व ६ भागो मे अधकार रहता है। मध्य की शेष वीथियो मे से जिस किसी वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त अन्य सब वीथियो मे ताप प्रमाण कितना है ? यह जानने के लिये उन वीथो की परिधियो मे ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूर्य के विचरने वाली वीथी के दिनमान के मुहूर्तो मे गुणा करने पर जो सख्या हो उतने योजनो का उनमे ताप प्रमाण समझना चाहिये। इससे प्रगट होता है कि आदिपथ से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूर्य का स्वभावत ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ से अभ्यतर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढता हुआ जाता है। अतिम बाह्य वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त प्राय जबूद्वीप मे दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रि-मान १८ मुहूर्त का होता है। यह सब मे छोटा दिन और सबसे बडी रात—माघ मास मे होती है। तथा १८ मुहूर्त का बडा दिन और १२ मुहूर्त की छोटी रात श्रावण मास मे होती है। वैशाख और कार्तिक मे १५-१५ मुहूर्तो का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूर्य मध्यम वीथी मे विचरता है। और उस समय सभी वीथियो मे ताप और तम का प्रमाण समान भागो मे रहता है। अभ्यतर की प्रथम वीथी से बाह्य को अतिम वीथी मे जाने मे सूर्य को १८३ दिन लगते है। इसी को दक्षिणायन कहते है। इससे उल्टे बाह्य मे अभ्यतर मे आने मे उसी तरह सूर्य को





नक्षत्र भ्रमण नही करते हैं। जिन नक्षत्रो की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी मे सदा भ्रमण किया करते है ऐसी वीथियें सब तक्षत्रो की कुन ८ है। उनमे २ वीथी जबूद्वीप मे है और ६ लवण समुद्र मे है। प्रथम वीथी से अनिम वीथी उत्तर दक्षिण मे ५१० योजन दूर है। नक्षत्रो की प्रथम वीथी चद्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर है और ८ वी वीथी चद्रमा की अतिम १५ वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रो की शेप २ री से ७ वी वीथी क्रम से चद्रमा की ३ री, सातवी, छठवी, आठवी दशवी, ११ वी वीथी के उपर है। तक्षत्रो की प्रथम वीथी मे १२ नक्षत्र घूमते है, उनके नाम

अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभिपा, पूवाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुणी, भरणी।

तीसरी वीथी मे—मघा, पुनर्वमु ये २ नक्षत्र घूमते है। सातवी वीथी मे रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते हैं, छठवी मे कृत्तिका, आठवी मे विशाखा, दशवी मे अनुराधा, और ११ वी मे ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी मे ८ नक्षत्र भ्रमण करते हैं उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वापाढ, उत्तरापाढ, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य और अश्लेपा। जो नक्षत्र जिस वीथी मे घूमता है वह अपनी चाल से उस वीथी को ५९ $\frac{३०७}{३६७}$ मुहूतो मे पूर्ण कर लेना है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अधकार

कोई कहते है—"सूर्य जब, मेरु की आड मे आ जाता है तब वह हमे अस्त होता नजर आता है। और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नही है। क्योकि मेरु उत्तर दिशा मे है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा मे होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौडाई जैनागम मे दस हजार योजनो से अधिक नही लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति से करीब दो मुहूर्त से कम मे ही लाघ सकता है। ऐसी अवस्था मे मेरु की आड की बात बनती नही है।

कोई कहते है—"पृथ्वी नारगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अत उसकी आड मे आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी से निकलता व उसमे प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मडल दिखाई नही देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नही है, इसका कारण यह है कि—यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊचा है यथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद मे फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आध आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नही कहते कि पृथ्वी बिल्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमे भी कालादिवश से ऊचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानद स्वामी ने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यो मे प्रगट की है—

"न च वय दर्पणसमतलामेव भूमि भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्या कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेनिम्नोन्नताकारसद्भावात् तत एव नोदयास्तमययो सूर्यादिबिम्बार्द्धदर्शन विरुध्यते। भूमिमलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतिर्न सभाव्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।"

(अध्याय ४ सूत्र १३)

उदयास्त के वक्त सूर्यादि का भूमि से लगा हुआ दृष्टि मे आना संभव नही था" उचित नहीं है। वैसा तो भूमि मे दूरी होने और दूर की चीज पृथ्वी से लगी हुई नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने से भी हो सकता है।

इस प्रकार खासतौर से किसी पदार्थ की आड के कारण सूर्य का उदयास्त नही है। किन्तु समतल भूमि मे जहाँतक सूर्य का प्रकाश फैलता है। उसकी दूरी से सूर्य का उदयास्त समझना चाहिये। जब सूर्य अभ्यंतर की प्रथम वीथी मे होता है तब उस का कुछ प्रकाश पूर्व से पश्चिम मे ९४५२६ $\frac{42}{60}$ योजनो तक फैलता है। उसमे से आधा आगे को और आधा पीछे को रहता है। यानी साधिक ४७२६३ योजनो की दूरी पर भरत क्षेत्र के अयोध्यावासियो को वह पूर्वदिशा मे उदय होता नजर आता है, और इतनी ही दूरी पर वह पश्चिम मे अस्त होता नजर आता है। निषधाचल के जिस स्थान पर सूर्य का उदयास्त होता है वह स्थान भी अयोध्या से इतना ही दूर है। इसी अपेक्षा से भरतक्षेत्र के वास्ते सूर्य का उदयास्त निषध पर्वत पर बताया है। इतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूर्य का रहता है। दोनो तरफ अंतराल मे अंधकार रहता है। ज्यो ज्यो सूर्य आगे चलता जायेगा उसका प्रकाश भी उसके साथ आगे २ बढता जावेगा और पीछे२ अंधकार होता आवेगा। इस वीथी की परिधि ३१५०८९ योजनो की है। उनमे से आमने सामने के दोनो सूर्यों का ताप १८९०५३ $\frac{4}{10}$ योजनो का है। तथा एक तरफ के अंतराल मे ६३०१७ $\frac{8}{10}$ योजनो का अंधकार रहता है। दोनो तरफ के अंधकार का प्रमाण १२६०३५ $\frac{6}{10}$ योजनो का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम (अंधकार) की जोड ३१५०८९ योजनो की होती है सो ही अभ्यंतर प्रथम वीथी की परिधि (घेरा) होती है। इस वीथी मे सूर्य के गमन करते समय जंबूद्वीप मे प्राय सर्वत्र १८ मुहूर्तो का दिन और १२ मुहूर्तो की रात्रि होती है। इस वीथी मे स्थित सूर्य का उत्तर दक्षिण ताप मेरु के मध्य से लेकर लवण समुद्र के ६वे भाग तक फैला रहता है। ऊपर को आताप एक सौ योजन और नीचे को १८०० योजन तक रहता है। यह वीथी मेरु के मध्य से ४९८२० योजनो की दूरी पर है। इस वीथी मे ज्यो ज्यो उत्तर की तरफ जाइये त्यो त्यो ही आकाश प्रदेशो की गोलाई उत्तरोत्तर कम होती जायेगी और दक्षिण की तरफ गोलाई बढती जायेगी। अत जो ताप प्रथम वीथी स्थित सूर्य का प्रथम वीथी मे बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ के आकाश प्रदेशो की गोलाई मे उतना नही बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ के आकाश प्रदेशो की गोलाई मे उत्तरोत्तर बढता बताया है। इसका कारण शायद यह हो कि गोलाई का मोड जहाँ जहा कम दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप कम फैला है। और जहा जहाँ मोड अधिक दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप अधिक फैला है।

और जब सूर्य अंतिम बाह्यवीथी मे विचरता है तब वहा दोनो तरफ के सूर्यों का ताप १२७३२५ $\frac{6}{10}$ योजनो का रहता है। और दोनो तरफ का अंधकार १९०९८८ $\frac{4}{10}$ योजन प्रमाण रहता है। प्रकारांतर से यो समझिये कि प्रथम वीथी मे जब सूर्य विचरता है तब उस प्रथम वीथी को आदि लेकर सभी वीथियो की अपनी-अपनी परिधियो मे १० भागो मे से ६ भागो मे ताप रहता है और ४ भागो मे अंधकार रहता है। तथा जब सूर्य अंतिम बाह्य वीथी मे विचरता है तब उसमे और अन्य सभी वीथियो की परिधियो मे १० भागो मे से ४ भागो मे ताप व ६ भागो मे अंधकार रहता है। मध्य की शेष वीथियो मे से जिस किसी वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त अन्य सब वीथियो मे ताप प्रमाण कितना है? यह जानने के लिये उन वीथो की परिधियो मे ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूर्य के विचरने वाली वीथी के दिनमान के मुहूर्तो से गुणा करने पर जो संख्या हो उतने योजनो का उनमे ताप प्रमाण समझना चाहिये। इससे प्रगट होता है कि आदिपथ से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूर्य का स्वभावत ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ से अभ्यंतर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढता हुआ जाता है। अंतिम बाह्य वीथी मे सूर्य के विचरते वक्त प्राय जंबूद्वीप मे दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रि-मान १८ मुहूर्त का होता है। यह सब से छोटा दिन और सबसे बडी रात—माघ मास मे होती है। तथा १८ मुहूर्त का बडा दिन और १२ मुहूर्त की छोटी रात श्रावण मास मे होती है। वैशाख और कार्तिक मे १५-१५ मुहूर्तो का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूर्य मध्यम वीथी मे विचरता है। और उस समय सभी वीथियो मे ताप और तम का प्रमाण समान भागो मे रहता है। अभ्यंतर की प्रथम वीथी से बाह्य को अंतिम वीथी मे जाने मे सूर्य को १८३ दिन लगते है। इसी को दक्षिणायन कहते है। इससे उल्टे बाह्य से अभ्यंतर मे आने मे उसी तरह सूर्य को



१८३ दिन लगते है। उसे उत्तरायण कहते हैं। दक्षिणायन मे क्रमश दिन घटता है, और उत्तरायण मे क्रमश दिन बढता है। यह घटाबढी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनो मे ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन मे कितनी हो ऐसे त्रैराशिक करने से २ मुहूर्त का ६१ वा भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी। अर्थात् ३०।। दिन मे १ मुहूर्त दिन घटे बढेगा। यानी श्रावण मे १८ मुहूर्त का, भाद्रपद मे १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटना समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन मे दिनमान घटता जाता है। इससे आगे उत्तरायण चलता है। उसमे श्रावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम से दिनमान बढता जाता है। जैसे फाल्गुन मे १३ मुहूर्त का, चैत्र मे १४ का इत्यादि। प्राय ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तब ही शेष मुहूर्तों की रात्रि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते है कि—हमारे यहाँ दिन होगा तो विदेह क्षेत्र मे रात्रि होगी और विदेह में रात्रि होगी तो हमारे यहा दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि—हमारे यहा सूर्यास्त होते ही विदेह मे सूर्योदय होने लग जाय या वहा सूर्योदय होते ही यहा सूर्यास्त होने लग जावे। ऐसा तो समरात्रि दिन के वक्त हो सकता है। विषम रात्रि दिन मे तो ऐसा नही हो सकता है। क्योकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है तब भरत क्षेत्र मे सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह मे सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत मे सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि उस वक्त भरत मे जो दिन का अतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह मे दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह मे जो दिन का अतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत मे दिनका ३ मुहूर्तात्मक प्रारभिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद मे पश्चिम विदेह मे सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह मे सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद मे भरत मे सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और रात्रि मान मे जो काल का अतर है उसमे दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र मे सूर्यास्त का शेष रहते ही उत्तर (अगले) क्षेत्र मे सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक रात्रिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र मे सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र मे सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिस पखवाडे मे सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पखवाडे मे सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नही होता बाद मे उदय होकर सारी रात्रि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रसूर्य की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य से धीमी गति चलता है। चलते २ हर अमावस को चन्द्रसूर्य साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्याय नाम सूर्येन्दुसगम भी है। उस दिन दोनो साथ साथ अस्त होते है। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल से सूर्य से इतना पीछे रह जाता है कि उस दिन जहा उसे अस्त होना है वहाँ वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद मे पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा को सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखता रहता है। फिर अस्त हो जाता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीया को ३ मुहूर्त बढते बढते पूर्णिमा को सूर्यास्त के १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दर्शन होता रहता है। समरात्रि दिन मे रात्रि १५ मुहूर्त की होती है। अत तब पूर्णिमा को सारी रात्रि मे चन्द्रमा की चाँदनी रहती है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम मे सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान मे आकर उदय हो जाता है। आगे कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा चाल मे इतना पीछे रह जाता है कि सूर्यास्त के मुहूत बाद मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है। इसीलिय कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूत बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूत बढते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा भी अपने अस्त स्थान पर पहुँच कर अस्त होकर सूर्य चन्द्र दोनो साथ साथ हो जाते हैं। चूकि चन्द्रमा की सूर्य से मदगति होने के कारण उस रात्रि के अत मे चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है इससे अमावस की सारी

चाहिये । लेख के शुरू मे चन्द्रमा के छोटे बडे आकार का होना राहु के निमित्त से बताया है—यह इन दोनो कथनो मे खास अतर समझना चाहिये ।

भूगोल-खगोल के विषय मे कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य बातें हमने "जैन-निबंध रत्नावली" पुस्तक मे भी ग्रथित की है – देखो पृ २८४ पर "भरतैरावत मे वृद्धि ह्रास किसका है ?" शीर्षक निबंध तथा पृ० २९१ पर—"उपलब्ध जैन ग्रथो मे ज्योतिष-चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबंध ।

भारतीय वर्ष मास तिथि नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारा की चाल पर आधारित है जब कि अन्य सभी की कैलेन्डर (Calander) पचांग पद्धति काल्पनिक है अत वह ऋतुओ से भी मेल नहीं खाती । प्रसगोपात्त भूभ्रमण के विषय मे भी कुछ समीक्षात्मक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते है —

भू-भ्रमण मान्यता की सदोषता

जैन-जैनेतर-पौर्वात्य एव पाश्चात्य सभी के धर्मग्रंथो (आगम, पिटक, वेद, बाईबिल, कुरान आदि) मे पृथ्वी को स्थिर और सूर्य का चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियों मे विकास का युग आया तब इस विषय मे तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा । वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय मे धर्मग्रंथो की मान्यता के ही समर्थन मे रहे पर इस बीच आर्यभट्ट (वि० स० ५३३) आदि कुछ गणिताचार्यो ने पृथ्वी को चर बताया । भारतवर्ष मे वह युग भी इस विषय के खडन-मडन का रहा ।

भू-स्थिर वादियो के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नाकित थे —

१—अगर पृथ्वी चल है तो पक्षी सुबह अपने घोसलो को छोडकर शाम वही वापिस कैसे आ जाते है ?

२—आकाश मे फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यो नही हो जाते ? आकाश मे फेंकी गई वस्तु विषम-गतिशील और दिशान्तर क्यो नही हो जाती ?

३—पृथ्वी की गति का मद होना इसमे कारण माना जाय तो एक दिन-रात मे इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो जायेगा ?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग से घूमना मानते हो तो इससे उस पर इतनी प्रचड वायु चलेगी कि जिससे महल, मकान, वृक्ष, पर्वतादि की चोटिया, ध्वजाए आदि सब छिन्न-भिन्न हो जायेंगे । अत पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह सिद्ध नही होता ।

४—पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर मे सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओ का परिवर्तन कैसे सभव है ?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो ध्रुवतारा उत्तर की ओर ही सदा एक स्थान पर ही क्यो दिखाई देता है ? पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण मे प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम मे जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वार्षिक भ्रमण मे भी ध्रुवतारा ज्यो का त्यो स्थिर खडा रहे यह कैसे माना जाय ?

इन प्रश्नो और तर्को का कोई समुचित उत्तर भू-भ्रमणवादियो के पास नही ।

इसके सिवा भू-भ्रमण प्रत्यक्ष-बाधित भी है क्योकि सब देश काल मे सर्व प्राणियो को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है । अनुमान से भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नही होता क्योकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नही देखा जाता । (विशेष जानने के लिए—"पी० एल० ज्योग्राफी" ग्रथ द्रष्टव्य है) ।



इस तरह भू-स्थिरता का सिद्धात सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशो मे सर्वप्रथम १६ वी शती मे कोपरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया । गेलिलिओ ने भी विभिन्न प्रमाणो से



इसकी पुष्टि की किन्तु पोप लोगो ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि को राजकीय दण्ड भोगने पडे। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धातो की खोजो से उत्तरोत्तर बढती रही और पश्चिम को लाघकर यह पूर्व मे भी प्रचलित हो गई एव राज-मान्यता के साथ विद्यालयो मे पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भूभ्रमण का सिद्धात काफी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का सिद्धात प्राचीन ग्रथो का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् भी होते रहे हैं जिन्होने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने सन् १९४८ मे एक लेख मे लिखा है कि "विलियम एडगल ने ५० वर्षों के महान् प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और इसके चारो ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

इसी तरह जे० मेकडोनल्ड ने भी सन् १९४६ मे अपने विस्तृत लेख मे यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जो यह मानते है कि --पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घटे की गति से गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिको से अभी भू-स्थिरवदियो के पूर्वोक्त प्रश्नो का ही यथोचित समाधान नही हो रहा है कि—सापेक्षवाद सामने आ उपस्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्त्ता इस २० वी ईस्वी सदी के विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आईस्टीन है। उन्होने बताया है कि—"गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म है। 'प्रकृति' कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नही बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा मे सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा मे पृथ्वी चलती है। दोनो सिद्धान अपनी अपनी जगह ठीक है फिर भी पहला सिद्धात कुछ जटिल है और दूसरा सिद्धात सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की सुविधा की दृष्टि से है। अत यह सुविधावाद भी एक तरह से सापेक्षिक ही है।

आईन्स्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिको के एकान्ताग्रह को झकझोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गए हैं कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनो मे से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नही। प्रकृति अनत धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अत वास्तविकता का साक्षात्कार करना असभव-सा है।

●

जैनागमों में गृहस्थाचार

पंडित जयकुमार,

काव्यतीर्थ, शास्त्री, नीमच



जैनागम मे गृहस्थ-आचार से अभिप्राय जैन धर्म ग्रंथो मे वर्णित श्रावक अथवा श्रमणोपासक के आचरण से है। न जाने कब कौन जीवात्मा काल-लब्धि के योग से श्रमण-साधु बन कर मुक्ति-श्री का वरण करने मे समर्थ हो जाए। विचार के इस धरातल को ध्यान मे रखने के कारण ही जैनाचार्यो द्वारा देशना की दृष्टि से सर्वप्रथम मुनि-धर्म का प्रतिपादन किया जाता रहा, अनन्तर श्रावकधर्म का और फिर श्रावकधर्म अथवा गृहस्थ-आचार स्वय भी अनगार के आचरण का एक अंग ही है।

जैनागम एक रिकार्ड

जैनागम एक रिकार्ड है। जैसे रिकार्ड गायक की सगीतमयी आरोह-अवरोहमयी स्वर-लहरी से सुपरिचित कराता है, वैसे ही महर्षियो के मुखारविन्द द्वारा उच्चरित अथवा सकलित-लिपिबद्ध सन्देश भी उनके भाषणो-धर्मग्रन्थो के माध्यम से परम्परागत सत्य एव तथ्य का साक्षात्कार कराता है।

प्रस्तुत प्रसग मे तो दो मत हो ही नहीं सकते है कि मानव-जीवन मे आचरण का महत्त्व अत्यधिक है। जैसे फूल मे सुगन्ध का, मणि मे कान्ति का, दीप मे ज्योति का, दूध मे धवलता का, घी मे स्निग्धता का महत्व है वैसे ही जीवन मे आचरण का। मनु के शब्दो मे आचरण या आचार सभी धर्मग्रथो मे सर्वोपरि है। आचार प्रथम धर्म है और मनुष्यो के लिये अतीव श्रेयस्कर है।[1] बर्क के शब्दो मे आचरण दृष्टान्त ही मानवजाति की पाठशाला है। आचार के आधार पर ही विचार का महल सुस्थिर, सुदीर्घजीवी और समुन्नत होगा।

जैनागमो की दृष्टि मे आचरण को सुधारने के लिये मिथ्यात्व का निरास करना अतीव आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे मिथ्या आचरण (व्यवहार) को सम्यक् आचरण (चरित्र) के रूप मे परिणत करने पर ही जीवात्मा को स्वानुभूति सभव है, अन्य किसी प्रकार नही। मिथ्या आचरण से अभिप्राय कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को मान्यता देने का है और सम्यक् आचरण मे आशय सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्र पर अपनी अखण्ड अपार आस्था बनाये रखने का है। पहला झूठा एव निष्फल है, दूसरा सच्चा एव सफल है। यदि हम गृहस्थो के आचरण के सम्बन्ध मे स्वामी समन्त-भद्राचार्य से परामर्श चाहे तो वे अपने अमर ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का उद्धरण प्रस्तुत कर कहेगे—

> सकल विकल चरण तत्सकल सर्वसगविरतानाम्।
> अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम्॥
> गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम्।
> पचत्रिचतुर्भेद त्रय यथासख्यमाख्यातम्॥

चारित्र के दो भेद है—(१) सकल (२) विकल। सकलचारित्र अपरिग्रही मुनिजनो के होता है और विकलचारित्र मर्यादित परिग्रही गृहस्थो के होता है। गृहस्थो का चारित्र तीन प्रकार का है—(१) अणुव्रत (२)

---

१ सर्वागमानामाचार प्रथम परिकल्प्यते,
आचार प्रथमो धर्मो नृणा श्रेयस्करो महान्॥

जैनगृहस्थ यथाशक्य ब्रह्मचर्य की उपासना करेगा। वह अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट होकर रहेगा और अन्य स्त्रियो को छत्रपति शिवाजी और धनुर्धारी अर्जुन की भाति अपनी मा बहिन-बहू-बेटी ही समझेगा। दूसरे शब्दो मे वह अन्य स्त्रियो का विषय की दृष्टि से त्यागी होगा। 'सहवास मे अनेकानेक जीवो की हानि-हत्या होती है।' इस वचन को ध्यान मे रखकर वह अपनी स्त्री से भी अत्यधिक काम-वासना की पूर्ति के लिये लालसा नही बढावेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत का सुगमतापूर्वक पालन हो सके, इसके लिये वह स्त्रियो मे राग बढाने वाली न तो बातें करेगा-सुनेगा, न चलचित्र देखेगा, न अश्लील उपन्यास ही पढेगा। वह न स्त्रियो के मनोहर अगो को देखेगा और न पिछले भोगो का स्मरण ही करेगा। काम के वेग को रोकने के लिए न केवल गरिष्ठ राजसी और निकृष्ट तामसी भोजन का ही परित्याग करेगा अपितु शरीर की सज्जा भी ऐसी नही करेगा, जो उसके अथवा अन्यजनो के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन मे बाधक हो।

जितने भी साधक पराजित हुये, वे प्राय स्त्री के क्षेत्र मे हुये। इस बात को ध्यान मे रखकर वह यथासभव उनसे बच कर ही रहेगा और ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना के लिये पडित द्यानतरायजी के शब्दो मे 'ससार मे विष-बेल नारी तजि गये जोगीश्वरा' भी कहने से नही चूकेगा। इस प्रकार जैन गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत का मर्यादानुसार पालन करेगा।[1]

अपरिग्रह का आराधक

इच्छाये असीमित है। आकाश की तरह अनन्त है। उनका पूर्ण होना सभव नही है। यह विचार कर जैन श्रावक अपनी इच्छाओ को यथासभव कम से कम कर लेगा और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-इन पाचो इन्द्रियो सबधी आसक्ति को बढाने वाली वस्तुओ और बातो को अतीव सीमित कर लेगा। इन इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखने के लिये वह एक ओर भोगोपभोग विषयक सामग्री कम करेगा और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री मे अत्यधिक राग-भाव नही बढावेगा। राग कम करने के लिये, प्रतिदिन प्रतिक्षण सावधान रहने के लिये वह भोजन-पानी, वस्त्र-सुगन्ध, घी-तेल आदि के प्रयोगो के सम्बन्ध मे निश्चित नियम बनाकर पालन करेगा।

अपरिग्रह का आरम्भिक आराधक होने के नाते जैन गृहस्थ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत का धारक बनेगा। वह सीमित परिग्रही बनेगा। वह खेत और घर दुकान और व्यवसाय को सीमित रखेगा। वह न तो मर्यादा से आगे चादी-सोना-रुपया बढ़ावेगा और न गाय-भैंस, हाथी-घोडे जैसे पशु बढावेगा तथा न गेहू-चना-दाले-शकर आदि की मात्रा बढावेगा। वह जहा नौकर-नौकरानी सीमित सख्या मे रखेगा, वहा वस्त्र और बर्तन आदि के प्रमाण का भी उल्लघन नही करेगा।[2]

यो अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को कम से कम करके जब जैन गृहस्थ अपरिग्रह की आराधना करने लगेगा तब वह देश और काल तथा समाज को भी प्रभावित किये बिना नही रहेगा। उसका यह आचरण समाज मे समता लाने वाला और विषमता मिटाने वाला सिद्ध होता है।

दिग्व्रत और देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रताचारी

गुणव्रत के तीन भेद है—(१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इन्हे सच्चा श्रमणोपासक बखूबी समझेगा। वह सूक्ष्म पापो से निवृत्ति के लिये दशो दिशाओ मे आने-जाने का परिमाण कर लेगा और दिग्व्रतधारी बनेगा तथा जीवन-पर्यन्त अपनी मर्यादा नही छोडेगा। स्वीकृत दिग्व्रत के क्षेत्र मे क्रमश कमी करता जाएगा। घडी-

---

१ वह न तो अन्य जनो के विवाहो मे उलझेगा और न व्यभिचारिणी स्त्रियो से अनुचित सम्बन्ध ही रखेगा। वह न निश्चित अगों के सिवाय अन्य अगो से काम-सेवन करेगा और न काम-सेवन की अत्यधिक लालसा रखेगा।

२ क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्वर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रम।

घटा, दिन-महीना आदि की दृष्टि से भी नगर-मुहल्ला तक ही आवेगा-जावेगा और देशव्रत का पालन करेगा। इस स्वीकृत मर्यादा को न तो भूलेगा और न उसके बाहर की वस्तुयें मगावेगा। न व्यक्तियो को भेजेगा, न सकेतो द्वारा ही लाने का मनोभाव दूसरो पर प्रकट करेगा। वह प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओ का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रताचारी बनेगा अर्थात् वह न किसी को पाप का उपदेश देगा और न हिंसा के साधन देगा तथा न दूसरे का बुरा ही विचारेगा। न वह राग द्वेषवर्धक खोटे शास्त्र पढेगा और न विना प्रयोजन इधर-उधर घूमेगा। न निरुद्देश्य पृथ्वी को खोदेगा न जल का अपव्यय करेगा। वह न तो कभी अशिष्ट वचन कहेगा और न शारीरिक कुचेष्टा करेगा। वह न वाचाल बनेगा और न मन-वचन काय को मनमानी करने देगा। वह भोग-उपभोग के पदार्थो का अधिक सग्रह नही करेगा।

पूर्वोक्त तीनो व्रतो के सम्यक्रीत्या आचरण के द्वारा जैनगृहस्थ उस सयम की ओर उन्मुख होगा, जिसके सम्बन्ध मे आचार्य आदि युग-युग से कहते आ रहे है कि 'सयम के विना एक घडी भी न वीते।'

शिक्षाव्रतधारी

मुनियो के व्रतो का पालन करने की प्रेरणा देने वाले शिक्षाव्रत ४ है—(१) सामायिक (२) प्रोपधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण (४) अतिथिसविभाग व्रत। चारो ही सार्थक सज्ञा वाले है।

सामायिक शब्द सम-आय-इक से मिल कर वना। जिस का आशय समभाव की प्राप्ति की साधना मे है। प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिये सामायिक करना अतीव आवश्यक है। वह कम से कम दो घडी के लिये, ४८ मिनट के लिये तो अवश्य ही अहिंसक जीवन विताये। इतने समय तक वह न केवल पापो से ही वचे अपितु विघ्न आने पर भी भयभीत न हो। सामायिक करने वाला गृहस्थ इसके छह अगो को कदापि नही भूलेगा। वह समता, वन्दना, प्रतिक्रमण-स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और स्तुति पर जागरूक होकर दृष्टि रखेगा। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक मे स्थित गृहस्थ की उपमा राख मे दवे अगार मे दी है। सामायिकधारी गृहस्थ को सवस्त्र मुनि भी कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। सामायिक करने मे गृहस्थ न केवल पापो से ही वचता है वल्कि आत्मिक सुखानुभूति भी पाता है।

जैन गृहस्थ प्रोपध (एकाशन) करेगा, उपवास करेगा तथा प्रोपधोपवास भी अर्थात् पहले दिन एकाशन, दूसरे दिन उपवास तथा तीसरे दिन पुन एकाशन भी करेगा। प्रोपधोपवास के दिनो मे वह ससार के कार्यो से उदासीन रहेगा और एकान्त शान्तिपूर्ण स्थान मे रहेगा। वह अजन-मजन, स्नान-उवटन, तेल फुलेल से जहा वचेगा वहा सिनेमा, नाटक, आदि से भी बचेगा। वह देखी-शोधी भूमि पर मल-मूत्र त्याग करेगा। सभी वस्तुओ को सावधानी से रखेगा-उठावेगा। भूख से व्याकुल होकर भी धार्मिक क्रियाओ मे उत्साहित रहेगा।

भोग और उपभोग की वस्तुओ की मर्यादा करके उन्हे ही जैनगृहस्थ ग्रहण करेगा, शेप को त्याग देगा। त्यागी हुई वस्तु का स्पर्श हो जाने पर या मिल जाने पर वह स्वीकृत वस्तु को भी भोजन मे नही लेगा।

अपने और दूसरो के उपकार के लिये दान[1] देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र-विशेप की अपेक्षा दान के फल मे विशेपता होती है। यह विचार कर जैन गृहस्थ अतिथिसविभाग व्रत का पालन करेगा। वह मुनि या श्रावक के लिये भोजन देकर ही स्वय भोजन करेगा। एक कवि के शब्दो मे उसकी प्रवृत्ति यो होगी—

मुनि आवन विरिया जोने। तव जोग अशन मुख लेवे॥

जब जैन गृहस्थ प्रसन्न मुखमुद्रा लिये समुचित पात्र को दान देगा तो उसकी उदारता मे भारतीय सस्कृति वढेगी। तीर्थंकरो को जिन लोगो ने दान दिया, उनके यहा देवताओ ने पाच आश्चर्य प्रकट किये।



---

१ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।



समाधिमरण का इच्छुक

गृहस्थ प्राण-त्याग के समय सल्लेखना अथवा समाधिमरण को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे। वह इहलोक-परलोक सबधी किसी भी प्रयोजन की इच्छा न करे और कषायो को तथा शरीर को कृश-क्षीण करे। पर क्यो ? इसलिये कि वह अन्तिम समय मे समाधिमरणपूर्वक अपने प्राणो को वैसे ही छोड सके, जैसे साप केंचुली को छोड देता है अथवा हम पुराने कपडे को छोड देते है। अन्तिम समय मे समाधिपूर्वक मरण से चारो गतियो मे भ्रमण करने से बचकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

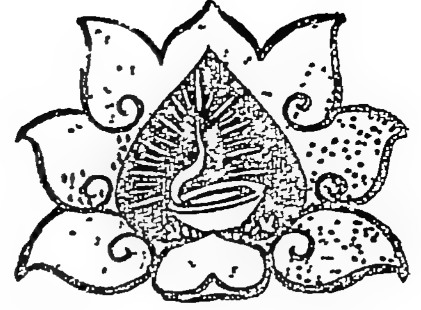
अन्ते समाहिमरण चउगइदुक्ख णिवारेई।

इस स्वर्णसूत्र को दृष्टिपथ मे रखता हुआ जैन गृहस्थ समाधि के समय न तो मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति ही करेगा और न समाधि दशा मे अनादर रखेगा अथवा न स्मरणीय पाठो को दुखी होकर भुला ही बैठेगा। वह सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने के बाद—न जीवन की इच्छा करेगा न मृत्यु की, न मित्रो का स्मरण करेगा न अतीत के भोगो का भी ध्यान रखेगा तथा न आगे के लिये भी विषयो की इच्छा करेगा। ऐसा करने से उसके प्राण सहज स्वाभाविक रूप से छूटेंगे, वह जैनधर्म के बीजभूत वीतरागता के रहस्य को भी समझ सकेगा।

सक्षेप मे जैनागमो मे जो गृहस्थ के आचार का वर्णन मिलता है, वह बहुत ही उच्च कोटि का है। उसकी भाव-भूमि बडी ही मनोहारी है। उसमे आहार-विहार और निहार पर नियन्त्रण है, अन्तरग और बहिरग दोनो ही दृष्टियो से त्याग की कामना है, लोक और परलोक की दृष्टियो से उसमे वैराग्य की भावना है। जैन गृहस्थ का जीवन जैनमुनि के जीवन की पूर्व भूमिका है। जैन धर्म जनधर्म है, अतएव जैनाचार प्रत्येक प्राणी का कल्याण करने मे सक्षम है।

उपासक का आचार

पं० जम्बूप्रसाद शास्त्री



जो सत्-श्रद्धा सद्-विवेक और सद्-आचरण रूप क्रिया करता है वही श्रावक कहलाने का पात्र हो सकता है। आस्तिक्य गुण को धारण कर सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व, तथा यह चैतन्य स्वभाव वाला, अविनाशी और अनन्त गुणो का समूह है, इसकी सुख शान्ति इसी के पास है, आदि आत्मविषयक बातो पर श्रद्धान करना, पुनर्जन्म पर आस्था, कर्मों का आगमन, उनका आत्म-प्रदेशो से बन्ध, उनका रुकना और उनकी निर्जरा तथा अतिम परिणाम मोक्ष किस तरह होता है, आदि का आगमानुकूल श्रद्धान करना, सत्श्रद्धा मे आता है।

विवेक सद्ज्ञान को कहते हैं जिसके प्राप्त कर लेने से आत्म-दर्शन हो जाता है। स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम हो जब आत्म-बोध होता है तो साधक आत्मा को उन्नति के पथ पर ले जाता है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार विवेक से ही होता है। जैसे दीपक अधकार मे डूबे मार्ग को प्रशस्त करता है ठीक उसी भाति विवेकी आत्मोन्नति के मार्ग मे बढता है।

जिस प्रकार औषधि का परिज्ञान मात्र, रोगी को रोग-मुक्त नही कर सकता परन्तु उसका सेवन आवश्यकीय होता है, इसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए सन्मार्ग पर चलना भी अनिवार्य है। कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्।

अर्थात् शास्त्र को पढकर भी बहुत से मूर्ख होते हैं किन्तु जो क्रियावान् है वही विद्वान् है। इसीलिए आचरण की प्रमुखता है। यही कारण है कि सदाचरणसम्पन्न श्रावक ही प्रशसनीय होता है। शेष कौटुम्बिक व्यवधानो मे फसे और शास्त्रोक्त आचरण न करने वाले गृहस्थ श्रावक कहलाने के योग्य नही हैं।

सत्कर्तव्य की आवश्यकता क्यो है ? इस प्रश्न पर थोडा विचार करें।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुख से डरता है। 'जे त्रिभुवन मे जीव अनन्त, सुख चाहे दुखते भयवन्त।' वास्तव मे यह उद्देश्य प्रत्येक प्राणी मात्र का है। जिस प्रकार 'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोग है, यह सभी ससारी और मुक्त जीवो मे घटित होता है उसी प्रकार सुख की चाह और दुख की अचाह, यह ससारी प्राणी मात्र की अभिलाषा है और यही जीव मात्र की समानता का बोध कराती है। इसी हेतु की प्राप्ति के लिए सत्कर्तव्य की आवश्यकता होती है, जो सदुपदेश के श्रवण और सद्विवेक की सहकारिता से मिलता है। लेकिन व्यवहार मे हम करते कुछ हैं और चाहते कुछ है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्य नेच्छन्ति मानवा।
पापफल च नेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति यत्नत ॥

यह सर्वविदित है कि पुण्य का फल इन्द्रिय-सुख और महानता आदि तथा पाप का फल दुख एव तिरस्कृत अवस्था है। परन्तु यह प्राणी पुण्य के फल को चाह कर भी पुण्य नही करता और पाप के दुख रूप फल को न चाह कर भी यत्नपूर्वक पाप करता है। इस विपरीतता मे जाता हुआ मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है ?

पुण्य और पाप क्या है ? यह भी ज्ञातव्य है। 'सुह असुहभावजुत्ता, पुण्ण पाव हवन्ति खलु जीवा।' अर्थात् शुभ और अशुभ परिणाम सहित यह जीव पुण्य और पाप रूप प्रवृत्ति वाला होता है। पाप शब्द की व्याख्या मे कहा है—

'पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम्। अर्थात् जो आत्मा को शुभ से दूर करे वह पाप है। पाप ऐसा शत्रु है जो आत्मा के साथ छायावत् चलता है। जिस व्यक्ति को आत्मा से प्रेम नही वही आत्मा के हित की उपेक्षा करता हुआ पापाचरण करता है। आत्मा को समझने वाला आत्मस्नेही पाप नही किया करता। ससार मे जितने भी दुख देखने मे आ रहे है, वे सब पाप के फल हैं। वे पाप प्रधानत हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह के भेद से पाच प्रकार के है। यद्यपि अभक्ष्यभक्षण, रात्रिभोजन और सप्त व्यसन सेवन भी पाप है तथापि उन पापो का समावेश इन्ही पाच मे हो जाता है।

पुण्य की व्याख्या मे कहा है कि—'पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। इसलिए जो गृहस्थ समर्थ होकर भी नित्य जिनेन्द्र भगवान् की उपासना, आराधना, स्तुति आदि नही करता है और जो मुनि आदि सुपात्रो को दान नही देता है उसका गृहस्थाश्रम भवसागर मे पाषाण-नौका के समान है जो उसे डुबाकर नष्ट कर देता है।

जो मूलोत्तर गुणो से सहित पच परमेष्ठी के चरणो की शरण वाला है, योग्यतानुसार षट्कर्म जिसका प्रधान कार्य है, ऐसा ज्ञान-अमृतपिपासु श्रावक ही उत्तम है।

अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत, इन पच अणुव्रतो को धारण करना तथा मद्य, मास एव मधु का त्याग, ये अष्ट मुलगुण श्री समन्तभद्राचार्य के कथनानुसार है। यद्यपि कोई कोई पच उदम्बर फल के त्याग के साथ तीन मकारो के त्याग को भी अष्टमूलगुण मानते है, लेकिन मेरी अपनी आस्था उपर्युक्त मूलगुणो मे ही है।

जब पच अणुव्रतो मे दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, पोषधोपवास, भोगोपभोग—परिमाण और अतिथि-सविभाग ये चार शिक्षाव्रत सम्मिलित हो जाते है तो श्रावक के १२ व्रत कहलाने लगते है। इनका पालन करते हुए अतिम समय निरतिचार सल्लेखना धारण करना गृहस्थ का श्रावकाचार है। बारह व्रतो का समीचीन रूप से पालन करने के लिए भूमिका रूप मे गृहस्थ मे निम्न विशेषताए जरूरी है—

(१) न्याय पूर्वक धन का कमाना—क्योकि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन एक तो ठहरता नही और दूसरे उससे जो भोजनादि किया जाता है उसके प्रभाव से बुद्धि धार्मिक नही बन सकती।

(२) अपने से अधिक गुणो वाले व्यक्ति का सम्मान करना।

(३) सत्यभाषी प्रकृति वाला होना।

(४) परस्पर मे विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवा करना।

(५) योग्य धार्मिक कुलवधू का होना।

(६) योग्य स्थान (आलय) का होना।

(७) लज्जावान् होना।

(८) योग्य आहार-विहार करने वाला हो।

(९) सत्सगति करने वाला हो ।

(१०) बुद्धिमान् हो (११) कृतज्ञ हो । (१३) धार्मिक विधि-विधाना को हमेशा प्रेमपूर्वक सुनने वाला हो । (१४) पापो मे हमेशा डरने वाला हो । (१५) दयावान हो, आदि ।

ये उपर्युक्त बातें जिस गृहस्थ मे होती हैं वही निर्दोष श्रावकाचार का पालन कर सकता है । आत्मकल्याणेच्छुको को इन गुणो को धारण करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त विशिष्ट साधना के लिए श्रावक के ग्यारह दर्जे होते हैं जिन्हे ग्यारह 'प्रतिमाओं' के नाम से कहा गया है । इन दर्शन, व्रत, सामायिक, पोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग-परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग प्रतिमाओं को पालन करने वाला क्रम से उच्च-उच्चतर श्रेणियो पर चढता हुआ उत्तम श्रावक की श्रेणी पर पहुचकर मुनि के समान ही आचरण करने वाला हो जाता है । इसलिए श्रावको को अपने योग्य जितना भी व्रत आचरण हो सके, पालन करते हुए मनुष्यजन्म को सफल करना चाहिए ।

जिस मनुष्यभव के लिए इन्द्रादिक महान् देव भी लालायित रहते हैं, यदि सौभाग्य से वह प्राप्त हो गया तो उसे व्यर्थ नही खो देना चाहिए । उसमे भी यह उत्तम कुल, जिनवाणी का श्रवण, तत्वविचार की बुद्धि, आरोग्यता और सम्पन्नता आदि ऐसी बातें प्राप्त हुई जो बिना पूर्वोपार्जित पुण्य के नही हो सकती । अत पुरुषार्थ-पूर्वक आत्मोन्नति द्वारा इस सामग्री को सफल करना चाहिए । क्योकि मोक्षप्राप्ति मे पुरुषार्थ की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए श्री अकलक देव ने तत्वार्थराजवार्तिक (अध्याय १ सूत्र ३) मे कहा है —मोक्ष जाने का कोई काल नियत नही है । जब भी यह आत्मा योग्य पुरुषार्थ करता है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता मिलने पर इसकी मुक्ति हो सकती है ।

यह राग रूपी आग जीव को हमेशा से जलाती आ रही है । इसे समता रूपी जल से शान्त करना चाहिए । विषय और कषाय रूप प्रवृत्ति जीव ने अनादि काल से रक्खी, अब उसे त्याग करके आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए । भोगो की लिप्सा जब देवो व चक्रवर्ती के सुखो को भोगने पर भी पूर्ण नही हुई तब इस स्वल्पकालिक जन्म मे क्या तृप्ति होगी ? समुद्र भर जल पीकर जिसकी प्यास नही बुझी क्या वह तृण के ऊपर स्थित जल-बिन्दु के पीने से बुझ सकती है ? कदापि नही । इस प्रकार अपने मन मे निश्चय कर भोगो की लालसा को छोडना चाहिए ।

आर्त-रौद्र जैसे खोटे ध्यान, जो कि नरक और तिर्यंच गति के कारण हैं, छोडकर मोक्ष के कारणभूत धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए । यद्यपि गृहस्थ धर्मध्यान की चरम पराकाष्ठा तक नही पहुच सकता तथापि पचपरमेष्ठी के मत्रो का जाप व स्मरण रूप ध्यान तो नित्य कर ही सकता है ।

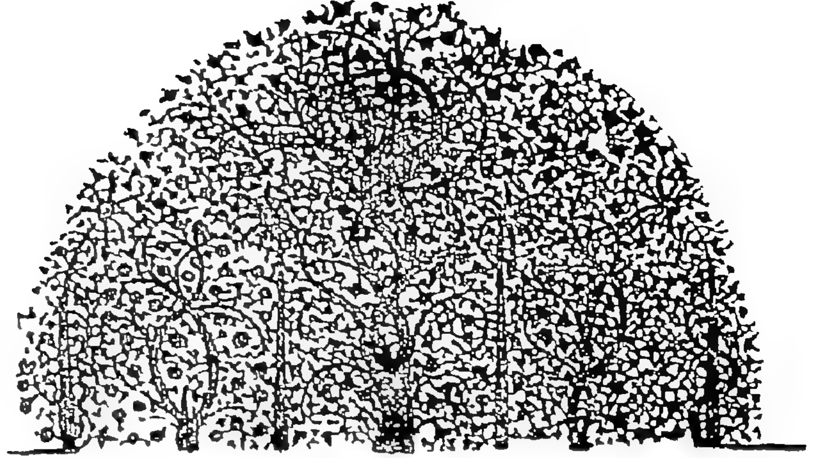
सबके प्रति सद्भावना रखना श्रावक का परम कर्तव्य है, क्योकि जिनवाणी मे बध और मोक्ष मुख्यत भावना पर ही निर्भर है । यदि ऐसा न होता तो इस जीव-जन्तुओ से भरे ससार मे अहिंसात्मक प्रवृत्ति न बनती और न मुक्ति-प्राप्ति की सम्भावना ही हो सकती थी । इसलिए मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति को, जो पुण्य का कारण है, करते हुए शुद्धोपयोग की ओर लक्ष्य रखना चाहिए, जो मुक्ति का साक्षात् कारण है ।

मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता होता है । जैसा शुभ या अशुभ आचरण वह करता है आगे चलकर वही भाग्य रूप मे परिणत होकर फल देता है । यह विशेष जानने की बात है कि मनुष्य कर्म करने मे तो स्वतत्र होता है परन्तु उनके फल भोगने मे परतत्र । इसलिए आत्मस्नेही को सत्-कर्म करना चाहिए ।



अतिचार-रहस्य

पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री,



देव, गुरु, सघ, आत्मा आदि की साक्षी-पूर्वक जो हिंसादि पापो का — बुरे कार्यो का — परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते है । पाँचो पापो का यदि एक देश, आशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते है और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं । यत पाप पाँच होते है, अत उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पाँच-पाँच ही होते है । इस व्यवस्था के अनुसार महाव्रतो के धारक मुनि और अणुव्रतो के धारक श्रावक कहलाते है । पाँचो अणुव्रत श्रावक के शेष व्रतो के, तथा पाँचो महाव्रत मुनियो के शेष व्रतो के मूल आधार है, अतएव उन्हे मूलव्रत या मूलगुण के नाम से भी कहा जाता है । मूलव्रतो या मूलगुणो की रक्षा के लिए जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हे उत्तर गुण कहा जाता है । इस व्यवस्था के अनुसार मूल मे श्रावक के पाँच मूल गुण और सात उत्तर गुण बताये गये है । कुछ आचार्यों ने उत्तर गुणो की "शीलव्रत" सज्ञा भी दी है । कालान्तर मे श्रावक के मूलगुणो की सख्या पाँच से बढकर आठ हो गई, अर्थात् पाँचो पापो के त्याग के साथ मद्य, मास और मधु इन तीन मकारो के सेवन का त्याग करने को आठ मूलगुण माना जाने लगा । तत्पश्चात् पाँच पापो का स्थान पाँच उदुम्बर फलो ने ले लिया और एक नये प्रकार के आठ मूलगुण माने जाने लगे । इस प्रकार पाँचो अणुव्रतो की गणना उत्तर गुणो मे की जाने लगी और सात के स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावको के माने जाने लगे । किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परा मे दृष्टिगोचर नही होता ।

साधुओ के पाँचो पापो का सर्वथा त्याग नव कोटि से अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से होता है, अतएव उनके व्रतो मे किसी प्रकार के अतिचार के लिए स्थान नही रहता है । पर श्रावको के प्रथम तो सर्व पापो का सर्वथा त्याग सभव ही नही है । दूसरे हर एक व्यक्ति नव कोटि से स्थूल भी पापो का त्याग नही कर सकता है । तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के चारो ओर का वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है । इन सब बाह्य कारणो से, तथा सज्वलन और नोकषायो के तीव्र उदय से उसके व्रतो मे कुछ न कुछ दोष लगता रहता है । अतएव व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि, तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणो से ग्रहीत व्रतो मे दोष लगने का, व्रत के आशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उल्लघन का नाम ही शास्त्रकारो ने 'अतिचार' रखा है । यथा-

'सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽशभजनम् ।

—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० १८

जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय आता है, तो व्रत जड-मूल से ही खण्डित हो जाता है । उसके लिए आचार्यो ने 'अनाचार" नाम का प्रयोग किया है । यदि किसी व्रत के लिए १०० अक मान लिये जावे, तो एक से लेकर ९९ अक तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा के भीतर आता है । क्योंकि व्रत-धारक की एक प्रतिशत

अपेक्षा व्रत-धारण मे बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत व्रत-सापेक्षता भी न रहे और व्रत शत-प्रतिशत खण्डित हो जावे, तो उसे अनाचार कहते है। । अनेक आचार्यों ने इसी दृष्टि को लक्ष्य मे रख करके अतिचारो की व्याख्या की है। किन्तु कुछ आचार्यों ने अतिचार और अनाचार इन दो के स्थान पर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग किये है। उन्होने मन के भीतर व्रत-सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम, व्रत की रक्षा करने वाली शील-वाढ के उल्लघन को व्यतिक्रम, विषयो मे प्रवृत्ति करने को अतिचार और विषय-सेवन मे अति आसक्ति को अनाचार कहा है। जैसा कि आ० अमितगति ने कहा है—

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम व्यतिक्रम शीलेवृतेर्विलघनम् ।
प्रभोऽतिचार विषयेषुवर्तन वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ।।

— सामायिक श्लोक

उस व्यवस्था के अनुसार १ से लेकर ३३ अश तक के व्रत-भग को अतिक्रम, ३४ से लेकर ६६ अश तक के व्रत-भग को व्यतिक्रम, ६७ से लेकर ९९ अश तक के व्रत-भग को अतिचार और शत-प्रतिशत व्रत-भग को अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रो के प्रणेताओ ने उक्त चार के साथ 'आभोग' को बढा करके व्रत-भग के पाँच विभाग किये है। उनके मत से एक बार व्रत खण्डित करके भी पुन व्रत मे वापिस आ जाने का नाम अनाचार है और व्रत खण्डित होने के बाद नि शङ्क होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय-सेवन करने का नाम 'आभोग है। किसी-किसी प्रायश्चित्त-शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर 'छन्नभग' नाम दिया है।

प्रायश्चित्त-शास्त्रकारो के मत से १ अश से लेकर २५ अश तक के व्रत-भग को अतिक्रम, २६ से लेकर ५० अश तक के व्रत-भग को व्यतिक्रम, ५१ से लेकर ७५ अश तक के व्रत-भग को अतिचार, ७६ से लेकर ९९ अश तक के व्रत-भग को अनाचार और शत-प्रतिशत व्रत-भग को आभोग समझना चाहिए।

श्रावक के जो बारह व्रत बतलाये गये हैं उनमे से प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बतलाये गये है। जैसा कि तत्वार्थाधिगमसूत्र अ० ७ के सू० २४ से सिद्ध है—

"व्रत-शीलेषु पच पच यथाक्रमम् ।"

ऐसी दशा मे स्वभावत यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पांच ही अतिचार क्यो बतलाये गये हैं? तत्वार्थसूत्र की उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओ के भीतर इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टिगोचर नही होता। जिन-जिन श्रावकाचारो मे अतिचारो का निरूपण किया है उनमे, तथा उनकी टीकाओ मे भी इस प्रश्न का कोई समाधान नही मिलता है। पर इस प्रश्न के समाधान का सकेत मिलता है प्रायश्चित-विषयक ग्रन्थो मे—जहाँ पर कि अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग के रूप मे व्रत-भग के पाँच प्रकार बतलाये गये है।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेर के बीस पथ धडे के शास्त्र-भडार से जो 'जीतसार-समुच्चय' नामक ग्रथ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्त मे 'हेमनाभ' नाम का एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरत के प्रश्नो का ऋषभदेव के द्वारा उत्तर दिलाया गया है। वहाँ पर प्रस्तुत अतिचारो की चर्चा इस प्रकार से दी गई है—

दृग्-व्रत-गुण-शिक्षाणा पञ्च पञ्चैकशो मला ।
अतिक्रमादिभेदेन पञ्चषष्टिश्च सन्तते ।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन तेरह व्रतो मे से प्रत्येक व्रत के अतिक्रम आदि के भेद से पाँच-पाँच मल या दोष होते हैं अतएव सर्व मलो की सख्या (१३ × ५ = ६५) पैंसठ हो जाती है।



इसके आगे सातवें आदि श्लोकों में अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि पाँचों भेदों का स्वरूप देकर कहा गया है—

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धिहानित. ।
त्रयोदशातिचारास्ते चिन्दयन्त्यात्मनिन्दनात् ॥१०॥
त्रयोदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रयोदशातिचारास्ते शुद्धयन्ति स्वान्तनिग्रहात् ॥११॥
त्रयोदश-व्रतानां तु क्रियाऽऽलस्य प्रकुर्वत ।
त्रयोदशातिचारा स्युस्तत्त्यागान्निर्मलो गृही ॥१२॥
त्रयोदश व्रतानां तु छन्न भंग वितन्वत ।
त्रयोदशातिचारा स्यु शुद्धयन्ते योगदण्डनात् ॥१३॥
त्रयोदश-व्रतानां तु साभोग-व्रतभंजनात ।
त्रयोदशातिचारा: स्युश्छन्नं शुद्धिरधिकान्नयात् ॥१४॥

अर्थात् उक्त तेरह व्रतों में मानस-शुद्धि की हानिरूप अतिक्रम से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा से दूर हो जाते हैं। तेरह व्रतों के स्व-प्रतिपक्षरूप विषयों की अभिलाषा से जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतों के आचरण रूप क्रिया में आलस्य करने से तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है। तेरह व्रतों के अनाचार रूप छन्न भंग को करने से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन-वचन-काय रूप तीनों योगों के निग्रह से शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतों के आभोग-जनित व्रत भंग से जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नय-मार्ग से शुद्ध होते हैं ॥१०—१४॥

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों में से एक-एक अतिचार अतिक्रम-जनित है, एक-एक व्यतिक्रम-जनित है, एक-एक अतिचार-जनित है, एक-एक अनाचार-जनित है और एक-एक आभोग-जनित है। उक्त सन्दर्भ से दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि प्रत्येक अतिचार की शुद्धि का प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जब व्रत-भंग के प्रकार पाँच हैं, अतः तज्जनित दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं।

प्रायश्चित्त-चूलिका के टीकाकार ने भी उक्त प्रकार से ही व्रत-सम्बन्धी दोषों के पाँच-पाँच भेद किये हैं। यथा-

"सर्वेऽपि व्रत दोषा पञ्चविधभेदा भवति। तद्यथा-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारो आभोग इति। एषा-मर्थप्रकाशनायोच्यते जरद्-गवन्यायेन। यथा-कश्चित् जरद्-गव महासस्यसमृद्धि-सम्पन्न क्षेत्र समवलोक्य तत्सीम-समीप-प्रदेशे समवस्थितस्तद्ग्रासं स्पृहां विधत्ते सोऽतिक्रम। पुनर्विवरोदरान्तरास्य सम्प्रवेश्य ग्रासमेक समाददामीत्यभिलाषका-लुष्यमाचरन् व्यतिक्रम। पुनरपि तद्-वृत्ति-समुल्लंघनमस्यातिचार। पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य ग्रासमेक समादाय पुनरस्या-पसरणमनाचार। भूयोऽपि नि:शङ्कित. क्षेत्रमध्यं प्रविश्य यथेष्ट सभक्षण क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलीकार आभोग-कार आभोग इति। एव व्रतादिष्वपि योज्यम्।

—प्रायश्चित्तचूलिका० श्लो० १४६ टीका

भावार्थ—प्रत्येक व्रत के दोष अतिक्रम आदि के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं। इन पाँचों का अर्थ एक बूढ़े बैल से दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया गया है। कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसके समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह अतिक्रम दोष है। पुन: वह बैठा-बैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक ग्रास खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है। अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड़ को तोड़कर भीतर घुसने का प्रयत्न करना अतिचार नाम का दोष है। पुन: खेत में पहुँचकर एक ग्रास घास या धान्य का खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नाम का दोष है। किन्तु जब वह नि:शंक होकर और खेत के

भीतर घुस यथेच्छ घास खाता है और खेत के स्वामी-द्वारा डण्डो से पीटे जानेपर भी घास खाना नही छोडता तो आभोग नाम का दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषो को बूढे बैल के ऊपर घटाया गया है, उसी प्रकार से व्रतो के ऊपर भी लगा लेना चाहिए।

इस विवेचन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकार के दोषो को ध्यान मे रखकर ही प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये है।

श्रावकधर्म का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रथ हैं उनमे से व्रतो के अतिचारो का वर्णन उपासकदशाग-सूत्र और तत्वार्थसूत्र मे ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा श्रावकाचारो मे से सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार में अतिचारो का वर्णन पाया जाता है। जब तत्वार्थसूत्र-वर्णित अतिचारो का उपासकदशागसूत्र मे—जो श्वेताम्बरो द्वारा सर्वमान्य है—तुलना करते है, तो यह नि सकोच कहा जा सकता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव ही नही है, अपितु एक ने दूसरे के अतिचारो का अपनी भाषा मे अनुवाद किया है। यदि दोनो के अतिचारो मे कही अन्तर है तो केवल भोगोपभोग-परिमाण व्रत के अतिचारो मे है। उपासकदशासूत्र मे इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए है—भोगत और कर्मत। भोग की अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये है जो तत्वार्थसूत्र मे दिये गये है। कर्म की अपेक्षा उपासकदशासूत्र मे पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं जो कि खर-कर्म के नाम से प्रसिद्ध है और प० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत मे जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकदशा मे कर्म की अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्वार्थसूत्रकार ने क्यो नहीं बतलाया ? मेरी समझ से इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्वार्थसूत्रकार 'व्रत-शीलेषु पच-पच यथाक्रमम्' इस प्रतिज्ञा से बधे हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार बताये। पर उपासकदशाकार ने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा अतिचारो के वर्णन करने के पूर्व नही की है। अत वे पाँच से अधिक भी अतिचारो के वर्णन करने के लिए स्वतत्र रहे है।

तत्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार-वर्णित अतिचारो का जब तुलनात्मक दृष्टि से मिलान करते हैं, तो कुछ व्रतो के अतिचार मे एक खास भेद नजर आता है। उनमे से दो स्थल खास तौर से उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रह-परिमाण व्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्वार्थसूत्र मे परिग्रहपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, उनसे पाँच की एक निश्चित सख्या का अतिक्रमण होता है। तथा भोगोपभोगव्रत के जो अतिचार बताये गये है, वे केवल भोग पर ही घटित होते है, उपभोग पर नही, जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनो पर ही घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्ड के कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक व्यक्ति के हृदय मे उक्त बात खटकी और इसीलिए उक्त दोनो ही व्रतो के एक नये ही प्रकार के पाँच-पाँच अतिचारो का निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनो आपत्तियो से रहित है।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और सल्लेखना के अतिचारो का अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पाँच प्रकार के दोषो मे वर्गीकरण किया जाता है—



	१	२	३	४	५
व्रतनाम	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन	शका	काक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशसा	अन्यदृष्टिसस्तव
अहिंसाणुव्रत	बन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारारोपण	अन्न-पाननिरोध
सत्याणुव्रत	विवाद	रहोऽभ्याख्यान	पैशुन्य	कूटलेखकरण	न्यासापहार
अचौर्याणुव्रत	विरुद्धराज्यातिक्रम	सदृशसम्मिश्रण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग	चौरार्थादान
ब्रह्मचर्याणुव्रत	अन्यविवाहकरण	अनगक्रीडा	विटत्व	विपुलतृषा	इत्वरिकागमन
परिग्रहपरिमाणव्रत	विस्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारारोपण	अतिसग्रह



जब हम मागने निकले है तो किसी न किसी रूप मे दीनता तो आ ही जाती है। दीनता का परिणाम है स्वाभिमान का ह्रास। जीवात्मा परमात्मा का अग है, इसलिए उससे छोटा है परन्तु चिनगारी तो उसी की है। हाथ पसारने का अर्थ है उस चिनगारी को भुला देना और केवल अपने अल्पत्व को याद रखना। यह अधूरी चेतना है। जहाँ हम अल्प हैं वही हम चेतन-कण भी हैं, यह पूर्ण बोध है। अत क्या प्रार्थना की कोई ऐसी विधि नही हो सकती, जिसमे न अभिमान रहे, न हीनता ? ऐसे प्रश्न या शका मेरे मन मे उठते रहे। अपने को सदैव अल्प, दीन, हीन, पतित, पापात्मा मानने की कल्पना मेरे गले नहीं उतरती थी। अपनी कमियो और दोषो की खोज के सिलसिले मे मन की एक ऐसी अवस्था जरूर आ जाती है, जब हमारे गुण-शक्ति हमारी निगाहो से ओझल हो जाती हैं और केवल दोष ही बडी मात्रा मे दिखाई देते है। चित्त-शुद्धि की अवस्था मे आप से यह कहे बिना रहा ही नही जाता —'मो सम कौन कुटिल खल कामी' या 'पापोऽह, पापकर्माऽहम्' पापात्मा पाप सम्भव आदि। परन्तु यह सहज अवस्था नही है। इसे आदर्श मानकर नही चला जा सकता। मन मे सवाल उठा कि भगवान् से मागने के बजाय क्या उसके स्मरण-मात्र से उस अभाव की पूर्ति नही हो सकती ? उसका स्मरण हमारी इस बात का द्योतक नही है कि हमारा कोई अभाव है ? और यदि भगवान् या परमात्मा नामक कोई शक्ति है तो क्या हमारा स्मरण ही हमारे अभाव की पूर्ति के लिए काफी नही है ? बच्चा सिर्फ मा मा चिल्लाता है, उसमे बोलने बतलाने की शक्ति नही है, तो क्या मा अपना नाम सुनकर ही उसके अभाव की पूर्ति के लिए नही दौड पडती ? इस उत्तर से मुझे समाधान मिला। एक चरण याद आया— 'अन-बोलत मेरी विथा जानी।"

फिर मैंने पुराने स्तुति-स्तोत्र देखना शुरू किया—कि देखें शकराचार्य ने, तुलसीदास ने भगवान् से क्या मागा है ? शकराचार्य ने तो केवल भगवान् का भिन्न रूपो मे, देवी-देवताओ के माध्यम से, गुणगान ही किया है। अलबत्ता तुलसी ने मागा है—पर हृदय मे केवल रामभक्ति हो, अर्थात् ऐहिक वस्तु किसी ने भी नही मागी। तुलसी से भी शकर की स्थिति मुझे ज्यादा सही मालूम हुई। तुलसी भूल गये कि मैं परमात्मा का अश हूँ, उन्होने इतना ही याद रखा कि मैं उनका एक भक्त हूँ। जब कि शकराचार्य के मन मे यह चेतना जाग्रत रही दिखती है कि मैं ब्रह्म हूँ। जब उन्होने देवी-देवताओ की स्तुतियाँ की हैं—स्तोत्र बनाये है तो उनमे अलग्ता का भाव तो था, परन्तु किसी से कुछ मागा नही, केवल उनके गुणो का स्मरण किया, यह उनकी अद्वैत–धारणा का प्रभाव है। भक्त और ज्ञानी मे कौन बडा है, कौन सही है—यह कहना तो कठिन है, परन्तु इसमे कोई शक नही कि शक्ति भक्ति मे है, ज्ञान मे नही, परन्तु प्रकाश ज्ञान मे है, भक्ति मे नही। मनुष्य को शक्ति और प्रकाश दोनो की आवश्यकता है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है, जबकि प्रकाश का ज्ञान से। मानवजीवन मे भावना ही मुख्य बल है, जो ज्ञान की सहायता से उसके दिखाये प्रकाश-पथ मे दौडता हुआ अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाता है। भक्ति और ज्ञान का जोडा मुझे 'अन्ध-पगु' न्याय की तरह लगता है।

इस विवेचन से हम नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रार्थना मे उत्तम वस्तु तो नामस्मरण है, परन्तु यदि किसी से मागे बिना नही रहा जाता तो तुलसी की तरह 'राम चरण रति देहु'—यही मागने योग्य है, और कुछ नही। और कुछ मागना पुरुषार्थ-हीनता है और कदाचित् वह मिल जाय परन्तु मनुष्य नामधारी के लिए वह कोई गौरव की वस्तु नही जान पडता।

जैनसिद्धान्त में कारणकार्य-व्यवस्था

पं० अजितकुमार शास्त्री,

दिल्ली,



यह दृश्यमान जगत अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। अतएव यह अकृत्रिम है, किसी के द्वारा किसी विशेष समय मे बनाया नही गया है तथा यह अविनश्वर भी है, यानी कभी भी यह जगत किसी भी शक्ति के द्वारा न नष्ट हुआ, न कभी नष्ट होगा।

ऐसा क्यो है ? इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय ग्रन्थ मे दिया है—

सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणतपज्जाया।
भगुप्पादधुवत्ता, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।। ८ ।।

इसका सक्षिप्त अभिप्राय इतना ही है कि इस जगत की महासत्ता समस्त पदार्थों मे रहने वाली है। वह सत्ता विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे है, वह सत्ता अनन्त पर्यायरूप है, वह सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, वह सत्ता अपने प्रतिपक्ष सहित है यानी प्रत्येक पदार्थवर्तिनी एव प्रत्येक पर्यायवर्तिनी तथा प्रत्येक गुणवर्तिनी अवान्तरसत्ताओ सहित है, ऐसे पाच विशेषणमयी वह महासत्ता एक है।

इसी गाथा के अनुरूप श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्वार्थसूत्र के पाचवें अध्याय मे दो सूत्र लिखे है—सद् द्रव्यलक्षणम्। २९। (सत्ता द्रव्य का लक्षण है), उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ।। ३० ।। (सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यसहित होती है।)

इसके अनुसार जगत का प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता रखता है अत जगत के सभी पदार्थ सत हैं, एक भी पदार्थ असत् नही है।

तथा पदार्थ द्रव्य या वस्तु का यह एक स्वाभाविक नियम है कि सत् पदार्थ कभी असत् (नष्ट) नही हो सकता। विज्ञान के इस मूल नियम को श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र मे श्री सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति करते हुए निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है—

"नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति ।। २४ ।।

यानी—"असत् (सत्तारहित) पदार्थ कभी उत्पन्न नही होता और सत् पदार्थ का कभी नाश नही होता।"

इस अमर नियम को आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि दीपक जलने पर जो अन्धकार का नाश देखा जाता है या दीपक के बुझ जाने पर जो अन्धकार हुआ दीख पडता है, उसमे मूल पदार्थ पुद्‌गल द्रव्य का न तो नवीन उत्पाद हुआ है क्योकि वह तो पहले से ही विद्यमान है और न वह नष्ट हुआ है क्योकि वह दीपक बुझ जाने के

पश्चात् तथा अन्धकार नष्ट हो जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। अन्धकार और प्रकाश तो उस मूल द्रव्य पुद्गल की भिन्न-भिन्न दो पर्याये (अवस्थायें-दशाये) है।"[1]

इस कारण जगत के सभी पदार्थ अकृत्रिम हैं, अनादि है और अविनश्वर या अपनी सत्ता से अनन्त (अन्त रहित अस्तित्ववाले) हैं।

मूल पदार्थ, जिसको जैनागम 'द्रव्य' शब्द से उल्लेख करता है, उस मूल पदार्थ रूप द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए पचास्तिकाय ग्रन्थ बतलाता है –

दव्व सल्लक्खणिय, उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त।
गुणपज्जयासय वा, ज त भण्णति सव्वण्हू ॥ १० ॥

अर्थ—जो सत्ता लक्षण वाला है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से सहित है, गुणो और पर्यायो का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा मे क्षणिकवाद, नित्यवाद का तथा गुण की स्वतन्त्रता या पृथक्ता बतलाने वाले बौद्ध, वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनो की अधूरी यानी-एकान्तवादिनी मान्यता का निरास करते हुए द्रव्य वस्तु या पदार्थ का यथार्थ सर्वांगीण अनेकान्तमय लक्षण बतला दिया है। द्रव्य के लक्षण को सम्पुष्ट करते हुए आचार्य लिखते है—

पज्जयविजुद दव्व, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्ह अणण्णभूद, भाव समणा परूविंति ॥ १२ ॥

अर्थ—पर्याय (परिणमन) के विना द्रव्य नही होता और द्रव्य के बिना पर्याय नही होती। द्रव्य और उसके पर्याय दोनो अनन्यभूत है (एक रूप है भिन्न-भिन्न या अन्य-अन्य नही है।) ऐसी सत्ता (अस्तित्व) या पदार्थ श्रमण भगवान महावीर कहते है।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य की एकता के विषय मे बतलाया है—

दव्वेण विणा ण गुणा, गुर्णेहि दव्व विणा ण सभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाण हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

अर्थ—द्रव्य के विना गुण नही होते और गुणो के बिना द्रव्य नही होता, इस कारण द्रव्य और गुणो की अभिन्नता है।

इन दो गाथाओ के अनुरूप तत्वार्थसूत्र के पाचवे अध्याय का सूत्र "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायमय है। यानी-प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण होते हैं और अनन्त पर्याय होती है। अपने समस्त (अनन्त) गुण सहभावी रूप से सदा द्रव्य के साथ रहते है और क्रम-क्रम से प्रतिक्षण द्रव्य की पर्याय वदलती रहती हैं।

यहा इतना और समझ लेना आवश्यक है कि पर्यायपरिवर्तन केवल द्रव्य का ही नही होता किन्तु उसके सहभावी (सदा साथ रहने वाले) प्रत्येक गुण की भी पर्याय पलटती रहती है। इस कारण यह भी अटल स्वाभाविक नियम है कि विना पर्याय के कोई गुण नही होता और बिना गुण के उसकी पर्याय नही होती। इस तरह गुण और पर्याय का भी परस्पर अविनाभावी (एक के विना दूसरे का न होना) सम्बन्ध है।

द्रव्य गुण पर्याय के इस वास्तविक नियम को निम्नलिखित उदाहरणो मे अवगत कर लेना चाहिये।

---

१ अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिये —स्याद्वादमजरी, श्लोक ५ टीका।

जैसे ससारी आत्मा मनुष्य, पशु, देव, नारक पर्याय अपने सासारिक भ्रमण मे जन्म-मरण द्वारा बदलता रहता है अथवा मनुष्य शरीरधारी आत्मा शिशु, किशोर, यौवन, प्रौढ वृद्ध पर्याय रूप पलटा करता है परन्तु उन सभी पर्यायो मे आत्मा वही एक रहता है।

सोना हार, अगूठी, ककण, भुजबन्द आदि अनेक पर्यायो मे बदलता रहता है परन्तु वह सदा सोने रूप मे बना रहता है।

आत्मा का ज्ञानगुण प्रतिक्षण विभिन्न ज्ञेय पदार्थों को विभिन्न रूप से जानते हुए पर्याय बदलता रहता है परन्तु वह ज्ञानगुण रहता सदा एक रूप ही है।

आम का रूप गुण हरा, पीला, लाल आदि पर्यायो मे पलटता रहता है परन्तु वह रूप गुण रहता सदा रूप ही है, अन्य गुण नही बन जाता।

इस तरह दो बातें सिद्ध होती है-१-द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप से अविनाशी या ध्रुव है, गुण भी अपने स्वरूप मे ध्रुव है। २-परन्तु द्रव्य की या गुण की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। पहली पर्याय नष्ट होती है, उसका स्थान नई पर्याय उत्पन्न होकर ले लेती है। इस कारण द्रव्य तथा उसके आश्रित रहने वाले समस्तगुण अपने सामान्यरूप मे ध्रौव्य (स्थायी-अविनश्वर, अपरिवर्तित) रूप हैं तथा द्रव्य और गुण अपनी अपनी विशेष-विशेष पर्याय रूप मे उत्पाद-व्यय (उत्पत्ति और नाश) मय भी हैं। यह सामान्य रूप मे जगत के पदार्थों की व्यवस्था है।

द्रव्यो के भेद —जगतवर्ती समस्त अनन्तानन्त पदार्थों को मूल दो भेदो मे विभक्त किया जा सकता है—चेतन और अचेतन। जानने-देखने वाला (चैतन्यमय) पदार्थ चेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम जीव या आत्मा है। चैतन्य से शून्य (न जानने, न देखने वाला) पदार्थ अचेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम अजीव या जड है।

जीव या आत्मा के मूल दो भेद हैं— (१)ससारी, (२) मुक्त। कर्मवश ससार की चार गतियो या चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने वाले अनन्त जीव ससारी है और कर्म-बन्धन, जन्म-मरण से छूटे हुए अनन्त मुक्त जीव हैं।

अजीव के भी मूल दो भेद है-(१)मूर्त,(२)अमूर्त। इन्द्रियो द्वारा ग्रहण होने वाला (जानने योग्य) पदार्थ मूर्त है जिसका प्रसिद्ध नाम पुद्गल है। इन्द्रिय-अगोचर (रूप रग, रस, गन्ध, स्पर्श, इन चार गुणो से रहित) अमूर्त द्रव्य है।

पुद्गल द्रव्य अपनी मूल शुद्ध अवस्था मे अखड परमाणु (जर्रा-ऐटम) रूप है। अपनी अशुद्ध अवस्था मे वह अनेक परमाणुओ से मिलकर बने हुए विविध प्रकार के स्कन्धो के रूप मे होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, अन्धकार, छाया, धूप, शब्द आदि सब पुद्गल स्कन्धो की पर्याय है। ससारी जीवो का शरीर भी पौद्गलिक है।

अमूर्त जड द्रव्य चार प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

समस्त सक्रिय-चलने वाले जीव और पुद्गल पदार्थों को उदासीन रूप मे सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी धर्म द्रव्य है। ठहरने वाले अनन्त पदार्थों को उनकी स्थिरता मे उदासीन रूप से सहायता करने वाला त्रिलोकव्यापी एक अखडद्रव्य अधर्म है। समस्त अनन्तानन्त द्रव्यो को रहने के लिये स्थान देने वाला लोक-अलोकव्यापी एक अखड द्रव्य आकाश है। और प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण पर्याय-परिवर्तन मे उदासीन सहायक काल द्रव्य है। काल द्रव्य अणु के बराबर है। अत असख्य अणुरूप काल द्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान हैं।

इस तरह यह सामान्य और सक्षेप रूप के द्रव्यो का विवरण है।



सामान्य कार्यकारणभाव

पीछे बताया जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ या द्रव्य सत्रूप है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। एव प्रत्येक पदार्थ शब्दान्तर से गुणपर्यायमय है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सदा अपने सामान्य स्वरूप मे स्थिर रहता हुआ



भी प्रति-समय क्रम से अपनी नवीन-नवीन पर्याय भी पलटता रहता है। इस तरह पर्यायो का परिणमन रूप कार्य जगत मे प्रतिक्षण हुआ करता है कभी भी क्षण भर के लिये वह रुकता नही है।

इस पर्यायपरिणमन रूप कार्य मे दो प्रकार के कारण प्रयुक्त होते है—(१) उपादान कारण, (२) निमित्त कारण। इनमे से उपादान कारण उसको कहते है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है, जैसे कि घडा रूप कार्य बनने मे मिट्टी घडे का रूप धारण करती है इसलिये वह घडे का उपादान कारण है। इस तरह जगत का प्रत्येक पदार्थ अपनेपर्यायपरिणमन मे स्वय उपादान कारण होता है।

उपादान कारण के सिवाय जो अन्य पदार्थ उस कार्य के होने मे सहायता करते है, जिनकी सहायता बिना वह कार्य हो नही सकता, वे निमित्तकारण कहलाते है।

ऊपर बतलाये गये जगत के मूल पदार्थ छह है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे से धर्म अधर्म, आकाश और काल ये चार शुद्ध द्रव्य है, इनमे कभी किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण नही होता, अत इन चारो द्रव्यो का सदा (अनादि काल से अनन्तकाल तक) शुद्ध परिणमन होता रहता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य का परस्पर मिश्रण के रूप मे अशुद्ध परिणमन तथा अमिश्रण रूप मे शुद्ध परिणमन होता है।

शुद्ध द्रव्यो का परिणमन

शुद्ध द्रव्यो के परिणमन रूप कार्य मे उपादान कारण तो वे शुद्ध द्रव्य स्वय होते ही हैं परन्तु उनके उस शुद्ध परिणमनकार्य मे अन्य द्रव्य भी निमित्त रूप से उदासीन रूप मे सहायक कारण हुआ करते हैं।

जगद्वर्ती समस्त क्रियाशील (एक स्थान से अन्य स्थान पर आने-जाने आदि रूप क्रिया करने वाले) जीवो तथा पुद्गल द्रव्यो की उनकी गतिरूप क्रिया मे उदासीन रूप से सहायता करने वाला धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य त्रिलोकव्यापी एक अखण्ड अरूपी द्रव्य है। वह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके यानी बलपूर्वक चलाता नही है किन्तु जब कोई पुदगल या जीव एक स्थान मे स्थानान्तर मे गमन करता है तब उसके गमन मे वह सहायता करता है। जिस तरह तालाब मे भरा हुआ जल तालाब मे रहने वाली मछलियो को चलने-फिरने मे सहायता करता है।

चलने-फिरने की शक्ति स्वय मछलियो मे है। वे अपनी इच्छा से इधर-उधर चलती फिरती हैं परन्तु तालाब का ठहरा हुआ भी जल उनके चलने मे सहायक होता है। यदि वह जल न हो तो मछली चलने-फिरने की शक्ति रहते हुए चल-फिर नही सकती। सूखी जमीन पर यदि मछली को रख दिया जाय तो वह जहा की तहा पडी रहेगी, चल-फिर न सकेगी। इसलिये जल मछली के चलने मे उदासीन निमित्तकारण है। इसी प्रकार जीवो, पुद्गल-परमाणुओ तथा स्कन्धो मे स्वय चलने-फिरने आदि क्रिया करने की शक्ति है, परन्तु धर्म द्रव्य की सहायता मिलने पर ही वे गति करते हैं, अत धर्मद्रव्य समस्त क्रियाशील जीवो तथा पुद्गलो को उदासीन (निरपेक्ष-अप्रेरक) रूप से गति मे सहायक होता है।

अष्ट कर्मजाल को छिन्नभिन्न करके मध्यलोक का मुक्त जीव जब स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है तब त्रिलोक-व्यापी धर्मद्रव्य उन मुक्त जीवो के ऊर्ध्वगमन मे सहायता करता है। धर्म द्रव्य अलोकाकाश मे नही होता, अत मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन भी सात राजू तक ऊपर जाकर लोकशिखर पर ही अवरुद्ध हो जाता है। अलोकाकाश मे उनका गमन नही होने पाता।

नियमसार ग्रन्थ मे इस विषय मे लिखा है—

जीवाण पुग्गलाण, गमण जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकाअभावे तत्तो परदो ण गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवो का तथा पुद्गलो का गमन वही तक होता है जहा तक धर्मास्तिकाय होता है। उससे वाहर (लोकाकाश के वाहर) धम द्रव्य न होने से जीव पुदगल नही जा सकते ।

श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्वार्थसूत्र मे लिखा है—

धर्मस्तिकायाभावात् । १० । यानी-लोक के आगे धर्मद्रव्य न होने से मुक्त जीव उससे ऊपर नही जाते, या नही जा सकते ।

अभिप्राय यह है कि मुक्त जीवो मे लोक से वाहर भी ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति विद्यमान है परन्तु धर्मद्रव्य की सहायता अलोकाकाश मे न मिलने के कारण मुक्त जीवो का ऊर्ध्वगमन लोकाकाश से बाहर नही होने पाता।

इस तरह धर्मद्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध जीवो और पुद्गलो के गमन मे निमित्त कारण है।

इसी प्रकार पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जो अत्यन्त तीव्र गति से एक समय मे १४ राजू तक तथा अत्यन्त मन्दगति मे एक समय मे आकाश के एक प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करता है, एव मध्यम गति से अनेक प्रकार गमन करता है, उस मे भी धर्मद्रव्य सहायता करता है।

अधर्म द्रव्य

अधर्म द्रव्य भी एक अखण्ड अमूर्तिक समस्त लोकव्यापक द्रव्य है। यह द्रव्य अन्य समस्त जीवपुद्गल द्रव्यो को अपने अपने स्थान पर ठहरने मे उदासीन रूप से सहायता करता है । तीनो लोको से बाहर कोई भी द्रव्य स्थित नही है, इसका मूल कारण यही है कि वहा पर अधर्म द्रव्य नही है।

जैसे धर्म द्रव्य किसी को प्रेरणा करके नही चलाता है इसी प्रकार अधर्म द्रव्य किसी चलते हुए द्रव्य को बलपूर्वक (जबरदस्ती) ठहराता नही है। यदि कोई चलता हुआ द्रव्य ठहरता है तो उसकी उदासीन रूप से सहायता करता है। यदि अधर्म द्रव्य न हो तो वहिरग नैमित्तिक सहायता न मिलने से कोई भी गतिशील पदार्थ ठहर नही सकता।

धर्म अधर्म द्रव्य के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग होता है।

आकाश द्रव्य

जो समस्त द्रव्यो को रहने का स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है । वैसे प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशो मे रहता है परन्तु उनको रहने के लिये वाहरी, नैमित्तिक सहायता आकाश द्रव्य की प्राप्त होती है। आकाश द्रव्य न हो तो किसी पदार्थ को रहने का स्थान न मिले ।

आकाश एक, अखण्ड सर्वव्यापक, अमूर्त द्रव्य है। जितने आकाश मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल द्रव्य रहते है। उतने ३४३ घनराजू प्रमाण आकाश को लोकाकाश कहते हैं और उससे बाहर के अनन्त राजू प्रमाण आकाश को अलोकाकाश कहते है। अलोकाकाश मे आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नही है। इस तरह आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यो को अवगाह (निवास) का निमित्त कारण है।

कालद्रव्य

जो प्रत्येक द्रव्य की क्रमिक पर्याय परिणमन मे बहिरग, उदासीन, निमित्तरूप से सहायता करता है वह काल द्रव्य अणु के बरावर अमूर्तिक द्रव्य है। अलोकाकाश के पर्याय परिणमन मे भी लोकाकाशवर्ती ही कालद्रव्य निमित्त रूप से सहायता करता है।

प्रत्येक द्रव्य मे स्वभावत प्रतिक्षण पर्यायपरिणमन करने की उपादानशक्ति होती है परन्तु उस परिणमन मे काल द्रव्य की नैमित्तिक सहायता अनिवार्य आवश्यक है। तदनुसार यदि काल द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य की पर्याय



का परिणमन न हो सके। पचास्तिकाय (गाथा १०० की टीका) मे भी अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

"जीवपुद्गलाना परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तद्रव्यकालसद्भावे सति सभूतत्वात् द्रव्यकालसभूत इत्यभिधीयते।"

अर्थ— जीव-पुद्गलो का परिणमन बहिरग निमित्ताकारणभूत कालद्रव्य के होने पर होता है, इस कारण प्रतीयमान जीव पुद्गलो का परिणमन काल द्रव्य से होना कहा जाता है।

आशय यह है कि जीवो एव पुद्गलो के परिणमन मे वे द्रव्य स्वय उपादान कारण हैं और कालद्रव्य उसमे निमित्त कारण है।

तत्वार्थसूत्र के पाचवे अध्याय के 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रथ मे लिखा है—

"धर्मादीना द्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वात्मनैव वर्तमानाना बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल।"

अर्थात्-अपनी पर्याय के परिणमन मे स्वय (उपादान शक्ति मे) प्रवृत्ति करने वाले धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल, मुक्त, तथा ससारी जीवो का परिणमन बाहरी निमित्त कारण की सहायता के बिना नही हो सकता। उस परिणमन मे सहायक काल द्रव्य है।

अभिप्राय यह है कि कालद्रव्य प्रत्येक शुद्ध एव अशुद्ध द्रव्य के पर्याय-परिणमन मे निमित्त कारण अवश्य होता है।

इस तरह समस्त शुद्ध द्रव्य अपने प्रतिक्षण होने वाले पर्यायपरिणमन मे जहाँ स्वय उपादान कारण होते हैं, वहाँ अन्य द्रव्य उसमे उदासीन सहायक रूप से निमित्त कारण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पाँच द्रव्य रूप रस गन्ध स्पर्श इन चार गुणो से रहित होने के कारण अमूर्त होते हैं, अतएव वे इन्द्रियो द्वारा अगोचर होते हैं—इन्द्रियो से नही जाने जा सकते। इसी प्रकार ये अखड पदार्थ होते है, इनका कभी भी किसी तरह से कोई विभाग नही होता।

परन्तु पुद्गल द्रव्य मे ये दोनो बातें नही होती। पुद्गल द्रव्य मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार गुण होते हैं, अत पुद्गल मूर्त द्रव्य है, इन्द्रियो से जानने मे आता है तथा तत्वार्थसूत्र के 'अणव स्कन्धाश्च' सूत्र के अनुसार पुद्गल द्रव्य अणु (परमाणु) तथा स्कन्ध रूप से दो प्रकार का होता है। शुद्ध पुद्गल परमाणु (सबसे छोटा टुकडा, जिसका और टुकडा न हो सके) अखड होता है। परन्तु दो या दो से अधिक ३-४-५ आदि सख्यात असख्यात, अनन्त परमाणु परस्पर मे मिलकर जो स्कन्ध बन जाते है, वे अनेक तरह के (२३ प्रकार की वर्गणा रूप) पुद्गल द्रव्य विभिन्न प्रकार के निमित्तो से कभी टूटते है, गलकर छोटे-बडे टुकडे बनते हैं, कभी उनमे और दूसरे स्कन्ध मिलकर वे बडे हो जाते हैं, इस तरह की पूरण और गलन शक्तिवाला होने से इस मूर्त द्रव्य का नाम 'पुद्गल' है। इग्लिश भाषा मे इसे (Matter) मेटर कहते हैं।

हमको जितने भी पदार्थ नेत्रो मे दीख पडते है, सूंघने मे आते हैं, छूने मे आते है, जीभ द्वारा चखने मे आते हैं या कानो मे सुनाई देते है, वे सब पुद्गल पदार्थ हैं। जीवो के रहने का घर अर्थात् शरीर भी पुद्गल स्कन्ध है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी स्थावर जीवो का शरीर है। उनके आश्रित जीव स्वरूप से पृथक् है।

शुद्ध पुद्गल परमाणु तो अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रिय-अगोचर होता ही है परन्तु पुद्गल स्कन्धो मे भी बहुत स्कन्ध ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा जानने मे नही आते और बहुत से स्कन्ध स्थूल होते है जो कि इन्द्रियो से जाने जाते हैं। उन इन्द्रियगोचर स्कन्धो मे भी दो प्रकार है (१) कुछ स्कन्ध अन्न फल आदि तो ऐसे हैं जो स्पर्शन (त्वचा) रसना (जीभ), घ्राण (नाक), नेत्र और कान, इन पाचो इन्द्रियो द्वारा छूने, चखने, सूघने, दिखने

सुनने मे आते है परन्तु वायु आदि कुछ ऐसे स्कन्ध होते हैं जो दिखाई नही देते परन्तु छूने मे आते है। शब्द रूप पुद्गल स्कन्ध ऐसे होते हैं जो सुनने मे आते हैं, जिनका स्पर्श-इन्द्रिय पर आघात भी होता है परन्तु आँखो मे दिखाई नही देते। प्रकाश और अन्धकार रूप पुद्गल स्कन्ध आँखो मे दिखाई तो देते हैं परन्तु नाक, कान, जीभ इन्द्रिय द्वारा नही जाने जाते। धूप और चाँदनी रूप परिणत होने वाले पुद्गल स्कन्ध शीत, गर्म रूप से छूने मे तथा देखने मे आते हैं परन्तु उनको पकडकर न तो स्थानान्तर किया जा सकता है, न अन्य इन्द्रियाँ उनको जान सकती हैं।

इस तरह पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार का है। पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन विविध प्रकार के निमित्त कारणो द्वारा हुआ करते हैं। आक्सीजन और हाईड्रोजन गैसो के मिल जाने से पानी बन जाता है। पानी को अतिठडी वायु का या ऐमोनिया गैस का निमित्त मिलने से बर्फ बन जाती है। अग्नि की तथा सूर्य किरणो की गर्मी के निमित्त से पानी भाप बन जाता है, भाप से बादल बन जाते है, पार्थिव लकडी तथा सोना, चाँदी, लोहा आदि पार्थिव धातुएँ अग्नि के निमित्त से जलकर राख हो जाती है, समस्त धातुएँ पिघलकर अन्य आकार-प्रकारो मे परिणत होती हैं। इसमे भी अग्नि निमित्त कारण होती है।

पृथ्वी के भीतर विभिन्न स्थानो पर जो विभिन्न प्रकार के ककड, पत्थर, मिट्टी, गन्धक, कोयला, लोहा, सोना, चादी, रत्न, ताँबा, रागा, तेल आदि बनते रहते हैं, उनके भी भिन्न-भिन्न प्रकार के निमित्त कारण होते है।

भिन्न-भिन्न स्थान की पृथ्वी मे विभिन्न प्रकार के स्कन्धो के निमित्त मे विभिन्न प्रकार की उपादान शक्ति होती है अत केसर, सोना, चाँदी, लोहा, तेल, काला, लाल, सफेद पत्थर आदि पदार्थ सब जगह उत्पन्न न होकर विशेष-विशेष स्थानो पर ही उत्पन्न होते हैं।

जल के मीठे, खारे, खट्टे, सुगन्धित, दुर्गन्धित, बर्फ, गैस, भाप आदि जो परिणमन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक निमित्त कारण हैं और मनुष्य भी वैसे कारण मिलाकर बर्फ, भाप, बिजली आदि बनाकर विभिन्न प्रकार से उनका उपयोग या प्रयोग करता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के निमित्त कारणो से वायु भी विभिन्न प्रकार की गैसो मे परिणत हो जाती है। विभिन्न निमित्त कारणो से स्वच्छ वायु भी सुगन्धित, दुर्गन्धित हो जाती है।

मोटरकार पैट्रोल, मॉबिल आयल, तथा टायर ट्यूबो मे भरी हुई वायु आदि निमित्त कारणो से चलती है। ठीक दिशा और सडक आदि पर चलाने वाला चालक-ड्राइवर रूप प्रेरक निमित्त कारण भी मोटर के चलने मे सहायक है। यदि निमित्त कारणो मे से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोटर न चल सकेगी। पैट्रोल समाप्त हो जाए या टायर की हवा निकल जाए तो मोटर का चलना बन्द हो जाता है।

मोटरकार के निमित्त मे उनका चालक अल्प समय मे दूर देश की यात्रा कर लेता है। साईकिल अपनी उपादान शक्ति से तभी चल सकती है जब उसके पहियो मे हवा भरी हो और उसको चलाने वाला चालक हो। चालक के निमित्त मे साईकिल चलती है और साईकिल के निमित्त से उसका सवार मनुष्य चलता है। नाव के निमित्त से मल्लाह नदी पार हो जाता है और मल्लाह के निमित्त से नाव नदी मे चलती है।

आटा रूप उपादान कारण से रोटी तभी बनती है जबकि रसोइया, चकला, बेलन, तवा, अग्नि, लकडी, कोयला आदि निमित्त कारणो की योजना हो। यदि एक भी निमित्त कारण की कमी होगी तो उपादान कारण आटा रोटी न बन सकेगा।

इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने कहा है—**'सामग्रीजनिका कार्यस्य नैक कारणम्'** अर्थात् उपादान कारण के साथ समस्त आवश्यक निमित्त कारण सामग्री हो तभी कार्य होता है, केवल एक ही कारण मे कार्य नही होता।

इस तरह पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन मे विविध प्रकार के निमित्त कारण सहायक होते हैं।





जीव द्रव्य

पुद्गल द्रव्य की तरह जीव द्रव्य के भी दो प्रकार के परिणमन होते है—(१) शुद्ध परिणमन करने वाले मुक्त जीव है, वे अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी, अजर, अमर, अजन्मा होते हैं। (२) कर्मबद्ध, ससार मे जन्म मरण-करते हुए भ्रमण करने वाले ससारी जीव अशुद्ध जीव हैं।

आत्मा का स्वभाव शान्त निराकुल शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप है, आत्मा न कभी मरता है, न जन्म लेता है परन्तु अपने राग द्वेष काम क्रोध आदि अशुद्ध परिणमन द्वारा अपनी योगशक्ति (मन वचन काय की हलन-चलन रूप प्रवृत्ति) द्वारा पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओ को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे कर्माण वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों में दूध-पानी की तरह से मिलकर आत्मा के राग द्वेष क्रोध आदि कषाय भावो से कर्म रूप बन जाती है और वे कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय रूप हो जाते हैं। उन कर्मों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान, दर्शन, निराकुलता, शान्त, स्वच्छ भाव विकृत हो जाते है। इस कारण वह जन्म-मरण करता है और नरक, पशु, मनुष्य, देव गति तथा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहता है।

इस तरह आत्मा के राग-द्वेष आदि भावो के निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म रूप बनती हैं और उन कर्मों के उदय निमित्त से आत्मा मे अज्ञान (अल्पज्ञान तथा आत्म-अनुभव से शून्य कुज्ञान), मिथ्यात्व, असयम (राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, माया मान, कामवासना, भय, घृणा आदि दुर्भाव) के विकृत भाव होते हैं। इस तरह द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म) से भावकर्म यानी आत्मा के रागद्वेष अज्ञान आदि विकृत भाव एव जन्म-मरण होता है और उन विकार भावरूप भावबन्ध के निमित्त से द्रव्यबन्ध होता है। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार मे लिखा है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थ—जीव के राग द्वेषादि परिणामो के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणत होते है और पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव भी रागद्वेष आदि विकार रूप परिणमन करता है।

इस तरह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

जिस तरह शराब, जड पदार्थ है परन्तु उस जड शराब को पी लेने पर अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान, सुख-दुख बिगड जाती है, इसी तरह पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा के गुण विकृत हो जाते है।

जन्म-मरण

जैसे ज्ञानावरण कर्म के निमित्त से आत्मा का ज्ञान बहुत हीन हो जाता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त मे आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण मिथ्यात्वरूप हो जाता है, चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त से आत्मा का सच्चारित्र गुण असयम या कुचारित्र बन जाता है, इसी तरह आयु कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का किसी नये शरीर मे जन्म होता है उस भव मे वह आयु कर्म के कारण जीता रहता है, जब आयु कर्म की समाप्ति हो जाती है तब आत्मा का उस भाव मे मरण हो जाता है। नये आयुकर्म के निमित्त से आत्मा दूसरे शरीर मे जन्म लेता है।

कोई भी जीव नरक निगोद के दुख नहीं भोगना चाहता परन्तु नरक निगोद मे ले जाने वाला गतिनामकर्म आत्मा को बलपूर्वक नरक निगोद मे ले जाता है। इस तरह आयुकर्म और नामकर्म के निमित्त से ससारी जीव का ससारभ्रमण या जन्म-मरण होता रहता है।

सुख-दुख

सातावेदनीय के निमित्त से ससारी जीव को इन्द्रिय सुख की सामग्री मिलती है और असाता वेदनीय के निमित्त से भूख, प्यास, रोग, चिन्ता, व्याकुलता आदि अनेक तरह के दुख मिलते हैं।

पारस्परिक सुख-दुख

ससार मे आत्मा राग और द्वेप भाव से किसी को (माता पिता पुत्र स्त्री भाई मित्र आदि को) अपना हितकारी मानकर उनसे प्रीति करता है, वे भी उससे प्रेम करते हैं, एक दूसरे को सुख देते है। इसी तरह गुरु-शिष्य, सेवक स्वामी आदि भी राग भाव से एक दूसरे को सुख देकर परस्पर उपकार करते है। द्वेपभाव मे पिता पुत्र, भाई-भाई तथा अन्य व्यक्ति भी एक दूसरे के शत्रु वनकर परस्पर मे दुख देते हैं। इस तरह धन, उपकार अपकार, हानिलाभ आदि निमित्त कारणो से ससारी जीव राग-द्वेप करते हुए परस्पर सुख-दुख देते है।

पुरुषवेद कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की कामना जाग्रत होती है। स्त्रीवेद के उदय मे पुरुप के साथ कामक्रीडा करने की भावना पैदा होती है। भय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा भयभीत होता है।

क्रोध अभिमान माया लोभ कपायो मे से जव जिस कपाय के उदय का निमित्त मिलता है, अन्तरग वहिरग निमित्त कारण मिलते है उस समय आत्मा के परिणाम क्रोध आदि रूप हो जाते हैं। यदि उस समय आयुकर्म का वध हो तो उस प्रशस्त या अप्रशस्त कपाय के अनुसार शुभ या अशुभ आयु कर्म का वध हो जाता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तरायकर्म के उदय के निमित्त से तथा वहिरग कारणो के निमित्त से आत्मा को दान करने मे, विविध प्रकार के लाभ होने मे, भोग्य-उपभोग्य पदार्थों के भोग-उपभोग मे और शक्ति के प्रकट होने मे विघ्न-बाधा उत्पन्न होती है।

कभी ऐसा भी अवसर आता है कि किसी कर्म के उदय के समय यदि वहिरग निमित्त कारण न हो तो कर्म का उदय अपनी प्रकृति और शक्ति के अनुसार आत्मा को फल नही दे पाता। जिस तरह नरक मे यदि साता वेदनीय कर्म का उदय हो तो वहाँ सुख के वाहरी निमित्त कारण विद्यमान न होने से साता वेदनीय कर्म सुख प्रदान नही कर पाता। देवगति मे वाहरी दुख-सामग्री का निमित्त न होने से असातावेदनीय कर्म का उदय निष्फल रहता है।

कर्मबन्ध हो जाने के पश्चात् भी आत्मा के अच्छे या बुरे अथवा शुद्ध भावो के निमित्त से बाँधे हुए कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग मे वृद्धि, हानि, परिवर्तन, निश्चित समय से पहले फल देने आदि की घटना घटित हो जाती है, जिसे कर्मग्रथो मे उत्कर्पण, अपकपण, सक्रमण, उदीरणा आदि नामो से कहा गया है। इस तरह अन्तरग वहिरग कारणो के निमित्तो से कर्मों का खेल भी विचित्र प्रकार का आत्मा के साथ हुआ करता है।

कर्म-मोचन



कर्मवद्ध भव्य जीव सदा ससारी ही नही बना रहता। वह अनुकूल सुअवसर पाकर ससार से मुक्त होने के लिये जो आध्यात्मिक कार्य करता है उसके लिये भी निमित्त कारणो की अपेक्षा होती है। तत्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।१-१। (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।)

इस आगमविधान के अनुसार मुक्ति का मूल कारण सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मतत्व की श्रद्धा, रुचि, अनुभूति) है। वह सम्यग्दर्शन तब होता है जब कि सद्गुरु का उपदेश या अर्हन्त भगवान की वाणी सुनने का बाहरी निमित्त भव्य जीव को मिले (जिसको देशनालब्धि कहते हैं) तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम आदि अन्तरग निमित्त कारण भी मिले। नियमसार मे श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने वतलाया है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का (बहिरंग) निमित्त कारण जिनसूत्र का सुनना तथा उसका सुनाने वाले एव उसके ज्ञाता पुरुष (आचार्य उपाध्याय साधु या अर्हन्त भगवान) है। अन्तरंग निमित्त कारण दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है।

सम्यग्ज्ञान होने का निमित्त कारण सम्यग्दर्शन है तथा शास्त्र, उपाध्याय अध्यापक आदि भी हैं।

सम्यक्चारित्र का निमित्तकारण निरन्तर मुनिदीक्षा तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम, मुनिजन आदि है।

इनके सिवाय मोक्ष के निमित्त कारण मनुष्य आयु, वज्रऋषभनाराच संहनन, मुनिदीक्षा के योग्य मनुष्य में जन्म, कर्मभूमि, दुषमसुषमा काल, गुणस्थान आदि भी हैं। इन समस्त निमित्त कारणों तथा उपादान कारण के बिना मिले मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। यदि इन निमित्त कारणों में से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोक्ष भी नहीं होगा।

निमित्त कारणो के भेद

निमित्त कारण प्रेरक, उदासीन बलाधायक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जो उपादान कारण को बलपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिणमाते हैं वे प्रेरक निमित्त कारण होते हैं। जैसे भोजन बनाने में रसोइया प्रेरक निमित्त कारण है। वह अपनी इच्छानुसार आटे की रोटी, बाटी, पूडी-कचौडी, पराँठा, हलुवा आदि के रूप में परिणमाता है। पानी की प्रबल बाढ मनुष्यों को, पशुओं को तथा वृक्ष आदि को जबरदस्ती बहा ले जाती है।

धर्म, अधर्म, काल, आकाश-प्रकाश आदि उदासीन कारण होते है, जो कि उपादान कारण को बलपूर्वक नहीं परिणमाते।

जिन पदार्थों से कार्य होने मे उपादान को बल प्राप्त होता है वे बलाधायक निमित्त कारण होते हैं जैसे लगडे मनुष्य को चलने मे लाठी सहारा देती है, नेत्रो की हीन ज्योति वाले मनुष्य को देखने मे उपनेत्र (ऐनक, चश्मा) बल प्रदान करता है।

इनके सिवाय असख्य प्रकार के अभावात्मक निमित्त कारण भी होते हैं। जिन पदार्थों के सद्भाव में कार्य नहीं हो सकता उन पदार्थों का अभाव होना कार्य होने मे आवश्यक निमित्त कारण है। जैसे कि विद्यार्थी के पढने में ज्वर, उदरपीडा, भयानक सिर की पीडा, नेत्र दुखना, कुष्ठ, जलोदर आदि असख्य प्रकार के भयानक रोगो का अभाव जलप्लावन, बाढ, भूकम्प, वज्रपात, काली आंधी, राजक्रान्ति, अग्निकाड आदि असख्य प्राकृतिक बाधक कारणों का अभाव होना आवश्यक है। वह जहाँ पढता है वहाँ सर्प, सिंह, भेडिया, चीता, बाघ आदि हिंसक जीवो आदि असख्य बाधक कारणो का अभाव होना भी परम आवश्यक है। यदि ये बाधक निमित्त कारण वहाँ पर हो तो कोई भी पठन-पाठन आदि कार्य शान्तिपूर्वक वहाँ पर नहीं हो सकता।

जिस समय उपादान कारण और समस्त भावरूप तथा अभाव रूप निमित्त कारण मिल जाते हैं उसी समय कार्यसिद्धि होती है।

हमारा जीवन

आत्मा यद्यपि द्रव्यदृष्टि से अजर-अमर अविनाशी है परन्तु ससार मे प्रत्येक पर्याय मे उसे जीवित रहने को श्वास लेने के लिये वायु, पीने के लिये जल, भूख मिटाने के लिये भोजन, रहने के लिये स्थान, प्रकाश, अन्धकार, गर्मी आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों का निमित्त मिलना आवश्यक है। मछली आदि जलचर जीवो को जलाशय (तालाब नदी, समुद्र आदि) मिलना आवश्यक है। गाय, घोडा कुत्ता, सिंह हिरण आदि थलचर जीवों को अपने जीवन के लिये सूखी पृथ्वी का मिलना आवश्यक है, नभचर पक्षियो के लिये मुक्त आकाश की आवश्यकता है मनुष्य को भी

वायु, जल, भोजन प्रकाश, आवश्यक गर्मी अपने जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि पदार्थों का निमित्त ससारी जीवो को न मिले तो वे जीवित नही रह सकते।

लब्धिअपर्याप्तक निगोदिया जीव को अपर्याप्तिकर्म के उदय के निमित्त मे एक श्वास लेने जितने छोटे से काल मे १८ वार जन्म-मरण करना पडता है

दृश्यमान निमित्त-उपादान कारण

प्राय सभी वच्चे उत्पन्न होते समय भोले-भाले होते हैं परन्तु उनको जैसे-जैसे अच्छे-बुरे, शिक्षित-अशिक्षित, दुर्जन सज्जन, सदाचारी, माता-पिता भाई-बहिनों का निमित्त मिलता है, उनके गुण और स्वभाव वैसे हो जाते हैं। पाठशालाओ, स्कूलो और कालेजो मे पढने वाले विद्यार्थियो को जैसे अच्छे-बुरे सहपाठियों की सगति का निमित्त मिलता है उसी तरह के वे सदाचारी या दुराचारी वन जाते हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मे अनेक प्रकार की उपादान-शक्ति है, उसमे सद्गुणी शिक्षित सज्जन वनने की भी शक्ति है और दुर्गुणी चोर लुच्चा वदमाश गुण्डा दुष्ट वनने की भी उपादानशक्ति है। किन्तु जैसे निमित्त कारण मिलते हैं उस तरह की उसकी सद्गुणमयी या दुर्गुणमयी शक्ति का विकास हो जाता है और वह उस प्रकार का वन जाता है।

आटे मे अनेक प्रकार की उपादानशक्ति है जिसके कारण वह रोटी, पूडी, कचौटी आदि वन सकता है। वही आटा शरीर का मैला छुटाने का उवटन भी वन सकता है, अग्नि मे जल भी सकता है, हवा मे उड भी सकता है। वह मिट्टी वालू भी वन सकता है अत यदि उसको कुशल रसोइया का निमित्त मिलेगा तो वह आटा अच्छा भोजन वन सकता है, आग मे पड जायेगा तो अग्नि के निमित्त मे खाक भी वन सकता है, आधी का निमित्त मिले तो वह उड सकता है और धूल मिट्टी वालू मे पड जाय तो उस निमित्त से वह धूल मिट्टी वालू भी वन सकता है

इस तरह उपादान कारणो को जैसे निमित्त कारणो का सहयोग मिलता है उपादान उसी प्रकार परिणमन करता है।

सामग्री

इसके सिवाय एक वात यह भी है कि एक कार्य के लिये अनेक निमित्त कारणो की आवश्यकता होती है। उन सव निमित्त कारणो या सामग्री के मिलन पर ही ठीक कार्य होता है। यदि निमित्त की कमी होगी तो वैसा ठीक कार्य न हो पायेगा।

जैसे आटा रूप उपादान कारण मे भोजन-कार्य होने के लिये सिर्फ रसोइया रूप निमित्त कारण से ही काम नही हो सकता, उसके लिये जल, घी, नमक, खाड आदि कुछ और भी उपादान कारण मिलाने पडेंगे तथा चकला, वेलन, तवा, अग्नि आदि अन्य निमित्त कारणो की भी योजना करनी पडेगी, तभी आटे से रोटी, वाटी, पूडी, हलुवा आदि कार्य हो सकेगा।

यदि अन्य निमित्त कारण हो, अग्नि न हो तव भी रोटी न वनेगी। अग्नि रसोइया आदि निमित्त कारण तो हो परन्तु तवा न हो तव भी सुन्दर पतली रोटी न वन सकेगी।

पढने के लिये विद्यार्थी को अध्यापक, पुस्तक, कागज, पैंसिल, प्रकाश आदि अनेक निमित्त कारण मिलने चाहिये। यदि उनमे से किसी भी कारण की कमी रहेगी तो विद्यार्थी ठीक तरह मे न पढ सकेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्य होने के लिये उपादान तथा पूर्ण निमित्तकारण-सामग्री आवश्यक होती है।

एक निमित्त से विभिन्न प्रकार के कार्य

साधारण जनता के आवागमन के एक स्थान पर एक सुन्दरी युवती, मूल्यवान वस्त्र आभूषणो से सुसज्जित





सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का (बहिरंग) निमित्त कारण जिनसूत्र का सुनना तथा उसका सुनाने वाले एव उसके ज्ञाता पुरुष (आचार्य उपाध्याय साधु या अर्हन्त भगवान) है। अन्तरंग निमित्त कारण दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है।

सम्यग्ज्ञान होने का निमित्त कारण सम्यग्दर्शन है तथा शास्त्र, उपाध्याय, अध्यापक आदि भी है।

सम्यक्चारित्र का निमित्तकारण निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम, मुनिसंघ आदि है।

इनके सिवाय मोक्ष के निमित्त कारण मनुष्य आयु, वज्रवृषभनाराच संहनन, मुनिदीक्षा के योग्य सत्कुल में जन्म, कर्मभूमि, दुःषमसुषमा काल, गुणस्थान आदि भी हैं। इन समस्त निमित्त कारणों तथा उपादान कारण के बिना मिले मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। यदि इन निमित्त कारणों में से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोक्ष भी नहीं होगा।

निमित्त कारणो के भेद

निमित्त कारण प्रेरक, उदासीन, बलाधायक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जो उपादान कारण को बलपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिणमाते हैं वे प्रेरक निमित्त कारण होते हैं। जैसे भोजन बनाने मे रसोइया प्रेरक निमित्त कारण है। वह अपनी इच्छानुसार आटे की रोटी, बाटी, पूडी-कचौडी, परामठा, हलुवा आदि के रूप मे परिणमाता है। पानी की प्रबल बाढ मनुष्यो को, पशुओ को तथा वृक्ष आदि को जबरदस्ती बहा ले जाती है।

धर्म, अधर्म, काल, आकाश-प्रकाश आदि उदासीन कारण होते हैं, जो कि उपादान कारण को बलपूर्वक नहीं परिणमाते।

जिन पदार्थो से कार्य होने मे उपादान को बल प्राप्त होता है वे बलाधायक निमित्त कारण होते हैं, जैसे लगडे मनुष्य को चलने मे लाठी सहारा देती है, नेत्रो की हीन ज्योति वाले मनुष्य को देखने मे उपनेत्र (ऐनक, चश्मा) बल प्रदान करता है।

इनके सिवाय असख्य प्रकार के अभावात्मक निमित्त कारण भी होते है। जिन पदार्थो के सद्भाव मे कार्य नही हो सकता उन पदार्थों का अभाव होना कार्य होने मे आवश्यक निमित्त कारण है। जैसे कि विद्यार्थी के पढने मे ज्वर, उदरपीडा, भयानक सिर की पीडा, नेत्र दुखना, कुष्ठ, जलोदर आदि असख्य प्रकार के भयानक रोगो का अभाव, जलप्लावन, बाढ, भूकम्प, वज्रपात, काली आधी, राजक्रान्ति, अग्निकाड आदि असख्य प्राकृतिक बाधक कारणो का अभाव होना आवश्यक है। वह जहाँ पढता है वहाँ सर्प, सिंह, भेडिया, चीता, बाघ आदि हिंसक जीवो आदि असख्य बाधक कारणो का अभाव होना भी परम आवश्यक है। यदि ये बाधक निमित्त कारण वहाँ पर हो तो कोई भी पठन-पाठन आदि कार्य शान्तिपूर्वक वहाँ पर नही हो सकता।

जिस समय उपादान कारण और समस्त भावरूप तथा अभाव रूप निमित्त कारण मिल जाते है, उसी समय कार्यसिद्धि होती है।

हमारा जीवन

आत्मा यद्यपि द्रव्यदृष्टि से अजर-अमर अविनाशी है परन्तु ससार मे प्रत्येक पर्याय मे उसे जीवित रहने को श्वास लेने के लिये वायु, पीने के लिये जल, भूख मिटाने के लिये भोजन, रहने के लिये स्थान, प्रकाश, अन्धकार, गर्मी आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों का निमित्त मिलना आवश्यक है। मछली आदि जलचर जीवो को जलाशय (तालाब नदी, समुद्र आदि) मिलना आवश्यक है। गाय, घोडा, कुत्ता, सिंह, हिरण आदि थलचर जीवो को अपने जीवन के लिये सूखी पृथ्वी का मिलना आवश्यक है, नभचर पक्षियो के लिये मुक्त आकाश की आवश्यकता है, मनुष्य को भी

वायु, जल, भोजन प्रकाश, आवश्यक गर्मी अपने जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि पदार्थों का निमित्त ससारी जीवो को न मिले तो वे जीवित नही रह सकते।

लब्धिअपर्याप्तक निगोदिया जीव को अपर्याप्तिकर्म के उदय के निमित्त मे एक श्वास लेने जितने छोटे मे काल मे १८ बार जन्म-मरण करना पडता है

दृश्यमान निमित्त-उपादान कारण

प्राय सभी बच्चे उत्पन्न होते समय भाले-भाले होते है परन्तु उनको जैसे-जैसे अच्छे-बुरे, शिक्षित-अशिक्षित, दुजन सज्जन, सदाचारी, माता-पिता भाई-बहिनो का निमित्त मिलना है, उनके गुण और स्वभाव वैसे हो जाते हैं। पाठशालाओ, स्कूलो और कालेजो मे पढने वाले विद्यार्थियो को जैसे अच्छे-बुरे सहपाठियो की सगति का निमित्त मिलता है उसी तरह के वे सदाचारी या दुराचारी बन जात हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मे अनेक प्रकार की उपादान-शक्ति है, उसमे सद्गुणी शिक्षित सज्जन बनने की भी शक्ति है और दुर्गुणी चोर लुच्चा बदमाश गुण्डा दुष्ट बनने की भी उपादानशक्ति है। किन्तु जैसे निमित्त कारण मिलते हैं उस तरह की उसकी सद्गुणमयी या दुर्गुणमयी शक्ति का विकास हो जाता है और वह उस प्रकार का बन जाता है।

आटे मे अनेक प्रकार की उपादानशक्ति है जिसके कारण वह रोटी, पूडी, कचौडी आदि बन सकता है। वही आटा शरीर का मैला छुटाने का उबटन भी बन सकता है, अग्नि मे जल भी सकता है, हवा मे उड भी सकता है। वह मिट्टी बालू भी बन सकता है अत यदि उसको कुशल रसोइया का निमित्त मिलेगा तो वह आटा अच्छा भोजन बन सकता है, आग मे पड जायेगा तो अग्नि के निमित्त से खाक भी बन सकता है, आधी का निमित्त मिले तो वह उड सकता है और धूल मिट्टी बालू मे पड जाय तो उस निमित से वह धूल मिट्टी बालू भी बन सकता है

इस तरह उपादान कारणो को जैसे निमित्त कारणो का सहयोग मिलता है उपादान उसी प्रकार परिणमन करता है।

सामग्री

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि एक कार्य के लिये अनेक निमित्त कारणो की आवश्यकता होती है। उन सब निमित्त कारणो या सामग्री के मिलने पर ही ठीक काय होता है। यदि निमित्त की कमी होगी तो वैसा ठीक कार्य न हो पायेगा।

जैसे आटा रूप उपादान कारण से भोजन-कार्य होने के लिये सिर्फ रसोइया रूप निमित्त कारण से ही काम नही हो सकता, उसके लिये जल, घी, नमक, खाड आदि कुछ और भी उपादान कारण मिलाने पडेंगे तथा चकला, बेलन, तवा, अग्नि आदि अन्य निमित्त कारणो की भी योजना करनी पडेगी, तभी आटे से रोटी, बाटी, पूडी, हलुवा आदि कार्य हो सकेगा।

यदि अन्य निमित्त कारण हो, अग्नि न हो तब भी रोटी न बनेगी। अग्नि रसोइया आदि निमित्त कारण तो हो परन्तु तवा न हो तब भी सुन्दर पतली रोटी न बन सकेगी।

पढने के लिये विद्यार्थी को अध्यापक, पुस्तक, कागज, पैसिल, प्रकाश आदि अनेक निमित्त कारण मिलने चाहिये। यदि उनमे से किसी भी कारण की कमी रहेगी तो विद्यार्थी ठीक तरह से न पढ सकेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्य होने के लिये उपादान तथा पूर्ण निमित्तकारण-सामग्री आवश्यक होती है।

एक निमित्त से विभिन्न प्रकार के कार्य

साधारण जनता के आवागमन के एक स्थान पर एक सुन्दरी युवती, मूल्यवान वस्त्र आभूषणो से सुसज्जित



वेश्या मरी हुई पडी थी। एक चोर, एक कामातुर पुरुष, एक साधु और एक कुत्ता उसको देखने के लिये उसके पास खडे हो गये। वेश्या को मरा हुआ देखकर चोर ने विचार किया कि इसके शरीर पर कीमती वस्त्र आभूषण हैं, यदि यह एकान्त स्थान मे होती तो मुझे अनायास बहुत धनलाभ होता। कामातुर पुरुष ने मन मे विचार किया कि यदि यह जीवित होती तो मैं इसके साथ कामक्रीडा करता। कुत्ते ने विचार किया कि वहाँ पर यदि मनुष्य न होते तो मैं इसका मासभक्षण करके अपनी भूख शान्त करता। साधु ने वेश्या को देखकर विचार किया—मनुष्यभव पाकर इसने तप-त्याग धर्म नही किया। विषयभोगो मे निरत रहकर इसने मनुष्यजन्म का लाभ नही उठाया।

यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही निमित्त (मृतक वेश्या) मे चार उपादान कारणो (उसे देखने वाले जीवो) मे विभिन्न प्रकार के चार कार्य या विचार क्यो हुए? इसका उत्तर यह है कि मृतक वेश्या को देखने वाले चारो जीवो के विचारो (उपादान कारणो) के लिये वहाँ निमित्त चार थे। चोर के लिये निमित्त कारण वेश्या द्वारा पहने हुए मूल्यवान वस्त्र आभूषण थे। कामातुर मनुष्य के लिये वेश्या का सुन्दर शरीर निमित्त कारण था। साधु के विराग-भाव के लिये वेश्या का मनुष्य भव था। कुत्ते के लिये निमित्त कारण वेश्या का मासल शरीर था। इस तरह जीवो के लिये मृतक वेश्या-शरीर के विभिन्न चार निमित्त कारण थे।

निमित्त मिलने पर भी कार्य का न होना

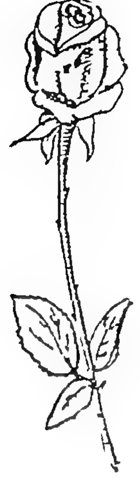
भगवान ऋषभनाथ के निमित्त से उनका पौत्र (पोता) मरीचिकुमार मिथ्यादृष्टि क्यो बना रहा? एक कामातुर रानी की अनेक प्रकार की कामोत्तेजक चेष्टाओ का निमित्त मिलने पर भी सुदर्शन सेठ के मन मे कामवासना जाग्रत क्यो न हुई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनो के उपादान कारण उस प्रकार की कार्यसिद्धि के योग्य न थे। तथा अन्य निमित्त कारण भी न थे। मरीचिकुमार को अन्तरग निमित्त कारण (मिथ्यात्व कर्म का उपशम) उपलब्ध न था अत उसका उपादान (आत्मा) सम्यक्त्वप्राप्ति का कार्य प्राप्त न कर सका।

सुदर्शन सेठ आत्मध्यान-निमग्न थे। उस समय उनके पुरुषवेद का उदय न था इस कारण वे भी अन्तरग निमित्त कारण के अभाव मे कामातुर न हुए। उनका उपादान कारण (आत्मा) कामवासनामय न था।

साराश यह है कि कोई भी कार्य तब ही होता है जब उसके अनुकूल उपादान कारण तथा उसके लिये सब तरह के (अन्तरग, बहिरग, बलाधायक, प्रेरक आदि) निमित्त कारण मिल जावें। यदि उन कारणो मे से एक भी कारण की कमी रहती है तो कार्यसिद्धि नही होती।

●

जैनागम में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थाख्यान



पं० बंशीधर जैन,
व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०)

सपूर्ण जैनागम को चार भागो मे विभक्त किया गया है—प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग), चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमे अध्यात्म को लक्ष्य मे रखकर महापुरुषो के जीवनचरित्र के आधार पर पाप, पुण्य और धर्म का दिग्दर्शन कराया गया है, चरणानुयोग वह है जिसमे अध्यात्म को लक्ष्य मे रख कर पाप, पुण्य और धर्म की व्यवस्थाओं का निर्देश किया गया है, करणानुयोग वह है जिसमे जीवो की पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियो तथा उनके कारणो का विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओ के पृथक-पृथक अस्तित्व को बतलाने वाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनो का निर्धारण किया गया है। इनमे से चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग म आवश्यकतानुसार विविध अर्थो मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का बहुलता के साथ प्रयोग हुआ है, इसलिये इन दोनो शब्दो का कहा क्या अर्थ ग्राह्य है? इस विषय पर यहा विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दो का व्युत्पत्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनो शब्दो मे से निश्चय शब्द तो 'निस्' उपसर्गपूर्वक चयनार्थक 'चिञ्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक हरणार्थक 'हृञ्' धातु से 'ण' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियो के अनुसार वस्तु मे सभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मयुगलो मे एक-एक धर्म तो निश्चय शब्द का तथा एक-एक धर्म व्यवहार शब्द का अर्थ समझना चाहिये। वस्तु मे सभवनीय परस्परविरुद्ध धर्मों के वे युगल निम्न प्रकार सग्रहीत किये जा सकते है—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता, एकरूपता-नानारूपता, तद्रूपता-अतद्रूपता, भावरूपता-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता, सग्रहरूपता-विस्ताररूपता, सामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता, द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, साक्षाद्रूपता-परपरारूपता आदि। इनमे पूर्व-पूर्व धर्म तो वस्तु का निश्चय धर्म और उत्तर-उत्तर धर्म वस्तु का व्यवहार धर्म समझना चाहिये।

यहा पर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे हैं कि चरणानुयोग मे प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दो का क्या-क्या अर्थ आगम मे ग्रहण किया गया है?

चरणानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थ

जैन सस्कृति के अध्यात्म का प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवो द्वारा सासारिक बन्धनो से छुटकारा पाकर आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेना ही जैनागम मे बतलाया गया है । जीवो द्वारा सासारिक बन्धनो से छुटकारा पा लेने का नाम मोक्ष है[1] और इस मोक्ष को प्राप्त करने का जो उपाय हो सकता है उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये । जैनागम मे मोक्ष-मार्ग को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र के रूप मे प्रतिपादित किया गया है ।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र को आगम मे निश्चय और व्यवहार के भेद मे दो-दो भेद रूप बतलाया गया है ।[3] इस तरह मोक्ष-मार्ग वहा पर दो भेद रूप बतला दिया गया है—एक निश्चय मोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष-मार्ग ।[4] साथ ही इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चय मोक्ष-मार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार मोक्ष-मार्ग परपरया, अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण है ।[5]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजी ने छह ढाला मे तीसरी ढाल के प्रारम्भ मे इस विषय को बहुत ही सुन्दरता के साथ सारगर्भित दो पद्यो द्वारा स्पष्ट रूप मे प्रतिपादित किया है । वे पद्य ये है—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिव माँहि न, तातेँ शिवमग लाग्यो चहिये ।।
सम्यग्दर्शन ज्ञानचरण शिवमग सो दुविध विचारो ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो ।।१।।
पर द्रव्यन तेँ भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है ।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ।।
आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई ।
अब ववहार मोखमग सुनिये हेतु नियत को होई ।।२।।

---

१ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।।१०-२।। (तत्वार्थसूत्र)

२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।।१-१।। (तत्वार्थसूत्र)
सम्मत्तणाणजुत्त चारित्त रागदोसपरिहरण । मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाण लद्धबुद्धीण ।।१०६।।
(पचास्तिकाय)

३ धम्मादी सद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद । चेट्ठा तव हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।।१६०।।
(पचास्तिकाय मे व्यवहार मोक्ष-मार्ग)
णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहि समाहिदो हु जो ।
अप्पा ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ।।१६१।। (पचास्तिकाय मे निश्चय मोक्ष-मार्ग)

४ निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्य सभवति । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य जयसेन)

५ निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात् । (पचास्तिकाय गाथा १६० की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)
निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् ।
(पचास्तिकाय गाथा १६२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।
(पचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

साधको व्यवहारमोक्षमार्ग साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ-१४२)

एव निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधनभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूप ज्ञातव्यम् ।
(परमात्मप्रकाश श्लोक ७ की टीका)

प्रथम पद्य मे पण्डितजी ने कहा है कि आत्मा का हित सुख है, सुख आकुलता के अभाव मे उत्पन्न होता है और आकुलता का अभाव मोक्ष मे है अत जीवो को मोक्ष के मार्ग मे प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। ये तीनो निश्चय रूप भी होते है और व्यवहार रूप भी होते है अत मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इनमे से सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग तो मोक्ष का सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्यवहार मोक्ष-मार्ग इस निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर मोक्ष का कारण है अर्थात् परपरया कारण है।

द्वितीय पद्य मे पण्डित जी ने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्यो की ओर से मुडकर अपने आत्म-स्वरूप की ओर जीव की अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियो से निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूप मे लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है।

द्वितीय पद्य के अन्तिम चरण मे श्रद्धेय पण्डित जी ने कहा है कि आगे छहढाला मे निश्चय-सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चय मोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार सम्यग्दर्शनादि रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढाला मे किये गये विवेचन के अनुसार व्यवहार मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पृथक-पृथक जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका कथन यहा पर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप

छह ढाला मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व कहे गये है और कहा गया है कि इनके प्रति जीवो के अन्त करण मे श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादि की वास्तविकता के सम्बन्ध मे ज्ञान की दृढता यानी आस्तिक्य भाव जागृत हो जाने का नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधार पर ही जीवो को निश्चय-सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे और स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उपर्युक्त सात तत्त्वो के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागता के आदर्श देवो, परमार्थ अर्थात् वीतरागता के पोषक शास्त्रो और परमार्थ अर्थात् वीतरागता के मार्ग मे प्रवृत्त गुरुओ के प्रति जीवो के अन्त करण मे श्रद्धान का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार मे निबद्ध सम्यग्दर्शन के उक्त लक्षणो मे परस्पर भेद दिखाई देता है परन्तु तत्त्वत उनमे भेद नही है, क्योकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचार मे प्रतिपादित लक्षण से भी निष्कर्ष के रूप मे जीवो के अन्त करण मे उक्त सात तत्त्वो के प्रति आस्तिक्य भाव की जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान का स्वरूप

वीतरागता के पोषक अथवा सात तत्त्वो के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से जीवो को समस्त वस्तुओ के और विशेषकर आत्मा के स्वत सिद्ध स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वत सिद्ध स्वरूप ज्ञायक-पना अर्थात् समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है। इसके आधार पर ही आत्मा का अनादि, अनिधन,



---

१ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ॥१-२॥, जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥१-४॥

२ श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए) स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा के इस स्वरूप को समझने के लिये उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही जीवों को इस प्रकार के सम्यक् (वीतरागता के पोषक) आगमज्ञान की सप्राप्ति आवश्यक है इसलिये यद्यपि मोक्षमार्ग मे सम्यग्दर्शन के पूर्व ही सम्यग्ज्ञान का स्थान मिलना चाहिये परन्तु वहा इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर ही उक्त प्रकार के ज्ञान का सम्यक्पना (सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञान की उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्-चारित्र पर आरूढ होने के लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियों मे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूप मे लीन होने रूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओ मे जीव की प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतराग चारित्र और करणानुयोग की दृष्टि मे औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है[1]। इस की प्राप्ति जीवो को उपशम श्रेणी चढकर ११वें गुणस्थान मे पहुचने पर औपशमिक चारित्र के रूप मे अथवा क्षपक श्रेणी चढकर १२वे गुणस्थान मे पहुचने पर क्षायिक चारित्र के रूप मे होती है परन्तु ११ वे गुणस्थान के औपशमिक चारित्र और १२ वें गुणस्थान के क्षायिक चारित्र मे इतना अन्तर है कि उपशम श्रेणी चढकर ११वें गुणस्थान मे पहुचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल मे ही पतन की ओर मुड जाता है। अत जहा उसका औपशमिक चारित्र तत्काल समाप्त हो जाता है वहा क्षपक श्रेणी चढ कर १२वे गुणस्थान मे पहुचने वाले जीव का क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतन की ओर न मुड कर अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल मे ही १२वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान मे पहुच कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चय चारित्र की प्राप्ति के लिये चतुर्थ गुणस्थान का अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाचवें गुणस्थान मे अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ कर छठे गुणस्थान मे महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नही, घोर तपश्चरण करके आगे बढता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थान मे शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त हो कर आत्मपरिणामो की उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धि के आधार पर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी माडता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीव को उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पाचवें और छठे गुणस्थानो मे तो बुद्धिपूर्वक और सातवे से लेकर १० वें तक के गुणस्थानो मे अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहार-चारित्र की पालना मे ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्र का भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोग की दृष्टि मे क्षायोपशमिक चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म, एव तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नही, इन क्रियाओ को सलग्नता के साथ करने से वे यथासभव स्वर्ग मे जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि इन क्रियाओ की निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति पूर्वक मोक्षप्राप्ति रूप सार्थकता सम्यग्दर्शन के आधार पर ही हुआ करती है अन्यथा नही, क्योकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उस को अप्रत्याख्यानावरण और

---

१ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥
(प्रवचनसार)

प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होना असंभव है जबकि अणुव्रत और महाव्रत आदि रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायों का आगम में बतलायी गयी प्रक्रिया के अनुसार क्षयोपशम होने पर ही उत्पन्न होता है।[1]

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोग में सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन मिलता है उसका आशय निश्चय मोक्षमार्ग को तो मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाना है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परया अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण बतलाना है। विचार कर देखा जावे तो यह आशय मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को तो कार्यरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रको उस निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शनादि का कारण रूप बतलाना भी उसी का आशय है। यहां पर भी यदि विचार करके देखा जावे तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इस तरह ज्ञात होता है कि चरणानुयोग के प्रकृत प्रकरण में मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से कारण की साक्षाद्रूपता और परम्परारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से निश्चय रूप और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शनादिक की कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जीव को मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की तथा परम्परया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग रूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक से ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं, वे गलती पर हैं कारण कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्य में सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि "जब निश्चय मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है तो निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति का ही जीव को प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्ग के ऊपर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है", तो वे व्यक्ति भी गलती पर हैं, क्योंकि ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव को व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ हुए बिना निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना असंभव है। यह बात पूर्व में ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के अंगभूत निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को औपशमिक रूप में तो उपशम श्रेणी मांड कर ११ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है और क्षायिक रूप में क्षपक श्रेणी मांड कर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी मांडकर ११ वें अथवा १२ वें गुणस्थान में नहीं पहुंच जाता है तब तक अर्थात् १० वें गुणस्थान तक उस के व्यवहार सम्यक्चारित्र, जिसे सरागचारित्र या करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है, हो रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि "व्यवहारसम्यक्चारित्र को धारण किये बिना ही निश्चय-सम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को संभव है", कारण कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य गुणस्थान क्रम से बढ़ता हुआ ही ११ वें या १२ वें गुणस्थान में पहुंच कर निश्चयसम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १० वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या यों कहिये कि क्षायोपशमिक चारित्र के रूप में रहा करता है।



---

१ पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥३०॥
संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥३१॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड)



उपर्युक्त कथन से एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बात का स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिक चारित्र रूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र का सद्भाव रहते हुए भी जीव में औपशमिक या क्षायिक रूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बात को स्वीकार नही करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमतचन्द्र ने समयसार गाथा ३३५ की टीका में व्यवहाराचार[1] सूत्र का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्द ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब विष-कुम्भ की उपमा दे दी है जब जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से परपरया मोक्ष के कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्र की नियम से उपयोगिता है लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्र की उपयोगिता है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती है, आगे नही।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगम मे निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है और व्यवहार मोक्षमार्ग को जो अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है तो इसमे आगम का अभिप्राय क्या है?

आगम मे निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है इसमें आगम का अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग की इससे साक्षात् कारणता का बोध हो जाता है और चूंकि मोक्ष की साक्षात् कारणता का व्यवहार मोक्षमार्ग मे अभाव पाया जाता है कारण कि उसमे तो परपरया ही कारणता पायी जाती है अत उसे अभूतार्थ आदि नामो से पुकारा जाता है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि "व्यवहार मोक्षमार्ग की मोक्ष की प्राप्ति मे कुछ भी उपयोगिता नही है वह तो वहा पर सर्वथा अकिंचित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षप्राप्ति मे परपरया कारण नियम से होता है। इस तरह व्यवहार मोक्षमार्ग मे मोक्षप्राप्ति की साक्षात कारणता का अभाव रहने से जहा अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहा उसमे मोक्षप्राप्ति की परम्परया कारणता का सद्भाव रहने से भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते है। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चय-मोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योकि उसमे मोक्ष की साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्षमार्ग कथचित् भूतार्थ आदि है क्योकि उसमे मोक्ष की परपरया कारणता विद्यमान है और कथचित् अभूतार्थ आदि भी है क्योकि उसमे मोक्ष की साक्षात् कारणता का अभाव है। इस तरह इसे सर्वथा अभूतार्थ तो नही माना जा सकता है कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का सद्भाव १० वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११ वें और १२ वे गुणस्थान मे ही निश्चय सम्यक् चारित्र की उपलब्धि जीव को हो सकती है तो इसे मोक्ष का सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है? जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति के साक्षात् कारणभूत निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति किसी भी जीव को व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाये बिना सभव नही है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये

---

१ अपडिकमण अपरिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुभो ॥१॥
पडिकमण परिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुभो दु ॥२॥
(व्यवहाराचार सूत्र)

२ पडिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होई विसकुभो ॥३०६॥
अपडिकमण अपडिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुभो ॥३०७॥
(समयसार)

प्रत्येक जीव को हर हालत मे व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाना ही होगा ।

इतना स्पष्टीकरण हो जाने के बाद जो व्यक्ति व्यवहार मोक्षमार्ग को ससार का कारण मानते हैं वे बहुत भारी भूल करते है कारण ससार के मुख्य कारण तो मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग मे देशघाती प्रकृतिया का उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि ससार का कारण होता है लेकिन उसमे (क्षायोपशमिक मोक्ष मार्ग मे) जितना अश यथाविधि उपशम या क्षय के रूप मे सर्वघाती कर्म के उदयाभाव रूप रहा करता है वह कभी ससार का कारण नही होता है ।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृति के प्रभाव से ऐसा जीव मर कर उत्तम गति मे ही जन्म लिया करता है[2] और परपरया उस देशघाती प्रकृति के प्रभाव को समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है ।[3]

निश्चय मोक्षमार्ग की सवथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्ग की कथचित भूतार्थता और कथचित अभूतार्थता की सिद्धि मे एक तर्क यह भी है कि निश्चय मोक्षमार्ग सर्वथा वन्ध का अकारण है जबकि व्यवहार मोक्ष-मार्ग पूर्वोक्त प्रकार से कथचित् वन्ध का अकारण है और कथचित् वन्ध का कारण भी है अत मुक्ति का सवथा कारण होने से निश्चय मोक्षमार्ग को सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथचित् वन्ध का कारण तथा कथचित् वन्ध का अकारण होने से जब व्यवहार मोक्षमार्ग मे कथचित् ससार की कारणता और कथचित् मुक्ति की कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकार से उसे मुक्ति की कथचित् अकारणता के आधार पर कथचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्ति की कथचित् कारणता के आधार पर कथचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है । उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिल्कुल अनुचित है क्योकि सर्वथा अभूतार्थता तो ससार के सर्वथा कारणभूत या मोक्ष के सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मे सिद्ध होती है । यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग मे सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादि की अपेक्षा भेद ही क्या रह जायगा ? अर्थात् कुछ भेद नही रह जायगा ।

करणानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थ

इस लेख के आरम्भ मे हम कह आये है कि करणानुयोग वह है जिसमे जीवो की पाप, पुण्य, और धर्म-मय परिणतियो तथा उनके कारणो का विश्लेषण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है । प्रकृत मे जो कुछ विवेचन किया जाता है वह सब इसके आधार पर ही किया जाता है ।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्मा का स्वत सिद्ध स्वभाव है । इसलिये इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वतन्त्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे जिस प्रकार आकाश अपने स्वत सिद्ध अवगाहक स्वभाव के आधार पर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओ को अपने उदर मे एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वत सिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधार पर विश्व की सपूर्ण वस्तुओ को एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादि काल से ससार परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्र मे फसे हुए हैं उन्होने अनादि



१ येनाशेन सुदृष्टिस्तेनाशेनास्य वन्धन नास्ति । येनाशेन तु राग तेनाशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥
येनाशेन ज्ञान तेनांशेनास्य वन्धन नास्ति । येनांशेन तु राग तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥
येनाशेन चरित्र तेनाशेनास्य बधन नास्ति । येनाशेन तु राग तेनाशेनास्य बधन भवति ॥२१४॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

२ धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुह सुहोवजुत्तो व सग्गसुह ॥११॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवइ णेरइयो । दुक्खसहस्सेहि सदा अभिधुदो भमइ अच्चत ॥१२॥
(प्रवचनसार)

३ असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य । स विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय ॥२११॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

काल से अभी तक न तो कभी विश्व की सपूर्ण वस्तुओ को एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हे एक साथ देख जान पा रहे हैं। इतना ही नही, इन ससारी जीवो मे एक तो तरतम भाव से ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है दूसरे जितनी मात्रा मे इनमे ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनो की अधीनता मे ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये ससारी जीव पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों मे इष्टपने या अनिष्टपने की कल्पना रूप मोह किया करते है और तब वे इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों मे प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों मे अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हे सतत इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति मे और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति मे तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति मे और इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति मे विषाद हुआ करता है। यदि किन्ही-किन्ही जीवो को इस प्रकार मे हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीर की अधीनता मे ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्ही दूसरे पदार्थों की अधीनता स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थिति मे शरीर के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति मे अथवा शरीर के लिये पीडाकारक पदार्थों की अप्राप्ति व प्राप्ति मे उन्हे भी क्रम से सुख व दु ख का सवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी ससारी जीव अनादि काल से अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए हैं। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पचेन्द्रिय भी हुए हैं। इसी तरह कभी मनरहित असज्ञी और कभी मनसहित सज्ञी भी हुए है। इन्होने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवो के शरीरो मे भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोक मे प्रभावशाली देखे जाते है और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते है। एक जीव मे उच्चता का और एक जीव मे नीचता का भी व्यवहार लोक मे देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को जन्म-मरण भी धारण करना पड रहा है।

यह सब क्यो हो रहा है ? इसका समाधान आगम-ग्रन्थो मे इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक ससारी जीव अपने स्वत सिद्ध जानने-देखने के स्वभाव को न छोडते हुए भी अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण की तरह पौदगलिक कर्मो के साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाही रूप से एकमेकपने को प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से आठ प्रकार के आगम मे बतलाये गये है।[2] आगम मे यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है, दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव को पर पदार्थों के आधार पर यथायोग्य सुख और दु ख का सवेदन कराना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीव को पर-पदार्थों के आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बना कर उचित-अनुचित के भेद से रहित प्रवृत्तियो मे व्यवहृत कराना है, आयु कर्म का कार्य जीव को प्राप्त शरीर मे सीमित काल तक रोक रखना है, नाम कर्म का कार्य जीव को मनुष्यादि रूपता प्राप्त कराना है, गोत्र कर्म का कार्य कुल, शरीर और आचरण आदि के आधार पर जीव मे उच्चता-नीचता का व्यवहार कराना है और अन्तराय कर्म का कार्य जीव की स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।[3]

करणानुयोग की व्याख्या यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा अपने विकारी भावो (परिणामो)

---

१ पयडी सील सहावो जीवगाण अणाइ सबधो। कणयोवले मल वा ताणत्थित्त सय सिद्ध ॥२॥
(गो० कर्मकाण्ड)

२ णाणस्स दसणस्स य आवरण वेयणीय मोहणिय। आउगणाम गोदतरायमिदि अट्ठपयडीओ ॥८॥
(गो० कर्मकाण्ड)

३ किस कर्म का क्या कार्य है ? इसकी सामान्य जानकारी के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

द्वारा बाधता[1] है और तब ये कर्म जीव के साथ बध कर उसमे सीमित काल के लिये अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्त मे उदय मे आकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव करा कर ये कर्म तो निर्जरित हो जाते हैं[2] लेकिन उस फलानुभवन से प्रभावित होकर अपने मे उत्पन्न विकारी भावो द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरह के नवीन कर्मो मे पुन बध जाता है। ये कर्म उदय मे आकर अपना फलानुभवन जिस रूप मे जीव को कराते है वह जीव का औदयिक भाव कहलाता है[3] क्योकि जीव का उस रूप भाव उस कर्म का उदय होने पर ही होता है। अन्यथा नही। कदाचित् कोई जीव अपने मे सत्ता को प्राप्त यथायोग्य किसी कर्म को अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्ति को सुरक्षित रखते हुए भी जीव को एक अन्तर्मुहूर्त के लिये फल देने मे असमर्थ हो जाता है, कर्म की इस अवस्था का नाम उपशम है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का औपशमिक भाव कहते है।[4] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्म को सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीव से अपना सम्बन्ध सर्वथा समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्म की इस अवस्था का नाम क्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायिक भाव कहते है।[5] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्म के कुछ अश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहे, कुछ अश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षय रूप हो जावे और कुछ अश (सर्वघाती रूप) सदवस्था रूप उपशम की स्थिति को प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्म की क्षयोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायोपशमिक भाव कहते हैं[6]। क्षायोपशमिक भाव का अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मो के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीव की अवस्थायें भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप हो जाया करती है[7] अब इनमे यदि कारणता की व्यवस्था की जाय तो कहा जा सकता है-जीव की इन औदयिकादि अवस्थाओ की उत्पत्ति मे कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओ के आधार पर व्यवहार कारण होता है और जीव स्वय निश्चय कारण है। जैसा कि नयचक्र की निम्न-लिखित गाथा से स्पष्ट होता है -

"बधे च मोक्खहेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्ष मे अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूप अवस्थाओ के आधार पर व्यवहार रूप से कारण होता है और जीव निश्चय रूप मे कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहार रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायक रूप से कारण होता है और "जीव निश्चय रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादान रूप से कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्म मे जीव के बन्ध और मोक्ष की उत्पत्ति के प्रति यथा-



१ जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति। पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवोऽपि परिणमइ ॥८०॥ (समयसार)

२ विपाकोऽनुभव ॥८-२१॥ स यथानाम ॥८-२२॥ ततश्च निर्जरा ॥८-२३॥ (तत्वार्थ सूत्र)

३ कर्मणामुदयाद्य स्याद् भावो जीवस्य सस्मृतौ। नाम्नाप्यौदयिकान्वर्थात्पर बन्धाधिकारवान् ॥२-९७०॥ (पचाध्यायी)

४ कर्मणा प्रत्यनीकाना पाकस्योपशमात्स्वत। यो भाव प्राणिना स स्यादौपशमिकसज्ञक ॥२-९६८॥ (पचाध्यायी)

५ यथास्व प्रत्यनीकाना कर्मणा सवत क्षयात्। जातो य क्षायिको भाव शुद्ध स्वभाविकोऽस्य स ॥२-९६९॥ (पचाध्यायी)

६ यो भाव सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भव। क्षायोपशमिक स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥२-९६६॥ (पचाध्यायी)

७ तत्रौपशमिको नाम भाव स्यात् क्षायिकोऽपि च। क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्यौदयिकोऽस्तु नु। ॥९६२॥ (पचाध्यायी)



योग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर निमित्त कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है तथा जीव स्वय मे अपने उस बन्ध और मोक्ष के प्रति उपादान कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म की उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूप अवस्थाए होती है तब जीव अपनी योग्यता के अनुसार क्रमश औदयिक औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओ के रूप मे अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औदयिकादि परिणतियो के रूप मे परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओ के आधार पर आत्मा की उन अवस्थाओ की उत्पत्ति मे सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्म की कोई परिणति वहाँ पर जीव की परिणति बन जाती हो—ऐसी बात नही है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रह के आधार पर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्य रूप परिणत हो उसे उपादान कहते है।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रह के आधार पर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उपादान को उसकी अपनी परिणति मे मित्र के समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहा पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वय के कार्य रूप परिणत होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय"[3] इस आगमवाक्य के अनुसार उसे कार्य का निश्चय कारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादान को उसकी अपनी कार्यरूप परिणति मे सहयोग मात्र देने के कारण "पराश्रितो व्यवहार"[4] इस आगम वाक्य के अनुसार निमित्त को कार्य का व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनो कारणो मे निश्चयकारणता और व्यवहारकारणता का अन्तर रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति मे दोनो ही कारण उपयोगी सिद्ध होते है। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण को निश्चय कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारण को भी व्यवहार कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अयुक्त नही है क्योकि जिस प्रकार उपादान का कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्त का उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूकि निमित्त उपादान की तरह कार्यरूप परिणत नही होता अत इस दृष्टि से उसमे यदि अभूतार्थता आदि धर्मों का सद्भाव माना जाय तो यह भी असगत नही है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूकि कार्यरूप परिणत नही होता इसलिये तो कथचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है अत कथचित् भूतार्थ आदि भी है। अत जो व्यक्ति निमित्त को कार्योत्पत्ति मे सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते है उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभव मे यह बात आती है कि उपादान की कार्यपरिणति मे निमित्त के सहयोग की अनिवार्य रूप से सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि जब तक उपादान को आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्त का सहयोग प्राप्त नही होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादान मे कार्योत्पत्ति के लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य

---

१ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्‌गलिक कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

२ समयसार गाथा ८६ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "य परिणमति स कर्ता" आदि पद्यो द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३ ४ देखो समयसार गाथा २७३ की समयसार टीका।

का नियम मे भेदन करने वाला है। आगम मे भी इस वात को स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्ति मे यदि उपादान की कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य का भेदन नही करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते है कि "कार्य तो उपादान स्वय अपनी सामर्थ्य से ही उत्पन्न कर लेता है उसमे उसको निमित्त के सहयोग की विल्कुल अपेक्षा नही रहा करती है, वह तो वहा पर सर्वथा अकिंचित्कर ही वना रहता है," तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते हैं कि "निमित्त अपने रूप का समर्पण कार्य मे करता है" तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्य मे अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्त मे उपादान की अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा ? अर्थात् ऐसी स्थिति मे निमित्त स्वय ही उपादान वन जायगा और तव उसे निमित्त कहना ही असगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनो मे यही वात वतलायी गयी है कि वेदान्त के मतानुसार चित्त से अचित्त की उत्पत्ति होती है और चार्वाक के मतानुसार अचित्त मे चित्त की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्त को अचित्त का और चार्वाक अचित्त को चित् का उपादान कारण मानते हैं। जैनदर्शन इन दोनो ही मान्यताओ का खण्डन करता है कारण कि जैनदर्शन का यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप परिणत नही होता और न कभी एक द्रव्य के गुणधर्म ही किसी अन्य द्रव्य मे सक्रमित होते है।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाक की उक्त मान्यताओ का खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित् को अचित्त की परिणति मे तथा अचित्त को चित् की परिणति मे निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे इन दोनो वातो का विस्तार मे विवेचन किया है। अर्थात् समयसार मे स्थान-स्थान पर यही वात देखने को मिलती है कि उसमे जहा एक वस्तु मे दूसरी वस्तु की उपादानकारणता के सद्भाव का दृढता के साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढता के साथ एक वस्तु मे दूसरी वस्तु की निमित्तकारणता का समर्थन भी किया गया है[4] और यह वात हम पूर्व मे स्पष्ट ही कर चुके हैं कि निमित्तकारणता उपादानकारणता के रूप मे अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वय अपने रूप मे तो वह भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे तत्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३ के अन्तर्गत पृष्ठ ५१ पर सहकारी (निमित्त) कारण की उपादान की कार्यपरिणति मे सहकारिता रूप से पारमार्थिकता (वास्तविकता) को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[5]

यहा पर उपादान कारणता और निमित्त कारणता के स्वरूप का, उनकी क्रम से निश्चयरूपता और व्यवहाररूपता का एव दोनो की अपने-अपने रूप मे वास्तविकता का जो विश्लेषण किया गया है, उसका प्रकृत मे उपयोग यह है कि जीव की पूर्वोक्त औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियो के प्रति कर्म मे

---

१ तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्कर किं सहकारिकारण स्यात् ?

(आप्तमीमासा कारिका १० की अष्टशती टीका)

२ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण सकमदि दव्वे ॥ (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

३ जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्ते पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

४ जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति। पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामजाण दोण्ह पि ॥८१॥

(समयसार)

५ क्रमभुवो पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात् न चैवविध कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथ तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि। यदनन्तर हि यदवश्य भवति तत्तस्य कारण मितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ सम्वन्ध सयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुन कल्पनारोपित सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।





जो उदयादिक के आधार पर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूप मे अर्थात् निमित्तरूप मे है और जीव स्वय मे उन औदयिकादि परिणतियो के प्रति जो कारणतायें विद्यमान हैं वह निश्चयरूप मे अर्थात् उपादान रूप मे है तथा साथ ही ये दोनो ही कारणतायें अपने-अपने रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योंकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियो के प्रति जीव स्वय की उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकार से कल्पनारोपित नही है उसी प्रकार जीव की उन औदयिकादि परिणतियो के प्रति अपनी उदयादि परिणतियो के आधार पर सहयोगी होने के कारण कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नही है। इतना अवश्य है कि चूकि उपादान कारण होने के सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है इसलिये उपादान कारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्त कारण होने के सबब चूकि कर्म स्वय कार्यरूप परिणत नही होता इसलिये तो वह कथचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादान भूत जीव की कार्यभूत औदयिकादि परिणतियो में अपनी उदयादिपरिणतियो के आधार पर सहायक अवश्य होता है अत वह सहायकपने की अपेक्षा कथचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहा पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियो को छोडकर और कुछ नही है अर्थात् कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूपसे परिणत होना ही जीव की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियो के प्रति कर्म की क्रमश निमित्तकारणता है। ऐसा नही समझना चाहिये कि कर्म की उदयादिक परिणतिया अलग है और जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति उसमे (कर्म मे) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरह से विचार किया जाय तो कर्म की उदयादिक परिणतिया उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतिया होने के कारण जहा "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्य के आधार पर उसके निश्चय धर्म है वहा कर्म की वे ही परिणतिया जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति यथायोग्य रूप मे निमित्तकारणता का रूप धारण कर लेने से "पराश्रितो व्यवहार" इस आगम वाक्य के आधार पर निमित्तकारणता के रूप मे उसके व्यवहार धर्म भी हैं। अब ऐसी हालत मे भी यदि निमित्तकारणता की भूतार्थता आदि के विषय मे विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति कर्म मे विद्यमान निमित्तकारणता जहा उस कर्म की उदयादि परिणतियो के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वही उसका कर्म मे उदयादि परिणतियो से पृथक् स्वतत्र अस्तित्व न रहने के कारण वह कर्म का अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरह से भी जीव की औदयिकादि परिणतियो के प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्म का कथचित् वास्तविक और कथचित् अवास्तिक धर्म ही सिद्ध होती है। गधे के सीग की तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि के रूप मे कदापि नही माना जा सकता है।

इस कथन का निचोड यह है कि जीव की जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतिया हुआ करती है वे सब परिणतिया जीव की अपनी ही परिणतिया हैं इसलिये जीव इन परिणतियो का उपादान कारण या निश्चय कारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतिया क्रमश कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने पर ही होती है इसलिये कर्म जीव की इन औदयिकादि परिणतियो का अपनी उदयादिक परिणतियो के आधार पर निमित्तकरण या व्यवहार कारण होता है। चूकि कर्म के उदयादिक के अभाव मे जीव की ये औदयिकादि परिणतिया कदापि नही होती है अत कर्म को जीव की इन परिणतियो मे अकिंचित्कर या निरुपयोगी मानना मिथ्या है और चूंकि कर्म की कोई परिणति कदापि जीव की परिणति नही बनती है इसलिए कर्म को जीव की औदयिकादि परिणतियो का उपादान कारण या निश्चय कारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तक के विवेचन से यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चरणानुयोग के प्रकरण मे मोक्षकार्य की दृष्टि से जो निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दो के आधार पर क्रमश निश्चय मोक्ष मार्ग मे मोक्ष की साक्षात् कारणता के और व्यवहार मोक्ष मार्ग मे मोक्ष की परपरया कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। इसी प्रकार वही पर जो निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र का तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान, और व्यवहार

सम्यक्चारित्र का कथन किया गया है यह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दों के आधार पर क्रमश निश्चय सम्यग्दर्शनादि मे तो कार्यता के और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक मे कारणता के अस्तित्व का ही वोध कराता है । इसके अतिरिक्त करणानुयोग के प्रकरण मे जीव के वन्ध और मोक्षरूप अथवा जीव की औदयिकादि परिणति रूप कार्य की दृष्टि से जो नयचक्र की उपर्युक्त २३७ वी गाथा के अनुसार निश्चय कारण और व्यवहार कारणो के रूप मे दो कारणो का कथन किया गया है वह कथन निश्चय शब्द के आधार पर जीव स्वय मे उपादान कारणता के और व्यवहार शब्द के आधार पर कर्म मे यथायोग्य उदयादि रूप से निमित्तकारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। अब आगे हम इस विपय पर विचार करना चाहते है कि द्रव्यानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का क्या अर्थ ग्रहण किया गया है ।

द्रव्यानुयोग मे निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थ

लेख के प्रारम्भ मे हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विश्व की सपूर्ण वस्तुओ के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को वतलानेवाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनो का विवेचन किया गया है । यहा प्रकृत विपय पर इसीको आधार बनाकर विचार किया जा रहा है।

जैनागम मे वतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतत्र सद्रूपता ही वस्तु का लक्षण है । प्रत्येक वस्तु की यह सद्रूपता स्वतत्र तभी मानी जा सकती है जबकि वह स्वत सिद्ध हो, अत कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी सद्रूपता स्वत सिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तु की सद्रूपता स्वत सिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तु मे निम्नलिखित चार विशेषतायें अनायास हो जाती है ।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादि काल मे रहती आ रही है), अनविन है (अनन्त काल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने-अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिये हुए है ।) इस विषय को पचाध्यायी मे निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया गया है-

"तत्त्व सल्लाक्षणिक सन्मात्र वा यत स्वत सिद्धम् ।
तस्मादनादि-निधन स्वसहाय निर्विकल्प च ॥८॥"

इस प्रकार विश्व मे अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध सद्रूपता को प्राप्त सपूर्ण वस्तुओ की सख्या अनन्तानन्त है । इनमे भी जीवो की सख्या अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवो की सख्या से भी अनन्तानन्त गुणे हैं, काल असख्यात है और धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक हैं ।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुयें सामान्यरूप से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम के छह द्रव्य प्रकारो मे समाविष्ट होती हैं ।[2]

प्रत्येक वस्तु मे अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तधर्म विद्यमान है। इन्हे गुण या स्वभाव भी कहते हैं ।[3] वस्तु का जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नही हो सकता है। इस तरह प्रत्येक वस्तु मे गुणो की सख्या अनन्त ही सिद्ध होती है ।[4]

---

१ जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि-अणुस्कन्धभेदेन भिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालाश्चासख्येया । (सर्वार्थसिद्धि टीका-१- २९)

२ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला ॥५-१॥ द्रव्याणि ॥५-२ जीवाश्च ॥५-३॥, कालश्च ॥५-३९॥ (तत्वार्थसूत्र)

३ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूप गुण स्वभावश्च ।
प्रकृति शील चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दा ॥१-४८॥ (पचाध्यायी)

४ देशस्यैका शक्तिर्या काचित्सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ता ॥१-४९॥
एव य कोऽपि गुण सोऽपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ता ॥१-५२॥ (पचाध्यायी)



प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन शील है[1] इस प्रकार सभी वस्तुओं की निम्न प्रकार स्थिति निश्चित होती है।

"वस्तु की आकृति (प्रदेशवत्ता रूप द्रव्यरूपता), वस्तु की प्रकृति (स्वभाववत्ता रूप गुणरूपता और वस्तु की तथा वस्तु के प्रत्येक गुण की विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोग में द्रव्यरूपता के साथ-साथ वस्तु की अनन्त द्रव्यपर्यायों तथा वस्तु के अनन्त गुणों और उन गुणों में से प्रत्येक गुण की अनन्तगुणपर्यायों के रूप में वस्तु का जैनागम में विश्लेषण किया गया है।[2]

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी उक्त प्रकार की द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि के रूप में विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। इस तरह प्रत्येक वस्तु को जैनागम में सत् मानते हुए भी उस सत्ता को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[3] अर्थात् जैनागम में प्रत्येक वस्तु में द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायों के रूप में तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्व के रूप में ध्रौव्य का सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् परिणमन में वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोडती है और न ही एक वस्तु की अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तु रूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी एक तो कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशा से जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों में समझना चाहिये। इतना ही नहीं, एक जीव कभी दूसरे

---

१ वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि। (पचाध्यायी १-८९ का पूर्वार्द्ध)
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि। (पचाध्यायी १-११२ पूर्वार्द्ध)

२ अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि। तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्वाधिकार)
इह हि किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात्-गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि।
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्वाधिकार गाथा १ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)

३ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥५-२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥५-३०॥ (तत्वार्थसूत्र)
वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत्सदेतदिह नियमात् ॥१-८९॥
जैनानां मतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा वस्तु।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१-१०८॥
ज्ञानं परिणमति यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमिति चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥१-११०॥
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥१-११२॥ (पचाध्यायी)

जीव रूप परिणत नहीं होता, एक पुद्गलाणु कभी दूसरा पुद्गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुयें यथायोग्य एक-दूसरी वस्तु के साथ संयुक्त होकर ही रह रही हैं।[1] इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलों में ऐसी स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नाम की विशेषता विद्यमान है[2] कि जिसके आधार पर सभी जीव अनादि काल से यथायोग्य पुद्गलों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एक क्षेत्रावगाही रूप में एकमेकपने को प्राप्त रहे हैं। उनमें से बहुत से जीवों ने यद्यपि पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी अनादिकालीन इस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्था में रह रहे हैं।[3] बहुत से पुद्गल अपने में विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्ति के आधार पर अनादिकाल से जीवों के साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे हैं, साथ ही बहुत से पुद्गल एक-दूसरे पुद्गलों के साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे हैं।

जिन जीवों ने पुद्गलों के साथ अनादिकाल से विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुनः पुद्गलों के साथ बद्ध नहीं होंगे परन्तु पुद्गल एक बार जीव के साथ अथवा अन्य पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त करके भी पुनः उस योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्गलाणुओं और पुद्गल स्कन्धों के साथ हमेशा ही बँधते और बिछुड़ते रहते हैं।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्व को नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्व को कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तु के अन्य गुण रूप अथवा अन्य वस्तु के गुण रूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की अथवा प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्यय रूपता को धारण किये हुए है परन्तु इन सभी पर्यायों में भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तु की कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तु की पर्याय होती है व एक गुण की भी कोई पर्याय केवल उसी गुण की पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकार से सतत प्रतिनियतता को ही धारण किये हुए हैं।[4]

प्रत्येक वस्तु में यथासंभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियम से स्वपर-प्रत्यय ही हुआ करते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में जो गुणपरिणमन होते हैं उनमें से कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूप से यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकार से होते हैं। उनमें से एक प्रकार तो

---

१ सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादापतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते (प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः)।

(समयसार गाथा ३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलन्ता वि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥७॥ (पंचास्तिकाय)

२ अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति वैभाविकी शक्तिर्मिथो बन्धाधिकारिणी ॥२-४५॥ (पंचाध्यायी)

३ एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९५॥ (जीवकाण्ड)

४ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे। (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)
ण वि परिणमइ गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए। णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥
इसके आगे गाथा ७७, ७८ और ७९ में भी यह बात देखें—(समयसार)



स्वप्रत्यय का है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्यय का है ।[1] यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तु का कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नही होता है ।[2]

प्रत्येक वस्तु मे जो गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर की अपेक्षा के बिना ही केवल स्वत होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तु मे जो द्रव्य या गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर वस्तु का सहयोग मिलने पर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है ।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के शक्त्यशो मे अनन्त भाग हानि, असख्यात भाग हानि, सख्यात भाग हानि, सख्यात गुण हानि, असख्यात गुण हानि और अनन्त गुण हानि के रूप मे तथा इसके अनन्तर अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धिरूप मे जो परिणमन समय-समय के विभागपूर्वक सतत हुआ करता है इसे तो स्वप्रत्यय[3] परिणमन जानना चाहिये । इसके अलावा प्रत्येक वस्तु मे होने वाले शेष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय[4] ही हुआ करते हैं । ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहार काल के समय, आवली, घडी, मुहूर्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागो मे विभक्त किये जा सकते है ।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शनो मे पर प्रत्यय परिणमनो का भी स्वीकार किया गया है जैसा पूर्व मे हम बतला आये है कि वेदान्त दर्शन मे चित् को अचित्त का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शन मे अचित् को चित् का उपादान मान लिया गया है परन्तु जैनदर्शन मे चूकि पर-प्रत्यय परिणमन का सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुभव सिद्ध भी है इसलिये वस्तु मे पर प्रत्यय परिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनो की इन मान्यताओ का वहा पर (जैनदर्शन मे) खण्डन किया गया है और यही कारण है जैन मान्यता के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यो की जितनी सख्या विश्व मे निर्धारित की गयी है वह नियत है उसमे कभी घटा-बढी नही हो सकती है ।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के शक्त्यशो के आधार पर होने वाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि-रूप स्वप्रत्यय गुण परिणमनो का सकेत ऊपर हम कर चुके है । वस्तु के स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनो और गुणपरिणमनो का विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये ।

जीव का शरीर के छोटे-बडे आकार के अनुसार जो छोटा-बडा आकार यथा समय बनता रहता है तथा जीव की नर-नारकादि पर्यायो के रूप मे पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी या इसी प्रकार के प्रत्येक वस्तु मे अन्य वस्तु के यथायोग्य सयोग या मिश्रण से होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपर प्रत्य द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं । इसी प्रकार आत्मा

---

१ द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च । (सर्वार्थसिद्धि टीका ५-२)

नोट—यहा पर पर-प्रत्यय से तात्पर्य स्वपरप्रत्यय का ही आगमानुसार ग्रहण किया गया है ।

२ देखो समयसार गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक

३ स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च । (सर्वार्थसिद्धि ५-७)

४ स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ । उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमा । के पुनस्ते ? पर्याया । द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्यय तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति । तत्समर्थश्च स्व प्रत्यय । तावुभौ सभूय भावान्तमुत्पादविगमयोर्हेतू भवत , नान्यतरापाये, कुशूलस्यमाष पच्यमानोऽकस्थघोटकमाषवत् ।

(तत्त्वार्थराजवार्तिक ५-२)

की ज्ञानशक्ति का पदार्थ को जानने रूप परिणमन आत्मा की उस ज्ञानशक्ति मे विद्यमान परिणमन करने की योग्यता के आधार पर उस उस पदार्थ का योग मिलने पर ही हुआ करता है। यह आत्म-वस्तु का स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन मे पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञानशक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पाचो ज्ञानो मे से कोई भी ज्ञान पदार्थ के अभाव मे कदापि पदार्थज्ञान रूप परिणमन नहीं कर सकता है। यही कारण है केवलज्ञान की शक्ति विश्व मे विद्यमान सभी पदार्थों से अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वज्ञ उसके द्वारा केवल उन्ही पदार्थों को जानता है जो अपनी सद्रूपता को धारण किये हुए है। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थ का सहयोग मिले केवलज्ञान का परिणमन पदार्थ को जानने रूप नही हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञान रूप परिणमन पदार्थाधीन ही सिद्ध होता है। मतिज्ञान, और श्रुतज्ञान तो पदार्थ के साथ-साथ यथायोग्य पाच पौद्गलिक इन्द्रियो तथा छठे मन की सहायता से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन मे स्वगत योग्यता के साथ-साथ पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियो और मन की कारणता भी रहा करती है। इतना ही नही, मतिज्ञान मे प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञान मे शब्द भी कारण हुआ करते हैं।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे आत्मा की ज्ञानशक्ति मे रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है, पदार्थों मे रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है तथा इन्द्रियो मे, मन मे और प्रकाश मे रहने वाली कारणता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। इसी तरह श्रुतज्ञान मे शब्द की कारणता भी भिन्न प्रकार की है। अर्थात् आत्मा की ज्ञानशक्ति की जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थो मे, मन मे, इन्द्रियो मे, प्रकाश मे और शब्द मे जो कारणता है वह निमित्त रूप है क्योकि ये सब स्वय पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे सहायक होते है। इनमे भी आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन मे पदार्थ अवलम्बन रूप से निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशो पर दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्मा की ज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञानरूप परिणमन होता है, अन्यथा नही। इन्द्रिया और मन करणरूप से निमित्त होते है। प्रकाश की विद्यमानता ही निमित्त हुआ करती है। श्रुतज्ञान मे शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते है।

पूर्व मे हम इस बात का कथन कर आये है कि कार्य के प्रति कार्य से अभिन्न वस्तु मे विद्यमान उपादान-कारणता स्वाश्रित धर्म होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्य के अनुसार निश्चय रूप है और उसी कार्य के प्रति कार्य से भिन्न वस्तु मे विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्य के अनुसार व्यवहार रूप है।

पूर्व मे हम यह भी कह आये है कि जिसमे निश्चयरूपता रहा करती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सद्भूत या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमे व्यवहाररूपता रहा करती है वह कथचित् वास्तविक आदि होता है और कथचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूंकि निश्चय रूप कारण है इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादन कारण मे इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक



१ तिविह जहण्णाणत वग्ग सला दल छिदीसगादिपद। जीवो पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदर ॥६९॥
धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होति तदो। सुहमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविभागपडिच्छेदा ॥७०॥
अवरा खाइय लद्धी वग्गसलागा तदो सगद्धछिदी। अइसग छप्पण सुरिय तदिय विदियादि मूल च ॥७१॥
सइयादिमूल वग्गे केवलमत पमाणजेट्ठमिण। वर खइय लद्धिणाम सवग्ग सला हवे ठाण ॥७२॥
(त्रिलोकसार द्विरूपवर्गधारा प्रकरण)



रहता है तब तक कार्य मे उपादान की अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है लेकिन निमित्त की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नही हो जाता। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर निमित्त की अपेक्षा समाप्त हो जाती है अत जब तक कार्य मे उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्त का उस अपेक्षा के रूप से वास्तविक ही कहा जायगा और कार्य के उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है अत तब उसे इस दृष्टि से अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्ति म सहायक ही होता है अत इस दृष्टि से तो वह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नही होता अत इस दृष्टि से वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्व मे स्पष्ट कर ही चुके है।

इस तरह उपादान मे तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्त मे कथचित् वास्तविता तथा कथचित् अवास्तविकता रहने के कारण उपादान तो कार्य मे निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहार होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे जो अनन्त धर्म विद्यमान है उनमे से प्रत्येक धर्म की सत्ता उस वस्तु मे अपने अपने विरोधी धर्म की असत्ता के साथ ही रहा करती है। जैसे 'आत्मा चित् है" उनमे जिस प्रकार आत्मा मे चित स्वरूप का सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूपता का अभाव भी सिद्ध होता है। अत कहना चाहिए कि आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव और अचिद्रूपता का अभाव इन दोनो धर्मो मे से चिद्रूपता का सद्भाव आत्मा का स्वरूपपरक धर्म होने से स्वाश्रित धर्म होने के कारण निश्चय धर्म है व अचिद्रूपता का अभाव परस्परपरक धर्म न होने से पराश्रित धर्म होने के कारण व्यवहार धर्म है। ये दोनो ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मा मे अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे है। यही कारण है कि जैनागम मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक प्रकार की सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ता के साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नही माना जायगा अर्थात् आत्मा मे चिद्रूपता के सद्भाव के साथ अचिद्रूपता का अभाव नही माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्मा का अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्यो के साथ वास्तविक भेद सिद्ध नही हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव वास्तविक है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूपता का अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपता का सद्भाव अपनी स्वाश्रयता के कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहा अचिद्रूपता का अभाव पराश्रयता के कारण कथचित् वास्तविक है और कथचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपता का अभाव एक और अखण्ड धर्म नही है, क्योकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमे से प्रत्येक की अचिद्रूपता का अभाव भी आत्मा मे भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मा मे नाना अचिद्रूपताओ के अभाव भी नाना सिद्ध हो जाते है और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपता को व्यवहार धर्म व एकरूपता और अखण्डरूपता को निश्चय धर्म इन दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति के आधार पर हम पूर्व मे प्रतिपादित कर ही चुके है।

भावरूपता को निश्चय शब्द का प्रतिपाद्य और अभावरूपता को व्यवहार शब्द का प्रतिपाद्य मानने मे एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म अपने वैशिष्ट्य के कारण उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है, अभावरूप धर्म नही। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओ मे भी समानता लिये हुये पाये जाते हैं। जैसे जीव मे पुद्गलद्रव्य-अचिद्रूपता का जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्य की अचिद्रूपता का अभाव आकाशादि वस्तुओ मे भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओ मे पुद्गलद्रव्य से भेद करना असभव हो जायगा। अथवा यो कहे कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता का जैसे अभाव एक जीव मे है वैसा ही अभाव अन्य जीवो मे भी है तो इस तरह नाना जीवो मे परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असभव हो जायगा। इसलिये मानना पडता है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म ही उस वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नही। इस तरह भावरूप धर्म को निश्चय धर्म तथा अभावरूप धर्म को व्यवहार धर्म कहना ही उचित है।

---

१ किंचैवभूतापि च सत्ता न स्यान्निरकुशा किन्तु। सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥१-१५॥ (पचाध्यायी)

अनन्तानन्त जीवो, अनन्तानन्त पुद्गलो, सअख्यात कालद्रव्यो तथा एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश इन सवका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओ के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सुरक्षित रक्खे हुए है। अन्यथा जीवो की अनन्तता, पुद्गलो की अनन्तता और कालद्रव्यो की असख्यातता भग हो जायगी। इतना ही नही, सम्पूर्ण वस्तुओ मे एकत्व का प्रस्थापन हो कर सपूर्ण जगत् अद्वैतता के साँचे मे ढल जायगा। एक बात और है। अभाव को जैनदर्शन मे भावान्तर स्वभाव माना गया है, भाव को अभावान्तर स्वभाव नही। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक(भावात्मक)धर्म के आधार पर ही वस्तु की स्वतत्रता का भान हो सकता है असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तु की स्वतत्रता का भान करने मे कदापि सहायक नही हो सकता है। ये सब कारण है जिनके आधार पर हमे प्रत्येक वस्तु के भावात्मक धर्म को निश्चय धर्म और अभावात्मक धर्म को व्यवहार धर्म ही स्वीकार करना पडता है। यह सब निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था वस्तु के नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व अनेकत्व आदि वस्तु धर्मो के विषय मे भी समझ लेना चाहिये। इस विषय को पचाध्यायी ग्रन्थ मे अध्याय प्रथम के श्लोक १५ से श्लोक २२ तक विस्तार से स्पष्ट किया है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तु के निश्चय धर्म को निश्चय रूप से अर्थात् सर्वथा रूप से वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तु के व्यवहारधर्म को व्यवहाररूप से अर्थात् कथचित् रूप से वास्तविक मानना ही उचित है। गधे के सीग की तरह सर्वथा अवास्तविक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नही है।

इन सब निश्चय-व्यवहार धर्मो के अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहार धर्मो के विषय मे विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहा द्रव्यानुयोग की दृष्टि मे उपर्युक्त प्रकार से विधिरूप धर्म और निषेधरूप धर्म व्यवहार-धर्म माना जाता है वहा करणानुयोग की दृष्टि मे निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुक्ति ससार का अभाव रूप धर्म है लेकिन पराश्रितता का अभावरूप धर्म होकर भी आत्मा की स्वतत्रतारूप स्वाश्रयता का बोधक होने से निश्चय धर्म है तथा ससार आत्मा की परतत्रतारूप पराश्रितता का बोधक होने के कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधन-रूपता आदि परस्पर विरोधी धर्मयुगलो मे भी निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था बैठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरग और बाह्य आदि के विकल्पो मे भी पूर्व-पूर्व का धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तर का धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्म को वस्तु का निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्म को वस्तु का व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमे सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दो के व्युत्पत्यर्थो के आधार पर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बात का ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चय धर्म हैं जो अपने-अपने ढग से सर्वथा वास्तविक हैं और वे ही व्यवहार धर्म है जो अपने-अपने ढग से कथचित् वास्तविक और कथचित् अवास्तविक है। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहारधर्म कहना असगत, मिथ्या या कल्पनारूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मो को ही व्यवहार धर्म के रूप मे समझ बैठे है वे महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगो ने व्यवहारधर्म को भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रक्खा है वे भी महान् भ्रम के शिकार हो रहे है।

लोक मे भी व्यवहारधर्म को कथचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे "यह शरीर मेरा है" 'यह मकान मेरा है", "यह द्रव्य मेरा है", "ये मेरे स्वजन है", "मैं अमुक समाज का व्यक्ति हू" और "अमुक ग्राम या देश का रहने वाला हू" इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही हैं तो लोक की और अध्यात्म की सपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी क्योकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकता का ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषो की तो कल्पना करके रूह कापने लग सकती है।

यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये-एक स्थान पर वस्तु का जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते है जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते है जैसे पुद्गलाणुओ के मिश्रण से बनी हुई मिट्टीरूप स्कधपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिटटी घटोत्पत्ति मे निश्चयरूपता को प्राप्त



हो जाती है। यही कारण है कि मिट्टी रूप स्कधपर्याय को द्रव्य के रूप मे यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुन कह देना चाहते है कि सर्वथा वास्तविकता का होना निश्चय की कसौटी है, कथचित् वास्तविकता और कथचित् अवास्तविकता का होना व्यवहार की कसौटी है तथा सर्वथा अवास्तविकता का होना मिथ्या-रूपता की कसौटी है।

विषय का उपसहार

अध्यात्म के प्रकरण मे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है और उसमे जो निश्चयसम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषय मे इस तरह निश्चय-व्यवहार का विभाजन करना चाहिये कि किस मे किस तरह से स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमे किस तरह से पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इस प्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक् चारित्र ये सभी निश्चयधर्म की कोटि मे आते है। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक् चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) है जबकि क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) है। इन सब को निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्म के उपशम या क्षयसे उत्पन्न होने के कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र ये दोनो व्यवहारधर्म की कोटि मे आते हे। इनको व्यवहारधर्म कहने का कारण यह है कि ये दोनो उस-उस कर्म के क्षयोपशम से पैदा होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति मे उस-उस कर्म की सर्वघाती प्रकृतियो के वर्तमान मे उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय, आगामी काल मे उदय आने वाले निषेको का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृति का उदय, इस तरह कर्म का उदयाश, उपशमाश और क्षयाश तीनो ही कारण होते है। ऐसी स्थिति में इनमे जहा कर्म के उपशम और क्षय की अपेक्षा आत्माश्रितता पायी जाती है वहा कर्म के उदय की अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमे जहा ससार की कारणता का अभाव पाया जाता है वही ससार की कारणता का सद्भाव भी पाया जाता है अथवा यो कहिये कि जहा इनमे मोक्ष की कारणता का सद्भाव पाया जाता है वही मोक्ष की कारणता का अभाव भी पाया जाता है।

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति जीव के चौथे गुणस्थान से सप्तगुणस्थान तक ही सभव है, औपशमिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवे, आठवे, नौवें और दशवें गुणस्थानो मे एव उपशात नामक ११वें गुणस्थान मे सभव है तथा क्षायिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुण स्थानो मे एव ११वें उपशान्त नामक गुणस्थान मे भी सभव है इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवे और दशवें गुणस्थानो मे तथा क्षीणमोह नामक १२वे गुणस्थान मे एव उसके आगे सर्वत्र नियम से क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। चौथे गुणस्थान से पूर्व प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के रूप मे, द्वितीय गुणस्थान मे सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न औदयिकभाव के रूप मे तथा तृतीय गुणस्थान मे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूप मे सम्यग्दशन का सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानो मे निश्चय और व्यवहार दोनो ही प्रकार के सम्यग्दर्शन नही रहा करते हैं।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यो कहिये कि सराग चारित्र नियम से पाचवें से लेकर दशवें गुण स्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थान मे नियम से औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वें गुणस्थान से लेकर आगे १४वे गुणस्थान के अन्त तक क्षायिक रूप निश्चय चारित्र वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है। आगे मोक्ष मे चूंकि आत्मस्वरूप मे कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपता का प्रादुर्भाव हो जाता है अत वहा पर 'चारित्र की स्थिति को आगम मे अस्वीकृत कर दिया गया

है।[1] यहा पर इतनी विशेषता और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि निश्चयसम्यक्चारित्र, क्षायिकत्व, वीतरागत्व और यथाख्यातत्व की दृष्टि से १२वे गुणस्थान के प्रारम्भ मे जीव को उपलब्ध हो जाता है परन्तु यह सब उनका भावात्मक रूप है, द्रव्यात्मक दृष्टि से अभी उनकी (निश्चय सम्यक्चारित्र की) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योकि अभी भी उसके कर्मों के साथ बद्धता बनी हुई है साथ ही निश्चय सम्यग्ज्ञान का पूर्णता और पूर्ण आत्माश्रयता के रूप मे अभी भी अभाव बना रहता है। इसके अलावा नोकर्मनिमित्तक योग भी आत्मा मे हुआ करता है। तेरहवें गुणस्थान की आदि मे यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से निश्चयसम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूप मे निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अपूर्ण बना रहता है। यद्यपि योग का निरोध हो जाने पर नोकर्मनिमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघाती कर्म अभी भी कार्यरत रहा करते है। इन अघाती कर्मो का प्रभाव १४वें गुणस्थान के अन्त समय मे ही समाप्त होता है अत उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मक रूप मे पूर्ण स्वावलम्बी बनता है यही निश्चयसम्यक्चारित्र की पूर्णता है और इसके होने पर आत्मा भी तत्काल पूर्ण स्वतन्त्र्यमय मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[2]

ऊपर पाचवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का और ११वें से लेकर चौदहवें गुणस्थानक तक निश्चयसम्यक्चारित्र का सद्भाव बतला आये है। इसस यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णता को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान की कसौटी माना जाय, जो कि तत्त्वत सही है तो क्षायिक रूप केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान की कोटि मे आता है अत पराश्रयता और अपूर्णता के आधार पर मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चारो ही ज्ञान क्षायोपशमिक होने के कारण व्यवहारसम्यग्ज्ञान की कोटि मे ही आ जाते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यवहारसम्यग्ज्ञान की स्थिति चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवें गुणस्थान व उसके आगे ही निश्चयसम्यग्ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है।[3] चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचन का सार यह है कि प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक मोक्षमार्गता का सर्वथा अभाव है कारण कि वहा तक का ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या ही हुआ करते है अत वे ससार के ही कारण होते हैं। व्यवहार सम्यग्ज्ञान रूप मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है और १२वें गुणस्थान तक रहता है व तेरहवें गुणस्थान मे निश्चय सम्यग्ज्ञान हो जाता है और वह आगे भी रहता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है इसके आगे निश्चय सम्यग्दर्शन ही रहा करता है परन्तु किसी जीव के निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान मे भी हो जाती है, किसी को पाचवें मे, किसी को छठे मे और किसी को सातवे में भी होती है। इस तरह निश्चय सम्यग्दर्शन का सद्भाव चौथे से सातवे तक के गुणस्थान तक भी सभव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्चारित्र की प्राप्ति पाचवें गुणस्थान मे होती है इसका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक रहता है ११वें गुणस्थान मे व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र ही रहता है तथा इसकी पूर्णता चतुर्दश गुणस्थान के अन्त समय मे होती है। पाचवें गुणस्थान मे पूर्व व्यवहारसम्यक्चारित्र भी नही रहता है।

विषय का उपसहार करते हुए हमने ऊपर यद्यपि निश्चय और व्यवहाररूप विभाजन मोक्षमार्ग की दृष्टि मे रखकर अथवा यो कहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को दृष्टि मे रखकर किया है परन्तु लेख मे शास्त्रीय दृष्टि से चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन सभी अनुयोगो के आधार पर विस्तार से किया है। साथ



१ देखो-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की श्लोकवार्तिक टीका

२ देखो-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका मे वार्तिक श्लोक ८७ से वार्तिक श्लोक ९७ तक व इनका भाष्य।

३ देखो-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका मे वार्तिक श्लोक ९३, ९४, ९५।

ही लौकिक दृष्टि से भी संक्षिप्त रूप मे किया है। इसलिये इसके सम्बन्ध मे विस्तार न करके अब इस बात पर विचार करते है कि जब आगम मे 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दो का भी सर्वत्र बहुलता से प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है ?

निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ और प्रयोजन

नयो को जैनागम मे प्रमाण का अश स्वीकार किया है।[1] जैनागम मे यह भी बतलाया गया है कि वस्तु-तत्त्व को समझने के लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[2] इसके साथ ही वहा पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्व को समझने का साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है अत ज्ञान ही को प्रमाण जानना चाहिये।[3] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्व को समझने का साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण होता है और प्रमाण का अश ही नय होता है अत इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्व के अश को समझने का साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[4]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागम मे पाच बतलाये गये है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवल-ज्ञान।[5] इनमे से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारो ही ज्ञान वस्तु का ज्ञान कराते है और इनमे से भी केवलज्ञान तो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तु का ज्ञान कराते है। श्रुतज्ञान की वस्तु का ज्ञान कराने की प्रक्रिया इन चारो ज्ञानो से भिन्न प्रकार की है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तु का यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवलज्ञान से वस्तु का ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूप मे होता है और श्रुतज्ञान से जो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमश एक-एक अश के ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूप मे होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु के एक-एक अश का क्रमश पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञान मे नयो की व्यवस्था को अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगम से श्रुतज्ञान मे ही नयो की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान मे नयव्यवस्था का निषेध किया गया है।[6]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक अश का पृथक्-पृथक् रूप मे क्रमश बोध होने का नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञान को छोड कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान मे तो सभव नही है। श्रुतज्ञान मे कैसे सभव होता है ? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञान की उत्पत्ति वचन के आधार पर ही हुआ करती

---

१ नाप्रमाण प्रमाण वा नयो ज्ञानात्मको मत । स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधत ।। (तत्त्वा० श्लो० १-६ वा० २१)

२ प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम् (प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका)

३ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।।१ १।।,
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् ।।१-२।। (परीक्षामुख।)

४ स्वार्थैकदेश निर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृत ।।१-६।।, (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० ४)

५ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।।१-९।।, तत्प्रमाणे ।।१-१०।।, आद्ये परोक्षम् ।।१-११।।
प्रत्यक्षमन्यत् ।।१-१२।। (तत्त्वार्थसूत्र)

६ मतेरवधितो वापि मन पर्ययतोऽपि वा । ज्ञातस्यार्थस्य नाशेऽस्ति नयाना वर्तन ननु ।।
नि शेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात् । तस्येतिभाषित कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टत ।।
त्रिकालगोचराशेषपदार्थाशेषु वृत्तित । केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषा न युज्यते ।।
परोक्षाकारतावृत्ते स्पष्टत्वात्केवलस्य तु । श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणा प्रमाणवत् ।।
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० २४, २५, २६, २७)

है और चूकि वचन साश होता है अत साश वचन के आधार पर उत्पन्न होने वाला जो श्रुतज्ञान रूपी बोध है उसमे भी साशता की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान मे नय व्यवस्था की सिद्धि हो जाती है।[1]

वचन मे साशता की सिद्धि अनुभवसिद्ध है कारण कि वाक्यो के समूहरूप महावाक्य मे समाविष्ट जितने वाक्य हो उनका उच्चारण या लेखन क्रम से ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्य मे जितने पद हो उनका भी उच्चारण या या लेखन क्रम से होता है और प्रत्येक पद मे जितने अक्षर हो उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमश होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरो के समूह का नाम शब्द कहलाता है, अर्थात् शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[2] पद दो प्रकार के होते हैं एक सज्ञापद और दूसरा क्रियापद। इन दोनो के योग से वाक्य बनता है।[3] दो आदि वाक्यो के योग से महावाक्य बनता है।[4] इसी प्रकार दो आदि महावाक्यो के योग से भी महावाक्य की निष्पत्ति होती है।

सब से बडा महावाक्य ग्रन्थ होता है, ग्रन्थ के अन्तर्गत अध्याय आदि के रूप मे भी महावाक्य होते है। एक एक अध्याय भी कई कई महावाक्यो का समुदाय होता है। एक-एक महावाक्य मे दो आदि अनेक वाक्य होते है और एक-एक वाक्य मे दो आदि अनेक पद होते हैं। इस प्रकार वचन रूपश्रुत का रूप पद से लेकर बडे से बडे महावाक्य तक हो जाता है। जैनागम का सब से बडा महावाक्य द्वादशाग रूप है, इसके १२ अन्तर्भेद हैं, १२ वे अन्तर्भेद दृष्टिवाद के मुख्य पाच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये सब भेद वचनरूपश्रुत के है तथा इनके श्रवण या पाठ से जो वस्तुतत्व का बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है वह ज्ञानरूपश्रुत कहलाता है। ज्ञानरूपश्रुत अर्थात् वचन के आधार पर जो बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है उसे आगम मे स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वही पर उस वचनरूपश्रुत या वचन को परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारो ही ज्ञान चूंकि ज्ञानरूप ही हुआ करते है अत अपनी ज्ञानरूपता के कारण ये चारो ज्ञान स्वार्थ प्रमाण रूप हुआ करते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरह का होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थ रूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण वचन रूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मन - पर्यय और केवल ये चारो प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपता के कारण स्वार्थ प्रमाण रूप ही होते हैं और श्रुत प्रमाण अपनी ज्ञानरूपता के कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपता के कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।[6]

जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्व का पूर्णरूप से प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाण रूप

---

१ नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-३३ वा० ६)

२ सुप्तिङन्त। पदम् ॥१-४-१४॥ (पाणिनीय अष्टाध्यायी)

३ पदाना परस्परसापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्। (अष्टशती मे अकलकदेव आप्तमी० का० १०३)

४ वाक्योच्चयो महावाक्यम्। (साहित्यदर्पण २-१) । यहाँ पर 'वाक्योच्चय' पद का विशेषण इसकी टीका मे "योग्यताकाक्षासत्तियुक्त" दिया गया है इस तरह महावाक्य का लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

"परस्परसापेक्षाणा वाक्याना निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्"

इस लक्षण के आधार पर ही गोम्मटसार जीवकाण्ड मे श्रुतमार्गणाप्रकरण मे गिनाये गये श्रुत के बीस भेदो मे से आदि के अक्षर, पद और सघात (वाक्य) से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्य के भेद समझना चाहिये।

५ महावाक्यो के योग से जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चाहिये-परस्पर सापेक्ष महावाक्यो के निरपेक्ष समुदाय का नाम भी महावाक्य है। (लेखक)

६ प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थम्। तद्विकल्पा नया ॥ (सर्वार्थसिद्धि १-६)



होता है और जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्व के एक देश (अंश) का प्रतिपादन करता है वह नय रूप होता है।[1] इस तरह पद, यदि वाक्य से सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा जबकि वह वाक्य से सम्बद्ध होगा। स्वतंत्र पद प्रमाण रूप तो होगा ही नही लेकिन अर्थांश के भी प्रतिपादन मे असमर्थ रहने के कारण वह नयरूप भी नही होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतंत्र हालत मे वक्ता या लेखक के पूर्ण अभिप्राय का प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाण रूप होगा और यदि किसी महावाक्य का अवयव होकर वक्ता या लेखक के अभिप्राय के एक देश का प्रतिपादन करता है तो वह नय रूप होगा। यही व्यवस्था वाक्यो के समूह रूप महावाक्यो के और महावाक्यो के समूह रूप महावाक्यो मे भी जानना चाहिये। लेख विस्तार के भय से यहा पर इन सब बातो पर विशेष प्रकाश नही डाला जा रहा है।

जैनागम मे नयो की व्यवस्था विविध प्रकार से की गयी है उनमे एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत नाम के सात नयो का है[2], दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नाम के दो नयो का[3] है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नाम के दो नयो का है।[4] नयो का इन प्रकारो के अलावा एक प्रकार वह भी है जिसमे वचन के सभी प्रकारो का समावेश हो जाता है। इसे हम लोकसग्राहक नयो का प्रकार कहना उचित समझते है। इस सम्बन्ध मे गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है—

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८९४ ॥

अर्थात् -जितने वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

नयो के इन सब प्रकारो का विवेचन यहा हमे नही करना है। प्रकृत प्रसग तो निश्चयनय और व्यवहार-नय का है अत इन्ही दो नयो पर ही हम यहा प्रकाश डाल रहे है।

सर्वप्रथम यहा पर इस बात को समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकार का होता है—एक तो वस्तुतत्त्व को सत्य (यथावस्थित) रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन और दूसरा वस्तुतत्त्व को असत्य (जैसा नही है वैसा) रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन। इनमे से वस्तुतत्व को सत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन सकलादेशी प्रमाण रूप होता है और वस्तुतत्व के एक देश को सत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्व को असत्य रूप मे प्रतिपादित करने वाला वचन प्रमाणाभास और नयाभास के भेद मे दो प्रकार का होता है। जो वचन अवस्तु को वस्तुरूप मे प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभास रूप होता है तथा जो वचन वस्तु के एक अंश को संपूर्ण वस्तु रूप मे प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभास रूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के अंश को दूसरे अंश रूप मे प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभास रूप होता है।

जैनागम मे वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागम मे बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और वस्तु के वे अनन्त धर्म वस्तु मे जो रह रहे हैं सो उनका वह रहना विरोधी धर्म के साथ हो रहा है। जैसे प्रत्येक वस्तु मे भाव रूप अंश रह रहा है तो उसका विरोधी अभाव रूप अंश भी उसमे रह रहा

---

१ सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। (सर्वार्थ सिद्धि १-६)

२ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया ॥१-३३॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३ नयो द्विविध द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च। (सर्वार्थसिद्धि १-६)
(नय) द्वेधा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थ, तद्विषयो द्रव्यार्थिक। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ तद्विषय, पर्यायार्थिक। (सर्वार्थसिद्धि १-३३)

४ पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय। (आलापपद्धति)

है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे नित्यरूप अश रह रहा है तो उसका विरोधी अनित्यरूप अश भी उसमे रह रहा है। इस विषय को आवश्यकता के अनुसार पूर्व मे स्पष्ट किया गया है। पूर्व मे हम यह भी बतला आये है कि प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान परस्पर विरोधी उन दो धर्मों मे से एक धर्म तो निश्चय रूप होता है और एक धर्म व्यवहार रूप होता है। इस आधार पर वस्तुतत्व के प्रतिपादन मे यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्व के निश्चय और व्यवहार रूप दोनो अशो का प्रति-पादन करता है वह वचन प्रमाण रूप है जैसे, "वस्तु नित्यानित्य है" यह वचन वस्तु के निश्चय और व्यवहार दोनो अशो का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तु के निश्चयाश का निश्चय रूप मे प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चय नय रूप है जैसे "प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणति का उपादान कारण होता है" यह वचन वस्तु मे विद्यमान उपादनकारणता रूप निश्चय धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिए निश्चय नय रूप है। जो वचन वस्तु के व्यवहाराश का व्यवहाराश रूप मे प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार नयरूप है जैसे "चित् अचित् की परिणति मे और अचित् चित् की परिणति मे निमित्त कारण होता है" वह वचन चित् मे अचित् की परिणति की और अचित् मे चित् की परिणति की विद्यमान निमित्त-कारणता रूप व्यवहार धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिये व्यवहार नय रूप है। जो वचन अवस्तु को वस्तु रूप मे प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणाभास है जैसे "गधे के सीग होते हैं" यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तु का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास है। जो वचन एक वस्तु को अन्य वस्तु रूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे "सपूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्म को ही पर्याय है" यह वचन अचेतन को चेतन रूप प्रति-पादित कर रहा है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के एक अश को वस्तु रूप मे प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है जैसे वस्तु को सर्वथा भावात्मक या सर्वथा अभावात्मक मानना अथवा सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक मानना इत्यादि वचन वस्तु के अश को वस्तुरूप में प्रतिपादित करते हैं इसलिये ये वचन भी प्रमाणाभास हैं। जो वचन वस्तु के एक अश को वस्तु के अन्य अश के रूप में प्रतिपादन करते है वे वचन नयाभास होते हैं ऐसा ऊपर कहा गया है इस आधार पर जो वचन वस्तु के व्यवहाराश का निश्चयाश रूप मे प्रतिपादन करने वाला हो वह निश्चय नयाभास है जैसे "चित् ही अचित् रूप परिणत होता है" अथवा "अचित् ही चित् रूप परिणत होता है" यह वचन निश्चय नयाभास है क्योंकि चित् अचित् की उत्पत्ति मे और अचित् चित् की उत्पत्ति मे निमित्त कारणरूप व्यवहार कारण ही होते हैं उपादानकारण रूप निश्चय कारण नही होते है। इस तरह उक्त वाक्यो मे निमित्तकारण रूप व्यवहार-कारण को उपादान कारण रूप में निश्चय कारण रूप प्रतिपादित किया गया है इसलिये वे दोनो वाक्य निश्चय-नयाभास है। इसी प्रकार आत्मा और उसके स्वभावभूत चैतन्य का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके चैतन्य के योग से आत्मा को चित् रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्य में सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

यहा प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास के रूप में जितना विवेचन किया गया है वह सब वचन रूप श्रुत के सम्बन्ध में किया गया है। ज्ञानरूप श्रुत के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी उस रूप मे प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास रूप ही होगा। इसलिये यहा पर उसका विवेचन अलग से नही किया जा रहा है।



ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ प्रति-पाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचन रूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमश वस्तु और वस्तु के अशो के प्रतिपादक होते है तथा वस्तु और वस्तु के अश क्रमश उनके प्रतिपाद्य होते है। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमश वस्तु और वस्तु के अशो के ज्ञापक होते हैं तथा वस्तु और वस्तु के अश क्रमश उन के ज्ञाप्य होते है। इस प्रकार पूर्व मे जितना चरणानुयोग आदि की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार रूप अर्थों का व्याख्यान किया गया है उसमे जितना निश्चय रूप अर्थ है उस का उसी रूप मे प्रतिपादन करने वाला वचन रूप निश्चय नय होता है और उस का उसी रूप मे बोध करने वाला ज्ञान रूप निश्चय नय होता है। इसी प्रकार उसमे जितना व्यवहार रूप अर्थ है उसका उसी

रूप मे प्रतिपादन करने वाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूप में बोध कराने वाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है । इस बात को लक्ष्य मे रखकर ही सर्वत्र हमे वस्तु तत्व का निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगम मे बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का है एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनो ही मोक्षमार्गों की वास्तविकता को मान कर नय प्रक्रिया मे इस बात का निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमाग पर-परया कारण होता है जैसा कि पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है । इस तरह मोक्षमार्ग की स्वतत्र-स्वतत्र दो भेदरूपता के प्रसग के भय से जिनको व्यवहारमोक्षमार्ग को अकिंचित्कर मानने का सहारा लेना पडता है उन्हे उस सहारे की फिर आवश्यकता नही लेनी पडेगी । इसी प्रकार आत्मा की परिणति को जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नाम से पुकारा जाता है तो नयात्मक दृष्टिकोण रहने से इसका अर्थ यही होता है कि आत्मा की उक्त, औदयिकादि परिणतियो मे कर्म की उदयादि परिणतिया निमित्त कारण हुआ करती है । यदि कर्म की उदयादि-परिणतिया आत्मा की औदयिकादि परिणतियोकी उत्पत्ति मे निमित्त कारण नही होने पर उन्हे आत्मा की औदयिकादि परिणतियो मे निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है । इसको व्यवहार नय का कथन किसी भी हालत मे नही कहा जा सकता है । इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जब कि कर्म की उदया-दिक परिणतियो मे आत्मा की औदयिकादि परिणतियो की निमित्तकारणता का सद्भाव माना जायगा और उपादान कारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नही, क्योकि उपादान कारण का कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है निमित्त-कारण का कार्य तो उपादान को कार्य रूप परिणत होने मे केवल सहायता देने का ही रहता है इसलिये किसी को ऐसा भय करने की आवश्यकता नही कि "यदि कार्य मे निमित्त कारण की निमित्त कारणता को वास्त-विक मान लिया जाता है तो निमित्त कारण ही कार्य बन जायेगा ।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ मे आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम उस के स्वत सिद्ध ज्ञायक स्वभाव का प्रतिपादन किया है लेकिन जब आत्मा अनादिकाल से अपने उक्त स्वभाव मे स्थिर न रह कर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होने आत्मा की पुद्गल कर्म के साथ बद्धता को भी स्वीकार किया है । अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वभाव ज्ञायक भाव को आचार्य कुन्दकुन्द स्वत सिद्ध मानते है उस प्रकार वे आत्मा के विकार को स्वत सिद्ध नही मानते हैं । इस बात को बतलाने के लिये सर्वप्रथम उन्होने शुद्धनय और व्यवहारनय का आश्रय लिया है । इससे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्मा को स्वतत्र और अनादि-निधन वस्तु के रूप मे जानना है तो आत्मा के स्वत सिद्ध स्वरूप को बतलाने वाले शुद्ध नय का अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करना ही शुद्ध नय है । इसी तरह यदि आत्मा की अनादि काल से चली आ रही विकारी ससार रूप अवस्था को समझना है तो इसका ज्ञान शुद्ध नय से तो होगा नही, कारण कि वह तो वस्तु के स्वत सिद्ध स्वरूप का ही ज्ञापक होता है जबकि आत्मा की विकारी ससार रूप अवस्था उस की स्वत सिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये व्यवहार नय का ही अवलम्बन लेना होगा कारण कि वस्तु के पराश्रितस्वरूप का प्रतिपादक व्यवहार नय है अथवा यो कहिये कि वस्तु के पराश्रित धर्म का प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है । इस के भी अतिरिक्त यदि आत्मा की ससार रूप विकारी अवस्था को समाप्त कर के उत्पन्न होनेवाली मोक्ष रूप अवस्था को समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्ध-नय से नही होगा कारण कि यह अवस्थायी आत्मा की स्वत सिद्ध अवस्था न होकर कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये भी वस्तु के पराश्रित धर्म के प्रतिपादक व्यवहार नय का अवलम्बन लेना होगा ।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा की ससार और मोक्ष दोनो ही प्रकार की अवस्थायें जब क्रमश कर्म के उदय से जन्य और कर्म के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से जन्य हैं यानी आत्मा की ससार रूप अवस्था मे कर्म का उदय

कारण है और मोक्षरूप अवस्था मे कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात और परम्परया कारण है तो क्या कर्म के ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा मे तद्रूप परिणमन की योग्यता के अभाव मे आत्मा को ससारी या मुक्त बना सकते है ? इस विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि वस्तु मे स्वगत योग्यता के अभाव मे अन्य कोई भी कारण उस को किसी रूप परिणमन कराने में असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागम मे आत्मा की ससार रूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध वैभाविकी शक्ति को तथा आत्मा की मोक्षरूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वत सिद्ध भव्यत्व शक्ति को भी स्वीकार किया गया है । इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्ति के आधार पर ससारी बना हुआ है और कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्त मे सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपनी भव्यत्व शक्ति के आधार पर मोक्ष रूप अवस्था को भी प्राप्त कर लेगा।

इस से यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्मा के ससार मे उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्म का उदय ये दोनो कारण हैं तथा आत्मा के मोक्ष मे उसकी भव्यत्व शक्ति और कर्म का यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण है। अब यदि ससार के दोनो कारणो के विषय मे यह विचार किया जाय कि ससार के दोनो कारणो मे से कौन किस रूप मे कारण होता है और मोक्ष के दोनो कारणो मे से कौन किस रूप मे कारण होता है ? तो आत्मा के ससार मे कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके ससार मे तथा आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत उसकी भव्यत्व शक्ति उसके मोक्ष मे उपादान कारण है कारण कि ये शक्तिया ही व्यक्त होकर क्रमश ससार और मोक्षरूपता को प्राप्त होती है । इसी प्रकार आत्मा के ससार मे कारणभूत कर्म का उदय आत्मा के ससार मे व आत्मा के मोक्ष मे कारणभूत कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष मे निमित्त कारण हैं। कारण कि कर्म का उदय आत्मा के ससार रूप से और कर्म का उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष रूप से कदापि परिणत नहीं होते केवल आत्मा के उस परिणमन मे सहयोग मात्र दिया करते हैं क्योकि कर्म के उदय का सहयोग न मिलने पर आत्मा की वैभाविकी शक्ति ससार रूप परिणत नही हो सकती है और कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का सहयोग न मिलने पर आत्मा की भव्यत्व शक्ति भी मोक्ष रूप परिणत नही हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनो कारणो मे से उपादानकारण को तो स्वाश्रयता के आधार पर निश्चय कारण कहना योग्य है और निमित्त कारण को पराश्रयता के आधार पर व्यवहार कारण कहना योग्य है। यह सब विषय पूर्व मे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है । अब यदि इन दोनो ही कारणताओ के प्रतिपादन करने या बोध करने की दृष्टि से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि उपादान कारणता रूप निश्चय कारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर निश्चय नयरूप वचन तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव के आधार पर निश्चय नय रूप ज्ञान का विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव के आधार पर व्यवहार नय रूप वचन का तथा ज्ञाप्य ज्ञापक भाव के आधार पर व्यवहारनय रूप ज्ञान का विषय होती है । इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे शुद्धनय और व्यवहार नय के विकल्पो के समान निश्चय नय और व्यवहारनय के विकल्पो का भी समावेश किया है।

आगम मे निश्चय नय के भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये है। इनमे से आत्मा का विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपने की दृष्टि से शुद्धनिश्चयनय का विषय होता है और आत्मा का विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपने की दृष्टि से अशुद्धनिश्चयनय का विषय होता है । आत्मा के इसी स्वरूप को यदि पराश्रितपने की दृष्टि मे देखा जाय तो फिर यह व्यवहारनय का विषय हो जाता है। व्यवहार नय के भी आगम मे दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहार नय । सद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है— एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय । इसी प्रकार असद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषय को आलापपद्धति मे निम्नप्रकार निबद्ध किया गया है—





"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय । तत्र निश्चयो द्विविध — शुद्धनिश्चयोऽशुद्ध निश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव । सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय । यथा मतिज्ञानादयो जीव । व्यवहारो द्विविध सद्भूत-व्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषय सद्भूतव्यवहार, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । तत्र सद्भूत-व्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरित सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा । निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणा । असद्भूतव्यवहारो द्विविध -उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उप-चरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनम् । सश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरम् ।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ।

इस तरह नयो के स्वरूप को यथावत् प्रकार समझने की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि सपूर्ण वस्तु-तत्त्व को समझने का साधन अल्पज्ञ प्राणियो के लिये नय-व्यवस्था ही है ।

इस नय-व्यवस्था को लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकार ने दण्ड और चक्र के सहयोग से मिट्टी से घडा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह सपूर्ण वाक्य वक्ता के सपूर्ण अर्थ का यदि निराकाक्षरूप से बोधक है तो इसे अपने वर्तमान रूप मे प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोध को प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा । इस वाक्य के सपूर्ण अर्थ मे इतने अर्थ गर्भित हैं—

अभेददृष्टि से मिट्टी और घट मे जो अभेद का बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भाव की दृष्टि से जो भेद का बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टी की घट रूप परिणति रूप उत्पाद मे मिट्टी मे जो उपादान-कारणता का बोध होता है यह भी निश्चयनय है, यही पर कुम्भकार मे जो निमित्तकारणता का बोध होता है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है कारण कि कुम्भकार मिट्टी की घट रूप परिणति मे साक्षात् निमित्त कारण है, यही पर चक्र मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है यह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे परपरया अर्थात् कुम्भकार का सहयोगी होकर ही चक्र निमित्त कारण होता है, और यहीं पर दण्ड मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है, यह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परपराओ से अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्र का सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकार का सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टी का सहयोगी होता है ।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहार-नय हो, इसमे भी चाहे सद्भूतव्यवहार नय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहार नय हो और इसमे भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो और अथवा चाहे उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढग से सद्भूतता प्राप्त वस्त्वशो को ही विषय करते है । इसलिये ऐसा नही समझना चाहिये कि निश्चयनय का विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहार नय का विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषय को ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूत व्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहारनय हो दोनो ही कथचित् सद्भूत विषय को ही ग्रहण करते है । कोई भी व्यवहार नय न तो सर्वथा असद्भूत विषय को ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषय को ही ग्रहण करता है क्योकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधे की सीग की तरह सर्वथा अभावात्मक हो जाने से वह नय अथवा प्रमाण किसी का भी विषय नही होती है । सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनय का ही विषय होती है व्यवहार-नय का नही । अन्त मे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहार नय का विषय भी अभेद और स्वाश्रयता की दृष्टि से निश्चयनय का विषय हो जाता है और निश्चयनय का विषय भी भेद और पराश्रयता की दृष्टि से व्यवहारनय का

विषय हो जाता है । जैसा कि पचाध्यायी मे कहा है—

"इदमत्र समाधान व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम् "
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद् ? वाच्यम् ।। ६४३ ।।

अर्थात् जो व्यवहार नय का विषय है वही सपूर्ण विकल्पो का अभाव होने पर निश्चयनय का विषय हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि सपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्त धर्मात्मक एव अनेकान्तात्मक है अत सभी अविरुद्ध है ।







"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय । तत्र निश्चयो द्विविध — शुद्धनिश्चयोऽशुद्ध निश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव । सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय । यथा मतिज्ञानादयो जीव । व्यवहारो द्विविध सद्भूत-व्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषय सद्भूतव्यवहार, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । तत्र सद्भूत-व्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरित सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा । निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणा । असद्भूतव्यवहारो द्विविध -उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उप-चरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनम् । सश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरम् ।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ।

इस तरह नयो के स्वरूप को यथावत् प्रकार समझने की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि सपूर्ण वस्तु-तत्त्व को समझने का साधन अल्पज्ञ प्राणियो के लिये नय-व्यवस्था ही है ।

इस नय-व्यवस्था को लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकार ने दण्ड और चक्र के सहयोग से मिट्टी से घडा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह सपूर्ण वाक्य वक्ता के सपूर्ण अर्थ का यदि निराकाक्षरूप से बोधक है तो इसे अपने वर्तमान रूप मे प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोध को प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा । इस वाक्य के सपूर्ण अर्थ मे इतने अर्थ गर्भित हैं—

अभेददृष्टि से मिट्टी और घट मे जो अभेद का बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भाव की दृष्टि से जो भेद का बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टी की घट रूप परिणति रूप उत्पाद मे मिट्टी मे जो उपादान-कारणता का बोध होता है यह भी निश्चयनय है, यही पर कुम्भकार मे जो निमित्तकारणता का बोध होता है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है कारण कि कुम्भकार मिट्टी की घट रूप परिणति मे साक्षात् निमित्त कारण है, यही पर चक्र मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है यह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे परपरया अर्थात् कुम्भकार का सहयोगी होकर ही चक्र निमित्त कारण होता है, और यही पर दण्ड मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है, यह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परपराओ से अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्र का सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकार का सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टी का सहयोगी होता है ।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहार-नय हो, इसमे भी चाहे सद्भूतव्यवहार नय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहार नय हो और इसमे भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो और अथवा चाहे उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढग से सद्भूतता प्राप्त वस्त्वशो को ही विषय करते है । इसलिये ऐसा नही समझना चाहिये कि निश्चयनय का विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहार नय का विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषय को ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूत व्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहारनय हो दोनो ही कथचित् सद्भूत विषय को ही ग्रहण करते हैं । कोई भी व्यवहार नय न तो सर्वथा असद्भूत विषय को ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषय को ही ग्रहण करता है क्योकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधे की सीग की तरह सर्वथा अभावात्मक हो जाने से वह नय अथवा प्रमाण किसी का भी विषय नही होती है । सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनय का ही विषय होती है व्यवहार-नय का नही । अन्त मे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहार नय का विषय भी अभेद और स्वाश्रयता की दृष्टि से निश्चयनय का विषय हो जाता है और निश्चयनय का विषय भी भेद और पराश्रयता की दृष्टि से व्यवहारनय का

गौरव-गरिमा का गान किया है। इस पर विचार-प्रश्न होता है कि, मनुष्य-जीवन की इस गौरव-गाथा का अन्तर मूलाधार क्या है? मनुष्य की अन्तरात्मा में ऐसी क्या विशेषता अन्तर्निहित है, जिसके कारण यह जीवन स्पृहणीय तथा सर्वोत्कृष्ट जाना-माना जाता है? क्या सप्तधातु के इस मिट्टी के पिंड के कारण? मनोरम इन्द्रियां, ऐश्वर्य-भोग एवं वैभव-विलास के कारण? उत्तर में एक बार नहीं, हजार बार नकार करना होगा। मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मानव का-सा जीवन नहीं पाया, उसने कुछ नहीं पाया! और, जिसने मानव-तन के साथ मानव-मन भी पाया उसने सब कुछ पाया, वह कृतकार्य हो गया।

स्पष्टतः, इसका अर्थ हुआ कि, मनुष्य केवल मरणधर्मा, हाड़-मांस का पुतला नहीं है! वह इससे बहुत बड़ी चीज है! मनुष्य जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा उसका व्यक्तित्व है और उतना ही बड़ा दायित्व एवं दृष्टिकोण भी! आध्यात्मिक उत्कर्ष, संयम के उच्च आदर्शों की जितनी भी भावनाएं तथा उच्च भूमिकाएं हैं, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है। अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, क्षमा और कर्तव्य की धाराएं हैं, उन सब का उद्गम-उद्गम तथा पाक-परिपाक मनुष्य-जीवन में ही सम्भव है। मानव की महत्ता का मूल मानदण्ड अन्तर्जागरण, सुसम्भावना एवं अध्यात्म-उत्कर्ष, इसी भूमिका पर ही टिका हुआ है! जिसमें जितना अधिक संयम, उसमें उतना ही अधिक मनुष्यत्व। इस विशाल-विराट जगतीतल पर मानव-जीवन ही एक ऐसा स्वर्णिम अवसर है जहां अन्तर्विवेक का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। इस जीवन में ही संयम-साधना की पूर्ती रमाई जा सकती है। मनुष्य को क्या बनना चाहिये, क्या करना चाहिए और जीवन को किस सांचे, ढांचे में ढालना चाहिए यह उच्च विचार संयम, अन्तर्जागरण तथा अध्यात्म-विकास की समस्त भूमिकाएं और संयम-साधना की पगडंडियां इस मनुष्य-जीवन में ही पार की जा सकती हैं। यह मनुष्य-जीवन ही है, जहां अनन्त-काल से माथे पर पड़ी मोह-ममता की धूल को उड़ा साफ किया जा सकता है। मनुष्य-जीवन ही है, जहां विकार-वासनाओं से लड़कर आत्मा पर पड़े सघन कर्म बन्धन तोड़े जा सकते हैं। यह मानव-जीवन ही है, जहां इन्द्रिय, मन, बुद्धि और तन को साधकर उनसे संयम-साधना का मौलिक उद्देश्य पूर्ण किया जा सकता है! यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं! यही जैन-संस्कृति की प्राण-चेतना है। जैन-संस्कृति के ज्योतिर्धर भगवान् महावीर ने एक दिन ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोषणा की थी:— मानव! इस जीवन को पाकर विकार-वासनाओं तथा कर्म-शत्रुओं से युद्ध कर बाह्य युद्ध से तुझे क्या? यदि इस बार भी अवसर चूक गए तो फिर आत्म-युद्ध के लिए इस जीवन का मिलना अत्यन्त कठिन है —

> "इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ!
> जुज्झारिहं खलु दुल्लहं।"
>
> —आचारांग, १।५।३

और भी,

> "संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
> नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥"

—मनुष्यो जागो, जागो! अरे तुम जागते क्यों नहीं? यहां नहीं जागे तो परलोक में अन्तर्जागरण की प्राप्ति दुर्लभ है। बीती रातें और जीवन की बढ़िया घड़ियां लौटकर नहीं आती। मनुष्य-जीवन का पुनर्वार मिलना आसान नहीं।

और भी,

> "पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।"
>
> —उत्तराध्ययन् ६।१४

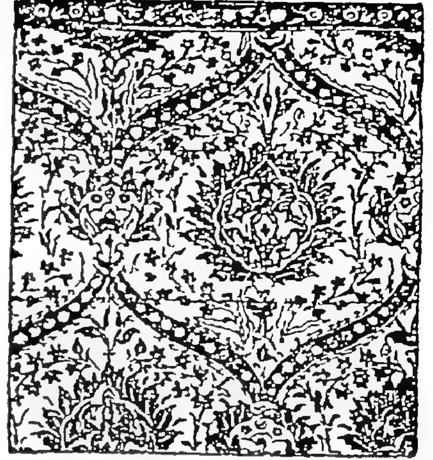
—पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण करने के लिए ही इस जीवन का धारण करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में जैन-संस्कृति के इस मूल्य तथ्य का एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि जीवन



जैन-संस्कृति का प्राण-तत्त्व संयम-योग

सुरेश मुनि,
शास्त्री, साहित्यरत्न



सयम की मौलिकता

जैन-सस्कृति सयम, अध्यात्म तथा जीवन शुद्धि की सस्कृति है। सयम उसमे कुछ ऐसा गुथा हुआ-सा, सिला हुआ-सा, रमा हुआ-सा है कि यदि सयम को ऊपर से अलग कर दिया जाय, तो जैन सस्कृति कुछ रहती ही नही है और जैन-सस्कृति से अलग सयम का कोई मूल्य-महत्व नही। तप से भी सयम श्रेष्ठ है। सयम नही, तो तप भी तप नही—यह जैन-सस्कृति का मूल मन्तव्य है। सयम-मूलक तप ही तप है। इस दृष्टि से सयम को जैन-सस्कृति का प्राणतत्व—आत्मा कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैन-सस्कृति की मूल परम्परा के दृष्टिकोण से सयम को धर्म का प्रधानतम अग माना गया है—जो सीधे तौर पर मोक्ष का प्रमुख कारण है। जैन-सस्कृति के महान् उन्नायक श्रमण भगवान् महावीर से जब धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध मे पूछा गया, तो उन्होने अपने स्पष्ट-गम्भीर स्वर मे कहा-अहिंसा, सयम और तप-यही धर्म का स्वरूप है—

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।"

—दशवैकालिक, १।१

कलिकल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पास एक जिज्ञासु साधक पहुचा और बोला—आचार्यवर, आप जैन-सस्कृति के महान् दृष्टा एव सृष्टा हैं। जैन-वाड्मय का कही पार नही है, और मेरी बुद्धि भी इतनी स्फीत नही है कि मैं उसकी गहराई मे पैठ कर उसके मर्म स्थल तक पहुच सकूं। अत जैन-सस्कृति का मर्म जानने की कामना मन मे सजो कर ही मैं श्रीचरणो तक पहुचा हू। कृपया, बतलाइए—सक्षेप मे, जैन-सस्कृति का सारतत्त्व-निचोड क्या है?

आचार्य हेमचन्द्र ने उस जिज्ञासु की बात को ध्यान-पूर्वक सुना और अपने अत्यन्त मृदुल-मधुर स्वर मे कहा—वत्स! आश्रव-असयम ससार की अधेरी गलियो में भटकने का कारण है और सवर—सयम, मोक्ष अर्थात् बन्धन-मुक्ति का साधन है। बस, सक्षेप मे जैन-सस्कृति का सारतत्त्व इतना ही है, शेष समस्त वाड्मय इसी तत्त्व-दृष्टि का विस्तार है—

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम्॥

—वीतरागस्तोत्र,

मनुष्य की महत्ता क्यो और किसलिए!

भारत के महापुरुषो, तीर्थंकरो, ऋषियो और आचार्यो ने समवेत स्वर मे मनुष्य की महत्ता-महिमा एव

गौरव-गरिमा का गान किया है ! इस पर विचार-प्रश्न होता है कि, मनुष्य-जीवन की इस गौरव-गाथा का अन्तत मूलाधार क्या है ? मनुष्य की अन्तरात्मा मे ऐसी क्या विशेषता अन्तर्निहित है, जिसके कारण यह जीवन स्पृहणीय तथा सर्वोत्कृष्ट जाना-माना जाता है ? क्या सप्तधातु के इस मिट्टी के पिण्ड के कारण ? मनोरम इन्द्रियो, ऐश्वर्य-भोग एव वैभव-विलास के कारण ? उत्तर मे एक बार नही, हजार बार नकार कहना होगा । मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मानव का-सा जीवन नही पाया, उसने कुछ नही पाया ! और, जिसने मानव-तन के साथ मानव-मन भी पाया, उसने सब कुछ पाया, वह कृतकार्य हो गया ।

स्पष्टत , इसका अर्थ हुआ कि, मनुष्य केवल मरणधर्मा, हाड-माम का पुतला नही है ! वह इससे बहुत बडी चीज है ! मनुष्य जितना बडा है, उतना ही बडा उसका व्यक्तित्व है और उतना ही बडा दायित्व एव दृष्टिकोण भी ! आध्यात्मिक उत्कर्ष, सयम के उच्च आदर्शो की जितनी भी साधनाए तथा उच्च भूमिकाए है, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है । अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, क्षमा और कर्तव्य की धाराए हैं, उन सब का उदय-उद्गम तथा पाक-परिपाक मनुष्य-जीवन मे ही सभव है । मानव की महत्ता का मूल मानदण्ड अन्तर्जागरण, सयमसाधना एव अध्यात्म-उत्कर्ष, इसी भूमिका पर ही टिका हुआ है ! जिसमे जितना अधिक सयम, उसमे उतना ही अधिक मनुष्यत्व । इस विशाल-विराट जगतीतल पर मानव जीवन ही एक ऐसा स्वर्णिम अवसर है जहा अन्तर्विवेक का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है । इस जीवन मे ही सयम-साधना की धूनी रमायी जा सकती है । मनुष्य को क्या बनना चाहिये, क्या करना चाहिए और जीवन को किस साचे, ढाचे मे ढालना चाहिए यह उच्च विचार, सयम, अन्तर्जागरण तथा अध्यात्म-विकास की समस्त भूमिकाए और सयम-साधना की पगडडिया इस मनुष्य-जीवन मे ही पार की जा सकती है । यह मनुष्य-जीवन ही है, जहा अनन्त-काल से माथे पर पडी मोह-ममता की धूल को उडा, साफ किया जा सकता है । मनुष्य-जीवन ही है, जहा विकार-वासनाओ से लडकर आत्मा पर पडे समस्त कर्म बन्धन तोडे जा सकते हैं । यह मानव-जीवन ही है, जहा इन्द्रिय, मन, बुद्धि और तन को साधकर उनसे सयम-साधना का मौलिक उद्देश्य पूर्ण किया जा सकता है ! यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पडने वाला नही ! यही जैन-सस्कृति की प्राण-चेतना है । जैन-सस्कृति के ज्योतिर्धर भाग्य-विधायको ने एक दिन ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोषणा की थी — मानव ! इस जीवन को पाकर विकार-वासनाओ तथा कर्म-शत्रुओ से युद्ध कर बाह्य युद्ध से तुझे क्या ? यदि इस बार भी अवसर चूक गए तो फिर आत्म-युद्ध के लिए इस जीवन का मिलना अत्यन्त कठिन है —

> "इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ !
> जुज्झारिह खलु दुल्लह ।"
>
> —आचाराग, १।५।३

और भी,

> "सबुज्झह किं न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
> नो हूवणमति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविय ।।"

—मनुष्यो जागो, जागो ! अरे तुम जागते क्यो नही ? यहा नही जागे, तो परलोक मे अन्तर्जागरण की प्राप्ति दुर्लभ है । बीती रातें और जीवन की घडिया कभी लौटकर नही आती । मनुष्य-जीवन का पुनर्वार मिलना आसान नही ।

और भी,

> "पुव्वकम्मखयट्ठाए, इम देह समुद्धरे ।"
>
> —उत्तराध्ययन् ६।१४

—पूर्वसचित कर्मों को क्षीण करने के लिए ही इस जीवन को धारण करना चाहिए ।



इस सन्दर्भ मे जैन-सस्कृति के इस मूल्य तथ्य को एक क्षण के लिए भी नही भूलना चाहिए कि जीवन

कुछ, करने के लिए है, यो ही गवान, मिटाने और खपाने के लिए नही है। मनुष्य इस चिन्तामणि रत्न से, इस अनमोल जीवन से बडे-से-बडे साध्य—जो अन्यत्र दुलभ एव दुष्प्राप्य है—प्राप्त कर सकता है, यदि वह उसे माज ले, परिष्कृत कर ले, सयम तथा मर्यादा के साचे मे ढाल ले। जैन-सस्कृति मानव-मात्र से यही अपेक्षा रखती है कि, उसका जीवन सयम की पवित्र भावना मे कसा हो, सघा हो, नियन्त्रित हो। सयम की इस अमूल्य थाती की उपलब्धि के लिए, सयम-साधना की उच्च-उदात्त भावनाओ को आत्मसात् करने के लिए मानव-जीवन एक स्वर्णिम अवसर है, एक दुर्लभ 'चास' है। अत अत्यन्त दुर्लभ तथा विजली की चमक के समान चचल मनुष्य-जन्म को पाकर जो व्यक्ति सयम-साधना मे प्रमाद करता है, वह कापुरुष है, सत्पुरुष नही —

"त तह दुल्लह लभ, विज्जुलयाचचल मणुस्सत्त।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥"

—आचार्य मलयगिरि

जैन-सस्कृति का महान् आघोष

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर के प्रवाह को सयम की दिशा मे मोडने के लिए और किंकर्तव्य की भावना जगाने के लिए एक दिन मानव की अन्तरात्मा को झकझोरते हुए जैन-सस्कृति के मनीषी विचारको ने महान् उद्घोष किया था मानव ! तेरे जीवन पर, तेरी आत्मा पर तेरा अधिकार नही है ! उन पर अधिकार और किसी का है, दूसरो का है, तेरे विरोधियो तथा शत्रुओ का है ! तेरे ऊपर, तेरे घर पर, अधिकार जमाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, असयम तेरे मित्र नही, प्रत्युत अन्तरग शत्रु हैं ! इन अन्तरग शत्रुओ ने ही तेरी आत्म-शक्ति को, तेरी इन्द्रियो, तेरे मन, बुद्धि और तेरे शरीर, तेरे जीवन के कण-कण को चचल एव अशान्त बनाया हुआ है, बेभान कर रखा है ! इन्ही विकारवासनाओ एव असयम-मूलक भावनाओ के कूडे-कर्कट के नीचे ही तो दबा हुआ है तेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप ! इन्ही विकार-वासनाओ ने तो छीन ली है तेरी आत्म-शान्ति, ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की अमूल्य आत्म-निधि ! इन असयम पोषक विकारो के मैल ने ही तो विकृत-गदला किया हुआ है स्फटिक के समान तेरे आत्म-स्वरूप को ! इन्ही असयम की कामनाओ के कुहरे ने तो धुधला बना दिया है तेरे मन-मानस के दर्पण को ! असयम से पराजित यह तेरी आत्मा, कषाय और इन्द्रिया-यही अन्तरग शत्रु हैं तेरे। असयम मे रची-पची आत्मा, अपना जितना अनर्थ कर बैठती है, उतना अनर्थ सिर काटने वाला शत्रु भी नही कर सकता —

"एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इदियाणि य ॥

—उत्तरा०, २३।३८

'न त अरी कठछेत्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुरप्पा ॥

—उत्तरा०, २०।४८

उपर्युक्त अध्यात्म-विचारो के प्रकाश मे, जैन-सस्कृति के ज्योतिर्धर-चिन्तको ने मानव की अन्तरात्मा को आत्म-मनन, आत्म-दमन एव आत्म-सयमन की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हुए एक दिन यही उद्घोष किया था—पुरुष ! यह जीवन पाकर तुझे अपने आपका दमन एव सयमन करना चाहिए। पर अपने आप का दमन करना है अत्यन्त कठिन ! किन्तु जो, अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक तथा परलोक मे-उभयत्र सुखी होता है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तरा०, १।१५

और भी,

अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहि सुसमाहिएहि !

अरक्खिओ जाइपह उवेइ,
सुरक्खिओ सव्व-दुक्खाण मुच्चइ ॥
—दशवै०, द्वितीय चूलिका गा० १६

साधक को अपनी समाहित-मार्वित इन्द्रियो के द्वारा असयम मे सतत अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा कुपथ पर चलकर ससार मे भटकती है और सुरक्षित आत्मा प्रशस्त-पथ पर चलकर सब दु खो से मुक्त हो जाती है।

सयम का अर्थ क्या ?

चित्रकार जब किसी भी चित्र का निर्माण करता है, तो उस के लिए उसे सर्व-प्रथम रेखाए खीचनी होती है। उन रेखाओ के आधार पर ही वह चित्र का निर्माण करता है। रेखाओ का आधार पाए बिना चित्र का सर्वांग-सुन्दर एव सुगठित सृजन नही हो सकता। ठीक यही स्थिति जीवन के सम्बन्ध मे भी है। मानव-जीवन का सुव्यवस्थित, सुगठित विकासात्मक एव साधनात्मक निर्माण करने के लिए भी, उसे रेखाओ पर डालना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। यह रेखाए हैं मर्यादा की, सयम की, आत्म-विवेक की जैन-सस्कृति की भाषा मे इन अध्यात्म-मर्यादाओ तथा सीमाओ की स्वीकृति का नाम है — सयम।

'सयम' का विशद-व्यापक अर्थ है-अपने ऊपर, अपने द्वारा अपना नियंत्रण। सम्+यम=विवेक-पूर्वक अपनी इच्छाओ, तृष्णा-मूलक लालसाओ तथा पार्थिव कामनाओं का नियमन करना। जीवन मे नैतिकता आध्यात्मिकता, आन्तरिक ओज एव उद्र`चन लाने का नाम है सयम। सयम का अर्थ है कि, मनुष्य अपने इस जीवन मे विकार-वासनाओ, इच्छाओ तथा भौतिक एषणाओ से परहेज करे, बुराइयो से दूर रहे। मनुष्य अपन शरीर, इन्द्रिय और मन का स्वय सरक्षक बने। जीवन का यह एक स्पष्ट-प्रत्यक्ष तथ्य है कि आख, नाक, कान, जिह्वा आदि जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, वह सब अपना-अपना रस ढूंढने के लिए इधर-उधर लपकती हैं। आत्म-तत्त्व इन इन्द्रियो की ललक-लालसाओ एव मन के विषय-विलासो मे खोया-खोया न फिरे, इसके लिए जीवन मे सयम अनिवार्य है, अपरिहार्य है। सयम का उदार अर्थ है—अपने तन पर, अपने मन पर, अपनी इन्द्रियो पर, उनकी कामनाओ-लालसाओ पर, उनकी गलत दौड-धूप पर अपना आधिपत्य स्थापित करना, उन पर विजय प्राप्त कर लेना। जीवन का सार्वभौम एव सर्वतोमुखी विकास बिना इस आधिपत्य के हो नही सकता। अत जैन-सस्कृति का एक अमर गायक अपने सयत स्वर में गा रहा है यदि तू ससार से भय खाता और मोक्ष-प्राप्ति की आकाक्षा रखता है, तो इन्द्रियो को जीतने के लिए, उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए अपने प्रबल पुरुषार्थ को काम मे ला—

"बिभेषि यदि ससारात्, मोक्षप्राप्ति च काड्क्षसि।
तदेन्द्रियजय कर्तुं, स्फोरय स्फार पौरुषम् ॥
—उपाध्याय यशोविजय, ज्ञानसार, इन्द्रिय-जयाष्टक श्लो० १

जैन-सस्कृति के मूर्धन्य तत्व-द्रष्टा आचार्यों का कहना है कि, ये इन्द्रियाँ जीवन मे प्रकाश भी फेंकती हैं और अधकार एव धुआ भी फेंकती है, ये जीवन मे अमृत का सचार भी करती हैं और विष का प्रसार भी करती हैं। ये जिवन का उद्धार भी करती हैं और सहार भी करती हैं। ये इन्द्रिया जीवन मे स्वर्ग का अवतरण भी करती हैं और नरक का सृजन भी करती हैं। सयत एव नियत्रित इन्द्रियाँ स्वर्ग का निर्माण करती है, तो असयत तथा अनियत्रित इन्द्रिया नरक का सृजन करती है —

"इन्द्रियाण्येव तत्सर्व, यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीत-विसृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च ॥"

और मनुष्य के पास है भी क्या ? मन, वाणी तथा शरीर यह तीन ही तो साधन हैं उसके पास, जीवन का बनाव-बिगाड करने के लिए। वह इन तीनो साधनो का सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी कर





सकता है। इनके द्वारा वह अमृत भी पी सकता है और विप भी पी सकता है। ये तो साधन हैं—जैसा उपयोग किया जाएगा वैसा ये अपना चमत्कार दिखला देंगे। प्रकाश और अन्धकार अथवा अमृत तथा विप—यह मव तो मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा योग्यता पर निर्भर है। जो व्यक्ति सयम, विवेक, विचार से काम नही लेता है, मन मे सयम का सकल्प नही रखता, वाणी पर सयम की लगाम नही लगाता, और शरीर की चेष्टाओ पर भी कोई विवेक अथवा सयम का अकुश नही लगाता उसके लिए ये मन, वाणी और शरीर अन्धकार तथा विप भरने वाले वन जाते हैं जीवन मे। और, जो व्यक्ति मन मे सयम का शुभ सकल्प रखता है, वाणी को भी सयन रखता है और शरीर की चेष्टाओ-क्रियाओ पर भी सयम तथा नियत्रण का अकुश लगा लेता है, उस सयमशील साधक के लिए वे ही मन, वाणी और शरीर प्रकाश देने वाले, बन्धन खोलने वाले, गुणकारी साधन बन जाते हैं —

मणो य वायकाओ य, तिविहो जोगसगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥

—बृहत्कल्प, ४४४६

और भी,

हत्थसजए, पायसजए, वायसजए, सजइदिए।

—दशवैकालिक, १० । ५

साधक! तू अपने हाथो को सयत रख, पैरो को सयत रख, अपनी वाणी को सयत रख और अपनी इन्द्रियो को सयत रख।

और भी,

इन्द्रियर्यो न जितो सो, धीराण धुरि गण्यते।"

—ज्ञानसार, इन्द्रियजयाष्टक

—जो इन्द्रियो के द्वारा नही जीता गया—इन्द्रियो के अधीन नही हुआ, वस्तुत वही धीर—बुद्धिमान् पुरुष है।

प्रवृत्ति एव निवृत्ति का सन्तुलन ही सयम का मूलभूत अर्थ है

जैन-सस्कृति के मूलभूत दृष्टिकोण से जीवन का अर्थ निष्क्रियता एव जडता नही है। जीवन का अर्थ है क्रियाशीलता, गतिशीलता। गति-विहीन जीवन, जीवन नही है, जीवन की लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पडे रहना अपने-आप मे कोई धर्म नही है। कोई भी व्यक्ति घोडे पर चढता है, तो चलने के लिए चढता है। इसलिए नही चढता कि वही जाम हो जाए। वह घोडे पर चढता है और उसे गति देता है, चलाता है। साथ ही, उसकी लगाम भी हाथ मे थाम लेता है। जहा तक उसे चलना है, चलने की आवश्यकता है, उसे चलाता है, और जहा आवश्यकता खडा होने की होती है, वह उसे खडा कर लेता है उसकी लगाम खीचकर। वहा गति है, प्रवृत्ति है घोडे पर चढकर चलना और यति-निवृत्ति है, आवश्यकता पडने पर झट से लगाम खीच कर उसे खडा कर लेना। प्रवृत्ति एव निवृत्ति के इस सन्तुलन मे ही जीवन का वास्तविक विकास है। जीवननिर्माण की यही सही दिशा है। जैन-सस्कृति का यह महान् स्वर आज भी हमारे कानो मे गूज रहा है कि, "साधक एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्त हो और सयम मे प्रवृत्त हो —

"एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तण।
असजमे नियत्ति च सजमे य पवत्तण॥"

—उत्तरा०, ३१ । २

सयम-साधना जीवन का एक सार्वभौम तत्व है। सयम का अर्थ है आत्म-शक्ति बटोरना और उस शक्ति का उद्देश्य है-जीवन का सर्वांगीण विकास करना। इस सम्बन्ध मे, श्रमण भगवान महावीर ने कछुए का एक

सुन्दर रूपक ससार के सामने रखा है। उन्होने कहा है कि, जब कछुआ चलता है, तो अपने अग-प्रत्यगो को खोलकर चलता है। किन्तु जहा जरा भी भय या खतरा होता है, तो तत्काल वह अपने सब अगो को अन्दर सिकोड-सकोच लेता है, छिपा लेता है। खतरा टला, तो पुन-मन मे फिर फैला-निकाल लेता है, बाहर अपने अगो को। इसी प्रकार साधक भी अपनी सयम-यात्रा के मार्ग पर सतर्कता, सावधानी और विवेक के साथ चले। जब आवश्यक हो अपनी इन्द्रियो से, मन से, तन से काम ले और जहा सयम-विराधना का भय हो, जहा बाह्य-जगत् मे कही तन, मन, इन्द्रियो के अटक, भटक और बहक जाने का प्रसग आ जाए, वहा कछुए की भाति अपने अगो—तन, मन, इन्द्रियो को आत्म-ज्ञान मे अन्तर मे ही गोपन करके रखे —

"जहा कुम्मे सअगाइ, सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

— सूत्रकृताग, १।८।१६

जीवन की गाडी चलाने की मनाही नहीं

जैन-संस्कृति की मूलगामी अध्यात्म-परम्परा के अनुसार जीवन यात्रा की गाडी को चलाने की मनाही नही है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन की यह गाडी मिली है, तो उसे चलाने का अधिकार भी उसे साथ ही मिला है। जैन-सस्कृति का इस सम्बन्ध मे सकेत केवल इतना ही है कि जीवन-यात्रा पर अग्रसर होते हुए, जीवन की गाडी को चलाते हुए बेभान-अज्ञान तथा अविवेकी न बनो। नशे की हालत मे गाडी को बेतहाशा दौडाते मत चलो। मन-मस्तिष्क एव विवेक-बुद्धि को सदा-सर्वदा उर्वर, जाग्रत एव विवेक-युक्त रखो, ताकि जीवन कही गड्ढे मे न गिर जाए, इधर-उधर किसी से टकरा न जाए, कोई तुम्हारी गाडी के आगे आकर कुचल न जाए। जीवन की गति न एकदम उन्मुक्त, मर्यादा-हीन, एव उच्छृ खल ही होनी चाहिए और न एकदम गति-शून्य तथा निष्क्रिय ही होनी चाहिए।

जैन-सस्कृति के महान् सस्कारक भगवान महावीर के पास एक जिज्ञासु साधक पहुचा। वन्दन किया और विनत मुद्रा मे प्रश्न किया भन्ते! जीवन-पथ पर हम चलते है, तो भी पाप लगता है, खडे होते हैं—तो भी पाप घेर लेता है, बैठते हैं तो भी पाप दबा लेता है, सोते है तो भी पाप पिड नही छोडता, खाते हैं तब भी पाप हो जाता है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति एव क्रिया पर पाप की काली छाया बुरी तरह छायी हुई है। जीवन का प्रत्येक स्पन्दन पाप से सना है। जीवन की समस्त क्रियाए-चेष्टाए पापमय है। तो प्रभो! हम कैसे चले, कैसे खडे हो, कैसे बैठें, कैसे सोए, खाए-पिए और कैसे बोलें-जिससे पाप हमे न छू सके? भगवन्! क्या ऐसा भी उपाय है जिससे जीवन-यात्रा मे इस पाप से छुटकारा मिल सके?

"कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए।
कह भुजन्तो भासतो, पाव-कम्म न बधइ॥

—दशवैकालिक, ४।७

तो, भगवान् महावीर ने अपनी धीर-गम्भीर मुद्रा मे उस साधक के मन के लिए समाधानात्मक मार्ग-दर्शन करते हुए कहा वत्स! निराश मत होओ। जीवन की ये सारी प्रवृत्तिया तथा क्रियाए—जिनमे तुमने पाप-ही-पाप देखा है—धर्म का रूप ले सकती है, पाप-विमुक्त हो सकती है, यदि तुम जीवन की एक कला का अभ्यास कर लो। उस कला के आते ही जीवन की समस्त चेष्टाए-प्रवृत्तिया उज्ज्वल-समुज्ज्वल आत्म-स्वरूप की ओर मुड जाती है और वह कला है सयम की, अन्तर्विवेक की, सतत सावधानता की। सयम से चलो, सयम से खडे होओ, सयम से बैठो, सयम से सोओ, सयम से खाओ, और सयम से बोलो। जीवन को प्रत्येक स्पन्दन को सयम एव विवेक के प्रकाश से जोड दो, तो पाप का अन्धकार जीवन मे आ ही नही सकता—पाप-कर्म तुम्हारी आत्मा को छू नही सकता, पाप का बन्धन हो नही सकता! क्योकि, पाप किसी क्रिया अथवा प्रवृत्ति मे नही रहा हुआ है। पाप रहता है असयम मे, अविवेक मे, अयतना मे —





"जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सोए।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥

—दशवैकालिक, ४।८

जीवन के सारथि बनो

जैन-सस्कृति की मूल परम्परा की भाषा मे, इन्द्रिय, मन और शरीर को जीतने का अर्थ उन्हे मारना, उनके साथ अन्याय करना नही, प्रत्युत उन्हे सयम एव त्याग के प्रशस्त पथ पर चला कर ठीक ढग से साधना है और साधना उनसे मनचाहा अध्यात्म-उत्कर्ष का सर्वोच्च-सर्वोपरि काम लेना है। जैसे सारथि घोडो को साधता है, रथ को ठीक ढग से चलाने के लिए उन्हें तैयार करता है और फिर रथ मे जोडकर उनकी बागडोर अपने मजबूत हाथो मे सभालता थामता है, उनसे मनचाहा काम लेता है—उनको जिधर चाहता है, चलाता है, जहा चाहता है, मोडता है, जैसी गति से चाहता है, वैसे ही गति से काम लेता है और जहा रोकना होता है झट से बागडोर खीचकर उन्हे रोक लेता है, इसी प्रकार मानव शरीर भी एक रथ है। आत्मा उसका सारथि है। इन्द्रिया घोडे है और मन बागडोर। आत्म-साधक इन सबको साधकर इनसे यथेच्छ साधना का काम ले, इनको अपने इशारे पर चलाए—जैन-सस्कृति यही सयम-साधना की कला सिखलाने की प्राणचेतना प्रदान करती है। मानव अपने आप मे खोया खोया, बिखरा-बिखरा न रहे, किन्तु सयम-पथ की ठीक दिशा मे गति-प्रगति करे, मनुष्य की अन्तरात्मा को जैन-सस्कृति यहा बोध-परिबोध कराना चाहती है। आखे जिधर चाहे उधर न दौड सकें, रूप रग पर न लुभा सकें, जो चाहे, वह न देख सकें, प्रत्युत साधक जो देखना चाहे, वही आँखें देखें और जो वह न देखना चाहे, न देखे। कान जो सुनना चाहे, वह न सुन सकें, साधक की अन्तरात्मा जो सुनना चाहे, वही कान सुनें, जो वह न सुनना चाहे, वह न सुनें। साधक जिस रस का आस्वादन करना चाहे, वही रसना आस्वाद करे और जो वह न चाहे, रसना उस ओर न जा सके। नाक जो चाहे, वह न सूंघ सके प्रत्युत साधक जो चाहे वही नाक सूंघे और जो वह न चाहे, वह न सू घ सके, मन जो चाहे, उछलकूद न मचा सके, जो चाहे, वह न सोच सके, इधर-उधर के व्यर्थ के सकल्प-विकल्पो के भ्रम-जाल मे न उलझे, प्रत्युत साधक अपने मन से जो सोचना चाहे, वही मन सोचे, और जो वह न सोचना चाहे, मन भूल कर भी उसे न सोच सके। शरीर से जो भी साधना का कार्य साधक लेना चाहे, वही शरीर चेष्टा करे—अपनी मनचाही शरीर भी न कर सके—सयम का मूल तात्पर्य यही तो है।

जैन-सस्कृति की मूल प्रेरणा यही है कि साधक अपने मन, इन्द्रिय तथा शरीर का अधिपति तथा स्वामी बन कर रहे—उनका दास, नौकर अथवा गुलाम बनकर नही। स्वामी का यह कार्य नही कि वह अपने नौकरो के इशारे पर चले, उनके नचाये नाचे, उनकी गुलामी करे। नौकर इधर-उधर खट-पट, गड-बड करते रहें, हुडदग मचाते रहे, तोड-फोड करते रहे, अराजकता फैलाते रहे और स्वामी टुकुर-टुकुर देखता रहे, बैठा-बैठा आसू बहाता रहे यह स्वामी का स्वामित्व नही है। स्वामी का अर्थ है कि वह अपने नौकरो को आज्ञा दे, उन्हे अपनी आख के इशारे पर चलाए, उनसे यथेष्ट काम ले, उन्हे पूर्णत अपने अनुशासन मे रखे, अपना पूर्ण आधिपत्य रखे उन पर। ये इन्द्रिया, यह मन, यह शरीर भी तो नौकर ही हैं न आत्मा के। इनका स्वामी आत्मा इन्हे गलत दिशा मे जाने से रोके, गलत काम करने से मना करे और उचित कार्य करने की प्रेरणा दे—उनसे कार्य कराए। उनका शासक बने—उनके ऊपर अपना अनुशासन चलाए, जिससे आखें जहा जाना चाहे, न जा सकें, कान जिधर चाहे, न दौड सके, जिह्वा जो चाहे न बोल सके, जो चाहे वह न चख सके। हाथ-पाव भी अपनी मनमानी करने पर न उतर आए। आत्मा के सकेत की ओर ही सब इन्द्रिया, मन और हाथ-पाव गति-यति करें। ये सब नौकर तो तभी ठीक-ठीक क्रिया करेंगे, जब साधक का उन पर कडा पहरा होगा। प्रत्येक इन्द्रिय पर, मन पर, शरीर पर अपना पहरा बैठा देने पर ये साधक की आत्मा को चकमा न दे सकेंगे, धोखे मे न डाल सकेंगे, प्रत्युत अपनी चिर-अभ्यस्त उच्छृ खलता एव स्वच्छन्दता का परित्याग कर साधक की प्रबुद्ध आत्मा के अनुशासन मे चलने के लिए विवश हो जाएगे। सयमशील साधक अपनी आखो पर, अपने कानो पर, अपनी रसना पर, अपनी नाक पर, अपने हाथ-पाव पर, अपने मन पर, अपने जीवन की समस्त गति-विधियो पर अपना शासन चलाता है, उन पर अपने आधिपत्य तथा स्वामित्व का वर्चस्व सस्थापित करना है। शासन की बागडोर वह प्रतिक्षण अपने

हाथ में रखता है—जैसे पीलवान अपने हाथ में अंकुश लिये रहता है। जब हाथी उन्मत्त होकर इधर-उधर भागने का यत्न करता है, उन्मार्ग पर चलता है, तो वह तत्काल उस पर अंकुश लगाता है। अंकुश का प्रहार होते ही हाथी काबू में आ जाता है, नियन्त्रित हो जाता है, ठीक-ठीक चलने लगता है। इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ, मन और शरीर सन्मार्ग—साधना-पथ से इधर-उधर बहकने-भटकने का यत्न करते हैं तो संयमी साधक भी उन पर संयम, आत्म-विवेक, ज्ञान-विचार का अंकुश लगाता है, इन्हें अपने नियंत्रण में ले आता है, जिससे वे सब अपनी-अपनी सीमा-मर्यादा में रहकर ठीक-ठीक कार्य करने लगते हैं। जैन-संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों की संयम के सम्बन्ध में यही मूलभूत दृष्टि है कि तुम अपने शासक आप बनो। अपने भाग्य-विधाता और जीवन-निर्माता बनकर स्वयं अपने जीवन का निर्माण करो। आत्म-ज्ञान एवं जीवन-विज्ञान की यही सही पगडंडी है।



पथ का सम्बल : रत्नत्रय

साध्वी उमरावकुंवरजी 'अर्चना'
जैनसिद्धान्ताचार्य



प्रत्येक मननशील मानव के समक्ष एक ही मुख्य प्रश्न रहता है कि आत्मोन्नति कैसे करें ? अनादि काल से मानव इस उन्नति-कामना को सजोए हुए है ।

लेकिन देखना यह है कि उसके पास पर्याप्त मनोबल, निर्भयता, आशा, उत्साह, साहस, धैर्य आदि, जो आत्मोन्नति के लिए अनिवार्य हैं, है या नही ? इन साधनो के बिना वह उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो नही सकता । साथ ही उसकी वुद्धि मे जागरूकता, प्रगल्भता, विवेक और दूरदर्शिता होनी चाहिए । वुद्धि ही मानव का विलक्षण बल है—'प्रज्ञाना वल ह्येव निष्प्रज्ञस्य वलेन किम् ?' इसी दीपक से मनुष्य को ससार मे सब कुछ दिखाई पडता है—'वुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।' अतएव वुद्धि निर्वल, निष्क्रिय और मलिन होगी तो मनुष्य लक्ष्यच्युत हो जायगा ।

मन्दवुद्धि या दुष्टवुद्धि भी कही उन्नति कर सकता है ? जिसे सूझ-वूझ नही होती वह मतिहीन साथ ही गतिहीन भी हो जाता है ।

प्रज्ञाशील पुरुषो ने आत्मोन्नति के इच्छुको को तीन साधन अनिवार्यरूपेण अपनाने का निर्देश किया है । तत्वार्थसूत्र मे कहा है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, ये तीन मुक्ति पथ के परम साधन हैं । इन के सहयोग के विना साधक की उद्देश्यपूर्ति असभव है ।

अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन ने भी एक स्थान पर लिखा है—आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मसयम केवल ये तीन ही जीवन को परमशक्तिसपन्न वना देते हैं ।

आत्मविश्वास

आत्मविश्वास का मुख्य उद्देश्य है आत्मक्षुद्रता का निराकरण । आत्मविश्वास के विना मनुष्य एक कदम भी प्रगतिपथ की ओर नही वढ सकता । आत्मविश्वास के विना आत्मा वलवान नही हो सकता । एक भक्त का यह सुदृढ सकल्प होना चाहिए—आत्मा ऐसी वलशालिनी वन जाए कि मन-मेरु कभी विचलित न हो । विशालकाय पर्वत आकर मेरी राह रोकें और भीम-प्रवाहिनी वेगवती नदियाँ पथ की वाधक वनें अथवा गर्जना के साथ सागर हिलोरें ले रहा हो उसके बीच मे मेरी नौका डगमगा रही हो ऐसी भयानक अवस्था मे भी आत्मविश्वास डिगने न पाये ।

आत्मविश्वास के अभाव मे मानव पगुवत् हो जाता है । मन के लगडे को स्वर्ग के असख्य देव भी नही उठा सकते और आत्मा की अपरिमित शक्ति मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति असख्य देवो को अपने सामने झुका सकता

है। आत्मविश्वासी कही भटकता नही, कही अटकता नही, पथभ्रष्ट होता नही। वह अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए साहस का सम्वल लिए प्रतिक्षण प्रयत्नशील बना रहता है। उसे अपनी आत्मा की अजेय शक्ति और अमरता पर पूर्ण विश्वास होता है।

—स एव धन्यो विपदि स्वरूप न विमुचति

वही धन्य है, जो विपत्ति मे अपने स्वरूप को नही छोडता है। श्री तिलक महोदय लिखते है—"कठिनाइया हमारे साथ अशेष उपकार करती है। वे हमारे अन्दर साहस भरती है और हमे सब प्रकार से योग्य बनाती है। अतएव वीरो, इन मे डरो नही, इन्हे प्रसन्नता से गले लगाओ" चाहे आकाश सिर पर गिर पडे, चाहे हिमालय पर्वत मार्ग रोक कर खडा हो जाए चाहे मृत्यु सामने आ जाए, परन्तु फिर भी मत डरो।

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही वन जाता है। अत उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को महापुरुषो की जीवनियो का अवलोकन करना चाहिए।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का वन मे सच्चा साथी सिवाय आत्मविश्वास के कौन था ? उनके सामने कितने विकट कार्य थे ?

"विजेतव्या लका, चरणतरणीयो जलनिधि ,
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय ।
तथाप्येको राम सकलमवधीद्राक्षसकुल,
क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति, महता नोपकरणे।"

लका को जीतना था, समुद्र को पैदल पार करना था, रावण जैसा विरोधी था, और उस रणभूमि मे वानर ही सहायक थे। फिर भी अकेले राम ने राक्षसकुल का सहार कर डाला। महापुरुषो की कार्यसिद्धि साधनो पर नही उनके आत्मबल पर निर्भर रहती है।

प्राय लोग अपने दुर्बल अग का ही ध्यान रखते हैं किन्तु प्रवल पक्ष-दिव्यता-मे विश्वास नही करते। यही आत्महीनता का कारण है। इस से मनुष्य को अपने आत्मिक वल की अनुभूति नही होती और उसका मन वाहरी परि-स्थितियो से परास्त, पराधीन हो जाता है। योगवासिष्ठ मे कहा है—

"मैं ब्रह्म नही हू" इस दृढ सकल्प से मन वन्धन मे पड जाता हैं—"**नाह ब्रह्मेति सकल्पात्सुदृढाद् बध्यते मन।**" अपने प्रति अविश्वास या मिथ्या विश्वास होने से मनुष्य मे विद्यमान शक्ति भी पलायन कर जाती है। 'जागत ही सोवत रहैं तेहि को सकै जगाई ? अपने ही को खोकर कोई क्या कमाएगा ?'

आत्मसमर्पण करने वाला भी कही विजयी होता है? यात्रियो को लेकर एक जहाज समुद्र पार जा रहा था। दुर्भाग्य से भयानक तूफान आ गया। नाविको ने यात्रियो को वचाने का शक्ति-भर प्रयत्न किया मगर वे सफल नही हो सके। अन्त में जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया। देखते-देखते सागर के वृक्ष स्थल पर लाशें तैरने लगी। नाविक तैर कर किनारे पहुच गये। उस समय का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक था। आठ-दस वर्ष का वालक निर्भीकता से, चेहरे पर मुस्कराहट लिए, हाथ पैर मार रहा था और समुद्र तैरकर किनारे लगने का वडे साहस के साथ प्रयत्न कर रहा था। छोटे वच्चे का आत्मविश्वास और अपूर्व साहस निकटवर्ती व्यन्तर देव ने देखा और सहसा उपहासपूर्वक कहा—अरे वच्चे, निरर्थक क्यो हैरान हो रहा है ? जव जहाज के सभी यात्री असीम सागर के उदर मे समा गये है तो तेरी क्या विसात है ? छोड अपना व्यर्थ का प्रयास ! वच्चे ने अत्यन्त दृढता से कहा—आप अपना काम करें, मैं अपना काम कर रहा हू। विना मागे सलाह देना क्या उचित है? देव ने दुवारा समझाने की कोशिश की पर वच्चे ने अपना साहस नही छोडा। उसने दृढतापूर्वक कहा—जव मरना ही है तो वीरो की मौत क्यो न मरु !





बच्चे का अद्भुत साहस देख कर देव ने प्रसन्नता से बच्चे को इच्छित स्थान पर ले जाकर छोड दिया। आत्म-विश्वासी के उन्नति-पथ मे विकट से विकट परिस्थितिया भी बाधक नही बन सकती। पत्थर की चट्टान जो कमजोरो की राह का रोडा होती है, शक्तिशालियो के लिये सफलता की सीढी बन जाती है। टाल्सटाय ने कहा है—"विश्वास जीवन की शक्ति है।" जर्मी टेलर ने कहा—

विश्वास सारे वरदानो का आधार है। विश्वास तूफानी सागर मे हम को खेता है, पर्वतो को डिगा देता है, सागर लाघ जाता है। विश्वास एक कोमल पुष्प नही है जो साधारण वायु के झोके से कुम्हला जाय। यह हिमालय के समान अडिग है। उन्नति-सदन का यह प्रथम सोपान है।

आत्मज्ञान

आत्मोन्नति का दूसरा साधन आत्मज्ञान है। अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान का सरल अर्थ है अपने को पहचानना, अपनी आत्मशक्ति की यथार्थ जानकारी होना। जब तक मानव वस्तु के गुण-दोष की जानकारी से अवगत नही हो जाता है, वह दोषो से बच कर गुणो को अपना नही सकता। पुरखे यदि घर मे धन गाड जाए और हमे पता न हो तो हम उस गुप्त धन का लाभ नही उठा सकते। जीवन मे जो दैवी तत्व हैं उन से अनभिज्ञ रहने पर भी ऐसा ही होता है। अपनी सद्वृत्तियो को जानने का अर्थ है, उन्हें जगा लेना, पकड लेना। इससे आत्मशान्ति का अनुभव और जीवन के लक्ष्य का ज्ञान होता है। जब तक हमे अपने लक्ष्य का ज्ञान नही होता है तब तक किया जाने वाला उग्र क्रियाकाण्ड सार्थक नही होता। आप एक कागज लेते है, सुन्दर अक्षरो मे और सजे हुए शब्दो मे अपने घनिष्ठ मित्र को लक्ष्य कर अपने हृदयगत भावो की अभिव्यक्ति करते हैं। कई प्रकार की सुन्दर उपमाए देकर हृदय का समस्त स्नेह उडेल देते हैं। तत्पश्चात् उसे लिफाफे मे बन्द करके लैटर बाक्स मे डाल देते हैं। क्या पत्र आपके मित्र को मिल जायगा? मित्र कहा है, इसका आपको ज्ञान नही है तो क्या बिना पते का पत्र मित्र तक पहुच सकेगा? इसी प्रकार यदि हम मे आत्मज्ञान का अभाव है तो अपना लक्ष्य कायम नही कर सकेंगे और फिर निर्दिष्ट स्थान पर न पहुच कर बीच ही मे भटक जायेंगे। इसलिए सर्वप्रथम आत्मज्ञान की आवश्यकता है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, स्वतन्त्र सत्ताधारी अरूपी चिन्मय द्रव्य है। ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा मे अखण्ड रूप से और अपने आप मे परिपूर्ण रूप से परिव्याप्त है।

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ,
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।—गीता

आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते है, न आग जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है। न वायु सुखा सकता है। वह आत्मा न कभी कटने वाला है, न कभी जलने वाला, न भीगने वाला और न सूखने वाला है। वह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल, एव सनातन है। इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त कर लेना ही तत्वज्ञान है। तत्व-ज्ञान से अनभिज्ञ साधक की साधना छार का लीपना है। दीपक मे तेल भी है, बाती भी है, मगर जलाया नही तो क्या उस ज्योतिहीन दीपक से अन्धकार नष्ट हो सकेगा? कदापि नही।

ज्ञानाभाव मे साधक का साधना रूपी शरीर ज्योतिहीन दीपक के समान है। 'ज्ञान जगल्लोचनम्' ज्ञान ही ऐसी आख है जो जगत मे घटने वाली त्रैकालिक घटनाओ को देख सकता है।

धर्मद्रोही का मन मुर्दा, पापी का मन रोगी, लोभी व स्वार्थी का मन प्रमादशील और ज्ञानी का मन स्वस्थ होता है। मलिन दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित नही हो सकता, इसी प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, अज्ञान आदि मल से सने हुए अन्त करण मे सत्य की अनुभूति नही हो सकती। ज्ञानी का ही हृदय स्वच्छ रह सकता है और हृदय की स्वच्छता ही सब से बडी स्वच्छता है, क्योंकि इस स्वच्छता मे परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। अतएव

आत्मा के उत्थान के लिए आत्मज्ञान की परम आवश्यकता है। भजनानन्द ने ठीक ही कहा है—जैसे स्वप्न में काटे गये सिर का दुःख बिना जागे दूर नहीं होता, इसी प्रकार इस संसार का दुःख बिना आत्मज्ञान हुए दूर नहीं होता।

आत्मसंयम

आत्मोत्थान का तीसरा साधन आत्मसंयम है। संयम का सीधा अर्थ है आत्मनिग्रह। प्रकृति में सब कुछ नियमबद्ध है, अतएव मानव-जीवन को भी नियमित, मर्यादित होना चाहिए, तभी वह स्वस्थ और चैतन्य रह सकता है। अनियन्त्रित जीवन में स्वाभाविक शक्तियों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखता है अर्थात् जब उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन के नियन्त्रण में रहता है, तभी वह स्वाधीन और शक्तिमान् होता है।

सब में शक्तिशाली व्यक्ति वही है जो अपने को अपने अनुशासन में रखता है। संयम में ही आत्मबल, मनोबल, शारीरिक बल दृढ होते हैं। अन्तर्द्वन्द्व मिटता है, मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्र देहिनः।

इस लोक और परलोक में सर्वत्र प्राणियों का रक्षण करने वाला संयम ही है और इसीलिए वह महामन्त्र कहलाता है।

आत्मसंयम के बिना विकास की कल्पना करना ही निरर्थक है। विश्वास हो, ज्ञान भी हो, पर चलने की ताकत न हो तो सब व्यर्थ है। आत्मा का दमन करना ही विशुद्धि है, इसी को संयम और आचार कहते हैं। विश्वास को ज्ञान में उतरने दो, ज्ञान को क्रिया में उतरने दो, तभी विकास हो सकेगा। विश्वास, ज्ञान, और संयम यह त्रिपुटी कितनी पवित्र है! इनकी पवित्रता को जीवन के कण-कण में रमने दो। फिर देखो तुम क्या थे और क्या हो गये। ये तीन रत्न ही आत्मा की वास्तविक विभूति हैं।

संयम का मूल स्वच्छता है और वह तीन प्रकार की है। मन की, वाणी की और कर्म की। मन की स्वच्छता इस प्रकार रह सकती है—

१ क्रोध न करना, शान्ति रखना
२ मान न करना, नम्रता रखना।
३ कपट न करना, सरलता रखना।
४ लोभ न करना, संतोष रखना।
५ किसी की निन्दा व अपमान न करना।
६ किसी का बुरा न सोचना।

मन की स्वच्छता का अर्थ है—मन में किसी के प्रति राग, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचार न रखना।

वाणी की पवित्रता के लिए वाणी का संयम आवश्यक है। वाणी की पवित्रता का उपाय है—

१ वाक्संयम २ अल्प भाषण ३ प्रिय एवं सत्य भाषण ४ मधुर भाषण, मृदु एवं कोमल भाषण।

मानव कर्मशील है। वह कुछ न कुछ कर्म करता ही है। परन्तु उसके कर्म में पवित्रता होनी चाहिए। और कर्तव्य की पवित्रता इस प्रकार रह सकती है—

१ निष्काम-भाव पूर्वक कर्म करना।
२ कर्म के फल के प्रति आसक्ति न रखना।
३ शुद्ध विधि-युक्त कर्तव्य पालना।



४ विवेक पूर्वक क्रिया करना।

इस प्रकार सयमपूर्वक कर्तव्य पालन करने से ही जीवन की उन्नति हो सकती है। कर्तव्यशून्य के विषय मे कहा जाता है—जो कर्तव्य पालन न करके कोरी बातें ही बनाता हो यह व्यक्ति उस उद्यान के समान है जिस मे फूलो के स्थान पर व्यर्थ की घास-फूस उगी हुई हो।

आत्मसयम मानव का भूषण है। यह उस की उच्चता का लक्षण है। उसकी सभ्यता का प्रमाण है। यह एक ऐसा मन्त्र है जिसका सहारा लेते ही जीवन की समस्त वेदना शान्त हो जाती है।

असयम के परिणाम इष्ट नही होते। मानव का सारा इतिहास पुकार-पुकार कर कहता है कि असयम से बचो, अगणित फासिया जेलखाने, युद्ध, दगे, तथा जीवन की शत-शत असफलताए पुकार-पुकार कर कहती हैं इससे बचो। इस प्रकार जिस का जीवन आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसयम से हीन है वह बाँस के समान स्वय के नाश का हेतु स्वय ही बन जाता है। इसके विपरीत, जो इस रत्नत्रयी से सम्पन्न है उसमे ईश्वरत्व की अमित और अमिट ज्योति प्रकट हो जाती है।

तप, तापस-परम्परा और महातपस्वी महावीर

मुनिश्री सुशील कुमारजी,



भगवान महावीर के काल की धार्मिक परपराओ मे तापस-परपरा का विशिष्ट महत्व है। यद्यपि यह परपरा चिरकाल से विद्यमान थी, किन्तु, भगवान ने अज्ञानमार्ग का खण्डन करते हुए परमपद की प्राप्ति के लिए तप को अनिवार्य साधन घोषित कर इस परम्परा को एक नया ऐतिहासिक मोड दिया।

भारत के इतिहास मे सास्कृतिक मान्यता के रूप मे तप का माहात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। तप से जहा ऐहिक सुखो का चरमोत्कर्ष सहज सुलभ है, वहा कर्मबन्धन से विमुक्ति भी तप से ही सम्भव है। चाहे इन्द्र के सिंहासन की प्राप्ति की लालसा हो अथवा आत्मा के अन्ततत्त्व को उपलब्ध करने की साध, दोनो तप से ही प्राप्त हो सकती है। तप का प्राधान्य एव माहात्म्य भारतीय धार्मिक विचारधारा मे इतना माना गया है कि सारे ससार की भौतिक समृद्धि, भूमि के सभी तत्व, खगोल के चान्द-सितारे, द्युलोक के दिव्यधाम एव आत्मा का परमपद केवल इसी से सुलभ है। शाप और वरदान, मुक्ति और भुक्ति तप के चारो ओर घूम रहे है। श्रमण व ब्राह्मण दोनो का जीवन तप पर आधारित रहा है। ब्राह्मण को जब सरस्वती ने वरण किया तो उससे तप-आराधन की एव ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली थी। और श्रमण-जीवन का तो प्रारम्भ ही तपस्या से होता है।

किन्तु, तप के नाम पर भी इस देश मे कम पाखण्ड नही हुए। देहपीडा और कायक्लेश, अज्ञानक्रिया व मिथ्याप्रपच, झूठी प्रतिष्ठा और सामाजिक दोष, तप के नाम पर तथा तप की ही आड मे पनपते व पलते रहे है।

भगवान महावीर दीर्घतपस्वी महापुरुष थे। किन्तु, वह तप को जितना महत्वपूर्ण मानते थे, उतना ही जोर तप के प्रति ज्ञानमय दृष्टि की स्थापना पर देते थे। विवेक और सयम तथा समता और वैराग्य के द्वारा जब साधक देहासक्ति को छोडकर आत्मशोधन की ओर चलता है, तब इच्छानिरोध एव अन्ननिरोध स्वत होने लगते है और वह शनै शनै भौतिक परवशता के समापन की ओर उन्मुख हो जाता है। यह एक दृढ इच्छाशक्ति एव निष्ठा से सम्पन्न तेजस्वी पुरुष का काम है।

भगवान महावीर ने तप का विस्तृत विवेचन किया है, जिसमे तप के द्वारा पनपने वाले पाखण्ड एव तप के द्वारा आत्मसिद्धि दोनो का ही विशद विश्लेषण है। वैचारिक शून्यता के नाते तप को केन्द्रबिन्दु बनाकर किस-किस प्रकार की परम्पराए उस युग मे चल रही थी, उसका भी जैनशास्त्रो मे सविस्तार वर्णन है।

तप के माध्यम से अज्ञान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा भगवान महावीर की एक विशिष्ट देन है। उन्होने स्वय अपने जीवन मे १३ वर्ष की तपोमय साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर इस सत्य का प्रतिपादन किया कि तप मे विवेक आवश्यक है और इसी के द्वारा परमतत्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुत भगवान के युग के कई तापस अत्यन्त क्लिष्ट तप करने पर भी परमसिद्धि न पा सके वे तप-पथ पर अग्रसर होते हुए भी अज्ञानावृत थे। औपपातिक सूत्र मे गगा के तट पर बसे कुछ ऐसे वानप्रस्थ तापसो का जिक्र आया है, जिन्हे 'दक्खिणकुलक' का और 'उत्तरकूलका' सज्ञा से सम्बोधित किया गया है अर्थात् गगा के दक्षिणी और उत्तरी तट पर

रहने वाले। इन तापसो की अनेक श्रेणिया एव भेदोपभेद है । कुछ तापस शिकार करते थे और मासाहारी भी थे। कुछ जल पी कर, वायुसेवन कर, केवल कन्दमूल, वृक्ष की छाल, पत्र, सेवाल, पुष्प अथवा बीज खाकर निर्वाह करते थे। इनके स्नान के भी विविध प्रकार थे। यथा कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले, क्षणमात्र मे स्नान कर लेने वाले, मिट्टी घिसकर शरीर साफ करने वाले और बिना स्नान भोजन न करने वाले आदि। कुछ तापस समुद्रतट अथवा वृक्ष के नीचे या जल मे रहते थे।

इसी श्रेणी के एक बहुचर्चित हस्तितापस के रूप मे एक हाथी मारकर वर्ष भर उस पर निर्वाह करने की परम्परा थी और मुनि आर्द्रक से हुए शास्त्रार्थ के अनुसार उन्होने दावा किया था कि वर्ष मे अपने लिए केवल एक जीव मारने के कारण वे निर्दोष है।

औपपातिक के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो मे भी उस युग के कुछ तापसो का उल्लेख आया है। जैसे चक्र धारण करने वाले, चण्डी के भक्त, साख्यमत के अनुयायी, दाढी रखने वाले, भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करने वाले, पानी मे ही कल्याण मानने वाले तथा मिट्टी से शुद्धि करने वाले आदि-आदि।

सूत्रकृताग मे आर्द्रककुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियो के मिलने का उल्लेख है।

जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य मे भी विविध श्रमण-ब्राह्मणो के तप की चर्चा है, जिनसे उस युग की धार्मिक सकुलता एव जटिलता का आभास होता है।

अन्धकार से प्रकाश की ओर

ऐसे समय भगवान महावीर ने मानवता को अज्ञान के अन्धकार से हटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। अज्ञान-तप का खण्डन करते हुए उन्होने कहा कि विवेक-विचार के बिना यह निरर्थक है। विवेकरहित तापस इसी कारण योगभ्रष्ट और तपोभ्रष्ट हो जाते थे। उन्हे कुछ सिद्धिया तो प्राप्त हो जाती थी, परन्तु वे परमतत्व की प्राप्ति से वचित रहते थे जो तप का चरमलक्ष्य है।

दीर्घकालिक कठोर साधना के १३ वें वर्ष मे शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कर भगवान ने तप के द्वारा परमतत्व की प्राप्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। इस दौरान उन्होने ६ मास तक के अनेक तप किये तथा विविध स्थानो पर तप के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अपने आचरण द्वारा प्रस्तुत किये।

सकल्प

३० वर्ष की अवस्था मे भगवान महावीर ने ग्रहत्याग करते हुए सकल्प किया था कि '१२ वर्ष, मे जब तक मुझे केवल-ज्ञान न होगा, इस शरीर की सेवा-सुश्रूषा नही करूगा, देव-मनुष्य या पक्षियो द्वारा आये कष्टो को समभाव से सहन करूगा तथा मन मे किंचित् उद्वेग न आने दू गा।

इस प्रतिज्ञा के साथ भगवान साधना-पथ पर अग्रसर हुए। वह सदा ध्यानमग्न रहते और किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ नही होने देते थे। सासारिक पदार्थों के प्रति ममत्व से वह परे थे और अपने व पराये का भाव उनमे किंचित् नही था। सर्वप्रथम वह एक आश्रम में ठहरे, किन्तु आश्रमवासियो के व्यवहार से ऊबकर उन्होने उस स्थान का भी परित्याग करने का निश्चय किया। तब उन्होने ये ५ प्रण किये-अप्रीतिकारक स्थान मे कभी नही रहूगा, सदा ध्यान मे लीन रहूगा, मौन रखू गा, हाथ मे भोजन करूगा और गृहस्थो का विनय नही करू गा। अपना प्रथम चातुर्मास भगवान ने १५-१५ दिन के ८ अर्द्धमास-तप द्वारा व्यतीत किया।

प्रथम और द्वितीय वर्षावास मे भगवान को अनेक यन्त्रणाओ का सामना करना पडा, पर वे जरा भी विचलित न हुए। तृतीय चातुर्मास मे गोशाला नामक एक समकालीन साधु भगवान की तेजस्विता से प्रभावित होकर इनके पास शिष्य की तरह रहने लगा। कर्मों का क्षय करने मे विलम्ब न हो, इस उद्देश्य से भगवान ने अपरिचित क्षेत्र की

ओर विहार करना अधिक उपयुक्त समझा, वह लाढ देश गये जो उस समय अनार्य प्रदेश गिना जाता था। आर्य देश से आते देखकर अनार्यो ने उन्हे विविध यातनाए दी, किन्तु, सब कष्टो को उन्होने स्वस्थभाव से क्षमापूर्वक सहन किया।

छठे चातुर्मास के पूर्व भगवान ने जब कूपिय सन्निवेश से वैशाली की ओर विहार किया तो गोशाला ने उनके साथ चलने से इन्कार करते हुए कहा कि "आप न तो मेरी रक्षा करते है और न आपके साथ रहने मे मुझे सुख है। आपके साथ कष्ट भी झेलना पडता है तथा भोजन की चिन्ता बनी रहती है।" तदनन्तर गोशाला राजगृह नगरी की ओर गया और भगवान् वैशाली की ओर।

इसी बीच भगवान् से अलग रहकर गोशाल को अनेकानेक कष्ट झेलने पडे। भगवान् को खोजते हुए ६ मास पश्चात् शालीशीर्ष मे वह पुन उनसे आ मिला और उनके साथ रहने लगा। शालीशीर्ष से भगवान् ने भद्दिया नगरी की ओर विहार किया और छठा चातुर्मास वही व्यतीत किया। वहा चातुर्मासिक तप मे योगासनो द्वारा वह निरन्तर आत्मचिन्तन में ही मग्न रहते। तदनन्तर उन्होने मगध भूमि की ओर विहार किया, जहा आलभिया नगरी मे उन्होंने सातवा चातुर्मास किया। आठवा वर्षावास उन्होने राजगृह मे किया तथा वहाँ भी तप के द्वारा आत्मचिन्तन मे निमग्न रहे और अनेक प्रकार के तप-अनुष्ठान किये।

कर्मक्षय

भगवान् ने अनुभव किया कि अनेक क्लिष्ट कर्म अभी उनसे चिपके हैं। उन्होने पुन अनार्य देश मे जाने की ठानी ताकि वहा कोई परिचित न मिले और वे कर्मों के पूर्ण क्षय मे सफल हो सके। इस उद्देश्य से वह राढ देश की सुम्ह भूमि मे चले गये। ठहरने का स्थान न मिलने के कारण वह वृक्ष के नीचे या खण्डहर मे ही रुककर साधना मे लीन रहते। इस प्रकार घूमते हुए उन्होने नवा चातुर्मासतप पूर्ण किया। उन्हे अनार्यो से कई यन्त्रणाए सहनी पडतीं, किन्तु, क्षमाशील भगवान् के मन मे तनिक भी आवेश उत्पन्न न होता। कर्मो का क्षय होते देखकर उन्होने अलौकिक आनन्द का अनुभव किया और उनकी मुखाकृति कान्तिमान होकर खिल उठी।

६ मास तक अनार्य देश मे विचरण कर भगवान् आर्य देश मे लौट आये। दसवा चातुर्मास आपने श्रावस्ती मे और ११वा वैशाली में किया। इस वर्षावास मे अनेक प्रकार के तप करने के साथ उन्होने कई योग-क्रियाओ की सिद्धि भी की।

तदनन्तर कौशाम्बी जाकर आपने भिक्षा सम्बन्धी यह कठोर अभिग्रह धारण किया कि 'भिक्षा का समय व्यतीत होने पर सिर से मुण्डित, पैरो मे वेडी पहने दासीपन को प्राप्त, ३ दिन से उपवासी, हसती और रोती हुई किसी राजकुमारी से उडद के बाकुल के रूप मे भिक्षा मिले तो लेना अन्यथा नही सतत। भ्रमण के पश्चात् चन्दना नामक इतिहासप्रसिद्ध युवती, जो राजकुमारी से दासी मे परिणत हो चुकी थी, उडद के बाकुल लिये उक्त दशा म भगवान को प्रसन्नवदना दिखलाई पडी और उसने भगवान् से यह अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना की। अपने अभिग्रह मे कमी देखकर भगवान् लौट ही रहे थे कि चन्दना की आखो मे निराशा के आसू आ गये। अब भगवान् ने अपना अभिग्रह पूर्ण जानकर ६ मास मे ५ दिन शेष रहने पर चन्दना के हाथो से पारणा किया। यह चन्दना कालान्तर मे भगवान् की प्रथम साध्वी बनी और चारित्रधर्म का पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुई।

भगवान ने १३ वा चातुर्मास छम्माणिगाव के बाहर उद्यान मे ध्यानारूढ रहकर किया।

सर्वज्ञ केवली

इस प्रकार अनेक कठोर अभिग्रहो का निर्वाह करते तथा भीषण उपसर्ग सहन करते हुए भगवान् ने करीब साढे १२ वर्षो की अनवरत तपश्चर्या मे ३५० दिन भोजन किया और शेष दिन निर्जल उपवास के रूप मे व्यतीत किये।





जब तप का १३ वा वर्ष चल रहा था तो ग्रीष्मकाल के दूसरे महीने और चौथे पक्ष मे वैशाख शुक्ल के १० वे दिन उज्जुवालुका नदी के उत्तरी तट पर एक खेत मे शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन पर ४ घातिकर्मो का क्षय हो जाने पर भगवान् को केवलज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई। तब श्रमण भगवान् अर्हत् अर्थात् पूजनीय हुए और राग द्वेषविजेता सर्वज्ञ-केवली बने।

इस प्रकार भगवान् महावीर की तप-परम्परा शुरू हुई। इसकी विशिष्टता यह थी कि तप उनके लिए आत्मोपलब्धि का साधन था, साध्य नही। उनके तपोमय जीवन मे अनेक प्रकार के अनुष्ठान, विविध योगासन एवविभिन्न योगक्रियाओ के दृष्टान्त मिलते हैं, जिनके द्वारा उन्होने एक पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि को टिकाये रखने का अभ्यास किया था।

कोई भी साधक जब आत्मसाक्षात्कार के लिए उद्यत होता है तो इस भौतिक देह मे से आत्मतत्व की पृथक्ता का आभास करता है। धीरे-धीरे जब चिन्तन के द्वारा ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं जडस्वरूप नही, वरन् चैतन्यस्वरूप हू तो उसकी पृथक् अनुभूति का साक्षात् करने और उसे पूर्ण रूप से पा जाने के लिए साधक ज्ञान के द्वारा वैशिष्ट्य को स्वीकार करता है। एक-एक भूतत्व के बन्धन से अलग होकर वह आत्मतत्व को कसौटी पर कसकर देखता है तथा जो राग-द्वेषात्मक ग्रन्थिया आत्मा को जड के साथ बाधती है, उन्हे वह ज्ञान एव तप के प्रहार द्वारा तोड देता है।

सासारिक व्यक्ति प्राय मानते हैं कि अन्न ही प्राण है—"अन्न वै प्राणा"। किन्तु आत्मवेत्ता पुरुष अन्न को छोड कर आत्मा की उपासना करता है ताकि अन्न के बिना शरीर की अपेक्षा आत्मा की अनुभूति हो सके। अन्न, जल, वायु और अग्नि की पराधीनता मे मुक्ति, भूतजगत मे रहते हुए भी जीवयोनि की हिंसा मे विरत होने तथा पुरातन जन्म-जन्मान्तरो से सम्बद्ध कर्माणुओ का क्षय करने के लिए भगवान् महावीर ने तप को सबसे अधिक महत्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे आत्मशुद्धि के लिए तप करने का आदेश दिया है। अन्तगड सूत्र मे उन ९० दीर्घतपस्वी महान् आत्माओ की कथा है, जिन्होने तप के द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की। ज्ञातासूत्र मे धर्मरुचि अनगार की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। किन्तु, समग्र जैन वाङ्मय मे तप को आत्मोपलब्धि के साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है, कर्मकाण्ड आडम्बर अथवा प्रदर्शन के रूप मे नही।

तप का सार्वभौम माहात्म्य

तप शक्ति, भक्ति और मुक्ति तीनो का केन्द्रबिन्दु है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई महान सम्भावना वास्तविक रूप धारण करती है। कष्टसहन की पराकाष्ठा से तप का सृजन होता है और यह तप तभी सोद्देश्य है जब इसके द्वारा हम आत्मा के परमतत्व को पा सकें।

ससार के सभी धर्मो मे तप का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा जरथुस्त्र ने १५ वर्ष तक, ईसा ने १८ वर्ष तक और हजरत मूसा ने भी कई वर्ष तक तप के माध्यम से सिद्धि को पाने का प्रयास किया। समूचा बौद्ध वाङ्मय तप के आख्यानो से भरा पडा है। चीन का ताओ धर्म, लाओत्जे जिसके प्रवर्तक थे, कठोर तप का पक्षपाती है। मुसलमानो मे रोजे, यहूदियो मे तपोनुष्ठान और वैदिक धर्म मे चान्द्रायण आदि अनेक तप-परम्पराए आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु भगवान महावीर यह मानते थे कि जब तक ज्ञानपूर्वक तप नही किया जायेगा, तब तक इससे वास्तविक लाभ नही हो सकता। विवेक और समता से प्रेरित होकर आत्मसिद्धि के लिए नियमित तप का पालन जिस साधक ने भी किया, उसने परमसिद्धि का अवश्य प्राप्त किया है। परन्तु, जब तक तप के पीछे मानापमान की भावना, कर्मकाण्ड का आग्रह और केवल देह को कष्ट देने की लालसा बनी रहेगी, तब तक इससे वास्तविक लाभ नही हो सकता।

भगवान् महावीर तप के अन्यतम साधक थे। जिस पैनी दृष्टि से उन्होने तप का विशद विश्लेषण किया है, मानवजाति उससे लाभ उठाये, यही कामना है।

०

समाधि-मरण

श्री सुरेशमुनि शास्त्री,

साहित्यरत्न



मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य

जगत् में जीवन है और जीवन के साथ मृत्यु। मृत्यु जीवन के आगे है, पीछे है, अगल-बगल है, चारों ओर है—सर्वत्र व्याप्त है। और जीवन है कि इस मृत्यु के सागर में कमल के फूल की भाँति खिला हुआ है।

जीवन जब नहीं रहता तो मृत्यु होती है, मरण होता है। मृत्यु आती है तो थल का विशालतम जन्तु हाथी भी न चल सकता है, न फिर सकता है। वह उठ भी नहीं सकता। उठने की शक्ति भी नहीं होती उसमें और न इच्छा ही होती है। जल में हाथी से कई गुना बड़ा जन्तु होता है ह्वेल। वह भी मृत्यु के विरुद्ध हाथी से अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जब मृत्यु आती है तो उसे भी मरना होता है, आगे के लिए चलना होता है। जंगल का राजा सिंह है। उसकी एक ही दहाड़ से समूचा वन—जंगल गूँज उठता है और जंगल का प्रत्येक जन्तु थर-थर काँपने लगता है। वह भी तीस-चालीस वर्ष से अधिक मृत्यु को दूर नहीं रख सकता। और तो और, मनुष्य है जो ह्वेल का शिकार करता है, सिंह को पिंजरे में डालता है, हाथी को पालता है, इशारे पर नचाता है। पर, वही मनुष्य एक दिन मृत्यु का ग्रास बन जाता है। मनुष्य ही क्या, स्वर्ग का अधिपति इन्द्र भी, एक दिन अपना सब कुछ परित्याग कर मृत्यु के मुख में समा जाता है। प्राणिमात्र मृत्यु के मुख का ग्रास है।

तो, यह एक निश्चित, स्पष्ट एवं प्रखर सत्य है कि मृत्यु दुर्निवार ही नहीं, अनिवार्य है, वह रोके रुक नहीं सकती। टाले टल नहीं सकती। जीवन के साथ ही व्यक्ति मृत्यु का वारण्ट लेकर आता है। अतः उसे यहाँ रहना नहीं, चलना है, जरूर चलना है। चन्द गिनती के दिन इस दुनिया की सराय में रह लेना है और फिर उठकर आगे की राह पकड़नी है। रहने का नाम जीवन है और चलने का नाम मरण।

जीना भी एक कला मरना भी एक कला

जीवन और मरण के इस सन्दर्भ में, मनुष्य का चिन्तनशील मन इस प्रश्न का समाधान माँगता है कि, क्या ऐसा भी कोई कारगर उपाय है, जिससे हम जीवन के मोल में भी पूरे उतर सकें और मरण के काँटे पर भी खरे उतर सकें? यानी किस ढंग से जिए और किस ढंग से मरें—जिससे जीवन का मूल्य भी मिले और मरण का शूल भी न चुभे। जीवन और मरण—दोनों ही हमारे लिए वरदान बन सकें।

जैन-संस्कृति अध्यात्म-संस्कृति है, यम-नियम-संयम की संस्कृति है, तप त्याग-विराग की संस्कृति है। यहाँ प्रत्येक बात इसी काँटे पर तुलती है। जैन-संस्कृति की दृष्टि में जीवन भी एक कला है और मरण भी एक कला है। जो व्यक्ति जीवन-मरण की उभय-कला में पारंगत है, निपुण है, वही जीवन का अमर कलाकार है। जैन संस्कृति जीने की कला भी सिखलाती है और मरने की कला भी बतलाती है। जैन-संस्कृति का जय-घोष है "जीने के ढंग से जिओ, मरने के ढंग से मरो, तो तुम्हारे दोनों हाथ लड्डू हैं—जीवन पर भी नियंत्रण और मरण पर भी नियंत्रण—



यहा भी जय और आगे भी जय—यहा भी मगल और आगे भी मगल ।

यो, जीना भी अपने-आप मे कोई महत्वपूर्ण नही और मरण का भी अपने आप मे कोई मौलिक मूल्य नही । जीवन और मरण का यह खेल तो अनन्त-काल से चलता ही रहा है। क्या मूल्य महत्व रहा, इस जीवन-मरण के अनन्त चक्र का ? अत कर्तव्य के लिए जीना है, कर्तव्य के लिए मरना है । सयम के लिए जीना है और सयम के-साधना के पथ पर अचल-अविचल भाव से चलते-चलते ही मरना है ! तप, त्याग, विराग, अहिंसा और सत्य की साधना के लिए जीना है, और जीवन की इन्ही साधना-पथ की उच्च भूमिकाओ की छाया मे हसते-मुस्कराते-प्रसन्न-भाव से आगे चलना है । आत्मा के बोध-परिबोध तथा शोध-परिशोध के लिए रहना है और आत्मा के सस्कार-परिष्कार तथा मार्जन शोधन करते हुए ही आगे चल देना है ! आत्म-पोपण तथा विकार-शोषण के लिए साधनामय जीवन जीना है और इसी आत्म साधना मे रत-निरत रहकर आगे की मजिल पर कूच कर जाना है।

यह जीवन-मरण तो एक खेल है और तुम खिलाडी हो ! जीवन के खेल को भी बाकेपन से, कलात्मक ढग से खेलो और मरण के खेल को भी शान से, ठाठ से खेलो ! न जीवन से चिपको और न मरण से डरो ! जिसे न जीवन की आसक्ति और न मरण की आकाक्षा, जीने की स्पृहा और न मरण का भय—वस्तुत उसका जीना ही जीना है और उसका मरण ही सच्चा मरण-समाधि-मरण है ।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए वि अणिस्सिओ !
जीविय नाभिकखेज्जा, मरण नो वि पत्थए !

समाधि-मरण की अर्थ-भावना

"समाधि और मरण ' इन दो शब्दो का मेल है—समाधि-मरण ! समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता, मन की शान्त-स्थिर वृत्ति और मरण का अर्थ है देह का परित्याग, शारीरिक ममत्व का परिहार ! मरण को निकट आया देखकर, अथवा किसी आकस्मिक जीवन-सकट के क्षणो में अनशन-पूर्वक देह-ममत्व तथा उपधि-जीवन की साधन-सामग्री का परित्याग करना ही समाधिमरण का मूलार्थ है ! साधक की अन्तरात्मा बोल उठती है-आहार, उपधि देह-सब का मै मन-वचन-काय से त्याग करता हू —

'आहारमुवहि देह,
सव्व तिविहेण वोसिरिअ ।"

—सथारपइन्ना, ७

इतना ही नही, वह जाग्रत साधक तो अपने-आपको, अपनी अन्तरात्मा को ससार के समस्त पापोसे विरत कर लेता है ! उसके तन का रोम–रोम, मन का कण–कण तथा जीवन का क्षण–क्षण बोल उठता है—भते ! हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप, कलह, अभ्याख्यान–मिथ्यादोपारोपण, पैशुन्य रति-अरति, पर-परिवाद, मायामृपा, मिथ्यात्व शल्य—ये अट्ठारह पाप-स्थान मोक्ष के मार्ग मे विघ्नरूप है, बाधक है । इतना ही नही, दुर्गति के कारण भी है ! अतएव मैं मन, वचन, शरीर से इन सभी पाप-स्थानो का परित्याग करता हू —

पाणाइवायमलिअ, चोरिक्क मेहूण दविणमुच्छ !
कोह माण, माय, लोह, पिज्ज तहा दोस ।।
कलह अब्भक्खाण, पेसुन्न रइ–अरइ-समाउत्त !
परपरिवाय माया–मोस मिच्छत्तसल्ल च ।।
वोसिरसु इमाइ, मुक्खमग्गससग्गविग्घभूआइ !
दुग्गइ-निबधणाइ, अट्ठारस पावठाणाइ ।।

—सथारपइन्ना, ८-९-१०

तो, यह प्रखर तथ्य सूर्य के प्रकाश की भांति उजागर एवं स्पष्ट है कि जब साधक जीवन की अन्तिम वेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में इधर-उधर के विक्षेप-विग्रह, माया-ममता, वैभव-विलास एवं लल्क-लालसा से पृथक् होकर अपनी स्वीकृत साधना, आत्म-मन्थन के प्रति एक रूप हो जाता है, और समस्त पाप-ताप-सन्ताप, समग्र आसक्ति-प्रीति से विमुक्त होकर अनशन-पूर्वक देहाध्यास एवं शरीर के मोह-ममत्व का परित्याग कर देता है, तो साधक-जीवन की उस उच्च, पुनीत एवं विशुद्ध स्थिति का नाम है समाधि-मरण। साधना की उस अन्त-र्मुख स्थिति में साधक परिवार, घर-बार, जड़-चेतन सभी पदार्थों से-आसक्ति-आकर्षण के धागे पूर्णतः विच्छिन्न कर लेता है। आत्मा, मन, प्राण—अपनी समग्र शक्ति को उस समत्वभावना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। उसे न इस लोक का मोह रहता है, और न ही अगली दुनिया का प्रलोभन आकर्षण शेष रहता है। सब ओर से सिमटकर वह तो आत्मा की विशुद्ध परिणति में रमण करता है। विशुद्ध चरित्र-आत्म-भाव में आत्मा के रमण करने का नाम ही तो समाधि-मरण का तात्त्विक मर्म है—

"अप्पा खलु सथारो, हवई विसुद्धचरित्तम्मि।"

वस्तुतः उस विशुद्ध आत्म-स्थिति में साधक सच्चा योगी, समत्व-योगी, ध्यान-योगी बन जाता है और उसके अन्तस्तल से यही ध्वनि निकलती है—

"एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ।।
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंध, सव्वं तिविहेण वोसिरिअ।
—संथारपइन्ना,

—साधक अपनी आत्मा को बोधता है कि, मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है, और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूं।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से सम्पन्न मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं।

और, जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःख भोगे हैं, वह सब इन पदार्थों के संयोग के कारण ही भोगे हैं। अतः, मैं इस संयोग-सम्बन्ध का मन-वचन-तन से परित्याग करता हूं।

समाधि-मरण का मूल दृष्टि-बिन्दु

मृत्यु के आ उपस्थित होने से पूर्व ही, अपनी स्वतंत्र इच्छा से, सज्ञान अवस्था में संसार का त्याग-परित्याग करने के लिए उद्यत हो जाना वस्तुतः आत्म-शौर्य का लक्षण है। यों तो त्याग और निवृत्ति जीवन में अवश्यम्भावी है। हम त्याग नहीं करेंगे, तो मृत्यु हमसे छुड़ा देगी। हम यहां से नहीं हटेंगे, मृत्यु हमें धक्का मार कर परे कर देगी। संसार में ऐसा होता आया है, ऐसा हो रहा है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय, पराये घर को स्वयं छोड़ देने और कान पकड़कर निकाले जाने में क्या अन्तर नहीं है? परिणाम एक ही है—पर घर का त्याग, सराय का छोड़ना। किन्तु इस परिणाम को जैनसंस्कृति की वरिष्ठ—श्रेष्ठ विचार-परम्परा ने कितना लोक-मंगलकारी, आत्म-हितावह एवं सुखप्रद बना दिया है—समाधिमरण की अध्यात्म-साधना के द्वारा?

और भी स्पष्ट भाषा में दोहरा दूं तो, यह जानते हुए भी कि, जीवन में कूच का डंका एक दिन बजना ही है, तो हम पचास-साठ, अथवा सत्तर-अस्सी वर्ष के जीवन में स्वयं बोरी-बिस्तर बांधकर पहले से ही उद्यत रहें, तैयारी





करें अथवा तब तक बैठे रहे जब तक कोई हमे घसीटकर आगे फेक न दे ? यह एक विचारणीय प्रश्न खडा है, मानव-जीवन के चौराहे पर और सहस्र मुख होकर माग रहा है अपना समुचित समाधान। जो व्यक्ति इस प्रतीक्षा मे बैठा रहता है कि, कोई आकर उसे बाहर धक्का देकर निकाले, वह परले सिरे का ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, अडियल होगा दूरदर्शी अथवा बुद्धिमान् तो वह कदापि नही होगा वास्तव मे !

समाधि-मरण, को सयम, तप, त्याग, का रूप देने वाले जैन-सस्कृति के वरिष्ठ विधायको ने इस तथ्य को हृदयगम तथा स्वीकार कर लिया था कि—यहाँ से चलना तो है—आज नही तो कल और कल नही तो परसो ! जब चलना ही है, जब कूच की भेरी बजनी ही है, तब यह कहा की बुद्धिमत्ता तथा कौशल है कि, पीछे से कोडा या हण्टर ही लगे, तब चलें—स्वय अपने-आप हिलने, उठने, चलने का नाम ही न लें।

समाधि-मरण की स्थिति विवश होकर ससार का त्याग परित्याग करना नही, प्रत्युत सज्ञान अवस्था मे आन्तरिक प्रसन्न एव स्वतन्त्र इच्छा से, जीवन का सिरा निकटतम आया जानकर, ससार की आसक्ति, शारीरिक ममता, पारिवारिक मोह तथा सुख-भोग के जाल-जजाल की जड को सदा सर्वदा के लिए काट देना है। यह भयभीत होकर ससार से पलायन करना नही, प्रत्युत दृढ साहस, आत्म-शौर्य तथा स्वतत्र इच्छा-पूर्वक जिन्दगी की मजिल पर चलना है, मुक्ति-पथ का यह एक स्वतन्त्र अभियान है ! पडाव को घर बनाकर बैठे रहना नही, प्रत्युत एक पडाव से दूसरे पडाव को चलने के लिए प्रसन्न-भाव से कटिबद्ध होना है ! जो चीज होनी ही है, वह यदि हमारी स्वतन्त्र इच्छा से हो, इसमे कितना आनन्द तथा उल्लास है ? जब ससार छूटना ही है, तो वह हमारी आन्तरिक इच्छा से ही क्यो न छूटे ? यदि लाख प्रयास करने पर कोई इस विश्व-मच पर जमा रहता, तब तो इससे चिपटे रहने का विचार ठीक भी था। किन्तु, जब यह असम्भव—नितान्त असम्भव है तब क्यो न वह कार्य स्वय आनन्दात्मक स्थिति मे किया जाए ! तप, सयम, शान्ति तथा समाधि के परम लाभ से फिर वचित क्यो रहा जाए ? समाधि-मरण की उच्च उज्ज्वल परम्परा की पृष्ठ भूमि मे यही जीवन का सर्वोपरि दृष्टिबिन्दु अन्तर्निहित है !

> **एव नाणेण चरणेण, दसणेण तवेण य !**
> **भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्म भावेत्तु अप्पय ॥**
> **बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया !**
> **मासिएण उ भत्तेण, सिद्धिं पत्तो अणुत्तर !**
>
> —उत्तरा०, १६।६४-६५

और, समाधि-मरण की यह उच्च स्थिति तात्कालिक एव आकस्मिक नही है और न यह स्थिति एकदम अधिगत की ही जा सकती है। साधक का यह दृष्टिबिन्दु साधना के उषाकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है ! और साधना की परिपक्वता के साथ-साथ यह मनोभाव हृदय की भाव-भूमि मे गहरी जड पकडता जाता है ! समाधि-मरण वस्तुत साधक के अन्तर्मन की चिर-पोषित साध की मगल-पूर्ति अथवा पूर्णाहुति है ! जीवन-पर्यन्त साय-प्रात भक्ति-भाव तथा अध्यात्म-रस मे भाव-विभोर होकर प्रभु-चरणो मे वह यही तो भावना-उद्भावना करता रहा है—हे त्रिलोक वन्धु जिन देव, आपकी चरण-शरण मे मेरे दुखो का क्षय, कर्मों का क्षय, समाधि-मरण तथा बोधि की प्राप्ति हो —

> **"दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरण च बोहिलाहो य।**
> **मम होउ तिजगबधव तव जिणवर चरणसरणेण ॥**

समाधि-मरण-मृत्यु को एक महान चुनौती

को सन्निकट-सम्मुख आया देखकर साधक अपने वज्र स्वर मे वोल उठता है-ऐ मौत ! आ, तेरा स्वागत है, प्रसन्न-भाव से स्वागत है । इस जीवन के मोर्चे पर मैं एक धर्म-युद्ध का सेनानी वन कर अपनी इन्द्रियो, मन और जीवन के विचारो से निरन्तर लडा हू । अहिंसा, सत्य, क्षमा, शील, सन्तोप की धर्म-साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप मे चला हू और मानव-जीवन के इस स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है । आत्म-साधना के नाम पर वहुत-कुछ कर लिया है, अव शेष कार्य आगे की मजिल मे करेंगे—अगले पडाव पर चलकर हम फिर अपनी ज्ञान और धर्म, त्याग-वैराग्य की धूनी रमाएगे । जीवन का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया ही है, अव मन की प्रसन्नधारा तथा जीवन के सयत क्षणो मे तेरा स्वागत करके तुझसे लाभ उठाएगे—तेरे आगे झुकेंगे नही, तुझे ही अपने आगे झुकाएगे । तेरा पजा हमे डरा नही सकता, दवा नही मकता । हमारा पग तो क्या, एक रोम भी लडखडा गडवडा नही सकता । हम साधक है, साधना मे रम है हमे ! तेरे आने से पहले साधना का मार्ग बहुत-कुछ तय कर लिया है ! तेरे आने पर भी हम त्याग विराग, तप-ध्यान की साधना मे रत हैं और जीवन की अन्तिम सास तक हम अपनी इस आत्म-साधना मे व्यस्त-मस्त रहेगे ! उठ, तू अपना काम कर, हम अपना काम करेंगे । तू आश्चर्य दृष्टि से देखेगी और हम अपनी साधना की मस्ती में झूमेगे—चेहरे से ही नही, अन्तरात्मा से, मन से, रोम-रोम मे हम मुस्कराएगे—अपने जीवन की सफलता और तेरे आगमन की खुशिया मनाएगे । ऐ मौत आ, हम तेरा भी जश्न (उत्सव) मनाएगे । न हम जीवन के लिए ललचाएगे और न भयभीत होकर तेरे आगे जीने के लिए गिडगिडाएगे । हम तो अपने वज्र सकल्प, त्याग-निष्ठा से तुझे भी हत-प्रभ वनाएगे और अन्तर्मन की प्रसन्न-मस्त लहरो मे झूम-झूमकर अपनी आत्म-मस्ती का वही अपना चिर-परिचित आत्म-सगीत दोहराएगे —

> **"देह विनासी, मैं अविनासी, अपनी गति पकरेंगे ।**
> **नासी जासी मैं थिरवासी, चोखे ह्वै निरखेंगे ।**
> **अब हम अमर भये न मरेंगे ।।"**

शाइराना रतन्नुम मे भी उसका दिल यो झूम उठता है —

> **"मरने की दुआए क्यो मागू-जीने की तमन्ना कौन करे ?**
> **यह दुनिया हो या वोह दुनिया, अव ख्वाहिशे-दुनिया कौन करे ?**
> **दुनिया ने हमे छोडा जज्वी, हम छोड न दें क्यो दुनिया को ?**
> **दुनिया को समझ कर वैठें हैं, अव दुनिया-दुनिया कौन करे ?"**

साधक ही जीवन का आनन्द लूटता है

जीवन के अन्तिम चरण मे "समाधिमरण" की भाव-भूमि पर दृढ भाव से पडा आत्म-साधक ही वस्तुत जीवन का सच्चा आनन्द लूटता है ! और स्पष्टतर भाषा मे कह दू, तो साधक जीवन का तो आनन्द लूटता ही है, वह समाधि-भाव, त्याग-विराग, एव सयम-तप की साधना मे लीन-तल्लीन रहकर मृत्यु की घडियो मे भी वास्तविक आनन्द की अनुरति का रसास्वादन करता है ! उसका जागरूक तथा चिन्तनशील मन सोचता है—जव वरबस एक दिन सव कुछ छोडना ही है तो फिर अपनी स्वतत्र इच्छा से प्रसन्न-भावकी तरग मे ससार के मोह, शरीर की ममता, और जीवन-मरण की आसक्ति के जाल को मूलत उच्छिन्न करके त्याग-तप की मस्ती का मजा क्यो न लूटें ? समाधि-मरण के मस्त मगल क्षणो मे साधक इसी समाधि-भाव और आत्म-मस्ती के सच्चे आनन्द का उपभोग करता है, सुख-चैन की वसी वजाता है । मृत्यु के आने पर दु ख का काटा चुभ ही नही पाता । जीवन मे दु ख सारा मोह-ममता तथा आसक्ति का ही तो है । और अपने अन्तस्तल से इस मोह-ममता तथा भोगाकाक्षा के काटे को पहले ही निकाल फेंकता है । अपने अन्तर्जगत् की भाव-भूमि मे से ममता-तवता के वह सव विप-दन्त उखाड डालता है और जीवन की निर्द्वन्द्व-निर्मम स्थिति मे आत्म-समाधि के अक्षय-अनुपम आनन्द का साक्षात्कार करता है । जीवन-मरण के प्रति निरीह-अनासक्त रहकर आनन्द के झूले पर झूलता है ।



मरकर तो ससार छोडना ही पडता है । हर कोई छोडता ही है । पर, समाधि-शान्ति के क्षणो मे रमण



करने वाला साधक तो जीते-जी ही 'मरण' का मजा लूटता है और पल्ला झाडकर दुनिया से मुह मोडने तथा काया के पिंजरे को छोडने के लिए प्रसन्नतापूर्वक उद्यत, कटिबद्ध हो जाता है। मरण-वेला मे भी साधना-समाधि के रस मे गहरा डूब जाता है। बात भी ठीक है। मृत्युरूपी कल्पवृक्ष के उपस्थित होने पर जिसने आत्म-हित का साधन न किया, वह जन्म के कीचड में फसा हुआ बाद मे भला क्या करेगा ?

> "मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधित ।
> निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात्किं करिष्यति ?"
>
> — आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

मोह-ग्रस्त अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु को सामने आया देखकर त्रास खाता है, गिडगिडाता है, रोता है, आसू बहाता है, परन्तु त्यागी, विरक्त, ज्ञानी साधक मृत्यु के आने पर भी हर्ष-विभोर हो उठता है। आनन्द की मस्ती मे झूम जाता है। वह मृत्यु से डरे और लडखडाए भी क्यो ? डरेगा वह, जिसने अन्धकार मे जीवन गुजारा है। रोएगा वह, जिसने जिन्दगी का दीवाला निकाला है। गिडगिडाएगा वह, जिसका चित्त ससार की मोह-ममता मे आसक्त है। जो अपना जीवन प्रकाश मे लेकर चला है, जो पग-पग पर सभल कर साधना के मार्ग पर चला है, जिसने जीवन मे त्याग, विराग, सयम, तप, धर्म-साधना भक्ति और ज्ञान की भरपूर कमाई की है, जीवन को आत्म-ऐश्वर्य से समृद्ध बनाया है, वह तो मृत्यु को देखकर भी प्रसन्नता से नाच उठता है, मुदित-मुग्ध हो जाता है उसका मन—

> "ससारासक्तचित्ताना, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
> मोदायते पुन सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम् ।।"
>
> —समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

"समाधि-मरण" आत्म-हत्या नही, आत्म-सजीवन है

जैन-सस्कृति का जीवन के सम्बन्ध मे यह तथ्य-पूर्ण विचार रहा है कि, मानव-जीवन एक अमूल्य थाती है। आत्म-उत्कर्ष एव जीवनविकास की सर्वोच्च परिणति के लिए यह अमूल्य-अलभ्य एव स्वर्णिम अवसर है। मनुष्य को जीवन जीने के लिए मिला है। अत जिओ, आनन्द-पूर्वक जिओ, पूरा जीवन जिओ। उच्च आदर्शों के लिए, यम-नियम-सयम तथा त्याग विराग तप के अनुष्ठान के लिए जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण का उपयोग करो। समग्र जीवन जीने का तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मरने की जल्दी मत करो। जल्दी मरकर लेना भी क्या है ? यो ही मरने से हाथ भी क्या आता है ? जहर की पुडिया लेकर, पर्वत-शिखर अथवा किसी मीनार से छलाग लगाकर, नदी, नाले, कूप, अग्नि-कुण्ड मे कूदकर, गले मे फासी लगाकर जीवन को होम देना, समाप्त कर देना अपने आप मे धर्म नही, अधम है, कोरा अधर्म है, एक महान पाप है।

किन्तु, मरण-वेला अथवा धर्म-सकट के आने पर धर्म की शरण ले लेना, आत्मनिष्ठा एव धार्मिक आस्था के साथ अनशनपूर्वक देह का त्याग कर देना, ससार की ममता, मूर्च्छा का परित्याग कर देना अपने आप मे धर्म है, एकान्त धर्म है, शाश्वत धर्म है। वह अपने आपमे हत्या नही, प्रत्युत एक उज्ज्वल समुज्ज्वल त्यागनिष्ठा का प्रतीक है। और इसीलिए वह साधकजीवन के लिए स्पृहणीय अथ च अभीष्ट है।

कुछ विचारको को साधनामय जीवन के प्रतीक स्वरूप इस समाधिमरण की भावना मे से आत्महत्या की बू आती है। उनकी दृष्टि मे यह शरीर के प्रति अन्याय एव बलात्कार है, आत्म-पीडन तथा आत्महनन है। किन्तु गहराई से विचार करने पर उनका यह विचार नितान्त भ्रामक एव अतात्विक ही प्रतीत होगा। जैनसस्कृति के महान उन्नायको की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि आत्महत्या महापाप है, एक अविचारपूर्ण एव जघन्य कर्म है। परहत्या की भाँति आत्महत्या भी कोरा अधम है, नरक की राह है। आत्महत्या करना जीवन से पलायन करना है, भागना है। आत्मघाती कोरी भावनाओ के लोक मे मनन करना है। वह जीवन के यथार्थ की ओर खुली आखो से नही

देखता। साधक तो न जीवन की आकाक्षा करता है और न मरने की कामना करता है । वह जीवन और मरण दोनो मे ही आसक्ति नही रखता —

> "जीविय नाभिकखेज्जा मरण नो वि पत्थए ।
> दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा ॥
>
> —आचाराग, १।८।८।४

भला जीवन-मरण के प्रति जिस सस्कृति की यह प्रशस्त प्रेरणा एव दिव्य धारणा रही है, वह समाधिमरण के माध्यम से आत्म-हत्या का विधान कैसे कर सकती है ? समाधिमरण की पृष्ठभूमि मे आत्म घात, का कोई कारण भी तो दृष्टिगोचर नही होता । जिस व्यक्ति ने जीवन मे कोई बडा अपराध किया हो, बलात्कार किया हो, दूसरो का घात किया हो, जिसकी प्रतिष्ठा तथा व्यक्तित्व पर कोई दाग धब्बा लग गया हो, महत्वाकाक्षाओ पर तुषारपात होने के कारण जो जीवन मे पूर्णत निराश-हताश हो गया हो, वह आत्म-हत्या कर बैठता है । अतिशय महत्वाकाक्षी, अत्यन्त परिग्रही तथा निपट मूर्ख व्यक्ति भी आत्म-घात के कगार पर पहुच जाते हैं । सुख-स्वप्नो की अतिशय कामना की पूर्ति न होने तथा दरिद्रता के भार को न ढो सकने के कारण भी मनुष्य आत्म-हत्या के कूल पर आ खडा होता है । उनकी मानसिक वेदना इतनी तीव्रतम होती है कि उनमे साम का बोझ एक पल को ढोते नही बनता ।

समाधि-मरण' की परम-पुनीत साधना-परम्परा के मूल मे तो उपर्युक्त कारणो मे से एक भी कारण उपलब्ध नही होता । वह अपने आप मे अपराधी नही होता । वह तो अपराधो की जड को ही काट देता है । वहा जीवन अथवा भविष्य के प्रति निराशा नही होती । वहा तो साधक के अन्तमन मे प्रतिक्षण आशा का प्रकाश जगमगाता है । उसके मानस-नेत्रो के समक्ष असफलता नही, प्रत्युत सफलता नाच रही होती है । वह जीवन का भार नही ढोता, किन्तु जीवन को कर्तव्य एव दायित्वपूर्ण स्थिति समझकर जीने के ढग से जीता है । वह मरने की जल्दी मे भी नही होता । वह तो जीवन और मरण के बीच के झूले पर आनन्द मे झूलता है ।

यह ठीक है कि "समाधि-मरण" मे कायक्लेश की उग्रता तो अवश्य होती है । शारीरिक कष्ट तो अपने-आप ही प्रतीत होता है उस मे । किन्तु, वह कष्ट भी आत्मा का कष्ट मिटाने, भावी जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से महाफलदायी है

> 'देहदुक्खमहाफल" । —दशवैकालिक, ८

वस्तुत भावी आत्म-सुख की उपलब्धि की लीनता मे वर्तमान दुख भूल जाता है, वह उस दुख को भी अपने आत्म-विवेक से सुख रूप मे परिणत कर लेता है । उसका दैहिक कष्ट भी अध्यात्म दृष्टि के कारण सयम-त्याग-तप का रूप पकड लेता है । जैसे वैद्य अथवा डाक्टर के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद — फोडे का आपरेशन पीडाकारी होते हुए भी आरोग्य का निमित्त होने से निर्दोष होता है, वैसे ही सयम एव धर्म के हेतु की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है —

> "सजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसव होइ ।
> जह आरोग्गणिमित्त, गडच्छेदो व विज्जस्स ॥
>
> —बृह० भा० ३९५१



"समाधि-मरण' की धर्म-साधना अथवा दैहिक पीडा मरने के लिए नही, प्रत्युत मरण का रोग मिटाने के लिए प्रसन्न एव स्वतत्र मनोभाव से की जाती है, अत वह एकान्त धर्मरूप है, सयम रूप है, त्याग रूप है । भला कोई फोडे का आपरेशन कराने की पीडा मरने के लिए सहन करता है ? फोडे की पीडा मिटाना तथा सुख-शान्ति प्राप्त करना ही वहा व्यक्ति का एक मात्र उद्देश्य होता है — अत वह पीडा और दुख भी सुख रूप ही है —



करने वाला साधक तो जीते-जी ही 'मरण' का मजा लूटता है और पल्ला झाडकर दुनिया से मुह मोडने तथा काया के पिंजरे को छोडने के लिए प्रसन्नतापूर्वक उद्यत, कटिबद्ध हो जाता है ! मरण-वेला मे भी साधना-समाधि के रस मे गहरा डूब जाता है ! बात भी ठीक है। मृत्युरूपी कल्पवृक्ष के उपस्थित होने पर जिसने आत्म-हित का साधन न किया, वह जन्म के कीचड मे फसा हुआ बाद मे भला क्या करेगा ?

"मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधित ।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात्कि करिष्यति ?"

— आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

मोह-ग्रस्त अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु को सामने आया देखकर त्रास खाता है, गिडगिडाता है, रोता है, आसू बहाता है, परन्तु त्यागी, विरक्त, ज्ञानी साधक मृत्यु के आने पर भी हर्ष-विभोर हो उठता है। आनन्द की मस्ती मे झूम जाता है ! वह मृत्यु से डरे और लडखडाए भी क्यो ? डरेगा वह, जिसने अन्धकार मे जीवन गुजारा है ! रोएगा वह, जिसने जिन्दगी का दीवाला निकाला है। गिडगिडाएगा वह, जिसका चित्त ससार की मोह-ममता मे आसक्त है। जो अपना जीवन प्रकाश मे लेकर चला है, जो पग-पग पर सभल कर साधना के मार्ग पर चला है, जिसने जीवन मे त्याग, विराग, सयम, तप, धर्म-साधना भक्ति और ज्ञान की भरपूर कमाई की है, जीवन को आत्म-ऐश्वर्य से समृद्ध बनाया है, वह तो मृत्यु को देखकर भी प्रसन्नता से नाच उठता है, मुदित-मुग्ध हो जाता है उसका मन—

"ससारासक्तचित्ताना, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम् ।।"

—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

"समाधि-मरण" आत्म-हत्या नहीं, आत्म-सजीवन है

जैन-सस्कृति का जीवन के सम्बन्ध मे यह तथ्य-पूर्ण विचार रहा है कि, मानव-जीवन एक अमूल्य थाती है। आत्म-उत्कर्ष एव जीवनविकास की सर्वोच्च परिणति के लिए यह अमूल्य-अलभ्य एव स्वर्णिम अवसर है । मनुष्य को जीवन जीने के लिए मिला है। अत जिओ, आनन्द-पूर्वक जिओ, पूरा जीवन जिओ । उच्च आदर्शों के लिए, यम-नियम-सयम तथा त्याग विराग तप के अनुष्ठान के लिए जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण का उपयोग करो ! समग्र जीवन जीने का तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है । मरने की जल्दी मत करो। जल्दी मरकर लेना भी क्या है ? यो ही मरने मे हाथ भी क्या आता है ? जहर की पुडिया लेकर, पर्वत-शिखर अथवा किसी मीनार से छलाग लगाकर, नदी, नाले, कूप, अग्नि-कुण्ड मे कूदकर, गले मे फासी लगाकर जीवन को होम देना, समाप्त कर देना अपने आप मे धर्म नहीं, अधर्म है, कोरा अधर्म है, एक महान पाप है।

किन्तु, मरण-वेला अथवा धर्म-सकट के आने पर धर्म की शरण ले लेना, आत्मनिष्ठा एव धार्मिक आस्था के साथ समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देना, ससार की ममता, मूर्च्छा का परित्याग कर देना अपने आप मे धर्म है, एकान्त धर्म है, शाश्वत धर्म है। वह अपने आपमे हत्या नही, प्रत्युत एक उज्ज्वल समुज्ज्वल त्यागनिष्ठा का प्रतीक है। और इसीलिए वह साधकजीवन के लिए स्पृहणीय अथ च अभीष्ट है।

कुछ विचारको का साधनामय जीवन के प्रतीक स्वरूप इस समाधिमरण की भावना मे से आत्महत्या की बू आती है। उनकी दृष्टि मे यह शरीर के प्रति अन्याय एव बलात्कार है, आत्म-पीडन तथा आत्महनन है। किन्तु गहराई से विचार करने पर उनका यह विचार नितान्त भ्रामक एव अतात्विक ही प्रतीत होगा। जैनसस्कृति के महान उन्नायको की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि आत्महत्या महापाप है, एक अविचारपूर्ण एव जघन्य कर्म है । परहत्या की भाँति आत्महत्या भी कोरा अधर्म है, नरक की राह है । आत्महत्या करना जीवन से पलायन करना है, भागना है। आत्मघाती कोरी भावनाओ के लोक मे सचरण करना है। वह जीवन के यथार्थ की ओर खुली आखो से नही

देखता। साधक तो न जीवन की आकाक्षा करता है और न मरने की कामना करता है। वह जीवन और मरण दोनो मे ही आसक्ति नही रखता —

> "जीविय नाभिकखेज्जा मरण नो वि पत्थए।
> दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा ॥
>
> —आचाराग, १।८।८।४

भला जीवन-मरण के प्रति जिस सस्कृति की यह प्रशस्त प्रेरणा एव दिव्य धारणा रही है, वह समाधिमरण के माध्यम से आत्म-हत्या का विधान कैसे कर सकती है? समाधिमरण की पृष्ठभूमि मे आत्म घात, का कोई कारण भी तो दृष्टिगोचर नही होता। जिस व्यक्ति ने जीवन मे कोई बडा अपराध किया हो, बलात्कार किया हो, दूसरो का घात किया हो, जिसकी प्रतिष्ठा तथा व्यक्तित्व पर कोई दाग धब्बा लग गया हो, महत्वाकाक्षाओ पर तुषारपात होने के कारण जो जीवन मे पूर्णत निराश-हताश हो गया हो, वह आत्म-हत्या कर बैठता है। अतिशय महत्वाकाक्षी, अत्यन्त परिग्रही तथा निपट मूर्ख व्यक्ति भी आत्म-घात के कगार पर पहुच जाते हैं। सुख-स्वप्नो की अतिशय कामना की पूर्ति न होने तथा दरिद्रता के भार को न ढो सकने के कारण भी मनुष्य आत्म-हत्या के कूल पर आ खडा होता है। उनकी मानसिक वेदना इतनी तीव्रतम होती है कि उनसे सास का बोझ एक पल को टाने नही बनता।

समाधि-मरण' की परम-पुनीत साधना-परम्परा के मूल मे तो उपर्युक्त कारणो मे से एक भी कारण उपलब्ध नही होता। वह अपने आप मे अपराधी नही होता। वह तो अपराधो की जड का ही काट देता है। वहा जीवन अथवा भविष्य के प्रति निराशा नही होती। वहा तो साधक के अन्तमन मे प्रतिक्षण आशा का प्रकाश जगमगाता है। उसके मानस-नेत्रो के समक्ष असफलता नही, प्रत्युत सफलता नाच रही होती है। वह जीवन का भार नही ढोता, किन्तु जीवन को कर्तव्य एव दायित्वपूर्ण स्थिति समझकर जीने के ढग से जीता है। वह मरने की जल्दी मे भी नही होता। वह तो जीवन और मरण के बीच के झूले पर आनन्द मे झूलता है।

यह ठीक है कि "समाधि मरण" मे कायक्लेश की उग्रता तो अवश्य होती है। शारीरिक कष्ट तो अपने-आप ही प्रतीत होता है उस मे। किन्तु, वह कष्ट भी आत्मा का कष्ट मिटाने, भावी जीवन को सुखमय बनाने की दृष्टि से महाफलदायी है

'देहदुक्खमहाफल"। —दशवैकालिक, ८

वस्तुत भावी आत्म-सुख की उपलब्धि की लीनता मे वर्तमान दु ख भूल जाता है, वह उस दु ख को भी अपने आत्म-विवेक मे सुख रूप मे परिणत कर लेता है। उसका दैहिक कष्ट भी अध्यात्म दृष्टि के कारण सयम-त्याग-तप का रूप पकड लेता है। जैसे वैद्य अथवा डाक्टर के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद — फोडे का आपरेशन पीडाकारी होते हुए भी आरोग्य का निमित्त होने मे निर्दोष होता है, वैसे ही सयम एव धर्म के हेतु की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है —

> **"सजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसव होइ।**
> **जह आरोग्गणिमित्त, गडच्छेदो व विज्जस्स ॥**
>
> —वृह० भा० ३९५१

"समाधि-मरण' की धर्म-साधना अथवा दैहिक पीडा मरने के लिए नही, प्रत्युत मरण का राग मिटाने के लिए प्रसन्न एव स्वतत्र मनोभाव से की जाती है, अत वह एकान्त धर्मरूप है, सयम रूप है, त्याग रूप है। भला कोई फोडे का आपरेशन कराने की पीडा मरने के लिए सहन करता है? फोडे की पीडा मिटाना तथा सुख-शान्ति प्राप्त करना ही वहा व्यक्ति का एक मात्र उद्देश्य होता है — अत वह पीडा और दु ख भी सुख रूप ही है —



मरणपडियारभूआ एसा, एव च ण मरणणिमित्ता ।
जह गडच्छेअकिरिआ, णो आयविराहणारूवा ॥

—द० औ० चि० ख० १

और फिर, "समाधि मरण" की साधना मे अन्तलीन साधक तथा आत्मघाती विराधक की जीवन-धारा, भावना, दृष्टि तथा लक्ष्यविन्दु मे तो आकाश-पाताल का-सा अन्तर होता है । "समाधिमरण" की वेला मे साधना की अध्यात्म-दृष्टि तथा अन्तर्भावना इतनी निमल एव विशुद्ध होती है कि त्याग-तप एव विशुद्ध आत्म-परिणति के द्वारा वहा साधक की आत्मा का मैल कटता-छटता है, अन्तर्जीवन प्रति-क्षण उज्ज्वल निर्मल होने लगता है, इधर-उधर के समस्त विकल्पो तथा समस्त सम्बन्ध बन्धनो से विमुक्त होता है । गहरी आत्म-समाधि की भाषा मे साधक सोचता है-मै विशुद्ध स्वरूप ही हू । शेप अन्य पर है, पराये है ! यह विशुद्ध आत्म निष्ठा मोह की जटिल ग्रन्थि को खोलती चलती है । सचमुच उस स्थिति मे साधक शरीर, उपधि, ससार, वैभव-ऐश्वर्य से पूर्णत निर्मोह हो गया होता है। अत "समाधिमरण" विशुद्ध आत्म-योग है, विशुद्ध-सयम-योग है, सर्वथा शुद्ध ध्यान-योग है—वीतराग परिणति की पराकाष्ठा है यह ।

इसके विपरीत, आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति की मन-स्थिति परिस्थिति गहरे-घने मोह की होती है ! आत एव रौद्र परिणति के कारण वह क्रूर कर्मों का बन्धन अपने ऊपर डाल लेता है । वहा तो जीवन की, ससार की, एकान्त आसक्ति ही आसक्ति है । समाधिमरण मे आत्म-स्वरूप का दिव्य प्रकाश है, तो आत्म-हत्या मे मोह-ममता का गहन अन्धकार है ! समाधिमरण आत्म-जीवन है, सद्गति का कारण है, तो आत्मघात जीवन का विनाश है, सद्वृत्तियो का पूर्णत ह्रास है, दुर्गति का विधायक है । समाधिमरण आत्म सजीवन है, तो आत्महत्या आत्म-पीडन है । समाधि-मरण अमृत है तो आत्महत्या हलाहल विष है । समाधिमरण अपने बल, वीर्य, धृति तथा पुरुषार्थ का मोक्ष-अभियान के लिए अधिक से अधिक सदुपयोग है, तो आत्महत्या जीवन की समस्त शक्तियो का एक साथ दुरुपयोग है ।

समाधि-मरण साधनामय जीवन का एक सफल परीक्षण

सक्षेप मे, "समाधिमरण" धर्म-प्राण साधक के जीवन का एक सफल परीक्षण है । साधक-सिंह की यह अपनी देह पर विजय है, इन्द्रियो पर विजय है, मन पर विजय है, आसक्तिमूलक समस्त विकार-वासनाओ पर विजय है । आत्मा पर विजय है, इस लोक पर विजय है, परलोक पर विजय है । साधनामय जीवन का यह एक वीरतापूर्ण मुक्ति-अभियान है । साधक की दृष्टि मे यह मृत्यु नही मृत्यु के प्रति एक विजय-अभियान है, एक नए जीवन का आह्वान है । मृत्यु को भी जीवन के रूप मे परिवर्तित करने की एक धर्म-यात्रा है । शायरी की भाषा मे यह तो साधक के लिए मौत मे भी जिन्दगी का पैगाम है । भाव विभोर होकर साधक का रोम-रोम गा उठता है —

"मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना ।
हमे तो मौत मे भी जिन्दगी मालूम देती है ॥
मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है ।
मौत से डरना-डराना कायरो का काम है ॥

●

जैनदर्शन में नीतिशास्त्र

श्रुतिशील शर्मा

एम० ए० शास्त्री, तर्कशिरोमणि



'दृश् दर्शने'—धातु से सिद्ध हुए दर्शन शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। व्यापक इस दृष्टि से कि इसमें प्रायः सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश हो जाता है। इसलिए प्राचीन दार्शनिक परिभाषा में सभी ज्ञान-विज्ञानों को दर्शन कहा गया है। "दर्शन" का वास्तविक अर्थ है "सत्यतत्त्व का साक्षात्कार।" मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं से अलग होकर एक ऐसे तत्त्व की शरण में जाना चाहता है, जहाँ उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो। इसी उत्कृष्ट भावना एवं शाश्वत सुख-प्राप्ति की अभिलाषा ने दर्शन को जन्म दिया। यही आगे चलकर एक पृथक् शास्त्र बन गया। इस शास्त्र में मनविषयक, आचारविषयक आदि सभी ज्ञानों का समावेश होता था, पर आगे चलकर जब इन विषयों पर पृथक् पृथक् रूप से विस्तृत विचार किया जाने लगा, तो इस दर्शनशास्त्र की शाखायें भी विभिन्न हो गई। मन सम्बन्धी बातों का विचार मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाने लगा, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातों का विचार अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के अन्तर्गत होने लगा, इसी प्रकार आचार या व्यवहार का विचार आचारशास्त्र के अन्तर्गत होने लगा। यही आचारशास्त्र दार्शनिक परिभाषा में "नीतिशास्त्र" कहा जाता है, अंग्रेजी में इसके लिए "ईथिक्स" (Ethics) शब्द है। प्रायः हर धर्म या दर्शन के अन्दर इस शास्त्र का अपना प्रधान स्थान होता है, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस शास्त्र के बिना किसी दर्शन को खड़ा करना बिना नींव के महल खड़ा करने के समान है। अतः जिस धर्म में यह शास्त्र जितना विशाल होगा, उतना ही वह धर्म दृढ़मूल होगा।

जैन दार्शनिक इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे, इसीलिए इस शास्त्र पर उन्होंने अत्यधिक जोर दिया। विशेषतः जैन और बौद्धदर्शन में आचारशास्त्र का बहुत वर्णन है। जैन का अध्यात्मवाद भी नीतिशास्त्र से प्रभावित है। डॉ० राधाकृष्णन् अपने ग्रंथ में लिखते हैं—

In metaphysics Jainism is opposed to all theories which do not emphasis ethical responsibilities[1]

मनुष्य के स्वतंत्र कर्तृत्व में नीतिशास्त्र का अपना एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। मनुष्य हर तरह के कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, भाग्य मनुष्य का निर्माता नहीं। परमात्मा के द्वारा संसार की उत्पत्ति अथवा प्रकृति के अन्दर से संसार का विकास अथवा इस संसार के विनाश आदि सिद्धान्तों पर जैन दार्शनिकों ने इसी कारण खण्डनात्मक टीका की है कि यह सभी विषय भाग्यवाद पर ही निर्भर रहते हैं। जैननीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य दुःखों से मुक्ति पाना ही है। जिन पदार्थों से दुःख की निवृत्ति नहीं होती, जैननीतिशास्त्र की दृष्टि से उन पदार्थों का कोई मूल्य नहीं। यह प्रकृति अथवा परमात्मा मनुष्यों के दुःखों का निवारण नहीं कर सकते, इसीलिए जैननीतिशास्त्र में इनका कोई महत्त्व नहीं।[2] इस संसार में कोई गरीब है, दुःखी है तो कोई धनी है, सुखी है, इस प्रकार संसार में

१ Indian Philosophy Ist Vol P 317

२ सूत्रकृतांग—१।१।३।५-६



विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है अत यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्व ने पच महाभूतो को उत्पन्न करके इस विभिन्नता से युक्त ससार को उत्पन्न किया, नीतिशास्त्र की दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक है।[1] यदि यह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है अत इस ससार की विभिन्नता से आत्मा का कोई सम्बन्ध नही, तो इस प्रकार के कल्पनाजन्य सिद्धान्तो मे नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाता है ?[2] उदाहरणार्थ —प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यो करे ? उत्तर है पुण्य के लिए। पुण्य का प्रलोभन ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्य का प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है —सुख की प्राप्ति। सुख की प्राप्ति के लिए पुण्य के सचयार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करने की तरफ प्रेरित होना है। पर यदि आत्मा का सुख या दु ख से कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाये कि सुख दु ख दोनो से वह उदासीन है तो दु खो से मुक्त होने का वह प्रयत्न ही क्यो करे और उस अवस्था मे वह पुण्य सचय के लिए उत्तम कर्मों की तरफ प्रेरित ही क्यो हो ? और तब नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह ससार परमात्मा ने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यो है कि एक आदमी तो सुखो मे लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दु खो का बोझ लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवाद मे नैतिक सिद्धान्त बेकार हो जाते है। यदि भाग्य ही मनुष्य के सुख-दु खो का निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मों को करने का प्रयत्न क्यो करे ? यदि भाग्य मे होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्य मे नही होगा, तो हजार प्रयत्नो के बावजूद भी वह सुख मिलने वाला नही है, तो फिर मनुष्यो के प्रयत्नो की नैतिक दृष्टि का कीमत ही क्या रही ?[3] पर नीतिशास्त्र मे कर्मों का बडा भारी महत्व है। नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर अपने को बना या बिगाड सकता है।[4] इस विषय मे डॉ० राधाकृष्णन् के विचार मननीय हैं—

The fatalist Theory (भाग्यवादी सिद्धान्त) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity, which it preserves even in the ultimate condition[5]

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नही। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर 'अर्हत्' बन सकता है। मनुष्य के अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञान से ढका रहता है, यही दु खो का कारण है। अत यदि इन दु खो से कोई मुक्ति पाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्ति से इन सासारिक विषयो पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपने को गिराने वाले दुर्गुणो से ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुच जाती है कि जहा मुक्तात्मायें रहती है। मनुष्य की अन्तरात्मा का उत्तम मार्ग मे प्रेरित करना ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही हैं जो मनुष्यो को उन्नत अथवा अवनत करते हैं।

कर्म सिद्धान्त

जैनशास्त्रो मे कर्म-सिद्धान्त पर बडे विस्तार से विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मों के गुणदोष के आधार पर ही देव, नारक, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्य के पिछले कर्मों का विनाश हो जाता है और

नये कर्म भी निरुद्ध हो जाते है, तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है। पर इस स्थिति तक पहुचने के लिए ही जीव को नैतिकता की आवश्यकता होती है। जैनागमो मे आठ तरह के कर्मों का वर्णन है, जिनमें से चार घातिक कर्म हैं जो आत्मिक गुणो का विघात करते हैं—

(१) **ज्ञानावरणीय**—यह कर्म सत्यज्ञान को ढक कर मनुष्यो को अज्ञान की ओर प्रेरित करता है। सत्य का मुख हमेशा ढका रहता है, अत उसे कोई-कोई ही जान पाता है। ईशोपनिषद् के ऋषि का कथन है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।

तत्त्व पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

"हे पूषा देव ! सत्य का मुख सोने के ढक्कन से ढँका हुआ है, अत उसे तू हटा दे, ताकि हम सत्यधर्म का दर्शन कर सकें।" वस्तुत यह ज्ञानावरणीय कर्म ही वह सोने का ढक्कन है, जिससे सत्यतत्व ढका हुआ है।

(२) **दर्शनावरणीय**—यह कर्म सत्यदर्शन को ओझल करके मनुष्यो को भ्रान्ति युक्त एव असत्यमार्ग का दर्शन करता है। निद्रा आदि प्रमाद इसी दर्शनावरणीय कर्म का परिणाम है। इस कर्म से प्रेरित होकर जीव इस ससार मे इधर-उधर भटकता रहता है।

(३) **अन्तराय**—यह कर्म सुख और दु ख का उत्पादक है। आत्मा वस्तुत अनन्त वीर्यमय है, आनन्दमय है। उपनिषद् का ऋषि कहता है—"आनन्दात् एव इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द एव प्रयन्ति अभिसविशन्ति" अर्थात् ये सब प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त मे आनन्द मे ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव आनन्दमय ही है, पर जब वह इन कर्मो से प्रभावित होता है, तब वह अपने मूल स्वभाव को छोडकर सुख और दु ख का अनुभव करने लगता है। पर जब वह उस अन्तिम तत्व का दर्शन कर लेता है, तब वह वीतशोक होकर इन सुख-दु खो से ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयता का दर्शन करने लगता है और उसको अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है।

(४) **मोहनीय**—आत्मा के प्रयत्न सदा श्रद्धा एव उत्तम व्यवहार की तरफ ही होते हैं, पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इसे इसकी श्रद्धा और सद्व्यवहार के मार्ग से भटका देते हैं, ऐसे कर्मों को जैनागम मे "मोहनीय" कहा गया है।

चार अघातिया कर्म भी जीव मे नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं किन्तु घातिया कर्मों की तरह नहीं, अतएव यहा उनका उल्लेख नही किया जाना है।

इस प्रकार इन आठ तरह के कर्मों के कारण आत्मा इस ससार मे अनेक प्रकार के सुख-दु खो को भोगता है। इन्ही कर्मों के विपाक के विनाश एव भविष्यमाण कर्मो के निरोध के लिए नीतिशास्त्र की आवश्यकता होती है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दो में—

The apparatus of morality is necessary to bring about the reformation of man's nature and prevent the formation of new karma[1]

नैतिक सिद्धान्तो का आचरण करके मनुष्य इन कर्मो से छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्ध के कारणभूत जो कर्म करता है, उन कर्मों को जैनागम मे '**आस्रव**" कहा है। "**द्रव्यसग्रह**" के टीकाकार श्री नेमिचन्द्र के अनुसार ये आस्रव **भावास्रव** और **कर्मास्रव** या द्रव्यास्रव रूप मे दो प्रकार के है। मनुष्य जो कुछ सोचता है, वह भी एक तरह की मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रिया के परिणामस्वरूप जो कर्म आत्मा के साथ बद्ध होते हैं वे "भावास्रव" कहलाते हैं। कर्मपरमाणुओ का आत्मा मे आना द्रव्यास्रव या कर्मास्रव है। इस प्रकार आस्रव निरन्तर होता रहता है। जिन कर्मो का फल भोग लिया जाता है, वे नष्ट हो जाते हैं। इसे जैन परिभाषा मे "**निर्जरा**" कहते हैं। मनुष्य



---

१ Indian Philosophy. I Vol P 325



यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पाच प्रकार के सत्यज्ञानो की महायत से आस्रव-कर्मों का निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्म के वधनो से छूटकर निर्वाण का अधिकारी वन सकत है। श्री उमास्वाति कृत "तत्वार्थसूत्र" मे इन पाच प्रकार के ज्ञानो की विवेचना विस्तार मे की गई है।

यदि मनुष्य इन सासारिक दुखो से मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह "त्रिरत्न" का आचरण करे। वे "त्रिरत्न" ये है—

(१) सत्य तत्त्व मे विश्वास
(२) सत्य का ज्ञान
(३) शुद्ध चरित्र

इसी "त्रिरत्न" को 'पचास्तिकाय' के रचयिता न सत्यमार्ग, सत्यज्ञान और सत्यचरित्र के शब्दो मे व्यक्त किया है। "वास्तविक तत्व की सत्ता मे श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तात्विक प्रकृति का सशयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सासारिक विषयो की ओर से उदासीन होकर ऐषणाओ से रहित होना ही सत्यचारित्र्य है।"[1] ये तीनो मिलकर एक ही मार्ग को प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है—**"भूमा वै सुख नाल्पे सुखमस्ति।"** सासारिक दु खो से मुक्त कराकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना ही दर्शनो का मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिको के सामने भी था। पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि जहा अन्य दर्शनो ने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहा जैनदर्शन ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर भी उतना ही वल दिया है। जैनदार्शनिक इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि नि श्रेयस् का लाभ मनुष्य के अभ्युदय पर ही निर्भर है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगडा हुआ है, निर्वाण का अधिकारी कभी भी नही हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्-व्यवहार से ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिको ने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पाच महाव्रत

जैनदर्शन के अनुसार पाच महाव्रतो का विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्र का मूलाधार है। वे पाच महाव्रत इस प्रकार है—

(१) **अहिंसा**—यह अहिंसा न हिंसा के रूप मे केवल निषेधात्मक ही नही है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है—"सव प्राणियो के प्रति दया करना।"

(२) **सत्याचरण**—कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।
(३) **सम्मान्य व्यवहार**—कभी चोरी न करना, दूसरो को कष्ट न देना आदि।
(४) वाणी, विचार और कर्मों मे **अव्यभिचारिता।**
(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का **परित्याग।**

इन्ही पाँच महाव्रतो को योगदर्शन मे पाच यम के नाम से कहा गया है—**"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमा।"** इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त कराने वाले सभी कर्म जैनदर्शन के अनुसार विधेय है।

जैनागम के अनुसार हिंसा सबसे बडा पाप है और सब प्राणियो के प्रति दयाभाव ही सबसे बडा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। अंग्रेज कवि कालेरिज के शब्दो मे—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast

---

१ पचास्तिकाय पृ० ११५

He prayeth best, who loveth best
All things both great and small
(Coleridge)

जैनधर्म का नीतिशास्त्र बौद्धधर्म की अपेक्षा ज्यादा कठोर है । जैनदार्शनिको के अनुसार "सन्तोष ही सर्वोत्तम शिव" (highest good) है और सुख की लालसा ही पाप का मूल है ।[1] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुख और दुःख से उदासीन रहे । वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनमे स्वतत्र रहे । "जो मनुष्य बाह्य पदार्थों की अभिलाषा करता है, वह सुख और दुःख का अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गवा बैठता है । उस पर कामनायें या ऐषणाये शासन करने लगती है और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्र के निर्णायक बन जाते हैं ।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहे ।

जैनदर्शन या धर्म रूढिवादी नही है, वह अपने धर्म के प्रति हठवादी नही है । वह यह नही कहता कि अमुक प्रकार के वेष के धारक ही निर्वाण के अधिकारी हो सकते हैं । इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पथ का अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र के नियमो का सम्यक् पालन करके निर्वाण का अधिकारी बन सकता है । अपने ग्रन्थ "सम्बोधसत्तरी" मे रत्नशेखर कहते हैं—"भले ही कोई श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी, जो अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, सब प्राणियो को अपने समान समझ लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।"

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नही है । पर यहा पर भी वर्ण का निर्णायक नीतिशास्त्र ही है । "मनुष्य अपने ही कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है जो कर्मों को अनासक्तभाव से करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते है ।[3] जैन परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणेतर को भी दी जा सकती है ।[4] वशाभिमान पाप का कारण होता है ।" (सूत्रकृताग)

इस प्रकार जैनदर्शन मे नीतिशास्त्र बहुत ऊचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिको ने इसे अपने दर्शन का आधार माना है ।



१ आचाराग सूत्र २२ पृ० ४८
२ पचास्तिकाय पृ० १६३
३ Sacred Book of the East XIV P 140
४. Ibid XXII P XXX



यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पाच प्रकार के सत्यज्ञानो की सहायता से आस्रव-कर्मों का निरोध कर सकता है और इस प्रकार कर्म के बधनो से छूटकर निर्वाण का अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृत "तत्वार्थसूत्र" मे इन पाच प्रकार के ज्ञानो की विवेचना विस्तार से की गई है।

यदि मनुष्य इन सासारिक दुखो से मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह "त्रिरत्न" का आचरण करे। वे "त्रिरत्न" ये हैं—

(१) **सत्य तत्त्व मे विश्वास**
(२) **सत्य का ज्ञान**
(३) **शुद्ध चरित्र**

इसी "त्रिरत्न" को 'पचास्तिकाय' के रचयिता ने सत्यमार्ग, सत्यज्ञान और सत्यचरित्र के शब्दो मे व्यक्त किया है। "वास्तविक तत्व की सत्ता मे श्रद्धा रखना ही सत्यमार्ग है। तात्विक प्रकृति का सशयातीत ज्ञान ही सत्यज्ञान है और सासारिक विषयो की ओर से उदासीन होकर ऐषणाओ से रहित होना ही सत्यचारित्र्य है।"[1] ये तीनो मिलकर एक ही मार्ग को प्रकाशित करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है—"**भूमा वै सुख नाल्पे सुखमस्ति।**" सासारिक दु खो से मुक्त कराकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना ही दर्शनो का मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिको के सामने भी था। पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि जहा अन्य दर्शनो ने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहा जैनदर्शन ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदार्शनिक इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि नि श्रेयस् का लाभ मनुष्य के अभ्युदय पर ही निर्भर है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगडा हुआ है, निर्वाण का अधिकारी कभी भी नही हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्-व्यवहार से ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिको ने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पाच महाव्रत

जैनदर्शन के अनुसार पाच महाव्रतो का विस्तार ही समग्र नीतिशास्त्र का मूलाधार है। वे पाच महाव्रत इस प्रकार हैं—

(१) **अहिंसा**—यह अहिंसा न हिंसा के रूप मे केवल निषेधात्मक ही नही है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है—"सब प्राणियो के प्रति दया करना।"

(२) **सत्याचरण**—कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।
(३) **सम्मान्य व्यवहार**—कभी चोरी न करना, दूसरो को कष्ट न देना आदि।
(४) वाणी, विचार और कर्मो मे **अव्यभिचारिता**।
(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का **परित्याग**।

इन्ही पाँच महाव्रतो को योगदर्शन मे पाच यम के नाम से कहा गया है—"**तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या-परिग्रहा यमा।**" इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त कराने वाले सभी कर्म जैनदर्शन के अनुसार विधेय है।

जैनागम के अनुसार हिंसा सबसे बडा पाप है और सब प्राणियो के प्रति दयाभाव ही सबसे बडा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। अग्रेज कवि कालेरिज के शब्दो मे—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast

---

१ पचास्तिकाय पृ० ११५

He prayeth best, who loveth best
All things both great and small
(Coleridge)

जैनधर्म का नीतिशास्त्र बौद्धधर्म की अपेक्षा ज्यादा कठोर है । जैनदार्शनिको के अनुसार "सन्तोष ही सर्वोत्तम शिव" (highest good) है और सुख की लालसा ही पाप का मूल है ।[1] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुख और दु ख से उदासीन रहे । वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतत्र रहे । "जो मनुष्य बाह्य पदार्थो की अभिलाषा करता है, वह सुख और दु ख का अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार गवा बैठता है । उस पर कामनायें या ऐषणायें शासन करने लगती है और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्र के निर्णायक बन जाते हैं ।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बाह्य पदार्थो पर निर्भर न रहे ।

जैनदर्शन या धर्म रूढ़िवादी नही है, वह अपने धर्म के प्रति हठवादी नही है । वह यह नही कहता कि अमुक प्रकार के वेष के धारक ही निर्वाण के अधिकारी हो सकते है । इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पथ का अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र के नियमो का सम्यक् पालन करके निर्वाण का अधिकारी बन सकता है । अपने ग्रन्थ "सम्बोधसत्तरी" मे रत्नशेखर कहते हैं—"भले ही कोई श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी, जो अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, सब प्राणियो को अपने समान समझ लेता है, वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।"

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नही है । पर यहा पर भी वर्ण का निर्णायक नीतिशास्त्र ही है । "मनुष्य अपने ही कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है जो कर्मों को अनासक्तभाव से करता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते है ।[3] जैन परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण एक सम्मान्य पदवी है, जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणेतर को भी दी जा सकती है ।[4] वशाभिमान पाप का कारण होता है ।" (सूत्रकृताग)

इस प्रकार जैनदर्शन मे नीतिशास्त्र बहुत ऊचे स्तर पर स्थापित है और जैनदार्शनिको ने इसे अपने दर्शन का आधार माना है ।



१ आचाराग सूत्र २२ पृ० ४८
२ पचास्तिकाय पृ० १६३
३ Sacred Book of the East XIV P 140
४. Ibid XXII P XXX

जैनागमों के तीन प्रेरक प्रसंग

मुनिश्री चन्दनमलजी,
साहित्य-निकाय व्यवस्थापक



किसी भी नगर मे प्रवेश पाने के जैसे पूर्व आदि दिशाओ मे चार मुख्य दरवाजे रखे जाते है, वैसे ही द्वादशागी रूप जिन-वाणी का आह्वान करने के लिये द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग गणितानुयोग, और धर्मकथानुयोग, ये चार सिंहद्वार माने गये है। इन अनुयोगो का यथार्थ मनन करने से ही आर्हतीज्ञान-गगा हृदयागण मे प्रवाहित हो सकती है। यह तो सर्वविदित है ही कि जैनागमो का निरूपण केवल अध्यात्म-तत्व को हृदयगम करने के लिये ही हुआ है। यहा धर्म को उत्कृष्ट मगल माना है। अहिंसा को "सर्वभूत-क्षेमकरी" कह कर पुकारा है, सत्य को "भगवान्" शब्द से सम्बोधा है और ब्रह्मचर्य को "व्रतराज" कहकर सम्मानित किया है। प्रकाशपुञ्जमयी इस दिव्यवाणी के चारो तरफ वैराग्य की किरणें फूटती हैं। अनामक्ति की रेखायें अकित हुई है और सहज शाति का प्रसार हुआ है, यहा मिलते भोगो को न चाहने वाले को त्यागी कहा गया है, मायी को 'मिथ्यादृष्टि' व अमायी को 'सम्यग्दृष्टि' की सज्ञा दी गई है। भोगो को 'अनर्थों की खान' तथा लोभ को 'सर्वविनाशक' कहा गया है।

अहा! क्षीर-समुद्र का पानी कही से भी, कभी भी पीकर देखिये, वह तो प्रतिक्षण अनुपम मधुरिमा को लिये हुए ही है। आगमो के कुछ एक स्थल तो इतने मार्मिक और अनूठे है कि उनकी गरिमा का अन्दाज लगाना भी कठिन-सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१)

भगवान महावीर के दस एकावतारी श्रमणोपासको में आनद गाथापति को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। कोट्यधीश होते हुए भी उसने असाधारण धर्म-साधना की। वह कृशकाय होकर पोषधशाला मे अन्तिम मारणातिक-सलेखना मे सलग्न था तब उसने क्षयोपशम की विशेष उज्ज्वलता से विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा वह पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा मे, लवण समुद्र को पाच सौ योजन तक, उत्तर मे लघुहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-लोक मे सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक मे रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले "लोलुयच्चुय" नामक नरकावास को जानता-देखता था।

इधर भगवान महावीर वहा पधारे और उनके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) छट्ठ भत्त के पारणे मे भिक्षा के लिये 'वाणिअ' गाम मे पधारे। माधुकरी लेकर जब वापिस आ रहे थे तब बहुत से लोगो के मुँह से आपने आनन्द की मारणातिक सलेखना की बात सुनी। कृपासागर गौतम ने उसे दर्शन देने की कृपा की। भगवान गौतम को आते देखकर आनन्द अत्यन्त आनदित हुआ। वन्दन-नमस्कार करता हुआ कहने लगा—भन्ते! मैं उदार तप के द्वारा कृश एव चलने-फिरने मे अशक्त हूँ। यदि आप मेरे समीप पधारने की कृपा करे तो मै आपके चरणकमलो का मस्तक द्वारा अभिनन्दन कर सकू। गौतम स्वामी समीप गये। आनन्द ने सविधि वन्दना की और पूछा—गृहस्था-श्रम मे रहते हुए क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है?

गौतम—हाँ! हो सकता है।

आनन्द —भन्ते ! मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। उससे मैं पूर्व आदि मे लवण समुद्र मे पाच सौ योजन तक, उत्तर मे लघुहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक ऊर्ध्वलोक मे सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक मे रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले 'लोलुयच्चुय' नामक नरकावास को जानता-देखता हू।

गौतम—आनन्द ! गृहस्थ को, गृहस्थाश्रम मे अवधिज्ञान हो सकता है किन्तु इतना विस्तृत नही हो सकता। अत इस मिथ्याकथन के लिये तू आलोचना व प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—भगवन् ! क्या जैन शासन मे यथार्थ, सत्य, तथ्य निरूपण का भी प्रायश्चित्त है ?

गौतम—नही, बिल्कुल नही।

आनन्द—तो फिर भगवन् ! आपही इस कथन के लिये आलोचना व प्रायश्चित्त करें।

आनन्द के इस कथन पर गौतम शकित, काक्षित और विचिकित्सासमापन्न हुए और वहा से भगवान महावीर के पास आकर, आनद सम्बन्धी घटना सुनाई और पूछा—भगवन् ! इस कथन मे आनन्द को प्रायश्चित्त लेना होगा या मुझे ?

भगवान ने कहा—गौतम ! आनन्द का कथन सत्य है अत तू इसका प्रायश्चित्त कर और अपनी भूल के लिये उससे क्षमा-याचना कर।

गौतम ने इस कथन को विनयपूर्वक अगीकार किया, आलोचना की और आनद के पास जाकर अपनी गल्ती स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की।

उपर्युक्त घटना जैनो मे आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। लेकिन इस घटना की गम्भीरता मे यदि हम जायें तो एक अद्भुत साधना का रहस्य प्रस्फुटित होता है। गौतम कोई ऐसे-वैसे साधारण मुनि नही थे, वे चौदह हजार सतो मे प्रथम थे, चतुर्ज्ञानी तथा चतुर्दशपूर्वी थे। इतने बडे गौतम स्वामी का एक श्रावक के सामने अपनी गल्ती स्वीकार करने जाना, क्षमा मागना कोई सामान्य घटना नही है। विदित होता है कि गौतम मे गर्व का लेश भी नही था और माया की छाया भी नही थी। अबोध बालक की तरह सरल हृदय वाले गौतम अपनी भूल की स्वीकृति मे बिल्कुल नही हिचकिचाये! क्या ऐसी सरलता आजके साधु-वर्ग मे है ? क्या अपनी भूल की स्वीकृति मे वह इतना साहस का परिचय दे सकता है ? यह चिन्तनीय प्रश्न है।[1]

(२)

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे कालास्यवैशिक पुत्र नाम के एक मुनि थे। एक समय वे भगवान महावीर के स्थविरो के पास आये और कहने लगे—

१ स्थविर ! आप सामायिक नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
२ स्थविर ! आप प्रत्याख्यान नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
३ स्थविर ! आप सयम नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
४ स्थविर ! आप सवर नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
५ स्थविर ! आप विवेक नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।
६ स्थविर ! आप व्युत्सर्ग नही जानते और उसका अर्थ नही जानते।



प्रत्युत्तर मे स्थविरो ने कहा—आर्य ! हम सामायिक जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम प्रत्याख्यान भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम सयम भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम सवर भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य !

१ उपासकदशा अध्ययन—१

हम विवेक भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम व्युत्सर्ग भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है।

कालास्यवैशिक पुत्र अनगार ने कहा—यदि आर्य ! आप सामायिक और उसका अर्थ जानते है तो कहिये सामायिक क्या है और उसका अर्थ क्या है ?

स्थविरो ने कहा—आर्य ! हमारी आत्मा सामायिक है और हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा प्रत्याख्यान है और हमारी आत्मा प्रत्याख्यान का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सयम है और हमारी आत्मा सयम का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सवर है और हमारी आत्मा सवर का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा विवेक है और हमारी आत्मा विवेक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है और हमारी आत्मा व्युत्सर्ग का अर्थ है। इन प्रश्नोत्तरो की एक निष्पत्ति हुई। कालास्यवैशिक पुत्र मुनि स्थविरो के पास चातुर्यामिक धर्म की परम्परा से पचयामिक धर्मपरम्परा मे प्रविष्ट हो गये।

प्रश्नकर्ता कालास्यवैशिक पुत्र मुनि—इतर सम्प्रदाय के थे। वे बडे आवेग के साथ प्रश्न पूछने आये और कहा कि ! आप यह नही जानते, यह नही जानते, यह नही जानते, इन वाक्यो की झडी लगादी और बारह प्रश्न पूछ डाले। लेकिन गम्भीर ज्ञानी भगवान स्थविरो ने बडी शाति के साथ मार्मिक समाधान दिया और 'आर्य' ! ऐसा मृदु सबोधन किया कि प्रश्न पूछने वाला पानी-पानी हो गया और अन्त मे उसका साथी बन गया।

उपर्युक्त वर्णन क्या जैन मुनियो को चुनौती नही दे रहा है ? क्या हम दूसरो के कुटिल आक्षेपो को शान्ति से समाहित करना सीखेगे ? अहा ! उत्तर भी कितने मार्मिक है जिनमे सब कुछ आत्मा मे ही अन्तर्हित कर दिया है फिर झगडा रह ही कहा जाता है।[1]

(३)

भगवान महावीर 'कतङ्गला' नगरी मे विराजमान थे। उस नगरी के समीप ही श्रावस्ती नगरी थी। वहा गर्दभालि का शिष्य कात्यायन गोत्री स्कन्धक परिव्राजक बसता था। वह इतिहास निघटु सहित सागोपाग चार वेदो का ज्ञाता था।

उसी श्रावस्ती मे वैशालिक श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ विहार कर रहा था। उसने एक दिन स्कन्धक परिव्राजक के पास जाकर पूछा मागध !

१ लोक स-अन्त है या अनन्त ?
२ जीव स-अन्त है या अनन्त ?
३ सिद्धि स-अन्त है या अनन्त ?
४ सिद्ध स-अन्त है या अनन्त ?
५ किस मरण से मरता हुआ जीव ससार को बढाता है और किस मरण से घटाता है ?

इन प्रश्नो को सुनकर स्कन्धक शकित हुआ। उनका समाधान करने मे अपने आपको असमर्थ पाता वह मौन रहा। पिंगल ने फिर दूसरी तीसरी बार पूछा लेकिन वह वैसे ही मौन रहा।

इधर श्रावस्ती के बहुत लोग भगवान महावीर के दर्शनार्थ जा रहे है। स्कन्धक ने भी भगवान का कृतङ्गला मे आगमन जानकर उन प्रश्नो के समाधान के लिये वहा जाने का निश्चय किया। वह त्रिदण्ड आदि वेश-भूषा सहित वहा से चल पडा। और कृतङ्गला नगरी के छत्रपलाश उद्यान के पास आ पहुँचा।

इधर भगवान महावीर ने गौतम से कहा—गौतम, आज तू अपने पूर्वभव के मित्र स्कन्धक को देखेगा।

---

१ भगवती शतक १, उ. ९

गौतम ने कहा—भन्ते ? कब कैसे और कितनी देर मे देखूंगा ? भगवान ने सब पिछला वर्णन सुनाते हुए कहा कि वह बहुत नजदीक आ चुका है, तू उसे आज ही देखेगा । फिर गौतम ने पूछा—भन्ते ! क्या यह आपके पास साधुत्व लेने मे भी समर्थ होगा ?

भगवान ने कहा—हा ! ऐसा होगा ।

इतने मे स्कन्धक वहा आता हुआ दिखाई दिया । भगवान गौतमस्कन्धक को समीप आते देखकर तत्काल खडे हुए, शीघ्र सामने गये और उसके पास आकर कहने लगे—

स्कन्धक ! स्वागत है ।
स्कन्धक ! सुस्वागत है ।
स्कन्धक ! अन्वागत है ।
स्कन्धक ! स्वागत-अन्वागत है ।

स्कन्धक ! तुममे पिंगल निर्ग्रन्थ ने—लोक स-अन्त है या अनन्त ? जीव स-अनन्त है या अनन्त ? सिद्धि स-अन्त है या अनन्त ? सिद्ध स-अन्त है या अनन्त ? किस मरण से मरता हुआ जीव ससार को बढाता है और किस मरण से घटाता है ? ये प्रश्न पूछे ।

स्कन्धक—हा, भन्ते ! पूछे ।

फिर वे दोनो भगवान महावीर के पास चले गये ।

वर्तमान वातावरण मे यह विचित्र-सा लगने वाला प्रसग बडी चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत करता है । पहली बात, स्कन्धक परिव्राजक जैन मुनि नही था, जैन भाषा मे सम्यग्दृष्टि भी नही था, उस स्थिति मे, उसके सामने जाकर गौतम स्वामी का स्वागत-सुस्वागत करना क्या उचित था ? उन्होने ऐसा किया तब भगवान महावीर ने उन्हे क्यो नही टोका ?

आज के रूढ सम्प्रदायवादियो के लिये यह बहुत आपत्ति का विषय बन सकता है लेकिन व्यवहार-निर्वहण कहा तक और कितना आवश्यक है यह गहरा परामर्शनीय विषय है ।[1]



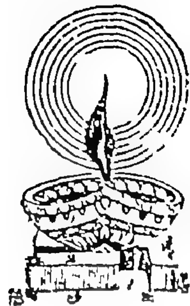
---

१ भगवती शतक-२ अ १

जैन आगमों में कल्पनिरूपण

देवेन्द्रमुनि शास्त्री,

साहित्यरत्न



कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि अथवा समाचारी। उमास्वाति कहते है—"जो कार्य, ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषो का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[1] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणो का आचार कल्प है।[2] कल्प के आगम भाष्य निर्युक्त और चूर्णि साहित्य मे अनेक भेद-प्रभेद निरूपित है। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर केवल दस कल्पो पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार है—

(१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर, (४) राजपिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प, (१०) पर्युषणा-कल्प।[3]

आचेलक्य

'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र है। न चेल-अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है।[4] जैसे अनुदरा कन्या। आचाराग के टीकाकार ने ईषत् (अल्प) अर्थ मे नञ् समास मानकर अचेल का अर्थ अल्पवस्त्र किया है।[5]

---

१ यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रह, निग्रह च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥ (प्रशमरतिप्रकरण १४३)

२ कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽत्र प्रकथ्यते।
—पर्युषणाकल्पसूत्रम्, केशरमुनि

३ (क) आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।
वय-जेट्ठ-पडिक्कमणे, मास पज्जोसवणकप्पे॥
—आवश्यकनिर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति, १२१

(ख) निशीथ भाष्य, गा० ५९३३ भा० ४, पृ० १८७, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

(ग) बृहत्कल्पभाष्य गाथा ६३, ६४

(घ) भगवती आराधना, पृ १८१, गा० ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता, समयसुन्दर गणि गाथा १, पृ० २ मे उद्धृत, तथा अन्य कल्पसूत्र की टीकाओ मे भी।

४ आप्टेज् सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी—भाग-१ पृष्ठ १

५ अचेल — अल्पचेल।—आचाराग टीका पत्र २२१-२

उत्तराध्ययन[1] और कल्पसूत्र[2] की टीकाओ मे भी यही अर्थ है।

श्रमणसस्कृति के श्रमणो के दो कल्प हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प । निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह होता है जो वज्र-ऋषभनाराच—सहनन वाला हो, तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व तक श्रुतपाठी हो।[3] जिनकल्पिक श्रमण भी पूर्व स्थविरकल्पी ही होता है। स्थविरकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है।

जिनकल्पिक श्रमण 'नग्न' निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होते है। उनके दो प्रकार हैं—

(१) पाणिपात्र—हाथ मे भोजन करने वाले।

(२) पात्रधारी—पात्र मे भोजन करने वाले।[४]

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते है। कितने ही श्रमण (१) मुख-वस्त्रिका, (२) और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं कितने ही श्रमण मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक चद्दर रखते हैं। कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, और दो चद्दर रखते हैं और कितने ही मुखवस्त्रिका, रजोहरण, तथा तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उक्त दो, तीन, चार, और पाँच उपकरणो के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्रनिर्योग रखने से क्रमश, नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणो के मुख्य दो और उत्तर भेद आठ होते हैं।[५]

---

१ लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचलेक ।

—उत्तराध्ययन बृहत्वृत्ति पत्र ३५६।१

२ (क) श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमपि

—कल्पसूत्र-सुबोधिका, टीका पृ ३ विन०

(ख) 'अचेलत्व' श्री आदिनाथ-महावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित, जीर्णप्राय, धवल च कल्पते। श्री अजितादि-द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना पञ्चवर्णम् ।

—कल्पसूत्र-कल्पलता प० २।१ समयसुन्दर

(ग) 'अचेलत्वम्' मानोपेत धवलवस्त्र धारयन्ति,

—कल्पद्रुमकलिका १, पृ० २।१

३ विशेषावश्यकभाष्य भाषातर भाग १, पृ० १२ —(आगमोदय समिति आवृत्ति १)

४ जिणकप्पिया उ दुविधा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा ॥

—निशीथभाष्य गा० १३६० भा० २, पृ० १८८

जिणकप्पिया दुविधा भवति-पाणिपात्रभोजिन प्रतिग्रहधारिणश्च। एकका दुविधा दट्ठव्वा सपाउरणा इयरे य।

—वही १३६०

५ जिणकप्पे उवहीविभागो इमो-दुग-तिग-चउक्क-पणग, णव दस एक्कारस एव बारसग। एते अट्ठ विकप्पा, जिणकप्पे होति उवहिस्स—निशीथभाष्य गा० १३६१

पाणिपडिग्गहियस्स पाउरणवज्जियस्स जहण्णोवही दुविधो—रयहरण मुहपोत्तिया य। तस्सेव सपाउरणस्स एगकप्पग्गहणे तिविहो, दुकप्पगहणे चउव्विहो, तिकप्पगहणे पचविहो । पडिग्गहधारिस्स, अणाउरणस्स मुहपोत्तिय—रजो-





आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते है। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते थे। कितने ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते थे। और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते थे।

उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पिक हो या स्थविरकल्पिक, वे कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही है। अत यहाँ पर आचेलक्य कल्प का अर्थ वस्त्रो का सर्वथा अभाव नही किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारण करना है।

'कल्पसमर्थन' मे कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक है और बावीस तीर्थंकरो का सचेलक और अचेलक दोनो प्रकार का है।[1] इसका अर्थ यह है कि, भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमण के लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र रखें पर बावीस तीर्थंकरो के श्रमण के लिए प्रस्तुत विधान नही है।[2] वे अतीव विवेकनिष्ठ और जागरूक साधक थे अत चमचमाते रगविरगे अधिक वस्त्र भी रख सकते थे किन्तु उन वढिया वस्त्रो के प्रति आसक्ति नही थी।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण केशीकुमार और भगवान् महावीर के प्रधान अन्तेवासी गणधर गौतम का मधुर सवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की, कि भगवान् महावीर का धर्म अचेलक है और पार्श्वनाथ का सचेलक है क्या इस लिंगभेद को देखकर आप के मानस मे शका नही होती।[3] समाधान

हरण पादणिज्जोगसहितो णवविहो, जहण्णओ। तस्सेव एगकप्पग्गहणे दसविहो। दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो। तिकप्पग्गहणे बारसविधो। पच्छद्ध कठ।—वही १३६१

अहवा दुग य णवर, उवकरणे, होति दुण्णि तु विकप्पा।
पाउरण वज्जित्ताण, विसुद्ध जिणकप्पियाण तु॥

—वही गा० १३६२

जे पावरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवति। तेसिं दुविध एव उवही भवति। दुविधो णवविधो वा।—१३६२

अविसुद्ध—जिणकप्पियाण इमो-पत्त पत्ताबधो पायट्ठवण च पादकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण, च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥
तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण चेव होति मुहपोत्ती।
एसो दुवालसविधो, उवधी जिणकप्पियाण तु॥

—निशीथसूत्र, सभाष्य-चूर्णि द्वि० उ० द्वि० भा० पृ० १८८-१८६, सन्मति ज्ञानपीठ

१ आचेलुक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य॥

—कल्पसमर्थन, गा० ३, पृ० १

२ (क) "अचेलत्व" श्रीआदिनाथमहावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्रीअजितादि २२ तीर्थंकरसाधूना तु पञ्चवर्णम्।—कल्पसूत्र-कल्पलता पृ० २।१

(ख) कल्पार्थबोधिनी पृ० १

३. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥
एगकज्जपवन्नाण, विसेसे किं नु कारण।
लिंगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २९—३०

करते हुए गौतम ने कहा – विज्ञवर ! विज्ञान से जानकर ही धर्मसाधनो की आज्ञा प्रदान की गई है। लोक मे प्रतीति के लिए ही वस्त्रादि उपकरणो की आवश्यकता है। वस्तुत दोनो तीर्थंकरो की प्रतिज्ञा मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही है। उसमे कोई अन्तर नही है ।[1]

आगमानुसार सभी तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते हैं।[2] भगवान् महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था। उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बने थे।[3]

बावीस परीषहो मे छट्ठा परीषह अचेल है।[4] उसका भी अर्थ है—वस्त्रो के जीर्ण होने पर श्रमण यह चिन्ता न करे कि, मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा। अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये हैं और अब मैं नये वस्त्रो से सचेलक हो जाऊँगा। सचेल और अचेल दोनो ही अवस्था मे श्रमण खिन्न न हो।[5]

हाँ, तो आचेलक्य कल्प का सक्षेप मे अर्थ हुआ अल्प, प्रमाणोपेत एव श्वेत वस्त्रधारण करने की मर्यादा।

---

१ केसिमेव बुवाण तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिय ॥
पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिंगपओयण ॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाण च दसण चेव, चरित्त चेव निच्छए ॥
—उत्तराध्ययन २३। ३१ से ३३

२ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र
(ख) कल्पसूत्र
(ग) तहवि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवरा सणत्थति।
अभिनिक्खमति सब्वे, तम्मि चुएऽचेलया होति ॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १५८६
(घ) सब्वेवि एगदूसेण निग्गया,
(ङ) सत्तरिय स्थानक
(च) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र

३ णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तसि हेमते से पारए आवकहाए, एय खु अणुधम्मिय तस्स सवच्छर साहिय मास ज न रिक्कासि वत्थग भगव अचेलए तओ, 'चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे—आचाराग १।६।१

४ भगवती सूत्रशतक ८, उद्देशक ८, पृ १६१
(ख) उत्तराध्ययन अ २
(ग) समवायाङ्ग २२
(घ) तत्वार्थसूत्र अ० ६

५. (क) परिजुण्णेहि वत्थेहि, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्ख, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥
एगया अचेलए होई, सचेले या वि एगया।
एय धम्महिय णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥
—उत्तरा० २।१२–१३
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति पत्र १६३



औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-वसन भवन आदि ।[1] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और असेव्य है। यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह कह दे कि यह अशनादि मुझे नही कल्पता ।[2] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और न अन्य श्रमणो को ही ग्रहण करना कल्पता है किन्तु बावीस तीर्थंकरो के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नही कल्पता, पर शेष श्रमणो के लिए वह ग्राह्य हो सकता है ।[3]

दशवैकालिक,[4] प्रश्न व्याकरण,[5] सूत्रकृताङ्ग,[6] उत्तराध्ययन,[7] आचाराग[8] और भगवती,[9] आदि आगमो मे अनेक स्थलो पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवो की हिसा का अनुमोदन होता है ।[10]

---

१ (क) उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्त आरम्भोत्ति वुत्त भवति ।
— दशवैकालिक अगस्तसिंह चूर्णि

(ख) "उद्देसिय ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवमौद्देशिक ।
—दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६

२ असण पाणग वा वि, खाइम साइम तहा ।
ज जाणेज्ज सुणेज्ज वा, समणट्ठा पगड इम ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिय ।
देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पई तारिस ॥
—दशवै० अ० ५ उ० १ गा० ५१–५२

३ (क) सघादुद्देसेण ओघाईहिं, समणाइ अहिगच्च ।
कडमिह सव्वेसिं चिय न कप्पई पुरिमचरिमाण ॥
मज्झिमगाण तु इम, ज कडमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति ।
नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ त एस मेरत्ति ॥
—कल्पसमर्थन गा० ४–५ प० १

(ख) "औद्देशिकम्" एकस्य साधोर्निमित्त कृत आहारपानीय च आधाकर्माख्य सर्वेषा साधूना न कल्पते । द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना तु यस्य साधोर्निमित्त कृत भवेत्, तस्यैव साधोस्तद् आहारपानीय न कल्पते, अन्येषा तु कल्पते ।—कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, टीका—प० २।१

(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी

४ दशवैकालिक–५-१, ५५।६, ४८-४९।८, २३।१०४

५ प्रश्नव्याकरण, सवर, द्वार १, ५,

६ सूत्रकृताङ्ग, १।९।१४

७ उत्तराध्ययन २०।४७

८ आचाराग अ० २, उद्दे० ६,

९ भगवतीशतक १, उद्दे० ९

१० जे नियाग ममायति, कीयमुद्देसियाहड ।
वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ।—दशवैकालिक ६।४८

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति-उपाश्रय) देकर ससार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[1] अर्थात्, वह गृहपति जिसके मकान मे श्रमण ठहरे हुए हो।[2] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वय गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य व्यक्ति शय्यातर होता है।[3] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[4] निशीथ भाष्य और चूर्णि मे उन सभी मतो का निर्देश किया गया है, तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है—"श्रमण जिस स्थान मे रात्रि रहे, सोए और चरमावश्यक कार्य करे उसका अधिपति शय्यातर होता है।[5]

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य हैं और तृण, राख, पाट, बाजाट आदि ग्राह्य हैं।[6] सूत्रकृताङ्ग मे शय्यातर के स्थान मे—"सागारिय पिण्ड" लिखा है।[7] पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने

---

१ तत्थ वसहीए साहुणो ठिना ते वि सारक्खिउ तरति, तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्र तरति त्ति सिज्जन्तरो।
—निशीथभाष्य पृ १३१

२ (क) सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण ससार तरति, सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
—दशवैकालिक अगस्तसिह चूर्णि,

(ख) आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य याणेण साहूण ससार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्त भवइ—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११३

(ग) शय्या-वसतिस्तया तरति ससार इति शय्यातर साधुवसतिदाता तत्पिण्ड।
—दशवैकालिकहारिभद्रीया वृत्ति ११७

३ सेज्जातरो पभू वा, पभुसदिट्ठो व होति कातव्वो।
—निशीथभाष्य गा० ११४४

४ निशीथ भाष्य गा० ११४६--४७ चूर्णि

५ जत्थ राउद्विता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमा-वस्सय कय तो सेज्जातरो भवति।
—निशीथ भाष्य गा० ११४८ चूर्णि

६ दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिण्डो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥
दुविह चउव्विह छव्विह च एगगाहाए वक्खाणेति—आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ। असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो।
आहारो उवकरण च एस दुविहो। बे दुया चउरो त्ति, सो इमो-अण्ण पाण ओहिय उ वग्गहिए य, एसो छव्विहो।
इमो अट्ठविहा—
असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्थादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥
असणे पाणे वत्थे, पादे सुती आदि जेसिं ते सूतीयादिगा-सूती पिप्पलगो नखरदनी कण्णसोहणय इमो बारसविहो असणाइया चत्तारि, वत्थाइया चत्तारि, सूतियादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का बारस भवति।
इमो पुणो अपिण्डो—
तण-डगल-छार, मल्लग, सेज्जा-सथार-पीढ-लेवादी
सेज्जातरपिंडेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥
लेवादी, आदि सद्दातो, कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिण्डो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो धूया वा वत्थ-पायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिण्डो ण भवति।—निशीथ भाष्य, गा० ११५१-५४ चूर्णि

७ सागरिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया। —सूत्रकृताङ्ग १।९।१६



औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-वसन भवन आदि ।[1] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और असेव्य है । यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह कह दे कि यह अशनादि मुझे नही कल्पता ।[2] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और न अन्य श्रमणो को ही ग्रहण करना कल्पता है किन्तु बावीस तीर्थंकरो के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नही कल्पता, पर शेष श्रमणो के लिए वह ग्राह्य हो सकता है ।[3]

दशवैकालिक,[4] प्रश्न व्याकरण,[5] सूत्रकृताङ्ग,[6] उत्तराध्ययन,[7] आचाराग[8] और भगवती,[9] आदि आगमो मे अनेक स्थलो पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा का अनुमोदन होता है ।[10]

---

१ (क) उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्त आरम्भोत्ति वुत्त भवति ।

— दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) "उद्देसिय ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवमौद्देशिक ।

—दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६

२ असण पाणग वा वि, खाइम साइम तहा ।
ज जाणेज्ज सुणेज्ज वा, समणट्ठा पगड इम ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिय ।
देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पई तारिस ॥

—दशवै० अ० ५ उ० १ गा० ५१–५२

३ (क) सघाद्दुद्देसेण ओघाईहिं, समणाइ अहिगच्च ।
कडमिह सव्वेसिं चिय न कप्पई पुरिमचरिमाण ॥
मज्झिमगाण तु इम, ज कडमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति ।
नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ त एस मेरत्ति ॥

—कल्पसमर्थन गा० ४–५ प० १

(ख) "औद्देशिकम्" एकस्य साधोर्निमित्त कृत आहारपानीय च आधाकर्माख्य सर्वेषा साधूना न कल्पते । द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना तु यस्य साधोर्निमित्त कृत भवेत्, तस्यैव साधोस्तद् आहारपानीय न कल्पते, अन्येषा तु कल्पते ।—कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, टीका—प० २।१

(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी

४ दशवैकालिक–५-१, ५५।६, ४८-४९।८, २३।१०४

५ प्रश्नव्याकरण, सवर, द्वार १, ५,

६ सूत्रकृताङ्ग, १।९।१४

७ उत्तराध्ययन २०।४७

८ आचाराग अ० २, उद्दे० ६,

९ भगवतीशतक १, उद्दे० ९

१० जे नियाग ममायति, कीयमुद्देसियाहड ।
वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ।—दशवैकालिक ६।४८

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति-उपाश्रय) देकर ससार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[1] अर्थात्, वह गृहपति जिसके मकान मे श्रमण ठहरे हुए हो।[2] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वय गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य व्यक्ति शय्यातर होता है।[3] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यो के विभिन्न मत है।[4] निशीथ भाष्य और चूर्णि मे उन सभी मतो का निर्देश किया गया है, तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है— "श्रमण जिस स्थान मे रात्रि रहे, सोए और चरमावश्यक कार्य करे उसका अधिपति शय्यातर होता है।[5]

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य है और तृण, राख, पाट, बाजोट आदि ग्राह्य है।[6] सूत्रकृताङ्ग मे शय्यातर के स्थान मे—"सागारिय पिण्ड" लिखा है।[7] पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने

---

१ तत्थ वसहीए साहुणो ठिना ते वि सारक्खिउ तरति, तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्र तरति त्ति सिज्जन्तरो।
—निशीथभाष्य पृ १३१

२ (क) सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण ससार तरति, सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि,

(ख) आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य याणेण साहूण ससार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्त भवइ—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११३

(ग) शय्या-वसतिस्तया तरति ससार इति शय्यातर साधुवसतिदाता तत्पिण्ड।
—दशवैकालिकहारिभद्रीया वृत्ति ११७

३ सेज्जातरो पभू वा, पभुसदिट्ठो व होति कातव्वो।
—निशीथभाष्य गा० ११४४

४ निशीथ भाष्य गा० ११४६–४७ चूर्णि

५ जत्थ राउट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमा-वस्सय कय तो सेज्जातरो भवति।
—निशीथ भाष्य गा० ११४८ चूर्णि

६ दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति वारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिण्डो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥
दुविह चउव्विह छव्विह च एगगाहाए वक्खाणेति—आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ। असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो।
आहारो उवकरण च एस दुविहो। वे दुया चउरो त्ति, सो इमो-अण्ण पाण ओहिय उ वग्गहिए य, एसो छव्विहो।
इमो अट्ठविहा—
असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्यादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥
असणे पाणे वत्थे, पादे सुती आदि जेसि ते सूतीयादिगा-सूती पिप्पलगो नखरदनी कण्णसोहणय इमो वारसविहो असणाइया चत्तारि, वत्थाइया चत्तारि, सूतियादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का वारस भवति।
इमो पुणो अपिण्डो—
तण-डगल-छार, मल्लग, सेज्जा-सथार-पीढ-लेवादी
सेज्जातरपिंडेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥
लेवादी, आदि सद्दातो, कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिण्डो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो धूया वा वत्थ-पायसहिता पव्वएज्जा मो सेज्जातरपिण्डो ण भवति।—निशीथ भाष्य, गा० ११५१-५४ चूर्णि

७ सागरिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया। —सूत्रकृताङ्ग १।९।१६



शय्यातर पिण्ड किया है।[१]

राजपिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात् जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है उसका भोजन राजपिण्ड है।[२] जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नही करना चाहिये। अन्य राजाओ के लिए नियम नही है। यदि दोष की सभावना है तो ग्रहण नही करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[३]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है राजकीय भोजनसरम मधुर व मादक होता है। जिसके सेवन से रसलोलुपता बढने की सभावना रहती है। वह सरस आहार सर्वत्र सभव नही, रसलोलुप मुनि कही अनेषणीय आहार ग्रहण न करे अन राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणा शुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है।[४] यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[५] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य रहे हुए है[६], जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि मे किया गया है। राजभवन मे प्राय सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रतादि के कारण

---

१ सागारिक "शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहार।

—सूत्रकृताङ्ग १।६।१६ टीका प० १८१

२ (क) मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिण्डो।

— दशवैकालिक अगस्त्यसिह चूर्णि

(ख) मुद्धाभिसित्तरण्णो पिण्ड -राजपिण्ड।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२-१३

(ग) मुदिसाइगुणो राया अट्ठविहो तस्स होइ पिंडुत्ति।
पुरिमेअराण एसो वाघायाईहिं पडिकुट्ठो॥

—कल्पदर्शनम् गा० ६ पृ० १

(घ) "राजपिण्ड" राजा-छत्रधर, तस्य पिंड.।

—कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ० २ समयसुन्दर

(ङ) 'रायपिण्ड' न्ति राजपिण्ड, तत्र राजा-छत्रधर सेनापति-पुरोहित-श्रेष्ठच-मात्य सार्थवाहरूपै पञ्चभिर्ल-क्षणैर्युतो मूर्द्धाभिषिक्तस्तस्य अशनादिचतुर्विध आहारो वस्त्र पात्र कबल रजोहरण चैत्यष्टविध पिण्ड '

—कल्पार्थबोधिनी ४ पृ० २

३ निशीयभाष्य गा० २४८७, चूर्णि

४ (क) अतो सो रायपिंडो गेहिपडिसेहणत्थ एषणा रक्खणत्थ च न कप्पइ।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११२-६३

(ख) एषणा रक्खणाए एतेसि अणातिण्णो।

—दशवै० अगस्त्यसिह चूर्णि।

५ जे भिक्खू रायपिण्ड गेण्हइ गेण्हत वा सातिज्जाति जे भिक्खू रायपिंड भुजइ भुजत वा सातिज्जति।

—निशीथ ९।१।२

६ (क) निर्गच्छदागच्छत्सामन्तादिभि स्वाध्यायस्य अपशकुनबुद्धचा शरीरादेश्च व्याघातसम्भवातसरवाद्यलोभ-लघुत्व निन्दादिबहुदोषसम्भवाच्च "

—कल्पार्थबोधिनी कल्प ४ पृ० २

(ख) ईनरपभिईहिं तहिं, वाघाओ खद्धलोहु दाराण।
दसण सगो गरहा, इअरेंमि न अप्पमायाओ॥—कल्पसमर्थन १०।१

श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की सभावना रहती है ।[1] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अत राजपिण्ड को अनाचार माना है ।[2]

महावीर और श्रीऋषभदेव के श्रमणो के लिए ही राजपिंड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए नही[3]। राजपिण्ड से चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ये आठ वस्तुए ग्रहण की गई हैं और आठो अग्राह्य मानी है ।[4]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से सयमादि मे जेष्ठ व सद्गुणो मे श्रेष्ठ श्रमणो का खडे होकर हृदय से स्वागत करना । उन्हे बहुमान देना । उनकी हितशिक्षाओ को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना ।[5]

चौवीस ही तीर्थंकरो के श्रमण अपने से चारित्र मे जेष्ठ श्रमणो का वन्दन—नमस्कार करते है । यह कल्प सार्वकालिक है ।[6]

---

१ निशीथ भाष्य गा० २५०३-२५१०

२ सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।
सबाहणा दतपहोयणा य, सपुच्छणा देहपलोयणा य ।।
— दशवैकालिक ३।३

३ (क) श्रीआदिनाथमहावीरसाधूना न कल्पते अजितादि २२ तीर्थंकरसाधूना तु कल्पते ।
—कल्पलता टीका

(ख) कल्पद्रुमकलिका पृ० २

४ असणाईण चउक्क वत्थ तह पत्त पायपु छणए ।
निवपिडम्मि न कप्पई पुरिमतिमजिणजईण तु ।।
—कल्पसमर्थन गा० ११ प० २

५ (क) कितिकम्म दुविध-अब्भुट्ठाण वदण च । त दुविह पि इमोवि "जहारुह करेति, इमो वि जहारुह ।
अहवा -कितिकम्म सव्वाहि सजतीहिं अज्जदिखियस्स वि सजतस्स कायव्व दो वि तुल्लमिच्छति । इमस्स वि पच महव्वयाणि । जो पढम पचमहव्वयारूढो सो जिट्ठो सामाइए वा ठविओ ।
—निशीथ चूर्णि द्वि० भा० पृ० १८७-८८

(ख) किइकम्मपि य दुविह, अब्भुट्ठाण तहेव वदणय ।
समणेहि समणीहि य, जहारिह होइ कायव्व ।।
—कल्पसमर्थन गा० १२ प० २

(ग) कृतकर्म वदणक चतुर्विशतितीर्थंकराणामपि लघुसाधुना वृद्धसाधु वन्दनीयो वन्दनकानि देयानि ।।
—कल्पसूत्र कल्पलता प० २

(घ) कियकम्मे । कृतकर्म-लघुना साधुना वृद्धस्य साधोश्चरणयोर्वन्दनकानि दातव्यानि ।
—कल्पद्रुम कलिका टीका पा० २

(ङ) कल्पार्थबोधिनी टीका ।

६ सव्वाहि सजईहि, किइकम्म सजयाण कायव्व ।
पुरिसुत्तमुत्ति धम्मो सव्वजिणाणपि तित्थेसु ।।
—कल्पसमर्थन गा० १३



व्रत

व्रत का अर्थ विरति है ।[1] विरति असत् प्रवृत्ति की होती है। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये एकार्थक शब्द हैं ।[2] व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो ही अर्थो मे होता है । जैसे—

"वृषलान्न व्रतयति" अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है । "पयो व्रतयति" अर्थात् पय पीता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही खाता । इसी तरह असत् प्रवृत्तिका परिहार और सत् मे प्रवृत्ति इन दोनो अर्थों मे व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है ।[3] भगवान् श्री महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते है और अन्य बावीस तीर्थंकरो के श्रमण चार यामो का । इसका क्या रहस्य है ? यह प्रश्न भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशीकुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था । उन्होने गौतमगणधर से पूछा ।[4] गौतम ने समाधान करते हुए कहा—

विज्ञवर ! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु जड होते हैं । अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड होते है और मध्य के तीर्थंकरो के श्रमण ऋजुप्राज्ञ होते है । प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते है और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यो को धर्मपालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणो के लिए समझना और पालना सुलभ होता है ।[5]

चातुर्याम और पचयाम का जो भेद है वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि से । मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह-त्याग मे ही चतुर्थव्रत का समावेश कर लेते थे । कञ्चन और कान्ता दोनो का वे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझते थे ।[6] कुछ आधुनिक चिन्तको ने लिखा है कि वे कान्तायुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक है ।

ज्येष्ठ

जैनधर्म गुणप्रधान होने पर भी पुरुषज्येष्ठ है । शतवर्ष दीक्षिता साध्वी भी अद्यदीक्षित श्रमण को भक्ति-भावना से नमन करती है ।[7]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—बावीस तीर्थकरो के समय श्रमणो के सामायिक चारित्र ही होता है पर

---

१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।
—तत्वार्थसूत्र ७।१

२ अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ।
—तत्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य

३ तत्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य की टीका

४ उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २३-२४

५ उत्तरा० अ० २३ गाथा २५-२७

६ पचवओ खलु धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाण, चउव्वओ होइ विन्नेओ ॥
नो अपरिग्गहियाए, इत्थीए जोण होइ परिभोगो ।
ता तव्विरई इच्चिअ, अबभविरइत्ति पन्नाण ॥
—कल्पसमर्थनम्, गा० १४-१५ प० २

७ वरिसमयदिक्खिआए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
अभिगमणवदणनम—सणेण विणएण सो पुज्जो ॥—कल्पलता टीका मे उद्धृत

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय श्रमणो के सामायिक चारित्र के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार मे ही श्रमण श्रेष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग मे सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघुदीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बडी दीक्षा कहते है।[1]

जेष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ है कि पिता, पुत्र, राजा, मत्री, सेठ, मुनीम, माता, पुत्र आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करे या पिता, राजा, सेठ, माता आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता पुत्र आदि के अन्तर्मानस मे प्रव्रज्या लेने की भावना उदबुद्ध होती है, तो चार छ माह तक उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर जेष्ठ बनावे।[2]

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैनधर्म की साधना का आवश्यक अग है। प्रतिक्रमण का अर्थ है प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग का प्राप्त करने के पश्चात् पुन शुभ योग को प्राप्त करना।[3] मन, वचन और तन से कृत कारित और अनुमोदित पापो की निवृत्ति के लिए आलोचना करना, पश्चात्ताप करना, निन्दा करना, अशुद्धता का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप जिन पाप कर्मों का निर्ग्रन्थ श्रमणो के लिए निषेध किया गया है, उनका यदि सेवन हो गया तो प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिन शुभ कृत्यो का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थंकरो के समय के साधक अतीव विवेकनिष्ठ एव जागरूक थे, अत वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।[4]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सावत्सरिक इन पाँच प्रतिक्रमणो मे से बावीस तीर्थंकरो के समय दैवसिक, और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे।[5] शेष नहीं। जिनदास गणि महत्तर ने स्पष्ट कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियमित रूप मे उभयकालिक प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोषकाल मे भी ईर्यापथ आदि के रूप मे तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थं-

---

१ (क) उवठावणाइ जिट्ठो, विन्नेओ पुरिमपच्छिमजिणाण।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाण निरइयारो॥
—कल्पसमर्थनम्, गा १७ प० २

(ख) श्री आदीश्वर-महावीरयो साधूना दीक्षाद्वय भवति, एका लघ्वी दीक्षा, अपरा बृहती दीक्षा भवति। लघुत्वम् वृद्धत्व च वृहद्दीक्षया गण्यते। द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना तु दीक्षाया भवन्त्या सत्यामेव लघुत्वम् वृद्धत्व गण्यते एष जेष्ठकल्प उच्यते।—कल्पद्रुमकलिका टीका प० २-३

२ सह प्रव्रजिताना पितापुत्र-मातासुता-नृपामात्यादीना समकमेव षड्जीवनिकायाध्ययनयोगोद्वहनादियोग्यताप्राप्ताना स्तोकान्तरिताना वा किञ्चिद्विलम्बेनापि पित्रादीनामेव प्रथममुपस्थापना विधेया।
—कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी टीका पा० २

३ देखिए आवश्यक एक जीवनदृष्टि १ निबन्ध टिप्पण।

४ सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० १२४४

५ देवसिय, राइय, पक्खिय, चउमासिय, वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाण तु पढमा॥
—सप्ततिस्थानक



करो के शासनकाल मे दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नही था।[1]

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर हो कर न रहे।[2] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[3] विहार की दृष्टि से काल को दो भागो मे विभक्त किया गया है।[4] वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल, वर्षाकाल मे श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल मे एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अत उसे सवत्सर कहा है।[5] बृहत्कल्पभाष्य मे वर्षावास का परम-प्रमाण चार माह बताया है।[6] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक माह।[7] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान मे वर्षाऋतु मे वर्षावास किया हो उस स्थान मे दो चातुर्मास्य अन्यत्र किये बिना चतुर्मास्य न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा मे तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नही है। किन्तु स्थविर अगस्त्यसिह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[8]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणो के लिए ही मासकल्प का विधान है। शेष बावीस तीर्थंकरो के लिए नही। वे चाहे तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते है और चाहे तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं।

पर्युषणाकल्प

"परि" उपसर्गपूर्वक वस् धातु से "अन" प्रत्यय लगकर पर्युषण शब्द बना है, जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना। परभाव से हटकर स्वभाव मे रमण करना। आत्ममज्जन, आत्मरमण, या आत्मस्थ होना। यह

---

१ पुरिमपच्छिमएहिं उभओ काल पडिक्कमितव्व इरियावहियमागतेहिं उच्चारपासवण-आहारादीण वा विवेग काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्स पडिक्कमितव्व एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाण तित्थे जदि अतियारो-अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वरत्तावरत्त वा अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति। नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असढा पण्णावन्ता परिभाणगा न य पमादबहुला, तेण तेसिं एव भवति।—आवश्यकचूर्णि, जिनदास

२ कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, हेमत-गिम्हासु चारए।
—बृहत्कल्पभाष्य का० १।३६

३ भारड पक्खी व चरेऽप्पमत्ते —उत्तराध्ययन अ० ४ गा० ६

४ सवच्छर इति कालपरिमाण। त पुण णेह बारसमासिग सवज्झति किन्तु वरिसारत्ता चातुर्मासित स एव जेट्ठोग्गहो।—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि।

५ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।३६

६ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।६।७।८

७ सवच्छर चावि पर पमाण, बीय च वास न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ।।—दशवैकालिक, द्वितीयचूलिका गा० ११

८ बितिय च वास-बितिय ततो अणतर च सद्देण ततियमवि जतो भणित तद्दुगुण, दुगणेण अपरिहरित्ता ण वट्टति ततिय च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा।—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि

पुनीत पर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचास और पचासवें दिन मनाया जाता है।[1] जिसे संवत्सरी महापर्व कहते हैं।

पर्युषणा कल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन और निरावलंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है—सकारण और निरावलंबन का अर्थ है बिना कारण। निरावलंबन के भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप दो भेद हैं।[2]

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परियाय ववत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसना (५) पज्जुसणा (६) वासावास (७) पढमसमोसरण (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।[3]

यद्यपि ये सब नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमे किंचित् अर्थभेद भी है।[4] पर्युषणा के वर्षों की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता-कनिष्ठता गिनी जाती है, अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है।[5] वर्षावास मे भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायो का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम "पज्जोसमणा" है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह 'कल्प' 'पागइया' कहलाता है।[6]

---

१ (क) पुरिमनिमतित्थगराण, मासकप्पो ठिओ मुणेयव्वो।
मज्झिमगाण जिणाण, अट्ठियओ एस विन्नेओ॥
—कल्पसमर्थनम् गा० १९ प० २

(ख) 'मासकल्प' श्रीआदिनाथमहावीरसाधुभि शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते। द्वाविंशतितीर्थंकरसाधुभिस्तु न मासकल्प क्रियते। —कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ग) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका व्याख्यान—कल्पद्रुम कलिका प० ३।२

२ (क) समणे भगव महावीरे वासावास सवीसईराइ मासे विइक्कते सत्तरि राइदिएहिं वासावास पज्जोसवेइ।
—समवायाङ्ग ७ वा समवाय

(ख) तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराए मासे विइक्कते वासवास पज्जोसवेइ।
—कल्पसूत्र २२४ पृ० ६९ पुण्य

३ (क) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी टी० प० ३।१

(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

४ (क) पज्जोसवणाए अक्खराइ, होंति उ इमाइ गोण्णाइ।
परियायवत्थवणा, पज्जोसवणा, य पागइता॥३१३८
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसवणा य वासवासो य।
पढम समोसरण त्ति य, ठवणा 'जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥ ३१३९
पज्जोसवण त्ति एतेसि अक्खराणि इमाणि एगट्ठिताणि गोण्णणामाणि अट्ठ भवति। त जहा—परियायवत्थवणा पज्जोसवणा य, परिवसणा, पज्जुसणा वासावासो, पढमसमोसरण, ठवणा, जेट्ठोग्गहो त्ति एते एगट्ठिता।
—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृतीय भा० प० १२५-१२६, ज्ञानपीठ, आगरा

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति, गा० १।२

५ (क) एतेसि इमो अत्थो-जम्हा पज्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते-व्यवस्थाप्यते सखा—'एत्तिया वरिसा मम उवट्ठावियस्स त्ति तम्हा परियायवत्थवणा भण्णति—निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव, चूर्णि १।२।८५ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

६ (क) जम्हा उदुवद्धिया दव्व-खेत्त-काल-भावा पज्जाया, एत्थ परिसमता ओसविज्जति-परित्यजन्तीत्यर्थ, अण्णे य दव्वादिया वरिसकालपायोग्गा घेत्तु आयरिज्जति, तम्हा पज्जोसवणा भण्णति 'पागय' त्ति सव्वलोगपसिद्धेण पागतभिधाणेण पज्जोसवणा भण्णति।—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५-२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव चूर्णि १।२६।८५



करने की आवश्यकता है दोष लगने पर ही शुद्धि कर ली जाती थी उभयकाल नियमित प्रतिक्रमण का विधान नहीं था।[१]

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे।[२] भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[३] विहार की दृष्टि से काल को दो भागों में विभक्त किया गया है।[४] वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल में श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल में एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अतः इसे संवत्सर कहा है।[५] बृहत्कल्पभाष्य में वर्षाकाल का उत्कृष्ट प्रमाण चार माह बताया है।[६] और हेमन्तकाल का प्रमाण एक माह।[७] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो अर्थात् जिस स्थान में वर्षाऋतु में वर्षावास किया हो उस स्थान में दो चातुर्मास्य अन्यत्र किये बिना चातुर्मास्य न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा में तृतीय बार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[८]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है। शेष बावीस तीर्थंकरों के लिए नहीं। वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं।

पर्युषणाकल्प

परि उपसर्गपूर्वक वस् धातु से 'अन' प्रत्यय लगाकर पर्युषण शब्द बना है जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना। परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना। आत्मसंगोपन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। यह

---

१ पुरिमपच्छिमएहिं उभओ काल पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चारपासवण-आहारादीण वा विवेग काऊण पदोसपच्चूसेसु अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव कारणेहिं। मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो-अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा पुव्वण्हो अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वरत्तावरत्त वा अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति। नत्थि तो न पडिक्कमन्ति जेण ते असढा पण्णावन्ता परिणामगा न य पमादबहुला तेण तेसि एवं भवति।—आवश्यकचूर्णि, जिनदास

२ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत-गिम्हासु चारए।

—बृहत्कल्पभाष्य गा० ६१३६

३ भारण्ड पक्खी व चरेऽप्पमत्ते—उत्तराध्ययन अ० ४ गा० ६

४. संवच्छर इति कालपरिमाणं। त पुण एह बारसमासिं संवच्छरं किन्तु वरिसारत्त चातुर्मासित स एव जेट्ठोग्गहो।—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।

५ बृहत्कल्पभाष्य गा० ६१३६

६ बृहत्कल्पभाष्य गा० ६१६१७।८

७ संवच्छरं चावि परं पमाणं, बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥—दशवैकालिक, द्वितीयचूलिका गा० ११

८ बितियं च वास-बितियं ततो अणंतरं च महेण ततियमवि जतो भणित तद्दुगुणं दुगुणेण अपरिहरित्ता ण वट्टति ततियं च परिहरिज्ज णत्थे होज्जा।—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि

पुनीत पर्व आषाढी पूर्णिमा से उनपचास और पचासवें दिन मनाया जाता है।[1] जिसे सवत्सरी महापर्व कहते है।

पर्युषणा कल्प का दूसरा अथ है एक स्थान पर निवास करना । वह सालवन और निरावलवन रूप दो प्रकार का है। सालवन का अर्थ है—सकारण और निरावलवन का अर्थ है विना कारण। निरावलवन के भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप दो भेद हैं।[2]

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार वतलाये गये हैं—(१) परियाय ववत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसना (५) पज्जुसणा (६) वासावास (७) पढमसमोसरण (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।[3]

यद्यपि ये सव नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमे किंचित् अर्थभेद भी है।[4] पर्युषणा के वर्षो की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की जेष्ठता-कनिष्ठता गिनी जाती है, अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है ।[5] वर्षावास मे भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायो का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम "पज्जोसमणा" है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह 'कल्प' 'पागइया' कहलाता है।[6]

---

१ (क) पुरिमनिमतित्यगराण, मासकप्पो ठिओ मुणेयव्वो।
मज्झिमगाण जिणाण, अट्ठियओ एस विन्नेओ॥
—कल्पसमर्थनम् गा० १९ प० २

(ख) 'मासकल्प' श्रीआदिनाथमहावीरसाधुभि शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते । द्वाविंशतितीर्थंकर-साधुभिस्तु न मासकल्प क्रियते। —कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ग) कल्पसूत्र सुवोधिका टीका व्याख्यान—कल्पद्रुम कलिका प० ३।२

२ (क) समणे भगव महावीरे वासावास सविसईराइ मासे विइक्कते सत्तरि राइदिएहिं वासावास पज्जोसवेइ।
—समवायाङ्ग ७ वा समवाय

(ख) तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराए मासे विइक्कते वासवास पज्जोसवेइ।
—कल्पसूत्र २२४ पृ० ६९ पुण्य

३ (क) कल्पसूत्र कल्पार्थवोधिनी टी ० प० ३।१

(ख) कल्पसूत्र सुवोधिका टीका

४ (क) पज्जोसवणाए अक्खराइ, होंति उ इमाइ गोण्णाइ।
परियायवत्थवणा, पज्जोसवणा, य पागइता ॥३१३८
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसवणा य वासवासो य।
पढम समोसरण ति य, ठवणा 'जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥ ३१३९
पज्जोसवण त्ति एतेसिं अक्खराणि इमाणि एगट्ठिताणि गोण्णणामाणि अट्ठ भवति। त जहा—परियायवत्थवणा पज्जोसवणा य, परिवसणा, पज्जुसणा वासावासो, पढमसमोसरण, ठवणा, जेट्ठोग्गहो त्ति एते एगट्ठिता ।
—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, तृतीय भा० प० १२५-१२६, ज्ञानपीठ, आगरा

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति, गा० १।२

५ (क) एतेसिं इमो अत्यो-जम्हा पज्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते-व्यवस्थाप्यते सखा—'एत्तिया वरिसा मम उवट्ठावियस्स त्ति तम्हा परियायवत्थवणा भण्णति—निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव, चूर्णि १।२१।८५ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

६ (क) जम्हा उडुवद्धिया दव्व-खेत्त-काल-भावा पज्जाया, एत्य परिसमता ओसविज्जति-परित्यजन्तीत्यर्थ, अण्णे य दव्वादिया वरिसकालपायोग्गा घेत्तु आयरिज्जति, तम्हा पज्जोसवणा भण्णति 'पागय' त्ति सव्वलोगपसिद्धेण पागतभिधाणेण पज्जोसवणा भण्णति।—निशीयसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५-२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव चूर्णि १।२६।८५





इस कल्प मे एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है, अतएव यह परिवास वर्षावास कहा गया है।[1] कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् मे ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है, अतएव उसे 'पढमसमोसरण' कहते है।[2] ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती है अतएव यह 'ठवणा' है।[3] ऋतुबद्धकाल मे एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल मे चार मास का अतएव इसे जेट्ठोग्गह—ज्येष्ठा-वग्रह कहते है।[4]

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की जाहिरात कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-पाँच दिन बढाते हुए अन्तत भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्तत वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति मे उल्लघन नही करना चाहिए।[5]

पचमी, दशमी और पचदशमी इन पर्वो मे ही पर्युषणा कल्प करना चाहिए, अपर्व मे नही। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्यकालक ने चतुर्थी तिथि मे पर्युषणा की प्रवृत्ति की थी, मगर इसे

---

१ जम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा-परिवसतीति तम्हा परिवसणा भण्णति।

—निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति ८५

२ उदुबद्धिया वास समीवातो जम्हा पगरिसेण ओसति सव्वदिसासु परिमाण-परिच्छिन्न तम्हा पज्जुसणा भण्णति पज्जोसवणा इति गतार्थ।— निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५-१२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति पृ० ८५

(ग) प्रथम आद्य बहूण समवातो समोसरण ते य दो समोसरणा-एग वासासु बितय उदुबद्धे। जतो पज्जोसवणा तो वरिस आढप्पति अतो पढम समोसरण भण्णति। —निशीथ, सूत्रभाष्य चूर्णि ३।१२६

(घ) कल्पचूर्णि बृ ८५

३ वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेहा ठविज्जति तम्हा ठवणा भण्णति

—निशीथ वही ३।१२६

४ (क) जम्हा उदुबद्धे एक्क मास खेत्तोग्गाहो भवति, वासावासासु चत्तारि मासा, तम्हा उदुबद्धियाओ वासे उग्गहो जेट्ठो भवति। एषा व्यजनतो नानात्व, नत्वर्थत। —निशीथसूत्र-सभाष्यचूर्णि ३।१२६

(ख) कल्पसूत्र चूर्णि ८५

५ (क) एत्थ तु पणग पणग कारणिय, जा सवीसतीमासो।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढीपुण्णि-मोसरण॥

कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० १६

(ख) आसाढपुण्णिमाए ठियाण जति तणडगलादीणि गहियाणि पज्जोसवणाकप्पो य कहितो तो सावण बहुलपचमीए पज्जोसवेंति। असति खेत्ते सावणबहुलदसमिए असति खेत्ते सावण बहुलस्स पण्णरसीय, एव पच पच ओ-सारेंतेण जाव असति भद्दवतसुद्धपचमीए, अतो परेण ण वट्टति अतिक्कामेतु। आसाढपुण्णिमातो आढत्त मग्गताण जाव भद्दवय जोण्हस्स पचमीए एत्थतरे जति ण लद्ध ताहे जति रुक्खहेट्ठे ठितो तो वि पज्जोसवे-तव्व एतेसु पव्वेसु जहा लभेण पज्जोसवेयव्व, अप्पव्वे ण वट्टति।

—कल्पसूत्र चूर्णि० पृ ८६ पुण्यविजयजी, सपा०

सामान्य नियम नही समझना चाहिए ।[1]

वर्षावास मे भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है । स्थानाग मे पाँच कारणो का निर्देश किया गया है । वे कारण ये है—(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए, (३) चारित्र के लिए, (४) आचार्य और उपाध्याय के काल करने पर, (५) आचार्य उपाध्याय आदि के वैयावृत्य के लिए ।[2]

भाष्य चूर्णि और टीका साहित्य मे कुछ अन्य भी कारण वर्षावास मे विहार करने के बताये हैं—जैसे कि "दुष्काल के कारण भिक्षा की उपलब्धि न होने से, राजप्रकोप होने से, रोग आदि उत्पन्न होने से, जीवोत्पत्ति का आधिक्य होने से, आदि-आदि ।[3]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए । किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो, वर्षा से मार्ग दुर्गम व भग्न हो गये हो, कीचड अधिक हो, बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है ।[4]

---

१ कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९

२ कप्पइ पचहिं ठाणेहिं णिग्गथाण णिग्गथीण पढमपाउससि गामाणुग्गाम दूइज्जत्तए त० णाणट्ठयाए, दसणट्ठयाए चरित्तट्ठाए, आयरिय उवज्झायाण वा से विसु भेज्जा आयरियउवज्झायाण वा वहिया वेयावच्चकरणाए ।

—स्थानाङ्ग सूत्र ५ वा स्थान

३ (क) तत्थ अपत्ते इमे कारणा —

राया कुथू सप्पे, अगणिगिलाणे य थडिलस्सऽसती, एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ णिग्गमण ।।३१५८

राया दुट्ठो, सप्पो वा वसहिं पविट्ठो, कुथूहि वा वसही ससत्ता, अगणिणा वा वसही दड्ढा, गिलाणस्स परिचरणट्ठा गिलाणस्स वा ओसहहेउ, थडिलस्स वा असतीते, एतेहिं कारणेहिं अप्पत्ते चउपाडिवए णिग्गमण भवति । अहवा इमे कारणा—

काइयभूमी सस्थारए, य ससत्त दुल्लभे भिक्खे ।

एएहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होति णिग्गमण ।। ३१५९

काइयभूमी ससत्ता, सथारगा वा ससत्ता, दुल्लभ वा भिक्ख जात, आययरसमुत्थेहिं वा दोसेहिं मोहोदओ जाओ, असिव वा उप्पण्ण, एतेहिं कारणेहिं अप्पत्ते णिग्गमण भवति ।

—सभाष्य निशीथ चूर्णि तृ० भा० पृ १३२-१३३

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २४-२५ पत्र २

(ग) कल्पसूत्र-कल्पलता, व्याख्यान १ पत्र २-३

४ चउप्पाडिवए अइक्कते निग्गमो इमेहिं कारणेहि—

वास न उवरमती, पथा वा दुग्गमा सचिक्खिला ।

एएहिं कारणेहिं अइक्कते होइ णिग्गमण ।।३१६०

अइक्कते वासाकाले वास नोवरमइ, पथो वा दुग्गमो, अइजलेण सचिक्खल्लो य, एवमाइएहिं कारणेहिं चउपाडिवए अइक्कते णिग्गमण ण भवति । ३१६०

अहवाइमे कारणा—

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

एतेहिं कारणेहिं, अइक्कते होयऽनिग्गमण ।। ३१६१

वहिं असिव ओम वा, वहिं वा रायदुट्ठ, वोहिगादिभय वा आगाढ, अगाढकारणेण वा ण णिग्गच्छति । एतेहिं कारणेहिं चउपाडिवए अतिक्कते अणिग्गमण भवति ।३१६१

—निशीथसूत्र, सभाष्य चूर्णि तृ० भा०

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २६, पृ २

(ग) कल्पसूत्र, कल्पलता प० ३।१ समयसुन्दर ।





वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहाँ पर तेरह गुण हो। वे गुण इस प्रकार हैं—(१)जहाँ पर विशेष कीचड न हो (२)अधिक जीवो की उत्पत्ति न हो (३) शौच स्थल-निर्दोष हो, (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो (५) गोरस की अधिकता हो। (६) जन समूह विशाल और भद्र हो, (७) मुज्ञ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, (१३) और जहाँ पर स्वाध्याय योग्य स्थान हो।[१]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणो के लिए वर्षावास-पर्युषणा का अनिवार्य विधान है, शेष बाईस तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए नही। वे वर्षा आदि के कारण से ठहरते भी थे और कारणाभाव मे विहार भी करते थे।[२]

इन दस कल्पो मे (१) आचेलक्य (२) औद्देशिक (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मासकल्प (६) पर्युषणा कल्प ये छह कल्प अस्थिर है।[३] और (१)शय्यातर पिण्ड (२) चतुर्थ महाव्रत रूप धर्म,(३) पुरुष ज्येष्ठ, (४) और कृतिकर्म ये चार कल्प अवस्थित है, और चौवीस ही तीर्थंकरो के शासन मे होते है।[४]

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थंकरो के श्रमणो का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम अन्तिम और बावीस तीर्थंकरो के श्रमणो के आचार कल्प मे यह अन्तर क्यो है ? अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यो हैं।

समाधान है—प्रथम तीर्थंकर के श्रमण जड और सरल होते थे। अजित आदि बावीस तीर्थंकरो के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड और वक्र होते है अत मोक्षमार्ग एक होने पर भी आचार कल्प मे अन्तर किया गया है।

---

१ (क) चिक्खल पाण थंडिल, वसही गोरस जणाउले विज्जे।
ओसह निचयाऽहिवई, पासडा भिक्ख सज्झाए॥
—कल्पसमर्थनम् गा० ३६, पृ० ३

(ख) कल्पसूत्र कल्पलता पृ० ५ मे उद्धृत

(ग) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पृ० ५ मे भी उद्धृत

२ दोसासइ मज्झिमगा, अच्छति अ जाव पुव्वकोडीवि।
इहरा उ न मासपि हु, एव खु विदेहजिणकप्पो॥
—कल्पसमर्थनम् गा० २८ प० २

३ (क) शेषेषु चाचेलक्यादिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प उक्त च—
ठिय अट्ठितो य कप्पो, आचेलक्काइएसु ठाणेसु।
सव्वेसु ठिया पढमो, चउठिय छसु अट्ठिया बीओ॥
—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति मे १२१

(ख) आचेलक्कुद्देसिय, पडिकमणे रायपिंड मासेसु।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो॥
—कल्पसमर्थनम् गा० २९ पृ० २

४ (क) सेज्जायर पिंडमि, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति मे उद्धृत प० १२१

पूर्वाचार्यो ने कल्प का महत्व प्रतिपादन करते हुए उसे तृतीय वैद्य की औषध के समान सभी के लिए हिता-वह बतलाया है।[1] कल्प एक ऐसी अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषमुक्त-अवस्था मे भी ग्राह्य है। दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नही लगा है तो जागृति रहने से भूल की धूल नही लगती।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जानेवाला आध्यात्मिक उपक्रम है। आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है। इसके पालन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है, और अन्धकार विलीन हो सकता है।



१ वाहिभवणेइ भावे, कुणइ अभावे तय तु पढमति।
विइअमवणेइ न कुणइ, तइय तु रसायण होइ।।
एव एसो कप्पो दोसा-भावेऽवि कज्जमाणो अ।
सुंदरभावाओ खलु, चारित्तरसायण होइ।।
एव कप्पविभागो, तइउरोसहनायओ गुणेयव्वो।
भावत्यजुओ इत्य उ, सव्वत्यवि कारण एय।।
—कल्पसमर्थन, गा० ३१ से ३३, पृ० ३

समन्तभद्र की जैनदर्शन को देन



श्री दरबारीलाल कोठिया,

एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,
प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) के पश्चात् जैन वाड्मय को जिस मनीषी ने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह स्वामी समन्तभद्र है । ये साहित्य और शिलालेखो मे विशिष्ट सम्मान के प्रदर्शक 'स्वामी' पद से विभूषित मिलते हैं। इनका यशोगान शिलालेखो तथा वाड्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारो के ग्रन्थो मे बहुलतया उपलब्ध है । अकलकदेव ने[1] स्याद्वादतीर्थ का प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्द ने[2] स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराज ने[3] सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरि ने[4] आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखो ने[5] 'वीरशासन की सहस्र गुणी वृद्धि करने वाला, श्रुतकेवलि-सन्तानोन्नायक', 'समस्तविद्यानिधि', 'शास्त्रकर्त्ता' एव 'कलिकाल-गणधर' कहकर उनका कीर्तिगान किया है । यथार्थ मे जब तत्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्याय को भूलने लगी, तो महान् आचार्य ने उसे उज्जीवित एव प्रभावित किया । अत ऐसे शासन-प्रभावक और तत्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषी का विद्वानो द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नही ।

इनका विस्तृत परिचय और समयादि का निर्णय प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थ मे दिया है । वह इतना प्रमाण-पूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि ४२ वर्ष बाद भी उसमे सशोधन, परिवर्तन की गुजाइश प्रतीत नही होती, वह आज भी बिल्कुल नया और चिन्तन पूर्ण है । अतएव यहा समन्तभद्र के परिचयादि के सम्बन्ध मे कुछ न कहकर उनकी उपलब्धियो पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगे ।

समन्तभद्र से पूर्व का युग

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म के प्रवर्तक क्रमश काल के अन्तराल को लिए चौवीस तीर्थंकर हुए है । इनमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्ट नेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौवीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक

---

१ (क) तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नम सन्ततम्

(ख) भव्यैकलोकनयन परिपालयन्त
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ।

—अष्टशती आरम्भिक मगल पद्य २ तथा समाप्तिश्लोक ?

और लोक प्रसिद्ध भी है। इन तीर्थंकरो के द्वारा जो उपदेश दिया गया वह 'द्वादशाग' कहा गया है। जैसे बुद्ध के उपदेश को 'त्रिपिटक' कहा जाता है। वह 'द्वादशाग' श्रुत दो भागो मे विभक्त है—(१) अग प्रविष्ट और (२) अगबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ता विशेष के कारण है। जो श्रुत तीर्थंकरो तथा उनके प्रधान एव साक्षात् शिष्यो द्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है। तथा जो इसके आधार मे उत्तरवर्ती आचार्य-प्रवक्ताओ द्वारा रचा गया वह अङ्ग-बाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के भी क्रमश बारह और चउदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट के बारह भेदो मे एक दृष्टिवाद है जो बारहवाँ श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवाद श्रुत मे[1] विभिन्न वादियो की एकान्त दृष्टियो एव मान्यताओ के निरूपण और समीक्षा के साथ उनका स्याद्वादन्याय मे समन्वय किया गया है। इस तथ्य को समन्तभद्र ने[2] अपनी कृतियो मे 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पद—प्रयोगो द्वारा व्यक्त किया है और सभी तीर्थंकरो को स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। भट्ट अकलक देव ने[3] भी उन्हे स्याद्वाद का प्रवक्ता तथा उनके शासन उपदेश को स्या-द्वाद के अमोघ लाछन से चिह्नित बतलाया है।

आगमो तथा षट्खण्डागम मे यद्यपि स्याद्वाद की स्वतत्र चर्चा एव प्ररूपणा नहीं मिलती, फिर भी सिद्धान्त प्रतिपादन 'स्यात्' (**सिया** अथवा **सिय**) शब्द को लिए हुए अवश्य उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ मनुष्यो को पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो बतलाते हुए कहा गया है कि '**सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता**' अर्थात् मनुष्य **स्यात्** पर्याप्तक है, **स्यात्**, अपर्याप्तक। भगवती (१४, ४, ५१२) मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रतिपादन किया है कि "**गोयमा ! सिय सासए सिय असासए।**" अर्थात् हे गौतम ! पुद्गल परमाणु **स्यात्**—द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है और **स्यात्**—रूपादि पर्यायो की अपेक्षा से अशाश्वत है। इसी प्रकार आगम मे कुछ दूसरे विषयो का भी निरूपण मिलता है। आ० कुन्द-कुन्द ने आगम के उक्त दो (विधि और निषेध अथवा तद् और अतद्) वचन-प्रकारो मे पाच वचन-प्रकार और मिला कर सात वचन-प्रकारो मे वस्तु (द्रव्य) प्ररूपण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदय।
दव्व खु सत्तभग आदेसवसेण सभवदि॥

—पचास्तिकाय गा० १४

'**स्यादस्ति द्रव्य स्यान्नास्ति द्रव्य स्यादुभय स्यादवक्तव्य स्यादस्त्यवक्तव्य स्यान्नास्त्यवक्तव्य स्यादस्तिनास्त्य-वक्तव्यम्।**' अर्थात् स्यात् द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नही है, स्यात् उभय है, स्यात् अवक्तव्य है, स्यात् है और अवक्तव्य है, स्यात् नही है और अवक्तव्य है, स्यात् है और नही है तथा अवक्तव्य है। इन सात भङ्गो का यहा उल्लेख हुआ है और उन्हे लेकर आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करने की सूचना की है। कुन्दकुन्द ने[4] यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि सद्रूप ही हो तो उसका विनाश नही

---

१ 'एषा दृष्टिशताना त्रयाणा षष्ट्युत्तराणा प्ररूपण निग्रहश्च क्रियते।'
वीरसेन, धवला पुस्तक १ पृ० १०८।

२ बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फल च मुक्ते।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्त नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥ स्वयम्भूस्तो० श्लो० १४।

३ (क) धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नम।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य स्वात्मोपलब्धये॥
—लघीय० १।१

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम्॥
—प्रमाणस० १।१।

४ पञ्चास्तिका० गा० १५, १७





हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नही है और चूंकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्य पर्याय से नष्ट, देवपर्याय से उत्पन्न तथा जीव सामान्य से ध्रुव रहने से वह उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के समय मे जैनवाड्मय मे दर्शन का रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नही हो सका था। आ० गृद्धपिच्छ के तत्वार्थसूत्र मे कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शन के रूप मे कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होने प्राकृत मे सिद्धान्त प्रतिपादन की पद्धति को संस्कृत-गद्यसूत्रो मे बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तो का निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञान मार्गणागत मत्यादि ज्ञानो को प्रमाण सज्ञा दी तथा उन्हे प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदो मे विभक्त किया। चौथे, दर्शनान्तरो मे पृथक् प्रमाण रूप मे स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सूत्र १/११) सूत्रद्वारा परोक्ष प्रमाण मे ही अन्तर्भाव किया। पाचवें, नैगमादिनयो को अर्थाधिगम का उपाय बताया। इस प्रकार उन्होंने कितना ही नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शन मे उन एकान्तवादो, सघर्षो और अनिश्चयो का तार्किक समाधान अभी तक नही आ पाया था, जो उस समय की चर्चा के विषय थे।

तत्कालीन स्थिति

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास मे दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनो मे अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनो परम्पराओ मे अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानो का आविर्भाव हुआ और ये सभी दार्शनिक अपने मण्डन तथा दूसरे के खण्डन मे लग गये। शास्त्रार्थो की बाढ-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलो को लेकर तत्व की मुख्यचर्चा होती थी और उनका चार कोटियो से विचार किया जाता था। तथा वादियो का अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खीचतान के कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी सजय के[2] अनुयायी तत्व को अनिश्चित ही बतलाते थे। उपर्युक्त युगलो मे लगने वाली चार कोटिया इस प्रकार होती थी—

१ सदसद्वाद

१ तत्व सत् है।
२ तत्व असत् है।
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय (अवक्तव्य) है

२ शाश्वत-अशाश्वतवद

१ तत्व शाश्वत है
२ तत्व अशाश्वत है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

---

१ सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते

३ द्वैत-अद्वैतवाद

१ तत्व द्वैत है
२ तत्व अद्वैत है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

१ तत्व वक्तव्य है
२ तत्व अवक्तव्य है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

समन्तभद्र की देन

समन्तभद्र ने प्रतिपादन किया कि तत्व उक्त चार ही कोटियों मे समाप्त नहीं है, अपितु सात कोटियों मे वह पूर्ण होता है।[1] उन्होंने बतलाया कि तत्व अनेकान्त रूप है[2]—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि, के युगल के आश्रय मे प्रकाश मे आने वाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है।[3] और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्व-सागर में अनन्त लहरों की तरह लहरा रहे है और इसी से उसमे अनन्त सप्त कोटिया (सप्तभङ्गिया) भरी पडी है। हाँ, द्रष्टा को सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वह जब तत्व का अमुक एक कोटि मे कहे या देखे-जाने तो यह समझे कि तत्व (वस्तु) मे वह धर्म अमुक अपेक्षा से रहता हुआ भी उसमे विद्यमान अन्य शेष धर्मों का

१ स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषक ॥

—आप्तमी० का० १०४ ।

२ (अ) तत्व त्वनेकान्तमशेषरूपम् ।

युक्त्यनु० का० ४६ ।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्व प्रमाणसिद्ध तदतत्स्वभावम् ।

—स्वयम्भूस्तो० ४१ ।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तर सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्ट विमिश्र तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषे परेषाम् ॥

—युक्त्यनुशा० का० ३२ ।

३ (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द-नेया सकलेऽर्थभेदे ॥

युक्त्यनु० का० ४५ ।

(ख) विधेय वार्य चानुभयमुभय मिश्रमपि तत्
विशेषै प्रत्येक नियमविषयैश्चापरिमितै ।
सदन्योन्यापेक्षै सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीत तत्व बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

—स्वयम्भूस्तो० का० ११८ ।



निषेधक नही है । केवल वह विवक्षावश मुख्य और अविवक्षावश अन्य धर्म गौण है ।[1] इसे ठीक तरह समझने और कहने के लिए उन्होने प्रत्येक कोटि (भङ्ग वचन प्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया ।[3] साथ ही उन्होने प्रत्येक कोटि की निर्णयात्मकता को प्रकट करने के लिए प्रत्येक वाक्य के साथ 'एव' कार पद का प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,[4] जिससे उस कोटि की वास्तविकता—निश्चयात्मकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नही । तत्व प्रतिपादन की इन सात कोटियो को उन्होने एक नया नाम भी दिया । वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया[5] – सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्गनय ।[6] समन्तभद्र की वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

सदसद्वाद

१ स्यात् सद्रूप ही तत्व है ।

२ स्यात् असद्रूप ही तत्व है ।

३ स्यात् उभयरूप ही तत्व है ।

४ स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्व है ।

५ स्यात् सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्व है ।

६ स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्व है ।

७ स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्व है ।

इस सप्तभङ्गी मे प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, तृतीय दोनो की सम्मिलित अपेक्षाओ से, चतुर्थ दोनो को एक साथ कहने की अपेक्षा से, पञ्चम प्रथम-चतुर्थ के

---

१ (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
—स्वयम्भूस्तो० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्योगुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
—वही, का० ५३

(ग) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥
—आप्तमी० का० १०३

२ (आ) तद्द्योतन स्याद् गुणतो निपात ।
—युक्त्यनु० ४३

३. स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि ।
—आप्तमी० का० १०४

४ (क) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
—युक्त्यनु० का० ।१४

(ख) अनुक्त-तुल्य यदनेवकार व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि ।
—वही, का० ४२

५ प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद
आप्तमी० का० २३ ।

सयोग से, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थ के मेल मे और सप्तम तृतीय-चतुर्थ के मिश्र रूप से विवक्षित हैं[1] और प्रत्येक भङ्ग का प्रयोजन पृथक्-पृथक्[2] है। जैसे कि समन्तभद्र के निम्न प्रतिपादन से प्रकट है।

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥
क्रमार्पित-द्वयात् द्वैत सहावाच्यमशक्तित।
अवक्तव्योत्तरा शेषास्त्रयो भङ्गा स्वहेतुत॥
धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिण।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्ताना तदङ्गता॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २१

समन्तभद्र ने सदसद्वाद की तरह अद्वैत-द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्ष कारणवाद इन एकान्त वादो पर भी विचार किया तथा उक्त प्रकार से उनमे भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियो) की योजना करके स्याद्वाद की स्थापना की।[3] इस तरह विचारको को उन्होने विचार की एक नयी दृष्टि (स्याद्वाद-दृष्टि—तत्व-विचार की पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-सघर्ष एव खीचतान को मिटाने मे महत्वपूर्ण योगदान किया। साथ ही दर्शन के लिए जिन उपादानो की आवश्यकता होती है उनका भी उन्होने सृजन किया तथा आर्हत दर्शन को अन्य दर्शनो के समकक्ष ही नही, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

जिन उपादानो की उन्होने सृष्टि करके उन्हे जैनदर्शन को प्रदान किया वे इस प्रकार है—

१ प्रमाण का तत्वज्ञान अथवा स्वपरावभासि लक्षण।[4]
२ प्रमाण के अक्रमभावि और क्रमभावि भेदो की परिकल्पना।[5]
३ प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलो का निरूपण।[6]
४ प्रमाण का विषय।[7]
५ नयका स्वरूप।[8]
६ हेतु का स्वरूप।[9]
७ स्याद्वाद का स्वरूप।[10]

---

१ कथञ्चित्ते सदेवेष्ट कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्य च नययोगान्न सर्वथा॥
—आप्तमी० का० १४

२ अवक्तव्योत्तरा शेषास्त्रयोभङ्गा स्वहेतुत।
—वही, का० १६

३ आप्तमी० का० २३, ११३

४ वही, का० १०१ तथा स्वयम्भूस्तो० का० ६३

५ आप्तमी० का० १०१

६ वही, का० १०२

७ वही, का० १०७

८, ९ वही, का० १०६

१० वही, का० १०४





८ वाच्य का स्वरूप ।[1]

९ वाचक का स्वरूप ।[2]

१० अभाव का वस्तु धर्म निरूपण एव भावानन्तर कथन ।[3]

११ तत्व का अनेकान्त रूप प्रतिपादन ।[4]

१२ अनेकान्त का स्वरूप ।[5]

१३ अनेकान्त मे भी अनेकान्त की योजना ।[6]

१४ जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप ।[7]

१५ स्यात् निपात का स्वरूप ।[8]

१६ अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि ।[9]

१७ युक्ति पूर्वक स्याद्वाद की व्याख्या ।[10]

१८ आप्त का तार्किक स्वरूप ।[11]

१९ वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।[12]

जैन न्याय के इन उपकरणो का उपस्थापन अथवा विकास करने के कारण ही मनीषीगण ने समन्तभद्र को जैनन्याय का आद्य-प्रवर्त्तक कहा है [13]

कृतियां

समन्तभद्र की ५ कृतिया उपलब्ध हैं—

१. **देवागम**—इसे आप्तमीमासा भी कहते है । इसमे दस परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं। यह समन्तभद्र की सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध और प्रभावपूर्ण रचना है ।

२ **स्वयम्भूस्तोत्र**—इसमे चौबीस तीर्थंकरो का दार्शनिक शैली मे गुणस्तवन है और १४६ श्लोक है जो बहुत गम्भीर और दुरूह हैं ।

---

१ वही, का० १११, ११२

२ वही, का० १०९

३ भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्म
भावान्तर भाववदर्हतस्ते
—युक्त्यनु० का० ५९

४ युक्त्यनु० का० २३

५ आप्तमी० का० १०७, १०८

६ स्वयम्भूस्तो० का० १०३

७ आप्तमी० का० ४८, १०५

८ स्वयम्भू० का० १०२

९ आप्तमी० का० ५

१० वही, का० ११३

३ युक्त्यनुशासन—यह ६४ पद्यों की अत्यन्त गम्भीर और जटिल दार्शनिक कृति है। इसमें वीरजिन की स्तुति की गई है।

४ जिन-शतक—इसे 'स्तुति-विद्या' भी कहते हैं। इसमें ११६ पद्यों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति प्रस्तुत की गई है। यह आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है।

५ रत्नकरण्डक श्रावकाचार - यह उपासकाचार विषयक १५० पद्यों की अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय महत्व की कृति है।

इनमें आदि की तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवी धार्मिक, (आचार-विषयक) कृतियां हैं। इनके अतिरिक्त भी समन्तभद्र की जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियों के उल्लेख मिलते हैं, पर वे अनुपलब्ध हैं।

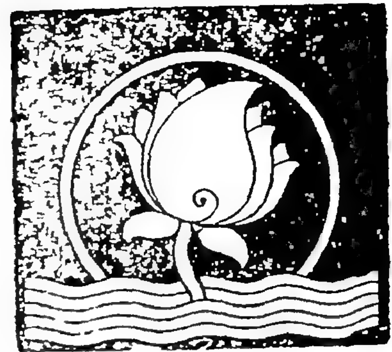
इस प्रकार हम देखते हैं कि समन्तभद्र की जैनदर्शन को अपूर्व देन है। इसी से सम्भवत उत्तरवर्ती ग्रन्थ-कारों द्वारा उन्हें बहुमान दिया गया है और उनके प्रतिपादन को प्रमाणवाक्य मानकर उन्हें अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके अपने कथन को प्रमाणित एवं समर्थित किया है।

●



मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभव

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'



समग्र भारतीय अध्यात्मसाधना का चरम लक्ष्य पारमात्मिक भाव की उपलब्धि है। आर्यो की आत्मा मे सम्पूर्ण आनन्दमूलक जो आस्था है, वह साधक को निरन्तर आगे बढने हेतु प्रेरित करती रहती है।

आत्मपरक समस्त वाड्मय का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कर्म विघ्न और विकृति, ये आत्मस्वभाव नही है। जो आत्मस्वभाव है वह इन से परे, अनिर्वचनीय सम्पूर्ण अविनाशी आनन्द से ओतप्रोत है। वह आत्मस्वभाव अभिन्न होते हुए भी सहज-अनायास व्यक्त नही होता। उसे पाने के लिये वैभाविक शक्तियो से सघर्प कर उन्हे आत्यन्तिक रूप से समाप्त करना पडता है। तभी आत्मा अपने ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य रूप सम्पूर्ण स्वभाव वैभव को प्राप्त कर पाता है।

ऐसी ही दृढ मान्यताओ के आधार पर आर्य साधको की साधनाए खडी होती है तथा श्रद्धा और अनुभव के सहारे आगे बढती है। प्राचीन ऋषि महर्षि व लोकोत्तम महापुरुषो ने दीर्घ साधनाए करके सत्य का साक्षात्कार किया और उसकी व्याख्याए प्रस्तुत की जो कई धर्मो व पथो के रूप मे आज विद्यमान है।

लक्ष्य एक होते हुए भी प्रक्रियाओ मे जो भिन्नता है वह देश काल तथा अधिकारी व अनुभव की दृष्टि से समझना चाहिये।

उन विभिन्न प्रक्रियाओ को, जिनमे से कई प्रसिद्ध तथा कई गुप्त है, अपनाकर साधक जब साधना के क्षेत्र मे आगे बढता है तो उसे कई तरह के अनुभव होते हैं। वे अनुभव बडे विभिन्न तथा आश्चर्यपूर्ण हैं। सामान्यतया उनको दो भागो मे बाट सकते हैं —

(१) वे अनुभव जो अध्यात्मसाधना मे सहायक बनकर साधक के उत्साह को बढाते है।

(२) वे अनुभव जो साधक को आकर्षित करके चमत्कृत कर देते हैं। अपरिपक्व साधक उन चमत्कारो मे उलझ कर साधनापथ से च्युत हो जाया करते हैं।

अध्यात्मसाधना के क्षेत्र मे जैनधर्मानुसार प्रत्येक साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिए चौदह भूमिकाए पार करनी होती है। जिन्हे चौदह गुणस्थान कहते है।

यो तो लक्ष्य पाने तक साधक मे योग्यता तथा अनुभवो की दृष्टि से अनेक परिवर्तन होते है किन्तु जो परिवर्तन प्रमुख तथा ग्राह्य है उनकी दृष्टि से ही यह विभाग है।

जैनेन्द्र (आर्हत) साधना करने वाला एक सफल साधक प्रारम्भ से अन्त तक अपने अन्तर-बाह्य परिवर्तनो को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कर्म प्रकृतियो के क्षय और उपशम को समझता भी है और उनकी आत्मदृष्ट्या विवेचना भी करता है।

इसके कई उदाहरण शास्त्रो मे और अन्यत्र उपलब्ध होते है। तीर्थंकर अपने भोगावली (उदय मे आने वाले) कर्म और उनकी स्थिति को पहले ही पहचान लेते है। फिर भी वे क्रमश उदय मे आने वाले कर्मों को भोग कर निर्जीर्ण करते हैं।

अनादि मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व मे विचरण करने वाली आत्मा को अपूर्व आनन्द का साक्षात् अनुभव होता है, यद्यपि ऐसे अनुभव सूक्ष्म व अनुभवगम्य हैं किन्तु आत्मा से परे नही हैं। महान् आध्यात्मिक महर्षि आनन्दघनजी ने ऐसे ही अनुपम आनन्द का अनुभव प्रकट करते हुए कहा —

'अब हम अमर भये न मरेंगे'

पार्थिव जीवन मे अमरता की दिव्यज्योति कर्मक्षय परपरा के अनुभव विना प्रकट हो नही सकती।

साधक को उच्च भूमिका मे जाने पर ही ऐसा अनुभव होता हो ऐसी वात नही, साधारणतया सम्यक्त्व (सत्य) लाभ होते-होते भी उसे विलक्षण अनुभव होने लगता है। श्रीमद्रायचन्द्र ने कहा —

दर्शन मोह व्यतीत थयो, उपज्यो बोध ज्यो
देहभिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो ।

भेदविज्ञान का प्रारम्भिक अनुभव भी नवीन साधक के लिये अनुपम ही होता है।

धैर्यपूर्वक साधना मे गतिमान होने पर अनुभवो का नया-नया खजाना खुलता रहता है। एक जगह उपासक आनन्द ने इन्द्रभूति गौतम को बताया कि मुझे विशिष्ट अवधिज्ञान है। किन्तु श्रीइन्द्रभूति का विश्वास नही हुआ कि एक गृहस्थ श्रावक को भी इतना उच्च ज्ञानानुभव हो सकता है। अन्त मे श्रमण भगवन्त महावीर ने आनन्द की वात का समर्थन किया तव कही श्रीगौतम का सशय मिटा।

जैनेन्द्र पद्धति का साधक क्रमश अवधि(समस्त रूपवान् पदार्थों को जान लेना), मन पर्याय (मन के स्वरूप को प्रत्यक्ष देखना), केवलज्ञान (सार्वत्रिक सार्वकालिक समस्त अभिव्यक्तियो का सर्वथा साक्षात्कार होना) के महान अनुभव पा लेता है। इनके अतिरिक्त तेजोलेश्या (अग्निमयी दृष्टि), आहारकशरीर सिद्धि (समाधान प्राप्ति का साधन विशिष्ट शरीर), वैक्रिय शरीर (विविध प्रकार की आकृतिया वनाने की क्षमता), जघाचारण, विद्याचारण आदि गगनगामिनी विद्याए आदि कई प्रकार की लब्धियो को भी प्राप्त कर लेता है, जिनका प्रयोग सयम की विराधना (सयम मे हानि) कहलाता है। मुनियो के अनेक ज्ञानानुभव तथा लब्धियो के प्रयोगो की बातें शास्त्रो और चरित्रो मे उपलब्ध होती हैं।

महर्षि पतजलि ने भी अपने योगसूत्र मे ऐसे कई अनुभवो की बातें कही है, जो बडे विचित्र लगते है।

(१) ऋतम्भराबुद्धि[1] (सुनी हुई और आनुमानिक सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक बताने वाली बुद्धि)।

(२) अध्यात्मप्रसाद[2] (निर्विचार समाधि मे प्राप्त होने वाला अन्तर का अनुभव)।



स्वरूपावस्थान[3] (निर्बीजसमाधि-ऋतभरा के सस्कारो का भी मिट जाना) जैसे उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवो के साथ महर्षि ने कहा कि योगी लोगो को अन्तर्धानसिद्धि, अतिवलसिद्धि, सवितृसिद्धि, परशरीरप्रवेश, उत्क्रान्ति, गगनगमन, अणिमा, महिमा, लघिमा, महिमा आदि-आदि अनेकानेक ऐसी सिद्धिया-ऋद्धिया भी प्राप्त हो जाया करती है जो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।

---

१ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात (योगसूत्र)

२ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद (योगसूत्र)

३ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीज समाधि (योगसूत्र)



इसमे कोई सदेह नही कि महर्षि पतजलि ने भी ऋद्धियो और सिद्धियो को हेय ही माना है। उन्होन कहा कि साध्य[1] के सिद्ध होने से पूर्व कई लालच आते हैं। न तो उनमे उलझना चाहिये और न उनका अभिमान ही करना चाहिये, अन्यथा पुन महादु ख आ सकता है।

जैनेन्द्र साधना तथा योगसूत्रीय प्रक्रिया के अनुभव विचित्र अवश्य लगते है किन्तु रहस्यपूर्णता आध्यात्मिक अनुभवो की एक और ऐसी विशेषता है जो अत्यन्त अनिर्वचनीय तथा दुरूह है। रहस्यमय विचित्र अनुभव के बीज स्मृतियो मे भी पाये जाते हैं। एक जगह उल्लेख है कि[2] चन्द्रमडल मे आकर एक स्त्री ने दो को खाया, तदनन्तर तीसरा पैदा होता है वह अजर-अमर होता है।

एक जगह ऐसा कहा गया-नाभिदेश[3] मे एक जलता हुआ सूर्य है और तालमूल मे अमृतमय चन्द्रमा नित्य स्थित है। अधोमुख चन्द्र वर्षता है और ऊर्ध्वमुख सूर्य ग्रहण करता है। वहा पर जिसके द्वारा अमृत पाया जा सके उस कारण को जानना चाहिये।

तनिक सोचिये उपर्युक्त अनुभवपूर्ण निर्देश के सत्य रहस्य को अनायास कौन पा सकता है ?

रहस्यमय राजयोग और हठयोग के अनेक अनुभवो का चित्रण हमे योगियो व सतो की अनुभववाणियो मे भी मिलता है। प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ का एक पद देखिये —

देह मे महादेव विराजे, गुपत गुणेसा सहलाणी।
सिव सगति देवी हाजर बोले—पायर पूजे नर कहा जाणी ।।
पर बस फोड एक गगा खल की चहु दिस पाणी पाणी।
उस परबत पर दोय मछली बैठी जिसमे नीर घण जाणी ।।
चाच नईं ज्याके पाख नईं वो झूल रई जल ताणीं।
सच बचना सू चढ़ी सिखर गढ बोले अनहद वाणी।
मछद्रि परताप जती गोरख बोलिया छाणिया दूध ने पाणी ।।

—(गोरखवाणी)

सत कबीरदासजी ने भी ऐसे अनुभवो का कई भजनो मे वर्णन किया है। एक दोहे मे ही जो अकल कला का खेल बना दिया वह कम आश्चर्यपूर्ण नही है। वह दोहा है—

धरता गगन के अन्तरे, चद सूर के मेल।
जो जोगी गुरु मुख लहे तउ अकल कला का खेल ।।

ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजी, पलटूदासजी, सत रेदासजी, ईसरदासजी, बालकदासजी, केसोदासजी आदि अनेक भक्तो, सतो के पदो, भजनो व वाणियो मे ऐसे रहस्यमय अद्भुत अनुभवो का चमत्कारपूर्ण वर्णन पाया जाता है।

---

१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सगस्मयाऽकरण पुनरनिष्टप्रसगात् (योगसूत्र)

२ एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमडले।
तृतीयो य पुनस्ताभ्या, स भवेदजरामर ।।

३ नाभिदेशे च सत्येको भास्करो दहनात्मक।
अमृतात्मा स्थितो नित्य तालमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्र ग्रहणात्यूर्ध्वमुखो रवि।
ज्ञातव्य कारण तत्र येन पीयूषमाप्यते ।।

अद्भुत अनुभवो को अपने ढग मे वाणी का रूप देने की एक लम्बी परम्परा रही है जो अब तक विद्यमान है। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि युग के इतने महान् परिवर्तनो मे भी इनके रहस्य मे कोई कमी नही आई। वह ज्यो का त्यो विद्यमान है।

प्रसिद्ध योगीराज चतुरसिंहजी के गुरु राजर्षि गुमानसिंहजी अधिक प्राचीन नही है किन्तु उनके ग्रन्थ 'मोक्ष-भवन' मे आध्यात्मिक अनुभवो का जो रहस्यपूर्ण[1] वर्णन है वह प्राचीन किसी योगी की वाणी से कम नही है।

अनुपम अनुभवो की इस अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि अध्यात्मचिंतन, मनन ध्यान योग और समाधि मे व्यक्त होने वाला एक ऐसा अन्तर्जगत अवश्य है जिसे साधारण तया स्थूलबुद्धि-व्यक्ति समझ ही नही सकता।

आश्चर्यपूर्ण विचित्र अनुभवो से परिपूर्ण उस अध्यात्मजगत और उसके सिद्धान्तो को हम एक साथ काल्पनिक तो कह ही नही सकते क्योंकि गहराई मे जाकर छानबीन किये बिना किसी बात के विषय मे निर्णय देना अनधिकारचेष्टा है।

आजकल समाचारपत्रो मे महर्षि महेश की ध्यानसाधना की बडी चर्चा है जिसमे पश्चिम के बीटल्स और कई विद्वान प्रभावित होकर भारत में योगसाधना हेतु आ रहे है। आध्यात्मिक क्षेत्र की यह एक और चमत्कारपूर्ण विजय है जो सिद्ध करती है कि योगियो के अनुभवो में मात्र कल्पना नही है अपितु वास्तविकता है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवित शानदार परम्परा के मूल मे कुछ सचाट सत्य होते है जिनके आधार पर वह फलती-फूलती है, मात्र कल्पना के ढेर पर खडी परम्पराए टिक नही पाती।

अध्यात्मानुभव की विशाल परम्परा जो अब तक टिकी है तो इसके मूल मे अवश्य सत्य है। अन्यथा वे सन्त-महात्मा ऋषि-महर्षि, जो समस्त सुख-सुविधाओ को ठुकराकर समस्त कामनाओ का समाप्त कर आत्मशोधन मे प्रवृत्त होते है, कभी इनका प्ररूपण-निरूपण नही करते।

यह तो हम सोच ही नही सकते कि तनिक पाप का भी महान प्रायश्चित्त करने वाले सत मुनि महात्मा नितान्त कपोलकल्पित गप्पें चलाते रहे और बढाते रहे। अत मुनियो व योगिया के अद्भुत अनुभवो मे सत्यता की पूर्ण चमक है। फिर भी आज का युग विज्ञान का युग है। हर क्षेत्र मे अनुसन्धान चल रहे है। मनोविज्ञान की तरफ भी कई परीक्षण हुए और कुछ नये तथ्य सामने आये है। और भी परीक्षण किये जा रहे है।

क्या ही अच्छा हो आज के वैज्ञानिक इस अद्भुत अनुभवो के गुप्त खजाने को भी अपनी विज्ञान की चाबियो से खोलने का यत्न करे। यह एक महान प्रशसनीय प्रयास होगा किन्तु क्या यह महान प्रयास निर्द्वन्द्व विशुद्ध अध्यात्ममुखी दृष्टि पाये बिना सफल हो सकेगा? यह एक ऐसा प्रश्न है जो समस्या रखने के साथ-साथ हो मस्तिष्क मे उभर रहा है।

⊙

---

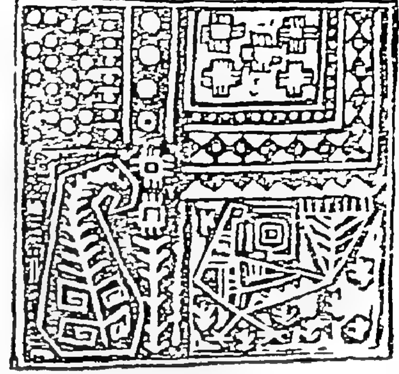
१ त्रगूट बीच आयकें सुरत्त चक्ख खोलय, त्रवेण तीर जायके अनदजुत्त डोलय।
सुमाग द्वार देखके हुल्लस्य जीवको हुय, भजो जुमत्त देवदत्त शभ नित्त सोभय ॥
अनोख देस आय वे त्रिगूट मट्ठ सोगय, अगम्म धाम देखके प्रचड सुख भोगय ॥
अखड जोति हैं यहा जु दीप मालवो भय।
अनेक वृक्ष जान जात पुप्प सौरभ देरय, सुघन्न घन्न वाग मे फलादि जुत्त व्हे रय ॥
दियत्त नीर झोकदे परत्त नाह वृन्द य।
सुधा जु घूट पीवय हरक्क जुत्त रहे हम, सिद्ध हुक्म पाय के अनक्क दार गोमम ॥

—(मोक्ष भवन)



आत्म-परमात्मवाद

प्रो० जयन्तीप्रसाद जैन
एम० ए०, शास्त्री



बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सवाद मे कहा गया है— "अरे मैत्रेयी, पत्यु कामाय प्रिया प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय प्रिया प्रिया भवन्ति।" "पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय ।" पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रिय नही होता अपितु अपने सुख के लिए होता है। पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता, लोगो के सुख के लिए लोग, देवो के सुख के लिए देव प्रिय नही होते किन्तु ये सब आत्म-सुख के कारण ही प्रिय होते हैं। अत आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन एव निदिध्यासन करना चाहिए।

वस्तुत श्रेयोमार्ग की प्राप्त्यभिलाषा आत्मा मे ही है। जैसा कि आचार्य अकलकदेव ने "राजवार्तिक" प्रथमाध्याय, प्रथमाह्निक मे कहा भी है—"श्रेयोमार्गप्रपित्सात आत्म-द्रव्यप्रसिद्धे ।" अनात्म को सुख-दु ख का परिचय भी क्या ? अत उसे निजी सकल्प मे व्यक्त होने वाला तत्व कहा गया है। यशस्तिलक चम्पूकार आचार्य सोमदेव ने उसके विशेषण दिये है —

"ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्म, कृतिभुक्त्यो स्वय प्रभु ।
भोगायतनमात्रोय, स्वभावादूर्ध्वग पुमान् ।।"

(षष्ठाश्वास, १०४ श्लोक)

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है—

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।।"

(द्रव्यसग्रह, २ गाथा)

पचास्तिकाय मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो, णहि मुत्तो कम्मसजुत्तो ।।२७।।"

भाव सबका एक ही है कि आत्मा चेतन, उपयोगवान, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त्ति रहित, एव कर्मसयुक्त है। स्वभावात् ऊर्ध्वगामी भी है।

गीता मे इसी के लिए निम्न विशेषण दिये गये है—

"न जायते वा म्रियते कदाचिन्नाय भूत्वा भविता पुनश्च ।
अजोऽव्यय शाश्वतोऽय पराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

तथा

"नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ।।"

वह अज, अमर, अविनाशी, शाश्वत, चिरकालीन एव सदा विद्यमान तत्त्व है । शरीर के नाश मे भी ज-प्रणष्ट है । शस्त्र, अग्नि, जल एव वायु की भी पहुच मे दूर है ।

शरीरस्थ एव स्वानुभूति-गम्य इस आत्मा की प्रशसा मे अनेक कवियो की सूक्तिया सुप्रचलित है । यथा—

"प्रीतम पतिया तब लिखू, जब तुम होउ विदेश ।
तन मे, मन मे, नैन मे, ताको कहा सदेश ।।"

तुलना कीजिए—

"आपकी याद मे, खत श्रो किताबत कैसी ?
मस्तीए कुल हू मैं हाजत नही मयखाने की ।।"

तथा

"करे हम किस की पूजा और लगायें किसको चन्दन हम ।
सनम हम, दैर हम, बुतखाना हम, बुत हम, बिरहमन हम ।।

पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि दुनिया को बिल्कुल भुला दिया जाय ।

"ने मी गोयम कि अज आलम जुदा बाश ।
बहर कारे कि बाशी, बाखुदा बाश ।।"

अर्थात्

सैर कर, और दूर से
गुल देख उस गुलजार के
पर बना अपने गले का
इन को मत जिन्हार हार ।।

(स्वामी रामतीर्थ के उपदेशो मे)

अनेक दर्शनकारो ने इसकी सिद्धि का प्रयास किया है । भौतिकवादियो को समझाते हुए आचार्य विद्यानन्द अपने "श्लोकवार्तिक" मे लिखते हैं—

"स्वसवेदनत सिद्ध सदात्मा बाधवर्जितात् ।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मयनुपपत्तित ।।१०२।।"

अर्थात् आत्मा को जड का परिणाम मानने पर स्वसवेदन ज्ञान सिद्ध नही होगा । आत्माकी उसी ज्ञान मे सिद्धि है । भूत-घट पटादि पदार्थों मे स्वसवेदन नही है ।

स्वसवेदनमप्यस्त बहि करणवर्जनात् ।
अहकारास्पद स्पष्टमबाधमनुभूयते ।।१०३।।

बाह्य पाचो इन्द्रियो से रहित मैं-मैं इस निर्बाध प्रतीतिस्वरूप स्वसवेदन प्रत्यक्ष मे आत्मा का अनुभव होता है। आचार्य शकर ने लिखा है—

"सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति ।
यदि नात्मत्वप्रसिद्धि स्यात्, लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ।

(ब्राह्म सूत्र, शाकरभाष्य, १-१-१)





ऐसा कोई नही है जो विश्वास करे—"मैं नही हू। यदि आत्मा का अस्तित्व नही होता तो सबको अपने अनस्तित्व का ही सीधा ज्ञान होता। वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं—

'अहमिति प्रत्यगात्मनि भावान् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्ष ।।१४।।

(अ० ३, आ० २)

"मैं हू" इस प्रकार आत्मा मे अनुभूति होना और पर पदार्थ मे न होना यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है।

न्यायसूत्रकार के मत मे भी आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है। हम एक वस्तु को अपनी आखो से देखते हैं। रुचिकर होने से उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया मे हम वस्तु को एक ही समझते हैं। दो इन्द्रियो से साध्य इस अनुभव मे यदि आत्मा इन्द्रिय रूप होता तो वस्तु कैसे पहचानी जाती कि वही है।

(न्यायसूत्र ३-१।१।३)

दाहिने हाथ से छुए गये पदार्थ को बाए हाथ से छूने पर उसकी एकता का खण्डन नही होता। (३-१-७)

एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पडता है। वृक्ष पर लटकते हुए आमको आख देखती है पर जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक होता तो यह बात न होती। इसका कारण पूर्वकाल मे आस्वादित आम का स्मरण ही है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रिया स्वय कर्त्ता नही वरन करण हैं। विभिन्न इन्द्रियो द्वारा रूप रस आदि का अनुभव करने वाला तत्व एक ही है और वही आत्मा है। (३-१-१२)

चक्षु इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी पहले उसके द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जानने वाला इन्द्रियो से भिन्न आत्मा ही है।

अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी आत्मतत्त्व की सत्ता, आवश्यकता एव विशेषताओ की ओर उन्मुख हो रहे है। पुनर्जन्मादि की शतश प्रामाणिक घटनाए इस ओर सहायक सिद्ध हो सकती है।

प्रो फे० स्पर्डी के मत मे 'मैं" एक अध्यात्म सत्ता है। एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार "यदि हम सबका इस जीवन मे ही अन्त होता है तो प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिए। पर यह असम्भव है।" एक कहते है—"परिस्थिति से उत्पन्न अनुभवो को भौतिकवादियो के यन्त्रो अथवा गणितज्ञो के मापो द्वारा नापना असभव है। आसू एव पसीना निकलने के नियम तक तो अभी स्पष्ट नही है।"

पृथ्वी पर गिरने वाले तारकाओ द्वारा जीवन का बीज हमारे पास पहुचा-यह कैसे सभव है? क्या प्रोटो-प्लाज्म मे इतनी शक्ति है कि तारकाओ द्वारा पृथ्वी पर पहुचने तक उसमे जीवन अवशिष्ट रहा होगा? अथवा हजारो मील प्रति सैकड उडने वाले मृत परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणुओ मे डाल सकते होगे? जब कि एक विद्यार्थी गुरु से बीस वर्ष पढ कर भी किसी बात को भूल सकता है। वस्तुत भौतिक-विज्ञान की पहुच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। हैकल एव हक्सले का युग अब प्रभावक नही रहा है। शुद्ध यान्त्रिक क्रियाओ से व्यास, कालिदास, होमर, हेमचन्द्र एव रवीन्द्र का जन्म असभव ही है।

मस्तिष्क शास्त्र के जन्मदाता "गाल" के अनुसार देखने, सुनने, स्पर्श करने, प्रेम, विचार अथवा स्मरण करने वाली एक ही वस्तु होनी चाहिए। उसके पास भौतिक साधन अवश्य अनेक होगे। यही तो उपनिषत्-कारो के इस वचन मे भी सिद्ध हुआ है कि—

एष हि दृष्टा, स्पृष्टा श्रोता, घ्राता, रसयिता मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष ।"

सत्य ही है रथ की गति देखकर सारथि का अनुमान होता है तो इन्द्रियो की प्रवृत्ति देखकर आत्मा का अनुमान क्यो न हो?

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथ-गत्येव सारथि ।"

परन्तु वह सारथि शब्द, रूप, रस, स्पर्श एव गंध रहित होने से इन्द्रिय-गोचर नही है। अनिर्दिष्ट संस्थान एव चेतना गुणमय है।

'अरसमरूवमगंध, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।"
जाण अलिंगग्गहण, जीवमणिदिट्ठसठाण ।"
(आ० कुन्दकुन्द, समयसार, जीवाजीवाधिकार ४६ ।)

[२]

राय-पसेणिय-सुत्त मे प्रदेशी राजा और केशीकुमार के सवाद मे आत्म-तत्व पर अच्छा प्रकाश पडता है। वह इस प्रकार है।

प्रदेशी—भगवन् ! आपका मानना है कि जीव एव शरीर भिन्न २ हैं। परन्तु यह बात मेरी समझ मे नही आती। देखिये, मेरे बाबा बडे अधार्मिक थे। अपनी प्रजा का पालन पोषण ठीक तरह नही करते थे। आपके कथनानुसार वे मर कर नरक मे गये हैं। अपने बाबा का मैं लाडला पोता था। अब यदि मेरे बाबा नरक मे आकर मुझे उपदेश दें कि देखो बेटा, तुम अधर्म कृत्य न करना, नही तो मेरी तरह तुम्हे भी नरक की यातनाए भोगनी पडेगी तो मैं समझू कि परलोक है तथा जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन मेरे बाबा अभी तक तो नरक मे आये नही हैं अत शरीर को छोडकर आत्मा कोई अन्य वस्तु नही है।

केशीकुमार—देखिये, मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हू। कल्पना कीजिए, आपकी सूर्यकान्ता रानी नहा धोकर, वस्त्रालकार से सुसज्जित होकर किसी परपुरुष मे मग्न हो जाय और आप उसको देख ले तो आप उस पुरुष को क्या दण्ड देंगे ?

प्रदेशी—मैं उसके हाथ पाव कटवा कर, शूली पर चढाकर मरवा डालूगा।

केशीकुमार—यदि वह पुरुष आपसे कहे कि महाराज, आप थोडी देर ठहर जाइये। मैं जरा अपने मित्रगण से कह आऊ कि तुम भी इस तरह का कुकृत्य करोगे तो तुम्हे भी मेरी ही भाति दण्ड भोगना होगा, तो क्या आप उसे क्षण भर के लिए चले जाने की आज्ञा देंगे ?

प्रदेशी—नही भगवन्।
केशी—क्यो ?
प्रदेशी—क्योकि वह पुरुष अपराधी है।
केशी—बस, इसी प्रकार तुम्हारे बाबा नरक से आना चाहते है—पर कई कारणो से आने मे असमर्थ हैं।

[आ]

प्रदेशी—भगवन् ! मेरी एक दादी थी। वह श्रमणो की उपासिका और अत्यन्त धार्मिक थी। आपके कथनानुसार वह मरकर देवलोक मे गई है। वह मुझे अत्यन्त प्रेम करती थी। अब यदि वह आकर मुझे धार्मिक कृत्य करने का उपदेश दे तो मैं समझूं कि परलोक है।

केशी—कल्पना करो, तुम स्नानादि कर मदिर जा रहे हो। मार्ग मे शौचालय मे बैठा कोई मनुष्य क्षण भर के लिए तुम्हे बुलाये-तो क्या तुम उसके पास चले जाओगे ?

प्रदेश—नही महाराज।
केशी—क्यो ?
प्रदेशी—भगवन् ! वह स्थान अपवित्र है।



केशी—बस, इसी प्रकार तुम्हारी दादी देवलोक से इस अपवित्र स्थान मे इच्छा होने पर कई कारणो से नही आ सकती ।

[इ]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवेष्टित होकर सभा-मण्डप मे बैठा था । इतने मे नगर-रक्षक एक चोर को पकड कर लाये । मैने उसे जीवित अवस्था मे ही लोहे की कोठी मे डालकर ऊपर से खूब जोर से ढक्कन बद कर दिया और विश्वस्त पुरुप नियुक्त कर दिये । कोठी को स्वय जाकर देखा । उसका ढक्कन खुलवाया । उसमे कोई छिद्र आदि न था । फिर भी चोर का जीव कोठी से बाहर कैसे निकल गया ? अतएव जीव शरीर से भिन्न नही है ।

केशी—कल्पना कीजिए-किसी पर्वत पर कोई भवन बना हुआ है । उसमे कही कोई छिद्र नही जिससे भीतर का शब्द बाहर जा सके । उसके द्वार भी निश्छिद्र है । उस भवन मे बैठकर यदि कोई पुरुप भेरी बजाये तो क्या उसका शब्द बाहर जायेगा ?

प्रदेशी—जी हा, जायेगा ।

केशी—बस इसी तरह कोठी से चोर का जीव बाहर जा सकता है । क्योकि वह अप्रतिहतगति है । शिला पर्वत आदि को भेद सकता है ।

[ई]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक आदि के साथ सभा-मण्डप मे बैठा हुआ था । इतने मे एक चोर पकड कर लाया गया । मैंने उसे जीवन से वचित करा दिया और उसे एक लोहे के मटके मे डाल दिया । ऊपर ढक्कन लगा दिया । अब कुछ दिनो बाद देखता हू कि वह मटका कीडो से भर गया है । उसमे कोई छिद्र न था । अत जीव-शरीर भिन्न नही है ।

केशी—क्या तुमने कभी लोहे को धौंकनी से तपाया जाता हुआ देखा है ?

प्रदेशी—भगवन्, देखा है ।

केशी—जिस प्रकार उस लोहखण्ड मे अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीव भी अन्दर पहुच जाते है । जीव की गति किसी से रोकी नही जा सकती ।

[उ]

प्रदेशी—मैं एक और उदाहरण देता हू । कोई तरुण पुरुप पाच बाण छोड सकता है । परन्तु जब वह बालक था तो उसमे इतनी शक्ति नही थी । यदि तब भी इतनी ही शक्ति रहती तो दोनो को पृथक् समझा जा सकता था ।

केशी—मैं आपसे पूछता हू कि कोई तरुण नये धनुष् और डोरी को लेकर पाच बाण छोड सकता है किन्तु जीर्ण धनुप से एक भी नही । ऐसा क्यो ?

प्रदेशी—भगवन् ! उसके उपकरणो-साधनो की कमी है ।

केशी—बस, इसी प्रकार बाल्यकाल मे उपकरण-इन्द्रियो मे पर्याप्त शक्ति नही है ।

[ऊ]

प्रदेशी—मैं एक अन्य दृष्टान्त देता हू । कोई तरुण लोह के महान् भार को वहन कर सकता है लेकिन वह जर्जर-देह हो जाने पर नही । यदि दोनो अवस्थाओ मे एक ही जीव होता तो वृद्धावस्था मे भी उस महान् भार को

उठाने मे समर्थ होना था। अत जीव-शरीर अभिन्न है।

केशी—देखिये, कोई मजदूर अपनी नई वहगी मे महान् भार को उठाकर ले जा सकता है, जीर्ण शीर्ण मे नही। इसी प्रकार जीर्ण शक्ति होने पर युवावस्था की भाति बलपूर्वक कार्य नही हो सकता।

[ए]

प्रदेशी—मैं एक दूसरी बात कहता हू। मेरे पास एक चोर लाया गया। पहले तो मैने उसे जीवित अवस्था मे तोला। पश्चात् उसके अग-प्रत्यग का भग किये बिना ही, जीवन से वचित करके तोला परन्तु तोल मे कोई अन्तर नही था। शरीर से जीव भिन्न होता और वह चला गया होता तो तोल मे अन्तर पडता। इसलिए मैं जीव और शरीर को एक ही मानता हू।

केशी—क्या तुमने कभी किसी चमडे की थैली को हवा से भरा है? जैसे वायु सहित एव रहित थैली की तोल मे कोई अन्तर नही पडता उसी प्रकार जीव की विद्यमानता-अविद्यमानता से शरीर के वजन मे अन्तर नही पडता। जीव अगुरुलघु है।

[ऐ]

प्रदेशी—महाराज। यदि जीव है तो वह दिखाई क्यों नही देता? मैंने एक चोर के दो तीन चार और बहुत टुकडें करके चारो ओर से उलट पलट कर देखा, मगर मुझे तो कही जीव दिखाई नही दिया।

केशी—प्रदेशी, तुम लकडहारे से भी बढकर मूर्ख हो। सुनो, कुछ लकडहारे जगल मे गये। साथ मे उन्होने अग्नि और अग्निपात्र भी ले लिए। जब वे एक निर्जन स्थान मे पहुचे तो उन्होने अपने एक साथी से कहा—तुम इस अग्निपात्र मे अग्नि लेकर भोजन तैयार करलो। अग्नि बुझ जाय तो इस काष्ठ मे अग्नि निकाल लेना। उनके जाने के कुछ समय पश्चात् वह भोजन बनाने को उद्यत हुआ पर अग्नि बुझ चुकी थी। अतएव उसने काष्ठ को चारो ओर से घुमा फिरा कर देखा, लेकिन काष्ठ मे अग्नि दिखाई नही दी। वह कटिबधन बाध कर परशु हाथ मे लेकर तैयार हो गया। काष्ठ के दो टुकडे किये। चारो ओर देखा पर आग कही न थी। उसने काष्ठ-खण्डो के और भी छोटे छोटे टुकडे किये पर फिर भी आग का कोई चिह्न न था। अन्त मे थक कर उसने परशु को एक ओर डाल दिया और कटिबन्धन उतार दिया। अब वह पुरुष गाल पर हाथ रखकर चिन्तामग्न हो बैठ गया। भोजन नही बना। साथी आये। उसने सब हाल कह सुनाया। उनमे से एक कुशल पुरुष बोला-चिन्ता न करो, मैं सब तैयार कर दूगा। उसने परशु उठाया, एक शर बनाया, उससे अरणि को मथा, अग्नि उत्पन्न की और भोजन तैयार कर लिया। अभिप्राय यह है कि जैसे अरणि मे विद्यमान अग्नि दृष्टिगोचर नही होती उसी प्रकार शरीर मे विद्यमान आत्मा भी दृष्टिगोचर नही होती।

[ओ]

प्रदेशी—भगवन् आप कुशल है, दक्ष है, यदि करतलामलकवत् जीव को प्रत्यक्ष दिखा सकें तो मैं जानूं कि जीव पृथक् वस्तु है।

(इतने मे जोर से हवा चली, घास तृण हिलने लगे)

केशी—जानते हो, इन घास तृण आदि को कौन हिला रहा है।

प्रदेशी—भगवन्, ये हवा से हिल रहे हैं।

केशी—क्या तुम इस हवा के रूप को देख सकते हो?

परदेशी—नहीं।

केशी—जब तुम हवा के रूप को भी नही देख सकते तो मैं जीव कैसे दिखा सकता हू। इस सवाद मे आत्मा के विविध पक्षो पर अच्छा प्रकाश पडता है।





केशी—बस, इसी प्रकार तुम्हारी दादी देवलोक से इस अपवित्र स्थान मे इच्छा होने पर कई कारणो से नही आ सकती ।

[इ]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवेष्टित होकर सभा-मण्डप मे बैठा था । इतने मे नगर-रक्षक एक चोर को पकड कर लाये । मैने उसे जीवित अवस्था मे ही लोहे की कोठी मे डालकर ऊपर से खूब जोर से ढक्कन बद कर दिया और विश्वस्त पुरुष नियुक्त कर दिये । कोठी को स्वय जाकर देखा । उसका ढक्कन खुलवाया । उसमे कोई छिद्र आदि न था । फिर भी चोर का जीव कोठी से बाहर कैसे निकल गया ? अतएव जीव शरीर से भिन्न नही है ।

केशी—कल्पना कीजिए-किसी पर्वत पर कोई भवन बना हुआ है । उसमे कही कोई छिद्र नही जिससे भीतर का शब्द बाहर जा सके । उसके द्वार भी निश्छिद्र हैं । उस भवन मे बैठकर यदि कोई पुरुष भेरी बजाये तो क्या उसका शब्द बाहर जायेगा ?

प्रदेशी—जी हा, जायेगा ।

केशी—बस इसी तरह कोठी से चोर का जीव बाहर जा सकता है । क्योकि वह अप्रतिहतगति है । शिला पर्वत आदि को भेद सकता है ।

[ई]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक आदि के साथ सभा-मण्डप मे बैठा हुआ था । इतने मे एक चोर पकड कर लाया गया । मैंने उसे जीवन से वचित करा दिया और उसे एक लोहे के मटके मे डाल दिया । ऊपर ढक्कन लगा दिया । अब कुछ दिनो बाद देखता हू कि वह मटका कीडो से भर गया है । उसमे कोई छिद्र न था । अत जीव-शरीर भिन्न नही है ।

केशी—क्या तुमने कभी लोहे को धौंकनी से तपाया जाता हुआ देखा है ?

प्रदेशी—भगवन्, देखा है ।

केशी—जिस प्रकार उस लोहखण्ड मे अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीव भी अन्दर पहुच जाते है । जीव की गति किसी से रोकी नही जा सकती ।

[उ]

प्रदेशी—मै एक और उदाहरण देता हू । कोई तरुण पुरुष पाच बाण छोड सकता है । परन्तु जब वह बालक था तो उसमे इतनी शक्ति नही थी । यदि तब भी इतनी ही शक्ति रहती तो दोनो को पृथक् समझा जा सकता था ।

केशी—मै आपसे पूछता हू कि कोई तरुण नये धनुष् और डोरी को लेकर पाच बाण छोड सकता है किन्तु जीर्ण धनुष से एक भी नही । ऐसा क्यो ?

प्रदेशी—भगवन् ! उसके उपकरणो-साधनो की कमी है ।

केशी—बस, इसी प्रकार बाल्यकाल मे उपकरण-इन्द्रियो मे पर्याप्त शक्ति नही है ।

[ऊ]

प्रदेशी—मैं एक अन्य दृष्टान्त देता हू । कोई तरुण लोह के महान् भार को वहन कर सकता है लेकिन वह जर्जर-देह हो जाने पर नही । यदि दोनो अवस्थाओ मे एक ही जीव होता तो वृद्धावस्था मे भी उस महान् भार को

उठाने में समर्थ होना था। अत जीव-शरीर अभिन्न हैं।

केशी—देखिये, कोई मजदूर अपनी नई वहगी मे महान् भार को उठाकर ले जा सकता है, जीर्ण शीर्ण मे नही। इसी प्रकार जीर्ण शक्ति होने पर युवावस्था की भाति वलपूर्वक कार्य नही हो सकता।

[ए]

प्रदेशी—मैं एक दूसरी वात कहता हू। मेरे पास एक चोर लाया गया। पहले तो मैने उसे जीवित अवस्था मे तोला। पश्चात् उसके अग-प्रत्यग का भग किये विना ही, जीवन से वचित करके तोला परन्तु तोल में कोई अन्तर नही था। शरीर मे जीव भिन्न होता और वह चला गया होता तो तोल मे अन्तर पडता। इसलिए मैं जीव और शरीर को एक ही मानता हू।

केशी—क्या तुमने कभी किसी चमडे की थैली को हवा से भरा है? जैसे वायु सहित एव रहित थैली की तोल मे कोई अन्तर नही पडता उसी प्रकार जीव की विद्यमानता-अविद्यमानता मे शरीर के वजन मे अन्तर नही पडता। जीव अगुरुलघु है।

[ऐ]

प्रदेशी—महाराज। यदि जीव है तो वह दिखाई क्या नही देता? मैंने एक चोर के दो तीन चार और बहुत टुकडे करके चारो ओर से उलट पलट कर देखा, मगर मुझे तो कही जीव दिखाई नही दिया।

केशी—प्रदेशी, तुम लकडहारे से भी बढकर मूर्ख हो। सुनो, कुछ लकडहारे जगल मे गये। साथ मे उन्होने अग्नि और अग्निपात्र भी ले लिए। जब वे एक निर्जन स्थान मे पहुचे तो उन्होने अपने एक साथी से कहा—तुम इस अग्निपात्र से अग्नि लेकर भोजन तैयार करलो। अग्नि बुझ जाय तो इस काष्ठ से अग्नि निकाल लेना। उनके जाने के कुछ समय पश्चात् वह भोजन बनाने को उद्यत हुआ पर अग्नि बुझ चुकी थी। अतएव उसने काष्ठ को चारो ओर से घुमा फिरा कर देखा, लेकिन काष्ठ मे अग्नि दिखाई नही दी। वह कटिबधन बाध कर परशु हाथ मे लेकर तैयार हो गया। काष्ठ के दो टुकडे किये। चारो ओर देखा पर आग कही न थी। उसने काष्ठ-खण्डो के और भी छोटे छोटे टुकडे किये पर फिर भी आग का कोई चिह्न न था। अन्त मे थक कर उसने परशु को एक ओर डाल दिया और कटिबन्धन उतार दिया। अब वह पुरुष गाल पर हाथ रखकर चिन्तामग्न हो बैठ गया। भोजन नही बना। साथी आये। उसने सब हाल कह सुनाया। उनमे से एक कुशल पुरुष बोला-चिन्ता न करो, मैं सब तैयार कर दूगा। उसने परशु उठाया, एक शर बनाया, उससे अरणि को मथा, अग्नि उत्पन्न की और भोजन तैयार कर लिया। अभिप्राय यह है कि जैसे अरणि मे विद्यमान अग्नि दृष्टिगोचर नही होती उसी प्रकार शरीर मे विद्यमान आत्मा भी दृष्टिगोचर नही होती।

[ओ]

प्रदेशी—भगवन् आप कुशल हैं, दक्ष है, यदि करतलामलकवत् जीव को प्रत्यक्ष दिखा सकें तो मैं जानूं कि जीव पृथक वस्तु है।

(इतने मे जोर से हवा चली, घास तृण हिलने लगे)

केशी—जानते हो, इन घास तृण आदि को कौन हिला रहा है।

प्रदेशी—भगवन्, ये हवा से हिल रहे हैं।

केशी—क्या तुम इस हवा के रूप को देख सकते हो?

परदेशी—नही।

केशी—जब तुम हवा के रूप को भी नहीं देख सकते तो मैं जीव कैसे दिखा सकता हू। इस सवाद से आत्मा के विविध पक्षो पर अच्छा प्रकाश पडता है।



इसीलिए आत्मवादीदर्शन उसको जानने का उपदेश देते है —

'अपने को जानो।'

"जुस्तजूकुन, जुस्तजूकुन, जुस्तजू, दर दरे खुदवी कि वेरू नेस्त ओ।" अत्यधिक खोज करो और उसे अपने भीतर देखो, वह बाहर नही है।

(३)

यह आत्मा अपने कालुष्यो का नाश कर शुद्ध निज-स्वरूपमय परमात्मत्व प्राप्त कर सकता है। आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक के पचमाश्वास में कहा है—

"मलकलुषतायात रत्न विशुद्धचति यत्नतो—
भवति कनक तत्पाषाणे यथा स कृतक्रिय ॥
कुशलमतिभि कैश्चिद्धन्यैस्तथाप्तनयाश्रितै
अयमपि गलत्क्लेशाभोग क्रियते पुमान् ॥"

जैसे यत्न के द्वारा रत्न विशुद्ध रूप धारण कर लेता है, कनक पाषाण शुद्ध काचन का रूप प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कुशल पुरुष भी नयो के द्वारा आत्मा को पूर्ण सुखी एव परम शुद्ध बना लिया करते है।

कर्तृत्व न होने से अनेक ईश्वरो मे विवाद का प्रश्न ही नही है।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। भक्त से भगवान, सेवक से स्वामी, उपासक से उपास्य, आत्मा से परमात्मा, अपवित्र से पवित्र, पतित से पावन एव भूमिस्थ से सिंहासनासीन होना ही आत्मा का वास्तविक लक्ष्य है। एतदर्थ मोह, अज्ञान, माया, अथवा मिथ्यात्व का नाश आवश्यक है। कर्मो—सचित, प्रारब्ध एव क्रियमाण, बध, उदय, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण, आदि रूपो का नाश कर स्वपरिणति प्राप्त करती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, लोभ, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, राग अथवा अविद्या, तृष्णा के क्षय बिना यह स्थिति सभव नही है।

बौद्धधर्म की यह बात समझ मे नही आती कि दुख है पर कोई दुखित नही है। क्रिया है पर कारक नही हैं। निवृत्ति है पर निवृत्त पुरुष नही है। मार्ग है पर गमक नही है।

"दुक्खमेव हि, न कोवि दुक्खितो।
कारको न, किरिया वि विज्जति ॥
अत्थि निब्बुत्ति, न निब्बुता पुमान् ।,
मग्गमत्थि, गमको न विज्जति ॥"

आत्मा, महात्मा, परमात्मा रूप विकास की तीन स्थितियो के लिए वेदान्त एव जैनदर्शन मे प्रोक्त तीन तीन भावनाए विशेष महत्त्व की हैं।

वेदान्तीय भावनाए निम्न प्रकार है—

(१) तस्यैवाहम्
(२) तवैवाहम्
(३) त्वमेवाहम्

प्रथम भावना का अर्थ है—मैं उसी का हू। "वह-जो कोई मूलतत्व अभी मेरे सामने नही है। भक्त यह सोचता है कि मेरा यह दृश्यमान व्यक्तित्व कुछ है। बाह्य पदार्थ, सम्बन्ध, अधिकार, प्रयोजन, मेरे नही है। मै उसी का हू जो अनन्त, अव्यय, सर्व-व्यापक, चेतन, अनादि एव अरूप है।" इस दशा मे भक्त ब्रह्म को अपने से बहुत दूर समझ कर उसकी चर्चा अन्य पुरुषो से करता है। यह विकास की प्रथम श्रेणी है। यहा भक्त ब्रह्म से अपने को जोड़ने का प्रयत्न प्रारंभ करता है। अपनी जीवनचर्या मे उसी की अनुकूलता लाता उसी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है। त्रुटि

होने पर प्रायश्चित्त करता एव भविष्य की सावधानी रखता है। अपनी कामनाए कम कर उसी के ध्यान कीर्तन, जप स्मरण, कथन एव चर्चा मे निरत रहता है। अपनी इद्रिया, शरीर भाव एव कार्यों को उसी की अनुरक्ति का साधन वनाता है। ऐसा पुरुष अन्यायी नही हो सकता। वह सासारिक पुरुषो मे ऊचे धरातल पर होता है-निर्लिप्त लोक-सेवक सुख दु ख मे हर्ष-विषाद-हीन। उसी की कृपा का विश्वासी। इसके पश्चात् दूसरी भावना आती है।

तवैवाहम्—मै तेरा ही हू। यहा परोक्ष स्मरण प्रत्यक्ष दर्शन का स्थान ले लेता है। आवरण हटता है। प्रसन्नता वढती है।

भावक की दृष्टि मे आठो घडी चौसठ पहर ब्रह्म ही सन्मुख है। उसमे नई स्फूर्ति, निर्भयता, पावित्र्य एव चेतन की धारा वहने लगती है। पहली भावना मे उसकी दशा उस दलाल के समान थी जो विदेश मे अपने स्वामी के व्यक्तित्व से अपना व्यक्तित्व सूचित करता था। यहा वह स्वामी के सामने ही खडा है। फिर तीसरी भावना आती है—

त्वमेवाहम् - मैं तू ही हू। यह वह साधक है जिसकी प्रिय से अत्यन्त घनिष्ठता है। प्रेमी एव प्रेमपात्र भीतर से एक हो गये हैं। वह स्वामी के परम विश्वास मे सर्वत्र स्वाधीन विचरता है। वैर से रहित। अनन्य। इस दशा मे वाधा, दण्ड, लाछन, अपमान एव प्रताडनाए उसे दूषित नही वना पाती। पचभूत स्वाधीन हो जाते हैं। वह प्रिय से अभिन्न जो है।

जैनधर्म मे यह तीन भावनाए निम्न प्रकार है।

दासोहम्—स्थूल अर्थ है मैं दास हू। सासारिक माया-प्रपचो से वचित पुरुष जव अनेक प्रकार मे अपने को दु खी पाता है, चेष्टाए करते रहने पर भी धन, स्त्री, पुत्रादि से उसे तृप्ति नही होती, भौतिक आकर्षण उसे पतन-कारक प्रतीत होते है—तव उसके अन्तर मे एक विचित्र द्वन्द्वमय वेदना का अनुभव होता है। विह्वल हो—पदार्थों मे अरुचि पा वह भीतर पैठने का प्रयत्न करता है। वह अपनी अवस्था का निदान करना चाहता है। अपने को असमर्थ असहाय एव अस्वाधीन अनुभव करता है! तव कहता है—दासोऽहम्। प्रभो! मैं तेरा दास हू। तत्पश्चात् वह एक चरण आगे वढता है और दासोऽह से वह अपने को यो आत्मा का सेवक समझने लगता है। कहता है—अव मै तेरा दास नही हू और इस भावना मे वह गभीर, सौम्य, शान्त, अनासक्त अन्तरदृष्टि, शम, दम, शील, सयम, स्वाध्याय एव अनुभव मग्न वन जाता है। सम्पद्-विपद्, योग-वियोग, एव रति विरति-विरक्त। उसका पर्दा पतला पड जाता है। अव द्वितीय स्थिति आती है—

सोऽहम्—"दा" समाप्त हो चुका है। वही मैं हू जिसे पूज रहा था। जो वनना चाहता था। वह सव कुछ मेरी आत्मा का ही तो निज-स्वरूप है। मेरे अधिकार उसी के वरावर है। मेरी वस्तु मेरे पास है। तव मैं किस की आशा करू? वह प्रकाशो का प्रकाश मैं हू।

कोई शारीरिक कर्म-बुरा या भला, कोई मानसिक कर्म-पुण्य या पाप मुझे छू नही सकते। यश या अपयश, निन्दा या प्रशसा, मुझे मलिन नहीं वना सकते। अपार अनन्त हू मैं। निर्वाध, निर्भय, स्वाधीन! मै वही हू—जो हू।

यदि दासोऽह की भावना वाला पुरुष पार पहुचने को तत्पर है तो सोऽह ध्याता वह है जो किनारे लग रहा है। एक ही छलाग मे पार पहुचने को है—जीवनमुक्त। आत्म-साम्राज्य का उत्तराधिकारी युवराज।

अहम्। अव 'स' भी अलग हो चुका है। पहली भावना मधुर एव विशुद्ध है तो दूसरी मधुरतर एव विशुद्धतर और अहम् यह भावना मधुरतम तथा विशुद्ध तम। निजानन्द-रस लीन। अवर्णनीय।

ईश्वर का अकर्तृत्व—ईश्वर जगत् का कर्त्ता नही है। जगत् स्वयसिद्ध अनादि अनन्त है। यशस्तिलक के द्वितीयाश्वास मे आचार्य सोमदेव कहते हैं—इस ससार मे ज्ञान अथवा इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक का निर्माण करने वाला कोई नही है। अन्यथा चटाई आदि के निर्माण कारणो के सदा रहने और ईश्वर की नित्य इच्छाशक्ति के वर्तमान रहने से ये वस्तुए सदा उत्पन्न होती हुई दिखाई देनी चाहिए। यदि ईश्वर परमाणुसमूह को सयुक्त करके पृथ्वी आदि



बनाता है तो गृह-निर्माण के लिए राज, मिस्त्री, बढई आदि की क्या आवश्यकता है। (यश० १।३९)

"कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा।
दृष्टोऽन्यथा कट कृतावपि स प्रसग ।।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै—
राहृत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ।।"

यदि ईश्वर उपादान कारण है तो रचना तत्सदृश ही होनी थी।

शुद्ध, निर्विकार, निराकार एव निर्दोष। यदि प्रेरक निमित्तकारण है तो वह ससार मे होने वाले अपराधो का उत्तरदायी होने से बच नही सकता। उदासीन निमित्त है तो पापो को टुकुर टुकुर देखता रहेगा।

न्यायदर्शन मे कर्तृत्वसाधक एक प्रसिद्ध अनुमान है। "उर्वीपर्वततरुतन्वादिक बुद्धिमद्धेतुक, कार्यत्वात्, घटवत् ।।"

पृथ्वी आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए है, क्योकि ये कार्य है। जो जो कार्य होते है वे बुद्धिमान् के बनाये होते है जैसे घर। पर इस हेतु से कर्तृत्व सिद्ध नही होता।

कार्यत्व के चार अर्थ हो सकते है—

(१) सावयवत्व, (२) असत् पदार्थो के साथ अपने कारणो का समवाय। (३) "किया गया" (कृत-बुद्धि) ऐसे ज्ञान का विषय होना (३) विकारीपन। प्रथम पक्ष सावयवत्व अर्थात् प्रदेश वाला मानने से कार्यत्व हेतु मे आकाश के साथ अनैकान्तिक दोष आता है। क्यो कि वह प्रदेश वाला होने पर भी कार्य नही है। यदि दूसरा पक्ष अपने कारणो मे कार्य का समवाय सम्बन्ध माना जाय तो उस सम्बन्ध के नित्य होने से शरीर आदि अनित्य कार्यों मे उसकी सभावना है। यदि पृथ्वी आदि को नित्य मानकर उनमे समवाय सम्बन्ध स्वीकार भी किया जाय तो पृथ्वी आदि कार्य नही हो सकते। इसलिए यह हेतु असमर्थ ठहरता है। तीसरे पक्ष मे (कृत-बुद्धित्वका विषय) कूप आदि खोदने पर आकाश निकल आया इस प्रकार की बुद्धि होती है अत अनैकान्तिक दोष है। चौथे पक्ष विकारीपन मे ईश्वर मे अनित्यता आ जायगी। क्यो कि जब वह कार्य करेगा तो उसमे परिणमन अथवा विकार अवश्य आयेगा। अत यह कार्यत्व हेतु अकिंचित्कर है।

अन्वय एव व्यतिरेक न मिलने से ईश्वर एव सृष्टि मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही है। क्योकि ईश्वर का सृष्टि के साथ व्यतिरेक नही बनता। इसके लिए किसी क्षेत्र अथवा काल मे उसका अभाव सिद्ध करना होगा। (प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड—प्रभाचन्द्र, आप्तपरीक्षा", विद्यानद)

वस्तुत जगत सनातन है। अनादि अनन्त। छह द्रव्यो से परिपूर्ण। निष्क्रियता अथवा कूटस्थता से रहित है। फिर भी पुद्गल का अनन्त परमाणु समूह और उसकी परिणमन-शक्ति एकसी बनी रहती है। पौद्गलिक कर्मों से पराधीन जीव ही स्वप्रयोजनवश पदार्थो का सचालक बनता है। द्रव्यो का स्वभाव भी स्वय परिणमन का है। द्रव्य और उसके गुण अपरिवर्तनीय है। जगत क्यो, कहा, कैसे और कब बना ये प्रश्न तर्कसगत उत्तर नही पाते। इस सम्बन्ध मे 'दी रिडिल आफ दी यूनीवर्स' मे बडा सुन्दर वर्णन है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका मे ठीक ही लिखा है—

"कर्तास्ति कश्चिज्जगत स चैक स सर्वग स स्ववश स नित्य ।
इमा कुहेवाकविडम्बना स्युस्तेषा न येषामनुशासकस्त्वम् ।।"

०

श्रमण-परम्परा और गणतंत्र

डा० बद्रीप्रसाद पंचोली

एम० ए०, पी-एच० डी०,

मदनगंज, किसनगढ़



गणतंत्र केवल कुछ सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलने वाले राजनैतिक-संस्थान का नाम नहीं है। यह जीवन की एक उत्कृष्ट पद्धति है जो इसके प्रत्येक सदस्य में अनिवार्य रूप से विकसित होती है। ऐसा न होने पर गणतंत्र भीड़तन्त्र रह जाता है। गणतन्त्र व्यक्ति-तन्त्र का अगला विकास है और इसका सम्बन्ध लोक कल्याण के लिए आत्मविसर्जन करने वाले लोगों के गण या समूह से होता है। गणतन्त्र का आधार गण नहीं तन्त्र है। गण का तन्त्र ही गणतन्त्र है और षष्ठी तत्पुरुष के रूप में प्रस्तुत इस शब्द में समास के नियमों के अनुसार भी दूसरा पद ही प्रधान है और प्रथम पद उसका विशेषण। यह विशेषण व्यक्ति-तन्त्र से इस नवीन प्रकार के तन्त्र को पृथक् करता है। तन्त्र क्या है? यह बात समझ लेने पर गणतन्त्र का अभिप्राय और उसका व्यक्ति-तन्त्र से अन्तर समझ में आ जायेगा।

तन्त्र शब्द संस्कृत की तनु और त्रैङ् धातुओं से विकसित हुआ है। तनु धातु तनादिगण में विस्तार अर्थवाची और चुरादिगण में श्रद्धा एवं उपकार अर्थवाची है। इसी तरह त्रैङ् धातु पालन या रक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तनु धातु से बहुलार्थक 'त्र' प्रत्यय जुड़ने से भी होनी संभव है। इस रूप में यह शब्द राष्ट्र (रा या राज् धातु से त्र जुड़ कर बनने वाला शब्द) और चरित्र (चर् धातु से त्र प्रत्यय-पूर्वक बनने वाला शब्द) का सहोदर माना जा सकता है। अर्थ-निगमन की इन सारी व्युत्पत्ति-परक संभावनाओं के आधार पर तन्त्र शब्द के अर्थ इस प्रकार सामने आते हैं—अत्यधिक विस्तार करना, तनन-पूर्वक अपनी रक्षा करना, श्रद्धा-सम्पन्न होना, उपकार में लगना, श्रद्धा उपकार आदि के रूप में या इनके माध्यम से आत्म-तनन करना आदि। यहां तन्त्र शब्द के साथ कर्म-वितान और शक्तिवितान के व्यंजक तन्तु (या सप्ततन्तु-यज्ञ-अर्थवाची) शब्द को स्मृति का विषय बना लेना उचित होगा। तन्त्र शब्द देवपूजा-संगतिकरण-दान-अर्थवाची यज्ञ शब्द का समानार्थक भी रह चुका है और तान्त्रिकों ने इसे इसी रूप में अपनी साधना की सूचना देने वाला स्वीकार किया है।

तन्त्र में तनन किसका किया जाय और तनन की सीमाएं क्या हों? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए सप्ततन्तु शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। हमारा जीवन तीन स्तरों पर क्रिया-रत रहता है। भौतिक-स्तर पर पंचतत्वों से निर्मित शरीर है जो मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है, परन्तु उसमें किसी प्रकार की संज्ञा विद्यमान नहीं रहती। इसको प्रेरित करने वाली शक्ति को देवता कहा जाता है। देवराज इन्द्र को क्रतु द्वारा देवों को प्रेरित करके अलंकृत करने वाला कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।[1] कर्म-सामर्थ्य को क्रतु कहा जाता है। देवगण इन्द्र की शक्ति से ही पंचतत्व-निर्मित शरीर का संचालन करते हैं। इस प्रकार इन्द्र शरीर की केन्द्रभूता देवशक्ति की संज्ञा है। वह पांच रूपों में पंचतत्वों को चेतना का विषय बनाता है और इस रूप में उसके ये रूप इन्द्रिय नाम से जाने जाते हैं। इनकी वैदिक परम्परा में देव संज्ञा है। देवता और भी हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में पंचदेव लोक और वेद की दृष्टि में प्रतिष्ठा-लाभ कर चुके हैं। यह जीवन का अधिदेव-स्तर है। इससे भी सूक्ष्म जीवन का आध्यात्मिक-स्तर है जिसमें ससीम-जीवन असीमता की सीमाओं को छू लेता है। जीवन उस गति का नाम है जिसे प्राणी प्रकृति की सीमाओं को तोड़ कर अपने असीम स्वरूप की प्राप्ति के लिए करता है। इस

१ ऋग्वेद २।१२।१

गति द्वारा व्यक्ति की चेतना का क्रमश विस्तार होता चलता है। इसी विस्तार को तन्त्र शब्द द्वारा सकेतित मानना चाहिए। भूत-निर्मित शरीर गति करने मे असमर्थ है। गति करने वाले पाच इन्द्रिय-सजक प्राण होते हैं। दृश्यजगत् मे इनकी दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्वदन, घ्राणन आदि की सीमाए है जिन्हे छन्द कहा जाता है। आत्मा का साम छन्दो का बन्धन तोडकर लयानुगत होना है। तनन की चरमसीमा आत्मा के साम तक है जहा सभी प्रकार के बधन समाप्त हो जाते है।

जैसे शरीर मे भूतसृष्टि को देवगण प्रेरित करते रहते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड मे भी देवगण भूतो का अधिष्ठान बना कर कार्यरत रहते हैं। वस्तुत शरीर ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त सस्करणमात्र है। 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' सूत्र से इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। शरीरगत प्राणो को ब्रह्माण्डीय-प्राणो से शक्ति मिलती है। इसीसे उनका विस्तार सभव है। ब्रह्माण्ड के दिव्य-प्राणो मे आत्म-तनन के लिए शरीर मे शक्ति सचित करने की प्रक्रिया का नाम ही श्रम है। आश्रम और श्रमण परम्पराओ म श्रम का यही रूप स्वीकार किया गया है। तत्र-साधना अनिवार्य रूप से श्रम को आधार मानकर चलती है। इस प्रकार आश्रम और श्रमण दोनो प्रकार की जीवन-परम्पराओ का तन्त्र से साध्य-साधन सम्बन्ध है। गणतन्त्र का आधार भी वही हो सकता है जो इन श्रम-केन्द्रित व्यवस्थाओ का रहा है। अत श्रम गणतन्त्र का भी आधार है। उसका स्वरूप समझना गणतन्त्र की आधारभूमि को निर्मित करने की ओर पहला कदम माना जाना चाहिए।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त मे तप को राष्ट्र के धारक सात तत्वो मे परिगणित किया गया है। वहा तप श्रम का अर्थवाची है। अथर्ववेद म ही श्रम को किसी भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि, समृद्धि या शक्ति के समान बहुमूल्य कहा गया है[1] और श्रम की गणना ऋत, सत्य जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म एव कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है।[2] ऋग्वेद के अनुसार श्रम के बिना देवता भी सहायता नही करते—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।[3] श्रम से देवत्व, अमरत्व और इन्द्रदेव की प्राप्ति होती है।[4] जीवन की समर्पित गति का नाम ही श्रम है। गति कभी निरुद्देश्य नही होती। ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन की गति भौतिक सीमाओ को तोड कर आत्मा के असीम स्वरूप का साक्षात्कार करने की दिशा मे होती है। 'स्व' अपनी छन्दित अवस्था मे तनन करता हुआ परमावस्था को प्राप्त कर ले—यही जीवन की गति है। 'स्व' से 'परम' की ओर जाने वाला मार्ग 'पर' से होकर गुजरता है और उस मार्ग पर चलने वाला 'पर' शक्ति का साक्षात्कार करता हुआ अपनी यात्रा को फलीभूत पाता है। 'स्व' क्या है? सु+अ से 'स्व' शब्द बनता है। विपर्ययपूर्वक यह 'असु' हो जाता है जो प्राण की एक सज्ञा है। 'असु' की प्रधानता के कारण 'स्व' की छन्दोबद्ध स्थिति का नाम असुर भी है। परमावस्था की सिद्धि हो जाने पर असुर देवत्व मे परिणत हो जाता है। असुरो को देवो का विरोधी इसीलिए समझा जाता है। शतवर्षीय परमायु मे व्याप्त होने से असुरो को सौ अथवा निनानवे पुरो के अधिवासी कहा जाता है। इन्द्र इन पुरो को स्वय या अन्य देवो के साथ मिल कर तोड देता है। आसुर अवस्था मे चेतना प्रच्छन्न बनी रहती है और इसीलिए इस अवस्था को असत्-रूपा, तमोमयी या मर्त्यप्राया कहा जाता है जिससे छुटकारा पाने के लिए स्तोता प्रार्थना करता है—

असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृत गमय।

प्रथम छन्दित अवस्था से सम्बद्ध होने के कारण असुरो को देवो के अग्रज के रूप मे स्वीकार किया गया है और प्रजापति की सन्तान माना जाता है।[5] जीवन ही देवासुर सग्राम है। पुराणो मे सदैव वर्णन किया जाता रहा है

---

१ अथर्ववेद ११।९।१७

२ अथर्ववेद ११।९।१७,८,९,६

३ ऋग्वेद ४।३४।४

४ ऋग्वेद ३।६०।२,१।११०।३,३।६०।३,१।११०।४

५ शतपथ ब्रा० १।२।३

कि पराजित होने पर म्रियमाण असुरो के शरीर मे से एक दिव्य-ज्योति निकल कर विजेता देव मे प्रविष्ट हो जाती है । असुर-अधिष्ठित अहम् के परमतत्व मे विसर्जन होने से 'सोऽहम्' की अनुभूति होने लगती है और यही स्वराज्य की स्थिति है जिसके लिए प्रयत्नशील होने की बात वेदो मे कही गई है—स्वाराज्ये यतेमहि ।[1] स्वतन्त्रता या 'स्व के तनन' का उद्देश्य स्वराज्य-समिद्धि है । स्व का पर मे होकर परम की ओर चलने वाली यात्रा का नाम ही स्वतन्त्रता है, जो श्रम की अपर सज्ञा है और इसका उद्देश्य स्वराज्य है—स्व का दीप्तिमान् होकर परम मे विलय ।[2]

वैदिक परम्परा के मानने वालो के लिए श्रम का सुनिश्चित समायोजन आश्रम व्यवस्था मे हुआ है । जब तक जीवन मे श्रम की ऐसी योजना चलती रही तब तक आश्रमव्यवस्था के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था प्रवर्तित नही हुई, परन्तु ज्योही इस व्यवस्था मे श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हुई, त्योही श्रम की ओर मानव की सहज प्रवृत्ति को ध्यान मे रखते हुए नई व्यवस्था का समाज मे प्रवर्तन हुआ जिसे श्रमण-व्यवस्था कहा जाता है । यद्यपि श्रमण परम्परा को निवृत्ति-परक माना जाता है और आश्रम-व्यवस्था को पूर्णतया प्रवृत्तिमार्गी मान कर उससे श्रमण-परम्परा को विपरीत मान लिया जाता है, परन्तु न तो आश्रम-व्यवस्था पूरी तरह प्रवृत्तिमार्गी है और न श्रमण-परम्परा पूरी तरह से निवृत्तिमार्गी ही । प्रवृत्ति और निवृत्ति की पृथक्-पृथक् रूप मे अवस्थिति हो भी नही सकती । श्रमणवाद मे यह कहा गया कि सच्चा श्रमण वही है जो अपने श्रम का पर्यवसान 'शम' मे कर ले ।[3] श्रम का शम-पर्यवसायीकरण ही आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य था । डा० मगलदेव शास्त्री श्रमण और वैदिक परम्पराओ को एक दूसरे का पूरक कहते हैं ।[4] ऊपर बतायी हुई समानता को देखते हुए तो इन्हे पूरक कहने के स्थान पर परस्पर अभिन्न ही कहना अधिक उपयुक्त होगा । दोनो व्यवस्थाओ मे अन्तर इस दृष्टि से न होकर अन्य दृष्टि से है । वह यह है कि वैदिक परम्परा मे ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करना अनिवार्य माना गया था । प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी '—यह ऋषियो का आदेश था । श्रमण-परम्परा मे इसे सर्वथा विहित माना गया कि कोई चाहे तो सामाजिक हितकामना की दृष्टि से और आध्यात्मिक-श्रम की साधना के लिए आजीवन पचमहाव्रतो की साधना कर सकता है और इसके लिए वह गृहस्थ आश्रम से मुक्ति लेने का अधिकारी है । यह कार्य साधना का कठोर मार्ग था और हर किसी के वश की बात नही थी । इसलिए साधारण लोगो के लिए अणुव्रतो की व्यवस्था रक्खी गई । इस बात की ओर भी ध्यान दिया गया कि महाव्रती मुनियो से अणुव्रती साधारण साधको का समय-समय पर मिलन होता रहे । इसके लिए मुनियो को गोचरी-वृत्ति अपनाने की जिम्मेदारी लेनी पडी । गोचरीवृत्ति ही जैन और बौद्ध धर्मानुयायियो के आध्यात्मिक-गणराज्य के रूप मे सगठित होने का आधार ज्ञात होता है । इस वृत्ति को किसी भी गणतन्त्र की भावात्मक आधारभूमि निर्मित करने के लिए अपनाया जाना सभव है ।

गोचरीवृत्ति के विषय मे सबसे प्रामाणिक जानकारी जैन-परम्परा मे मिलती है जिसमे आज भी मुनियो की गोचरी के लिए अभ्यर्थना करने की प्रथा प्रचलित है । बौद्धधर्म मे आर्यों के गोचर मे लीन साधको को आदरपूर्वक स्मरण किया जाता है—आर्याणा गोचरे रता ।[5] इसी तरह वैदिक-परम्परा मे भी वेदानुयायी को गोचर्या अपनाने के लिए कहा गया है—गोचर्यां नैगमश्चरेत् ।[6] गोचरी वैदिक-परम्परा मे प्रचलित गोमेध से अभिन्न ज्ञात होती है । वाल्मीकि ने अश्वमेध के लिए अश्वचर्या शब्द का प्रयोग किया है ।[7] इसी तरह गोमेध का पर्याय गोचरी या गोचर्या को



१ ऋग्वेद ५।६६।६

२ डा० बद्रीप्रसाद पचोली-राष्ट्र-रक्षा विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६६

३ डा० फतहसिह—वैदिक-समाजशास्त्र मे यज्ञ की कल्पना, पृ० २६

४ डा० मगलदेव शास्त्री-भारतीय सस्कृति का विकास-वैदिक धारा, पृ० १९४

५ धम्मपद २१२

६ श्रीमद्भागवतपुराण ११।१८।२९

७ रामायण, बालकाड ३९।६

समझना चाहिए। यज् और मेधृ धातुओं का एक अर्थ मेल करना है। अत इनमे उत्पन्न यज्ञ और मेध शब्द समानार्थक हैं और सामूहिक-आचरण की व्यजना करते हैं। अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध शब्दों मे प्रयुक्त अश्व, गो और पुरुष शब्द समाज-सगठन की विशिष्ट परम्पराओं के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक सज्ञाए हैं। पुरुषयज्ञ की समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फतहसिंह ने अपने वैदिक समाजशास्त्र मूलाधार' तथा 'वैदिक-समाजशास्त्र मे यज्ञ की कल्पना' नामक ग्रन्थो मे की है। गोमेध पर इन पक्तियो के लेखक ने अपने अनेक लेखो मे विचार प्रकट किये है। इन सभी यज्ञो का सम्बन्ध आचरण से है। परवर्ती काल मे यज्ञ के स्थान पर आचरण के अर्थ मे धर्म सज्ञा का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद मे गो मूल प्रकृति का नाम है।[1] यद्यपि सृजक गो एक ही है और वह उस यक्ष से अभिन्न है जिसे ब्रह्म कहा जाता है।[2] परन्तु सृजन की विविध प्रवृत्तियो के रूप मे वह अनेक नामो से जानी जाती है। एक होते हुए भी वह अपने एक रूप से देवमाता है, दूसरे से देवस्वसा और तीसरे से देवदुहिता।[3] कामधेनु पृश्नि, बृहती, वशा, ब्रह्मगवी, विराज, वासवी, सौम्या ऐन्द्री, पारमेष्ठिनी, बार्हस्पत्या, स्वायम्भुवी आदि नामो से गो के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। अदिति ब्रह्मगवी, वशा आदि नामो से वेदो मे उल्लिखित महाधेनु ही तान्त्रिको की महात्रिपुरसुन्दरी, शाक्तो की महाविद्या, महालक्ष्मी अथवा महाकाली तथा वैष्णवो की उद्भव-स्थिति-सहार-कारिणी श्रीदेवी (जिनके सीता राधा आदि विविध रूप हैं।) जैन परम्परा मे चक्रेश्वरी देवी और बौद्ध-परम्परा मे तारा अथवा मञ्जुश्री, जिसको बहुधा पुरुषरूप मे भी चित्रित किया जाता है, भी उसी आदिशक्ति या महाधेनु के रूप ज्ञात होते हैं। इस आदिशक्ति का वात्सल्य ही इस जगत् के रूप मे व्यक्त हो रहा है। इस सृजक धेनु को अन्य सृजक-शक्तियो की जननी अद्वितीय उषा कहा गया है[4] जिसका वत्स सूर्य है।[5] ऋत के सदन मे वह एक धेनु सृष्टि के बीज रूप अग्नि की परिचर्या करती रहती है।[6] अपने अन्य धेनु रूपो के साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है।[7] वह सृजक देव की सामर्थ्य ही नही वरन् उससे अभिन्न भी है।[8] वाक्रूपिणी सृजकशक्ति के वात्सल्य का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् मे मिलता है—

वाच धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वार स्तना स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकार वषट्कार च हन्तकार मनुष्या स्वधाकार पितरस्तस्या प्राण ऋषभो मन वत्स।[9]

इस कथन से स्पष्ट है कि देव, पितर तथा मनुष्यो को जन्म देकर इस महाधेनु ने अपने वात्सल्य का विषय बनाया। असुर या प्राणो का असत् रूप इन तीनो से पहले का है। यज्ञ रूप जगत् के द्वारा देवो ने असुरो पर विजय प्राप्त की।[10] असत् प्राणो का सत् रूप ही जगत् है। सृजन का प्रारम्भ महाधेनु के वात्सल्य-प्रदर्शन से होता है। सौम्या गो के नाम से सुज्ञात यह शक्ति ही परम-वत्सला होने पर सबका पोषण करने वाली कामधेनु कही जाती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह विश्वधायस् धेनु है जिसका काम ही दूध देना है और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है।[11]

---

१ ऋग्वेद मे गोतत्त्व राज० वि० विद्यालय का शोध प्रबन्ध, १९६४ पचोली

२ एको गौरेक एक ऋषिरेक धामैकधाशिष । यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकर्तु नातिरिच्यते। अथर्ववेद ९।२६

३. माता रुद्राणा दुहिता वसुना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि । ऋग्वेद १०१।१५

४ गवा जनित्री—ऋ० १।१२४।५ माता गवाम्-ऋ० ४।५२।२, ३

५ ऋ० ३।५८।१ तथा १।११३।२

६ ऋग्वेद ३।७।२

७ ऋ० ३।३८।७

८ इमा या गाव स जनास इन्द्र — ऋ० ६।२८।५

वेद भारतीय जीवन मे व्याप्त विचारो और विश्वासो का आधार है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार उसी मधुमय उत्स से भारतीय अध्यात्मशास्त्र के निर्झर प्रवाहित हुए हैं।[1] वेद मे प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर सृष्टि के रहस्यो पर प्रकाश डाला गया है। वहा अनन्त और अनादि प्रकृति का गो व ब्रह्माण्ड को वत्स मान कर सृष्टि-प्रक्रिया का जो वर्णन किया है उसको आधार मानकर परवर्ती काल मे समाज मे गो प्रतीक की प्रतिष्ठा समाज मे दो तरह से हुई। प्रथमत वात्सल्य प्राप्ति के हेतु गोतत्त्व की उपासना प्रारम्भ हुई। द्वितीयत गो व वत्स का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की एक विशिष्ट परम्परा का द्योतक बन गया और उसके अनुकरण पर विशिष्ट समाजतंत्र का विकास हुआ।[2] यही समाजतंत्र गणतन्त्र परम्परा का मूल है।

बौद्धग्रन्थ चूलनिद्देस मे अश्वव्रतिको और गोव्रतिको का उल्लेख मिलता है। इनका विशेषतया गोव्रतिको का जैन और बौद्ध जीवन-साधनाओ पर प्रभाव पडा। महाभारत मे पशुप्राय गोधर्म का उल्लेख भी मिलता है।[3] इसका तात्पर्य मुक्तभोग ज्ञात होता है। इसका गोव्रत या गोचरी से दूर का भी सम्बन्ध नही है। गोधर्म का सम्बन्ध गोपशु को प्रतीक मानकर उसकी तरह आचरण करने से ज्ञात होता है जबकि गोचरीवृत्ति का विकास शब्द-प्रतीक गो मे वैदिक-परम्परा के अनुसार हुआ है। गोचरीवृत्ति का आधार वात्सल्य है जो वैदिक वाक्-रूप गो का प्रमुख धर्म है और जिसका एक अश पशु-गो मे भी मिलता है। भक्ति-सम्प्रदाय मे भक्तो के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये ५ प्रकार के स्वभाव माने गये है। वात्सल्य की श्रेष्ठता इससे सिद्ध है कि उसे अमृतमय-मधुमय-जीवन की पृष्ठभूमि माना गया है। मधुमय-जीवन के लिए यत्नशील साधक मधुकरीवृत्ति अपनाकर नृमेध सम्पन्न करता है जिसके द्वारा उसमे ऋतबुद्धि का विकास होता है। इसके पूर्व प्रज्ञाबल की ससिद्धि के लिए साधक को गोचरीवृत्ति अपनाना आवश्यक है।

महाभारत मे कहा गया है कि नित्य जहा तहा सो जाना, जो कुछ मिले खा लेना, और जो कुछ मिले पहन लेना—यह गोव्रत है। गोव्रती विप्र स्वाध्याय और वेदाभ्यास करते हुए कृशकाय होकर प्राण त्यागकर स्वर्ग को जीत कर उन्नत लोको मे निवास करते है।[4] अश्वचर्या का सम्बन्ध विजेता क्षत्रियो से रहा है जबकि पुरुषमेध का सम्बन्ध सामाजिक-सगठन के सूत्रधार सन्यासियो से। गामेध या गोचर्या का सम्बन्ध समाज के प्रज्ञाबल के धनी परिव्राजको और कर्मबल के धनी गृहस्थो—दोनो से रहा है। मनु ने गृहस्थ जीवन छोडकर भी गृहस्थो से सम्बन्ध बनाये रखने वाले सन्यासियो को 'वेदसन्यासी' की पृथक् सज्ञा से अभिहित किया है।[5] ये गृहस्थो मे रहते हुए उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। गोचर्या अपनाने वाले साधक का एक साथ दो उत्तरदायित्व निभाने पडते हैं। वह सूर्य रूप गो के शरीरगत प्रतिनिधि विज्ञानमयकोश की शक्ति के प्रति अपने मन को वत्स बनाकर साधना भी करता है और दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन-रत, किन्तु श्रेयोमार्ग के लिए प्रयत्नशील सद्गृहस्थो के लिए गोवत् आचरण करता हुआ वात्सल्य प्रदान करता है।[6]

श्रम करता हुआ साधक श्रम के सूक्ष्म रूप शम या शमी मे स्थित होता है। भक्ति-परम्परा मे यही स्थिति शान्तिरति ज्ञात होती है जिसमे शान्ताभक्ति का विकास होता है। इसी शम या शमी मे गो का प्रादुर्भाव होता है—शम्या गोजागार।[7] डा० फतहसिंह के अनुसार स्थूल शरीर की शक्ति श्रम है। उसका सूक्ष्म रूप प्राणमय कोश मे



१ उरुज्योति, भूमिका, पृ० क

२ वात्सल्यधर्म—बद्रीप्रसाद पचोली, कल्याण-धर्मांक, पृ० ३८५-९४

३ महाभारत, आदिपर्व १०५।२६, नीलकठ का अर्थ—'प्रकाश मैथुन'

४ यत्र तत्र शयो नित्य येन केनचिदाशित । येन केनचिदाच्छन्न स गोव्रत इहोच्यते ।
अत्र गोव्रतिनो विप्रा स्वाध्यायाम्नायकर्शिता । त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षय ।
—महाभारत, उद्योगपर्व ९९।१४,१३

५ मनुस्मृति ६।८५

६ गोचरीवृत्ति-पचोली, वेदवाणी, १९।२

७ ऋ० १०।३१।१०



शची के रूप मे और सूक्ष्मतम मनोमयकोश मे शमी के रूप मे अभिव्यक्त होने वाला है।[1] शची इन्द्रपत्नी है और प्राणमयकोश से सम्बन्ध रखती है। मनोमयकोश की शक्ति शमी मे इन्द्र रूप गो का उद्भव होता है। इसी गो का वात्सल्य साधक का अभीष्ट होता है। श्रमण-परम्परा मे श्रम का पयवमान शम मे हो जाने पर साधक सिद्ध बन जाता है और उसकी सज्ञा गो या इन्द्र हो जाती है। इन्द्र की ख्याति विजेता के रूप मे रही है। जैन-परम्परा मे ऐसे सिद्ध पुरुषो को जिनेन्द्र कहने का यही कारण ज्ञात होता है। आदि जिनको ऋषभ कहने का आधार भी यही ज्ञात होता है। ऋग्वेद मे ऋषभ-सज्ञक इन्द्र की स्तुति मिलती है। इन्द्र को मुनियो का सखा कहा गया है—इन्द्रो मुनीना सखा। साधारण ग्रहस्थो के लिए ऐसे सिद्ध पुरुष वात्सल्य बन कर प्रेरणा प्रदान किया करते हैं। समाज का कर्मबल जब वत्स बन कर प्रज्ञाबल के वात्सल्य की कामना करता है तो समाज जिस एकीभाव मे स्थित होकर आत्मतनन के लिए प्रयत्न-शील होता है, उसी की सज्ञा गणतत्र है।

भारत मे श्रेष्ठ पुरुष के लिए पुगव, नरपुगव, नरर्षभ, पुरुर्षभ जैसे विशेषणो का प्रयोग तो होता ही रहा है साथ ही उनके वत्सल भाव को व्यजित करने वाले भ्रातृ-वत्सल, मित्रवत्सल, भक्तवत्सल, पितृवत्सल, प्रकृतिवत्सल आदि विशेषण भी प्रयुक्त होते रहे हैं। इससे पता चलता है कि भारत मे समाज मे वात्सल्य को आधार मान कर व्यवस्थित होने की परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा का वैचारिक आधार ऊपर प्रस्तुत किया है। प्रत्येक प्राणी इस ससार रूपी खूंटे से बधा हुआ वत्स है। प्रलयरात्रि से ही वह अपनी माता आदि-प्रकृति रूपी गो से पृथक् रहा है। जब वह अपने जीवन मे चेतना जगा कर दिव्य उषा का अनुभव करने लगता है तब वत्सला प्रकृति उसको अपना वात्सल्य प्रदान करती है और वह उस माता के साथ उसके प्रेरक असीम-चैतन्य-तत्त्व को भी अनुभव का विषय बना लेता है। उसकी स्वता मे जब चैतन्य की दीप्ति जागती है तो उसे स्वराज्य की ससिद्धि हो जाती है जो जीवन का चरम ध्येय है। इस स्थिति को बुद्ध ने गोचरपद और जैन-आचार्यो ने शिवपद या कैवल्यपद तथा वैदिको ने गोलोक, इलस्पद, परमपद, गोष्पद आदि सज्ञाओ से सबोधित किया है।[2] जिसको स्वराज्य की ससिद्धि हो जाती है उसे आविर्भूतज्योति[3] कहा जाता है। स्वराज्य-साधना की सज्ञा गोसव भी है—अथैप गोसव स्वराज्यो वा एप यज्ञ।[4] स्वराज्य परमेष्ठी प्रजापति की सज्ञा है।[5] इस यज्ञ मे ऋतदेव विष्णु की उपासना की जाती है।[6] समाज की अधिष्ठातृ-शक्ति का नाम ही विष्णु है। स्वाराज्य-सिद्धि को प्राप्त करने वाले लोग समाज-चेतना से समुपेत हो जाते हैं और इसीलिए उन्हे विष्णु का अवतार कहने की परम्परा चली आई है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और महात्मा बुद्ध इसीलिए विष्णु के अवतार कहे गये हैं। विष्णु के हृदय पर श्रीवत्स अकित माना जाता है। यह वत्स के प्रति उनकी वत्सलता का सूचक है। ऋषभदेव से सम्बद्ध चक्रेश्वरीदेवी वैष्णवीशक्ति का ही नाम है। उनका गोमुख यक्ष भी उनकी महती सिद्धि का सूचक है। परवर्ती जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की तरह वत्सवत् साधना करके और अन्त मे स्वय गोस्थानीय बनकर धर्मप्राण जनता को वात्सल्य प्रदान करते रहे है।

बछडे के स्वर मे मातृवियोग की पीडा, अभाव की साकेतिक व्यजना, पुनर्मिलन की उत्कठा, आशा, विश्वास और कारुणिकता की समुचित अभिव्यक्ति होती है। सगीत मे तो ऐसे भावो का व्यजक ऋषभस्वर स्वरसप्तक मे स्थान पा गया है।[7] साधक को वत्स बनने के लिए अन्तर मे बछडे जैसी वेदनानुभूति और उत्कठा जगानी होगी।

---

१ वैदिक समाजशास्त्र मे यज्ञ की कल्पना, पृ० २६
२ दिव्य आर्यभूमि —डा०पचोली, वैदिकधर्म पारडी अगस्त १९६६
३ उत्तररामचरित ४।१८ यहा यह विशेषण वसिष्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है।
४ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १९।१३।१
५, वही १९।१३।३
६ गोसव-डा० पचोली, टकारापत्रिका वर्ष ६ अक ७
७ शब्दकल्पद्रुम, प्र० खड, पृ० २८७ पर ऋषभस्वर को ऋषभ या चातक के समान बताया गया है। चातक जैसी वेदना वत्स के स्वर मे होती है। अत वत्स जैसा स्वर ही ऋषभस्वर कहा गया होगा।

वत्सवत् आचरण का आधार श्रद्धा है। सत्यपरक श्रद्धा ही जीवन को यज्ञ बनाती है।[1] वत्सवत् साधना करके महा-धेनु का वात्सल्य पाने पर साधक स्वयं अन्य लोगों पर वात्सल्य प्रकट करने का अधिकारी बन जाता है। साधना की सभी पद्धतियों में सिद्धपुरुषों को ऐसा ही सम्मान दिया गया है। ये सिद्ध पुरुष सामान्य लोगों को उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए लोकहित में लगे रहते हैं। गोस्थानीय सिद्धपुरुषों का वत्सस्थानीय सामान्य नागरिकों से मिलन गोसव या गोमेध का स्वरूप प्रस्तुत करता है। गोसव में स० शब्द पु-प्रसवैश्वर्ययो अथवा पुञ्-अभिषवे धातु से व्युत्पन्न है और इस प्रकार गोसव का अर्थ है—गौओं का प्रसव, गौओं के ऐश्वर्य से युक्त होना, गौओं का दोहन करना। यहाँ गो का अर्थ सिद्धपुरुष लेने पर गोसव का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गोसव में सिद्धपुरुष रूप गो का प्रसव होने पर द्विजन्मा (द्विज) साधक प्रादुर्भूत होता है। वही उनसे ज्ञान का दोहन करता है और उनके साहचर्य में ऐश्वर्य से युक्त होता है।

विष्णु के परमपद में भूरिशृंगा गौओं का निवास है।[2] मंत्र के इस भाव की रूप-समृद्धि के लिए गोसव के प्रतीक रूप में १०००० गौएं एकत्र की जाती हैं और साधनासमाप्ति के बाद उनको दान कर दिया जाता है।[3] ये गौएं प्रतिव्यक्ति एक के हिसाब से दी जाती होंगी। यज्ञ में इनको १०००० विद्वानों (गोस्थानीय सिद्धपुरुषों) को दुग्धादि प्रदान करने के लिए एकत्र किया जाता होगा और बाद में इनको उन्हें ही देकर यजमान आत्मदक्षिण हो जाता था।[4] आगन्तुकों की संगति का लाभ करता हुआ जब यजमान अपने प्रशासनिक पदों आदि को भुला कर सामाजिक चेतना के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है तभी उसे आत्मदक्षिण की स्थिति को प्राप्त माना जाता है। इस निरभिमानता के फलस्वरूप उसे विद्वत्समाज का वात्सल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विष्णु की उपासना करते हुए समाज के प्राज्ञवर्ग का वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिक संगठन में बंध जाना ही गोसव का उद्देश्य ज्ञात होता है जिसे परवर्ती गोचर्या अपनाने वाले लोगों ने अपना कर गणतंत्र की आधारभूमि तैयार की है।

संघ शब्द संगति-अर्थवाची मेध और यज्ञ का पर्यायवाची है[5] और जैन और बौद्ध संघों को वैदिक यज्ञ-परक सामाजिक-संगठनों का युगानुसार परवर्तित रूप मानना चाहिए। ये आध्यात्मिक गणतंत्र के रूप में विकसित हुए थे और आध्यात्मिक गणतंत्र के प्रवर्तक के रूप में ही वर्द्धमान महावीर और बुद्ध की चिरस्थायिनी कीर्ति है।[6] बुद्ध का एक नाम ऋषभ भी है।[7] उनकी यह संज्ञा गोचरीवृत्ति अपनाने से ही प्रचलित हुई है। उन्होंने आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही है।[8] जैनसंघ में भी साधना का उद्देश्य गोचर-पद की प्राप्ति ही माना गया था।[9] जैनसंघ में तपःपूत जीवन बिताने वाले सिद्धों-मुनियों और श्रद्धापरक जीवन में विश्वास करने वाले श्रावकों के सम्मिलन की व्यवस्था भी है। संवत्सरी, पर्युषण आदि पर्वों में ऐसे सम्मिलन की व्यवस्था की गई है। इन्हीं के कारण जैन-समाज संगठित है। जैन-संघ में साधना का उद्देश्य है रत्नत्रय की संसिद्धि-दर्शन, चारित्र्य और ज्ञान में पूर्णता या सम्यक्त्व प्राप्त करना। वात्सल्य इनमें सम्यक्-चारित्र्य का समानार्थवाची है।[10]

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३२-१० यज्ञ का आधार श्रद्धा और सत्य का मिथुन माना गया है।
२ यत्र गावः भूरिशृंगा अयासः—ऋ० १।१५४।६
३ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।१३।६
४ गोचरीवृत्ति-पचोली-वेदवाणी (बनारस) वर्ष १६ अंक १-२
५ वही।
६ महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा—पचोली, मुनिहजारीमलस्मृति-ग्रन्थ —पृ० ६४६-५३
७ धम्मपद ३६-४०
८ धम्मपद २-२
९ समाधितन्त्र ६१-६८
१० जैनधर्म में वात्सल्य—पचोली, स्मारिका (जयपुर) १९६६



सम्यक्त्व के आठ अगो-नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना[1] मे से, गोवृत्ति पर विचार करते समय हमारा ध्यान वात्सल्य पर चला जाता है। इनमे प्रथम चार तो निषेधात्मक हैं। उपगूहन या आत्मगोपन भी अपने आप मे विशेष महत्त्व का नही है। जैनाचार्यों ने अन्तिम तीन को ही विशेष महत्त्व दिया है। इनमे से स्थितिकरण, जिसे गीता मे स्थितप्रज्ञता कहा गया है, ही रत्नत्रय मे से प्रथम सम्यक्-दर्शन है और तृतीय प्रभावना सम्यक्-ज्ञान से अभिन्न है। वात्सल्य सम्यक्-चारित्र का नाम है। जो व्यक्ति उन्मार्गगामी लोगो को और स्वय को बुरे मार्ग से हटा कर सन्मार्ग मे स्थित कर लेता है, वही सम्यक्दर्शन को अपने जीवन का अग बनाता है।[2] सम्यक्-दृष्टि से युक्त होने पर व्यक्ति धर्मियो मे भक्ति रखता हुआ, प्रियवचन-पूर्वक परम श्रद्धा से उनके आचरण का अनुसरण करता है और स्वय को वात्सल्य का अधिकारी बना लेता है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरण कुणदि परमसद्धाए।
पियवयण जम्पन्तो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥[3]

धर्म के दस भेदो का अनुसरण करते हुए आत्मा को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने का नाम ही प्रभावना है।[4] तीन रत्नो या आदर्श जीवन की स्थितियो मे से प्रथम को लक्ष्य-साधना का प्रारम्भ माना जा सकता है। द्वितीय साधना का वास्तविक मार्ग है और तृतीय सिद्धावस्था के निकट पहुचने की स्थिति है। स्पष्ट है कि वात्सल्य का अधिकारी बनना जैन-जीवन-साधना का प्रधान लक्ष्य है।

ऊपर वात्सल्य का अधिकारी बनने के लिए जिन बातो की ओर ध्यान दिलाया गया है वे मुख्य रूप से चार है। भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा और तदनुकूल आचरण। प्रियवचन को इनमे प्रथम स्थान दिया जा सकता है। वत्स शब्द की निरुक्ति —'वदति इति वत्स' भी इस बात को प्रकट करती है कि वत्स बनने के लिए प्रियवचन प्रथम योग्यता है। स्वर्गीय जयशकरप्रसाद के अनुसार वाक्सयम विश्वमैत्री की पहली सीढी है।[5] सत्याणुव्रत पर विचार प्रकट करते हुए जैनाचार्यों ने सत्य को प्रियता के साथ जोड कर राग-द्वेष से रहित, हिंसारहित, हितकर, धर्मगर्भित वचन बोलने पर बल दिया है। मनीषी लोगो ने मौन को सर्वोत्तम भाषण माना है। उपनिषदो मे ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति के साथ तृष्णाभाव का सम्बन्ध माना गया है। अत मुनि का मौनव्रत मूक रहना मात्र नही है, वरन् प्रियवचन की साधना का एक अग है। ऐसे व्यक्ति मूक तो किसी रहस्यात्मक आनन्द की स्थिति को व्यक्त न कर पाने के कारण रह जाते है। प्रियवचन से जीव के ससार रूपी खूंटे से छूटने की सभावना उत्पन्न हो जाती है। ऋग्वेद मे वत्स का दर्शन है कि हृदय के भाव जब बुद्धि मे प्रकाशित होते है तब विद्वान् ऋत-धारा से स्वय को सयुक्त अनुभव करने लगता है।[6] जो यत्नशील तेजस्वी व्यक्ति तथा परिपक्व बुद्धि वाले सिद्धपुरुष अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करते है वे वस्तुत प्रियस्तोत्र का ही पाठ करते है।[7] मन का यमन करके उसके अनुकूल वाणी का प्रयोग करना ही वत्स का वत्सत्व है।[8] मन उनके लिए वाणी (गो) से ब्रह्मतेज और पुष्टियो का दोहन करता है।[9] इन कथनो मे एक बात की ओर ध्यान गये बिना नही रहता, वह यह है कि साधक का लक्ष्यप्राप्ति के लिए निरन्तर यत्नशील रहना ही

१ कुन्दकुन्दाचार्य—चारित्रपाहुड ७
२ समयसार (कुन्दकुन्द) २३४
३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२०
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२१
५ अजातशत्रु १।२
६ ऋग्वेद ८।६।८
७ ऋग्वेद ८।६।१८
८ ऋग्वेद ८।११।७
९ ऋ० ८।६।१९

प्रियवचन माना जाता है। बिना मुँह से कहे सोची हुई बात को कार्य रूप मे परिणत करके दिखा देना प्रियवचन उच्चारण करने का सबसे उत्तम प्रकार है। मनुष्यो को नही उसके काम को बोलना चाहिए। अच्छे व्यक्ति अपने गुणो को अपने कार्य से ही प्रकट करते है—

वायाए अकहन्ता सुजणे चरिदेहि कहियगा होन्ति[1]

यहा प्रियवचन का आचरण से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भक्ति वात्सल्य प्राप्ति का दूसरा साधन है। विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा से वृद्धि होती है वैसे ही सिद्धपुरुषो की भक्ति से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति होती है।[2] यद्यपि प्रियवचन को साधना मे प्रथम स्थान दिया गया है, परन्तु भक्त का विश्वास होता है कि भक्ति ही उसे मुखर बनाती है—त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।[3] भक्त इष्टदेव के वत्सल रूप का आह्वान करता है—

त्व नाथ दु खिजनवत्सल हे शरण्य कारुण्यपुण्यवसते वशिना वरेण्य।

भक्त्या नते मयि महेश दया विधाय दु खाकुरोद्दलनतत्परता विधेहि॥[4]

भक्ति के अग है नमन और सेवन। जैनमत मे इन दोनो को ही समान महत्त्व दिया गया है। भगवत्सेवा का सबसे सरल उपाय मानवसेवा है। इसलिए ऊपर 'धम्मिएनु भत्तो' शब्द प्रयुक्त हुए है। साधु पुरुषो की सगति मे रहने से और उनकी सेवा करने से दुजन भी पवित्र हो जाता है—सुयण-मज्झवासी वि दुज्जणो पूइयो होइ।[5] 'सबार ऊपर मानुस सत्य तार ऊपर नाइ' रवीन्द्र की इस उक्ति का आधार भारत की अन्य परम्पराओ की तरह जैन-परम्परा मे भी मिल जाता है। एक प्राचीन लेख के अनुसार कारजा नगर मे स्वर्णमुद्राओ से सघ-वात्सल्य प्राप्त किया गया था।[6] वत्सल सघ या मुद्रा प्रदाता नही। वह तो वत्स बनने के लिए प्रयत्नरत था। यह दाता के दान और वात्सल्याकाक्षा के साथ सघकी वत्सलता की भी प्रशस्ति है।

वात्सल्य का तीसरा साधन श्रद्धा है। भगवान बुद्ध ने आध्यात्मिक कृषि के लिए श्रद्धा को बीज कहा है—श्रद्धा बीज तपो वुट्ठि।[7] ऋग्वेद मे श्रद्धा को सम्पत्ति का शीर्ष, प्रार्थितफलदात्री तथा उपासना करने योग्य कहा गया है।[8] जैन-परम्परा मे जीवन-सग्राम मे श्रद्धा को नगर, तप एव सवर को उसकी आगल, क्षमा को श्रेष्ठ परकोटा, आत्मबल को धनुष तथा ईर्या समिति को उसकी डोरी बना कर सत्य से खीच कर तप रूपी बाण से कर्मकवच को भेद कर युद्ध करने वाले की विजय निश्चित मानी गई है।[9] आचरण के लिए किया जाने वाला उद्यम ही तप है जिसे दीपक भी कहा जाता है।[10]

---

१ भगवती आराधना ३६६

२ भगवती आराधना ७५१

३ भक्तामर स्तोत्र (मानतुगाचार्य), ६

४ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (सिद्धसेन दिवाकर), ३९

५ भगवती आराधना ३५१

६ हेममुद्रा सघवच्छल कियो—जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ४५५

७ सुत्तनिपात, उरगवग्ग, कसिभारद्वाज सुत्त

८ ऋग्वेद ०१।१५१

९ उत्तराध्ययनसूत्र ९।२०।२२

१० उत्तराध्ययनसूत्र १२-४३





सम्यक्त्व के आठ अगो-नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना[1] मे से, गोवृत्ति पर विचार करते समय हमारा ध्यान वात्सल्य पर चला जाता है। इनमे प्रथम चार तो निषेधात्मक है। उपगूहन या आत्मगोपन भी अपने आप मे विशेष महत्त्व का नही है। जैनाचार्यों ने अन्तिम तीन को ही विशेष महत्त्व दिया है। इनमे से स्थितिकरण, जिसे गीता मे स्थितप्रज्ञता कहा गया है, ही रत्नत्रय मे से प्रथम सम्यक्-दर्शन है और तृतीय प्रभावना सम्यक्-ज्ञान से अभिन्न है। वात्सल्य सम्यक्-चारित्र का नाम है। जो व्यक्ति उन्मार्गगामी लोगो को और स्वय को बुरे मार्ग से हटा कर सन्मार्ग मे स्थित कर लेता है, वही सम्यक्दर्शन को अपने जीवन का अग बनाता है।[2] सम्यक्-दृष्टि से युक्त होने पर व्यक्ति धर्मियो मे भक्ति रखता हुआ, प्रियवचन-पूर्वक परम श्रद्धा से उनके आचरण का अनुसरण करता है और स्वय को वात्सल्य का अधिकारी बना लेता है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरण कुणदि परमसद्धाए।
पियवयण जम्पन्तो वच्छल्ल तस्स भव्वस्स ॥[3]

धर्म के दस भेदो का अनुसरण करते हुए आत्मा को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने का नाम ही प्रभावना है।[4] तीन रत्नो या आदर्श जीवन की स्थितियो मे से प्रथम को लक्ष्य-साधना का प्रारम्भ माना जा सकता है। द्वितीय साधना का वास्तविक मार्ग है और तृतीय सिद्धावस्था के निकट पहुचने की स्थिति है। स्पष्ट है कि वात्सल्य का अधिकारी बनना जैन-जीवन-साधना का प्रधान लक्ष्य है।

ऊपर वात्सल्य का अधिकारी बनने के लिए जिन बातो की ओर ध्यान दिलाया गया है वे मुख्य रूप से चार है। भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा और तदनुकूल आचरण। प्रियवचन को इनमे प्रथम स्थान दिया जा सकता है। वत्स शब्द की निरुक्ति—'वदति इति वत्स' भी इस बात को प्रकट करती है कि वत्स बनने के लिए प्रियवचन प्रथम योग्यता है। स्वर्गीय जयशकरप्रसाद के अनुसार वाक्सयम विश्वमैत्री की पहली सीढी है।[5] सत्याणुव्रत पर विचार प्रकट करते हुए जैनाचार्यों ने सत्य को प्रियता के साथ जोड कर राग-द्वेष से रहित, हिंसारहित, हितकर, धर्मगर्भित वचन बोलने पर बल दिया है। मनीषी लोगो ने मौन को सर्वोत्तम भाषण माना है। उपनिषदो मे ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति के साथ तृष्णाभाव का सम्बन्ध माना गया है। अत मुनि का मौनव्रत मूक रहना मात्र नही है, वरन् प्रियवचन की साधना का एक अग है। ऐसे व्यक्ति मूक तो किसी रहस्यात्मक आनन्द की स्थिति को व्यक्त न कर पाने के कारण रह जाते है। प्रियवचन से जीव के ससार रूपी खूंटे से छूटने की सभावना उत्पन्न हो जाती है। ऋग्वेद मे वत्स का दर्शन है कि हृदय के भाव जब बुद्धि मे प्रकाशित होते है तब विद्वान् ऋत-धारा से स्वय को सयुक्त अनुभव करने लगता है।[6] जो यत्नशील तेजस्वी व्यक्ति तथा परिपक्व बुद्धि वाले सिद्धपुरुष अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करते हैं वे वस्तुत प्रियस्तोत्र का ही पाठ करते हैं।[7] मन का यमन करके उसके अनुकूल वाणी का प्रयोग करना ही वत्स का वत्सत्व है।[8] मन उनके लिए वाणी (गो) से ब्रह्मतेज और पुष्टियो का दोहन करता है।[9] इन कथनो मे एक बात की ओर ध्यान गये बिना नही रहता, वह यह है कि साधक का लक्ष्यप्राप्ति के लिए निरन्तर यत्नशील रहना ही

---

१ कुन्दकुन्दाचार्य—चारित्रपाहुड ७
२ समयसार (कुन्दकुन्द) २३४
३ कार्तिकेयानुपेक्षा ४२०
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२१
५ अजातशत्रु १।२
६ ऋग्वेद ८।६।८
७ ऋग्वेद ८।६।१८
८ ऋग्वेद ८।११।७
९ ऋ० ८।९।१९

प्रियवचन माना जाता है। बिना मुँह से कहे सोची हुई बात को कार्य रूप में परिणत करके दिखा देना प्रियवचन उच्चारण करने का सबसे उत्तम प्रकार है। मनुष्यों को नहीं उसके नाम को बोलना चाहिए। अच्छे व्यक्ति अपने गुणों को अपने कार्य से ही प्रकट करते हैं—

वायाए अकहन्ता सुजणे चरिदेहि कहियगा होन्ति[1]

यहाँ प्रियवचन का आचरण से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भक्ति वात्सल्य प्राप्ति का दूसरा साधन है। विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा से वृद्धि होती है वैसे ही सिद्धपुरुषों की भक्ति से ज्ञान दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति होती है।[2] यद्यपि प्रियवचन को साधना में प्रथम स्थान दिया गया है, परन्तु भक्त का विश्वास होता है कि भक्ति ही उसे मुखर बनाती है—त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।[3] भक्त इष्टदेव के वत्सल रूप का आह्वान करता है—

त्व नाथ दु खिजनवत्सल हे शरण्य कारण्यपुण्यवसते वशिना वरेण्य।

भक्त्या नते मयि महेश दया विधाय दु खाकुरोद्दलनतत्परता विधेहि ॥[4]

भक्ति के अंग हैं नमन और सेवन। जैनमत में इन दोनों को ही समान महत्त्व दिया गया है। भगवत्सेवा का सबसे सरल उपाय मानवसेवा है। इसलिए ऊपर 'धम्मिसणु भत्तो' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साधु पुरुषों की संगति में रहने से और उनकी सेवा करने से दुर्जन भी पवित्र हो जाता है—सुयण-मज्झवासी वि दुज्जणो पूइयो होइ।[5] 'सबार ऊपर मानुस सत्य तार ऊपर नाइ' रवीन्द्र की इस उक्ति का आधार भारत की अन्य परम्पराओं की तरह जैन-परम्परा में भी मिल जाता है। एक प्राचीन लेख के अनुसार द्वारजा नगर में स्वर्णमुद्राओं से संघ-वात्सल्य प्राप्त किया गया था।[6] वत्सल संघ या मुद्रा प्रदाता नहीं। वह तो वत्स बनने के लिए प्रयत्नरत था। यह दाता के दान और वात्सल्याकांक्षा के साथ सबकी वत्सलता की भी प्रशस्ति है।

वात्सल्य का तीसरा साधन श्रद्धा है। भगवान बुद्ध ने आध्यात्मिक कृषि के लिए श्रद्धा को बीज कहा है—श्रद्धा बीज तपो वुट्ठि।[7] ऋग्वेद में श्रद्धा को सम्पत्ति का शीर्ष, प्रार्थितफलदात्री तथा उपासना करने योग्य कहा गया है।[8] जैन-परम्परा में जीवन-संग्राम में श्रद्धा को नगर, तप एवं संवर को उसकी आगल, क्षमा को श्रेष्ठ परकोटा, आत्मबल को धनुष तथा ईर्या समिति को उसकी डोरी बना कर सत्य से खींच कर तप रूपी बाण से कर्मकवच को भेद कर युद्ध करने वाले की विजय निश्चित मानी गई है।[9] आचरण के लिए किया जाने वाला उद्यम ही तप है जिसे दीपक भी कहा जाता है।[10]

---

१ भगवती आराधना ३६६

२ भगवती आराधना ७५१

३ भक्तामर स्तोत्र (मानतुंगाचार्य), ६

४ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (सिद्धसेन दिवाकर), ३९

५ भगवती आराधना ३५१

६ हेममुद्रा संघवच्छल कियो—जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० ४५५

७ सुत्तनिपात, उरगवग्ग, कसिभारद्वाज सुत्त

८ ऋग्वेद १०।१५१

९ उत्तराध्ययनसूत्र ९।२०।२२

१० उत्तराध्ययनसूत्र १२-४३





इस प्रकार प्रियवचन, भक्ति, श्रद्धा, शुद्धाचरण के द्वारा वत्स बनकर वात्सल्य प्राप्त करना जैन दृष्टिकोण से जीवन का परम लक्ष्य है।[1] जैनधर्म मे ईश्वर (पृथक) की सत्ता नही मानी गयी। इसलिए प्रश्न होता है कि जैन-साधक वात्सल्य किसका चाहता है? इस विषय मे यही कहना है कि जैनमत आत्मा की सिद्धावस्था को मानता है। परम-भाव मे स्थित पचपरमेष्ठियो की सत्ता भी मानी गई है। इसलिए बाह्य रूप मे परमेष्ठियो से और आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरान्तर्गत प्राणादि आत्मा की दिव्यशक्तियो से वात्सल्य की कामना की जाती है। समकालीन जीवन मे साधक मुनि ही वत्सल होकर सद्गृहस्थियो को वात्सल्य प्रदान करते है। इसीलिए उनकी जीवनचर्या का गोचरीवृत्ति आवश्यक अग बन जाती है।

यति और मुनि परिव्राजक का जीवन बिताते हुए भी समाज के कल्याण मे गोचरीवृत्ति द्वारा लीन रहते है। वे समाज के प्रज्ञाबल के प्रतीक है। सासारिक विषय वासनाओ से निर्लिप्त बुद्धि व्यक्ति के विवेक को जाग्रत करने मे जो कार्य करती है वही कार्य समाज मे गोचर्या अपनाने वाले यति, मुनि और सन्यासियो का होता है। उनके पास साधना का बल होता है, जीवन का व्यापक अनुभव होता है और सबसे अधिक होती है लोकहित के लिए अपनी समस्त क्षमताओ का उपयोग करने की तीव्र लालसा। साधना के क्षेत्र मे वह भी वत्स होता है, परन्तु व्यवहार मे वह स्वय वत्सल बन कर समाज के योगक्षेम का वाहक बन जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार सद्धर्मविलासी मुनि को निरन्तर अहिंसा मे, शिवसुखलक्ष्मी की प्राप्ति मे सहायक धर्म मे व सधर्मी बन्धुओ मे वात्सल्य का अवलम्बन लेना चाहिए। और ऐसा ही करने के लिए श्रावको को प्रेरणा देनी चाहिए—

> अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
> सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परमं वात्सल्यमालम्व्यम् ॥[2]

स्वामी समन्तभद्र के अनुसार सधर्मियो के साथ निश्छल, सरल व्यवहार करना व उनका यथायोग्य उपयोग ही वात्सल्य है।[3] इन कथनो का यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि श्रावक विनयशीलता, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा वत्स-वत् आचरण करे और सिद्धिसम्पदा के कारण मुनि सधर्मियो को धार्मिक प्रोत्साहन आदि के निमित्त वैसे ही वात्सल्य प्रदान करे जैसे वह स्वय आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त करता रहा है। वीतराग होते हुए भी विनयशील श्रावको के प्रति गोचरीवृत्ति का अवलम्बन लेकर वह आध्यात्मिक-कृषि मे योगदान करता हुआ सघ के उत्तरदायित्व को भी निभाता है। जैन सघ मे व्यवस्था के अनुसार सारे भारत को कुछ क्षेत्रीय इकाइयो मे बाटा गया है। मुनि ऐसे किसी क्षेत्र का गणधर भी होता है। इसीलिए उसके लिए गोचरीवृत्ति को अपनाना आवश्यक होता है। मुनि का साथ आर्यिका-सघ की साधिकाए भी देती है। बौद्ध और जैन दोनो परम्पराओ मे सघ को बडा महत्व मिलने का कारण इन दोनो के अनुयायियो का आध्यात्मिक गणराज्य के रूप मे किया गया सगठन है। बौद्धसंघ की कार्य-प्रणाली का उल्लेख बौद्ध ग्रथो मे मिलता है। जैन-परम्परा मे भी सघ की कार्य-प्रक्रिया का वही रूप था। ज्ञप्ति, अनुश्रावण, और धारणा द्वारा सम्मतिग्रहण, छन्दग्रहण आदि की व्यवस्था जैनसघ मे भी थी। परन्तु जहा बौद्धसघ मे स्थविर और स्थविराए ही सम्मिलित थे वहा जैनसघ के सदस्य मुनि और आर्यिकाओ के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाए भी सम्मिलित थे। इसलिए इसमे वात्सल्य के आधार पर साधनामार्ग अधिक सुकर हो गया था।

जैन-परम्परा मे सघ की महत्ता इससे समझी जा सकती है कि उसे गुणो का क्रीडासदन[4] परस्फूर्ति प्रदान करने वाला[5] तथा पापापहारी कहा गया है। प्राचीन भारत मे अनेक गणराज्य स्थापित हुए थे। उनके गठन का

---

१ जैनधर्म मे वात्सल्य—पचोली
२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २६
३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार १७
४ सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २३
५ सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २२

आधार क्षेत्रीय सुविधाओं को माना जा सकता है, परन्तु सबसे पहले बुद्ध और महावीर ने आध्यात्मिक-गणराज्य मे सम्पूर्ण भारत को सगठित करने की उत्कृष्ट सघ व्यवस्था को प्रचारित किया। इनकी इस युगान्तरकारी विचारधारा मे भारत को ही नही, सारे विश्व को एक सूत्र मे बाधने की क्षमता विद्यमान थी। कदाचित् ईसाई धर्म मे विद्यमान ईश्वरीय-साम्राज्य की सभावना की विचारधारा पर भारत के इन श्रमण धर्मों का प्रभाव पडा था।

ऊपर के विवेचन मे स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा के मूल मे आध्यात्मिक-गणराज्य के रूप मे समाज को सगठित करने की सुनिश्चित योजना विद्यमान थी। जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार ही इसी आधार को लेकर हुआ है। कलियुग का अर्थ ही सघयुग है। यदि मानव की युगानुवर्ती सघ-भावना को इन क्रान्तिकारी धर्मों और इनके प्रवर्तकों के उदार व्यक्तित्व का सम्बल न मिलता तो मानव किस अन्धकार मे भटक जाता, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। आत्म-तनन के लिए श्रद्धा, उपकार, अहिंसा, सत्यनिष्ठा आदि की आवश्यकता होती हैं, व तो इन मतो के मूलाधार ही हैं। कर्मनिष्ठा और प्रज्ञाबल के एकान्त सम्मिलन की व्यवस्था भी इनमे विद्यमान है। इसलिए श्रमण-परम्परा गणतन्त्र के लिए आवश्यक सभी तत्त्वो को अपने मे समाहित किये हुए है।

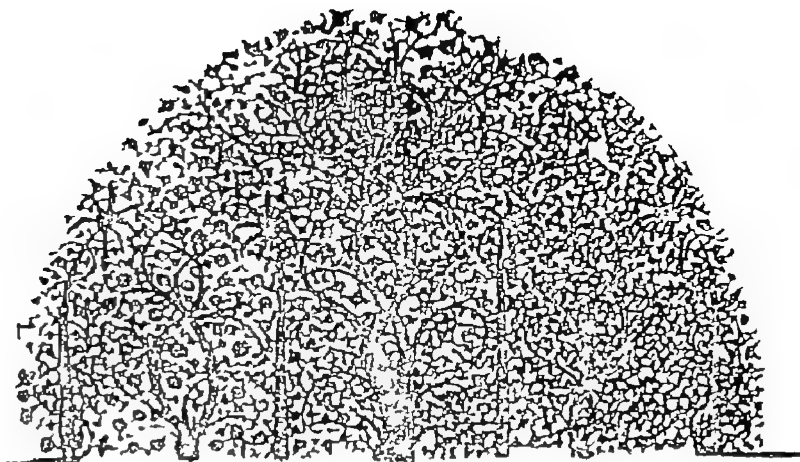
आधुनिक काल मे न तो श्रमण-परम्परा ही अपने वास्तविक स्वरूप को बनाये रख सकी है और न जीवन-साधना का कोई और रूप ही अस्तित्व मे आ सका है। इसीलिए जीवन निरालम्ब-सा हो गया है। क्या इस समय श्रमण-परम्परा हमारे जीवन को कोई सम्बल प्रदान कर सकती है? क्या २० वी शती के उत्तरार्द्ध मे एक सुदृढ गण-तन्त्र के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हमको श्रमण-परम्परा कोई प्रेरक विचार उपकृत कर सकती है? इन प्रश्नो का उत्तर खोजने के लिए हमे सुदूरकल्पना मे खोने की आवश्यकता नही है। श्रमण-परम्परा जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा पर बल देती है। केवल यह एक बात ही हमारे राष्ट्र की आधी मे अधिक समस्याओ का समाधान करने के लिए पर्याप्त है। हम सपने बडे-बडे देखते है। कल्पनाए दूर-दूर की करते है, परन्तु गणजीवन का पहला पाठ ही भुला देते हैं। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के नाम से हमने समाज को विभाजित कर दिया है। इसी तरह किसी काल्पनिक अध्यात्मवाद के पीछे दौड लगाते हुए स्वय को और समाज को धोखा देते रहते हैं। वस्तुत श्रम करने पर उसका सूक्ष्म मानसिक सस्कार ही दिव्य आध्यात्मिक-शक्ति को जन्म देता है। इसलिए प्रत्येक गणजीवन के आकाक्षी को श्रम को अपने जीवन का केन्द्र बना लेना चाहिए। समाज के अनुभवी लोगो को वत्सला-गो का आचरण करते हुए समाज के कर्मठ हाथो को सबल बनाने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए और सवसाधारण को वत्स की जीवन-साधना अपना कर निरन्तर अपनी क्षमताओ का उपयोग करते रहना चाहिए। वात्सल्य के सहज भावात्मक आधार को लेकर समाज को एकसूत्र मे बाधना सर्वथा सभव है। वस्तुत निश्छल स्नेह का स्वरूप वात्सल्य के अतिरिक्त कुछ और हो ही नही सकता। राष्ट्रीयता का मूलाधार मातृभूमि-प्रेम भी वात्सल्य का ही एक रूप है। आत्मतनन का मार्ग अप-नाने पर साधक परिवार, गाव, जिला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व की सीमाओ को भी तोड कर एक दिन परमतत्त्व मे लीन हो सकता है। श्रमण-परम्परा स्वतत्रता के इस मार्ग को अपना कर स्वराज्य सिद्धि के लक्ष्य को पाने की प्रेरणा देती है जो इस जीवन का प्राप्य और शाश्वत-जीवन का प्रवेशद्वार है। गणतत्र के माध्यम से श्रम-निष्ठ जीवन-साधना मे प्रवृत्त होकर हम मानव-जीवन की शाश्वत कामना—'स्वाराज्ये यतेमहि'[1] को सफल बना सकते हैं। मानव मात्र को श्रमण परम्परा की इससे बडी देन और क्या हो सकती है?



१ ऋग्वेद ५।६६।६

गीतोक्त स्वभाव

राव नारायणसिंह मसूदा



आधुनिक भारत ने गीता को अपना प्रधान धर्मग्रन्थ मान लिया है। चाहे हमारे युगप्रवतक गाधीजी की प्रेरणा से हो अथवा तिलक, ज्ञानेश्वर एव शकराचाय की मूल परम्परा के कारण। इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि गीताकथित सकेतो मे हम जीवनरहस्य की गहराइयो मे गोना लगाने की क्षमता ढूढे। प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ एव दर्शनशास्त्र जीवन के रहस्य की खोज एव अनुभूति ही है और प्रत्येक वैयक्तिक अनुभव जहा अपने आपमे एक सुषुप्तप्राय दर्शन बन कर वैयक्तिक जीवन प्रवाह के साथ बहता है, परम्परागत धर्मशास्त्र एव दर्शन के साथ वही सयुक्त होकर एक जागृत वैयक्तिक दर्शन भी बन सकता है। इस प्रकार का सयोग ही प्राचीन धर्म एव दर्शन का बुद्धिसयुक्त मण्डनात्मक विवेचन एव अनुसधान कहलायेगा।

इसी प्रकार का प्रयत्न गीता के कुछ सकेतपाठो मे करना सदैव उचित है। इसी सदर्भ मे हमारे सामने अठारहवें अध्याय मे "स्वभाव" शब्द का प्रयोग निम्न गीतोक्त पाठ मे प्रस्तुत है —

"स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्'

इस स्वभाव का अर्थ क्या ? जबकि यह कहा गया है कि स्वभाव की रेखा पर चलता हुआ मनुष्य त्रुटि-शील नही। निश्चय ही यह स्वभाव प्राकृतधर्म स्वभाव नही हो सकता क्योकि तब तो मनुष्य 'आहारनिद्राभयमैथुन च' के साथ केवल पशु की समानता ही लेकर रह जाता है। मनुष्य मे बुद्धिगम्य विवेक है और उसका प्रत्येक कार्य विवेकसगत होना आवश्यक है। जहा बुद्धि और विवेक का समन्वय नही होता वही वह प्राकृत-बुद्धि लेकर आसक्ति दोष ग्रहण करता है जिसे हम खराब आदत के रूप मे पहिचानते हैं। यहा द्वितीय अध्याय का यह कथन —

"ध्यायतो विषयान्पुस सगस्तेषूपजायते।
सगात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति समोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥"

मनन योग्य है, जिसमे यह सुस्पष्ट सकेत है कि केवल विषयविशेष के अन्दर आसक्त चित्त इन्द्रियो के अनुकूल प्रवाहित अविरल जीवनधारा मे विक्षेप उत्पन्न कर देता है जिससे मानस एव क्रिया का सतुलन बिगड कर सुख-मय सरल कार्यगति विक्षुब्ध हो जाती है। गीता मे ही यह सकेत भी है — "अशान्तस्य कुत सुख"। चित्तविक्षेप ही अशाति का कारण बनता है। चित्तविक्षेप के साथ सरल स्वभाव कायम रह नही सकता।

स्वभाव शब्द का जहा प्रयोग होता है, अधिकाश वह अच्छी-बुरी आदत मे मिला दिया जाता है। इसलिए गीता के उपर्युक्त कथन मे जो 'स्वभाव' साकेतिक है उसको समझने के लिए गीता के कलेवर मे ही गोता लगाना पडेगा।

काफी मथन के बाद अन्तिम अध्याय मे जाकर इस गीतोक्ति मे इस शब्द का प्रयोग सुस्पष्ट मार्गदर्शन के रूप मे पाया जाता है। इसका अर्थ ढूढने के लिए हमे उसी अध्याय मे आगे के श्लोको की तरफ ध्यान देना पडेगा जहा कहा है —

> यदहकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति ।।
> स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।
> स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ।।
> श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
> स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम ।।
> सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ।।

इनमे सक्षेप मे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहा अर्जुन के स्वभाव का प्रश्न है, उसके कुलाचारप्रेरित क्षत्रिय स्वभाव मे मतलब है और आगे की युद्ध की उपस्थित परिस्थिति मे उसका सयोग है। उसी को लेकर कृष्ण ने दूसरे ही अध्याय मे सकेत करना प्रारम्भ कर दिया है। जिसका साराश यही है कि सस्कारजनित स्वभाव मे परिस्थिति जो उत्पन्न की गई है उसका सविवेक सामना करना ही एकाकी निस्तरण है। वहा झूठा त्याग, हृदयदौर्बल्य अथवा और कोई आसक्ति अथवा परम्परादोष का बहाना नही चल सकता। अपनी प्रकृति के अनुसार जिस स्थिति मे जा मनुष्य बैठा है उसी मे वह ध्रुव कर्म का निश्चय कर अनासक्त भाव एव स्थितप्रज्ञ बनकर चल सकता है और इस प्रकार चल कर ही वह अपने असली स्वभाव का प्राप्त कर सकता है। जब तक जीवनरहस्य का पूरा ज्ञान प्राप्त न हो जाये, जब तक गीतोक्त 'बुद्धियोग' का पूरा सयोग न बैठ जाये, तब तक स्वकर्म को, जो जातिसिद्ध अथवा अन्य प्रकार मे सिद्ध हो—छोडकर नया मार्ग डालने की उलझन मे मनुष्य सर्वथा मार्गविहीन बन सकता है। यदि नया मार्ग बनाने की हम मे क्षमता नही है तो कथित मार्ग पर चलने मे कभी आपत्ति नही होनी चाहिए और नया मार्ग बनाने की झूठी क्षमता की ढिठाई मे अपने आपको खो देना भी नितात मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता।

इन सकेतो के साथ गीता का पाठ कभी-कभी स्थितिपालकता का समर्थन-सा जचने लगता है परन्तु जहा अपने-अपने कर्म मे अपनी-अपनी प्रवृत्ति को समझकर लगे होते हुए भी गीता के द्वितीय अध्याय के —

> "यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित ।
> वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन ।।
> कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
> क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ।।
> भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम् ।
> व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ।।
> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
> निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।"



सकेत सामने आते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता केवल बने बनाये मार्ग पर ही अधविश्वास लेकर चलने को नही कहती। और जब स्थान-स्थान पर बुद्धियुक्त होने की बात कहती है तो वह निश्चय ही इसी बात का सकेत करती है कि परम्पराप्राप्त मार्ग को तो केवल सहूलियत के लिए पकडना चाहिए किन्तु जो पथ पर अग्रसर होते हुए जीवन की प्रत्येक दिनचर्या मे से बुद्धियुक्त मथन सहित अनुभूति की आधारशिला पर सदैव विवेकशील जीवन की सार्थकता का अर्थ ढूढता रहता है, वही कुशलकर्मा मानव है—योग कर्मसु कौशलम्।

इस प्रकार अग्रसर होने की विधि बताकर गीता स्वभाव की नियति की ओर सकेत करती है और अततोगत्वा उस स्वभाव की प्राप्ति का पूरा अध्याय प्रति अध्याय मे बहता हुआ एक मार्ग बताती है जहा कर्म की ध्रुवता प्रतिपादित है, व्यष्टि एव समष्टि का विवेचन है, त्रिगुणभाव का वर्णन है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक प्रतिस्थापित है और अच्छी और बुरी प्रवृत्ति की ओर सकेत है। इन सब अध्यायो की भाषा मे समकालीन वातावरण की छाप हो सकती है जहा चतुर्वर्ण अथवा ऐसे ही प्रचलित शब्दो का या विचारो का प्रयोग किया गया हो परन्तु अर्थ की ध्रुवता युगान्तर के लिए अक्षुण्ण है, इसमे मुझे कोई सशय नही।

यह स्वभाव शब्द का प्रयोग एक पूरी जीवनयापन-शैली, साधना और जीवनदर्शन की ओर सकेत करने वाला है और इस स्वभाव का अनायास ही पूर्ण सकेत आठवें अध्याय के श्लोक ३ मे मिल जाता है जहा सुस्पष्ट शब्दो मे—"स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।" स्वभाव शरीर का धर्म है, धर्म ही नही सविवेक धर्म है, सविचार धर्म है, सव्यवहार धर्म है और यह जब प्राप्त हो जाता है तो जीवन का अविरल प्रवाह सागोपाग सतुलन के साथ चलता है। वह सतुलन जो व्यक्तिगत शरीर, मन और बुद्धि मे स्थापित होता है और उसके साथ ही परिस्थिति अथवा पडौस के अवलोकन मे।

इस स्वभाव को प्राप्त करने के लिए गीता मे स्थान-स्थान पर "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" आदि शब्द आये है जिनमे इस बात का सुस्पष्ट सकेत है कि इन्द्रियों की सहज एव नैसर्गिक आवश्यकता के अनुकूल बर्ताव करते हुए चलने से कोई बच नही सकता और इस प्रकार से चलते हुए कोई विभ्रात भी हो नही सकता। यही व्यावहारिकता का प्रथम सूत्र है और यहा इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान है कि—"भोजन प्राणरक्षणाय" जहा स्वाभाविक धर्म है वहा 'भोजन स्वादाय' सारी विकृति को स्थापित करने वाला बन जाता है।

इस प्रकार से स्वभाव को प्राप्त करने के लिए गीता ने एक बडा ही व्यावहारिक ज्ञान प्रतिपादित किया है जो स्वय एक आचरणीय धर्म बन जाता है। कर्म की ध्रुवता को बताकर अपने स्वधर्म के अनुसार प्रस्तुत परिस्थिति का सामना करने का गीता मे एक विलक्षण उपदेश है। स्वधर्म विगुण भी श्रेयस्कर है क्योकि वह एक जाना हुआ परीक्षित जीवनमार्ग है और परधर्म, क्योकि परीक्षित नही, भयानक हो सकता है। इस उपदेश के साथ गीता ने कर्म करने का अधिकार व्यक्ति का बताया है परन्तु उसके फल का चिन्तन पहले से ही करना कर्म म बाधक बताया है। इसलिए फल की तरफ से निश्चित होकर स्वधर्म की साक्षी के साथ कुशलतापूर्वक कर्म करना ही गीता का योग है—'योग कर्मसु कौशलम्।' इस प्रकार के कर्मयोग के लिए नश्वर क्या वस्तु है जो परिस्थिति के साथ बदलती जाय और अनश्वर क्या है, जिसे लेकर व्यक्ति काम करता जाय, इस प्रकार का सागोपाग उपदेश द्वि० अध्याय मे सन्निहित है। इसी प्रकार का कर्मयोग गीता का योग है जिसमे कर्त्तव्य विवेक और कर्मकुशलता स्थापित हो जाती है।

सन्तुलित आहार-विहार द्वारा (जैसा कि विशेषत छठे अध्याय मे कहा गया है) शरीरक्रिया मे एक पूर्ण सतुलन जमाने का उपदेश है कि जिससे कर्मयोग का पूर्ण विवेक स्थापित हो। इसके बाद मनोनिग्रह का उपदेश है जो अनासक्ति द्वारा, कर्मविवेक द्वारा तथा अभ्यास द्वारा स्थापित करने का है और उसके बाद बुद्धि का वह सतुलन प्राप्त करने का विधान है जो अधिभूत, आधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ आदि के विवेक मे स्थापित होने वाला है। शरीर की नश्वर भौतिकता उस पर स्थापित शरीर का जीवत्व जो पुरुषमात्र से अन्दर स्थापित है और इन्द्रियो मे विकीर्ण है (समष्टि मे व्यष्टि) तथा जिसका प्रसार जीव मात्र मे है और जो एक यज्ञमय चक्र मे अधियज्ञ रूप मे स्थापित है (जिसका कि सकेत तृतीय अध्याय मे किया गया है) इसी प्रकार की बुद्धि की स्थापिति ही गीता का बुद्धियोग है। यहा यदि "अधियज्ञ" को हम वेदात का "ऋतु" कहे और बुद्धियोग लिए हुए विवेक को "अध्यात्म" या "ऋत" कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर मन और बुद्धि का पूर्ण सतुलन स्थापित करने का महान उपदेश एव उसकी विधि गीता के क्रमवार अध्यायो मे चली है जिसमे वैयक्तिक शरीर सतुलित होकर पूर्ण सतुलन प्राप्त कर परिस्थिति के साथ ऐसा मेल बढाने कि जीवन की धारा सरल एव अविरल बहती रहे

और वह विवेक प्राप्त हो कि जहा—

"यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" इस प्रकार का व्यष्टि मे समष्टि दर्शन रहे। इस विवेक के लिए ही गीता में व्यवहार्य धर्म के साथ अपने अन्दर एव बाहर के 'पुरुष पर' के लिए भक्तिमात्रपूर्वक समर्पण भाव प्रतिपादित किया है और आखिर कह दिया है कि—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज"। यह "माम्" हमारा अन्तर्निहित जीवन-सत्य है जो गीता का "पुरुष पर" कहा जा सकता है। यही वह है जिसके लिए कहा है—

"ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

इसको समझने के लिए गीता ने प्रतीकोपासना की ओर सकेत किया है जिसमे चौथे अध्याय का अवतार-रहस्य छुपा है तो ग्यारहवें अध्याय का विराट दर्शन भी तथा पन्द्रहवें अध्याय का पुरुषोत्तम योग। और यह स्पष्ट सकेत किया है कि भूमाभाव मे स्थित शरीर भूमाभाव मे ही प्रेरणा ले सकता है और इसलिए सूक्ष्म तत्व का भी सत्य-शिव-सुन्दरम् गुणमय भूमा स्वरूप देकर उसके प्रति भक्ति और समर्पण बुद्धि स्थापित कर व्यक्ति अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकता है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:ख देहवद्भिरवाप्यते॥"

अन्त मे जहा स्वभाव शब्द गीता मे प्रयुक्त होता है, गीता के सारे सदर्भ मे उसे समझने का प्रयत्न करते हुए मुझे यही समझ मे आता है कि आत्मसतुलनपूर्वक परिस्थिति के साथ पूरी तरह सन्तुलित होकर जो बुद्धियोग सहित जीवन प्रवाहित होता है, वही स्वभाव को प्राप्त करा सकता है और स्वभाव की प्राप्ति ही मौलिक अध्यात्म के साथ सम्पर्क की स्थापिति है। जिसमे पुरुष मे पूर्णत्व स्थापित हो सकता है और जीवन का रहस्य उद्घाटित हो हो सकता है। यह स्वभावप्राप्ति ही 'ब्राह्मी स्थिति" कही जा सकती है। यही स्थितप्रज्ञ अवस्था कही जा सकती है और सारे जीवन की साधना का फल हो सकती है।

अन्त मे, यह भी कहे बिना नहीं रह सकता कि गीता ने सुस्पष्ट रूप मे स्थितिपालकता, अधविश्वास एव हठयोग आदि की कलाबाजी से दूर रहने का काफी सकेत दिया है। हमारे सम्मुख जब यह वाक्य आता है—

'नात्मान अवसादेत्" अर्थात् अपने आपको वृथा क्लेश न दिया जाय क्योकि शरीर तोडने से ज्ञान नहीं मिलता।

यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि स्वभाव-नियत स्वधर्म का आश्रय लेकर एक सरल सतर्क और व्यवहारगम्य जीवन बनाने से ही पूर्ण ज्ञान और सिद्धि प्राप्त हो सकती है। गीता का ज्ञान कोई बहुत पारदर्शी अप्राप्य आदर्श नहीं, वह तो स्वभावनियत जीवन का सुचारु वाहक स्वधर्म मात्र है।



छद्दव्वसरूवं-मूलं-टीगा

सुमित्त-भिक्खू



गाहाओ—जस्स सम्मण्णाणमि, पमेया पडिभासिया ।
गुरूपरमप्पसाया उ, तप्पाए पणमेमि ह ॥१॥

सियावायसुसिद्धन्ते, सम्मण्णाण पमाणअ ।
तेण विसिट्ठसामण्णा, जाणियव्वा पमेअआ ॥२॥

सव्वे पयइसिद्धा य, अओ सुट्ठु पभासइ ।
सियावायस्स मन्तव्वे, सरूव वत्थुयाण उ ॥३॥

दव्वलक्खण—सद्दव्वलक्खणमुप्पायवयधोव्व झलक्कइ ।
ण ठावह हिययम्मि, जिणवाणिमणोवम ॥४॥

अणाइ अणन्ता दव्वा, लक्खणतिण्णि सजुया ।
ससगुणपज्जाएसु, मेर धारित्तु ते ठिया ॥५॥

छद्दव्वणामाइ—धम्माधम्मा आगास, कालो पुग्गलजन्तवो ।
एयाइ उ छद्दव्वाइ, सहावम्मि निए थिरा ॥६॥

दव्वसामण्णसरूव—सव्वाणत्थकियावित्ती, साहइयरूवम्मि य ।
सव्वे सकज्ज कुव्वन्ति, कूडत्थ णत्थि कपि वि ॥७॥

णत्थि अकिरिय कपि, लब्भइ साहिया किया ।
ससगुणपज्जाएसु, दव्वन्ति य णिरन्तर ॥८॥

सहभावी गुणो सम्म कमसो पज्जवा गुणो ।
नियगुणपज्जवेसु च, ठिया सव्वे णिरन्तर ॥९॥

गुणलक्खण—सव्वे गुणा उ एएसु सहभावी य सासया ।
तह दव्वसिया सन्ति, णत्थि कोवि परगुणो ॥१०॥

सामण्णगुणा(अज्जा)—अत्थित्त वत्थुत्त, अगुरुलहुत्त तहेव दव्वत्त ।
पमेअपएसवत्त, सामण्णगुणा उ वुच्चन्ति ॥११॥

विसेसगुणा—जीवो णाणसरूवो य, अजीवा सेस पच वि ।
णिच्छएणवगन्तव्व, जडत्त तेमि लक्खण ॥१२॥

रूवी पुग्गल दव्व, सेसा पच अरूविणो ।
वण्णगन्धरसो फासो, एएमु च न विज्जए ॥१३॥

धम्माधम्मा आगास, दव्वमिक्किक्कमाहिय ।
सेसाइ तिण्णि दव्वाइ, एगाणेगअसखया ।।१४।।
पुढो कालाणवो णिच्च, असखेज्ज पमाणया ।
लोगागासपएसेसु, रयणरासिव्व ते ठिया ।।१५।।

पएसवक्खा—अविभागी परमाणू, आगासस्स य जेत्तिय ।
खेत्तयमवगाहेइ, पएसे से पवुच्चइ ।।१६।।
जीवदव्वमणन्ता उ, ते य सव्वे पिहप्पिहा ।
णत्थि एत्थ उ सदेहो, सव्वे जीवा उ सारिसा ।।१७।।

पचत्थिकाया—अकाओ केवल कालो, अत्थिकाया उ पचवि ।
जो पएसेहि सज्जुत्तो, सा काओ त्ति पवुच्चइ ।।१८।।

पचत्थिकायपएससखा – धम्माधम्माण जीवाण, पएसा उ असखया ।
लोगालोगागासस्स, पएसा हु अणन्तया ।।१९।।
जो सजोगी विजोगी य, सखासखो अणन्तओ ।
कालो अरूवी एगट्ठो, अपएसित्ति आहिओ ।।२०।। जुम्म।।

आगासदव्व—लोगालोगागासस्स, पएसा उ अणन्तगा ।
गुणोऽवगाहणादाण, सत्ती माहाविया मया ।।२१।।
केवि भणन्ति आगास, पयडीपहाण तहा ।
णिक्कियसक्किय दव्वाइ, वोच्छमग्गे सुणेह मे ।।२२।।
धम्मे अधम्मे आगासकाले, न लब्भइ धम्मगुणो य केसु ।
गन्ता तहाणेगवियारकत्ता, जीवा तहा पुग्गलमेव दोउ ।।२३।।

उवादाणणिमित्तकारण-ससत्ती य उवादाण, णिमित्त वज्झकारण ।
कज्जसिद्धी उ वेहिं पि, भेयभाव मणे ठवे ।।२४।।
णिमित्तणेमित्तियभावमाई,
णाणापगारा जे अण्णभावा ।
अणाइणिहणा सव्वाण भावा,
परुप्पर साहइया कहेन्ति ।।२५।।

धम्मदव्वोवगारो—जीवपुग्गलग्गमणे, धम्मो उवयरेइ उ ।
मच्छकच्छाइगमणम्मि, सहकारी जल जहा ।।२६।।

अहम्मदव्वुवगारो—ठिईए देइ साहेज्ज, जडाण चेयणाण य ।
अधम्मदव्व पन्थिस्स, वच्छच्छाया जहा सुहा ।।२७।।

कालदव्वुवगारो—कालदव्व दुहा वुत्त, णिच्छओ ववहारओ ।
णिच्छओ बहुकालाणु, इयरो खणलवाइ य ।।२८।।
सव्वदव्वपरिणमणे, कालो अत्थि उ कारण ।
परिवट्टणचिंधेण, जायइ तण्णिवारण ।।२९।।





आगासदव्वुवयारो—सव्वदव्वाण ज पत्त, विसाल सव्वओ वि य ।
सव्वदव्वाणमोगास, ठाणमेय पयच्छइ ॥३०॥

पुग्गलदव्वविसेसगुणलक्खण-वण्णगन्धरसफासगुणसुपरिणामेण य ।
एएहिं चउहिं पज्जन्ति, सव्वाइ पुग्गलाइ उ ॥३१॥

अट्ठफासा पचरसा, दो गन्धा पच वण्णया ।
चोग्गुणवीस भेएहिं, जाणिज्जन्ति उ पुग्गला ॥३२॥

परिणमणावत्थाए, सण्हरूवेण सव्वहिं ।
णाण विणा उ अण्णाणी, किं पि वोत्तुं ण पच्चलो ॥३३॥

सण्हथूलअणुवखधाणेगभेया वियाहिया ।
अस्सि लोए परमाणू, भरिया सव्वओ वि य ॥३४॥

इदिएहिं तिजोएहिं, सासोसासेण आउणा ।
एएहिं दसपाणेहिं, पत्ती सुहदुहाण य ॥३५॥

अणेगपुग्गलणाणापयारो, वि लब्भए उवयारो परोप्पर ।
च कज्जकारणभावस्मणाइ, अणतववहारो य हिगाहिगो ।३६।

विसेसो—रूविणो पुग्गला सव्वे, मुत्तात्तगुणसजुया ।
पच अमुत्तदव्वाइ, गुणविसिट्ठ णिवो जहा ॥३७॥

धम्ममि गइहेउत्त, अहम्मे ठिइहेउय ।
वट्टणाहेउत्तगुणो, कालदव्वे पहाणओ ॥३८॥

ओगाहणा उ आगासे, मुक्खयाए विणज्जउ ।
इण सव्वाण दव्वाण, आहारेण सहायग ॥३९॥

दव्वेसु गुणा विहिया, गुणो परोवयारया ।
सामण्णो उ गुणो को वि, कोइ होइ विसेसओ ॥४०॥

चउप्पई-उवसहारो—ण य अत्थित्त णस्सइ कयावि,
ण य परसहाव गच्छइ कयावि ।
परदव्वत्थित्त णो गहन्ति,
णिच्छयणएण भिण्णेव सन्ति ॥
लोगागासम्मि य पच हुन्ति ।
खेत्तावगाहणे छब्भवन्ति ॥
ठिइया णियणियगुणपज्जवेसु ।
अण्णमि कम्मि णहि इय मुणेसु ॥४१॥

पसत्थी—फइरेन्दुपसिस्सेण सुमित्तेण तु भिक्खुणा ।
पुप्फभिक्खुसुसिस्सेण, एसो गयो विणिम्मिओ ॥४२॥

अणेगन्तविहारम्मि, गुरुगामम्मि सुट्ठिए ।
कत्तियअमावासाए, किण्हम्मि वुहवासरे ॥४३॥
४ २ ० २

सण्णा-चक्खु-ख-दो वासे, विक्कमे वच्छरे सुहे ।
भव्वाणमुवयारट्ठ, जाव लोगो त्ति वच्छउ ॥

छद्दव्वसरूवटीगा

[सासणवइ-णायपुत्तमहावीर-जिणराय पणमित्तु सिरिगुरुमहफईरचदसाहुमिरोमणिसरणचिन्तणणमण किच्चा छद्दव्वसुगमसरूव सव्वसाहारणजणहियट्ठ कहेमि]।

अस्सिमणाइअणन्तजगम्मि जे वि दिट्ठादिट्ठपयत्था ते सव्वे छच्चेव। जहा-जीव-पुग्गल-धम्माधम्मकालागासा। एए दव्वपयत्था सन्ति।

त दव्व ज सएवुप्पायवयधोव्वगुणसहिय, जम्मि नवपज्जवुप्पाओ, जुण्णपज्जवसमत्ती, सजाईयवत्थवियगुण-विज्जमाणया-सया पत्ती। जहा सुवण्णमुद्दय परिवत्तीय तीए कण्णकुण्डल घडाविय, ता तस्स कुण्डलघडणमुप्पाओ, मुद्दिया-पज्जवाभावो वओ, सुवण्णपीयकठोरयाणेहत्तणाइगुणविज्जमाणया धुवत्त। दव्वस्सेग लक्खणमिणवि ज 'गुणसमूहो दव्व' अट्ठा—

अत्थित्त[1]-वत्थुत्त[2]-दव्वत्त[3]-पमेअत्त[4]-अगुरु[5]-लहुत्त-पए[6]सवत्ताइ सामण्णगुणा-चेयणफरिसरसगन्धवण्णाइ विसेस-गुणसमूहो।

दव्वसपुण्णविभागे तस्स य सव्वावत्थासु विज्जइत्ति गुणो।

जम्मि चेयणागुण-पयत्थपडिभासो लब्भइ त जीवदव्व ति वुच्चइ। जहा देव-णारय-मणुस्स-साण-मज्जारि-कीड-मक्कोडय-मक्खिय-मच्छराइ-तिरिच्छाइ। (जमगभासाए (soul) उर्दूए य 'रूह' त्ति जपन्ति।) एय मोत्तूण सव्वाइ-मण्णदव्वाइमजीवाइ।

जीवा दुविहा पण्णत्ता तजहा-ससारिणो सिद्धा य। सिद्धा ते जे अट्ठकम्म-पावपुण्णाइआवरणपरिहाण णासिऊण मुत्ता सजाया अत्ताओ परमप्पपय पत्ता, जे य कयावि ससारचक्के पुणो जम्मगहण ण कुणन्ति, जओ जक्कम्म-कारणेहिं ससारससरण-परिभमण कुणित्था तेसिं सव्वहा णिज्जरा-णासो कओ।

ते ससारिणो जे कम्मावरणपरवसयाए जम्मणमरण कुव्वन्ति। एए जीवा जाव कम्मणिज्जरण ण कुणेज्जा ताव ससारिणो त्ति वुच्चति, कयाइ य देवगईए, कयाइ णिरए, कयाइ मणुस्से, कयाइ तिरिक्खजोणीए य गच्छन्ति। दुविहा ससारिणो जीवा पण्णत्ता तजहा-तसा चेव थावरा चेव।

ते तसा वुच्चन्ति जे चलन्ति-भमन्ति-खायन्ति-पियन्ति अहवा दु-तिण्णि-चउ-पचिन्दियसहिया (फासरस-घाण-चक्खु-सोत्ताइ पचिन्दियाइ तम्मत्ताओ सद्दरूवरसगन्धफासा) जहा लड-पिवीलिया-मच्छिआ-पसु पक्खी-मणुस्साइ। तसा चउविहा-वेन्दिया, तेइन्दिया, चउरिन्दिया, पचिन्दिया। जेसिं फास-सरीर जीहा य दुण्णिन्दियाइ ते वेइन्दिया। जाण फास-रसण-णासिया तिण्णि ते तेइदिया। जाण फरिसणरसणाणक्क-चक्खू ते चउरिन्दिया। जेसिं पच वि इन्दियाइ ते पचि-दिया जीवा वुच्चन्ति। पचिदिया दुविहा पण्णत्ता सण्णी, असण्णिणो।



१ जस्सत्तिणिमित्तेण दव्व कयाइ ण णस्सइ तमत्थित्तगुण विति।
२ जस्सत्तीए दव्वेऽत्थकिरिया त वत्थुत्त, जहा घडस्सत्थकियाजलधारणमत्थि।
३ जाए सत्तीए दव्व सया पज्जवे परिवत्तेइ त दव्वत्त।
४ जेण दव्व कस्सावि णाणविसओ त पमेअत्त।
५ जेण निमित्तेण दव्वदव्वत्त सएव थिरमेगरस चिट्ठइ, अहुवा दव्वमेगमण्णदव्वरूवे न परिणमइ तहा एगस्स दव्वस्साऽणेगाऽणन्ता वा गुणा पुढो होऊण ण विक्खिरिज्ज तमगुरुलहुत्तमाइक्खन्ति।
६ जस्सत्तिणिमित्तेण दव्वस्स कोऽवि आगारपागारोऽवस्स सा पएसवत्तगुणो त्ति।



जेसिं पचिन्दियजीवाण मणो सहियाहियवियारो ते सन्निणो अन्ने असन्निणो । दुतियचउरिंदिया असण्णिणो विगलिंदिया वि वुच्चन्ति ।

पचिन्दिया चउविहा पण्णत्ता, तजहा-देवमणुस्स-णारयतिरिक्खा ।

आरियमिलिक्खुभेएण मणुस्सा वि दुविहा होन्ति । आरिया आरियखेत्तेसु, मिलिच्छा मिलिच्छखडेसु वसन्ति ।

देवा चउविहा पण्णत्ता, तजहा-**भुवणवासि**-णो जे पायाले वसन्ति । **वाणमन्तरा** जे इमीसे पुढवीए रुक्ख-पव्वयाइसु वसन्ति । **जोइसिया** सूरिअ-चदगहणक्खत्तताराओ । जेसिं विमाणाइ सुमेरु-पव्वयन्स सव्वओ समन्ता परिभ-मन्ति । **कप्पवासिणो** जे बारस देवलोयणवगेवेज्जगपचणुत्तरविमाणेसु णिवसन्ति ।

सत्तविहा णेरइया-एयाए पुहवीए हेट्ठा सत्त णरया सन्ति । तासु एए जीवा वसन्ति । अहोणिसिं परोप्पर-मारण-मरण-पिट्टण-तज्जण-तालण-छेयण-भेयण-जलणाइदसविह खेत्तवेयणदुह पच्चणुभवमाणा विहरंति । अम्हारिस भोयणपाण ण लब्भइ । सागरोवमपज्जन्त सारीरमाणसाइ दुक्खाइ सहेन्ति । ण तेसिं खणमेत्त पि सुह लब्भइ ।

तिरिक्खा पचविहा-जलयर, थलयर, णहयर, उरपरिसप्प, भुयपरिसप्पा य । जे जले परिवसन्ति ते जलयरा मीणमगराइ । जे थले चलन्ति ते थलयरा, जहा-धेणूमहिसग्रस्साइ । जे आगासे उड्डेंति ते खहयरा जहा-कावोय-साम-लियाइ सव्वे खेचरा । उरओ परिसप्पन्तित्ति उरपरिसप्पा, भुयासएण भमिरा णेउलमूसयाइ भुयपरिसप्पा ।

ते थावरा जे उप्पज्जन्ति, वड्ढन्ति, मरन्ति, पर सयमेगठाणाओ बीय ठाण ण गन्तु सक्का । अत्था एगिंदिय-जीवा जेसिमेग फासिंदिय सरीरमेत्त भवइ । थावरा पचविहा पण्णत्ता त जहा-पुढविकाइया आउ०, तेउ०, वाउ०, वणप्फ-इकाइया ।

पुढवी एव जेसिं सरीर ते पुढवीकाइया । एव आउ-तेउ-वाउकाइया वि अवगन्तव्वा । वणप्फइफल-फुल्ल-वेलि-रुक्ख-पत्ताइ एव, जेसिं सरीर ते वणप्फइकाइया जीवा वुच्चन्ति । एए पचविहा थावरा, तसकाइया य छज्जीवणि-काया वुच्चन्ति । एए सव्वे चेयणा-जुत्ता जहा-जहा सुहासुह(पुण्ण-पाव)कम्माइ कुणन्ति तहा-तहा फलपरिणाम लहन्ति । कयाइ पावकरणेण सहेन्ति णिरयदुह, कयाइ पुण्णपयावेण भुजन्ति सग्गसुह । एव सव्वे जीवा अणाइकालेण एयम्मि परिवत्तणसीलससारे सुहदुहप्पडाइ सहन्ता परिभमन्ति, भमिस्सन्ति य जाव जाव मोक्खोवाय कट्टु कम्ममुत्ता ण होन्तु ।

अजीवदव्व—जम्मि फास-रस गन्ध-वण्णा एए चउगुणा होज्जा त पुग्गलदव्व ति वुच्चइ । इगलिसे 'matter' उर्दूए 'माद्दा' ति कहेन्ति ।

अट्ठविहे फासगुणे-लहुअगरुअकक्खडसूमाललुक्ख-णिद्धसीओण्हे । अबिल्लमहुरकडुअकसायतित्ता पच रसा । सुगन्धदुगन्धा गन्धा । नीलपीयकसिणरत्तसेया पचवण्णा ।

पुग्गलदव्वे (जडपयत्थे) उवरुत्तचउमुक्खगुणा अवस्स लब्भन्ति । जहा सयवत्तपुप्फे फासो सूमालो, रसो कडुओ, गन्धो सुगन्धो, वण्णो रत्तो त्ति। एवामेव पच्चेयपुग्गले एए चउगुणा लब्भन्ति । जत्थेगो गुणो तत्थ तिण्णि गुणा अवस्स होन्ति ।

पुग्गलदव्वमणुखन्धभेएण दुविह । पुग्गलसव्वलहुखण्डो जस्स पुणो खण्डो न होइ सो अणू परमाणु त्ति वा वुच्चइ । 'Atom' जर्रा ति इगलिसुर्दूसु । दुतिअ अणेगपरमाणुपिण्डो खधो त्ति भण्णइ ।

खधा छव्विहा पण्णत्ता, तजहा-थूलथूले, थूले, थूलसुहुमे, सुहुमथूले, सुहुमे, सुहुमसुहुमे ।
थूलथूले—पुग्गलखन्धे जे भिण्णे समाणे पुणो तहेव न मिलइ, जहा पत्थरकट्ठमिच्चाइ ।
थूलपुग्गले—जे भिण्णे वि मिलइ, जहा पाणीय, दुद्ध, तइल्ल, घयमिच्चाइ ।
थूलसुहुमे—जे दिट्ठिपहमागच्छइ किन्तु ण गिण्हिज्जइ, जहा-छाया, आयव, चदिया ।
सुहुमथूले—जे दिट्ठिगोयरे न भवइ किन्तु फासरसणणक्कण्णेहि णज्जइ । जहा-वाउ-सद्दाइ ।

जे पुग्गला णाणावरणाइ अट्ठकम्मरूवे परिणया ते सुहुमखन्धत्ति वुच्चन्ति ।
दु-ति-अणुखन्ध परमाणूमेत्त च सुहुम-सुहुम-पुग्गल वेन्ति ।

जड-अचेतनमिण पुग्गलदव्व, अस्सि पेच्छणमुणण-चिन्तणवियारणवोहणमत्ती णत्थि । परमन्नणिमित्तमजाएण तुट्टण-मिलण-सण्ह-विमाल-वट्ट-चउरसाइ आगारधारणमत्ती अत्थि ।

"सद्दन्धयारउज्जोओ, पहा-छायाऽऽनवे इ य" पज्जवाणमवत्थाओ ।

जीवपुग्गलचलणे सहायग धम्मदव्व ति । इण लोगागामे (तिसु लोएसु) मव्वत्थ वावि अमुत्तिअखण्डदव्वमत्थि लोगागामे ठिया जीवपुग्गला चलन्ति ता ताण उयासीणरूवेण महायगमेत्त अत्थि । सय पेरण दाऊण ण कमवि पयत्थ चालेइ । जहा जले ममरी चलइ ता तस्स चलणे जल सहायग । जइ सा ण चलेज्ज ता णीर सय चोइऊण न चलावेइ । जो पयत्थो जीवपुग्गलाण ठिईए सहायगो तमधम्मदव्व ति । दव्वमिण जाव अत्थि । एयपि कमवि पेरिऊण ण ठावेइ । जहा पहिओ मेच्छाए चरन्तो मग्गे वच्छच्छायाए आलवण लहइ तो ठाइ । एवमेसो पयत्थो वि जीवपुग्गलठावणे उयासीणकारणमेत्तमहायगो । जइ एसो लोए न हुतो ता सव्वे पयत्था चलन्ता चेव अच्छन्ता ।

जो पयत्थो मव्वपयत्थगूणगुणपज्जायावत्थापरिवत्तणकारणभूअसहायगो त कालदव्व ति आहिअ । दव्वमेय तिसु लोएसु लोगागासे रयणरासिव्व खण्ड-खण्डरूवेण भरिय । अस्स खण्डाइ कालाणु त्ति । णत्थि कावि लोगागास-पएसो तव्विरहिओ । एसो वि अमुत्तपयत्थो । गणणाए असखिज्जो एसो णिच्छयकालो त्ति ।
आगासेगपएसाओ (मव्वलहुभागो पएसो त्ति वुच्चइ) विइयपएसगमणे जेत्तिओ कालो लग्गइ सो समओत्ति ।

एएण समयपरिणामेण आवलियपलघडियाहोरामुहुत्तदियहरत्तिपक्खमासवरिसाइ होति । एएसि सव्वेसि ववहारे काला त्ति वुच्चइ । एसो ववहारकालो णिच्छयकालदव्वपज्जवमेत्तो ।

ज दव्व जीवपुग्गलाइ पचदव्वाणमोगास (ठाण) देइ तमागासदव्वति । एसो पयत्थो वि अमुत्तमव्ववावी अणन्तपएसी य । अस्स जेत्तियभागे एसो लोओ ठिओ तमागासमेत्त लोगागासे त्ति कत्थइ । इहलोयवहिट्ठियमणतागास-मलोगागास ति वेन्ति । लोगागासे छ वि दव्वाइ ठियाइ । अलोगागासे आगासमेत्त । तत्थ णत्थि कोवि अण्णो पयत्थो त्ति ।

जीवधम्माधम्मागासकाला एए पच अमुत्त मण्हयत्था, ण दिट्ठिगोयरा अम्हाण , एगसु पुग्गलदव्वमेव मुत्त-सागार ति । जीवपुग्गलधम्माधम्मागासा पचपयत्था अत्थिकाया (पएससमूहवता), अत्था एएसिमणेगपएसा होति । पर कालो णत्थि अत्थिकाओ त्ति । अस्स पएसा पुढो-पुढो सति । कोवि कालाणू केणावि कालणुणा मिलित्ता एगकाओ (समूहप्पगो) ण होइ ।

इय सगुरुसहफईरेन्दुमहेसीपसिस्स-सुत्तागमसम्पादगाणेगदेसविहारिणेगभासाविसारयपुप्फभिक्खुकमकमलभसल-सुमित्तभिक्खुकया छद्दव्वसरूवटीया समत्ता ।



विदेशों में शाकाहार

महेन्द्र राजा जैन

एम० ए०, डिप० लिप-एस० सी०,

एफ० एल० ए० (लदन)



आज से करीब १२ वर्ष पूर्व जब मैं लदन जाने की योजना बना रहा था तो बनारस मे मेरे अधिकाश मित्रो ने पुस्तको एव समाचारपत्रो से प्राप्त अपने ज्ञान के आधार पर इगलैड के विषय मे मुझे जो कुछ बतलाया था, उससे मेरे मन मे कुछ भय-सा समा गया था। मै सोचने लगा था कि शायद मैं परिस्थितिवश वहा शाकाहारी न रह सकूँ। पर लदन मे करीब ७ वर्ष और अफ्रीका मे ४ वर्ष तथा लगभग ३२ देशो की यात्रा करने के बाद मुझे यह कहने मे जरा भी झिझक नही कि कोई भी शाकाहारी व्यक्ति विदेशो मे बडी आसानी से, बिना किसी परेशानी के रह सकता है। आवश्यकता यदि है तो केवल आत्मनियत्रण की।

मैं शुरू से ही शाकाहारी हूँ। इसका कारण यह नही है कि मेरा जन्म जैन घराने मे होने के कारण मुझे बचपन मे ही शाकाहारी रहना पडा। किशोरावस्था तक आते ही उक्त कारण से शाकाहारी रहना पडा हो पर अब मेरे शाकाहारी बने रहने का एक मात्र कारण यह कहा जा सकता है कि मैं माँस खाना उचित नही समझता। मेरा हृदय यह स्वीकार नही करता कि दूसरो का जीवन मेरे आहार का साधन बने।

बम्बई से जब रवाना हुआ तो पहले ही दिन जहाज पर शाकाहारी भोजन की समस्या सामने आई। इसके पूर्व मैने कभी किसी भी मार्ग से विदेशयात्रा नही की थी। अत मुझे यह पता नही था कि जहाज का टिकट बुक कराते समय या सीट रिजर्व कराते समय इस बात की सूचना भी दे दी जाती है कि भोजन की व्यवस्था शाकाहारी हो या मासाहारी हो।

दुर्भाग्य से मैं जिस कपनी के जहाज मे सफर कर रहा था वह फ्रासीसी थी। उसके सभी कर्मचारी भी केवल फ्रासीसी भाषा मे ही बातचीत करते थे। अत उन्हे समझाना बहुत कठिन था कि मैं शाकाहारी हू। भोजन के समय जब मै डाइनिग हाल मे गया तो वेटर को किसी प्रकार इशारे से यह समझा दिया कि मै मास नही खाता। वेटर ने जिस ढग से हावभाव प्रदर्शित किये, उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मेरी बात अच्छी तरह समझ गया है।

वह थोडी ही देर मे मेरे लिए एक प्लेट मे खाना ले आया। प्लेट मे जितनी वस्तुए थी, उनमे से एक को छोडकर बाकी सभी मेरे उपयुक्त थी। एक पीली-सी चीज जो देखने मे बेसन की बनी-सी जान पडती थी, मेरे लिए समस्या बन गई। काफी सोचने-समझने पर भी मैं यह निर्णय नही कर पाया कि यह क्या वस्तु हो सकती है।

इसी उलझन मे पडे हुए मैंने प्लेट की अन्य वस्तुए तो खा ली और उस पीली-सी वस्तु के विषय मे सोचता रहा। अत मे यह सोचकर कि उसे पहले चख कर देख लेना चाहिए, मैंने उसका थोडा-सा अश चम्मच मे लिया ही था कि मन मे ख्याल आया कि बगल मे बैठे हुए सज्जन से इस सबध मे पूछ लेना चाहिए। मैंने जब उनसे पूछा तो उन्होने बतलाया—आमलेट।

उस दिन पहली बार मुझे यह मालूम हुआ कि यूरोप मे अडा शाकाहारी भोजन मे शामिल किया जाता है। इसके बाद जहाज मे ही एक और नया अनुभव हुआ।

आमलेट से बचने के बाद मैं जहाज के काउन्टर पर प्रतिदिन "नो मीट, नो एग" कहकर वेटर को बतला दिया करता था कि मुझे मास एव अडे के अतिरिक्त बाकी वस्तुए दे दी जाए। एक दिन जब मैंने ऐसा कहकर रोज के समान अपनी प्लेट आगे बढाई तो उसने आलू एव मटर के साथ खट मे मछली का एक बडा टुकडा प्लेट मे रख दिया। मै भौंचक-सा रह गया और वेटर की ओर गुस्से मे देखने लगा। वेटर मेरे क्रोध का कारण नही समझ पाया। जब मैने मछली के टुकडे की ओर इशारा किया तो वह मेरी नासमझी पर हसता हुआ बोला, "नो मीट, नो एग, फिश, फिश" अर्थात् "यह मास या अडा नही, मछली है।"

मैं भला उसे क्या जवाब देता। वस्तुत दोष मेरा ही था जो मैंने मछली को भी मास मे शामिल कर लिया था। उस दिन के बाद से मैं जब तक जहाज पर रहा, वेटर से "नो मीट, नो फिश, नो एग' कहकर काम चलाता रहा।

जहाज मे तो किसी प्रकार काम चल गया, पर मार्सेलीज मे जब जहाज छोडा तो फिर वही परेशानी उपस्थित हुई। मार्सेलीज से हमे ट्रेन द्वारा पेरिस होते हुए कैले पहुचना था। वहा से जहाज द्वारा डोवर और डोवर से लदन। मार्सेलीज मे हमे दिन भर ठहरना था और शाम की ट्रेन से पेरिस के लिए रवाना होना था।

मार्सेलीज मे दो-तीन रेस्त्रा मे जाकर हमने पता लगाया कि वहा किसी को अग्रेजी का ज्ञान है या नही। पर वहाँ कोई यह भी नही समझ सका कि मैं क्या पूछ रहा हू। लाचार होकर मैं अपने एक साथी सरदारजी के साथ एक रेस्त्राँ मे गया और वहाँ 'मेनू' पढकर हम यह देखने लगे कि उसमे अग्रेजी का कोई शब्द है या नही। पर फ्रासीसी लिपि भी हम लोगो के लिए रहस्यमयी थी। वैसे फ्रासीसी और अग्रेजी लिपि मे कोई अतर नही, पर फ्रासीसी लिखावट हम लोगो के लिए नई थी।

सरदारजी ने तो किसी प्रकार अपने लिए आर्डर दे दिया (वे मासाहारी थे) और मै रेस्त्रा मे खाना खा रहे अन्य लोगो की प्लेट देखने लगा। उनकी प्लेटो मे आलू, मटर, गोभी आदि कई सब्जिया थी। मैंने वेट्रेस को बुलाकर उन वस्तुओ की ओर इशारा कर दिया और इस प्रकार एक परेशानी से मुक्ति मिली।

लदन मे मेरे खाने का प्रबध कालेज की कैन्टीन मे ही हो गया था। पहले करीब ७-८ माह (अर्थात् जब तक मै कालिज मे रहा) मुझे कोई परेशानी नही हुई। लेकिन जब कालेज छोडा तो बाहर खाना खाने की परेशानी सामने आई।

कुछ मित्रो ने सलाह दी कि यदि मैं 'सेल्फ सर्विस' रेस्त्रा मे जाया करूँ तो कोई परेशानी नही होगी। 'सेल्फ सर्विस' रेस्त्रा मे पकाई हुई वस्तुएँ अलग-अलग प्लेटो मे रखी रहती है तथा ग्राहक को जो वस्तु पसद हो उसे उठाकर अपनी ट्रे मे रखता जाता है। अत मे जब वह अपनी पसद की सभी वस्तुएँ ले चुकता है, तब काउन्टर के किनारे पर आकर उनका मूल्य चुका देता है।

सेल्फ सर्विस रेस्त्राँ मेरे लिए मुहमागा वरदान सिद्ध हुए। यहाँ न वस्तुए छूने की आवश्यकता थी, न उनका नाम जानने की और न किसी से कुछ पूछने की। मै वहा जाकर अपनी ट्रे मे भुने हुए आलू, मटर, फलिया, टमाटर का सूप, उबली हुई सब्जी आदि कई वस्तुए ले लिया करता था। उनका मूल्य भी अधिक नही होता था तथा वे पूर्णत सतोषजनक भी थीं।

कालेज मे मै जब पढता था तो वहाँ कैण्टीन मे कभी-कभी अपने यहाँ की आलू-चाप जैसी एक टिकिया भी मिलती थी। उसका नाम 'चीज-केक' था। 'चीज' को हमलोग वैसे पनीर के नाम से जानते हैं पर यह उसका सही शब्दार्थ नही। 'चीज' दूध से बनाया एक पदार्थ होता है तथा चीज-केक उसी पदार्थ से बनाई जाती है।

यह वस्तु मुझे बहुत पसद थी। सेल्फ सर्विस रेस्त्रा मे भी जब मुझे एक प्लेट मे रखी हुई यह वस्तु दिखी





तो बहुत खुशी हुई और मैं प्राय प्रतिदिन इसे खाने लगा। वहाँ खाते हुए मुझे लगभग तीन माह हो चुके थे और वहा के खाने से मुझे कोई शिकायत नही थी।

एक दिन जब मैं वहा 'चीज-केक' खा रहा था तो उसे काटते समय उसके अदर पतली-पतली दो-तीन सीके-सी दिखी। मैं समझ नही पाया कि उसके अदर ये सीकें कैसे आई तथा क्या हो सकती है। सहसा मेरा ध्यान लगभग ३ वर्ष पूर्व की एक घटना की ओर गया जब मैं बनारस मे एक बार अपने एक बगाली मित्र के यहा गया था तथा उनके यहा आगन मे इसी प्रकार की छोटी-छोटी सीकें-सी देखी थी जिनके विषय मे उन्होने बाद मे बतलाया था कि वे मछली के काटे है।

मेरे हृदय को एक धक्का-सा लगा और मै सदेह मे पड गया। बाद मे वेट्रेस से पूछने पर पता चला कि पिछले तीन माह से जिस वस्तु को 'चीज-केक' समझकर खाता आ रहा था, वह वास्तव मे फिश-केक थी।

'चीज-केक' और 'फिश-केक' मे कोई विशेष अतर नही होता। आकार प्रकार, रूपरग मे दोनो एक-सी ही होती है। पर यह तो उन्हे बनाने वाले की कुशलता थी कि एक साल तक कालेज मे 'चीज-केक' और तीन माह तक रेस्त्रा मे 'फिश-केक' खाते रहने पर भी मैं दोनो का अतर नही समझ सका।

इसके बाद तो मैं खाने-पीने के मामले मे और भी सतर्क हो गया, फिर भी काफी सचेत रहने के बावजूद कुछ ऐसे अवसर आए जब कुछ न कुछ गलती हो ही गई।

एक बार लदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरिएटल एण्ड अफीकन स्टडीज' के पुस्तकालय मे कुछ कार्य-वश जाना पडा जहा निश्चित समय से कुछ अधिक देर हो गई और वही खाना खाने का समय हो गया। वहा पूछने पर पता चला कि कालेज मे ही कैण्टीन है जहा कालेज कर्मचारियो एव विद्यार्थियो को सुलभ मूल्य मे अच्छा खाना मिल जाता है। चूकि उस कालेज मे भारतीय छात्र भी काफी सख्या मे है अत भारतीय ढग के खाने का भी वहा प्रबध रहता है।

कैण्टीन मे पहुचने पर पता चला कि वहाँ सेल्फ सर्विस व्यवस्था है। डबल रोटी (ब्रेड), मक्खन, दूध आदि तो मैंने स्वय ही ले लिया पर शाक के लिए वेट्रेस से कहना पडा कि मैं शाकाहारी हूँ। उसने बतलाया कि उस दिन वहा मास की कोई वस्तु नही थी अत सभी लोगो के लिए एक शाक थी। ऐसा कहते हुए उसने एक ही गहरी प्लेट मे शाक दे दी।

ट्रे मे सभी सामान लेकर मै जब टेबिल पर खाना खाने बैठा तो देखा कि शाक मे बडे-बडे बिना कटे पूरे आलू एव गोभी के टुकडे थे। खाते-खाते एकाएक एक लम्बे गोल आलू पर ध्यान अटक गया। उसका आकार प्रकार सामान्यत अन्य आलुओ से भिन्न था अत मेरा मन उसे तुरन्त ही आलू मानने को तैयार नही हुआ। जब सोचते-सोचते थक गया और किसी निष्कर्ष पर नही पहुच सका तो पास मे बैठे एक व्यक्ति से उस विषय मे पूछा। उसने बतलाया कि यह आलू नही वरन पूरा उबला हुआ अडा था तथा वहा इस प्रकार शाक सब्जी मे अडे डालने की प्रथा है।

इग्लैंड मे २-३ वर्ष तक रहते हुए मैं वहा के खान-पान से बहुत कुछ परिचित हो चुका था। अब पहले जैसी मुश्किल नही होती थी। पर एक बार जब कान के आपरेशन के सिलसिले मे दो सप्ताह तक अस्पताल मे रहना पडा तो फिर मुश्किल पडी।

ब्रिटेन मे 'नेशनल हैल्थ सर्विस' योजना लागू रहने के कारण अस्पतालो मे सभी प्रकार की नि शुल्क व्यवस्था रहती है। खाना भी वहा नि शुल्क मिलता है। अत पहले ही दिन मैंने अपने वार्ड की 'सिस्टर' को अपने शाकाहारी होने तथा मास, मछली, अडे मे परहेज की सूचना दे दी। इसके परिणाम स्वरूप मेरे लिए कुछ चीजें अलग से पकाई

जाने लगी पर कुछ वस्तुए ऐसी भी थी जो सभी मरीजो के लिए समान रूप से बनती थी और मै भी उनमे से कुछ अपने लिए ले लेता था ।

ऐसी वस्तुओ मे हमे सबसे पहले सूप मिलता था जो प्राय विविध प्रकार की शाक सब्जियो से बनाया जाता है । एक बार जब मैं 'सूप' पी चुका तो एक साथी मरीज ने उत्सुकतावश कहा कि जब आप शाकाहारी है तो आपने यह सूप कैसे पी लिया । यह सुनकर मैं चौंका पर बाद मे शीघ्र ही अपनी गलती का पता चल गया ।

इग्लैड मे कई चीजें ऐसी है जिनके नाम बडे विचित्र होते है और मूल शब्दार्थ से उनका कोई सबध नही होता । यथा खाने-पीने की वस्तुओ मे एक अमेरिकी चीज 'हाट डाग्स' (Hot Dogs) नामक है । जिसका शब्दार्थ होता है "गरम कुत्ते" पर गरम तो क्या ठडे कुत्तो से भी उसका कोई सबध नही है ।

इसी प्रकार सूपो मे "आक्सटेल" (OXTAIL) नामक एक सूप होता है जिसके सबध मे मेरी उक्त-धारणा थी । यह सूप मैं पहले भी कई बार पी चुका था । पर उस दिन साथी मरीज ने बतलाया कि 'आक्सटेल सूप' नाम पूर्णत सार्थक है (आक्सटेल सूप याने बैल की पूछ का शोरवा) क्योकि वह बैल की पूछ से ही बनाया जाता है ।

सूप के मामले मे इसी प्रकार राटरडम (हालैंड) के एक रेस्ट्रा मे भी गडबड हो गई । वहा टमाटर के शोरबे का आर्डर देने पर जो सूप सामने आया, उसमे छोटी-छोटी गोलिया पडी हुई थी । चखने पर जब सूप का स्वाद भी कुछ नया-सा लगा तो पूछने पर पता चला कि हालैंड में टमाटर के सूप मे गोश्त के भूने या तले हुए टुकडे भी डाल देने की प्रथा है ।

दारेस्सलाम (पूर्वी अफ्रीका) मे भी इसी प्रकार खाने के मामले मे जो एक घटना हुई, वह जल्दी नही भुलाई जा सकती । वहा यूनिवर्सिटी कालेज मे सीनियर छात्रो की विदाई के उपलक्ष्य मे आयोजित एक पार्टी मे मुझे भी बुलाया गया । कैण्टीन की व्यवस्थापिका से मैंने पहले ही कह दिया था कि चू कि मैं शाकाहारी हू अत मेरे लिए वे विशेष व्यवस्था कर दें । उन्होने यह कह कर आश्वासन दिया कि पार्टी मे वे मेरे साथ ही रहेगी और बतला देंगी कि क्या क्या चीजें मेरे उपयुक्त है ।

पार्टी मे यूरोपीय ढग की सेल्फ सर्विस व्यवस्था थी । बडी-बडी प्लेटो मे चीजें सामने रखी हुई थी और लोग इच्छानुसार चीजें लेकर अपनी प्लेटो मे रखते जाते थे । मैंने भी एक खाली प्लेट लेकर चीजें रखना शुरू की । उबली हुई मटर, आलू आदि कई चीजें मेरे लिए उपयुक्त थी। व्यवस्थापिका मेरे साथ ही थी अत मैं और भी निश्चिन्त था । जो जो वस्तुए मैं ले रहा था, उन्हे वह बडे गौर से देख रही थी । और सब चीजें लेने के बाद मैंने गोभी के टुकडे भी लिए जो दही मे मिलाए गए जान पडते थे ।

सब चीजें लेकर मै टेबिल पर आ गया और खाने के लिए ज्यो ही गोभी का पहला टुकडा मुह मे डाला, उसे चखते ही उल्टी-सी होने लगी । लगभग १०-१५ मिनट तक पानी से कुल्ले करते रहने के बाद भी मुह से वह स्वाद नही गया जिसके कारण उल्टी का अनुभव हो रहा था । मैं तो कुछ समझ ही नही पा रहा था कि उन गोभी के टुकडो मे ऐसी क्या बात थी कि यह स्थिति हो गई । व्यवस्थापिका भी मेरी हालत देख कर अलग परेशान थी । बाद मे पता चला कि जिस चीज को मैं गोभी के टुकडे समझे हुआ था, वे वास्तव मे साफ किये हुए केंकडे (Lobster) थे । जिनपर से चमडा (छिलका) उतार दिया गया था । और इसी कारण वे देखने मे गोभी के फूल जैसे लग रहे थे ।



निश्चयनय और व्यवहारनय

पं० कुन्दनलाल

न्यायतीर्थ, शास्त्री



समस्त ससार के जीवधारियो का रात दिन का प्रयत्न एक मात्र सुखप्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित है। विद्याप्राप्ति, व्यापार-उद्योग, मनोरजन के नाना प्रकार के साधन, भोगोपभोग के नित नये साधनो का आविष्कार आखिर क्यो ? सब का एकमात्र उद्देश्य स्थायी सुखप्राप्ति की इच्छा ही है। परन्तु वह स्थायी सुख मिलता नही। इसीलिये विचारशील मनीषियो ने अथक तत्त्वमीमांसा के द्वारा स्थायी सुखप्राप्ति का जो लक्षण व उपाय खोजा उसे एक महान् दार्शनिक कवि अपनी इन चार पक्तियो मे बडे सुन्दर ढग से बतलाते है—

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहि न, तातै शिव मग लाग्यो चहिये।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित शिव-मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारन सो व्यवहारो ।।१।।

प्रत्येक जीवात्मा का वाछित-अभिलषित-एक मात्र इष्ट सुख है। और उस की परिभाषा है आकुलता-व्याकुलता का सर्वथा अभाव। आकुलता का अभाव, आत्मा की शक्ति का नाश करने वाले, आत्मा को विकृत एव मलीन करने वाले ज्ञानावरणादि समस्त शुभाशुभ कर्मों का सवर निर्जरा के द्वारा सर्वथा नाश रूप मोक्ष मे है। इस लिये सुख चाहने वाले मुमुक्षु जीवो को मोक्षमार्ग मे लगना चाहिये। वह मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्र रूप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग। जो वास्तविक श्रद्धा ज्ञान आत्मरमणरूप आत्मपरणति है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति मे जो कारणरूप है वह श्रद्धा ज्ञान और आत्मा की ससार के विषय भोगो से विरक्ति रूप परिणति व्यवहारमोक्षमार्ग है।

ससार के क्षणिक ऐन्द्रिय सुखो के लिये लोग दिन-रात पचते है, अर्थोपार्जन करते है, और पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु उसका फल आखिर क्या मिलता है ? क्षणिक शाति और उसके बाद अनन्त अशाति। पर जिस सुख को पा लेने के बाद दुख की हवा भी छू नही सकती उसकी प्राप्ति के कारणभूत तत्वज्ञान की प्राप्ति की ओर हमारी रुचि ही नही। शाश्वत सुख पाने के लिए उस तत्वज्ञान को जानना होगा। उस की कुजी निश्चय और व्यवहारनय का ज्ञान ही है। इसलिये सबसे पहले इन नयो का ही स्वरूप समझना है। वस्तुतत्व को समझने के लिये नयवाद स्याद्वाद-अनेकान्तवाद रूप दृष्टि जैन धर्म की दर्शन के क्षेत्र में अपूर्व देन है। महान दार्शनिक आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरि अपने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ मे अनेकान्त को नमस्कार करते हुए स्तुति करते है—

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ।।

जैसे जन्म के अन्धे पुरुष हाथी के पृथक २ अवयवो का स्पर्श करके उनमे हाथी के शरीर का आकार निश्चय करने मे परस्पर वाद-विवाद करते हुए भी यथार्थ निश्चय नही कर सकते, परन्तु नेत्रवान् पुरुष उनके विवाद को क्षण मात्र मे दूर कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तु के अनेक अग (धर्म-स्वरूप) अपनी बुद्धि मे, भिन्न-भिन्न रीति मे निश्चय करते हुए भी सम्यग्ज्ञान के बिना सर्वांग वस्तु को न जान कर परस्पर विवाद करते है और इसी मे ससार मे सघर्ष होते है। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते है, अत समस्त पहलुओ को जाने बिना विरोध दूर हो ही नही सकता। क्योकि पदार्थ मे अनेक गुण है और भिन्न-भिन्न लोग उन्हे अलग २ ग्रहण कर लेते है। पर भूल यह करते है कि अपने माने हुए सिवाय अन्य गुणो की सत्ता स्वीकार नही करते। इसी कारण झगडा होता है कि यदि उन सब के मस्तक मे यह विचार घर कर जाय कि मैंने पदार्थ मे यह गुण माना दूसरो ने दूसरे गुण माने है और पदार्थ मे वे सब गुण है, इसलिये अपेक्षा भेद से ठीक है तो सब मे सामञ्जस्य बैठ जायगा और मतभेद-विरोध का अन्त हो जायगा। इसी विशेषता के कारण आचार्यो ने अनेकान्त की महत्ता स्वीकार कर उसकी स्तुति की है।

"अनेकान्त" शब्द का अर्थ है—एक से अधिक अन्त" अर्थात् धर्म। अर्थात् पदार्थ मे केवल एक गुण-स्वभाव अथवा धर्म नही, बहुत से गुण रहते हैं। वस्तु के अनेक धर्म एक साथ ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं परन्तु दूसरे को समझाने का साधन शब्द है और शब्द एक समय मे एक धर्म को कहने की ही शक्ति रखता है, एक साथ समस्त गुण धर्मो को नही कह सकता। इसलिये उन अनन्त धर्मों को बतलाने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। इसी का दूसरा नाम सापेक्ष-वाद या नयवाद है। "स्यात्" का अर्थ "किसी अपेक्षा से" यह है और "वाद" का अर्थ कहना है अर्थात् एक अपेक्षा से एक धर्म की मुख्यता करके ऐसा कहा गया है और दूसरी अपेक्षा से यह नही कहा जायगा, वह दूसरी तरह कहा जायगा।

इसीलिये नय का सिद्धान्त (आगम) मे यह लक्षण किया है कि—"वक्ता ने अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की मुख्यता से शब्द कहा है उसके उसी अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को नय कहते है। यह भावनय का लक्षण है और वह धर्म तथा उस धर्म के वाचक शब्द को द्रव्यनय कहते है। इसी को कार्तिकेय स्वामी ने इस प्रकार कहा है —

लोयाण ववहार धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसभूदो॥

धर्म विविक्षा से (कहने वाले की कहने की इच्छा से) लोक व्यवहार के साधक लिंग (हेतु) से उत्पन्न श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते है।

जे जाणिज्जई जीवो इवियवावारकायचिट्ठाहिं।
त अणुमाण भण्णदि त पि णय बहुविह जाण॥

जीव का इन्द्रिय व्यापार और कायचेष्टा के द्वारा जानना अनुमान कहलाता है। यह अनुमान भी नय ही है। क्योकि अनुमान प्रमाण को भी श्रुतज्ञान ही माना है।

सो चिय इक्को धम्मो वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स।
ते जाणदि ज णाण ते तिवि णयविसेसा य॥

वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनो नय विशेष है। नयचक्र मे श्री देवसेन स्वामी कहते हैं —

ज णाणीण वियप्प सुयभेय वत्थु असंसगहण।
त इह णय पउत्त णाणी पुण तेण णाणेहिं॥



पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि मे कहा है —

"वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेष-याथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नय ।" अर्थात् जो प्रयोग अनेकान्त स्वरूप वस्तु मे अविरुद्ध हेतु अर्पणा से साध्य विशेष की यथार्थता प्राप्त करने मे समर्थ है उसको नय कहते है। इन सब का भाव वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है। "जो इतर धर्मों की अपेक्षा सहित हैं वे सुनय हैं और जो इतरधर्मों से निरपेक्ष है वे कुनय हैं। उनसे पदार्थ की सिद्ध नही होती।"[1]

श्रीदेवसेन स्वामी ने नयो की प्रशसा मे बहुत कुछ कहा है परन्तु सब का साराश एक गाथा मे इस प्रकार है—

जे णयदिट्ठिविहूणा, ताण ण वत्थू सहावउवलद्धी ।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कह होंति ॥१॥

अर्थात् जो पुरुष नयदृष्टि से रहित हैं उनको वस्तु स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नही होता, और वस्तु स्वभाव के यथार्थ ज्ञान के बिना वे सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार नही हो सकते। इस प्रकार नयज्ञान के बिना जैनागम का रहस्य नही जाना जा सकता।

जैनाचार्यों ने नयवाद का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म, विशद और व्यापक रूप मे किया है। विविध प्रकारो से नय के भेद-प्रभेदो का निरूपण किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मतिप्रकरण मे कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया

अर्थात् जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। इस प्रकार नयो की सख्या निर्धारित नही हो सकती। तथापि विभिन्न दृष्टिकोणो मे नयो के भेदो का कथन किया गया है। यहाँ हम नयो के कतिपय भेदो पर प्रकाश डालेगे।

नय के मूल दो भेद हैं। एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। व्यवहारनय का दूसरा नाम उपनय भी है। "आगम मे निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।[2]" अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानना या कहना यह निश्चयनय है। यह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता और जानता है इसीलिए इसे भूतार्थ—वास्तविक तत्त्व को विषय करने वाला-कहते हैं। व्यवहारनय वस्तु के परनिमित्तक स्वरूप को कहता या जानता है इसलिये वह अभूतार्थ है। जैसे घृत के निमित्त से किसी घट को घी का घडा कहना। घडा मिट्टी, पीतल या चादी आदि का होना है पर उसमे घी रखा होने से अन्य अनेक घडो मे से उसे जल्दी से ढूढ कर लाने का व्यवहार चलाने को कहा गया कि "घी का घडा लाओ।" यह व्यवहार अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ झूठा नही है। किन्तु वह स्वरूप है जो स्वाभाविक सिद्ध अथवा निरपेक्ष न होकर परसापेक्ष हो।

निश्चय नय के दो भेद हैं। एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जो विशेष स्वरूप से अविनाभावी सामान्य स्वरूप-द्रव्य को नाना युक्तियो के बल से सिद्ध करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है।[3] द्रव्य का अर्थ सामान्य है, तात्पर्य यह है कि वस्तु मे सामान्य और विशेष दोनो धर्म रहते हैं। उनमे विशेष स्वरूपो को गौण करके जो सामान्य मात्र को

---

१ मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥१०८॥
—आप्तमीमासा—स्वामी समन्तभद्र

२ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।

३ जो साहदि सामण्ण अविणाभूद विसेसरूवेहि ।
णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ —स्वामी कार्तिकेय

मुख्यता से ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । इसके विपरीत पर्यायार्थिक नय है। पर्याय नाम विशेष का है इसलिये जो नय वस्तु के सामान्य स्वरूप को गौण करके विशेष को ही मुख्यता से ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जीव द्रव्य है। उसके नर-नारक देव तिर्यंच, मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि, ससारी और मुक्त आदि अनेक पर्याय है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो के दो-दो भेद हैं। अध्यात्मद्रव्यार्थिक और शास्त्रीयद्रव्यार्थिक तथा अध्यात्मपर्यायार्थिक और शास्त्रीयपर्यायार्थिक। इनमे आध्यात्मिक द्रव्यार्थिक नय के १० भेद और शास्त्रीय द्रव्यार्थिक के तीन भेद हैं—नैगम, सग्रह, और व्यवहार। इनमे से नैगमनय के ३, सग्रह के २ और व्यवहार के २ भेद होने से शास्त्रीयद्रव्यार्थिकनय के ७ भेद होते हैं। आध्यात्मिक व्यवहारनय के ६ भेद हैं। शास्त्रीयपर्यायार्थिक के १ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरुढ और ४ एवभूत इस प्रकार भेद चार है। इनमे ऋजुसूत्र नय के २ भेद हैं, शेप के एक एक इस प्रकार शास्त्रीयपर्यायार्थिक ५ भेद हुए। इस तरह आध्यात्मिक के १६ और शास्त्रीय नय के १२ भेद मिलाने मे कुल निश्चयनय के २८ भेद हुए।

(१) जो कर्मबन्धमयुक्त ससारी जीव को सिद्ध समान शुद्ध ग्रहण करे उसे **कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय** कहते है। जैसे ससारी जीव सिद्ध सदृश शुद्ध बुद्ध ज्ञायक रूप है।

(२) जो उत्पाद व्यय को गौण करके केवल सत्ता-ध्रौव्य मात्र को ग्रहण करे उसे **सत्ता ग्राहक–शुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहते है। जैसे द्रव्य नित्य है।

(३) गुणगुणी और पर्याय-पर्यायी मे भेद न करके, जो द्रव्य को गुणपर्याय से अभिन्न ग्रहण करे उसे **भेद-विकल्पनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहते है। जैसे द्रव्य अपने गुण पर्याय मे अभिन्न है।

(४) जो जीव मे क्रोधादिक भावो को ग्रहण करे उस **कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहत है जैसे जीव क्रोधी, मानी मायावी, लोभी है आदि कहना।

(५) जो उत्पाद व्यय मिश्रित सत्ता को ग्रहण करे उसे **उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहते हैं। जैसे द्रव्य एक समय मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

(६) जो द्रव्य को गुणगुणी आदि भेद सहित ग्रहण करे उसे **भेदकल्पना-सापेक्ष-अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहते हैं। जैसे दर्शन, ज्ञान आदि जीव के गुण है।

(७) जो समस्त गुण पर्यायो मे द्रव्य को अन्वय रूप ग्रहण करे उसे **अन्वय द्रव्यार्थिक नय** कहते है। जैसे द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है।

(८) जो स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य को सत् स्वरूप ग्रहण करे उसे **स्व-द्रव्यादि-ग्राहक-द्रव्यार्थिक नय** कहते हैं। जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य "है" कहना ।

(९) जो पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य को असत् रूप ग्रहण करे उसे **परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक नय** कहते हैं। जैसे परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य "नही" है।

(१०) जो शुद्धाशुद्धोपचार रहित द्रव्य के परमभाव को ग्रहण करे उसे **परमभावग्राही-द्रव्यार्थिक नय** कहते हैं।



पर्यायार्थिकनय के ६ भेद

(११) जो अनादिनिधन चन्द्र सूर्यादि पर्यायो को ग्रहण करे उसे **अनादि नित्यपर्यायार्थिक नय** कहते है। जैसे मेरु पुद्गल की नित्य पर्याय है।

(१२) जो कर्मक्षय से उत्पन्न और कारणभाव से अविनाशी पर्याय को ग्रहण करे उसे **सादि नित्य-पर्यायार्थिक नय** कहते है। जैसे जीव की सिद्धपर्याय नित्य है।

(१३) जो सत्ता को गौण करके उत्पादव्यय भाव को ग्रहण करे उसे **अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक नय** कहते है।

(१४) जो पर्याय को एक समय मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभावयुक्त ग्रहण करे उसे **अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय** कहते है। जैसे पर्याय एक समय मे उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है।

(१५) जो ससारी जीवो की पर्याय को सिद्ध सदृश शुद्ध रूप ग्रहण करे उसे **कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय** कहते है। जैसे ससारी जीव की पर्याय सिद्धसदृश शुद्ध है।

(१६) जो ससारी जीवो की चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य-अशुद्ध पर्याय को ग्रहण करे उसे **कर्मोपाधि-सापेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय** कहते है। जैसे ससारी जीव पैदा होते है और मरते है।

शास्त्रीय नय के १२ भेद

(१७) जहा भूत मे वर्तमान का आरोप किया जाय उसे **भूतनैगमनय** कहते है। जैसे आज दिवाली के रोज भगवान् महावीर मोक्ष गये।

(१८) जहा भविष्यकाल का भूतकाल के समान कथन किया जाय उसे **भावीनैगम नय** कहते है। जैसे अर्हन्तो को कहना कि वे सिद्ध ही हैं।

(१९) जिस कार्य को आरभ कर दिया जाय और एक देश वह कार्य तैयार भी हो जाय, पर पूरा तैयार नही हो फिर भी उसे तैयार हो गया, ऐसा कहना **वर्तमाननैगमनय** है। जैसे कोई आदमी भोजन बनाने के लिए सामग्री तैयार कर रहा है अथवा आधा भोजन तैयार हो गया, किसी ने पूछा भोजन बन गया तो कहना बन गया।

(२०) सत्व सामान्य की अपेक्षा से सब द्रव्यो को जो एक रूप गहण करे उसे **सामान्यसग्रहनय** कहते है। जैसे द्रव्य सत् की अपेक्षा एक है।

(२१) जो एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एकरूप ग्रहण करता है उसे **विशेषसग्रहनय** कहते हैं। जैसे चेतना की अपेक्षा समस्त जीव एक है।

(२१) जो सामान्य सग्रहनय के विषय को भेद रूप करता है उसे **शुद्धव्यवहारनय** कहते है, जैसे द्रव्य के दो भेद है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

(२३) जो विशेष सग्रहनय के विषय मे भेद करे उसे अशुद्धव्यवहारनय कहते है, जैसे जीव दो प्रकार के है—ससारी और मुक्त।

(२४) जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्याय को ग्रहण करता है उसको **सूक्ष्मऋजुसूत्रनय** कहते है। जैसे सब शब्द क्षणिक है।

(२५) अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को जो विषय करे उसे स्थूलऋजुसूत्रनय कहते है। जैसे मनुष्यादि पर्याय आयुपर्यन्त रहती है।

(२६) एक पदार्थ मे भिन्न लिंगादि की स्थिति को जो नही मानता उसे शब्दनय कहते है।

(२७) एक शब्द के अनेक वाच्य है उनमे से एक मुख्य वाच्य को किसी एक पदार्थ मे देख उसमे आरूढ हो, उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप परिणत होने पर भी उस पदार्थ को अपना वाच्य मानना समभिरूढ नय का विषय है। जैसे

गौ शब्द के भूमि किरणवाणी आदि ११ अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ गतिमत्व है, वह गतिमत्व मनुष्य, हाथी, घोडा, बैल इत्यादि अनेक पदार्थों मे पाया जाता है किन्तु गाय बैल पदार्थ मे ही आरूढ होकर उन गाय बैलो को सोते-उठते-बैठते आदि सभी अवस्थाओ मे गो शब्द का वाच्य मानना समभिरूढ नय का विषय है।

(२८) जिस क्रिया का वाचक जो शब्द उसी क्रिया परिणत पदार्थ को ग्रहण करे उसे **एवभूतनय** कहते हैं। जैसे गौ जिस काल मे गमन करे उस काल मे ही उसे गौ कहे, अन्यक्रिया करते हुए गौ न कहे, यही एवभूत नय है।

शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये तीनो नय शब्द की प्रधानता से होते है, इस कारण इन्हे शब्दनय कहते है। नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र, ये चारो नय अर्थ की प्रधानता लेकर है इसलिये इन को अर्थनय कहते है।

व्यवहारनय के निम्न ८ भेद

व्यवहारनय के मूल मे ३ भेद हैं—सद्भूत, असद्भूत और उपचरित व्यवहारनय। इनमे सद्भूत के दो, असद्भूत के तीन और उपचरित के तीन भेद हैं। विस्तार से इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) एक द्रव्य मे गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, कारक-कारकवान्, स्वभाव-स्वभाववान् इत्यादि भेद रूप कल्पना करना **शुद्धसद्भूतव्यवहारनय** है।

(२) अखड द्रव्य को बहुप्रदेश रूप कल्पना करना **अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय** है।

(३) सजात्यसद्भूत व्यवहारनय ४ विजात्यसद्भूत व्यवहारनय ५ स्वजातिविजात्यसदभूत व्यवहार-नय। इन तीनों मे प्रत्येक के ९-९ भेद होते हैं।

१ द्रव्य मे द्रव्य का समारोप २ द्रव्य मे गुण का समारोप ३ द्रव्य मे पर्याय का समारोप ४ गुण मे गुण का समारोप ५ गुण मे द्रव्य का समारोप ६ गुण मे पर्याय का समारोप ७ पर्याय मे पर्याय का समारोप ८ पर्याय मे गुण का समारोप ९ पर्याय मे द्रव्य का समारोप। जैसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा कहना यहा सजाति पर्याय मे सजाति पर्याय का समारोप है (७) मतिज्ञान को मूर्त स्वरूप कहना विजातीय गुण मे विजातीय गुण का समारोप है (४) जीव अजीव रूप ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना सजातिविजाति द्रव्य मे सजातीय विजातीय गुण का समारोप है। (२) परमाणु को बहु प्रदेशी कहना यहा जाति-द्रव्य मे सजाति विभावपर्याय का समारोप है। (३) इसी प्रकार शेष उदाहरण समझना चाहिये।

असद्भूत व्यवहार मिथ्या है, यह शका निर्मूल है। ससार का व्यवहार इस नय के बिना चल नही सकता। यह बात अनुभव सिद्ध है कि किसी पुरुष ने अपने लडके से कहा कि "घी का घडा लाओ" तब यह शब्द सुनते ही लडका तुरन्त घी से भरा मिट्टी अथवा अन्य धातु का घडा उठा लाता है। यह नय मिथ्या होता तो उस लडके को उपर्युक्त अर्थज्ञान कैसे होता ?

मुख्य पदार्थ का अनुभव होने पर प्रयोजन और निमित्त के वश से जिसकी प्रवृत्ति हो उसे **उपचरितासद्भूत व्यवहारनय** कहते हैं। प्रयोजन का अर्थ व्यवहार सिद्धि है और निमित्त का अर्थ विषय-विषयी, परिणाम-परिणामी कार्य-कारण सम्बन्ध है।

(६) मित्र-पुत्रादि बन्धु वर्ग मेरे है, यह कल्पना **सजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय** है।

(७) आभरण स्वर्णरत्नादिक मेरे है, यह कल्पना **विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय** है।

(८) देश राज्य दुर्गादिक मेरे हैं, यह कल्पना **मिश्रोपचरितासद्भूत व्यवहारनय** है।

इस प्रकार निश्चय के २८ भेदो मे व्यवहारनय के ८ भेद मिलायें तो नय के सब भेद ३६ होते हैं।



व्यवहार के बिना अज्ञानी प्राणी मोक्ष की सीढी स्वरूप निश्चयमार्ग को पा नही सकता। इसलिये जब तक पूर्ण व्यवहारनिवृत्ति कर आत्मतत्व में लवलीनता न हो तब तक व्यवहार-अशुभ से निवृत्तिरूप शुभ प्रवृत्ति का मार्ग श्रावक को तथा मुनि को पालना श्रेयस्कर है।

आचार्यो ने दोनो नयो की आवश्यकता एक पद्य मे दृष्टान्तपूर्वक यो बतलाई है—

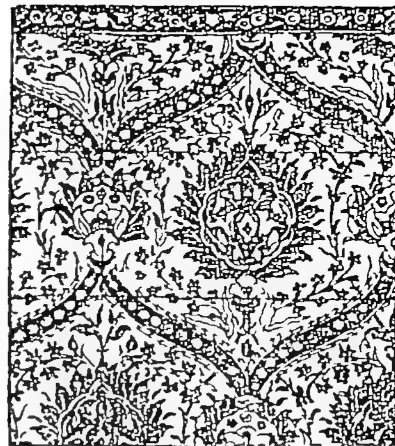
एकेना-आकर्षनी श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेव जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जिस प्रकार दहीबिलोने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खीचती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनो क्रियाओ से दही से मक्खन निकाल लेती है, उसी प्रकार जिन वाणी का मर्मज्ञ सच्चा साधक व्यवहार-नय से या निश्चयनय से पदार्थ को ग्रहण कर दूसरे प्रतिपक्षी नय को सर्वथा छोड नही देता, ढीला कर देता है—गौण कर देता है, तभी वह तत्व के पूर्ण रहस्य को प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त करता है।

वीरसघ की विभूतिया :

राजस्थान के जैनवीर और प्रशासक

डा० कैलाशचन्द जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट्,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन



राजस्थान मे अनेक जैनवीर और कुशल प्रशासक हो गये हैं। उन्होने राजाओ के प्रति सच्ची स्वामिभक्ति दिखलाई और जनता की सेवा की । लोगो के सन्मुख उच्च नैतिक आदर्श रखे । लडाइयो और युद्धो मे अपनी शूरवीरता का अद्भुत परिचय दिया । राज्यो मे व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध की स्थापना की । कला और सस्कृति को समृद्ध किया। कलापूर्ण भव्य मन्दिरो का निर्माण किया और उनमे मूर्तियो की प्रतिष्ठा की । विद्वानो को प्रोत्साहन दिया एव साहित्य और शिक्षा की उन्नति के लिए ग्रथालयो और विद्यालयो की स्थापना की। उनकी सख्या बहुत अधिक है। सक्षिप्त निबन्ध मे उन सबका उल्लेख नही किया जा सकता, अतएव यहा उन्ही की चर्चा की जाएगी जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

विमल —विमल[1] ग्यारहवी सदी का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह अपनी सैनिक योग्यता के कारण गुजरात के राजा भीम का मन्त्री बन गया । सभवत अपने स्वामी के साथ वह महमूद गजनी से भी लडा । प्रबन्धो के अनुसार उसने बारह सामतो को भी हराया । यह उल्लेख पौराणिक नही है किन्तु इसमे सत्य अवश्य है । ये महमूद गजनी के सामत व सेनापति हो सकते हैं। उसने सौराष्ट्र व कच्छ को फिर से अपने स्वामी को दिलाया, जो मुस्लिम आक्रमण का लाभ उठाकर स्वतत्र हो गये थे । उसने अपने स्वामी भीम को आबू के समीप चन्द्रावती के राजा धधुक को हराने मे सहायता दी। विमल की इस सेवा के बदले मे भीम ने उसे आबू का गवर्नर बना दिया । कुछ समय पश्चात् विमल ने धधुक और भीम को समझा बुझाकर दोनो मे सुलह करा दिया। भीम ने धधुक को उसका राज्य लौटा दिया किन्तु विमल को पहिले की भाति अपने प्रतिनिधि के रूप मे चन्द्रावती मे रखा । विमल धार्मिक प्रकृति का भी था और उसने आबू मे बहुत शानदार जैन-मदिर बनवाया ।

उदयन —उदयन का जन्म मारवाड मे जालोर मे हुआ था। वह श्रीमाल जाति का था। बडे होने पर वह जालोर छोड कर कर्णावती मे जाकर बस गया। धीरे-धीरे भाग्योदय होने लगा और वह समृद्ध हो गया। उसकी यश और कीर्ति बढने लगी और जयसिह सिद्धराज ने उसको स्तभतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त कर दिया । वह पक्का जैनभक्त भी था । उसने हेमचन्द्र सूरि के पिता चाचिग को अपने पुत्र को दीक्षा देने को प्रेरित किया। जब कुमारपाल अपने चाचा के कोप से अपनी प्राणरक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था, उदयन ने ही उसको शरण दी और अत मे राजगद्दी दिलाने मे भी सहायता दी। कुमारपाल ने उसे सोरठ के राजा से लडने को भेजा जिसमे वह वीरगति को प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहिले उसने विमलाचल और भृगुकच्छ मे जैनमन्दिर बनाने का दृढ सकल्प किया था जिसको उसके पुत्रो ने पूरा किया।[2]

---

१ विमलचरित्र, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ८१-८२

२ प्रबन्ध चितामणि, पृ० ६७-६८, पृ० १०४-१०५



वस्तुपाल —वस्तुपाल[1] तेरहवी शताब्दी मे धवलक और धोलका के वाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमंत्री था। वह एक कुशल शासक ही नही किन्तु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहिले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु १२२० ई० मे उसने आबू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।[2] उसको स्तभतीर्थ या केम्वे का गवर्नर नियुक्त किया गया जहा उसने वडी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगो का नैतिक स्तर ऊचा किया।[3] वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा सख ने स्तभतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिंहण और मारवाड के चार राजाओं ने मिल कर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियो मे समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्थली, जूनागढ) को विजय किया। जब वीरधवल की रानी के भ्राता सांगन और चामुंड ने कर देने से इनकार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ मे भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अत मे दोनो मे सधि हो गई। उसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा धूधुल को जीतने का भी सकल्प किया और उसके लिए वस्तुपाल ने अपने भाई तेजपाल को भेजा। उसने धूधुल को जीता और उसे वदी वनाया।[4]

जब देहली के सुलतान मोजदीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने वडे चातुर्य से उसको पीछे हटने को बाध्य किया। मोजदीन वास्तव मे देहली का सुल्तान अल्तमश था। सुल्तान की माता का तीर्थयात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओ ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुये डाकुओ से छीन कर वापिस उसकी माता को लौटाई और उसके साथ वडी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।[5] सुल्तान ने वस्तुपाल को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भलीभाति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने शत्रुजय व गिरनार की तेरह वार तीर्थ यात्राए की। उसने स्थान-स्थान पर मदिर, मठ, धर्मशालाए और औपधालय वनवाये।[6] उसके द्वारा आबू मे बनवाया हुआ लूणवसही मदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलो मे उदार था और सब धर्मों का आदर करता था। उसके का॑ केवल जैनियो तक ही सीमित नही थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मन्दिर और यहा तक कि मस्जिद भी बनवाई।[7]

वस्तुपाल साहित्यप्रेमी भी था और उसने अतुल धन राशि खर्च करके अणहिलवाड, स्तभतीर्थ और भृगु-कच्छ मे शास्त्रभण्डार स्थापित किये।[8] उसका स्वय का ग्रथभण्डार वडा समृद्ध था और उसमे महत्त्वपूर्ण ग्रथो की प्रतिया भी थी।[9] वह विद्वानो के प्रति वडा उदार था और जैन व जैनेतर विद्वानो मे किसी प्रकार का अन्तर नही करता था। वह स्वय भी कवि था और उसने आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अबिकास्तोत्र, नरनारायणनद, सूक्तिया आदि लिखी है। दरवार मे विद्वान लोग राजा की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

---

१ वस्तुपाल चरित्र, १

२ नरनारायणनन्द, १४, ३५

३ कीर्ति कौमुदी, ४ १६

४ प्रबन्धकोश, पृ० १०३, १०४, १०७

५ प्रबन्ध कोश, पृ० ११६, प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० १०३

६ विविध तीर्थ कल्प, पृ० ७८, प्रवन्ध कोश पृ० १३०

७ प्रबन्धकोश, प० १२६

८ वही

९ वस्तुपाल चारित्र, प० ८०

जोधपुर के वीर-शासक

तेजा गदहिया :—मध्यकाल में राजस्थान में जैनों ने भिन्न-भिन्न राज्यों में मंत्री, सैनिक व शासक के रूप में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। जोधपुर राज्य में तेजा गदहिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामिभक्त योद्धा था। १५४४ ई० में शेरशाह ने विशाल सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और धोखे से मालदेव को हराया। उसने जोधपुर पर अधिकार कर हमजा को वहां का शासक नियुक्त किया। ओसवाल वंशावली[1] से पता चलता है कि तेजा गदहिया ने हमजा को मृत्यु के घाट उतार कर जोधपुर को फिर से मालदेव को लौटाया। इससे उसकी बहादुरी और स्वामिभक्ति प्रकट होती है।

मुहणोत जयमल और उसका पुत्र नैणसी :—मुहणोत जयमल एक योद्धा और दयालु व्यक्ति था। मुगल सम्राट् ने जालोर और सांचोर गजसिंह को दिये जिन्होंने मुहणोत जयमल को वहां का गवर्नर बनाया। उसने सुचारु रूप से शासन चलाया। जब मराठों ने सांचोर पर आक्रमण किया तो उसने उनको बुरी तरह से हराया। १६३० ई० के अकाल के अवसर पर उसने लोगों में मुफ्त अनाज बांटकर उनके प्राणों की रक्षा की। उसका पुत्र मुहणोत नैणसी भी एक कुशल शासक और इतिहासकार था। उसने लाग व बेगार को हटाकर शासनप्रबन्ध में महत्वपूर्ण सुधार किये। वह जसवन्तसिंह का दीवान था। उसने प्रसिद्ध 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रंथ है।

रत्नसिंह भंडारी :—रत्नसिंह भंडारी ने अपने स्वामी राठौड़ राजा अभयसिंह की सच्चाई से सेवा की। १७३० ई० में मुगल सम्राट् ने अभयसिंह को अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अभयसिंह ने इन दोनों प्रान्तों के शासन की देखभाल का कार्य रत्नसिंह भंडारी को सौंपा। उस समय मुगलसत्ता पतन अवस्था में थी। एक तरफ मराठा मुगलसाम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तों में गवर्नरों के उपद्रव हो रहे थे। रत्नसिंह भंडारी को मराठों के साथ युद्ध करने पड़े और साथ में गवर्नर के उपद्रव को भी दबाना पड़ा। रत्नसिंह भंडारी के समय रंगुजी दाभडे के नेतृत्व में मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने बड़ी चतुराई से प्रान्त की रक्षा की। उसको दामजी मराठे के साथ भी लड़ना पड़ा। वीरमगाम भी उसके समय एक समस्या के रूप में बना रहा। १७३७ ई० में मुहम्मदशाह ने अभयसिंह को हटाकर मोमिन खाँ को गुजरात का वाइसराय नियुक्त करने का आदेश दिया। उसने मोमिनखाँ का कड़ा विरोध किया तथा बड़े कौशल से उसमें और मराठों में मेल नहीं होने दिया। अन्त में मोमिनखाँ से उसने समझौता किया। उसे अतुल धनराशि दी और उसने अहमदाबाद से अपना अधिकार त्याग दिया। बीकानेर में जोरावरसिंह की मृत्यु के बाद १७४५ ई० में गजसिंह और अमरसिंह में युद्ध हुआ। रत्नसिंह भंडारी को अमरसिंह का पक्ष लेने के लिए भेजा गया और युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[2]

धनराज :—जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने १७८७ ई० में मराठों से अजमेर जीत लिया तो उसने धनराज को अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात् मराठों ने फिर से मारवाड़ पर आक्रमण किया। मेड़ता और पाटन में भयानक युद्ध हुआ जिसमें राठौड़ों की हार हुई। इस समय मराठों के सेनापति डीबोइने ने अजमेर पर आक्रमण कर घेर लिया। धनराज ने बहादुरी से उनका सामना किया। विजयसिंह ने उसे अजमेर को शत्रुओं को सुपुर्द करने का आदेश दिया। आदेश पाकर वह असमंजस में पड़ गया। अजमेर को शत्रुओं को समर्पित करना ही वह अपनी मानहानि मानता था तथा साथ में स्वामी के आदेश का उल्लंघन करना भी ठीक नहीं समझता था। उसने अपने जीवन का अन्त करना उचित समझा। उसके पास हीरे की अंगूठी थी। उसको पीसकर वह निगल गया। उसने कहा, 'महाराजा को कहना कि मेरी लाश पर ही मराठा अजमेर में प्रविष्ट हो सकते हैं' और इस प्रकार उसने अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति का परिचय दिया।



१ अनेकान्त, २, पृ० २४६

२ सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स पृ० ६०-६३ और जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६३८-४१।

वस्तुपाल —वस्तुपाल[1] तेरहवी शताब्दी मे धवलक और धोल्का के बाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमत्री था। वह एक कुशल शासक ही नही किन्तु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहिले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु १२२० ई० मे उसने आबू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।[2] उसको स्तभतीर्थ या केम्बे का गवर्नर नियुक्त किया गया जहा उसने बडी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगो का नैतिक स्तर ऊचा किया।[3] वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा सख ने स्तभतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिहण और मारवाड के चार राजाओ ने मिल कर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियो मे समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्थली, जूनागढ) को विजय किया। जब वीरधवल की रानी के भ्राता साँगन और चामुंड ने कर देने से इनकार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ मे भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अत मे दोनो मे सधि हो गई। उसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा घ्घुल को जीतने का भी सकल्प किया और उसके लिए वस्तुपाल ने अपन भाई तेजपाल को भेजा। उसने घूघुल को जीता और उसे बदी बनाया।[4]

जब देहली के सुलतान मोजदीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने बडे चातुर्य से उसको पीछे हटने को बाध्य किया। मोजदीन वास्तव मे देहली का सुलतान अल्तमश था। सुल्तान की माता को तीर्थयात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओ ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुयें डाकुओ से छीन कर वापिस उसकी माता को लौटाई और उसके साथ बडी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।[5] सुल्तान ने वस्तुपाल को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भलीभाति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने शत्रुजय व गिरनार की तेरह बार तीर्थ यात्राए की। उसने स्थान-स्थान पर मदिर, मठ, धर्मशालाए और औषधालय बनवाये।[6] उसके द्वारा आबू मे बनवाया हुआ लूणवसही मदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलो मे उदार था और सब धर्मों का आदर करता था। उसके का॑ केवल जैनियो तक ही सीमित नही थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मन्दिर और यहा तक कि मस्जिद भी बनवाई।[7]

वस्तुपाल साहित्यप्रेमी भी था और उसने अतुल धन राशि खर्च करके अणहिलवाड, स्तभतीर्थ और भृगु-कच्छ मे शास्त्रभण्डार स्थापित किये।[8] उसका स्वय का ग्रथभण्डार बडा समृद्ध था और उसमे महत्त्वपूर्ण ग्रथो की प्रतिया भी थी।[9] वह विद्वानो के प्रति बडा उदार था और जैन व जैनेतर विद्वानो मे किसी प्रकार का अन्तर नही करता था। वह स्वय भी कवि था और उसने आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अबिकास्तोत्र, नरनारायणनद, सूक्तिया आदि लिखी हैं। दरबार में विद्वान लोग राजा को अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

---

१ वस्तुपाल चरित्र, १
२ नरनारायणनन्द, १४, ३५
३ कीर्ति कौमुदी, ४ १६
४ प्रबन्धकोश, पृ० १०३, १०४, १०७
५ प्रबन्ध कोश, पृ० ११६, प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० १०३
६ विविध तीर्थ कल्प, पृ० ७८, प्रबन्ध कोश पृ० १३०
७ प्रबन्धकोश, प० १२६
८ वही
९ वस्तुपाल चारित्र, प० ८०

जोधपुर के वीर-शासक

तेजा गदहिया —मध्यकाल मे राजस्थान मे जैनो ने भिन्न-भिन्न राज्यो मे मत्री, सैनिक व शासक के रूप मे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। जोधपुर राज्य मे तेजा गदहिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामिभक्त योद्धा था। १५४१ ई० मे शेरशाह ने विशाल सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और धोखे से मालदेव को हराया। उसने जोधपुर पर अधिकार कर हमजा को वहा का शासक नियुक्त किया। ओसवाल वशावली[1] से पता चलता है कि तेजा गदहिया ने हमजा को मृत्यु के घाट उतार कर जोधपुर को फिर से मालदेव को लौटाया। इसमे उसकी बहादुरी और स्वामिभक्ति प्रकट होती है।

मुहणोत जयमल और उसका पुत्र नैणसी —मुहणोत जयमल एक योद्धा और दयालु व्यक्ति था। मुगल सम्राट् ने जालोर और साँचोर गजसिंह को दिये जिन्होने मुहणोत जयमल को वहा का गवर्नर बनाया। उसने सुचारु रूप से शासन सभाला। जब मराठो ने साँचोर पर आक्रमण किया तो उसने उनको बुरी तरह से हराया। १६३० ई० के अकाल के अवसर पर उसने लोगो मे मुफ्त अनाज बाँटकर उनके प्राणो की रक्षा की। उसका पुत्र मुहणोत नैणसी भी एक कुशल शासक और इतिहासकार था। उसने लाग व वेगार को हटाकर शासनप्रवन्ध मे महत्वपूर्ण सुधार किये। वह जसवतसिंह का दीवान था। उसने प्रसिद्ध 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रथ है।

रतनसिंह भडारी —रतनसिंह भडारी ने अपने स्वामी राठौड राजा अभयसिंह की सच्चाई से सेवा की। १७३० ई० मे मुगल सम्राट् ने अभयसिंह को अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अभयसिंह ने इन दोनो प्रान्तो के शासन की देखभाल का कार्य रतनसिंह भडारी को सौंपा। इस समय मुगलसत्ता पतन अवस्था मे थी। एक तरफ मराठा मुगलसाम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तो मे गवर्नरो के उपद्रव हो रहे थे। रतनसिंह भडारी को मराठो के साथ युद्ध करने पडे और साथ मे गवर्नर के उपद्रव को भी दबाना पडा। रतनसिंह भडारी के समय जदुजी दामदे के नेतृत्व मे मराठो ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने बडी चतुराई से प्रान्त की रक्षा की। उसको दामजी मराठे के साथ भी लडना पडा। वीरमगाम भी उसके समय एक समस्या के रूप मे बना रहा। १७३७ ई० मे मुहम्मदशाह ने अभयसिंह को हटाकर मेमिन खाँ को गुजरात का वाइसराय नियुक्त करने का आदेश दिया। उसने मेमिनखाँ का कडा विरोध किया तथा बडे कौशल से उसमे और मराठो मे मेल नही होने दिया। अन्त मे मेमिनखाँ से उसने समझौता किया। उसे अतुल धनराशि दी और उसने अहमदाबाद से अपना अधिकार त्याग दिया। बीकानेर मे जोरावरसिंह की मृत्यु के बाद १७४५ ई० मे गजसिंह और अमरसिंह मे युद्ध हुआ। रतनसिंह भडारी को अमरसिंह का पक्ष लेने के लिए भेजा गया और युद्ध मे लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[2]

धनराज —जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने १७८७ ई० मे मराठो से अजमेर जीत लिया तो उसने धनराज को अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात मराठो ने फिर से मारवाड पर आक्रमण किया। मेडता और पाटन मे भयानक युद्ध हुआ जिसमे राठौडो की हार हुई। इस समय मराठो के सेनापति डीबोइवे ने अजमेर पर आक्रमण कर घेर लिया। धनराज ने बहादुरी से उनका सामना किया। विजयसिंह ने उसे अजमेर को शत्रुओ को सुपुर्द करने का आदेश दिया। आदेश पाकर वह असमजस मे पड गया। अजमेर को शत्रुओ को समर्पित करना ही वह अपनी मानहानि मानता था तथा साथ मे स्वामी के आदेश का उल्लघन करना भी ठीक नही समझता था। उसने अपने जीवन का अन्त करना उचित समझा। उसके पास हीरे की अगूठी थी। उसको पीसकर वह निगल गया। उसने कहा, 'महाराजा को कहना कि मेरी लाश पर ही मराठा अजमेर मे प्रविष्ट हो सकते हैं' और इस प्रकार उसने अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति का परिचय दिया।



---

१ अनेकात, २, पृ० २४६

२ सम डिस्टिंग्विशड् जैन्स पृ० ६०-६३ और जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६३८-४१।



शमशेरसिंह बहादुर —शमशेरसिंह बहादुर भी महाराजा विजयसिंह के सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्धों मे भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। इस पर प्रसन्न होकर विजयसिंह ने १७९२ ई० मे उसे राव-राजा की उपाधि दी और २९००० की जागीर दी।[1]

इन्द्रराज सिंघी —जयपुर के राजा जगत्सिंह ने धोकलसिंह का पक्ष लेकर विशाल सेना के साथ मारवाड पर आक्रमण कर दिया। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह, पिंडारी अमीर खाँ और अन्य सरदारो ने भी आक्रमणकारी का साथ दिया। उन्होने मारोठ, मेडता, परबतसर, नागौर, पाली, सोजत आदि पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि जोधपुर नगर पर भी इनका अधिकार हो गया। केवल दुर्ग पर महाराजा का अधिकार रहा। ऐसी परिस्थिति मे सिंघी इन्द्रराज दुर्ग के गुप्त मार्ग से अपने साथियो सहित बाहर निकला। मेडता मे आकर उसने नई सेना एकत्रित की। उसने पिंडारियो के नेता अमीर खाँ को एक लाख रुपये की रिश्वत देकर अपने पक्ष मे कर लिया। वह सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण करने को रवाना हुआ। जब जगत्सिंह को पता चला तो उसने राय शिवलाल के नेतृत्व मे जयपुर की रक्षा को सेना भेजी। अमीरखा और सिंघी इन्द्रराज ने इस सेना को टोंक के पास फागी नामक स्थान पर बुरी तरह से हराया। जब जगत्सिंह को इसका समाचार मिला तो उसने घेरा हटा लिया और जयपुर को रवाना हो गया।

सिंघी इन्द्रराज के जोधपुर लौटने पर मानसिंह ने उसका बडा सम्मान किया और उसको मुख्यमंत्री बना दिया। इसके पश्चात् सिंघी इन्द्रराज को बीकानेर पर आक्रमण करने को भेजा गया और बीकानेर महाराजा को चार लाख रुपये सधि करके देने पडे। उसने अपने स्वामी को अमीरखाँ के षड्यत्रो से भी बचाया किन्तु अमीरखा के पठानो ने सिंघी का वध कर दिया। मृत्यु उपरान्त उसकी सेवाओ से प्रभावित होकर महाराजा ने उसके पुत्र फतहराज को दीवानगी तथा २५ हजार की जागीर दी।[2]

बीकानेर के वीर-शासक

नागराज —बीकानेर के जैनशासको मे नागराज का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह जैत्रसिंह का स्वामिभक्त अधिकारी था। जब जोधपुर के राठौर राजा मालदेव ने बीकानेर को विजय करने की सोची तो जैत्रसिंह ने नागराज को शेरशाह के पास सहायता के लिए भेजा। जैत्रसिंह मालदेव के साथ लडता हुआ मारा गया और बीकानेर पर मालदेव का अधिकार हो गया। नागराज ने शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण के लिए उकसाया। युद्ध होने पर मालदेव बुरी तरह से हारा और जैत्रसिंह के पुत्र कल्याणसिंह ने परिस्थिति का लाभ उठाकर फिर से बीकानेर पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्मचन्द्र वच्छावत —कर्मचन्द्र वच्छावत उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ, सेनापति और धार्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। वह रायसिंह का मुख्यमत्री था। जब जोधपुर के राठौड अभयसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने अपने स्वामी को सधि की राय दी क्योकि उस समय राज्य युद्ध के लिए तैयार न था। जब नागौर के मिर्जा इब्राहिम ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने उसको भगा दिया। उसके प्रयत्नो मे बीकानेर राज्य की सीमा बढी।

कर्मचन्द्र वच्छावत ने जैनधर्म के उत्थान मे योगदान दिया। उसने तीर्थयात्रा-सघ निकाले। १५५५ ई० मे बडी धूमधाम से उसने जिनचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश मनाया। १५७८ ई० मे अकाल के अवसर पर लोगो मे मुफ्त अनाज वितरण कर उनके प्राणो की रक्षा की। उसने बहुत-सी मूर्तियाँ मुसलमानो द्वारा नष्ट होने से बचाई और उन्हें बीकानेर के चितामणि के मन्दिर मे सुरक्षित रख दी। उसके प्रभाव के कारण ही अकबर के मन मे जैनधर्म के प्रति

---

१ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ५५

२ वही पृ० ५९-६३

श्रद्धा उत्पन्न हुई और १५९२ ई० मे उसने जिनचन्द्रसूरि को स्तभतीर्थ से लाहौर मे आमन्त्रित किया ।

कर्मचन्द्र दूरदर्शी भी था । जब उसने रायसिह की फिजूल खर्ची के कारण राज्य का खजाना खाली होते देखा तो राजा को समझाने का भी प्रयत्न किया । इसका विपरीत प्रभाव पडा । उसके शत्रुओ ने भी राजा के कान भर दिये । रायसिंह ने कर्मचन्द्र को वन्दी बनाकर वध करने का षड्यत्र किया। किसी भाँति पता चलने पर वह बीकानेर छोडकर देहली चला गया जहाँ सम्राट् अकबर ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया ।[1]

अमरचन्द सुराणा —अमरचन्द सुराणा सूरतसिंह के समय दीवान रहा और उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सामतो के विद्रोह को कुचलना । उसने भट्टियो के सुलतान जब्तखा को हराकर किले पर अधिकार किया । उसने ठाकुर नाहरसिंह और पूर्णसिंह पर आक्रमण कर उनको वदी बनाया। १८१५ मे वह चूरू के राजा शिवसिंह से लडने भेजा गया । शिवसिंह ने आत्महत्या करली और अमरसिंह न चूरू पर अपने स्वामी का आधिपत्य स्थापित कर दिया । महाराजा सूरतसिंह ने उसकी सेवाओ से प्रसन्न होकर उसे विशेप सम्मान दिया । उसके शत्रु इसको सहन न कर सके और उसके विरुद्ध षड्यत्र किया । महाराजा को वहकाया गया कि वह आपके खिलाफ पिंडारियो के नेता अमीरखाँ से मिल गया है ।[2]

उदयपुर के वीर-शासक

आशाशाह और मेहता चीलजी —उदयपुर राज्य मे भी अनेक जैन सैनिक, सेनापति व शासक हुए है । उनमे आशाशाह भी था जो कुंभलमेर का किलेदार था । जब पन्ना धाय उदयसिंह को वनवीर के पजो से छुडाकर आशाशाह के पास रक्षा के लिए आई तो उसने उसको शरण दी । इस बात को गुप्त रखने के लिए वह उदयसिंह को अपना भतीजा पुकारने लगा । जब उदयसिंह बडा हुआ तो उसने कुछ सरदारो की सहायता से उसे राज्य गद्दी पर बिठाया और राज्यवश को नष्ट होने से बचाया ।[3] इस समय एक अन्य राज्य के अधिकारी मेहता चीलजी ने भी स्वामिभक्ति का परिचय दिया । यद्यपि वह वनवीर के अधीन चित्तौड का किलेदार था, उसने दुर्ग की सब गुप्त बातें उदयसिंह को बतला दी जब उसने आक्रमण किया ।[4]

भामाशाह —भामाशाह ने भी स्वामिभक्ति का एक उच्च उदाहरण सामने रखा । जब महाराणा को सम्राट अकबर से लडने के लिए धन की आवश्यकता पडी तो उसने अपनी समस्त सम्पत्ति महाराणा को समर्पित करदी । इसके द्वारा महाराणा बिखरी हुई सेना एकत्रित कर सके और अकबर के साथ फिर से युद्ध चालू कर सके । इस सहायता के परिणाम स्वरूप महाराणा ने चित्तौड, अजमेर व माडलगढ को छोड कर समस्त मेवाड को पुन हस्तगत कर लिया ।[5]

सघवी दयालदास —सघवी दयालदास महाराणा राजसिंह का दीवान था । जब १६७९ मे औरगजेब ने मेवाड पर आक्रमण किया तो उसने अद्भुत शूरवीरता का परिचय दिया । वह धार्मिक प्रकृति का भी था । अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से महाराणा से आदेश निकलवाकर उसने जैन मदिरो व उपाश्रयो के आस पास पशुहिंसा को बन्द करवा दिया । उसने राजसमद के समीप पहाडी पर दुर्ग के आकार के जैन मदिर का निर्माण करवाया ।[6]



---

१ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ १००-१०४ । कर्मचन्द्रवश-प्रबन्ध और कर्मचन्द्रवशोत्कीर्तनकाव्यम् ।
२ सम डिस्टिंगविशड् जैन्स्, पृ० ७१-७४
३ ओसवास जाति का इतिहास, पृ० ७०-७१
४ वही, पृ० ७१-७२
५ उदयपुर राज्य का इतिहास, १३०४-०५ और वीरविनोद, पृ० २५१
६ वही,



मेहता अगरचन्द —अठारहवी सदी मे मेहता अगरचन्द मेवाड के एक सफल राजनीतिज्ञ हुए है। इस समय मेवाड पर मराठो के लगातार आक्रमण हो रहे थे। महाराणा और सरदारो के बीच मनमुटाव था। ऐसी परिस्थिति मे मेहता अगरचन्द को दीवान बनाया गया। सर्वप्रथम मेहताजी ने महाराणा और सरदारो के बीच समझौता करा कर राज्य मे शाति व एकता स्थापित की। जब रत्नसिंह ने सिंधिया और सामन्तो से मिलकर महाराणा के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, तब मेहता अगरचन्द ने ही उनको बचाया। रामपुरा के चूडावतो के शरण देने पर जब ग्वालियर के सिंधिया ने महाराणा पर आक्रमण किया तो मेहताजी के प्रयत्नो से ही महाराणा को पूर्ण सफलता मिली। गवर्नर के रूप मे इन्होने माडलगढ का शासन-प्रबन्ध भी बडे सुचारु रूप से किया। इन्होने तालाब बनवाये और दुर्ग की मरम्मत की।[1]

मेहता देवीचन्द —महाराणा भीमसिंह के समय मेहता देवीचन्द भी कुशल प्रशासक हुए है। कुछ दबाव के कारण महाराणा भीमसिंह माडलगढ का दुर्ग झाला जालिमसिंह को देने को तैयार हो गये थे। देवीसिंह ने महाराणा के आदेश पर ध्यान न देकर अपना अधिकार बनाये रखा क्योकि उसे भय था कि माडलगढ सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है और जालिमसिंह युद्ध की तैयारी कर रहा है। देवीचन्द ने झाला पर आक्रमण कर सीमा पर से उसकी सेना को हटाया। महाराणा इस पर उससे प्रसन्न हुए।[2]

जयपुर के वीर-शासक

जयपुर राज्य के इतिहास मे भी जैनियो का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। करीब पचास जैनियो ने राज्य का कार्य मत्री के रूप मे किया है और राज्य की महान् सेवा की है। इनमे कुछ के नाम अधिक प्रसिद्ध है।

विमलदास —विमलदास महाराजा रामसिंह प्रथम (१६६८-१६९० ई०) और विशनसिंह का दीवान था। वह एक योद्धा भी था और लालसोट की लडाई मे मारा गया था। उसकी यादगार मे एक छत्री भी बनी हुई है।

रामचन्द्र —विमलदास के पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र प्रधानमत्री हुआ और उसने विशनसिंह और उसके उत्तराधिकारी सवाई जयसिंह के अधीन कार्य किया। १७०७ ई० मे मुगलसम्राट् बहादुरशाह ने आंबेर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने सैयद हुसेन को वहा का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने अपने मत्री रामचन्द्र को साथ लेकर मेवाड के महाराणा के यहा शरण ली। तत्पश्चात् रामचन्द्र ने सेना को भली भाति सगठित करके आंबेर पर आक्रमण किया और हुसेन खा को आंबेर छोडने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार से आंबेर को शत्रु के पजो से मुक्त किया और सवाई जयसिंह का आधिपत्य फिर से स्थापित किया। इस पर महाराजा सवाई जयसिंह बडे प्रसन्न हुए। उन्होने इस सेवा के बदले मे उन्हे भूमि दान दी और उनका नाम सिक्को पर 'बन्दे दीवान रामचन्द्र' लिखा जाने लगा। रामचन्द्र न्याय के लिए भी प्रसिद्ध थे, जब जोधपुर और जयपुर के महाराजाओ मे साभर के विभाजन के बारे मे झगडे होने की सभावना थी तो दोनो ने रामचन्द्र को मध्यस्थ नियुक्त किया और उसका निर्णय दोनो को मान्य हुआ।[3]

कृपाराम और विजयराम छाबडा —सवाई जयसिंह के समय अन्य जो स्वामिभक्त सेवक था, वह कृपाराम था। वह देहली मे राजदूत था। सवाई जयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी विजयसिंह ने जयसिंह के विरुद्ध मुगल सम्राट और उसके वजीर कमरुद्दीन को अपने पक्ष मे किया और पाँच करोड रुपये और पाँच हजार घोडे देने का वादा किया। राव

---

१ वही, पृ० १३११ और ओसवाल जाति का इतिहास पृ० ७७-८२

२ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ८७-८८ और उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १३१३-१६

३ वीरवाणी, प्रथम जिल्द, पृ० ६८-८३ और राजपूताने का इतिहास, पृ० ९१५-१६

कृपाराम को इस षड्यंत्र का पता दाऊदखा के द्वारा चल गया और उसने अपने स्वामी को सचेत कर कर दिया। इस पर वह कृपाराम से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको मनोहरपुर का ग्राम दिया।[1] विजयराम छाबडा भी सवाई जयसिंह का मंत्री रहा है। सवाई जयसिंह की बहन मुगलसम्राट बहादुरशाह से ब्याही जा रही थी। विजयसिंह छाबडा के प्रयत्नो से उसका विवाह बूंदी के राजा बुधसिंह हाडा से हुआ। बाद मे उसने मुगलसम्राट बहादुरशाह और सवाई जयसिंह मे समझौता भी करवा दिया।

हरिसिंह—हरिसिंह एक कुशल प्रशासक था। सवाई जयसिंह को मुगलो से शेखावाटी इजारे के रूप मे मिली थी। इस कारण १७२६ व १७२७ मे उसने कर एकत्रित करने को हरिसिंह को नियुक्त किया। इस क्षेत्र पर क्यामखानी नवाबो का अधिकार चला आ रहा था। उन्होने कर देने से मना कर दिया और चारो ओर उपद्रव होने लगे। हरिसिंह ने सेना की सहायता से उपद्रवो को दबा दिया और शेखावाटी मे जयसिंह की सत्ता की स्थापना की।

रामचन्द्र—रामचन्द्र भी एक चतुर राजनीतिज्ञ था। कृष्णकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर व जोधपुर के राजाओ मे झगडा होने की संभावना थी किंतु रामचन्द्र के प्रयत्नो से वह टला। जब जोधपुर के राठौडो और अमीरखा ने जयपुर पर आक्रमण करने का संकल्प किया, तो रामचन्द्र की समझदारी से ही स्वामी और नगर की रक्षा हो सकी।

शिवाजीलाल—शिवाजीलाल भी एक योग्य राज्य अधिकारी था। महाराजा प्रतापसिंह के समय मे कर-व्यवस्था ठीक ढग से नही थी और उसमे अनेक अनियमिततायें थी। शिवाजीलाल ने व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध स्थापित कर उनको दूर किया और आय के बहुत से साधन जुटाये। उसने नमक का प्रबन्ध भी ठीक ढग से किया। महाराजा ने उसको राठौडो और पिंडारियो से युद्धो मे लडने को भी भेजा और उसने अपनी शूरवीरता दिखलाई। इसके बदले मे महाराजा ने उसे खिताब दिये।

झूंताराम संघी[2]—उन्नीसवी सदी मे संघी झूंताराम[3] भी एक प्रसिद्ध मंत्री हो गया है। जयपुर दरबार मे उसका इतना प्रभाव था कि कर्नल टाड ने उसको झूंता दरबार और बनियाराज कहा है। कर्नल टाड के विचार पक्षपात पूर्ण हैं। झूंताराम के प्रभाव के कारण जयपुर ने ब्रिटिश समझौते को स्वीकार नही किया क्योकि वह भविष्य के परिणाम को जानता था। अत मे ब्रिटिश शासन ने सामोद के ठाकुर बैरीसाल को अपने पक्ष मे फोड लिया। बैरीसाल और झूंताराम मे आपसी शत्रुता चली आ रही थी। बाद मे अंगरेजो और बैरीसाल ने षड्यंत्रो के द्वारा इस का पतन किया।



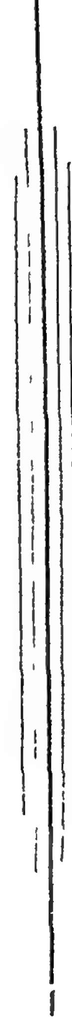
१ एनल्स एण्ड ए टिक्विटीज आफ राजस्थान, पृ० ५६२

२ रिपोर्ट आन पचापन सिवाना, पृ०६-१०। ए रिपोर्ट ओन दी लैंड टेन्योर्ज एण्ड स्पेशल पावर्स आफ सर्टन् ठिकानेदारास् आफ दी जयपुर स्टेट, पृ० ४५-४६

३ जयपुर स्टेट ट्रायल्स



तृतीय खण्ड



संस्कृति • कला • इतिहास



श्रमण-संस्कृति तथा जैनधर्म

डॉ० देवेन्द्रकुमार

शास्त्री, एम ए, पी-एच डी

भारतवर्ष की प्राचीनतम सम्कृतियो मे श्रमण-सम्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देशो और कालो मे यह विशिष्ट नामो मे व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते है किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम-साहित्य तथा अन्य देशो के साहित्य एव परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत सस्कृति का प्रसार भलीभाँति इस देश मे व्याप्त था। वेदो मे हमे जिस यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते है वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेद-काल मे और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण सस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्वविरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत सस्कृति के प्रसारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमो से बनी है। प्रकृति के नियमो को भलीभाँति ज्ञात कर मनुष्य भी नये ससार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सब से बडी शक्ति है। वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यो ने सरस्वती और सिन्धु के सगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान-भवन मे बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था[1]। आर्हत लोग कर्म मे विश्वास रखते थे और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप मे क्षत्रिय थे। राजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियो मे विशेष रुचि रखते थे और समय पडने पर वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। वे "अर्हत्" के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिव-पुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो से होती है। इनमे जैनधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।[2] यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, जैनागम तथा पुराण-साहित्य मे यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए "आर्हत" शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थो मे तथा अशोक के शिलालेखो मे "निग्गठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनो का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी परिग्रह से रहित श्रमण अथवा साधु। इण्डो-ग्रीक और इण्डो-सीथियन के समय मे यह धर्म "श्रमण-धर्म" के नाम से प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिको का उल्लेख किया है[3]। पिछले दो दशको मे जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता

---

१ देखिए, देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८।

२ श्रीमद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण १७-१८ अ०, स्कन्दपुराण—३६-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५।

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अर्रयन, पृ० ९७-९८।

चलता है कि वेदो के युग मे और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश मे प्रचलित था । वैदिक काल मे यह "आर्हत" धर्म के नाम से प्रसिद्ध था । आर्हत लोग "अर्हत्" के उपासक थे । वे वेद और ब्राह्मणो को नही मानते थे । वेद और ब्राह्मणो को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "वार्हत कहे जाते थे । वार्हत 'वृहती" के भक्त थे । वृहती वेद को कहते थे । वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे । वेदो मे कई स्थानो पर आर्हत और वार्हत लोगो का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एव श्रेष्ठ कहा गया है ।[1] शतपथब्राह्मण मे अर्हन् को आह्वान किया गया है और कई स्थानो पर उन्हे श्रेष्ठ कहा गया है ।[2] यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दो का वैदिक साहित्य मे कई स्थानो पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य मे वे भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुए हैं । कही उनका अर्थ बैल या सांड है तो कही मेघ और अग्नि तथा कही विश्वामित्र के पुत्र और कही बलदायक एव कही शिवक्नो के राजा भी हैं । अधिकतर स्थलो में "वृषभ" को कामनापूरक एव कामनाओ की वर्षा करने वाला कहा गया है । सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओ की वर्षा करने वाला तथा "अर्हन्" का अर्थ योग्य है । किन्तु ऋग्वेद मे दो स्थलो पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप मे वर्णित है । ऋग्वेद में वृषभ को कही-कही रुद्र के तुल्य और कही-कही अग्नि के सन्दर्भ मे वर्णित किया गया है ।[3] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानिरहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और श्रौतो का पिता कहा गया है । किन्तु शतपथब्राह्मण मे अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात अहिंसा के प्रवर्तक है । अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य मे प्रशस्त कहा गया है । वृष को धर्मरूप ही माना गया है । जैनागमो मे ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं । अन्य देश-विदेशो की मान्यताओ एव उनकी आचार-विचार पद्धति से इसकी पुष्टि होती है । कही यह वृषभ "धर्मध्वज" के रूप मे, कही कृषि-देवता के रूप मे और कही "वृषभध्वज" के रूप मे पूजे जाते है । कही यह आदिनाथ हैं तो कही आदि धर्मप्रवर्तक और कही परमपुरुष के रूप मे वर्णित हैं । बृहस्पति की भाँति अरिष्टनेमि की भी सस्तुति की गई है ।[4]

वैदिक युग मे पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे । पणि भारतवर्ष के आदिम व्यापारी थे । वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे । धन मे ही नही ज्ञान मे भी बढे-चढे थे । इसलिए यज्ञपरायण सस्कृति को नही मानते थे । वे ब्राह्मणो को हवि, दक्षिणा-दान नही देते थे । देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथो में था । वे कारवा बना कर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे । बाद मे चीन तथा अन्य देशो से भी पणि लोगो ने व्यापारिक सबध स्थापित कर लिये थे । पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूप मे जाने जाते है ।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे । इन्हे अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है । ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नही मानते थे । किन्ही विद्वानो के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे—यह ठीक प्रतीत नही होता । क्योकि पचविंशब्राह्मण मे (१७-१ मे) व्रात्यो के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुत व्रात्य लोग व्रतो को मानते थे । अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे । उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे[5] । अथर्ववेद मे "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है । व्रात्यकाण्ड मे पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है[6] । इससे भी व्रतो की पूजा करने वालो की पुष्टि होती है । अथर्ववेद में व्रात्य की भाँति "महावृष" भी एक जाति कही

---

१ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,६६ ७ ।
तथा—१०।८५।४, ऐआ० ५।२।२, शा १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१० ।

२ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तैआ० ४।५।७, ५।४।१० आदि ।

३ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१ ।

४ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। —ऋग्वेद १।८९।६

५ मैक्डानल और कीथ वैदिक इण्डैक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३ ।

६ सूर्यकान्त वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३ ।

गई है[1]। महावृप लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो, इसमे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल मे ब्राह्मण-विरोधी जातियाँ भी थी जो प्राकृतिक नियमो से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थी। वस्तुत यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग मे ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यो का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यो को देवद्रोही कहा जाता था। ये ससार की रचना प्राकृतिक नियमो से मानते थे[2]। परन्तु प्रत्येक युग-युग मे समय-समय पर सघर्ष हुए। और उस सघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना मे परिलक्षित हुआ।[3] ज्यो-ज्यो युग पलटते गये त्यो-त्यो यह अन्तर अधिक बढता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एव धार्मिक विचार-क्रान्तियो का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परपरा विभिन्न केन्द्रो मे विकासशील रही है। और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणो से इसके विविध रूप कहे जा सकते है। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनो ही एक परम्परा के दो प्रारभिक मुख्य केन्द्र-विन्दु है जिनके चिह्न आज भी परिलक्षित होते है।

भारतीय धर्म और सस्कृति के इतिहास मे आर्हत धर्म एव श्रमण-सस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियो से प्रचलित इस धर्म और सस्कृति ने देश-विदेशो के हार्द को प्रभावित किया है जिसके चिह्न आज भी विविध रूपो में लक्षित होते हैं। सहस्रो वर्षों से भारत और वेबीलोन, ईरान, एजटिक, अफ्रीका आदि देशो से व्यावसायिक और सास्कृतिक सबध बने हुए है। इन देशो मे धर्म और सस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय मे दो प्रकार के दार्शनिको का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।[4] उस युग मे श्रमणो को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तो की तुलना मे अन्धविश्वासी हिन्दू लोगो का धर्म और सस्थान आधुनिक है[5]। मेगस्थनीज ने श्रमणो के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया है उसमे कहा गया है कि वे वन मे रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनो से अलग थे। राजा लोग उनकी बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी स्तुति एव पूजा करते थे[6]। रामायण में उल्लिखित श्रमणो से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणो को दिगम्बर कहा है[7]। सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो प्रकार के साधु रहते हो और वस्त्र के रूप मे वल्कल परिधानो को धारण करते हो जैसा कि मेगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण-साहित्य मे भी श्रमणो का उल्लेख मिलता है[8]। किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान् मौन हैं।

रामायण की टीका मे जिन वातवसन मुनियो का उल्लेख किया है वे ऋग्वेद मे वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते है। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[9] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[10] वातरशन

१ अथर्ववेद ५-२२, ४-५, ८।
२ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, पृ० ९७-९८।
३ वही, पृ० ९९।
४ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९२६, पृ० ९७-९८।
५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिया आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।
६ वही, पृ० १०१-१०२।
७ "नाथवन्त दासा शूद्रादय इति यावत् श्रमणा दिगम्बरा" श्रमणा वातवसना इति निघण्टु। यद्वा "चतुर्थमाश्रम प्राप्ता श्रमणा नाम ते स्मृता" इति स्मृति"।—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।
८ श० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१।
९ "वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनय अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय पिशगा पिशगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासासि वसते आच्छादयन्ति।"—सायण भाष्य, १०।१३६।२।
१० वही, १०।१३५।७।





मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप मे वे सवसे बडे माने जाते थे। वाहुबली ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह गई थी। ब्राह्मण साहित्य मे मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक मे इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलो पर इनकी स्तुति की गई है[1]। इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल मे प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये है जो आगे चल कर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है। और महावीर को श्रमण कहते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महाश्रमण" कहने लगे[2]। परन्तु जैन परम्परा मे "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप मे आज तक सुरक्षित है[3]। वस्तुत ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणो की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित है। श्री मद्‌भागवत मे मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणो के धर्मप्रवर्तक कहे गये है[4] और उन्हे "योगेश्वर" कहा गया है[5]। इसी प्रकार अन्य पुराणो मे भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कही-कही जैनधर्म कहा गया है। पद्म-पुराण, विष्णुपुराण, स्कन्द और शिव पुराणो से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणो मे जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सबध मे कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्यपुराण मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदो का नही मानता[6]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग मे वेदो की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेदविरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप मे उनका स्मरण एव उल्लेख किया जाता रहा। क्योकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये है। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पडता है। सक्षेप मे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थो तथा अशोक के शिलालेखो मे यह "निग्गठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो ग्रीक तथा इण्डो-सीथियन के युग मे "श्रमण" धर्म के नाम से देश-विदेशो मे प्रचलित रहा। पुराण-काल मे यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रो मे इसके जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते है। देश के विभिन्न प्रान्तो मे समय-समय पर यह भिन्न नामो से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण मे भक्ति-आन्दोलन जोर पकड रहा था उस समय वहाँ पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पजाब मे यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा[7]। तथा "सरा-वग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान मे प्रचलित है। गुजरात मे और दक्षिण मे यह अलग-अलग नामो से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

जैन पुरातत्व से भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते है जो इस धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते है। यद्यपि मोहन-जोदडो और हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त मूर्तियो के सबध मे अभी तक निश्चय रूप से नही कहा जा सका

---

१ तैआ० १।२१।३,२३।२,२४।४,३१।२७,१।

२ सम्बुद्ध करुणाकूर्च सर्वदर्शी महाबल।
विश्वबोधो धर्मकाय सगुप्तोऽर्हन्सुनिश्चित ॥
व्यायामो द्वादशाख्यश्च वीतराग सुभाषित।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमण कलिशासन ॥ त्रिकाण्डशेष, १,१०-११।

३ मुमुक्षु श्रमणो यति।—अभिधानचिन्तामणि, १,७५।

४ "नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार।"—श्रीमद्‌भागवत, ५।३।२०

५ "भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभ नामाभ्यवर्षत्।" वही, ५।४।३

६ गत्वाऽथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्य स वेदवित् ॥ मत्स्यपुराण, २४।४७

७ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२।

है कि वे जिन है या शिव, किन्तु कालीवगा के उत्खनन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत मे रहा है। उपलब्ध जैनमूर्तियाँ ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती हैं। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना सग्रहालय मे सुरक्षित हैं[1]। इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन शिलालिपि मे वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन सवत्सूचक लेख मिलता है। मथुरा के जैनलेख तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिनके आधार पर डा० हर्मन जेकोबी ने जैनागमो की प्राचीनता सिद्ध की है[2]। ससार की प्राचीन लिपि एव कला की भाँति श्रमण सस्कृति एव कला मे सूक्ष्म भावो का अकन करने के लिये प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही है। मूर्तिनिर्माण मे, चैत्य या मन्दिरो की रचना मे, सिद्ध-यन्त्रो तथा चित्रो की कला मे यह प्रतीक शैली अत्यन्त रहस्यमय रूप से अभिव्यक्त हुई है। यही नही, जैन साहित्य मे भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाँति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप से मिल सकते है। शिलालेखो से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर अब तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योकि प्रभास-पट्टन का एक प्राचीन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालकार ने किया है। उससे बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर प्रथम का समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४-५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस आय को, जो उसे नाविको से कर-द्वारा प्राप्त होती थी वह जूनागढ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी[3]। इसी प्रकार अन्य बौद्धयात्रियो के उल्लेखो से भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पडता है। यूनान और मिश्र के दार्शनिको ने भी श्रमण सन्तो का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते है—अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व एव पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त है। "अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततो जय"। श्रमणसस्कृति का यह प्राणतत्व है। इसमे व्यक्ति और समाज की सजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुत मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीरुता, शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मोह की अनासक्ति और सच्चरित्र एव शील की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देती है। जिससे करुणा तथा दया का सचार होता है। और जो समाजकल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमे कायर और डरपोक नही बनाती। वह हमे मोह और क्षुद्र स्वार्थों को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमे क्षात्रधर्म का दर्प एव तेज है। जैनो ने व्यवहार मे ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एव राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वश मे उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन मे उन्होने कई युद्ध किये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गग और राष्ट्रकूटवश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराए अपना मतावलम्बी मानती है। जो भी हो। इससे स्पष्ट है कि ज्ञात-अज्ञात न जाने कितने सम्राट् और राजा हुए जिन्होने युद्ध और अहिंसा का सफलता से सचालन किया था।



जैन-शास्त्रो मे हिंसा के सकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी ये चार भेद किए गए है। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इसका मूल है—प्रमादपूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना।[4] और यही आगे चलकर द्रव्य रूप और भाव रूप भेदो से

१ मुनि कान्तिसागर श्रमण सस्कृति और कला, १९५२, पृ० २४।

२ वही, पृ० ८०।

३ देखिए, "अनेकान्त" वर्ष ११, किरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेट का "मोहनजोदडो-कालीन और आधुनिक जैन-सस्कृति" शीर्षक लेख, पृ० ४८।

४ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा।—तत्त्वार्थसूत्र, ७।८।

हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियो मे विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव पक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नही, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय मे वह हिंसा है। और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणो का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त से बन्ध नही होता।[1] वस्तुत अच्छे और बुरे भावो पर जीवन की नीव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन मे अन्न और जल की भाँति पोषक तत्त्व है जिनसे धर्म की सरचना होती है, धम का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों मे महत्त्व वर्णित है। भारतीय सस्कृति तो मूलत अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण मे अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियो को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है[2]। वस्तुत अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-सस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एव निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपो को अहिंसा की व्यापक व्याख्या मे समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न सप्रदायो एव धर्मों का इतिहास देखे तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी न किसी रूप मे सभी हिंसा का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप मे सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण मे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है— कह कर अपने को बचाते रहे। किंतु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप मे हिंसा को मान्य नही स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरो का सागोपाग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एव आचारप्रधान देखी जाती है। यथार्थ मे यह तप, त्याग एव आचारप्रधान सस्कृति है जो अनेक आघातो को सह कर भी आज ज्यो की त्यो स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्ध रूप मे आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मो के कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एव मैली होने से ससार के परावर्तनो मे भटक रही है। यद्यपि इसमे अनत शक्ति और गुण विद्यमान है और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वय मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल मे उलझी होने से मुक्त होने मे समर्थ नही हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नही है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहा आए, बल्कि आत्मा मे वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमे यह शक्ति विद्यमान नही है तो ससार की कोई ऐसी शक्ति नही है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमे स्वय शक्ति का वह प्रकाश है। तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप मे जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभावरूप नही हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नही होता। इसलिये कर्म-बन्धनो को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जडत्व को सर्वथा छोडकर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भाति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त है। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतत्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावो की सृष्टि करता है। यह अपनी

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयडस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

२ धर्मे रता सत्पुरुषै समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय प्रधाना ॥ वाल्मीकि-रामायण, १०९।३६

तथा—अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
एतत् सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥
यन्नूनमश्या गति मित्रस्य याया पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

क्रियाओ से जीव को ससक्त करके रखता है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों मे जो परिस्पन्दन होता है उसमे कार्मण वर्गणाओ का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मो के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार वीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नही होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म ससार का वीज है और उसका आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नही होता। कर्म से ही आत्मा मे विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिनशासन मे ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य वतलाया है। तीर्थंकर महावीर ने भी अहिंसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को सयम कहा है। सयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक वल देती है और सशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भाति कर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्म स्कन्ध रूप (परमाणुसमूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नही होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणो के समान सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद मे ईश्वर का कोई स्थान नही है। कर्म ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि ससार के कार्य किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नही होता, जो विभिन्न विषमताओ के जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति मे उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्सृष्ट होते है। ससार की विभिन्न विषमताओ का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओ का मूल है। कर्म जन्म-जन्मान्तरो के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओ की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म मे कर्मों के विभिन्न भेदो तथा विविध अवस्थाओ का गणित के आधार पर विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय मे जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली मे 'निर्जरा' कहते हैं[1]। और जहा न इन्द्रिया है, न उपसर्ग (मिलने वाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही है वहा निर्वाण होता है[2]। वास्तव मे निर्वाण वही स्थिति है जिसमे सुख-दुख की अनुभूति नही होती, केवल अतीन्द्रिय निरावाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनो का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमे विभिन्न दृष्टिकोणो से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुत जड और चेतन सभी मे अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक-साथ कथन नही किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय मे किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली मे "कथचित्"—अपेक्षा से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादो के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपो मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओ के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्ही दृष्टिकोणो (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमो मे सात दृष्टिकोणो को सात भगिमाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणो को समझे विना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते है उन्हें यह सशयवाद जान पडता है। यथार्थ मे स्याद्वाद सशयवाद न होकर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमे विभिन्न धर्मों की दृष्टि को कथचित् रूप मे, किसी अपेक्षा से व्यवहार मे या निश्चय मे सत्य स्वीकार किया गया है। स्वय तीर्थंकर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को ...नते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रो का त्याग किया, मनुष्य की वास्तविक अवस्था ...व मे समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी



...सपुग्गल जेण।
...ज्जरा दुविहा ॥ द्रव्यसग्रह, ३६
...ो ण णिद्दा य।
...होइ णिव्वाण ॥—नियमसार, १८०

हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियो मे विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव पक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नही, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है। और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणो का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त से बन्ध नही होता।[1] वस्तुत अच्छे और बुरे भावो पर जीवन की नीव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन मे अन्न और जल की भाँति पोषक तत्त्व हैं जिनसे धर्म की सरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों मे महत्त्व वर्णित है। भारतीय सस्कृति तो मूलत अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण मे अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियो को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है[2]। वस्तुत अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-सस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एव निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपो को अहिंसा की व्यापक व्याख्या मे समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न सप्रदायो एव धर्मों का इतिहास देखे तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी न किसी रूप मे सभी हिंसा का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप मे सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण मे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है— कह कर अपने को बचाते रहे। किंतु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप मे हिंसा को मान्य नही स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरो का सागोपाग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एव आचारप्रधान देखी जाती है। यथार्थ मे यह तप, त्याग एव आचारप्रधान सस्कृति है जो अनेक आघातो को सह कर भी आज ज्यो की त्यो स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्धरूप मे आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मो के कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एव मैली होने से ससार के परावर्तनो मे भटक रही है। यद्यपि इसमे अनत शक्ति और गुण विद्यमान है और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वय मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल मे उलझी होने से मुक्त होने मे समर्थ नही हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नही है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहां आए, बल्कि आत्मा मे वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमे यह शक्ति विद्यमान नही है तो ससार की कोई ऐसी शक्ति नही है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमे स्वय शक्ति का वह प्रकाश है। तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप मे जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभावरूप नही हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नही होता। इसलिये कर्म-बन्धनो को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जडत्व को सर्वथा छोडकर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भाति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त है। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतत्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावो की सृष्टि करता है। यह अपनी

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयडस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

२ धर्मे रता सत्पुरुषै समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय प्रधाना ॥ वाल्मीकि-रामायण, १०९।३६

तथा—अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
एतत् सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥
यन्नूनमश्या गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

क्रियाओ से जीव को ससक्त करके रखता है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशो मे जो परिस्पन्दन होता है उसमे कार्मण वर्गणाओ का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मो के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते है। कर्म अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नही होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म ससार का बीज है और उसका आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नही होता। कर्म से ही आत्मा मे विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिनशासन मे ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य बतलाया है। तीर्थंकर महावीर ने भी अहिसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को सयम कहा है। सयम एक आन्तरिक भावना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और सशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भाति कर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्म स्कन्ध रूप (परमाणुसमूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नही होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणो के समान सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद मे ईश्वर का कोई स्थान नही है। कर्म ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि ससार के कार्य किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नही होता, जो विभिन्न विषमताओ के जनक है और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्सृष्ट होते हैं। ससार की विभिन्न विषमताओ का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओ का मूल है। कर्म जन्म-जन्मान्तरो के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओ की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म मे कर्मों के विभिन्न भेदो तथा विविध अवस्थाओ का गणित के आधार पर विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय मे जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली मे 'निर्जरा' कहते हैं[1]। और जहा न इन्द्रिया हैं, न उपसर्ग (मिलने वाला कष्ट) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही है वहा निर्वाण होता है[2]। वास्तव मे निर्वाण वही स्थिति है जिसमे सुख-दुःख की अनुभूति नही होती, केवल अतीन्द्रिय निराबाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनो का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमे विभिन्न दृष्टिकोणो से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुत जड और चेतन सभी मे अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक-साथ कथन नही किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय मे किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली मे "कथचित्"—अपेक्षा से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादो के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपो मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओ के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्ही दृष्टिकोणो (नयो) की अपेक्षा रखता है। जैनागमो मे सात दृष्टिकोणो को सात भगिमाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणो को समझे बिना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते है उन्हें यह सशयवाद जान पडता है। यथार्थ मे स्याद्वाद सशयवाद न होकर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमे विभिन्न धर्मो की दृष्टि को कथचित् रूप मे, किसी अपेक्षा मे व्यवहार मे या निश्चय में सत्य स्वीकार किया गया है। स्वय तीर्थंकर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को सत्य के रूप मे ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रो का त्याग किया, मनुष्य की वास्तविक अवस्था प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सब मे समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी



---

१ जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडण चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ द्रव्यसग्रह, ३६

२ णवि इदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाण ॥—नियमसार, १८०

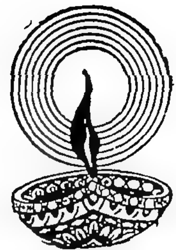
वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्रविन्दुओ पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी । क्योकि सत्य अखण्ड होता है । शब्दो के सीमित घेरे मे उसके अनन्त गुणो की व्याख्या सभव नही है । किन्तु उसके केन्द्र मे व्याप्त मुख्य बिन्दुओ को अलग अलग तथा समाहार रूप मे समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है । जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवो का एव उसके रूपो का ज्ञान नही होता तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है । इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारो से जोडती है और जिसमे बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियो को एक केन्द्र मे स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है । सच यह कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है । और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के विना सभव नही जान पडता । विभिन्न नयो एव दृष्टिकोणो से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ मे आती है । आचार्य समन्तभद्र ने 'आत्म-मीमासा मे' यहा तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते है और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं । जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्तवाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है ।

तीर्थंकर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नही था । यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग मे विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे । ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यो का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और सशयवाद इन दस सिद्धान्तो पर आधारित था[1] । सदसद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् मे किसी ने सत् और किसी ने असत् पक्ष को ग्रहण कर विविध वादो को जन्म दिया । किन्तु जिनमत उन सभी वादो का विचार अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्त की व्यावहारिक एव पारमार्थिक कसौटी पर करता है । समन्वय की यह पद्धति सैद्धान्तिक रूप मे विश्व के किसी भी धर्म एव दर्शन मे अभिलक्षित नही होती । वस्तुत यह सिद्धान्त प्राग्वैदिक युग से आज तक अप्रतिहत रूप मे अवस्थित है । यद्यपि पिछली कई शताब्दियो मे इसका डट कर विरोध किया गया पर इस वैज्ञानिक युग मे आकर यह फिर से सुस्थिर हो गया है । यथार्थ मे समय, काल, गति और परिमाण आदि के लिए सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है । वस्तु के विविध रूपो, गुणो तथा कार्यों को समझने के लिए किसी एक को मुख्य तथा गौण रूप मे देखना ही पडता है । फिर, वस्तु की सभी कोटियो का एक-साथ निर्वचन हो नही सकता । इस प्रकार श्रमण-सस्कृति के साथ इस देश मे जिस धर्म और दर्शन का शत सहस्राब्दियो से प्रचलन होता आ रहा है वह जिनधर्म या जैनधर्म है । और हजारो ही नही लाखो तथा करोडो वर्षों के जीवन मे कदाचित् ही किसी युग मे इस सनातन आचार-विचार पद्धति मे यत्किंचित् अन्तर आया हो । इसी से इसकी गौरव-गरिमा स्वयमेव सिद्ध है और भविष्य मे भी इसके उज्ज्वल रूप मे कुछ अन्तर नही आ सकेगा ।

●

१ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, १९६०, पृ० ९८ ।

जैन-संस्कृति-सरोज की पाँच पंखुड़ियाँ



पारसमल 'प्रसून'

एम ए, साहित्यरत्न

यदि अमेरिका को अपने धन-वैभव पर गर्व है, रूस को अपनी वैज्ञानिक शक्ति पर नाज है, इगलैंड को अपनी जल-शक्ति पर घमड है और फ्रास को अपनी विलासिता, चमक-दमक पर अभिमान है तो कहना न होगा कि उससे भी ज्यादा गव है भारत को अपनी आध्यात्मिकता पर, नैतिकता पर।

पुण्यभूमि भव्य भारत धर्मभूमि है। यहाँ के पुनीत वातावरण मे हमेशा 'भोग से त्याग की ओर', 'प्रेय से श्रेय की ओर' और 'राग से विराग की ओर' के निनाद गुजायमान रहे हैं। यहाँ जीवन का सार खान-पान और गान-तान नही रहा है। यहाँ का उद्देश्य है त्याग, तप और कष्टसहिष्णुता। यहा त्याग का महत्त्व सर्वोच्च प्रतिपादित किया गया है। महाधिपति, चक्रवर्ती सम्राटो के गर्वित शिर नत हुए है त्यागी के चरण-कमलो मे। पराक्रमी अर्जुन, बलधारी भीम से ज्यादा गुण-गौरव-गाथा सुअकित है धर्मधारी युधिष्ठिर की। हमने आत्मा का महत्त्व हमेशा शरीर से ऊँचा समझा। शरीरपोषण आत्मशोषण है। आत्म-तेज के समक्ष कोई तेज नही। इस आत्मिक शक्ति, त्याग-विभूति, आध्यात्मिक उत्क्राति, नैतिक जागृति के सर्वोच्च, अमल, विमल, अनिद्य स्वरूप का अगर हमे दर्शन करना है तो आइये, हम जैन-सस्कृति का स्वरूप समझें।

जैन-सस्कृति अर्थात् श्रमण-सस्कृति विश्व मे अजेय और अनन्य है। इसकी अनुपम वरीयता किसे अमान्य होगी ? पूर्ण विकासप्राप्त जैन-सस्कृति-सरोज की सुवास इतस्तत सर्वत्र सुवासित है। उसी सरोज की पाँच पखुडियाँ प्रस्फुटित है यहाँ।

प्रथम पखुडी—अहिंसा

"वैर किसी के लिये नहीं है, प्रीति सभी के लिये समान।"

प्रेम-शुद्ध निश्छल, सात्त्विक प्रेम का पुनीत झरना बहाया है जैन-सस्कृति ने। अहिंसा का जितना गहन, विराट् व विस्मयकारी आह्लादपूर्ण स्वरूप जैन-सस्कृति ने दिया, वह अद्भुत ही है। यहाँ अहिंसा एकागी या सकुचित न हो अपने सपूर्ण रूपो मे निखरी है। हिंसा का अर्थ मात्र शारीरिक हिंसा ही नही है, प्रत्युत मन-वचन से पीडा पहुँचाना भी हिंसा है। अहिंसा की नव कोटियाँ हैं। और प्राणी की परिभाषा मनुष्य या पशु-पक्षी तक ही अटक कर भटक नही गई है। उसकी विस्तृत परिधि मे आते है एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक समग्र चराचर जीव। कीडी से कुजर ही क्या, पर पृथ्वी-काय से लेकर वनस्पति-काय तक के ककर से फूल तक के जीव—सभी को अभय-दान दिया गया है भगवती अहिंसा के द्वारा, क्योकि—

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।"

प्राण किसे अप्रिय है ? जीवन सबको इष्ट है। विकलेन्द्रिय व अज्ञानी भी सुखेच्छुक है। अत जैन-सस्कृति का यह महान् उद्घोष है, **"आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।"** जा हमे अप्रिय है, अरुचिकर है, उसका आचरण अन्य के प्रति मत करो। कितना पावन व मनभावन सदेश है ! जिसकी प्रतिध्वनि अगर भारत मे **"अहिंसा परमो**



धर्म " के स्वरो मे गूंजी तो पश्चिम से आवाज आई—"**जीओ और जीने दो**।"

जैन-सस्कृति के इस अहिंसा-सुधाकर की एक कला को ही अगीकृत कर विश्ववद्य बापू ने महान् शक्तिशाली अग्रेजी साम्राज्य से सफल टक्कर ले इतिहास के पृष्ठो में एक नई महत्त्वपूर्ण, शानदार कहानी अकित की ।

लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के अमर सेनानी की यह उक्ति क्या कम उल्लेखनीय होगी—"जैन धर्म ने अहिंसा का सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत किया" ।

जैन-सस्कृति की इस उच्च अहिंसा के ये कुछ चित्र कितने भव्य होगे ।

भगवान् **नेमिनाथ** २२वें तीर्थकर निर्दोष, निरीह, मूक पशुओ के करुण चीत्कार से द्रवित हो तोरण से मुह मोड गये । शृङ्गार क्षेत्र से विमुख हो धर्म-जगत् मे प्रवेश करना युवक नेमिनाथ के जीवन की एक कितनी महान् क्रान्तिकारी घटना है ।

२३वें तीर्थंकर भगवान् **पार्श्वनाथ** ने तो बाल-वय मे कमठ को प्रेम से समझाया कि इस तपस्या मे क्या है ? देखो, काष्ठ मे सर्प-सर्पिणी जल रहे हैं । उन्होने जलता नाग बचाया ।

और चरम तीर्थंकर **महावीर** ने अहिंसा के बल से विष को अमृत मे बदल दिया था । चडकौशिक की कथा अहिंसा के चमत्कार की बोलती गाथा है ।

मुनि **मेतार्य** ने मुर्गे की रक्षा मे अपनी जान की बलि दे दी । कितने शुभ रूप हैं ये अहिंसा के ! पर जैनधर्म की अहिंसा कायरो का शस्त्र नही, प्रत्युत वीरो का भूषण रही है । डरपोक होकर अन्याय व अत्याचार सहन करना हिंसा ही है । शान्ति का बिगुल बजाते भी यदि जबरदस्ती हम पर युद्ध थोपा जाय तो उसका डटकर मुकाबला किया गया है । चेडा-कोणिक का युद्ध, वरुण नाग नटुआ का युद्ध-जौहर आज भी जैनागमो के पृष्ठो पर चमक रहे है ।

"**सर्वे भवन्तु सुखिन** " की मगल-भावना को अपने मे सजोये विश्वशान्तिदायिनी यह अहिंसा जैनधर्म की एक वह अमूल्य देन है जो आज के युद्ध-जर्जर, भयाक्रान्त, विक्षुब्ध विश्व मे शान्ति व आनन्द सरसा सकती है ।

(२) दूसरी पखुडी—मानव का अनन्य महत्त्व

"विहग सुन्दर, सुमन सुन्दर, पर मानव तुम हो सुन्दरतम ।"

जैन-सस्कृति मानव के अनन्य महत्त्व को प्रदर्शित करती है । मनुष्य इस विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति है । वह अनत शक्ति का पुज है । अतुलित आनद का स्रोत है । चराचर जगत् का सम्राट् है । उसकी मुट्ठी मे हीरा है, पर उसे भान नही, अत वह अपने को कगाल माने बैठा है । अनत ज्ञान का सूर्य कर्म-बादलो से आच्छादित है । नर-नाहर का बच्चा भटक कर झुण्ड मे चला गया है । मानव बेभान हो प्रकृति, देवशक्ति, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि के चक्र मे उलझ जाता है ।

जैन-सस्कृति ने समझाया —

अरे मानव ! तू सर्वशक्तिमान् है । तेरी आत्मा अपने सत्कृत्यो से आश्रव को रोक, सवर व निर्जरा की साधना कर, मोक्ष-पद को प्राप्त कर, जीव से शिव, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बनने मे सर्वथा सक्षम है ।" मानव की इस महान् शक्ति की स्थापना जैन-सस्कृति की एक नितात क्रान्तिकारी देन है ।

पर मानव का महत्त्व अपने सदाचार से है । लिंग, वय, जाति या जन्म से नही । साधना के क्षेत्र में हर आत्मा समान है । मानव की महत्ता का मापदण्ड जाति-कुल नही, पर सद्धर्म है । जातिवाद तो एक ढकोसला है । ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य आदि वर्ण या जाति से नही होता है । वर्ण-भेद जन्म से नही होता । जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है वह वैसा ही ऊँचा-नीचा हो जाता है ।

"जाति पाति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" यह ८००-५०० वर्ष पूर्व की ही उक्ति है । और

"दिल से दिल को जोडो, छूआछूत को छोडो", यह तो अभी की ही पुकार है। पर जैन-सस्कृति का यह वज्र-आघोष तो शताब्दियो पूर्व का है

> "कम्मुणा वभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
> वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।"

कितना दिव्य साम्यवाद है यहाँ ! मानव-मानव मे कोई फरक नही।

मानव-मानव मे क्या फरक ? फिर वह नर हो या नारी। नारी यो कहने को सदा पूज्य रही है। **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"**—पर वास्तव मे नारी अवला ही रही है। धार्मिक जगत् मे तो उसका प्रवेश निषिद्ध ! कोई कोई तो नारी को नरक की अर्गला तक कहते हैं—"द्वार किमेक नरकस्य ? नारी।"

पर जैन-सस्कृति—साम्यवाद की शुभ्र ध्वजा लहराने वाली सस्कृति ने नारी का महत्त्व प्रतिष्ठित किया। साधनाक्षेत्र मे सबको समान अधिकार है। यहाँ नर व नारी का महत्त्व नही, पर राग-द्वेष-विजय का महत्त्व है। गुणवती नारी भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकती है। उसका नाम अग्रिम पक्ति मे सबसे ऊपर अकित रहता है।

नारी का भव्य स्वरूप देखिये

जयन्ती राजकुमारिका के भगवान् महावीर से सविनय, निर्भय, निर्द्वन्द्व भाव से पूछे गये ज्ञान-विज्ञान से भरे प्रश्न आज भी भगवती सूत्र मे चमकते हैं।

दशवैकालिक सूत्र मे **राजीमती** ने पथभ्रष्ट बने रथनेमि को कितनी आत्मशक्ति से समझाकर पुन पतन से उत्थान की ओर मोडा ? नारी को कौन अवला कहेगा ?

भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ **ब्राह्मी** और **सुन्दरी** ने अपने गर्वित भाई वाहुवलि को किस प्रकार प्रेम से समझाया है ? **"म्हारा वीरा, गज थकी ऊतरो, गज चढिया केवल न होय"** की मधुर उक्ति मे भगिनी का सलौना स्नेह, नारी का प्रेम व कर्त्तव्य झलक रहा है।

उत्तराध्ययन के १४वें अध्याय मे उल्लेख है—**कमलावती रानी** ने राजा को समझा-बुझा कर सत्यमार्ग पर आरुढ किया है। नारी वास्तव मे अर्द्धांगिनी होती है।

अतकृताग सूत्र मे **मगधसम्राट्** श्रेणिक की महारानियाँ महाकाली, सुकाली आदि के प्रचण्ड विकट तपक्रम का वाचन आज भी पर्यूषण पर्व में किया जाता है। यह वताता है कि फूल-सी कोमल राजरानी भी साधना के क्षेत्र मे वज्र सी सुदृढ वन सकती है। नारी कोमल भी है और कठोर भी।

ये उदाहरण सुस्पष्ट करते हैं कि जैन सस्कृति ने नारी के गौरव को मडित कर यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि "नारी, तुम केवल श्रद्धा हो।"



और जैन-सस्कृति ने समाज के तिरस्कृत, दीन-हीन, घृणित शूद्रो को भी नया रूप दिया। इनके लिये भी यहाँ द्वार खुला था। धर्म-दरवार मे क्या ऊच नीच ? यहाँ तो साधना का महत्त्व है। श्री **हरिकेशी मुनि, मेतार्य स्वामी** के उदाहरण यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि कीचड मे कमल होते हैं। साधारण भी अपनी शक्ति प्रदर्शन कर असाधारण वन सकता है। गुदडी के लाल भी वहुमूल्य होते हैं। वन्य कुसुम भी सुवास फैलायेगा ही। कस्तूरी काली व कुरूप क्यो न हो, पर काटे से तुलेगी।

तो जैन-सस्कृति ने विश्व को दिया कि मानव नगण्य व जघन्य नही है। हर मानव मे साम्य है। प्रत्येक प्राणी अपने सत्पुरुषार्थ से सर्वोच्च पद भी प्राप्त कर सकता है।

तृतीय पखुडी—वाहर नहीं, अदर की ओर

"विज्ञान तुम्हारे झूठे हैं, सच्चा है केवल आत्मज्ञान"। वाहरी चमक-दमक, भौतिक चकाचौंध मे अन्धे वने मानव को जैन-सस्कृति ने सर्व महत्त्वपूर्ण वात वताई, "वाहर नहीं, अन्दर की ओर झांको !" शरीर तक ही अटक कर न

रह जाओ। यह क्षणिक है। नश्वर है। इसके अन्दर विराजमान आत्मदेव को पहचानो ! अरे मानव, तू कहाँ सुख समझ बैठा है? इस कार, बगला, सोना, चादी, पुत्र-कलत्र मे सुख नही पर सुखाभास है। इनका स्वाद मधुलिप्त खड्ग की भाँति है। प्रारम्भिक क्षणिक सुख की समाप्ति सर्वनाश मे होगी। सुख की खोज बाहर व्यर्थ है। कस्तूरी के मृग की खुशबू वन की झाडियो मे न होकर उसकी नाभि मे ही है। वैसे ही सुख का अक्षय स्रोत अन्तरतम मे प्रवाहित होता है। "बहिर्मुखी प्रवृत्ति से विलग हो अतर का अवलोकन" जैन सस्कृति की एक जबरदस्त देन है।

कौन हमारे मित्र व कौन हमारे शत्रु ? हम बाहर समझ बैठे है। यही तो भ्रम है, भूल है। हम ही सब-कुछ है। जैन सस्कृति की स्वर-लहरी कितनी उद्‌बोधक है

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ।।"

यह आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता व भोक्ता है। मित्र भी और शत्रु भी। यही तो वैतरणी नदी व कूट-शाल्मलि वृक्ष है। और यही स्वर्ग की कामधेनु तथा नदन वन है।

बाह्य शत्रु क्या अर्थ रखते है ? इन हजार शत्रुओ को जीतना भी व्यर्थ है यदि आत्मा को वश नही किया। अपने आभ्यतर कषायादि शत्रुओ को ही हमे जीतना चाहिए। देखिये, श्रेष्ठ विजय कौनसी है

"जो सहस्स सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ।।"

आत्मविजय ही तो वीर की कसौटी है। इस एक को जीतना अर्थात् सबको जीतना है। इस विजय के पश्चात् क्या शेष रह जाता है ? यह विजय मोक्ष का राजमार्ग है। इस विजय के साधन-शस्त्र हैं—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।"

सच्ची श्रद्धा, विश्वास और उससे उत्पन्न विमल निर्मल सद्‌ज्ञान और फिर "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष" के अनुसार अहिंसादि पच महाव्रतो का सम्यक् पालन अर्थात् सम्यक् चारित्र-बस, ये तीनो मिलकर ही तो बनते हैं मोक्षधाम की सीधी सडक। और इसपर बेधडक हो चलकर हम मोक्ष मजिल को पहुचकर अरिहत सिद्ध बनकर सर्वश्रेष्ठ विजेता बन सकते है।

इस विजय का सलक्ष्य जैन धर्म की अनुपम और अनन्य देन है।

चतुर्थ पखुडी—कर्मवाद

"बोओगे जैसा बीज, तरु वैसा लहरायेगा।"

मानव जब दुःखी अवस्था मे अत्यन्त निराश व हताश हो जाता है तब इस महान् अमा के घनीभूत अधकार मे आशा व उल्लास की एक नई रोशनी बन आती है जैन-सस्कृति। उसका यह उद्‌घोष कितना आशाप्रद है।

"जैसी करणी वैसी भरणी"। "जो जस करइ सो तस फल चाखा"। मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोग्य होते हैं। दुःख या सुख, जो कुछ भी हमे प्राप्त होता है, यह हमारी ही करणी है।

यह कर्मवाद मानव के स्वय के महत्त्व का सूचक है। इस आत्मा को ईश्वर या परमात्मा नाम की कोई अदृश्य शक्ति नियन्त्रित नही करती है, बल्कि मानव स्वय ही अपने भाग्य का प्रेरक, उद्‌बोधक है। वही अपनी जीवन-नैया का केवट है। डूबना या तिरना उसके अपने हाथ मे ही है। अपना मन ही बधन या मोक्ष का कारण है।

जैन-सस्कृति का यह अटल विधान है कि कृतकर्म भोगे बिना छुटकारा सम्भव नही। कर्म किसी को नही छोडता—चाहे राजा हो या रक। इसकी शक्ति अप्रतिहत है। अनियन्त्रित है, सर्वशक्तिमान् सर्वोच्च पदधारी तीर्थंकर तक

को इस कर्म ने नही छोडा। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव मे अपने सेवक के कानो मे भरवाये शीशे के कारण ग्वाले के द्वारा भगवान् महावीर के कानो मे भी कीलें ठोकी गई । आदिनाथ के कारण बेचारे बैलो को १२ घण्टे भूखा-प्यासा रहना पडा था, इसके फलस्वरूप भगवान् ऋषभदेव को साधु बनने के अनतर १२ मास तक निराहार रहना पडा ।

और भी कई उदाहरण हैं जैसे चदना सी राजकुमारी का शिरमुँडन व कारावास, कलावती के कर-द्वय का काटा जाना, अजना का पति-विछोह व कलक, खधक ऋषि की खाल उतारना, गजसुकुमाल के शिर पर खीरो की पाल आदि कर्म की प्रबलता की घोषणा करते हैं ।

अत जैन-सस्कृति समझाती है कि मानव शुभ कर्मों का ही सचय करे । पुण्य प्रवृत्तिया प्रशस्त होती हैं। निर्जरा सवर की करणी उसे तिराने वाली है । पापआश्रव सर्वथा हेय है । हम यदि सुख मे हो तो फूलें नही, दु ख मे रोयें-तडपें नही । बल्कि सम विषम अवस्था मे मध्यस्थ रहे । यही तो जीवन का महान् सार है । आगत हर हर्ष-बाधा को शान्तिपूर्वक सहन करना, '६' के अक की तरह बनना—जैन-सस्कृति की यह कितनी प्राणवान्, आशापूर्ण देन है ।

पचम पखुडी—अपरिग्रहवाद

"जग पीडित है अति दु ख से, जग पीडित है अति सुख से ।
मानव-जग मे बट जाये, सुख दु ख से औ' दु ख सुख से ।।"

सग्रह अशान्ति का अग्रदूत है । किसी वस्तु के प्रति आकर्षण लोभ का चिह्न है । लोभ अथवा परिग्रह कभी समाप्त नही होता । क्योकि "**इच्छा हु आगाससमा अणतिया ।**" ससार मे पदार्थ तो असख्य ही है और लालसा अनत है । एक इच्छा की पूर्ति का अर्थ होता है दूसरी कामना की जागृति । और '**जहा लाहो तहा लोहो**' । जैसे-जैसे लाभ बढेगा, वैसे वैसे तृष्णा भी बढेगी । परिग्रह तृष्णा की अग्नि मे घृत या ईंधन का काम करेगा ।

इस परिग्रह ने—ममत्व भाव ने विश्व-इतिहास मे क्या कारनामे बनाये है । प्रीति का नाशक यह लोभ आज घर, समाज और ससार मे विग्रह का कारण बना है । विश्व अशात है । आज का ससार सुखी कहा ? वर्ग-सघर्ष का दौर है । शोषक व शोषित की टक्कर है । इस बढते परिग्रह के विरोध मे रूस, फ्रास, चीन आदि मे सशस्त्र, रक्तमय क्रातिया हुई हैं । कार्ल मार्क्स का साम्यवाद इस रोग की दवा नही है—क्योकि हिसा से हिंसा शात नही हो सकती । खून का कपडा पानी से ही साफ होगा ।

तो ऐसी विकट, विषम बीमारी की एक अचूक दवा दी है जैन सस्कृति ने और वह है—'अपरिग्रहवाद' । पदार्थ पर स्वामित्व के अधिकार का त्याग करना ही पूर्ण शाति का मार्ग है । अपने को सपत्ति का स्वामी नही वरन् ट्रस्टी समझो ! आसक्ति भाव को हटाओ ! क्योकि "**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**" या "मूर्च्छा परिग्रह है ।" वस्तु के प्रति आसक्ति या ममत्वभाव ही परिग्रह है । मन की भावना का महत्त्व ज्यादा है । भरत चक्रवर्ती विपुल वैभव के बीच भी निर्लिप्त भाव से रहते थे, जल मे कमल की तरह ।

अत जैन-सस्कृति का महान् नाद रहा है—"**सग्रह नहीं वरन् वितरण ।**" "**असविभागी न हु तस्स मोक्खो ।**" —विभाग नही करने वाले के वास्ते मोक्ष का द्वार ही बद है ।

जैन-सस्कृति की आधारभित्ति ही अपरिग्रह है । जैन श्रमण काणी कौडी भी पास नही रखते । उनके वस्त्र, आहार याचित, सीमित व परिमित होते हैं । परिग्रह को पाप का जनक कहा है । लोभ को सर्वाधिक शक्तिशाली कषाय बताया गया है ।

तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व वर्षी दान देते है और दुनिया को क्रियात्मक रूप से समझाते है—"**शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सकिर**" अर्थात् सौ हाथ से कमा और हजार हाथ से वितरित कर ।

तृष्णा का अत भला कैसे हो ? दो माशा स्वर्ण की इच्छा बढती-बढती अनत समग्र साम्राज्य-याचना तक भी परिसमाप्त नही हुई ? अत में कपिल को आत्मज्ञान हुआ । सर्वपरिग्रह के बधन से विमुक्त हो केवली बने और अपरिग्रह का एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया ।



आनद आदि श्रावक ऐश्वर्य के सागर मे लीन होते भी ममत्वहीन थे। सपत्ति का अर्जन लाभ या लोभ के लिये नही करते, पर बहुजनहिताय—विश्वकल्याण का सलक्ष्य था उनका। जीवन की उत्तर अवस्था मे वे बिल्कुल निर्मोही हो जाते थे।

तुगियापुरी नगरी के श्रावको के विषय मे शास्त्रीय उल्लेख है

"उस्सिहफलिहा, अवगुयदुवारा"—उनके द्वार अतिथियो के स्वागत-सत्कार के लिए प्रतिपल खुले रहते थे।

अहिसा के मूलमत्र से अभिषिक्त, हृदय की उदार भावना से परिपूरित, यह शुभ मगलमय अपरिग्रह कितना भव्य है। शायद आज के इस आणविक होड एव उद्जन बम के युग मे विश्वशाति की एकमात्र यही सुराह है। आवश्यकता है जैन-सस्कृति की, इस मगलमय स्वरलहरी को समझने की व तदनुसार आचरण करने की। यथार्थ ही है

He is richest who has the least

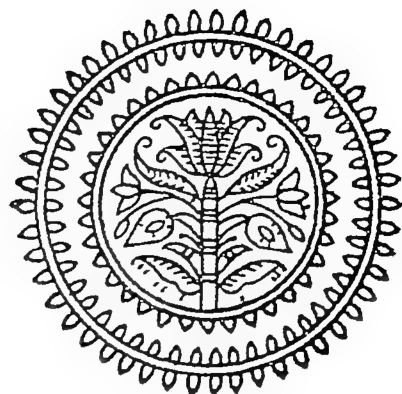
अब यह सुस्पष्ट है कि यदि मनुष्य, मानवता और ससार की सुरक्षा एव उन्नति का कोई मार्ग है तो उसका दर्शन हमे यह शुभ जैन-सस्कृति ही करवाती है। कई एक विशिष्टताओ को अपने मे समाहित किये इस अद्भुत जैन-सस्कृति को अनन्य कहना एक निर्विवाद सुस्पष्ट तथ्य है।

अत मे इस मगल आशा के साथ विराम लेता हूँ कि जैन-सस्कृति की अमल-धवल ज्योत्स्ना विश्व को आनद-अमृत-सिन्धु मे नहलायेगी।

●

श्रमण-संस्कृति और लोकतन्त्र

रामावतार शर्मा
राजनीति विभाग,
श्रमजीवी कालेज (विद्यापीठ),
उदयपुर ।



भारतीय सस्कृति का प्रवाह एक विशाल नदी की भाति है जो राह की छोटी-मोटी नदियो को अपने मे समोकर—मोक्ष रूपी समुद्र मे जा मिलती है । भारत अनादि काल से ही सस्कृति के क्षेत्र मे विश्वगुरु रहा है । इसके आचल मे विभिन्न सस्कृतियो का जन्म और विकास हुआ है । सैन्धव, वैदिक, श्रमण सस्कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय है । यहा हम केवल श्रमण सस्कृति मे लोकतत्री-जीवन के विभिन्न तत्त्वो का अध्ययन करेंगे । यदि धर्म सामाजिक जीवन का नियमन करता है तो सस्कृति उस पर नियत्रण करती है । श्रमण-सस्कृति का विकास ऐतिहासिको के मतानुसार भारत मे इसलिए हुआ कि इसके पूर्व वैदिक धर्म मे हिंसापूर्ण यज्ञो का प्राबल्य हो गया था । हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्ध तथा महावीर की अहिंसा—दो मूलत श्रमण-सस्कृति के स्रोत माने गये है ।

हिंसा तथा वर्णव्यवस्था का विरोध

भारत मे जितनी प्रकार की सस्कृतियो का विकास हुआ है उनमे अहिंसावाद को उतना महत्त्व किसी ने भी नही दिया जितना कि श्रमण-सस्कृति मे और विशेषत जैनधर्म मे दिया गया है । बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल उपदेश सुनाते पाते है । पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्याम सवर सवाद कहते थे । ये चातुर्याम सवर थे—

१ हिंसा का त्याग, २ असत्य का त्याग, ३ स्तेन का त्याग और ४ परिग्रह का त्याग । उल्लेखनीय बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियो के आचरण का क्षेत्र मानी जाती थी किन्तु मुनि पार्श्वनाथ ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ जोडकर सर्वसाधारण के आचरण के लिए उपयोगी बना दिया । पार्श्वनाथ ने सघ की स्थापना की और सघो के द्वारा जनता मे अहिंसा का प्रचार करना आरभ कर दिया ।

इतिहास मे एक ऐसा भी समय आता है जब कि हिंसा और अहिंसा मे सघर्ष चला है । ब्राह्मणो ने हिंसा का पक्ष लिया । सम्भवत समाज मे उनका स्थान यज्ञो की वजह से अक्षुण्ण बना हुआ था और यज्ञो के प्रति आन्दोलन ब्राह्मणो ने वर्णव्यवस्था के विरोध मे समझा । परन्तु श्रमण-सस्कृति ने वर्णव्यवस्था को भी स्वीकार नही किया । यह घटना भी सभवत आकस्मिक ही रही होगी कि बौद्ध और जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय वर्ण के थे, उन्होंने ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना की, क्योकि धर्म को साधन मानकर पुरोहितो का वर्ग अपने सुखो की वृद्धि कर रहा था और जनता पर उल्टे रौब भी जमाता था । परिणामस्वरूप श्रमण-सस्कृति की सबसे बडी देन यह भी है कि समाज मे कोई भी वर्ण-व्यवस्था स्वीकार न की जावे । सभी प्राणिमात्र समान हैं । समानता की यह देन ही लोकतत्र का मूल आधार है ।

लोकतत्र की व्याख्या करते हुए पाश्चात्य विद्वान् लार्ड ब्राइस ने कहा है कि लोकतत्र केवल मात्र शासन-पद्धति ही नही है । समाज और धर्म का भी रूप है—क्योकि आदर्श लोकतत्र के लिए आवश्यक है कि समाज मे ऊच-नीच का

भाव न हो और औसत स्तर का नागरिक इतना समझदार हो कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो, समाज का सगठन और सिद्धान्त दोनो ही की दृष्टि से विशालहृदयी होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि कितना ही जनतत्र-वादी राज्य क्यो न हो यदि समाज मे समानता, सहिष्णुता, और सज्जनता नही है तो वह अन्ततोगत्वा असफल ही होगा। किसी भी प्रकार की मदान्धता, कट्टरता और हिंसा की प्रवृत्ति लोकतत्र की जडो को खोखला कर देगी।

बौद्धिक अहिंसा

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैनमत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया है। मुनियो की वाणी मे हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते हैं कि जब वह किसी मत का खडन करते है तब भी उनके तर्क हिंसा से भीगे नही होते है। उनमे वह निर्ममता नही होती जो हठी विद्वान् का लक्षण मानी जाती है।

सत्य किसे मिलता है और किसे नही, यह विवाद का विषय है, मगर एक बात व्यावहारिक मालूम पडती है कि जो आदमी सत्य की राह पर चलता है वह हठ नही करता, किसी बात की जिद नही पकडता और दूसरो को चुप करने के लिए जोर-जोर से बोलने नही लगता है। कभी-कभी ऐसा समझ लिया जाता है कि विनम्र व्यक्ति सशयवादी है। किन्तु वह सशयवादी नही होता। विरोधी मत के विषय मे यह भाव लेकर जरूर चलता है कि क्या आश्चर्य, सत्य का एक पहलू उसे भी दिखाई पडा हो। और यही बात विरोधी मत के बारे मे उसे अहिंसक बना देती है। वर्तमान युग मे स्याद्वाद का अत होता जा रहा है। यह गुण लोकतत्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लोकतत्र के लिए यह आवश्यक तत्त्व भी है।

लोकतत्र की बुनियाद स्याद्वाद पर ही आधारित है। लोकतान्त्रिक जीवन की झाकी इस घटना से प्राप्त हो सकती है कि एक बार सऊदी अरब का शाह इगलैण्ड गया। इगलैण्ड की सम्राज्ञी ने परम्परागत पद्धति से शाह का स्वागत करते हुए प्रधानमत्री से परिचय कराया और उसके तुरन्त बाद ही अपने वाम-अग पर आसीन विरोधी दल के नेता का परिचय कराया। शाह ने सरल ढग से उत्तर दिया कि महारानी, यह आपकी ही उदारता है कि वफादार प्रधानमत्री के साथ ही आप विरोधी दल के नेता को भी सम्मान देती हैं। हमारे यहा सरकारविरोधी नेता के लिए केवल कारागार और फासी के तख्ते हैं। बात मे कितना बल है, यह लोकतत्र के जीवन की विशेषता पर बल देता है कि स्याद्वाद लोकतत्र का अभिन्न अग है।

जैन धर्म मे उदारता

जैन सुदूर प्राचीन काल से जिस तरह त्यागीसघ मे जाति, लिंग आदि के भेद की अपेक्षा न करके सबको स्थान देते आये हैं, उसी तरह वे सदा अपने धर्मस्थानो मे जन्म से जैन नही ऐसे व्यक्तियो को समझाकर अथवा परिचय बढाकर तथा अन्य शिष्ट रीति से ले जाने मे गौरव मानते हैं। कोई भी विदेशी हो या विधर्मी, और चाहे जिस वर्ग का पुरुष हो या नारी, कोई सत्ताधारी हो या वैभवशाली, चाहे पारसी हो या मुसलमान, कोई शासक हो या ठाकुर या भील या अन्य कोई, पर जो भी सत्ता, सम्पत्ति और विद्या मे उच्च समझा जाता हो उसे अपने धर्मस्थानो मे किसी भी प्रकार ले जाने मे जैन लोग जैनधर्म की प्रभावना मानते है और यदि ऐसा व्यक्ति स्वय ही जैन स्थानो पर जाने की इच्छा प्रदर्शित करता है तब जैन गृहस्थो और व्यक्तियो की खुशी का कोई ठिकाना नही रहता, और यह स्थिति अभी तक सामान्य रूप मे चली आ रही है। ऐसे समय मे कोई त्यागी या गृहस्थ जैन यह नही समझता कि मदिर और उपाश्रय मे आने वाला व्यक्ति राम का उपासक है या कृष्ण का, या खुदा अथवा अन्य किसी देवी देवता का। उसके मन मे तो केवल यही होता है कि भले ही वह किसी पथ का मानने वाला हो, चाहे वह मासभक्षी हो या मद्यपान करने वाला, यदि वह स्वय या अन्य की प्रेरणा से जैन धर्मस्थानो मे एक बार भी आता है तो कुछ न कुछ प्रेरणा और बोध ग्रहण ही करेगा, कुछ न कुछ सीखेगा ही। यह उदारता चाहे ज्ञानमूलक हो या निर्बलतामूलक, पर इसका पोषण और उत्ते-जन करना हर तरह मे उचित समझा जाता है। यही चारित्र श्रमण सस्कृति की देन है। उदारता लोकतत्र का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

श्रमण-सस्कृति में त्रिरत्न

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यद्यपि हिन्दुओ के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से ही मिलते-जुलते हैं, किन्तु थोडा भेद अवश्य है। हिन्दु-धर्म मे ज्ञान, कर्म और भक्ति मे से कोई भी एक मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है किन्तु श्रमण-सस्कृति मे मोक्षलाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—तीनो को आवश्यक माना जाता है।

त्रिरत्न मे पहला स्थान सम्यग्दर्शन का आता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढताए और आठ प्रकार के अहकारो को बिल्कुल छोड दे। तीन प्रकार की मूढताए हैं, लोक-मूढता, देव-मूढता और पाखडी मूढता। नदियो मे स्नान करने मे पवित्र होना, देवी देवताओं मे विश्वास और ऐसे सभी अन्ध विश्वास श्रमण-सस्कृति मे त्याज्य हैं। इन त्रिरत्नो का प्रभाव लोकतत्र के लिए वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो मनुष्य विवेकपूर्ण होगा वही अन्धविश्वास और सभी मूढताओ से ऊपर उठकर सुज्ञ नागरिक बन सकेगा। अन्धविश्वासी मनुष्य भेड की भाति कहा गया है जो कि लकीर का फकीर बन अपनी आत्मा का हनन करता है। ऐसे व्यक्तियो से वाह्य लोकतत्र के लिए खतरा है क्योकि तानाशाही के लिए ऐसा मूढवर्ग बहुत उपयोगी होता है।

प्रत्येक जैन गृहस्थ को पचव्रत लेने पडते है, जिनके नाम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थो के लिए जो व्रत परिमित रक्खे गये हैं, श्रमणो पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं, क्योकि उन्हे छूट की आवश्यकता नही है। उन्हे प्राणपण से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयास करना चाहिए। श्रमण-सस्कृति के पचव्रत लोकतान्त्रिक जीवन के महत्त्वपूर्ण और अविच्छिन्न अग माने जा सकते है।

राजतत्र व प्रजातत्र

उपर्युक्त वर्णन मे श्रमणसस्कृति के लोकतत्र के विभिन्न तत्त्वो पर प्रकाश डाला गया है। अब प्राचीन साहित्य के आधार पर प्रजातत्र के व्यवहार-पक्ष पर भी विचारविनिमय करना युक्तिसगत होगा। प्राचीन ग्रन्थो मे राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है। वहा समझाया गया है कि प्रजा रञ्जन करना, उसे समृद्धिशील बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। कालिदास ने भी रघुवश मे रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा अपने कर्तव्यो के पालन मे कोई बात उठा न रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्रिय पत्नी सीता को भी त्याग दिया था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन मे ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख, सम्पत्ति एव शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। परन्तु राजा निरकुश नही बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया जाता था और उसे इस कार्य के लिए कृषि की आमदनी का छठवा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवा भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। उसे अपना कर्तव्य न निभाने पर पदच्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा

प्राचीन भारत मे राजा दो प्रकार के रहते थे वशक्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थो मे राजाओ के वशक्रम का उल्लेख है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि मे उनकी वशावलिया भी दी गई है, जिनसे पता चलता है कि राजाओ के अधिकार वशक्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा जैन व बौद्ध साहित्य मे प्रजा के प्रतिनिधियो की एक समिति होती थी जिसके द्वारा निर्वाचन हुआ करता था। कुछ ऐतिहासिको का मत है कि मन्त्रिमडल का नाम ही सभा था।



वैदिक काल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्यरूप मे लाया जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थो में आये राज्याभिषेक के वर्णन को पढने मे चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जाता है। इस काल मे समिति का स्थान पौर जनपद ने ले लिया था। यह सभा पौरजानपद इसलिए कहलाती थी कि नगरो व ग्रामो के प्रतिनिधि इसके सदस्य हुआ करते थे।

वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाड से पता चलता है कि राम को राजतिलक करने मे पूर्व राजा दशरथ को पौरजानपद की सम्मति लेनी पडी थी । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद नये राजा के चुनाव के लिए पौरजानपद की बैठक हुई थी ।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था और तत्पश्चात् पौरजानपद द्वारा होने लगा । इसका मतलब यह कदापि नही है कि आधुनिक काल मे भारत के राष्ट्रपति या अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के समान ही राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमे से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था । आजकल प्रजातन्त्र के नाम पर चलनेवाली राजनैतिक दलबन्दी प्राचीन भारत मे नही थी । राजा के चुनाव से तो उसका कोई सम्बन्ध नही था । साधारणत राजा वशक्रमागत ही रहता था। उसके उत्तरदायित्व व कर्त्तव्यो का स्पष्टीकरण कर दिया जाता था । जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझकर कर्त्तव्यो का पालन नही करता था वह समिति या पौरजानपद के द्वारा राजपद से च्युत किया जाता था तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जो कि साधारणत राजकुल का ही होता था । इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौरजानपद आदि से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी पडती थी । इस प्रकार राजपद का कार्य सुचारु रूप से चलता था ।

स्थानीय शासन

आधुनिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त मे स्थानीय शासन पर अत्यधिक बल दिया गया है । प्राचीन भारत मे स्थानीय शासन का प्रारभ ग्रामो से होता था । ग्राम के शासन-सचालन मे सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियो का हाथ रहता था । गाव मे पटेल व व्यापारी सरकार की ओर से रहते थे और ग्रामपचायत जनता की ओर से रहती थी । कदाचित् उन दोनो सरकारी कर्मचारियो को भी पचायत मे रहना पडता था । गाव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था । महावग्ग, कुलावक जातक, खरस्तर जातक, उमेतोभट्टजातक आदि मे ग्रामीण का उल्लेख है, जिनके अनुसार वह कर वसूल करता था तथा चोर तथा दुश्चरित्र व्यक्तियो को गिरफ्तार करता था । इसे ग्राम सम्बन्धी देख-रेख करनी पडती थी ।

ग्राम-पचायत

भारत की ग्रामपचायत सस्था भी बहुत प्राचीन है । अग्रेजी साम्राज्य के प्रारभ से पूर्व तक यह एक जीवित सस्था थी । इस सस्था के ऊपर अग्रेजी शासनकाल मे प्रशासनिक अधिकार समाप्त हो जाने पर भी अधिकाश सामाजिक व पारिवारिक झगडो के निबटारे के लिए बराबर पचायतो का योगदान रहा है । ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उसके सदस्य रहते थे । ग्राम सम्बन्धी सब बातें उसी मे तय कर ली जाती थी । उसको न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था । श्रमण-साहित्य मे कितने ही स्थलो पर ग्रामपचायत का उल्लेख आता है । शिला-लेखो मे उसके सर्वोपरि कर्मचारियो को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलकि आदि कहा गया है । जातक साहित्य मे उसे ग्रामभोजक नाम से उल्लिखित किया गया है । उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यो की एक छोटी-सी उपसमिति रहती थी, जिसे बडी पचायत के सामने जवाबदेह होना पडता था । अधिकार के स्थान पर साधारणतया वशक्रमागत थे । कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितिया रहती थी ।

पचायत की भावना

प्राचीन जीवन के—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास मे पचायतभावना का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था । इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक [illegible] मुखी था । [illegible]यत की भावना समाज मे इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी [illegible] लि [illegible] । हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के सचालन के लिए पचायती प्रथा थी । आजकल भी इ [illegible] जाति पचायतो के रूप मे

दिखाई देता है । ऊचे से ऊचे और नीचे से नीचे व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति-पचायतो द्वारा ही सचालित होता है।

वर्तमान भारत के सविधान-निर्माता भारत भूमि की परम्पराओ मे गहरी बैठी हुई पचायत भावना की अवहेलना नही कर सके, फलस्वरूप सविधान में पचायतो के गठन की व्यवस्था हो गई और आधुनिक काल की महत्त्व-पूर्ण लोकतत्र की इकाई का पुनर्गठन किया गया।

नागरिक जीवन

समाज के आर्थिक जीवन का सचालन श्रेणी, पूग, निगम आदि सस्थाओ द्वारा होता था। इससे भिन्न-भिन्न व्यापार व उद्योग-धन्धो को करने वालो के सगठित जीवन का पता लगता है। ये सस्थाएँ बहुत प्राचीन थी। बौद्ध साहित्य, रामायण स्मृत्यादि से उनके अस्तित्व का पता लगता है । इन्हे बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि स्मृतियो से तथा नासिक, जुन्नार आदि के प्राचीन शिला-लेखो से बहुत कुछ मालूम होता है। ये सस्थाए न केवल आर्थिक जीवन को सगठित करती थी, अपितु राजनैतिक दृष्टि से स्वतत्रता का वातावरण निर्मित करके समाज को सस्कृति के मार्ग में भी अग्रसर करती थी। इन सब सस्थाओ के अपने न्यायालय भी होते थे, जिनमें साधारणत जमीन-जायदाद आदि के दीवानी झगडे तय होते थे। बडे-बडे सम्राटो ने बाद में दीवानी पर भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया, फलत श्रेणी, पूग, ग्रामपचायत आदि के अधिकारो मे कुछ कमी अवश्य आती चली गई ।

बौद्ध साहित्य में सघ

बौद्ध साहित्य में सघो का उल्लेख है, यहा उन्हे गण कहा गया है। अवदान-शतक (२।१०३) में वर्णन आता है कि मध्यप्रदेश से कुछ वणिक् दक्षिण में गये और वहा के राजा से मिले । राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहा शासन कैसा होता है ? इसपर उन्होने कहा कि हे देव! कुछ देश गणाधीन हैं व कुछ राजाधीन है । शाक्य, कौलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मेरिय, बुलिय, भग्ग आदि सघो का भी बौद्ध साहित्य में उल्लेख है । इन सघो की एक सभा रहती थी जिसकी बैठक एक बडे भवन में होती थी। इस भवन को सथागार कहते थे। इसी में राजा का चुनाव होता था। उसके हाथ मे सब शासनसूत्र रहते थे। वह राजा उक्त सभा का प्रधान रहता था जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। राजा शब्द पदवी मात्र का सूचक था। बौद्ध साहित्य मे सघ के अन्य कर्मचारियो का भी उल्लेख आया है, जैसे उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक आदि । इन सघो की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप मे सुरक्षित रखे जाते थे। न्याय का कार्य करने के लिए विनिच्च महामात, वोहारिक सूत्रधार, अष्टकुलक आदि न्यायाधीश थे।

उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि श्रमण-सस्कृति और साहित्य ने लोकतात्रिक सिद्धान्त को भली प्रकार सीचा है। सस्कृति के नैतिक सिद्धान्त लोकतत्र की नीव को सुदृढ करते हुए दिखाई देते है तथा प्राचीन भारत मे लोक-तत्री शासनप्रणाली को पर्याप्त मात्रा मे विकसित होने दिया है। जनसाधारण मे पर्याप्त राजनीतिक विचारो की जाग्रति का प्रमाण श्रमण-साहित्य मे पूरी तरह से उपलब्ध है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समझे जाते हैं तथा जिन पर यूनान, इगलैण्ड, फ्रास और अमेरिका की छाप लगी हुई है, जिनके प्रवतक हौब्स, लॉक, रूसो इत्यादि माने जाते हैं, वे सब प्राचीन भारत को ज्ञात थे। राजा का निर्वाचन, सभासमिति व पौरजानपद, मन्त्रिमडल, सघ-शासन आदि के बारे मे जो कुछ भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उससे भारत में विकसित लोकतत्र की समस्याओ का आश्चर्यजनक विकास होना ज्ञात होता है।



संदर्भ ग्रन्थ—

१ भारतीय सस्कृति—लेखक श्री गौरीशकर भट्ट ।
२ सस्कृति के चार अध्याय—श्री दिनकर ।
३ भारतीय सस्कृति का इतिहास—दिनेशचन्द्र भारद्वाज ।
४ भारतीय सस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ।
५ भारत का सास्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालकार ।
६ रामायण—वाल्मीकि--कृत, अयोध्याकाण्ड ।
७ महाभारत (अग्रेजी)—श्री राजगोपालाचार्य ।
८ कार्पोरेट लाइफ इन एशियण्ट इण्डिया—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ।
९ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज—डा० यू० एन० घोशाले ।
१० हिन्दु पोलिटी—डा० जायसवाल ।
११ भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास—वी० एल० लूनिया ।
१२ माड्न डेमोक्रेसीज—लार्ड ब्राइस ।
१३ महावीर जयन्ती स्मारिका—वार्षिक (१९६४) जयपुर ।
१४ सुधर्मा—मासिक विभिन्न अक ।
१५ ज्ञानोदय—विभिन्न अक ।
१६ ग्रामर आफ पोलिटिक्स (अग्रेजी)—लास्की ।
१७ पोलिटिकल साइन्स (अग्रेजी)—गेटेल ।
१८ राजनीति सार (हिन्दी)—अप्पादुराई ।
१९ रघुवश (हिन्दी अनुवाद)—कालिदास ।
२० मोडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट—डा० वी० पी० वर्मा ।
२१ श्रमणोपासक—विभिन्न अक ।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी : श्रमणसंस्कृति



वैद्यरत्न प० सुन्दरलाल जैन

तिलक फार्मेसी, इटारसी

भारतवर्ष मे अनेक सस्कृतियाँ प्रचलित हैं किन्तु विविधता होते हुए भी उनमे भारतीयत्व की गहरी छाप है। अत भारतीयता के नाते समस्त सस्कृतियाँ एक है। 'भरतीय सस्कृति' शब्द का उच्चारण करने से भारत की समस्त सस्कृतियाँ उसमे अन्तर्भूत हो जाती हैं। फिर भी प्रत्येक सस्कृति का अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व एव महत्त्व है। भारत-वर्ष मे प्रचलित समस्त सस्कृतियो का स्वरूपविभाजन साक्षेपत दो रूपो से किया जा सकता है--सामाजिक एव धार्मिक। सस्कृति का सामाजिक रूप वह है जो विविध कलाओ, विज्ञान, अनुसधान, एव आविष्कारो से निरन्तर परिपुष्ट एव समृद्ध होता रहता है। इससे भिन्न सस्कृति का धार्मिक स्वरूप लोककल्याण की भावना से परिपूर्ण एव लोकोत्तर सुखोपलब्धि का साधन होता है। सस्कृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है—श्रमण-सस्कृति, जिसमे अलौकिक भौतिक व क्षणिक सुखो के लिये न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। श्रमण-सस्कृति निवृत्ति-प्रधान है किन्तु उसका उद्देश्य प्रवृत्ति-मात्र को निर्मूल करने का नही। सस्कृति मे वही प्रवृत्ति हेय है जो आसक्ति के बिना कभी सम्भव ही नही। यथा कामवासना, वैयक्तिक परिग्रह, लोभ, मोह आदि। इस प्रकार के कामाचार आदि अनैतिक तत्त्व समाज मे दूषित वातावरण की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं और समाज के प्रकृत स्वरूप को विकृत कर देते है। अत एतद्विध कुपथ से बचने के लिए यह सस्कृति मानवता की रक्षा और भलाई के लिये निरन्तर प्रयत्नशील एव अग्रसर रहती है। श्रमण-सस्कृति का क्षेत्र सदैव व्यापक रहा है। रूढिगत मान्यताओ एव परम्पराओ को इसमे लेशमात्र भी स्थान नही है। प्राणिमात्र की आत्मकल्याणाभिमुख प्रवृत्ति ही इसका मुख्य लक्ष्य रहा है।

आत्मकल्याण-सबधी ठोस सिद्धान्तो का न केवल प्रतिपादन अपितु उन्हे क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करना ही श्रमण-सस्कृति की मूल परम्परा रही है, ताकि उसे जीवन मे उतार कर आत्मकल्याण का साधन बनाया जा सके।

आध्यात्मिक एव आत्मवादी होने के कारण श्रमण-सस्कृति ने भारतीय जन-जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृ-त्तिपरक उद्देश्यो के लिये तथा इस परिवर्तनशील ससार से आत्मा की मुक्ति के लिये जितना जोर श्रमण-सस्कृति ने दिया उतना अन्य किसी सस्कृति ने नही दिया। श्रमण के लिये आत्म-मुक्ति प्रधान लक्ष्य है, अन्य कार्य गौण है। अत श्रमण-सस्कृति मे आत्मतत्त्व एव मोक्षतत्त्व सदैव मुख्य विचारणीय विषय रहे हैं। वस्तुत ये दोनो ही तत्त्व एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। मोक्ष की सिद्धि आत्मतत्त्व के अस्तित्व मे है। आत्मा का मुख्य लक्ष्य है—मोक्षप्राप्ति। तदर्थ आत्मा को मोक्षाभिमुख प्रेरित करना आवश्यक है। अत इसके लिये आरम्भ से ही दो श्रेणियाँ चली आ रही हैं—कर्म का परित्याग कर मोक्ष-प्राप्ति और सत्कर्म करते-करते आत्मशुद्धिपूर्वक मोक्ष-प्राप्ति। ये दोनो ही श्रेणियाँ क्रमश निवृत्ति एव प्रवृत्तिमूलक हैं। दोनो का उद्देश्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद है केवल अनुष्ठान या प्रक्रिया मे। प्रथम अनुष्ठान है कम का पूर्णत परित्याग और द्वितीय अनुष्ठान है, कर्मशोधनपूर्वक उसका क्षय। कर्मपरित्याग (सन्यास) अनुष्ठान लक्ष्याभिमुख द्रुतगामी है और कर्म-योग लक्ष्याभिमुख मन्दगतिपूर्वक होता है।

जैन धर्म और श्रमण-सस्कृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, वह निर्मूल है। दो वस्तुओ का पारम्परिक सम्बन्ध केवल वही होता है जहाँ दोनो वस्तुएँ भिन्न हो। यहाँ श्रमण-सस्कृति जैन धर्म से कोई भिन्न वस्तु नही है,

अपितु उसका ही विशेष अग है। श्रमण-सस्कृति को जैन धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता, जैन धर्म के कारण ही उसे इतना महत्त्व एव गौरव प्राप्त है।

श्रमण-धर्म किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। प्राणिमात्र उसके सैद्धान्तिक एव क्रियात्मक पक्ष की समाराधना का अधिकारी है। आत्म-साधन ही श्रमण-धर्म का मूलोद्देश्य है, जिसके लिये प्रवृत्ति के असत् अश का त्याग और सत अश के साधन का अवलम्बन लेना तथा क्षमता व वैराग्य-वृत्ति के अनुरूप निवृत्ति की ओर अग्रसर रहना चाहिये।[1] अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति की भी निवृत्ति मे ही आत्यन्तिक परिणति कर अत मे मोक्षाभिमुख होना श्रमणधर्म का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार श्रमणधर्म मूलरूपेण निवृत्तिपरक ही सिद्ध होता है। यह निवर्त्तक धर्म व्यक्तिगामी है और वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति मे से उत्पन्न होने के कारण मुमुक्षु एव जिज्ञासु को आत्मतत्त्व के चिन्तन के लिये अनेक जिज्ञासाओ से परिपूर्ण बना देता है। आत्मतत्त्व के विषय मे एतद्विध जिज्ञासाएँ एकान्तचिन्तन, ध्यान, तप और असगतापूर्ण, सत्यमय जीवन के अभाव मे समाधान-योग्य नहीं है।

एतद्विध वास्तविकतापूर्ण, सत्यमय जीवन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये ही सम्भावित है। उन व्यक्तियो के लिये भौतिक सुख नगण्य एव तुच्छ प्रतीत होते है, सासारिक आकर्षण उन्हे ससार मे बाँधने मे असमर्थ रहते है और वे गृहस्थाश्रम के बधन से मुक्त रहते है। श्रमणधर्म के अनुसार मुमुक्षु व्यक्तियो के लिये मुख्य कर्त्तव्य एक ही रहता है और वह है—आत्मसाक्षात्कार-हेतु आत्मशुद्धि एव कर्मनिर्जरा मे प्रतिरोध या रुकावट उत्पन्न करने वाली इच्छाओं के समूल विनाश के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर लक्ष्य की प्राप्ति करना।[2]

जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण मे स्पष्ट किया जा चुका है, श्रमण-सस्कृति ने आत्मा और मोक्ष इन दो तत्त्वो के विषय मे मुख्य दृष्टिकोण अपनाया है। यही कारण है कि वह सदैव आत्मदर्शी रहती है। शरीर के भरण-पोषण एव रक्षण की उपेक्षा यद्यपि सम्भव नही है, किन्तु उसका दृष्टिकोण मात्र देहलक्ष्यी नही रहा है। वस्तुत देखा जाय तो आत्म-साधन के समक्ष शरीर-साधन अत्यन्त निकृष्ट एव महत्त्वहीन है। जैन धर्म ने सदैव ऐसे सिद्धातो का प्रतिपादन एव पोषण किया है जो आत्मा को ऊँचा उठाने मे सहायक है। आत्मतत्त्व, मोक्षतत्त्व एव इनसे सम्बन्धित अन्यविषयो मे जैन दर्शन का जितना व्यापक दृष्टिकोण रहा है, उतना किसी भी अन्य धर्म या दर्शन का नही है।

श्रमण का श्रामण्य भी इसी मे निहित है कि वह प्रथम आत्मदर्शी बने।[3] इसके अभाव मे उसका श्रमणधर्म ही खण्डित हो जाता है। एक व्यक्ति जब तक श्रमणधर्म के मूल तत्त्वो को अपने जीवन मे पूर्णरूपेण नही उतार लेता तब तक न तो उसमे श्रामण्य ही रहेगा और न वह श्रमण कहलाने का अधिकारी है।[4]

"श्रमणस्य भाव श्रामण्यम्" ससार के प्रति मोह या ममत्वभाव का त्याग अथवा ससार से पूर्णत सन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है। एतद्विध श्रामण्य से युक्त व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है। श्रमण पचमहाव्रतो का पालक एव सासारिक वृत्तियो का परित्याग करने वाला होता है। वह निष्कर्म भाव की साधना से पूर्ण एव एकाग्रचित्तेन आत्म-साधना (चिन्तन) मे लीन होता है। आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता के लिये उसके जीवन मे कोई स्थान नही रहता। बाह्य जगत् उसके लिये अधकाराच्छन्न हो जाता है। किन्तु उसका अतस्तल आत्म-ज्योतिपुज से ज्योतिमान रहता है, जिससे वह ससार के समस्त भावो को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है। केवलज्ञान उसकी समस्त सीमाओं को तोडकर उसे त्रिकालदर्शी बना देता है। यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है। तदनन्तर उसकी अभीष्ट-प्राप्ति के लिए कोई व्यवधान की समुपस्थिति सम्भाव्य नही।

---

१ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त—आचार्य नेमिचन्द्र।
२ कामे कमाही कमिय खु दुक्ख—दशवैकालिकसूत्र।
३ पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि—आचारागसूत्र।
४. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू।

श्रमण के जीवन मे सयम एव तपश्चरण का अधिक महत्त्व है।[1] सयमपूर्ण जीवन उसे सासारिक वृत्तियो की ओर अभिमुख होने से रोकता है, और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जरा मे सहायक होता है। सयम के अभाव मे वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नही हो सकता और तपश्चरण के बिना कर्मवन्धन से उसकी मुक्ति असम्भावित है। ऐसी स्थिति मे उसका मोक्षप्राप्ति-हेतु आत्म-साधना का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है। अत यह सुनिश्चित है कि सयमधर्म तपश्चरण का पूरक है। "इच्छानिरोधस्तप" तप की इस परिभाषा से यह तथ्य स्वत ही उद्भासित हो जाता है कि सयम और तप परस्पर-सम्वद्ध है। इच्छाओ का निरोध करना ही सयम है, और तत्सान्निध्येन विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है। ससार मे समस्त इच्छाएँ-वासनाएँ इन्द्रियजनित होती है। ये इच्छाएँ एव वासनाएँ भौतिक व सासारिक क्षणिक सुखो की प्राप्ति के लिये अभिव्यक्त होती हैं। इन इच्छाओ एव वासनाओ को रोककर ससार के प्रति विमुखना, इन्द्रियो को अपने आधीन करना एव चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही सयम है।[2] एतद्विध सयम का चरम विकास मुनित्व-काल मे सम्भावित है। श्रमण-परम्परा के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से यद्यपि गृहस्थ को निम्न एव श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु साधना के क्षेत्र मे निम्नोच्च की कल्पना को प्रश्रय नही दिया गया है। वहाँ सयम की ही प्रधानता है। इस विषय मे उत्तराध्ययन मे भगवान् महावीर के वचन द्रष्टव्य हैं – कई गृहत्यागी भिक्षुओ की अपेक्षा कुछ गृहस्थो का सयम और उनकी अपेक्षा साधनाशील सयमी मुनियो का सयम प्रधान है।[3] श्रमण-परम्परा कोरे वेषपरिवर्तन को महत्त्व नही देती है। जिसने भोग तो छोडा, आसक्ति नही छोडी, वह न भोगी है न त्यागी है। भोगी इसलिये नही है कि भोग नही भोगता, त्यागी इसलिये नही कि वह आसक्ति का त्याग नही कर सका। पराधीन होकर भोग-त्याग करने वाला व्यक्ति त्यागी या श्रमण नही है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग से दूर रहता है।[4]

अपने विशिष्टाचरण एव त्यागभावना के कारण श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है। अतिचाररहित व्रतो का पालन ही उसका वैशिष्ट्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा पाँच महाव्रतो का पालन ही उसकी आत्मा की शुद्धि एव निर्मलता का परिचायक होता है, जिससे आत्मा सासारिक कर्मवन्धन से रहित होकर निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। यही श्रामण्य है, एव श्रमण-सस्कृति का मूल है। जैन धर्म के अतिरिक्त इसकी अवस्थिति नही है। अत अन्य सस्कृतियो में इस सस्कृति का स्वतन्त्र अस्तित्व एव महत्त्व है। जैन धर्म के अपने मूलभूत सिद्धान्तो एव सस्कृतिपरक विशेषताओ के कारण ही श्रमण-सस्कृति का भारतीय सस्कृति मे महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने मे समर्थ हो सका है।





---

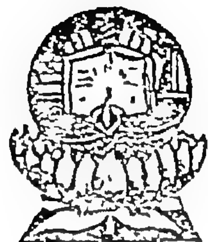
१ धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो—दशवैकालिक।

२ आस च छद च विगिंच धीरे—आचारागसूत्र।

३ सति एगेहि भिक्खूहि गारत्था सजमुत्तरा।

४ वत्यगधमलकार इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छदा जे न भुजति न से चाइत्ति वुच्चइ।
जे य कते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोगे से हु चाइत्ति वुच्चइ।।

प्राग् ऐतिहासिक भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय



रिषभदास रॉका

भारतीय प्राचीन सस्कृति अत्यन्त गौरवमयी और उन्नत होते हुए भी उसका सम्यक् परिचय पाने मे अनेक कठिनाइयां है। भारत मे व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्राचीन काल मे प्रथा नही थी। प्रारम्भ मे तो लिखने का रिवाज ही नही था इसलिये प्राचीनकाल मे साहित्य पाठान्तर के रूप मे पाया जाता है। यह प्राचीन साहित्य जो वेद के रूप मे मिलता है उसका निर्माण भी बहुत बाद मे हुआ था और लेखन उसके भी बहुत बाद मे।

प्रारम्भ मे तो ऋचाएँ ऋषि-मुनि अपने शिष्यो को मुखोद्गत कराते थे और उनका पठन होता था। इसलिये प्रारम्भ मे भारतीय सस्कृति को अन्य प्राचीन सस्कृतियो से अर्वाचीन समझा जाता था। इसमे यह भी कारण रहा हो कि प्राचीन इतिहास की खोज का काम प्रारम्भ मे अधिकतर विदेशियो ने ही किया था, जिनकी भारतीयो के प्रति उपेक्षा थी। वे प्राचीन भारतीयो की सस्कृति का प्रारम्भ वेदकाल के बाद मे मानते थे, क्योकि प्राचीन साहित्य मे वेद की गणना से इन्कार नही किया जा सकता था। पर कुछ वर्ष पहले प्राय सभी इतिहासज्ञ भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के बाद और वेदो के निर्माण के बाद ही मानते थे। पर मोहनजोदडो, हडप्पा तथा अन्य स्थानो की खुदाई ने इतिहासज्ञो को पुर्नविचार करने को बाध्य किया और अब यह माना जाने लगा है कि आर्यों के आगमन के पहले भारत मे विकसित और सुसस्कृत लोग बसते थे।

वेदपूर्व भारतीय सस्कृति

आर्यों के भारत मे आगमन के पहले जो सस्कृति थी उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि वह श्रमण या आर्हत सस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञपरायण वैदिक सस्कृति से भिन्न थी। डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है कि "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमणसस्था भारत मे आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस सस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष बौद्धो के पूर्व भी था। क्योकि पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप मे किया है। वे आगे चलकर लिखते हैं,—'पौराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनो पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम है। प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है।' जैनियो के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थो का आज भी आगम नाम से ही उल्लेख किया जाता है। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिये बौद्धो के पहले भारत मे श्रमणसस्कृति थी और उसके जैन होने की सभावना ही अधिक है। बौद्धधर्म के २५० वर्ष पहले जैनियो के तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। उनका तथा उससे भी प्राचीन काल मे जिनका उल्लेख मिलता है, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियो के उपास्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक सभव यही लगता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल मे यहाँ

सकेत मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। उत्खनन मे मिली वस्तुओ के अतिरिक्त मानव-वशशास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्य देव आदि साधनो का भी शोधकों ने उपयोग किया जिसमे शोधकर्ता इस निर्णय पर पहुँच गये है कि वैदिक सस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्येतर जातियाँ बसती थी उनके धार्मिक रीति-रिवाज और विचार सुसस्कृत थे और उनका रहन-सहन और बर्ताव सम्यतापूर्ण था। आर्येतरो की नागरिक सभ्यता थी। उनके मकान सभी सुखसुविधाओ से युक्त थे। गृहनिर्माण तथा स्थापत्य कला मे उनकी अच्छी प्रगति थी।

प्राग्वैदिक और वैदिक सस्कृति मे भेद

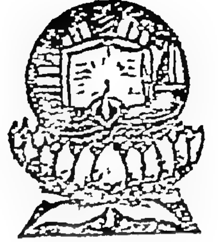
अब हमे यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक सस्कृति और ब्राह्मण सस्कृति मे किन किन-बातो मे मतभेद था ? वेदो मे जिस यज्ञप्रधान सस्कृति के दर्शन होते है उसमे वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्मप्राप्ति के लिये यजनकर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक सस्कृति का वेदकाल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत सस्कृति को माननेवाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमो से बँधी हुई है। प्रकृति के नियमो के ज्ञान से मनुष्य नये ससार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बडी शक्ति है और वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त शास्त्री ने 'चिन्तन के नये चरण' मे लिखा है कि "साध्यो ने सरस्वती और सिन्धु के सगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान-भवन मे बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। डा० देवेन्द्रकुमार ने लिखा है कि 'आर्हतो का कर्म मे विश्वास होने से ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानने का कारण था। ये आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति के साथ-साथ धार्मिक कामो मे भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। वे 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके देव-स्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो से होती है। इनमे जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, जैनागम, महाभारत और पुराण साहित्य मे कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिए आर्हत शब्द ही प्रचलित था।

"वैसे जैनशास्त्रो मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ मे देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन पाया जाता है। जैसा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महावीर ने पचव्रतो मे विकसित किया। मूलरूप मे अर्हत्-सस्कृति अहिंसा, समता-प्रधान तथा कर्म-प्रधान थी, जब कि आर्य भौतिक सुखो को प्राप्त कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारो के तथा यज्ञो के उपासक थे। उनपर निवृत्तिपरायण और अहिसक सस्कृति का प्रभाव पडा और श्रमण-सस्कृति ने भी वैदिक स्कृति से कई बातें ग्रहण की। यज्ञो मे पशु-हिसा बन्द होकर दोनो सस्कृतियो का समन्वय हुआ। वह हमे उपनिषद तथा महाभारत-काल मे देखने को मिलता है। श्रमण-सस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता-प्रधान थी।"

आर्हतो के उपास्य ऋषभदेव को आर्यो ने अपने यहाँ पूज्य पुरुषो मे स्थान दिया। वेद मे उसका उल्लेख मिलता है पर जब दोनो सस्कृतियो का समन्वय हुआ तब तो उन्होने ब्राह्मणो के २४ अवतारो मे स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणो की तरह ब्राह्मणो मे भी पूज्य और आदरणीय बने। वैसे ऋषभदेव आर्यो के आगमन के बहुत पहले हुए हो, ऐसा लगता है। क्योकि मोहनजोदडो मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे जो ध्यानमूर्तियाँ मिली हैं उनमे बैल का चिह्न पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शकर का प्रतीकचिह्न भी बैल ही है। दोनो ही साधना मे योग को प्राधान्य देनेवाले थे। इसीलिये कई लेखको ने दोनो की तुलना कर उन्हे एक बताने का प्रयत्न किया है। वे दोनो एक हो या भिन्न, पर निवृत्ति-प्रधान और योग को प्राधान्य देनेवाले थे। अध्यात्म, सादगी, सयम, पुनर्जन्म को माननेवाले, तथा पशुयज्ञो के विरोधक थे। डा० मगलदेव शास्त्री ने भारतीय सस्कृति की दोनो विचारधाराओ को युग्म कहा है। वे कहते हैं—



प्राग् ऐतिहासिक भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय



रिषभदास राँका

भारतीय प्राचीन सस्कृति अत्यन्त गौरवमयी और उन्नत होते हुए भी उसका सम्यक् परिचय पाने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं। भारत मे व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्राचीन काल मे प्रथा नही थी। प्रारम्भ मे तो लिखने का रिवाज ही नही था इसलिये प्राचीनकाल मे साहित्य पाठान्तर के रूप मे पाया जाता है। यह प्राचीन साहित्य जो वेद के रूप मे मिलता है उसका निर्माण भी वहुत वाद मे हुआ था और लेखन उसके भी वहुत वाद मे।

प्रारम्भ मे तो ऋचाएँ ऋपि-मुनि अपने शिष्यों को मुखोद्‌गत कराते थे और उनका पठन होता था। इसलिये प्रारम्भ मे भारतीय सस्कृति को अन्य प्राचीन सस्कृतियो से अर्वाचीन समझा जाता था। इसमे यह भी कारण रहा हो कि प्राचीन इतिहास की खोज का काम प्रारम्भ मे अधिकतर विदेशियो ने ही किया था, जिनकी भारतीयो के प्रति उपेक्षा थी। वे प्राचीन भारतीयो की सस्कृति का प्रारम्भ वेदकाल के वाद मे मानते थे, क्योकि प्राचीन साहित्य मे वेद की गणना से इन्कार नही किया जा सकता था। पर कुछ वर्ष पहले प्राय सभी इतिहासज्ञ भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ आर्यो के आगमन के वाद और वेदो के निर्माण के वाद ही मानते थे। पर मोहनजोदडो, हडप्पा तथा अन्य स्थानो की खुदाई ने इतिहासज्ञो को पुर्नविचार करने को वाध्य किया और अब यह माना जाने लगा है कि आर्यो के आगमन के पहले भारत मे विकसित और सुसस्कृत लोग वसते थे।

वेदपूर्व भारतीय सस्कृति

आर्यों के भारत मे आगमन के पहले जो सस्कृति थी उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस वात को मानने लगे हैं कि वह श्रमण या आर्हत सस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञपरायण वैदिक सस्कृति से भिन्न थी। डा० रामधारीसिह 'दिनकर' ने 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है कि "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमणसस्था भारत मे आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस सस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष बौद्धो के पूर्व भी था। क्योकि पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण सघर्प का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप मे किया है। वे आगे चलकर लिखते हैं,—'पौराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनो पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम हैं। प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। 'जैनियो के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थो का आज भी आगम नाम से ही उल्लेख किया जाता है। वौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्प पूर्व माना जाता है। इसलिये वौद्धो के पहले भारत मे श्रमणसस्कृति थी और उसके जैन होने की सभावना ही अधिक है। वौद्धधर्म के २५० वर्प पहले जैनियो के तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। उनका तथा उससे भी प्राचीन काल मे जिनका उल्लेख मिलता हैं, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियो के उपास्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक सभव यही लगता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल मे यहाँ जो श्रमण-सस्कृति हो वह जैन सस्कृति से मिलती-जुलती या जैन-सस्कृति ही रही हो। यो जैनियो की अनुश्रुतियो से भी

सकेत मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। उत्खनन मे मिली वस्तुओ के अतिरिक्त मानव-वशशास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्य देव आदि साधनो का भी शोधको ने उपयोग किया जिसमे शोधकर्ता इस निर्णय पर पहुँच गये है कि वैदिक सस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्येतर जातियाँ वसती थी उनके धार्मिक रीति-रिवाज और विचार सुसस्कृत थे और उनका रहन-सहन और वर्ताव सभ्यतापूर्ण था। आर्येतरो की नागरिक सभ्यता थी। उनके मकान सभी सुखसुविधाओ से युक्त थे। गृहनिर्माण तथा स्थापत्य कला मे उनकी अच्छी प्रगति थी।

प्राग्वैदिक और वैदिक सस्कृति मे भेद

अब हमे यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक सस्कृति और ब्राह्मण सस्कृति मे किन किन-बातो मे मतभेद था ? वेदो मे जिस यज्ञप्रधान सस्कृति के दर्शन होते हैं उसमे वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्मप्राप्ति के लिये यजनकर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक सस्कृति का वेदकाल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत सस्कृति को माननेवाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमो से बँधी हुई है। प्रकृति के नियमो के ज्ञान से मनुष्य नये ससार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बडी शक्ति है और वह समस्त शक्तियो मे श्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त शास्त्री ने 'चिन्तन के नये चरण' मे लिखा है कि "साध्यो ने सरस्वती और सिन्धु के सगम पर विज्ञान-भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान-भवन मे बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। डा० देवेन्द्रकुमार ने लिखा है कि 'आर्हतो का कर्म मे विश्वास होने से ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानने का कारण था। ये आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति के साथ-साथ धार्मिक कामो मे भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद-विवादो मे भी भाग लेते थे। वे 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके देव-स्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थो से होती है। इनमे जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय मे भी अनेक आख्यान उपलब्ध है। यथार्थ मे आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदो, उपनिषदो, जैनागम, महाभारत और पुराण साहित्य मे कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिए आर्हत शब्द ही प्रचलित था।

"वैसे जैनशास्त्रो मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ मे देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन पाया जाता है। जैसा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महावीर ने पचव्रतो मे विकसित किया। मूलरूप मे अर्हत्-सस्कृति अहिंसा, समता-प्रधान तथा कर्म-प्रधान थी, जब कि आर्य भौतिक सुखो को प्राप्त कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारो के तथा यज्ञो के उपासक थे। उनपर निवृत्तिपरायण और अहिंसक सस्कृति का प्रभाव पडा और श्रमण-सस्कृति ने भी वैदिक स्कृति से कई बातें ग्रहण की। यज्ञो मे पशु-हिंसा बन्द होकर दोनो सस्कृतियो का समन्वय हुआ। वह हमे उपनिषद तथा महाभारत-काल मे देखने को मिलता है। श्रमण-सस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता-प्रधान थी।"

आर्हतो के उपास्य ऋषभदेव को आर्यो ने अपने यहाँ पूज्य पुरुषो मे स्थान दिया। वेद मे उसका उल्लेख मिलता है पर जब दोनो सस्कृतियो का समन्वय हुआ तब तो उन्होने ब्राह्मणो के २४ अवतारो मे स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणो की तरह ब्राह्मणो मे भी पूज्य और आदरणीय बने। वैसे ऋषभदेव आर्यो के आगमन के बहुत पहले हुए हो, ऐसा लगता है। क्योकि मोहनजोदडो मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे जो ध्यानमूर्तियाँ मिली हैं उनमे बैल का चिह्न पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शकर का प्रतीकचिह्न भी बैल ही है। दोनो ही साधना मे योग को प्राधान्य देनेवाले थे। इसीलिये कई लेखको ने दोनो की तुलना कर उन्हे एक बताने का प्रयत्न किया है। वे दोनो एक हो या भिन्न, पर निवृत्ति-प्रधान और योग को प्राधान्य देनेवाले थे। अध्यात्म, सादगी, सयम, पुनर्जन्म को माननेवाले, तथा पशुयज्ञो के विरोधक थे। डा० मगलदेव शास्त्री ने भारतीय सस्कृति की दोनो विचारधाराओ को युग्म कहा है। वे कहते हैं—





"भारतीय समाज मे एक द्वन्द्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति को मध्य लेकर है और तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओ को लेकर। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओ मे विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य है कि हम बाधाओ पर विजय प्राप्त करके जीवन मे जयलाभ करें एव मानव-बन्धुओ का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओ को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनो लोको मे सुख और आनन्द प्राप्त कर सके। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करे किन्तु, हमे रोग और शोक से छुटकारा नही मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते है। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही वासनाओ की जजीर मे पडे हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखो को पीठ दे दे जो हमे ललचाकर ससार मे बाँधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोडकर सन्यास ले लेना चाहिये—और देह-दडनपूर्वक वह मार्ग पकडना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास मे से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति मे से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त अधिकाश मे प्राग्-वैदिक मान्यताओ से पुष्ट हुए होगे। किन्तु भारतीय अध्यात्मशास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तो का नही है। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दु खो से भाग खडा होने के बदले वह डटकर उसका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई दशाओ मे बिलकुल अक्षुण्ण रह गया है। विशेषत योरोप मे उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नही आई। किन्तु, कई देशो की स्थानीय सस्कृति और परिस्थितियो ने आर्यों के भीतर पस्ती डाल दी एव उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति ने आर्यों की वैदिक सस्कृति के चारो ओर अपना विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय सस्कृति के बीच वैदिक सस्कृति समुद्र मे टापू के समान है।"

वैदिको की प्रार्थनाओ से भी यह बात स्पष्ट होती है। वे मानते थे कि "सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है। उस शक्ति की आराधना कर मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। उनकी प्रार्थनाएँ लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिये की जाती थी। कुछ हम यहाँ देते हैं

हम सौ वर्ष तक जियें।
हम सौ वर्ष तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहे।
हम सौ वर्ष तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।
हम सौ वर्ष तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें।

जो स्वय उद्योग करता है, इन्द्र उसकी सहायता करते हैं।
जो श्रम नहीं करता है, देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते।
भगवन्! जीवन-यात्रा मे हमे समुन्नत कीजिये।
हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

ओ मेरे आराध्य देव!
आप तेजस्वरूप हैं, मुझ मे तेज को धारण कीजिये।
आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।
आप बलरूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।
आप ओजरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

वैदिक तथा आगमिक सघर्ष

वैदिक और आगमिक तत्वो मे सघर्ष वेदो के समय भी चलता होगा, इसमे सन्देह नही है। आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञो मे हिंसा होती थी। आगे चलकर दोनो सस्कृतियो मे समन्वय हुआ जिसमे अहिंसक यज्ञ होने लगा। गीता, महाभारत, भागवत तथा उपनिषदो मे दोनो सस्कृतियो का समन्वय पाया जाता है। दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे यदुकुल तथा श्रीकृष्ण का हिस्सा महत्त्वपूर्ण है।

सभव यह हो सकता है कि महाभारत की हिंसा ने भारतीयो मे हिंसा के दुष्परिणाम की जानकारी करा दी हो और उनका अहिंसा की ओर अधिक झुकाव हुआ हो। कई इतिहासज्ञो का मानना है कि आर्यो का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा हो। बाद मे अहिंसा के प्रति आकर्षण बढा हो। और यह शका निर्माण हो गयी हो कि यज्ञ मे हिंसा सद्धर्म नही हो सकती। जीवन का ध्येय सास्कृतिक समन्वय के बाद सामारिक विजय नहीं किन्तु मोक्ष माना जाने लगा हो।

समन्वय का प्रारंभ

प्राचीन साहित्य मे आर्हत और बार्हत शब्द सस्कृति की दो धाराओ के लिए पाये जाते है। आर्हत लोग अर्हत् के उपासक थे और बार्हत थे वेद और ब्राह्मणो को माननेवाले यज्ञ के उपासक। 'बृहती' वेद को कहते है। उसके भक्त बार्हत थे। वे वैदिक यजन-कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अर्हत् शब्द ऋग्वेद मे आया है और अर्हत् को-विश्व की रक्षा करनेवाले को श्रेष्ठ कहा गया है। इसमे तथा ऋषभ के ऋग्वेद मे उल्लेख से लगता है कि समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद-काल से शुरू हुई थी पर उसका पूर्ण विकसित स्वरूप हम पाते है महाभारत या उपनिषद्काल मे। वृषभ और ऋषभ शब्द भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुए है। मेघ, बैल, सांड, और अग्नि के रूप मे उनका उल्लेख मिलता है तो कई स्थानो मे कामनाओ की पूर्ति करनेवाला या कामनाओ की वर्षा करने वाला माना गया है। किन्तु ऋग्वेद मे दो जगह परमात्मा के रूप मे वर्णित है। उसे रुद्र रूप मे भी वर्णित किया गया है। इसलिए शिव या रुद्र के रूप मे ऋषभ को मानने और शिव तथा ऋषभ एक ही है, इस बात को भी समर्थन मिलता है। अर्हत् वृषभ को वैदिक साहित्य मे प्रशस्त भी कहा गया है। जैनागमो मे ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्तक कहा है तो भागवत मे ऋषभदेव के अवतार का उद्देश्य वातरशना, श्रमण, ऋषियो के धर्म को प्रकट करना बनाया गया है।

भारतीय सस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण दोनो धाराओ मे जिनका समान रूप मे आदर है, वे है ऋषभदेव। दोनो ही धारा वाले उन्हे पूज्य मानते है। आदर देते है। जैनियो के वे आदि तीर्थंकर है तो हिन्दुओ के विष्णु के साक्षात् अवतार। शिवपुराण मे भी अट्ठाईस योगावतारो मे उन्हे गिनाया गया है।

अर्हत् के उपासक

आर्हत धर्म के माननेवालो मे व्रात्य और पणि हो, ऐसा प्राचीन साहित्य के अध्ययन से लगता है। पणि भारत के व्यापारी थे जो अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। वे केवल धनी ही नही थे पर ज्ञान-विज्ञान मे भी उन्होंने काफी प्रगति की थी। वे देश-विदेश मे व्यापार करते थे तथा अरब-अफ्रीका तक व्यापार के लिए जाते थे। वे यज्ञ-परायण सस्कृति को नही मानते थे और ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा भी नही देते थे। सभव यह भी है कि पणि से पणिक और आगे चलकर 'वणिक' बन गये हो—जो आज के बनियो के रूप मे पहचाने जाते है। पणि वैश्य या व्यवसायी थे।

आर्हत सन्तो या अर्हतो के उपासक थे। व्रात्य का घूमनेवाला साधु भी कहा गया है। वे अध्यात्मवादी परम्परा को मानते थे जिसमे आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, ब्रह्म या ईश्वर को नही मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आत्मा ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकती है।



ऋषभ शब्द की तरह ऋग्वेद मे वातरशना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनो का सबध भी है।

मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला ॥
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनयेन वाता आतस्थिम वयम् ॥
शरीरे दस्माक मर्ता सो अभि पश्यय ॥

वेदो की गाथाओ के विषय मे विद्वानो के अनेक प्रयत्न करने पर भी निस्सदेह अर्थ बैठाना सभव नही हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का डा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है—"अतीद्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है, जिससे पिंगलवर्ण दिखायी देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोडकर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को—अशरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही।' ऐसा वातरशना मुनि प्रकट करते हैं। वेद की उक्त ऋचाओ के साथ 'केशी' की स्तुति की गयी है।

केश्यग्नि केशी विष केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

ऋग्वेद, १०।१३६।१

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वो के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान'—ज्योति, 'केवलज्ञानी' कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनि के वर्णन आदि मे की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो मे प्रधान है। ऐसा डा० हीरालाल जैन ने अनुमान निकाला है। वह उचित ही लगता है।

दोनो सस्कृतियो के समन्वय ऋषभदेव

इससे ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि की सहज मे यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेवचरित्र का जैन साहित्य मे जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत मे मिलता है। इससे कई विद्वानो ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज मे ऋषभ की जडें गहरी जमने के बाद जैन कथानक को भागवत मे अपनाया गया हो। पर प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का अभिमत इस विषय मे भिन्न है। वे कहते है कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा मे भी कम या अधिक मात्रा मे एक या दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सभव है कि जिन सस्कृत, प्राकृत पुराणो मे ऋषभदेव के सम्बन्ध मे भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत से लिया गया है। सारी आर्य जाति मे समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीन काल से चली आयी है। ऋषभ सारी आर्य प्रजा के देव है, इस विषय मे मुझे लेशमात्र भी शका नही है।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशो की परम्परा, जो वेद ऋचाओ मे केशी नाम से वातरशना मुनियो का वर्णन तथा भागवत मे वर्णन है, उससे मिलती हुई है। क्योकि जैन परम्परा मे ऋषभदेव की मूर्तियो पर कुटिल केशो की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थंकरो की मूर्तियो मे सिर्फ ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशो का रूप दिखाया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभ देव का नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक है। सिंह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है। केशरियानाथ पर केशर चढाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके

ऋषभ शब्द की तरह ऋग्वेद मे वातरशना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनो का सबंध भी है।

मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला ॥
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनयेन वाता आतस्थिम वयम् ॥
शरीरे दस्माक मर्ता सो अभि पश्यथ ॥

वेदो की गाथाओ के विषय मे विद्वानो के अनेक प्रयत्न करने पर भी निस्सदेह अर्थ बैठाना सभव नही हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का डा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है —"अतीद्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे पिंगलवर्ण दिखायी देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोडकर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को —अशरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही।' ऐसा वातरशना मुनि प्रकट करते हैं। वेद की उक्त ऋचाओ के साथ 'केशी' की स्तुति की गयी है।

केश्यग्नि केशी विष केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

ऋग्वेद, १० । १३६ । १

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वो के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान'—ज्योति, 'केवलज्ञानी' कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनि के वर्णन आदि मे की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो मे प्रधान है। ऐसा डा० हीरालाल जैन ने अनुमान निकाला है। वह उचित ही लगता है।

दोनो सस्कृतियो के समन्वय ऋषभदेव

इससे ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि की सहज मे यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेवचरित्र का जैन साहित्य मे जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत मे मिलता है। इससे कई विद्वानो ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज मे ऋषभ की जडे गहरी जमने के वाद जैन कथानक को भागवत मे अपनाया गया हो। पर प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का अभिमत इस विषय मे भिन्न है। वे कहते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा मे भी कम या अधिक मात्रा मे एक या दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सभव है कि जिन सस्कृत, प्राकृत पुराणो मे ऋषभदेव के सम्बन्ध मे भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत से लिया गया है। सारी आर्य जाति मे समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीन काल से चली आयी है। ऋषभ सारी आर्य प्रजा के देव हैं, इस विषय मे मुझे लेशमात्र भी शका नही है।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशो की परम्परा, जो वेद ऋचाओ मे केशी नाम से वातरशना मुनियो का वर्णन तथा भागवत मे वर्णन है, उससे मिलती हुई है। क्योकि जैन परम्परा मे ऋषभदेव की मूर्तियो पर कुटिल केशो की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थंकरो की मूर्तियो मे सिर्फ ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशो का रूप दिखाया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभदेव का नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है। केशरियानाथ पर केशर चढाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके

केशो के कारण प्रचलित हुआ हो यह अधिक युक्तिसगत मालूम देता है। केशरिया की पूजा हिन्दू तथा आदिवासी भी कालिया बाबा के नाम से करते है।

जैनियो के साहित्य मे ऋषभदेव की जटाओ का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, भागवत के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एव केशरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रंथ सप्रदाय एक ही सिद्ध होता है, क्योकि ऋषभ और केशी का एक स्थान पर वैदिक ऋचा मे उल्लेख आया है। जिससे यह अनुमान निकलता है कि वातरशना मुनियो के निर्ग्रन्थ साधुओ तथा मुनियो के नायक केशी मुनि ऋषभदेव है। इसमे जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है।

कई विद्वान् वेदो का रचनाकाल ईसा से पूर्व पाच हजार वर्ष मे भी अधिक मानते हैं तो कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदो की रचना ईसा से १५०० साल पहले हुई। इससे यह मानना पडता है कि जैनधर्म इससे प्राचीन है। क्योकि वेदो की रचना से पूर्व ऋषभदेव हुए होगे तभी उनका उल्लेख उसमे मिलता है।

मोहन-जो-दडो की खुदाई ने उपर्युक्त प्राचीनता के विषय मे और भी अधिक समर्थन दिया है। वहा जो कायोत्सर्गयुक्त ध्यानस्थ मूर्तिया मिली है और बैल के चित्र खुदे हुए मिलते हैं उससे प्राचीनता की कडी वहा तक जुड सकती है। उनका योगी होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवधूत पन्थ मे बगाल प्रात के कुछ लोग है, जिनकी सख्या अधिक नही है, पर वे ऋषभ को एक अवधूत परम त्यागी मानकर उनकी उपासना करते हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित कठिन व्रतो का पालन करते है। उनके पथ मे आगे बढे हुए साधक ऋषभदेव को आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण करते हैं। यह आदर्श शरीर के विषय मे निर्मोहिता सिद्ध करता है। यहा तक कि शरीर मे कीडा चला जाय तो साधक उसे फेंकता नही बल्कि कीडे को शरीर अर्पण करने मे उसे विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषभदेव केवल भारतीय जैन, वैदिक, हिन्दु या योग परम्परा के उपास्य देव ही नही है पर भारत के बाहर भी उनका प्रभाव होना चाहिये, ऐसा सायप्रस मे हुई खुदाई मे ऋषभदेव की जो कास्य मूर्ति मिली उससे पता चलता है। लेफ्टिनट कर्नल विलफोर्ड ने एशियाटिक रिसर्चेज वाल्युम-३ मे लिखा है कि भारत और इजिप्त के साथ प्राचीन-काल मे सम्पर्क था। उन्होने नई शोधो की पार्श्वभूमि मे हिन्दुओ के भौगोलिक क्षेत्र की जाच की अत्यन्त आवश्यकता बतलाई है। उनका कहना ठीक था, क्योकि सायप्रस की प्राचीन खुदाई मे श्री ऋषभदेव की कास्यमूर्ति मिली है।

और भी शोधो से पता चलता है कि इजिप्त, सुमेरियन आदि सस्कृतियो मे श्रमण सस्कृति का प्रभाव था और उन प्राचीन सस्कृतियो का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे कुछ अशो मे जैनियो से मिलती जुलती रही हैं।

प्राचीन जैन सस्कृति का स्वरूप

फिर प्रश्न यह खडा होता है कि जैन धर्म का आज का जो रूप है वैसा ही प्राचीन काल मे था या आज के जैन धर्म से कुछ अन्तर था ? भारत या पास-पडौस पर जिस सस्कृति का प्रभाव पडा था उस सस्कृति का रूप कैसा था ? भारतवर्ष मे प्रचलित प्राचीन धर्म दो विभागो मे बट सकते हैं। एक तो निवृत्तिपर दूसरे प्रवृत्तिपर। प्रवृत्तिधर्म मे चार आश्रम थे और निवृत्तिधर्म एक आश्रम पर अधिक भार देता है। उसमे आत्मकल्याण के लिये केवल सन्यास को ही प्राधान्य दिया है। उसमे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम को स्थान न हो ऐसा नही, पर निवृत्तिधर्म मे जाति, आयु का विशेष विचार न कर, चाहे जिस जाति और चाहे जिस उम्र के स्त्री-पुरुष के लिये समान रूप से त्याग और सन्यास का उपदेश दिया जाता है। यदि कोई गृहस्थाश्रम करना पडता है तो निवृत्तिधर्म के अनुसार लाचारी ही मानी जाती है। पर प्रवृत्तिधर्म के अनुसार आश्रम के क्रम मे प्रवृत्ति और निवृत्ति को स्वीकार किया जाना इष्ट समझा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम मे सीधा सन्यासप्रवेश प्रवृत्तिधर्म में वर्ज्य समझा जाता है। लेकिन निवृत्तिपरक धर्म मे कोई बाल या कुमार अवस्था मे भी सन्यास ले तो वह धर्म्य समझा जाएगा।



जैन समाज की दो तीन हजार वर्ष की परम्परा, जैन साहित्य, तथा जैन मानस का अवलोकन करने पर

मालूम होगा कि धर्म निवृत्तिप्रधान ही है। लेकिन पंडित सुखलालजी का मानना है कि जैन धर्म के मूल उद्गम मे निवृत्तिप्रधान स्वरूप को नही पर प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को ही स्थान था।

सारी जैन परम्परा ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदिपुरुष के रूप मे जानती है। उनको मार्गदर्शक, कर्मयोगी, और पूर्ण पुरुष के रूप मे मानती है, पूजती है। उनका चरित्र जैन परम्परा की तरह ब्राह्मण परम्परा मे भी मिलता है। जैन परम्परा की मान्यता ब्राह्मण परम्परा की पुष्टि करती है। ऋषभदेव के जीवन की जैनो के द्वारा वर्णित अनेकानेक घटनाओ से अनुमान होता है कि प्राचीनकाल मे जैन धर्म का रूप प्रवृत्तिमूलक होना चाहिये और यही कारण है कि प्रवृत्तिप्रधान वैदिक परम्परा ने उस परम्परा को अपनाया। वैदिक सस्कृति मे जो विचार थे उसमे अध्यात्म, सयम, योग, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि बातो का प्रभाव श्रमण सस्कृति ने डाला और उनकी यज्ञ तथा इहलोक के सुखो पर जोर देनेवाली सस्कृति ने श्रमणसस्कृति के विचारो को अपनाया हो। और ऋषभदेव भी उनके पूज्य और आदरणीय बने हो। प्राचीन श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति के समन्वयकाल की यह घटना होनी चाहिये। उपनिषत्काल मे वैदिक और श्रमणसस्कृति का समन्वय दिखाई देता है।

इस समन्वयात्मक सस्कृति मे आगे चलकर आयी हुई विकृति को दूर करने का काम पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि ने किया और जैनधर्म प्रमुख रूप से निवृत्तिप्रधान बनकर दोनो धाराए बिलकुल अलग अलग चली। इसका विश्लेषण करना आवश्यक होने पर भी वह समयक्रम के अनुसार आगे का विषय है। लेकिन प्राग्ऐतिहासिक काल मे श्रमणसस्कृति और उस सस्कृति के नायक ऋषभदेव ने वैदिक सस्कृति पर प्रभाव डाला था और वैदिक धर्म और श्रमणसस्कृति के समन्वय से उपनिषद्, भारत, भागवत आदि ग्रथो की रचना हुई। उनमे इस समन्वय के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद् भागवत मे इस प्रकार है —

हे पुत्रो! जो **दुखदायी विषयभोग**, विष्ठा खानेवाले कुत्ते, सूअर आदि प्राणियो को मिलते रहते हैं, उन विषयभोगो के लिए ससार मे यह मनुष्यदेह धारण करने योग्य नही है। इस मानवदेह से तो अन्त करण की शुद्धि करके अनन्त महासुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान् कहते हैं कि सर्वत्र सम चित्त वाले, शान्त, क्रोधरहित और सदाचारी महापुरुष की सेवा मोक्ष का द्वार है। परम पुरुष रूप परमात्मा मे परम प्रेम ही जिसका ध्येय है, जितनी अपने शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतनी प्राप्ति का प्रयास करे उसे ही महापुरुष समझना चाहिए।

हे पुत्रो! मनुष्य इद्रियो को सुख पहुचाने हेतु जब कोई कर्म करता है तब वह प्रमादी होकर अवश्य ही पापकर्म करता है। जब तक अज्ञान के कारण मन की हार हुई होती है और देहादि के अहभाव से कर्म करने मे ही वृत्ति रहती है, वहा तक मनुष्य आत्मतत्व जानने की इच्छा नही रखता। अविद्या से आत्मस्वरूप ढक जाने से जो कर्म मन को वश मे करता है, और फिर से कर्म करने के लिए आसक्त करता है। इसलिए जहा तक आत्मस्वरूप मे उसकी प्रीति नही होती, वहा तक पुरुष देह के सबध से मुक्त नही होता।

हे पुत्रो! मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो या विवेकी हो, पर जहा तक वह प्रमादवश इद्रियो के आधीन होकर उनका अनुसरण करता है, वहा तक मैथुनसुख जिसमे प्रधान है, ऐसे गृहसस्कार मे फसकर, वह त्रिविध ताप भोगता रहता है। विद्वान् कहते है—जब स्त्री-पुरुष दाम्पत्यभाव को लेकर मिलते हैं, तब उनको वह दपतीभाव दूसरी हृदय-ग्रथि के रूप मे बन जाता है। उसका घर, क्षेत्र, पुत्र, धन आदि मे "मैं मेरा" भाव उत्पन्न हो जाता है। अत हृदय की यह ग्रथि जिन-जिन कर्मों से बधी हुई या दृढ हुई उन कर्मों को शिथिल किया जाय तभी दपतीभाव से निवृत्ति होकर सभी बन्धनो के कारणभूत अहकार को त्यागकर मुक्त हुआ जा सकता है।

हे पुत्रो! इस अहकार का त्याग निम्न पच्चीस साधनो के द्वारा हो सकता है विवेकी गुरु तथा परमात्मा के विषय मे भक्ति और तत्परता। तृष्णा का त्याग। सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो को सहन करना। इस लोक मे तथा इसी प्रकार परलोक मे सर्वत्र दु ख ही है, ऐसा ज्ञान। तत्व और अतत्व की जिज्ञासा। तप, काम्यकर्म का त्याग। ईश्वर मे कर्मों का समर्पण। भगवत्कथा। भक्तो का नित्य सग। भगवान् के गुणो का कीर्तन। प्राणिमात्र के प्रति वैरबुद्धि का परि-

त्याग । सर्वत्र समभाव । बाह्य और आभ्यंतर इंद्रियों का जय । शरीर तथा गृह पर अहं ममत्व का त्याग । अध्यात्म-योग । अध्यात्म-शास्त्रों का अभ्यास । एकान्त प्रदेश का सेवन । प्राण-इंद्रिय-मन का जय । श्रद्धा, ब्रह्मचर्य । नित्य अप्रमाद । कर्त्तव्यों का अत्याग । वाक्-संयम । सर्वत्र परमात्मा की भावनायुक्त अनुभवज्ञान और धैर्यपूर्वक प्रयत्न-विवेक-पूर्वक योग-समाधि ।

हे पुत्रो ! इस प्रकार के अप्रमादीपन से कर्मों के निवासस्थान रूप तथा अविद्या से प्राप्त हुई हृदय की मोह रूपी गांठ के बन्धन को शास्त्रों के आदेशानुसार तोड़ देने के बाद इन उपायों से विराम लेना चाहिए । पिता, गुरु, राजा अपने पुत्रों, शिष्यों तथा प्रजा को क्रोध रहित होकर वैसा ही उपदेश देना चाहिए । कारण कि लोक-व्यवहार में पड़ा हुआ मनुष्य स्वतः अपने कल्याण-साधन से रहित होकर, कामभोग की अत्यन्त अभिलाषा रखता हुआ, विषयों की इच्छा रखकर, काम्य-कर्मों में लिप्त रहता है । उसे कर्म करवाने के लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं होती । इसलिये उसे काम्यकर्मों को करने का उपदेश देकर संसार के गड्ढे में डालकर क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? जो मृत्युरूप भी संसार से फंसे मनुष्यों को नहीं छुड़ा सकता वह गुरु होकर भी गुरु नहीं है, स्वजन होकर भी स्वजन नहीं है । वह पिता, माता, देव या पति भी नहीं है ।

हे पुत्रो ! तुम मेरे शुद्ध, सत्त्वगुणमय हृदय से उत्पन्न हुए हो । उससे तुम अपने इस बड़े भाई भरत की निष्कपट भाव से सेवा करना । ऐसा करने से तुम्हें परमात्मा की सेवा करने जैसा और प्रजा का पालन समझा जाएगा । तुम ईर्ष्या, मत्सर रहित पवित्र होकर सब स्थावर-जंगम प्राणियों को मेरा निवास रूप मानकर क्षण-क्षण में उन्हें आदर देना क्योंकि प्राणिमात्र को इसी भांति सम्मान देना ही परमात्मा का पूजन है । मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य सभी इंद्रिय-व्यापारों का परम फल यही है कि, उन सबसे परमात्मा की आराधना की जा सकती है । इस प्रकार सभी प्रवृत्तियों को परमात्मा में अर्पण करनेवाला पुरुष आराधना के बिना मोहरूपी कालपाश से मुक्त होने में समर्थ नहीं होता ।

जिस अहिंसा पर श्रमण या आर्हत संस्कृति ने अत्यधिक जोर दिया उस अहिंसा के विषय में महाभारत में जो श्लोक मिलते हैं उनमें से कुछ ये हैं —

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥

जो मुनि सर्वभूतों को अभय देकर विचरता है, उसे किसी भी प्राणी से कहीं भी भय नहीं उत्पन्न होता ।

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौंजरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते ।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥

जैसे महानाग-हाथी के पदचिह्न में पैरों से चलनेवाले अन्य सर्व प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सर्व धर्म और अर्थ एक से—अहिंसामें—सन्निविष्ट हैं । जो पुरुष प्राणीहिंसा नहीं करता, वह नित्य अमृत होकर निवास करता है—जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥

सर्व प्राणी सुख में आनन्दित होते हैं । सर्व प्राणी दुःख से अति त्रस्त होते हैं । उन प्राणियों को भय उत्पन्न करने में खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करें ।



दान हि भूताभयदक्षिणाया
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णा तनु य प्रथम जहाति
सोऽत्यन्तमाप्नोत्यभय प्रजाभ्य ।।

ससार मे प्राणियो को अभय की दक्षिणा का दान देना सब दानो से बढकर है । जो पहले ही हिंसा का त्याग कर देता है, वह सब प्राणियो से अभय होकर मोक्ष प्राप्त करता है ।

यदन्यैर्विहित नेच्छेदात्मन कर्म पूरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन ।।

जिस अन्यकृत व्यवहार को मनुष्य अपने लिए नही चाहता वह व्यवहार, वह दूसरो के प्रति भी न करे । वह जाने कि जो व्यवहार अपने को अप्रिय है, वह दूसरो को प्रिय कैसे होगा ।

जीवित य स्वय चेच्छेत कथ सोऽन्य प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ।।

जो स्वय जीना चाहता है, वह दूसरो की घात कैसे कर सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो चाहे वही दूसरे के लिए भी सोचे ।

योऽभय सर्वभूताना स प्राप्नोत्यभय पदम् ।

जो सर्व भूतो को अभय देनेवाला होता है, वह अभय-पद को प्राप्त कर लेता है ।

यस्मादुद्विजते लोक सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम् ।।

जो वाक्क्रूर, दण्डक्रूर होता है और जिससे सर्वलोक वैसे ही उद्वेग को प्राप्त होते है जैसे मृत्यु के मुख से, वह पुरुप महान् भय को प्राप्त होता है ।

यस्मान्नोद्विजते भूत जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभय सर्वभूतेभ्य स प्राप्नोति सदा मुने ।।

जिससे कोई भी भूत किसी प्रकार किंचित् भी उद्वेग को प्राप्त नही होता वह सदा सर्व भूतो से अभय प्राप्त कर लेता है ।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरै ।
सशयात्मभिरव्यक्तैर्हिसा समनुवर्णिता ।।

जो पुरुष मर्यादा मे अनवस्थित हैं, विमूढ हैं, नास्तिक हैं, जिनकी आत्मा मे सशय है एव जिनकी कही प्रसिद्धि नही है, ऐसे लोगो द्वारा ही हिंसा अनुमोदित है ।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतम मतम् ।
एतत् पदमनुद्विग्न वरिष्ठम् धर्मलक्षणम् ।।

सब प्राणियो की अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है –ज्ञानियो ने ऐसा माना है । यह पद उद्वेग रहित, वरिष्ठ और धर्म का लक्षण है ।

शरण्य सर्वभूताना विश्वास्य सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ।।

अहिंसक सर्व प्राणियो का शरणभूत होता है । वह सबका विश्वासपात्र होता है । वह लोक मे प्राणियो को उद्वेजित नही करता और न कभी किसी से उद्विग्न होता है ।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दया नरः कुर्याद् यथात्मनि तथा परे ॥

लोक में प्राण से बढ़कर प्रिय वस्तु दूसरी नहीं है। जब मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरों पर भी दया करे।

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिदस्तीह निश्चितम् ॥

प्राणदान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। यह निश्चित है कि प्राणों से प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥

अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिंसा ही परम दान है और अहिंसा ही परम तप है।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥

अहिंसा ही परम यज्ञ है, अहिंसा ही परम फल है। अहिंसा ही परम मित्र है और अहिंसा ही परम सुख है।

हम समन्वय की दृष्टि से महाभारत का काल सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, जिस काल में जैनों के तीर्थंकर नेमिनाथ हुए थे और हिन्दुओं के अवतार श्रीकृष्ण। नेमिनाथ ने अहिंसा से द्रवित होकर संसार त्याग किया था। जैन शास्त्रों में उन्हें श्री कृष्ण का गुरु बताया गया है। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द नेमिनाथ को आंगिरस बताते हैं जो श्रीकृष्ण के गुरु थे। इसमें तो संदेह है ही नहीं कि अरिष्टनेमि यादवकुल के थे और श्रीकृष्ण के निकट सम्बन्धी। श्रीकृष्ण को भले ही वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति ने बाद में अपनी संस्कृति का महान् पुरुष माना हो पर वे वैदिकों के देव इन्द्र के उपासक नहीं थे बल्कि इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। यह सब होते हुए भी श्रीकृष्ण ने समन्वय को अपनाया था। इसलिये वे भी दोनों संस्कृतियों में आदरणीय बने। ब्राह्मण या हिन्दु संस्कृति ने उन्हें अवतार माना है और श्रमण संस्कृति उन्हें अपना भावी तीर्थंकर कहती है।

इस प्रकार भारतीय प्राग् ऐतिहासिक संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय हुआ।

●



श्रमण-संस्कृति का केन्द्र : श्रावस्ती



डा० हरीन्द्रभूषण जैन,

एम ए , पी-एच डी साहित्याचार्य,

विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन

परिचय तथा इतिहास—

उत्तर प्रदेश मे उत्तर-पूर्वी रेलवे की गोडा-गोरखपुर लाइन पर स्थित बलरामपुर नगर से पश्चिम की ओर ११ मील की दूरी पर कुछ खण्डहरो के ढेर है । यह स्थान आजकल 'सहेठ-महेठ' नाम से जाना जाता है। १८६३ ईस्वी मे श्री कनिंघम महोदय ने उस स्थान की खोजकर यह सिद्ध किया कि यह स्थान ही जैन और बौद्ध धर्मों मे श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण की जाने वाली 'श्रावस्ती' है । तब से लेकर इस स्थान के सबध मे अनेक खोजें हुई और अब थोडा-सा भी सदेह नही रहा कि वर्तमान 'सहेठ-महेठ' ही प्राचीन श्रावस्ती है । 'सहेठ-महेठ' का कुछ भाग उत्तरप्रदेश के गोडा जिले मे तथा कुछ भाग बहराइच जिले मे है । बलरामपुर से बहराइच जाने वाली मुख्य सडकें 'सहेठ-महेठ' होकर जाती हैं । इस सडक पर चलने वाली गवर्नमेंट-रोडवेज की बसो द्वारा सरलता से श्रावस्ती पहुचा जा सकता है-।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे इस नगरी के अनेक नाम उपलब्ध होते है—श्रावस्ती,श्रावस्ति,शराबती,धर्मपत्तन, धर्मपुरी, चम्पकपुरी, चन्द्रिकापुरी कुणाल आदि । इसका सबसे प्रमुख एव प्राचीन नाम श्रावस्ती है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम ने भरत को राज्य देकर वन जाने की इच्छा प्रकट की किन्तु भरत ने राज्य की निन्दा करते हुए राम से निवेदन किया कि वे अयोध्या का राज्य लव और कुश को प्रदान करें । तदनुसार कुश को दक्षिण-कोशल का और लव को उत्तर-कोशल का राज्य दिया गया । इसके पश्चात् लव ने जिस नगरी को राजधानी के निमित्त बसाया उसका नाम 'श्रावस्ती' प्रसिद्ध हुआ ।

"कोशलेषु कुश वीरमुत्तरेषु तथा लवम् । अभिषिच्य महात्मानावुभौ राम कुशीलवौ ।

— वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाड, १०७-१७

"श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ।" — वही उत्तरका० १०८-५

कालिदास ने रघुवश मे इसी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राम ने, अपने मधुर वचनो से सज्जनो की आखो से आसू की धार बहाने वाले लव को 'शरावती' का राजा बनाया ।

"स निवेश्य कुशावत्या रिपुनागाड्कुश कुशम् । शरावत्या सता सूक्तैर्जनताश्रुलव लवम् ।

— रघुवश, १५-९७

शरावती, श्रावस्ती का ही अपभ्रश प्रतीत होता है । सभव है कालिदास के समय मे यह नगरी शरावती कहलाती हो । 'धर्मपत्तन' और 'धर्मपुरी' इन दो नामो की सूचना व्ही० एस० आप्टे के 'सस्कृत-अंग्रेजी-शब्दकोष' मे प्राप्त होती है । 'चम्पकपुरी' और 'चन्द्रिकापुरी' श्रावस्ती के ये दो प्राचीन नाम, आर्क्योलाजी विभाग, इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'श्रावस्ती' नामक पुस्तिका (पृ० २) मे प्राप्त है ।

जैनागम पन्नवणा (प्रज्ञापना) मे आर्य क्षेत्र के रूप में जिन २५½ देशो का वर्णन है उनमे श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है (प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ११४ फुट नोट)

श्रावस्ती शब्द का वर्तमान 'महेठ-महेठ' नाम से क्या सबध है, यह जानना कठिन है। श्रावस्ती का पाली नाम है 'सावत्थी' और यह अधिक सभव है कि सावत्थी शब्द परिवर्तित होते होते 'सहेठ' बन गया हो और महेठ के अनुकरण पर ही बना 'महेठ' शब्द उसके साथ प्रयुक्त होने लगा हो। प्राय यह ग्रामीण प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे किसी नाम के साथ उसका विकृत रूप भी प्रयोग करने लगते हैं। जैसे रोटी-मोटी, पानी मानी आदि।

यह नगरी भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध, दोनो से ही अधिक प्राचीन है। रामायण के अनुसार इसे राम के पुत्र लव ने बसाया था और महाभारत के अनुसार इसका निर्माण 'श्रावस्त' नाम के राजा ने किया था अत यह 'श्रावस्ती' नाम से प्रसिद्ध हुई। पुराणो मे अनेक स्थानो पर इसका उल्लेख 'उत्तर कौशल' की राजधानी के रूप मे पाया जाता है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पूर्व का श्रावस्ती का इतिहास अधकार मे है। इसके पश्चात् महावीर तथा बुद्ध, दोनो ने समान रूप मे श्रावस्ती को गौरवान्वित किया। इस काल मे प्रसेनजित श्रावस्ती के राजा थे। जैनशास्त्रो मे उन्हे जैन तथा बौद्ध शास्त्रो मे उन्हे बौद्ध कहा गया है। जैन शास्त्रो के अनुसार उनका नाम 'जितशत्रु' था।

महावीर एव बुद्ध के पश्चात् तृतीय शताब्दी ईसापूर्व मे मौर्य-सम्राट् अशोक के पूर्व तक का श्रावस्ती का इतिहास पुन अज्ञात है। अशोक ने पूरे भारतवर्ष के बौद्धतीर्थों की धर्मयात्रा के प्रसग मे जेतवन तथा श्रावस्ती की भी यात्रा की थी। हुएनत्साग (Hiuen Tsang) के अनुसार अशोक ने जेतवन के पूर्वी दरवाजे के दाहिनी और बाईं ओर ७०-७० फीट ऊचे दो स्तभ स्थापित किए थे। इनमे से एक स्तभ के ऊपर चक्र तथा दूसरे स्तभ के ऊपर बैल का चिह्न था। अशोक के समय मे श्रावस्ती अत्यन्त उन्नत अवस्था मे थी।

कुशान राजाओ के काल मे श्रावस्ती का पुनरुद्धार हुआ। इस समय यह स्थान बौद्धो के सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का गढ था। कुशान काल मे यहाँ अनेक स्तूप तथा बुद्ध की प्रतिमाए स्थापित की गईं।

गुप्तकाल ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय का काल था अत श्रावस्ती की विशेष प्रगति तो नही हुई फिर भी यहाँ का जेतवन बुद्धतीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध रहा। इस काल में यहाँ कुछ टूटे-फूटे बौद्धमन्दिरो को हिन्दूमन्दिरो के रूप मे परिणत किया गया है। यही कारण है कि यहाँ के खण्डहरो मे कुछ पक्की मिट्टी के ऐसे टुकडे प्राप्त हुए है जिनमे रामायण की कथा से सबधित दृश्य अकित हैं। फाह्यान के समय मे यहाँ विक्रमादित्य नाम के राजा का राज्य था जो सभवत कोई गुप्तवश का विक्रमादित्य विरुदधारी राजा होगा।

राजा हर्ष (ईस्वी ६०६-६४७) के शासनकाल मे चीनी यात्री हुएनत्साग ने भी श्रावस्ती की यात्रा की। उसने वहाँ पर सुदत्त और अगुलिमाल के स्तूप, प्रजापति भिक्षुणी का विहार, अशोक के दो स्तभ और एक बुद्ध-मन्दिर देखा था। उस समय तक श्रावस्ती मे बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव घट गया था।

हुएनत्साग के पश्चात् श्रावस्ती का कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नही है। दण्डी के दशकुमारचरित मे (८ वी शताब्दी) धर्मवर्धन को श्रावस्ती का राजा बताया गया है।



जैनधर्म की तीर्थस्थली—

श्रावस्ती अत्यन्त प्राचीन काल मे जैनधर्म और जैनसस्कृति की पुण्यस्थली रही है। यह तीसरे तीर्थंकर सभवनाथ और आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि होने से जैनो का पवित्र तीर्थ तो है ही, साथ ही भगवान् महावीर ने भी अपने आगमन से उस नगरी को पवित्र किया था। कल्पसूत्र मे, भगवान् महावीर ने जिन-जिन नगरो मे चातुर्मास बिताये उनके उल्लेख हैं। उनमे श्रावस्ती मे भी उनके चातुर्मास करने का उल्लेख है। (प्राकृत साहित्य का इतिहास-लेखक डा० जगदीशचन्द्र, पृ० १५९)

जैनागमो मे यत्र-तत्र श्रावस्ती के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ इसे श्रावस्ती और श्रावस्ति दोनो रूपो मे उल्लिखित किया गया है। स्थानाङ्ग के दशवे अध्ययन मे जिन दश राजधानियो के नाम गिनाये गये है उनमे श्रावस्ती भी एक है। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ पर अवश्य शक्तिशाली जैन राजाओ का राज्य रहा होगा।

भगवतीसूत्र मे, श्रावस्ती के वैशालिक श्रमण (महावीर के श्रावक) पिंगल और स्कदक परिव्राजक के बीच लोक आदि के सबध मे प्रश्नोत्तर होने का उल्लेख है। (वही-पृ० ६७)

प्रथम छेदसूत्र निसीह (निशीथ) के अनुसार श्रावस्ती उन १० अभिषिक्त राजधानियों में से एक थी जहाँ राजाओ का अभिषेक किया जाता था। (वही पृ० १४१)

पन्नवणा (प्रज्ञापना) नाम के उपाङ्ग मे आर्य क्षेत्र के जिन २५½ देशो का उल्लेख है उनमे श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है। (वही-पृ० ११४-फुटनोट)

आवश्यक चूर्णि मे महावीर के केवलज्ञान होने के १३ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती मे भयकर बाढ आने का उल्लेख है। (वही० पृ० २५४)

जैन पुराणो मे भी अनेक स्थानो पर श्रावस्ती के उल्लेख मिलते हैं। यह सब इस बात के प्रमाण है कि प्राचीन काल मे श्रावस्ती जैन सस्कृति का समृद्ध केन्द्र रही है।

तीर्थङ्कर सभवनाथ की जन्म-भूमि होने के कारण यहाँ, प्राचीन काल से शोभनाथ मन्दिर है। शोभनाथ यह सभवत, सभवनाथ का ही परिवर्तित रूप है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि होने के कारण किसी जैन राजा ने उसे चन्द्रिकापुरी नाम दिया होगा।

"जैमिनी भारत" नाम की एक मध्यकालीन रचना मे 'ध्वज' अन्त वाले ऐसे अनेक राजाओ का वर्णन है जिनकी राजधानी चन्द्रिकापुरी थी। इनमे सबसे अतिम राजा का नाम सुहृद्ध्वज' था जिसके विषय मे माना जाता है कि उसने सुलतान महमूद गजनी और उसके सेनापति सालार मसूद के साथ ११वी शताब्दी के प्रारम्भ मे युद्ध किया था। उसने तथा उसके परिवार के लोगो ने श्रावस्ती मे जैनधर्म की अत्यधिक उन्नति एव प्रभावना की थी। शोभनाथ मन्दिर के ध्वसावशेषो मे उपलब्ध जैन तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ अधिकतर इसी काल की हैं।

(श्रावस्ती, आर्क्योलाजी विभाग, इण्डिया, पृष्ठ ११)

'सहेठ-महेठ' यह नाम, श्रावस्ती मे स्थित खण्डहरो के दो ढेरो के लिए सयुक्त रूप मे प्रयुक्त हुआ है। प्रथम खण्डहरो का ढेर सहेठ है जो बौद्ध साहित्य मे सुप्रसिद्ध विहार 'जैतवन' के नाम से वर्णित है। इस स्थान से लगभग आधा मील दूर, दूसरा खण्डहरो का ढेर महेठ है। यही प्राचीन श्रावस्ती है। इसका क्षेत्रफल सहेठ की अपेक्षा बडा है। यह अचिरावती नदी (राप्ती) के दाहिनी ओर स्थित है। अचिरावती यहाँ से कुछ फर्लांग दूर पर बहती है। इस नगर के चारो ओर मिट्टी का सुदृढ प्राकार था जिसके ऊपर ईंटो की दीवाल थीं जो अभी भी ध्वस्त अवस्था मे विद्यमान है। इस प्राकार का पूरा घेर सवा तीन मील का है और इसमें भीतर प्रवेश करने के लिए चार मुख्य दरवाजे है।

शोभनाथ दरवाजे से प्रवेश करने के पश्चात् सामने जो इमारत दिखाई पडती है वह शोभनाथ का मन्दिर है। यह एक ऊचे टीले पर स्थित है। उस स्थान को लोग जैन तीर्थंकर सभवनाथ का जन्मस्थान मानकर पूजते हैं। मध्य-काल मे मुसलमान शासको ने इस स्थान को अपनी सस्कृति के अनुकूल रूप देने का प्रयास किया और इस पर कुछ गुम्बज जैसा आकार भी बनाया।

इसके थोडे नीचे की ओर एक और जैन मन्दिर है जो पर्याप्त ध्वस्त अवस्था मे है। इसमे अनेक काल की बनावटें स्पष्टत प्रतीत होती हैं। इसके पूर्व की ओर एक आयताकार पक्का बराण्डा है जिसका क्षेत्रफल ५९ फीट

(पूर्व-पश्चिम) + ४६ फीट (उत्तर-दक्षिण) और जो ईंटों की दीवाल से घिरा है। इसके पीछे की ओर की दीवाल में अनेक आले हैं जिनमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थी, जिनमें कुछ नीचे पडी हुई प्राप्त हुई हैं। इस वराण्डा के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम कोनो की ओर दो आयताकार कमरा के अवशेष पडे हैं जिनका भूमिभाग वराण्डा के समान ही पक्का है। वराण्डा में प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर सीढ़िया है।

वराण्डे के उत्तर-पश्चिम कोने की ओर वाले कमरे में, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा अत्यन्त प्रशान्त पद्मासन मुद्रा में स्थित है। यह एक छोटे आसन पर बैठी हुई है जिसकी दोनों ओर दो लेटे हुए सिंह हैं और जिनके बीच में प्रथम तीर्थंकर का चिह्न बैल, अति मनोज्ञ स्थिति में बैठा है। दो सिंहों के बीच में छोटे से निर्भय बैल की मधुर मूर्ति मानो यह कहती-सी प्रतीत होती है कि भगवान् ऋषभदेव के साम्राज्य में प्राणिमात्र अपने स्वाभाविक वैर को भी भूलकर पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करते है। सिंहों की मुद्रा और आसन दर्शनीय है। सिंह जैसे हिंस्र पशु को एक कोहनी भूमि में टेककर तथा दूसरे हाथ को ठोडी से लगाए हुए विश्राम मुद्रा में चित्रित किया है। सिंह की ऐसी विलक्षण प्रशान्त मुद्रा अत्यन्त दुर्लभ है।

मूर्ति के पूरे सिर पर बालो का गुच्छ दिखाई देता है कि जिसकी दो लटें दोनो कानो का सहारा लेकर कन्धे तक लटक आई हैं। मूर्ति के दोनो ओर दो इन्द्र चवर ढोर रहे हैं। मूर्ति के ऊपर तीन छत्र हैं जिनके दोनो ओर दो हाथी है। दोनो हाथियो के ऊपर, नीचे तथा बगल मे चौबीस तीर्थंकरो की छोटी छोटी मूर्तिया है जिनमे मूर्ति के बाईं ओर के ऊपर कोने से एक मूर्ति टूट गई है। मूर्ति के आगे निकले हुए अग प्राय घिस गए है।

महेठ के प्राकार के भीतर शोभनाथ मन्दिर के अतिरिक्त 'पक्कीकुटी' और 'कच्ची कुटी' नाम से दो टीले और हैं जिनके सबध मे अभी तक स्पष्ट रूप मे कुछ भी निर्णय नही हो पाया है कि ये स्थान वास्तव मे क्या हैं? कनिंघम महोदय पक्कीकुटी को अगुलिमाल का स्तूप होने का अनुमान करते हैं जिन्हें चीनी यात्रियों (हुएन-त्साग तथा फाह्यान) ने देखा था। होए महोदय (Hoey) इसे राजा प्रसेनजित् द्वारा महात्मा बुद्ध के निवास एव उपदेश के लिए बनवाये गए भवन (Hall of law) के रूप मे सोचते है। कच्ची कूटी को अनाथपिण्डिक के स्तूप के रूप में अनुमान किया जाता है।

इस सबध मे मेरा निवेदन है कि महेठ की ये दोनो कुटियाँ जैन मन्दिर ही होने चाहिएँ जो सुरक्षा के अभाव मे ध्वस्त होकर आज टीले के रूप मे दिखाई पड रहे है। श्रावस्ती, जैन और बौद्ध दोनो सस्कृतियो का केन्द्र रही है। बौद्धधर्म एव सस्कृति का प्रत्यक्ष सबध जेतवन से है जो श्रावस्ती से लगभग आधा मील दूरी पर स्थित है। यह सम्पूर्ण स्थान मात्र बौद्ध स्मारको से भरा पडा है। जिस प्रकार जेतवन बौद्ध सस्कृति का केन्द्र था और उसमे जिस प्रकार अनेक बौद्ध स्तूप, विहार और मन्दिर स्थित थे, उसी प्रकार श्रावस्ती जैन सस्कृति का केन्द्र होना चाहिए और इसमे जितने भी ध्वसावशेष पाए जाते है वे सभी जैनसस्कृति के अवशेष होने चाहिए। यदि श्रावस्ता (महेठ) के सबध मे और खुदाई तथा अनुसधान किये जायँ तो मेरा विश्वास है कि पूरी श्रावस्ती मे अनेक जैनसस्कृति स्थान उपलब्ध होगे। भगवान् महावीर के समय से लेकर जैनसस्कृति से प्रगाढ रूप मे सबधित श्रावस्ती मे मात्र एक ही प्राचीन जैन मन्दिर हो ऐसा सभव नही है।

जेतवन मे एक गधकुटी नाम का स्थान है। कहा जाता है कि इसे अनाथपिंडिक ने महात्मा बुद्ध के व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनवाया था। 'गधकुटी' यह शब्द जैन-सस्कृति से घनिष्ठ सबध रखता है। तीर्थंकरो के उपदेश के समय देवता लोग गधकुटी का निर्माण करते हैं। बौद्ध-सस्कृति मे यह शब्द नितान्त अपरिचित एव अप्रचलित है। मेरा विचार है कि भगवान् महावीर के आगमन पर श्रावस्ती मे जिस गधकुटी का निर्माण हुआ होगा, उस स्थान की परम्परा कुछ काल तक वहाँ रही होगी। पश्चात् उस स्थान के, श्रावस्ती मे नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से अथवा अन्य किसी कारण से वह शब्द जेतवन मे महात्मा बुद्ध से सबधित किसी स्थान के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा जो आज भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है।





ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित दो स्तभ यहाँ देखे थे जिनमें एक स्तभ पर धर्मचक्र तथा दूसरे पर बैल की मूर्ति स्थापित थी । जैनशास्त्रो मे अशोक को जैनधर्म का अनुयायी कहा गया है । राजाओ की यह नीति प्राय रही है कि वे सभी धर्मों का आदर करते थे । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्तभपर धर्मचक्र बौद्धधर्म का तथा दूसरे स्तभ पर बैल जैनधर्म का प्रतीक हो, क्योकि बैल प्रथम तीर्थंकर का चिह्न है । शोभनाथ के जैनमन्दिर मे जो ऋषभदेव की मूर्ति प्राप्त हुई है उस पर बैल का सुस्पष्ट चिह्न है ।

'श्रावस्ती' यह नाम भी हमें जैनत्व की ओर सकेत करता है । सभव है यह 'श्रमणवसति' अथवा 'श्रावक-वसति' शब्द का अपभ्रश हो । श्रमण अर्थात् जैनसाधु तथा श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ है । वसति का अर्थ है निवास-स्थान । दक्षिण में आज भी 'वसति' शब्द का प्रयोग जैनमन्दिर के अर्थ में होता है, जैसे चन्द्रगुप्तवसति अर्थात् सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा निर्मित जैनमन्दिर ।

बौद्ध-सस्कृति का केन्द्र—

श्रावस्ती का जेतवन (सहेठ) ही बौद्धसस्कृति का केन्द्र था । यह प्राचीन नगर की सीमा से बाहर स्थित है । इसका क्षेत्रफल १५०० फीट × ५०० फीट के लगभग है । यहाँ अनेक बौद्ध स्मारक ध्वस्त अवस्था में पडे है जिनमें विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम, गधकुटी, कोसम्बकुटी, बोधिवृक्ष, अनेक स्तूप, चैत्य एव विहार मुख्य है ।

बौद्ध साहित्य में जेतवन-विहार के निर्माण की बडी मनोरजक कथा उपलब्ध है । बुद्ध के समय में श्रावस्ती में सुदत्त नाम का एक धनी एव उदार व्यापारी था । अपनी उदारता के कारण वह 'अनाथपिण्डिक' के नाम से प्रसिद्ध था । अनाथपिण्डिक का अर्थ अनाथो को भोजन देने वाला । सुदत्त सबसे पहले राजगृह मे महात्मा बुद्ध से मिला और उनका अनुयायी बन गया । उसने बुद्ध को श्रावस्ती आने का निमत्रण दिया किन्तु उस समय श्रावस्ती मे बौद्ध साधुओ के ठहरने योग्य किसी विहार के न होने से बुद्ध ने उस निमत्रण को अस्वीकार कर दिया । सुदत्त ने इसी समय श्रावस्ती में एक विहार बनवाने का सकल्प किया । बुद्ध का शिष्य सारिपुत्र, विहारनिर्माण के कार्य मे सहायता देने के लिए सुदत्त के साथ श्रावस्ती आया । उस समय श्रावस्ती मे विहार-निर्माण के योग्य स्थान, राजा प्रसेनजित के पुत्र राजकुमार जेत का उपवन था जो 'जेतवन' के नाम से प्रसिद्ध था । सारिपुत्र ने कुमार जेत से जब अपना उपवन बौद्ध-विहार बनाने के लिए मागा तो उसने उसके मूल्य के रूप मे उतनी सुवर्ण-मुद्रायें मांगी जितनी कि जेतवन में बिछाई जा सकती थी । सुदत्त ने पूरे जेतवन को सुवर्ण मुद्राओ से ढकना प्रारम्भ किया । जब थोडी सी जगह छोडकर पूरे उपवन मे सुवर्ण-मुद्रायें बिछ गईं तो कुमार जेत ने सुदत्त को उस स्थान पर मुद्रायें बिछाने से मना किया और उपवन मे बिछी हुई समस्त मुद्राओ के धन से उस विनामुद्रा वाले स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण कर उसे बुद्ध को समर्पित कर दिया । सुदत्त ने पुन और अठारह करोड सुवर्णमुद्राओ के धन से जेतवन मे विहार के योग्य अनेक स्थानो का निर्माण कराया । कहा जाता है कि जो सुवर्ण-मुद्रायें जेतवन मे बिछाई गई थीं, उनकी सख्या भी अठारह करोड थी । श्रावस्ती की इस घटना का सुन्दर चित्रण, द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के एक भरहुत के प्रस्तर-खण्ड मे अकित है जिसमे राजकुमार जेत, अनाथपिण्डिक, बैलगाडी मे सुवर्ण-मुद्रायें तथा जमीन पर सुवर्ण-मुद्राओ का बिछाया जाना आदि बडी सुन्दर रीति से दिखाये गए है । इसी प्रकार का एक चित्रण बोधगया के एक अन्य प्रस्तरखण्ड मे भी अकित है । भरहुत के प्रस्तरखड मे नीचे यह अकित है—अनाथपिण्डिक, करोडो स्वर्ण-मुद्राओ द्वारा खरीदे गए जेतवन का दान कर रहे है ।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् तृतीय वर्षाकाल के चार महीनो (वर्षावास) को जेतवन मे विताया और इसके बाद वे प्राय यहाँ आने-जाने लगे । बौद्ध-साहित्य मे प्राप्त उल्लेखो के अनुसार बुद्ध ने जेतवन मे चौबीस वर्षाकाल विताये । बुद्धवश की अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध स्थायी रूप से श्रावस्ती मे रहने लगे थे । वे कभी जेतवन-विहार मे और कभी पूर्वाराम-विहार मे ठहरते थे । (हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० २४६)

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति



डा० मंगलदेव शास्त्री

एम ए, डी फिल् (आक्सन)

भू० पू० उपकुलपति सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय सस्कृति के स्वरूप, परम्परा और विकास के प्रश्न पर जिन विद्वानो ने गम्भीर विचार किया है वे इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि भारतीय सस्कृति की समष्टि-दृष्टिमूलक तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ मे ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, साप्रदायिकता, विचार-सकीर्णता, पश्चाद्दृगिता तथा अन्धरूढिवाद के स्थान मे क्रमश सग्रह, सघटन, असाप्रदायिकता, विचार-औदार्य आदर्शवादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओं को देश मे स्थापित किया जा सकता है।

इस लेख मे हम मुख्य रूप से उस नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप को दिखाना चाहते है, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न सप्रदायो तथा वर्गों से सम्बद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप मे अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साप्रदायिक विचार-पद्धति को समझ लें, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानो मे प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओ के विषय मे खुले हृदय से विचार करने मे कठिनता प्रतीत होती है।

साप्रदायिक विचार-पद्धति

साप्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता ही है।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पडता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन मे शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयो के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है? अनुभवी विशिष्ट विद्वानो या लेखको की बातो या शब्दो मे अपने विचारो की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं! ऐसे ही विशेषज्ञो को, जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रो की परिभाषा मे आप्त[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को वास्तव मे शब्द-प्रमाण[2] कहना और मानना चाहिये।

परन्तु ज्योही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत हो कर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, तो वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने ही को धोखा देती है, किन्तु ससार को भी व्यामोह मे डालने वाली होती है।

---

१ अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्त।

२ देखिये "आप्तोपदेश शब्द" (न्यायसूत्र १।१।७)।

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति



डा० मंगलदेव शास्त्री

एम ए, डी फिल् (आक्सन)

भू० पू० उपकुलपति सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय सस्कृति के स्वरूप, परम्परा और विकास के प्रश्न पर जिन विद्वानो ने गम्भीर विचार किया है वे इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि भारतीय सस्कृति की समष्टि-दृष्टिमूलक तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ मे ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, साप्रदायिकता, विचार-सकीर्णता, पश्चाद्दर्शिता तथा अन्धरूढिवाद के स्थान मे क्रमश सग्रह, सघटन, असाप्रदायिकता, विचार-औदार्य आदर्शवादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओ को देश मे स्थापित किया जा सकता है ।

इस लेख मे हम मुख्य रूप से उस नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप को दिखाना चाहते है, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न सप्रदायो तथा वर्गों से सम्बद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप मे अध्ययन किया जा सकता है ।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साप्रदायिक विचार-पद्धति को समझ लें, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानो मे प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओ के विषय मे खुले हृदय से विचार करने मे कठिनता प्रतीत होती है ।

साप्रदायिक विचार-पद्धति

साप्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता ही है ।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पडता है । हमारे प्रतिदिन के जीवन मे शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयो के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है ? अनुभवी विशिष्ट विद्वानो या लेखको की बातो या शब्दो मे अपने विचारो की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते है ! ऐसे ही विशेषज्ञो को, जिन्होने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रो की परिभाषा मे आप्त[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को वास्तव मे शब्द प्रमाण[2] कहना और मानना चाहिये ।

परन्तु ज्योही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत हो कर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, तो वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने ही को धोखा देती है, किन्तु ससार को भी व्यामोह मे डालने वाली होती है ।

---

१ अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्त ।

२ देखिये "आप्तोपदेश शब्द" (न्यायसूत्र १।१।७) ।

धार्मिक क्षेत्र मे एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाण मे निरपेक्ष शब्द-प्रमाण के मान लेने पर, लोगों मे साप्रदायिकता के सकीर्ण भावो का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भारतवर्ष की साप्रदायिक परम्परा मे इसी दृष्टि का, शब्दैकप्रमाणवादिता का, चिरकाल मे साम्राज्य रहा है। "शब्दप्रमाणका वयम् यच्छब्द आह तदस्माक **प्रमाणम्**" (अर्थात् हम तो केवल शब्द को प्रमाण मानने वाले है। हमारे लिए तो जो शास्त्र मे लिखा है वही प्रमाण है) व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि के इन शब्दो के अनुसार ही प्राय हमारे साप्रदायिको के विचार चिरकाल मे चले आ रहे है।

" मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवत्-को न ऋषिर्भविष्यतीति ।

तेभ्य एत तर्कमृषि प्रायच्छन् ।" (निरुक्त, परिशिष्ट)

(अर्थात् सत्य या धर्म को वतलाने वाले ऋषियो के काल के समाप्त होने पर, मनुष्यो ने देवो से पूछा कि अव हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा ? तव देवो ने मनुष्यो को तर्क-रूपी ऋषि को दिया।) इस प्रकार निरुक्त जैसे वेद-विषयक महत्त्व के ग्रन्थ द्वारा तर्क या परीक्षण को सत्यान्वेषण मे प्रमुख स्थान देने पर भी, वेदान्तसूत्र[1] का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नही है, शब्द-प्रमाण के पीछे-पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रो[2] मे भी इसी वात पर वल दिया गया है कि अपनी अपनी मान्यता के शास्त्रो के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसन्धान करना चाहिये।

अपने वैयक्तिक तर्क को कुतर्कणा के मार्ग से वचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने मे वास्तव मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। परन्तु जव कुछ लोग स्वार्थ या अन्धविश्वास के कारण अपने सम्प्रदाय की मान्य पुस्तको के मानव-कल्याण की दृष्टि से मौलिक अभिप्राय को न समझ कर उनके शब्दो को ही पकडने लगते है, उसी समय से साप्रदायिक सहिष्णुता के स्थान मे साप्रदायिक असहिष्णुता, सकीर्णता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता मे फैलने लगता है।

ऐसे ही कारणो से सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओं का प्रसार देश मे चिरकाल से चला आ रहा है। सहस्रो ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। हमारे धर्मशास्त्र, पुराण, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओ से अस्पृष्ट नही रहे हैं। साप्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक सत्य के अन्वेषण मे इतना नही होता, जितना कि अपनी मान्यताओं की (अथवा मान्य पुस्तको की) पुष्टि मे या दूसरे सम्प्रदायो के खण्डन मे होता है। यही इस पद्धति का सवसे वडा दोष है।

शब्दैकप्रमाणवादिता-मूलक साप्रदायिक विचार-पद्धति मूल मे वहुत-कुछ निर्दोष होते हुए भी, शनै शनै सत्यपक्षपातिता और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हटते-हटते प्रायेण अबुद्धिपूर्वक कितनी दूर चली जाती है, यही हम नीचे दिखाना चाहते है।

भारतवर्ष मे उपर्युक्त साप्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियो को स्थूल रूप से हम तीन रूपो मे दिखा सकते है—(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति, (२) अर्थान्तर या व्याख्याभेद की प्रवृत्ति और (३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति। इनको क्रमश हम नीचे स्पष्ट करेंगे।



१ तर्काप्रतिष्ठानात् (वेदान्तसूत्र २।१।११)।
२ आर्षं धर्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतर। (मनु० १२-१०६)

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप से सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आधार पर, विरोध मे अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता को कौन स्वीकार नही करेगा? भारतीय सस्कृति की विचारधारा स्वय इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

परन्तु साप्रदायिक विचार-पद्धति से समुद्भूत जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय है, वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। यहा हमारा अभिप्राय प्रायेण मीमासा-पद्धति-मूलक उस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष मे अपने-अपने सप्रदाय-सबद्ध साहित्य मे पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप मे प्रतीत होने वाले मतो मे, किसी प्रकार के सकोच या विस्तार के द्वारा अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही इस प्रवृत्ति का उदय नही तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

साप्रदायिक सघर्ष के दिनो मे विरोधियो के आक्षेपो के कारण प्राय इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सप्रदाय मे ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते है, उनमे किसी प्रकार अविरोध स्थापित किया जाए।

अपनी सीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लेखो या कथनो मे जो विरोध दिखाई देता है, वह प्रायेण आपातत ही होता है और उसमे अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद से या व्यक्तियो के भेद से पाये जाने वाले विचारो के भेद मे आवश्यक रूप से आग्रह-पूर्वक एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टत उपर्युक्त प्रवृत्ति की उचित सीमा का अतिक्रमण माना जाएगा।

भारतवर्ष मे इस प्रकार औचित्य के अतिक्रमण की कहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो-चार निदर्शनो द्वारा दिखाना चाहते है।

विभिन्न कालो मे और विभिन्न विचारको द्वारा प्रतिपादित मतो के सग्रह-रूप उपनिषदो मे यह स्वभावत सभव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय मे मुनियो के विचारो मे परस्पर थोडी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप मे, अन्यत्र प्राण या आकाशादि के रूप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद ससार मे सब जगह और सब कालो मे पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, वेदान्त-सूत्र (उत्तर मीमासा) की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदो के अन्तर्गत विभिन्न मतो मे एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रो और कर्मकाण्डो मे पाये जाने वाले परस्पर विरोधो या विभिन्नताओ का समाधान, कालभेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तनशीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित आस्तिक दर्शनो मे जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायो मे शब्द-प्रमाण के रूप मे अभ्युपगत सिद्धान्तो की दृष्टि से प्राचीन साहित्य मे पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातो के समाधान के लिये साप्रदायिको का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास मे उनके अपने

सिद्धान्तो के विरुद्ध घटनाएँ हुई है, इसको तो यथासम्भव वे मानेंगे ही नही। कालभेद से विचारो मे परिवर्तन होता रहता है, इसको भी प्राय नही मान सकते। इन्ही कारणो से विदेशी जातियो के लाखो की सख्या मे, इतिहास-प्रसिद्ध भारतीयकरण को, अथवा इतिहास से सिद्ध दूर-देशान्तरो के लिए भारतीयो की समुद्र-यात्रा को हमारे साप्रदायिक धर्म-शास्त्री कोई महत्त्व नही देते। प्रचलित धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तो के विरुद्ध विधवा-विवाह, क्षत्रिय का सन्यास ग्रहण, ब्रह्म-विद्योपदेश या वर्णपरिवर्तन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये साम्प्रदायिक विद्वान किसी प्रकार उपर्युक्त समन्वय-वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करते है।

ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव और विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को न मानने के साथ-साथ, उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बडा दोष यह भी है कि वह प्राय अपने-अपने सम्प्रदाय मे ही सीमित रहती है। यदि साप्रदायिक भावना से रहित होकर इस प्रवृत्ति का उपयोग विभिन्न सम्प्रदायो के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता, तो यह कही अधिक उपयोगी सिद्ध होती और भारतीय सस्कृति के पास तक हमे ला सकती। परन्तु सकुचित उपयोग के कारण इससे साम्प्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, भारतीय सस्कृति की विचार-धारा भी एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति को मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, सकुचित न हो कर, परम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका निर्देश हम आगे चलकर करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से साम्प्रदायिको का सब जगह काम नही चलता इसीलिए विवश होकर उन्हे अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति का आश्रय लेना पडता है। उसी के स्वरूप को हम नीचे दिखाते है।

अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ-साथ साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दो, वाक्यो या सम्पूर्ण ग्रन्थो के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। भारतवर्ष मे यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का आरम्भ हमे ब्राह्मण-ग्रन्थो के काल से ही मिलता है। उपनिषदो मे भी यह प्रवृत्ति दिखायी देनी है। किसी भी मन्त्र या ऋचा की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है, प्राय ऐसा मानकर ही वैदिक मन्त्रो या ऋचाओ के उद्धरण इन ग्रन्थो मे दिये गये हैं।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढती गयी। अन्त मे तो पूरे पूरे ग्रन्थो की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने का रिवाज-सा हो गया। इसका सबसे अधिक निदशन प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता) को विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याए हैं। शकर, रामानुज, मध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्यों की इन ग्रन्थो पर व्याख्याए तो प्रसिद्ध ही है। इधर नवीन साप्रदायिक विद्वानो ने अपनी-अपनी व्याख्याए लिखी है।



अपने-अपने सिद्धान्तो को शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करने के लिए साप्रदायिक विद्वानो का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थो की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहास की सीमा तक पहुच गयी है। वेद के मन्त्रो को कामदुघ मान कर, उनमे से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत् का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिसको वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो। रेल और तार का तो वेद से निकालना साधारण सी बात है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरो द्वारा आविष्कृत विज्ञानादि की पुष्टि मे ही ऐसा किया जाता है। ये वैदिक विद्वान स्वोपज्ञ-रूप से कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद से नही निकाल पाते।

इन साम्प्रदायिक विद्वानो की कृपा से वेद भानमती का पिटारा बन गया है । हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमे से निकाली जा सकती है । वेद के अनेक स्थलो से जहा एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञो मे पशुबलि, वेद मे इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहा दूसरा पक्ष उन्ही स्थलो से तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है । एक पक्ष मे स्वीकृत 'देवो को' जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निभर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानो' के अर्थ मे लेता है । इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य मे 'देव' 'पितर,' 'मास' जैसे शब्दो का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है । यदि वास्तव मे ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदो का महत्त्व ही क्या रह जाता है ?

एक बार सन् १९४० के लगभग वेदो के एक प्रसिद्ध विद्वान ने हमारे सभापतित्व मे दिये गये भाषण मे 'माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुसार जो धारासभाए आदि भारतवर्ष मे चलाई गयी थी उनके स्वरूप को वेदो के प्रमाणो से सिद्ध करके दिखला दिया था । हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय सविधान को अथवा किसी अन्य सविधान को भी उसी सरलता से वेदो के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे !

हम नही कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल मे आरोपित करने की प्रवृत्ति पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थो पर लादने से हम उनका मान बढाते है या उनको उपहासास्पद बनाते है ।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिको की उपर्युक्त अर्थान्तर करने की उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता मे या सत्यान्वेषण की भावना मे होता है, जितना कि "घट भित्त्वा पट छित्वा" के अनुसार सत्यार्थ का बलि भी दे कर अपने पक्ष की पुष्टि मे होता है ।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है । अनेक स्थलो मे अर्थान्तर करने से भी साप्रदायिको का काम नही चलता । वहा उन्हे प्रक्षिप्तवाद का आश्रय लेना पडता है । उसी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते है —

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

मुख्य रूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले साप्रदायिक लोग, जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थो मे ऐसे स्थल पाते है, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तो से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान्तर ही किया जा सकता है, उस दशा मे वे उन स्थलो को विना किसी सकोच के आसानी से, प्रक्षिप्त (पीछे से मिलाया गया) कह देते है ।

इसमे सन्देह नही कि ग्रन्थो मे, विशेषत प्राचीन ग्रन्थो मे, वास्तविक रूप मे भी प्रक्षेपो का होना सम्भव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य से ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपो का निर्णय किया जा सकता है । केवल अपने सिद्धान्त के विरोध के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दुस्साहस भी है। प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेप उदाहरणो के देने की आवश्यकता नही है । फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा ।

मृतक-श्राद्ध, अवतारवाद, देवमदिरो मे मूर्तिपूजा, वैदिक कर्मकाण्ड मे पशु-बलि आदि को न मानने वाले साप्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थो मे मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता मे अवतारवाद, वाल्मीकि रामायण मे देवमन्दिरो मे मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बाते, तथा श्रौतसूत्रो और ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ मे पशु-बलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलो को पाते है, तब उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियो से अपने प्राणो की रक्षा करते है । ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थो के, तथाकथित प्रक्षिप्ताशो से रहित, 'विशुद्ध' सस्करणो के प्रकाशन का भी साहस करते है ।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तिया भी है, जिनका

साप्रदायिक विचार-पद्धति की अन्य प्रवृत्तिया

साम्प्रदायिक विचार-धारा शब्द-प्रमाण के प्राधान्यवाद पर निर्भर है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण साम्प्रदायिक लोग देश मे परम्परा से प्राप्त धार्मिक साहित्य मे या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तर-तम भाव की कल्पना करते है या उसको अप्रामाणिक ही कहते हैं।

उदाहरणार्थ, पुराण-उपपुराण का बडा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परा मे चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्वरूप और विकास को समझने के लिए उनको एक अर्थ म हम धार्मिक विश्वकोश कह सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी उनका अद्वितीय महत्व है। देश और विदेश के विद्वान् अब उनके महत्त्व को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होने पर भी कुछ साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करते हुए नही थकते, उनको सर्वथा हेय ही समझते है।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्य मे स्वत प्रमाण और परत प्रमाण की कल्पना भी शब्द-प्रमाणवादी साप्रदायिको की अनैतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

सच्ची निर्दोष साप्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष मे पवित्रता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य नही, प्रशसनीय भी हो सकती है। परन्तु उसी श्रद्धा के आवेग के कारण परम्परा से प्राप्त किसी विस्तृत साहित्य के प्रति विरोध और असहिष्णुता की भावना किसी प्रकार क्षम्य नही कही जा सकती।

सकीर्ण साप्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी असहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक अक्षम्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानो और आविष्कारो के प्रति उनकी स्पष्ट या अस्पष्ट असहानुभूति मे मिलता है।

जहा तक भौतिक विज्ञानो या आविष्कारो का सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति दो रूपो मे प्रकट होती है। यदि उनके विषय मे गुण-पक्ष और दोष-पक्ष दोनो हो सकते है, तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर, गुण-पक्ष को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानो या आविष्कारो का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नही है, उनके विषय मे तो सप्रदायवादियो का प्राय यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिकता के आधार से ही रहित है। १९वी और २०वी शताब्दियो ने भाषा-विज्ञान, मानव जाति विज्ञान, पुरातत्त्व विज्ञान, पुराणविज्ञान, मनोविज्ञान, आदि अनेक नवीन विज्ञानो को जन्म दिया है। इन विज्ञानो से अनेक प्राचीन धारणाओ को धक्का लगा है। प्राय इनके प्रति साप्रदायिको मे तीव्र विरोध भावना पायी जाती है। ऐसे साप्रदायिक विद्वानो की कमी नही है, जो साप्रदायिक मच पर, जहा धर्म-सदाचार का ही उपदेश होना चाहिये, इन नवीन विज्ञानो की हसी उडाते हुए उनका खण्डन करते है। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते है कि इन 'तथाकथित' विज्ञानो के चलाने मे पाश्चात्य विद्वानो का एक भयानक षड्यन्त्र है, जिसका अन्तरभिप्राय केवल अपने देश के पारस्परिक विश्वासो और धारणाओ को धक्का पहुचाना ही है।

वास्तव मे सकीर्ण साप्रदायिक मनोवृत्ति के लिये, चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की, ऐसी अनुदार भावना सर्वथा स्वाभाविक ही होती है।

ऊपर के प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया कि मुख्यत ऐतिहासिक दृष्टि के न होने से, और अनुभव तथा परीक्षण आदि से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण को ही प्रधान पद देने से साप्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषण के स्थान मे, उलटे





अनर्थ की संपादिका बन जाती है। उससे एक ओर सत्य की हत्या का और दूसरी ओर विचार-स्वातत्र्य के सर्वथा प्रतिषेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक वडा दोप यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही सप्रदाय के ग्रन्थो मे परिमित या बद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न सप्रदाय के ग्रन्थो के विषय मे किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरो से सबद्ध विशाल साहित्य आदि के विषय मे भी प्राय उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणो से भारतीय सस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त साहित्य और इतिहास से ही है, सकुचित साप्रदायिक विचार-पद्धति को छोड कर, वैज्ञानिक विचार-पद्धति का ही अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम सक्षेप मे नीचे दिखाना चाहते हैं।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमे उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेषण मे तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वाग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धि की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धि के परिपाक के लिए अन्य प्राचीन परम्परागत सस्कृतियो के परिविज्ञान के साथ-साथ भाषाज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुराणविज्ञान आदि नवीन विज्ञानो के सिद्धान्तो को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय सस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमे अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध मे साप्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान ही नही रहता। सत्यान्वेषण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित हो कर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। इसलिए उसका प्रयत्न करना पडता है कि उसकी विवेचना पर किसी साप्रदायिक झुकाव का, किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पडे और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था मे न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रयण की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर मे दिखाना अपनी न्याय-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल मे अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति अबुद्धि-पूर्वक साप्रदायिको के अतिरिक्त अन्य लोगो मे भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रो की व्याख्या मे आजकल यह प्रवृत्ति प्राय देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को उस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पडता है।

भारतवर्ष मे हम लोगो की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम वडे वडे धार्मिक आन्दोलनो को, अवतारी महापुरुषो को और वडी-वडी ऐतिहासिक घटनाओ को पूर्वापर परिस्थितियो से असबद्ध तथा असपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप मे ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विपय मे हमे इतने से ही सन्तोप हो जाता है कि कस आदि पापियो के सहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, साम्स्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति मे उस अवतार की आवश्यकता को हम नही ढूढते। न यह जानना चाहते हैं कि देश की

परवर्ती परिस्थितियो पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पडा । परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण मे हमे इन सब बातो का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है ।

जैसे भौतिक जगत् मे आधी के आने से पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आधी भी उसी अवस्था के कारण ही आती है । साथ ही, आधी स्वय समाप्त हो जाने पर वायु-मण्डल मे अपने विशेष प्रभाव को छोड जाती है । इसी प्रकार महान् आन्दोलनो और अवतारी महापुरुषो की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियो मे कार्य-कारण भाव की परम्परा रहती है । वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और इसका निरू-पण करे ।

वास्तव मे, किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय सस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओ से निर्मित है । हमरा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से इस परम्परा की धारा का अध्ययन करें ।

भारतीय सस्कृति के लम्बे इतिहास मे कालभेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते है, हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का, उन-उन त्रुटियो का, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, और इस प्रकार धारा-वाहिक जीवित परम्परा के रूप मे भारतीय सस्कृति को हम समझ सकें । उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो ।





परवर्ती परिस्थितियो पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पडा । परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण मे हमे इन सब बातो का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है ।

जैसे भौतिक जगत् मे आधी के आने से पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आधी भी उसी अवस्था के कारण ही आती है । साथ ही, आधी स्वय समाप्त हो जाने पर वायु-मण्डल मे अपने विशेष प्रभाव को छोड जाती है । इसी प्रकार महान् आन्दोलनो और अवतारी महापुरुषो की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियो मे कार्य-कारण भाव की परम्परा रहती है । वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और इसका निरूपण करे ।

वास्तव मे, किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय सस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओ से निर्मित है । हमरा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से इस परम्परा की धारा का अध्ययन करें ।

भारतीय सस्कृति के लम्बे इतिहास मे कालभेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते है, हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का, उन-उन त्रुटियो का, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, और इस प्रकार धारा-वाहिक जीवित परम्परा के रूप मे भारतीय सस्कृति को हम समझ सके । उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो ।





पालि वाङ्मय में निगण्ठ और निगण्ठ नातपुत्त

अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी



आगमों में जहाँ बुद्ध के नामोल्लेख तक भी नहीं मिलता है, वहाँ त्रिपिटकों में महावीर-सम्बन्धी घटना-प्रसंगों की बहुलता है। वहाँ उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त'[1] कहा गया है। 'निगण्ठ' शब्द सामान्यतः जैन भिक्षु का सूचक है। 'नातपुत्त' शब्द भगवान् महावीर के लिए आगम-साहित्य में भी प्रयुक्त है।[2] वे घटना-प्रसंग कहाँ तक यथार्थ हैं, इस चिन्तन में यदि हम न जायें तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक हैं। दोनों धर्म-संघों के पारस्परिक सम्बन्धों, सिद्धान्तों व आचारों पर वे पूरा प्रकाश डालते हैं।

महावीर और बुद्ध का एक-दूसरे से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक समय में एक ही नगर के विभिन्न उद्यानों में वे रहे, ऐसे अनेक उल्लेख अवश्य मिलते हैं। गृहपति उपालि के चर्चा-प्रसंग व असिबन्धक पुत्र ग्रामणी के चर्चा-प्रसंग पर दोनों धर्मनायक नालन्दा में थे। सिंह सेनापति के चर्चा-प्रसंग पर दोनों वैशाली में थे। अभय राजकुमार की चर्चा में दोनों के राजगृह में होने का उल्लेख है। महासकुलुदायी सुत्तन्त में तो सातों धर्मनायकों का एक ही वर्षावास राजगृह में होने का उल्लेख है। 'ऋद्धिशक्ति-प्रदर्शन' के घटना-प्रसंग पर सातों धर्मनायकों के एक साथ राजगृह में होने का उल्लेख है।[3]

साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium Theologicium)

त्रिपिटकों में आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। 'जातक-अट्ठकथा,' 'धम्मपद-अट्ठकथा' के कुछ प्रसंग इस साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium theologicium) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक प्रसंग ऐसा भी है, जो सामान्य अवलोकन से बहुत निम्न श्रेणी का लगता है, पर वस्तुतः वह वैसा नहीं है। महावीर के निर्वाण-संवाद को लेकर पहुँचने वाले भिक्षु चुन्द समणुद्देस को बुद्ध के पास ले जाते हुए आनन्द कहते हैं— 'अत्थि खो इद, आवुसो चुन्द, कथापाभत भगवन्त दस्सनाय" अर्थात्, आवुस चुन्द ! भगवान् के दर्शन में यह संवाद कथाप्राभृत (उपहार) होगा। सामान्यतः यह लगता ही है कि महावीर का निधन-संवाद पाकर आनन्द को कितना हर्ष हुआ है और उसने उसे उपहार-रूप माना है। मैंने अपने एक प्राक्तन निबन्ध में उसकी यथार्थ आलोचना भी

---

१ कहीं-कहीं निगण्ठ नायपुत्त और निगण्ठ नाटपुत्त भी है।

२ दशवैकालिक सूत्र, ६, २०।

३ देखें इसी निबन्ध में क्रमश: प्रसंग संख्या ७, ६, १, ३, १३, और १७।

४ इस निबन्ध में प्रसंग संख्या ३४, ३५, ३६।

५ इस निबन्ध में प्रसंग संख्या १७, १८, ४०।

की है ।[1] पर सारिपुत्र के मृत्यु-सवाद को लेकर भी वही चुन्द आनन्द के पास आता है, वहाँ पर भी आनन्द कहते है—"अत्थि खो, आवुस चुन्द कथापाभत दस्सनाय" ।[2] इससे प्रमाणित होता है कि वह बौद्ध-परम्परा की या उस युग की उक्ति मात्र है । इसमे कुत्सा अभिव्यक्त नही होती ।

प्रसगो की समग्रता

प्रस्तुत लेख मे त्रिपिटक-साहित्य के उन समुल्लेखो का परिचय दिया गया है, जिनमे किसी न किसी रूप मे महावीर का सम्बन्ध आता है । साथ-साथ वे समुल्लेख भी ले लिये गये हैं, जो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के सबध से है । डा० हर्मन जेकोबी ने 'जैन सूत्रो' की भूमिका[3] मे त्रिपिटको मे आये महावीर व निर्ग्रन्थो-सबधी समुल्लेखो का समीक्षात्मक सकलन प्रस्तुत किया है । वे समुल्लेख ११ है । डा० जेकोबी की धारणा मे तब तक की प्रकाशित सामग्री का वह समग्र सकलन है । प्रस्तुत प्रकरण मे वे समुल्लेख ११ की अपेक्षा ५१ हो गये है । इन नवीन प्रसगो मे से कुछ उन ग्रन्थो के हो सकते है, जो उस समय तक प्रकाशित न हुए हो, पर कुछ समुल्लेख ऐसे भी हैं, जो डा० जेकोबी की निगाह से बच रहे थे । क्योकि एक ही ग्रन्थ के कुछ समुल्लेख डा० जेकोबी के सकलन मे आये है और कुछ नही । डा० मलालशेखर[4] ने भी 'निगण्ठ नातपुत्त' शब्द पर जो सन्दर्भ आकलित किये हैं, वे भी परिपूर्ण नही है ।

प्रस्तुत सकलन सम्बन्धित विषय का समग्र सकलन है ही, यह कह देना तो कठिन होगा, पर इस प्रयत्न मे इतनी जागरूकता अवश्य बरती गई है कि त्रिपिटको मे से कोई भी प्रसग विलग न रह जाये । अट्ठकथाओ व इतर ग्रथो के प्रसग भी यथासभव इस सकलन मे ले लिये गये है । कहा जा सकता है, प्रस्तुत लेख 'बौद्ध साहित्य मे निगण्ठ नातपुत्त' विषयक प्रसगो का भरा-पूरा और प्रामाणिक आकलन बन गया है, जो सम्बन्धित विषय के पाठको व गवेषको के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा ।

वर्गीकरण

प्रसग मूल रूप से प्रकीर्ण हैं । प्रस्तुत आकलन मे उन्हे तीन विभागो मे बाटा गया है । १ चर्चा-प्रसग, २ घटना-प्रसग, ३ उल्लेख-प्रसग । इन प्रसगो की सख्या क्रमश १३, ८ और ३० है । यहा इन समुल्लेखो के सदर्भ व सक्षिप्त परिचय दिये गये है तथा यथास्थान सक्षिप्त समीक्षा भी की गई है ।

चर्चा-प्रसग

१ सिह सेनापति

यह प्रकरण विनयपिटक[5] का है । निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक व लिच्छवियो का सेनापति सिंह बुद्ध से वैशाली मे चर्चा करता है व उनका अनुयायी बन जाता है ।



१ भिक्षुस्मृतिग्रथ, 'पाली वाङ्मय मे भगवान महावीर' शीर्षक लेख श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता १९६०, खण्ड २, पृ० ६ से १० ।

२ सयुत्त निकाय, चुन्द सुत्त, ४५-२-३

३ S B E vol XLV, Introduction, pp XIV-XXIII

४ Dictionary of Pali proper Names, vol II, pp 61-65

५ विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य खन्धक, ६-४-८ के आधार पर ।

समीक्षा

सिंह सेनापति और तथाप्रकार के उदन्त का आगम-साहित्य मे कहीं आभास नहीं मिलता। महावीर के किसी अनुयायी का बुद्ध की शरण मे आ जाना और बुद्ध के किसी अनुयायी का महावीर की शरण मे आ जाना, कोई अद्भुत व असम्भव बात नही है, पर जैन परम्परा मे इस घटना का नकिंचित् भी समुल्लेख होता तो वह पूर्णतया ही ऐतिहासिक रूप ले लेती। असभव की कोटि मे मानने का तो अब भी कोई आधार नही है।

गुजराती साहित्यकार श्री जयभिक्खु ने अपने उपन्यास 'नरकेसरी'[1] मे सिंह सेनापति को महावीर के परम अनुयायी चेटक होने की सभावना व्यक्त की है, पर वह यथार्थ नहीं है। बौद्ध परम्परा में चेटक का कही नामोल्लेख नहीं है, न उस प्रकार के किसी अन्य जीवनवृत्त की भी झांकी वहा मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार वह वैशाली गणतत्र का अधिपति (राजा) था[2] और उसके अधीन ९ मल्लकी ९ लिच्छवी, काशी-कोशल के १८ गणराजा थे।[3] उन सिंह सेनापति के रूप मे उसे देखने का कोई आधार नहीं मिलता। डा० ज्योतिप्रसाद का कहना है—"महाराजा चेटक के दस पुत्र थे, जिनमे ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जीगण के प्रसिद्ध सेनापति थे।[4]

सिंह सेनापति का विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य मे भी नहीं मिलता। इस घटना-प्रसग के अतिरिक्त उसका नामोल्लेख अगुत्तरनिकाय[5] मे बुद्ध से की गई दान-सबधी चर्चा मे आता है या थेरीगाथा[6] मे सिंहा भिक्खुणी के पितृव्य के रूप में आता है।

उक्त प्रकरण मे महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है। क्रियावाद शब्द उस समय मे बहुत व्यापक अर्थ का वाची रहा है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद के ३६३ भेद जैन परम्परा मे माने गये हैं।[7] पर क्रियावाद और अक्रियावाद के इन भेदो मे महावीर का अभिमत नही है। वे सब पर-मत की चर्चाए हैं। महावीर को जो क्रियावादी कहा गया है, अपेक्षा-भेद से यह भी यथार्थ माना जा सकता है। इसका आधार सूत्रकृताग मे मिलता है। वहा बताया गया है कि जो आत्मा को जानता है, जो लोक को जानता है, जो गति और अन्तंगति को जानता है, जो नित्य-अनित्य, जन्म-मरण और प्राणियो के गति-क्रम को जानता है, जो तत्त्वो की वेदना को जानता है, जो आस्रव और सवर को जानता है, जो दुःख को तथा निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को यथार्थ रूप से कह सकता है।[8] जो इन तत्त्वो को जानता है अर्थात् स्वीकार करता है, वही क्रियावादी है।[9]

---

१ पृ० २३४।
२ वेसालिए नयरीए चेडगस्य रन्नो-निरयावलिकासूत्र, १६-२।
३ नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो।
—निरयावलिकासूत्र, प्र० आगमोदय समिति, पत्र १७-२।
४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि पृ० ५६।
५ अगुत्तर निकाय, ३-३८, ४-६९।
६ गाथा ७७-८१।
७ सूत्रकृताग सूत्र श्रु० १, गा० १, निर्युक्ति गाथा ११९-१२१
८ अत्ताण जो जाणति जो य लोग, गइ च जो जाणइ णागइ च।
जो सासय जाण असासय च, जातिं च मरणं च जणोववाय।
अहो वि सत्ताण विउट्टण च, जो आसव जाणति सवर च।
दुक्ख च जो जाणति निज्जर च, सो भासिउमरिहई किरियवाद॥
—सूत्रकृताग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० २०-२१।
९ 'यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थत क्रियावाद जानाति।'
—सूत्रकृताग वृत्ति, श्रु० १, अ० १२, गा० २१

वस्तुत तो महावीर अनेकान्तवादी थे। उनका दर्शन तो आहसु विज्जाचरण पमोक्ख"[1] की उक्ति में व्यक्त होता है। जिसका हार्द है, ज्ञान और क्रिया की युगपत् स्थिति में ही मोक्ष की सभावना है।

उक्त प्रसग में बुद्ध ने भी तो मनो-दुश्चरित, मन -सुचरित आदि के अपेक्षा-भेद से स्वय को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो ही बताने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियो के लिए मासाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना-प्रसग से बना है। अदृष्ट, अश्रुत व अपरिशकित माम को बुद्ध ने ग्राह्य कहा है। निगण्ठो ने यहा उद्दिष्ट मास का विरोध किया है। आर्द्रककुमार प्रकरण[2] मे भी उद्दिष्ट मास को गर्हास्पद कहा है।

२ गृहपति उपालि

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त का साधु दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ व श्रावक गृहपति उपालि नालन्दा मे बुद्ध से चर्चा करते हैं। अन्त मे गृहपति उपालि बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

उपालि नामक कोई वरिष्ठ उपासक महावीर का था, ऐसा आगम साहित्य मे कही नही मिलता है। जैन भिक्षु इतर भिक्षुओ के प्रति कुशल-प्रश्न करे, ऐसी भी परम्परा नही है। दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बुद्ध के बीच हुए वार्तालाप और सम्बोधन आदि से यह भी प्रतिबिम्बित होता है कि बुद्ध युवा हैं और दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ वयोवृद्ध। इससे महावीर का ज्येष्ठ होना और बुद्ध का छोटा होना भी पुष्ट होता है।

'दण्ड' और 'कर्म' की चर्चा मे दोनो ही शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची है। दण्ड शब्द का उपयोग आगमो मे भी इसी अर्थ मे मिल जाता है।[4] 'मन -कर्म' आदि का जैन परम्परा मे कोई विरोध नही है। महावीर के मत को एकान्त रूप से कायिक-कर्म-प्रधान बतलाना यथाथ नही है। पाप-पुण्य के विचार मे जैन पद्धति के अनुसार मन वचन और काय—इन तीनो की ही सापेक्षता है। मन -कर्म की मान्यता के पोपक अनेक आधार जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मनोद्वन्द्व, तण्डुल मत्स्य की मानसिक हिंसा, स्कन्दक मुनि का अपने प्राग्भव मे काचर (फल-विशेप) का छीलना आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

डा० जेकोबी ने उपालि के घटना-प्रसग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—"महावीर का कायिक पाप को बडा बताना आगम-सम्मत ही है। सूत्रकृताग २, ४ तथा २, ६ मे इस अभिमत की पुष्टि मिलती है।[5] डा० जेकोबी की यह समीक्षा यथार्थ नही है कि क्योकि वहा जो कहा गया है, उसका हार्द इससे अधिक नही है। काय-दण्ड भी एक पाप-बन्ध का निमित्त है, और उपहास मनोदण्ड की एकान्तवादिता का किया गया है। इस प्रसग मे निर्ग्रन्थ को शीत-जल का परित्यागी व उष्णजलसेवी बताया है, जो जैन साधुओ की क्रिया से सुसगत ही है।



---

१ सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० ११।

२ थूल उरब्भ इह मारियाण, उद्दिट्ठभत्त च पगप्पएत्ता। सूत्रकृताग सूत्र, श्रु० २, उ० ६, गा० ३७।

३ मज्झिमनिकाय, उपालि सुत्तन्त, २-१-६।

४ स्थानाग स्था० ३, सू० १२६, आवश्यक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

५ SBE vol XLV, Introduction, p XVII

३ अभय राजकुमार

मज्झिमनिकाय[1] के इस प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्त के आदेशानुसार अभय राजकुमार बुद्ध से राजगृह में चर्चा करता है और बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

अभय राजकुमार का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में विशद रूप से मिलता है। बौद्ध परम्परा जहाँ मानती है कि वह जैन से बौद्ध बना, जैन परम्परा के अनुसार तो महावीर के संघ में दीक्षित हुआ और वहीं भिक्षु-पर्याय में उसका निधन हुआ।

अपदान में भी अभय और महावीर के इसी घटना-प्रसंग का उल्लेख हुआ है।[2] वहाँ अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की गाथा में महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण में आने की बात कहता है। उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति में भी वह वहाँ 'कित्तयित्वा जिनवर कित्तितो होमि सब्बदा' ही कहता है।

४ निर्ग्रन्थों का तप

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसंग में बुद्ध ने निगण्ठों के साथ तपश्चर्या के विषय में हुए अपने वार्तालाप को महानाम शाक्य को सुनाया है।

समीक्षा

यहाँ सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता से प्रतिकूल नहीं है। अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के हैं ही।

५ कर्म-चर्चा

यह प्रकरण भी मज्झिम निकाय[4] का है। इसमें निगण्ठों के साथ कर्म-सिद्धान्त के विषय में हुई बुद्ध की चर्चा का विस्तृत विवेचन है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण में सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन तो लगभग वैसा ही है जैसा चूलदुक्खक्खन्धक सुत्तन्त में किया गया है। इस प्रसंग की नवीन चर्चा वेदनीय अवेदनीय कर्म की है। सभी प्रश्नों का उत्तर निगण्ठों से निषेध की भाषा में दिलाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैन कर्मवाद में निकाचित कर्मावस्था की अपेक्षा से तो उक्त निषेध यथार्थ माने जा सकते हैं किन्तु अन्य उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, संक्रमण आदि कर्मावस्थाओं की अपेक्षाओं से अधिकांश निषेध अयथार्थ प्रमाणित होते हैं।[5]

६ असिबन्धकपुत्र गामणी

यह प्रसंग संयुत्तनिकाय[6] का है। इसमें निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक असिबन्धकपुत्र गामणी के साथ बुद्ध चर्चा करते हैं और अन्त में उसे अपना उपासक बना लेते हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय, अभयराजकुमार सुत्तन्त, २-१-८।
२. अपदान, ५४-४-२१६ से २२१।
३. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्ध सुत्तन्त, १-२-४।
४. मज्झिमनिकाय, देवदह सुत्तन्त ३-१-१।
५. देखें कर्मावस्था के भेद-प्रभेद, स्थानांग सूत्र, स्था० ४।
६. संयुत्तनिकाय सखसुत्त, ४०-८।

समीक्षा

आगम साहित्य में असिबन्धकपुत्र ग्रामणी नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। त्रिपिटक साहित्य में भी 'ग्रामणी संयुत्त' के अतिरिक्त और कहीं इसकी चर्चा विशेषतः नहीं मिलती। 'ग्राम का अगुआ' इस अर्थ में इसे ग्रामणी कहा गया है।

अहिंसा, सत्य आदि चार यमों की चर्चा यहाँ की गई है। बुद्ध ने इनका खण्डन किया है, पर यथार्थ में वाक्-चातुर्य से अधिक वह कुछ नहीं। वस्तुतः तो बुद्ध स्वयं अहिंसा, सत्य आदि का इसी प्रकरण में उपादेय बताते हैं। पञ्चशील में भी चार शील चतुर्याम धर्म रूप ही तो हैं।[1] प्रस्तुत प्रकरण में मैत्री, करुणा आदि चार भावनाओं का समुल्लेख हुआ है, जो पातञ्जल योगदर्शन[2] तथा जैन परम्परा[3] में भी अभिहित है।

७ नालन्दा में दुर्भिक्ष

यह प्रसंग भी संयुत्तनिकाय[4] का है। इसमें निगण्ठ नातपुत्त की सलाह से असिबन्धकपुत्र ग्रामणी बुद्ध के साथ चर्चा करते हैं। यह चर्चा नालन्दा में तब होती है, जब वहाँ बहुत बड़ा दुर्भिक्ष था।

समीक्षा

आगम साहित्य में नालन्दा की दुर्भिक्ष-स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि महावीर और बुद्ध एक ही काल में अपनी-अपनी भिक्षु-परिषद् सहित नालन्दा में थे।

८ चित्र गृहपति

संयुत्तनिकाय[5] के इस प्रसंग में बुद्ध का उपासक शिष्य चित्र गृहपति निगण्ठ नातपुत्त से कुछ प्रश्नोत्तर करता है।

समीक्षा

अवितर्क अविचार समाधि का उल्लेख शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के रूप में जैन दर्शन[6] में आता है। चित्र गृहपति मच्छिकासण्ड ग्राम का निवासी व कोषाध्यक्ष था।[7] धर्म-कथा में वह बहुत कुशल था। इसने महक, कामभू, गोदत्त, अचेल काश्यप आदि अनेक लोगों से चर्चा की थी।[8] बुद्ध ने उसे धर्म-कथिकों में अग्रगण्य कहा।[9]

---

१. 'यो पाणं नातिपातेति मुसावादं न भासति, लोके अदिन्नं नादियति परदारं न गच्छति।
मुरामेरयपानं च यो नरो नानुयुञ्जति, पहाय पञ्च वेरानि सीलवा इति वुच्चति।'
—अंगुत्तरनिकाय, पचकनिपात, ५। १८।१७९।

२ समाधिपाद, १।३३।

३ शान्तसुधारस भावना १३ से १६।

४. संयुत्तनिकाय, कुलसुत्त, ४०-१-९।

५ संयुत्तनिकाय, निगण्ठसुत्त, ३९-८।

६ जैनसिद्धान्त दीपिका, ५। ३४।

७ Dictianary of Pali Proper Names, vol I p 865

८ संयुत्तनिकाय, सलायतन सुत्त, चित्तसंयुत्त।

९. अंगुत्तरनिकाय, एतदग्गवग्ग सुत्त।



९ कुतूहलशाला सुत्त

यह प्रसग भी सयुत्त निकाय[1] का है। वत्स-गोत्र परिव्राजक बुद्ध से मृत श्रावको की गति के विषय मे प्रश्न उपस्थित करता है और बताता है कि निगठ नातपुत्र प्रभृति छहो धर्मनायक अपने मृत श्रावको के विषय मे किये गये प्रश्न का सही उत्तर देते थे।

समीक्षा

जैन धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो कैवल्य-सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधिज्ञान से भी जानी जा सकती है।

१० अभय लिच्छवी

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[2] का है। वैशाली मे अभय लिच्छवी व पण्डित कुमार लिच्छवी बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द के पास आते हैं। अभय लिच्छवी के अनुसार निगठ नातपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, और तपस्या मे कर्म-निर्जरा व दु ख-क्षय का निरूपण करते है। इस विषय मे वह बुद्ध का अभिमत पूछता है।

समीक्षा

अभय लिच्छवी का उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त साल्ह सुत्त[3] मे भी आता है। वहा भी वह साल्ह लिच्छवी के साथ बुद्ध से चर्चा करने के लिये प्रस्तुत होता है। यहाँ यह स्वय प्रश्न करता है, वहाँ उसका सहवर्ती साल्ह लिच्छवी। अगुत्तरनिकाय के अग्रेजी अनुवाद मे डा० वुडवर्ड ने अभय लिच्छवी और अभय राजकुमार को एक ही मान लिया है।[4] पर वस्तुत ये दोनो ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् है। अभय राजकुमार राजगृह का निवासी तथा राजा बिम्बिसार का पुत्र है जबकि अभय लिच्छवी वैशाली का कोई क्षत्रिय कुमार है।

प्रस्तुत प्रकरण मे तप-विषयक जो चर्चा की है, वह जैन धारणा के सर्वथा अनुकूल ही है। 'निर्जरा' शब्द का उपयोग बहुत यथार्थ है।

११ लोक सान्त-अनन्त

अगुत्तर निकाय[5] के इस प्रसग मे बुद्ध के पास आकर दो ब्राह्मण पूरणकाश्यप व निगण्ठ नातपुत्त के लोक की सान्तता-अनन्तता विषयक सिद्धान्तो की चर्चा करते है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण मे दो लोकायतिक पूरण काश्यप और निगठ नातपुत्त के लोकसिद्धान्त की चर्चा करते हैं। उस चर्चा मे सान्तता और अनन्तता का मतभेद भी व्यक्त होता है, पर उक्त प्रकरण मे एक मौलिक असगति यह है कि लोक सम्बन्धी धारणा मे दोनो का मतभेद भी बताया जाता है और दोनो की धारणा समान रूप से अनन्त भी बताई जाती है। दोनो की धारणाओ मे लोक अनन्त है, तो मतभेद कैसा ? इसी प्रकरण के अग्रेजी अनुवाद मे ई० एम०

---

१ सयुत्तनिकाय, कुतूहलशाला सुत्त, ४२-९।
२ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७४ (हिन्दी अनुवाद) पृ० २२७-२२८।
३ अगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात, महावग्ग, साल्ह सुत्त ४-२०-१९६।
४ The Book of Gradual Sayings, vol I p 200
५ सुत्तपिटके, अगुत्तर निकाय पालि, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिक सुत्त, ९-४-७।

हेर पूरण काश्यप का लोक सान्त और निगण्ठ नातपुत्त का लोक अनन्त बतलाते हैं।[1] अनुवादक ने एक पाठान्तर के आधार पर ऐसा किया है। पर वह भी सही नही लगता। एक दूसरा पाठान्तर, जो अनुवादक ने टिप्पण मे दिया है, उसमें पूरण काश्यप के साथ 'अनन्त' और निगण्ठ नातपुत्त के साथ 'अन्तवन्त' पाठ है।[2] वह सही लगता है, क्योंकि महावीर की लोक सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है। महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनत माना है।[3] वैसे महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। अर्थात्—

द्रव्य की अपेक्षा लोक—सान्त।
क्षेत्र की अपेक्षा लोक—सान्त।
काल की अपेक्षा लोक—अनन्त।
भाव की अपेक्षा लोक—अनन्त।[4]

दो लोकायतिको की लोक-चर्चा क्षेत्रिक अपेक्षा से ही प्रतीत होती है, अत "खेत्तओ लोए सअते" यह आगम-पाठ अगुत्तरनिकाय के दूसरे पाठान्तर की पुष्टि कर देता है।

इस प्रश्न को बुद्ध ने विना अपना मन्तव्य व्यक्त किये ही टाला है। वस्तुस्थिति यह है कि बुद्ध ने इसे तथा इस प्रकार के अनेको प्रश्नो को मज्झिमनिकाय आदि मे 'अव्याकृत' कहा है।[5]

१२ वप्प–जैन श्रावक

यह समुल्लेख अगुत्तर निकाय[6] का है। इसके अनुसार निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक वप्प शाक्य पहले बुद्ध के प्रमुख शिष्य आयुष्मान् महामौद्गल्यायन के साथ और बाद मे बुद्ध के साथ चर्चा करता है और उनका उपासक बन जाता है।

समीक्षा

वप्प शाक्य राजा था और स्वय बुद्ध का चूलपिता (पितृव्य) था।[7] हालाकि जैन परम्परा मे इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही है। उल्लेखनीय बात यह है कि बुद्ध ने जो कुछ वप्प को समझाया है, लगभग वह सब निर्ग्रन्थ-धर्मगत ही है। आस्रव, निर्जरा आदि शब्दो के प्रयोग भी ज्यो के त्यो हुए हैं।

श्रीमती राइस डेविड्स ने पचवर्गीय वप्प और इस शाक्य वप्प के एक होने की सम्भावना व्यक्त की है।[8] पर यह नितान्त असम्भव है। दोनो वप्प कपिलवस्तु के थे, पर एक वशिष्ठ गोत्री ब्राह्मण था और दूसरा शाक्यवशीय क्षत्रिय। पचवर्गीय वप्प बुद्ध से बहुत पूर्व दीक्षित हो चुका था। बुद्ध के बोधि-लाभ के पश्चात् अपने साथियो सहित वह अर्हत्-पद को प्राप्त हुआ।[9]



१ The Book of Gradual Syings, vol IV pp २८७-२८८
२ Ilaid, p २८८ fn.
३ भगवतीसूत्र, ११-१०-४२१।
४ वही, २-१-९०।
५ मज्झिमनिकाय, चूलमालूक्य सुत्त, ६३, दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त, १।९।
६ सुत्तपिटके, अगुत्तर निकाय पालि, चतुक्क निपात, महावग्गो, वप्पसुत्त, ४-२०-५ (हिन्दी अनुवाद) १८८-१९२।
७ अगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, खण्ड २, पृ ५५९।
८ "It is quite in the range of possibility that the vappa in Sutta 195 is one of those faire friends in whome the Sakyamuni sought fellow helpers"
—The Book of Gradual Sayings, vol II Introduction, p XIII
९ विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक।

बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ-धर्म मे होना महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारो मे निग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित् प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

१३ सकुल-उदायी

मज्झिमनिकाय[1] मे वर्णित इस प्रसग मे सकुल-उदायी परिव्राजक बुद्ध के साथ निगठ नातपुत्त की सर्वज्ञता की चर्चा करता है।

समीक्षा

इस प्रकरण मे 'कर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकारभेद से चर्चा है।

घटना-प्रसग

१४ निर्वाण-सवाद (१)

मज्झिमनिकाय[2] के इस प्रसग मे निगठ नातपुत्त के पावा मे निर्वाण प्राप्त होने के सन्देश को चुन्द समणुद्देश सामगाम मे बुद्ध के पास पहुचाता है।

१५ निर्वाण-सवाद (२)

दीघनिकाय[3] के इस प्रसग मे भी वैसे ही निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण का सम्वाद चुन्द बुद्ध के पास पहुचाता है।

१६ निर्वाण-चर्चा

दीघनिकाय[4] के ही इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण की चर्चा पावा मे जाने पर आयुष्मान् सारिपुत्र अपने उपदेश मे करते हैं।

समीक्षा

उक्त तीनो प्रकरणो की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढाचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण मे बुद्ध इस सवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे मे चुन्द को, दोनो उपदेशो का शब्दविन्यास कुछ भिन्न है, पर झुकाव एक ही है। पहले और दूसरे मे यह सवाद बुद्ध सामगाम मे सुनते है और वही उपदेश करते हैं। तीसरे प्रकरण मे सारिपुत्र पावा मे भिक्षुओ को महावीर-निर्वाण की बात कह कर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखको ने माना है कि इन प्रकरणो मे विरोधाभास है, अत ये प्रामाणिक नही होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है — इतिहास किसी भी शास्त्र के समुल्लेख को अक्षरश मानकर नही चला करता। किसी भी समुल्लेख का मूल हार्द यदि असदिग्ध है तो इतिहास ले लेता है। सच बात तो यह है कि तीनो प्रकरणो के अन्तर परस्पर विरोधी हो, ऐसी बात भी नही है। पहले प्रकरण मे उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण मे चुन्द का जो बताया गया है, उसके अनेक बुद्धि-गम्य कारण हो

---

१ मज्झिम निकाय, चूलसुकुलदायि सुत्तन्त, २-३-६।

२ मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४।

३ दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३।६।

४ दीघनिकाय, सगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१८।

सकते है । हो सकता है, दोनो ने वह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और सकलनकारो ने अपनी-अपनी वुद्धि मे एक-एक को महत्त्व दे दिया हो । हो सकता है, यह किंचित् कालान्तर से बुद्ध ने दोनो को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो । तीसरा प्रकरण अपने आप मे स्वतन्त्र है ही तथा वह तो प्रत्युत पहले दो प्रकरणो का और पुष्टिकारक वन जाता है । पावा मे यह घटना घटित हुई थी, अत पावा में आने पर सारिपुत्र का उस घटना को याद करना नितान्त स्वाभाविक ही हो सकता है ।

भगवान् महावीर के निर्वाण प्रसग पर अनुयायियो मे मत-भेद की चर्चा तीनों ही प्रकरणो मे की गई है । जैन परम्परा इस वात की कोई स्पष्ट साक्षी नही देती । हो सकता है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारित्व के विषय मे परस्पर चिन्तन चला हो । इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे । सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हे मिलना चाहिए था । पर वह पचम गणधर सुधर्मा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवली तीर्थंकरो के उत्तराधिकारी नही वनते । सम्भव है, यह चिन्तन भी उस निष्कर्ष से निकला हो । यह भी असम्भव तो नही माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी साधुओ और सुधर्मा स्वामी के अनुयायी साधुओ मे इसी विषय पर यत्किंचित् विवाद न हुआ हो । इसकी तनिक-सी झलक हमे इस वात से भी मिलती है कि श्वेताम्बर परम्पराओ मे भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्पराओ मे गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणो मे जो 'श्वेतवस्त्रधारी' शब्द आया है, वह भी 'अचेल' और 'सचेल' निर्ग्रन्थो के सघर्ष को इगित करता है ।[1] हो सकता है, बौद्धो ने उक्त तीनो प्रकरणो को बहुत बढावा दे दिया हो । एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना को प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय के लोग अतिरजित करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं । श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने जैन आगमो मे वर्णित गोशालक के न्यूनतासूचक वर्णन को बहुत ही अतिरजित माना है ।[2]

१७ निगठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

जव उपालि गृहपति वुद्ध का उपासक वन गया, तव बुद्ध के गुणोत्कीर्तन की गाथाए सुनकर निगण्ठ नातपुत्त के मुह से गर्म खून गिर गया । वहाँ से उन्हे पावा ले गये और वहाँ वे कालगत हो गये ।

समीक्षा

जैन कथावस्तु मे तो इस प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नही । मूल मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त मे भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नही जोडा गया है । यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है । जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से विहार कर पावा जाते है । वहा वे वर्षावास करते है और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते है । इतनी प्रलब अस्वस्थता उनकी रही होती, तो अवश्य उसका कही उल्लेख मिलता, इस अवधि मे उनकी अस्वस्थता का कही उल्लेख नही है ।

१८ दिव्य-शक्तिप्रदर्शन

यह प्रसग विनयपिटक[3] तथा धम्मपद-अट्ठकथा[4] का है । निगण्ठ नातपुत्त आदि छहो तीर्थंकरो की असफलता व बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज की दिव्य-शक्ति-प्रयोग की घटना का विवेचन किया गया है ।



---

१ उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो सकेत इससे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई मे जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं कहीं निकल जाये । शोधशील विचारको के लिए यह ध्यातव्य है ।

२ देखें, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म ।

३ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५-१-१० ।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-२ ।

बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ-धर्म मे होना महावीर की ज्येष्ठना और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारो मे निग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित् प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

१३ सकुल-उदायी

मज्झिमनिकाय[1] मे वर्णित इस प्रसग मे सकुल-उदायी परिव्राजक बुद्ध के साथ निगठ नातपुत्त की सर्वज्ञता की चर्चा करता है।

समीक्षा

इस प्रकरण मे 'कर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकारभेद से चर्चा है।

घटना-प्रसग

१४ निर्वाण-सवाद (१)

मज्झिमनिकाय[2] के इस प्रसग मे निगठ नातपुत्त के पावा मे निर्वाण प्राप्त होने के सन्देश को चुन्द समणुद्देश सामगाम मे बुद्ध के पास पहुचाता है।

१५ निर्वाण-सवाद (२)

दीघनिकाय[3] के इस प्रसग मे भी वैसे ही निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण का सम्वाद चुन्द बुद्ध के पास पहुचाता है।

१६ निर्वाण-चर्चा

दीघनिकाय[4] के ही इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण की चर्चा पावा मे जाने पर आयुष्मान् सारिपुत्र अपने उपदेश मे करते हैं।

समीक्षा

उक्त तीनो प्रकरणो की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढाचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण मे बुद्ध इस सवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे मे चुन्द को, दोनो उपदेशो का शब्दविन्यास कुछ भिन्न है, पर झुकाव एक ही है। पहले और दूसरे मे यह सवाद बुद्ध सामगाम मे सुनते है और वही उपदेश करते है। तीसरे प्रकरण मे सारिपुत्र पावा मे भिक्षुओ को महावीर-निर्वाण की बात कह कर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखको ने माना है कि इन प्रकरणो मे विरोधाभास है, अत ये प्रामाणिक नही होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है—इतिहास किसी भी शास्त्र के समुल्लेख को अक्षरश मानकर नही चला करता। किसी भी समुल्लेख का मूल हार्द यदि असदिग्ध है तो इतिहास ले लेता है। सच बात तो यह है कि तीनो प्रकरणो के अन्तर परस्पर विरोधी हो, ऐसी बात भी नही है। पहले प्रकरण मे उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण मे चुन्द का जो वताया गया है, उसके अनेक बुद्धि-गम्य कारण हो

---

१ मज्झिम निकाय, चूलसुकुलदायि सुत्तन्त, २-३-६।

२ मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४।

३ दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३।६।

४ दीघनिकाय, सगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१८।

सकते हैं। हो सकता है, दोनो ने वह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और सकलनकारो ने अपनी-अपनी बुद्धि मे एक-एक को महत्त्व दे दिया हो। हो सकता है, यह किंचित् कालान्तर से बुद्ध ने दोनो को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो। तीसरा प्रकरण अपने आप मे स्वतन्त्र है ही तथा वह तो प्रत्युत पहले दो प्रकरणो का और पुष्टिकारक बन जाता है। पावा में यह घटना घटित हुई थी, अत पावा मे आने पर सारिपुत्र का उस घटना को याद करना नितान्त स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण प्रसग पर अनुयायियो मे मत-भेद की चर्चा तीनो ही प्रकरणो मे की गई है। जैन परम्परा इस बात की कोई स्पष्ट साक्षी नही देती। हो सकता है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारित्व के विषय मे परस्पर चिन्तन चला हो। इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे। सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हे मिलना चाहिए था। पर वह पचम गणधर सुधर्मा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवली तीर्थंकरो के उत्तराधिकारी नही बनते। सम्भव है, यह चिन्तन भी उस निष्कर्ष से निकला हो। यह भी असम्भव तो नही माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी साधुओं और सुधर्मा स्वामी के अनुयायी साधुओ मे इसी विषय पर यत्किंचित् विवाद न हुआ हो। इसकी तनिक-सी झलक हमे इस बात से भी मिलती है कि श्वेताम्बर परम्पराओ मे भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्पराओ मे गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणो मे जो 'श्वेतवस्त्रधारी' शब्द आया है, वह भी 'अचेल' और 'सचेल' निर्ग्रन्थो के सघर्ष को इगित करता है।[1] हो सकता है, बौद्धो ने उक्त तीनो प्रकरणो को बहुत बढावा दे दिया हो। एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना को प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय के लोग अतिरजित करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं। श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने जैन आगमो मे वर्णित गोशालक के न्यूनतासूचक वर्णन को बहुत ही अतिरजित माना है।[2]

१७ निगठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

जब उपालि गृहपति बुद्ध का उपासक बन गया, तब बुद्ध के गुणोत्कीतन की गाथाए सुनकर निगण्ठ नातपुत्त के मुह से गर्म खून गिर गया। वहाँ से उन्हे पावा ले गये और वहाँ वे कालगत हो गये।

समीक्षा

जैन कथावस्तु मे तो इस प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नही। मूल मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त मे भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नही जोडा गया है। यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से विहार कर पावा जाते है। वहा वे वर्षावास करते है और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते है। इतनी प्रबल अस्वस्थता उनकी रही होती, तो अवश्य उसका कही उल्लेख मिलता, इस अवधि मे उनकी अस्वस्थता का कही उल्लेख नही है।

१८ दिव्य-शक्तिप्रदर्शन

यह प्रसग विनयपिटक[3] तथा धम्मपद-अट्ठकथा[4] का है। निगण्ठ नातपुत्त आदि छहो तीर्थंकरो की असफलता व बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज की दिव्य-शक्ति-प्रयोग की घटना का विवेचन किया गया है।



---

१ उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो सकेत इससे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई मे जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं कहीं निकल जाये। शोधशील विचारको के लिए यह ध्यातव्य है।

२ देखें, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

३ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५-१-१०।

४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-२।

समीक्षा

यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है। पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य का दिखलाना बुद्ध के द्वारा गर्ह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ठ नातपुत्त उस चन्दन पात्र को लेने के लिए ललचाये होगे और इस कौतुक मे प्रयत्नशील हुए होगे ? जैन परम्परा[1] मे तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है। लगता है, पिटको मे जहाँ भी इतर तैर्थिको की न्यूनता व्यक्त करने का प्रसग होता है, वही निगठ नातपुत्त, पूरणकाश्यप आदि सारे नाम दुहरा दिये जाते है।

१९ छ. बुद्ध

सयुत्तनिकाय अट्ठकथा[2] के इस घटना-प्रसग मे श्रावस्ती के राजा द्वारा निगठ नातपुत्त आदि छहो धर्माचार्यों के बुद्धत्व की परीक्षा करने का तथा उनका तिरस्कार करने का उल्लेख है।

समीक्षा

एक अतिरजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठकथा का कोई महत्त्व नही लगता।

२० मृगार श्रेष्ठी

धम्मपद-अट्ठकथा[3] मे आये हुए इस प्रसग मे निगण्ठो के श्रावक मृगार श्रेष्ठी का उसकी पुत्रवधू विशाखा द्वारा बुद्ध का उपासक बनाने की कथा है।

समीक्षा

यह सारा प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा का है, अत अतिरजित होना तो सहज है ही। आगमो मे किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ठ होने का उल्लेख नही मिलता। मूल त्रिपिटको मे भी उक्त घटना-प्रसग का कोई विवरण नही है।

२१ गरहदिन्न और सिरीगुत्त

धम्मपद-अट्ठकथा[4] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के श्रावक गरहदिन्न और बुद्ध के श्रावक सिरीगुत्त की कथा है।

समीक्षा

लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावो से अनेक कथाए गढी जाती रही हैं। उनमे से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की एक कथा[5] जैन-परपरा मे भी प्रचलित है।

अन्य धर्मो के सबन्ध से भी इस प्रकार के अनेको कथानक दोनो परपराओ मे मिलते है तथा इन दोनो परपराओ के सबन्ध मे इतर धर्मों मे भी ऐसे ही कथानक मिलते हैं। लगता है, कोई युग ही आया था, जिसमे ऐसे कथानक गढने की होड लगी थी।

---

१ प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, गोशालाधिकार, पृ० १९०।
२ सयुत्तनिकाय अट्ठकथा, ३-१-१।
३ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-४।
४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-१-२।
५ राजा श्रेणिक और रानी चेलणा की कथा।

मिलिन्द-प्रश्न मे कहा गया है—गरहदिन्न के घर बुद्ध के धर्मोपदेश करते समय ८४००० लोगो का स्रोतापत्तिफल मिला।[1] यह भी प्रस्तुत कथानक की अयथार्थता का एक प्रमाण है।

उल्लेख-प्रसग

२२ श्रामण्यफल

दीघनिकाय[2] के इस प्रसग मे मगधराज अजातशत्रु राजगृह मे गौतम बुद्ध के दर्शनार्थ जाता है। बुद्ध से श्रामण्य-फल पूछता है। यह पूछे जाने पर कि क्या यह प्रश्न औरो को पूछा गया था, अजातशत्रु निगठ नातपुत्त प्रभृति छ धर्माचार्यों का उल्लेख करता है।

समीक्षा

इस सारे प्रकरण का अभिप्राय अन्य सारे धर्म-नायको की न्यूनता बतलाकर गौतम बुद्ध की श्रेष्ठता बतलाना है। महावीर को चातुर्याम धर्म का निरूपक बतलाना इस बात की ओर सकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परपरा से सपृक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होंने उसी रूप मे देखा है, जबकि वह पचशिक्षात्मक था।[3]

चार याम जो यहाँ बताये गये हैं, वे यथार्थ नही है। तथाप्रकार की व्रत-परिकल्पना और भी किसी नाम से जैन परम्परा मे नही मिलती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शीतोदक-वर्जन आदि के रूप मे यह चार निषेध जैन परपरा से विरुद्ध नही हैं।

चूलसकुलदायि सुत्त[4] मे और ग्रामणी-सयुत्त[5] मे प्राणातिपात, अदत्तादान, कामेसुमिच्छाचार व मुसावाद से निवृत्त होने का उल्लेख है, पर वहाँ चतुर्याम शब्द का प्रयोग नही है।

महावीर का नाम अजातशत्रु को किस मत्री ने सुझाया, यह उक्त प्रसग मे नही है। पर महायान परपरा के सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था।

यहाँ अन्य सभी धर्म-नायको को चिर-प्रव्रजित और वयोऽनुप्राप्त कहा गया है, पर बुद्ध के लिए जीवक ने इन विशेषणो का प्रयोग नही किया है। इससे सूचित होता है, इन सबकी अपेक्षा मे बुद्ध तरुण थे।

२३ बुद्ध धर्माचार्यो मे कनिष्ठ

यह प्रसग सयुत्तनिकाय[6] का है। श्रावस्ती का राजा प्रसेनजित् कौशल बुद्ध से प्रश्न करता है कि निगठ नातपुत्त प्रभृति छहो धर्मनायको की अपेक्षा अल्पवयस्क और सद्य प्रव्रजित होने पर भी वे सम्यग् सबोधि-प्राप्ति का दावा कैसे करते है? बुद्ध के अनुसार भिक्षु को छोटा समझ कर उसकी अवज्ञा नही करनी चाहिए।



---

१ मिलिन्द प्रश्न, ३५०।

२ दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १-२।

३ चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचसिक्खिओ। देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गा० २३।

४ मज्झिम निकाय, ७९ तथा प्रकरण मे सम्बन्धित प्रसगसख्या १३।

५ इसी प्रकरण मे सम्बन्धित सख्या ६।

६ सयुत्तनिकाय, दहरसुत्त, ३-१-१।

समीक्षा

सब धर्म-नायको मे बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय मे डा० जेकोबी आदि ने इस प्रसग को छुआ तक नही है। यह उन्हे सुलभ हुआ होता, तो सभवत वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।

२४ सभिय परिव्राजक

यह प्रसग सुत्तनिपात[1] का है। सभिय परिव्राजक निगठ नातपुत्र आदि छहो धर्माचार्यो को प्रश्न करता है। वे वयस्क और चिर-प्रव्रजित होने पर भी उसके प्रश्न का उत्तर नही देते। गौतम बुद्ध ने उनकी अपेक्षा आयु मे कनिष्ठ और प्रव्रज्या मे नवीन होने पर भी उसके प्रश्नो का उत्तर दिया। वह बुद्ध के पास प्रव्रजित हो अर्हत् हुआ।

समीक्षा

उक्त प्रसग महावीर की ज्येष्ठता का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म-नायको को **'जिण्ण, बुड्ढा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुपत्ता, थेरा, रत्तञ्ञू चिर पब्बजिता'** अर्थात् 'जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, चिरजीवी, अवस्था-प्राप्त, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित' कहा गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक है।

२५ सुभद्र परिव्राजक

दीघनिकाय[2] के इस प्रसग मे परिनिर्वाण के दिन सुभद्र परिव्राजक बुद्ध के पास जाता है और निगठ नातपुत्त आदि छ धर्माचार्यों के विषय मे प्रश्न उपस्थित करता है।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नही है, क्योकि ऐसे प्रश्न बहुत बार ढर्रे के रूप मे भी हुआ करते हैं और यह प्रश्न तो छहो नाम साथ बोल देने के ढर्रे रूप ही हुआ है, यहा तक कि राजा मिलिन्द के साक्षात्कार के सबन्ध में भी इन्ही छ नामो का उल्लेख हुआ है,[3] जब कि राजा मिलिन्द का बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् होना बताया गया है।[4] यह इससे भी स्पष्ट है कि उक्त नामो मे मक्खली गोशालक और पूरणकाश्यप के नाम भी आये है, जो कि सर्वसम्मत रूप से बुद्ध से पूर्व ही निधन-प्राप्त हो चुके थे। इस प्रकार उक्त प्रसग बुद्ध की ज्येष्ठता का निर्णायक प्रमाण नही बन सकता।

२६ राजगृह मे सातो धर्मनायक

मज्झिमनिकाय[5] के इस प्रसग मे राजगृह मे सकुल उदायी परिव्राजक के साथ बुद्ध का वार्तालाप होता है। निगठ नातपुत्त आदि छ धर्मनायको की न्यूनता बताई गई है।

समीक्षा

इस उदन्त मे उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातो धर्मनायको का एक साथ राजगृह मे वर्षावास बताया गया है।

---

१ सुत्तनिपात, महावग्ग, सभिय सुत्त।

२ दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त, २-३।

३ मिलिन्द-पञ्हो।

४ वही।

५ मज्झिम निकाय, महासकुलदायि सुत्तन्त, २-३-७।

२७ निगठ उपोसथ

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[1] का है। बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा मृगार माता श्रावस्ती मे बुद्ध से 'उपोसथ' के विषय मे प्रश्नोत्तर करती है। बुद्ध तीन प्रकार के उपोसथो का वर्णन करते हैं—गोपाल उपोसथ, निर्ग्रन्थ उपोसथ और आर्य उपोसथ।

समीक्षा

जैनश्रावक के बारह व्रतो मे ग्यारहवा 'पौषधव्रत' है। प्रस्तुत प्रकरण मे उसका विकृत ही चित्रण हुआ है और विकृत ही समीक्षा हुई है। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओ मे १०० योजन उपरान्त पाप न करना, 'छट्ठे दिग्विरति व्रत' का सूचक है। इसमे कुछ की हिंसा और कुछ की दया का दोष बताना अयथार्थ है। 'यथाशक्य विरमण' का अर्थ कुछ जीवो की हिंसा व कुछ जीवो की दया नही होता।

पौषध-व्रत मे असत्य और चौर्य का दोष भी बताया गया, पर यह वाग्-विरोध मात्र है। यथार्थ मे पौषध का अभिप्राय है—एक अहोरात्र के लिए निर्ग्रन्थ-जीवन जीना। उसमे भी इतना विशेष कि वह अहोरात्र श्रावक निर्जल और निराहार बिताये। बुद्ध ने स्वय जिस तीसरी कोटि के उपोसथ का प्ररूपण किया है, उसकी भावना मे और निर्ग्रन्थ-उपोसथ की भावना मे मुख्यत कोई अन्तर प्रतीत नही होता। उन्होने आर्य-उपासथ मे एकाहारी रहने की बात कही है और निर्ग्रन्थ-उपोसथ मे निराहारी रहने की बात है। बुद्ध ने भी तो उपोसथ की भावना यही मानी है कि उपासक एक अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीए। उसमे हिंसा, असत्य, अदत्त, आदि के अहोरात्रिक त्याग बतलाये है। यदि जैन उपोसथ मे हिंसा, असत्य, अदत्त आदि के दोष आयेंगे तो फिर बौद्ध-उपोसथ मे क्यो नही आयेंगे? बौद्ध उपासक भी तो अहोरात्र के पश्चात् माता को माता और पिता को पिता मानता है तथा अपने धन आदि का उपभोग-परिभोग आदि करता है। जब कि अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीते समय उस सब व्यवहार का वर्जन हो गया था।

२८ छ अभिजातियो मे निर्ग्रन्थ

अगुत्तरनिकाय[2] के इस प्रकरण मे पूरणकाश्यप द्वारा प्रतिपादित छ अभिजातियो के विषय मे आयुष्मान् आनन्द बुद्ध से वार्तालाप करते हैं। निर्ग्रन्थो को लोहित अभिजाति मे रखा गया है।

समीक्षा

छ अभिजातिया यहा पूरणकाश्यप के नाम से बताई गई है, पर मूलत ये गोशालक द्वारा निरूपित है। दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त मे, सयुत्तनिकाय के खन्धवग्ग मे और मज्झिम निकाय के सन्दक सुत्त मे इन्हे गोशालक द्वारा ही निरूपित बताया गया है। पूरण काश्यप के नाम से उनको प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त और कही नही बताया गया है। तीन समुल्लेख जब समान रूप से मिलते हैं तो इस चतुर्थ समुल्लेख के सम्बन्ध मे यथार्थता यही लगती है कि शास्त्र-सकलयिताओ की भूल ही से ऐसा हुआ है।

२९ सच्चक निगठ पुत्र

मज्झिम निकाय[3] के इस प्रकरण मे वैशाली मे बुद्ध के साथ हुई सच्चक निगण्ठपुत्र की चर्चा का वर्णन है।



---

१ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७०।

२ अगुत्तरनिकाय, ६-६-५७।

३ मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा १-४५०।

समीक्षा

जैन परम्परा मे इस नाम का कोई व्यक्ति नही मिलता । बुद्ध ने इसे सम्बोधन मे सर्वत्र ही 'अग्निवैश्यायन' कहा है । यह इसका गोत्र था । महावीर को भी पिटक साहित्य मे कुछ-एक स्थलो पर 'अग्निवैश्यायन' कहा गया है ।[1]

हो सकता है, पिटको के सकलन-काल मे निगठपुत्र के अग्निवैश्यायन नाम का विपर्यास महावीर के साथ हो गया हो । डा० जेकोबी का कहना है, सुधर्मा के अग्निवैश्यायन होने के कारण यह विपर्यास हुआ है ।[2] 'निगठ नातपुत्र' और 'निगठपुत्र' के नाम साम्य मे इस विपर्यास की अधिक सभवता लगती है ।

३० अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-व्रत

यह प्रकरण मज्झिम निकाय[3] का है । इसमे बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द सन्दक परिव्राजक के साथ चार अब्रह्मचर्यवास और चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास के विषय मे चर्चा करता है । निगठ नातपुत्त का उल्लेख सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी शास्ता के रूप मे किया गया है ।

समीक्षा

यहाँ अजितकेशकम्बल आदि चार को अब्रह्मचर्यवास मे माना है । अब्रह्मचर्यवास का अभिप्राय है—असन्यास, महावीर को अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास मे माना है अर्थात् वह सन्यास तो है, पर निर्वाण का आश्वासन देने वाला नही, कुल मिलाकर यह तो कहा ही जा सकता है, बुद्ध की दृष्टि मे निगठ नातपुत्त अन्य धर्मनायको की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे ।

३१ विभिन्न मतो के देव

सयुत्तनिकाय[4] के प्रस्तुत प्रकरण मे छ देवपुत्र राजगृह मे बुद्ध के पास आकर निगठ नाथपुत्र प्रभृति छ धर्माचार्यों की स्तुति करते है ।

समीक्षा

देवो के धर्म-चर्चा मे रस लेने का उल्लेख आगमो मे भी यत्र-तत्र मिलता है । कुण्डकोलिक से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जब कि कुण्डकोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति मे विश्वास करता था । शकडालपुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जबकि तब तक शकडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था ।[5]

३२ पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

मज्झिम निकाय[6] के इस प्रसग मे श्रावस्ती मे बुद्ध के पास आकर पिंगल-कोच्छ ब्राह्मण निगठ नातपुत्त आदि छ तीर्थंकरो के सबन्ध मे प्रश्न पूछता है ।

---

१ दीघनिकाय, सामञ्जफल सुत्त ।
२ S B E vol, XIV, Introduction, p XXI
३ मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६ ।
४ सयुत्तनिकाय, नाना तित्थिय सुत्त, २-३-१० ।
५ उपासकदशाग सूत्र, अ० ७ ।
६ मज्झिमनिकाय, चूल सारोपम सुत्तन्त, १-३-१० ।

समीक्षा

यह बुद्ध की अपनी विशेष शैली रही है कि उलझन भरे प्रश्नो को वे वडी चतुरता से टाल देते थे । अनेक स्थलो पर उन्होने ऐसा किया है ।

३३ जटिल सुत्त

यह प्रकरण सयुत्तनिकाय[1] का है । श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् कोशल के गुप्तचर जटिल, निगठ परिव्राजक आदि की वेषभूषा मे बुद्ध के पास से गुजरते है और इनके विषय मे राजा बुद्ध से प्रश्न पूछता है ।

समीक्षा

यह प्रसग तात्कालिक राज-व्यवस्था का वहुत ही गूढ परिचय देता है । गुप्तचर विभिन्न मतो के साधु वन-कर गुप्तचरता करते, यह एक अद्भुत सी वात है ।

३४ धम्मिक उपासक

सुत्तनिपात[2] के इस प्रकरण मे पाच सौ उपासको-सहित धम्मिक उपासक बुद्ध की स्तुति करते हुए कहता है—"जितने भी वादी तैर्थिक, आजीवक और निर्ग्रन्थ हैं, वे सब प्रज्ञा मे आपको वैसे ही नही पा सकने जैसे कि शीघ्र चलने वाले को खडा रहने वाला ।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की प्रशसा मे निगठो का उल्लेख मात्र किया गया है । सुत्तनिपात अट्ठकथा के अनुमार ये पाँच-सौ वौद्ध उपासक आकाशगामिनी विद्या के धारक थे व 'अनागामी' थे ।

३५ महावोधिकुमार

जातक-अट्ठकथा[3] के इस प्रसग मे निगठ नातपुत्त आदि पाच धर्मनायको का पूर्वजन्म मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के पाच मिथ्यादृष्टि अमात्यो के रूप मे होने का उल्लेख है ।

समीक्षा

यह महावोधि जातक तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते है कि वौद्धो ने अपने प्रति-पक्षियो को हीन व तुच्छ प्रमाणित करने के लिए अनेको अनगढ कथानक रचे है ।

३६ मयूर और काक

जातक-अट्ठकथा[4] के इस कथानक मे बुद्ध और निगठ नातपुत्त को पूर्वजन्म मे क्रमश मयूर और काक वताया गया है ।



समीक्षा

कथा नितान्त आक्षेपात्मक और गर्हा-सूचक है तथा परिपूर्ण साम्प्रदायिक मनोभावो से गढी हुई है । यह कथा मूल त्रिपिटको की नही है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नही है । मूल जातक मे भी गुणी की वर्तमानता मे अव-

---

१ सयुत्तनिकाय, जटिल सुत्त, ३-२-१ ।
२ सुत्तनिपात (हिन्दी अनुवाद) चूलवग्ग, धम्मिक सुत्त, पृ० ७५, ७७ ।
३ जातक-अट्ठकथा, महावोधि जातक, ५२८, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१२ से ३३० ।
४. जातक-अट्ठकथा, वावेरू जातक, ३३९ (हिन्दी अनुवाद) भा० ३, पृ० २८९ से २९१ ।

गुणी की पूजा का उल्लेख है। यह उदन्त जातक-अर्थकथा का है, इसलिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नही दीख पडता।

३७ मासाहार-चर्चा

यह भी जातक अट्ठकथा[1] का प्रसग है। सिंह सेनापति द्वारा बुद्ध को मासाहार करवाने पर जब निगठ नातपुत्त ने बुद्ध की आलोचना की,[2] तब बुद्ध ने पूर्वजन्म के कथानक द्वारा बताया कि पूर्वजन्म मे भी निगठ नातपुत्त मेरा आलोचक था।

समीक्षा

विनयपिटक और अगुत्तरनिकाय मे जहाँ सिंह सेनापति की इस घटना का उल्लेख है, वहाँ चौराहो पर मासाहार की निन्दा करने के प्रसग मे निगठ नातपुत्त का नाम न होकर केवल निगठो का ही नामोल्लेख है। लगता है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओ के साथ पूर्वजन्म की घटना को जोडने के लिए निगठ नातपुत्त को ही नगर-चर्चा का पात्र बना दिया है। अन्य अट्ठकथाओ की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नही लगता।

३८ चार प्रकार के लोग

अगुत्तरनिकाय[3] के इस प्रकरण मे 'अपने को तपाने वाले व दूसरो को कष्ट देने वाले' के आधार पर चार प्रकार के लोगो का प्रतिपादन किया गया है। 'अपने को तपाने वाले' लोगो के अन्तर्गत निर्ग्रन्थो की आचार-क्रिया का विवेचन किया गया है।

समीक्षा

इस प्रसग मे नामग्राह निर्ग्रन्थो का उल्लेख नही है, पर आचार बहुत कुछ निर्ग्रन्थो का ही बताया गया है। कुछ एक आचार तो दशवैकालिक सूत्र से शब्दश मिलते है। इस प्रथम भग मे निर्ग्रन्थो के अतिरिक्त आजीवक तथा पूरणकाश्यप के अनुयायियो के भी कुछ नियम बताये गये है, ऐसा प्रतीत होता है। "न वह मास खाता है, न वह मछली खाता है, न वह सुरा पीता है, न वह मेरय पीता है"—यह आचार भी निर्ग्रन्थ आचार के सलग्न ही बताया गया है। जैन साधुओ के मासाहार के विपक्ष मे यह एक अच्छा प्रमाण बन सकता है।

३९ निर्ग्रन्थो के पाच दोष

अगुत्तरनिकाय[4] के इस प्रकरण मे बुद्ध ने निर्ग्रन्थो के पाच दोष बताये हैं—जीव-हिंसा, चोरी, असत्य, अब्रह्मचर्य व सुरा-पान।

समीक्षा

यह उल्लेख 'उपसम्पदावर्ग' का है। इसमे आजीवक, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी ये ही पाच बातें कही गई है।

---

१ जातक, तेलोवाद जातक, स० २४६।

२ देखें, प्रसग सख्या १।

३ अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० १९७ से १९९।

४ अगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० ४५२।

४० वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ

यह प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा[1] का है। इसमे वस्त्रधारी निर्ग्रन्थो को अचेलक भिक्षु की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओ द्वारा अच्छा माना गया है तथा बुद्ध के साथ इस विषय में वार्तालाप होता है।

समीक्षा

इस घटना-प्रसग मे निगठो के वस्त्र-धारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था ? पर इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध परपरा को सचेलक और अचेलक दोनो ही प्रकार के निगठो का परिचय है।

४१ मौद्गलयायन का वध

धम्मपद-अट्ठकथा[2] के इस प्रसग मे आयुष्मान् मौद्गल्यायन का वध करने वाले पाच सौ तैर्थिको (निगठो) को राजा अजातशत्रु भूमि मे जीवित गड़वा देता है।

समीक्षा

यह वृत्तान्त दो स्थानो मे उपलब्ध होता है—जातकट्ठकथा और धम्मपद-अट्ठकथा। जातकट्ठकथा मे मौद्गलयायन के वध-प्रसग मे निगठो का उल्लेख है और धम्मपद-अट्ठकथा में तैर्थिको का। यथार्थ दोनो ही नही लगते। निगठो व तैर्थिको को गर्हित करने का ही सारा उपक्रम लगता है।

डा० मलालसेकर ने Dictionary of pali proper names[3] मे तथा एच० जी० ए० वान स्लेम्ट ने Encyclopaedia of buddhism[4] मे लिखा है—"अजातशत्रु ने ५०० निगठो का वध करवाया, इसलिए ही निगठो का अभिप्राय अजात-शत्रु के प्रति अच्छा नही रहा।" यह लिखना यथार्थ नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध-परपरा अजातशत्रु की बहुत स्थलो पर उपेक्षा करती है, जब कि जैन परम्परा मुख्यतया उसे सम्मानित स्थान देती है। अजातशत्रु निगठो का वध कराये, यह जरा भी सभव नही लगता।

४२ मिलिन्दप्रश्न

यह प्रकरण मिलिन्दपञ्हो[5] का है। सागलनगर के राजा मिलिन्द[6] को उनके अमात्य निगठ नातपुत्त आदि छ धर्माचार्यो से वार्तालाप करने का निवेदन करते है।

समीक्षा

राजा मिलिन्द बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् हुआ, ऐसा बताया गया है।[7] यहा भी बुद्ध के अतिरिक्त छहो धर्मनायको के नाम गिनाये गये है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य मे ऐसी एक प्रथा ही रही है कि निगठ, आजीवक प्रभृति भिक्षुओ के सबन्ध मे भी कुछ कहना हो, तो उनके प्रवर्तक निगठ नातपुत्त, मक्खलि गोशालक



---

१ धम्मपद-अट्ठकथा, २२-८।
२ धम्मपद-अट्ठकथा, १०। ७।
३ vol I, p ३५
४ p 320
५ मिलिन्द प्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४ से ६।
६ मिनान्दर (Minander) इदोग्रीक सम्राट् ही राजा मिलिन्द था, जिसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) थी, ऐसा विद्वानो का अभिमत है। देखें, मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ ४।
७ मिलिन्द प्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४।

के नाम से ही कह दिया जाये। निगठ नातपुत्त की वर्तमानता मे भी जहा-जहा उनका नाम आया है, अनेक स्थलो पर घटना का सबन्ध निगठ भिक्षुओ से ही हो सकता है। इसी घटना-प्रसग पर भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है—"मालूम होता है, इन (छहो तीर्थंकरो) की अपनी-अपनी गद्दिया इन्ही नामो से चलती होगी। जैसे भारतवर्ष मे 'शकराचार्य' की गद्दी अभी तक बनी है। किन्तु इन गद्दियो का कब आरम्भ हुआ और कव अत — इसका पता नही।"[1] शकराचार्य की तरह एक ही नाम से इन सबकी गद्दिया चलती हो, इसका तो कोई आधार नही है, पर उन मतो के सबध मे यह एक कहने की पद्धति— Stock-Phrase रही है, ऐसा अवश्य लगता है।

४३ लका मे निर्ग्रन्थ

यह प्रकरण महावश[2] का है। लका के राजा पाण्डुकाभय ने अपने नगर मे जोतिय निगठ, गिरि निगण्ठ, कुम्भण्ड निगठ आदि के लिए घर, देवालय आदि बनवाये।

समीक्षा

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्र पार विदेशो मे भी गया था। पाण्डुकाभय (ई० पू० ३७०-३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व होता है। महेन्द्र और सघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है। जैन साहित्य मे इन निगठो की कोई चर्चा नही है। उक्त घटना-प्रसग से यह भी स्पष्ट नही होता कि ये निगठ गृही थे या भिक्षुक। जोतिय निगठ को महावश टीका मे नगरवर्धकि कहा गया है।

४४ वैशाली मे महामारी

यह प्रकरण महावस्तु[3] का है। एक बार जब वैशाली मे यक्षो द्वारा महामारी फैलायी गई, तब उन्होने पूरण-काश्यप, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र आदि छहो को एक-एक करके वैशाली मे बुलाया। तब भी महामारी शान्त न हुई। अन्त मे बुद्ध को वैशाली में बुलाने पर महामारी शान्त हुई।

समीक्षा

कथा सारी की सारी बुद्ध की श्लाघा में गढी गई है। जहा बुद्ध रहते है, वहा महामारी आदि रोग नही रहते, इस विषय में जैन परम्परा की मान्यता है—जहा जिन रहते हैं, वहा चारो दिशाओ में पच्चीस-पच्चीस योजन तथा ऊर्ध्व और अधो दिशा में साढे बारह योजन तक ईति, महामारी, स्वचक्र-भय, परचक्रभय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, उत्पात आदि नही होते।[4]

४५ नमो बुद्धस्स, नमो अरहन्तान

यह कथा-प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा[5] का है। गुल्ली-डण्डा खेलते समय 'नमो बुद्धस्स' और 'नमो अरहन्तान' बोलने वाले दो बालको की कथा है।

समीक्षा

नमो बुद्धस्स और नमो अरहन्तान का शब्द-प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही रोचक हो जाता है। दोनो परम्पराओ का वन्दन-सूक्त बहुत ही समान शैली से प्रसूत हुआ है। 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' के शब्द-

---

१ वही, बोधिनी, पृ० ६।

२ महावश, परिच्छेद १०, श्लो० ७७-७९ व ९१ से १०२

३ महावस्तु, 253 301, *Mahavastu*, Tr by J J Jones, vol 1, pp 208 to 249

४ समवायाग सूत्र, समवाय ३४।

५. धम्मपद अट्ठकथा, २१। ५।

प्रयोग भी दोनो परम्पराओ की समान धारणाओ के सूचक है। जैन परम्परा भी उक्त अभिप्राय मे 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' का प्रयोग करती है।

प्रस्तुत घटना-प्रसग का शेष महत्त्व एक दन्त कथा के रूप मे ही रह जाता है।

४६ निर्ग्रन्थो को दान

धम्मपद-अट्ठकथा[1] के इस प्रकरण के अनुसार सारिपुत्र का मामा प्रतिमास एक सहस्र मुद्राए व्यय कर निर्ग्रन्थो को दान करता था।

समीक्षा

धम्मपद-अट्ठकथा के रचयिता ने धम्मपद की प्रत्येक गाथा पर कोई एक कथा लिख देना आवश्यक ही समझा है, ऐसा लगता है। बहुत सम्भव है, इस हेतु उन्हे बहुत सारी कथाए अपनी ओर से ही गढ देनी पडी हो। निर्ग्रन्थ अपने लिए पकाया व अपने लिए खरीदा अन्न, वस्त्र आदि ग्रहण नही करते। इस स्थिति में यह कथा-वस्तु सदिग्ध ही रह जाती है।

सारिपुत्र के मामा को यहाँ निग्रन्थ-उपासक माना गया है। बुद्ध के चाचा निर्ग्रन्थ-उपासक थे ही। इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि निर्ग्रन्थ-धर्म और बौद्ध-धर्म अनेक परिवारो मे घुले-मिले ही चलते थे।

लगता है, दोनो परम्पराओ की दान-विषयक धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओ का दिया गया दान ही दोनो परम्पराओ मे सुपात्र-दान माना है। फिर भी निर्ग्रन्थो को देने मे ब्रह्मलोक ही मिले, ऐसा कोई विशेष उल्लेख निर्ग्रन्थ-परम्परा मे नही मिलता।

४७ नालक परिव्राजक

महावस्तु[2] के इस प्रसग मे नालक परिव्राजक एक-एक कर निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र आदि छहो धर्माचार्यों के पास जाकर तत्त्व-चर्चा करता है और अन्त मे बुद्ध से अपनी जिज्ञासा का सामाधान पाता है।

समीक्षा

यह प्रसग महायान-परम्परा का है। हीनयान-परम्परा मे भी नालकसुत्त[3] मे यही कथा-प्रसग उपलब्ध होता है, वहा बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्मनायको का उल्लेख नही है।

४८ जिन-श्रावको के साथ

यह प्रसग भी महावस्तु[4] का है। प्रव्रजित होने के पश्चात् बुद्ध क्रमश आराड कालाम और उद्रक रामपुत्र के पास गये। वे अपने जिन-श्रावको को "त्याग करो, त्याग करो" का उपदेश देते थे।

समीक्षा

यहाँ 'जिन-श्रावक' शब्द का प्रयोग आराड कालाम, उद्रक रामपुत्र व उनके अनुयायिओ का निगण्ठ धर्मी होना सूचित करता है। यह प्रकरण महावस्तु ग्रन्थ का है, जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। पालि त्रिपिटको मे जिस



---

१ धम्मपद-अट्ठकथा, ८-५

२ Mahavastu, Tr by J J Jones vol III pp 379-388

३ सुत्तनिपात, ३७

४ Mahavastu, Tr by J J Jones, vol II, pp 114-117

अभिप्राय मे 'निगण्ठ' शब्द आता है, उसी अर्थ मे सस्कृत त्रिपिटको मे 'जिन-श्रावक' शब्द आता है ।[१]

इस प्रसग से यह तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने 'जिन-श्रावको' के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया ।

४६ भद्रा कुडलकेशा

धम्मपद-अट्ठकथा[२] तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा[३], दोनो मे यह प्रसग मिलता है। राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या भद्रा सत्थुक चोर को प्राण-दण्ड देने से बचाकर उसके साथ विवाह करती है। एक बार चोर पति के द्वारा लुटे जाने की स्थिति होने पर उसे पर्वत से नीचे गिराकर भद्रा स्वय श्वेतवस्त्रधारी निगठो के सघ मे प्रव्रजित हो जाती है और बाद मे सारिपुत्र द्वारा वाद-विवाद मे हार जाने पर बुद्ध की शिष्या हो जाती है।

समीक्षा

प्रसग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ-सघ मे दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केश-लुचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठो का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

५० ज्योतिर्विद् निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[४] के इस प्रकरण मे गगा-तट पर रहने वाले ब्रह्मचारी ज्योतिर्विद् निगठ और उसके पांच सौ अनुयायिओ का सद्य बोधि-प्राप्त बुद्ध के पास प्रव्रजित होने का उल्लेख है।

समीक्षा

जैन कथा साहित्य मे इस प्रकार के घटना-प्रसग का कोई उल्लेख नही है। यह घटना इतना अवश्य व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधि-लाभ से पूर्व भी निगण्ठ लोक बडे-बडे समुदायो मे विद्यमान थे। जैन कथा-साहित्य मे ऐसे प्रसग बहुत अल्प हैं, जिनमे बौद्ध-भिक्षु निगण्ठ-शासन मे प्रवेश करते हैं, जबकि बौद्ध कथा-साहित्य मे प्रस्तुत प्रकार के कथाप्रसगो की बहुलता है। इससे निगण्ठो की पूर्ववर्तिता स्पष्टत व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है।

५१ धूलि-धूसरित निगठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[५] के इस प्रकरण मे पांच सौ ब्राह्मणो का गगा के किनारे रहने वाले एक धूलि-धूसरित निगण्ठ के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाते समय यक्ष द्वारा प्रेरित होकर बुद्ध के पास श्रमण बनने का उल्लेख है।

●

---

१ cf Mahavastu, Tr by J J Jones, vol II, p 114

२ धम्मपद-अट्ठकथा ८। ३

३ थेरीगाथा-अट्ठकथा, पृ० ६६

४ चीनी धम्मपद अट्ठकथा के आधार पर S Beal Dhammapada (tr from Chinese), Susil Gupta (India) Ltd Calcutta, 1952, pp 103-4

५ वही, पृ० ५४

द्वितीय कल्कियुग के तीन क्रान्तिकारी सन्त



डा० ज्योतिप्रसाद जैन

एम ए , एल-एल बी , पी-एच डी , लखनऊ

महावीर-निर्वाण सवत् (प्रारभ ईसापूर्व ५२७) के द्वितीय सहस्राब्द की अन्तिम शताब्दी, भारतवर्ष के ही नही सम्पूर्ण सभ्य विश्व के इतिहास मे एक अत्यन्त घटनापूर्ण शताब्दी सिद्ध हुई ।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियो के अनुसार यह द्वितीय कल्कि का युग था। दूसरी शती ई० मे हुए यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति मे कथन हुआ है कि भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त के प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त मे एक कल्कि होता रहेगा[1]। ७८३ ई० मे रचित जिनसूरि पुन्नाट के हरिवशपुराण मे भी यही कथन किया गया है ।[2] महानिशीथसूत्र मे भी कल्कि का उल्लेख हुआ है ।[3] इन तीनो ही आधारो मे कल्कि को एक विधर्मी, धर्मविध्वसक, महादुराचारी एव अत्यन्त अत्याचारी शासक के रूप मे चित्रित किया गया है ।[4] प्रथम कल्कि को (५वी शती ई० मे) एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप मे भी चीन्हने का कतिपय विद्वानो ने प्रयत्न किया है ।[5] उपर्युक्त अनुश्रुतियो मे यह भी सर्वत्र पाया जाता है कि कल्कि के धर्म-विरोधी अत्याचारो के उपरान्त धर्मराज्य की स्थापना होती है ।

हमे तो ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर की श्रमणपरपरा मे जो भी आचाय कल्किविषयक इस भविष्य-वाणी का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता रहा वह तत्कालीन ज्ञात विश्व के मानव-इतिहास का अच्छा अध्येता था और इतिहास दर्शन का उसने गभीर मनन किया था। उस काल की शैली मे अनेक तथ्य प्रतीको के रूप मे व्यक्त किये जाते थे और 'कल्कि' भी एक प्राय सार्वदेशीय एव सार्वकालिक सत्य का प्रतीक है । भारतवर्ष के तथा अन्यत्र के भी मानवजाति के इतिहास से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त के लगभग कतिपय धर्मविरोधी, अनीतिपूण विहितमार्गो मे विकृतिया उत्पन्न करनेवाली और जनता की शान्ति एव सुख का विघात करनेवाली आसुरी या दानवी शक्तियो का प्राबल्य हो जाता है । ये शक्तिया किसी एक वा अनेक अत्याचारी शासको या शासनव्यवस्था के रूप मे उस काल मे प्रकट होती है । उनके अथवा काल के प्रभाव से सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो मे भी जो व्यक्ति या वर्ग सत्ताधारी होते है उनमे भी शिथिलाचार और अनैतिकता का बोलबाला हो जाता है।

और यह दुर्योग कुछ काल के लिए देश और जाति को झझोडकर रख देता है। सर्वत्र कुराजकता, अशान्ति, अनीति, अधार्मिकता, उच्छृखलता एव पतनोन्मुखता दृष्टिगोचर होने लगती है । सौभाग्य से ऐसी स्थिति सदैव बनी नही रह सकती । जब वह अतिरेक के निकट पहुच जाती है तो उसी मे से पुर्ननिर्माण के, शान्ति, व्यवस्था एव नैतिकता की पुन स्थापना के तथा धार्मिक पुनरुत्थान के अकुर भी प्रगट होने लगते हैं । राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि प्राय सभी क्षेत्रो मे छोटी बडी क्रान्तिया होती है, आन्दोलन होते है और परिवर्तन होते है । एक बार फिर सुकाल

---

१ एव वस्स-सहस्से पुह कक्की हवेइ एक्केको ।

२ मुक्तिम् गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम् ।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधक ।।

३ होंही—मिच्छदिट्ठी कक्की णाम रायाणो ।

४ तिलोयपण्णत्ति, चतुर्थ महाधिकार, गा० ६४, ६६, १००-१०४, हरिवश सर्ग ६०, श्लो० ४५२, प्रबन्धपरिजात (प० कल्याणविजय) ।

५ जैन हितैषी, भा० १३, अ० १२ मे डा० के० पी० जायसवाल, और डा० के० बी० पाठक के लेख, ना० रा० प्रेमी-जैनसाहित्य और इतिहास प्र० स०, पृ० ८, १६, २०-२१ ।

आता है और अपेक्षाकृत अधिक कालपर्यन्त बना रहता है । क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे ये दोनो स्थितिया एक के अनन्तर एक आती रहती है । जितनी तीव्र क्रिया होती है उतनी ही तीव्र और उतनी ही अधिक देश एव कालव्यापी उसकी प्रतिक्रिया होती है ।

धर्म और अधर्म के सुप्रसिद्ध सघर्ष के प्रतीक महाभारत युद्ध[1] के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात्, ६ठी-५वी शती ईसापूर्व एक ऐसा युग था जिसमे यूनान और ईरान, फिलिस्तीन और चीन, तथा भारत के श्रमणो एव ब्राह्मणो मे इस प्रकार उस काल के प्राय सम्पूर्ण सभ्य विश्व मे ज्ञान जाग्रति, तत्वचिन्तन और धार्मिक क्रान्ति की एक अत्यन्त प्रबल अभूतपूर्व लहर व्याप्त हो गई थी । ऐसी जबरदस्त एव व्यापक प्रतिक्रिया प्राय सायोगिक तो होती ही है किन्तु जिन परिस्थितियो ने उसे जन्म और प्रेरणा दी वे भी अत्यन्त भीषण ही रही होगी, इसमे कोई सन्देह नही है, भले ही इतिहास के आलोक मे वे भली प्रकार स्पष्ट न हो पाई हो । अतएव भ० महावीर के समय को कल्कि सबधी काल-गणना का, दूसरे शब्दो मे उक्त आवधिक महाक्रान्तिकारी युगो की गणना का आधार बनाना सर्वथा सगत ही सिद्ध हुआ है । ५वी शती के अन्त के लगभग गुप्त सम्राटो के स्वर्णयुग का अन्त और विधर्मी बर्बर हूणो के भीषण विध्वसक आक्रमण तथा उक्त विनाश एव पतन मे से अद्भुत नवीन निर्मापक तत्त्व उस युग का प्रथम कल्कि-युग होना भली प्रकार चरितार्थ करते हैं । उसके एक सहस्र वर्ष उपरान्त, १५वी शती ई० मे फिर प्राय वैसी ही परिस्थितिया थी—यह द्वितीय कल्कियुग जो था ।

इसी शताब्दी के मध्य के लगभग, १४५३ ई० मे तुर्क मुसलमानो ने युरोपीय ईसाईजगत् के ऊपर निर्णायक विजय प्राप्त की और कुस्तुन्तुनिया पर पूर्णतया अधिकार कर लिया । परिणाम स्वरूप अनेक यूनानी, रोमन और ईसाई विद्वान अपने पोथीपत्रे लेकर अपने उक्त सर्वमहान् केन्द्र से भाग गये और यूरोप के विभिन्न देशो मे फैल गये । सम्पूर्ण यूरोप मे ज्ञानजागृति (रेनेसान्स) की एक अपूर्व एव अत्यन्त वेगवान् लहर व्याप्त हो गई । इस ज्ञानजागृति के फल-स्वरूप धर्मसुधार के प्रबल आन्दोलन चल पडे, विभिन्न यूरोपीय देशो मे राष्ट्रीय राजसत्ताए सुसगठित होने लगी । यूरोपीय इतिहास के अन्धकारपूर्ण युग का अन्त हुआ और उसके आधुनिक प्रगतिगामी युग का प्रारभ हुआ ।

अब सम्पूर्ण मध्य एशिया मुसलमान बन चुका था । बर्बर मगोल भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके थे । तुर्कों की शक्ति बढ रही थी । ईरान और चीन मे भी पुन जागृति हो रही थी । और मुगल बाबर के रूप मे एक ऐसी नवीन शक्ति का उदय भी इसी शताब्दी के अतिम पाद मे हो चुका था जो अगामी दो शताब्दियो मे ही विकसित होकर विश्व को चमत्कृत करनेवाली थी ।

१२वी शती ई० के अन्त के लगभग मुहम्मद बिन साम शिहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली और अजमेर के चौहान नरेश पृथ्वीराज को तथा कन्नोज और वाराणसी के गहडवाल राजा जयचन्द को पराजित करके भारतवर्ष के प्राचीन 'मध्यप्रदेश' मे जिसे अब हिन्दुस्तान कहा जाने लगा था, मुस्लिम शासन स्थापित कर दिया था । अगले डेढ सौ वर्षों मे दिल्ली के क्रमश गुलाम, खिलजी एव तुगलुक वशी सुल्तानो के प्रयत्न से इस देश मे इस्लाम और उसके राजनैतिक प्रभुत्व का द्रुतवेग मे प्रसार हुआ जिसन अटक से कटक और कश्मीर से कन्याकुमारी पर्यन्त देश के बहुभाग को आच्छादित कर लिया । ये नवागत मुसलमान बर्बर विदेशी थे, धन और राज्य के लोभ तथा इस्लाम के प्रचार और कुफ्र के विनाश की भावना से उन्मत्त थे । उनके रोमाचकारी अत्याचार और उनकी अमानुषिक क्रूरता भारतवर्ष के लिए सर्वथा नवीन वस्तुए थी । न्यायपूर्ण धर्मयुद्धो के आदी भारतीय वीर इन नृशस धर्मान्ध बर्बरो की उस पैशाचिकता को समझ ही न पाये जिसमे आत्मसमर्पण करने वाले या युद्ध मे बन्दी हो जाने वाले योद्धाओ को बरबस मुसलमान बना लिया जाता, अन्यथा भीषण यातनाए दे-देकर उनकी निर्मम हत्या कर दी जाती थी, भागते हुए शत्रुओ का पीछा करके उनका सहार कर दिया जाता था, निहत्थी प्रजा पर लूटमार आदि भयकर अत्याचार किये जाते थे, स्त्रियो की लाज लूटना और

---

१ आधुनिक भारतीय इतिहासकार इस युद्ध की तिथि ईसापूर्व १५वीं शती मे निश्चित करते हैं, देखिये भा० वि० भवन बबई मे प्रकाशित 'दी वैदिक एज' ।

असहाय बच्चों, स्त्रियों एवं वृद्धों का भी वध कर देना एक खेल था। खड़ी खेती को उजाड़ देना, गांवों को भस्म कर देना, विशाल नगरों और दुर्गों का विनाश करना, धर्मायतनों और देवमंदिरों का विध्वंस करना, देवमूर्तियों को तोड़ना, ग्रन्थों को जला डालना, साधुओं, मुनियों, त्यागियों और तपस्वियों को भी पीड़ा देना, इत्यादि साधारण बातें थीं। इस तूफानी आंधी के सन्मुख भारतीय जीवन एकदम स्तंभित हो गया, इसके राजनैतिक एवं सांस्कृतिक शक्ति-स्रोत एकबारगी शुष्कप्राय हो गये और सर्व प्रकार की नैतिक दुर्बलताएं जड़ पकड़ने लगीं। १५वीं-१६वीं शती तक प्रायः यही वस्तुस्थिति बनी रही। इसमें भी संदेह नहीं कि १४वीं शती में ही मुसलमानों की केन्द्रीय शक्ति का द्रुतगति से ह्रास होने लगा था, यहां तक कि १५वीं शताब्दी में दिल्ली के सैयद (१४१४-१४५० ई०) और लोदी (१४५१-१५२६ ई०) वंशी सुल्तानों का अधिकार प्रायः वर्तमान पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक ही सीमित रह गया था। कश्मीर, सिंध, गुजरात, मालवा, दक्खनबंगाल-बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश आदि में दिल्ली राज्य के प्रान्तीय शासक (सूबेदार) ही स्वतंत्र सुल्तान बन बैठे थे। राजस्थान के मेवाड़ आदि कई स्वतन्त्र राजपूत राज्य, ग्वालियर के तोमर राजा और दक्षिणापथ में विजयनगर के सम्राट गैरमुस्लिम शक्तियों में प्रमुख थे और उक्त राज्यों में ही धर्मायतनों और धर्मात्माओं की कुछ सुरक्षा थी। किन्तु क्योंकि ये अनेक मुसलमान एवं राजपूत राज्य निरन्तर परस्पर युद्धों में संलग्न रहते थे, शान्ति और सुरक्षा कहीं भी अधिक काल तक स्थायी रह ही नहीं पाती थी। १४वीं शती ई० के अन्त में मध्य एशिया के नृशंस तुर्क सम्राट तैमूरलंग के तूफानी आक्रमण ने तो विघटन की इन प्रवृत्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया।

अस्तु, १५वीं शती ई० में दिल्ली में १४१४ से १४५० तक चार सैयद सुल्तानों ने नाममात्र का शासन किया। तदुपरान्त लोदी वंश का अधिकार हुआ और बहलोल लोदी (१४५१-१४८८) ने दिल्ली राज्य की शान्ति और विस्तार में वृद्धि करने का कुछ सफल प्रयत्न किया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७) इस वंश का सर्वाधिक सुयोग्य शासक समझा जाता है किन्तु वह कट्टर मुसलमान था और अन्य सभी धर्मों के प्रति असहिष्णु था। मथुरा आदि तीर्थस्थानों के अनेक मंदिर और मूर्तियां भी उसने तोड़ीं और धार्मिक अत्याचार भी किए। उसके समय में आगरा प्रदेश में एक भीषण भूकम्प भी आया था। उसका उत्तराधिकारी एक निकम्मा, मूर्ख, निर्दयी और अत्याचारी शासक था। उसी के समय ग्वालियर के जैनधर्मसहिष्णु स्वतन्त्र तोमर राज्य का अन्त हुआ। बंगाल में स्वतन्त्र मुस्लिम शासन था और वहां गृहकलह गुप्त हत्याओं, षड्यन्त्रों तथा प्रजा पर किए जाने वाले अत्याचारों का बोलबाला था। जौनपुर के शर्की सुल्तानों ने भी हिन्दुओं और जैनों पर जुल्म किए ही थे और अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़कर मस्जिदें बनवाईं। इस राज्य का अन्त बहलोल लोदी ने १४७६ ई० में कर दिया था। मालवा के सुल्तान भी अन्य सुल्तानों के प्रतिरूप थे, १५०१ के बीच होने वाले दो सुल्तान अपेक्षाकृत सुशासक थे किन्तु नासिरुद्दीन (१५०२-१२) जो स्वयं अपने पिता की विष द्वारा हत्या करके सुल्तान बना था, अत्यन्त निर्दय एवं दुराचारी था। गुजरात का सुल्तान अहमदशाह (१४११-४१) शक्तिशाली था किन्तु हिन्दुओं और जैन मंदिरों को तोड़ना, उन पर अत्याचार और जोर जुल्म करना, इस्लाम का प्रचार एवं मुसलमानों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना, अन्य अधिकांश तत्कालीन सुल्तानों की भांति उसका भी खब्त था। उसके उत्तराधिकारी फीरोज खां ने तो मंदिरों और मूर्तियों के विरुद्ध विशेष रूप से जिहाद बोला। तदुपरान्त महमूद बेगड़ा (१४५९-१५११) भी इस दिशा में अपवाद नहीं था। कश्मीर में मूर्तिभंजक उपनाम से प्रसिद्ध अत्यन्त अत्याचारी सिकन्दर के पश्चात् जैनुल आबदीन (१४१७-६७) का सुशासन रहा, किन्तु उसके उपरान्त फिर अयोग्य एवं अत्याचारी शासकों का शासन रहा। दक्षिण के बहमनी राज्य का इतिहास तो हिन्दू, जैन आदि गैरमुस्लिमों के रक्त से ही लिखा गया है। मुहम्मदशाह प्र० (१३५८-७३) अत्यन्त नृशंस हत्यारा था, नरसंहार में उसे आनन्द आता था। इस नरपशु ने पांच लाख गैरमुस्लिम प्रजा की हत्या की-कराई बताई जाती है। सुल्तान फिरोज (१३९७-१४२२) इस दिशा में उससे भी आगे बढ़ गया। उसके समय में भयंकर अकाल भी पड़ा। अलाउद्दीन द्वि० (१४३५-५७) बड़ा शराबी एवं विषयासक्त था। हुमायूं (१४५७-६१) इतना भारी हत्यारा था कि अपने उन्मुक्त जुल्मों के कारण वह 'जालिम' नाम से पुकारा जाने लगा। मुहम्मद तृ० (१४६३-८२) के समय में भी अनेक मन्दिर-मूर्तियां नष्ट की गईं और उनके अभिभावकों का संहार किया गया।



इस प्रकार राजस्थान के दो-तिहाई से अधिक भाग पर इन नृशस धर्मविध्वसक विधर्मी शासको का शासन था जो उस काल मे उस देश के गैरमुस्लिमो, हिन्दुओ और जैनो के विरुद्ध एक अविच्छिन्न हिंसक जहाद था । किन्तु प्रजा का अधिकांश भाग उन्ही गैरमुस्लिमो का था, उन्ही पर अनेक रूपो एव अशो में इन मुस्लिम शासको को निर्भर रहना पडता था और उनके सामूहिक विद्रोह से स्वय अपनी सुरक्षा खतरे मे पड सकती है, यह भय भी बराबर बना रहता था। यह कारण ही ऐसे थे जो मुसलमान शासको के अत्याचारो को किसी हद तक सीमाबद्ध रखते थे । देश के शेष भाग मे दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य में तथा राजस्थान, उत्तरीय पहाडी प्रदेशो, ग्वालियर आदि के राजपूत राज्यो मे अवश्य ही स्थिति भिन्न थी, किन्तु उन प्राय सभी राज्यो को इन पडौसी मुसलमानो के साथ निरन्तर युद्धो मे व्यस्त रहना पड रहा था । युद्धजनित सकट को उनकी प्रजाओ को भी भोगना पड रहा था । ऐसी परिस्थिति मे धर्म और सस्कृति की ओर ध्यान देने का किसे अवकाश था ? कतिपय धर्मप्राण गृहस्थ सन्त और साधु, भट्टारक और यति, विद्वान और कलाकार जितना उनसे बनता, यत्र-तत्र जैसे-तैसे धर्म की रक्षा करते और सस्कृति का सरक्षण करते ।

ऐसे अशान्त अरक्षित एव अत्यन्त विरोधी वातावरण मे विभिन्न प्रकार की आचार-विचार सबधी विकृतियो, शिथिलाचारो, कूपमडूकताओ, रूढिवादिता एव अधविश्वासो का समाज मे पनपते रहना स्वाभाविक ही था। सामान्यतया सम्पूर्ण गैरमुस्लिम भारतीय समाज की यही दशा थी। जैन जगत् उस का अपवाद नही था। दक्षिणापथ तो रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव और वासव के लिंगायतो (वीरशैवो) के तीव्र साम्प्रदायिक विद्वेष का आखेट बनकर विगत दो शताब्दियो मे अपनी शक्ति, सख्या और प्रभाव की भारी क्षति उठा चुका था । १४ वी शती के उत्तरार्ध और १५ वी के पूर्वार्ध मे विजयनगर-सम्राटो के सहिष्णु शासन मे उसने कुछ समय के लिए कथचित् सुखशान्ति की साँस ली थी किन्तु १५ वी शती के उत्तरार्ध मे कई कारणो से विजयनगर मे भी प्रतिकूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। उत्तरापथ मे मुसलमानो के ही अत्याचार पर्याप्त थे। दिगम्बर परम्परा मे इस काल मे भट्टारकीय प्रथा रूढ हो चुकी थी। भट्टारक वस्त्रधारी बन मदिरो और मठो मे रहते थे, सम्पत्ति का दान लेते थे और सरक्षण करते थे। अपने अपने प्रभावक्षेत्रो मे श्रावको पर मनमाना शासन करते थे। मुनिमार्ग विकृत हो गया था—सच्चे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि दृष्टिगोचर ही नही होते थे । अपने साथ साथ श्रावको के आचार-विचार को शिथिल बनाने मे भी ये भट्टारक स्वरचित साहित्य तथा अपने उपदेशो-आदेशो द्वारा प्रयत्नशील थे । पूजा, प्रतिष्ठा आदि में आडम्बर बढता जाता था, व्रतानुष्ठानो का जोर बढता जा रहा था और व्रतसमापन के रूप मे बडे-बडे खर्चीले उद्यापन कराए जाने लगे थे जिनका अधिकाश लाभ भट्टारको या उनकी सस्थाओ को ही प्राप्त होता था। एक ओर मुसलमान सुलतान और उनके सूबेदार, फौजदार, जागीरदार, सेनानायक आदि मदिरो और मूर्तियो को तोडने की या भ्रष्ट करने की, और नवमदिर एव मूर्तिनिर्माण पर प्रतिबध लगाने की होड लगाए हुए थे तो दूसरी ओर भट्टारक लोग नवीन मदिरो और मूर्तियो के निर्माण करने की होड लगाए हुए थे। अकेले दिल्ली पट्टाधीश भट्टारक जिनचन्द्र (१४५०-१५२४ ई०) ने राजस्थानान्तर्गत मुडासा नगर के सेठ जीवराज पापडीवाल से मूर्तिभजक सुल्तान सिकन्दर लोदी के शासनकाल मे ही (विशेपकर १४९१ ई० मे) असख्य जिन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराई थी जिन्हे छकडो मे भर-भर कर उत्तर और मध्य भारत के अनगिनत स्थानो मे वितरित किया गया। जन साधारण श्रावक श्राविकाओ मे अशिक्षा की वृद्धि थी। जातिपाती के भेद और अनेक अन्धविश्वास एव कुरीतिया रूढ होती जा रही थी। पडौसी हिन्दु सम्प्रदायो का भी प्रभाव अत्यधिक पड रहा था। जैन धर्म की सहज सादगी, आध्यात्मिकता, परीक्षाप्रधानता, सदाचारप्रवणता—वस्तुत उसकी मौलिकता ही नष्ट होती जा रही थी और प्राय बहुत कुछ ऐसी ही दशा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु एव श्रावक समाज की थी। उसमे भी अनेक साधु मठाधीश बनने, विहित मार्ग के विपरीत आचरण करने, पूजादिक के आडम्बर का पोपण करने और आचार विचार के शैथिल्य एव विकृति को प्रश्रय देने मे दिगम्बर भट्टारको से भी बाजी मार ले गये थे । श्रीपूज्यो और कुलगुरुओ की सख्या तो इस दिशा मे अतिरेक को प्राप्त कर गई थी।[1] श्वेताम्बर श्रावक-श्राविकाओ के आगमादि प्राचीन धर्मशास्त्रो के पठन-पाठन पर भी कडा प्रतिबन्ध यतियों ने लगाया हुआ था[2]। मुनि कल्याणविजयजी तो उस

---

१ पट्टावलीपरागसग्रह (प० कल्याणविजयगणीकृत) पृ० ३८०-३८२।

२ वही पृ० ३८७।

काल मे चले 'शिथिलाचार के निरकुश वेग' का उल्लेख करते हुए यहा तक कहते हैं कि 'उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नही हुए थे अपितु सारा जन समुदाय ही विगड चुका था—अधिकाश यतिवर्ग की स्थिति यहा तक विगड चुकी थी कि क्रियोद्धार के विना विशुद्ध जैन श्रमणमार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था'[1] उस काल मे यदि कोई जिज्ञासु श्रावक किसी यति से विनयपूर्वक भी कोई शका करता अथवा साधुओ के आगमविपरीत आचरण पर कोई आक्षेप कर वैठता तो यति महाराज से वुरी तरह फटकारा जाता और नाना अपशब्द सुनता ।[2] यतियो मे एक प्रकार की वडेवन्दी चल पडी थी। धर्म के नाम पर उनकी दुकानदारी चल रही थी और श्रावक उनके विवश आसामी मात्र थे। राजनैतिक आर्थिक एव अन्य सामयिक लौकिक परिस्थितियो से त्रस्त उस काल का गरीव श्रावकसमुदाय एक प्रकार से अपने धर्मगुरुओ के अत्याचारो का भी शिकार वना हुआ था।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विभिन्न एव विविध सन्मार्गविरोधी, प्रगति-अवरोधक एव सुखशान्ति की अपहर्ता दानवी शक्तियो के रूप मे ही १५वी शती ई० मे द्वितीय कल्कि प्रकट हुआ था। उसकी उस काल मे विद्यमानता का इससे वडा और क्या प्रमाण होगा ? और उक्त कल्कि रूपी परिस्थितिसगम मे से ही कल्किपुत्र के धर्मराज्य का उदय होना था, जो १६वी शती मे स्थापित होने वाले सूरी एव तदनन्तर मुगलशासन के रूप मे राजनैतिक क्षेत्र मे तथा सुधारक आन्दोलनो और वैचारिक या धार्मिक क्रान्तियो के रूप मे सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रो मे हुआ हो। इस प्रकार की विचारक्रान्ति के लिए वह युग सर्वथा उपयुक्त था । यूरोप आदि के रेनेसान्स और रिफार्मेशन की वात पहले कह आए हैं। भारतवर्ष मे जैनेतर जगत् मे रामानन्द और वल्लभाचार्य, कवीर और नानक, सुन्दरदास और दादू, ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम, विद्यापति और चैतन्य, जो सव ही इस शताब्दी को स्पर्श करते हैं अथवा इसके आसपास हुए, इसी व्यापक विचारक्रान्ति और सुधार आन्दोलन के पुरस्कर्ता थे और दुष्ट कल्कि के धर्मात्मा पुत्र का प्रतिनिधित्व करते थे। जैन जगत् मे भी वह फलित होना ही था। उसके स्थितिपालक वर्ग मे भी दोनो ही सम्प्रदायो मे कतिपय विद्वान् एव प्रभावक आचार्य तथा कई विद्वान् गृहस्थ सुधारक एव साहित्यकार उदित हुए और लौंकाशाह, कडुवाशाह, तारणस्वामी प्रभृति कई महान् क्रान्तिकारी भी प्रकट हुए जिनके द्वारा स्थापित नवीन सम्प्रदाय और आम्नाय आज पर्यन्त चले आते हैं।

यह है वह वैविध्य एव वैचित्र्यपूर्ण पृष्ठभूमि जिसके परिप्रेक्ष्य मे जैन जगत् के द्वितीय कल्कि के इन धर्मरक्षक धर्मसुधारक पुत्रो—लौंकाशाह, कडुवाशाह एव तारणस्वामी का तथा उनके द्वारा की गई विचारक्राति का मूल्याकन करना चाहिए।

लौंकाशाह की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है, किन्तु उनके जीवन से सबधित कतिपय तथ्यो मे कुछ मतभेद है। पूरी शोधखोज एव प्रामाणिकता के साथ उनका जीवनचरित अभी स्थिर नही हो पाया है । उनका जन्म एक धार्मिक श्रीमाल कुल मे हुआ था। पिता का नाम डूगर और माता का चूडा था, किन्तु एक अन्य स्रोत मे हरिश्चन्द्र और मूँगीबाई सूचित किया गया है। जन्मस्थान कही सौराष्ट्र का लींवडी ग्राम, कही नागनेरा तटवर्ती एक ग्राम, कही अर्हटवाडा और कही अहमदावाद वताया है। लौंकाशाह की जन्मतिथि १४२५ ई० वताई जाती है । किन्ही स्रोतो मे १४२० ई० वताई गई है। इसी प्रकार मृत्युतिथि भी १४७५, १४७६ और १४७७ ई० के रूप मे भिन्न भिन्न वताई जाती है।[3] पिता और माता की मृत्यु हो जाने के कारण १६ वर्ष की आयु के लगभग लौंकाशाह गुजरात की राजधानी



१ निवधनिचय, पृ० २२४-२२५, पट्टावलीपरागसग्रह, पृ० ४६७-४६८, ४८१-४८२ भी इस सबध मे दृष्टव्य हैं।

२ वही, पृ० ३९० ।

३ इन मतभेदों के निराकरण के लिए मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० की 'धर्मवीर लौंकाशाह' पुस्तक दृष्टव्य है। उसके कतिपय अश इस प्रकार हैं—(सम्पादक)

सिरोही शहर से ८-१० कोस उत्तर दिशा मे अरहटवाडा नाम का एक गांव था। वह सिरोही राज्य का एक बडा वाजार था। नाना प्रकार के धान्य और व्यापारिक वस्तुओं का यहा अच्छा सग्रह और खरीद-फरोख्त होने के कारण सभवत इसका नाम अर्हटवाडा पड गया—वर्त्तमान मे एक छोटा-सा गाव 'अटवारा' नाम से वहा



अहमदाबाद मे आ बसे। कोई कहता है कि वह एक बडे साहूकार थे, तो कोई कहता है कि वह अहमदाबाद मे नाणावट का व्यापार करते थे। कुछ अन्य उन्हे एक राजकर्मचारी प्रदर्शित करते है तो कुछ मात्र एक साधारण लहिया (शास्त्र-लिपिक) ही। उन्होने विवाह किया या नही और उनके कोई सन्तान हुई या नही, इस विषय मे अनुश्रुतिया मौन है। इसमे प्राय मतैक्य है कि वह एक धर्मात्मा व्यक्ति थे, गृहस्थ श्रावक का आचारविचार निष्ठापूर्वक पालते थे, साथ ही भारी जिज्ञासु थे और आगमसाहित्य का अध्ययन करके धर्म का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए बडे उत्सुक थे। किन्तु यतियो द्वारा श्रावको के स्वाध्याय पर कडा प्रतिबन्ध लगाया हुआ था, इसी से विवश थे। सयोग से ज्ञानचद्र सूरि नामक एक यति ने उनके लेखन की स्वच्छता एव सुन्दरता से प्रभावित होकर उन्हे शास्त्रो की प्रतिलिपिया बनाने का कार्य सौप दिया। लौंकाशाह ने इस सुयोग का पूरा लाभ उठाया और प्राय सभी उपलब्ध आगमो तथा तत्सबधित बहुत से साहित्य का अध्ययन कर लिया और अनेक सूत्रग्रन्थो की एक-एक प्रतिलिपि अपने उपयोग के लिए भी बनाकर रखली। वे विचारशील थे ही और बुद्धि भी प्रखर थी, अब आगमिक साहित्य के निरन्तर विवेकपूर्ण पठन-चिन्तवन से शास्त्रमर्मज्ञ भी बन गये। आगमो मे वर्णित धर्म के तथा यतियो के आचार-विचार के स्वरूप मे और उस काल के यतियो के आचार-विचार, शिथिलाचार, मूर्तिपूजा के नाम से वृद्धिगत आडम्बर, समाज मे प्रविष्ट अनेक विकृतियो एव कुरीतियो मे उन्हे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। यतियो के सम्मुख वह अपनी शकाए रखने लगे किन्तु प्रत्युत्तर मे प्राय सदैव उक्त यतियो द्वारा फटकारे गये, हतोत्साहित किये गये। उनके कोप के भाजन बने। अतएव १४५१ ई० के लगभग वह यतियो का खुला विरोध और आदोलन करने लगे, जिसके लिए उन्हे अधिक लाछित, अपमानित, तिरस्कृत एव बहिष्कृत होना पडा, यहा तक कि उन्हे अहमदाबाद छोडकर लीबडी आना पडा। वहा उनके फुफेरे भाई अथवा मित्र लखमसी एक सम्पन्न एव प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और राज्य की ओर से कामदार के पद पर नियुक्त थे। लौंकाशाह के विचारो को सुनकर लखमसी शीघ्र ही उनके पक्ष मे आगये और फिर अन्त तक उनके मतके प्रचार मे उत्साह के साथ अपना सहयोग देते रहे। शनै शनै अनेक व्यक्ति लौंकाशाह के मत मे आगये। इस विषय मे भी मतभेद है कि लौंकाशाह अन्त तक गृहस्थ अवस्था मे ही रहे अथवा कि जीवन के अतिम वर्षों मे उन्होने साधुवेष ग्रहण कर लिया था? उनका निधन हुआ उसी वर्ष उन्होने भाणजी को अपना शिष्य बनाया और उत्तराधिकारी नियुक्त किया। भाणजी ऋषि ने साधु वेष ग्रहण किया और उन्ही से लौंकागच्छ की साधुपरपरा एव पट्टपरपरा चली। लौंकाशाह ने मदिरो के निर्माण और मूर्तिपूजा का निषेध किया। श्वे० यतियो की चर्या से भिन्न एक पृथक् साधुमार्ग की स्थापना की, उपलब्ध आगमसूत्रो मे से केवल ३२ को ही मान्य किया, शेष को अमान्य। उनके देवलोकगमन के पश्चात् उनके मत का प्रसार द्रुतवेग से होता गया। आगे चलकर एक साधु ने उनके और सब मन्तव्य तो मान्य रक्खे किन्तु मूर्तिपूजा का विरोध नही किया अतएव लौंकागच्छीय मूर्तिपूजक यतियो की परपरा चली।

रह गया है।—वहा ज्ञाति मे अग्रसर चौधरी (नगरसेठ) हेमाभाई नाम के एक गृहस्थ रहते थे। गगाबाई उनकी गृहिणी थी जो पतिव्रतपरायणा धर्मभक्त थी। काल पाकर हेमाभाई को पुत्रजन्म के समाचार मिले। हमारे चरित-नायक लोकचन्द्र का जन्म स० १४७२ मे कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था।

लोकचन्द्र छोटी उम्र के होने पर भी व्यापारकला मे कुशल होने के कारण आसपास के स्थानो मे व्यापार के लिए जाया करते थे। सिरोही तो उन्हे बार-बार जाना पडता था। एक दिन सिरोही के रईस ओसवाल कुलभूषण ओधवजी शाह ने उन्हे एक जौहरी की दुकान पर मोती की परीक्षा करते देखा।—

दूसरे दिन अरहटवाडे आए और हेमाशाह के घर उतरे। ओधवजी ने अपनी हार्दिक आकाक्षा प्रकट करते हुए कहा—चौधरीजी, मै अपनी एकमात्र कन्या सुदर्शना का विवाह-सम्बन्ध आप के पुत्र के साथ करने के लिए आया हू।—माघ सुदी पचमी स० १४८७ को लौंकाशाह का विवाह सुदर्शना देवी के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।—धर्मवीर लौंकाशाह पृ ११-१५

शाहजी अपने उद्देश्य की पूर्ति होती देख परम हर्षित हो स्वय भी वि० स० १५३८ मगसर सुदी ५ को ज्ञानजी ऋषिजी महाराज के शिष्य सोमसेनजी के पास दीक्षित होगए। ३५ व्यक्ति आपके साथ और भी शिष्य रूप मे दीक्षित हुए।—वही, पृ० ५९

किन्तु लोंकागच्छीय साधुओ का बहुभाग साधुमार्गी ही रहा और कालान्तर मे स्थानकवासी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १७वी शती के मध्य के लगभग उसका ढूंढक या ढुंढिया नाम भी पडा, शनै शनै यह सम्प्रदाय २२ टोलो या या उपसम्प्रदायो मे भी विभक्त हुआ और १८वी शती के मध्य के लगभग स्थानकवासी सम्प्रदाय मे से ही भीपमजी का तेरापथी सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। इन भेदो-प्रभेदो के बावजूद लोंकाशाह का मत विस्तारप्राप्त होता गया। इनके साधुओ और श्रावको को श्वे० यतियो और उनके भक्तो के कटु विरोध सहन करने पडे, वे मामलो मुकदमो मे भी खीचे गये, उन्हे कभी कभी जाति-बहिष्कार भी सहने पडे। स्वय लोंकाशाह को लुका, लूकट, लुपक, लहिया आदि अपमानकारक उपनाम दिये गये। किन्तु उस सन्त द्वारा १५वी शताब्दी मे जिस विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ था उसी के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण श्वेताम्बर समाज का आधे से अधिक भाग लोंकाशाह की साधुमार्गी परम्परा का अनुसर्त्ता है। गुजरात और पजाब तो उसके प्रमुख गढ रहे है, अन्यत्र भी प्राय सर्वत्र उसके थोडे बहुत अनुयायी पाये जाते है। इस परम्परा के साधुओ की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि वे जनसाधारण के अति निकट सम्पर्क मे आते रहे है। जैन अजैन, बडी जातियो के लोग, नगरवासी ही नही, छोटे से छोटे ग्रामो के निवासी भी उनका लाभ उठाते रहे हैं।

कडुवाशाह भी सद्गृहस्थ थे। गुजरात के नडुलाई नामक ग्राम मे १४३८ ई० मे बीसानागर जातीय कानजी की धर्मपत्नी कनकादे की कुक्षि मे उनका जन्म हुआ। प्रारभ मे वह वैष्णव रहे प्रतीत होते है और बाल्यावस्था मे ही एक कवि के रूप मे प्रसिद्ध होने लगे थे। एक अचलगच्छीय श्रावक के प्रभाव से यह जिनभक्त हो गये। साधुसमागम की रुचि बढी और जिज्ञासा ने धर्म के शास्त्रोक्त स्वरूप को जानने का अवसर दिया। हरिकीर्ति नामक एक उदार विचारो वाले यतिजी की कृपा से कडुवाशाह को दशवैकालिक आदि आगमो के पढने का सुयोग प्राप्त हुआ। तत्कालीन श्वेताम्बर यतियो के आचार-विचार को देखकर इनके हृदय मे भी अनेक शकाए उत्पन्न हुई। गुरु ने उनका समाधान भी किया और अधिकाश शकाओ को उचित भी बताया। कडुवाशाह ने साधुदीक्षा लेकर सच्चे यति का उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु गुरु के परामर्श से वह विचार त्याग दिया और गृहस्थ 'सवरी' के रूप मे ही अपने विचारो का प्रचार करना प्रारभ किया। उन्होने तत्कालीन यतियो की खुली आलोचना की और मठसस्था एव साधुमार्ग का ही विरोध किया। मदिरो और मूर्तियो के विषय मे वह तटस्थ रहे, न विरोध ही किया और न विशेष समर्थन ही। मूल आगमो को पढने और उनके अनुसार धर्माचरण करने का ही गृहस्थो को उपदेश दिया। कडुवाशाह ने उत्तरी भारत का भ्रमण भी बहुत किया और सर्वत्र अपने मत का प्रचार किया। अनेक स्त्रीपुरुप यत्र तत्र उनके अनुयायी हो गये। १५०६ ई० मे ६८ वर्ष की आयु मे कडुवाशाह का निधन हुआ और उनके उपरान्त उनके गृहस्थ 'सवरी' शिष्यो की परपरा कई सौ वर्ष तक चलती रही—गुजरात आदि की ओर उनके अनुयायी शायद अब भी कुछ पाये जाते हैं। इस परपरा के सब ही गुरु 'शाह' कहलाये।

तारणस्वामी का जन्म १४४८ ई० मे हुआ। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत पुहुपावती नामक स्थान मे इनका जन्म हुआ था। इनके पिता गढासाव सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। दिल्ली के सुलतान बहलोल लोदी (१४५१-१४८८ ई०) ने उन्हे एक राजकीय पद पर नियुक्त किया हुआ था। तारणस्वामी बाल्यावस्था से ही विरक्तचित्त थे और साधु-सगति मे इनको रस मिलता था। उनका पितृकुल दिगम्बरधर्मानुयायी था और उसी के सस्कार उनके हृदय पर पडे थे। तत्कालीन भट्टारको की प्रवृत्तियो को देखकर यह क्षुब्ध होते थे। शायद यह भी अनुभव करते थे कि यह युग और यह क्षेत्र सच्चे दिगम्बर मुनियो की अवस्थिति के लिए उपयुक्त नही था। आये दिन मदिरो और देवमूर्तियो की तोडफोड, विध्वस और अविनय देखकर, विशेषकर सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०) के समय मे, इन्होने मूर्तिपूजा और मदिरनिर्माण का भी विरोध किया। जनसाधारण के निकट सम्पर्क मे आकर सीधीसादी सधुक्कडी भाषा मे इन्होन धर्म का उपदेश दिया और जनता को नैतिक सबल प्रदान किया। तारणतरणश्रावकाचार, तारणत्रिवेणी, ज्ञान-समुच्चयसार, ममलपाहुड, त्रिभगीसार, सुन्नस्वभाव, सिद्धस्वभाव, पडितपूजा, छद्मस्थवाणी, नाममाला, कमलबत्तीसी आदि अनेक ग्रन्थो की सरल सधुक्कडी भाषा मे ही इन्होन रचना की। यह क्षुल्लक के वेष मे रहते थे। बुन्देलखण्ड और मध्यभारत मे इनके अनेक अनुयायी बने जिनके अनेक वशज अबतक तारणपथी अपरनाम समैया जैनियो के रूप मे चले आते हैं। १५१५ ई० मे तारणस्वामी का निधन हुआ। ग्वालियर के निकट मल्हारगढ मे इनकी समाधि बनी है जिसे

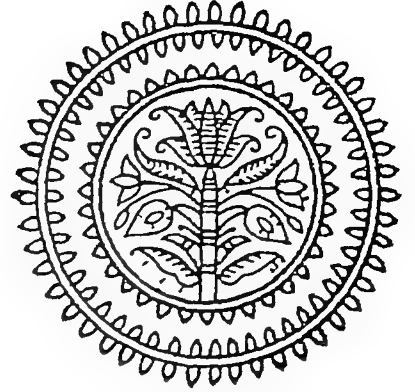


निशियाजी भी कहते है। इस पथ के अनुयायियो का वही परम तीर्थस्थान है। तारणस्वामी के ग्रन्थ यहा विराजमान है। इनकी कोई पट्टपरपरा नही चली किन्तु गृहस्थ त्यागी ब्रह्मचारियो के रूप मे शिष्यपरपरा चलती रही है।

इस प्रकार इन तीनो ही सन्तो ने द्वितीय कलियुग अर्थात् १५वी शती मे जन्म लिया और उसके उत्तरार्ध मे विभिन्न क्षेत्रो मे अपने क्रान्तिकारी विचारो का प्रचार किया, धर्मसस्था का सशोधन करने का प्रयत्न किया, यतियो और भट्टारको के शिथिलाचार और अनाचार का तीव्र विरोध किया, पूजापाठादि के आडम्बर का अनौचित्य प्रदर्शित किया, लोकसग्रह—जनसम्पर्क द्वारा सामान्यातिसामान्य जनता को सान्त्वना दी और धर्ममार्ग मे लगाये रखने का प्रयत्न किया। इन सन्तो द्वारा पुरस्कृत क्रान्ति का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि वह मात्र सामयिक नही थी वरन् नवीन पथो के रूप मे फैल जाने और सैकडो वर्षों पर्यन्त बने रहने की क्षमता से युक्त थी।

●

इतिहास में जैन साहित्य का स्थान



स्व० जयभगवान जैन

ऐडवोकेट, पानीपत

१ भारतीय इतिहास की सामग्री

यह भारतभूमि, जहा हम लोग रहते हैं, उपनिवेशो की तरह कोई नवीन वस्तो नहीं है । यह दुनिया की वहुत पुरानी वस्ती है । यह अपनी मौलिक स्थिति के कारण सदा सौम्य, सुन्दर प्रकृति का निवासस्थान वनी रही है । यहाँ प्रकृति पट्ऋतु-चक्रमे घूम-घूम कर सदा नई सजधज के साथ नाचती रही है । यहा प्रकृति हजारो कण्ठो मे कूज-कूज कर सदा मीठी और सुरीली तान मे गाती रही है । यहा प्रकृति अपने गाढ अञ्चलको खोल खोल कर सदा अपूर्व भण्डारो को लुटाती रही है । इस अलौकिक रूप के कारण यह सदा दिलो को अपनी ओर खेंचती रही है, दूर-दूर से लोगो को अपने पास-पास वुलाती रही है ।

अतीत काल के धुंधले प्रकाश में जहा तक निगाह काम देती है, यह सदा अनेक जातियो के मिलन का स्थान वनी रही है । यह सदा अनेक सस्कृतियो का केन्द्रस्थान वनी रही है, यह सदा अनेक विचारधाराओ का सगमस्थान वनी रही है । यह सदा अनेक क्रान्तियोका उद्गमस्थान वनी रही है । यह अपने प्रमुख शासको के अनुरूप सदा अनेक नामवाली वनी रही है । यह इक्ष्वाकुवशीय भरतकालमे 'भारतवर्ष' वैन्य पृथुकालमें 'पृथिवी', वैदिक आर्यकालमें 'आर्यावर्त', ब्रह्मवादियो के काल मे 'ब्रह्मावर्त', यवनकालमें 'हिन्दुस्थान' और ब्रिटिशकालमें 'इडिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई है ।

इसके इतिहासका काल वहुत लम्वा है । जहाँ यह एक छोर पर महाप्रलय कालसे जा मिलता है, वहा यह दूसरे छोर पर आधुनिक काल से आ मिलता है । इस लम्वे कालमें जिन-जिन युगोका यहा उदय हुआ, जिन-जिन लोगो का यहा अवतरण हुआ, जिन जिन सभ्यताओ का यहा विकास हुआ, उनकी विभूतियोंके वहुत से स्मारक भूगर्भमें दव-दव कर आज पुरातत्त्व की वस्तु वन गए हैं । उनकी वहुत सी स्मृतिया दिलो मे वस वस कर आज यहा की रिवायत और अनुश्रुतिया वन गई हैं । उनके वहुतसे ऐतिह्य जवानो पर चल चल कर आज यहाकी लोकोक्तिया और पौराणिक कथाए वन गए है । उनकी वहुत सी रीति-नीतिया जीवन में रम-रम कर आज यहा के रसम-रिवाज वन गई हैं । उनके वहुतसे आचार विचार व्यवस्थित हो-होकर आज यहाके धर्म और दर्शन वन गए है । उनकी वहुतसी विभूतिया, वहुतसी कृतिया, वहुतसी विद्यायें लिपिवद्ध हो-होकर आज यहाके साहित्य की मूल सामग्री वन गई हैं । प्रस्तरो और धातुओमें खुद खुदकर आज यहा के शिलालेख और टिकडे वनी हुई हैं ।

भारतीय इतिहास को शृ खलावद्ध करने के लिए जरूरी है कि इसकी निम्न प्रकार की सव ही सामग्री को यथोचित रूप से सकलित किया जाये —

१ पुरातात्त्विक वस्तुएँ (Archeological Finds)
२ रिवायतें और अनुश्रुतिया (Traditions)
३ लोकोक्तिया और पौराणिक कथाएँ (Myths and Legends)

४ रीति रिवाज (Customs and usges)
५ धार्मिक प्रथाए और दार्शनिक सिद्धान्त (Religious Beliefs & Practices)
६ वैदिक, पौराणिक, जैन और बौद्ध साहित्य (Literature)
७ शिलालेख और टिकडे, ताम्रपत्र और सिक्के ।

इस स्थल पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारत का इतिहास बनाने के लिए जहा इसकी उपर्युक्त सामग्री बडी महत्त्वशाली है वहा ईरान, असीरिया, बेबीलान, फिलस्तीन, अरब, मिश्र और चीन आदि देशो की ऐतिहासिक गवेषणायें, जिनके साथ कि इसका घनिष्ठ सास्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा है, अथवा मैगस्थनीज, हेरोडेटज स्ट्रेबो, फाहियान, ह्वानसाग, इत्सिग, अलबरूनी, इब्नेबतूता प्रभृति विदेशी यात्रियो के उल्लेख, जो भारत के सम्बन्ध मे लिखे गए हैं, कम महत्त्व की चीज नही है ।

भारतीय इतिहास के साथ अन्याय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत की प्राचीन सस्कृति अपनी सत्ता और स्थिरता, अपनी गहराई और विभूति, अपने विकास और उत्थान के लिए दो प्रभावो की ऋणी है—श्रमण और ब्राह्मण । इनमें श्रमण-प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध लोग है, और ब्राह्मणिक प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर वैदिकधर्म-अनुयायी है । इसलिए भारतकी सस्कृतिके और इसके इतिहासको समझने के लिए जरूरी है कि इन पाचो ही वर्गोंके साहित्य और कलाका सिलसिलेवार परिशीलन किया जाय, और पाचोकी ही अनुश्रुतियो, पौराणिक कथाओ, मान्यताओ और प्रथाओका समन्वय और एकीकरण किया जाय । इनमें से किसी एक को छोडकर भारतीय इतिहासको बनाना इतिहासके साथ अन्याय करना है । ऐसा इतिहास भारतीय इतिहास कहलानेका अधिकारी नही हो सकता । वह भारत का केवल एकजातीय व साम्प्रदायिक इतिहास ही कहा जा सकता है । ऐसे इतिहास में हम भारत का सर्वांग दर्शन नही कर सकते । वह एकागी वृत्त है, एक अधूरी कहानी है ।

परन्तु खेद है कि भारतीय इतिहास बनानेके लिए आजतक जितना साहित्य और कलाका परिशीलन हुआ है, वह अधिकतर ब्राह्मणिक कृतियो का ही हुआ है, और उन ही के आधारो से प्राप्त भारत की प्राचीन अनुश्रुतियो और पौराणिक उपाख्यानो का सग्रह किया गया है । ब्राह्मणेतर वर्गों के साहित्य और अनुश्रुतियो का, जैन आदि उपर्युक्त वर्गों की अपनी पुरानी स्थितिपालकता (Conservatism) के कारण—कि दूसरेको अपने तथ्य बताना, अपने ग्रन्थ दिखाना पाप है—प्रथम तो कोई परीक्षण ही न हुआ, और यदि इधर-उधर से सामग्री प्राप्त करके इनका कोई परीक्षण हुआ भी है, तो वह अव्यवस्थित होने के कारण बहुत अधूरा हुआ है । इसमें भी विद्वानो को पुरानी ब्राह्मणिक धारणाये सदा आडे आती रही है । इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि भारत के पुराने धर्मो की सत्ता से ही इन्कार कर दिया गया है । उन्हे केवल वैदिक धर्मकी ही शाखा मान लिया गया है । भारतीय इतिहास का आरम्भ वैदिक आर्यो से किया गया है, और भारतीय सस्कृति,, भाषा, भूषा, वस्त्राभरण, अस्त्र-शस्त्र, वाहन, व्यसन, व्यवसाय, नगर, ग्राम आदिका मूलाधार ब्राह्मणिक सस्कृति को ठहरा दिया गया है ।

३ ब्राह्मणेतर साहित्य का इतिहास मे स्थान

इस इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वैदिक आर्यो से पहले भारतवर्ष की न कोई अपनी बस्ती थी, न अपनी कोई सस्कृति । यदि कोई बस्ती व सस्कृति थी तो वह जगली भील लोगो अथवा असभ्य क्रूरकर्मा द्रविड लोगो की थी । परन्तु अब ज्यो-ज्यो शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध साहित्य का प्रकाशन होने लगा है, और साथ साथ में पुरातत्व की नित्य नई खोजो का भी पता लगने लगा है, ब्राह्मणिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मन्थन होने लगा है, त्यो त्यो सब ही इतिहासज्ञ अपनी पुरानी धारणा को छोडकर एक स्वर से कहने लगे हैं कि भारतीय इतिहास का उपर्युक्त निष्कर्ष नितान्त असत्य है । ऐसा निष्कर्ष न केवल ब्राह्मणेतर अनुश्रुतियो के विरुद्ध है बल्कि स्वय ब्राह्मणिक अनुश्रुतियो के भी विरुद्ध है ।

इस सच्चाई का पता लगाने के लिए जितना प्रोत्साहन भारत के विशाल साहित्य से मिला है उससे भी अधिक सिन्ध कांठे के मोहनजोदडो और पंजाबमे रावी कांठे के हडप्पा के प्राचीन ध्वसावशेषो मे प्राप्त पुरातत्व सामग्री मे मिला है।[1]

४ जैन साहित्य की विशेषता

हिन्दू साहित्य और कला मे इन ब्राह्मणिक और श्रमण प्रभावो का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उन्हे आज पृथक पृथक करना और इनके मूल्य को अलग-अलग जांचना बहुत मुश्किल है, परन्तु जैनो का साहित्य और कला कई बातो में ब्राह्मणिक प्रभावो की छाप पडने पर भी बराबर प्राचीन श्रमण सस्कृति को अपनाये हुए है, विशुद्ध रूप मे कायम रक्खे हुए है। इसलिए भारतीय इतिहास में श्रमण लोगोके आचार-विचार के मूल्य और महत्त्व को आंकने के लिए यह अधिक सहायक है।

१ महावीरसे पहले के सारे साहित्य में श्रमण सस्कृतिको सदा दबाने की, छुपाने की कोशिश की गई है। यदि कही उसका उल्लेख भी किया है, तो वह सहज प्रासगिक है। उसमें हमेशा उसे एक गौण स्थान दिया गया है, उसके साथ हमेशा एक अजनबीका सा सलूक किया गया है, उसके प्रति हमेशा अजानकारी और अचम्भे का भाव प्रगट किया गया है। उससे साफ प्रकट है कि श्रमण सस्कृति ब्राह्मणो की चीज नही है। इसकी जानकारी के लिए ब्राह्मणिक साहित्य को टटोलना ऐसा ही है जैसा कि हिन्दू देवालय मे जिन-प्रतिमाको खोजना। हाँ, महावीर से पीछे के साहित्य में अवश्य महावीर का बहुत गहरा प्रभाव पडा है, जिसके कारण मध्यकालीन हिन्दू साहित्य श्रमण सस्कृतिके प्रभावो से ओतप्रोत है।

२ ब्राह्मणो की दृष्टि सदा आधिदैविक रही है, इसलिए उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी सदा काल्पनिक बनी रही है। इसमे सब ही पौराणिक ऐतिह्यो को सदा कल्पना को लिए हुए अमानुषिक दिव्य रूप मे जाहिर किया गया है। इनके विपरीत क्षत्रियो की दृष्टि सदा आध्यात्मिक रही है, मानुषिक रही है। इसी वास्ते उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी वास्तविक (Reality) बनी रही है। यही कारण है कि उनके साहित्य और कला मे सब ही पौराणिक ऐतिह्यो को ऐतिहासिक असलियत लिए हुए मानुषिक रूप मे प्रगट किया गया है, जिससे वह बहुत सुगम है।

३ जैन साहित्यके समस्त ग्रन्थ अपने लेखन-कालसे प्राय उसी रूपमे चले आ रहे है। उनमे पीछे से किसी तरह की बढोतरी और घटोतरी नही की गई है। इसलिए वह साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है।

४ हिन्दू साहित्य ने उन्हे महापुरुष बतलाया है, जिन्होने बाहरी शान्ति, कौटुम्बिक मर्यादा, सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्रीय सगठन को बनाने बढने और कायम रखनेमे अत्यन्त कौशल और पुरुषार्थ दिखाया। इसके विप-

---

१ (अ) "Hitherto it has been commonly supposed that the pre-Aryan peoples of India were on an altogether lower plane of civilisation than their conqurer, , mentally, physically, socially and religiously their inferiority to their conquerers was taken for granted, and little or no credit was given them for the achievement of Indian civilisation that the Indus people of the 4th and 3rd millenia B C were in possession of a highly developed culture, in which no vestige of Indo-Aryan influence is to be found" Sir Jhon Marshall "Mohanjadaro and Indus Civilisation" Vol I, 1931—preface pp V-X

(आ) R B Ram Pershad Chanda—"Memories of the Archeological Survey of India' No 41—1924 pp 25-33

(इ) A P Banerji Shastri—"The Asura India" Patna, 1926, pp i-xviii



रीत जैन साहित्य के महापुरुष वे हैं जिन्होने मनुष्यको अपने प्रचारबल से सर्वोच्च आदर्श दिया है, अपने ज्ञानबल से सबसे बडा सत्य दिया है और अपने आचार-बलसे अक्षय सुखका मार्ग दिया है।

५ इतिहास को मथन करके यदि कोई तत्व जीवनोपयोगी निकाला जा सकता है तो वह है स्याद्वाद, जैन साहित्यकी अपूर्व देन। बिना आदर्शके विधान निष्फल है और बिना विधानके आदर्श कल्पना है। दोनो एक दूसरे के सहयोगी हैं। बिना निश्चय सकल व्यवहार निरर्थक भवभ्रमण है और बिना व्यवहार सकल निश्चय निरा एक ख्याल है। बिना आदर्श सकल विधान एक निरर्थक भार है और बिना विधान सकल आदर्श निरा एक स्वप्न है। इन दोनो मे सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। जब कभी किसी जाति और सम्प्रदाय ने एकान्त से काम लिया है, एक को छोड दूसरे को अपनाया है, तब ही उस जाति और सम्प्रदाय ने अपने को भूलो मे डाला है, मुसीबतो मे फँसाया है, दु खो मे अपना अन्त किया है। इसलिए 'एकान्त सर्वत्र वर्जयेत्' भारतीय सस्कृति का निचोड है। यह तत्व ही ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर के स्याद्वाददर्शन की आधारशिला है। वीर-दर्शन क्या है, गोया भारतीय सस्कृति का सार है, भारतीय विचार-धाराओ का सगम है, भारतीय मान्यताओ की व्यवस्था है। जो विचार भारतमे विकसित हुआ है, उसने जरूर वीर-दर्शन मे स्थान पाया है। जिसने वीर-दर्शन मे स्थान नही पाया है, वह भारत का विचार भी नही है। इसलिए भारतीय विचारधाराओका स्थान जानने के लिए जैन साहित्य का जानना बहुत जरूरी है। वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक और पौराणिक प्रकरणो को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन साहित्यकी अनुश्रुतियो और मान्यताओ से परिचित होना बहुत जरूरी है।

६ जैन साहित्यमे देवताओ से अधिक महत्व मनुष्यत्व को दिया गया है। वह तप के प्रभावसे ऋद्धि-सिद्धिकी प्राप्ति कर सकता है। देवता मनुष्योका कुछ भी नही करते बल्कि मनुष्य ही अपने व्रत तपके प्रभावसे देवताओको कुछ भी करनेके लिए बाधित कर देते है। देवता जन धर्मोपदेश सुननेके लिए तरसते हैं तथा तीर्थंकरोकी परिषद मे आते है। वे योगियो के अनुचर है।

७ जैन साहित्य मे देव, शास्त्र, गुरु व धर्म के जिन आध्यात्मिक आदर्शों को उनके लक्षणो के रूपमे ग्रहण किया गया है, वह इसकी ही एक विशेषता है, क्योकि अन्य किसी भी साहित्य मे उनको इस रूपमे नही माना गया है।

८ जैन साहित्यमे कर्मकाण्डकी अपेक्षा सदाचारको महत्ता दी गई है। स्वकृत अच्छे बुरे कर्मोंका फल अवश्य भोगना पडता है। कोई भी शक्ति इस फल को टालने मे समर्थ नही। इसलिए ब्राह्मण-मान्य हिंसात्मक यज्ञोका कडा विरोध किया गया है और अहिंसाको ही जीवनका आदर्श माना है।

९ जैन साहित्यके अनुसार यह जगत अकृत्रिम तथा अनादिनिधन है। यह पुरुषाकार है। यह सागर है, दु खमय है तथा महा विस्तीर्ण है। यह परिवर्तनशील है, इसलिए समय समय पर स्वय प्रलय व सृष्टि को प्राप्त होता रहता है। इसमे भोगभूमि व कर्मभूमि रूप दो रचनाएँ होती हैं। पहिले भोगभूमि रहती है, पीछे कर्मभूमि आती है। भोगभूमि मे अराजकता रहनेसे वह विराट होती है पीछे आवश्यकता पडने पर राज्य शासनव्यवस्था की जाती है। वही ब्रह्मा की सृष्टि कही गई है। ब्राह्मणो की भाति जगत के निर्माण को सृष्टि नही माना गया है।

१० जैन साहित्यमे ब्राह्मणमान्य वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया गया है। इसकी वर्ण व्यवस्था जन्मानुसार न होकर गुण कर्मके अनुसार होती है। इसमे पहले तीन ही वर्णोंकी व्यवस्था की गई थी। पीछेसे धर्मानुरागी विवेकवान व्यक्तियो के लिये ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था भी कर दी गई थी।

११ तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ नागवशी थे। वैदिक साहित्यमे जिन व्रात्य व यति जनो का उल्लेख निन्दापरक किया गया है, वे जैन साहित्यकी विभूति है। व्रती होने से व्रात्य और मोक्षमार्गमे यत्नशील होनेसे यति, इस प्रकार जैन साधुओकी ही ये सज्ञाए है, जिनका अधिकतर वास पश्चिमी व पूर्वी सागर पर रहता था। बिहार देश मे रैवत पर्वत व पार्श्वनाथ हिल इसी कारणसे प्रसिद्ध है।

जैन व वैदिक साहित्य के अन्तर को निम्न प्रकार पढा जा सकता है —

जैन	वैदिक
१ आध्यात्मिक वास्तविक दृष्टि	आधिदैविक काल्पनिक दृष्टि
२ पारमार्थिक सुख का उददेश्य	इहलौकिक सुखका उद्देश्य
३ मोक्ष पुरुषार्थ	धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ
४ अनेकान्त शैली	एकान्त शैली
५ महापुरुष व पुरुषार्थवाद	अवतारवाद, देवतावाद व देवेच्छावाद
६ सदाचार व अहिंसावाद	क्रियाकाण्ड व हिंसक यज्ञवाद
७ स्वत सिद्ध सृष्टिवाद	ईश्वरकृत सृष्टिवाद
८ गुण-कर्मकृत वर्णव्यवस्था	जन्मकृत वर्णव्यवस्था
९ व्रात्यो व यतियो की प्रशसा	व्रात्यो व यतियो की निन्दा
१० समस्त भाषाएँ	केवल सस्कृतभाषा
११ सभी जाति व वर्णो के लेखक	केवल ब्राह्मण लेखक

५ जैन साहित्य का विस्तार

जैन साहित्यका विस्तार बहुत बडा है। जहाँ जैन धर्मकी दृष्टि विश्वव्यापी और अनेकान्तात्मक है, कि विश्व को विविध पहलुओमे देखनेवाली है, जीवनकी सभी भावनाओ और आवश्यकताओ को निहारने वाली है, वहा इसका सृजन किया हुआ साहित्य भी विश्वव्यापी और अनेक प्रकारका है। यह निरा पारमार्थिक ही नही है लौकिक भी है, यह निरा धार्मिक ही नही है व्यावहारिक भी है, निरा दार्शनिक ही नही है वैज्ञानिक भी है। साहित्यका कोई विषय ऐसा नही, जो इसमे स्थान पाने से बाकी रहा हो, कोई उपयोगी विषय ऐसा नही, जो इसमे प्रकाश पाने से अछूता रहा हो।[1]

जहाँ जैन मान्यताके अनुकूल सर्वज्ञ अर्हन्तकी भारती दुनिया की सब ही विद्याओमे परिपूर्ण है, वहा इसके आधार पर निर्मित होने वाला साहित्य भी स्वभावत सब ही विद्याओ से परिपूर्ण है। इसमे न्याय, दर्शन, योग, आचार, पुराण, इतिहास, कथा, व्याख्यान, जीवनी, स्तुति, नीति रीति, विधि विधान, स्तोत्र, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलकार निरुक्त, शिक्षा, कोष, व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष, गणित, फलित, मन्त्र, तन्त्र, शकुन, सामुद्रिक अष्टाग, आयुर्वेद, नाडी प्राण विद्या, वनस्पति विद्या, मृग पक्षी विद्या, वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला, सगीत और वादित्र कला आदि सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। इसलिए यदि जैन भारती को विश्वभारती कहे तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है।[2]



---

१ "There is scarcely any province of Indian Literature in which the gains have not been able to hold their own"
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit' Vol II, p 483

२ "The Jains have extended their activities beyond the sphere of their own religious Literature to a far greater extent than the Budhist have done, and they have memorable achievements in the secular sciences to their credit in Philosophy, grammer, lexicography, poetries, mathematics, astronomy, astrology and even in the science of politics In one way or other there is always same connection even of these perofane works with religion
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit'—Vol II, 1933 pp 594-595



रीत जैन साहित्य के महापुरुष वे है जिन्होंने मनुष्यको अपने प्रचारदल मे सर्वोच्च आदर्श दिया है, अपने ज्ञानबल से सबसे बडा सत्य दिया है और अपने आचार-बलसे अक्षय सुखका मार्ग दिया है।

५ इतिहास को मथन करके यदि कोई तत्व जीवनोपयोगी निकाला जा सकता है तो वह है स्याद्वाद, जैन साहित्यकी अपूर्व देन। बिना आदर्शके विधान निष्फल है और बिना विधानके आदर्श कल्पना है। दोनो एक दूसरे के सहयोगी हैं। बिना निश्चय सकल व्यवहार निरर्थक भवभ्रमण है और बिना व्यवहार सकल निश्चय निरा एक ख्याल है। बिना आदर्श सकल विधान एक निरर्थक भार है और बिना विधान सकल आदर्श निरा एक स्वप्न है। इन दोनो मे सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। जब कभी किसी जाति और सम्प्रदाय ने एकान्त से काम लिया है, एक को छोड दूसरे को अपनाया है, तब ही उस जाति और सम्प्रदाय ने अपने को भूलो मे डाला है, मुसीबतो में फँसाया है, दुखों से अपना अन्त किया है। इसलिए 'एकान्त सर्वत्र वर्जयेत्' भारतीय सस्कृति का निचोड है। यह तत्व ही ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर के स्याद्वाददर्शन की आधारशिला है। वीर-दर्शन क्या है, गोया भारतीय सस्कृति का सार है, भारतीय विचार-धाराओ का सगम है, भारतीय मान्यताओ की व्यवस्था है। जो विचार भारतमे विकसित हुआ है, उसने जरूर वीर-दर्शन मे स्थान पाया है। जिसने वीर-दर्शन मे स्थान नही पाया है, वह भारत का विचार भी नहीं है। इसलिए भारतीय विचारधाराओका स्थान जानने के लिए जैन साहित्य का जानना बहुत जरूरी है। वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक और पौराणिक प्रकरणो को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन साहित्यकी अनुश्रुतियो और मान्यताओ से परिचित होना बहुत जरूरी है।

६ जैन साहित्यमे देवताओ से अधिक महत्व मनुष्यत्व को दिया गया है। वह तप के प्रभावसे ऋद्धि-सिद्धिकी प्राप्ति कर सकता है। देवता मनुष्योका कुछ भी नही करते बल्कि मनुष्य ही अपने व्रत तपके प्रभावसे देवताओको कुछ भी करनेके लिए बाधित कर देते है। देवता जन धर्मोपदेश सुननेके लिए तरसते हैं तथा तीर्थंकरोकी परिषद मे आते है। वे योगियो के अनुचर है।

७ जैन साहित्य मे देव, शास्त्र, गुरु व धर्म के जिन आध्यात्मिक आदर्शों को उनके लक्षणो के रूपमे ग्रहण किया गया है, वह इसकी ही एक विशेषता है, क्योकि अन्य किसी भी साहित्य मे उनको इस रूपमे नही माना गया है।

८ जैन साहित्यमे कर्मकाण्डकी अपेक्षा सदाचारको महत्ता दी गई है। स्वकृत अच्छे बुरे कर्मोका फल अवश्य भोगना पडता है। कोई भी शक्ति इस फल को टालने मे समर्थ नही। इसलिए ब्राह्मण-मान्य हिंसात्मक यज्ञोका कडा विरोध किया गया है और अहिंसाको ही जीवनका आदर्श माना है।

९ जैन साहित्यके अनुसार यह जगत अकृत्रिम तथा अनादिनिधन है। यह पुरुषाकार है। यह सागर है, दुखमय है तथा महा विस्तीर्ण है। यह परिवर्तनशील है, इसलिए समय समय पर स्वय प्रलय व सृष्टि को प्राप्त होता रहता है। इसमे भोगभूमि व कर्मभूमि रूप दो रचनाएँ होती हैं। पहिले भोगभूमि रहती है, पीछे कर्मभूमि आती है। भोगभूमि मे अराजकता रहनेसे वह विराट होती है पीछे आवश्यकता पडने पर राज्य शासनव्यवस्था की जाती है। वही ब्रह्मा की सृष्टि कही गई है। ब्राह्मणो की भाति जगत के निर्माण को सृष्टि नही माना गया है।

१० जैन साहित्यमे ब्राह्मणमान्य वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया गया है। इसकी वर्ण-व्यवस्था जन्मानुसार न होकर गुण कर्मके अनुसार होती है। इसम पहले तीन ही वर्णोकी व्यवस्था की गई थी। पीछेसे धर्मानुरागी विवेकवान व्यक्तियो के लिये ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था भी कर दी गई थी।

११ तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ नागवशी थे। वैदिक साहित्यमें जिन व्रात्य व यति जनो का उल्लेख निन्दापरक किया गया है, वे जैन साहित्यकी विभूति हैं। व्रती होने से व्रात्य और मोक्षमार्गमे यत्नशील होनेसे यति, इस प्रकार जैन साधुओकी ही ये सज्ञाए है, जिनका अधिकतर वास पश्चिमी व पूर्वी सागर पर रहता था। बिहार देश मे रैवत पर्वत व पार्श्वनाथ हिल इसी कारणसे प्रसिद्ध है।

जैन व वैदिक साहित्य के अन्तर को निम्न प्रकार पढा जा सकता है —

जैन	वैदिक
१ आध्यात्मिक वास्तविक दृष्टि	आधिदैविक काल्पनिक दृष्टि
२ पारमार्थिक सुख का उद्देश्य	इहलौकिक सुखका उद्देश्य
३ मोक्ष पुरुषार्थ	धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ
४ अनेकान्त शैली	एकान्त शैली
५ महापुरुष व पुरुषार्थवाद	अवतारवाद, देवतावाद व देवेच्छावाद
६ सदाचार व अहिंसावाद	क्रियाकाण्ड व हिंसक यज्ञवाद
७ स्वत सिद्ध सृष्टिवाद	ईश्वरकृत सृष्टिवाद
८ गुण-कर्मकृत वर्णव्यवस्था	जन्मकृत वर्णव्यवस्था
९ व्रात्यो व यतियो की प्रशसा	व्रात्यो व यतियो की निन्दा
१० समस्त भाषाएँ	केवल सस्कृतभाषा
११ सभी जाति व वर्णो के लेखक	केवल ब्राह्मण लेखक

५ जैन साहित्य का विस्तार

जैन साहित्यका विस्तार बहुत बडा है। जहाँ जैन धर्मकी दृष्टि विश्वव्यापी और अनेकान्तात्मक है, कि विश्व को विविध पहलुओमे देखनेवाली है, जीवनकी सभी भावनाओ और आवश्यकताओ को निहारने वाली है, वहा इसका सृजन किया हुआ साहित्य भी विश्वव्यापी और अनेक प्रकारका है। यह निरा पारमार्थिक ही नही है लौकिक भी है, यह निरा धार्मिक ही नही है व्यावहारिक भी है, निरा दार्शनिक ही नही है वैज्ञानिक भी है। साहित्यका कोई विषय ऐसा नही, जो इसमे स्थान पाने मे बाकी रहा हो, कोई उपयोगी विषय ऐसा नही, जो इसमे प्रकाश पाने मे अछूता रहा हो।[1]

जहाँ जैन मान्यताके अनुकूल सर्वज्ञ अर्हन्तकी भारती दुनिया की सब ही विद्याओसे परिपूर्ण है, वहा इसके आधार पर निर्मित होने वाला साहित्य भी स्वभावत सब ही विद्याओ मे परिपूर्ण है। इसमे न्याय, दर्शन, योग, आचार, पुराण, इतिहास, कथा, व्याख्यान, जीवनी, स्तुति, नीति रीति, विधि विधान, स्तोत्र, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्द, अलकार निरुक्त, शिक्षा, कोष, व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष, गणित, फलित, मन्त्र, तन्त्र, शकुन, सामुद्रिक अष्टाग, आयुर्वेद, नाडी प्राण विद्या, वनस्पति विद्या, मृग पक्षी विद्या, वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला, सगीत और वादित्र कला आदि सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। इसलिए यदि जैन भारती को विश्वभारती कहे तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है।[2]

---

१ "There is scarcely any province of Indian Literature in which the gains have not been able to hold their own"
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit' Vol II, p 483

२ "The Jains have extended their activities beyond the sphere of their own religious Literature to a far greater extent than the Budhist have done, and they have memorable achievements in the secular sciences to their credit in Philosophy, grammer, lexicography, poetries, mathematics, astronomy, astrology and even in the science of politics In one way or other there is always same connection even of these perofane works with religion
Dr Winter Nitz—'Hist of Indian Lit'—Vol II, 1933 pp 594-595



जैन साहित्य मौलिक कृत्यो के अतिरिक्त टीका, वृत्ति, चूर्णि, भाष्य और वार्तिकोंसे भी भरपूर है। इसमे गाथा, श्लोक, सूत्र, सब ही भारतीय लेखनपद्धतियोको अपनाया गया है।

जहा जैन धर्म विश्वका कल्याणकारी और प्राणी मात्रका उद्धारक रहा है, वहा इसके प्रवचन और लेखनकी भाषा भी विश्वव्यापिनी रही है। इसने कभी किसी विशेष भाषासे मोह नही किया। यह सदा आम जनताकी बोलचाल की भाषाओंको अपने सन्देशका माध्यम बनाता रहा। यह जिन जिन देशोमे गया, जिन जिन कालोमे से गुजरा, उन्हे उन्ही की पचलित बोलियोमे ज्ञान देता चला गया। इसीलिए इसका साहित्य प्राकृत, सस्कृत, मागधी शौरसेनी, महाराष्ट्री, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, कन्नडी आदि भारतके उत्तर और दक्षिणकी, पूर्व और पश्चिमकी सब ही पुरानी और नई भाषाओमे लिखा गया है।

जहा जैन धर्म वर्ण और जातिके भेदभाव रहित सब ही को अपनी शरणमे लाता रहा है, सब ही को अपनी शिक्षा-दीक्षा देता रहा है, सब ही को अपने श्रावक श्राविका मुनि आर्या के चतुर्विध सघमे दाखिल करता रहा है, वहा इसके लेखक और कलाकार भी सब ही जातियो, सब ही वर्णो, सब ही आश्रमो वाले बने रहे है। यति, मुनि, भट्टारक, श्रावक, राजा मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही इसके साहित्य का उद्धार करते रहे है।

जैसा कि जैन इतिहाससे प्रगट है, जैन धर्म सदा क्षत्रिय कुलोका धर्म बना रहा है। यह सदा राजघरानो से उगता रहा और राजघरानोंमे पलता रहा है। प्रागैतिहासिक काल के सिवाय भगवान् महावीरके कालमे भी इसे पूर्वी और मध्य भारत के मगध, अवन्ती, सिन्धु, कौशल, मथुरा, काशी आदि देशोके सब ही प्रमुख राजवश, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठिजनोका आश्रय पाने का गौरव पाप्त रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी इसे मगध, उडीसा, गुजरात राजस्थान और दक्षिणके सब ही—शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ऐर, खारवेल, राठौर, परमार, चौहान, गङ्ग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि प्रमुख राजवशो, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठि जनोका आश्रय पाप्त रहा है। यह सदा धूलधूसरित वीर तपस्वियोके परिभ्रमण द्वारा सब ही दिशाओके दूर दूर देशो, दूर दूर नगरो और ग्रामोमे फैलता रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी यह दिगम्बर और श्वेताम्बर श्रमणोके अनेको सघ, गण और गच्छो की अध्यक्षतामे भारतके कोने कोनेमे फैला है। इसी लिए आज जैन साहित्य और कलाकी अगणित कृतिया तारा-राशिकी तरह भारतके सभी भागोमे फैली हुई है।

●

मुगल सम्राट् और जैनधर्म



श्री दिगम्बरदास जैन

एडवोकेट, सहारनपुर

बाबर (१५२६-१५३० ई०) मुगल वंश का पहला बादशाह हुआ है। इसने दौलतखाँ लोदी और इब्राहिम लोदी को हराकर मेवाड़ के राणा सांगा से लोहा लिया। बाबर हारता जाता था[1]। पानीपत की रणभूमि में कई दिन तक युद्ध हुआ। वह धर्मात्मा और ईश्वरभक्त था। इसने अपनी विजय के लिये भगवान् से प्रार्थना की और प्रायश्चित्त रूप में मदिरा का, जिसके पीने का वह बहुत अभ्यासी था, सदा के लिये त्याग कर दिया। राणा सांगा बड़ा वीर और योद्धा था। बड़ी योग्यता से लड़ा, परन्तु आपसी फूट और बाबर की विशाल तथा संगठित सेना के कारण उसकी विजय हुई। बाबर चन्देरी की ओर बढ़ा। उस समय वहाँ का राजा वहाँ न था। रानी ही तलवार हाथ में ले चण्डी देवी के समान बाबर की सेना पर टूट पड़ी और इतनी अधिक मार-काट की कि बाबर ने उसकी वीरता देखकर लड़ाई बन्द करदी और कहा—"बाबर स्त्रियों से नहीं लड़ता। भारत की स्त्रियाँ कितनी वीर और देशभक्त होती हैं इसका परिचय आपने दे दिया। अब से आप मेरी बेटी के समान हैं। स्वतन्त्रता से राज्य करो। जब भी मेरी सहायता की आवश्यकता हो याद करना।"

बाबर बड़ा बलवान् था। दो पहलवानों को अपनी दोनों बगलों में दबाकर किले की दीवार पर दौड़ लगाया करता था। वह बड़ा उदार स्वभाव का था। अपराधियों का गलती स्वीकार करने पर क्षमा कर देता था। बड़ा धर्मात्मा और अहिंसाप्रेमी था। उसका पुत्र हुमायूं बीमार हो गया, अनेक उपाय करने पर भी अच्छा न हुआ तो उसने हुमायूं के पलंग के ३ चक्कर काटकर परमात्मा से प्रार्थना की कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाए चाहे मेरा जीवन समाप्त हो जाए। बाबर की मृत्यु हो गई और हुमायूं अच्छा हो गया।

बाबर स्वयं विद्वान् था। उसने बाबरनामा, आत्मकथा और तुर्की दिवान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वह विद्वानों का आदर करता था। बाबर अहिंसा तथा अन्य धर्मवालों का कितना सत्कार करता था, उसकी वसीयत से मालूम होता है, जो हुमायूं के नाम पर है। उसने लिखा है—'ऐ मेरे पुत्र! भारत में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। सब धर्मों का सत्कार करना तुम्हें लाजिम है। गौवध को समाप्त करो क्योंकि इसके बगैर तुम भारतवासियों के हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा करने से देश के लोग तुम्हारे वफादार रहेंगे।'[2]

महाचन्द एक बहुत बड़े जैन-कवि बाबर के समय हुए। बाबर इनका बड़ा सम्मान करता था। इन्होंने इसके राज्य-काल में सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् पर ५५ हजार ३०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ की रचना की जो आज भी धर्मपुरा देहली के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।[3]

साहू सावनप्रसाद एक जैन सेठ थे, जिनका बाबर पर बहुत प्रभाव था। इन्होंने बाबर की आज्ञा से एक दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाया।[4]

---

१ उर्दू मिलाप, नई देहली २०-८-६७ पृ० १२

२ 'तेज' देहली ३१-५-६७ पृ० ५

३-४ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० ८

सेठ नेमीदास सेठ तोसड राय के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्होने बावर के राज्य मे सोने, हीरे, मूंगे की ऋषभदेव, शीतलनाथ, विमलनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थकरो की प्रतिमाए बनवा कर जैन मन्दिरो में स्थापित की। पचकल्याणक उत्सव और पूजाए कराई, बाजारो मे विशाल रथोत्सव निकलवाए।

यशकीर्त्ति एक बहुत बडे जैन त्यागी हुए जिन्होने बावर के गवर्नर मुबारक शाह के जैन मन्त्री हेमराज के अनुरोध पर पाण्डवपुराण और हरिवशपुराण रचे।[1]

राणा सागा पर जैनाचार्य धर्मरत्न सूरि का बडा प्रभाव पडा। उनका हाथी-घोडो, गाजेबाजो मे स्वागत करता था। उनके उपदेश से राजा ने सदा के लिये मास-मदिरा का त्याग कर दिया था। जैन मन्दिरो का बडे-बडे दान दिये। यह बहुत बलवान् योद्धा राणा था। अनेक घमासान युद्ध जीते। युद्धो मे छाती पर अस्सी घाव लगे। एक हाथ कट गया, एक आँख चली गई, फिर भी जब बावर ने उसके देश पर आक्रमण किया तो स्वय युद्ध के लिये तलवार उठाई और इतनी मारकाट की कि मुगल सेना के छक्के छूट गये। राणा सागा मासत्यागी और अहिंसाधर्मी था फिर भी देशसेवा के लिये सदा उसकी तलवार म्यान से बाहर रहती थी। इसने कई बार बावर को हराया। तातारी सेना इसके नाम से कापती थी। एक बार इसने बावर को एक तग रास्ते मे रोक लिया,[2] वह चाहता तो बावर को जान से मार देता। परन्तु उसकी बेवसी को देखकर वीर राजपूत ने उसकी सेना को तो मार भगाया परन्तु बावर को छोड दिया। बावर ने अपनी फौज को इकट्ठा करके बेखबरी मे धोखे से आक्रमण कर दिया जिसके कारण राणा सागा को फिर उससे लोहा लेना पडा। राणा सागा की सेना के कुछ आदमी बावर मे मिल गये। ऐसा विश्वासघात देखकर भी अहिंसाधर्मी राणा घबराया नही। इसके मन्त्री उस समय लडना उचित नही समझते थे। राणा सागा को रजामन्द न देखकर दुराचारी मन्त्रियो ने राणा को विष दे दिया।[3] इस प्रकार मुगल राज्य की स्थापना भारत मे हो गई।

तारण स्वामी के पिता देहली के सम्राट् बहलोलखाँ लोदी के ऊँचे अधिकारी थे। इन्होने अनेक जैन धार्मिक ग्रथ रचे और बावर के राज्य मे जैनधर्म का खूब प्रचार किया। लाखो हिन्दू और मुसलमान जैन बन गये।[4]

गुरु नानकदेव बावर के ही समय हुए, जो सिक्खो के प्रथम गुरु हुए है। ये अहिंसा के बडे प्रचारक हुए हैं, इन्होने कहा —

जे रत लगे कपडे, जाम हो पलीत।
जो रत पीवे मानुषा तिन क्या नर्गल चित्त॥

—बावा नानक बार मास माँझ महरुला १ पृ० १४०

गुरुजी ने यहाँ तक कहा है कि ६८ तीर्थों की यात्रा से भी वह फल प्राप्त नही होता जो अहिंसा और दया पालने से होता है —

अडसठ तीरथ सफल पुन, जीवन दया प्रधान।
जिसनू देवे दया कर, सोई पुरुष सुजान॥

—माझ महरुला ५ बारामाह (माघ माह)

गुरु नानक देव ने पशुओ को अपने पुत्र के समान प्रिय बताते हुये कहा कि पशुओ मे भी मनुष्यो के समान जान और आत्मा है इसलिये उनको मारना और कष्ट देना उचित नही—

किया बकरी किया गाये, किया अपना जाया।
सबका लहू एक है, गुरु नानक ने फरमाया॥[5]

---

१ प्रशस्तिसग्रह (शोलापुर) भाग द्वितीय प्रस्तावना पृ० १७।
२-३ साप्ताहिक 'हिन्दू' जालधर बलिदान अक २३ जून १९६३ पृ० ४७।
४ विस्तार के लिये Jain Antiquary भाग १२ पृ० ५९-६१
५ विस्तार के लिये हमारा 'शान्ति के अग्रदूत श्री वर्धमान महावीर' पृ० ६७-६८

हुमायूँ (१५३०-१५४०) के राज्य मे जैनियो के धार्मिक कार्यों मे कोई बाधा न थी। जैन मन्दिर बने। नग्न दि० जैन साधुओ का विहार बिना रोक-टोक होता था। रथोत्सव ठाठ से निकलते थे। यह जीवहिंसा और पशुबलि पसन्द नही करता था।[1] जैन ग्रन्थ लिखे जाते थे। सेठ का कूचा देहली दि० जैन मन्दिर मे न० ३५६ पर एक गुटका है जो हुमायू के राज्यकाल मे पोष सुदी ३ वि० स० १५९२ मे देहली के पास सोनीपत जिला करनाल मे लिखा गया था।[2] इसी के राज्यकाल मे १५३३ ई० मे धर्मदास नामक श्रावक ने धनदत्तचरित्र की रचना की।[3] मलयकीर्तिजी ने हुमायू के राज्यकाल मे १६ वे तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ की विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया।[4] श्वेताम्बर जैनाचार्य पद्मसुन्दरजी के गुरु पद्ममेरुजी का हुमायूँ ने बडा सम्मान किया था। इन्होने हुमायू के राज्य मे अनेक ग्रन्थ रचे।

गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि पर आक्रमण कर दिया। वहा की रानी बडी वीरता से लडी और सहायता के लिये हुमायूँ को राखी भेजी। उस समय हुमायू बगाल मे शेरशाह सूरि से लड रहा था, परन्तु राखी पहुँचते ही उसे याद आ गया कि मेरे पिता ने चन्द्रगिरि की रानी को अपनी बेटी बनाया था। मेरी बहन ने आपत्ति के समय याद किया है। वह शेरशाह जैसे भयानक शत्रु के मुकाबले के लिये अपने सेनापति हैदर मिर्जा को थोडी सेना सौप कर स्वय चन्द्रगिरि की रानी की सहायता के लिये चल दिया। बरसात का मौसिम, खराब रास्ता, दूर का फासला, आने मे कुछ दिन लग गये। इतने मे बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि के किले पर कब्जा कर लिया। रानी ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये अनेक वीर महिलाओ के साथ दहकती चिता मे कूद वीरगति प्राप्त की। हुमायू पहुँचा, परन्तु उसे यह जानकर बडा दु ख हुआ कि अपनी हिन्दू बहन को न बचा सका। उसने युद्ध करके बहादुरशाह को निकाल दिया और चन्द्रगिरि को स्वतन्त्र कराया और रानी के वारिस को ही गद्दी पर बैठाया।

हुमायूँ अपनी बात का धनी और बडा दयालु था। एक बार शेरशाह सूरि ने उसे घेर लिया। अपनी जान बचाने का कोई दूसरा रास्ता न मिलने पर उसने अपना घोडा गगा मे डाल दिया। पानी अधिक था, वह डूबने को ही था कि एक भिस्ती ने अपनी मशक से उसकी जान बचाई। उसके बदले मे उसने उसे एक दिन का देहली का राज्य दिया। भिस्ती ने चमडे का सिक्का चालू कर दिया। हुमायूँ ने सोने-चादी के बदले वह सब सिक्के ले लिये। हुमायू गोमास का त्यागी था। एक दिन एक नया नौकर भूल से गोमास उसके भोजन मे ले आया। उस दिन उसने भोजन नही किया और नौकर को भारी दण्ड दिया।[5]

शेरशाह सूरी (१५४० से १५५५ ई०) का असली नाम फरीद था। वह एक दिन जगल मे जा रहा था। एक शेर ने उसपर आक्रमण कर दिया। इसने बडी वीरता से उसपर विजय प्राप्त कर ली थी। उस दिन से ही उसका नाम शेरखाँ पड गया[6] और जब वह बादशाह हुआ तो शेरशाह कहलाने लगा। जिस ग्राम मे चोरी, डकैती आदि होती उस स्थान के मुखिया और शासक को भी उतना ही दण्ड देता था जितना अपराधी को। इसीलिये इसके राज्य मे चोरी आदि नही होती थी। लोग खुले किवाड सोते थे। जनता के आराम के लिये उसने कलकत्ते से पेशावर तक एक बडी सडक सबसे पहले बनवाई[7] जिसको आजकल जी० टी० रोड (ग्रान्ड ट्रन्क रोड) कहते है। इसके दोनो ओर वृक्ष लगवाये, सरायें बनवाईं, और कुए खुदवाये।

यह बडा दानी था, पौने दो लाख स्वर्ण मुद्राए हर साल मन्दिरो, मसजिदो और स्कूलो को दान देता था। इसके राज्य में जाति-पाति का भेद-भाव न था।[8] योग्यता के अनुसार पद मिलता था। हिन्दू और जैन बडे-बडे पदा



---

१ Romance of Cow (Bombay Humanitarian League) पृ० २७

२ विस्तार के लिये 'सन्मति सन्देश' देहली (फरवरी १९६७) पृ० ३५।

३ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अक ५ पृ० ५० तथा भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २४१।

४ भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) पृ० २५६

५ 'कल्याण' गोरखपुर २०-१०-१९४५ पृ० २१५।

६-७ सामाजिक शिक्षा (पंजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।

८ सामाजिक शिक्षा (पजाब शिक्षा विभाग, सातवीं कक्षा) पृ० ८३-८६।

पर नियुक्त थे। राजा टोडरमल जैन था, अहिंसा धर्म भली प्रकार पालता था, उसको मालगुजारी दी तथा एक सेना का सेनापति बना रखा था।

इसके राज्य मे जैनधर्म खूब फूला-फला था।[१] सूरि राज के समय श्रीचन्द्र, माणिकचन्द्र, देवाचार्य, क्षेमकीर्ति आदि अनेक प्रसिद्ध दिगम्बर, त्यागी और सन्त हुए जिनका राज्य मे सम्मान था। इसी समय फ्रेंच यात्री Bernier तथा Tavernier ने भारत-भ्रमण किया। इन्होने जैन नग्न साधुओ को विना किसी रोकटोक के वडे-वडे शहरो और बाजारो मे चलते-फिरते पाया।[२] जैन नग्न साधुओ के दर्शन न केवल पुरुष वल्कि नवयुवक तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ तक भी बडी श्रद्धा एव भक्ति से करती थी। जैन मुनियो ने अपने मन और इन्द्रियो पर इतनी विजय प्राप्त कर रखी थी कि उनसे बातचीत करके इनके हृदय मे कोई विकार उत्पन्न न होता था।[3] स्वय शेरशाह के ऊँचे अधिकारी मलिक मोहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत (२।६०) नामक ग्रन्थ मे जैन मुनियो को दूसरे साधुओ से अधिक सत्कारयोग्य बताया। सम्राट् सिकन्दरसूरि (Sikandar Suri) ने जैन गुरु विशालकीर्तिजी का सम्मान किया।[४] मार्कोपोलो (Marco Polo) का कहना है कुछ योगी बिल्कुल नग्न रहते थे। कारण यह बताया कि वह इस ससार मे नग्न उत्पन्न हुए और ससारी वस्तुए वह ग्रहण करना नही चाहते।[५]

शेरशाह सूरि ने फरमान जारी कर रखा था कि जनता की बहुत अधिक सख्या के धर्म का आदर करना राज्य का कर्त्तव्य है। इसलिये गोवध बन्द किया जाता है। जो ऐसा नही करेगा उसको कठोर दण्ड दिया जायगा।[६]

अकबर (१५५६-१६०५ ई०) शेरशाह की शक्ति के सामने एक बार हुमायू को भी भागना पडा। उसने जोधपुर के राजा मालदेव से सहायता मागी परन्तु शेरशाह सूरि के भय से उसने इन्कार कर दिया। हुमायू की बेगम हमीदा खातून गर्भवती थी। हुमायू ने कई राजाओ को अपनी बेगम के बच्चा होने के समय तक शरण देने को कहा लेकिन कोई तैयार नही हुआ। आखिर हुमायू बेगम सहित अमरकोट (सिंध प्रान्त) पहुचा। वहाँ का राजा जैन था। सिंध मे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के समय से जैनधर्मी सम्राटो और जैन धर्म का प्रभाव था। मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमणो के समय सिंध का राजा ताहरसेन था। हुमायूँ ने अमरकोट के राजा को कहा। एक जैन राजा शरण मे आये हुए को कैसे इनकार कर सकता है? उसने हमीदा खातून को अपने महलो मे रख लिया। अहिंसाधर्मी, मासत्यागी, शुद्ध आचार-विचारो का प्रभाव बेगम पर पडा। माता के सस्कारो का प्रभाव गर्भ में ही बच्चे पर पडना आरम्भ हो जाता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदने की विद्या जब अर्जुन अपनी स्त्री को बता रहा था, गर्भ मे ही सीख ली थी। इन्ही गर्भ के सस्कारो के कारण अकबर का जैन गुरुओ और अहिंसा सिद्धान्तो पर गहरा और अटल विश्वास रहा। उसने सदा के लिये मास का त्याग कर दिया। साल मे लगभग छ महीने जैनियो के पवित्र पर्वों और त्यौहारो के समय अपने समस्त राज्य मे जीव-वध बन्द कर दिया था और इस कानून के न पालने वालो को बडा कठोर दण्ड दिया जाता था।[७]

हीरविजय सूरि उस समय के एक बहुत बडे सन्त थे। प्रो० राम स्वामी आयगर के अनुसार अकबर जैनधर्म मे श्रद्धा रखता था। उसे जब हीरविजय सूरि की मान्यता ज्ञात हुई तो उसने गुजरात के सूबेदार साहबसिंह को उन्हे बुलाने को लिखा। मुनिराज अनेक प्रकार की सवारियो का राज्य की ओर से प्रबन्ध होने पर भी गुजरात से आगरा पैदल आये। क्योकि जैन मुनि किसी प्रकार की सवारी का प्रयोग नही करते। अकबर ने शाही शान से उनका स्वागत किया और उनके

१-२ 'वीर' देहली (१-३-१९३२ ई०) पृ० १५५
३ Dr Bernier's Travels in Mugal Empire, p 317
४ Saletor, Karnatak Historical Review IV p 78-81
५ Yiel's Marcopolo, Vol II p 566
६ दैनिक उर्दू 'मिलाप' देहली, (१४-१२-१९६६) पृ० ३।
७ विस्तार के लिये हमारा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४९० से ४९३ तक।

उपदेश से जैनधर्मी बन गया था ।[1] अकबर ने इनको जगद्गुरु की पदवी दी थी ।[2]

शान्तिचन्द्र जैन मुनि का अकबर पर बडा प्रभाव था । ईद से एक दिन पहले उन्होंने अकबर से कहा—"आज मैं यहा से जाऊगा ।" अकबर ने कारण पूछा । मुनिराज ने कहा कि कल यहा हजारो नहीं लाखो जीवो का वध होगा । फिर इन्होंने कुरान शरीफ की आयतें दिखाई कि कुरबानी का माम खुदा को नही पहुचता बल्कि परहेजगारी पहुचती है ।[3] रोटी और सब्जी खाने से ही रोजा स्वीकार हो जाता है । अकबर ने मौलवियो से पूछा । उनका सन्तुष्टिजनक उत्तर न पाकर अकबर ने अपने राज्य मे मुनादी करादी कि ईद के दिन कोई जीव-वध न हो ।[4] अकबर ने १५८७ ई० मे शान्तिचन्द्रजी को जीवहिंसा बन्द करने का फरमान दिया ।[5]

भानुचन्द्र जैन आचार्य पर अकबर को बडी श्रद्धा थी । एक दिन अकबर के सर मे बहुत दर्द था । अनेक उपाय करने पर भी आराम न हुआ तो उसने भानुचन्द्र को बुलाया और दर्द दूर करने को कहा । आचार्य महाराज ने कहा—"मैं कोई वैद्य या हकीम नही हू ।" अकबर ने कहा—"आप सत्यवादी हैं । आपका शब्द झूठ नहीं हो सकता । केवल इतना कह दें— दर्द जाता रहे' । अकबर को आचार्य ने कहा "आपका दर्द अवश्य जाता रहेगा ।" अकबर की पूर्ण श्रद्धा और भानुचन्दजी के चरित्र के प्रभाव से अकबर का दर्द मिट गया ।[6] इस खुशी म दरबारियो ने ५०० गायें वध करने को मगवाई । अकबर का पता चला तो कहा—"मेरा कष्ट दूर हो और दूसरो की जान निकले यह कहा का न्याय है ?" तुरन्त सब गायो को अभयदान दिया ।[7]

विजयसिंह सूरि का अकबर ने लाहौर बुलवाया और उनका ३६३ विद्वानों से इस विषय पर वाद-विवाद कराया कि ईश्वर कर्ता-हर्ता नही है और इनके बुद्धिमत्ता तर्क से प्रभावित होकर इनको 'सवाई' की पदवी प्रदान की ।[8]

अबुल फजल न केवल अरबी और फारसी का विद्वान् था, वह सस्कृत और हिन्दी का भी अच्छा विद्वान् था । उसने जैन-ग्रन्थों का स्वाध्याय और जैन तत्त्वो का मनन किस गहराई से किया, इसका अनुमान उसकी लिखी पुस्तक आइना-ऐ-अकबरी से आसानी से लग जाता है, जिसमे उसने लगभग ५० पृष्ठ जैनधर्म के सिद्धान्तों और उनके महत्त्व तथा आवश्यकता पर लिखे ।[9] और बताया कि अकबर पर दिगम्बर जैन नग्न मुनियो का अधिक प्रभाव था ।[10] उसका कहना है कि अकबर ने राजाज्ञा द्वारा काश्मीर की झीलो से मछलियो का शिकार करना बन्द कर दिया था । जैन तीर्थों से यात्रा-कर लेना बन्द कर दिया था । प्रत्येक जैन पर्व, दस लक्षण, अठाई आदि तथा हर पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि जैन त्यौहार, सब मिलाकर साल मे छह मास जीव हिंसा कानून द्वारा बन्द कर दी थी ।[11] अकबर ने मास-भक्षण त्याग दिया था और जनता को कहता था—

यह उचित नही कि मनुष्य अपने उदर को पशुओं की कबर बनावे । कसाई आदि जीवहिंसा करनेवाले



---

१ Bhandarkar Commemoration Vol I P 26

२ 'अकबर और जैनधर्म' (श्रीआत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी अम्बाला शहर) पृ० ८-१० ।

३ कुरान शरीफ, पारा १६, हज सुरा, रूक ५ आयत ३८ ।

४ 'सूरीश्वर और सम्राट्' पृ० १४४ ।

५. अकबर और जैनधर्म, पृ० ५० ।

६-७ 'सूरीश्वर और सम्राट्' पृ० १४६ ।

८ अकबर और जैनधर्म पृ० १० ।

९ अनुवाद हिन्दी जैन सदेश शोधाक १०-१०-६३ पृ० २१८-२३३ ।

१० Ayna-i-Akbari Vol III (Lucknow) P 519

११ S N Banarji's Religion of Akbar, P 81

शहर से वाहर रहते है तो मासभक्षियो को आबादी मे रहने का क्या अधिकार है ? जो मास नही त्याग सकते वह मेरे शरीर का मास खा लिया करें, मेरा शरीर इतना बडा हो जाए। मै स्वय मास का त्याग करता हूँ।[१]

टोडरमल का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला सीतापुर के ग्राम लहरपुर मे हुआ था। वे बडे धर्मात्मा और अहिंसाधर्म का पालन करते हुए भी तलवार के धनी थे। भूमिकर (मालगुजारी) के उन्होने ऐसे नियम बनाये जिनको मुगलो एव अग्रेजो ने उपयोग मे लिया था तथा उनकी छाप आज तक मौजूद है। वह भगवान् की पूजा किये बिना कोई काम तथा भोजन भी नही करते थे। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल तथा प० अनूपचन्द न्यायतीर्थ के शब्दो मे टोडरमल जैन-धर्मानुयायी थे।[२] इनका पुत्र राखीदास भी जैन था। श्री महावीर अतिशय क्षेत्र से प्रकाशित राजस्थान के जैन शास्त्रभडारो की ग्रथसूची के चौथे भाग की भूमिका मे दि० जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्रभडार मे नयविलास कृत ज्ञानराशि टीका की प्रशस्ति मे लिखा है कि यह टीका मुगलसम्राट् अकबर के राजमन्त्री टोडरमल के पुत्र राखी-दास के पठनार्थ लिखी गई। जिससे सिद्ध होता है कि राजा टोडरमलजी के समान उनका पुत्र भी जैनधर्मी था।[३]

टोडरमल जैन कवि राजमल के बडे सहायक थे।[४]

बीरबल कितना बुद्धिमान और हाजिरजवाब था, यह अकबर बीरबल के चुटकुलो एव लतीफो से भली प्रकार सिद्ध है। बीरबल बुडिया तहसील जगाधरी का रहने वाला था। वह भी जैनी था। उनके बुडिया के महल के खण्डहर आज तक मौजूद हैं जो आज भी रगमहल के नाम से प्रसिद्ध है, जिनको हमने स्वय देखा है। उनमे लकडी और लोहा नही लगा फिर भी बहुत सुन्दर और मजबूत है।

भारमल साँभर के राजा थे। वे जैनधर्मी थे। उन्होने लाखो स्वर्णमुद्राओ का दान किया और जैनधर्म की प्रभावना मे करोडो रुपये खर्च किये। उसकी अपनी टकसाल थी। अकबर का मुकुटधारी राजकुमार सलीम उसके दर-बार मे मिलने जाया करता था और सूचना भेजकर इस बात की प्रतीक्षा मे रहता था कि वह इसको मिलने के लिये बुलावे। राजा भारमल का सम्मान अकबर के समान था। इसकी प्रत्येक दिन की आय एक लाख स्वर्णमुद्राओ से अधिक थी। पचास हजार स्वणमुद्राए तो प्रतिदिन यह अकबर के खजाने मे जमा कराया करता था। अकबर पर इसका बडा प्रभाव था। इसने स्वय और अकबर से जैनधर्म की प्रभावनाओ के अनेक काम करवाये।[५]

राजमल एक जैन महाकवि थे, जिन्होने अकबर के लिये अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे। उनके प्रभाव से अकबर का जीवन ही बदल गया और वह जैन सिद्धान्तो का आचरण करने लगा।

प० बनारसीदास भी अकबर के दरबार के महाकवि थे। समयसार नाटक जैसे महान् उपयोगी ग्रन्थ रचे। पगडी बेचने का काम करते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि एक आना रुपये से अधिक लाभ नही लेगे और १ रुपये से अधिक एक दिन मे नही कमायेगे। अकबर ने उनके व्रत की परीक्षा करने के हेतु आज्ञा दी कि कल मेरे दरबार मे सब पगडी बाध कर आवें। पडितजी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा आदि से निवट कर १० बजे दूकान पर जाते और चार बजे दूकान बद कर देते थे। इसलिये सुबह से ही उनकी दूकान पर भीड लग गई परन्तु वह समय पर आये और (१६) सोलह पगडी बेचकर दूकान बद करने लगे। लोगो ने कहा—"चाहे जो दाम ले लो, पगडी दे दो। कल दरबार मे बिना पगडी नही जाया जा सकता।" तब उन्होने बाकी पगडिया बिना लाभ के बेच दी। अगले दिन हजारो पगडिया देखकर अक-

---

१ Ayna-i-Akbari Vol III p 330

२ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २३-२४।

३ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २४-२५।

४ Todarmal under the imperial service of Akbar was Digambar Jain He patronised Jain poet Rajmal—Jambu Swamicharit (Bombay) P 7-8

५ For details Jain Antiquary Vol XII, P 57

वर ने कहा—"प० बनारसीदास ने बडा लाभ उठाया होगा।" लोगो ने बताया कि १९ पगडिया बेचने के बाद उन्होने बिना नफा लिये पगडिया बेची तो वह पण्डितजी के परिग्रहपरिमाण व्रत और सन्तोष को देखकर चकित रह गया। अकबर के दरबार मे कविसम्मेलन हुआ करते थे। एक बार कविता की समस्या थी—"सो आस करो सु अकब्बर की"। पडितजी ने अपनी यह कविता पढी—

> जिया बहुत वेश धरे जग मे, छवि भागई आज दिगम्बर की।
> जब चितामणि घर मे प्रकटो, तब कौन जरूरत अडम्बर की॥
> जिन तारण तरण सेय लियो, परवाह नहीं सुजब्बर की।
> जिन आस नहीं परमेश्वर की, सो आस करे सु अकब्बर की॥

अन्तिम कडी सुनते ही सारे दरबार मे हलचल मच गई। सबको विश्वास था कि पण्डित जी को कठोर दण्ड दिया जावेगा। परन्तु अकबर पण्डित जी की सच्चाई और निर्भयता से बडा प्रसन्न हुआ और कहा—मागो क्या मागते हो? पण्डित जी ने कहा—जो मेरे पास है मैं उसी से सन्तुष्ट हू। अकबर ने बहुत जोर दिया तो पण्डित जी ने कहा—कृपा कर दरबार मे आने से मुझे मुक्ति दें। अकबर ने कहा—मेरे दरबार मे आने को तो बहुत बडे-बडे आदमी इच्छुक हैं। पण्डित जी ने कहा—वह इन्द्रियसुख चाहते हैं और मुझे आध्यात्मिक सुख मे आनन्द आता है जिसमे यहा आने के कारण बाधा पड जाती है। अकबर और सब दरबारी पण्डित जी के तप-त्याग से चकित हो गये। अकबर ने कहा—आप से पाबदी उठाई जाती है, परन्तु फिर भी जब-जब समय मिले अवश्य आते रहना।

सेठ शान्तिदास अहमदनगर के नगरसेठ थे। इन्होने अकबर की आज्ञा से अनेक जैन मन्दिर करोडो रुपयो की लागत से बनवाये। इनका अकबर पर बडा प्रभाव था।[1] बाजारो मे रथ उत्सव निकलवाये।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी रामायण के प्रसिद्ध लेखक थे। पडित बनारसीदास की आध्यात्मिक प्रशसा सुनकर गोस्वामीजी प० जी से मिलने गये और अपनी रामायण की एक प्रति उन्हे भेट की। प० बनारसीदास ने पार्श्वनाथ की स्तुति की प्रति गोस्वामी जी को भेट की जिसका उनपर बडा प्रभाव पडा। यह प० बनारसीदास के आत्मबल का प्रभाव है कि गोस्वामीजी ने जैन-सिद्धान्तो का आदर करते हुए अहिंसा (दया) को धर्म की जड कहा—

> "दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छोडिये, जब तक घट मे प्राण॥

जैन कर्मफिलोसफी की प्रशसा करते हुए गोस्वामी ने कहा—

> 'सकल पदारथ हैं जग माही, कर्महीन नर पावत नांही।

रहीम भी एक महाकवि था। अरबी, फारसी के समान हिन्दी और सस्कृत का भी विद्वान् था। प० बनारसीदास का इसपर भी इतना अधिक प्रभाव पडा कि अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर दोहे लिखे।

प० रूपचन्द भी अकबर के समय हुए। बडे प्रसिद्ध कवि थे। जैनधर्मी थे।

कबीर साहब भी इसी समय हुए। जैन-सिद्धान्तो का इनपर कितना प्रभाव था, यह इनके दोहो से सिद्ध है।

> (१) दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
> मुई खाल की स्वास से, लोह भस्म हो जाय॥ (अहिंसा)



---

१ सन्मतिसदेश (मार्च १९६१) पृ० १०४।

(२) कबिरा तेरी झोपडी है गठकटो के पास।
जैसा करें वैसा भरें, तू क्यो हुआ उदास ।। (कर्मसिद्धात)

सहारन-वीर अकबर के खजाची थे। यह जैन थे। इनकी सेवा एव ईमानदारी से प्रभावित होकर अकबर ने उनको जागीर मे बहुत-सी भूमि दी जिसमे उन्होने नगर बसाया जो उनके नाम पर सहारनपुर कहलाया है।[१] सहारनवीर जिनेन्द्र भगवान् के भक्त थे। यही कारण है कि सहारनपुर मे १२ जैन-मन्दिर है।

तानसेन ससार का एक बडा प्रसिद्ध सगीतज्ञ था, जिसके गान मे जादू का असर था। अकबर के दरबार का सर्वोत्तम गवैया था।

ब्रह्मगुलाल जैनधर्मी था। स्वाग भरने मे समस्त ससार मे केवल एक ही था। एक बार चन्दबार के राजा कीर्तिसिन्धु ने उसे शेर का स्वाग दिखाने को कहा। उसने कहा—"इस भेष मे मनुष्य तक की प्राणहत्या होने का भय है।" उन्होने तीन खून माफ कर दिये। ब्रह्मगुलाल ने ऐसा उत्तम भेष बनाया कि सब उसे असली शेर समझकर भागने लगे। राजकुमार ने कहा—"यह शेर कहाँ ? किसी को खाता तो है नही, यह शेर नही, गीदड है।" जबान का घाव तलवार के घाव से अधिक दु खदाई होता है। उसने राजकुमार पर ऐसा झपट्टा मारा कि राजकुमार मर गया। राजा को बडा दु ख हुआ, परन्तु वचन दे रखा था, चुप रहा। दूसरी बार उसे दि० नग्न मुनि का भेप धारण करने को कहा गया, उन्होने ऐसा भेष बनाया कि उसके वैराग्य और उपदेश का सब पर बहुत प्रभाव पडा। वह जगल मे जाने लगे तो लोगो ने कहा कि यह तो स्वाग है, समाप्त हो गया। ब्रह्मगुलाल ने कहा—"मुनिभेष ऐसा भेप नही जो एक बार धारण करके छोड दिया जाय। उसको सदा के लिये घरबार छोडते देख राजा को भी वैराग्य आ गया। वह भी जैनमुनि हो गया और ब्रह्मगुलाल के समान तप करने लगा।

पन्ना धाय जिसने महाराणा उदयसिंह की जान बचाने के लिये अपने प्रिय इकलौते पुत्र को बलिदान किया जैनधर्मी थी।

आशाशाह जिन्होने अपनी जान जोखिम मे डालकर महाराणा उदयसिंह को शरण दी और बनबीर जैसे बलवान् तथा क्रूर सम्राट् से भयानक युद्ध करके, विजय प्राप्त कर उदयसिंह को सिंहासनारूढ किया, जैनधर्मी था।

भामाशाह अहिंसा धर्म का अनुयायी जैनधर्मी कितना योद्धा था। महाराणा प्रताप जैसे महायोद्धा वीर ने उसे अपना सेनापति बना रखा था। इस जैन देशभक्त ने अपनी अपार सम्पत्ति देशरक्षा के लिये महाराणा प्रताप को भेंट दी। इन सबके विस्तार के लिये हमारा लिखा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४८१-४८५ देखो।

महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप आदि-आदि इतने जैनधर्मप्रेमी अकबर के समय हुए है कि चार-चार लाइन भी एक-एक के सम्बन्ध मे लिखे तो हजार पृष्ठो मे भी न आवे। हम श्रीऋषभदेव से लेकर आजतक का सचित्र इतिहास लिख रहे है उसमे अधिक वर्णन करेंगे। यहाँ केवल एक सत्यवादी की कथा देते है।

रघुपतिसिंह महाराणा प्रताप का वीर सरदार था। अकबर की सेना की इसने इतनी मारकाट की कि अकबर को उसके मारने या पकड लाने के लिये बहुत बडा पुरस्कार घोषित करना पडा। रघुपति का इकलौता पुत्र सख्त बीमार हो गया। स्त्री ने खबर भेजी पुत्र का मुह देखना हो तो तुरन्त आ जाओ। रघुपति के घर पर पहरा था

१ The City of Saharanpur was founded by a Digamber Jain Shri Saharanbir Singha who got the locality in Jagir from Akbar His son Gulabrai migrated to Delhi, when he built a Jain temple in Kucha Sukhanand—C F No 280 in the list of Muhammadan and Hindu Manuments quoted in Ratandeep Kiran II (Rajeshwarbhawan Green Park) Vol I, P 50

फिर भी वह घर गया। मुगल सिपाही ने रोका तो उसने कहा कि मैं अपने बीमार पुत्र को देखने आया हू अभी वापिस आऊगा तब मुझे पकड कर मुह मागा पुरस्कार प्राप्त करना। सैनिक को यह सुनकर अपने पुत्र की याद हो आई और पुत्रप्रेम का स्मरण कर उसे आज्ञा दे दी। रघुपति स्त्री और पुत्र से मिला। पुत्र बहुत बीमार था और कुछ समय का ही मेहमान था फिर भी वह वापिस जाने लगा। स्त्री ने रोका तो उसने कहा —"मैंने मुगल सैनिक को वचन दिया है कि मैं वापिस आ रहा हू अत मजबूर हू।" उसने सैनिक से कहा—"मैं आ गया हू, मुझे पकड कर पुरस्कार प्राप्त करो" सैनिक रघुपति की सचाई और वीरता मे बडा प्रभावित हुआ और उसने उसे छोड दिया।[1] किसी ने यह बात अकबर से कह दी तो बजाय क्रोधित होने के उसने सेनापति को पुरस्कार से सम्मानित करते हुये कहा कि यह मेरे लिये गर्व की बात है कि मेरे कर्मचारी दया, अहिंसा, प्रेम और सत्य का आदर करते हैं।

अकबर के समय मे एक रुपये मे गेहू १८५ रतल, चावल १११ रतल, जौ २११½ घी २१ रतल, दूध ८६ रतल, जवार २२२ रतल, बाजरा २११½ रतल, नमक १३१ रतल, चीनी १७ रतल, और गेहू का आटा १४८ रतल मिलता था।[2]

अकबर के फरमान (१) १५ जून सन् १५८४ को जैनाचार्य हीरविजयजी को दिया कि पर्युषण (भाद्रपद मास मे होने वाले पर्व) के दिनो मे जैन आबादी के किसी नगर मे किसी भी पशु की हत्या न की जावे। (२) १५९२ को, जिसके द्वारा मुगलसाम्राज्य के सब जैन तीर्थस्थान जैनियो के सुपुर्द किये जाते हैं ताकि वहा किसी प्राणी की हत्या न हो। (३) अकबर का फरमान ५-६-१५९३ कि मोर जिबह न किया जावे। शिकार न खेला जावे। विस्तार के लिये 'कल्याण' गोरखपुर, अक्टूबर १९४५ पृ० २२५ देखिए।

महावीर-निर्वाण-दिन मनाने के लिये दीवाली को अपने किले की ऊची मीनार पर चढकर एक बहुत बडा दीपक, जिसमे २॥ मन तेल डाला जाता था, स्वय अपने हाथो से जलाकर उसे प्रणाम करता था। गरीबो को मिठाई और गरम कपडे इस पवित्र अवसर पर बाटता था। फिर सारे नगर मे दीपक जलते थे।[3]

वी० ए० स्मिथ ने 'जैन टीचर आफ अकबर' प्रथम भाग पेज ३८६ पर लिखा है कि जैन साधुओ ने नि -सदेह अकबर को वर्षों तक अपने धर्म की शिक्षा दी जिसके प्रभाव से उसने जैन प्रभावना के इतने आचरण किये कि लोग यह समझने लगे कि अकबर बादशाह जैनी हो गया। पोर्चुगीज पादरी Pinheiro अकबर के राज्यकाल मे भारत आया था। अकबर के आचरणो और आज्ञाओ को देखकर उसने अपने बादशाह को ३ सितम्बर १५९५ को एक पत्र लिखा कि अकबर जैनधर्मानुयायी है—'He (Akbar) follows Jainism' प्रमाण तथा अकबर के सम्बन्ध मे अधिक जानने के लिये हमारा "शान्ति के अग्रदूत श्रीवर्धमान महावीर' देखें।

जहागीर—(१६०५ से १६२७) जैनसाधुओ का बडा सत्कार करता था। जैनाचार्य श्रीजिनसिंह के ज्ञान और चारित्र से प्रभावित होकर इसने उनको 'युगप्रधान' (ससार मे सबसे महान्) पदवी प्रदान की थी।[4] इसने जैन आचार्य हीरविजय सूरि, श्री विजयसेन और श्री जिनचन्द्र जी का बडा सम्मान किया।[5] जैन तीर्थों और इनके निकट



१ विस्तार के लिए 'उर्दू मिलाप' देहली (७-१२-६२) पृ० १३।

२ W H Marel in his article "The Value of money the Court of Akbar" in Journal of Royal Asiatic Society 1918 P P. 375 to 385 A V Smith also gave the rates in his 'Akbar' P 390 which are almost the same

३ बनारसीविलास (बम्बई सस्करण) प्रस्तावना।

४ New Indian Antiquary Vol I, P 520

५ जे० के० नरीमान सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' उर्दू दैनिक मिलाप कृष्ण न० अगस्त १९२५ पृ० २२।

जीवहिंसा न करने के आज्ञापत्र निकाले।[1] दस लक्षण जैन पर्व मे तो निरन्तर दस दिन तक समस्त राज्य मे हर प्रकार की हिंसा वद करदी थी।[2] जैन त्योहारो और पवित्र धार्मिक दिनो मे हत्या वद रहने का एक फरमान जहागीर ने १६०८ ई० मे प० विवेकहर्ष को दिया था।[3] जहागीर वडा दयालु और अहिंसाप्रेमी था।[4] अकवर ने जितने दिन पशु-वध न होने के बना रखे थे, जहागीर ने उन दिनो मे बढोतरी कर दी थी।

प० बनारसीदास जैन आध्यात्मिक कवि थे। उनके विरुद्ध एक दरवारी ने जहागीर से शिकायत की वह अपने जिनेन्द्र भगवान् के सिवाय और किसी को नमस्कार नही करते। जहागीर ने उनको नमस्कार करने को कहा तो उन्होने कहा—

जाके परभाव आगे भागे पर-भाव सब
नगर नवल सुख सागर की सीम है।
सवर का रूप धरै, साधे शिव-राह ऐसो,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है।

यह दोहा सुनकर जहागीर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा—"आपको मुझे नमस्कार, वदना या तसलीम करने की आवश्यकता नही।"[5]

भगवतीदास जैनजगत् के सुविख्यात कविवर जहागीर के ही समय हुए। यह बुडिया जिला अम्बाला के निवासी थे और देहली के भट्टारक श्री महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इन्होने जहागीर के समय सस्कृत और हिन्दी मे अनेक ग्रथो की रचना की।[6]

हीरानन्द देहली के निकट जहानाबाद के जैन विद्वान् थे। इन्होने जहागीर के राज्य मे पचास्तिकाय-टीका लिखी और समवसरणस्तोत्र, द्रव्यसग्रह और एकीभावना आदि अनेक रचनाए की।[7]

सेठ शान्तिदास ने शत्रु जयजी मे शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक विशाल मन्दिर वनवाया।[8] अहमदावाद गजटियर के अनुसार शान्तिनाथ का यह मन्दिर ऐतिहासिक है।[9]

अर्जुनदेव सिखो के पाचवे गुरु जहागीर के समय मे हुए। इन्होने 'श्री सुखमणी साहव' एक वडा उपयोगी ग्रन्थ रचा जिसके आरम्भ मे उन्होने लिखा "एक ॐकार सत्य गुरु प्रसाद" जिसका अर्थ देहली के प्रसिद्ध हिन्दूधर्मी मासिक पत्रिका "मार्तण्ड" ने मार्च १६६३ के पृ० ६ पर यह किया—"ओम् भगवान का नाम है जो सच्चे गुरु की उपासना से प्राप्त होता है। जो जन्म-मरण और आवागमन के दुखो से डरते है उन्हे सच्चे साधु की शरण लेना चाहिये।" गुरु महाराज राग-द्वेष त्याग कर ब्रह्म (आत्मिक) ज्ञानप्राप्ति की शिक्षा देते हुए कहते है—

"ब्रह्मज्ञानी सदा निलेप। जैसे जल मांही कमल अलेप॥

---

१ Jahangir forbidden hunting, fishing and other slautering of animals during the ten days of Parushan in his reign—Alfred Master I C S, Virnirvanday in London (W J M) P 4

२-३-४ 'कल्याण' गोरखपुर १९४५ पृ० २०४, २२५, २२६।

५ सन्मतिसदेश, जनवरी १६६७, पृ० ३२।

६ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० १०।

७ विस्तार के लिये सन्मतिसदेश (मई १६६६) पृ० २६।

८ Epigraphica India Vol II

९ According to Ahmedabad Gazetteer Vol III 1879, this Jain temple of Shantidas is Historical one most beautiful and worthseeing—Bombay Prant Ke Jain Smarak P 43

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें गुरु थे। इन्होंने दशम ग्रथ साहब की रचना की। जिसमें इन्होंने लिखा है कि जैनधर्म के स्थापक अर्हन्त देव (ऋषभदेव) थे। इस ग्रथ के श्लोक हमारे लेख में जो 'वाइस आफ अहिंसा' १९५७ के ऋषभदेव अक में छपे हैं, देखें।

ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है कि जहांगीर के राज्य में जैनमंदिर बने। लाहौर में सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का मंदिर इतना सुन्दर था कि जहाँगीर भी आकृष्ट हुए बिना न रह सके। विस्तार के लिये (अहिंसावाणी १९५९, पृ० २७७)। जैनधर्म के अनेक प्रसिद्ध ग्रथ और उनकी टीकाएं लिखी गईं। नग्न जैनमुनियों का विहार बिना किसी रोक-टोक के होता रहा। जैन रथयात्राउत्सव और अनेक जैनधर्म की प्रभावना के कार्य होते रहे जिनमें राज्य की ओर से सहयोग दिया जाता रहा।

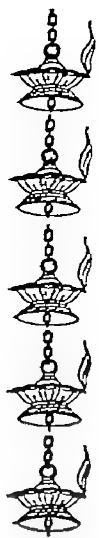
शाहजहां (१६२७-१६५८ ई०) जैनियों की सचाई, ईमानदारी और अहिंसामय आचरण से बड़ा प्रभावित था। इसने हिसार (पजाब) के जैन सेठ दीपचन्द को हिसार से देहली बुलवाया। रहने के लिये ८-५ बीघे भूमि तथा जामा, चादर, जोड़ा कलगी, खिलअत आदि प्रदान कर उनका बड़ा सम्मान किया। उन्हें अपने राज्य का प्रधान खजाची बनाया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाने की आज्ञा मांगी तो मंदिर के लिये बिना मूल्य भूमि दी और जैनमन्दिर के बनवाने में बड़ा सहयोग दिया। शाहजहां का एक सेनापति जैन था, जो जिनेन्द्र भगवान् का इतना भक्त और उपासक था कि लड़ाइयों में भी भगवान् का प्रतिबिम्ब साथ रखता था और फौजी कार्य आरम्भ करने से पहिले उसकी पूजा करता था। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर शाहजहां ने लाल किले के सामने स्वयं भूमिदान देकर २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाने की आज्ञा दी जो लाल किले के सामने लाल मंदिर कहलाता है और आज भी देखने योग्य है।[1] इसमें पार्श्वनाथ की १४९१ ई० की प्रतिष्ठित मूर्ति है।[2] शाहजहां भी जैन महाकवि प० बनारसीदास का बड़ा सम्मान करता था।[3] शाहजहां के राज्यकाल में जैन विद्वान् शालिवाहन ने आगरा में हरिवंशपुराण की रचना की।[4] शाहजहां के राज्य में ही देहली दरवाजे के निकट दि० जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।[5] सन् १६३५ ई० में जैन महाकवि प० रूपचन्द ने पाठ समवसरण की रचना की थी।[6] शाहजहां के पचहजारी उमराव और जाफर खां के दीवान (मन्त्री) अभयराज जैन थे। इनके पुत्र जगजीवन एक महाकवि थे जिन्होंने अनेक जैनग्रथों और कविताओं की रचना की।[7]

शाहजहाँ के राज्यकाल में दि० जैन नग्न साधुओं का आगमन और विहार हर स्थान पर बिना किसी रोक-टोक के होता था।[8] श्री जी० के० नारीमान सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' के अनुसार शाहजहां ने जीवहिंसा रोकने और जैनधर्म की प्रभावना के फरमान अकबर और जहांगीर से भी अधिक उपयोगी घोषित किये थे।[9] सेठ शान्तिदास ने अहमदाबाद में १६३८ ई० में करोड़ों रुपयों की लागत से ऐसा सुन्दर विशाल देखनेयोग्य अतिशयपूर्ण शान्तिनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाया जो आज चिन्तामणि मंदिर कहलाता है।[10]

औरंगजेब ने, जब वह राजकुमार था, लगभग १६४६ ई० में इस ऐतिहासिक जैनमन्दिर को मसजिद में



१-२ विस्तार के लिये 'नवभारत टाइम्स' देहली, १०-८-१९५२ पृ० ३।
३ बनारसीविलास (बम्बई सस्करण) प्रस्तावना।
४ जैन सिद्धांत भास्कर, वर्ष ६ पृ० १२६।
५ Delhi Jain Directory (Jain Sabha Delhi) P 10
६ List of Mohemadan and Hindu Monuments Vol I
७ जैन ग्रथ प्रशस्तिसग्रह पृ० १५।
८ वीर देहली (१-३-१९३२) अक ९ पृ० १५५।
९ उर्दू दैनिक मिलाप, देहली, कृष्ण न० अगस्त १९३९, पृ० ३६।
१० Archaeological Survey of India Report Vol XVI Cousing



जीवहिंसा न करने के आज्ञापत्र निकाले ।[1] दस लक्षण जैन पर्व में तो निरन्तर दस दिन तक समस्त राज्य में हर प्रकार की हिंसा बंद करदी थी ।[2] जैन त्यौहारों और पवित्र धार्मिक दिनों में हत्या बंद रहने का एक फरमान जहांगीर ने १६०८ ई० में पं० विवेकहर्ष का दिया था ।[3] जहांगीर बड़ा दयालु और अहिंसाप्रेमी था ।[4] अकबर ने जितने दिन पशु-वध न होने के बना रखे थे, जहांगीर ने उन दिनों में बढ़ोतरी कर दी थी ।

पं० बनारसीदास जैन आध्यात्मिक कवि थे । उनके विरुद्ध एक दरबारी ने जहांगीर से शिकायत की कि वह अपने जिनेन्द्र भगवान् के सिवाय और किसी को नमस्कार नहीं करते । जहांगीर ने उनको नमस्कार करने को कहा तो उन्होंने कहा—

जाके परभाव आगे भागे पर-भाव सब
नगर नवल सुख सागर की सीम है ।
संवर को रूप धरै, साधै शिव-राह ऐसो,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है ।

यह दोहा सुनकर जहांगीर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा—"आपको मुझे नमस्कार, वंदना या तसलीम करने की आवश्यकता नहीं ।"[5]

भगवतीदास जैनजगत् के सुविख्यात कविवर जहांगीर के ही समय हुए । यह बुड़िया जिला अम्बाला के निवासी थे और देहली के भट्टारक श्री महेन्द्रसेन के शिष्य थे । इन्होंने जहांगीर के समय संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की ।[6]

हीरानन्द देहली के निकट जहानाबाद के जैन विद्वान् थे । इन्होंने जहांगीर के राज्य में पंचास्तिकाय-टीका लिखी और समवसरणस्तोत्र, द्रव्यसंग्रह और एकीभावना आदि अनेक रचनाएं कीं ।[7]

सेठ शान्तिदास ने शत्रुंजयजी में शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक विशाल मन्दिर बनवाया ।[8] अहमदाबाद गजटियर के अनुसार शान्तिनाथ का यह मन्दिर ऐतिहासिक है ।[9]

अर्जुनदेव सिखों के पांचवें गुरु जहांगीर के समय में हुए । इन्होंने 'श्री सुखमणी साहब' एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ रचा जिसके आरम्भ में उन्होंने लिखा "एक ॐकार सत्य गुरु प्रसाद" जिसका अर्थ देहली के प्रसिद्ध हिन्दूधर्मी मासिक पत्रिका "मार्तण्ड" ने मार्च १९६३ के पृ० ६ पर यह किया—"ओम् भगवान का नाम है जो सच्चे गुरु की उपासना से प्राप्त होता है । जो जन्म-मरण और आवागमन के दुःखों से डरते हैं उन्हें सच्चे साधु की शरण लेना चाहिये ।" गुरु महाराज राग-द्वेष त्याग कर ब्रह्म (आत्मिक) ज्ञानप्राप्ति की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप । जैसे जल मांही कमल अलेप ।।

---

१ Jahangir forbidden hunting, fishing and other slautering of animals during the ten days of Parushan in his reign—Alfred Master I C S, Virnirvanday in London (W.J M) P 4

२-३-४ 'कल्याण' गोरखपुर १९४५ पृ० २०४, २२५, २२६ ।

५ सन्मतिसंदेश, जनवरी १९६७, पृ० ३२ ।

६ देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० १० ।

७ विस्तार के लिये सन्मतिसंदेश (मई १९६६) पृ० २९ ।

८ Epigraphica India Vol II

९. According to Ahmedabad Gazetteer Vol III 1879, this Jain temple of Shantidas is Historical one most beautiful and worthseeing—Bombay Prant Ke Jain Smarak P 43

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें गुरु थे। इन्होंने दशम ग्रंथ साहब की रचना की। जिसमें इन्होंने लिखा है कि जैनधर्म के स्थापक अर्हन्त देव (ऋषभदेव) थे। उस ग्रंथ के श्लोक हमारे लेख में जो 'वाइस आफ अहिंसा' १९५७ के ऋषभदेव अंक में छपे हैं, देखें।

ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है कि जहांगीर के राज्य में जैनमंदिर बने। लाहौर में सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का मंदिर इतना सुन्दर था कि जहांगीर भी आकृष्ट हुए बिना न रह सके। विस्तार के लिये (अहिंसावाणी १९५६, पृ० २७७)। जैनधर्म के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ और उनकी टीकाएं लिखी गईं। नग्न जैनमुनियों का विहार बिना किसी रोक-टोक के होता रहा। जैन रथयात्रा उत्सव और अनेक जैनधर्म की प्रभावना के कार्य होते रहे जिनमें राज्य की ओर से सहयोग दिया जाता रहा।

शाहजहां (१६२७-१६५८ ई०) जैनियों की सचाई, ईमानदारी और अहिंसामय आचरण से बड़ा प्रभावित था। इसने हिसार (पंजाब) के जैन सेठ दीपचन्द को हिसार से देहली बुलवाया। रहने के लिये ४-५ बीघे भूमि तथा जामा, चादर, जोड़ा कलगी, खिलअत आदि प्रदान कर उनका बड़ा सम्मान किया। उन्हें अपने राज्य का प्रधान खजाची बनाया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाने की आज्ञा मांगी तो मंदिर के लिये बिना मूल्य भूमि दी और जैनमन्दिर के बनवाने में बड़ा सहयोग दिया। शाहजहां का एक सेनापति जैन था, जो जिनेन्द्र भगवान् का इतना भक्त और उपासक था कि लड़ाइयों में भी भगवान् का प्रतिबिम्ब साथ रखता था और फौजी कार्य आरम्भ करने से पहिले उसकी पूजा करता था। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर शाहजहां ने लाल किले के सामने स्वयं भूमिदान देकर २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाने की आज्ञा दी जो लाल किले के सामने लाल मंदिर कहलाता है और आज भी देखने योग्य है।[1] इसमें पार्श्वनाथ की १४९१ ई० की प्रतिष्ठित मूर्ति है।[2] शाहजहां भी जैन महाकवि पं० बनारसीदास का बड़ा सम्मान करता था।[3] शाहजहां के राज्यकाल में जैन विद्वान् शालिवाहन ने आगरा में हरिवंशपुराण की रचना की।[4] शाहजहां के राज्य में ही देहली दरवाजे के निकट दि० जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।[5] सन् १६३५ ई० में जैन महाकवि पं० रूपचन्द ने पाठ समवसरण की रचना की थी।[6] शाहजहां के पंचहजारी उमराव और जाफर खां के दीवान (मन्त्री) अभयराज जैन थे। इनके पुत्र जगजीवन एक महाकवि थे जिन्होंने अनेक जैनग्रंथों और कविताओं की रचना की।[7]

शाहजहाँ के राज्यकाल में दि० जैन नग्न साधुओं का आगमन और विहार हर स्थान पर बिना किसी रोक-टोक के होता था।[8] श्री जी० के० नारीमान सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' के अनुसार शाहजहां ने जीवहिंसा रोकने और जैनधर्म की प्रभावना के फरमान अकबर और जहांगीर से भी अधिक उपयोगी घोषित किये थे।[9] सेठ शान्तिदास ने अहमदाबाद में १६३८ ई० में करोड़ों रुपयों की लागत से ऐसा सुन्दर विशाल देखनेयोग्य अतिशयपूर्ण शान्तिनाथ भगवान् का जैनमंदिर बनवाया जो आज चिन्तामणि मंदिर कहलाता है।[10]

औरंगजेब ने, जब वह राजकुमार था, लगभग १६४६ ई० में इस ऐतिहासिक जैनमन्दिर को मसजिद में



१-२ विस्तार के लिये 'नवभारत टाइम्स' देहली, १०-८-१९५२ पृ० ३।
३ बनारसीविलास (बम्बई संस्करण) प्रस्तावना।
४ जैन सिद्धांत भास्कर, वर्ष ६ पृ० १२६।
५ Delhi Jain Directory (Jain Sabha Delhi) P 10
६ List of Mohemadan and Hindu Monuments Vol I
७ जैन ग्रंथ प्रशस्तिसंग्रह पृ० १५।
८ वीर देहली (१-३-१९३२) अंक ९ पृ० १५५।
९ उर्दू दैनिक मिलाप, देहली, कृष्ण नं० अगस्त १९३६, पृ० ३६।
१० Archaeological Survey of India Report Vol XVI Cousing

बदल दिया तो जैनियों ने शाहजहां को शिकायत की तो वह औरंगजेब से नाराज हुआ और उसके इस काम की निन्दा करते हुए फिर से पहले के समान आकर्षक मन्दिर बनाने की आज्ञा दी और उसके बनवाने का सब खर्च शाही खजाने से किया गया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति अपनी आज्ञा से विराजमान कराई।[1]

शाहजहां को हीरों की बड़ी परख थी। बढ़िया से बढ़िया हीरे जवाहरात, मोती-पन्ने उसके खजाने में थे। उसने सात मन बढ़िया हीरे, जवाहरात, लाल, जमुरद, मोती और ४० मन सोने से एक तख्त ५३ करोड़ रुपयों से राज्य के सर्वोत्तम कलाकारों द्वारा रात-दिन परिश्रम करवा कर सात साल में मोर की शक्ल के समान बनवाया। मोर को फारसी में ताऊस कहते हैं। इसलिये उस मोर के समान शक्ल वाले तख्त को तख्त-ऐ-ताऊस कहते हैं।[2]

राजा जुझारसिंह शाहजहां के समय बुन्देलखण्ड का राजा था जो जैनधर्मी और बड़ा वीर था। उसकी वीरता से खुश होकर शाहजहां ने उसे दक्षिण का शासक बना दिया था और खिलअत भी प्रदान की थी। इसका विश्वास था कि न्याय वह है जिसको प्रजा न्याय कहे। इसलिये वह सदा प्रजा को खुश रखता था।[3]

लोगों का अनुमान है कि आगरा का रोजा ताजमहल शाहजहां का बनवाया हुआ है परन्तु अनेक विद्वानों की नई खोजों से यह विश्वास हो गया है कि वह एक राजपूत राजा का महल था। आपकी जानकारी के लिये हम केवल श्री पी० एन० ओक के लेख का उद्धरण देते हैं। उनके अपने शब्दों में—

"New direct three fold evidence is available to prove conclusively that the famous Taj Mahal is intact nothing more and nothing less than a Hindu palace —

(I) Shahjahan's "Badshah Nama"—a court chronicle written at his own command Mulla Abdul Hamid Laheri unambiguously admit on Page 403 of its Vol I Mansingh's Manzil (Palace) was chosen for Mumtaz's burial"

(II) Mr Narul Hasan Siddiqui's book 'The City Of Taj says on page 31 that it was Man Singh's Palace which Jai Singh was made to hand over for Mumtaz's Burial in exchange of which says the book he was given a lofty edifice by Shahjahan

(III) French "Tavernier' who was a visitor to Shahjahan's Court has recorded on Page 14 of his Travels in India translated by Dr V. Ball Published by Macmillan & Co. London (1889) the cost of the scaffolding was more of the entire work (of manusoleum) Had Shahjahan built the edifice, the cost of Scaffolding would have formed an infinitesimal part of entire expenditure But since he took over a ready lofty Palace all he had to do was to errect a costly scaffolding"[4]

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) यह सत्य है कि वह बहुत मुतास्सिब (कट्टर) था। ऐसा करने से उसने इस्लाम की सच्ची सेवा करने के स्थान पर अपने राज्य को कमजोर बना लिया परन्तु अपनी सचाई, ईमानदारी और

---

१ Bombay Prant Ke Smarak P. 6

२. दैनिक 'उर्दू मिलाप' देहली (१२-६-६५) पृ० ३।

३ नौनिधि (प्रेमचन्द) सरस्वती प्रेस, वाराणसी पृ० ३।

४ For details see Organiser, Delhi, June 11, 1967 P 6

चरित्रबल के कारण जैनधर्म इस भयानक समय में भी फूलता-फलता रहा।[1] डा० बर्नियर औरंगजेब के राज्यकाल में भारत आया। उसका कहना है कि "मैंने नग्न मुनियों को बड़े शहरों में विहार करते देखा। स्त्रियाँ व लड़कियाँ तक उनके बिना किसी रोकटोक के दर्शन करती थीं।[2] इसके राज्यकाल में रथ-यात्राएं निकलीं, जैनमंदिर बने, जैन धार्मिक-ग्रंथों की रचनाएं हुईं। जैन मुनियों और जैन विद्वानों का औरंगजेब सत्कार करता था। जी० के० नारीमान, सम्पादक 'बम्बई क्रानिकल' के शब्दों में औरंगजेब ने जैनियों के तीर्थस्थानों पर हर प्रकार की जीवहिंसा न किये जाने के फरमान जारी कर रखे थे।

सेठ शान्तिदास जौहरी अहमदनगर का जैनधर्मी और जिनेन्द्र भगवान् का श्रद्धालु उपासक था। वह नगर-सेठ था। औरंगजेब ने इसे अपना दरबारी बनाया था।[3]

अरुण मणिजी जैन आचार्य ने इनके समय १६५६ ई० में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की जीवनी—अजितनाथ पुराण की रचना की।[4]

जगतराम एक बहुत बड़े जैन विद्वान् थे। यह कवि भी थे। उन्होंने भी इनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं कीं।[5]

पं० बनारसीदास जी का औरंगजेब ने विशेष सत्कार किया था। इन्होंने भी इनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं की थीं।

पं० विनोदीलाल ने इनके राज्यकाल में जैन मुनि श्रीविश्वभूषण जी के भक्तामर की संस्कृतटीका वि० सं० १७४६ में रची थी। उसमें उन्होंने आँखों देखा हाल लिखा कि औरंगजेब के राज्य में जैनियों को जिनेन्द्रभक्ति (मूर्ति-पूजन) आदि क्रियाओं की स्वतंत्रता थी।[6]

औरंगजेब के समय १६८६ में चाँदखेड़ी जिला कोटा (राजस्थान) में भगवान् महावीर का मन्दिर बनाया गया। पंचकल्याणक पूजा हुई। रथयात्रा निकली। प्रतिबिम्ब की स्थापना हुई।[7] प्रो० रामास्वामी आयंगर के शब्दों में जैनियों के चरित्र, त्याग, विद्या और ज्ञान इतना अनुपम था कि उन्होंने अल्लाउद्दीन खिलजी और औरंगजेब जैसे पक्के मुसलमान बादशाहों में भी सम्मान प्राप्त किया था।[8]

---

१ Although Aurangzeb was famous for his despotism the profound learning and vigarous feelings to do good to mankind at large, the Jain saints so much affected the heart of the despotic emperor that he was in clind to entertain and honour their chiefs

२ I have seen them (Naked Saints) walk start naked through a large town, women and girls looking at them without any more emotion, females often bring them alms with devotion—Dr Benior's Travels the Mugal Empire p 317

३ Aurangzeb oppointed Johari Shantidas, Jain, jeweller of Gujarat as one of his Darbari—Der Jainis Mus P 67

४ अरुणमणिकृत अजितपुराण श्लो० ४०-४१।

५ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' (१६६४) पृ० १३३।

६ विनोदीलाल कृत भक्तामर स्तोत्र श्लोक ३६, ४०, ४२।

७. Jainism in Rajasthan, P 36

८ Jainacharyas by their charactor, attainment and scholarship commended the respect of even Mohammaden sovereigns like Allauddin Khilji and Aurang Padasha (Aurangzeb)—Studies in South Indian Jainism Vol II, P 132



लालकिले के सामने लाल जैन मदिर के नौबतखाने मे प्रतिदिन नगाडा बजा करता था। शाहजहा को तो उसमे कोई आपत्ति न थी लेकिन औरगजेब मुतासब था। उसने यह कहकर कि इसके शोर से सरकारी काम मे बाधा होती है नगाडा बन्द करने की आज्ञा दे दी। उसकी आज्ञा के अनुसार नगाडा नही बजाया गया तो भी नगाडा बराबर बजता रहा। पता चलने पर औरगजेब स्वय जैन मन्दिर मे आए और स्वय अपनी आँखो से बिना बजाये अपने आप नगाडा बजते देखकर चकित रह गये। तुरन्त अपना पहला हुक्म वापिस लेकर सदा के लिये जैन मदिर में नगाडा बजाने की आज्ञा दे दी।[1]

गुरु अर्जुनदेव ने ग्रथ साहब की रचना इसी समय की। इनको मुसलमान बनने को कहा। इनके इन्कार पर इनके नगे शरीर पर भडभूजे की भट्टी मे गर्म रेत डलवा कर अत्यन्त भारी कष्ट दिया। धन्य है इस वीर को, दो दिन के जीवन की लालसा मे धर्म नही छोडा।

गुरु तेग बहादुर से कश्मीर के ब्राह्मणो न फरियाद की कि शेर अफगान खाँ जबरदस्ती हमे मुसलमान बनाना चाहता है। उन्होने कहा कि समय एक महापुरुष की बलि चाहता है। उनके पुत्र गोविन्दसिंह ने कहा कि आप से अधिक महापुरुष इस समय कौन है? गुरुजी ने कहा "उसे कह दो कि गुरुजी मुसलमान हो जायेंगे तो हम सब हो जायेंगे।" औरगजेब ने गुरुजी को देहली बुलाया। वीर तेगबहादुर मृत्युदण्ड भुगतने को तैयार हो गये मगर धर्म न छोडा। इनकी याद मे ही चादनी चौक देहली का गुरुद्वारा आज तक शीशगज कहलाता है। इसने सरहन्द के नवाब द्वारा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र फतेहसिंह और जोरावरसिंह का जीवित दीवार मे चुनवा दिया परन्तु वे वीर बालक अपने पिता और पितामह के समान धर्म पर सुदृढ रहे। सियालकोट के वीर बालक हकीकत राय का सर काट दिया परन्तु वह धर्म पर स्थिर रहा। यह अत्याचार और महापुरुषो का बलिदान कब खाली जा सकता है? परिणाम यह हुआ कि जनता मे उसके विरुद्ध नफरत पैदा हो गई और मुगल साम्राज्य समाप्त-सा ही हो गया।

बहादुरशाह (१७०७ से १७१२ ई०) के समय अनेक जैन मदिर बने, रथयात्रा उत्सव निकले। जैनियो को धार्मिक कार्यों मे कोई बाधा नही आई। इसके बाद एक साल जहाँदार शाह ने १७१२-१७१३ ई० तक राज्य किया।

फरुख बहादुर (१७१३ से १७१८ ई०) के शाही खजाची घासीराम जैन थे, जिन्होने देहली मे कूचा घासीराम बसाया। इन्होने जैनधर्म की प्रभावना की। रामचन्द्र छावडा ने जैनमदिर बनवाया। १७८६ ई० में श्वेताम्बर जैनमदिर का निर्माण हुआ।

मोहम्मद शाह (१७१९ से १७४८ ई०) अहिंसाधर्मी था और जैनियो को बडा आदर करता था। इसके राज्यकाल मे १७४६ मे जैन विद्वान प० रामचन्द्र ने आदि—(ऋषभदेव) पुराण की प्रतिलिपि लिखी जो आज भी धर्मपुरा देहली के पचायती दि० जैनमन्दिर मे सुरक्षित है। मोहम्मद शाह के शाही खजाची हिसार (पजाब) के राजा हरसुखराय ने धर्मपुरा मे एक बडा सुन्दर जैनमन्दिर बनवाया जिसकी वेदी के सन्मुख सिंहयुगल की पच्चीकारी का काम आगरे के ताजमहल से भी अधिक बारीक और उत्तम है। सिंहो की मूछो के बाल अलग-अलग पत्थरो से अकित करने का कार्य तो नि सदेह ही उत्तम है। राजा हरसुखराय और उनके पुत्र सेठ सुगनचन्द ने अनेक स्थानो पर ५७ जैनमन्दिर बनवाये।[2]

सहारनपुर मे मोहम्मद शाह का स्थानीय नवाब—मोहल्ला सध्यान मे मसजिद बनवा रहा था और मना करने पर भी न माना। मोहल्ले के लोग बादशाह से मिले। उसने आज्ञा दी कि मसजिद के स्थान पर पार्श्वनाथ का दि०

---

१ नवभारत टाइम्स देहली, ता० १०-८-१९५९ पृ० ३।
२ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अप्रैल, १९३९।

जैनमंदिर सरकारी खर्च पर बनेगा। चुनाचे मोहल्ला मघ्यान का मंदिर ऐतिहासिक मंदिर है और मुगल सम्राट् के खर्च से बना, आज भी देखने योग्य है।[1]

छत्रसाल बुन्देलखण्ड के नरेश जैनधर्मी थे। बड़े योद्धा और अहिंसाप्रेमी थे। उनको ८५ साल का बूढ़ा जानकर मोहम्मद शाह ने उन पर आक्रमण कर दिया। देशरक्षा में जैन सम्राट् कब पीछे रह सकता था? बीमार तथा बूढ़े होने पर भी सेना ले स्वयं रणभूमि में पहुंचे और इस वीरता से लड़े कि सम्राट् का सेनापति मुहम्मद खाँ मैदान छोड़कर भागा। वीर छत्रसाल ने उसका पीछा करके घेर लिया, यह विश्वास दिलाकर कि फिर आपके देश पर आक्रमण नहीं करूंगा, जैन सम्राट् ने सन्धि करनी पड़ी।[2]

अहमदशाह (१७४८-१७५४ ई०) के समय अनेक जैनमंदिर बने, रथयात्रा उत्सव देहली आदि अनेक स्थानों पर हुए।[3] १७५१ में जयपुरनरेश के मंत्री रामचन्द्र छाबड़ा ने जैनमंदिर बनवाया।

आलमगीर द्वितीय १७५४ से १७५७ ई० के शासनकाल में ईरान के करोड़पति व्यापारी सरमद, ठट्ठा (सिंध) आए। ठट्ठा में उनकी भेंट जैन मुनि श्री अभयचन्द्रजी से हुई जिनके चारित्र और उपदेश से प्रभावित होकर वह करोड़ों की सम्पत्ति गरीबों में बांटकर जैनधर्मानुरागी हो गये। जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करने से उन्हें सत्य का पता चल गया और समस्त संसारी वस्तुएं त्यागकर नग्न दि० जैन साधु हो गये। आलमगीर ने कहा कि तुम जैनधर्म त्यागकर फिर इस्लाम स्वीकार कर लो वरना तुम्हारी जीवित ही खाल खिंचवा ली जाएगी। सरमद ने कहा - शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है। फिर इससे मोह क्या? अनादि काल से शरीर ही शरीर मिलते रहे हैं। इस भावना से कि वह दिन आवे, मैं जन्म-मरण और शारीरिक पराधीनता से मुक्त होऊँ, मैंने जैनधर्म धारा है। फिर शरीर का मोह? ऐसे पवित्र और अविनाशी सुख के द्वार को कैसे छोड़ दूं? आलमगीर ने क्रोध में आकर जीवित ही उसके शरीर की खाल खींचने की आज्ञा दी। धन्य है इस अहिंसा और त्याग की सच्ची मूर्ति को कि जल्लाद उनके जीवित शरीर की खाल उतार रहा था परन्तु सरमद के चेहरे पर मुस्कुराहट थी।[4]

अभयचन्द्र जैनाचार्य की वाणी में वह जादू था कि सैकड़ों अजैन उनके उपदेश से प्रभावित होकर जैन हो गये। यह उनके ही उपदेश का फल था कि एक विदेशी यहूदी अपनी आत्मा की शक्ति को शरीर से भिन्न जानकर करोड़ों की सम्पत्ति और हर प्रकार की सांसारिक भोगसामग्री प्राप्त होने पर भी स्वयं इच्छा से त्यागकर साधु हो गये और इतनी दृढ़ श्रद्धा प्राप्त की कि जीवन बलिदान कर दिया परन्तु जैनधर्म न छोड़ा। जीवित शरीर की खाल खींचे जाने पर 'सी' तक नहीं की। दुःख तो अपने मन में है। जिसे विश्वास हो गया यह वस्तु मेरी नहीं, उसे उसके नष्ट होने का क्या दुःख? यही निज-पर का भेद सम्यग्दर्शन है जिसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष असंभव है।

बहुत ही संक्षेप में, अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं अनेक महापुरुषों का वर्णन न करने पर भी लेख लम्बा हो गया। जिसके लिए हम पाठकों से क्षमायाचना करते हैं।

•



१ विस्तार के लिये 'सन्मतिसंदेश', मई १९६०।
२ 'धर्मयुग' (बम्बई), १८ अप्रैल १९६५, पृ० ५०।
३ देहली रथ यात्रा।
४ श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे, सम्पादक 'विश्ववाणी', इलाहाबाद 'सन्मति सन्देश' (अप्रैल १९६३ ई०) पृ० ५-६।

मालव भूमि के दो आचार्य : कालिदास और वात्स्यायन

पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास
उज्जैन



सस्कृत साहित्य-रसिको के लिए कामशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् आचार्य वात्स्यायन का नाम सुविदित ही है। उनका ग्रन्थ कामसूत्र अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ एव मार्मिक है। उसकी समता की कोई अन्य रचना कामशास्त्र पर नही हुई है। यह रचना वैज्ञानिक है। मानव-मनोविज्ञान का जिस सूक्ष्मता और गहराई से लेखक ने अध्ययन किया है और सूत्रो मे उसका जैसा निचोड प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अप्रतिम ही है। वात्स्यायन ने और गन्थ भी निर्मित किए है। किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण तथा अमरकृति कामसूत्र ही है। वैसे कामसूत्र के पूर्व भी उक्त विषय पर ग्रन्थ लिखे गये है। कामसूत्र मे उनका उल्लेख भी किया गया है, पर आज वे ग्रन्थ या तो अप्राप्य है या लुप्त हो गये है। वात्स्यायन कहा का निवासी था, उसका कार्यक्षेत्र कहा था, यह विद्वानो मे विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ समय पूर्व बिहार के एक विद्वान ने लिखा था, सम्भवत यह पश्चिम भारत का निवासी था। उसे अवती की राजनगरी उज्जैन का निवासी बतलाया था।

अवश्य ही कुछ शुग-विक्रम काल गुप्त एव परमार प्रभुत्व मे अवती विद्या एव वैभव की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रही है। ज्ञान-विज्ञान की प्रचण्ड-धारा वहा प्रवाहित होती रही है। अनेक विषयो का अवती मे प्रणयन हुआ है। भारतीय-साहित्य-सस्कृति को अवन्ती की अमर देन रही है।

बेक्ट्रिया और उत्तर-पश्चिम भारत से सबसे बडे बन्दरगाह भृगुकच्छ तक जाने वाले व्यापार के समस्त राजमार्ग उज्जैन से होकर ही निकलते थे। इस कारण उज्जैन उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगरो से सम्बन्धित रहा है। इस कारण भी उसकी सम्पन्नता और समुन्नति स्वाभाविक थी। ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न नगर मे विलासोपभोग, रसिकता का रहना स्वाभाविक ही है। वात्स्यायन ने जिन लोगो का अपने ग्रन्थ मे विस्तार से वर्णन किया है, वह तत्कालीन उज्जैन के अनुकूल ही है। अवश्य ही उज्जैन का जनजीवन रम-विलासितामय रहा है। विलासोन्माद में उसने कभी कभी अपने शौर्य और पौरुष को भी एकान्त मे ढकेल दिया था, यह शूद्रक के नाटक से प्रतीत होता है कि उसमे जिस राज्यक्रान्ति का सकेत दिया है उसकी पृष्ठभूमि में विलासिता ही रही है। वाण, कालिदास तथा जैन-साहित्य की कालक कथा से भी इसका समथन होता है। कालिदास के काव्य के निम्न उद्धरणो से भी यही ध्वनित होता है —

य पण्यस्त्रीरतिपरिमलगोरिभिर्नागराणाम्।
सुरतग्लानिमगानुकूल शिप्रावात ॥

तथा

दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानि, आदि।

अवन्ती की परम सुन्दरी वसन्तसेना तो साहित्य मे भी अमर बनी हुई है, यद्यपि वह वेश्या थी, किन्तु उसका कला के अतिरिक्त पण्य-स्त्री का रूप नही है। वह राज के जैसे सम्पन्न का शिकार न बन दरिद्र-चारुदत्त के चरणो मे न्यौछावर हो गई और एक राज्यक्रान्ति का कारण बन जाती है, इसी प्रकार पद्म प्राकृतक और पाद जैसे

भाणो से भी यहां की विलासिता का चित्र दिखाई देता है। वात्स्यायन ने मालव प्रदेश की मनोवृत्ति, रहन-सहन, वेष-भूषा का जो चित्र अंकित किया है उससे विदित होता है कि वह प्रदेश के अन्तरंग से सुपरिचित था।

वात्स्यायन ने कालिदास की चर्चा की है और कवि सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। इसलिए कालिदास, सुबन्धु पूर्ववर्ती है, स्पष्ट ही द्वितीय चन्द्रगुप्त के ये पूर्व हुए हैं। कुछ विद्वान् वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना को दूसरी शती के मध्य की रचना मानते हैं। कामसूत्र मे जिस सामाजिक स्थिति का चित्रण किया है वह भी यही प्रमाणित करता है। इसी आचार्य का न्यायसूत्र भाष्य भी है। एक अन्य स्थल मे पुरुष-सामुद्रिक ग्रन्थ निर्मित करने का भी उल्लेख मिलता है। वाचस्पति तथा हेमचन्द्र ने वात्स्यायन को 'पक्षिल स्वामी' नाम से भी ज्ञापित किया है, सर्वदर्शन-संग्रह मे भी यही नाम बतलाया है।

वात्स्यायन ने पातञ्जलि और कौटिल्य के उद्धरण दिये है, इससे तीसरी शती का प्रतीत होता है।

पक्षिल स्वामी नाम के कारण कुछ लोगो ने द्रविड समझने की सम्भावना मानी है। द्रविडों के आहार-विहार की भी कामसूत्र मे चर्चा हुई है किन्तु वात्स्यायन ने सभी प्रान्तो के मानव स्वभाव का, रहन-सहन का वर्णन किया है, अन्यथा सार्वदेशिक विषय का वर्णन कैसे कर सकता था।

वात्स्यायन ने जिस प्रकार के शासन और सत्ताओ का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मालव गणराज्य का निवासी होना चाहिए। इसने जनमत के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार वात्स्यायन के विधानों पर कौटिल्य का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, उसी प्रकार पातञ्जलि के महाकाव्य के उद्धरणो का उपयोग करने के कारण यह प्रतीत होता है कि ई०स० पूर्व १५० वर्ष के पश्चात् निकटवर्ती काल मे रहा है। दूसरे भास के नाटकों में जिस तरह के समाज का चित्र अंकित हुआ है वात्स्यायन मे भी वैसे ही मिलता है। वात्स्यायन ने अवि-मारक की कथा का उल्लेख किया है। उससे भास के परवर्ती काल मे होना चाहिए। कालिदास ने भी स्पष्ट ही भास का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वात्स्यायन ने यह कहा है कि शकुन्तला की तरह अन्य कुमारिकाओ की बात कह कर अपनी पसदगी के अनुरूप किस प्रकार सुखी बन सकी आदि।

(पश्यान्य आदिसमानजातीया कन्या) शकुन्तलाया स्वबुध्या
भर्तार प्राप्य सप्रयुक्ता मोदन्तेस्म नास्वात्या निदर्शयेत् (पृ० २७८)

इससे विदित होता है कि जिस प्रकार अविमारक-प्रणेता भास मे वह परिचित है, उसी प्रकार शाकुतल निर्माता कालिदास मे भी वह परिचित है। शकुन्तला का वृत्त महाभारत मे प्रसिद्ध है, किन्तु अविमारक का भी उसी प्रकार है। परन्तु दोनो ही नाटक रूप मे जनप्रिय बनकर प्रभावक अधिक बने हैं।



कालिदास और वात्स्यायन का अवश्य ही अधिक सम्बन्ध होना चाहिए, कालिदास ने रघुवश मे कामासक्त अग्निवर्ण की विलासिता का जैसा वर्णन किया है, ठीक वैसी ही व्याख्या कामसूत्र मे प्राप्त होती है। यही नही शब्द-प्रयोगों मे भी साम्य है। सोलहवें श्लोक में कवि ने जिसे 'सधाम' शब्द का प्रयोग किया है, उसी का विशेष प्रतिमधाम (कामसूत्र ३२७) तथा इसी अर्थ मे प्रयोग वात्स्यायन ने किया है और उसी सर्ग के ३१वे श्लोक में भी देखिए—

मित्रकृत्यमपदिश्य पाश्वर्त ।
प्रस्थित तमनवस्थित प्रिया । (१९-३१ रघु)

वात्स्यायन ने भी अपने प्रेमी को जो विरक्त बन रहा है किस प्रकार पहचाना जावे, उसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

मित्रकुटममपदिश्य अन्यत्र शते । (३२३)

इमी प्रकार अज और इदुमति के विवाह का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है—

आसीद्वर कटकितप्रकोष्ठ ।
स्विन्नागुलि सववृत्ते कुमारी ।

अर्थात् जब अज ने इदुमति का पाणिग्रहण किया तब अज के हाथो मे रामाच हो उठा, और इन्दुमति की अगुलिया पसीनें से भर गयी थी ।

वात्स्यायन ने ऐसे ही प्रसग पर वही शब्द प्रयुक्त किये हैं—

कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नागुलिवन्नत मुखी च भवति पुरुषस्तु रोमाचितो भवति

दूसरी जगह कालिदास ने इमी बात को थोडा पलट कर कहा है—

रोमोद्गम प्रादुरभूदुमाया ।
स्विन्नागुलि पुगवकेतुरासीत् ।। (कुमार सभव)

कामसूत्र निर्माता ने महाकवि के स्वाभाविक-मनोवैज्ञानिक वर्णन को सामने रख कर ही अपनी व्याख्या वर्णित की होगी । यदि कवि ने वात्स्यायन की व्याख्या को लक्ष्य मे रख कर यह प्रयोग किया होता तो रघुवश और कुमारसभव मे विभिन्नता नही करता । इसमे यही स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन ही पर महाकवि का प्रभाव है ।

और भी देखिए—कालिदास की शकुतला का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने ।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपगम ।।

शाकुन्तल के इस श्लोक के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण की सूचनाओ का वात्स्यायन ने अपने सूत्रो में स्पष्ट उपयोग किया है, जो सर्वथा समानार्थक है । श्लोक के प्रथम दो चरणो का भाव ग्रहण किया है और तीसरे चरण का तो शब्दश उपयोग किया है । वात्स्यायन का वह सूत्र इम प्रकार है—

श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता
भोगेष्वनुत्सेक, परिजने दाक्षिण्य । (कामसूत्र पृ० २३०)

तीसरे प्रकरण के भार्याधिकरण स्तम्भ मे कामसूत्रकार ने सपत्नी के सम्बन्ध में लिखा है—

नायकापचारेषु किंचित् कलुषिता नात्यर्थं निर्वदेत्। साधिक्षेपवचनत्वेन ।
मित्रजनमध्यस्यमेकाकिन वाप्युपालभेत नच मूलकारिकास्यात् । (पृ० २२७)

शाकुन्तल के पचम अक में एक स्थान पर दुष्यन्त ने कहा है—

नागरिकवृत्या सज्ञापयैनाम् ।

ठीक उमी प्रकार और इमी अर्थ मे कामसूत्र मे 'नागरकवृत्तम्' विवरण प्रस्तुत किया है ।

शाकुन्तल के प्रथम अक की कुछ बातो का वात्स्यायन के 'कन्याविस्म्रभ प्रकरण' से बहुत अधिक साम्य है ।

"जिम समय किसी तरुणी को यह पता चल जाये कि कोई युवक उसका प्रणय प्राप्त करने को उत्सुक है, तब वह दोनो ओर की परिचिता सखियो द्वारा सदेश व्यवहार आरम्भ करे । उस समय निम्न-मुखी बन मदस्मित करे, सखी द्वारा अतिशयोक्ति करने पर रोष प्रकट करे, झगड पडे, तब सखी कहे कि 'उमी ने तो कहा था ।' और जब

सखी एक ओर निकल जावे तथा प्रियतम के सभाषण का अवसर मिले, तब कुछ न बोले और प्रिय के अत्यधिक आग्रह पर कहे कि 'बाद में ऐसी बात कभी नहीं कर सकती' उस समय तिरछी नजरो से देखती जाए, तथा मदस्मित करे' (कामसूत्र १९८)।

मानो यह प्रियंवदा और अनुसूया मे ही विवाद चल रहा है, तथा दुष्यन्त के साथ इसकी परिणति हो रही है, यह कालिदास के शाकुन्तल को जैसे देख कर ही लिखा गया हो।

वात्स्यायन प्रथम शती का है। वह अपने समय की अवन्ती (उज्जयिनी) को मालव देश मे मानता है। अर्थात् प्रथम शती में अवन्ती को मालव समझा जाता था। जो लोग यह मानते है कि मालव पजाब से आए और ५-६ठी शती मे इस प्रदेश को मालव कहा गया है उनका वात्स्यायन का यह कथन कि—

आवन्तिका उज्जयिनी-देशभवा स एव अपरमालव्या (कामसूत्र १०७) आवन्तिक-उज्जयिनी मे रहनेवाले जो लोग है वे ही अपर-मालव हैं।

वात्स्यायन के अनेक उल्लेखो से, समाज के चित्राकनो से यही ज्ञात होता है कि वह मालव का था। सभवत शुग काल के अन्तिम काल मे रहा है।

शुग के अन्तिम नरेशो के चरित्र-पतन आदि का दृश्य उसका जाना हुआ होना चाहिए, क्योकि ऐसे नरेशो की उसमे आलोचना की है। और गण-शासन को महत्त्व दिया है। सभवत शुगोत्तर-मालव-गण का नागरिक रहा हो। नागरिक जीवन के वर्णन से भी यही प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने देश की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का जैसा वर्णन किया है ठीक वही कालिदास के काव्यो और नाटको से मिलता है। जिस युग के नागरिको का सुखमय, कला-विलासपूर्ण जीवन वात्स्यायन ने देखा है अथवा अकित किया है, कालिदास के साहित्य मे उससे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

वासवदत्ता के निर्माता सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। सुबन्धु स्पष्ट ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व हुआ है। इसके उल्लेख तथा कालिदास के शब्दार्थ साम्य रखने वाले उद्धरणो से स्पष्ट है कि वात्स्यायन गुप्त काल के पूर्ववर्ती है और कालिदास से सुपरिचित होने के कारण प्रथम शती मे होना स्वाभाविक है। भास एव कौटिल्य से प्रभावित होने के कारण वह उनके पश्चात् काल में मालव मे रहा है।

आन्ध्र-सम्राट् कुन्तल शातकर्ण के विषय मे वात्स्यायन ने एक उद्धरण दिया है—

कर्तचर्या कुन्तल शातकर्णी शातवाहनो महादेवी मलयवती जघान (कामसूत्र १८९)

डा० जायसवाल के मतानुरूप इस शातकर्णी पर खारवेल ने ई०स० पूर्व १७१ मे आक्रमण किया था, (ज० बि० ओरी० रिस० ज० न० १११ पृ० ४४१-४४२)

कुन्तल ई० स० के आरम्भ मे उत्पन्न हुआ था, इस प्रमाण के आधार पर वात्स्यायन प्रथम शती या इसके लगभग रहता है और कुन्तलेश्वर दौत्यम् से सम्बन्धित-कालिदास भी उसी काल मे स्थिर होता है।

वात्स्यायन ने ठीक उसी प्रकार के वर्णाश्रम कर्म का स्वरूप बतलाया है जिस तरह कालिदास ने अपने साहित्य मे वर्णन किया है।

कालिदास पाटलिपुत्र और मगध को विशेष कोई महत्त्व नही देता। वात्स्यायन ने भी देश के विभिन्न भागो, रीति-रिवाजो का वर्णन किया है, परन्तु मगध का महत्त्व नहीं दिया है। यह बतलाया है कि जिस समय मगध का महत्त्व विनष्ट हो गया था शुग-शक्ति प्रबल हो गई थी, तथा विदिशा मे राजधानी बन गई थी, उसी समय कालिदास और वात्स्यायन के साहित्य का सृजन हुआ है।





वात्स्यायन ने नागरिक जीवन का वैभव-विलासितापूर्ण, सुखी, एवं कलामय जीवन अंकित किया है, भास-अश्वघोष कालिदास में भी ऐसा ही चित्र मिलता है, सुधाधौत-धवल-प्रासाद, रम्य-चित्र-कलांकित दीवारें, कलापूर्ण स्तम्भ, धरणी तल, कलाकृति, मनोरम उद्यान, लता कुंज, सुरभित सुमन, सुन्दर स्नानगृह, शीत-समीर के लिए स चन्दनाम्बु-व्यजन, विश्राम गृह, रहस्यमय-विलास स्थान अन्तःपुर की रचना का वर्णन वासवदत्ता, चारुदत्त अश्वघोष, कालिदास की मालविका और मेघदूत ऋतुसंहार से इतना साम्य रखता है कि समकालीन वर्णन हो, तथा तत्कालीन सुखी-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव कर उन्होंने साहित्यरचना की है। नागरिकों की दिनचर्या का वर्णन देखकर चारुदत्त का ही चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है। भ्रान्तिमित्र और मेघदूत के विलासी यक्ष के साथ तुलना कर सकते हैं, शरीर प्रसाधन, सुरभित लेपन, केश-संस्कार, धूप, सुरभित सुमनमाला, नयनों में कज्जल, पैरों में अलक्तक, अधरों पर अरुण-राग-रंजन, करांगुलीय, आदि का साम्य चारुदत्त, यक्ष, नन्द के प्रासाद के अन्तःपुर में रूप रमणियों के प्रसाधन रंग-विलास से सहज की जा सकती है। कुंकुम-केशर चर्चित-कलेवर कालिदास के उन्नत कुसुम केशराश के समान ही प्रतीत होता है। वात्स्यायन की तरह ही प्रथम-शती में विरचित 'ललित-विस्तर' में भी सुरभित साधनों के प्रयोग, अनुलेपन, स्नानीय-सुरभित द्रव्य, फेनिल पदार्थों का प्रयोग, नख, स्तन, अधरों को रंगानुरंजित करने की विधियों का जैसा वर्णन भास, वात्स्यायन, ललित-विस्तर में हुआ है, वह विशेष मनोहारिता के साथ कालिदास के साहित्य में सुलभ होता है। पशु-पक्षियों के पालन की प्रवृत्ति, नृत्य, संगीत, वादन, नाट्य अभिनय, गोष्ठी आदि भी ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे कालिदास ने वर्णित की है। शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन के समय सु-संस्कृत-समाज की व्यवहार भाषा संस्कृत रही है, और जनसाधारण की प्राकृत, यह शाकुंतल एवं मालविका के पात्रों के प्रयोग से प्रमाणित है।

वात्स्यायन ने उस समय के समाज में गोष्ठी-प्रथा का प्रचलन बतलाया है, भास के आदिनाटक और दूसरे नाटकों में भी ऐसे वर्णन हुए हैं। कालिदास के साहित्य में यह स्थिति सहज देखी जा सकती है। कालिदास ने मनोरंजन के लिए कथा कहानियों को महत्त्व दिया है, 'उदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धान्' 'पान गोष्ठि' आदि यही बतलाती है। इसी तरह उद्यान-भोज, वन परम्परा, मदनोत्सव, वसंतोत्सव, अशोकोत्सव, कौमुदी महोत्सव, आदि की चर्चा समानरूप से भास, कालिदास, वात्स्यायन में प्राप्त होती है। नागरिक जीवन के इन वर्णनों में सुखी समाज, वैभव विलासिता का जो रूप वर्णित है, वह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन साहित्य-स्रष्टा-वर्ग भारत के अतीत काल और स्थान विशेष की प्रवृत्ति से प्रभावित है। 'प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ' का रूप मालविका में स्पष्ट है। वात्स्यायन की सुन्दरी लावण्यवती सुसज्जित-शृंगारित-सालंकृत-नारी का रूप यक्षपत्नी और मालविका में दिखाई देता है। पति के प्रवास विरहकाल में पाल के व्यवहारों का वर्णन—भास और वैदिक—परम्परा में प्राप्त है वही वात्स्यायन में मिलता है, और यक्षिणी की स्थिति को कालिदास द्वारा उद्धृत शकुन्तला में भी अनुभव कर सकते हैं और हमारे समक्ष एक सरीखा चित्र प्रस्तुत हो जाता है।

वात्स्यायन के समय में भी जनसाधारण में प्रायः एक पत्नी की प्रथा रही है। 'एक चारिण' शब्द से यही लक्षित है। वात्स्यायन के धनिक-जन प्रायः बहुदारप्रिय रहे हैं। राजाओं की भी यही स्थिति रही थी। ललितविस्तर के शुद्धोधन की भी कई पत्नियाँ थी, उनमें श्रेष्ठ मायादेवी थी। कालिदास के 'बहुवल्लभा राजानः' से इसका साम्य है। यद्यपि वात्स्यायन ने प्रणय के लिए 'परदार-प्रणय' का प्रसंग प्रस्तुत किया है किन्तु वात्स्यायन नागरिकों के पतन का पुरस्कर्ता नहीं है। वह शील और मर्यादा का उपदेशक भी है। निरंकुशता को उसने तिरस्करणीय बतलाया है। कालिदास के 'अनिवचनीय परकलत्रम्' से वह सहमत है।

वात्स्यायन ने नारी के कलाशिक्षण को महत्त्व दिया है, जिस प्रकार गणदास से मालविका कला-शिक्षा लेती है। कुलीन कलाकारों को सत्परिवारों में, राज्य के अन्तःपुरों में प्रवेश मिलता था।

कामसूत्रप्रणेता ने जिन स्त्रियों को तापसी, साध्वी के रूप में रहने की सूचना की है, उनमें बुद्ध, श्रमण,

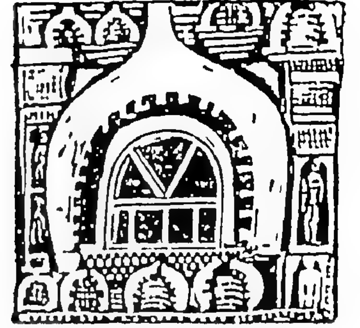
ने इसका कारण यह बतलाया है कि इन भिक्षुणियो के द्वारा प्रणय-सदेश-व्यवहार होता था। मालविकाग्निमित्र की 'कौशिका' इसका प्रमाण है। मालतीमाधव मे तो बहुत स्पष्ट रूप मे यही स्थिति है। वात्स्यायन और कालिदास इस स्थिति से पर्याप्त परिचित थे।

वात्स्यायन के समय चित्रकला का विकास पर्याप्त हो गया था। दीवार, पट्ट फलक आदि पर चित्राकन होता था। चित्र-कथाएँ अकित की जाती थी। चदन दास के घर पर चाणक्य के गुप्तचरो ने यम-पट्ट का दर्शन किया था। मुद्राराक्षस मे वर्णन हुआ है, रगपेटी, कुमारियो को देने का उल्लेख है। चारुदत्त के वर्णन मे, रग, रग-पात्र, भित्ति-चित्रो की चर्चा है। वात्स्यायन ने रग, और चित्रो की चर्चा के विषय मे रस, भाव, आदि की सुन्दर व्याख्या की है। कालिदास का दुष्यन्त चित्रकार और चित्रप्रेमी है। राजभवन मे चित्राकन का शाकुन्तल मे तथा मालविका के चित्र-रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रतिकृति-रचनाभ्य से स्पष्ट विदित होता है कि पुरुषो और युवतियो के चित्रो का विवाह से पूर्व राज-परिवारो मे आदान-प्रदान होता था। इस प्रकार कालिदास और वात्स्यायन मे अद्भुत साम्य है। दोनो ही समान वातावरण और स्थिति से अनुप्राणित प्रेरित-प्रभावित हैं। कालिदास-भास आदि मालव भूमि से ही सम्बन्धित हैं, यह उनकी अनुराग-भूमि और कार्यक्षेत्र रहा है। इसमे मतभेद का अवसर नही है। ऐसी अवस्था मे वात्स्यायन मे जो प्रत्येक पहलू से सम-रूपता दिखाई देती है, वह इसी प्रदेश मे उसके अस्तित्व का समर्थन करने वाली है। चतुर्भाणी के पद्म-प्राभृतक और पादताडितक के रस-विलास वैभव का जो प्रत्यक्ष-चित्र अवन्ती के वातावरण मे ओतप्रोत था वह प्रमाणित करता है कि वात्स्यायन के कामसूत्र-प्रणयन के लिए इससे सुन्दर, सर्वथा अनुकूल एव प्रेरक वातावरण अन्यत्र मिलना सुलभ नही हो सकता था।



आचार्य सोमदेव[1]

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
आचार्य, स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, वाराणसी



सोमदेव के दो ग्रन्थ उपलब्ध है—यशस्तिलक[2] और नीतिवाक्यामृत ।[3] प्रथम को 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते है । इसके आठ अध्यायो मे, जिन्हे आश्वास कहा गया है, गद्य तथा पद्य मे महाराज यशोधर की करुण कथा वर्णित है । दूसरा ग्रन्थ राजनीति से सम्बद्ध है । इसमे ३२ अध्याय है तथा सूत्रो द्वारा विविध विषयो की चर्चा की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक के पश्चात् रचा गया है ।

सोमदेव ने यशस्तिलक[4] के अन्त मे अपने सम्बन्ध मे स्पष्ट सूचना दी है । वह देवराघ के अनुयायी थे और यशोदेव के पशिष्य तथा नेमिदेव के शिष्य थे । नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति बतलाती है कि सोमदेव महेन्द्र देव के छोटे भाई थे और 'स्याद्वादाचलसिंह' 'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपञ्चानन' 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' और 'कविकुलराज' उनकी उपाधिया थी। तथा सोमदेव ने 'यशोधरमहाराजचरित' पण्णवतिप्रकरण' 'महेन्द्र-मातली सल्प' और 'युक्तिचिन्तामणिसूत्र' नामक ग्रन्थो की रचना की थी । इनमे से अन्तिम ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है क्योकि पाटन के जैन भण्डार मे, सवत् १२९० मे लिखी हुई नीतिवाक्यामृत की एक प्रति मे उसका नाम 'युक्तिचिन्तामणिस्तव' दिया है ।

सोमदेव आगे कहते[5] है कि शक सम्वत् ८८१ मे (९५९ ई०) सिद्धार्थसवत्सर मे चैत्र मास की मदन त्रयोदशी के दिन यशस्तिलक रचा गया । उस समय कृष्णराजदेव, पाड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओ को जीतकर मेल्पाटी मे अपना राज्य फैला रहा था । सोमदेव का यह कथन ऐतिहासिक सत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योकि महान् राष्ट्रकूटसम्राट् कृष्णराज तृतीय के करहाड दानपत्रादि से इसका समर्थन होता है । यह दानपत्र सोमदेव के यशस्तिलक की समाप्ति से कुछ ही सप्ताह पूर्व ९५९ ईस्वी की ९ मार्च को मेल्पाटी मे जारी किया गया था । सोमदेव की तरह इस शिलालेख मे भी कृष्णराज तृतीय को चोल, चेर, पाड्य, सिंहल तथा अन्य देशो का विजेता लिखा है तथा यह भी लिखा है कि उसने रामेश्वर मे एक विजयस्तम्भ स्थापित किया ।

यह लिखना मनोरजक होगा कि पुष्पदन्त ने भी अपने अपभ्रश भाषा के महान् काव्य महापुराण मे कृष्णराज तृतीय के मेल्पाटीशिविर का उल्लेख किया है। जिस वर्ष मे (९५९ ई०) सोमदेव का यशस्तिलक पूर्ण हुआ, उसी वर्ष मे महापुराण का आरम्भ हुआ । और ९६५ ई० मे वह पूर्ण हुआ ।

---

१ प्रो० कृष्णकान्त हन्दिक्वी के 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के आधार पर लिखित—'लेखक'

२ निर्णयसागर प्रेस बम्बई मे मुद्रित ।

३ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित ।

४ 'श्रीमानस्ति सदेवसघतिलको देयो यश पूर्वक, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय ।
तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना, शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रम' ।।

५ 'शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (अकत ८८१)
सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्या—मेल्पाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति' ।

महापुराण मे पुष्पदन्त लिखते है—

त कहमि पुराणु पसिद्ध णामु, सिद्धत्थवरिसि भुवणाहिरामु।
उवद्धजूडु भूभग भीखु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु।
भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहि अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।
त दीणदिण्णधणकणयपयरु, महि परिभमतु मेपाडिणयरु।

अर्थात्—सिद्धार्थ वर्ष मे महापुराण का प्रारम्भ हुआ। उस समय राजाधिराज 'तुडिग' जिसे टिप्पण मे कृष्ण-राज कहा है, चोल युवराज का सिर काट डालने के बाद मेलपाडि मे वर्तमान था। टिप्पण मे मेपाडि को मेलपाटीय-नगर लिखा है जो मेलपाटी है।

पुष्पदन्त ने मेलपाटी नगर को आनन्द मे मग्न लिखा है और लिखा है कि वहा गरीबो को धन-सोना दिया जाता था। यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उस वर्ष मेलपाटी मे कृष्णराज तृतीय अपने दक्षिणविजय का उत्सव मना रहा था और इस उत्सव के कारण नगर आनन्द में मग्न था। दक्षिण भारत के इतिहास मे ९५९ ई० का वर्ष असन्दिग्ध रूप से राजनैतिक और सास्कृतिक महत्त्व का था। क्योकि इस वर्ष दक्षिण मे राष्ट्रकूट आधिपत्य की पूर्णता ही नही देखी बल्कि भारतीय साहित्य के दो स्मरणीय ग्रन्थो का आरम्भ और समाप्ति भी देखी।

यद्यपि सोमदेव कृष्णराज तृतीय का समकालीन था किन्तु उसका ग्रन्थ राष्ट्रकूटो की राजधानी मान्यखेट मे नही रचा गया। बल्कि एक अप्रसिद्ध स्थान गगाधारा मे रचा गया। यह गगाधारा सम्भवत कृष्णराज[1] के करद राजा चालुक्य सामन्त अरिकेसरी के बडे पुत्र वागराज की राजधानी थी।

'वागराज' नाम के पढने मे कुछ सन्देह है। यद्यपि यशस्तिलक की मुद्रित प्रति मे और एक अन्य सुलिखित प्रति मे 'वागराज' ही पढा जाता है। किन्तु किन्ही प्रतियो मे वाड्यराज पढा जाता है। और प० नाथूराम प्रेमी ने एक प्रति मे 'वाड्यगराज' पढा है। शुद्ध नाम वद्दिग प्रतीत होता है, वाड्यराज और वाड्यगराज उसी का सस्कृत रूप है।

पुराने हैदराबाद राज्य के परभनी नामक स्थान मे एक ताम्रपत्र पर सस्कृत मे अकित शिलालेख मिला है। इसमे सोमदेव की यशस्तिलक की रचना के सात वर्ष पश्चात् की केवल झलक ही नही दी, किन्तु जिनके राज्य मे रहकर सोमदेव ने अपनी रचना की थी उन चालुक्य सामन्तो की वशावली भी दी है। राष्ट्रकूटो के इन करदाताओ की वशावली ई० स० ९४१ तक तो हमे ९४१ ई० मे जैन कवि पम्प के द्वारा रचे गये कन्नड भाषा के ग्रन्थ 'भारत' से ज्ञात है। इस शिलालेख से ई० ९६६ तक ज्ञात हो जाती है। यह तालिका नीचे लिखे अनुसार सकलित की जा सकती है—

युद्धमल्ल प्रथम, अरिकेसरिन् प्रथम, नरसिंह प्रथम (भद्रदेव), युद्धमल्ल द्वितीय, वद्दिग प्रथम, युद्धमल्ल तृतीय, नरसिंह द्वितीय, अरिकेसरिन् द्वितीय (इसने एक राष्ट्रकूट राजकन्या लोकाम्बिका से विवाह किया), भद्रदेव, अरिकेसरिन् तृतीय, वद्दिग द्वितीय (वाड्यग) अरिकेसरिन् चतुर्थ।

इनमे से अरिकेसरिन् द्वितीय पम्प कवि का आश्रयदाता था और वद्दिग द्वितीय अथवा वाड्यग के राज्य मे सोमदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना की थी जैसा कि ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है। उक्त ताम्रपत्र मे शक सवत् ८८८ अथवा ९६६ ई० मे अरिकेसरिन चतुर्थ के पुत्र वाड्यग के द्वारा सोमनाथ को एक गाव दान मे देने का उल्लेख है। यह दान वुलपाटक नाम की अपनी राजधानी मे वाड्यग के द्वारा बनवाये गये एक जैन मन्दिर की, जिसका नाम शुभधाम जिनालय था, मरम्मत और सुरक्षा के लिए दिया गया था। उस गाव का नाम 'वनिकट्टु पुलु' था।



१ श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविन —चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेसरिण प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजप्रवर्धमानवसुधराया विनिर्मापितमिद काव्यमिति।

उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ९६६ ई० मे सोमदेव शुभधाम जिनालय के अधिकारी थे और शान्तिपूर्वक अपने साहित्यिक कार्य मे सलग्न थे । जैसा कि शिलालेख मे उन्हे यशोधरचरित के साथ साथ एक अब तक अनजान ग्रन्थ स्याद्वादोपनिषद् का कर्त्ता लिखन से प्रतीत होता है । यह भी लिखा है कि समकालीन विद्वान् सोमदेव का बहुत सन्मान करते थे और राजा तथा सामन्त उनके चरणो मे आदरपूर्वक सिर झुकाते थे ।

किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात उल्लेखनीय है - शिलालेख मे कम से कम दो बातें ऐसी है जो भ्रम पैदा करती है । प्रथम तो सोमदेव के दादा गुरु यशोदेव को गौड सघ का अनुयायी बतलाया है । किन्तु ऊपर हम लिख आये हैं कि सोमदेव ने स्वय यशोदेव को देवसघ का अनुयायी बतलाया है । दूसरे, अरिकेसरिन् चतुर्थ की राजधानी (ले) बुलपाटक बतलाई है, जिसके विषय मे निश्चित रीति से कुछ भी ज्ञात नही है । यद्यपि यह पुराने हैदराबाद राज्य मे किसी जगह हो सकती है ।

यह विचारणीय है कि अब तक हमे जोला प्रदेश पर शासन करने वाले तीन चालुक्य सामन्तो की राजधानी के नाम ज्ञात हो सके हैं । प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प का आश्रयदाता अरिकेसरी द्वितीय पुलीगेरे मे राज्य करता था । सोमदेव के लेखानुसार वाड्यग गगधारा मे राज्य करता था । और उसका पुन अरिकेसरी चतुर्थ कहता है कि (लें) बुलपाटक उसकी राजधानी थी । यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे सोमदेव ने वाड्यग के पिता अरिकेसरी को कृष्णराज का करदाता बतलाया है वैसे ही प्रस्तुत शिलालेख वाड्यग के पुत्र अरिकेसरी को बिलकुल उसी रूप मे उसी प्रदेश का करद सामन्त बतलाया है ।

जब कि सोमदेव कृष्णराज तृतीय और वाड्यग के समकालीन थे, यह स्पष्ट नही होता कि इन दोनो मे से कोई एक उनका आश्रयदाता था या नही । सम्भवत सोमदेव का कोई आश्रयदाता नही था । सोमदेव एक जैनाचार्य थे । उन्होने बडे आदर के साथ अपने गुरु का उल्लेख किया है । इसके सिवाय वह एक राजनीतिक विचारक थे और अपने नीतिवाक्यामृत मे उन्होने राज्य को नमस्कार किया है किसी राजा को नही । फिर भी यह निश्चित है कि वह राज-दरबार के जीवन से सुपरिचित थे और उन्होने राष्ट्रकूटो की राजधानी मे कुछ समय बिताया होगा । उन्होने यशस्तिलक के तीसरे आश्वास मे राजसभा का जिस बारीकी से वर्णन किया है, गगधारा जैसे प्रदेश के क्षुद्र जागीरदार से उसका सम्बन्ध नही जोडा जा सकता । वह तो किसी ऐसे साम्राज्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, जो दूसरे देशो के राजदूतो का स्वागत तथा दुराग्रही राजाओ के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है तथा अपनी इच्छानुसार हिन्दुस्तान के विभिन्न भागो से सैन्यदल बुला सकता है । नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव राष्ट्रकूट साम्राज्य के एक स्वदेशाभि-मानी नागरिक थे । उन्होने राज्यकार्यपद्धति के सिद्धान्तो और राज्यहित पर बहुत ध्यान दिया है । तथा अपनी महान् कृति मे युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालनेवाली शासकीय समस्याओ पर प्रकाश डालने के सिवाय राजसभा का अच्छा चित्र खीचा है ।

पूर्ववर्ती शताब्दियो की तरह दसवी शती का समय सस्कृत, प्राकृत और कन्नड जैन-साहित्य की उन्नति का काल था । यदि हम सोमदेव के काल की सीमा बाधना चाहे तो बिना किसी बाधा के कृष्णराज तृतीय के राज्यकाल ९३९ से ९६८ई० तक के साथ उसकी अवधि बैठाई जा सकती है । इस काल के विद्वत्ता और साहित्य के इतिवृत्त मे हमे अनेक विशिष्ट नामो का परिचय मिलता है । ९४१ ई० मे प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प ने दो काव्य लिखे —एक आदिपुराण, जिसमे प्रथम जैन तीर्थंकर का इतिवृत्त वर्णित है, और दूसरा विक्रमार्जुनविजय, जिसमे महाभारत की अथवा वस्तुत अर्जुन की कथा है । ई० ९५० के लगभग इस शताब्दी के दूसरे महान कन्नड कवि पोन्न ने कृष्णराज तृतीय के सरक्षण मे 'शान्ति पुराण' लिखा जिसमे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का पौराणिक इतिवृत्त वर्णित है । कृष्णराज ने कवि पोन्न को उसकी कन्नडी और सस्कृत दोनो भाषाओ मे प्रवीणता के लिए 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती की प्रतिष्ठासूचक उपाधि प्रदान की थी । कृष्णराज तृतीय के राज्य के ठीक आरम्भकाल मे इन्द्रनन्दि ने सस्कृत मे ज्वालामालिनीकल्प नामक ग्रन्थ लिखा था । यह ग्रन्थ ९३९ ई० मे मान्यखेट मे रचा गया था और इसमे कृष्णराज का उल्लेख है । सोमदेव के अति निकट

समकालीनो में से हमारी भेंट दो विशिष्ट व्यक्तियो से होती है । उनमे एक है पुष्पदन्त और दूसरे है मुजार्यवादी घंघल भट्ट । इनमें से हम पुष्पदन्त का उल्लेख कर चुके है । पुष्पदन्त ने ई० ९५९ मे कृष्णराज तृतीय के मत्री भरत की सरक्षकता मे अपना महापुराण आरम्भ किया था और भरत के पुत्र तथा उत्तराधिकारी नन्न की सरक्षकता मे दो ग्रन्थ लिखे थे—एक 'जसहरचरिउ' जिसमे सोमदेव के यशस्तिलक की तरह यशोधर की कथा है, और दूसरा 'नायकुमारचरिउ' अथवा नागकुमार की कथा ।

पुष्पदन्त ने अपभ्रश मे लिखा है । अब तक की खोज के फलस्वरूप वह अपभ्रश भाषा मे सब मे प्रमुख जैन कवियो मे से है । उसका विलक्षण साहित्यिक व्यापार दसवी शती मे अपभ्रश साहित्य की अभ्युन्नत दशा का साक्षी है । ९८८ ई० मे हरिषेण ने अपभ्रश भाषा मे अपनी धमपरीक्षा लिखी है, उसमे उसने अपभ्रश भाषा के तीन विशिष्ट कवियो का उल्लेख किया है—पुष्पदन्त, स्वयभु और चतुर्मुख । तथा पुष्पदन्त स्वय भी महापुराण[1] (१-९) मे स्वयभु और चतुर्मुख का उल्लेख करता है । स्वयभु की दो रचनाए – पउमचरिउ और रिट्ठनेमिचरिउ उपलब्ध है । उसका पुत्र त्रिभुवन स्वयभु भी कवि था और उसने अपने पिता की कृतियो को पूरा किया है । स्वयभु का समय आठवी अथवा नौवी शताब्दी स्थिर किया जा सकता है क्योकि उसने अपने पउमचरिउ मे पद्मचरित के रचयिता रविषेण (७वी शती) का उल्लेख किया है और पुष्पदन्त ने स्वयभु का उल्लेख किया है । चतुर्मुख स्वयभु से प्राचीन है क्योकि स्वयभु ने अपने रिट्ठने-मिचरिउ मे तथा अन्य ग्रन्थो मे चतुर्मुख का निर्देश किया है । यह बात भी उल्लेखनीय है कि स्वयभु ने अपनी स्वयभु-छन्द नामक छन्दशास्त्र की एक अन्य पुस्तक मे अपभ्रश भाषा के अन्य अनेक कवियो को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है । इससे स्पष्ट है कि सोमदेव के समय मे और उससे पहले अपभ्रश भाषा की एक सुव्यवस्थित साहित्यिक परम्परा थी । और यह निस्सन्देह है कि अपभ्रश काव्य के फैलते हुए प्रवाह के प्रभाव से सोमदेव कुछ प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने अपने यशस्तिलक के कुछ पद्यो मे अपभ्रश भाषा के विभिन्न छदो का उपयोग बडी चतुराई से किया है । एक ऐसे लेखक के लिए, जिसने सुबन्धु और बाण की शैली मे उच्च कोटि की साहित्यिक सस्कृत लिखने का उपक्रम किया है, सस्कृत कविता मे अपभ्रश छन्द का उपयोग करना एक नवीन प्रयोग है । किन्तु यह बतलाता है कि सोमदेव के साहित्यिक साधनो की परिधि विस्तृत थी और तत्कालीन देशी भाषा के साहित्य मे उनकी अभिरुचि थी ।

सोमदेव और पुष्पदन्त की रचनाओ मे विभिन्नता होते हुए भी कभी कभी वे दोनो एक ही साहित्यिक सामग्री का उपयोग करते हुए प्रतीत होते है । इसका उदाहरण यशोधर की कथा स्वय है । तथा जब कि सोमदेव ने जमदग्नि और दो पक्षियो की कथा को व श्रीभूति और भद्रमित्र की कथा को यशस्तिलक के छठे और सातवें आश्वास मे स्वतत्र कथा के रूप मे दिया है, पुष्पदन्त के महापुराण मे ये कथाए धार्मिक और पौराणिक जैन कथाओ की एक विस्तृत योजना का भाग है ।

मुजार्यवादी घघल भट्ट का परिचय हमे गगराज मारसिंह (९६३ ई०) के कूडलूर दानपत्र से मिलता है । मारसिह कृष्णराज तृतीय का करद सामन्त था । उसने वादी घघल भट्ट को एक गाव दान मे दिया था । उसी का दान-पत्र मे उल्लेख है । इस लेख मे वादी घघल भट्ट के प्रभाव और योग्यता का वर्णन है । वह लोकायत साख्य और बौद्ध-दर्शन मे तथा वेदार्थविचार मे दक्ष था तथा जैन सिद्धान्तो का मर्मज्ञ और एक श्रेष्ठ कवि था । गग नरेश बुडिग द्वितीय, कृष्णराज तृतीय और राष्ट्रकूटो की राजधानी से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था । साहित्यविद्या मे उसकी निर्दोष व्याख्यान-निपुणता को देखकर गगा गागेय राज (बु) उसका शिष्य बन गया था । वल्लभराज की राजधानी के विद्वानो ने उसकी राजनीति-विद्या से प्रभावित होकर उसका सन्मान किया था । यह वल्लभराज कृष्णराज तृतीय ही प्रतीत होता है, क्योकि करहाड दानपत्र मे उसे वल्लभनरेन्द्रदेव लिखा है, और पुष्पदन्त के ग्रन्थो मे वल्लभ नरेन्द्र और वल्लभराज लिखा है । उक्त लेख मे कृष्णराज का स्पष्ट उल्लेख है । लिखा है कि कृष्णराज देव ने अपने सामन्तो के साथ वादी घघल भट्ट का सन्मान किया क्योकि उसने भट्ट की सलाह पर चल कर देशो को जीता था ।



---

१ चउमुहु सयभु सिरिहरिसु दोणु, णालोइउ कइ ईसाणु बाणु ।

इससे यह प्रकट होता है कि जब कि सोमदेव राजनीति के सिद्धान्तो में ही लीन था तब वादी घघल भट्ट एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और राष्ट्रकूट सम्राट् के राजनीतिक परामर्शदाता के रूप मे कार्य करता था। अस्तु,

कहा जाता है कि दो प्रमुख जैन कवि वादिराज और वादीभसिंह सोमदेव के शिष्य थे। श्रुतिसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका मे एक वाक्य[1] उद्धृत किया है जिसमे सोमदेव के द्वारा यह कहा गया है कि वादीभसिंह भी मेरा शिष्य है और वादिराज भी मेरा शिष्य है। किन्तु सोमदेव के दोनो उपलब्ध ग्रन्थों मे यह कथन नही पाया जाता तथा न तो वादिराज और न वादीभसिंह ही अपने किसी ग्रन्थ मे यह लिखते है कि सोमदेव हमारे गुरु है। पार्श्वनाथचरित के अन्त मे वादिराज कहते हैं कि मेरे गुरु मतिसागर है। इसके सिवाय वादिराज नन्दिसघ के थे जबकि सोमदेव देवसघ के थे। इसी तरह वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ मे अपने गुरु पुष्पदन्त के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु कालक्रम के अनुसार वादिराज और वादीभसिंह का सोमदेव के शिष्य होना असभव नही है क्योकि वादिराज ने स्वय पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्य मे शक सम्वत् ९४७ (१०२५ ई०) मे अपने पार्श्वनाथचरित की रचना का निर्देश किया है। अब रहे वादीभसिंह, सो जयसिंह द्वितीय के १०३६ ई० के बेलगाव दानपत्र मे वादीभसिंह और वादिराज दोनो का निर्देश है। तथा वादीभसिंह के क्षत्रचूडामणि नामक काव्य के अन्त मे 'राजराज'[2] नरेन्द्र का निर्देश है। यह निर्देश अवश्य ही महान् चोल नरेश राजराज का है जिसने ९८५ से १०१४ तक राज्य किया है। इस तरह से यह सिद्ध है कि वादिराज और वादीभसिंह ग्यारहवी शती के प्रथम चरण मे हुए है। अब यदि श्रुतसागर के कथन को सच मान लिया जाय तो कहना होगा कि वे दोनो बचपन मे श्रुतसागर के शिष्य रहे है। किन्तु फिर भी यह बात विचित्र है कि वे दोनो अपने पूर्वगुरु सोमदेव के विषय मे एकदम चुप है।

युगनिर्माता सोमदेव

सोमदेव एक युगनिर्माता थे। उनके बाद भारत के विभिन्न भागो मे जितना जैन-साहित्य रचा गया, उसमे प्राय उनका अनुसरण पाया जाता है। सोमदेव के पूर्वजो मे, नौवी शती के आरम्भ से लेकर दसवी शती के पूर्व भाग तक हमे जो उल्लेखनीय नाम मिलते है, वे हैं—

वीरसेन (धवला और जयधवला टीका के रचयिता), जिनसेन (जयधवला को पूर्ण करने वाले और आदिपुराण आदि ग्रन्थो के रचयिता), गुणभद्र (उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता), जैन वैयाकरण शाकटायन, विद्यानन्द (अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक वगैरह के रचयिता), सिद्धर्षि (उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता), और हरिषेण (बृहत्कथाकोश के रचयिता) तथा अन्य। सोमदेव के निकटतम उत्तराधिकारियो मे, दसवी शती के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवी शती के प्रथम चरण तक, हम जिन उल्लेखयोग्य व्यक्तियो से मिलते है वे है कन्नड ग्रन्थकार—जैसे चामुण्डराय, (जिन्होने गद्य मे चामुण्डरायपुराण लिखा), रन्न (जिसने अजितपुराण और गदायुद्ध लिखा), और नागवर्मा (बाण की कादम्बरी के कन्नडी अनुवादक), सैद्धान्तिक ग्रन्थकार जैसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (जिन्होने प्राकृत मे गोमटटसार, द्रव्यसग्रह तथा अन्य ग्रन्थ लिखे), दार्शनिक साहित्य के रचयिता—जैसे न्यायकुमुद चन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द, तथा कवि और विद्वान् जैसे, वादिराज[3] (जिन्होने पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थ चरित और यशोधरचरित लिखा, वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता), धनपाल (तिलकमंजरी के रचयिता), अमितगति (सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा आदि के रचयिता, असग (वर्धमानचरित के रचयिता,) महासेन (प्रद्युम्नचरित के रचयिता), वीरनन्दि (चन्द्रप्रभचरित के रचयिता), और सम्भवत कनकामर (जिसने अपभ्रंश मे करकण्डु चरिउ लिखा), तथा अन्य ग्रन्थकार जैसे—वैयाकरण दयापाल (रूपसिद्धि का लेखक और वादिराज का समकालीन)।

---

१ 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्य' इत्युक्तत्वाच्च।

२ राजता राजराजोऽय राजराजो महोदयै।
तेजसा वपुषा शूर क्षत्रचूडामणिर्गुणै।

३ वादिराज दार्शनिक भी थे। अकलक के न्यायविनिश्चय पर इन्होंने टीका लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है—ले०।

यद्यपि सोमदेव ने जैन धार्मिक साहित्य को ठोस सामग्री प्रदान की है, किन्तु उनकी साहित्यिक महत्ता और क्रियाशीलता इस संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में ही उनके कार्य का मूल्य आंका जा सकता है । वह भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वोच्च प्रतिभाशाली पुरुषों में से हैं । और उनकी अपूर्व कृति यशस्तिलक उनकी कल्पना और बुद्धिचातुर्य के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालती है । वह गद्य और पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं, स्मृति के आगार होने के साथ ही साथ अत्यन्त व्युत्पन्न और जैन-सिद्धान्तों के अधिकारी विद्वान् हैं । समकालीन दर्शनों के एक चतुर आलोचक हैं । शासनकला के मर्मज्ञ हैं और इस दृष्टि से उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत एक-दूसरे के पूरक हैं । वह प्राचीन लोककथाओं और धार्मिक कहानियों के सफल संग्राहक हैं और समयानुसार नाटकीय बातचीत में अपना चातुर्य प्रदर्शित करते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृतसाहित्य में सोमदेव का स्थान अद्वितीय है ।

यद्यपि यह सत्य है कि सोमदेव के इस यश का आधार उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत है किन्तु आदि में वह एक जैन तत्त्वज्ञानी थे और लगभग आधा यशस्तिलक तथा सम्भवतः उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ जैन सिद्धान्तों के वर्णन और संरक्षण से ओतप्रोत हैं। वह स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और हमें विश्वास करना पड़ता है कि उनकी कविता उनके दर्शनशास्त्र-अभ्यास की परम्परा उपज है । यशस्तिलक के आरम्भ में एक पद्य[1] द्वारा वे प्रकट करते हैं कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्म से शुष्क तर्कशास्त्र का अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धि ने काव्यामृत की सूक्तियों को जन्म दिया है । यथार्थ में सोमदेव का वास्तविक व्यवसाय तर्क था । उनकी प्रतिष्ठासूचक तार्किकचक्रवर्ती और वादिपञ्चानन उपाधियां बतलाती हैं कि अपने समय के अनेक तार्किकों की तरह ही सोमदेव की शक्ति का बहुभाग प्रभावशाली प्रतिवादियों का खण्डन करने में हुआ था । वास्तव में वह समय ही ऐसा था, जैसा कि उस समय के जैन विद्वानों और ग्रन्थकारों के पाये जानेवाले वादिराज, वादीभसिंह, वादी घरट्ट, वादीघघल, परवादिमल्ल, वादिकालाहल आदि विचित्र किन्तु सार्थक नामों से स्पष्ट है । चीनी यात्री इत्सिंग ने ईसा की सातवीं शती के अन्त के लगभग भारत में प्रचलित शिक्षा का जो विवरण दिया है उसमें भी उक्त बात का समर्थन होता है ।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति सोमदेव की तार्किकता का समर्थन करती है और इस बात की घोषणा करती है कि समस्त वादियों में वह श्रेष्ठ थे । उदाहरण के लिए, प्रशस्ति के एक पद्य[2] में एक प्रतिवादी से यह पूछा गया है कि जब तू तर्क में अकलंक नहीं है, सैद्धान्तिक उक्तियों में हंस सिद्धान्तदेव नहीं है और वचनविलास में पूज्यपाद नहीं है तो सोमदेव के साथ तू वाद करने का साहस कैसे करता है ! प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में कहा है कि सोमदेव की सिंह-गर्जना को सुनकर प्रतिवादी रूपी हाथियों के हृदय थर्रा उठते थे और बृहस्पति भी उसके साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ था ।

यद्यपि इस आत्मप्रशंसा और गुणगान को लोकाचार कहा जा सकता है फिर भी यह सोमदेव के बौद्धिक साधनों का प्रकट करना है । सोमदेव का यह कथन कि मैंने बचपन में तर्कशास्त्र का अभ्यास किया है, बतलाता है कि उन्होंने तर्क, अध्यात्म और सम्बद्ध विषयों के विद्यार्थी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कविता को उन्होंने बाद में अपनाया । किन्तु कविता के प्रति उनका प्रेम बिल्कुल यथार्थ था और स्पष्ट रूप से यह मानना पड़ा कि कविता पिशाचनी है । यशस्तिलक के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है—

> निद्रां विदूरयसि शास्त्ररसं रुणत्सि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से ।
> चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ।।



---

१ आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या ।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ।।

२ सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्व, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ।।

इससे यह प्रकट होता है कि जब कि सोमदेव राजनीति के सिद्धान्तो में ही लीन था तब वादी घघल भट्ट एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और राष्ट्रकूट सम्राट् के राजनीतिक परामर्शदाता के रूप मे कार्य करता था। अस्तु,

कहा जाता है कि दो प्रमुख जैन कवि वादिराज और वादीभसिंह सोमदेव के शिष्य थे। श्रुतिसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका मे एक वाक्य[1] उद्धृत किया है जिसमे सोमदेव के द्वारा यह कहा गया है कि वादीभसिंह भी मेरा शिष्य है और वादिराज भी मेरा शिष्य है। किन्तु सोमदेव के दोनो उपलब्ध ग्रन्थो मे यह कथन नही पाया जाता तथा न तो वादिराज और न वादीभसिंह ही अपने किसी ग्रन्थ मे यह लिखते है कि सोमदेव हमारे गुरु है। पार्श्वनाथचरित के अन्त मे वादिराज कहते है कि मेरे गुरु मतिसागर है। इसके सिवाय वादिराज नन्दिसघ के थे जबकि सोमदेव देवसघ के थे। इसी तरह वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ मे अपने गुरु पुष्पदन्त के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु कालक्रम के अनुसार वादिराज और वादीभसिंह का सोमदेव के शिष्य होना असभव नही है क्योंकि वादिराज ने स्वय पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्य मे शक सम्वत् ९४७ (१०२५ ई०) मे अपने पार्श्वनाथचरित की रचना का निर्देश किया है। अब रहे वादीभसिंह, सो जयसिंह द्वितीय के १०३६ ई० के बेलगाव दानपत्र मे वादीभसिंह और वादिराज दोनो का निर्देश है। तथा वादीभसिंह के क्षत्रचूडामणि नामक काव्य के अन्त मे 'राजराज'[2] नरेन्द्र का निर्देश है। यह निर्देश अवश्य ही महान् चोल नरेश राजराज का है जिसने ९८५ से १०१४ तक राज्य किया है। इस तरह से यह सिद्ध है कि वादिराज और वादीभसिंह ग्यारहवी शती के प्रथम चरण मे हुए है। अब यदि श्रुतसागर के कथन को सच मान लिया जाय तो कहना होगा कि वे दोनो बचपन मे श्रुतसागर के शिष्य रहे है। किन्तु फिर भी यह बात विचित्र है कि वे दोनो अपने पूर्वगुरु सोमदेव के विषय मे एकदम चुप है।

युगनिर्माता सोमदेव

सोमदेव एक युगनिर्माता थे। उनके बाद भारत के विभिन्न भागो मे जितना जैन-साहित्य रचा गया, उसमे प्राय उनका अनुसरण पाया जाता है। सोमदेव के पूर्वजो मे, नौवी शती के आरम्भ से लेकर दसवी शती के पूर्व भाग तक हमे जो उल्लेखनीय नाम मिलते है, वे हैं—

वीरसेन (धवला और जयधवला टीका के रचयिता), जिनसेन (जयधवला को पूर्ण करने वाले और आदिपुराण आदि ग्रन्थो के रचयिता), गुणभद्र (उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता), जैन वैयाकरण शाकटायन, विद्यानन्द (अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक वगैरह के रचयिता), सिद्धर्षि (उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता), और हरिषेण (बृहत्कथा कोश के रचयिता) तथा अन्य। सोमदेव के निकटतम उत्तराधिकारियो मे, दसवी शती के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवी शती के प्रथम चरण तक, हम जिन उल्लेखयोग्य व्यक्तियो से मिलते हैं वे है कन्नड ग्रन्थकार—जैसे चामुण्डराय, (जिन्होने गद्य मे चामुण्डरायपुराण लिखा), रन्न (जिसने अजितपुराण और गदायुद्ध लिखा), और नागवर्मा (बाण की कादम्बरी के कन्नडी अनुवादक), सैद्धान्तिक ग्रन्थकार जैसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (जिन्होने प्राकृत मे गोमटसार, द्रव्यसग्रह तथा अन्य ग्रन्थ लिखे), दार्शनिक साहित्य के रचयिता—जैसे न्यायकुमुद चन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द, तथा कवि और विद्वान् जैसे, वादिराज[3] (जिन्होन पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थ चरित और यशोधरचरित लिखा, वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता), धनपाल (तिलकमजरी के रचयिता), अमितगति (सुभाषितरत्नसदोह, धर्मपरीक्षा आदि के रचयिता, असग (वर्धमानचरित के रचयिता,) महासेन (प्रद्युम्नचरित के रचयिता), वीरनन्दि (चन्द्रप्रभचरित के रचयिता), और सम्भवत कनकामर (जिसने अपभ्रश मे करकण्डु चरिउ लिखा), तथा अन्य ग्रन्थकार जैसे – वैयाकरण दयापाल (रूपसिद्धि का लेखक और वादिराज का समकालीन)।

---

१ 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्य ' इत्युक्तत्वाच्च।

२ राजता राजराजोऽय राजराजो महोदयं।
तेजसा वपुषा शूर क्षत्रचूडामणिर्गुणै।

३ वादिराज दार्शनिक भी थे। अकलक के न्यायविनिश्चय पर इन्होंने टीका लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है—ले

यद्यपि सोमदेव ने जैन धार्मिक साहित्य को ठोस सामग्री प्रदान की है, किन्तु उनकी साहित्यिक महत्ता और क्रियाशीलता इस सकुचित सीमा मे आवद्ध नही है और सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य के सम्बन्ध से ही उनके कार्य का मूल्य आका जा सकता है । वह भारतीय साहित्य के इतिहास मे सर्वोच्च प्रतिभाशाली पुरुषो मे से है । और उनकी अपूर्व कृति यशस्तिलक उनकी कल्पना और बुद्धिचातुर्य के विभिन्न रूपो पर प्रकाश डालती है । वह गद्य और पद्य दोनो के सिद्धहस्त लेखक हैं, स्मृति के आगार होने के साथ ही साथ अत्यन्त व्युत्पन्न और जैन-सिद्धान्तो के अधिकारी विद्वान् है । समकालीन दर्शनो के एक चतुर आलोचक हैं । शासनकला के मर्मज्ञ हैं और इस दृष्टि से उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत एक-दूसरे के पूरक है । वह प्राचीन लोककथाओ और धार्मिक कहानियो के सफल सग्राहक है और समयानुसार नाटकीय वातचीत मे अपना चातुर्य प्रदर्शित करते हैं । इसमे कोई सन्देह नही है कि सस्कृतसाहित्य मे सोमदेव का स्थान अद्वितीय है ।

यद्यपि यह सत्य है कि सोमदेव के इस यश का आधार उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत है किन्तु आदि मे वह एक जैन तत्त्वज्ञानी थे और लगभग आधा यशस्तिलक तथा सम्भवत उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ जैन सिद्धान्तो के वर्णन और सरक्षण मे ओतप्रोत है। वह स्वय इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और हमे विश्वास करना पडता है कि उनकी कविता उनके दर्शनशास्त्र-अभ्यास की परम्परा उपज है। यशस्तिलक के आरम्भ मे एक पद्य[1] द्वारा वे प्रकट करते है कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्म से शुष्क तर्कशास्त्र का अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धि ने काव्यामृत की सूक्तियो को जन्म दिया है । यथार्थ मे सोमदेव का वास्तविक व्यवसाय तर्क था । उनकी प्रतिष्ठासूचक तार्किकचक्रवर्ती और वादिपञ्चानन उपाधिया वतलाती है कि अपने समय के अनेक तार्किको की तरह ही सोमदेव की शक्ति का बहुभाग प्रभावशाली प्रतिवादियो का खण्डन करने मे हुआ था । वास्तव मे वह समय ही ऐसा था, जैसा कि उस समय के जैन विद्वानो और ग्रन्थकारो के पाये जानेवाले वादिराज, वादीभसिंह, वादी घरट्ट, वादीघघल, परवादिमल्ल, वादिकोलाहल आदि विचित्र किन्तु सार्थक नामो से स्पष्ट है । चीनी यात्री इत्सिंग ने ईसा की सातवी शती के अन्त के लगभग भारत में प्रचलित शिक्षा का जो विवरण दिया है उससे भी उक्त वात का समर्थन होता है ।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति सोमदेव की तार्किकता का समर्थन करती है और इस वात की घोषणा करती है कि समस्त वादियो मे वह श्रेष्ठ थे । उदाहरण के लिए, प्रशस्ति के एक पद्य[2] मे एक प्रतिवादी से यह पूछा गया है कि जब तू तर्क मे अकलक नही है, सैद्धान्तिक उक्तियो मे हस सिद्धान्तदेव नही है और वचनविलास मे पूज्यपाद नही है तो सोमदेव के साथ तू वाद करने का साहस कैसे करता है ! प्रशस्ति के अन्तिम पद्य मे कहा है कि सोमदेव की सिंह-गर्जना को सुनकर प्रतिवादी रूपी हाथियो के हृदय थर्रा उठते थे और वृहस्पति भी उसके साथ शास्त्रार्थ करने मे असमर्थ था ।

यद्यपि इस आत्मप्रशसा और गुणगान को लोकाचार कहा जा सकता है फिर भी यह सोमदेव के बौद्धिक साधनो को प्रकट करना है । सोमदेव का यह कथन कि मैंने वचपन मे तर्कशास्त्र का अभ्यास किया है, बतलाता है कि उन्होंने तर्क, अध्यात्म और सम्बद्ध विषयो के विद्यार्थी के रूप मे अपना जीवन प्रारम्भ किया । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कविता को उन्होने वाद मे अपनाया । किन्तु कविता के प्रति उनका प्रेम विल्कुल यथार्थ था और स्पष्ट रूप से यह मानना पडा कि कविता पिशाचनी है । यशस्तिलक के प्रारम्भ मे उन्होने लिखा है—

> निद्रां विदूरयसि शास्त्ररस रुणत्सि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से ।
> चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ।।



---

१ आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या ।
मतिसुरभेरभवदिद सूक्तिपय सुकृतिना पुण्यै ।।

२ सकलसमयतर्के नाकलकोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हससिद्धान्तदेव ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्व, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ।।

'हे पिशाचनी कविते ! तू निद्रा को दूर भगा देती है, शास्त्रो के रसास्वादन को रोकती है, इन्द्रियो को दुर्बल कर देती है और मन को भ्रम मे डालती है। फिर भी जिस पर तेरी कृपा हो जाती है वह मनुष्य भाग्यशाली है।'

तर्क और कविता का सयोग जैसा कि सोमदेव मे पाया जाता है, भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए कोई एकदम अद्भुत घटना नही है । इस प्रकार की प्रवृत्ति का अत्युत्तम उदाहरण नैषधचरित और खण्डनखण्डखाद्य का रचयिता कवि श्रीहर्ष है। अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियो मे भी यदाकदा इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिये हम त्रैलोक्य को उपस्थित कर सकते हैं । त्रैलोक्य कवि बारहवी शती के पूर्वार्द्ध मे कश्मीर मे जन्मा था । मखक ने श्रीकण्ठचरित मे उसका उल्लेख करते हुए तुतातित अथवा कुमारिल से उसकी तुलना की है और उसे तर्क-काठिन्य मे दृढ तथा कविता मे प्रौढ बतलाया है।

बिना किसी बाधा के इस बात को सच माना जा सकता है कि यशस्तिलक को सोमदेव ने उस समय रचा है जब उसकी कवित्वशक्ति पूर्ण रूप से परिपक्व हो चुकी थी । सोमदेव ने अपनी इस अपूर्व कृति के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी बातें कही है जिनकी सूक्ष्म छानबीन होना आवश्यक है।

प्रथम, वह लिखता है—

'असहायमनादर्श रत्न रत्नाकरादिव । मत्त काव्यमिद जात सता हृदयमण्डनम् ।

अर्थात् जैसे समुद्र से रत्न उत्पन्न होता है वैसे ही बिना किसी की सहायता के और बिना किसी आदर्श को सामने रखते हुए मैंने इस काव्य को जन्म दिया है।

यहा यह बतला देना अनुचित न होगा कि अपनी कृति की मौलिकता का दावा सोमदेव के इस विचार के अनुरूप है कि कवि को केवल अपने प्रयत्नो का ही भरोसा रखना चाहिये और न तो दूसरो की नकल करनी चाहिये और न कुछ दूसरो से उधारही लेना चाहिये। वह लिखता है—

कृत्वा कृती पूर्वकृता पुरस्तात् प्रत्यादर ता पुनरीक्षमाणा ।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचौरोऽस्तु स पातकी च ।। (१-१३)

अर्थात् जो कवि अपने सामने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो की कृतियो को रखकर बार-बार उनका अवलोकन करता है, वह उसी रूप मे अपनी रचना करे अथवा उससे भिन्न रूप मे करे, वह काव्यचोर और पापी है।

किन्तु जो कवि दूसरो की कृतियो को नही देखता, उसकी उक्तिया यदि कदाचित् अन्य कवियो की उक्तियो के समान होती है तो इससे उसके कवित्व मे कोई हीनता नही आती।

कृति परेषामविलोकमानस्तदुक्तिवक्तापि कविर्न हीन । (१-१२)

इसमे सन्देह नही है कि सोमदेव का यह सिद्धान्त कि 'कवि को केवल आत्मनिर्भर होना चाहिए' थोडा अत्युक्तिपूर्ण है किन्तु इतना निश्चित है कि उसने अपनी इस विश्वकोष रूप कृति की रचना केवल अपने ही प्रयत्नो से की है। अस्तु,

दूसरे, सोमदेव कहता है कि जिसे इस ग्रन्थ को पढने की उत्सुकता है वह यदि इसे पढेगा तो उसे कवित्वमय उक्तियाँ अवसर के योग्य सूक्तिया और समस्त शास्त्रो की युक्तिया मिलेंगी। यथा—

उक्तय कविताकान्ता सूक्तयोऽवसरोचिता ।
युक्तय सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ।। (१-१५)

उक्त कथन कोरा अहकार नही है। कविता सम्बन्धी विशेषताओ को अलग रखकर भी यदि देखा जावे तो

इसमे कोई सदेह नही है कि यशस्तिलक विभिन्न दर्शनो और विविध शास्त्रो की युक्तियो का भडार है और ग्रन्थ का यह रूप साहित्य पर लिखनेवालो द्वारा तथा स्वय सोमदेव के द्वारा अपनाये गये व्युत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुरूप है। सोमदेव कहते हैं —

> किंचित् काव्य श्रवणसुभग वर्णनोदीर्णवर्ण ।
> किंचित् वाच्यौचितपरिचय हृच्चमत्कारकारि ॥
> अत्रासूयेत् क इह सुकृती किन्तु युक्त तदुक्त ।
> यद् व्युत्पत्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात् ॥ (१-१६)

अर्थात्—कुछ काव्य तो कानो का प्रिय और वर्णनो से ओतप्रोत होते हैं, कुछ काव्य अर्थ से परिपूर्ण होते हुए हृदय को आश्चर्यचकित करने वाले होते है। । कौन बुद्धिमान् इस प्रकार के काव्यो की निन्दा करेगा ? किन्तु ठीक और उचित काव्य तो वही है जो सब विषयो मे स्वय ग्रन्थकार तथा अन्य पाठको के लिए व्युत्पत्तिकारक होता है।

सोमदेव के द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति के दो रूप हैं । कवि की व्युत्पत्ति से मतलब है विद्वत्ता की शैली से उसका शिक्षण और यह विचार, साहित्यशास्त्र पर लिखने वाले उन अत्यधिक ग्रन्थकारो मे, जो शक्ति अथवा प्रतिभा को दृढ करने वाले पूरक अनुशासन के रूप व्युत्पत्ति के महत्त्व पर जोर देते हैं, पाया जाता है। किन्तु कवि मखक अपने श्रीकण्ठचरित मे व्युत्पत्ति अथवा पाडित्य पर जोर देता है । कुछ ग्रन्थकार जैसे मम्मट और विशेष रूप मे राजशेखर, जिसका अक्षरश अनुसरण काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने तथा कविकण्ठाभरण मे क्षेमेन्द्र ने किया है, स्पष्ट रूप से शिक्षण की उन विभिन्न शाखाओ का निर्देश करते हैं, जिन सब का, अथवा उनमे से कुछ का ज्ञान कवि को होना ही चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर सोमदेव का यह कथन कि उसका काव्य समस्त शास्त्रो का भण्डार है, ग्रन्थ मे वर्णित विषयो की परीक्षा करने से बहुत कुछ प्रमाणित होता है। और काव्यसाहित्य मे ऐसे ग्रथ बहुत थोडे हैं जिन्होने व्युत्पत्ति की परिभाषा को उतनी परिपूर्णता से निबाहा है जितना सोमदेव के यशस्तिलक ने।

दूसरो की व्युत्पत्ति से आशय यह है कि काव्य के पढनेवालो को शास्त्रीय विषयो का ज्ञान प्राप्त हो, क्योकि काव्य को विद्वत्तापूर्ण विचारधाराओ के एक प्रकार के प्रस्ताविक रूप मे देखा जाता है। व्युत्पत्ति के इस रूप की दृष्टि से सोमदेव का दृष्टिकोण भामह के मत से मिलता है । भामह ने अपने काव्यालकार (अ०५) मे लिखा है "प्राय[१] शास्त्र दुर्बोध होते हैं और अल्पबुद्धि लोग उससे डरते है। किन्तु जैसे लोग पहले शहद को चाटकर कडवी औषधि पी जाते है वैसे ही यदि उन शास्त्रो से स्वादिष्ठ काव्यरस मिला दिया जावे तो अल्पबुद्धि लोग भी उससे लाभ उठा सकते है। दूसरे शब्दो मे, जो लोग शास्त्रीय गोली को उसके असली रूप मे निगलने मे असमर्थ है उनके लाभ के लिये उसे कविता की मिठास मे पाक देना चाहिये। कविता के द्वारा शास्त्रो के कठिन विषयो को आनन्ददायक और सरल बनाया जा सकता है। और अपने काव्य मे उनका वर्णन करके कवि ऐसा कर सकता है । तदनुसार भामह का कहना है कि ऐसा कोई शब्द नही है, ऐसा कोई अर्थ नही है, ऐसा कोई न्याय नही है, और ऐसी कोई कला नही है, जो काव्य का अग न हो सकती हो। अहो, कवि का भार महान् है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि यह विचार कि काव्य को अपने पाठको के लिए शिक्षण का एक माध्यम होना चाहिय, दसवी शती के बहुत पहले से प्रचलित है । और इसमे कोई सन्देह नही है कि इस विचार ने सोमदेव के यशस्तिलक की रचना को बहुत प्रभावित किया है।



सोमदेव का कहना है कि कविता मे परिवर्तन करने की अद्भुत शक्ति है। वह लिखते हैं—

> त एव कवयो लोके येषा वचनगोचर ।
> सपूर्वोऽपूर्वतामर्थो यात्यपूर्व सपूर्वताम् ॥ (१-२५)

---

१ 'प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् विभ्यत्यमेधस ।
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रशास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधव पिबन्ति कटुभेषजम् ॥'

वास्तव मे वे ही कवि कवि हैं, जिनके वचन प्रसिद्ध को अप्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थ को प्रसिद्ध बनाते है।

सोमदेव और भी कहते है—

ता एव सुकवेर्वाचस्तिरश्चामपि या श्रुता ।
भवत्यानन्दनिष्यन्दामन्दरोमाञ्चहेतव ।। (१-२६)

अर्थात् सुकवियो के वचन सुनकर पशु-पक्षी भी आनन्द से रोमाञ्चित हो जाते हैं।

सोमदेव ने कवियो की दृष्टि से कितने ही पद्यो मे कविता के गुण-दोषो का विचार किया है। वह लिखते हैं—

अबुधेऽप्युक्तियुक्तिज्ञे कवीनामुत्सवो महान् ।
गुणा किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकषोपले ।। (१-२८)

कवि लोग ऐसे व्यक्ति को पाकर परम प्रसन्न होते है जो विद्वान् न होते हुए भी उक्ति के रहस्य को समझता है। दूसरे शब्दो मे कविता के गुण-ग्रहण के लिए विद्वत्ता का होना आवश्यक नही है। उदाहरण के लिये, सुवर्ण के गुण क्या कसौटी पर व्यक्त नही होते ?'

अवक्ताऽपि स्वय लोक काम काव्यपरीक्षक ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ।। (१-२९)

जो लोग कवि नही हैं वे भी काव्य के परीक्षक हो सकते है। क्या मिष्ठान्न को खाने वाला मिष्ठान्न बनाना न जानने पर भी मिष्ठान्न के स्वाद को नही जान लेता ?

वृथा वक्तु श्रम सर्वो निर्विचारे नरेश्वरे ।
प्राज्यभोज्यविधि क स्यात्तृणास्वादिनि देहिनि ।। (१-३०)

विचाररहित राजा के सामने कवि का समस्त श्रम व्यर्थ होता है। घास खानेवाले पशु के सामने उत्तमोत्तम भोजन रखने से क्या लाभ है।

अगनावद् गिरो गण्या प्रायेणान्यपरिग्रहात् ।
स्वय विचारशून्यो हि प्रसिद्धया रज्यते जन ।। (१-३२)

जैसे स्त्री के सौन्दर्य का तभी आदर होता है जब कोई उसका पाणि-ग्रहण कर लेता है, वैसे ही कवि की वाणी का आदर भी लोग तभी करते है जब दूसरे उसका आदर करते है । क्योकि विचाररहित जनता प्रसिद्धि से ही अनुरक्त होती है।

काव्यकथासु त एव हि कर्तव्या साक्षिण समुद्रसमा ।
गुणगणमन्तर्निदधति दोषमल ये बहिश्च कुर्वन्ति ।। (१-३६)

अर्थात् जैसे समुद्र रत्नो को अपने भीतर रखता है और कूडा-कर्कट बाहर फेंक देता है वैसे ही जो गुणसमूह को ग्रहण करते है, दोषो को बाहर ही छोड देते है, ऐसे समुद्र के समान सज्जनो को ही काव्यचर्चाओ मे निर्णायक बनाना चाहिये।

गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तुमथेशते वा ।
श्रोतु कवीना वचन न तेऽर्हा सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकार ।। (१-३८)

जो बुद्धिदोष के कारण गुणो के विषय मे अन्धे हैं और दोषो को गुण प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, वे कवियो के वचन सुनने के योग्य नही है, क्योकि जो सरस्वती के शत्रु है उन्हे उसके अध्ययन का क्या अधिकार है ?

अय कविर्नेप कवि किमत्र हेतुप्रयुक्ति कृतिभिर्विधेया ।
श्रोत्र मनश्चात्र यत समर्थं वागर्थयो रूपनिरूपणाय ।। (१-३९)

'यह कवि है' अथवा 'यह कवि नहीं है' इसमे तक-वितर्क करने से क्या प्रयोजन है ? क्योकि शब्द और अर्थ के यथार्थ स्वरूप को वतलाने के लिए श्रोत्र और मन है। वे ही इसका निर्धारण कर देगे कि अमुक व्यक्ति कवि है या नही।

सोमदेव ने संस्कृतभाषा के सरक्षण और सम्पोषण के साधनो को परिपूर्ण करने का अद्भुत कार्य किया है और वह उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थकारो की श्रेणी मे वैठने का अधिकार रखते हैं । किन्तु सस्कृत गद्य और पद्य रचना मे जैन साहित्य मे प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगो के प्रभाव से वह अपने को अछूता नही रख सके । इसका ज्वलन्त उदाहरण 'एभि' के स्थान मे 'इमै' का प्रयोग है। प्राकृत रूप का प्रयोग कुछ अन्य जैन सस्कृत ग्रन्थकारो की कृतियो मे भी पाया जाता है। अनेक स्थानो मे सोमदेव ने 'क्लेशभाजन' लिखा है, यह प्रयोग भी उच्चकोटि के साहित्य मे प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगो से स्पष्ट ही मेल नही खाता। व्याकरण सम्बन्धी एक गम्भीर भूल नीचे के पद्य मे मिलती है—

सुरपतिवधूहासोल्लासश्रिय श्रयदाकृति ।
प्रथमसमये चन्द्रोद्योतस्तवास्तु मुदे सदा ।। (३-४८०)

यहा पर 'श्रयत्' यद्यपि वह बहुव्रीहि समास का अग बना हुआ है, 'श्रियम्' को अनुशासित करता है। यश-स्तिलक निर्णयसागरी सस्करण के सम्पादक ने 'छविश्रय' पढने का सुझाव दिया है। किन्तु केवल मुद्रित प्रति मे ही नही बल्कि मैने जिन तीन प्रतियो को देखा उनमे भी उक्त अशुद्ध रूप ही मिलता है।

रचना की शिथिलता का एक उदाहरण पद्य २-१३० मे 'कीनाशकेलि अनवाप्नविय' पद है। टीकाकार ने दोनो पदो के बीच मे प्रति' शब्द का अध्याहार करके वाक्यांश का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'कीनाशकेलि यमक्रीडा प्रति अनवाप्तविय अप्राप्तवृद्धय यावन्मरण नायातीत्यर्थ'। यद्यपि इस प्रकार के व्यतिक्रम कतिपय क्वचित् ही हैं तथा ग्रन्थ की विशालता का विचार करते हुए उपेक्षणीय हैं।

ग्रन्थकार सोमदेव की बहुत-सी उत्कृष्ट विशेषताओ मे से एक विशेषता यह है कि वह दुर्लभ और अप्रसिद्ध शब्दो का प्रयोग बहुतायत से करते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त ऐसे अधिकाश शब्द सस्कृत साहित्य मे अन्यत्र नही पाये जाते। शब्दकोष पर प्रभुत्व ने यशस्तिलक को सस्कृतशब्दकोशनिर्माणशास्त्र का असाधारण रूप से लाभदायक उद्गम स्थान बना दिया है। किन्तु क्लिष्ट शब्दो का प्रयोग कभी-कभी ग्रन्थ को पाडित्य प्रदर्शित करनेवाला बना देता है । परन्तु यह निस्सन्देह है कि सोमदेव शब्दो का आखेटक नही है। वस्तुत वह एक विद्वान् अन्वेषक है, जिसने लुप्तप्राय शब्दो को प्रयोग मे लाने का प्रयत्न किया है क्योकि पाचवे आश्वास के अन्त मे उसने लिखा है —

"अराल्कालव्यालेन ये लीढा साम्प्रत तु ते।
शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ।।"

अर्थात् कुटिल कालरूपी अजगर जिन शब्दो को चट कर गया, सोमदेव के द्वारा वे शब्द अब पुन. जीवित किये जाते है। इसमे आश्चर्य ही क्या है।

इस प्रकार जहा सोमदेव चिरकाल से विस्मृति के गर्भ मे विलीन शब्दो को पुनर्जीवित करने का दावा करते हैं, वहा यह भी कहते है कि उन्होने शास्त्र रूपी समुद्र के तल मे चिरकाल से निमग्न शब्दरूपी रत्नो का उद्धार करके सरस्वती के लिये एक बहुमूल्य आभूषण तैयार किया है—



उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नै पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नै ।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घाम् ।।

इस पद्य मे सोमदेव ने स्पष्ट रूप से उन अप्रसिद्ध शब्दो और शास्त्रीय पारिभाषिक सम्बन्धो का उल्लेख किया है, जिनका उन्होने अपने काव्य मे उपयोग किया है। यथार्थ मे, और मुख्यरूप से उत्तर काल मे यह काव्य साहित्य का एक लक्षण था। किन्तु इस दृष्टि से भी सोमदेव अपने समय के अन्य किसी भी ग्रन्थकार से आगे बढ गये है।

भवभूति की तरह सोमदेव भी कभी-कभी अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक आत्मविश्वास प्रदर्शित करते है और ऐसा दावा करते है मानो कवित्व पर उनका एकाधिकार है। यथा —

"मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना ॥"

एक अन्य स्थान पर वह कहते है कि यदि कवित्व और सासारिक ज्ञान मे प्रवीण साधु पुरुष है तो वे सोमदेव कवि की सूक्तियो का सम्यक् रूप से अभ्यास करें। पद्य इस प्रकार है—

"लोकवित्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चव।
सोमदेवकवे सूक्ती. समभ्यस्यन्तु साधव ॥" (३, ५१३)

यह पद्य बतलाता है कि सोमदेव स्वय एक निष्णात कवि और लोकज्ञ थे और यह बात उनके यशस्तिलक से प्रकट है। सोमदेव को कवि और लोकवित् मानना उनका सर्वोत्कृष्ट अभिनन्दन है, क्योकि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन के समय मे भी किसी को कवि और लोकवित् कहना उत्कृष्ट अभिनन्दन माना जाता था, और यह इस बात से स्पष्ट है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण के प्रारम्भ मे धवला टीका के सम्माननीय रचयिता अपने गुरु वीरसेन को कवि और लोकवित् कहा है—यथा --

"लोकवित्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वयम्।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥" (१-५६)

यशस्तिलक की रचना से लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिद्धर्षि ने अपने महान् रूपकमय कथाग्रन्थ उपमितिभव-प्रपञ्च कथा की रचना की थी।

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यशस्तिलक के आरम्भिक पद्य मे सोमदेव ने अपने ग्रन्थ के विषय मे अति विनम्र निवेदन किया है। वह कहते[1] है कि वर्तमान मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे सर्वज्ञतुल्य पुरातन कवियो ने न देखा हो। फिर भी जब कोई आधुनिक कुशाग्रबुद्धि भी कवि उनके सदृश कथन करता है तो यह एक आश्चर्य ही है। अपने काव्य के विषय मे वह लिखते हैं कि यह काव्य दुर्जनो के लिये विनोदकारक होगा और विद्वानो के लिये बुद्धिदायक होगा। किन्तु मध्यस्थ लोग इसके विषय मे चुप नही रह सकेंगे। उन्हे आशा है कि जैसे मिष्ठ रस का अत्यधिक सेवन करने वालो को नीम की पत्तिया आनन्ददायक लगती है वैसे ही सुकवियो के माधुर्यपूर्ण प्रबन्धो के अत्यधिक सेवन से जिनकी जडता अत्यधिक वृद्धिगत हो गई है उनकी रुचि मेरे सदृश कवियो की उक्तियो की ओर होगी।[2]

एक ग्रन्थकार के रूप मे सोमदेव का सर्वत्र प्रभाव होते हुए भी, जैन धार्मिक साहित्य की परिधि से बाहर विचारधारा के किसी भी विभाग पर उसका प्रभाव क्वचित् ही प्रतीत होता है। अजैन विद्वानो ने पूरी तरह से उनकी

---

१ सर्वज्ञकल्पै कविभि पुरातनैरवीक्षित वस्तु किमस्ति सप्रति।
ऐदयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवक्ति यत् तत्सदृश स विस्मय ॥१ २।

२ दुर्जनाना विनोदाय बुधाना मतिजन्मने।
मध्यस्थाना न मौनाय मन्ये काव्यमिद भवेत् ॥
सुकविकथामाधुर्यप्रबन्धसेवातिवृद्धजाड्यानाम्।
पिचुमन्दकन्दलीष्विव भवतु रुचिमद्विधेयितपु बुधानाम् ॥

उपेक्षा की है। और आधुनिक शोधकों के उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण ही उनकी साहित्यिक पूर्वस्थिति का परिचय मिल सका है। उनके यशस्तिलक के लिये एक जैन श्रुतिसागर सूरि ही टीकाकार मिला, जिसने १६वीं शताब्दी में अपनी टीका बनाई। उनके नीतिवाक्यामृत पर एक बिना नाम की टीका है, जिसका समय भी ज्ञात नहीं है। फिर भी यह टीका प्राचीन स्मृतिकारों और नीतिकारों के उद्धरणों से भरी हुई है। इसका रचयिता कोई अजैन था क्योंकि उसने टीका के प्रारम्भ में हरि को नमस्कार किया।

धार्मिक पक्षपात और साम्प्रदायिक सकीर्णता के द्वारा एक प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार की महान् कृति के प्रति कैसी उपेक्षा बरती जा सकती है, इस पर सोमदेव का साहित्यिक भाग्य एक दु:खपूर्ण भाष्य है। किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, सोमदेव स्वय इस प्रकार के रग में रगे हुए थे और उन्हें कठिनता से ही यह आशा होगी कि मेरे सहधर्मियो के दायरे के बाहर मेरी कृति को अपनाया जायेगा। जहा तक जैन सिद्धान्तों के वर्णन का मसला है, सोमदेव सदा एक अधिकारी लेखक के रूप में स्वीकार किये गए हैं। और यह बात उल्लेखनीय है कि श्रुतिसागर सूरि ने कुन्दकुन्द के भावपाहुड की टीका में जो कतिपय श्लोक उद्धृत[1] किये हैं, उनमे सोमदेव की गणना जैनधर्म के महान गुरुओं में की गई है।

नियमसार पर पद्मप्रभ की टीका, अनगारधर्मामृत पर आशाधर की टीका, योगीन्दु देव के परमात्मप्रकाश पर ब्रह्मदेव की टीका और कुन्दकुन्द के प्राभृतो पर श्रुतिसागर सूरि की टीका आदि उत्तरकालीन जैन साहित्य में यशस्तिलक के पद्य उद्धरण के रूप में प्राय पाये जाते हैं। यशस्तिलक का नीचे उद्धृत पद्य थोडे से पाठ भेद के साथ शिवकोटि की रत्नमाला में पाया जाता है। प्राचीन शिवकोटि से यह शिवकोटि भिन्न है। वह पद्य इस प्रकार है—

> सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि ।
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।। (८, ३४)

यशस्तिलक के नीचे वाले तीन श्लोक शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में पाये जाते हैं—

> ज्ञानहीने क्रिया पुसि पर नारभते फलम् ।
> तरोश्छायेव कि लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ।।
> ज्ञान पगौ क्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
> ततो ज्ञान क्रिया श्रद्धा त्रय तत्पदकारणम् ।।
> हत ज्ञान क्रियाशून्य हता चाज्ञानिन क्रिया ।
> धावन्नप्यन्धको नष्ट पश्यन्नपि च पगुल ।। (६-२)

यहा यह बतला देना आवश्यक है कि तीसरा श्लोक सोमदेव का नही है। किन्तु 'उक्त च' करके उद्धृत है। यशस्तिलक का एक और श्लोक ज्ञानार्णव मे 'उक्त च ग्रन्थान्तरे' करके उद्धृत है। श्लोक इस प्रकार है—

> मूढत्रय मदश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
> अष्टौ शकादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ।। (६-२१)

सोमदेव का आगे का पद्य सर्वदर्शनसमुच्चय के जैन दर्शन वाले परिच्छेद में बिना किसी नाम के उद्धृत है—



---

१ अकलको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदावर । प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तमै ।
यच्छास्त्र रचित नून तदेवादेयमन्यकै । विसघै रचित नैव प्रमाण सात्वपि स्फुटम् ।।

कर्त्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा ।
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसग ।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै-
राहत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ।। (२,१३६)

एक श्लोक जो यशस्तिलक के पाचवें आश्वास के अन्त मे पृष्ठ २५७ पर पाया जाता है, परीक्षामुख सूत्र पर अनन्तवीर्य की टीका मे नीचे लिखे रूप से उद्धृत है—

तथा चोक्तम्—
तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृते ।
भूतानन्वयनात् सिद्ध प्रकृतिज्ञ सनातन ।। इति

सी० पी० और बरार के सस्कृत और प्राकृत ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियो की सूची मे श्रीहीरालाल ने लिखा है कि "स्तोत्रचतुष्टयटीका मे विद्यानन्द ने सोमदेव सूरि के 'ध्यानपद्धति' से उद्धरण लिये है और वारवार उसका निर्देश किया है । सम्भवत यह उनकी कोई अन्य रचना है ।" किन्तु यह भी सभव है कि यह ध्यानपद्धति कोई स्वतत्र ग्रन्थ न हो और यशस्तिलक के आठवें आश्वास मे जो ध्यानविधि बतलाई है उसी ने यह रूप ले लिया हो ।

एक कवि के रूप मे, काव्यसाहित्य को सोमदेव का दान, माघ कवि का योग्य उत्तराधिकारी होने के उनके दावे को न्याय्य ठहराने के लिए काफी ठोस है । सोमदेव की कविता की सूक्ष्म परीक्षा अन्यत्र की जायगी और यह देखा जायेगा कि सोमदेव केवल काव्य मे प्रचलित विषयो का ही व्यवहार नही करते किन्तु काव्यसाहित्य मे साधारणतया व्यवहृत न होनेवाले विषयो का ही व्यवहार करके सस्कृत कविता के समृद्ध कोश मे वृद्धि भी करते है । वह राजदरबार के सुपरिचित विविध चित्र अकित करते हे जो अन्यत्र नही पाये जाते, और उनकी यथार्थता का स्पष्ट कारण यह है कि वे व्यक्तिगत निरीक्षण और अनुभव के आधार पर, चित्रित किये गये है । उन्होने जीवन के अन्य रूपो का भी सुन्दर चित्रण किया है और बालजीवन, श्मशानभूमि और देवी चण्डमारी का वर्णन करनेवाले पद्य उनके सर्वोत्तम उल्लेखनीय पद्यो मे सम्मिलित किये जा सकते है ।

पशुओ के प्रति सोमदेव की दृष्टि बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण है । और पशुजीवन पर उनके कुछ पद्य सस्कृतसाहित्य मे अनुपम है । उन्होने जैनधर्म के सिद्धान्तो का वर्णन काव्यात्मक शैली मे किया है और बारह अनुप्रेक्षा सम्बन्धी उनके पद्य साहित्य को उनकी बहुमूल्य देन हैं । सस्कृत पद्यो मे प्राकृत भाषा के छन्दो का उपयोग भी एक उल्लेखनीय प्रयोग है । और इस सम्बन्ध मे सोमदेव ने पद्यो को गायन के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है । पूर्ववर्ती होने के कारण सभव है यह प्रयत्न जयदेव के गीतगोविन्द की रचना मे प्रेरक हुआ हो ।

सम्भवत यशस्तिलक का वह पद्यभाग सबसे अधिक आनन्ददायक है, जिसमे राजमत्रियो के दोषो का वर्णन है। और प्रस्तुत भाग सस्कृत कविता मे राजनैतिक आक्षेपात्मक कवितानिर्माण के लिए क्रमबद्ध रूप से किया गया प्रथम प्रयत्न है । उसे देखकर क्षेमेन्द्र की इसी प्रकार की कविता का स्मरण हो आता है । क्षेमेन्द्र ने अपनी नर्ममाला मे कायस्थ अथवा काश्मीर की दफ्तरो मे काम करनेवाली जाति की अच्छी खबर ली है । क्षेमेन्द्र की लेखनी यद्यपि हलकी है किन्तु उसकी रचना ठोस वर्णनो से परिपूर्ण है और सोमदेव के प्रस्तुत पद्यो की अपेक्षा उसका क्षेत्र विस्तृत है । क्षेमेन्द्र की कृति का उद्देश्य मन-बहलाव की अपेक्षा प्राय ज्ञानोन्नति है । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि ने दोनो ही ग्रन्थकारो का निरूपण महत्त्वपूर्ण है क्योकि दोनो ने ही अपने समय की कुछ बुराइयो पर प्रकाश डाला है । इसकी अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि सोमदेव ने सस्कृत कविता मे एक नये विषय को समाविष्ट किया, जिसे बाद मे क्षेमेन्द्र ने विस्तृत वर्णन के साथ पुष्ट किया ।

सोमदेव कोई बडे भारी दैवी कवि नही है, कही-कहीं वह कृत्रिम हो जाते है और वाक्यप्रपच मे फसकर विचारो की पुनरुक्ति करते है । किन्तु उनकी कविता समकालीन जीवन के प्रवाह से प्राय स्पन्दित है । और काव्य-

शैली को वर्णन के वाहन के रूप में अपनानेवाले जैन संस्कृत कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च है। इसके सिवाय उन्होंने जैनधर्म की कुछ उत्तम शिक्षाओं का कथन संस्कृत पद्य में प्रभावक रूप से किया है। यहाँ हम एक उल्लेखनीय पद्य देते हैं, जिसमें बुराई के बदले में भलाई करने का पवित्र विचार अंकित किया गया है —

> अज्ञानभावादशुभाशयाद्वा कुर्वीत चेत् कोऽपि जन खलत्वम् ।
> तथापि सद्भि प्रियमेव चिन्त्य न मथ्यमानेऽप्यमृते विष हि ॥

'अनजान में अथवा दुर्भाव से यदि कोई मनुष्य दुर्जनता भी करता है, फिर भी सत्पुरुषों को भलाई ही करने का विचार करना चाहिये। क्योंकि मथन करने पर भी अमृत अमृत ही रहता है विष नहीं होता।'

यह ठीक है कि भारतीय साहित्य के लिए यह विचार नया नहीं है। उदाहरण के लिए हम एक प्राचीन बौद्ध-वचन को उपस्थित कर सकते हैं—वैर से वैर शान्त नहीं होता। फिर भी यह जैनधर्म की आधारभूत शिक्षाओं में से एक मुख्य शिक्षा है। सोमदेव के यशस्तिलक में एक स्थान पर 'सर्वसत्वेषु मैत्री' का भी पवित्र उपदेश किया गया है।

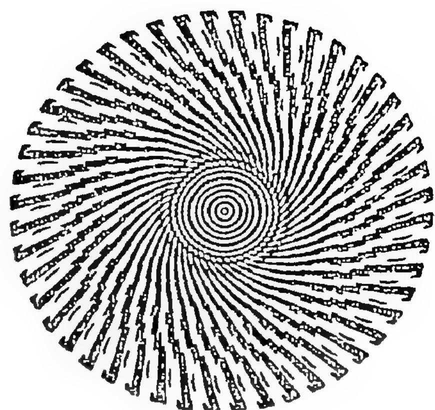
०



अभय जैनग्रन्थालय में सुरक्षित राजस्थानी भाषा के प्राचीन पट्टे, परवाने और पत्र

अगरचन्द नाहटा

बीकानेर



जैनधर्म का प्रचार राजस्थान मे २-२॥ हजार वर्षो से क्रमश बढता चला आ रहा है। जैन आचार्यो, विद्वानो ने राजस्थान के गाव-गाव मे घूमकर भगवान् महावीर की वाणी का प्रचार किया। राजाओ से लेकर रक तक सभी वग के लोग जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुये और यहा तक प्रभावित हुये कि लाखो व्यक्तियो ने हमेशा के लिये जैनधर्म स्वीकार कर लिया। ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड, खडेलवाल, अग्रवाल आदि अनेक जातियो की स्थापना हुई और एक-एक जाति के अनेक गोत्र हो गये। इसी तरह जैन मुनियो के अनेक सघ, गच्छ और शाखायें राजस्थान के ग्राम-नगरो के नामो से प्रसिद्ध हुईं। अनेक राजाओ ने भी जैनधर्म स्वीकार किया। उन्होने जैनमन्दिर बनवाये और आचार्यों को अपना गुरु माना। राजाओ के अधिकाश मत्री, कोषाध्यक्ष आदि जैन ही थ। समय-समय पर उनके द्वारा बहुत बडी धर्म-प्रभावना हुई। आचार्यों एव मुनियो को राजाओ से बडा सन्मान मिला। उन्हे कई गावो की जागीरे मिली। राजाओ के दिये हुये पट्टे, परवानो की सख्या बहुत बडी है। अनेक गच्छ राजस्थान मे हैं। उनके श्रीपूज्यो एव यतियो आदि को राजाओ ने समय-समय पर भक्तिपूर्वक पत्र भी लिखे। वे पट्टे, परवाने एव पत्र अधिकाश जैन उपाश्रयो, श्रीपूज्यो के ठिकानो और जैन-ज्ञानभण्डारो मे मिलते है। अब वे अधिकाश काम के नही रहे इसलिये पहले तो जिनके पास ऐसे कागजात थे उन्हे बडा सुरक्षित रखा जाता था और किसी को दिखलाया भी नही जाता था किन्तु अब वे यो ही नष्ट कर दिये गये या रद्दी मे बेच दिये गये, इस कारण वे पुराने कागजात अब प्राप्त नही होते। जहा कही वे पडे है उनकी खोज, सग्रह एव सरक्षण का भी प्रयत्न नही किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे थोडे दिनो मे ही वे सब समाप्त हो जायेंगे।

करीब ३७ वर्ष पूर्व हमने प्राचीन भडारो का अवलोकन करने के साथ-साथ हस्तलिखित प्रतियो आदि सामग्री के सग्रह का कार्य प्रारम्भ किया तो १६वी से लेकर २०वी शताब्दी तक के हजारो पत्र जो निकम्मे समझकर कूडे-कचरे मे डाल दिये गये थे, हमे मिले और वे हमारे अभय जैनग्रन्थालय की अमूल्य निधि हैं। सम समय पर उनमे से कुछ पत्रो की नकल ग्रन्थो एव लेखो मे हम प्रकाशित भी करते रहे हैं। कई पत्र सस्कृत मे है और कई राजस्थानी भाषा मे। उनमे से यहा राजस्थानी भाषा के पत्रो को ही प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारे सग्रहालय के पत्र अनेक प्रकार के हैं। अनेक व्यक्तियो के लिखे हुये हैं। कई पट्टे परवानो के रूप मे हैं और कई आपसी पत्र-व्यवहार के रूप मे। सबसे पहला पत्र सवत् १६०५ के आसपास का खरतरगच्छ के आचार्य जिनमाणिक्यसूरिजी को बीकानेर से दयातिलक आदि का लिखा हुआ है। यह पत्र सस्कृत मे विस्तृत समाचारो से परिपूर्ण है। प्रारम्भ का अश बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इसे 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित किया जा चुका है। ऐसे सस्कृत-पत्र १३वी शताब्दी से मिलने लगते हैं। पाटण के जैनभडार मे ताडपत्र पर लिखे हुये ऐसे ही कुछ पत्रो के अश मुनि जिनविजयजी को मिले थ। विज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक ग्रन्थ की भूमिका मे मुनिजी ने उनका उल्लेख किया है। गद्य और पद्यमय सस्कृत मे लिखे हुये ऐसे सैकडो पत्र साहित्य और इतिहास इन दोनो दृष्टियो से मूल्यवान् है। १५वीं

शताब्दी मे १८वी शताब्दी तक के ऐसे विज्ञप्ति लेखो का प्रथम भाग मुनि जिनविजयजी ने सवत् २०१६ मे प्रकाशित किया था। प्रारम्भ मे विज्ञप्ति महालेख और विज्ञप्तित्रिवेणी नामक दो विस्तृत पत्र है। फिर अन्य ७५ विज्ञप्ति पत्र प्रकाशित किये गये है।

राजस्थानी भाषा मे टीकाओ और बालावबोध के रूप मे १२वी-१३वी शताब्दी से गद्य रचनायें लिखी जाने लगी। १५वी शताब्दी से राजस्थानी गद्य मे कथाये भी लिखी जाना प्रारम्भ हुई। १६वी तक तो काफी राजस्थानी गद्य जैनो द्वारा लिखा गया। शिलालेखो में राजस्थानी गद्य का प्रयोग मिलता है। पट्टे, परवाने और पत्र तो लाखो की सख्या मे लिखे गये जिनमे से कुछ का सग्रह बीकानेर के पुरालेख विभाग मे किया गया है।

हमारे अभय जैनग्रन्थालय मे राजस्थानी भाषा मे लिखा हुआ जोधपुर के महाराजा सूरजसिहजी और गजसिहजी का एक विशिष्ट आदेशपत्र सवत् १६६८ का है जो युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजी को लिखा गया है। इस मूल परवाने की नकल हमारे सग्रह मे है। उसमे नीचे लिखा गया है कि मूल परवाना उपाध्याय सरूपचन्दजी गणि के पास जोधपुर में है। इसके बाद स० १६६९, १७०५, १७१९, आदि के अनेक कागजात है। उनमें से कुछ की नकल यहा प्रकाशित की जा रही है। महाराजाओ की सहीवाले परवाने और महाराजा के खुद के लिखे हुये खास रुक्के भी हमारे सग्रह मे है। जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि कई राज्यो से उनके पत्रो का सबध है।

मेवाडी भाषा मे महाराणा प्रताप का हीरविजयसूरि को दिया हुआ पत्र सवत् १६३५ का बतलाया जाता है। मूल पत्र तो हमारे देखने मे नही आया, उसकी एक नकल जैनानद पुस्तकालय, पालीताना मे मुझे प्राप्त हुई। वह महाराणा प्रताप स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर प्रकाशित होने वाले स्मृति अक मे कुसुम मेहता को भेज दिया गया है।

उपरोक्त सवत् १६६८ के परवाने की नकल इस प्रकार है।

श्री परमेश्वरजी

श्री कृष्णजी  सही

जोधपुर महाराजा के परवाने

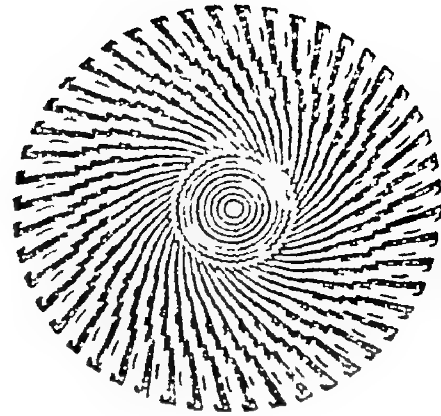
स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री सूरिजसिहजी कु० श्रीगजसिहजी वचनात् युगप्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरिजी नुँ मया करे हुवो दीयो जु श्रीजोधनेर सोझत मिवाणे मेडतै जैतारण आसोप रै देस माह री वरती छै तनरी माह बाना बजावौ झालर दमामा बाजा मात्र बजावना कोई मनै करै सु गुन्हैगार होसी मागश्र वदि ९ सवत १६६४ हुवै श्री मुख। प्र। भाटी गोईददासजी। पा। जोधनेर। औ मूल परवानो उ० सरूपचन्दजी गणि पास है। श्री जोधपुर मे तिकैरी आ नकल छै।

× × × ×

स्वस्ति श्री अनेक सकल सुभ ओपमा बीराजमानान माहाराजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंघजी महाराज कवारश्रीअभैसिंघ देव पु गुराजी साहेब श्रीहरिचन्द्र सूरीजी चेलाजी श्री वेणीदासजी दीसे सु प्रसादा वाचजो। अप्रच आगे नायारा गुटा था सो आप छोडी ने देवगढ पधारीआ सो आपरे किनरा अक साजन पिण आपरै साथे पिण आया था सो अबे आप जमाखातर राखनै पाछा आप सोजत पधारजाजो। साजना ने पिण दील दुलासा देई ने आप लारे लेता पधारजो। आपरो लेणा देणा रो हिसाब होसी जो मुं आपने कराअ देसूं। आप किणी बात री चिता फिकर राखसो नही और आपने मारी तरफ सू गाम पाच ५) पाच आपरे भेट करुगा। प्रथम तो गाव सेनाणो दूसरो गाम भावी तीसरो गाम दादाई चौथो गाम दुदोड पाचमो गाम अटपडो। अे पाचोई गाम आपरै भेट कर देसूं और आपरो माही सुरातव रो खरच हो से जा मुं आपनें दीजा जासूं और मने रोटी मिलने तो अरधी राटी आपने देई ने खासूं। मारो बस नै आपरो बस रवे जठा ताई खाया पाया जाने। और आपरै आगरी आवन पावन आपरी बैठक दरीखाना री जासणी बैठक है सो सावत है आगा सूं आप



अभय जैनग्रन्थालय में सुरक्षित राजस्थानी भाषा के प्राचीन पट्टे, परवाने और पत्र



अगरचन्द नाहटा

बीकानेर

जैनधर्म का प्रचार राजस्थान मे २-२॥ हजार वर्षों से क्रमश बढता चला आ रहा है। जैन आचार्यों, विद्वानो ने राजस्थान के गाव-गाव मे घूमकर भगवान् महावीर की वाणी का प्रचार किया। राजाओ से लेकर रक तक सभी वर्ग के लोग जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुये और यहा तक प्रभावित हुये कि लाखो व्यक्तियो ने हमेशा के लिये जैनधर्म स्वीकार कर लिया। ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड, खडेलवाल, अग्रवाल आदि अनेक जातियो की स्थापना हुई और एक-एक जाति के अनेक गोत्र हो गये। इसी तरह जैन मुनियो के अनेक सघ, गच्छ और शाखायें राजस्थान के ग्राम-नगरो के नामो से प्रसिद्ध हुई। अनेक राजाओ ने भी जैनधर्म स्वीकार किया। उन्होने जैनमन्दिर बनवाये और आचार्यों को अपना गुरु माना। राजाओ के अधिकाश मत्री, कोषाध्यक्ष आदि जैन ही थे। समय-समय पर उनके द्वारा बहुत बडी धर्म-प्रभावना हुई। आचार्यों एव मुनियो को राजाओ से बडा सन्मान मिला। उन्हे कई गावो की जागीरें मिली। राजाओ के दिये हुये पट्टे, परवानो की सख्या बहुत बडी है। अनेक गच्छ राजस्थान मे हैं। उनके श्रीपूज्यो एव यतियो आदि को राजाओ ने समय-समय पर भक्तिपूर्वक पत्र भी लिखे। वे पट्टे, परवाने एव पत्र अधिकाश जैन उपाश्रयो, श्रीपूज्यो के ठिकानो और जैन-ज्ञानभण्डारो मे मिलते है। अब वे अधिकाश काम के नही रहे इसलिये पहले तो जिनके पास ऐसे कागजात थे उन्हे बडा सुरक्षित रखा जाता था और किसी को दिखलाया भी नही जाता था किन्तु अब वे यो ही नष्ट कर दिये गये या रद्दी मे बेच दिये गये, इस कारण वे पुराने कागजात अब प्राप्त नही होते। जहा कही वे पडे है उनकी खोज, सग्रह एव सरक्षण का भी प्रयत्न नही किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे थोडे दिनो मे ही वे सब समाप्त हो जायेगे।

करीब ३७ वर्ष पूर्व हमने प्राचीन भडारो का अवलोकन करने के साथ-साथ हस्तलिखित प्रतियो आदि सामग्री के सग्रह का कार्य प्रारम्भ किया तो १६वी से लेकर २०वी शताब्दी तक के हजारो पत्र जो निकम्मे समझकर कूडे-कचरे मे डाल दिये गये थे, हमे मिले और वे हमारे अभय जैनग्रन्थालय की अमूल्य निधि है। सम समय पर उनमे से कुछ पत्रो की नकल ग्रन्थो एव लेखो मे हम प्रकाशित भी करते रहे हैं। कई पत्र सस्कृत मे हैं और कई राजस्थानी भाषा मे। उनमे से यहा राजस्थानी भाषा के पत्रो को ही प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारे सग्रहालय के पत्र अनेक प्रकार के हैं। अनेक व्यक्तियो के लिखे हुये है। कई पट्टे परवानो के रूप मे हैं और कई आपसी पत्र-व्यवहार के रूप मे। सबसे पहला पत्र सवत् १६०५ के आसपास का खरतरगच्छ के आचार्य जिनमाणिक्यसूरिजी को बीकानेर से दयातिलक आदि का लिखा हुआ है। यह पत्र सस्कृत मे विस्तृत समाचारो से परिपूर्ण है। प्रारम्भ का अश बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इसे 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित किया जा चुका है। ऐसे सस्कृत-पत्र १३वी शताब्दी से मिलने लगते हैं। पाटण के जैनभडार मे ताडपत्र पर लिखे हुये ऐसे ही कुछ पत्रो के अश मुनि जिनविजयजी को मिले थे। विज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक ग्रन्थ की भूमिका मे मुनिजी ने उनका उल्लेख किया है। गद्य और पद्यमय सस्कृत मे लिखे हुये ऐसे सैकडो पत्र साहित्य और इतिहास इन दोनो दृष्टियो से मूल्यवान् है। १५वी

शताब्दी से १८वी शताब्दी तक के ऐसे विज्ञप्ति लेखो का प्रथम भाग मुनि जिनविजयजी ने सवत् २०१६ म प्रकाशित किया था। प्रारम्भ मे विज्ञप्ति महालेख और विज्ञप्तित्रिवेणी नामक दो विस्तृत पत्र हैं। फिर अन्य २५ विज्ञप्ति पत्र प्रकाशित किये गये है।

राजस्थानी भाषा मे टीकाओ और बालावबोध के रूप मे १२वी-१३वी शताब्दी मे गद्य रचनायें लिखी जाने लगी। १५वी शतब्दी मे राजस्थानी गद्य मे कथाये भी लिखी जाना प्रारम्भ हुई। १६वीं तक तो काफी राजस्थानी गद्य जैनो द्वारा लिखा गया। शिलालेखो में राजस्थानी गद्य का प्रयोग मिलता है। पट्टे, परवाने और पत्र तो लाखो की सख्या मे लिखे गये जिनमे से कुछ का सग्रह बीकानेर के पुरालेख विभाग मे किया गया है।

हमारे अभय जैनग्रन्थालय मे राजस्थानी भाषा मे लिखा हुआ जोधपुर के महाराजा सूरजसिंहजी और गजसिंहजी का एक विशिष्ट आदेशपत्र सवत् १६६४ का है जो युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजी को लिखा गया है। इस मूल परवाने की नकल हमारे सग्रह मे है। उसमे नीचे लिखा गया है कि मूल परवाना उपाध्याय सरूपचन्दजी गणि के पास जोधपुर में है। इसके बाद स० १६६६, १७०५, १७१६, आदि के अनेक कागजात हैं। उनमे से कुछ की नकल यहा प्रकाशित की जा रही है। महाराजाओ की सहीवाले परवाने और महाराजा के खुद के लिखे हुये खास रुक्के भी हमारे सग्रह मे हैं। जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि कई राज्यो से उनके पत्रो का सबध है।

मेवाडी भाषा मे महाराणा प्रताप का हीरविजयसूरि को दिया हुआ पत्र सवत् १६३५ का बतलाया जाता है। मूल पत्र तो हमारे देखने मे नही आया, उसकी एक नकल जैनानद पुस्तकालय, पालीताना मे मुझे प्राप्त हुई। वह महाराणा प्रताप स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर प्रकाशित होने वाले स्मृति अक मे कुसुम मेहता का भेज दिया गया है।

उपरोक्त सवत् १६६४ के परवाने की नकल इस प्रकार है।

श्री परमेश्वरजी

श्री कृष्णजी  सही

जोधपुर महाराजा के परवाने

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री सूरिजसिंहजी कु० श्रीगजसिंहजी वचनात् युगप्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरिजी नुं मया करे दुवो दीयौ जु श्रीजोधनेर मोझत सिवाणै मेडतै जैतारण आसोप रै देस माह री धरती छै ततरी माह बाजा वजावौ झालर दमामा बाजा मात्र वजावता कोई मनै करै सु गुन्हैगार होसी मागश्र वदि ९ सवत १६६४ दुवै श्री मुख। प्र। भाटी गोईददासजी। पा। जोधनेर। औ मूल परवानो उ० सरूपचन्दजी गणि पास है। श्री जोधपुर मे तिकैरी आ नकल छै।

× × × ×

स्वरूप श्री अनेक सकल सुभ ओपमा वीराजमानान माहाराजाधिराज महाराजा **श्रीअजीतसिंघजी** महाराज कवार **श्रीअभैसिंघ** देव पु गुराजी साहेव श्रीहरिचन्द्र सूरीजी चेलाजी श्री वेणीदासजी दीसे सुप्रसादा वाचजो। अप्रच आगे **नाथारा गुढा** था सो आप छोडी ने **देवगढ** पधारीआ सो आरे कितरा अक साजन पिण आपरै साथे पिण आया था सो अबे आप जमाखातर राखनै पाछा आय **सोजत** पधारजाजो। साजना ने पिण दील दुलासा देई ने आप लारे लेता पधारजो। आपरो लेणा देणा रो हिसाब होसी जो मुं आपने कराअ देसूं। आप किणी वात री चिंता फिकर राखसो नही और आपने मारी तरफ सू गाम पाच ५) पाच आपरे भेट करुगा। प्रथम तो गाव भेसाणो दूसरो गाम भावी तीसरो गाम दादाई चौथो गाम दुदेग पाचमो गाम अटपडो। अे पाचोई गाम आपरै भेट कर देसूं और आपरो माही मुरातव रा खरच हो मे जो मुं आपनें दीआ जासूं और मने रोटी मिलसे तो अरधी रोटी आपने देई ने खासूं। मारो वस नै आपरो वस रवे जठा ताई खाया पाया जासे। और आपरै आगली आवन पावन आपरी वैठक दरीखाना री जासणी वैठक है सो सावत है आगा सूं आप





पावौ हो जिण मुजब पाया जावोगा। आप समुद्र ने छांटी ने नाडा माय कु जाय बिराजिया छो। आप चूंडावतां रा ठिकाणा सूं पार नही पाडोगा। कोई बरग जाता मारा ठिकाणा सूं पार पाडोगा चूंडावता रा ठिकाणा सूं पार नही पाडोगा। आप कोई बात री मन मे चिंता फिकर राखो मती। आप बीच ने म्हा बीच श्रीमुरलीधरजी छै, श्री मानाजी छै। आपरो हुकम माथै छै और गुरदेव तो वडा छै म्हारा ठिकाणा माहे आज दिन सुधी गुरुदेव रो प्रताप छै। और मारै गुरु माईन छो सेवग ऊपरै कृपा महरबानगी करे ने वेगा पधारसी और घणो कांई लिखूं थाटी लिखिया जासा जाणसी। आपने मे रोटीक दीधी सो सावत छै। म्हारी राजी खुसी सूं म्हारी अकल हुसीयारी सूं दोनुंई बाप बेटा मील्ने खातरी रो पटो तीन मोरासाही कर दीधो सो सावत छै। मारै गुराजी री राटी माहे जा कांई मारा वंस रा वसी जो कोई मारा गुरदेवारी री रोटी माहे कसर पाडोगा नही। जो कोई मारी कर दीवी रोटी माहे मारा वंस रो वसीज कोई कसर पाडेगा जीनै गौ मारीया की हत्या लागसै। जी ने गवायत गाल लागसै कोई कामेती फौजदार कोटवाल जो कई लोपसी, जीन श्री मुरलीधरजी पूगसे, जीने श्री माताजी पूगसे। म्हरा वंस ने गुराजी रो वंश रेवै जा सुधी पालया जासेज। कांई श्राप टो नु थापन करेस, जीणरी मा जैन ऊपर गधो चढसी। हीदु ने गउ, मुसलमान कु सुअर मारीया पाप लागसे। सूरज चन्द्रमा तपै जा सूधी पालया जावसी। राजा अजितसिंघ रो ऊपरलो लिखियो सही छै सवत् १७६७ ना वरसे मीगसर सुद ११ सुकर दसकत कुंवर अभैसिंघ रा छै। आ सोतरी खुद जोधपुर गढ नी छै मुकाम कोट हुवै श्रीमुख॥ श्री॥ श्री॥ श्री॥

× × × ×

स्वस्ति श्री सिध श्रीजोधपुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीविजैसिंघजी देवेपु गुराजी साहेव श्री वेणीदासजी चेलाजी महाराज श्रीमयाचद देवगढ पगेलागण मालम वेसी। अठा रा समाचार भला है। आपरा सदा सर्वदा आरोग्य चाहीजै। तो छोरू ने परम सुख होय अठा सूं सूर्यमल भडारी ने मीयानो लेई ने मेलीयो है सो गुरुदेव सेवक ऊपरे कृपा करि ने मीयाना मे विराज के अठे म्हारो सरीर आराम नही है सो गुरुदेव जाणसी। प्रथम तो मने ताव घणा आवै छै दूसरो उकासो सास घणो चढै है ती हे जजाल घणा आवै है। मुं घणो दुखी छुं। गुरुदेव आराम करै तो ठीक है। नही तर तो मारी जीवारी आस है नही। आगै ही आप उप पाच सात वखत कागद मेलिया सो गुरुदेव पदारिया नही, इसी तो कुममानो गुरुदेव रो सेवक ऊपर जाण्यो नही। आप पेल पने मुं सोजत पधारीया सो जदी सेवक गुरुदेव नें पचमुखी हनूमान जत्र के वास्ते अरज कीधी सो हाल तक सेवक रे आयो नही, सो इसी भूल तो गुरुदेव ने चावे नही। गुरुदेव रे तो मा जिस्या सेवक घणा छै पण एक सेवक तो मुज छु। आप आपने राजा अजीतसिंघजी महर वड उया आपने पटो करी ने वकस्या सो पटो सावत छै। आपरी लाग मारा ठिकाणा म परपरा सूं चली आवै सो सावत छै। फेर म्हारी तरफ सूं दादा साहेव रो बगीचो मडोहर मे जमी भेट कर देसूं। आप चूंडावत (का ठि)काणा सूं पार नही पडेगा। आपनै वारखवर नही पडै है, पिण पाछे जातां आप पिछतावोला और घणी काई लिखूं वो गुरुदेव ने पूरो है पण मानणो तो गुरुदेव रै हाथ है बोलवा तो मोर के हाते है वरसवो तो इन्द्र के हाते है। इलरी बात मे गुरु(सा)री समज लेसी, मारे तो गुरुदेव रो ढाल रा जीतरो जोर छै। मारे ठेकाणा मे है आछो पुन्य प्रताप गुरुदेव रो छै। मारे ठुकराण रे पीण मेली रो चालो छै। घणा उपाय कीधा पण कणरोई उपाय लागो नही। पाच सात हजार रुपयाई कुलवान हुया देव सारी सजाई लेना पधारसी, भूल राखसी नही। मने सजाई री मालम पडे नही सो जाणसी और आप रावत जस ने दो चार वखत कागद भेजा सोई आपर पुछडे कागद को समाचार लख्या नही सो आपरे लखा थी इणा ने कोई समाचार सो इणा ने रीस लागी, जीणी सु अमारा सु द्वेष राखे सो मारो काई करै गुरुदेव राजी तो सगलाई राजी। सवत् १८४९ चैत्र सुदि १३ बुधे। द० लखमीचन्द पोकरणा ना छै। मुकाम जोजावरडवे श्रीमुख चेलाजी महाजने लेता पधारसी। दख ओछव मारा हाथ सु वेसी। गुरुदेव पर भरोसो छै। मेता मुलतानमल रो पगे लागणो मालम वेसी। आछा रेसी ने वे सी॥ श्री॥ श्री॥

× × + +

श्री दीवाण वचनात श्री बीकानेर रे माहाजन खरतरगछ आप्रठकीय छै। जिके जती उपासर माहे आगे छै सु मास १ माटे विहार करसी पछै रहण पावे नही पडावु जती आसी सु दिन ७ रहसी पछै विहार करसी वखण

पचखण गछ री गीन करमी नवो जती चौमास आमी सु मरचै हुवे पछे आडमी ने जती सुमतमेर विनेमेर रो गवाडा चैत वदि १ ताइ रहमी बीजो रहण पावे नहि।

स १६६६ मगसेर सुदि १० सु सूं ही मनियावटगछ री हुवे छै ते भटारक आचारज री हुवे छै ते करमी उजर करण पावे नहीं।

× × × ×

श्रीरामोजयति

सही

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज माहाराजा श्री करनसिंहजी वचनातु श्रीराजाजी मया कर भटारकीया अचारजीया खरतरगछ विहुवाहुता सु भेला कीया छै ज्यो आगै भेला हालता तिव हालस्यै नै महाजन आप माहे एक हुवा छै नै जतीया री आपरठ छै मास १६ ताई भटाराकीया अचारजीया आप माहे सरचो करनै श्री बीकानेर माहे आस्यै कदास आप महे सरचै नही तो-मास सोला पछै जिको बीकानेर आस्यै तेनु माहाजन मानसी दिना एक भेला हुई ने वेडै उपासरै सगला ही महाजन ल्हला आस्यै नै पछै दिन १० महाजन सगला ही लोडै उपासरै जास्यै ता पछै वडै उपासरै ज्यो आज ताई भेला हुवना तिव हुस्यै उजर करण पावै नही ईये वात गी काई उथप करै सु रूपीया २१००) ईकवीस मैं रावला देसी। आपरठ श्री बीकानेर रे महाजन सगला ही भेला हुई नै थापी छै। समत १६९६ मीगसर सुदि १० सोमवार मुकाँम सुई। कुच्या देहरे रे भटारस्या आज ताई, जा हक नै रहती तीय रहस्यै।

सही —

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजा श्री करणसिंहजी वचनायते खवास गोपाला जोग सुप्रसाद वाचजो तीथा उपासरो वडो भटारकी महाजना रो छै सु भटारकीय दीन छै सु खोल्ह देजो महाजन भटारकी नु खग य छै सवत १७०५ वैसाख वद ५ सु० श्री अवरगाबाद।

× × × ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराज श्री करणसिंहजी वचनात् भट्टारकीये अचारजिया आप(स) मे असरचो हुतो सु आचजियाँ महाजन पावे आयो हो सु इये जिनस परवानो लिख दीन्हो छै—

देहरै चोवीसटै मानव कीजै—इये जिनस का सार।

१ सोनव	५॥	भटारखीया निस्यै
सोनव	२॥	अचरजीयै करिस्यै
। सोनव	१	भादवा सुदि १ री करसी
। सोनव	१	
। मनव	१	चोधरी वे-करसी

× × × ×

श्री परमेसरजी सत्य छै

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराज श्री रायसिंघजी वचनात पा माहासिंघ हर की सदास दिसे सुप्रसाद वाचजे अठारा समाचार भला छै था हा रा दे जो अप्राच॥ भटारक जिणचद सुरजी राजती उपाध्या सुमत विजै पडत रतनसी हजुर आय फिरी याद करी जु म्हानै सहर मै रहण न दै उपासरा म्हाय थीका दीया सु आगै था नु परवानो मोहर सुधो लिखाय मेल्यो थो सु ये अमल न दीयो सु कौसै वास्तै ही मैंजी कोई उपासरो सव रायो छै जु ईणा रे हवाले



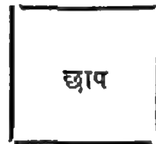
की जो फेर हजुर फरीयाद नावै सु कीजो सरावक या नु माने मु या नु मान जो वानु मानै मुवा नु मान जो या रा उपासरा मै औरो वारा उपासरा वैर है और कोई आयस मै जोरे ज्याजती करण नु पावै मीती काती सुद ७ सवत १७१६ दुवै। श्री मुख मु काम जा हा ना वाद—

रजुदफत्र   रजुद फत्र पा महासींघ

इस पत्र मे उल्लिखित महाराजाधिराज रायसिंह कौन थे ? यह विचारणीय है। क्योकि इसमे जो सवत १७१६ मुकाम जहानाबाद का उल्लेख है उस समय बीकानेर महाराजा रायसिंह तो विद्यमान ये ही नही। अन्य किसी रायसिंह को महाराजाधिराज का पद भी उस समय प्राप्त था या नही, विचारणीय है। पत्र उसी समय का लिखा हुआ है। उसके पीछे की ओर 'रजुदफत्र, और 'पा माहासिंघ' लिखा हुआ है।

भट्टारक जिनचन्द्रसूरिजी बीकानेर गद्दी के श्री पूज्यजी उस समय विद्यमान थे। और भी खरतरगच्छ की किसी शाखा मे अन्य जिनचन्द्रसूरि भी हो सकते है।

× × × ×



स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री अनूपसिंहजी वचना महाजन खरतरा ओसवाल जोग्य सुप्रसाद वाचजोजी तथा श्रीपूज्यजी श्री बीकानेर चौमासे छै सो ये घणी सेवा भगत करजो, काण कुरब राखजो।

स० १७५२ आषाढ सुदि १ मुकाम गढ सागर।

महाराजा अनूपसिंहजी के एक परवाने की नकल मैंने राजस्थान भारती' मे प्रकाशित की है। वह परवाना नाजर आणदराम को दिया गया है। उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था आदि के सवन्ध मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है, महाराजा ने इसे स० १७४९ मिगसर बदी १३ को आदूणी मुकाम से लिखाकर भेजा है।

महाराजा अनूपसिंहजी के लिखे हुये दो सस्कृतपत्र और जिनचन्द्रसूरिजी के महाराजा को दिये हुये तीन सस्कृत पत्र भी हमारे सग्रह मे हैं।

नाजर आणदराम के दिये हुये सस्कृत और राजस्थानी भाषा के पत्र भी हमारे सग्रह मे है।

× × × ×

श्री बीकानेर रा माडईया लिखावतु रिणी रा माडईया जोग तथा पुज्य श्री जिनसुखसूरजी री छतडी पादका रे पूजा नु टका १५। अखरे पन्हरै चलु थितीया देज्यो म्हे थानु मुकाते मा मुजरै भर देसा। स १७८३ मगसर सुद ४ ह्नुता चलु देजाइ।

उपासरै भटारका रै देजो।

महाराजा सुजानसिंहजी के दिये हुये जिनसुखसूरिजी के २ पत्रो की नकल 'बीकानेर जैन लेख सग्रह' जैन सिद्धान्त भास्कर, और 'धर्मवन्दन ग्रन्थावली' आदि मे छप चुके है।

नाजर आणद-राम ने स० १७७९ मिगसर सुदि १ बुधवार को जिनसुखसूरिजी को पत्र दिया था। उसमे सस्कृत के साथ-साथ राजस्थानी भाषा में भी निम्नोक्त समाचार लिखे हुए है—

उपराच उपाध्याय श्री भागचन्दजी ने साहजहनाबाद रो आदेश छै सु हिडी कै साल आदेश श्री बीकानेर रो

देस्यो जी था महरवानगी म्हा ऊपर करस्यौ जी, अर जती नैणसीजी आप खनै छै, मु एक वार उहा नै अठै म्हैलस्योजी।

सवत १८०० के फागण वदि १० को नाजर आणदराम ने जिनभक्ति सूरिजी को पत्र दिया है। वह उस समय की बोली मे लिखा हुआ है।

श्री परमेश्वरजी सत्य छै

स्वस्ति श्रीभुजनगर शुभस्थाने पूजि परम पूजि सरव ओपमा विराजमान सतक्रिया मावधान जँगम युगप्रधान पूजि भट्टारकजी श्री १०५ श्री जिनलाभसूरजी सूरि सुरान चरण कमलान नागोर थी सदा सेवग आज्ञाकारी मिघवी फतैचन्द लिखित वदणा पगे लागणो अवधारजोजो। अठारा समाचार श्रीपूजजी कृपा मु भला छै। आपरा सदा आरोग्य चाही-जैजी। आप वडा छौ पूजि छौ। मेवग सु मदा कृपा भाव हेत राखौ छौ। तिण थी विशेप रखावजोजी। सेवग लायक काम चाकरी होय सो कृपाकर लिखाया करावज्योजी। अपरच वणारस श्रीनैणसीजी आपरै हजूर आया छै सु अरज करमी—श्रीराजाधिराजजी फुरमायो छै नैणसीजी नै उपाध्याय पदवी दिरावजो सु आप कृपा करनें इणानै उपाध्याय पदवी देनै सीख दिरावज्योजी। नैणसीजी सारी वाता लायक छै। पटित छै। सु आप कृपा फुरमावस्यो हीजजी। वाहडता कागद कृपा भाव कर दीराया करावजो।

सवत् १८०४ रा फागुण वदि ५।

"पूजि भटारकजी श्री १०८ श्री जिनलाभ सूरिजी चरण कमलान"

× × × ×

श्री परमेसरजी सत्य छै

स्वस्ति श्री भटारक सिरी पूज श्री जिनलाभसूरिजी जोग्य राजाधिराज श्री वखतसिघजी लिखावत नमस्कार वाचजो। तथा वणारस नैणसीजी राज कनै आया छै रौ माहा जोग्य छै पडित छै इणानै उपाध्याय पद दिरायनै सीख दिराज्यो सवत् १८०४ रा फागुण वदि १३।

× × × ×

इस पत्र के अन्त मे एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है कि आप मेरे को जो पत्र लिखावें वह पाधरी भाषा मे ही लिखावें सस्कृत मे नही। इसलिए इस पत्र की नकल नीचे दी जा रही है।

स्वस्ति श्रीसरव ओपमान लायक परमसुखदायक सर्व गच्छा सिर नायक सेवका मनभायक। अनेक ओपमा विराजमान पूज्य श्री पूज्यजी श्री श्री श्री श्री श्री जिनभक्तिसूरजी चरण कु मला नू आज्ञाकारी सदा सेवग नाजर आणद-राँम लिखत आदेश वनणा घणै मान अवधारज्योजी। अठारा समाचार श्री पूज्यजी री कृपा सूँ भला छै। श्रीपूज्यजी सदा आरोग्य चाही जै। अप्रच श्री पूज्यजी वडा छौ म्हारै श्रीपूज्यजी उप्रात और काई वात न छै सेवग आपरो जाण सदा कृपाभाव राखो छौ तिण सूँ विशेप राखज्योजी। अप्रच कृपा पत्र १ आपरो माह सुदि १३ री मिति रो आयो। वाचीया सूँ आपरै दरसण कीया रो सो सुख हूवोजी। अप्र च आप लिखियौ जु जप जाप सुमरण वेला म्हे थानूँ याद करा छो सू आप आपरो सेवग जाण म्हासूँ कृपा राखो छो सू आप वडा छो। आपनू आहिज चाहीजैजी। और अवर कै चौमासे रो आप किसी नैड रो विचार राखो छो तै रो व्यौरो लिख मेल्हज्यो ज्यू म्हाई खवर पडे अर म्हा ने तो आप सदा आपरी सेवा हीज मे जाण तारस्योजी। अठै सरीखो काय काज हूवै सु घणो लिखता रहिज्यौ ओर म्हानू आप कागद पतर लिखावो सू पाधरी भाषा हीज मे लिखाया करज्यो सँस्कृत मे मती लिखावज्योजी। छाडड ता कागद सदा देज्योजी। सवत् १८०० वर्षे मिती फागुण वदि १० दिने।



खरतरगच्छ के आचार्यों ने राजाओ को जो पत्र लिखे उनमे से एक पत्र का आवश्यक अश नीचे दिया जा

रहा है। यह पत्र नवहर से भ० जिनसुखसूरिजी ने बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह को दिया था। इसके अन्त के दुहे मे महाराजा की विजय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है—

अपरच श्री महाराजजी रो प्रीति पत्र आयो। वाची मन राची साची प्रीति जाणि सुख पायो। श्रीमहाराजा जी नै शुभ आशीर्वचन करता सदा सर्वदा श्री महाराजजी रो वढतो प्रताप उदै अभ्युदय चाहा छा। आप पिण पूर्व प्रतीति प्रीति रीति धरो छो तिण थी विशेखैं धरवी मोटा धरणीश्वर छउ

दोहा—वैरी साधि वलाई वित, फते करी इक फाल।
महाराज आए महल, सुनि हम भए खुस्याल॥

छाप

महाराजाधिराज महाराज श्री जोरावरसिंहजी वचनात् राठोड मीयासिंहजी कुशलसिंहजी मुहता रघुनाथ योग्य सुप्रसाद वाचजो तिथा सरसै मे जती अमरसीजी छै सु थानै काम काज कहै सु कर दाज्यै ऊपर घणो राखजो। फागुण सुदि ४ स० १७९६।

× × × ×

श्रीलक्ष्मीनारायण
जीभगतराज
राजेश्वर माहारा
जा शिरोमण माहा
राजाधिराज मा
हाराज कुवार श्री
राजसिंह स्य मुद्रका

श्रीरामजी

स्वस्ति श्रीजगम जुगप्रधान भट्टारक श्री जिणचद सूरिजी सूरेस्वरान माहाराजाधिराज म्हाराज म्हाराज कुवार श्री राजसिघजी लिखावतु नीमस्कार वाचजो अठारा समाचार श्रीजे रे तेज प्रताप कर भला छै थांहरा सदा भला चाहिजै अप्रच थे म्हारे पूज्य छो था सवाय और कोई बात न छै सदा म्हासु कृपा राखो छो जिण सु विसैष रखाजो। और थे चौमासे ऊतरीया सताब बीकानेर आव जो म्हा नुं थासुं मीलण री चाहा छै अठारी हकीकत सारी गुरुजी तेजमाल नाहटे मनसुख रै कागद मु जाणजो। सवत् १८४० मिती काती बद १ मुकाम गाव। देसणोक——ऽ——ऽ——ऽ——ऽ——ऽ——

१ जगमे जुगेप्रभ जिणचद सूरजी सूरेश्वरात

× × × ×

स्वस्ति श्रीराजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा शिरोमणि महाराजा श्री सूरतसिंहजी महाराज कुँवर श्री रतनसिंहजी वचनात् खरतरा रे उपासरे री सीव मे पयचदीयो वाजो बाजवण रो परवाणो बहदुरसिंघजी री अरज सु कर दीयो थो तै ऊपर खरतरा कवला श्री दरबार मे अरज कीवी या रो गाजो वाजो आगे कदे ही वाज्यो नही हमार अै

नवी रीत करी छै तै उपर श्री दरबार सुं आ फुरमाही आगै सदा मद मरजाद चली आवै छै ते रीत हुमी परवाणौ पायचदीया नुं वहादरसिंघजी अरज सुं मिती पोह वद ५ रो कर दियौ छै सु उ परवाणो हमै रद छै आगै सुं तपा पायचदीया लौंका खरतरा कवला री सीव मे वाजा सँख झालर वजावण पावै नही अर परवाणौ एक इण ही भात कवलै गच्छ नु कर दियौ छै सवत् १८६० मिती पोह वद १२। मुकाम पाय तखत श्री बीकानेर कोट दाखल।

× × × ×

श्री व्रजराज स
हाय महाराजाधिरा
जा महारावलजी श्री
गजसिंघ जी कस्य
मुद्रिका

सिद्ध श्री माहाराजाधिराज महारावलजी श्री गजसिंघजी वचनात् गुरा सदासुखजी दिसी वदणा वाचजो तथा हकीकत सारी प्रोहत मेवाराम ना फुरमाय मेल्यो छै सो कहे सैं अठै बार हेक आवो तो था रो कुरव कायदो उठे ज्याइ रहेसी फेर ढढा रे रुपीया देमा हकीकत मारी सेवाराम कहै मै सवत् १८८४ रा मिती मेघर सुदि ५

× × × ×

दसकत खास

श्री पूजजी सुं म्हारो नमस्कार वदना वाचजो उपरच म्हारै फुरमायो सु आ काम कियौ छै सु फेर तो म्हां विराजता परमानद रे श्रीपूजजी इयैं रस्ते न वुलासा इयैं मे कमर न जाणमी वडै महाराजजो रूको लिख दियौ छै ते मुजव ही मरजाद रहसी इयैं मे कसर न पडसी म्हारा वचन छै थे म्हाहरा शुभचिंतक छो पीढीया सुं लगाय था सवाय और न छै। चिन्तामणजी महावीरजी सताइस—गवाड मे सदामद जुं वाजै छै तै मुजव वाजगी म्हा विराजता कसर न पडती स १८८६ मिती जेठ वदी २।

× × × ×

दसकत खास मु० हीदुमल दीसी सुप्रमा (द)वचै अप्रच ठाकुर वीरीमाल नै देसणाक सु लपेट लायो पछै श्री ठाकुरजी रै दरसण नै गयौ जारा ठाकुर नै ल रै हाथी रै खुवासी मै चाढो तो ही पैंट रौ मैल गयौ नही पछै मागनै वगसी ठाकुर नै अमरावता नै राजी वाजी कर विदा किया माठ हजार रुपीया कीया सु था उठै सागी सुणी हुमी। श्रीमाता जी रै मढ मे वैस सुंम कवल कीया हीदु मुसलमान रै सुम हुवै छै मु मारा लीया अमरावता रो हाथ ठाकुर झालो ठाकुर रा हाथ अमरावता झालो इसी मुस कर विदा हुवा माझ नै जाय पकड लीया पछै एक एक नै काढता गया इमी केता गया हजूर ईयाद करै छै था सुं एकता करमी थे केता मारै कोट री छाया तीन वार पडै छै सु वा छाया केय जारा देवीसीघ ठकराणै रौ, उवै इसी कही उ वा छाया कोट मुं वार आसी जारा ठीक पडमी सु आकर गयो हमे पुगल गयो छै। पूगल वालो जैसलमेर गया छै सु हमै हुवै सु ठीक पडसी ईयै देखता तो ठाकु राव जैसलमेर रो रावल क्देरा एक छै। लारली कुवर सारी रा इया की छै दीसै तो इसी छै। दुजा समाचार सारा मु० मुलचन्द रैवा मुनमी मानीराम रावाकिसनै रै कागदा सुं जाणसी कुवरपदै रो चाकर छैसात पीढी रो चाकर छैमाम वरमी चाकरै छै सु जैसलमेरी हुकम मगाय देपैलकै जु न हुवै सवत् १८८७ मीती सावण सुद ५ भादवा सुद दुज नै डेरा दाखल हुसा ताकीदी सुं उथला आवै सु करे अठै मोटो काम



तो थारै समाचार आया जाव करसा पुगल रो काम तो पैली करसा जेज रो काम न छै थारी चाकरी छै। मजो तो पेल को बदलो लीयो सुं छै। १ रू को खा स।

श्री दीवान वचनात् बडे उपासरै रे श्रीपुजजी श्री १०८ श्री सोभागसूरजी ने गुरू पदवी देय दीवी छै सु बडे उपासरे री पीढी सुं मरजाद रा परवाणा वा छाप रा कागद सीव राजा सामग्री रा धरणें रा कर दिया छै तिके परवाणा मुजब सही छै ओर नया मरजाद गो बाध दिवी छै। बडे उपासरे री साध साधवी में चुक पड जावे उव रो दुसमण मारु अरज करे ते सुणे नही श्रीपूज्य श्री उवा नै दड प्रायच्छित देर सुध कर लेसी। कदाय श्रीपूजजी री इग्या नही मानसी आप मुरदा वेसता फर उवा नै परस्पर समझासी समभया लागसी नही तो उव दरवार सुं अरज करासी अ साधसाध्वी म्हारी इग्या मे नही चालै छै आप मुराद वेवै छै तारा दरबार मुं वानै वढाय मिजा देसी तारवा श्रीपूजजी नै कवासी अग आपरी इग्या उलगा नही ओलगा तो जिन इग्यारो लोपी हुवा तारा अरज कर छोडासी ओर साध साध्वी सहर मे भगान रा मींदर करासी व गाव मे करासी तारै श्रीदरबार रो हुकम छै फेरू अरज करावण रो काम नही मास १) शुचनण वेसर धूप दीप रो दीया जासी जिके दिन सुं मिंदर कराया जिके दिन दिन सुं लेखो कर दिराय देजी ओर बडे उपासरे री सीरणी री मरजाद बाध दीवी छै सा राज रौदा सनारी वा० लणयत सुं डरना वा ओर ओर गुन वालो मुसदी सहुकार ओर दीकोइ दुजी उपासरै शरणै जाय बैठसी ते नै श्रीदरबार सुं वा० लैणायत न उठासी, उठासी ते नै दरबार सिजा देसी ओर श्री बीकानेर रो वसीवान सहुकार वा० दुजी पटवा श्रीपूज कीया छै तेनै न मानसी जो कोई मानसी वारा श्रीदरबार ओर किसी नै बी पुरो मानणो सावित हुय जासी तो वानै सिजा दी जासी इयै मरजाद मेटण री कोई चाकर अरज करसी तो परम हरामखोर हुसी इयै मे कसर नही पडसी म्हारो वचन छै। द० मुहतो लीलाधर स० १८६७ मीती माघ सुद १३।

× × × ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज राज राजेश्वर नरेन्द्र शिरोमणि श्री सिरदारसिंहजी वचनात् श्री बीकानेर रा साहुकार परदेस मे छै, तिका समसुता दिसी सुप्रसाद बचे अपरच भट्टारक श्रीपूजजी पूजजी श्री जिनहस सूरिजी नै भट्टारक श्री पूजजी श्री जिनमुगत सूरिजी रा श्राव मान्या हुवै तो थे इया नै मानजो नही तो कुंही मानण रो मुद्दो नही सवत् १९१२ मिती काती बद १४ मुकाम पाय तखत श्री बीकानेर कोट दारना—

महाराजाओ के स्वय के लिखे हुये कई खास रूके हमारे सग्रह मे है जिनमे से ज्ञानसारजी को महाराजा सूरतसिंहजी के लिखे हुये कुछ पत्रो की नकलें हमारे 'ज्ञानसार ग्रन्थावली' मे दी गई है। ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र बहुत से है और इनसे तत्कालीन राजकीय स्थिति का इतना महत्त्वपूर्ण पता चलता है जो अन्य किसी साधन से नही चल सकता। आपसी पत्र-व्यवहार मे दिल खोलकर वास्तविक समाचार लिखे जाते है इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक मूल्य है। जैनाचार्य अपने आज्ञानुवर्ती मुनियो-यतियो को आदेशपत्र भेजते थे कि अमुक जगह चौमासा करने के लिये पहुचो और उन यतियो के आचार्यो एव बडे-छोटे मुनियो श्रावको के लिखे हुये समाचार पत्र भी बडे महत्त्व के है, जो सैकडो की सख्या मे हमारे सग्रह मे है।

गोपाचल की मध्यकालीन साहित्य-कला साधना



डॉ० राजाराम जैन

एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा

गोपाचल भारतीय सस्कृति एव साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। जैनसस्कृति, साहित्य एव कला की दृष्टि से भी उसका सुदूर अतीत तो स्वर्णिम रहा है किन्तु उसका मध्यकाल और विशेषत १५-१६ वी सदी का काल विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इस युग मे कई विशाल एव उत्तुग जैन मन्दिर, अगणित जैन मूर्त्तियाँ तथा अनेक स्वाध्याय-शालाए बनी तथा विशाल मौलिक एव टीका-साहित्य का सृजन हुआ। प्राचीन ग्रन्थो का पुनरुद्धार, उनका प्रतिलिपि-कार्य तथा उनके सरक्षण की दृष्टि से तो यह काल अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। गोपाचल के नगरसेठो[1] ने भी एक ओर जहाँ राज्य की आर्थिक समृद्धि में अपना महान् योगदान किया, वहीं राजनीति के क्षेत्र मे भी युगानुकारी आदर्श सहयोग दिया। तत्कालीन नरेश अपने-अपने मत्रिमडल मे जैनो को महत्त्वपूर्ण स्थान देते रहे। इनके साथ-साथ ही जैन-साहित्य, साहित्यकारो एव कलाकारो को अपने यहाँ प्रश्रय देकर इन नगरसेठो ने जो अनुपम कार्य किये एव गोपाचल को तीर्थस्वरूप बना दिया, गोपाचल (ग्वालियर) का कण-कण आज भी उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। किन्तु यहाँ इन सभी तथ्यो की चर्चा सम्भव नही, क्योकि वे एक विशाल ग्रन्थ का आकार ले सकते हैं। अत मात्र साहित्य-प्रणयन, लेखन, सरक्षण तथा प्रसगवश जैन-कला सम्बन्धी कुछ कार्यों की ही यहाँ सक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

राजनैतिक एव आर्थिक दृष्टि से शान्त वातावरण होने के साथ साथ तात्कालिक राजाओ की साहित्य एव कला के प्रति सुरुचि, सुसस्कार, उनकी धार्मिक सहिष्णुता एव उदारता आदि ही साहित्य एव कला के विकास के प्रमुख कारण हैं। गोपाचल मे सौभाग्य से उक्त सभी सयोग एक के बाद एक जुटते गये। उस विशिष्ट सौम्य वातावरण को देखकर एक फारसी कवि ने गोपाचल को "भारत का शीराज"[2] तक कह दिया था। महाकवि रइधू ने भी अपने ग्रन्थो के प्रशस्तिखण्डो मे अनेको बार उसे 'कुबेर नगरी', 'इन्द्रपुरी', 'महाकवि', 'महापण्डित' एव 'गुरुणा गुरु' की उपाधि से विभूषित किया है।

तोमरवश की गोपाचल-शाखा के नौ राजाओ[3] ने गोपाचल मे सन् १३९८ ई० से १५२० ई० तक शासन किया। इनमे से तीसरे शासक विक्रमदेव (अपरनाम वीरमदेव—१४०२-१४२४ ई०) के काल से गोपाचल मे सास्कृतिक एव साहित्यक वातावरण की विशेष सृष्टि हुई तथा जैन-कवियो को राजकीय सम्मान एव सरक्षण प्राप्त हुआ। ऐसे कवियो मे महाकवि नयचन्द्रसूरि एव भट्टारक गुणकीर्ति प्रमुख थे। महाकवि रइधू का यह उदयकाल था। कविता के क्षेत्र मे वे अपने चरण बढा रहे थे।

---

१ नगर सेठों के विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित भिक्षु स्मृतिग्रन्थ कलकत्ता (१९६१ ई०) मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ व्यावर (१९६५) एव मध्यप्रदेशसन्देश ग्वालियर (जुलाई १९६५) मे प्रकाशित मेरे विस्तृत शोध-निबन्ध पढ़ें।

२ मानसिह और मानकुतूहल (ग्वालियर, १९५३) पृ० १५६।

३ तोमरवशी सभी राजाओ के विस्तृत परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित विस्तृत शोध निबन्ध मध्यप्रदेश सन्देश (१९६६) मे पढिये।

महाकवि नयचन्द्र सूरि अपने समय के प्रसिद्ध कवि एवं सट्टककार थे। उनकी दो कृतियाँ विशेष महत्वपूर्ण है—हम्मीर महाकाव्य[1] एवं रम्भामंजरी[2] सट्टक। हम्मीर 'महाकाव्य' वीररस प्रधान महाकाव्य है जिसमें १४ सर्गों में विविध प्रकार के छन्दों, अलंकारों एवं रसों से समन्वित १५७२ श्लोक है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके प्रणयन में राजा विक्रमदेव की प्रेरणा ही प्रमुख कारण है। नयचन्द्र सूरि की कवि-प्रतिभा को उभारने के हेतु उन्होंने एक बार भरे दरबार में कहा—"पूर्व कवियों के समान काव्यों की रचना आजकल सम्भव नहीं।"[3] विक्रम की यह बात महाकवि को लग गई, अतः कवि ने 'हम्मीर महाकाव्य' का प्रणयन किया। कवि ने स्वयं लिखा है "विक्रम की बात सुनकर मैं शृंगार, वीर एवं अद्भुत रस से युक्त प्रस्तुत काव्य लिख रहा हूँ।"[4]

'हम्मीर महाकाव्य' राजा हम्मीरदेव के रणकौशल एवं और वीरमृत्यु की तेजस्वी कथा है जिसे पढ़कर आज भी बाहुएँ फड़क उठती है। जिस समय यह काव्य लिखा गया था वह युद्धों का काल था। [illegible] छोटी-छोटी बातों अथवा कामिनी, कांचन या राज्यलिप्सा को लेकर आपस में कलह ठन जाती थी। विक्रम के राज्य की शान्ति एवं समृद्धि की ओर भी दिल्ली एवं मालवा के मुजफ्फरशाह के सेनापति इकबाल खाँ एवं खिजरखाँ की आँखें गड़ी रहती थी। अवसर पाकर वे इससे छेड़छाड़ किया करते थे जिससे शान्तिप्रेमी विक्रम को तलवार उठाकर अपना पुरुषार्थ दिखाना पड़ता था। यद्यपि विजय उसी के हाथ में रहती थी किन्तु कभी कभी उसके मन में विजयप्राप्ति के प्रति आशंका होने लगती थी। संघर्ष एवं निराशा की उन घड़ियों में सम्भवतः 'हम्मीर महाकाव्य' ही उसे प्रेरणा, उत्साह एवं स्फूर्ति प्रदान करता रहा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। नयचन्द्र सूरि एवं राजा विक्रम का यह घनिष्ठ सम्बन्ध कालिदास एवं विक्रमादित्य, भामाशाह एवं महाराणा प्रताप तथा चन्दबरदाई एवं पृथ्वीराज चौहान के युग का स्मरण कराता है।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रम्भामंजरी सट्टक है। इसमें प्राप्त कथानक के अनुसार राजा जैत्रचन्द्र की सात रानियाँ थी। उनके अतिरिक्त उनका प्रेम लाटनरेश देवराज की पुत्री रम्भा से हो गया जो आगे चलकर विवाह के रूप में परिणत हो गया।

महान् सट्टककार राजशेखर (९-१० वी सदी) के अनुसार "सट्टक में अंक, प्रवेशक एवं विष्कम्भक नहीं होते[5]। इनके अतिरिक्त सट्टक नाटिका का अनुकरण करती है। हाँ, सट्टक आद्यन्त प्राकृत भाषानिबद्ध होती है।" इसके अतिरिक्त सट्टक की अन्य विशेषताओं में से इसका नायक राजा होता है जो स्वभावतः रंगीन होता है। वह सुरक्षित कर नायिका से प्रेमव्यापार करता है और पटरानी को धोखा देकर उसके साथ विवाह कर लेता है। इसमें शृंगाररस प्रधान होता है। समस्त कथानक चार यवनिकान्तरों में विभक्त होता है।[6]

सट्टक की उक्त सभी विशेषताएँ 'रम्भामंजरी' में उपलब्ध नहीं होती। चार जवनिकान्तरों में से प्रस्तुत रचना में कुल तीन जवनिकान्तर ही उपलब्ध है। प्रथम में राजा जैत्रचन्द्र का रम्भा के साथ विवाह एवं दूसरी तथा तीसरी यवनिका में उनके प्रेमव्यापार का वर्णन है। इन तीनों जवनिकाओं में नाटक के फल का वर्णन एवं भरतवाक्य अनुपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम चतुर्थ जवनिका नष्ट हो गई।

---

१ निर्णयसागर० बम्बई (१८७९ ई०) से प्रकाशित।

२ निर्णयसागर० बम्बई (१८८९) से प्रकाशित।

३-४ काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद्विधाता पुनः—
इत्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृंगारवीराद्भुतं,
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः॥ हम्मीरकाव्य १४।४३

५ कर्पूरमंजरी (Edited by N G Suru, Bombay, 1960) १।६.

६ प्राकृत भाषा और साहित्य (दिल्ली, प्र० सं०) पृ० १२१

नयचन्द्र ने तृतीय जवनिका के अन्त में इसे 'नाटिका'[1] कहा है। जब कि नट एवं सूत्रधार के माध्यम से उसने इसे 'सट्टक'[2] कहा है। इसी प्रकार इसमें प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण भी बहुलता से प्राप्त है। नट, रानी वसन्तसेना, रम्भा, प्रतिहारी, विदूषक और चेटी प्राकृत में वार्त्तालाप करते हैं तथा इनके पद्य-प्रयोग भी प्राकृत में हैं, हाँ चेटी संस्कृत-पद्य का प्रयोग करती है। दूसरी ओर सूत्रधार, राजा, नारायणदास एवं मंगलपाठक अपना वार्त्तालाप संस्कृत में करते हैं किन्तु पद्य में संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का ही प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं इनका एक प्रतिहारी तो संस्कृत प्राकृत के साथ-साथ मराठी[3] का भी प्रयोग करता है।

उक्त विभिन्नताओं को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नयचन्द्र ने सट्टक एवं नाटक में कोई विशेष भेदभाव नहीं माना। वे लकीर के फकीर न थे। युग के अनुसार उन्होंने जो उचित समझा, वही किया। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' वाली उक्ति नयचन्द्र पर पूर्णतया लागू होती है। वस्तुतः सट्टक के क्षेत्र में कवि का यह एक नया क्रान्तिकारी प्रयोग था और प्राचीनता में नवीनता का समन्वय अथवा निर्वाह ही उनकी अपनी मौलिक विशेषता थी। इसकी भाषाशैली प्रौढ़ है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत के अंशों को पढ़ते समय कादम्बरी के लम्बे-लम्बे समासान्त पदों का बरबस स्मरण आ जाता है।

सूत्रधार के माध्यम से नयचन्द्र ने अपना जो परिचय दिया है, उससे यह स्पष्ट विदित है कि वे सरस्वती के वरद पुत्र एवं पारंगत विद्वान थे। इसका उन्हें गर्व भी था।[4] राजशेखर की कर्पूरमंजरी नामक सट्टक को भी उन्होंने नगण्य समझा।[5] नयचन्द्र को अपने पाण्डित्य पर गर्व करने की प्रेरणा सम्भवतः महाकवि पुष्पदन्त से मिली होगी, क्योंकि उस समय गोपाचल में पुष्पदन्त के महापुराण एवं जसहरचरिउ का पठन-पाठन बड़ा लोकप्रिय था। पुष्पदन्त ने अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए अपने को "अभिमानमेरु"[6] 'अभिमानचिह्न'[7] जैसे विशेषणों से विभूषित किया है। तथा सरस्वती को उन्होंने चुनौती दी है कि मेरे बिना उसे कहाँ प्रश्रय मिलेगा[8]? नयचन्द्र ने इतनी मुखरता के साथ तो अपना गर्व व्यक्त नहीं किया है किन्तु अपने काव्यकौशल से उन्होंने अपना जैसा परिचय दिया है उसमें पुष्पदन्त के जैसे गर्व की ध्वनि अवश्य ही सुनाई दे जाती है।

---

१ "समाप्ता रम्भामञ्जरीनाम नाटिका"।

२ नट —ता किं पओअणविसेस पडिवज्जिज्जय एस सट्टयप्पबंधवप्पारंभो। रंभा० १।१८
सूत्रधार —रंभ त पण्णेदि अट्ठमतिय एयम्मि सट्टे वरे। रम्भा० १।१९

३ जरा पेखिला मस्तकावरी केशकलापु। तरी परिस्खलता मयूराचे पिच्छप्रतापु। जरि नयनविषयू केलावेणी दडु। तरि साक्षात्जाला भ्रमरश्रेणीदडु। जरि दृग्गोचरो आला विसाल भालु। तरि अर्धचंद्र मंडलु भइला ऊर्णायु जालु।
मुखमंडलु जाणु शशाकदेवताचे मंडलु। कल्पद्रुम जैसे सर्वलोक आशा विश्रामु
रम्भा १।१२ पृ० ११



४ छब्भासा मुकवित्तजुत्तिकुसलो जो सारदादेवया—
दिन्नप्पोढवरप्पसायवसउ रायाण जो रंजगो।
जो पुव्वाण कईण पयपहिओ एयस्स सो कारगो,
विक्खाओ नयचंदणामसुकई णीसेसधिज्जाणिहो॥ रम्भा० १।१२ तथा १।१५-१८

५ कप्पूरमंजरीए कह रंभामंजरी न अहिययरा।
कप्पूराउ न रंभा रंभाओ जेण कप्पूरो॥ रम्भा० १।१४

६ तं सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु॥ महापुराण १।३।१२

७ वयसज्जुत्ति उत्तमसत्ति वियलियसंकि अहिमाण कि। जसहर० ४।३१।३

८ क यास्यस्यभिमानरत्ननिलय श्री पुष्पदन्त विना॥ महापुराण सं० ४५ एवं
णण्णहो मंदिरि णिवसन्तु, संतु अहिमाणमेरु गुणगणमहंतु॥ णायकुमारचरिउ १।२।२

महाकवि नयचन्द्र सूरि अपने समय के प्रमुख कवि एव सट्टककार थे। उनकी दो कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है—हम्मीर महाकाव्य[1] एव रम्भामजरी[2] सट्टक। हम्मीर 'महाकाव्य' वीररस प्रधान महाकाव्य है जिसमे १४ सर्ग एव विविध प्रकार के छन्दो, अलकारो एव रसो से समन्वित १५७२ श्लोक है। इसकी भाषा सस्कृत है। इसके प्रणयन मे राजा विक्रमदेव की प्रेरणा ही प्रमुख कारण है। नयचन्द्र सूरि की कवि-प्रतिभा को उकसाने के हेतु उन्होने एक बार भरे दरबार मे कहा—"पूर्व कवियो के समान काव्यो की रचना आजकल सम्भव नही।"[3] विक्रम की यह बात महाकवि को लग गई, अत कवि ने 'हम्मीर महाकाव्य' का प्रणयन किया। कवि ने स्वय लिखा है—"विक्रम की बात सुनकर मैं श्रृगार, वीर एव अद्‌भुत रस से युक्त प्रस्तुत काव्य लिख रहा हूँ।"[4]

'हम्मीर महाकाव्य' राजा हम्मीरदेव के रणशौर्य एव और वीरमृत्यु की तेजस्विनी काव्यकथा है जिसे पटकर आज भी बाहुएँ फडक उठती हैं। जिस समय यह काव्य लिखा गया था वह युद्धो का काल था। सर्वत्र छोटी-बडी बातो अथवा कामिनी, काचन या राज्यलिप्सा को लेकर आपस मे कलह ठन जाती थी। विक्रम के राज्य की शान्ति एव समृद्धि की ओर भी दिल्ली एव मालवा के मुहम्मदशाह के सेनापति इकबाल खा एव खिज्रखा की आँखे गडी रहती थी। अवसर पाकर वे हमले बोल दिया करते थे जिससे शान्तिप्रेमी विक्रम को तलवार उठाकर अपना पुरुषार्थ दिखाना पडता था। यद्यपि विजय उसी के हाथ मे रहती थी किन्तु कभी-कभी उसके मन मे विजयप्राप्ति के प्रति आशका होने लगती थी। सघष एव निराशा की उन घडियो मे सम्भवत 'हम्मीर महाकाव्य' ही उसे प्रेरणा, उत्साह एव स्फूर्ति प्रदान करता रहा हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही। नयचन्द्र सूरि एव राजा विक्रम का यह घनिष्ठ सम्बन्ध कालिदास एव विक्रमादित्य, भामाशाह एव महाराणा प्रताप तथा चन्दवरदाई एव पृथ्वीराज चौहान के युग्म का स्मरण कराता है।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रम्भामजरी सट्टक है। इसमे प्राप्त कथानक के अनुसार राजा जैत्रचन्द्र की सात रानियाँ थी। उनके अतिरिक्त उसका प्रेम लाटनरेश देवराज की पुत्री रम्भा से हो गया जो आगे चलकर विवाह के रूप मे परिणत हो गया।

महान् सट्टककार राजशेखर (९-१० वी सदी) के अनुसार "सट्टक मे अक, प्रवेशक एव विष्कम्भक नही होते[5]। इनके अतिरिक्त सट्टक नाटिका का अनुकरण करती है। हाँ, सट्टक आद्यन्त प्राकृत भाषानिबद्ध होती है।" इनके अतिरिक्त सट्टक की अन्य विशेषताओ मे से इसका नायक राजा होता है जो स्वभावत स्त्रैण होता है। वह लुक-छिप कर नायिका से प्रेमव्यापार करता है और पट्टरानी को धोखा देकर उसके साथ विवाह कर लेता है। इसमे श्रृ गाररस प्रधान होता है। समस्त कथानक चार जवनिकान्तरो मे विभक्त होता है।[6]

सट्टक की उक्त सभी विशेषताएँ 'रम्भामजरी' मे उपलब्ध नही होती। चार जवनिकान्तरो मे से प्रस्तुत रचना मे कुल तीन जवनिकान्तर ही उपलब्ध हैं। प्रथम मे राजा जैत्रचन्द्र का रम्भा के साथ विवाह एव दूसरी तथा तीसरी जवनिका मे उनके प्रेमव्यापार का वर्णन है। इन तीनो जवनिकाओ मे नाटक के फल का वणन एव भरतवाक्य अनुपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम चतुर्थ जवनिका नष्ट हो गई।

---

१ निर्णयसागर० बम्बई (१८७९ ई०) से प्रकाशित।

२ निर्णयसागर० बम्बई (१८८९) से प्रकाशित।

३-४ काव्य पूर्वकवेर्न काव्यसदृश कश्चिद्विधाताधुने—
 त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपते सामाजिकै ससदि।
 तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमना श्रृगारवीराद्‌भुत,
 चक्रे काव्यमिद हमीरनृपतेर्नव्य नयेन्दु कवि ॥ हम्मीरकाव्य १४।४३

५ कर्पूरमजरी (Edited by N G Suru, Bombay, 1960) १।६

६ प्राकृत भाषा और साहित्य (दिल्ली, प्र० स०) पृ० १२१

नयचन्द्र ने तृतीय जवनिका के अन्त मे इसे 'नाटिका'[1] कहा है। जब कि नट एव सूत्रधार के माध्यम से उसने इसे 'सट्टक'[2] कहा है। इसी प्रकार इसमे प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण भी बहुलता से प्राप्त है। नट, रानी वसन्तसेना, रम्भा, प्रतिहारी, विदूषक और चेटी प्राकृत मे वार्त्तालाप करते हैं तथा इनके पद्य-प्रयोग भी प्राकृत मे हैं, हाँ चेटी संस्कृत-पद्य का प्रयोग करती है। दूसरी ओर सूत्रधार, राजा, नारायणदास एव मगलपाठक अपना वार्त्तालाप संस्कृत मे करते है किन्तु पद्य म संस्कृत एव प्राकृत दोनो का ही प्रयोग करते हैं। इतना ही नही इसका एक प्रतिहारी तो संस्कृत प्राकृत के साथ-साथ मराठी[3] का भी प्रयोग करता है।

उक्त विभिन्नताओ को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नयचन्द्र ने सट्टक एव नाटक मे कोई विशेष भेदभाव नही माना। वे लकीर के फकीर न थे। युग के अनुसार उन्होने जो उचित समझा, वही किया। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं" वाली उक्ति नयचन्द्र पर पूर्णतया लागू होती है। वस्तुत सट्टक के क्षेत्र मे कवि का यह एक नया क्रान्ति-कारी प्रयोग था और प्राचीनता मे नवीनता का समन्वय अथवा निर्वाह ही उनकी अपनी मौलिक विशेषता थी। इसकी भाषाशैली प्रौढ है। इसमे प्रयुक्त संस्कृत के अशो को पढते समय कादम्बरी के लम्बे-लम्बे समासान्त पदो का बरबश स्मरण आ जाता है।

सूत्रधार के माध्यम से नयचन्द्र ने अपना जो परिचय दिया है, उससे यह स्पष्ट विदित है कि वे सरस्वती के वरद पुत्र एव पारगत विद्वान् थे। इसका उन्हे गर्व भी था।[4] राजशेखर की कर्पूरमजरी नामक सट्टक को भी उन्होने नगण्य समझा।[5] नयचन्द्र को अपने पाण्डित्य पर गर्व करने की प्रेरणा सम्भवत महाकवि पुष्पदन्त से मिली होगी, क्योकि उस समय गोपाचल मे पुष्पदन्त के महापुराण एव जसहरचरिउ का पठन-पाठन बडा लोकप्रिय था। पुष्पदन्त ने अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए अपने को "अभिमानमेरु"[6] 'अभिमानचिह्न'[7] जैसे विशेषणो से विभूषित किया है। तथा सरस्वती को उन्होंने चुनौती दी है कि मेरे बिना उसे कहाँ प्रश्रय मिलेगा[8]? नयचन्द्र ने इतनी मुखरता के साथ तो अपना गर्व व्यक्त नही किया है किन्तु अपने काव्यकौशल से उन्होने अपना जैसा परिचय दिया है उससे पुष्पदन्त के जैसे गर्व की ध्वनि अवश्य ही सुनाई दे जाती है।

---

१ "समाप्ता रम्भामञ्जरीनाम नाटिका"।

२ नट —ता किं पओजणविसेस पडिवज्जिय एस सट्टयप्पबबववप्पारभो। रम्भा० १।१८

सूत्रधार —रभ त परिणेदि अट्ठमतिय एयम्मि सट्टे वरे। रम्भा० १।१९

३ जरा पेखिला मस्तकावरी केशकलापु। तरी परिस्खता मयूराचे पिच्छप्रतापु। जरि नयनविषयू केलावेणी दडु। तरि साक्षाज्जाला भ्रमरश्रेणीदडु। जरि दृग्गोचरी आला विसाल भालु। तरि अर्धचद्र मडलु भइला ऊर्णायु जालु। मुखमडलु जाणु शशाकदेवताचे मडलु। कल्पद्रुम जैसे सर्वलोक आशा विश्रामु

रम्भा १।१२ पृ० ११

४ छब्भासा मुकवित्तजुत्तिकुसलो जो सारदादेवया—

दिन्नप्पोढवरप्पसायवसउ रायाण जो रजगो।

जो पुव्वाण कईण पथपहिओ एयस्स सो कारगो,

विक्खाओ नयचदणामसुकई णीसेसविज्जाणिही ।। रम्भा० १।१२ तथा १।१५-१८

५ कप्पूरमजरीए कह रभामजरी न अहिययरा।

कप्पूराउ न रमा रभाओ जेण कप्पूरो ।। रम्भा० १।१४

६ त सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु ।। महापुराण १।३।१२

७ वयसजुत्ति उत्तमसत्ति वियलियसंकि अहिमाण किं। जसहर० ४।३१।३

८ क यास्यस्यभिमानरत्ननिलय श्री पुष्पदन्त विना ।। महापुराण स० ४५ एव

णण्णहो मदिरि णिवसन्तु, सतु अहिमाणमेरु गुणगणमहतु ।। णायकुमारचरिउ १।२।२



विक्रमदेव स्वय तो साहित्य-रसिक था ही। उसके मन्त्रिमण्डल का एक प्रमुख सदस्य कुशराज जैन[1] भी कम साहित्य-रसिक न था। उसका कलाप्रेम इसीसे जाना जा सकता था कि उसने गोपाचल मे एक विशाल उत्तुग चन्द्रप्रभ जिनालय[2] का निर्माण कराया था। यद्यपि वह स्वय साहित्यकार न था, किन्तु साहित्यकारो के प्रति दृढ आस्थावान्, श्रद्धालु, भक्त एव उनका आश्रयदाता था। उसके आश्रय मे रहकर पद्मनाभ कायस्थ ने सस्कृत-भाषा-निबद्ध 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा था। महाराज यशोधर का चरित जैन-साहित्य मे अहिंसा-सस्कृति का प्रतीक एक आदर्श उज्ज्वल चरित माना जाता है जिस पर लगभग १०० छोटी-बडी रचनाएँ विविध भारतीय भाषाओ मे विविध कालो मे लिखी गई। उन्ही मे से एक उक्त 'यशोधरचरित' भी है।

पद्मनाभ कायस्थ कृत यशोधरचरित का दूसरा नाम 'दयासुन्दर काव्य' है। इसमे ९ सर्ग एव कुल १८६१ श्लोक है (यथा-सर्ग १ श्लोक १४९, २-७९, ३ १५३, ४-२३४, ५-१७९, ६-१८०, ७-१७४, ८-१९१, ९-१०९, एव प्रशस्ति श्लोक १३)। अन्त्य प्रशस्तिखण्ड के दस पद्यो मे कुशराज का विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग्रन्थकार स्वय कायस्थ था किन्तु उसके गुरु जैन भट्टारक गुणकीर्त्ति (वि० स० १४६८-७३) थे। उन्ही के उपदेश से उसने उक्त ग्रन्थ लिखा था।[3] कई भक्तो ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा भी की थी।[4]

भट्टारक गुणकीर्त्ति एक साधक तपस्वी विद्वान् थे। उनकी स्वतन्त्र रचनाओ का तो पता नही चल सका, किन्तु अन्य प्रमाणो के आधार पर यह सुनिश्चित है कि उनके अनुज एव शिष्य भट्टारक यश कीर्त्ति, महाकवि रइधू प्रभृति द्वारा रचित विशाल साहित्य उन्ही की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा का सत्फल है। सन् १४१६ ई० मे उन्होंने एक जैन मूर्त्ति[5] की स्थापना भी कराई थी।

क्षत्रिय (विक्रम) जैन (नयचन्द्र एव कुशराज) एव कायस्थ (पद्मनाभ) यह जातियो एव सम्प्रदायो का अद्भुत समन्वय है। सुदूर पश्चिम एव दक्षिण मे ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते थे लेकिन उत्तर-भारत मे ग्वालियर का तोमरवश सम्भवत प्रथम राजवश था, जिसने धर्मनिरपेक्षबुद्धि से राज्यशासन किया तथा व्यक्ति की शक्ति, प्रतिभा एव बुद्धिगुण के आधार पर सभी की शक्ति का यथोचित सम्मान एव सदुपयोग किया। तोमरवश मे सर्वधर्म-समन्वय

---

१ ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि।
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान्॥
मत्री मन्त्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष क्षणात्।
क्षोण्यामीक्षण-रक्षण-क्षममति-जैनेन्द्र-पूजारत॥
येनैतत्समकालमेव रुचिर भव्य च काव्य तथा।
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तिश्चिरस्थापकम्।

(दयासुन्दराभिधान काव्य अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ६)

(यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और जैन सिद्धान्त भवन आरा मे सुरक्षित है) दे० पृ० ५३ ख

२ स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालय कारितो।
लोकाना हृदयगमोबहुधनैश्चन्द्र प्रभस्य प्रभो॥ वही० अन्त्यप्रशिस्त श्लोक ८

३ उपदेशेन ग्रन्थोऽय गुणकीर्त्तिमहामुने।
कायस्थपद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत॥ वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक १३

४ सतोष जैसवालेन सतुष्टेन प्रमोदिना।
अतिश्लाघितो ग्रन्थोऽयमर्थसग्रहकारिणा॥ वही० ९।१०८
साधोर्विजयसिहस्य जैसवालान्वयस्य च।
सुतेन पृथ्वीराजेन ग्रन्थोऽयमनुमोदित॥ वही० ९।१०९

५ दे० भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर, १९५८) लेखाक ५५६।

का प्रारम्भ विक्रम ने किया जो उत्तरोत्तर वृद्धिगत्त होता रहा। यदि उसके समय मे राजनैतिक उथल-पुथल न होती तो कला एव साहित्य के क्षेत्र मे जो कार्य होता वह अभूतपूर्व होता।

यह तो हुआ मौलिक साहित्य का सक्षिप्त परिचय। इसके साथ-साथ विक्रमकाल मे प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थो की सुरक्षा एव प्रतिलिपि का महत्त्वपूण कार्य भी होता रहा। ऐसे ग्रन्थो मे 'छक्कम्मोवएस', 'तत्त्वदीपिका' एव 'पचास्तिकाय' प्रमुख है।

'छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश)' अपभ्रश की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमे १४ सन्धिया है जिनमे देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, सयम, तप एव दान—इन छह नित्यकर्मों का दृष्टान्त रूप कथा-कहानियो सहित सुन्दर उपदेश है।

उक्त रचना के लेखक अमरकीर्त्ति ने उसकी रचना वि०स० १२४७ मे गुजरात के महीकाठा प्रदेश के गोद्दहय (गोध्रा) नगर मे की थी। कवि नागरवशी चर्चिणी और गुणपाल नामक माता-पिता के पुत्र थे। परवर्त्ती काल मे वे माथुरसघ मे मुनि हो गये थे जिसकी परम्परा उन्होने अमितगति से लेकर वर्णित की है। अपने भ्राता अबाप्रसाद की प्रेरणा से उन्होने काव्यरचना की थी। अमरकीर्त्ति ने वि० स० १२४४ मे 'नेमिनाथ चरित' की भी रचना की थी। 'छक्कम्मोवएस' की प्रशस्ति के अनुसार इन्होने महावीरचरित, यशोधरचरित, धमचरितटिप्पण, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि एव ध्यानप्रदीप आदि ग्रन्थ लिखे थे।[1]

उक्त 'छक्कम्मोवएस' की प्रतिलिपि का कार्य वि० स० १४७९ आषाढ सुदी ५ बुधवार को किसी पण्डित रामचन्द्र ने सम्पन्न किया था।[2]

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'प्रवचनसार' पर अमृतचन्द्राचार्य द्वारा लिखित 'तत्त्वदीपिका टीका'[3] की प्रतिलिपि का काय वि० स० १४६९ मे एव भट्टारक गुणकीर्त्ति की प्रेरणा से एक अग्रवाल साध्वी देवश्री ने अचार्य कुन्दकुन्द कृत 'पचास्तिकाय'[4] की एक प्रतिलिपि कराई थी।

प्रतिलिपिकार्य के साथ-साथ विक्रमकाल मे टीका-साहित्य भी लिखा गया जिसमे आचार्य देवसेनकृत 'तत्त्वसार टीका' पर प० कमलकीर्ति द्वारा लिखित एक नवीन टीका प्रमुख है।

विक्रम के बाद गोपाचल की राजगद्दी पर गणपतिपुत्र राजा डूंगरसिंह आसीन हुए तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह। इन दोनो का राज्यकाल क्रमश १४८१-१५१० एव १५१०-१५३५ वि० स० के लगभग माना जाता है। यह काल गोपाचल के स्वर्णकाल का वस्तुत यौवनकाल था। ये दोनो पिता-पुत्र जैनधर्म सस्कृति एव साहित्य के परम श्रद्धालु भक्त थे। इसका एक ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन दोनो के राज्यकाल मे लगभग ३३ वर्षों तक गोपाचल दुर्ग मे जैनमूर्त्तियो का निरन्तर निर्माण होता रहा।[5] यदि निष्पक्ष दृष्टि से गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास लिखा जाय तो उसका प्राय अधिकाश भाग जैनधर्म, समाज, साहित्य एव सस्कृति का इतिहास होगा।



डूगरसिंह[6] जब राजगद्दी पर बैठा तब सम्भवत उसने प्रथम बार यह अनुभव किया था कि राजसिंहासन गुलाब के फूलो की शैय्या नही है। उसके समय मे शत्रुओ ने चतुर्दिक आक्रमण जारी कर दिये थे। मालवा के हुशगशाह

१ ना० प्र० पत्रिका ५०।३-४।

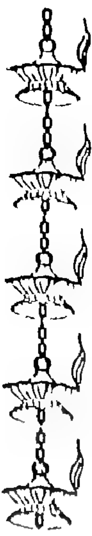
२ प्रशस्तिसग्रह (जयपुर, १९५०) पृ० १७३-४।

३ जैनग्रन्थ प्रशस्तिसग्रह भा० १ (दिल्ली १९५४), पृ० भूमिका-४।

४ भट्टारक सम्प्रदाय, लेखाक ५५६।

५ Archaeology of Gwalior (1934) Page 17

६ डूगरसिंह पर मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध "मध्यप्रदेश-सन्देश" (१९६६ ई०) मे पढिये।



एवं दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम ने उसे फिर से सिर नहीं उठाने दी। किन्तु डूंगरसिंह ने अपने शौर्य, पराक्रम एवं कुशल मन्त्र-सूझ से सभी शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये थे। इसलिए तो महारानी विक्टोरिया के राजमुकुट में चमकने वाला बहुमूल्य कोहिनूर हीरा, कहा है कि महाराज डूंगरसिंह ने उक्त कुतुबशाह, जिसके पास हीरा, मोती, माणिक आदि का अगणित खजाना था, से छीनकर अपने खजाने में सुरक्षित किया था जो तोमर राजवंश के अन्तिम राजा विक्रमादित्य के द्वारा छिनकर हुमायूं के राजमुकुट में जा लगा और कालक्रम से वह सात समुद्र पार जा पहुँचा। अस्तु, इस प्रकार अपने राज्य की सीमाएं सुरक्षित कर आन्तरिक शान्ति के लिए जो कार्य किया जा सकता था, वह और उसके साहित्य के निर्माण-विकास में जो योगदान दिया, उसे देखकर सम्राट् अशोक एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल का स्मरण हो आता है। इन सम्राटों के "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" किये गये कार्यों की परम्परा डूंगरसिंह के राज्यकाल में स्पष्ट देखी जा सकती है। उसे भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का गहरा ज्ञान था। राजा वीरमदेव, महामात्य कुशराज, [illegible] एवं साहू खेऊ साहू के कार्यों के प्रति वह नतमस्तक था। 'गोपाचल' के सर्वोच्च दुर्ग में आकर्षक महापुरुषों के इतिहास की रक्षा के हेतु लिखित 'जयस्तम्भ' भी इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

महाराज डूंगरसिंह की काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के साधन अनुपलब्ध हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उसने साहित्यकारों को मुकुट का मणि माना था। उसके समय में भट्टारक यशःकीर्ति, महाकवि रइधू, त्रिभुवनकीर्ति, भट्टारक कमलकीर्ति प्रभृति विद्वान् हुए जिनका उसने भी यथोचित सम्मान किया। महाकवि रइधू के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी, अतः उन्हें अपने राजमहल में रहकर ही साहित्य-साधना करने की सविनय प्रार्थना की थी। कवि ने उसे स्वीकार भी कर लिया था।[1] यही कारण है कि कवि ने २५ से भी अधिक मौलिक ग्रन्थों एवं खण्डकाव्यों की रचनाएं कीं। उसी की प्रेरणा से गोपाचल दुर्ग में अगणित छोटी-बड़ी कलापूर्ण जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ।[2] एक शिलालेख, आदिनाथ की मूर्ति पर उसके द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख भी प्राप्त हुआ है।[3] कवि ने अपने सभी ग्रन्थों में राजा डूंगरसिंह एवं उसके पुत्र कीर्तिसिंह[4] के सुन्दर कार्यों का मूल्यांकन किया है जिससे जैन-कला एवं संस्कृति के साथ-साथ गोपाचल के तोमरकालीन इतिहास पर कई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

भट्टारक यशःकीर्ति इस युग के महान् आध्यात्मिक सन्त एवं प्रेरक तथा सजीव साहित्यकार थे। वे भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य एवं अनुज भ्राता थे।[5] साहित्य के क्षेत्र में गोपाचल में यशःकीर्ति का वही स्थान था जो हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का, जो स्वयं तो साहित्य-प्रणयन करते ही थे, साथ ही उदीयमान प्रतिभाओं को हर प्रकार की सहायता प्रदान करके उन्हें साहित्य-लेखन में प्रोत्साहित करते थे।

यशःकीर्ति ने अपने जीवनकाल में पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, आदित्यवार कथा (अपर नाम रविव्रत कथा), जिनरात्रि कथा नामक ग्रन्थों की रचना की थी। पाण्डवपुराण की रचना वि० सं० १४९७-९८ के लगभग की थी, जिसे उन्होंने सम्भवतः दिल्ली के सुल्तान मुबारिकशाह के राजमन्त्री एवं वीरहासाहु के पुत्र श्री हेमराज अग्रवाल के लिये लिखा था। यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में है जिसमें ३४ सन्धियाँ हैं। इसकी समाप्ति कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० सं० १४९७ में की थी।[6]

---

१ रइधू ग्रन्थावली भा० प्र० ११३८

२ गोपाचल-दुर्ग में निर्मित जैन मूर्तियों के इतिहास के सम्बन्ध में मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध महावीर जैन विद्यालय बम्बई के स्वर्णजयन्ती स्मारक ग्रन्थ (१९६६-६७) में पढ़ें।

३ Journal of Asiatic Society of Bengal XXXI P. 101.

४ कीर्तिसिंह (अपरनाम करणसिंह) पर मेरा शोध-निबन्ध 'सन्मति-सन्देश' (१९६७) में देखिए।

५ रइधू ग्रन्थावली भाग १ भूमिका।

६ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग २ (संपा० पं० परमानन्द जी) दिल्ली, १९६३ भूमिका पृ० ८१-८२।

इनकी दूसरी रचना का नाम 'हरिवंशपुराण'[1] है जिसे इन्होंने योगिनीपुरी के दिवटा साहू के लिये बनाया था। इस ग्रन्थ की रचना भाद्रमास की शुक्ला एकादशी गुरुवार वि० स० १५०० मे जलाल खाँ के राज्य में स्थित इन्द्रपुर नामक नगर मे समाप्त हुई थी। इस रचना मे १४ सन्धियाँ एव २६७ कडवक है। इसमे पद्धडिया-छन्द के साथ-साथ हेला, जमोटिया, वस्तुबन्ध एव खडय प्रभृति छन्दो की विविधता दर्शनीय है। प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में मगलश्लोक सस्कृत भाषा मे उपलब्ध है जिनमे अनुष्टुप, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि प्रमुख है।

कवि की तीसरी रचना रविव्रत कथा है जिसका अपर नाम आदित्यवार कथा है। इसमे रविवासरीय व्रत के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।[2]

यश कीर्तिकृत 'चन्दप्पहचरिउ' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा आती है किन्तु उसका कृतित्व विवादास्पद है।[3]

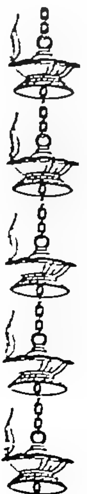
यश कीर्ति ने नवलेखन के साथ-साथ प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थो के पुनरुद्धार सम्बन्धी कार्य भी किये। उन्होने गोपाचल के निकटवर्ती 'कुमर' नामक जिनालय मे बैठकर महाकवि स्वयम्भू (८वीं सदी) कृत जीर्ण शीर्ण एव खण्डित पउमचरिउ एव हरिवशपुराण की प्राचीनतम प्रति की प्रतिलिपि कर उनका उद्धार किया था।[4] इन ग्रन्थो मे से 'पउमचरिउ' का प्रकाशन हो चुका है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस मे उक्त 'पउमचरिउ' की प्रेरणा ही नही बल्कि कहीं-कही उनके अपभ्रश पद्यो का अनुवाद भी प्राप्त है।[5] महाकवि पुष्पदन्त (दसवी सदी) के महापुराण एव जसहरचरिउ का पारायण भी सम्भवत यहाँ उस समय प्रारम्भ हो गया था।

प० विबुध श्रीधर[6] इस काल के तीसरे प्रमुख विद्वान् थे जिन्हे सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रश पर समानाधिकार था। उन्होने सस्कृत-भाषा मे भविष्यदत्तचरित एव अपभ्रश मे 'सुकुमारचरित' नामक ग्रन्थो की रचना की थी। भविष्यदत्तचरित के माध्यम से कवि ने मध्यकालीन समुद्रयात्रा एव व्यापारिक सामग्रियो के आयात-निर्यात पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इसके प्रणयन मे यश कीर्ति की प्रेरणा ही मूल कारण था।

एक अन्य कवि श्री नेमिचन्द्र भी इसी समय हुए जिन्होंने 'द्विसन्धान काव्य'[7] पर एक सुन्दर टीका ग्रन्थ लिखा था। इसकी कुछ प्रतिलिपिया भी उस समय की गई जो प्रचार की दृष्टि से अन्य नगरो के शास्त्रागारो मे प्रेषित की गई।

राजा डूँगरसिंह के समय मे ही एक और प्रशसनीय व्यक्ति हुआ जो मौन साधक था और जो सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव हिन्दी का अच्छा ज्ञाता था। उसका नाम था रल्हू कायस्थ। उसकी स्वतन्त्र रचना तो देखने मे नही आ सकी किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कुछ लिखा अवश्य था। वह प० विबुध श्रीधर का साहित्यिक सहायक (Literary Assitt) लेखक एव प्रतिलिपिकर्त्ता था। इस दृष्टि से भी साहित्य-सेवा मे उसका कम योगदान नहीं।

राजा डूगरसिंह का काल जैनसाहित्य एव जैनकला के चरम विकास का काल तो है ही, इसके समय मे



१ सरस्वती भंडार जैनमन्दिर इन्दौर की हस्तलिखित प्राचीन प्रति के आधार पर।

२. जैन ग्र०, प्र०स० भाग २ पृ० ८२ भूमिका।

३ अपभ्रश साहित्य (दिल्ली प्र० स०) पृ० २३८-३९।

४. भारती (अग० १९५५) में प्रकाशित राहुल साकृत्यायन का लेख देखें तथा भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक ५५८-५५९।

५ हिन्दी काव्यधारा (सपा० राहुल साकृत्यायन) भूमिका।

६ मध्यप्रदेशीय भाषा पृ० १८०।

७ राजस्थान के जैनशास्त्रभडारों की सूची (चतुर्थ भाग) पृ० १७२।

कई भट्टारकीय गद्दियो की स्थापनाएँ भी की गईं। ग्वालियर मे ही भट्टारक पट्ट की स्थापना की गई थी जिस अवसर पर भट्टारक सकलकीर्ति ने "पुण्याहवाचना" नामक मत्रग्रन्थ का समारोहपूर्वक आद्यन्त पाठ किया था।[1]

इसी समय सुवर्णाचल (सोनागिर) मे भी एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना भ० कमलकीर्त्ति (वि० स० १५०६ १०) के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र[2] (वि० स० १५३०) ने की थी।

डूंगरसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र कीर्त्तिसिंह की चर्चा पूर्व मे ही हो चुकी है। उसके कार्यों का वर्गीकरण कुछ जटिल है। वस्तुत इसके कार्य अपने पिता डूंगरसिंह के अधूरे कार्यों के पूरक ही रहे हैं। महाकवि रइधू ने इसके समय मे 'सावयचरिउ'[3] एव सम्भवत 'पुण्णासवकहा'[4] की रचना की थी। उसके पूर्वलिखित 'सिरिवाल चरिउ'[5] एव हेमचन्द्राचार्यकृत 'शब्दानुशासन की वृत्ति'[6] की प्रतिलिपि (वि० स० १५२७ के लगभग) भी इसी के राज्यकाल मे सम्पन्न हुई। इसी प्रकार वि० स० १५२१ आषाढ सुदि ६ सोमवार के दिन भट्टारक गुणभद्र के आम्नाय मे 'ज्ञानार्णव'[7] (शुभचन्द्र) की एव मुनिराज नेत्रनन्दि को समर्पित करने हेतु वि०स० १५२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० बुधवार को 'पउमचरिय'[8] नामक ग्रन्थो की प्रतिलिपियां कराई गईं। जैनमूर्तियाँ तो इस काल मे अगणित बनी ही, जिनका उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है।

राजा कीर्त्तिसिंह के बाद जैन-साहित्य एव कला के विकास की दृष्टि से राजा मानसिंह तोमर का काल (वि० स० १५४३-१५७६) महत्त्वपूर्ण है। यह सगीतज्ञ तथा साहित्यकार तो था ही, भवन-निर्माण कला का भी बडा प्रेमी था। इसके द्वारा निर्मित मानमन्दिर, गूजरीमहल एव मोतीझील गोपाचल की भवन-निर्माण कला के अद्भुत नमूने है। सगीत के क्षेत्र मे उसे कई राग एव रागनियो का जनक माना जाता है। इस विषय पर उसके द्वारा लिखित 'मानकुतूहल' नामक सगीतग्रन्थ विश्व के अद्भुत ग्रन्थो मे से एक माना जाता है जिसका अनुवाद फारसी आदि कई विदेशी भाषाओ मे हो चुका है।

मानसिंह तोमर के काल मे जो मौलिक साहित्य का प्रणयन हुआ वह प्राय हिन्दी मे है। ऐसे ग्रन्थो मे कवि परिमलकृत श्रीपालचरित[9], एव चतुरुमलकृत नेमीश्वरगीत प्रमुख है। श्रीपालचरित जैन-साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, जो विभिन्न कालो मे विविध भाषाओ मे लिखा जाता रहा। परिमल का श्रीपालचरित महाकवि रइधू के 'सिरिवालचरिउ' से पूर्णतया प्रभावित है। कही-कही तो रइधू के कई पद्यो का हिन्दी अनुवाद भी कर लिया गया है। उदाहरणार्थ —

रइधू[10]—जहिं साहसु तहिं सिद्धि।
परिमल[11]—जहँ साहस तहँ सिद्धि।
रइधू—तहु कच्चरु सुमिट्ठु।
परिमल—तसु काचरा सुमीठ।

---

१ राजस्थान के जैनशास्त्रभडारो की ग्रन्थ सूची भाग २, पृ० ३९।
२ रइधू ग्रन्थावली भा० १ (भूमिका)।
३-५ रइधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका।
६ राजस्थान के जैनशास्त्रभण्डारो की ग्रन्थसूची भाग ४ पृ० २६५।
७ भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक-५६७।
८ भट्टारक सम्प्रदाय लेखाक-२५५।
९ दि० जैन पुस्तकालय सूरत (१९५९) से प्रकाशित।
१० रइधू-ग्रन्थावली भाग २।
११ श्रीपालचरित पद्य-१६९३-१७०१।

रइधू—तासु पियावइ खीरु।
परिमल—तास पिवाऊ खीर।
रइधू—सो मइ कहव न दिट्ठु।
परिमल—सो मैं कहूँ न दीठ।
रइधू—सो तहि काइ करेइ।
परिमल—सो तनु काम करेय।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अत्यल्प परिवर्तनों के अतिरिक्त परिमल के 'श्रीपालचरित' का प्रणयन रइधू के 'सिरिवालचरिउ' के साँचे में ही ढाला गया है।

उक्त नेमीश्वरगीत की रचना वि० सं० १५७१ में हुई थी जो अभी तक अप्रकाशित है।[1]

'छिताई चरित' इस समय की सुप्रसिद्ध लोकगाथा मानी जाती है। उसका लेखक नारायणसिंह (जैनेतर) था किन्तु बीच में ही उसकी मृत्यु हो जाने से उसके उत्तरार्द्ध की समाप्ति सिंघई खेमचन्द्र की प्रेरणा से देवीसुत देवचन्द्र ने की थी। ये खेमचन्द्र जैन थे तथा महाकवि रइधू के साहित्य के बड़े प्रेमी भक्तों में से एक थे। उक्त छिताई चरित नयचन्द्रसूरि-कृत हम्मीरकाव्य से पूर्णतया प्रभावित है।

मानसिंह तोमर के राज्यकाल में सम्पन्न हुए प्राचीन ग्रन्थों सम्बन्धी प्रतिलिपि-कार्यों में से कवि अमरकीर्त्ति-कृत छक्कम्मोवएस (वि० सं० १५५८, चैत्र सुदी १०, सोमवार ज्येष्ठा नक्षत्र), वि० सं० १५५८ श्रा० शु० १२ को नागकुमार पंचमी (लेखक—?) तथा वि० सं० १५५१ में महाकवि रइधूकृत 'पउमचरिउ' की प्रतिलिपियाँ की गईं।

जैनमूर्त्तियों का निर्माण इस काल में अधिक नहीं हुआ। हाँ वि० सं० १५४८ वैशाख सुदी पंचमी को भ० गुणभद्र के आम्नाय में एक चौबीसी मूर्त्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

यह तो हुआ तोमरकालीन गोपाचल की जैन-साहित्य एवं कला-साधना। उसके बाद भी वहाँ यह कार्य-परम्परा चलती रही। यद्यपि तोमरवंश की समाप्ति के बाद वहाँ की राजनैतिक स्थिति काफी अस्थिर हो गई अतः साहित्य-सृजन एवं मूर्त्ति-निर्माण की गति मंद पड़ गई। फिर भी छुट-फुट साहित्य लेखन का कार्य चलता रहा और अगले ३-४ सौ वर्षों में जो कुछ कार्य हुआ उसमें ब्रह्मगुलालकृत त्रेपन क्रिया (हिन्दी, वि० सं० १६६५), लालजीतकृत अकृत्रिमजिनचैत्यालयपूजा (हिन्दी, वि० सं० १८३७) आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार प्रतिलिपि के कार्यों में नरसेनकृत सिरिवालु चरिउ (अपभ्रंश, वि० सं० १५२३) ब्रह्मगम्भीर साह द्वारा लिखित हरिवंश पुराण (जिनसेन विरचित) एवं पंचकल्याण विधान (सुरेन्द्रभूषणकृत,) रविव्रत कथा (हिन्दी, सुरेन्द्रकीर्त्तिकृत) एवं पद्मनन्दि पंचविंशतिका प्रमुख हैं।

इस प्रकार गोपाचल में मध्यकालीन जैन-साहित्य एवं कला के लिये विक्रमदेव तोमर का काल उदयकाल, डूंगरसिंह एवं कीर्त्तिसिंह का काल मध्यकाल (अथवा यौवनकाल) एवं राजा मानसिंह का काल अस्तकाल माना जा सकता है। इन १७४ (वि० सं० १४०२-१५७६) वर्षों के राज्यकाल में गोपाचल में जो कार्यकलाप हुए, संक्षेप में उनके कुछ नमूने मात्र ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। उन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि गोपाचल मध्यकालीन जैनसाहित्य-साधना का प्रमुख केन्द्र था एवं गोपाचल के लिये महाकवि रइधू द्वारा प्रयुक्त 'तीर्थ', 'पण्डित' एवं 'गुरु' के विशेषण उपयुक्त ही थे।



१ प्रशस्ति संग्रह (जयपुर) पृ० २३१।

कुवलयमाला में वर्णित ७२ कलाएं : एक अध्ययन



प्रेमसुमन जैन,
एम० ए०, शास्त्री,
शोध-स्नातक — हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा ८ वी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कथा और साहित्यिक दृष्टि से वह जितनी महत्त्व की है, उससे अधिक भाषा-विज्ञान तथा सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से महत्त्व की है। सामुद्रिक यात्रा, वाणिज्य एवं व्यापार, ललितकला और शिल्प-विज्ञान, शिक्षा एवं साहित्य तथा इतिहास आदि सांस्कृतिक विधाओं की इससे पुष्टि ही नहीं होती, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्याय में कुवलयमाला की विविध सामग्री बहुत कुछ अपना सम्बन्ध जोडती भी है।

प्रस्तुत निबन्ध में यद्यपि कुवलयमाला में वर्णित शिक्षा और साहित्य-विषयक समग्र सामग्री को प्रस्तुत करने का विचार था, किन्तु वह अपने आप में इतनी विस्तृत और विविध है कि उसका वर्गीकरण करना ही उचित लगा। और इसलिए यहां, अध्ययनीय विषय के अन्तर्गत जिन ७२ कलाओं का उल्लेख है, उनकी समीक्षा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। द्रष्टव्य है, स्वयं ग्रंथकार ने इन कलाओं का व्यावहारिक जीवन में कितना उपयोग कराया है।

प्राचीन भारत में अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत उन्हीं बातों को सिखाया जाता था जिनका दैनिक जीवन एवं मानसिक विकास के उत्थान में उपयोग होता था। उन सब बातों को कला के नाम से अभिहित किया गया है।

कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्य का सम्बन्ध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई है और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया है। कला के द्वारा ही मानव-जीवन में माधुर्य और सौन्दर्य भावना का जन्म हुआ। कर्त्तव्य-कर्म सुन्दर और मधुर[1] बना।

भारतीय साहित्य में कलाएं

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख प्रायः प्रत्येक भारतीय साहित्य में मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है।[2] पीछे कामसूत्र और शुक्रनीति आदि में इसका वर्णन किया गया है।[3]

प्रमुखतः १ रामायण २ महाभारत (१४-८९-३) ३ शुक्रनीति ४ वाक्यप्रदीप ५ कलाविलास-क्षेमेन्द्र ६ दशकुमार-चरित ७ ब्रह्माण्डपुराण ८ भागवतपुराण की टीका ९ महिम्नस्तोत्र टीका १० शृङ्गारप्रकाश ११ कामन्दक १२ शैवतन्त्र १३ सप्तशती टीका १४ सौभाग्यभास्कर आदि हिन्दू ग्रंथों में कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्राय

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १९९।

२ 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला-नाट्यशास्त्र, प्र० अ० श्लोक ११६।

३ हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २, पृ० ३७८।

सभी मे ६४ कलाए ही वर्णित है। केवल क्षेमेन्द्र ने कलाविलास मे कला के भेद प्रभेदो की चर्चा की है और उनकी सख्या १०० से भी अधिक गिनायी है।[1]

बौद्धग्रथो मे ललितविस्तर (पृ० १५६) मे प्रमुख रूप से विविध कलाओ का वर्णन है। इसमे कलाओ की सख्या ८६ गिनायी गई है। दिव्यावदान मे (पृ० ५८, १०० एव ३६१) भी कलाओ के उल्लेख है।

जैन साहित्य मे जहाँ कही भी अध्ययनीय विषयो की चर्चा हुई है वहाँ पर कलाओ का वर्णन विस्तार मे हुआ है। १ ज्ञाताधर्मकथा २ समवायागसूत्र ३ औपपातिक सूत्र ४ राजप्रश्नीय सूत्र[2] ५ कल्पसूत्र ६ विपाकसूत्र ७ अगशास्त्र ८ पृथ्वीचन्द्र चरित ९ समरादित्यकथा १० कुवलयमाला ११ प्रबन्धकोश १२ प्राकृतसूक्तरत्नमाला[3] आदि ग्रथो मे ७२ कलाओ एव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि मे ६४ कलाओ का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने यद्यपि ८६ कलाए गिनायी है, परन्तु जैन-साहित्य मे सामान्य रूप से पुरुषो के लिए ७२ 'बावत्तरिकलापण्डियाविपुरिसा' एव स्त्रियो के लिए ६४ कलाओ का विधान किया गया है। णायकुमारचरिउ एव यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रथो मे यद्यपि कलाओ की सख्या नही गिनायी गयी फिर भी प्राय सभी कलाओ का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।[4]

कुवलयमाला की ७२ कलाए

प्राय हर जगह कलाओ का वर्णन राजकुमारो के विद्याभ्यास के समय किया गया है। उद्योतनसूरि ने भी इसी अवसर को उपयुक्त चुना है। कुवलयमाला मे जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के साथ राजधानी वापिस लौटते है तो उनके पिता महाराजा दृढवमन आचार्य से पूछते है—'उवज्झाय, किं अभिगओ कला-कलावो कुमारेण ण वा।'[5]

प्रथम तो आचार्य ने यह कहकर कि 'कुमार ने एक भी कला को ग्रहण नही किया' राजा को विस्मय मे डाल दिया। किन्तु बाद मे 'स्वयवरा' कलाओ ने स्वय कुमार को ग्रहण कर लिया है' कहकर राजा को हर्षित कर दिया और उनके पुन पूछने पर निम्न ७२ कलाओ का आचार्य ने परिचय दिया —

१ आलेक्ख (आलेख्य) २ णट्ट (नाट्य) ३ जाइम (ज्योतिष) ४ गणिय (गणित) ५ गुणा य रयणाण (रत्नपरीक्षा) ६ वागरण (व्याकरण) ७ वेय-सुइ (वेद-श्रुति) ८ गधव्व (गान्धर्वकला) ९ गध-जुत्ती (गन्ध-युक्ति) १० सख (सांख्य) ११ जोगो (योग) १२ वरिसगुणा (वर्षा या वर्ष का परिज्ञान) १३ होरा १४ हेतुसत्थ (न्यायशास्त्र) १५ छद (छन्द ज्ञान) १६ वित्ति (वृत्ति) १७ णिरुत्त (निरुक्त) १८ सुमिणय-सत्थ (स्वप्नशास्त्र) १९ सउणणाण (शकुनज्ञान) २० आउज्जाण २१ तुरयाण लक्खण (अश्वलक्षण) २२ हत्थीण लक्खण (गजलक्षण) २३ वत्थु (वस्तुपरीक्षा) २४ वट्टा (पट्टा) २५ खेड्डे (क्रीडा) २६ गुहागय (पातालसिद्धि) २७ इदजाल (इन्द्रजाल) २८ दतकय (हाथीदात की कला) २९ तवकय (तावे की कला) ३० लेप्पय-कम्माइ (लेप्यकर्म) ३१ विणिओगे (विनियोग) ३२ कव्व (काव्य) ३३ पत्तच्छेज्ज (पत्रछेद) ३४ फुल्लविही (फूल उगाने की कला) ३५ अल्लकम्म (नमस्कार की कला) ३६ धाउव्वाओ (धातुवाद) ३७ अक्खवाइया (पासा खेलने की कला) ३८ तताइ (तत्रादि) ३९ फुप्फ (पुष्पकला) ४० सकडी (शकटी) ४१ अक्खरसमय (शब्दशास्त्र) ४२ णिघटु (निघटु) ४३ रामायण ४४ भारताइ (महाभारत)



---

१ भारत कोश, भाग ३—सुरेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय।

२ जैन आगमसाहित्य मे भारतीय समाज, पृ० २९६।

३ पाइयसद्दमहण्णव, पृ० २३०।

४ णायकुमारचरिउ, यशस्तिलकचम्पू।

५ कुवलयमाला पृ० २१ प० २०।

६ वही २१-२९।

४५ कालायसकम्म (कृष्ण-लोहकम) ४६ सुवण्णकम्म (सुवर्णकम) ४७ चित्तकला-जुत्तीओ (चित्रकला) ४८ जूय (द्यूत) ४९ जतप्पओगो (यन्त्रप्रयोग) ५० वाणिज्ज (व्यापार) ५१ मालाइत्तण (माली) ५२ वत्थकम्म (वस्त्र बनाने की कला) ५३ आलकारियकम्म (आभूपणकला) ५४ उयणिसय (मुगटनी कला) ५५ पण्णयर-तत (प्रश्नोत्तर तन्त्र) ५६ सव्वेणाडय (सर्वेनाटक) ५७ जोगा (योग) ५८ कहा-णिवध (कथा-निबन्ध) ५९ धणुव्वेओ (धनुर्वेद) ६० देसीओ ६१ सूव-सत्थ (पाकशास्त्र) ६२ आरुहिय (आरोहण) ६३ लोगवत्ता (लोकवार्ता) ६४ ओसोवणि (अवस्वापिनी निद्रा) ६५ तालुग्घाडणी ६६ मायाओ (मायाकपट) ६७ मूलकम्म (मूलकर्म) ६८ लावय-कुक्कुड-जुद्ध ६९ सयण (शयन) ७० आसनो (आसन) ७१ कालेदाण दक्खिण्णया एव ७२ मउयत्तण महुरहा (मधुर बोलने की कला)।[1]

वर्गीकरण

उपर्युक्त ७२ कलाओ का वर्गीकरण प्राकृत कुवलयमाला के गुजराती अनुवादक आचार्य हेमसागर सूरि ने अपनी सुविधानुसार किया है। किन्तु इनमे से कुछ कलाए ऐसी हैं जिनका भेदकर उन्हे अलग-अलग किया जाना चाहिए और कुछ कलाओ को एक कला के अन्तर्गत ही समाहित होना चाहिए था।

उक्त वर्गीकरण मे न० २४ 'वट्टा' एव न० २५ 'खेड्ड' को दो भिन्न कलाए माना गया है किन्तु वट्टा-खेड्ड' एक ही कला का नाम है, जिसका अर्थ है वस्त्रक्रीडा अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी और तसर वस्त्रो की कलात्मक जानकारी अथवा वस्त्रो द्वारा नाना प्रकार की क्रीडा करने की कला। आचार्य हरिभद्र ने कलाओ के प्रसग मे ८१ वें न० पर 'वत्थखेड्ड' नामक कला का उल्लेख किया है।[2]

इसी तरह ३९ 'पुप्फ' एव ४० 'सकडी' इन दोनो कलाओ को भी 'पुप्फसयडी' (पुष्पशकटी) नाम से एक कला ही मानना चाहिए। इसका अर्थ है—पुष्पो द्वारा गाडी को सजाना या पुष्पो से गाडी बनाना। भागवत पुराण की व्याख्या मे उल्लिखित कलाओ के अन्तर्गत ४९वें न० पर 'पुष्पशकटिका-निर्मितविज्ञानम्' नाम से इसका उल्लेख हुआ है और फिर अन्यत्र कही 'पुष्प' और 'शकटी' के अलग-अलग उल्लेख भी तो नही मिलते।

इसी प्रकार ११ 'जोग' एव ५७ जोगा नाम से योग का ग्रथ मे दो बार प्रयोग जरूर है, किन्तु किसी एक 'जोग' का ही 'योग-दर्शन' अर्थ किया जा सकता है। अच्छा यही होगा कि ५६ 'सव्वे णाडयजोगा' को एक ही कला माना जाय।

उक्त छहो कलाओ का तीन मे अन्तर्भाव कर देने से ७२ कलाओं में ३ कलाओ की कमी का प्रश्न उठ सकता है, किन्तु अन्य तीन कलाओ को जोड देने से उक्त सख्या पूरी हो जाती है। वे कलाए इसी प्रसग मे हैं।

४५ 'कालायसकम्म' के बाद और ४६ 'सुवण्णकम्म' के पूर्व 'सेक्कणिण्णओ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] यह शब्द किसी कलाविशेष का नाम ही होना चाहिए। यद्यपि 'सेक्क' का काफी प्रयत्न के बाद भी अर्थनिर्णय नही हो सका फिर भी शीघ्र निर्णय ले लेने की दक्षता अथवा सीके आदि बनाने की कला से इसका सम्बन्ध जोडा जा सकता है। बगाल मे सीके बनाने की कला आज भी मशहूर है। उद्योतनसूरि ने 'सेक्क' शब्द सम्भवत नया प्रयुक्त किया है।

इसी प्रकार ५१ मालाइत्तण के बाद एव ५२ वत्थकम्म के पूर्व 'खारो' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ मे हुआ है।[4] इसका भी सम्बन्ध किसी कला मे हो सकता है। 'खार' का अर्थ डाह शब्द के साथ क्षार बनाने की भट्टी' एव तत

---

१ 'आलेक्ख णट्ट जोइस——कुमारम्मि॥'—कुवलयमाला पृ० १-१०।

२ समराइच्चकहा अष्टम भव, पृ० ७३३।

३ कालायसकम्म सेक्कणिण्णओ तह सुवण्णकम्म च। कुव० २२-६।

४ वाणिज्ज मालाइत्तण च खारो य वत्थकम्म च। वही २२-७।

शब्द के साथ 'वाजीकरण औषधि बनाने की विद्या' किया गया है।[1] अत 'क्षारविद्या' नाम की कला का यह उल्लेख होना चाहिये।

६८ 'लावय-कुक्कुट जुद्ध' को दो कलाओं मे विभक्त किया जा सकता है—लावय-जुद्ध (पक्षी-युद्ध) एव कुक्कुड-जुद्ध (कुक्कुट-युद्ध)। अन्य ग्रन्थो मे भी इनके इसी प्रकार उल्लेख हैं।[2]

विशिष्ट कलाओ का परिचय

७२ कलाओ के उक्त वर्गीकरण मे अधिकाश कलाओ का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु कुछ कलाए ऐसी है जिनका अर्थ पूर्णतया समझ मे नही आता। और वह तब तक नही आ सकता जब तक तत्कालीन परिवेश को ध्यान मे रखकर न सोचा जाय। कलाओ के अर्थनिश्चय मे कुछ मतभेद भी हो सकता है, कुछ नवीनता भी। निम्नकलाओ का वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है

२० **आयुज्जाण** इससे आपातत आयुधज्ञान का बोध हो सकता है किन्तु इसका वास्तविक शब्दार्थ है आतोद्यज्ञान। अर्थात् विविध वाद्यो का ज्ञान, सगीतकला।

चार प्रकार के वाद्य वादित्रो को आतोद्य कहते है 'चतुर्विधमिद वाद्यवादित्रातोद्यनामकम्'।[3]

२३ **वत्थु** इसका अर्थ विद्वान् अनुवादक ने 'वस्तुपरीक्षा' किया परन्तु वास्तुकला मे इसका सम्बन्ध होना चाहिए। क्योकि कलाओ के इस वर्णन मे अन्यत्र कही वास्तुकला का उल्लेख नही है, जबकि ७२ कलाओ मे वह सबसे प्रमुख कला मानी गयी है। अगशास्त्र एव समरादित्यकथा मे क्रमश 'वत्थुविज्जा'[4] एव 'वत्थुगाव'[5] का उल्लेख हुआ है, जिनका अर्थ है—गृहनिर्माण को जानने एव बनाने की कला। अत उक्त 'वत्थु' को स्थापत्यकला मे ही सम्बन्धित होना चाहिए।

२८ **दतकय** हाथीदात की कला। किन्तु 'दन्तरजन' की कला भी इसका अर्थ हो सकता है। क्योकि इसके पूर्व भागवतपुराण की व्याख्या मे इसका ८वी कला के रूप मे उल्लेख हुआ है।[6]

३१ **विणिओगे** उद्योतनसूरि ने कला के रूप मे इस शब्द का नया प्रयोग किया है। प्राचीन भारत मे प्रचलित नियोग प्रथा से तो इसका सम्बन्ध नही हो सकता। विणिओग का अर्थ उपयोग या ज्ञान किया गया है।[7] सम्भवत यह विशिष्ट प्रकार के ज्ञान रखने की कला हो। किन्तु इससे उपयुक्त इसका अर्थ 'प्रशासन-कला' करना चाहिए। क्योकि 'विणिओग' का अर्थ—आज्ञा, हुक्म आदि भी मिलता है।[8] 'नियोजित करना' अर्थ भी प्रशासन से सम्बन्ध रखता है।

३५ **अल्लकम्म** अल्ल का शाब्दिक अर्थ कोशकार ने 'अह्न'किया है, जिसका अर्थ दिन या दिवस भी होता है।[9] अत इससे हम 'दैनिक-व्यवहार की कला' का भी अर्थ ग्रहण कर सकते है। अनुवादक ने शायद इसी अभि-



१ पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० २७५।
२ समरादित्य कथा, अगशास्त्र, आदि।
३ अमरकोश, १-५।
४ अगशास्त्र पृ०
५ समरादित्य कथा अष्टम भव, पृ० ७३४।
६ भागवतपुराण।
७ अर्धमागधी कोश भाग ५, पृ० ५५२।
८ अर्धमागधीकोश भाग २, पृ० ६३६।
९ पाइअसद्दमहण्णव, पृ० ७४।

प्राय से इसका अर्थ 'नमस्कार की कला' किया है किन्तु यदि 'अद्द' का अर्थ 'आर्द्र' किया जाय तो सहज ही उक्त कला सिंचनकर्म से सम्बन्धित हो जाती है। ३४-पुष्पविधि कला के बाद इसका उल्लेख भी 'सिंचनकर्म' का ही समर्थन करता है।

३७ **अक्खाइया** इसका अर्थ, आख्यायिका के अर्थ मे कहानी लिखने या कहने की कला किया जा सकता है। अन्य ग्रन्थो मे भी इसका यही अर्थ है। अनुवादक ने 'पासा खेलने की क्रिया' इसका अर्थ किया है।

४५ **कालायसकम्म** कृष्ण लोहे को आग मे गलाकर उसमे शस्त्र आदि बनाने की कला। आजकल लोहार जिस कार्य को करते है।

५१ **मालाइत्तण** पुष्पो के हार आदि गूथने की कला। माली का कार्य।

५४ **उयणिसय** इसका अर्थ उपनिश्चय हो सकता है किन्तु औपनिषदक अर्थ करना अधिक सगत है। उपनिषद् विद्या का अर्थ रहस्यविद्या है। ऐसी विद्या, जिसे गुरु अपने विशिष्ट शिष्य को ही पढाते थे और जिसको गोपन रखने की शिष्य को प्रतिज्ञा करनी पडती थी। अनुवादक ने इसका अर्थ 'मुगटनी कला' किया है।

६४ **ओसोवणि** अवस्वापिनी विद्या, जिसके प्रभाव से दूसरे को गाढ निद्राधीन किया जा सके ऐसी विद्या। देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था।[1] अनुवादक ने 'अवस्वापिनी निद्रा' इसका अर्थ किया है। निद्रा की जगह विद्या कहना अधिक सगत है।

६७ **मूलकम्म** प्राथमिक उपचार का ज्ञान। समरादित्यकथा मे एक घायल व्यक्ति का औषधिवलय से उपचार करने को 'मूलकर्म' कहा गया है।[2]

इस तरह उक्त विवेचन के बाद भी ये कलाए अभी भी अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखती है।

अन्तर्भाव

उद्योतनसूरि ने जिन पूर्वोक्त ७२ कलाओ का उल्लेख किया है उनमे बहुत कुछ ऐसी कलाओ के भी नाम है, जो बहत्तर और चौसठ तथा हरिभद्र द्वारा प्रणीत ८९ कलाओ के अन्तर्गत भी नही आते। और जिन नामो का अन्य ग्रन्थो मे वर्णित कलाओ से साम्य है, उनके अन्तर्गत उद्योतनसूरि ने समस्त कलाओ का समावेश करने की भरसक कोशिश की है। इससे एक ओर ग्रथकार ने जहाँ परम्परा का निर्वाह किया है, वहा दूसरी ओर अपनी मौलिकता को विस्तृत करने का क्षेत्र भी तैयार किया है।

कुवलयमाला मे नृत्य के अन्तर्गत—गीत, वादित्र, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का, रत्नपरीक्षा के अन्तर्गत—मणिशिक्षा, हिरण्यवाद, सुवर्णवाद, मणिवाद का, ज्योतिष के अन्तर्गत चन्द्रचरित, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित कलाओ का, छन्द के अन्तर्गत—आर्या, प्रहेलिका, गाथा, गीति और श्लोक का, गज और अश्वकला के अन्तर्गत गौ, कुक्कुट और मेषलक्षण कलाओ का, वस्तुपरीक्षा या वास्तुकला के अन्तर्गत—चक्र, छत्र, दण्ड, असि और मणिलक्षण कला का अथवा नगरमान, वास्तुयान, स्कन्धावार-निवेशन, नगर-निवेश, वास्तुनिवेश आदि कलाओ का[3], देशीभाषा ज्ञान के अन्तर्गत प्राकृत, सस्कृत, पैशाचिक एव अपभ्रश भाषा के ज्ञान की कलाओ का[4], लावककुक्कुड युद्ध कला के अन्तर्गत पक्षियो की युद्धकला के अतिरिक्त बाहु, दण्ड, मुष्टि एव अस्थि-युद्ध कलाओ का भी अन्तर्भाव किया गया है।[5]

---

१ कल्पसूत्र २,२७ पृ० ४४ अ। ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

२ समरादित्य कथा, छठा भव।

३ समराइच्चकहा की ८९ कलाओ मे से।

४ कल्पसूत्र की ७२ कलाओ मे से।

५ समरादित्यकथा अ० भ० पृ० ७३४।

साम्य-वैषम्य

कल्पसूत्र आदि ग्रन्थो मे वर्णित कलाओ के नामो का कुवलयमाला मे वर्णित कलाओ के नामो मे जो साम्य है, वह इस प्रकार है –

कल्पसूत्र की ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्ति, निघटु, इन्द्रजाल, पातालसिद्धि (गुहागय), देशभाषा, योगाग और शकुनज्ञान इन ९ कलाओ का, अगशास्त्र की गणित, आलेख्य, काव्य, नृत्य, द्यूत, वस्त्रविधि, पत्रच्छेद, अश्वलक्षण, गज-लक्षण और धनुर्वेद, इन १० कलाओ का,[1] पृथ्वीचन्द्रचरित की नाटक, आरोहण, प्रत्युत्तर एव वाणिज्य इन ४ कलाओ का तथा समराइच्चकहा की होरा, शयनविधि, धातुवाद, वस्त्रक्रीडा एव सुवणकर्म इन ५ कलाओ के नाम उद्योतनसूरि ने ज्यो के त्यो कुवलयमाला की ७२ कलाओ के अन्तर्गत दिये है। अन्य कलाओ को उन्होने अपनी सुविधानुसार नाम दिये हैं।

वेद-श्रुति, गान्धर्व, साख्य, योग, वर्षा का ज्ञान, न्यायशास्त्र, वृत्ति, स्वप्नशास्त्र, दत-कय, तबकय, लेपनकर्म, विनियोग, अल्लकम्म, आख्यायिका, पुष्प शकटी, कालायसकम्म, सेक्कणिण्णओ, खारो उपनिषद, सूपशास्त्र, लोकवार्ता, अवस्वापिनी विद्या, तालुग्घाडणी, मायाकर्म, मूलकर्म और कालेदाण दक्खिणगया कुवलयमाला की इस प्रकार की कलाए है, जिनका अनर्भाव जैन-साहित्य मे वर्णित ७२ कलाओ की सख्या मे सम्भव नही है। ये कलाए उद्योतनसूरि की अपनी मौलिक उद्भावनाएँ है।

यह बात विचारणीय है कि कुवलयमाला की उक्त ७२ कलाओ मे कही भी युद्धकला का उल्लेख नही है, जोकि एक प्रधान कला थी और जिसके कई भेद-प्रभेदो का भी अन्य जैन-ग्रथो ने उल्लेख किया है। अलबत्ता धनुर्वेद का उल्लेख उन्होने किया है। सम्भवत इसका कारण कुवलयमाला का ही कथानक हो, जिसमे कही भी युद्ध का विशेष महत्त्व व वर्णन देखने को नही मिलता। उद्योतनसूरि ने प्राय ऐसी कलाओ का निर्देश नही किया जिनका वर्णन करना ग्रन्थ मे उन्हे अपेक्षित नही था।

व्यावहारिक पक्ष

अध्ययनीय विषयो के अन्तर्गत विभिन्न कलाओ का समावेश कर देना ही काफी नही होता, बल्कि उन कलाओ का वास्तविक महत्व तो तब है, जब वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष मे उपयोगी हो। उनका रचनात्मक कार्यों मे प्रयोग हो।

उद्योतनसूरि ने कुवलयमाया मे उक्त कलाओ का उल्लेख करके ही नही छोड दिया, बल्कि ग्रन्थ मे जगह-जगह उनका प्रयोग कर उनकी सम्यक् व्याख्या भी की है। जिस कला का जहाँ वे वर्णन करने लगे हैं वहा उन्होंने तद्-विषयक विविध और विस्तृत सामग्री प्रस्तुत कर ही विश्राम लिया है। उदाहरणार्थ कुछ कलाओ के वर्णनात्मक प्रयोग यहा प्रस्तुत हैं—

नृत्य कुवलयमाला मे कई जगह नृत्य का उल्लेख है। किसी गाव मे यदि नृत्य करने वालो का दल पहुँचता था तो पूरे गाव को निमन्त्रण दिया जाता था। लोग बहुत भारी सख्या मे नृत्य देखने पहुचते थे। चडसोम अपनी पत्नी को बहिन के पास छोडकर नृत्य देखने गया।[2] क्योकि रगशाला मे अतीव सुन्दर सैकडो युवक-युवतियो का जमघट होता था।[3]



---

१ समवायाग और औपपातिक सूत्र की कलाओं से भी उक्त नामो का साम्य है।

२. कुवलयमाला, पृ० ४६-१८।

३ वही, पक्ति १७।



ज्योतिष इस विषयक तो अपार सामग्री ग्रथकार ने प्रस्तुत की है। नक्षत्र विद्या, राशिफल,[1] जन्मोत्सवसमयविचार, विवाह का लग्न विचार[2] आदि सबका विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ 'सवच्छरेण भणिय, देव, जहाणवेसि त्ति, णिसुणेसु सवच्छरो, एस आणदो, उदूसरअ-समओ, मासो कत्तिओ, तिही विजया, वारो बुहस्स, णक्खत्त हत्थो, रासी कण्णो, सुकम्मो जोगो, सोम-ग्गह णिरिक्खिय लग्ग, उच्च-ट्ठाणट्ठिया सव्वे वि गहा।[3]

व्याकरण मठो मे व्याकरण पढाने का अलग विभाग था। जहा 'पयइ-पच्चय-लोवागम-वण्ण-विचारादेम-समासोवसग्ग-मग्गणाणिउण वागरण वक्खाणिज्जइ त्ति।[4]

ग्रथकार ने इस प्रसग मे साख्य, योगादि सभी दर्शनो के मन्तव्यो की सम्यक् चर्चा की है।

तुरगलक्षण . अश्वो के विषय मे जो जानकारी उद्योतनसूरि ने प्रस्तुत की है अन्यत्र कही एक जगह नही मिलती। कुवलयमाला मे १८ प्रकार के घोडो की जातियो का वर्णन है 'तुरयाण ताव अट्ठारस जाईओ[5]।'

धातुवाद कुवलयमाला मे धातुवाद का विस्तृत वर्णन है।[6] प्राचीन भारत मे धातुवाद द्वारा स्वर्ण सिद्ध किया जाता था। यह एक रासायनिक प्रक्रिया थी। धन कमाने के लिए लोग इसको सीखते थे 'धाउव्वाय धमिनोत्ति तेण ते किं पि सिक्खिविया[7]।' किन्तु सभी को इसमे सफलता नही मिलती थी।

चित्रकला वस्त्रचित्रो एव भित्तिचित्रो का फुटकर तो उल्लेख ग्रथकार ने किया ही है,[8] किन्तु एक जगह जितना विस्तृत चित्रो का वर्णन किया है, उतना अन्यत्र कही एक स्थान पर देखने को नही मिलता। कुवलयचन्द्र को ससार-चक्र का ज्ञान कराने के लिए एक उपाध्याय स्वचित्रित चित्रपट को दिखाता है। 'कुमार, मए चित्तवडो लिहिओ, त ता पेच्छह किं सुन्दरो किं वा ण व।' कुमार को अत मे चित्रपट देखकर कहना पडता है—

'दिट्ठ च मए त पुहइए णत्थि ज तत्थ ण लिहिय।
ज च तत्थ णत्थि त णत्थि पुहईए वि॥'[9]

वाणिज्य कुवलयमाला का सम्पूर्ण कथानक वाणिज्य के उपकरणो द्वारा ही गतिशील हुआ है। वाणिज्य के विविध अगो—८४ प्रकार के बाजार[10] व्यापारियो की मण्डिया, उनकी व्यवस्था,[11] सामुद्रिक यात्राएँ,[12] देश-विदेशो से वस्तुविनिमय,[13] धनाजन के विविध उपाय[14] आदि का विस्तृत वर्णन ग्रथ मे हुआ है।

---

१ वही पृ० १६-१३।
२ वही, १७०, ५-१५।
३ वही, १६,४-६।
४ वही, १५०,२६।
५ कुवलयमाला, २३-२२।
६ वही, १६५, पूरा पृ०।
७ वही, १६१ २४।
८ वही, २३३, ६-२३।
९ वही, १८५, १५।
१० कुवलयमाला, पृ० ८।
११ वही, १५२-५३।
१२ वही, ६७ आदि।
१३ वही ६६।
१४ वही, १६१-१-१३।

देशीभाषापरिज्ञान इस कला का उल्लेख कर उद्योतनसूरि ने अपने भाषा विषयक विस्तृत ज्ञान को प्रस्तुत करने का क्षेत्र बना लिया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाओं का उल्लेख उन्होंने किया ही है।[1] ग्रामीणों की बोलियों[2], शबरों की भाषा[3] एवं १८ देशी बोलियों का भी विस्तृत वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है।[4] इस विषय में डा० ए० एन० उपाध्ये का महत्त्वपूर्ण निबन्ध द्रष्टव्य है।

इस प्रकार उक्त कुछ कलाओं के सन्दर्भ एक ओर उनके व्यावहारिक उपयोग को सिद्ध करते हैं दूसरी ओर इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि कुवलयमाला न केवल अपने समय की बल्कि समग्र भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

७२ कलाओं के इस अध्ययन को कुवलयमाला जैसे विशाल एवं समृद्ध ग्रंथ के सन्दर्भ में एक नगण्य-सा प्रयत्न ही कहा जायेगा। फिर भी इसमें इतना तो स्पष्ट है कि उद्योतनसूरि ने इन कलाओं में ज्ञान के सभी अंगों को समाविष्ट कर लिया है और उन्हें अर्थवत्ता भी प्रदान की है।

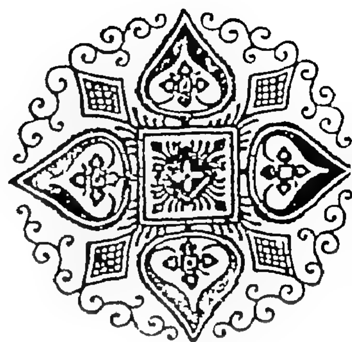


१ कुवलयमाला, ७१, १-८।
२ कुव० ६३ १२८।
३ वही, १२८-१२८।
४ वही, १५२-५३।

चित्रकला में अभिव्यंजनवाद

प्रोफेसर परमानन्द चोयल,

उदयपुर



अभिव्यजनवादी कला का जन्म भावानुभूति के मूल से होता है । भावात्मकता मानव की स्वभावजन्य प्रकृति है अत: इस कला का उद्गम सीधे मानव-हृदय मे मानना चाहिये जहाँ वाह्य दृश्य के हर बिम्ब का ऐसा घात-प्रतिघात होता है कि उफन-उफन कर यह भाव स्रोत अन्तर से बाहर बहने लगता है । यह आदि मानव मे चली आई प्रवृत्ति है । अत: इस कला का वाद के रूप मे केवल २० वी सदी के जर्मन कलाकारो से ही नही है वरन् आदि मानव की कहानी से भी है । आधी लम्बाई की भयातुर बालक व मानव की आकृतियाँ, दुखी, तरुण, दर्द पैदा करने वाले फूलो के गुच्छे, दृश्य चित्र की भारी भरकम आकृतिया ये सब बिना मेहनत के थोडे से काले-सफेद स्थानीय रगो मे इनी-गिनी रेखाओ द्वारा बनाये जा सकते हैं । मोटे, तीखे तेज बेसिलसिलेदार धब्बो मे पुती ये ग्रामीण फूहड आकृतियाँ यथार्थ रूपो को प्रस्तुत नही करती वरन् इनमे झलकता है पददलित भावना की अभिव्यक्ति का प्रयत्न । अत्यधिक दुःख को व्यक्त करने का यह सहज साधन है । वास्तव मे यह अभिव्यजनमात्र ही नही है—यह एक नये सत्य की परिभाषा है । अभिव्यजनवाद कला का एक नया मोड है जिसने हमारे देखने का तरीका ही बदल दिया-वस्तु को एक नये सिरे से देखने की जिज्ञासा जगा दी ।

व्यक्ति वैचित्र्य के कारण यह सत्य मानव की स्वय की अनुभूति के अनुसार अलग-अलग हो सकता है अतएव ढग अनेक है पर लक्ष्य एक । अभिव्यजनवाद को शैली विशेष मे बाध देना उसकी विशाल परिधि को सीमित करना है । शैली से कही ऊपर इसका स्थान जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है । ससार को यह अतर से देखने की प्रक्रिया है ।

यदि इतिहास को टटोले तो अभिव्यजनवादी कला के तत्त्व प्रागैतिहासिक, पुरातत्त्व, बाद की प्राचीन कला, मध्यकालीन एव १७ वी शती की कला मे देखने को मिलते है । बेराक[1] काल की कला मे गोथिक[2] से उत्पन्न कला-धारा है और अभिव्यजनवादी बेराक से प्रत्युत्पन्न । इसका उद्गम सीधे आदि मानव की कला से माना जाना चाहिये जिसमे भय के तत्त्व मुख्य हैं । अभिव्यजनवाद की सामग्री अधिकतर 'पेराडॉक्सिकल म्यूजियम[3]' (ParadoXical museum) से ली गई है जिसमे अधिकतर ऐशिया, बिजटाइन, रोमन अद्भुत आकृतिया, कोलम्बिया के पूर्व काल की कला, नीग्रो तथा दक्षिणी सागर की मूर्तिया व कृत्रिम चेहरे आदि शामिल है । इनकी कला मे कल्पना का अद्भुत चमत्कार है । इसमे पिछड़ी जातियो एव प्रातीय व ग्रामीण कला को प्रथम स्थान दिया जाता है । इसके अतिरिक्त अभिव्यजन-वादी कला ने जर्मन के व स्विस के ड्यूरर, क्रॉच, ग्रुनिवाल्ड, उर्स, ग्राफ तथा मेनुअल ड्यूशा इटली के क्रिवेली, तुरा

---

१ (Barouque) १६०० से लेकर १८०० तक की यूरोप की प्रसिद्ध कलाशैली ।

२ (Gothic) ११५० से १४०० तक की यूरोपीय कला की शैली जिसका वास्तु से अधिक सबध है । यह जर्मन शब्द है जिसको पहले घृणा के रूप मे प्रयोग किया गया था बाद मे शैली की सशक्तता के कारण यह आदर का नाम बन गया ।

३ प्राचीन कला सबधी सग्रहालय । इस तरह की कला मे जादुई तत्वो की व अनोखी कल्पना की अधिकता होती है ।

कोमा एव ल्यूका मिग्नेगोल्ली, स्पेन के वाल्डेस्लील, एल ग्रीको, गोया आदि कलाकारो मे प्रेरणा ली है। जेरिको[1] के अस्पताल मे वनाए पागलो के चेहरे तथा उन लोगों के चेहरे जो फासी के तख्तो पर लटकते मरणासन्न थे सब इस कला की सीमा मे आते हैं।

१६ वी शती के मध्य मे यूरोप मे प्रभाववाद आंदोलन ने कला की दृष्टि को विस्तृत करना शुरू कर दिया था। कलाकार परीक्षण पर परीक्षण कर अभिव्यक्ति का एक नया मार्ग ढूँढ रहे थे। फलस्वरूप फास मे १६ वी शती अत तक, प्रभाववाद (Neo-Impressionism), सश्लेषवाद (Synthetism), नबीवाद[2] (Nabism), फाविज्म (Fauvism)[3] आदि कई कलाधाराए वह उठी। २० वी शती के आरम्भ होते ही हर देश कलासृजन के प्रति चैतन्य हो गया। पिकासो व ब्रॉक के उर्वर मस्तिष्क मे घनवाद (Cubism) की उत्पत्ति हुई जिससे कला मे एक नई ही क्रान्ति उत्पन्न हो गई, अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम खुल गया, परम्परा के वधन टूट गये और कलाकार मुक्त पछी सा खुले आकाश मे उडान भरने के स्वप्न देखने लगा। इसी समय कला-क्षेत्र मे आन्दोलन के रूप मे अभिव्यजनवाद के भी वीज प्रस्फुटित होने लगे।

घनवाद व अभिव्यजनवाद के वीच का भेद केवल कृत्रिम धारणा है। फाविज्म की उत्पत्ति फ्रास मे हुई पर जिस कलाकार मे इसके तत्व मौजुद थे वह वान गोग था—डच कलाकार। उसमे सव लक्षण विद्यमान थे—तेजी से व्रुश चलाना, यथार्थ रग पोतना, इकाइयो का स्वतत्र चुनाव करना, सीधी ड्राइग वनाना तथा घेरेदार व घुमावदार आकृतियो के प्रति लगाव दर्शाना आदि। अभिव्यजनवादी चित्र की दर्शक पर भौतिक प्रतिक्रिया होनी चाहिये। फावी (Fauve) को यदि हम मिश्रित स्कूल गिनें तो अभिव्यजनवाद को भी उसी श्रेणी मे रखना होगा।

यदि घनवाद से उत्पन्न नवीन उत्तम विधि हमारे सम्मुख न आती व फावीवाद (Fauvism) के रग नही आते तो अभिव्यजनवाद कदाचित् एक प्रकार का प्रतीकवाद ही रह जाता। इस दृष्टि से घनवाद, व फावीवाद व अभिव्यजनवाद एक समान ही हैं। नीग्रो तथा दक्षिणी सागर की प्रतिमाओ का फावी व घनवाद दोनों पर ही गहरा असर पडा था। १६०२ मे ही हैनरी मातिस अमिश्रित स्वच्छ रगो मे चित्रण कर रहा था। मुच[4] व वुलार्ड[5] इससे भी पूर्व इसी ढग से रचना कर चुके थे—पॉल सिग्ने[6] मे भी यही वात देखने को मिलती है अत इसके निर्माण मे कई शैलियो का मिश्रण है। जर्मन कलाकारो ने फ्रास के नेवियो से प्रेरणा ली और इस शैली का विकास अपने यहा उन्होंने अपने ही ढग से किया—भयानक तेजी से, उग्रता लिये हुये एक अल्हड आदिवासी के समान। ड्रिसडेव (जर्मनी) के अभिव्यजन-वादी फावी के ही समान थे। उन्होंने रगो की लय पर नाटकीय ढग से जोर दिया। जितने ही इस प्रवृत्ति मे वे घुमते गये उतनी ही दर्दनाक एव निर्दय विकृति[7] (Distortion) उनकी आकृतियो (Forms) की होती गईं। इधर फ्रॉस मे यही प्रवृत्ति पिकासो के 'डव्ल्यू पीरियड' तथा मोदेग्लानी, रूऑ आदि के चित्रों में भी दिखाई देती है। वान गॉग के ये शब्द कि "मै लाल पीले रग से धधकती वासना को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ"। अभिव्यजनवादी कला का आदर्श माने जा सकते है। इसके वाद रग आकृति पर आधृत नही रहे। वस्तु से इतर उनका अपना ही निजस्व हो गया। विना दृश्यात्मक रूपो के ही भावाभिव्यक्ति सभव होने लगी। इस सबध मे पिकासो का यह दृष्टिकोण कि 'कला में मानसिक



१ फ्रास का 'रोमाटिक' शैली का कलाकार।
२ कला मे दार्शनिकता का आरोप देकर उपदेश देनेवाले कलाकारो की विशेष धारा।
३ हेनरी मॉतिस द्वारा प्रतिपादित धारा जिसके कलाकारों को शुरू में जगली पशु कहा गया था।
४ (Munch) जर्मन का अभिव्यजनवाद के आरम्भ होने से पूर्व का कलाकार।
५ (Vullard) नेवी कलाधारा का कलाकार (फ्रास)।
६ (Paul signae) न्यो प्रभाववाद का फ्रास का कलाकार।
७ यथार्थ रूपों का कला में सदा से चित्रकार के मानसिक रूपों के अनुसार रूपान्तर होता चला आया है। कला मे distortion इसी का प्रतिफल है।

आकृति की अधिक अपेक्षा है बनिस्वत भौतिक आकृति के' कितना सत्य है। गोगा ने प्रभाववाद का दोष बताते हुए जब अपने विचार प्रस्तुत किये तो उनमे भी यही ध्वनि सुनाई देती है। उसने कहा 'प्रभाववाद ने केवल दृश्यात्मक क्षेत्र की खोज की, विचारो का रहस्यात्मक केन्द्र उसकी परिसीमा से अछूता ही रहा। सगीत के समान चित्रकला मे भी कथात्मकता के बजाय सकेतात्मकता द्वारा बहुत कुछ दर्शाया जा सकता है। हेफ्टमेन के मतानुसार कलाकार को चाहिये कि दृश्यात्मक जगत् को अदृश्यात्मक रूपो मे पस्तुत करे। विचार व रचना पूर्णतया मौलिक, स्वेच्छाकारी व अनूभूतिपूण होनी चाहिये जिसमे किसी प्रकार के तौर-तरीको की रुकावट न आवे। उसकी रचना मे कलाकार का व्यक्तित्व व आतरिकता झलके। इन विचारो का अभिव्यजनवाद पर बेहद असर पडा। चाहे दृश्य चित्र हो अथवा व्यक्तिचित्र या वस्तुचित्र (Still-Life) अभिव्यजनवादी चित्र मे कलाकार का उत्पीडन अथवा बौखलाहट झलकेगी ही।

अभिव्यजनवादी धारा मे इतने तकनीक (Technique) दिखाई देते हैं जितने कि चितेरे। यद्यपि इन चित्रकारो के अकन के कोई समान नियम नही हैं फिर भी लगता है कि भावात्मक दृष्टि से ये सभी एक सूत्र मे बधे हैं। स्वभावजन्य आवेश अथवा अन्य आंतरिक अस्थिरता का अभिव्यजनवाद पर काफी प्रभाव पडा है। ये कलाकार गहरे अधेरे मे जैसे अतर की वेदना से छटपटा रहे हो। उनके रहस्य के उद्घाटन को प्रतिक्षण उनकी तूलिका फडकती रहती है। अतर के उद्वेलन मे उन्हे प्रकृति व जीवन एक भुलावा देनेवाला नाट्य सा दिखता है। कलाकार इसी अतिरेक-स्थिति मे रचना करते है जिसके कारण बाह्य रूपो के अनुरूप उनकी रचना नही हो पाती। ऐसा लगता है जैसे कलाकार तद्रा मे खो गया है और उसकी कला, जो आतरिक उत्पीडन की उत्तेजना का प्रतिफल है, उसका माध्यम बन गई है।

अभिव्यजनवादी कला-सृजन के चरम आवेश मे आनन्द की उपलब्धि होती है। बौद्धिक रचना करते-करते भी अभिव्यजनवादी कलाकार अन्त मे हृदय-तरगो मे डोलने लगता है। चाहे वे कितनी क्षुद्र क्यो न हो उसकी कला मे उसके आतरिक भावो की मार्मिकता अवश्य होती है।

उसकी रेखाए फावी से अधिक चचल व भावानुवर्ती होती हैं। वे रूढ व कठोर हो सकती है—काल्पनिक एव अनियत्रित, शात व आनन्दपूर्ण, पर उनमे एक प्रकार की तीव्रता, असमजमता एव टीस अवश्य होती है। रग कलाकार की मानसिक स्थिति से पैदा होते है। चित्र अक्सर गहरे काले व भूरे से आरम्भ होते हैं फिर एकाएक केनवास की इस गम्भीर धुधली पृष्ठभूमि का आवरण फोड, लाल, पीले, बेंजनी, हरे, नीले रग उभर पडते है। इन रगो का प्रयोग ऐसा दिखता है मानो खूब वेग से मन की घुमडन के साथ-साथ किया गया हो। गहरे चमकीले रगो मे खूब विरोधाभास होता है।

२० वी सदी मे एक साथ ही कई स्थानो मे अभिव्यजनवादी प्रवृत्ति उभर पडी। जर्मनी, फ्रास, स्केन्डनेविया फ्लेंडर्स, आस्ट्रीया, हॉलेण्ड व एशिया मे यह आन्दोलन प्रसारित हुआ और एक विशेष शैली का इसने दर्शन कराया। पूरे उत्तर व मध्य यूरोप मे शीघ्र ही यह शैली फैल गई। फिर मेक्सिको के राइवेरा, ओरोस्को, टॉमियो, सिक्विरो, स्टेट के वेन, डिकूनिग आदि कलाकारो मे इसके लक्षण दिखने लगे। ब्राजील के पोर्तिनारी व सेगाल आदि मे भी इसका प्रभाव फैल गया। भारत की लोककला मे एव आरम्भिक राजस्थानी कला मे भी यही तत्त्व देखने को मिलने है। २०वी शती मे अमृत शेरगिल शैलेन मुकर्जी, प्राणनाथ मागो, गुजराल, रामकुमार आदि के चित्रो मे यत्र तत्र ऐसे लक्षण देखने को मिलते हैं।

अभिव्यजनवाद मे नॉर्डिक की करुणा, स्लेव की रहस्यात्मकता, फ्लेमिश की मामलता, ज्यूइश का उत्पीडन एव जर्मनी की हर प्रकार की स्थूलता की झलक मिलती है। इम आदोलन की उत्पत्ति व प्रसार मे जर्मनी का गहरा हाथ है। इमकी सम्कृति के प्रति नास्तिकता, भेदाभेद की कमी एव सर्वत्र व्याप्त सौदय के निश्चित मानो पर प्रहार करने की वृत्ति के कारण कुछ लेटिन मूल के कलाकार इस आदोलन मे अश्रद्धा रखते थे। इनमे पिकासो व रूआ आदि मुख्य है। इतने विघटन, धार्मिक अनियत्रण व अनात्मीयता के होने पर भी अभिव्यजनवाद ने कलाक्षेत्र मे अनुपम उदाहरण पेश किये है। प्रकृति व समाज के बीच अभिव्यजनवादी कलाकार प्रागैतिहासिक व आदि मानव सा निर्दोष व भोलाभाला दिखाई देता है।

जर्मनी के वेकमेन को छोडकर अभिव्यजनवाद की वास्तविक प्रतिभा नोल्दे, किर्चनर, हेकल, शिमिड्ट, रोटलुफ एव दूसरे गुट[1] के मार्क, मेके केन्डिनिस्की आदि कलाकारो मे दिखती है। इन कलाकारो ने इस रचनाप्रवृत्ति को अधिक विपयात्मक बनाया। शुद्ध आकृति (pure form) की अपेक्षा ने कई वैयक्तिक शैलियाँ उत्पन्न कर दी। इसके वाद अभिव्यजनवाद को शैलीविशेष कह देना उचित नही जचता। देखा गया है कि केन्डिनिस्की, फनिगर तथा जोलस्की आदि की कला मे तात्विक अन्तर न होने पर भी अकनविधि मे आशातीत भिन्नता है। उस समय बहुत से कलाकार अभिव्यजनवादी थे परन्तु ब्ल्यू राइडर के गुट के कलाकारो की प्रवृत्ति वस्तुनिरपेक्षता (abstraction) की आर अधिक होने लगी।[2] इसकी स्थापना १९१३ मे हो गई थी। इसी से वस्तु निरपेक्ष अभिव्यजनवाद (Abstract Expressionism) की व्युत्पत्ति हुई। केन्डिनिस्की की स्वयभू अमूर्त आकृतियो का तथा पॉल क्ली की काव्यात्मक एव प्लास्टिक शैली का अभिव्यजनवाद पर ऐसा प्रभाव पडा कि आज भी कलाकारो के बीच इसके बीज विद्यमान है।

पेरिस, ड्रिसडेन व म्यूनिक की कला मे रगचेतना अधिक उग्र हो गई। कुछ समय वाद इससे अमूर्तवाद घनवाद व अयथार्थ कला की ओर ध्यान वँट गया।

पहले महायुद्ध के पूर्व जर्मनी मे फ्रास के कई प्रसिद्ध कलाकार प्रदर्शन कर अपना प्रभाव जर्मनकला पर डाल चुके थे। जर्मनकला मे इससे काफी जाग्रति आ गई थी। अभिव्यजनवाद की देन घनवाद व अतियथार्थवाद (Surrealism) से किसी भाति कम नही है। मानवस्वतत्रता मे भी जर्मन कलाकारो ने काफी हाथ बटाया है। मेकेक मार्क की १९१४-१९१६ मे पहले महायुद्ध मे मृत्यु हो गई। फ्रास मे भी द्यूशम, विलो आदि युद्ध के कारण १९१८ व २५ मे मारे गये। जर्मन मे राष्ट्रीय नीति के कारण जर्मनकला को अत्यन्त क्षति पहुँचाई गई। जर्मन अभिव्यजनवादियो के चित्र दीवारो से उखाड फेंके गये। उन्हे नष्ट कर दिया गया। चित्रकारो ने रचना करनी छोड दी। उनके प्रदर्शन वद कर दिये गये। नोल्डे व रोटलुफ को चित्र बनाने का निषेध कर दिया गया। म्यूजियम पर ताले ठोक दिये गये। १९३७ की प्रदर्शनी मे अन्य अभिव्यजनात्मक रचनाए नही रक्खी गईं। १९३८ मे ब्लामिक, रूआ, पिकासो व ब्रॉक के म्यूजियम मे सग्रहीत चित्र वेचने की सरकार ने बोली लगा दी। एक प्रेस ने अभिव्यजनवादियो को घोर चेतावनी दी। किर्चनर यद्यपि उस समय स्विस मे सुरक्षित था फिर भी उसके मस्तिष्क पर इसका इतना भय छाया कि उसने आत्महत्या करली। डिक्स को कैद कर लिया गया। दूसरे कालाकर जर्मनी छोड भागे। पॉल क्ली स्विटजरलेण्ड लौट आया। केन्डिनिस्की फ्रास चला गया। वेक मेन ने एम्सटरडम मे शरण ली। कोकेश्का भागकर इग्लेण्ड जा पहुँचा। ८९ वर्ष का बूढा क्रिस्टन रुल्फ तथा बार्लेश मूर्तिकार गरीबी व भूख से तडप-तडपकर मर गये। कई जर्मन व आस्ट्रियन कलाकार आत्मिक मूल्यो की रक्षा करते-करते मर गये। जेम्स अरनेस्ट व विल्हम आदि फ्रास की पुलिस द्वारा १९३९ के पोनी युद्ध मे कैद कर लिये गये। जर्मनी के कलाकार जो जा नही सके थे, शर्म के मारे छिपे छिपे फिर रहे थे। उनके चित्रो की गैलरी वद कर दी गई थी। चित्रो के व्यापारी भी भाग गये थे। आलोचक भी खिसक गये थे। पॉल वेस्थीम मेक्सिको चला गया था। कल आइन्स्टाइन, जिसके नाम वारन्ट था, अपनी अतडियाँ फाड नदी मे डूब मरा। १९३२ मे हरवर्थ वाल्डन ने मास्को के लिये विजा लिया पर किसी ने नही जाना कि वह गया या नही।

दूसरे महायुद्ध मे जर्मन की कला नष्ट हो गई। अधिकतर कलाकारो के स्टूडियो बम से विध्वस्त हो गये। सग्रहकर्त्ताओ की सामग्री नष्ट हो गई फिर भी जर्मन अभिव्यजनवादियो ने इसमे अपनी आस्था नही छोडी। बर्लिन के अभिव्यजनवादियो को देशनिकाला दे दिया गया। लिबरमेन के साथ भी यही बर्ताव किया गया।

युद्ध की प्रतिक्रिया ने यो इस आदोलन को खतम कर दिया पर चूकि यह प्रवृत्ति मानवप्रवृत्ति है—आदि प्रवृत्ति है इसलिये नष्ट नही हो सकी। अभिव्यजनवाद हर काल मे हर देश मे जिंदा रहेगा। यह एक अतर-



---

१ जर्मन मे अभिव्यजनवाद का पहला आन्दोलन 'दि बृज ग्रप' के नाम पर तथा दूसरा आदोलन 'दि ब्लू राइडर' के नाम पर चला।

२ केन्डिनिस्की को अभिव्यजनवाद मे वस्तुनिरपेक्षता अथवा अमूर्तवाद लाने का श्रेय है।

राष्ट्रीय आदोलन है। वस्तु-रूपात्मकता व निरपेक्षता के बीच का झीना पर्दा इसने उठा दिया। जेक्सन, पोलक, गोर्की गोट्लिन, न्यूमेन, क्लाइव, डिकूनिग, ट्वारकाड, साम, फेसिस आदि कलाकार युद्ध के बाद भी इसको जीवित रखने मे सलग्न रहे। इज़राइल के कलाकार अरिखा, जापानी कलाकार सुगाई, के सातो, किनो, इमाइ व जाओ-यू-की की कृतियो मे भी यही भावना भरी है। आस्ट्रिया के हुण्डर्टनासर जर्मन के वूनिग, इटली के दोवा व मुर्री, स्पेन के टपिक्स व सूर्या आदि की कला मे शैली-विभिन्नता होने पर भी अभिव्यजना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। इनकी रुचि अमूर्त भावाभिव्यक्ति की ओर अधिक है। आद्रे मेसन के भयानक युद्ध के चित्र भी इसी सीमा मे आते हैं। अभिव्यजनवादी कलाकार वस्तु मे सार देखने का यत्न करता है। एक अमरीकी कलाकार ने इस कला पर इस प्रकार अपने विचार प्रस्तुत किये है—"यदि चित्र मे भावनाए व्यक्त करने की क्षमता न हो तो उसके विधान की कोई कीमत नही है। चित्र रेखाओ, रगो व आकृतियो का सतुलित सयोजन मात्र है, यह कह देना नीरस बात है। अभिव्यजनवाद क्या है—एक तरह की स्वच्छदता, रूढि के प्रति विद्रोह। हमारी सौंदर्यात्मक भावनाओ को इससे गति व स्वतत्रता मिलती है अभिव्यजनवाद भौतिक जगत् की कमियो को दूर करता है तथा आदमी को कैद विशेष मे छुटकारा दिलाता है।"

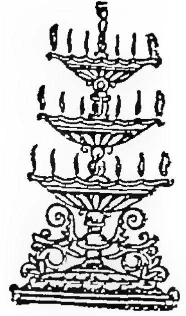
अभिव्यजनवाद मे आत्मिक अनुभूति की मुख्यता रहती है, भौतिक सौदर्य की अभिव्यक्ति गौण। इस कला मे आकस्मिकता या निराशा का प्रभाव नही पडता। यह प्राचीन कला, आदिवासियो की कला व ग्रामीण कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

अभिव्यजनवाद जर्मन व वेल्जियम मे मृतप्राय हो गया पर विश्वकला के रूप मे यह अब भी विद्यमान है। जो स्वप्निल जगत् मे घूमना चाहते हैं, जो स्वत चलित दुनिया से लडना चाहते है, जो आज़ादी चाहते हैं उनके लिये अभिव्यजनवाद एक नया ससार पैदा करता है।

●

धार्मिकता और राष्ट्रीयता में समन्वय

दयाचन्द जैन साहित्याचार्य,
सागर



मानव विश्व मे बुद्धिमान् एव सुन्दर आकृतिवाला प्राणी है। उसका जन्म राष्ट्र मे होता है, जीवननिर्वाह समाज मे होता है और विकास आत्मा मे होता है। व्यक्ति समाज का मूलाधार एव महत्त्वपूर्ण इकाई है। अत व्यक्ति के विकास मे समाज का, समाज के विकास मे राष्ट्र का और राष्ट्र के विकास मे विश्व का विकास होना स्वत सिद्ध है। मानव के जीवन की यात्रा राष्ट्रीय तत्त्वो पर और आत्मा का विकास धार्मिक तत्त्वो पर निर्भर है। राष्ट्रीय तत्त्वो और धार्मिक तत्त्वो के सहयोग के बिना मानव का सर्वांगीण विकास होना असम्भव है।

मानव के पतन से समाज का पतन और समाज के पतन मे राष्ट्र का पतन होने मे जरा भी विलम्ब नही होता। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का पतन एक साथ ही होता है। इसी प्रकार विकास भी एक साथ होता है। क्योंकि प्रत्येक मानव समाज और देश का अग है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी अग विकृत हो जाने के साथ ही शरीर विकृत हो जाता है उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के किसी भी सदस्य (नागरिक) के विकृत हो जाने से समाज या राष्ट्र का विकृत होना स्वाभाविक है।

पण्डितप्रवर श्रीआशाधर जी ने गृहस्थ या नागरिक के चौदह कर्त्तव्यो मे 'आर्यसमिति' इस शब्द से मानव को सभ्यसमाज का सदस्य घोषित किया है। राजनीति के वेत्ता अरस्तू ने लिखा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एव बिना समाज के वह एक क्षण भी नही रह सकता।"

व्यक्ति का विकास धार्मिकता और राष्ट्रीयता के बिना नही हो सकता और व्यक्ति के विकास के बिना समाज एव राष्ट्र का विकास नही हो सकता, यत समाज तथा राष्ट्र के निर्माण का मूलाधार व्यक्ति है। जब मानव अशिक्षित, असभ्य, अशान्त, अधर्मी अनुशासनहीन और कर्तव्यहीन हो जाता है तब उसके पतन मे, धार्मिकता और राष्ट्रीयता के उचित सामजस्य का अभाव ही मुख्य कारण होता है।

सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार मानव का सर्वांगीण विकास होना मानवता है। मानव को अपने पूर्ण विकास के लिये एक हाथ मे धार्मिकता और दूसरे हाथ मे राष्ट्रीयता को लेकर, दोनो का समन्वय करते हुए पुरुषार्थ करना आवश्यक है। धार्मिक तत्त्वो के बिना राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय तत्त्वो के बिना धार्मिकता विकसित नही हो सकती है। जीवन मे यथायोग्य दोनो का सहयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता के उत्थान के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच प्रमुख धर्मसिद्धान्तो की आवश्यकता है उसी प्रकार धार्मिकता के उत्थान के लिये राजनीति, न्याय, अनुशासन, शिक्षा, सस्कृति, कला, व्यापार, सैनिक शिक्षा, कृषि, शिल्पकला, स्वास्थ्यरक्षा, पशुरक्षा, वनस्पतिरक्षा, सहकारिता, राष्ट्रनिर्माण, विज्ञान समाजव्यवस्था आदि राष्ट्रीय तत्त्व भी अत्यावश्यक हैं। बुद्धिजीवी मानव उक्त तत्त्वो का स्याद्वादशैली से यथायोग्य समीकरण करता हुआ अपना सर्वांगीण विकास करता है। धार्मिक तत्त्व अथवा राष्ट्रीय तत्त्व एकागीरूप मे अथवा दोनो परस्पर निरपेक्ष रूप मे मानवजीवन का प्राय उत्थान करने में समर्थ नही है। यदि धर्मतत्त्व निश्चयमार्ग है तो राष्ट्रीयतत्त्व व्यवहारमार्ग है, अत मानवजीवन को शुद्ध आदर्श तथा उन्नत बनाने के लिये दोनो मार्गों का समन्वय करना आवश्यक है।

मानव का स्थितिकरण

पुराण और इतिहास ग्रथ कहते हैं कि इस अवसर्पिणी (ह्रास) काल के अतिप्राचीन प्रारम्भिक विभाग की प्रसिद्धि 'भोगयुग' के नाम से थी। इसको इतिहासकारो के शब्दो मे पाषाणयुग से भी पूर्व का युग कहा जा सकता है। इस युग मे मानव, वस्त्राग-भोजनाग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षो के द्वारा विविध जीवनोपयोगी वस्तुओ को प्राप्त कर सुखशान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था। भोगयुग समाप्त हो जाने पर कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गये थे। तत्पश्चात् कर्मयुग के प्रारम्भकाल मे मानवो का जीवन असहाय, अव्यवस्थित तथा सकटमय हो गया। उस विचित्र परिस्थिति मे क्रमश अवतरित प्रतिश्रुति आदि चौदह मनु (कुलकर) महापुरुषो ने आवश्यक धार्मिक तथा लौकिक कर्तव्यो का निर्देश कर मानवो के जीवन को व्यवस्थित, शान्त और निर्वाहयोग्य बनाया। उस समय जब मानवो को सबसे प्रथम भूख-प्यास के रोगो ने सताया तब किकर्त्तव्यविमूढ मानव दुखित होते हुए श्रीऋषभनाथ के निकट गये। उन्होने *स्वय उत्पन्न इक्षु (गन्ना) के रसपान द्वारा सर्वप्रथम भूख-प्यास को शान्त करने का समाधान किया।* पश्चात् सेब, अनार आदि फलो का अन्वेषण कर शाकाहार द्वारा क्षुधा शान्त करने का आदेश दिया। प्रेमपूर्वक व्यवहार, रहन-सहन भूषा और भाषा का प्रयोग दर्शाया। यह स्थितिकरण आज तक परम्परया चला आ रहा है।

वशो की स्थापना

मानव का जीवन व्यवस्थित और शान्त हो जाने के पश्चात् विवाह की प्रथा का श्रीगणेश हुआ। जब मानव की सन्तान बढने लगी तब श्रीऋषभदेव ने व्यक्तियो के सगठन को कुटुम्ब या वश के नाम से स्थापित किया। सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव के वश की प्रसिद्धि 'इक्ष्वाकुवश' के नाम से हुई थी, क्योकि श्रीऋषभनाथ ने सर्वप्रथम जनता के कष्टो को दूर करने के लिये इक्षु-वनस्पति का अन्वेषण किया था, अत श्रीऋषभदेव का स्मरण इक्ष्वाकु नाम से किया गया और उनका वश 'इक्ष्वाकुवश' नाम से प्रसिद्ध हुआ। धर्मग्रथो मे प्रमाण है कि "इक्षु इति शब्द अकतीति अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकु" (अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ३०)। इस वश का दूसरा नाम सूर्यवश भी प्रसिद्ध हुआ था। पश्चात् श्रीऋषभदेव ने कुरुवश की स्थापना कर राजा सोमप्रभ को उसका नायक बनाया। हरिवश का नायक राजा हरि को, नाथवश का नायक राजा अकम्पन को, और उग्रवश का नायक राजा काश्यप को घोषित किया। इन प्रधान-वशो की शाखा-प्रशाखारूप अन्य वश भी समयानुसार स्थापित होते रहे हैं। उनकी परम्परा आज भी प्रचलित है।

सर्वोदय समाज की स्थापना

वशो की वृद्धि हो जाने से मानवो की समीचीन व्यवस्था सम्पन्न करने के लिये समाज का निर्माण होता है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने वशो का सगठन कर सर्वोदय समाज की स्थापना की। समाज के प्रत्येक सदस्य को मैत्रीभाव, सहयोग और समान व्यवहार करने का उपदेश दिया। मानवो की सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने से तत्काल उपस्थित अनेक जटिल समस्याओ का समाधान किया गया। जैसे भोजननिर्माणविधि, वनस्पति का उपयोग, पशुपालन, वर्तननिर्माण, गृहनिर्माण, जलाशयनिर्माण आदि लौकिक सभ्यता तथा स्वस्थता, नागरिक कर्त्तव्य, कुलाचार, सस्कृति आदि धर्मतत्त्वो के उपदेश से मानव-जीवन की यात्रा को सरल, शान्त तथा पवित्र बनाया गया। अतएव कृतज्ञ जनता ने श्रीऋषभदेव को "प्रजापति" पद से विभूषित किया।

मानवजीवन को शुद्ध, सुसस्कृत और सुशिक्षित बनाने के लिये विविध सस्कारो की रचना की गई और समाज मे उनको प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त समयोपयोगी अन्य आवश्यक साधनो एव क्रियाओ का निर्माण किया गया जिससे कि समाज का सर्वांगीण विकास हुआ था। अनेक शताब्दियो के व्यतीत होने पर वह समाज विकृत हो गया है। अब इस युग मे पुन सर्वोदय समाज की आवश्यकता है। राष्ट्र के नेता इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

राष्ट्रो की स्थापना

समाजो का सगठन कर राष्ट्रो की स्थापना की। मानवसमाज का 'राष्ट्र' एक बडा सगठन है। इसमे समाज की सभी शक्तियो का तथा सभी वर्गो का एकीकरण किया जाता है। राष्ट्र की पूर्ण उन्नति के लिये प्रत्येक नागरिक मे राष्ट्रीयता का विकास होना आवश्यक है।

राष्ट्र की परिभाषा

"पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते इति राष्ट्रम्।"

(नीतिवाक्यामृत, जनपदसमुद्देशसूत्र–१)

अर्थात्-पशु, अन्न तथा सुवर्ण आदि सम्पत्तियो से शोभायमान क्षेत्र को राष्ट्र कहते हैं। 'भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देश' (नीति० जन० सू० २) अर्थात् जो क्षेत्र स्वामी को सैन्य और कोष की वृद्धि देता है उसको देश कहते है।

"जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पद स्थानमिति जनपद" (नीति० जन० सू० ५) अर्थात्—जो स्थान, क्षत्रिय आदि वर्णो मे और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमो मे विद्यमान मानवो का निवासस्थान हो तथा धन का उत्पत्ति-स्थान हो उसे जनपद कहते हैं। यह राष्ट्र का समन्वयात्मक लक्षण है। इसमे राष्ट्र को, धार्मिक तथा राष्ट्रीय तत्त्वो से परिपूर्ण मानवो का निवासस्थान कहा गया है।

अयोध्यानगरी का निर्माण

श्रीनाभिराज प्रारम्भिक कर्मयुग के अन्तिम कुलकर (मनु) थे। उनकी पत्नी श्रीमरुदेवी की कुक्षि मे जब प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ ने अवतार लिया तब भारत के उत्तर मे विशाल अयोध्यानगरी की रचना की गई और उसमें देवसमाज तथा मानवसमाज ने मिलकर ऋषभदेव का जन्मोत्सव मनाया। इस नगरी के मानवो के पास कोई आयुध (शस्त्र) नही थे, वे परस्पर मित्रता से रहते थे इसलिये इस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' रखा गया। श्री ऋषभदेव, अपने पिता के उत्तराधिकारी, इस नगरी के प्रथम शासक थे और सकल कलाओ के महान् शिक्षक थे।

उदीयमान उस कर्मयुग मे मानवो के निवासगृह, शिक्षा आदि सकल व्यवस्थाओ को सम्पन्न करने के लिये श्रीऋषभदेव ने आर्यक्षेत्र मे नगर, देश एव राष्ट्रो की व्यवस्था की। उनमे सर्वप्रथम भारत था जिसका नामकरण स्वकीय ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से किया गया।

तन्नाम्ना भारत वर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चक्रभृतामिदम् ॥१५९॥ आदिपुराण पर्व १५

अर्थात्—श्रीऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्री भरत के नाम से, आर्यजनो के रहने का स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है जो हिमालय से लेकर दक्षिणादि दिशाओ मे तीनो ओर समुद्र से वेष्टित है। यह चक्रवर्तियो का क्षेत्र है।



अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत्सुतो द्विज।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताद्वर ॥३९॥
हिमाह्व दक्षिण वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारत वर्षं तस्य नाम्ना महात्मन ॥४१॥—मार्कण्डेयपुराण अ० ५०

अर्थात्—नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेव के पुत्र भरत अपने शत भ्राताओ मे ज्येष्ठ थे। ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण का क्षेत्र भरत को दिया। इस कारण उस वीर के नाम से देश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ।



नाभे पुत्रश्च ऋषभ, ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विद वर्ष, भारत चेति कीर्त्यंते ॥५७॥
—विष्णुपुराण द्वि० अश अ० १

तत्पश्चात् श्रीऋषभदेव ने अनेक देशो की स्थापना की। जिनमे कुछ प्रसिद्ध नाम उल्लेखनीय है—सुकोशल, कुरुजागल, अग, वग पुड्र, उण्ड, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, समुद्रक, काश्मीर उशीनर, आवत, वत्स, पञ्चाल, मालव, दशाण, कच्छ, मगध विदर्भ, करहाट महाराष्ट्र सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, कम्बोज, आरट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक, मरु, केकय इत्यादि। अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० १०

नगरी या नगरो के कुछ नाम – मथुरा मायापुरी काशी काञ्ची श्रावस्ती कोशाम्बी वाराणसी चन्द्रपुरी काकन्दीपुर भद्दिलपुर सिंहपुर चम्पापुर कम्पिलापुरी रत्नपुर हस्तिनागपुर नागपुर मिथिला राजगृही सौरीपुर कुण्डलपुर ताल पुरिमतालपुर इत्यादि।

समय की गति के अनुसार इस आर्यक्षेत्र मे अनेको देशो, नगरो तथा ग्रामो की रचना होती रही और प्राचीन देशो नगरो आदि का विध्वस भी होता गया। यह इस विश्व की दशा परिवर्तनशील है। वर्तमान मे वे देश-नगर आदि परिवर्तितरूप मे है, और अनेको का अस्तित्व भी नही पाया जाता है। उन मे से कुछ के नाम वही है, कुछ परिवर्तित है और कुछ विनष्ट हो गये हैं।

राष्ट्रो की राष्ट्रीयता

राष्ट्रो की स्थापना होने पर उनमे राष्ट्रीयता का होना भी राष्ट्र की सत्ता, उन्नति और शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक है। यह राष्ट्रीयता राष्ट्र का प्राण है। नीतिवाक्यामृत मे कहा गया है—"अन्योऽन्यरक्षक खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तेरदेवमातृक पशुमनुष्यहित श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणा" (जनपदसमुद्देश–सू०८)

अर्थात्—राष्ट्र के गुण (राष्ट्रीयता) इस प्रकार हैं (१) राजा देश का रक्षक और देश राजा का रक्षक हो। (२) सुवर्ण आदि धातुओ की तथा गन्धक, नमक आदि द्रव्यो की खानो से युक्त हो। (३) रुपया आदि धन तथा हाथी आदि पशुधन से परिपूर्ण हो। (४) न अत्यधिक और न अति कम जनसख्यापूर्ण ग्रामो तथा नगरो से शोभित हो। (५) उत्तम पदार्थ, अन्न-सुवर्ण और व्यापार योग्य वस्तुओ से परिपूर्ण हो। (६) मेघजल की अपेक्षाहीन कृषिवाला हो अर्थात् रहट, विद्युत्यन्त्र आदि यन्त्रों से कृषिकार्य वाला हो, (७) मानव तथा पशुओ को सुखदायक हो। (८) कलाकार, कारीगर, श्रमिक, कृषक और विद्वान् व्यक्तियो से शोभित हो।

राज्य की परिभाषा

राष्ट्र की एकता, व्यवस्था, रक्षा और उन्नति का न्यायनीतिपूर्ण राज्य एक प्रबल आधार है। राज्य सार्वभौम होता है। "राज्ञ पृथ्वीपालनोचित कर्म राज्यम्" (नीतिवा पृ० ६३ सू०४)

अर्थात्—राजा के पृथ्वी की सुरक्षा एव उन्नति के योग्य कर्म (सन्धि विग्रह यान आसन सश्रय द्वैधीभाव) को राज्य कहते है। श्रीऋषभनाथ ने राज्य का आविष्कार करते हुए स्वय राष्ट्र का शासक बनकर सर्वप्रथम न्यायपूर्ण राज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उन्होने अपने राज्य मे सुरक्षा शान्ति न्यायविधि (कानून), स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, आवागमन, व्यापार, समाजकल्याण, पशुपालन, वनस्पतिविज्ञान आदि के आविष्कार द्वारा सुयुग का वातावरण प्रारम्भ कर दिया था। इनके अतिरिक्त उन्होने समाज मे शासन करने योग्य मानवो को क्षत्रियवर्ग, असिविद्या एव कृषिकला मे प्रवीण मानवो को वैश्यवर्ग और श्रम तथा शिल्पकला म प्रवीण मानवो को प्रजावर्ग के नाम से विभाजित कर उनको अपने कर्तव्यो पर नियुक्त कर दिया था। अपना राज्यकाल

समाप्त कर ऋपभदेव ने उत्तरभारत का राज्य श्रीभरत चक्री को और दक्षिणभारत का राज्य श्री वाहुवलि को दे दिया था। चक्रेश भरत ने धार्मिक क्रियाकाण्ड एव शिक्षण देने मे प्रवीण विद्वान् व्यक्तियो को ब्राह्मणवर्ग क रूप मे घोपित किया और उनको धर्मशिक्षण के कार्य मे नियुक्त किया। राष्ट्र की यह श्रेष्ठ शासनव्यवस्था ही सतयुगी राज्य अथवा रामराज्य के नाम से विश्व मे विख्यात हो गई। वह राज्यपरम्परा आज तक चली आ रही है।

धार्मिकता का आविष्कार

राष्ट्र मे राष्ट्रीयता का आविष्कार करने के साथ ही सम्राट ऋपभनाथ ने लोककल्याण एव आत्मकल्याण के लिये धार्मिक तत्त्वो का प्रचार किया। यत आत्मशुद्धि के लिये धर्मतत्त्वो का ज्ञान एव आचरण करना अत्यावश्यक है। धर्म का लक्षण है—

धर्म प्राणिदया सत्य क्षान्ति शौच वितृप्तता।
ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्यय ॥१॥ आदिपुराण पर्व १०

अर्थात्—जीवदया, सत्य, क्षमा, मन शुद्धि, अपरिग्रह तथा ज्ञान और वैराग्य को धर्म कहते है। इससे विपरीत हिंसा, असत्य, राग, द्वेष, मोह आदि को अधर्म (पाप) कहते है। व्यक्तिगत आत्मशुद्धि का कारण होने से राज्य मे शान्ति एव नैतिक सभ्यता के लिये भी धमतत्त्वो की महती आवश्यकता है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचय अपरिग्रह ये पच अणुव्रत अथवा पचशील रूप सिद्धान्त राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आध्यात्मिक उन्नति का मूल कारण है। वर्तमान की विश्वशाति, नि शस्त्रीकरण आदि अनेक समस्याओ का हल उक्त सिद्धान्त मे निहित है। आवश्यकता जनमानस मे उनके विकास करने की है। धार्मिकता के विस्तृत भेद इस प्रकार है १ अहिंसा २ सत्य ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह ६ आत्मविश्वास ७ तत्त्वविज्ञान ८ सम्यक्चारित्र ९ क्षान्ति १० विनय ११ निष्कपटता १२ योगशुद्धि १३ सयम १४ तप—इच्छानिरोध १५ त्याग—दान १६ समताभाव १७ दर्शनविशुद्धि १८ व्रताचरण १९ स्वाध्याय २० विरागता २१ धर्मात्मा का सरक्षण २२ गुणीजनभक्ति २३ शास्त्रभक्ति २४ प्रायश्चित्त २५ प्रतिक्रमण २६ धार्मिक प्रचार २७ विश्वबन्धुत्व इत्यादि।

राष्ट्रीयता के विकास के साधन

असिर्मसि कृपिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव वा।
कर्माणीमानि षोढा स्यु प्रजाजीवनहेतवे ॥ —आदिपुराण

अर्थात्—कर्मयुग के प्रारम्भकाल मे सम्राट् ऋपभनाथ ने प्रजा के जीवनसरक्षण के लिये छह प्रमुख साधनो का सर्वप्रथम आविष्कार किया था—(१) असि (२) मसि (३) कृपि (४) विद्या (५) वाणिज्य ६ शिल्पकला।

१ असि

सैनिक शिक्षा, व्यायाम, शस्त्रास्त्रसचालन, विविध खेल, आसनप्रयोग, प्राणायाम, धनुर्विद्या, अश्ववाहन, गजवाहन, रथवाहन, राष्ट्र की सुरक्षा के अन्य साधन आदि।

२ मसि

अ इ उ आदि ब्राह्मीलिपि, वर्तमान मे भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की नागरीलिपि का लेखन, राज्यकार्य-लेखन, शास्त्रलेखन, पत्र तथा विद्याओ का लेखन, चित्र तथा प्राकृतिक दृश्यो का लेखन, गणित की राशि एक से परार्ध तक मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान, बीजगणित, रेखागणित आदि गणितविद्या का लेखन।

इसके अतिरिक्त अठारह महालिपियो का लेखन—१ हसलिपि २ भूतलिपि ३ यज्ञलिपि ४ यावनी ५ तुरकी ६ किरी ७ द्राविडी ८ सैन्धवी ९ मालवी १० नडी ११ नागरी १२ लाटी १३ पारसी १४ अनिमित्ति १५ चाणाकी १६ मौलदेवो १७ राक्षसी १८ उड्डी। अथवा १ लाटी २ गौडी ३ डाहली ४ कानडी ५ गुजरी ६ सौरहठी ७ मरहठी ८ कोंकणी ९ खुरासानी १० मागधी ११ सिंहली १२ हाडी १३ कीडी १४ हम्मीरी १५ पारसी १६ मसी १७ मालवी १८ महायोधी—**अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ८८।**



३ कृषिविज्ञान

हल आदि कृषि के साधनो का प्रयोग, क्षेत्र की सुरक्षा, बैल आदि पशुओ का उपयोग, बीज का वपन, अन्न का उत्पादन, इक्षु का उत्पादन, फल, शाक आदि वनस्पतियो का उत्पादन, उद्यानो का निर्माण, कूप तथा जलाशयो का निर्माण, लतागृह इत्यादि।

४ विद्या (कला) का आविष्कार

पुरुष की बहत्तर कलाओ का पुरुषसमाज मे प्रचार एव प्रसार होने से राष्ट्र की उन्नति होती है। लेखन, गणित आदि से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाए है।

श्रीआदिनाथपुराण के अनुसार कुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता ऋषभदेव से नारियो की चौसठ-कलाओ का शिक्षण प्राप्त कर महिला समाज मे उनका प्रचार किया था। वर्तमान युग मे भी नारियो को सुशिक्षित बनाना आवश्यक है यत नारीसमाज, मानवसमाज का प्रमुख अग एव समभाग है।

५ वाणिज्यकर्म

राष्ट्र तथा समाज की दरिद्रता को दूर करने के लिये और मानव के जीवननिर्वाह के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है तथा अर्थ की पूर्ति या आर्थिक उन्नति प्राय वाणिज्य एव व्यापार से होती है। अत गृहस्थ को न्यायपूर्वक व्यापार तथा वाणिज्य करना चाहिये। राजकीय मुद्रा (सिक्का) व्यापार का एक सरल माध्यम है, मापतौल के साधन भी माध्यम है। अत शासन के अनुकूल उनका उचित व्यवहार और प्रयोग करना आवश्यक है।

६ शिल्पकर्म

राष्ट्र की उचित व्यवस्था और मानवसमाज के जीवनव्यवहार के लिये शिल्पकर्म की आवश्यकता है। शिल्पकला अनेक प्रकार की होती है, जैसे कुम्हार की कला, लोहार की कला, रथकारकला, चित्रकला, वस्त्रकला, नाई की कला, गृहनिर्माणकला, मूर्तिकला, कुटीर उद्योग इत्यादि। वर्तमान मे वैज्ञानिक कला, तथा यन्त्रो का भी आश्चर्यजनक आविष्कार हुआ है जो प्राचीन शिल्पकला का ही विकास है। इससे राष्ट्र तथा समाज की उन्नति होती है।

धार्मिकता के विकास के साधन

कर्मयुग मे जिस प्रकार राष्ट्रीय लौकिक उन्नति के लिये असि मसि आदि छह कर्म कहे गये हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भ० ऋषभदेव आदि तीर्थंकरो द्वारा छह साधन—षट्कर्म दर्शाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ।।

अर्थात्—(१) जीवन्मुक्त आत्मा (अरिहन्त) एव परमात्मा (सिद्ध) के गुणो का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना। (२) सच्चरित्र आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा विद्वान् गुरुजो की सगति मे रहकर शिक्षा और सदाचार प्राप्त करना। (३) स्वाध्याय (शिक्षाप्रद ग्रथो का अध्ययन) करना तथा लेख कविता पुस्तक आदि के रूप मे साहित्य का निर्माण करना (४) सयम अर्थात् इन्द्रियो तथा मन पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना और समस्त प्राणियो की सुरक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करना। (५) तप-क्रोध, मद, छल, तृष्णा इन चार विकारो को त्यागकर बढती हुई इच्छाओ को रोकने के लिये अनशन एकाशन रसत्याग आदि नियमो की साधना करना। (६) दान या त्याग-द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आवश्यक खाद्य वस्तु, ज्ञानप्राप्ति के साधन ग्रथ आदि, रोगविनाश के साधन औषध आदि, प्राणिरक्षा के साधन गृह

वस्त्र इत्यादि का त्याग करना) परोपकार करना, सेवा करना, आत्मकल्याण के लिए धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना।

धार्मिक तत्त्वो के साथ राष्ट्रीय तत्त्वो का समन्वय

राष्ट्र मे राज्य का सचालक राजा या शासक होता है। राजा वह है जो धार्मिक एव राष्ट्रीय भावो का निर्विरोध समीकरण कर मानवसमाज एव प्राणिमात्र को निर्भय, सुखी, शान्त और व्यवस्थित कर दे, अपने राज्य को न्यायपूर्ण रामराज्य बना दे। राजा का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

> "प्रतिपन्नप्रथमाश्रम परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुल सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोलकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा" —नीतिवाक्यामृत

अर्थात्—ब्रह्मचर्याश्रमप्रविष्ट, ईश्वरभक्त, ब्रह्मचारी, गुरुकुल का उपासक, सकलराजविद्याकुशल, युवराज, क्षत्रियपुत्र राजा ब्रह्मा के समान गौरवशाली कहा जाता है। यदि शासक की आत्मा मे धर्म तत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व की समीकरण रूप भावना है तो प्रजा मे भी यही महत्त्वपूर्ण भावना रहती है जिससे राष्ट्र मे और अन्तर्राष्ट्र मे शान्ति तथा न्याय का शासन जीवित रहता है। धर्ममूलक शासन ही रामराज्य के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान मे राष्ट्र के नेताओ को इधर ध्यान देना चाहिए।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मयुग के प्रथम समन्वयवादी शासक थे। इस विषय मे महर्षि समन्तभद्राचार्य का कथन है—

> **प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।**
> **प्रबुद्धतत्त्व पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदावर ॥२॥**
>
> —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक २

अर्थात्—प्राणिजीवन के सरक्षक जिन ऋषभदेव ने प्रजा के लिये कृषि आदि षट्कर्म का उपदेश दिया, पश्चात् विवेकबुद्धि से विश्व के तत्त्वो का परिज्ञान प्राप्त कर क्षणिक वैभव से मोह का त्याग कर दिया था।

सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ का समन्वयवाद इस भांति है—

> **चक्रेण य शत्रुभयकरेण जित्वा नृप सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।**
> **समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥७७॥**
>
> — बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लो० ७७

साराश—भगवान् शान्तिनाथ ने शत्रुओ को भयप्रद शासनचक्र से विरोधी राजसमूह को जीतने के पश्चात् आत्मध्यान रूपी चक्र से साधारण जनो के लिये अजेय मोहरूप चक्र को जीत लिया था।

इस प्रकार चौबीसो तीर्थंकरो के जीवन मे धर्मतत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व का, जीवन और मुक्ति का या प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय चमत्कारप्रद सिद्ध होता है।

जैन साहित्य मे गृहस्थ के लिए जो मगलकामना या शान्तिप्रार्थना करना आवश्यक कहा गया है उसके कुछ श्लोको पर दृष्टिपात कीजिये—

> **सम्पूजकाना प्रतिपालकाना, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।**
> **देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्र ॥६॥**
>
> —शान्तिपाठ श्लोक, ६

अर्थात्—परमात्मा के आराधको को, नेताओ, शासको, सरक्षको को, आचार्य एव साधुजनो को, जीवन मे शान्ति प्राप्त हो तथा राष्ट्र, देश, नगर को एव इनके राजा को सुख-शान्ति प्राप्त हो।





क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपाल
काले काले च सम्यक् विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ।।७।। शा० पा०

जिनेन्द्र अर्चा के प्रभाव से विश्व के मानवो का कल्याण हो, शासकवर्ग न्यायी, धार्मिक एव प्रबल हो, समय पर उचित जलवृष्टि हो, रोगो का नाश हो, राष्ट्रो मे दुर्भिक्ष चोरी डकैती कभी न हो, सक्रामक रोग प्लेग, कालरा आदि का प्रसार न हो और विश्व मे शान्तिप्रद अहिंसा सत्य आदि सिद्धान्तो का चक्र सदैव चलता रहे ।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा ।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृषभाद्या जिनेश्वरा ।।८।। शा० पा०

अर्थात्—कर्ममलरहित, केवलज्ञान से तेजस्वी, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर विश्व को शान्ति प्रदान करें।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता के सामजस्य के विषय मे वैदिकग्रन्थो का समर्थन निम्न प्रकार है—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जित ।।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च । नित्य प्रमुदिता सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।।
—मूलरामायण श्लो० ९०-९३

साराश—श्रीरामचन्द्र के राज्य मे मानव हृष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट धर्मात्मा मानसिक तथा शारीरिक रोगो से रहित और अकाल के भय से रहित थे । ग्राम, नगर और राष्ट्र धनधान्य आदि से परिपूर्ण थे । सब प्राणी सत्ययुग के समान त्रेतायुग मे भी आनन्दित थे ।

शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय ।
न हि किञ्चिदसाध्य वै, लोके शीलवता भवेत् ।।१५।।
एकरात्रेण मान्धाता, त्र्यहेण जनमेजय ।
सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवीं प्रतिपेदिरे ।।१६।।
एते हि पार्थिवास्सर्वे, शीलवन्तो दयान्विता ।
अस्तेषा गुणक्रीता, वसुधा स्वयममागता ।।१७।।
—महाभारत-शीलनिरूपणाध्याय

भावार्थ—शील (श्रेष्ठ स्वभाव, अहिंसा, आदि) से तीन लोक के राज्य पर भी विजय प्राप्त हो सकती है, इसमे कोई सन्देह नही है । शीलवान् पुरुषो को लोक मे कोई वस्तु या कार्य असाध्य नही है । राजा मान्धाता ने एक दिन मे, जनमेजय राजा ने तीन दिन मे और नाभाग नृप ने सात दिन मे पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लिया था । ये सब राजा शीलवान् और दयालु थे इसलिये अपने गुणो के द्वारा उन्होने पृथिवी का राज्य विशेष प्रयत्न के बिना ही प्राप्त कर लिया था ।

प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि । स पिता पितरस्तासा, केवल जन्महेतव ।।
स्थित्यैदण्डयतो दण्डयान् परिणेतु प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्ता धर्म एव मनीषिण ।।
—रघुवश प्र० स० श्लो० २४-२५

अर्थात्—प्रजा को नम्रता सदाचार आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियो से रक्षा करने से और अन्न-जल आदि के द्वारा पालन करने से राजा दिलीप ही वास्तव मे प्रजा का पिता था । प्रजा के पिता तो केवल जन्मदाता ही थे ।

मानवधर्म की रक्षा के लिये अपराधियो को अनुकूल दण्ड देने वाले, तथा केवल कुलपरम्परा के लिये विवाह करने वाले, विद्वान् राजा दिलीप के अर्थ और काम पुरुषार्थ धर्ममूलक ही हुए थे अर्थात् महाराज दिलीप का राज्य धर्ममूलक था। यह ही रामराज्य का परम ध्येय है।

राष्ट्रपिता म० गान्धी के जीवन मे धार्मिकता और राष्ट्रीयता का गहरा समन्वय था। देखिये उस महात्मा के महान् विचार—"अगर मुझमे स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय मे मै अपने पूर्वजो के धर्म पर ही दृढ रहूगा। इसमे मैं अपनी परवर्ती धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हू। अगर मुझे उसमे कोई खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिये। राजनैतिक बातो मे भी मुझे देशी सस्थाओ का ही उपयोग करना चाहिये। अगर आदमी स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया मे सतयुग जल्दी आ जायगा।

—आत्मकथा, परिशिष्ट ख

राजनीति ने म० गान्धी को अहिंसा के अभ्यास एव प्रयोग के लिये ही प्रबल और व्यापक अवसर प्रदान किये हैं अत उन्होने अपने प्रधान आदर्श अहिंसा की सिद्धि के लिये ही राजनीति मे प्रवेश किया था। इसमे अन्य कोई मुख्य कारण नही था।

"जब तक शान्तिसेना का सगठन नही होता तब तक देश का विकास, आन्तरिक रक्षा एव निर्भयता नही हो सकती। राष्ट्र मे शान्तिसेना का निर्माण आवश्यक ही नही अनिवार्य है।"

—विनोबा भावे, प्रार्थनाप्रवचन, ईडर, दि० ८-१-५९

"ससार के अन्य देशो की शिक्षा का अन्य उद्देश्य हो सकता है किन्तु युवक-युवतियो को आध्यात्मिकता की ओर ले आना ही यहा की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य रहा है और यही होना भी चाहिये।"

—डा० सर राधाकृष्णन, भाषण, कलकत्ता ३०-६-५८

"मतभेदो को दूर करने के लिये युद्ध करना या खून बहाना मानवता के हित मे नही। आज देश देश के बीच का अन्तर समाप्त हो गया है और युद्धरहित ससार मे ही आज के राष्ट्र की सुरक्षा है।"

—अमरीकी राष्ट्रपति आईजन हावर, देहली दिसम्बर सन् ५९

धार्मिक तत्वो की राष्ट्रीय क्षेत्र मे उपयोगिता

जिन उपयोगी धर्मिक तत्वो ने भारतीय राष्ट्रीयता को उन्नत करने मे तथा भारतीय स्वतन्त्रता को प्राप्त कराने मे सहयोग और आत्मबल प्रदान किया वे इस प्रकार है—(१) अहिंसा (२) क्षमा (३) त्याग (४) मासत्याग (५) मादक वस्तुत्याग (६) स्वावलम्बन (७) ब्रह्मचर्य (८) अचौर्य (९) निर्भयता (१०) विश्वप्रेम (११) हिंसा-जनित विदेशी वस्तु का त्याग (१२) अनशन (१३) कायक्लेश (१४) सयम (१५) सत्याचरण (१६) सेवा, (१७) साम्यवाद (१८) न्याय (१९) नैतिक शिक्षा (२०) अपरिग्रह (२१) स्याद्वाद (२२) विनय (२३) वस्तुविज्ञान (२४) आत्मविश्वास (२५) निष्कपटता (२६) पच अणुव्रत अथवा पचशील।

समन्वयशील शासकपरम्परा

पुराण और इतिहास कहते है कि इस वसुन्धरा पर दश बीस नही किन्तु सैकडो राजा, सम्राट् चक्रवर्ती आदि शासक अपना धवल यश छोड गये हैं जिन्होने धार्मिकता और राजनीति का मनोज्ञ सामजस्य कर रामराज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उनमे कुछ चमकते हुए हीरे इस प्रकार है।

श्री ऋषभनाथ से श्री महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर, भरत आदि १२ चक्रवर्ती, रामचन्द्र आदि नव बलभद्र, लक्ष्मण आदि नव नारायण, श्री बाहुबली आदि २४ कामदेव प्रभृति महापुरुष। भ० महावीर तथा महात्मा बुद्ध के समय से प्रवाहित शासकपरम्परा के कुछ देदीप्यमान भूमण्डल के सितारे —

लिच्छविक्षत्रिय जैनवीर—राजा चेटक, सेनापति सिंह। इक्ष्वाकुवशी कौशाम्बी नरेश। सूर्यवशी—राजा दशरथ आदि। शिशुनागवशी—श्रेणिक, बिम्बसार, अभयकुमार, कुणिक आदि। मौर्यवशी—सम्राट चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति आदि। चेदीवशी—सम्राट् ऐलखारवेल, सम्राट् महामेघवाहन। आन्ध्रवशी—सम्राट् विक्रमादित्य, शातकर्णी, हल्ल





क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपाल
काले काले च सम्यक् विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ।।७।। शा० पा०

जिनेन्द्र अर्चा के प्रभाव से विश्व के मानवो का कल्याण हो, शासकवर्ग न्यायी, धार्मिक एव प्रबल हो, समय पर उचित जलवृष्टि हो, रोगो का नाश हो, राष्ट्रो मे दुर्भिक्ष चोरी डकैती कभी न हो, सक्रामक रोग प्लेग, कालरा आदि का प्रसार न हो और विश्व मे शान्तिप्रद अहिसा सत्य आदि सिद्धान्तो का चक्र सदैव चलता रहे ।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा ।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृषभाद्या जिनेश्वरा ।।८।। शा० पा०

अर्थात्–कर्ममलरहित, केवलज्ञान से तेजस्वी, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर विश्व को शान्ति प्रदान करें।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता के सामजस्य के विषय मे वैदिकग्रन्थो का समर्थन निम्न प्रकार है—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जित ।।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च । नित्य प्रमुदिता सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।।
—मूलरामायण श्लो० ९०-९३

साराश—श्रीरामचन्द्र के राज्य मे मानव हृष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट धर्मात्मा मानसिक तथा शारीरिक रोगो से रहित और अकाल के भय से रहित थे । ग्राम, नगर और राष्ट्र धनधान्य आदि से परिपूर्ण थे । सब प्राणी सत्ययुग के समान त्रेतायुग मे भी आनन्दित थे ।

शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय ।
न हि किञ्चिदसाध्य वै, लोके शीलवता भवेत् ।।१५।।
एकरात्रेण मान्धाता, त्र्यहेण जनमेजय ।
सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवीं प्रतिपेदिरे ।।१६।।
एते हि पार्थिवास्सर्वे, शीलवन्तो दयान्विता ।
अस्तेषा गुणक्रीता, वसुधा स्वयमागता ।।१७।।
—महाभारत-शीलनिरूपणाध्याय

भावार्थ–शील (श्रेष्ठ स्वभाव, अहिसा, आदि) मे तीन लोक के राज्य पर भी विजय प्राप्त हो सकती है, इसमे कोई सन्देह नही है । शीलवान् पुरुषो को लोक मे कोई वस्तु या कार्य असाध्य नही है । राजा मान्धाता ने एक दिन मे, जनमेजय राजा ने तीन दिन मे और नाभाग नृप ने सात दिन मे पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लिया था । ये सब राजा शीलवान् और दयालु थे इसलिये अपने गुणो के द्वारा उन्होने पृथिवी का राज्य विशेष प्रयत्न के बिना ही प्राप्त कर लिया था ।

प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि । स पिता पितरस्तासा, केवल जन्महेतव ।।
स्थित्यैदण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतु प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्ता धर्म एव मनीषिण ।।
—रघुवश प्र० स० श्लो० २४-२५

अर्थात्—प्रजा को नम्रता सदाचार आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियो से रक्षा करने से और अन्न-जल आदि के द्वारा पालन करने से राजा दिलीप ही वास्तव मे प्रजा का पिता था । प्रजा के पिता तो केवल जन्मदाता ही थे ।

मानवधर्म की रक्षा के लिये अपराधियो को अनुकूल दण्ड देने वाले, तथा केवल कुलपरम्परा के लिये विवाह करने वाले, विद्वान् राजा दिलीप के अर्थ और काम पुरुषार्थ धर्ममूलक ही हुए थे अर्थात् महाराज दिलीप का राज्य धर्ममूलक था। यह ही रामराज्य का परम ध्येय है।

राष्ट्रपिता म० गान्धी के जीवन मे धार्मिकता और राष्ट्रीयता का गहरा समन्वय था। देखिये उस महात्मा के महान् विचार—"अगर मुझमे स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय मे मै अपने पूर्वजो के धर्म पर ही दृढ रहूगा। इसमे मैं अपनी परवर्ती धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हू। अगर मुझे उसमे कोई खामी दिखाई दे तो उसे दूर करके मुझे अपने धर्म की सेवा करनी चाहिये। राजनैतिक बातो मे भी मुझे देशी संस्थाओं का ही उपयोग करना चाहिये। अगर आदमी स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनिया मे सत्ययुग जल्दी आ जायगा।

—आत्मकथा, परिशिष्ट ख

राजनीति ने म० गान्धी को अहिंसा के अभ्यास एव प्रयोग के लिये ही प्रबल और व्यापक अवसर प्रदान किये हैं अत उन्होने अपने प्रधान आदर्श अहिंसा की सिद्धि के लिये ही राजनीति मे प्रवेश किया था। इसमे अन्य कोई मुख्य कारण नही था।

"जब तक शान्तिसेना का सगठन नही होता तब तक देश का विकास, आन्तरिक रक्षा एव निर्भयता नही हो सकती। राष्ट्र मे शान्तिसेना का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।"

—विनोवा भावे, प्रार्थनाप्रवचन, ईडर, दि० ८-१-५६

"संसार के अन्य देशो की शिक्षा का अन्य उद्देश्य हो सकता है किन्तु युवक-युवतियों को आध्यात्मिकता की ओर ले आना ही यहा की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य रहा है और यही होना भी चाहिये।"

—डा० सर राधाकृष्णन, भाषण, कलकत्ता ३०-६-५८

"मतभेदो को दूर करने के लिये युद्ध करना या खून वहाना मानवता के हित मे नही। आज देश देश के बीच का अन्तर समाप्त हो गया है और युद्धरहित ससार मे ही आज के राष्ट्र की सुरक्षा है।"

—अमरीकी राष्ट्रपति आईजन हावर, देहली दिसम्बर सन् ५६

धार्मिक तत्वो की राष्ट्रीय क्षेत्र मे उपयोगिता

जिन उपयोगी धर्मिक तत्त्वो ने भारतीय राष्ट्रीयता को उन्नत करने मे तथा भारतीय स्वतन्त्रता का प्राप्त कराने मे सहयोग और आत्मवल प्रदान किया वे इस प्रकार है—(१) अहिंसा (२) क्षमा (३) त्याग (४) मासत्याग (५) मादक वस्तुत्याग (६) स्वावलम्वन (७) ब्रह्मचर्य (८) अचौर्य (९) निर्भयता (१०) विश्वप्रेम (११) हिंसा-जनित विदेशी वस्तु का त्याग (१२) अनशन (१३) कायक्लेश (१४) सयम (१५) सत्याचरण (१६) सेवा, (१७) साम्यवाद (१८) न्याय (१९) नैतिक शिक्षा (२०) अपरिग्रह (२१) स्याद्वाद (२२) विनय (२३) वस्तुविज्ञान (२४) आत्मविश्वास (२५) निष्कपटता (२६) पच अणुव्रत अथवा पचशील।

समन्वयशील शासकपरम्परा

पुराण और इतिहास कहते है कि इस वसुन्धरा पर दश बीस नही किन्तु सैकडो राजा, सम्राट् चक्रवर्ती आदि शासक अपना धवल यश छोड गये हैं जिन्होने धार्मिकता और राजनीति का मनोज्ञ सामजस्य कर रामराज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उनमे कुछ चमकते हुए हीरे इस प्रकार है।

श्री ऋषभनाथ से श्री महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर, भरत आदि १२ चक्रवर्ती, रामचन्द्र आदि नव वलभद्र, लक्ष्मण आदि नव नारायण, श्री बाहुवली आदि २४ कामदेव प्रभृति महापुरुष। भ० महावीर तथा महात्मा वुद्ध के समय से प्रवाहित शासकपरम्परा के कुछ देदीप्यमान भूमण्डल के सितारे —

लिच्छविक्षत्रिय जैनवीर—राजा चेटक, सेनापति सिंह। इक्ष्वाकुवशी कौशाम्बी नरेश। सूर्यवशी—राजा दशरथ आदि। शिशुनागवशी—श्रेणिक, विम्वसार, अभयकुमार, कुणिक आदि। मौर्यवशी—सम्राट चन्द्रगुप्त, अशोक, सम्प्रति आदि। चेदीवशी—सम्राट् ऐलखारवेल, सम्राट् महामेघवाहन। आन्ध्रवशी—सम्राट् विक्रमादित्य, शतकर्णी, हल्ल



चालुक्यवशी – कीर्ति वर्मा, विजयादित्य आदि १६ महाराजा । राठौरवशी—सम्राट् – अमोघवर्ष, माहमतुग, कृष्ण-राज आदि ६ नृप । सोलकी वीर – भीम, कर्ण, सिद्धराज, कुमारपाल आदि । परिहारवशी—राजा भोज, तोमर कीर्ति-सिंह ग्वालियर । परमारवशी – राजा भोज, शुभचन्द्र, यशोवर्मा । बुन्देल वीर—महाराज छत्रसाल आदि । ब्रह्मक्षत्रवशी महाराज चामुण्डराय आदि । राजस्थान के वीर—दानवीर भामाशाह, विमलशाह तोलाशाह, कर्माशाह, आशाशाह, दयालदास, करमचन्द्र आदि । (वीर-जैनवीराक, वर्ष ११)

आधुनिक समस्याओ का समन्वयात्मक समाधान

वर्तमान राष्ट्रो के समक्ष आज कुछ जटिल समस्याए है जिनका पूर्ण समाधान करने म सभी राष्ट्र उलझे हुए है । अभी तक उनका कोई समुचित समाधान नही प्राप्त हो रहा है । विश्व की और विशेषतया भारतीय समस्याओ का समाधान धर्म-तत्त्वो और राष्ट्रीय तत्त्वो के उचित समन्वय से ही सम्भव है । किन्तु इस तथ्य को भुलाया जा रहा है । आधुनिक लोग विज्ञान को वरदान मानकर उसी के सहारे इन समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करते है किन्तु जिस विज्ञान ने समस्याओ को उलझाया है वही कैसे सुलझा सकता है ? हम यहा कुछ समस्याए और उनका समन्वया-त्मक समाधान प्रस्तुत कर रहे है जिससे हमारा आशय अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है—

क्रम	राष्ट्रीय समस्याए	समन्वयात्मक समाधान
१,	जनसख्यावृद्धिनिरोध	ब्रह्मचर्यव्रत, सयम, शृगारत्याग, परिवारनियोजन ।
२	अन्नोत्पादन	शाकाहार, शुद्धाहार, एकाशन, उपवास, कृषिकला, यन्त्रप्रयोग, वनस्पति उत्पा-दन, पशुरक्षण आदि ।
३	देशरक्षा	पराक्रम मैत्रीभाव, पचशील, शान्तिसेना, सैनिकशिक्षा ।
४	सुवर्णनियत्रण	परिग्रहपरिमाण, सन्तोष, आभूषणशृगारत्यागादि ।
५	विश्वयुद्धशान्ति	अहिंसा, सत्य, नि शस्त्रीकरण, मदलोभत्याग, आदि ।
३	साम्प्रदायिकतानिरोध	अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, समता, क्षमा, सहयोग ।
७	समाजसुधार	साम्यभाव, सर्वोदय, धार्मिकशिक्षा, मित्रता, सेवा ।
८	दहेजप्रथानिरोध	आदर्श धार्मिक विवाह, सामूहिक विवाह सहयोगादि ।
९	चोरी डकैतीनिरोध	अचौर्याणुव्रत, शिक्षा, उद्योग, सन्तोष, समाजवाद ।
१०	भ्रष्टाचार, घूमखोरी निरोध	सदाचार, सत्य सन्तोष, सेवा, अनुशासन, न्यायादि ।
११	गुण्डाशाही निरोध	सदाचार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, दया, शासनसहयोग ।
१२	मासाहार-मद्यनिषेध	शाकाहार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, उच्चविचार, दया ।
१३	बेकारी, गरीबी निरोध	अर्थशिक्षण, कुटीरउद्योग, हस्तकला, क्राफ्ट, समयोपयोग, मितव्ययिता ।

उपसहार

कला बहत्तर पुरुष की तामे दो सरदार ।
एक जीव की जीविका दूजे जीव उद्धार ॥१॥ —कविवर द्यानतराय

आत्मा की उन्नति धार्मिक तत्त्वो से और जीवन की उन्नति राष्ट्रीय तत्त्वो से होती है । ये दोनो विद्याएं सब कलाओ मे श्रेष्ठ हैं । धार्मिकता और राष्ट्रीयता की उन्नति एकागी पुरुषार्थ से सम्भव नही है । उक्त दोनो तत्त्वो का समन्वयरूप पौरुष ही उन्नति का प्रबल साधन है । उसी की जीवन मे आवश्यकता है । वह सर्वांगीण पुरुषार्थ ही व्यक्ति, समाज और विश्व के विकास, तथा उत्कर्ष का नेता है ।

●

परोपकार की भूमिकाएं

लें० डॉ० इंद्रचंद्र शास्त्री,

एम ए, पी-एच डी वेदान्तवारिधि, शास्त्राचार्य,

दिल्ली



दूसरों के साथ हमारा संबंध तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है — १ हिंसामूलक, २ विनिमयमूलक, ३ प्रेममूलक। हिंसामूलक संबंध में हमारा ध्यान अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर रहता है। दोनों की व्याख्या हम अपने स्वार्थ एवं निरर्गल अहंकार की तृप्ति को लक्ष्य में रखकर करते हैं। इसका कोई शाश्वत या तटस्थ आधार नहीं होता। राजनीति में सैनिक-विजय को अधिकार का न्यायपूर्ण आधार माना गया है। बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस विजय का कारण केवल रणकौशल या वीरता नहीं होता। मिथ्या प्रचार, छल-कपट, विश्वास-घात, विषप्रयोग, आर्थिक एवं कामुकतापूर्ण प्रलोभन, सभी इसके अन्तर्गत हैं। यहां हार जाना ही सबसे बड़ा अपराध तथा पाप है। युद्धों का इतिहास यह बताता है कि सारा दोष पराजित पर मढ़ दिया गया। प्रत्येक विजेता राम बन गया और पराजित रावण।

सामाजिक संबंध का दूसरा रूप विनिमय है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि वह बल-प्रयोग द्वारा स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सकता तो दूसरे के साथ समझौता करता है। दोनों विनिमय द्वारा एक-दूसरे की स्वार्थपूर्ति करते हैं। प्रथम प्रकार में प्रतिदान के लिए स्थान नहीं है। किन्तु यहां यह आवश्यक है। फिर भी दृष्टि अधिकार पर रहती है। कोई पक्ष दूसरे की विवशता से लाभ उठाने में नहीं हिचकिचाता। जब भोग्य वस्तु दुर्लभ हो जाती है तो व्यापारी अधिकाधिक लाभ उठाना अपना अधिकार मानता है। इतना ही नहीं कृत्रिम अभाव खड़ा करने का प्रयत्न भी करता है। इन सब बातों को व्यापारकौशल कहता है। उसमें और चोर में इतना ही अन्तर रहता है कि वह राजदंड से बच जाता है और चोर नहीं बच पाता। इस बचाव के लिए राजनीतिक अधिकारियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में रिश्वत देना व्यापार की नैतिकसंहिता में अपराध नहीं माना जाता।

अधिकतर विनिमय-मूलक संबंधों का पर्यवसान हिंसा में होता है। कहीं प्रत्यक्ष हिंसा होने लगती है और कहीं अप्रत्यक्ष। धनवान संकटग्रस्त मजदूर को ऋण देने के लिए उसका घर गिरवी रख लेता है। सूद की अत्यधिक दर होने पर भी वह दावा करता है कि मैंने संकट में गरीब की सहायता की। परिस्थितिवश मजदूर समय पर ऋण नहीं चुका पाता। व्यापारी उसके घर को नीलाम कर देता है और उसके बाल-बच्चे भीख मांगने एवं सर्दी में ठिठुरने के लिए विवश हो जाते हैं। धनवान इस व्यवहार को अन्याय या हिंसा नहीं मानता। क्योंकि कानून उस पर औचित्य की मोहर लगा देता है।

एक बात और है। वस्तु अपने आप में मूल्यांकन का आधार नहीं होती। इसका आधार एक ओर हमारी आवश्यकता और दूसरी ओर वस्तु की दुर्लभता होती है। जहां स्वाभाविक आवश्यकता नहीं होती वहां कृत्रिम आवश्यकता उत्पन्न की जाती है। इसके लिए विलासिता, जिह्वालोलुपता, अहंकार आदि वृत्तियों को उभारा जाता है। इसी प्रकार स्वाभाविक दुर्लभता न होने पर कृत्रिम दुर्लभता उत्पन्न की जाती है।

ये सब हिंसात्मक उपाय विनिमय-मूलक सम्बन्ध के अवश्यभावी परिणाम हैं। कहीं-कहीं विनिमय प्रेम में परिणत हो जाता है। वहां दोनों पक्ष अपने स्वार्थ के साथ दूसरे के स्वार्थ का भी ध्यान रखते हैं। और इसकी मात्रा ज्यों-ज्यों बढ़ती है, विनिमय प्रेम में बदलता जाता है। मालिक और नौकर का सम्बन्ध प्रारम्भ में विनिमयमूलक होता है,

किन्तु यदि दोनो एक-दूसरे की आवश्यकता एव सुखदुख का ध्यान रखते है तो वह प्रेम का रूप ले लेता है। ऐसी स्थिति मे दोनो की दृष्टि अपने-अपने अधिकार को छोडकर कर्त्तव्य पर रहने लगती है। वहाँ स्वामी और सेवक, छोटे और बडे की भावना समाप्तप्राय हो जाती है।

तीसरा प्रकार प्रेममूलक सम्बन्धो का है। उनमे व्यक्ति का ध्यान अपने कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार पर रहता है। वह अधिक से अधिक देना चाहता है, किन्तु बदले म कुछ नही मांगता। प्रेमपात्र का सुख ही उसका सुख हो जाता है और प्रेमपात्र की प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता बन जाती है। हिसा एव विनिमयमूलक सबधो म पद-पद पर कटुता एव समस्याए खडी होती रहती हैं। किन्तु यहाँ वे अपने आप समाधान खोज लेती है। इतना ही नही कष्ट भी सुख देने लगते हैं। उलझने मनोरजन बन जाती ह और सघर्ष क्रीडा का रूप ले लेता है।

जब हमारा आकर्षण व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रेम कहा जाता है। और जब दूसरे की आवश्यकता, सकट या अभाव को ध्यान मे रखकर कुछ किया जाता है तो उसे परोपकार कहते है। हमे प्रेमपात्र का सहवास अच्छा लगता है। अधिकतर प्रयत्न इसी सुख को लक्ष्य मे रखकर किए जाते है, किन्तु परोपकार मे यह इच्छा भी नही रहती।

बौद्धो की महायान शाखा मे परोपकार के स्थान पर करुणा शब्द आया है। वहा उसकी तीन श्रेणिया बताई गई है।

(१) स्वार्थमूला—जहा प्रेम या सहायता का आधार वास्तविक या सभावित स्वार्थपूर्ति होता है, उसे स्वार्थमूला करुणा कहा जाता है। माता-पिता सतान का पालन इस आशा से करते है कि वह उन्हे भविष्य मे सुख देगी। पति-पत्नी आदि का सबध भी प्रारम्भ मे इसी प्रकार का होता है।

(२) सहेतुकी—इसका अर्थ है वैयक्तिक स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट मे देखकर उसकी सहायता करना। हम किसी व्यक्ति को रोग, अभाव या अन्य कष्ट के कारण दुखी अवस्था मे देखते है। उसका साक्षात्कार हमारी चेतना मे एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न कर देता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए हम उसकी यथाशक्ति सहायता करते है। हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा प्रयत्न किसी के कष्ट को दूर या न्यून करने मे सहायक सिद्ध हुआ। यह अनुभूति सात्विक सुख प्रदान करती है। इस करुणा या उपकारवृत्ति का जन्म दूसरे के कष्ट से होता है। इसीलिए इसे सहेतुकी कहा जाता है।

(३) अहेतुकी—जहा परोपकार का आधार न कोई स्वार्थ होता है और न दूसरे का कष्ट, उसे अहेतुकी करुणा कहा जाता है। इसकी उपमा बादलो से दी जाती है। वे सर्वत्र बरसते है। इस बात का विवेक नही करते कि यह सूखी मरुभूमि है, हरा-भरा वन या समुद्र! बरसना उनका स्वभाव होता है। भगवान् बुद्ध की करुणा इसी प्रकार की बताई गई है। दूसरो के उद्धार के लिए प्रयत्न करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिए वे पात्रापात्र का विवेक नही करते।

बौद्ध साधना मे दस पारमिताए बताई गई हैं। पारमिता का अर्थ है उत्कृष्टता। बोधिसत्व अर्थात् वह व्यक्ति जिसके मन में बुद्ध बनने की भावना जाग उठी है, अपने जीवन मे गुणो का सचय करता है। प्रत्येक गुण अपनी चरम अवस्था मे पहुचकर पारमिता बन जाता है। सबसे पहली दानपारमिता है। इसकी तीन शर्तें है —

(१) बोधिसत्व अपना सर्वस्व दूसरो के हित मे लगा देता है, अपने लिए कुछ नही रखता। धनसपत्ति ही नही अपने शरीर एव सुख को भी दूसरो का कष्ट मिटाने के लिए अर्पित कर देता है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि बोधि प्राप्त कर लेने पर उनमे सासारिक दु खो से छुटकारा प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। निर्वाणद्वारा वे समस्त बधनो से मुक्त हो सकते हैं। फिर भी उस निष्क्रिय अवस्था को स्वीकार नही करते। उनके मन मे यह भावना जाग्रत होती है कि जब तक दूसरे प्राणी दु ख भोग रहे हैं, मै सुखी कैसे हो सकता हूँ। दूसरो के दु ख को ही वे अपना दु ख मान लेते हैं और उसके लिए निर्वाण को स्थगित कर देते है और जानबूझकर जन्म-मरण के चक्र मे पडे रहते हैं।

(२) दान-पारमिता की दूसरी शर्त है बदले मे कुछ न चाहना। वहां देना ही स्वार्थ बन जाता है।

(३) तीसरी शर्त है क्षेत्र की असीमता। बोधिसत्व अपना सर्वस्व अर्पित करते समय क्षेत्र की मर्यादा नही करता। प्रत्येक प्राणी उसके दान का अधिकारी होता है।

दानपारमिता के इसी रूप को शून्य-साधना कहा जाता है। जहा साधक अपने-आप को शून्य मे मिला देता है। वेदात मे यही तथ्य दूसरे शब्दो मे उपस्थित किया जाता है। वहा स्व इतना विस्तृत हो जाता है कि पर कुछ नही रहता। स्व और पर का भेद समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे अर्पण का प्रश्न ही नही होता। केवल इतना ही अन्तर है कि समस्त प्रवृत्तियो का केन्द्रबिंदु सकुचित "स्व' न होकर सर्वग्राही 'स्व' हो जाता है।

भर्तृहरि ने मनुष्यो को चार कोटियो मे विभक्त किया है—

१ सत्पुरुष—वे लोग, जो स्वार्थ छोडकर दूसरे का हितसाधन करते हैं।

२ सामान्यजन—जो स्वार्थ को क्षति न पहुचाते हुए परहित-साधन करते हैं।

३ मानव-राक्षस — जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुचाते है।

४ पशु-राक्षस - जो विना स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुचाते हैं।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नही दिया। ऐसे व्यक्तियो के लिए 'ते के न जानीमहे' कहकर छोड दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियो मे से प्रथम दो परोपकार मे आती हैं और अंतिम दो स्वार्थ या पर-पीडन मे। इनके साथ एक कोटि और जोडी जा सकती है और वह उन लोगो की है, जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरो को हानि पहुचाना चाहते है, उन्हे 'उन्मत्त-राक्षस' कहा जायेगा।

अहिंसा की दृष्टि से परोपकार की भूमिकाए

अहिंसा या हिंसा के आधार पर भी परोपकार की कई श्रेणियाँ हो सकती है। हिंसा के तीन आधार हैं—

(क) स्वार्थवृत्ति—किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुचाना।

(ख) क्रूरता—स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को हानि पहुचाना।

(ग) अपराध—हिंस्य का अपराधी या निरपराध होना।

(१) हिंसा की दृष्टि से निम्नतम भूमिका उन व्यक्तियो की है जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे को हानि पहुचाना चाहते है। उनकी वृत्तियाँ इतनी क्रूर होती हैं कि दूसरे को कष्ट मे देखकर आनन्द आता है। अत निजी स्वार्थ के न होने पर भी दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते है। इतना ही नही, उसके लिए हानि उठाने को भी तैयार रहते है। क्रोध या द्वेषबुद्धि उनकी चेतना को अभिभूत कर लेती है। ऐसे व्यक्तियो को विक्षिप्त या उन्मत्त कहा जायगा। उनकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो जाती है। दूसरे की हानि तो दूर रही, वे अपनी हानि भी नही देखते।

(२) दूसरी कोटि उन व्यक्तियो की है जो प्रयोजन न होने पर भी दूसरे को हानि पहुचाना चाहते है किन्तु उसके लिए स्वय हानि उठाने को तैयार नही हैं। ऐसे व्यक्तियो मे क्रूर-वृत्ति होने पर भी चेतना का सर्वथा लोप नही होता। दूसरे को कष्ट देकर उनका मनोरजन होता है किन्तु इसके लिए स्वय कष्ट नही उठाना चाहते।

(३) तीसरी कोटि उन व्यक्तियो की है जो दूसरे को विना स्वार्थ हानि नही पहुचाते किन्तु स्वार्थ के लिए निरपराध होने पर भी हानि पहुचाने मे नही झिझकते। ऐसे व्यक्ति प्राय अर्थलोलुप होते हैं। उनकी चेतना पर लोभ-वृत्ति छाई रहती है। प्रत्येक प्रवृत्ति मे उसी की प्रेरणा रहती है।





(४) चौथी कोटि उन व्यक्तियो की है जो स्वार्थ या प्रयोजन होने पर भी निरपराध को हानि नही पहुचाते किन्तु अपराध का बदला लेना अपना कर्त्तव्य समझते है। जैन दृष्टि से यह भूमिका श्रावक की है जो सभ्य नागरिक होता है।

(५) पाचवी कोटि उन व्यक्तियो की है जो अपराधी को भी क्षमा कर देते है।

(६) छठी कोटि उनकी है जो अपराधी के कल्याण की कामना करते है किन्तु उसके लिए स्वय हानि उठाने को या स्वार्थ छोडने को तैयार नही होते।

(७) सातवी कोटि उनकी है जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे का कल्याण करना चाहते है।

स्वार्थ एव परोपकार तथा उसके तारतम्य का निर्णय नीचे लिखे चार तत्वो से होता है

(१) क्षेत्र की व्यापकता

(२) त्याग-वृत्ति

(३) उद्देश्य की पवित्रता

(४) परिणाम की मगलमयता

१ क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा परोपकार मे उतनी ही उत्कृष्टता आती जायगी। जब वही क्षेत्र बढते-बढते अखिल विश्व तक पहुच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारभ कुटुम्ब से होता है, अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दु ख एव इच्छाओ को भूल कर उन्हे अपने परिवार के सुख-दु ख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख मे सुखी तथा उसके दु ख मे दु खी होने लगता है, यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य मे इतनी भी परोपकार वृत्ति न होती तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एव अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अत त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना अधिक है।

परिवार से आगे बढकर मनुष्य वश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियो मे अपने वश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एव सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीडन की। परिणाम-स्वरूप विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि मे नही आता, क्योकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि से अमगल है।

कुलो से आगे बढकर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियो तक परोपकारी और उनके बाहर स्वार्थी बनकर रहना सीखा। यहूदी धर्म मे पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है, किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियो पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नही है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मों ने सिद्धान्त रूप मे तो विश्व-बधुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार मे अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने मे पाप नही माना। आर्यो ने भी प्रारम्भ मे भारत के आदिवासियो के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत मे धर्म की परिधि का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियो का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रो मे गुटबदी, परस्पर भय एव युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परोपकार का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदो ने समस्त चराचर-जगत का आधार-भूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही है (तत्त्वमसि)। इस प्रकार सार्वभौम एकता का सदेश दिया। बौद्ध एव जैन-परपरा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप मे उपस्थित किया। ईसामसीह का जो सदेश पर्वतीय प्रवचन

(Sermon on the mount) मे मिलता है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसामसीह आदि कुछ विरले पुरुषो ने उस महान् आदर्श को जीवन मे कर भी बताया।

क्षेत्रविकास के साथ परोपकार श्रेष्ठ तथा उदात्त होता जाता है। किन्तु स्वार्थ निम्न से निम्नतर होता जाता है। प्राचीन समय मे तैमूरलग, नादिरशाह आदि बहुत से आततायियो ने व्यापक रूप से लूटमार की और विश्व के लिए अमगल बने। जब व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम से ससार मे जो अत्याचार हुए है, वे इसका उदाहरण हैं। यहाँ स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहा तक भौतिक आवश्यकताओ या साधारण आकाक्षाओ की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हे स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओ को पार कर अनर्गल बन जाती है, जब वह केवल अपना आतक जमाने, दूसरो पर प्रभुत्व स्थापित करने, दूसरो के न्यायोचित अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा मे नही रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि मे आता है। अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु-बम गिराकर जो लाखो निर्दोष व्यक्तियों को भस्म कर डाला, उसे भी इसी कोटि मे रखा जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो का मत है कि जापान उससे पहले ही पराजय स्वीकार कर चुका था, किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ अपने नए आविष्कार का प्रयोग करना चाहते थे, इसके लिए उन्होने एक पराजित राष्ट्र को चुना जिसके जीवन का उनकी दृष्टि मे कोई मूल्य न था।

त्यागवृत्ति

परोपकार का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। अपने सुख तथा स्वार्थ को छोडने की भावना जितनी प्रबल होगी, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायेगा। विभिन्न धर्मों मे त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी। इस जन्म मे दान देने से अगले जन्म में सैकडो गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म मे काम-भोगो का त्याग करने से स्वर्ग मे अप्सराए मिलेंगी। इस्लाम मे बताया गया है—इस जन्म मे मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा, जहाँ शराब की नदिया बह रही है। शकराचार्य ने इस प्रकार के त्याग को वणिक्-वृत्ति कहा है। वह एक प्रकार का व्यापार है, जहाँ थोडी पूजी लगाकर अधिक पूँजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। परोपकार मे त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप मे सुख है। उससे सात्त्विक आनद की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए त्याग करते-करते जब चरम सीमा पर पहुच जाता है, तब 'स्व' कुछ नही रहता, सब कुछ 'पर' हो जाता है। इसी को सूफी परपरा मे 'खाकपरस्ती', वेदात मे 'ब्रह्मलय', बौद्ध दर्शन मे 'शून्यविलय' तथा जैन दर्शन मे 'मोहनाश' कहा गया है।

इसके विपरीत वैयक्तिक सुख की भावना जितनी उग्र होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस उग्रता के कई मापदड है।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबधो को तोडकर स्वार्थ-साधन करता है, अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है, वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत से व्यक्ति राजकीय नियमो को तो नही तोडते, किन्तु सामाजिक एव धार्मिक कर्त्तव्यो का भग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नही मानते, फिर भी दुराचारी एव पापी तो है ही। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एव पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एव सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्व है। जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमो का उल्लघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहा यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमो का अर्थ साप्रदायिक नियम नही है। साप्रदायिक नियमो का निर्माण मनुष्य अपने सगठन के लिए स्वय करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते हैं। योगसूत्र मे उन्हे देश, काल एव परिस्थिति की परिधि से परे सार्वभौम कहा गया है। साप्रदायिक मर्यादाए मुख्यतया सामाजिक नियमो की कोटि मे आती हैं।

सामाजिक तथा राजकीय नियमो का उल्लघन भी चरित्रविकास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उसमे निर्णायक तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या रूढिया जन्म-काल मे उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्जीव हो जाती



है और विकास मे बाधाए उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के होते हैं। ऐसे नियमो का उल्लघन पाप के स्थान पर धर्म हो सकता है। अत सामाजिक या राजकीय नियमो का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हे स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उनमे सहायक हो तो स्वीकार करने योग्य हैं, अन्यथा हेय। इसके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत हैं। उनका आधार तात्कालिक स्वार्थ नही होता।

३ लक्ष्य-शुद्धि

परोपकार का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है। अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या अन्य प्रकार की भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परोपकार की कोटि में नही आता। ये सब स्वार्थ के अन्तगत हैं। उनमे भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियो वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओ से ऊपर उठकर, केवल सात्विक इच्छाओ से प्रेरित होकर पर-हित करता है वही से परोपकार प्रारभ होता है।

व्यक्ति को परोपकार एव परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए धर्मसस्था ने विविध प्रकार के प्रलोभन दिए है। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय बताए हैं। कहा गया है—जो तपस्या द्वारा कामभोगो पर नियत्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म मे विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते है तथा दूसरे जन्म मे नरक एव पशुयोनि के कष्ट भोगने पडते हैं। इस प्रकार भय या कामना-पूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्म-साधन किया जाता है, वह लक्ष्यशुद्धि की दृष्टि से निम्नकोटि का ही माना जायगा।

४ परिणाम की मगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा जो सभी के लिए मगलमय है। जो आदि मे मगल है, मध्य मे मगल है और अन्त मे मगल है—ऐसा परोपकार परमार्थ हो जाता है।

इस तत्त्व मे क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनो बातो के होने पर भी यदि करने वाले मे विवेक नही है, तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जाता है। धार्मिक एव सामाजिक सगठनो मे इस प्रकार का अविवेक सर्वत्र पाया जाता है। धम के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किए जाते हैं और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होगा। किन्तु उन्ही आडम्बरो के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अत इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मगलमय है। पुराने सस्कार और अहकार, अस्मिता, मोह आदि विकारो के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

> महाकवि रवीद्र ने गीताजलि मे प्रश्नोत्तर के रूप मे कहा है—'दीपक क्यो बुझ गया ?
>
> मैंने उसे अपनी चादर से ढँक दिया और वह बुझ गया।'
>
> वास्तव मे हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते है और प्रकाश का स्रोत समाप्त हो जाता है।
>
> गीताजलि मे दूसरा प्रश्न किया गया है—
>
> 'फूल क्यो मुरझा गया ?
>
> मैंने उसे तोडकर अपनी छाती से चिपका लिया, अत फूल मुरझा गया।'

महापुरुषों की तपस्या एवं भावना-रूपी खाद प्राप्त करके धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और चारों ओर सुगंध फैलाने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सींचते रहें, फूल अपने आप खिलता रहेगा। कुछ दिन सुगंध फैलाकर उसकी पंखुड़ियां भूमि पर जाएंगी और नये अंकुरों को जन्म देंगी। इस प्रकार सारा प्रदेश पुष्पों से भर जायेगा और उनकी सुगंध दूर-दूर तक फैलने लगेगी। किन्तु अहंकार के मिथ्या अभिनिवेशों से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वयं सुगंध लेता है, न दूसरों को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगंध पर एकाधिपत्य की भावना मंगलमय सिद्ध नहीं हुई। यदि धार्मिक संगठनों का उद्देश्य लता को सींचना है, तो उनकी उपयोगिता समझ में आ सकती है, किन्तु यदि वे फूल को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, तो धर्म-रक्षक के स्थान पर धर्म-भक्षक बन जाते हैं।

परिणाम की असमरसता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास में मिलता है। शताब्दियों से एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करता आ रहा है। इसके लिए षड्यंत्र, सैनिक आक्रमण, प्रलोभन आदि समस्त उपायों का आश्रय लेता रहा है। प्रत्येक संगठन का यह दावा होता है कि वह मिथ्यात्व नास्तिकता के मार्ग पर चलने वालों को धर्म के मार्ग पर ला रहा है और इस प्रकार परोपकार के मार्ग पर चल रहा है। किन्तु दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वयं पाप-पथ पर चल पड़ता है। दूसरों को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहता है और इसके लिए उन्हें इस लोक के सुखों से बलपूर्वक वंचित कर देता है। वास्तव में वहां धर्म की आड़ लेकर उद्दाम अहंकार तथा क्रूर वृत्तियों की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मंगलमय नहीं है।

बौद्ध-परम्परा में भगवान् बुद्ध के तीन काय अर्थात् शरीर माने गए हैं। सर्वप्रथम सम्भोगकाय है, इसका अर्थ है स्थूल शरीर, जिसके द्वारा वे खाना-पीना, उठना-बैठना आदि क्रियाएं करते हैं। दूसरा धर्मकाय है। इसका अर्थ है वह संगठन जिसके द्वारा वे धर्मप्रचार करते हैं। भिक्षुसंघ तथा शास्त्र इस कोटि में आते हैं। तीसरा निर्माणकाय है। इसका अर्थ है वे तत्त्व जिन्हें वे विश्व में प्रकाश के रूप में छोड़ जाते हैं। सर्वसाधारण यह भूल जाता है कि उनका प्रतिपादक कौन था तथा उनका किस परम्परा के साथ संबंध है। केवल उनसे प्रकाश प्राप्त करके अपने पथ का निश्चय करता है। वे उस सुगंध के समान होते हैं जिसके लिए हम नहीं जानते कि किस उद्यान से आ रही है अथवा किस फूल की है। परोपकार की दृष्टि से धर्मसंस्था का उच्चतम रूप तृतीय काय में मिलता है।

परमार्थ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप से स्वार्थ एवं परोपकार की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परोपकार ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमार्थ बन जाता है। उपनिषदों में ईश्वर का विराट् के रूप में वर्णन किया गया है, जो विश्व का नामान्तर है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है— 'माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है, इसी प्रकार उत्कट प्रेम समस्त विश्व में फैला दो। जैनदर्शन में भी राग और द्वेष को जीतकर विश्वमैत्री पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों में परोपकार ही समस्त परिधियों को पार कर लेने पर परमार्थ बन जाता है।



बौद्धों की महायानपरम्परा में साधना का लक्ष्य, अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमात्र का निरोध नहीं होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा के रूप में दस पारमिताएं बनाई गई हैं, जिनका अभ्यास बोधिसत्व करते हैं। ईसाई-परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता में निवृत्ति-मार्ग सांख्य अर्थात् ज्ञान-योग की अपेक्षा से है और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एवं भक्ति-योग की अपेक्षा से। दोनों मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलंबित हैं। जिसकी जिधर अभिरुचि हो, वह उसे अपना सकता है। दोनों ही परम मंगलमय माने गए हैं। साथ ही यह भी कहा गया है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' अर्थात् निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति श्रेष्ठ है। वैष्णव परम्परा

मे कहा गया है— परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बडी है। (भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी)। तुलसीदास का कथन है सिया-राममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुगपानी' अर्थात् मैं समस्त विश्व को सीता और राम के रूप मे देखता हू और प्रत्येक व्यक्ति को हाथ जोडकर प्रणाम करता हू। इससे प्रतीत होता है कि भक्ति-मार्ग विश्व को भगवान् से भिन्न नही मानता। जनता को ही जनार्दन मानकर भक्ति का सदेश देता है।

जैनपरम्परा इस तथ्य को अहिंसा अथवा जीवरक्षा के रूप मे उपस्थित करती है। उसका कथन है कि मनुष्य ही नहीं पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है। उन्हे किसी प्रकार का आघात पहुचाना हिंसा या पाप है। अहिंसा के लिए उन सबके प्रति प्रेम एव मित्रता आवश्यक है। जैनधर्म इसे चरित्र की उच्च भूमिका के रूप मे प्रस्तुत करता है। यहा परोपकार के विधिपक्ष को छोडकर निषेधपक्ष पर बल दिया गया है। बौद्धो की हीन-यान शाखा मे भी प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। अद्वैत वेदात तथा साख्यदर्शन मे भी दुखाभाव को सुख बताया गया है।

न्याय-दर्शन मे मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश मे जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुख का नाश और दुख का नाश ही 'मोक्ष' है।

उपर्युक्त परम्पराओ मे प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। हम इसकी विस्तृत चर्चा मे न जाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि परोपकार का नैश्चयिक रूप निवृत्ति ही है। किन्तु उससे पहले प्रवृत्ति की साधना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने लिए समस्त प्रवृत्तियाँ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देता है वह सत्य से दूर चला जाता है। जैनधर्म मे समता को नैतिकता का आधार माना गया है। इसका अर्थ है हम अपने लिए जिस व्यवहार या वस्तु को आवश्यक मानते हैं, दूसरे के लिए भी उस आवश्यकता की अनुभूति करें। जो व्यक्ति उच्चतम साधना द्वारा अपने शरीर का मोह छोड चुका है उससे यह आशा नही की जाती कि वह दूसरे की प्राणरक्षा करे। किन्तु जो अपने लिए सब कुछ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देने लगता है वह वैषम्य का पोषक होने के कारण धर्म से दूर चला जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो परोपकार की भूमिकाएं हैं। साधक को किस समय किसका आश्रय लेना चाहिए यह उसकी जीवनस्थिति पर निर्भर है।

धर्म-निरपेक्षता

डा० सुशीलचंद्र दिवाकर,

एम ए, बी काम, एल-एल बी, पी-एच. डी

प्रोफेसर्स कालोनी, जबलपुर (म० प्र०)



इस भौतिकवादी युग मे मानव ने अध्यात्म को छोडकर सर्वांगीण प्रगति का बीडा उठाया है। धर्म की दुहाई देकर जनता को गुमराह करने वालो को अब चुनौती दी जा रही है। उनकी पापलीलाओं का अन्त होने आया है। किन्तु उनकी कृतियो को देखकर हमने भ्रमवश धर्म को ही लाछन लगाया। धर्म के नाम पर किए गए उनके कुकर्मो के कारण ही धर्म को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा। मध्ययुग का इतिहास धर्म की ओट मे किए गए युद्धो और हत्या-काडो से तो भरा पडा है ही, किन्तु आधुनिक युग मे भी इससे बडा और क्या प्रमाणपत्र हो सकता है कि धर्म की दुहाई देकर आर्यावर्त के दो टुकडे कर दिये गये ? इसीलिए तो धर्म से ही त्रस्त होकर मार्क्स और लेनिन ने उसके खिलाफ बगावत कर दी और विश्व को धर्महीन साम्यवाद प्रदान किया। श्री फ्यूलप मिलर ने इस पर लिखा है —

"Religion to his master Marx had been the opium of the people and to Lenin it was a kind and spiritual cocaine in which the slaves of capital draw their human perception and their demands for any life worthy of a human being [१]"

किन्तु क्या यह उचित होगा कि कुछ स्वार्थी व्यक्तियो की अबुद्धि के कारण हम धर्म का परित्याग कर बैठे ? भारत मे अनेकों धर्मो का उद्भव हुआ और यह धर्मभूमि कहलाता है। श्री रानडे के शब्दो मे धर्म का त्याग भारत में असम्भव है। क्योंकि तब तो धर्म का भूत हमारा पीछा करेगा। सर्वप्रथम हमे धर्म का अर्थ और कार्यक्षेत्र समझ लेना है। तब ही धर्म के प्रति हमारी उचित आस्था हो सकती है और हम धर्म का उपयोग मानवीय पतन के बदले उन्नति मे कर सकते हैं। एक विद्वान् श्रीगुणभद्र ने कहा है कि धर्म सुख का कारण है कारण अपने कार्य का विनाशक नही होता। अतएव आनन्द के विनाश के भय से तुम्हे धर्म से विमुख नही होना चाहिये। कल्याणकारी राज्य के युग मे राज्य का कार्य जनता मे सुखप्रसार करना है। यदि धर्म भी सुख देता है तो वह राजकार्य को बहुत ही सरल बना सकता है। लार्ड एबेबेरी के ये शब्द धर्म पर प्रकाश डालते है—

"Religion was intended to living peace on earth and good-will towards man; whatever tends to hatred and perse cution, however correct in the leatter must be utterly wrong in the spirit"

देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।

भावार्थ यह है कि जो ससार के दुखो से बचाकर जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे वह धर्म है। डा० राधा-कृष्णन के अनुसार 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को तथा हिंसा के परित्याग' को धर्म कहना चाहिये। ईसाई धर्म के दस आदेश (Ten commandents) और मनुस्मृति एव गीता के दस धर्मो ने इसी बात का पोषण किया है। एक अन्य आचार्य उमास्वामी ने अपनी प्रख्यात कृति तत्वार्थसूत्र मे धर्म का विवेचन करते हुए दस धर्मो के नाम इस प्रकार

---

१ Mind and Face of Bolshevism by Fulop Miller



गिनाए हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य । अतः यदि धर्म हमें उत्तम क्षमा, मानहीनता, सरलता, अपरिग्रह, संयम आदि की सीख देते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये आदेश और प्रेरणा देता है तो क्यों उसे बुरा कहना चाहिये ? क्या हिंसा और इन दस धर्मों के विरोधी तत्वों मे उन्नति हो सकती है ? यदि नही तो धर्म का तिरस्कार करना व्यावहारिक मूर्खता ही है । भारतीय संस्कृति मे सभी कार्यों मे धर्म को ही आधारभूत माना है । लेकिन यहां प्रश्न यह उठता है कि धर्मपालन क्यों होना चाहिये ? भारतीय संस्कृति ने ध्यात्मतत्व को प्रधानता देते समय कुछ कारणो पर विचार कर लिया है । प्रत्येक व्यक्ति और प्राणी मे आत्मा का सद्-भाव है और उसकी उन्नति के लिये धर्मपालन अनिवार्य है । अधर्म से कुछ समय के लिये शरीर, धन और वैभव मे वृद्धि हो सकती है, किन्तु आत्मा का कदापि उत्कर्ष नही हो सकता । जब आत्मा का उत्कर्ष होता है, तब व्यक्ति का वास्त-विक उत्कर्ष और व्यक्ति-समुदायी समाज का उत्कर्ष अनिवार्य रूप से होता है । अत धर्मपालन मे व्यक्तिगत और सामाजिक उत्कर्ष को खुला क्षेत्र दिया गया है । इतिहास साक्षी है कि वस्तुत धार्मिक शासनो मे समाज सुखी था । और धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि सहज ही हुआ करती थी । 'रामराज्य' के बारे मे यह वर्णन है कि, 'अयोध्या मे कोई कामी पुरुष न था, न कजूस, न अनपढ, न निर्दयी और न कोई नास्तिक था । आज के जडवादी युग मे ऐसी बात पर विश्वास नही होता और यह उपहासास्पद प्रतीत होती है । किन्तु यह अपने सस्कार की बात है, अन्यथा राजा और प्रजा के धार्मिक रहन पर यह मंगलमय स्थिति स्वाभाविक ही थी ।

तो फिर धार्मिकता के फलस्वरूप क्या इतिहास के अनुसार भयानक विनाश और कलह का बाजार गर्म हुआ ? फ्रांस इटली भारत और चीन आदि सभी राष्ट्रो का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है । यदि हम प्रतीकारात्मक तर्क का आश्रय न लेकर प्रहारात्मक तर्क से काम ले तो सहज ही यह प्रश्न उठा सकते है कि धर्महीन विज्ञान के फल-स्वरूप हिरोशिमा मे एटम बम से भी तो लाखो निरीहों की हत्या हुई है और दो दो महायुद्धो की आशा की जाने लगी है । धार्मिकता के नाम से किए गये पतन से यह पतन लाखो गुणा बडा है। फिर क्यो धर्म की बुराई की जानी चाहिये ? लेकिन इससे क्या धर्म पतन और कलहकारी सिद्ध होता है ? यह धर्म का तो कदापि ध्येय और रूप नही है । क्या चन्द्रकिरणो से भी ताप हो सकता है और शीतल जल से भी कोई जल सकता है ? अवश्य ही धर्म के बदले किसी अन्य चीज ने ऐसा खेल खेला है कि जिससे आज हमारे हृदय मे भ्रमवश धर्म से ही घृणा हो उठी है । अपने साधारण जीवन मे ही हम अपने सर्वोच्च हितैषी से भ्रमवश घृणा और विद्वेष करने लगते है । यह तो हम देख ही चुके है कि यथार्थ रूप से धर्म मानव की सुगति और सुख देने का कार्य करता है। लेकिन यदि उससे दुख दिखाई देता है तो निश्चय ही मूल मे भूल विद्यमान है । आज हमने धर्म की आत्मा को ही नही पहिचाना है । हम उसके चोगे मे अपनी गल्तियो द्वारा ही उलझ गए । हमने तत्त्व को विस्मरण कर दिया और अपने-अपने धर्म के अंधभक्त बन बैठे । धर्म के मर्म को न जान हमने अपना पतन प्रारम्भ कर दिया । सुनीरयुक्त नद हमारे सामने से सदा बहता रहा है और हमने उसमे अपवि-त्रता डालने के अतिरिक्त उसका कुछ भी उपयोग न किया । इसमे धर्म और धर्मदाता महावीर राम आदि का क्या दोष ? दोष तो हमारा है जो धर्म को न जानकर धर्मविरोधी ईर्ष्या कलह हिंसा परिग्रह मे उलझते गये । धर्म तो कभी भी विद्वेष करना नही सिखाता । और यदि हम विद्वेष करते है तो निश्चय ही यह धर्म के बदले अधर्म का ही कार्य है, जो पाप है, पतनकारी है । ऐसे ही भ्रम मे बेचारा औरगजेब पड गया था । उसने सोचा कि जो धर्म वह मानता था वही एक मात्र मान्य सिद्धान्त था अन्य सब मिथ्या, त्याज्य और घृणास्पद था । औरगजेब मे धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप इतिहासप्रसिद्ध हिन्दुविध्वस हुआ था । ऐसे ही जब धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया तब कुछ धर्म के ठेकेदारो के आदेशानुसार तत्कालीन राजाओ ने परधर्मियो के प्रति हत्याकाण्ड का नग्न तांडव मचा दिया । उच्चकोटि का साहित्य इसी विद्वेष (अधर्म) के फलस्वरूप अग्निसात् कर दिया गया । एक विद्वान् श्री प्रो० आर० ताताचार्य एम० एल० टी० का जैनधर्म के कन्नड साहित्य के विनाश का यह उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है ।

"Religious persecution, intolerence bigotry, conservatism and the like have done much to put keep from the public all that is valuable in Kannada Jain

literature Thousands of bastis have been destroyed and the libraries set on fire Several thousands palmyra manuscript have been thrown into Kaveri or Tungabhadra and the havoc of worms has been equally destructive of the vast treasures of learning"

न केवल यह ही किन्तु जैनियों का विनाश भी ऐसे ही किया गया। बुद्ध धर्म का अपनी जन्म-भूमि भारत से उखड़ जाने मे यही विद्वेष कार्यकारी रहा आया है और भारत के विभाजन ने तो इस विद्वेष के मन्दिर पर कलशारोहण ही कर दिया है। यूरोप में प्रोटेस्टेंट और कैथालिको का विरोध विख्यात है। अमेरिका मे एन्जिल के नाम पर पोर्तगीजो द्वारा किए गए अत्याचार भी हमे रोमाञ्चित कर देते हैं। खुदाई किताब के नाम पर कितने ही मुसलमान बादशाहो का भारत मे अन्याय, अपौरुषेय ग्रन्थ के नाम पर बौद्धो और जैनो के प्रति तिरस्कार भाव आदि के परिणामस्वरूप यदि तथाकथित धर्म से आज के बुद्धिवादी ने थककर यह कह दिया कि We have just enough religion to make us hate, but not enough to make us love one another ? तो कोई अव्यावहारिक बात नहीं कही गई है। यदि विचारक इंगरसोल का यह वाक्य इसी प्रकार के तथ्यो पर आधारित है तो सच ही ऐसे धर्म को प्रणाम है—

' Religion has reduced spain to a Guitar, Italy to a hand organ and Ireland to exile"

वह विद्वान् यदि आज भारत को देखता तो उपरोक्त कथन मे "and India into" भी जोड़ देता।

यह सब निष्प्राण धर्म की बेढंगी आराधना का दुष्परिणाम है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने यथार्थरूप मे धर्म का कभी यह काम नहीं है। धर्म कभी प्रकृति का विरोध नहीं करता। उसकी आड़ मे जो पाशविकता का परिचय दिया गया है उसने बुद्धिमानों को बड़ी भारी चेतावनी दी है।

एक विशाल देश में, विशेषकर भारत सदृश अर्ध-महाद्वीप मे अगणित धर्मों को पालना अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार होता है। आधुनिक युग मे, जब कि नृपवादिता के बदले जनतन्त्रीय शासन का बोलबाला हो, यह कभी भी सभव नहीं है कि एक ही धर्म के माननेवाले शासन का भार सभालें। अब तो एक राजनैतिक-दल शासन का कारोबार सभालता है, जिसमे सभी धर्मो और जातियो के व्यक्ति रहा करते हैं। यथा, कांग्रेस मे हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी ने योग दिया है। पूर्वकाल मे जब एक राजा होता था तब तो वह अपने व्यक्तिगत अधिकार के फलस्वरूप किसी धर्म-विशेष का पालन करता था और फिर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे किसी न किसी प्रकार मे अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करता था। यदि वह निर्दयी होता तो तलवार के बल पर, और यदि नीतिमान एवं दयालु होता तो प्रेम और बुद्धिमत्ता से ऐसा करता था। भारत का इतिहास औरंगजेब और अशोक के रूप में इन दोनों पद्धतियों का परिचय देता है। किन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। ऐसा तो अवांछनीय हो गया है कि शासन किसी धर्म को आश्रय दे, उसकी अभिवृद्धि मे शासन की ओर से व्यय करे और अन्य धर्मों के प्रति घृणा और उपेक्षा भाव बर्ताव में लावे। जिन दिनो ब्रिटिश राज्य हमारे देश मे था उन दिनों ही भारतवासियो ने सदा ही राजकोष के उस व्यय का कड़ा विरोध किया था, जो ईसाई धर्मप्रचार के लिए धार्मिक-कार्य (Ecclesiastical Department) के नाम पर किया जाता था। इस दुर्नीति के फलस्वरूप ही भारत के लिए अत्यन्त नवीन ईसाई धर्म का अत्यधिक प्रचार हो गया और स्वदेशी धर्मों मे अनेक बुराइयों का प्रवेश हो गया। यह तो ब्रिटेन के ही हित मे था कि भारत के धर्म सड़ें और उनमें असंख्य बुराइयों का प्रवेश हो, ताकि भारतवासी अपने धर्म की ओर से विमुख हो जावें। यह एक प्रकार की साम्यवादी रीति का प्रचार था, जिसके अनुसार वैसे ही जनता जब रोटी तक की प्राप्ति नहीं कर पाती तब साम्यवाद का आश्रय लेती है। ठीक वैसे ही ब्रिटेन ने चाहा कि जब भारतीयो का अपने धर्म मे किसी भी प्रकार की आशा नहीं रहेगी तब आप ही आप ईसाई धर्म का वे आश्रय लेंगे। "बुभुक्षित किम् न करोति पापम्" के अनुसार करोड़ो भारतीयो ने स्वधर्म और सस्कार





त्याग कर केवल राजा के आकर्षण मे आकर विदेशियो के धर्म को स्वीकार कर लिया। यहाँ लेखक का अभिप्राय ईसाई धर्म के प्रति विद्वेष प्रगट करने का नही है, किन्तु यह बताने का है कि राजा की क्रिया विशेष से किस प्रकार उथल-पुथल मचाई जा सकती है। धर्मविहीन जिन्ना ने क्या किया ? धर्म की दुहाई दे देकर भोले-भाले मुसलमानो को अखड देश के टुकडे टुकडे करने पर बाध्य कर दिया। इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि आज शासन की ओर से किसी धर्मविशेष से ममता और अन्य धर्मों से विरोध या उपेक्षा के भाव को प्रोत्साहन नही दिया जा सकता। अन्यथा शासन का सभी व्यक्तियो से विश्वास और सहयोग की प्राप्ति असभव हो जाएगी और विद्वेषाग्नि भडक उठेगी। एक तो साधारण हालत मे ही जन-साधारण पग-पग पर शासन की आलोचना करता है, फिर ऐसे सूक्ष्म प्रसग पर किस प्रकार शासन आलोचनाओ के आक्रमण से अछूता रह सकता है ? कितना भी आज का युग सभ्य न हो गया हो लेकिन धर्म के नाम पर अन्धविश्वास मे कमी नही हुई है। इतने गहरे सस्कार, धार्मिक अन्धविश्वास के नाम पर जम चुके हैं कि न जाने कौनसा मौका पाकर वे उमड जावें और सब किये कराये पर पानी फेर दे। धर्म सवन्धी पूर्व इतिहास को देखते हुये एव जनतत्रीय पद्धति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए यह तो शासन का अनिवार्य रूप से कर्तव्य हो जाता है कि एक विशेष धर्म को ही अभिमान्यता न दे। अल्पमत के प्रति किसी भी प्रकार की उपेक्षा या घृणा शासनव्यवस्था को खोखला कर देगी और उसके सर पर सदा ही एक नगी तलवार लटकती रहेगी। शासन का ध्येय तो सकल जनो से आदर और श्रद्धा प्राप्त करने का होना चाहिये, न कि एक वर्ग विशेष से। साथ ही धर्म के जो बिना किसी लेबिल का हो, मूल-भूत सिद्धान्तो का प्रचार शासन का कर्तव्य हो जाता है। वे सिद्धान्त अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि है। इनके विषय मे किसी भी धर्म मे विरोधी मत नही है। इसे नैतिकता (Ethics) कहा जा सकता है। इसका प्रचार समूचे देश मे सुख और सामजस्य लावेगा और इनके ही प्रचार के लिए यदि शासन करोडो रुपये व्यय भी करे तो किसी भी प्रकार की आलोचना का विषय नही बनाया जा सकता। शासन इनके बारे मे नियम तक बना सकता है। इसी सामाजिक धर्म को शासन द्वारा अभिमान्यता मिलनी चाहिये और इसे कभी भी धर्म-उपेक्षा नही कहा जा सकता। यही जनतत्र शासन द्वारा सभव भी है। यह तो भ्रम और उन्माद होगा कि हम ऐसे शासन द्वारा इस बात की आशा करें कि वह ५० करोड लोगो मे केवल एक ही सप्रदायके धर्म को मान्यता दे और शेष लोगो मे विद्रोह और लघुता की भावना को प्रोत्साहित करे। यदि निर्वाचन के उपरान्त सभी सत्तारूढ बहुमतीय पक्ष इसी प्रकार सदा ही चेष्टा करते रहे तो राष्ट्र का वास्तविक हित कभी न हो पाएगा। और न धर्म का उचित प्रचार ही हो पाएगा। फिर शिवाजी को जन्म लेना पडेगा, और फिर काफिरो का गढ दूर करने के लिए कोई अन्य औरगजेब जागरूक होगा। अत सदा के लिये ऐसे कुचक्र को समाप्त करना शासन का कर्तव्य हो जाता है। वह किसी भी विशिष्ट लेबिल वाले धर्म के चक्र से अपने को मुक्त करे। उसके अतर्गत सभी धर्मों को मुक्त बालको सदृश उचित रूप से पनपने का योग प्राप्त हो। एव शासन सबको अपना वरद हस्तावलम्बन प्रदान करे और किसी भी धर्मावलम्बी को यह प्रतीत न हो कि शासन की उसके प्रति घृणा, ईर्ष्या अथवा उपेक्षा है।

यही धर्मनिरपेक्ष शासन है। परन्तु वह धर्मविरोधी कदापि नही है। स्वय शासन द्वारा प्रकृति के पवित्र नियमो को ध्यान मे रख मानवोन्नति के लिए नीति की सभी क्रियाओ का प्रसार किया जा सकता है। जिस शासन मे एक धर्म के प्रति अधश्रद्धा रख कर अन्य अल्पमतावलम्बियो पर अत्याचार के पर्वत ढाये जाते है वह कभी भी उपयुक्त शासन नही कहा जा सकता। और उसका अन्त (नैतिक अन्त) ही हुआ समझना चाहिये। ऐसा शासन तो अन्धेरगर्दी के अतिरिक्त कुछ भी नही है—वह कोई शासन-व्यवस्था ही नही है। ऐसे शासन मे अन्य धर्म वालो के प्रति घृणा और विद्वेष की भावनाओ को जागृत किया जा सकता है। और ये बेचारे सदैव अपने को सिंह की गुफा मे हिरण सदृश पाते हैं। उनके जीवन, धन, माँ और बहिनो की रक्षा (?) शासन द्वारा आश्रयप्राप्त धर्मावलम्बियो की कृपा-कटाक्ष पर ही आधारित रहती है। "कलमे का पानी, या तलवार के नीचे गर्दन" यही न्याय हुआ करता है। और एक प्रकार की पाशविकता या असभ्यता का वहा नग्न ताडव होता रहता है। यहा इस बात को बिलकुल भुला दिया जाता है कि साधारण मनुष्य अपने जन्मजात सस्कारो एव धर्म को अपने प्राण से भी प्रिय समझता है। लेकिन अन्धेरगर्दी दुनिया मे किसके हृदय मे वह चमक सकता है कि कुछ क्षण के लिये भी इस मनोभावना का सूक्ष्मता से विचार करें।

धर्मनिरपेक्ष शासन को, जो धर्मान्ध और धर्मविरोधी शासन का शतप्रतिशत विरोध रहता है, आधुनिक युग के सभी सभ्य देशो ने स्वीकार किया है। इस प्रसग पर नवजाग्रत इन्डोनेशिया के राष्ट्राध्यक्ष श्री सोकर्नो की, अधिकाश मुसलिम-भूमि हिंदेशिया मे 'धमनिरपेक्ष शासन की घोषणा निराला महत्त्व रखती है। यह ध्यान रहे कि हिन्देशिया विश्व का सबसे बडा मुसलिम राज्य है फिर भी श्री सोकर्नो की यह घोषणा उनकी विशालता और समय की जीत का परिचय देती है। सयुक्त राष्ट्र दिवस को मनाते हुए जकार्ता मे उक्त नेता ने ८ नवम्बर १९५१ को कहा था 'इन्डोनेशिया का यह सुन्दर राष्ट्र बडा भाग्यवान है, क्योकि इसमे प्रत्येक नागरिक को अपनी पद्धति के अनुसार ईश्वर की पूजा करने का पूर्ण स्वातत्र्य है। यद्यपि यह देश मुसलिम बहुमत वाला है, फिर भी यहा ईसाई, हिन्दू कान्फ्यूशियन आदि भी रहते हैं। हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य का चुनाव स्वेच्छा से किया है क्योकि हमे विश्वास है कि धर्म व्यक्ति और ईश्वर के बीच का मसला है। इसका अर्थ यह नही कि हम नास्तिक राज्य (अधार्मिक राज्य) चाहते है। हमे इस बात से बडा हर्षपूर्ण प्रकाश मिलता है, जिसका हमे गर्व है, कि हमारे पूर्वकालीन दीर्घ इतिहास मे, जबकि हम उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच चुके थे, कभी भी हिन्देशिया ने ऐसा कार्य नही किया जिसे अपने पडौसियो की भूमि के लिए आक्रमणात्मक या लालचपूर्ण कहा जा सके। हमारे अतस्तल मे शान्ति और खामोशी की चिराभिलापा है। इस मुसलिम बहुमत वाले राष्ट्र का यह धीरज धर्मान्ध देशो के लिए एक चुनौती है। जो देश एशिया का वृहत्तर एशिया मे परिवर्तन करना चाहते हैं, उन्हे यह ध्यान रखना चाहिए कि बिना धर्मनिरपेक्षता के पवित्र सिद्धान्त को अपनाये कोई भी कार्य सफल न होगे। यदि पाकिस्तान बार-बार मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यो से इस बात की प्रार्थना करता है और उनके सामने प्रस्ताव प्रस्तुत करता है कि वे सब मिलकर मुसलिम राज्यो के एक सघ का निर्माण करें तो वृहत्तर एशिया का स्वप्न धूलि मे मिल जाता है। जैसा कि डाक्टर सोकार्नो ने कहा है "धर्म एक व्यक्तिगत चीज है," तो प० ज्वाहरलाल नेहरू ने बार बार कहा है—कि धर्म (लेबिल वाले धम) को राजनीति मे बोलने का अधिकार नही है। बार बार उन्होने दोहराया है कि "साप्रदायिकता को हमे नष्ट कर देना है।" इसका तो यह अर्थ कभी नही हो सकता कि नेहरूजी यह चाहते है कि हिन्दु अपना धर्म छोड दें। इसमे यही सार है कि धर्म के नाम पर घृणा और द्वेप की अग्नि को भडकाना रोकना चाहिये, धर्मान्धता को त्याग देना चाहिए। अन्यथा इतिहास अपने को दोहरायेगा और कभी भी यह सम्भव है कि साप्रदायिकता के नाम पर इस पवित्र भूमि को पुन महाभारत जैसी आपसी कलह से लाल होना पडे। समूह बनाना और उनके नियमो का पालन करना अनुचित नही है। प्रत्येक सप्रदाय मे महापुरुष हुए है। उन महापुरुपो ने जीवन को ज्योतिर्मय करने का पवित्र सन्देश जगती को दिया। और जैसा कि कहा जाता है, सभी महापुरुप एकसा सोचते हैं, अनेको बातें सभी सप्रदाय के महापुरुषो की एकसी प्रतीत होती हैं। दार्शनिक सूक्ष्मता मे अवश्य ही उनमे अन्तर होता है, जो विशेष ज्ञान की वृद्धि पर आधारित हैं। किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले आचारविधान मे सब एकमत हैं। और कम से कम भारत की तो यह विशेषता रही है कि सभी महापुरुषो ने आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। आत्मा की अनुभूति से तो सभी धम किसी न किसी तरह सहमति ही प्रकट करते है। केवल आत्मोन्नति के मार्ग भिन्न है। हो सकता है कि इनमे कोई मार्ग निश्चय ही शत प्रतिशत सत्य हो। किन्तु जब सब अपने अपने मार्ग से चलते हैं तब क्यो अन्य पर पत्थर फेंकना और उसे बुरा कहना ? अपने मार्ग को सभी अच्छा कह सकते है। अपना एकाक्ष कुरूप पुत्र भी माता को राजकुमारो से अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यह तो प्राकृतिक नियम है। अत सम्प्रदायप्रेम को अनुचित या बुरा नही कह सकते। साधारण जीवन मे मनुष्य अपने कुटुम्ब, शरीर व देश से प्रेम करता है। उसी प्रकार वह अपने सम्प्रदाय से भी प्रेम करता है। किन्तु जब अपने शरीर की रक्षा के लिए एक दूसरे का रक्त पीना चाहता है और अपने कुटुम्ब के सरक्षण के लिये दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है, तब अवश्य ही ऐसा अनोखा प्रेम तिरस्कार का पात्र है। ठीक उसी प्रकार जब हमारा सम्प्रदायप्रेम उचित सीमा का उल्लघन कर अन्य सम्प्रदाय वालो पर कटाक्ष तथा प्रहार करने लगता है तव वह भी अवाछनीय और घृणास्पद बन जाता है। ऐसी साम्प्रदायिकता से सभी का अहित होता है और धर्म का प्राण तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। धम और सम्प्रदाय के नाम पर युद्ध की भेरी बजाने वालो को यह नही भूलना चाहिये कि उनके जिस कार्य से भी अशाति, हिंसा और ईर्षा की भावना को प्रोत्साहन मिलता है वह किसी भी प्रकार धर्म की कोटि मे नही आ सकता। हमे बलिष्ठ और स्वस्थ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये किन्तु दूसरे पर आक्रमण करने की भावना से बलिष्ठ और स्वस्थ बनना उपयुक्त





त्याग कर केवल राजा के आकर्षण मे आकर विदेशियो के धर्म को स्वीकार कर लिया । यहाँ लेखक का अभिप्राय ईसाई धर्म के प्रति विद्वेष प्रगट करने का नही है, किन्तु यह बताने का है कि राजा की क्रिया विशेष से किस प्रकार उथल-पुथल मचाई जा सकती है । धर्मविहीन जिन्ना ने क्या किया ? धर्म की दुहाई दे देकर भोले-भाले मुसलमानो को अखड देश के टुकडे टुकडे करने पर बाध्य कर दिया । इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि आज शासन की ओर से किसी धर्मविशेष से ममता और अन्य धर्मो से विरोध या उपेक्षा के भाव को प्रोत्साहन नही दिया जा सकता । अन्यथा शासन का सभी व्यक्तियो से विश्वास और सहयोग की प्राप्ति असभव हो जाएगी और विद्वेषाग्नि भडक उठेगी । एक तो साधारण हालत मे ही जन-साधारण पग-पग पर शासन की आलोचना करता है, फिर ऐसे सूक्ष्म प्रसग पर किस प्रकार शासन आलोचनाओ के आक्रमण से अछूता रह सकता है ? कितना भी आज का युग सभ्य न हो गया हो लेकिन धर्म के नाम पर अन्धविश्वास मे कमी नही हुई है । इतने गहरे सस्कार, धार्मिक अन्धविश्वास के नाम पर जम चुके हैं कि न जाने कौनसा मौका पाकर वे उमड जावें और सब किये कराये पर पानी फेर दे । धर्म सबन्धी पूर्व इतिहास को देखते हुये एव जनतत्रीय पद्धति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए यह तो शासन का अनिवार्य रूप से कर्तव्य हो जाता है कि एक विशेष धर्म को ही अभिमान्यता न दे । अल्पमत के प्रति किसी भी प्रकार की उपेक्षा या घृणा शासनव्यवस्था को खोखला कर देगी और उसके सर पर सदा ही एक नगी तलवार लटकती रहेगी । शासन का ध्येय तो सकल जनो से आदर और श्रद्धा प्राप्त करने का होना चाहिये, न कि एक वर्ग विशेष से । साथ ही धर्म के जो बिना किसी लेबिल का हो, मूल-भूत सिद्धान्तो का प्रचार शासन का कर्तव्य हो जाता है । वे सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि है । इनके विषय मे किसी भी धर्म मे विरोधी मत नही है । इसे नैतिकता (Ethics) कहा जा सकता है । इसका प्रचार समूचे देश मे सुख और सामजस्य लावेगा और इनके ही प्रचार के लिए यदि शासन करोडो रुपये व्यय भी करे तो किसी भी प्रकार की आलोचना का विषय नही बनाया जा सकता । शासन इनके बारे मे नियम तक बना सकता है । इसी सामाजिक धर्म को शासन द्वारा अभिमान्यता मिलनी चाहिये और इसे कभी भी धर्म-उपेक्षा नही कहा जा सकता । यही जनतत्र शासन द्वारा सभव भी है । यह तो भ्रम और उन्माद होगा कि हम ऐसे शासन द्वारा इस बात की आशा करें कि वह ५० करोड लोगो मे केवल एक ही सप्रदायके धर्म को मान्यता दे और शेष लोगो मे विद्रोह और लघुता की भावना को प्रोत्साहित करे । यदि निर्वाचन के उपरान्त सभी सत्तारूढ बहुमतीय पक्ष इसी प्रकार सदा ही चेष्टा करते रहे तो राष्ट्र का वास्तविक हित कभी न हो पाएगा । और न धर्म का उचित प्रचार ही हो पाएगा । फिर शिवाजी को जन्म लेना पडेगा, और फिर काफिरो का गढ दूर करने के लिए कोई अन्य औरगजेब जागरूक होगा । अत सदा के लिये ऐसे कुचक्र को समाप्त करना शासन का कर्तव्य हो जाता है । वह किसी भी विशिष्ट लेबिल वाले धर्म के चक्र से अपने को मुक्त करे । उसके अतर्गत सभी धर्मों को मुक्त बालको सदृश उचित रूप से पनपने का योग प्राप्त हो । एव शासन सबको अपना वरद हस्तावलम्बन प्रदान करे और किसी भी धर्मावलम्बी को यह प्रतीत न हो कि शासन की उसके प्रति घृणा, ईर्ष्या अथवा उपेक्षा है ।

यही धर्मनिरपेक्ष शासन है । परन्तु वह धर्मविरोधी कदापि नही है । स्वय शासन द्वारा प्रकृति के पवित्र नियमो को ध्यान मे रख मानवोन्नति के लिए नीति की सभी क्रियाओ का प्रसार किया जा सकता है । जिस शासन मे एक धर्म के प्रति अधश्रद्धा रख कर अन्य अल्पमतावलम्बियो पर अत्याचार के पर्वत ढाये जाते है वह कभी भी उपयुक्त शासन नही कहा जा सकता । और उसका अन्त (नैतिक अत) ही हुआ समझना चाहिये । ऐसा शासन तो अन्धेरशाही के अतिरिक्त कुछ भी नही है—वह कोई शासन-व्यवस्था ही नही है । ऐसे शासन मे अन्य धर्म वालो के प्रति घृणा और विद्वेष की भावनाओ को जागृत किया जा सकता है । और ये बेचारे सदैव अपने को सिंह की गुफा मे हिरण सदृश पाते है । उनके जीवन, धन, माँ और बहिनो की रक्षा (?) शासन द्वारा आश्रयप्राप्त धर्मावलम्बियो की कृपा-कटाक्ष पर ही आधारित रहती है । "कलमे का पानी, या तलवार के नीचे गर्दन" यही न्याय हुआ करता है । और एक प्रकार की पाशविकता या असभ्यता का वहा नग्न ताडव होता रहता है । यहा इस बात को बिलकुल भुला दिया जाता है कि साधारण मनुष्य अपने जन्मजात सस्कारो एव धर्म को अपने प्राण से भी प्रिय समझता है । लेकिन अधेरशाही दुनिया मे किसके हृदय मे वह चमक सकता है कि कुछ क्षण के लिये भी इस मनोभावना का सूक्ष्मता से विचार करें ।

धर्मनिरपेक्ष शासन को, जो धर्मान्ध और धर्मविरोधी शासन का प्रतिनिधित्व विरोध करता है, आधुनिक युग के सभी सभ्य देशों ने स्वीकार किया है। इस प्रसंग पर नवजागृत इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति श्री सोकर्णो जी, अधिकांश मुसलिम भूमि इन्डोनेशिया में 'धर्मनिरपेक्ष शासन' की घोषणा नितान्त महत्त्व रखती है। यह ध्यान रहे कि इन्डोनेशिया विश्व का सबसे बड़ा मुस्लिम राज्य है फिर भी श्री सोकर्णो की यह घोषणा उनकी विचारधारा और समय की माँग का परिचय देती है। नवीन राष्ट्र दिवस को मनाते हुए जकार्ता में उक्त नेता ने ८ नवम्बर १९५[illegible] को कहा था: इन्डोनेशिया का यह सुन्दर राष्ट्र बड़ा भाग्यवान है, क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी पद्धति के अनुसार ईश्वर की पूजा करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। यद्यपि यह देश मुस्लिम बहुमत वाला है, फिर भी यहाँ ईसाई, हिन्दू, कान्फ्यूशियन आदि भी रहते हैं। हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य का चुनाव स्वेच्छा से किया है क्योंकि हम विश्वास है कि धर्म व्यक्ति और ईश्वर के बीच का मसला है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम नास्तिक राज्य (अधार्मिक राज्य) चाहते हैं। हमें इस बात से बड़ा हर्षपूर्ण प्रकाश मिलता है जिसका हमें गर्व है, कि हमारे पुरातन दीर्घ इतिहास में, जबकि हम उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच चुके थे, कभी भी इन्डोनेशिया ने ऐसा कार्य नहीं किया जिसे अपने पड़ोसियों की भूमि के लिए आक्रमणात्मक या लालचपूर्ण कहा जा सके। हमारे अन्तस्तल में शान्ति और भाईचारे की अभिलाषा है। इस मुसलिम बहुमत वाले राष्ट्र का यह घोषणा धर्मान्ध देशों के लिए एक चुनौती है। जो एशिया का वृहत्तर एशिया में परिवर्तन करना चाहते है, उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि बिना धर्मनिरपेक्षता के पवित्र सिद्धान्त को अपनाए कोई भी कार्य सफल न होगे। यदि पाकिस्तान बार-बार जोरपूर्वक मुस्लिम राज्यों से इस बात की प्रार्थना करता है और उनके सामने प्रस्ताव प्रस्तुत करता है कि वे सब मिलकर मुस्लिम राज्यों के एक संघ का निर्माण करें तो वृहत्तर एशिया का स्वप्न धूलि में मिल जाता है। जैसा कि डाक्टर सोकार्णो ने कहा है "[illegible]" पं० जवाहरलाल नेहरू ने बार बार कहा है—कि धर्म (वैयक्तिक धर्म) का राजनीति में आने का अधिकार नहीं है। बार बार उन्होंने दोहराया है कि "साम्प्रदायिकता को हमें नष्ट कर देना है।" इसका तो यह अर्थ कभी नहीं था कि नेहरूजी यह चाहते है कि हिन्दू अपना धर्म छोड़ दें। इसका यही सार है कि धर्म के नाम पर घृणा और द्वेष की अग्नि को भड़काना रोकना चाहिये, धर्मान्धता का त्याग देना चाहिए। अन्यथा इतिहास अपने को दोहरायेगा और कभी भी यह सम्भव है कि साम्प्रदायिकता के नाम पर इस पवित्र भूमि को पुनः महाभारत जैसी आपसी कलह से ग्रस्त होना पड़े। समूह बनाना और उनके नियमों का पालन करना अनुचित नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय में महापुरुष हुए है। उन महापुरुषों ने जीवन को ज्योतिर्मय करने का पवित्र सन्देश जगती को दिया। और जैसा कि कहा जाता है, सभी महापुरुष एकसा सोचते हैं, अनेकों बाते सभी सम्प्रदाय के महापुरुषों की एकसी प्रतीत होती है। दार्शनिक सूक्ष्मता में अवश्य ही उनमे अन्तर होता है, जो विशेष ज्ञान की वृद्धि पर आधारित है। किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले आचारविधान में सब एकमत हैं। और कम से कम भारत की तो यह विशेषता रही है कि सभी महापुरुषों ने आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। आत्मा की अनुभूति से तो सभी धर्म किसी न किसी तरह सहमति ही प्रकट करते है। केवल आत्मोन्नति के मार्ग भिन्न है। हो सकता है कि उनमें कोई मार्ग निश्चय ही सत्य प्रतिशत सत्य हो। किन्तु जब सब अपने अपने मार्ग से चलते है तब क्यो अन्य पर पत्थर फेकना और उसे बुरा कहना? अपने मार्ग को सभी अच्छा कह सकते है। अपना एकाक्ष कुरूप पुत्र भी माता को राजकुमारों से अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यह तो प्राकृतिक नियम है। अतः सम्प्रदायप्रेम को अनुचित या बुरा नहीं कह सकते। साधारण जीवन मे मनुष्य अपने कुटुम्ब, शरीर व देश से प्रेम करता है। उसी प्रकार वह अपने सम्प्रदाय से भी प्रेम करता है। किन्तु जब अपने शरीर की रक्षा के लिए एक दूसरे का रक्त पीना चाहता है और अपने कुटुम्ब के सरक्षण के लिये दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है, तब अवश्य ही ऐसा अनोखा प्रेम तिरस्कार का पात्र है। ठीक उसी प्रकार जब हमारा सम्प्रदायप्रेम उचित सीमा का उल्लघन कर अन्य सम्प्रदाय वालो पर कटाक्ष तथा प्रहार करने लगता है तब वह भी अवाछनीय और घृणास्पद बन जाता है। ऐसी साम्प्रदायिकता से सभी का अहित होता है और धर्म का प्राण तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर युद्ध की भेरी बजाने वालो को यह नही भूलना चाहिये कि उनके जिस कार्य से भी अशांति, हिंसा और ईर्षा की भावना को प्रोत्साहन मिलता है वह किसी भी प्रकार धर्म की कोटि मे नही आ सकता। हम बलिष्ठ और स्वस्थ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये किन्तु दूसरे पर आक्रमण करने की भावना से बलिष्ठ और स्वस्थ बनना उपयुक्त





नही है। वह हमारे मन मे मालिन्य बढाता है और मनोभावनाओ मे सडान पैदा करता है। यह भी वाछनीय नही कि हम दूसरो पर व्यर्थ ही सन्देह करते रहे कि कही वह आक्रमण न कर बैठे। यदि हम अपनी व्यवस्था ठीक बनाये रखने के लिये, अपने महापुरुषो के सन्देश को कार्यरूप मे परिणत करने के लिये एव आत्मोन्नति करने के लिये अपने समाज या सम्प्रदाय को सबल बनाने का प्रयत्न करते है तो यह कभी भी अवाछनीय नही कहा जा सकता। साथ ही जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सपत्ति और जीवन की सुरक्षा का अधिकार है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय को अवाछनीय आक्रमणो से भी अपनी रक्षा करने का अधिकार है। परन्तु प्रारम्भ से ही क्यो हम सदेह ईर्षा और कलह पर अपने साप्रदायिक कार्यों को आधारित कर दें ? इससे तो ध्येय और भी दूर होता जाता है। क्योकि विरोधात्मक कार्यों मे विधायक कार्यों की अपेक्षा सदा ही अधिक शक्ति का अपव्यय होता है और हम केवल इसी मे अपना ध्येय सीमित कर बैठते है। तथा वास्तविक वातो की ओर मन को न झुकाकर ईर्षा-द्वेष मे ही जीवन को समाप्त कर देते हैं।

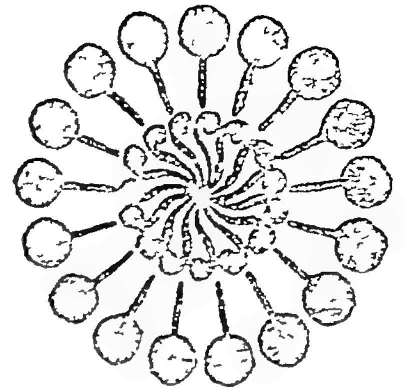
साप्रदायिकता पर अभी तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमारा अभिप्राय तो केवल यही बताने का है कि धर्म-निरपेक्ष शासन मे साप्रदायिकता को तनिक भी स्थान नही होता। लेकिन इसका कार्यरूप मे परिणमन परीक्षा की बात होती है। अपने धार्मिक सस्कारो के फलस्वरूप हो सकता है कि राष्ट्र का सर्वोच्च अधिकारी अपने धर्म को ही मुख्यता देना चाहे। उदाहरणार्थ भारत मे, धर्म निरपेक्ष शासन की उपयुक्त घोषणा की गई है, तो भी कभी सोमनाथ के मन्दिर मे अतुलराशि का व्यय अन्य धर्मावलम्बियो के लिये खटकने की चीज बन जाता है। यदि केवल प्रधान धर्मों या राजनैतिक प्रावल्य वाले धर्मों के सतोष के लिए यह हो तो ऐसी नीति को कौन बुरा कहने का प्रयत्न न करेगा ? जैनधर्म सदृश भारत के अत्यन्त प्राचीन धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखा जाता है। जैन धर्मावलम्बियो द्वारा दिये गये सम्मान को देहली मे राष्ट्रपति बडे हिचकिचाते हुए स्वीकार करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर अन्य धर्म के लिये कितनी उदारता और सहृदयता दिखाई जाती है ! शासक को ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्र के एक छोटे से अग की उपेक्षा एक बडा रूप धारण कर सकती है और उससे जो असन्तोष फैल सकता है वह बडा अप्रिय होता है। इसी प्रसग मे ध्यान देने योग्य बात यह कि जब शासक अपने राष्ट्र को "धर्मनिरपेक्ष" बनाने का कार्य करे तब किसी भी प्रकार ऐसी तानाशाही न मचा दे कि राष्ट्र के धर्मों पर उनकी परम्परा और प्रचलित रुढियो एव माग की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर मनचाहा परिवर्तन किया जावे। किसी भी धर्म के मामले मे शासक को बहुत सोच विचार कर दस्तदाजी करना चाहिये। उसके धर्माचार्यो का आदरपूर्वक सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाहिये। शासक का यह सोचना बडा भारी भ्रम होगा कि उसके द्वारा इच्छित परिवर्तन के अभाव मे देश का नाश हो जायगा। राष्ट्र की जिंदगी दो चार वर्ष की नही होती, वह हजारो वर्ष के जीवन वाला होता है। क्या गारटी है कि राजनीति के पारगत विद्वान् धार्मिक विषयो के भी पारगत होते हो, जब राजनैतिक विषयो पर उनके निष्कर्ष व सकल्प मिथ्या और अलाभकारी सिद्ध हो जाते है, तो फिर धर्म के नवीन विषयो मे भी उनका एकागी कार्य हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। बहुधा धर्माचार्य और धर्म के पोषक राजनीति मे भाग लेकर व्यवस्थापक सभा मे पहुचना पसन्द नही करते। परन्तु सर्वतोभद्र जनतन्त्रीय शासन मे ऐसे महान् साधको की उपेक्षा करना पापपूर्ण कार्य ही समझना चाहिये। समाज के विचारक और साधक यदि राजनीति मे नही पडते तो राजनेताओ को स्वय उनके पास पहुचकर पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। चद्रगुप्त का भद्रबाहु और चाणक्य के पास पहुचना, अशोक का बौद्ध साधुओ के समीप पहुचना, राम का वशिष्ठ के आश्रम मे पहुचना, इसी तथ्य के परिचायक हैं।

०

दानवीर भामाशाह-परिवार

श्री रामवल्लभ सोमानी,

जयपुर



भारत के इतिहास मे भामाशाह का नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा रहेगा। देशभक्ति, अपूर्व त्याग और स्वामिभक्ति के लिए आज भी इन्हे आदर्श माना जाता है। मेवाड के लिए इनकी सेवाये उसी प्रकार उल्लेखनीय है जिस प्रकार गुजरात के लिये वस्तुपाल तेजपाल की।

मेवाड के महाराणा सागा की मृत्यु वि० स० १५८४-८५ मे खानवा युद्ध के कुछ समय पश्चात हो गई। उसके उत्तराधिकारी उनके समान शक्तिशाली नही थे। भारत मे उस समय सत्ता के लिये मुगल और अफगान सघर्ष कर रहे थे और हुमायूँ ने सूरवशी सुल्तान को हराकर अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया। थोडे समय पश्चात इनकी मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी अकबर अत्यन्त शक्तिशाली था। इसने कई राजघरानो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य की नीव दृढ कर ली। इसने मेवाड पर वि० स० १६२४ मे आक्रमण किया। उस समय वहा का महाराणा उदयसिह शासक था। राजपूतो ने महाराणा को पहाडो मे भिजवा कर चित्तौड दुर्ग का भार जयमल मेडतिये को सौप दिया। राजपूतो की हार हो गई और उदयसिह कुम्भलगढ की तरफ चला गया। वि० स० १६२५ की लिखी सम्यक्त्वकथाकौमुदी की प्रति आमेर-शास्त्रभडार मे सगृहीत है जिसमे कुम्भलगढ मे उक्त राणा के शासनकाल मे लिखे जाने का[1] उल्लेख है। जिससे कुम्भलगढ मे उसके राज्य की पुष्टि होती है। धीरे-धीरे अकबर ने मेवाड के अधिकाश भाग को अधिकृत कर लिया। यहा के महाराणा के पास उस समय धन और सैनिक सामान दोनो की व्यवस्था कर सकने वाले पुरुष की आवश्यकता थी। उस समय रामाशाह प्रधान था किन्तु वह इतना उपयुक्त नही था। उसे हटाकर उदयसिह के वशज महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया। ख्यातो मे लिखा मिलता है 'भामो परधानो करे, रामो कीधो रहै।[2]

भामाशाह के पूर्वज

भामाशाह कावडिया गोत्र का ओसवाल था। इसके पूर्वज अलवर क्षेत्र के रहने वाले थे और सागा के समय इसका पिता भारमल रणथभोर मे किलेदार के पद पर था। वह इस पद पर कई वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता रहा।

महाराणा सागा ने अपने अन्तिम दिनो मे इस दुर्ग को अपने पुत्र विक्रमादित्य एव उदयसिह को दे दिया

---

१ सवत् १६२५ वर्षे शाके १४९० प्रवर्तमाने दक्षिणायने मार्गशीर्षशुक्लपक्षे षष्ठम्या शनौ श्री कुभलमेरु दुर्गे रा० श्री उदयसिंह राज्ये खरतरगच्छे श्री गुणलाल महोपाध्याये स्ववाचनार्थं लिखापित। (सम्यक्त्वकथाकौमुदी प्र० न० १६१०, आमेर-शास्त्र भडार)

२ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ९९२।



था। ये दोनो अपनी माता हाडी करमेती के साथ यही रहा करते थे।[१] बाबर ने अपनी जीवनी तुजके बावरी मे लिखा है कि सागा की मृत्यु के पश्चात् उक्त रानी ने चित्तौड के राज्य को प्राप्त करने[२] मे उसकी सहायता चाही थी एव रणथभोर उसे देने का वचन भी दिया था किन्तु राणा सागा का ज्येष्ठ पुत्र एव उत्तराधिकारी रत्नसिह शीघ्र ही मार डाला गया एव हाडी करमेती का पुत्र विक्रमादित्य स्वत चित्तौड का स्वामी हो गया। इतना होते हुए भी रणथभोर पर मुसलमानो का अधिकार हो गया। आमेर-शास्त्रभडार मे उक्त काल की लिखी कुछ ग्रथो की प्रतिया उपलब्ध है जिनमे स्थानीय शासक का नाम लिखा दिया हुआ है।[३] अतएव प्रतीत होता है कि इस राजनैतिक परिवर्तन के अवसर पर यह परिवार भी रणथभोर से चित्तौड चला आया हो तो कोई आश्चर्य नही। क्योकि उस समय हाडी करमेती के पुत्रो का ही राज्य चित्तौड मे था। यह घटना वि० स० १५९०-९५ के मध्य सम्पन्न हुई होगी।

भामाशाह की सेवाए

भामाशाह का जन्म चित्तौड मे आषाढ शुक्ला १० वि० स० १६०४ (२८ जून १५४७ ई०) को हुआ था।[४] लूकागच्छीय पट्टावली से प्रतीत होता है कि यह परिवार वि० स० १६१६ के पूर्व अवश्यमेव चित्तौड मे बस चुका था और किसी दक्षिणी शेख की कृपा से इस परिवार के पास करोडो रुपयो की सम्पत्ति हो गई थी। मूल वणन देपागर मुनि के वणन के साथ आता है जो परिशिष्ट के रूप मे दिया गया है।

हल्दीघाटी के युद्ध और इसके पश्चात् निरन्तर युद्धो मे व्यस्त रहने के कारण प्रताप की लगभग सारी सम्पत्ति विनष्ट हो गई। आजादी का दीवाना प्रताप देश की स्वाधीनता के लिये जगलो की खाक छानता फिर रहा था। इन भयकर विपत्तियो के समय भी वह अपने दृढ निश्चय पर अडिग रहा था। किन्तु धनाभाव से दु खी होकर वह सदैव के लिये मेवाड छोडकर जा रहा था। ऐसे समय मे भामाशाह ने अपनी सारी सम्पत्ति लाकर के उसके सन्मुख रख दी। कर्नल टाड के द्वारा दिये गये वर्णन के अनुसार यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि प्रताप २५ हजार सैनिको को १२ वर्ष तक निर्वाह करा सकता था।[५] सम्पत्ति देने के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतैक्य नही हैं। श्रीगौरीशकर हीराचद ओझा लिखते है[६] कि भामाशाह महाराणा का विश्वासपात्र प्रधान होने के कारण उसी की सलाह के अनुसार मेवाड राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानो पर रखा जाता था जिसका ब्यौरा वह एक बही मे रखता था और आवश्यकता पडने पर इन स्थानो से द्रव्य निकालकर लडाई का खच चलाया जाता था। यह मत मुझे सत्य नही लगता है। बहादुरशाह के मेवाड पर दो बार आक्रमण हुए और एक बार शेरशाह का आक्रमण हुआ। इसके बाद अकबर के साथ उदयसिह का भयकर युद्ध हुआ। इन युद्धो से मेवाड का राजकोष खाली-सा हो चुका था।[७] बहादुरशाह को सागा द्वारा छीने हुए मालव के सुल्तान के बहुमूल्य जेवर,

---

१ ख्यातो मे लिखा है कि करमेती पर राणा सागा का विशेष प्रेम था। एक दिन करमेती ने निवेदन किया कि आप अपने जीवनकाल मे ही अपने २ पुत्रो को, जो रत्नसिह से छोटे हैं, रणथभोर की जागीर दिला दें और सूरजमल हाडा को नियुक्त कर दें तो अधिक अच्छा रहे। सागा ने ऐसा ही कर दिया। किन्तु उसके मरने के बाद रत्नसिह और सूरजमल मे विद्वेष बना रहा और दोनो इसी मामले को लेकर आपस मे मन-मुटाव रखने लगे। इसके परिणामस्वरूप दोनों ने एक-दूसरे पर घातक आक्रमण कर अपनी अपनी जान से हाथ धोया।

२ तुजके बाबरी (अग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१२-६१३

३ राजस्थान के जैन भडारो की सूची, भाग ३, पृ० ७३

४ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५१। ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७४

५ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७३

६ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० ९९१-९२

७ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४६३-६५। इसमे महाराणा अमरसिह के समय की सम्पत्ति का उल्लेख किया गया है। जहागीर को दिये गये रत्नो का उल्लेख भी है किन्तु प्रताप ने अपने अन्तिम वर्षो मे मेवाड मे फिर से समृद्धि और शाति ला दी थी अतएव उस सम्पत्ति से प्रताप के सकट के समय की सम्पत्ति से तुलना नहीं हो सकती है।

जडाऊ मुकुट, सोने की कमरपेटी आदि तक देने पडे थे । अतएव उस समय जो राशि भामाशाह ने दी थी वह स्वय उसके परिवार की ही थी । लूकागच्छीय पट्टावली के वर्णन के अनुसार इस परिवार के पास करोडो की सम्पत्ति थी । इस सम्पत्ति के अतिरिक्त महाराणा ने भामाशाह और उसके छोटे भाई ताराचद को मालवा मे सम्पत्ति लूट कर लाने को भेजा । दोनो भाइयो ने २०,००० मोहरे लूट करके ला कर महाराणा को प्रस्तुत की ।[1] अकबर के सेनापति शाहबाजखा ने पीछा किया और लडते-लडते बसी ग्राम के पास ताराचद घायल हो गया । तब बसी का स्वामी साईदास उसको उठाकर लेगया और उपचार की समुचित व्यवस्था कराई ।

इस प्रकार विशाल सम्पत्ति के मिलजाने से प्रताप ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त कर ली । मेवाड मे चितौड कुभलगढ के महत्वपूर्ण दुर्गों को छोडकर शेष सारे भाग पर उसका अधिकार हो गया था ।

भामाशाह और ताराचद दोनो कुशल सैनिक भी थे । हल्दीघाटी के युद्ध मे दोनो सफलतापूर्वक[2] लडे थे । भामाशाह द्वारा जारी किये गये कई ताम्रपत्र भी मिले है । ये महाराणा प्रताप के शासनकाल के है और वि० स० १६३३ से लेकर १६५१ तक के मिलते है ।[3] ताराचद उस समय गोडवाड मे सादडी ग्राम का हाकिम था । इसने इस नगर की बडी सुन्दर व्यवस्था की थी और शाहबाजखा को इसे अधिकृत नही करने दिया था ।[4] नाडोल की तरफ से

१ डा० गोपीनाथ शर्मा-मेवाड एण्ड मुगल एम्परर्स

२ वीर विनोद, भाग २, पृ० १५१ । ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४३२

३ महाराणा प्रताप के समय के कुछ ताम्रपत्र जिनपर भामाशाह का नाम प्रधान के रूप मे अकित है, इस सम्बन्ध मे उल्लेख है —

(१) वि० स० १६४४ का दिगम्बर जैन मदिर ऋषभदेव का ।

(२) वि० स० १६३३ का कुभलगढ का ताम्रपत्र—"महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसींघ आदेशात् आचार्य वालाजी वा किसनदास वलभद्र कस्य ग्राम १ सथाणो मया कीधो उदके आवाटे दत्ता कुभलमेर मध्ये सवत् १६३३ वर्षे भादवा सुदी ५ रवौ श्रीमुष प्रति हुक्म दी दो रायजीसाहभामो पहला पतर ले गया लुटयो गयो सु नवो करे मया कीधो"—(मेवाड एण्ड मुगल एम्परर्स, पृ० २०८)

इस ताम्रपत्र से स्पष्ट है कि इस सवत् तक अवश्यमेव वह मेवाड का प्रधान हो चुका था ।

(३) वि० स० १६४५ का ताम्रपत्र जहाजपुर का —

"सिधश्री महाराजाधिराज महाराणाजी श्री प्रतापसींवजी आदेशातु तिवाडी साहूल नाथण भवान काना गोपाल टीला धरती उदक आगे राणाजी श्री जी ता - रा पत्र करावे दीधो थो प्रगणे जाजपुर रा ग्राम पडेरमदट्टे हलै धरती बीगा गारा करे दीधो श्रीमुष हुकम हुओ । साह भामा । सवत् १६४५ काती सुदी १५ ।"

(४) वि० स० १६५१ का ताम्रपत्र—

"महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंघ आदेशातु चौधरी रोहितास कस्य ग्राम मय कीधौ ग्राम डईलाणा बडा माहे षेत ४ वरसाली रा उदक स० १६५१ व्रषे आषौज सुद १५ दव श्रीमुख बीदमान सा० भामा ।"

इन उपरोक्त विवरणो से उक्त वर्षो मे उसके बराबर प्रधान रहने की बात सिद्ध होती है ।

४ शाहबाजखा बराबर इस क्षेत्र में लड रहा था । रामपुरा नवाब की लाइब्रेरी में सुरक्षित तारीख-ए-अकबरी जो हाजी मोहम्मद आरिफ कधारी ने लिखी है, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है । इसमे वि० स० १६३३ मे ही अकबर ने शाहबाजखा को इस क्षेत्र मे लगा दिया था । जैसलमेर भडार मे भोजचरित की हस्तलिखित प्रति सग्रहीत है जिसमे वि० स० १६३४ की प्रशस्ति दी है जिसमे कुभलगढ के लिये लिखा है—"कुभलगढ़ दुर्गे विग्रहो विजयो भवति" एव वहाँ अकबर का राज्य भी उल्लखित किया है आदि । शाहबाजखा को पूर्ण विजय वि० स० १६३५ मे मिली थी । उस समय भी धोखे और चालाकी से । कधारी ने "खिवहाव और फरेबदादा" शब्द प्रयुक्त किये है । इस प्रकार निरन्तर दो वर्षों तक शाहबाजखाँ इस क्षेत्र मे बराबर लडता रहा था ।



वादशाह की ओर से आक्रमण होते रहते थे। इनका उसने सफलतापूर्वक मुकाबला किया था।[1]

वीर-विनोद मे दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भामाशाह[2] को अब्दुलरहीम खानखाना ने महाराणा को अकबर की अधीनता मे लाने के लिये बहुत समझाया था और हर तरह से इसे लोभ दिया गया था किन्तु त्यागमूर्ति भामाशाह ने उसे नकारात्मक उत्तर दे दिया।

लूंकागच्छ की सेवायें

भामाशाह-परिवार लूंकागच्छ का मानने वाला था। उक्त पट्टावली मे दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भीण्डर आदि मेवाड के कई ग्रामो मे लूंकागच्छ के फैलाव के लिये इसने बडी सहायता दी थी। कई दिगम्बर परिवारो तक को इसमे दीक्षित कराया था। लोगो को लाखो रुपयो की घन से भी सहायता दी थी। ताराचद ने भी गोडवाड मे इस कार्य को किया था। मोहनलाल दलीचद देसाई लिखते[3] है कि भामाशाह के भाई ताराचद को गोडवाड की हाकिमी मिलते ही वह सादडी मे रहने वाले लूंकागच्छीय साधुओ का पक्ष लेने लगा। उसने मूर्तिपूजा बन्द तो नही कराई किन्तु पुष्पादि वस्तुयें इसके लिये वर्जित करादी। इसके प्रभाव के कारण कई लोग लूंकागच्छ मे आ गये। उसने मूर्तिपूजको पर कई अत्याचार किये। श्री देसाई ने अत्याचार का उक्त कथन श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गोडवाड और सादडी लूंका-मतियो के मतभेद का दिग्दर्शन नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है जो कहा तक सही है कहा नही जा सकता।

कलाप्रेमी ताराचद

ताराचद बडा कलाप्रेमी था। इसने सादडी मे विशाल बावडी बनवाई थी और उस पर एक शिलालेख भी लगवाया था। यह बावडी इसके मरने के बाद इसके पुत्र ने पूरी की थी। इसका शिलालेख अभी जीर्णोद्धार के समय वहा से हटा लिया गया प्रतीत होता है। मैंने कुछ वर्ष पूर्व इसकी छाप ली थी और इसे प्रकाशित भी कराया था।[4] यह बावडी स्थापत्यकला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ताराचद के यहा कई सगीतज्ञ भी थे। सादडी मे उसकी छत्री के समीप उसकी चार स्त्रियो की मूर्तियां है। इनके अतिरिक्त एक खवास, ६ गायिकाए, एक गवैया और एक गवैया की स्त्री की मूर्तिया भी खुदी हुई हैं। इन पर वि० स० १६४८ वैसाख वदि ६ के लेख है। इससे प्रतीत होता है कि कलाओ का वह बडा सरक्षक था। बावडी मे उसके बैठने का स्थान दर्शनीय है। वह साहित्यप्रेमी भी था। हेमरतन ने प्रसिद्ध गोरा-बादल चौपाई[5] इसके पास रहकर के ही लिखी थी। इसकी प्रशस्ति से प्रताप के अन्तिम दिनो मे इस परिवार की स्थिति का पता चलता है।

---

१ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५७
२ उक्त पृ० १५६। ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४४६
३ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६६
४ मरु भारती अक ३, पृष्ठ २ से १०
५ सवत् सोलइसइ पणयाल।
श्रावण सुदी पचमी सुविसाल॥
पुहवी पीठि धनु पर गही।
सबल पुरी सोहइ सादडी॥
पृथ्वी परगट राण प्रताप।
प्रतपउ दिन दिन अधिक प्रताप॥
तस मत्रीसर बुद्धिनिधान।
कावेडिया कुल तिलक निधान॥
सामिधरमो धुरी भामुसाह।
वयरी धम विधुपण राह॥
(पुरातत्वमदिर जोधपुर की एक प्रति से) यहा 'सामिधरमो' शब्द विशेष उल्लेखनीय है।

भामाशाह के वंशज

भामाशाह की मृत्यु वि० सं० १६५६ में हुई थी।[1] महाराणा प्रताप के बाद उनके पुत्र अमरसिंह के समय में भी वह इस पद पर विद्यमान रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जीवाशाह मेवाड़ का प्रधान बनाया गया। कर्णसिंह के साथ सन्धि के समय वह जहांगीर बादशाह के पास गया था।[2] उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अक्षयराज मेवाड़ का प्रधान[3] बना था। उसके बाद संभवतः उसके वंशजों को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु इनका सम्मान यथावत् बना रहा। महाराणा स्वरूपसिंहजी के समय एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि ओसवालों की न्यात में प्रथम तिलक किनको किया जावे? इस पर महाराणा ने वि० सं० १९१२ ज्येष्ठ १५ बुधवार को एक पट्टा लिखकर भामाशाह के परिवार वालों की प्रतिष्ठा बनाये रखने और उनको प्रथम तिलक करने का आदेश दिया।[4]

इस प्रकार भामाशाह की सेवाओं से मेवाड़ की ही रक्षा नहीं हुई अपितु समस्त हिन्दू जाति का महान उपकार हुआ। अगर यथासमय धन की सहायता भामाशाह-परिवार नहीं देता तो संभवतः प्रताप मेवाड़ छोड़कर चले जाते। यहां का इतिहास कुछ और ही होता। प्रताप की त्याग बलिदान और अपूर्व साहस की कहानी के साथ साथ भामाशाह की स्वामिभक्ति और देशभक्ति की गाथाएं सदैव गाई जाती रहेंगी।

सादड़ी का शिलालेख

सादड़ी का उक्त तारा बावड़ी का शिलालेख महाराणा अमरसिंह के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों का है। इसमें भामाशाह के पिता भारमल से वंशावली दी हुई है। इसमें कुल २२ पंक्तियां हैं। लेख वि० सं० १६५८ वैशाख वदि २ का है। ताराचन्द इस समय स्वर्गस्थ हो चुका था। उसके पुत्र सुरताण ने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। लेख में भामाशाह की माता कपूरदेवी का उल्लेख है। यह लेख इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि महाराणा प्रताप के अन्तिम दिनों में इस क्षेत्र को मुसलमानों से पूर्ण रूप से मुक्त करा लिया था। इस बात की पुष्टि वि० सं० १६५२ के डेलाना (गाड़वाड़) ताम्रपत्र से होती है। यह ताम्रपत्र भामाशाह के हस्ताक्षरों से जारी किया गया था।

परिशिष्ट १

नागपुरीय लुकागच्छीय पट्टावली में भामाशाह का वर्णन

" तत्पट्टे श्री देवागर सूरयो बभूवुस्ते परीक्षक वंशीया कोटडानिगमे पेतसी नामा जनक धनवती जननी, नागोरपुरे चारित्र पदमपि तत्रैवात्तम्। संवत् १६८६ चित्रकूट महादुर्गे कावडियान्वयो भारमल्लो धनी तपा-



---

१ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ६६२-६३

२ उक्त भाग २ पृष्ठ० ६६३

३ उक्त

४ "स्वस्ति श्री उदयपुर सुभसुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री सरूपसिंघजी आदेशात् कावड्या जैचंद कुनणे वीरचन्द कस्य अप्रच थारा वडा वासा भामो कावड्यो ई राजम्हे सामध्र्म कासु काम चाकरी करी जिकी मरजाद ठेठसू इया है—महाजना की जातम्हे बावनी त्था चोका को जीमण वा सीग पूजा होवे जीम्हे यह लय पहेली तलक थारे हो तो हो सो अगला नगर सेठ वेणीदास कासो कर्यो अर वेदर्याफत तलक थारे नहीं करवा दीदो अबार थारी सालमी दीखी सो नगे करी अर न्यात म्हे हकसर मालुम हुई सो अब तलाक माफक दस्तूर के थे थारो कराया जाजो आगा सु थारा हुक्म कर दीदो है सो पेली तलक थारे होवेगा। प्रवानगी मेहता सेरसींघ संवत् १९१२ ज्येष्ठ सुदी १५ बुधो ॥"

गणीयोऽभूत् । तेन देपागरसूरीणामभिधान शुद्धक्रियाधारकत्व च श्रुतम् । तदादित एव तद्गुणरञ्जितचेतस्कोऽवदत् श्लोक —

धन्यो देपागरस्वामी प्रदीपो जैनशासने।
एष एव गुरुर्मेऽस्ति धन्योऽह तन्निदेशकृत् ।।

इति भावनया शुद्धात्माऽभूद् भारमल्ल । तस्मिन्नवसरे तत्रत्यो भामा नामो नाहटोऽस्ति। तद्गृहे पुण्ययोगाद् दक्षिणवर्त्त शङख प्रादुरभूत् तत्सानिध्याद् गृहेऽष्टादशकोटयो धनस्य प्रकटी भवन्ति एकदा तत्र वन्तारुचैर्मण्ड-पाद्यो धर्मध्यान विदधत् साधुगुणग्रामाभिराम श्रीदेपागरस्वामी शुद्ध तपोधने भारमल्लेन दृष्टो विधिवद् वन्दितश्च। शुद्धधर्मोपदेशामृत पीत श्रवणाभ्याम्। अति प्रसन्नेन भारमल्लेन विमृष्टमहो! महान भाग्योदयो मे प्रकटितो यदीदृग गुण-गौरवो दृष्ट । सर्वेऽर्थो मे सेत्स्यन्ति। तदा भारमल्लान्वये च बहव श्रावका जाता नागोरी लुङ्कगणीया । अथ भारमल्ल-स्य भामानामकसुतोऽजनि। महान् मह कृत। सर्वत्र दानादिनार्ऽथिजनमनोरथा पूरिता । अन्येपि ताराचद्राादय पुत्रा अभूवन् । तत्र भामाशाहताराचद्रौ विश्रुतौ जातौ। स्वगच्छरागेण बहवो जना स्वगणे समानीता । पुन श्री राणाजी-तोऽमात्य पद लात्वा बलिनौ जातौ। ताराचद्रेण सादडी नाम नगर स्थापितम् । सर्वत्र पौषध शालादिकानि स्थानानि कारतानि। स्थाने स्थाने पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे बहुजनेभ्यो धन दाय दाय स्व गणीया कृता । श्री नागोरी लुकाङगणोऽतिख्या-तिमाप । पुन भामाशाहेन दिगम्बरमतगा नरसिघपौरा स्वगणेसमानीता । बहु स्व दत्वा १७०० गृहाणि तेषामात्मी-यानि कृतानि। भिण्डरकादि पुरेषु तदा च जात श्रावकगृहाणा चतुरशीतिसहस्राधिक लक्षमेकम्।

(विविधगच्छीय पट्टावली से)

परिशिष्ट २

सादडी का ताराबावडी का शिलालेख

मूल शिलालेख

(१) ॐ ।। श्री गणेशायनम । श्री ब्राह्मणेनम ।
(२) (श्री) लक्ष्मीनारायणाय नम ।। श्री उमामहे —
(३) श्वराय [राभ्या] नम ।। अथ श्री नृपविक्रमार्क समय (या)
(४) त् ।। सवत् १६५४ वर्षे शाके १५२० प्रवर्तमाने
(५) महामागल्यप्रदवैशापम (ा) से कृष्णपक्षे द्वि-
(६) तीयाया तिथौ वृहस्पत्त (ति) वासरे श्रीसादडी
(७) नगर ।। महाजाधिराज महाराणा श्री श्री
(८) अमरशघजी विजयराज (ज्ये) उमवाली ज्ञाती
(९) य कावेडीय गोत्र श्रावकवृन्द विराजमान
(१०) साह श्री भारमल्लतद्भार्या शीलालकारवा-
(११) रणी अनेकतुल्य पुन्पादं (पेम्य) महापुण्यकार-
(१२) णी नादेचा गोत्रगायि (य) श्रीगगाजल-निर्मला
(१३) माइ श्री कर्पूरनाम्नि नयम (तस्या) पुत्रस्य

(१४) तारचदस्य एकादशमनीसहित (?) मपुयर्थ (पुण्यार्थ)

(१५) श्रेयार्थ श्रीतारावाविनामक तीर्थं कारित

(१६) तत्पुत्रेण साह मरताण (पुरत्राण) जीनाम केन प्रत (ति)

(१७) पल्यमान विजीयोना (विजयोना) [म्] शुभ भवतु । ठ

(१८) यावत् कूर्म्मधृता धरा विजयते यावद्भुजगा-

(१९) धिप पाताले पवमानपूरिततनुर्याविद्रवि

(२०) श्चद्रन्मा । तावत्तिष्ठतु तीथमेनमदल वा-

(२१) पी महामडपा साह श्री सुरताणकेन वि

(२२) हित मागल्यपुष्टिप्रद ।। श्रीरस्तु । श्री ।।





चतुर्थ खण्ड



- साहित्य

मज्झिमनिकाय में उपलब्ध जैन शब्दावलि एवं उसका तुलनात्मक विवेचन



डॉ० परमेष्ठीदास जैन

शास्त्री, एम०ए०, बी०टी०, पी-एच० डी० आचार्य गुरुकुल, खुरई (म०प्र०)

किसी भी धर्म का स्वरूप उसके साहित्य से मिलता है। साहित्य के द्वारा हमें न केवल धर्म के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है, बल्कि समाज तथा समय के अनुकूल धर्म की व्याख्या में क्या कैसे परिवर्तन, परिवर्द्धन या संवर्द्धन हुए, इन सब बातों की जानकारी मिलती है। इसके सिवाय समकालीन अन्य मतावलम्बियों के साहित्य में भी अन्य धर्म से सम्बन्धित यत्र-तत्र सामग्री बिखरी पड़ी रहती है।

अधिकांश जैन तीर्थंकरों की परम्परा पौराणिक है परन्तु वर्तमान में प्राप्त जैन साहित्य का प्रारम्भिक स्रोत अंग-साहित्य वेद के समान पुराना नहीं है। फिर भी उसे बौद्ध पिटक का समकालीन माना जाता है। जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने तप, शम, दम इत्यादि की भावना पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने हिंसा आदि घातक अनर्थकारी प्रवृत्तियों के उन्मूलन करने का अथक और सफल प्रयास किया है। समय और परिस्थिति के अनुसार जैन और बौद्ध प्रचारकों को दो प्रकार से एक-से प्रयास की ओर झुकना पड़ा।

(१) तत्कालीन वैदिक विचारधारा ने अपने वेदों को अपौरुषेय तथा नित्य कहा था। भारतीय जन की इस श्रद्धा की नींव को हिलाना था। उनकी प्रामाणिकता में भ्रान्ति के बीज बोना था। वेदों में वर्णित यज्ञों की हिंसा का प्रबल विरोध करके उसके स्थान पर अहिंसा सरीखे आत्म-साम्यपरक सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

(२) दूसरी बात है जैनों और बौद्धों को एक ही स्थान और एक ही समय पर अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। काल, क्षेत्र और परिस्थिति का साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है। महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर ने बिहार में जन्म लिया। वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। एक दूसरे के समर्थक परस्पर में मिलते-जुलते रहे। एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म में भी दीक्षित किए गए। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कुछ समय तक आत्मज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में कई धर्मों की साधना की।

इन बातों का प्रभाव यह हुआ कि इन दोनों श्रमण-संस्कृतियों एवं उनके साहित्य में न केवल कई समान क्रियाओं, आचरण तथा शब्दों का उल्लेख पाया जाता है, बल्कि उनकी व्याख्या या विवेचन भी साम्यता लिए हुए हैं।

मज्झिमनिकाय का बौद्ध साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में हुआ था उस समय भगवान् शाक्य सामगाम में विहार करते थे[1]। जैनसाधुओं के विभाजन होने का उल्लेख भी यहीं मिलता है।

जैनसाहित्य में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावलि मज्झिमनिकाय में प्राप्त होती है। इन शब्दों में से कई शब्दों

---

१ सामगाम सुत्तन्त ३-१-४

का नाम मात्र उल्लेख पाया जाता है जबकि कई शब्दो की विस्तृत व्याख्या भी मिलती है। जो शब्द इस ग्रन्थ मे उपलब्ध है, वे निम्न प्रकार से दिये जाते है —

ज्ञान, दर्शन, क्रोध, राग, मोह, द्वेष, देव, मार, श्रमण, मुनि, जिन, अचेलक, ध्यान, प्रज्ञा, तप, पुण्य, पाप, निदान, ऋद्धि निर्वाण, ब्रह्मचर्य, तृष्णा, वेदना, सज्ञा, शील, समाधि, सदाचार, इन्द्रिय, सयम, त्याग, सर्वज्ञ, अर्हत्, नरक, स्वर्ग, चक्रवर्ती, अपरिगह, शल्य, दुख, आत्मवाद, अनात्मवाद, धर्म, आस्रव, सवर, भावना, वीचार, वितर्क निर्गन्थ, सम्यग्दृष्टि, योनि, अडज, औपपातिक जरायुज, मोक्ष, ईर्या, केवली, गति, गुप्ति, पुद्गल, विमुक्ति, गधकुटी, देव-निकाय, सस्थान इत्यादि।

इन शब्दो मे से निम्नलिखित शब्दो का विवेचन मिलता है —

(१) सम्यग्दृष्टि
(२) भावना
(३) निर्वाण
(४) योनि
(५) शल्य
(६) इन्द्रिय
(७) स्वर्ग-नरक
(८) आस्रव
(९) गति
(१०) जिन, अर्हन्, मुनि, केवली, शैक्ष्य।

सम्यग्दृष्टि —

मज्झिमनिकाय (१-१-९) मे सम्मादिट्ठि सुत्तान्त नामक सूत्र है। इसमे सम्यग्दृष्टि का वर्णन किया गया है। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी वह धर्म मे अत्यन्त श्रद्धावान् और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है। आर्य श्रावक अकुशल को जानता है। अकुशल-मूल को जानता है। कुशल को जानता है और कुशल-मूल को जानता है। इतने से आवुसो! आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।"

इस ग्रन्थ मे अकुशल की गणना १० तथा अकुशलमूल की गणना ३ मे बताई गई है।

(१) प्राणातिपात (हिसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्रीससर्ग) मे मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) सप्रलाप (बकवाद) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)। यह आवुसो अकुशल कहा जाता है।

(१) लोभ (२) द्वेष (३) मोह अकुशलमूल हैं। इसके विपरीत कुशल और कुशलमूल का विवेचन इसी सूत्र मे किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन साधना का मूल है। साधना मे बाधा डालने वाला मोहकर्म है। मोहरूपी मूल रहने के कारण ही व्यक्ति अपनी साधना करने मे असमर्थ रहता है। मोह मे राग और द्वेष भी सम्मिलित रहते हैं अर्थात् राग, द्वेष और मोह ही व्यक्ति की साधना मे अत्यधिक बाधक हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय मे बुराइयो की जड लोभ, द्वेष और मोह बताया गया है।

मज्झिमनिकाय (१-५-३) मे एक प्रश्नोत्तर मिलता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रहण मे कितने प्रत्यय हैं? दो प्रत्यय हैं (१) दूसरो से घोष (उपदेश श्रवण) और (२) योनिश मनस्कार (मूल पर विचार करना)।

इसी प्रकार जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण बतलाए गए है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा

है[1] कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे दो कारण होते है (१) अधिगम और (२) निसर्ग। इनका तात्पर्य वही है जो मज्झिमनिकाय मे बताया गया है।

अब हमे यह देखना है कि मज्झिमनिकाय मे जिन कुशल धर्मो का गिनाया है (१-१-९) उनमे जैनमतानुसार कथित महाव्रतो मे कैसे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है ?

साधना की पाच भूमिकाएँ होती ह, उनमे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही स्थान दिया गया है। इसके बाद विरति को स्थान मिला है। व्रत पाच होते है —

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

हम देखते है कि सम्मादिट्ठि सुत्तन्त मे जिन १० कुशल धर्मो का उल्लेख आया है, वे सब ५ महाव्रतो के अनुकूल ही बैठते है।

महाव्रत	कुशल धर्म
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिपात (९) व्यापाद से विरति
(२) सत्य	(४) मृषावाद (५) पिशुनवचन (६) परुष वचन (७) सप्रलाप से विरति
(३) अचौर्य	(२) अदत्तादान से विरति
(४) ब्रह्मचर्य	(३) काम मे मिथ्याचार से विरति
(५) अपरिग्रह	(८) अभिध्या से विरति

इन सभी का मूल (१०) मिथ्यादृष्टि से विरति ही है इसलिए कुशल धर्मो मे इसे भी जोड दिया गया है। जैनधर्म मे भी व्रत धारण करने के पूर्व मिथ्यादर्शन से रहित होने के लिए कहा गया है। इसका इतना अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव मे सच्चा चारित्र हो ही नही सकता।

भावना[2]

सम्यग्दर्शन के साथ ही भावना का वर्णन आता है। भावना निरन्तर चिन्तवन करने योग्य है। महायमक वग्ग के अन्तर्गत चूल अस्सपुर सुत्तन्त मे भावना का वर्णन आता है।

"मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शाति प्राप्त कर सकता है। भिक्षुओ ! भिक्षु श्रमण सामीची प्रतिपद् (सच्चा श्रमण बनाने वाले मार्ग) पर कैसे आरूढ हो सकता है ? भिक्षुओ ! जिस किसी अभिध्यालु भिक्षु की अभिध्या (लोभ) नष्ट होती है, मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है (वह) इन श्रमण मलो० के विनाश से श्रमण सामीची प्रतिपद् पर मार्गारूढ कहता हूँ। (फिर) वह इन सभी पापक अकुशल धर्मो से अपने को विशुद्ध देखता है, अपने को विमुक्त देखता है। (फिर) इन सभी पापक० धर्मो से अपने को विशुद्ध० विमुक्त देखने वाले उस (पुरुष) को प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रीतिमान् की काया स्थिर होती है। स्थिर शरीर सुख अनुभव करता है। सुखित का चित्त समाहित (एकाग्र) होता है। वह मैत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को प्लावित कर विहरता है और दूसरी दिशा० और तीसरी० और चौथी० इसी प्रकार ऊपर नीचे तिरछे सबकी इच्छा से सबके अर्थ सभी लोक का विपुल, महान्, अप्रमाण, अवैर, द्वेषरहित, मैत्रीपूर्ण चित्त से प्लावित कर विहरता है।

तत्वार्थ सूत्र[3] के सप्तम अध्याय मे व्रतो की भावना का वर्णन है। उसके अन्तर्गत निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ आती हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए। इस सूत्र



१ तत्वार्थसूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा १-३

२ मज्झिमनिकाय १-४-१०

३ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु त० सू० ७-११



का नाम मात्र उल्लेख पाया जाता है जबकि कई शब्दो की विस्तृत व्याख्या भी मिलती है। जो शब्द इस ग्रन्थ मे उपलब्ध है, वे निम्न प्रकार से दिये जाते हैं—

ज्ञान, दर्शन, क्रोध, राग, मोह, द्वेप, देव, मार, श्रमण, मुनि, जिन, अचेलक, ध्यान, प्रज्ञा, तप, पुण्य, पाप, निदान, ऋद्धि, निर्वाण, ब्रह्मचर्य, तृष्णा, वेदना, सज्ञा, शील, समाधि, सदाचार, इन्द्रिय, सयम, त्याग, सर्वज्ञ, अर्हत्, नरक, स्वर्ग, चक्रवर्ती, अपरिग्रह, शल्य, दुख, आत्मवाद, अनात्मवाद, धर्म, आस्रव, सवर, भावना, वीचार, वितर्क निर्ग्रन्थ, सम्यग्दृष्टि, योनि, अडज, औपपातिक, जरायुज, मोक्ष, ईर्या, केवली, गति, गुप्ति, पुद्गल, विमुक्ति, गधकुटी, देव-निकाय, सस्थान इत्यादि।

इन शब्दो मे से निम्नलिखित शब्दो का विवेचन मिलता है —

(१) सम्यग्दृष्टि
(२) भावना
(३) निर्वाण
(४) योनि
(५) शल्य
(६) इन्द्रिय
(७) स्वर्ग-नरक
(८) आस्रव
(९) गति
(१०) जिन, अर्हत्, मुनि, केवली, शैक्ष्य।

सम्यग्दृष्टि —

मज्झिमनिकाय (१-१-९) मे सम्मादिट्ठि सुत्तान्त नामक सूत्र है। इसमे सम्यग्दृष्टि का वर्णन किया गया है। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्म मे अत्यन्त श्रद्धावान् और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है। आर्य श्रावक अकुशल को जानता है। अकुशल-मूल को जानता है। कुशल को जानता है और कुशल-मूल को जानता है। इतने से आवुसो! आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।"

इस ग्रन्थ मे अकुशल की गणना १० तथा अकुशलमूल की गणना ३ मे बताई गई है।

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्रीससर्ग) मे मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) सप्रलाप (बकवाद) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)। यह आवुसो अकुशल कहा जाता है।

(१) लोभ (२) द्वेप (३) मोह अकुशलमूल हैं। इसके विपरीत कुशल और कुशलमूल का विवेचन इसी सूत्र मे किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन साधना का मूल है। साधना मे बाधा डालने वाला मोहकर्म है। मोहरूपी मूल रहने के कारण ही व्यक्ति अपनी साधना करने मे असमर्थ रहता है। मोह मे राग और द्वेप भी सम्मिलित रहते हैं अर्थात् राग, द्वेप और मोह ही व्यक्ति की साधना मे अत्यधिक बाधक हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय मे बुराइयों की जड लोभ, द्वेप, और मोह बताया गया है।

मज्झिमनिकाय (१ ५ ३) मे एक प्रश्नोत्तर मिलता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रहण मे कितने प्रत्यय हैं? दो प्रत्यय हैं (१) दूसरों से घोप (उपदेश श्रवण) और (२) योनिश मनस्कार (मूल पर विचार करना)।

इसी प्रकार जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण बतलाए गए हैं। आचार्य उमास्वाति ने लिखा

है[1] कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे दो कारण होते हैं (१) अधिगम और (२) निसर्ग। इनका तात्पर्य वही है जो मज्झिमनिकाय मे बताया गया है।

अब हमे यह देखना है कि मज्झिमनिकाय मे जिन कुशल धर्मों को गिनाया है (१-१-६) उनमे जैनमतानुसार कथित महाव्रतो मे कैसे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है?

साधना की पाच भूमिकाएँ होती हैं, उनमे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही स्थान दिया गया है। इसके बाद विरति को स्थान मिला है। व्रत पाच होते हैं—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

हम देखते हैं कि सम्मादिट्ठि सुत्तन्त मे जिन १० कुशल धर्मों का उल्लेख आया है, वे सब ५ महाव्रतो के अनुकूल ही बैठते हैं।

महाव्रत	कुशल धर्म
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिपात (९) व्यापाद से विरति
(२) सत्य	(४) मृषावाद (५) पिशुनवचन (६) परुष वचन (७) सप्रलाप से विरति
(३) अचौर्य	(२) अदत्तादान से विरति
(४) ब्रह्मचर्य	(३) काम मे मिथ्याचार से विरति
(५) अपरिग्रह	(८) अभिध्या से विरति

इन सभी का मूल (१०) मिथ्यादृष्टि से विरति ही है इसलिए कुशल धर्मों मे इसे भी जोड दिया गया है। जैनधर्म मे भी व्रत धारण करने के पूर्व मिथ्यादर्शन से रहित होने के लिए कहा गया है। इसका इतना अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव मे सच्चा चारित्र हो ही नही सकता।

भावना[2]

सम्यग्दर्शन के साथ ही भावना का वर्णन आता है। भावना निरन्तर चिन्तवन करने योग्य है। महायमक वग्ग के अन्तर्गत चूल अस्सपुर सुत्तन्त मे भावना का वर्णन आता है।

"मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शाति प्राप्त कर सकता है। भिक्षुओ! भिक्षु श्रमण सामीची प्रतिपद् (सच्चा श्रमण बनाने वाले मार्ग) पर कैसे आरूढ हो सकता है? भिक्षुओ! जिस किसी अभिध्यालु भिक्षु की अभिध्या (लोभ) नष्ट होती है, मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है (वह) इन श्रमण मलो० के विनाश से श्रमण सामीची प्रतिपद् पर मार्गारूढ कहता हूँ। (फिर) वह इन सभी पापक अकुशल धर्मों से अपने को विशुद्ध देखता है, अपने को विमुक्त देखता है। (फिर) इन सभी पापक० धर्मों से अपने को विशुद्ध० विमुक्त देखने वाले उस (पुरुष) को प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रीतिमान् की काया स्थिर होती है। स्थिर शरीर सुख अनुभव करता है। सुखित का चित्त समाहित (एकाग्र) होता है। वह मैत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को प्लावित कर विहरता है और दूसरी दिशा० और तीसरी० और चौथी० इसी प्रकार ऊपर नीचे तिरछे सबकी इच्छा से सबके अर्थ सभी लोक का विपुल, महान्, अप्रमाण, अवैर, द्वेषरहित, मैत्रीपूर्ण चित्त से प्लावित कर विहरता है।

तत्वार्थ सूत्र[3] के सप्तम अध्याय मे व्रतो की भावना का वर्णन है। उसके अन्तर्गत निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ आती हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए। इस सूत्र



---

१ तत्वार्थसूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा १-३

२ मज्झिमनिकाय १-४-१०

३ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु त० सू० ७-११



मे यह स्पष्ट किया गया है कि किनके साथ कैसी भावना करना चाहिए। प्राणी मात्र मे भिन्नता की भावना रखना, अधिकगुणो के धारी जीवो को देखकर आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करना, दुखी जीवो को देखकर उनके प्रति उपकार करने की भावना रखना तथा विरोधियो के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना ये ४ भावनाए हैं। इन भावनाओ को प० जुगलकिशोर मुख्तार ने मेरी भावना मे सुन्दर ढग से रखा है—

मैत्री भाव जगत मे मेरा सब जीवो से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवो पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतो पर क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खू मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥
गुणी जनो को देख हृदय मे मेरे प्रेम उमड आवे ॥

दोनो धर्मों मे उल्लिखित चार भावनाओ का समान वर्णन उपलब्ध होता है। सिर्फ प्रमोद के लिए मुदिता तथा माध्यस्थ्य के लिए उपेक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन अर्थ मे कोई भिन्नता नही है।

निर्वाण

आरोग्य परम लाभ है। निर्वाण परम सुख है।[1] जो वह तृणकाष्ठ के उपादान को लेकर जली, उसके पर्यादान से और अन्य (तृण काष्ठ) के अनुपहार से आहार बिना बुझ गई (निर्वाण प्राप्त) यही नाम होता है।[2]

जिस रूप से (उन्हे) जतलाया जाता, वह रूप (ही) तथागत का प्रहीण (नष्ट) हो गया, उच्छिन्न मूल, शिरकटे ताड जैसा, अभाव प्राप्त, भविष्य मे उत्पन्न न होने लायक हो गया।[3]

पाँच अवर भागीय सयोजनो के क्षय से औपपातिक (देव) हो उस देवलोक मे निर्वाण प्राप्त करने वाला, उस लोक से लौटकर न आने वाला हो।[4]

मज्झिमनिकाय (१-३-४) मे निर्वाणमार्ग का पूरा वर्णन मिलता है। इसके अनुसार बताया गया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्तविशुद्धि को प्राप्त नही होता, चित्तविशुद्धि तभी तक है जबतक कि दृष्टिविशुद्धि को प्राप्त नही होता, दृष्टिविशुद्धि तभी तक है जबतक कि काक्षा वितरण विशुद्धि को प्राप्त नही होता। काक्षा वितरण विशुद्धि तबतक है जबतक मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। मार्गामार्ग ज्ञानदर्शन विशुद्धि तबतक है जबतक कि प्रतिपद् ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। प्रतिपद् ज्ञानदशन विशुद्धि तबतक है जबतक कि ज्ञानदर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। ज्ञानदर्शन विशुद्धि तभीतक है जबतक कि उपादान रहित परिनिर्वाण को प्राप्त नही होता।[5]

अजात (जन्म रहित) अनुत्तर (सर्वोत्तम) योगक्षेम (मगलमय) निर्वाण की पर्येषणा करता है।[6]

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। इसलिए जैनदशन के विवेचन का मुख्य उद्देश्य आत्मविकास है। आत्मविकास का अर्थ है आत्मा की स्वाधीनता अर्थात् उसका कर्म की परतन्त्रता से छुटकारा। यह तीन रूप मे होता है —

(१) शरीरमुक्ति

---

१ मज्झिमनिकाय २।३।५
२ वही २।३।२
३ वही २।३।२
४ वही २।३।३
५ वही १।३।४
६ वही १।३।६

(२) बन्धनमुक्ति
(३) क्रियामुक्ति

पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय सगोपन, शरीर सयम, वाणी सयम, मानमाया परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान, योग और काय-व्युत्सर्ग— ये अकर्मवीर्य हैं। पडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।[1]

तत्वार्थसूत्र मे मोक्ष या निर्वाण का मार्ग सूत्र रूप मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता बतलाई गई है।[2]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नही, मुक्त आत्माए ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र मे रहती हैं, इसलिए उपचार दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अलोक मे प्रतिहत हैं, लोकान्त मे प्रतिष्ठित हैं, मनुष्यलोक मे शरीर मुक्त और सिद्धि के क्षेत्र मे वे सिद्ध हुए हैं।[3]

मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। मुक्ति दशा मे आत्मा का किसी दूसरी शक्ति मे विलय नही होता। मुक्त जीवो की विकास की स्थिति मे भेद नही होता। उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है।

मुक्त दशा मे आत्मा समस्त वैभाविक, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती हैं। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता।

यदि दोनो दर्शनो मे वर्णित निर्वाण के विवेचन पर दृष्टिपात किया जावे तो जहा मार्ग की एकरूपता दृष्टिगत होती है, वहा निर्वाण के सम्बन्ध मे सर्वथा प्रतिकूल दृष्टिकोण रखा गया है। निर्वाण के मार्ग मे सच्चा विश्वास, ज्ञान और आचार-विचार को दोनो मे प्रधानता दी है परन्तु जहा बौद्धमतानुसार द्रव्य सत्ता का अभाव ही निर्वाण है वहा जैनदर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था को निर्वाण कहता है। ससार के परिभ्रमण का अभाव उसमे हो ही जाता है अर्थात् मुक्तजीव ससार मे उत्पन्न होने लायक नही रहता। इस दृष्टि से उसे अभाव प्राप्त मान लेने मे कोई हानि नहीं है परन्तु द्रव्य का ही लोप मान लेने मे कई अडचने उत्पन्न हो जायेगी, जिससे द्रव्य-व्यवस्था ही भग हो जायेगी।

योनि

मज्झिमनिकाय मे योनि के चार भेद कहे है।[4]

(१) अडज योनि—जो प्राणी अण्डे के कोश को फोडकर उत्पन्न होते हैं, यह अडज योनि कही जाती है।

(२) जरायुज योनि—जो प्राणी वस्तिकोष (जरायु) को फोडकर उत्पन्न होते हैं।

(३) स्वेदज योनि—जो प्राणी सडी मछली, मुर्दे, कुल्माष चन्दनिका (गडहे) ओल गिल्ल (गडही) मे उत्पन्न होते हैं।

(४) औपपातिक योनि—देवता, नरक के जीव, कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक (नीचे गिरने वाले), यह औपपातिक योनि कही जाती है।

जैनदर्शन मे योनियो के भेद अलग से गिनाए है।[5] परन्तु जन्म के भेदा मे जो वर्णन आया है, वह बौद्ध दर्शन के योनिभेदो से मिलता-जुलता है। सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से जन्म तीन प्रकार का होता है।[6]



१ सूत्रकृताग १।८।६।३६
२ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग १।१
३ औपपातिक सूत्र
४ म० नि० १।२।२
५ तत्वार्थसूत्र २।३२
६ वही २।३१



गर्भ जन्म मे जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीन भेदो का समावेश किया गया है।[1] इस प्रकार अडज और जरायुज गर्भ जन्म के अन्तर्गत आते है। सम्मूर्छन जन्म और स्वेदज का वर्णन बिल्कुल एक-सा है। औपपातिक और उपपाद मे अन्तर नही है। सिर्फ एक बात पर ध्यान देना है। मज्झिम-निकाय मे देव और नारकी को उपपाद योनि वाला बताया है। साथ ही कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक भी उपपाद योनि वाला बताया गया है। जैनदर्शन मे कई देवता मध्यलोक मे निवास करते है और कई देव रत्नप्रभा पृथ्वी (पहला नरक) के खर भाग तथा पकभाग मे जन्म लेते हैं। मालूम पडता है कि इन्ही बातो को प्रकट करने के लिए ऐसा कहा गया है।

प्राणियो के वर्णन मे इनके भेद विस्तार से बताये गये है।[2] प्राणी दो प्रकार के होते हैं--चर और अचर। अचर प्राणी पाच पकार के होते है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियो के आठ भेद होते है –

(१) अण्डज—अण्डो से उत्पन्न होनेवाले प्राणी अण्डज कहलाते है। जैसे—साप, केचुआ, मच्छ, कबूतर, काक आदि।

(२) पोतज—जो जीव खुले अग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे हाथी, नकुल, चूहा, बगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मास से लथडा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्मवाले प्राणी जरायुज कहलाते है। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊँट, घोडा आदि।

(४) रसज—मद्य आदि मे जो कृमि उत्पन्न होते है, वे रसज कहलाते है।

(५) सस्वेदज—स्वेद (पसीने) मे उत्पन्न होने वाले सस्वेदज कहलाते है।

(६) सम्मूर्छिम—किसी सयोग की प्रधानतया अपेक्षा नही रखते हुए यत्र-कुत्र जो उत्पन्न हो जाते है, वे सम्मूर्छिम कहलाते हैं। जैसे--चीटी, मक्खी, आदि।

(७) उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले पाणी उद्भिद् कहलाते है। जैसे—टिड्डी आदि।

(८) उपपातज—शैय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज है। जैसे—देवता, नारकी आदि।

शल्य[3]

यहां यह अर्थ है—व्रण (घाव) यह ६ आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतनो का नाम है। विषदोष यह अविद्या का नाम है। शल्य यह तृष्णा का नाम है। एषणा यह स्मृति का नाम है। शस्त्र यह आर्यप्रज्ञा का नाम है। शल्यकर्ताभिषक् यह तथागत अर्हत् सम्यक् सबुद्ध का नाम है।

सुनक्खत्त, जो भिक्षु ६ स्पर्शायतनो (चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय, मन के विषयो) मे सयमी है। उपाधि (विषय सग्रह) दु ख का मूल है—इसे जान उपाधि से रहित हो उपधि के क्षय से मुक्त हो गया है वह उपधि मे काया को लगावेगा या चित्त देगा, यह सभव नही।

तत्वार्थसूत्र[4] मे जहां व्रतो का वर्णन आया है, वहां बताया गया है कि व्रतधारण करने वाले व्यक्ति को शल्य-रहित होना चाहिए। जो आत्मा को काटे की तरह दु ख दे उसे शल्य कहते है। उसके तीन भेद है—१ माया शल्य (छल-कपट करना) २ मिथ्यात्व शल्य (तत्वो का श्रद्धान न होना) ३ निदान शल्य (आगामीकाल मे विषयो की वाञ्छा करना)।

---

१ वही २। ३३

२ जैनदर्शन के मौलिक तत्व पृ० ८५। ८६

३ म० नि० ३। १। ५

४ त० सू० ७। १८

बौद्ध ग्रन्थानुसार पांचो इन्द्रियों के विषयो मे सयम रखने के लिए कहा गया है ।

इन्द्रिय[1]

पांच इन्द्रियां है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय । इन पाच इन्द्रियो का प्रतिशरण मन है । मन इनके विषय का अनुभव करता है ।

पांच काम गुण है ।[2] (१) चक्षु से विज्ञेय रूप (२) श्रोत्रविज्ञेय शब्द (३) घ्राणविज्ञेय गध (४) जिह्वाविज्ञेय रस (५) कायविज्ञेय स्पर्श ।

आचाराग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन मे इन इन्द्रियों का वर्णन आया है, जिसमे कहा गया है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियो के लिए आवर्त रूप है, ऐसा समझकर विवेकी को इनमे मूर्छित नही होना चाहिए । यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मै इनसे बचूगा— इनमे नही फसूगा —पूर्ववत् आचरण नही करूगा ।

स्वर्ग-नरक

मज्झिमनिकाय[3] मे स्वर्ग नरक जाने के कारण बताए गए है । अधर्माचरण के कारण कोई प्राणी काया छोडकर मरने के बाद नरक मे उत्पन्न होते है । धर्माचरण के कारण गृहपतियो ! कोई प्राणी सुगति, स्वर्गलोक मे उत्पन्न होते है ।

[कायिक ३] हिंसक, अदिन्नादायी (चोर), कामो मे मिथ्याचारी [वाचिक ४] मिथ्यावादी, चुगलखोर, परुषभाषी, प्रलापी [मानसिक ३] अभिध्यालु, व्यापन्नचित्त, मिथ्यादृष्टि लोग नरक मे जाते है ।

इसके विपरीत कार्यो के करने से प्राणी मरकर स्वर्ग मे उत्पन्न होते है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गतियो मे उत्पन्न होने का विशद विवरण मिलता है । उसमे कहा गया है कि व्रत, सयम, शील, तप आदि कारणो से यह जीव मरकर देवगति मे उत्पन्न होता है । देवगति मे उत्पन्न होने के कारणो मे समानता अधिक है, विषमता कम है ।

आस्रव

आस्रव को रोकने के उपायो मे मन, वचन, काय की क्रिया को ठीक करने के लिए कहा गया है ।[4] उनमे से जो वह व्यक्ति अगणरहित होता है, उसे ठीक से जानता है, उसमे आशा होगी कि वह शुभ निमित्त को मन मे न करेगा, शुभ निमित्त को मन मे न करने से राग उसके चित्त मे न चिपटेगा, इस प्रकार वह रागद्वेष मोह से रहित, अगणरहित एव निर्मलचित्त रह मृत्यु को प्राप्त होगा ।

तत्वार्थसूत्र के ६वे अध्याय मे आस्रव तत्व का वर्णन आया है । उसका प्रथम सूत्र है—"कायवाङ्मन कर्म योग" और दूसरा सूत्र है—"स आश्रव" अर्थात् काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं और वह योग ही आस्रव कहा जाता है । इस प्रकार दोनो मतो मे आस्रव का वर्णन है ।

गति[5]

गतियां पांच होती है । नरक, तिर्यग्, प्रेत्यविषय, मनुष्य, देवता । इन गतियो मे जैनदर्शन के अनुमार



१ म० नि० १ । ५ । ३
२ वही १ । २ । ४
३ म० नि० १ । ५ । १
४ म० नि० १ । १ । २
५ वही १ । २ । २

प्रेत्यविषय और देवता एक ही कोटि के माने गए है। भले ही निवास की दृष्टि से दो भेदकर दिए जावे परन्तु शरीर व गति आदि की दृष्टि से एक ही हैं। जैनदर्शन मे ४ गतियो का वर्णन मिलता है।[1]

जिन, अर्हत्, केवली, मुनि, शैक्ष्य

मेरे ऐसे ही सत्त्व जिन होते है, जिनके कि आस्रव (क्लेश मल) नष्ट हो गए। मैंने पाप धर्मों को जीत लिया है इसलिए हे उपरु ! मैं जिन हूँ।[2] अर्हत् क्षीणास्रव (राग आदि से मुक्त) ब्रह्मचर्यवास समाप्त कर चुका, कृत-करणीय व अवहितभार (भार को फेक चुका) सच्चे पदार्थ को पा चुका, भवबधन को काट चुका, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुका।[3] जो यह अर्हत् क्षीण आस्रव (ब्रह्मचर्य) वास समाप्त, कृतकृत्य, भारमुक्त, सत्पदार्थ को प्राप्त, भवबधन रहित, सम्यक्ज्ञान द्वारा मुक्त हैं, वह मार की धारा से तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार जावेगे।[4] जो भिक्षु अर्हत् (मुक्त) है, वह इन पाच बातो मे असमर्थ है (१) जानकर प्राण नही मार सकता (२) चोरी नही कर सकता (३) मैथुनसेवन नही कर सकता (४) जानकर झूठ नही बोल सकता (५) क्षीणास्रव भिक्षु एकचित्त कर काम-भोगो को भोग करने के अयोग्य है जैसे कि पहले गृही होते भोगता था। जो रागो से बिल्कुल मुक्त विशुद्ध चित्त को जानता है, जन्म-मरण जिसका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूरा हो गया वह) केवली है। जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्गनरक को जानता है और (जो) जन्म के क्षय को प्राप्त अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है। जिसको अभी सीखना बाकी है, पहुचे हुए मन वाला नही है, सर्वोमित्त योग क्षेम की चाह मे विहरता है।

जैनदर्शन के अनुसार जिन अर्हत् और केवली मे कोई अन्तर नही है। वे नामान्तर ही है। केवलज्ञान की उत्पत्ति मे कारण प्रदर्शित करते हुए उमास्वाति ने लिखा है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक १२वा गुणस्थान पाकर बाद मे एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जिन, अर्हत् या केवली के राग-द्वेष मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र से भी छुटकारा मिल जाता है और उसकी आत्म-साधना (ब्रह्मचर्य) भी पूरी हो जाती है। मुनि, साधु, श्रमण साधक, शैक्ष्य आदि मुनियो के नाम है। शैक्ष्य मुनि वह कहलाता है जो शास्त्र के अध्ययन मे तत्पर हो।

इस प्रकार जैन शब्दावलि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। बौद्धधर्म के समस्त ग्रन्थो का आलोडन करने के उपरान्त जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो पर विवेचन प्रस्तुत करना लाभकारी सिद्ध हो सकता है। आशा है, विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

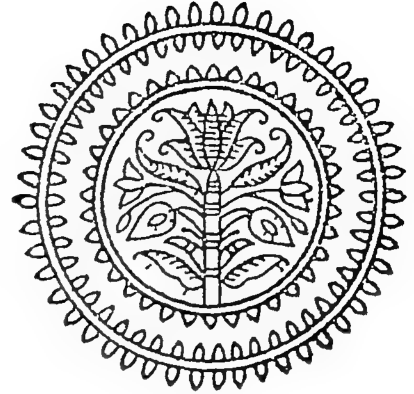
●

---

१ त० सू० ८-१०
२ म० नि० १ ३ ६
३ वही १ १ १
४ वही ९ ४ ४

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०



उत्थानिका

स्थूलरूप मे कथामाहित्य दो वर्गो मे विभक्त किया गया है—लोककथा-माहित्य और अभिजात्यकथा-साहित्य। लोककथाओ मे लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहता-सुनता है, उसे समूह की वाणी वनाकर और समूह मे घुलमिल कर। ये कथाए लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आन्दोलित, चलित और प्रभावित करती है और जनता की बोली मे लिखी जाती हैं। इन कथाओ मे मानवजाति की आदिम परम्पराओ, प्रथाओ और उनके विभिन्न प्रकार के विश्वासो का समवाय पाया जाता है। नृत्य, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, भाग्य, शकुन, रोग, मृत्यु, कृषि के साधन-प्रकार, सामाजिक प्रथाए आदि भी लोककथाओ के तत्त्व हैं। अभिजात्यकथाओ मे शिक्षित, सम्पन्न एव सुसस्कृत समाज के विलास, वैभव, परम्परा, रीति-रिवाज एव आचार-विचार का निरूपण रहता है। अभिजात्य कथाए समस्त समाज की नही अभिजात्य वर्ग की होती हैं। इस प्रकार की कथाए जनता की वोली मे नही लिखी जाती, वल्कि किसी सामन्तीय परिष्कृत भाषा मे निवद्ध की जाती हैं। सस्कृत भाषा मे लिखी गयी कथाए भाषा और सामन्तीय वर्गविशेष का चित्रण होने से अभिजात्यवर्ग की है। इनमे चित्रित समाज और सस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्य का चित्रण इन कथाओ मे नही है।

प्राकृतकथा और उसके सामान्य भेद

प्राकृत कथाए लोककथाओ के सस्करण के रूप मे मानी जा सकती हैं। इनमे निम्न और उन्नत दोनो प्रकार के समाज का चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनता की भाषा थी, जवकि सस्कृत भाषा अभिजात्यवर्ग की। अत भाषा की दृष्टि से भी इन कथाओ को लोककथा के निकट मानना युक्तिसगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारो ने लोककथाओ को धार्मिक कथा के साचे मे ढालने का प्रयत्न किया है, जिससे इनमे लोकसस्कृति का पूर्ण प्रतिफलन उपलव्ध हैं। प्राकृत कथाओ का लक्ष्य मूलत कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मशुद्धि, व्रतसाधना एव तपश्चरण द्वारा मानव से भगवान् वन जाने का सदेश देना है। आत्मसाधना किसी एक भव मे सम्पन्न नही होती, इसके लिए कई जन्म-जन्मान्तरो मे प्रयास करना पडता है। जो व्यक्ति किसी के साथ शत्रुता, मित्रता या अन्य किसी प्रकार का भाव रखता है, उस भाव की निर्जरा किसी एक भव मे सम्पन्न नही होती। वैर-विरोध अनेक जन्मो तक चलता रहता है, जिसमे व्यक्ति को शुद्धि के लिए भव-भवान्तर तक साधना की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रवल है, जिससे प्रेम, राग, द्वेष, ममता-मोह, घृणा-कलह आदि के भावो की समाप्ति किसी एक जन्म मे सम्भव नही है, अगणित जन्मो तक उक्त सस्कारो की परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटक जैनमुनि और कर्मवाद के भोक्ता नायक-नायिका के शीलस्थापत्य के सन्दर्भ मे लोककथाओ के अनेक रूप प्रकट होते है।

प्राकृतकथाओ के विषय पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये है। विषय की दृष्टि से



प्रेत्यविषय और देवता एक ही कोटि के माने गए हैं। भले ही निवास की दृष्टि से दो भेदकर दिए जावे परन्तु शरीर व गति आदि की दृष्टि से एक ही है। जैनदर्शन में ४ गतियों का वर्णन मिलता है।[1]

जिन, अर्हत्, केवली, मुनि, शैक्ष्य

मेरे ऐसे ही सत्त्व जिन होते हैं, जिनके कि आस्रव (क्लेश मल) नष्ट हो गए। मैंने पाप धर्मों को जीत लिया है इसलिए हे उपक! मैं जिन हूँ।[2] अर्हत् क्षीणास्रव (राग आदि से मुक्त) ब्रह्मचर्यवास समाप्त कर चुका, कृतकरणीय व अवहितभार (भार को फेंक चुका) सच्चे पदार्थ को पा चुका, भवबंधन को काट चुका, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुका।[3] जो यह अर्हत् क्षीण आस्रव (ब्रह्मचर्य) वास समाप्त, कृतकृत्य, भारमुक्त, सत्पदार्थ को प्राप्त, भवबंधन रहित, सम्यक्ज्ञान द्वारा मुक्त हैं, वह मार की धारा में तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार जावेंगे।[4] जो भिक्षु अर्हत् (मुक्त) है, वह इन पाच बातों में असमर्थ है (१) जानकर प्राण नहीं मार सकता (२) चोरी नहीं कर सकता (३) मैथुनसेवन नहीं कर सकता (४) जानकर झूठ नहीं बोल सकता (५) क्षीणास्रव भिक्षु एकचित्त कर काम-भोगों को भोग करने के अयोग्य है जैसे कि पहले गृही होते भोगता था। जो रागों से बिल्कुल मुक्त विशुद्ध चित्त का जानता है, जन्म-मरण जिसका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूरा हो गया वह) केवली है। जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्गनरक को जानता है और (जो) जन्म के क्षय को प्राप्त अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है। जिसको अभी सीखना बाकी है, पहुचे हुए मन वाला नहीं है, सर्वोमत्त योग क्षेम की चाह में विहरता है।

जैनदर्शन के अनुसार जिन अर्हत् और केवली में कोई अन्तर नहीं है। वे नामान्तर ही हैं। केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण प्रदर्शित करते हुए उमास्वाति ने लिखा है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक १२वा गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जिन, अर्हत् या केवली के राग-द्वेष मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र से भी छुटकारा मिल जाता है और उसकी आत्म-साधना (ब्रह्मचर्य) भी पूरी हो जाती है। मुनि, साधु, श्रमण साधक, शैक्ष्य आदि मुनियों के नाम हैं। शैक्ष्य मुनि वह कहलाता है जो शास्त्र के अध्ययन में तत्पर हो।

इस प्रकार जैन शब्दावलि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। बौद्धधर्म के समस्त ग्रन्थों का आलोडन करने के उपरान्त जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विवेचन प्रस्तुत करना लाभकारी सिद्ध हो सकता है। आशा है, विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

●

---

१ त० सू० ८-१०

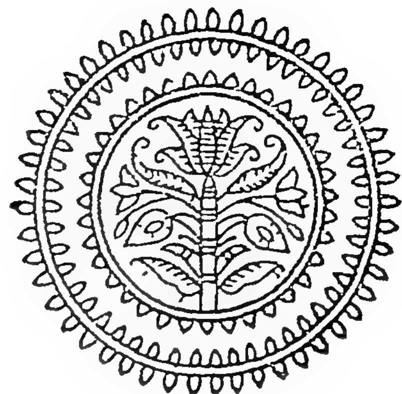
२ म० नि० १ ३ ६

३ वही १ १ १

४ वही ६ ४ ४

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०



उत्थानिका

स्थूलरूप मे कथासाहित्य दो वर्गो मे विभक्त किया गया है—लोककथा-साहित्य और अभिजात्यकथा-साहित्य। लोककथाओ मे लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहता-सुनता है, उसे समूह की वाणी बनाकर और समूह मे घुलमिल कर। ये कथाए लोकचित्त मे सीधे उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आन्दोलित, चलित और प्रभावित करती है और जनता की वाणी मे लिखी जाती है। इन कथाओ मे मानवजाति की आदिम परम्पराओ, प्रथाओ और उनके विभिन्न प्रकार के विश्वासो का समवाय पाया जाता है। नृत्य, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, भाग्य, शकुन, रोग, मृत्यु, कृषि के साधन-प्रकार, सामाजिक प्रथाए आदि भी लोककथाओ के तत्त्व है। अभिजात्यकथाओ मे शिक्षित, सम्पन्न एव सुसम्कृत समाज के विलास, वैभव, परम्परा, रीति-रिवाज एव आचार-विचार का निरूपण रहता है। अभिजात्य कथाए समस्त समाज की नही अभिजात्य वर्ग की होती है। इस प्रकार की कथाए जनता की बोली मे नहीं लिखी जाती, बल्कि किसी सामन्तीय परिष्कृत भाषा मे निबद्ध की जाती है। सस्कृत भाषा मे लिखी गयी कथाए भाषा और सामन्तीय वर्गविशेष का चित्रण होने से अभिजात्यवर्ग की है। इनमे चित्रित समाज और सस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्य का चित्रण इन कथाओ मे नही है।

प्राकृतकथा और उसके सामान्य भेद

प्राकृत कथाए लोककथाओ के सस्करण के रूप मे मानी जा सकती है। इनमे निम्न और उन्नत दोनो प्रकार के समाज का चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनता की भाषा थी, जबकि सस्कृत भाषा अभिजात्यवर्ग की। अत भाषा की दृष्टि से भी इन कथाओ को लोककथा के निकट मानना युक्तिसगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारो ने लोककथाओ को धार्मिक कथा के साचे मे ढालने का प्रयत्न किया है, जिससे इनमे लोकसस्कृति का पूर्ण प्रतिफलन उपलब्ध है। प्राकृत कथाओ का लक्ष्य मूलत कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मशुद्धि, व्रतसाधना एव तपश्चरण द्वारा मानव से भगवान् बन जाने का सदेश देना है। आत्मसाधना किसी एक भव मे सम्पन्न नही होती, इसके लिए कई जन्म-जन्मान्तरो मे प्रयास करना पडता है। जो व्यक्ति किसी के साथ शत्रुता, मित्रता या अन्य किसी प्रकार का भाव रखता है, उस भाव की निर्जरा किसी एक भव मे सम्पन्न नही होती। वैर-विरोध अनेक जन्मो तक चलता रहता है, जिससे व्यक्ति को शुद्धि के लिए भव-भवान्तर तक साधना की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रबल है, जिससे प्रेम, राग, द्वेष, ममता-मोह, घृणा-कलह आदि के भावो की समाप्ति किसी एक जन्म मे सम्भव नही है, अगणित जन्मो तक उक्त सस्कारो की परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटक जैनमुनि और कर्मवाद के भोक्ता नायक-नायिका के शीलस्थापत्य के सन्दर्भ मे लोककथाओ के अनेक रूप प्रकट होते हैं।

प्राकृतकथाओ के विषय पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये है। विषय की दृष्टि से

अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा ये चार भेद किये गये है ।[1] पात्रो के प्रकारो के आधार पर दिव्य, मानुप और दिव्यमानुप ये तीन भेद किये है । जिनमे दिव्यलोक के व्यक्तियो के क्रियाकलाप से कथानक और कथा-वस्तु का निर्माण होता है, वे कथाएँ दिव्य कहलाती हैं । मानुप कथा मे पात्र मनुष्यलोक के ही रहते हैं, उनके चरित्र मे पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है । कथा के पात्र सजीव और क्रियाशील होते है । दिव्यमानुपीकथा बहुत सुन्दर मानी गयी है । इस कोटि की कथा का कथाजाल सघन और कलात्मक होता है । चरित्र और घटना, विभिन्न परि-स्थितियो के विशद और मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यग्य का सम्मिश्रण एव सौन्दर्य के विभिन्न रूप इस कथा मे समवेत रहते है ।[2]

शैली के आधार पर सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और सकीणकथा ये पाच भेद किये गये हैं ।[3] सकलकथा मे चारो पुरुषार्थ, नवरस, आदर्श चरित्र एव जन्म-जन्मान्तर के सस्कार वर्णित रहते है ।[4] प्राकृत भापा मे लिखा गया कथासाहित्य गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । लेखको ने इसमे जनजीवन का पूर्णतया चित्रण कर साहित्य को अपूर्व निधि प्रदान की है ।

प्राकृत-कथासाहित्य का सर्वेक्षण

प्राकृतकथा-साहित्य के बीज आगम ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं । निर्युक्ति, भाप्य, चूर्णि प्रभृति व्याख्या-ग्रन्थो मे छोटी-बडी सभी प्रकार की सहस्रो कथाएँ प्राप्त है । आगम-साहित्य मे धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-सदाचार का प्रणयन कथाओ के माध्यम से किया गया है । सिद्धान्तनिरूपण, तत्त्वनिर्णय एव दर्शन की गूढ समस्याओ को कथा के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न आगमग्रन्थो मे उपलब्ध है । अग और उपाग साहित्य मे ऐसे सवेदनशील अनेक आख्यान आये है, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यो की प्रतीति के साथ बर्बरता की निमम घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने मे सक्षम हैं । प्राकृत कथाकारो ने समाज और व्यक्ति के जीवन की विकृतियो पर जितना प्रहार किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारो ने नही ।

यह सत्य है कि आगम-साहित्य मे प्रयुक्त कथाओ मे घटनाविहीनता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एव शीलनिरू-पण के लिए आवश्यक वातावरण और कथनोपकथन की कमी है, पर धार्मिकता का समाहार रहने से जीवन को उसके समस्त विस्तार मे देखने की प्रवृत्ति वर्तमान है, जिससे इन कथाओ मे स्थापत्य की दृष्टि से विरूपता नही है । इनमे पूरा चरित्र, कोई पूरा व्रत, कोई वर्जना, कोई आचार तथा सजीव क्रमयुक्तता वर्तमान है । जातीय सस्कृति के आधार पर चरित्रो के व्यक्तित्व का सगठन, उनका नियमन इस विशिष्टता से इन कथाओ मे हुआ है कि चरित्र का निश्चया-

---

१ अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा ।
एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा ।। —दशवैकालिक, हरिभद्रीयवृत्ति गा० १८८ पृ० २१२
एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवति । त जहा—अत्थकहा कामकहा धम्मकहा सकिण्णकहा य—
—समराइच्चकहा, याकोवी सस्करण पृ० २

२ दिव्व, दिव्वमाणुस, माणुस च । तत्थ दिव्व नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअ वण्णिज्जइ ।
— समराइच्चकहा याकोवी सस्करण पृ० २

त जह दिव्व-माणुसी माणुसी तहच्चेय । — लीलावई गा० ३५
एमेय मुद्धजुयई – मणोहर पाययाए भासाए ।
पविरलदेसि-सुलक्ख कहसु कह दिव्वमाणुसिय ।। —लीलावई गा० ४१ पृ० ११

३ ताओ पुण पचकहाओ । त जहा—सयलकहा खडकहा उल्लावकहा परिहासकहा तहावरा कहिय त्ति सकिण्ण कहत्ति ।
— कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

४ समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यवल् सकलकथा । —हैम-काव्यनुशासन ८।६ पृ० ४६५

त्मक प्रभाव अन्तत पड ही जाता है। आगमकालीन कथाकारो की यह विशेषता है कि उन्होने उपमाओ और दृष्टातो का अवलम्बन ग्रहण कर जनता को धर्म-सिद्धान्तो की ओर अधिक आकृष्ट किया है। उक्त कथाओ की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीको के आधार पर हुई है।

आगमकालीन कथाओ के पश्चात् प्राकृतकथा साहित्य का दूसरा युग टीकायुग है। आगम-कथाएँ "वण्णओ" द्वारा बोझिल थीं। चम्पा या अन्य किसी नगरी के वर्णन द्वारा ही समस्त वर्णनो का अवगत कर लेने की ओर सकेत दिया जाता था, पर टीकाओ मे यह प्रवृत्ति न रही और कथाओ मे साहित्यिक सरस वर्णन होने लगे। दूसरी विशेषता यह आयी कि एकरूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग होने लगा। नवीनता की दृष्टि से पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य रूपगठन एव नीतिसश्लेष आदि सभी मे आगमिक कथाओ की अपेक्षा टीका-कथाओ मे अधिक नवीनता पायी जाती है। इस युग की कथाओ के परिवेश पर्याप्त विस्तृत हैं। वस्तुत कथा का रूप या स्थापत्य दो बातो पर निर्भर करता है—प्रथम यह कि कथा जिस वातावरण मे घटित हो रही है, उसके विस्तार, सीमा और निर्णायक तत्त्व कौन-कौन से है? विषय के साथ पात्रो के उद्देश्य किस प्रकार घटित किये गये है? कथाओ की रूपाकृति को प्रभावित करनेवाले निर्धारक तत्त्व की उद्देश्य के प्रति कितनी सजगता है और प्रभावोत्पन्न करने मे उसकी कितनी क्षमता है?

कथा के रूपतत्त्व को निर्धारित करनेवाली दूसरी वस्तु है, उसकी आवश्यकता। जीवन की किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कथा लिखी गयी है, उसके प्रतिपादन का उद्देश्य क्या है तथा इस उद्देश्य की अभिव्यञ्जना किस प्रकार सम्पन्न हुई है यह भी कथासाहित्य के रूपविधान मे सम्मिलित है। टीकायुगीन कथाओ की स्पष्टत आवश्यकता भाष्य या व्याख्या के सिलसिले मे नीति या किसी तथ्य की पुष्टि के रूप मे ही ग्राह्य है। आगमकालीन कथाएँ साम्प्रदायिक धार्मिकता से अभिभूत थी, उनमे मनोरञ्जन और कुतूहल का प्राय अभाव था। केवल कुछ घटनाओ की शृखला ही किसी चरित्र या वर्जना का रूप प्रस्तुत करती थी, किन्तु टीकायुग की प्राकृतकथाओ मे कथारस भी समाविष्ट है। आकार-प्रकार भी सक्षिप्त हो गया है तथा विभिन्न विषयो से सम्बद्ध होने के कारण उनमे अनेकरूपता है। ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक एव पौराणिक प्रवृत्तियो का उद्घाटन भी किया गया है।

विशुद्ध कथासहित्य का आरम्भ तरगवती[1] से माना जा सकता है। पादलिप्त सूरि ने इस कथाग्रन्थ की रचना विक्रम सवत् की तीसरी शती मे की है। तरगवती का दूसरा नाम तरगलोला भी है। तरगवती के सक्षिप्तकर्ता नेमिचन्द्र गणि ने इस नाम का उल्लेख किया है। यह प्रेमकथा है, इसकी अन्तिम परिणति विरक्ति मे घटित होती है। तरगवती कौशाम्बी नगरी के ऋषभदेव श्रेष्ठी की पुत्री थी। यमुना की प्रार्थना के फलस्वरूप जन्म होने के कारण इसका नाम तरगवती रखा गया था। वनविहार के समय हसमिथुन के दर्शन से उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो गया था। कथा मे बताया गया है कि गगा नदी के तट पर चकवा-चकवी निवास करते थे। एक दिन एक शिकारी आया। उसने जगली हाथी को मारने के लिए बाण चलाया, पर वह बाण भूल से चकवा को लगा। चकवा की मृत्यु देखकर चकवी बहुत दु खी हुई। शिकारी को भी चकवा की मृत्यु से पश्चात्ताप हुआ और उसने लकडियाँ एकत्रित कर उस चकवा का दाहसस्कार सम्पन्न किया। चकवी प्रेमवश उसी चिता मे जलकर भस्म हो गयी। उसी चकवी का जीव तरगवती के रूप मे उत्पन्न हुआ। तरगवती ने अपने प्रिय की प्राप्ति का प्रयत्न किया और अन्त मे उसका विवाह चकवे के जीव - पद्मदेव से सम्पन्न हो गया।



---

१ प्रसन्नपदगाम्भीर्यरथाङ्ग-मिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गङ्गेव या तरङ्गवती कथा॥—सक्षिप्त तर गवती प्रस्तावना पृ० १७।
को न जणो हरिसिज्जइ तर गवइ-वइयर सुणेऊण।
इयरे पबधसिधुवि पाविया जीए मुहरत्त॥ —सुपासनाहचरियं, वाराणसी, पुव्वभव प० गा० ६
सीस कहवि न फुट्ट जमस्स पालित्तय हरन्तस्स। जस्स मुहनिज्झराओ तर गलोला-नई वूढा॥
—प्र० च० वि० प्र० पृ० २६

समस्त कथा उत्तमपुरुष मे वर्णित है। करुण, शृ गार और शान्त रस की त्रिवेणी समस्त कथा मे प्रवाहित है। प्राकृत भाषा की इस समृद्ध कथाकृति के अवलोकन से यह अनुमान सहज मे लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषा मे आधुनिक उपन्यास के रूप मे बृहत्कथाओ का निर्माण गुप्तकाल के पहले ही हो चुका था। यद्यपि विशुद्ध-कथा की यह प्रणाली आठवी शती के पूर्व चरितात्मक गद्याख्यान के रूप मे प्रचलित रही है, तो भी चरितग्रन्थो मे सहकारी कथाओ के रूप मे निबद्ध कथाए अपने मौलिक रूप मे उपलब्ध है।

चरितात्मक कथाग्रथ के रूप मे वसुदेवहिण्डी का नाम आता है। इस ग्रथ के दो खण्ड है, प्रथम खण्ड के कर्त्ता सघदास गणिवाचक और द्वितीय खण्ड के कर्त्ता धर्मसेन गणि हैं। प्रथम खण्ड मे २९ लभक और द्वितीय मे ७१ लम्भक है। यह ग्रन्थ 'वृहत्कथा' के समान कथाओ का कोष है। वसुदेव के भ्रमण के साथ तीर्थंकरो एव अन्य शलाकापुरुषो के जीवनवृत्त भी अकित है। वेश्या, जुआरी प्रभृति व्यक्तियो के चरित्र चित्रित करने के हेतु कई मनोरजक कथाए निबद्ध की गयी हैं। इसमे वसन्ततिलका या वसन्तसेना गणिका का आख्यान आया है, जो आगे के कथासाहित्य मे बहुत प्रिय रहा है। मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु का स्रोत भी वसुदेव हिण्डी का उक्त आख्यान प्रतीत होता है। जिस प्रकार सस्कृत वाङ्मय मे उपजीव्यकाव्य के रूप मे बृहत्कथा, महाभारत और रामायण को माना गया है, उसी प्रकार प्राकृतकाव्य और कथा मे विकास एव स्रोत के रूप मे वसुदेवहिण्डी को उपजीव्य माना जा सकता है।

चरितग्रन्थो मे विमलसूरि का पउमचरिय और हरिवसचरिय शीलाकाचार्य का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय गुणपाल मुनि का जबूचरिय, धनेश्वर का सुरसुन्दरीचरिय, नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरिय, गुणचन्द्र गणि का पासनाहचरिय और महावीरचरिय, देवेन्द्रसूरि का सुदसणचरिय और कण्हचरिय, मानतुग सूरि का जयन्तीप्रकरण, चन्द्रप्रभ महत्तरि का चन्दकेवलीचरिय, देवचदसूरि का सतिनाहचरिय, शान्तिसूरि का पुहवीचदचरिय, मलधारीहेमचद्र का नेमिनाहचरिय, श्रीचद्र का मुणिसुव्वयसामिचरिय, देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का सणकुमारचरिय, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाहचरिय, नेमिचद्रसूरि का अनन्तनाहचरिय एव रत्नप्रभ का नेमिनाहचरिय प्रसिद्ध चरितात्मक कथा ग्रथ है। इनमे कथा और आख्यानो का अपूर्व सम्मिश्रण है। कथावस्तुओ मे बुद्धिमाहात्म्य, लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक प्रथाए एव राजनैतिक परिस्थितियो का सजीव चित्रण किया गया है। पर इतना सत्य है कि उक्त रचनाओ मे 'कथारस' की अपेक्षा 'चरित' की प्रधानता है। अत इन्हे विशुद्ध कथाकृतियो मे परिगणित नही किया जा सकता है।

तरगवती या तरगलोला के पश्चात् विशुद्ध कथासाहित्य की समृद्धि हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' से होती है। इस कथाग्रन्थ की आधारभूत प्रवृत्ति प्रतिशोध भावना है। यह भावना विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त हुई है। अग्निशर्मा गुणसेन के प्रति अत्यन्त तीव्र घृणा के कारण निदान बाधता है। यह घृणा ज्यो की त्यो अगले भवो मे दिखलायी पडती है। कथा नौ भवो तक चलती है, तथा इन भवो मे नायक शुभ परिणति को शुद्ध परिणति के रूप मे परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या खलनायक अनन्त ससार का पात्र बनता है। आचार्य हरिभद्र का समय ईस्वी सन् ७३०-८३० है।[1]

धूर्ताख्यान हरिभद्रसूरि की व्यग्यप्रधान रचना है। इसमे पुराणो मे वर्णित असभव और अविश्वसनीय बातो का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तो की कथाओ के द्वारा किया गया है। भारतीय कथासाहित्य मे इस ग्रन्थ का शैली की दृष्टि से मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली मे इस प्रकार की अन्य रचना दिखलायी नही पडती है। इन दो कथाग्रन्थो के अतिरिक्त दशवैकालिक टीका मे ३० महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ और उपदेशपद मे लगभग ७० लघुकथाएँ आयी हैं। हरिभद्र सूरि की इन प्राकृत लघुकथाओ मे मनोरजक शैली मे वासनाओ का उदात्तीकरण किया गया है।

धर्मकथा साहित्य मे समराइच्चकहा का जो स्थान है, वही 'प्रेमाख्यानक आख्यायिका' के रूप मे कौतूहल कवि की कथाकृति 'लीलावई' का। दोनो कथाकृतियाँ अपने-अपने क्षेत्र मे बेजोड और सरस हैं। दोनो का स्थापत्य

---

१ विशेष जानने के लिए देखिये—हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३—४६

एक होने पर भी दोनों की दिशाएँ दो हैं। इस कृति में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहलद्वीप की राज-कुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। अवान्तर कथा-वितान के पश्चात् प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहल-राज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी गान्धर्वी से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के चित्र को देखकर मोहित हो गयी। बाद में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने प्रिय की खोज में निकल पड़ी। उसका दल मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा, वहाँ उसे अपनी मौसी की पुत्री महानुमती मिली। महानुमती, कुवलयावली और लीलावती तीनों ही विरहिणियाँ एक साथ रहने लगीं। अपने मन्त्री विजयानन्द द्वारा गोदावरी के तट पर निवास करनेवाली लीलावती का समाचार ज्ञात कर सात-वाहन वहाँ उपस्थित होता है। सातवाहन लीलावती के कथनानुसार माधवानिल और भीषणानल का उद्धार करता है और तीनों राजकुमारियों का विवाह अपने-अपने प्रियों से सम्पन्न हो जाता है। इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ८०० के लगभग हुई है।

'लीलावई कहा' के पश्चात् 'कुवलयमाला' का नाम आता है। इस कथाकृति के रचयिता हरिभद्र सूरि के शिष्य उद्योतन सूरि हैं। यह धर्मकथा होते हुए भी प्रेमकथा है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन पाँचों विकारों का परिणाम प्रदर्शित करने के लिए अनेक अवान्तर कथाओं का गुम्फन किया गया है। कदली-स्तम्भ के समान कथाजाल सघटित है। कथानक का जितना विस्तार है उससे कहीं अधिक वर्णनों का बाहुल्य है। कथारस के साथ काव्यात्मकता भी विद्यमान है। आरम्भ से ही काव्यात्मक संकेत उपलब्ध होने लगते हैं। युद्ध में कुमार महेन्द्र का प्राप्त होना राजा दृढवर्मा को पुत्रप्राप्ति का संकेत करना है। कथावस्तु के विकास में कथानकों की चमत्कारपूर्ण योजना की गयी है। मनोरञ्जन, उपदेश, कुतूहल और सरागतत्त्व का सुन्दर संयोजन पाया जाता है। कथा और चम्पूकाव्य के गुण एक साथ इस कृति में समाविष्ट हैं। संवादों की प्रभावोत्पादकता और अलंकृतपदों की मनोहरता इस कृति की विशेषता है। इस कृति का प्रणयनकाल शक संवत् ७०० में एक दिन कम बताया है।[1]

'जिनेश्वर सूरि की निर्वाणलीलावती' कथा प्राकृत-पद्यों में लिखी गयी है। मूल कृति अभी तक उपलब्ध नहीं है, पर इसका सारांश संस्कृतभाषा में जिनरत्न सूरि कृत प्राप्य है। क्रोध, मान आदि विकारों के साथ हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार एवं परिग्रह-संचय आदि पापों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है, इस तथ्य की अभिव्यञ्जना कथा द्वारा की गयी है। कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है और समरसेन आचार्य ने अपना आत्मवृत्त कहकर सिंहराज और रानी लीलावती को सम्बुद्ध किया है। इस कृति में कथातत्त्व की अपेक्षा उपदेशतत्त्व की प्रधानता है। रचनाकाल वि० सं० १०८२-१०९५ के मध्य है।

'कथाकोष प्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि हैं। मूलग्रन्थ में ३० कथाएँ हैं और वृत्ति में मुख्य कथाएँ ३६ और अवान्तर कथाएँ ४-५ हैं। इस कथाकोष की समस्त कथाएँ जिनपूजा, जिनस्तुति, वैयावृत्त्य, दान, धर्मोत्साह की प्रेरणा प्रभृति विषयों की अभिव्यञ्जना करती हैं। कथाओं का कथातत्त्व धर्मसंस्कारों के ताने-बाने में बुना गया है। कथाकार ने चमत्कार और कुतूहल को बनाये रखने के लिए प्रवचन शैली को अपनाया है। धार्मिक कथाएँ होने पर भी शृंगार और नीति का यथेष्ट समावेश किया है। इस कथाकोष की समाप्ति वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवार को हुई है।

अभयदेव की प्रार्थना से जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र ने 'संवेग-रंगशाला' नामक रूपक कथा की रचना की है। संवेगभाव का निरूपण करने के लिए इस कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। मुख्यरूप से महा-सेन राजर्षि की कथा वर्णित है। राजा संसार त्यागकर मुनिदीक्षा धारण करना चाहता है पर रानी अपने तर्कों द्वारा राजा को घर में ही रखना चाहती है। वह तपश्चरण, उपसर्ग और परीषह का आतंक दिखलाती है। आराधना के स्पष्टीकरण के लिए मधुराजा, कौशलमुनि, वङ्कचूल, कूलवाल, मगु, श्रेणिक, नेमिराजा, वसुदत्त, स्थविरा, कुरुचन्द्र



१ कुवलयमाला पृ० २८२, अनु० ४३०।

और वज्रमित्र के कथानक आये हैं। इस कथाकृति के पात्र पौराणिक है, उनके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वो के बीच नही हो पाया है। कथारस मे तरलता का अभाव है, कथाओ मे मनोरजक परिवेश की स्थापना भी नही हो पायी है। इसका रचनासमय वि० स० ११२५ है।

'नाणपचमी कहा' की रचना महेश्वर सूरि ने की है। इस कृति मे श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित करने के लिए दस कथाएँ सकलित है। प्रथम कहा 'जयसेण कथा' है। इसमे नारी की भावनाओ, चेष्टाओ एव विचारो का अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्वो की दृष्टि से भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कुतूहल और सयोग आद्यन्त व्याप्त हैं। दूसरी 'नन्द कथा' मे नन्द का शील-उत्कर्ष पाठको को मुग्ध किये बिना नही रह सकता। तीसरी 'भद्राकथा' रोचक अवश्य है पर चरित्रो का विकास नही हो सका है। वीरकहा और कमलकहा मे आन्तरिक द्वन्द्व हैं, पर कथा की गति सरल रेखा के रूपमे घटित हुई है, जिससे जिज्ञासा वृत्ति अन्त तक नही रह पाती। 'गुणाणुराग कहा' एक आदर्श कथा है, नैतिक और आध्यात्मिक गुणो के प्रति आकृष्ट होना मानवता है। जिस व्यक्ति मे उदारता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणो की कमी है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी नही हो सकता है। विमल और धरणकहाओ मे कथा का प्रवाह बहुत तीव्र है। 'भविसयत्त कहा' सुन्दर कथा है, इसी कथा के (बीज स्रोत को ग्रहण कर अपभ्र श भाषा मे धनपाल कवि ने अत्यन्त श्रेष्ठकथागन्थ लिखा है। इस कथाकृति मे भविष्यदत्त और बन्धुदत्त तथा कमलश्री और नागस्वरूपा विरोधी प्रवृत्तियो के पुरुष एव स्त्रियो के युगल हैं। कथाकार ने नागस्वरूपा मे सपत्नीसुलभ ईर्ष्या का और कमलश्री मे दया-ममता का सुन्दर चित्रांकन किया है। भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से स्नेह करता है, उसका मगल करना चाहता है, पर बन्धुदत्त सर्वदा भविष्यदत्त से ईर्ष्या-द्वेष करता है। कथाकार ने मानव-स्वभाव का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

इस कथाकृति मे अलौकिक सत्ताओ एव शक्तियो का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। कथानको का गठन पौराणिक पृष्ठो से किया है। मानव के छल-कपट और राग-द्वेषो के वितान के साथ इसमे मनुष्यता की विजय दिखलायी गयी है। इस कथाकृति का रचनाकाल विक्रम सवत् ११०९ है। कथा का स्रोत पौराणिक है, जिसका प्रचार-प्रसार निरन्तर होता रहा है।

देवभद्र सूरि या गुणचन्द्र ने 'कहारयणकोस' की रचना वि० स० ११५८ मे की है। इस कृति मे कुल ५० कथाएँ हैं। ग्रन्थ मे दो अधिकार हैं—प्रथम मे ३३ कथाएँ और द्वितीय मे १७ कथाए निबद्ध हैं। इस कृति की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद नगर आदि के सरस वर्णनो द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा इन सभी कथाओ मे मिलती है। इन कथाओ मे आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करने की ओर सकेत किया गया है। भौतिकवाद के घेरे से निकालकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे उपस्थित करने का प्रयास किया है। सम्यक्त्व, व्रत और सयम के शुष्क उपदेशो को कथा के माध्यम से पर्याप्त सरस बनाया है। सुदत्त और नागदत्त की कथाएँ पर्याप्त रोचक हैं, सास, बहू, ननद और बच्चो के स्वाभाविक चित्रण मे कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठि और उसके पुत्रो की कथा मे बालमनो-विज्ञान तत्त्व विद्यमान है। धनपाल और बालचन्द्र की कथा मे वृद्ध विलासिनी वेश्या का चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

नेमिचन्द्र सूरि ने 'आख्यानमणिकोश' की रचना की है। इस ग्रन्थ पर आम्रदेव सूरि ने ई० सन् ११३४ मे टीका लिखी है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्यो मे लिखा गया है। इस कृति मे ४१ अधिकार हैं और १२७ आख्यान। आख्यानो मे प्राकृत भाषा के साथ सस्कृत और अपभ्र श का भी प्रयोग पाया जाता है। इन आख्यानो मे अभयाख्यानक मे बताया गया है कि चण्डप्रद्योत नृपति अपनी पुत्री वासवदत्ता को सगीत-शिक्षा देने के लिए उदयन को नियत करता है। आख्यान भास कवि के नाटक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' की कथावस्तु मे ममता रखता है। कथानक मे नायिका को कानी और नायक को कोढी बताया गया है। गुरु और शिष्या एक-दूसरे के मुखदर्शन से आसक्त न हो जायँ, अतएव पर्दा लगाकर शिक्षा का प्रारम्भ होता है। पर्दा हटाकर वे आपस मे देख न सके, अतएव विकलाग होने की बात कही जाती है। अन्त मे भेद खुल जाता है और वे दोनो आपस मे प्रेम करने लगते है। तथा उनका विवाह भी हो जाता है।

ये समस्त आख्यान सिद्धरूप मे किसी एक भाव, मन स्थिति और घटना का चित्रवत् स्वरूप उपस्थित करते है । चण्डचूड का आख्यान मानवस्वभाव पर प्रकाश डालता है। उपकोशा और तपस्वी के आख्यान मे मानसिक द्वन्द्व पूर्णतया वर्तमान है। ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक एव पौराणिक पात्र अपने व्यक्तित्व से मण्डित है। कार्य-कारण, परिणाम-आरम्भ एव उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्वाह भी आख्यानो मे सुन्दर रूप मे हुआ है। लघु कथाओ का यह सग्रह कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने आख्यानो को पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

'जिनदत्ताख्यान' के रचयिता आचार्य सुमति सूरि हैं। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि वि० स० १२४६ की पायी जाती है, अत इसका रचनाकाल वि० स० की १३वी शती से पूववर्ती है। यह एक सरस कथाग्रन्थ है, इसमे जीवन के हर्ष-विषाद, शक्ति-दुर्बलता, सौन्दर्य-कुरूपता आदि पक्षो का सुन्दर उद्घाटन किया गया है। इस सीधे आख्यान मे श्रीमती और रतिसुन्दरी के प्रणय-सम्बन्ध तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए किये गये साहसिक कार्यो का उल्लेख कर जीवन की विविधता और विचित्रता के साथ दान और परोपकार का मार्ग प्रदर्शित किया है। जिनदत्त की द्यूतासक्ति और उसके परिभ्रमण का निरूपण कर मूलकथावस्तु के सौन्दर्य को पूरी तरह चमकाया है। यह सत्य है कि यह आख्यान सोद्देश्य है और जिनदत्त को वसन्तपुर के उद्यान मे शुभकर आचार्य के समक्ष दीक्षा दिलाकर मात्र आदर्श ही उपस्थित करना अभीष्ट है। इसे फलागम की स्थिति तो कहा जा सकता है, पर कथा की वह मार्मिकता नही है, जो पाठक को झटका देकर विलास और वैभव से विरत कर 'पेट भरो पेटी न भरो' की ओर ले जा सके। कथाकार ने नायक के चरित्र मे सहृदयता, निश्छलता, और उदारता इन तीनो गुणो का समावेश किया है।

रचना-विधान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म के सस्कारो का फल दिखलाने के लिए जिनदत्त के पूवभव की कथा वर्णित है। घटित होनेवाली छोटी-छोटी घटनाएँ सगठित तो है, पर स्थापत्य कला की विशेषता प्रकट नही हो पायी है।

'नर्मदासुन्दरी' की कथा का प्रणयन महेन्द्रसूरि ने वि० स० ११८७ मे किया है। नर्मदासुन्दरी का विवाह महेश्वरदत्त के साथ सम्पन्न हुआ। धनार्जन के हेतु महेश्वरदत्त सपत्नीक भवनद्वीप गया। मार्ग मे पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने के कारण उसने वहा सोती हुई नर्मदासुन्दरी को छोड दिया। जागने पर नर्मदा ने बहुत विलाप किया। कुछ समय के पश्चात् उसका चाचा वीरदास आया और वह उसे बब्बरकूल ले गया। यहा हरिणी नाम की एक प्रसिद्ध गणिका निवास करती थी, यह सात सौ गणिकाओ की स्वामिनी थी। अन्य गणिकाए उसके लिए धन कमाकर लाती थी। वह धन का कुछ भाग राजा को भेट करती थी। वीरदास के वहा पहुँचने पर उस हरिणी ने चतुराई से नर्मदासुन्दरी को अपने पास बुला लिया। वीरदास ने नर्मदासुन्दरी की बहुत खोज की, पर जब उसे पता न लगा तो वह अपने देश चला गया। हरिणी ने नर्मदासुन्दरी को वेश्या बनाने का पूर्ण प्रयास किया, पर वह अपने व्रत मे अटल रही। हरिणी द्वारा दिये गये नाना प्रकार के प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हुए। अनेक प्रकार के त्रास दिये गये, किन्तु नर्मदा सुन्दरी विचलित न हुई। वहा करिणी नामक एक अन्य वेश्या भी रहती थी, नर्मदासुन्दरी उसके यहा रसोई बनाने का कार्य करने लगी। हरिणी की मृत्यु के पश्चात् नर्मदासुन्दरी को प्रधान गणिका के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बब्बर राजा को जब नर्मदासुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य का पता चला तो उसने सैनिको द्वारा उसे बहा बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणो से अलकृत हो चली। मार्ग मे एक बावडी मे पानी पीने के लिए उतरी और जानबूझकर गड्ढे मे गिर गयी। उसने अपने शरीर पर कीचड लपेट ली और बकवाद करने लगी। उसने उन्मत्त जैसा आचरण करना आरम्भ किया। राजा ने उसकी चिकित्सा करायी, पर सब निष्फल गया। अन्त मे नर्मदासुन्दरी जिनदेवनामक श्रावक से मिली और उसने वीरदास के पास उसे पहुचा दिया। नायिका ने कुछ समय उपरान्त सुहस्तमुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली।

कथा का गठन सुन्दर रूप मे हुआ है। कुतूहल आद्यन्त व्याप्त है। महेश्वरदत्त का धर्मपरिवर्तन करना और नर्मदासुन्दरी के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उसके साथ विवाह सम्पन्न करना, पश्चात् परित्याग करना जिज्ञासापूर्ण है । हरिणी वेश्या के अत्याचार और शीलरक्षा के हेतु नर्मदा की दृढता तथा बुद्धिमत्ता कथाप्रवाह मे रोचकता उत्पन्न करती है।





सोमप्रभसूरि द्वारा विरचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' भी प्राकृतकथाओ का सुन्दर कोश है। इसमे ५४ कथाए है। मूलदेव की कथा अधिक रोचक और सरस है। कुमारपाल को प्रतिबुद्ध करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि व्रतो से सम्बद्ध कथाए लिखी गयी है। नल-दमयन्ती का कथानक कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। शीलवती की कथा मनोरजक और चित्ताकर्षक है। शीलवती एक दिन अर्धरात्रि के समय घडा लेकर घर से बाहर गयी और बहुत विलम्ब कर लौटी। इससे उसके श्वसुर को शीलवती के चरित्र पर आशका हो गयी, अत वह उसे रथ मे सवार कर उसके पितृगृह पहुँचाने के लिए चला। मार्ग मे एक नदी आयी, शीलवती के श्वसुर ने कहा—'बहू जूते उतार कर नदी पार करो'। पर उसने जूते नही उतारे। श्वसुर ने सोचा यह उद्दण्ड है। आगे चलने पर एक मूंग का खेत मिला। श्वसुर ने कहा, 'देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है? खेत का स्वामी इस धन का उपभोग करेगा'। शीलवती ने उत्तर दिया—'बात ठीक है, यदि यह खाया न जाय तो'। श्वसुर ने सोचा यह व्यर्थ ही ऊट-पटांग बोलती है। आगे चलने पर दोनो एक नगर मे पहुँच गये। वहाँ के लोगो को आनन्दमग्न देखकर श्वसुर ने कहा—'यह नगर कितना सुन्दर है'। शीलवती—'बात ठीक है, पर कोई इसे उजाड दे तो क्या होगा?' कुछ दूर चलने पर एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर—'यह कितना शूरवीर है'। शीलवती ने उत्तर दिया—'यदि पीट दिया जाय या रोग हो जाय तो क्या स्थिति होगी?'

कुछ दूर चलने के उपरान्त शीलवती का श्वसुर एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुर ने विचार किया कि यह बहू सदा उल्टा कार्य करती है। थोडी दूर चलने पर शीलवती के मामा का गाँव आया। भोजन के पश्चात् श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया। शीलवती रथ की छाया मे बैठी रही। इतने मे बबूल के पेड पर बैठे कौवे को बार-बार काँव-काँव करते देखकर उसने कहा—'क्यो तग करते हो, एक बार तुम लोगो की बोली सुनकर कार्य करने मे तो घर से निकलना पड रहा है, अब दूसरी गलती करने पर तो प्रियतम से मिलन भी नही हो सकेगा।

श्वसुर द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं पशु-पक्षियो की बोली को समझती हूँ। उस दिन अर्धरात्रि के समय गीदड का शब्द सुनकर मैंने जाना कि नदी मे बहुमूल्य आभूषण पहने हुए मुर्दा बह रहा है। मैं वहाँ गयी और आभूषण लेकर लौट आयी। यहाँ यह कौवा कह रहा है कि इस बबूल के वृक्ष के नीचे स्वर्ण गढा है। शीलवती का श्वसुर अधिक प्रसन्न हुआ और उसने गढा हुआ सोना निकाल लिया। शीलवती ने श्वसुर के अन्य प्रश्नो का भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया, जिससे उनका श्वसुर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी बहू को बहुत ही बुद्धिमती समझा और घर ले आया।

कुछ दिनो के पश्चात् शीलवती का पति अजितसेन राजा का प्रधानमन्त्री बन गया। राजा ने शीलवती के शील की परीक्षा के लिए अपने चरमित्रो को भेजा, जिन्हे शीलवती ने अपने यहाँ कैद कर लिया। यहा यह आख्यान कथासरित्सागर (१-४) से मिलता-जुलता है।

इस प्रतिबोध की अन्य कथाए भी अत्यन्त सरस और मनोरजक हैं। चरित्र का उत्थान अनेक परिवेशो मे दिखलाया गया है। कथारस सभी आख्यानो मे पाया जाता है। पात्र सभी वर्गों से ग्रहण किये हैं। पञ्चम प्रस्ताव की 'जीवमनकरणसलापकथा' एक रूपक काव्य है, इसमे जीव, मन और इन्द्रियो का वार्तालाप सुन्दर रूप मे निबद्ध किया गया है। देह नामक नगरी लावण्यलक्ष्मी का निवास स्थान है, नगरी के चारो ओर आयुकर्म का प्राकार है, जिसमे सुख, दुख, क्षुधा, तृषा आदि अनेक मार्ग है। इस नगरी का 'आत्मा' राजा है, यह बुद्धि नामक महादेवी के साथ रहता है। मन इसका प्रधानमन्त्री और पाँच इन्द्रियाँ प्रधान पुरुष है। कथाकार ने इनका सरस सवाद अंकित किया है। यह कथा अपभ्रश भाषा मे लिखी गयी है। इसके साथ ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते है। नन्दराज, स्थूलभद्र एव कोशा आदि के कथानक भी प्रवाहपूर्ण हैं। इस कथाग्रथ का रचनाकाल विक्रम सवत् १२८१ है।

'प्राकृतकथासग्रह' बारह प्राकृतकथाओ का एक सग्रह ग्रन्थ है। इस कथाग्रथ की एक पाण्डुलिपि विक्रम सवत् १३९८ की उपलब्ध है। अत इसका रचनाकाल वि० स० की १४ वी शती के पूर्व है। ग्रन्थ से रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध मे कुछ भी जानकारी प्राप्त नही होती। इन कथाओं मे दान के महत्त्व को प्रकट करने के लिए

धनदेव-धनदत्त कथा, सम्यक्त्व का प्रभाव बतलाने के लिए धनश्रेष्ठि कथा, दान के विषय मे चटकथा, दान देने मे कृपणता दिखलाने के लिए कृपणश्रेष्ठि कथानक, शील का प्रभाव व्यक्त करने के लिए जयलक्ष्मी देवी कथानक और सुन्दरीदेवी कथानक, नमस्कार मन्त्र का फल अभिव्यक्त करने के लिए सौभाग्यसुन्दरी कथानक, तप का प्रभाव बतलाने के लिए मृगाङ्कलेखा कथानक और घट कथानक, भावना का प्रभाव व्यञ्जित करने के लिए यमदत्त और बहुबुद्धि कथानक एव अनित्यता के सम्बन्ध मे समुद्रदत्त कथानक आया है। इन कथाओ मे दान, शील तप, भावना, सम्यक्त्व, णमोकारमन्त्र एव अनित्यता आदि का विश्लेषण किया गया है।

अनुरजन के लिए कथाकार ने परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कृपण-श्रेष्ठि की कथा मे लक्ष्मीनिलय नामक एक कजूस सेठ का बडा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकार ने उसकी कृपणता की अभिव्यञ्जना के लिए कई मर्मस्थल अकित किये हैं। वह अपने पुत्र को पान खाते देखकर दुखी होता है। उसकी पत्नी को बच्चा उत्पन्न हुआ है पर वह भोजन देने मे कजूसी करता है। दान न देना पडे इस भय से वह साधु-महात्माओ के दर्शन करने नही जाता।

सुन्दरी की प्रेमकथा तो अत्यन्त सरस और मनोरञ्जक है। कथाओ मे साहस, प्रेम, त्याग और साधना का समन्वय पाया जाता है। कुतूहल और जिज्ञासा के सूत्रो मे घटनाओ को पिरोया गया है। भावो मे उतार-चढाव एव मानसिक द्वन्द्वो की स्थिति अनेक स्थलो पर वर्तमान है। सुन्दरी अत्यन्त चतुराई और कुशलता से अपना प्रेमपत्र विक्रम राजा की सेवा मे भेजती है। इस कथासग्रह की कथाओ की निम्नलिखित विशेषताए हैं —

१ कथानक सयोग और दैवी घटनाओ पर आश्रित।
२ कथाओ मे सहसा दिशा का परिवर्तन।
३ समकालीन सामाजिक समस्याओ का उद्घाटन।
४ सवाद तत्त्व की अल्पता या अभाव, किन्तु घटनासूत्रो द्वारा कथाओ मे गतिमत्त्व धर्म की उत्पत्ति।
५ रोचकता मध्यबिन्दु तक रहती है, इसके आगे कथानक की एकरूपता के कारण आकर्षण भाव की स्थिति।
६ जीवन के शाश्वत मूल्यो का सयोजन—प्रेम, त्याग, शील, दान, सयम प्रभृति सिद्धान्तो की घटनाव्यापार द्वारा अभिव्यञ्जना।
७ विषयवस्तु मे जीवन की विविध प्रवृत्तियो और कार्यव्यापारो का समावेश।

'सिरिवाल कहा (श्रीपालकथा) का सकलन बृहद् गच्छीय वज्रसेनसूरि' के प्रशिष्य और हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया है।[1] इसका सकलन काल वि० स० १४२८ है। यह कथा बहुत ही रोचक है, इसका उद्देश्य सिद्धचक्र पूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। इसके प्रमुखपात्र पृथ्वीपाल और उसकी दोनो पत्निया सौभाग्य-सुन्दरी और रूपसुन्दरी, इनकी दोनो कन्याए—सुरसुन्दरी और मदनसुन्दरी एव श्रीपाल हैं। श्रीपाल की मा और अमात्य मतिसागर भी कथावस्तु मे सम्बद्ध है। इस कृति मे एक धार्मिक उपन्यास के सभी गुण वर्तमान है। पात्रो के चरित्र का उत्थान-पतन, कथाप्रवाह की गति मे विभिन्न प्रकार के मोड, सरसता और रोचकता आदि गुणसमाहित हैं। प्रासगिक कथाओ का गुम्फन एव घटना को सम्पादित करने की प्रक्रिया रोचक है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता, जो रुष्ट होकर अपनी कन्या को कोढी को समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। प्रतिशोध की भावना का प्राबल्य एव कन्या के प्रति निष्ठुरता का प्रदर्शन उसे यथार्थवादी कोटि मे प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है। मा के हृदय की ममता और पिता के हृदय की कठोरता विरोधाभास का समुज्ज्वल उदाहरण है। भाग्यवादिनी मदन-सुन्दरी भी आधुनिक अप-टू-डेट नारी से कम नही है। उसमे अपूर्व आत्मविश्वास और बल है। धवलसेठ जैसे कृतघ्नी पात्रो की आज भी कमी नही है। ऐसे निम्न स्वार्थी व्यक्ति सदा से समाज के लिए कलक रहे है। अजितसेन जैसे



१ सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहूहेमतिलयसूरीण।
सीसेहि रयणसेहरसूरीहि इमाहु सकलिया ॥
चउदस अट्ठावीसो ।



राज्यलम्पट और मतिसागर जैसे विश्वासभाजन आज भी विद्यमान है। राजकुमारी मदनमजरी का त्याग और मानसिक द्वन्द्व किसी भी काव्य के लिए उपकरण बन सकते हैं। पात्रो की चारित्रिक दुर्बलताओ का चित्रण व्यापक रूप मे अकित हुआ है।

इस कथाकृति मे भावुकता को उभारने की पूरी शक्ति वर्तमान है। दुधमुहे श्रीपाल का अपने चाचा के अत्याचारो और आनको से त्रस्त हो मा के साथ जगल मे चला जाना और वहाँ कुछ रोगियो के सपर्क मे रहने से उम्बर कुष्ठ विशेष से पीडित होना प्रत्येक पाठक को द्रवित करने मे समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्या की स्पष्टवादिता से रुष्ट हो कोढी से उसे ब्याह देना भी हृदयहीनता का परिचायक है। जीवनदर्शन को लेखक ने अपनी इस कथाकृति मे समझाने का पूरा यत्न किया है। परिवार का स्वार्थ के कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदा के लिए दुःखी हो जाता है। अत सामाजिक सम्बन्धो को स्थिर करने के हेतु समाज के सभी घटको और उनकी प्रतिक्रियाओ को उदारभाव से स्थान देना होगा। प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन एव आज्ञापालन आदि गुणो के अभाव मे स्वस्थ और सबल समाज का गठन नही हो सकता है।

'रयणसेहरनिवकहा' (रत्नशेखरनृपकथा) के रचयिता जिनहर्ष सूरि हैं। इसका रचनाकाल विक्रम सवत् १४८७ है। यह जायसीकृत पद्मावत की कथा का मूलस्रोत है। पर्व के दिनो मे धर्मसाधन करने का माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर नृपति रत्नपुरनगर का रहनेवाला था, इसके प्रधानमन्त्री का नाम मतिसागर था। राजा वसन्त-विहार के समय किन्नरदम्पती के वार्तालाप मे रत्नवती की प्रशसा सुनता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती के पास पहुँचता है। रत्नवती अपनी वर-प्राप्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करती है और जोगिनी वेषधारी मन्त्री उत्तर देता है—"जो कामदेव के मदिर मे द्यूतक्रीडा करता हुआ वहा तुम्हारा प्रवेश रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा।"

मन्त्री लौटकर राजा को समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर सिंहलद्वीप को प्रस्थान कर देता है और वहा कामदेव के मन्दिर मे पहुचकर मन्त्री के साथ द्यूतक्रीडा करने लगता है। रत्नवती अपनी सखियो के साथ काम-देव की पूजा करने आती है। दोनो का साक्षात्कार होता है। युद्ध के पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाता है। पर्व के दिनो मे राजा अपने शीलव्रत का पालन करता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक सुन्दर प्रेमकथा है। लेखक ने प्रेम के मौलिक रूप का सार्वभौमिक विवेचन किया है। इन्द्रियो के व्यापारो और वासनात्मक प्रवृत्तियो के विश्लेषण द्वारा कथाकार पाठको के हृदय मे आनन्द का विकास करता हुआ विषय-वासना के पक से निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्र मे उन्हे ले गया है। राग का उदात्तीकरण विराग के रूप मे हुआ है। पाशविक वासना परिष्कृत हो आध्यात्मिक भावभूमि को प्राप्त होती है।

इस कृति मे उपन्यास के समस्त तत्त्व वर्तमान हैं। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण सवाद, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से यह सफल है। घटनाओ और पात्रो के अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियो का निर्माण सुन्दर रूप मे किया गया है। समस्त तत्त्वो के सामजस्य ने कथा के शिल्प-विधान को पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूल-कथा के साथ प्रासगिक कथाओ का ताता लगा है। दैवी चमत्कारो और अतिमानवीय तत्त्वो का बाहुल्य भी निहित है। व्रत परीक्षा के सदर्भ मे घटित घटनाए सरस और प्रभावोत्पादक हैं।

'महिवालकहा (महीपालकथा) के रचयिता वीरदेव गणि है। यह परी-कथा और निजन्धरी इन दोनो का मिश्रित रूप है। इसका रचनाकाल १५वी सदी है। कथा मे बताया गया है कि उज्जयिनी नगरी के राजा नरसिंह के यहा कलाविचक्षण महीपाल नाम का राजपुत्र रहता था। राजा ने रुष्ट होकर महीपाल को अपने राज्य मे निकाल दिया। वह अपनी पत्नी के साथ भडौच आया और वहा से जहाज मे सवार होकर कटाह द्वीप की ओर चला। रास्ते मे जहाज जलमग्न हो गया और बडी कठिनाई से वह किसी प्रकार तट पर पहुचा। कटाह द्वीप केरलपुर नगर मे पहुँचकर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह किया। अब वह अपनी प्रथम पत्नी सोमश्री को ढूँढने चला। राजा ने साथ मे अथवण मन्त्री को भी भेज दिया। महीपाल का जलयान समुद्र मे चला जा रहा था, कि अथर्वण मन्त्री के मन मे लोभ

प्रविष्ट हुआ। उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा और धन के लोभ से महीपाल को समुद्र मे गिरा दिया। राजकुमारी इस दुर्घटना मे ग्रस्त होकर चक्रेश्वरी देवी की उपासना मे सलग्न हो गयी। महीपाल समुद्र पार कर जितशत्रु राजा के यहा पहुँचा, राजा ने प्रभावित हो अपनी कन्या शशिप्रभा के साथ उसका विवाह कर दिया। यहा उसे तीन वस्तुए उपलब्ध हुई—**विचित्रलकुट, खट्वा, और सर्वकामद विद्या**। इन तीनो वस्तुओ के बल से वह रत्नसचयपुर नगर मे गया और यहा चक्रेश्वरी के मन्दिर मे उसे तीनो स्त्रिया प्राप्त हो गयी। इस नगर के राजा ने अपनी पुत्री चन्द्रश्री के साथ महीपाल का विवाह सम्पन्न किया। महीपाल अपनी चारो पत्नियो के साथ उज्जैनी चला आया और यहा नरसिंह राजा के यहा रहने लगा। धर्मघोष मुनि से उपदेश सुनकर उसके मन मे विरक्ति उत्पन्न हुई और श्रमणदीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण किया।

यह कथा साहसिक कथा है। महीपाल के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार ही सारी घटनाए घटित हुई हैं। चन्द्रलेखा का प्रत्युत्पन्नमतित्व और अपनी शीलरक्षा के लिए उसका कपट प्रेम ऐसे स्थल हैं, जो मानव-जीवन मे एक नयी दिशा और स्फूर्ति प्रदान करते है। इस कथा का मूलस्रोत प्राचीन है, लेखक ने पौराणिक आख्यानो से कथावस्तु को लेकर एक नयी कथा का प्रणयन किया है। अवान्तर कथाओं मे लोभ के दोष का निरूपण करने के हेतु लिखी गयी नन्द सेठ की कथा बहुत सुन्दर है। इसमे कार्य-व्यापारो की तीव्रता निहित है।

इन प्रमुख कथाकृतियो के अतिरिक्त सघतिलक सूरि ने आरामसोहकहा, पंडिअधणवालकहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्गदुजकहा, रोहगुत्तकहा वज्जकण्णनिवकहा, सुद्दजडकहा, सीमकुमारकहा, मल्लवाईकहा, मलवाहुकहा, पादलित्ता-चारियकहा, सिद्धसेनदिवायरकहा, नागदत्तकहा, कामिणीकहा, मेताय्यमुणिकहा द्रवदत्तकहा, पउमसेहरकहा सगाम-सूरकहा, चन्दलेहा कहा एव नरसुन्दरकहा का प्रणयन किया है। देवचन्द्रसूरि का कालिकाचार्यकथानक और अज्ञातनामधारी कवि की मलयसुन्दरी कथा भी सुन्दर रचनाएँ है।

उपदेशप्रद कथाओ मे धर्मदास गणि की उपदेशमाला, हरिभद्र सूरि का उपदेशपद, जयसिंह सूरि की धर्मोपदेशमाला, जयकीर्त्ति की शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरि की भुवनसुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्र सूरि की उपदेश-माला, साहड की विवेकमजरी, मुनि सुन्दरसूरि का उपदेशरत्नाकार, शुभवर्धन गणि की वर्धमानदेशना एव सोमविमल की दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाए भी महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओ मे कथा का सर्वागीण विकास प्रमुख नही है। किन्तु सयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्य की भावनाओं का विकास मुख्य रूप से दिखलायी पडता है। कथानको, उदाहरणो, आख्यानो एव दृष्टान्तो का सयोजन उक्त श्रेणी की समस्त रचनाओ मे पाया जाता है। लेखको ने मनोरजक तत्त्वो का भी समावेश किया है। उपदेशप्रद कथाओ मे नगर, वन, सरोवर एव क्रीडाओ का चित्रण हुआ है, पर उद्दीप्त स्वर उपदेश का ही है। सदाचार, विनय और शील का निरूपण पद-पद पर होता चला गया है। बुद्धिवादी कथाएँ भी इस वर्ग के साहित्य मे निबद्ध की गयी है।

प्राकृत-कथासाहित्य की विशेषताए और उपलब्धिया

हिन्दी और अपभ्रंश के प्रेमाख्यान कथाओ का विकास प्राकृत कथाओ से हुआ है। यत प्राकृत-कथाकारो ने धर्मकथाओ मे शृगार-रस से पूर्ण प्रेमाख्यानो का समावेश कर कथाओ को लोकोपयोगी बनाया है। मदन-महोत्सव, वसन्त-क्रीडा, प्रेमपत्र, साहसिक घटनाएँ, प्रेमी-प्रेमिकाओ की विभिन्न मानसिक दशाए, प्रेमानुराग, प्रेमालाप, हास्य-विनोद आदि का पूर्णतया समावेश किया है। रूपविधान की दृष्टि से प्राकृत-कथाए 'बीजधर्मा' है। कथाबीज से एक विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है और अनेक अवान्तर प्रासगिक कथाशाखाएँ निकलती है, जो सभी धार्मिक अन्तश्चेतना से प्राणतत्त्व ग्रहण करती है।

प्राकृत कथाओ मे विशेषत कथोत्थप्ररोह शिल्प पाया जाता है। प्याज के छिलको के समान अथवा केले के स्तम्भ की परत के समान जहा एक कथा से दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वट के प्रारोह के समान शाखा पर शाखा फूटती जाये, वहा इस शिल्प को माना जाता है। इस स्थापत्य का प्रयोग समस्त प्राकृत कथाओ मे विद्यमान है। मनोरजन के साथ वर्णनशैली को सहज बनाया गया है। जिस प्रकार वृत्त को कई अशो मे विभाजित किया जाता है और उन अशो की पूरी परिधि मे वृत्त की समग्रता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार





कथोत्थप्ररोह के आधार पर इतिवृत्त की समस्त गतिविधि प्रकट हो जाती है। वास्तव मे वटप्ररोह के समान उपस्थित कथाओ मे सकेतात्मकता और प्रतीकात्मकता की योजना सुन्दर हुई है। परिवेशो या परिवेशमण्डलो का नियोजन भी जीवन और जगत् के विस्तार को नायक और प्रतिनायक के चरित्रगठन के रूप मे समेटे हुए है। रचना मे सम्पूण इतिवृत्त को इस प्रकार सुविचारित ढग से विभक्त किया गया है, कि प्रत्येक खण्ड अथवा परिच्छेद अपने परिवेश मे प्राय पूर्णसा प्रतीत होता है और कथा की समष्टि-योजना प्रभाव को उत्कर्पोन्मुख करती है।

साहित्य मे चम्पूविधा का विकास शिलालेख और प्रशस्तियो की अपेक्षा गद्य-पद्य मिश्रित प्राकृत कथाओ से मानना अधिक तर्कसगत है। यत प्राकृत मे कथाओ को रोचक बनाने के लिए गद्य-पद्य दोनो का ही प्रयोग किया गया है। पद्य भावना का प्रतीक है और गद्य विचार का। प्रथम का सम्बन्ध हृदय से है और द्वितीय का मस्तिष्क से। अतएव प्राकृत कथाकारो ने अपने कथन की पुष्टि, कथानक के विकास, धर्मोपदेश, सिद्धात-निरूपण एव कथाओ मे प्रभावोत्पादकता लाने के लिए गद्य मे पद्य की छोक और पद्य मे गद्य की छोक लगायी है। समराइच्चकहा और कुवलयमाला की यह गद्य-पद्यमयी विशेपता चम्पूविधा की उत्पत्ति के लिए कारण हो सकती है। सस्कृत मे त्रिविक्रम भट्ट के मदालसाचम्पू और नलचम्पू से पहले कोई चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। दडी ने चम्पू की परिभाषा दी है, पर प्राकृत मे दण्डी के पहले की गद्य-पद्य मिश्रित शैली मे लिखी गयी कथाएँ रही है। अत हमारी दृष्टि मे सस्कृत की चम्पूविधा का मूलस्रोत प्राकृत कथाए है।

प्राकृत कथाए लोककथा का आदिमरूप है। वसुदेवहिण्डी मे लोककथाओ का मूलस्रोत सुरक्षित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा जो कि पैशाची प्राकृत मे लिखी गयी थी, लोककथाओ का विश्वकोष है। अत प्राकृत कथाओ का लोककथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय गौरव, वीरपूजा, जीवन की नवीन व्याख्या एव सकेत विशेष की उपलब्धि प्राकृत कथाओ मे पायी जाती है। विशिष्ट तथ्यो, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का यथातथ्य चित्रण एव गहन समस्याओ के समाधान प्राकृत कथाओ मे निहित है। कथाओ का ढाँचा लोककथा का है, प्राकृत लेखको ने इसी धरातल पर धार्मिक कथाओ का निर्माण किया है। साधारणत प्राकृत कथाओ का स्वरूप पालिकथाओ के समान प्रतीत होगा, किन्तु अन्तर यह दिखलायी पडेगा कि पालिकथा-साहित्य मे पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है, जबकि प्राकृतकथाओ मे यह केवल उपसहार का कार्य करता है। पालिकथाओ मे बोधिसत्व या भविष्य बुद्ध ही मुख्यपात्र रहते है और कथा की चरम परिणति उपदेशकथा के रूप मे हो जाती है। समस्त जातक कथाएँ एक ही पिटी-पिटाई शैली मे लिखी गयी है। पर प्राकृतकथाए भूत नही, वर्तमान की होती है। प्राकृत कथाकार जन्म-जन्मान्तरो का सम्बन्ध वर्तमान के साथ ही जोड देता है। सिद्धात की प्रतिष्ठा भी सीधे-साधे रूप मे नही की जाती है, बल्कि पात्रो के कथा-पकथन और शीलनिरूपण आदि के द्वारा उसकी आम व्यजना की जाती है। प्राकृतकथाकार अपने पात्रो को सीधे नैतिक नही दिखलाते। चरित्र के विकास के लिए ये किसी प्रेम-कथा अथवा अन्य किसी लोककथा के द्वारा उनके जीवन की विकृतियो को उपस्थित करते हैं। लम्बे सघर्ष के पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केवली को प्राप्त करता है और उनके सम्पर्क से उसके जीवन मे नैतिकता आती है। इसी स्थल पर सिद्धात की स्थापना भी इतिवृत्त के सहारे होती जाती है। कथानक और घटनाओ का विकास मनोरजक शैली मे होता है।

प्रो० हर्टल प्राकृतकथाओ की विशेपता से अत्यन्त आकृष्ट हैं। उन्होने बताया है—'कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृतकथाओ मे पायी जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो के रस्म-रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाए जनसाधारण की शिक्षा का उद्गम स्थान ही नही है, वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी है।"[1]

इसमे सन्देह नही कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य बहुत उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओ तक के चरित्र को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृतकथाओ ने चित्रित किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारो ने नही। निम्नश्रेणी के व्यक्तियो का

---

१ आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बरास् आफ गुजरात, पृ० ८।

यथार्थ मूल्याकन प्राकृतकथाओ मे समाहित है। इन कथाओ को केवल धार्मिक कथाए ही नही माना जा सकता। अपितु कथारस की प्रचुरता के कारण इनमे मनोरजन, कुतूहल और प्रभावान्विति पूणरूपेण वतमान रहने मे इन्हे उत्तम श्रेणी की कथाए भी माना जा सकता, है। जीवन के विस्तार मे जितनी समस्याए और परिस्थितिया आती हैं जिनमे नाना प्रकार के सत्य और सिद्धान्त निकाले जाते है, उनका यथेष्ट समावेश कथाओ मे हुआ है।

इन कथाओ मे पात्रो की क्रियाशीनता और वातावरण की सजावट नाना प्रकार की आवश्यकताओ का सृजन करती है। इन कथाओ मे ऐहिक समस्याओ के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओ के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियो के विवरण, अर्थनीति राजनीति के निदर्शन एव जनता की व्यापारिक कुशलता के उदाहरण समाहित हैं। पशु-पक्षी-कथाओ का विकास भी प्राकृतकथाओ से हुआ है। सस्कृत मे गुप्तसाम्राज्य के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति या उपदेश देने के लिए पशु-पक्षीकथाए लिखी गयी हैं। पर 'नायाधम्मकहाओ' मे कुए का मेढक, जगल के कीडे, दो कछुए आदि कई सुन्दर पशु-कथाए अकित हैं। आचार और धम का उपदेश पशु एव अन्य प्राणियो के दृष्टान्त देते हुए नाना प्रकार के कथानको और घटनाओ द्वारा उपस्थित किया गया है। 'नायाधम्मकहाओ' की पशु-पक्षी कथाएँ स्वय भगवान् महावीर के मुख से कहलायी गयी हैं। निर्युक्तियो मे गज, मूपक, हिरण और वानर आदि पशुओ की कई कथाए उपलब्ध हैं। वस्तुत पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थो की पशु-पक्षी कथाए प्राकृतकथाओ से ही नि सृत है।

प्राकृतकथाओ मे ऐहिक समस्याओ के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओ के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियो के चित्रण, सगीत-चित्र-वास्तु कथाओ के सुन्दर उदाहरण एव विभिन्न प्रकार की परिस्थितियो के अकन किये गये है। इन कथाओ का उद्देश्य मनोरजन करना ही नही है, प्रत्युत व्यक्तित्व का निर्माण और चरित्र का उत्कर्ष दिखलाना है। इनमे वर्णाश्रम धर्म के प्रति बगावत की गयी है। मानवसमत्व का सिद्धान्त तथा जन्म-जन्मान्तर के सस्कारो का अमिट प्रभाव और कमफल की त्रिकालाबाधिता सिद्ध की गयी है।

कथानको के विकास मे चामत्कारिक घटनाओ और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारो के योग द्वारा मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वो की स्थितियो का भी चित्रण किया गया है, जिससे कथाओ के सिद्धान्तो का स्फोटन और पात्रो का चरित्र चित्रित होता गया है।

प्राकृतकथासाहित्य की कहानी लगभग दो हजार वर्षों की है। इस लम्बे समय मे उसके शिल्प मे भी आश्चर्यजनक विकास हुआ है। विभिन्न समय, परिस्थितियो और वातावरण मे निर्मित इन कथाओ के शिल्प मे भी कई रूप दिखलायी पडते हैं। अत स्थापत्य-विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओ मे अनेक प्रकार की विशेषताए परि-लक्षित होती है। भारतीय वाड्मय मे साहित्य-विधाओ के विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओ का अध्ययन परम आवश्यक है।

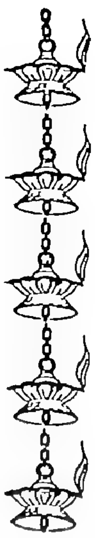
प्राकृतकथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथा मे आये हुए प्रतीको की उत्तरार्ध मे सैद्धान्तिक व्याख्या कर दी जाती है। उदाहरणार्थ वसुदेवहिण्डि का **'इब्भपुत्तकहाणय'** का उपसहार अश उद्धृत किया जाता है —

"जहा सा गणिया, तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई, तहा सुर-मणुयसुहभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि, तहा देसविरतिसहियाणि तवोवहाणाणि। जहा सो इब्भपुत्तो, तहा मोक्खकखी पुरिसो। जहा परिच्छाकोसल्ल, तहा सम्मन्नाण। जहा रयणपायपीढ, तहा सम्मद्दसण। जहा रयणाणि, तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणिओगो, तहा निव्वाणसुहलाभोत्ति।"—वसुदेवहिण्डि पृ० ४।

विण्टरनित्स ने भी प्राकृतकथा-साहित्य की प्रशसा करते हुए लिखा है—

प्राकृत का कथासाहित्य सचमुच मे विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नही है, बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओ की अपेक्षा हमे इसमे जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झाकिया भी मिलती है। जिस प्रकार इन कथाओ की भाषा और जनता की भाषा मे अनेक साम्य हैं, उसी प्रकार उनका वर्ण्यविषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओ





और पुरोहितो का जीवन ही इस कथासाहित्य मे चित्रित नही है, अपितु साधारण व्यक्तियो का जीवन भी अकित है।''[१]

वस्तुत प्राकृतकथाओ के पात्र कलात्मक दृष्टि से किसी समस्या को लेकर उपस्थित होते हैं। वे कथा के प्रारम्भ से लेकर उपसहार तक अपन जीवन की अनन्त पीडाओ के साथ उस समस्या को ढोते चलते है। इतिवृत्तो का अधिक जमघट रहने पर भी कथाप्रवाह मे कोई कमी नही आने पायी है। कथानको के मोड रोचकता उत्पन्न करने मे सहायक है। मुख्य कथा का सिद्धान्त अवातर कथाओ द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राकृत की लघुकथाओ मे घटना और उद्देश्य ये दोनो तत्त्व उपलब्ध होते है। सूक्ति और लोकोक्तियो द्वारा लघुकथाओ को मनोरजक बनाया गया है।

प्राकृतकथाओ मे व्यवहृत प्रमुख कथानक-रूढिया

कथाओ मे बार-बार व्यवहृत होनेवाली एक-जैसी घटनाओ अथवा एक-से विचारो को कथानक रूढि' की सज्ञा दी गयी है। यह शब्द 'अग्रेजी' के फिक्सन मोटिव का पर्याय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"हमारे देश के साहित्य मे कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये है, जो बहुत दूर तक यथाथ होते है, और जो आगे चलकर कथानकरूढि मे बदल गये है''।[२] कथानकरूढियो का प्रयोग कर सस्कृति के साथ कथातत्त्वो की भी योजना करना है। सामान्यत कथानकरूढियो द्वारा निम्नलिखित गुणो का समवाय किया जाता है—

(१) कथानको मे गतिमत्व-कर्म की निष्पत्ति।
(२) कथानको और घटनाओ मे नया मोड उत्पन्न करना।
(३) कथा मे विस्तार का सम्पादन।
(४) सकेतो द्वारा कथोद्देश्य का स्पष्टीकरण।
(५) प्रक्षेपको द्वारा कथासूत्रो का अध्याहार करना।
(६) भावी घटनाओ का ससूचन।
(७) पुरातन सस्कृति और प्रवृत्तियो का सयोजन।
(८) घटनाओ में आवृत्ति द्वारा उत्पन्न नीरसता का निराकरण।

प्राकृतकथा-साहित्य मे प्रयुक्त समस्त कथानकरूढियो का विश्लेषण करना इस लघुकाय निबन्ध मे सम्भव नही है, अतएव यहा कतिपय प्रमुख कथानक-रूढियो की तालिका प्रस्तुत की जाती है।

१ घोडे का आखेट के समय निर्जन-वन मे पहुच जाना, मार्ग भूलना, समुद्रयात्रा करते समय यान का भग हो जाना और काष्ठफलक के सहारे नायक-नायिका की प्राणरक्षा, जैसी घटनात्मक रूढियाँ इस कोटि के अन्तर्गत हैं।

२ स्वप्न मे किसी पुरुष या किसी स्त्री को देखकर उस पर मोहित होना अथवा अभिशाप, यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना के बल से रूप-परिवर्तन करना आदि विचार या विश्वासो का समवाय।

३ महान् शक्तिशाली व्यक्ति के जन्म के पूर्व स्वप्नदर्शन का होना एव भविष्यसूचक शुभशकुनो का प्रकट होना।

४ भविष्यवाणी और आकाशवाणी की योजना। नायक-नायिका को रहस्यमयी घटनाओ की सूचना देने हेतु उक्त वाणियो का प्रयाग, उनको कर्त्तव्य की सूचना एव भावी-फलाफल।

५ राक्षस और व्यन्तरो के वार्तालाप, व्यन्तरी की प्रेमयाचना और रूपान्तर द्वारा नायक को धोखा देना एव विद्याधरो द्वारा नायक के कार्यो मे सहयोग दना।

---

१ ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, पृ० ५४५।

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, प्रथम सस्करण पृ० ७४।

६ कठिन कार्य के सम्पादन के निमित्त सहायक के रूप मे देवताओ का अवतरित होना विशिष्ट अवसरो पर देव का प्रकट होकर कथानायक अथवा नायिका के प्रण की रक्षा करना

७ किसी निमित्त-विशेप से पूर्वजन्म की स्मृति जाग्रत होने पर नायक या नायिका का अपने पूवजन्म के प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना, मन्त्र-औपधि-पट-गुटिका आदि के चमत्कार का प्रयोग और इनके द्वारा विलक्षण कार्यो का सम्पादन एव किसी नगर के राजा की मृत्यु होने पर देवाधिष्ठित वस्तुओ द्वारा नये राजा का निर्वाचित होना ।

८ वैराग्यप्राप्ति के निमित्तो की योजना, निर्जन स्थान मे ध्वस्त नगर या भवन की पाप्ति, वहाँ पर राक्षस या व्यन्तर का उपद्रव, किसी रूपवती राजकुमारी या श्रेष्ठिकन्या का सद्भाव, नायक का उस कन्या के साथ विवाह सम्पादित होना एव नगर की ओर प्रस्थान । खलनायक द्वारा नायक को समुद्र मे गिरा देना, नायक का वचकर निकल आना, नायिका के शील पर खलनायक का आक्रमण, पर-नायिका की दृढता और अन्त मे किसी जैनमन्दिर या अन्य धर्मस्थान मे आर्यिका के समक्ष साधना मे व्याप्त होना, कालान्तर मे नायक का मिलन और उनकी विपत्ति का अन्त ।

९ चित्रपट द्वारा पूर्वभव के नायक या नायिका का अन्वेपण, विवाह मे विघ्न और सघर्प के अनन्तर विवाह का होना । छोटे भाई से बडे भाइयो की ईर्ष्या, उसका नगरत्याग, शुभोदय से छोटे भाई का धनार्जन और अन्त मे वडे भाइयो का भी उसी के यहा पहुच जाना ।

१० जन्म-जन्मान्तरो की शृ खला तथा एक जन्म के शत्रु का अगले जन्म मे भी शत्रु के रूप मे अवतरित होना, प्रतिशोध चुकाने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट देना एव कष्टसहिष्णु वनकर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना ।

११ छोटी रानी के प्रेम मे आसक्त हो राजा द्वारा अन्य रानियो और उनके पुत्रो पर अत्याचार, पुत्रोका विदेश गमन, धनार्जन एव शक्तिसम्पादन, लौटने पर राजा द्वारा स्वागत और घर मे यथोचित स्थान ।

इस प्रकार प्राकृतकथाओ मे विभिन्न कथानकरूढियो का प्रयोग होने से उनकी प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी प्रकट होता है । सामाजिक परम्परा, रीति-रिवाज, कला-कौशल, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि की अभिव्यञ्जक शताधिक कथानकरूढिया प्राकृतकथा-साहित्य मे समवेत है । इसमे सन्देह नही कि भारतीय सस्कृति, साहित्य और प्राचीन परिस्थितियो के परिज्ञानार्थ प्राकृतकथा-साहित्य अत्यधिक उपयोगी है ।





जैन-कथा-साहित्य और उसका श्रेय

गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी



भारतीय-साहित्य का बहुभाग प्राय कथासाहित्य है जिसमे विभिन्न काव्य-विधाओ मे रचे गए एक से एक सुन्दर ग्रथ उपलब्ध होते है। इन रचनाओ मे जहा लोक-सस्कृति की झलक मिलती है वही उस युग मे बोली जाने वाली भाषा का यथार्थ रस भी मिलता है। इन रचनाओ के पठन मे व्यायाम की आवश्यकता नही पडती।

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का बहुभाग एव सर्वाधिक जन-प्रिय अश किसी न किसी रूप मे कथात्मक-साहित्य मे ही पाया जाता है। लौकिक साहित्य-क्षेत्र मे ही नही, बल्कि धार्मिक साहित्य-क्षेत्र मे भी यही स्थिति है। जैन-साहित्य का भी लोकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रोचक एव जन-प्रिय अश उसका कथासाहित्य ही है।

जैनधर्म को प्रसारित व प्रचारित करने के लिए जैनाचार्यों ने अपूर्व प्रेरणाप्रद और प्राजल नैतिक-कथाओ की सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है। भारतीय लोक-कथासाहित्य मे जैनकथाओ का विशिष्ट स्थान है। सख्या भी उनकी पर्याप्त है। विषय-विवेचन मे एक मौलिकता है, ससार के समस्त अनुभवो को अपने आचल मे छिपाये हुए, इन कथाओ ने विरक्ति और सदाचार को विशेषत प्रतिफलित किया है।

कहानियो के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है, वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड जाती है और मानव वैसा आचरण करने को आतुर हो जाता। घटनाओ के क्रमिक उत्थान व पतन का सयोग इस प्रकार होता है कि पाठको की उत्सुकता सदैव जीवित रहती है, और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुबोध और सुगम्य वर्णात्मक शैली कथाओ मे चार चाद लगाती है, और उस उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद बनाती है।

जैनधर्म के कथाग्रन्थो मे ऐसे अनेक चिरगूढ सवेदनशील आख्यान उपलब्ध है, जो ऐतिहासिक तथ्यो की प्रतीति कराने के साथ बर्बरता की निर्भय घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक एव आध्यात्मिक भावभूमि पर महान् और नैतिकता का अधिष्ठाता बनाने मे सक्षम है। ये कथाग्रथ सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्र श भाषा मे होने के कारण जन-साधारण मे प्रसारित नही हो सके। यदि कुछ राजस्थानी बोली और पुरानी हिन्दी के माध्यम से आये भी है तो उनसे पर्याप्त मात्रा मे लाभ नही पहुँच सका है।

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूपरेखाओ मे आदर्शवाद का ही रग गहरा है। इन्होने एक बार नही, हजारो बार बतलाया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, उसमे सफल होने के लिए विरक्त होना ही पडेगा। यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना मे इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है, फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति मे आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

कर्म-सिद्धान्त के निरूपण मे इन कथाओ मे पाप-पुण्य की विशद व्याख्या हुई है। प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पडता है, इस अटल सिद्धान्त की परिधि के बाहर न देवता जा सकते है और न नरपति। ऋषि-मुनियों को भी अपने कृत्यो के शुभाशुभ परिणामो का अनुभव करना पडता है।

जैन-धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी पूर्ण आस्थावान् है। इसलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली बन जाती है। किसी कारणविशेष से यदि जीव अपने वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नहीं भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा।

जीवन में व्रतों की आवश्यकता, उनके प्रयोग, उनकी उपयोगिता आदि पर अनेकों कहानियां हैं जो उज्ज्वल जीवन को समुन्नत करने में संलग्न हैं। इन कहानियों के मनन चिन्तन और मनन से एक प्रकार की प्रेरणा पाकर मानस आध्यात्मिकता और पवित्रता की ओर अग्रसर होता है।

समस्त प्राणियों की चिन्ता करने वाले जैनधर्म के सिद्धान्तों में 'सर्वभूतहिताय' की भावना सदैव सम्पादित रही है। वर्ण-भेद अथवा जाति-भेद की कल्पना के लिए यहां स्थान है ही नहीं। पशु-पक्षी, देव-दानव, राजा-रंक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर जैनमुनियों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिन कथाओं का सहारा लिया है, वह काल्पनिक नहीं है वरन् उनकी कथा-वस्तु में यथार्थता है, तथा आदर्शवाद की पुष्टि में उनका अवसान हुआ है। इस प्रकार से भारतीय लोक-कथा-साहित्य में जैन-कथा-साहित्य का विशिष्ट स्थान है।

कथा-कल्प की विशेषताओं के उदाहरणस्वरूप हम जैन-कथाओं को उपस्थित कर सकते हैं। भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचारों-विचारों एवं व्यवहारों के विषय का उनमें यथार्थ एवं सविस्तार परिचय प्राप्त होता है। जैन-कथा-साहित्य का भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास-क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-कथा-साहित्य की मूलवस्तु भूत को वर्तमान से सम्बन्धित रखती हुई अपने सिद्धान्तों का सीधा उपदेश नहीं देती, उसके कथानक ही प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से अपना उद्देश्य प्रकट करते रहते हैं।

जैन-कथाओं में वर्णनात्मक-शैली का ही सर्वत्र निर्वाह है, फिर भी उनमें भावनाओं का उत्थान-पतन, जीवन का क्रमिक-विकास एवं मानवता का उच्च सन्देश विद्यमान है। जैन-कथा साहित्य की शृंखला का निर्माण धार्मिक और लोक-कथाओं के क्षेत्र में उद्घटित होता है।

जैनकथासाहित्य अत्यन्त विशाल, व्यापक, विभिन्न-भाषामय एवं विविध है। लोक-कथाओं, दन्तकथाओं, नैतिक आख्यायिकाओं, प्रेमाख्यान, साहसिक कहानियों, पशु-पक्षी की कहानियों, अमानवी देवी देवताओं से सम्बन्धित कहानियों, उपन्यास, नाटक, काव्य, चम्पू, दोहा (दूहा) ढाल, रास, रूपक, प्रतीकात्मक-आख्यान इत्यादि समय-समय पर एवं प्रदेश-प्रदेश अथवा विविध-भाषाओं में प्रचलित विभिन्न शैलियों एवं रूपों में जैन-कथा-साहित्य उपलब्ध है। स्वतन्त्र कथाओं की बहुलता है पर अनेक कथाओं की परस्पर सम्बद्ध शृंखलाएं भी हैं। कुछ छोटी कहानियाँ हैं तो अनेक बृहद्-कथाएं में भी उपलब्ध होती हैं।

कथाओं के विविध प्रकारों में से दो मुख्य हैं, एक लौकिक कथा दूसरा धार्मिक। धार्मिक-कथाओं में आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा पुट तो रहता ही है, आन्तरिक जीवन-घटनाओं में भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उनमें व्रतों का सदनुष्ठान करनेवाले भव्य श्रावकों की धार्मिक मर्यादा के साथ नैतिक जीवनचर्या का भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। साथ ही संकट के समय सुदृढ़ रहकर विजय प्राप्त करने का वर्णन भी स्पष्ट रहता है। सत्पुरुषों के उच्चतर जीवन के विकास और नैतिक चरित्र से अपने चरित्र में विकास सम्भव है।

जैनकथाएँ प्रायः मौलिक हैं, कुछ महाभारत आदि जैनेतर ग्रन्थों से भी ग्रहण की गई हैं। अनेक मौखिक प्रचलित लोक-कथाओं का भी उनमें समावेश हो गया है, किन्तु वे सब जैनधर्म के साँचे में ढलकर ही प्रस्तुत हुई हैं।

जन-साधारण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जैन साधु कथाओं को सबसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होंने इसी दृष्टि से सभी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनों में ही कहानीकला को चरम-सीमा में पहुँचा दिया है। उनकी कथायें दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा में होती थी। कोई-कोई घटनायें तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी, पर अधिकांश कथाओं में बहुत-सी गौण-कथाएं चलती रहती है, जैसे पञ्चतन्त्र।





डॉ० सत्यकेतु (एम०ए०,पी-एच०डी०) ने जैन लोककथाओ पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "जैन-साहित्य मे तो बौद्धो से भी अधिक कहानियो का भण्डार मिलता है। वे कहानिया कुछ तो धर्म-सिद्धान्त ग्रंथो मे आती है। ये बहुधा तीर्थंकरो तथा उनके श्रमण अनुयायियो तथा शलाका-पुरुषो की जीवन-झलकियो के रूप मे जहाँ-तहाँ मिलती है।"

डॉ० याकोबी इनके उद्भव का उल्लेख करते हुए लिखते है कि कथानक-साहित्य का उद्भव ईसा के एक शताब्दी बाद के उत्तरार्द्ध मे माना जाना चाहिए।

सुप्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् श्री सी० एच० टान ने अपने ग्रंथ "ट्रजरी आफ स्टोरीज" की भूमिका मे स्वीकार किया है कि जैनो के कथा-कोप मे सग्रहीत कथाओ व यूरोपीय कथाओ मे अत्यन्त निकट साम्य है।

प्रो० मैक्समूलर ने तथा राईज डैविड्स ने अपने ग्रंथो मे इस बात का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण दिये है कि भारतीय बौद्ध-कथाए लोककण्ठो के माध्यम से परसिया से यूरोप गई है।

पूर्वमध्य-काल मे ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुची वहा से ईरान, और ईरान से यूरोप। अनेक जैनकथाओ को तिब्बत, हिन्द-एशिया, रूस, यूनान, सिसली और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य मे पहचानकर खोज निकाला गया है। इसी कारण जैन-कथा साहित्य को अखिल भारतीय-सस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए और यथार्थत है भी यही।

श्री टाने, हर्टल, व्लूहर, ल्यूमेन, तेस्सितौरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदो ने जैन-कथा साहित्य के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की है।

विदेशी लोक-कथाओ के परिशीलन से ज्ञात होता है कि अनेको जैनकथाएँ सागर पार कर वहाँ गई, और वहाँ की मान्यताओ की वेष-भूषा से अलकृत हो गयी, किन्तु उनकी मूलभूत आत्मा ज्यो की त्यो सुरक्षित रही।

जैन-कथाकार अपनी उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्राय प्रत्येक भौतिक, मानसिक, दैनिक अथवा भावनात्मक परिस्थियो को अपनी कथा मे आत्मसात् कर लेता है, जिससे जैन-कथाये जन-जीवन के प्राय प्रत्येक अग का स्पर्श करती है, और वह आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष जन-साधारण का स्वस्थ मनोरजन करती हुई तात्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक तथा नैतिक तथ्यो की छाप डाल देती हैं, जिससे जीवन श्रेयस्-उन्मुख होने लगता है।

जैन-कथाये अबाधगति से अग्रसर होती रहती हैं। कोई कथानक या पात्र हो, कोई भी घटना-क्रम अथवा स्थिति का चित्रण हो, उसे जैन-कथाकार अपने साँचे मे ढालकर, अपना मन्तव्य रोचक और वस्तुपरक ढग से कहकर समथन प्राप्त करता है। कथाकार कहानी के अन्त मे दार्शनिकता व पुण्य-पाप के सुफल निष्कर्ष को बडी ही गभीरता-पूर्वक उपस्थित करता है, जिससे पाठको अथवा श्रोताओ पर धार्मिक श्रद्धा की छाप पड जाती है।

जैन-साधुओ का कथा कहने का ढग भी अन्यो की अपेक्षा कुछ विशेषतापूर्ण है। कथा के प्रारम्भ मे वे अपने किसी प्रसिद्ध धर्म-वाक्य या पद्याश द्वारा मगलाचरण कहते हैं और पश्चात् कथा कहना प्रारम्भ करते हैं। कथा की लम्बाई-छोटाई पर वह कभी भी ध्यान नही देते। उनकी कथायें घटनापूर्ण होती है। कथा के प्रारम्भिक भाग मे प्रमुख पात्र अथवा पात्रो का परिचय व निवास-स्थान आदि की चर्चा की जाती है। कथा के अन्त मे वक्ता-श्रोताओ अथवा पाठको से सम्बन्धित पात्रो को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। कथा-पात्र अरिहन्त भगवान् से ससार के दु खो से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय पूछता है, प्रत्युत्तर मे केवली भगवान् जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य तत्त्वो का निरूपण करते है। वे बतलाते हैं कि प्राणी को पूर्वकृत कर्मो के फलस्वरूप ही सुख-दु ख की प्राप्ति होती है। अपने कथन के उदाहरण मे वह कहानी के पात्रो के जीवन मे घटित घटनाओ के वर्णन द्वारा उसे स्पष्ट रूप मे समझाते हैं।

जैनेतर विद्वानो ने लोक-भाषाओ को गौण मानकर जहाँ सस्कृत आदि अन्य भाषाओ मे कथा-साहित्य की सृष्टि की है, वही जैन विद्वानो ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श तीनो ही भाषाओ से कथा-साहित्य का भण्डार परिपूर्ण किया है। इस प्रकार की रचनायें कथा, चरित्र और पुराण-ग्रंथो के रूप मे हमे उपलब्ध हैं। इतना ही नही बल्कि

भारतीय विविध प्रान्तीय-भाषाओं, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि में सर्जित रचनायें भी कथा-साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि हैं।

प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण जैन कथा-ग्रंथों में हरिषेण का बृहत्कथा-कोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमीदत्त आदि का आराधना कथा-कोष, जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वर सूरि की कथावलियाँ, रामचन्द्र का पुण्याश्रवकथा कोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

स्वतन्त्र कथाओं में तरंगवती कहा, समराइच्च कहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपंचकथा, धर्म-परीक्षा, सम्यक्त्व कौमुदी, तिलकमंजरी, धर्मामृत, शुकसप्तति, रत्नचूड की कथा आदि विशेषत महत्त्वपूर्ण हैं।

जैनकथा-साहित्य के प्रधान मूल स्रोत 'पइन्नाओ' को तथा शिवार्य की 'भगवती आराधना' को माना जाता है। गुणाढ्य की प्रसिद्ध बृहत्कथा का आधार काणभूति द्वारा भूतभाषा में रचित जिस ग्रंथ को माना जाता है, वह जैन विद्वान काण भिक्षु, का प्राकृत-कथा ग्रंथ प्रतीत होता है। श्वेताम्बर आगम-सूत्र और दिगम्बर पौराणिक-साहित्य में भी अनेक जैनकथाओं के उद्गमस्रोत हैं।

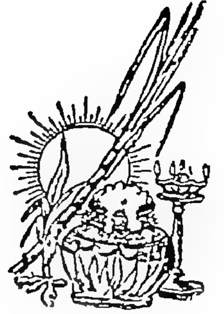
•



जैन-कथासाहित्य : एक अनुदृष्टि

प्रोफेसर श्रीचन्द्र जैन

एम० ए०, उज्जैन



कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी ही है। कथा के प्रति मानव मात्र का सहज आकर्षण है। फलत जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है जिसमे कहानी की मधुरिमा अभिव्यजित न हुई हो। सत्य तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी की कहानी कहता हुआ समाप्त करता है। कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है। मानव-विकास की गाथा मे एक ऐसा भी चरण था जब मनुष्य काननो मे ही रहकर पशु-पक्षियो के साहचर्य से अपनी नीरस जीवनयात्रा को सरस बनाता था। उस समय हरे-भरे पेड उसे छाया देते थे, गगनचारी विहग मधुर गीत सुनाकर उसकी थकान मिटाते थे और पशु अपनी उल्लासभरी क्रीडाओ से उसका मनोरजन करते थे। इसी सान्निध्य ने मानव का पशु-पक्षियो का मित्र बनाया है और कई युगो के बीत जाने पर भी आज का इसान इन्हे भूल नही पाया है। सुसस्कृत होने पर मानव ने अपने इस स्नेह को कहानियो के माध्यम से विकसित किया। परिणामत कथा के आकर्षण को सबल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी-साहित्य मे एक विशिष्ट उपकरण के रूप मे मान्य है।

हमारे प्राचीनतम साहित्य मे कथा के तत्त्व जीवित हैं। ऋग्वेद मे, जो ससार का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, स्तुतियो के रूप मे कहानी के मूलतत्व पाये जाते हैं। ऋग्वेद के मत्र १ सूक्त २४।२५, मत्र ३० (दोनो मे मिलाकर) मे ऋषि शुन शेप का वह प्रसिद्ध आख्यान है जिसमे उन्होने 'वरुण' की प्रार्थना की है, उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। अप्पला-आमेयी के आदर्श नारीचरित्र ऋग्वेद मे आए हैं। ब्राह्मणग्रन्थो मे भी हमे अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण की पुरुरवा और उर्वशी की कथा का किस को ज्ञान नही है?

ये कहानिया उपनिषत्काल से पूर्व की है। उपनिषत्काल मे आकर इन्हे कुछ नया रूप मिला है। गार्गी-याज्ञवल्क्य सवाद तथा सत्यकाम-जाबाल आदि की कहानिया उपनिषद्-युग की प्रसिद्ध कहानिया हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१।३ मे जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है। पुराणो मे कहानी खुलकर आई है जिससे वेद के गूढार्थ का प्रतिपादन होता है। यह कहना कि पुराणो मे वेद की व्याख्या है, निराधार नही है। पुराण वेदाध्ययन की कुजी हैं। वेदो की मूलभूत कहानिया पुराणो की कथाओ मे पल्लवित प्रस्फुटित हुई है। पुराण कथा-कहानियो का अतुल भडार है।

रामायण और महाभारत मे भी बहुत से आख्यान जुडे हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत मे यह वृत्ति अधिक है। एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियो का कोष है।[1]

इस प्रकार कथासहित्य की एक प्राचीन परम्परा है जिसमे पचतत्र, हितोपदेश, वेताल पचविंशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, वृहत्कथामजरी, कथासरित्सागर आख्यानयामिनी, जातक कथाएँ आदि विशेषत उल्लेख्य है।

कथा-साहित्य-सरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी बनाने मे जैन कथाओ का योगदान उल्लेख-

---

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, —ले० डा० शकरलाल यादव पृष्ठ ३३९ तथा ३४०।

नीय है। जैनो के मूल आगमो मे द्वादशागी प्रधान और प्रख्यात है। उनमे नायाधम्मकहा, उवासगदसाओ, अन्तगड, अनुत्तरोपपातिक, विपाकसूत्र आदि समग्र रूप मे कथात्मक हैं। इनके अतिरिक्त सूयगडाँग, भगवती, ठाणाग आदि मे भी अनेक रूपक एव कथाए हैं जो अतीव भावपूर्ण एव प्रभावजनक हैं। तरगवती, समराच्चकहा तथा कुवलयमाला आदि अनेकानेक स्वतन्त्र कथाग्रन्थ विश्व की सर्वोत्तम कथाविभूति हैं। यदि अध्ययन विधिवत् तथा इतिहास-क्रम से इस साहित्य का किया जाय तो कई नवीन तथ्य प्रकाश मे आवेगे और जैन कथा-साहित्य की प्राचीनता वैदिक कथाओ से भी अधिक पुरानी परिलक्षित होगी। जैनो का पुरातन साहित्य तो कथाओ से पूर्णत परिवेष्टित है। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल 'लोक-कथाए और उनका सग्रहकार्य' शीर्षक निबन्ध मे लिखते हैं—"बौद्धो ने प्राचीन जातको की शैली के अतिरिक्त अवदान नामक नये कथा-साहित्य की रचना की जिसके कई सग्रह (अवदानशतक दिव्यावदान आदि) उपलब्ध हैं। किन्तु इस क्षेत्र मे जैसा साका जैन लेखको ने किया वह विस्तार, विविधता और बहुभाषाओ के माध्यम की दृष्टि से भारतीय साहित्य मे अद्वितीय है। विक्रम सवत् के आरम्भ से लेकर उन्नीसवी शती तक जैन साहित्य मे कथाग्रन्थो की अविच्छिन्न धारा पायी जाती है। यह कथा-साहित्य इतना विशाल है कि इसके समुचित सपादन और प्रकाशन के लिए पचास वर्षो से कम समय की अपेक्षा नही होगी।

जैन साहित्य मे लोक-कथाओ का खुलकर स्वागत हुआ। भारतीय लोक-मानस पर मध्यकालीन साहित्य की जो छाप अभी तक सुरक्षित है उसमे जैन कहानी साहित्य का पर्याप्त अश है। सदयवच्छ सावलिंग की कहानी का जायसी ने पद्मावत मे और उससे भी पहले अब्दुल रहमान ने सदेशरासक मे उल्लेख किया है। वह कहानी बिहार से राजस्थान और विध्यप्रदेश के गाँव-गाँव मे जनता के कठ-कठ मे बसी है। कितने ही ग्रन्थो के रूप मे भी वह जैन-साहित्य का अग है।[1] जैन कथाओ को विद्वान् लेखको ने सस्कृत, प्राकृत अपभ्र श आदि कई भाषाओ मे लिखकर एक ओर भाषा की समृद्धि की है और दूसरी ओर जनता की भावना को परिष्कृत किया है। जनपदीय बोलियो मे भी जैन लेखको ने कथासाहित्य का पर्याप्त मात्रा मे लिखा है। इन कथाओ मे जैन सस्कृति तथा सभ्यता विविध रूपो मे मुखरित हुई है। लोक-जीवन के बडे सलौने चित्र इन कहानियो मे चित्रित हैं जिन्हे देखकर आज का समाज अपने विगत वैभव का ज्ञान सुगमता से कर सकता है। लोक-जीवन को कई रूपो मे अपनाने वाली इन कथाओ मे यद्यपि उपदेश की भावना अधिक प्रबल है, फिर भी जैन लेखको ने इनमे मानव की सुख-दु खात्मक अनुभूतियो को भी सरस रूप मे अकित किया है। जैनाचार्यों ने इन कथाओ के माध्यम से गहन सैद्धान्तिक तत्वो का सुगम बनाया है तथा श्रावको एव साधारण जनता ने इनके द्वारा अपनी सहज प्रवृत्तियो को विशुद्ध बनाने का सतत प्रयास किया है। जैन लेखको ने इन आख्यानो मे मानवजीवन के श्वेत तथा श्याम दोनो रूपो को अपनाया है लेकिन आख्यान की परिसमाप्ति पर श्वेत रूप को ही प्रधानता देकर आदर्शवाद को स्थापित किया है।

डॉ० यादव के मतानुसार "कथासाहित्य की दृष्टि से जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की अपेक्षा अधिक सफल है। जैन कहानियो मे तीर्थंकरो, श्रमणो एव शलाकापुरुषो की जीवनकथाएँ मुख्य हैं जिनमे धर्म के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण होता चलता है। इनमे धार्मिक दृष्टि को पुष्ट करने के लिए जैन कहानीकार साधारण कहानी की समाप्ति पर 'केवली' (मुक्ति के अधिकारी साधु) के द्वारा दु ख-सुख की व्याख्या पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर कर देता है। बस यही पर ये जातको से भिन्न हैं। जैन कथाओ मे भूत, वर्तमान दु ख-सुख की व्याख्या या कारणनिर्देश के रूप म आता है। वह गौण है। मुख्य है वर्तमान। जब कि बौद्ध जातको मे वर्तमान अमुख्य है। वहाँ बोधिसत्व की स्थिति विगत काल मे ही रहती है। इनमे अनेक रूपक कहानियाँ भी हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक तालाब है। उसमे खिले हुए कमल भरे हैं। मध्य मे एक बडा कमल है। चार ओर से चार मनुष्य आते हैं और वे उस बडे कमल को हथियाना चाहते हैं। प्रयत्न करते हैं परन्तु सफल नही होते। एक भिक्षु तालाब के किनारे से कुछ शब्द बोलकर उस बडे कमल का प्राप्त कर लेता है। यह सूयगड (सूत्रकृनाग) आगम की रूपक-कहानी है। इस रूपक



---

१ आजकल-लोककथा अक पृ० ११

के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी साधु राजा महाराजा आदि का संसार से उद्धार कर देता है।

इस प्राचीन कथासाहित्य से, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्त्व ग्रहण कर बाद के लेखको ने संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में अनेक कहानियां रची है। अपभ्रंश के पउमचरिउ (पद्मचरित्र) एवं भविस्सयत्तकहा (भविष्य-दत्तकथा) नामक ग्रन्थ कहानी साहित्य की अमूल्य निधि है। इनमे अनेक उपदेशप्रद कहानियां उपलब्ध होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, कथाओ के समूह के समूह जैन आचार्यो ने रच डाले हैं जिनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक सिद्धान्तो को बल भी मिला है।[१]"

इस कथासाहित्य के कथानक बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं और साथ ही साथ व्यापक हैं। जीवन के शाश्वत तत्त्वो का इनमे निरूपण हुआ है। तथा पात्रो का चरित्र स्वाभाविक रूप मे होने के कारण सर्वग्राह्य बन गया है।

कथनोपकथन पात्रानुकूल हैं। वातावरण इन कथाओं की भाव-भूमि को मनोरम बनाता है तथा पात्रो की विचारधारा मे वैशिष्ट्य समुत्पन्न करता है। देश काल से सम्बन्धित कथा-सूत्र तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक तथ्यो को प्रदर्शित करते हैं और पाठको के सम्मुख विविध चित्रावलियो को प्रस्तुत कर अपनी सार्थकता का परिचय देते हैं।[२] शैली मे सरलता है, सरसता है तथा एक विशिष्ट परम्परा का अवलम्बन है। उद्देश्य के सबन्ध मे यही कहना पर्याप्त है कि जैन लेखकों ने कथाओं के द्वारा आध्यात्मिक पक्ष की प्रतीति को ही प्रधानता दी है। स्वप्निल आकाक्षाओ से दूर रहकर ही मानव अपने आपको पहिचान सकता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र ध्वनित हुआ है। मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम—"सचित्र जैन कहानिया" नामक पुस्तक के दूसरे भाग की भूमिका मे लिखते हैं—'परिस्थितियां ही मनुष्य को बनाती या बिगाडती हैं, यह स्थूल सत्य है। इसमे तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य ही अपना ब्रह्मा-स्रष्टा, विष्णु-सरक्षक व महेश-संहारक है। उसकी सावधानी या असावधानी पर उसका सारा भावी जीवन अवलम्बित होता है। वह अपनी धरोहर को खोता है,[२] सुरक्षित रखता है या सुसज्जित करता है। यह उसके कर्तव्य पर आधारित है। प्रस्तुत जैन कहानिया पाठक के समक्ष यही नवनीत प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियो मे नायक के पूरे जीवन-चित्र प्रस्तुत नहीं हैं अपितु वे ही है जिनमे वह अपने कर्तव्य

---

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ० ३४६।

२ विचारों के प्रकट करने के ढग को हम शैली कह सकते हैं। साधारणत लिखने और कहने की गति को यदि शैली कहा जाय तो ठीक ही है। "प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है—जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।—बर्नार्ड शा का विचार है कि प्रभावपूर्ण व्यक्ति ही शैली का अथ और इति है। हमारी समझ मे शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीको का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एव प्रभावपूर्ण बनाते हैं। शैली अग्रेजी 'स्टाइल' का अनुवाद है।"

—हिन्दीसाहित्य कोश—भाग २ पृ० ३८७।

जैन कथाओ की शैली एक परम्परा को अपनाए हुए है जिसमे भावो को सहज रूप मे अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। कहावतो, मुहावरो एव सूक्तियो का समावेश होने से यह शैली बडी सरस बन गई है। प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ मे मगलाचरण-स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति-परक कुछ पक्तिया होती हैं तथा कथा की समाप्ति मे भी भगवत्भक्ति की कामना की जाती है।—'ससार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है।" कथा की परिसमाप्ति पर लेखक की कामना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है:—'जिनके वचन पापो के नाश करने वाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और ससार का भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवो द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणों की सेवा का अधिकार दें, जब तक कि मैं कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त न कर सकू।'

आराधनाकथाकोश-तीसरा भाग पृष्ठ ६१। पद्यात्मक कथाओ की शैली कुछ पृथक् होती है। उक्त शैली मे लिखी हुई कथाओं की शैली अधिक प्रभावोत्पादक मानी गई है।

से या तो बहुत अधिक निखर उठा है या वह काला स्याह हो गया है। जीवन का पूर्वार्ध या पश्चिमार्ध यत्र-तत्र आया भी है तो वह एक सयोजक शृ खला के रूप मे ही उपस्थित हुआ है। इन कहानियो मे एक ओर त्याग साधना व वैराग्य की प्रचुरता है तो साथ ही साथ जीवन के व्यावहारिक पहलुओ को छूने वाले भी अनेक प्रकरण है जिनमे आध्यात्मिकता और भौतिकता का समवेत स्वर है।''

कहानियो मे कथोपकथन के माध्यम से केवल विनोद ही नही होता अपितु उनमे जीवन की सरस अनुभूतियो के साथ सस्कृति, सभ्यता, दर्शन व धर्म का निचोड भी होता है। सामान्यतया दर्शन मे तार्किक उलझन धर्म मे आचरणीय पहलुओ की विविधता तथा सस्कृति व सभ्यता मे प्राचीनता व अर्वाचीनता का विवाद होता है। जिज्ञासु व्यक्ति उनके गहरे विवेचन को पढता है पर उसमे से उसके हस्तगत बहुत थोडा होता है। कई बार तो दो-चार डुबकियाँ लगाने पर भी व्यक्ति को खाली हाथो लौटना पडता है। कुछ इने-गिने व्यक्ति ही ऐसे होते है जो उस विवेचन मे मुक्ता पा सकते है। किन्तु सस्कृति, दर्शन व धर्म कुछ एक व्यक्तियो की ही धरोहर नही होती। वे तो प्रत्येक व्यक्ति की पवित्र निधि होते हैं, जिनके बिना एक कदम चलना भी असभव होता है। ऐसी स्थिति मे उनका सरल मार्ग कहानीसाहित्य ही होता है। इस मार्ग मे दर्शन के दुरूह प्रश्न, सस्कृति का गहरा चिन्तन व धर्म के विविध पहलू सरलता से हृदयगम किये व कराये जा सकते है। इसमे उन सब की बोलती हुई आत्मा होती है। मित्रसम्मत व कान्तासम्मत उपदेश भी इसी माध्यम से प्राप्त होता है जो श्रुति मे मधुर, आचरण मे सुकर व हृदय को छूने वाला होता है।''

मुनि जी का यह कथन प्राय समस्त जैन कथाओ के सम्बन्ध मे मान्य कहा जा सकता है। सासारिक वैभव-विलास से विरक्ति उत्पन्न करने के लिये जैन कथाए अधिक प्रयोजनवती सिद्ध हुई है। इनमे जिन सूक्तियो को समाविष्ट किया गया है वे भी इस प्रमुख मन्तव्य को सार्थक बनाती हैं।

जैनकथाओ का वर्गीकरण

जैन-कथाओ का एक विशाल भण्डार है जिसे निश्चित रूपो मे विभक्त करना सरल नही है। फिर भी विद्वानो ने कथानको, पात्रो, एव उद्देश्यो के अनुसार कथाओ का वर्गीकरण किया है। कथा-साहित्य-विशारदो ने अभिप्रायो के आधार पर इन्हे विभाजित करने का प्रयत्न किया है। दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त मे एक स्थान पर कथाओ के जो अनेक भेद दिये है वे इस प्रकार हैं—(१) राजकथा (२) चोरकथा (३) महामात्यकथा (४) सेनकथा (५) भयकथा (६) युद्धकथा (७) अन्नकथा (८) पानकथा, (९) वस्त्रकथा (१०) शयनकथा (११) मालाकथा (१२) गधकथा (१३) ज्ञातिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुरुषकथा (२१) शूरकथा (२२) विशिखाकथा (बाजारू गप्पे) (२३) कुभस्थानकथा (पनघट की कहानिया) (२४) पूर्वप्रेत कथा (गूजरो की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) लोकाख्यायिका (२७) समुद्राख्यायिका (दीर्घ निकाय १।८)[1]

साधारणत जैन कथाओ को निम्नलिखित चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है —

(१) धर्म सम्बन्धी कथाए।
(२) अर्थ सम्बन्धी कथाए।
(३) काम सम्बन्धी कथाए।
(४) मोक्ष सम्बन्धी कथाए।

इस वर्गीकरण मे भी मोक्षविषयक-भावना सर्वत्र विद्यमान है। इसके अन्तर्गत विरक्ति, त्याग, तपस्या, पूजन, आदि धार्मिक चिंतन एव कृत्य स्वय ही सन्निहित है, क्योकि जैन कथाओ का लक्ष्य जैन धर्म की महिमा को बताना तथा जैनधर्म-प्रतिपादित आचार का प्रचार करना है।



१ लोक-कथाए और उनका सग्रहकार्य (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)—आजकल-लोक-कथा अक पृष्ठ ९,

प्रकारान्तर मे जैन-कथाओ को इस प्रकार भी—वर्गीकृत किया जा सकता है (१) धार्मिक (२) ऐतिहासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) पशु-पक्षी सबधी (९) गाथाए (१०) शाप-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रासम्बन्धी (१४) गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवीदेवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मन्त्र-तत्रादि सम्बन्धी (१८) बुद्धिपरीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति-वर्ग सम्बन्धी (२०) विशिष्ट न्याय विषयक (२१) काल्पनिक कथाए, एव (२२) प्रकीर्णक।

कतिपय कथाकोशो का सक्षिप्त परिचय

(१) कथाकोश (कथानक कोश अथवा कथाकोश प्रकरणम्)—इसके रचयिता श्रीवर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि है। प्राकृत के इस ग्रन्थ मे २३९ गाथाए है। इस ग्रन्थ की सस्कृतटीका मे गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग किया गया है। यत्र-तत्र किए गए सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश के उद्धरणो से यह कृति विशेष आकर्षक बन गई है।

(२) कथाकोश—इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। १७ कथाए इसमे सगृहीत है। इन कहानियो मे लोक-कथातत्त्व विशेषत द्रष्टव्य है। सस्कृत मे लिखित इस कृति मे प्राकृत गाथाओ का भी समावेश है।

(३) कथाकोश (कथारत्नकोश) सवत् ११५८ मे लिखित कृति के रचयिता श्री प्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्र है। मुक्तिमार्ग के विवेचन के लिए आदर्श कथाओ को प्राकृत मे लिखा गया है तथा यत्र्-तत्र सस्कृत के पद्यो को भी उद्धृत करके कथा-कोशकार ने बडी निपुणता से गृहस्थ के कर्त्तव्यो को प्रतिपादित किया है।

(४) कथाकोश (भारतेश्वर बाहुबली-वृत्ति)—प्राचीन जैन-साहित्य मे निर्दिष्ट धार्मिक महापुरुषो की जीवन-कथाओ को प्राकृत मे लिखकर लेखक ने अपनी कथाप्रणयन अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है। प्राकृत की इस रचना मे सस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। यह कृति सवत् १५०९ मे निर्मित हुई थी।

(५) कथाकोश (व्रतकथाकोश)-सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीश्रुतसागर है। व्रतो से सम्बन्धित कथाए इसमे सगृहीत है तथा विक्रम सवत् की १६ वी शताब्दी की यह कृति है। इस कृति के रचयिता के गुरु विद्यानदि थे।

(६) कथाकोश—इसमे प्राकृत मे लिखित १४० गाथाए है। कृति के लेखक श्रीविजयचन्द्र हैं।

(७) कथामणि-कोश (आख्यानमणिकोश)—प्राकृत मे रचित इस पद्यात्मक ग्रन्थ के रचयिता कवि श्री-देवेन्द्रमणि है जिन्हे नेमिचन्द्र भी कहा गया है। श्री देवेन्द्र अपनी सरल शैली के लिए प्रख्यात हैं। यह वृहत् ग्रन्थ ४१ अध्यायो मे समाप्त हुआ है। इस कोश की सस्कृतटीका के लेखक श्रीजिनचन्द्र के शिष्य श्रीअमरदेव है। टीका सवत् ११९० मे लिखी गई थी।

(८) कथामहोदधि (कर्पूरप्रकर अथवा सूक्तावली)—१७९ छन्दो मे लिखा गया यह ग्रन्थ धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तो की विवेचना करने मे पूर्णरूपेण सक्षम माना गया है। प्रत्येक छद मे एक अथवा दो कथाओ का उल्लेख हुआ है। इसके रचयिता श्रीवज्रसेन के शिष्य श्रीहरिषेण है।

(९) कथारत्नसागर—इसमे १५ तरग है। श्रीदेवभद्र सूरि के शिष्य नरचन्द्र सूरि इस 'सागर' के निर्माता है।

(१०) कथारत्नाकर—सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीउत्तमर्षि है।

(११) कथारत्नाकर—सवत् १६५७ मे रचित इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीकमलविजय के शिष्य हेमविजय गणि है। इसमे सगृहीत कथाओ मे से कुछ तो सुनी हुई कथाए है और कुछ काल्पनिक है। दस तरगो मे २५८ कथाओ की विस्तृत चर्चा हुई है। सरल सस्कृत मे लिखी गई यह कृति बडी सरस एव नैतिकता की शिक्षिका है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश पुरातन हिन्दी एव प्राचीन गुजराती के उद्धरणो को पर्याप्त सख्या मे अपनाया गया है।

(११) कथार्णव — (ई० मन् की १३ वी शताब्दी मे लिखित) । प्राकृत की रचना के कवि धर्मघोष हैं। जैन तपस्वी वीरो की कथाओ के साथ-साथ अन्य उपदेश-कथाओ को भी इसमे उचित स्थान मिला है।

(१२) कथावली—प्राकृत गद्य मे लिखित इस वृहत् ग्रन्थ के लेखक श्रीभद्रेश्वर हैं। इसमे ६३ शलाका-पुरुषो के वृत्तान्तो के साथ अन्य महात्माओ के चरित्रो का कथात्मक रूप मे उल्लेख हुआ है।

(१३) कथासमास (उपदेश माला)—इसके लेखक श्री जिनभद्र हैं। इसमे सगृहीत कथाए प्राकृत मे हैं जिनका लक्ष्य मानवो को निवृत्तिमार्ग की ओर आकर्षित करना है।

(१४) कथा सग्रह—(कथाकोश) इसके रचयिता श्री राजशेखर मलधारी (श्री तिलकसूरि के शिष्य) हैं।

इसकी सरस कथाए सुगम एव सामान्य सस्कृत गद्य मे लिखी हुई ह। कथाओ के मध्य मे सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्र श के छन्दो को उद्धृत किया गया है। सामाजिक चातुर्य के साथ सच्चरित्र के प्रचारार्थ लेखक ने इन कथाओ को लिखा है। विषयवैविध्य इन कहानियो मे परिलक्षित हैं। एक बडी कथा के अन्तर्गत अन्य कथाओ का भी उल्लेख होने से इसे अन्तरकथाकोश भी कहा गया है।

इन कथाकोशो के अतिरिक्त सर्वश्री वर्धमान, चन्द्रकीर्ति, सिंह सूरि, सकलकीर्ति, पद्मनन्दि तथा रामचन्द लिखित कथाकोशो का भी कतिपय विद्वानो ने उल्लेख किया है।

जिनरत्नकोश मे अनेक कथासग्रहो का और भी उल्लेख हुआ है जिनमे से कतिपय ये हैं —

हेमाचार्य का कथासग्रह, आनन्दसुन्दर का कथाकोश एव सर्वसुन्दर का कथासग्रह। इनके अलावा कथा-कल्लोलिनी, कथासचय, कथासमुच्चय आदि कथा-सग्रहो का भी यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[1] शोध-विशारदो को इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे अन्वेषण करना चाहिये। यदि विविवत् जैन-शास्त्र-भडारो के ग्रन्थो की तालिका तैयार की जाय तथा पूर्ण धैर्य के साथ कथासग्रहो का अनुशीलन किया जाय तो जैन कथासाहित्य सम्बन्धी अनेक तथ्य प्रकाश मे आ सकते हैं। इस सन्दर्भ मे श्रम, लगन एव धन इन तीनो की समन्विति सवदा वाछनीय है।

जैन-कथाओ का देशाटन

मानवो के आवागमन तथा यातायात की सुविधाए साहित्य के परिभ्रमण मे सहायक बनती हैं। उपदेशक जब एक प्रान्त मे आगे बढकर दूसरे प्रान्तो मे उपदेशार्थ जाते हैं तब उनके ही माध्यम से उनका कण्ठस्थ साहित्य उनके देशो की धरती का स्पर्श करता है तथा श्रोता-गण सुनकर इसे अपनी विचार-धारा के अनुसार विचित्र रगो से रजित करते हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तो के अतिरिक्त जैन कथाए पाश्चात्य देशो मे भी गईं और वहा के निवासियो ने इनका भव्य स्वागत किया। शनै शनै जैन-कथाओ मे परिवर्तन आया तथा विशिष्ट धारा की सास्कृतिक चेतना ने उन्हे प्रभावित किया। पात्रो के नाम बदले गए, स्थानो के नामो मे भी परिवर्तन हुआ, वेश-भूषा परिवर्तित हुई, लेकिन मूल अभिप्राय ज्यो के त्यो रहे। सकेत रूप मे यहाँ सुगन्धदशमी कथा की सक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। डा० हीरालाल जैन एम०ए०, डी० लिट् ने सम्पादित करके इसे एक नए रूप मे प्रस्तुत किया है। विद्वान सम्पादक ने इस कथा के अपभ्र श सस्कृत, गुजराती, मराठी एव हिन्दी-रूपो को भी पाठको के सामने रखा है। परिशिष्ट मे मत्स्यगधा की कथा (महाभारत से) नागश्री सुकुमालिका कथा (नायाधम्मकहाओ से) श्रावक सुता कथानक (श्रावकप्रज्ञप्ति टीका मे) तथा लक्ष्मीमती कथानक (हरिवश पुराण मे) को भी रखा गया है। इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो सकता है कि एक ही कथा मे किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं एव स्थानीय मान्यताए किस रूप मे कथा की मूल भावना को प्रभावित करती हैं। इसी सुगन्धदशमी कथा की उपलब्धि (साधारण परिवर्तन के साथ) फ्रेंच और जर्मन कथा-साहित्य मे हुई है। इससे प्रकट होता है कि कथाओ की भी यात्राए बडी लम्बी होती हैं। साहित्य का यह



१ विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्रीहरिषेणाचार्यकृत वृहत्कथाकोश की डा० उपाध्ये लिखित अग्रेजी मे भूमिका।



देशाटन बताता है कि सभवत यूरोप और भारत के बीच इस कथानक (सुगन्धदशमी कथा की कथावस्तु) का आदान-प्रदान हुआ है। मैक्समूलर व हेर्टल आदि अनेक विद्वानो ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भारतीय कथाओं का यह अटूट प्रवाह अति प्राचीन काल से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता रहा है जिसके फलस्वरूप वेदकालीन, जातक सम्बन्धी तथा पचतत्र हितोपदेश व कथासरित्सागर आदि भारतीय आख्यान साहित्य मे निबद्ध अनेक लोक कथाए पाश्चात्य देशो मे जाकर वहा के वातावरण के अनुकूल हेर-फेर सहित प्रचलित हुई है। उक्त यूरोपीय कथा के सबमे प्राचीन लेखक चार्ल्स परोल्ट का जीवनकाल सन् १६२८ से १७०३ तक माना गया है। उनसे पूर्व इस कथानक के यूरोप मे प्रचलित होने का कोई प्रमाण हमारे सम्मुख नही है। इसकी तुलना मे भारत की सुगधदशमी कथा की परम्परा अति प्राचीन है। इसका मराठी अनुवाद जिनसागर द्वारा सन् १७२४ के लगभग, सस्कृत अनुवाद श्रुतसागर द्वारा व गुजराती अनुवाद जिनदास द्वारा सन् १४५० के लगभग, एव अपभ्र श की मूल रचना सन् ११५० ई० के लगभग हुई पाई जाती है। अत कोई आश्चर्य नही जो अन्य भारतीय कथाओ के सदृश इस कथा का भी देशान्तर-गमन हुआ हो, जिसका प्रचार-क्रम गवेषणीय है।[1]

धैर्य-पूर्वक यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारो ऐसी जैनकथाए उपलब्ध होगी जो सामान्य परिवर्तनो के साथ पाश्चात्य कथासाहित्य मे गुम्फित हैं।

जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जैनकथाओ का कम महत्त्व नही है। यदि प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श आदि भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा कतिपय कथाओ के विविध अनुवादो को सामने रखा जाय तो पाठक को ज्ञात होगा कि किस प्रकार शब्दो के रूपपरिर्वतन होते है तथा प्राकृत का एक शब्द सस्कृत मे आकर किस रूप मे उच्चारित होता है तथा वही शब्द अपभ्र श आदि भाषाओ मे प्रयुक्त होकर कौनसी विकृति की परिधि मे आबद्ध होता है। लेकिन इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययन उन अध्येताओ को ही प्रिय लगेगा जो बहुभाषाविद् है तथा जिनकी भाषाविज्ञान मे विशेष अभिरुचि है। शब्दो के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए ये कथाए बडी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

जैन-कथाओ के अनुशीलन से हमे हजारो ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनमे जैनो की सास्कृतिक भावना अभिव्यजित है। इस प्रकार के शब्द उस युग की चेतना को भी ध्वनित करते हैं जब कि जैनो की समृद्धि एव त्याग-प्रवृत्ति चरम-सीमा को छू रही थी।

यहा कुछ ऐसे विशेष शब्द दिये जाते हैं, जो हिन्दी जैन-कथाओ मे प्रयुक्त हुए हैं तथा इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन बडा ही महत्त्वपूर्ण है।

१ न्योता (निमत्रण) २ कोहवर (कौतुकगृह) ३ मडवा (मण्डप) ४ ककन (ककण) ५ सिन्होरे (सिन्दूर-दानी) ६ पितरनवेती (पितृनिमत्रण) ७ बदरिया (बद्‌लिका) ८ पोखर (पुष्कर) ९ गौरा (गौर), १० कौआप (काक-पक्षी) आदि।

जैन-ग्रथो मे आए हुए निम्न कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ जैनाम्नाय के अनुकूल ही मान्य होगा। यह विशिष्ट अर्थ शब्दो की अभिव्यजना-शक्ति का द्योतक है —

१ तोक—पुत्र।
२ दरवल्ल—ग्राम-प्रधान अथवा प्रासाद।
३ गवाशन—जाति-बहिष्कृत।
४ प्रतिमा—त्याग की एक सीमा।
५ लेश्या—भावना।

---

१ सुगधदशमी कथा (सम्पादक डा० हीरालाल जैन) प्रस्तावना पृष्ठ १५

६ अणुव्रत—पापो का कुछ सीमा तक त्याग ।
७ महाव्रत—पापो का सर्वथा त्याग ।
८ सम्यग्दर्शन—देव-शास्त्र-गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास ।
९ प्रातिहार्य—वैभवविशेष ।
१० दिव्यध्वनि—केवली के मुख से निकली हुई ध्वनि ।
११ सत्—उत्पादव्यय एव ध्रौव्य से युक्त पदार्थ ।
१२ जिन—जिनेन्द्रदेव, (जैनो के आराध्यदेव) ।

अनेकान्त—विभिन्न दृष्टिकोण । यह जैनधर्म का प्रमुखवाद है जो सम्वन्ध का प्रतीक है एव इसके अनुसार द्रव्य मे अनेक धर्मो की स्थिति मानी जाती है ।
धर्म-द्रव्य—स्थिति का माध्यम, जो जीव और पुद्गल को चलने मे सहायता करता है ।
अधर्म-द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को ठहरने मे सहायता करता है ।
आकाश—यह सभी द्रव्यो को स्थान देता है ।
कालद्रव्य—जो वस्तुमात्र के परिवर्तन मे सहायक है ।
वध - जीव और कर्म का परस्पर मे मिल जाना ।
सवर—आस्रव के रोकने को सवर कहते हैं ।
पाक्षिक-श्रावक—जो एक देश मे हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म को स्वीकार करने का इच्छुक हो ।
क्षपणक—जैन साधु ।

जैन-कथाओ मे चित्रित लोक-सस्कृति

जैन-कथाओ मे लोक सस्कृति का मनोरम चित्रण मिलता है । वस्तुत लोकसस्कृति को अपनाने के कारण ही ये कथाए विशेष लोकप्रिय बनी है । मानव के विश्वास, आराध्य देवी-देवता, वेश-भूषा, व्यवसाय, मान्यताओ आदि का विशद चित्रण इन कथाओ मे हमे सुगमता से उपलब्ध होता है । कथाकारो ने जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथाओ की सर्जना की है और ग्रामो के वातावरण मे रहकर अपनी काव्य-साधना को श्रेयस्कर बनाया है ।

सस्कृति, अन्तर की तथा वाह्य जीवन की अभिव्यक्ति है । इसके अन्तर्गत हमारे जीवन के सभी भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आ जाते है । वास्तव मे हर समाज के मूल मे कुछ नैतिक स्तर, धार्मिक विश्वास, सस्कार, सामाजिक नियम तथा अन्य सामाजिक क्रिया-कलाप होते है जिनको सामाजिक तथा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती है । इन सब की पृष्ठ-भूमि मे युगो-युगो से चला आता इतिहास छिपा रहता है । हर देश तथा समाज की उत्कृष्ट सस्कृति की आधारशिला वहा का लोक समाज होता है । इसी लोक-समाज की सस्कृति लोक-सस्कृति कहलाती है । लोक-सस्कृति पक्ति-बद्ध कोई लेखा नही अपितु एक मानसिक धरोहर तथा विश्वास है जो लोक-मानव को युगो से पीढी-दर-पीढी विरासत के रूप मे मिल रही है । यद्यपि सभ्यता, इस सस्कृति मे सामयिक परिवर्तन करती रहती है, परन्तु लोक-मानव इस सभ्यता की उसी सस्कृति को मानता है तथा मानना चाहता है । यदि यह परिवर्तन करता भी है तो परिस्थितिगत विवशता के कारण ही करना पडता है । इसीलिए किसी भी देश की लोक-सस्कृति मे स्थायित्व होता है ।

हमारे देश मे लोक-सस्कृति धर्मपरायण है तथा आदर्शवाद के तत्त्वो को निरन्तर अपनाती रहती है । जैन लोकसस्कृति मे विरक्ति, करुणा, उदारता, सेवा, त्याग, अहिसा, कर्मवाद, अनेकान्तवाद आदि के मधुर स्वर चिरकाल से ध्वनित हो रहे है ।



---

१ खडी बोली का लोक-साहित्य (डा० सत्या गुप्ता) पृष्ठ ३३१

पाप पुण्य एवं भाग-आगम का शाश्वत संघर्ष है। अतः सदाचार तथा अनाचार के चित्रण में सदाचार और मानवता सफलमनोरथ सिद्ध हुई है। फिर भी दुष्टता का अभाव होना कल्पनातीत है। दुष्टता के बिना सौजन्य आकर्षणहीन बन सकता है। इसी प्रकार दुर्जनत्व सज्जनता के प्रभुत्व में अभिवृद्धि करता है। ऐसी स्थिति में इन कथाओं की कथावस्तु दोनों को लेकर आगे बढ़ती है, लेकिन परिसमाप्ति पर दुर्जनता प्रभावहीन अन्धकार में सिमट कर रह जाती है और सौजन्य दिनकर की भाँति प्रकाशित होता है। आजीविका के अनेक साधन थे फिर भी व्यापार तथा खेती की प्रधानता प्राचीनकाल से उल्लेख्य है। नौकरी के प्रति जनता का अधिक आकर्षण न था। धन कमाकर मानव दान के प्रति उत्सुक रहता था, एवं धार्मिक कार्यों में भी यथाशक्ति व्यय करता था। सहयोग की भावना वैमनस्य को पुष्पित न होने देती थी। समस्त धर्मों के प्रति अनुराग होने पर भी जनता स्वकीय धर्म साधना में सजग रहती थी। समाज सुगठित था, तथा विरोधी-तत्त्वों का दमन सामूहिक रूप से हुआ करता था। इस सम्बन्ध में आराधना-कथा-कोष, भाग-१ २, जैन-कहानियाँ, गोम्मटसार की कहानियाँ, एवं पुण्याश्रव कथा-कोष द्रष्टव्य है। नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में भी कुछ लोग संलग्न रहते थे लेकिन उनकी संख्या अल्प थी। सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए मानवों के सन्मुख शील की महिमा प्रस्तुत की जाती थी। परिणामस्वरूप युवक ब्रह्मचारीव्रती एवं तथा युवतियाँ पातिव्रत परायण थीं। (देखिये शीलव्रती सुदर्शन एवं नीली और अंजना सती की कथायें)। नारी का प्राचीन युग में विशेष सम्मान था तथा समाज उन्हें समय-समय पर आदर देकर आदर्श उपस्थित करता था। (सती सीता की कथा इस सन्दर्भ में विशेषतः उल्लेख्य है।) युवतियाँ स्वयं धर्म परायण थीं और अपने पति को भी धार्मिक बनाने में पूर्ण सहयोग देती थीं। (देखिए भावदत्त और नागदत्ता शीर्षक कहानी)। बलि-प्रथा प्रचलित अवश्य थी, लेकिन जैन-कथा साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जैनों ने इसका सदैव विरोध किया है। (देखिये जयसेन राजा की कथा आराधना कथा कोष तीसरा भाग।)

यद्यपि वैवाहिक सम्बन्धों में उदारता प्रदर्शित की जाती थी फिर भी जैन-अजैनों का विवाह सम्बन्ध प्रायः वर्जित था। (नीली की कथा, आराधना-कथा-कोश दूसरा भाग)। मन्त्र-शक्ति पर जनता का प्राचीन काल में अधिक विश्वास था। तपस्वी मन्त्रों की साधना से गगनगामी बन जाते थे तथा शारीरिक व्याधियों को भी शान्त कर देते थे। (पाराशर मुनि की कथा, आ० क० कोश भाग २।) हत्या के अपराध में दोषी को प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। (सुकुमाल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। बहुपत्नी-प्रथा का भी प्रचलन था। (सुकोशल मुनि की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। सम्पन्न व्यक्ति पुत्री के विवाह के समय दामाद को दहेज में बहुत कुछ धन सम्पत्ति दिया करते थे। (गुणसेन धीवर की कथा आ० क० कोश भाग दूसरा)। बृहत्कथा कोष की कथायें ११-११९, १३ ३१, २४-२८ ७८-८७ बताती हैं कि अपराधी को गधे पर बैठाकर गाँव-नगर में घुमाया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति को राज्याधिकार में कर लिया जाता था। काले वस्त्रों तथा काले वेश को पुरस्कार में देना अपमानजनक समझा जाता था। बृहत्-कथा-कोश कथा-संख्या १५७-१०)।

भक्तामर-कथाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भगवान् जिनेन्द्र के परम भक्त जैन विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए तथा सांसारिक वैभव की प्राप्ति के हेतु मन्त्रों को सिद्ध करते थे तथा विजया, प्रभावती, अजिता, ब्राह्मी, जयदेवी, गतिदेवी, जगदेवी, महादेवी, रोहिणी देवी, धृतदेवी, पद्मावती देवी आदि अनेक देवियों की प्रसन्नता प्राप्त कर सफल मनोरथ होते थे। इन कथाओं के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि पुरातन काल में ग्राम्य जीवन विशेष समृद्ध एवं सुखमय था। कृषि से कृषकों को पर्याप्त आय होती थी तथा खाद्य पदार्थ अत्यल्प मूल्य में प्राप्त हो जाते थे। सुख और समृद्धि परिलक्षित होती थी। धनिक हीरा-पन्ना मोती आदि के सुन्दर आभूषण पहनते थे तथा महिलाएँ भी विविध सोने-चाँदी के अलंकारों से अपने मनोरम शरीर का शृंगार किया करती थीं। अनेक प्रकार के सुरभित लेपों के प्रयोग से इन रमणियों का सौन्दर्य सदैव आकर्षक बना रहता था। घी दूध की कमी न थी तथा साधारण ग्रामवासी भी सैकड़ों गायों को रखता था। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित आनन्द आदि श्रावकों के यहाँ हजारों गायें थीं। दूध, दही, घी, शक्कर विविध दालें, सुगन्धित चावल, अचार, मिठाइयाँ आदि भोजन के प्रमुख तत्त्व थे। रंगीन वस्त्रों के प्रति कामिनियों की अधिक रुचि थी। बालक बालिकायें भी अलंकारों से सुसज्जित रहते थे। रेशमी वस्त्र मनुष्य अधिक पहनते थे। सुन्दर गृहों में रहकर सम्पन्न व्यक्ति सांसारिक विषयों का भी

सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे तथा आवश्यकता पडने पर धन-अन्न वस्त्रादि से उनकी सहायता करते रहते थे। मनोविनोदार्थ कई प्रकार के खेल भी खेले जाते थे। चौपड द्यूत आदि का भी प्रचलन था। इस प्रकार कथाओ मे चित्रित लोक सस्कृति बडी सुहावनी लगती है।

जैन-कथाओ की प्ररूढियाँ

कथाओ के निर्माण मे प्ररूढियो का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार गृह के आकार को स्थूल रूप देने के लिए ईंट, पत्थर, चूना, लकडी आदि की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार कथा के स्वरूप मे स्थिरता लाने के लिए, उसे विशेष मनोरञ्जक बनाने के लिए तथा उसमे रोमाच की अभिवृद्धि के हेतु प्ररूढियो का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। प्ररूढि को अभिप्राय भी कहते हैं। इसे अग्रेजी मे 'मोटिव' नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० श्यामाचरण दुवे इस अभिप्राय को कथा का मूल भाव मानते है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे कथानक-रूढि के रूप मे स्वीकृत करते है जबकि कृष्णानन्द गुप्त ने इस अभिप्राय को कथानक का मुख्य लक्षण कहा है। डॉ० कन्हैयालाल सहल मोटिव के लिए प्ररूढि शब्द को अपनाते हुए लिखते हैं—"प्ररूढि शब्द मे आवृत्ति और गति दोनो का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए 'मोटिव' के रूप मे प्ररूढि शब्द अपनाया जा सकता है।"[1]

"कहानियो के लिए अभिप्रायो का वैसा ही महत्त्व है जैसा किसी भवन के लिए ईंट-गारे का अथवा किसी मदिर के लिए नाना भाति से उकेरे हुए शिलापट्टो का।"[2]

"कथानक रूढि—सामान्यतया रूढि और अभिप्राय का प्रयाग एक दूसरे के पर्याय के रूप मे किया जाता है। अभिप्राय जिसे अग्रेजी मे मोटिव कहते है उस शब्द अथवा साचे मे ढले हुए उस विचार को कहते है जो समान परिस्थितियो मे अथवा समान मन स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियो मे बार-बार आता है। विभिन्न कलारूपो के अपने अलग अलग अभिप्राय होते है। चित्रकला मे अभिप्राय का अर्थ होता है—"कोई चर या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलकृत एव अतिरञ्जित आकृति मुख्यत सजावट के लिए किसी कलाकृति मे बनाई जाय।" प्रत्येक देश के साहित्य मे भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढिया बन जाती है और यात्रिक ढग से उनका प्रयोग साहित्य मे होने लगता है, इन सभी रूढियो को साहित्यिक अभिप्राय करते है।

भारतीय साहित्य मे परकायप्रवेश लिंगपरिवर्तन, पशुपक्षियो की बात चीत किसी बाह्य वस्तु मे प्राणो का बसना, अदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक-रूढिया प्रधानतया दो प्रकार की हैं—एक लोकविश्वास पर आधारित दूसरी कविकल्पित। हिन्दी साहित्य मे सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" मे उन साहित्यिक अभिप्रायो की ओर ध्यान आकर्षित किया।"[3]

ये प्ररूढिया कथावस्तु मे नए-नए मोडो को जन्म देती है और कथानक को अधिक आकर्षक बनाती है। इनके माध्यम से लोक की मान्यताओ एव विश्वासो का भी विश्लेषण किया जा सकता है।

इन अभिप्रायो से कथा की व्यापकता सिद्ध होती है तथा विविध रूपो मे फैलती हुई कहानियो की एक-रूपकता का परिज्ञान इन प्ररूढियो से ही सहज मे हो जाता है। कथा की रोचकता मे अभिवृद्धि करने वाले अभिप्राय निरन्तर बढते रहते हैं।

जैन-कथाओ मे कुछ ऐसे विशिष्ट अभिप्राय उपलब्ध होते हैं जो जैनसस्कृति के मूल तत्त्वो को अनावृत करते हुए एक ऐसी प्राचीन परम्परा की ओर सकेत करते हैं जो कई युगो से भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही



---

१ लोक-कथाओ की कुछ प्ररूढियां-उपक्रम

२ लोककथा अक—आजकल, मई १९५४ पृष्ठ ११

३ हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ पृष्ठ २०५

है। इस सदर्भ मे निम्नलिखित कुछ अभिप्राय उल्लेख्य हैं --

१ विलीन होते हुए मेघ को, श्वेत केश को, शव को, बिजली की चमक को, वृद्ध को, नृत्य करती वेश्या को मृत्यु को या कोढी को देखकर विरक्त होना।
२ अवधि ज्ञानी मुनि के द्वारा आयु की समाप्ति जानकर मुनिदीक्षा ग्रहण करना।
३ जैनमुनि के दर्शन या धर्मोपदेश से वैभव का परित्याग कर साधक बनना।
४ जैन-मुनि से पूर्वभव अथवा अपना भविष्य सुनकर विरक्त होना।
५ स्वकीय पापो की आलोचना करते हुए विरागी बनना।
६ शास्त्र-श्रवण से सासारिक भोगो से विरक्ति होना।
७ मत्रो के द्वारा सर्प-दश का शमन होना।
८ मत्रो की सिद्धि से विपुल धन की उपलब्धि।
९ मत्रित पादुकाओ से आकाश मे उडना।
१० श्मशान मे पुत्र-जन्म।
११ दु साध्य कार्यों की पूणता से बुद्धि-परीक्षा।
१२ भाग्यपरीक्षा।
१३ राजकुमार के चुनाव मे हाथी द्वारा माल्यार्पण।
१४ धन से परिपूर्ण जहाज का डूबना।
१५ जलदेवी द्वारा आशीर्वाद।
१६ अगारो को छूकर निर्दोषिता प्रमाणित करना।
१७ अग्नि-कुण्ड मे कूदकर निर्दोषता सिद्ध करना।
१८ सौतेली माता के दुर्व्यवहार से गृह-परित्याग।
१९ शिशु को सदूक मे बन्द करके जल मे प्रवाहित करना।
२० चन्द्र-ग्रहण काल मे मत्र-सिद्धि।
२१ प्रहेलिकाएँ पूछ कर बुद्धि की परीक्षा करना।
२२ मुनि के आशीर्वाद से रोग का शमन होना।
२३ गधोदक से कुष्ठ-रोग की समाप्ति।
२४ पद प्रक्षालन से पति की पहचान।
२५ पद-स्पर्श से कपाटो का खुलना और इस प्रकार सच्चरित्रता को प्रमाणित करना।
२६ पूर्व जन्म के पाप-पुण्य को अगले जन्म मे भोगना।
२७ अपनी बात मनवाने के लिए स्त्री का हठ करना।
२८ पुण्य-फल के रूप मे समस्त कलाओ की शीघ्र प्राप्ति।
२९ मरणासन्न पशु-पक्षी का णमोकार मत्र सुनकर स्वर्ग मे जाना।
३० अम्रत फल खाकर अमर बनना। अतिशयशाली जैन मुनि के प्रभाव से शुष्क वृक्ष का पुष्पित होना या छ ऋतुओ का एक साथ आविर्भाव।
३१ कुपित सिंह का मत्र के प्रभाव से नतमस्तक होना, युद्ध मे विजय प्राप्त होना, क्षुब्ध सागर का शात होना, अक्षय भडार होना।
३२ स्तोत्र के पाठ से असाध्य रोग से मुक्ति, सर्प-विष का नाश, कारागार से मुक्ति एव बन्धनो का विच्छिन्न होना।
३३ भव्य पशु-पक्षियो द्वारा जैन मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मास का परित्याग।
३४ जादू-टोना से असाध्य कार्यों का साध्य होना।
३५ पुण्य के प्रभाव से अग्नि का जल के रूप मे परिवर्तित हो जाना।

३६ पौरुष की परीक्षा ।
३७ मिथ्या भाषण से जीभ का स्वय कटकर गिरना अथवा सिंहासन का अधोलोक मे जाना ।
३८ चौपड खेलते हुए अगूठी का अपहरण ।
३९ शील-भावना के प्रभाव से देवता के आसन का कम्पित होना ।
४० किंजल्क जाति के पक्षी के प्रभाव से महामारी दुर्भिक्ष अपमृत्यु रोग, आदि का शमन होना ।
४१ जैन-मुनि की निन्दा या अपमान से कुष्ठ रोगी होना और पशुगति मे जाना ।
४२ स्वमित्र के प्रबोधनार्थ स्वर्ग से देवता का मध्यलोक तथा अधोलोक मे जाना ।
४३ जल मे लिखे हुए मन्त्र का पाव से मिटाना तथा इस पाप से नरक मे जाना ।
४४ शास्त्राभ्यास तथा मुनिदर्शन से जातिस्मरण होना ।
४५ चोरी से उपार्जित अन्न-भक्षण से चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त होना ।
४६ त्रिविक्रम व्रत की भावना से रोगादि का नष्ट होना ।
४७ स्वप्नो के द्वारा शुभाशुभ भविष्य का सकेत ।
४८ जैन-मुनि के दर्शन-मात्र से शकाओं का निर्मूल होना ।
४९ कठिन प्रश्नो के उत्तरो की खोज मे बुद्धिमती नारी का सहयोग मिलना ।
५० अपने कुकृत्यो की आलोचना से पाप-मुक्ति ।

जैन-कथाओ की विशेषताए

जैन-कथाओ की कुछ ऐसी विशिष्टताए है जिनके कारण विश्व के कथाकारो ने इन्हे प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो रूपो मे अपनाया है । जैनकथाओ के कुछ ऐसे तत्त्व है जो सार्वभौम होने के कारण अन्य धार्मिक कहानियो को विविध रूपो मे प्रभावित कर सके है । हिन्दु धर्म की हजारो ऐसी कथाए प्रचलित है जिनके अध्ययन से अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन कहानियो के उदात्त कथानक जैन-कथा साहित्य मे केन्द्रबिन्दु के रूप मे बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे, जिन्हे परवर्ती कथाकारो ने आकर्षण-वश अपनाया है और कई विशिष्ट काव्यो की सर्जना की है । इन कल्याणदायिनी कहानियो मे केवल पारलौकिक अथवा अध्यात्मवाद की ही प्रमुखता नही है अपितु लौकिक जीवन के धरातल पर गौरवशाली त्यागभाव को इस प्रकार अभिव्यजित किया गया है कि साधक अपने चरम लक्ष्य को बडी सुगमता से जान सकता है । यहा दोनो का समन्वयात्मक रूप दृष्टव्य है । सक्षेप मे इन विशेषताओ को निम्न रूपो मे आकलित किया जा सकता है —

(१) रोचकता
(२) विश्वकल्याण की भावना का प्राधान्य ।
(३) शान्त रस की व्यापकता ।
(४) कर्मसिद्धान्त का निरूपण ।
(५) निश्चयनय एव व्यवहारनय का समन्वय ।
(६) जीवन के चरम लक्ष्य का निरूपण ।
(७) सघर्षों को सहने की प्रेरणात्मक अनुभूति ।
(८) सामाजिक वैभव की क्षणभगुरता का मनोरम चित्रण ।
(९) नारी की उदात्त मनोवृत्तियो की अभिव्यक्ति ।
(१०) कौतूहल का पर्याप्त सम्मिश्रण ।
(११) मानवीय तत्त्व को अधिक आकर्षक बनाने के हेतु अमानवीय तत्त्वो का समानुदानिक प्रयोग ।
(१२) औत्सुक्य को जागृत रखने के लिये अलौकिकता की अभिव्यजना ।
(१३) लोक-जीवन का सफल अभिव्यजन ।
(१४) आदर्शवाद एव यथार्थवाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सन्तुलित निरूपण ।



(१५) विशुद्ध शृ गार का चित्रण एव अश्लील शृ गार का पूर्ण अभाव ।
(१६) विविध विषयो (गणित, ज्योतिष, न्याय, राजनीति, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि की चर्चा का समावेश ।
(१७) पाप पुण्य की रोचक व्याख्या ।
(१८) प्रकृति का रमणीय चित्रण ।
(१९) भारत के प्राचीन वैभव की अनुपम अभिव्यजना ।
(२०) ऐतिहासिक तत्त्वो की निष्पक्ष एव समुचित व्याख्या ।
(२१) वर्णन की स्वाभाविकता ।
(२२) कहानी की सुखद परिसमाप्ति ।
(२३) तात्विक दृष्टि से आत्म-चिंतन का प्राचुर्य ।
(२४) सूक्तियो के प्रयोग ।
(२५) कल्पना का उचित उपयोग ।
(२६) रूपको एव प्रतीको का विभिन्न रूपो मे प्रयोग ।
(२७) लोक-प्रचलित उदाहरणो के माध्यम से सैद्धान्तिक गहन विषयो का सुगम निरूपण ।
(२८) विभिन्न भाषाओ एव बोलियो की शब्दावली का उदारतापूर्वक प्रयोग ।
(२९) जैनधर्म की उदारता को प्रमाणित करने के हेतु जाति-बन्धन के शैथिल्य का चित्रण ।
(३०) पशु-पक्षियो का मानवीकरण ।
(३१) जैन-तपस्वियो की सहनशीलता एव महानता का अलौकिक अकन ।
(३२) परम्पराओ उत्सवो एव मगलमय आचारो तथा व्यवहारो का सहज उल्लेख और विवरण ।
(३३) वर्ग विशेष के सास्कृतिक चित्रण के साथ-साथ एक विशाल सस्कृति की सुहावनी अभिव्यजना ।
(३४) यथावसर विभिन्न कलाओ का स्वाभाविक वर्णन ।
(३५) मर्मस्पर्शी भावाभिव्यजना एव सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की मूर्त्त अभिव्यक्तियाँ ।
(३६) समयानुवर्तिनी सभ्यता का गतिशील वर्णन ।
(३७) मानवीय नैसर्गिक प्रवृत्तियो का सीमाबद्ध चित्रण ।
(३८) स्थानीयता का पुट ।
(३९) सशक्त वातावरण की अभिव्यक्ति ।
(४०) अतीत काल के साथ वर्तमान की अभिवृद्धि की कामना ।
(४१) कृत्रिमता का पूर्ण अभाव आदि ।

अभिप्राय यह है कि जैनकथासाहित्य विश्वसाहित्य के विशाल भडार की एक बहुमूल्य निधि है । जिसकी अपनी विशेषतायें है, मौलिकता है । इस साहित्य का विशेष प्रचार और प्रसार होने पर ही पूरी तरह मूल्याकन किया जा सकता है ।

जैन-तंत्र-साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा
बीकानेर



जैनधर्म भारत का एक प्राचीनतम धर्म है। इसके प्रवर्त्तक चौबीस तीर्थंकर भारत-भूमि में ही पैदा हुए, यहीं साधना कर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव, जिनका पावन चरित्र भागवत आदि पुराणों में भी पाया जाता है, यावत् वेदों में भी नामोल्लेख प्राप्त है, जैन मान्यतानुसार सारे ज्ञान-विज्ञान या संस्कृति के प्रवर्त्तक आदि पुरुष थे। इसीलिए उन्हें आदिनाथ या आदीश्वर कहा जाता है। नाथपंथ के प्रवर्तक भी आदिनाथ माने जाते हैं पर संभव है वे बाद के कोई अन्य व्यक्ति हों। प्राचीन जैनागमों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव से पूर्व यह आर्यावर्त भोग भूमि थी। अर्थात् उस समय के लोग वृक्षों के फलादि से अपना जीवननिर्वाह करते थे। असि-मसि और कृषि का व्यवहार तब तक नहीं था। एक बालक और बालिका का युग्म साथ ही जन्मता और वयस्क हो जाने पर उनका सम्बन्ध पति-पत्नी का हो जाता था। उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से होती थी, इसलिए परवर्ती साहित्य में कल्पवृक्ष की उपमा इस अर्थ में रूढ़ हो गई कि जिसके द्वारा मनोवाञ्छित की पूर्ति हो जाय और वस्तु प्राप्त हो जाय वह कल्पवृक्ष के समान है।

भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्पवृक्ष फल कम देने लगे और तत्कालीन युगल स्त्री-पुरुषों की आवश्यकताएं पूर्वापेक्षया बढ़ गईं, फलतः संघर्ष होने लगा। उनके वाद-विवादों और अनैतिक कार्यों को रोकने के लिए शासन-व्यवस्था व राजा की आवश्यकता हुई। भ० ऋषभदेव से पहले शासकों की नीति 'ह'कार 'म'कार और धिक्कार की रही। उन शासकों की संज्ञा कुलकर बतलाई गयी है। भ० ऋषभदेव के पिता नाभि अन्तिम कुलकर थे। भ० ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र के प्रथम राजा हुए। सरल हृदयवाले उन युगलों के कष्टनिवारणार्थ भगवान् ने असि (शस्त्र), मसि (लेखन), और कृषि आदि कार्यों की उन्हें जब शिक्षा दी तब से यह भूमि भोगभूमि की जगह कर्मभूमि बन गई। भ० ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत के नाम से हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। जैनागमों ने उन्हें प्रथम चक्रवर्ती कहा है। भ० ऋषभ के अन्य ९९ पुत्र थे और २ पुत्रियाँ थीं। इनमें से बड़ी ब्राह्मी को ऋषभदेव ने लिपि अर्थात् लेखन विद्या सिखलाई। इसलिए भारत की प्राचीनतम लिपि को 'ब्राह्मी' लिपि कहा जाता है। दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंक अर्थात् गणितविद्या सिखलाई। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग सूत्र में भ० ऋषभदेव एवं भरत का चरित्र संक्षेप में वर्णित है। उसमें कहा गया है कि पुरुषों की ७२ कलाओं और स्त्रियों के ६४ गुणों या विद्या की शिक्षा भ० ऋषभदेव ने दी। इन कलाओं और विद्याओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जैनआगमों की यह मान्यता है कि मन्त्र और तन्त्र के प्रवर्तक आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव हुए।

संघदासगणिरचित 'वसुदेव-हिण्डी' नामक पांचवीं शताब्दी के प्राकृत-कथा-ग्रन्थ के चतुर्थ लम्भक में भ० ऋषभदेव का चरित्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक विस्तार से दिया है। इसमें एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख इस प्रकार है—जिसका सम्बन्ध तन्त्र-मन्त्र शास्त्र से है। कहा गया है कि भ० ऋषभदेव ने जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तो उनके प्रिय कच्छ और महाकच्छ नामक दो कुमारों के पुत्र नमि-विनमि कहीं बाहर गए हुए थे। ऋषभदेव ने राज्य-ऋद्धि आदि १०० पुत्रों में बाँट दी और स्वयं सन्यासी बन गए। बाद में नमि एवं विनमि आये और ऋषभदेव की खोज



करते हुए उनके पास जा पहुचे। जब भगवान् ध्यान करते थे, वे हाथ मे तलवार लेकर उनकी सेवा मे खडे रहते। एक बार ऋषभदेव को वन्दन करने के लिए नागराज धरण अर्थात् धरणेन्द्र आये और उन्होने नमि-विनमि को सेवा मे उपस्थित देखकर पूछा कि तुम लोग भगवान् की सेवा किस उद्देश्य से कर रहे हो? उन्होने कहा - प्रभु ने सब पुत्रो को अपनी भूमि व सम्पत्ति बाँट दी, हम उस समय दूर थे, इसलिए अब सेवा मे आये हैं। प्रभु कृपा करके हमे भी यथोचित देगे! नागराज ने हसकर कहा—अरे भाई, ये सब कुछ त्याग चुके है। इन्होने योग और सन्यास को ग्रहण कर लिया है। अब इनके पास क्या है जो तुम्हे देगे? खैर, तुमने लम्बे समय तक भगवान् की उपासना की है, उसका फल तो तुम्हे मिलना ही चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर वैताढ्य पर्वत के दोनो ओर की दो श्रेणियां और विद्याए देता हूँ। तुम दोनो वहाँ जाकर बस्ती बसाओ और आनन्द से रहो। वैताढ्य पर्वत बहुत दूर है, वहाँ पहुँचने के लिए आकाश-गामिनी आदि विद्याए देता हूँ। उन्होने बडी विनम्रता से उन विद्याओ को ग्रहण किया। नागराज ने महा-रोहिणी, पज्ञप्ति, गौरी, विद्युन्मुखी, महाज्वाला, तिरस्करणी, बहुरूपा आदि गन्धर्वो और पन्नगो की ४८ हजार विद्याए उन्हे दी। उन्होने नागराज की कृपा से वैताढ्य की उत्तर व दक्षिण श्रेणी मे क्रमश विनमि ने गगनवल्लभ आदि ६० नगर बसाये और नमि ने रथनुपुर चक्रवाल आदि ५० नगर बसाये। विद्याओ के धारक होने के कारण वे विद्याधर कहलाये। उन विद्याधरो की कुछ विद्याओ और नामो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गौरी विद्या से गौरिक, मनु से मनु-पूर्वक, गान्धारी से गाधार, मानवी से मानव, केशिका से केशिकपूर्वक, भूमि तुण्डक विद्या के अधिपति भूमि-तुण्डक, मूल-वीर्या से मूलवीर्य, शकुका से शकुक, पाडुकी से पाण्डुक, कालिकी से कालिकेय, मातगी से मातग, पार्वती से पार्वतेय, वशलता से वशलता, पासुमूलिका से पासुमूलक, वृक्षमूलिका से वृक्षमूलक, कालिका से कालकेश, इस प्रकार १६ निकाय (वर्ग) हुए। नमि और विनमि ने ८-८ निकाय ग्रहण किये। इस प्रकार मनुष्य होते हुए भी विद्याबल से उन्होने देव के समान भोग भोगे और सुख प्राप्त किया। अपने नगरी के सभास्थानो मे भगवान् ऋषभदेव की स्थापना की और अपने अपने निकाय मे उस निकाय की विद्या के अधिपति देवता की भी स्थापना की गई। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ मत्र-तन्त्र ही अभिप्रेत है। परवर्त्ती जैनसाहित्य मे भी यह शब्द प्राय इसी अर्थ मे प्रचुरता से प्रयुक्त होता रहा है। १४ पूर्व ग्रथो मे एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी है जिसमे प्रमुखता से विद्याओ अर्थात् तत्र-मत्र का ही वर्णन था। दिगम्बर ग्रन्थो के अनुसार इसमे सातसौ अल्प विद्याओ, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओ एव उन्हे साधन करने की विधि और सिद्ध-विद्याओ के फल व अनेक विद्यातिशयो का वर्णन था। श्वेताम्बर आगम समवायाग के अनुसार विद्यानुवाद मे १५ वस्तुए थी। चौदह पूर्वों का समावेश दृष्टिवाद नामक अगसूत्र मे होता है और वह अगसूत्र विच्छेद हो चुका है, इसलिए हम जैन मत्र तत्रवाद के बहुत बडे साहित्य से वचित हो गये हैं। इतना ही नही, इस विषय के कई प्राचीन ग्रथ जो जैनाचार्यो ने बनाए थे, वे भी अब नही मिलते। जैन ग्रन्थो के अनुसार विद्याधरो की सख्या बहुत विशाल थी और चिरकाल तक उनकी परम्परा चलती रही है। जैनाचार्यों के ४ कुलो मे एक विद्याधर कुल भी था, उस कुल की परम्परा मे भी अनेको विद्याओ के ज्ञाता और उनके प्रयोग से चामत्कारिक सिद्धि प्राप्त आचार्य होगये है। जैनआगमो मे ऋद्धि अर्थात् विशेष प्रकार की चामत्कारिक शक्तिवाले मनुष्यो के छ भेद बतलाये हैं। १ अरिहत २ चक्रवर्त्ती ३ बलदेव ४ वासुदेव ५ चारण—जघा-चारण, विद्याचारण साधु, ६ विद्याधर अर्थात् विद्याधरो का एक वर्ग विशेष था जो मत्र-तत्रादि मे निपुण होते थे। अपनी विद्याओ के बल से वे विमानो द्वारा आकाश मे यात्रा करते थे और अनेक चामत्कारिक सिद्धियाँ उन्हे प्राप्त थी। चारण मुनियो मे विद्याचारण को अलग स्थान दिया गया है। वे किसी मन्त्राक्षर का उच्चारण करते ही आकाश मार्ग मे उडकर इच्छित स्थान मे पहुँच जाते थे। ऐसे आकाशगामिनी विद्यावाले अनेक मुनियो के उल्लेख जैनग्रथो मे प्राप्त हैं। तप-विशेष के द्वारा भी अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की जाती थी, जिनकी सज्ञा 'लब्धि' पाई जाती है। ये लब्धियाँ अनेक प्रकार की होती थी, इनका विशद वर्णन भी जैनागमो मे मिलता है।

विद्यानुवाद पूर्व के अतिरिक्त दशवे अगसूत्र प्रश्नव्याकरण मे भी मत्रविद्या और विद्यातिशयो का वर्णन था। खेद है कि वह अगसूत्र भी लुप्त होगया। आज उसके बदले मे उसी नाम का जो सूत्र प्रसिद्ध है वह मूलग्रथ से सर्वथा भिन्न है।

परवर्त्ती ग्रथो मे स्त्री-देवताधिष्ठित को विद्या और पुरुष देवताधिष्ठित को मत्र माना गया है। अथवा पाठ करने मात्र से जो कार्य मे साधक हो उसे मत्र व जप होम आदि विधिसाध्य हो उसे विद्या कहा जाता है। वसुदेव हिण्डी

मे जो सोलह निकाय बतलाये हैं, उनमे आगे चलकर कुछ परिवर्तन हुआ मालूम देता है। इसलिए पीछे के ग्रंथो मे विद्याओ की अधिष्ठात्री १६ देवियो के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

१ रोहिणी, २ प्रज्ञप्ति ३ वज्रशृंखला ४ वज्रांकुशी ५ अप्रतिचक्रा ६ पुरुषदत्ता ७ काली ८ महाकाली ९ गौरी १० गान्धारी ११ महाज्वाला १२ मानवी १३ वैरुट्या १४ अच्छुप्ता १५ मानसी १६ महामानसी।

निरयावली नामक उपाङ्ग के पुप्फचूला नामक चतुर्थ वर्ग के १० अध्ययनो मे निम्नोक्त १० देवियो के पूर्वभवो का वर्णन पाया जाता है। इनमे से कुछ के नाम तो मत्राक्षरो मे बहुत ही प्रसिद्ध है, इसलिए इन देवियो के पूर्वभवो के वर्णनवाला यह पुप्फचूला वर्ग विशेष महत्त्व का है। चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनो मे १० देवियो के नाम इस प्रकार हैं —

१ श्री २ ह्री ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ७ इलादेवी ८ सुरादेवी ९ रसदेवी १० गधदेवी।

प्राचीन जैनागमो मे तो तीर्थङ्करो के साथ यक्ष और यक्षिणी का कोई सम्बन्ध नही पाया जाता। पर निर्वाणकलिका, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रथो मे चौबीस तीर्थकरो मे से प्रत्येक का सेवक एक देव और एक देवी होना बतलाया गया है। इन्हे शासनदेव और शासनदेवी कहा गया है। चूकि जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकर तो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये अत वे न तो किसी पर प्रसन्न होते हैं और न रुष्ट ही। चाहे उन्हे कोई माने या न माने, इससे उनका कोई सम्बन्ध नही। इसलिए यह मान्यता प्रचलित हुई कि जो तीर्थंकर की भक्ति करते हैं, उन भक्तो के मनोरथ उन तीर्थंकरो के सेवक यक्ष और यक्षिणी पूर्ण करते हैं। २४ तीर्थंकरो के यक्ष और यक्षिणी इसप्रकार हैं —

१ गोमुख २ महायक्ष ३ त्रिमुख ४ यक्षनायक ५ तुबरु ६ कुसुम ७ मातग ८ विजय ९ अजित १० ब्रह्मा ११ यक्षराट् १२ कुमार १३ षण्मुख १४ पाताल १५ किन्नर १६ गरुड १७ गान्धर्व १८ यक्षराज १९ कुबेर २० वरुण २१ भ्रकुटि २२ गोमेध २३ पार्श्व २४ ब्रह्मशान्ति।

यक्षिणी—१ अप्रतिचक्रा (चक्रेश्वरी), २ अजितबला (३) दुरितारि ४ कालिका ५ महाकाली ६ श्यामा ७ शान्ता ८ भृकुटि (ज्वालामालिनी) ९ सुतारका १० अशोका ११ मानवी (श्रीवत्सा) १२ प्रचण्डा (चडा) १३ विदिता (विजिया) १४ अकुशा १५ कन्दर्पा (प्रज्ञप्ति) १६ निर्वाणी १७ बला (अच्युतबला) १८ धारिणी १९ वरणप्रिया २० वरदत्ता (अच्छुप्ता) २१ गाधारी २२ कूष्माण्डी (अम्बिका) २३ पद्मावती २४ सिद्धायिका।

इन यक्ष—यक्षिणियो के वाहन, वर्ण, भुजाओ, अस्त्रो आदि का वर्णन निर्वाणकलिका तथा वास्तुसार आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। इनमे से चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती देवियो की उपासना विशेषरूप से प्रचलित है।



इनके अतिरिक्त सरस्वती देवी की उपासना भी जैनसमाज मे पर्याप्त प्राचीनकाल से प्रचलित रही है। भारत मे सबसे प्राचीन सरस्वती की मूर्त्ति मथुरा के जैनपुरातत्त्व मे ही मिली है। मध्यकालीन अनेक भव्य और सुन्दर जैन सरस्वती की मूर्त्तियाँ प्राप्त हैं जिनमे पल्लू से प्राप्त दो प्रतिमाए तो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण विश्वविख्यात हैं। समय समय पर कई जैनाचार्यों व मुनियो ने सरस्वती देवी की आराधना करके बहुत ही सफलता प्राप्त की थी। राजस्थान के अजारा गाँव की सरस्वती मूर्ति बहुत ही चमत्कारी मानी जाती है। उपर्युक्त २४ शासनदेव और देवियो की मूर्त्तियाँ अधिष्ठायक और अधिष्ठात्री के रूप मे प्राय सभी जैनमन्दिरो मे पायी जाती हैं। अर्थात् जिस तीर्थंकर की मूर्त्ति मूलनायक के रूप मे जिस मन्दिर मे स्थापित होती है, उसी तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी की मूर्त्ति उस मन्दिर मे अलग आले या देहरी मे प्रतिष्ठित की जाती है। अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी, वैरोट्या, चक्रेश्वरी आदि के स्वतत्र मदिर या देवकुलिकाए कई स्थानो मे हैं। इन देवियो के स्तोत्र, स्तुति, कल्प आदि प्रचुरपरिमाण मे उपलब्ध हैं। जैनो के अतिरिक्त



जैनेतर भी इन्हे मानते-पूजते है। पार्श्वनाथ के स्तुति, स्तोत्र, मत्र आदि शताधिक मिलते हैं। अम्बिका परवर्त्ती साहित्य मे तो नेमिनाथ की शासनदेवी के रूप मे प्रसिद्ध है पर प्राचीन तीर्थंकर-मूर्त्तियो को देखने से विदित होता है कि अम्बिका का सम्बन्ध केवल नेमिनाथ से ही नही, अन्य तीर्थंकरो के साथ भी माना जाता रहा है। जैन मान्यता के अनुसार ये यक्ष और यक्षिणियाँ मनुष्यो मे से ही मरकर देवरूप मे उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसिद्धि पाती हैं। इसलिए अम्बिका आदि कई देवियो के पूर्वजन्म की कथाए भी जैनग्रन्थो मे प्राप्त है। प्रभावकचरित मे वैरोट्या के पूर्वजन्म की कथा पायी जाती है। ज्वालामालिनी देवी की आराधना दिगम्बर समाज मे अधिक की जाती है।

उपर्युक्त देवी-देवताओ के अतिरिक्त कुछ जैनेतर और बौद्ध देवी-देवताओ की पूजा भी जैन-समाज मे प्रारम्भ हो गई जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। पार्श्वनाथ परम्परा के उपकेश गच्छीय रत्नप्रभसूरि ने ओसियाँ की चामुण्डा देवी को अपने वश मे करके ओसवालो की कुलदेवी रूप मे मान्य बना दिया। जो सच्चायिका के नाम से प्रसिद्ध है। यो दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनो मे बहुत सी जातियाँ प्राय किसी न किसी देवी को अपनी कुलदेवी मानकर उसकी पूजा-उपासना करती हैं। घण्टाकर्ण सभवत बौद्ध-मान्य देव था, शिव के गणो मे भी उसे माना गया है, जैनो ने उसे अपना लिया। घण्टाकर्ण कल्प नामक एक रचना भी मिलती है। बीजापुर, बम्बई के महावीर जिनालय आदि मे तो घण्टाकर्ण की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं और वे काफी चमत्कारी मानी जाती हैं। इसी तरह तपागच्छ मे माणिभद्र यक्ष की अधिक मान्यता है और खरतर गच्छ मे प्रसिद्ध चार दादा गुरुदेवो के भक्त के रूप मे काले और गोरे भैरोजी की। जैन लोग इसी प्रकार स्थानीय देवी-देवताओ को मानने लगे। यति लोग कर्णपिशाचिनी आदि देवियो की उपासनाकर चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने लगे। सम्मेतशिखरजी महातीर्थ के भोमिया जी, नाकोडा पार्श्वनाथ के भैरोजी आदि भी बडे चमत्कारी माने जाते हैं। इस प्रकार अनेक देवी देवताओ की मान्यता जैन समाज मे प्रचलित है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैनसमाज मे शाक्त तत्रो की भाँति पच-मकारादि को कतई स्थान नही दिया गया है। जैन मुनियो का आचार-विचार इतना कठोर है कि तत्रोक्त उपासना उनके लिए किसी भी प्रकार अनुकूल नही थी। इसलिए उन्होने तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को ही अधिक महत्त्व दिया। उच्चकोटि के आचार-विचारवाले ब्रह्मचारी और सात्त्विक जैनमुनियो को देवी देवताओ की आराधना कभी भी दारू, मास आदि कुत्सित वस्तुओ द्वारा नही करनी पडी। मत्र-जाप आदि द्वारा देवी देवता स्वय उनके भक्त बन गये। भगवान् महावीर ने जैन मुनियो के लिए मत्र-जत्र आदि करने का सर्वथा निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन मे अन्य अनेक बातो के साथ मत्रादि से दूर रहनेवाले मुनि को ही सच्चा भिक्षु बतलाया गया है।

> मतमूल विविह वेज्जचित वमण-विरेयण धूमणेत्तसिसाण।
> आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू ॥

पर जैन शासन की उन्नति के लिए आचार्य आदि को मत्रादि विद्या सम्पन्न होना आवश्यक भी माना है और आठ प्रकार के प्रभावको मे विद्यावान और सिद्ध को भी प्रभावक माना गया है। ऐसे प्रभावको के चरित्र विषयक कई ग्रथ प्राप्त है। स० १३३४ मे प्रभाचद्रसूरि द्वारा रचित प्रभावकचरित्र मे विद्यासग्रह वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, मान-देवसूरि, वीरगणि, वीरसूरि और सिद्ध प्रभावक के रूप मे आर्य मगु, कालिकसूरि, विजयसिंह सूरि, जीवदेवसूरि, मानतुग सूरि आदि आचार्यो के चरित्र दिए हुए हैं। प्राप्त जैन साहित्य से ध्वनित होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और इहलौकिक कामना से मत्र-तत्रादि साधना जैनमुनियो के लिए निषिद्ध है। अयोग्य व्यक्ति विद्याओ का दुरुपयोग न कर बैठे, इसलिए बहुत सावधानी रखी गई। परिणामत अनेक महत्त्वपूर्ण विद्याओ से सम्बन्धित ग्रथ लुप्त भी हो गए। इन ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन चौदह पूर्वो मे विद्यानुप्रवाद पूर्व था। इसके बाद सिद्धप्राभृत, योनिप्राभृत, निमित्तप्राभृत और विद्याप्राभृत ग्रन्थो का उपयोग जैनाचार्य करते रहे, वे भी अब लुप्त प्राय हैं। योनिप्राभृत का कुछ अश ही प्राप्त है। इन ग्रन्थो मे क्या-क्या चमत्कार दिखाये गये और कौन-कौन आचार्य इनके विशेष जानकार थे? इसका विवरण मुनि कल्याणविजय जी द्वारा लिखित 'आपणा प्राभृतो' नामक गुजराती लेख मे दिखाया गया है, जो जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई की

पत्रिका "जैन युग" के प्रथम वर्ष के दो अकों मे छपा था । पूर्वों के ज्ञान के क्रमश लुप्त होने की चर्चा भी जैन ग्रन्थो मे पायी जाती है । आचार्य भद्रवाहु तक १४ पूर्वों का ज्ञान था । उनके पास आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्वा का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्वों की विद्याओ का प्रयोग अपनी महत्ता बतलाने के हेतु किया तो आचाय भद्रबाहु ने उन्हे आगे के पूव पढाना बद कर दिया । अन्त मे सघ के अनुरोध से चार पूर्व पढाये, पर उनका अर्थ नहीं बतलाया । अत स्थूलिभद्र के पश्चात् चार पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया । इसी तरह वज्रस्वामी अतिम दश पूर्वधर थे ।

जैन इतिहास से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे । उनके समय मे बारहवर्षी दुष्काल पडा । इसके कारण जैनमुनियो के आचार-विचारो मे कुछ शैथिल्य आगया और वह फिर बढता ही गया । आचार्य वज्रस्वामी ने आचाराग सूत्रगत महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था । इसके बाद तो वह अध्ययन ही लुप्त हो गया । फिर भी बीच बीच मे आकाशगामिनी विद्या सपन्न कई जैनाचाय हुए हैं । और भी अनेक प्रकार की विद्याए एव सिद्धियां जैनाचार्यों को प्राप्त थी । वे क्रमश लुप्त होती गई । प्रभावक चरित्र के जीवदेवसूरि प्रबन्ध मे सुवर्णकीर्त्ति के लिए लिखा है कि उन्होने अपने गुरु श्रुतकीर्त्ति से अप्रतिचक्रा विद्या का आम्नाय और परकाय-प्रवेशिनी विद्या प्राप्त की थी । जैनाचार्यो के जीवनचरित्रो मे से ऐसे अनेक मत्र, तत्र, यत्र एव विद्याओ आदि के चमत्कारो की जानकारी मिलती है । बहुत-सा साहित्य लुप्त होनेपर भी लगभग ५०० छोटी बडी जैन रचनाए इस विषय की आज भी प्राप्त हैं, जिनकी जानकारी पांच-दस व्यक्तियो के अतिरिक्त और किसी को नही है । जैन ज्ञान भडारो मे ऐसी अनेक रचनाए मिलती हैं और उनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं । कुछ ग्रन्थो के केवल उल्लेख ही मिलते है, ग्रन्थ प्राप्त नही होते । जैसे १४ वी शताब्दी मे पद्मावती-वर-लब्ध महमदतुगलकप्रतिबोधक खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने 'रहस्य कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ बनाया था । उसका समकालीन उल्लेख लघुस्तववृत्ति मे मिलता है । इस ग्रन्थ का थोडासा अश बीकानेर के वृहद ज्ञानभडार की एक प्रति मे लिखा हुआ मिला है पर पूरे ग्रन्थ का कही पता नहीं है । अब मैं प्राप्त जैन साहित्य का कुछ विवरण अत्यन्त सक्षेप मे प्रस्तुत करता हूँ ।

उपलब्ध जैन साहित्य मे तान्त्रिक प्रभाववाला देव-देवियो के वर्णन, तथा प्रतिष्ठादि विधि विधान सम्बन्धी ग्रथ "निर्वाण कलिका" है । इसके रचयिता पादलिप्तसूरि का समय प्रथम शताब्दी, माना जाता है, पर मुनिकल्याण-विजयजी के मतानुसार दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तीसरी का पूर्वार्द्ध माना गया है । इसमे दस दिक्पाल, नौग्रह, ब्रह्मशान्ति, क्षेत्रपाल तथा मुद्राओ आदि का भी वर्णन है । श्रीमोहनलाल भगवानदास झवेरी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है । इसकी २० पृष्ठो की अग्रेजी प्रस्तावना बडी महत्त्वपूर्ण है । श्रीझवेरी ने जैनमत्र शास्त्र सम्बन्धी गहरा अध्ययन किया था और 'कंम्परेटिव स्टेडी ऑन जैनमत्र-शास्त्र' नामक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखा जो सारा भाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरव-पद्मावती कल्प के साथ छप चुका है । श्वेताम्बर जैन मत्र तत्र साहित्य की सर्वाधिक जानकारी इसी ग्रथ मे मिलती है । एतद्विषयक दिगम्बर जैन साहित्य सम्बन्धी एक लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष मे प० जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था । श्री साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद ने जैन मत्र, तत्र, यत्र सम्बन्धी ग्रथो के प्रकाशन मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । भैरव-पद्मावती कल्प आदि उन्हीके प्रकाशन हैं ।

जैनधर्म मे सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्णमत्र नवकारमत्र माना जाता है । भगवतीसूत्रादि के प्रारभिक मगलाचरण मे इसी मत्र का उपयोग हुआ है । श्वेताम्बर जैनसमाज मे तो इसके सम्बन्ध मे इतना बडा साहित्य उपलब्ध है कि नवकार सम्बन्धी स्तुति, स्तोत्रादि के सग्रहरूप एक प्राकृत और एक सस्कृत का बडा ग्रन्थ जैनसाहित्य विकास मण्डल, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है । नवकार मत्रकल्प आदि का एक अच्छा सग्रह सर्वप्रथम बीकानेर के जैनेतर सस्कृत विद्वान् प० जयदयालजी शर्मा ने 'मत्रराजगुणकल्प महोदधि' के नाम से सन् १९२० मे प्रकाशित किया था । तब से अब तक लगभग ३०-३५ ग्रन्थ केवल नवकारमत्र के सम्बन्ध मे प्रकाशित हो चुके है । जैन मान्यतानुसार मत्रो मे सर्वश्रेष्ठ, इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोत्तम साधन इस नवकार मत्र को ही माना जाता है ।



नमस्कार सूत्र के ५ पदो मे ४ पद और जोडकर एक नवपद या सिद्धचक्र यत्र तैयार किया गया । गत ६००

जैनेतर भी इन्हे मानते-पूजते हैं। पार्श्वनाथ के स्तुति, स्तोत्र, मत्र आदि शताधिक मिलते हैं। अम्बिका परवर्ती साहित्य मे तो नेमिनाथ की शासनदेवी के रूप मे प्रसिद्ध है पर प्राचीन तीर्थंकर-मूर्त्तियो को देखने से विदित होता है कि अम्बिका का सम्बन्ध केवल नेमिनाथ से ही नही, अन्य तीर्थकरो के साथ भी माना जाता रहा है। जैन मान्यता के अनुसार ये यक्ष और यक्षिणियाँ मनुष्यो मे से ही मरकर देवरूप मे उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसिद्धि पाती हैं। इसलिए अम्बिका आदि कई देवियो के पूर्वजन्म की कथाए भी जैनग्रन्थो मे प्राप्त है। प्रभावकचरित मे वैरोट्या के पूर्वजन्म की कथा पायी जाती है। ज्वालामालिनी देवी की आराधना दिगम्बर समाज मे अधिक की जाती है।

उपर्युक्त देवी-देवताओ के अतिरिक्त कुछ जैनेतर और बौद्ध देवी-देवताओ की पूजा भी जैन-समाज मे प्रारभ हो गई जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। पार्श्वनाथ परम्परा के उपकेश गच्छीय रत्नप्रभसूरि ने ओसियाँ की चामुण्डा देवी को अपने वश मे करके ओसवालो की कुलदेवी रूप मे मान्य बना दिया। जो सच्चायिका के नाम से प्रसिद्ध है। यो दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनो मे बहुत सी जातियाँ प्राय किसी न किसी देवी को अपनी कुलदेवी मानकर उसकी पूजा-उपासना करती हैं। घण्टाकर्ण सभवत बौद्ध-मान्य देव था, शिव के गणो मे भी उसे माना गया है, जैनो ने उसे अपना लिया। घण्टाकर्ण कल्प नामक एक रचना भी मिलती है। बीजापुर, बम्बई के महावीर जिनालय आदि मे तो घण्टाकर्ण की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गई है और वे काफी चमत्कारी मानी जाती हैं। इसी तरह तपागच्छ मे माणिभद्र यक्ष की अधिक मान्यता है और खरतर गच्छ मे प्रसिद्ध चार दादा गुरुदेवो के भक्त के रूप मे काले और गोरे भैरोजी की। जैन लोग इसी प्रकार स्थानीय देवी-देवताओ को मानने लगे। यति लोग कर्णपिशाचिनी आदि देवियो की उपासनाकर चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने लगे। सम्मेतशिखरजी महातीर्थ के भोमिया जी, नाकोडा पार्श्वनाथ के भैरोजी आदि भी बडे चमत्कारी माने जाते हैं। इस प्रकार अनेक देवी देवताओ की मान्यता जैन समाज मे प्रचलित है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैनसमाज मे शाक्त तत्रो की भाँति पच-मकारादि को कतई स्थान नही दिया गया है। जैन मुनियो का आचार-विचार इतना कठोर है कि तत्रोक्त उपासना उनके लिए किसी भी प्रकार अनुकूल नही थी। इसलिए उन्होने तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को ही अधिक महत्त्व दिया। उच्चकोटि के आचार-विचारवाले ब्रह्मचारी और सात्त्विक जैनमुनियो को देवी देवताओ की आराधना कभी भी दारू, मास आदि कुत्सित वस्तुओ द्वारा नही करनी पडी। मत्र-जाप आदि द्वारा देवी देवता स्वय उनके भक्त बन गये। भगवान् महावीर ने जैन मुनियो के लिए मत्र-जत्र आदि करने का सर्वथा निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन मे अन्य अनेक बातो के साथ मत्रादि से दूर रहनेवाले मुनि को ही सच्चा भिक्षु बतलाया गया है।

मतमूल विविह वेज्जचित वमण-विरेयण धूमणेत्तसिसाण।
आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू॥

पर जैन शासन की उन्नति के लिए आचार्य आदि को मत्रादि विद्या सम्पन्न होना आवश्यक भी माना है और आठ प्रकार के प्रभावको मे विद्यावान और सिद्ध को भी प्रभावक माना गया है। ऐसे प्रभावको के चरित्र विषयक कई ग्रथ प्राप्त है। स० १३३४ मे प्रभाचन्द्रसूरि द्वारा रचित प्रभावकचरित्र मे विद्यासम्पन्न वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, मान-देवसूरि, वीरगणि, वीरसूरि और सिद्ध प्रभावक के रूप मे आर्य मगु, कालिकसूरि, विजयसिंह सूरि, जीवदेवसूरि, मानतुग सूरि आदि आचार्यों के चरित्र दिए हुए हैं। प्राप्त जैन साहित्य से ध्वनित होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और इहलौकिक कामना से मत्र-तत्रादि साधना जैनमुनियो के लिए निषिद्ध है। अयोग्य व्यक्ति विद्याओ का दुरुपयोग न कर बैठे, इसलिए बहुत सावधानी रखी गई। परिणामत अनेक महत्त्वपूर्ण विद्याओ से सम्बन्धित ग्रथ लुप्त भी हो गए। इन ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन चौदह पूर्वो मे विद्यानुप्रवाद पूर्व था। इसके बाद सिद्धप्राभृत, योनिप्राभृत निमित्तप्राभृत और विद्याप्राभृत ग्रन्थो का उपयोग जैनाचार्य करते रहे, वे भी अब लुप्त प्राय हैं। योनिप्राभृत का कुछ अश ही प्राप्त है। इन ग्रन्थो मे क्या-क्या चमत्कार दिखाये गये और कौन-कौन आचार्य इनके विशेष जानकार थे ? इसका विवरण मुनि कल्याणविजय जी द्वारा लिखित 'आपणा प्राभृतो' नामक गुजराती लेख मे दिखाया गया है, जो जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई की

पत्रिका "जैन युग" के प्रथम वर्ष के दो अंको मे छपा था। पूर्वो के ज्ञान के क्रमश लुप्त होने की चर्चा भी जैन ग्रन्थो मे पायी जाती है। आचार्य भद्रबाहु तक १४ पूर्वो का ज्ञान था। उनके पास आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्वो की विद्याओ का प्रयोग अपनी महत्ता बतलाने के हेतु किया तो आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे आगे के पूर्व पढाना बद कर दिया। अन्त मे सघ के अनुरोध से चार पूर्व पढाये, पर उनका अर्थ नही बतलाया। अत स्थूलिभद्र के पश्चात् चार पूर्वो का ज्ञान लुप्त हो गया। इसी तरह वज्रस्वामी अंतिम दश पूर्वधर थे।

जैन इतिहास से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। उनके समय मे बारहवर्षी दुष्काल पडा। इसके कारण जैनमुनियो के आचार-विचारो मे कुछ शैथिल्य आगया और वह फिर बढता ही गया। आचार्य वज्रस्वामी ने आचाराग सूत्रगत महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था। इसके बाद तो वह अध्ययन ही लुप्त हो गया। फिर भी बीच बीच मे आकाशगामिनी विद्या सपन्न कई जैनाचार्य हुए हैं। और भी अनेक प्रकार की विद्याए एव सिद्धियां जैनाचार्यो को प्राप्त थी। वे क्रमश लुप्त होती गई। प्रभावक चरित्र के जीवदेवसूरि प्रबन्ध मे सुवर्णकीर्त्ति के लिए लिखा है कि उन्होने अपने गुरु श्रुतकीर्ति से अप्रतिचक्रा विद्या का आम्नाय और परकाय-प्रवेशिनी विद्या प्राप्त की थी। जैनाचार्यों के जीवनचरित्रो मे से ऐसे अनेक मत्र, तत्र, यत्र एव विद्याओ आदि के चमत्कारो की जानकारी मिलती है। बहुत-सा साहित्य लुप्त होनेपर भी लगभग ५०० छोटी बडी जैन रचनाए इस विषय की आज भी प्राप्त है, जिनकी जानकारी पाँच-दस व्यक्तियो के अतिरिक्त और किसी को नही है। जैन ज्ञान भडारो मे ऐसी अनेक रचनाए मिलती हैं और उनमे से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कुछ ग्रन्थो के केवल उल्लेख ही मिलते है, ग्रन्थ प्राप्त नही होते। जैसे १४ वी शताब्दी मे पद्मावती-वर-लब्ध महमदतुगलकप्रतिबोधक खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने 'रहस्य कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ बनाया था। उसका समकालीन उल्लेख लघुस्तववृत्ति मे मिलता है। इस ग्रन्थ का थोडासा अश बीकानेर के वृहद ज्ञानभडार की एक प्रति मे लिखा हुआ मिला है पर पूरे ग्रन्थ का कही पता नही है। अब मैं प्राप्त जैन साहित्य का कुछ विवरण अत्यन्त सक्षेप मे प्रस्तुत करता हूँ।

उपलब्ध जैन साहित्य मे तान्त्रिक प्रभाववाला देव-देवियो के वर्णन, तथा प्रतिष्ठादि विधि विधान सम्बन्धी ग्रथ "निर्वाण कलिका" है। इसके रचयिता पादलिप्तसूरि का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, पर मुनिकल्याण-विजयजी के मतानुसार दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तीसरी का पूर्वार्द्ध माना गया है। इसमे दस दिक्पाल, नौग्रह, ब्रह्मशान्ति, क्षेत्रपाल तथा मुद्राओ आदि का भी वर्णन है। श्रीमोहनलाल भगवानदास झवेरी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी २० पृष्ठो की अग्रेजी प्रस्तावना बडी महत्त्वपूर्ण है। श्रीझवेरी ने जैनमत्र शास्त्र सम्बन्धी गहरा अध्ययन किया था और 'कम्परेटिव स्टेडी ऑन जैनमत्र-शास्त्र' नामक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखा जो सारा भाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरव-पद्मावती कल्प के साथ छप चुका है। श्वेताम्बर जैन मत्र तत्र साहित्य की सर्वाधिक जानकारी इसी ग्रथ मे मिलती है। एतद्विषयक दिगम्बर जैन साहित्य सम्बन्धी एक लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष मे प० जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था। श्री साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद ने जैन मत्र, तत्र, यत्र सम्बन्धी ग्रथो के प्रकाशन मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भैरव-पद्मावती कल्प आदि उन्हीके प्रकाशन हैं।

जैनधर्म मे सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्णमत्र नवकारमत्र माना जाता है। भगवतीसूत्रादि के प्रारभिक मगलाचरण मे इसी मत्र का उपयोग हुआ है। श्वेताम्बर जैन समाज मे तो इसके सम्बन्ध मे इतना बडा साहित्य उपलब्ध है कि नवकार सम्बन्धी स्तुति, स्तोत्रादि के सग्रहरूप एक प्राकृत और एक सस्कृत का बडा ग्रन्थ जैनसाहित्य [illegible] मण्डल, बम्बई मे प्रकाशित हो चुका है। नवकार मत्रकल्प आदि का एक अच्छा सग्रह मत्रप्रभाकर [illegible] सस्कृत विद्वान् प० जयदयालजी शर्मा ने 'मत्रराजगुणकल्प महोदधि' के नाम से सन् १९२० मे प्रकाशित किया था। तब से अब तक लगभग ३०-३५ ग्रन्थ केवल नवकारमत्र के सम्बन्ध मे प्रकाशित हो चुके है। जैन [illegible] सर्वश्रेष्ठ, इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोत्तम साधन इस नवकार मत्र को ही माना जाता है।



नमस्कार सूत्र के ५ पदो मे ४ पद और जोडकर एक नवपद या सिद्धचक्र यत्र तैयार किया गया। [illegible]

वर्षों मे दिगम्वर और श्वेताम्बर समाज मे इस सिद्धचक्र यत्र विधान और उपासना का बहुत ही प्रचार रहा है। इसकी आराधना की महिमा को बतानेवाले श्रीपालचरित्र सम्वन्धी ६० ग्रन्थ प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और कन्नड भाषाओ मे प्राप्त है। इसका विवरण 'अनेकान्त' मे प्रकाशित मेरे दो लेखो मे दिया जा चुका है। वर्ष मे दो बार हजारो व्यक्ति इस सिद्धचक्र या नवपद की आराधना वडे भक्तिभाव से करते हैं। उभय सप्रदायो मे आराधनाविधि आदि मे अन्तर होनेपर भी इसका प्रचार समान रूप से है। मन्दिरो मे सिद्धचक्र विधान या नवपद मण्डल की रचना की जाती है।

श्वेताम्बर समाज मे आचार्य के लिए सूरिमन्त्र कल्प की आराधना आवश्यक मानी जाती है। उनके नाम के पीछे जो सूरि विशेषण रहता है वह इसी सूरि मत्र की आराधना का सूचक है। सूरिमत्रकल्प छठ्ठी शताव्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के अनेक मिलते हैं जिनका एक सग्रह साराभाई मणिलाल नवाब ने 'सूरिमत्र कल्पादि' के नाम से प्रकाशित किया था और पत्राकार रूप मे तीन चार सग्रह मुद्रित हो चुके हैं। अभी ऐसे सूरिमत्र कल्प कई अप्रकाशित भी हैं जिन्हें सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न जैनसाहित्य विकास मण्डल की ओर से चल रहा है।

नवकार मत्र की भाँति लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव), णमुत्थुण (शक्रस्तव), उवसग्गहर स्तोत्र, तिजयपहुत्त, भक्तामर, कल्याणमन्दिर, ऋषिमण्डल आदि स्तोत्रो के मन्त्र व कल्प भी प्राप्त हैं जिनमे से ऋषिमण्डल यन्त्र व कल्प का विशेष प्रचार है। दिगम्बर व श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय इसे मान्य करते हैं और दोनो के गथ प्रकाशित हो चुके हैं। भक्तामर व कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी उभय सम्प्रदायमान्य है और मन्त्र, यन्त्र गर्भित ये दोनो स्तोत्र बडे प्रभावशाली माने जाते हैं। साराभाई ने नवस्मरण, भक्तामर, कल्याणमन्दिर तथा अन्य स्तोत्रो के मत्र और साहित्य भी प्रकाशित किया है। वर्द्धमान विद्या एव ह्रींकार कल्प या मायाबीजकल्प का भी श्वेताम्बर समाज मे अच्छा प्रचार है। आचार्य के सूरिमन्त्र की तरह उपाध्याय के लिये वर्द्धमान विद्या का आराधन भी आवश्यक माना गया है। श्री धीरजलाल टोकरसी शाह लिखित 'मत्र साधन, केटलाक यन्त्रो, तन्त्रो नु तारण,' उवसग्गहर स्तोत्र आदि ग्रथ जैन मत्र, यत्र, तत्र सम्वन्धी अच्छी जानकारी देते है।

अव दिगम्बर जैन तत्र-मत्र सम्बन्धी कुछ ग्रन्थो की जानकारी दी जा रही है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने श्री जैनमत्र शास्त्र और ज्वालामालिनी मत्र[1] नामक लेख मे सबसे पहला ग्रन्थ इन्द्रनन्दि योगेन्द्र का 'ज्वालिनी मत' वतलाया है। यह ग्रथ शक सवत् ८६१ अक्षयतृतीया को मान्यखेट मे रचा गया है और श्लोक सख्या ५०० है। मगला-चरण व ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा के श्लोको के अनन्तर इसमे ज्वालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है —

"दक्षिण भारत के अन्तर्गत मल्यदेश के हेम ग्राम मे (जिसे टिप्पणी मे कर्णाटक भाषा का होन्नूर ग्राम वतलाया है) द्रविडगण के अधीश्वर एक श्रीमान् मुनि महात्मा रहते थे। जिनका नाम 'हेलाचार्य' (टिप्पणी मे इन्हे एलाचार्य रूप से भी उल्लिखित किया है) था। कमलश्री आपकी शिष्या थी, जो सम्पूर्ण शास्त्रो को जाननेवाली मानो श्रुतदेवी ही थी। कर्मयोग से वह ब्रह्मराक्षस नाम के किसी रौद्र गह के द्वारा ग्रस्त हुई। इसलिए सध्या के समय वह कभी हाहाकार करके रोती थी, कभी अट्टहास करती थी, कभी जप करने लगती थी, कभी वेदो को पढने लगती और फिर कहकहा लगाकर हस पड़ती थी, कभी गर्व के साथ कहने लगती थी कि ऐसा कौन मत्रवादी है जो अपनी मत्रशक्ति से मुझे छुडाए, और कभी विकार भाव को लिए जभाई लेने लगती थी। उसे इस प्रकार अति दुष्टग्रह से परिपीडित देखकर और उसके प्रत्युपाय के विपय मे किंकर्तव्यविमूढ होकर वे मुनि महाराज वहुत ही आकुलचित्त हुए। अन्त मे उन्होने कमलश्री का ग्रह छुडाने के लिए उस ग्राम (होन्नूर) के निकट नीलगिरि पर्वत के शिखर पर विधिपूर्वक ज्वाला-मालिनी देवी की साधना की।

सात दिन की साधना के वाद वह देवी प्रत्यक्ष होकर मुनिमहाराज के सामने खडी हो गई और वोली—हे

[1] अनेकान्त वर्प १, अङ्क ८-९-१०

आर्य ! कहिये, आपका क्या काम [illegible] ! मैंने मन्त्र-यंत्रादि किसी कार्य की सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न नहीं किया [illegible] ने बिगाड़ दिया [illegible] मुनिजी ने [illegible] आप मन में [illegible] मंत्र को लिखकर [illegible] मुनिजी [illegible] दिया। [illegible] मुनिजी [illegible] उस मन्त्र की बाबत कुछ भी नहीं जानता [illegible]। तब उस ज्वालामालिनी देवी ने हेला-चार्यजी को मंत्र [illegible] उनकी भक्ति से वश [illegible] सिद्ध किया [illegible] विधि से यह मंत्र [illegible] भी सिद्ध-विद्य हो जाता। [illegible] चाहे वह [illegible] उद्यान-वन में, जिन मन्दिर में, नदी के किनारे, पुलिन पर, गिरि-शिखर पर अथवा अन्य किसी निरुपद्रव स्थान पर स्थित होकर [illegible] अविच्छिन्न भाव मन के द्वारा [illegible] मंत्र का जाप [illegible] हजार संख्या प्रमाण होम [illegible] सिद्धि को प्राप्त करें ऐसा कहकर वह देवी अपने स्थान को चली गई।

हेलाचार्य ने तब वहीं बैठे हुए उस दुष्ट ब्रह्मराक्षस को वज्राक्षरों के द्वारा दह्यमान चिन्तवन करके रोते चिल्लाते हुए निकाल बाहर किया। [illegible] ही भुवनदहन-स्वरूप [illegible] का ध्यान करने से जब ग्रह निर्वाग्नि हो जाता है तो शेष ग्रहनिग्रहों के लिए ऐसा कौनसा ग्रह है जो असाध्य हो ? कोई भी नहीं। अस्तु देवी के आदेश से उन मुनि महाराज ने तब 'ज्वालिनी मत' नाम के ग्रन्थ की रचना की। वह शास्त्र उनके शिष्य गान्धमुनि को प्राप्त हुआ। फिर क्रमश नीलग्रीव, बीजाबाब, आर्या क्षान्तिरसब्बा तथा क्षुल्लक विरूवट्ट को उसकी प्राप्ति हुई। इस गुरु परिपाटी से वह अविच्छिन्न सम्प्रदाय के द्वारा चला आया और तब उसका ज्ञान कन्दर्पाचार्य को हुआ। उन्होंने अपने पुत्र समान गुणनंदि मुनि को उपदेश सहित 'ज्वालिनीमत' की व्याख्या की। इन दोनों मुनियों (कन्दर्पाचार्य और गुणनंदी) के पास से इन्द्रनंदि मुनि ने उस शास्त्र का ग्रन्थ रूप तथा अर्थ रूप से सविशेष अध्ययन किया। प्राक्तन शास्त्र क्लिष्ट रूप है, ऐसा विचारकर इसी इन्द्रनंदि मुनि ने ललित आर्यादि छंदों में इस ग्रंथ की रचना की है। इसमें हेलाचार्य का कहा हुआ अर्थ ही ग्रन्थ द्वारा वर्तन (शब्दादि परिवर्तन) के द्वारा निबद्ध हुआ है। यह ग्रंथ सकल जगत को अपूर्व विस्मयजनक तथा जनसमूह के लिए हितकारी है, अत इसको सुनो ! इस कथन के पिछले दो पद्य इस प्रकार हैं —

> क्लिष्टग्रन्थप्राक्तनशास्त्र तदिति स चेतसि निधाय।
> तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीतार्थं ॥२६॥
> हेलाचार्योक्तार्थं ग्रन्थपरावर्त्तनेन रचितमिदम्।
> सकलजगदेकविस्मयजनन जनहितकर श्रृणुत ॥२७॥

इस परिचय से यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह शास्त्र और भी अधिक प्राचीन है और इसकी प्रथम सृष्टि हेलाचार्य के द्वारा हुई है जिन्हें एलाचार्य भी कहते हैं। इन्द्रनंदि ने सहज भाषादिक अथवा शब्द-छन्दादिक के परिवर्तन द्वारा इसे कुछ सरल बनाकर यह नूतन संस्करण उपस्थित किया है। इसीसे ग्रंथ की सब सन्धियों में ग्रंथ का विशेषण हेलाचार्य प्रणीतार्थे दिया है जिसका एक नमूना इसप्रकार है —

"इति हेलाचार्यप्रणीतार्थे श्रीमदिन्द्रनन्दियोगीन्द्रविरचितग्रन्थसन्दर्भे ज्वालिनी–मते मन्त्रिलक्षणनिरूपणा-धिकार प्रथम ॥"

इस मंत्र शास्त्र में १ मंत्री, २ ग्रह, ३ मुद्रा, ४ मंडल, ५ कटुतैल ६ वश्ययंत्र ७ तंत्र ८ स्नपनविधि ९ नीराजनविधि, १० साधनविधि नामके दस अधिकार हैं जिनमें क्रमश विषय का वर्णन किया गया है। इनमें से कुछ का

परिचय 'अनेकान्त' की अगली किरण मे दिया जायगा और उसमे पाठको को कितनी ही नई बातें मालूम होगी और यह समझ मे आ सकेगा कि मत्र-साधन करनेवाला मत्री कैसा होना चाहिए ? कौन इस मत्र का पात्र तथा कौन अपात्र है ? ग्रहो के कितने भेद है ? कैसे पुरुष-स्त्रियो को ग्रह लगते हैं ? और किस ग्रह के लगने से क्या चेष्टा होती है ? इत्यादि।"

इन्द्रनन्दि के बाद सबसे बडे दिगम्बर मत्रविद् और धुरन्धर विद्वान् मल्लिषेण ग्यारहवी शताब्दी मे हुए हैं। मत्रशास्त्र का सबसे बडा ग्रथ विद्यानुशासन इन्ही के द्वारा रचित बतलाया गया है, जिसमे २४ अधिकार और पाच हजार मत्र होने का उल्लेख श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने किया है। भैरवपद्मावती कल्प के अतिरिक्त उनके रचित सरस्वतीमत्र-कल्प और ज्वालिनीकल्प भी प्राप्त हैं। भैरवपद्मावती कल्प के उपर्युक्त साराभाई नवाब के अतिरिक्त एक और सस्करण दि० जैनपुस्तकालय, सूरत से प० चन्द्रशेखर शास्त्री की हिन्दी भाषा टीका सहित छपा है। ग्रन्थ के अन्त मे ४६ यत्र भी दिये गये है। यद्यपि साराभाई के सस्करण मे भी ४५ यत्र है पर दोनो यत्रो मे पार्थक्य है। साराभाई वाले सस्करण मे सस्कृत टीका और गुजराती अनुवाद तो दिया ही है, पर परिशिष्ट मे और भी बहुतसी महत्त्वपूर्ण सामग्री दे दी गई है। जिनमे से श्वे० श्रीचन्द्रसूरि कृत अद्भुत पद्मावतीकल्प, इन्द्रनन्दि विरचित पद्मावतीपूजनम्, अज्ञात-कर्तृक रक्त-पद्मावतीकल्प, पद्मावती व्रतोद्यापनम्, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती यत्राम्नाय विधि, सहस्रनाम स्तोत्र, स्तुति, चौपाई आदि केवल पद्मावती सम्बन्धी रचनाए ही नही, पर मल्लिषेणरचित सरस्वती मत्रकल्प, बप्पभट्टिसूरिकृत सरस्वतीकल्प, अम्बिका, चक्रेश्वरी, चौसठ योगिनी, ज्वालामालिनी मत्रस्तोत्र आदि रचनाओ के साथ भद्रगुप्त विरचित अनुभव सिद्ध मत्र द्वात्रिंशतिका, मानदेवसूरिकृत लघुशान्ति वृत्ति भी दे दी गई है। दिगम्बर मत्र यत्र सम्बन्धी ग्रथो मे विद्यानुशासन भी बडा ग्रथ है। जयपुर के ज्ञानभडारो मे इसकी प्रतियाँ मिलती हैं। यह एक तरह का सग्रहग्रथ है, जिसके सग्राहक सुकुमारसेनमुनि हैं। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने लिखा है कि इस विद्यानुशासन मे बतलाया गया है कि २४ तीर्थकरो की २४ शासन देवियो के कभी चौबीसो कल्प उपस्थित थे। सुकुमारसेन ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वाला-मालिनी कल्प, अम्बिका कल्प और चक्रेश्वरी कल्प देखे थे। श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इनके अतिरिक्त भारतीकल्प, कामचद्रावली कल्प, श्री देवताकल्प, नमस्कार मत्रकल्प, ऋषिमण्डल यत्र पूजा, गणधरवलय कल्प, बीजकोष, हनुमत पताकाविधि और कई स्तोत्रादि का उल्लेख किया है। जयपुर के दिगम्बर भडारो मे विद्यानुशासन, मतिसागर रचित चिन्तामणियत्र, विजययत्र विधान, यक्षिणीकल्प, प्रभावतीकल्प, माया बीजविधि, प्रत्यगिरासिद्ध मत्रोद्धार, भक्तामर ऋद्धि मत्र, महामृत्युञ्जय मत्र, नमोकारकल्प (सिंघनदि) आदि की प्रतियाँ भी हैं। इनमे से मतिसागरकृत विद्यानुशासन मत्रो सहित सग्रहग्रथ है जिसकी १७८ पत्रो की प्रति सवत् १८३२ की लिखी हुई है। दिगम्बराचार्य श्री शुभचद्र के ज्ञानार्णव मे पदस्थ ध्यान के प्रसग मे कई जैनमत्रो की अच्छी जानकारी दी गई है। और भी कई जैनग्रथो मे प्रसगवश मत्रो सम्बन्धी जानकारी है।

श्वेताम्बर विद्वानो के लिखे गए मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र सम्बन्धी समस्त छोटी-बडी रचनाओ की सख्या श्री धीरजलाल टोकरसी शाह ने ५०० के लगभग होने का उल्लेख किया है। जिनमे से 'तत्रो नु तारण'[1] नामक ग्रन्थ मे उन्होने १८८ रचनाओ की सूची दी है—

१ नमस्कार मन्त्र कल्प, २ पच नमस्कार कल्प, ३ पच परमेष्ठि महामत्र, यत्र, तत्र बृहत्कल्प, ४ मयूरवाहिनी विद्या, ५ चन्द्रप्रभ विद्या, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति मन्त्र साधना, ७ ओकार कल्प, ८ ह्रीकार कल्प, ९ उवसग्गहर कल्प, १० शान्तिकर स्तवन आम्नाय, ११ तिजय पहुत्त स्तोत्र आम्नाय, १२ सत्तरिसय यन्त्रविधि, १३ नमिऊण कल्प, १४ भक्तामर कल्प, १५ कल्याणमन्दिर कल्प, १६ लोगस्स कल्प, १७ शक्रस्तव (णमोत्थुण) कल्प, १८ चिन्तामणि कल्प, १९ चिन्तामणि कल्प सार, २० चिन्तामणि सम्प्रदाय, २१ चिन्तामणि मन्त्राम्नाय, २२ चिन्तामणि

---

१ जैन शिक्षावली, त्रीजी श्रेणि 'तत्रो नु तारण'

(त्रिभुवन विजय पताका यन्त्र) मन्त्र पद्धति, २३ मन्त्राधिराज कल्प, २४ अट्टे मट्टे-मन्त्र कल्प, २५ धरणेन्द्र स्तव कल्प, २६ कलिकुण्ड यन्त्र मन्त्र कल्प, २७ कलिकुण्ड आराधना, २८ श्री पार्श्वनाथ कल्पद्रुम मन्त्राम्नाय, २९ शीघ्र सम्पत्ति कर पार्श्वनाथ मन्त्र, ३० पार्श्वनाथ मन्त्राराधना, ३१ जीराउला पार्श्व मन्त्र कल्प, ३२ पार्श्व स्तम्भनी विद्या, ३३ बन्धकर-गौरी गाधारी पार्श्व यन्त्र, ३४ उवसग्गहर पार्श्व यन्त्र, ३५ विषापहार पार्श्व यन्त्र, ३६ पुत्रकर पार्श्व यन्त्र, ३७ सर्व कार्य-कर जगद्वल्लभ पार्श्व यन्त्र, ३८ मतिकर पार्श्व यन्त्र, ३९ वाद विजयकर पार्श्व यन्त्र, ४० पार्श्व चक्र मन्त्र, ४१ ऋषभ चक्र मन्त्र, ४२ अरिष्ट नेमि चक्र मन्त्र, ४३ वर्द्धमान चक्र मन्त्र, ४४ सीमधर मन्त्र, ४५ धरणेन्द्र लक्ष्मीकर यन्त्र, ४६ धरणेन्द्र दष्ट्रापहार मन्त्र, ४७ रक्त पद्मावती कल्प, ४८ रक्त पद्मावती वृहद् पूजन विधि, ४९ भैरवागमोक्त पद्मावती पूजन रक्त पद्मावती, हस पद्मावती, सरस्वती पद्मावती, सवरी पद्मावती, ५० कामेश्वरी पद्मावती मन्त्र साधना, ५१ भैरवी पद्मावती मन्त्र साधना, '५२ त्रिपुरा पद्मावती मन्त्र साधना, ५३ नित्य पद्मावती मन्त्र साधना, ५४ पद्मावती दीपावतार, ५५ पद्मावती कज्जलावतार, ५६ महामोहिनी पद्मावती विद्या, ५७ पुत्रकर पद्मावती मन्त्र, ५८ पद्मावती स्तोत्र कल्प, ५९ पद्मावती स्वप्न मन्त्र साधन, ६० पद्मावती कल्प लता, ६१ पद्मावती मन्त्र कल्प (मिल्लषेण एव दूसरे के) ६२शत्रु भय नाशिनी पार्श्व विद्या, ६३ परविद्यादि पार्श्व विद्या, ६४ सूरि मन्त्र कल्प, ६५ वर्द्धमान विद्या कल्प, ६६ गाथाए विद्या कल्प, ६७ चतुर्विंशति तीर्थंकर विद्या, ६८ विद्यानुशासन, ६९ सुरपाणि वज्रपाणि मन्त्र, ७० चक्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा) कल्प, ७१ अम्बिका (कुष्माण्डी) कल्प, ७२ ज्वालामालिनी (ज्वालिनी) कल्प, ७३ सिद्धायिका (कामचडालिनी) कल्प, ७४ कुरुकुल्ला मन्त्र साधन, ७५ पचागुलिका कल्प, ७६ प्रत्यगिरा कल्प, ७७ उच्छिष्ट चाण्डालिनी मन्त्र साधन, ७८ कर्ण-पिशाचिनी मन्त्र साधन, ७९ चक्रेश्वरी स्वप्न मन्त्र साधन, ८० स्वप्नावती मन्त्र साधन, ८१ अम्बिका मत्र स्वप्न साधन, ८२ अम्बिका घट-घट दर्पण जल दीपावतार, ८३ श्रुतदेवता पटावतार, ८४ शासन देवी मन्त्र, ८५ श्री ऋषभ विद्या, ८६ श्री शातिनाथ विद्या, ८७ शाति देवता मन्त्र साधन,, ८८ शोणसा मन्त्र, ८९ अपराजिता महाविद्या, ९० रोगापहा-रिणी विद्या, ९१ वासुपूज्य आम्नाय, ९२ अच्छुप्ता मन्त्र, ९३ ब्रह्मशाति मन्त्र, ९४ गज मुख यक्ष मन्त्र, ९५ षोडश विद्या देवी मन्त्र, ९६ भारती कल्प, ९७ वाग्वादिनी कल्प, ९८ सारस्वत महा विद्या, ९९ श्रुतदेवता विद्या, १०० अपराजिता विद्या, १०१ श्री देवी कल्प, १०२ लक्ष्मी मत्र, १०३ महालक्ष्मी मन्त्र, १०४ योगिनी मन्त्र साधन, १०५ यक्षिणी मन्त्र साधन, १०६ सिद्धचक्र कल्प, १०७ ह्रीं मण्डल कल्प, १०८ श्री विद्या कल्प, १०९ ब्रह्म विद्या कल्प, ११० मणिभद्र कल्प, १११ घटाकर्ण कल्प, ११२ उग्र विद्या कल्प, ११३ क्षेत्र देवता मन्त्र साधन, ११४ कृष्ण-गौरक्षेत्रपाल मन्त्र साधन, ११५ खोडिया क्षेत्रपाल मन्त्र, साधना, ११६ भैरव मन्त्र साधन, ११७ बटुक भैरव मन्त्र साधन, ११८ स्वर्णाकर्षण भैरव मन्त्र साधन, ११९ चतुर्षष्टि योगिनी मन्त्र, १२० गौतम स्वामी मन्त्र, १२१ श्री वज्र स्वामी मन्त्र साधन, १२२ श्री जिनदत्त सूरि मन्त्र साधन, १२३ श्री जिनकुशल सूरि मन्त्र साधन, १२४ श्री जिनचन्द्र सूरि मन्त्र साधन, १२५ श्री हेमचद्राचार्य कृत मन्त्र, १२६ पचवीर साधन, १२७ ज्ञानार्णव मन्त्र, १२८ वीशा कल्प, १२९ पडग्का कल्प, १३० उवसग्गहर स्तोत्र की विविध वृत्तिया, १३१ स्वकार्यकर चतुर्विंशति यन्त्र;' १३२ पैसठिया कल्प, १३३ बहुत्तरिया कल्प, १३४ विजय यन्त्र कल्प, १३५ विजयपताका कल्प, १३६ जैनपताका कल्प, १३७ अर्जुनपताका कल्प, १३८ हनुमान पताका कल्प, १३९ त्रैलोक्य विजय यन्त्र, १४० घण्टाकर्ण यन्त्र, १४१ वज्र पजर महायन्त्र कल्प, १४२ वज्र पजरा-राधना, १४३ मृत्युञ्जय साधन, १४४ चन्द्र कल्प (जसा सेठ वाला), १४५ सम्यान यन्त्रो, १४६ औषधि कल्प (श्वेतार्क) श्वेतगुजा, अपराजिता, रुदन्ती, मयूर शिखा, सहदेवी, शियाल शृङ्गी, मार्जारी, १४७ मन्त्रावली, १४८ प्रतिष्ठा कल्प।

अब हम प्रकाशित साहित्य का सक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। जैसा कि पूर्व मे कहा गया है, जैन समाज का सबसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध महामत्र नवकार मत्र है। यो तो प्राचीनकाल मे ही इसके प्रति बडी श्रद्धा और भक्ति दिखाई देती है पर अभी कुछ वर्षों मे तो इसका खूब प्रचार हुआ है। निम्नोक्त ३० ग्रन्थ तो इसके सम्बन्ध मे विविध दृष्टिकोण से लिखे गए प्रकाशित हैं—

१ **मत्रराज गुण कल्प महोदधि**—प० जयदयालजी शर्मा बीकानेर ने यह ग्रन्थ सवत् १९७६ मे प्रकाशित

किया है। इसमे जिनकीर्ति सूरिकृत पच परमेष्ठिनमस्कार स्तोत्र व्याख्या, गुणरत्न कृत णमो अरिहताण के ११० अर्थ एव अन्य अनेक विषयो का सग्रह है।

२ **नवकार मत्र या पच परमेष्ठि**—प० गुलाल जी प्र० चन्दूलाल गोकलदास नाह स० १९८३ अहमदाबाद

३ **नवकार मत्र सग्रह, फलदायक विधि सहित**—मास्टर नानालाल मगनलाल, स० १९६६ अहमदाबाद

४ **नवकार महामत्र कल्प**—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी (स० १९९० से २०१७ तक इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं।

५ **नमस्कार महामत्र माहात्म्य**—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी।

६ **श्री नमस्कार महामत्र माहात्म्य**—(हिन्दी अनुवाद सहित) स० भद्रकरविजयजी म०, प्र० शकरलाल मुणोत, ब्यावर।

७ **श्रीनमस्कार महामत्र**—ले० भद्रकरविजय, प्र० केशरबाई जैन ज्ञान-मन्दिर, पाटण (गुजरात) पृ ३८६ स्तोत्र, गीत आदि सग्रह ग्रन्थ।

८ **नमस्कार महामत्र**—ले० श्री हरिसत्य भट्टाचार्य, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर। मूल अग्रेजी मे प्रकाशक कलकत्ता विश्वविद्यालय। गु० अनुवाद प्रो० जयन्तीलाल।

९ **महामत्र नी आराधना**—स० अभयसागर जैन, श्वेताम्बर सघ पेटी इन्दौर (गुजराती मे)।

१० **श्री पच परमेष्ठी महामत्र**—चरणविजय, प्र० केशरबाईजैन, ज्ञान-मन्दिर, पाटण। (गुजराती) पृ ६०८।

११ **नवकार स्वरूप**—हर्ष विमल, पृ ९४, स० १९५९।

१२ **नमोकार मत्र माहात्म्य**—उमा स्वामी, प्र० धरणेन्द्रप्रसाद जैन, वाराणसी।

१३ **श्री नमस्कार महामत्र**—पूर्णानन्द विजय, प्र० नथमल टीकमचन्द जैन शिवपुरी, स० २०११।

१४ **श्री नमस्कार महामत्र मौक्तिकमाला**—सुशील विजय, प्र० ज्ञानोपासक समिति बोटाद स० २०१७।

१५ **नमस्कार महिमा**—कीर्तिविजय, प्र० वीरजलाल शाह, बम्बई पृ १०८।

१६ **महामत्र नवकार**—अमरमुनिजी, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा पृ १०४।

१७ **महामत्रनी साधना**—कुन्दकुन्द विजय।

१८ **श्री नमस्कार महामत्र नु दर्शन**—कान्तिलाल मोहनलाल पारेख।

१९ „ „ विज्ञान— „ „ प्र० श्री जैन साहित्य सभा, बम्बई।

२० **श्री नवकार साधना**—मफतलाल सघवी, रिसाला बाजार डीसा।

२१ **विश्वप्राण श्री नवकार**— „ „ „ „

२२ **अपूर्व नमस्कार**— „ „ „ „ श्री मफतलाल सघवी द्वारा सपादित

'धर्म-चक्र' व 'अमीधारा' मासिक पत्रो मे भी नवकार मत्र के सम्बन्ध मे काफी लेख प्रकाशित हुए हैं।

२३ नमस्कारगीतगगा—भद्रगुप्त विजय, प्र० सोमचन्द टी० शाह, पालीताना।

३४ नमस्कार रस गगा— " " "

२५ नमस्कार मन्त्र कल्प—जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल, कलकत्ता।

२६ नमस्कार महामत्र—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र० भारतीय दि० जैन सघ, मथुरा।

२७ मगलमत्र नमोकार—(एक अनुचिन्तन) डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा (विहार)। इसकी द्वितीयावृत्ति सन् १९६० मे छपी है। ३५८ पृष्ठ का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

२८ णमोकार मत्र माहात्म्य—ले० धरणेन्द्र प्रसाद जैन, मित्र मण्डल वाराणसी।

२९ णमोकार मत्र कल्प—

३०. श्री नमस्कार स्वाध्याय—(प्राकृत विभाग) तत्त्वानन्द विजय प्र० जैन साहित्य विकास मडल, बम्बई।

३१ " " (संस्कृत विभाग) म० धुरन्धर विजय " " "

नवकार पाठावली, परमेष्ठि नमस्कार आदि ५-७ ग्रन्थ गुजराती मे प्रकाशित है।

सूरिमन्त्र कल्प कई प्रकाशित हो चुके हैं। मुनि प्रीतिविजय सपादित श्री सूरि मत्र बृहत् कल्प विवरण एव जिनप्रभसूरि रचित (२) श्री सूरिमत्र आराधन विधि देवेन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक—डाह्या भाई महोकमलाल, अहमदाबाद की पत्रकार प्रतियाँ तो हमारे सग्रह मे हैं। इनके अतिरिक्त मलधारी राजशेखर सूरि, राजगच्छीय हसराज सूरि, खरतर गच्छीय जिनभद्र सूरि आदि के सूरि मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होगे, ऐसी सूचना श्री सूरिमत्र आराधन विधि के अन्त मे दी गई है।

सूरिमन्त्र सम्बन्धी कल्पो का एक सग्रह श्री साराभाई नवाब ने प्रकाशित किया था जिसमे (१) मेरुतु ग सूरि रचित सूरिमत्र मुख्य कल्प (२) दुर्गपद विवरण (३) सूरिमन्त्र कल्प (४) मलधारी गच्छीय सूरिमत्र कल्प (५) सूरि मन्त्र आम्नाय (६) माया बीज कल्प (७) ह्रींकार कल्प (८) नालिकेर कल्प (९) सिंहतिलक सूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प गुजराती अनुवाद सहित छपे है और अन्त मे जिन प्रभसूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प स्तवन, स्तोत्रादि छपे हैं।



मुनि कल्याणविजयजी ने 'आपणा प्राभृतो' शीर्षक गुजराती लेख मे जैन मत्र तत्र सम्बन्धी ग्रन्थो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैनो मे आज जितने भी मत्र और विद्याए मौजूद है उनमे सबसे प्राचीन सूरिमत्र और वर्द्धमान विद्या उल्लेखनीय है। जैन छेद सूत्र महानिशीथ के अन्त मे वर्ण विश्लेष करके लिखी हुई वर्द्धमान विद्या मिलती है। जैन भण्डारो मे प्राप्त इस विषय की निम्नोक्त रचनाओ के नामोल्लेख किये है —

(१) सूरि मत्र कल्प (२) सूरि मन्त्र सारोद्धार (३) सूरि मन्त्र प्रदेश विवरण (४) वर्द्धमान विद्या कल्प (५)-मयूर वाहिनी साधन (६) मन्त्र शास्त्र (७) विद्यानुशासन (८) पद्मावती कल्प (९) सरस्वती कल्प (१०) अट्टे मट्टे कल्प (११) ह्रींकार कल्प (१२) मन्त्राधिराज कल्प (१३) ऋषि-मडल कल्प (१४) चिन्तामणि पार्श्व कल्प

(१५) ज्वालामालिनी साधन (१६) प्रत्यगिरा कल्पसारोद्धार (१७) घटाकर्ण कल्प (१८) पचागुली कल्प (१९) उद्योतकर स्तव कल्प (२०) शक्र स्तव कल्प (२२) परमेष्ठि मत्र कल्प (२२) उपसर्गहर कल्प (२३) तिजय-पहुत्त स्तोत्र कल्प (२४) भयहर स्तव कल्प (२५) भक्तामरस्तोत्र कल्प।

वसुधारा के अतिरिक्त जागुली विद्य' भी जैनो मे प्रसिद्ध है और वे दोनो ही बौद्धो से आई हैं। विद्या प्राभृत के सम्बन्ध मे भो मुनि कल्याणविजयजी ने अच्छी जानकारी दी है।

श्री धीरजलाल शाह ने अपने मत्र, तत्र, यत्र सम्बन्धी पुस्तिकाओ मे उपर्युक्त १४८ ग्रन्थो की सूची तो दी ही है, साथ ही कुछ ग्रन्थो के सम्बन्ध मे विशेष बाते भी बतलायी हैं। जैसे—मत्राधिराज नामक महान् जैन तन्त्र ग्रन्थ मे जप के १३ भेदो का उल्लेख किया है। मूड बिद्री की हस्तलिखित प्रतियो मे समन्तभद्र रचित 'मत्र-व्याकरण' नामक एक महत्त्वपूर्ण कल्प है जिसकी प्रतिलिपि धीरजभाई के पास है। जैन आम्नाय का बीज सग्रह बृहत् विद्या विधि अपर नाम मत्रसारसमुच्चय मे होने का उल्लेख किया है। गुणनन्दिविरचित ऋषि-मण्डल यन्त्र पूजा मे दि० प० मनोहरलाल शास्त्री ने यन्त्र दिये हैं वे ठीक नही हैं, ऐसा धीरज भाई का मत है। णमोत्थुण यत्र की खोज मे तो उन्होने दक्षिण भारत तक की यात्रा की थी। खेद है कि जैन मत्र, यन्त्रो के विशेषज्ञ भट्टारक चन्द्रसागरजी का कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया। उसी तरह श्वेताम्बर आचार्यों मे इस विषय के ज्ञाता श्री जयसागर सूरि जी थे, उन्होने सारा भाई नवाब को अनेक जैन ग्रन्थो के मत्र बनाकर दिये थे—उनका भी स्वर्गवास हो गया है।

ऋषिमण्डल, भक्तामर, कल्याणमदिर स्तोत्रो का प्रचार श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो मे है और इनके यत्र, मत्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं, जिनमे से श्री चन्दनमल नागौरी सम्पादित (१) ऋषिमडल स्तोत्र कल्प, (२) सिंहतिलक सूरि रचित ऋषि मडल स्तव यन्त्र लेखनम् (प्र० जैन साहित्य विकास मडल, बम्बई) (३) ऋषि मडल स्तोत्र यत्र चित्र सहित—स० यशोविजयजी, ये तीन श्वेताम्बर समाज की ओर से और अन्य १-२ दि० समाज की ओर से भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी तरह भक्तामर मत्र आम्नाय सहित श्वेताम्बर दि० दोनो के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे साराभाई नवाब के प्रकाशित नवस्मरण और भक्तामर-कल्याण मन्दिर सम्बन्धी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

मुनि प्रीतिविजयजी ने जिनप्रभ सूरि रचित 'बृहत् ह्रीकार-कल्प-विवरण' और 'वर्धमान-विद्या-कल्प' दोनो एक साथ पत्राकार रूप मे सा० डाह्याभाई मोहकमलाल, अहमदाबाद से प्रकाशित किए हैं। वर्द्धमान विद्या का भी श्वेताम्बर समाज मे काफी प्रचार रहा है। कई प्राचीन वस्त्रपट्ट वर्द्धमान-विद्या सम्बन्धी मिलते हैं जिनमे से एक हमारे सग्रह मे भी हैं। सूरि-मत्र और ह्रीकार-मत्र आदि के भी वस्त्रपट्ट पाये जाते हैं।

श्री चन्दनमल नागौरी ने उपरोक्त नवकार और ऋषिमण्डल के अतिरिक्त घटाकर्ण-कल्प और यत्र-मत्र-कल्प-सग्रह नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। इनके प्रथम भाग मे यत्रो का सग्रह है। जिसमे जयपताका, विजयपताका, वर्द्धमान पताका, यत्र उल्लेखनीय हैं। दूसरे भाग मे मत्र-सग्रह है। तीसरे भाग मे कल्प-सग्रह है, जिसमे लोगस्स-कल्प, सहदेवी-कल्प, मगल-कल्प, धर्मो-मगल-कल्प, स्वर्णसिद्धि-कल्प, बीसा यत्र कल्प आदि उल्लेखनीय हैं। श्री नागौरीजी के सग्रह मे इस विषय की और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

श्री एस० के० कोटेचा, धुलिया मे महावीर ग्रन्थमाला द्वारा भद्रगुप्ताचार्य रचित 'विद्यारत्नमहोदधि' आदि ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किए हैं। इनमे से विद्यारत्नमहोदधि वास्तव मे भैरव पद्मावती-कल्प के परिशिष्ट मे प्रकाशित 'अनुभवसिद्ध-मत्र-द्वात्रिंशिका' ही है। कोटेचा-प्रकाशित उवसग्गहर मत्र यत्र, मेघविजय रचित अनुभूत सिद्ध बीसा यत्र (अर्जुन पताका) आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। ज्ञानसुन्दरी-प्रयोगमाला मे भी कुछ मत्र प्रकरण हैं। नागार्जुन के आकाशगामिनी-विद्या-कल्प और गोपी चक्र-कल्प भी छप चुके हैं।

श्री साराभाई नवाब के मंत्र-तंत्र सम्बन्धी—(१) महाप्रभाविक नव स्मरण (२) भैरव-पद्मावती-कल्प (३) श्री सूरिमंत्र-कल्प-संदोह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त (४) श्री जैन-यंत्रावली (५) श्री मंत्राधिराज-चिन्तामणि (६) महाचमत्कारिक बीसा-यंत्र-कल्प, (७) श्री घंटाकर्ण मणिभद्र मंत्र-तंत्र-कल्पादि संग्रह, तथा मणिकल्पादि-ग्रन्थ और श्री जैनचित्रपट्टावली भी प्रकाशित हुए हैं।

श्रीनिर्वाणकलिका का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रतिष्ठा-कल्पादि ग्रन्थों में भी नवग्रह, दस दिग्पाल पूजादि में तांत्रिक प्रभाव पाया जाता है। ऐसे प्रतिष्ठा-कल्प कई हैं जिनमें सकलचन्द्र का प्रतिष्ठा-कल्प अधिक प्रसिद्ध है। वैसे आचार-दिनकर के द्वितीय भाग में भी प्रतिष्ठा विधि दी गई है। श्री सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार आदि अन्य रचनाएं भी प्रकाशित हैं।

साहित्य के अतिरिक्त वस्त्रपट्ट पर लिखे हुए अनेक प्रकार के मंत्र जैन भण्डारों में प्राप्त होते हैं। १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक पार्श्वनाथ-चिन्तामणि यंत्र का चित्रपट्ट हमारे नाहटा कलाभवन में है। १५वीं शती उत्तरार्द्ध का एक विस्तृत विजय यंत्र के पट्ट का फोटो भी नाहटा कलाभवन में है। वह मूल वस्त्रपट्ट बोस्टन के म्युजियम में प्रदर्शित है। वर्धमान विद्या का भी एक प्राचीन वस्त्रपट्ट हमारे संग्रह में है तथा और भी अनेक वस्त्रपट्ट, वस्त्र और कागज पर लिखे हुए हमारे कला भवन तथा बीकानेर के बड़े ज्ञान-भंडार में सुरक्षित हैं। कई मन्त्रपट्ट प्रकाशित भी हो चुके हैं। जिनमें से सिद्धचक्र और ऋषिमण्डल के यंत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरि मंत्र आदि के भी यंत्र पट्टों के ब्लाक ग्रन्थों में छप चुके हैं। श्री साराभाई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों तथा दिगम्बर समाज की ओर से प्रकाशित कई ग्रन्थों में मन्त्रों के ब्लाक छपे हैं। श्री वीरजलाल शाह के 'केटलाक यंत्र' नामक पुस्तक में पनरिया, बीसा, सोलिया, चौतीसा, चालीसा, पैसठिया और लाखिया यंत्र दिये गये हैं। जैन यति लोग यंत्रों का काफी प्रयोग करते थे, अतः अनेक प्रकार के मंत्र जैन भण्डारों में लिखे हुए मिलते हैं। इसी तरह फुटकर हजारों मंत्रों की प्रतियाँ प्राप्त हैं। अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित साहित्य की अपेक्षा कई गुना है। पं० भगवानदास जैन, जयपुर के संग्रह में (१) सूरि मन्त्र-कल्प-मानदेव सूरि, (२) धर्मघोष सूरि, (३) जिनभद्र सूरि कृत तथा (४) पञ्चागुलि-कल्प, (५) मंत्राधिराज, कल्प-सागरचन्द्र सूरि कृत आदि कई अप्रकाशित रचनाएं हैं।

हमारे संग्रह में उवसग्गहर स्तोत्र मंत्र यंत्र कल्प, शक्रस्तव कल्प, नवकार कल्प, तिजय पहुत्त कल्प, लोगस्स कल्प, भक्तामर मंत्र कल्प, विजय मंत्र विधि, चिन्तामणि-कल्प (धर्म घोष सूरि) घंटाकर्ण कल्प, सरस्वती कल्प आदि कई कल्प और विधि-विधान सम्बन्धी प्रतियाँ हैं। इसी तरह अन्य भण्डारों में भी अनेक प्रतियाँ खोजने पर मिलेंगी।

दक्षिण भारत के भण्डारों में गणधर-कल्प, गणधर वलय यंत्र, गणधर वलय मंत्र जप विधि, पार्श्वनाथ मंत्राष्टक (इन्द्रनंदि रचित) पंच नमस्कार-चक्र, बृहद् शान्ति विधान, काम-चंडालिनी कल्प (मल्लिषेण), बीजाक्षर-कोष विद्यानुवादांग, सरस्वती-कल्प, (विजयकीर्ति) श्री देवता-कल्प (अरिष्टनेमि), पंच नमस्कार कल्प, बालगृह, चिकित्सा यंत्र मंत्र संग्रह आदि ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, या कन्नड भाषा और लिपि में पाये जाते हैं।

जिस तरह कागज और वस्त्र पर अनेक मंत्र लिखे मिलते हैं उसी तरह तांबा, पीतल और चाँदी के भी अनेक यंत्र जैन मन्दिरों में पूजे जाते हैं। बीकानेर के मन्दिरों में सिद्धचक्र मंत्र यंत्र, सर्वतोभद्र यंत्र, चक्रेश्वरी निवान यंत्र, कलिकुण्ड-यंत्र, ह्रींकार यन्त्र आदि तांबे और पीतल के हैं। दि० मन्दिरों में षोडशकारण यन्त्र, सम्यक्-दर्शन-यन्त्र, दश धर्म यन्त्र, सम्यक् चरित्र यन्त्र, चिन्तामणि यन्त्र, सम्यक् ज्ञान यन्त्र, सिद्ध परमेष्ठि यन्त्र, कलिकुण्ड यन्त्र, पंच परमेष्ठि और चौबीस तीर्थंकर यन्त्र, गणधर वलय यन्त्र, शान्तिनाथ यन्त्र, नवमन्त्रों का यन्त्र, ओंकार यन्त्र, ऋषिमण्डल यन्त्र, महालक्ष्मी यन्त्र, सिद्धचक्र यन्त्र, अनन्त यन्त्र, सिद्ध यन्त्र, सिद्धि यन्त्र, नवग्रह यन्त्र आदि पाये जाते हैं।



सिद्धचक्र विधान की तरह अनेक प्रकार के विधान दिगम्बर समाज में प्रचलित हैं। ऐसे कई विधान सम्बन्धी

ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। विधि-विधानो के अनेको ग्रन्थो मे तात्रिक प्रभाव दिखाई देता है। मन्त्रो का प्रयोग तो है ही।

जैन विद्वानो की दो विशेषताए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो उन्होने मन्त्र के आदि अक्षरो का सम्बन्ध जैन महापुरुषो से जोड दिया है। जैसे ॐकार जैन मान्यता के अनुसार पच परमेष्ठि के ५ अक्षरो से बना है। अरहन्त या अरिहन्त का अ, सिद्ध अशरीर होने से अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इन अ×अ×आ×उ×म् से ओ शब्द बना है। इस तरह ह्रीकार की ह्री मे २४ तीर्थंकरो का समावेश किया जाता है। ओकार ह्रीकार के ऐसे कई चित्रपट्ट, जिनमे पच परमेष्ठि और २४ तीर्थंकरो के चित्र प्रस्थापित किये गये हैं, प्रकाशित भी हो चुके है।

दूसरी विशेषता, उदार दृष्टिकोण है। जैनेतर देवी-देवताओ और रचनाओ को भी उन्होने अपनाया, पर उनमे जो हिंसात्मक विधान थे उन्हे नही अपनाया। जैसे ओसियाँ (राजस्थान) की चाँमुडा देवी को ओसवालो की कुल देवी मान्य रखी पर देवी के आगे जो पशुओ का बलिदान होता था उसे बन्द करके मेवा-मिष्ठान्न, फल-फूल, धूप, दीपक आदि से देवी की पूजा प्रचलित की। इसी तरह भेरूजी को भी उन्होने अपनाया, किन्तु उनके आगे जो मास-मदिरा चढाने की पद्धति थी उसे नही अपनाया। अर्थात् जैनधर्म के मूल-भूत विधि-विधानो एव तत्त्वो मे किसी तरह की आपत्ति हो ऐसा नही किया। घटाकर्ण आदि कई देवी-देवता मूलत जैनमान्य नही थे, पर आज उनकी सात्त्विक पूजा जैन-समाज मे प्रचलित है। बौद्धो के धारणियो आदि को भी जैनो ने अपनाई। विशेषत वसुधारा धारिणी नामक बौद्ध कृति का प्रचार गत ५०० वर्षों से जैन समाज मे काफी रहा है। हमारे सग्रह मे सवत् १५४८ की लिखी हुई वसुधारा की प्रति है। इसके बाद की तो एक दर्जन से अधिक प्रतिया हैं। बौद्धो मे प्रचलित वसुधारा मे कहाँ क्या परिवर्तन किया है, यह तो मिलान करने पर ही मालूम हो सकता है। चूरु की सुराणा लायब्रेरी मे बौद्ध वसुधारा की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हैं। बौद्ध वसुधारा काफी विस्तृत है। जैन विद्वानो ने उसका सक्षिप्त रूप अपनाया प्रतीत होता है। इसी तरह अन्य जैन मत्र तत्र सम्बन्धी ग्रन्थो का जैनेतर ग्रन्थो से तुलनात्मक अध्ययन करने पर नये तथ्य प्रकाश मे आयेंगे।

जैसा कि पहले कहा गया है, प्राचीन काल से जैनाचार्य और मुनियो ने मत्र एव विद्याओ का समय-समय पर प्रयोग करके बहुत चमत्कार दिखाया है, पर उनका उद्देश्य जैन-शासन-रक्षा, सघ की विपत्ति निवारण, जैन धर्म की उन्नति व प्रभाव स्थापित करना रहा है और ऐसे कामो मे ही इन साधनो का अधिक उपयोग किया है। जैन विद्वान् सदा से लोक-सम्पर्क मे अधिक रहे हैं। वैसे बडे-बडे राजा-महाराजाओ को भी उन्होने प्रभावित कर शासन प्रभावना की है। साधारणतया लोग चमत्कार को नमस्कार करते हैं, इसलिये उन्हे जब जैसा अवसर आया जनता या अधिकारियो को धर्मानुरागी बनाने के लिए चमत्कार भी दिखलाये। ऐसे अनेक प्रसग जैनाचार्यों के चरित्रो मे प्राप्त है। उदाहरणार्थ—रत्नप्रभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि ने लाखो अजैनो को जैन बनाया, चमत्कार दिखाकर ही। कई बार शास्त्रार्थ मे भी मत्रादि विद्याओ का प्रयोग आवश्यक हो जाता था।

मत्र, यत्र, तत्र का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। तात्रिक साहित्य को आगम कहा जाता है और प्राचीन जैन ग्रन्थो को भी आगम की सज्ञा प्राप्त है। जिस प्रकार शिव और शक्ति के कहे हुए ग्रन्थ शैवागम कहे जाते हैं उसी तरह जिनेश्वर के कहे हुए वचनो का सग्रह जिस ग्रन्थ मे हो उसे जैनागम कहा जाता है। वैदिक धर्म, कर्म-काण्ड, यज्ञ-पूजा आदि प्रवृत्तियो को अधिक महत्त्व देता है। जैनधर्म अहिंसा, त्याग, तपस्या आदि निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देता है। इसलिए जैनो मे पच मकार आदिक तात्रिक विधि-विधान कभी स्वीकृत नही हुए। यद्यपि भैरव-पद्मावती कल्प आदि मे कही-कही जैनधर्म को मान्य न होने वाले विधान भी देखने को मिलते हैं। दस दिग्पाल आदि की पूजा मे बलि का विधान भी है पर वहाँ पशु-बलि नही, अन्य खाद्य पदार्थो की बलि दी जाती है। इस तरह जैन धर्म मे तात्रिक प्रभाव बहुत कुछ स्वधर्मसम्मत आदर्श को लिए हुए है और तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को अधिक अपनाया गया है।

✤

जैनसाहित्य में रामकथा

पं० गोकुलचन्द्र जैन

एम० ए०, साहित्याचार्य



मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पावन चरित्र पुण्यसलिला भागीरथी की निर्मल धारा के समान आदि कवि वाल्मीकि की सुधावर्षिणी लेखनी से प्रस्रवित हो कर नाना तीर्थ बनाता हुआ निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ है। वैदिक, जैन और बौद्ध धाराओं के अनेक महारथी साहित्यकारों ने भगवान् राम के चरित्र को लिपिबद्ध करके अपना अहोभाग्य माना और इस त्रिवेणी-सगम के पावन तीर्थ में मज्जन करके अनेक महापुरुषों ने प्रेरणा पायी।

हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार मान कर राम की पूजा की। जैनों ने मोक्षगामी महापुरुष मान कर तीर्थंकरों के समान आदर दिया और बौद्धों ने उन्हें बुद्ध का अवतार मान कर अपना आराध्य बनाया। इस प्रकार भारत का सम्पूर्ण जन-मानस प्राचीन काल से राम को पूजता चला आया।

रामकथा को साहित्यकारों ने और लोककथाओं ने मनचाहा मोड दिया। यहाँ तक कि अपनी-अपनी विचारधारा और मान्यता के अनुसार कथा के पात्रों को हिन्दू, जैन और बौद्ध भी बना डाला। कुछ मनचले लोगों ने तो सारी कथा को अद्भुत ही बना दिया जो बाद में अद्भुत रामायण के ही नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इतना होने पर भी मजा यह कि राम का चरित्र उज्ज्वल से उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम होता गया। हीरे को ज्यों-ज्यों सान पर चढाया उसका रूप निखरता गया। राम मानव से ऊँचे उठकर भगवान की कोटि में पहुंच गये।

भगवान की उपासना जिसे जिस रूप में अच्छी लगी उसने उसी रूप में उसकी आराधना की। किसी ने गीतों में गा कर, किसी ने ध्यान में ध्याकर तो किसी ने अपने मन-मन्दिर में बिठा कर। भक्तवत्सल भगवान को भक्तों के अनुकूल बनना पडा। अपने चरित को भी उनकी अभिरुचि के अनुसार मोड देना पडा। हिन्दुओं के राम हिन्दू थे इसलिए उन्हें हिन्दुत्व का चोगा पहनना पडा और कथा को उसके अनुकूल बनाया गया। बौद्धों के राम बुद्ध के अवतार थे इसलिए उन्हें वाराणसी में जन्म लेना पडा और सीता को यशोधरा और भरत को आनन्द बनना पडा। जैनों के राम ही जैन नहीं थे प्रत्युत कथा के सभी पात्र जैनधर्म के सच्चे अनुयायी थे। यहाँ तक कि रावण भी जैनधर्म का कट्टर श्रद्धालु था।



जैन साहित्य में जब रामकथा लिपिबद्ध होना शुरू हुई उस समय तक कथा के कई रूप चल पडे थे। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त शायद अद्भुत रामायण तथा बौद्धों का दशरथ जातक भी लिपिबद्ध हो चुका था। यही कारण है कि उत्तरपुराण की कथा का जानकी-जन्म अद्भुत रामायण के ढग का है। और दशरथ को वाराणसी का राजा बताना बौद्ध जातक के अनुरूप है।

रामकथा सम्बन्धी जैन-साहित्य

उपलब्ध जैन साहित्य मे रामकथा का वर्णन करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ विमलसूरि का पउम-चरिय मिलता है। विद्वानो ने इसे चौथी शती की रचना माना है। कुछ लोग इसे इससे भी पूर्व का मानते हैं। विमलसूरि के उल्लेख के अनुसार रामकथा का अवतरण जैन साहित्य मे उनसे पूर्व ही हो चुका था। उन्होने पउम-चरिय मे लिखा है कि—मैं नामवली मे निबद्ध और आचार्यपरम्परा से प्राप्त समस्त पद्मचरित (रामायण) आनुपूर्वी के अनुसार सक्षेप मे कहूगा।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे जिन त्रेषठ शलाकापुरुषो की गणना है उनमे राम की भी गणना की गयी है। बाद के ग्रन्थकारो मे स्वयभूदेव का पउम-चरिउ (अपभ्र श), गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविषेणाचार्य का पद्मचरित या पद्मपुराण विशेप उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित नामक ग्रन्थ मे रामकथा को सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। जिनदास कृत रामपुराण (१५ वी शती), पद्मदेव विजयगणिकृत रामचरित (१६ वी शती) तथा सोमसेन कृत रामचरित (१६वी शती) भी रामकथा का वर्णन करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक जैनकथा ग्रन्थो मे राम की कथा आयी है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जैन साहित्यकारो ने भगवान राम के उज्ज्वल चरित का अ कन किया है।

जैन रामायण के दो रूप

उपर्यु क्त समस्त जैन साहित्य मे रामकथा का विकास दो धाराओ मे हुआ है। पहली धारा विमलसूरि के पउम-चरिय को आधार मान कर चली है और दूसरी गुणभद्र के उत्तरपुराण को।

विमलसूरि की परम्परा और पउम-चरिय की कथावस्तु

पउम-चरिय की कथा राक्षस तथा वानर वश के वर्णन के साथ प्रारम्भ होती है। राजा सेणिय (श्रेणिक) ने भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गोयम (गौतम) गणधर से रामकथा को जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर गोयम पउम-चरिय सुनाता है। कथा-वस्तु इस प्रकार है—

राक्षस वशीय राजा रत्नश्रवा तथा कैकसी के चार सन्तान थी। रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीपण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा तब शिशु माला पहने हुए था। इस माला मे पिता को रावण के दस सिर दिखाई दिये, इस कारण शिशु का नाम दशानन या दशग्रीव रखा गया। अपने मौसेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई बडे होने पर तप करने के लिए चले गये और तप के द्वारा अनेक विद्याए प्राप्त की। इसके बाद रावण ने मन्दोदरी आदि ६००० कन्याओ के साथ विवाह किया और दिग्विजय मे बहुत से राजाओ को परास्त किया। इसी विजय यात्रा मे रावण ने नलकूवर की पत्नी का प्रेम-प्रस्ताव ठुकरा दिया तथा किसी केवली का उपदेश सुनकर धर्म-प्रतिज्ञा की कि 'मैं विरक्त परनारी का भोग नही करू गा।'

इसके बाद बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि का वर्णन है।

२१वे पर्व से मूल कथा आरम्भ होती है। जनक तथा दशरथ की वशावली के बाद दशरथ की तीन पत्नियो का उल्लेख है। कौशल्या, सुमित्रा तथा सुप्रभा ये तीन रानी थी। एक दिन नारद ने रावण से कहा कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण दशरथ के पुत्र द्वारा होगी। इस पर रावण ने अपने भाई विभीपण को इन दोनो को मार डालने के लिए भेजा। वहा नारद ने जनक और दशरथ को रावण के इस समाचार से पहले ही सावधान कर दिया

था। दोनो अपने-अपने रूप का एक-एक पुतला अपने-अपने महल मे रख कर गुप्त रूप मे परदेश चले गए। विभीषण ने इन दोनो मूर्तियो को ही वास्तविक जनक और दशरथ समझकर उनके सिर काट कर समुद्र मे फेंक दिए। परदेश मे दशरथ कैकेयी के स्वयम्वर मे पहुचे और कन्या ने दशरथ के गले मे माला डाली। इस पर अन्य राजा बिगड खडे हुए। फलस्वरूप उनसे राजा दशरथ का युद्ध हुआ। कैकेयी वीरागना थी इसलिए उसने स्वय दशरथ का रथ चलाया। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चतुराई से युद्ध मे विजयी हुए और अयोध्या वापस आकर राज्य करने लगे। कैकेयी की चतुराई से प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मागने को कहा। कैकेयी ने यह कहकर कि 'मेरा वर भण्डार मे रहे, जब आवश्यकता होगी तब माँग लू गी', वर को सुरक्षित करा दिया।

कैकेयी सहित राजा के चार रानियाँ हो गयी। इनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, जिनका दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक के विदेहा नामक रानी से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम भामण्डल तथा पुत्री का नाम सीता रखा गया। बडे होने पर सीता का स्वयवर हुआ। स्वयवर मे राम ने धनुष चढाया तथा उनका सीता के साथ विवाह हो गया। इसके बाद राजा दशरथ राम को राज्य देकर तपस्या के लिए जाने की सोचने लगे, तभी कैकेयी ने राज्यभण्डार मे सुरक्षित अपना वर माग कर भरत को राज्य मागा। यह सुन कर राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण की ओर चले गए। कैकेयी और भरत ने वन मे जाकर राम से लौट चलने का अनुरोध किया पर सब व्यर्थ हुआ। राम अयोध्या नही लौटे।

इसके बाद वनभ्रमण का विस्तार के साथ वर्णन है। वन मे राम और लक्ष्मण के म्लेच्छ राजाओ से अनेक युद्ध हुए। कई विपत्तिग्रस्त लोगो की राम ने सहायता भी की। जटायु से भेंट होने के बाद राम दण्डक वन मे रहने लगे।

इसके बाद सीताहरण और उनकी खोज का वर्णन है। चन्द्रनखा तथा खरदूषण के पुत्र शम्बूक ने सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की, जिसके फलस्वरूप वहाँ सूर्यहास प्रकट हुआ। लक्ष्मण सयोग से वहाँ पहुचे और शम्बूक खड्ग ले इसके पूर्व ही उन्होंने उसे उठा लिया। खड्ग की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं पास के एक वास-समूह पर उससे प्रहार किया। उसी वाससमूह मे बैठा शम्बूक तपस्या कर रहा था। इसलिए लक्ष्मण के इस प्रयोग से वासो के साथ उसका भी सिर कट गया। चन्द्रनखा ने आकर जब अपने मृत पुत्र को देखा तो वह बहुत विलाप करने लगी और वापस आने पर अपने पति से सारा समाचार कह सुनाया। खरदूषण के साथ लक्ष्मण का भयकर युद्ध हुआ। इसी समय खरदूषण के आह्वान पर रावण उसकी सहायता के लिए आया और सीता को देखकर उस पर मोहित हो गया। रावण सीता के अपहरण का उपाय सोचने लगा। उसने अपनी विद्या के बल से जाना कि राम को सहायतार्थ बुलाने के लिए लक्ष्मण ने सिंहनाद का सकेत बताया है, इसलिए वह प्रपचपूर्ण सिंहनाद करता है जिससे राम लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता को अकेली छोड कर चले जाते हैं। इसी समय रावण सीता को अकेली पा कर हर ले जाता है।

सीताहरण के बाद राम बहुत दुखी होते हैं। इसके बाद सुग्रीव के साथ राम की मैत्री का वर्णन है। साहसगति ने सुग्रीव का रूप धारण कर सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था। राम ने उसे मार कर सुग्रीव को उसकी पत्नी प्राप्त करा दी। सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। कुछ ही समय मे रत्नजटी नामक विद्याधर आकर बताता है कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण एक महान बलशाली राजा था इसलिए विद्याधरो ने उसके साथ युद्ध करने से इन्कार कर दिया, किन्तु जब उन्हे अनन्तवीर्य केवली का यह वचन याद आया कि जो व्यक्ति कोटि-शिला को उठायेगा वही रावण को मारेगा तो सबने कोटिशिला उठाने की परीक्षा की। लक्ष्मण ने शिला उठा दी। विद्याधर अब भी रावण से डरते हैं और हनुमान को लका भेजने की सलाह देते है। हनुमान



लका जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह का विनाश करके सीता का सन्देश लेकर राम के पास लौट आते है।

इसके बाद युद्ध का वर्णन है। सुग्रीव आदि विद्याधरो के साथ राम लका के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग मे वानर वशी विद्याधरो की सेना को समुद्र नामक राजा रोकता है जिससे युद्ध होता है। अन्त मे समुद्र की पराजय होती है। राम कृपा करके उसका राज्य उसे वापस लौटा देते है। सेना लका पहुचती है। वहा रावण के साथ भयकर युद्ध होता है। अन्त मे रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है, किन्तु वह चक्र लक्ष्मण को लगने के बदले उनकी प्रदक्षिणा देकर हाथ मे आ जाता है। लक्ष्मण इसी चक्र से रावण का वध करते है।

तदनन्तर राम अयोध्या लौट कर राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेते है। लोकापवाद के भय से राम सीता को वन मे छुडवा देते है। सीता वज्रजघ के आश्रम मे रहती है। वही उनके लवण और अकुश दो पुत्र होते हैं।

बडे होने पर लवण और अकुश का राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध होता है। बाद मे नारद के द्वारा पारस्परिक परिचय होने पर पिता-पुत्रो मे मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के कहने पर राम सीता को बुला लेते हैं। सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उसमे सफल होने के बाद आर्यिका (जैन साध्वी) हो जाती है।

किसी दिन दो देव राम और लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा करने के लिए आते हैं और लक्ष्मण को असत्य राम की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं। लक्ष्मण अपने भाई की मृत्यु के समाचार सुनते ही अपने प्राण त्याग देते हैं। अब राम को लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वे अत्यन्त दुखी होते हैं और विक्षिप्त से हो जाते है। अन्त मे लक्ष्मण की अन्त्येष्टिक्रिया करने के बाद राम मुनि हो जाते है और साधना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यहाँ पउम-चरिय की कथा समाप्त होती है।

गुणभद्र की परम्परा और उत्तरपुराण की कथावस्तु

उत्तरपुराण की कथा बौद्ध साहित्य के दशरथ जातक की तरह प्रारम्भ होती है। कथा का सक्षेप इस प्रकार है—

वाराणसी मे दशरथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनके चार पुत्र थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। राम सबाला के गर्भ से, लक्ष्मण कैकेयी के गर्भ से तथा साकेतपुर मे राजधानी स्थापित होने के बाद भरत और शत्रुघ्न किसी दूसरी रानी के गर्भ से (जिसका नाम नही दिया) उत्पन्न हुए थे। दशानन (रावण) विनमि विद्याधर वश के पुलस्त्य का पुत्र था। किसी दिन उसने अमितवेग की पुत्री मणिमती को तपस्या करते देखा और उस पर मोहित होकर उसकी साधना मे विघ्न डालन लगा। मणिमती ने निदान किया कि "मैं तेरी ही पुत्री होकर तेरा नाश करूगी।" मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ मे आयी। उसके जन्म के बाद ज्योतिषियो ने रावण को बताया कि यह तुम्हारा नाश करेगी। अत रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कही छोड आए। एक रत्नमजूषा मे रख कर मारीच उस कन्या को मिथिला देश मे गाड आया। हल जोतते समय वह रत्नमजूषा दिखाई पडी और लोग उसे लेकर राजा जनक के पास ले गये। जनक ने खोलकर देखा तो उसमे से एक सुन्दर कन्या निकली। जनक ने उसका नाम सीता रखा और पुत्री की तरह उसका लालन-पालन करने लगे।

बहुत समय के बाद राजा जनक ने राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए बुलाया। यज्ञ समाप्त होने के बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया और वे दशरथ से आज्ञा लेकर वाराणसी मे रहने लगे।

नारद ने रावण के सामने सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया जिससे रावण ने सीता को हर लाने का सकल्प किया और अपनी वहिन सूर्पणखा को सीता के मन की परीक्षा करने के लिए भेजा। सूर्पणखा ने लौट कर वताया कि सीता के मन को चलायमान करना असम्भव है।

एक दिन जिस समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका मे विहार कर रहे थे उस समय मारीच स्वर्ण मृग का रूप धारण करके राम को दूर ले गया, इतने मे रावण राम का रूप वना कर आया और सीता से कहने लगा कि मैंने मृग को महल भेज दिया है। वह सीता को पालकी पर चढने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव मे पुष्पक विमान है जो सीता को ले जाता है। रावण अपनी आकाशगामिनी विद्या नष्ट होने के डर से पतिव्रता सीता को स्पर्श नही करता।

दशरथ को स्वप्न द्वारा यह पता चला कि रावण ने सीता का हरण किया है। उन्होंने यह समाचार राम के पास भेज दिया। इसी मौके पर सुग्रीव और हनुमान वाली के विरुद्ध सहायता मागने राम के पास पहुचे। हनुमान को लका भेजा गया और वे सीता को सात्वना देकर वहा से लौट आये। इसके वाद लक्ष्मण ने वाली का वध किया और सुग्रीव को उसके राज्य का अधिकार दिलाया।

इसके वाद वानरो और राम की सेना ने लका के लिए प्रस्थान किया। लका मे भयकर युद्ध हुआ और अन्त मे लक्ष्मण ने चक्र से रावण का सिर काट लिया। दिग्विजय के वाद सव लौट आये। सीता के आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सीता के त्याग का यहा कोई उल्लेख नही मिलता। लक्ष्मण की एक असाध्य रोग से मृत्यु हो जाती है और राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद पर तथा सीता के पुत्र अतिसजव को युवराज पद पर अभिषिक्त करके मुनि दीक्षा ले लेते हैं और तप करके अन्त मे मोक्ष पाते हैं। सीता भी अनेक रानियो के साथ दीक्षा ले लेती है और तप करके स्वर्ग प्राप्त करती है। इस तरह कथा समाप्त होती है।

जैन साहित्य मे रामकथा की इन धाराओ का पर्याप्त विकास हुआ है। पहली धारा का आधार लेकर जिन ग्रन्थो की रचना हुई उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—विमलसूरि का पउमचरिय (तीसरी-चौथी शती) प्राकृत

२—रविषेण का पद्मचरित (६६० ई०) सस्कृत

३—स्वयभूदेव का पउमचरिउ (७००-८०० ई०) अपभ्र श

४—हेमचन्द्र का जैन रामायण (१२ वी शती) यह त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित मे मिलता है, अलग से भी छप गया है। सस्कृत।

५—जिनदास का रामपुराण (१५ वी शती) सस्कृत

६—पद्मदेव विजयगणि का रामचरित (१६ वी शती) सस्कृत

७—सोमसेन का रामचरित (१६वी शती) सस्कृत



इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक कथाकोषो मे भी रामचरित की सामग्री मिलती है। उदाहरण के तौर पर हरिषेण का कथाकोष, रामचन्द्र मुमुक्षु का पुण्याश्रवकथाकोष तथा जिनरत्न-कथाकोष आदि मे रामचरित की पर्याप्त सामग्री मिलती है।

दूसरी परम्परा के ग्रन्थो मे निम्नलिखित मुख्य है—

१—गुणभद्र का उत्तरपुराण (९वी शती) सस्कृत

२—कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदयपुराण (१६वी शती) सस्कृत

३—पुष्पदन्त का तिसट्ठी महापुरिसगुणालकार (१०वी शती) अपभ्र श

४—चामुण्डराय का त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (१०वी शति) कन्नड ।

५—बन्धु वर्मा का जीवन सम्बोधन (१२वी शती) कन्नड

६—नागराज का पुण्याश्रवकथासार (१३३१ ई०)

इनमे पुण्यचन्द्रोदय को छोड कर बाकी ग्रन्थो मे अन्य ६३ महापुरुषो के चरित भी मिलते हैं ।

इसके अतिरिक्त भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जितना रामकथा सम्बन्धी साहित्य जैन साहित्यकारो द्वारा लिखा गया है वह उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे से ही किसी एक को आधार मान कर निबद्ध हुआ है ।

जैन साहित्यकारो द्वारा निर्मित रामकथा सम्बन्धी इस विशाल साहित्य को देख कर रामकथा मे जैन समाज की प्रगाढ अभिरुचि का पता चलता है । वर्तमान मे भी जैन समाज मे रामकथा सम्बन्धी साहित्य का तुलसीदास की रामायण की तरह बडे चाव से पठन-पाठन होता है ।

कथावस्तु की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध रामकथा मे बहुत-सी समानताएँ और असमानताए पायी जाती हैं । यहा तक कि वैदिक साहित्य मे भी रामकथा का एक रूप नही मिलता । उदाहरण के लिए सीता की उत्पत्ति के प्रश्न को ही ले लिया जाए—महाभारत की सीता जनक की पुत्री हैं तो बाल्मीकि रामायण की सीता पृथ्वी की । वही सीता विष्णुपुराण और भागवतपुराण मे रावण की पुत्री हो गयी । इसी तरह दशावतार की सीता कमल से उत्पन्न होती है और आनन्दरामायण की अग्नि से ।

इस तरह की नाना विप्रतिपत्तियो के होते हुए भी रामकथा का प्रचार अत्यधिक मात्रा मे हुआ है । मूल रामचरित की कथावस्तु क्या थी अथवा क्या होना चाहिए आदि के पचडे मे न पडकर यदि हम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनो धाराओ के रामकथा सम्बन्धी साहित्य को उठा कर देखे तो ज्ञात होगा कि कथा-वस्तु मे पाये जाने वाले अन्तर के बावजूद रामकथा के पात्रो का चरित्र क्रमश निखरता ही गया है । केवल राम को ही नही रामकथा के अन्य सभी पात्रो को एक नयी धवलिमा, एक नया रूप, एक नयी चेतना और एक नया विकास आगे-आगे के साहित्य मे मिलता है ।

हिन्दू रामायण मे राम ने केवल रावण का ही वध नही किया बल्कि बालि, शम्बूक तथा अनेक राक्षसो का भी काम तमाम किया । अहिंसा की मूल भित्ति पर प्रतिष्ठित होने वाला जैनधर्म यह बात कैसे बरदाश्त कर सकता था कि राम जैसा महापुरुष जिसे इसी जीवन से मोक्ष प्राप्त करना है, एक वध नही अनेको मनुष्यो की हत्या का पाप करे । भले ही वह राक्षस रावण हो या शूद्र शम्बूक । इसी कारण राम के चरित को बेदाग रखने के लिए जैन रामायणकारो ने रावण, बालि और यहा तक कि शम्बूक का नाश भी लक्ष्मण के हाथ से कराया और राम को नर-हत्या जन्य पाप के पक से अछूता बचा लिया ।

बौद्ध साहित्य के राम जब साक्षात दया के अवतार बुद्ध ही मान लिए गये तो यह कैसे सम्भव था कि दया-

सिन्धु राम नर-सहार करे। इसी कारण बौद्ध-साहित्य मे उपलब्ध होने वाली रामकथा मे वालि वध का जिक्र तक नही आया।

हिन्दू रामायणकारो ने हनुमान और सुग्रीव के चरित को उन्नत रखते हुए भी आखिर उन्हे वन्दर वना ही दिया। जैन रामायणकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यहा भी आगे रहे। उन्होने हनुमान और सुग्रीव को केवल मनुष्य ही नही वताया प्रत्युत उन्हे विद्याधर कहकर आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओ से युक्त सिद्ध किया।

रावण का चरित्र हिन्दू रामायण मे जिस रूप मे प्रस्तुत हुआ है उसमे किसी भी व्यक्ति के मन मे उसके प्रति महान घृणा उत्पन्न हो सकती है, पर जैन दृष्टि किसी भी व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से गिरा हुआ स्वीकार नही कर सकती। इसलिए उसने रावण को भी नीचे नही गिरने दिया। रावण मे लाख बुराइयाँ थी फिर भी उसकी एक छोटी सी प्रतिज्ञा के आधार पर जैन रामायणकारो ने उसे ऊपर उठा लिया। "जो स्त्री स्वेच्छा से मुझे अगीकार नही करेगी उसके साथ मे बलात् भोग नही करूगा।" रावण ने यह प्रतिज्ञा इस दर्प मे की थी कि "क्या दुनिया मे ऐसी भी कोई स्त्री होगी जो मुझ जैसे शक्तिशाली और प्रभुतासम्पन्न सम्राट को स्वीकार न करला चाहे।" सीता एक ऐसी महान नारी थी जिसने अन्त तक रावण को नही चाहा और कितना महान था रावण भी कि उसने अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा की।

राम के उज्ज्वल चरित्र से रामकथा के सभी पात्रो के पाप घुल गये। रामचरित की सुधा-धारा मे नहा कर सभी पवित्र हो गये। राम सदा के लिए अमर हो गये, राम के साथ रावण भी अमर हो गया। हनुमान अमर हो गया, सुग्रीव अमर हो गया और अमर हो गया शम्बूक जैसा तुच्छ व्यक्ति भी। रामचरित्र को गाने वालो का कल्याण हुआ, सुनने वालो का उद्धार हुआ और राम सदा-सदा के लिए जन-जन के भगवान् वन गये।

रहे राम तुम नर से नारायण होके ही।



कन्नड़ में जिनभक्ति-साहित्य



प्रो० गुरुनाथ जोशी',

एम० ए० जे० एस० एस० कालेज, धारवाड

कर्नाटक में जैनधर्म

कर्नाटक अनेक दया-धर्मों का सगम एव आश्रय स्थान है। परधर्मसहिष्णुता उसकी नस-नस मे सचारित है। इस कथन के सबल समर्थक कर्नाटक मे उपलब्ध शिलालेख हैं। सन् ११५१ के एक शिलालेख मे यह श्लोक आया है।

जयति यस्यावदतोपि भारती—
विभूतयस्तीर्थकृतेपि नंहिते (?)
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नम ॥

शिव, ब्रह्म, सुगत (बुद्ध), विष्णु और जिन इनमे अभेद को बताने वाला यह श्लोक यह भी बताता है कि कर्नाटक मे शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन बहुत समय से रहते आ रहे हैं।

कर्नाटक मे जैनधर्म एक प्रबल धर्म के रूप मे रहा है। प्राचीन कर्नाटक मे तो वह एक अत्यन्त प्रबल धर्म था। उसका सार इस प्रकार सग्रह किया जा सकता है

"आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता पाकर केवल-ज्ञान को पावे, यही जीवन का ध्येय है। वह एक अलौकिक स्थिति है। तब आत्मा को समस्त पूर्णताएँ प्राप्त रहती हैं। उपनिषदो के उपदेशो की भाँति इसमे भी मोक्ष का अर्थ है पाप और पुण्य के परे हो जाना। इस स्थिति को पाने के लिए 'त्रिरत्न' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना के साथ-साथ योग की साधना भी आवश्यक मानी गई है। इस साधना से मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, यदि यह जानना चाहे तो ध्यान मे रखना होगा कि जीव और अजीव मे सम्बन्ध करने वाला कर्म ही है। कर्म अत्यन्त सूक्ष्म जडवस्तु है। आत्मा अपनी अलौकिक स्थिति मे ऐसी जडवस्तु से व्याप्त होती है। अजीव के प्रभेद इस कर्म से मुक्ति पाना ही उसका प्रधान लक्ष्य है । कर्मबधन और उससे मुक्ति के विषयो का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है पहली बात यह है कि कर्म अन्दर बहकर आता है (आस्रव), दूसरी बात यह है कि इसके कारण बधन होता है (बध), शुभाशुभ क्रियाओ के फलस्वरूप कर्म आत्मा मे बहकर आता ही रहता है, उससे मुक्ति ही नही। परन्तु एक आशा-किरण यह है कि इस प्रकार बहकर आने वाले कर्म को रोका जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म मे 'त्रिरत्नो' का विधान है। बहकर आने वाले कर्म को रोकना (सवर) आवश्यक है और पहले सचित कर्म का नाश करना (निर्जरा)

भी जरूरी है मोक्ष प्राप्ति के लिए। मवर और निर्जरा मे कर्म का क्षय हो जाने पर (आत्मा) जीव को मोक्ष अपने आप मिल जाता है। तब वह बादलो मे छुटकारा पाये हुए पूनम के चांद की तरह अपनी मूल स्थिति को पाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख से विराजमान होता है।

"मोक्ष एक परिपूर्ण स्थिति है। मतलब यह कि जैनधर्म ने एक परमात्मा के अस्तित्व को यद्यपि नही माना है तथापि परिपूर्णता के रूप मे दिव्यत्व की भावना को बचा लिया है। ये पाच कर्म-प्रवाह (आस्रव), उसमे बधन (बध), उसको रोकना (सवर), उसका झडना (निर्जर) और छुटकारा (मोक्ष) के साथ जीव और अजीव को मिलाकर कुल सात तत्व जैनधर्म मे माने गये हैं।" ये सात तत्व सम्यग्दर्शन मे समाविष्ट हैं।

'त्रिरत्नसाधना' का द्वितीय रत्न है सम्यग्ज्ञान। "किसी सशय विपर्यय के बिना जीवादि तत्वो की निज स्थिति को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह भी मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल, इस तरह पांच प्रकार का है।"

'त्रिरत्नसाधना' का तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र है। "ससार के त्याग के लिए तैयार करने वाले सम्यक्-ज्ञान से प्रेरित भव्य जीव की बाह्य और भीतरी क्रिया निवृत्ति सम्यक्चारित्र है। यह भी पांच प्रकार का है—जैसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात।

"बुद्धिपूर्वक श्रद्धा, भक्तिपूर्वक भाव, क्रियानिष्ठ आचार ये ही इस धर्म के मूल लक्षण हैं। 'आचार परमो-धर्म' इस धर्म की विशेषता है। आचार्यों के लिए कहे गये ३६ गुणो मे इस धर्म के परमोच्च आचाराग ये हैं

१ पचाचार — ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्राचार, और वीर्याचार।

२ बाह्य तप ६ — अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश।

३ अनरग तप ६ - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, उत्सर्ग, ध्यान।

४ षडावश्यक — समता, स्तवन, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

५ दशधर्म — उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तमार्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य।

६ त्रिगुप्तियाँ — मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, कायगुप्ति।



"सक्षेप मे जैनधर्म अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा नि परिग्रह नामक पाच व्रतो से युक्त है। इन्ही को 'पचशील' के नाम मे सदाचार की माला मे पिरोकर भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है।" महात्मा गाधीजी ने इन पांच व्रतो, के साथ और छ व्रतो को मिलाकर ग्यारह व्रतो का उपदेश दिया है। यहा यह स्मरणीय है।

जैनधर्म भी दो प्रधान सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया श्वेताम्बर और दिगम्बर। आजकल उत्तर भारत मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय और दक्षिण भारत मे दिगम्बर सम्प्रदाय विशेष प्रचार मे है। प्राचीन कर्नाटक मे जैन दिगबर सम्प्रदाय ही प्रधान रूप मे था। पाचवी सदी के कदब नरेशो के काल के ताम्रपटो मे श्वेतपट महाश्रमण सघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि कर्नाटक मे श्वेताम्बर जैन भी थे। परन्तु उनका प्रभाव अधिक नही था।

श्वेताबर और दिगबर सम्प्रदायो के बीच मे मानो समन्वय स्थापित करने के लिए और एक सम्प्रदाय का



उदय हो गया था जो 'यापनीय' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से उत्तर कर्नाटक मे रहा है। कुछ विद्वानो ने इसे सुधारवादी सम्प्रदाय कहा है, क्योकि इस सम्प्रदाय ने दिगवर सम्प्रदाय के कठोर नियमो मे कुछ परिवर्तन सुझाये और उसके प्रधान तत्व तीन है—(१) परशासने मोक्ष (अन्य मतावलवियो को भी मोक्ष है।), सग्र थाना मोक्ष (ससारी लोगो को भी मोक्ष है), (३) स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष (स्त्रियो को भी इसी जीवन मे मोक्ष प्राप्ति हो सकती है)। ये तत्व श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी है, परन्तु इस यापनीय सम्प्रदाय के मुनि दिगवर ही रहे है। इस सम्प्रदाय के केन्द्र कर्नाटक मे गुलबर्गा जिले के आडकी, सेड, और वेलगाव जिले के हलसी तथा धारवाड जिले के दोणि, नवलगु द आदि भागो मे थे। इस सम्प्रदाय के मुनियो को कदव राजाओ का प्रोत्साहन भी प्राप्त था।

पहले ही कहा जा चुका है कि कर्नाटक मे दिगबर जैनसम्प्रदाय ही प्रबल रहा है। ईसवी सन् के पूर्व ही भद्रबाहु के नेतृत्व मे दिगबर जैन सम्प्रदायवाले कर्नाटक आये और विशेषत तपानुकूल एव शात वातावरण के स्थान कोप्पल और श्रवणवेलगोल मे बस गये।

कर्नाटक मे जैनधर्म कदव, गग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल राजाओ के आश्रय और प्रोत्साहन से बारहवी सदी तक उन्नतावस्था मे था। वैदिक सम्प्रदाय के होते हुए भी कदव राजाओ ने जैनधर्म को आश्रय दिया था। उनके काल के एक ताम्रपट मे जो वाक्य पाए जाते हैं उनका हिन्दी रूपातर यो है

"जिस देश मे जिनेन्द्र की पूजा होती है उस देश की उन्नति होती है, नगर निर्भय हो जाते हैं और उस देश के राजा की तरक्की होती है।"

कन्नड साहित्य के ग्रन्थो मे तथा शिलालेखो मे जैनधर्म के तत्वो और कार्यों आदि का उल्लेख, कई जैन मुनियो के कठोर तप का वर्णन, मुनियो और जैन सन्यासिनियो अर्थात् कतियो की विद्वत्ता की भूरि प्रशसा का वर्णन, कर्नाटक मे विद्यमान श्रमणसघो तथा जैन मन्दिरो का वर्णन, अलावा इनके समाधिमरण, निषीदिका, त्यौहार, यक्ष-यक्षी की आराधना का वर्णन भी हम पाते हैं। इन सब वर्णनो के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि जैन-धर्म का प्रभाव कर्नाटक मे काफी रहा है। पर क्या जैनधर्म वैदिकधर्म से अछूता ही रह गया था ? उपलब्ध साहित्य और शिलालेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म पर वैदिकधर्म का प्रभाव अवश्य पडा था। इस बारे मे डा० एम० चिदानदमूर्ति कहते हैं

"वसदियो मे (जैन मदिरो मे) कुछ पचकूट के और कुछ त्रिकूट के थे। उनका भीतरी भाग सुगधमिश्रित काले अगरु-धूप के धूम से महकता रहता था। बाहरी भाग ध्वज, मकर, तोरण, मानस्तभ से अलकृत थे। तीर्थंकर दिव्यत्वप्राप्त मानव थे। तो भी ईसवी के प्रारम्भ से ही उनको देवता पुरुष मानकर जैनो ने उनकी पूजा की। क्योकि उनका विश्वास था कि ऐसी पूजाओ से कर्म का क्षय होता है, पुण्य की वृद्धि होती है, लौकिक ऐश्वर्य विभवादि मे वढती होती है। केवल-ज्ञान प्राप्त तीर्थंकर सिद्धशिला मे विराजे रहते है, उनकी ससार के प्रति अनासक्ति रहती है, अत अर्चना तथा स्तोत्र उनको पहुच नही पाते। उनसे सीधे व्यक्ति के कर्मनाश मे कोई सहायता नही होती। 'भगवत्कृपा या करुणा' (Divine Grace) को जैनधर्म मे कोई स्थान नही है।

"(इस दृष्टि से जैनधर्म ने पुरुष-प्रयत्न को जो ऊँचा स्थान दिया है वह अन्य धर्मों मे नही दिया गया है। व्यक्ति को अपने प्रयत्नो से ही कर्मो का क्षय कर लेना चाहिये।)

" तीर्थंकरो की पूजा लौकिक ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए करना जैनधर्म के तत्वो के विरुद्ध है। तो भी जैन हिन्दुओ के प्रभाव के कारण जैन मदिरो मे अष्टविधार्चन करने लगे और पूजादि मे विस्तार आ गया। जैन मदिरो मे देवदासियो के नृत्य भी होने लगे। शायद वैदिकधर्म के प्रभाव से जैन मदिरो मे होमादि भी होने लगे। (कहने की

जरूरत नही कि उनमे प्राणिबलि नही दी जाती थी ।) सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलक' मे जैनगृहस्थ को यदि वह चाहे, वैदिक पचयज्ञ करने की सूचना भी दी है । राष्ट्रकूटो के कतिपय ताम्रपटो मे उल्लेख है कि जैनमदिरो मे बलिचरु दान, वैश्वदेवादि का आचरण करने के लिए कुछ जायदाद दान मे दी गई है । बारहवी सदी के ताम्रपट मे उल्लेख है कि केवल ज्ञान का महाहोम पूजा विधानो मे एक है । सोमदेव इन अन्य धर्मों के आचरणो को तब तक करने की अनुमति देता है जब तक वे जैनधर्म के तत्वो के विरोधी नहीं हैं । इन बातो से ऐसा लगता है कि जैनधर्म ने काल परिस्थिति के अनुसार अपने मे भी परिवर्तन कर लेने का प्रयत्न किया है । ये जैनमदिर विद्या के बडे-बडे केन्द्र भी रहे हैं ।'

जैन भी अनेक त्योहार मनाते हैं । उनमे 'जीव दयाष्टमी' और 'नदीश्वराष्टमी' मुख्य हैं । उनका उल्लेख शिलालेखो मे मिलता है । ये त्योहार जैनधर्म को अधिक प्रचार मे लाने मे सहायक होते हैं और हुए हैं । जैनधर्म को और भी महान् बनाने के लिए और उसकी ओर सामान्य जनता को आकर्पित करने के लिए यक्ष-यक्षियो की आराधना तथा उपासना करके कुछ जैनधर्मावलबी कतिपय सिद्धिया भी प्राप्त करने लगे । कर्नाटक मे पद्मावती और ज्वाला-मालिनी नामक यक्षियो को विशेष गौरव प्राप्त है । इन यक्ष-यक्षियो की आराधना से तनिक आगे बढकर कई जैन भट्टारक या मठाधीश मत्र-तत्र विद्या मे भी प्रवीण हो गये । गृहदेवता की कल्पना जैनधर्म की विरोधिनी है, तथापि दिगम्बर जैनो मे भैरव और कालिकादेवी आदि को कुलदेवता-देवी की तरह मान कर उनकी पूजा करने की रूढि भी है ।

ग्यारहवी सदी के मध्य भाग तक कर्नाटक मे जैनधर्म उन्नत स्थिति मे था । उनके बाद वीरशैवो के विरोध से उसकी अवनति शुरू हुई । जैनधर्म ने राजाश्रय भी खो दिया । जैन मदिर शिव एव विष्णु मदिर बन गये । जैन-धर्म का सुवर्णयुग बीत गया ।

जिनभक्ति-साहित्य

कर्नाटक के राजाओ ने जैसे जैनधर्म की उन्नति के लिए सहायता पहुचाई वैसे कन्नड कवियो ने भी अपनी रचनाओ द्वारा जैन धर्म की बढती मे अपना हाथ बँटाया । यह कहने की जरूरत नही कि वे जैन थे और जो नहीं थे वे जैनधर्म के प्रभाव मे आकर, जैनधर्म की दीक्षा लेकर जैन बन गये थे । जैनधर्म ने कर्नाटक की समन्वयकारिणी सस्कृति के विकास मे अमूल्य देन दी और ऐसे जैनधर्म के अनुयायी कवियो ने कन्नड साहित्य को जो देन दी है वह उपमातीत है ।

आठवीं सदी मे या नौवी सदी मे एक प्रसिद्ध जैन मरमी (अनुभवी) सत हो गये हैं । उन्होंने 'परमात्म-प्रकाश' और 'योगसार' नामक ग्रथ लिखे हैं और उनका सपादन सुप्रसिद्ध विद्वान् आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने करके 'श्रीरामचन्द्र जैन शास्त्रमाला' मे प्रकाशित किया है । उक्त जैन मरमी सत का नाम है जोइदु । उनके 'परमात्म-प्रकाश' मे "वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं जो उस युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियो और तात्रिको के ग्रथ मे मिलती हैं ।" सन जोइदु कहते हैं—



सत्थु पढतु वि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसतु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु ।।

"साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है । सो युग के सभी साधक नाना मार्गों मे चल कर एक ही परम सत्य तक पहुचते थे । वह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवास है, देवता कहीं बाहर नही है, विविध भाव से विषयीभूत तत्वो का सामरस्य ही वह स्वसवेदन रस है जिसके अनुभव मे बढकर आनन्द दूसरा नही

है। आत्मा इसी रस का अनुभव करके अपने परम प्राप्तव्य को पा जाता है। यह जो चेला-चेलियों का ठाट बाट है, पोथियों का ढूह है, इनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव निस्संदेह प्रसन्न होता है, परन्तु यह मोह है, परम पद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है —

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं,
तूसइ मूढु णिभंतु।
एयहं लज्जइ णाणियउ,
बंधहं हेउ मुणन्तु॥

क्या ८-९वीं सदी के इन जैनधर्मी संत जोइन्दु के विचारों और तत्वों से कर्नाटक के जैन साधु और कवि प्रभावित नहीं हुए होंगे? इन जैन संत के भाव के सम्बन्ध में हमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु कर्नाटक के शिला-लेखों, ताम्रपटों तथा कन्नड के जैन कवियों के साहित्य के अवलोकन से ऐसा लगता है कि वे जोइन्दु के ही क्या अन्य धर्मावलम्बी साधुओं और संतों के विचारों से भी प्रभावित हुए हैं। उनकी कृतियों में भक्ति-मार्ग की सभी बातों का पुट समाहित होता है। अब हम देखें कि कन्नड के कतिपय प्रतिनिधि जैन कवियों की रचनाओं में भक्ति भागीरथी कैसे बह चुकी है।

पंप (९४१) के पूर्वज वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे। पर पंप के पिता जैन बने तो पंप वैदिक मतावलंबी चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दरबारी कवि बना। राजा का क्षत्रिय तेज और पंप कवि का ब्राह्मण सत मिल गये, फलस्वरूप वेदव्यास का 'महाभारत' पंप का 'विक्रमार्जुनविजय' बन गया। अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की कीर्ति के लिए 'विक्रमार्जुनविजय' लिखने के उपरांत पंप ने सहधर्मियों के कल्याणार्थ एवं आत्मकल्याणार्थ 'आदि पुराण' लिखा।

'विक्रमार्जुन विजय' में व्यास 'भट्टारक' के प्रति भक्ति तथा विनय प्रदर्शित करके पंप ने 'आदिपुराण' में अपने परम श्रद्धेय गुरु देवेन्द्र मुनि का भक्ति से नामस्मरण किया है।

पंप की कृति 'विक्रमार्जुनविजय' की अपेक्षा सामान्य जनता का मन 'आदिपुराण' की ओर ही झुक जाता है, क्योंकि उसमें तीर्थंकर के चरित में जन्मावली की कथाएँ और जैनधर्म की क्रियाएँ भरी हैं। अलावा इसके इस 'आदिपुराण' में पंप की धर्म श्रद्धा, भक्ति-ज्ञान वैराग्य की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

पंप ने अपनी भक्ति के प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम तीर्थंकर पुरुदेव को ही 'आदिपुराण' के लिए धर्मनायक के रूप में चुन लिया और प्रथम चक्रवर्ती उनके पुत्र भरत को वीर-नायक के रूप में। इस काव्य के प्रारम्भ में कवि ने प्रार्थना की है—"जगत् के स्वामी, अगाधबोध निलय, दुर्वारसंसार-विच्छेदोपाय नियुक्त सूक्ति आदिब्रह्म हमें मुक्ति-श्री सुखावाप्ति देने की कृपा करें।" तदुपरान्त कवि ने इस पुराण की विशेषता बताई है और उसका सार स्वर्गीय कन्नड के सुप्रसिद्ध श्रद्धेय साहित्यकार बी० एं० श्रीकंठय्या ने इस प्रकार संग्रह किया है

"प्रधानतः अर्थ कामों की तृष्णा से किये गए शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक्, मनुष्य, नारक, देव नामक चार गतियों के संसार में तड़पने वाला जीव जिनधर्म में श्रद्धा रखकर, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान नामक रत्नत्रय से परिशुद्ध होकर, दानधर्म, वैराग्य और तपादि से उत्तम जन्म पाते हुए, भवावली के शिखर पर अहमिंद्र बन के लोक में रहकर, परिशुद्धात्मा बनकर मनुष्य लोक में आकर चरमदेही होकर वैराग्य से समस्त को त्याग कर, तप करके कर्मक्षय कर तीर्थंकर बनके जैनधर्म का उपदेश लोक को देकर निर्वाण पद पाता है। यही तीर्थंकर के पुराण (आदिपुराण) का सारांश है।"

कन्नड कविकुलतिलक, आदिकवि पंप की इन कृतियों में भक्तिभावना से भरे कुछ प्रसंग हैं। 'विक्रमार्जुन-

विजय' मे एक स्थान मे घडी-घडी शिव की स्तुति दिखाई पडती है। अर्जुन के जन्म के लिए उसके माता-पिता शिव की आराधना करते हैं। तीर्थयात्रा मे रहनेवाला अर्जुन भी "गोकर्णनाथ गौरीनाथ अवनि-पवन-गगनदहन-तरणि सलिल-तुहिनकर यजमान मूर्ति त्रैलोक्यमगीतकीर्ति को देख हाथ जोडकर 'सव जिगता गुरु गरिमुतापति पातु न'" कहकर चद्रमौलि की प्रार्थना करता है। इद्रकील पर्वत पर आनेवाले शिव-पारम्य का क्या कहना! "यह शिव भक्ति केवल भारत कथा से ही नहीं आई हुई है, राजा के इष्ट देवता के निर्देश के लिए भी नहीं है, पप के घर का उपासना फल भी है।" इस तरह वैदिक मतावलवी की भाति भारत की कथा लिखते हुए भी पप अपने स्वीकृत जैनधर्म की सूचना देते हुए कहता है "जिनपदाभोज-वरप्रसादोत्पन्न है मेरी कविता।" इस रचना मे पप ने शैव एव जैन भक्ति भाव को समता की दृष्टि से, समन्वय की दृष्टि से वर्णन किया है। यह उसकी उदारता, सर्वधर्मसमन्वय की दृष्टि का द्योतक है।

कन्नड के साहित्यकारो की दृष्टि मे पप का 'आदिपुराण' तो 'वाक्य माणिक्य कोश' है। उसमे से कुछ भागों को चुनकर सुप्रसिद्ध कन्नड साहित्यकार जी० पी० राजरत्नम् ने 'श्री कवि पप' नामक पुस्तक मे सग्रहीत किया है। जिन-धर्म प्राणिगार्म' अर्थात् 'जिनधर्म प्राणियो को समर्थ आश्रय' नामक भाग मे ललिताग के अवसान काल मे उससे सामनिक देव कहते है —

> **जिनचैत्य व्रातम वविसु जिनपदपद्म गल दिव्यमप्प**
> **चंर्नेयिद भक्तियिर्दाचिसु जिनन नमस्कार मत्र गलोल् भा**
> **वनेय ताल्दल्तियिद जिनमहिमेगल माडुनी भव्यनै म**
> **त्तिन मिथ्याज्ञानिवोल् नी तरलतेवेरसिते के विभ्रातनप्पं**

भावार्थ—जिनो के मदिर-समूह का वदन करो। जिनके पाद-पद्मो की दिव्य अर्चना से, भक्ति से अर्चना करो। जिन के नमस्कार मत्रो मे भावना पाकर प्रीति से जिन-महिमाओ मे भावना करो। तुम भव्य हो (जिन भक्त हो)। अन्य मिथ्या ज्ञानी की तरह तुम चचलता से ऐसा क्यो विभ्रात हो गये हो!

वज्रजघ को एक चारणमुनि उपदेश देते हैं—

> **ई ससाराभोधिय**
> **नीसुव निनगिदुवे नावे तडिगाण्वेयना**
> **यासवोले निनगे मुक्ति**
> **प्रासाद मन डरलिवुवे सोपानगल्**

भावार्थ—इस ससार सागर मे तैरने वाले तुम को यही (सम्यक्त्व ही) नौका है। इसके द्वारा तुम आसानी से किनारे तक जाओगे। मुक्ति रूपी प्रासाद पर चढने के लिए ये ही (सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) तुम्हारे सोपान हैं।



श्री० जी० पी० राजरत्नम् की दृष्टि मे पप कवि का 'श्री जिनराज स्तव' प्राचीन कन्नड के स्तोत्र साहित्य मे मुक्तामजरी है। इसमे आदि तीर्थंकर से की गई प्रार्थना के पद हैं जो प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर द्वारा गाये गये थे। उनका नमूना देखिये।

> **त्रिदशेन्द्र मौलि मणिशो**
> **णदीप्तिगल् पुदिदु पोलेवलक्तक रसदि**



पुविदतोव्विर्पर्हंत्
पवगलेमगोगे तऊेयवर्हंतपदभ ।

अमरेंद्रोन्नति खेचरेन्द्र विभव भोगीन्द्र भोग महे
न्द्र महैश्वर्यमिवेल्लम ध्रुवमिव बेल्पत्तु बेल्लेल्लेनु
त्तमदीक्षा विधियु समाधिमरण कर्मक्षय बोधिला
भममोघ दोरेकोल्गुवक्केमगे मुक्ति श्रीमनोवल्लभा ।

भावार्थ—स्वर्ग के इन्द्र के मुकुट मणियो की लाल दीप्ति से मानो भरे, चमकने वाले अलक्तक रस से मानो भरे अर्हंत के चरण हमे शीघ्र अर्हंत पद दे ।

भुवनेश्वर ! तुम्हारे रूप का स्तोत्र, पदार्थ का स्तोत्र, गुणो का स्तोत्र अमरेन्द्र वासुकि (भोगीन्द्र) आदि बडे-बडे लोग ही नही कर पाते हैं तो क्या मैं कर पाता हू ।

अर्हंत ! समस्त वस्तुए मापी जा सकती है, तौली जा सकती है, गिनी जा सकती है । लेकिन तुम्हारे गुण-समूह इस लोक के जनो से न मापे जा सकते है, न तौले जा सकते हैं, न गिने जा सकते है ।

अर्हंत जहाँ रहता है वह स्थान मेरु का जितना ऊँचा है, वह जहाँ रहता है वह स्थान सागर के समान गम्भीर है, वह जहाँ रहता है वह स्थान आकाश के जितना विस्तृत है । सारा जगन्नुत, तुम्हारे गुणो की उन्नति भुवनो के अन्तर मे भी व्याप्त है ।

अनाकुल स्थान की खोज करके, आकुल होकर ही घूमा-फिरा । तीनो लोको मे ऐसा स्थान न पा सका । तुम जिस स्थान मे रहते हो वही सर्वोच्च शाश्वत स्थान है । उसी को मुझे देने का अनुग्रह करो अर्हंत !

भवमथन ! भवरूपी शृंखलाएं तोड दो । भवसागर के पार पहुँचाओ । भव की महत्तर पीडा का नाश करो । शीघ्र से शीघ्र भवांतक भवन (ससार का नाश करने वाले जिनका पर—मुक्ति स्थान) पर मुझे ले जाओ ।

मरण और जनम की बेडी जो लगी है उसके छूटने तक हे जिन, तुम्हारा स्मरण करना अणोरण्वतर व्यति-क्रमण मात्र भी क्या भूल जाऊँगा ?

सकल भक्तो के तिलक (जिन) को भक्तो को वश मे कर लेना आवश्यक है ? जड़ जनता भीतरी रहस्य नही जानती । हे जगत्तिलक जिन, तुम्हारे पादरूपी चन्दन का तिलक तो जरूर तीनो लोको को वश मे कर लेने वाला होगा ।

अमरेन्द्र की उन्नति, खेचरेन्द्र का विभव, भोगीद्र का भोग, महेद्र का ऐश्वर्य मे सभी अध्रुव है । इनको मांगने वाला मूर्ख मैं नही हू । हे मुक्तिरूपी श्री के मनोवल्लभ अर्हंत, उत्तम दीक्षाविधि, समाधिमरण, कर्मक्षय, बोधिलाभ जरूर हमे प्राप्त हो ।

महाकवि पप के ये भक्ति भरे पद भारत के किसी पहुँचे भक्त कवि के पदो से किसी हालत मे कम दर्जे के नही है ।

पोन्न—(९४५ से ९५०) सामत राजा के दरबार मे था और वह सस्कृत तथा कन्नड मे कविता रचता था, अत उसे 'उभय कवि चक्रवर्ती' उपाधि मिली थी। वह जैनशास्त्र का महापडित था और यति की भांति जीवन विताता था। इसने 'जिनाक्षर माला' नामक पुस्तक मे ३९ पद्यो मे जिन की स्तुति की है। इस छोटी-सी रचना मे कवि की उत्कट जिनभक्ति प्रस्फुटित हुई है। इसी से रचित 'शान्तिपुराण' मे तीर्थंकर शातिनाथ का चरित है और उसमे भी भक्ति के स्थल पाये जाते हैं।

चाउडराय—(९७८) सस्कृत, प्राकृत और कन्नड का प्रसिद्ध पडित था। गगराज राजमल्ल का मत्री और नेमिचन्द्र सिद्धाति का शिष्य था। वह कई लडाइयो मे जीतकर प्रसिद्ध भी हो गया था। उसी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के विग्रह की स्थापना करवा कर एक जैन मन्दिर बनवाया। उसने 'त्रिषष्टि लक्षण महापुराण' भी लिखा जो 'चाउडराय पुराण' के नाम ने प्रसिद्ध है। उसके प्रारम्भ मे तीर्थंकर की स्तुति की गई है, कहने की जरूरत नही कि वह भक्तिपरक पद्य है।

रन्न (९९३) भी कन्नड का एक श्रेष्ठ कवि है। वह मुधोल मे पैदा हुआ, दक्षिण जाकर श्रवणबेलगोल मे ज्ञानार्जन करके चाउडराय के आश्रय मे आकर रहने लगा। उसने गोम्मटेश्वर की पूजा की और 'अजितपुराण' तथा 'साहस भीम विजय' अर्थात् 'गदायुद्ध' नामक ग्रन्थो की रचना की। उसने अपने 'अजितपुराण' मे अजित तीर्थंकर का चरित लिखा और उसमे "भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का पावन चित्रण करके अपनी अद्भुत काव्यरचना प्रतिभा दिखाई है।"

नागचन्द्र (अभिनव पप—११००) अपने युग का आचार्य था। श्रेष्ठ कवि था। उसकी दो प्रधान रचनाए हैं—(१) मल्लिनाथ पुराण, (२) रामचन्द्रचरित पुराण। इन दोनो मे क्षत्रिय तेजस् और वीररस की अपेक्षा भक्ति वैराग्य का चित्रण ही अधिक है। "पहाड पर के चैत्यालय मे 'जिनस्तुति' मे अभिनव पप ने जो जिनस्तुति की है उसमे उसका आत्मसार ही है।" कहकर बी० ए० श्रीकठयया ने अभिनव पप की गुणप्रशसा की है।

दो-तीन भक्ति पदो का नमूना देखिए—

जय जितवृजिन जिनेश्वर
दयानदी-पुलिन राजहस भवाभो
धिय तडियनेय्दिसेन्न
नयनिक्षेप प्रयाणपात्र दिनर्हा।

निनगे रसमोंदे शातमे
जिनेन्द्र मनमा रसांवुधियोलगवगा
हनमिर्दु मिक्क रसम
कनसिनोल नेनेयदवु माडेनगर्हा।

नित्य सुखमात्म रूप
नित्य सुख मोहरूपमेव विवेक
सत्य स्वरूप मदरोल
गत्यतानुभव विभवमक्केनगर्हा॥



भावार्थ—हे अर्हंत, तुम दुखो को जीतने वाले जिनेश्वर हो, तुम्हारी जय हो । दयानदी-पुलिन-राजहस, मुझे शीघ्र से शीघ्र इस भवसागर के किनारे लगाओ।

हे अर्हंत, एक शान्तरस ही तुमको अभीष्ट है। मेरा मन शातरस रूपी अ बुधि मे ही अवगाहन करे। उस रस को छोड कर दूसरे रस का स्मरण स्वप्न मे भी मुझे न हो, ऐसी कृपा करो।

हे अर्हंत, नित्य सुख आत्मरूप है। अनित्य सुख मोहरूप है, यह विवेक ठीक है, पर, तुम्हारी कृपा हो कि उसमे भी सत्यस्वरूप के अनुभव का विभव ही मुझे प्राप्य हो।

अलावा इसके 'रामचन्द्रचरित्र पुराण' राम की जिनस्तुति और जनक की जिनस्तुति मे भक्तिरस का सुन्दर चित्रण मिलता है।

एक कति अर्थात् जैन सन्यासिनी अभिनव पप के समय मे थी। उसके और अभिनव पप के बीच मे जो सवाद हुआ है उसमे समस्यापूर्ति की बातें हैं। अभिनव पप कति को एक समस्या देकर उसकी पूर्ति करने के लिए कहता है। कति पद्य मे समस्यापूर्ति करती है । उसके समस्यापूर्ति के पद्यो मे भक्ति की पावन रसधारा है । कति कवि को सुनाती है—

घनमतियिल्तनुदय दोलं
विनयदि फलपुष्पवेरसि भकुतिय भरदिं।
मनशुद्धिवडेवु परम जि—
ननिगे नमस्कार माडे कैवल्य सुख ॥

भावार्थ—तडके उठकर विनय से फल-पुष्प सहित, भक्ति से, शुद्ध मन से जिन को नमस्कार करने से कैवल्य सुख मिलता है।

कति के ऐसे पद काफी मिलते हैं जिनमे भक्तिरस के पावन झरने का मजुल नाद सुनाई पडता है।

अगल (११८९) के 'चन्द्रप्रभपुराण' और 'वर्धमानपुराण' मे **पार्श्व पडित** (१२०५) के 'पार्श्वनाथपुराण' मे, **जन्न** (१२०९) के 'अनतनाथपुराण' मे जिन भक्ति के सुन्दर पद मिलते हैं।

जिनभक्ति परपरा का स्रोत शैवमत के प्रभाव से कुछ क्षीण होने पर भी सूखा नही। पन्द्रहवी सदी के प्रारम्भ मे भास्कर नामक कवि ने मूल सस्कृत 'जीवधर चरित' के आधार पर कन्नड मे 'जीवधरचरित' लिखा है। उसने अपने 'जीवधरचरित' मे कुछ परिवर्तन किये हैं और उभर कर दिखाई पडने ताले परिवर्तन मे ऐसे जिनस्तुतिपरक पद्य मिलते हैं कि उनमे उपनिषदो और भक्तिमार्ग के विचार और विशेषण पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—'भक्तवत्सल लयविहीन महेश मायातीत', 'सर्वगत सर्वज्ञ सदभक्त सर्वमय सर्वलोकेश्वर सर्वभूतात्मक', एव 'दोष रहितनु नीने, करुणावास नीने, महेश नीनॆ, सुरेशनुत नीनॆंदु सस्तुतिसिदनु जिनपतिय' अर्थात् 'तुम ही दोषरहित हो, तुम ही करुणावास हो, तुम ही महेश हो, तुम ही सुरेश से स्तुतित हो, कहकर जिनपति की अच्छी तरह से स्तुति की।' इन पक्तियो का उद्धरण करके डा० मुगली जी कहते हैं कि भास्कर कवि पर भागवत तत्वज्ञान और उपासना का प्रभाव पडा होगा।

चन्द्रम (१६४६) कवि के कार्कल के 'गोम्मटेश्वर चरित्र' मे गोम्मटेश्वर के सुन्दर स्तुतिपद्य मिलते है जिनमे भक्ति का उज्ज्वल पुट है। एक दो नमूने लीजिये

आदि जिनेशन सुकुमारनण्णनो, ल् कादि गेलिद बलु घोर।
मेदिनो जनके मदार नम्मनु कायो, आदरदिं गुम्मटेश ॥

+ + +

यल्ल देवरिगे नीनग्गलनेंवुद, सोल्लुतिदे दिव्य देह।
वल्लिद गुम्मट स्वामि निन्नय पाद, पल्लवकानेरगुवेनु ।।

भावार्थ आदि जिनेश के सुकुमार बडे भाई के समान युद्ध करके विजयी बने बडे वीर तुम इस भूमण्डल के लोगो के लिए मदार स्वरूप गोमटेश्वर, हमारी रक्षा करो।

तुम्हारा दिव्य शरीर कह रहा है कि सर्व देवो मे तुम बडे हो। हे ज्ञानी गुम्मट स्वामी, तुम्हारे पाद पल्लवो को मैं नमस्कार करता हूँ।

कन्नड के जैन कवियो के साहित्य मे जिनभक्ति परपरा बिलकुल सूख ही नहीं गई, वह जैनो मे आज तक चली आ रही है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव तब होगा जब कोई श्रवणबेलगोल और कार्कल जाकर गोमटेश्वर की पूजा करने वाले जनस्तोम को देखेगा।

कन्नड के जैन काव्यो मे ही नही किन्तु जैन शिलालेखो मे भी जिन स्तुति के श्लोक पाये जाते हैं। जो हो, कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो यह समझते हैं कि जैनमत मे भक्ति के लिए गुजाइश ही नहीं है, अगर वे कन्नड के जैन कवियो के साहित्य का और शिलालेखो का सूक्ष्म अवलोकन करेगे तो उनको उनमे जिनभक्ति की तरल पावन गगा बहती नजर आयेगी।

प्रधान संदर्भ ग्रन्थ

१ कन्नड शासनगल सास्कृतिक अध्ययन — लेखक डॉ० एम० चिदानदमूर्ति।
२ कन्नड कैपिडि (सपुट-२) — लेखक बी० एम० श्रीकण्ठय्या।
३ कन्नड साहित्य चरित्रे — लेखक डॉ० आर० एस० मुगली
४ श्री कवि पप — लेखक प्रो० जी० पी० राजरत्नम्
५ कर्नाटकद कवयित्रियरु — लेखिका डॉ० सरोजिनी महिषि
६ कन्नड जैन पुराण — लेखक डॉ० सदानन्द नायक



मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्त भक्ति

डा० प्रेमसागर जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०



पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य में अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नहीं माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसों में होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी इन्हीं नौ रसों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने 'शृङ्गार' के स्थान पर 'शान्त' को रसराज माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, राग-द्वेष नामक मनोविकार का उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष से सम्बन्धित अन्य आठ रसों के स्थायी भावों से उत्पन्न हुए आनन्द में वह गहरापन नहीं होता, जो 'शान्त' में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो सान्त रसनि को नायक'[1] माना है। उन्होंने तो आठ रसों का अन्तर्भाव भी 'शान्तरस' में ही किया है। डॉ० भगवानदास ने भी अपने 'रसमीमांसा' नाम के निबन्ध में अनेकानेक संस्कृत उदाहरणों के साथ, 'शान्त' को रसराज सिद्ध किया है।

जहां तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर में 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब 'अपर' की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मन प्रवृत्ति संसार के अन्य पदार्थों से अनुराग-हीन होकर, ईश्वर में अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नहीं। और संसार को असार, अनित्य तथा दुःखमय मानकर मन का आत्मा अथवा परमात्मा में केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वर में 'परानुभक्ति' का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेव जी ने अपने 'भावभक्ति की भूमिकायें' नामक निबन्ध में लिखा है, "भगवदनुराग बढ़ने से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति मन में वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। 'भक्ति-शास्त्र' में भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक

---

१ "प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस, तीजौ रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम, छट्ठम रस वीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत, नवमो सान्त रसनिको नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहँ मगन सोई तिहि लायक॥"

—बनारसीदास। नाटकसमयसार, प० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ ३९१।

अवस्था का नाम ही 'शान्तभाव' है।"[1] नारद ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' को भक्ति माना है।[2] इनमें आए हुए 'परम प्रेम' पद से यही ध्वनि निकलती है कि संसार से वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाय। शान्ति में भी वैराग्य की प्रधानता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' की उक्ति 'अन्याभिलाषिताशून्य कृष्णानुशीलन उत्तमा भक्ति'[3] उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि अनुरक्ति में सदैव जलन होती है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा संसार के, क्योंकि दोनों में महदन्तर है। सांसारिक अनुरक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली में जलन है तो दूसरी में शीतलता, पहली में अपावनता है, तो दूसरी में पवित्रता और पहली में पुनः-पुनः भ्रमण की बात है, तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने एक मन से, रागद्वेषों से विमुख होकर वीतराग पथ पर बढ़ने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय हैं—तत्त्व-चिन्तन और वीतरागों की भक्ति। वीतराग में किया गया अनुराग साधारण राग की कोटि में नहीं आता। जैनों ने शान्तभाव की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं—प्रथम अवस्था वह है जब मन की प्रवृत्ति, दुःखात्मक संसार से हटकर आत्म-शोधन की ओर मुड़ती है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था में उस प्रमाद का परिष्कार किया जाता है, जिसके कारण संसार के सुख-दुःख सताते हैं। तीसरी अवस्था है जबकि विषय-वासनाओं का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहते हैं। ये चारों अवस्थाएँ आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कही गई—युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशाओं के समान मानी जा सकती हैं।[4] इनमें स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने 'मुक्तिदशा' में 'रसता' को स्वीकार नहीं किया है, यद्यपि वहाँ विराजित पूर्ण शान्ति को माना है। अर्थात् सर्वज्ञ या अर्हन्त जब तक इस संसार में हैं, तभी तक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नहीं। 'अभिधान राजेन्द्रकोष' ने रस की परिभाषा लिखी है, "रस्यन्तेऽन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसाः" अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं। सिद्धावस्था में अन्तरात्मा अनुभूति से ऊपर उठकर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अतः अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालंकार' में रस का निरूपण करते हुए लिखा है—

> विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
> आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायीभावः स्मृतो रसः॥

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। सिद्धावस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावों के अभाव में 'रस' नहीं बन पाता।



---

१ स्वामी सनातनदेव जी, भावभक्तिकी भूमिकाएँ, कल्याण, भक्ति विशेषांक, वर्ष ३२, अङ्क १, पृष्ठ ३६६।

२ देखिए 'नारदप्रोक्तं भक्तिसूत्रम्' खेलाडीलाल एण्ड सन्ज, वाराणसी, पहला सूत्र।

३ भक्तिरसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी। वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण।

४ युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥
—आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्री की हिन्दी व्याख्या सहित लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९९१, ३।२५०, पृ १६८।

५ अभिधान राजेन्द्र कोश, 'रस' शब्द।



जैनाचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियों की भाँति ही 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलकारचिन्तामणि' मे 'शम' को विशद करते हुए लिखा है—"विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्व शम" अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकार होना शम है।[1] यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस' का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होंने 'तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्' लिखकर 'निर्वेद' को शम रूप ही स्वीकार किया है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने 'शम' और 'निर्वेद' मे भिन्नता मानी है और उन्होंने पहले को स्थायीभाव मे तथा दूसरे को सचारीभाव मे गणना की है।[3] जैनाचार्यों ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने है—तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग-अनिष्ट सयोग। इसमे पहले से उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा सचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से ही मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैनमन्दिर, जैन तीर्थक्षेत्र, जैनमूर्ति और जैनसाधु को उद्दीपन, धृत्यादिको को सचारी तथा काम, क्रोध लोभ, मोह के अभाव अर्थात् 'सर्वसमत्व' को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते हैं। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सासारिक द्रव्यो का अर्जन और उपभोग बुरा नही है, किन्तु उसमे आसक्त होना ही दुखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अरतिभाव से पी गई मदिरा नशा उत्पन्न नही करती, वैसे ही अनासक्त भाव से द्रव्यो का उपभोग कर्मो का बन्ध नही करता।[4] कर्मो का बन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह बन्ध जिनेन्द्र के चरणो की स्तुति मे स्वत उपशान्त हो जाता है, जैसे कि मन्त्रो के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाता है।[5] जैसे ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतप्त हुए जीव को जल और छाया से शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दुखो से बेचैन प्राणी भगवान के चरण-कमलो मे शान्ति पाता है।[6] मुनि शोभन शाश्वत

---

१ भगवज्जिनसेनाचार्य, अलकारचिन्तामणि, तीसरा अध्याय।

२ आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ १६४।

३ आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, लखनऊ, ३।२४५-२४६, पृ० १६६।

४ जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड, १९५३ ई०, १९६वीं गाथा, पृ २९६।

५ क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,
विद्याभेषजमत्रतोयहवनैर्याति प्रशान्ति यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखाना नृणाम्,
विघ्ना कायविनाशकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मय॥
—आचार्य पूज्यपाद, सस्कृत शान्तिभक्ति, 'दशभक्ति', शोलापुर, १९२१ ई०, दूसरा श्लोक, पृ ३३५।

६ न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदुखनिचय ससारघोरार्णव।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि॥
—आचार्य पूज्यपाद, सस्कृत शान्तिभक्ति, दशभक्त्यादिसग्रह, सलाल, साबरकाठा, गुजरात, पहला श्लोक, पृ १७४।

शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है।[1] आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते हैं। वही मदकुलरूपी अग्नि पर उपशमामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान शान्तिनाथ प्रदान कर सकते हैं।

> "भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः।
> शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः ॥"[2]

जैन ग्रन्थों के अन्तिम मंगलाचरण प्रायः शान्ति की याचना से ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नहीं, संघ, आचार्य, साधु, धर्मिकजन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का—

> सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
> देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥[3]

इसी का द्योतक है। पं० श्री मेधावी के 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' का मंगलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी राजा-प्रजा और मुनि, सभी के लिए शान्ति चाही है।[4]

शान्ति दो प्रकार की होती है—शाश्वत और क्षणिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का लौकिक सुखों से। भक्तजन दोनों के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की भक्ति से उक्त दोनों की शान्ति मिलती है। इस दिशा में जैन मन्त्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैनों का प्राचीन मन्त्र णमोकार मन्त्र है। इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मन्त्र है—"णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं।" इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मन्त्र में अपूर्वशक्ति स्वीकार की है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है—

> "अरहा, सिद्धायरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
> एदे पंच णमोयारा भवे-भवे मम सुहं दिंतु ॥[5]

---

१. शान्तिं वस्तनुतान्मियोऽनुगमनाद्यन्नैगमाद्यैर्नयैः,
स्तोमं जन हेतुना छिन्नमदोदीर्णांगजान्तं वृजनम्।
तन्मूर्जेर्जगतां जिनैः प्रवचनं दृप्यत्कुवाद्यावनी,
स्तोमं तनहेतुनाच्छिन्नमदो दीर्णांग जान्त्वृजनम् ॥
—मुनि शोभन, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तीसरा श्लोक, पृ० १३३।

२. K. K. Handiqui, Yasastilak and Indian Culture, Sholapur, 1949, P. 311

३. दशभक्त्यादिसंग्रह, १४वां श्लोक, पृ० १८१।

४. शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा
सुप्रन्तशान्त्योसरस्मृना शान्तिर्मुनीनां सदा।
श्रोतॄणां कवितात्मना प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः,
शान्तिः शान्तिरथाग्निजीवनमुचः श्री सज्जनस्यापि च ॥
—पण्डित श्री मेधावी, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, अन्तिम प्रशस्ति, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, १९५० ई०, ३५वां श्लोक, पृष्ठ २५।

५. पंचगुरुभक्ति, दशभक्ति, शोलापुर, १९२१ ई०, ७वीं गाथा, पृ० ३५८।





अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के लिए किए गए नमस्कार मुझे भव-भव में सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पंचनमस्कार' मन्त्र सब पापों को नष्ट करने वाला है और जीवों का कल्याण करने में सबसे ऊपर है।[1] मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' में लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मंत्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि उस मन्त्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है।"[2] श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' के 'पंचपरमेष्ठिनमस्कार कल्प' में स्वीकार किया है, "उस मन्त्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यही नहीं, किन्तु सहस्रों पापों का सम्पादन करने वाले और सैंकड़ों जन्तुओं की हत्या करने वाले तिर्यञ्च भी उस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग में पहुँच जाते हैं।"[3] जैनाचार्यों ने 'णमोकार मन्त्र' की शक्ति को देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित हैं। वह मोह के दुर्गमन को रोकने में पूर्ण रूप से समर्थ है।[4] जैन परम्परा में यह मन्त्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान ने अपने गणधरों को इसकी विद्या प्रदान की थी।[5] विद्यानुवाद नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था।[6] श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैनमन्त्र शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है।[7] हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय में भी '१४ पूर्व', 'पहले से आई हुई विद्या' के रूप में प्रतिष्ठित रहे हों। उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर 'णमोकार मन्त्र' का प्राचीनतम उल्लेख हाथी गुफा के शिलालेख में प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारवेल ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।[8]

---

१ एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत्॥
—देखिए वही, सातवां श्लोक, पृ० ३५३

२ प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यं।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्री प्रभुत्वं जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार चक्रं॥
—एकीभावस्तोत्र, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १२वां श्लोक, पृ० १६।

३ एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमं पदम्।
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः॥
—जिनप्रभसूरि, पंचपरमेष्ठि नमस्कार कल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनि जिनविजय सम्पादित, शान्ति-निकेतन, १९३४ ई०, प्रथम भाग, ५-६ श्लोक, पृ १०८।

४ स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं।
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता॥
—धर्मध्यानदीपक, कलकत्ता, ३ श्लोक, पृ० २।

५ The original doctrine was contained in the fourteen Purvas—old texts, which Mahavira himself has taught to his Ganadharas "
'Life in ancient India as depicted in Jain Conons', Dr J C Jain, New Book Company Ltd , Bombay, 1947, P 32

६ कहा जाता है मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईस्वी) के विद्यानुशासन में विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्रभण्डारों में मौजूद है।

७. Dr A S Altekar, 'Mantra Shastra and Jainism' Jain Cultural Research Society Banaras Hindu University, Banaras, P 9

८ V A Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P 38, No 1

शान्ति का आधार केवल 'णमोकार मन्त्र' ही नही है, अन्य अनेक मन्त्र भी हैं। यहा सबका उल्लेख सम्भव नही है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मन्त्र-क्षेत्र मे यन्त्रो की भी गणना होती है। उनमे एक 'शान्ति यन्त्र' भी है। मन्दिरो मे इसकी स्थापना की जाती है और उसकी पूजा-अर्चा होती है। 'मन्त्राधिराज कल्प' नाम के ग्रन्थ मे 'शान्तियन्त्र' की पूजा दी हुई है। इसके रचयिता सागरचन्द्रसूरि थे। उनका समय १५वी शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के सम्बन्ध मे लिखा है, "शमयतिदुरितश्रेणि दमयत्यरिसन्तति सततमसौ। पुष्णाति भाग्यनिचय मुष्णाति व्याधिसम्बाधाम् ॥"[1] तात्पर्य है—शान्तियन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधिया उपशान्त हो जाती हैं, और सौभाग्य का उदय होता है। शान्ति के लिए 'शान्तिपाठ' भी किये जाते है। वे मन्त्र-गर्भित होते है। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानो पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मन्त्र-यन्त्रो मे इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूलस्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नही। यही कारण है कि उनमे वज्रयानी तान्त्रिक सप्रदाय की भाति व्यभिचार, मदिरा और मास वाली वात नही पनप सकी। जैन देविया मन्त्र की शक्ति-रूपा थी। उन्हे मन्त्र के वल पर ही साधा जा सकता है। किन्तु ऐसा कभी नही हुआ कि उन मन्त्रो के साथ नीचकुलोत्पन्न कन्याओ के आसेवन की वात चली हो। ऐसा भी नही हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात मे एक सौ सोलह कुआरी, सुन्दरी कन्याओ की वलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हो। वे कराला थी, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मास से तृप्त नही होती थी। सतगुणो का प्रदर्शन ही उन्हे सन्तुष्ट वना सकता था। इसी भाति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारगत विद्वान होते थे, किन्तु उन्होने राग-वर्द्धक पदार्थो मे उनका कभी उपयोग नही किया। जैन मन्त्र सासारिक वैभव के देने मे सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी वने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। उसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नही।

जैन भक्तिकाव्य और मन्त्रो की सव-से-वडी विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियो और सगतियो मे भी वे शान्तरस से दूर नही हटे। उन्होने कभी भी अपनी ओट मे शृ गारिक प्रवृत्तियो को प्रश्रय नही दिया। दाम्पत्यरति-मूला भगवद्भक्ति भी भक्ति की एक विधा है। जैन काव्यो के आध्यात्मिक विवाह इसी कोटि मे आते हैं। नेमीश्वर और राजुल को लेकर शतश कव्यो का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमे कही भी जगन्माताओ की सुहागरातो का नग्न विवेचन नही है। जिसे मा कहा, उसके अग-प्रत्यग मे मादकता का रग भरना उपयुक्त नही है। इससे मा का भाव विलुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनाश्लेप मे आवद्ध दम्पती भले ही दिव्यलोक-वासी हो, पाठक या दर्शक मे पवित्रता नही भर सकते। भगवान पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अगूठो पर खडा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनो के कारण उसके हाथ की पूजा-थाली के पुष्पो का विखर जाना कहा तक भक्तिपरक है?[2] राजशेखरसूरि के 'नेमिनाथफागु' मे राजुल का अनुपम सौन्दर्य अकित है, किन्तु उसके चारो ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा लिखी हुई है, जिससे विलासिता को सहलन प्राप्त नही हो पाती। उसके सौन्दर्य मे जलन नही, शीतलता है। वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्त्ति है। उसको देख कर श्रद्धा उत्पन्न होती है। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे लिखा



१ श्री सागरचन्द्रसूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदावाद, सन् १९३६ ३३वा श्लोक, पृ० २७७।

२ पादाग्रस्थितया मुहु स्तनभरेणानीतया नम्रता
शम्भो सस्पृहलोचनत्रयपथ यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहित सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु व ॥
—श्रीहर्ष, रत्नावली, प्रथममगलाचरण।



है, "जबकि भगवान के मगलाचरण भी वासना के कीचड से सींचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुल से सम्बन्धित मागलिक पद दिव्यानुभूतियो के प्रतीक भर ही रहे। उन्होने अपनी पावनता का परित्याग कभी नहीं किया।"[1] जिनपद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[2] मे कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओ का चित्र खीचा गया है। युवा मुनि स्थूलभद्र के सयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन मे अधिकाधिक प्रयास किया, किन्तु कृतकृत्य न हुई। कवि को कोशा की मादकता निरूपित करना अभीष्ट था, अत उसके रति-रूप और कामुक भावो का अकन ठीक ही हुआ। तप की दृढता तभी है, जब वह उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के आगे भी दृढ बना रहे। कोशा जगन्माता नही, वेश्या थी। वेश्या भी ऐसी वैसी नही, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या। यदि जिनपद्मसूरि उसके सौन्दर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती। उससे एक मुनि का सयम सुदृढ प्रमाणित हुआ। इसमे कही अश्लीलता नही है। सच तो यह है कि दाम्पत्य रति के रूपक को रूपक ही रहना चाहिए था, किन्तु जब उसमे रूपकत्व तो रहा नही, रति ही प्रमुख हो गई तो फिर अश्लीलता का उभरना भी ठीक ही था। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे। इसी कारण उनकी शान्तिपरकता भी बची रही।

हिन्दी के जैन भक्त कवियो ने सस्कृत-प्राकृत की शान्तिधारा का अनुगमन किया। बनारसीदास ने तो 'नाटक समयसार' मे 'नवमो सात रसनि को नायक' स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनायें इसकी प्रतीक हैं आगे के कवि उनसे प्रभावित है। हिन्दी के इन जैन कवियो का मन्त्र, यन्त्र और शान्तिपाठो की रचना मे मन न लगा। इनसे सम्बन्धित हिन्दी काव्य सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थो के अनुवाद-भर है। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि मत्राधिष्ठात्री देवियो की स्तुतिया भी पूर्व काव्यो की छाया ही है। इनका मन लगा ससार की आकुलता और राग-द्वेषो के चित्राकन मे। उन्होने पुन -पुन मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा मे उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियो के समन्वय ने उसे भावभीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतिया है। उनमे उपदेश की रूक्षता तो किञ्चिन्मात्र भी नही है। कोई भी बात, चाहे उपदेश-परक ही क्यो न हो, भावो के साचो मे ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिन्दी के प्रबन्ध और खण्ड काव्यो का भी मूल स्वर शातरस ही है। अन्य रस भी हैं, किन्तु उनका समाधान शान्तरस मे ही हुआ है। ऐसा करने मे कही भी खीचतान नही है, सब कुछ प्रासगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिन्दी के भक्ति-काव्यो मे यदि एक ओर सासारिक राग-द्वेषो से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान् से चरम शान्ति की याचना। उनको शान्ति तो चाहिए किन्तु अस्थायी नही। वे उस शान्ति के उपासक हैं जो कभी समाप्त न हो। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह शान्ति का अनुभव नही कर सकता। और यह दुविधा जिननाथ निरञ्जन निर्विकार के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते है, "न-जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षय-पदरूपी घन की बूदे चख सकेगे, तभी उनको निराकुल शान्ति मिलेगी। और न-जाने वह घडी कब आयेगी जब हृदय मे समताभाव जगेगा। हृदय के अन्दर जब तक सुगुरु के वचनो के प्रति दृढ श्रद्धा उत्पन्न नही होगी, परमार्थ सुख नही मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमे घर छोड कर वन मे जाने का भाव उदित हुआ हो।[3]

कवि बनारसीदास ने 'शान्तरस' को आत्मिक रस कहा है। उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पचामृत भोजन के समान समझना चाहिए।[4] इस आनन्द को साक्षात् करने

---

१ देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४।

२ 'थूलिभद्दफागु', प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला ३, स० २०११, पृ० ३-७ पर प्रकाशित हो चुका है।

३ बनारसीविलास, जयपुर, १९५४, अध्यातमपदपक्ति, १३वा पद, पृ० १३१-३२।

४ अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृत को कौर है ॥
—बनारसीदास, नाटकसमयसार, बम्बई, उत्थानिका, १९वा पद्य, पृ० १७-१८।

वाला चेतन जिसके घट मे विराजता है, उस जिनराज का बनारसीदास ने वन्दना की है।[1]

यह जीव ससार के बीच मे भटकता फिरता है, किन्तु उसे शान्ति नही मिलती। वह अपने अष्टादश दोषो से प्रपीडित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदास का कथन है, "हे जीव ! इस ससार के असख्य कोटि सागर को पीकर भी तू प्यासा ही है और इस ससार के द्वीपो मे जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषो के कारण है। वे तभी जीते जा सकते है जब तू भगवान जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी पथ का अनुसरण करे, जिस पर वे स्वय चले थे।"[2] भैया की दृष्टि मे अष्टादश दोष ही अशान्ति के कारण है और वे भगवान जिन के ध्यान से जीते जा सकते है। तभी यह जीव उस शान्ति का अनुभव करेगा, जो भगवान जिनेन्द्र मे साक्षात् ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष के कारण ही यह जीव अपने परमात्मा-स्वरूप के दर्शन का आनन्द नही ले पाता। अर्थात् वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोह के वियोग से राग-द्वेष स्वय नष्ट हो जायेंगे, और राग-द्वेष के टलने से मोह तो यत्किञ्चित् भी न रह पायेगा। कर्म की उपाधि को समाप्त करने का भी यही एक उपाय है। जड के उखाड डालने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है ? और फिर तो उसके डाल-पात, फल-फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था मे अनन्त सुख विलस सकेगा।

> "मोह के निवारे राग-द्वेष हू निवारे जांहि,
> राग-द्वेष टारें मोह नेकहू न पाइए।
> कर्म की उपाधि के निवारिबे को पेंच यहै,
> जड के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइए।
> डार-पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जाय,
> कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइए।
> तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
> विलसै अनन्त सुख सिद्ध मे कहाइए॥"[3]

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक सुन्दर-से पद मे जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शान्ति की बात करने वाले ही ज्ञानी हैं, अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायेंगे।[4]

भूधरदासजी के स्वामी की शरण तो इसलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणो से युक्त हैं। भूधरदास को उनका बहुत बडा भरोसा है। उन्होने जन्म-जरा आदि वैरिया को जीत लिया है और मरन की

---

१ सत्य-सरूप सदा जिन्ह कै,
प्रगटयौ अवदात मिथ्यात निकदन।
सातदसा तिन्ह की पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वदन॥
—वही, छठा पद्य, पृ० ७

२ भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९०६ ई०, शतअष्टोत्तरी, १६वा कवित्त, पृ० ३२।

३ ब्रह्मविलास, मिथ्यात्वविध्वस न चतुर्दशी, ८वा कवित्त, पृ० १२१

४ शातरसवारे कहें मत को निवारे रहें।
वे ई प्राणप्यारे रहैं और सब वारे हैं॥
—ब्रह्मविलास, ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, ६ठा कवित्त, पृ० २५३



टेव से छुटकारा पा गये है। उनसे भूधरदास अजर और अमर बनने की प्रार्थना करते है। क्योंकि जब तक यह मनुष्य जन्म-मरण से छुटकारा नही पायेगा, शान्ति प्राप्त नही कर सकता। जैन परम्परा मे देवो को अमर नही कहते। यहां अमरता का अर्थ है मुक्तदशा, जहां किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती। ऐसी शान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वय प्राप्त कर ली है। वे ससारी 'साहिब', जो बारम्बार जन्मते हैं, मरते है, और जो स्वय भिखारी है, दूसरो का दारिद्रय कैसे हर सकते है।[1]

भगवान 'शान्तिजिनन्द', जो स्वय शान्ति के प्रतीक हैं, सहज मे ही अपने सेवको के भव-द्वन्द्वो को हर सकते है। भूधरदास उन्ही से ऐसा करने की याचना भी करते हैं। यह जीव सासारिक कृत्यों के करने मे तो बहुत ही उतावला रहता है, किन्तु भगवान के सुमरन मे सीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल मिलते हैं। कर्म करता है अशान्ति और आकुलता के, किन्तु फल मे शान्ति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्णतया असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेगे, नग हीरा नही हो सकता। जैसे यह जीव विषयो के बिना एक क्षण भी नही रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरन्तर जपे तो सासारिक अशान्ति को पार कर निश्चय शान्ति पा सकता है।[2]

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे सासारिक वैभवो की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते हैं और उसमे से शान्ति की ध्वनि, सगीत की झकार की तरह से फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद मे उन्मत्त जीवो को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गवार नर! तुझे घमण्ड नही करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस ससार मे जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोड दे। क्षण-क्षण पर तेरे बंध बढते जायगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।"[3] भूधरदास ने एक दूसरे पद मे परिवर्तनशीलता का सुन्दर दृश्य अकित किया है। उन्होने कहा, "इस ससार मे एक अजब तमाशा हो रहा है। जिसका अस्तित्व-काल स्वप्न की भाति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायगा। एक के घर मे मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर मे किसी के वियोग के कारण नैन निराशा से भर-भर कर रोते हैं। जो लोग तुरगो पर चढकर चलते थे, और खासा तथा मखमल पहनते थे, वही दूसरे क्षण नगे होकर फिरते है, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिखाई नही देता। प्रात ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ पसन्न-वदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन मे जाकर निवास करना पडा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं। जैसे पानी का बताशा। भूधरदासजी कहते है कि इनका जो गर्व करता है उसके जन्म को धिक्कार है।"[4] यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अन्धा बनता है। इसने भरे यौवन मे पुत्र का वियोग देखा वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग मे जाते हुए निरखा और इसने उन पुण्यवानो को, जो सदैव यान पर चढे ही दिखाई देते थे, रक होकर बिना पनही के मार्ग मे पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नही घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूसे की अधेरी के राज-राग का कोई इलाज नही है।

१ भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ५३वा पद, पृ० ३०।
२ भूधरविलास, ३४वा पद, पृष्ठ १६।
३ वही, २२वा पद, पृष्ठ १३।
४ वही, ११वा पद, पृष्ठ ७।
५ वही, ९वा पद, पृष्ठ ६।

"देखौ भर जोवन मे पुत्र को वियोग आयो,
तैसे ही निहारी निज नारी काल मग मे।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही पै,
रक भए फिरै तेऊ पनही न मग मे॥
ऐते पै, अभागे धन जीतव सौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहूगो अलग मै।
आखिन विलोकि अध सूसे की अधेरी,
करै एसे राजरोग को इलाज कहा जग मे॥"

एक वृद्धपुरुष की दृष्टि घट गई है, तन की छवि पलट चुकी है, गति वक हो गई है और कमर झुक गई है। उसकी घरवाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रक होकर पलग मे लग गया है। उसकी नार (गर्दन) काप रही है और मुह से लार चू रही है। उसके सब अग-उपाग पुराने हो गये है, किन्तु हृदय मे तृष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है।[2] जब मनुष्य की मौत आती है, तो उसने ससार मे रच-पच के जो कुछ किया है, सब कुछ यहा ही पडा रह जाता है। भूधरदासजी ने कहा है, "तीव्रगामी तुरग, सुन्दर रगो से रगे हुए रथ, ऊचे-ऊचे मस्त मतग, दास और खवास, गगनचुम्बी अट्टालिकाए और करोडो की सम्पत्ति से भरे हुए कोष, इन सबको यह नर अन्त मे छोडकर चला जाता है। प्रासाद खडे-के-खडे ही रह जाते हैं, काम यहा ही पडे रहते हैं, धन-सम्पत्ति भी यहा ही डली रहती है और घर भी यहा ही धरे रह जाते हैं।"

"तेज तुरग सुरग भले रथ, मत्त मतग उतग खरे ही।
दास खवास अबास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे बढे तौ कहा भयौ हे नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥"[3]

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शान्तिप्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण मे इसलिये गये हैं कि शान्ति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होने कहा, "हम तो नेमिजी की शरण मे जाते हैं। क्योकि उन्हे छोडकर और कही हमारा मन भी तो नही लगता। वे ससार के पापो की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान हैं। उनका विरुद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं। उनको सुख मिलता है और दुख दूर हो जाता है।"[4] यहा बादल से झरने वाली शीतलता परम शान्ति ही है। शान्ति को ही सुख कहते है और वह

---

१ भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ३५वा पद, पृष्ठ ११।

२ "दृष्टि घटी पलटी तन की छवि वक भई गति लक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति रक भयौ परियक लई है॥
कापत नार वहै मुख लार महामति सगति छारि गई है।
अग उपग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है॥
—जैनशतक, कलकत्ता, ३८वा सवैया, पृष्ठ १२।

३ वही, ३१ वा पद, पृष्ठ ११।

४ "अब हम नेमि जी की शरन।
और ठौर न मन लगत है, छाडि प्रभु के शरन॥१॥
सकल भवि-अघ-दहन बारिद, विरद तारन-तरन।
इन्द चन्द फनिन्द ध्यावै, पाप सुख दुख हरन॥२॥
—द्यानत-पद सग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पृष्ठ १।



भगवान् नेमिनाथ के सेवको को प्राप्त होती है। द्यानतराय की दृष्टि मे भी राग-द्वेष ही अशान्ति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावैगा' अर्थात् उसको शान्ति मिलेगी। अरहन्त का स्मरण करने मे राग-द्वेष विलीन हो जाते है, अत उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मन को सम्बोधन करते हुए कहते है, हे बावरे मन! अरहन्त का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोडकर अपने अन्तर मे प्रभु की लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ मे ही खो रहा है और विषय-भोगो को प्रेरणा दे-देकर बढा रहा है। प्राणो के जाने पर हे मनवा! तू पछतावेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरग और रथ मे तेरा जो चाव है, वह ठीक नही है। ये सासारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भाति है, आँख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते है। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मगल-गीत गा ले। और अधिक कहा तक कहा जाये फिर उपाय करने पर भी सध नही सकेगा।[1]

शुक्लध्यान मे निरत तीर्थंकर शान्ति के प्रतीक होते है। उनमे से सभी प्रकार की बेचैनिया निकल चुकी होती है। उन्हे जन्म से ही पूर्वसस्कार के रूप मे वीतरागता मिलती है। उसी स्वर मे वे पलते, बढते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते है। कभी विलासो मे तरते-उतराते, कभी राज्यो का सचालन करते और कभी शत्रुओ को पराजित करते, किन्तु वह स्वर सदैव पवन की भाँति प्राणो मे भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हे वन-पथ पर ले छोडता। चिन्तायें स्वत पीछे रह जाती। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप मे फूल उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिन्तानिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती ही रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्था मे प्रगट हो जाता। उसकी आभा से तीर्थंकर का सौन्दर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे देख इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तो का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उन परमशान्ति का अनुभव करते तीर्थंकर के दर्शन से 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नही सकता था। फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो तो गलत क्या है। जगराम ने लिखा है—

"निरखि मन मूरति कैसी राजै।
तीर्थंकर यह ध्यान करत है, परमातम पद काजै॥
नासा अग्र दृष्टि कौं धारें, मुख मुलकित मानौ गाजै।
अनुभौ रस झलकत मानौ, ऐसा आसन शुद्ध विराजै॥
अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक मे छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं, अशुभ कर्म तजि भागै।
जो जगराम बनै सुमरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥"[2]

---

१ अरहन्त सुमर मन बावरे।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लावरे॥१॥
नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय-भोग जु बढावरे।
प्राण गये पछितै है मनवा, छिन-छिन छीजै आवरे॥२॥
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरग रथ चावरे।
यह ससार सुपन की माया, आख मींच दिखराव रे॥३॥
ध्याय-ध्याय रे अब है दाव रे, नाहीं मगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहा लौं कहिये, फेर न कछु उपाय रे॥४॥
—द्यानतपदसग्रह, ७०वा पद, पृष्ठ २९-३०।

२ पदसग्रह स० ४९२, पत्र ७९, बधीचन्दजी का मन्दिर, जयपुर।

समार के दु खो से त्रस्त यह जीव शान्ति चाहता है। यहा शान्ति का अर्थ शाश्वत शान्ति मे है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनो ही मे उसे शान्ति नहीं मिलती। अथवा वह सामारिक वैभवो से उत्पन्न सुख-विलास को शान्ति नहीं मानता। राग चाहे सम्पत्ति मे सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक से, सदैव दाहकारी ही होता है। मखमल और कमखाब के गद्दो पर पडे लोगो को भी बेचैनी मे तडफते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन जैसी जहरीली होती ही है। भूधरदास की यह पक्ति "कहू न सुख समार मे सब जग देख्यो छान" देश-काल से परे एक चिरन्तन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से सतप्त यह जीव भगवान की शरण मे पहुँचता है और जो शान्ति मिलती है, वह मानो सुधाधार का बरसना ही है, चिन्तामणिरत्न और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे आगे कल्पतरु लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओ के पूर्ण होने का अर्थ है कि सासारिक रोग और सन्ताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते है। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उससे अनुस्यूत शान्ति भी कभी घटती-बढती नही। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शान्तरस की प्रतीक है—

> "प्रभु पाय लागौं करूँ सेव थारी,
> तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
> घणौं कस्ट करि देव जिनराज पाम्यौ,
> ह्वैं सवै ससारनौं दुख वाम्यौं।
> जव श्री जिनराजनौ रूप दरस्यौ,
> जवै लोचना सुष सुधाधार वरस्यौ॥
> लह्या रतनचिन्ता नवनिधि पाई,
> मानौं आगणं कलपतर आजि आयो।
> मनवाछित दान जिनराज पायौ,
> गयो रोग संताप मोहि सरव त्यागौ॥"[1]

समार की परिवर्तनशील दशा के अकन मे जैन कवि अनुपम हैं। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—क्षणिकता, विनश्वरता। समार का यह स्वभाव है। अत यदि यहाँ सयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दुख-सतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्म-मरण, सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुख चिरसहचर हैं। समार मे यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओं को भोगता हुआ चक्कर लगाता है। वह नट की भाँति नाना वेष और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी, 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल', शीर्षक पद मे भली-भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का ससार के चक्कर मे फसना और तज्जन्य सुख-दुख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर मे फसा है, उसे नाचना पडेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझकर सहज रूप मे उनसे उदासीन हो जावे तो वह ज्ञानी कहलाये और शान्ति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुखदु खे समे कृत्वा' जैनशासन मे पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वी शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

> जहा है सयोग तहा होत है वियोग सही,
> जहा है जनम वहा मरण कौ वास है।
> सम्पति विपति दोऊ एक ही भवनदासी,
> जहा वसै सुष वहा दुष कौ विलास है॥
> जगत मे वार-वार फिरै, नाना परकार,
> करम अवस्था झूँठी थिरता की आस है।
> नट कैसे भेष और रूप होहि यातै
> हरष न सोग ग्याता सहज उदास है॥"[2]



१ देखिए गुटका न० १३१, लेखनकाल वि० स० १७७६, मन्दिर गेलियान, जयपुर।

२ अनित्यपचाशत (पाण्डुलिपि), लेखनकाल वि० स० १६५२, गुटका न० ३५, लूणकर जी का मन्दिर, जयपुर

संसार में आनेवाला यह जीव एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व से समन्वित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमें परमात्म-शक्ति होती है। वह अपने आत्म-प्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किन्तु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे संसार में दुःख सहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। और इस प्रकार भव-वन में 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल बीत जाता है। उसे सम्बोधन कर पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—अहो जगत के राय! तुम क्षणिक इन्द्रिय-सुख में लगे हो, विषयों में लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नहीं। विषयों का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढ़ती जाती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र हो जाती है। तुम व्यर्थ ही इन दुःखों को झेल रहे हो। अपने घर को क्यों नहीं सम्भालते? अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना घर भूल गये हो। तुम इस संसार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण हो जाये कि वह स्वयं भगवान है तो संसार के सभी दुःख स्वतः उपशम हो जाय। जहाँ-के-तहाँ पड़े रहें। संसार में जन्म लेने के साथ ही यह जीव निरभ्रमणशील मनोवेग साथ लाता है। कस्तूरीमृग को यह विदित नहीं रहता कि वह सुगन्धि उसकी नाभि में मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है। मन्दिर, मस्जिद और काबे में परमात्मा को ढूँढनेवाला यह जीव नहीं जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है। इसलिए जीव अज्ञानी कहलाता है। इसीलिए वह सांसारिक आकुलताओं में व्याकुल बना रहता है। उसकी शान्ति का सबसे बड़ा उपाय है कि वह अपने को पहचाने। पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—

अपनो पद न विचारि के, अहो जगत के राय।
भव वन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि विसराय॥
भव-भव भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।
अब किन घरहि संवारई, कत दुख देखत यादि॥
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहि गयो सुलभाय।
किंचित् इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय॥
विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवते, बाढ़ै तृष्णाधिकाय॥[1]

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'परिवर्तन' में लिखा है, "मूँदती नयन मृत्यु की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिशिर की सर्व प्रलयकर वात, बीज बोती अज्ञात॥" उनका तात्पर्य है कि मौत में जन्म और जन्म में मौत छिपी है। यह संसार अस्थिर है। जीवन अमर नहीं है। संसार के सुख चिरन्तन नहीं हैं। श्री पंतजी की कविता का यह स्वर जैन 'टोन' है। यदि यह कहा जाये कि पंतजी की अन्य कविताओं का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा से हूबहू मिलता-जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी। जैन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उन सबका अध्ययन होना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) में एक जैन कवि पं० मनोहरदास हुए हैं। भावधारा की दृष्टि से उन्हें श्री पंतजी का पूर्व संस्करण ही कहा जा सकता है। उन्होंने एक जगह लिखा है, "हे लाल! दिन-दिन आयु घटती है, जैसे अंजली का जल शनैः-शनैः रिसकर नितान्त चू जाता है। संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं है इसे मन में भली-भांति समझ ले। तूने अपना बालपन खेल में खो दिया। जवानी मस्ती में बिता दी। इतने राग-रंगों में मस्त रहा कि वृद्धावस्था में शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लूँगा, तो यह तेरा अनुमान असत्य की छाया ही था। तू संसार के उन पदार्थों में तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वे सेमर के फूल की तरह झूठे हैं। घास के ओसकणों की भाँति शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पंक्तियाँ हैं—

दिन-दिन आव घटै है रे लाल,
ज्यौं अँजली कौ नीर मन मांहि ला रे।
कोयो जाय ठीकर लै रे लाल,
थिरता नहीं संसार मन मांहि ला रे॥

---

१. देखिए पाण्डे रूपचन्द्र रचित परमार्थीदोहाशतक। यह 'रूपचन्द्रशतक' के नाम से जैनहितैषी, भाग ६, अङ्क ५-६ में प्रकाशित हो चुका है।

बालपणौं षोयो ष्याल मैं रे लाल,
ज्वाणपणौं उनमान मन माँहि ला रे।
वृद्धपणौं संकति घटी रे लाल,
करि अरि नाना रगि मन माँहि ला रे॥
समकित स्यौं परच्यौ करौ रे लाल,
मिथ्या सगि निवारि मन माँहि ला रे।
ज्यो सुष पावै अति घणा रे लाल,
मनोहर कहैय विचार मन माँहि ला रे॥"[1]

भारतीय मन सदैव भक्ति-धारा से सिंचित होता रहा है। उसके जन्म-जन्म के सस्कार भक्ति के साँचे मे ढले है। हो सकता है कि उसकी विधायें विकृत दिशा की ओर मुड गई हो, किन्तु मूल मे विराजी शक्ति किञ्चिन्मात्र भी इधर-से-उधर नही हुई, यह सच है। एक विलायत से लौटा भारतीय भी मन से भक्त ही होता है। विज्ञान की प्रयोग-शालाओ-मे डूबा वैज्ञानिक भगवान को निरस्त नही कर पाता। आधुनिकता के पैरोकार परमपिता का नाम लेते देखे गये है। वैदिक और श्रमण दोनो परम्परायें भगवान के नाम मे अमित बल स्वीकार करती है। सच्चे हृदय से लिया गया नाम कभी निष्फल नही जाता। उससे विपत्तिया दूर हो जाती है। बेचैन, व्याकुल और तडफता मन शान्ति का अनुभव करता है। यह केवल अतिशयोक्ति नही है कि गणिका, गज और अजामिल नाम लेने मात्र से तर गये थे। अवश्य ही उसने उनके हृदय मे परम शान्ति को जन्म दिया होगा। परम शान्ति ही परम पद है—मोक्ष है, ससार से तिरना है। यह बात केवल तुलसी और सूर ने ही नही लिखी, जैन कवि भी पीछे नही रहे। महाकवि मनराम ने लिखा, "अर्हन्त के नाम से आठ कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं।"[2] यशोविजयजी का कथन है, "अरे, ओ चेतन! तू इस ससार के भ्रम मे क्यो फँसा है। भगवान जिनेन्द्र के नाम का भजन कर। सद्गुरु ने भी भगवान का नाम जपने की बात कही है।"[3] द्यानतराय का अटूट विश्वास है, "रे मन! भज दीनदयाल। जाके नाम लेत इक छिन मे, कटै कोट अघजाल।"[4] कवि विश्वभूषण की दृष्टि मे इस बौरे जीव को सदैव जिनेन्द्र का नाम लेना चाहिये। यदि यह परम-तत्त्व प्राप्त करना चाहता है, तो तन की ओर से उदासीन हो जाये। यदि ऐसा नही करेगा तो भव-समुद्र मे गिर जायगा और उसे चहुँगति मे घूमना होगा। विश्वभूषण भगवान के पदपकज मे इस भाँति राँच गये हैं। जैसे कमलो मे भौरा—

"जिन नाम लै रे बौरा, तू जिन-नाम लै रे बौरा।
जै तू परम तत्त्व को चाहै तो तन कौ लगै न जौरा॥
नातर कै भवदधि मे परिहै भयौ चहूँगति दौरा।
विसभूषण पदपकज राच्यौ ज्यो कमलन बिच भौंरा॥"[5]



---

१ देखिए सुगुरुसीष, प० मनोहरदास रचित, गुटका न० ५४, वेष्टन न० २७२, जैन मन्दिर, बडौत (मेरठ)।

२ "करमादिक अरिन कौ हरै अरिहत नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।"
—मनरामविलास, मनरामचरित, मन्दिर ठोलियान, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

३ "जिनवर नामसार भज आतम, कहा भरम ससारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्दघन उपगारे॥"
—आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन, आनन्दघनबहत्तरी, रामचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

४ द्यानतपदसग्रह, कलकत्ता, ६६वां पद, पृ० २८।

५ पदसग्रह न० ५८, दि० जैन मन्दिर, बडौत, पन्ना ४८।

'भैया' भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' मे भगवद्नाम की महिमा का नाना प्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि और पारस के समान है। उसमे इस जीव की इच्छाये भरती हैं, कामनायें पूर्ण होती हैं। चिन्ता दूर हो जाती है और दारिद्रय डर जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात् मृत्यु की आशका नही रह पाती। यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ जाता है। मौत का भय ही दुख है। उसके दूर होने पर सुख स्वत प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जो क्षीण नही होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते है। किन्तु वीतराग का नाम वह ही ले सकता है जो स्वय वीतरागता की ओर बढ रहा है।"[1] ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति-विवेचन' मे भी लगायी है।[2] उनकी दृष्टि मे हर कोई भगवान का नाम नही ले सकता। पहले उसमे नाम लेने की पात्रता चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए विना नाम लेने की वात नही उठती। उसके लिए एक जैन पारिभाषिक शब्द है 'भव्य'। उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की ताकत। जिसमे वह नही उस पर भगवान की कृपा नही होती। भव्यत्व उपार्जित करना अनिवार्य है। यदि भगवान के नाम को कोई भव्यजीव लेता है तो उसके भवसागर तरने मे कोई कमी नही रहती। इस भव्यत्व को वैष्णव और जैन दोनो ही कवियो ने स्वीकार किया है।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवो को छोटा दिखाया जाये। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्मा, शिव, सनक, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करते हैं। तुलसी ने यहाँ तक लिखा कि जो स्वय भीख माँगते हैं वे भक्तो की मनोकामनाओ को कैसे पूरा करेंगे। सूरदास ने अन्य देवो से भिक्षा मागने को रसना का व्यर्थ प्रयास कहा है।[3] तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश है। उनकी शरण मे जाना व्यर्थ है।[4] तुलसी की दृष्टि मे राम ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता हैं। कृष्ण भी वैसे नही हो सकते। सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन मे ही खपा-सा प्रतीत होता है। जैन कवियो ने भी सिवा जिनेन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नही माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' मे भक्ति-धारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त कवियो ने यह काम आराध्य मे एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'एकनिष्ठता' की ओट मे वैष्णव और जैन दोनो ही कडवाहट नही रोक सके। दोनो ने शालीनता का उल्लघन किया। फिर भी अपेक्षाकृत जैन कवि अधिक उदार

---

१ "तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तें जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुखमूल दुख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है॥
—सुपथ कुपथ पच्चीसिका, ब्रह्मविलास, भैय्या भगवतीदास, पृ० १८०।

२ "भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥"
—देखिए रामचरितमानस, ज्ञानभक्ति विवेचन।

३ "जांचक पै जाचक कह जाचै। जौ जाचै तो रसना हारी॥"
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४वा पद, पृ० ३०।

४ "देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-विवश विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपौ हारे॥"
—विनय-पत्रिका, पूर्वार्ध, १०१ वा पद, पृ० १९२।

रहे। उनमे अनेक ने तो पूर्ण उदासना बरती। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि प्रभासपट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार मे सम्राट कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था। हेमचन्द्र ने बिना तरतमाय के उस देव को नमस्कार किया, जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हो, फिर वह देव ब्रह्मा विष्णु, हर या जिन कोई भी हो। उनका कहना है—

"भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमन्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा।
वीतदोषकलुद स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते॥"[1]

इसी भाति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियो की निन्दा न कर सका। उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगतागम मे तारा, शैवागम मे गौरी, कौलिकशासन मे वज्रा और साख्यागम मे प्रकृति कहलाती है। उनमे कोई अन्तर नही है। कोई छोटी-बडी नही है। कोई महान लघु नही है। सब समान हैं। सबकी शक्तिया समान हैं। उस मा भारती मे समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है। जिसमे दूसरो के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया, वह सात्विकता की बात नही कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति के क्षेत्र मे भी पार्टीबन्दी की बात की वह भक्त नही और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नही हो सकता। उसका काम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियो की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए थी, यदि नही हुई तो वह भक्त के भावो की विकृति ही माननी पडेगी। किन्तु इस क्षेत्र मे बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला, वह मिथ्या नही है। उपर्युक्त श्लोक है—

"तारा त्व सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि साख्यागमे।
मातर्भारति कि प्रभूत भणित, व्याप्त समस्त त्वया॥"[2]

यह पावनता जैन हिन्दी कवियो मे भी पनपी। उनके काव्य मे अपने आराध्य की महत्ता है। अन्य देवों की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमाय से ऊपर उठे हैं, या उन्हें बचाकर निकल गये हैं। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखण्ड सत्य था। अखण्ड सत्य वह है जो अविरोधी हो, अर्थात् उसमे किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श, जिसका दूसरे धर्मो से विरोध हो, अपने को अखण्ड सत्य नही कह सकते। वे खण्डरूप से सत्य हो सकते हैं। आनन्दघन का ब्रह्म राम, रहीम, महादेव, ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमे आपस मे कोई विरोध नहीं था। वे सब एक थे। न उनमे तरतमांश था और न उनके रूप मे भेद था। महात्माजी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामो से पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा मे विभिन्न कल्पनाओं के कारण अनेक नामो की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि से निज पद में रमने वाला राम है, रहम करने वाला रहमान है, कर्मो का कर्षण करने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है, ब्रह्म को पहचानने वाला ब्राह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—



---

१ आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि", पहला अध्याय, पृ० १२।

२ पद्मावती स्तोत्र, २०वा श्लोक, भैरव पद्मावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८।

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री॥
निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्ह सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥"[1]

इस प्रकार की उदार परम्पराओ ने जैन काव्यो मे शान्ताभक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ मे माया की बात भी का जाती है। 'माया, मोह और शैतान पर्यायवाची है। सन्त, वैष्णव और जैन तीनो ही कवियो ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान की प्रतीक है। उसके कारण ही यह जीव ससार के आवागमन मे फँसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्मरूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। साँख्यकारिका मे एक अत्यधिक मनोरजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने मे निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो वह लज्जा से अपना वदन ढँक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह (प्रकृति=माया) पलायन कर जाती है।[2] जैन सिद्धान्त मे ज्ञान ही आत्मा है। यहा आत्मा का अर्थ है विशुद्ध आत्मा। अर्थात् जब जीवात्मा मे विशुद्धता आ जाती है तो मोह स्वत ही हटता जाता है। जैन आचार्यो ने आठ कर्मों मे मोहनीय को प्रबलतम माना है। 'स्व' को सही रूप मे पहचानने मे वह ही सबसे बडा बाधक है। उसकी जड को निर्मूल करने मे ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया वेली जेती तेती रेते मे धारेती सेवी, फदा ही को कदा खोदे खेती को सो जोधा है।"[3] साम्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' मे कही हैं। उन्होने लिखा कि कायारूपी नगरी मे चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह मायारूपी रानी मे मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया सी जु नगरी मे चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानो पै मगन बहु भयौ है। ऐसी राजधानी मे अपन गुण भूलि रह्यौ, सुधि जब आई तबै ज्ञान आप गह्यौ है।"[4] कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पडी। उनका भेद पाना ज्ञान प्राप्त करना ही है। ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ ससारी जीव को पकडे रहती है।

---

१ महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७वा पद।

२. प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥"
—साख्यकारिका, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, प्रथम सस्करण, वि० स० १९९७, ६१वा श्लोक।

३ नाटक समयसार, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य।

४ शत अष्टोत्तरी, २८वा सवैया, ब्रह्मविलास, पृष्ठ १४।

तुलसीदास ने भक्ति के विना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्वन्ध मे रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका मे लिखा, "माधव अस तुम्हारि यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहि, जब लगि करहु न दाया।"[1] जैनकवि भूधरदास ने मोहपिशाच को नष्ट करने के लिए 'भगवन्त-भजन' पर वल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नही पा सकता। उन्होने लिखा है, "मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे॥ भगवन्त भजन क्यो भूला रे॥"[2] कवीर की दृष्टि मे माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कवीर ने सतगुरु को गोविन्द से वडा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती, क्योकि वह मीठी शक्कर की भाँति शीरनी होती है।[3] जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा को महत्त्वपूर्ण समझा था। उन्होने लिखा कि जव तक कोई गुरु को नही पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल वना ही रहता है। जव पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनका मध्यान्तर मिट जाता है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया-जन्य ही है।[4] भैय्या भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनो से मोह विलीन हो जाता है और आत्मरस प्राप्त होता है।[5] कवि बनारसीदास ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह-जन्य वेचैनी दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का उपदेश है। यदि आत्मा 'अलख अखय निधि' लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सद्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है, "गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै। कहत वनारसी ह्वै करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै॥"[6] इस घट मे सुधा-सरोवर भरा है, जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं। उस सरोवर का पता लगना आवश्यक है। वह सतगुरु से लग सकता है। सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। उन पर मन केन्द्रित करना पडता है। कवि विनयविजय ने लिखा है—

> "सुधा सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय।
> विनय कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय॥
> प्यारे काहे कू ललचाय॥"[7]

आत्मरस ही सच्ची शान्ति है। वही अलख अखयनिधि है। वह अनुभूति के विना नही होता। ब्रह्म की, भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरस है। अनुभूति के विना लाखो-करोडो भवो मे जप-तप भी निरर्थक है। एक स्वास की अनुभूति जितना काम करती है, भव-भव की तपस्या और साधना नही। द्यानतराय ने लिखा है, "लाख कोटि भव तपस्या करतैं, जे तो कर्म तेरो जर रै। स्वास उस्वास माँहि सो नासै जव अनुभव चित धर रै।"[8]

---

१ विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वाँ पद।

२ भूधर विलास, कलकत्ता, १९ वाँ पद, पृ० ११।

३ "कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तो करती भाँड॥"
माया को अंग, ७वी साखी, कवीर ग्रन्थावली, काशी, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३३।

४ "जब लगि गुरु को अहा न चीन्हा। कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥"
—देखिए जायसी कृत पद्मावत।



५ 'सतगुरु वचन धारिले अबके, जातें मोह विलाय।
तब प्रगटै आतमरस भैया, सो निश्चय ठहराय॥"
भैया भगवतीदास परमार्थ पदपक्ति, २५ वाँ पद, ब्रह्मविलास, पृ० ११८।

६ वनारसीदास, अष्टपदी मल्हार, ८ वाँ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३९।

७ विनयविजय, 'प्यारे काहे कू ललचाय' शीर्षक पर, अध्यात्म पदावली, काशी, पृ० २२८।

८ द्यानतपद सग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वाँ, पृ० ३१।



बनारसीदास ने अनुभूति को अनुभव कहा है। उसका आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि के समान है। उसका स्वाद पचामृत भोजन जैसा है। कवि रूपचन्द्र ने 'अध्यातम सवैय्या' मे स्वीकार किया है, "आतम-ब्रह्म की अनुभूति मे यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमे अनन्त ज्ञान प्रगट होता है और यह अपने आप मे ही लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है।'[1] आत्मा के अनूपरस का सवेदन करने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिससे बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अनुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूति मे प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुख को विलसने मे समर्थ हो जाता है। प० दीपचन्द शाह ने ज्ञानदर्पण मे लिखा है, "अनुभौ विलास मे अनन्त सुख पाइयतु। भव की विकारता की भई है उछेदना ॥" उन्होने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "अनुभौ उल्हास मे अनन्तरस पायौ महा ॥' यह अखण्ड रस और कुछ नही साक्षात् ब्रह्म ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ब्रह्म ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाती है। अनुभव से ससार का आवागमन मिटता है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, कोटिक जुगातर जो महातप कीने है।२ अनुभौ अखण्डरस उरमैं न आयौ जो तो, सिव-पद पावै नाहि पररस भीने हैं ॥"[2] किन्तु यह महत्त्वशाली तत्त्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। महात्मा आनन्दघन का कथन है, "मोको दे निज अनुभव स्वामी, निज अनुभूति निवास स्वधामी।"[3] उस अनुभूति से जो सयुक्त है वही अनन्त गुणातम धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही 'भगवान' नाम भी दुख हरण करने वाला और अतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन है कि प्रभु के समान और कोई नटवा नही है। उसमें-से हेयोपादेय प्रगट होते हैं। अनुभव रस का देने वाला इष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और सब कष्टो से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्त की भ्राँति को हर सकती है। वही सूर्य की किरण की भाँति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काट कर दिन के प्रकाश को जन्म देती है। वह मोहा सुर के लिए काल-रूपा है—

"या अनुभूति रावरी हरै चित्त की भ्रान्ति।
सा शुद्धा तुव भानु की किरण जु परम प्रशान्ति ॥
किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु कौं नासै।
माया यामिनी मेटि बोध दिवसं जु विभासै ॥
मोहासुर क्षयकार ज्ञानमूला जु विभूती।
भाषै दौलति ताहि रावरी या अनुभूती ॥'[4]

जैनकवियो के प्रबन्ध और खण्डकाव्यो मे 'शान्तरस' प्रमुख है। अन्य रसो का भी यथा-प्रसग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु वे सब इसके सहायक-भर हैं। जिस प्रकार अवान्तर कथायें मुख्य कथा को परिपुष्ट करती है, उसी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ करते हैं। एक प्रबन्धकाव्य मे मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसो की उससे कम नही। प० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओ को रस की पिचकारिया कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते हैं। वे अवान्तर कथाओ और प्रासगिक घटनाओ के सगठन मे सन्निहित होते है और वहाँ ही काम करते हैं। एक महानद के जलप्रवाह मे सहायक नदियो के जल का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, वैसे ही मुख्य रसो की गति भी

---

१ रूपचन्द्र, अध्यात्मसवैया, मन्दिर बधीचन्द्र जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

२ दीपचन्द्र शाह, ज्ञानदर्पण, तीनो उद्धरण, क्रमश पद्य न० १८१, १७८, १२६, सकलित अध्यात्म पचसग्रह, प० नाथूलाल जैन सम्पादित, तुकोगज, इन्दौर, वि० स० २००५, पृ० ६१, ५६, ४४ क्रमश।

३ महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह बम्बई, २१ वा पद।

४ प० दौलतराम, अध्यात्म बारहखडी, दि० जैन पचायती मदिर, बडौत, ११८ वाँ पद्य।

अन्य रसो से परिपुष्ट होती हुई ही वेगवती वनती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि मुख्यरस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नही। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और वलवान होता है किन्तु उसके अन्तरग मे मुख्यरस का स्वर सदैव हलके सितार की भाँति प्रतिध्वनित होता ही रहता है। एक प्रवन्ध काव्य मे घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसग होते हैं, जिनमे मानव-जीवन के विविध पहलुओ की अभिव्यक्ति, रहती है। किन्तु, उनके जीवन मे मुख्यरस एक प्राणतत्व की भाँति भिदा रहता है और उनमे मानव की मूल मनोवृत्तियो को खुल खेलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्यरस और मुख्य कथा भी होती है। दोनो मे कोई विरोध नही होता। दोनो दूव-पानी की भाति मिले रहते हैं। अत जैन काव्यो के विपय मे डॉ० शिवप्रसादसिंह का यह कथन, "जैनकाव्यों मे शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह प्रारम्भ नही परिणति है। सम्भवत पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र वना देना प्रकृति का विरोध है।"[1] उपयुक्त प्रतीत नही होता। अन्य काव्यो की भाँति ही जैन काव्य हैं। इनमे भी एक मुख्यरस और अन्य-रस रहते हैं। केवल शम को मुख्यरस मान लेने से प्रकृति का विरोध है, शृगार या वीर को मानने से नही। यह एक विचित्र तर्क हैं, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महाकाव्य शान्ति के प्रतीक हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओ को दवा दिया गया है या छोड दिया गया है और इस प्रकार वहा अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहाँ तक जैन अपभ्र श के प्रवन्धकाव्यो का सम्वन्ध है, उन्हे दो भागो मे वाँटा जा सकता है—स्वयम्भू का 'परमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महा-पुराण', वीर कवि का 'जम्वूस्वामीचरिउ' और हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैली मे तथा वनपाल धक्कड की 'भविसयत्तकहा', पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' और नयनदि का 'सुदसणचरिउ' रोमाचक शैली मे लिखे गये हैं। हिन्दी के जैन प्रवन्ध काव्यो मे पौराणिक और रोमानचिक शैली का समन्वय हुआ है। सधारु का 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वरसूरि का 'ललितागचरित्र', ब्रह्मरायमल्ल का 'सुदर्शनराम', कवि परिमल्ल का 'श्रीपालचरित्र', मालकवि का 'भोजप्रवन्ध', लालचन्द्र लव्धोदय का 'पद्मिनीचरित्र', रामचन्द्र का 'सीताचरित्र' और भूधरदास का 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही प्रवन्ध काव्य हैं।[2] इनमे 'पद्मिनीचरित्र' की जायसी के 'पद्मावत' से और 'सीताचरित' की तुलसी के 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है।[3] स्वयम्भू के 'परमचरिउ' की, महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने भूरि-भूरि प्रशसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी वावा का रामचरितमानस, 'पउचरिउ' से प्रभावित है।[4] पुष्पदन्त के महापुराण का श्री पी० एल० वैद्य ने सम्पादन किया है। उनकी मान्यता है कि महाकाव्यो मे वह एक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। 'भविसयत्त कहा' की खोज का श्रेय जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जैकोवी को है। उन्होने अपनी भारत यात्रा के समय इस काव्य को अहमदावाद से सन् १६१४ मे प्राप्त किया था। यह सवमे पहले श्री सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादन मे गायकवाड ओरियण्टल सीरीज वडौदा से सन् १६२३ मे प्रकाशित हुआ। जैकोवी ने भाषा की दृष्टि से और श्री दलाल ने काव्य की दृष्टि से इसे समूचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनित्स ने लिखा है कि इसकी कथा मे थोडे मे अधिक कहने का गुण कूट-कूट कर भरा है। कार्यान्विति भी आदि से अन्त तक



१ डा० शिवप्रसादसिंह, विद्यापति, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, सन् १६६१ ई०, पृ० ११०।

२ इनका विशद परिचय मेरे ग्रन्थ 'हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि', अध्याय २ से प्राप्त किया जा सकता हैं।

३ पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख मेरे उपर्युक्त ग्रन्थ मे पृष्ठ क्रमश २२५ व २३१ पर हुआ है।

४ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, प्रथम सस्करण, १७४५ ई०, किताव महल, इलाहावाद, पृष्ठ ५२।

बराबर बनी हुई है।[1] 'णायकुमारचरिउ' की भूमिका मे डॉ० हीरालाल जैन ने उसे उत्तमकोटि का प्रबन्धकाव्य प्रमाणित किया है।[2] सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के प्राक्कथन मे डॉ० मावाप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान रत्न माना है।[3] भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध प० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौन्दर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है।[4] लालचन्द्र लब्धोदय के पद्मिनीचरित्र और रायचन्द्र के सीताचरित्र को, पाण्डुलिपियो के रूप मे मैंने पढा है और मैं उन्हे इस युग के किसी प्रबन्धकाव्य से निम्नकोटि का नही मानता। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिन्दी के नेमीनाथ तथा राजुल से सबन्धित खण्डकाव्य है। उनका काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्तिकाव्य और कवि' मे यथा-स्थान उनका विवेचन किया है।

इन विविध काव्यो मे युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। सवाद-सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा मे लोच और भावो मे अनुभूति की गहराई है। कही छिछलापन नही, कही उद्दाम वासनाओ का नग्न नृत्य नही। केवल शान्तरस के प्रमुखरस होने से क्या हुआ। प्रबन्धकाव्य मे कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठभूमि मे समूचा मानव-जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबन्ध काव्यो की मूलविधा के जानकारो से छिपा नही है। प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शान्तरस का सुनिर्वाह जैनकाव्यो की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिपेक्ष्य मे ही ठीक से समझी जा सकती है। ऐसा होने पर ही उसका आकलन भी ठीक हो सकता है।



---

१ एम० विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, १९३३ ई०, खड २, पृष्ठ० ५३२।

२ देखिए णायकुमारचरिउ, भूमिका भाग, डा० हीरालाल जैन लिखित।

३ सधारु, प्रद्युम्नचरित्र, प० चैनसुखदास सपादित, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन, डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

४ प० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, जनवरी १९१७, पृ० ५६।

आयुर्वेद को जैनाचार्यो की देन



राजकुमार गोयल,

रिसर्च स्कालर, जामनगर

भारतवर्ष के अधिकांश धार्मिक साहित्य मे भी आयुर्वेद का कुछ-न-कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है। प्राचीन काल मे ऋषियो ने जहाँ तात्कालिक जनता को आत्मा का उद्धार करने वाले भाषण दिए, वहाँ उन्होंने 'शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्' को ध्यान मे रखते हुए धर्मसाधन के मूल शरीर को स्वस्थ एव आतुरावस्था मे आरोग्य प्रदान करने के लिए सफल, स्वानुभूत तथा प्रत्यक्षीकृत उपायों, प्रयोगो का मार्ग भी दर्शाया था।

आयुर्वेद कैसे उत्पन्न हुआ, यह कहना कठिन है, फिर भी इस श्लोक से—

> **त तीर्थनाथमधिगम्य विनम्रमूर्ध्ना,**
> **सत्प्रातिहार्यविभवाविपरीतमूर्तिम्।**
> **सप्रश्रया त्रिकरणोरुकृतप्रणामा,**
> **पप्रच्छुरित्यमखिल भरतेश्वराद्या ॥**

जो प्रमाण मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि जब ससार मे तपश्चर्या, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत, प्रभृति उत्तमोत्तम कार्यो मे जीवन यापन करने वाले पुरुषो मे भी नाना प्रकार के विघ्नो को पैदा करने वाले रोगो का सूत्रपात हुआ, तब भरत चक्रवर्ती आदि भव्यो ने भगवान् आदिनाथ की सेवा मे जाकर सविनय वन्दना की और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए योग्य उपाय पूछा। भगवान् ने जो उत्तर दिए वही से आयुर्वेद का आरभ हुआ।

जैनाचार्यो ने रोगाधिष्ठान दो बताये हैं—शरीर और मन। शरीर का रोगग्रस्त होना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। मन का व्याधिग्रस्त होना लक्षणो के आधार पर अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है। जिन रोगो का प्रभाव प्रथम शरीर पर पडता है उन्हे शारीरिक और जिनका प्रथम मन पर प्रभाव पडता है उन्हे मानसिक रोग कहते हैं। शारीरिक रोग यथा —ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, कास, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, शोपादि। मानसिक रोग यथा —काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, शोक, भयादि। कुछ रोग ऐसे भी होते है जिनका अधिष्ठान दोनो—शरीर और मन होते हैं, जैसे—मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार आदि। जैनाचार्यो ने रोगो के चिकित्सार्थ जिन-जिन प्रयोगो को अपनाया और जिन-जिन औषधियो पर उन्हें सफलता प्राप्त हुई, उन्होंने उन औषधियो को जनकल्याणार्थ लिपिबद्ध किया। इस विषय मे जैनाचार्यो (दिगम्बरो एव श्वेताम्बरो) की महान् देन रही है।

सहिता-ग्रन्थो मे आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। जैन परम्परा मे द्वादशाग शास्त्रो मे दृष्टि-

वाद नाम का जो १२ वाँ अ ग है, उसके ५ भेदो मे से एक भेद पूर्वगत है। इसके भी चौदह विभाग हैं । इन विभागो मे जो 'प्राणवाद' नामक पूर्वगत शास्त्र है, उसमे विस्तार के साथ अष्टागायुर्वेद—(१) काय-चिकित्सा (२) शल्यचिकित्सा (३) शालाक्यचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमार भृत्य (६) अगदतन्त्र (७) रसायनतन्त्र (८) वाजीकरण का कथन मिलता है, यही मूल आयुर्वेदशास्त्र अथवा मूलवेद है ।

रोगशमन के लिए प्राचीन काल मे तरह-तरह के होम यज्ञादि हुआ करते थे, रोगविशेषो मे बलि का भी विधान था । किन्तु जैनाचार्यों ने '**अहिंसा परमो धम** " को ध्यान मे रखते हुए, अपने ग्रन्थो मे औषधप्रयोग के सिवाय मद्य, मास, मधु, यज्ञादि का उपयोग नही बताया जैसा कि कन्नड भाषा के इस श्लोक से ज्ञात होता है —

सुकर तानेन पूज्यपाद मुनिगल् मु पेल्द् कल्याणका-
रकम वाहट सिद्धसार चरकाद्यु त्कृष्टम सद्गुणा-
धिकम वर्जित मद्यमांसमधुक फर्णादिकं लोकर-
क्षकमा चित्रवदागे चित्रकवि सोम पेल्दनिं तल्तिर्यि ।।

विपत्तिकाल मे भी अहिंसा का इतना प्रबल उदाहरण अन्यत्र नही मिलता । इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य व्यक्तियो को पारमार्थिक स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहते थे जो अतीन्द्रिय मोक्ष सुख रूप है ।

जैनाचार्यों ने जहाँ अध्यात्म, दर्शन, काव्य, न्याय, आदि विषयो पर अद्‌भुत प्रकाश डाला है, वहाँ उनसे ज्योतिष एव आयुर्वेद विषय भी अछूता नही रहा । उन्होने आयुर्वेद पर सैकडो ग्रन्थ लिखे जिनमे से बहुत-से अब लुप्त-प्राय हैं । फिर भी अन्य ग्रन्थो मे उनके उद्धरणो से उनके अस्तित्व का पता चलता है ।

"**बसवराजीय**" एक स ग्रह-ग्रन्थ मे "**सिन्दूरवर्पण तद्वत्पूज्यपादीयमेव च**" इत्यादि रूप से उल्लेख मिलता है । पूज्यपादजी ने अपने ग्रन्थो मे जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था । जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न रही है यथा — "**सूत केसरी गन्धक मृगनवासार द्रुमम् ।**" यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है । इसमे 'केसरी' महावीर का चिह्न है, जो २४ वें तीर्थंकर हैं । अत केसरी शब्द से २४ स ख्या समझनी चाहिए । मृग १६ वे तीर्थंकर का चिह्न है, अत मृग से १६ स ख्या लेना चाहिए । आशय यह है कि पारद २४ भाग और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त 'वसवराजीय' स ग्रहग्रन्थ मे पूज्यपाद के अनेक योगो का वर्णन मिलता है । यथा —

(१) "नाम्नाय चण्डभानु सकलगदहरो भाषित पूज्यपादै ।—नित्यनाथीये

(२) 'रसकालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिर्मित ।—वसवराजीय, प्र० पृ० १३

(३) 'पूज्यपादकृतो योगो नराणा हितकाम्यया ।—त्रिकुटनस्य–ष० प्र० व० रा० पृ० १११

(४) 'शोकमुद्‌गरनाम्नाय पूज्यपादेन निर्मित । आदि

जैनाचार्य कोष लिखने मे भी किसी से पीछे नही रहे, किन्तु उनकी शैली औरो से भिन्न थी । यथा — आचार्य अमृतनन्दी का कोष, जिसमे २२ हजार शब्द है, महत्वपूर्ण है । इसमे वनस्पतियो के नाम जैन पारिभाषिक रूप मे आये है, जैसे—अभव्य—हसपादी । अहिंसा-वृश्चिकाली । अनन्त-सुवर्ण । ऋषभ—पावठे की लता । ऋषभा—आमलक । वर्धमाना—मधुर मातुलु ग । वीतराग—आम । आदि ।

इसके अलावा अन्य ग्रन्थो और गन्थकारो का भी उल्लेख मिलता है, यथा—

	ग्रन्थ नाम	कर्त्ता
(१)	रसावतार	माणिक्यचन्द्र
(२)	रसायनप्रकरण	मेरुतुग नाम के जैन मुनि ने १३८७ मे बनाया।
(३)	हितोपदेश	जैनाचार्य श्रीकण्ठ सूरि
(४)	योगरत्नाकर	जैन नारायणशेखर ने १६७६ मे लिखा।
(५)	जीवक तन्त्र	शुभचन्द्र
(६)	वैद्यसारसग्रह	गगादास सूरि
(७)	लक्ष्मणप्रकाश	ईश्वर सूरि के पुत्र हेमाद्रिने १४६८ मे लिखा।
(८)	कल्याणकारक	उग्रादित्य
(९)	योगरत्नाकर	नयनशेखर कृत (१६८० ईसवी)

इनके अतिरिक्त (१) श्रुतिसेन (२) कुमारसेन (३) वीरसेन (४) पात्रकेसरी (५) सिद्धसेन (६) मेघनाद (७) सिंहनाद (८) समन्तभद्र (९) जटाचार्य आदि आचार्यों के नाम भी आयुर्वेदसेवा के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्य उग्रादित्य ने अपने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ मे, जो कि आज भी उपलब्ध है, उपर्युक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है—

पूज्यपाद आचार्य ने 'शालाक्यतन्त्र' लिखा था जिसमे जत्रु के ऊपर मुख, नासा, शिर, कर्ण और चक्षुगत रोगो का वर्णन किया था।

पात्रस्वामी ने नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, धूलि, लौह, बाल, नख, पूय, दूषित व्रण, अन्त शल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिए तथा यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोगार्थ एव व्रणविनिश्चयार्थ शल्यशास्त्र लिखा था।

आचार्य सिंहनाद ने रसायन (यज्जराव्याधिविध्वसी भेषज तद् रसायनम्' अर्थात् जिस औषधि के द्वारा जरा, व्याधि नष्ट होकर युवावस्था प्राप्त होती है उसे रसायन कहते हैं) का वर्णन किया था। जैसा कि इस श्लोक से मालूम होता है —

शालाक्य पूज्यपादप्रकटितमधिक शल्यतत्र च पात्र।
स्वामिप्रोक्त विषोग्रग्रहशमनविधि सिद्धसेनै प्रसिद्धे ॥
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादै शिशूना।
वैद्य वृष्य च दिव्यामृतमपि कथित सिंहनादैर्मुनीन्द्रै ॥

महर्षि समन्तभद्र पूज्यपाद से पूर्व हुए हैं। आप जहाँ न्यायदर्शन के अद्वितीय विद्वान् थे, वहाँ आयुर्वद मे भी निष्णात थे। आयुर्वेदज्ञो मे उनका ऊचा स्थान था। आपने 'सिद्धान्तरसायनकल्प' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमे १८ हजार श्लोक थे। यह ग्रन्थ आज सम्पूर्ण नही मिलता किन्तु २-३ हजार श्लोक यत्र तत्र देखने को मिलते हैं।

गुम्मट देव मुनि—इन्होने मेरुतुग नामक वैद्यक ग्रन्थ लिखा था।

सिद्धनागार्जुन—यह पूज्यपाद के भानजे थे। इन्होने 'नागार्जुनकल्प' 'नागार्जुन कक्षपुट' आदि ग्रन्थो का निर्माण किया था।



हर्षकीर्ति सूरि —इन्होने 'योगचिन्तामणि' नामक सग्रहग्रन्थ सस्कृत भाषा मे गद्य-पद्यात्मक लिखा था। ये नागपुरीय तपागच्छीय साधु थे।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद जैसी लौकिक विद्या के विषय मे अपनी जो कलम चलाई, उसके पीछे अनेक हेतु थे। उनमे एक मास मदिरा जैसी अभक्ष्य और हानिकारक वस्तुओ के सेवन का निषेध करके अहिंसा भावना को व्यापक बनाना था। प्राचीन काल मे अनेक चिकित्सक इन वस्तुओ का प्रयोग करते थे। जैनाचार्य आयुर्वेद को हिंसा से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। निम्नलिखित श्लोक से यह तथ्य प्रमाणित होता है—

ख्यातश्रीनृपतु गवल्लभमहाराजाधिराजस्थित ,
प्रोद्यद्भूरिसमान्तर बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ।
मासाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रत ,
मासे निष्फलता निरुप्य नितरा जैनेन्द्र वद्यस्यितम् (?)

इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि नृपतु ग वल्लभ महाराजाधिराज के दरबार मे जहा मासाशन का समर्थन करने वाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मास की निष्फलता सिद्ध करने वाले श्री जैनेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे। नृपतु ग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है, और अमोघ वर्ष को ही वल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधि थी। नृपतु ग भी उसकी उपाधि थी।

इस प्रकार आयुर्वेद का सूत्रपात करने का श्रेय जहाँ भगवान् आदिनाथ को है, वहा उसे पल्लवित करने का श्रेय जैन आचार्यो को भी है। इस विषय मे यदि गहरी छानबीन की जाय तो ऐसे तथ्य प्रकाश मे आ सकते है जिनकी कल्पना आज विज्ञजनो को भी नही है।



चम्पूकाव्य

पं० के० भुजबली शास्त्री
विद्याभूषण, सिद्धान्ताचार्य
कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड (मैसूर)

हमे सर्वप्रथम (१) चम्पू काव्य की व्याख्या (२) चम्पू काव्यो का काल (३) चम्पू काव्यो उद्गम-स्थान (४) चम्पू काव्यो के जन्मदाता और (५) चम्पू काव्यो ने सर्वप्रथम किस भाषा मे जन्म लिया ? इन बातो पर विचार करना है।

१ **चम्पू शब्द की व्याख्या**—'नलचम्पू' के उपोद्घात मे श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने सस्कृतनिरक्त को लक्ष्य करके गतिशील अर्थ मे चम्पू की व्याख्या 'चम्पयति चम्पति इति चम्पू' यो की है। बल्कि अपने इस उपोद्घात के फुटनोट मे इन्होंने इस सम्बन्ध मे 'चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयतीति चम्पू' इस प्रकार श्री हरिदास भट्टाचार्य के अभिप्राय को भी व्यक्त किया है। किन्तु ऊपर की ये दोनो व्युत्पत्तियाँ सतोषदायक नही है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि सस्कृतपडितो को 'चम्पू' शब्द का वास्तविक अर्थ मालूम नही हुआ है। ज्ञात होता है कि वस्तुत चम्पू शब्द देश्य है।

कर्णाटक के सुप्रसिद्ध कवि मित्रवर श्री द० रा० वेंद्रे, एम० ए० धारवार की राय से चम्पू शब्द का सीधा सम्बन्ध जैन तीर्थंकरो के पच कल्याणो से है। उनका स्पष्ट मत है कि 'पच-पच' शब्द ही 'गम-गम' की तरह 'चम्पू' शब्द बना है। साथ ही साथ उनका कहना है कि नि सदेह साहित्य-ससार को चम्पू काव्य जैनो की अनुपम देन है। कविजी का यह भी कहना है कि कन्नड और तुलु भाषाओ मे 'सपु' और 'चपे' के रूप मे जो शब्द उपलब्ध है, उनका अर्थ सुन्दर और मिश्र होता है। बहुत करके इन्ही शब्दो से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड और तुलु भाषा के केन् चेन् ये मूल शब्द केंपु चेंपु के रूप मे निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्वप्रथम सुन्दर एव मनोहर अर्थ मे चेंपु के नाम से पुकारा होगा और वही बाद मे रूढि के बल से चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। इस सब का तात्पर्य यह है कि चम्पू शब्द सस्कृत का न होकर नि सन्देह द्राविड भाषा का है।

२ **चम्पू काव्यो का काल**—गद्य-पद्य मिश्रित महाकाव्यो की प्रौढ सरणी सब से पहले हमे दशवी शताब्दी के कवि त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' एव सोमदेव सूरिकृत 'यशस्तिलक चम्पू' मे उपलब्ध होती है। श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने नलचम्पू के उपोद्घात मे लिखा है कि सभी विद्वानो की राय है कि यह नलचम्पू सर्वप्रथम चम्पू-काव्य है। हाँ हरिचद्र का जीवन्धर-चम्पू भी एक प्रौढ जैन चम्पू काव्य है। पर विद्वानो की राय है कि यह काव्य ई० सन् नववी शताब्दी के बाद का है। पर अभी तक यह निश्चित नही हो सका कि हरिचद्र का काल नववी शताब्दी के बाद कब का

है। यद्यपि इस समय रामायण चम्पू, भारत चम्पू आदि कई चम्पूग्र थ उपलब्ध होते हैं, पर वे सभी ग्र थ दशवी शताब्दी के बाद के हैं। उपलब्ध चम्पूकाव्यो मे हमे दशवी शताव्दी के पूर्व का कोई चम्पूकाव्य दृष्टिगोचर नही होता है।

अब आप कन्नड-चम्पू काव्यो की ओर आइये। उपलब्ध कन्नड साहित्य मे भी हमे दशवी शताव्दी के चम्पूकाव्य ही प्राप्त होते हैं। ये चम्पूकाव्य सुप्रसिद्ध जैन कवि पप, पोन्न और रन्न के है। यद्यपि अधिकांश विद्वानो का मत है कि 'पप-भारत' ही कन्नड का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसे जो नही मानते हैं, वे पप के आदिपुराण अथवा पोन्न के शांतिपुराण को प्रथम स्थान मे रख सकते हैं। खैर, यह विपयातर है। यहाँ पर वास्तविक विपय यह है कि सुदृढ प्रमाणो से मालूम होता है कि कन्नड मे चम्पूकाव्य दशवी शताव्दी से पूर्व ही रचे गये थे।

'कविचरिते' मे नववी शताब्दी के कवि प्रथम गुणवर्म का उल्लेख मिलता है। इसने 'शूद्रक' और 'हरिवश' नामक दो ग्र थो की रचना की है। यद्यपि ये दोनो ग्र थ उपलब्ध नही हुए हैं, परन्तु इन ग्र थो से उद्धृत पद्य हमे व्याकरण और सकलन-ग्र थो मे उपलब्ध होते है। अभिनववादी विद्यानन्द ने अपने 'काव्यसार' नामक सकलन-ग्रथ मे गुणवर्म के 'शूद्रक' ग्र थ से नामनिर्देश के साथ अनेक सस्कृत वृत्त, कद, और एक गद्य भाग को उद्धृत किया है। इसी मे 'हरिवश की' अवतरणिका भी दी गयी है। यद्यपि 'काव्यसार' १६वी शताव्दी का ग्र थ है, फिर भी कतिपय पद्यो के सिवा इसमे उद्धृत सभी उद्धरण चम्पूकाव्यो के हैं। गुणवर्म के 'शूद्रक' और 'हरिवश' से उद्धृत पद्य उपलब्ध चम्पूकाव्यो के पद्यो से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि गुणवर्म के ये दोनो ग्र थ चम्पूकाव्य थे।

गुणवर्म के पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्र थ रचे गये थे, इस बात का समर्थन करने के लिए यद्यपि हमारे पास सुदृढ प्रमाण मौजूद नही हैं, फिर भी इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बाते अवश्य विचारणीय हैं। १६वी शताब्दी के कवि मगरस एव दोड्डय्य के उल्लेखो को आधार मानकर, 'कविचरिते' के मान्य लेखक आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि उपर्युक्त उभय कवियो के द्वारा निर्दिप्ट श्रीविजय का 'चन्द्रप्रभचरितचम्पू' 'कविराजमार्ग' मे प्रतिपादित कवि श्रीविजय के द्वारा ही रचा गया होगा। विद्वानो का मत है कि श्रीविजय का काल ८वी शताव्दी या नौवी शताव्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस हिसाब से कन्नड मे चम्पूकाव्यो का काल श्रीविजय तक चला जाता है। अर्थात् श्रीविजय के काल मे कन्नड भाषा मे चम्पूकाव्यो का प्रचार अवश्य रहा।

इन समय उपलब्ध सस्कृत एव कन्नड चम्पूग्र थ दशवी शताब्दी के हैं। किन्तु उपलब्ध न होने पर भी निश्चित आधारो से कन्नड चम्पूग्र थो ने ८वी ९वी शताब्दियो मे ही जन्म लिया था, यो मानने मे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। हां, इससे पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्र थ मौजूद थे, इस बात को मनवाने के लिए सुदृढ प्रमाणो की आवश्यकता है। इस विषय मे सिर्फ अनुमान ही कार्यकारी नही होगा। इस परिस्थिति मे सस्कृत से पूर्व जन्म पाने वाला चम्पू रूप सस्कृत साहित्य तथा काव्यो के प्रभाव से यथेष्ट प्रभावित होने पर भी, स्वतत्र है और वास्तव मे यह चम्पू रूप सस्कृत साहित्य को कन्नड भाषा के द्वारा प्रदत्त एक अमूल्य देन है, यो मानने मे विद्वानो को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

३ **चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान**—चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान कर्णाटक ही है। इसके लिए निम्नलिखित पक्तियां अवश्य द्रष्टव्य हैं। कन्नड के आदि कवि पप का आश्रयदाता राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण का सामत अरिकेसरी था। सस्कृत महाकवि सोमदेवसूरि का आश्रयदाता भी यही अरिकेसरी रहा। जब पप ने अपने 'भारतचम्पू' को अरिकेसरी के चरित्र सूचक इतिहास रूप मे रचा, तब उसी अरिकेसरी के आश्रय मे रहने वाले महाकवि सोमदेवसूरि ने अपने 'यशस्तिलक' को भी रचा। पप ने अपने द्वितीय ग्रन्थ 'आदिपुराण' को ई० सन् ९४१ मे समाप्त किया। इसी प्रकार सोमदत्त सूरि ने अपने ग्र थ 'यशस्तिलक' को ई० सन् ९५९ मे पूर्ण किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पप के बाद ही सोमदत्त सूरि का 'यशस्तिलक चम्पू' रचा गया है। हाँ, 'नलचम्पू' इससे पूर्व रचा गया होगा। पर उसका समाप्तिकाल मालूम नही हुआ है।

इस 'नलचम्पू' को त्रिविक्रम भट्ट ने राष्ट्रकूटशासक तृतीय इंद्र (ई० सन् ९१४-१८) के आश्रय मे रचा। पूर्वोक्त राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण से 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि पाने वाले महाकवि पोन्न ने दशवी शताब्दी मे ही 'शांतिपुराण' की रचना की थी। इन वातो पर विचार करने पर मालूम होता है कि प्रारंभिक सस्कृत चम्पूग्रंथ कर्णाटक राजाओ के आश्रय मे, कर्णाटक मे ही रचे गये और उन सस्कृतकवियो को कन्नड कवि एव पण्डित ही आदर्श रहे। इस निर्णय पर पहुचने पर यह वात विदित हो जाती है कि प्रारभ के सभी कन्नड कवि जैन रहे और उन्होने ही कन्नड मे चम्पूरूप को जन्म दिया। वाद मे सस्कृतकवि सोमदेवसूरि और त्रिविक्रम भट्ट इन दोनो ने पूर्वोक्त कन्नड कवियो का ही अनुसरण किया। हा, यहाँ पर इस निर्णय की वाधाओ पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'अग्निपुराण' और दंडि के 'काव्यादर्श' मे चम्पू का उल्लेख तथा लक्षण जो आया है, वह पूर्वोक्त निर्णय मे वाधक माना जा सकता है। अव इन ग्रन्थो मे से 'अग्निपुराण' को पहले लीजिये। पहले यह 'अग्निपुराण' एक अति प्राचीन ग्रन्थ माना गया था अवश्य, पर इधर के सशोधन से यह ग्रन्थ ई० सन् सातवी शताब्दी का माना गया है और उसमे भी इसका अलकार भाग ई० सन् ९वी शताब्दी का। ऐसी परिस्थिति मे पूर्वोक्त निर्णय के लिये अग्निपुराण वाधक नही हो सकता।

द्वितीय 'काव्यादर्श' को लीजिए। यह पता नही लगता है कि १० वी शताब्दी के पूर्व के, दंडि के परिचित सस्कृतचम्पू ग्रन्थ कौन से हैं? हरिचन्द्र का 'जीवधरचम्पू' नही हो सकता। हा, इस सदर्भ मे सहसा यह विचार उठ खडा होता है कि महाकवि दंडि के परिचित चम्पूग्रन्थ तमिल एव कन्नड के क्यो नही हो सकते? क्योकि विदर्भवासी दंडि वाद मे कंचि के पल्लवो के आस्थान मे आ गया था। ऐसी दशा मे दंडि का तमिल एव कन्नड चम्पूकृतियो से परिचित होना आसान और स्वाभाविक है।

४ **चम्पू काव्यो के जन्मदाता** —उपर्युक्त आधारो से यह वात सिद्ध हो जाती है कि कर्णाटक-वासी दिगम्वर जैन कन्नड कवि ही चम्पूकाव्यो के जन्मदाता हैं। श्रीमान् वेंद्रे का निर्दिष्ट मत है कि श्रीविजय आदि कन्नड जैन कवियो ने ही चम्पूकाव्यो की वुनियाद डाली। वस्तुत कन्नड जैन कवियो ने ही कन्नड मे चम्पूपरम्परा को प्रारभ कर, कन्नडसाहित्य को सर्वोपरि शिखर पर पहुचाया। नि सन्देह इन चम्पूकाव्यो की शैली वहुत ही प्रौढ है। सस्कृतभाषा के परिज्ञान के विना इन काव्यो को जानना आसान नही है। इस वात को निर्विवाद रूप से मानना होगा कि विशेषत चम्पूकाव्यो ने जैन पुराण एव लौकिक काव्यो मे जो वैशिष्ट्य हासिल किया है, वह सस्कृत साहित्य के लिए नवीन है।

सस्कृत, अपभ्र श, कन्नड, तमिल आदि किसी भी भारतीय भाषा का जैन काव्य हो, वह उनमे महाकाव्य के सभी लक्षणो से युक्त होकर भी, सिर्फ रस मे शृ गारादि रसो को विशेष स्थान न देकर, शातरस को ही अपनाता है। क्योकि जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इनका अ तिम लक्ष्य एक मात्र मुक्ति है। इसीलिए इसमे शांतरस को स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर पाठक, इस असाधारण गुण को जैन कृतियो मे ही पायेगे। जैन काव्यो मे मततत्त्व, नीति, कथा आदि आवश्यक सभी विषय समाविष्ट हैं अवश्य फिर भी पाठको को इन काव्यो मे द्राक्षापाक का सुख ही मिलेगा। इसका अनुभव एक भुक्तभोगी ही कर सकता है।

५ **चम्पूकाव्यो ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया**—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। फिर यहाँ पर भी उसे दुहराया जाता है। वस्तुत चम्पूकाव्यो ने कन्नड एव तमिल भाषाओ मे जन्म पाकर, वाद मे सस्कृत भाषा मे प्रवेश किया क्योकि चम्पू शब्द सस्कृत का नही है। वह कन्नड का है। यह वात ऊपर स्पष्ट कर दी गयी है। अत इस विषय मे और लिखना केवल पिष्टपेषण होगा। इस विषय पर अन्य सशोधक विद्वान् भी अवश्य प्रकाश डाले।

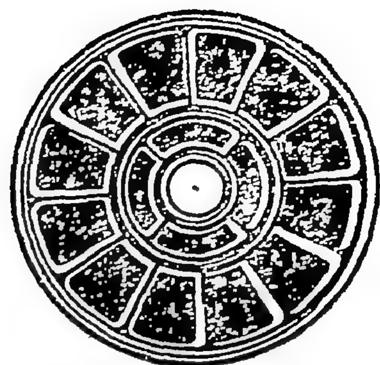


कन्नड़-साहित्य में जैन-काव्यों की लौकिक परंपरा

(१० वीं से १२ वी सदी ई० तक)

सु० रामचन्द्र

प्राध्यापक हिन्दी विभाग, कर्नाटक कालेज, धारवाड



आचार्य विनोवाजी ने साहित्यिको से चर्चा करते समय एक स्थान पर सकेत किया है कि 'श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण या तो पूर्ण विरक्त द्वारा या सृष्टि के उपासक भक्त द्वारा सम्भव होता है। जो पूर्ण विरक्त नही है या सृष्टि का उपासक नही है, वह स्फूर्तिदायक आश्रय मे अपनी प्रतिभा का विकास करने मे समर्थ होता है।' कन्नड का यह सुयोग ही माना जाना चाहिए कि उसे आरम्भ से ही ऐसे साधको का स्नेहदान मिला जो विरक्त थे, सृष्टि के उपासक भक्त थे और स्फूर्तिदायक राजाश्रय मे सम्मानित भी थे। राजदरबारो मे रहकर इन कवियो ने 'प्राकृत जन गुनगान' मे ही अपनी मौलिक प्रतिभा का अपव्यय न होने दिया। ये कवि कभी आश्रित नही रहे। आश्रयदाता ही इन सुकवियो की उपस्थिति से निज को गौरवान्वित मानने लगे थे।

इस युग की दूसरी विशेषता साहित्य का सप्रदायातीत होना है। ये साहित्यिक अपने-अपने सप्रदाय का समादर करते हुए सभी पथो सप्रदायो से भिन्न तथा परे दिखाई देते हैं। यही कारण है कि ये रससिद्ध कविश्वर चिरतन साहित्य-निर्माताओ की श्रेणी मे आते हैं और युग-जीवन के यथार्थ को युग-वाणी मे चरितार्थ होने देते है। अधिकतर कवि जैनधर्म के अनुयायी थे। आदिकवि पप 'जिनसमयदीपक' की उपाधि से विभूषित थे ही। पर इन उदारचेता महानुभावो ने जैनेतर राजदरबारो मे अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और आजीवन जैनदर्शन के आलोक मे सरस्वती की आराधनाओं मे लगे रहे। वाणी की यह उपासना प्रेम-श्रेय की समन्वित साधना से गरिमामडित रही। सस्कृत की महती परम्परा से पोषित इस साधना मे जीवनदर्शन तथा अभिव्यजना शैली की नवीनता काव्यक्षेत्र मे गोचर होने लगी। युगीन आदर्शों के अनुरूप परम्परागत आख्यानो-पात्रों की अवतारणा होने लगी। चपू काव्य-शैली मे तत्सम तथा देशज पद-विन्यास का चमत्कार लक्षित होने लगा। कवियो ने एक ओर रामायण, महाभारत जैसे आकर ग्रन्थो से कथानक तथा पात्र अपनाये और दूसरी ओर जैन पुराणो के आदर्श पर तीर्थंकरो की काव्यात्मक जीवनिया प्रस्तुत की। पहली श्रेणी की कृतियां लौकिक और दूसरी 'आगमिक' रचनाए मानी गई। प्रत्येक कवि ने इन द्विविध काव्यविधाओ मे अपनी अद्भुत रचना पटुता का परिचय दिया। कलात्मक सौंदर्य का उत्कर्ष तथा सद्विचार के प्रतिपादन का महोन्नत आदर्श दोनो शैलियो मे लक्षित हुए। इस लेख मे जैनकाव्यो की लौकिक परम्परा का विश्लेषण प्रस्तुत करना हमारा अभिष्ट है।

आरभिक युग मे कन्नड साहित्य के 'रत्नत्रय के नाम से विख्यात पप, पोन्न और रन्न है। इनमे आदिकवि पप द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक सप्रदाय ही परवर्ती कवियो के लिए राजपथ सिद्ध हुआ। 'विक्रमार्जुनविजय' महाकाव्य के प्रणेता 'कवितागुणार्णव' पप (९४१ ई०) 'सुदविजननोमानसोत्त सइस' ही नही, 'सरस्वति मणिहार' भी माने गये। जैन ही नहीं,



जैनेतर कवियो ने भी इन्हे 'कविचक्रवर्ती' 'कविकुलसार्वभौम' मुक्तकंठ से घोषित किया। इससे स्पष्ट है कि कन्नड साहित्य मे आदिकवि पप 'असदृश, अपूर्व रस-भाव-व्यजना' के अनुपम प्रेरणा-स्रोत थे।

जैन काव्यो की लौकिक परम्परा मे ओज गुण की प्रधानता है, उत्साह की अद्भुत व्यजना है, चरितनायक के पौरुष-वर्णन मे अपने आश्रयदाता के पराक्रम को सकेतित करने का चमत्कारपूर्ण श्लेप-विधान है, परपरागत पात्रो के मनोभावो का निरूपण करने मे मनोविज्ञान-सम्मत यथार्थवादी मानवीय दृष्टिकोण, जैन तथा वैदिक सस्कृतियो के सार-तत्त्व का समन्वित मूल्यांकन एव आत्मप्रतीति के साथ उसका स्पष्ट प्रतिपादन है। अविरोधी मानवीय जीवनादर्शो के प्रति आस्थावान् ये कवि काव्य-कला को चरम उत्कर्ष पर पहुचाने मे समर्थ हुए है। इस परपरा मे 'विक्रमार्जुनविजय' (९४१ ई०), 'साहसभीमविजय' (९८२ ई०) तथा 'रामचरित्र पुराण' (लगभग ११०५ ई०) तीन अनुपम आख्यानकाव्य है जिनमे ऊपर वर्णित सारी विशेषताएँ सहज ही दिखाई देती है। अब क्रम मे इनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

'विक्रमार्जुनविजय' या 'पंपभारत'

यह महाकाव्य चालुक्यवश के नरेश अरिकेसरी के पराक्रम से सबद्ध रचना है। चालुक्यो की राजधानी पुलिगेरे—धारवाड जिले का लक्ष्मेश्वर—थी। अरिकेसरी गुणार्णव नाम से विख्यात था। सोमदेव के 'यशस्तिलक' (९५९ ई०) ग्रन्थ मे भी इसकी शूरता-वीरता का उल्लेख है। आदिकवि पप ने अरिकेसरी की महिमा का गुणगान करने के लिए महाभारत के वीरव्रती अर्जुन का चित्रण किया है। कवि ने महर्षि व्यास-रचित महाभारत का ही अनुसरण किया है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसमे निम्नलिखित परिवर्तन कर लिए है

यहाँ का प्रधान पात्र अर्जुन है। द्रौपदी पाँचो पाँडवो की नही, केवल अर्जुन की जीवनसगिनी है। हस्तिनापुर मे अर्जुन तथा सुभद्रा के सिंहासनारूढ होते ही कथा समाप्त हो जाती है।

महाकाव्य के आश्वास या सर्ग के लिए कोई विशिष्ट शीर्षक नही है। पर कवि ने सर्ग के अन्त मे सर्वत्र लिखा है कि 'यह विक्रमार्जुनविजय कवितागुणार्णवविरचित है'। कवि प्रसन्न-गम्भीर-वचन-रचना-चतुर है। यह विविध विबुधजन-विनुत जिनपदांभोज वर प्रसादोत्पन्न है। कवि ने वर्णित प्रमुख घटनाओ का सार स्वय दे दिया है और यह दावा किया है कि मैंने कोई प्रसग छोडा नही है, सभी घटनाएँ यहाँ समाविष्ट मिल जायगी। राजधानी पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड मे रचित यह चपूकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके सामने पूर्ववर्ती काव्य फीके पड गये और परवर्ती काव्य इसका अनुकरण-मात्र रह गये।

चौदह आश्वासो मे प्रणीत इस चम्पूकाव्य के आरभ मे चरितनायक का परिचय कराया गया है—'चालुक्य वश मे युद्धमल्ल नाम का अधीश्वर था। सपादलक्ष प्रदेश पर वह शासन करता था। इसका कुमार अरिकेसरी था जिसने निरूपमदेव के राज्य पर आक्रमण किया। अरिकेसरी के नरसिंह तथा भद्रदेव दो लडके थे। दुग्धमल्ल नरसिंह का सबसे बडा लडका हुआ। बद्देगा दुग्धमल्ल का ज्येष्ठपुत्र था। बद्देगा ने ४२ लडाइयाँ लडी और भीम को परास्त किया। वह बडा उदार था। दुग्धमल्ल और नरसिंह क्रम से बद्देगा के पुत्र और पौत्र हुए। नल, नहुष, पृथु, भगीरथ आदि से भी नरसिंह प्रतापी था। लाल उससे पराजित हुए, गुर्जर सेना उससे हार गई और महीपाल के पैर उसके सामने उखड गये। जातव्वे, नरसिंह की रानी थी। अरिकेसरी इनका सपूत था। शैशव मे ही इसकी शूरता सर्वविदित थी। अपने पूर्वजो से सर्वाधिक शक्ति सपन्न होने के कारण कवि ने उसे अपना चरितनायक चुना है, अर्जुन से उसकी समानता दिखाई है और काव्य रचना आरभ की है।

इससे पहले जो मगलाचरण है वह भी कवि के उदात्त दृष्टिकोण का परिचायक है। कवि उदात्तनारायण की वन्दना के बाद उदार महेश्वर, प्रचण्ड, मार्तंड, सहज मनोज, सरस्वति, दुर्गाजी और विनायक का स्तवन करते हैं।



कवि की दर्प-दीप्त मनोवृत्ति का आभास हमे इस कथन से मिल जाता है कि कविता गुणार्णव ही कवियो मे सर्व-श्रेष्ठ है और चरितानायक गुणार्णव ही राजाओ का राजा है। मैं महर्षि व्यास का अनुगमन करता हूँ, पर उस स्तर पर मैं अभिनन्दन का पात्र नही हूँ। गुणार्णव की महिमा का परिचय कराना मेरा ध्येय है और गुणार्णव ही अर्जुन से बराबरी का दावा कर सकते हैं।'

इतनी भूमिका बाँधने के बाद कवि महाभारत का आख्यान आरभ करते हैं। तीसरे आश्वास मे अर्जुन से द्रौपदी स्वयवर का वर्णन है। तेरहवे आश्वास मे दुर्योधन का विलाप मार्मिकता से वर्णित है। कर्ण के वध पर दुर्योधन अधीर हो उठा है। धृतराष्ट्र और गाधारी के परामर्श के बाद भी दुर्योधन पाडवो से सुलह करने को तैयार नही है। शल्य के नेतृत्व मे युद्ध जारी रखा जाता है। धर्मराज से जूझने शल्य का प्राणात होता है। उद्विग्न दुर्योधन रणक्षेत्र मे अकेले ही कूद पडना चाहता है। सजय इस दुस्साहस से उसे मना करता है। भीष्म से विचार-विनिमय का सुझाव देता है। पितामह से मिलने जाते समय मैदान मे द्रोण, कर्ण, वृषसेन, दुशासन तथा अन्य सुहृद्वर वीरो के मृतक शरीर देख दुर्योधन मर्माहत हो जाता है। पितामह से मिलकर उनकी सलाह माँगता है तो वे भी शाति की अनिवार्यता का स्मरण दिलाते हैं। दुर्योधन को यह बात रुचती नही। उसका रुख पहचानते हुए पितामह यह उपाय बताते हैं कि शाम को बलराम के लौट आने तक दुर्योधन चुप रह ले और उनकी सहायता पाकर सघर्ष जारी रखे। पितामह दुर्योधन को जलमत्र की दीक्षा देते हैं और वैशपायन सरोवर मे छिपे रहने की सलाह देते हैं। दुर्योधन को रणक्षेत्र से लापता देख पाडव चकित हो जाते हैं। भीम बडी चतुराई से उसकी चाल का पता लगा लेता है। वह सरोवर के समीप पहुँच कर चुभती हुई वाणी से दुर्योधन को ललकारता है। वीरवर स्वाभिमानी दुर्योधन इस ताने से आग-बबूला हो जाता है और पानी से बाहर निकल कर गदा फेरने लगता है। भीम के गदा-प्रहार से दुर्योधन की जाघ टूट जाती है और उसके प्राण पखेरू उड जाते हैं। अर्जुन राज्य का सर्वाधिकारी हो जाता है। यहाँ विस्तार से इस आश्वास का विवरण देने का आशय यही है कि परवर्ति कवि रत्न ने इसके आधार पर 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' महाकाव्य रचा है।

चौदवें आश्वास मे हस्तिनापुर मे अर्जुन तथा सुभद्रा का राज्याभिषेक—सिंहासनारोहण—वर्णित है। यहाँ कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले वृत्त का भी उल्लेख मिलता है। कवि कहता है कि 'वेगिमडल प्रदेश मे वेंगियलु नाम का सुन्दर नगर है। कोट्टूरु, निडगुदि, विक्रमपुर नाम की बस्तियाँ इससे लगी हुई हैं। विक्रमपुर मे वत्स गोत्री माधव सोमयाजी निवास करते थे। अभिमानचन्द्र, कुमारय्या, अभिरामदेवराय क्रम से इनके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र थे। अभिरामदेवराय जैन धर्मावलबी हुए। कविना गुणार्णव पप इनके सपूत थे। अरिकेसरी के दरबार मे पप सम्मानित थे और उनकी इच्छा रखने हेतु यह महाकाव्य रचा गया है।

कवि ने अपनी असाधारण प्रबधपटुता का परिचय इन शब्दो मे दिया है—'पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड मे पप सफल काव्य-रचना करते हैं। 'पपभारत' तथा 'आदिपुराण' पूर्ववर्ती समस्त कृतियो को फीका बनाने मे समर्थ रचनाएँ हैं। कवि ने केवल छ माह मे 'भारत' और तीन माह मे 'आदिपुराण' समाप्त किया है। महर्षि व्यास की परम्परा मे कवि पप 'पुराणकवि' होने का गौरव पा चुके हैं। इसमे वर्णित महापुरुषो की महिमा का प्रताप है कि यह भारत सर्वत्र सम्मानित है।'

इस लम्बे उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पप कवि के पूर्वज ब्राह्मण थे, उनके पिताजी जैनधर्म मे दीक्षित हुए और प्रतिभासपन्न कवि ने जैनदर्शन के आलोक मे लौकिक 'आगमिक' काव्य-विधाएँ प्रवर्तित की। पर इस धर्म-परिवर्तन के आवेश मे कही भी कटुता या प्रतिस्पर्धी मनोभाव व्यक्त नही हैं जो आज भी धर्मान्तर प्रेमियो के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

पप कवि की वर्णन-शैली मे कालीदास, बाण, भारवी आदि महाकवियो की शिल्पचातुरी तथा रामायण, महाभारत

की अद्भुत रचना-प्रक्रिया की छाप दिखाई देती है। यहाँ संस्कृत की स्वर-माधुरी, प्राकृत की ध्वनि-लहरी कन्नड कस्तूरी का सौरभ बढाने मे सहायक हुई हैं। यहा महाकाव्योचित वस्तु-व्यापार वर्णन तो है ही, रसानुभूति मे सहायक भाव-व्यजना, अनुभाव-विधान तथा अलकार योजना भी है। पात्रो का स्वभाव अकित करने मे कवि की संवेदनशीलता का उत्कर्ष दिखाई देता है। अपने चरितनायक का गुणगान तो प्रत्येक कवि करता है, पर अपने आदर्श नायक के प्रति-स्पर्धी की बडाई विरल ही देखने को मिलती है। पपभारत मे अर्जुन के वीरोचित व्यापारो का ब्योरेवार वर्णन है ही, साथ ही कर्ण की त्यागशीलता का प्रसादपूर्ण चित्रण भी है। अर्जुन की वीरगाथा का कर्णरसायन की सजीवता के समन्वित विकास में पप भारत के रचयिता को बडी सफलता प्राप्त हुई है। कन्नड के कविवर पूज्य बेंद्रेजी ने ठीक ही कहा है कि 'अर्जुन की महिमा भारत का हृदय रसायन है जो कर्ण की कीर्तिगाथा उसका कर्ण रसायन है।' कर्ण का स्मरण हो आते ही कवि का करुणाकलित अत करण बरस पडता है और काव्यक्षेत्र मे उपनायको के प्रति समवेदना दर्शाने की नई परपरा चल पडती है।

सृष्टि के उपासक भक्त कवि पप का प्रकृति-प्रेम रसिको का आकर्षण-केन्द्र है। यहाँ का प्रकृति-प्रेम निर्मल हृदय की पुनीत भावधारा का पर्याय ही है। महाकवि के लक्षणो मे निर्दिष्ट प्राकृतिक रूपव्यापार का उल्लेख भी हुआ है। पर आलबन रूप में प्रकृति-चित्रण मे कवि की तन्मयता व्यक्त हुई है। ऐसे स्थलो में कवि की सहज सौन्दर्यानुभूति का उन्मेष आकर्षक लगता है, अलकृत शैली का कौतुक गौण हो जाता है। कवि बनवासी[1] की प्राकृतिक विभूतियो पर विशेष अनुरक्त है और वहाँ के वन-प्रांतर की बहुविध भगिमाओ का 'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' अकित किया है।

शृगार के प्रकरण मे प्रकृति का उद्दीपक चित्रण यहा अधिक हुआ है। प्रकृति के रूप-व्यापारो मे प्रेमानुभूति के पोषक तत्वो का विस्तृत समावेश षड्ऋतु-वर्णन मे दिखाई देता है। आम, बेला इन दोनो पर तो कवि विशेष मुग्ध है। कवि की दृष्टि मे ये दोनो 'ससार सार सर्वस्व फल हैं।' वर्ष भर प्रचुर परिमाण मे ये दोनो मिल जाएँ तो क्या कहना है। वसत का विलास आम मे तथा वसत और कामदेव का प्रभुत्व-विस्तार बेला मे अनुभव करने को मिलते हैं। अगणित पादपो-पुष्पों का भी उल्लेख हुआ है, पर आम तथा बेला पर कवि तन-मन निछावर कर चुका है। प्रत्येक ऋतु का सश्लिष्ट चित्रण भी कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण-क्षमता का परिचायक है। मेघावृत नभ मे इन्द्रचाप का इद्रजाल अनोखा वरदान है। शरत् का आगमन लगता है मानो ससार नई आँखें पा गया हो। शशि-रवि के उदय का दृश्यांकन भी मनोरम है। इस चित्रण-विधान मे अर्थग्रहण का कुतूहल कम, बिम्बग्रहण की कल्पनाप्रसूत अनुभूति की तीव्रता अधिक है। कवि ने इस महाकाव्य मे सस्कृत के वर्णवृत्तो के साथ कन्नड के निजी छन्दो का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विक्रमार्जुनविजय अपने युग के समन्वयात्मक जीवनदर्शन का प्रतिनिधि काव्य है।

'साहस भीम विजय' या 'गदायुद्ध'

यह भी एक प्रसिद्ध चपूकाव्य है और प्राजल कन्नड की अनुपम रचना है। रचयिता कवि रत्न ने अपने आश्रयदाता तैलप द्वितीय के राजकुमार इरिवबेडग की वीरता का गुणगान करने हेतु इसका प्रणयन किया है। इस



१ मैसूर राज्य में उत्तर कर्नाटक के सिरसी नगर से १८ मील पर स्थित ऐतिहासिक प्रदेश है। कहा जाता है कि ईसवी सदी के आरभ मे यही श्रुति-परपरा मे प्राप्त जैन षट्खड आगम के मूल सूत्र पहली बार लिपिबद्ध हुए। आचार्य भुजबल शास्त्री जी की इस सूचना के लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूँ।



काव्य मे परमभट्टारक सत्याश्रम (इरिवबेडग) के रण कौशल का भीम के अमितु पराक्रम के रूप मे उत्साहवर्धक चित्रण हुआ है। अत इसका नाम 'साहसभीमविजय' पडा है।

काव्य का वर्ण्य विषय गदायुद्ध है। दुर्योधन-भीम के हस्तलाघव के वर्णन द्वारा कवि ने चरितनायक इरिवबेडग की अनन्य शक्ति सामर्थ्य का महाकाव्योचित उद्घाटन किया है। यह आदिकवि पप के 'विक्रमार्जुनविजय' के तेरहवे आश्वास पर आधारित अनुपम कलाकृति है। उद्देश्य-सिद्धि के लिए कवि ने मूल कथानक मे आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। महाभारत का दुर्योधन स्वभाव से ही दुष्ट है, अत अनिष्ट का उपभोग करने को विवश है। यहा का दुर्योधन बडा तेजस्वी है, श्रेष्ठ-गुण सम्पन्न है, वीरो की परपरा मे गौरवान्वित होने योग्य है, पर नियति की निठुराई के कारण अभागा आहत होता है और सबकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। कर्ण एव अभिमन्यु के वध पर दुर्योधन के विलाप मे करुणा का नया स्रोत ही उमडा दिखाई देता है। धर्मराज के चरित्र-चित्रण मे नई उद्भावनाओ के द्वारा कवि ने उदात्तता व्यक्त होने दी है। महाभारत की भाति गदायुद्ध त्रासद (Traged१) नही है। यह सुखात बन गया है और आदि, मध्य एव अत मे लोक मगल की ध्वनि व्यक्त हुई है। पूर्ववर्ती 'विक्रमार्जुनविजय' ही इसका आदर्श है। इधर-उधर कवि पप की उक्तिया भी ज्यो-के-त्यो उद्धृत कर दी गई हैं। कोई कोई इसे 'विक्रमार्जुनविजय' की प्रतिच्छाया भी कहते है। जो भी हो, इतना अवश्य सही है कि महायुद्ध के प्रणयन मे पपभारत से कवि विशेष प्रभावित हैं। रत्न कवि की मौलिक प्रतिभा का पता इतने से लगाया जा सकता है कि कवि ने एक सीमित वृत्त को विस्तृत पटल पर बहुरगी ताने-बाने से सुशोभित किया है और दस आश्वासो मे एक आश्वास की कथा का वितान ताना है।

गदायुद्ध दस आश्वासो-सर्गों मे वर्णित महाकाव्य है। प्रथम सर्ग भीमसेन की प्रतिज्ञा का प्रकरण है। ग्रथारभ मे कवि ने विष्णु, शिव, ब्रह्म, सूर्य आदि की वदना की है। मयूरवाहिनी यक्षिणी से चालुक्य वश की विजय की याचना की है। चालुक्य नरेश का मन्मथ के अनुरूप स्तुतिगान किया है। वाणी से अनुग्रह की आकाक्षा व्यक्त की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण आदि कविपुगवो का अभिवादन किया है। अत मे गधवारण उपाधि से विभूषित राजकुमार इरिवबेडग—सत्याश्रय—की वीरता का स्तवन किया है।

कवि सत्याश्रय को इस चपूकाव्य का चरितानायक घोषित करता है। उसका पराक्रम अकित करने के लिए भीम का शौर्य निरूपित करने का सकल्प घोषित होता है। पीछे अपना परिचय देते कवि कहता है कि—'मैं कवि रत्न हू। सामतो से सम्मानित, मडलेश्वर से गौरवान्वित तथा चक्रवर्ती मे पुरस्कृत हू। ससार मे यश ही अमर है। धन अशाश्वत है। सपत्ति के मोहजाल मे फसते क्यो है? आनन्दानुभूति हो, परपरा से परिचित हो, जनभाषा से अभिरुचि हो तो काव्य निर्माण द्वारा जीवन सार्थक बनाया जा सकता है। मैं तैलप चक्रवर्ती के साम्राज्य का कवि सम्राट हू। पूर्ववर्ती कवियो मे से किसी ने अपनी प्रतिभा से वाग्देवी के भाडार की मुहर तोडी नही। रस-भाव के मौलिक स्वरूप-भेद को पहचानते हुए अनुकूल वर्ग-विन्यास द्वारा उसे काव्य-रूप देने मे मैं चतुर्मुख के समान हू। गगमडलेश की कृपा से मैं अनर्घ्य रत्न हू। वसुधाधिपति की सेना मे स्वर्ण-विजडित रत्न के समान 'महारत्न' नाम से विश्रुत हू। मेरी कन्नड प्राजल कन्नड है, सस्कृत मधु-रम्योत्पन्न है। मैं अभय कविता-विशारद हू, गुणाढ्य हू। मेरा काव्य 'कृतिरत्न' है। इसे परखने का पराक्रम है किसमे? इसमे सिहावलोकन क्रम से समूचा भारत चित्रित किया है। पूर्ववर्ती महाकाव्यो की तुलना मे रत्ती भर भी यह चम्पू घटिया नही है। काव्य मे महज ही गोचर गुण-दोष की आलोचना करने वाला दोषी नही माना जाता। सपन्न को उदार होना है, वाक्सपन्न को अमत्सर होना चाहिए। ऐसी दशा मे कवि भी कृतार्थ हो सकते हैं। सरस्वति के वर के अनुपात मे स्वर सधान मे लीन होने वाला कवि पुण्यात्मा है। दण्डनायक केशि ने इसका अवलोकन किया है, अत यह कृति 'यश श्री-वनिता की अलकृति' हो गई है।'

इस आत्मपरिचय मे कवि ने अपनी बडाई के अलावा काव्य के स्वरूप तथा प्रयोजन पर अपना विचार भी व्यक्त किया है। लगता है कि आवेग मे पडकर कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत पप कवि का कही भी नाम लिया नही है। भट्टनारायण की कृति 'वणीसहार' का भी उल्लेख नही किया है जिस पर यह चपूकाव्य कुछ हद तक आधारित है।

यह निर्विवाद है कि गदायुद्ध एक अनमोल 'कृतिरत्न' है । इसकी कला अननुकरणीय है। प्रसंग के अनुरूप शैली का उत्कर्ष इसकी विशेषता है । मनोवृत्तियों की सहज दशा का जितना मार्मिक विश्लेषण संभव है, उतना यहां लक्षित होता है। रत्नकवि मानव-हृदय का पारखी है । वीर, शृंगार दोनों का प्रभावशाली चित्रण यहां हुआ है। उत्साह रति की भांति शोक की भी बेजोड़ व्यंजना हुई है। भीम के पौरुष के वर्णन में भीम-द्रौपदी के स्नेहपूरित दृष्टि-पात में तथा दुर्योधन के विलाप में इसका प्रमाण देखा जा सकता है। माता-पिता एवं पितामह से विदा मांगने वाले दुर्योधन का चित्रण मर्म पर आघात करने वाला है। युद्ध-जन्य हाहाकार के वर्णन में कवि की पैनी दृष्टि विस्मय जगाने वाली है । सर्वत्र कवि की सृजनशील प्रतिभा का उल्लास गोचर होता है, घिसी-पिटी पंक्ति योजना का अभाव है।

यही कारण है कि गदायुद्ध की अभिव्यंजना में सुस्पष्टता है। यहां के पात्र सजीव हैं, वीरगाथा युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं। ये कवि के हाथों कठपुतलियां नहीं हैं। कवि प्रत्येक पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और पाठकों को उनके अनुकूल-प्रतिकूल आचरण के अनुरूप निर्णय की छूट दे देता है । अतः पात्र अपनी सबलता-दुर्बलता के साथ ईमानदारी के साथ पाठक के सामने पेश हो जाते हैं और अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए यह रचना काव्यकला का ही नहीं, एक समूचे युग की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली मानी गई है। कवि की प्रतिभा की छाप सर्वत्र अंकित मिलती है। सरल से सरल तथा जटिल से जटिल प्रसंगों के वर्णन में कवि की बेफिक्री और मस्ती साफ जाहिर होती है।

प्रसंगोचित सूक्तियों—संस्कृत, प्राकृत, कन्नड तीनों, की—लोकोक्तियों के प्रयोग में शैली में चुस्ती आ गई। 'उचितोक्ति, अर्थदृष्टि, अलंकृति' रत्न की शैली की सूत्रात्मक व्याख्या है। सूत्र रूप में जीवन का मर्म के उद्‌घाटन करने में कवि बड़ा सफल हुआ है। अनायास ही उन्मुक्त हृदय में विमल विचारों से तथा सजग कल्पना से वाग्देवी की आराधना में तल्लीन रहने वाले ऐसे कलोपासक बड़े विरल हैं। 'असदृश अपूर्व रसभाव व्यंजना' के अनुरूप पद-योजना रत्न कवि की सबसे बड़ी देन है। बिन्दु में सिन्धु को समाहित करने की समाहार शक्ति भी इसमें अद्‌भुत है। रसा-स्वादन से ही रत्न की पंक्ति के साथ न्याय किया जा सकता है, अनुवाद से नहीं।

गदायुद्ध में पात्रों का शील-निरूपण नाटकीय कौशल का चरम विकास सूचित करता है। आलोचकों ने इसे Dramatic poem या नाट्यकाव्य भी माना है । कथानक का विकास पात्रों के संवादों तथा घटना व्यापारों द्वारा होता जाता है । ऐसा लगता है कि कवि ने दृश्यकाव्योचित सौन्दर्य का निर्वाह इस श्रव्य काव्य में करने का संकल्प किया है। यहां के सभी पात्र परंपरागत आदर्शों के सांचे में ढले हुए हैं। फिर भी कवि ने मानवीय दृष्टिकोण से ही इनके स्वभाव का वर्णन किया है। भीम और दुर्योधन यहां के नायक और प्रतिनायक हैं। संजय तथा द्रौपदी का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

भीम आरंभ से ही प्रलयकारी रौद्र की सजीव प्रतिमा है । उसका क्रोध अकारण भी नहीं है। दुर्योधन से अपमानित, तिरस्कृत और पीडित पांडवों में प्रतिशोध की ज्वाला में भुना हुआ जीव अकेला भीम है। भीम का प्रण है कि द्रौपदी के अपमान का बदला जब तक न लिया जाय तब तक जीना बेकार माना जाय। द्रौपदी की झिड़कियां उसे और भी उत्तेजित कर देती हैं। दुर्योधन रणक्षेत्र से लापता है। अकेला भीम उसकी खोज में लग जाता है। रौद्र की व्यंजना का जितना अनुकूल अवसर कवि ने यहां निकाल लिया है, वह देखते ही बनता है। रोषाविष्ट भीम धर्म-राज के सम्मुख उपस्थित हो अपनी सारी खीझ यों व्यक्त करता है 'मुझसे द्रौपदी का दुःख देखा नहीं जाता, सहा नहीं जाता। तुम तो हृदय हीन हो। आज के दिन तुम्हें अपना बड़ा भाई नहीं मानता। इस मामले में मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार नहीं। मुझे जाने दो। मैं दुर्योधन को दफना के ही दम लूंगा।' भीम की उद्विग्न मनोदशा का जीता-जागता चित्र यहां उभर आया है।





यहाँ से भीम गाधारी के सामने जाता है। माता के सामने उसके प्रिय सुत के वध का सकल्प दुहराता है। यहाँ उसके रोष की पराकाष्ठा अ कित है, साथ ही उसके उद्धत स्वभाव का बोध होता है। अन्त मे वैशपायन सरोवर के पास पहुचकर वह जल मे छिपे दुर्योधन को जो ललकारता है, वह क्रोध का चरम उत्कर्ष ही है। गिन-गिन कर गदा का जो प्रहार वह करता जाता है और प्रति प्रहार के साथ जो हुकार भरने लगता है, वह भीम के स्वभाव के अनुरूप ही है। भीम दुर्योधन का मुकुट गिरा देता है और उसकी जाँघ तोड देता है। द्रोपदी का वेणी-सहार करने के बाद भीम धरती पर गिरे दुर्योधन पर लात जमा देता है। ये रोषावेश, भयकर गर्जन, औद्धत्य भीम के लिए कोई असहज नही प्रतीत होते। इसके विपरीत प्रतिनायक दुर्योधन के चित्रण मे कवि की मौलिकता अधिक निखर उठी है।

विश्व साहित्य के महोन्नत पात्रो की श्रेणी मे कविरत्न के दुर्योधन की गिनती होती है। कन्नड साहित्य-प्रेमियो मे तो रत्न का दुर्योधन घरेलू चर्चा का विषय है। गदायुद्ध की यह खूबी है कि यहाँ नायक भीम की अपेक्षा प्रतिनायक दुर्योधन सहृदय का रजन करने वाला बन गया है। काव्य के दूसरे आश्वास से छठे आश्वास के आधे भाग तक दुर्योधन की ही चर्चा है। दसवें अर्थात् अ तिम आश्वास मे दुर्योधन भीम की बराबरी का पात्र अ कित मिलता है। काव्य मे वर्णित प्रसग ही ऐसा है कि दुर्योधन की नीचता ओझल-सी हो जाती है और उसकी महानता उभरती जाती है। पांडवो के साथ हुए अत्याचार का विस्तृत वर्णन यहाँ भी होता, तो दुर्योधन हमारी सहानुभूति का अधिकारी न न होता। भीम की उक्तियो मे इसकी स्मृति क्षणभर के लिए जागृत होती है। अन्यथा काव्य मे दुर्योधन मानवीय धरातल पर आचरण करने वाला असाधारण वीर पुरुष ही अ कित मिलता है।

दुर्योधन के व्यक्तित्व मे परस्पर विरोधी तत्त्वो का समावेश हुआ है। गुण-दोष के सघात से निर्मित इस जटिल स्वभाव के व्यक्तित्व का भव्य विश्लेषण यहाँ मिलता है। दुर्योधन मे राग-द्वेष, दभ-दर्प, छलकपट, स्वजनप्रेम-मित्रप्रेम, आत्मप्रशसा-परनिंदा, शौर्य-मात्सर्य, स्थैर्य-औदार्य आदि बेमेल चित्तवृत्तियो का योग हुआ है। अत उसके सकरुण अवसाद पर सभी की आँखें गीली हो जाती है। काव्य के आरभ से पूर्व द्रोण, कर्ण, जयदर्थ, दु शासन आदि महारथी कालकवलित हो गये हैं। 'समरधीर, महाशूर, छली, सकलभोगलक्ष्मीपति, अभिमानधन' दुर्योधन एकाकी रह गया है। सजय के साथ यह डरावने लडाई के मैदान मे जा रहा है। सजय पाडवो की बडाई करता है और उनसे समझौता करने को दुर्योधन से अनुरोध करता है। दुर्योधन के रोम-रोम से रोष प्रकट होता है। वह पाँडवो को पीस डालने का प्रण करता है। दुर्योधन सजय की निष्ठा, सेवापरायणता और प्रामाणिकता से आश्वस्त है। इसलिए उसके मुँह से पाँडवो की प्रशसा सुनने का आदी हो गया है। वह किसी भी सूरत से समझौते के लिए तैयार नही है। छल से लिया गया राज्य लौटाने को भी प्रस्तुत नही है। इस विषय पर धृतराष्ट्र-गाधारी की नेक सलाह मानना भी उसे पसन्द नही है। उनकी मीठी बात भी इस सपूत के लिए कडवी घूँट प्रतीत होती है। उसे अपनी कुटिलता पर सकोच नही उल्टे गर्व होता है। शोकसागर मे गोते खाने वाला यह वीर अपने को 'वज्रमन' वाला मानता है। रणक्षेत्र मे स्वजनो-मित्रो की निर्जीव देह देख सहसा वह द्रवित हो जाता है। लक्ष्मणकुमार, भाई दु शासन, साथीकर्ण इनकी याद मे तडपने वाला दुर्योधन दमनीय हो उठता है। दूसरे ही क्षण उसके प्रतिशोध से यह शोक दब जाता है।

भीष्म पितामह से मिलने पर पल भर के लिए दुर्योधन अपने पाप-क्रम पर पछताता है। लेकिन पितामह के आदेशानुसार शांति स्वीकार करने को तैयार नही होता। हां, उनकी इच्छा रखने के लिए वैशपायन सरोवर मे छिपने को राजी हो जाता है। पाँडव इस सरोवर के समीप आकर उस पर व्यगोक्तियां बरसाते है। भीम की ललकार सुनते ही 'उबलते रोष के साथ पानी मे पसीने से लथपथ दुर्योधन साहसगर्वालकृत' हो बाहर निकलता है। भीषण सघर्ष छिड जाता है। भीम एक बार मूर्च्छा खाकर गिर जाता है। बेहोशी की हालत मे दुर्योधन उस पर कोई हमला नही करता। वीरोचित्त-उदारता का, आदर्श रणनीति का कैसा सुन्दर नमूना है! होश मे आते ही भीम दुगुने वेग से उस पर टूटता है, वक्त पाकर उसकी जाघ तोड देता है। भीम की प्रतिज्ञा सफल होती है। दुर्योधन का जीवन सार्थक हो जाता है। उसका अन्त मर्मभेदी अवश्य हुआ है।

दुर्योधन के चरित्र-चित्रण मे अहभाव की पराकाष्ठा प्रलय को भी चुनौती देती हुई-सी वर्णित है। कवि ने उसके आत्मविश्वास को पग-पग पर क्षीण होते दिखाकर उसकी मृत्यु पर सहृदय की सवेदना सिहर उठने दी है। रणागण मे प्रेतो के साक्षात्कार के विधान द्वारा कवि ने दुर्योधन के आत्मप्रत्यय को शिथिल होते अ कित किया है। सजय के साथ लाशो मे पटे मैदान मे आते समय एक प्रेत दुर्योधन से अट्टहासपूर्वक कहता है—'मैंने गुरु द्रोण के रक्त का स्वाद लिया है। भीम ने तुम्हारे अनुज का रक्तपान किया है। पितामह का उष्ण रक्त पीने को मिलेगा ही। अब तुम्हारा रक्त चखने की बडी इच्छा हो रही है।' कौरव सम्राट् के आसन्न पतन का कितना विदग्धतापूर्ण चित्रण है! प्रेत की किलकारियाँ! सम्राट् के सामने! भाग्य का फेर नही तो क्या है! नियति की निर्मम चपेट नर मात्र को साबित नही रहने देती।

दुर्योधन इस अट्टहास-उपहास की उपेक्षा कर आगे बढता है। उसका पैर एक जर्जर खोपडी पर पड जाता है। सजय को आशका होती है कि जाँघ मे चोट लगी होगी। दुर्योधन से 'चोट क्या लगेगी?' जवाब पाकर सजय आश्वस्त होता है। इसी बीच एक प्रेत दुर्योधन से बोल उठता है—'कौरवेश्वर! भीम के क्रोध से तेरी जाँघ टूटे बिना रहेगी कैसे?' इसकी छेडछाड की परवाह किये बिना दुर्योधन आगे बढता है तो प्रेत चुटकी बजाकर कहता है—'ए फणिराजकेतन! लाक्षागृह मे विष-मिश्रित अन्न का सेवन कराकर बन्धुजनो का मत्सरभाव से वध करने का आयोजन जिसने किया वह धोखे मे पडा है या रण मे आहत जीवो से तृप्त होने वाले हम धोखे मे पडे हैं? इनमे अन्तर देख ले भला!' दुर्योधन निरुत्तर कदम बढाता जाता है। उस वक्त प्रेत चुनौती देता है—'धूर्जटी की शपथ है यदि बोले बिना आगे बढे।' धूर्जटी दोनो के लिए गुरु जो है! इससे भी दुर्योधन अप्रभावित है तो प्रेत भीम की सौगध खाने लगता है। भीम का नाम लेते ही दुर्योधन भभक उठता है और प्रेतो पर गदा फेरने लगता है। प्रेत भी लट्ठ लिए उसका सामना करने लग जाते है। गदाधारी दुर्योधन कहाँ, लट्ठधारी प्रेत कहाँ! विधि की वामलीला का इससे प्रभावशाली अ कन हो क्या सकता है?

कवि रन्न की उर्वर प्रतिभा का ही परिणाम है कि श्रव्यकाव्य मे ऐसा दृश्य काव्योचित कथा-प्रवाह और पात्र-निरूपण हो सका है। यहाँ प्रकारातर से मानव मन के सत्-असत् का भी विराट् सघर्ष अ कित है और असत् की पराजय का सहज दिग्दर्शन भी है। कन्नड काव्य साहित्य मे 'गदायुद्ध' का अपना अनोखा स्थान है।

'गदायुद्ध' का हिन्दी मे अनुवाद शिवमोगा जिला स्थित आनवट्टी गाँव के सरकारी बेसिक ट्रेनिंग इस्टिट्यूट के हिन्दी-कन्नड के विद्वान् पडित श्री के जगन्नाथ शास्त्रीजी ने किया है। यह अभी पाण्डुलिपि की अवस्था मे मेरे पास है। कोई धनी-मानी साहित्यप्रेमी इसे प्रकाशित करा सके तो हिन्दी-कन्नड दोनो का भला हो।

'रामचन्द्रचरित पुराणम्' या 'पंपरामायण'



पूर्ववर्ती दोनो रचनाएँ महाभारत पर आधारित थी। पपभारत तथा गदायुद्ध व्यास-विरचित के आदर्श पर निर्मित महाकाव्य थे। आदिकवि पप तथा चूडीहार होकर भी कविचूडामणि रन्न दोनो ने युगीन आदर्शों के अनुरूप उसमे आवश्यक सस्कार परिष्कार किया। उसे उन्होने अपने आश्रयदाताओ का 'विजयाभ्युदय' गाने का एक सुन्दर साधन बना दिया।

रामायण की कथा अ कित करने वाला 'रामचन्द्रचरितपुराणम्' पुराण होकर भी लौकिक काव्य परम्परा मे आने वाला विख्यात चम्पू है। 'पपरामायण' भी इसका नाम है। यहाँ की रामकथा पूरी की पूरी जैन दर्शन, धर्म-सप्रदाय पर आश्रित है, आदि कवि वाल्मीकि की रामकथा से सर्वथा भिन्न है। रविषेण-रचित 'पद्मपुराण' एव विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के आदर्श पर रचयिता कवि नागचन्द्र जी ने इसका प्रणयन किया है। रचना के प्रति आश्वास के अन्त मे कवि ने चरितनायक के माध्यम से अपने लिए 'कवितामनोहर' 'भारती-कर्णपूर', 'साहित्यविद्याधर' इनमे से एक उपाधि का प्रयोग किया है और कन्नड साहित्य मे 'अभिनव पप' की ख्याति पाई है।

वस्तुविधान और चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह रामायण विलक्षण है। यह रामकथा विपुलाचल मे गौतम ने मगध नरेश से कही है। गुरुपरपरा मे विश्रुत इस कथा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

इस कथा मे जिन-मुनियो ने कइयो को जन्मान्तर का मर्म समझाया है। इह के बधन से उन्हे छुटकारा दिला जैनधर्म मे दीक्षित किया है।

इसका नायक राम नही, लक्ष्मण है। राम के केवल तीन तथा लक्ष्मण के अनेक विवाह यहा वर्णित हैं।

इसमे पुत्रकामेष्टियाग की चर्चा नही है। राम की माता का नाम अपराजिता है। लक्ष्मण सुमित्रा का एकमात्र सुत है। शत्रुघ्न सुप्रभा का सपूत है।

राम लक्ष्मण बलाच्युत है, कारणपुरुष हैं। लक्ष्मण के इतर नाम हैं—अष्टम केशव, उपेन्द्र, वासुदेव, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मीधर, पुरुषोत्तम, जनार्दन आदि। लक्ष्मण नायक है। लक्ष्मण श्यामवर्ण हैं, राम गौरवर्ण हैं।

विश्वामित्रजी का कही उल्लेख नही है। नारदजी सीताजी पर अनुरक्त हो गये हैं।

प्रभामडल खेचरनरेश इ दुगति का पालित पुत्र है, सीताजी का बडा भाई है। नारद-निर्मित सीता के चित्र पर वह मुग्ध हो जाता है। अनजान मे हुए इस अपचार से अन्त मे खिन्न होता है, पश्चात्ताप प्रकट करता है।

खेचरनरेश इ दुगति के पास वज्रावर्त, सागरावर्त नामक दो धनुष थे। जनक ये दोनो धनुष मिथिलानगरी ले आये। पहला धनुष राम ने और दूसरा धनुष लक्ष्मण ने तोडा। क्रम से सीता और चन्द्रध्वज की युगल कुमारियो से दोनो का विवाह हुआ।

राम लक्ष्मण की विभवसपदा लख भरत विषाद से मलिन हुए, विरक्त हुए। केकई के परामर्श पर जनक के अनुज कनक की कन्या से विवाह किया।

विजय यात्रा के दौरान मे लक्ष्मण के कई विवाह सपन्न हुए।

एक पत्नीव्रतधारी राम के साथ सुग्रीव की कन्या, दधिमुखनगर की राजकुमारी, रत्नपुराधीश की कुमारी, इनके विवाह सपन्न हुए।

यहा कनक-मृगवेशधारी मारीच राम के अनुकरण पर आर्तनाद नही करता, रावण के वश मे रही अवलोकिनी विद्या लक्ष्मण के अनुकरण पर सिंहनाद करती है।

सुग्रीव तथा उसके अनुयायी कपिध्वज खेचर हैं।

सुग्रीव की छोटी वहिन श्रीप्रभा रावण से ब्याही गई थी।

वाली कैलाश पर तपस्या मे लीन था। रावण वह पर्वत उठाने गया। वाली ने अ गूठे से पर्वत दवा दिया। रावण दव गया और चीखने लगा। इस चीख के कारण 'रावण' उसका नाम पडा।

कार्तवीर्यार्जु न—सहस्रबाहु—यहाँ रावण को वदी नही वनाता, स्वय रावण उसे वन्दी वना लेता है।

रावण की छोटी वहिन चद्रमुखी की कन्या अनगपुष्पा हनुमान से व्याही गई थी। दहेज मे रावण ने हनुमान को कर्णकु डलपुर नगर दिया था। रावण से उसकी मैत्री थी। सीताहरण के समय से वह रावण का विरोधी हो गया और राम की ओर से उसके साथ लडाई ठान ली।

रावण का वध राम से नही, लक्ष्मण से होता है।

उपर्युक्त विशेपताग्रो के ग्रलावा सोलह ग्राश्वास वाले इस चपूकाव्य मे ग्रन्य मनोरजक स्थल भी सहृदयो का ग्राकर्पित करेंगे। प्रसगानुकूल सस्कृत-प्राकृत की पदयोजना से कवि ने लालित्य, माधुर्य, गाभीर्य ग्रादि का सफल निर्वाह किया है। 'हितमित-मृदुवचनशैली' का उत्कृष्ट नमूना है पपरामायण। पुरानी कन्नड की प्रवाहपूर्ण ग्रभिव्यजना के ग्राचार्य के नाते ग्रभिनव पप काव्य-जगत् मे ग्रमर हो गये हैं। प्रकृति की शोभा-सुपमा का काव्य-सौन्दर्यवर्धक रूप मे चित्रण नागचन्द्र की चित्रोपम भाषा ग्रौर नवनवोन्मेपशालिनी प्रतिभा का परिणाम है।

पपभारत के कर्ण, गदायुद्ध के दुर्योधन ग्रादि की भाँति नागचन्द्र रचित पप रामायण का रावण ग्रपूर्व व्यक्तित्व-सपन्न पात्र है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दुरत नायक (Tragic character) के सारे लक्षण यहाँ के रावण पर खरे उतरते हैं। कन्नड काव्यश्री के उपासक भक्त स्व० 'बी० एम० श्री' (बी० एम० श्रीकठय्याजी) ने पहले-पहल 'A Tragic Ravana' शीर्पक ग्र ग्रेजी लेख मे इसका विस्तृत विश्लेपण किया है। रावण के व्यक्तित्व को उभारने वाले चतुर चितेरे नागचन्द्र को उन्होंने 'कन्नड का मेरा प्रथम प्रिय कवि' घोपित किया।

यहा का रावण शुचिर्भूत है। 'परागनाविरति व्रत' का पालन करने वाला है। यह शील-निधान रावण परनारी-प्रणय-पिपासा से पीडित हो उठे, यह विधाता का ग्रट्टहास नही तो ग्रौर क्या है। ग्रपमानित छोटी बहिन का प्रतिशोध लेने निकले वीर रावण का स्थिर चित्त रूपसी जानकी पर डोल गया। पद्मपत्र पर ज्योतित जलबिंदु वायु के झोके से जिस प्रकार धूलधूसरित हो उठता है, उसी प्रकार सात्विक शील-शिरोमणि रावण का पावन मन वासना के ग्रावर्त-विवर्त से ग्रपावन हो गया, मलिन हो गया। इस विकार से उसका सत्वशोपण होने लगा।

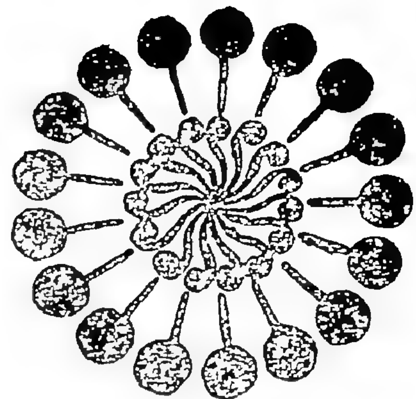
इससे पहले एक बार उपरभा प्रणय-भिक्षा माँगने रावण के पास पहुची थी। रावण ने उसे सदाचार का पाठ पढाया ग्रौर ग्रात्मविनाश से बचाया था। ग्रप्सराग्रो के रूपजाल से बच निकला रावण मानवी के मोहजाल मे ग्रनायास फस गया। पर परिस्थिति एक बार भी उसके प्रतिकूल न हुई। वह वासना के गर्त से ऊपर उठा, ग्रपने ग्राचरण पर पछताने लगा। 'बहुरूपिणी विद्या' के प्रताप से सीताजी को राम-विमुख बनाने ग्रौर ग्रपने सग साम्राज्य के उपभोग का प्रलोभन दिखाया। सीताजी टस-से-मस न हुई। राम के जीते जी रावण से कलकित हो जाने की ग्राशका मात्र से ग्रधीर हो गई, ग्रचेत हो गई। रावण का विवेक जागा। मलभरा जल हिल जाने पर कालातर मे जिस प्रकार निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार वासना के झोके से विकृत रावण सहज ही सीताजी से विरक्त हो उठा, ग्रात्मनिरीक्षण का वरदान पा गया। यह सच्ची ग्लानि थी जिसने उसके मन की मलिनता को सदा के लिए धो डाला। रावण को लगा कि 'विपयासवमत्तचेतस्' ही सारे ग्रनर्थ की जड है। लेकिन वह सहज ही हार मानने को तैयार न था। उसने मन-ही-मन कहा—'मैं इसी क्षण सीताजी को राम के हवाले कर दू तो मेरा दभ, दर्प, वैभव, पराक्रम, साम्राज्य ग्रादि रजकण मे भी क्षुद्र हो जाएंगे। मैं राम-लक्ष्मण को लडाई मे बन्दी बना लू ग्रौर पीछे से सीताजी को उन्हे सौंप दू तो ठीक होगा।'

स्वाभिमानी रावण का पात्र-निरूपण बडी कुशलता के साथ कवि करता गया है। रावण की रूपशोभा तथा नाना मनोदशाग्रो के चित्रण के लिए कवि ने सलिल से सबद्ध व्यापार का ही सर्वत्र ग्राधार लिया है। ग्रत नागचन्द्र का रावण 'जलरावण' नाम से विश्रुत है।

पपरामायण की कथा जैन रामायण की छाया है। पर उसकी वर्णनशैली ग्रौर पात्रयोजना कवि पप के कला-ग्रादर्श से प्रभावित है। पपभारत ग्रौर गदायुद्ध की ग्रपेक्षा पपरामायण मे जैनधर्म का ग्रध्यात्म-पक्ष ग्रधिक मुखरित है। ग्रत काव्यप्रेमियो मे पहली दोनो की भाँति यह तीसरी कलाकृति प्रसिद्ध नही। फिर भी इतना तो मानना पडेगा कि जैन काव्यो की लौकिक परपरा मे विक्रमार्जुनविजय, साहसभीमविजय ग्रौर रामचन्द्रचरितपुराणम् इन तीनो कृतियो का महत्वपूर्ण स्थान है।



भारतीय गौरव-ग्रन्थ
भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर



वर्धमान पी० शास्त्री,
विद्यावाचस्पति, विद्यालकार, न्यायकाव्यतीर्थ
समाजरत्न, धर्मालकार

साहित्य-ससार मे कर्नाटकसाहित्यकारो का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। महाकवि पप, रन्न, जन्न, पोन्न, आदि उद्दाम साहित्यसर्जको से साहित्यजगत् परिचित है ही, परन्तु मध्ययुगीन काल मे अपनी कृतियो से विश्व को चमत्कृत करने वाले महाकवि रत्नाकर का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है। इसीलिए भारतीय साहित्य अकेडेमी ने उसके द्वारा रचित 'भरतेशवैभव' की भारतीय गौरव-ग्रन्थो मे गणना की है। विशेष क्या, इस राष्ट्र का जो नामाभिधान बहुत प्राचीन काल से 'भारत' हुआ है, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रमेय ही कारण है। जिस आदि सम्राट् भरतेश्वर के समग्र वैभव का इसमे कथन किया है, उसी के कारण से इस देश का नाम भारत पडा, इस विषय को अब इतिहासवेत्ता मान्य करने लगे हैं, ऐसे ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध मे भारतीय नागरिको को परिचित होना आवश्यक है। इसलिए यह प्रयास है।

ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ का नाम भरतेशवैभव है। ग्रन्थ मे ८४ सधि (अध्याय) और करीब १०००० श्लोक हैं, कर्नाटकसाहित्य के सागत्य छदो से निर्मित है। मुख्यत ग्रन्थ को पाँच विभागो मे विभक्त किया है, (१) भोगविजय (२) दिग्विजय (३) योगविजय (४) मोक्षविजय और (५) अर्ककीर्तिविजय। इन्हे पच कल्याणो के नाम से कवि ने उल्लेख किया है। ग्रन्थ की महत्ता के सम्बध मे सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि महाकवि ने काव्य को अत्यन्त सरस, सुन्दर व मधुर शैली मे प्रस्तुत किया है। हाथ मे लेने के बाद पढते ही जाइये, नीचे रखने की इच्छा नही होती है। यह इसकी विशेषता है। दस हजार श्लोको के चारो ही चरणो मे अनुप्रास साधने का गुरतर कार्य कवि ने अनायास साध्य किया है। कवि पर सरस्वती का वरद हस्त था, इसमे कोई सन्देह की बात नही है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध मे स्वाभिमान के साथ कवि स्वय ही कहता है—

> **अय्यय्या चेन्नादु देने कन्नडिगरु।**
> **अय्या मचिदि येने तेलुगा ।**
> **अय्यय्य येच पोर्लाडदु तुलुवरु।**
> **मेय्युब्वि केल बेक ०० ॥**
>
> **(भरतेशवैभव १-७)**

कवि ने इस श्लोक मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मेरा काव्य सर्वप्रिय होगा, सर्वभाषाभाषी इसे बडी

आतुरता के साथ सुनेंगे, कर्नाटक के लोग कहेंगे कि वाह ! कितना अच्छा काव्य है, आन्ध्र प्रान्त के लोग कहेंगे कि अय्या मचिदि ! (कितना सुन्दर !) इसी प्रकार तौलव देश के लोग तुलु भाषा मे कहेंगे कि वाह ! क्या बढिया है, इस प्रकार हर भाषाभाषी उमग-उल्लास के साथ इसे श्रवण करने मे दत्तचित्त होगे।

ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है कि ग्रन्थ मे नव रसो के लिए यत्र-तत्र स्थान होने पर भी मुख्यतया शृगार व अध्यात्म के लिए प्रधान स्थान मिला है। गृहस्थजीवन मे रहने वाला श्रावक अपने जीवन को सुन्दर बनाते हुए अध्यात्म-साधना भी किस प्रकार कर सकता है, इसका अच्छा मार्गदर्शन ग्रन्थ से मिलता है। गृहस्थजीवन मे भी यह साधक कर्मों की निर्जरा किस प्रकार कर सकता है, भोगमार्ग मे रत होते हुए भी योग की ओर किस प्रकार लक्ष्य हो सकता है, इसके लिए महाकवि ने सुन्दर पथ-प्रदर्शन किया है।

भोगो के भोगने पर भी योगी, ससार के वैभवो के बीच रहते हुए भी अवैभव, भोजन करने पर भी उपवासी, भोग भोगने पर भी ब्रह्मचारी, बोलने पर भी मौनी, किस प्रकार यह जीव रह सकता है, इस रहस्य को ग्रन्थ मे पद-पद पर स्पष्ट किया है। यही कारण है कि भोगियो और योगियो को यह ग्रन्थ समान रूप से आदरणीय हुआ है। कवि ने स्वय पीठिका मे कहा है कि 'भोगियोगि गलेदे जुम्म जुम्मेने नेमदागि मोल्लिसुवे नालिसिरो' अर्थात् भोगी व योगी दोनो के अ तस्तल मे जुम्म-जुम्म होकर रोमांच हो, इस प्रकार की यह कृति होगी, आप लोग एकतान होकर सुने।

ग्रन्थ के नाम के समान ही इस उद्ग्रन्थ मे महाकवि ने भरतेश के वैभव का खासा चित्रण किया है, किसी भी प्रसग मे अपने मुख्य नायक के गौरव मे किसी भी प्रकार न्यूनता नही आने दी। इस दृष्टिकोण को खूब सावधानता के साथ सुरक्षित रखा है।

विषय-परिचय

कौशल देश की अयोध्या नगरी मे आदिनाथ तीर्थंकर का आदि पुत्र भरतेश्वर बहुत आनन्द के साथ राज्य कर रहा था। वह अत्यन्त निपुण व प्रजाजनो का आतरिक हितचितक था, वह आत्मविनोद मे सदा प्रसन्न रहता था, नित्यप्रति प्रात काल तत्त्ववेत्ता सरस विद्वानो के साथ सगीत व तत्त्व-ज्ञान की गोष्ठी मे रहना उसका दैनिक कार्यक्रम था। देवपूजादि नित्य कर्मों से निवृत्त होने पर आत्मचितन उसका नित्यक्रम था। दरबार बरखास्त होने पर सत्पात्र को दान देने के कार्य मे तत्पर होता था। पात्रदान देकर भोजन करने मे ही स्वत को धन्य समझता था। भोजनानन्तर शेष समय मे अपनी रानियो के साथ भोग भोगते हुए भी योग मे लीन रहता था। अमित भोगी होकर भी राजभोगी के रूप मे, जल से भिन्न कमल के समान उससे अलिप्त रहता था। उसकी दिनचर्या आत्महितैषी श्रावको के लिए अनुकरणीय थी। महाकवि ने २० अध्यायो से उसके प्रशस्त दैनिक कार्यक्रमो का सरस ढग से वर्णन किया है, जो भरतेश के सत्कृत्यो का जीता-जागता चित्रण है।

भोगविजय

एक दिन आयुधशाला मे चक्ररत्न का उदय हुआ, विधि-सकेत को पाकर नौ दिन बहुत वैभव से मगलकार्यों को सपन्न किया, और दसहरे के रोज भरतेश ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय मे षट्खड के समस्त मडलेश्वर ही आधीन नही हुए अपितु अनेक व्यतराधिपति भी शरण मे आये। मागधामर, वरतनु, प्रभास आदि व्यतराधिपो ने उत्तमोत्तम उपहार प्रदान कर सम्राट का सम्मान किया। साठ हजार वर्ष भरतेश्वर दिग्विजययात्रा मे अपने परिवार के साथ रहे, अनेक राजाओ ने हजारो कन्यारत्नो को भेट मे समर्पण किया, बीच मे हीपुण्य-योग से तद्भवमोक्षगामी बारह सौ पुत्र-रत्नो की भी प्राप्ति हुई। अभ्युदय परपरा का अनुभव करते हुए जब समस्त षट्खड का दिग्विजय कर अयोध्या की ओर आनन्द के साथ भरतेश लौट रहा था, तब अयोध्या की बाह्य परिधि मे ही चक्ररत्न रुक गया। ज्ञात हुआ कि समग्र दिग्विजय नही हुआ है, किन्तु-परन्तु करने वाले कोई न कोई व्यक्ति हैं। सहोदरो के प्रति लक्ष्य गया। उनको सूचना दी गई। इस व्यवहार से सहोदरो का स्वाभिमान जागा। पिता के द्वारा प्रदत्त राज्य का अनुभव स्वतत्रता के साथ हम



कर रहे हैं, फिर अधीनता के लिए आह्वान करने वाला यह कौन ? चलो ! पिताजी से ही न्याय करावेंगे। तत्काल समवसरण मे पहुचते हैं। पिता से सर्व घटना निवेदन करते हैं। प्रभु का आदेश होता है कि भरत को चक्रवर्ती होने का नियोग है। वह पुण्य आप लोगो को नहीं है। यदि राज्य चाहिए तो उसकी आधीनता मजूर करो। यदि वह मजूर न हो तो आत्मराज्य पाने के लिए मेरे पास रहो। सबने प्रभु के पास रहना स्वीकार किया। वाहुवली वीर, कामदेव और स्वाभिमानी था। वह सीधा जाना नही चाहता था। युद्ध मे अपने बाहुबल का परिचय देकर ही जाना उसे इष्ट था, अत युद्धसन्नद्ध होकर आया। भरत ने अपने छोटे भाई के साथ युद्ध न करके वचन—चातुर्य से ही उसे जीत लिया, जिता भी दिया। बाहुवलि अपनी कृति के लिए दु खी हुआ, पश्चात्ताप से दग्ध होकर दीक्षित हुआ। जिन योगी बना, भरतेश्वर ने आनन्द के साथ नगरप्रवेश किया। (३३ अध्याय)

विवेचनचातुर्य व सामंजस्य

भरत और बाहुवलि, दोनो सहोदर जिस समय समरभूमि मे आकर युद्ध के लिए खडे हुए तव उभय पक्ष के प्रमुख नेता चिंतित हुए। दोनो सहोदर तद्भवमोक्षगामी, अव्याघाती, तीर्थनायक के पुत्र, व समान वल वाले हैं, इनका कुछ भी बिगडने वाला नही है, व्यर्थ ही सेनाओ की हानि होगी। अत सेनाएँ परस्पर न लडकर दोनो व्यक्तिगत युद्ध करे। अध्वर्यु जनो की सलाह दोनो को मान्य हुई, दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीनो युद्ध निर्णीत हुए। तीनो युद्धो के लिए दोनो सहोदर आमने-सामने खडे हैं। भरतेश ने सोचा कि करोडो सैनिको के सामने सहोदर का यह विरोध प्रदर्शनीय नही, इसलिए अनुज को एक बार समझाकर देखे, अगर समझ मे आया तो वह कटु प्रसग टल जावेगा। इसी हेतु से भाई को वोधित किया—

भ्रात बाहुबलि ! आज तुम और मुझ मे दुर्भाव से युद्ध हो रहा है, इसका क्या कारण है ? अकारण तो कोई प्रवृत्ति नही करते हैं, तुम्हारी सपत्ति मैंने नही छीनी, मेरी सपत्ति तुमने नही छीनी, पहिले से पिताजी ने मुझे राजा, तुम्हे युवराज बनाया है।

भाई-भाई मे भी द्वेष होता है परन्तु उसके लिए कोई कारण होना चाहिए। मैंने भाई को केवल देखने की इच्छा से बुलाया तो इतना क्रोध क्यो ? क्या मैं तेरा शत्रु हू ? यदि प्रभु के पुत्रो मे ऐसा विचार हो तो सामान्य लोगो की बात क्या होगी ?

कदाचित् तुम सोचोगे कि युद्ध से डरकर बातो मे लगाया है। परन्तु ऐसी बात नही। युद्ध तो करूँगा ही, पहले अपने मन की बात कहकर दोष टाल रहा हू, दूसरा कोई मेरे सामने होता तो क्षण भर मे भगाता, भाई ! सोचो, सहोदरो के युद्ध को लोक पसन्द नही करेगा। हम दोनो खिलाडी हैं, ये लोग दर्शक हैं। कितनी शर्म की बात है। तुम मुझे जीतोगे तो क्या तुम्हे कीर्ति मिलेगी ? या तुम्हे मैं जीतू तो मुझे यश मिल सकेगा ? अपने इस बालिश व्यवहार को देखकर नरसुर-नागलोक के सज्जन छि थू कहे विना नही रहेगे। तुम युद्ध के लिए आये हो न ? युद्ध मे जीत की इच्छा सबकी रहती है। साधारण लोगो के समान लडने की क्या जरूरत है ? तुम जीत गये, मैं हार गया। जाओ अब तो प्रसन्न हो न ?

भरतेश्वर के वचन को सुनकर मत्री, मित्र, राजा, महाराज आदि सभी ने कान मे उगली देकर कहा कि हाय ! यह क्या कहते हैं। आपकी कभी हार है ? सम्राट् ने कहा कि आप लोग क्या कहते हैं ? कामदेव से कौन नही हारते हैं ? मेरे भाई की जीत सो मेरी जीत है। वाहुवलि! उपचार के लिए मैंने तुम्हारी जीत का उल्लेख नही किया। अच्छी तरह सुनो, मेरी सेना भी सुने, स्पष्ट कहता हूँ—

दृष्टियुद्ध मे तुम्हारी जीत है, क्योकि तुम मुझसे २५ धनुप अधिक ऊचे हो, इसलिए मुझे सरलता से देख सकते हो, मुझे तुम्हे ऊर्ध्व दृष्टि कर देखना पडेगा, मुझे कष्ट होगा, तुम जीते, मैं हारा।

भरतेश्वर के इस वचन को सुनकर मत्री मित्रो ने कहा—जो अपने महल की छत पर बैठकर सूर्यविमान पर स्थित अकृत्रिम जिन-प्रतिमाओ का दर्शन करता है, उसे २५ धनुष ऊपर देखने मे क्या कष्ट होगा ? यह केवल भाई को समझाने के लिए कह रहे हैं।

भरतेश ने पुन कहा—भाई ! जलयुद्ध मे भी तुम्हारी जीत है। तुम ऊचे हो, तुम मुझे पानी मे डुबा सकते हो, मैं तुम्हारी छाती तक पानी फेक सकूँगा। अत इसमे भी तुम्हारी जीत ही है।

मत्री मित्र कहने लगे—सम्राट् यह क्या कह रहे हैं ? जो अनेक इच्छित वृहदाकार रूप बनाकर आकाश पर पानी फेंकने की शक्ति रखते है उनके लिए २५ धनुष की बात क्या है ? यह भाई को खुश करने की बात है।

भरतेश्वर ने पुन कहा—भाई ! मल्लयुद्ध की तो जरूरत ही क्या है ? पिताजी ने तुम्हारा नाम ही बाहुबलि रखा है। वह असत्य किस प्रकार हो सकता है ? भुजबल मे तुम प्रबल हो, मुझे सहज उठा सकते हो। पिताजी ने मेरा नाम भरत रक्खा, मैं भरत भूमि का अधिपति हुआ। तुम्हारा नाम भुजबलि रक्खा है। तो भुजबल से तुम मुझे उठाओगे ही, इसमे भी मैं हार मजूर करता हू।

मत्री मित्रो ने कहा—कमाल है सम्राट् ! नाम के समान कोई पराक्रम भी दुनिया मे होता है ? कभी नही। छोटी-सी उँगली से परसो सारी सेना को उठाया। बडे-बडे पर्वतो को जो सूखे पत्तो के समान उठा सकता है, वह क्या कामदेव को नही उठा सकता है ? यह भाई को समझाने की बात है।

ग्रन्थकार के चातुर्य को देखकर बुद्धि और तर्कणाशक्ति दग रह जाती है। अनेक ग्रन्थकारो ने प्रत्यक्ष युद्ध कराकर चक्रवर्ती का पराजय कराया है, यहा अपने चरित्रनायक के वैभव मे यत्किंचित् भी न्यूनता महाकवि को लानी नही थी। अत उसे लोक की दृष्टि ने जिताया, और स्वय के मुख से हार स्वीकार कराकर हराया। कितना विवेकपूर्ण वर्णन है।

जब एक सम्राट् कामदेव से हार गया तो दशो दिशाओ मे अन्धकार छा गया। आग के बिना धूम निकला, सेना घबरा गई, बाहुबलि के मन मे भी विवेक जागृत हुआ कि मैंने अच्छा नही किया। अब भाई की ओर सीधा देखने का भी धैर्य नही। भरतेश्वर को भी इस घटना से कुछ उपरति-सी हो गई। पुन सबोधित करने लगे—

भाई, सुनो ! मैंने इस चक्ररत्न की अभिलाषा नही की थी। आयुधशाला मे वह अपने आप उदित हुआ और सारे देश मे घुमाकर लाया। व्यर्थ ही तुम लोगो के हृदय मे वेदना पहुचाई। मैं इन सपत्तियो को पुण्यकर्म का फल जानकर उदासीन भाव से भोगता हू। मुझे बिल्कुल इनमे आसक्ति नहीं, तुम इनको स्वीकार करो, यह राज्य तुम्हारा है। तुम्हारे लिए मैं षट्खड को वश कर आया हू। अब उसे तुम लो, राज्यपद को स्वीकार करो, अयोध्या मे सुख मे राज्य करो मुझे एक छोटा सा राज्य दो, मैं वहा पर रहूगा। तुम्हे प्रसन्न करने के लिए नही बोल रहा हू। निरजन सिद्ध ही इसमे साक्षी हैं। भ्रात, इससे अधिक बोलने की इच्छा नही है, स्वीकार करो इस राज्य को। क्रोध का परित्याग करो ! शात हो।

बाहुबलि अन्दर-अन्दर ही लज्जित हो रहा था। अब सीधा खडे होकर ज्येष्ठ भ्राता से बोलने की हिम्मत नही है। सकोच, लज्जा और वेदना मे मन व्याकुल है।

भरतेश्वर इस समय इस चक्ररत्न को बुलाते हैं—हे चक्ररत्न ! अब जाओ, अब तुम्हारी मुझे जरूरत नही है। तुम्हारा अधिपति यह बाहुबलि है, मेरा भाई है, उसके पास जाओ।

इस प्रकार भरतेश्वर की आज्ञा होने पर भी चक्ररत्न आगे नही बढ रहा है, कारण चक्ररत्न को धारण करने



का भाग्य कामदेव को नही है। चक्ररत्न से वंचित होने तक का हीनपुण्य भरतेश्वर भी नही हुआ है। इसलिए चक्ररत्न सामने आकर खडा हुआ।

भरतेश्वर को क्रोध आ गया—अरे चक्रपिशाच! भाई के पास जाने के लिए कहता हू। तू सुनता नही! तेरे ही कारण से भाई-भाई मे संघर्ष हुआ। मुझे तेरी जरूरत नही, भाई के पास जा।

फिर भी चक्ररत्न वही खडा रहा तो भरतेश्वर ने जबर्दस्ती धक्का दे दिया। यद्यपि बाहुबलि मे उसकी प्राप्ति के योग्य सातिशय पुण्य न होने से तथा भरतेश्वर के उसे खोने योग्य हीन पुण्य न होने से वह पशोपेश मे पडा, वह आगे जाकर बीच मे खडा रहा।

लोगो ने कल्पना की—भाई को मारने के लिए चक्ररत्न का प्रयोग किया। क्या मोक्षगामी जीव अपने भाई की हत्या करने की भी भावना कर सकते है? तीर्थंकर के पुत्र तद्भवमोक्षगामी जीवो मे ऐसी निम्न चेष्टा हो सकती है? कभी नही, महाकवि ने प्रसग के सामजस्य को बहुत ही उचित ढग से बैठाकर महापुरुषो के जीवन की महानता का समीचीन दर्शन कराया।

बाहुबली को तत्काल वैराग्य उत्पन्न होता है। समरभूमि से ही अमर भूमि की ओर प्रस्थान करता है। भरतेश्वर निराश भाव से नगर-प्रवेश करता है।

दिग्विजय

घोर तपश्चर्या करने पर भी बाहुबली को आत्मसिद्धि नही हुई, यह समाचार सुनकर भरतेश्वर प्रभु के समवसरण मे पहुचता है। वहा ज्ञात होता है कि बाहुबली योगी के मन मे एक विकल्प है कि अभी तक मैं भरत की भूमि पर खडा हू। जब तक भरत-भू पर खडा रहूगा तब तक आहार नही लूँगा। इस विकल्प के कारण निर्विकल्पक समाधि नही हो रही है। उसी समय भरतेश उस तपोवन मे पहुचते है और उस विकल्प को दूर करते है। तत्काल ध्यान की सिद्धि होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। भरतेश्वर की माता यशस्वती भी अनन्तवीर्य केवली से दीक्षित होती है। कैलाशपर्वत पर जो जिनभवनो का निर्माण भरतेश्वर ने कराया उसका प्रतिष्ठासमारभ भी इसी अवसर पर पूर्ण कराया जाता है। एव धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है। (अध्याय ६)

योगविजय

भरतेश्वर के सौ पुत्र विद्याध्ययन कर रहे थे। अकस्मात् एक दिन उनको समाचार मिला कि गणेश दीक्षा लेकर चला गया है। उन्हे भी संसार से वैराग्य हुआ। सीधे ही समवसरण मे चले गये। इस प्रसग मे महाकवि ने उनका वैराग्य समवसरण, तत्वोपदेश, दिव्यध्वनि, आदि का जागृत वर्णन किया है। पुत्रो ने दीक्षा ली, वृत्त जानकर चक्रवर्ती को दु:ख हुआ, तत्काल वे समवसरण मे पहुँचते है। वहाँ पर अब पुत्र नही, पूज्य परिव्राजक है। उन्हे देखकर वन्दना की। तीर्थनाथ की बडे वैभव से पूजा की, दूसरे दिन भगवान आदि प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हुई।

सम्राट् ने पुन अयोध्या मे पहुचकर कुछ काल राज्य किया। एक दिन दर्पण मे मुख देखते हुए एक श्वेत केश को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। तत्क्षण अर्ककीर्ति का पट्टाभिषेक किया, तदनन्तर स्वय ही गुरु होकर दीक्षा ले ली। गुरुओ के पास पहुँचने तक का समय नही था। निश्चल ध्यान के बल से केवल अतमुर्हूत मे कैवल्य को प्राप्त किया। (१६ अध्याय)

मोक्षविजय

अर्ककीर्ति भी राज्य मे उदास रहने लगा। पिता के पुण्य से प्राप्त सर्व वैभव धीरे-धीरे अदृश्य होने लगे। राज्यवैभव से मोह का परित्याग कर अपने छोटे भाई आदिराज के साथ जिनदीक्षा ले ली व क्रमश मूलोत्तर गुणो का

पालन करते हुए कुछ समय के वाद निश्चल ध्यान के वल से आत्मसिद्धि को प्राप्त किया। (२ अध्याय)

अर्ककीर्तिविजय

इस प्रकार ८४ अध्यायो मे वर्णित विशाल कथावस्तु का यह सक्षेप-सार है, दिग्दर्शन मात्र है। यथार्थ आनद मूल ग्र थ के प्रकरणक्रम से अध्ययन से ही मिल सकता है।

महाकवि परिचय

महाकवि का जन्म पुण्यक्षेत्र मूडविद्री मे हुआ था जहाँ आज भी अनेक प्राचीन देवालय तथा धवलादि सिद्धान्तग्र थो की मूल प्रतियाँ विद्यमान हैं। अनेक अनर्घ्य रत्नो की जिन-प्रतिमाओ की पुण्यभूमि मे ही इस कविरत्न रत्नाकर का उदय हुआ। यह सूर्यवश के देवराज का पुत्र था। माता-पिता ने इसका रत्नाकर नामकरण किया।

यह वाल्यकाल से ही कुशाग्रवुद्धि, अनेकशास्त्रप्रवीण एव विद्वान् था। यह काव्यालकार-लक्षणशास्त्र मे प्रवीण, सगीत मे चतुर, मत्रशास्त्र मे निष्णात, अध्यात्म व शृ गार शास्त्र मे दक्ष सुकवि था। इसके गुरु चारुकीर्ति योगी थे। एक जगह महेंद्रकीर्ति या देवेन्द्रकीर्ति का भी उल्लेख है, हो सकता है कि प्रसगवश महाकवि को दो गुरुओ का सान्निध्य मिला हो, क्योकि कवि की जीवन-घटनाये ऐसी विचित्र स्थितियो का दर्शन कराती हैं। महाकवि के जीवन के सवध मे कन्नड साहित्य के ऐतिहासिक ग्र थ राजावली कथा मे देवचद्र ने निम्नलिखित उल्लेख किया है—

महाकवि रत्नाकर भैरम राजा के दरवार मे आस्थान कवि था। उस समय उसे देखकर राजकुमारी मोहित हुई। महाकवि भी उस पर अत्यासक्त हुआ। उनसे मिलने के लिए वायु धारण के प्रयोग से, दशवायुओ को वश मे कर महल की खिडकी से वहाँ पहुचकर राजकुमारी से प्रेमालाप करता था। क्योकि वह योगाभ्यास मे भी निपुण था। जव धीरे-धीरे राजा को ज्ञात हुआ तव उसी रात को महेंद्रकीर्ति गुरु से अणुव्रत दीक्षा लेकर आगमाभ्यास मे निरत हुआ। अनतर विजयकीर्ति भट्टारक के शिष्य विजयण्ण के द्वारा रचित द्वादशानुप्रेक्षा ग्र थ को हाथी के ऊपर विराजमान कर जुलूस निकाला जा रहा था तव रत्नाकर ने अपने द्वारा रचित भरतेशवैभव को भी हाथी के ऊपर विराजमान करना चाहिए इस प्रकार निवेदन किया। किसी कारणवश भट्टारकजी ने इसे स्वीकार नही किया। वात ही वात मे विवाद वढा। भट्टारको का उस समय वडा प्रभाव था। महाकवि का भट्टारकजी ने तिरस्कार कर ७०० श्रावको के घर मे उसे कोई आहार न दे, इस प्रकार का कडा आदेश दे दिया। तव वह अपनी वहिन के घर मे ही भोजन करता था, परन्तु इस कटु व्यवहार से उपरत होकर उनने जैनधर्म को ही तिलाजलि दी। वह वीरशैव-मतानुयायी वना, वहाँ भी अनेक ग्र थो की रचना की अनतर विवेक जागृत होने पर पुन जैनधर्म मे आकर आत्मकल्याण किया।

महाकवि के सवध मे एक कथा इस देश मे और भी प्रचलित है। उसका भी उल्लेख करना अनिवार्य है। महाकवि वाल्यकाल मे ही चारुकीर्ति योगी से दीक्षित होकर योगाभ्यास मे निरत रहता था। प्रात काल उठते ही अपने शिष्यो को एव अनुयायियो को उपदेश देने की उसकी परिपाटी थी। प्रतिदिन शिष्यो का समुदाय वढता जा रहा था। इसकी लोकप्रियता को देख कर कुछ ईर्षालुओ के हृदय मे द्वेषाग्नि धधक उठी, इसलिए किसी भी तरह इसकी निन्दा हो, इसका वे प्रयत्न करने लगे। एक दिन प्रात काल होने के पहिले ही कवि के काष्ठशयन (खाट) के नीचे एक वेश्या को लोगो ने छिपाकर रखा। उसके शिष्य पढने आये। जव वे पढ रहे थे तव वेश्या ने कगनो की आवाज की। विरोधियो ने जो उसी समुदाय मे वुद्धिपुरस्सर वैठे थे, उसी समय उस वेश्या को वाहर निकाला। महाकवि का अपमान किया। तत्क्षण कवि ने इनकी कुचेष्टा को जाना। वहाँ से उठा, किसीसे कुछ भी न वोलकर चलने लगा, नगर से वाहर गया, लोगो ने वहुत रोका, रुका नही। मुझे इन दुष्टो की सगति की आवश्यकता ही नही, मैं जाता हू, मुझे इस धर्म की ही जरूरत नही, यह कहकर एक पहाड पर चला गया। वहा पर एक शैव ग्र थ का हाथी पर जुलूस निकल रहा था। महाकवि ने उस ग्र थ को देखा। राजा से कहा कि इस ग्र थ मे कोई खास विशेषता नही, रस नही, फिर इसका इतना सन्मान क्यो? राजा ने कहा—मैंने तो महाकाव्य समझकर उसका सन्मान किया। परन्तु तुम कहते हो



कि उसमे रस नही तो रस क्या होता है ? तब रत्नाकार ने ९ महीने की अवधि मागी, और ९ महीनो मे भरतेशवैभव की रचनाकर राजा के दरबार मे सुनाया। सभी प्रसन्न हुए। राजा ने बडा सत्कार किया।

कवि की प्रतिभा व योगसामर्थ्य से प्रसन्न होकर राजा ने उसे वीरशैवधर्म को अगीकार करने के लिए आग्रह किया। राजा के आग्रह से वह वीरशैव मत मे दीक्षित हुआ, परन्तु बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन ही था, मेरे मरण काल मे जैन पद्धति से ही उत्तरक्रिया होनी चाहिए इस प्रकार उसने शर्त की। मरणसमय मे स्पष्ट कहा कि मैं बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन था। मैंने लिंगबधन नही किया था, उसमे एक सुपारी को बाधा है। उस परिस्थिति मे भी उसने अनेक वीरशैव ग्र थो की रचना की।

इन दोनो कथाओ को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर एक बात सत्य प्रतीत होती है कि कवि का पूर्व जीवन जैन धर्म मे, मध्य जीवन जैनियो के किसी दुष्ट व्यवहार से वीरशैव मत मे, और अ तिम जीवन पुन जैनधर्म मे व्यतीत हुआ। इसमे कोई सदेह नही रहता।

मतातर को प्राप्त करने के बाद महाकवि ने स्वय वहा रचित सोमेश्वरशतक मे निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख किया है, परन्तु वह श्लोक आधुनिक मुद्रित (सोमेश्वरशतक मे पाया नही जाता है, परन्तु प्राचीन ताडपत्र के ग्र थो मे उक्त श्लोक पाया जाता है। उससे भी स्पष्ट होता है कि महाकवि एक बार वीरशैव हो गया था तथापि उससे उसे आन्तरिक समाधान नही था। सोमेश्वरशतक का वह श्लोक इस प्रकार है—

वरसम्यक्त्व सुधर्म जैनमत दोलर्ता पुट्टियावीक्षेय
धरिसी सन्नुत काव्यशास्त्रगलुम निर्माणम माडुत ।
वररत्नाकर योगियेंदु निरुत वैराग्यवदेरला ।
हरदीक्षा व्रतनादेनै हरहरा श्रीचेन्न सोमेश्वरा ॥

अर्थात् मैं उत्तम सम्यक्त्वरूप जिनमत मे उत्पन्न हुआ। दीक्षाग्रहण कर अनेक काव्यशास्त्रो की रचना की और वह रत्नाकर योगी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु किसी कारण से विरक्ति उत्पन्न होने पर हर दीक्षा (शैवदीक्षा) ली, हरहरा। श्रीचन्न सोमेश्वरा, ऐसा क्यो हुआ ? कवि के द्वारा विरचित अनेक अध्यात्मगीतो मे भी इस सबध मे पश्चात्ताप का स्वर निकला है। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि श्रृ गार, अध्यात्म, त्याग, योग, मत्र, तत्र, आदि समस्त विद्याओ मे महाकवि सिद्ध योगी था। यह उसकी कृतियो से सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट होता है।

कालपरिचय

महाकवि के द्वारा विरचित त्रिलोकशतक मे स्वय इस ग्र थ के रचनाकाल के सबध मे कवि ने उल्लेख किया है **"मणिशैलगतिइ दुशालिक काल सदिरल्"** इस वाक्य से कवि ने इस ग्र थ की रचना शालिवाहन शक १४७९ और ई० सन् १५५७ मे की है यह स्पष्ट होता है। इससे कवि का काल १६वी शताब्दी का मध्ययुग मानने मे कोई आपत्ति नही है। साधारणत इतिहासविद् विद्वानो ने महाकवि के काल के सबध मे इस प्रकार ऊहापोह कर निणय किया है।

महाकवि का जन्म करीब सन् १५३२, त्रिलोकशतक की रचना करीब सन् १५५७, भरतेशवैभव की रचना करीब सन् १५६७, मतातरित होना करीब सन् १५७०, पुन जैनधर्म मे आना करीब सन १५७५, रत्नाकरशतक की रचना करीब सन १५७७, अपराजितशतक की रचना करीब सन १५८२, अध्यात्मगीतो की रचना करीब सन १५८७, महाकवि का महाप्रयाण करीब सन १६०० के बाद, इस प्रकार सक्षिप्त कालविवेचन है।

महाकवि की इतर रचनाएं

भरतेशवैभव महाकाव्य के अलावा कवि ने शतकत्रय नामक सुन्दर ग्र थ की रचना की है। यह ग्रथ रत्नाकरशतक अपराजितशतक और त्रिलोकशतक के नाम से प्रसिद्ध है। पहिले रत्नाकरशतक मे विशेषतया वैराग्यबोधक तत्त्वोप-

देश का वर्णन है, अपराजितशतक में भक्ति व वैराग्य का सुन्दर उपदेश है। यह दोनों कृतियां कवि की प्रौढ प्रतिभा का दर्शन कराती हैं। विविध छंदों में, अनेक उदाहरणों से सुन्दर विषयविवेचन में अध्यात्मरसिकों का चित्त इसकी ओर आकर्षित होता है। तीसरे त्रिलोकशतक में त्रिलोकसंबंधी वर्णन है। यह जैन भूगोल को समझने के लिए सरल काव्य है।

इसके अलावा कवि ने करीब २००० से भी अधिक अध्यात्मगीतों की रचना की है, जिनमें से सैकडों तो अभी उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन अध्यात्मगीतों की रचना में भी कवि की अध्यात्मप्रियता ओतप्रोत है।

कन्नड़ साहित्य का गौरव

प्रकृत विषयविवेचन के प्रसंग में कन्नड साहित्यकारों की परम्परा के संबंध में संक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन होने पर भी उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ साधारणतः पंप के साहित्यकाल से ही उपलब्ध होती हैं। करीब १०वें शतमान में महाकवि पंप ने आदिपुराण व भारत की रचना की। एक धार्मिक पुराण व दूसरा लौकिक पुराण। इस प्रकार लौकिक व धार्मिक, दोनों परम्परा के रसिकों का महाकवि ने उपकार किया। इसके बाद के प्रसिद्ध कवियों ने भी इसी का प्राय कुछ परम्परा तक अनुकरण किया। पंप के बाद पोन्न ने 'शांतिनाथ पुराण' और 'भुवनैकरामाभ्युदय' की रचना की। इनमें भी एक धार्मिक, दूसरा लौकिक काव्य है। इसका तीसरा ग्रंथ 'जिनाक्षरमाला' है, तदनन्तर रन्न कवि ने 'अजितनाथपुराण' (धार्मिक) व 'साहसभीमविजय' (लौकिक) की रचना की। इसकी परशुरामचरित, चक्रेश्वरचरित, ये दो कृतियाँ अभी अनुपलब्ध हैं। पंप, पोन्न और रन्न ये उस युग के कविरत्नत्रय कहलाते हैं।

तदनन्तर चामुण्डराय ने चामुण्डरायपुराण व शिवकोटी ने वड्डाराधना की रचना की। ये दोनों गद्यकाव्य हैं। तदनन्तर के कवियों में नागचन्द्र का उल्लेख बहुत आदर के साथ किया जा सकता है, जिसने रामचरित और मल्लिनाथपुराण की रचना की। यह अपने कृतिचातुर्य से अभिनव पंप कहलाया। इसके बाद महाकवि जन्न के द्वारा विरचित यशोधर-चरित्र, अनन्तनाथपुराण (चंपूकाव्य) मंगरस के द्वारा विरचित सम्यक्त्वकौमुदी जयनृपकाव्य, प्रभंजनचरित, श्रीपालचरित, नेमीश्वरजिनसंगति आदि, साल्व का भारत एवं दोड्डय्य का चंद्रप्रभपुराण आदि साहित्यजगत् के गौरव की वृद्धि में सहायक हुए हैं। इसके बाद सांगत्ययुग का प्रारम्भ होता है, जिसका उद्घाटन महाकवि रत्नाकर ने किया अर्थात् बाद के कवियों ने विशेषतः अनुकरण किया।

भारतीय साहित्य का गौरव

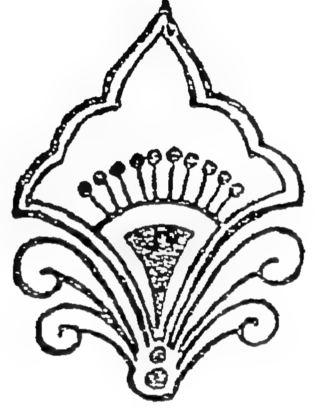
इस प्रकार भारतीय साहित्य के गौरव को बढाने में कर्नाटक जैन-साहित्यकारों ने भी बहुत बडा योगदान किया है। किं बहुना, कर्नाटक साहित्य की बहुभाग प्रौढ कृतियां जैन कवियों द्वारा विरचित हैं। आज विश्वविद्यालयों के पठनक्रम में भी उन कृतियों की नियुक्ति बहुत समादर के साथ की जाती है, यह जैन साहित्य भारतीय साहित्य-संसार के लिए ही नहीं संसार के लिए भी गौरव का विषय है।



महाकवि रत्नाकर ने युग की मांग को स्वीकार करते हुए अपनी रचना द्वारा साधारण मानवों तक पहुंचने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उस विशुद्ध ध्येय के कारण ही आज उनके साहित्य लोकप्रिय होकर जनसाधारण के हित में सर्वोपरि उत्तम साधन सिद्ध हुए हैं।

आज जनतंत्रशासन के युग में सर्वजनहिताय रचित साहित्य के लिए आदर का स्थान प्राप्त होना अनिवार्य एवं साहजिक है। अतः महाकवि रत्नाकर के द्वारा रचित भरतेशवैभव को भारतीय गौरव ग्रंथ का स्थान शासन-साहित्यविभाग ने दिया है, वह सर्वथा औचित्यपूर्ण उपक्रम है।

(लेखक द्वारा रत्नाकर का यह ग्रंथ व अन्य शतक साहित्य हिन्दी में अनुदित होकर प्रकाशित हुए हैं। जिनकी कई आवृत्तियां होकर लोकप्रिय हुई हैं। इतना ही नहीं, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में भी प्रकाश में आये हैं, अंग्रेजी में आने की प्रतीक्षा में है।)



अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

मुनि कान्तिसागरजी

भारत की पुरातन विद्याओ मे स्वास्थ्यविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इसे आयुर्वेद की सज्ञा से अभिहित किया गया है। इसका तात्पर्य, प्राण, स्वास्थ्य और दीर्घआयु से है। विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी है, यहा तक कि पशु भी स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं। वे अपनी भावी प्रजा के प्रति पूर्णतया सजग रहते हैं, मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी होने के साथ सामाजिक भी है, अत उसे अपने समाज तथा भावी पीढी के लिए स्वास्थ्य दृष्ट्या स्वभावत ही सावधान रहना पडता है। निरोगी जीवन केवल वैयक्तिक समस्या न होकर समष्ट्यात्मक है, सुदृढ और रोग रहित मानव ही स्वस्थ और प्रेरक समाज की रचना कर सकता है। समाज का मानसिक गहन चिन्तन और विकास भी उत्कृष्ट स्वास्थ्य पर अवलवित है, कहने की सम्भवत आवश्यकता नही कि मानव-सस्कृति के विकास मे पशुओ का योग भी कम नही रहा है, यहा वन, लता और गिरि-कदराएँ अनुपेक्षणीय हैं। हमारी सस्कृति का विकास ऐसे ही प्राकृतिक वायुमण्डल मे हुआ है। आयुर्वेद प्रणालिका के प्रोत्साहक ऋषि-मुनियो ने स्वास्थ्य का विचार करते समय जिस व्यापकता का परिचय दिया है वह आज के प्रगतिशील युग मे भी विस्मयजनक है। पश्वायुर्वेद और वृक्षायुर्वेद विषयक रचनाएँ इस कथन के समर्थन मे उपस्थित की जा सकती हैं, इतिहास के प्रकाश मे आयुर्वेद की कालप्रणालिका, अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अधिक उलझी हुई है। ऐसी कोई प्रामाणिक और आलोचनात्मक कृति भी उपलब्ध नही कि इसके क्रमिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाल सके। वेद और तत्परम्परानुयायी साहित्यानुशीलन से विदित होता है कि वेद-पूर्व काल मे भी आयुर्वेद का अस्तित्व था, कारण कि वेदो मे ऐसी अनेक ऋचाएँ सग्रहीत हैं जिनमे आयुर्वेद से सबद्ध विविध विषयो का सकलन एव निर्देश है, वेदो मे दीर्घायु के सबध मे मूल्यवान विषयो की व्याख्या की गई है। प्राण-तत्व की प्राप्ति ही वैदिक आयुर्वेद का लक्ष्य था। प्रकृति के रहस्य को आत्मसात् कर स्वास्थ्यमूलक नियमो का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश्य था। दीर्घायु का ही अपर नाम अमृत है, प्राण ही अमृत है—'अमृत वै प्राणा ।' वैदिक साहित्य इसी प्राण-विषयक समालोचना से परिपूर्ण है।

सुश्रुत और काश्यपादि सहिताकारो के अभिमत से भूतल पर मानवोत्पत्ति के पूर्व आयुर्वेद का प्रणयन हो चुका था, यथा —

इह खल्वायुर्वेद नाम यदुपागमथर्ववेदस्यानुत्वादृयैव प्रजा कृतवान् स्वयम्भू ।—सुश्रुत

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा सिसृक्षु प्रजाना परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् ।

—काश्यपसहिता

चरककार प्रजापति को ही आयुर्वेद का उद्भावक मानते हैं —

ब्रम्हणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेद प्रजापति ।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्तत ।

चरक० सूत्र० अ० १-४

किसी भी वैदिक सहिता मे पठ धातु की अनुपलब्धि ही इस वात की ओर सकेत करती है कि उन दिनो श्रवण और मनन का ही महत्व था, छान्दोग्योपनिषद् और गीता मे दोनो का विशिष्ट महत्व प्रतिपादित है। अध्ययन अध्यापन उस काल मे प्रवचन द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। आयुर्वेद के मूल ग्रन्थो से भी यही ध्वनित होता है। उदाहरणार्थ सुश्रुतसहिता मे सुश्रुत पृच्छक है और दिवोदास उत्तरदाता। यह पद्धति सर्वत्र थी। जैनागम-साहित्य भी इसका अपवाद नही है।

बौद्धिक क्षीणता, प्रसार और युग की मांग के कारण महामनीषियो ने आयुर्वेद को लिपिवद्ध किया। अनन्तर ग्रन्थस्थ साहित्य का चरक और नागार्जुन आदि विशेषज्ञो द्वारा प्रतिसम्स्कार हुआ। प्रतिमस्कार मे सक्षिप्त तथ्य का विस्तार एवम् अतिविस्तृत का सक्षेपीकरण हुआ। जैनागमो की वाचना के समान आयुर्वेद की परिषदो के माध्यम से भी समय-समय पर परिवर्द्धन होता गया। कालान्तर मे पूर्वलिखित सैद्धान्तिक विषयो पर अपने-अपने अनुभवो द्वारा मनीषियो ने स्वतन्त्र रचनाए की। इस प्रकार आयुर्वेद शताब्दियो के अनुभव के सहारे परिपुष्ट होता गया। इस निवध मे भी ऐसे ही प्रयासो का परिणाम ग्रथित किया जा रहा है।

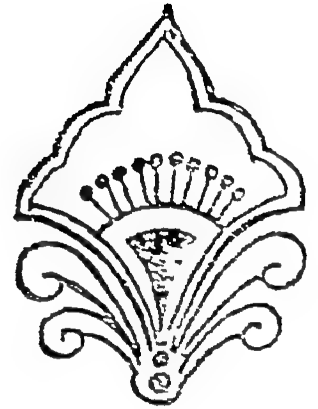
इसमे कोई सन्देह नही कि आज आयुर्वेद के प्रति भारतीय जन समुदाय पूर्वापेक्षया अधिक आकृष्ट है, तद्विषयक साहित्य भी पर्याप्त प्रकाश मे आया है, मूल सिद्धान्तो की समीक्षा भी हुई है—होती जा रही है, इन सब वातो के वावजूद भी कहना पड रहा है कि प्रकाशित साहित्य से भी अधिक रचनाए आज प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है, अनेक आयुर्वेद सबधी रचनाए पुरातन मठ मदिरो मे दिनानुदिन कीटको का भक्ष्य वन रही हैं और इसकी अलिखित परम्परा का प्रवाह तो इतना व्यापक है कि यदि उसका व्यवस्थित सकलन किया जाय तो कई खण्ड तैयार हो सकते हैं, इस पर हमारा ध्यान अभी नही गया है। रस, धातु, द्रव्यगुण विज्ञान और निदान से सबद्ध कई रचनाए आज भी ऐसी हैं जिनका अन्वेषण नितान्त वांछनीय है, इन सब कृतियो का महत्व इसलिए भी है कि शताब्दियो पूर्व के प्रयोगो का प्रत्येक समय मे कैसा उपयोग होता रहा और उनमे कैसे सामयिक परिवर्तन हुए आदि का ज्ञान परवर्ती रचनाओ द्वारा ही सभव है।

एक समय था जब अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण प्राच्यतत्वविदो मे यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगो ने आध्यात्मिक, धार्मिक और तार्किक विषयो मे ही प्रावीण्य प्राप्त किया था। भौतिक विषय उनसे अछूते ही हैं, परिणामत भौतिक याने प्रत्यक्ष को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता मे आधुनिक रूप से उतर आई है, अध्यात्मेतर विषयो को आत्मसात् करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयो मे नही रही, यह आरोप आयुर्वेद पर भी चरितार्थ होता है। सस्कृत साहित्य से सुपरिचित श्री ए० ए० मेकडोनल का वक्तव्य प्रेक्षणीय है —



1 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opinion of competent Judges who have hitherto exemined them is not favourable Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any sptitude for natural science, should have acomplished anything great in this direction Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses-'

'Imperial Gazetteer of India,' Vol II p 266



अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

मुनि कान्तिसागरजी

भारत की पुरातन विद्याओं में स्वास्थ्यविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इसे आयुर्वेद की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसका तात्पर्य, प्राण, स्वास्थ्य और दीर्घायु से है। विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी है, यहा तक कि पशु भी स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं। वे अपनी भावी प्रजा के प्रति पूर्णतया सजग रहते हैं, मनुष्य बुद्धि-जीवी प्राणी होने के साथ सामाजिक भी है, अत उसे अपने समाज तथा भावी पीढी के लिए स्वास्थ्य दृष्ट्या स्वभावत ही सावधान रहना पडता है। निरोगी जीवन केवल वैयक्तिक समस्या न होकर समष्ट्यात्मक है, सुदृढ और रोग रहित मानव ही स्वस्थ और प्रेरक समाज की रचना कर सकता है। समाज का मानसिक गहन चिन्तन और विकास भी उत्कृष्ट स्वास्थ्य पर अवलंबित है कहने की सम्भवत आवश्यकता नहीं कि मानव-संस्कृति के विकास में पशुओं का योग भी कम नहीं रहा है यहा वन, लता और गिरि-कंदराएँ अनुपेक्षणीय हैं। हमारी संस्कृति का विकास ऐसे ही प्राकृतिक वायुमण्डल में हुआ है। आयुर्वेद प्रणालिका के प्रोत्साहक ऋषि-मुनियों ने स्वास्थ्य का विचार करते समय जिस व्यापकता का परिचय दिया है वह आज के प्रगतिशील युग में भी विस्मयजनक है। पश्वायुर्वेद और वृक्षायुर्वेद विषयक रचनाएँ इस कथन के समर्थन में उपस्थित की जा सकती हैं, इतिहास के प्रकाश में आयुर्वेद की कालप्रणालिका अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक उलझी हुई है। ऐसी कोई प्रामाणिक और आलोचनात्मक कृति भी उपलब्ध नहीं कि इसके क्रमिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाल सके। वेद और तत्परम्परानुयायी साहित्यानुशीलन से विदित होता है कि वेद-पूर्व काल में भी आयुर्वेद का अस्तित्व था कारण कि वेदों में ऐसी अनेक ऋचाएँ सगृहीत हैं जिनमें आयुर्वेद से संबद्ध विविध विषयों का संकलन एवं निर्देश है, वेदों में दीर्घायु के संबंध में मूल्यवान विषयों की व्याख्या की गई है। प्राण-तत्व की प्राप्ति ही वैदिक आयुर्वेद का लक्ष्य था। प्रकृति के रहस्य को आत्मसात् कर स्वास्थ्यमूलक नियमों का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश था। दीर्घायु का ही अपर नाम अमृत है, प्राण ही अमृत है—'अमृत वै प्राणा'। वैदिक साहित्य इसी प्राण-विषयक समालोचना से परिपूर्ण है।

सुश्रुत और काश्यपादि संहिताकारों के अभिमत से भूतल पर मानवोत्पत्ति के पूर्व आयुर्वेद का प्रणयन हो चुका था, यथा —

इह खल्वायुर्वेदं नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा· कृतवान् स्वयम्भू ।—सुश्रुत

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा· सिसृक्षु प्रजाना परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् ।

—काश्यपसंहिता

चरककार प्रजापति को ही आयुर्वेद का उद्भावक मानते हैं —

> ब्रम्हणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेद प्रजापति ।
> जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्तत ।

चरक० सूत्र० अ० १-४

किसी भी वैदिक संहिता में पठ धातु की अनुपलब्धि ही इस बात की ओर संकेत करती है कि उन दिनों श्रवण और मनन का ही महत्व था, छान्दोग्योपनिषद् और गीता में दोनों का विशिष्ट महत्व प्रतिपादित है। अध्ययन अध्यापन उस काल में प्रवचन द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों से भी यही ध्वनित होता है। उदाहरणार्थ सुश्रुतसंहिता में सुश्रुत पृच्छक हैं और दिवोदास उत्तरदाता। यह पद्धति सर्वत्र थी। जैनागम-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

बौद्धिक क्षीणता, प्रसार और युग की माँग के कारण महामनीषियों ने आयुर्वेद को लिपिबद्ध किया। अनन्तर ग्रन्थस्थ साहित्य का चरक और नागार्जुन आदि विशेषज्ञों द्वारा प्रतिसंस्कार हुआ। प्रतिसंस्कार में संक्षिप्त तथ्य का विस्तार एवम् अतिविस्तृत का संक्षेपीकरण हुआ। जैनागमों की वाचना के समान आयुर्वेद की परिषदों के माध्यम से भी समय-समय पर परिवर्द्धन होता गया। कालान्तर में पूर्वनिर्दिष्ट सैद्धान्तिक विषयों पर अपने-अपने अनुभवों द्वारा मनीषियों ने स्वतन्त्र रचनाएं की। इस प्रकार आयुर्वेद शताब्दियों के अनुभव के सहारे परिपुष्ट होता गया। इस निबंध में भी ऐसे ही प्रयासों का परिणाम ग्रथित किया जा रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज आयुर्वेद के प्रति भारतीय जन समुदाय पूर्वापेक्षया अधिक आकृष्ट है, तद्विषयक साहित्य भी पर्याप्त प्रकाश में आया है, मूल सिद्धान्तों की समीक्षा भी हुई है—होती जा रही है, इन सब बातों के बावजूद भी कहना पड रहा है कि प्रकाशित साहित्य से भी अधिक रचनाएं आज प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं, अनेक आयुर्वेद संबंधी रचनाएं पुरातन मठ मंदिरों में दिनानुदिन कीटकों का भक्ष्य बन रही हैं और इनकी अलिखित परम्परा का प्रवाह तो इतना व्यापक है कि यदि उसका व्यवस्थित संकलन किया जाय तो कई खण्ड तैयार हो सकते हैं, इस पर हमारा ध्यान अभी नहीं गया है। रस, धातु, द्रव्यगुण विज्ञान और निदान से संबद्ध कई रचनाएं आज भी ऐसी हैं जिनका अन्वेषण नितान्त वांछनीय है, इन सब कृतियों का महत्व इसलिए भी है कि शताब्दियों पूर्व के प्रयोगों का प्रत्येक समय में कैसा उपयोग होता रहा और उनमें कैसे सामयिक परिवर्तन हुए आदि का ज्ञान परवर्ती रचनाओं द्वारा ही संभव है।

एक समय था जब अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण प्राच्यतत्वविदों में यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगों ने आध्यात्मिक, धार्मिक और तार्किक विषयों में ही प्रावीण्य प्राप्त किया था। भौतिक विषय उनसे अछूते ही हैं, परिणामत भौतिक याने प्रत्यक्ष को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता में आधुनिक रूप में उतर आई है, अध्यात्मेतर विषयों को आत्मसात् करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयों में नहीं रही, यह आरोप आयुर्वेद पर भी चरितार्थ होता है। संस्कृत साहित्य में सुपरिचित श्री ए० ए० मेक्डोनल का वक्तव्य प्रेक्षणीय है —

1 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opin on of competent Judges who have hitherto exemined them is not favourable Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any sptitude for natural science, should have acomplished anything great in this direction Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses.'

'Imperial Gazetteer of India,' Vol II p 266



करना पडे। जैसे मधुमेह के निरसन के लिये प्रयुक्त भस्मो को इन तन्द्रावेग नाशक वनस्पतियो के रसो के योग से बनाए तो तत्काल फल मिल जाता है। इन पक्तियो के लेखक ने हिंगुल तथा मधुमेह पर यह प्रक्रियाए कई बार प्रयुक्त की है। ऐसे आम्नाय ग्रथ १४ वी शती से मिलने प्रारभ हो जाते है, सभव है इन पूर्व के भी प्राप्त होते हो, पर मेरे सग्रह की कृतियो मे जो सर्वाधिक प्राचीन है वे रचनाए १४ वी की ही हैं और सुप्रसिद्ध जैनाचार्यो की पारम्परिक आम्नाये हैं। मुझे इन प्रयोगो ने कभी अपयश नही दिया। १० सकलन इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे है। यद्यपि इनके प्रयोग बहुलतया वानस्पतिक होते हैं अत अल्पव्ययी रुग्ण भी इनसे लाभान्वित हो सकते है। यहाँ स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओ मे केवल प्रयोग ही सग्रहीत हो सो बात नही है, कई तो निदान सयुक्त भी प्राप्त हैं। १६ शताब्दी का एक सकलन मेरे सग्रह मे है जिनमे आपाद-मस्तक सर्वांग का वर्णन, रोग, कारण, परिचर्या और चिकित्सा का विशद और प्रामाणिक विवेचन सकलित है। इसमे सग्रहकर्ता को जो योग जिस-जिस महानुभाव से प्राप्त हुआ है उनके नाम भी विद्यमान है। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलते हैं, जैसे **सिंहवाहनी** गुटिका के साथ महाराणा कुभा का नाम जुडा है।

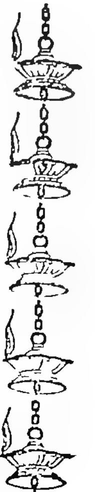
हा तो मैं कहने यह जा रहा था कि जिस प्रकार शास्त्रीय कृतियो के गवेषण व प्रकाशन और अनुसधान पर आज बल दिया जा रहा है उसी प्रकार ऐसे सकलनात्मक साहित्य पर सर्वाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यह हमारे पूर्वजो की वर्षों की शताधिकबार की परीक्षित अमूल्य निधि है। इन सग्रहात्मक रचनाओ के अतिरिक्त भी अनपढ जनता और वय प्राप्त मानव के कठ मे महान् औषधि-प्रयोग वर्षों से चले आ रहे है। उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वाछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहा दिग्गज विफल हो जाते हैं वहाँ ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल हो जाते हैं।

आज का युग खोज और अन्वेषण प्रधान है। अनुसधित्सुओ ने अपनी मूल्यवान् साधनाओ द्वारा कई ऐसी वस्तुओ पर प्रकाश डाला है कि उन चमत्कारो से आश्चर्यान्वित हो जाना पडता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नो की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोगनिवारणपद्धति है जिसने शताब्दियो से मानव के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने मे बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसधानो ने प्रमाणित कर दिया है कि आयुर्वेद की शक्ति अपार है। क्रान्तदर्शी ऋषियो की साधना आज नवमूल्याकन की अपेक्षा रखती है। उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य से भी अभी मूल्यवान् रचनाए अप्रकाशित अवस्था मे पडी हुई उद्धार की प्रतीक्षा मे है। प्राचीन ज्ञानागारो मे, सम्भ्रान्त परिवारो मे और मठ-मदिरो मे न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमको का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वाछनीय है।

इस प्रबध मे मैं अपने सग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्त ग्रथो का परिचय दे रहा हू जिनका सबध आयुर्वेद से है। यो तो सकलनात्मक प्रयोगो के १० बृहत्तर सग्रह तथा स्फुट पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी सख्या १००० से कम नही है, पर यहा तो केवल उन्ही का उल्लेख होगा जो स्वतन्त्र कृतिया हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

योगसुधानिधि

सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेक्ट के **केटलोगस् केटलोगम** मे इस कृति का उल्लेख, जहाँ तक मुझे स्मरण है, आया है और बताया गया है कि इसकी एक प्रति इडिया ओफिस लाइब्रेरी लदन और लाहौर मे किसी के सग्रहालय मे है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोली, दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र मे किसी भी इतिहास मे इसका उल्लेख नही हुआ है। सर्वप्रथम यही इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वदि मिश्र हैं। लेखक ने अपनी इस कृति मे विशेषकर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवशिक सस्कार के रूप मे लेखक को प्राप्त है जैसाकि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वय कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। वदि मिश्र ने कृति मे कई प्रयोगो मे अपने पूर्वजो द्वारा प्रवर्तित सज्ञा दी है। कवि को प्रान्तीय चिकित्सा पद्धतियो का भी अनुभव था जैसा कि



निनामी की चिकित्सा मे इस प्रकार उल्लेख किया है "तस्मिन्गुर्ज्जरदेऽजातसुयवा क्षारस्य चूर्ण क्षिपेदल्पपान विधानतो हरति तद्बालस्यनिर्नामिकाम्"

ग्रथकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह वयस्क नही हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था मे औषधि लेने की स्थिति नही होती उसके लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदनन्तर षष्ठिपूजा, कार्तिकपूजन, वशपूजा, शखपूजा, नारायनपूजा, षोडश मातृका पूजा, कुलदेवतापूजा, हलपूजा आदि कृत्यो के बाद सूर्यविलोकन सस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। तथा रोगो मे दाह, कुक्कुण, नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दतोद्भेद, निनामी, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतप्लीहाशोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, गृध्रसी, अस्थिसधान, भगदर, नाडीव्रण, उपदश, कुष्ट, शूक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फेंकना, विसर्प, विस्फोट और क्षुद्र रोगादि पर सुन्दर पकाश डाला गया है। कामला पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पडता है—

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्रशुद्धमण्डूर सर्प्पिषा मधुना सह।
भक्षयेत्पाण्डुरोगघ्न, पक्तिशूलहर शिशो ॥
लोहपाने स्थित क्षीर सप्ताह पथ्यभुक्शिशु।
पिबेत्वावामपहर, ग्रहणी सोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अजयेत्कामलार्त्तांना चक्षुषो दोषशान्तये।
निशा गैरिक धात्रीभि र्द्रोणिपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्क तु 'पिबेत्तक्रेण वा शिशु।

उपर्युक्त सभी पयोग लेखक के शतशोनुभूत है।

कृति के अन्त परीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सापद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिये रावण कृत कुमारतत्र का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। विशेष कर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो मे तो वृद्धत्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौन-सा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनो विभागो मे लेखक ने अनेक स्थान पर मत्र और यत्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन अन्य एतद्विषयक कृतियो मे इस पकार की परम्परा पाई जाती है। विद्वत्परिचयार्थ कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणशाय नम

नत्वा धन्वतरीं भक्त्या चिकित्सां क्षीरनीरधिम्।
विलोपय बुध्या बहुश फलाभि सकलकृत ॥१॥
गदधर्मार्त्त बालाना सुखाय भिषजा तथा।
क्रियते वन्दिमिश्रेण सोऽय योगसुधानिधि ॥६॥
रौराज्यरम्य पुरभिष्टशस्य, मनोरम श्रोत्रियमदिरश्च।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, स वैद्यपुज्यो हि भवानीदास ॥३॥

पुत्रोथ द्विजराजवन्दितपद श्रीमान्सत वल्लभ ।
स्फूहाद्गोत्रधरो बभूव भिषजां मान्यस्य नारायण ।।४।।

कल्याणोऽस्य सुतस्समस्तभुवनानन्दैकहेतु ततो ।
जातोसौ जगदीश्वरो भुविगतो विष्णुरिवाशस्वयम् ।।५।।

विन्दमिश्रेणात्मजेनास्य सोय ग्रथ पु सां व्याधिवधायबद्ध ।
सर्वे योगा यत्रमत्रादयोस्मिन्निसद्धाएव श्रीभवानीवरेण ।।६।।

ग्रन्थकार ने आत्मवृत्त देने मे कृपणता कर दी है। जहां से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई उन सज्जन का कथन है कि हमारी परम्परा मे यह प्रसिद्ध रहा है कि ये भावमिश्र के प्रपौत्र थे जिसकी रचना भावप्रकाश प्राप्त है। परन्तु वह कोरी किंवदन्ती है, इसके पीछे कोई ठोस आधार नही है, अत प्रमाणभूत ऐतिहासिक साधन जब तक न मिले तब तक इनका अस्तित्व समय अन्धकार के गर्भ मे ही रहेगा। हां भावमिश्र का समय सुनिश्चित होता तब भी कोई बात नही थी, पर उनका भी काल अज्ञात ही है। यहां तो इतना ही निस्सकोच कहा जा सकता है कि यह कृति आग्ल सपकके बाद की है अर्थात् सत्रहवी शताब्दी के अनन्तर ही इसका प्रणयन हुआ होगा, क्योकि इसमे उपदेश का स्पष्ट उल्लेख है। अनुसधित्सुओ से विनम्र निवेदन है कि यदि किसी के सग्रह मे इसकी अन्य प्रति प्राप्त हो तो इन पक्तियो के लेखक को सूचित करने का कष्ट करे। इसकी मुद्रण योग्य प्रतिलिपि मैंने तैयार कर ली है। इसका प्रकाशन नितान्त वाछनीय है।

गुणरत्नमाला

हिस्ट्री आफ इडियन मेडिसीन मे सुप्रसिद्ध आयुर्वेद गवेपक श्री जोली ने उपर्युक्त कृति का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि इसकी एक प्रति लडन के "इडिया आफिस" सग्रहालय मे सुरक्षित है। श्रीयुत दुर्गाशकर भाई केवलरामजी शास्त्री ने भी अपने **आयुर्वेद के इतिहास** मे इसी बात को दुहराया है। इससे यही फलित होता है कि भारत मे कही भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नही है। मेरे उदयपुर निवास दरम्यान स्थानीय विद्वान् श्री **आलमशाह** खान सा० ने मुझे अपने सग्रह के पुराने हाथ के लिखे स्फुट पन्नो का ढेर बताया। उसमे यह कृति आकस्मिक रूप से प्राप्त हो गई और इनने मुझे अपने सग्रह के लिये सहर्ष समर्पित भी कर दी। सभव है अन्य विद्वानो के वैयक्तिक सग्रह मे भी दूसरी प्रति उपलब्ध हो जाय, इस प्रति के प्रारभ मे २ से लगाकर १४ पत्र विलुप्त हैं।

अभी तक भावमिश्र की केवल एक ही रचना "भावप्रकाश" प्रसिद्ध थी और जब इस कृति का नाम अनुसधायको ने सुना तो बडी प्रसन्नता हुई होगी। अन्वेषण का यह सामान्य नियम रहा है कि किसी भी कृतिकार की आत्मा को यदि पहचानना है तो उनकी रचनाओ का अनुशीलन नितान्त वाछनीय है। जैसा कि मैं पूर्व ही अपने आयुर्वेदिक सीमित ज्ञान का उल्लेख कर चुका हू, तथापि मैंने विषय की दृष्टि से भावप्रकाश को देखा और गुणरत्नमाला को भी समझने का प्रयास किया तो पता चला कि यह कृति भले ही स्वतत्र रचना प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुत यह भावप्रकाश का ही एक अ ग है। या यो कहना चाहिए कि भाव मिश्रजी ने प्रथम इसका प्रणयन किया तदनन्तर इसी का विस्तार भावप्रकाश मे किया, कारण कि कृति का अधिक तो नही पर आशिक जो परीक्षण किया और शालिग्राम वैश्य सपादित भावप्रकाश के साथ इसमे वर्णित विषयो का निरीक्षण किया तो स्पष्ट हो गया है कि इसमे केवल द्रव्य गुण विज्ञान का ही समावेश है, आगे ऋतुचर्या, परिचर्या और सामान्य वातादि के गुण दोषो की चर्चा है। और कृति समाप्त हो जाती है।



द्रव्य गुण विज्ञान का सक्षिप्त रूप मैं इसलिए कहता हू कि भावप्रकाश मे वनस्पति नाम, पहचान के बाद गुणों का वर्णन किया है जब कि इसमे केवल गुणो का ही विवेचन है। इसके सभी श्लोक भावप्रकाश से मिलते हैं। वर्णन क्रम भी भावप्रकाश के ही अनुकूल है। मेरा तो यही अनुमान है कि भावमिश्र ने बालबुद्धि वैद्यो के लिये, विद्यार्थियो के लिये ही सक्षिप्त मे तैयार किया है। चिकित्सा को छोडकर यदि इस गुणरत्नमाला को भावप्रकाश का सक्षिप्त सस्करण कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।

गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश मे आया कि सुप्रसिद्ध विद्वान् भावमिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था।

रसायनसार और सुखीजीवन प्रकाश

उदयपुर के निवासी सुखबाल विप्र की ये दोनो कृतियाँ हैं। ये अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासो मे अनुल्लिखित कवि हैं। आयुर्वेद के इतिहासो मे भी इनका नाम नही मिलता है। इन कृतियो का अपना-अपना महत्व है। दोनो का सबध रसायन शास्त्र से है जिनका उद्देश्य धातुपरिवर्तन विद्या से है। इन कृतियो का उद्धार कबाडियो से किया गया है।

आयुर्वेद मे रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है। एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान धातु मे परिवर्तन कर देना भारतीयो का ही कौशल है। नागार्जुन इस विषय के आचार्य माने जाते रहे हैं। यद्यपि इन कृतियो पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही स्वल्प विश्वास करते है, पर जिनकी रुचि इन ग्रन्थो मे हैं और वर्षो से जो परिश्रम करते रहे हैं वे सफल ही हुए हैं। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी रसायन का अपना बहुत ही ऊचा स्थान है। रसचिकित्सा शीघ्र फलदायिनी होती है। रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है।

कवि की प्रथम कृति '**रसायनसार**' है जिसमे रसायन निर्माण की ३२ प्रक्रियाओ का विशद् विवेचन है। दूसरी रचना मे धातुओ की शुद्धि और कृत्रिम मणिरत्नो का विधान दिया गया है। ताबरा को स्वच्छ कर माणिक के रस मे कैसे परिवर्त्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, रत्नो पर पानी कैसे चढाया जाता है आदि कई उपादेय विषयो पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है। इन आश्चर्योत्पादक प्रयोगो पर सामाजिक विश्वास होना कठिन ही है, अत कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुगम के आधार से ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नही है। इन पक्तियो के लेखक की दृष्टि मे और भी इस विषय की रचनाएँ और स्फुट प्रयोग देखने मे आये हैं। नही कहा जा सकता है इस मे कितना सत्यांश है। कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग मे प्रमाण देने की आवश्यकता नही रहती।

कवि ने कृति मे जो रचनासवत् दिया है उस से पता चलता है कि वह स० १७०० मे विद्यमान था। "राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्र थो की खोज" भाग एक मे इनकी एक और कृति" "शकुन सवछरसार" उल्लिखित है। इसका रचना काल मेनारियाने स०१७६० दिया है जो विचारणीय है कारण कि रसायनसार मे कवि ने आत्मवृत्त देते हुए इसका प्रणयन समय स०१७००भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसी हृदयानन्द जोशी को महाराणा सग्रामसिह द्वितीय (राज्य काल स० १७६८-१७६०) का आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन मे एक भी सम-सामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नही किया है। मेनारिया स्वय उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते हैं। कही ऐसा तो नही है कि उनने अपनी ही रिपोर्ट मे प्रदत्त "नेउवै" शब्द को नही मान कर महाराणा आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो? रसायनसार मे "सवत् सत्रह सइकरै" स्पष्ट अ कित है।

कवि का लघुनाम 'नन्द" था। ये भारती गुसाई के परम भक्त थे। कृति मे बार-बार भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्ही को दिया है। यह कहने की यहाँ शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसाईयो का बहुत प्राचीन सबध रहा है। १८वी शताब्दी के जैन विज्ञप्तिपत्रो मे और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनो मे उनका वैभव वर्णित है। लादूवास के गुसाई प्रसिद्ध हैं।

यहाँ पर स्पष्टता वाछनीय है कि यदि कवि महाराणा सग्रामसिह द्वितीय का आश्रित होता तो कम-से कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि ग्र थान्त मे आश्रयदाता की ही कृति बता दिया करते

थे, वल्कि इनके विपरीत मेनारिया ने जो उद्धरण दिया है उसमे तो कवि का उदयपुर का होना तक प्रमाणित नहीं होता। आज भी उदयपुर मे इस जाति के पर्याप्त घर हैं। विद्वत्परिचयार्थ कृति के आदि और अत भागो के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने रसायनसार का नाम "रसराज बोधप्रकाश" भी सूचित किया है—

रसराजबोध प्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नम

अथ गुसाई भारथीजी कृत रसायण ग्र थ लिख्यते

दोहा

प्रनमे गुरु इक भारती जिन घट कियो उजास।
और अनेक सुशिस्य गुरु वचने वचन प्रकास ॥१॥
जिनतें वस्तु भली मिलें सोई सतगुरु जान।
वस्तु भुला दें गांठ की सो कुसग कुवधान ॥२॥

चन्द्रयनो

सपत धात उप धात चतुरवस जानीयें।
इनमे सब ही क्ष्याल षिलार वषांनीयें ॥
उतपतिय है वैद्य षिलारी सब कहे ।
हरि हा वैसी गुरगम होय सो तैसी विध लहे ॥३॥
धात हि धात वैद्य कहो उपधात यो ।
कहो धात उपधात आदि ज्यु जांनियों ॥
उतपति सब क्ष्याल पिलारी यों कहे ।
थिरता वैद्य कलक क्यों पेंहचानियें ॥४॥

अन्त भाग—

सवत सत्रेह सइकरे भादों उज्जल पक्ष।
तिथि पांचम रविवार युत, रचना रची सु दक्ष ॥
सिषिवाल नि में सोभतो जोसी हृदयानन्द ।
चागिन गोत्रे चामुण्डा, पिता सु ताराचद ॥
नगर उदैपुर के विषें कवि न व कौ वास।
सद्य रसायन ग्रथ को जग में कर्यो प्रकास ॥

इतिश्री ताराचन्द सुत सिषवाल गोत्रे हृदयानन्द विरचिते "रसराजबोध प्रकास ग्रथ धातुरवाद विचारनीय समाप्त ॥



सुख सजीवन प्रकाश

आदि—

सुखसजीवन प्रकाश भाषा जोसी हृदयानद कृत लिख्यते ।

दोहा

कहै नन्द कर जोरिकै सुनि दशनामी राय ।
सुखसजीवनप्रकाश को सतगुर कथा सुनाय ॥१॥
जो मति सुनि जीवै विदुर, नित प्रति चपल उपाय ।
विधि-विधि वस्तु अनेक 'जिहा', पराधीन दुष पाय ॥२॥
जो सद विद्या जगत मे जिनमे षोट न होय ।
कै हैं कृपासु भारथी सुष सु जीव उपाय ॥३॥

अन्त—

पल इक हीरा हींग सु सुद्ध मगाइयै ।
दुगुनो नागरमोथ मध्य मिलाइयै ॥
लवन कुली इक पोत सु प्यार पल का हियै ।
हरि हा अष्ट निवौरो मींग सु पाली सराहोयै ॥
उडद मु ग की पिष्ट सुकौरम जानियै ।
वीलागिरक बत्तीस परपक ठानियै ।
हरि हां टाक एक थफिम मसाला मानियै ।
गाडर दूध मिलाय र वस्त घसाइयै ॥
अति सूछम जब होई पींड बधाइयै ।
आले गर्द्ध के चर्म ताहि मराइयै ॥
इति हींग पचम विधि सम्पूर्ण

सुषसजीवन प्रकास जोसी हृदयानन्द कृत भाषा बाईसमी विधि समाप्त ।

लंघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति मे पथ्य और लघन का अमुक रोगो मे विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुत पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्व है। रोग निवारण मे दोनो की उपयोगिता असदिग्ध है। इस विषय पर मनीषियो ने गभीरता पूर्वक विचार किया है। वह वैद्यक का ऐसा अ ग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ बनाए रखने के लिए भी माह मे एकाधवार लघन करना समुचित ही है। जिस रचना पर यहां विचार किया जा रहा है वह सूचित परिचर्या का एक अ ग ही है। किस-किस रोग मे कितने दिनो तक अनाहार रहा जाय और किन-किन रोगो मे क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि बातो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है। यह बताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते हैं। इस मे विशेषत मारू और जागलादि राजस्थान के जलवायु को ध्यान मे रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है। औषधि के परम सहयोगी तत्व पर पाश्चात्य-चिकित्सको ने सभवत इतना ध्यान नहीं दिया है।

इस कृति के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयातिलक के शिष्य थे। महामहोपाध्याय दयातिलक स्वयं कवि और नयमी सत थे। इनकी अन्य रचनाएँ १८वीं शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने लघनपथ्य निर्णय का प्रणयन महाराजा जयसिंह के राज्य मे उन्हीं के पाटनगर जयपुर मे स० १८९२ माघ शुक्ला प्रतिपदा बृहस्पतिवार को किया। इससे विदित होता है कि इनका सस्कृत भाषा पर अधिकार था। अपने अनुभवमूलक विचारों को बहुत ही सरल और सुबोध भाषा मे उपस्थित कर सामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालो के लिए महदुपकार किया है।

"जैन सिद्धान्त भास्कर" भाग ५, किरण २, पृष्ठ ११५ पर लघनपथ्य विचार नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय स० १७९२ ही है, पर वहाँ प्रणेता का नाम दीपचन्द दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि—

श्रीसर्वज्ञ नमस्कृत्य त्रयतापनिवारक ।
चतुर्गतिप्रहर्त्ता च सर्वसौख्यप्रदायक ॥१॥
परमात्मा पर ज्योतिश्चिदानन्दमय मह ।
अज्ञानध्वान्त नष्टस्य केवलज्ञानदायक ॥२॥
सुवेषा च मनोज्ञा च मुक्ताभरणभूषिता ।
हसवाहिनी या सा शारदा वरदास्तु न ॥३॥
गणनाथ नमस्कृत्य किल विघ्ननिवारक ।
मगल श्रेयकर्ता च गौर्यापुत्र नमोस्तु ते ॥४॥
धन्वतरि नमस्कृत्व सर्वरोगापहारक ।
आयुर्वेदस्य वक्ता च आयुर्दाता यश प्रद ॥५॥
महामहोपाध्याय श्रीपूर्वदयातिलक सद्गुरून् हि।
सच्चरणं प्रणम्यादौ मया ग्रथ विरच्यते ॥६॥
पचैतान्नमस्कृत्य पचैते विघ्नवारका ।
पचैते श्रेयकर्ता च पचैते च यश प्रदा ॥७॥

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य सपूज्य नमस्कृत्य गुरु प्रति ।
सर्वशास्त्रादि सवीक्ष्य आत्मबुद्ध्यानुसारत ॥३३५॥
द्विनन्दमुनिभूपवर्षे मासे च माघ सज्ञके ।
शुक्ले प्रतिपदाया च वासरे भृगुसज्ञके ॥३३६॥
सपूर्ण क्रियते ग्र थ निर्णयपथ्यलघनम् ।
श्रीजयपुरे महारम्ये राज्ये जयसिहभूपते ॥३३७॥
पूर्णग्रन्थ मनोज्ञश्च वैद्याना च हितावहे ।
मुखाधीत कृतो येन विद्वन्मध्ये तु शोभते ॥३३८॥
कपोल कलितं चास्ति पूर्वाचार्यानुसारत ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रत ॥३३९॥



मया च मदबुद्ध्या च कुर्यात्पथ्य च निर्णय ।
शुद्धाशुद्ध च विज्ञाय मम कोपो न कार्यता ॥३४०॥
कृपा कुरुध्व भो सतो मम विज्ञप्ति एव च ।
यावद्विजयते ग्रथ तावच्चद्र दिवाकरौ ॥३४१॥
इतिश्री लघनपथ्यनिर्णय ग्रथ सपूर्ण
शुभ भूयात् श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

वैद्यबोध

इसके प्रणेता चरणदासी सप्रदाय के सन्तप्रवर श्री अखैरामजी है। ये न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु जनसेवा भी उनका आवश्यक व्रत था। प्रस्तुत रचना मे उनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है कवि ने **ज्वरदर्पण** वृदविनोद, **भावप्रकाश, सन्निपात-लक्षण, त्रिशति योगचिंतामणि, योगशतक, वीरसिंहावलोक, कालज्ञान, कुमारतत्र** और बालचिकित्सा जैसे वैद्यक के प्रमाणिक ग्रथो का आधार स्थान-स्थान पर टकित किया है। इन्ही से उनका अध्यवसाय झलकता है। कृति मे कवि ने दो बातो पर विशेष ध्यान दिया है एक तो यह कि रोगनिवारणार्थ जो भी औषधियाँ हैं सभी काष्टिक ही हैं जो लगभग राजस्थान मे ही सरलता से सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं। दूसरा अधिकतर उन रोगो का ही विवेचन है जिनका सवन्ध मुख्यतया राजस्थान की जनता से है। यद्यपि रोगो का जहाँ तक प्रश्न है उन्हे किसी प्रान्त विशेष की सीमा मे आबद्ध नही किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैशिष्ट्य को लिए हुए तो रहती है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन है जैसे नेहरू।

मेरे पास इस की मूल प्रति लगभग ७ वर्ष से है और मैंने इसके कई प्रयोग अजमाये है, सफलता ही मिली है। इसमे पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुन्दर और विस्तार से लिखी है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहा दे देना आवश्यक है—

देवदार, कूठ, भारगी, दोनो हल्दिये, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पाषाणभेद, कुडावीज वच, चित्रक, विधारा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी ककोल, पद्म, खग दोनो अजवाहन, नागरमोथ, पतीस, अतीस, अजमोद, सतावरी, पुनर्नवा, कुलिजन, जाय फल जावत्री, कायफल, लौग, अहिफेन, राई, मालकागणी, कपूर काचरी, इन सब वस्तुओ को कूट कर तैल बनाना चाहिए, इसमे आकडा, धतूरा, भागरा, कुमार, अरडी, सरजना, अडूसा, कटेरी, निर्गुण्डी आदि का रस पाचक करना आवश्यक है। विधिवत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यो न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इस का व्यवहार ७ वर्ष मे कर रहा हू, सामान्यत यह तैल चोट, मोच, लग जाना, वादीआजाना, चणक आदि अनेक वात विपयक रोगो पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो-जो लक्षण कृति मे बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इसकी मालीश अधिक दिनो तक भी की जा सकती हैं। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत वताया है पर विशष ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वथा निषिद्ध है।

इसमे भी बाल और स्त्रीचिकित्सा के स्वतत्र प्रकरण हैं। कई रोगो पर तो अनेक अद्भुत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आख का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगो पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मूलपाठ मे भाषा की त्रुटियाँ हैं, मौलिकता की रक्षा की दृष्टि से पाठ ज्यो का त्यो मुद्रित किया जा रहा है—स०

कवि का विशेष वृत्त जानने के लिए 'भारतीय साहित्य' का प्रथमांक देखना चाहिए जो आगरा विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

विद्वत्तरिचियार्थ कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्री गणेशाय नम

अखैराम कृत वैद्यबोध ग्रंथ भाषा लिख्यते—प्रथम श्रीगणेशजी कू मंगलाचरण करत है—

छप्पै

एक रदन गज वदन सकल तत्वारथ न्यासी।
जोग जुक्ति अहिनिसि भाल इक चंद प्रकासी ॥
पाटवर वनि पोति हृदि दरसीइ हुअ छिय।
भुज कंकण नी काति लाल मुक्ताह लसछिय।
अखैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूर्व दल दीजिये।
सरस उकति इच्छा तणी नावत प्रणम तुव कीज्जिये ॥१॥

सुखदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

दिग अंबर द्विज पुत्र है, व्यावै अलख अभेव।
लोक तीन मे गति सदा जय-जय श्रीसुखदेव ॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरदेवजी तुम देवन के देव।
तुम सेवन पातक नसै लहै अमरपुर सेव ॥३॥
निराकार आकार हरि अगम अगोचर देव।
कई रुप निह रुप हो कोईय न पावै भेव ॥४॥
गुरु किरपा जानी यही हरि विन और न कोय।
थिर चर कीट पजत मैं व्याप रह्यो हरि सोय ॥५॥

बहुरि चरनदाजी कू स्तुति करते हैं—

दोहा

चरणदास सतगुरु तणा चरण नमूं निस दीस।
अलिय विघन दूरै हरै निश्चय जानै जगीस ॥६॥

बहुरि छीनाजी की स्तुति करत है—

दोहा

गुरु छीना गुन आगरे दया दृष्टि अतिसार।
ताहि कृपा करि कीजियै वैद्य ग्रंथ विस्तार ॥७॥



गुर छौंनां किरपा करी लहू ग्रथन को भेव।
बुद्धि सुद्धि मोहि दीजिये अविनासी गुरुदेव ॥८॥
गुरु छौनां परताप सू तम अज्ञान नसाय।
गुपत बात परगट लहै आनन्द नाहि समाय ॥९॥
अखैराम के सदगुरु गुरु छौंना सुख कद।
चिंता टारन भै हरन मेटत सब सुख दद ॥१०॥
तुच्छ बुद्धि मम अलप है ग्रथ करन को चाव।
जैसे पिंगल पुरुष को गिरि बढ़णे को चाव ॥११॥
अखैराम की बीनती गुरु ईश्वर सुनि लेह।
बुद्धि सुद्धि सुख धाम के मो हिरदे सुख देह ॥१२॥
बार बार परनाम कर कर जोड़ु सरि नाय।
सतगुर तुम्हरी सरन हौं सब सवेह मिटाय ॥१३॥

अन्त—

चौपाई

वैद्यबोध यह नाम बखान्यो बहुत ग्रथ को भेद सु ठान्यो।
मम मति अलप कहा उनमाना ग्रन्थ अपार अब्धि सम जाना ॥
गुरु किरपा तें ज्ञान लह्यो है वैद्यबोध यह ग्रथ कह्यो है।
पुनि वय देखि चिकित्सा कीजै युक्ता-युक्त विचार जु दीजै ॥
देस काल अरु दन्हि विचारो व्याधि औषधि सब चित्त धारो।
इह विचार करि दीजै सोई अखैराम भाषित इह होई ॥

अथ ग्रन्थ वचन—

तैल नीर मिषी जु कहेई इनसे रिक्षा करि तुम लेई।
सियल वध तैं रिक्षा कीज्यो मूढ धीय कै कर मति दीज्यो ॥

छप्पै

ख-सर-नाग तुम जानि रूप धरि सवत कहिये।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहिये ॥
पुनि बिरचि तिथि जानि सूर्य सुतवार बखांनू।
ता दिन ग्रथ समाप्ति होत अति हर्षित जानू ॥
श्री सवाई जयनगर मे ग्रथ पूर्णता जानिये।
गुरु प्रसाद तैं इह सही वैद्यवोध बखानिये ॥

इति श्री अखैराम कृत वैद्यवोध भाषाया वात रक्त उरुस्थभन आम वात परिणाम सूल सूल उदावृत्त हृद्रोग मूत्रकृच्छ्रच्छादि प्रमेह—।

इन पक्तियों के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगों को—पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, आंख आदि आदि—कई वार अजमाया है, पर असफलता न मिली।

लक्ष्मी प्रकाश

इसके प्रणेता प० लक्ष्मीचन्द जैन हैं। स० १९३८ मे इसे पूर्ण किया। इस रचना की विशेषता यह है कि इसमे प्रयुक्त लगभग सभी रोग स्वानुभवमूलक हैं। कृतिकार ने स्थान-स्थान पर इसकी सूचना दी है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमे सर्वप्रथम रोग का निदान और पूर्व लक्षण विस्तार से दिए हैं, तदनन्तर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है। जिन-जिन सज्जनो से लेखक को रोग प्राप्त हुए उनके नामो का भी कवि ने कृतज्ञता के साथ उल्लेख किया है। वागभट, माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रथो की सहायता ली गई है—

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकू सुमरिये दूजो सारदा माय।
ज्ञानी गुन गावै सदा ध्यानी धरै जु ध्याय ॥१॥
सर्व हि विघ्न निवारिकैं पचपरमेष्ठी सार।
सदा काल तिनकों नमो भवदधि पार उतार ॥
वैद्य धन्वन्तरि कों नमों नमू वागभट सार।
संस्कृत अनुसार नय कहूं ज भाषा सार ॥२॥

अन्त भाग—

रोगी रोग निदान करि पीछे औषध देय।
याको निकई जानिकैं ताकी विधि करैय ॥
जाति चिकित्सा रोग की वात पित्त कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानिये सर्व रोग की लादी ॥
लक्ष्मी प्रकाशज ग्रथ है पूर्व ग्रंथ की साख।
माधव ग्रथ निदान कृत भावप्रकाश की साख ॥
योगचिंतामणि उपाय करि चरक वागभट जान।
शारंगधर इत्यादि सब एही उपाय बखान ॥
साको अठारा मे कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन में यो ग्रथ है इह विधि कही जिताय ॥
सवत उगणीसै अधिक वर्ष ऊपरी सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन करि प्रगटीस।
सिंघ लग्न में पूर्ण हैं लक्ष्मी ग्रंथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रथ वरण को भाव ॥
शहर पचारी शुभ बसो जैनि जन को वास।
ता विध मदिर जैन को भगवत को निज दास ॥
निज सेवक हैं भक्तजन बुध कुशाल अरु चंद।
ता कुल को अरुमान है ताके शिष्य नैनचन्द ॥
ताकइ शिष्य मोतीरम है ताके शिष्य श्रीलाल।
ताके शिष्य लक्ष्मीचंद है ताके शिष्य महिलाल ॥
बुध लक्ष्मीचद कीजिये ग्रथ पढनो नहीं चन्द।
ता गुन वर्धन कारणे हित मित करि आनन्द ॥





साधु सत दयाल की कृपा भई हित काल।
बाल बुद्धि कै कारणं प्रगट करि जो विचार॥
पूर्व ग्र थ की साख्य करि अल्प बुद्धि अनुसार।
श्रद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार॥
बुधजन लक्ष्मीचद कृत आतम हित के काज।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्र थ समाज॥
दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान।
एक सहस्र अरु सातसै उपरि वीस बखाण॥
॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रथ सपूरण॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० स० १९४५ का लिपीकृत ब्राह्मण रामनाथेन साषूणि मध्ये लिलेख॥ पठनार्थ बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के ताई॥

निघंटु

किसी भी देश की चिकित्सापद्धति मे द्रव्य गुणविज्ञान का महत्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्व का समुचित ज्ञान नही होता तबतक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नही माना जाता। प्राचीन भारतीयो ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यो का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के **अनुपानविधि** (सू अ २७) अध्याय मे खाद्य वस्तुओ की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषो पर वेधक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८वें अध्याय मे ३७ द्रव्यगुणो की परिगणना है—जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व इस बात का स्पष्टीकरण वाछनीय है कि द्रव्यगुण विज्ञान के बीज चरक मे होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृहत्त्रयी के बाद का है। प्राप्त निघटुओ मे सर्वप्राचीन धन्वतरि निघटु का माना जाता है, पर वनस्पतिशास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नही है। ५वी शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियो के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नही था। मालवपति मु ज के समकालिक कवि **हलायुध** की **अभिधान रत्नमाला** और **चक्रदत्त के द्रव्यगुणसग्रह** को प्राचीन निघटु मानने मे आपत्ति नही है। दोनो कृतिकार चरक से परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नही है ऐसा नही कहा जा सकता है। इस की कृति को **द्रव्यावलि** की सज्ञा से अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शती के गुजराती विद्वान् **शोढल** को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारो को विस्तार से उपस्थित किया। भेद प्रभेदो पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिसने न अपने **गदनिग्रह** मे अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य केशव प्रणीत **सिद्धमत्र** भी अनुपेक्षणीय नही। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघटु है तो वह **मदनपाल निघटु** है जिस की रचना १४ वे शतक मे होना प्रमाणित है। डा० राजेन्द्रलाल मित्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथजी रेऊजी ने इसे कनौज का गहरवार वशीय माना है, पर प्रकाशित निघटु की प्रशस्ति से स्वत सिद्ध है कि ये जमनातटीय काष्ठ देशीय नरेश थे जिसकी अवस्थिति दिल्ली से उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघटु की रचना करते समय एतद्विषयक अन्य सामग्री का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघटु रहे होगे। अभिधानचूडामणि भी एक मूल्यवान कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय औषधि शास्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि मे इस कृति का विशेष महत्व है। विस्मृत वनस्पतियो के नाम भी इस मे विद्यमान हैं। सापेक्षत यह औषधो के अधिक नाम देता है। यहा क्षेम शर्मा के "क्षेम कुतूहल" को विस्मृत नही कर सकते

जिमकी रचना स० १६०५ मे हुई है। पाकशास्त्र का विशद् विवेचन इसी मे प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देते हुए सूचित किया है कि मेरे प्रपितामह ने दिल्ली के सुलतान की सेवा कर १२ ग्राम प्राप्त किये थे। कवि ने स्वय भी विक्रमसेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाये थे। पर वह कहाँ का नरेश था, कहना कठिन है। इसने उस समय के प्रचलित ग्रन्य ग्रथो का उल्लेख किया है, पर वे आज अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त राजवल्लभ कृत द्रव्यगुणसग्रह (रचना काल स० १७६० ई०) माधव कृत द्रव्यावलि, आदि कई निघटु सज्ञक रचनाएँ प्राप्त है।

सूचित निघटुओ मे राज निघटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघटु उपलब्ध है वह है भावप्रकाश जिसकी रचना भावमिश्र द्वारा हुई और उसकी एतद्विषयक एक और रचना गुणरत्नमाला है जिसका परिचय इसी प्रबन्ध मे ऊपर की पक्तियो मे दिया जा चुका है।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, वानस्पतिक शास्त्र का विकास होता गया। वैद्यो के लिये इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नितान्त आवश्यक ही नही अनिवार्य है। बिना परिचय के भैषज्य कल्पना असभव है। पर आज बहुत कम ऐसे चिकित्सक है जिन्हे वनस्पतियो का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पसारियो पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नही बना जा सकता है। ऊपर की पक्तियो मे निघटुओ का विस्तृत अवलोकन इसलिये करना पडा कि मेरे सग्रह मे एक ऐसा निघटु हैं जिसका परिचय यहाँ दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति खण्डित है पर फिर भी इसका मूल्य कम नही होता। रचनाकाल और रचयिता अज्ञात है। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्राचीन निघटुओ की अन्तिम कडी है। सम्भव है १८-१९वी शती की रचना हो। इसमे प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम, गुण और किस प्रदेश मे अधिक प्राप्त होती है तथा वहाँ उसका क्या ग्रामीण नाम है, तत्रस्थित जनता उसे किस काम मे विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओ का इसमे उपादेय सग्रह किया गया है। इसमे सन्देह नही कि इसकी रचना भावप्रकाश से बाद की है, कारण कि जहाँ कवि ने वनस्पतियो का वर्णन किया है वहाँ यह भी सकेत किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इतने विशेष नाम दिये हैं, और कैय देव तथा धनवन्तरि ने इतने दिये है। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी ६ स्थान पर उल्लेख है। ग्रन्थकार अमरकोश और इन्द्रकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है आयुर्वेद मे प्रचलित औषध युनानियो मे क्या स्थान रखते है और उनके गुणो मे वे क्या अन्तर बताते हैं। साथ ही युनानी औषध पाषाणादि का पूरा परिचय देकर दोनो पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वैद्य समाज पर महदुपकार किया है। इसमे कई प्रान्तीय नूतन वनस्पतियो का भी सविस्तृत वर्णन है जिसका उल्लेख अद्यतन निघटुओ मे नही मिलता। जो औषध प्राचीनकाल मे विदेशो से आते थे उनकी सूची पृथक् दे रखी है। प्रान्तीय औषध जैसे लोहवान कूर्माचल मे प्राप्त होता है, ममीरा चीन से, रोषा जिसका तेल बनता है, बुरहानपुर प्रान्त मे अधिक मिलता है। अन्त परीक्षण मे ऐसा प्रतीत होता है कि इतना विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश मे उपलब्ध नही। परवर्ती साहित्य मे विकसित तथ्यो का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहाँ कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जल भिलामा—"भल्लातक मज्जा भिलोली इति दक्षिणदेशे प्रसिद्ध बहुधा तत्रैव भोजनादी प्रचार ।

भृंगमारी—मालवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेष नाम, क्वचित्भाषाया भटवास इति प्रसिद्ध । आम्रस्य वाटिकाया

(भठा) भेटतरु सुजायते किल नितरा हस्तद्वयोच्चमान, पत्राणि ताम्बूलसदृशाणि—॥

सोष—व्रजमडले तत्काष्ठस्य दतधावन कुर्वं ति जना ।

माण कद—वगदेशे मानकच्छरि प्रसिद्ध ।

माई—भावप्रकाशे पश्चिमदेशे मोई आईति लोके प्रसिद्ध इति वृक्ष विशेष ।

शाह पसद—स्यात स्याह पसद स लता भेद एव हि पर्वत प्रान्त तश्चात्रदेशेपि समुरागत जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तद्विजमारुण ।



सुरवालो—इद्रप्रस्थेति प्रसिद्धा, व्रजदेशे मिलतीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवापितैवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिकायाश्च शाक कुर्व ति जना । तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कातियुतानि भवति ।। निघट्टादौ-सुनिषण सितवार इति नाम्ना विख्यात । मदन विनोदे तु सुनिषण शितवारी पृथक् लिखितौ अन्य निघटेषु भावप्रकाश कैयदेव प्रभृतिपु एकैन लिखित ।।

कपूर—अथ चीनकोपि अस्यैवभेद लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य नामगुणा
चीनकश्चीनकर्पू र ? कृत्रिममोधवल पटु ।

मेघसारस्तुषारस्तु दीपकर्पू रजस्मृत ।
चीनक कटु तिक्ततोष्ण इषत्पीतकफाम. ।।
कठदोष हरोमेघ्य पाचनक्रिमिनाशन ।
पित्त प्रशमन प्रोक्त कृष्टकडूति नाशनम् ।
छर्दि प्रणाशनः सर्वव्याधिजन्मैककारणम्
तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम
शिरोमध्यतलश्चेति कर्पू रस्त्रिविधस्मृत
शिरस्तमाग्र सजात मध्यपर्णतलेतल ।।
पुलकभावविशदशिरोजात तु मध्यमे ।
सामान्यपुलक स्वल्प तलेचूण तु गौरव ।।
स्तमगर्भस्थित श्रेष्ठ स्तमबाह्ये च मध्य ।
स्वच्छमौषवृहरिद्राभ शुभत मध्यज स्मृत ।।
अदृष्टशुभ्र रुक्षतु पुलकबाह्ज स्मृत ।
स्वच्छ भृगामपत्र लघुतर विशद तोलनेतिक्तक च ।
खादेशैत्य सुहृद्य बहलपरिमल मोदसौरभवायी ।।
निस्नेह दार्व्यपत्र शुभतरमतिचेद्राज्य योग्य प्रशस्त
कर्पू र चान्यथाचेद्बहुतरमशने स्फोटदायिव्रणाम ।।

अपर च भीमसेनी कर्पू र इति लोके विख्यात तस्य नेत्ररोगेपु विशेषत प्रचार जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्ति निघटूवादौ तदुत्पत्तिर्लक्षण न दृश्यते परन्तु वृद्ध पुरुपेभ्य एव श्रूयते पुराकिलमद्रदेशे लाहोरनामकनगरे भीमसेनानामा-वणिग्जनोन्यवसत् स च नानाविधौषधीनाक्रयविक्रय व्यवहारार्थ बहुसग्रह कृतवान् तत्र कर्पू रस्यापि आधिक्य मभवत् पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातदग्रहे दाहेजाते सवोषधिनामपि दाहोजातस्तत्रकर्पू रस्तुनानाविधौषधि सबधेन-उड्डीयतद्गृहस्योर्ध्वस्थितकाष्ठा दौसलग्न सच तमालोक्यतिशुभ्र सुसुगधगुणवत्तर च सर्वत सगृहीतवान् पुनश्चयस्य-कस्यापि जनस्यनेत्र व्यथायातर प्रयोगे प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवन् सच त भीमसन कर्पू रमिदमित्यभिधायस्थापिवान इति सचाधुनाबहुकालेनोछिन्न एवासीत् आधुकास्तु सामान्यकर्पू रकस्तूरीकेशरादिनाना सुगधिद्रव्य सयुक्त बन्हिनाउड्डी-नविधाय भीमसेनकर्पू रस्याने सएवायमितिव्यवहरति यत्रतत्रऔषध्यादि मयोपि प्रयोजयति ।।

नही कहा जा सकता भीमसेनी कर्पू र की उत्पत्ति की किंवदन्ती मे कितना सत्याश है। पर कथा को रोचक खूब बनाया गया है। सूचित कर्पू र कृत्रिम है यह तो सही है ही।

आगे चल कर चाय साबुन और सोडे का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बताई है, पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड रहा है।

इसकी रचनाशैली बहुत सुन्दर और आकर्षक है। भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्वका बोद्धाटन कर देती है। इसमे वर्गो का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि क्रमानुसार है, उदाहरणार्थ जैसे ककारादि वर्ग लिया तो कादि सूचक सभी वस्तुए इसमे आ गई हैं, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो, या अन्न हो।

क्या ही अच्छा होता इसकी पूर्ण प्रति समुपलब्ध हो जाती।

इन रचनाओं के अतिरिक्त सग्रहणी चिकित्सा पद्धति हसराज कृत भिषक् चक्रचितोत्सव आदि कई कृतिया हैं जिनका वैद्यक शास्त्रो मे अपना महत्व है, पर उन सबकी विशद चर्चा का यह स्थान नही है।

यहाँ सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निघटुओ मे वनस्पतियो का विवेचन सन्निविष्ट है उसी प्रकार औषधिकल्पो के कई सग्रह प्राप्त होते हैं, जिनमे एक ही औषधिका मासिक महत्त्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही रोगनिवारणार्थ भी प्रयोग सगृहीत रहते हैं। जिस प्रकार मत्र गर्भित स्तुतिया रची जाती थी उसी प्रकार औषधि गर्भित रचनाए भी निर्मित हुआ करती थी। इस प्रकार की रचनाओ के विकास का श्रेय जैन कलाकारो को है। आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का ऐसा एक मत्रौषधि गर्भित प्राप्त भी है।

प्रकीर्णक आम्नाय संकलन

एक ओर जहाँ प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं, वहाँ दूसरी ओर गुरुपरम्परा-प्राप्त आम्नाय-सग्रहों की भी कमी नही हैं। शताब्दियो से प्रयुक्त योगों का उपादेय सग्रह ऐसी ही रचनाओं मे सुरक्षित रहता है। रोगनिवारणार्थ इनकी उपयोगिता किसी मौलिक और शास्त्रीय कृति से कम नही है। सद्य फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही आज आयुर्वेदिक जगत मे सर्वाधिक उपेक्षणीय रहा है। राजस्थान के ज्ञानागारो मे, मदिरो मे और मठो मे जितना भी एतद्विषयक सग्रह है उसका परिशीलन अनिवार्य है। एक समय था जब कि स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व भट्टारक व यतियो के सुदृढ कधो पर था, नगर गुरु का आसन यो ही सुशोभित नही किया जा सकता था, ऐसी स्थिति मे सभी सम्प्रदायो के धार्मिक स्थान इस प्रकार के साहित्य से परिपुष्ट रहे हो तो क्या आश्चर्य है? कई ऐसे सकलन मैंने देखे हैं जिनमे चारित्रपात्र आचार्यों की आम्नायें उन्ही के नाम से उल्लिखित हैं।

आयुर्वेद की ऐसी कृतियाँ भारतीय भाषा विज्ञान और नाप तोल के क्रमिक विकास और प्रसार पर भी आशिक प्रकाश डालती हैं। जनभाषा का वास्तविक स्वरूप इनमे उपलब्ध हो जाता है और किस-किस प्रदेश मे कौन कौन सा नाप प्रचलित था और कितने तोलो का सेर कहाँ प्रचलित था आदि अनेक मूल्यवान् तथ्यो की जानकारी सहज ही सकलनात्मक रचनाओ मे मिल जाती है। कही-कही तो मुद्राओ तक का उल्लेख होता है, उदाहरणार्थ स० १६७५ का एक आयुर्वेद का गुटका मेरे सग्रह मे हैं जो जयपुर के निकटवर्त्ती स्थान जोबनेर मे प्रति लिखित है। इसमे जितने भी नाम हैं सभी सेरसाही मुद्रा मे हैं। इससे साफ जाहिर है कि उन दिनो भी शेरशाह के सिक्के राजस्थान मे प्रचलित थे। और विविध प्रान्तीय मुद्राओ का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्व कम नही है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

प्रान्तीय भाषाओ मे क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाए पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हैं, उनका सशोधन अनिवार्य है। प्रकाशित रचनाओ की पुरानी प्रतियो पर ध्यान देना भी आवश्यक है। रस विषयक ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद भी पुरातन सस्करण महत्व रखते है। मेरे सग्रह मे १५वी शताब्दी के रस रत्नाकर के कतिपय पत्र हैं जिनमे पारद शुद्धि के विवेचन के साथ तद्विषयक विविध यत्र दिये गये हैं।

आज आवश्यकता है आयुर्वेदिक विस्तृत इतिहास की, क्योकि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विशद और आलोचनात्मक इतिवृत्त तैयार नहीं हुआ। पुराने प्रयोगो के उद्धार और इतिहासलेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बडा कार्य हो जायगा। यह प्रयास भी वाछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियो की स्वतत्र शोध करवाई जाय और उनका सामूहिक इतिहास भी प्रकाशित हो, जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी साधन-सामग्री हमारे पास सुरक्षित है। वैज्ञानिक युग मे भारतीय चिकित्सापरम्परा को जीवित रखना है एव पाश्चात्य पद्धति से टक्कर लेनी है तो इस क्षेत्र मे मनन सशोधन को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, अन्यथा ऋषि मुनियो की दुहाई देने मात्र से कार्य-सिद्धि असम्भव[1] है।



१ निबन्ध मे चर्चित कृतियो की मूल हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक के सग्रह में सुरक्षित हैं।

आचार्य माणिक्यनन्दी और उनका परीक्षामुख

श्री गोपीलाल अमर
एम ए, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा रत्न
पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म प्र)



आचार्य माणिक्यनन्दी

व्यक्तिगत परिचय

भारतीय न्यायशास्त्र के महान् सूत्रकारो मे आचार्य माणिक्यनन्दी का स्थान उल्लेखनीय है। ये नन्दिसघ के एक गण्यमान्य आचार्य थे, यह इनके नाम से तो ज्ञात होता ही है, विन्ध्यगिरि की सिद्धरबस्ती के एक स्तम्भलेख से भी सिद्ध होता है। यह स्तम्भलेख शक स० १३२० (१३९८ ई०) का है। इसमे नन्दिसघ के आठ आचार्यो की नामावली दी गई है। और उसमे आठवाँ नाम आचार्य माणिक्यनन्दी का है। वि० स० ११०० (१०४३ ई०) के एक अपभ्रश काव्य सुदसणचरिउ से आचार्यजी की गुरुपरम्परा का ज्ञान होता है। इस काव्य के प्रणेता मुनि नयनन्दी आचार्यश्री के शिष्य थे। यह गुरुपरम्परा इस प्रकार है आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय मे क्रमश पद्मनन्दी, वृषभनन्दी (सभवत चतुर्मुखदेव), रामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी। सुदसणचरित्र की एक अन्य प्रति[1] मे गुरुपरम्परा ऐसी है, आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय मे क्रमश पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी, त्रैलोक्यनन्दी, नयनन्दी। इन दोनो परम्पराओ मे कोई मौलिक अन्तर नही है और इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी के दो गुरु थे, रामनन्दी और त्रैलोक्यनन्दी। इनकी शिष्यमण्डली मे नयनन्दी[2] के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य[3] भी थे।

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानरेश भोज के समकालीन और उसके दरबार मे सम्मान प्राप्त विद्वानो में से थे।[4]

---

१ सुदसणचरित्र की इन दोनो प्रतियो के परिचय के लिए देखिए प० दरबारीलाल कोठिया आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३०, ३३।

२ जैसा कि पूर्वोक्त दोनो गुरुपरम्पराओ से ज्ञात होता है।

३ जैसा कि आगे सप्रमाण कहा जाने वाला है।

४ विस्तार के लिए देखें, आप्तपरीक्षा, प्रस्ता०, पृ० ३१।

समय

ये नौवीं-दसवीं शती के मध्य कभी विद्यमान रहे। आचार्य विद्यानन्दी इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थाकार हैं[1], जिनका समय ७७५ से ८४० ई० के मध्य माना गया है।[2] आचार्य माणिक्यनन्दी के साक्षात् शिष्य और टीकाकार प्रभाचन्द्र का समय ९८०-१०६५ ई० माना गया है।[3] अतः प्रस्तुत आचार्यश्री का समय ८४० से ९८० ई० के मध्य कभी होना चाहिए। इस लम्बी अवधि, १४० वर्ष को सकुचित करने के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नही प्राप्त हो सके हैं।[4]

कृतित्व और व्यक्तित्व

आचार्यश्री के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। परीक्षामुख ही इनकी एकमात्र कृति है। आचार्य अकलङ्क और आचार्य विद्यानन्दी की भाँति इन्हे न तो अधिक विस्तार अभीष्ट था और न विश्लेषण के गहन वन मे प्रवेश करना प्रिय था। इनकी सक्षेपक और विवेकपूर्ण दृष्टि ही इनकी महत्ता मे साधक हुई है। सूत्रो की सक्षिप्त शब्दावली मे ही अनेक मत-मतान्तरो का सकेत कर देना, उनका खण्डन करके अपने मत की स्थापना और मण्डन कर लेना और अवसर हाथ लगते ही प्रतिपक्षी का गहरा मजाक उडा लेना इन्ही की विशेषता है।

परीक्षामुख, आचार्य माणिक्यनन्दी की महान् उपलब्धि है। वह समयोपयोगी तो है ही, नितान्त नवीन भी है। 'यद्यपि अकलङ्क देव जैनन्याय की स्थापना कर चुके थे और कारिकात्मक अनेक महत्वपूर्ण न्यायविषयक स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे परन्तु गौतम के न्यायसूत्र, दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि की तरह जैनन्याय को सूत्रबद्ध करने वाला 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन परम्परा मे अब तक नही बन पाया था। इसी कमी की पूर्ति सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' लिख कर की जान पडती है। उनकी यह अपूर्व अमर रचना भारतीय न्यायग्रन्थो मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।[5]

परीक्षामुख के तुलनात्मक अध्ययन से हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि आचार्य माणिक्यनन्दी का अध्ययन कितना विस्तृत एव गम्भीर था। अकलङ्कन्याय के समुद्र से उन्होने न्यायविद्यामृत निकाला था, यह तो सिद्ध है ही,[6] जैनाचार्य विद्यानन्दी आदि और बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि से भी उन्होने विपुल सामग्री उपार्जित की थी। उनकी कृति मे आचार्य वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्वालोक तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने प्रमाणमीमासा के लिए प्राणतत्वो की उपलब्धि तो की ही है शाब्दिक शरीर भी बहुत कुछ उसी के कलेवर से निर्मित किया है।

जैनन्याय के महान् विश्लेषक और समर्थक आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दी का अत्यन्त आदरपूर्ण शब्दो मे जयघोष किया है। उनका ऋण उन्होने अत्यन्त विनम्र शब्दो मे स्वीकार किया है। उनके अनुसार, आचार्य श्री



---

१ वही, पृ २७।

२ जैन, डॉ० गोकुलचन्द्र सत्यशासनपरीक्षा, प्रस्ता० पृ २९।

३ न्यायाचार्य, प० महेन्द्रकुमार प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्ता०, पृ० ६७।

४ इस सम्बन्ध मे कुछ सभावनाएँ प० परमानन्द शास्त्री ने प्रकट की हैं। प० गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ, पृ० ५४६।

५ कोठिया, प दरबारीलाल आप्तपरीक्षा, प्रस्ता०, पृ २७।

६ आचार्य अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला, आदिपद्य न० २।
शास्त्र करोमि वरमल्पतरावबोधो माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृत लघीयाल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद् गवाक्ष ॥
—प्रमेयकमलमार्तण्ड, आदिपद्य न० २।

सज्जनो के आह्लादक तो थे ही, एकान्तवादरूपी मालिन्य के संशोधक भी थे और थे वे सर्वोपरि जैनमत के साक्षात् समुद्र ।[1] मुनिनयनन्दी ने आचार्यश्री को अपने सुदसणचरिउ मे महापण्डित कह कर स्मरण किया है। उन्होने अपने सकल विधिविधान मे उन्हे महापण्डित तो कहा ही है प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण रूपी जल से परिपूर्ण नयरूपी तरगो से गभीर और उत्तम सप्तभङ्गरूपी कल्लोलो से उच्छलित जिन शासनरूपी महासरोवर मे अवगाहन करने वाला भी लिखा है।[2] प्रमेयरत्नमालाकार आचार्य अनन्तवीर्य ने उन्हे अकलङ्कन्यायरूपी समुद्र से परीक्षामुखरूपी अमृत का उद्धार करने वाला लिखा है। प्रमेयरत्नमाला के टीकाकार आचार्य अजितसेन उनका सादर स्मरण करते है।[3] वे कहते है कि गुरु की भक्ति से ही मै अपना कार्य सम्पन्न कर सका हूँ।[4] स्वय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति अपार श्रद्धा और भक्ति से कामना करते है कि गुरुमाणिक्यनन्दी उन्हे हर्षमय बनावे।[5] उनके समक्ष वे अपनी अत्यन्त तुच्छता प्रकट करते है।[6] प्रत्येक परिच्छेद के और ग्रन्थ के अन्त मे वे अनेक महत्वपूर्ण विशेषण देकर उनके प्रति अपनी प्रगाढ आस्था व्यक्त करते है।

इसमे सदेह नही कि माणिक्यनन्दी अपनी शैली के अद्वितीय आचार्य हुए है।

---

१ गभीर निखिलार्थगोचरमल शिष्यप्रबोधप्रद
यद् व्यक्त पदमद्वितीयमखिल माणिक्यनन्दिप्रभो ।
तद् व्याख्यातमदो यथावगमत. किंचिन्मया लेशत.
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रर्कतारावधि ॥१॥
मोहध्वान्तविनाशिनो निखिलतोविज्ञानशुद्धिप्रद
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुर. ।
शिष्याब्जप्रतिबोधन. समुदितो योऽद्रे. परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निबन्ध एष सुचिर मार्त्तण्डतुल्योऽमल ॥२॥
गुरु श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जन ।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णव ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय. ।
प्रभाचन्द्रश्चिर जीयात् रत्ननन्दिपदे रत ॥४॥
—वही, अन्तिमपद्य न० १-४।

२ पच्चक्खपरोक्खपमाणणीर णयतरलतरगावलिगहीर ।
वरसत्तभगिकल्लोलमाल जिणसासणसरिणिम्मलसुसाल ॥
पडियचूडामणि विवुहचदु माणिक्कणदि उप्पण्णु कदु ।
—जैनग्रन्थप्रशस्ति सग्रह, भाग १, पृ० २६।

३ श्रीवर्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्य माणिक्यनन्दिविभुभाषितशास्त्रवृत्तिम् ।
भक्त्या प्रभेन्दुरचिता लघुवृत्तिहष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम् ॥
न्यायमणिदीपिका (जैन सि भवन, आरा की पाण्डुलिपि), पत्र १ पार्श्व १।

४ अकलङ्करत्ननन्दि प्रभेन्दुसदनन्तवीर्यगुणभक्त्या ।
एतद्धिया बालो निरुढवानेष कि न गुरुभक्त्या । — वही पत्र १६६, पार्श्व २।

५ यत्सूत्रव्रजचन्द्रिकारसभर नित्य समास्वादयन्
भव्योत्तससुधीचकोरविकर सर्वोपि समोदते ।
सोय सार्यपणीनधीयुधमन सौधाग्रकेतीशुको
हर्ष वर्षतु सन्तत हृदि गुरुर्माणिक्यनन्दी मम ॥ प्रमेयरत्नालङ्कार, (जैन सि० भवन आरा की पाण्डुलिपी), आदिपद्य

६ माणिक्यनन्दिरचित क्व नु सूत्रवृन्द क्वाल्पीयसी मम मतिस्तु तदीयभक्त्या ।
तादृक्प्रभेन्दुवचसा परिशीलनेन कुर्वे प्रबन्धमधुना बुधहर्षकन्दम् । वही ।

परीक्षामुख

स्वरूप

परीक्षामुख आचार्य माणिक्यनन्दी की एकमात्र कृति हैं। छह समुद्देशो और दो सौ दस सूत्रो के माध्यम से इस ग्रन्थ मे सम्पूर्ण प्रमाणशास्त्र का अद्भुत एव अपूर्व समावेश किया गया है। ग्रन्थ के आदि और अन्त मे एक-एक श्लोक भी है। जैन न्याय का यह प्रथम सूत्र ग्रन्थ है। *

सूत्र के सभी आवश्यक लक्षण[1] परीक्षामुख के सूत्रो मे घटित होते हैं। महर्षि पाणिनि और आचार्य उमास्वामी के सूत्रो के मुकाबले आचार्य माणिक्यनन्दी के सूत्र तनिक भी पीछे नही रहते। यही कारण है कि इस एक ही ग्रन्थ का प्रणयन करके आचार्य माणिक्यनन्दी अपना स्थान भारतीय न्यायकारो मे सर्वोपरि वना गये है।

नामकरण

नामकरण की दृष्टि से भी परीक्षामुख का विशेष महत्त्व है। इस नाम मे दो शब्द है, परीक्षा और मुख। दोनो शब्दो के चयन का ऐतिहासिक कारण प्रतीत होता है। आचार्य माणिक्यनन्दी के समक्ष ऐसे अनेक न्यायग्रन्थ थे जिनके अन्त मे 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग है, जैसे दिड्नाग के आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा धर्मकीर्ति का सम्बन्ध-परीक्षा, धर्मोत्तर का प्रमाणपरीक्षा और विद्यानन्दी के आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, और सत्यशासनपरीक्षा। इसी तरह कुछ ऐसे भी ग्रन्थ उनके समक्ष थे जिनके अन्त मे 'मुख'[1] शब्द का प्रयोग है, जैसे हेतुमुख और न्यायमुख आदि। कदाचित् इन्ही बहुप्रचलित 'परीक्षा' और 'मुख' शब्दो से प्रेरणा पाकर ही आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपनी कृति को 'परीक्षामुख' का नाम दिया होगा।

वैसे इस नाम की अपनी निजी सार्थकता भी है। परस्पर विरोधी अनेक उक्तियो की प्रवलता और निर्बलता के निर्धार के लिए किया जाने वाला विचार परीक्षा कहलाता है[2] और यहाँ परीक्षा से तात्पर्य है न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र से। मुख का अर्थ है प्रवेशद्वार। जो प्रमाणशास्त्र का प्रवेशद्वार हो उसे परीक्षामुख नाम देना ही सार्थक है।

उद्‌गम और प्रभाव

परीक्षामुख का अन्तर्निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसका उद्‌गम अनेक ग्रन्थों से, विशेषत अकलङ्कदेव के ग्रन्थो से हुआ है और अनेक ग्रन्थो का, विशेषत वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्ववालोक तथा आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमासा का उद्‌गम इस ग्रन्थ से हुआ है।[3] यह उल्लेखनीय है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाणस्वरूप आदि मे



---

१ अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु ॥

२ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचार परीक्षा।
—आचार्य धर्मभूषणयति न्यायदीपिका, पृ० २, प० १८।

३ प० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा परीक्षामुख की अनेक ग्रन्थों से की गयी तुलना के लिए देखें, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ३-४, पृ० ११९-१२८।

शब्दावली का प्रयोग, अपने पूर्वाचार्यों की परपरा से जरा हटकर जैनेतर आचार्यो की परम्परा के अनुरूप किया है।[1]

भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की भाषा सरल किन्तु सघन सस्कृत है। सूत्रमय होकर भी यह ग्रन्थ क्लिप्ट या दुर्बोध नही है। शब्दो के चयन मे परीक्षामुखकार के समक्ष अनेक समस्याये थी। उन्हे अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा का निर्वाह तो करना ही था, एक सूत्रग्रन्थ की मर्यादा की रक्षा भी करनी थी। उन्हे जहाँ आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थ-समुद्र को मथकर सूत्रामृत निकालना था वहाँ उस सूत्रामृत पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप भी छोडनी थी। उन्हे सूत्र जैसे सक्षिप्ततम माध्यम से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त तो प्रस्तुत करने ही थे, तात्कालिक मत-मतान्तरो का खण्डन-मण्डन भी करना था। इन तमाम समस्याओ के रहते भी, हम पाते है कि परीक्षामुख अपनी भाषा की दृप्टि से, न्यायशास्त्र के प्राथमिक जिज्ञासुओ को भी कठिन नही, वहुत सरल है।

सूत्रकार की शैली भी, भाषा की भाति सरल वन पडी है, विपय को स्पष्ट एव सुबोध वनाने के लिए स्थान-स्थान पर दिये गये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। शैली की सबसे बडी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मे सिद्धान्तो का कोरा प्रस्ताव न रहकर परमत-निराकरण और स्वमत स्थापन की प्रक्रिया स्पष्टत आ गई है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक, विस्तृत एव गम्भीर टीकाएँ लिखी जा सकी हैं।

विषयवस्तु

जैसा कि कहा जा चुका है, सम्पूर्ण ग्रन्थ को छह समुद्देशो मे विभक्त किया गया है। प्रथम समुद्देश मे प्रमाण सामान्य का स्वरूप, द्वितीय मे प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप, तृतीय मे परोक्ष का स्वरूप, चतुर्थ मे प्रमाण का विषय, पञ्चम मे प्रमाण का फल और षष्ठ मे प्रमाण के आभासो का विस्तृत विवेचन है।

विभाजन

परीक्षामुख की लघुतम इकाई है सूत्र और उसमे तीन से सतानवे सूत्रो तक के छह अध्याय है जिन्हे परिच्छेद नाम दिया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालङ्कार मे यही नाम स्वीकृत है जब कि प्रमेयरत्नमाला मे समुद्देश।

परिच्छेदो के विभाजन मे प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालङ्कार एकमत हैं और वैज्ञानिक भी। परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड मे, कह नही सकते किस उद्देश्य से आचार्य प्रभाचन्द्र ने पञ्चम परिच्छेद के तीनो सूत्रो को चतुर्थ परिच्छेद मे सम्मिलित किया है और षष्ठ परिच्छेद को उसका अन्तिम सूत्र छोडकर पञ्चम परिच्छेद माना है तथा षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र को षष्ठ परिच्छेद के अन्तर्गत रखा है। इस विभाजन मे कोई विशेषता तो नही ही है, कुछ अवैज्ञानिकता भी है, कदाचित् इसीलिए इस विषय मे पण्डित महेन्द्रकुमारजी भी मौन रहे है। यदि प्राचीन प्रतियो से छान-बीन की जाय तो मेरा यह अनुमान पुष्ट हो सकता है कि लिपिकार ने किसी पाण्डुलिपि मे, परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्यो और पुष्पिकावाक्यो को तितर-वितर कर दिया हो और उसी प्रति या उसी की परम्परागत प्रतियो पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड के मुद्रित सस्करण निकाले गये हो। यदि हम पञ्चम परिच्छेद की समाप्ति-सूचक पद्य[2] को

---

१ परीक्षामुखम् (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनस, जिल्द ११) की प्रस्तावना।

२ आभास गदित प्रमाणमखिल सख्याफलस्वार्थत,
सुव्यक्तं सकलार्थसार्थविषयं स्वल्पै प्रसन्नै पदै।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद गुणाम्भोनिधि,
वाक्कीर्त्यो परमालयोत्र सतत माणिक्यनन्दिप्रभु॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७५।

षष्ठ परिच्छेद का समाप्ति-सूचक मान ले और षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ मे सूचक पद्य[1] को पञ्चम परिच्छेद का समाप्ति-सूचक[2] मान लें, और फिर यह विभाजन प्रमेयरत्नमाला आदि के अनुसार कर दें, अर्थात् चतुर्थ परिच्छेद मे सम्मिलित किये गये पञ्चम परिच्छेद के तीनो सूत्रो को पञ्चम परिच्छेद ही मान ले और षष्ठ परिच्छेद के सूत्रो को आत्मसात् करनेवाला पञ्चम परिच्छेद तथा एकसूत्रीय षष्ठ परिच्छेद को मिलाकर षष्ठ परिच्छेद ही मान ले तो यह समस्या, तुरन्त हल हो जाती है। ऐसा करने मे ग्रन्थकार का एक भी शब्द बाधक बनता नही दिखता,[3] बल्कि, लिपिकार की ही त्रुटि और भी स्पष्टतर हो उठती है। परन्तु आश्चर्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के किसी भी सस्करण मे इस, इतने महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार नही किया गया।

पण्डिताचार्यजी ने प्रमेयरत्नमालाकार की ही भाँति परिच्छेदो को नाम दिए हैं प्रथम को प्रमाणस्वरूप-परिच्छेद, द्वितीय को प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेद, तृतीय को परोक्षप्रमाणपरिच्छेद, चतुर्थ को प्रमाणविषयपरिच्छेद, पञ्चम को प्रमाणफलपरिच्छेद और षष्ठ को प्रमाणाभासपरिच्छेद।

परिच्छेदो के अनन्तर सूत्रो का विभाजन उल्लेखनीय है। तृतीयपरिच्छेद का पाँचवाँ सूत्र है, "दर्शनस्मरण-कारणक सकलन प्रत्यभिज्ञान, तदेवेद, तत्सदृश तद्विलक्षण, तत्प्रतियोगीत्यादि।" और छठा सूत्र, "यथा स एवाय देवदत्त, गोसदृशो गवयो, गविलक्षणो महिष, इदम् अस्माद् दूर वृक्षोऽयमित्यादि।" प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के प्राय सभी सस्करणो मे, इस छठे सूत्र को एक न मान कर पाँच माना गया है अत जहाँ मेरे मन मे छठा ही क्रमाक आना चाहिए वहाँ उक्त सस्करणो मे दसवाँ क्रमाक आ जाता है।[4] इन तथाकथित पाँच सूत्रो को एक ही माना जाना चाहिए क्योकि ये सभी (१) एक ही सूत्र के उदाहरण हैं, (२) एक ही निर्देशवाचक सर्वनाम 'यथा' और एक ही विशेषण 'इत्यादि' मे सबद्ध हैं (३) यदि पाँच ही माने जावे तो, जिसके ये उदाहरण हैं वह पाँचवाँ सूत्र भी एक न माना जाकर पाँच ही माना जाना चाहिए। (४) एक ही उत्थानिकवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं और उस वाक्य मे भी तीनो टीकाकारो, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य अनन्तवीर्य और आचार्य चारुकीर्ति द्वारा एक वचन का ही प्रयोग किया गया है, यदि उनका पाँचो को पृथक्-पृथक मानने का भाव रहा होता तो बहुवचन का ही प्रयोग किया जाना चाहिए था, (५) तीनो टीकाकारो द्वारा अव्याख्यात छोड दिये गये हैं, इसलिए नही कि वे अन्यत्र भी ऐसा करते हैं बल्कि

---

१ प्राचा वाचाममृततटिनीपूरकर्पूरकल्पान्,
बन्वान्मदा नवकुकवयो नूतनीकुर्वते ये।
तेऽयस्कारा सुभटमुकुटोत्पाटिपाण्डित्यभाज,
भित्त्वा खड्ग विदधति नव पश्य कुण्ठ कुठारम्॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७६।

२ प्रमेयकमलमार्तण्ड मे षष्ठ परिच्छेद के अतिरिक्त किसी भी परिच्छेद मे आरम्भसूचक पद्य नहीं है, यह उल्लेखनीय है।

३ उपरिलिखित दोनों पद्यों की शब्दावली द्रष्टव्य है।

४ यथा स एवाय देवदत्त ॥६॥
गोसदृशो गवय ॥७॥
गोविलक्षणो महिष ॥८॥
इदम अस्माद दूरम् ॥९॥
वृक्षोऽयमित्यादि ॥१०॥

५ (१) तदेवोक्तप्रकार प्रत्यभिज्ञानमुदाहरणद्वारेणाखिलजनावबोधार्थं स्पष्टयति। प्रमेयक० मा० पृ० ३४०।
(२) एषा क्रमेणोदाहरण दर्शयन्नाह। प्रमेयरत्नमाला, पृ० ८३।
(३) उक्तप्रत्यभिज्ञानमखिलजनावबोधार्थमुदाहरणद्वारेण स्पष्टयति। —प्रमेयरत्नालङ्कार

६ इसमे पहलेवाले टिप्पण मे रेखांकित शब्द द्रष्टव्य हैं।



परीक्षामुख का महत्त्व इसलिए भी है कि वह अपने समय तक की जैन न्याय की अनेक विकीर्ण मान्यताओ को सुव्यवस्थित एव वर्गीकृत रूप देना है। एक उदाहरण लीजिए। प्रमाण के लक्षण मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र एक विशेषण 'स्वपरावभासक' समान रूप से लेते हैं और आचार्य अकलङ्क कही 'अनधिगतार्थक' कही 'अविसवादि' और कही 'स्वपरावभासक' विशेषणो का प्रयोग करते हैं लेकिन परीक्षामुख मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र द्वारा स्थापित एव आचार्य अकलङ्क द्वारा विकसित परम्परा का 'स्व' एव 'अपूर्वार्थ' पदो के समावेश द्वारा सुन्दर सग्रह देखने को मिलता है।

इसलिए भी परीक्षामुख का महत्त्व बहुत अधिक है कि वह अपने समय तक के प्राय सम्पूर्ण जैन न्यायग्रथो का नवनीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अकलङ्कन्याय का प्रतिनिधित्व करनेवाला तो, परीक्षामुख की भाति कोई ग्रन्थ ही नही।

अनेकानेक ग्रन्थकारो ने परीक्षामुख की परम्परा और पद्धति का अनुसरण किया इससे भी उसका महत्त्व कम नही बढता।

किसी भी ग्रन्थ पर अनेक विशालाकार एव गम्भीर टीकाओ का लिखा जाना भी उसके महत्त्व का द्योतक है। परीक्षामुख पर तीन टीकाए उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक टीका उसके केवल प्रथम सूत्र पर ही है जो स्वय एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन गयी है।

टीकाएं

प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुख की प्रथम, बृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ टीका है प्रमेयकमलमार्तण्ड जिसे परीक्षामुखालङ्कार भी कहते हैं। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति हैं। इसके दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, प्रथम स्व० प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा सन् १६१२ मे और द्वितीय स्व० प० महेन्द्रकुमारजी वाराणसी द्वारा सन् १६४१ मे। इसका आकार १२००० अनुष्टुप श्लोको के बराबर हैं।

जैन न्याय का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जो इस ग्रन्थ मे समाविष्ट न हो। यह जैनन्याय के प्रतिनिधि ग्रथो मे से एक है। इसके प्रणेता, आचार्य अकलङ्क के परवर्ती आचार्य है और उन्होने उनके लघीयस्त्रय पर भी एक टीका लिखी है जिसे न्यायकुमुदचन्द्र कहते हैं। अकलङ्क न्याय की भूमिका पर परीक्षामुख की रचना हुई है और अकलङ्क न्याय के मर्मज्ञ आ० प्रभाचन्द्र जब परीक्षामुख पर टीका लिखें तब उसका अत्यन्त उच्चकोटि का बन पडना स्वाभाविक ही है।

न्यायकुमुदचन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना मे प० कैलाशचन्द्रजी सि० शास्त्री ने और उसके द्वितीय भाग की एव प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावनाओ मे स्व० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने आचार्य प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड पर विस्तार से विचार किया है अत यहा इतना ही पर्याप्त है।

प्रमेयरत्नमाला—प्रमेयरत्नमाला न्याय का एक बहुप्रचलित ग्रथ है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य की यह एकमात्र उपलब्ध कृति है। आचार्य माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर यह टीका के रूप मे लिखी गयी है।[1] इसके विषय-



---

१ तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्ते,
माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम।
स्पष्टीकृत कतिपयैर्वचनैरुदारै,
बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यै ॥

परीक्षामुख का महत्त्व इसलिए भी है कि वह अपने समय तक की जैन न्याय की अनेक विकीर्ण मान्यताओ को सुव्यवस्थित एव वर्गीकृत रूप देता है। एक उदाहरण लीजिए। प्रमाण के लक्षण मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र एक विशेषण 'स्वपरावभासक' समान रूप से लेते है और आचार्य अकलङ्क कही 'अनधिगतार्थक' कही 'अविसवादि' और कही 'स्वपरावभासक' विशेषणो का प्रयोग करते हैं लेकिन परीक्षामुख मे, आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र द्वारा स्थापित एव आचार्य अकलङ्क द्वारा विकसित परम्परा का 'स्व' एव 'अपूर्वार्थ' पदो के समावेश द्वारा सुन्दर सग्रह देखने को मिलता है।

इसलिए भी परीक्षामुख का महत्त्व बहुत अधिक है कि वह अपने समय तक के प्राय सम्पूर्ण जैन न्यायग्रथो का नवनीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अकलङ्कन्याय का प्रतिनिधित्व करनेवाला तो, परीक्षामुख की भाति कोई ग्रन्थ ही नही।

अनेकानेक ग्रन्थकारो ने परीक्षामुख की परम्परा और पद्धति का अनुसरण किया इससे भी उसका महत्त्व कम नही बढता।

किसी भी ग्रन्थ पर अनेक विशालाकार एव गम्भीर टीकाओ का लिखा जाना भी उसके महत्त्व का द्योतक है। परीक्षामुख पर तीन टीकाए उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक टीका उसके केवल प्रथम सूत्र पर ही है जो स्वय एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन गयी है।

टीकाएं

प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुख की प्रथम, वृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ टीका है प्रमेयकमलमार्तण्ड जिसे परीक्षामुखालङ्कार भी कहते हैं। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति हैं। इसके दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है, प्रथम स्व० प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा सन् १९१२ मे और द्वितीय स्व० प० महेन्द्रकुमारजी वाराणसी द्वारा सन् १९४१ मे। इसका आकार १२००० अनुष्टुप श्लोको के बराबर हैं।

जैन न्याय का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जो इस ग्रन्थ मे समाविष्ट न हो। यह जैनन्याय के प्रतिनिधि ग्रथो मे से एक है। इसके प्रणेता, आचार्य अकलङ्क के परवर्ती आचार्य हैं और उन्होने उनके लघीयस्त्रय पर भी एक टीका लिखी है जिसे न्यायकुमुदचन्द्र कहते हैं। अकलङ्क न्याय की भूमिका पर परीक्षामुख की रचना हुई है और अकलङ्क न्याय के मर्मज्ञ आ० प्रभाचन्द्र जब परीक्षामुख पर टीका लिखें तब उसका अत्यन्त उच्चकोटि का बन पडना स्वाभाविक ही है।

न्यायकुमुदचन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना मे प० कैलाशचन्द्रजी सि० शास्त्री ने और उसके द्वितीय भाग की एव प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावनाओ मे स्व० प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने आचार्य प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड पर विस्तार से विचार किया है अत यहा इतना ही पर्याप्त है।

प्रमेयरत्नमाला—प्रमेयरत्नमाला न्याय का एक बहुप्रचलित ग्रथ है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य की यह एकमात्र उपलब्ध कृति है। आचार्य माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर यह टीका के रूप मे लिखी गयी है।[1] इसके विषय-



---

१ तस्योपरोववशतो विशदोरुकीर्तें,
माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम।
स्पष्टीकृत कतिपयैर्वचनैरुदारै,
बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यै ॥

प्रतिपादन की शैली और खण्डन-मण्डन की प्रबल क्षमता को देखकर तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी आचार्य पूज्यपाद की टीका सर्वार्थसिद्धि का ही स्मरण हो आता है।

अकलङ्कन्याय एक महासमुद्र है जिसमें साधारणजन की गति नहीं। परीक्षामुख उसमें से मथकर निकाला गया अमृत है[1] जो सर्वसाधारण के हाथ नहीं लग सकता। और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, परीक्षामुख की सुदृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठापित महाप्रासाद है जिसमें प्रत्येक का प्रवेश सम्भव नहीं। आचार्य लघु अनन्तवीर्य को यह एक जटिल समस्या प्रतीत हुई। उसीके समाधान के लिए उन्होंने प्रमेयरत्नमाला का सृजन कर डाला। उसका प्रमाण लगभग एक हजार सात सौ अनुष्टुप् श्लोकों के बराबर है। इसके चार नाम प्रचलित हैं—प्रमेयरत्नमाला, परीक्षामुखवृत्ति, परीक्षामुखलघुवृत्ति और परीक्षामुखपञ्जिका।

प्रमेयरत्नमाला की भाषा गद्यमय संस्कृत है। न्यायशास्त्र की स्वाभाविक नीरसता और सूत्रों के द्वारा उपस्थापित विच्छिन्नता के रहते हुए भी इसमें भाषा की सरलता और प्रवाह कायम रखा गया है। विषय का गम्भीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, खण्डन-मण्डन के गहन वन में प्रवेश किया गया है, फिर भी भाषा कहीं दुरूह नहीं होने पाती है।

इस ग्रन्थ की तर्कशैली परम्परागत होकर भी नवीन और अनाहत है। तर्कों की शैली अवश्य परम्परागत है लेकिन जो तर्क दिये गये हैं उनमें से अनेक मौलिक भी हैं। कुछ परम्परागत तर्कों का त्याग भी किया गया है क्योंकि या तो वे अन्यत्र अनिवार्य न होने से ग्रन्थकार को ग्रन्थ-विस्तार के ही कारण सहमत हुए या उनका इतना अधिक परिष्कार कर दिया गया कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

प्रमेयरत्नमाला की दो संस्कृत टीकाएँ हैं, प्रथम आचार्य अजितसेन की न्यायमणिदीपिका और द्वितीय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति की अर्थप्रकाशिका, और ये दोनों ही अप्रकाशित हैं। पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा, जयपुर निवासी ने इसकी हिन्दी वचनिका भी लिखी थी जो प्रकाशित हो चुकी है। स्वयं प्रमेयरत्नमाला का प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं से लगभग पाँच बार हो चुका है।

प्रमेयरत्नालंकार

प्रमेयरत्नालङ्कार संस्कृत गद्य और नव्य शैली में लिखा गया जैन न्याय का एक महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ है। परीक्षामुख इसका व्याख्येय है।

इसके पूर्व प्रमेयरत्नालङ्कार का नाम प्रमेयरत्नमालालङ्कार प्रचलित रहा[3] जिसका कारण है उस पाण्डुलिपि[4]

---

१ अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥ —प्रमेयरत्नमाला आदि श्लोक नं० २।

२ प्रकाशक मन्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई।

३ 'जैनदर्शन' (प्रथम संस्करण) के पृ० ६७८ पर पं० महेन्द्रकुमारजी ने और आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना के पृ० ७७ पर पं० दरबारीलालजी कोठिया ने उक्त नाम का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, डा० आदिनाथ नेमिनाथ-उपाध्ये और पं० के० भुजबली शास्त्री आदि ने भी मुझे लिखे गये अपने पत्रों में इसी नाम की ओर संकेत किया था।

४ यह पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्तभवन आरा में सुरक्षित है। इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए, जैन सन्देश, शोधाङ्क १६, पृ० १९७।

के लिपिकार की त्रुटि जो मुझे प्रमेयरत्नमाला का सम्पादन करते समय प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपि के आवरण-पृष्ठ पर, शीर्षक के स्थान पर और द्वितीय परिच्छेद के पुष्पिकावाक्य मे प्रमेयरत्नालङ्कार न लिखा जाकर त्रुटिवश प्रमेयरत्नमालालङ्कार लिख दिया गया है। यह त्रुटि[1] ऐसी कुछ बन पडी है कि विद्वानो को इस ग्रन्थ का स्वरूप समझने मे भ्रान्ति हुए बिना न रही।

वास्तव मे यह ग्रन्थ परीक्षामुख की एक, प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला की भाँति स्वतन्त्र टीका है। इसके विपरीत, इसके तथाकथित नाम के आधार पर यह मान लिया गया था कि यह प्रमेयरत्नमाला की टीका (प्रमेयरत्नमाला+अलङ्कार) है।[2]

पण्डिताचार्य चारुकीर्ति[3] ने, जो इस ग्रन्थ के लेखक हैं, इसके नामकरण की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला[4] से ली दिखती है। यद्यपि पण्डित आशाधर का प्रमेयरत्नाकर[5], शान्तिषेण का प्रमेयरत्नसार[6] और मणिकण्ठ का न्यायरत्न[7] भी इस प्रेरणा के स्रोत कहे जा सकते हैं। उन्होने उसके 'प्रमेय' और 'रत्न' शब्दो को उसी रूप और क्रम मे ले लिया है। इस नाम के तीसरे शब्द को स्वीकार करने मे पण्डिताचार्यजी ने एक परम्परा का आश्रय लिया है। यह परम्परा है व्याख्या ग्रन्थो मे 'अलङ्कार' शब्द जोडने की। तत्त्वार्थराजवार्तिकालङ्कार, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और युक्त्यनुशासनालङ्कार आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रमेयरत्नालङ्कार चूकि परीक्षामुख की व्याख्या है अत जो उद्देश्य, अल्पज्ञो को प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप से परिचित कराना,[8] उसका है वही इसका भी है। दूसरा उद्देश्य है परीक्षामुख का सरलीकरण। पण्डिताचार्यजी ने पाया कि परीक्षामुख के महाप्रासाद मे प्रवेश पाने के लिए दो सोपान हैं। प्रथम सोपान प्रमेयरत्नमाला है परन्तु वह इतना लघु है कि उसके आधार पर द्वितीय सोपान तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इधर, जब द्वितीय सोपान तक पहुँचने का कोई साधन ही न हो तब उसकी उपयोगिता पर किसका ध्यान जाता? पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेयरत्नालङ्कार के रूप मे एक ऐसे मध्यमाकार सोपान का निर्माण कर दिया जो प्रथम सोपान से उतना ही वृहत्तर है जितना द्वितीय सोपान से लघुतर। प्रमेयरत्नमालाकार ने, निश्चय ही, अपनी अद्भुत प्रतिभा से प्रमेयकमलमार्तण्ड का सुन्दर सक्षेप किया है परन्तु ऐसा करने मे उन्हे उसके अनेक महत्त्वपूर्ण अशो को त्याग देना पडा है। फिर भी पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के किसी भी अश को अछूता तो नही ही छोडा है, उसका सक्षेप भी इस ढङ्ग से किया है कि मूल ग्रन्थ का प्रवाह भी नही खोने पाया है और सक्षेपकार की छाप भी उस पर खूब उभरी है।

---

१ समूची पाण्डुलिपि मे और भी अनेक त्रुटियाँ हैं जिनके लिए स्पष्टत लिपिकार ही उत्तरदायी है, ग्रन्थकार नहीं।

२ इस नाम सम्बन्धी भ्रमनिवारण के लिए देखिए, जैनसन्देश, शोधाङ्क १६, पृ० १६२ और आगे।

३ इनके परिचय के लिए देखिए, जैनसन्देश, शोधाङ्क २२, पृ० ५० और शोधाङ्क २३, पृ० ६६।

४ प्रमेयरत्नमाला के नामकरण की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य ने, बहुत कुछ सम्भव है कि न्यायमुक्तावली से ली हो क्योंकि प्रमेय और न्याय का, रत्न और मुक्ता का तथा माला और आवली का अर्थसाम्य एव क्रम इसी सम्भावना की पुष्टि करता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी किन्हीं अशों मे यह प्रेरणा ली गयी होनी चाहिए, कम से कम प्रारम्भ का 'प्रमेय' शब्द तो इस बात का द्योतक है ही।

५ आशाधर प्रशस्ति मे इसका उल्लेख है।

६ इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे विद्यमान है।

७ इसकी पाण्डुलिपि भी जैन सिद्धान्त भवन आरा मे विद्यमान है।

८ 'इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयस।' —परीक्षामुख, प्रतिज्ञाश्लोक।



स्याद्वादविद्या की महत्ता और उसके साथ ग्रन्थ की समाप्ति प्रदर्शित की गयी है। परिच्छेदों का प्रारम्भ प्रथ-
श्लोक एक-एक उपसंहारात्मक श्लोक और पुष्पिकावाक्य से होता है। ग्रन्थान्त में एक श्लोक से समूचे ग्रन्थ
और दूसरे श्लोक से गोमटेश्वर बाहुबली की उपासना की गयी है।

आरम्भ के छह, अन्त के दो और परिच्छेदान्त के पाँच अर्थात् तेरह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार के हैं और दोनों
हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य में है। परीक्षामुख के सूत्रों का व्याख्यान सजोया गया है, छोड़ा नहीं गया है जैसा
मार्तण्ड में किया गया है।[1]

सूत्रों का प्रारम्भ प्रायः उत्थानिकावाक्य द्वारा ही किया गया है और उनकी व्याख्या एक शब्द से लेकर
पृष्ठ तक की है। अनेक सूत्र 'सुगमम्' आदि कहकर या बिना कुछ कहे ही अव्याख्यात छोड़ दिये गये हैं।
या वस्तुतः अनिवार्य नहीं है।

व्याख्या, श्लोकों की हो या सूत्रों की, खण्डान्वय के आधार पर की गयी है। अधिकांश व्याख्याओं में खण्डन-
से है। विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से कम और खण्डन-मण्डनों के माध्यम से अधिक हुआ है। विषय
करने या कोई नवीन युक्ति प्रस्तुत करने के लिए 'किञ्च', 'अन्यच्च', 'न च', और 'तथाहि' आदि का प्रयोग किया

खण्डन-मण्डन में पण्डिताचार्यजी की प्रौढ विद्वत्ता दर्शनीय बन पड़ी है। पूर्वपक्षों को देखकर लगता है मानो
के व्याख्याकार द्वारा ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उत्तरपक्ष, पूर्वपक्ष की युक्तियों को 'यदुक्तम्', 'यदप्यवादि',
आदि के द्वारा खण्डित किये चलते हैं। उत्तरपक्षों में शब्द-चयन का पूरा ध्यान रखा गया है, प्रमेयरत्नमाला
आदि व्यङ्ग्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी शब्दावली एकाध स्थलों पर ही मिलेगी।

तर्कशैली परम्परागत होकर भी अत्यन्त सबल और अकाट्य है। तर्क, सभी परम्परागत नहीं हैं, कुछ मौलिक
तर्क भी हैं। कुछ परम्परागत तर्क त्याग भी दिये गये हैं क्योंकि या तो वे अत्यन्त अनिवार्य न होने से ग्रन्थ-
ग्रन्थ विस्तार के कारण प्रतीत हुए या उनका इतना परिष्कार कर दिया गया है कि उन्हें परम्परागत नहीं
कहना।

पारिभाषिक शब्दों को, चाहे वे किसी भी प्रसङ्ग में प्रयुक्त क्यों न हुए हों, परिभाषा दिये बिना नहीं छोड़ा
परिभाषाएं भी इतनी ठोस हैं कि उनमें प्रयुक्त हुए विभिन्न पदों की पृथक्-पृथक् सार्थकता भी बतानी पड़ी है।
एक परिभाषा चन्द शब्दों के एक ही वाक्य तक सीमित न रहकर पाँच-सात वाक्यों तक विस्तृत हो जाती है।
जिस शब्द के भेद सम्भव हैं उसके भेद भी, पण्डिताचार्यजी अवश्य देते गये हैं और आवश्यकतानुसार उन भेदों
षाएं भी दी गयी हैं। फलत, पाठक जिस विषय में भी प्रवेश करता है उसी की प्रायः समूची सामग्री उसे वहीं
जाती है।



कथित विषय की सम्पुष्टि ग्रन्थकार, सम्बद्ध ग्रन्थों के उद्धरण देकर करते चलते हैं। उद्धरणों के साथ कभी
कार का उल्लेख करते हैं और कभी उसके मूलस्थल का और कभी किसी का भी नहीं। उद्धरणों में संस्कृतेतर
कोई नहीं है। उन्हें 'उक्तं च', 'तदुक्तम्', 'यदुक्तम्' आदि शब्दों से प्रारम्भ और 'इति' शब्द से समाप्त किया

[1] प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का इस ग्रन्थ का सम्पादकीय, पृ० १।



पण्डिताचार्यजी में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की एक बड़ी ही अच्छी प्रवृत्ति पायी जाती है। वे अपने मत के साथ प्रभाचन्द्राचार्य, अनन्तवीर्य और अजितसेन (न्यायमणिदीपिकाकार) आदि के मत भी उद्धृत करते हैं और उनसे अपने मतभेद या मतैक्य का निर्देश करते चलते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षामुख को पण्डिताचार्यजी ने नयी शैली और नये दृष्टिकोण से हमारे सामने रखा है। परीक्षामुख-साहित्य में प्रमेयरत्नालङ्कार अपनी शैली और शानी में बेजोड़ है।

प्रमेयकण्ठिका

यह शान्तिवर्णी की एक लघुकाय रचना है और परीक्षामुख के प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' पर लिखी गयी वैसी ही स्वतन्त्र कृति है जैसी मोक्षशास्त्र के सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' पर लिखी गयी 'धर्मभूषणयति की न्यायदीपिका'। न्यायदीपिका की ही भाँति यह भी संस्कृत गद्य में लिखी गई है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच स्तबकों में विभाजित है। प्रथम स्तबक में प्रमाण और फल का परस्पर सम्बन्ध तथा उनके कथंचित् भेदाभेद का समर्थन है। द्वितीय में सांख्य, प्राभाकर, भाट्ट, सौगत एवं वृद्धनैयायिक आदि द्वारा सम्मत प्रमाणस्वरूप का खण्डन किया है। तृतीय स्तबक में प्रामाण्य की ज्ञप्ति और उत्पत्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत मीमांसक प्राभाकर, मुरारिमिश्र और नैयायिक के मतों का खण्डन है। चतुर्थ में सिद्ध किया गया है कि प्रमाण का विषय सप्तभङ्गात्मक है। और अन्तिम स्तबक में, विस्तार के साथ जगत्कर्तृत्ववाद का खण्डन करते हुए सर्वज्ञत्व की सिद्धि की गयी है।

इसकी एक पाण्डुलिपि[1] मुझे पं० दरबारीलालजी कोठिया के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ८½" × ६½" आकार के ४६ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दोनों ओर ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३० अक्षर हैं। ३८ वें पत्र के प्रथम पार्श्व पर ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है और द्वितीय पार्श्व पर कुछ अंश पुनः लिखा गया है। यह अंश लिपिकर द्वारा ग्रन्थ के मध्य में कहीं छूट गया प्रतीत होता है जिसे अन्त में लिख दिया गया है। इस अंश का भी अन्तिम अंश अपूर्ण है जिसके लिए ही कदाचित् अन्त में दो अतिरिक्त पत्र रख लिए गये हैं। ग्रन्थ का मङ्गलाचरण देखिए—

'ॐ जिनाय नमः ॥ श्रीरस्तु ॥ श्रीवाण्यै नमः ॥
श्रीवर्द्धमानमानम्य विष्णुं विश्वसृजं हरम् ॥
परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्यार्थं विवृण्महे ॥'

पुष्पिकावाक्य भी देखिए—

'श्री शान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां · स्तवकः ।'

और देखिए अन्तिम अंश—

'प्रमेयकण्ठिका जीयात् प्रसिद्धानेकसद्गुणा ।
लसन्मार्तण्डभास्वाव्ययौवराज्यस्य कण्ठिका ॥
नतिष्कलङ्क (?) ननयतु तर्के
वावावितर्को मम तर्करत्ने ।
केनापिशं ब्रह्मकृत कलङ्क-
श्चन्द्रस्य किं भूषणकारणं न ॥'

---

१. यह पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की सम्पत्ति है।

अन्त में ग्रन्थकार की प्रशस्ति नहीं है। किसी अन्य प्रकार से भी ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।[1] न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्रमेयकण्ठिका एक सुन्दर भूमिका है। इनकी सूत्रानुरूप भाषा प्रमाण देती है कि इसके माध्यम से प्रमेयशास्त्र को कण्ठस्थ किया जा सकता है। यह अभी तक अप्रकाशित है और इसके प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थकार का अध्ययन गम्भीर एवं शैली प्रौढ़ है। न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति की भाँति शान्तिवर्णी भी विस्तृत विषय को संक्षिप्त शब्दों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है जो पदे-पदे उनकी तर्क प्रणाली द्वारा प्रकट होता है। परीक्षामुख के सम्पूर्ण विषय को उसके एक ही सूत्र की व्याख्या में समाविष्ट कर देना शान्तिवर्णी जैसे सारग्राही का ही कार्य है।

श्री शान्तिवर्णी ने अपनी कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया है। मूडबिद्री के जैन भवन में 'अनन्तकुमारीचरित' की दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं।[2] अनन्तकुमारीचरित के लेखक श्री शान्तण्ण वर्णी हैं। यदि शान्तिवर्णी और शान्तण्ण वर्णी को एक ही व्यक्ति माना जावे तो हम कह सकेंगे कि प्रमेयकण्ठिकाकार भारंगीपुर के निवासी थे और उन्होंने अनन्तकुमारीचरित की रचना शालि० शकसं० १७८६ (१८६४) से पूर्व की थी। इनसे अतिरिक्त, योगरत्नाकर[3] और योगामृत[4] के लेखक शान्तिरस, पुरुदेवचरित के लेखक शान्तिमुनि, चतुर्विंशतितीर्थंकरपुराण[5] और पार्श्वनाथचरित[6] के लेखक शान्तिकीर्ति, सुकुमारचरित[7] के लेखक शान्तिनाथ, पञ्चविंशतिसन्धानकाव्य,[8] शान्तिराजकविप्रशस्ति[9] और सरसजनचिन्तामणि[11] के लेखक शान्तिराज कवि तथा जैनतर्कवार्तिकवृत्ति[12] के लेखक श्रीमच्छान्त्याचार्य के नाम भी विचारणीय हैं। सम्भव है कि इनमें से किसी एक या एकाधिक के साथ हमारे शान्तिवर्णी का समीकरण किया जा सके। साथ ही, न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में प्रो० दलसुख मालवणिया ने जिन सत्रह (१०+७=१७) शान्तिसूरि एवं शान्त्याचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है[13] उनमें से भी कोई एक या अनेक, प्रस्तुत शान्तिवर्णी हो सकते हैं। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति के कर्ता शान्तिसूरि[14] और प्रमेयरत्नसार[15] के कर्ता शान्तिषेण[16] के साथ हमारे शान्तिषेण का समीकरण नहीं हो सकता। यदि मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तो ये शान्तिवर्णी वह शान्तिषेण होना

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिये, जैन सन्देश, शोधाङ्क, १४ मार्च '६३, पृ० १६३।

२ इन प्रतियों का परिचय श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री ने इस प्रकार दिया है—'ग्रन्थ नं० १५५। अनन्तकुमारी चरित। वर्णी शान्तण्ण। पत्र सं० १७। पंक्ति प्रतिपत्र ६। अक्षर प्रतिपंक्ति ७२। लिपि कन्नड। भाषा कन्नड। विषय चरित। वस्तु ताडपत्र। लेखनकाल शालि० शक १७८६। पूर्ण तथा शुद्ध। दशा उत्तम। विशेष—इस ग्रन्थ के रचयिता वर्णी शान्तण्ण भारंगीपुर के निवासी हैं। प्रतिलिपिकार मूडबिद्री पडुवसदि पुरोहित पद्मय्य इन्द्र के पुत्र चम्पय्य इन्द्र हैं।' अनन्तकुमारीचरित की दूसरी प्रति का ग्रन्थ नं० १७५ है।
देखिए, कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय-ग्रन्थसूची पृ० २२६।

३ वही, पृ० ७६।

४ वही, पृ०, ८०।

५ वही पृ० १५५

६ वही, पृ० १४६। ७ वही, पृ० १५४। ८ वही, पृ० २६६। ९ वही, पृ० २६१।

१० वही, पृ० २६८। ११ वही, पृ० २६२।

१२ प्रकाशक—ई० जे० लाजरस एण्ड कं०, मेडीकल हॉल प्रेस, बनारस केण्ट (१९१७ ई०)।

१३ पृ० १४६ से १४६ तक। १४ वही, पृ० १५१।

१५ यह ई० की १३ वीं शती की रचना है। अभी अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा में उपलब्ध है। स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैनदर्शन, पृ० ६२८।

१६ वही, पृ० ६२८।



चाहिए जिनके निमित्त से आचार्य अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला लिखी थी।[1] ये शान्तिषेण ही पढ लिखकर और कदाचित् दीक्षा लेकर शान्तिवर्णी हो गये हो यह अस्वाभाविक नही है। प्रमेयरत्नमाला के माध्यम मे परीक्षामुख का मर्म समझकर उस पर, उनके द्वारा टीका लिखी जाना भी स्वाभाविक ही है।

उपसंहार

इस विवेचन से, इसमे सन्देह नही रह जाता कि परीक्षामुख का महत्त्व जैन न्याय मे ही नही बल्कि सपूर्ण भारतीय न्याय मे भी उल्लेखनीय है। इसके सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी टीकाओ के साथ अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है, फिर भी इसके एक ऐसे सस्करण की नितान्त आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत एक-एक सूत्र का विश्लेषण समग्र भारतीय न्याय के प्रकाश मे किया गया हो और जिसके साथ शोधपूर्ण प्रस्तावना तथा आधुनिक शैली के परिशिष्ट सलग्न हो। इसी प्रकार इसकी टीकाओ के भी, जिनमे से कुछ अभी अप्रकाशित ही है, आधुनिक शैली मे सम्पादित सस्करण प्रकाशित होना चाहिए। ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन एक समस्या होती है, इसके कई कारण है। प्रथम यह है कि हममे अभी भी ग्रन्थ खरीद कर पढने की प्रवृत्ति नही है। दूसरे, धनिक वर्ग का ध्यान साहित्य-प्रकाशन की ओर पर्याप्त रूप से नही गया है। तीसरा कारण यह है कि प्रकाशक सस्थाए और सस्ता या चालू किस्म का साहित्य प्राथमिकता से प्रकाशित करती हैं। और चौथा, अत्यन्त शोचनीय कारण यह है कि विद्वान् पुरुष भी अपनी अधिकाश शक्ति या तो व्यापार आदि मे समाप्त कर देते हैं, या सस्ते या चालू साहित्य के सृजन मे लगा देते है। इस सबका परिणाम यह होता है कि परीक्षामुख जैसे सर्वोत्तम श्रेणी के ग्रन्थ भी उच्चस्तरीय प्रकाशनो मे वचित रह जाते हैं। आशा है, शीघ्र ही परीक्षामुख की ओर हमारा यथोचित ध्यान पहुचेगा।

राजस्थानी साहित्य के विविध रूप और जैन काव्य



डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, पी-एच० डी०

साहित्य का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है । प्राचीनकाल मे साहित्य मौखिक और लिखित दो रूपो मे प्राप्त होता रहा है । प्राचीनकाल मे टकण और मुद्रण के साधन सुलभ नही थे, इसलिये विद्या को कठस्थ करने पर वल दिया जाता था । तदनुसार "विद्याकठे" की उक्ति प्रचलित हुई है । मौखिक और लिखित साहित्य को क्रमश श्रुतिनिष्ठ और लिपिनिष्ठ भी कहा जा सकता है ।

आचार्य व्यास ने काव्य को तीन रूपो मे वर्गीकृत किया है —

१ श्रव्य, २ अभिनेय और ३ प्रकीर्ण—"श्रव्य चैवाभिनेयच प्रकीर्णं सकलोक्तिभि ।"[1]

आचार्य भामह ने काव्य एव साहित्य के पद्य और गद्य नामक दो भेद बताये है । भाषा भेद की दृष्टि से भामह ने सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्र श नामक तीन विभाग बताये हैं । भामह ने वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से—(१) वृत्त-देवादिचरितशसि, (२) उत्पाद्यवस्तु, (३) कलाश्रय और (४) शास्त्राश्रय नामक भेद बताये तथा काव्य का स्वरूप-भेद की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया—

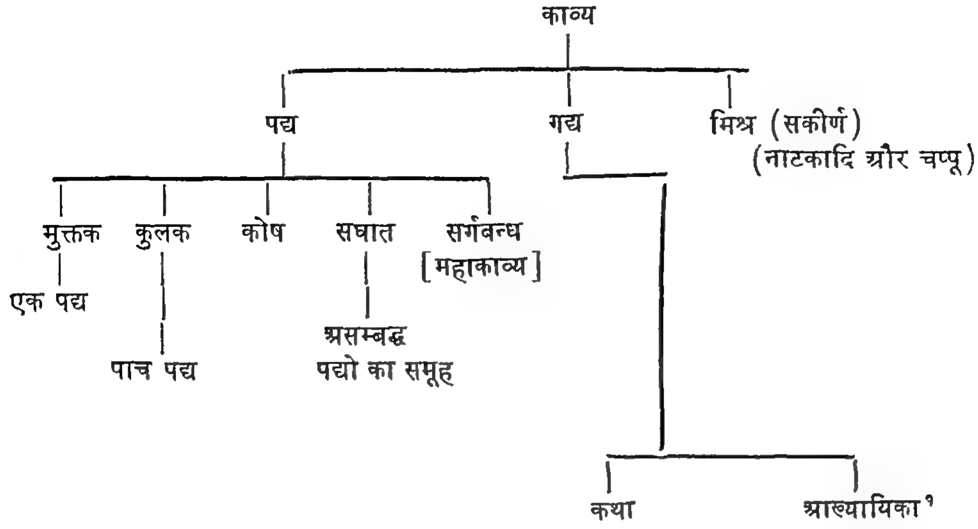
१ सर्गवन्ध (महाकाव्य) २ अभिनेयार्थ (नाट्य), ३ आख्यायिका ४ कथा और ५ अनिवद्ध ।[2]

आचार्य दण्डी ने साहित्य को सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और मिश्र भाषाओ के अन्तर्गत रखते हुए काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया—

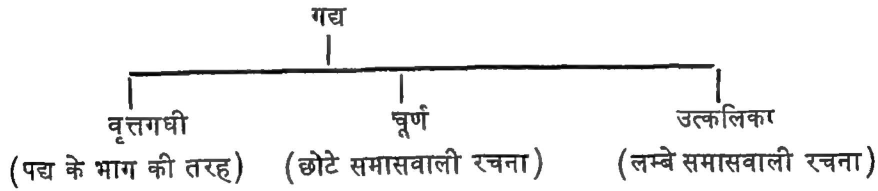
---

१ अग्निपुराण,
३३७ । ३६

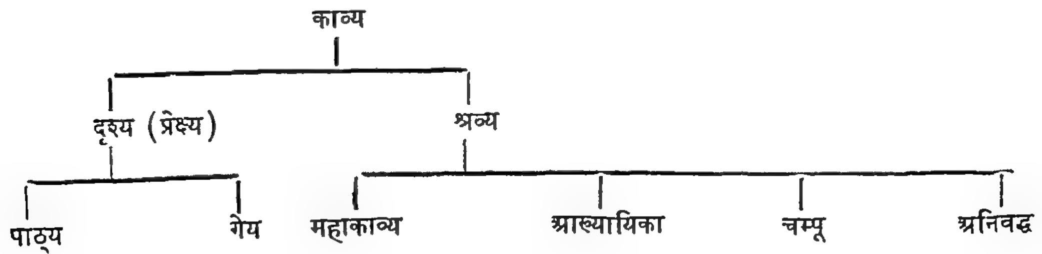
२ काव्यालकार,
प्रथम परिच्छेद ।



आचार्य वामन ने 'काव्यालकार सूत्र' मे काव्य के पद्य और गद्य दो रूप मानते हुए गद्य के तीन रूप बताये है —



आचार्य हेमचन्द्र ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और ग्राम्यापभ्र श भाषाओ को काव्य-भाषा हुए काव्यमानते का वर्गीकरण इस प्रकार किया—



---

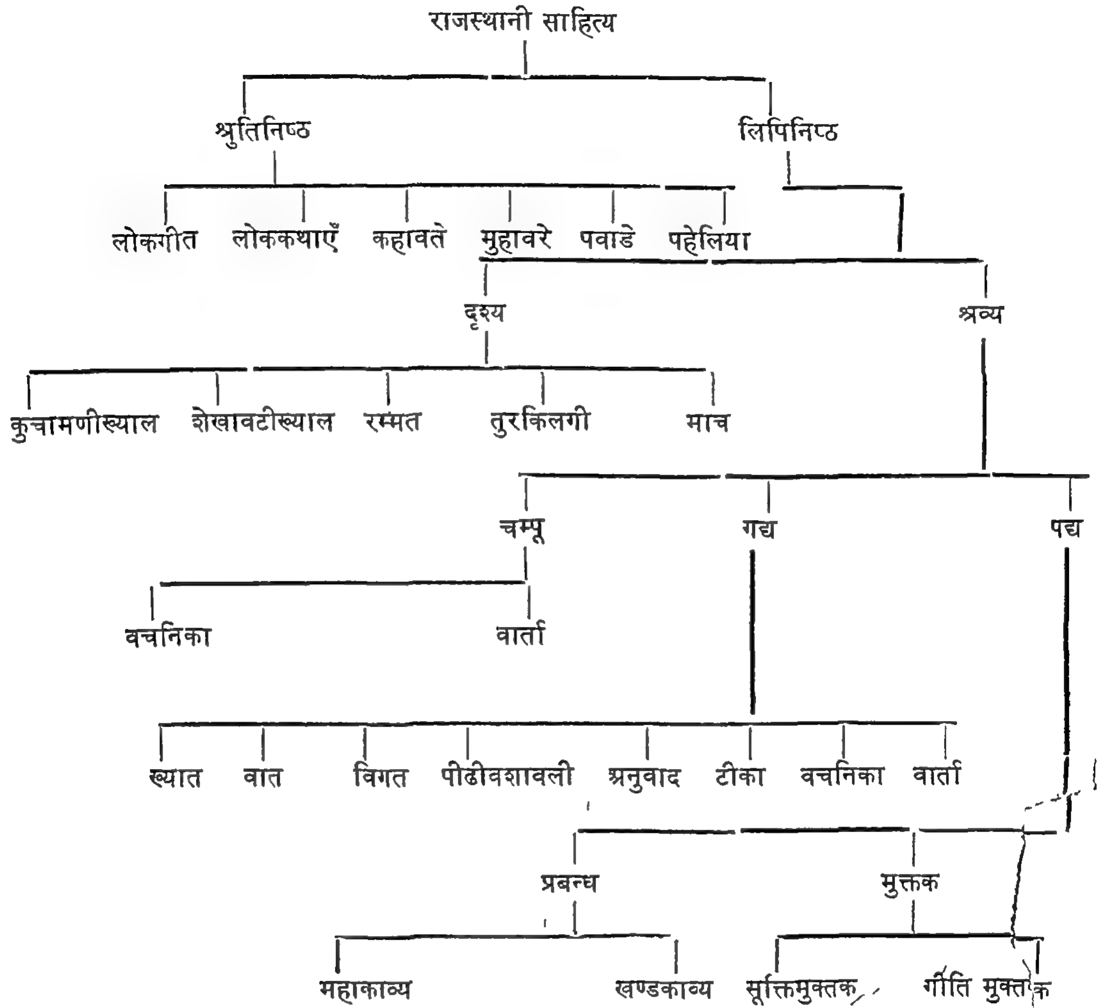
१ काव्यादर्श,
१।११।१४२३३१,

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत काव्य के दृश्य और श्रव्य नामक दो भेद मानते हुए काव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप मे किया है—

- काव्य
  - दृश्य
    - रूपक
      - नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समदकार
      - डिभ, ईहामृग, अक, वीथी, प्रहसन
    - उपरूपक
      - नाटिका, त्रोटक, गोष्ठि, सट्टक, नाट्यरासक
      - प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंख, रासक
      - श्री गदित, शिल्पक, विलासिका, दुमल्लिका
      - प्रकरणी, हल्लीम, भपिका, सलापक
  - श्रव्य
    - पद्य
      - मुक्तक, युग्मम, सदानितक
      - कलापक, कुलक, महाकाव्य
      - काव्य, खण्डकाव्य, कोष, व्रज्या
    - गद्य
      - मुक्तक, वृत्तगंध, उत्कलिकाप्राय, चूर्णक



लिपिनिष्ठ और श्रुतिनिष्ठ राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप मे करना उचित होगा—



प० नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी साहित्य की तीन शैलियां मानी हैं—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली और (३) लौकिक शैली।[1]

उक्त शैलियो के अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य को पिंगल, भक्ति एव सन्त काव्य और आधुनिक साहित्यिक शैलियाँ भी हैं जिनका समावेश उक्त वर्गीकरण मे नही हुआ है। चारणी शैली मे चारणो द्वारा अपनाई गई शैली का ही बोध होता है। रावो, राजपूतो, मोतीसरो, ढाढियो और ब्राह्मणो आदि ने भी चारण कवियो की भांति अनेक डिंगल रचनाए प्रस्तुत की हैं। अतएव "चारणी" शब्द उक्त अर्थ को प्रकट नही करता है। साथ ही "चारणी" शब्द "चारण" पुल्लिंग शब्द के स्त्रीलिंग रूप का भी बोधक है।

श्री अगरचन्द जी नाहटा ने ११५ प्रकार के काव्य रूप बताये हैं —

(१) रास, (२) सधि, (३) चौपाई, (४) फागु, (५) धमाल, (६) विवाहलो, (७) धवल, (८) मगल, (९) वेलि, (१०) सलोक, (११) सवाद, (१२) वाद, (१३) झगडो, (१४) मातृका, (१५) बावनी, (१६) कक्का, (१७) बारहमासा, (१८) चौमासा (१९) पवाडा, (२०) चर्चरी (चाँचरी), (२१) जन्माभिषेक, (२२) कलश, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी, (२५) सघ वर्णन, (२६) ढाल, (२७) ढालिया, (२८) चौढालिया, (२९) छढालिया, (३०) प्रबन्ध, (३१) चरित, (३२) सम्बध, (३३) आख्यानक, (३४) कथा, (३५) सतक, (३६) बहोत्तरी, (३७) छत्तीसी, (३८) सत्तरी, (३९) बत्तीसी, (४०) इक्कीसी, (४१) इकतीसो, (४२) चौबीसी, (४३) बीसी, (४४) अष्टक, (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र, (४८) गीत, (४९) सज्झाय, (५०) चैत्यवन्दन, (५१) देववदन, (५२) वीनती, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) साझ, (५६) बधावा, (५७) गहूँली, (५८) हीयाली, (५९) गूटा, (६०) गजल, (६१) लावणी, (६२) छन्द, (६३) नीसाणी, (६४) नवरसो, (६५) प्रवहण, (६६) पारणो, (६७) वाहण, (६८) पट्टावली, (६९) गुर्वावली, (७०) हमचडी, (७१) हींच, (७२) मालामालिका, (७३) नामामाला, (७४) रागमाला, (७५) कुलक, (७६) पूजा, (७७) गीता, (७८) पट्टाभिषेक, (७९) निर्वाण, (८०) साम, (८१) पद, (८२) मजरी, (८३) रसावली, (८४) रसायन, (८५) रसलहरी, (८६) चन्द्रावला, (८७) दीपक, (८८) प्रदीपिका, (८९) फुलडा, (९०) जोड, (९१) परिश्रम, (९२) कल्पलता, (९३) लेखा, (९४) विरह, (९५) मूँदडी, (९६) सत, (९७) प्रकाश, (९८) होरी, (९९) तरग, (१००) तरगिनी, (१०१) चौक, (१०२) हुडी, (१०३) हरण, (१०४) विलास, (१०५) गरबा, (१०६) बोली, (१०७) अमृतध्वनि, (१०८) हालरियो, (१०९) रसोई, (११०) कडा, (१११) झूलणा, (११२) जकडी, (११३) दोहा, (११४) कुडलिया और (११५) छप्पय।"[2]

श्री नाहटाजी ने काव्य रूपो की सख्या ११७ दी है। किन्तु मगल रूप सख्या ८ और ५५ दो बार आ गया है और सख्या ८१ पर सरमथी विवाह वर्णन, विवाह-परक रचना है। ऐसी रचनाओ का समावेश विवाह-विवाहला रूप मे ही हो जाता है।

श्री नाहटाजी की उक्त ११५ काव्य-सज्ञाओ की सूची मे डिंगल और पिंगल काव्य-रूप नही हैं तथा साखी, सबद, परिचयी और भक्तमाल जैसे काव्य-रूप भी छूट गये हैं। आधुनिक राजस्थानी काव्य-रूपो का भी उक्त सूची मे समावेश नही है। अतएव श्री नाहटाजी द्वारा प्रस्तुत काव्य-रूपो की उक्त सूची एकागी प्रतीत होती है।

भाषा-शैली की दृष्टि से राजस्थानी काव्य के निम्न लिखित भेद किये जाने चाहिए—



१ राजस्थानी साहित्य एक परिचय,
नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर, पृ० २३

२ प्राचीन काव्यो की रूप-परम्परा, भारतीय विद्या मदिर, शोध प्रतिष्ठान, बिकानेर पृ० २-३।

(क) जैन काव्य, (ख) डिंगल काव्य, (ग) पिंगल काव्य, (घ) भक्ति एव सन्त काव्य, (ङ) लोक काव्य और (च) आधुनिक काव्य ।

जैनकाव्य का वर्गीकरण (अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य, (आ) ऋतु काव्य, (इ) उत्सव काव्य (ई) नीतिकाव्य, (उ) स्तवन, (ऊ) ढाल, (ए) टब्बा एव बालाववोध और (ऐ) ज्योतिप वास्तुशास्त्र आयुर्वेद, रीति ग्रन्थ आदि शास्त्रीय विषयो पर आधारित काव्य के रूप मे किया जा सकता है ।

(अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य जैनकाव्य के अन्तर्गत आदर्श व्यक्तियो के चरित्रो से सम्बन्धित अनेक कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं । इन काव्यो के माध्यम से दानशील, तप और भावना नामक ग्राहम गुणो और क्रोध मान माया और लोभ नामक त्याज्य पर अवगुणो पर विशेष वल दिया गया है । इस विषय मे कहा गया है—

दान सील तप भावना, चारु चरित कहेस ।
क्रोध मान माया वली, लोभादिक पमणेस ॥[1]

कथा अथवा चरितकाव्यो के रूप निम्नलिखित हैं—

(१) राम, रासो, (२) चौपाई, (३) सधि, (४) चरचरी, (५) प्रवन्ध, चरित, आख्यानक कथा ।

(१) रास, रासो

रास परक काव्यो की परम्परा हमारे साहित्य मे प्राचीन है । रास अथवा रासो-काव्यो को रासक, रासौ, राइसो, राइसौ, रायसो, रायसउ, रासु, रायसा और रासा आदि भी लिखा गया है । रास शब्द की व्युत्पत्ति के विपय मे अनेक मत प्रचलित हैं—

१ बीसलदेव रास मे रसायन शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसी "रसायन" शब्द से रासो की उत्पत्ति हुई है—आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ।"[2]

२ रासौ शब्द की उत्पत्ति "राजसूय" से है—गार्सिद तासी ।[3]

३ रासो शब्द की उत्पत्ति "रहस्य से है—श्यामसुन्दर दास ।[4]

४ रासो शब्द की उत्पत्ति "राजयश" से है ।[5]

५ "रासो के मायने कथा के है । यह रूढि शब्द है । एकवचन रासो, वहुवचन रासा ।"—मुंशी देवीप्रसाद ।[6]

६ "राजादेश" से रासो की उत्पत्ति हुई है ।"—डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ।[7]

---

१ हेमरत्न कृत "अमरकुमार चौपई" से, हस्त प्रति श्री अभय जैन ग्र थालय, वीकानेर ।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशीनागरी, प्रचारिणी सभा (स० २००३), पृ० ३२
३ हिन्दुई साहित्य का इतिहास ।
४ हिन्दी शब्द-सागर ।
५ भारतीय विद्या, वर्ष ३, अक १, पृ० ६६
६ सरस्वती, भाग ३, पृ० ६८
७ वही, पृ० ६७

७ रासा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द के रास से है।[1] डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

८ रासो शब्द की उत्पत्ति रास अथवा रासक से है।[2] पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या।

९ "रास" शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत् देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया है।" डा० दशरथ ओझा।[3]

१० चरित्र-काव्यों में रासो-ग्रन्थ मुख्य हैं। जिस काव्य-ग्रन्थ में किसी राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध, वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे रासो कहते हैं। पं० मोतीलालजी मेनारिया।[4]

११ विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार 'रासक' शब्द को रासो की उत्पत्ति के लिये ग्रहण किया जा सकता है।[5]

१२ रास या रासक मूलतः नृत्य के साथ गाई जाने वाली रचना विशेष है।—के० का० शास्त्री।[6]

१३ उद्यम या पचड़े आदि भी रासो के अर्थ लिये गये हैं।[7]

१४ रास मुख्यतः गेय छन्दों में लिखा जाता था 'गरबों' को रास का उत्तराधिकारी भी बताया गया है।[8]

१५ पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसको मिश्र गेय-रूपक मानते हुये रासो और रासक का पर्याय माना है। उनके मत में हेमचन्द्र के काव्य के आधार पर यह मिश्र गेय है।[9]

१६ विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य-रासक उपनाटकों रासक, रास तथा रासो नृत्यों और नृत्तों से भी रासो-प्रबन्ध-परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त।[10]

१७ पहले 'रासाओं' का धर्मोपदेश मुख्य हेतु था। फिर उपदेश में कथा-तत्व और चरित्र-संकीर्त्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ। साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक नृत्य-काव्य अथवा गेय-रूपक है।[11]

---

१ सम्मेलन-पत्रिका भाग ३३, संख्या १२, ७, पृ० ९७
२ रासो की प्रथम संरक्षा, उदयपुर।
३. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ७० (द्वितीय संस्करण)
४ राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २४, सन् १९५२
५ सम्मेलन-पत्रिका, भाग ३३, संख्या १२, अश्विन २००३.
६ आपणा कविओ, भाग एक, पृ० १४३-१५२ और ४१६-४३२
७ साहित्य-सन्देश, मई १९५१
८ दी केटलाग आफ दी गुजराती एण्ड राजस्थानी, इन दी इण्डिया ओफिस लायब्रेरी, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस १९५४,
९ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५९, सन् १९५२,
१० हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ४, अंक ४,
११ मंजुलाल र० मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो, पृ० ६९ तथा ७१,





१८ डॉ० ओमप्रकाश के अनुसार तीन विशेषताएँ रासो मे पाई जाती हैं—(अ) वस्तु-वर्णन, (आ) शैली, (इ) सक्रिय चित्र।[1]

१९ रास शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत मे गीत-नृत्य के लिये हुआ है—

"रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डित"[2]

इससे ध्रुपद आदि रागो का भी प्रयोग मिलता है—

"तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्मै मान च बह्वदात्।[3]

२० विजयराय कल्याणराय वैद्य के अनुसार रास छन्द धार्मिक कथाओ के तत्वो से युक्त है।[4]

२१ 'रास' के नृत्य, अभिनय और गेय वस्तु-इन्ही तीनो अगो से समय पाकर परस्पर मिलते-जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासो की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य-विशेष रास कहलाए। इसी प्रकार श्रव्य रास और रासक उपरूपक बने।[5]

२२ विरहाक के वृत्तजातिसमुच्चय के 'रासअ और स्वयभू छन्द के रासा' को बताते हुये डा० हरिवल्लभ भायाणी ने सदेस रासक मे प्रयुक्त 'रासा' नामक छन्द की भी चर्चा की है।[6]

२३ पृथ्वीराज रासो मे पाँच स्थलो पर रासो छन्द होने की सूचना डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने दी और बताया—

"इतना तो कहा जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य मे अनेक विशिष्ट छन्दो का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था।[7]

२४ रासक या रास को छन्द-प्रभाकर[8] और हिन्दी छन्द-प्रकाश[9] मे एक छन्द विशेष बताया है।

२५ अनेक विद्वानो के मतानुसार रसपूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई। शालिभद्र सूरिकृत 'पच पाँडव चरित रासु' (सवत् १४१०) मे लिखा है—"रासि रसाउलु चुणीज्जई।"[10]

२६ जिनदत्त सूरि के "उपदेश रसायन रास" से लगुड-रास और ताला-रास का पता चलता है। ये रास खेले भी जाते थे। कवि के अनुसार दिन मे लगुड-रास और रात्रि मे ताला-रास के खेल वर्जित हैं—

"ताला रासु विदिति न रयणिहि,
दिवसि वि लउडारसु सहु पुरिसिहिं॥"

---

१ हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य, पृ० १८-२०

२ स्कन्ध १०, अध्याय ३३, श्लोक ३,

३ १०।३३।१०

४ गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, पृ० १९-२० (आवृत्ति पहली)

५ डा० दशरथ शर्मा, साहित्य-सदेश अक १, जुलाई १९५१

६ सदेश-रासक मुनि श्री जिनविजयजी, भारतीय विद्याभवन बम्बई, प्रस्तावना

७ रेवातट-समय, भूमिका पृ० १३४-१३५,

८ श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत, पृ० ५९

९ श्री रघुनन्दन शास्त्री कृत, पृ० २४५

१० गुर्जर रासावली जी ओ एस अठारह

इसकी पुष्टि इन उद्धरणो से हो जाती है—

"ताला रासु रयणि नहि देइ, लउडा रसु मूलह वारेइ ।[1]

और—

"पीछे ताला रस पडइ वहु भार पढता ।
अनइ लकुट रास जोईइ खेला नाचता ॥[2]

और—रेवतगिरि राम (स० १२८८)

"रंगिहि ग्रे रमई जो रासु सिरि विजयसेण सूरि निम्मविउए ।"

जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास (स० १४१५)

"नाचई ग्रे नयण विशाल, चदवयणि मन रग भर ।
नवरगि ग्रे रासु रमंति, खेला खेलियँ सुप परिवरे ॥

कान्हडदे राम (स० १५१२)

फल्या मनोरथ पूगी आस, ठामि ठामि दिवराई रास ।"[3]

२७ भाव-प्रकाश मे शारदातनय ने तीन प्रकार के रासक का वर्णन किया है—

लतारासक नाम्न स्याद्तत्त्रेधा रासक भवेत ।
दण्डरामकमेन्तु तथा मण्डलरासकम् ॥

और रामक नामक गेय-नाट्य का उल्लेख उपरूपको में किया गया है—

"काव्य च प्रेक्षण नाट्य रासक रासक तथा उल्लोप्यकच हल्लीसमथ दुर्मल्लीकडपि च ॥"

हेमचन्द्र—

गेय-डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिगक-मणिका-प्रेरण-रायक्रीड हल्लीसक-रामक-गोप्ठी-श्रीगदित राग काव्यादि ।[4]

वाग्भट्ट[5] (द्वितीय) और कवि विश्वनाथ—

"नाटिका त्रोटक गोष्ठि सट्टक नाट्यरासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यनि प्रेंखन रासक तथा ।"[6]

रासक मे अनेक ताल और लय ६४ तक के युगल और कोमल उद्धत-गेय रूपक तथा अनेक नर्तकियां भी होती हैं—

"अनेक नर्तकी योज्य चित्र ताल लयान्वितम् ।
आचतु पष्टि युगलाद्रासक मृसणोद्धतम् ॥



१ जगडू रचित, सम्यकत्वमाई ।
२ सप्तक्षेत्री रास (प्रा० गु० का० स० पृ० ५२)
३ पृ० ५६, खड १, २३६
४ काव्यानुशासनम् ।
५ वही ।
६ साहित्य-दर्पण, ५, परि० ६ ।



डॉ० श्यामसुन्दरदास[1], श्री बालेन्दु[2] श्री ब्रजरत्नदास[3], आदि ने हिन्दी साहित्य मे उपरूपक के १८ भेदो मे से नाट्यरासक को भी एक भेद माना है।

२८ हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार रासो नाम से अभिहित कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत-नृत्य परक जो राजस्थान तथा गुजरात मे विशेष रूप से समृद्ध हुई और दूसरी छन्द-वैविध्य परक जो पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश मे अधिक विकसित हुई।[4]

श्रीमद्भागवत के रासलीला प्रसग से ज्ञात होता है कि रास का सम्बन्ध मूलत शृगारिक नृत्य-गीत से है। निम्नलिखित ग्रन्थो से भी रास का सम्बन्ध शृगारिक नृत्यगीत से प्रकट होता है—पाइअलच्छी नाममाला[5] के रासो हल्लीसओ, देशी नाममाला के हल्लीसो रासक।[6] मण्डलेन स्त्रीणांनृत्रम् तथा कुट्टणो रासक[7] और पाइअ सद्द-महण्णवो के रास रासग[8] और रिपुदमण रास।[9]

रास मूलत लौकिक और शृगारिक गीत रहे हैं जिनके आधार पर जैन कवियो ने धार्मिक रास लिखे। धीरे धीरे इन रास-गीतो ने परिवर्द्धित होते हुये काव्य-शैली का रूप धारण कर लिया।

(२) चउपई—

चउपइ अर्थात् चौपाई छन्दो मे रचित होने से इन रचनाओ को "चउपइ" सज्ञा से अभिहित किया गया।

(३) सधि

अनेक महाकाव्यो मे सर्ग से तात्पर्य सधि लिया गया है। हेमचन्द्राचार्य ने महाकाव्य के लक्षण बताते हुये लिखा है—

"पद्य प्राय सस्कृत प्राकृतापभ्र श ग्राम्य भाषानिबद्ध भिन्नवृतसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्ध बन्धसत्सधिशब्दार्थ वैचित्र्योपित महाकाव्यम्" कुछ सधि-विषयक काव्य निम्न हैं—

(१) आनन्द सधि,—विनयचन्द, (२) गोतम सधि (१४वी शताब्दी) ह० प्रति श्री अभयजैन ग्रन्थालय बीकानेर, तथा जै० गु० क० भाग १, ६, (३) मृगापुत्र सधि (१५५०) कल्याणतिलक (४) नन्दन मणिहार सधि (१५८७)—चारु चन्द्र (५) उदाह राजर्षि सधि (१५६०) तथा गजसुकुमाल सधि (१५६०) सयममूर्ति (६) जिन-पालित जिन रक्षित सधि (१६२१) कुशललाभ, (७) गजसुकुमाल सधि (१५५३) मूलप्रभ (८) सुबाहु सधि (१६०४) पुण्यसागर (९) हरिकेशी सधि (१६४०) कनम्क सोम (१०) चउसरण प्रकीर्ण सधि (१६३१) चरित्र सिंह (११) भावना सधि (१६४६) जयसोम (१२) अनाथी सधि (१६४७) विमल विनय (१३) कयवन्ना सधि (१६५१) गुण विनय आदि।

---

१ रूपक रहस्य।
२ हिन्दी नाट्य-साहित्य।
३ हिन्दी काव्य-शास्त्र।
४ पृष्ठ ६५६
५ धनपाल कृत ॥६७॥
६ हेमचन्द्र कृत ॥८।६१॥ (कलकत्ता)
७ वही, २।३८
८ पण्डित हरगोविन्द दास, मीकचन्द सेठ (कलकत्ता १६८५)
९ मरुभारती, वर्ष ४, अक २, जुलाई १६५६, डा० दशरथ शर्मा रिपुदमण रास.

(४) चर्चरी

संगीतबद्ध रचना राग-रागनियों में बाँध कर नृत्य के साथ में गाई जाती है, वह चर्चरी कहलाती है। जिनदत्त सूरि की रचना जिनवल्लभसूरि की स्तुति अपभ्रंश काव्यत्रयी में है।[1] हिन्दी और प्राकृत पैंगलम् में इसको छन्द बताया गया है।[2] ये रचनाएँ चौदहवीं शताब्दी से मिलना आरम्भ हुई है।[3]

(५) अ—प्रबन्ध चरित, आख्यानक और कथा

जैन कवियों ने अनेक रचनायें प्रबन्ध, चरित, आख्यानक और कथा काव्यों के अन्तर्गत लिखी हैं। सम्बन्धित चरित्र अथवा मुख्य घटना का उल्लेख इन नामों से पहले करने की परम्परा रही है।

आ—ऋतु-काव्य

ऋतु काव्यों के अन्तर्गत (१) फागु (२) धमाल और (३) बारहमासा-परक रचनाओं का समावेश होता है।

(१) फागुकाव्य

वसन्त ऋतु में गेय हैं। होली के अवसर पर फाग के साथ इन रचनाओं का सम्बन्ध होने से इन्हें फागु कहा गया। फागु शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं—

१ डॉ० भोगीलाल साडेसरा—संस्कृत फल्गु>प्रा० फग्गु>फागु।

२ शृंगारिक विषयों के आधार पर के० का० शास्त्री ने इसे फागुकाल कहा है।[4]

३ श्री कान्तिलाल बलदेवराम व्यास के मतानुसार—सं० फाल्गुन>अ० फग्गु पु० प० रा० फागु। फागुन में वसन्त अपने पूर्ण यौवन पर होती है। इस समय से मादकता से भरे हुये गान को फागु कहते हैं।[5]

४ जिस प्रकार संस्कृत में यमकबद्ध अनुप्रासमय काव्य होते हैं। वैसी रचना को भाषा में फागबन्ध कहा जा सकता है। —डाक्टर अम्बालाल प्रेमानन्द शाह।[6]

५ श्री लालचन्द गाँधी के मतानुसार फागु शैली विषय के आधार पर विविध तत्वों से युक्त है।[7]

६ अक्षयचन्द शर्मा के अनुसार यह मधुमहोत्सव रूपी गेय रूपक है।[8]

७ फागु मूल में लोक साहित्य का गीत स्वरूप है। —डा० म० र० मजुमदार।[9]

८ देशी नाममाला में वसन्तोत्सव कहा गया है—फग्गू महुच्छणो[10] संस्कृत फल्गु से भी इसकी उत्पत्ति इसी आधार पर दिखाई गई है।[11]

---

१ गायकवाड ओरियन्टल सिरीज में प्रकाशित।
२ हिन्दी छन्द-प्रकाश पृ० १३१ तथा हिन्दी काव्य शास्त्र पृ० २०४।
३ जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष १२, अंक ६ में श्री हीरालाल कापडिया का 'चर्चरी' नामक लेख।
४ आपणा कविओ पृ० २३३।
५ वसन्त-विलास, भूमिका पृ० ३८।
६ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष १२ अंक ५-६ पृ० १६५।
७ वही, वर्ष ११ अंक ७ पृ० २१२।
८ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५६ अंक १ संवत् २०११ पृ० २५।
९ गुजराती साहित्यना स्वरूपों, पृ० २०१।
१० षष्ट वर्ग ॥८२॥ पृ० २४३ (कलकत्ता)।
११ गुजराती साहित्यना स्वरूपों पृ० १९९ टिप्पणी।



स० फल्गु>प्रा० फग्गु (अथवा देश्य फग्गृ)>जू० गु० फागु>फाग ।

६ डिंगल कोष मे भी फालगुण और फागण, फाल्गुण के पर्याय दर्शाये गये हैं ।[1]

फागु काव्य गेय होने के साथ ही नृत्य के साथ अभिनेय भी होते थे । थूलिभद्द फागु [१४वी शताब्दी] मे लिखा है—

खरतर गच्छि जिण पदम सूरि किय फागु रमेवउ ।
खेला नाचइ चैत्र मासि रगिहि गावेवउ ॥[2]

जैन कवियो द्वारा लिखित फागु काव्यो मे शृगार का अभाव होता है । शृगार रस परक फागु काव्य जनता मे लोकप्रिय थे । 'वसन्त-विलास' नामक फागुकाव्य शृगाररस का उत्तम उदाहरण है ।[3] जैन कवियो ने लोक प्रचलित शृगाररस पर फागुण काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुये शान्तरस परक काव्यो की रचनायें की ।[4]

(२) धमाल

राजस्थान मे होली के अवसर पर गेय गीतो को धमाल कहा जाता है । होली के अवसर पर गाई जाने वाली एक राग का नाम भी धमाल है । जैन कवियो ने धमाल-परम्परा मे अनेक आध्यात्मिक धमाले लिखी हैं । यथा आप्याढ भूति धमाल, आर्द्रकुमार धमाल (-कनक सोम) नेमिनाथ धमाल (-माल देव) आदि ।

(३) बारहमासा

बारहमासा-काव्यो मे मुख्यत विप्रलभ शृगार का समावेश होता है । कवि वर्ष के प्रत्येक मास की परिस्थितियो का चित्रण करते हुए नायिका का विरह वर्णन करते हैं । बारहमासा का वर्णन् आषाढ से प्रारम्भ होता है । जैन कवियो ने बारहमासा-परम्परा के अन्तर्गत अनेक कृतियाँ लिखी है । जैसे—नेमिनाथ बारमास चतुष्पदिका (१३५३)—विनय चन्द्र सूरि[5], नेमिनाथ राजिमति बारमास चरित्र कलश[6] नेमिनाथ बारमास वेल प्रबन्ध (१६५०) गुण सौभाग्य ।[7] श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने एक निबन्ध मे "बारहमासा की प्राचीन परम्परा" पर विस्तृत प्रकाश डाला है ।[8]

(इ) उत्सव-काव्य

उत्सव काव्यो के अन्तर्गत विवाह-दीक्षा आदि उत्सवो का वर्णन रहता है । जिस काव्य मे विवाह का वर्णन रहता है उसको विवाहलउ, विवाहलो, विवाहला आदि तथा विवाह के अन्तर्गत गाये जाने वाले गीतो को धवल और मगल कहा गया है । विवाहला परक रचनाओ मे जिनेश्वर सूरिकृत "सयम श्री विवाह वर्णन रास" और "जैनोदय सूरि विवाहला" अब तक प्राप्त हुई रचनाओ मे प्राचीनतम है । तेहरवी सदी मे रचित जिनपति सूरि "धवलगीत" धवल परक रचनाओ मे प्राचीनतम मानी गई हैं ।[9] विवाहोत्सव सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ इस प्रकार हैं —

---

१ परम्परा डिंगल कोष—कविराज मुरारीदान, पद १७२ पृ० १८४ ।
२ श्री सी० डी० दलाल, प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, पृ० ४१ ।
३ प्रकाशित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।
४ "राजस्थान फागु काव्य की परम्परा और विशिष्टता" सम्मेलन पत्रिका मे अगरचन्द जी नाहटा का निबन्ध ।
५ प्राचीन गु० का० सा० ।
६ गुजराती साहित्यना स्वरूपो, पृ० २७६
७ वही, पृ० २८२-८३
८ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६, अक ४, स० २०१०
९ जैन सत्यप्रकाश वर्ष ११ अक १०-११

(क) आर्द्रकुमार विवाहलउ (१४६३)
(ख) महावीर विवाहलउ (१५ वी शताब्दी) कीर्तिरत्न सूरि,
(ग) नेमि विवाहलउ (१५०५) जय सागर,
(घ) शाँति विवाहलउ (१६ वी शताब्दी),
(ङ) शालिभद्र विवाहलउ (१५६८) लक्ष्मण,
(च) जम्बू अतरग रास विवाह-लो (१५७२) सहज सुन्दर,
(छ) पार्श्वनाथ विवाह लु (१५८१) से पहले—पेथो,
(ज) शांतिनाथ विवाहलो-धवल प्रवन्ध (१५६१) आणद प्रमोद,
(झ) सुपार्श्वजिन विवाह लो (१६३२) ब्रह्मविनयदेव,

(ई) नीति काव्य

जैन कवियो ने प्राय प्रत्येक कृति मे उपदेश, ज्ञान एव नीति का किसी न किसी रूप मे समावेश किया है। जैन कवियो का मुख्य दृष्टिकोण धार्मिक प्रचार करना रहा है। नीति विषयक जैन रचनाओ की सख्या विस्तृत है। नीति काव्य के अन्तर्गत अनेक सवाद, कक्का, मात्रिका, वावनी, खुलक और हियाली परक रचनाओ का समावेश होता है। सवाद-परक रचनाओ मे दो विरोधी पक्षो के सवाद लिख कर वताये गये हैं। इनमे जैन कवियो ने अपने पक्ष की अन्त मे विजय वताई है। सवाद-परक रचनाओ के द्वारा जैन कवियो ने अपने सिद्धान्तो को प्रचार की दृष्टि से सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। सवाद-सम्बधी कतिपय रचनाए इस प्रकार हैं —

(क) सहज सुन्दर, आँख-कान सवाद, यौवन-जरा सवाद,
(ख) लावण्यसमय कर-सवाद (१५७५) रावण-मन्दोदरी सवाद, गोरी-सावली गीत।
(ग) हरि कलश जीभ-दान्त-सवाद (१६४३) मोती-कणासिया-सवाद (१६२६)
(घ) जीरापल्ली पार्श्वनाथ रास
(ङ) नरपति जिह्वा-दाँत सवाद, सुखड पचक सवाद (१६वी शताब्दी)
(च) श्रीधर रावण-गन्दोदरी-सवाद (१५६५)

(उ) कक्का

कक्का उन रचनाओ को कहते हैं जिनमे वर्णमाला के वावन वर्णों मे से प्रत्येक वर्ण से रचना का प्रारम्भ किया जाता है। कक्का सम्बन्धी रचनाओ को वारहखडी भी कहा जाता है। कक्का-वारहखडी परक रचनायें तेरहवी सदी से उपलब्ध होती हैं।[१]

(ऊ) स्तवन

स्तुति परक काव्यो को स्तवन कहा जाता है। ऐसे काव्यो को स्तुति, स्तोत्र, सज्झाय, वीनती और नमस्कार भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध तीर्थकरो, महापुरुषो तीर्थों, साधुओ और महासतियो आदि मे होना है।[२]

(ए) ढ़ाल

अनेक जैन काव्य लौकिक शैलियो मे गेय हैं। इन शैलियो को देशी अथवा ढाल कहा जाता है। रचना के प्रारम्भ मे लौकिक गीत की पक्ति भी कभी २ दी जाती है। इस प्रकार अनेक लोकगीतो की प्राचीनता ज्ञात हुई है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने ढाई हजार ढालो की सूची भी प्रकाशित की है।[३]



---

१ प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह।
२ राजस्थानी भाषा और साहित्य,—डॉ० माहेश्वरी, पृ० २४५
३ जैन गुर्जर कविओं, खड ३।

(ऐ) टब्बा और बालावबोध

मूल रचना के स्पष्टीकरण हेतु पत्र के किनारो पर टिप्पणियाँ लिखी जाती हैं, इन्हे टब्बा कहते है और विस्तृत स्पष्टीकरण को बालावबोध कहा जाता है।

(ओ) ज्योतिष, वास्तु शास्त्र, आयुर्वेदादि शास्त्रीय विषयो पर आधारित काव्य

जैन कवियो ने धार्मिक विषयो के साथ ही ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय विषयो पर भी काव्य की रचना की है। हरीकलशकृत जोइसहीर[1] शकुन सोलही[2] आदि अनेक ग्रंथ शास्त्रीय विषयो पर लिखित उपलब्ध होते हैं।



---

१ भास्कर-किरण, दो भाग ४

२ अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर।

राउलवेल के दो नखशिख और उनकी शब्दावली

डा० हरीश
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर



राउलवेल हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्राचीनतम और श्रेष्ठ काव्य है। राउलवेल के सम्बन्ध मे सबसे बडी भ्रान्ति यह प्रचलित कर दी गई है कि यह काव्य दक्षिण कोसली का है। इस धारणा से हमारा मतभेद है। हमारी मान्यता है कि राउलवेल मालवा का काव्य है, जो उस समय दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान का प्रदेश था। राउल-वेल की इस भाषाजन्य उलझन पर हम 'राउलवेल की भाषा' नामक लेख मे विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं ताकि उसके वैज्ञानिक अध्ययन मे भाषाशास्त्र के अध्येताओ को रुचि हो।

प्रस्तुत लेख मे हम राउलवेल के नखशिखो मे प्रयुक्त शब्दावली का परिचय प्रस्तुत करेंगे। ताकि विद्वानो को उसकी शब्दावली की सम्यक् जानकारी हो सके। इन शब्दो का उस समय की उपलब्ध राजस्थानी कृतियो के शब्दो से तुलनात्मक अध्ययन भी उपेक्षित है। हमने ऐसा प्रयास किया है। राउलवेल मे वर्णित सातो नखशिखो मे डा० माताप्रसाद गुप्त ने सात विभिन्न भाषाओ के दर्शन किए हैं और हमारा मत यह है कि इस पूरी कृति मे एक ही प्रधान भाषा है, और कुछ शब्दावली इतर प्रान्तो की आ गई है, जिसका आना भाषा वैज्ञानिक नियमो के आधार पर भी सहज सम्भव है।

यहा प्रस्तुत लेख मे हम राउलवेल के आदि अन्त भाग तथा प्रारम्भ के दो नखशिखो की शब्दावली का विश्लेषणात्मक परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, वह इस प्रकार है।

राउलवेल की भाषा पर एक अन्य लेख मे हमने विभिन्न विद्वानो के मतो के साथ अपनी मान्यता भी प्रस्तुत की है कि यह शिलाकित काव्य दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और मालवा प्रदेशो की भाषा के तत्वो को प्रस्तुत करता है तथा उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी मे लिखा गया है, जिसमे उक्त प्रदेशो की बोली की अच्छी खासी शब्दा-वली प्रयुक्त हुई है। कवि ने राउलवेल मे इस अलौकिक शब्दावली का प्रयोग रचना को सुघड एव सरस बनाने के लिए ही किया है। रचना प्रधानतया पश्चिमी अपभ्रंश की औक्तिक राजस्थानी मे लिखी गई है। इस विशिष्ट औक्तिक मे मालवी एव प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का विशिष्ट सम्मिश्रण विद्यमान है।



यहां हम रचना के आदि अन्त एव प्रथम दो नखशिखो की शब्दावली को लेते हैं और उनका इस आधार पर परीक्षण करना चाहते है कि उसमे राजस्थानी या मालवी औक्तिक भाषा की कितनी शब्दावली है। जिन महत्वपूर्ण शब्दो को हम यहा प्रस्तुत कर रहे है, प्रसन्नता की बात है कि उन शब्दो मे से अनेक शब्द राजस्थानी और उसकी विशिष्ट बोली मालवी मे बोलचाल मे आज भी व्यवहृत होते हैं। साथ ही इन शब्दो के लिए हम प्राचीन राजस्थानी की आदिकालीन काव्यकृतियो के उद्धरण भी प्रस्तुत करेगे, जिन काव्यो मे राउलवेल मे प्रयुक्त भाषा की शब्दावली के अनेक शब्द यथावत मिल जाते है। ये शब्द वहाँ के जनपदीय भाषाकाव्यो मे आदिकाल से लेकर आज तक प्रयुक्त होते रहे हैं। हमारा यह सारा प्रयास वहाँ के प्रदेशो के लोकभाषा-तत्व एव बोल-चाल के शब्दो पर ही आधृत है। हमारा मत है कि हमारा यह प्रयास कदाचित् राउलवेल मे प्रयुक्त एक ही औक्तिक भाषा के स्थिरीकरण मे कुछ योग दे सके। कृति के आदि अन्त की शब्दावली प्रस्तुत है—

आदि

"रोडे राउल वेल बखाणी"

(१) राउल शब्द राजस्थानी मे राजपुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। राउल शासक को एव राजभवन को राउला या रावला कहते है। राउल शब्द का उत्तर अपभ्रंश के प्राचीन राजस्थानी काव्यो मे प्रयोग अनेक बार किया गया है। राउल शब्द के साथ राउत शब्द भी मिल जाता है, जो आजकल "रावत" रूप मे वहाँ की बोलियो मे बोला जाता है। इसका अर्थ भी राजपुरुष ही होता है। यही नही स्त्रीलिंग मे राउल नाम राजस्थान एव गुजरात मे नायिकाओ के लिए प्रयुक्त होता था। राउल राउ, राव एव राउत सभी शब्द पुंलिग मे केवल मात्र राजपुरुष के लिए ही आए हैं, देखिए

आदि अन्त

राउल—(स्त्री०)—१ राउल भणी गई पाधरी,
ऊभी रही विनीत करी—(२०६-१)

राउल—(पु०)—२ राउल भणइ इस्यूं का कीधउ—(२२७-१)
(कान्हड दे प्रबन्ध)[1]

राउत—१ राउत राउत वर रहीय,
मनि मू झइ मतिवत'तु (३८) (भरतेश्वर बाहुबलि रास)[2]

२ मयणराय पह राउत राउत
किर अति धीरू—(१९) (जम्बूस्वामी फाग)[3]

---

१ देखिए कान्हड दे प्रबन्ध मे राउल शब्द के लिए-स्थल-खड ४ पद्य २६१, २३२, १४८, १०७, १४४, ३०७ २१३ २२७, २२२, १७८, ३-३७, १-१३०, ४-२६१, २०६, १०६, १४३ आदि।

२ भरतेश्वर बाहुबलि रास, पद्य ३८ शालिभद्र सूरि कृति स० १२४१

३ प्राचीन फागु काव्यसग्रह, पृष्ठ २७, प्राचीन गुर्जरग्रन्थमाला ग्रन्थ ३, बडोदा।

रावल, रावलइ, रावलुहो (प्रद्युम्न चरित)[1] मे राउत (पचपाण्डव चरित रासु)[2] तथा वीसलदेव रास मे 'राउ'[3] रूपो मे मिलता है।

वेल शब्द राजस्थान मे लता के अर्थ मे पर्याप्त प्रचलित है। बोलचाल का अत्याधुनिक रूप वेल या वेलडी है।

राजइ-राणइ—राजा राणी के अर्थ मे बोली मे सामान्य जनता के शब्द हैं। इसी तरह आपणु, वखाणी आदि बोली मे प्रयुक्त होते है।

हासें-तोसें—हँसे और सन्तुष्ट हो, के अर्थ मे आते हैं।

इसी तरह रचना के आदि अन्त मे प्रयुक्त जो, मो (सर्व०) अइसी जइसी (विशे०) राजस्थान और मालवा मे प्रयुक्त शब्द हैं।

क्रियाओ मे जाणइ, वखाणइ, जाणो, शुद्ध राजस्थानी बोली की क्रियायें हैं। तथा जेम्व तेम्व जूनी गुजराती तथा आधुनिक गुजराती के अव्यय हैं। इसी तरह पूरी कृति के शब्दो के जन प्रचलित रूपो के प्रसग दिये जा सकते हैं। रचना के आदि अन्त मे प्रयुक्त यह सारी शब्दावली प्राचीन राजस्थानी की बोलचाल की शब्दावली है। डॉ० गुप्त ने शिलालेख के आदि अन्त की भाषा को दक्षिणी कोसली भाषा कहा है, जो हमारे मत से उचित नही है। रचना के आदि अन्त दोनो मे केवल द० प० राजस्थान, मालवा और गुजरात की जनप्रचलित बोली की शब्दावली है। अत इनकी भाषा को दक्षिण कोसली मानना सर्वथा अनुपयुक्त होगा।

अब नखशिखो की शब्दावली को लीजिए—

प्रथम नखशिख

(१) कचुआ—काचली के रूप मे, कछडा, काछकडा या काछडा प्राचीन द० प० राजस्थानी (पुरानी हिन्दी) मे बोला जाता है इसी तरह इन शब्दो को देखिए—

(२) राउलवेल	प्रचलित रूप (वर्तमान मे)
वेटिया	वेटूडी
माण्डणु	माउण, माडणा
पहिरणु	पेरणा
कवि	कवी
काठी	कठी
वना	वरणा
अहरू	अद्धरू
(राउलवेल)	(बोलचाल की आज की राजस्थानी)



१ प्रद्युम्नचरित्र पद्य ४२४, ४२६, ६५०, ३३८ अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुर प्रकाशन।

२ लेखक की कृति आदिकाल के अज्ञात रासकाव्य—पचपांडवचरित रासु, पृ० १४५, पद्य ७०५ मगल प्रकाशन, जयपुर।

३ बीसलदेव रास। पृ०६५, छन्द ४७, सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त एव अगरचन्द नाहटा।

(३) सोह और कोह क्रमश प्राचीन राजस्थानी उत्तर अपभ्र श के हैं ।

(४) काजल-काज, तबोलें-तबोली (राजस्थानी)

मोहि—म्हने तथा सो, कोऊ, तासु, जसु, जा, जो, (सर्व०) एव भालण (जूनी एव आधुनिक गुजराती) तथा विशेषणो मे ।

आछउ-आछ्यो, गाढउ-गाढो, गाढ, रातउ-रातो, चागउ-चगो राजस्थान की बोली के शब्द है ।

(५) क्रियाओ मे—भावइ—भावे, भावअ, रूचइ—रूचे,रूचअ, माडीजइ—माडिजे, माडिज्ये, पावइ सुहावइ, दीजइ—दीजे, रूचइ—रूचज्ये, तथा अव्ययो मे कोउ, मणु मणु, विणु आदि राजस्थानी की बोलियो मे आज भी धडल्ले से प्रयुक्त होते हैं ।

डॉ० गुप्त ने प्रथम नखशिख की भाषा पश्चिमी हिन्दी लिखी है, इससे हमे कोई आपत्ति नही । वस्तुत पश्चिमी हिन्दी की उक्त शब्दावली हमारे मत से एकदम राजस्थानी की ही शब्दावली है । इस तरह इस नखशिख मे—तरल, तह, मोहथि, एहइ, वाभउ, आनु, तुछउ, ताकरि, सोह तूलीम्व, आहरणें—आदि प्रथम नखशिख के कुल ११ शब्द ऐसे है जो बोलचाल की राजस्थानी मे प्राय प्रयुक्त नही होते । पर यह निश्चित है कि ये शब्द उस समय अवश्य ही औक्तिक के रहे होगे । शेष इस नखशिख के अधिकाश शब्द राजस्थान मे बोले जाते हैं ।

द्वितीय नखशिख

इसमे राजस्थानी और जूनी गुजराती के जनपदीय शब्दो की स्थिति इस प्रकार है—

(१) ओख शब्द वारण के अर्थ मे सौगन्ध (शपथ) लेकर छोड देने या किसी बात के लिए प्रकृति द्वारा रोक दिए जाने के अर्थ मे, वोड-ओड (आढणा) के अर्थ मे, काछडा-काछडो-काछकडो, मेढी-मीढो, काचू-काचो (कच्चा) तथा काचुली (कचुकी पाहसिया-पगहास, काठी-कठ रूप मे बोलचाल मे प्रयुक्त होते हैं ।

(२) जोवणु-जोवन, वेसु-वेस, बेस, मेस, मयणु-मदन रूप मे, लाठा-लाट्यो (तगडा) लट्ठा (कपडा विशेष), आदि, गोह (गोहली गोहरा—जहरीले जन्तु), एव गोयरो, गोयली रूपो मे, दीठि-दीठ, दीठा, दीठो (दृष्टि सूचक अर्थ), रेख (यथावत्) तागो-धागो, (तागो डोरे एव सूत्र टूटने के लिए), गोलें-गोलो (दरोगा अर्थात् दास के अर्थ मे), रीठ-रीठो, भण (यथावत् वाघ (बन्धन) वाघ, माघ, लोणचि-लूण (नमक) सलूणो अलूणो, गम्वारिम्व-गवार गमार-ग्वार-ग्वारचो (एक मेवाडी जाति) रूपो मे, पडिह-पट, पटा, पट्टो, डुपटो (वस्त्र), दढ-(सुगठित) दड दडो, आनि-आण, लान्ह-नान्ह न्यान, नानो (छोटा) तथा गाढो (यथावत्), अइसी (यथावत्) पातली, पातली (पतली-स्त्री) पातलिया (पति), थाढा-टाडो (बूडो टाडो रूप में) वोल्लें-बोल, आढी-आडी, माढी-माडी ऊजल-ऊज (ऊज घो) आदि रूपो मे मिलते है ।

इस नखशिख मे उक्त शब्दो के जो शब्द राजस्थान की बोलियो मे प्रयुक्त नही होते वे निम्नाकित हैं—

सान्ह, आनिक, आविल, आपुली, आतु, आदि

(३) क्रियाओं में इस नखशिख की लगभग सभी क्रियायें राजस्थानी में बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त की जाती हैं, जैसे—

वाच, माड, भण तथा विविध कृदन्त-देखत, अछउ-छउ-छे, छ, विद्यमान हैं।

(४) अव्ययों में जो नहीं मिलते हैं वे ये हैं—एवु, ताउ, उव, निरु

उक्त नखशिख की भाषा को डा० गुप्त ने प्राचीन मराठी का कोई रूप कहा है, जिसकी अधिकांश शब्दावली का प्राचीन एवं अर्वाचीन रूप हमने ऊपर स्पष्ट किया है।

मराठी के चा चे ची प्रत्यय के कारण ही सम्भवतः वे इसको मराठी भाषा कह गए हैं, परन्तु मराठी के इन प्रत्ययों का प्रयोग डिंगल की प्रसिद्ध कृति 'क्रिसन रुकमणी री वेल' में मिल जाते हैं।

राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य बदरीप्रसाद साकरिया से भी हमने चा, ची, चै प्रत्ययों का प्राचीन राजस्थानी में सम्बन्ध पूछा। उनका निश्चित मत है कि चा, ची, चे प्रत्यय समग्र रूप में मूलतः प्राचीन राजस्थानी के हैं। ये प्रत्यय मराठी में भी राजस्थानी से ही गए हैं। अतः इनको मूलतः मराठी मान लेना प्राचीन राजस्थानी की शब्दावली को चुनौती देना है।

कृति के आदि अंत तथा दोनों नखशिखों की शब्दावली की हमने ऊपर परीक्षा की है तथा इनसे स्पष्ट होता है कि राउलवेल के सात नखशिखों में से दो तो विशुद्ध रूप से प्राचीन राजस्थानी के ही हैं। इनमें दक्षिण कोसल की कहीं छाया नहीं। शेष पांच नखशिखों की शब्दावली की इसी प्रकार परीक्षा हम अन्यत्र प्रस्तुत करेंगे।





कवि जिनहर्षकृत मलयसुन्दरी चरित्र : एक पर्यवेक्षण



श्री ईश्वरानन्द शर्मा एम० ए०,
प्रवक्ता डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

भारतीय सस्कृति मे दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहा की विचारधाराएँ धर्म-भावना से सवलित रही है। यही कारण है कि यहा का साहित्य भी उनसे प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। यहाँ सर्वथा विचार-स्वातन्त्र्य पनपता रहा, और समन्वय की अजस्रधारा प्रवाहित होती रही। चाहे वह ब्राह्मणसस्कृति हो या श्रमण-सस्कृति, अविच्छिन्नरूपता समान ही रही है। इन दोनो धाराओ ने जन-जीवन को साधना-पथ की ओर अग्रसर किया है। सरस सहृदयसवेद्य होने से काव्यकला विशेषत परिगृहीत हुई। उसकी अमृतमयी भावधारा से मानवता अभिषिञ्चित होकर अमर बन गई। अन्य कवियो के साथ जैन कवियो ने जो उत्तरदायित्व निभाया है वह स्पृहणीय है। ज्यो-ज्यो जैन कवियो का व्यक्तित्व एव कृतित्व सम्मुख आता जा रहा है त्यो-त्यो मान्य मान्यताओ की परिपुष्टि एव नवीन मान्यताओ की पुन सस्थापनाये सम्भव हो रही है। हमारे चरितनायक जिनहर्ष अद्वितीय विशिष्ट कृतिकार है जिनकी बृहत्परिमाण रचनाओ मे से "मलयसुन्दरी चरित्र" का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम इसकी परम्परा प्रस्तुत की जा रही है।

मलयसुन्दरी और महाबल की कथा अत्यन्त लोकप्रिय कथा रही है। अनेक कवियो ने इस पावन कथा से अपनी वाणी का शृगार किया है। प्राकृत और सस्कृत कवियो ने भी इसे अपनी पद्धति से अपनाया है। जर्मन भाषा मे इसका अनुवाद भी किया गया है। इस प्रकार इस कथा की एक परम्परा उपलब्ध होती है जो निम्नाकित है—

१ मलयसुन्दरी चरित्र—भाषा प्राकृत (कवि अज्ञात)।
२ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—शान्तिसूरि स० १४५६ के लगभग।
३ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—भाषा सस्कृत (माणिक्यसुन्दर) स० १४८० के लगभग।
४, मलयसुन्दरी रास—उदयधर्म स० १५४३।
५ महाबलमलयसुन्दरी रास—चारुचन्द्र स० १५८० के लगभग।
६ महाबलरास—स० १६४० से पूर्व।
७ मलयसुन्दरी चौपाई—लब्धोदय स० १७४३ [गोघूदा मे रचित]।
८ मलयसुन्दरी महाबलरास—उदयरतन स० १७६६।
९ महाबलमलयसुन्दरी रास—कान्तिविजय स० १७७५।
१० महाबल मलयसुन्दरी रास—विनयचन्द्र स० १८६० के लगभग।
११ मलयसुन्दरी कथा—धर्मचन्द्र [जर्मन भाषा मे अनूदित]।

अठारहवी शताब्दी के महान् कवि जिनहर्ष ने मलयसुन्दरी चरित्र की रचना पाटन मे स० १७५१ मे की थी। इसमे चार प्रस्ताव (खण्ड) है। प्रथम मे मलयसुन्दरी का जन्म, द्वितीय मे महाबल के साथ उसका परिणय, तृतीय

मे उसका श्वसुरकुलागमन तथा कलकित होकर वहा से उसका निष्कासन, चतुर्थ मे उसके अवदातशील एव पूर्वभव का वर्णन है। प्रथम प्रस्ताव मे १३४० पद्य, द्वितीय मे ११६५, तृतीय मे ७३७ तथा चतुर्थ मे ११४० पद्य है। इस प्रकार यह ग्रन्थ ३८७५ पद्यात्मक है। श्री प्रमाणविजय ने इसकी लिपि स० १८२१ मे की थी जो अभय जैनग्रन्थालय बीकानेर मे सुरक्षित है।

इसमे भारत के दक्षिण मे स्थित चन्द्रावती नगरी की राजकुमारी मलयासुन्दरी, और पृथ्वीस्थानकपुर के राजकुमार महाबल की कथा गुम्फित है। कनकवती, व्यन्तर, मगधावेश्या, मत्रसाधक योगी, लोहखुरा चोर आदि की कथाएँ गौण हैं। कवि ने गुणवर्मा की कथा से इसका आरम्भ किया है, जो प्रस्तावना-कथा प्रतीत होती है। अलौकिक तत्वो से परिपूर्ण प्रस्तावना कथा का घटनाचक्र तथा अवान्तर कथाओ का बाहुल्य पाठक की जिज्ञासावृत्ति को अधिक उभार देता है। मूलकथा तक पहुँचने से पहिले पाठक-श्रोता इन कथाओ के श्रवण से अधिक सहानुभूतिशील तथा एकाग्रचेता हो जाता है। प्रस्तावना कथा के अभाव मे भी मूलकथा मे कोई न्यूनता नही आती।

इसका कथानक अत्यन्त विपुल और व्यापक है। नायक महाबल और नायिका मलया के समस्त जीवनवृत्त के साथ वीरधवल तथा चम्पकमाला के समग्र जीवन की कथा भी आ गई है। महाबल के माता-पिता शूरपाल और पद्मावती की कथा भी इसमे समाहृत है। वर्तमान जीवन के साथ पूर्वभव की कथाओ का भी स्पर्श किया गया है। प्रासगिक पताका और प्रकरी कथाओ की भरमार है। जीवन के विविध व्यापारो के उद्घाटन से कथा मे वैविध्य आ गया है। अलकृत महाकाव्यो के कथानक का परिणाह इसमे लक्षित नही होता है। आधिकारिक कथा का महत्व सुरक्षित रखते हुए अवान्तर कथाओ का सघटन किया गया है। महान कान्तार मे देवी चक्रेश्वरी का अवतरण कथानक के सघटन मे भावसन्धि का निदर्शन है जिससे अन्तर्द्वन्द्व का उदय हुआ है। कवि अपने कर्मकौशल से कथाविकास और औत्सुक्यवृद्धि के लिए उचित अवसर प्राप्त कर अवान्तर कथाओ का बीजारोपण करता चलता है। ये बीज अन्य कथाओ की सगति-विसगति मे पल्लवित होकर ज्यो ही फलित होने को होते है त्यो ही कवि किसी न किसी अन्य अवान्तर कथा का बीजारोपण कर देता है। इन अवान्तर कथाओ के सगुम्फन मे कवि का कौशल परिलक्षित होता है। कथासूत्र मे अनुस्यूति बनाये रखने के लिए सयोगतत्व और अवान्तर कथाओ का आश्रय लिया गया है। इनके कारण कथासूत्र विच्छिन्न होने से बच गया है। इस चरित्र मे अनेक वक्ता और श्रोता हैं जिनके आधार पर कथाबेलि विकसित हुई है। कथाए प्राय पात्रो के परित भ्रमणशील दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक बिछुडा हुआ पात्र अपने अनुभव अवश्य सुनाता है। अधिकाश कथाएँ "आपबीती" के रूप मे पात्रो के मुख से कहलवाई गई है जो अधिक विश्वसनीय और प्रभावक हैं। कथानक सीधी सरपट सडक पर न होकर जिह्वाराज पद्धति पर है। अवान्तर कथाओ के तन्तुजाल मे मूलकथासूत्र को बार-बार सही दिशा मे से सभालने के लिए श्रोता-पाठक को सजग रहना पडता है।

इसका कथानक कथानक-रूढियो और अलौकिक तत्वो का आगार है। छोटी से छोटी और मोटी से मोटी घटना मे किसी न किसी अलौकिक तत्व का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न हाथ रहता है। कथानक का वातावरण अतिमानवी क्रियाकलापो से अभिभूत है। अतिप्राकृत शक्तिया मानवी शक्ति पर हावी हैं। उनके वरदान से कल्याण तथा अभिशाप से अकल्याण निश्चित है। चमत्कारी वस्तु धरोहर के रूप मे प्राप्त कर उसे पुन न लौटाना और शापित होना, स्तम्भनकारी को ढूंढते-ढूंढते गुणवर्मा की उजाड नगर मे प्राप्ति, वहाँ एक सुन्दर युवक का नगर द्वार पर मिलना, विजया का बदिनी के रूप मे उजाड नगर मे पहुचना, वहा उसका निवास, राक्षस का आधिपत्य, राक्षस का वशीकारक पुरुष द्वारा उसके तलवे मे तैलमर्दन मे रहना, काष्ठफलक का तैरते आना, सहसा चम्पकमाला का मिलना, कदलीवन से किसी स्त्री के रुदन स्वर को लक्ष्य कर तदभिमुख निशीथ मे चल पडना और मार्ग मे एक तपस्वी योगी से मिलना, स्वर्ण पुरुष की भावना, योगी का उत्तप्ततैल कटाह मे निपात, मणिधर सर्प के पीछे चलकर गुफाद्वार ढूंढना, शिर शूल उन्मूलन के लिए उत्तम पुरुष की भस्म प्राप्त करने का छल, पित्त शान्ति के लिए छिन्नटक पर्वत से आम मगाना, आदि कथानक रूढियो





का प्रयोग खुलकर किया गया है। जादू की टोरी, लिंगपरिवर्तन, रूप परिवर्तन भी अनेक वार प्रयुक्त हुए है। कथा का अधिकाश भाग अलौकिक शक्तियो का चमत्कार प्रतीत होता है। गुणवर्मा की कथा मे सिद्धरस के तूम्बे का वर्णन आया है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना वन जाता है। विजयचन्द्र अतिसारी तपस्वी की सेवाकर स्तम्भनकारी, वशीकरण विद्याएँ प्राप्त करता है। गुटिका को मुँह मे रखकर महावल का चम्पकमाला वन जाना, आकाशगामी हरत के रूप मे व्यन्तरी का महावल का वस्त्र चुराना, महाबल का उस हाथ को पकडकर झूम जाना और लटकते हुए सैकडो मीलो की आकाश यात्रा विस्मयोत्पादक है। सिद्ध गुटिका को आम्ररस मे घिस कर लगाने से स्त्री का पुरुप वन जाना, वटवृक्ष पर व्यन्तरो का परस्पर वार्तालाप, महावल के द्वारा उसको सुनना और समझना, वटवृक्ष का आकाश मे उड जाना और गन्तव्य स्थान पर जम जाना, 'हुँ' की आवाज के साथ ही उसी वृक्षवट का पूर्व नियत स्थान पर उडकर जम जाना, भीमकाय कृष्ण सप का लक्ष्मीपु ज हार उगलना, मलया का दिव्य परीक्षण मे पवित्र एव निरपराध सिद्ध होना, मृतक का उठना, उठ-उठ कर गिरना, उडना रोमाचक भी है और विस्मयकारी भी। ये घटनाएँ अलौकिक तत्व से प्रसूत हैं। इनसे पाठक एक काल्पनिक दुनिया मे पहुच जाता है। जिससे उसकी जिज्ञासावृत्ति सन्तुष्ट होती रहती है और अधिकाधिक सदीप्त भी। यहा पर कवि उन अलौकिक लोकविश्वासो से अधिक प्रभावित जान पडता है जो मानवसभ्यता के आरम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप मे कम या अधिक मात्रा मे समाज मे परिगृहीत होते रहे है।

इसमे मलयसुन्दरी और महावल के उत्कृष्ट चरित्र को अकित किया गया है। काव्य होते हुए भी कथा, आख्यायिका, धर्मकथा के तत्वो से भी प्रभावित है। चरितकाव्यो मे साहसिक कार्यों का निदर्शन कराया जाता है। महावल और मलया विकट से विकट परिस्थितियो से जुझते है। मरणान्तिक यातना प्राप्त करते है। जीवन मे जितनी कष्ट परम्परा हो सकती है इन दोनो ने सही है। इनका साहस और शील सदा उन्नत रहा है। चरितकाव्यो की शैली जीवन चरित की शैली होती है जिसमे माता-पिता एव वश का वर्णन रहता है। भवान्तर का वर्णन भी किया जाता है। इसमे कवि का ध्यान नायक-नायिका के अलौकिक अद्भुत व्यक्तित्व को प्रभावक रूप मे प्रस्तुत करने की ओर विशेप रहता है और वस्तुवर्णन एव ऋतुवर्णन की दिशा मे कम। यहाँ प्रेम, वीरता, वैराग्य भावना का समन्वय हुआ है। यह कथा सात्विक प्रेम की उत्कृष्ट व्यजना है। आदि से अन्त तक यह प्रेमधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। वीच-वीच मे प्रसगवश वीरभावना को अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया है। अवसान शान्त रस मे होता है। महाराज वीरधवल, चम्पक माला, महावल, मलया आदि सभी वैराग्य धारण कर लेते हैं। इसमे कर्म-फल की प्रधानता दिखाई गई है। जीवन का शाश्वत सत्य यही है। कथानक ख्यातवृत और अनुत्पाद्य है। वह विस्तृत और पद्यवद्ध भी है प्रत्येक सर्ग का नाम घटना के आधार पर है। इसके सर्गो मे विपुल और व्यापक कथानक समाहृत हुआ है। प्रासगिक कथाओ का प्रवाह मूल कथा की ओर है, जिनमे उसे सम्पुष्टि प्राप्त होती है।

महाकाव्य का दूसरा प्रधानतत्व नायक होता है। वह सद्वशोत्पन्न, सयमी, क्षमावान्, गम्भीर, दृढनिश्चयी, विनयी और धीरोदात्त है। वह धार्मिक मनोवृत्ति का सत्यप्रिय प्रतापी राजकुमार है। सयम, सदाचार, एकपत्नीव्रत, पितृभक्ति का वह साकार स्वरूप है। उसका शौर्य अप्रतिहतगति है। भय, कायरता निष्क्रियता उसके जीवन मे नही है। वडे से वडे सकट को झेलने के लिए गहनतम विकट परिस्थिति की दुर्दान्तदगी मे साहस साथ वह प्रवेशोद्यत रहता है। वह अपराजेय योद्धा है। वह स्वकीया मे अनुरक्त अनुपम पति है। अलौकिक शक्तियो का शाप-वरदान उसे उपलब्ध है। वह कर्मक्षेत्र के मदाबहार कर्मठव्यक्तित्व के रूप मे अवतरित हुआ है। उसका महान् व्यक्तित्व जनजीवन की भावनाओ का आश्रयस्थल है। वह देश और सस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसका सवल स्वरूप समाज के लिए शिक्षाप्रद है। उसका उत्तरावस्था का जीवन महान् त्यागी, तपस्वी का जीवन है। जो अपने उदीप्त वचस्व से गुणगरिमामडित वन गया है।

मलयासुन्दरी इस रास की नायिका है जो पतिप्राणा, सयमी और पतिव्रता है। अपना सर्वस्व गँवा कर • वह अपने शील की रक्षा करती है। उस जैसा कष्टमतप्त जीवन अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यो-ज्यो वह अग्निपरीक्षा मे तपा

गई, उसका चरित्र स्वर्ण के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया। विवाह से पूर्व उसे अपने पिता का कोप भाजन बनना पडा। भाग्य की विडम्बना से विवाह हुआ श्वसुरगृह मे उसे कलंकिनी समझा गया। दोहदावस्था मे गृहनिष्कासन हुआ। वन मे उसके शील के अनेक शत्रु जग गये। शीलरक्षार्थ उसे अपनी एकलौती सन्तान से भी विमुख होना पडा, शरीर से रक्तनिष्कासन स्वीकार करना पडा, मार्मिक वेदनाए सहनी पडी। कन्दर्प राजा के अत्याचार से बचने के लिए वह कूप-झपा भी कर लेती है। मलया मे भारतीय सती की धडकन मुखरित है। मन, वचन, कर्म से भवभवान्तरो मे उसे अपने एक ही पति का ध्यान इष्ट है। परिस्थितियो की द्वन्द्वात्मकता ने उसके चरित को महत्तमपद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसका महत्तरा साध्वी का चारित्र्य तो और भी निर्मल है। वह गगा से भी पवित्र और परोपकारिणी है। उसका चरित्र शीलमहत्व का प्रेरक है —"भवियण शीलतणा फल जाय"।

वीरधवल प्रजापालक महान् राजा है। उसकी चम्पकमाला अनिन्द्यसुन्दरी गुणवतीपटरानी है। कनकवती का चरित्र खल मनोवृत्ति का प्रतीक है। मलया को कष्ट पहुचाने का उसका सकल्प था कि मणिमाला के सूत्र के समान प्रच्छन्न और अभिव्यक्त है। वह महाकाव्य का स्थिर पात्र है जो मिट सकता है पर स्वभाव को नही छोड सकता। 'स्वभावो दुरतिक्रम'। शूरपाल महाबल का पिता वीर राजा है। उसकी स्त्री पद्मावती महाबल की माता है। लक्ष्मीपुंज-हार के गुम हो जाने पर वह शोकसन्तप्त होती है और हार न मिलने पर ५वें दिन मरण-प्रण कर लेती है। उसके इस कठिन प्रण ने महाबल को तो सकट मे डाल ही दिया पर कथानक को गतिसकट से बचा लिया। लोहखुर भयकर साह-सिक चोर, कन्दर्प रूपपिपासु, सार्थवाह बलसार सन्तानेच्छुक पर साथ ही परदाराभिलाषी है। ये सभी जीवन के विभिन्न पात्रो का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अलौकिक पात्रो मे उपकारिणी चक्रेश्वरी, अपकारिणी व्यन्तरी, और सत्वशिता पर सहृदया विद्याधरी देवी है। चन्द्रयश केवली परमवीतराग भव-भवान्तरो के ज्ञाता, परमज्ञानी के रूप मे चित्रित हुए हैं।

रस की दृष्टि से यह रास अत्यन्त समृद्ध है। भावो की रसरूप मे परिणति हृद्य और सहृदयसवेद्य बन पडी है। इसका प्रधानरस शृगार और गौणरसो मे हास्य, अद्भुत, वीर, भयानक, बीभत्स, रौद्र, करुण तथा वत्सल का उल्लेख किया जा सकता है। यह शान्तरसपर्यवसायी महाकाव्य है। कथानक की विविधता और व्यापकता के कारण प्राय सम्पूर्ण स्थायी भाव रसदशा तक पहुच गये हैं। शृगार रस की व्यापकता महत्त्वपूर्ण हैं। शृगार के दोनो पक्षो सयोग तथा विप्रलम्भ के साथ-साथ देवगुरु विषयक रति-भाव का वर्णनप्रसग भी आया है। कार्यकारणवश शृगाररसाभास का प्रकरण भी प्रस्तुत हो गया है। यहाँ सयोगशृगार की अपेक्षा विप्रलम्भशृगार को अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। उसके मार्मिक स्थलो को जिस कौशल से अनुभूतिगम्य बनाया गया है वह प्रशसनीय है। मलया के हृदय मे महाबल के लिए अकुरित प्रथम प्रेम का प्रसग बडा ही सुन्दर बन पडा है।

"व्यामोहित कुमरी भई देखी रूप अनग।
पचबाण बाणें करी वींधाणो सवंग॥

राजकुमारी का मुग्ध मन सन्देह-आन्दोलन पर पैंग मारने लगता है। वहाँ सन्देहालकार इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है —

"कुमरी मनमाँ चिन्तवे ए कुण देवकुमार।
के विद्याधर राजवी के रतिपति अवतार॥

कुमारी का लुब्ध मन महाबल के अनुपम सौन्दर्य का अगश साक्षात्कार करता है। अरुण अशोकपत्र के समान रक्ताभ चरण, दर्पणोज्ज्वल नख, कुंजरकर-जघायुगल, मुष्टिग्राह्य कटिप्रदेश, गम्भीर नाभि, सुन्दर त्रिवली, सुदृढ विशाल वक्षस्थल, दीर्घ रसाल भुजदण्ड को आँखो से पान करती हुई स्त्री स्वभावोचित आकांक्षोद्‌गार प्रकट करती है —

"धन्य जे स्त्री आलिंग से, वक्षस्थल सुविशाल रे॥
केहने कण्ठे लागसे, भुजदण्ड दीर्घ रसाल रे॥





का प्रयोग खुलकर किया गया है। जादू की डोरी, लिंगपरिवर्तन, रूप परिवर्तन भी अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। कथा का अधिकाश भाग अलौकिक शक्तियो का चमत्कार प्रतीत होता है। गुणवर्मा की कथा मे सिद्धरस के तूम्बे का वर्णन आया है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना वन जाता है। विजयचन्द्र अतिसारी तपस्वी की सेवाकर स्तम्भनकारी, वशीकरण विद्याएँ प्राप्त करता है। गुटिका को मुँह मे रखकर महाबल का चम्पकमाला वन जाना, आकाशगामी हरत के रूप मे व्यन्तरी का महाबल का वस्त्र चुराना, महाबल का उस हाथ को पकडकर झूम जाना और लटकते हुए सैकडो मीलो की आकाश यात्रा विस्मयोत्पादक हैं। सिद्ध गुटिका को आम्ररस मे घिस कर लगाने से स्त्री का पुरुप वन जाना, वटवृक्ष पर व्यन्तरो का परस्पर वार्तालाप, महावल के द्वारा उसको सुनना और समझना, वटवृक्ष का आकाश मे उड जाना और गन्तव्य स्थान पर जम जाना, 'हुँ' की आवाज के साथ ही उसी वृक्षवट का पूर्व नियत स्थान पर उडकर जम जाना, भीमकाय कृष्ण सर्प का लक्ष्मीपु ज हार उगलना, मलया का दिव्य परीक्षण मे पवित्र एव निरपराध सिद्ध होना, मृतक का उठना, उठ-उठ कर गिरना, उडना रोमाचक भी है और विस्मयकारी भी। ये घटनाएँ अलौकिक तत्व से प्रसूत हैं। इनसे पाठक एक काल्पनिक दुनिया मे पहुच जाता है। जिससे उसकी जिज्ञासावृत्ति सन्तुष्ट होती रहती है और अधिकाधिक सदीप्त भी। यहा पर कवि उन अलौकिक लोकविश्वासो से अधिक प्रभावित जान पडता है जो मानवसभ्यता के आरम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप मे कम या अधिक मात्रा मे समाज मे परिगृहीत होते रहे है।

इसमे मलयसुन्दरी और महाबल के उत्कृष्ट चरित्र को अकित किया गया है। काव्य होते हुए भी कथा, आख्यायिका, धर्मकथा के तत्वो से भी प्रभावित है। चरितकाव्यो मे साहसिक कार्यों का निदर्शन कराया जाता है। महावल और मलया विकट से विकट परिस्थितियो से जुझते है। मरणान्तिक यातना प्राप्त करते हैं। जीवन मे जितनी कप्ट परम्परा हो सकती है इन दोनो ने सही है। इनका साहस और शील सदा उन्नत रहा है। चरितकाव्यो की शैली जीवन चरित की शैली होती है जिसमे माता-पिता एव वश का वर्णन रहता है। भवान्तर का वर्णन भी किया जाता है। इसमे कवि का ध्यान नायक-नायिका के अलौकिक अद्‌भुत व्यक्तित्व को प्रभावक रूप मे प्रस्तुत करने की ओर विशेष रहता है और वस्तुवर्णन एव ऋतुवर्णन की दिशा मे कम। यहाँ प्रेम, वीरता, वैराग्य भावना का समन्वय हुआ है। यह कथा सात्विक प्रेम की उत्कृष्ट व्यजना है। आदि से अन्त तक यह प्रेमधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। बीच-बीच मे प्रसगवश वीरभावना को अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया है। अवसान शान्त रस मे होता है। महाराज वीरधवल, चम्पक माला, महावल, मलया आदि सभी वैराग्य धारण कर लेते हैं। इसमे कर्म-फल की प्रधानता दिखाई गई है। जीवन का शाश्वत सत्य यही है। कथानक ख्यातवृत और अनुत्पाद्य है। वह विस्तृत और पद्यबद्ध भी है प्रत्येक सर्ग का नाम घटना के आधार पर है। इसके सर्गों मे विपुल और व्यापक कथानक समाहत हुआ है। प्रासगिक कथाओ का प्रवाह मूल कथा की ओर है, जिनसे उसे सम्पुष्टि प्राप्त होती है।

महाकाव्य का दूसरा प्रधानतत्व नायक होता है। वह सद्‌वशोत्पन्न, सयमी, क्षमावान्, गम्भीर, दृढनिश्चयी, विनयी और धीरोदात्त है। वह धार्मिक मनोवृति का सत्यप्रिय प्रतापी राजकुमार है। सयम, सदाचार, एकपत्नीव्रत, पितृभक्ति का वह साकार स्वरूप है। उसका शौर्य अप्रतिहतगति है। भय, कायरता निष्क्रियता उसके जीवन मे नही है। वडे से वडे सकट को झेलने के लिए गहनतम विकट परिस्थिति की दुर्दान्तदरी मे साहस साथ वह प्रवेशोद्यत रहता है। वह अपराजेय योद्धा है। वह स्वकीया मे अनुरक्त अनुपम पति है। अलौकिक शक्तियो का शाप-वरदान उसे उपलब्ध है। वह कर्मक्षेत्र के सदावहार कर्मठव्यक्तित्व के रूप से अवतरित हुआ है। उसका महान् व्यक्तित्व जनजीवन की भावनाओ का आश्रयस्थल है। वह देश और सस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसका सवल स्वरूप समाज के लिए शिक्षाकर है। उसका उत्तरावस्था का जीवन महान् त्यागी, तपस्वी का जीवन है। जो अपने उदीप्त वर्चस्व से गुणगरिमामडित वन गया है।

मलयासुन्दरी इस रास की नायिका है जो पतिप्राणा, सयमी और पतिव्रता है। अपना सर्वस्व गँवा कर भी वह अपने शील की रक्षा करती है। उस जैसा कप्टसतप्त जीवन अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यो-ज्यों वह अग्निपरीक्षा मे तपाई

गई, उसका चरित्र स्वर्ण के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया। विवाह से पूर्व उसे अपने पिता का कोप भाजन बनना पडा। भाग्य की विडम्बना से विवाह हुआ श्वसुरगृह मे उसे कलकिनी समझा गया। दोहदावस्था मे गृहनिष्कासन हुआ। वन मे उसके शील के अनेक शत्रु जग गये। शीलरक्षार्थ उसे अपनी एकलोती सन्तान से भी विमुख होना पडा, शरीर से रक्तनिष्कासन स्वीकार करना पडा, मार्मिक वेदनाए सहनी पडी। कन्दर्प राजा के अत्याचार से बचने के लिए वह कूप-झपा भी कर लेती है। मलया मे भारतीय सती की धडकन मुखरित है। मन, वचन, कर्म से भवभवान्तरो मे उसे अपने एक ही पति का ध्यान इष्ट है। परिस्थितियो की द्वन्द्वात्मकता ने उसके चरित को महत्तमपद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसका महत्तरा साध्वी का चारित्र्य तो और भी निर्मल है। वह गगा से भी पवित्र और परोपकारिणी है। उसका चरित्र शीलमहत्व का प्रेरक है —"भवियण शीलतणा फल जाय"।

वीरधवल प्रजापालक महान् राजा है। उसकी चम्पकमाला अनिन्द्यसुन्दरी गुणवतीपटरानी है। कनकवती का चरित्र खल मनोवृत्ति का प्रतीक है। मलया को कष्ट पहुचाने का उसका सकल्प था कि मणिमाला के सूत्र के समान प्रच्छन्न और अभिव्यक्त है। वह महाकाव्य का स्थिर पात्र है जो मिट सकता है पर स्वभाव को नही छोड सकता। 'स्वभावो दुरतिक्रम'। शूरपाल महाबल का पिता वीर राजा है। उसकी स्त्री पद्मावती महाबल की माता है। लक्ष्मीपुंज-हार के गुम हो जाने पर वह शोकसन्तप्त होती है और हार न मिलने पर ५वें दिन मरण-प्रण कर लेती है। उसके इस कठिन प्रण ने महाबल को तो सकट मे डाल ही दिया पर कथानक को गतिसकट से बचा लिया। लोहखुरा भयकर साह-सिक चोर, कन्दर्प रूपपिपासु, सार्थवाह बलसार सन्तानेच्छुक पर साथ ही परदाराभिलाषी है। ये सभी जीवन के विभिन्न पात्रो का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अलौकिक पात्रो मे उपकारिणी चक्रेश्वरी, अपकारिणी व्यन्तरी, और सशकिता पर सहृदया विद्याधरी देवी है। चन्द्रयश केवली परमवीतराग भव-भवान्तरो के ज्ञाता, परमज्ञानी के रूप मे चित्रित हुए हैं।

रस की दृष्टि से यह रास अत्यन्त समृद्ध है। भावो की रसरूप मे परिणति हृद्य और सहृदयसवेद्य बन पडी है। इसका प्रधानरस शृगार और गौणरसो मे हास्य, अद्भुत, वीर, भयानक, वीभत्स, रौद्र, करुण तथा वत्सल का उल्लेख किया जा सकता है। यह शान्तरसपर्यवसायी महाकाव्य है। कथानक की विविधता और व्यापकता के कारण प्राय सम्पूर्ण स्थायी भाव रसदशा तक पहुच गये हैं। शृगार रस की व्यापकता महत्त्वपूर्ण है। शृगार के दोनो पक्षो सयोग तथा विप्रलम्भ के साथ-साथ देवगुरु विषयक रति-भाव का वर्णनप्रसग भी आया है। कार्यकारणवश शृगाररसाभास का प्रकरण भी प्रस्तुत हो गया है। यहाँ सयोगशृगार की अपेक्षा विप्रलम्भशृगार को अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। उसके मार्मिक स्थलो को जिस कौशल से अनुभूतिगम्य बनाया गया है वह प्रशसनीय है। मलया के हृदय मे महाबल के लिए अकुरित प्रथम प्रेम का प्रसग बडा ही सुन्दर बन पडा है।

"व्यामोहित कुमरी थई देखी रूप अनग'।
पचबाण बाणें करी वींधाणो सर्वंग॥

राजकुमारी का मुग्ध मन सन्देह-आन्दोलन पर पैंग मारने लगता है। वहाँ सन्देहालकार इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है —

"कुमरी मनमाँ चिन्तवे ए कुण देवकुमार।
के विद्याधर राजवी के रतिपति अवतार॥

कुमारी का लुब्ध मन महाबल के अनुपम सौन्दर्य का अगग साक्षात्कार करता है। अरुण अशोकपत्र के समान रक्ताभ चरण, दर्पणोज्ज्वल नख, कुंजरकर-जघायुगल, मुष्टिग्राह्य कटिप्रदेश, गम्भीर नाभि, सुन्दर त्रिवली, सुदृढ विशाल वक्षस्थल, दीर्घ रसाल भुजदण्ड को आँखो से पान करती हुई स्त्री स्वभावोचित आकांक्षोद्गार प्रकट करती है —

"धन्य जे स्त्री आलिंग से, वक्षस्थल सुविशाल रे॥
केहने कण्ठे लागसे, भुजदण्ड दीर्घ रसाल रे॥



मलया का अनुरक्त मन महाबल के रूप-रत्नाकर में गहरा पैठ जाता है। वह प्रेम की शृंखला में आबद्ध है — विगटे जोई रही मलहि प्रेम-जंजीर रे।'

कुमार महाबल भी वातायनस्था कुमारी को देखता है। लावण्य की अनुपम राशि कुमारी उस रूपवान स्वर्गा-प्सरा सी प्रतीत होती है। वह सर्वप्रथम यही सोचता है कि यह राजपुत्री अविवाहित है अथवा नहीं? राजकुमारी भी उसी प्रकार यही सोचती है कि यह रूपनिधान कुमार किसका पुत्र है? दोनों के विचार तत्कालीन सामाजिक प्रथा से प्रभावित हैं। राजकुमार को विवाहित राजकुमारी अभीष्ट नहीं थी जबकि मलया को विवाहित राजकुमार स्वीकृत था। स्नेह-सिक्त नयनों से निरन्तर निरखकर कुमारी मलया ने महाबल का चित्त चुरा ही लिया। कुमार उससे मिलने के लिए व्यग्र हो उठता है। मिलाप से पूर्व प्रत्यक्षदर्शन से हृदय में उत्पन्न यह मनोविकार पूर्वानुराग की कोटि में आता है। विश्वनाथ के मतानुसार इसका मंजिष्ठाराग है यह शोभित भी है और स्थायी भी। मलया महाबल से प्रथम ही प्रेमपाश में बद्ध हो चुकी थी। इसलिये कवि ने उसे प्रेमातुर बताकर उसकी प्रियमिलन-आतुरता को इस प्रकार अभिव्यंजित किया है—

चतुरगी चन्द्रानना पेमातुर सुकमाल रे ॥

मुग्धमुग्धा मलया भोजपत्र पर दो पद्य लिखकर वह भोजपत्र तथा स्वकीय प्रेमप्रवण मन दोनों एक साथ ही महाबल को समर्पित कर देती है। प्रेमपाती पाते ही महाबल के सात्त्विक अनुभाव अत्यन्त सजग बन पड़े हैं। पत्र पाकर वह रोमांचित हो उठता है हर्ष की सीमा नहीं रहती। राजकुमारी ऊपर वातायन में और राजकुमार ठीक उसके नीचे। प्रेम पत्र पढ़ते ही राजकुमार ने [illegible] प्रेमविह्वल आकुल नेत्र ऊपर उठाये राजकुमारी के पिपासु नेत्र पहले से ही [illegible] रहे थे। पर इधर नेत्र मिलते ही आनन्द लहरा उठा। एकरस प्रानन्द में सब भूला हो ही नहीं रहे थे। इस प्रसंग में कवि ने नयनानुराग वर्णन के ब्याज से जो कौतुक उपस्थापित किया है वह अत्यन्त मनोहारी है —

मलयसुन्दरी गुणवरी जोवे कुँवर नरेन्द्र।
कुमरी परा जोई रही जिम ध्यानमग्न योगीन्द्र।
विहुना नयण मिली गया · · पहली नयण करन्त ॥

अपरिचितों को परस्पर ऐसे मिला देने वाले जहाँ सन्धि भी नहीं दीखती नैनों को दुर्लभ संयोजक कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसी समय राजकुमार को बुलाने के लिए दूत आता है। उसके साथ जाता हुआ महाबल वातायनस्था सुनयना मलया को पुनःपुनः देखता है। उसका मन मलया के पास ही रह जाता है। पूर्वराग विप्रलम्भ का यह आह्लादक दृश्य देखते ही बनता है। प्रस्तुत प्रसंग में शृंगार का स्थायिभाव विभाव अनुभाव, संचारिभाव के संयोग से सर्वेन्द्रियों के लिए शृंगार रस रूप में निष्पन्न हो गया है। यहाँ नायक-नायिका दोनों के परस्पर आश्रय और उद्दीपन होने से प्रेम की एकांगिता समाप्त हो गई है और उभयनिष्ठ प्रेमानुभूति के कारण पाठक का रसिक हृदय आनन्दाम्बुधि में अवगाहन करने लगता है। यहाँ महाबल के प्रति मलया का आकर्षण मोहान्धभाव नहीं अपितु गुण प्रकाशात्मन् की चरितार्थता है। कवि ने परम्परित नायिका का नखशिख वर्णन भी प्रस्तुत किया है। महाबल महाटवी में भयंकर अजगर के मुख से मलया की रक्षा करता है। उस समय सोनावली के माध्यम से कवि ने इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है—

चन्द्रमुखी मृगलोचनी पिकवयणी रतिरूप।
हंसगामिनि कृश हरिकटी लावण्य सुगुण अनूप ॥

सागर में गागर भरने वाला अतिसंक्षिप्त नायिकारूप वर्णन परम्परित नायिका-नखशिख वर्णन का सफल निदर्शन है।

कवि ने वियोगजन्य संयोग शृंगार के मर्म को भी पहिचाना है। यह मन की वह स्थितिविशेष होती है जिसमें वियोग की दारुण ज्वाला की ऊष्मा सर्वथा शान्त नहीं हो पाती और प्रियमिलन का अपार औत्सुक्य भी बिना

नाचे नही मानता । विषाद के अस्तगामी सूर्यविम्ब को कलाधर की प्रथम किरणो के ह्रास का आभास देने का सा भाव इस सन्दर्भ मे होता है । फलस्वरूप प्रिय को देखते ही आँसू की झडी लग जाती है । गला रुध जाता है । वाणी स्खलित होने लगती है । भावो का सागर उमडने लगता है और पात्र की मौन अनुभूति शतश मुखर अभिव्यक्तियो से बाजी मार लेती है । प्रस्तुत रास मे ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वियोगावसानिक सयोग का वर्णन मिलता है ।

सयोग शृगार की अपेक्षा विप्रलम्भ मे प्रभावोत्पादकता अधिक रहती है । हृदय की अनेकानेक दशाओ का उद्घाटन इसी मे सम्भव होता है । अधिक से अधिक सचारी भावो का स्फुरणस्थल भी यही है । यहाँ विप्रलम्भ का साँगोपाँग परिपाक उपलब्ध होता है । विप्रलम्भ के चार भेदो मे से पूर्वानुराग, प्रवास, और करुण विप्रलम्भ आलोच्य ग्रन्थ मे मिलते हैं । केवल मानविप्रलम्भ का अभाव है । सयोग का वर्णन भी सफल बन पडा है ।

महाबल मलया के महल मे सप्रयास पहुचता है । प्रेयसी से मिलकर वह गमनोद्यत होता है । मलया के आँसू उसे रोक देते हैं । प्रियतम के बिना उसके प्राण नही रह सकते । यदि वह जाना ही चाहता है तो मलया को जलाञ्जलि देकर जा सकता है । मलया नितान्त विवश तथा निरुपाय है । वह जल के बिना मछली-सी हो जावेगी । कहते हैं आर्त को चेत नही रहता । मलया भी पुन पुन प्रियतम को गमन से रोकती है । प्रेम विह्वल मलयाहार के व्याज से कुमार के गले मे जयमाल डाल देती है । इस प्रकार उससे अपना नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेती है । वह अपनी दाम्पत्यप्रीति बनाकर चिर-सहचरी का पद पाने की अभिलाषिणी है । वह सब कुछ सह सकती है, केवल प्रियविरह नही सह सकती ।

कुमार के चले जाने पर वह उसे भूल नही पाती है । क्या कभी लोभी धन को विस्मृत कर सकता है । ? इस प्रसग मे सयोग शृगार का सफल वर्णन उपलब्ध होता है । इसकी दृष्टि से यह रास एक सफल रचना है । इस सम्बन्ध मे यहा दिङ्माप प्रदर्शित किया गया है । ऐसे अन्य रसो का इसमे पूर्ण परिपाक हुआ है ।

प्रस्तुत रास मे करुणारस का पूर्ण परिपाक हुआ है । इस रास मे शोक स्थायी भाव इष्टनाश से उद्बुद्ध होता है, अनिष्ट प्राप्ति से नही । वीरधवलचम्पकमाला प्रसग और मलयावधादेशप्रसग ही प्रमुख स्थल हैं, जहाँ शोक-भाव अत्यन्त परिपुष्टता को प्राप्त हुआ है । ऐसे सन्दर्भ मे सहृदय सामाजिको की आँखो मे अश्रु स्वत छलछला उठते हैं । चम्पकमाला की मृत्यु का सन्देश लेकर जाने वाली दासी के अनुभावो की सघनता और त्वरा दर्शनीय है—

कर सूँ सिर ताडन्ती चेटी, वेगवती आवी नृपतेटी ।
आँसू धाराई मुख धोती नृपने वयण कहे इम रोती ॥

दासी के मुख से प्राणप्रिया चम्पकमाला की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर राजा वीरधवल का शोक इस प्रकार फूट पडता है—

'हा हा प्राणपियारी नारी कहिउ कने किण पापी मारी ।"
तुझ पाखे किण माहरं सरसे, तुझ विण कुण मुझ सू हित धरसे ॥

यहाँ दैन्य, स्मरण, आक्रोश, शेवचिन्ता आदि सचारी भावो की अहमहमिका, रुदन अश्रुपात आदि अनुभावो की सगत उपस्थिति अत्यन्त मार्मिक बन पडी है ।

शोकाहत राजा वीरधवल मुर्च्छित हो गिर पडता है । कवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"मुर्च्छागत राजा मणी साभलि दासी बात
वृक्ष जेम छेद्यो पडे तिमि भूपति भुइ पात ।"

राजा का शोक और भी घनीभूत हो जाता है । रोता है, विलखता है, उसकी आँखे प्रिया को ढूँढती है । उसके न मिलने पर रोती हैं । वह कभी मस्तक पीटता है तो कभी छाती कूटता है । उसके दीर्घ निश्वास हृदय मे दुख





न समाने का संकेत करते हैं। पृथ्वी पर लोट रहा है। बिखरे बाल उड़ रहे हैं। नाक आँखों का पानी मुँह के ऊपर से बह रहा है। वह कभी भाग्य को दोष देता है तो कभी निर्मोही पत्नी पर दोषारोपण करता है—

"नयणो वरसे नीर, मस्तक कूटे, फीटे हियडू रे हाथि विलूरे शरीर"

वह अनेक बार मुच्छित होता है, प्रकृतिस्थ होता है, विलाप की झडी लगा देता है। अलकृत महाकाव्य मे इतना विस्तृत करुणरुदन किसी नायक का नही मिलता है।

करुण का दूसरा प्रसग मलया के वधादेश से सम्बद्ध है। निर्दोष मलया स्वय भी रोती है। उसमे मर्मान्तिक-वेदना है। माता चम्पकमाला का शोक भी कम प्रभावक नही है। इस निर्दोष वधादेश ने प्रजा के नेत्र सजल कर दिए। हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार का करुण रस कदाचित् प्रथम प्रसग ही है। वध्यस्थान की ओर ले जाती हुई का विलाप हृदयद्रावक है।

"राजनरी वेटी थकी रे, चालन्ती पद चारि।
पडती पडती उठती रे खलती राजकुमारि।

माता चम्पकमाला का विलाप चरमसीमा को पहुँचा हुआ है। वह एक वार पुत्री को हृदय से लगाना चाहती है। मातृस्नेह स्वकरपालित पुत्री को कैसे विस्मृत कर सकता है। माता का विह्वल हृदय शोकसागर-तट को अभिभूत कर देता है। माता का अनुभाव छाती कूटना-गिरना-विलखना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसमे कही ऊहापोह का चक्कर नही है। जो कुछ है वह हार्दिक कथा है। भावो का उतार-चढाव, अनुभावो के वैविध्य और सचारियो के अत्यन्त सक्रिय होने के कारण इस प्रकार का करुणरस हिन्दी साहित्य मे अद्यावधि उपलब्ध नही है। अलकारो की लडी की लडी स्वत प्रतिष्ठित हो गई है।

भयानक रस का परिपाक दो प्रसगो मे सम्पन्न हुआ है। प्रथम प्रसग कुशवर्धनपुर पर राक्षस के आक्रमण से सम्बद्ध है। यहाँ भय नामक स्थायी भाव का आश्रय प्रजावर्ग है, राक्षस आलम्बन, उसकी विकट चेष्टाए उद्दीपन हैं। त्रास, शका, ग्लानि, मोह सचारी भाव हैं। अनुभावो की छटा भी द्रष्टव्य है—

जीव लेइ आप आपणा मारण भय सहु ना ठारे।
ऋद्धि सिद्धि सहू मूकि गया हरि हिरणा जिनि भाठा रे।

यहाँ अलकार का भी छटातिशय है। शून्याटवी मे सप्राप्त रानी चम्पकमाला की आपवीती कहानी कितनी मार्मिक है। भयावह वातावरण की सर्जना अनूठी है। डरना, कापना, इधर-उधर वचाव के लिये देखना अनुभावो के साथ त्रास मोह आदि सचारियो का स्फुरण भी आकर्षक है।

सूनी अटवी माँहि डरूँ एकली।
जूथ भ्रष्ट चलचित हुवे जिम हिरणली॥

यूथभ्रष्ट हरिणी मे रानी का मृगाक्षी होना व्यग है। हिरणली मे अवस्थासौकुमार्य। पात्र की कोमलता ने कोमलकान्त पदावली को भयानकरस-प्रसग मे दोष होने से बचा लिया है।

इसमें अलौकिक तत्वो की भरमार होने से अद्भुत रस का परिवेश प्राप्त हो गया है। कही हाथ उडते हैं, शव उठते हैं, व्यन्तर बोलता है, वृक्ष के वृक्ष हवाई यात्रा करते हैं, दिव्यपरीक्षण, सर्प के द्वारा हार उगलना, भारड पक्षी के द्वारा मलया को उठाकर आकाश से उडा ले जाना, मकरपृष्ठ पर बैठकर समुद्रतरण अद्भुत रस से सम्बद्ध है। वीरधवल और चम्पा के प्रसग मे एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दांत सूँ दान घणी पीसन्ती दीठो सवमन खम्योरे
इक कहते उम्यो आकाशे हुउ लोक तमासो रे

मलया के स्वयम्वर प्रसग मे, महाबल, वीरधवल, शूरपाल के युद्धावसर पर, वीर रस का परिपाक प्राप्त होता है। वीरो का उत्साह दर्शनीय है। ललकार, घमासान भिडन्त, हाथी, घोडो पदातियो की टक्कर, धूलि मे सूर्य का आवृत्त हो जाना उपबृंहित है।

क्रोधपूर्ण वचनोच्चारण इत्यादि से रौद्र रस का दर्शन होता है। विषयानुकूल भाषा ने अपना परिधान स्वत ले लिया है।

वीर रस के साथ ही साथ रौद्र रस की छटा अपूर्व है—

मड सहु मडभड उठिया कडकड मारिवा हाथ हथियार झाले,
एहना आसरो किसो भय मत करो, एहने बींधास्या एक भाले।

आदि प्रसग दर्शनीय हैं।

वीभत्स का अवसर यथास्थान प्राप्त हुआ है। रक्त की नदी का बहना, योगिनियो का खप्पर भर-भर कर रक्तपान, आतडियो का विदारण, इत्यादि प्रसगो मे वीभत्स का परिपाक निष्पन्न हुआ है—

"सीस गोला पडे चक्रदिसि धडहड वहे रगत परनाल बरसालू।
जिमा घणा नदिया तणा शूर चाला

कवि ने मलया के शैशव का चित्रण करने मे वत्सल रस को पुरस्कृत किया है। आश्रय वीरधवल और चम्पकमाला हैं। आलम्बन मलया, उद्दीपन उसकी बालसुलभ चेष्टाएँ हैं। हर्ष सचारी भाव से वातावरण मधुरतम बन पडा है।

पगले चाले धूजतारे, रलियाता वे बाल।
तिम तिम हरसे तेहना रे, माता पिता मन माहि,
रमक झमक पाय सोवती रे, घुघरिया घमकाय।
बालाभरण विराजिया रे जने देवकुमार।

मलयास्वयम्वरप्रसग मे एक स्थल पर हास्य की उपस्थिति भी प्राप्त होती है। गौडराय वज्रसार धनुप को उठाने का असफल प्रयास करता है। वह उसके साथ ही जमीन पर गिर पडता है। दर्शको के हास से वातावरण गु जित हो जाता है। यह काव्य शान्तरसपर्यवसायी है। धर्मगुरुओ की देशना से शान्त रस का प्रसग आया है। जहाँ जहा देववन्दना की गई है उसे भक्तिरस का स्थल कहा जा सकता है। यह रास इसकी दृष्टि से पूर्ण समृद्ध है।

महाकाव्य मे कवि वर्णनप्राधान्य को महत्व देता है। कवि कल्पना तथा विचारो को विकासावसर वर्णनात्मकता मे ही प्राप्त होता है। वर्णन जितना ही सगत और मनोहर होगा काव्य उतना ही सुन्दर और रोचक होगा। वर्णन की सीमा अत्यन्त व्यापक होती है। मानव और मानवेतर समस्त क्रिया—व्यापार इसका क्षेत्र होता है। आलकारिको ने नगरयात्रा, युद्ध, आखेट, वन, पर्वत, ऋतु, सन्ध्या, सूर्यचन्द्रमा आदि के वर्णन को महाकाव्य का अग माना है। महाकवि जिनहर्ष वर्णनपटु है। पात्रो की प्राणप्रतिष्ठा और व्यक्तित्व-अकन मे उनका वर्णन-वैभव अत्यन्त सूक्ष्म है। रानी चम्पककला का वर्णन उसके प्रति प्रेम, स्थैर्य, सौन्दर्य, शील, उदात्तभाव को उन्मिषि करता है।



चम्पकमाला रागणी रे, अभिनव चम्पकमाल।
मीठीवाणी कोकिलोरे, चन्द्रवदन सुकमाल॥

कनकवती के लिए इस प्रकार वर्णन आया है—

वलि बीजी नृपकामनी रे, कनकवती अभिधान।
रंभा से य हारवी रे, सोहे सोवनवान—

दोनो ही रानियो के आपन्त स्वरूप को कवि ने इस प्रसग मे स्पष्ट कर दिया है। रास की नायिका मत्स्य-सुन्दरी के यौवन का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। परम्परित उपमान धाराप्रवाह से आते है। भावो के उल्लास मे भाषा का लास्य थिरकने लगता है। शब्दो की ध्वनि नायिका के हाव, हेला को व्यजित करती जाती है। नये उपमानो का सयोजन भी कलापूर्ण है। वर्णन मे स्वयमागत अलकार चार चाद लगा देते है।

हिवे ऊभरी यौवन नदी, उलस्यो अग अनग।
स्निग्ध चपल हरिणी हुती मृगराका प्रतिसग॥
जेहनेए धरती हुस्ये लोक कहे ते धन्य।

शृगार का प्रसग हो या शृगारेतर, कवि का वर्णन सर्वत्र प्रभावक और आह्लादक है। उसमे बिम्ब उपस्थित करने की अद्भुत शक्ति है। दिव्य परीक्षण के लिए मगाये गये सर्प का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"मोरी काया विषभर्‌यो जी कज्जल आभा जास।
फू फूकार करे घणा जी धमणी परे ले सांस॥

इसी प्रसग मे रूपपरिवर्तन का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

इसी प्रकार राजा की निरकुशता, निर्दोष कन्या पर अत्याचारजनित शोक, युद्धवर्णन, नगर, पुत्रमहत्व, शील उपकार, उपवन, कान्तार, नदी, वर्षा ऋतुवर्णन भी समृद्ध बन पड़ा है। कवि के व्यापारवर्णन मे जडजगत् की स्वाभाविकता और चेतनजगत् की मनोवैज्ञानिकता कही भी विस्मृत नही हुई है।

भारतीय समाजव्यवस्था मे नीति और धर्म का अक्षुण्ण महत्त्व है। इसका स्रोत वैदिक वाङ्मय है। अनेकानेक धाराएँ वही से विविध रूपो मे अद्यावधि प्रवहमान दृष्टिगोचर हो रही है। विधि और निषेध से शून्य जीवन की कल्पना जैसे भारतीय प्रज्ञा मे है ही नही। वहाँ करणीय का ग्रहण और अकरणीय का त्याग प्रतिपादित किया गया है। विचारात्मक साहित्य के समान भावात्मक साहित्य भी नियोगोन्मुख ही रहा है। जिनहर्ष सरस्वती साधु थे। उनकी सरस्वती समाज की मगलाशा मे निरत थी। उन्होने समष्टि को स्वस्थ एव सतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यष्टि को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक, राजनीतिक विधिनिषेध का विधान किया। कवि का काव्य इतना व्यापक और विविध है कि उसमे धर्म, आचार, ईश्वर, दया, परोपकार, अहिंसा, व्यवहार, कुल, प्रतिवेशी, मूर्खता, विद्या आदि विषयो पर प्रसग प्राप्त उपयुक्त उक्तियाँ हुई है।

कवि के नीतिप्रसग स्वानुभूति तथा परम्परानुभूति के दृढ आधार पर आधारित होने के कारण न काल्पनिक है और न अव्यवहार्य। इसके नीतिकाव्य मे उपदेश, सूक्ति और अन्योक्ति शैलियाँ मिलती है। उपदेश-शैली मे कवि ने उपदेश की बाते सीधी भाषा मे बिना वाग्वैदग्ध्य के कही है। सूक्तिशैली मे वह अपने श्रेष्ठतम स्वरूप मे प्रकट हुआ है। अर्थान्तरन्यास दृष्टान्त, उदाहरण, विशेषोक्ति, कारणमाला आदि के कारण अभिव्यक्ति मनोहर और प्रभविष्णु हो गई है। अन्योक्तिशैली मे अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत की प्रतीति कराई गई है। उपदेशशैली मे लोभी की निन्दा इस प्रकार की गई है—

"लोभी प्रीति गणे नही रे न गिणे सगपण नेह रे
मात पिता ने लोभियो रे लाल तुरत दिखावे छेह रे।

सूक्तिशैली मे कवि का मन विशेष रमा है। वाग्वदग्ध्य, अलकारिता स्वत उभर आते है। भाव कल्पना बुद्धि और अलकारो का स्वाभाविक समन्वय पाया जाता है। एक इक्षु-कुट्टा के साथ प्रकृति मधुर अप्रकृति मूज मजीठ का वर्णन करते हुए कवि लिखता है।

"कूट्या विन रस न दिविये मूरख मूंज मजीठ"

यहाँ धर्म का उपादान प्रकृत वस्तु के लिए हुआ है। परन्तु उससे अप्रकृत पदार्थ भी प्रकाशित हो गये है। यहाँ दीपक अलकार की दीप्ति स्पृहणीय है। स्वयं कदध्या, तरुवर ताप, और ईख, उत्पीडन सहकर भी परोपकारवृत्ति

नही त्यागते है । कवि के शब्दो मे—

तडके, वाले झोटके रे लोढे पीजें जास,
काते सहे कदर्थना रे ढाँके अन्य कपास ।

कवि पुण्य को ऋद्धि-सिद्ध का दाता समझता है । मान, सुख, यश भी पुण्य के फल हैं । सद्गृहिणी तथा पुत्र भी पुण्यप्रभाव से ही प्राप्त होते हैं—

पुण्यवी ऋद्धिसिद्धि लहि ई पुण्यवी बहुमान रे
पुण्यवी गुणवन्त नारी पुण्यवी सन्तान रे ॥

कवि का नीतिपक्ष अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है । वह समाज को सन्मार्ग का अनुसरण कराने के लिए अपनी कथा का वाचक-विस्तार करता है । उसकी नीति मे स्पष्टता, सगति और सागोपागता है । वह कही पर भ्रान्त तथा अनुभवलघु प्रतीत नही होता ।

कवि जिनहर्ष मर्मस्थलो के चतुर पारखी थे । जीवन के व्यापक आयाम मे से उन्होंने अनेकानेक सवेदनशील प्रसग चुने हैं जिनसे सहृदय सामाजिको को पूर्ण रसास्वादन प्राप्त होता है । कतिपय मर्मस्थल निम्नलिखित हैं—निर्दोष मलया को मृत्युदण्ड-विधान, मलया के लिए चम्पकमाला तथा नागरिको का करुण विलाप, नि सन्तानप्रसग, परित्यक्त मलया के पुत्रजन्म पर भाग्य की विडम्बना । कवि ने अपने कथ्य को अपने ढग से प्रस्तुत किया है । वहाँ सर्वपरिचित परम्परायुद्ध सामान्य उपमानो की उपस्थित रोचकता बढाने वाली है ।

प्रकृति रास की भाषा गुजराती से प्रभावित राजस्थानी है । उसमे प्रवाह प्राञ्जलता, तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है । स्थान-स्थान पर लोकोक्ति और मुहावरो का सफल प्रयोग किया गया है—

'साहसिया सिर छत्र । अग लागे नहि खाधो ।'
'जाणू विस्वा वीस' । आगि तणा दाधा भणी रे,
आगि तणो उपचार । उतावला सो वावला ।
राजा करे सो न्याव । मुँह माँग्या पासा ढलमाँ इत्यादि ।

मलयसुन्दरी विकसनशील महाकाव्य न होकर साहित्यिक महाकाव्य की कोटि मे आता है । यह विशिष्ट कवि द्वारा प्रणीत है । इसकी रचनातिथि और पाडुलिपिया उपलब्ध हैं । इसमे वक्ता और श्रोता तो अनेक है लेकिन उनकी कोई परम्परा दृष्टिगोचर नही होती । महावल और मलया के पिता के आख्यान भी इसमे हैं पर उनका वश-विवरण नही है । प्रतिनायक की परम्परा का भी अभाव है । यत्र-तत्र उपदेशात्मक वर्णन उपलब्ध होता है पर वह प्रकरणप्राप्त और अतिसक्षिप्त है । उससे कथा के विकास मे गतिरोध न हो आता । ग्रन्थ मे कही पर स्तोत्र, महात्म्य, प्रशस्ति नही मिलती । मगलाचरण की वात इससे भिन्न है । काल, स्थान और सख्यागणना मे अतिशयोक्ति से काम नही लिया गया है । जो कुछ वर्णित है वह पर्याप्त और सगत प्रतीत होता है । इस ग्रन्थ की शैली पौराणिक शैली नही है । अलौकिक अतिप्राकृत शक्तियो पर विश्वास, साहसिक कार्यपरम्परा, सिद्ध गुटिकाप्रभाव वटवृक्षो का आकाश मे उडना, मत्रसिद्धि से शव का उठना, उडना, शाखावलम्बित होना, भूतप्रेत, व्यन्तरो का अद्भुत क्रियाकलाप, कथात्मकता आदि तत्वो के कारण इसकी शैली रोचक शैली ही है, जिसकी एक लम्बी साहित्यिक परम्परा हमे उपलब्ध होती है ।

यह एक महदुद्देश्य चरितकाव्य है । धर्मानुकूल आचरित जीवन से धर्म काम मोक्ष की प्राप्ति होती है । सासारिक लोभ, आकर्षण और माया के झझावात मे अडिग रहने वाला सयमधैर्यधनी मानव ही जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है । शील मानसिक पवित्रता इस जीवन की अमूल्य निधि है । वैराग्यविरति के भाव मे भी कर्मरत रहकर इस असार ससार के जीवो को सदुपदेश द्वारा सन्मार्गोन्मुख बनाना जीवन की सार्थकता है । कथानक की व्यापकता, महच्चरित्रो की वशानुगत शालीनता, महदुद्देश्य, इसमे गुरुत्व की सर्जना करते है । स्थाली पुलाकन्यायेन प्रस्तुत रास का दिङमात्र ही पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया गया है ।



धर्मशर्माभ्युदय : एक अध्ययन

श्री पन्नालाल जी

साहित्याचार्य, सागर



धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य के लक्षणो से युक्त एक उच्चकोटि का काव्य है। कोमलकान्त पदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्य की सुषमा बढा रहे हैं। इस काव्य का कवि, कल्पना के अन्तरिक्ष मे उडान भरने मे सिद्धहस्त है तो रस के अगाव सागर मे डुबकी लगाने मे भी अतिशय निपुण है। इसके प्रत्येक श्लोक मे भाव का वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है कि जिसे देख काव्य-मर्मज्ञ का हृदय बाँसो उछलने लगता है। इक्कीस सर्ग के इस महाकाव्य मे नगर समुद्र पर्वत ऋतु पुष्पावचय जलक्रीडा चन्द्रोदय तथा मधुपान के मनोहर वर्णन के साथ जैनधर्म के पन्द्रहवे तीर्थंकर धमनाथ का जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त का पावन चरित्र वर्णित है।

सक्षिप्त कथासार

लवणसमुद्र के मध्य मे कमल के समान शोभायमान जम्बूद्वीप है। इसके बीच मे सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है, उसके आर्यखण्ड मे उत्तर कोशल नामक देश है और उस देश मे सुशोभित है रत्नपुर नाम का नगर। रत्नपुर के राजा महासेन थे। महासेन अपनी महती सेना के कारण सचमुच ही महासेन थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता जहा शील सयम आदि गुणो के द्वारा अपने नाम को सार्थक करती थी वहाँ सौन्दर्य सागर की एक वेला भी थी वह। अवस्था ढल गई फिर सुव्रता के पुत्र उत्पन्न नही हुआ, इस कारण राजा महासेन का मन चन्द्र-हीन गगन के समान श्यामल रहने लगा।

पुत्र के बिना राजा चिन्ता निमग्न थे। उसी समय वनमाली ने वन मे अरुण नामक मुनिराज के आगमन की सूचना दी। मुनि आगमन का सुखद समाचार पाकर राजा का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। वह रानी सुव्रता के साथ गजेन्द्र पर आरूढ हो मुनिदर्शन के लिये चल पडे। साथ मे नगरवासियो की बडी भीड भी व्यवस्थित रूप से चल रही थी। वन के निकट पहुचते ही राजा ने राजकीय वैभव—छत्र चमर आदि का त्याग कर दिया और पैदल ही चल कर मुनिराज के पास पहुचे। प्रदक्षिणा और नमस्कार की प्रक्रिया को पूरा कर राजा ने उनके मुखारविन्द से धर्म का उपदेश सुना और अन्त मे सकुचाते हुए सुव्रता के पुत्र न होने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा कि तुम्हारी इस रानी के गर्भ से तीर्थंकर पुत्र होने वाला है, चिन्ता क्यो करते हो? इतना कह कर उन्होने तीर्थंकर के पूर्वभवो का भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया।

धातकी खण्ड द्वीप के वत्स देश मे सुसीमा नाम का नगर था, जिसमे राजा दशरथ राज्य करते थे। एक दिन रात्रि मे चन्द्रग्रहण देख कर उनका भवभीरु मन ससार, शरीर और भोगो से विरक्त हो गया। राज्य वैभव को छोडकर

मुनिदीक्षा लेनेका विचार जब उन्होंने सभा मे रखा जब चार्वाक मत का पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के प्रयत्न को मूर्खतापूर्ण बतलाने लगा। परन्तु राजा ने सारगर्भित युक्तियो से सुमन्त्र की कुमन्त्रणा का निरसन कर विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थ कर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त मे सर्वार्थसिद्धि विमान मे अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माह के बाद उसी अहमिन्द्र का जीव तुम्हारी रानी सुव्रता के गर्भ मे अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवे दिन धर्मनाथ तीर्थ कर के रूप मे प्रसिद्ध होगा।

मुनिराज के इन वचनो से राजा महासेन और रानी सुव्रता की प्रसन्नता का पार नही रहा। अन्त मे मुनिराज को नमस्कार कर इधर राजदम्पती घर आये उधर इन्द्र की आज्ञा से श्री ह्री आदि देवियो का समूह जिनमाता की सेवा के लिये गगन मार्ग से पृथ्वितल पर अवतीर्ण हुआ और राजा की आज्ञा लेकर अन्त पुर मे प्रविष्ट हो रानी सुव्रता की सेवा करने लगा। रानी ने नियोगानुसार उत्तम स्वप्न देखे और राजा महासेन ने उनका फल सुना कर उसे सन्तुष्ट किया। रानी गर्भवती हुई। नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र मे उसने धर्मनाथ तीर्थ कर को जन्म दिया। तीर्थ कर का जन्म होते ही समस्त लोक मे आनन्द छा गया। देवो ने जन्माभिषेक का उत्सव किया।

विक्रिया ऋद्धि से बाल वेष को धारण करने वाले देवो के साथ भगवान धर्मनाथ बाल क्रीडा करने लगे। क्रम से धर्मनाथ ने यौवन अवस्था मे पदार्पण किया। उनके शरीर की सुषमा यद्यपि जन्म से ही अनुपम थी तथापि यौवन की मधुर वेला मे वह पहले से सहस्र गुणी हो गई। विदर्भ देश मे राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृ गारवती के स्वयवर मे कुमार धर्मनाथ को बुलाने के लिये विशेष दूत भेजा। पिता की आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भ की ओर चल पडे। बीच मे गगा नदी को पार करते हुए वे विन्ध्याचल पर पहुचे। विन्ध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। उनके पुण्योदय से विन्ध्याचल पर छह ऋतुए प्रकट हो गई। वनक्रीडा के लिए साथ के स्त्री-पुरुष विन्ध्याचल के वनो मे बिखर गये। थकने पर नर्मदा के नीर मे सब ने जलक्रीडा की। सायकाल आया, ससार को अनित्यता का पाठ पढाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रात्रि का सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया। थोडी देर बाद प्राची-पुरन्ध्री के ललाट पर सफेद चन्दन बिन्दु की शोभा को प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदय हुआ। चन्द्रिका की रजत छाया मे दम्पतियो ने सुखपूर्वक रात्रि बिताई। धीरे-धीरे प्राची मे उषा की लाली छा गई, प्रात काल हुआ और कुमार धर्मनाथ ने आगे के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदी को पार कर वे विदर्भ देश मे पहुचे। वहाँ कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने उनका भाव भीना स्वागत किया।

स्वयवर मण्डप मे अनेक राजकुमार पहले से बैठे थे, कुमार धर्मनाथ के पहुचने पर सब की दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी सखियो के साथ राजपुत्री शृगारवती भी वहा आई। सखी ने अनुक्रम से सब का परिचय दिया परन्तु शृ गारवती की दृष्टि किसी पर स्थिर नहीं हुई। अन्त मे धर्मनाथ की रूप-माधुरी पर मुग्ध हो उसने उनके गले मे वरमाला डाल दी। धर्मनाथ ने कुण्डिनपुर की सडको पर जब प्रवेश किया तब वहाँ की नारियाँ कुतूहल से प्रेरित हो अपने अपने कार्य छोड झरोखो मे आ डटी। धर्मनाथ का विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिता का पत्र पाकर धर्मनाथ कुबेरनिर्मित विमान द्वारा अपने घर आ गये और सेना का सब भार सुषेण सेनापति के आधीन कर आये। रत्नपुर मे कुमार धर्मनाथ का बहुत सत्कार हुआ। इसी बीच उनके पिता महासेन महाराज ससार से विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिये नीति का उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक किया और स्वय वन मे जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथ ने राज्य का अच्छी तरह पालन किया।



सुषेण सेनापति अपनी सेना के साथ सकुशल वापिस आ गया। एक दूत ने अनेक राजाओ के साथ सुषेण के हुए युद्ध का वर्णन धर्मनाथ को सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुषेण की बहुत प्रशसा की। दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद उल्कापात देखकर भगवान धर्मनाथ का मन ससार से विरक्त हो गया, जिससे समस्त राज्य को तृण के समान



त्याग कर उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना हुई। उसके मध्य मे सिंहासन पर विराजमान हो उन्होने दिव्य ध्वनि के द्वारा जिन-सिद्धान्त का वर्णन किया। अन्त मे सम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया।

इस सक्षिप्त कथा का वर्णन करने के लिए कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के इक्कीस सर्ग पूर्ण किये है। ऐसा लगता है कि कवि का हृदय एक विशाल रत्नाकर है और उसमे शब्द तथा अर्थ रूपी अगणित रत्न भरे हुए हैं। कवि उन्हे मुख द्वार से निकाल निकाल कर बाहर फेकता जाता है। वे शब्द और अर्थरूपी रत्न इतनी अधिक दीप्ति को लिये हुए हैं कि उन्हे अलकृत करने के लिये अन्य अलकारो की आवश्यकता नही। वे स्वय ही अलकार रूप हो उठते हैं।

कथा का आधार

धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार गुणभद्राचार्य का उत्तर पुराण जान पडता है। उसके ६१ वें पर्व मे धर्मनाथ के पच कल्याणात्मक वृत्त का वर्णन है परन्तु उनमे उसके माता-पिता के नाम दूसरे दिये हैं। स्वयवर का वर्णन नही है। धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने काव्य की शोभा या सजावट के लिए उसे कल्पनाशिल्प-निर्मित किया है। स्वयवर यात्रा के कारण काव्य के कितने ही अगो का अच्छा वर्णन बन पडा है। अन्त मे समवसरण मे मुनियो की जो सख्या दी है उसमे भी जहा कही भेद मालूम पडता है।

धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के अन्त मे दिये हुए पुष्पिका वाक्यो तथा उन्नीसवे सर्ग के ९८-९९ श्लोको के द्वारा रचित षोडश दल कमल बन्ध से सूचित 'हरिचन्द्र कृतधर्मजिनपतिचरितम्' पद से एव उसी सर्ग के १०१-१०२ श्लोको से निर्मित चक्रबन्ध से निर्गत—

> 'आर्द्रदेवसुतेनेद काव्य धर्मजिनोदितम्।
> रचित हरिचन्द्रेण परम रसमन्दिरम्॥

इस उक्ति से और उसी सर्ग के १०३-१०४ श्लोको से विनिर्मित चक्रबन्ध से निर्गत 'श्री धर्मशर्माभ्युदय हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। ये हरिचन्द्र कौन हैं? किसके पुत्र हैं? इसका पता धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे प्रदत्त प्रशस्ति से चलता है। यद्यपि यह प्रशस्ति कुछ प्रतियो मे नही है, अत सशय हो सकता है कि किसी ने पीछे से जोड दी हो, परन्तु भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना मे विद्यमान १५३५ विक्रम सम्वत् की लिखित प्रति मे यह प्रशस्ति विद्यमान है। इससे इतना तो फलित होता है कि यदि किसी ने पीछे से जोडी है तो १५३५ वि० स० के पूर्व ही जोडी है। इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने स्वय ग्रन्थ मे किया ही है। प्रशस्ति के श्लोको की भाषा महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है अत बहुत कुछ सभव यही है कि यह ग्रन्थकर्ता की ही रचना है।

प्रशस्ति मे विदित होता है कि नोमक वश के कायस्थ कुल मे आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ पुरुष रत्न थे। उनकी पत्नी का नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्हीं के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। कवि ने यह तो लिखा है कि गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई पर वे कौन थे, यह नही लिखा। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुगामी थे।

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान्

'कर्पूरमञ्जरी' नाटिका मे महाकवि राजशेखर ने प्रथम अवनिका के अनन्तर एक जगह विदूपक के द्वारा हरिचन्द्र कवि का उल्लेख किया है।[1] यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय ही के कर्ता हो तो इन्हे राजशेखर से पहले का—वि० स० ९६० से पहले का मानना चाहिये। इसी प्रकार 'श्रीहर्षचरित्र' मे बाणभट्ट न 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृत-वर्णक्रमस्थिति, भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते'। इन शब्दो द्वारा हरिचन्द्र का स्मरण किया है। यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के ही कर्ता माने जावे तो इनका समय बाणभट्ट से भी पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु हरिचन्द्र का गद्य-काव्य कौन-सा है ? इसका अभी तक पता नही चला। यद्यपि 'जीवन्धरचम्पू' नामक गद्यपद्यात्मक काव्य हरिचन्द्र का रचित उपलब्ध है और उसके गद्य भी उच्चकोटि के हैं तथापि अन्य प्रमाणो से वे बाणभट्ट से पूर्ववर्ती सिद्ध नही होते। धर्मशर्माभ्युदय के २१वें सर्ग मे धर्मतत्व का जो वणन है वह चन्द्रप्रभचरित मे प्रभावित है अत उसके कर्ता वीरनन्दी से महाकवि हरिचन्द्र परवर्ती हैं, पूर्ववर्ती नही। एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोप के कर्ता महेश्वर के पूर्वज चरकसहिता के टीकाकार साहसाङ्क नृपति के प्रधान वैद्य भी थे, पर धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र उनसे भिन्न ही जान पडते है।

महाकवि हरिचन्द्र का समय

जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना मे धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धर चम्पू के तुलनात्मक अनेक उद्धरण देकर मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र ही जीवन्धर चम्पू के कर्ता है। जीवन्धर चम्पू का कथानक जहाँ वादीभसिहसूरि की क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि से लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से भी वह प्रभावित है। अत हरिचन्द्र गुणभद्र से परवर्ती हैं। साथ ही इसमे श्रावक के जो आठ मूलगुणो का वर्णन है वह यशस्तिलक चम्पू के रचयिता सोमदेव के मतानुसार है, इस कारण सोमदेव से परवर्ती हैं। सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू की रचना १०१६ वि० स० मे पूर्ण की है। पाटण के सघवी पाडा के पुस्तक भण्डार मे धर्मशर्माभ्युदय की १२८७ वि० स० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है उससे यह निश्चय अवश्य हो जाता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त सवत् से पूर्ववर्ती ही हैं। इस तरह पूर्व और पर अवधियो पर विचार करने से जान पडता है कि ये ११-१२ शताब्दी के विद्वान् हैं। धर्मशर्माभ्युदय पर कालिदास के रघुवश भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध की शैली का प्रभाव है, इसका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्र के ग्रन्थ

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थो मे धर्मशर्माभ्युदय उनकी निर्भ्रान्त रचना है। जीवन्धर चम्पू के विषय मे आदरणीय प्रेमीजी का ख्याल था कि वह किसी दूसरे कवि की रचना है पर दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है कि दोनो ग्रन्थो के रचयिता एक ही हरिचन्द्र हैं।[2] आग्ल विद्वान् डॉ० कीथ ने भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धर-चम्पू का कर्ता माना है। इस तरह 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' ये दो ग्रन्थ महाकवि हरिचन्द्र के उपलब्ध हैं। दोनो ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है तथा काव्य जगत् मे अच्छी प्रतिष्ठा को प्राप्त है।



---

१ विदूषक (सक्रोध) 'उज्जुअ एव्व ता किं ण भणइ, अम्हाण चेडिआ हरिअ द णदिअन्द कोट्टिस हालप्पहुदीण पि पुरदो सुकत्ति, (ऋज्वेव तत्कि न भण्यते, अस्माक चेटिका हरिचन्द्र नदिचन्द्र कोटिश हाल प्रभृतीनामपि पुरत सुकविरिति।

२ देखो, जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना पृ०, ३७-४०

धर्मशर्माभ्युदय का काव्य वैभव

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन—प्राचीनतर लक्षणो का समन्वय करते हुए अपने रसगगाधर मे काव्य का लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्दसमूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जना से। मात्र सुन्दर शब्दो से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नही कहलाता किन्तु दोनो के सयोग से ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय मे शब्द और अर्थ दोनो को बडी सुन्दरता के साथ सजोया है। वे लिखते है कि भले ही सुन्दर अर्थ कवि के हृदय मे विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दो के बिना वह रचना मे चतुर नही हो सकता, यथा श्वान को गहरे-से-गहरे पानी मे भी खडा कर दिया तो भी जब वह पानी पीवेगा तो जीभ से चाट-चाट कर ही पीवेगा, अन्य प्रकार से उसे पानी पीना आता ही नही है।[1] (१।१४) इसी प्रकार सुन्दर अर्थ से रहित शब्दावली विद्वानो के मन को आनन्दित नही कर सकती जैसे कि थूहर से झरती हुई दूध की धारा नयनाभिराम होने पर भी मनुष्यो के लिये रुचिकर नही होती[2] (१।१५) शब्द और अर्थ के सदर्भ से परिपूर्ण वाणी ही वास्तव मे वाणी है और बड़े पुण्य से किसी विरले कवि को प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमा को छोड अन्य किसी की किरण अन्धकार को नष्ट करने वाली और सुधास्राविणी नही है। सूर्य की किरण मे अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति है पर वह भीषण आताप का भी तो कारण है। मणि की किरणे यद्यपि आताप का कारण नही हैं तथापि सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर करने की क्षमता उनमे कहाँ है? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरण मे ही उपलब्ध होती है[3] (१।१६) उक्त सदर्भ का तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माभ्युदय मे शब्द और अर्थ दोनो का बडा सुन्दर सन्दर्भ बन पडा है।

उपमालकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालकार कवि की प्रतिभा को अत्यधिक विकसित करता है। हम देखते है कि धर्मशर्माभ्युदय मे उत्प्रेक्षालकार की धारा महानदी के प्रवाह की तरह प्रारभ से लेकर अन्त तक अजस्रगति से प्रवाहित हुई है। उपमा रूपक विरोधाभास श्लेष परिसख्या अर्थान्तर न्यास और दीपक आदि अलकार भी पद-पद पर इसकी शोभा बढा रहे है। उदाहरण के लिये देखें—

श्लेष (१।१०)

> लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्धयै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम्।
> सा मेघसघातमपेतपङ्का शरत्सता ससदपि क्षिणोतु ॥

उत्प्रेक्षा (१।१६) (२।३६)

> सक्रान्तबिम्ब स्रवदिन्दुकान्ते नृपात्मये प्राहरिकै परीते।
> हृताननश्री सुदृशा चकास्ति काराधृतो यत्र रुदन्निवेन्दु ॥
> प्रयाणलीलाजितराजहसक विशुद्धपार्ष्णि विजिगीषुवत्स्थितम्
> तदह्रिमालोक्य न कोपदण्डमाग् भियेव पद्म जलदुर्गमत्यजत् ॥

---

१ अर्थे हृदिस्थेऽपि कविर्न कश्चिन्निरग्रन्थिगीगुम्फविचक्षण स्यात्।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातु श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति ॥

२ हृद्यार्थवन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधाना न मनो धिनोति।
न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुही क्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्य ॥

३ वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यै शब्दार्थसदर्भविशेषगर्भा।
इन्दु विनान्यस्य न दृश्यते द्युतमो धुनाना च सुधा धुनी च ॥

रूपक और उपमा का समिश्रण (२।५६)

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले ।
तदास्य लावण्यसुधोदधौ बभुस्तरगभ इवभगुरालका ॥

श्लेषोपमा (४।२३)

स्वस्थो धृताचक्षुगुरूपदेश श्रीदानवारातिविराजमान ।
यस्या करोल्लासितवज्रमुद्र पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥

अर्थान्तर न्यास (७।५३)

म वारितो मत्तमरुद्धि वपोघ प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यनजत्स्रवन्तीरहो महान्धस्य कुतो विवेक ॥

परिसंख्या (२।३०)

निशासु नून मलिनाम्बरस्थिति प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षति ।
यदि क्विप सर्वविनाशसस्तव प्रमाणशास्त्रे परमोहसभव ॥

विरोधाभास (२।३३) (३।५१)

चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेनसैत्री गते त्वयि ।
यन्मे जडाशयस्यापि पकजात निमीलति ॥

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धि परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारण विभावरीणामयमद्भुतोदय ॥

दीपक (२।७३)

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वन मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मी बलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति न कुलम् ॥

धर्मशर्माभ्युदय के कौतुकावह स्थल

महाकाव्य के लक्षण मे लिखा है कि कहीं-कही प्रारम्भ मे सज्जनप्रशसा और दुर्जननिन्दा की जाती है। इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए प्राय सभी गद्य-पद्य काव्यो मे सज्जनप्रशसा और दुर्जननिन्दा का प्रकरण रक्खा गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रकरण (प्रथम सर्ग १८-३१) सस्कृत साहित्य मे अपनी उपमा नही रखता। गृहस्थ दम्पती के हृदय मे पुत्र की स्वाभाविक स्पृहा रहती है। उसके विना दम्पती का गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है। रघुवश मे कालिदास ने राजा दिलीप के पुत्राभाव सबधी दुःख का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी मे इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है और चन्द्रप्रभचरित मे महाकवि वीरनन्दी ने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदय के द्वितीय सर्ग के अन्त मे (६८-७८) महाकवि ने सुव्रता रानी के पुत्र न होने के कारण राजा महासेन के मुख से जो दुःख प्रकट किया है वह अतीव मार्मिक है और पढते ही हृदय मे घर कर लेता है। उदाहरण के लिए उस प्रकरण के दो श्लोक देखिये—

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुत विना कस्य मन प्रसीदति ।
अपोद्धताराग्रहगर्भित भवेद्धृते विधोर्ध्यामलमेव दिङ्मुखम् ।७०।
न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटा ।
सुताग सस्पर्शसुखस्य निस्तुला कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ।७१।





तृतीय सर्ग का वनवर्णन कवि के वैदुष्य को प्रकट करने मे अपनी शानी नही रखता। इस प्रकरण के निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कवि की श्लेषविषयक वैदुष्य की श्लाघा कीजिए—

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृत परम् ।
अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥२३॥
अनेक विटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
प्रदत्युद्यानमालेय मकुलीनत्वमात्मन. ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाश कुञ्जराजित ।
कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
एता प्रवालहारिण्यो मुदा भ्रमरसगता ।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लता ॥३४॥

चतुर्थसर्ग (४१-४४) मे चन्द्रगहण का जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्र ने किया है वह अन्यत्र नही मिलता। स्वर्गीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज को यह वर्णन बडा प्रिय था, वे जब तब बडे हर्ष से निम्नाङ्कित श्लोक सुनाया करते थे—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भक्षण क्षणपाया क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
कि सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिद रजन्या परिपूर्यमाणम् ।
चलद्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगगास्फुटकैरव वा ॥४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथचिच्च्युत सपको विसकन्द एषा ।
कि व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्र प्रतिबिम्बित मे ॥४३॥
क्षण वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीश ।
हृद्‌मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेता ॥४४॥

चन्द्रग्रहण का निमित्त पाकर राजा का चित्त ससार शरीर और भोगो से निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशा मे वह वृद्धावस्था का चिन्तवन करता है। वृद्धावस्था मे मनुष्य के दात झड जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, शरीर मे बल पड जाती और कमर झुक जाती है। इन सबका वणन महाकवि हरिचन्द्र के शब्दो मे देखिये कितना सुन्दर बन पडा है—

अन्याङ्गनासङ्गमलालसाना जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते न पदप्रहारैरिववन्तभङ्गम् ॥५५॥
ज्ञाते तवागे वलिभि समन्तान्नश्यत्यनङ्ग किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तगता जरेय हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
आकर्णपूर्ण कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदगे ।
वलिच्छलात्सारणि घोरणीभि प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
प्रसभृत मण्डनमगयष्टेर्नष्ट क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥

चन्द्रप्रभ चरित्र के द्वितीय सर्ग का विस्तृत न्याय वर्णन काव्य के अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र-

सा हो गया है पर धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थसर्ग मे (६२-७६) चार्वाक सिद्धान्त का सुमन्त्र मन्त्री के द्वारा मण्डन और राजा दशरथ के द्वारा खण्डन किया गया है वह काव्य की अनुरूपता को नहीं छोड सका है।

सप्तम सर्ग का (२०-३८) सुमेरुवर्णन कवि के अनुपम पाण्डित्य को सूचित करता है। इस प्रकरण के निम्न श्लोक गौर से देखिये—

> मरुद्ध्वनद्घण्टमनेकतालं रसालसंभावितमन्मथंलम् ।
> धृतम्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं घन च गानं च सुरागनानाम् ॥३०॥
> विशालदन्तं घनदानवारि प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
> उपेयुषो दिग्गजपुंगवस्य पुरो दधान प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥
> अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवाम्बुदन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
> स्वर्नभुंजगाञ्छिशिखिना दधान प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ देवो के वाहन के रूप मे आगत हाथियो, घोडो तथा बैलो आदि का स्वाभावोक्तिमय वर्णन माघ की शैली का स्मरण कराता है। अष्टमसर्ग व्यापी क्षीरसमुद्र एव जन्माभिषेक का वर्णन मालिनी छन्द मे बहुत ही सुन्दर बन पडा है। नवम सर्ग का पुत्रस्पर्शनवर्णन कालिदास के वर्णन से कही अधिक सुन्दर जान पडता है—

> पुत्रस्य तस्यांगसमागमक्षणे-निमीलयन्नेत्रयुग नृपो बभौ।
> अन्त कियद्गाढनिपीडनाद्वपु प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१०॥
> उत्संगमारोप्य तमगज नृप परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
> अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयो सघटयन्निव द्वयम् ॥११॥

—धर्मशर्माभ्युदय

> तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजै सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृत त्वय।
> उपान्तममीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२३॥

—रघुवश तृतीय सर्ग

युवराज धर्मनाथ शृगारवती के स्वयवर में सम्मिलित होने के लिये दक्षिणदिशा की ओर प्रयाण कर रहे हैं। उस समय का श्लेषमय वर्णन देखिये—(६-५१)

> ता नेत्रपेया विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलकामयमान उत्सुक ।
> आसन्नपाचीं हरिसेनया वृतो ययौ स काकुत्स्य इवास्तदूषण ॥५१॥

ऐसा जान पडता है कि 'सुधामलकामयमान' की मनोज्ञ सुरभि नैषध के 'चेतो नल कामयते मदीयम्' तक जा पहुची है।

नवम सर्ग का (६८-७७) गगा वर्णन साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि का है। दशम सर्ग का नाना छन्दो मे रचा हुआ विन्ध्यागिरि का वर्णन माघ के चतुर्थ सर्ग मे व्याप्त नाना वृत्तमय रैवतकगिरि के वर्णन का स्मरण कराता है। दोनो ही जगह यमकालकार की अनुपम छटा छिटकी हुई है। माघ मे दारुक के द्वारा और इसमे प्रभाकर के द्वारा पर्वत का वर्णन कराया गया है। कालिदास ने रघुवश के नवम सर्ग मे चतुर्थपाद सम्बन्धी यमक के साथ द्रुतविलम्बित छन्द का अवतार कर काव्यसुधा की जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है उसका अनुसरण माघ के षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदय के एकादश सर्ग सम्बन्धी ऋतुवर्णन मे भी किया गया है। जिस प्रकार नाक पर पहिने हुए मोती से किसी शुभ्रवदना का मुखमण्डल खिल उठता है उसी प्रकार इस एक पद का दो पदो के यमक से द्रुत विलम्बित छन्द सुशोभित हो गया है।





बारहवें सर्ग की वनक्रीडा छन्द और अलकार की अनुकूलता के कारण माघ की वनक्रीडा से कही अधिक सुन्दर बन पडी है। समग्र त्रयोदश सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा ने भारवि की किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा को अत्यन्त निष्प्रभ बना दिया है। चतुर्दश सर्ग का सायकाल रात्रि तथा चन्द्रोदय का वर्णन पाठक को आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होने पर कमलो की लक्ष्मी चन्द्रमा के पास चली गई इसका वर्णन देखिये कितना मनोरम है।

तावत्सतो स्त्रो ध्रुवमन्यपु सो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत्।
स्पृष्टा कराग्रै कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५२॥

पञ्चदश सर्ग का मधुपान काव्य की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि का है। मदिरा के नशे मे जिसकी आवाज लडखडा रही है ऐसी एक स्त्री का वर्णन देखिये कितना हृदयहारी बन गया है—

त्यज्यतां पिपिपिपिप्रिय पात्र दयितां मुमु मुखासव एव।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्ति प्रेयसी मुदमधत्त दयितस्य ॥२२॥

षोडस सर्ग का प्रात काल का वर्णन माघ के एकादश सर्ग का स्मरण कराता है। माघ के प्रात काल के वर्णन मे मालिनी छन्द ने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदय की कल्पनाए उसकी अपेक्षा कही अधिक सुन्दर हैं। देखिये, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशा मे अरुण की लाली छा रही है और दुन्दुभि का शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदय मे कितना हृदयहारी हुआ है—

राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम्।
यामिन्या. प्रियतमविप्रयोगदु खेर्द्धं रसन्धे स्फुटत इवोद्भट प्रणाद ॥८१॥

इसी सोलहवे सर्ग का सेना प्रस्थान माघ के द्वादश सर्ग मे वर्णित श्रीकृष्ण की सेना प्रयाण का स्मरण कराता है। सप्तदश सर्ग मे शृ गारवती के स्वयवर का जो वर्णन है वह कालिदास के इन्दुमती के स्वयवर वर्णन को पीछे छोड देता है। स्वयवर सभा मे आते ही शृ गारवती राजाओ के मनोमानस मे प्रविष्ट हो गई इसका श्लेषात्मक वर्णन देखिये कितना अद्भुत हुआ है—(१६-१७)

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावली शालिनि संप्रवृत्ते।
सा राजहसीव विशुद्धपक्षा महीभृता मानसमाविवेश॥

स्वयवर के बाद शृ गारवती के साथ राजपथ मे जाते हुए धर्मनाथ को देखने के लिये स्त्रियो का कौतूहल यथार्थ मे कौतूहल की वस्तु बन गई है। धर्मशर्माभ्युदय के इस वर्णन ने कुमारसंभव और रघुवश के इस वर्णन को पीछे छोड दिया है। विवाह दीक्षा के बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृ गारवती के साथ चौक के बीच सुवर्ण सिंहासन को अलकृत कर रहे थे। उसी समय उन्हे पिता का एक पत्र मिला, जिसे पढकर वे कुबेरनिर्मित विमान पर आरूढ होकर दुलहिन के साथ राजपुर की ओर चल देते हैं। यहा ऐसा लगता है जैसे कवि ने रस का अकाण्डछेद कर दिया हो। पाठक के हृदय मे बहती हुई रस की धारा असमय मे ही शुष्क होती जान पडती है। स्वयंवर के बाद होने वाले युद्ध से अछूता रखने के लिये ही मालूम होता है कवि ने धर्मनाथ को सीधा विमान द्वारा राजपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सेनापति के ऊपर निर्भर किया है।

अष्टादश सर्ग मे ससार की माया ममता से विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेने के लिये कृतसकल्प हैं। वे युवराज धर्मनाथ को राज्याभिषेक के पूर्व जो उपदेश देते है वह कादम्बरी के शुकनासोपदेश और गद्य चिन्तामणि के आर्यनन्द्युपदेश का सक्षिप्त सस्करण-सा जान पडता है। उन्होने युवराज धर्मनाथ के लिये गुणार्जन का जो उपदेश दिया है उसे देखिये, कवि ने श्लेषोपमा के द्वारा कितना आकर्षक बना दिया है—(१८-१५)

भृश गुणानर्जय सद्गुणो जने क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो वाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ।।

उन्नीसवें सर्ग मे युद्धवर्णन के लिये कवि ने जो छन्द और चित्रालकार चुना है वह रस के अनुकूल नही है। यमक और चित्र अलकार कवि के कौशल को परखने के लिये कसौटी का काम देते हैं। महाकवि हरिचन्द्र का कौशल उन पर खरा उतरा है। पर वीररस की धारा उससे कुण्ठित हो गई है। वीसवे सर्ग मे कवि ने धर्मनाथ के राज्य, वैराग्य तपश्चरण और समवसरण का जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने आप मे परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि, काव्य के इस प्रमुख कथानक को जल्दी निपटाना चाहता है। इक्कीसवें सर्ग का उपदेश विस्तृत और अनुरूप छन्द से युक्त है।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय काव्य के वैभव से युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य है।

धर्मशर्माभ्युदय पर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य प० यशस्कीर्ति के द्वारा रचित 'सन्देहध्वान्तदीपिका' नामक सस्कृत की टीका है।



राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विचक्षण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार

विनयसागर
साहित्यमहोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद



महोपाध्याय मेघविजय

महोपाध्याय मेघविजय १८ वी शताब्दी के बहुमुखीप्रतिभासम्पन्न विशिष्टतम विद्वान् हैं। इनका जन्मसवत्, जन्मस्थान और गृहस्थावस्था का ऐतिह्य परिचय अद्यावधि अप्राप्त है। श्रीवल्लभोपाध्यायरचित, 'विजयदेवमाहात्म्य' पर मेघविजयजी द्वारा रचित विवरण की स० १७०९ की लिखित[1] प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि इस विवरण की रचना १७०९ के पूर्व ही हो चुकी थी। अत यह अनुमान सहज भाव मे लगाया जा सकता है कि इस रचना के समय इनकी अवस्था कम से कम २०-२५ वर्ष की अवश्य होगी। अत अनुमानत १६८५ और १६९० के मध्य इनका जन्मसमय माना जा सकता है। स० १७२७ मे रचित 'देवानन्दमहाकाव्य' मे विजयप्रभसूरि द्वारा प्रदत्त 'उपाध्याय'[2] पद का उल्लेख होने से निश्चित है कि स० १७१० और १७२७ के मध्य मे इनको उपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था, क्योकि विजयप्रभसूरि का शासनकाल स० १७१० से १७३२ का है।

मेघविजयजी श्वेताम्बर जैन-परम्परा मे तपागच्छीय अकबरप्रतिबोधक जगद्गुरु हीरविजयसूरि की शिष्य-परम्परा मे कृपाविजयजी के शिष्य हैं, जैसा कि इनकी ग्रन्थ-प्रशस्तियो से प्रकट है —

> श्रीमत्तपागणपतिर्यतिमार्गधीर, श्रीहीरहीरविजयो जयवान् बभूव।
> य प्रत्यबूबुधदकब्बरराजराज्य वाक्यै सुधातिमधुरैर्यवनाधिराजम् ॥१३॥
>
> श्रीवाचक कनकतो विजया बभूवु—विद्यानवद्ययशसो भुवि तद्विनेया।
> तेषा सुशीलविजया कवयो विनेया, शिष्यौ बभूवतुरतुल्यमती तदीयौ ॥१४॥

---

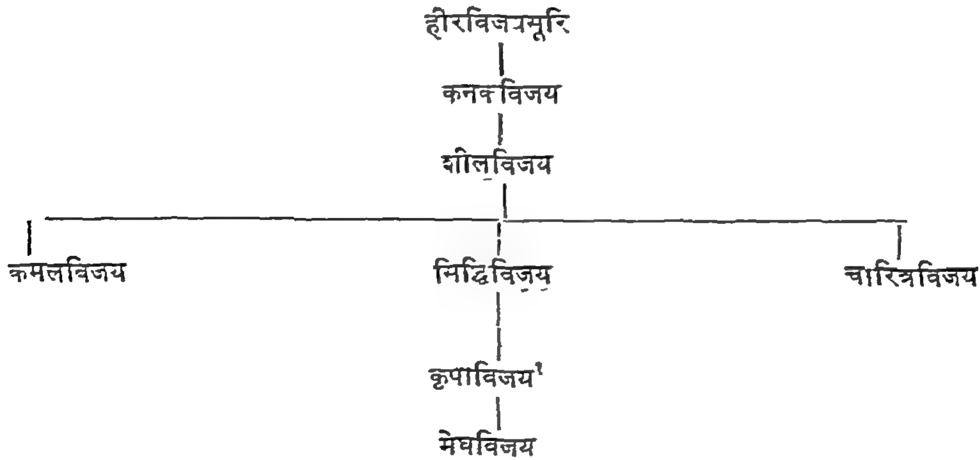
१ लिखितोऽय ग्रन्थ पण्डितश्री ५ श्रीरगसोमगणिशिष्य-मुनिसोमगणिना स० १७०९ वर्ष चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधे लिखित राजनगरे श्रीतपागच्छाधिराज—म० श्रीविजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये।
(विजयदेवमाहात्म्य, प्रान्तपुष्पिका।)

२ देवानन्दमहाकाव्य, सर्ग ७, पद्य ८०

आद्य श्रीकमलादिमश्च विजयस्तस्यानुजन्मा बुध,
श्रीसिद्धिविजयोऽत्र तो मम गुरोर्दीक्षानुशिक्षागुरू ।
श्रीसम्मानकनाम्नि धाम्नि महतो द्रगे विजित्य क्षणा-
ल्लुम्पाकेन्द्रगणान् जयश्रियममू सम्प्रापतुर्विश्रुताम् ।।१५।।

य पट्तर्कवितर्ककर्कशमति साहित्यसिद्धान्तवित्,
प्राणत्क्षितिप कृपादिविजय प्राज्ञो विनेयस्तयो ।
तत्पादाम्बुजभृ गमेघविजयोपाध्यायलब्धात्मना,
ग्रन्थो मेरुमहीधरावधिरय सिद्धिश्रियै नन्दतात् ।।१६।।
(युक्तिप्रबोधप्रशस्ति)

इस प्रशस्ति के अनुसार इनका वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है —



मेघविजयजीरचित ग्रन्थों को देखने पर यह साधिकार कहा जा सकता है कि ये एकदेशीय विद्वान् न होकर सार्वदेशीय विद्वान् थे। काव्य-साहित्य, पादपूर्ति, व्याकरण, छन्द, अनेकार्थ, न्यायशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक, रमल, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि प्रत्येक विषयों के ये प्रगाढ पंडित थे और इन्होंने प्रत्येक विषय पर साधिकार वर्चस्वपूर्ण लेखिनी चलाई है। इनका साहित्य-सर्जनाकाल वि० सं० १७०९ से १७६० तक का तो निश्चित ही है। साथ ही अजवसागर गणि द्वारा सं० १७६१ में रचित स्तुति से स्पष्ट है कि उस समय तक आप विद्यमान थे। वर्तमान समय में प्राप्त इनकी रचित साहित्यसामग्री का विषयानुक्रम से संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

महाकाव्य

१ सप्तसन्धान महाकाव्य—इसकी रचना वि० सं० १७६०[2] में हुई है। इसमें ९ सर्ग हैं। सर्गक्रम से

---

१ कृपाविजयी रचित विजयप्रभसूरि निर्वाणरास प्राप्त है।
२ वियद्रसमुनीन्दूनां (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे।
कृतोऽयमुद्यम पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठित ।।
—(सप्तसन्धानप्रान्तप्रशस्ति)



पद्यसख्या इस प्रकार है—८२, २५, ४८, ४२, ५८, ६३, ४२, २८, ३२, प्रशस्ति के ३, कुल ४२३। इस काव्य के प्रत्येक पद्य से सात महापुरुषो का कथानक क्रमबद्ध चलता है। ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर-स्वामी, रघुवशी रामचन्द्र और यदुवशी कृष्ण के जीवन-चरित्रमय यह महाकाव्य है। न केवल महाकाव्य की दृष्टि से अपितु अनेकार्थी साहित्य की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम कृति है। पहले मूलमात्र प्रकाशित हुआ था फिर श्रीविजयअमृत सूरि रचित 'सरणि' टीका सह यह ग्रन्थ जैन साहित्यवर्धक सभा सूरत मे प्रकाशित हो चुका है।

२ **दिग्विजय महाकाव्य**—कवि ने इस ग्रन्थ मे रचना समय नही दिया है। इस काव्य मे तपागच्छीय जैनाचार्य विजयदेव सूरि के प्रशिष्य विजयसिंह सूरि के शिष्य गणाधीश विजयप्रभसूरि का जीवनचरित्र ग्रथित है। तत्कालीन राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक एव धार्मिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य के लक्षणो से परिप्लुत १३ सर्गों का यह काव्य है। सर्गक्रम से पद्यसख्या इस प्रकार है—८१, ५६, ६२, ७५, ७५, ५७, ७५, १४२, १५१, १५१, १३४, ११३, १०२, कुल १२७४। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला (भारतीय विद्या भवन) बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

पादपूर्ति-काव्यसाहित्य

३ **शान्तिनाथचरित्र**—श्रीहर्षरचित नैषध महाकाव्य की समस्यामय पादपूर्ति से इसका दूसरा नाम नैषधीय समस्या[1] भी है। नैषधकाव्य के प्रथम सर्ग की पादपूर्ति रूप यह काव्य है। मेघदूत की तरह अन्तिम चरण या एक चरण लेकर इसकी रचना नही हुई है, अपितु प्रत्येक चरण की चरणानुरूप पूर्ति करते हुए ६ सर्गो मे उसकी रचना पूर्ण हुई है। कही-कही तो एक ही चरण की दो, तीन बार अनुवृत्ति भी की गई है। इस काव्य मे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। सर्गानुक्रम से पद्य सख्या इस प्रकार है—१२६, १३०, ११७, ७८, ७१ ६३, प्रशस्ति ५, कुल ५९०। ग्रन्थकार ने प्रान्त मे इसका समय नही दिया किन्तु आचार्य विजयप्रभसूरि का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० स० १७१० के पश्चात् और स० १७३२ के बीच हुई है। यह ग्रन्थ जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला, काशी से प्रकाशित है।

४ **देवानन्दमहाकाव्य**—महाकवि माघ रचित शिशुपालवध (माघ) महाकाव्य के प्रारभ के ७ सर्गों तक के प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण की पादपूर्ति रूप यह महाकाव्य है। इस काव्य मे भी सात सर्ग हैं। इसमे तपागणाधीश जैनाचार्य विजयदेवसूरि और विजयप्रभसूरि के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ का क्रमबद्ध वर्णन है। पादपूर्ति के बन्धन मे रहते हुए भी कवि ने इस काव्य की रचना इतनी सफलता के साथ की है कि रस-परिपूर्ण नवीन स्वतन्त्र काव्य का रसास्वादन होता है। इसकी रचना वि० स० १७२७ आश्विनशुक्ला विजयादशमी को सादडी नगर[2] मे हुई है। सर्गों की पद्यसख्या इस प्रकार है—७८, १३०, १७९, ८५, ७२, ९०, ८५ कुल ७१९। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ज्ञानपीठ से, प्रकाशित हो चुका है।

५ **किरातसमस्यापूर्ति**—इसके सम्बन्ध मे दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना (पृ०४) मे प० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने लिखा है—'आ काव्यनु नाम शु छे ते जाणी शकायु नथी, पण तेमा किरातार्जुनीय काव्यनी समस्यापूर्ति

---

१ इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यसमस्याया महोपाध्यायमेघविजयगणिपूरितायां षष्ठ सर्ग सम्पूर्ण।

२ मुनिनयनाश्वेदुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे। ग्रन्थ पूर्ण समजनि विजयदशम्यामिति श्रेय ॥ ८५
(देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति)।

तो छेज, एनी एक प्रति आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरि पासे हती जेनी प्रेसकापी मे केटलाये वर्षो अगाऊ तेमने करी आपेली, ते स्मरण ऊपरथी जणावु छु, ते प्रति मने मली शकी न थी। ते वे एक सर्गात्मकज हती, सभवत क्याई थी तेनी पूरी प्रति पण मली आवे।'

६ **मेघदूतसमस्यालेख**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह लघुकाव्य महाकवि कालीदासप्रणीत मेघदूत खण्डकाव्य के चतुर्थ चरण को ग्रहण कर पादपूर्ति रूप मे लिखा गया है। वस्तुत विज्ञप्ति स्वरूप स्वगुरु को लिखा गया यह एक पत्र है, जो कि नवरगपुर[1]-औरगाबाद से कवि ने देवपाटण[2] मे विराजमान आचार्य विजयप्रभसूरि को लिखा है। इसमे कवि ने रचना-समय नही दिया है किन्तु प्रान्त मे लिखा है कि विजयदेव सूरि की भक्ति मे माघकाव्य का समस्यापूर्ति और विजयभप्रसूरि के गुणोत्कीर्तन मे मेघदूत समस्या लिखी है।[3] जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, देवानन्द महाकाव्य की रचना १७२७ मे हुई है। अत स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० स० १७२७ के वाद हुई है। मेघदूत के १३० पद्य कवि ने स्वीकार किये हैं। यह काव्य जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से स्वतन्त्र पुस्तिका रूप मे और विज्ञप्तिलेखसग्रह प्रथम भाग मे सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

७ **लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र**—कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र रचित त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र का यह सक्षिप्त सस्करण है। कोठारी वनराज[4] की अभ्यर्थना से कवि ने लगभग पाच हजार पद्यो मे इसकी रचना की है। हेमचन्द्र की तरह ही इसके १० पर्वों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मे विभाजित किया है। इसमे कवि ने रचना-समय नही दिया है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है किन्तु इसका भावानुवाद गुर्जरभाषा मे प० मफतलाल झवेरचन्द ने किया है जो छोटालाल मोहनलाल शाह उनावा (गुजरात) की तरफ से प्रकाशित है।

कथा-साहित्य

८ **भविष्यदत्त चरित्र**—ज्ञान (श्रुत) पचमी माहात्म्य पर इस चरित्र की पद्यमय २१ अधिकारो मे रचना हुई है। कवि ने रचना-समय का उल्लेख नही किया है किन्तु विजयरत्नसूरि[5] का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि यह रचना वि० स० १७३२ के पश्चात् की है क्योकि विजयरत्नसूरि १७३२[6] मे आचार्य बने थे। यह चरित्र दानदया-मृतहिम्मतग्रन्थमाला अमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है।

---

१ स्वस्तिश्रीमद्भुवनदिनकृद्वीरतीर्थाभिनेतु, प्राप्यादेश तपगणपतेर्मेघनामा विनेय।
ज्येष्ठस्थित्या पुरमनुसरन् नव्यरग ससर्ज, स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु॥२॥

२ गम्या चारे रुचिरनगरी देवकात्पत्तनाख्या, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या॥७॥

३ माघकाव्य देवगुरोर्मेघदूत प्रभप्रभो। समस्यार्थं समस्यार्थं निर्ममे मेघपण्डित॥१३॥

४ श्रीमेघविजयनामा विनयविलासे लघुत्रिषष्ठीयम्।
चक्रे कोष्ठागारिक-वनराजाऽभ्यर्थनायोगात्॥५६६॥
लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र प्रान्तप्रशस्ति,

५ तपागणाम्भोजसहस्रभानु, सूरिर्जयी श्रीविजयप्रभाह्व।
तत्पट्टदीप श्रमणावतीप प्रभासते श्रीविजयादिरत्न॥७६॥
—भविष्यदत्तचरित्र प्रान्तप्रशस्ति

६ विजयप्रभसूरिवराणा पट्टे ६३ विजयरत्नसूरि तेषा पिता हीरानन्द माता च हीरादे, पालनपुरे १७१० वर्षे जन्म, १७२२ वर्षे दीक्षा, १७३२ वर्षे नागोरपुरे सूरिपद, सर्वायु ६३ वर्षाणि प्रपाल्य स० १७७३ भाद्रकृष्ण द्वितीयाया उदयपुरे स्वर्ग गत। भविष्यदत्तचरित्र प्रस्तावना पृ० ४





६ पचाख्यान—स० १७१६ मे 'नवरगपुर'[1] मे इसकी रचना हुई है। कवि के कथनानुसार पूर्व मे ४६०० श्लोक[2] परिमाण का जो 'पचाख्यान' नामक ग्रन्थ था उसी का यह सक्षिप्त सस्करण है। सभवत यह पचाख्यान पूर्णभद्र रचित पचाख्यान ही हो। इसकी भाषा सरल और प्रसादगुण युक्त है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति स० १७५१ की लिखित अनूपसस्कृत लायब्रेरी वीकानेर मे प्राप्त है।

विज्ञप्ति-पत्रकाव्य

पत्र-प्रेषक स्वीय आचार्य या गुरु को आलकारिक भाषा मे गद्य, पद्य या गद्यपद्यमिश्र मे जो विज्ञप्ति रूप पत्र लिखता है वह विज्ञप्ति-पत्र कहलाता है। जिस स्थान पर आचार्य विराजमान हो उस नगरी का, तत्रस्थ मन्दिरो का और आचार्य का प्रभावशाली आलकारिक वर्णन तथा स्वीय प्रवास, तीर्थयात्रा धर्मध्यान, पठन-पाठन, धर्मप्रचार के साथ स्वस्थित नगरी का वर्णन, इन विज्ञप्ति-पत्रो का प्रतिपाद्य विषय होता है। इस प्रकार के विज्ञप्ति-पत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से वडे महत्त्व के होते हैं। ऐसे विज्ञिप्त-पत्रो मे हमे सर्वप्रथम वि० स० १४४१ मे जिनोदयसूरि द्वारा लोकहिताचार्य को प्रेषित 'विज्ञप्तिमहालेख' और वि० स० १४४८ मे जयसागरोपाध्याय द्वारा विजयभद्रसूरि को प्रेषित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी, प्राप्त होते है। इसके पश्चात् तो सैकडो की सख्या मे विज्ञप्तिपत्र प्राप्त होते हैं जिनमे से २५ विज्ञप्तिपत्र पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने विज्ञप्ति लेखसग्रह प्रथम भाग मे प्रकाशित किये हैं।

मेघविजयजी लिखित विज्ञप्तिपत्र जो वर्तमान मे प्राप्त होते हैं उनमे से मेघदूतसमस्यालेख का विवरण दिया जा चुका है, अवशेष का क्रमश परिचय इस प्रकार है —

१० पाणिनिद्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख—शिवनगरी[3] से यह पत्र गणनायक विजयप्रभसूरि को लिखा गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह द्व्याश्रय काव्य है। एक ओर जहा पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रो का क्रम चलता है तो दूसरी ओर वही पद्य श्लेषयुक्त होकर विज्ञप्ति-पत्र के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट करता है। इसमे चार विश्राम हैं। प्रथम विश्राम मे सज्ञासन्धि के साथ भगवान ऋषभदेव का, द्वितीय विश्राम मे अच्सन्धि के साथ कुर्कुट नगरी का, तृतीय विश्राम मे अच्सन्धि के साथ शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यो का तथा चतुर्थ विश्राम मे हल्सन्धि के साथ आचार्य विजय-प्रभसूरि का श्लेषालकारयुक्त वर्णन है। चारो विश्रामो की पद्य सख्या इस प्रकार है —२५,३८,३६,३६। यह पत्र अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना मे न० ए-२६६।१८८२-८३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्ति श्रिया सत्प्रकृतित्वभाजा, य प्रत्ययात्मापरयोगशाली।
सयुज्य नानाविधिरूपसिद्ध्यै, भवेन्मुदे व स मारुदेव ॥१॥
कौमाररूपेऽपि कलाविशेषात्, सज्ञाभिवृद्धे विधिलाघवाच्च।
य पाणिनीय नयमादिदेश, सदाऽकृतव्यूहतया शिवात्मा ॥२॥

---

१ तच्छिशुर्मेघविजयो रसेन्दुनगभूमिते वर्षे व्यधादिम ग्रन्थ नवरगपुरे वरे ॥ ६

२ चतु सहस्री शतषट्कयुक्ता श्रीनीतिशास्त्रप्रथित पुराऽभूत्।
सक्षिप्य तत्वालसुखाववुध्यै, व्यधत्त मेघाद्विजयो मनीषी ॥३॥ (पचाख्यानप्रशस्ति)

३ एव च यस्मिन्नगरेऽतिविद्वान्, वालो युवा वा प्रवया जनोस्ति।
शिवाभिलाषी सुरसार्यसक्तस्तत शिवाख्यान्नगरादमुष्मात् ॥ तृतीय विश्राम

विनिर्भना दूर जगोन्न एत्य, माक्षादिव श्रीगुरुमीक्षमाण ।
शिष्याणुमेघाद्विजय स्वकीय, भाव पर विज्ञपयत्य-मुष्मिन् ॥१०॥
(तृतीय विश्राम)

अन्त—एव जगद्भामनकारि यस्या-नुगामन श्रीगणस्वामवस्य ।
जयत्यवन्या विजयप्रभाह्व, सूरि मभूरिप्रभुताद्भुतश्री ॥३९॥

इति श्रीपाणिनीयहल्सन्धिश्लेपालकाररम्ये श्री परमगुरुविज्ञप्तिलेखे द्व्याश्रये गुरुवर्णनरूपश्चतुर्थविश्राम ॥

११ पाणिनीय द्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख—यह द्वितीय विज्ञप्ति लेख भी मेघविजयजी ने शिवनगरी से कुर्कुटनगर[1] स्थित युवराजसूरि[2] विजयरत्नसूरि को लिखा है। प्रथम लेख की तरह ही यह भी पाणिनीय के सज्ञासन्धि, अच्सन्धि और हल्सन्धि के साथ श्लेपालकार युक्त चार विश्रामो मे विभक्त है। चारो विश्रामो की पद्यसख्या निम्न है —११,२२,१५, १३। विजयरत्नसूरि स० १७३२ मे आचार्य बने है अत यह स्पष्ट है कि इसकी रचना १७३२ के पश्चात् हुई है।

इन दोनो विज्ञप्तिलेखो को देखने से स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने दोनो पत्र एक ही साथ लिखे है और एक साथ ही प्रेषित भी किये है, एक पत्र गणनायक के नाम से और दूसरा पत्र युवराजाचार्य विजयरत्नसूरि के नाम से।

इस लेख की भी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च ईन्स्टीट्यूट पूना मे न० २९९, ए १८९२-९३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर मे है। यह भी अभी तक अप्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्तिश्रयै वररुचिर्जगतोऽपि शिक्षा-शास्त्रे पटुर्जयति पाणिनिमूल शास्ता।
योगे पतञ्जलिहिताय क्षतोपदेशस्सम्यक्पदार्थविधिसाधनकृज्जयाय ॥१॥

अन्त—वपुस्तप स्थानमिवाश्रमोऽनु-स्वारस्यत मत्यगिरा गुरूणाम्।
मनो मनोभू विजयात्पवित्र, चित्र तदन्यत्र जनानुरागम् ॥१२॥

एव यदीयो जगतोऽपि लक्ष्म्यो, जागर्त्ति निर्देशमणिर्महिम्ना।
तै सूरिरत्नैर्विगलत्सपत्नै (?)—र्ज्ञेय प्रणाम स्वशिशोस्त्रिमायम् ॥१३॥

इति श्रीपाणिनीयद्व्याश्रये विज्ञप्तिलेखे हल्सन्धि-श्लेपविशेपालकारश्चतुर्थविश्राम ॥

१२ विज्ञप्तिका—मेघविजयजी ने यह विज्ञप्तिका तत्कालीन गणनायक श्री विजयदेवसूरि को लिखी है। विजयदेवसूरि का स० १७१३ मे स्वर्गवास हो गया था, अत यह निश्चित है कि इस विज्ञप्तिका की रचना स० १७१३ के पूर्व ही हुई है। पद्यसख्या १२५ है। यह विज्ञप्तिका 'विज्ञप्तिलेखसग्रह प्रथम भाग' मे प्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —



---

१ यद ह्रस्वदीर्घादिकृते स्वरेणोपदेशित कुर्कुटशब्दरूपम्।
तदीश्वर कुर्कुटशब्दपूर्वो यन्नाम्नि तस्मिन्नगरे वरेण्ये ॥२२॥ (द्वितीयविश्राम)

२ इत्याद्यसौ कृत्यविधौ प्रवीण, सर्वोऽपि लोक समभूतदानीम्।
निर्विघ्नताया युवराजसूरि, स्मृत्याऽपि हेतु शुभवल्लिमेघ ॥१५॥ (तृतीय विश्राम)

स्वस्ति श्रीमत्समस्तमांगलिकमनुते नित्यमौलिस्फुरद्‌,
मोमरोमगनीकमलस्पर्शिसत्सामाज्ययमाबाहया ।
यस्य श्रीजिनवीरवरस्य चरणाम्भोजस्थितत्वक्कान्,
तस्मै वीतनुस्तुलमयाय गौतमजिनतर्पितः ॥१॥

× × ×

तत्र श्रीमत्सगमेराशकीरसितभिः दलतपत्नैः,
पूर्ण पुण्यकलापलब्धेतिमनुमानकत्ने ।
शोभायाओसमासि हरित फलेषा मनोनार्द,
कृत्वा तत्त्वागमवेषिणा पंचमहोष नमः ॥२६॥

× × ×

पश्चात् भगोद्ग्रहसप्रपनाईगताद्भुतमान दलमेन देयम् ।
स्मार्गदेन कागत जिनार्गनाय (?), भूजाभमसोःस्वलि मंगलानीः ॥१२२॥

१३. युक्तिविजयशिष्यलेखपत्रं विज्ञप्तिकोशकाव्यम् — गणिजी ने वादवी से यह लेख श्रीपूज्य तत्कालीन गच्छनायक श्री जिनरूपचन्द्रसूरि को लिखा है। इसमें तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार प्राप्त नहीं है और तृतीय अधिकार भी अपूर्ण २५ में प्राप्त है। यह लेख निम्नलिखित काव्यों में लिखा गया है। सिंहासन, श्रीवत्स, मत्स्ययुगल, स्वस्तिक, बीजपूरक, नन्द्यावर्त, भद्रासन, वर्धमानक, दर्पण, गोमूत्रिका कमल, अष्टदल, चामरछत्र, मालती, सूर्यमुखी पुष्प, ... आदि चित्र एवं प्रश्नोत्तरजाति आदि काव्यों से यह लेख ओतप्रोत है। द्वितीय अधिकार में ४७ पद्य हैं और तृतीयाधिकार के ९ पद्य प्राप्त हैं। इसकी एकमात्र प्रति श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर के संग्रह में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

आदि पद्य जिनभवनसोपानमेव शोभितसततम् मधुजानाम् ।
पूजयन्त्रवकान्जुसुवर्णसिरत्नैर्मयमिहात्तुमतीन ॥

अन्त विनायको सल्लभोगिनाशि, शुभाशयः सरलाशयः शमाशः ।
स्वभाव शान्तः प्रतसादभावं, सतानमासानशमाद म दासः ॥९॥

१४. विज्ञप्तिपत्रम् — गणिजी ने मारवाड़ से यह पत्र मकसूदाबाद (नामड़ी) नगर में विराजमान गच्छाधिप श्री जिनहर्षसूरि को लिखा है। पद्यसंख्या १०१ है। प्रारम्भ में पद्य १ से ४४ तक गच्छाधिनायक का वर्णन, पद्य ४५-४७ तक नगरी का वर्णन, पद्य ४८ से ७८ तक मारवाड़ का चातुर्मासिक धार्मिक कृत्यों का समाचार है और अन्त में ९ से ९९ तक गच्छनायक जिनहर्षसूरि का वर्णन है। इसकी एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में सं० नं० २०७१५ है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

स्वस्तिश्री मनोभवनवीरमूर्तिः, सद्गुणानामतामूर्तिः ।
स्फूर्तिमूर्ती महावीरसौम्या, सतां भवि निनीषितजनकीर्तिः ॥१॥

× × ×

तनयगगनयशप्रारम्भोऽ, पत्रिकातः पत्रनवीउत्तगम् ।
स्वस्तीभोरद् देवनवीरतताना, पर्यं परं भर्मनवीतनासमाम् ॥७७॥

करोति विज्ञप्तिमिमाममाय, मेघादिशब्दाद् विजयस्त्रिसायम् ॥५८॥
येषामिद बिजयते वरपाणिपद्म-माहात्म्यमीहितसमृद्धिकर जनानाम् ।
तैर्विश्वपूज्यचरणैरवधारणीया, स्वीयानु प्रणमनप्रकृतिस्त्रिसायम् ॥१०१॥

१५ विज्ञप्तिपत्रम्—मेघविजयजी ने यह पत्र उदयपुर से रामपुर मे विराजमान श्रीविजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसख्या १६,३८ और ३६ अर्थात् ९० पद्य हैं। इसमे रामपुर का वर्णन, उदयपुर का वर्णन, समाचार एव आचार्य विजयप्रभ के कीर्त्ति-सौरभ का वर्णन है। अतिम अश अपूर्ण है। इसकी मात्र प्रति रा प्रा० शाखा कार्यालय बीकानेर, मोतीचद खजाची सग्रह 'श' २८४ पर है जिसकी पत्रसख्या ४-६ है और लेखन १८वी शती है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति जगति सीमा यस्य रामस्य नीते,
सततविजयि राज्य लब्धवर्णेन वर्ण्यम् ।
पुरमिदमिदमीयाख्याविशेषात्प्रतीत
गुणगणगणनाया तस्य क शीतक स्यात् ॥१॥
मनसि परिनिधाय स्वीयविज्ञप्तिमेता
रचयति शुचिवृत्या मेघनामा भुजिष्य ॥१६॥
तैस्तातपादै प्रसरत्प्रसादैर्यशोभिराक्षिप्तहिमाशुपादै ।
नत्यस्त्रिसाय शिशुना क्रियन्ते, सा मानसाध्यक्ष ॥३६॥

१६ विज्ञप्तिपत्रम्—यह पत्र भी मेघविजयजी ने उज्जैन से मेदिनीपुर (मेड़ता) मे स्थित आचार्य श्री को लिखा है। यह पत्र अपूर्ण है, पद्य स० ३१,३२,४ कुल ६७ है। हरिणी और वसन्ततिलका छन्द मे गुम्फित है। इसकी एक मात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय बीकानेर, खजाची स० 'श' २८४ पर है जिसकी पत्र स० ४-६ है और लेखन १८वी शती है, आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति नगरे यस्मिन्नर्हन्निकेतन
द्विविधतनुभृत्तापव्यापव्यपोहसचेतनम् ।
अनुगुणगुणैर्मोदोधानात् कृतामृतवेतन,
समहिमहिमच्छायामायाप्रमोदितकेतनम् ॥१॥
यस्यामनेकसविवेकमहेभ्यलोक-
निर्मापितार्हत महाभवनानि नूनम् ।
उच्चै प्रसृत्वरसुधाकरशकरेण,
व्याघामघारि वरधाम हसन्ति कामम् ॥१॥
शिष्यो भुजिष्य रुचिनम्रतनुर्विशिष्य
नाम्नाऽथ मेघविजय किल त तनीति ।
विज्ञप्तिवल्लिवनपल्लवन रसेन
लेखात वियोजनविपल्लवन विधाय ॥४॥



१७ विज्ञप्तिपत्रम्—पत्र अपूर्ण होने से यह अस्पष्ट है कि कवि ने यह पत्र कहाँ से कहाँ को और किसको लिखा है ? 'तपगणभृत पंचशाखस्य पार्श्वे' से अनुमान कर सकते हैं कि विजयसिंहसूरि को यह पत्र लिखा हो। पद्य २८ और २१ हैं। इसमें पर्युषणा के धार्मिक कृत्यों के समाचार हैं। इसकी भी एकमात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय, बीकानेर, सजाची संग्रह 'दा' २८४ पर है। पत्र संख्या ७-९ है। आद्यन्त निम्न है —

अथ गगनरमायाश्चित्रमायानुकारी,
निजकरनिकरेण ध्वान्तधारापहारी।
समयरसिकयोगी स्वान्तपद्मप्रचारी
धृततनुरिव बोध सूर्य आसीत्प्रकाशी ॥२॥
श्रीमान् सूरेर्जयति विजयी लक्षणैः पञ्चशाख-
श्चञ्चल्लक्ष्मो भरवितरणैर्नन्दित श्राद्धशाख ।
सेव्य शश्वद्विबुधनिवहैरगवान्पारिजात,
प्रातर्भास्वानिव हृततमस्तेजसाऽपारिजात ॥२॥
वासोल्लासप्रकटकपटादुद्गिरन् पोष्यराग,
लक्ष्मीलीलाभवनविभया सूरिराजस्य पाणि ।
पम्भोयोनेरपि च लभता सौरभेणोपमान,
श्यामाभासा यदिह रमते भृङ्गमालाक्षमाला ॥२॥

१४, १५, १६ संख्याक तीनों विज्ञप्तिपत्र अनुमानतः स्वयं कवि द्वारा लिखित हैं, अक्षरों शब्दों और चरणों को स्थान-स्थान पर काट कर या हरताल फेरकर पुनः नव्य शब्द या चरण लिखे हैं।

व्याकरण

१८ चन्द्रप्रभाव्याकरण—जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी को भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी का रूप प्रदान किया है उसी प्रकार मेघविजयजी ने अपने शिष्य भानुविजय के लिये हेमचन्द्राचार्यप्रणीत सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण को कौमुदी का स्वरूप प्रदान किया है,[1] इसीलिए इसे 'हेमकौमुदी' भी कहते हैं। इसकी रचना सं० १७५७[2] दीपमालिका के दिन आगरा[3] में हुई है। इस ग्रन्थ का संशोधन सौभाग्यविजय और मेरुविजय[4] ने किया है। इसका श्लोकपरिमाण आठ

---

१ श्री मेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्पर परम ।
चन्द्रचन्द्रप्रभा चक्रे भानूदयबुद्धिविवृद्धिकरी ॥११॥
भट्टोजिनामा भवदीक्षितेन, सिद्धान्तयुक्ता वरकौमुदीया ।
श्रीसिद्धहेमानुगता व्यधायि, सेवाश्रिया भानुविभोदयाय ॥१२॥

२ विजयन्ते ते गुरव शैलशरर्षीन्दु (१७५७) वत्सरे तेषाम् ।
आदेशाद देशपते स्थिति कृता राजधान्यन्त ॥७॥

३ चातुर्मास्यामस्या नाम्ना श्रीआगरा वराऽऽख्यायाम् ।
नानायोगैरुचिरा रचिता चन्द्रप्रभा सुधिया ॥८॥

४ हेमचन्द्रसुगुरो विनयस्य सिद्धे, शास्त्रार्णवोऽलभत पूर्णदशा रसेन ।
दीपोत्सवस्य दिवसे कुशलेन योऽसौ, सौभाग्य-मेरुविजयाविभिरीक्ष्यमाण ॥१५॥

हुआ' है। व्याकरण की दृष्टि से यह इनकी श्रेष्ठतम रचना कही जा सकती है। यह ग्रन्थ श्रेयस्कर मण्डल म्हेसाणा की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

१९ हेमशब्दप्रक्रिया—मध्य सिद्धान्तकौमुदी के समान यह सिद्धहेमशब्दानुशासन की प्रक्रिया है। श्लोकपरिमाण ३५०० है।[3] इसकी एकमात्र प्रति भाण्डारकार ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना में है, जो कि प्रकाशन योग्य है।

२० हेमशब्दचन्द्रिका—लघुकौमुदी के सदृश ६०० श्लोक परिमाण की यह रचना है। विजयप्रभसूरि[3] के शासनकाल में इसकी रचना हुई है। शाह चापसी खीमसी, कोठारा (कच्छ) की तरफ से यह प्रकाशित हो चुकी है।

न्याय

२१ मणिपरीक्षा—इस ग्रन्थ में नव्यन्यायप्रवर्तक 'नैयायिकोत्तम गंगेशोपाध्याय रचित' 'तत्त्वचिन्तामणि' का मणिकर्णिका की तरह 'मणि' का परीक्षण किया है।[4] उदयनाचार्यकृत किरणावली, वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, महामहोपाध्याय रुचिदत्तकृत तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश मणिकण्ठमिश्रकृत न्यायरत्न आदि प्राचीन न्याय के ग्रन्थों के आधार से कई स्थलों का जौहरी के समान परीक्षण कर प्राचीन शैली से युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इसमें चार विषय है। इसकी रचना विजयप्रभसूरि के काल में स्वशिष्य भानुविजय के पठनार्थ हुई है। भाषा प्रौढ एवं प्राञ्जल है। इसकी स्वयं ग्रन्थकार द्वारा लिखित एकमात्र प्रति भुवनभक्ति भण्डार (बड़ा भंडार) बीकानेर ग्र० नं० ३२१, में है। पत्र संख्या ८ है।

२२ युक्तिप्रबोध सिद्धान्त—इस ग्रन्थ में आगरा निवासी, समयसार नाटक के अनुवादकर्त्ता, प्रसिद्ध कवि बनारसीदास[7] की जैन-सिद्धान्त-प्रतिकूल मान्यताओं का और दिगम्बर मान्यताओं का सैकड़ों ग्रन्थों[8] के आधार से खण्डन

---

१ स्वागे साष्टसहस्रलक्षणवर क्लृप्ताभिषेक सुरै,
सेन्द्रै साष्टसहस्रमानमहितै कुम्भैश्च वृत्तै स्तुत ।
ग्रन्थेऽप्यष्टसहस्रसम्मिततया सल्लक्षणैर्लक्षिते,
कुर्यात् सोऽभ्युदय धिया समुदय वीरस्त्रिलोकी गुरु ॥१४॥
(चन्द्रप्रभाव्याकरण, पूर्वार्ध प्रान्तप्रशस्ति)

२ द्वितीय मध्यव्याकरण पञ्चत्रिंशच्छतश्लोकमितम्।
(हेमशब्दचन्द्रिका-प्रस्तावना पृष्ठ १)

३ श्रीविजयप्रभसूरे प्रेष्य शिष्य कृपादिविजयकवे । श्रीमेघविजयवाचकवर कृता चन्द्रिका चक्रे ॥१

४ मणे परीक्षा मणिकर्णिकेव, पूर्णा रसै स्वारसिकैर्मुदेव ।
गगेश्वर श्रीगृहमन्निधाना, ध्यानेऽवधाया शिवपूर्वतुर्या ॥१॥

५ श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेस्य सेवको मेघ ।
सम्यक्त्वशुद्धिसिद्धै कृतवानेता मणिपरीक्षाम् ॥३॥

६ भानूदयनदाव्याय वुद्ध्या यदचापल सृजेत ।
अस्यामस्यामवीरर्हंस्तुष्टस्तन्मेह सुश्रिये ॥२॥

७ देखें, मोहनलाल द० देसाई जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५७६-५७८

८ देखें, सागरानन्दसूरि लिखित युक्तिप्रबोध का उपक्रम—पत्र २-११



किया है। मूल ग्रन्थ के कुल २५ पद्य है जो प्राकृतभाषा मे हैं और इस पर स्वय ग्रन्थकार ने सस्कृतभाषा मे ४३००[१] श्लोक परिमाण की विशद-विवेचना पूर्ण टीका की रचना की है। ग्रन्थ मे रचनासवत् का निर्देश नही है किन्तु विजयरत्न सूरि[२] के साम्राज्य का उल्लेख होने से इसकी रचना स० १७३२ के पश्चात् ही हुई है। यह ग्रन्थ ऋपभदेव केशरीमल पेढी रतलाम से प्रकाशित हुआ है।

२३ **धर्ममञ्जूषा**—कवि ने उपाध्यायपद प्राप्ति[३] के पश्चात् इसकी रचना मेडता[४] मे की है। इस ग्रन्थ मे लेखक ने लुम्पक सम्प्रदाय के किसी अधिकारी के ५८ प्रश्नो के उत्तर अनेक शास्त्रो के आधार से दिये हैं। मुख्य ५८ प्रश्न हैं और १३ गौण प्रश्न है। ये प्रश्न किसने किये है या किसी ने इन प्रश्नो का कोई ग्रन्थ बनाया है जिसके उत्तर मे इसकी रचना हुई है, स्पष्ट नही है। ग्रन्थ प्रश्नोत्तररूप गद्य सस्कृत मे है। भाषा सरल और युक्तिपूर्ण है। लेखक ने अन्त मे लिखा है कि विशेष समाधान हार्नर्षिकृत हुण्डिका[५] मे देखना चाहिये। हार्नर्षिकृत हुण्डिका ग्रन्थ अप्राप्त है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और इसकी प्रतियाँ बीकानेर दानसागर भडार, वडौदा एव आगरा के भडारो मे प्राप्त है।

ज्योतिष

२४ **मेघमहोदय-वर्षप्रबोध**—इस ग्रन्थ मे रचना सवत् का निर्देश नही है किन्तु प्रशस्ति मे गच्छनायक विजयप्रभसूरि और आचार्य विजयरत्नसूरि[६] का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि इसकी रचना स० १७३२ के पश्चात् ही हुई है क्योकि विजयरत्नसूरि को आचार्यपद स० १७३२ मे प्राप्त हुआ था। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का सम्बन्ध और विषय स्थानागसूत्र[७] (जैनागम) से बतलाया है। प्राचीन एव आर्वाचीन ग्रन्थ तथा भड्डली आदि लोकप्रचलित अनेक ग्रन्थो के आधार से इनकी रचना हुई है।[८] उद्धृत ग्रन्थो मे मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं—

---

१ चतु सहस्री श्लोकाना शतत्रयसमन्विता।
प्रमाणमस्य ग्रथस्य निर्मित तत्कृता स्वयम् ॥८॥

२ तत्पट्टभूषा महसातिपूषा, सुवर्णनैर्मल्यविधानभूषा।
विराजते श्रीविजयादिरत्न, प्रभु प्रभाप्यापितदेवरत्न ॥२१॥
तेषां राज्ये मुदाऽकारि, वाड्मय युक्तिबोधनम्।
मेघाद्विजयसज्ञेन, वाचकेन तपस्विना ॥१२॥

३ प्राप्तोपाध्यायपदास्ते चक्रु धर्ममञ्जूषाम् ॥२॥

४ श्रीमेघपूर्वविजयाह्ववाचकोऽसौ,श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृश प्रमत्यै ॥४॥

५ शेष श्रीहीरविजयसुरीश्वरवच प्रमुद्धश्रीलुमाघपाक्षिकश्रीमेघजीनामाचार्यसहचारवशश्रीतपागच्छसामाचार्यंगीकारक-सैद्धान्तिकमुख्यश्रीहार्नर्षिकृतहुण्डिकात प्रतिपत्तव्यम्।

६ श्रीमत्तपागणविभु प्रसारत्प्रभाव, प्रद्योतते विजयत प्रभनामसूरि।
तत्पट्टपद्मतरणिर्विजयादिरत्न, स्वामी गणस्य महसा विजितद्युरत्न ॥९९॥

७ स्थानागसूत्रविपयीकृतवर्षबोध-ज्ञानाय यत्प्रकरण विहित वितत्य।
भक्त्या व्यदीपि जिनदर्शनमेव तेन, लोक सुखी भवतु शाश्वतबोधलक्ष्म्या ॥९८॥

८ क्वचित्प्राच्चैर्वाच्चैरतिशयरसात् श्लोककथनै,
क्वचिन्नव्यै श्रव्यै प्रकरणमभूदेतदखिलम्।
सता प्रामाण्याय क्वचिदुचित लोकोक्तिरुचित,
जिनश्रद्धाभाजामपि चतुरराजा समुचितम् ॥१०१॥

१ अर्घकाण्ड, २ गार्गीय संहिता, ३ गिरवरानन्द, ४ चतुर्मासिकुलक, ५ जगन्मोहन, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, ७ तिथिकुलक, ८ त्रैलोक्यदीपक, ९ नरपतिजयचर्या, १० बालबोध ज्योतिष, ११ भड्डली, १२ भद्रबाहुसंहिता, १३ भगवतीसूत्र, १४ रुद्रकृत मेघमाला, १५ हीरविजयसूरि कृत मेघमाला, १६ केवलीकीर्ति[1] (दिगम्बर) कृत मेघमाला, १७ खरतरगच्छीय उपाध्याय मेघजी[2] कृत मेघमाला, १८ रत्नमाला, १९ रामविनोद, २० वराहसंहिता, २१ विवेकविलास, २२ सारसंग्रह, २३ स्थानांगसूत्र, २४ दुर्गदेव कृत षष्ठिसंवत्सर[3] आदि।

आश्चर्य है कि हीरविजयसूरि, खरतरगच्छीय मेघजी और केवलकीर्तिप्रणीत मेघमाला नामक तीनों ग्रन्थ आज अप्राप्त हैं।

यह ग्रन्थ १३ अधिकार और २१ द्वारों में विभक्त है।[4] देश, वात, देव, संवत्सर, शनिश्चर वत्सर, अयन, मास पक्ष-दिन निरूपण, अगस्ति वर्षराजादि जन्मलग्न अभ्रविद्युदादि कथन, गर्भकथन, तिथिफलकथन, सूर्याचार कथन, ग्रहणविमर्श द्वारचतुष्टय कथन और शकुन निरूपण नामक १३ अधिकार हैं।

इस ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में पं० भगवानदासजी जैन लिखते हैं —

'इसका प्रतिदिन अनुशीलन किया जाय तो अगले वर्ष में दुष्काल होगा या सुकाल, वर्षा कब और कितने कितने दिन बरसेगी, धान्य सोना चांदी आदि धातु, कपास, सूत और क्रयाणक वस्तु इन सबका तेजी होना या मंदी, अच्छी तरह जान सकते हैं। सारांश यही है कि भावी वर्ष का शुभाशुभ जानने के लिये कोई भी विषय इसमें नहीं छोड़ा है।' (भूमिका पृ० ४)

पं० भगवानदासजी जैन कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

२५ **जन्मपत्रीपद्धति**—मुनि जिनविजयजी की सूचनानुसार इसकी एक प्रति मुनि कान्तिसागरजी के पास है। अनूपसंस्कृत-लायब्रेरी बीकानेर में भी 'मेघीपद्धति' की एक प्रति है पर उसमें कर्त्ता का नाम नहीं है।

२६ **हस्तसंजीवन**—इसका दूसरा नाम सिद्धज्ञान भी है। मूल में ५२५ पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने 'सामुद्रिक लहरी' नामक ५००० श्लोक परिमाण विस्तृत टीका की रचना की है—१ दर्शनाधिकार, २ स्पर्शनाधिकार, ३ रेखाविमर्शनाधिकार और ४ विशेषाधिकार। यह ग्रन्थ हस्तरेखा के सम्बन्ध में भारतीय सामुद्रिक शास्त्र का प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। टीका सहित यह ग्रन्थ मुनि मोहनलालजी जैन ग्रन्थमाला इन्दौर से प्रकाशित है।

रमल

२७ **रमलशास्त्र**—यह ग्रन्थ अप्राप्त है। इसके संबंध में पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय-महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) में लिखा है कि 'मेघमहोदयमां तेनो उल्लेख आवे छे। आ ग्रन्थ पण पोताना शिष्य मेरुविजय माटे लख्यो हतो, किन्तु मेघमहोदय का स्थल लेखक ने नहीं दिया है। जहां तक मेरा ख्याल है मेघमहोदय में इसका उल्लेख नहीं है।



---

१. देखें पृ० २६२, ३४७

२ देखें, पृ० २६३, ३१२

३ देखें, पृ० १०८

४. त्रयोदशोऽधिकारो भूच्छास्त्रेऽस्मिन् शकुनाश्रय ।
तदेकविंशतिद्वारैर्ग्रन्थो लभते पूर्णताम् ॥९७॥

२८ उदयदीपिका—इसमे प्रश्न निकालने की पद्धति का विस्तृत वर्णन है। स० १७५२ मे श्रावक मदनसिंह[1] के लिये प्रश्नोत्तररूप मे ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

२९ प्रश्नसुन्दरी—इस ग्रन्थ मे प्रश्न-विधि का सक्षेप पद्धति से वर्णन है। इसकी रचना भी श्रीविजयप्रभसूरि के शासनकाल मे हुई है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) के अनुसार इसकी एक प्रति आचार्य क्षमाभद्रसूरि के पास है।

३० वीसा यत्र कल्प—यन्त्र-शास्त्र इसे अर्जुनपताका और विजययन्त्र भी कहते है। इस ग्रन्थ की रचना विजयप्रभसूरि के साम्राज्य मे हुई है। इस ग्रन्थ मे १५ का यन्त्र, १६-१७ का यन्त्र, का यन्त्र, १९ का यन्त्र, २० का यन्त्र, पद्माकार वीसा यत्र, अर्हं एव २० विहरमान के आधार से २० का यन्त्र, विजय यत्र आदि की रचना विभिन्न रूप से किस प्रकार होती है, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है। अन्त मे पद्मावती स्तोत्रान्तर्गत 'भूविश्व' पद्य की व्याख्या करते हुये पद्मावती वीसा यत्र का विस्तार से आलेखन किया है।

बीसा यत्र का विचार करते हुये लिखा है कि बाहुवली[2] आदि मुनिगण इस वीसा यत्र को गतिभेद से स्वीकारते हैं। तो ये बहुवली मुनि कौन है और इनका यन्त्र सम्बन्धी कौन-सा ग्रन्थ है? यह शोधकर्ताओ के लिये विचारणीय है।

यह ग्रन्थ अनुवाद सहित महावीर ग्रन्थमाला धूलिया से प्रकाशित है।

अध्यात्म

३१ आर्हद्गीता—भगवद्गीता के अनुकरण पर ३६ अध्यायो मे ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। भगवान् कृष्ण एव अर्जुन की तरह इसमे गणधर गोतमस्वामी द्वारा प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उत्तर शैली मे सरल शब्द रचना द्वारा जैन-दर्शन का सुन्दर दिग्दर्शन है। प्रत्येक अध्याय मे २१ पद्य है। इसका दूसरा नाम तत्त्वगीता है[3]। रचना सवत् का निर्देश नही है। यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला, धूलिया से प्रकाशित है।

३२ मातृका प्रसाद—मातृका वर्ण 'ओम् नम सिद्धम्' वर्णाम्नाय पर विवेचन करते हुये, 'ओम्' के

---

१ नत्वार्हन्त पार्श्वभास्वद्रूप शखेश्वरस्थितम्।
श्रीश्राद्धमदनार्त्सिहे धर्मलाभ प्रतन्यते ॥१॥
(उदयदीपका मगलाचरण)

२ अथ केचिदिद यन्त्र विशतेर्गतिभेदत ।
प्राहु श्रीबाहुवल्याद्या मुनयो नयकोविदा ॥ (पृ० ५४)

३ इतोऽधिक किञ्चन मातृकाय, व्याख्यानमादेशि मया वितत्य ।
श्रीतत्वगीताहितसत्प्रतीताऽध्यायेषु सद्ध्येयधियोत्तरेषु ॥ (मातृकाप्रसाद)
—(देवानन्दमहाकाव्य-प्रस्तावना पृ० ९ की टिप्पणी)

रहस्य का विश्लेषण करते हुये अध्यात्मदर्शन का प्रतिपादन किया है। स० १७४७ धर्मनगर मे इसकी रचना हुई हैं।[1] यह प्रति कहाँ प्राप्त है ? इस सम्बन्ध मे प० वेचरदासजी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना मे कोई उल्लेख नही किया है।

३३ **ब्रह्मबोध**—यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्त है। अम्बालाल प्रेमचन्द शाह[2], प० वेचरदास जीवराज दोशी[3], प० भगवानदास जैन[4] आदि ने इसको मेघविजयजी की आध्यात्मिक रचना मानी है, परन्तु किस आधार से ? यह स्पष्ट नही है। सभव है अर्हद्गीता की पूर्व-पीठिका मे ब्रह्म का निरूपण[5] होने से इसी आधार पर यह परम्परा चल पडी हो।

ऐतिहासिक

३४ **तपगच्छपट्टावलीसूत्रवृत्त्यनुसन्धान**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि मेघविजयजी से पूर्व प्रणीत तपगच्छ पट्टावली जिसमे जगद्गुरुहीरविजयसूरि तक का वर्णन था, उसकी पूर्ति के रूप मे मेघविजयजी ने इसको रचना की है। इसमे मूल चार पद्य प्राकृत भाषा मे हैं और उसकी व्याख्या संस्कृत पद्य मे है। आचार्य विजयसेनसूरि, विजयदेवसूरि, विजयसिंहसूरि और विजयप्रभसूरि का स० १६३२ से १७२३ तक अनुक्रम से ऐतिहासिक गुरुपरम्परा का वर्णन है। यह दिग्विजय महाकाव्य के परिशिष्ट मे प्रकाशित है।

टीका-ग्रन्थ

३५ **विजयदेवमाहात्म्यविवरण**—खरतरगच्छीय ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य श्रीवल्लभोपाध्याय[6] ने स० १६८७ के आसपास तपागच्छीय विजयदेवसूरि के यशोवर्णन रूप इस महाकाव्य की रचना की है। इस काव्य पर विवरण अर्थात् दुर्गम शब्द एव स्थलो का मेघविजयजी ने स्पष्टीकरण किया है। रचना सवत् का निर्देश नही है किन्तु १७०९ की लिखित हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना इसी के आस-पास हुई होगी। यह ग्रन्थ जैन साहित्य संशोधक समिति की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

३६ **वृत्तमौक्तिक दुर्गमबोध**—छद-ग्रन्थ, भट्ट चन्द्रशेखर प्रणीत वृत्तमौक्तिक नामक छन्दोग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम गाथा प्रकरण के पद्य ५१ से ८६ तक अर्थात् ३६ पद्यो की टीका है। इन ३६ पद्यो मे प्रस्तार का निरूपण हुआ है। प्रस्तार जैसे दुर्गम विषय को मेघविजयजी ने रोचक एव सरल बना दिया है। इस टीका की रचना १७५५ मे भानुविजय[7] के पठनार्थ हुई है। इसकी एकमात्र प्रति स्वय मेघविजयजी द्वारा लिखित मेरे सग्रह मे है। यह टीका मेरे द्वारा सपादित 'वृत्तमौक्तिक' मे राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।

---

१ ओं नम सिद्धमित्यादेर्वर्णाम्नायस्य वर्णनम्
चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥
सवत्सरेऽश्ववार्ध्यश्वभूमिते पौष उज्ज्वले।
श्रीधर्मनगरे ग्रन्थ पूर्णश्रियमशिश्रियत् ॥ (मातृकाप्रसाद-प्रशस्ति)

२ दिग्विजय महाकाव्य-प्रस्तावना

३ देवानन्दमहाकाव्य प्रस्तावना

४ मेघमहोदय-वर्ष प्रबोध-प्रस्तावना

५ अर्हद्गीता पूर्वपीठिका पद्य ७-१४

६ श्रीवल्लभोपाध्याय के परिचय के लिये देखें, 'अरिजनस्तव'

७ समित्यर्याश्वभूवर्षे प्रौढिरेषाऽभवत्श्रिये।
भान्वादिविजयाध्यायहेतुत सिद्धिमाश्रिता ॥ (टीका प्रशस्ति)





३७ **भक्तामरस्तोत्र टीका**—आचार्य मानतुगसूरिप्रणीत भक्तामरस्तोत्र पर यह टीका है। इस टीका की प्रति मेरे देखने मे नही आई है।

३८ **पञ्चतीर्थस्तुति सटीक**—इसका उल्लेख दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना मे अवालाल प्रेमचद शाह ने किया है। स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के ५ अर्थ हैं जिनमे ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की स्तुति की गई है और इसकी टीका की भी रचना स्वय ने ही की है।

३९ **देवा प्रभो स्तवावचूरि**—जयानन्दसूरिरचित स्तोत्र पर यह अवचूरि है। इसकी रचना स० १७२४ मे हुई है। इसकी प्रति वढवाण के ज्ञानभडार मे प्राप्त हैं।

स्तोत्र

४० **चतुर्विशतिजिनस्तव**—कवि ने एक-एक पद्य के द्वारा चौवीस तीर्थंकरो की क्रमश स्तुति की है। रचना यमकालकारप्रधान है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे सग्रह मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

देवाधिदेवाधिकभाग्यलक्ष्मी, नाभेयनाभेयरुचस्तनो स्ते।
भावेन भावे न विभावयेत, केनाधिकेनाधिजगत् सतानो ॥१॥

अन्त—एव श्रीजिननायका स्तुतिपथ नीताश्चतुर्विंशति
श्रीनाभेयमुखा सुखाय सुमुखा देवार्यदेवान्तिमा।

सूरिश्रीविजयप्रभप्रभुपदप्राप्तोदये सन्त्वमी,
मेघाख्ये सकृपा कृपादिविजयप्राज्ञेन्द्रशिष्ये मयि ॥२८॥

४१ **आदिजिनस्तोत्र**—यह स्तोत्र अपूर्ण रूप मे ही राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर ग्र० न० २०४१५ मे प्राप्त हैं। आद्यन्त इस प्रकार है —

स्वस्तिश्रियाभ प्रतिरूपरूपा, सर्वेऽपि देवासुरमर्त्यभूपा।
तासा विवाहस्थितिहेतवेय, प्रादुश्चकाराऽऽदिजिन विधाता ॥१॥
नय किमेन हृदये निधाय, मदोद्धुर दुर्द्धरतेजस तम्।
आद्य प्रभुर्वाहुर्वलि निनाय, पद पद स्वेन सम समगलम् ॥२४॥

४२ **रावणपार्श्वनाथ स्तोत्र**—शार्दूलविक्रीडित छन्द मे ९ पद्यो मे रावणपुर स्थित पार्श्वनाथ की स्तवना है। रावणपुर-सभवत अलवर का ही दूसरा नाम है क्योकि कवि ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के निकट स्वीकार किया है —

जाने तज्जनकात्मजाव्यतिकर प्रोद्भूयमानानया—
न्मत्वात्व ननु मगमेव भगवन्नैतस्थले तस्थिवान्।
सेवार्थं भुवि रावणाख्यनगर तत्तेन सवासित
पार्श्वे चेन्द्रपथ सुतेन विहित तेनेन्द्रजिच्छर्मणा ॥५॥

यह स्तोत्र 'महाचमत्कारिक वीशायन्त्रकल्प' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

गुर्जर भाषा की कृतियाँ

४३ **कुमति निराकरण हुण्डी स्तवन**—७९ गाथा के इस स्तवन मे दिगम्बर समाज की मान्यताओ का खण्डन है। श्रीमोहनलाल द० देशाई लिखित जैन गुर्जर कविओ भाग ३ के अनुसार इसकी प्रति महोपाध्याय रामलालजी सग्रह बीकानेर मे है।

४४ **पार्श्वनाममाला स्तवन**—दीव मे इसकी रचना हुई है। पद्य सख्या ३५ है। स० १७२१ की लिखित प्रति से प्राचीन तीर्थमाला भाग १ मे प्रकाशित हुई है अत स० १७२१ मे इसकी रचना हुई है।

४५ **विजयदेवसूरि निर्माण स्वाध्याय**—इसमे कवि ने विजयदेवसूरि का सक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रभाव आदि का उल्लेख करते हुए स० १७१२ आषाढ सुदि १० को निर्वाण का विस्तार से आलेखन किया है। इसमे ४ ढाले हैं, दोहो सहित कुल गाथाएँ ५२ हैं। जैन ऐतिहासिक रासमाला भाग २ मे पृ १०२-१०७ मे प्रकाशित हो चुका है।

४६ **विजयरत्नसूरि स्वाध्याय**—इस स्वाध्याय मे तत्कालीन गणनायक विजयरत्नसूरि के गुणो का कीर्तन किया गया है। गाथा ४२ है। ऐतिहासिक सज्झायमाला भाग १ पृ० २१-२२ पर मुद्रित हो चुकी है।

४७ **कृपाविजयनिर्वाण रास**—इसका उल्लेख अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना मे किया है। सभवत इसमे कवि ने अपने गुरु का जीवन-दिग्दर्शन कराते हुए निर्वाण का वर्णन किया होगा।

४८-५२-४८ जैनधर्मदीपक स्वाध्याय, ४९ जैन शासनदीपक स्वाध्याय, ५० आहारगवेषणा स्वाध्याय, ५१ चौवीस जिनस्तवन, तथा ५२ दशमत स्तवन आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

५३ मगसी पार्श्वनाथस्तवन—इस स्तवन की ५ गाथाये हैं। इसकी प्रति मेरे सग्रह मे है।

प० वेचरदास जीवराज दोशी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना पृ० ९ मे लिखा है कि ग्रन्थकार का एक स्वहस्तलिखित पत्र भी विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकार ने स० १७५६ भाद्र सुदि २ को ग्वालियर से अपने शिष्य मुनि सुन्दरविजय, जो जिहानाबाद (दिल्ली) नगर मे चातुर्मास थे उन पर लिखा हुआ है। यह पत्र गुर्जर भाषा मे है।

शोध करने पर कवि प्रणीत और भी अनेको ग्रन्थ तथा विज्ञप्तिपत्र प्राप्त हो सकते है क्योकि कवि प्रतिवर्ष चातुर्मास के मध्य मे तत्कालीन गणनायक को प्रौढ एव प्रांजल सस्कृत भाषा मे कवित्व तथा वैदग्ध्यपूर्ण विज्ञप्ति-पत्र प्रेषित किया करता था। वर्तमान मे केवल ७-८ ही पत्र प्राप्त हुए है तथा श्रीअगरचन्द जी नाहटा की सूचनानुसार आगमप्रभाकर मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी को कुछ नये विज्ञप्ति-पत्र और प्राप्त हुए हैं।

ग्रन्थो के सक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि महोपाध्याय मेघविजयजी का प्राकृत, सस्कृत और मरु गुर्जर भाषा पर तथा वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र पर पूर्ण अधिकार था। कवि की प्रतिभा तथा कवि के प्रत्येक ग्रन्थ पर कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से विचार-विमर्ष एव मूल्याकन किया जाय तो स्वतत्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है जो कि इस निवन्ध के लिये उपयुक्त नही होगा अत इस निवन्ध को सवत् १७६१ मे अजबसागर गणि प्रणीत मेघविजयोपाध्यायस्तुति द्वारा पुष्पाञ्जली देता हुआ पूर्ण करता हु—



मेघविजय उवज्झाय शिरोमणि पूरण पुण्य निधान के भारा,
ग्यान के पूरते दूर कियो सब लोकन के मति को अंधियारा।

जा दिन लाग्गि उडुग्गण मे रवि चद अनारत तेज है सारा,
ता दिन लो प्रतपो मुनिराज कहे कवि आज-भवोदधि तारा ।१॥

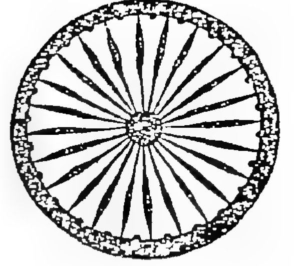
भानु भयो जिन के तप-तेज तै मद उद्योत सदा जगती मे ।
दूर गयो मरुदेश तें नीकरि मूढपणो थरकी धरती मे ।
जा दिन तें फुनि मुह कर्यो इत कौ तुम सुन्दर पूरब ही मे,
ता दिनतें दुख रोरव देश के दूर गये तजि के किन ही मै ॥२॥

नाम जपै जिनके सुख होय वने अति नीको जगत्ति मे सारे,
भूरितरो सखरो इतमाम अमाम बधे सुबिधि दिन मौरे ।
वानी मै जाकै मिली सब आय सुधाई सुधाई तजी सुर सारै ।
मेघविजय उवभाय जयो तुम जा दिन लो दवि लोक मे तारे ॥३॥

❂

धर्मशर्माभ्युदय-रचयिता महाकवि हरिचन्द्र

डा० स्वप्ना बनर्जी
एम० ए०, डी० फिल० इलाहाबाद विश्वविद्यालय



महाकवि हरिचन्द्र के जीवन-वृत्त के विषय मे विद्वानो मे बडा मतभेद रहा है। सस्कृत साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् विख्यात हुए हैं। अष्टाङ्गसग्रह की व्याख्या मे 'इन्दु' ने एक वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[1] विश्वप्रकाश कोश के रचयिता माहेश्वर ने साहसाङ्क नृपति के राजवैद्य का नाम हरिचन्द्र बतलाया है जिन्होने चरक-सहिता पर एक अतिप्रसिद्ध टीका लिखी थी, जो अब उपलब्ध नही है।[2] 'माधवनिदान' के 'मधुकोप' व्याख्या मे कई स्थलो पर हरिचन्द्र का नामोल्लेख आया है। माधवकर ने चरक, सुश्रुत, वाग्भटादि अन्यान्य प्रसिद्ध वैद्यो के नाम के साथ ही 'भट्टार-हरिचन्द्र' अथवा केवल 'हरिचन्द्र' का इतनी अधिक वार प्रयोग किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त वैद्य हरिचन्द्र की चरक पर लिखी गई टीका को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी। इसी कारण से बाद के टीकाकारो ने 'हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यान्तर पाठान्तर पठन्ति' कहकर उनको उद्धृत भी किया है।[3]

चतुर्भाणी के श्यामिलक विरचित 'पादताडितक' नामक भाण मे एक हरिचन्द्र भिषक् का नाम आया है।[4] पादताडितक ईसा की प्रथम शताब्दी मे रचा गया है—यह सिद्ध है।[5] यहाँ हरिचन्द्र के साथ भिषक् विशेषण का

---

१ अष्टाङ्गसग्रह (इन्दुटीका) कल्पस्थान, छटा अध्याय।

२ साहसाङ्कनृपतेरनवैद्यविद्यातरगसुपद्वयमेव विभ्रत।
यश्चन्द्रचारुचारितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलचकार ॥
—विश्वप्रकाश, कान्तवर्ग—५।

३ (क) अत्र केचित् हरिचन्द्रा दिभिव्याख्यान्तर पाठान्तर पठन्ति।
—माधवकर-माधवनिदान, पृ० २२, प० १०।

(ख) यदाह चरक — "सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वेदग्ध्वा तान् सुरान् प्रभु।
वाण क्रोधाग्नि सन्तप्तमसृतसत्रनाशनम् ॥" इति
एपा च ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या इति भट्टारहरिचन्द्र। वही, पृ० २५, प० १५।

४ तत्र भवान् कामचारो भानु लोमशोगुप्त अमात्यो, विष्णुदास शैव्य आर्यरक्षितो दाशरथी रुद्रवर्मा स्कन्दस्वामी हरिचन्द्रभिषक् आभीरक
आदयोयथासभवसन्निपातया। चतुर्भाणी, पादताडितक, पृ० १५६।

५ कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल सस्कृत लिट्रेच्चर, पृ० २७०।

प्रयोग किया हुआ है । कोष के अनुसार भिषक् का अर्थ वैद्य होता है ।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि सभी हरिचन्द्र नाम एक ही वैद्य हरिचन्द्र के हैं और ये ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुए हैं । ये विद्वन्मूर्धन्य जैन रहे अथवा अजैन इसका कोई प्रमाण प्राप्त नही होता ।

श्री एस० के० दीक्षित ने वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के हरिषेण मे अभेद स्थापित किया है ।[२] इन्होने कतिपय पदो को उद्धृत करके यह कहा है कि दो बार उत्पन्न हुए शबरस्वामी के छ पुत्र हुए । ब्राह्मणपत्नी से ज्योतिर्विद वराहमिहिर, क्षत्रिय पत्नी से राजा विक्रम और भर्तृहरि, वैश्य पत्नी से वैद्य हरिचन्द्र और शकु तथा शूद्र पत्नी से अमर उत्पन्न हुए ।[३] साथ ही दीक्षित का यह भी विश्वास है कि इन पदो से किसी ऐतिहासिक तत्त्व का तो पता नही चलता केवल हरिचन्द्र के साथ प्रयुक्त 'वैद्यतिलक' शब्द ही ध्यान आकर्षित करता है । प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिषेण के साथ 'खाद्यटपाकिकस्य' विशेषण प्रयुक्त है ।[४] व्यूलर ने खाद्यटपाकिक का अर्थ 'राजकीय भोजनालय का निरीक्षक' किया है । किन्तु दीक्षितजी का कहना है कि 'खाद्यपटपाकिक' के साथ प्रयुक्त अन्य विशेषणो का अर्थ देखते हुए इसका यह अर्थ निरर्थक सिद्ध होता है । अत उन्होने इसका अर्थ 'वैद्यतिलक' अथवा 'धन्वन्तरि' माना है और इस प्रकार वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिषेण को आपने एक सिद्ध करने की चेष्टा की है ।

वस्तुत प्रयोग का यह स्तम्भ-लेख समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है । इस अभिलेख मे इसके लिखे जाने का समय यद्यपि नही दिया है तथापि यह समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है अत यह अवश्य ही उनके राज्य काल के अन्तिमाश मे लिखा गया होगा । समुद्रगुप्त का राज्य चौथी शताब्दी के मध्य मे था अत यह शिलालेख उसी शताब्दी के अन्तिम पाद मे लिखा गया होगा । इस प्रकार तो इसके लेखक हरिषेण का समय भी चौथी शताब्दी का अन्तिम पाद सिद्ध होता है । अब यदि श्री दीक्षितजी के (हरिषेण को वैद्य हरिचन्द्र मानना) मत को मान लिया जाय तो वैद्य हरिचन्द्र का समय भी चतुर्थ शताब्दी का अन्तिमाश ही मानना पडता है । किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पादताडितक तथा वैद्यक ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि वैद्य हरिचन्द्र का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है, अत-हरिषेण निश्चित रूप से कोई पृथक् ही व्यक्ति है, वैद्य हरिचन्द्र नही ।

यहा एक मत और भी विचारणीय है—बाणभट्ट ने हर्षचरित मे अपने पूर्ववर्ती कवियो की प्रशस्ति मे एक भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है ।[५] भट्टार विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये या तो स्वय राजा रहे या किसी राजा के निकट सम्बन्धियो मे से रहे । इतना निश्चित है कि ये बाण के पूर्ववर्ती कवियो मे से रहे । इन्होने 'मालती'

---

१ "भिषग्वैद्यो चिकित्सके ।"—अमरकोष, २ । ६ । ५७

२ इण्डियन कल्चर, भाग ६, जुलाई १९३९, अप्रैल १९४०, पृ० २०८

३ "ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी ।
राजा भर्तहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत् ॥
वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शकु कृती ।
शूद्रायाममर षडेव शबरस्वामीद्विजात्मज ॥"
—इण्डियन कल्चर भाग ६, पृ० २०९ मे श्री एम० के० दीक्षित द्वारा उद्धृत ।

४ एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादाना दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमने खाद्यटपाकिकस्य महादण्डनायक-ध्रुवभूतिपुत्रस्य सन्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायकहरिषेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु ।"
—समुद्रगुप्तकालीन प्रयागस्तम्भलेख, कॉरपस इन्सक्रप्शनम् इण्डिकेरम, भाग ३ जे० बी० फ्लीट ।

५ भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ १। १३ हर्षचरित ।

नाम की कोई प्रेम-कथा लिखी ऐसा श्री कृष्णमाचारी का मत है।[1] किन्तु पं केदारनाथ शर्मा इनके लिखे गद्यग्रन्थ का नाम 'साहसाङ्कचरित' बताते हैं।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि पं० केदारनाथजी साहसाङ्क नृपति, राजवैद्य हरिचन्द्र और भट्टार हरिचन्द्र को एक मानते हैं और इसी आधार पर उन्होंने बाणोल्लिखित हरिचन्द्र के गद्यग्रन्थ का नाम साहसाङ्कचरित' सोचा है। जो कुछ भी हो, भट्टार हरिचन्द्र का गद्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं। सम्भवत बाण के समय में यह उपलब्ध रहा हो और बाण ने इसी के आधार पर कादम्बरी की रचना की हो। बाण का समय निश्चित है। ये हर्षवर्धन के समय में हुए और हर्षवर्धन ६३०-६४० के मध्य गद्दी पर बैठे। अत बाण भी इसी समय में रहे होंगे। भट्टार हरिचन्द्र बाण से एक-डेढ शताब्दी पूर्व के अवश्य होंगे।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा[3] तथा कर्पूरमजरी[4] दोनो में हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। दोनो में ही हरिचन्द्र को कवियो की श्रेणी में गिनाया गया है।

इसके पहले वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' में भास, कालिदास और सुबन्धु के साथ हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[5] राजशेखर का समय आठवीं शताब्दी है। राजशेखर और वाक्पतिराज द्वारा उल्लिखित हरिचन्द्र एक ही हरिचन्द्र है।

श्री अमृतलालजी शास्त्री ने बाण द्वारा उल्लिखित भट्टार हरिचन्द्र को और वैद्य हरिचन्द्र को एक ही व्यक्ति माना है। दूसरी ओर राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी के हरिश्चन्द्र को उन्होंने दो पृथक् व्यक्ति माना है।[6] शास्त्रीजी का यह मत कुछ चिन्त्य प्रतीत होता है। वैद्य हरिचन्द्र बाण से पूर्ववर्ती रहे अर्थात् सम्भवत उनसे एक शताब्दी पूर्व के रहे हो। ऐसी अवस्था में दोनो हरिचन्द्र भला एक कैसे हो सकते हैं? दूसरी आपत्ति यह है कि वैद्य हरिचन्द्र और भट्टारक हरिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं तो जितने स्थानो पर वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख है उनमें से कही एक स्थान पर भी वैद्य के साथ-साथ गद्यकार या कवि विशेषण प्रयुक्त होना चाहिए था। एक ही व्यक्ति यदि वैद्य है, वैद्यक पर टीका लिखता है और कवि भी है तो उस व्यक्ति का उल्लेख करते समय सर्वत्र उसके एक ही व्यक्तित्व का ग्रहण—कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। बाण ने भी केवल गद्यकार हरिचन्द्र का नाम लिखा है, उसके साथ किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। अत अवश्य ही वैद्य हरिचन्द्र और भट्टार (गद्यकार) हरिचन्द्र पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति रहे होंगे। दूसरी ओर काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी के हरिचन्द्रो को दो पृथक् व्यक्ति मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। दोनो ग्रन्थो में ही हरिचन्द्रो को कवि कहा गया है, यही नहीं उनकी गणना उच्च, ख्यातिप्राप्त कवियो के मध्य की गई है।

---

१ कृष्णमाचारी—हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ० १४६

२ "इनका लिखा गद्य ग्रन्थ भी प्रबन्धराज कहा गया है। यह गद्यकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि इसका नाम साहसाङ्कचरित था।" पं० केदारनाथ शर्मा—काव्यमीमासा टीका, पृ० २७८

३ श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा ।
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवय ॥
हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥—काव्य मीमासा, पृ० १४३ ।

४ उज्जअ ताव किं न भणइ, अम्हाण हरिअन्द—णदिअ दकोट्टिसाहालप्पहुनन्दिचन्द्रदीण पि पुदो सुकइ त्ति । कर्पूरमजरी, पृ० २१, काव्यमाला सिरीज, १९०० ।

५ भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अजस्स रहुआरे ।
सोबन्धवे अबन्धम्मि हरिअन्दे अ आणन्दो ॥—गउडवहो, ८०० ।

६ महाकवि हरिचन्द्र (लेख,—पं० अमृतलाल शास्त्री, जैन सन्देश (पत्रिका शोधाङ्क पृ० ७)।



अत काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी दोनो के हरिचन्द्र अवश्य ही एक हो व्यक्ति रहे होंगे। वाक्पतिराज के उल्लेख से भी प्रतीत होता है कि ये हरिचन्द्र साहित्यकार थे। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाणोल्लिखित हरिचन्द्र की पहचान राजशेखरोल्लिखित हरिचन्द्र से करायी है।[1] उनका यह मत उचित प्रतीत होता है।

किन्तु सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध इन दो वैद्य और भट्टार हरिचन्द्रो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र के साथ नही मिलाया जा सकता। कुछ विद्वानो का कहना है कि बाण ने गद्यकार हरिचन्द्र कहा है अत ये उन हरिचन्द्र से पृथक् है जिन्होंने धर्मशर्माभ्युदय की रचना की है। किन्तु साहित्यकार हरिचन्द्र गद्यकार और कवि दोनो ही हो सकते हैं। केवल गद्यकार कहने से कवि हरिचन्द्र का निराकरण नही हो जाता। इस विषय मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के प्रशस्तिपद्यो मे स्वय को 'रसध्वनेरध्वनिसार्थवाह'[2] कहा है। रसध्वनि सम्प्रदाय आनन्दवर्धन के द्वारा नवी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ। इस आधार पर धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र अवश्य ही नवी शताब्दी के बाद रहे होगे। कीथ[3] और विंटरनित्स[4] ने भी धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र को नवी शताब्दी के बाद का ही बताया है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कई हरिचन्द्रो का नाम सस्कृत साहित्य मे मिलता है। ऊपर गिनाये गये हरिचन्द्रो की तरह वे प्रसिद्ध तो नही हैं परन्तु उन सभी ने जैन सस्कृत साहित्य मे अपना किंचित् योगदान दिया है। सर्वप्रथम हरिचन्द्र नाम के कुछ जैनाचार्य हैं जिनका नाम विभिन्न भण्डारो के गुटको मे मिला है। आचार्य नेमिचन्द्रजी शास्त्री को पूज्याचार्य श्री महावीरकीर्तिजी के एक गुटके मे छियासी जैनाचार्यों के नाम मिले है जिनमे से बयालिसवें का नाम हरिचन्द्र है।[5] जैन सिद्धान्त भास्कर के इसी प्रति मे अगरचन्दजी नाहटा ने नागौर के भट्टारकजी के भण्डार मे कई गुटको मे मूलगण के नन्दी शाखा के बलात्कार गण की गुरु परम्परा की नामावली को देखने का विवरण दिया है। इस नामावली मे एक हरिश्चन्द्र गुरु भी है।[6]

किन्तु ये दोनो आचार्य-परम्परा वाले हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता नही हो सकते। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता किसी आचार्य-परम्परा के न होकर किसी राजवश या राजवश से निकट सम्बन्ध रखने वाले नोमक (?) वश के हैं। इसमे सन्देह नही कि आचार्य-परम्परा वाले दोनो हरिश्चन्द्र जैन ही है किन्तु उनके वश और धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता हरिचन्द्र के वश मे कोई समानता नही। अत इन दोनो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता रूप मे नही माना जा सकता।

श्री जे० बी० फ्लीट ने सन् १८८८ मे अहमदनगर के कलसबदरुख नामक ग्राम से एक ताम्रपत्र लेख खोज निकाला। इसका समय १०२५ (शक ?) बताया जाता है।[7] इस लेख को पढने से यह पता चलता है कि देवगिरि

---

१ हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६।

२ धर्मशर्माभ्युदय प्रशस्ति पद्य—७।

३ कीथ—हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६।

४ विंटरनित्स—दि जैन्स इन दी हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० १६।

५ "न० ४२ सवत ६४८ तिथि अषाढ वदी ८ आचार्य हरिश्चन्द्र जाति बघेरकल हरवीस गृहस्थवर्ष ८-४-० दीक्षा वर्ष १४-८-० पट्ट वर्ष २६-१-८ अन्तरदिन ८ सर्ववर्षायु ४६-१-२६।"—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग २२, किरण १, १९५५), पृ० ४४

६ "नयनन्दि हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोज्झित।
माघवेंदुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रया ॥ वही, पृ० ५५

७ "प्रपालयिष्यन्ति नृप सग्रामकृताजलि मादरम् अममि तेषा वचनाद् विल्हणनृपते स मन्मिति रुद्रपण्डित-सुतेन। हरिचन्द्रनामाविदुषा ब्राह्मणहितहेतवे रचितम्।" ६१-६२ ताम्रपत्रलेख (पत्र तृतीय) इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII पृ० ११७।

के राजा विल्हण तृतीय की सभा में रुद्र पण्डित के पुत्र कवि हरिश्चन्द्र रहते थे। इन्हीं कवि हरिश्चन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा विल्हण तृतीय की आज्ञा से उनकी वंशावली लिखी थी।[१] किन्तु धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र के पिता का नाम धर्मशर्माभ्युदय-प्रशस्ति में आर्द्रदेव मिलता है। पुनः इस ताम्रपत्र के हरिश्चन्द्र ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण राजा के आश्रित हैं और और ब्राह्मणों के हित के लिए ही लेख लिखते हैं। अतः धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र इनसे भी भिन्न कोई अन्य ही व्यक्ति हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कुछ लोग हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र[२] भी कहते हैं। अष्टाध्यायी के आधार पर हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र भी कहा जा सकता है, उसमें कोई अशुद्धि नहीं होती।[३] किन्तु वास्तव में कवि का नाम हरिचन्द्र है न कि हरिश्चन्द्र क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित प्रति में 'हरिचन्द्र' नाम ही उपलब्ध है।[४]

धर्मशर्माभ्युदय के अन्तिम प्रशस्ति पद्यों में महाकवि हरिचन्द्र ने अपना परिचय दिया है। इन प्रशस्तियों से पता चलता है कि ये किसी नोमक (?) वंश के थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का रथ्या था। लक्ष्मण नाम का एक छोटा भाई भी इनको था। इनके वंश की विशेषताओं से प्रतीत होता है कि ये किसी राजवंश से निकट सम्बन्ध रखने वाले थे। श्री नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि नोमक (?) नाम का कोई राजवंश था, उससे इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।[५] इनके पिता कायस्थ थे। कायस्थों में जैनधर्म की उपासना साधारणतः नहीं दिखाई पड़ती। कोष से पता चलता है कि कायस्थ कोई जाति नहीं अपितु लेखक का व्यवसाय है।[६] धर्मशर्माभ्युदय में स्वयं कवि ने भी कायस्थ शब्द का प्रयोग लेखक अर्थ में ही किया है।[७] अपने काव्य में हरिचन्द्र ने गुरुओं के प्रसाद से अपने काव्य के निर्मल होने की तथा समर्थ विद्वानों के द्वारा काव्य के परीक्षित होने की बात कही है। किन्तु ये समर्थ विद्वान् कौन थे एवं इनके गुरु ही कौन थे इसका कोई उल्लेख कवि ने नहीं किया। यदि इन विद्वानों का नाम मिलता तो स्थिति कुछ स्पष्ट हो सकती थी। धर्मशर्माभ्युदय में दिए गए इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर हरिचन्द्र का समय नहीं निकाला जा सकता। अतः इसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है।

पाटण के संघवी पाड़ा के पुस्तक भण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की ३६ नं० (१८६ नं०—नवीन वेष्टन के अनुसार) की एक हस्तलिखित प्रति है इसमें १२॥×१ साइज के १६५ पत्र हैं और इसका लेखनकाल वि० सं० १२८७ (१२३० ई०) है।[८] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १२८७ के पहले धर्मशर्माभ्युदय की रचना हो चुकी थी। कितने पहले हुई थी यह पुनः अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है।

---

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी, XVII, पृ० २०८, XXII, पृ० २०९।

२ वादिराज के यशोधरचरित की लक्ष्मणरचित टीका की भूमिका में एवं श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने भी इन्हें हरिश्चन्द्र कहा है।

३ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषि—६।१।१५५ पाठ

४. 'श्री हरिचन्द्रकविविरचित' ऐसा पाठ हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति में है।

५ जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० ४६६।

६ कायस्थस्स्याल्लिपिकरः। २३, भूमिकाण्डे शूद्राध्याय, वैजयन्ती कोष।

७ कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनीं कज्जलमञ्जुलां यः।
शृङ्गारसाम्राज्यविभोगपत्रं ताम्स्थलस्यां मुदितो लिलेख ॥१४।५८ धर्म०

८ संवत् १२८७ वर्षे श्री हरिचन्द्रकविविरचित धर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरिआदेशेन कीर्तिचन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रम् ॥ संघवी पाड़ा भण्डार, पाटण की धर्मशर्माभ्युदय की १८६ नं० की हस्तलिखित प्रति।





पं० अमृतलालजी शास्त्री ने वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण के साथ धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वाग्भट महाकवि हरिचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।[1] उनका कहना है कि नेमिनिर्वाणकाव्य और धर्मशर्माभ्युदय की लेखन शैली बिल्कुल मिलती है। धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण से काफी बड़ा है। नेमिनिर्वाण मे पन्द्रह सर्ग हैं और धर्मशर्माभ्युदय मे इक्कीस। नेमिनिर्वाण की श्लोक संख्या ९५९ है और धर्मशर्माभ्युदय की १६५५। अत हरिचन्द्र ने नेमिनिर्वाण का अध्ययन अवश्य किया होगा। किन्तु श्री अमृतलालजी शास्त्री द्वारा दिये इन तथ्यो के आधार पर किसी कवि को किसी अन्य कवि से पूर्ववर्ती या परवर्ती सिद्ध करना तर्कसंगत नही प्रतीत होता।

इसी प्रकार श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि के चन्द्रप्रभाचरित और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह बताने की चेष्टा की है कि हरिचन्द्र ने चन्द्रप्रभचरित का अध्ययन किया था। इसके लिए उनकी दो उपपत्तियाँ हैं। उनका कहना है, "हरिचन्द्र माघ आदि के टक्कर के कवि है किन्तु एक तो उनका कायस्थ कुल मे जन्म लेना तथा दूसरे अपने को 'अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक' बताना यह सूचित करता है कि वे जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ नही थे। ज्ञाता अवश्य होगे, किन्तु श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत थे। इसलिए उन्होने उक्त विषय मे चन्द्रप्रभचरित का अनुसरण किया।"[2] कैलाशचन्द्रजी का यह कथन ठीक है कि कायस्थ कुलोत्पन्न व्यक्ति जैनधर्म का ज्ञाता होने पर भी श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत होता है। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आर्द्रदेव कायस्थ अपने व्यवसाय के कारण कहलाए। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं को अपने इष्टदेव के चरण कमलो का भ्रमर कहता है। अत "अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक" कहने से कवि दार्शनिक सिद्धान्त का मर्मज्ञ नही है, यह नही कहा जा सकता।

श्री अमृतलालजी ने और श्री कैलाशचन्द्रजी ने केवल शब्दो और भावो के मेल के कारण वाग्भट और वीरनन्दि को हरिचन्द्र से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ भ्रमपूर्ण भी हो सकती हैं। भ्रम होना स्वाभाविक भी है क्योकि धर्मशर्माभ्युदय मे हरिचन्द्र ने जब कि वीरनन्दि और वाग्भट का नाम नही लिया है तब केवल शब्दो और भावो के दोनो मे सामान्य होने के कारण हरिचन्द्र को भी वीरनन्दि और वाग्भट का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। श्री नाथूराम प्रेमी ने पं० राजकुमार शास्त्री के २२-११-४१ के पत्र का उल्लेख करते हुए लिखा है—"नेमिनिर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा मालूम होता है कि वाग्भट ने धर्मशर्माभ्युदय का अच्छी तरह परिशीलन किया था। कई पद्यो को थोडे से ही हेर-फेर के साथ उन्होने अपना बना लिया है। उदाहरण के लिए दोनो का प्रथम पद देखिए। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के पंचम सर्ग का और नेमिनिर्वाण के द्वितीय सर्ग का प्रारम्भिक अंश भी मिलता-जुलता है जिसमे कि एक सुरांगना आकाश से उतरती हुई राजा को दिखलाई देती है और इससे धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण के पहले का जान पड़ता है।"[3] इस प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय का भी कहना है कि नेमिनिर्वाण की रचना धर्मशर्माभ्युदय के बाद हुई।[4] किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन पूर्णत निभ्रान्त नही कहे जा सकते।

"धर्मशर्माभ्युदय" "नेमिनिर्वाण" तथा "चन्द्रप्रभचरित' से पहले लिखा गया अथवा बाद मे इस विषय मे श्री नाथूराम प्रेमी का अधोलिखित मत मान्य प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "नेमिनिर्वाण" के कई श्लोक वाग्भटालंकार मे उद्धृत है। वाग्भटालङ्कार (अन्य वाग्भटकृत) का समय वि० सं० ११७९ के लगभग है। यदि

---

१ जैन सन्देश (शोधाङ्क ८) जुलाई १९६०, पृ० २९२।

२ अनेकान्त, वर्ष ८, अंक १०-११ "महाकवि हरिचन्द्र का समय" श्री कैलाशचन्द्र जैन।

३ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ३०७।

४ संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २७५।

नेमिनिर्वाण के उद्धरण वाग्भटालङ्कार मे उपलब्ध हैं तो यह अवश्य ही वाग्भट के पूर्व लिखा गया।[1] इसी प्रकार चन्द्रप्रभात वि० की १०वी शताब्दी मे लिखा गया। चामुण्डराय ने अपने गोम्मटसार मे अपने गुरभाई वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को स्मरण किया है। ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता हैं। चामुण्डराय राजाराचमल्ल के सेनापति थे। राचमल्ल का समय वि० स० १०३१-४१ तक निश्चित है। अत चामुण्डराय भी उसी युग के रहे। अब यदि वीरनन्दि का नाम चन्द्रप्रभ ने लिया है तो ये अवश्य ही चामुण्डराय के पूर्ववर्ती या समकालिक रहे।

उक्त सघवी पाडा भण्डार मे ही १७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय[2] की एक और हस्तलिखित प्रति है जिसमे २०×२¼ के १४८ पत्र हैं। इस प्रति मे लिखने का समय तो नही दिया है किन्तु प्रति लिखने वाले की आचार्य परम्परा का भी उल्लेख है। इस प्रति के लेखक का नाम झझाक था और प्रति वितरित करने वाले का नाम विशालकीर्ति था।[3] श्री प्रेमीजी का मत है कि यदि किसी प्रकार से विशालकीर्ति का समय पता चल जाय तो हरिचन्द्र का समय भी निकाला जा सकता है।

एक हरिचन्द्र का नाम "शब्दार्णव की टीका शब्दार्णव चन्द्रिका" की पुष्पिका मे आता है।[4] शब्दार्णव जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्र-पाठ के परिवर्द्धित सस्करण का नाम है। इस शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता श्री सोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वशीय राजा भोजदेव के समय मे हुए। शिलाहार वशीय भोजदेव का समय ११वी शताब्दी है। सोमदेव ने वादीभवज्राकुश विशालकीर्ति के वैयावृत्त से इस ग्रथ की रचना शक सवत् ११२७ (वि० स० १२६२) मे कोल्हापुर राज्य मे की।[5] यदि सघवी पाडा पुस्तक भण्डार के १७६ न० (६०-१) की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति के विशालकीर्ति और "शब्दार्णव चन्द्रिका" मे आये विशालकीर्ति को एक माना जाय तो हरिचन्द्र का समय जानने मे पर्याप्त सुविधा होगी। शब्दार्णव चन्द्रिका वि० स० १२६२ (ई० स० १२०५) मे लिखी गई होगी। अत

---

१ जैन स० साहित्य का इतिहास, पृ० ३२७।

२ सघवी पाडा भण्डार, पाटण मे मुझे न० ६०-१ की "धर्मसगृहाभ्युदय" नाम की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई जिसमे १४८ पत्र हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि ग्रन्थ का यह नवीन वेष्टन न० है। पर ग्रन्थ के नामकरण के विषय मे कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त हुआ। सम्भवत नवीन वेष्टन बनाने वाले की अज्ञता ही इसका कारण है।

३ "जयति विजयसिह श्रीविशालस्य शिष्यो जिनगुणमणिमाला यस्य कण्ठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनायस्य कण्ठे निजमुक्तनिमित तेन तस्मै वितीर्णम्॥"
—धर्मशर्माभ्युदय की १७६ न० (६०) की हस्तलिखित प्रति।

४ श्री मूलसघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघन्दुदीक्षितभुजगसुधाकरस्य।
राद्धान्ततोयनिधिविद्धकम्य वृत्तिरेभेहरीन्दुयतये वर दीक्षिताय॥२॥
—जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० ३६ मे उद्धृत।

५ स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशान्तवर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेव निर्मापित-त्रिभुवनतिलकजिनालये श्री मत्परमपरमेष्ठि श्रीनेमिनाथ श्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्राकुश-श्रीविशालकीर्तिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्ति—श्रीवीरभोजदेव विजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतस-प्तविंशति ११२७ तम श्रीवनसवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्या चक्रवर्तिश्री पूज्य पादानुवतचेतसा श्री मत्सोमदेवमुनिश्वरेण विरचितेय शब्दार्णवचन्द्रिकानामवृत्तिरिति। इति श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र महाव्याकरण सम्पूर्णम्॥" श्रीनाथूराम प्रेमी द्वारा जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४८ से उद्धृत।



१७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति जिसे विशालकीर्ति के शिष्य ने वितरित किया था, भी झझाक द्वारा अवश्य ही इसी समय लिखी गई होगी अत सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय की रचना हरिचन्द्र ने १२वी शताब्दी के अन्तिम पाद मे की थी । अस्तु ।

हरिचन्द्र का गोत्र

प्रश्न है कि हरिचन्द्र का गोत्र क्या है ? धर्मशर्माभ्युदय की प्रकाशित प्रति से उनका गोत्र 'नोमक' था ऐसा ज्ञात होता है ।[१] किन्तु वास्तव मे यह अशुद्ध है । पाटण की सघवी पाडा भण्डार मे धर्मशर्माभ्युदय की जो १८६ न० की हस्तलिखित प्रति है उसमे कवि का गोत्र नेमक लिखा गया है ।[२] वास्तव मे नोमक नाम का कोई गोत्र ही नही । नेमक ही गोत्र है । इस कथन की पुष्टि कालजर के एक शिलालेख से भी होती है जिसमे नेमक नाम का वश आया है ।[३]

सम्प्रदाय

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय की प्रशस्ति मे अपना जो सक्षिप्त परिचय दिया है कि वे जैनधर्म के अनुयायी और अनुरागी थे। "उन दोनो के अर्हत् भगवान के चरण-कमलो का भ्रमण हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओ के प्रसाद से शास्त्रो मे अत्यन्त निर्मल थे ।"[४] किन्तु जैनो के किस सम्प्रदाय को वे लोग मानते थे इसका पता नही चलता । धर्मशर्माभ्युदय के अध्ययन से इस पर और थोडा प्रकाश पडता है । अलकार शास्त्र के अनुसार महाकाव्य मे कही-न-कही साधु-समागम का वर्णन अवश्य होना चाहिए—चाहे वह किसी सम्प्रदाय के साधु-समागम का वर्णन हो । धर्मशर्माभ्युदय मे भी कवि ने कुछ बार अपने सम्प्रदाय का नाम लिया है । प्रथम तो वनपाल राजा महासेन मुनि अवतरण की सूचना देते हुए कहता है—हे "राजन ! पूर्णचन्द्र की तरह दिगम्बर पथ के अलकरण भूत कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाश से बाह्य उपवन मे अवतीर्ण हुए हैं ।"[५] मुनि अवतरण की सूचना पाकर राजा उनके दर्शनो को चले—"जिस प्रकार सूर्य प्रभा के साथ गमन करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपनी प्रिया के साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराज के चरणो के समीप चला ।"[६]

पुत्र जन्म के पूर्व सुव्रता द्वारा देखे गए षोडस स्वप्नो का विस्तृत वर्णन है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चौदह स्वप्न ही बताये गये हैं, किन्तु दिगम्बर मे सोलह स्वप्न बताते हैं । इसके अतिरिक्त बीसवे सर्ग मे कवि धर्मनाथ के ध्यान मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्हें "स्वीकृतान्तवासा" कहा है ।[७] आकाश को जिसने वस्त्ररूप मे स्वीकार किया है अर्थात नग्न । "दिगम्बर" पद का भी यही तात्पर्य होता है । इससे सिद्ध होता है कि हरिचन्द्र दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

---

१ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नोमकाना वश —धर्मशर्मा० प्रकाशित पुस्तक प्रशस्ति से ।

२ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नेमकाना वश —धर्म० की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति से ।

३ नेमकान्वयजेन्दकसुतदेद्दकेन भगवत्या कारितमण्डपिका प्रसक्षेन तदभार्यया लक्ष्म्या । एपि० इ० ए पृष्ठ २१० ।

४ अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयो सुत श्री हरिचन्द्र आसीत् ॥
गुरुप्रसादादमला बभूवु मारस्वते स्रोतसि यस्य वाच ॥ धर्म०, प्रशस्ति—४ ।

५ राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालङ्कारभूतोऽद्युधना ।
वाह्योद्यानमवतराद्ग्रहपथात्कश्चिन्मुनिश्चारण । २।७७ धर्म०

६, दिगम्बरपदप्रान्त राजापि मह कान्तया ।
प्रतन्ये रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥ ३।८ धर्म०

७ मुक्ताहार सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति स्वीकृतान्तवासा । २०। ३७ धर्म०

उपनाम

हरिचन्द्र का नाम "चन्द्र" था। तेरहवी शताब्दी मे धर्मशर्माभ्युदय का एक श्लोक जल्हण की सूक्तिमुक्तावली मे "चन्द्रसूरि" नाम से उपलब्ध है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेतर विद्वान जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्हे सूरि कहते थे। शब्दार्णवचन्द्रिका टीका मे इनके यति नाम का भी पता चलता है।[2] जितेन्द्रिय को यति कहते है। सम्भवत हरिचन्द्र ने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार नही किया था तथा ससार-त्यागी होकर 'यति' विशेषण प्राप्त किया था।

हरिचन्द्र का स्थान

हरिचन्द्र का जन्म कहा हुआ अथवा उन्होने अपनी ग्रन्थ-रचना कहाँ की इसका कुछ भी पता अभी तक नही चला है। विद्वानो ने भी इस विषय पर विचार नही किया है। स्वय हरिचन्द्र ने भी अपने सम्पूर्ण धर्मशर्माभ्युदय काव्य मे तथा उसके प्रशस्ति पद्यो मे अपने स्थान के विपय मे कुछ सकेत नही किया।

११ वी, १२ वी शताब्दी के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय जैनधर्म का प्रचार उन्नति पर था—विशेपत दक्षिण मे। दक्षिण से जैनधर्म उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व ९ वी से लेकर ११ वी शताब्दी के लगभग भारत मे शैवधर्म का बोलबाला था। इसका प्रभाव जैनधर्म पर भी पडा। लिंगायतो के आक्रमण बराबर हो रहे थे। इनका आक्रमण जैनियो के विरोध मे ही था। कलचुरी काल के अन्तिमाश (१२ वी शताब्दी) मे भी लिंगायतो का आक्रमण हुआ था। यह वर्णन 'विज्जलरायचरित' नामक किसी जैन कवि द्वारा रचे गए ग्रन्थ मे मिलता है।[3] किन्तु इन विकट परिस्थितियो मे भी जैन धर्म प्रगति करता रहा। गुजरात और पास के प्रदेशो मे उस समय चालुक्य, सोलकी, राष्ट्रकूट, कलचुरी, शिलाहार आदि विभिन्न राजवशो का राज्य था। इनमे से प्रत्येक ने जैनधर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान दिया। चालुक्य वशीय राजा कुमारपाल के समय मे ही हेमचन्द्र का प्रसिद्ध योगशास्त्र लिखा गया। कोल्हापुर मे उस समय शिलाहार वशीय राजाओ का राज्य था। सन १११० के लगभग शिलाहार वशी राजा ने कोल्हापुर से शिव और बुद्ध मूर्ति के साथ अर्हत की मूर्ति स्थापित की।[4] धर्मशर्माभ्युदय की सघवी पाडा पुस्तक भण्डार की १७६ न० (न० ६०-१) प्रति मे गुर्जर (आधुनिक गुजरात) और विद्यापुर देश का नाम आया है।[5] विद्यापुर आधुनिक वीजापुर ही है। इस प्रति को लिखने वाले झझाक हुवड वशीय थे। विद्यापुर और गुजरात मे हुवडवशीय जैनो की बस्ती अभी भी मिलती है। १० वी शताब्दी के लगभग वहा हुवड वश का आगमन राजस्थान से हुआ था। अत हरिचन्द्र वीजापुर के अथवा गुजरात के किसी स्थान के रहने वाले होंगे।

हरिचन्द्र की रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र रचित एक ग्रथ जीवन्धर चम्पू उपलब्ध होता है। यह चम्पू धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र का ही है अथवा अन्य किसी हरिचन्द्र कवि का इस विषय मे कुछ विद्वान् पूर्णत निश्चित नही। विंटरनित्स[6] और कीथ[7] दोनो ने जीवन्धर चम्पू के धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र द्वारा रचे जाने की सभावना मात्र व्यक्त की है। कुछ



१ धर्मशर्माभ्युदय का २।४४ श्लोक जल्हण (सूक्तिमुक्तावली) पृ० १८५ मे चन्द्रसूरि के नाम से उपलब्ध है।

२ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३९ मे उद्धृत।

३ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भण्डारकर, पृ० १२९।

४ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, भाग १३, पृ० ४।

५ अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
विद्यापुर पुर तत्र विद्याविभवसभवम्॥ १७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति पाटण से प्राप्त।

६ विंटरनित्स—जैन्स इन दी हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० १६

७ कीथ—हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६

१७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति जिसे विशालकीर्ति के शिष्य ने वितरित किया था, भी झझाक द्वारा अवश्य ही इसी समय लिखी गई होगी अत सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय की रचना हरिचन्द्र ने १२वी शताब्दी के अन्तिम पाद मे की थी । अस्तु ।

हरिचन्द्र का गोत्र

प्रश्न है कि हरिचन्द्र का गोत्र क्या है ? धर्मशर्माभ्युदय की प्रकाशित प्रति से उनका गोत्र 'नोमक' था ऐसा ज्ञात होता है ।[१] किन्तु वास्तव मे यह अशुद्ध है । पाटण की सघवी पाडा भण्टार मे धर्मशर्माभ्युदय की जो १८६ न० की हस्तलिखित प्रति है उसमे कवि का गोत्र नेमक लिखा गया है ।[२] वास्तव मे नोमक नाम का कोई गोत्र ही नही । नेमक ही गोत्र है । इस कथन की पुष्टि कालजर के एक शिलालेख से भी होती है जिसमे नेमक नाम का वश आया है ।[३]

सम्प्रदाय

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय की प्रशस्ति मे अपना जो सक्षिप्त परिचय दिया है कि वे जैनधर्म के अनुयायी और अनुरागी थे । "उन दोनो के अर्हत् भगवान के चरण-कमलो का भ्रमण हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओ के प्रसाद से शास्त्रो मे अत्यन्त निर्मल थे ।"[४] किन्तु जैनो के किस सम्प्रदाय को वे लोग मानते थे इसका पता नही चलता । धर्मशर्माभ्युदय के अध्ययन से इस पर और थोडा प्रकाश पडता है । अलकार शास्त्र के अनुसार महाकाव्य मे कही-न-कही साधु-समागम का वर्णन अवश्य होना चाहिए—चाहे वह किसी सम्प्रदाय के साधु-समागम का वर्णन हो । धर्मशर्माभ्युदय मे भी कवि ने कुछ बार अपने सम्प्रदाय का नाम लिया है । प्रथम तो वनपाल राजा महासेन मुनि अवतरण की सूचना देते हुए कहता है—हे "राजन ! पूर्णचन्द्र की तरह दिगम्बर पथ के अलकरण भूत कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाश से वाह्य उपवन मे अवतीर्ण हुए हैं ।"[५] मुनि अवतरण की सूचना पाकर राजा उनके दर्शनो को चले—"जिस प्रकार सूर्य प्रभा के साथ गमन करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपनी प्रिया के साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराज के चरणो के समीप चला ।"[६]

पुत्र जन्म के पूर्व सुव्रता द्वारा देखे गए षोडस स्वप्नो का विस्तृत वर्णन है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चौदह स्वप्न ही बताये गये है, किन्तु दिगम्बर मे सोलह स्वप्न बताते हैं । इसके अतिरिक्त बीसवे सर्ग मे कवि धर्मनाथ के ध्यान मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्हें "स्वीकृतान्तवासा" कहा है ।[७] आकाश को जिसने वस्त्ररूप मे स्वीकार किया है अर्थात नग्न । "दिगम्बर" पद का भी यही तात्पर्य होता है । इससे सिद्ध होता है कि हरिचन्द्र दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

---

१ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नोमकाना वश —धर्मशर्मा० प्रकाशित पुस्तक प्रशस्ति से ।

२ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नेमकाना वश —धर्म० की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति से ।

३ नेमकान्वयजेन्दकसुतदेद्दुकेन भगवत्या कारितमण्डपिका प्रसक्षेन तदभार्यया लक्ष्म्या । एपि० इ० ए पृष्ठ २१० ।

४ अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयो सुत श्री हरिचन्द्र आसीत् ॥
गुरुप्रसादादमला बभूवु सारस्वते स्रोतसि यस्य वाच ॥ धर्म०, प्रशस्ति—४ ।

५ राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालङ्कारभूतोऽद्युधना ।
वाह्योद्यानमवतराद्ग्रहपथात्कश्चिन्मुनिश्चारण । २।७७ धर्म०

६, दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया ।
प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥ ३।८ धर्म०

७ मुक्ताहार सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति स्वीकृतान्तवासा । २०। ३७ धर्म०

उपनाम

हरिचन्द्र का नाम "चन्द्र" था। तेरहवी शताब्दी मे धर्मशर्माभ्युदय का एक श्लोक जल्हण की सूक्तिमुक्तावली मे "चन्द्रसूरि" नाम से उपलब्ध है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेतर विद्वान जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्हे सूरि कहते थे। शब्दार्णवचन्द्रिका टीका मे इनके यति नाम का भी पता चलता है।[2] जितेन्द्रिय को यति कहते है। सम्भवत हरिचन्द्र ने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार नही किया था तथा संसार-त्यागी होकर 'यति' विशेषण प्राप्त किया था।

हरिचन्द्र का स्थान

हरिचन्द्र का जन्म कहा हुआ अथवा उन्होने अपनी ग्रन्थ-रचना कहाँ की इसका कुछ भी पता अभी तक नही चला है। विद्वानो ने भी इस विषय पर विचार नही किया है। स्वय हरिचन्द्र ने भी अपने सम्पूर्ण धर्मशर्माभ्युदय काव्य मे तथा उसके प्रशस्ति पद्यो मे अपने स्थान के विषय मे कुछ सकेत नही किया।

११ वी, १२ वी शताब्दी के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय जैनधर्म का प्रचार उन्नति पर था—विशेषत दक्षिण मे। दक्षिण मे जैनधर्म उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व ९ वी से लेकर ११ वी शताब्दी के लगभग भारत मे शैवधर्म का बोलबाला था। इसका प्रभाव जैनधर्म पर भी पडा। लिंगायतो के आक्रमण बराबर हो रहे थे। इनका आक्रमण जैनियो के विरोध मे ही था। कलचुरी काल के अन्तिमाग (१२ वी शताब्दी) मे भी लिंगायतो का आक्रमण हुआ था। यह वर्णन 'विज्जलरायचरित' नामक किसी जैन कवि द्वारा रचे गए ग्रन्थ मे मिलता है।[3] किन्तु इन विकट परिस्थितियो मे भी जैन धर्म प्रगति करता रहा। गुजरात और पास के प्रदेशो मे उस समय चालुक्य, सोलकी, राष्ट्रकूट, कलचुरी, शिलाहार आदि विभिन्न राजवशो का राज्य था। इनमे से प्रत्येक ने जैनधर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान दिया। चालुक्य वशीय राजा कुमारपाल के समय मे ही हेमचन्द्र का प्रसिद्ध योगशास्त्र लिखा गया। कोल्हापुर मे उस समय शिलाहार वशीय राजाओ का राज्य था। सन १११० के लगभग शिलाहार वशी राजा ने कोल्हापुर से शिव और बुद्ध मूर्ति के साथ अर्हंत की मूर्ति स्थापित की।[4] धर्मशर्माभ्युदय की सघवी पाडा पुस्तक भण्डार की १७६ न० (न० ६०-१) प्रति मे गुर्जर (आधुनिक गुजरात) और विद्यापुर देश का नाम आया है।[5] विद्यापुर आधुनिक बीजापुर ही है। इस प्रति को लिखने वाले झझाक हुवड वशीय थे। विद्यापुर और गुजरात मे हुवडवशीय जैनो की बस्ती अभी भी मिलती है। १० वी शताब्दी के लगभग वहा हुवड वश का आगमन राजस्थान मे हुआ था। अत हरिचन्द्र बीजापुर के अथवा गुजरात के किसी स्थान के रहने वाले होगे।

हरिचन्द्र की रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र रचित एक ग्रथ जीवन्धर चम्पू उपलब्ध होता है। यह चम्पू धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र का ही है अथवा अन्य किसी हरिचन्द्र कवि का इस विषय मे कुछ विद्वान् पूर्णत निश्चित नही। विंटरनित्स[6] और कीथ[7] दोनो ने जीवन्धर चम्पू के धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र द्वारा रचे जाने की सभावना मात्र व्यक्त की है। कुछ



१ धर्मशर्माभ्युदय का २।४४ श्लोक जल्हण (सूक्तिमुक्तावली) पृ० १८५ मे चन्द्रसूरि के नाम से उपलब्ध है।

२ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ३९ मे उद्धृत।

३ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भण्डारकर, पृ० १२९।

४ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, भाग १३, पृ० ४।

५ अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
विद्यापुर पुर तत्र विद्याविभवसभवम्॥ १७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति पाटण मे प्राप्त।

६ विंटरनित्स—जैन्स इन दी हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० १६

७ कीथ—हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३९

विद्वानो का मत है कि जीवन्धरचम्पू किसी अज्ञातनामा कवि की कृति है। श्री प्रेमीजी ने लिखा है—"यद्यपि जीवन्धरचम्पू मे धर्मशर्माभ्युदय के भावो तथा शब्दो तक मे बहुत कुछ समानता है, इनसे दोनो को ही एक कर्ता की सृष्टि कहा जा सकता है, परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते है कि किसी अन्य ने ही धर्मशर्माभ्युदय के भावादि ले लिए हो।"[1]

प्रेमीजी की सभावना ठीक ही है। किन्तु यह कैसे सभव है कि किसी अज्ञातनामा कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के शब्द और भाव दोनो को ही ग्रहण कर उसे हरिचन्द्र के नाम पर चला दिया हो? दोनो के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र हैं जैसा कि दोनो काव्यो की समाप्ति पर लिखा है।[2] जीवन्धरचम्पू की पुष्पिका मे भी इसके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है—"महाकवि हरिचन्द्र कहते है कि चिरकाल बाद मेरी वाणी कृतकृत्य हो सकी क्योकि उसने भाव जिनेन्द्र श्री जिनेन्द्र स्वामी को स्वय ही वरण किया है।"[3] जीवन्धरचम्पू का सर्वप्रथम प्रकाशन टी०एस० कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा सन १९०५ मे किया गया। कुप्पूस्वामी ने उसमे जीवन्धरचपू और धर्मशर्माभ्युदय के श्लोको के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र ने ही जीवन्धरचपू की रचना की थी।[4] इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दोनो रचनाए हरिचन्द्र की है यह बात बहुत कुछ सिद्ध हो जाती है। वास्तव मे नकल-नकल ही है। कुप्पूस्वामी जैसे मर्मज्ञ विद्वान की दृष्टि मे यह बात अवश्य आ जाती है कि कौन सी रचना असली है और कौनसी नकली। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलकचपू के नीति भाग और नीति वाक्यामृत के एक कर्त्तृक होने के कारण अनेको समानताए हैं उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचपू के भी एक कर्तृक होने के कारण अनेको समानताए हैं। श्री पन्नालाल जैन ने जीवन्धर चपू के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना मे दोनों रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा लिखा है कि दोनो मे ही क्रमश वृषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, महावीर, रत्नत्रय और जिनवाणी को नमस्कार किया गया है।[5]

दोनो ग्रन्थो के ही कर्ता—हरिचन्द्र जैन हैं। किन्तु दोनो रचनाओ के दार्शनिक पक्ष के प्रतिपादन मे कुछ नियमो का अन्तर है। यह बात विचारणीय है। धर्मशर्माभ्युदय मे तीन प्रकार का त्याग और पाच उदुम्बर फल का त्याग ये आठ श्रावक के मूल गुण बतलाये गये हैं किन्तु जीवन्धरचपू मे उदुम्बर फलो के स्थान पर पाच अणुव्रतो का धारण-करना बताया गया है।[6] इसी प्रकार शिक्षा-व्रतो के वर्णन मे भी दोनो मे कुछ वैशिष्ट्य है।[7] दार्शनिक मत के प्रतिपादन मे इस अन्तर का कारण यह हैं कि जैनो मे मूलगुण—शिक्षाव्रतो और गुण व्रतो का स्वीकारने मे मतभेद है।

---

१ जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी, पृ० ३०३

२ (क) इति महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये ।
(ख) इति महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचिते श्री मतिजीवधरचम्पूकाव्ये ।

३ मदीयवाणी रमणी चरितार्था चिरादभूत् ।
वव्रे जीवन्धर देव या भावैर्जिननायकम् ॥ ११११ जीवन्धरचम्पू

४ जीवन्धरचम्पू,—हरिचन्द्र पृ० १४७-१५०, प्रकाशक, टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, सन १९०५ ई०।

५ जीवन्धरचम्पू, हरिचन्द्र पृ० ३९-४०, अनुवादक श्री पन्नालाल जैन, सन १९५८

६ मधुमासासवत्याग पचोदुम्बरवर्जनम् ।
(क) अमी मूलगुणा सम्यग्दृष्टो प्रकीर्तिता ॥ २१।१३२ धर्म०
(ख) हिसानृतस्तेयवधूव्यव्यायपरिग्रहेभ्यो विरति कथचित् ।
मद्यस्य मासस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तथामूलगुणाइमेऽष्टो ॥७।१६ जीव०

७ २१। १४९—१५२ धर्म० ।७।१८ जीवन्ध

हरिचन्द्र ने सभवत दोनो मे दो प्रकार की मान्यता को स्वीकार किया है। श्री पन्नालाल जैन ने भी कहा है—मूलगुण, गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो के नामोल्लेख मे जैनाचार्यों मे शासन भेद है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने एतद्विषयक मे अन्य अपनी मान्यता का निराकरण किया हो यह देखने मे नहीं आया। सभव है किसी ने एक ग्रन्थ मे एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरी मे दूसरी मान्यता का। धर्मशर्माभ्युदय मे शिक्षाव्रतो का वर्णन करते समय 'अतिथि सविभाग' के विकल्प मे सल्लेखना का भी उल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता सूचित की है।[1] अस्तु

इन दोनों मे से किस ग्रन्थ की रचना हरिचन्द्र ने पहले की, इस विषय मे भी मतभेद हैं। श्री अमृतलालजी शास्त्री का कहना है कि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू की रचना पहले की थी। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे प्रशस्ति पद्य दिया हुआ है। वे दोनो के रचयिता है अत बाद के ग्रन्थ मे प्रशस्ति दिया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जीवन्धर चम्पू का ही एक श्लोक उद्धृत किया है—"मेरी वाणी चिरकाल बाद कृतकृत्य हो सकी क्योकि उसने भाव जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र स्वामी को स्वय ही वरण किया है।"[2] वाणीचरितार्थाचिरादभूत्' के आधार पर अमृतलालजी ने जीवन्धर चम्पू को प्रथम रचना स्वीकार किया है। किन्तु उन्होने सम्भवत इसके पूर्व के एक पद्य की ओर ध्यान नही दिया जिसमे हरिचन्द्र ने कहा है कि गद्य और पद्य पृथक्-पृथक् दोनो आनन्द देते हैं किन्तु दोनो का मेल बहुत अधिक आनन्द-दायी होता है। "गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनो पृथक्-पृथक् भी बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती है किन्तु जहा दोनो मिल जाती हैं वहा की तो बात ही निराली हो जाती है, वहा वे दोनो शैशव और युवावस्था के बीच विचरने वाली कान्ता के समान बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं।"[3] जीवन्धरचम्पू के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय की रचना पहले ही कर चुके थे। बाद मे उन्होंने जीवन्धरचम्पू की रचना की। इसके अतिरिक्त कोई आवश्यक नही कि बाद के ग्रन्थ मे ही प्रशस्ति पत्र लिखा जाय पहले मे नहीं। धर्मशर्माभ्युदय की रचना महाकवि हरिचन्द्र ने अवश्य ही पहले की होगी। इसी कारण उसके प्रशस्ति पद्यो मे जीवन्धरचम्पू का नाम नही है।

हरिचन्द्र लिखित एक 'जीवन्धर नाटक' का भी नाम मिलता है किन्तु इसकी कोई हस्तलिखित प्रति अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण इसके अस्तित्व मे सन्देह है।[4] किसी हरिचन्द्र लिखित पुरुदेवचम्पू का भी उल्लेख है। पुरुदेव-चम्पू अर्हद्दास रचित उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है। हरिचन्द्र रचित पुरुदेव चम्पू की भी जीवन्धरनाटक की ही तरह कोई हस्तलिखित प्रति नहीं उपलब्ध है। अत हरिचन्द्र रचित इन दोनो ग्रन्थो के विषय मे सन्देह है।

हरिचन्द्र का व्यक्तित्व

कवि अपने काव्य का रचयिता होता है। अत उसका हृदय काव्य मे झलकता है। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है उसी प्रकार काव्य कवि के हृदय का भी दर्पण है। काव्य मे ही कवि का सच्चा व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रयत्नपूर्वक यदि स्वभाव-विरुद्ध रचना की भी जाय तो वह निम्न श्रेणी की कृति होगी। ऐसी कृति कवि के हृदय के सच्चे भावो से रहित होती है। जिनमे हृदय की अनुभूतिया स्पष्ट दिखाई पडती हैं वही सच्चा काव्य है। राज-प्रशस्तिया इसी कारण अधिक लोकप्रिय नही हो सकी क्योकि उन्हें कविगण धन की लालसा से लिखते थे। दूसरो को



1 जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना, श्री पन्नालाल जैन, पृ० ४०, १९५८

2 मदीयवाणी मणी चरितार्था चिरादभूत्।
वव्रे जीवन्धर देव या भावैर्जिननायकम् ॥१।११ जीव०

3 गद्यावलि पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्। –
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।१९ जीव०

4 इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ३९, टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, पृ० २८५

5 केटलॉग्स कैटलॉगोरम, प्रथम भाग, पृ० ७६१, १८९१

प्रसन्न करने के लिए, स्वार्थवश लिखे ऐसे काव्य मे कवि स्वय को चाहकर भी व्यक्त नही कर सकता। धर्मशर्माभ्युदय वैसे तो जैनो के पन्द्रहवे तीर्थकर की कथा है किन्तु काव्य की सूक्ष्म समीक्षा के समय विचारक को हरिचन्द्र के निजी व्यक्तित्व की कथा भी मिल जाती है।

हरिचन्द्र का विचार है कि किसी श्रेष्ठ वस्तु का महत्व जानने के लिए उसके विपरीत किसी दोपयुक्त वस्तु का रहना आवश्यक है क्योकि काच के बिना मणि और अन्धकार के बिना सूर्य अपना गुण नही प्रकट कर सकते।[1] सगक-दोष व्यक्ति को नष्ट कर देता है।[2] विनय को वे लक्ष्मी का ही नही सर्वकल्याणो का ही मूल मानते है।[3]

पुरुषो के स्वभाव के विषय मे उनका मत देखिए—अत्यन्त कठोर प्रकृति धारण करने वाले जड पुरुप मध्यस्थ पुरुष का भी अभ्युदय नही सह सकते।[4] मनुष्य को कामुक नही होना चाहिए क्योकि स्त्री-लम्पटी पुरुषो की कभी उन्नति नही हो सकती[5] और विषय-वासना के फेर मे पडा मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है[6] और जो बुद्धिहीन नही होता है वह जडता के भय से आगत नीरस व्यक्ति का साथ स्वय छोड देता है।[7] पुरुप का प्रेम स्त्री के प्रेम के अनुसार ही व्यक्त होता है।[8]

स्त्री-स्वभाव के विषय मे भी उनका अपना मत है। स्त्री को वे बहुत निकृष्ट चरित्र का समझते हैं। स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक शब्द के साथ उन्होने एक स्थान पर कहा है—"हम स्त्रियो के अत्यन्त दुरूह मायापूर्ण चरित्र को दूर से नमस्कार करते हैं।[9] इसी प्रकार स्त्रियो के गहन चरित्र को कौन जानता है।[10] काम के प्रबल आवेग मे मनुष्य को दिग्विदिग् ज्ञान नही रहता है। साधारण अवस्था मे जो कार्य वह किसी कारणवश नही कर सकता कामावस्थामे वह उस कार्य को कर लेता है। इसी कारण हरिचन्द्र कहते है—"काम के पौरुष से स्त्रियो को असाध्य है ही क्या?"[11] सतीत्व बहुत बडी वस्तु है। थोडी से आच से भी वह नष्ट हो सकती है। अत स्त्री को इस विषय मे चैतन्य रहना चाहिए क्योकि स्त्री तभी तक सती मानी जाती है जब तक कि वह अन्य पुरुष के हाथ का स्पर्श नही करती।[12]

हरिचन्द्र भाग्यवादी हैं। उनका विचार है—"जो स्वप्न-विज्ञान का अविषय है, जहाँ कवियो के भी वचन नही पहुच पाते और मन की प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नही रख सकती वह पदार्थ भी भाग्य द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है।"[13]

---

१ ऋते तमांसि द्युमणिमणिर्वा विना न काचै स्वगुण व्यनक्ति ॥१।२२ धर्म०
२ २।४० धर्म०
३ न पर विनयश्रीणामाश्रय श्रेयसामपि ॥३।४६ धर्म०
४ यदा नितान्तकठिना प्रकृति भजन्तो।
मध्यस्थमप्युदयिन न जडा सहन्ते ॥३।८ धर्म०
५ कुतोऽथवा स्यान्महोदय स्त्रीव्यसनालसानाम् ॥७।५८ धर्म०
६ नहि विषयान्धमति किमप्यवैति ॥१३।१८ धर्म०
७ ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागत विदग्धा ॥—१३।६१ धर्म०।
८ गुणान्पुरन्ध्री प्रेमानुरूप पुरुषो व्यनक्ति ॥१४।३७ धर्म०
९ ततोऽतिगहन स्त्रियश्चरित्रमत्र वन्दामहे ॥१०।३२ धर्म०
१० क स्त्रीणा गहनमवैति तच्चरित्तम् ॥१६।३३ धर्म०
११ आरूढ चेतोभवपौरुषाणा किमस्त्यसाध्य हरिणेक्षणानाम् ॥—१७।६३ धर्म०
१२ तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत्।१४।५२६ धर्म०
१३ य स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चन्ति नो यत्र गिर कवेरपि।
य नानुबध्नन्ति मन प्रवृत्तय स हेल्यार्थो विधिनैव साध्यते ॥—९।३७ धर्म०

हरिचन्द्र धर्म के प्रबल अनुयायी है । वे अपने ग्रन्थ द्वारा तत्काल प्रचलित सभी दर्शनो का, धर्मो का निराकरण-करते है । वे स्वय सयम को धारण करते है। उनका जीवन दर्शन उच्च होने के कारण ही काव्य के प्रत्येक पात्र को उन्होने उच्च विचार रखने वाला बनाया । अर्हन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश दु ख सुख रूप मे बदल जाता है । "पूर्वकृत कर्मो के उदय से प्राप्त हुआ दु ख भी अर्हन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश शीघ्र ही अपनी शक्ति का विपर्यय कर लेता है । सूर्य की तीक्ष्ण किरणो से भयकर ग्रीष्म ऋतु क्या जल के समीपस्थ वृक्ष की छाया मे बैठे हुए शिशिर ऋतु नही बन जाती ?"[1]

हरिचन्द्र का मत है कि मनुष्य को गुणवान् होना चाहिए । क्योकि उत्तम गुणो से युक्त मनुष्य ही कार्यो मे धनुष के समान प्रशसनीय होता है, गुणो से रहित मनुष्य बाण के समान अत्यन्त भयकर होने पर भी क्षण भर मे वैलक्ष्य दु ख को प्राप्त हो जाता है ।[2]

कुछ और उक्तियाँ हैं जिससे हरिचन्द्र के व्यक्तित्व पर थोडा और प्रकाश पडता है । उनका मत है कि कार्य प्रारम्भ करने के पहले व्यक्ति को अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए—"बिना विचारे कार्य करने वाले मनुष्य का नि सन्देह उस प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि तक्षक सर्प से मणि ग्रहण करने के इच्छुक मनुष्य का होता है ।"[3] दुर्जन को शान्त करना बडा कठिन है—"जिस प्रकार समुद्र के भारी जल से बडवानल शान्त नही होता उसी प्रकार अनुनय-पूर्ण वचनो से दुर्जन शान्त नही होता ।"[4] एव लाख प्रयत्न करने पर भी नीच नीच ही रहता है क्योकि क्या बगुला चकवा और हस के समान हो सकता है ? अथवा कौआ मयूर जैसा हो सकता है ?"[5]

---

१ दूरमुदितम् पाकोद्रेकात्पुराकृतकर्मणा झटिति घटयत्यर्हद्भक्ते स्वशक्तिविपर्ययम् ।
उपजलतरुच्छायाच्छन्ने जने जरठीभवद्द्युमणिकिरणैर्भीष्मो ग्रीष्मो न किं शिशिरायते ॥
—८।५६ धर्म०

२ अश गुणानर्जय सद्गुणो जनै क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिहक्षणापि ॥१८।१५ धर्म०

३ असशय स्यादविमृश्यकारिणो मणि जिघृक्षोरिव तक्षकात्क्षय ॥१८।२८ धर्म०

४ तथाप्यनुनयैरेष शाम्पसि स्म न दुर्जन ।
और्वस्तनूनपान्नीरैर्नीश्वेरिव भूरिभि ॥१९।४६ धर्म०

५ कक किं कोककेकोकी किं काक केकिकोऽम्कम् ।
कौक कुकैक केक क केकाकाकुकाङ्कम् ॥१९।८२ धर्म०



सीयाचरिउ : एक अध्ययन

श्री परमानन्द शास्त्री



भारतीय साहित्य मे राम, सीता, कृष्ण, पाण्डव, कौरवादि के विषय मे प्रचुर साहित्य लिखा गया है। यदि उस साहित्य को साहित्य-सूची से पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य निष्प्रभ हो जायगा। केवल राम और सीता पर विविध भाषाओ मे जो विपुल साहित्य रचा गया है उससे उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट भान हो जाता है। सीता के सम्बन्ध मे लिखे गये कुछ ग्रन्थो का सक्षिप्त उल्लेख करते हुए अब तक अप्रकाशित एव अज्ञात ग्रन्थ प्राकृत के 'सीया-चरिउ" का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय नारियो मे सीता का चरित्र अत्यन्त पावन और समुज्ज्वल रहा है। वह नारी जीवन के आदर्श के साथ धैर्य और विवेक की गरिमा को भी उद्भासित करता है। इतना ही नही, अनेक विषम एव दु खद प्रसगो पर सीता अपने विवेक के सन्तुलन को कायम रखती हुई किसी को अपराधी नही ठहराती, प्रत्युत अपने पुराकृत अशुभ कर्म को ही दोषी मानती है। उस अवस्था मे भी सीता का वह विवेक उसे सुदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण वह समागत आप-दाओ से रचमात्र नही घबराती, धैर्य और समभाव से उन्हें सहती है। यही सब घटनाए उसकी लोक मे प्रसिद्धि एव प्रतिष्ठा की द्योतक हैं।

रावण सीता का अपहरण करके ले जाता है, और उसे देव-रमण उद्यान मे रखता है, उसे प्रसन्न करने के लिये विविध उपाय किये जाते हैं। वैभव का नजारा दिखाया जाता है, समझाया, डराया-धमकाया भी जाता है। किन्तु इन सब का उसके अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव अ कित नही हुआ। उसकी आत्मनिर्भयता, महान् शक्तिशाली शत्रु के यहा अक्षुण्ण बनी रही। यही उसके सतीत्व की गरिमा का प्रतीक है। इससे पाठक सीता के सतीत्व की महत्ता का अ दाज लगा सकते है।

गर्भवती सीता को रामचन्द लोकापवाद के भय से कृतन्तववत्र सेनापति द्वारा भीषण एव हिंसक जन्तुओ से व्याप्त कानन मे छुडवा देते हैं। उस वन की भयानकता सीता की कोमलता और गर्भ-भार की विषमता को देखकर सेनापति का मानस भी रो देता है। जब सीता को सेनापति से ज्ञात होता है कि रामचन्द ने लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, तब वह सेनापति से कहती है—"हे भाई, तुम स्वामी से मेरा यह सन्देश कह देना कि जिस प्रकार लोकापवादभय से मेरा परित्याग किया है, उसी तरह अपने धर्म का परित्याग न कर देना। पाठक देखें सीता के इस सद्विवेक को, जिसकी वजह से वह लोकपूजित हुई है। इसी कारण सीता की पावन जीवन-गाथा पर विविध भाषाओ मे जो साहित्य रचा गया है वह उसकी आदर्श जीवनी का दिग्दर्शन मात्र है, इसी से हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सीता की लोकप्रियता कम नही हुई।

जैन साहित्य मे सीता के सम्बन्ध मे जो साहित्य रचा गया है, उसने से यहा कुछ ग्रन्थो का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है—

१ **"सीताचरित्त"**—आचार्य भुवनतु ग की कृति है, जिसे उन्होने प्राकृत गाथाओ मे निवद्ध किया है। कृति मे उसका रचनाकाल दिया हुआ है। अत उसके रचनाकाल का निर्णय करना कठिन है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—जस्स पय-पउम नहचद जुहजलजालिखालियमलोह।
तिजगपि सुईजाय त मुणिसुव्वयजिण नमिउ ।।
अन्त—सीलगुणसवण सभूयवर परमाणदकारणारइय।
चरिय सिरि भुवणतु ग पयसाहण होउ ।। ४२ ।।

२. **"सीताचरित"**—महाकाव्य सर्ग ४, गाथा ६५, ६६, १५३, और २०६ हैं। कर्ता का नाम ज्ञात नही हुआ। यह कृति स० १३३६ के द्वितीय कार्तिक मे लिखे गए गुच्छक मे मौजूद है, जो पाटन के भण्डार मे सुरक्षित है।

३ **"रामलक्खण सीयाचरित"**—नाम की है, यह भी अज्ञात कर्ता की है। इसमे २०८ गाथाओ मे उक्त चरित दिया हुआ है। ग्रन्थ का आदि-अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—भणिय सीयाचरिय पुव्वभवविवागसूयग किंवि।
अह रामक्खणाण त लवामित्त पकित्तेमि ।।
अन्त—रामो वि केवली विहरिऊग महिमडलमि सयलमि।
पडिबोहियभव्वजणो पत्तो सिवसपय विठल ।। २०८ ।।

हिन्दी भाषा मे भी सीता के चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है। कुछ कृतियो का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कविवर भगवतीदास अग्रवाल ने सवत् १६८७ मे चैत्र शुक्ला चतुर्थी-चन्द्रवार के भरणी नक्षत्र मे 'सिहरदि' नगर मे "लघुसीता सतु" की रचना की है। रचना सुन्दर और भावपूर्ण है। ग्रन्थ मे वारहमासो के मदोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप मे कवि ने रावण और मदोदरी की चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए सीता के सतीत्व का कथन किया है। वह वडा ही सुन्दर और मनमोहक है। अत ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये वहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठको की जानकारी के लिए आषाढ मास का प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है—

तव बोलइ मन्दोदरी रानी, रुति अषाढ घन घट घहरानी।
पीय गये ते फिर घर आवा, पामरनर नित मन्दिर छावा।
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग धरत नहि मोरा।
वावर उमहि रहे चौपासा, तिय पिय विनु लिहि उसन उसासा।
नन्ही बून्द झरत झरलावा, पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निशि अन्धियारी, विरहनि काम वान उरि मारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी, जानत काहे भई मति वोरी।
मदन रसायनु हइ जगसारु, सजमु नेमु कथन विवहारु।

दोहा—जव लगु हस शरीरमहि, तव लग कीजइ भोगु।
राज तजहि भिक्षा भमहि इउ भूला सवु लोगु।





सोरठा—सुख विलसहि परवीन दुख देखहि ते बावरे।
जिउ जल छाडे मीन, तडफि मरहि थलि रेत कइ।
यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइए।
तिय पिय सम सजोगि परम सुहु पाइए॥
जो हु समज्भणहारु तिसहि सिख दीजिये।
जाणत होइ अयाणु तिसहि क्या कीजिये॥

शुक-नासिक मृग-दृग पिक-वइनी, जानुकि वचन लवइ सुखि रइनी।
अपना पिउ पय अमृत जानी, अवर पुरिष रवि—दुग्ध-समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनन्दा, पिप गुन सरत बढत जसकन्दा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि बालिम सगु नाही दूरी।
जिनि पर पुरिष तियारति मानी, लखेनि सो आढि विकानी ?॥
करत कुशील बढत बहु पापू, नरकि जाइ तिउ हइ सतापू।
जिउ मधु बिन्दु तनू सुख लहिये, शील विना दुरगतिदुख सहिये।
कुशल न हुइ पर पिय रसबेली, जिउ सिसु मरइ उरग-सिउ खेली।

दोहा—सुख चाहइ ते बावरी पर पति सगे रति मानि।
जिउ कपि शीत विथा मरइ तापत गुजा आनि॥

सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ जलु जव खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ जल धोखइ थलि रेतकइ॥
पर पिय सिउ करि नेहु सुजनमु गवावना।
दीपगि जरइ पतग सु पेखि सुहावना।
पर रमणी रस रग कवणु नरु सुहु लहइ।
जब कब पूरी हानि महति जिह अहि रहइ॥

दूसरी रचना "सीताचरित" है जो हिन्दी का एक महत्वपूर्ण काव्य है जिसे कवि रामचन्द्र ने स० १७१३ मे बना कर समाप्त किया है। रचना पद्यबद्ध और मध्यम दर्जे की है। परन्तु रचना मे गतिशीलता (प्रवाह) है। पद्यो की सख्या अढाई हजार से ऊपर है। ग्रन्थ मे सीता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तीसरी रचना "सीताचउपई" है, जो ३२७ पद्यो की लघुकाय कृति है। इसके कर्ता खरतरगच्छ शाखा के समयध्वज हैं।

चौथी रचना "सीताप्रबन्ध" है, जो ३४६ पद्यो मे रचा गया है, रचनाकाल स० १६२८ हैं।

पाचवी रचना "सीताविरहलेख" है जिसमे ८१ पद्यो द्वारा कवि अमरचद ने सीता के विरह पर अच्छा प्रकाश डाला है। रचना सवत् १६७१ के द्वितीय आषाढ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुई है।

छटी रचना "सीतारामचौपई" है, जिसे कवि समयसुन्दर ने स० १६७३ मे अपने जन्म स्थान साचौर मे बना कर समाप्त की है।

सातवी रचना "सीता चउपई" है, जिसे तपागच्छीय कवि चेतनविजय ने सवत् १८५१ के वैशाख सुदी १३ को बगाल के अजीमगज मे रचा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाए शास्त्रभडारो में हैं, जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा।

'सीयाचरिउ' प्राकृत भाषा का गद्य-पद्यमय एक चम्पू काव्य है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। अनुमानतः इसमे ३००० गाथाएँ और कुछ गद्य भाग हैं। ग्रथ की अनेक प्रतिया श्वेताम्बरीय शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध होती हैं। ग्रथ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी प्रति श्री अगरचदजी नाहटा के सौजन्य से कलकत्ता के नाहर भण्डार मे प्राप्त हुई है जिसकी मैंने कापी की है और बाद मे दूसरी प्रति से मिलान भी किया है। इतने बडे ग्रथ में कहीं सधि, सर्ग या प्रकरण वगैरह नही है, इसलिए कथानक का सबध भी लम्बा और दुरूह हो गया है। पाठक को उसके जानने मे बडी कठिनाई होती है। ग्रन्थ मे कितनी ही गाथाएँ विमलसूरी के 'पउमचरिउ' से समानता रखती हैं। कितने ही विषयो मे समानता दृष्टिगोचर होती है, कहीं कुछ पाठ-भेद मिलता है। ग्रन्थ मे काव्य का विशेष आडम्बर नही है, नगर, देश, नदी, ग्राम, वन आदि का सामान्य वर्णन या नामोल्लेख मात्र किया है। युद्ध का वर्णन भी पूर्व ग्रन्थपरम्परानुसार ही है। हा, कही किसी कथानक मे विशेषता लाने का उपक्रम अवश्य किया है। उदाहरणस्वरूप वज्रकर्णकथानक मे कहा गया है कि वह धर्मरहित और शिकारी था। एक दिन वह वन मे शिकार खेलने गया और वहा उसने गर्भवती हिरणी को बाण से मार दिया। बाण लगते ही हिरणी जमीन पर धडाम से गिरी और गिरते ही उसके पेट से तडफडाता हुआ एक बच्चा निकला। वज्रकर्ण इस भ्रूणहत्या के महापाप अत्यन्त व्यथित हुआ[1] और विचारने लगा कि इस महापाप मे कैसे बच सकता हू। ऐसा विचार कर वह इधर-उधर घूम ही रहा था कि उसकी दृष्टि सहसा एक शिला पर बैठे हुए ध्यानस्थ मुनि पर पडी। वज्रकर्ण ने उन्हें नमस्कार करके पूछा—'भगवन् आप इस जगल मे क्या करते हैं?' मुनि ने कहा 'मैं आत्महित करता हू।' वज्रकर्ण ने कहा—'भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी की परीषह सहते हुए वन मे अकेले कैसे आत्महित होता है?' तब मुनि ने उसे गृहस्थ और मुनिधर्म का स्वरूप समझाया, जिससे राजा को प्रतिबोध हुआ। उसने मद्य-मासादि के त्याग के साथ सम्यग्दर्शन और श्रावकधर्म को ग्रहण किया और यह प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्रदेव और जिनगुरु को छोडकर अन्य किसी को नमस्कार नही करूगा।[2]

प्रस्तुत काव्य मे सीता का चरित्र पूर्व परम्परानुसार ही चित्रित किया है। यद्यपि कवि ने उसे विस्तृत रूप मे लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु यहा इस छोटे से परिचय लेख मे उसका संक्षिप्त सार ही दिया जाता है। ग्रन्थ मे काव्यगत वैशिष्ट्य का अभाव, भाषा सरल है। कही-कही कुछ सुभाषित एव नीतिपरक पद्य उपलब्ध होते हैं जिससे पाठक ऊबता नही। सती जहा नम्र सुशीला और मिष्ठभाषिणी है वहा कष्टसहिष्णु, पतिभक्त, विवेकवती, कर्तव्यपरायणा आज्ञाकारिणी और स्वदोषप्रेक्षिणी है।

वह मिथला के राजा जनक और विदेहा की पुत्री है। वह युगलरूप मे उत्पन्न हुई थी, किन्तु भाई के अप-



---

१ ज तस्य पिया अहिय पारद्धो धम्मबुद्धि-रहियस्स।
वच्चइ तेण अरण्णे ममाइ धायत्य अणुदियह॥
अन्नमि दिणे पहया हरिणी बाणेण तेण गब्भवई।
पडिओ य तीए गब्भो दरीय कुच्छीओ सहसत्ति॥
दट्ठूण तडफडत मयसाव (सो) विसायमावण्णो।
चिनइ महापाव मए कय भूणघाएण॥
—सीयाचरिउ, का० पृ० २८

२ सीयाचरिउ प० २९

हृत हो जाने के कारण उसका अकेले ही लालन-पालन और शिक्षा हुई थी। अयोध्या के राजा के पुत्र रामचन्द्र के साथ उनका विवाह हुआ। केकैई के वर के कारण जब राम-लक्ष्मण वन को जाने लगे तब सीता भी साथ मे गई। सीता अपने पति राम और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमती हुई क्रमश दण्डक वन मे पहुची। वहाँ कुछ समय सुख से निवास करती है। वन मे होने वाले कष्टो से वह न कभी खेद-खिन्न हुई और न समागत आपदाओ से घबराई। उसे स्वकीय कर्म का विपाक समझ कर सन्तुष्ट रहती थी।

कुछ समय बाद रावण कपट से उसे हरण कर ले जाता है। वह पुष्पक विमान मे रोती-चिल्लाती, आँसू बहाती तथा आभूषणो को यत्र तत्र बिखेरती हुई जाती है। रावण लका मे पहुचकर उसे किसी उद्यान मे ठहरा कर और रक्षको की व्यवस्था कर अन्त पुर मे चला जाता है। सीता राम का अनुचिन्तन करती हुई अपने अशुभोदय का विचार करती है और प्रतिज्ञा करती है कि जब तक राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार नही मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल, स्नान और गधमाल्यादि का ग्रहण नही करूँगी।[1] वह कभी मन मे पच परमेष्ठी का स्मरण करती है, कभी राम लक्ष्मण का चितन करती है और कभी अपने अशुभोदय की निन्दा करती है। सीता रावण के वैभव को तृण के समान तुच्छ गिनती है। यद्यपि रावण ने सीता को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु उसे किंचित भी सफलता नही मिली रावण की परिचारिकाएँ रावण से कहती है कि सीता जब भोजन की भी इच्छा नही करती, तब वह आपकी कैसे इच्छा कर सकती है?[2] यह सुन रावण को बडा दुख हुआ। उसका शरीर मदनानल से झुलस जो रहा था। यह देख मन्दोदरी रावण से कहती है—'तुम उसका बलात् सेवन क्यो नही करते?' तब रावण कहता है—'मैंने मुनिपुगव अनन्त-वीर्य के सम्मुख यह नियम लिया था कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी मैं उसकी इच्छा न करूँगा।'[3]

रोती हुई सीता को देखकर विभीषण ने पूछा—"यह किसकी पुत्री और किसकी भार्या है?" सुनकर सीता ने कहा—"मैं जनक की पुत्री, भामडल की बहिन तथा राम देव की प्रथम पत्नी हू, यह पापी (रावण) मुझे अपहरण कर ले आया है—

१—तह वि न इच्छइ सिणाण न भोयण गधमल्लाइ।
अच्छइ एगग्गमणा झायती राहव निच्च॥
भणइ भोअणविसए न जाव दइयस्स बधुसहियस्स।
लद्धा कुसलपउत्ती भुजामि न भोयण ताव॥
—सीयाचरिउ पृ० ३८

२—सीयावइयरसावेइऊण रमणीहिं रावणो भणइ।
जा भुत्त पि न इच्छइ सा इत्थिय इच्छइ कहे णु तुमए॥
सोऊण इम वयणो मयणानलेण वदज्झमाणसव्वगो।
पडियो वसणसमुद्दे दहवयणो दुक्खियो अहिय॥
— सीयाचरिउ पृ० ८

३—किं पुण बला वि अबला तीए आलिगण विहेऊण।
पूरेसि तुम नियए मणोरहे नाह साहेहि।
एव पुच्छिओ पभणिओ दहवयणो—
अत्थि मए पडिवन्नो अभिग्गहो अणतविरियपयमूले।
जह भोत्तव्वा जुवई अणिच्छमाणा न कइयावि॥
—सीयाचरिउ पृ० ६६

पुच्छइ विभीसणो त ह्यमाणि सुयणु कस्स त दुहिया ।
कस्स वि भज्जा सा वि हु साहेइ सुहड्ढिय सव्व ॥
अविय—जणयस्स अह तणया भगिणी भामडलस्स गुणनिहिणो ।
रामस्स पउम घरिणी अवहरियाणेण पावेण ॥

—सीयाचरिउ पृष्ठ ६७-६८

विभीषण सीता को आश्वासन देकर चला गया, वह मधुर वचनो से रावण से कहता है—"तुम पर-रमणी को क्यो लाए ? परनारी अग्नि-शिखा के समान है, विषलता, नागिन, और कुपित व्याघ्री के समान सताप, विनाश और दुःख का कारण है, कुल का कलक है, यश का घातक है, अतएव तुम परनारी को छोडो, दुर्गति मे मत पडो ।" तब रावण ने कहा—'सपूर्ण पृथ्वी मेरी है । इसमे किचित भी वस्तु परकीय नही है, तब उसके परित्याग का प्रश्न ही नही उठता ।"

आसासिऊण सीय महुरगिराहि विभिसणो भणइ ।
दहवयण कीस तुमए परस्मणी आणिया इहय ? ॥

हुयवहसिहिव्व, विसवल्लिव्व, भुयगिव्व, कुविय वग्घिव्व परणारी होइ सताव-विणास-दुहहेऊ । मा आणेसु कलक कुलस्स नासेसु । मा जस नियय, मा पडसु दोग्गईए, मुचसु एय पर पुरवि ।

—सीयाचरिउ पृष्ठ ६८

इधर राम जब अपने निवास स्थान पर आये और सीता को वहा न देखा, तब बहुत खेदखिन्न और दुःखी हुए । इतने मे लक्ष्मण भी खरदूषण को मार कर आ गया । दोनो भाइयो ने सीता की इधर-उधर खोज की परन्तु कहीं पता न चला ।

सीता का पता लगाने के लिये चारो ओर लोग दौडाए और सुग्रीव स्वय भी पता लगाने के लिये गया । तब पता चला कि रावण सीता का हर कर ले गया है, इसे सुनकर विद्याधर भय से कापने लगे । किन्तु राम लक्ष्मण ने समझा कर उनका भय दूर किया । राम ने हनुमान को अपनी मुद्रिका और सब समाचार देकर कहा—तुम जाओ सीता से मिलकर उसका चूडामणि लेते आना तथा वहा का सब समाचार भी लाना, जिससे मुझे सीता के सबध मे प्रत्यय हो सके ।

हनुमान ने लका मे पहुच कर प्रच्छन्न हो राम की मुद्रिका सीता के अक के वस्त्र पर छोडी, उसे देख सीता कहने लगी—"राम की यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई ? जो कोई इस मुद्रिका को यहा लाना हो वह प्रकट हो जाय । तब हनुमान ने प्रकट होकर, अपने नाम, स्थान एव कुलादि का परिचय देते हुए राम का सब समाचार सुनाया । सीता को विश्वास हो गया कि राम और लक्ष्मण सकुशल हैं । वे जल्दी ही यहा आएंगे । इससे सीता को प्रसन्नता हुई । हनुमान ने सीता से कहा—अब आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, भोजन-पान ग्रहण करो । तब सीता ने ग्यारहवें दिन पचनमस्कार मत्र का स्मरण कर भोजन किया । तत्पश्चात् हनुमान ने सीता से कहा—मेरे कधे पर बैठ जाइए मे राम के पास पहुचा दू । सीता बोली—पति की ऐसी आज्ञा नहीं और न इस प्रकार जाना उपयुक्त ही है । सीता ने अपना चूडामणि उतार कर हनुमान को दीया और अपनी इन जीवन-घटनाओ का वृत्तान्त भी कहा जिसे सुनकर राम को विश्वास हो गया कि सीता जीवित है और वह मेरे वियोग से पीडित है ।

राम ने रावण के पास दूत भेजा और कहलाया कि तुम सीता को वापिस पहुचाओ अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाओ । रावण अभिमानी था, उसने सीता को वापिस न कर युद्ध किया जिसका नतीजा उसे भोगना पडा । राम-रावण का युद्ध प्रसिद्ध ही है । उसकी भीषणता का वर्णन परम्परानुसार चरितकार ने किया है । अन्त में लक्ष्मण के हाथ से रावण मारा गया । राम-लक्ष्मण ने लका मे प्रविष्ट होकर सीता को प्राप्त किया । लका में कुछ समय राज्य कर



और विभीषण को लका का राज्य देकर राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या को चले। अयोध्या मे राम सीता और लक्ष्मण का भव्य स्वागत हुआ। भरत ने जिनदीक्षा ले ली। और राम लक्ष्मण का राज्याभिपेक हुआ। दोनो भाई वहा सुख से राज्य करने लगे।

अशुभोदय में विवेक

कुछ समय के बाद अयोध्या मे सीता के सबध मे लोकोपवाद की वार्ता सामने आई, राम ने उस कलक से बचने के लिये सीता के परित्याग का निश्चय किया। यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत समझाया पर राम अपने निश्चय पर दृढ रहे और कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुला कर यह आदेश दिया कि सीता को वियावान जगल मे छोड आओ। सेनापति सीता को रथ मे बैठाकर ले चला और अयोध्या से बहुत दूर एक भयानक वनमे रथ को रोक कर सीता से बोला—आप उतर जाए।

जब सीता हिसक जन्तुओ से भरे उस विकट वन मे उतरी तो भय से कांपने लगी। सेनापति ने रोते हुए सीता से कहा—मुझे आप क्षमा करे, मैंने तो केवल स्वामी के आदेश का पालन किया है। सेनापति सीता की खिन्नमुद्रा, वन की भीषणता, नीरवता तथा गर्भ के भार की पीडा को देख कर अत्यन्त द्रवित हो गया। उसने जगल मे छोडने का कारण लोकोपवाद बतलाया। तब सीता ने जो कहा उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। सेनापति सीता के विवेक और और धैर्य से अत्यन्त प्रभावित होता है, अपने कृत्य पर पश्चाताप करता है और कहता है—यह सब कार्य मुझे पराधीनता-वश करना पडा है। देवी, मेरा यह अपराध क्षमा करो। कवि के वे वाक्य इस प्रकार हैं —

सेवावित्ती पुरिसो पहुवयणा विसइ जलणमि ॥
जणणीए की स जाओ सो पुरिसो जो करेइ परसेव ।
सेच्छाए जेण कओ न लहइ सो किंचि करणिज्ज ॥
तो खमियव्वो सामिणि मह अवराहो इमो अहन्नस्स ॥
एगागिणी अरण्णे ज परिचता मए तमिह ।

तओ वाहुल्ललोयणाए सुदीणवयणाए भणिय सीयाए, कहेहि केण पुण कारणेण एसो अम्ह अयडे चेक चडो दडो काराविओ राहवेण ? तेण भणिय—देवि, सम्म न जाणामि। किन्तु मए वि सुओ जणप्पवाओ, जहा लकाहिवतिणा अवहरिय जीए सीलवररयण सा सीया णियभवेण कह आणिया राहवेणेव।

इयय सकल काउमन्ने भीएण पउभनाहेण।
सुयणु तुम परिचत्ता णो अण्णो कोइ अवराहो ॥
अह वा न तुज्झ दोसो दोसा महचेव पुव्व पावस्स।

० ० ०

जह नाह अह तुमए परिचत्ता आणइ अभावेउ।
तह मा मुचसु सामिण जिणवयण पिसुणवयणेहिं ॥
मुक्कस्स मए पच्छा अवगणतस्स विगयविलियरस।
इह चेव भवे तिक्ख होही पिअयम महादुक्ख ॥
चिंतामणिसारिच्छो जिणवरवम्मे मए विमुक्क।
नाणाविहदुक्खाण भवे भवे भायण होसि ॥

—सियाचरिउ का० पृष्ठ १३५

सेनापति के जाते ही सीता रोती और बिलखती है और अपनी निन्दा करती है, परन्तु वहा उसका कौन है, जो उन्हे उस दुःख मे सान्त्वना दे, ढाढस बधावे। वह कभी जिनदेव का स्मरण करती है, कभी अपने माता-पिता और लक्ष्मण को याद करती है, कभी अपने भाई भामडल को याद करती है। और कभी अत्यन्त करुण विलाप करती है।

उसके इस करुण विलाप को सुनकर व्रजजघ की सेना रुक गई। व्रजजघ ने सीता के शब्द सुने। उसने पास आकर जब सीता से उसका परिचय पूछा, तब सीता ने अपना परिचय दिया और बनवास का कारण बतलाया।

व्रजजघ ने अपना परिचय देते हुए कहा—धर्मविधि से तुम मेरी बडी बहिन हो। सीता उसे अपना भाई मान-कर उसके साथ नगर मे चली गई। व्रजजघ सीता को सम्मान के साथ पालकी मे लाया, और वहा उसके साथ भगिनी के योग्य व्यवहार किया। सीता ने वहा युगल-पुत्रो को जन्म दिया जिनका नाम 'लव' और 'अ कुश' रक्खा गया। दोनो पुत्रो का वही लालन-पालन, शिक्षण और विवाह हुआ। उन्होने द्विग्विजय की। पश्चात् अयोध्या आकर रामचन्द्र से युद्ध कर अपनी वीरता का परिचय दिया और आदर के साथ अयोध्या मे प्रवेश किया।

अग्निपरीक्षा और आर्यिका की दीक्षा

कुछ दिनो के पश्चात् राम की स्वीकृति पाकर बिभीषण, हनुमान, सुग्रीव और भामडल आदि राजा गण सीता को लेने के लिये पु डरीकणी नगरी गए, और सीता को ले आये। किन्तु जब सीता राम के सम्मुख आई, तब राम ने उसे कहा—देवि, मैं तुम्हारे शील को जानता हू, किन्तु किसी कर्मोदयवश जो जनापवाद रूप कलक हुआ उसे धोने के लिये अग्नि मे प्रवेश कर आत्म-शुद्धि करो।

तो राहवेण पगलतअ सुसलिलेण जपिय दइए।
ज मणसि तुम सच्च सव्व पि हु नत्थि सन्देहो।
जाणामि तुज्झ सील अणन्नसरिस कुलीणय लज्ज।
न कित्तिम च पेम्म जह तुह तह कस्स भुवणमि।
तहविहु जणाववाओ केणइ कम्मेण उच्छलिओ।
पाविहिसि जस धवल लहिसि पसिद्धी जणमि सयलमि।
ता जलणपवेसेण करेसु त अत्तणो सुद्धि॥
हेमस्स व जेण मलो अयसकलको समुत्तरइ।
एसो सिग्घ चिय तह सुन्दरि जाणइ मणनिव्वुइ अम्ह॥

—सियाचरिउ का० पृष्ठ १६०

सीता ने भी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए अपनी स्वीकृति दी।

अग्निकुण्ड तैयार कराया गया और जब वह प्रज्वलित हो उठा सीता ने पचनमस्कामत्र का स्मरण कर सभा मे बैठे लोगो से कहा—यदि मैंने इस जीवन मे अपने पति रामचन्द्र को छोडकर अन्य पुरुष का स्वप्न मे भी स्मरण किया हो तो मेरा यह शरीर इस अग्नि मे जल जाये और न किया हो तो न जले, तत्पश्चात् सीता ने अग्नि मे प्रवेश किया। लोग हाय-हाय करने लगे, किन्तु जब सीता अपने शीलव्रत-महात्म्य से न जली तब सबने उसके शील की प्रशसा की। कुण्ड से निकलने पर सीता ने ससार की अनित्यता और अशरणता का अनुभव कर आत्मकल्याण करने का निश्चय किया। रामचन्द्र ने घर चलने का आग्रह किया और यह भी कहा कि मैं तुझे सोलह हजार रानियो की पटरानी बनाऊँगा, किन्तु सीता ने अपने केशो का लु चन कर सर्वग्रु प्त मुनि के निकट आर्यिका की दीक्षा ले ली और विधिपूर्वक तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि की।

सीयाचरिउ मे सीता के पवित्र जीवन की जो झाकी दी गई है, उनका यह सक्षिप्त सार है, चरित ग्रन्थ सुन्दर व प्रकाशन योग्य है।

ग्र थ का कथानक दिगवर परपरा को लिये हुए है। उसमे कोई ऐसी बात नही है जिससे उसके विषय मे सशय को अवकाश मिले। प्रस्तुत ग्र थ का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि कर्ता ने विमलसूरि पउमचरिउ को अवश्य देखा है, क्योकि उनका प्रभाव उन पर अ कित है। ग्रथ के कितने ही पद्य ज्यो के त्यो साधारण पाठ-भेद के साथ





पउमचरिउ मे उपलब्ध होते हैं। कुछ पद्य "अन्न च", 'भणिय' तथा 'ओट्ठ' कह कर दिए गए हैं। वे उससे उद्धृत किए गए जान पडते हैं। उदाहरणार्थ—

अन्न च—महिला सहावचवला अदीहपेही सहाइ माइल्ला।
त मे खमाहि पुत्तय ज पडिकूल कय तुम्ह ॥ १६६ ॥
तो भणइ पठमणाहो अम्मो किं खत्तिया अलियवाई।
हुति महाकुलजाया तम्हा भरहो कुणाउ रज्ज ॥
—सीताचरिउ १६७

महिला सहाव चवला अदीहपेही सहावमाइल्ला।
त मे खमाहि पुत्तय ज पडिकूलकय तज्झ ॥३२-५१॥
तो भणइ पउमणाहो अम्मो किं खत्तिया अलियवाई।
होन्ति महाकुलजाया, तम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—पउमचरिउ ३२-५२

भणिय च—समणो गावो विप्पा इत्थीओ आलबुड्ढरोगत्ता।
एए न हु हन्तव्वा कयावराहा वि धीरेहिं ॥
—सीताचरिउ कापी पृ० ३८

समणा य बम्भणा वि य, गोपसु इत्थीय वालया वुड्ढा।
जइ वि हु कुणन्ति दोस, तह वि य एए न हन्तव्वा ॥
—पउमचरिउ ३५-१५

रचनाकाल

इस ग्रथ का रचयिता कौन है और ग्रथ कहा रचा गया, इसके जानने का कोई पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नही हैं। ग्रन्थ मे रचनाकाल और गुरुपरपरा का भी कोई उल्लेख नही है। किन्तु ग्रथ के अत मे एक गाथा निम्न प्रकार से उपलब्ध है।

एय सीयाचरिय वज्जरिम सेणियस्स नरवइणो।
जह गोयम तह महसूरिहिं निवेइय किंचि ॥

इसमे बतलाया है कि सीताचरित को गौतम ने जैसा राजा श्रेणिक से कहा वैसा ही महसूरि ने कुछ निवेदन किया। इस गाथा मे "मह" शब्द अपूर्ण जान पडता है और वह अन्य शब्द 'सेन" की अपेक्षा रखता है। पूरा नाम महसेन सूरि होना चाहिए। इतिहास मे महसेन और महासेन नाम के विद्वानो का उल्लेख मिलता है। बहुत सभव है कि इस ग्रथ के रचयिता कोई महसेन नामक विद्वान हो।

वघेरा के निम्न मूर्तिलेख मे आचार्य महसेन का उल्लेख स्पष्ट है, यह लेख सफेद पाषाण की खड्गासन मूर्ति के नाचे अकित है।

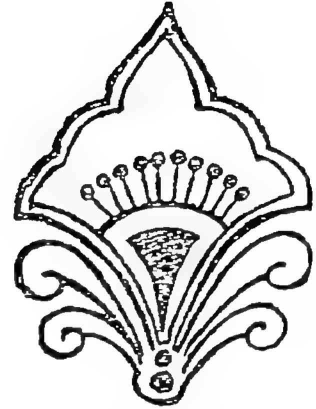
स० १२१५ वैशाख सुदी ७ श्री मरघुरसघे आचार्य श्री महसेने तद्दीक्षिता आर्यिका ब्रह्मदेवी श्री चन्द्रप्रभु प्रणमिति।"

कुछ विद्वान् "मह" का अर्थ मुझ बतलाते हैं पर यह सगत नही जान पडता।

इस ग्रथ की अनेक प्रतिया उपलब्ध हैं, सभव हैं उनमे से किसी पुरातन प्रति मे कर्ता का उल्लेख मिल जाय।

रहस्यवाद : जैनधर्म और साहित्य

श्री देव कोठारी, एम० ए०
शोध-अधिकारी साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर



विश्व-रचना के रहस्य एवं परम-आत्मा से साक्षात्कार के लिये मानव अनादिकाल से उत्सुक रहा है और इसके लिये उसने विविध आध्यात्मिक मत-मतान्तरों एवं उनके मार्गों के आधार पर अनेक अनुभूतियां ग्रहण की हैं। कभी वह आध्यात्मिक सीमा तक ही सीमित रहा है, तो कभी उसने उस शक्ति के पास पहुंचने के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर एक भाव-समूह के रूप में संचित कर दिया है, उसी संचयन को साहित्यिक शब्दावली में "रहस्यवाद" के नाम से अभिहित किया गया है। "मूलतः अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य, परमतत्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।"[1] इस प्रकार की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विशिष्ट, मौलिक, एवं अविभाज्य अंग रही है। मानवसभ्यता के प्रायः प्रत्येक स्तर, देश और उसके काल में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप यह प्रस्फुटित भी हुई है।

यही प्रवृत्ति जैनधर्म और उसके साहित्य में उसके प्रारंभिक काल से ही पाई जाती है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार करने में संकोच अनुभव करते हैं। उनका कहना है कि बौद्ध, चार्वाक, माध्यमिक, मीमांसा, सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार आदि दार्शनिक मतों की तरह जैनदर्शन भी आस्तिकतावादी नहीं है, क्योंकि रहस्यवाद के लिये आस्तिकता अनिवार्य है जो उनके अनुसार जैनधर्म में 'नहीं' पाई जाती है। 'मध्यकाल में वेदान्त को स्वीकार करने वाले ही आस्तिक हैं'—ऐसा विघटनकारी आन्दोलन चल गया था, इस कारण जैनधर्म को भी उसका शिकार होना पड़ा। वास्तव में उस समय आस्तिकता की स्पष्ट परिभाषा भी नहीं थी, मनु के शब्दों में वेदान्त को अस्वीकार करने वाला नास्तिक था तो कुल्लूक भट्ट के शब्दों में परलोक में विश्वास नहीं रखने वाला नास्तिक था। यहाँ तक कि आस्तिकता के प्रबल प्रचारक एवं पाशुपतों तथा माहेश्वरों को नास्तिक करार देने वाले स्वयं शंकराचार्य को भी नास्तिक होने का आक्षेप सहन करना पड़ा था।[2] सत्य तो यह है कि वह व्यक्ति जो सत्य-धर्म से च्युत हो चुका है, किंवा विमुख हो चुका है, वह नास्तिक है और जो सत्य धर्म को जानता है वह आस्तिक है, यथा —

---

१ साहित्य कोश, ज्ञान मण्डल प्रकाशन, सम्वत् २०१५—पृष्ठ ६३५
२ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १६

सत्यधर्मच्युतात् पु स क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जन किं पुनरास्तिक ॥[१]

वेदो की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आधार पर ही आस्तिक-नास्तिक निर्णय करना एकागी दृष्टिकोण है, हिन्दुओ के प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' के श्लोक के अनुसार भी जैनधर्म को नास्तिक कहना बुद्धिगम्य नही है। वह आस्तिक दर्शन है और उसमे रहस्यवाद प्रारम्भ काल से ही पाया जाता है। यजुर्वेद तक मे जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी तथा दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी), बताया गया है।[२] "परमात्मप्रकाश" की भूमिका मे भी डा० ए० एन० उपाध्ये ने क्रमश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी, बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथजी तथा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी) कहा है।[३] भगवान महावीर की वाणी के सग्रहीत ग्रन्थ रूप आगम साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अग "आचाराग सूत्र" मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है —

जे एग जाणइ से सव्व जाणइ ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ ॥[४]

अर्थात् जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है। विक्रम की पहली शताब्दी मे कुन्दकुन्दाचार्य के "भावपाहुड" मे रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसके बाद अपभ्र श की कृतियो मे योगात्मक रहस्यवाद का स्वर पाया जाता है। मध्यकाल तक आते-आते भावात्मक अभिव्यक्ति एव योगात्मक रहस्यवाद की दोनो धाराएँ समान रूप से पाई जाती है। तन्त्रवादियो का प्रभाव भी इस पर पडे विना नही रहा है फिर इसमे विकृति नही आ पाई है। यहा हम विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत जैनधर्म और उसके साहित्य मे रहस्यवाद की स्थिति का क्रमश अवलोकन करेंगे।

१ आत्मा, परम-आत्मा और ब्रह्म

आत्मा द्वारा परमात्मा या ब्रह्म से साक्षात्कार करने की स्थिति रहस्यवाद की आधारशिला है। यास्क ने अपने "निरुक्त" मे आत्मा शब्द की निरुक्ति यो बताई है —

"आत्मा तते र्वाप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति"[५]

अर्थात् आत्मा शब्द अत् धातु या अप् धातु से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि वह सदा चलती रहती है या वह सदा जीवधारियो मे व्याप्त रहती है। समस्त हिन्दूदर्शन आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है और रहस्यवाद भी इसी से प्रभावित है किन्तु जैनधर्म का इसमे थोडा मतभेद है। स्थानाग सूत्र के अनुसार[६] "दुविहे तच्चे पन्नत्ते, तजहा जीवे चेव अजीवे चेव" अर्थात् दो प्रकार के तत्व है—जीव और अजीव। आगे कहा गया है

---

१ (क) महाभारत, आदि पर्व—
   (ख) शब्दकल्पद्रुम मोतीलाल बनारसीदास सस्करण, पृष्ठ १९८ पर उद्धृत

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ४७९

३ डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार" (अग्रेजी) इन्ट्रोडक्सन, पृष्ठ ३९

४ आचाराग सूत्र, ३।४

५ यास्क, निरुक्त, ३।१३।२

६ मुनि श्री राकेश कुमारजी, भगवान महावीर का तत्वदर्शन, जैन भारती, १९ अप्रैल ६७, पृष्ठ ३८० पर उद्धृत

कि "ण एव भूय वा भव्व दा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्संति, अजीवा जीवा भविस्सति" अर्थात् न यह कभी हुआ, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव रूप धारण करले और अजीव कभी जीव रूप धारण करले। इस प्रकार जैनधर्म मे आत्मा न तो कभी अजीव रूप धारण कर सकती है और न अजीव कभी आत्मा का रूप धारण कर सकता है। आत्मा का तो स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह अजर अमर है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार उसकी तीन अवस्थाए है —

बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परम मध्योपायाद बहिस्त्यजेत् ॥४॥
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति परमात्माऽतिनिर्मल ॥५॥[1]

अर्थात् बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमें आत्मा अपने स्वरूप का नही पहिचान पाती तथा शरीर और इन्द्रियों को ही अपना स्वरूप समझती है, अन्तरात्मा वह है जो चित्त सबधी दोषो को अपना स्वरूप समझती है। बहिरात्मा की अपेक्षा इसकी समझ किंचित् अन्तर्मुख होती है तथा यह शरीर को अपने से अलग मानती है किन्तु पूर्ण नही बन पाती। परमात्मा वह विशिष्ट अवस्था है जहा आत्मा पूर्ण विकास पर पहुच जाती है और उसका जन्म-मरण नही होता, वह अति निर्मल रूप धारण कर लेती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मोक्खपाहुड' मे भी इसी का वर्णन किया है।[2] रहस्यवाद मे आत्मा के दो स्वरूपो को ही स्वीकार किया गया है, एक तो वह जिसमे वह परमात्मा को प्राप्त नही कर सकती और दूसरी वह जिसमे वह परमात्मा मे विलीन हो जाती है। जैनधम की पूज्यपाद के अनुसार उपरोक्त तीनो अवस्थाओ मे प्रथम दो अवस्थाए रहस्यवाद की पहली आत्मा की कोटि की है और तीसरी उसकी दूसरी के समान।

इस प्रकार जैनधर्म मे आत्मा की तीसरी अवस्था (परम-आत्मा) आत्मा का ही एक अग है, परम-आत्मा और आत्मा का अलग अस्तित्व नही है अर्थात् आत्मा ही परम-आत्मा है। आत्मा इतनी शक्तिशाली है कि वह स्वय परम-आत्मा का रूप धारण कर लेती है, उसका रूप विशिष्ट हो जाता है, वह शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, मल रहित, विशुद्ध परमपद मे स्थित, केवलज्ञानी, सब कर्मो की विजेता, कल्याणकारी, शाश्वत एव सिद्ध हो जाती है, यथा —

मलरहिओ कलचत्तो अणिदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥[3]

यहा आकर उसे 'मेरे' और "उसके" का भान नही रहता, उसके लिये यह स्थिति हो जाती है कि किसकी समाधि करू? किसकी अर्चना करू? स्पर्श-अस्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करू? किससे मित्रता और किससे शत्रुता करू? जहा कही देखता हू, आत्मा ही दिखाई पडती है —

को ? सुसमाहि करउ को अचउ,
छोपु-अछोपु करिवि को वचउ।



१ आचार्य पूज्यपाद, 'समाधितन्त्र", वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

२ कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड, चौथा और पाचवा श्लोक।

३ (क) कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड छठा श्लोक

(ख) महावीर जयन्ति स्मारिका, अप्रैल ६२ श्री वासुदेवसिंह के लेख मे उद्धृत-पृष्ठ २७८



सत्यधर्मच्युतात् पुंस. क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जन किं पुनरास्तिक ॥[१]

वेदो की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आधार पर ही आस्तिक-नास्तिक निर्णय करना एकागी दृष्टिकोण है, हिन्दुओ के प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' के श्लोक के अनुसार भी जैनधर्म को नास्तिक कहना बुद्धिगम्य नही है। वह आस्तिक दर्शन है और उसमे रहस्यवाद प्रारम्भ काल से ही पाया जाता है। यजुर्वेद तक मे जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी तथा दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी), बताया गया है।[२] "परमात्मप्रकाश" की भूमिका मे भी डा० ए० एन० उपाध्ये ने क्रमश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी, बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथजी तथा तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी) कहा है।[३] भगवान महावीर की वाणी के सग्रहीत ग्रन्थ रूप आगम साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अग "आचाराग सूत्र" मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है —

जे एग जाणइ से सव्व जाणइ ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ ॥[४]

अर्थात् जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है। विक्रम की पहली शताब्दी मे कुन्दकुन्दाचार्य के "भावपाहुड" मे रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसके बाद अपभ्र श की कृतियो मे योगात्मक रहस्यवाद का स्वर पाया जाता है। मध्यकाल तक आते-आते भावात्मक अभिव्यक्ति एव योगात्मक रहस्यवाद की दोनो धाराएँ समान रूप से पाई जाती हैं। तन्त्रवादियो का प्रभाव भी इस पर पडे बिना नही रहा है फिर इसमे विकृति नही आ पाई है। यहा हम विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत जैनधम और उसके साहित्य मे रहस्यवाद की स्थिति का क्रमश अवलोकन करेगे।

१ आत्मा, परम-आत्मा और ब्रह्म

आत्मा द्वारा परमात्मा या ब्रह्म से साक्षात्कार करने की स्थिति रहस्यवाद की आधारशिला है। यास्क ने अपने "निरुक्त" मे आत्मा शब्द की निरुक्ति यो बताई है —

"आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति"[५]

अर्थात् आत्मा शब्द अत् धातु या अप् धातु से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि वह सदा चलती रहती है या वह सदा जीवधारियो मे व्याप्त रहती है। समस्त हिन्दूदर्शन आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है और रहस्यवाद भी इसी से प्रभावित है किन्तु जैनधर्म का इसमे थोडा मतभेद है। स्थानाग सूत्र के अनुसार[६] "दुविहे तच्चे पन्नत्ते, तजहा जीवे चेव अजीवे चेव" अर्थात् दो प्रकार के तत्व है—जीव और अजीव। आगे कहा गया है

---

१ (क) महाभारत, आदि पर्व—
   (ख) शब्दकल्पद्रुम मोतीलाल बनारसीदास सस्करण, पृष्ठ १९८ पर उद्धृत
२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ४७९
३ डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार" (अग्रेजी) इन्ट्रोडक्सन, पृष्ठ ३९
४ आचाराग सूत्र, ३।४
५ यास्क, निरुक्त, ३।१३।२
६ मुनि श्री राकेश कुमारजी, भगवान महावीर का तत्वदर्शन, जैन भारती, १९ अप्रैल ६७, पृष्ठ ३८० पर उद्धृत

कि "ण एव भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सति, अजीवा जीवा भविस्सति" अर्थात् न यह कभी हुआ, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव रूप धारण करे और अजीव कभी जीव रूप धारण करे। इस प्रकार जैनधर्म मे आत्मा न तो कभी अजीव रूप धारण कर सकती है और न अजीव कभी आत्मा का रूप धारण कर सकता है। आत्मा का तो स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह अजर अमर है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार उसकी तीन अवस्थाए है —

बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परम मध्योपायाद बहिस्त्यजेत् ॥४॥
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति परमात्माऽतिनिर्मल ॥५॥[1]

अर्थात् बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमे आत्मा अपने स्वरूप को नही पहिचान पाती तथा शरीर और इन्द्रियो को ही अपना स्वरूप समझती है, अन्तरात्मा वह है जो चित्त सवधी दोषो को अपना स्वरूप समझती है। बहिरात्मा की अपेक्षा उसका समझ किंचित् अन्तर्मुख होती है तथा यह शरीर को अपने से अलग मानती है किन्तु पूर्ण नही बन पाती। परमात्मा वह विशिष्ट अवस्था है जहा आत्मा पूर्ण विकास पर पहुच जाती है और उसका जन्म-मरण नही होता, वह अति निर्मल रूप धारण कर लेती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मोक्खपाहुड' मे भी इसी का वर्णन किया है।[2] रहस्यवाद मे आत्मा के दो स्वरूपो को ही स्वीकार किया गया है, एक तो वह जिसमे वह परमात्मा को प्राप्त नही कर सकती और दूसरी वह जिसमे वह परमात्मा मे विलीन हो जाती है। जैनधर्म की पूज्यपाद के अनुसार उपरोक्त तीनो अवस्थाओ मे प्रथम दो अवस्थाए रहस्यवाद की पहली आत्मा की कोटि की है और तीसरी उसकी दूसरी के समान।

इस प्रकार जैनधर्म मे आत्मा की तीसरी अवस्था (परम-आत्मा) आत्मा का ही एक अग है, परम-आत्मा और आत्मा का अलग अस्तित्व नही है अर्थात् आत्मा ही परम-आत्मा है। आत्मा इतनी शक्तिशाली है कि वह स्वय परम-आत्मा का रूप धारण कर लेती है, उसका रूप विशिष्ट हो जाता है, वह शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, मल रहित, विशुद्ध परमपद मे स्थित, केवलज्ञानी, सब कर्मो की विजेता, कल्याणकारी, शाश्वत एव सिद्ध हो जाती है यथा —

मलरहिओ कलचत्तो अणिदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥[3]

यहा आकर उसे 'मेरे" और "उसके" का भान नही रहता, उसके लिये यह स्थिति हो जाती है कि किसकी समाधि करू ? किसकी अर्चना करू ? स्पर्श-अस्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करू ? किससे मित्रता और किससे शत्रुता करू ? जहा कही देखता हू, आत्मा ही दिखाई पडती है —

को ? सुसमाहि करउ को अचउ,
छोपु-अछोपु करिवि को वचउ ।



१ आचार्य पूज्यपाद, "समाधितन्त्र", वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

२ कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड, चोथा और पाचवा श्लोक।

३ (क) कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्खपाहुड छठा श्लोक

(ख) महावीर जयन्ति स्मारिका, अप्रैल ६२ श्री वासुदेवसिंह के लेख मे उद्धृत-पृष्ठ १७८



हल सहि कलहु केण समाणउ,
जहि कहि जोवउ तहि उप्पाणउ ॥[1]

आत्मा का यही शुद्ध रूप परम-आत्मा है, जैनधर्म मे यही ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म की व्युत्पति 'बृह' (बढना) धातु से हुई है। जो बृहत्तम है जो सबसे बढा चढा हो, जिसमे बढना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हो, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शकराचार्य, रामनुजाचार्य आदि ब्रह्मवादियो ने अपने भाष्यो मे ब्रह्म शब्द की यही व्याख्या की है।[2] परम-आत्मा, जैनधर्म मे आत्मा का यही बढा चढा या बृहत्तम रूप है। आचार्य योगीन्दु के अनुसार[3]—

"मूढ वियक्खणु बमु परू अप्पा ति विहु हवेइ"

अर्थात् शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, उसका कोई अलग स्वरूप या अस्तित्व नही है। इसका कारण यह है कि सिद्ध और ब्रह्म एक ही है —

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बभु परू देहह म करि भेउ ॥[4]

और सिद्ध, आत्मा का ही विकसित रूप है, जो आठ कर्मों[5] से मुक्त हो जाते हैं तथा उसके बाद जो सिद्धि प्राप्त करते हैं वे ही सिद्ध हैं।[6] इस प्रकार के सिद्ध अमूर्तिक, अव्यक्त, ज्ञानयुक्त और शाश्वत सुख के धारणकर्त्ता होते हैं।[7] श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उसमे सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अगुरुलघु और अव्यावाध नामक आठ गुण वताये है —

सम्मत्त णाण दसण वीरिय, सुहुम, तहेव, अवगहण।
अगुरुलहुमव्वावाह अट्ठगुणा होति सिद्धाण ॥[8]

कबीर का निर्गुण ब्रह्म भी अमूर्तिक और अव्यक्त है।[9] अत वह जैनधर्म के सिद्ध या परम-आत्मा के समान ही है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनधर्म मे आत्मा और परम-आत्मा एक ही है। हिन्दू धर्म भी यही मानता

---

१ योगीन्दु मुनि, योगसार, दोहा-४०
२ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ५२०
३ परमात्मप्रकाश, १।१३, पृष्ठ २२
४ वही १।२६, पृष्ठ ३३
५ आठ कर्म निम्न है —ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।
६ आचार्य पूज्यपाद, सिद्ध भक्ति, पहला श्लोक (दश भक्ति) शोलापुर, पृष्ठ २७
७ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी भक्ति काव्य और कवि, ज्ञानपीठ पृष्ठ ४५९
८ कुन्दकुन्दाचार्य सिद्धभक्ति (दशभक्ति), शोलापुर, पृष्ठ ६६
९ सतो धोखा कासू कहिये।
गुण मे निरगुण, निरगुण मे गुण, बाट छाडि क्यूं बहिये ॥
अजरा अमरा कथै सव कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहि जाकै, घटि-घटि रह्यो समाई ॥
प्यड ब्रह्मण्ड कथै सव कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यड ब्रह्मण्ड छाडि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई ॥

है। आचारागसूत्र मे व्यक्त 'सोऽहम्' (वह मैं ही हू)[1] तथा उपनिषदो के 'सोऽहम्' (वह मैं ही हू) या 'अयमस्मि' (यही मैं हू)[2] मे कोई अन्तर नही है। 'तत्वमसि' (वही तू है)[3] 'अह ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हू)[4] तथा सुप्रसिद्ध सूफी मसूर बिन अल-हल्लाज का 'अनलहक' (मैं ही ब्रह्म हू)[5] आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की अभिन्नता व्यक्त करने वाले चिरन्तन वाक्य है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी आत्मा और परम-आत्मा (ब्रह्म) की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि" अर्थात् वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।[6] इस प्रकार जैन कवियो एव कबीर की आत्मा, परम-आत्मा (ब्रह्म) विषयक मान्यताओ मे कोई मौलिक भेद नही हैं।

सद्गुरु

विश्व के सबसे बडे रहस्य परम-तत्व (परम-आत्मा या ब्रह्म) से साक्षात्कार करना बहिरात्मा के लिए सभव नही है क्योकि उस समय वह सासारिक सुखो मे तल्लीन रहता है। उसे अपने अस्तित्व का आभास तक नही होता, ऐसी स्थिति मे उस रहस्य की ओर प्रवृत्त करना गुरु का कार्य है। गुरु ही आत्मा और परम-आत्मा को मिलाने मे मध्यस्थ का कार्य करता है अर्थात् गुरु के द्वारा भक्त के कान मे भक्ति का मन्त्र फूंका जाता है, जिससे उसके ज्ञान रूपी नेत्र खुल जाते है। परम-आत्मा व उससे साक्षात्कार के मार्ग को समझने लगता है।

जैन धर्म मे सतगुरु और ब्रह्म (परम-आत्मा) मे समानता का भाव है, जबकि कबीर का गुरु ब्रह्म से पृथक् और बडा है। इस कारण जैन साधको की भक्ति मे सन्देह की आशका कम रहती है। अर्हन्त, सिद्ध, उपाध्याय, आचार्य, साधु इन पच परमेष्ठी के रूप मे जैनधर्म मे पांच गुरु हैं और पाचो परम-आत्मा के रहस्य की प्राप्ति के मार्ग मे सहायक होते हैं। सतगुरु की योग्यता के ऊपर साधक की फल प्राप्ति निर्भर करती है, फलत सतगुरु ऐसा होना चाहिए जिससे शिष्य का हृदय सशय, भ्रम, मिथ्यात्व और मोह से मुक्त हो जाय, चूंकि आत्मा का स्वभाव सांसारिक मोह से युक्त होता है। अत उसे सतगुरु का सच्चा उपदेश भी रुचिकर नही लगता, इसलिए सतगुरु का सर्वांगीण होना नितान्त आवश्यक है।

कबीर का गुरु तो ऐसा है कि जिसके शब्द-बाण लगते ही शिष्य का मोह-जाल तत्काल नष्ट हो जाता है।[7] किन्तु जैनधर्म मे सतगुरु के कोमल वचनो को सुनकर शिष्य मृग की तरह रीझ जाता है —

कोमल वचन गुरु बोलै मुख सेती सुव,
सुन सम रीझै-रीझै म्रिग सुनि नादिका।[8]

इस भवसागर को पार कराने के लिए गुरु रूपी जहाज की बराबर आवश्यकता रहती है। भूधरदास (अठारहवी शताब्दी) के गुरु तो ऐसे हैं कि वे स्वय भी इस भवसागर से पार होते हैं और दूसरो को भी पार कराते है —



१ आचारग के सूक्त, अनुवादक श्री चन्दराम पुरिया, पृष्ठ ६
२ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय चतुर्थ, ब्राह्मण चतुर्थ, मत्र बारहवा।
३ छान्दोग्य उपनिषद्, षष्ठ प्रपाठक, अष्ट खण्ड, मत्र ७ वां।
४ बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, ब्राह्मण चतुर्थ, मत्र दसवां।
५ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २३ पर उद्धृत
६ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्यिक निबन्ध, पृष्ठ ४६० पर उद्धृत, (सस्करण १९६४)
७ सतगुरु लाई कमांण करि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सू, भीतरि रह्या शरीर।
८ आध्यात्मसवैया, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर, २९ वे पद्य का पूर्वार्द्ध



ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जिहाज।
आप तिरें पर तारहीं, ऐसे ही ऋषिराज ॥[1]

सतगुरु का उपदेश आस्रवो के लिए दीवार, कर्म के कपाटो को खोलने वाला और मोक्ष के लिए पैडी का काम करता है —

यह सतगुरु दी देशना, कर आस्रव दीवाडि।
लद्धी पंडि मोखदी, करम कपाट उघाडि ॥[2]

गुरु की कृपा से ही परम-आत्मा की प्राप्ति होती है। सुन्दरदास की आत्मा को गुरु की दयालुता ने ही परम-आत्मा तक पहुचा दिया था।[3]

इसी तरह ब्रह्मजिनदास ने प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त किया है —

तेह गुण मे जाणी या ए, सद्गुरु तणो पसावतो।
भवि भवि स्वामी सेबसु, ए लागु सदगुरु पाय तो ॥[4]

इस प्रकार जैन धर्म मे भी गुरु के अभाव मे रहस्यमय ब्रह्म को पाना असभव है क्योकि वही सांसारिक मिथ्यात्व के आवरण को दूर कर परमसत्ता से साक्षात्कार के लिए उन्मुख करता है इसीलिए मुनि नथमल के गुरु, जो 'मुझ तक पहुच जाने मे समर्थ हैं पूजनीय हैं —

'मेरे पूजनीय !
मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नही करता—
कि तुम बडे हो,
किन्तु इसलिए करता हू कि—
तुम मुझ तक पहुच जाते हो।'[5]

रागात्मक सम्बन्ध

रहस्यवाद मे आत्मा और परम-आत्मा मे एकता और उस एकता की रागात्मक अनुभूति का प्राप्त होना आवश्यक है। परम-आत्मा या ब्रह्म इन्द्रयातीत अगम्य होते हुए भी वह गम्य है, वह अलौकिक प्रेम द्वारा ही प्राप्य है। प्रेम या अनुराग या रागात्मक सम्बन्ध भक्ति के स्थायी भाव है। परम आत्मा के रहस्य से साक्षात्कार करने के लिए भक्ति के इसी रागात्मक सम्वन्ध को माध्यम वनाया जाता है। यह रागात्मक सम्वन्ध मानवेतर या स्वय ब्रह्म से होता है, अत. लौकिक नही हो कर अलौकिक है।

हिन्दी साहित्य मे कबीर और जायसी ने परम-आत्मा की प्राप्ति के प्रयत्न मे प्रेम की प्यास को खूब बुझाई है किन्तु कबीरदास ने ब्रह्म के अपार सौंदर्य को घट के भीतर ही रखा है, इसके विपरीत जायसी एव जैन कवियो ने परम-तत्व के सौदर्य को प्रकृति के कण-कण मे उडेल दिया है, उनमे सवेदनात्मक अनुभूति की अधिकता है। सतगुरु के द्वारा

---

१ भूधरदास, आध्यात्म पदावली, ज्ञानपीठ, पृष्ठ ८४
२ बनारसीदास, 'बनारसी विलास', जयपुर (१९५४) दोहा २३, पृष्ठ १३६
३ परमातमसो आतमा जुदे रहे बहुकाल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरू मिले दयाल ॥
४ ब्रह्मजिनदास, 'आदिपुराण', प्रशस्तिसग्रह, जयपुर २०८
५ मुनि नथमल, 'मेरे पूजनीय', जैन भारती, १० सित० १९६७, पृष्ठ ९५७

परम आत्मा को प्राप्त करने की जो प्रेरणा भक्त को मिलती है उसी की आधारशिला पर प्रारम्भ मे उसे ईश्वर की सत्ता का विश्वास व आभास होता है। तदनन्तर वह उसकी ओर आकर्षित होता है और अन्त मे यह आकर्षण विरह मे बदल जाता है। विरह मे ब्रह्म से मिलने के लिए आत्मा इतनी व्याकुल हो जाती है कि उसके बिना उसको चैन नही पडती, हालत यह हो जाती है कि भूख और प्यास तक नही लगती —

> सखी री अब तो रह्यो नहि जात।
> प्राणनाथ की प्रीत न विसरत, छण-छण छीजत जात ॥
> नहि भूख नहि तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात।
> मनतो उरझो रह्यो मोहन सु, सेवन ही सुरझात ॥[1]

और ऐसी हालत मे ब्रह्म रूपी अग्नि पर प्रेम के प्याले को तैयार किया है, उसको पीकर मतवाला ही परम-आत्मा की सुगन्ध ले सकता है, दुनिया भले ही तमाशा देखती रहे—

> मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्मअग्नि पर जाली ॥
> तन माटी अवटाई पिये कस, आगे अनुभव लाली ॥
> अगम प्याला पीयो मतवाला, चिन्ही आध्यातम वासा।
> आनन्दघन चतन ह्वै खेले, देखे लोक तमासा ॥[2]

फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि परम-आत्मा के पास पहुचते-पहुचते नया परिचय होने के कारण उससे साक्षात्कार नही कर पाते, भले ही उसके इतने निकट हो जैसे हाथ-से-हाथ या सास-से-सांस टकरा जाये —

> तुम ?
> कि मेरे सामने जो
> सर्वथा अव्यवहित, अनावृत, स्फटिक-स्पष्ट
> और नये परिचय की आंखो मे स्वच्छन्द, निर्वन्ध,
> इतने निकट कि
> हाथ से हाथ छू जाये
> सास से सास टकरा जाये
> फिर भी एक दूसरे को छू नही पाये।[3]

किन्तु प्रेम का तीर ऐसा अचूक होता है कि उसके लगने के बाद साधक उससे बच नही पाता। कबीर को भी जब सबद की चोट लगती है तो उसे और कोई ठौर नही रखती,[4] जायसी ने प्रेम-बाण के लगने के बाद की स्थिति बडी दुखदायी बताई है,[5] यही स्थिति जैन साधको की है—



---

१ भट्टारक कुमुदचन्द्र, हिन्दी पद सग्रह (श्री महावीर जी) पृष्ठ १६

२ आनन्दघन पद सग्रह, आध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, पद्य सख्या २८

३ मुनि रूपचन्द्र, 'कला-अकला' आदर्श साहित्य सघ, पृष्ठ ५

४ साराबहुत पुकारिया, पीड पुकारे और।
   लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥

५ जायसी—प्रेमघाव दुख जान न कोई
   जेहि लागै जानै तै सोई ॥



कहा दिखावू और कू, कहा समझाऊँ भोर ।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ।।[1]

और इस प्रकार जब उसे प्रभु की प्राप्ति हो जाती है तो वह उसमे मग्न हो जाता है, तन-मन की दुविधा विसरती है, दीनता दूर हो जाती है, अनुभव रस की प्राप्ति हो जाती है और चिदानन्द की मौज मच जाती है —

हम मगन भये प्रभु ध्यान मे ।
बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरासुत गुन गान मे ।।
हरि-हर ब्रह्म-पुरन्दर की निधि, आव नहीं कोउ मान मे ।
चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान मे ।।
इतने दिन तू नाहि पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान मे ।
अब तो अधिकारी ह्वै बैठे, प्रभु गुन अखय खजान मे ।।
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान मे ।
प्रभु सुन अनुभव इसके आगे, आवत नहि कोउ ध्यान मे ।।[2]

उपरोक्त प्रकार से परम-आत्मा के प्रति रागात्मक सम्वन्ध के साथ-साथ उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते, सभी मे उसी परम-आत्मा (ब्रह्म) को देखते रहना चाहिए । इस तरह की जाग्रतावस्था की स्थिति मे ही उस अनन्त की ओर लगन स्थिर रहती है ।

परम-आत्मा (ब्रह्म) प्राप्ति के मार्ग में बाधाए

परम रहस्य से साक्षात्कार करने का मार्ग बडा कटकाकीर्ण है, उसमे अनेक बाधायें आती है, चूंकि मानव सांसारिक जीव है अत ससार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के उपरान्त भी नाना प्रकार के अवरोध परम-आत्मा की प्राप्ति के समय आते रहते हैं । माया उन्ही में से एक है । कबीरदास ने माया का मनमोहक रूप बताया है । जो अपने रूप से सबको आकर्षित करती है ।[3] पापिणी, सर्पणी, ठगिनि, डाकणी, विश्वासघातिनी आदि कबीर के अनुसार माया के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं तथा मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मन्सा, मद, ममता, मिथ्यात्व आदि सब माया के ही परिवारी हैं । इन्ही के फेर मे फसकर ससारी जीव परम-आत्मा (ब्रह्म) से विमुक्त हो जाता है । जैनधर्म भी माया को ठीक इसी रूप मे देखता है । उसे विजली की आभा के समान माना गया है जो अज्ञानियो को ठीक उसी प्रकार लल-चाती है जिस प्रकार क्षणभगुर विजली की चमक—

सुनि ठगनी माया, तै सब जग ठग खाया ।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया ।।
आभा तनक दिखाय विज्जु, ज्यो मूढमती ललचाया ।
करि मद अध धर्म हर लीनो, अन्त नरक पहुँचाया ।।
केते कथ किये तै कुलटा, तो भी मन न अघाया ।
किसहीसौं नहि प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया ।।

---

१ आनन्दघन पद सग्रह, वम्बई, पद स० ४

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २०२ पर उद्धृत ।

३ कबीर माया मोहनी, मोहे जाण सुजाण ।
भागा ही छूटे नहीं, भरि-भरि मारे वाण ।।

'भूधर' छलत फिरत यह सबको, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठे, मैं तिनको शिर नवाया ॥[1]

इस माया से छुटकारा पाना ही परमात्मा का प्रथम सोपान है। माया से निर्लिप्त मनुष्य ही ब्रह्म के सन्निकट पहुच सकता है। माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर पड़ता है अत अन्त करण को शुद्ध कर मन की चचलता पर विजय पाना आवश्यक है —

जग के माया बन्धन छोडे,
पर मन के यदि बन्ध न तोडे,
तो क्या, क्योंकि चित से बाहर,
जगत और सन्यास नहीं है।
प्यास लगी जब नीर नहीं था,
नीर भरा अब प्यास नहीं है।[2]

अज्ञानता का नाश एव ज्ञान का प्रकाश होने पर माया हार मान जाती है। अत रहस्यमार्गी को प्रज्ञावान होना चाहिए।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति

रहस्य की अनुभूति का अनुभव हँसकर, रोकर, गाकर, या नाचकर विविध प्रकार से किया जा सकता है' इस तरह की अनुभूति आज तक कितने ही जैन-जैनेत्तर साधकों ने प्राप्त की है, किन्तु हम सबको रहस्यवादी नहीं कह सकते। जैसा कि प्रारम्भ मे स्पष्ट किया जा चुका है, परम-आत्मा से साक्षात्कार के प्रयास मे सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति कर जब एक भाव समूह के रूप मे उसका एकत्रीकरण होता है तब ही उस एकत्र रूप को रहस्यवाद कहा जाता है और ऐसा करने वाले रहस्यवादी कहलाते हैं। कबीर, जायसी, प्रसाद, पन्त और महादेवी के साहित्य के समान ही हिन्दी जैन काव्य मे कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद, योगीन्दु, बनारसीदास, भूधरदास, ब्रह्मजिनदास, द्यानतराय, आनन्दघन, पाण्डे रूपचन्द्र, मुनि नथमल, मुनि रूपचन्द्र, मुनि हजारीमलजी व गणेशलालजी आदि ऐसे ही प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं। इनका अधिकांश साहित्य रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इनके साहित्य में "आत्म-ब्रह्म के प्रेम की अभिव्यक्ति रूपको के द्वारा की गई है।"[3] ये रूपक भी बड़े सरस हैं, किन्तु उनमे सयम की मात्रा अधिक है। एकदम भावुक होकर पानी की तरह बहे नही हैं। साहित्यिक गुणों की रक्षा के साथ-साथ परम-आत्मा की प्राप्ति मे सहज प्राप्त अनुभूतियों का भी यथारूप अकन हुआ है। विशाल मात्रा मे उपलब्ध ऐसे साहित्य पर तटस्थ अनुसधान की सामायिक आवश्यकता है।



१ (क) हिन्दी पद सग्रह, (दि० जैन अ० क्षेत्र, श्री महावीर जी) मे सकलित, भूधरदास का पद पृष्ठ १५४
(ख) इस पद की कबीर के "माया महा ठगिनी हम जानी,
निरगुन फास लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी " वाले पद से मिलाइये
२, मुनि श्री रूपचन्द्रजी, 'कला-अकला' आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, पृष्ठ ५१
१ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ-६



संत कवि रायचन्द्रजी और उनकी रचनाएँ

मुनिश्री लक्ष्मीचन्द्रजी म०
(स्व० गुरुदेव श्री सुजानमलजी म० के शिष्य)

स्थानकवासी परम्परा मे कई प्रभावशाली सतकवि हो गये हैं। उसकी आचार्य जयमल्लजी म० की परम्परा ने हिन्दी साहित्याकाश को कई उज्ज्वल नक्षत्र प्रदान किये जिनमे आचार्य रायचन्द्रजी, आसकरणजी, सबलदासजी, मुनि पीरचदजी, ताराचदजी, भगवानदासजी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वय आचार्य जयमल्लजी प्रभावशाली सत एव कुशल कवि थे। उनके व्यक्तित्व को सूर्य से उपमित किया जा सकता है। उन्ही से प्रेरणा पाकर उक्त कवियो का प्रकाश अधिकाधिक विकीर्ण होता रहा। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी इसी सौरमडल के कीर्त्तिमान ज्योतिष्पिड थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य श्री रायचन्द्रजी का जन्म स० १७९६ आश्विन शुक्ल एकादशी को जोधपुर मे हुआ। इनके पिता का नाम विजयचन्द्रजी धाडीवाल तथा माता का नाम नन्दादेवी था। माता-पिता के धार्मिक सस्कारो से बालक रायचन्द्र का हृदय अध्यात्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ। जब आचार्य जयमल्लजी म० जोधपुर पधारे तो रायचन्द्रजी अपने माता-पिता के साथ इनके व्याख्यानादि सुनने के लिए धर्म-स्थान मे गये। जयमल्लजी प्रभावशाली वक्ता थे। उनमे तप, त्याग का ओज और शास्त्रीयज्ञान का अतुल बल था। साथ ही थे वे एक कुशल सहृदय कवि। उनके प्रवचन का रायचन्द्रजी पर उसी प्रकार प्रभाव पडा जैसा उपजाऊ भूमि मे डाले गये किसी बीज पर पडता है। इनका परिवार भरा-पूरा और सम्पन्न था। इनके दादाजी व नानाजी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो मे से थे। इनके दो बहिने, एक भाई तथा माता-पिता जीवित थे। ऐसे चहकते हुए सासारिक बाग को छोडकर ये जयमल्लजी म० के चरणो मे जा पहुँचे और सयम-मार्ग के पथिक बनने की भावना व्यक्त करने लगे। लोगो ने दीक्षा के दुर्गम मार्ग से इन्हे खूब परिचित कराया पर ये अपने निश्चय पर दृढ बने रहे। अन्ततोगत्वा इन्होने स० १८१४ मे आषाढ शुक्ला एकादशी को पीपाड शहर मे आचार्यजी जयमल्लजी से श्रमण दीक्षा अगीकृत की।

पुत्र को दीक्षित होते देखकर पिता का मन भी विरक्त हो गया। कुछ समय बाद विजयचन्द्रजी भी दीक्षित हो गये। पिता-पुत्र दोनो साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे।

श्री रायचन्द्रजी आचार्य जयमल्लजी के प्रिय, विनीत शिष्यो मे से थे। गुरु से प्रेरणा पाकर ये भी काव्य-साधना मे प्रवृत्त हुए और इन्होने काव्य क्षेत्र मे कई नवीन काव्य-रूपो का उद्‌घाटन किया। इनकी समस्त रचनाएँ विभिन्न

भंडारो मे हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे बिखरी पडी है। उनके सग्रह-सम्पादन की महती आवश्यकता है।

कवि होने के साथ-साथ रायचन्द्रजी चर्चावादी सत थे। अपने तर्कबल, हेतु-दृष्टान्त एव आगम प्रमाणो के आधार पर प्रचलित मिथ्या धारणाओ का खडन कर, जैन तत्त्व को सही रूप मे प्रस्तुत कर, उन्होने जिन शासन का बडा प्रचार-प्रसार किया। इनकी विवेचना इतनी तार्किक और मार्मिक होती थी कि जो भी सुनता प्रभावित हुए बिना न रहता। नव दीक्षित साधु-साध्वियो के प्रति उनका माता-पिता की तरह ध्यान रहता था और वे उन्हे बडे प्रेम से आचार धर्म की शिक्षा देते थे। अपने पिता एव आचार्यश्री की अन्तिम समय तक इन्होने सम्लान भाव से सेवा की व समाधिमरण मे सहायक रहे। इनकी योग्यता एव विद्वता से प्रभावित होकर जयमलजी ने अपनी उपस्थिति मे ही इन्हे अपना उत्त-राधिकारी बना दिया।

आचार्यश्री के स्वर्गवास के पश्चात् वे पट्टधर आचार्य बने। इन्होने ४५ वर्ष तक सिंह की तरह ग्रामानुग्राम विचरण कर धर्म-प्रचार किया। बाद मे शारीरिक दुर्बलता के कारण जोधपुर मे स्थिरवास विराज गये। यहीं स० १८६१ मे चैत्र सुदि १ को शारीरिक स्थिति को क्षीणतम देखकर, आलोचना प्रतिक्रमणपूर्वक शूरवीरता के साथ सथारा अगी-कार किया और चैत सुदि ७ को रोहिट गाम मे स्वर्गवासी बने।

आचार्य रायचन्द्रजी कवि होने के साथ साथ सुन्दर लिपिकार भी थे। इनके द्वारा लिखे हुए कुछ पन्ने लेखक के पास सगृहीत है। इनकी लिपि सुन्दर सुवाच्य और स्पष्ट है। इन्होने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त मे प्रशस्ति रूप मे प्राय रचना-सवत्, रचना-स्थल, गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख किया है। इससे सूचित होता है कि जोधपुर, पाली, सोजत, बीकानेर, जयपुर, मेडता आदि इनके विशेष विहार-क्षेत्र रहे हैं।[1]

रचनाएँ

विभिन्न भडारो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई अब तक प्राप्त आचार्य रायचन्द्रजी की रचनाओ की सूची-नाम रचना काल, रचना-स्थल व छद-सख्या के ज्ञातव्य के साथ—यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

क्र	रचना-नाम	रचना काल	रचना-स्थल	छन्द सख्या
१	भविष्य की कथा पर ढाल, क्रोध कषाय पर चौपाई	१८०९ आसौज	नागौर	
२	उपदेशी कडा	१८२० बैसाख सु ६	तिंवरी	
३	उपदेश इक्कीसी	१८२० बैसाख सु ६	तिंवरी	
४	उपदेशी ढाला (विशेष सख्या मे)	१८२०	तिंवरी	
५	उत्पत्ति की सज्झाय	१८२० बैसाख सु ६	तिंवरी	
६	कढावा	१८२० बैसाख सु ६	तिंवरी	
७	गर्भ बत्तीसी	१८२०		
८	श्वासोश्वास की सज्झाय	१८२०	फलौदी	
९	आठ कर्मो पर चौपाई	१८२१ कार्तिक व० ८	नागौर	



१ यह परिचय इनके शिष्य आसकरणजी द्वारा रचित एक सगीतिका के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना स० १८६१ चैत शुक्ला अष्टमी को रोहिट मे की गई। इसमे २२ गाथाएँ हैं।

१०	जम्बू स्वामी की सज्झाय, नन्दन मणिहार की चौपाई	१८२१ कर्तिक सुदि ८	नागौर	१२
११	आठ कर्मो पर ढाल	१८२१		१३
१२	बावीस परिषह की ढाल	१८२२	तिवरी	२२
१३	महाव्रतो की ढाले	१८२२		
१४	मल्लीनाथजी की चौपाई	१८२४ कार्तिक सु० १४	सोजत	
१५	नदन मणिहार व अभगसेन चोर को चोढालियो	१८२६	वीसलपुर	१२
१६	वहुपतिया देवी नो चरित्र	१८२६ आसौज सुदि ३	मेडता	
१७	नमीराय ऋषि की सज्झाय	१८२६	जालोर	
१८	१६ तीर्थंकरो का स्तवन	१८२६		
१९	चेतन पच्चीसी	१८२८ वैसाख सुदि ६	तिवरी	
२०	सुदर्शन चरित्र	१८२८ वैसाख सुदि ६		
२१	हरिकेषी चरित्र	१८२८	वीकानेर	१०
२२	महावीरजी को चौढालीयो	१८२९ कार्तिक व०		
२३	केलावती की चौपाई	१८३० आसौज सु ५	मेडता	१६
२४	कमलावती की ढालें	१८३० आसौज	मेडता	
२५	एवन्ता ऋषि की ढाल	१८३१	पाली	४
२६	गुरुजी की चेला को सीख	१८३१	पाली	
२७	निन्हव बावनी	१८३१	पाली	
२८	विभीषण की रावण को सीख	१८३२	फलोदी	
२९	समकित नो चौढाल्यो	१८३३ जेठ व० ८	पीपाड	
३०	कपट पच्चीसी	१८३३ आसौज सु ३		
३१	रावण उद्धार सत ढालियो	१८३३ कार्तिक व० १४	मेडता	
३२	उपदेशी ढाले (विशेष सख्या मे)	१८३३	मेडता	
३३	समाधि पच्चीसी	१८३३	मेडता	
३४	दस स्वप्नो की सज्झाय (म० महावीर ने केवलज्ञान होने से पहिले देखे)	१८३३	मेडता	
३५	गौतम स्वामी को रास	१८३४	वीकानेर	
३६	राजेमति नेमनाथ को चोढाल्यो	१८३४	जोधपुर	
३७	आषाढभूति मुनि को पच ढालियो	१८३६	नागौर	५
३८	राजा चेडा की सात पुत्रियो के गुण	१८३६	मेडता	
३९	निन्हव छत्तीसी	१८३६	पाली	
४०	चेलणा राणी चोढालियो	१८३७	गीया	
४१	मृगलेश्या चोपाई	१८३८	जोधपुर	६२
४२	चितवल्लभ चौढाल्यो	१८३९	नागौर	
४३	दीवानी स्तवन	१८३९	नागौर	२०
४४	नमिराजा की ढाल	१८३९ पौस व० १३	कुचेरा	
४५	सोलह सती की ढाले	१८३९	नागौर	

४६	रिखवदे जी को चरित्र	१८४० आसोज सु० ५	पीपडा	४७
४७	नमीराय की ढाल	१८४० पोस सु० १३	कुचेरा	
४८	नरमदा की चौपाई	१८४१	जोधपुर	२८
४९	राजमति रहनेमी की सज्झाय	१८४१	पीपडा	
५०	कर कडू की चौपाई	१८४२	नागोर	
५१	फुटकर वोल पद	१८४२	मेडता	
५२	कृष्ण भेरी सवाद	१८४३		८
५३	स्त्री पैंतीसी	१८४३	रायपुर	
५४	राजमति को चौढालियो	१८४४ आसोज	जोधपुर	
५५	भगवान महावीर के शासन मे नो जीवो ने तीर्थंकर कर्म उपार्जन किया जिसकी ढाल	१८४६		
५६	पुप्फ चूला की चौपाई	१८४७	जोधपुर	८
५७	देवकी राणी की ढाल	१८४७	साचोर	
५८	मेतारज मुनि चरित्र	१८४९ आसोज सुदि १५	नागोर	२०
५९	गौतम गुण माला	१८४९	नागोर	
६०	पुज्य गुण माला	१८५३ वैसाख		३
६१	रथनेमि राजमति का पच ढालिया	१८५४ वैसाख	जोधपुर	
६२	राज श्रेणिक को चौढालियो	१८५७ चैत्र सुदि १५	पाली	
६३	शालिभद्र पटढालियो	१९३१	नागोर	
६४	वैर स्वामी की ढाल	१९५२ कार्तिक व० ७	जोधपुर	८
६५	विपापहार स्तोत्र व नेमिनाथ स्तवन			
६६	झूंठल श्रावक नो चौढालियो			
६७	मृग सुन्दरी चौढालियो			
६८	शिवपुर नगर का स्तवन			
६९	महासती चेलणा की ढाला			
७०	योवन पच्चीसी			
७१	राजाचन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न			
७२	१० श्रावको की सज्झाय			
७३	चवदह वोल की सज्झाय			
७४	दस सुखा नी सज्झाय			
७५	लोभ पच्चीसी		वीकानेर	
७६	दीक्षा की ढाल			
७७	दीक्षा पच्चीसी			
७८	मरुदेवी की ढाल			
७९	मेणरया की चौपाई			
८०	विजयकुँवर को चोढाल्यो			
८१	रतनकुँवर की ढाल			





८२ श्रेयासकुवर की ढाल
८३ श्री चदनबाला सती को बखान[1]

'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ

जैन कवियो ने काव्य-रूपों के क्षेत्र मे कई नये प्रयोग किये। प्रचलित काव्यो के कई भेद कर रास, फागु, चर्चरी, ढाल, बारहमासा, वेलि, सज्झाय, मगल आदि लिखे। सज्ञा सज्ञक रचनाओ मे भी अष्टक, इक्कीसी, चौवीसी, पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तरी, शतक, सतसई, हजारा आदि नामो से अनेक ग्र थ लिखे। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी ने जहाँ कई कथा-काव्य लिखे, स्तवन लिखे वहाँ 'पच्चीसी' सज्ञक भी कई रचनाएँ लिखी। इन रचनाओं मे सम्बन्धित विषय के गुणावगुणो की चर्चा करते हुए आत्मा को उज्जवल बनाने की देशना दी है। अब तक 'पच्चीसी' सज्ञक जो रचनाएँ इस दृष्टि से प्राप्त हुई है उनका विवरण इस प्रकार है[2]—

क्रम	रचना-नाम	रचना सवत्	रचना-स्थल,	छद सख्या
१	वय पच्चीसी	१८०९	डीडवाना	२८
२	जोबन पच्चीसी	१८३०	मेडता	२५
३	चित्त समाध पच्चीसी	१८३३	मेडता	२६
४	ज्ञान पच्चीसी	१८३५	जोधपुर	२५
५	चेतन पच्चीसी	"	जोधपुर	२४
६	दीक्षा पच्चीसी	१७३६	नागौर	२५
७	क्रोध पच्चीसी	"	"	२५
८	माया पच्चीसी		बीकानेर	२५
९	लोभ पच्चीसी	"	"	२५
१०	निन्दक पच्चीसी			२७

इनमे से 'जोवन पच्चीसी', 'दीक्षा पच्चीसी' और 'चेतन पच्चीसी' का मूल पाठ यहाँ दिया जा रहा है। 'जोबन पच्चीसी' मे कवि ने नर-भाव एव जवानी को व्यर्थ नष्ट करने वाले लोगो को उद्बोधित कर, यौवन के उत्साह उमग का सही उपयोग करने की प्रेरणा दी है। 'दीक्षा देने वाले गुरुओ को दीक्षार्थी की पात्रता-अपात्रता पर विचार कर दीक्षा देने की बात कही गई है। 'चेतन पच्चीसी' मे कजूस को अपने धन को लोकोपकारी प्रवृत्तियो मे लगाने की प्रेरणा दी गई है।

जोबन-पच्चीसी

पुन्य जोग नर भव लियो टाणो, थें तो करो रे धम, पाप खोटो जाणो
खीर खवरे बिना गोल्या खावै, पण गयो रे जोबन पाछो नही आवै ॥१॥

---

१ इनमे से अधिकाश रचनाएँ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भडार, शोध प्रतिष्ठान, जयपुर मे सगृहीत हैं।
२ ये सभी 'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ आचार्यश्री विनयचन्दजी ज्ञान भडार जयपुर मे सगृहीत हैं।

जोबन गमाई बूढ़ो होय बैठो, वले पूरो रे मिथ्यात माइ पैठो।
पाछैं पर भव मे घणो पछतावै ॥२॥ पण ॥

हार्थां मे कडा ने काना मे मोती, पहरतो थुरमान पीताम्बर धोती।
काच देखी ने भेप वनावै ॥३॥ पण० ॥

केम भँवर थारा होता काला गला माही पहरतो मोत्यारी माला।
मुख नागर वेल रा बीडा चावै ॥४॥ पण०

घर घर गिन सोना राचता, एतो रूप चुपडीला मरगोरा।
मेला रा जामा पहिरया माता पावै ॥५॥ पण

घणा घेरना पहरातो वागा, उपर उपरेणी रा वध लागा।
मूँछ मरोड कला चढावै ॥६॥ पण०

धन धन रे यो माग कर्तारी, या तो छै न्यारी न्यारी।
सुरते घणी जरी मुवावै ॥७॥ पण०

बांध तो पाग तमरा चीरा, सिर पेच माहि जडिया हीरा।
छोगा छालैं जो तेयारी जींवैला ॥८॥ पण०

ऊना भोजन तुरत त्यारी, आमा अयाणा अने तरकारी।
वस्तु भांवत तेवड मगावै ॥९॥ पण०

ममरूरी गादी ने तकिया, ए तो लोगा माणस वडा वकिया।
कर जोडी जान सीस न मावै ॥१०॥ पण०

साधु कहे साँभल रे भाया, ससार तो सपना री माया।
वादल जमे माया वरलावै ॥११॥ पण०

हूँ घरनी घिराणी छुराती माती, म्हारै वेटा वहुनाती गोती।
गहना पहरे न वेस वणावै ॥१२॥ पण०

नर तो नारी रे वस पडिया, निकल सके नज जीरा जडिया।
नारी काज धन कुमावै ॥१३॥

नारी होती कचन वरणी, भोगी पुरसा रा मन हरणी।
धरणी पण इपा रो गायो गावै ॥१४॥ पण०

काठ मे ठेली परी वाली, थारा प्रीतम प्रीत नही पाली।
तुरत लुगाई दूसरी लावै ॥१५॥ पण०

थारा कपडा गहणा नारी, तने धरम री वात नैणा नही सूझै।
तरीया जाय नरक रा दुख पावै ॥१६॥ पण०

साधु कहे साभल रे भाई, तोने भांत भांत कर समझाई।
तूं वासी टुकडो अपाव ॥१७॥ पण





तीन तमाशा भरता मेला, जठै लोग लुगाई घणा होवै भेला।
गैली लुगाई गीतज गावै ॥१९॥ पण०

खेलता गेरया अने होली, ये तो अणगल नीर घणो ढोली।
होल्या मे अकल सहू की जावै ॥२०॥ पण

झुर्रा आइने जो बन जावै, दिने दिन बुढापो नेडो आवै।
साधू तो तोने जतावै ॥२१॥ पण०

काची काया नै काची माया, साथ कहे साभल रे भाया।
जमारो यो काइ गमावै ॥२२॥ पण०

कुगुरु कुदेव तणो रसियो, हिसा धर्म मे गाढो वसियो।
दया धर्म दिल मे नही भावै ॥२३॥ पण०

अनै धन लछमी घणी होती, नर भावती पण नहिं घाली।
खरची विना आगे सूं खावै ॥२४॥ पण०

समत अठारह सो तीस कीयो, मेडते चोमास जस लीयो।
रिष रायचन्द अणगार गावै ॥२५॥ पण०

॥ इति सम्पूर्ण ॥

दिष्या (दीक्षा) पच्चीसी

ढाल—नणदल नी देसी। दीक्षा मति दीजो अयोग्य नै ॥ टेर ॥

तीजा अग नै ठांणै तीसरे, अरघ मैं इतरा बोल। मुनिवर०
वेतकल्प मे वर्जिया, अरिहत नी आंख्यो खोल ॥१॥ मुनिवर०

दिष्या म दीजो अजोग नै, ठावी किया विन ठीक। मुनि०
पछै ही पिछताव सौ, तिण मे मीन नै मेख ॥२॥ मुनि०

अतही बूढो विद्या नही वले, निवले नानो बाल। मुनि०
नपूंसक नै रोगियो, चोर ने वलेह चडाल ॥३॥ मुनि०

कोई राय नो अपराधी हुवै, गैंगी जैरी गुलाम। मुनि०
आंधो ने वले अनमति, कुष्टी दुष्ट परिणाम ॥४॥ मुनि०

मोल लियो नै दिवालियो, हीणो हुवै कुलजात। मुनि०
मुगाणै मुव बाहरो, टरयै दिन नै रात ॥५॥ मुनि०

चूक विना हॅमठने करै, गर्भवती वले नार। मुनि०
किणि रै चुंगै छोकरो, तिण नै तजनिकलै निरधार ॥६॥ मुनि०

कान नाक नै होठ छुटा, हुवै चम्खु हीण मुख मूंड। मुनि०
दोप घणो नै मोह घणो, नाम हीण नै बागो भूठ ॥७॥ मुनि०

वल कुछ हीणो हुवै दले, अपछन्दो अविनीत । मुनि०
कपटी नै लपटी कदाग्रही, किणरो पूरी नही प्रतीत ॥८॥ मुनि०
क्रोधी नै वले कलेसियो, लोल पीर सनै काज । मुनि०
चपल वाल वाकी वाहरो, नहि नैणा मे लाज ॥६॥ मुनि०
सजम मे समझै नही, दीनी लागे सीख । मुनि०
सूनचित्त समझै नही, नहि सुमत गुपत रो ठीक ॥१०॥ मुनि०
पहली थे कीजे पारख्या, जिनस (न) लीजो जोय । मुनि०
अधीरा नै उतावला, कदियन हुइजो कोय ॥११॥ मुनि०
मुरखाँ ने मूंड जो मती, जड मूद जडग । मुनि०
सुलटी कह्याँ उलटो पडै, वले नागो भू गो भडग ॥१२॥ मुनि०
गधो कूटियो घोडो ना हुवै, जौ करै लय प्रकार । मुनि०
राज ऋसु हालै नही, हाथी हदा भार ॥१३॥ मुनि० दीख्या०
काली ऊन कु माणसा कदे दुजो न आवे रग । मुनि०
काग न होवे ऊजलो, जो न्हावै नदी गग ॥१४॥ मुनि०
लोग सहु कुपात्र कहै, वले वरजै वाला सैण । मुनि०
लेता नैवले छोडता, दोनु इ वार्ता दैण ॥१५॥ मुनि०
छोड्याँ पछै ही छिद्रत कैनै णख्या न रहै रीत । मुनि०
तिण सू पैली कीजो पारख्या, सिख कीजो सुविनीत ॥१६॥ मुनि०
विकला नै भेला कीया, पछै लजावै भेप । मुनि०
उपजै औगुणा तिणसूं राख जो विसेप विवेक ॥१७॥ मुनि०
कोई भक्त सन्यासी जोगी, जतीवले इकादुका भेप । मुनि०
तिण नै तुरत न मु ड जो, परख जो मास विचार ॥१८॥ मुनि०
जे काई अण सैधो, आवियो, तिणरी ठीक न काय । मुनि०
जिणरो भरोसो मत राखजो, ज्यू जतन पोपी रा थाय ॥१६॥ मुनि०
जिसा तिसा नै मूंडने, पूरै चेलारी चाय । मुनि०
गलिहार गछै सारख्यो, औगुण काढे जाय ॥२०॥ मुनि०
गुरु आदि वरजै वलि, तिणमै नही भलियार । मुनि०
इण खावेरा अटकल लीजिये, चतुर लीजो चित्त मे विचार ॥२१॥ मुनि०
ऐवन की रूप मैं भासिया, घोडा मे घणो है समास । मुनि०
दीक्षा दीजै देखी नै, मन, मन सोभे विमास ॥२२॥ मुनि०
जिमि महिमा हुवै जिनधर्म की, हुवै घणी जगा सौभाग्य । मुनि०
वले चैनथावै चित्त आपणो, नै लोगा रे बधे वैराग्य ॥२३॥ मुनि०
दीख्या पचीसी परखवा, रिख रायचन्द कही विमास । मुनि०
समत अठारह छतीस मे, नागौर सहर चौमास ॥२४॥ मुनि०
पैली तो सिष वो तै भणी, वले बांधि पैलारी पण पाल । मुनि०
पूज्य जैमलजी प्रसाद थी, जुगत सु जोडी ढाल ॥२५॥ मुनि०



॥ इति सम्पूर्ण ॥



चेतन पच्चीसी

नीठ नीठ नर भव लह्यौ, इन जग मे नर-नार ।चेतन०।
केइ कर्म जोगै कृपण हुवा, महा लोभी पैले पार ॥१॥ चे०

किरपण नै दान दो हलो, ते सत हीन नर सूब ।चे०।
दीसें फर्रा फूटरा, जेथा हलवा थोथा तूंब ॥२॥ चे०

सूमा केरी सपदा, चोर कुपात्तर खाय ।चे०।
कै रोकीने लेवै रावलै, पिण दान दियो नही जाय ॥३॥ चे०

सूभ साधु ने देखने, फेरे मुंहडो पूठ ।चे० ।
कै छिपाय देवे छल वल करी, कै कोई वौले भूंठ ॥४॥ चे०

घर मे धन पिण दलडी, जिके न देवै दान ।चे०।
सुणिया, भणिया, बाचिया, पिषा नही आयो ज्ञान ॥५॥ चे०

जीव कटै वलै माहिलो, अने देता धूजै हाथ ।चे०।
मन माठो काठो घणो, किपला वाली बात ॥६॥ छे०

साधा नै आता देख नै, किरपण देवै किंवाड ।चे०।
आउकार आपै नही, अने उत्तर तुरत तैयार ॥७॥ चे०।

किरपण दाता किमत रो, कहै कदे न दीजे दान ।चे०।
जो घररानें देता देख नै, तो तोडे जा सुंतान ॥८॥ चे०।

किरपण कुडछी जाट कै, वलतो जलतो जेह ।चे०।
उपजावे आसातना जू वले न आये गेह ॥९॥ चे०।

दाता रा ने देखने, करें चावत दिन नै रात ।चे०।
एक किरपण वले कदाग्रही, कै खाक मेरी वात ॥१०॥ चे०।

देतां किरपण देखनै, मुंह मोडे कुमृलाय ।चे०।
पारकै दु खे दूवलो, कहो कठ लग जाय ॥११॥ चे०।

किरपण रो धन कारयौ, धर्‍यौ रहै धूड रे मांह ।चे०।
लेखे कही लागे नही, पापी रो पर लै लै जाय ॥१२॥ चे०।

भांड खावै माल वेश्या तणां, पिण भला मिनख नही खाय ।चे०।
जिन लिछमी पुण्य हीण री, पाप रे पैडे जाय ॥१३॥ चे०।

कीडी सचै कहे लोक मे, तेहनो तीतर खाय ।चे०।
किरपण कीडी सारखा, कहै लोक दुनि रे माय ॥१४॥ चे०।

आगै नी हाणी कियो, नाथुजी किरपण नर नै देख ।चे०।
हूँ वखतावर श्रावक हूजो, हूँ देवूं अढलिग दान विसेख ॥१५॥ चे०।

छाती फाटै सूमरी, जो देतां देखै दान ।चे०।
काई वस्तु जांचे जेहने अने, तो मुनन माटै कान ॥१६॥ चे०।

दियो उपदेशज दान रो, किरपण ने किरपाल ।चे०।
रीझै पर भीजै नही, जिम कोरडमूरी दाल ॥१७॥ चे०।

मुलक देइ मानै नही, कोई किरपण केरी वान ।चे०।
दीठा पिण दिलनां ठरै, जिम अमावस री रात ॥१८॥ चे०।

जात न्यात अने लोक मे, धर्म कर्म रे मांहि ।चे०।
जस महिमा वले जेहनी, कोइ जो इन लाभै नांह ॥१९॥ चे०।

लाहो धन लिछमी तणो, किरपण न लीनो कोय ।चे०।
भरिये घर मे खाली गयो, कृपण कलदर होय ॥२०॥ चे०।

पुण्य विना पर लोक मे, कूण वँटावै पीर ।चे०।
एक लडौ दुख भोगवै, नैनां न्हाखै नीर ॥२१॥ चे०।

पाप जोगे पूर्व भवै, बाँध दीना अन्तराय ।चे०।
तिण सू हुवो कृपण सूमडा, जा सु दान दियो किम जाय ॥२२॥ चे०।

रिख रायचन्द कहै भव जीवनै, ये खरची लीजो लार ।चे०।
आगै आडी आवसी, उत्तम करो विचार ॥२३॥ चे०।

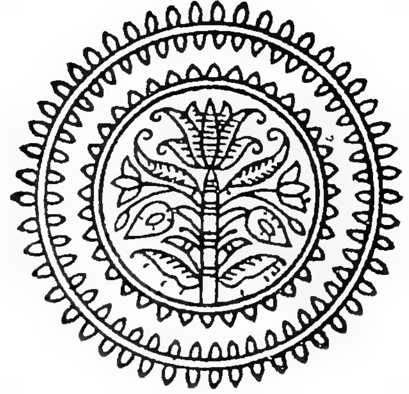
चेतन पच्चीसी चेतवा, समझै जांनै ग्यावान ।चे०।
पूज्य जैमलजी रे प्रसाद थी, सहर जोधपुरै चोमास ॥२४॥ चे०।





प्राकृतभाषा का एक मात्र अलंकार-शास्त्र : अलंकार-दप्पण

अनुवादक- भंवरलाल नाहटा



[प्राकृतभापा का विपुल और विविध विषयक साहित्य प्रकाश मे आया है किन्तु कोई अलकार ग्रथ अब तक प्रकाशित नही हुआ । प्रस्तुत ग्रथ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का अस्तित्व भी विदित नही है ।

इस ग्रन्थ मे अलकार सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है उससे इसका निर्माण-काल ८ वी से ११ वी शताब्दी का माना जा सकता है । रचना से कर्त्ता का पता नही चलता । प्राकृत भापा की अलकार सम्बन्धी यह एक ही रचना जैसलमेर के वडे ज्ञानभण्डार मे ताडपत्रीय प्रति मे प्राप्त हुई है ।

कवि ने प्रारम्भ मे श्रुतदेवता को नमस्कार करके, काव्य मे अलकारो का औचित्य और उद्देश्य का वर्णन कर अलकार-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है । पश्चात् पद्य ५ से १० तक मे वर्णित ४० अलकारो के नाम कहे है । अनन्तर प्रत्येक अलकार के लक्षण एव उदाहरण दिये हैं । इसमे कतिपय अलकारो के लक्षण मात्र है तो कतिपय के उदाहरण मात्र ही है । प्ररूपित अलकारो की सख्या ४५ होती है जबकि ग्रन्थकार ने पद्य १० मे ४० सख्या का उल्लेख किया है, अत प्रेमातिशय से गुणोत्तर पर्यन्त ६ अलकारो को एक प्रेमातिशय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने से ४० की सख्या का औचित्य ठहरता है ।

इस ग्रन्थ मे निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलकार अन्य लक्षण-ग्रन्थो मे प्राप्त नही है । ये अलकार नवीन निर्मित हैं या किसी प्राचीन अलकारशास्त्र का अनुसरण हैं, निश्चित नही कहा जा सकता ।

१३४ गाथाओ की यह रचना जैसलमेर भडार की ताडपत्रीय प्रति न० ३२६ मे १३ पत्रो मे लिखी हुई है । प्रति १३ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लिखी गई जान पडती है । इसके साथ काव्यादर्श भी लिखा हुआ है ।

आगमप्रभाकर मुनि श्रीपुण्यविजयजी जब जैसलमेरभडार का उद्धार एव सुव्यवस्था कर रहे थे तब मैं अपने विद्वान् मित्र नरोत्तमदासजी स्वामी के साथ वहां पहुचा और स्वामीजो ने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि की । जिसे मुनि पुण्यविजयजी ने मूल प्रति से मिला कर संशोधित कर दिया । तदनन्तर मेरे भ्रातृपुत्र भवरलाल ने इसकी सस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य यथामति सम्पन्न किया । अनुवाद मे भूलें और कमी रह सकती है । केवल एक मात्र प्राकृत के अलकारशास्त्र का सभी विद्वानो को परिचय हो जाय इसलिये श्रम किया गया है ।

—अगरचन्द नाहटा]

मगल और अभिधेय

सुन्दर-पअ-विण्णास विमलाल कार-रेहिअ-सरीर

सुइदेविअ च कव्व च पणविअ पवर-वण्णड्ढ ।१।

सुन्दर-पद-विन्यास विमलालकाररेखित (शोभित) शरीरम् ।
श्रुतदेवता च काव्य च प्रणम्य प्रवर-वर्णाढ्यम् ।१।

१ – सुन्दर पदविन्यास (श्रुतदेवता के चरण और काव्य के पद) और विमल अलकारो से सुशोभित शरीर वाले श्रेष्ठ वर्णों से सम्पन्न (प्रधान वर्णनीय) श्रुतदेवता व काव्य को नमस्कार करके सुन्दर पद-विन्यास (पैरो का रखना, गमन, गति) वाली और निर्मल अलकारो (आभूषणो) से शोभित शरीर वाली और श्रेष्ठ वर्ण वाली श्रुतदेवी (ज्ञान की देवी सरस्वती) को और सुन्दर पदो के विन्यासवाले तथा निर्दोष अलकारो से भूषित शरीर वाले और श्रेष्ठ वर्णों वाले काव्य को प्रणाम करके-

सव्वाइ कव्वाइ सव्वाइ जेण होति भव्वाइ
तमल कार भणिमोऽल कार कु-कवि-कव्वाण ।२।

सर्वाणि काव्यानि श्रव्याणि येन भवन्ति भव्यानि
तमलङ्कार भणामोऽलकार कु-कवि-काव्यानाम् ।२।

२—जिससे सभी काव्य श्रव्य और भव्य (सुन्दर) हो जाते है उस अलकार का वर्णन करते है, जो कुकवि के काव्यो को भी अलकृत (सुशोभित) करने वाला है ।

अच्चतसुन्दर पि हु निरल कार जणम्मि कीर त
कामिणि-मुह व कव्व होइ पसण्ण पि विच्छाअ ।३।

अत्यन्त-सुन्दरमपि खलु निरलकार जने क्रियमाणम्
कामिनी-मुखमिव काव्य भवति प्रसन्नमपि विच्छायम् ।३।

३—जनसमाज मे रचा (पढा) जाता हुआ काव्य, अलकार रहित होने से अत्यन्त सुन्दर और प्रसाद गुण-युक्त होने पर भी निश्चय ही शोभा रहित होता है जैसे सुन्दर स्त्री का मुख अलकाररहित होने से अत्यन्त सुन्दर और विमल होने पर भी शोभा रहित होता है ।

ता जाणिऊण णिउण लक्खिज्जइ वहुविहे अल कारे
जेहिं अल करिआइ वहु मण्णिज्जति कव्वाइ ।४।

तत ज्ञात्वा निपुण लक्ष्यन्ते बहुविधा अलकारा
यैरलङ्कृतानि बहु मन्यन्ते काव्यानि ।४।

४—उन्हें अच्छी तरह जान कर नाना प्रकार के अलकारो के लक्षण यहाँ कहे जाते हैं, जिनसे अलकृत हुए काव्य बहुत प्रशसित होते है ।



अलकारनाम

उवमा-रूवअ-दीवअ-रोहाणुप्पास-अइसअ-विसेस
अक्खेव-जाइ-वइरेअ-रसिअ-पज्जाअ भणिआओ ।५।

उपमा-रूपक-दीपक-रोधानुप्रास-अतिशय-विशेषम्
आक्षेप-जाति-व्यतिरेक-रसिक-पर्याया भणिता ।५।

५—उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय कहे गये है ।



जहासख (ज) समाहिअ-विरोह-ससअ-विभावणाभावा
अत्थन्तरणासो-अण्णपरिअरो तह सहोत्ती अ ।६।

यथासङ्ख्य-समाहित विरोध-सशय-विभावना-भावा
अर्थान्तरन्यासोऽन्यपरिकरस्तथा सहोक्तिश्च ।६।

६—यथा-सख्य, समाहित, विरोध, सशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर तथा सहोक्ति ।

उज्जा अवण्हवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा वहुसिलेसा अ ।७।

ऊर्जा अप ह्नुति प्रेमातिशय उदात्त परिवृत्ता
द्रव्योत्तर क्रियोत्तर-गुणोत्तरा बहुश्लेषाश्च ।७।

७—ऊर्जा अपह्नुति, प्रेमातिशय, उदात्त परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर बहुश्लेष (अलकार) हैं ।

ववएस- थुई (इ) समजोइआइअ-अपत्थुअपससा अ
अणुमाण आअरिसो उपेक्खा तह अ ससिद्धी ।८।

व्यपदेश स्तुति समज्योतितादिका प्रस्तुत-प्रशसाश्च
अनुमानमादर्श उत्प्रेक्षा तथा च ससिद्धि ।८।

८—व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत प्रशसा, अनुमान, आदर्श एव उत्प्रेक्षा तथा ससिद्धि ।

आसीसा उवमा-रुवअ च जाणइ णिअरिसिण तह अ
उपेक्खा च अ (ओ) भेअ वलिअ जमएहि सजुत्ता ।९।

आशीरुपमारूपक च जानीत निदर्शन तथा च
उपेक्षा (वयव) उद्भिद वलित च अभेद वलित-यमकै सयुक्ता ।९।

९—आशीष, उपमा रूपक तथा निदर्शना एव उत्प्रेक्षा अभेद उपेक्षा (वयद) (उद्भिद) वलित तथा यमक सहित (अलकार) जानो ।

एतिअ-मित्ता एए कव्वेसु पडिट्ठिआ अल कारा
अहिआ उवक्कमेण वीसाओ दोण्णि सखाओ ।१०।

एतावन्मात्रा एते काव्येषु प्रतिष्ठिता अलकारा
आख्याता उपक्रमेण द्वाविशत्सख्याता ।१०

१०—काव्यो मे इतने ये अलकार प्रसिद्ध हैं, जो उपक्रम से बाईस अलंकार कहे गये हैं ।

उपमा अलकार

उवमाणेण जा देसकालकिरिआवरोहपडिएण
उवमेअस्स सरिसअ लहइ गुणेण खु सा उवमा ।११।

उपमानेन या देश-कालक्रियावरोध प्रतीकेन
उपमेयस्य सदृशता लभते गुणेन खलु सा उपमा ।११।

११—जहाँ देश, काल, क्रिया और अवरोध के प्रतीक रूप उपमान के साथ उपमेय की गुण मे सदृशता प्राप्त होती हो, वहाँ उपमा अलकार होता है ।

पडिवत्थू गुणकलिआ असमा माला अ विउणस्वा अ
सपुण्णा, गूढा, सखला, सिलेसा, अ दरविअला ।१२।

प्रतिवस्तु गुणकलिता अ-समा माला विगुण-रूपा च
सम्पूर्णा गूढा शृखला च लेशा च दरविकला ।१२।

१२ – प्रतिवस्तु, गुणकलिता, असमा, माला, विगुणरूपा, सम्पूर्णा, गूढा, शृखला, श्लेषा, और दरविक(ग)ला।

अेक्कक्कमा, पससा, तल्लिच्छा, णिदिआ, अइसआ अ
सुइमिलिआ, तह (अ) वि अप्पिआ अ सत्तरह उवमाओ ।१३।

एकक्रमा प्रशसा तल्लिप्सा निन्दिता अतिशया च ।
श्रुतिमिलिता तथा (च) विकल्पिका च सप्तदश उपमा ।१३।

१३ —एकक्रमा, प्रशसा, तल्लिप्सा, निन्दिता, अतिशया, श्रुतिमिलिता तथा विकल्पिका ये १७ प्रकार की उपमाए है।

उपमा के भेदो का वर्णन

पडिवत्थू अेसा उअमा जा होइ समाण-वत्थु-रूआ अ
इव-मिव-पिवाइरहिआ विसरिस-गुणपच्चु (च्च) आहिन्तो ।१४।

प्रतिवस्तु एषा उपमा या भवति समानवस्तुरूपा च
इवमिवापि वादिरहिता विसदृश गुणप्रत्ययेभ्य ।१४।

१४—प्रतिवस्तु उपमा वह है जो समान वस्तु रूप होती है। यह इव, मिव, (प्राकृत मे) अपि, वा आदि सादृश्यवाचक शब्दो से रहित होती है, तथा विसदृश (असमान) गुण वाले शब्दो के आश्रित (सयुक्त) होती है।

पडिवत्थूवमा जहा –(प्रतिवस्तूपमा यथा)

सपत्ततिवग्गसुहा थोवा पुहवीअ होति णरणाहा
महुर-फला-(य) सकुसुमा सिणिद्धपत्ता तरू विरला ।१५।

सप्राप्तत्रिवर्गसुखा स्तोका पृथिव्या च भवन्ति नरनाथा
मधुरफलाश्च सकुसुमा स्निग्धपत्रास्तरवो विरला ।१५।

१५—इस पृथ्वी पर सुन्दर पुष्प और मधुर फलो से युक्त चिकने पत्तो वाले वृक्ष विरल ही होते है, (वैसे ही) त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के सुख को प्राप्त नरेन्द्र (राजा) भी पृथ्वी मे थोडे ही होते है।

गुणकलिआ सा भण्णइ गुणेहिं दोहिं पि सारसआ जत्थ
उवमेओ किर जीअे उवमाण होइ सा असमा ।१६।

गुणकलिता सा भण्यते गुणै द्वयोरपि सदृशता यत्र
उपमेय किल जयत्युपमान भवति साऽसमा ।१६।

१६—गुणकलिता उपमा वह है, जहाँ (उपमेय और उपमान) दोनो के गुणो मे सदृशता हो। और जहाँ उपमेय उपमान को निश्चय ही जीत लेता है, (वहाँ) वह असमा उपमा होती है।





गुण-कलिआ जहा—(गुणकलिता यथा)—

चपअलइव्व णवकुसुम-सुन्दरा सहइ विंझकडइव्व
वच्छत्थलम्मि लच्छी तमाल-णीले-महु-महस्स ।१७।

चम्पकलतेव नवकुसुमसुन्दरा शोभते विन्ध्यकटिरिव
वक्ष स्थले लक्ष्मी तमालनीले मधुमथस्य ।१७।

१७—विन्ध्याचल की कटि मे नये फूलो से मनोहर चम्पकलता की तरह, तमाल की तरह नील मधुमथ (विष्णु) के वक्षस्थल के ऊपर लक्ष्मी शोभित होती है।

असमा जहा—(असमा यथा—)

जोण्हा-णिम्मल-लाअण्णपसरि चिंचइअसयलभुअणा (इ)
तुह तुज्झ व्व किसोअरि ! समाण-रूआ जए णत्थि ।१८।

ज्योत्स्ना-निर्मल-लावण्य प्रसारि चर्चित (विभूषित) सकल भुवना (नि)
त्व तव इव कृशोदरि ! समानरूपा जगति नास्ति ।१८।

१८—हे कृशोदरि, चन्द्रिका के समान निमल लावण्य फैला कर सारे जगत् को सुशोभित (प्रकाशित) करने वाली तेरे समान रूपवाली जगत् मे (अन्य) नही है। तेरे समान तू ही है।

सा माला उवमाणाण जत्थ विविहाण होइ रिंछोली
विउण सरिसोवमाऐ विणिम्मिआ विउणरूअत्ति ।१९।

सा माला उपमानाना यत्र विविधाना भवत्यावलिका।
विगुण सदृशोपमाया विनिर्मिता विगुणरूपेति ।१९।

१९—जहाँ विविध उपमानो की आवलिका (समूह) हो वहाँ मालोपमा होती है। विगुण वस्तु के सदृश उपमा होने पर विगुणरूपा उपमा बनती है।

मालोवमा जहा—(मालोपमा यथा—)

हरि-वच्छ व सुकमल गअण व भमन्त-सूर-सच्छाअ
साअर-जल व करि-मअर-सोहिअ तुह घर-द्दार ।२०।

हरिवक्ष इव सुकोमल गगनम्वि भ्रमन्त सूर सच्छाय
सागरजलमिव करि-मकर-शोभित तव गृहद्वारम् ।२०।

२०—तुम्हारे घर का द्वार हरि के वक्षस्थल की तरह सुकोमल (मुलायम) भ्रमण करती हुई सूर्य की आभा वाले आकाश की तरह कान्तियुक्त और हाथी तथा मगरमच्छो मे सुशोभित समुद्रजल की तरह है।

विउणरूवोवमा जहा— (विगुणरूपोपमा यथा) -

णिव्वावारीकअभुअणमडलो सूर-णासिअ-पआओ
णाह ! पओसव्व तुम पाउस-सरिसत्तण वहसि ।२१।

निर्व्यापारीकृतभुवनमण्डल सूर्यनाशितप्रभाव
नाथ ! प्रदोप इव त्व प्रावृप्सदृशत्व वहसि ! ।२१।

२१—हे नाथ ! आप भूमण्डल को क्रियाशून्य करने वाले और सूर्य के प्रभाव को नष्ट करने वाले, अन्धेरी रात की तरह पावन (वर्षाऋतु) की समानता धारण कर रहे है।

ण हु ऊणा ण हु अहिआ जा जाअइ सा हु होइ मपुण्णा
जा उण समास-लीणा सा गूढा भणणअे उवमा ।२२।

न खलूना न खल्वधिका या जायते सा खल्लुव भवति सम्पूर्णा
या पुन समासलीना सा गूढा भण्यते उपमा ।२२।

२२—जो न तो न्यून हो और न अधिक हो, वह सम्पूर्णा उपमा होती है, जो समासगर्भित हो, वह गूढा उपमा कही जाती है।

सपुण्णा जहा—सम्पूर्णा यथा —

सोहसि वअणेण तुम केअइकण्णुरिनआसणाहेण
कमलेण वि पासट्ठिअेण मुद्धअ (ड) अहसेण पमअत्थि ।२३।

शोभसे वदनेन त्व केतकी कर्णिका सनाथेन
कमलेन अपि पार्श्वस्थितेन मुग्धकहसेन प्रशस्त (एव अस्ति) ।२३।

२३—मुख से प्रशस्त तुम ऐसे सुशोभित हो रहे हो जैसे केतकी और कनेर से युक्त कमल के पास मुग्ध हस स्थित हो।

गूढोवमा जहा – गूढोपमा यथा -

कह पाडिहिसि किसोअरि दइअ थण-अलस खेअणीससिरि
रभा-गब्भोरुणिअ ब-भार-मम्मिणेण गमणेण ।२४।

कथ प्रतीक्षसे कृशोदरि ! दयित स्तनालस्यक्षेपणीसश्रीके !
रम्भागर्भोरुनितम्ब-भारमसृणेण गमनेन ।२४।

२४—कदली-गर्भ की तरह कोमल उरु और नितम्ब के भार से कोमल गति के कारण स्तनो को आलस्यवश फिराने मे शोभा प्राप्त हे कृशोदरि ! अपने प्रियतम की क्यो प्रतीक्षा कर रही हो ?

उवमा-वअेहिं उत्ति विडि (हि) रडअेहिं सखला होइ
उवमिज्जइ उवमेओ जेसिं लेसाण सा लेसा ।२५।

उवमा वचोभि उक्तिर्विधिरचितै श्रृङ्खला भवति
उपमीयते उपमेयो येषा श्लेषाना सा श्लेषा ।२५।

२५—जहाँ विधि पूर्वक रचे हुए (जमाए हुए) उपमा शब्दो से उक्ति कही जाय, वहाँ श्रृ खलोपमा होती है। जहाँ उपमेय श्लेषो (श्लिष्ट शब्दो) द्वारा उपमित होता हो, वहा श्लेषोपमा होती है।

सखलोवमा जहा—श्रृ खलोपमा यथा —

सग्गस्स व कणअ-गिरी कचण-गिरिणु व्व महिअल होउ
महि वीढस्सवि भरधरणपच्चलो तह तुम चेअ ।२६।

स्वर्गस्येव कनकगिरि-कञ्चनगिरिणैव इव महीतल भवतु
महीपीठस्य अपि भरधरणप्रत्यलस्तथा त्व चैव ।२६।

२६—(यह) भूतल स्वर्ग की तरह कनकगिरि और कचनगिरि का-सा (पीला) हो जाय। (क्योकि) तुम ही महीपीठ के भी भार को धारण करने मे समर्थ हो।





लेसोवमा जहा—श्लेषोपमा यथा—

सो ससारो असमो चलपेम्मो जो जणो सुहओ सो किं
भासइ ससाराअे णव जो (व्वणवइ) ण रिछोली ।२७।

स ससारोऽ समश्चलत्प्रेमा यो जन सुभग स किं ?
भासते ससारे नवयौवनवतीनामावलिका ।२७।

२७—वह ससार (सम्यक् सार वाला भी) असम है (विषम है या विशम-शान्ति रहित है) जो मनुष्य चलित प्रेम वाला है, (जिसका प्रेम अस्थिर) है वह कैसे (सुहत) भाग्यशाली है ? (उसे) समार मे नवयौवना स्त्रियो का झुण्ड ही (चारो ओर) दिखाई देता है ।

सु (र) सरिसमा पखेव विअलइ सच्चेव होइ दरविअला
अेक्कक्कमोवमाणेहि होइ अेक्कक्कमा णाम ।२८।

सुरसरित्समा प्रक्षेप विगलति सा चैव भवति दरविगला
अेकक्रमोपमानैर्भवति एकक्रमा नाम ।२८।

२८—(जो) गगा के समान डाली हुई चीज निगल जाती है (अपने अन्दर समा लेती है) वह दरविकला उपमा होनी है । और जहाँ एक क्रम से उपमान हो, वहाँ एकक्रमा नामक उपमा होनी है ।

दर विअला जहा—दर विकला यथा—

पीणत्थणी सरूआ पहपेसिअलोअणा सह-कठा (सउक्कठा)
लिहियव्व दारलग्गा ण चलइ तुह दसणासाए ।२९।

पीनस्तनी स्वरूपा पथप्रेषितलोचना सोत्कण्ठा
लिखितेव द्वारलग्ना न चलति तव दर्शनाशायै ।२९।

२९—तुम्हारे दर्शन की आशा से पीनस्तनी, रूपवती, मार्ग मे आँखे बिछाई हुई, उत्कण्ठित (और) चित्र लिखित की तरह द्वार पर सलग्न (स्थिर खडी हुई) नायिका विचलित नही हो रही है ।

अेक्कक्कमा जहा—एकक्रमा यथा—

पअइ विमलाओ दोण्णि वि विबुहजणे (हिं) णिव्वुई-कराओ अ
अेक्कक्कम सरिसाओ तुह कित्ती तिअससरिआ अ ।३०।

प्रकृति विमलाद्वयोरपि विबुधजनै निर्व्यक्ति-कराश्च
अेकक्रम सदृशास्तव कीर्तिस्त्रिदशसदृशाश्च ।३०।

३०—प्रकृति से निर्मल तथा दोनो लोक के विबुध (विद्वान् या देव) जनो द्वारा प्रकट की जाने वाली एक-क्रम के सदृश तुम्हारी कीर्नियाँ देवताओ सरीखी है ।

णिदाअे सलहिज्जइ उवमेओ जत्थ सा पससत्ति
अणुहरइ अइसअेण जा सव्वि (च्चि) अ होइ तल्लिच्छा ।३१।

निन्दया श्लिष्यते उपमेयो यत्र सा प्रशसेति
अनुहरत्यतिशयेन या सा चेत् भवति तल्लिप्सा ।३१।

३१—जहाँ उपमेय निन्दा के साथ श्लिष्ट होना है, वहा निन्दा-प्रशसोपमा होती है । यदि वह अतिशय हो तो तल्लिप्सा उपमा होती है ।

णिदापससा जहा—निन्दाप्रशसा यथा—

तुह सढस्स व णरवर ! भुज्जइ भिच्चेहि पाअडा लच्छी
हिअआइ काअरस्स व वअणिज्जभअेण ओसरइ ।३२।

तव षण्ढस्येव नरवर ! भुज्यते भृत्यैं प्राकृता लक्ष्मी
हृदयेन कातरस्य इव वचनीय-भयेन अपसरति ।३२।

३२—हे नृपति ! हृदय मे कायर नपुसक की तरह निन्दा के भय से मानो भागने पर तुम्हारी प्राकृत (नैसर्गिक) लक्ष्मी का उपभोग अनुचरो द्वारा किया जा रहा है ।

तल्लिच्छोवमा जहा—(तल्लिप्सोपमा यथा—

पाउसणिसामु सोहइ जलप्पहाणेहि पूरिआ पुहई
चलविज्जुवलय-वाडणणिवडिअ खणत्त (णक्खत्त) सरिसेहिं ।३३।

प्रावृषनिशासु शोभते जलप्रवाहै पूरिता पृथ्वी
चलत्विद्युत्वलयवादननिपतितनक्षत्रसदृशैं ।३३।

३३—वर्षा की रात्रियो मे चचल बिजली रूपी ककणो के बजने से गिरते हुए नक्षत्रो के समान जल प्रधान (मेघो) से परिपूरित पृथ्वी सुशोभित होती है ।

उवमेओ ण (णि) दिज्जइ थुइ-ववअेसेग जत्थ सा णिंदा
अइसअ भणिआ सच्चिअ अइस (इ) आ भण्णअे उवमा ।३४।

उपमेयो निन्द्यते स्तुतिव्यपदेशेन यत्र सा निन्दा
अतिशय भणिना सा चैव अतिशयिता भण्यते उपमा ।३४।

३४—जहाँ स्तुति के बहाने से उपमेय की निन्दा की जाती है, वहाँ निन्दोपमा होती है । और जहाँ अति-शयोक्ति रूप से उपमा दी जाती हो वहा अतिशयिता उपमा कही गई है ।

सुअ-णिंदोवमा जहा—श्रुतनिन्दोपमा यथा—

तबोल-राअ-मिलिअ जणेण अहरेण सोहसि पओसे
दरपरि(णि)णअ जबूहलकन्तिसरिसेग पि 'हु' अत्थि ।३५।

ताम्बूलरागमिलिताञ्जनेन अधरेण शोभसे प्रदोषे
दरपरिणतजम्बूफलकान्तिसदृशेनापि खल्वस्ति ।३५।

३५—तुम ताम्बूल (पान) के (लाल) रङ्ग के साथ अजन (काजल बिन्दु) मिले हुए थोडे पके जामुनो (जम्बूफलो) की कान्ति के समान होठ मे अर्धरात्रि मे (की तरह) शोभायमान हो रही हो ।

अइसइयउवमा जहा—अतिशयितोपमा यथा—

जोण्हाभअसरणागअतिमिरसमूहेहिं णिज्जिअमिअ क
सेविज्जइ वअण सास-गध-लुद्धेहि भसलेहि ।३६।

ज्योत्स्नाभयशरणागततिमिरसमूहैर्निर्जितमृगाङ्कम्
सेव्यते वदन श्वासगन्धलुब्धैर्भ्रमरै ।३६।

३६—(तुम्हारा) चन्द्रमा को जीतने वाला मुख चन्द्रिका के डर से अन्धकार-समूह की शरण आए हुए श्वास की गन्ध मे लुब्ध भ्रमरो द्वारा सेवन किया जा रहा है ।





जा सरिसएहि बज्झइ सद्देहि सा हु होइ सुइमिलिआ
एक्काणिक्कविअप्पणभेएण विअप्पिआ दुविहा ।३७।

या सदृशं बध्यते शब्दैः सा हि भवति श्रुतिमिलिता
एकानेकविकल्पनभेदेन विकल्पिका द्विविधा ।३७।

३७—जो उपमा समान शब्दो द्वारा बद्ध होती है वह श्रुतिमिलिता होती है। एक अनेक आदि विकल्पो के भेद से विकल्पिका उपमा दो प्रकार की है।

सुइमिलिउवमा जहा— श्रुतिमिलितोपमा यथा—

दट्ठूण पर-कलत्त छदो वडिअ मणोहर कव्व
खिज्जइ खलो विअ भइ दूसइ दोस अपेच्छन्तो ।३८।

दृष्ट्वा परकलत्र छन्द पतित मनोहर काव्यम्
खिद्यते खलो विजृम्भते दूषयति दोषमप्रेक्षमाण ।३८।

३८—दूसरे की स्वच्छन्द पतित मनोहर स्त्री को देखकर दुष्ट पुरुष (उसी प्रकार) खिन्न होता है, (जिस प्रकार) छन्दोबद्ध मनोहर काव्य को देख कर दुर्जन खेद पाता है। वह (किसी प्रकार का) दोष न देखते हुए भी दोष निकालता है और गर्जता (रहता) है।

एक्कत्थविअप्पिओवमा जहा— एकत्र विकल्पिकोपमा यथा—

परिभमण वइ णिवुच्चिअ सपीडिअ वहलरेणुणिच्छ (? च) अ (आ)वा
णहसु अणड वसा 'अ (ए) व' वाआवत्ता मुणिज्जन्ति ।३९।

परिभ्रमण वती (?वायु) निर्वत्तित सम्पीडितबहलरेणुनिचया वा
नभसि अनतवशा एव वातावर्त्ता मन्यन्ते ।३९।

३९—चक्कर मारती हुई वायु द्वारा निष्पादित और बहुत सी बालू के ढेर को सम्पीडित करते हुए अनन्त वाम ही आकाश मे (गगनचुम्बी) वातावर्त्त (अन्धड) माने जा रहे हैं।

बहुहा विअपिउवमा जहा— बहुधा विकल्पिकोपमा यथा—

सूरम्मि दाव जल इव्व बोलिउ णहअर वअरस व
पच्छिम (?-दि) णिसिअरेण व तमेण कसिणीकअ सअस (ल) ।४०)

सूर्ये दाव जलधिरिव ब्रूडितो नभश्चर वज्रसमिव
पश्चिमनिशाकरेणेव तमसा कृष्णीकृत सकलम् ।४०।

उवमा लक्खण समत्त—उपमा लक्षण समाप्तम्

४०—पिछली रात्रि के निशाकर के अन्धकार ने मानो सबको काला कर दिया है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य मे दावाग्नि वाले समुद्र को अथवा आकाशचारी बादल को डुबो दिया हो।

रूपक अलकार

उवमाणेणुवमेअम्स ज च रूविज्जए वि रुविअ मु
दव्व-गुण-सम्मअ त भणति इह रूवअ कइणो ।४१।

उपमानेन उपमेयस्य यत् च रूप्यते विरूपित तत्
द्रव्य-गुणसम्मत तत् भणन्ति इह रूपक कवय ।४१।

४१—जहा उपमान के द्वारा उपमेय का द्रव्यगुण सम्मत स्वरूप निरूपित किया जाता है, उसे कवि रूपक कहते हैं।

त चिअ दुविह जाअइ समत्थपअत्थविरअणाजणिअ
पढम वीअ अेक्केक्क देसपरिसठिअ होइ ।४२।

तच्चेव द्वि-विध जायते समस्तपदार्थविरचनाजनितम
प्रथम द्वितीय अेकंक देश परिसस्थित भवति ।४२।

४२—वह (रूपक) दो प्रकार का होता है, एक समस्त पदार्थ-रचना से जनित होता है और दूसरा एक-एक देश (अश) रचित होता है।

भेआ णामेहि चिअ हरिअच्छाएहि रूव आणकया
अत्थो लभिज्जइ च्चिअ सअले अर रूअ आहिन्तो ।४३।

भेदनाम्सिश्चैप हरितच्छायै रूपकाणा कृता
अर्थो लभ्यते चैव सकले तर रूपकै रत ।४३।

४३—हरितच्छायावाले (सुन्दर प्रभावाले) नामो के द्वारा रूपको के अनेक भेद किये है। इसलिए सकल (सर्वांग) और विकल (एकाग) रूपको के द्वारा अर्थ पाया जाता है।

सअलवत्थू रूअअ जहा—सकलवस्तुरूपकम् यथा—

गअण-सरोय पेच्छह पाउसम्मि तणुकिरणकेसरसणाह
ताराकुसुम मिववण महभरणमउल समक्कमइ ।४४।

गगनसरोज प्रेक्षस्व प्रावृषि तनुकिरणकेसरसनाथम्
तारा कुसुममिव वन महाभरण मुकुल समाक्रमति ।४४।

४४—वर्षाऋतु मे सूक्ष्म (पतले) किरण रूपी केसर से युक्त गगनरूपी सरोज को देखो, जो महाभूषण रूप मुकुल (कली) के समान तारा रूपी फूलो के वन को आक्रान्त कर रहा है।

अेक्केक्कदेसरूअअ जहा—अेकैकदेशरूपक यथा—

अविरअ पसरिय धाराणि वा अणिट्ठविअ पथिअ-समूहो
मारिहइ म सदइअ पि णिक्किवो पाउस चिलाओ ।४५।

अविरतप्रसृतधारा निपात निस्थापित पथिकसमूह
मारयिष्यति मा सदयितमपि निष्कृप प्रावृष् किरात ।४५।

४५—निरन्तर फैलती हुई (अपनी) जलधाराओ के निपात मे पथिको के झुड को रोक देने वाला निर्दय पावस रूपी किरात मुझे प्रियतम सहित (साथ होते हुए भी) मार डालेगा।

दीपक अलकार

दीविज्जति पआइ अेक्काअे चेअ जत्थ किरिआअे
मुह मज्झतग (आ) एण भण्णइ दीवि (?व) अ ति-विह ।४६।



दीप्यन्ते पदानि एकया चैव यत्र क्रियया
मुखमध्यान्तगतेन भण्यते दीपक त्रिविधम् ।४६।

४६ – जहाँ एक ही क्रिया से अनेक पद दीपित (शोभित) किये जाते हैं, वहाँ दीपक अलकार होता है। मुख, मध्य और अन्त के भेद से दीपक तीन प्रकार का कहा गया है।

मुह-दीवअ जहा—मुखदीपकम् यथा—

भूसिज्जति गअदा मअेण सुहडा उ असिपहारेण
गइतुरअेण तुरआ सोहग्गगुणेण महिलाओ ।४७।

भूषयन्ति गजेन्द्रा मदेन सुभटास्तु असिप्रहारेण
गतित्वरितेन तुरगा सौभाग्यगुणेन महिला ।४७।

४७—हाथी मद के कारण सुशोभित होते हैं, सुभट तलवार के प्रहार से विभूषित होते हैं, घोडे तेज गति के कारण और महिलाए सौभाग्य गुण के कारण सुशोभित होती हैं।

मज्झदीवअ जहा—मध्यदीपक यथा –

सु-कवीण जसो सूराण वी (धी) रिमा, ईहिअ णरिदाण
केण खलिज्जइ पिसुणाण दुम्मई भीरुयाण भअ ।४८।

सुकवीनां यश शूराणा वीरता (धीरता) ईहित नरेन्द्राणाम्
केन स्खल्यते पिशुनाना दुर्मति भीरुकाना भय ।४८।

४८ – सुकवियो का यश, शूरवीरो की वीरता (धीरता) नरेन्द्रो की चेष्टा, चुगलखोरो की दुर्बुद्धि और डरपोको का डर कौन मिटा सकता है ?

अन्तदीवि(व)अ जहा—अन्तदीपकम् यथा –

सत्थेण बुहा दाणेण पत्थिवा गुरु-तवेण जइ-णिवहा
रण-साहसेण सुहडा मही-अले पाअडा होति ।४९।

शास्त्रेण बुधा दानेन पार्थिवा गुरुतपसा यतिनिवहा
रणसाहसेन सुभटा महीतले प्रावृता भवन्ति

४९—शास्त्र के द्वारा विद्वान्, दान से राजा, उग्र तप से सयमी पुरुष, युद्ध मे साहस से सुभट भूतल पर छा जाते हैं (व्यापक बनते हैं)।

रोध अलकार

अद्ध-भणिअ णिरुभइ जस्सि जुत्तीअ होइ सो रोहो
पअ-वण्णभेअभिण्णो जाअइ दु-विहो अणुप्पासो ।५०।

अर्द्धभणित निरुध्यति यस्मिन् युक्तिश्च भवति स रोध
पद-वर्णभेदभिन्नो जायते द्विविधोऽनुप्रास ।५०।

५०—जहाँ आधा कह कर रुक जाता है, और जिसमे युक्ति होती है, वहाँ रोध अलकार होता है, पद और वर्ण के भेद से अनुप्रास दो प्रकार का होता है।

रोहो जहा—रोधो यथा—

को ण वलइ तेण विणा मा भणमु अ पुलइऍहि पासेंहि
अइ रहस्स जपिआइ हवन्ति पच्छा अपत्थाइ ।५१।

को न वलगति तेन विना मा भणत अपुलकितै पार्श्वै (सह)
अति रहस्य जल्पितानि भवन्ति पश्चाद् अपथ्यानि ।५१।

५१—उसके सिवाय कौन नही बोलता ? अर्थात् सभी बोलते ह, अप्रसन्न पडोसियो के पास मे रहने वालों के साथ मत बोलो । मतलब, प्रसन्न पडोसियो के साथ जरूर बोलो । अत्यन्त रहस्य युक्त कथन बाद मे अकल्याणकारी होते हैं।

पा(प) आणुप्पासो जहा—पदानुप्रासो यथा—

ससिमुहि मुहस्स लच्छी थणसालिणि थणहर पि पेच्छती
तणुआअइ तणु ओअरि हलिसु ओ कहसु ज जुत्त ।५२।

शशिमुखी मुखस्य लक्ष्मीं स्तनशालिनी स्तनधरमपि प्रेक्षमाणी
तनुतातितनुतोदरि हलीसु भो कथय यत् युक्तम् ।५२।

५२—हे चन्द्रमुखि, मुख की शोभा को, हे स्तनशालिनि स्तनधर (बादल) को देखती हुई अत्यन्त कृश उदर-वाली, तू सखियो को जो उचित हो, वह कह ।

वण्णाणुप्पासो जहा—वर्णानुप्रासो यथा—

वाअन्ति सजल जलहर जल लव सवलण सीअल-प्फसा
फुल्ल धुअ धुअ कुसुमच्छलत गधुद्धुरा पवणा ।५३।

वान्ति सजल जलधर जल लव सवलन शीतल स्पर्शा
फुल्लितान्धुक कुसुमच्छलत् गन्धुद्धुरा पवना ।५३।

५३—जल से परिपूर्ण मेघो के जलकणो के मिलने से शीतल स्पर्श वाली एव खिले हुए अन्धुक के फूलो से निकलती हुई सुगन्ध से परिपूर्ण हवाए बह रही है ।

जत्थ णिमित्ताहिन्तो लोआ अेवकन्त गोअर वअण
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसअ-णामो अल कारो ।५४।

यत्र निमित्तैर्लोका अकान्त गोचर वचनम्
विरचयन्ति स तस्य च अतिशय नाम अलकार ।५४।

५४—जहाँ किन्ही निमित्तो से लोग एकान्तगोचर शब्दो की रचना करते हैं, उसका नाम अतिशया-लकार समझो ।

अतिसआलकारो जहा—अतिशयालकारो यथा—

जइ गध मिलिअ (अ) भमगण होइ अवअम (स) चपअ-पसूअ
ता केण विभाविज्जइ कउहल मिलिअ पह तिस्सा ।५५।





यदि गन्ध मिलित भ्रमराणा अवतस भवति चम्पक प्रसूनम्
तस्मात् केन विभाव्यते कुकूहल मिलित पथा तस्य ।५५।

५५—यदि सुगन्ध मिला हुआ चम्पा का फूल भ्रमरो का आभूषण हो जाता है, तो कौन जानता है, उसका (भी) मार्ग कुतूहल मिश्रित हो ।

विगअे विपक्ख देसे गुणतरेण तु सवु (थु) ई जत्थ
कीरइ विसेसपअडण कज्जेण सो विसेसोत्ति ।५६।

विगते विपक्षदेशे गुणान्तरेण तु सस्तुतिर्यत्र
क्रियते विशेष प्रकटन कार्य्येण सो विशेष इति ।५६।

५६—जहा विगत और विपक्षदेश मे गुणान्तर से, स्तुति की जाती एव कार्य के द्वारा जहाँ विशेषता प्रकट की जाती है वह विशेषालकार होता है ।

विसेसालकारो जहा— विशेषालकारो यथा—

णवि तह णिसासु सोहइ पिआण तबोलराकपव्वइओ
जह पिअअमपीओ पडुरो वि अहरो पहाअम्मि ।५७।

नापि तथा निशासु शोभते प्रियाणां ताम्बूलरागप्रवर्जित
यथा प्रियतमपीतो पण्डुरोऽपि अधर प्रभाते ।५७।

५७—प्रियाओ के ताम्बूल (पान) के (लाल) रङ्ग से युक्त अधर (होठ) रात्रि मे वैसे सुशोभित नही होते, जैसे प्रभातकाल मे प्रियतम द्वारा पान किये हुए पाण्डु (हलके पीले) रङ्ग के अधर सुशोभित होते है ।

जत्थ णिसेहो व्व स (स) सी हिअ कीरइ विसेस तण्हाअे
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता अेवकत भेअेए ।५८।

यत्र निषेध इव ससिद्धय क्रियते विशेष तृष्णया
स आक्षेपो द्विविधो भवन्त-एकान्त भेदेन ।५८।

५८—जहा विशेष (बात प्रकट करने) की लालसा से सिद्ध करके निषेध सा किया जाता है, वहा आक्षेपालकार होता है, जो भवन्त और एकान्त के भेद से दो प्रकार का है ।

होतक्खेओ जहा— भवन्ताक्षेपो यथा—

जइ वच्चसि ता वच्चसु महु गरुअ-दा (दी) ह-विरहग्गि-ताविअ तणूअे
वच्चइ तइ समअ चिअ अहवा कह जपिअ अेसा ? ।५९।

यदि व्रजसि तदा व्रजतु मघु गुरुक दीर्घ विरहाग्नि तापित तनुक !
व्रजति ते समय चेत् अथवा कथ जल्पितमेतत् ।५९।

५९—मधुमास (चैत्र) की भारी दीर्घ विरहाग्नि के ताप मे शरीर को नग्न करने वाले, यदि तुम्हारा समय बीत रहा है और जाना चाहते हो तो चले जाओ अथवा यह बकवास क्यो ?

अेक्कन्तक्खेओ जहा – अेकान्ताक्षेपो यथा—

खग्ग-प्पहार-दढ-दलिअरिउ दतिअ-कु भ-वीढस्य
तुअ णत्थि अन्त को महिट्राण सचालणो होज्ज ।६०।

खड्गप्रहार दृढदलितरिपुदल च कुम्भ-पीठस्य
तव नास्ति अन्तक महीधराणा सचालनो भवतु ।६०।

६० —तलवार के प्रहारो से दृढतापूर्वक शत्रुदल को और हाथियो की पीठो का दलन करने वाले हे राजन्, तुम्हारा अन्त करने वाला कोई नही है । (अत) तुम राजाओ के सचालक बनो ।

होइ सहाओ जाई वेरग्गो (वइरेओ)उण विसेसकरणेण
उअणेण मणेही सआ अन्नेण बुज्झइ कईहि ।६१।

भवति स्वभावो जाति वैराग्य व्यतिरेक पुन विशेष करणेन
कुजनेन मन्यते सदाऽन्येन बुद्धयते कविभि ।६१।

६१ - स्वभाव जाति अलकार होता है, उसमे कुछ विशेपना पैदा करने से व्यतिरेकालकार हो जाता है, उसे पहले से जनसाधारण हमेशा मानते है, और दूसरे से कवि लोग (मनीषी) समझते है ।

जाई जहा जातिर्यथा—

सिर-धरिअ-कलस तोलि (णि) रावाहा जुअलाइ गामतरुणीअे
मण्णइ विलासदिट्ठो भडट्ठिअ (ओ) पामरो पुहवि ।६२।

शिरो धृत-कलश-तूणीर वाहुयुगलया ग्रामतरुण्या
मन्यते विलासदृष्टो भ्रष्ट पामर पृथ्वीम ।६२।

६२—सिर पर कलश धारण की हुई, तथा दोनो भुजाओ मे तूणीर ली हुई ग्राम तरुणी मानती है कि विलास (कामना) से देखने वाला पामर पृथ्वी पर गिर गया ।

वइरागो (वइरेओ) जहा— व्यतिरेको यथा—

दूसह पआ (भा) व पसरो सोमो स (ज)इ अरवलिअपहो तासिं
तिव्व जडाउण दोण्ण वि रवि रअ (ह) र अह अच्छाहा ।६३।

दुस्सह प्रभाव प्रसर सोमो यद्यस्खलितपथस्तेषाम्
तीव्र जटायूना द्वयोरपि रविरथ रजो हतच्छाया ।३३।

६३ – चन्द्रमा यदि दु सह प्रभाव फैलाने वाला और अस्खलित पथवाला बना है तो (उसका कारण) उन तीव्रगामी जटायुओ मे दोनो (सूर्य चन्द्र) मे से सूर्य के रथ की उडने वाली रज की छाया ही है ।

फुडसिगाराइ रसो रसिओ अह भण्णअे अल कारो
अण्ण ववअेस भणिअे विणिम्मिओ होइ पज्जाओ ।६४।

स्फुट शृगारादि रस रसिक अथ भण्यते ऽलकार
अन्य व्यपदेश भणिते विनिर्म्मितो भवति पर्य्याय ।६४।

६४—जिसमे शृ गारादि रस स्पष्ट (प्रगट) हो, वह रसिकालकार कहलाता है और उसमे किसी दूसरे का व्यपदेश कहे जाने पर (अन्य के विषय मे कहे जाने पर) पर्यायालकार बनता है ।

रसिओ जहा— रसिको यथा—

दूई-विअड्ढवअणाणु बधाइअर विअभिउ थद्धा
पडइ सउण्णास्स उरे रसन्त रसणा कुर गच्छी ।६५।



दूती विदग्ध वचनानुबद्धा इतर विस्तभितु स्तब्धा
पतति सपुण्यस्य उरसि रसन्त रसना कुरङ्गाक्षी ।६५।

६५—दूती के चतुर वचनो से बधी हुई और दूसरे को रोकने मे स्तब्ध (घमण्डी) रसीली जबान वाली मृगनयनी (नायिका) (किसी) पुण्यशाली के वक्ष स्थल पर गिर जाती है ।

पज्जाओ भणइ जहा—पर्यायो भणति यथा—

गरुआए ग्गो (? थो) रिआए रमन्ति (ति) पअडे रयरस कत्तो
मा कुणसु तस्स दोस सुन्दरि ? विसमट्ठिअे कज्जे ।६६।

गुरुकाना गौर्याम् रमन्ति प्राकृत रतिरस कृत
मा कुरु तस्य दोष, सुन्दरि ! विषमस्थिते कार्ये ।६६।

६६—गुरुजनो की (बड आदमियो की) सुन्दरी मे गवार आदमी ही रतिरस (का सेवन) करता है । इससे हे सुन्दरी (ऐसे) विपम परिस्थितिवाले कार्य मे उसको दोष मत दे ।

जह णिअ भण्णइ बहुआ परिवाडी पअडण जहा सख
किं पुण विउण त्तिगुण चउग्गुण होइ कव्वम्मि ।६७।

यथानीत भण्यते बहुधा परिपाटी प्रकटन यथासख्य
किं पुन द्विगुण-त्रिगुण-चतुर्गुण भवति काव्ये ।६७।

६७—यथासख्य अलकार वह कहलाता है, जहाँ यथा क्रम से बहुधा (प्राय) परिपाटी (श्रेणी) पूर्वक (शब्द) प्रकट किये जाते है और तो क्या कहे ? काव्य मे यथासख्य अलकार द्विगुण, त्रिगुण और चर्तुगुण (यो तीन प्रकार का) होता है ।

विगुणो जहा – द्विगुणो यथा --

ह स-ससि कमल-कुवलय-भसल-मुणालाए णिज्जिआ लच्छी
तिस्सा गइ मुह-करअल-लोअण-धम्मेल्ल-बाहाहिं ।६८।

हस-शशि कमल कुवलय भ्रमर मृणालाना निर्जिता लक्ष्मी
तस्या गतिमुखकरतललोचनधम्मिल्लबाहुभि ।६८।

६८—उसकी गति, मुख, करतल, नेत्र, केशपाश तथा भुजाओ ने क्रमश हस, चन्द्रमा कमल, कुवलय, भ्रमर और मृणाल (कमलदण्ड) की लक्ष्मी (शोभा) को जीत लिया ।

तउणो जहा – त्रिगुणो यथा—

जो वहइ विमल वेल्लहल कसण सिअ सरिस्सिआ विसमिअको
मुद्धद्ध रयणीकर मउलिससिअे त सिव णवह ।६९।

यो वहति विमल विल्वदल कृष्ण सित सरीसृपान विषमिश्राङ्क
मूर्द्धार्द्धे रजनीकर मौलि सश्रित त शिव नमत ।६९।

६९—जो निर्मल विल्वपत्र, काले और सफेद सापो तथा कालकूट विष और चन्द्रमा को धारण करता है, जिसके मस्तक के अर्द्धभाग पर चन्द्र रूपी मुकुट आधार पाए हुए है, उस महादेव को नमन करो ।

चउग्गुणो जहा—चतुर्गुणो यथा—

तीअे मम मउअ-दीहेहिं णिम्मला-ऽअब धवल सोहेहिं
डसणा हर णअणेहिं जिआइ मणि जवय कमलाइ ।७०।

तया मम मृदुक दीर्घ निर्मलाताम्र धवल शोभैः
दशनाधर नयनैः जितानि कणियावक कमलानि ।७०।

७०—उस (नायिका) ने अपने मन (एक सरीखे) कोमल और दीर्घ, निर्मल लाल और श्वेत शोभा वाले दांत, होंठ और नेत्रो ने (क्रमश) यवन नाम की मणि (बीर बहूटी या चिनूटी) तथा कमलो को जीत लिया।

अन्न (णवै) क्खिअ पत्र (वन्न ? पत्त ?) महाअनपआअे समाहिओ होइ
गुण-किरिआग विरोहेण अेम भणिओ विरोहोत्ति ।७१।

अनपेक्षित प्राप्त सहाय सपदा समाहितो भवति
गुण क्रियाणा विरोधेन एष भणितो विरोध इति ।७१।

७१—जहा अनपेक्षित सहायता रूपी सम्पदा प्राप्त होती हो, वहाँ समाहित अलंकार होता है। तथा गुण और क्रियाओ के विरोध के कारण यह विरोधालंकार कहलाता है।

समाहिओ जहा—समाहितो यथा—

अच्चन्त कुविअ पिअ अव (म) पसायणत्थ पअडमागीअे
उइओ चंदो वि तनो अपसरिओ मलअगंधवहो ।७२।

अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रसादनार्थं प्रवृत्तमानाया
उदितश्चन्द्रोऽपि तत अपसृतो मलयगन्धवह ।७२।

७२—अत्यन्त कुपित प्रियतम को प्रसन्न करने मे प्रवृत्त हुई नायिका के भाग्य मे चन्द्रमा का भी उदय हो गया और मलयाचल की हवा भी चली गई।

विरोहो जहा—विरोधो यथा—

तुज्झ जसो हरसमहर समुज्जलो सअल (य) व(य ?) णिअ दिट मवि
मइल (इ) ण (ह) वइ वर वेरि वीर वहु वअण कमलाह ।७३।

तव यश हर शशधर समुज्ज्वल सकल प्रवणित दृढमपि
मलिन न भवति (?) वर वैरिवीर वधू वदन कमलाभ ।७३।

७३—तुम्हारा श्रेष्ठ वैरियो की वीरांगनाओ के मुख कमल के समान यश महादेव के (ललाट पर स्थित) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है, वह समस्त जनो की निन्दाओ मे दृढ होने पर भी मलिन नही होता।

उवमाणेण सरूव भणिऊण भस्सअे जहिं भेओ
थुइ करणेण सदेहमसिओ सो हु सदेहो ।७४।

उपमानेन स्वरूप भणित्वा भाष्यते यत्र भेद
स्तुति करणेन सदेह सश्रितमस्म तु सदेह ।७४।

७४—उपमान के द्वारा स्वरूप बनाकर जहा भेद (पृथक्करण करके) कहा जाता हो, स्तुति करने मे जहाँ सदेह का आश्रय लिया गया हो, वहाँ यह सदेह अलकार कहलाता है।





दूती विदग्ध वचनानुवद्धा इतर विस्तभितु स्तब्धा
पतति सपुण्यस्य उरसि रसन्त रसना कुरङ्गाक्षी ।६५।

६५—दूती के चतुर वचनो से वधी हुई और दूसरे का रोकने मे स्तब्ध (घमण्डी) रसीली जबान वाली मृगनयनी (नायिका) (किसी) पुण्यशाली के वक्ष स्थल पर गिर जाती है ।

पज्जाओ भणइ जहा—पर्यायो भणति यथा—

गरुआण ग्गो (? थो) रिआए रमन्ति (ति) पअडे रयरस कत्तो
मा कुणसु तस्स दोस सुन्दरि ? विसमट्ठिअे कज्जे ।६६।

गुरुकाना गौर्याम् रमन्ति प्राकृत रतिरस कृत
मा कुरु तस्य दोष, सुन्दरि ! विपमस्थिते कार्य्ये ।६६।

६६—गुरुजनो की (वड आदमियो की) सुन्दरी मे गवार आदमी ही रतिरस (का सेवन) करता है । इससे हे सुन्दरी (ऐसे) विपम परिस्थितिवाले कार्य मे उसको दोप मत दे ।

जह णिअ भण्णइ वहुआ परिवाडी पअडण जहा सख
किं पुण विउण त्तिगुण चउग्गुण होइ कव्वम्मि ।६७।

यथानीत भण्यते बहुधा परिपाटी प्रकटन यथासख्य
किं पुन द्विगुण-त्रिगुण चतुर्गुण भवति काव्ये ।६७।

६७—यथासख्य अलकार वह कहलाता है, जहाँ यथा क्रम से वहुधा (प्राय) परिपाटी (श्रेणी) पूर्वक (शब्द) प्रकट किये जाते है और तो क्या कहे ? काव्य मे यथासख्य अलकार द्विगुण, त्रिगुण और चर्तुगुण (यो तीन प्रकार का) होता है ।

विगुणो जहा – द्विगुणो यथा —

ह स-ससि कमल-कुवलय-भसल-मुणालाण णिज्जिआ लच्छी
तिस्सा गइ मुह-करअल-लोअण-धम्मेरल-बाहाहिं ।६८।

हस-शशि कमल कुवलय भ्रमर मृणालाना निर्जिता लक्ष्मी
तस्या गतिमुखकरतललोचनधम्मिल्लबाहुभि ।६८।

६८—उसकी गति, मुख, करतल, नेत्र, केशपाश तथा भुजाओ ने क्रमश हस, चन्द्रमा कमल, कुवलय, भ्रमर और मृणाल (कमलदण्ड) की लक्ष्मी (शोभा) को जीत लिया ।

तउणो जहा – त्रिगुणो यथा—

जो वहइ विमल वेल्लहल कसण सिअ सरिसिआ विसमिअको
मुद्धद्ध रयणीकर मउलिससिअे त सिव णवह ।६९।

यो वहति विमल विल्वदल कृष्ण सित सरीसृपान विषमिश्राङ्क
मूर्द्धार्द्ध रजनीकर मौलि सश्रित त शिव नमत ।६९।

६९—जो निर्मल विल्वपत्र, काले और सफेद सापो तथा कालकूट विष और चन्द्रमा को धारण करता है, जिसके मस्तक के अर्द्धभाग पर चन्द्र रूपी मुकुट आधार पाए हुए है, उस महादेव को नमन करो ।

चउग्गुणो जहा—चतुर्गुणो यथा—

तीअे सम मउअ-दीहेहि णिम्मला-ऽऽअव धवल सोहेहि
डसणा हर णअणेहि जिआइ मणि जवय कमलाइ ।७०।

तया सम मृदुक दीर्घ निमलाताम्र धवल शोभै
दशनाधर नयनै जितानि कणियावक कमलानि ।७०।

७०—उस (नायिका) ने अपने सम (एक सरीखे) कोमल और दीर्घ, निमल ताम्र और श्वेत शोभा वाले दात, होठ और नेत्रो से (क्रमश) यवन नाम की मणि (वीर बहूटी या चिनूटी) तथा कमलो को जीत लिया।

अन्न (णवे) विखअ पत्त (वन्न ? पत्त ?) सहाअसपआअे समाहिओ होइ
गुण-किरिआण विरोहेण अेस भणिओ विरोहोत्ति ।७१।

अनपेक्षित प्राप्त सहाय सपदा समाहितो भवति
गुण क्रियाणा विरोधेन एप भणितो विरोध इति ।७१।

७१—जहा अनपेक्षित सहायता रूपी सम्पदा प्राप्त होती हो, वहाँ समाहित अलकार होता है। तथा गुण और क्रियाओ के विरोध के कारण यह विरोधालकार कहलाता है।

समाहिओ जहा—समाहितो यथा—

अच्चन्त कुविअ पिअ अव (म) पसायणत्थ पअडमाणीअे
उइओ चदो वि ततो अपसरिओ मलअगधवहो ।७२।

अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रसादनार्थं प्रवृत्तमानाया
उदितश्चन्द्रोऽपि तत अपसृतो मलयगन्धवह ।७२।

७२—अत्यन्त कुपित प्रियतम को प्रसन्न करने मे प्रवृत्त हुई नायिका के भाग्य से चन्द्रमा का भी उदय हो गया और मलयाचल की हवा भी चली गई।

विरोहो जहा—विरोधो यथा—

तुज्झ जसो हरससहर समुज्जलो सअल (य) व(य ?) णिअ दिढ मवि
मइल (इ) ण (ह) वइ वर वेरि वीर वहु वअण कमलाह ।७३।

तव यश हर शशधर समुज्ज्वल सकल प्रवणित दृढमपि
मलिन न भवति (?) वर वैरिवीर वधू वदन कमलाभ ।७३।

७३—तुम्हारा श्रेष्ठ वैरियो की वीरागनाओ के मुख कमल के समान यश महादेव के (ललाट पर स्थित) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है, वह समस्त जनो की निन्दाओ से दृढ होने पर भी मलिन नही होता।

उवमाणेण सरूअ भणिऊण भस्सअे जहि भेओ
थुइ करणेण सदेहससिओ सो हु सदेहो ।७४।

उपमानेन स्वरूप भणित्वा भाष्यते यत्र भेद
स्तुति करणेन सदेह सश्रितसस्स तु सदेह ।७४।

७४—उपमान के द्वारा स्वरूप बताकर जहा भेद (पृथक्करण करके) कहा जाता हो, स्तुति करने मे जहाँ सदेह का आश्रय लिया गया हो, वहाँ वह सदेह अलकार कहलाता है।



सदेहो जहा— सन्देहो यथा—

किं कमल मिण (णो) त सकेसर कि ससी ण तत्थ मओ
दिट्ठ महि ? तुज्झ मुह सससअ अज्ज तरुणेहि ।७५।

किं कमलमिद ? तत्सकेसर ? कि शशी ? न तत्र मृग
दृष्ट सखि ! तव मुख ससशय आर्य तरुणै ।७५।

७५—क्या यह कमल है ? (पर) वह पराग के सहित होता है। तो क्या वह चन्द्रमा है ? (पर वहाँ मृग तो नही है, हे सखि, (इस प्रकार) तुम्हारे मुख को आर्य तरुणो ने सदेह के साथ देखा।

णत्थि विहेओ किरिआ रसिअस्स वि होइ जच्च फल रिद्धी
भण्णइ विभावणा सा कव्वल कार इत्तेहि ।७६।

नास्ति विभेद क्रिया रसिकस्याऽपि भवति यत्र फल ऋद्धि
भण्यते विभावना सा काव्यालकारवित्तै ।७६।

७६—जहाँ विभेद (पृथक्करण) न हो क्रियारसिक की भी जहा फल ऋद्धि होती हो, उसे काव्यालकारविज्ञ विभावना (अलकार) कहते हैं।

विभावणा जहा— विभावना यथा—

वड्ढइ असित्तमूलो अणुप (? अे) अर ताइ पसरइ एाहम्मि
सग्ग गओ (अस्स) वि अकण्हो अधो अ विमलो जसो तुज्झ ।७७।

वर्द्धतेऽसितमूलमनुपरान्तमपि प्रसरति नभसि
(स्वर्गं) गतस्यापि अकृष्ण अधश्च विमल यशस्तव ।७७।

७७—तुम्हारे स्वर्ग जाने पर भी, तुम्हारा अश्वेतमूलक और असीम यश आकाश मे बढ रहा है (ऊपर) फैल रहा है, और नीचे (मर्त्यलोक मे) भी पवित्र और श्वेत है।

अन्नो चिअउ तरत्तिअ आज अ सा वाइ त स सजणिउ
डि (ड) विहो होइ जह तहा साहिअ त णिसामेह ।७८।

अन्य त्यजतु तरङगि तता च आशावादि त स सजनयितु
द्विविधे भवति यथा तथा साधित त निशामय ।७८।

७८—दूसरे चाहे चाचल्य को छोडे, आशावादी उसे करने के लिए तैयार रहता है। (वह) जैसे दो प्रकार का होता है उसे उस प्रकार सिद्ध किया गया, उसे सुना।

कतइ वअणाइ जहि असुऐहि उत्तरेहिं णज्जति
सोउहि तरम्मि उहिं अगूढ भावो सआ उत्तो ।७९।

कति वचनानि यत्र अश्रुतैरुत्तरै ज्ञायन्ते
सोऽभ्यन्तरै ऊहै अगूढ भाव सदा उक्त ।७९।

७९—जहा कुछ वचन बिना उत्तर सुने हुए ही आभ्यन्तर तर्कों द्वारा ज्ञान हो जाते हो, वहा वह सदा अगूढभाव कहलाता है।

जस्म हणईई अण्णणो ण ऽण्णो पअडिअ जअे जहिं अत्थो
अण्णावअेम-णामो (सो) सिद्धो अत्थ आरेहिं ।८०।

यस्य हन्ति ह्यन्यो नान्य प्रकटित जगति यत्रार्थ
अन्याव्यपदेश नामा स सिद्धो अर्थकारै ।८०।

८०—जहाँ जिसका अन्य अर्थ जगत् मे प्रकटित (प्रसिद्ध) अन्य का हनन नही करता (हटाता नही) वह अर्थकारो की दृष्टि मे अन्य व्यपदेश अलकार नाम से प्रसिद्ध है ।

आतुर अलकारो जहा— आतुरालकारो यथा—

हा हा विहूअ करअलानहिअ सुअ डड्ढ
पडिआ गोलातुरेण सरसेण मिसेण हलिअ सो हा ।८१।

हा ! हा ! विधुत करतला लब्ध सुत दग्धम्
पतिता नद्यामातुरेण सदृशेन मिषेन हलिकस्नुषा ।८१।

८१—हा ! (जब) किसान की पुत्रवधू ने पुत्र को जला हुआ पाया तो हाथ हिलाती हुई समान आतुर (रोग) के बहाने नदी मे गिर पड़ी ।

अण्णावअेसो जहा— अन्य व्यपदेशो यथा –

अण्णे सवध भोइणि णववच्छअसे णअ वइलस्स
आलोअ वत्त (? मेत्त) सुहवो ण कज्जकरणक्खमो अेसो ।८२।

अन्ये सम्बधभोगिनि नव वत्सो ऽनदृश बलीवर्दस्य
आलोक मात्र सुखद न कार्य्यकरणक्षम एष ।८२।

८२—अन्य से सम्बन्ध का उपभोग करने वाली ! बैल का यह असदृश नया बछडा सिर्फ देखने मे सुखकर है, कार्य करने मे समर्थ नही ।

पुव्व-भणिअसरिसम्मि वत्थुम्मि भणण तह अण्ण ? परिअरो
ण स परिअरिओ अन्थ (त) व (र) णासो जहा

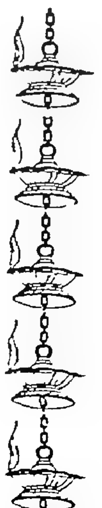
पूर्व्व भणित सदृशे वस्तुनि नणन तथा च परिकर
न स परिकरित अर्थान्तिर न्यासो यथा ॥

८३—पहले कही हुई सदृश वस्तु का वैसा ही कथन करना अन्य परिकरालकार कहलाता है । अगर वह परिकरित (उसी अर्थ का कथन) नही है तो उसे अर्थान्तिरन्यास समझना चाहिए ।

विप्फुरइ रवी उअआ अलम्मि णहु अन्थ महिहर सिरत्थो
ते असिणो वि तेअ लहन्ति ठाण ल्हेऊण ।८३।

विस्फुरति रवि उदयाचले नहि अस्त महीधरशिर स्थ
तेजस्विनोऽपि तेज लभन्ते स्थान लब्ध्वा ।८३।

८३—सूर्य उदयाचल पर ही चमकता है, अस्ताचल के शिखर पर रहा हुआ नही । तेजस्वी पुरुष योग्य स्थान पाकर ही तेज पाते हैं ।



अण्णपरिअरो जहा—अन्यपरिकरो यथा –

तुरियाइ (तु) रियगमणो णिअबभरमन्थराइ खलिअपओ
मग्गेण तीअ वच्चइ पेल्लावल्लीअ तरुणिजणो ।८४।

त्वरितातित्वरितगमनो नितम्बभरमथरातिस्खलितपद
मार्गेण स्त्री व्रजति पीडयन तरुणि(ण) जन ।८४।

८४—शीघ्रातिशीघ्र गमन करने वाला, और नितम्व के भार से मन्द और अतिस्खलित चरणवाला तरण जन माग मे स्त्रियो को धक्का मुक्की करते हुए जा रहा है । ?

बहु वत्थु च्चिअ किरिआ समकालपआसण स होउत्ति
गुरुवीर जाइ रइओ जाअइ उज्जा अलकारो ।८५।

बहु वस्तूचितक्रिया समकालप्रकाशन सहोक्ति
गुरुवीरजातिरचितो जायते ऊर्ज्जालकार ।८५।

८५—अनेक वस्तुओ के योग्य क्रियाओ को एक ही समय मे प्रकट करना सहोक्ति कथन होता है । जहा महान् वीरो के स्वभाव का कथन होता हो, वहा ऊर्जालकार होता है ।

उज्जा (? द्धा) लकारो जहा—ऊर्ज्जालकारो यथा—

वीसत्थ च्चिअ गेण्हसु वइ वि (रि) अणा वेग्ग णिविडिअ खग्ग
पहर त्त पडिअ पहरण मुणइ करेसु णाससमत्थ ।८६।

विश्वस्त चैव गृह्णातु वैरिजनावेग-निपीडित खड्ग
प्रहरान्त पतित प्रहरण मन्यते करोतु नाशसमर्थम् ।८६।

८६—वैरीजनो के हौसलो को परास्त करने वाली तलवार विश्वस्त होकर पकडो । एक पहर तक गिरे हुए पर प्रहार करो, (वह) नाश करने मे समर्थ माना जाता है ।

सहोत्ती जहा—सहोक्ति यथा—

णिद्दाइ समा लज्जा सरीर सो (स्मा) न्ता (भा) इ सह गआ कित्ती
समअे तुह अणुरअणी तीअे वड्ढन्ति णीसासा ।८७।

निद्रया सम लज्जा शरीरस्यान्तेन शोभया (?) सह गता कीर्त्ति
समये तव अनुरजनी अतीते वर्द्धन्ते निश्वासा ।८७।

८७—निद्रा के साथ लज्जा चली गई, शरीर के अन्त के (शरीर शोभा के) साथ कीर्ति चली गई । प्रत्येक रात्रि को समय के बीत जाने पर तुम्हारे नि श्वास बढते जाते हैं ।

उअमा इत्थ णिण्हविअ णिअडासा अवण्हुई होइ
पीई अईसअेण पेमाइसओ भणेअव्वो ।८८।

उपमा अत्र (यत्र) निन्हविता निकटा सा अपह्नुतिर्भवति
प्रीत्यतिशयेन प्रेमातिशयो भणितव्य ।८८।

८८—जहा निकट की उपमा छिपा दी गई हो, वहा अपह्नुति होती है । जहा प्रीति की अतिशयिकता का वर्णन हो, उसे प्रेमातिशयालकार कहना चाहिए ।

अवण्हुई जहा—अपह्नुति यथा—

णहु उच्च विडव सठिअ पहिट्ठकलअठि कलरवप्पसरो
सुव्वइ वणविलसिअ पुप्फचावमहुरो रवो अेसो ।८९।

न तु उच्च विटप सस्थित प्रहृष्ट फलकण्ठि कलरवप्रसर
श्रूयते वनविलसित पुष्पचाप मधुरो रवो एष ।८९।

८९—यह ऊँचे तरु पर बैठी हुई ढीठ (धृष्ट) कोयल के कलरव का प्रसार नही है, किन्तु वन मे विलास करने वाले कामदेव का यह मधुर रव (शब्द) सुनाई देता है ।

पेमाइसओ जहा—प्रेमातिशयो यथा—

सहसा तुअम्मि दिट्ठे जो जाओ तीअे प (र) हरिसाइसओ
सो जइ पुणोवि होनइ सुन्दर तुअ दसणु च्चेअ ।९०।

सहसा त्वयि दृष्टे यो जात स्त्रिय प्रहर्षातिशय
स यदि पुनरपि भविष्यति सुन्दर तव दशन चैव ।९०।

९०—सहसा तुम्हे देखने पर स्त्री का जो हर्षातिशय हुआ है वह यदि पुन होगा तो तुम्हारा दर्शन सुन्दर ही है ।

रिद्धी-महाणुभावत्तणेहि दुविहो वि जाअइ उदत्तो
सो परिअत्तो घेप्पइ जत्थ विसिट्ठ णिअ दाउ ।९१।

ऋद्धिमहानुभावत्त्वाभ्या द्विविधो ऽपि जायते उद्वर्त्त
स परिवर्त्तो गृह्यते यत्र वैशिष्ट्य निज दातुम् ।९१।

९१—ऋद्धि और महानुभावता के भेद से उद्वर्तालिकार दो प्रकार का होता है । और परिवर्तालिकार वह कहलाता है, जहा अपनी विशेषता देकर (बनाकर) आरोपित किया जाता है ।

रिद्धी-उदत्तो जहा—ऋद्धि उद्वर्त्तो यथा—

तुह णर-सेहर ! विप्फुरिअरअणकरिण (किरण) णिअरणासिअतमाइ
भिच्चाणवि दीव-सिहामइलाइ ण होंति भवणाइ ।९२।

तव नरशेखर ! विस्फुरितरत्नकिरणनिकरनाशिततमासि
भृत्यानामपि दीप शिखा मलिनानि न भवन्ति भवनानि ।९२।

९२—हे नरशेखर ! तुम्हारे भवन चमकती हुई रत्न-किरण राशि से अन्धकार को नष्ट करने वाले होने से अनुचरों (के घर) की दीप शिखाओं से मलिन नही होते ।

महाणुभाव जाइउदत्तो जहा— (महानुभाव जाति उद्वर्त्तो—

वेल्लन्ल रमण (णि) थणहर पडिपेल्लिअ विअड वच्छ पीढावि
ण चलति महा-सत्ता मअणस्स सिरे पअ काउ ।९३।

विल्वफलरमणिस्तनधरप्रतिपीडितविकटवृक्षपीठा अपि
न चलन्ति महा सत्त्वा मदनस्य शिरसि पद कर्त्तुम् ।९३।



९३—बिल्वफल, रमणी तथा बादलो द्वारा विकट वृक्षपीठ प्रतिपीडित होने पर भी महासत्व (महापुरुष) कामदेव के सिर पर पैर करन के लिए (कामदेव को दबाने के लिए) चलित नही होते ।

परिअत्तो जहा— परिवर्त्तो यथा—

ससिमुहि ! मुहपकअकन्तिपसरकरणक्कम-विलासेण
दिट्ठि दाऊण तओ गहिआइ जुआण हिअआइ ।९४।

शशिमुखि ! मुखपकजकातिप्रसरकरणक्रमविलासेन
दृष्टि दत्त्वा ततो गृहीतानि युवाना हृदयानि ।९४।

९४—हे चन्द्रमुखी, तुमने उधर नजर दौडाकर अपने मुख कमल की कान्ति फैला कर तथा (अन्य) इन्द्रियो के क्रमश विलास से युवको के हृदय आकर्षित कर लिए ।

दव्व किरिआ-गुणाण पहाणआ जेसु कीरइ कईहिं
दव्वुत्तर किरिउत्तर गुणुत्तरा ते अलकारा ।९५।

द्रव्य-क्रिया-गुणाना प्रधानता येषु क्रियते कविभि
द्रव्योत्तर-क्रियोत्तर-गुणोत्तरास्ते अलकारा ।९५।

९५—जहा (जिस काव्य मे) कवियो द्वारा द्रव्य, क्रिया या गुणो को प्रधानता दी जाती है, वहा क्रमश वे द्रव्योत्तर, और गुणोत्तर अलकार कहलाते हैं ।

दव्वुत्तरो जहा— द्रव्योत्तरो यथा—

वरकरितुरग मदिरआणा अर सेवअ ? कणअ रअणाइ
चितिअमेत्ताइ चिअ हवन्ति देवे पसण्णम्मि ।९६।

वरकरितुरगमन्दिर-आज्ञाकरसेवककनकरत्नानि
चिन्तितमात्राणि चैव भवन्ति देवे प्रसन्ने ।९६।

९६—देवता के प्रसन्न होने पर श्रेष्ठ हाथी, घोडे, महल, आज्ञाकारी सेवक, सोना और रत्न चिन्तितमात्र से हो जाते हैं ।

किरिउत्तरो जहा— क्रियोत्तरो यथा—

मा रुअउ मा किसाअउ मा खिज्जउ मा विहिं उआलहउ
जा णिक्किवा तुह बहु वल्लहस्स व (वि) रई पडे (?) पडिआ ।९७।

मा रुदतु मा क्लिश्नातु मा खिद्यत मा विधिं उपालभता
या निष्कृप तव बहु वल्लमस्य विरति पदे पतिता ।९७।

९७—मत रोओ, क्लेश मत करो, खिन्न मत होओ और न विधि (दैव) को ही उपालम्भ दो । तुम तो बहुवल्लभ (बहुजनप्रिय) हो इसलिए जो निर्दया बन गई है, वह विरत होकर (तुम्हारे) चरण मे पडेगी ।

गुणुत्तरो जहा— गुणोत्तरो यथा —

ससिसोम्म ! सरल ! सज्जण ! सच्चवअ ! रूहअ ! सुवरिअ ! सलज्ज !
दिट्ठो सि जहिं रूअ ते ताइ (तुह) कह णु ण णरिद ? ।९८।

शशिसौम्य ! सरल ! सज्जण ! सच्चवअ ! सुहअ ! सुवरिअ ! सलज्ज !
दृष्टोसि यत्र रूप, ते तावत् तव कथ नु न नरेन्द्र ।९८।

९८—हे चन्द्रमा के समान सौम्य सरल, सज्जन, सत्यव्रत, भाग्यशाली, अच्छी बात स्वीकार करने वाले, सलज्ज नरेन्द्र, जहा रूप देख लिया है, वहा वे तुम्हारे (अपने) कैसे नही होगे ।

उवमाअे उवमेअ रुडज्जइ जेए सो सिलेस त्ति
सो उण सहोत्ति-उअमा-हेऊहिंतो मुणेअव्वो ।९९।

उवमया उमेयय रूप्यते येन स श्लेष इति
स पुन सहोक्तिरुपमा हेतुभ्यो मन्तव्य ।९९।

९९—जहां उपमा के द्वारा उपमेय का जिस शब्द (कारण) से निरूपण किया जाना है, वहां वह श्लेषालकार होता है । वह सहोक्ति, उपमा और हेनु को लेकर तीन प्रकार का समझना चाहिए ।

सहोत्ति-सिलेसो जहा— सहोक्तिश्लेषो यथा

पीणा घणा अ दूर समुण्णआ णहविअत्ति अच्छाआ
मेहा (हा) घणआइ तुह णिद्दवत्ति तण्हाउरो लोओ ।१००।

पीना घनाश्च दूर समुन्नता नभो (नख) विर्वत्तितच्छाया
मेघा घनतया तव निर्द्रावति तृष्णातुरो लोक ।१००।

१००—हे मोटे (पुष्ट) दूर तक उन्नत (ऊचे) आकाश मे (नख पर) अपनी छाया फैलाए हुए पयोधरो ! (स्तनो) सघनता के कारण तृष्णातुर (कामातुर) लोग तुम्हारी ओर दौडते है (आकर्षित होते है) । (नोट—यहां मेघ और स्तन दोनो का शब्दो द्वारा सहोक्ति श्लेष बताया गया है) ।

उवमासिलेसो जहा— उपमाश्लेषो यथा—

दूराहि चिअ णज्जइ रक्खा सद्दस्स(स) सूइअ गमण
लहुइअमहिहरसत्ताणु मत्तहत्थीण व पहूण ।१०१।

दूराच्चैव ज्ञायते रक्षा शब्दस्य सशूचित गमनम्
लघूदित महीधर सत्तोन्मत्तहस्तीनामिव प्रभूणाम् ।१०१।

१०१—छोटे-से उदीयमान महीधर (पवत और राजा) की सत्ता मे उन्मत्त हाथियो की तरह प्रभुओ (राजाओ) का दूर से ही रक्षा (घण्टा के और रक्षको के) शब्द से सम्यक्तया (भलीभांति) सूचित गमन मालूम होता है । (नोट—यहां हाथियो और राजाओ का उपमाश्लेष सूचित किया गया है) (हाथियो की सत्ता पर्वत पर और राजाओ की पृथ्वी पर) ।

हेउसिलेसो जहा— हेतु श्लेषो यथा—

हेलाविसविअमअण (ग) ग्गणेण समपेच्छआ इअ जणस्स
अलिअपरम्मुह आअे भद्द ! णअणप्पहो त सि ।१०२।

हेला विसर्पितमदनगणेन सम्प्रेक्षकादिक जनस्य
अलीक पराङ्मुखतया भद्र ! नयनपथ त्वमसि ।१०२।



१०२—हे भद्र, (तुमने) अनायास (लीला पूर्वक) ही कामदेव के गण का दूर हटा दिया है। इसलिए झूठ से पराङ्मुखता के कारण प्रेक्षकादिजनो के लिए तुम ही नयनपथगामी हो।

(अच्चुब्भड) गुण सथुइ वच्चसे (ववए) स वसेण सविसआ जत्थ
कीरइ णिद्दा (? णिदा) इत्थिआ सा ववअेसत्थुई णाम ।१०३।

अत्युद्भट गुण सस्तुति-व्यपदेशवशेन सविषया यत्र
क्रियते निन्दादि स्थिता (?) सा व्यपदेशस्तुति नाम ।१०३।

१०३—जहाँ अत्यन्त उद्‌भट गुण की स्तुति व्यपदेशवश (बहाने को लेकर) विषय सहित निन्दादिस्थित विषयो के सहित की जाती है, उसका नाम व्यपदेश स्तुति है।

ववएसत्थुई जहा—व्यपदेशस्तुति यथा—

अकुलीणे पअत (इ) जडे अकज्जवके जीअे ससकम्मि
तुज्झ जसो णर-सेहर किज्ज सुअणाविअणामाइ ।१०४।

अकुलीने प्रकृतिजडे अकार्य्यवक्रे जीवे सशके
तव यश नरशेखर ! कुर्यात् श्रुतज्ञापितनामादि ।१०४।

१०४—अकुलीन, प्रकृतिजड और अकार्य करने मे वक्र जीव के सशक होने पर हे नरशेखर, तुम्हारा यश सुनने पर तुम्हारे नामादि का ज्ञापन करे।

गुणसरिसत्तण तण्हाइ जत्थ हीणरस गुरुअअेण सम
होइ समकाल किरिआ जा सा सम जोइआ साहु ।१०५।

गुणसदृशत्व तृष्णया यत्र हीनस्य गुरुजनेन सम
भवति समकाल क्रिया या सा समज्योतिता साधु ।१०५।

१०५—जहा गुरु (महान्) के साथ हीन (लघु) का गुण की समानता की तृष्णा से जो सम (एक) कालिकक्रिया होती है, वह समज्योतितालकार कहलाता है।

समजोइअ जहा—समज्योतित यथा—

सअणस्स पर रज्ज कीरइ रइ तरल तरुणि णिवहस्स
समआलचलिअमणिवलयमेहला णेउररवेण ।१०६।

स्वजनस्य पर राज्य करोति रतिस्तरलतरुणिनिवहस्य
समकालचलितमणिवलयमेखलानुपूररवेण ।१०६।

१०६—रतिचचल तरुणी समूह के एक काल (साथ) मे चलित मणिजटित वलय करधनी एव नूपुर (नेऊर) की आवाज से स्वजन पर राज्य करती है।

अप्पत्थुअ-प्पसगो अहिआर-विमुवक वत्थुणो भणण
अणुमाण लिंगेण लिंगी साहिज्जअे जत्थ ।१०७-१०८।

अप्रस्तुतप्रसगो ऽधिकार-विमुक्त वस्तुत भणनम्
अनुमान लिङ्गेन लिंगी साध्यते यत्र ।१०७-१०८।

१०७—जहा अधिकार मुक्त (अधिकार मे बाहर की) वस्तु का कथन किया जाता हो, वहा अप्रस्तुत-प्रसगालकार कहलाता है। जहां लिंग (साधन) के द्वारा लिंगी (साध्य) सिद्ध किया जाता हो वहा अनुमानालकार होता है।

अप्पत्थुअप्पसगो जहा—अप्रस्तुत प्रसगो यथा—

माऽऽसु क्कोअेण गआ उअह् वहुआइ मुण्ण देवउल
पत्तो दुल्लह-लभो वि अण्ण-कज्जागओ जारो ।१०८-१०९।

सा आशु कोपेन गता उत्पथ वहुकादिशून्यदेवकुलम
प्राप्त दुर्लभलाभोऽपि अन्य कार्य्यागतो जार ।१०८-१०९।

१०८—वह शीघ्र कोप के कारण ऊजड मार्ग पर बने वहुजनशून्य देवालय मे पहुची। किन्तु दूसरे काम मे आये हुए जार का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ।

अणुमाण जहा—अनुमान यथा—

णूण तीअ विं सूअन्ति तेण सह विलम्भिअ वआसे (अस्से) ण
णहव अपल्लव लग्गा (इ) स अणिज्ज दलाइ अगाइ ।१०९-११०।

नून स्त्रियोपि स्वपन्ति तेन सह विलम्भित अवकाशेन (वयस्येन)
नखवत् पल्लवलग्नानि शयनीयदलानि अगानि ।१०९-११०।

१०९-११०—निश्चय ही स्त्रियाँ सो रही है। उसने मौका पाकर उसके (सखा) के साथ विलास किया है। (उसके) अग शयनीयदल (बिछौने आदि पर) मे युक्त और नखके मे पत्ता से लगे हुए (सटे हुए) हैं।

आअरिसम्मि व जासिं वित्थररोयणाण तु अफुडच्छाया ?
दीसति पअव्वाहिअ अहारिणो सो हु आअरिसो ।१११।

आदर्शे इव येषा विस्तररोचकाना तु अस्फुटछाया
दृश्यन्ते पदव्याहृता धारी स खलु आदर्श ।१११।

१११—जिन विस्तार रुचिवालों की अस्पष्ट छाया आदर्श मे दिखाई देती है, वही पद से कहे जाने वाले आधार वाला अलकार आदर्श कहलाता है।

आअरिसो जहा—आदर्शो यथा—

केलिपरा मोसरमाण तुअ फसूसव अपाअन्ता
हत्था से (ते) णहकिरणच्छालेन धाराहिव तुवन्ति ।११२।

केलिपरा मोष्यमान तव स्पर्शोत्सवमप्राप्नुवन्त
हस्ता तस्य (ते ?) नख किरण छलेन धाराधिप ! स्तुवन्ति ।११२।

११२—हे धाराधिप, क्रीडापरायण चुराये जाने वाले आपके स्पर्शोत्सव को नही प्राप्त करते हुए हाथ अपने नख की किरणो के वहाने आपकी स्तुति करते है।

थोवोवमाइ सहिआ सतकिरणा गुणाणुजोअेण
अवि वि (व ?) क्खिअ सामस्से (त्थे ?) ओ पेक्खा होइ साइसआ ।११३।



स्तोकोपमादि सहिता शान्तकिरणा गुणानुयोगेन
अविवक्षितसामर्थ्ये उत्प्रेक्षा भवति सातिशया ।११३।

११३—गुण के योग से शान्त किरणवाली, थोडे उपमादि से सहित एव कहने की इच्छा (विवक्षा) का सामथ्य न होने पर जहाँ अतिशयिता होती हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है ।

ओपेक्खा जहा—उत्प्रेक्षा यथा –

दीसइ पूरिअ सखो व्व मलअ-मारुअ-णरे द सचलणे
दरदलिअमलिआमउलग्गमुहगु जिरो भमरो ।११४।

दृश्यते पूरित सख इव मलय-मारुत-नरेन्द्र सञ्चलने
दरदलितमल्लिकामुकुललग्नमुखगुञ्जारवो भ्रमरो ।११४।

११४—मलयाचल के पवन रूपी राजा के चलने पर खिली हुई मोगरे की कली मे लगा हुआ मुखवाला भ्रमर का गुंजारव सा मालूम होता है, मानो शख ध्वनि हो रही है ।

विविहेहिं अलकारेहिं अेक्क-मिलिअेहिं होइ ससिद्धी
आसीसालकार आसिव्वाअ चिअ भणति ।११५।

विविधैरलकारै एकमिलितैर्भवति ससिद्धि
आशीषालकार ~आशीर्वाद चैव मणन्ति ।११५।

११५—जहाँ विविध अलकार एकत्र मिलते हो, वहाँ ससिद्धि अलकार होता है । जहाँ आर्शीवाद कहा जाता है—दिया जाता है, वहाँ आशीषालकार होता है ।

ससिद्धी जहा—ससिद्धिर्यथा—

तुज्भ मुह ससिमुहि ! तुह मुह व णअ पल्लव (पा) करी चल (र) णा
थणआ सुहजलकलसोव्व सुन्दरा क ति (?ण) मोहत्ति (न्ति) ।११६।

तव मुख शशिमुखि ! तव मुख इव नवपल्लवकरचरणा (पादचलना)
स्तना शुभजलकलमिव सुन्दरा क न मोहयन्ति ।११६।

११६—हे चन्द्रमुखि, तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के समान ही है। नये पल्लव (कोमल पत्तो) के समान हाथ और चरण है, तुम्हारे दोनो स्तन शुभजलकलश के समान सुन्दर है वे किसे नही मोहित करते ?

आसीसा जहा—अशीषा यथा—

आसीस तातस्सइ (वि) सअलकलुसाइ तुम्ह णासतु
दिअ गुरु-तवसि कुआर -सइअण सुअणेहि दिण्णाइ ।११७।

आशीषस्तातस्यापि सकलकलुषानि तव नाशयतु
द्विजगुरुतपस्विकुमारस्वजन सुजनै दत्ता ।११७।

११७—देव, गुरु, तपस्वीकुमार, स्वजन और सज्जनो द्वारा दिए हुए, पिताजी के भी आर्शीवाद तुम्हारे समस्त पापो का नाश करें ।

उवमा रुवअमेअ विरइज्जइ जत्थ रुयअे उवमा
णिअ रिमणा हु विसिट्ठा चदा चिअ उवभारहिआओ ।११८।

उवमा रूपकमेतत् विरच्यते यत्र रूपके उपमा
निदर्शना खलु विशिष्टा चद्रार्चितो उपमारहिता, ११८।

११८—जहा रूपक मे उपमा सलग्न की जाती हो, वहाँ वह उपमारूपक अलकार होता है। जहा चन्द्रार्चित (चन्द्रादिकी) उपमा से रहित विशिष्ट उक्ति हो, वहाँ निदर्शनालकार होता है।

उवमारूवअ जहा—उपमारूपक यथा—

सपेसिअ णअणसरा रसणा रव तरल मिलिअ घर (? घ) हसा
खलिअ जुआणा पसरइ मम्मह धाडिव्व धवलच्छी ।११९।

सप्रेषित नयन शरा रसना रव तरल मिलिता घर हसा
स्खलित युवाना प्रसरति मन्मथ धाटीव धवलाक्षी ।११९।

११९—कामदेव की दूती की तरह धवलाक्षी (सुन्दर नेत्र वाली) युवती अपने नयनबाणो को प्रेषित करती हुई जिह्वा के शब्द से चचल होठ रूपी हसो को मिलाती हुई अतएव युवको को स्खलित करती हुई जा रही है।

णिअरिसण जहा—निदर्शन यथा—

दावन्ति जलहरा सअल दसणवह समारूढा
खणविहडन्तघण समुतल (? ण्ण) ई रह अ कालकीलाओ ।१२०।

द्रवन्ति जलधरा सकलदृश्यनव हसमारूढा
क्षण विघटत् घन समुन्नती रहस्य काल क्रीडात ।१२०।

१२०—सकल दृश्य (आकाश) रूपी नवहस पर आरूढ होकर जलधर द्रवित हो रहे हैं (बरस रहे है)। क्षण भर मे बिखर जाने वाले बादलो की समुन्नति (ऊँचे उठ जाना) त्वरित गति मे बदलने वाले काल की क्रीडा मे होती है।

होइ सिलेस छलेण मज्ज ता (ती ?) रूअअेण अफुडेण
उपेक्खा, अेसा सुआ उप्पेक्खावअव-णामा हु ।१२१।

भवति श्लेषच्छलेन मार्जयन्ती रूपकेनास्फुटेन
उपेक्षा, एषा श्रुता उत्प्रेक्षावयवनाम्नी खलु ।१२१।

१२१—श्लेष के छल (बहाने) से अस्फुट रूपक के द्वारा जहा परिमार्जन (शोधन) होता हो, वहाँ उपेक्षा-अलकार होता है, इसका नाम 'उपेक्षावयव' भी सुना गया है।

उप्पेक्खावअवो जहा—उपेक्षावयवो यथा—

समवि असण सपुण्ण वणेण कुसुमाण रआणि विरअसि
उज्जोवइ हअचदु दोडक्खेण प पइट्ठो ।१२२।

समविकसनसम्पूर्णं वनेन कुसुमानि रत्नानि विरचन्ति
उद्योतते हत चन्द्रोदयेक्षण उप प्रतिष्ठ ।१२२।

१२२—समानरूप से विकसित सम्पूर्ण उद्यान के द्वारा पुष्पो के पराग रचे जा रहे है। जो अपने स्थान पर स्थित रह चन्द्र को देखन (चन्द्रमा की किरणो) से शोभित हो रहे है।





सा ओ भेउ व अत्थू जत्थ वत्थूहि होइ ओहेऊ
अभणिअ क्पिप्पय ? अग्गभो पीओ तण (ह) णूण सद्देण ।१२३।

सा उद्भिद वस्तू यत्र वस्तुभि भवति उद्भेद
अभणत् 'किपद गर्भो' प्रियो तनु (तथा) 'न्यून' शब्देन ।१२३।

१२३—वह उद्‌भिद अलकार है, जहाँ वस्तु का दूसरी वस्तुओ द्वारा उद्‌भेद होता है, वह 'किपदगभ' 'प्रिय' तथा नून' से शब्द तीन प्रकार का कहा है ।

उब्भिओ भणिओ किपअगब्भो जहा—(उद्‌भिद्‌भणितो किपदगर्भो यथा—

आली विअच्छण साल (लेणा) णीअ हलिअस्स अमुणिअरसस्स
णिव्वासिअ सिर वीर मिच्छूण मुह विअट्टेण ।१२४।

आली ! विचक्षण श्यालेनानीत हुलिकस्याज्ञातरसस्य
निर्वासितशिरोवीर इक्षूणा मुख विवर्त्तेन ।१२४।

१२४—अरी सखि, जिसे रम ज्ञात नही, ऐसे हालिक (हल चलाने वाले) के साले के द्वारा लाए हुए गन्नो का मुख विवर्त (फाडने) के कारण निर्वासित सिर वाले वीर की तरह विचक्षण लगता है ।

णूण सद्दे जहा—

दर णिग्गअ ण पेच्छइ णूण सहआरम जरी अज्ज
तेण तुह वच्छ लोअण अहिओ (अ) वह (इ) मुहअद ।१२५।

दर निर्गत न प्रेक्षते नून सहकारमञ्जरी अद्य
तेन तव वत्स लोचन अधिक वह मुखचन्द्रम् ।१२५।

१२५—निश्चय ही आम्रमजरी आज थोडे से बाहर निकले हुए मुखचन्द्र को नही देखती, इसके कारण हे वत्म ! तुम्हारे नेत्र अधिक (भार) वहन करते है ।

यमक अलकार

वर (र) वअण पालण किंपएण सहि (ह) रिसण खवलअ त्ति
जमअ सुइ सम भिणद्ध (? त्थ) वअणे पुणुरुत्तआ भणिअ ।१२६।

वर वचन-पालन, किं पदेन, सहर्षण खवलय इति
यमक श्रुति सम भिन्नार्थ वचने पुनरुक्तता भणित ।१२६।

१२६—वचन पालन करना श्रेष्ठ है पद से क्या मतलब ? (यह) सहर्प आकाशवलय है, श्रवण के साथ ही भिन्न अर्थ के कहने मे पुनरुक्ति करना 'यमक' कहलाता है ।

वलिअलकारो जहा—वलितालकारो यथा—

कि तु रूएण हला, रूअस्स स साम (मि ?) णिव्व सत्तीअे
अस्सा (स्स) ओच्छ अ घ ड ओ तस्स अ पाअेसु पडिआओ ।१२७।

कि नु रूपेण हले, रूपस्य स्व स्वामिनीव सति
आस्य उत्सव धृता तस्य च पादेषु पतिता ।१२७।

आवली जमश्रो जहा आवलि यमको यथा—

ह भोर विज्जल पजल पजलणिभरे णिब्भरे ओण
सा सा सा मे सा सा म स अमोतु कलिओ ।१३२।

हे भद्र ! विद्युत्प्रज्वलप्रज्वलनभरे निभरे कोण
सा अह ता मोक्तु कलित ।१३२।

१३२ हे भद्र, अग्नि क भार से निभर कोने म विजली जलाओ, वह मेरे लिए ऐसी ही है म भी उसके लिए वैसा ही हू, मैं उसे छोडने के लिए तैयार हू ।

सअल पग्र जमग्र जहा –

तुह कज्जे साहसिआ केण कआ वदणेण साहसिआ
भणिऊण साहसिआ सहिआहि फुड सा हसिआ ।१३३।

तव कार्ये सा हसिना केन कृता वन्दनेन साहसिका ?
भणित्वा साहसिका सखिभि स्फुट सा हसिता ।१३३।

१३३—तुम्हारे कार्य (के बारे) मे वह हस पडी थी, किस वन्दन ने उसे साहसिक बना दिया । (वह) साहसिका यो बोल कर सखियो के साथ स्पष्ट (खिलखिला कर) हसी ।

सकल पद यमक यथा—

असे विऊण अशेपाण (?) होति समग्ग आधिणो कव्वे
तेण वि अन्नो भावो पअेसो चेअ दट्ठव्वो ।१३४।

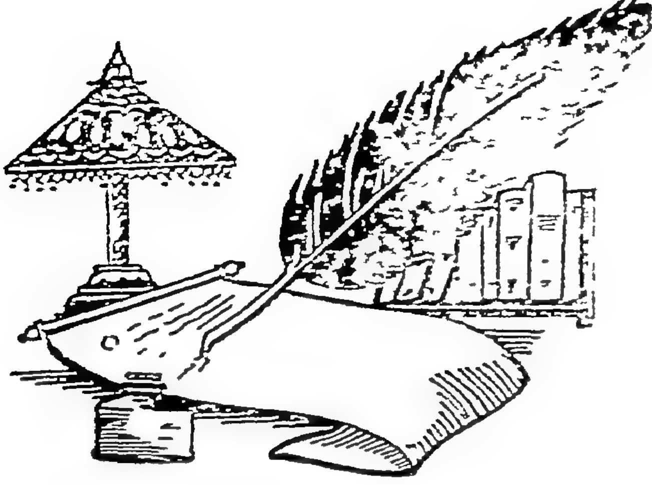
अश विज्ञाय च शेषाणा भवन्ति समग्राधीना काव्ये
तेनाऽपि अन्यो भाव प्रवेशो चैव द्रष्टव्य ।१३४।

१३४—काव्य मे शेप (अलकारा) का एक अश जानने पर वे समग्ररूप से अधीन हो जाते हैं (यानी समग्र रूप मे जाने जाते है) । उसमे भी अन्य भाव और प्रवेश देख लेना चाहिए, अर्थात् उसमे अन्य भाव निकलता हो तो अन्य अलकार का प्रवेश मालूम कर लेना चाहिए ।

०

इति अलकार दप्पण सम्मत्त

॥ शुभ भवतु ॥



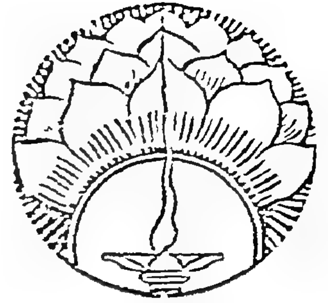
पंचम खण्ड



- जनपदीय संस्कृति

लोक और शास्त्र

अभयदेव शर्मा,
एम० ए० (संस्कृत)



लोक-संस्कृति को आधुनिक काल में एक विद्या (branch of knowledge) का रूप अब लगभग प्राप्त हो चुका है, ऐसा कहा जा सकता है। संभवतः कालान्तर में कभी लोक-संस्कृति का समावेश, शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्य विषय के रूप में भी हो जाए तो आश्चर्य नहीं।

ऐसा तो नहीं है कि 'लोक'-शब्द की ओर प्राचीन भारत का ध्यान कभी गया ही न हो। पर आधुनिक काल में इसका विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करने का, तथा नाट्यादि प्राचीन परम्परायुक्त वर्गों का ध्यान इस ओर खींचने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों का है। मेरे अनुमान से, 'कथासरित्सागर' के टानी-कृत सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद ने ही सर्वप्रथम लोक-संस्कृति विषय की महत्ता की ओर भारत की पढ़ी-लिखी जनता का ध्यान विशेष-तौर से आकर्षित किया था। और सबसे ताजी घटना, जिसने लोक संस्कृति को एक प्रकार से शास्त्रीय विषय बना देने का गौरव प्राप्त किया है प्राचीन ग्रंथों के सांस्कृतिक अध्ययनों, तथा ग्रामांचल में बिखरे हुए असंख्य उन शब्दों के जो कि या तो साहित्य में प्रविष्ट हुए ही नहीं और फलतः जिनके अस्तित्व तक से केवल नागर-संस्कृति में पले हुए लोग अनभिज्ञ हैं, अथवा जो कि साहित्य में तथा नागर बोलियों में बहुत कम प्रयुक्त हो पाते हैं, भंडार की खोज है। अपनी सीमित जानकारी से, इन दोनों ही क्षेत्रों को उन्मीलित करने का गरिमायुक्त तथा सुदूर तक प्रभाव विकीर्ण करने वाला कार्य, नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के धनी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने ही संभवतः सर्वप्रथम स्वयं आरम्भ किया था, और अपनी प्रेरणा से अन्य अनेक लोगों से भी कराया था।

इतना होने पर भी, नागर संस्कृति में पले लोगों के लिए यह 'लोकायन'-शास्त्र अभी एक प्रकार की ऐसा बालक्रीडा बना हुआ है जिसके प्रति बुजुर्गों का कुतूहलमिश्रित, हल्की कोटि का भाव हुआ करता है। यह दृष्टि-कोण ग्रामीण संस्कृति को असंस्कृतता का पर्याय समझ लेने के कारण है। 'ग्राम ग्रामीण' 'ग्राम्य' शब्द सुनते ही आम आदमी के मस्तिष्क में फूहड़, अशिक्षित, भोलेपन से युक्त, नासमझ, 'मनुष्य' कहाने वाले होने पर भी मनुष्य के बड़प्पन से रहित, मोटे झोटे कपड़े पहनने वाले, अस्त-व्यस्त केशश्मश्रु वाले, देशी जूते पहनने या नंगे पैर वाले एक अजीब-से जीव का चित्र उभर जाता है। और, लोकसंस्कृति, जो वस्तुतः और मुख्यतः इनके ही जीवन और चरित्र का अध्ययन है, भला कैसे गंभीर अध्येय विषय हो सकता है, यह सोचते हुए नागर संस्कृति का प्राणी बरबस मुस्काए बिना रह नहीं पाता है।

ग्राम और पुर या प्राचीन शब्दों में कहें तो अरण्य और ग्राम का यह सांस्कृतिक अन्तर आज का नहीं वरन् काफी पुराना है। हां, यह बात अलग है कि योरोपीय संस्कृति के प्रभाव ने इस अंतर का दुर्लंघ्य चौड़ी खाई बना दिया है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ग्राम और नगर का भेद ऐसा कभी नहीं रहा कि किसी एक ही बात को नितान्त ग्रामीण या नितांत नागर कहा जा सकता हो। यों भी कह सकते हैं कि नागर संस्कृति का भवन जिस कुर्सी या पीठिका पर खड़ा होता था वह ग्रामीण या लोक-संस्कृति ही थी। इन दोनों में उच्च स्तरभेद तो था, पर कोटि-भेद नहीं था। नगरों का ग्रामों से घनिष्ठ संबंध बना रहता था। दूसरी ओर, ग्राम भी नगर के संपर्क में आकर अपने को बिल्कुल अजनबी-सा अनुभव नहीं करते थे और यही स्पृहणीय सामाजिक अवस्था है जो हर देश का स्वप्न होनी चाहिए। किसी भी देश की अधिकतर जनता ग्रामों और वनों में निवास करती है। भौतिक सुविधाओं की चरमो-



पलब्धि से दूर, ये ग्राम और वन ही, शेष नागर जनता के अन्नदाता होते हैं। वेदो मे 'जन,' विश', 'प्रजा' कहाने वालो अथवा रियाया का अधिकाश ग्राम और वन मे होता है। जो सामाजिक व्यवस्था और जो राजनीतिक ढाचा ग्राम और वन के बजाय नगर के रग मे अधिक रगा हुआ होगा, वह भला, कैसे प्रजातन्त्री, वा लोकतन्त्री, व गणतत्री कहान का अधिकारी हो सकता है, उसमे कैसे for the people, by the people तथा of the people का आदश चरितार्थ हो सकता है, यह गभीर विचार के योग्य वात है। अस्तु !

प्राचीन भारत का समाज 'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो पायो पर खडा रहता था। वर्णो मे ब्राह्मण, और आश्रमो मे गृहाश्रम के अलावा शेष तीनो आश्रम, समाज वा समूह के बजाय, कही एकान्तप्रिय होते थे। ब्राह्मण के लिए 'अरतिर्जनसमदि' का व्यवहार आदर्श माना गया था ताकि वह एकातसेवनपूवक अध्ययन, अध्यापन और शास्त्र-प्रणयन मे, विद्याओं, कलाओ और शिल्पो के विकास मे रत रह सके। जनसमूह मे अरति, ब्राह्मण के असामाजिक होने के बजाय, सास्कृतिक निधि को समृद्धतर करने मे उसके रतिभाव की दृष्टि से, अपने पर बलात् ओढा हुआ, कष्ट-प्रद, कृच्छ्रतायुक्त, अभावो और तप के जीवन से उपेत, एक महान् उत्तरदायित्व थी जिसे सुधी और प्राज्ञ, तपस्वी और मनस्वी ब्राह्मण-वर्ग को स्वीकार करना ही होता था और इसी मे उसका गौरव भी था। । ब्राह्मण ही 'आरण्य' होता था। उसका मन ग्राम वा समूह मे न रमकर, नागर सस्कृति के लिए अरमणीय प्रतीत होने वाले अरण्य अर्थात् एकात मे अधिक रमता था। आचाय विनोवा भावे ने इसी उदात्त अभिप्राय से एकत्र अपने को आरण्य जगली प्राणी वताया है। वैदिक दर्शन मे भी पशुओ को आरण्य और ग्राम्य, दो प्रकार का माना गया है। 'आरण्य' अर्थात् एकाकी निवास का स्वभाव रखने वाले, यथा सिंह, और ग्राम्य अर्थात् झुड मे रहने वाले, यथा हाथी, भेड, मनुष्य। वेद के शब्दो मे 'सूर्य एकाकी चरति'-अपने मार्ग पर स्वय के तेज से वढे जाने वाले साहसी 'आरण्य' प्रकृति के, अग्रणीकोटि के, जन-नायक होते है। वे सूर्यवत् स्वयप्रकाश होते है। तद्विपरीत 'नवो नवो भवनि जायमान'-स्वभाव वाला, 'जायस्व म्रियस्व' के चक्र मे प्रवहमान रहने वाला चन्द्रमा 'ग्राम्य' प्रकृति का प्रतीक है। वह नक्षत्रपत्नियो के साथ समूह मे रहता है। ग्राम्य सस्कृति परत प्रकाश है, वह आरण्य सस्कृति के पुजारी, विप्रो के निर्देशन और निरीक्षण मे ही, शास्त्र के प्रमाण को सिर झुकाते हुए ही चलने वाली है। तो,जैसे ब्राह्मण वर्ण आरण्य वा प्राकृत सस्कृति का उपासक है, वैसे ही आश्रमो मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी एकातोपासक होते है। वानप्रस्थाश्रम एकात मे साधना का साध्यावस्था वाला आश्रम है, तो सन्यास अत मे एकातसिद्ध होकर भी लोक मे अपने सर्वस्व का न्यास कर देने रूप, प्रवृत्त्याभासरूप, 'क्षुरस्य धारा' रूप दुगम पथ है। सन्यासी अन्त मे घोर एकातशील रहकर लोक मे सग्रहशील भासता है।

वन वा तपोवन की यह सस्कृति एक ओर थी, तो दूसरी ओर क्षत्रिय-वैश्य शूद्र-वर्ग निर्मित गृही जनो की नागर वा पौर, वा जानपद, वा ग्राम्य सस्कृति थी जिसके लक्षण और स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न थे। नगर के भौतिक, आराममय, शरीरपरायण वातावरण मे जीवन की सरलता क्लिष्ट हो जाता है। आत्मानुशासित बुद्धि के बजाय, देह-प्राण का अधीश मन नागर सस्कृति मे जीवन का शासक होता है। यही वह ग्राम्य सस्कृति है जिसके उच्चावच दो स्तर थे, पुर (नगर) और जनपद (ग्रामाचल)। 'पौरजानपद' इस समस्त पद के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे प्राय उपलब्ध होते हैं। इन दोनो 'ग्राम्य' स्तरो मे नगर स्तर का जनपद स्तर पर श्रेष्ठता का भाव होने से, समाज के अग्रणी राजा, अमात्यो, धनिको आदि का राजधानी मे प्राय जमघट रहने से, पौर सस्कृति अपने से अवर जानपद सस्कृति को ही 'ग्राम्य' सस्कृति पुकारने लगी। परिणामत ग्राम, ग्रामणी, ग्राम्य शब्द सरलतर जानपदीन जीवन के सूचक बनते हुए हीनभाव के द्योतक बन बैठे। नगरो मे ही राजसभा मे साहित्यकारो, शिल्पियो, कलाविदो, विद्वानो आदि का आदर और वैभव प्राप्त होता था। अत सस्कृति के नवोन्मेषो के तथा सभ्यता के अभिनव फैशनो के प्रधान उत्स नगर ही हो गए थे। नागर सस्कृति का एक प्राचीन चित्र यदि देखना हो तो वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे देखा जा सकता है। काव्यादि का विकास भी नगरो मे ही हुआ। अत नाटको, गद्य-पद्य-चपू-काव्यो, कहानी-किस्सो मे भी नागर सस्कृति के विभिन्न कालो के चित्र साहित्य मे उपलब्ध है। जनजीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष, नागर सस्कृति का लगभग पूण और समृद्ध चित्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे विद्यमान है।

यह ग्राम्य, वा लोक-सस्कृति गृहस्थाश्रम का विषय है। गृहस्थ काम और राग का आश्रम है। कह सकते

है कि 'रतिर्जनमनदि' नाकसंस्कृति का प्राण है। जीवन में रस ढूँढ कर उसी में आकण्ठ निमग्न रहकर, जीवन-रस का पान करते रहना, रसक्रीडा, या जीवन के भागवत रस को आकण्ठ पान करना ही लोकजीवन है। लोक में ही आनन्दनन्दोपेन समाज और नागरिकता का ढाँचा बनता है। लोकानुरंजन क्षत्रिय का परमधर्म माना गया है। 'तुष्ट प्रजानामनुरंजने स्यात्', 'क्षतात् किल त्रायते इति' क्षत्रशब्दरूढि आदि वचन राजा के रंजन का लोककल्याणधर्म के द्योतक हैं। लोक में ही विट-शूद्र-रूप 'प्रजा' रहती है। धनोपार्जन करना, आजीविका कमाना और परिवार बनाकर जीवन को सुविधा के साथ, कर्तव्य, धर्मों का निर्वाह करते हुए इह और पर जीवन को निर्विघ्नपूर्वक बिताना—यही लोकजीवन का स्वरूप रहा है। जीवन की आवश्यकताओं और क्रमशः बुद्धिमान जटिलताओं के अनुरूप नाना विद्याओं और कलाओं—शिल्पों का जाल फैलता चला गया। सभ्यता और संस्कृति के जिन स्तरों पर विभिन्न देशों की प्रजाएँ हैं वह लोकजीवन या ग्राम्य संस्कृति की ही देन है, आरण्य या शान्त संस्कृति की नहीं।

आरण्य और ग्राम्य, या शास्त्र और लोक या जानपद और पौर संस्कृतियों का सन्धिसेतु है ब्रह्मचर्याश्रम। ब्रह्मचारी का आधार पौर जानपद था। पर वह शिक्षा पाता था गुरुकुल में, जहाँ समूह में भी एकान्तता का वातावरण रहता था। ब्रह्मचारी को घर और माता-पिता-बन्धुओं का प्यार-दुलार प्राप्त रहता था तो दूसरी ओर आचार्य की ताडना या अनुशासन उसे जीवन की यथार्थ कठोरता का सामना करने की शिक्षा देती थी। शिशु का आरम्भिक 'लालयेत् पंच वर्षाणि'-रूप जीवन 'ग्राम्य' वातावरण में बीतता था, तो 'दश वर्षाणि ताडयेत्' का विद्यार्थी-जीवन पाठशालाओं और गुरुकुलों के 'सामूहिक एकान्त' के वातावरण में। यहाँ वह लोक में रहते हुए शास्त्र का, ग्राम में रहते हुए आरण्य संस्कृति या शास्त्रवाद का, सहपाठियों में रहते हुए भी तपोवनों का जीवन जीना सीखता था। ब्रह्मचारी को लौटकर लोक में ही आत्मसात् होना होता है। वह लोक से अरण्य में जाकर वापिस लोक में लौटता है। और, जीवन के सान्ध्य काल में उसे पुनः आरण्य आश्रमों-वानप्रस्थ और संन्यास में लौटने का लक्ष्य सम्मुख रखना होता था। धर्मपूर्वक अर्थ और काम सिद्धि के बाद धर्म और मोक्ष की साधना में ही उसे जीवन का 'इति शम्' करना चाहिए। इस प्रकार, भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था में ग्राम्य-आरण्य या लोक और शास्त्र का अपूर्व और कृत्स्न समन्वय हुआ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, मुक्ति और भुक्ति, भोग और योग, जीवन के दोनों पक्षों का, अथवा वैदिक भाषा में ब्रह्म और श्रम (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का सामंजस्य ही भारतीय मन की प्रिय जीवनपद्धति है।

[२]

लोक और शास्त्र का, अथवा ग्राम्य और आरण्य संस्कृति का तारतम्य भारतीय वाङ्मय में आद्योपान्त व्याप्त है। एक ओर 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' नाम से ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जो लोकजीवन में अनध्येय एवं निषिद्ध माने गए हैं, तो दूसरी ओर कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः लोकजीवन से है। लौकिक साहित्य और शास्त्रीय वाङ्मय-ये दो कोटियाँ भारतीय ग्रन्थों की सर्वमान्य हैं। एक कोटि का 'स्मृति' और दूसरी को 'श्रुति' भी कहा गया है। व्याकरण की परिभाषाओं में इनको क्रमशः 'लौकिक' और 'वैदिक' (छान्दस) वाङ्मय कहा गया है। पतंजलि ने वेदवाक् और लोकवाक्-दो वाक् माना है। पाणिनीय 'शब्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) वैदिक, लौकिक दोनों भाषान्तरों का विवेचन करने वाला है।

शास्त्र, श्रुति, वेद या छंद कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जो स्वतः प्रमाण, स्वतःप्रकाश, बुद्धिपूर्व वाक हैं। लौकिक, या स्मृति ग्रंथों को शास्त्र का अनुगन्ता माना गया है। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' कहकर कालिदास ने 'रघुवंश' में इस परम्परा का संकेत दिया है। स्मृति श्रुत्यनुकूल ही मान्य है। श्रुति परमप्रमाण है, स्मृति परतः प्रमाण, परतः प्रकाश, पौरुषेय, मन पूर्विका वाक् है। श्रुति आत्मानुशासित, स्थितप्रज्ञ, बुद्धि से प्रसूत विप्र-शास्त्र है, तो स्मृति देहप्राणानुगत, आत्मबुद्धि के अनुशासन से अतीत, उच्छृंखल, चंचल मन से अनुप्राणित लौकिक वाङ्मय है जिसमें स्त्री, शूद्र, द्विज-बन्धुओं तक का मन रमता है। नाट्यशास्त्र की भाषा में 'वेद' या शास्त्र उपदेश-आदेश अनुशासन करता है, तो 'स्मृति' या 'लोक' कान्तासम्मित परामर्श या क्रीडनीयक' है जो क्रीडा-माध्यम से सत्पथ में चित्त को रमाने के लिए है। द्विज शास्त्ररुचि होते हैं, स्त्री शूद्रादि लोक-रुचि वाले हैं।





पलब्धि से दूर, ये ग्राम और वन ही, शेष नागर जनता के अन्नदाता होते हैं। वेदो मे 'जन,' विश', 'प्रजा' कहाने वालो अथवा रियाया का अधिकाश ग्राम और वन मे होता है। जो सामाजिक व्यवस्था और जो राजनीतिक ढाचा ग्राम और वन के बजाय नगर के रग मे अधिक रगा हुआ होगा, वह भला, कैसे प्रजातन्त्री, वा लोकतन्त्री, व गणतत्री कहान का अधिकारी हो सकता है, उससे कैसे for the people, by the people तथा of the people का आदश चरितार्थ हो सकता है, यह गभीर विचार के योग्य बात है। अस्तु !

प्राचीन भारत का समाज 'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो पायो पर खडा रहता था। वर्णो मे ब्राह्मण, और आश्रमो मे गृहाश्रम के अलावा शेष तीनो आश्रम, समाज वा समूह के बजाय, कही एकान्तप्रिय होते थे। ब्राह्मण के लिए 'अरतिर्जनसमदि' का व्यवहार आदर्श माना गया था ताकि वह एकातसेवनपूर्वक अध्ययन, अध्यापन और शास्त्र-प्रणयन मे, विद्याओ, कलाओ और शिल्पो के विकास मे रत रह सके। जनसमूह मे अरति, ब्राह्मण के असामाजिक होने के बजाय, सास्कृतिक निधि को समृद्धतर करने मे उसके रतिभाव की दृष्टि से, अपने पर बलात् ओढा हुआ, कष्ट-प्रद, कृच्छ्रतायुक्त, अभावो और तप के जीवन से उपेत, एक महान् उत्तरदायित्व थी जिसे सुधी और प्राज्ञ, तपस्वी और मनस्वी ब्राह्मण-वर्ग को स्वीकार करना ही होता था और इसी मे उसका गौरव भी था। । ब्राह्मण ही 'आरण्य' होता था। उसका मन ग्राम वा समूह मे न रमकर, नागर सस्कृति के लिए अरमणीय प्रतीत होने वाले अरण्य अर्थात् एकात मे अधिक रमता था। आचार्य विनोबा भावे ने इसी उदात्त अभिप्राय से एकत्र अपने को आरण्य जगली प्राणी बताया है। वैदिक दर्शन मे भी पशुओ को आरण्य और ग्राम्य, दो प्रकार का माना गया है। 'आरण्य' अर्थात् एकाकी निवास का स्वभाव रखने वाले, यथा सिह, और ग्राम्य अर्थात् झुड मे रहने वाले, यथा हाथी, भेड, मनुष्य। वेद के शब्दो मे 'सूर्य एकाकी चरति'-अपने मार्ग पर स्वय के तेज से बढे जाने वाले साहसी 'आरण्य' प्रकृति के, अग्रणीकोटि के, जन-नायक होते हैं। वे सूर्यवत् स्वयप्रकाश होते हैं। तद्विपरीत 'नवो नवो भवति जायमान'-स्वभाव वाला, 'जायस्व प्रियस्व' के चक्र मे प्रवहमान रहने वाला चन्द्रमा 'ग्राम्य' प्रकृति का प्रतीक है। वह नक्षत्रपत्नियो के साथ समूह मे रहता है। ग्राम्य सस्कृति परत प्रकाश है, वह आरण्य सस्कृति के पुजारी, विप्रो के निर्देशन और निरीक्षण मे ही, शास्त्र के प्रमाण को सिर झुकाते हुए ही चलने वाली है। तो,जैसे ब्राह्मण वर्ण आरण्य वा प्राकृत सस्कृति का उपासक है, वैसे ही आश्रमो मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी एकातोपासक होते हैं। वानप्रस्थाश्रम एकात मे साधना का साध्यावस्था वाला आश्रम है, तो सन्यास अत मे एकातसिद्ध होकर भी लोक मे अपने सर्वस्व का न्यास कर देने रूप, प्रवृत्त्याभासरूप, 'क्षुरस्य धारा' रूप दुर्गम पथ है। सन्यासी अन्त मे घोर एकातशील रहकर लोक मे सग्रहशील भासता है।

वन वा तपोवन की यह सस्कृति एक ओर थी, तो दूसरी ओर क्षत्रिय-वैश्य शूद्र-वर्ग निर्मित गृही जनो की नागर वा पौर, वा जानपद, वा ग्राम्य सस्कृति थी जिसके लक्षण और स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न थे। नगर के भौतिक, आराममय, शरीरपरायण वातावरण मे जीवन की सरलता क्लिष्ट हो जाती है। आत्मानुशासित बुद्धि के बजाय, देह-प्राण का अधीश मन नागर सस्कृति मे जीवन का शासक होता है। यही वह ग्राम्य सस्कृति है जिसके उच्चावच दो स्तर थे, पुर (नगर) ओर जनपद (ग्रामाचल)। 'पौरजानपद' इस समस्त पद के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे प्राय उपलब्ध होते हैं। इन दोनो 'ग्राम्य' स्तरो मे नगर स्तर का जनपद स्तर पर श्रेष्ठता का भाव होने से, समाज के अग्रणी राजा, अमात्यो, धनिको आदि का राजधानी मे प्राय जमघट रहने से, पौर सस्कृति अपने से अवर जानपद सस्कृति का ही 'ग्राम्य' सस्कृति पुकारने लगी। परिणामत ग्राम, ग्रामणी, ग्राम्य शब्द सरलतर जानपदीन जीवन के सूचक बनते हुए हीनभाव के द्योतक बन बैठे। नगरो मे ही राजसभा मे साहित्यकारो, शिल्पियो, कलाविदो, विद्वानो आदि को आदर और वैभव प्राप्त होता था। अत सस्कृति के नवोन्मेषो के तथा सभ्यता के अभिनव फैशनो के प्रधान उत्स नगर ही हो गए थे। नागर सस्कृति का एक प्राचीन चित्र यदि देखना हो तो वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे देखा जा सकता है। काव्यादि का विकास भी नगरो मे ही हुआ। अत नाटको, गद्य-पद्य-चपू-काव्यो, कहानी-किस्सो मे भी नागर सस्कृति के विभिन्न कालो के चित्र साहित्य मे उपलब्ध हैं। जनजीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, नागर सस्कृति का लगभग पूर्ण और समृद्ध चित्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे विद्यमान है।

यह ग्राम्य, वा लोक-सस्कृति गृहस्थाश्रम का विषय है। गृहस्थ काम और भोग का आश्रम है। कह सकते

है कि 'रतिर्जनसमदि' लोकसंस्कृति का प्राण है। जीवन मे रस ढूढ कर उसी मे आकण्ठ निमग्न रहकर, जीवन-रस का पान करते रहना, रसक्रीडा, या जीवन के भागवत रस का आकण्ठ पान करना ही लोकजीवन है। लोक मे ही क्षात्रदलसम्बोपेत समाज और राजनीति का ढाचा बनता है। लोकानुरजन क्षत्रिय का परमधर्म माना गया है। 'पुत्र प्रजानामनुरजने स्या', 'क्षतात् किल त्रायते इति' क्षत्रशब्दरूढि, आदि वचन राजा के रजन या लोककल्याण धर्म के द्योतक है। लोक मे ही विट-शूद्र-रूप 'प्रजा' रहती है। धनोपार्जन करना, आजीविका कमाना और परिवार बनाकर जीवन को सुविधा के साथ, कर्तव्य, कर्मो का निर्वाह करते हुए, इह और पर जीवन को सिद्धिपूर्वक बिताना -यही लोकजीवन का स्वरूप रहा है। जीवन की आवश्यकताओ और क्रमश वृद्धिमान जटिलताओ के अनुरूप नाना विद्याओ और कलाओं—शिल्पो का जाल फैलता चला गया। सभ्यता और संस्कृति के जिन स्तरो पर विभिन्न देशो की प्रजाए है वह लोकजीवन या ग्राम्य संस्कृति की ही देन है, आरण्य, या शास्त्र संस्कृति की नही।

आरण्य और ग्राम्य, या शास्त्र और लोक, या जानपद और पौर संस्कृतियो का मध्यस्थसेतु है ब्रह्मचर्याश्रम। ब्रह्मचारी का आधार पौर जानपद था। पर वह शिक्षा पाता था गुरुकुलो मे, जहा समूह मे भी एकान्तता का वातावरण रहता था। ब्रह्मचारी को एक ओर माता-पिता-बन्धुओं का प्यार-दुलार प्राप्त रहता था तो दूसरी ओर आचार्य की ताडना या अनुशासन उसे जीवन की यथार्थ कठोरता का सामना करने की शिक्षा देती थी। शिशु का आरम्भिक 'लालयेत् पच वर्षाणि'-रूप जीवन 'ग्राम्य' वातावरण मे बीतता था, तो 'दश वर्षाणि ताडयेत्' का विद्यार्थी जीवन पाठशालाओ और गुरुकुलो के 'सामूहिक एकान्त' के वातावरण मे। यहा वह लोक मे रहते हुए शास्त्र या ग्राम मे रहते हुए आरण्य संस्कृति या शास्त्रवाद का सहपाठियो मे रहते हुए भी तपोवनो का जीवन जीना सीखता था। ब्रह्मचारी को लौटकर लोक मे ही आत्मसात् होना होता है। वह लोक से अरण्य मे जाकर वापिस लोक मे लौटता है। और, जीवन के सान्ध्य काल मे उसे पुन आरण्य आश्रमो-वानप्रस्थ और सन्यास मे लौटने का लक्ष्य सम्मुख रखना होता था। धर्मपूर्वक अर्थ और काम सिद्धि के बाद धर्म और मोक्ष की साधना मे ही उसे जीवन का 'इति शम्' करना चाहिए। इस प्रकार, भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था मे ग्राम्य-आरण्य का लोक और शास्त्र का अपूर्व और कल्पित समन्वय हुआ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, मुक्ति और भुक्ति, भोग और योग, जीवन के दोनो पक्षो का, अथवा वैदिक भाषा मे ब्रह्म और श्रम (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का सामजस्य ही भारतीय मन की प्रिय जीवनपद्धति है।

[२]

लोक और शास्त्र का, अथवा ग्राम्य और आरण्य संस्कृति का तारतम्य भारतीय वाड्मय मे आद्योपान्त व्याप्त है। एक ओर 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' नाम से ऐसे ग्रथ विद्यमान है जो लोकजीवन मे अनध्येय तक निषिद्ध माने गए है, तो दूसरी ओर कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र है जिनका सम्बन्ध मुख्यत लोकजीवन से है। [illegible] साहित्य और शास्त्रीय वाड्मय-ये दो कोटिया भारतीय ग्रन्थो की सर्वमान्य है। एक कोटि का 'स्मृति' और दूसरी [illegible] 'श्रुति' भी कहा गया है। व्याकरण की परिभाषाओ मे इनको क्रमश 'लौकिक' और 'वैदिक' (छान्दस) वाड्मय [illegible] गया है। पतजलि ने वेदवाक् और लोकवाक्-दो वाक् माना है। पाणिनीय 'शब्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) [illegible], लौकिक दोनो भाषास्तरो का विवेचन करने वाला है।

शास्त्र, श्रुति, वेद या छद कोटि मे वे ग्रन्थ आते है जो स्वत प्रमाण, स्वयप्रकाश, बुद्धिपूत वाक् है। [illegible] या स्मृति ग्रथो को शास्त्र का अनुगन्ता माना गया है। 'श्रुतेर् अर्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' कहकर कालिदास [illegible] इस परम्परा का सकेत दिया है। स्मृति श्रुत्यनुकूल ही मान्य है। श्रुति परमप्रमाण है, स्मृति परत प्रमाण, [illegible] पौरुषेय, मन पूर्विका वाक् है। श्रुति आत्मानुशासित, स्थितप्रज्ञ, बुद्धि से प्रसूत विप्र-शास्त्र है, तो स्मृति [illegible] आत्माबुद्धि के अनुशासन के अतीत, उच्छृखल, चचल मन से अनुप्राणित लौकिक वाड्मय है जिसमे स्त्री, [illegible] बन्धुओ तक का मन रमता है। नाट्यशास्त्र की भाषा मे 'वेद' या शास्त्र उपदेश- रूप अनुशासन [illegible] या 'लोक' कान्तासम्मित परामर्श या 'क्रीडनीयक' है जो क्रीडा-माध्यम से सत्पथ मे चित्त को [illegible] शास्त्ररुचि होते है, स्त्री शूद्रादि लोक-रुचि वाले हैं।

यहा प्रश्न उत्पन्न होना चाहिए कि लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति मे पौर्वापर्य क्या है, तथा कौन किसके अनुशासन मे है। इस सबध मे एक आगम वचन का हठात् स्मरण हो जाता है कि 'देवकार्याद् द्विजातीना पितृकार्यं विशिष्यते'। देवपूजा-परक श्रौत यज्ञो से भी अधिक महत्ता पैत्र कर्मो-श्राद्ध, पितृयज्ञादि—की मानी गई है। ऐसा क्यो ? इसमे तो यही ध्वनित होता है कि स्मृति पहले है, श्रुति पीछे। बात ठीक भी है। इसी प्रसग मे 'पुराण' शब्द पर भी ध्यान दे लेना चाहिए। 'पुराण' का अर्थ है 'पुरा-नव-पुराना होते हुए नया। जो वृद्ध और युवा, दोनो एक साथ हो, अथवा, वेद की भाषा मे जो 'वाम-पालित' हो, वह 'पुराण' है। दूसरी ओर, सदावृद्ध, एकरस, शाश्वत 'श्रुति' परम्परा है जो उपदेश वा आदेशरूप होती हुई 'शास्त्र'-कोटि मे है। परन्तु लौकिक वाङ्मय अथवा स्मृति-साहित्य विभिन्न भगिमाओ मे युक्त रमणीय साहित्य है जो हिमाचल-रूप एकरस आधार से नि सृत होकर भी नित रम्य और हठलाती हुई सरिताओ के समान देश-काल मे विविध रूप धारण करता है।

लोक पहिले है। शास्त्र लोक का सार है—चिरस्मरणीय, और सभाल कर रखने योग्य तत्त्वसचय है। लोक की धारा सतत प्रवहमान रहती है। उसमे अच्छा, बुरा, रम्य, और हेय, सत्य और भ्रांति सब कुछ है। काल देवता अपनी कतरनी से क्षणिक और त्याज्य को छाटकर परे कर देता है और जो कुछ 'सत्य शिव सुन्दर शाश्वतम्' काल और देश की परिधियो मे यमाग्नि से दग्ध होने से बच रहता है, वही शास्त्र, श्रुति वेद, छन्द, के रूप मे जीवित बच रहता है। सस्कृति और सभ्यता की दीर्घ यात्रा के जो स्मृतिचिह्न आज तक मानव को उपलब्ध है वे ही 'शास्त्र' है। शास्त्र अपने शाश्वत मूल्यो के कारण सहेज कर रखने योग्य बन जाता है, और परपरा उसे मरने मे, कालकवलित होने से बचाये रखती है। उधर, लोक-सस्कृति की धारा भी अपनी स्वच्छद मस्त चाल से चलती रहती है। लोक-सस्कृति के छन्ने मे छनकर, द्रोणकलश मे भरा शास्त्ररस लोक-सस्कृति की परवर्ती धारा को प्रभावित करता है। जीवन की ठोकरो का यही तो उपयोग हो सकता है कि आगे वैसी ठोकरो से बचा जाये। बस, यही शास्त्र का उपयोग है, और यही लोक पर शास्त्र का, अथवा स्मृतिपर श्रुति का अकुश है। अत जहा कालिदास का यह कथन कि 'स्मृति श्रुत्यर्थ का अनुगमन करती है' ठीक है, वहा यह आगमोक्ति भी ठीक है कि देवो से पितरो का वैशिष्ट्य अर्थात् श्रुति पर स्मृति का ज्येष्ठत्व है। लोक की आयु शास्त्र से अधिक है। लोक पहिले है - शास्त्र लोक का निचोड है। पर शास्त्र का आधार है लोक ही। लोक मे परिवर्तन होने पर, शास्त्र मे परिवर्तन की अपेक्षा हो सकती है, और होती है। लोक पुरान होने पर भी नया है—अत वह 'पुराण' है। पुराणो को स्मृति के अतर्गत माना गया है। एक उक्ति भी है कि 'आत्मा पुराण वेदानाम्'। वेद वा शास्त्र का आत्मा-वा प्राण—, वा आधार पुराण परपरा है। पुराण-परम्परागत ज्ञान ही 'वेद' है। एक और उक्ति है कि 'पुराण सर्वशास्त्राणा प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्'। पहले पुराण बने, फिर वेदादि शास्त्र बने। यहा वेदादि शास्त्रो की निन्दा करना पुराणकार की नीयत नही है, वरन् वह शास्त्र का मूल लोकपरम्परा को बतला रहा है।

भारतीय समाज मे लोक-परम्परा पर शास्त्रानुशासन की प्रधानता रही है। शास्त्र का ठाठ जब खडा हो जाता है तो फिर शास्त्र लोक पर शासन करने लगता है। यह बात भारतीय जीवन के हर क्षेत्र मे सही है। इसी को यो भी कह सकते हैं कि आम भारतीय का स्वभाव शास्त्र द्वारा बना दी गई लोक वा पद्धति वा परम्परा को सहज ही ग्रहण कर लेने का है। ग्रामाचलो मे आज भी सहस्रो ऐसी प्रथाए, ऐसे शब्द प्रचलित है जिनके उल्लेख हज़ारो साल पुराने काव्यादि मे, तथा शास्त्रीय ग्रथो मे उपलब्ध हैं। प्रकारातर से हम आज भी, कम-से-कम ग्रामाचल मे तो, भास-, और कालिदास-कालीन जीवन जी रहे हैं, और महाभारतकालीन भाषा बोल रहे हैं। छोटी-से-छोटी हमारी आदतो, अतिसाधारण-सी लगने वाली कहावतो, मुहावरो की आयु बहुत-बहुत लम्बी है। पाश्चात्य विद्वानो की भाषा मे कहे तो, यह ठीक ही है कि भारतीयस्वभाव मे Conservative वा परम्पराभक्त होता है। यह परम्पराभक्ति शास्त्र का अनुशासन स्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति ही तो है। स्मृति, जो स्वभाव मे देशकालानुसार परिवर्तनशील होती है, अपने क्षेत्र मे परम्परा को त्याग कर नहीं चलती। और श्रुति तो है ही सुदृढ परम्परा का अपर नाम। इस प्रकार लोक मे शास्त्रानुशासन, और शास्त्र मे लोक का प्रतिफलन, भारतीय जीवन और सस्कृति की, अथवा थोडे-बहुत रूप मे मानव की सार्वभौमिक सस्कृति की विशेषता रही है। परम्परा को सर्वथा मेटकर, मानव जी नहीं सकता। परन्तु लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति का तारतम्य जब गडबडा जाता है तभी लोक-जीवन मे सवाद उत्पन्न ही

जाती है। परम्परा की अन्धी भक्ति मूढ़ता और सत्त्वहीनता है, तो तोड़ने के लिए परम्परा को तोड़ना उच्छृ-खलता और बेवकूफी है। दूसरों के अनुभवों के आलोक में भी ठोकर खाने से जो बचना नहीं चाहता उस पर तरस ही खाया जा सकता है। शास्त्रदीप नवनवोन्मेषशाली लोकजीवन की ताजगी का गुठलाने के लिए नहीं है वरन् स्वच्छन्दता के निमित्त को आलोक में परिणत करने के लिए है। कालिदास ने बड़ी मार्मिक बात नाटक रचनाओं के प्रसंग में कही थी कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।' कोई चीज़ मात्र पुरानी, परम्परा पुरस्-सम्बीय होने से ही वरणीय नहीं बन जाती है और साथ ही हर नई वस्तु बुरी नहीं होती है। यह भी कहा सकते हैं कि हर नई चीज़, हर नया फैशन अच्छा ही हो और हर पुरानी परम्परा या शास्त्रविधान बुरा ही है ऐसा भी नहीं है। बुद्धिमान् अपनी आत्मानुशासित बुद्धि से परीक्षा करके ही किसी बात को ग्रहण करते या छोड़ देते हैं। पर वह-प्राण से वशीभूत मन की लगाम से बेबस बना हुआ प्राणी मूढ़ ही कहलायेगा क्योंकि वह स्वयं निर्णय न कर पर-प्रमाण पर विश्वास करता है।

जीवन में आया कोई परिवर्तन जब चिरस्थायी हो जाए तो शास्त्र में उसे स्थान मिल जाना चाहिए। शास्त्र प्रत्येक परिस्थिति में अपने अनुशासन का आग्रह न करे। उदाहरणार्थ, 'सत्यं ब्रूयात्'-सत्य बोलना चाहिए यह शास्त्र का आदेश है। पर किस परिस्थिति में सत्य का क्या रूप होगा, यह निर्णय करना स्मृति का काम है। किसी निर्दोष की जीवन-रक्षा के लिए यदि कभी अयथार्थ भाषण करना पड़े तो वह नितान्त असत्य-भाषण की कोटि में नहीं आता। सत्य प्रिय भी हो, सत्य को अप्रिय ढंग से बोलना ठीक नहीं, आदि, आदि, स्मृति-परिधियाँ 'सत्यं ब्रूयात्' इस शास्त्रीय विधान को देश-कालानुरूप उपयोगी बनाने के लिए हैं। शास्त्र जब अडियल हो जाता है तब या तो उस शास्त्र से अनुशासित लोक का जी घुटने लगता है, अथवा लोक उस शास्त्र को ठोकर मारकर परे फेंक देता है। व्या-करण ने जब लोक में बोली जाने वाली संस्कृत भाषा को अपने शिकंजे में कसना आरम्भ किया तो भाषा की ताजगी नष्ट होने लगी और अन्ततः भाषा का रूप ऐसा स्थिर हो गया कि अपनी परिधि में वह लोक-बहिष्कृत बन बैठी। परन्तु भाषा की धारा अवरुद्ध नहीं हुई। संस्कृत को अपने ही टीले पर पड़ा छोड़कर भाषा की धारा प्राकृत, अप-भ्रंश, देशी भाषाओं के रूप में बह रही है और बहती रहेगी। काव्यशास्त्र ने जब लौकिक काव्य को शिकंजे में कसना आरम्भ किया, तो शास्त्रानुवर्ती काव्य बासी हो चला। पर शास्त्रमुक्त काव्यधारा प्राकृत, अपभ्रंश काव्यों से से बहती हुई देशीभाषा-काव्यों के रूप में आज भी प्रवहमान है। लोक का उपासक कवि लीकबद्ध उपमानों के बजाय ताज़े उपमान खोजता है। वह 'विस्मृति की दराजों,'[1] 'वेदना के वातायनों,'[2] 'प्यार के वन्दों, भुने हुए पापड़ के समान टूटे हुए सपनों', 'आत्मा के चक्के पर चढ़ाये जा रहे संकल्पशक्ति के लोहे के मज़बूत ज्वलन्त टायरों,' 'भावों की सीपियों' आदि, आदि नव-नव कल्पनाओं में रस लेता है और जीवनरस से अपने काव्य को ताजा बनाये रखता है। नाट्य-शास्त्र ने नाटकों की रचना-प्रक्रिया को एक ही साँचे में ढाले जाने का जब आग्रह किया, तो नाटक-साहित्य बासी पड़ गया, और उसके स्थान पर लोक-नाट्य की स्वच्छन्द धारा नाना रूपों में फूटती रही। वर्णाश्रमधर्म कभी लोक-मंगल का साधक था। पर इसकी परिधियाँ जब व्यक्ति की सामर्थ्य और अभीप्सा में बाधक बनने लगीं तो वर्ण मर गए और उनका स्थान जातियों, उपजातियों ने तथा वर्णसांकर्य ने लिया, तथा आश्रमों का महत्त्व भी क्षीण होता गया। लोक इन परिवर्तनों से जीवन जीने के लिए ओज को ग्रहण करता है। काश, शास्त्र भी लोक के अनुरूप अपने को ढालने के लिए सन्नद्ध रहे जायें, तो ग्राम्य और आरण्य संस्कृति, अथवा लोक संस्कृति और नागर संस्कृति में आजकल विद्यमान चौड़ी और गहरी खाई समरसता के साथ पाटी जा सकती है। लोक संस्कृति का अन्वेषण और अध्ययन शास्त्रीय मनोवृत्ति को ताजी और स्वस्थ रखने का साधन बने, तथा शास्त्र लोक को, बस, अमर्यादित होने से रोकने तथा भूतकाल की ठोकरों से बचाए रखने तक अपनी हलचलों को सीमित रखे—यही आदर्श सामंजस्य इन दोनों में हो सकता है। इतिहास का कार्य वर्तमान और भविष्यत् को आलोकित रखना मात्र है।



---

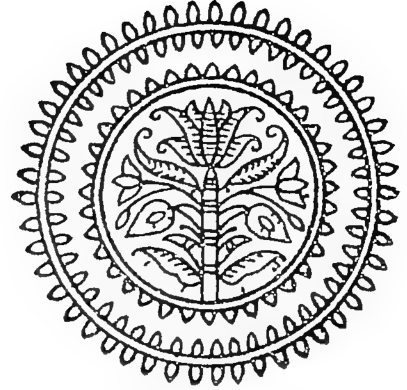
१ भवानीप्रसाद मिश्र।

२ 'अज्ञेय'-इत्यलम्, पृ० १८०।

ये तथा अन्य ऐसे ही सन्दर्भ 'मानव-भावाभिव्यंजक नए आलंकारिक प्रकृति-उपमान' (ललिताप्रसाद सक्सेना) लेख (विश्वभारती पत्रिका, चैत्र-ज्येष्ठ, २०२४) से लिये गए हैं।

लोक-देवता

प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी



वर्तमान काल मे 'लोक' शब्द अग्रेजी भापा के फोक (Folk) का पर्यायवाची स्वीकृत किया गया है। फोक के विपय मे 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' मे लिखा है कि आदिम समाज मे तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ मे तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र के समस्त जनसघ को भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य अथ मे यह शब्द केवल उन्ही का ज्ञान कराता है जो नागरिक-सस्कृति और सविधि शिक्षा के प्रवाहो से मुख्यत परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हे मामूली-सा अक्षर-ज्ञान है, ग्रामीण और गवार।"

डा० सत्येन्द्र के अनुसार "लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति मे जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।'

भारत गावो का देश है। गावो मे उपर्युक्त 'लोक' मे आने वाला समाज वसता है। ग्रामो के समूह जनपद हैं। गाँवो और जनपदो का जाल हमारे चारो ओर फैला हुआ है। इस भूमि के अधिकाश जन गावो और जनपदो मे भी वसे हुए हैं। गाव-वस्तिया हमारी सस्कृति की धात्री हैं। उनकी सस्कृति देश की प्रधान-सस्कृति है।

इस सस्कृति का सवसे अद्भुत अग उसकी धार्मिक परम्परा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इस परम्परा का इतिहास पाच सहस्र वर्ष पुराना है। पृथ्वीसूक्त ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भापाए बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है।'

जन विभ्रती वहुधा विवाचस नाना धर्माण पृथिवी यथोकसम्।

—अथववेद १२। १४५

भारत रूपी उपवन सदा से कई भापाओ और कई धर्मों रूपी सुमनो से महकता रहा है। इस विभिन्नता ने भिन्नता की अपेक्षा एकता को ही जन्म दिया है। एकता की स्थापना करने वाली यही विचारधारा भारतीय सस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

समन्वय का सवसे विशाल प्रागण धर्म का है। इस प्रागण मे इतना अधिक विनिमय हुआ है कि किसी एक देव का मूल स्वरूप क्या था ? किस प्रकार वह और सूत्रो को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ ? और अत मे देश और काल दोनो की विस्तृत अवधि मे फैल कर वह किस रूप मे आज मान्य हो रहा है ? यह अनुसधान का विपय है।

भारतीय लोकजीवन को कही पर भी गहराई से देखा जाये तो उसमे सवत्र प्राचीनता दृष्टिगत होती है। समाज किसी भी सस्था या पूजा-पद्धति के विपय मे भयक नही होता, किसी का वलपूवक निराकरण नही करता। प्रत्येक धार्मिक सस्था अपने रस मे जीवित रहती है और अपने रस से घटती-वढती या रूप वदलती हुई दूसरी सस्थाओ मे घुलमिल जाती है।

ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, इन प्रमुख धर्मों में यदि शोध की जाय तो ज्ञात होगा कि पर्याप्त साम्य है। यक्षपूजा तीनों धर्मों में किसी न किसी रूप में रही है। सम्पूर्ण भारत में वीर ब्रह्म (महावीर, ब्रह्मदेव) आदि का किसी न किसी रूप में आज भी पूजा जाता है।

भारतीय जन सदैव से आस्थावान् रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति में आस्था रख कर चलता है। पद-पद पर कार्य-सिद्धि के लिये वह देवी-देवताओं की अनुकम्पा के लिये प्रयत्नशील रहता है। लोक के प्रत्येक जन का व्यक्तिगत रूप से कोई न कोई देवता इष्ट रहता है। किसी का हनुमान का इष्ट है, तो किसी को भैरू का, तो किसी का किसी अन्य का। व्यक्ति के बाद दम्पती (पति-पत्नी) के लिये भी पृथक् देवता है। शादी-ब्याह के बाद या पुत्रप्राप्ति के अनन्तर ढोक देने के लिये दम्पती अपने इष्ट के पास पहुँचते हैं। सम्पूर्ण परिवार की रक्षा के लिये फिर किसी न किसी कुलदेवी की योजना है। प्रत्येक कुल की एक-एक देवी होती है और कुल की वृद्धि के निमित्त उसकी पूजा की जाती है।

कई परिवार मिलकर ग्राम बसाते हैं। पुनः गाँव की रक्षा करने के निमित्त गाँव में एक ईंट-सीत कुर कांकड़ (ग्रामसीमा) के देवता की स्थापना की जाती है। वह सम्पूर्ण गाँव को बीमारियों व अन्य आपत्तियों से बचाता है। किसी विशेष क्षेत्र की रक्षा करने के लिये 'क्षेत्रपाल' की स्थापना व पूजा की जाती है। दसों दिशाओं में दस दिक्पालों की कल्पना करके उनको पूजा जाता है। उनकी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। देवताओं की यह कल्पना साहित्य, कला और धर्म तीनों में अपना विस्तार रखती है।

क्षेत्र के बाद प्रान्त की स्थिति होती है। किसी विशेष प्रान्त के विशिष्ट देवता होते हैं। राजस्थान प्रान्त के चार महत्त्वपूर्ण देवता ये माने गये हैं। १ नागौर का नागा बाबा, २ रणथम्भोर के गणेश, ३ एकलिंग जी, ४ हनुमान गढ़ के हनुमान जी। पूर्वी भारत को कामाख्या देवी का, काश्मीर को त्रिपुरसुन्दरी का, महाराष्ट्र को गणेश का, तमिलनाडु को सुब्रह्मण्यम् का और मालवा को महाकाल का क्षेत्र माना जाता है। प्रान्त के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक लोक-देवता स्वीकार किया गया है। भारत का लोक-देवता इन्द्र है। इसी के नाम पर भारत को इन्द्रद्वीप कहा जाता था।

एक सामान्य गाँव में घूमकर पता लगाने पर जिन लोकदेवताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई उसे प्रस्तुत कर रहा हूँ। इन देवताओं का पशुरक्षक, कृषिवर्द्धक, आरोग्यदाता, उत्सव विशेष में सहायक आदि श्रेणियों में वर्गीकृत करके अध्ययन किया जा सकता है।

पशुरक्षक देवताओं में काला जी, गोगा जी, छप्पन जी, पोपस्या ग्वाल, देवजी (तेजाजी) नाग्वाजी आदि आते हैं। ये सब वीर पुरुष ही रहे हैं। वेदों में 'पूषा' पशुरक्षक देवता है। सम्भवतः उसी के गुणों का इनपर आरोप किया गया है और इस तरह वीर पूजा का प्रचार चल पड़ा है। इन मान्य पुरुषों ने कभी संकट के समय पशुओं के समूह की रक्षा की। तभी से देवता के गुणों का आरोप करके इन्हें देवरूप में मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी है।

लोक में बहुमान्य देवता है—भैरव या भैरू जी। प्रत्येक अवसर पर इस देवता की उपासना की जाती रही है। सामान्यतः प्रत्येक कुआ, बावड़ी या जलस्थान इनका अधिष्ठान रहता है। कृषिकार्य से पूर्व उसस्थान पर कृषक इनकी पूजा अवश्य करता है। लोक में ५२ भैरू और ६४ योगनियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ प्राचीन कृतियों में बावन वीरों की नामावली मिलती है। जयसागर सूरिरचित जिनदत्तसूरि-चरित्र में यह नामावली है। सम्भवतः ये बावन-वीर ही लोक में ५२ भैरू के नाम से जाने जाते हैं। उनके नामों से ही यह ज्ञात हो जाता है कि ये किस-किस प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं? मध्यकाल में पूजित मणिभद्र आदि यक्ष कहीं ये ही तो नहीं हैं?[2]

---

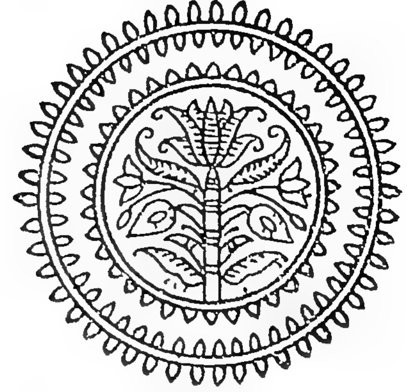
[1] १ इन्द्र २ अग्निदेव ३ यमदेव ४ नैर्ऋत्य ५ वरुणदेव ६ वायुदेव ७ कुबेर ८ ईशान ९ धरणेन्द्र १० सोमदेव।

[2] बावनवीरों की ४ नामावलियाँ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रन्थ (पृ० १४५-८७) में दी हैं। इनमें कुछ नाम समान हैं और कुछ में भिन्नता है।



लोक-देवता

प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी



वर्तमान काल मे 'लोक' शब्द अग्रेजी भाषा के फोक (Folk) का पर्यायवाची स्वीकृत किया गया है। फोक के विषय मे 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' मे लिखा है कि आदिम समाज मे तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते है और विस्तृत अर्थ मे तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र के समस्त जनसघ को भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य अर्थ मे यह शब्द केवल उन्ही का ज्ञान कराता है जो नागरिक-सस्कृति और सविधि-शिक्षा के प्रवाहो से मुख्यत परे है, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हे मामूली-सा अक्षर-ज्ञान है, ग्रामीण और गवार।"

डा० सत्येन्द्र के अनुसार "लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति मे जो तत्त्व मिलते है वे लोकतत्त्व कहलाते है।'

भारत गावो का देश है। गावो मे उपर्युक्त 'लोक' मे आने वाला समाज बसता है। ग्रामो के समूह जनपद है। गाँवो और जनपदो का जाल हमारे चारो ओर फैला हुआ है। इस भूमि के अधिकाश जन गावो और जनपदो मे भी बसे हुए है। गाव-बस्तिया हमारी सस्कृति की धात्री हैं। उनकी सस्कृति देश की प्रधान-सस्कृति है।

इस सस्कृति का सबसे अद्भुत अग उसकी धार्मिक परम्परा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इस परम्परा का इतिहास पाच सहस्र वर्ष पुराना है। पृथ्वीसूक्त ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भाषाए बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है।'

जन बिभ्रती बहुधा विवाचस नाना धर्माण पृथिवी यथोकसम्।

—अथर्ववेद १२। १४५

भारत रूपी उपवन सदा से कई भाषाओ और कई धर्मों रूपी सुमनो से महकता रहा है। इस विभिन्नता ने भिन्नता की अपेक्षा एकता को ही जन्म दिया है। एकता की स्थापना करने वाली यही विचारधारा भारतीय सस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

समन्वय का सबसे विशाल प्रागण धर्म का है। इस प्रागण मे इतना अधिक विनिमय हुआ है कि किसी एक देव का मूल स्वरूप क्या था? किस प्रकार वह और सूत्रो को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ? और अत मे देश और काल दोनो की विस्तृत अवधि मे फैल कर वह किस रूप मे आज मान्य हो रहा है? यह अनुसधान का विषय है।

भारतीय लोकजीवन को कही पर भी गहराई मे देखा जाये तो उसमे सर्वत्र प्राचीनता दृष्टिगत होती है। समाज किसी भी सस्था या पूजा-पद्धति के विषय मे सशक नहीं होता, किसी का बलपूर्वक निराकरण नही करता। प्रत्येक धार्मिक सस्था अपने रस मे जीवित रहती है और अपने रस मे घटती-बढती या रूप बदलती हुई दूसरी सस्थाओ मे घुलमिल जाती है।

ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, इन प्रमुख धर्मों में यदि शोध की जाय तो ज्ञात होगा कि पर्याप्त साम्य है। यक्षपूजा तीनों धर्मों में किसी न किसी रूप में रही है। सम्पूर्ण भारत में वीर ब्रह्म (महावीर, ब्रह्मदेव) आदि को किसी न किसी रूप में आज भी पूजा जाता है।

भारतीय जन सदैव से आस्थावान् रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति में आस्था रख कर चलता है। पद-पद पर कार्य-सिद्धि के लिये वह देवी-देवताओं की अनुकम्पा के लिये प्रयत्नशील रहता है। लोक के प्रत्येक जन का व्यक्तिगत रूप में कोई न कोई देवता इष्ट रहता है। किसी का हनुमान का इष्ट है, तो किसी को भैरू का, तो किसी का किसी अन्य का। व्यक्ति के बाद दम्पती (पति-पत्नी) के लिये भी पृथक् देवता है। शादी-व्याह के बाद या पुत्रप्राप्ति के अनन्तर ढोक देने के लिये दम्पती अपने इष्ट के पास पहुँचते हैं। सम्पूर्ण परिवार की रक्षा के लिये फिर किसी न किसी कुलदेवी की योजना है। प्रत्येक कुल की एक-एक देवी होती है और कुल की वृद्धि के निमित्त उसकी पूजा की जाती है।

कई परिवार मिलकर ग्राम बसाते हैं। पुन गाव की रक्षा करने के निमित्त गाव से एक डेढ-मील दूर कॉंकड (ग्रामसीमा) के देवता की स्थापना की जाती है। वह सम्पूर्ण गाव को बीमारियों व अन्य आपत्तियों से बचाता है। किसी विशेष क्षेत्र की रक्षा करने के लिये 'क्षेत्रपाल' की स्थापना व पूजा की जाती है। दसों दिशाओं में दस[1] दिक्पालों की कल्पना करके उनको पूजा जाता है। उनकी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। देवताओं की यह कल्पना साहित्य, कला और धर्म तीनों में अपना विस्तार रखती है।

क्षेत्र के बाद प्रान्त की स्थिति होती है। किसी विशेष प्रान्त के विशिष्ट देवता होते हैं। राजस्थान प्रान्त के चार महत्त्वपूर्ण देवता ये माने गये हैं। १ सागानेर का सागा बाबा, २ रणथम्भोर के गणेश, ३ एकलिंग जी, ४ हनुमान गढ के हनुमान जी। पूर्वी भारत को कामाख्या देवी का, काश्मीर को त्रिपुरसुन्दरी का, महाराष्ट्र को गणेश का, तमिलनाड को सुब्रह्मण्यम् का और मालवा को महाकाल का क्षेत्र माना जाता है। प्रान्त के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक लोक-देवता स्वीकार किया गया है। भारत का लोक-देवता इन्द्र है। उसी के नाम पर भारत को इन्द्रद्वीप कहा जाता था।

एक सामान्य गाँव में घूमकर पता लगाने पर जिन लोकदेवताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई उसे प्रस्तुत कर रहा हू। इन देवताओं का पशुरक्षक, कृषिवर्द्धक, आरोग्यदाता, उत्सव विशेष में सहायक आदि श्रेणियों में वर्गीकृत करके अध्ययन किया जा सकता है।

पशुरक्षक देवताओं में काला जी, गोरा जी, छप्पन जी, पोपस्या ग्वाल, देवजी (तेजाजी) ताखाजी आदि आते हैं। ये सब वीर पुरुष ही रहे हैं। वेदों में 'पूषा' पशुरक्षक देवता है। सम्भवत उसी के गुणों का इनपर आरोप किया गया है और इस तरह वीर पूजा का प्रचार चल पडा है। इन मान्य पुरुषों ने कभी सकट के समय पशुओं के समूह की रक्षा की। तभी से देवता के गुणों का आरोप करके इन्हे देवरूप में मानने की प्रवृत्ति चल पडी है।

लोक में बहुमान्य देवता है—भैरव या भैरू जी। प्रत्येक अवसर पर इस देवता की उपासना की जाती रही है। सामान्यत प्रत्येक कुआ, बावडी या जलस्थान इनका अधिष्ठान रहता है। कृषिकार्य से पूर्व जलस्थान पर कृषक इनकी पूजा अवश्य करता है। लोक में ५२ भैरू और ६४ योगनिया प्रसिद्ध है। कुछ प्राचीन कृतियों में बावन वीरों की नामावली मिलती है। जयसागर सूरिरचित जिनदत्तसूरि-चरित्र में यह नामावली है। सम्भवत ये बावन-वीर ही लोक में ५२ भैरू के नाम से जाने जाते हैं। उनके नामों से ही यह ज्ञात हो जाता है कि ये किस-किस प्रकार के कार्य करने में समर्थ है? मध्यकाल में पूजित मणिभद्र आदि यक्ष कही ये ही तो नही है?[2]



---

१ १ इन्द्र २ अग्निदेव ३ यमदेव ४ नैऋत्य ५ वरुणदेव ६ वायुदेव ७ कुबेर ८ ईशान ९ धरणेन्द्र १० सोमदेव।

२ बावनवीरों की ४ नामावलियाँ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रन्थ (पृ० १४५-४७) से दी हैं। इनमे कुछ नाम समान हैं और कुछ मे भिन्नता है।

इसी प्रकार चौसठ योगनियो के नाम भी प्राप्त हुए है। कही योगनियाँ यक्षिणिया ही तो नही है ?[1] भैरव को युद्ध का देवता और योगनियो को युद्ध मे आहत वीरा का खून पीने वाला माना जाता है। पृथ्वीराज राठौर कृत क्रिसनरुक्मणी री वेली' मे ६४ योगनियो का उल्लेख आता है।

कृषि की अन्य देवी 'स्यावड' नाम से जानी जाती है। किसान जब खेत मे सबसे पहले हल जोतता है तब इसका स्मरण करता है।

स्यावड माय गाडा घालो आव।'
भलो करणी माय, सिर दु खे न पाव।

वह देवी का आह्वान करता है ताकि उसके खेत मे कई गाडियो मे भरने लायक अनाज पैदा हो सके। साथ ही 'सिर मे दद न हो' यह कहकर वह अपने आरोग्य के लिए भी प्रार्थना करता है।

आरोग्य प्रदान करने हेतु जिन देवताओ की ग्राम मे पूजा की जाती है, वे हैं भैरू जी, सप्तमातृकाये (शीतला, मसानी, काली, कीजासन, लालबाई, फलका माता, गलफेंडी माता) मोती महाराज, वीर हनुमान आदि।

चेचक से रक्षा के लिए शीतला माता, एक विशेष प्रकार की चेचक के लिए मसानी माता, गलफेडे से मुक्ति के लिए गलफेडी माता, मोतीझरे से बचने के लिए मोती महाराज आदि की पूजा की जाती है। बाहरी शक्तियो से गाव की रक्षा करने के लिए भैरव, हनुमान, वीर हनुमान (बालाजी), क्षेत्रपाल कवर जी आदि की पूजा की जाती है। सम्भवत क्षेत्रपाल और बाला जी का स्वरूप एक ही है।

जीवन के अन्य विभिन्न अवसरो पर सूर्य, गणेश, अग्नि, नवग्रह, शिव, जल (वरुण) गगा गो, वृषभ, गोवर्धन, सत्यनारायण, गोगाजी (वीरपुरुष-सर्वरक्षक), सती देवी, लक्ष्मी आदि की पूजा व स्तुति की जाती है ताकि प्रत्येक काय निर्विघ्न समाप्त हो सके।

जिस किसी भी कार्य को जन प्रारम्भ करता है उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो सके इसके लिए वह प्रारम्भ मे देव वन्दना करता है। कार्य समाप्ति के उपरान्त उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए फिर देवपूजा की जाती है।

देवोपासना की गावो मे दो पद्धतिया प्रचलित है। एक तो व्यक्तिगत रूप मे पूजा की जाती है और दूसरे सामूहिक रूप से की जाती है। व्यक्तिगत रूप मे ग्रामीण जन नित्य शिव पर जल चढाता है, मन्दिर मे जाकर देव-विग्रह को ढोकता है, सूर्य का अर्घ्य प्रदान करता है, भोजन करते समय भगवान् को भोग लगाता है, भोजन का थोडा अश वैसन्दर (वैश्वानर) मे आहुति के रूप मे डालता है, गोग्रास गाय को देता है, पितरो के नाम पर नित्य या मावस-पूना अन्नदान करता है। राजा किरण (सूय) को प्रणाम करने मे उसकी दिनचर्या प्रारम्भ होती है और तारो भरी रात मे सबकी हित-कामना करते हुए अपने सारे दिन भर के काय के फल को इष्टदेव को समर्पण करके निद्रादेवी की गोदी मे विश्राम लेने के साथ उसके जीवन के महाकाव्य के एक पृष्ठ का पटाक्षेप होता है। इस महाकाव्य का प्रत्येक पृष्ठ दिव्य-चेतना की गाथा कह जाता है। वह अपनी कर्मभूमि को 'देवरा' (देवमन्दिर) मान कर कर्मनिरत रहता है। पूर्णिमा को वह सत्तू बना कर सत्यनारायण को भोग लगाता है, व्रत करता है। अन्य उत्सवो को भी किसी न किसी देवता की कृपा की आकाक्षा करता हुआ मनाता है।

जब कोई सकट आता है तो वह देवताओ की विशिष्ट उपासना करता है। देवताओ की कृपा से उसके रोग-शोक सब दूर भाग जाते हैं। उपासना की विधि बडी सरल है। देवताओ की बाट बुहारना, सिर पर पत्थर रखकर आत्म-तितिक्षा का परिचय देते हुए देव-सेवा करना, गीत गाना, दिया ढाकना, देवता के नाम की ज्योति जलाना, गायो को चारा डालना, कबूतरो को चुगा या चीटिया को चीटीचुगा डालना, उनके नाम का गुड या मिठाई

---

१ चौसठ योगनियो की तीन नामावलिया डा० अग्रवाल ने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' ग्रन्थ (पृ० १८७-४६) मे दी हैं।

बांटना आदि। कुछ देवताओ को मासाहारी जातियो के लोग मदिरा की धार चढाते या बकरे आदि की बलि देते है। इसी तरह अपना काम हो जाने पर धनिक लोग देवताओ के नाम पर मन्दिर बनवाते है। कभी सोने-चादी के छत्र आदि भी चढाते है, परन्तु कोई भी ऐसा देवता नही है जो पत्रपुष्प मात्र समर्पित करने वाले निधन मे निधन व्यक्ति पर भी कृपालु न हो जाता हो। लोग काम मे सफलता के लिए वोलारी वालने हैं। देवताओ के थानक पर 'रसोई' दी जाती है जिसे 'जात' भी कहते हैं। सम्भवत जात शब्द यात्रा का अपभ्र श है। विवाह के बाद विनायक को विदा करते समय उनके थानक पर 'वोलावे' की रसोई दी जाती है। ऐसे समय देवमन्दिर पर नई ध्वजा चढाई जाती है। पूजा के लिये गावो मे 'धूप-कामी चढाना' मुहावरा चलता है। इसमे पता चलता है कि ऐसी पूजा को साधनहीन भी कर सकता है।

सामूहिक देवपूजन तब किया जाता है जब गाव के ऊपर कोई दैवी प्रकोप आया हुआ हो। महामारी आदि का आक्रमण होने पर गाव भर मे चन्दा किया जाता है और आधी रात मे ही क्रमश सब देवताओ की पूजा की जाती है। गाव मे होकर 'घासभैरव' निकाले जाते है। एक मिट्टी के बडे खप्पर मे अग्नि जलाकर उसमे दूव और घृत की आहुति देते हुए गाव की सीमा पर होकर घुमाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार मे ग्रामसीमा को अग्नि-परिशोधित कर देने पर महामारी का प्रकोप समाप्त हो जाता है। सूखा पडने पर भी सारे देवताओ की इसी तरह पूजा की जाती है। नदी मे बाढ आ जाने पर यदि गाव को खतरा पैदा हो जाए तो ढाल नगारे बजाकर नदी की पूजा की जाती है। उसको देवी का साक्षात् रूप मानकर घाघरा-लूगडा आदि समर्पित किए जाते है। लोगो का विश्वास है कि पूजा से सन्तुष्ट होकर नदी उतरने लग जाती है। सामूहिक पूजा का एक उदाहरण गगोझ (गगोत्सव) भी है। अकाल पडने पर सारे गाव के निवासी मिलकर यज्ञ करते है और एक दिन गाव की सीमा से बाहर वनभोज करते हैं।

देवपूजा के जिन स्वरूपो का प्रचलन अब भी देखने को मिलता है उनके मूल रूप को खोजे तो ज्ञात होगा कि मध्यकाल मे प्रचलित विविध मखो से इनका विकास हुआ है जो स्वय वैदिक यज्ञो के परिवर्तित रूप थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने धनुर्मह, गिरिमह, इन्द्रमह, स्कन्दमह, नदीमह, कूपमह, नागमह, वृक्षमह, सागरमह, चैत्यमह, यक्षमह आदि का उल्लेख किया है। चैत्यमह की परम्परा मे अब भी मन्दिरो मे 'डोरे' हाते है। लोकजीवन मे विविध उत्सव मनाये जाते देखे जाते है। उनका भी किसी न किसी देवता की उपासना से सम्बन्ध अवश्य है।

स्त्रिया स्वतन्त्र रूप से देवपूजा करके अपने सुहाग की अमरता, पुत्र और भाई को दीर्घायु, पारिवारिक समृद्धि, नीरोगी काया आदि के लिए प्रार्थना करती हैं। गौरी तो उनकी पद-पद पर सहायता करती है। स्त्रिया पूजा करके देवी-देवताओ की कहानिया सुनती है और गीत गाती है।

देवो के सान्निध्य मे जीना, उनकी कृपा मे जन्म लेना और मरकर उनके गण के रूप मे शाश्वत-जीवन का उत्तराधिकार पा लेना—यह है ग्रामवासी भारतीय जन का जीवन और जीवनोद्देश्य। देवताओ का सम्बल लेकर वह इस जीवन की वैतरणी को तो पार कर ही जाता है, परलोक मे भी शान्ति का लाभ करता है। वह आस्था धन्य है जिसने जीवन मे ऐसी दिव्यता भर दी है।



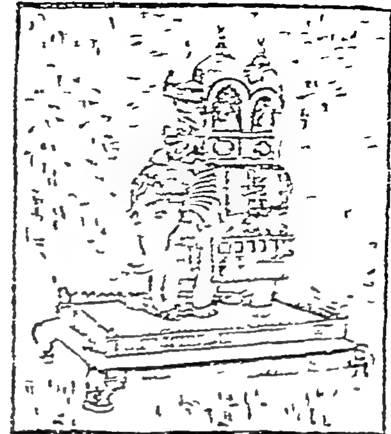
•

हमारी अद्भुत लोक-संस्कृति

डॉ० रामानन्द तिवारी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फिल्०, शास्त्री

महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर



आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और वन्य लोगों की संस्कृति को लोकसंस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गये हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अनागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में इस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्त्व नहीं है जितना कि ग्रामीण लोगों और वन्य जातियों के जीवन में है जो इस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक-संस्कृति और नागरिक-सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति अधिक समृद्ध नहीं थी जो समाज के जीवन में ओत-प्रोत हो सका इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुरक्षित और समादृत बनी रहे। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन में उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य संस्कृति में सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामाजिक जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक-संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और सौंदर्य का संचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है, उसे लोक-संस्कृति न कह कर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गये हैं। नागरिक सभ्यता ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का उदाहरण एक अपवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं जो ग्रामीण और नागरिक सभ्यता में समान रूप से पाये जाते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि अधिक जनसंख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में उनका रूप अधिक भव्य बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज त्योहार, पर्व-व्रत, उत्सव, संस्कार, मेले, तीर्थ आदि हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्त्व है। दोनों ही समान लोक-संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है—अनेक बार लोक-संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जनसंख्या और समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूपों में हुआ कि वे नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गये हैं।

दीपावली, होली आदि के पर्व हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की अन्य किसी संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी ऐसा पर्व होता है तथा दीपक जलाये जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएँ हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण-मात्र हैं। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल उसका एक अंग है। कदाचित् अन्यत्र इन दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को दीपमालिका कहते हैं। अन्य देशों में लक्ष्मीपूजन नहीं होता। दीपकों के द्वारा लक्ष्मीपूजन के अतिरिक्त धन्वन्तरि त्रयोदशी, नरक चतुर्दशी, यमदीपन, घरों की सफाई-पुताई भित्ति आलेखन, मिष्टान्नवितरण, खील-बताशे, नवीन वस्त्र निर्माण, देव मन्दिरों तथा पटाखियों के रूप में दीप-दान आदि अनेक प्रथाएं सम्मिलित हैं जो उसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गोवर्धनपूजा तथा उसके बाद आनेवाली भ्रातृ-द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इसके पीछे भावों का रंग तथा श्री कृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। उसके अतिरिक्त वसन्त-पञ्चमी से होली की स्थापना, रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना, पूर्णिमा के होलिकादहन के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिकापूजन एकादशी का आमलकी पूजन, पूर्णिमा का होलिकादहन, नवान्न की आहुति, प्रतिपदा का धूलि वन्दन, अतिथियों का आमन्त्रण, अपरिचितों का कण्ठमिलन, भ्रातृद्वितीया आदि ऐसी प्रथाएँ हैं जो दीपावली के पर्व की भांति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज-त्योहार पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिन के अन्तराल से नित्यप्रति नये पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भांति ये पर्व और उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं और इन्हीं के साथ-साथ समय-समय पर पारिवारिक संस्कारों, मेलों आदि के नवादी-वाद्य हमारी जीवन्त लोकसंस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की दुर्गापूजा, कौमार्य वन्दना, मातृ-पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट-सावित्री, गंगा-दशहरा, व्यास पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, ऋषि-पञ्चमी, अनन्त चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, शारदीय नवरात्र, दीपावली, गोवर्धनपूजा, मकरसंक्रान्ति, वसन्त-पञ्चमी, और शिवरात्रि के स्वर-सोपानों से होकर होली के लोकपर्व में हमारी लोक-संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। लोक-संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व, उत्सव, त्योहार आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भांति ऐसे क्रम से सजाये हुये हैं कि लोक-संस्कृति की यह योजना लोक-जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्र की रहस्यमय शक्तिपूजा के शांत और मन्द स्वर से संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की मूल संख्याएँ नौ ही होती हैं अतः यह नौ दिन की शक्ति पूजा वस्तुतः प्रतिदिन की शक्तिपूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का गांव और नगर के लोग समान रूप से पालन करते हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का संपुट देते हैं और इसकी विभूति को व्यावहारिक जीवन में अन्वित करते हैं।



अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की अक्षय परम्परा के प्रसार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप मे भी मनाई जाती है। घडा, सत्तू, पखा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा मे दान के महत्त्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धो मे अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की सजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान् को यम के पास से लौटा लाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानो की स्त्रिया सावित्री के व्रत का पालन करती है। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नही होता, जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नही है फिर भी घर मे इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण ही वन जाता है।

गगादशहरा कोई व्रत न होकर गगास्नान का पर्व है। ग्रामीणो के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल मे गगा-यात्रा और गगास्नान एक धार्मिक पर्व वन जाते हैं। गगा के निकट के नगर निवासी भी इस पव के पुण्य मे भाग लेते है। गगातट के मेले इस पुण्य पर्व को उत्सव भी बना देते हैं तथा इसे आर्थिक एव सामाजिक भूमिका मे प्रति-ष्ठित करते हैं। पिछले तीन व्रतो के बाद गगादशहरा के उत्सव मे सस्कृति की रागिनी का स्वर वदल जाता है। व्यास पूर्णिमा गुरुवन्दना का पव है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा मे गुरुओ का बडा योग रहा है उन्ही के तप-त्याग मे निरुपयोगी होते हुये भी विद्या की परम्परा पोषित रही है। आषाढी-पूर्णिमा का यह पर्व उन्ही गुरुओ की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य मे इसकी प्रथा मद हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन मे बहुत कुछ सहा-यक हो सकता है।

रक्षाबन्धन का पव वष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और वहनो की राखी इसके दो पक्ष है। ये दोनो क्रमश धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक है। वैदिक उपाकर्म तो लोग प्राय भूल चले हैं। किन्तु बहनो की राखी ग्राम और नगर दोनो के घर-घर मे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय सस्कृति मे इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षाबन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियो के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक-सस्कृति का भी रक्षाबन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते हैं।

रक्षाबन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसके व्रत और उत्सव दोनो का समन्वय होता है। घरो और मन्दिरो मे भी श्रीकृष्ण की झाकियाँ सजाई जाती है और उत्सव के आनन्द मे व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी मे गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र मे इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मगल के देवता के रूप मे गणेश समस्त भारत मे पूजे जाते हैं। ऋषि-पचमी ऋषियो के सस्मरण का पर्व है। इसमे वन्य आहार के द्वारा ऋषियो का स्मरण किया जाता है। अनन्त चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनो व्रत ही माने जाते है। इनकी सात्त्विकता के कारण कदाचित् इनमे उत्सव का सगम नही हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का प्रारम्भ होता है। पितरो का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर वन जाता है। गरीब, अमीर सभी घर-घर पितरो का श्राद्धोत्सव करते हैं। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक-सस्कृति का एक महत्त्व-पूर्ण अग है।

पितृ-पक्ष के वाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासतिक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन मे शक्ति के महत्त्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्त्व अत्यन्त रहस्यमय है। किन्तु तान्त्रिक विद्वानो से लेकर ग्रामीण नर-नारियो तक असख्य लोग नवरात्र का व्रत करते हैं। कार्तिक की कृष्णा चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करक-चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई-अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनो का भारतीय-सस्कृति मे अपार महत्त्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रिया इन व्रतो को करती हैं। धन्वतरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनो के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप मे बहुत व्यापक है। नरकचतुर्दशी का यह 'यमदीप' अमावस्या की दीपमाला

का सूत्रधार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मीपूजन की दीपमालाएँ आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती हैं। एक वर्ष के बाद लीप-पोतकर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपों की ज्योति से जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वास्थ्य, स्वच्छता नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मीपूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक दीपावली का आनन्द जीवन में उल्लास भरता है। रक्षाबन्धन के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोकपर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धनपूजा द्वापर-युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर-घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती है। एकादशी के देवोत्थान से भारत के भाग्य देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्त्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व में लोक-संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक के पंचम स्वर तक पहुँच जाती है। उसके बाद मन्द सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विरोध के कारण भारतवासियों के लिये शीतकाल कठोर होता है। ग्रामीण जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते बीतता है। इसीलिये दीपावली के दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं होता। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण होता है। संस्कृति की रागिनी मध्यम से तार की ओर बढ़ती है। माघस्नान और संक्रान्ति के व्रतदान से रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के बाद शिवरात्रि का महान् लोकपर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में नहीं हैं। किन्तु शिवमन्दिर गाँव-गाँव में होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य ग्रामीण जनों के लिए भी सुलभ हो जाता है। गंगाजी से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की यात्राएँ सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती हैं।

वसन्त पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग-लीला का सूत्रपात हो जाता है। होलिका-दहन का नवान्न-यज्ञ कृषि और धर्म की संगति है। अपरिचितों से रण्डमिलन, उन्मुक्त धूलि-वन्दन, स्वच्छन्द रंगलीला और विमुक्त लोकगायन में संस्कृति की रागिनी अपने उच्चतम तार स्वर पर पहुँचती है। चैत्र की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक देकर उसे सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नववर्ष के नवरात्र से नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व-परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि के संस्कारों तथा मेलों, यात्राओं आदि के उद्योगों की तानें एवं आलापें और भी सम्पन्न एवं सुन्दर बना देती हैं। भारतीय लोक-संस्कृति इस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है, जिस प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दर्शन, आदि को जीवन का अंग माना जाता है। लोक-संस्कृति के सभी रूप जीवन में समवेत हैं। पर्व, व्रत, संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इनमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय संस्कृति की यह एक अद्भुत विशेषता है जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भाधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किंतु आज भी प्रायः जातकर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जातकर्म के द्वारा आरम्भ से ही जीवन का सांस्कृतिक रूप मिलता है। इसके बाद चूडा-कर्म, कर्णवेध आदि बढ़ते हुये जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौंदर्य का समन्वय करते हैं। उपनयन संस्कार शिक्षा में सांस्कृतिक सौंदर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं। यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्त्व कम होता जा रहा है, किन्तु अब भी इनका बहुत कुछ सौंदर्य शेष है। अनेक घरों में जातकर्म, चूडा-कर्म, कर्णवेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते हैं। इस समारोह से व्यक्ति का जीवन ही नहीं बरन् परिवार और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौंदर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सबन्ध है। भारतीय समाज में उसे एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध, परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि-वेदी, पुरोहित, वेदमन्त्र, सप्तपदी, आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते हैं। दूसरी



ओर स्वजनो का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे एक उत्सव का रूप देते हैं। इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सास्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नही है। फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप मे अन्त्येष्टि का सस्कार होता है उस रूप मे वह शोकग्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीषिका का प्रभाव अपनी धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का सस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य को अपनी नियति के सम्बन्ध मे बहुत कुछ सात्वना देती है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य अन्त है। उसे कोई रुक नही सकता। अन्त्येष्टि सस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपो मे जिस प्रकार भारतीय परम्परा मे मृत्यु की इस अनिवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उसमे जितनी अधिक सान्त्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है उससे अधिक सात्वना की आशा किसी समाज मे नही की जा सकती।

इस प्रकार जातकर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के सस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। सस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु सस्कार सस्कृति का मौलिक बन्धु है। अत इन सस्कारो मे परिमाजन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और सस्कार दोनो मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते है। पर्वों की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। सस्कारो की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अत प्राय दोनो का सगम होता है। गान-वाद्य की सगति की भाँति दोनो की सगति जीवन और लोक सस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। सस्कार साक्षात् जीवन के पर्व है। इनमे सास्कृतिक सौंदर्य को जीवन के यथार्थ मे अन्वित किया जाता है। पर्वों मे सास्कृतिक सौंदर्य मे जीवन के यथार्थ को अन्वित किया जाता है। इस प्रकार इस विविध और परिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौंदर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौंदर्य प्रदान करता है।

पर्वों और सस्कारो के अतिरिक्त तीर्थ-दर्शन, तीर्थस्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक-जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते है। तीर्थ धर्म के पीठ है। भारत मे सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुये है कि सम्पूर्ण भारत को धर्मभूमि कहा जा सकता है। पुण्य अवसरो पर तीर्थों मे मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों मे धर्म और अर्थ का सगम होता है। तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-दर्शन और तीर्थ-स्नान की प्रथा भारत मे बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानो के निवासी तीर्थों मे श्रद्धा रखते हैं। यह तीर्थसेवन हमारी लोक-सस्कृति का एक धार्मिक अग है और उतना ही लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, सस्कार आदि है। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतो और पर्वों मे भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ-सेवन उस भावना की सगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ मे हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतो और उत्सवो की भाति तीर्थ सेवन के अवसरो की बहुसख्यता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानो पर छोटे-बडे मेले लगते है। मूल रूप मे तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गतिविधि को सन्तुलित करते है। किन्तु साधारण जनो विशेषत बालको और स्त्रियो के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और विनोद के केन्द्र भी बन गये है। बडे नगरो का दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है, किंतु छोटे नगरो के जीवन मे इन मेलो का बडा महत्त्व है। इनके निवासियो के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक-जीवन मे एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते है।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, सस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपो से युक्त हमारी लोक-सस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की सस्कृति कर सकेगी। सास्कृतिक रूपो की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु सस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक-सस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। सस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते है। जटिलता का अर्थ उलझन नही वरन् अनेक तत्वो और पक्षो का सगम है। जटाओ मे अनेक केश-तत्तु मिल जाते है। इसीलिये जटिलता शब्द उलझन के अतिरिक्त तत्त्वो और पक्षो की अनेकता का भी सूचक है। हमारी लोक-सस्कृति

के अनेक रूपो मे देश, काल, मानवीय सम्बन्ध, उपकरण, विधि, निमित्त, रग, सगीत, देवता आदि अनेक विशेष तत्त्वो एव पक्षो का सगम रहता है। ये सब मिलकर सास्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि मे सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली की विदेशो मे प्रचलित रगलीला और दीपोत्सव मे भेदक है। जटिलता की दृष्टि मे सस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश मे मिल सकेगे। सस्कृति के जटिल रूपो की विपुलता और भी अधिक दुर्लभ है।

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है हमारी यह लोक-सस्कृति जीवन से समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोकसस्कृति जीवन का ही सास्कृतिक रूप है। लोकसस्कृति की परम्परा मे सस्कृति का सौन्दर्य जीवन मे ही समवेत हो गया है। इस प्रकार हमारी यह लोक-सस्कृति उस अभिजात सस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार सस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात-सस्कृति जीवन का सास्कृतिक पर्याय नही है वरन् जीवन का एक अग मात्र है। धर्म, दर्शन, कला आदि इसके पक्ष हैं। ये सम्पूर्ण लोक-जीवन के साथ समवेत नही हैं वरन् जीवन के एक अग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात सस्कृति जीवन और सस्कृति का आशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक-सस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज मे शेष रह गयी है। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किंतु हमारी भारतीय लोक-सस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर से अपनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने इस सस्कृति का तिरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपो को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक-सस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सामजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश मे मिल सकेगा। इस दृष्टि मे हमारी लोक-सस्कृति ससार मे अद्‌भुत और अतुलनीय है।

इस लोक-सस्कृति की एक अन्य विशेषता बडी महत्त्वपूर्ण है। चित्रकला, सगीत, साहित्य, धर्म आदि जो अभिजात सस्कृति के अग माने जाते हैं वे भी इसके जीवन रूप मे समवेत हो गये है। भित्ति-चित्रण, भूमि-आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमे समन्वित है। लोकगीतो के रूप मे विपुल काव्य-साहित्य इस लोक-सस्कृति मे समाविष्ट हो गया है। इनके अतिरिक्त गीता, रामायण, आल्हा, ढोला जैसे श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ भी इस लोक-सस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रन्थो का विद्वानो मे जितना आदर है उतने ही वे जनता मे भी लोकप्रिय है। ग्रामो और नगरो मे लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते है। भारतीय आकाशवाणी से लोक-साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओ मे श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोकप्रिय रूप मिलता है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश मे मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक-सस्कृति मे अद्‌भुत समन्वय हुआ है।

अस्तु, भारतीय परम्परा मे लोक-सस्कृति का ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन मे भी लोकप्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन मे व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक-सस्कृति का किसी भी अन्य देश मे उदाहरण मिलना कठिन है। सस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट् और महान् सकल्प-शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आर्य विभूतियो मे अपने विराट और महान् सकल्प के द्वारा इस अद्‌भुत लोक-सस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेगे।





लोक-साहित्य

श्री चम्पालाल गुप्त, एम० ए०

आयुर्वेदरत्न, भारतीभूषण

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विश्व के बाह्य चमत्कारो की चकाचौंध मे चकित होकर मानव प्रत्येक वस्तु को अपने पूर्वजो की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगा है। और अपने आप को अपेक्षाकृत अधिक सुसभ्य व सुसस्कृत समझने लगा है। फिर भी जब हम आधुनिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते है तो हमे उसमे उस मूल सवेदना, नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छन्दता और जीवन की व्यापकता के दर्शन नही होते जिसके लोक-साहित्य मे होते हैं। भौतिक साधनसम्पन्नता और पदार्थवाद की बढती उद्दाम प्रवृत्ति आज साहित्य मे कृत्रिमता और प्रयत्न-साध्य ऊहापोह का पर्याय बन गई प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था मे हमारे ध्यान का लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, जिसमे सवेदनात्मक जीवन की रसमय व्याख्या हृदय की निश्छल भाषा मे अभिव्यक्त हुई है और रागात्मक वृत्तियो के साथ पूर्ण सामजस्य एव तादात्म्य हुआ है।

साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियो और गवेषणाओ ने भी लोक-साहित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने मे सहयोग दिया है। वास्तव मे साहित्य का लोक से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। लोक का अर्थ है—विराट् जनसमुदाय, जहा व्यक्ति और समष्टि का जीवन व्यापक चेतना के एक समस्तर पर आदोलित होता रहता है। उसकी सत्ता सर्वव्यापक एव प्रकृति के अणु-अणु मे व्याप्त है। उसमे भूमि और जन दोनो के अस्तित्व का भाव है। वस्तुत व्यष्टि और समष्टि दोनो मे अभिव्यक्त समस्त मनोभावनाए ही लोकचेतना है और यही सस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन व सभ्यता का प्रतिविम्बित रूप है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शन अर्थवाची लोक् धातु से हुई है। लोक के अर्थ के विषय मे अभी तक भारतीय और पाश्चात्य भाषाविदो मे मतैक्य नही हो पाया है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार लोक शब्द का स्थान के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थो, बृहदारण्यक उपनिषद् एव वाजसनेयी सहिता मे इस प्रकार की किसी भेदात्मक स्थिति का कोई विवरण उपलब्ध नही होता। लोक-परलोक, आकाश-पाताल, मृत्युलोक आदि मे लोक की अभिव्यक्ति 'लोक' के सम्बन्ध मे एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। लोक साहित्य को आर्य या अनार्य परम्पराओ मे विभाजित करके देखना न तो समाचीन ही है और न ही सभव। लोक की व्यापक सत्ता का अस्वीकार कर कोई भी परम्परा अपने अस्तित्व को चिरस्थायी नही रख सकती। इसलिए वेद लोक को भी अपने साथ लेकर चलता है। वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यास ने स्वय लोक-धर्म और विधान के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा है "प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर।"[1] गीता का—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम[2] यजुर्वेद मे लोक के विराट् स्वरूप की कल्पना[3] एव जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण मे उसका नाना रूपो मे वर्णन[4] इसी सम्बन्ध का पुष्ट करता है। प्राकृत एव अपभ्र श मे प्रयुक्त 'लोकजत्ता' व 'लोकप्पवाय' शब्द भी लोक का महत्त्व व्यक्त करते हैं।

---

१ महाभारत, उद्योगपर्व, ४३। ३६।

२ गीता, अध्याय १५, श्लोक १८।

३ 'सहस्र-शीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्'।

४ 'बहु व्याहितो वा अय बहुशो लोक'।

पाश्चात्य दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि आंग्ल भाषा में 'लोक' शब्द के अर्थ में फोक (Folk) शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी उत्पत्ति 'Folc' से हुई है। सम्भवतः जर्मन का Volk शब्द ही ऐंग्लो सेक्सन में Folc नाम से अभिहित किया जाने लगा है। यहाँ 'फोक' शब्द असंस्कृत तथा मूढ़ समाज का द्योतक है, किन्तु सर्व-सामान्य और राष्ट्र के अवयवभूत समस्त जनों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग करने में किसी संकुचित प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं दिया गया है।

जो भी हो 'लोक' एक ऐसा व्यापक शब्द है जो भूभाग पर प्रसरित समस्त मानव-समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया और वर्गभेद रहित व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित नवीन सभ्यता व संस्कृति के विकास का द्योतक समझा जा सकता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में—"लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यापक रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याण-तम रूप है।"

ऐसे सर्वव्यापी, सार्वकालिक, महत्त्वपूर्ण 'लोक' की उपेक्षा कर कोई साहित्य शाश्वत व चिरन्तन पद का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य को 'लोक' के मंगलकारी रूप को अपनाना पड़ा और इसके समायोजन व समावेश से साहित्य की प्रतिष्ठा व महत्ता को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँची वरन् उसकी वृद्धि में ही सहायक हुआ। इसलिए 'लोक-साहित्य' को साहित्य के एक अभिन्न एवं अवयवभूत अंग के नाम से सम्बोधित किया जाये तो यह सत्यता का प्रतिपादन ही है, किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं।

कतिपय लोगों के मतानुसार लोकसाहित्य अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना व अहं-कार से हीन ग्रामीण एवं अशिक्षित लोगों की व्यापक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य है। वास्तव में उन का यह विश्वास न तो सत्य है और न वास्तविकता पर आधारित ही। निस्सदेह 'लोकसाहित्य' लोक की मौखिक अभि-व्यक्ति है और यह वाणी के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गतिमान रहता है परन्तु इसीसे यह अशिक्षित समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य नहीं बन जाता। इसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति जितनी निष्पक्ष, स्वाभाविक, पूर्णता व सत्यता के साथ प्रतिपादित मिलती है उतनी छंद, अलंकारादि के द्वारा नियमबद्ध सजोई गई भाषा द्वारा निर्मित साहित्य में भी नहीं मिलती। इसलिए यह सही अर्थों में जन-भावनाओं की अभिव्यक्ति व जन-साहित्य है और उसपर ग्रामीण व अनपढ़ लोगों के साहित्य मात्र का आरोपण करना तर्कपूर्ण व न्यायसंगत नहीं है।

डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दों में—"साहित्य और दर्शन की गगनचुम्बी हिम-श्रेणियों के बीच में 'लोक साहित्य' एक ऐसा सजल आलोकोज्ज्वल मेघ-खण्ड है जो न तो इनके टूट-टूट कर गिरनेवाले शिलाखण्डों से दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं में आबद्ध होकर ससीम बनता है, प्रत्युत गीत, नृत्य एवं वार्ता आदि विविध-वर्णा किरणों में स्नात होकर साहित्य की इन उन्नत चोटियों का शृंगार कर जाता है और संगीत-लहरी के प्रत्येक स्पंदन-कम्पन के साथ उड़कर उस विशालता के कोने-कोने को मादकता का सागर प्रस्तुत करता है।'

ऐसे लोकसाहित्य की महत्ता से कौन इन्कार करेगा? मानवमस्तिष्क की मूलभूत एकता का तो यह सर्वोत्तम परिचायक है ही, साथ ही आज जबकि मानव कृत्रिमता, आत्म-प्रवंचना, ईर्ष्या, द्वेष, भय, लूटखसोट, परस्पर अविश्वास की चट्टान से टकरा कर छिन्न-भिन्न होने जा रहा है, ऐसे समय में वह 'लोक-साहित्य' अपनी सहज मानवीय भावनाओं से मानव-हृदय में एकता व आशा का शाश्वत आलोक निष्पंदित करता प्रतीत होता है—

एक कदम, एक डार बसैं वे दुइ पंछिया रे,
सरग उड़न्ती एक उडत फिरे दिन रतिया रे।





चुगत-चुगत गई दूर सो दूसर अनमनिया रे,
मार्यो वियाधा ने बान रोवन लागी दोउ आखिया रे।

यह हमारे विकास की अमूल्य निधि के समान है। जातीय हृदय की उथल-पुथल, सुख-दु ख, सयोग-वियोग, सभ्यता, सस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाला स्वच्छ मुकुर है। अनुभव की सरसता, सत्यता व सजीवपन का इसमे सुन्दर समावेश है। देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक व सामाजिक आदर्श—इसकी मूक वाणी है। आशावाद और जीवन-स्फूर्ति इसका आलोकमय स्तम्भ हैं। जो स्थायी रूप से सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है। 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' भावो का अपार सागर है।

वास्तव मे 'लोकसाहित्य' साहित्य की अमूल निधि और धरोहर है। इसकी महत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्यिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो यह महत्त्वपूण है ही, सास्कृतिक एकता की स्थापना की दृष्टि से भी इसका योगदान महान् है। अत इसका अध्ययन और सर्वांगीण विवेचन होना अपरिहार्य है। राजस्थान 'लोकसाहित्य' की दृष्टि से अन्य किसी प्रान्त से पीछे नही है। वार्ता, गीत आदि के रूप मे यहा साहित्य की अपार निधि छिपी पडी है। सस्कार, आदर्श, उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता सभी दृष्टियो से वह सुन्दर व सुरुचिसम्पन्न है। इसको प्राचीनता के आवरण मे देख कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नही, जातीय आत्मघात के समान होगा। यह शुभ लक्षण है कि अब हमारे मनीषियो व विद्वानो का ध्यान साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर गया है और नये-नये रत्नो को इस अपार निधि से खोजकर निकाला जा रहा है। आशा है 'लोकसाहित्य' को अपना उपयुक्त स्थान शीघ्र ही प्राप्त होगा और आधुनिक साहित्य भी इसके सम्पर्क से अधिक गरिमामय व गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर ज्ञान-आलोक से जनमानस को विशेष रूप से आलोकित कर सकेगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि—

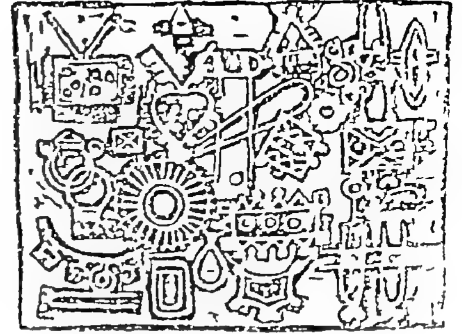
'लोक का अध्ययन बुद्धि का कौतूहल मात्र नही है। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे है। जो ज्ञान लोक-हित के लिए नही, वह अधूरा है, वह मानवी चिंतन का छूंछा फल है।'

✿

लोक-दर्शन और धर्म का स्वरूप

डा० रामप्रसाद दाधीच

हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



'लोक' शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग मे अनेक जन-प्रचलित शब्दो को उनके सामान्य अर्थो के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और सदर्भ दिये गये हैं। लोक का, व्यापक मानवसमाज मे अर्थ न लेकर लोकवार्ता-विज्ञान आज 'मानव समाज के उस वर्ग से अर्थ लगाता है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाडित्य की चेतना और पाडित्य के अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है।'[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे 'लोक' शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग मे लिया गया है जो नागरिक सस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओ मे मुक्त/न्यून परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हे मामूली-सा अक्षर ज्ञान है—ग्रामीण और गवार।[2]

'लोक' शब्द का उपयुक्त अर्थ और परिभाषाये यह स्पष्ट करते हैं कि लोक-मानस और हृदय सहज और सारल्य सवृत्त होता है, उसमे दिखावा नही होता, मानव-स्वभाव की वक्रताये और कुटिलताये नही होती। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद् जेम्स फ्रेजर ने इस लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह विवेकपूर्वी (Prelogical) और मिस्टिक होता है।[3] फ्रेजर की इन मूलस्थापनाओ को लोकमानस और लोकवार्ता-विदो की पूर्ण सहमति यद्यपि नही मिल पाई किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य हैं जिन्हे वे सभी स्वीकार करते हैं। ये तत्त्व सक्षेप मे इस प्रकार हैं—(१) लोक-मानस यथार्थ और कल्पना मे भेद नही करता (फैंटेसी थिंकिग), (२) वह प्राणी-अप्राणी-जड-चेतन को आत्मा से युक्त मानता है (ऐनिमिस्टिक थिंकिग), (३) उसका यह विश्वास रहता है कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है (मैंजिकल थिंकिग), (४) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिचुअल थिंकिग)।[4] इन तत्त्वो के परिणामस्वरूप लोकजीवन मे हमे ऐसे अनेक विश्वास, मान्यतायें, आचरण, अभिचार और अनुष्ठान देखने को मिलते हैं जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग मे समझ मे नही आते। इन्ही के फलस्वरूप वह देवी-देवताओ, प्रकृति और पराप्राकृतिक शक्तियो, भूतो और प्रेतो मे विश्वास करता है। वह वृक्ष, पहाड, नदी, नाले आदि को आत्मतत्त्व से युक्त मानता है—उसका विचार है कि चेतन मानवो की भाति यह सब काम करते हैं। मत्र, टोने और अनुष्ठानो की लोकजीवन मे इसीलिये भरमार रहती है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि से वह अपने अभीष्ट और अभिप्रेत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा होता है। एक जाति

---

१ लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० स० ३ डॉ० सत्येन्द्र।

२ फोक-लोर, इन साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग १०

३ दि गोल्डन बाउ-सर जेम्स फ्रेजर।

४ लोक साहित्य विज्ञान-पृ० स० ४८, डॉ० सत्येन्द्र



और राष्ट्र की गरिमा उसके लोक के जीवन मे निहित होती है। उसकी सस्कृति, कला, धर्म, और दर्शन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन नगरो मे रहनेवाले अति-आधुनिक और सभ्य समाज के जीवन मे नही हो सकते, ग्राम्याचलो के प्राकृतिक परिवेश मे निवास करने वाले अनन्त लोक के जीवन मे ही हमे वे दर्शन सुलभ हो सकेंगे।

इस निवन्ध मे मैंने भारतीय लोक को ही आधार बनाया है। जब हम भारतीय लोक के दर्शन और धर्म पर दृष्टिपात करते हैं तो सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता जो हमे दिखाई देती है वह है, उसकी आध्यात्मिकता। यह आध्यात्मिकता भारतीय लोकजीवन का अविनश्वर स्वरूप है।[1] वैदिक पूर्व-काल से लेकर आज तक लोकजीवन मे आध्यात्मिकता की यह धारा अविरल गति से प्रवहमान मिलती है। आधुनिकता के प्रभाव से यह धारा यद्यपि क्षीण अवश्य हो रही है। लोक-हृदय समस्त जड-चेतन मे आत्म-तत्त्व के दर्शन करता है और उससे अपनी अभेदता मानता है। भारतीय सस्कृति का सिद्धान्तसूत्र-'सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि चात्मनि' लोकदर्शन मे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन मे अलौकिक स्नेह और सौहार्द्र दिखाई देता है। इस आत्मा और परमात्मा के समन्वय-दर्शन से हमारा जन-जीवन अत्यन्त समृद्ध हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, राधा, सीता, पार्वती, लक्ष्मी लोकदेवता, लोकदेवियां-ये सब लोकजीवन और परिवार के अग के रूप मे ही लोकवार्ता और साहित्य मे चित्रित हुये है। जिस प्रकार दुख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-वियोग जन्म-मृत्यु आदि से साधारण मनुष्य अभिभूत होता है, उसी प्रकार उसके आराध्य ये देवी-देवता भी होते हैं। यह उसके अभेद-दर्शन का द्योतक है। शिव और पार्वती, कृष्ण और राधा, राम और सीता से सम्बधित शत-शत भारतीय लोक-कथाओ और गीतो को इस कथन के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल देवी-देवताओ मे ही नही पशु, पक्षी, बनस्पति और अन्य प्राकृतिक उपकरणो मे भी लोक की यही आत्मतत्त्वमयी अभेद-दृष्टि दिखाई देती है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, व्यष्टि और समष्टि लोकदर्शन मे एक-रस हो गये हैं।

लोक-दर्शन और धर्म की दूसरी प्रमुख विशेषता श्रम-साधना और कर्मनिष्ठा मे दिखाई देती है। लोक का प्रत्येक सदस्य कुछ न कुछ कर्म अथवा श्रम करता है। वह पराश्रित नही रहना चाहता। अपने श्रम से ही वह जीविकोपार्जन करता है। आदिम लोकजातियो के दैनन्दिन जीवन, उनकी बस्तियो, गृहनिर्माण आदि पर दृष्टिपात करने मे पता लगता है कि श्रम की भागीरथी मे वे निरन्तर स्नान करते हैं। एक क्षण भी वे निष्क्रिय नही रहते। जीवन मे इस श्रम-साधना की प्रतिष्ठा महाभारत के शान्तिपर्व मे व्यासजी ने कराई है—

अहो सिद्धार्थता तेषा, येषा सन्तीह पाणय।
अतीव स्पृहदेतेषा, येषा सन्तीह पाणय ॥
पाणिभद्र भय स्पृहास्माक यथा तवधनस्वै।
न प्राणिलाभादधिको लाभ कश्चन विद्यते ॥

भारतीय लोकगीतो मे कर्म और श्रम की इस महत्ता को देखा जा सकता है। आखेट, कृषि, पशु-पालन, कुटि-उद्योग और अब औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित ऐसे सहस्रो गीत हैं जो लोकजीवन की कर्मनिष्ठा का परिचय देते है।

लोकदर्शन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी समाजवादी दृष्टि। लोककला, साहित्य और सगीत के माध्यम से जो लोक-चिन्तन हमारे सामने आता है उसमे व्यक्ति की सत्ता को कही स्वीकृति नही मिली, न वह स्रष्टा है और न सरक्षक। लोक के चिन्तन मे समाज ही सर्वोपरि शक्ति है। वह ईश्वर से जो कुछ मागता है, व्यक्ति के लिये नही मागता, समूचे समाज के लिये मागता है। लोकसाहित्य मे अभिव्यक्त सुख-दुख, हास-रुदन तथा शोक आह्लाद व्यक्ति का नही है—वह समूचे लोक-मानस का है। सक्षेप मे लोक का व्यक्ति अपने लिये नही जीता, अपने अस्तित्व को समाज मे विलय कर समग्र लोक के लिये जीवित रहता है।

---

१ सम्मेलन पत्रिका (लोक सस्कृति अक) पृ० स० ८६

लोकधर्म और दर्शन में व्यक्ति के नैतिकता से पूर्ण पवित्र आचार पर बल दिया गया है। आभिजात्य संस्कृति में जो महत्त्व शास्त्रीय कर्मकाण्ड को दिया गया है वही नहीं, उससे कुछ अधिक लोकजीवन में लोकाचार को दिया गया है। मानवधर्म ही लोकधर्म का आधार है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा मानव धर्म के पालन से ही होती है। यह मानव-धर्म ही लोक का आश्रय है। इसीलिये महाभारत में कहा गया है —

धर्मं सतां हितं प्रोक्तं धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात निर्मिता सचराचरा ॥

"धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही निर्मित हैं।"

धृति, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध मनु महाराज द्वारा बताये गये मानव धर्म के ये दस लक्षण लोकधर्म के प्राण हैं किन्तु धर्म का यह उपदेश मनु महाराज ने वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित आभिजात्य समाज के लिये दिया था। लोकजीवन में हमें जो धर्म दिखाई देता है वह उस प्रकार का शास्त्रोक्त नहीं है। वह लोक-हृदय से प्रसूत सरल और स्वाभाविक धर्म है। सत्य भाषण, निष्कपट व्यवहार, निष्ठा, ईमानदारी, दया, क्षमा, अक्रोध, निर्लोभ, निरहंता, ईश्वरभक्ति, नामस्मरण, व्रत, उपवास, प्राणिमात्र की सेवा आदि इस लोकधर्म के तत्त्व हैं। लोकगीतों, लोकजसों, लोकवाणियों, धर्मगाथाओं और लोक-कथाओं में हमें लोकधर्म का यही रूप मिलता है। लोकोत्सवों और धार्मिक पर्वों में भी लोकधर्म के दर्शन होते हैं। ये उत्सव और पर्व लोक की किसी न किसी धार्मिक आस्था को प्रकट करते हैं। इन उत्सवों और पर्वों के पीछे लोकानुरंजन का भाव भी निहित है किन्तु इनके आयोजन के पीछे लोक की धार्मिक भावना ही मुख्य रूप से क्रियाशील रहती है। दीपावली, होली, गणगौर, रक्षा-बन्धन, दशहरा के समान ही अन्य अनेक पर्व और लोकोत्सव हैं जिन्हें लोक अत्यन्त उत्साह के साथ मनाता है और इस प्रत्येक पर्व अथवा उत्सव के पीछे धार्मिक एषणा ही कार्य करती है। समाज और परिवार की सुख-समृद्धि की कामना ही इन उत्सवों का लक्ष्य रहती है।

लोक के अन्धविश्वासों का उल्लेख भी यहाँ अनिवार्य होगा। मानव सभ्यता के आदिम युगों से ही मानव-समाज में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित रहे हैं जिन्हें तर्क और बुद्धि की तुला पर नहीं तोला जा सकता। लोक-जीवन में हमें जो अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह मिलते हैं, श्रीमती सौफिया बर्न के अनुसार वे इस प्रकार हैं —

१ प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् से सम्बद्ध।
२ मानव-स्वभाव तथा मनुष्यकृत पदार्थों से सम्बद्ध।
३ भूत-प्रेतों की दुनिया से सम्बद्ध।
४ जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज़ और भाग्य से सम्बद्ध।
५ शकुन अपशकुन से सम्बद्ध। और
६ रोग तथा मृत्यु से सम्बद्ध।[1]

भारतीय लोकजीवन में इस प्रकार के अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह वैदिक काल से ही उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के अनेक मन्त्र भूत, प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस और अन्य अलौकिक शक्तियों में लोक-विश्वास को प्रकट करते हैं। उस काल में जादू-टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अलौकिक क्रिया-व्यापारों को लौकिक मान्यता प्राप्त थी।[2]

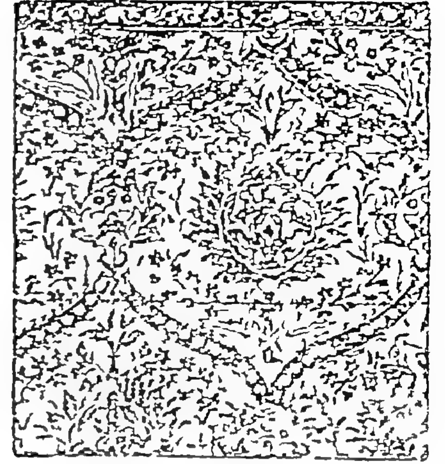


१ हैंडबुक आफ फाकलोर-सोफिया बर्न।
२ विश्व धर्मदर्शन पृ० २३ साँवलिया बिहारीलाल वर्मा।



भारतीय लोक-साहित्य मे इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते है। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, सरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासो से पीडित है और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नही कर सकता। सूने भवनो और स्थानो मे भूतो के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षो पर राक्षसो का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त्त और शकुन-अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हे प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोकजीवन से अभिन्न रूप मे सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियो मे इसी प्रकार के अन्ध-विश्वासो से जुडा हुआ है। आज भी देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियो मे नरबलि की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस सक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज मे जो दर्शन और धर्म हमे आज उपलब्ध होता है, उसकी जडे लोकदर्शन और धम मे हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही सभव हो सकते है। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग मे हमे विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जायेगे। जीवन के वर्तमान सदर्भ मे लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसधान की आवश्यकता है।



काव्यरूपों में लोकतत्त्वों की प्रतिष्ठा

डॉ० सत्येन्द्र

एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रत्येक उच्च, शिष्ट, मनीषी, कलात्मक अभिव्यक्ति का मूल लोकवार्ता मे होता है, यह एक अखड सत्य है। इस लोकाभिव्यक्ति को हिन्दी अथवा भारतीय दृष्टि से 'प्राकृतवाणी' अथवा 'प्राकृत-अभिव्यक्ति कह सकते है। एक प्रवृत्ति प्रत्येक अभिव्यक्ति को सस्कृत रूप देने की सर्वत्र विद्यमान है। दूसरी प्रवृत्ति लौकिक अथवा प्राकृत होती है, इसका सम्बन्ध सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानव की अभिव्यक्ति की स्वाभाविक धारा से होता है। ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ चलती मिलती हैं, किन्तु दोनो की प्रकृति मे बहुत अन्तर है और वह अन्तर सहज अन्तर है। सस्कृत प्रवृत्ति का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दर्य-विषयक कल्पना वृत्ति मे है। वह प्राकृत अभिव्यक्तियो से सुरुचि और सौन्दर्य के तत्त्वो को चुन लेती है। सस्कृत धारा सदा पीछे की ओर देखती है, प्राकृत धारा सदा आगे की ओर। प्राकृत धारा स्वाभाविक रूप मे आगे बढती है।

प्रत्येक युग की सस्कृत प्रवृत्ति अपनी प्रामाणिकता के लिए शास्त्रो को देखती है। उदाहरणार्थ केशव सस्कृत प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते है। उधर तुलसी मे लौकिक अथवा प्राकृत प्रवृत्ति है।

सन्तवाणी प्राकृत परम्परा का वह रूप है जो विविध प्रभावो का परिणाम होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी मे एक 'सधुक्कडी' भाषा के रूप का अन्वेषण किया था। कबीर को सधुक्कडी भाषा का प्रमाण माना जा सकता है। पर यह सधुक्कडी भाषा प्रकृत रूप मे प्राकृत के साथ विद्यमान रही है। वेदो मे इसके प्रमाण है। पाली, प्राकृत, और अपभ्रश इसमे परिपूर्ण है। विविध विद्वान् ऐसी सधुक्कडी भाषा पर विचार करते समय भ्रम मे पड जाते है और अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार उस भाषा का नामकरण करते है। वैदिक भाषा मे सस्कृत और प्राकृत तत्त्वो का अन्वेषण हो ही चुका है। ये दोनो तत्त्व साथ-साथ मिलते है। बुद्ध की भाषा और अशोक के शिलालेखो की भाषा मे शौरसेनी-महाराष्ट्री-मागधी अथवा अर्द्धमागधी के लक्षण अलग-अलग खोजे गये हैं। सिद्धो मे से किसी मे बगला का मूल, किसी मे मैथिली का मूल, किसी मे भोजपुरी का मूल, किसी मे पश्चिमी का मूल परिलक्षित हुआ है। जिससे कोई उन्हे बगाली, कोई मैथिली, कोई हिन्दी का मानते है और खीचातानी करते है। नाथो की रचनाओ मे, विद्यापति और ब्रजबुली मे, वैसे ही सन्तो मे यह प्रवृत्ति है। इसी को शास्त्रो ने भी आगे चलकर प्रामाणिक मान लिया और प्रत्येक काव्य के लिए ब्रजभाषा की मुख्य पृष्ठभूमि पर षट्भाषाओ से युक्त होना आदर्श माना। इस शास्त्रीय मान्यता का मूल 'सतवाणी' अथवा 'सधुक्कडी' भाषा की विद्यमानता मे ही है। तुलसी ने इसी प्राकृत धारा की सतवाणी मे रामचरितमानस रचा और अपनी 'भणिति' को 'भाषा-भणिति' माना।

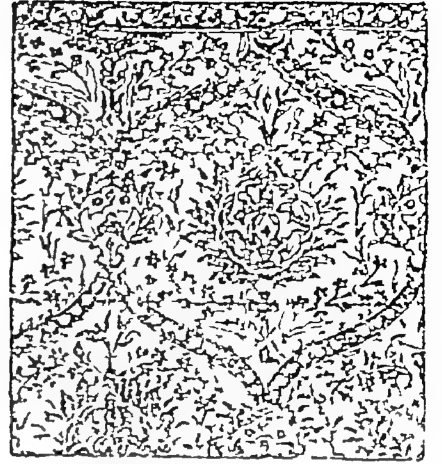
वस्तुत तुलसी लोक-धारा के स्वाभाविक परिणाम थे और केशव थे सास्कृतिक पुनरुद्धारक। यह स्पष्ट है कि लोक-धारा से साहित्य के लिए केवल विषय अथवा विचार ही नही लिये जाते हैं, लोकधारा के उत्कृष्ट नये रूपो को भी ग्रहण करना पडता है। यह बात काव्य-रूपो के विकास पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। इस विकास के इतिहास को इस प्रकार समझ सकते है—कोई भी अनुभूति अभिव्यक्ति के समय रूप ग्रहण करेगी, बिना रूप के वह अभिव्यक्त नही हो सकती। इसका क्रम यही होगा—(अनुभूति) अभिव्यक्ति शब्द-अर्थ रूप।



भारतीय लोक-साहित्य मे इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, सरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासो मे पीडित हैं और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नही कर सकता। सूने भवनो और स्थानो मे भूतो के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षो पर राक्षसो का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त्त और शकुन-अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेप विधि से उन्हे प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोकजीवन से अभिन्न रूप मे सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियो मे इसी प्रकार के अन्ध-विश्वासो मे जुडा हुआ है। आज भी देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियो मे नरबलि की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस सक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज मे जो दर्शन और धर्म हमे आज उपलब्ध होता है, उसकी जडे लोकदर्शन और धर्म मे हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही सभव हो सकते हैं। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग मे हमे विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान सदर्भ मे लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसधान की आवश्यकता है।

०



काव्यरूपों में लोकतत्त्वों की प्रतिष्ठा

डॉ० सत्येन्द्र

एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रत्येक उच्च, शिष्ट, मनीषी, कलात्मक अभिव्यक्ति का मूल लोकवार्ता मे होता है, यह एक अखड सत्य है। इस लोकाभिव्यक्ति को हिन्दी अथवा भारतीय दृष्टि से 'प्राकृतवाणी' अथवा 'प्राकृत-अभिव्यक्ति कह सकते हैं। एक प्रवृत्ति प्रत्येक अभिव्यक्ति को सस्कृत रूप देने की सर्वत्र विद्यमान है। दूसरी प्रवृत्ति लौकिक अथवा प्राकृत होती है, इसका सम्बन्ध सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानव की अभिव्यक्ति की स्वाभाविक धारा से होता है। ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ चलती मिलती हैं, किन्तु दोनो की प्रकृति मे बहुत अन्तर है और वह अन्तर सहज अन्तर है। सस्कृत प्रवृत्ति का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दर्य-विषयक कल्पना वृत्ति से है। वह प्राकृत अभिव्यक्तियो से सुरुचि और सौन्दर्य के तत्त्वो को चुन लेती है। सस्कृत धारा सदा पीछे की ओर देखती है, प्राकृत धारा सदा आगे की ओर। प्राकृत धारा स्वाभाविक रूप से आगे बढती है।

प्रत्येक युग की सस्कृत प्रवृत्ति अपनी प्रामाणिकता के लिए शास्त्रो को देखती है। उदाहरणार्थ केशव सस्कृत प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। उधर तुलसी मे लौकिक अथवा प्राकृत प्रवृत्ति है।

सन्तवाणी प्राकृत परम्परा का वह रूप है जो विविध प्रभावो का परिणाम होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी मे एक 'सधुक्कडी' भाषा के रूप का अन्वेषण किया था। कबीर को सधुक्कडी भाषा का प्रमाण माना जा सकता है। पर यह सधुक्कडी भाषा प्रकृत रूप मे प्राकृत के साथ विद्यमान रही है। वेदो मे इसके प्रमाण है। पाली, प्राकृत, और अपभ्रश इसमे परिपूर्ण है। विविध विद्वान् ऐसी सधुक्कडी भाषा पर विचार करते समय भ्रम मे पड जाते है और अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार उस भाषा का नामकरण करते है। वैदिक भाषा मे सस्कृत और प्राकृत तत्त्वो का अन्वेषण हो ही चुका है। ये दोनो तत्त्व साथ-साथ मिलते है। बुद्ध की भाषा और अशोक के शिलालेखो की भाषा मे शौरसेनी-महाराष्ट्री-मागधी अथवा अर्द्धमागधी के लक्षण अलग-अलग खोजे गये हैं। सिद्धो मे से किसी मे बगला का मूल, किसी मे मैथिली का मूल, किसी मे भोजपुरी का मूल, किसी मे पश्चिमी का मूल परिलक्षित हुआ है। जिसमे कोई उन्हे बगाली, कोई मैथिली, कोई हिन्दी का मानते है और खीचातानी करते है। नाथो की रचनाओ मे, विद्यापति और ब्रजबुली मे, वैसे ही सन्तो मे यह प्रवृत्ति है। इसी को शास्त्रो ने भी आगे चलकर प्रामाणिक मान लिया और प्रत्येक काव्य के लिए ब्रजभाषा की मुख्य पृष्ठभूमि पर षड्भाषाओ से युक्त होना आदर्श माना। इस शास्त्रीय मान्यता का मूल 'सतवाणी' अथवा 'सधुक्कडी' भाषा की विद्यमानता मे ही है। तुलसी ने इसी प्राकृत धारा की सतवाणी मे रामचरितमानस रचा और अपनी 'भणिति' को 'भाषा-भणिति' माना।

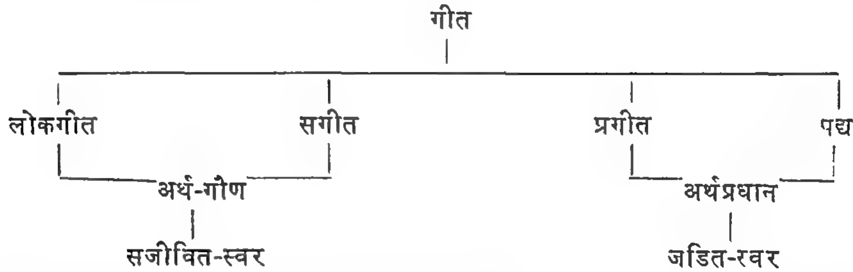
वस्तुत तुलसी लोक-धारा के स्वाभाविक परिणाम थे और केशव थे सास्कृतिक पुनरुद्धारक। यह सत्य है कि लोक-धारा से साहित्य के लिए केवल विषय अथवा विचार ही नही लिये जाते हैं, लोकधारा के उत्कृष्ट रूपों को भी ग्रहण करना पडता है। यह बात काव्य-रूपो के विकास पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। [illegible] के इतिहास को इस प्रकार समझ सकते हैं—कोई भी अनुभूति अभिव्यक्ति के समय रूप ग्रहण करेगी, [illegible] वह अभिव्यक्त नही हो सकती। इसका क्रम यही होगा—(अनुभूति) अभिव्यक्ति शब्द-अर्थ रूप।



रूप अभिव्यक्ति का सहजात तत्त्व है। रूप, अभिव्यक्ति और अनुभूति का नित्य सम्बन्ध है, तो रूप के वैविध्य के साथ अभिव्यक्ति और अनुभूति का वैविध्य भी स्वीकार करना होगा। साहित्य मे काव्यात्मक अनुभूति को मूलत अद्वैत ही मानना पडेगा। विविधता तो अनुभूति के अद्वैत के विस्तार मे ही निहित है केन्द्र-बिन्दु जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्म-प्रसार करता है तो वह परिधि का निर्माण करता चलता है। परिधि देश काल को जन्म देते हुए ही उद्भूत होती है। बीज मे वृक्ष, उसकी शाखाए, पल्लव, पुष्प तथा फल सभी समाये हुए है, वे बीज के विस्तार के ही परिणाम हैं। अनुभूति भी इसी प्रकार अपने अन्तरग निर्माण मे वैविध्य समाहित किये हुए है। कवि की अद्वैत अनुभूति को तो अनिवार्यत वैविध्य युक्त होना होगा। हमारे भारतीय शास्त्रकारो ने बताया है कि तीन प्रकार से काव्य-उद्भव हो सकता है। (१) शक्ति निपुणता अथवा प्रतिभा द्वारा, (२) ज्ञानार्जन से (लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणम्) और (३) अभ्यास (काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास)

शक्तिनिपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

आरम्भिक अवस्था मे मानव के पास व्यवसाय कम और प्राकृतिक प्राणियो की भाति चहक विशेष थी। यह यो व्यवसाय कर्म के साथ भी लिप्त रहती थी और कोकिल की कूक की भाति सभवत उल्लास-उन्माद के क्षणो मे यही चहक लय-ध्वनि से युक्त होकर 'गीत' रूप मे कठ मे अभिव्यक्त हुई होगी। फलत मानव की वाणी की दो ही प्रवृत्तियाँ आरम्भ मे हुई—१—गीत तथा २—बात। गीत का उदय बात से पहले ही होना चाहिए। क्योकि गीत प्राकृतिक इकाई है। उसका भावोच्छ्वास से गहन सम्बन्ध बताना भी गीत के स्वरूप का ठीक से प्रतिपादन करना नहीं, वस्तुत गीत स्वय भावोच्छ्वास है। आदिमावस्था मे भावोच्छ्वास के रूप मे ही गीत उत्पन्न हुआ होगा, उस काल के मानव-जीवन मे इस गीत ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया था, इसमे सदेह नही किया जा सकता। उस अवस्था मे मनुष्य की प्रत्येक क्रिया भले ही वह व्यवसाय-वृत्ति मे उद्भूत हो भावोच्छ्वासमयी रहती है। गीत तबसे अबतक विकसित होकर निम्नलिखित रूप ग्रहण कर सका है—



लोकगीत ही आदिम गीत का यथार्थ उत्तराधिकारी है और यह निरर्थक जगली गीत-ध्वनि से लेकर सार्थक शहरी ख्यालो तक के विविध प्रकारो मे व्याप्त है। इसका प्रधान धर्म है सजीवित-स्वर का सहज उन्मुख उपयोग। मानव भावोन्माद मे अपने को भूलकर जब गीत के हाथो अपने को बेच देता है, उसमे मनत और शरीरत लीन हो जाता है, तब वह लोकगीत रचता होता है। स्वर, लय, तान, ताल आदि भाव की थिरकन के साथ स्वयमेव आते जाते हैं। आगे उसमे परिभाजन और सस्कार द्वारा ऊँचाई अथवा भव्यता के लिए शास्त्रीयता का सहारा लिया जाने लगता है तो तह सगीत हो जाता है। लोकगीत और सगीत का प्राण यह सजीवित-स्वर जब उच्छ्वास-गति के साथ भाव और उसमे भी अधिक शब्द अर्थ के तत्त्व मे बोझिल, मथर और लघुकाय होने लगता है तो प्रगीति अथवा लीरिक मे परिणति प्राप्त कर लेता है। यहा तब स्वर पूर्णत सजीवित रहते है, अपने स्वाभाविक लोच और लचक के साथ, उच्चारकर्त्ता के व्यक्तित्व से लिपटे हुए, किन्तु जब इन सजीवित स्वरो को जमा दिया जाता है, मात्रा की तान मे स्वर को नही अक्षर या वर्ण को बाध दिया जाता है, और साचे बना दिये जाते है तब वह गीत 'पद्य' का रूप ग्रहण कर लेता है। शास्त्र-नियमो का निर्माण तो अध्ययन की सुविधा तथा विचार-कोटि तथा कला-कोटि का स्तर स्थिर करने के लिए करना है, पर ये नियम कला के बधन बन जाते हैं, और मर्यादाओं का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इनमे फिर किसी कृति मे सहज और स्वाभाविक गति और लोच का स्थान नही रह जाता। शास्त्र इसे स्वातत्र्य की उपेक्षा

ही नही घृणा की दृष्टि मे देखने लगता है। यही कारण है कि साहित्य-शास्त्र द्वारा पद्य तो मान्य हुआ, गीत नही। वह गीत अपनी स्वाभाविकता महित लोक मे पनपता रहता है।

गीत की अभिव्यक्ति का अभिप्राय 'वात' अथवा वार्ता की अभिव्यक्ति से भिन्न होता है। गीत निरर्थक होते हुए भी गीत रहता है। अर्थ उसमे भरा जाता है। अर्थ का उसमे आरोप होता है। किन्तु 'वात' का जन्म ही अर्थ प्रेषण के लिए होता है—अत वात का प्रधान धर्म विचार-विनिमय-साध्यता है। इस कोटि क्रम मे गीत और वार्ता ये दो ही मौलिक रूप प्रतीत होते है। ये साहित्य-शास्त्र की शब्दावली मे विकास और सस्कार प्राप्त करने के पश्चात् गद्य और पद्य कहलाये। यही कारण है कि भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के रूपो मे सवसे पहले इन्ही दो को स्थान दिया है।

साहित्य और काव्य के रूपो का एक मौलिक वर्गीकरण हमे विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण मे मिलता है—वह विभाजन है —दृश्य और श्रव्य काव्य मे। हेमचन्द्र ने इने प्रेक्ष्य और श्रव्य नाम दिया। दृश्यानुभूति का पाश्चात्य आलोचनाशास्त्रियों ने भी महत्त्व दिया है। उन्होंने तीन प्रकार की काव्यानुभूतिया स्वीकार की है। लिरिकल (गेय) ऐपिक या नैरेटिव (कथात्मक) तथा ड्रामेटिक (नाटकीय दृश्य)। दृश्य काव्य की सृष्टि कवि द्वारा होते हुए भी, कवि की विदित नही होती। पाठक अथवा सहृदय दृश्य काव्य की स्थूलता का दर्शन करते समय यह विस्मृत किये रहता है कि यह कवि है जो अपनी अनुभूति का ही साकार-साक्षात्कार करा रहा है। वह समझता है कि वह दृश्य वह प्रथमत स्वय ही देख रहा है।

'श्रव्य' शब्द वस्तु का विशेषण होते ही वस्तु के अतिरिक्त दो अन्य सत्ताओ की उपस्थिति की भी सूचना देता है। एक वक्ता दूसरा श्रोता। श्रव्य-काव्य मे वक्ता जो वस्तु प्रस्तुत कर रहा है, वह श्रवण योग्य है, वस इतनी ही अनिवार्यता अपेक्षित है। दृश्य और श्रव्य ये दोनो रूप रचना के यथार्थत रूप भेद ही है। दृश्य काव्य वह नही जो देखा जा सके, वरन् दृश्य काव्य वह रचना है, जिसमे दृश्य के गुण विद्यमान है और श्रव्य वस्तु मे पक्ति और शब्द को वक्ता की उपस्थिति की सूचना देने मे समर्थ होना चाहिए।

पाठ्य मे हेमचन्द्र—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टाक, प्रहसन, भाण, बीथी, सट्टक, आदि मानते है। "पाठ्य-नाटकप्रकरण-नाटिका-समवकारईहमृगडिम-व्यायोगोत्सृष्टाक-प्रहसन-भाण-वीथी-सट्टकादि।"

'गेय के लिए हेमचन्द्र की कारिका यह है—

'**गेय डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिगकभाणिकाप्रेरणाराभाक्रीडहल्लीसक-रासकगोष्ठीश्रीगदितरागकाव्यादि**'। इन्ही के साथ विवेक मे उससे तीन गेय काव्य और वताये हैं, शम्पा, छलित और द्विपदा।

गेय काव्य को उसने तीन प्रकार का माना है मसृण (कोमल), उदाहरण डोम्बिका। उद्धत, उदाहरण भाण और मिश्र। यह विचारणीय है कि हेमचन्द्र ने भाण को पाठ्य मे भी रखा है और गेय मे भी।

कथा के हेमचन्द्र ने ग्यारह भेद किये हैं—उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवल्हिका, मन्थल्लिका, मणिकुल्या परिकथा, खडकथा, सकलकथा, उपकथा और वृहत्कथा। यह तो शास्त्रो के आधार पर काव्य के रूपो के विकास का स्वरूप है। किन्तु शास्त्रो से हटकर जव हम उस समय विद्यमान साहित्य का साक्षात्कार करते है तो हमे लोकक्षेत्र मे और भी नयी उद्भावनाए दिखायी पडती है। इन उद्भावनाओ को तत्कालीन लोक-भाषा के कवियो ने मान्यता प्रदान की। आठवी से चौदहवी शती के अन्दर निम्न काव्य खडे हुए थे—गाथावध, दोहावध, पद्धडियावध, चौपाई-दोहावली रमैनी, छप्पयवध, कुडलिनी वध, रासा वध, चर्चरी या चाचर, फाग, साखी, सबदी, दोहरे, सोहर, पद, मगलकाव्य, चौतीसा, विप्रमतीसी, वसत, वेलि, विरहुला, हिंडोला, कवितसवैया, कहरा, वरवे, विनय, लीला, अखरावट, नहछू, रासक, रास, भमरगीत, मुकरी, दो सखुने, अनमिल, ढकोसला, बुझावल, षटऋतु, वगसाला, नखशिख, दसम, दशावतार, भडौआ, जीवनी आदि। इनके अतिरिक्त ध्यान देने से और भी कई नये रूप दिखायी पड जाते है—सतसई, मगल, महात्म्य, पच्चीसी, वत्तीसी, पुराण, सवाद, घोडी, पत्तल, काव्य, चरित। इन रूपो पर विचार करने से विदित होता है कि इनके नामकरण के पाच आधार है छद, गीत, शैली, सख्या, और विषय। किसी भी दृष्टि से इन रूपो का नामकरण





क्यो न हुआ हो, एक बात स्पष्ट दिखायी पडती है कि इ। सब का मूल लोक-क्षेत्र है, और प्रत्येक रूप का लोकतत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

छन्दो के आधार पर जो खडे हुए है उनके इतिहास से हमे विदित होता है कि 'गाथा' काव्य रूप प्राकृत भाषा का एक प्रकार से पर्याय हो गया था। इसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का। 'दोहा बध' का अर्थ होता था, अपभ्रंश काव्य। पद्धडिया बध उत्तरकालीन अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चौपाई-दोहा-बध रूप कथा अथवा चरित्र-काव्य से सामान्यत सबद्ध हो गया, और यह रूप हिन्दी के प्राचीन काव्य से चलकर बीसवी शती के आरभ तक अत्यन्त दृढता के साथ प्रवाहित होता चला आया है।

इस समस्त छन्द-परम्परा का मूलत लोकक्षेत्र और लोकतत्त्व से सबध है। इसका सबसे प्रबल प्रमाण तो इन छन्दो का स्वभाव है। ये छन्द स्वभाव से मात्रिक हैं। मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते है, क्योकि 'मात्रा' का आधार मूलत ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ। ताल का जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतना सगीत से नही। क्योकि निश्चय ही सगीत के दो रूप मूल मे रहे है—एक लयबद्ध और दूसरा तालबद्ध। तालबद्ध सगीत नृत्य-बद्ध सगीत था। लयबद्ध मुक्त-सगीत था। आगे दोनो प्रणालिया मिल गयी। 'नृत्य' अथवा ताल मे विराम लाने के लिए 'लय' सगीत का उपयोग होने लगा। इससे वैभिन्य भी आया। यह 'लय' जब आरम्भ मे उपयोग मे आने लगी तो 'टेक' कहलायी। आज पर्यन्त नृत्य ताल से गुथे हुए गीत मे लय द्वारा विराम प्रचलित है। रसिया या चौबोलो को देखिये। रसिया जब अत्यन्त तीव्र ताल-गीन से झमाके के साथ रुकते है तो किसी दोहे के रूप के 'लय' बद्ध छन्द का उपयोग किया जाता है। चौबोले मे ताल पर पहुचने के लिए पहले दोहे के बोल रखे जाते है, जिसका लय से ही सम्बन्ध है। इस प्रकार तालबद्ध लवे नृत्य गीतो मे 'लय-विराम' की प्रणाली प्रचलित हुई। इस लय के आवरण मे 'ताल' को अधिकाधिक लपेटा गया। आज यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक सगीत मे 'ताल' उसकी रीढ है और स्वर का उतार-चढाव और लय उसके सौन्दर्य और माधुर्य प्रसाधन के तत्त्व हैं। यह ताल नृत्य से विलग होकर गीत मे रही। गीत मे लय और उतार-चढाव के तत्त्व जब जड होने लगे, और शब्द की, अर्थ की दृष्टि से, अधिकाधिक प्रबलता होने लगी, तब उनका सम्बन्ध मात्र रीढ अथवा ताल से रह गया। ये, शब्द मे बधने पर ताल 'समय की कला अथवा अश', पर निर्भर नही कर सकते थे उसके लिए शब्द मे ही कोई आधार ढूढना होगा, और यह आधार मात्रा का था। एक 'मात्रा' इसकी इकाई बनी। यह एक मात्रा एक अक्षर के 'उच्चारण' के काल की कला का भान प्रस्तुत करती थी। हिन्दी की मात्राओ के स्वरूप के अनुकूल ये मात्राए 'लघु और गुरु' मे बाट दी गयी। 'लघु' मात्रा की एक इकाई है। गुरु मात्रा दो इकाइयो के समान। इस प्रकार 'शब्द' के निर्मायक अक्षरो मे गुरु लघु के माध्यम से वस्तुत ताल को, 'ताल' का लघुतम कालकला (टाइम फैक्टर) को घनिष्ठत बाँध दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि ताल का ही एक रूप मात्रिक छन्द-विधान है। मात्रिक छन्दो मे 'सजीवित' शब्द स्वर भरते हैं। अत मात्रिक छन्द स्वभाव से ही कठोर शास्त्रीय ढाचे मे नही बैठ सकते। एक आतरिक स्वच्छन्दता उनमे रहती है, जो लोक-प्रकृति के अनुकूल है। इसमे मात्रिक छन्दो मे लोकतत्त्व रहता है। 'चौपाई' एक ऐसा छन्द है जिसमे यह लोक-प्रवृत्ति की अनुकूलता सबसे अधिक है। चौपाई विविध लयो मे हो सकती है।

इसीलिये लोक-कथा के लिए यही छन्द विशेषत चुना गया। इसमे रूप और वस्तु की दृष्टि से अद्भुतरूपेण लोकतत्त्व अभिमडित है। विविध आवेग, विविध आवेश, विविध रस और विविध भाव इस छन्द मे गुम्फित हो सकते है। इस छन्द मे वर्णन, कथा, विचार और विवेचन सभी खप जाते है। अन्य जिन छन्दो के नाम से काव्यरूप खडे किये गये है, वे हैं छप्पय, कुडलिनी, रासा, दोहरा, कवित्त, सवैया, बरवै।

रासा छन्द का उल्लेख स्वयभू ने किया है। गाथा-बध जिस प्रकार प्राकृत का पर्याय हो गया था, दोहा बध अथवा 'दूहा-विद्या' जैसे अपभ्रंश है, वैसे ही रासाबध का सम्बन्ध अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के सधिकाल की कथा-चरित्र-काव्य की शैली वाली भाषा से विदित होता है। रासा-बध मे पहले रासा छन्दो का ही बाहुल्य होता होगा, बाद मे रासा का सम्बन्ध विषय से जुड गया, रासा छन्द गौण हो गया। धीरे-धीरे रासा काव्य मे से इस छन्द का लोप हो चला, और रासा विषय मे वैविध्य लाने के लिए छन्द वैविध्य का आश्रय लिया गया। अब रासा-काव्य-रासा-बध

नहीं रह गया। पृथ्वीराज रासो में दोहा, छप्पय, गाहा, पाधडी, मोतीदाम, अडिल्ल आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। इन छन्दों में दोहा घत्ता का स्थानापन्न है। छप्पय और छदनिका प्राय एक है। पाधडी पद्धरी या पद्धटिका का ही रूपान्तर है। इसमें दूहा अथवा दोहा और पद्धरिया अपभ्रंश के अवशेष है तथा छप्पय में हिन्दी तत्त्व विभासित है। इन सब में वे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनका जन्म लोक-सेवा में हुआ तथा जिन्हे कवियों तथा साहित्यकारों ने पहले लोक-क्षेत्र में रहकर अपनाया, फिर उन्हे शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार प्रदान किया।

यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि छन्द का नाम पहले पड़ा या वस्तु के कारण छन्द ने नाम ग्रहण किया। लोक-साहित्य के सामान्य पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि बहुधा छन्द का नाम वस्तु के नाम पर रखा गया। आज लोक में प्रचलित गीतों को लीजिये, ढोला, आल्हा, निहालदे, रसिया, होली, पवारे, साके इत्यादि लोक-गीत अपने विषयों के नाम पर ही गीत के प्रकार को भी अभिहित करते हैं। ऐसे गीत साहित्यिक अभिव्यक्ति के अद्वैत को सिद्ध करते हैं। रूप, वस्तु और अनुभूति तीनों एक साथ एक-दूसरे से अविछिन्न ही अवतीर्ण होते है। लोक-गीतों में आज भी यह तत्त्व विद्यमान है, इसमें प्रत्येक गीत का अपना पृथक् राग होता है। चन्द्रावली का अपना राग है और वह चन्द्रावली राग ही है। 'बिजरानी', भातजा, बनजारा, नटवा—ये सभी वर्ण्य विषयों के नाम हैं, पर प्रत्येक का राग निजत्व रखता है और वही नाम राग का भी कहा जा सकता है। साहित्य के जिन रूपों में ऐसे छन्दों और विषयों का तादात्म्य अथवा अद्वैत है, वे भी लोक-प्रवृत्ति की प्रबलता के साक्षी हैं।

छन्दों के उपरान्त 'गीतों' के नाम पर काव्य-रूप मिलते हैं। इन गीतों की स्थिति भी छन्दों की भांति का विकास प्रस्तुत करता है। रसिया, होली, अथवा फाग में 'गीत' और वस्तु का तादात्म्य है और वस्तुत इन रूपों का नामकरण उसकी वस्तुओं के कारण ही हुआ है, किन्तु आज वह गीत का अपना नाम हो गया है, इसीलिए होली विषय का वर्णन यदि किसी अन्य गीत में होगा तो उस गीत को होली नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार 'होली' राग में होली वर्णन के अतिरिक्त भी कोई अन्य वर्णन होगा तो वह होली ही कहलायेगा। वस्तुत तो होली विषय और होली गीत में अद्वैत ही है। होली के वर्णन की शोभा होली गीत में ही है।

गीतों में सामान्यत छन्दों से अधिक लोक-तत्त्व विद्यमान रहता है। गीतों में वस्तुत लोक का भावुक और मर्मीपन अभिव्यक्त होता है। एक-एक भावकण के लिए एक स्वतन्त्र गीत अवतरित होता है। छन्द जहा कथा जैसी प्रबन्धात्मकता या वर्णनात्मकता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वही गीत भावोच्छ्वासों के लिए। गीतो में जब गीतों का रूप, वर्णन से पृथक् अस्तित्व की आकांक्षा करने लगता है तब शास्त्र के हाथों पड़कर संगीत कला के बीज पड़ने लगते हैं, तथा ताल और स्वर के विविध संयोगों को राग-रागिनियों के नाम दिये जाते हैं। उसके नियम खोज लिये जाते हैं, और उनके अभ्यास की जटिल प्रणाली निर्धारित हो जाती है।

किन्तु इस शास्त्रीय प्रवाह के साथ लोक-प्रवाह निरन्तर रहता है। लोक-प्रवाह शास्त्रीय नियम और नाम की परवाह नहीं करता। पद-साहित्य का इतिहास बतलाता है कि इसका जन्म लोकभाषा का लोकक्षेत्र था, और जिस सम्प्रदाय ने सबसे पहले लोकसम्प्रदाय अथवा लौकिक-धर्म की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहा लोकभाषा को अपने सम्प्रदाय का माध्यम बनाया वहीं उसी लोक परम्परा से प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध सिद्धो ने पदो को अपनाया, नाथो ने अपनाया, फिर सतो ने अपनाया। इसी प्रकार आवारो, बाउलो ने पद गाये और उनकी परम्परा में वैष्णव सन्तों ने इनमें अत्यन्त ही उत्कर्ष प्रकट किया। ये शास्त्रीय सौन्दर्य और शास्त्रीय तात्विकता से अभिमंडित हुए, लोक-वेद की खाई पाटने का काम किया गया। ये सभी सम्प्रदाय लोकतत्त्वों पर पोषित हुए हैं। इन्होंने ही लोक-तत्त्वों को समन्वित करने का उद्योग किया, लोक की विजय वैजयती को बिना झुकाये। इन लोक-सम्प्रदायों की वाणी, शब्द या सबद आदि नामों से अभिहित हुई। इनमें ही इन सम्प्रदायों के अग्रणियों ने अपने सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अनुभूति प्रस्तुत की। ये पद प्राय दो वर्गों में बंटे १ निर्गुण वाणी तथा २ सगुण गान। और इन दोनों वर्गों में लोक की अनुकूलता निरन्तर बनी रही। एक ने लोक की आस्था को लोकपरिभाषा और लोकविवेक के साथ संयुक्त करके गीतों को प्रचारित किया, दूसरे ने सगुण के आध्यात्मिक सौन्दर्य की मूर्त कल्पना को लोकभाव से अभिमंडित कर दिया।





शैलीगत रूपो मे 'अखरावट' पर ध्यान जाता है। अखरावट अथवा अक्षरावृत स्वभावत शास्त्रीय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। अक्षर-क्रम मे अक्षरो को आदि मे लेकर किसी चरण की अथवा छद की अथवा काव्य-खड की रचना करने मे जिस श्लिष्ट मनोवृत्ति का उपयोग होता है, वह मूलन शास्त्रीय विदित होती है। पर वस्तुत ऐसा नही है। अखरावट जैसी रचनाओ के मूल मे शब्द ब्रह्म नही, अक्षर ब्रह्म की वह धारणा व्याप्त है जो आदिम मनुष्य के ऐनिमिस्टिक पदार्थ—आत्म-तत्त्व मे सम्बन्धित है, साथ ही जो उस अक्षर—आत्म मे अकारण रूप कार्यकारण परम्परा से किसी ऐसे तत्त्व की स्थिति मानती है जो उस अक्षर से आरम्भ होता है।

ना—नारद यह रोय पुकारा।
कि जुलाहे से मैं हारा। आदि

'ना' का नारद से सम्बन्ध उक्त लोक तत्त्व से ही चरितार्थ हुआ है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'अक्षरो' मे सजीवित आत्म-शक्ति का विश्वास प्रकट होता है। जो केवल अक्षर अथवा शब्द विषयक शास्त्रीय खिलवाड नही रह जाती। शैलीगत मे अनामिका और ढकोसला तथा मुकरी पर भी ध्यान जाता है। इन तीनो का जन्मदाता अमीर खुसरो माना जाता है। अमीर खुसरो का जन्म एटा मे हुआ था, वह जन्म से ब्रज-क्षेत्र के थे। ब्रज मे अनामिका और ढकोसला का एक प्रबल प्रवाह प्रवाहित है। यहा से अमीर खुसरो ने इन्हे लिया होगा। क्योकि इनमे अमीर खुसरोपन नही दीखता है।

विषय अथवा वस्तु के आधार पर खडे किये गये रूपो मे नहछू अथवा मगल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। ये दोनो लोक तत्त्व पर निर्भर हैं। 'नहछू' एक सस्कार है। उस सस्कार पर जो गीत गाया जाता है, वह 'नहछू' कहा जाता है। उसका गीत-रूप-नाम अभिन्न है। वह वस्तु भी पूर्ण लौकिक है।

मगल का सम्बन्ध विवाह से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह मगलगीत गाया जाता है। असस्कृत जातियो मे तो इस मगल गीत को ही मत्र का स्थान मिला हुआ है और उसमे दी गयी विधियो से ही भावरे पड जाती है। इस प्रकार मगलगीत मूल मे लोकप्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। मगल का दूसरा नाम 'ब्याहुलो' भी है। यही स्थिति सोहर की है। 'सोहर या सोहिले' 'सोभर' अथवा सौरिगृह के गीत है जो सतान के जन्म के समय गाये जाते है। सख्या के आधार पर 'रूप' वस्तुत मुक्तक के ही भेद है। क्योकि उनमे मुक्तक छन्दो पर मुक्तक विषयो पर रचना रहती है, पर छन्दो की सख्या बोध हो जाती है। जैसे पच्चीसी, शतक, सतसई, दशक आदि। इन सख्याओ का रूप विशेप से सम्बन्ध नही माना जा सकता। यह रूप—विभाजन अथवा नामकरण कोई विशेष अर्थ नही रखता। केवल रचना की सख्या का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल के प्राय समस्त रूपो का मूल लोक-क्षेत्र मे था। इन रचनाओ का विषय भी लोक-वस्तु से लिया गया था और अनेक व्यक्त सिद्धान्त भी लोक-मानस से घनिष्ठत सम्बन्धित थे। रीतिकाल के पूर्व का हिन्दी-साहित्य-लोकक्षेत्र से घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित था। उस काल के पूर्व की प्राय समस्त साहित्यिक-निधि लोक मे मौखिक रूप से सुरक्षित सामग्री मे से सकलित की गई थी और ऐसी महान् प्रतिभाओ ने उन्हे परिनिष्ठित क्षेत्र मे स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वय लोकक्षेत्र के अश थे जिन्हे समस्त पाडित्य लोकक्षेत्र के प्रवाह मे से ही मिला था।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो महावीर की दृष्टि से 'मसि-कागद' नही छूते थे। जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौलिक निर्माण लोकप्रवाह मे हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियो की स्थिति लोक-कविता की स्थिति थी। उनके काव्य के समस्त ताने-बाने मूलत लोक के ताने-बाने थे। उस पर कही-कही कभी मनीषी-परिष्कार किया गया। अत सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय, और प्रेमगाथा प्रभृत्ति सभी का साहित्य लोकभूमि के अत्यधिक निकट है।

लोककला का आधुनिक कला पर प्रभाव



श्री ओउम्प्रकाश जोशी

प्राध्यापक समाजशास्त्र,

राजकीय महाविद्यालय, भीलवाडा (राज०)

मस्कृति एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा दिये गये मामाजिक, व भौगोलिक वातावरण मे सामजस्य स्थापित करने का साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकतापूर्ति का साधन प्राप्त करता है। यह एक पीढी मे दूमरी पीढी को हस्तान्तरित की जाती है ताकि हर आने वाली पीढी हर ज्ञान को नये सिरे से नही खोजे अपितु सकलित ज्ञान का उपयोग करे व उसमे अपनी खोज के अनुमार वृद्धि करे। सस्कृति उप-सस्कृतियो मे बटी हुई हो मकती है। अध्ययन की दृष्टि से सस्कृति को तीन मुख्य भागो मे बाटा जा सकता है। (१) उच्चवर्गीय सस्कृति (२) लोक सस्कृति (३) जनजातीय सस्कृति। प्रथम दो सस्कृतिया निरन्तर अत क्रिया करती रही है। लोकसस्कृति एकाकी अथवा उच्चवर्गीय सस्कृति से कटी हुई नही है। भारत की अधिकतर जनता इमी सस्कृति मे जीती है तथा ऐतिहासिक परिवेश मे भी लोकसस्कृति का अपना महत्त्व रहा है। यह सस्कृति मुख्य रूप से मौखिक आदर्शों, विचारो कथानको पर आधारित है, परन्तु उच्चवर्गीय लिखित सस्कृति का सरल रूप ही लोक-सस्कृति के आदर्श बने है। लोकसस्कृति को बिना उच्चवर्ग की सस्कृति के जाने नही समझा जा सकता। वेद,गीता, शास्त्र आदि यद्यपि उसी रूप से लोक-सस्कृति के अग नही है जिस रूप मे उच्चवर्गीय सस्कृति के, परन्तु लोकसस्कृति के प्रेरणा-स्रोत ये ही है। परन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि लोकसस्कृति केवल उच्चवर्गीय सास्कृतिक गुणो के सरली-कृत रूप को अपना लेती है। इसके विपरीत लोकसस्कृति के गुणपरिष्कृत रूप मे उच्चवर्गीय सस्कृति द्वारा अपना लिये जाते है।

यह मोचना कि लोकसस्कृति आविष्कारहीन है अथवा उच्चवर्गीय सस्कृति का सरल अनुकरण मात्र ही, उपयुक्त नही है। लार्ड रेगलन व प्रो० रेडफील्ड के इस कथन को पूर्ण सही नही माना जा सकता कि लोकसस्कृति जो छोटी परम्परा है उच्चवर्गीय संस्कृति अथवा महान् परम्परा का अनुकरणमात्र ही है। लोकसस्कृति व उच्चवर्गीय सस्कृति मे दो तरफा अन्त क्रिया होती रही है। इस विचार को स्पष्ट करने हेतु लोकसस्कृति के महत्वपूर्ण पक्ष लोक-कला, का अध्ययन व उसका आधुनिक कला पर क्या प्रभाव पडा है यह जानने का यत्न किया गया, ताकि इस पक्रिया को जाना जा सके कि लोकसंस्कृति जिसे केवल अनुकरण मात्र कहा गया है कितनी सृजक भी है। लोकसस्कृति का व्यापक आयाम मे लोककला के माध्यम से अध्ययन किया गया है। लोकसस्कृति का रूप व आयाम भाषा व भौगोलिक बाधाओ से सीमित नही हुआ है जैसा कि हम अनेक उदाहरणो के आधार पर देखेगें। लोकसस्कृति केवल ग्रामीण समाज तक ही सीमित नही कही जा सकती। शहर व नगर के निम्नवर्गीय लोग भी लोकसस्कृति मे जीते हैं। इसी प्रकार भारत मे उच्चवर्गीय समाज की स्त्रिया भी लोकसस्कृति अपनाये रहती हैं। इस रूप मे लोकसस्कृति का अपना क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इस लेख मे लोकसस्कृति को लोककला के माध्यम से समझने का यत्न किया गया है।

लोककला किसे कहे ?

इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि लोककला लोकमानस की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। लोक-मानस सरल व स्पष्ट है तथा उसके विचार वादो के झमेले से दूर हैं। लोककला आडम्बरहीन तथा स्पष्ट है व अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। परन्तु इतना कहना लोककला की विशेषताओ को स्पष्ट नही कर पाता। लोक-



कला जितनी सरल दीखती है उतनी वास्तव में है नहीं। लोककला को समझने के लिये कुछ परम्पराओं की जानकारी आवश्यक हो जाती है क्योंकि कला धीरे-धीरे एक स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा कला का यह परम्परागत स्वरूप (conventionalized form) यथार्थ से दूर होता चला जाता है जिसे सहज ही समझना कठिन हो जाता है। जैसे त्यौहार पर बनाया जाने वाला श्रवण का चित्र इतना ज्यामितिक हो गया है कि केवल तीन रेखायें ही श्रवण व उसकी कावड के प्रतीक हो गये हैं। इसी प्रकार लोक चित्रों में प्रयोग किये जाने वाले भिन्न २ प्रतीक गूढ अर्थ वाले बन जाते हैं।

चित्रों के स्वरूप यद्यपि अनौपचारिक रूप से परम्पराओं द्वारा नियन्त्रित होते हैं परन्तु चित्रकार इनमें अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के कारण बहुत परिवर्तन लाते रहते हैं।

लोककला धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है तथा इसमें धार्मिक कथा या लोकदेवताओं की कथाओं का चित्रण किया गया है। ये चित्र जिनमें कथायें चित्रित हैं अपने में एक चित्र होते हुए भी चलचित्र से दिखाई देते हैं। लोक-कलाकार एक विस्तृत कपडे पर लोकदेवता, लोकनायक या किसी प्रेमकथा का प्रदर्शन चित्रों के माध्यम से करता है। राजस्थान में मुख्य रूप से ऐसे चित्र पड कहलाते हैं। जिन्हें नक्शे की तरह लपेट कर रखा जाता है, लोक गायक इस लिपटे 'पड' चित्र को प्रदर्शन हेतु खोलता जाता है व संगीत के माध्यम से कथा कहता है। गीत को सरस बनाने के लिये एकतारा वाद्य या रावणहत्था का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान के 'पडों' के विषय लोकदेवता देवनारा-यणजी, रामदेवजी, तेजाजी व पाबूजी हैं। उनकी शौर्य-गाथा का वर्णन गीतों के माध्यम से किया जाता है। गायक मण्डली एक परिवार होता है जो गीत के बोलों को थोडा २ गाते जाते हैं व उन्हें चित्रों में दिखाते हैं।

राजस्थान के अलावा अन्य प्रान्तों में भी लोककला प्रचलित रही है। महाराष्ट्र में लोककला का विकास बहुत सुन्दर रूप में हुआ है। महाभारत का अंकन बड़े-बड़े पट चित्रों में व दीवारों पर किया गया है। महाभारत के अश्व-मेध के वर्णन को चित्रों में अंकित किया गया है। कथा को स्थानीयकरण करने की प्रवृत्ति लोककथाकार व कलाकार में रही है। जैसा कि 'मेकिम मेरियट' ने अपने अध्ययन में बतलाया है कि लोक-संस्कृति अखिल भारतीय-संस्कृति का स्थानीयकरण कर लेती है। इसी प्रकार स्थानीय-संस्कृति का गुण अनेक बार अखिल भारतीय हो जाता है। यह प्रवृत्ति लोक-कला व आधुनिक कला के संदर्भ में भी देखी जा सकती है।

लोककला की विशेषता उसका सरल रूप है। स्थानीय रंगों में सपाट आकारों पर चित्र बनाये जाते हैं। लोककला के चित्र स्थानीय पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। ये चित्र आडम्बरहीन होते हैं। तकनीक की दृष्टि से विभिन्न रंगों को रेखाओं से बांधा जाता है। ये रेखायें गहरे रंग, मुख्य रूप से काले रंग में बनाई जाती हैं। अनेक बार चित्र बनाते समय पहले रेखाओं से चित्र बनाया जाता है। उसमें रंग भर दिये जाते हैं। परम्परागत तरीके में पहले रंग भर कर रेखाओं से बांधा जाता है। रंगों की दृष्टि से लोक-कला में सीमित रंगों का प्रयोग होता है। भूरा, गेरुआ, सफेद, काला रंग ही प्रमुख होते हैं। छाया व प्रकाश को बतलाने की प्रवृत्ति लोककला में नहीं है। रंग सपाट अमिश्रित होते हैं तथा चित्र में आकारों की बहुतायत रहती है। पशुओं में घोडे, हाथी आदि का चित्रण बहुतायत से हुआ है। खाली स्थानों को विभिन्न रंगों की मोटी रेखाओं द्वारा भरा जाता है। लोककलाकार नई तकनीकों को अपनाता है पर उन्हें परम्परा में बांध लेता है। लोककला के आकार स्थानीय रंग में रंगे होते हैं। अतः एक ही नायक अलग-अलग स्थानों पर अलग २ रूप में अंकित होता है। जैसे महाराष्ट्र में कृष्ण को महाराष्ट्रीय धोती व गहनों में अंकित किया गया है और उसके चेहरे पर मूंछ भी अंकित की गयी है। इसी प्रकार अर्जुन मूंछ-दाढी से युक्त व विशिष्ट पगडी पहने हुये हैं। परन्तु सब लोगों की आंखों का आकार एक जैसा है। राजस्थान के पड चित्रों में भी यहां की वेश-भूषा व आकारों का दर्शन होता है। स्त्री-पुरुषों का पहनावा स्थानीय व्यवहार से प्रभावित है। अलौकिक शक्तियों या नायकों का चित्रण अद्भुत आकार में किया गया है। जैसे—राक्षस का आकार बहुत बडा, सींग वाले चेहरे से चित्रित किया है। धनुष, तलवार व वाद्य-वादन के साधन भी लोकसंस्कृति के तत्त्व हैं जो चित्रण के अंग बने हैं। चित्रण में पशुओं को आलंकारिक रूप दिया गया है। गर्वोन्नत सिर वाले घोडे गहनों व रंगों से सजे हुये हैं। इसी प्रकार मोर

चित्रण मे आलकारिकता है। युद्ध के दृश्य भी इस दृष्टिकोण से नही बचे हैं। एक योद्धा द्वारा चलाये गये तीर ऐसे दिखाये गये है, जिनमे एक आलकारिक डिजाइन का भ्रम होता है। यहा तक कि एक को छोडकर दूसरे तीर का रग भी भिन्न २ रखा गया है। सक्षेप मे लोककला एक सरल स्पष्ट कम रगो वाली परतु आलकारिक कला है। राजस्थान मे यह कला घर की दीवारो तथा विभिन्न त्यौहारो व उत्सवो पर बनाये जाने वाले चित्रो मे भी देखी जा सकती है। राजस्थान मे लोककला के विविध रूप है। जैसे—१ पड चित्रण २ त्यौहारो अथवा विवाह पर भित्ति चित्रण ३ आगन मे ज्यामितिक चित्रण विविध रूपो मे माडणे बनाये जाते है जो प्रतीकात्मक होते है। लोककला का उपयोग कपडे को कसीदे मे सजाने व उन पर कसीदे के चित्र बनाने के लिये भी किया जाता है। कुम्हार अपने बरतनो पर रेखा-चित्रो का निर्माण कर उन्हे सुन्दर रूप प्रदान करता है।

लोककला व आधुनिक कला का क्या सम्बन्ध है ? इसे जानने के लिये आधुनिक कला के विकास का थोडा इतिहास ज्ञातव्य है। आधुनिक कला का प्रारम्भ पश्चिमी समाज मे हुआ है। आधुनिक-जीवन को आधुनिक-विधियो मे चित्रित करना व जीवन के विभिन्न भाव-पक्षो को स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त करना आधुनिक कला का उद्देश्य रहा है जिसके लिये नये-नये तकनीको का विकास किया गया है। कला मे अभिनव विषय, साधन व तकनीक अपनाये जाने लगे है। आधुनिक कलाकारो ने नये विषयो को तो खोज निकाला, परन्तु तकनीको व शैली के बारे मे उन्हे लोक-कला व आदिवासी-कला के तकनीक का सहारा लेना पडा। पिकासो अफ्रीकी कला कृतियो से प्रभावित हुये, जिनमे भावपक्ष ही महत्वपूर्ण रहा है, न कि निर्माण का तकनीक। इस प्रकार लोक-कला को भी थोडे बहुत सुधार के साथ आज विशिष्ट वर्ग की कला का स्थान दिया गया है। इस सदर्भ मे भारत मे होने वाले कला के इस परीक्षण का एक सक्षिप्त सर्वेक्षण किया जा सकता है।

भारतीय कला पुराने समय मे भी निरन्तर लोककला से प्रेरणा लेती रही है। जैनशैली लोककला के अत्यन्त निकट है जिसमे ज्यामितिक रूपो व आकृतियो का सरलीकरण है। आखे दोनो ही दिखाई गई है यद्यपि चेहरा आधा दिखलाया गया है। आखो का रूप स्थिर है व सब ही आकृतियो मे आखो की बनावट एक-सी है जो लोककला की विशेषता है। रगो मे भी गहरे जैसे गेरू व लाल रगो या प्राथमिक रगो का आधिक्य है। आकृतियो व चित्र की पृष्ठ-भूमि सपाट है जिसमे मुगल शैली जैसी बारीकी नही है। न अजन्ता जैसा लालित्य है यह कहना कि जैन शैली अजन्ता की ही अपभ्रश शैली है उचित नही कहा जा सकता। मेरा अनुमान है कि यह प्रचलित लोककला का थोडा परिष्कृत रूप मात्र है। यह शैली अजन्ता से नीचे की ओर नही आयी अपितु सामान्य जन की शैली उपर की ओर गयी है। लोककला का उपयोग पढे-लिखे वर्ग ने विशिष्ट उद्देश्य के लिए करना प्रारम्भ कर दिया था। अत यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही है कि जैन शैली की उत्पत्ति का आधार प्रचलित लोककला ही था। मुगल शैली फारस से प्रेरणा पाती रही तथा जहागीर, शाहजहा के काल तक भी फारस शैली का पूर्ण भारतीयकरण नही हो पाया। एक विदेशी दृष्टिकोण व भारतीय विषय वस्तु का चित्रण उपयुक्त नही हो सका। चित्रण के पात्र अनेक बार निर्जीव अथवा भावरहित लगते हैं। मुगल शैली के चित्र भीड भरे व बारीकी लिये हुये रहे। यह शैली स्पष्टत विशिष्ट वर्ग की शैली ही रही। मुगल दरबार के वैभव के विनाश के साथ-साथ मुगल चित्रकारो ने कागडा की घाटियो मे शरण ली और चित्रकला की पहाडी शैली का विकास हुआ ऐसा माना जाता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नही है। यदि मुगल चित्रकार ही पहाडी कला के प्रणेता रहे तो प्रश्न यह है कि विशिष्ट शैली का उदय क्यो हुआ ? सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि स्थानीय भौगोलिक व सामाजिक वातावरण का प्रभाव पडा होगा परन्तु चित्रो को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पजाब के ३८ राज्यो की चित्रकला मे से केवल कांगडा व बसोली की ही कला वहा के भौगोलिक वातावरण से स्पष्ट प्रभावित दिखलाई देती है। अन्य राज्यो की कला मे लोककला के सपाटपन, सरलता व प्राथमिक रगो का उपयोग ही झलकता है। अत यह सम्भव है कि मुगल दरबार से कुछ चित्रकार इस प्रदेश मे आये हो जिनको कुछ रियासतो मे सरक्षण मिला हो। जिनकी देखादेखी अन्य जागीरदारो या राजाओ ने स्थानीय लोककलाओ को दरबारी चित्रकार का दर्जा दिया हो और अधिक परिश्रम नवीनता व राजकीय इच्छा से प्रभावित हो लोककला का यह विशिष्ट रूप उभरा हो। यह बात राजस्थानी कला के लिये भी कही जा सकती है जिसमे विभिन्न रियासतो के कलाकारो ने





स्थानीय कला को विशिष्ट दर्जा दिया। राजस्थान के राजे-महाराजे मुगल दरबार मे जाते रहे जहा उन्होने बादशाह से कला के प्रति सम्मान की भावना पाई। उसी का अनुकरण कर इन लोगो ने उन कलाकारो को जो लोक जीवन को चित्रित करते थे, विशिष्ट कला के चित्रकार बना दिया। अत यह कहना उचित है कि लोककला को अनेक बार अपने उसी रूप मे अथवा परिष्कृत रूप मे उच्चवर्गीय कला बनाने का श्रेय राजाओ को रहा है।

इस प्रक्रिया को आधुनिक कला के सन्दर्भ मे और भी अच्छी तरह परखा जा सकता है। भारत मे आधुनिक युग का प्रारम्भ १८४० ई० मे कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के कला के पुनरुत्थान के प्रयत्न से हुआ। अजन्ता व राजपूत शैली को शुद्ध कला मानकर उस स्तर तक पहुचने का प्रयत्न किया गया। शान्तिनिकेतन मे अवनिबाबू के अनेक शिष्य रहे जिन्होने उनके दृष्टिकोण का ग्रहण किया। दूसरा प्रयत्न अमृता शेरगिल व गगनेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा हुआ जिन्होने पश्चिमी तकनीक को अपनाया व भारतीय विषयो को चित्रित किया। परन्तु दोनो ही आन्दोलन अकादमिक अधिक हो गये। जिन्हे सामान्यजन व विशिष्ट-समाज अधिक समय तक सहारा नही दे सके। जमिनीराय ने इस आन्दोलन के प्रति प्रतिक्रिया की तथा कला मे सरल आकृतिया को अपनाया। लोकशैली का परिष्कार कर उसे विशिष्ट शैली का रूप दिया। चित्रो व लोककला के रूपो को उन्ही आकारो मे तथा वैसे ही रगो मे अधिक बारीकी व सुघटता के साथ अकित किया गया यद्यपि अलकरण का वही रूप बना रहा जो लोककला मे होता है। एक-सी आकृतिया प्राथमिक व गहरे भूरे रग तथा रगो का सपाट प्रयोग बना रहा। जेमिनीराय के समान ही श्रीनिवासलु नरसिहम्मा व अन्य चित्रकारो ने भी लोककला का वैसा ही रूप अपनाया। परन्तु यह शैली भी कला का प्रचलित रूप नही बन सकी। क्योकि इसकी समानरूपता उबा देने वाली है। आधुनिक कलाकारो ने कला मे लोक-कला के तत्वो का अधिक अच्छा व सृजनात्मक प्रयोग किया है। जेमिनीराय की तरह इसे लोककला का परिवर्तन मात्र ही नही कहा जा सकता। आधुनिक कलाकारो ने लोककला को पचा लिया है तथा उनकी कल्पनाशीलता ने नये आयामो को जन्म दिया है। नये रूप व बिम्बो का भी निर्माण हुआ है।

पद्मश्री मकबूल फिदा हुसेन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त चित्रकार हैं जो लोककला से प्रभावित है। प्रारम्भ मे उन्होने एक खिलौने बनाने वाले के रूप मे कार्य किया तथा वहा से लोकपरम्परा को उच्चवर्गीय कला मे स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह नही है कि वे लोककलाकार ही हैं। रग, नये रूप व आकारो की सरलता की प्रेरणा उन्हे लोककला से मिली पर इन रूपो को वैसे के वैसे ही बनाये रखने के बजाय उन्होने इसे पचाकर प्रस्तुत किया। राजस्थानी लोककला मे घोडे का चित्रण बहुतायत से हुआ है। हुसेन ने घोडे का अकन बहुत ही सशक्त रूप से किया। घोडा तथा नारी उनके प्रसिद्ध चित्र हैं। बून्दी, चित्तौड व जैसलमेर पर बनाई गई फिल्म 'Through the painter's eye' उनकी प्रसिद्ध फिल्म है, जिसमे उन्होने लोक-कला व लोक-जीवन के बिम्बो को उभारा है।

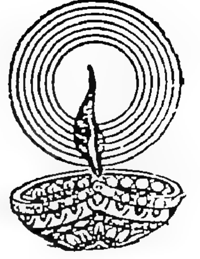
इसी प्रकार स्वामीनाथन ने तात्रिक प्रतीको को नये रूप मे प्रस्तुत किया है। श्री लक्ष्मण पै ने रामायण, महाभारत व रागमालाओ का चित्रण नयी शैली मे किया है।

मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी राम-किंकर, धनराज भगत, अमरनाथ सहगल, रमनपटेल व अन्य मूर्तिकारो की कृतियो मे लोक-कला का प्रभाव झलकता है यद्यपि इन मूर्तिकारो मे अन्धी नकल की प्रवृत्ति नही रही है। उन्होने सृजन के नये आयामो को समझा है तथा परम्परा को पचा कर नयी कृतिया प्रस्तुत की हैं। राजस्थान मे लोककला का प्रभाव आधुनिक कलाकारो की कृतियो मे स्पष्ट देखा जा सकता है। श्री गोवर्धनलाल जोशी, रामनिवास वर्मा व कृपालसिंह शेखावत के चित्र लोककला की अभिव्यक्ति-शक्ति को पचा कर प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोककला केवल उच्चवर्गीय सस्कृति का सरलीकृत रूप ही नही है अपितु स्वय मे मौलिक, सृजनात्मक रही है तथा लोकसस्कृति की मौलिक उपज को व खोजे गये तत्वो को उच्चवर्गीय सस्कृति ने सुधार कर परिष्कृत कर अपना लिया है। मूल रूप मे लोक-सस्कृति जनमानस की अभिव्यक्ति है। लोक सस्कृति जड-मात्र नही है। यह सक्रिय व नये तत्वो की उत्पादक है। नयी परिस्थितियो के साथ चल सकने की सामर्थ्य भी लोक-सस्कृति मे है क्योकि यह सृजनात्मक है।

सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक : उत्सव

श्रीमती कमला पंचोली
किशनगढ (राज०)



उत्सव 'सव' या यज्ञ के विविध रूपो से विकसित हुए है। उत्सव शब्द का अर्थ है—सव या यज्ञ का उत्कृष्ट रूप। युगपरिवर्तन के साथ-साथ समाज मे आये हुए परिवतन ने 'सव' को उत्सव बना दिया। भारतीय मान्यता के अनुसार समाज का सगठन ही पुरुष-यज्ञ के रूप मे हुआ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे अनन्त सिर, चक्षु, पाद आदि मे विभूषित समाज रूपी यज्ञ-पुरुष का वर्णन मिलता है। समाजसापेक्ष प्रत्येक कार्य भारत मे यज्ञ सज्ञा का अधिकारी बन जाता है। इसी मान्यता के अनुसार महाकवि कालिदास ने नाटक को चाक्षुप-यज्ञ कहा है।

यज्ञ अनेक प्रकार के है, परन्तु उन सभी के मूल मे समाज के विविध घटको मे समन्वय स्थापित करने की बात सन्निहित है। इस प्रकार की प्रेरणा पिण्ड और ब्रह्माण्ड मे चलने वाले आध्यात्मिक और आधिदैविक यज्ञो मे मिलती है। शरीर मे चलने वाले चेतना के यज्ञ मे विविध इन्द्रिय आत्मा मे आहुति दिया करती है। सारा कार्य-कलाप मन, प्राण और वाक् के स्तर पर सुसगठित रूप से चला करता है। यज् धातु देवपूजा, दान और सगतिकरण अर्थ मे प्रयुक्त होती है। शरीरस्थ यज्ञ मे यज् धातु से सकेतित तीनो भावो की सगति देखी जा सकती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करके आत्मा के प्रति समर्पित करती है। इसमे पूजा और दान का भाव समाविष्ट हो जाता है। सारा शरीर व्यवस्थित ढग से कार्य करता रहता है यही सगतिकरण है। ब्रह्माण्ड मे विविध देवशक्तियाँ सब भूतो मे व्याप्त एक प्रजापति देव के लिए आहुति प्रदान करती रहती है और सारे ब्रह्माण्ड मे व्यवस्था बनी रहती है। समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए इन यज्ञो के अनुकरण पर समाज मे विविध यज्ञ चले, यथा – नृमेध, अश्व-मेध, गोमेध आदि। नेतृ-बुद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मण नृमेध, शारीरिक और सैन्य बल को सगठित करके समाज मे न्याय स्थापित करने के लिए क्षत्रिय अश्वमेध और प्रज्ञा-बल को पाने के लिए लोग गोमेध किया करते थे। इन्ही से आगे चलकर विविध आलम्भ-यज्ञ विकसित हुए। आलम्भ-यज्ञ ही आगे उत्सव-समारम्भो के रूप मे समाज मे प्रचलित हो गये।

वैदिक-परम्पराओ के अनुसार आलम्भ यज्ञो की व्यवस्था राजा या अन्य राजन्य किया करते थे। महाभारत (शान्तिपर्व २३३।३१) के अनुसार क्षत्रिय के लिए आलम्भ-यज्ञ, वैश्य के लिए हविर्यज्ञ, ब्राह्मण के लिए तपोयज्ञ और शूद्र के लिए परिचारयज्ञ विहित है। यज्ञ की समृद्धि वेदमत्रो का अभिरूपण करने मे होती है। अभिरूपण या तो मत्रोल्लिखित पदार्थ का निर्माण करके किया जा सकता है या बने बनाये उन पदार्थों का क्रय करके अथवा उन पदार्थों की भावना करके। पदार्थ विशेष की भावना मात्र करके उसकी उपयोगितादि को समझने और तदनुसार उसके निर्माण मे योग देने का काम समाज के बुद्धिजीवी करते है। खरीद कर उपयोग मे लाने वाले लोग समाज मे बहु-सख्यक होते है, परन्तु अल्पसख्यक होने पर भी उन उपयोगी पदार्थों का निर्माण करने वाले लोग समाज मे विशेष स्थान के अधि-कारी होते है। यज्ञ विशेषकर आलम्भ-यज्ञ मे इन तीनो श्रेणियो के लोगो के मिलने का भावनात्मक आधार उपस्थित रहता है। क्षत्रिय शासक ऐसे समाज-सम्मेलन का आयोजन किया करते थे। कलियुग के प्रारम्भ मे गणराज्य-व्यवस्था को प्रचारित होने का अवसर मिला क्योकि पुराने राजवश महाभारतयुद्ध मे समाप्त हो गये थे। गणराज्य के लिए समाज-सगठन की आवश्यकता सर्वोपरि है। इसीलिए विविध गणराज्यो मे यज्ञो के युग-सापेक्ष उत्सव रूप का विकास हुआ। महाभारत मे 'गणान् उत्सवसकेतान्' शब्दो द्वारा गणजीवन के अभिन्न अग उत्सवो की ओर सकेत किया



गया है। पुराणो और महाभारत से यह भी पता चलता है कि वैश्या के उत्सव दीपावली का प्रारम्भ व्रजभूमि के वैश्य गणराज्य मे हुआ था। वैश्यो के गणराज्य की सूचना 'वैश्यवाट' या वैसवाडा शब्द से मिलती है। इसी तरह ब्राह्मण के श्रावणी-पर्व का सम्बन्ध ब्राह्मणो के सारस्वत गणराज्यो से था। नैमिषारण्य के क्षेत्र को पुराणो मे 'ऋषिवाट' कहा गया है। वह ब्राह्मणो का सारस्वत-गणराज्य रहा होगा। तपोवन के ऋषि-आश्रम सारस्वत-गणराज्य ही हुआ करते थे।

विजयादशमी क्षत्रियो का उत्सव है। इसका प्रारम्भ आयुधजीवी और राजशब्दोपजीवी क्षत्रिय-गणराज्यो मे हुआ। शूद्र वर्ण से सम्बद्ध होली पर्व का प्रारम्भ शूद्राभीर गणराज्य मे हुआ। यद्यपि चारो वर्णों के इन उत्सवो का सम्बन्ध विशिष्ट वर्ण से रहा है, परन्तु इनको मनाने का उद्देश्य समाज को सगठित और सुव्यवस्थित करना था। इसलिए कालान्तर मे ये सार्वजनिक उत्सव बन गये। क्षत्रियो के उत्सव क्षात्र-शक्ति को समाज के लिए विनियोजित करने के उद्देश्य से, ब्राह्मणो के उत्सव ब्रह्म-बल को सामाजिक हितकार्य मे प्रवृत्त करने के उद्देश्य से, वैश्यो के उत्सव वित्त को समाज के उपयोग मे लाने के लिए विनियुक्त करने के उद्देश्य से और शूद्रो के उत्सव श्रम-शक्ति को राष्ट्र-निर्माण के लिए उपयोग मे लाने के उद्देश्य से प्रचारित हुए। इनका लाभ समाज के सभी वर्गों को मिलता था। इस-लिए सभी लोगो ने इन उत्सवो को अपना लिया और इस प्रकार ये उत्सव हमारे जातीय-जीवन के अग और सास्कृतिक-समन्वय के प्रतीक बन गये।

होली, दीपावली, श्रावणी-पर्व ऋषिपचमी, विजयादशमी आदि उत्सवो के साथ किसी न किसी तरह से अग्नि का सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि ये वैदिक-यज्ञो की परम्परा के विकास है। वैदिक-परम्परा मे वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक परम्परायें समाहित हैं। जैन और बौद्धो की श्रमण परम्परा वैदिक-परम्परा से भिन्न, किन्तु उसकी पूरक है। ये सभी परम्परायें इन उत्सवो मे जैसे एक हो जाती हैं और इस प्रकार भारतीय समाज की एकता का परिचय देने का सेहरा इन उत्सवो के सिर पर बाँध देती हैं।

दीपावली—दीपावली सास्कृतिक समन्वय का परिचय देने वाला सबसे बडा पर्व माना जा सकता है। श्रमण-परम्परा मे दीपावली महावीर के निर्वाण-दिवस के रूप मे प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा मे पुराणो के अनुसार इसे उस दिन की स्मृति के रूप मे मनाया जाता है जिस दिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम रावण को मार कर अयोध्या लौटे थे। वामन रूपधारी विष्णु ने तीन चरणो से विश्व को नाप कर बलि को इसी दिन रसातल मे भेज दिया—ऐसा कहा जाता है। इन परम्परागत बातो से पृथक् रूप से देखे तो भी दीपावली पर्व का महत्व कम नही ज्ञात होता। त्रयोदशी को धनतेरस के रूप मे मनाया जाता है। आरोग्य-दाता धन्वन्तरि की जयन्ती के रूप मे धनतेरस का महत्व है। इसका किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नही है। धन्वन्तरि का अर्थ है—मरुस्थल की नौका (धन्वन्+तरी)। नीरोगी काया ही मरुस्थल की नौका है। दीर्घायु पाने की अभिलाषा किसको नही होती? घर-आगन की सफाई करके शरीर और सारे वातावरण को स्वच्छ बना कर और स्वास्थ्यप्रद भोजन करके आरोग्य लाभ किया जा सकता है। लोक मे ऐसा करके ही धन्वन्तरि की जयन्ती मनायी जाती है। नरक चतुर्दशी को रूप चौदश भी कहा जाता है। कृष्ण ने नरकासुर को इसी दिन मारा था। जो रमणीय और कमनीय न हो उसे ही नरक कहा जाता है। असुन्दर को जीत कर सुन्दर-जीवन का निर्माण करना—यही रूप-चौदस की पृष्ठभूमि मे निहित भावना है। अमावस की घोर अन्धेरी रात मे अगणित दीप जलाकर ज्योतिर्मय-जीवन की साधना मे जुट जाना मानव की अपराजेय निष्ठा का द्योतक है। इस दिन सामाजिक-जीवन मे लक्ष्मी का आह्वान करने के लिए वैयक्तिक-जीवन मे श्री-साधना की जाती है। समाज की शक्ति लक्ष्मी है और व्यक्ति के जीवन की सूत्रधारिणी श्री। जब व्यक्तित्व मे सत्य, दया, क्षमा, करुणा, विनय, श्रद्धा आदि मानवीय भावो के विकास के साथ चारित्रिक दीप्ति जागती है तभी समाज मे समृद्धि की अधि-ष्ठात्री लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। श्री और लक्ष्मी दोनो विष्णु की पत्नियाँ है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे चारित्रिक दीप्ति जगा कर सच्ची लक्ष्मी पूजा करता है। वैयक्तिक-साधना के द्वारा सामाजिक-हित-साधन की प्रेरणा देने वाला दीपावली-पर्व इस प्रकार हमारा जातीय पर्व बन गया है।

दीपावली को अगणित दीप जला कर मनाया जाता है। दीपक वस्तुत आत्म-ज्योति का प्रतीक है। जैन-परम्परा मे तप को ज्योति और जीव को ज्योतिस्थान कहा गया है—जीवो जोई तवो जोइट्ठाण। बौद्ध मत मे साधक को आत्मदीप खोजने की प्रेरणा दी गई है।—

किन्नु हास किमानन्द नित्य प्रज्वलिते सति।
अन्धकारानद्धा कि प्रदीप न गवेषयथ।। (धम्मपद)

इससे स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा मे ज्योतिर्मय जीवन की प्राप्ति के लिए साधना पर बल दिया गया है। वैदिक-साधनापद्धति मे भी जीवन का लक्ष्य ज्योति प्राप्त करना है। आविर्भूत-ज्योति वे कहलाते थे जिन्होने अपने जीवन को ज्योतिमय बना लिया है। साधक 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कह कर ज्योति की कामना करते थे। ऐसे तेजस्वी पुरुष विशेष उत्सवो पर गृहस्थो मे सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए उनके घर पर आया करते थे। दीपावली के दिन राजस्थान मे सुहागिने दीपक जलाकर पडौसी के यहा रख आती है। इसे 'परस्यो पाहुणो' अर्थात् स्पर्श किया हुआ अतिथि (स्पृष्ट प्राघूर्णिक) कहा जाता है। दीपक के रूप मे अतिथि को पडौसी के यहाँ पहुचाना इस बात की ओर सकेत करता है कि आत्मज्योति का लाभ करने वाले सिद्ध पुरुषो को एक घर वाले सम्मानित करके अपने पडौसी के यहाँ पहुँचा दिया करते थे।

प्रतिपदा को गोवर्द्धन-पूजन होता है और अन्नकूट मनाया जाता है। रात्रि को कृषको के घरो मे बैलो का पूजन होता है। गायो को वे एक दिन पहले ही पूज लेते हैं। पूजा के समय पशुओं के खुरो मे स्वर्ण और रजत के आभूषणो तथा हसिया छुआई जाती है। इससे सकेत मिलता है कि कृषक अपनी समृद्धि को गो-वृषभ की देन मानता है और इसीलिए इनको अवध्य मानने की परम्परा चली है। यज्ञो मे भी इसी प्रकार से शस्त्र को पशुओ से छुआकर यह सकल्प दुहराया जाता था कि शस्त्र गो-वृषभादि के वध के लिए नही होता। यह बात आज भी गावो मे प्रचलित है। भारतीय जनजीवन मे व्याप्त जीवदया की इसी भावना ने यहाँ अहिंसा को परमधर्म और महाव्रत के रूप मे साधना का विषय बनाने वाले जैन और बौद्ध मतो मे विशिष्ट स्थान पाया है। इनके बिना वैदिक-परम्परा की सर्वभूत हितसाधना अपूर्ण ही रह जाती। इसलिए इन मतो को भारतीय-संस्कृति के अभिन्न अग के रूप मे वैदिक परम्परा का पूरक कहना उचित होगा, विरोधी नही।

पूजा के उपरान्त पशुओ को मगलमालिका (मगाल) के नीचे से निकाला जाता है और लौटने पर बैलो से गोवर्द्धन खुदाया जाता है। इस प्रक्रिया मे पशुमगल की भावना निहित है। पशुओं को ऐसे चरागाहो और पर्वतो पर चराना चाहिए जो हिंसक जीवो से रहित हो और जहाँ पुष्टिकर घास प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हो। गोवर्द्धन-लघन का यही तात्पर्य है।

भ्रातृ-द्वितीया को बहिनें भाइयो को टीका करके उनकी मगलकामना करती है। यज्ञो मे नारी का स्थान पत्नी के रूप मे ही सुरक्षित रहता था। यहा इन उत्सवो मे नारी के भगिनी रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। यह हमारी सास्कृतिक-चेतना मे एक नया मोड था।

इस प्रकार दीपावली उत्सव पाच दिन तक धूमधाम से मनाया जाता है। इसको वर्तमान स्वरूप वैदिक, जैन और बौद्ध तीनो परम्पराओ के समन्वित प्रयत्न के फलस्वरूप मिला है। इसलिए इसे सास्कृतिक समन्वय के प्रतीक के रूप मे सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

होली—दीपावली के बाद सास्कृतिक-समन्वय के प्रतीक के रूप मे होली का स्थान माना जा सकता है। मूलत शूद्र गणराज्य मे प्रचारित होने पर भी यह शीघ्र ही राष्ट्रीय उत्सव बन गया। यह धूलि-वन्दना का पर्व है। 'माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या' कह कर अपनी मातृभूमि के साथ पुत्रत्व का सम्बन्ध स्थापित करने वाले भारतीय होली के दिन सारे भेदभाव भुला कर गले मिलते हैं और पार्थिव-रज से परस्पर अभिनन्दन करते हैं। सभवत प्राचीन-





काल मे पुष्परज से अभिनन्दन करके पारस्परिक-सम्मिलन मे सौन्दर्य-निष्ठा को व्यजित किया जाता होगा। कभी अज्ञात रूप मे पुष्परज का स्थान पार्थिवरज ने ले लिया और अनजान मे ही जीवन मे राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र-मातृभूमि की धूल से सामाजिक-सरचना का दृढ बनाना, प्रतिष्ठित हो गया। यद्यपि भारतीय समाज मे धूलि-वन्दन की क्रिया का 'धूलेटी' (धूल उष्टि) या धूलेण्डी (धूलि-वन्दन) कहा जाने लगा। भारतीय इस बात का अच्छी तरह से जानते थे कि सर्वधर्मा पृथिवी की धूल से सम्बन्ध जोडकर ही जीवन मे स्वराज्य-समृद्धि की जा सकती है। आत्मदानी और कर्मशील मानव धूल और पानी से युक्त भूमि मे मातृ-रूप देखकर उसके सारे उपयोगी पदार्थों के उपभोग का अधिकारी स्वय का बना लेता है (अथर्ववेद १२।१।६०)।

होली जलाने की प्रथा अग्निहोत्र का ही परिवर्तित रूप है। उसके साथ प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु के विरोध की स्मृति भी जुड गई है। प्रह्लाद मृत्यु की भी परवाह न करके सत्य के मार्ग पर दृढतापूर्वक चलता रहा। होली निर्भीक बनने की प्रेरणा देती है। इस बात की पुष्टि इस दिन सम्पन्न होने वाली अन्य क्रियाओ से भी होती जाती है। होली के पहले बालको के लिए माताए गोबर की ढाल व लकडी की तलवार आदि बनाती है। होली जलाते समय 'टबूले' ईधन के ढेर मे डाल दिये जाते है। स्त्रिया पानी डालकर होली की ज्वाला को शान्त करने की चेष्टा करती है, प्रौढ होली की ज्वाला मे गेहू या जौ की बालिया सेक लेते हैं। प्राचीन समय मे गृह्यसूत्रो के अनुसार इस समय यज्ञ मे नवान्न की आहुति दी जाती थी। जब नवशस्येष्टि के स्थान पर उत्सवपरम्परा चली तो ढाल तलवार की आहुति देने की प्रथा चल पडी। तलवारो का जलाने से हिंसा से विरत होने की और ढाल का जलाने से अपनी आत्मशक्ति के विषय मे पूर्ण रूप से विश्वस्त हो जाने और निर्भयता सम्पादित करने की सूचना मिलती है। लकडी की तलवार और गोबर की ढाल-युद्ध को प्रवर्तित करने वाले आतकवादियो की सभ्यता का कैसा चित्र भारतीय जन-मानस मे अकित है। युद्ध छेडने वाला तो विश्व-चेतना के प्रति अपराधी है ही, साथ ही प्रतिरक्षा के नाम पर शस्त्रास्त्रो और सेनाओ की वृद्धि करने वाला भी समान रूप से अपराधी माना जा सकता है। पूर्ण शान्ति की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब युद्ध के साधन और प्रतिरक्षा के साधन-दोनो का समापन कर दिया जाय और जन जन के आत्मबल मे वृद्धि हो। सस्कृति की पूर्ण विकासावस्था का मानदण्ड निर्भयता का सम्पादन ही है। होली का उत्सव हमे यही सन्देश देता है। युद्ध की अग्नि को बुझाने मे नारी-जाति महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। होली की अग्नि का जल से बुझाने का यही तात्पर्य ज्ञात होता है। होली की ज्वालाओ मे अन्न की बालिया सेंकने से यह प्रेरणा मिलती है कि विवेकपूर्वक विनाश के साधनो को भी सृजन के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

श्रावणी पर्व—श्रावणी पूर्णिमा को यह पर्व मनाया जाता है। इसे रक्षा-बन्धन भी कहा जाता है। श्रुति वेद ज्ञान की सज्ञा है। प्राचीनकाल मे शिक्षा-सत्र का प्रारम्भ इसी दिन से होता था। यज्ञोपवीत पहना कर सबसे पहले छात्र को व्यक्तित्व के सत्य, धृति, क्षमा, अस्तेय, शौच, धी, अक्रोध, विद्या और इन्द्रियनिग्रह इन नौ गुणो को अपनाने की प्रेरणा दी जाती थी। यज्ञोपवीत के तीन तारो से छात्र वेद-त्रयी, और उससे प्रेरित आचरण की शिक्षा भी लेता है। ऐसे आचरण द्वारा वह देव-ऋण, पितृ ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने मे सफल होता है। यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त विद्यार्थी गुरु के साथ यज्ञ मे भाग लिया करता था। वैदिक परिवारो मे अब भी यज्ञ होता है। बहिने भाइयो के रक्षा-सूत्र बाधती है। राखी के सूत्र ने कई बार इतिहास को धारा मे मोड ला दिया है। वर्तमान काल मे यह भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध की उद्घोषणा करने वाला उत्सव बन गया है और इस प्रकार हमारी सास्कृतिक चेतना का महत्वपूर्ण वाहक कहा जा सकता है। रक्षा-सूत्र बाधकर पारस्परिक-सौहार्द का परिचय देने की परम्परा इस पर्व के साथ जुडी हुई है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पर्व की इस विशेषता को देखकर इस दिन रक्षासूत्र बाधकर हिन्दू और मुसलमानो के बीच सास्कृतिक-सेतु बनाने का प्रयत्न किया था ऐसी परम्पराओ को आगे बढाना राष्ट्रीयता के हित मे है।

ऋषि पचमी—वैदिक परम्परा मे इसे ऋषिपचमी और जैन परम्परा मे सवत्सरी कहते है। ऋषि-मुनि वर्षाकाल मे चातुर्मास्य बिताने के लिए बस्तियो के निकट आ जाया करते थे। सामान्य गृहस्थ उनकी इस उपस्थिति का

लाभ उठाया करते थे। ये लोग आगन्तुक तपस्वियो से जीवन-यापन की विशिष्ट पद्धतियो के विषय मे जानकारी प्राप्त करके उनके सान्निध्य मे आचार-विचार का अभ्यास किया करते थे। सवत्सरी मनाने वाले श्रमण-परम्परा के अनुयायी पुनर्वत्स-जीवन (ऐसे वत्स के समान जीवन, जो एक बार अपनी माता का दूध पीना छोडकर पुन लग जाय) के लिए सकल्प करते थे। ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रकृति माता का दूध पीने वाला, गृहस्थ आश्रम मे ऐसा करना छोड कर, वानप्रस्थ और सन्यास मे पुन पीने लगता है। इसलिए आश्रमव्यवस्था को पुनवत्स-जीवन कहना उचित ही है। वैदिक-परम्परा पर आश्रित धर्म और जैन-बौद्धादि श्रमणधर्म के मूल मे वत्स बन कर विश्व की परमशक्ति का वात्सल्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। जैन धर्म मे सम्यक्त्व की साधना के अष्टाग मार्ग मे वात्सल्य को भी गिनाया जाता है (चारित्र पाहुड, ७)। धर्मात्माओ का प्रियवचन और आचरण मे अनुसरण करने वाले सम्यक्-दृष्टि जीव का वात्सल्य अग होता है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३४) वात्सल्य मे वत्स और वत्सल दो पक्ष होते है। जैनमत मे आदिजिन ऋषभ (पुगव) ही वत्सल है। साधक तप और श्रद्धा द्वारा ऋषभ का वात्सल्य प्राप्त करता है। बौद्धग्रथ चूलनिद्देस मे गोव्रतिको का उल्लेख मिलता है—'गोवतिकान गावा देवता।' जैनमत मे वात्सल्य प्राप्ति के लिए साधना करने की बात का समावेश गोव्रतिको से ही हुआ होगा। बौद्धमत मे भी आर्यो के गोचर मे लीन होने की बात कही गई है। जैन-वैदिक परम्परा मे वत्स-जीवन की साधना को गोचरी ही कहा जाता है। पचमहाव्रतो को अपना कर त्याग और तपपूर्वक जीवन बिताने के जैन-परम्परागत मार्ग को सवत्स या पूर्ण-वत्स की साधना का मार्ग कहा जाता है और सवत्सरी ऐसे जीवन के लिए सकल्प करने का उत्सव है। आर्ष मार्ग के अनुयायी इस दिन पुनवत्स साधना के लिए कृत सकल्प होते हैं। आर्ष और श्रमण परम्पराओ मे समन्वय स्थापित करने वाला यह सबसे बडा पर्व माना जा सकता है।

विजयादशमी – विजयादशमी क्षात्रजीवन से सम्बद्ध उत्सव है। हमारी मान्यता रही है कि मानव-शरीर युद्धक्षेत्र है जिसमे दैवी और आसुरी मनोवृत्तियो मे अनवरत सघर्ष छिडा रहता है। इस युद्ध मे दैवी वृत्तियो का विजयी बनाने के लिए साधनारत प्रत्येक साधक क्षत्रिय है। इस प्रकार विजयादशमी आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी आत्मविजय की घोषणा करने वाला सबसे बडा पर्व है। इसी रूप मे यह भारत के सभी समुदायो का समन्वय उत्सव बन गया है। दशहरे के पहले शक्ति-साधना के लिए नवरात्रव्रत किया जाता है। इस व्रत के अन्त मे दुर्गापूजन के साथ कुमारी-कन्याओ का पूजन भी किया जाता है। कन्यापूजन भारतीय समाज मे नारी-सम्मान की दिशा मे एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है। रावण के पुतले को जलाना यज्ञ का ही परिवर्तित रूप है। आसुरी वृत्तियो को समाप्त करने से ही दिव्यभावनाओ की विजय सभव है।

यहा कुछ ही उत्सवो का उल्लेख किया जा सका है। वैसे भारतीय-जाति को उत्सवप्रधान जाति कहा जा सकता है। यहा वर्ष के ३६५ दिनो मे ३६६ उत्सव मनाने की बात कही जाती है जो अनुचित नही कही जा सकती। ये उत्सव समाज के वर्गविशेष से सम्बद्ध हो सकते हैं। परन्तु भारतीय-समाज का सगठन ही ऐसा है कि ऐसे उत्सव भी सर्वमान्य उत्सव बन जाया करते है। भारत मे मनाये जाने वाले सभी उत्सव यहा प्रचलित विभिन्न सामाजिक परम्पराओ मे समन्वय स्थापित करके राष्ट्रीय-एकता की भावना को सुदृढ करने वाले हैं। इस प्रकार जीवन को जीने के लिए भारत मे जिस विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास हुआ है, वह भारत का अपना है, जिसमे सकीर्णता को कोई स्थान प्राप्त नही है। हम अपने उत्सवो मे प्रतिबिम्बित होने वाली इस सास्कृतिक-समन्वय की प्रवृत्ति के आधार पर अपने जातीय जीवन का समुचित रूप से विकास कर सकते है।

●



कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा

डा० कन्हैयालाल सहल

अध्यक्ष हिन्दी-सस्कृत विभाग बी०आई०टी०एस०,
पिलानी



कहावते मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति है, उन पर किसी जाति अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नही होता। जीवन के अनुभव का एक "लघुतम रूप" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति सक्षिप्त सारगर्भित तथा चटपटे वाक्यो द्वारा कहावतो के रूप मे पुरा काल से होती आई है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहावत का 'जीवन का लघुतम समापवर्त्य' कहा है।[१]

जाति-विज्ञान और सस्कृति के विद्वानो का कथन है कि जनता की विचारधारा जन-कथाओ, कहावतो और मुहावरो आदि मे व्यक्त होती है तो यह बात सोलहो आने सही है। कहावते और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियो के सक्षिप्त रूप है। लेखको के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैने कहावतो और मुहावरो आदि से बहुत कुछ सीखा है।[२]

राजस्थान मे कहावतो का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य अन्य राज्यो की अपेक्षा भले ही पिछडा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना मे यहाँ का लोक-साहित्य नि सकोच रखा जा सकता है। राजस्थान की कहावतो को लेकर ही विचार करें तो वे सख्या मे १० हजार से कम न होगी। अभी राजस्थानी कहावतो का कोश तैयार नही हुआ है जिसके प्रणयन मे लेखक वर्षो से सलग्न है। इसलिए सख्या आदि के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना निरापद तो नही तथापि इतना नि सन्देह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहा की कहावतो की समता सहज ही नही की जा सकती।

राजस्थानी सभ्यता और सस्कृति को समझने मे जैन विद्वानो के ग्रन्थो से बडी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतो के सबन्ध मे भी उन्होने सराहनीय प्रयत्न किए हैं। स० १६९६ को पौष मास मे श्री धनविजयगणि ने राजनगर के समीप ऊष्मापुर नामक नगर मे 'आभाण शतकम्' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसकी अनेक कहावतें ऐसी है जो राजस्थानी लोकोक्तियो का अनुवाद-सी जान पडती है। तुलना के लिए यहा कुछ लोकोक्तिया उदधृत की जा रही हैं—

(१) गता तिथिर्यथा पूर्वं ब्राह्मणेन न वाच्यते।
तथा पुराकृत पाप धर्मिभिर्नानुमन्यते ॥२१॥

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नही बाचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नही करते।

---

१ The L C M of Life has been expressed in every Country by Combination or words or pithy Sentences, which are called proverbs
(Prof Mukkhan Lal Roychoudhury, D Lit)

२ गोर्की

कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा

डा० कन्हैयालाल सहल
अध्यक्ष हिन्दी-सस्कृत विभाग बी० आई० टी० एस०,
पिलानी



कहावतें मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति है, उन पर किसी जाति अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नही होता। जीवन के अनुभव का एक "लघुतम रूप" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति सक्षिप्त सारगर्भित तथा चटपटे वाक्यो द्वारा कहावतो के रूप मे पुरा काल से होती आई है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहावत को 'जीवन का लघुतम समापवर्त्य' कहा है।[1]

जाति-विज्ञान और सस्कृति के विद्वानो का कथन है कि जनता की विचारधारा जन-कथाओ, कहावतो और मुहावरो आदि मे व्यक्त होती है तो यह बात सोलहो आने सही है। कहावते और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियो के सक्षिप्त रूप हैं। लेखको के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैंने कहावतो और मुहावरो आदि से बहुत कुछ सीखा है।[2]

राजस्थान मे कहावतो का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य अन्य राज्यो की अपेक्षा भले ही पिछडा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना मे यहाँ का लोक-साहित्य नि सकोच रखा जा सकता है। राजस्थान की कहावतो को लेकर ही विचार करें तो वे सख्या मे १० हजार से कम न होगी। अभी राजस्थानी कहावतो का कोश तैयार नही हुआ है जिसके प्रणयन मे लेखक वर्षों से सलग्न है। इसलिए सख्या आदि के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना निरापद तो नही तथापि इतना नि सन्देह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहा की कहावतो की समता सहज ही नही की जा सकती।

राजस्थानी सभ्यता और सस्कृति को समझने मे जैन विद्वानो के ग्रन्थो से बडी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतो के सबन्ध मे भी उन्होने सराहनीय प्रयत्न किए हैं। स० १६६६ को पौष मास मे श्री धनविजयगणि ने राजनगर के समीप ऊष्मापुर नामक नगर मे 'आभाण शतकम्' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसकी अनेक कहावतें ऐसी हैं जो राजस्थानी लोकोक्तियो का अनुवाद-सी जान पडती है। तुलना के लिए यहा कुछ लोकोक्तिया उदधृत की जा रही हैं—

(१) गता तिथिर्यथा पूर्वं ब्राह्मणेन न वाच्यते।
तथा पुराकृत पाप धर्मिभिर्नानुमन्यते ॥२१॥

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नही वाचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नही करते।

---

१ The L C M of Life has been expressed in every Country by Combination or words or pithy Sentences, which are called proverbs
(*Prof Mukkhan Lal Roychoudhury, D Lit*)

२ गोर्की

राजस्थानी कहावत

गड निधि तो ब्रामण भी कोनी बाचै ।

(२) स्वकीयाशुद्धधर्मस्य मिथ्यात्वं वक्ति को जनः ?
दुष्टाया को निजाम्बाया शाकिनीत्वं प्रकाशयेत् ?।२७।।

अर्थात् कौन मनुष्य ऐसा है जो अपने अशुद्ध धर्म को मिथ्या बतलाता है ? अपनी दुष्ट माता को भी शाकिनी कौन कहता है ?

राजस्थानी कहावत

आपकी मा ने डाकण कुण बतावै ?

(३) बहुरक्षितबहुशिक्षितनीचजनो भजति नैव सन्मार्गम् ।
पुच्छमिव शुनो नालिकाधृतमपि सरलं यथा न स्यात् ।।२८।।

अर्थात् नालिका में रखी हुई भी कुत्ते की पूछ जैसे सीधी नहीं होती, उसी प्रकार बहुरक्षित और बहुशिक्षित नीच मनुष्य सन्मार्ग का अनुसरण नही करता ।

राजस्थानी कहावत

कुत्ते की पूंछ १२ वर्ष नाली में राखी तो बी टेढी की टेढी ।

(४) यद्वचो धर्मनाशाय तद्वचो वक्ति कः सुधी ?
यत्स्वर्णं कर्णनाशाय यथा तत्को निषेवते ? ।।४४।।

अर्थात् जिस वचन से धर्म का नाश होता हो उसे कहने में कौनसी बुद्धिमानी है ! जिस सोने से कान का नाश होता हो, उसे कौन सेवन करेगा ?

राजस्थानी कहावत

बाल सोनूं कान तोडै ।

(५) संयमेन वियुक्तस्य यद्वत्साधोः क्रियाविधिः ।
अधो नग्नस्य मर्त्यस्य मस्तके मौलिबन्धनम् ।।५४।।

अर्थात् संयम-विहीन साधु की क्रियाविधि वैसी ही होती है जैसे कोई मनुष्य नीचे से नग्न हो और मस्तक पर मौलिबन्धन कर रखा हो ।

राजस्थानी कहावत

ऊपर तो लहर्‌यो पण नीचे के पहर्‌यो ।

अर्थात् सिर पर तो रंग-बिरंगी पाग अथवा लहरिया धारण कर रखा है पर नीचे क्या पहना है ?

(६) अंगोपांगादयो ग्रन्था द्वादशाग्यां प्रतिष्ठिताः ।
गवादीनां यथा पादा हस्तिपादे महत्तरे ।।७३।।

अर्थात् अंगोपांगादि ग्रन्थ द्वादशांगी में प्रतिष्ठित हैं जैसे गायों आदि के पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं ।



राजस्थानी कहावत

हाथी कै खोज मे सैंका खोज समावै।

(७) मधुरवचनेन युक्त सव हितमेव वेत्ति न त्वहितम।
सकल धवल दुग्ध पश्यति बालस्तु नो तक्रम ॥८८॥

अर्थात् जो भी मधुर वचन से युक्त है, उसे हित के रूप मे ही ग्रहण करता है, अहित के रूप मे नही। बालक, जो भी सफेद है, उसे दूध ही समझता है, छाछ नही।

राजस्थानी कहावत

ऊ ताइ छाय भी धोली, दूध भी धोलो।

अर्थात् उसके लिए छाछ भी सफेद है और दूध भी सफेद।

(८) दातुर्दान यथा स्वल्पमनल्प न विचार्यते।
धर्मधेनोस्तथा दन्ता न विलोक्या हि धीधनै ॥९३॥

अर्थात् दाता के स्वल्प या अधिक दान पर विचार नही किया जाता। धर्म की गाय के दात नही देखे जाते।

राजस्थानी कहावत

धर्मादै की गाय का दात कोनी देख्या जाय।

"आभाणशतकम्" के भी कई सौ वर्ष पहले कहावत-ग्रन्थो की रचना होने लगी थी। "ओहाणक स्तोत्र" की एक प्रति स० १४३० की लिखी मिलती है जिसमे से कुछ कहावतें यहा उद्धृत की जा रही हैं—

१ बलिकिय त सुन्न ज सुन्न तोडए कन्न।

राजस्थानी रूप—*बाल सोनू जो कान तोडे।*

२ चिक्कण घडए सामिय ढलिऊण पाणिय जाइ।

राजस्थानी रूप—चीकणे घडे पर बून कोनी ठैरे॥

३ पक्काण भडाण कि पहु कन्नाय लग्गति।

राजस्थानी रूप—पाकै घडै के कानो कोनी लागै।

४ जो मरेइ गुलेण चिय तस्स विस दिज्जए कीस।

राजस्थानी रूप—जो गुड से मरे ऊने झैर क्यूं देणो ?

५ नय मरइ न मचय देइ।

राजस्थानी रूप—मरे न माचो छोडै।

६ जइ नच्चाण पविट्ठा ता कि घुघट्टकरणेण।

राजस्थानी रूप – नाचण हाली के बयाको घूमटो ?

७ हत्थटिठ्य ककणय को पुण जोएइ आरिसए ?

राजस्थानी रूप - हाथ कगण ने आरसी सू के काम ?

८ दुद्ध च दियइ छाली पुण भरिय मिगोणिय च ।

राजस्थानी रूप - बकरी दूद तो दे पण दे मीगणी करके ।

६ खीरी खड मिट्ठ परलोय केण पुण दिट्ठ ।

राजस्थानी रूप —ओ भव मीठो, पर भव किण दीठो ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन विद्वानो ने लोक प्रचलित कहावतो को प्राकृत और सस्कृत के छन्दो मे निवद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया था।

व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि से लोकोक्तियो से परिचय प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है ।[1]



1 Acquaint thyself with proverbs for of them thou shalt learn instruction (Ecclesiasticas 8, 8)

धर्मस्थानों का जैन लोक-साहित्य



महेन्द्र भनावत,

एम० ए०

धर्मस्थानो के लोक-साहित्य मे सपना साहित्य, चौवीसियाँ, परवीगीत, साधु-साध्वी सवधी गीत तथा वधावे, थोकडे, गर्भ चिताणियाँ तथा मृत्यु-पूर्व के गीत, तपस्या-गीत, चौक, ढाले, तवन तथा भजन, कथाएँ, व्यावले, जान (बरात) श्रवण, कुडलीक, बालक-बालिकाओ के गीत तथा चौवीस तीर्थंकरो, गणधरो एव सोलह सनियो सवधी साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से कुछ महत्वपूर्ण विपयो पर यहा प्रकाश डाला जा रहा है —

सपना साहित्य — सपनो मे विशेष रूप से तीर्थंकरो सवधी गीत मिलते हैं। वैसे व्याह-शादियो मे चाक-नूतने से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रात काल ये सपने गाये जाते है पर तु पर्युपण के दिनो मे धर्मस्थानो मे भी विशेप रूप से ये सपने गाये जाते है। इन सपनो के कई रूप एव प्रकार मिलते हैं। इन सपनो मे तीर्थंकरो के विशेप-विशेप महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख रहता है और अत मे 'सामी सिध होयाजी' जैसा कडावा रहता है जिससे उनके सिद्ध होने की बात व्यक्त होती है। कुछ सपने तीर्थंकरो की पूजा से सम्बधित होते हैं जिनमे सभा तीर्थंकरो की पूजा के लिए विभिन्न पूजा-सामग्री का उल्लेख रहता है जैसे — ऋषभदेव के लिए केसर, नेमिनाथ के लिए फूल, पार्श्वनाथ के लिए केवडा, महावीर स्वामी के लिए नारियल तथा शातिनाथ के लिए खारकें आदि। पूजा का थाल लेकर दूर-दूर से आई महिलायें दर्शन की लम्बी प्रतीक्षा-पक्ति मे खडी-खडी थक जाती हैं तो वे अपनी शिकायत भगवान तक पहुचाने के लिए ललक पडती है—

सामी कदकी ऊबीने कदकी खडी रकबनाथ रे दरवाजे
सामी केसर घोटी-घोटी भर्यारे पियाला
तोईनी खोल्या दरवाजा रे।
सामी पांव पूजण दोनी मुख देखण दोनी
म्हें दूरा सू आयाजी।

इन सपनो मे तीर्थंकरो के बाल्य-जीवन के भी कई सजीव चित्र मिलते है। उदाहरण के लिए नेमिनाथजी के सपने मे उनका बालहठ विशेपरूप से छलक पडा है। सपनो के अत मे कई प्रकार के कूकडे तथा चू दड गीत गाये जाते है जिनमे स्थान-स्थान पर भगवान का निवास बताया गया है। चू दड गीतो मे तीर्थंकरो की माताओ द्वारा चू दडें रगवाकर सावणीतीज जैसे त्यौहार मनाने की बात बडी भली लगती है।

सपनो के अत मे सपने गाने का फल वैकुण्ठ की प्राप्ति तथा नही गाने वालियो को अजगर का अवतार होने का जिक्र रहता है, साथ ही गाने वाली को सुहाग चिह्न चूडा तथा चू दड एव जोडने वाली को पुत्ररत्न की प्राप्ति जैसे भी सकेत मिलते है यथा—

जोरे रो सपनो जो गावे ज्यां रो बैकु ठ वासो जी।
नहीं रे गावे नी सामे ज्यारो अजगर रो अवतारो जी।।
म्हैं रे गावा जी सामला जी म्हारो वैकु ठ वासो जी।
गावा वारी ने चूडा चू दड जोडणवाली ने झोलण पूतो जी।।

चौबीसिया तथा पर्वीगीत —पर्वों के दिन पाक्षिक खमत खामणा (क्षमापना) के रूप में कई प्रकार की चौबीसियां गाई जाती हैं जिनमें एक दूसरे से बारबार क्षमायाचना की जाती है।

> पर्वीना खमत खामणा
> जाजी पैला रुखबनाथ बंद मा
> दई दूजा अजतनाथ देव
> पर्वीना खमत खामणा।

चौमासे की पंक्तियों में उतरता खारा समुद्र छोड़कर प्यारा मरम सगा धारण की बड़भागी भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है।

> म्हे लग रयो समार खारो सुगत में आवा दो
> म्हे लग रयो मरम प्यारो सुगत में आवा दो।

साधु-साध्वी सबधी गीत तथा बधावे —किसी गांव अथवा शहर में साधु-साध्वियों के पधारने पर उनके स्वागत में कई प्रकार के स्वागत-गीत गाये जाते हैं जिनमें उस दिन को सोना तथा रत्नों वाला दिन कहकर विशेष हर्ष एवं उत्साह प्रकट किया जाता है।

> आज सोना रो सूरज ऊगियो।
> आज रतना रो सूरज ऊगियो।
> ऊंचा मारासाब वेसणजी
> नीचे परषदा रो ठाट।
> सुनर सगोती रा बाचणा जी
> जरवा रो छेय न पार
> मारासा ओजान जिनवाणी सूरज ऊगियो।

महाराजश्री के कुंकु-केसर के पगल्यों पर भायों-बायों (श्रावक-श्राविकाओं) की अपार भीड़ बारबार वंदना के लिए टूट-टूट पड़ती है, उस समय लगता है जैसे सारे ही गांव में रत्नों की झिलमिल बरसात हुई हो—

> कंकू रे पगल्ये मारासा पधारिया
> केसर रे पगल्ये मारासा पधारिया।
> थोरा गामा होस मोती निपजेजी
> मारो गामा रतना री खान।
> थोड़ी अरज ओ घणी विनती जी
> लुल लुल लागूंली पांय ॥

साधु-साध्वियों के स्थानक में पधारने पर तो जैसे श्रावक-श्राविकाओं के जन्म-जन्मान्तर के भाग्य जग गये हों और पूर्व जन्म के अन्तराय टूट गये हों, ऐसी ही कुछ अनोखी बात देखने में आती है और ऐसे अवसर पर कुकु-केसर से मोतियों का चौक पुराया जाय तो क्या आश्चर्य! बधावे के रूप में देखिये इस प्रसंग का कितना फबता हुआ चित्र है—

> मैया घणो ए बधावो
> कुकू-केसर घोट मोत्यां चोक पूरां
> ए धीरे-धीरे चाल हमे आसणे जी।
> आजरे दीयाडो जी भलाई सूरज ऊगियो





हरखे हिया मे जी उमावो म्हारा अग मे
करू म्हारा मारासारी सेवा
दरसण आऊ ली
गुण गाऊ आपरा
परमने बाध्याजी सामी जी अणी भवे उबर्या
आज टूटो अ तराव

थोकडा—लोक-मुख पर प्रचलित थोकडो का भी विशेष महत्व है। ये थोकडे भी कई प्रकार के मिलते है जिनका अपना विशेष 'टाइप' मिलता है। ये थोकडे प्राय बडे होते हैं जिनमे अनेकानेक कुकर्मों से छुटकारा पाकर सुकर्मों द्वारा सदगति पाने की भावना निहित रहती है। इन थोकडो के अत मे साराशरूप मे सारभूत सकेत मिलता है। साथ ही— 'यो थोकडो कोई सुणे, मामरे, सामरता रो परायचित जावे। आगलो बोल पाछे क्यो वे। पाछो बोल आगे क्यो वे। काना मातर शुद्ध नी क्या वे। पाप दोष लागावे तो तस्स मच्छामि दुकड—" जैसी बात भी मिलती है। पाठको की जानकारी के लिए यहा आतमनिन्दा थोकडे का आदि और अत भाग दिया जा रहा है।

आदिभाग—ये आतमा, ये चेतना, कोई साध्यो वे। कोई परत्यो वे। रस गिर्दीपणा मे खोटी-खोटी ध्रस्री आणी वे तो दो घडी रे समै मे असी चिंतावणा मत कर।

तेवारे कामराग मे। तेवारे सदे राग मे। तेवारे मन धन मे। तेवारे वचन मन मे। तेवारे काया सरण मे। तेवारे मत्या ध्रस्टी मे। तेवारे नील लेस्या। तेवारे कपोत लेस्या। तेवारे इरिगावगाई। तेवारे रसगारवाई। तेवारे सानागारवाई। आठकर्मा री एक सोने अडतालीस परकरति। अठेमण थानक थारा-जीव दोरा लागीर्या रे बापडा। सीलव्रत गाजो, भाग, तमाखु, दाखरो, तजारो, अतरी हरी लीलोती रा होगन लेइने भागसी तो थारा जीवरी गरज कठासू सरसी रे बापडा।

ज्यू समुन्दर मे किलोरा उछरे छे। ज्यू थारी तिष्णारूपी किलोरा उछरे छे। अरे जीव थू करणी तो करे छे पर सूना मन सू करे। धरप मन सू करसी तो थारे लके लगाजी नीतर साही रूलेप समान होसी। अतर जीवा ने वश करीने आवो म्हारा पारस पुतर। आवो म्हारा चवदेरतन। आवो म्हारा नवलुध्यान। आवो म्हारा रसाण चतराई। आवो म्हारा रसका घटका। आवो म्हारा अमरत रा कूपा। अतराजीवा ने वशकरीने सेठ वेइग्या। सेनापति वेइग्या। लाखनी वेइग्या। क्रोडम वेइग्या। राजा वेइग्या। मिस्त्री वेइग्या। परधान वेइग्या ने गमास्तो वेइग्या। भिन भिन करीने पुदगल्या रो उपाव करी र्‌यो छे।

अन्तभाग—अरे चेतन मातारी अग्या मे चाल। समगत मातारी अग्या मे चाल। मोख अखारा बीज ने वार। क्रोध, मान, माया, लोभरी चकरी ने पटरी पार। आकुल विकलपणो थारे मटे नती। तरसणा रूपी गा थारे वधे नती। अन्न आरे। पन्न आरे। अरस आरे। वरस आरे। ग्रन्न जीवा। पन्न जीवा। अरस जीवा। वरम जीवा। करण सचे जोग। खमावत ने वेरागवत। दसवती ने सरपवती। सातारे ठकाणे ने असाता रे ठकाणे नती। पाचमी गति पावसी नती। कचण तो प्राप्ति करे ने पत्थर ने दूर करे। कचण तो कदु न मिलसी ने पत्थर थारी छाती पडमी। या सम या समाई तो थारी नही छे रे नही छे। या समाई तो थारी छे रे थारी छे। आनदजी, कामजी, शखजी, पोकरजी, चदगुपतराजा, मुमनसेह पुन्यानामा श्रावक या समाई तो थारी छे रे थारी छे। थारी समाई तो या छेरे या छे। रोदर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, देम जगजगारमान होई ग्या छे। थारी समाई तो या छे ने या छे। ततनतनती सू। नती सू के घंटा सू। घटा सू के पटा सू। पटा नू के भविसू। भवि सू के अभविसू। अभवि सू के दुर्भविसू। ग्यान तो ग्यानी मागज। नकारे तो ने ने। दटी ना डोटा। नदी रा ढारा। मानारे ठकाणे। असातारे ठकाणे नही।

गर्भचितावणिया और मृत्यु-पर्व के गीत—हमारे यहा मरणासन्न व्यक्ति को सुनाये जाने वाले मृत्यु-पर्व के

गीतो का भी विशेष महत्व रहा है। इस प्रसग मे कई प्रकार के गीत मिलते है जिनम भरे पूरे समार को छोड खाली हाथ जाने के कई रूप देखने को मिलते हैं। गीता म इस मन्सार मे मोह त्यागकर जिनदव की स्तुति कर सद्गति पाने की भावना भाई जाती है। पापी जीवन का बुरी तरह लथेडा जाता है। कुकर्मी जीवन को धिक्कारा जाता है। आत्मनिदा और आत्मभर्त्सना के खुले पृष्ठो पर अव्रतक के जीवन व। उनारा जाता है और अत मे वैरागी जीवन की दशा पर आसुओ की गगा-यमुन। बहाई जाती ह। एक नमूना देखिये --

काचसूना मेला ऊपर सूतो खूटी ताणरा
सान्या मे थारे कोई न समझे आण रोक्यो कठरे
म्हारा पथीडा मत पड पिंजड सॅसार मार्‍यो जाय।
धधो करीने धन जोडयो ताखा ऊपर क्रोड रा
मरतो वेरा गाननी थारा लिया कदोरा तोड रा
म्हारा पथीडा, मत पड पिंजरे सॅसार मारयो जाय।
कोरो वस्तर घरे लाया थाणे लियो ओडायरे
फूटी हाडी लारा लीदी उठ चल्या लीलधार रे
म्हारा पथीडा, मत पड पिंजड सॅसार मारयो जाय।
मात थारी सदाई झूरे वेन वारतेवार रे
घर की तिरिया नैन झूरे थने कईनी राखणहार रे
म्हारा पथीडा, मत पड पिंजड सॅसार मार्‍यो जाय।

गर्भ चिताणिया भी इसी प्रसग पर सुनाई जाती है जिनके छोटे व बडे दोनो रूप मिलते हैं। वैसे गर्भवती औरतो को भी ये गर्भ चिताणिया सुनाई जाती है। धर्म स्थानो मे इनके पाठ महिला-समुदाय तथा पुरुषवर्ग द्वारा कभी भी सुने जा सकते है। लेखक ने छोटी और वडी दोनो प्रकार की गर्भ चिताणिया नोट की हैं। यहा बडी गर्भचिताणी के कुछ स्थल दिये जा रहे हैं।

(अ) नरनारी रे मिल्यारे सजोग। भोग रया ससार्‍या रा भोग। ग्रभवती ओनारी वा रोती। भस्ट जो भाकर पेट जो माय। नीचारे मस्तक ऊचा जो पाय। साती समाण घोडा रयारे अपार। नेत्रकने दोई मुखिया। आई थू उपन्यारे घर बे मजार। रूदय सुद राखी दत आर। थूं चेते उ चेते मानवी।

(ब) उछन्न जगा थूं उपन्यो रे जीव। जाजेरी दीदी नम्मा सस्तेरी नीम। चामेचडी सू चेंटी र्‌यो। माताने खुदियाने वेटाने मूक। जिम दिन मैं घणा भोगवती दुख। सुभ आचाराग इम केवे। सत खड पेली समाइ री जोत। सुई समाणी साडे तीन से क्रोड। अगत वरणजुई आकरी। चापे दियोरे थारो सगरो शरीर। भाख गया भगवत मात्रीरा। थू चेते उ चेते मानवी।

(स) रमणी तो रूडी वेइरे ससार। बेटावबुने सोइ परिवार। अन्तथक्यो जाणे अवसरा। कया नु लोपे तोतै तणीकार। हुक्म घणा परचा लावनो। दासीतो थारे ऊवी बेकरजोड। एके बुलावेने दस आवे दोड। परवलाओ पन्न परसाद सू। गेणा रा डावाने रतनारी मजू। लाग रही थारे जगमग जोत। थू चेते उ चेते मानवी।

(द) काराभमर थारे होताजी केस। जिस दिन करतो नवा नवा, वेस। सैलसपाटा करतो घणो। चालता नरखतो आपणी पाग। तीजे तमासेने देखतो वाग। मातपिता नही पूछतो। देतो रे ताण मरोडतो मूछ। चावे तो विडिया ने सूघे तो फूल। घरम वना थारे कई होसी। थू चेते उचेते मानवी।





(य) रतना रा प्यालाने सोनारी थाल । मूग मिठाई ने चावल दार । भाजन भली भली भातरा । गगाजल पाणी दीदो छे ठार । वस्तु मगावोने तुरत तियार । कमी ए नही कणी बातरी । वडा वडा होता रे राणा ने राव । सेठ सेनापतिन उमराव । खातर मे नही राखता । जी नर भोगन्ता शक्र भरपूर । देकता देकता होइ गया धूर । देकोरे गत ससार की । थू चेते उचेते मानवी ।

(र) परनारी सू लगावतो प्रीत । खोटारे कर दिया सु सेरा नीत । परणीयो दायनु आवमी । माटी ता थारी रेती रे द्रस्ट । काचे त्पेटे थू होइ गयो भ्रस्ट । देकोरे गत ससार की । परवारी जात्र थारे पत्तामे साक । दडत फडत काटे सी नाक । लोका माई फटफट करे । अमी कणी थने दीदी रे सीक । भव भव माय थू मागमी भीक । थू चेते उचेते मानवी ।

इस अवसर पर सथारे भी सुनाये जाते हैं जिनका विषय भी परम कल्याण प्राप्ति का ही रहता है—

सथारो प्यारो घणो
रतन चितामणि हेम हो भवियन
पचमी गति पोंचाये ।
सथारो प्यारो घणो ।।
आरपाणी आदरे नहीं
सब जीवारा छे खमाय हो भवियन
पचमी गति पोचाय ।
करोनी सुध आलोचणा
लगावो मूगत्या सू ध्यान
ऐसी सदा ओ मुझमे वीरता हो भवियन
होवे तरत कल्याण ।
सथारो प्यारो घणो ।।

चोक, ढाल, तवन तथा भजन

ढाल, तवन, भजन आदि की तरह एक प्रकार 'चोक' का भी है । इन चोको मे कर्म-जजाल, विषय-वासना, मोह-माया आदि से जीव को परे रखकर इन सबके ऊपर कमलवत रखने की सारभूत शिक्षाए मिलती हैं । उदाहरणार्थ कुछ नमूने द्रष्टव्य है—

(अ) करम नचावे जू ही नाचे । ऊची होवण ने- सब कम्ता । नीची होवणने कोइयन राजी । नन्दया विरता क्यूं करता । चवदे पूरव चार ग्यान का करमा से छूटा जो नही । ऊचा चढके पडे कीच मे ग्यानी वचन झूठा जो नही । सोयचाक मोटो मद पीसै ओगण पारका थू क्यू गिनै । थारा ओगण थने नही दीसै । अनेक ओगण है मारे रे आतमा । ग्यानी वचन पकडो रस्ता ।

(ब) पच प्रकार रा काम भोग है सेवे सेवाये सव करता । शवद, वरण, गद, रस, फरस है जेर खायके क्यू मरता । आकिर यू डीकना लोगा की करत आतमा भर करता । कीने सरावे कीने विसरावे हरक-हरक आनद करता । आमवश बवुर खावे आमरस मुख किम पडता । राग शोक करो दारिदर दुखमे दुख पैदा करता । थारी मारी करता दिण जावे । आयारे मामा भाटा भिडावे । सुख मे दुख थू वेर गलावे । ज्यू दीपक मे पडे पतग्या चेतन दुरगत क्यू पडता ।

(स) होत का थू क्या सा जे । अणोत क्या विसराता है । पुन्नपाप तो वाध्या जीवने जैमा ही फल पाता

है । किने माया दीदी भोगवने कोई रखवारी करता । जस अपजसतो वाध्या जीवने जैसा ही कारज सरता । पाप अठारे सेंधा जीवने इणमे सबही फसता है । स्यादवाद, रस, काम, भोग मे कूचा पूना का करता है । आक, थोर और तुमाली मारी पाप कर कडवा लगता ।

तवनो और भजनो के तो सैकडो प्रकार मिलते हैं । तवनो मे सतियो तथा तीर्थंकरो के अलावा रतनजी, जबूजी, गणधरो तथा राम-जीवन सबधी तवन विशेष लोकप्रिय है । व्यावलो मे नेमजी (नेमीनाथजी) का व्यावला विशेष प्रचलित है ।

ढालो मे भर्, भरत, मेघकुमार, पवन कुमार, रावण, विजया सेठ तथा जबूजी की ढालें उल्लेखनीय है । इन ढालो मे छुटपुट जीवन की कई सुन्दर झाकियाँ मिलती है । ये गद्य और पद्य दोनो रूपो मे मिलती हैं । गेदराजा की ढाल मे कवर और कवरी का वार्तालाप बडा मार्मिक बन पडा है—

कवर—कायेरो थारे बेवडो ओजी कायेरी थारे नेज ।
कायेरी थारे चूमरी एकवरी कई तो थारा मोलजी ॥

कवरी—जल भोडर रो बेवडो ओजी रेशमरी मारे नेज ।
कमल फूलारी मारे चूमरी ओ कवरा लाखे रीपारो मोल जी ॥

कवर—गारा रो थारे बेवडो ओजी सणकी थारे नेज ।
गाच पुचेरी थारे चूमरी एकवरी कोडी रो थारो मोल ॥

कवरी—बगर बितराया किमे बोलिया ओजी बोलिया इ ढेड चमार ।
अतरीतो वाता कई करो ए कवरा घरे कसीक है नार ॥

कवर—थारा सरीकी मारे अत घणी ओजी छाणारी छणीयार ।
अन खावेने पाणी पीवे ए कवरी के नी मनरी वात ॥

कवरी—थाणा सरीका मारे अत घणा ओजी घोडा रा चरवादार ।
अन खावेने पाणी पीवे ओ कवरा कोनी मनरी वात ॥

कथा-कहानियाँ—धर्म स्थानो में व्याप्त धार्मिक कथा-कहानियो की सख्या सर्वाधिक है । इन कहानियो की आत्मा धार्मिकता के ताने बाने से गूँथी हुई होती है । ये कहानिया प्राय सुखान्त होती हैं । अधिकतर कहानियो की समाप्ति सयममार्ग धारण करने—दीक्षा लेने मे होती है । कहानियो मे छोटी से छोटी तथा बडी से बडी कहानिया मिलेंगी जो गद्य, पद्य अथवा दोनो रूपो मे सुनने को मिलती है । लेखक ने ऐसी कई कहानिया नोट की हैं जिनमे से बहुत सारी प्रकाशित भी करवाई हैं ।

सोरठ की कहानी मे सोरठ के पीछे-पीछे बीज्या भागता हुआ लपकना चाहता है कि इतने मे साध्वियो का ठिकाना आ जाता है । सयोग से सोरठ वहा रुक जाती है और उसका सकट बच जाता है । साध्वियो से वह दीक्षा लेने की भावना भाती है । साध्वियाँ दीक्षा की आज्ञा देने वाले का नाम पता पूछती है इस पर सोरठ कहती है—'आज्ञा देन वाले भी आप हैं । मारने वाले भी आप हैं और तारने वाले भी आप है । साध्विया उसे दीक्षा दे देती हैं और बीज्या मुँह लटकाता रह जाता है ।

यहा इसी प्रकार की एक कथा देकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है—

एक डोकरी ही जडे एक बेटो हो । छोटापणा मे इ टोकरी वटाने परणाई दीदो । परणीने बेटो देसावर परो गयो । बेटारी बउ भला घगरी ही । ना फाटो गाबा पेरती ने काम वतो करती, ध्यान-ध्यान करती । एकदन पाडो-





सण्या बोली—'चालो लाडी वागा मे चाला।' वा बोली-'नी आऊ।' अतराक मे वडी सासु वोली—'लाटी जावो भलाई, मारे आडीऊ मनाई नी।' लाडी फाटागाबा खोल्यानी ने वागमे गो। वागमे सव सखिया तो हिले, मिले, नाचे, कूदेने गीत गावे पण या एक जगा छानी मानी बेठी बेठी वणारा खेल तमस्या देखे। वारा वरस वतीतव्या ने वडो पति आयो। घरे देखे तो वउ मलीनी। वणी होच्यो के कठे मगीतो नेगी। माने पूछ्यो। मा बोली वाग मे गी है बेटा। वातोनी जावा लागी। पण मे गज क्यो तोई फाटा गाबा पेरीनगी। बेटो दोड्यो-दोड्यो वाग मे ग्यो देखे तो सव लुगाया तो हसी-खुशो मनाई री ने या एकली बेठी।

जदी वो बोल्यो—लावी गोरी पातरीने गज गज लाबा केश।
सब सखिया सुहावणी रे थारे क्यू मेला वेश।

वा बोली--आडा परवल अति घणारे जाणो वणी देश।
पीऊतो परदेश वसे रे जणी सू मेला वेश॥

वो बोल्यो—लाय लगावो डूगरिया ने काटो वो वणी देश।
पीऊतो दूजा करो ने नत नवा करो शृगार॥

वा बोली—अमर तारा आकाश मे ने धरती धान न होय।
पाणी मे दीवलो जले जद पीऊ दूजा होय॥

अतरो केइने वो परोग्यो। पाछाऊ सब सखिया रे हाडे वा भी गी। जाइने देखे तो वोइ अडो धणी है। वा पगा मे पडी। वो बोल्यो के मे तो थारी परीक्षा ली दी ही थू वणी मे खरी उनरी। आखरकार वणी धणी तो दूजी शादी की दी है ने वऊ दवया लोने आपणी आतमारो कल्याण को दो।

धर्मस्थानो के साहित्य के बारे मे जितना जो कुछ कहा जाय उतना ही कम है। यह साहित्य इतना महान और मेधावी है कि किसी भी धर्मसाहित्य के समक्ष इसे 'ए-वन' की कोटि में रखा जा सकता है।

●

राजस्थानी चित्रकला में लोकतत्त्व

डा० जयसिंह नीरज
राजपूत छात्रावास, अलवर



भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों में राजस्थानी चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। खेद यही है कि अब तक विस्तार से इस चित्रकला के सविधान, वर्गीकरण एवं विभिन्न पहलुओं पर शोध-पूर्ण कार्य नहीं हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्भव एवं उत्कर्ष राजस्थान के प्रान्त में हुआ तथा यह अन्य भारतीय शैलियों से प्रभावित होती हुई स्वतन्त्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश में पोषित एवं पल्लवित हुई। इसके विकास एवं सवर्धन में राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की वीरभूमि के कण-कण में उनके शौर्य की गाथायें, लोक-कथाएं, सभ्यता और संस्कृति के पद-चिह्न काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। वास्तविकता तो यह रही है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एवं कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

विशुद्ध राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वीं शती के उत्तरार्ध से १६ वी शती के पूर्वार्ध के बीच १५०० ई० के लगभग माना जाता है। तब से लेकर १९ वीं शती के उत्तरार्ध तक राजस्थानी चित्रकला अनेक शैलियों में परिप्लावित होती रही है। इसका विकास एवं निर्माण दूसरी अधिकांश शैलियों की भांति न तो एक स्थान में हुआ है और न ही कुछेक कलाकारों द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर, राजधानियां तथा धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। धर्म-प्रिय रियासतों के कला-प्रेमी राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों तथा सामान्य जन-जीवन का राजस्थानी चित्रकला के विकास एवं सवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धार्मिक प्रतिष्ठानों के अतिरिक्त कवियों, चित्रकारों, सगीतज्ञों, शिल्पाचार्यों के दरबारी जमघट के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अनेक रियासती शैलियों को परिप्लावित करती हुई १७ वीं-१८ वीं शती में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, जिससे इसका समन्वित स्वरूप सामने आया। अधिकांश रियासतों के चित्रकारों ने जिन-जिन तौर तरीकों से चित्र बनाये, स्थानानुसार अपनी मौलिकता, भौगोलिक तथा सामाजिक लोक कलात्मक विशेषताओं के कारण वहां की चित्रशैली कहलाई। राजस्थानी चित्रकला इस प्रकार अनेक शैलियों का समन्वित स्वरूप है जिसमें मेवाड़, किशनगढ़, बूंदी, जयपुर, बीकानेर, मारवाड़, कोटा, अलवर आदि शैलियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी चित्रकला के प्रमुखतया दो स्वरूप मिलते हैं—एक लोककलात्मक, और दूसरा दरबारी। प्रथम स्वरूप अधिकतर धर्म-पीठों एवं जनसमाज में अधिक पल्लवित हुआ है और दूसरा सामन्ती परिवेश में। निश्चय ही उपर्युक्त दोनों स्वरूप अबाध गति से प्रवाहित होते रहे हैं। प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला लोककलात्मक अधिक है। सही बात तो यह है कि लोक-जीवन तो राजस्थानी कलाओं के कण-कण में समाहित है। भित्ति-चित्रण की परम्परा से विकसित राजस्थानी चित्रकला को लोकजीवन से विशेष सान्निध्य रहा है। भित्ति-चित्रण में लोक-जीवन का पुट अधिक रहता है। लोक कथायें, धार्मिक भावनाएं, भगवान की चमत्कारी लीलायें तथा महापुरुषों की गाथायें राजस्थान में भित्तियों पर प्राचीन समय से ही चित्रित की जाती रही हैं और यह परम्परा (अपने हृष्ट रूप में ही सही) आज भी प्रचलित है। राजस्थान के प्रमुख भित्ति-चित्रों में कृष्ण की विभिन्न चमत्कारी लीलायें व ढोला मारू की कथा, पाबूजी की कथा तथा



अन्य लोक-जीवन सम्बन्धी कथाओ का समावेश विशेष रूप से मिलता है। कोटा के राजमहल, बूंदी के छत्रशाल महल, आम्बेर और जयपुर की अनेक छतरियाँ तथा शेखावाटी की विभिन्न अट्टालिकाओ का चित्रण लोक-जीवन एव लोक-तत्वो के अधिक समीप है।

राजस्थानी चित्रकला का विकास ही प्रमुख रूप से अपभ्रश शैली की दाय है, अत अपनी पूर्ववर्ती शैली की रूक्षता, भदेसपन, रेखाओ की मुटाई आदि लोकतत्व प्रारम्भिक राजस्थानी शैली मे विशेष देखने को मिलते हैं। अत्यधिक नफासत पच्चीकारी और मीनाकारी तथा रेखाकन की बारीकी सामती प्रभाव के कारण ही राजस्थानी चित्रकला मे आयी है। प्रारम्भिक मेवाड शैली के चित्रो मे इस प्रकार का भदेसपन विशेषतया द्रष्टव्य है। 'चारपचाशिका', 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'गीत-गोविन्द' पर आधारित चित्र उपर्युक्त लोकतत्व के प्रमुख उदाहरण है। यह धारा १७ वी और १८ वी शती मे भी सामती चित्रण के साथ-साथ प्रवाहित होती रही है।

राजस्थानी चित्रकला मे लोकतत्व को सर्वाधिक कृष्ण चरित्र न उभारा है। कृष्ण का चरित्र अपने आप मे लोक-जीवन का साक्षात् प्रतीक है। स्वच्छन्द वातावरण मे कृष्ण का गौवें चराना, जगल मे अनेक प्रकार के खेल रचना, पूतना से लेकर कस तक का उद्धार करना तथा गोवर्धनधारण, काली दमन, दान-लीला, मान-लीला आदि का चित्राकन विषय की दृष्टि से तो लोकजीवन से सबद्ध है ही, साथ ही चित्राकन की शैलीगत विशेषताओ के कारण भी लोकतत्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र प्रमुखतया धर्म-पीठो मे तो बने ही हैं साथ ही विभिन्न दरबारो की धार्मिक भावना के कारण भी विपुल रूप से अकित किये गये है। हा १८ वी शती के चित्रों की लोककलात्मकता मे सामती परिवेश का प्रभाव अवश्य आ गया है। मेवाड शैली, बून्दी शैली, मारवाड शैली के ऐसे चित्र विभिन्न सग्रहालयो मे विशेष द्रष्टव्य हैं। जिनमे विषय और शैली की दृष्टि से लोककलात्मकता है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार दिया है मेवाड की उपशैली नाथद्वारा-शैली ने। नाथद्वारा मे श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाईयो के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रज-क्षेत्र से अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एव अन्य लीलाओ का चित्राकन करने लगे। स्थानीय जागिड ब्राह्मण भी श्रीनाथजी के चित्राकन मे जुट गये और इस प्रकार ब्रज के प्रभाव तथा मेवाड शैली के योग से १८ वी शती के अन्त मे नाथद्वारा शैली जोर-शोर से अपना विस्तार पाने लगी। ये चित्रकार अधिकतर कपडे पर चित्राकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयो के रूप मे प्रचलित हुआ। इन पिछवाइयो का अकन ठेठ लोक-कलात्मक शैली मे हुआ है। माता यशोदा के चित्रण की प्रमुखता के कारण स्त्रियो की आकृति मे प्रौढता, शारीरिक स्थूलता और भावो मे वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषो मे गुसाईयो के पुष्ट कलेवर बाल-गोपालो की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछडे, वन, निकुज आदि का अकन सरस एव सौम्य बन पडा है। इन चित्रो मे लोक-जीवन की पूर्ण छाप है, इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं।

राजस्थानी चित्रकला की सबसे बडी विशेषता है काव्याकन। काव्य को आधार बनाकर चित्र अकित करने की यहा परम्परा रही है। लोककथाओ पर आधारित चित्र तो लोककला के द्योतक है ही पर उच्चकोटि के साहित्य पर आधारित चित्र भी लोकतत्वो से प्रभावित है। प्रारम्भिक चित्र अपनी शैली-गत विशेषताओ के कारण लोक-कला से सबद्ध हैं। भक्तिकालीन साहित्य जैसे सूरसागर परमानन्दसागर तथा अन्य फुटकर भक्ति पदो पर आधारित चित्रो मे भी भक्तिकालीन लोकजीवन का यथेष्ट पुट द्रष्टव्य है। दूसरी ओर रीतिकालीन अर्थात् रसिक प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज आदि काव्यो को आधार बना कर जो चित्र मेवाड, बूदी जयपुर, बीकानेर आदि शैलियो मे निर्मित हुये है, उनमे रीतिकालीन मीनाकारी पच्चीकारी और बारीक अलकरण का विशेष प्रभाव है। ऐसे चित्रो मे सामती परिवेश की पूर्ण छाप देखने को मिलती है।

राजस्थानी चित्रकला मे जो चित्र लोक-कलात्मक शैली मे अकित किये गये है उनमे रगो का प्रयोग भी लोककलानुकूल ही हैं। मिट्टी और पत्थर से बनाये गये ऐसे रगो का प्रभाव सहज मौलिक है। ऐसे चित्रो मे रगो का तालमेल अधिक नही हुआ है और वे अपनी सूचक अवस्था मे ही प्रयुक्त किये गये है। सूचक अवस्था का सबन्ध प्राचीनतम

रगो से है। ऐसे लोककलात्मक रग प्राग् ऐतिहासिक काल की गुहाओ से निकलकर अजन्ता शैली, जैन-शैली, गुजरात शैली और फिर राजस्थानी शैली मे विशेषतया प्रयुक्त हुये है। आगे चलकर रगो की यह सूचक अवस्था टूटने लगी और रगो का सम्बन्ध 'टोन' से आवद्ध होकर 'हारमनी' की ओर अग्रसर हुआ। इस प्रकार राजस्थानी शैली के लोककलात्मक रग सामती परिवेश की चमक-दमक मे अपनी सहज सूचक अवस्था खोकर एक दूसरे मे घुल मिल गये। राजस्थानी चित्रकला के लोककलात्मक चित्रो मे रगयोजना भी अत्यधिक सहज है। लाल, पीले, नीले, हरे, काले रगो का चुनाव उनका सहज प्रयोग भित्ति-चित्रण की परम्परा का परिचायक है।

सक्षेप मे राजस्थानी चित्रकला के अधिकाश चित्र विषय शैली एव रगयोजना की दृष्टि से लोककलाओ से अत्यधिक प्रभावित है। भारतवर्ष के ही नही ससार भर के अनेक सग्रहालय पोथीचित्रो, लघु-चित्रो, पिछवाइयो तथा लिपटवाँ पडो के रूप मे इन चित्रो से सुशोभित है। खेद यही है कि अपनी अमूल्य धरोहर तथा सास्कृतिक परम्परा के प्रति हम और हमारी सरकार तनिक भी जागरूक नही है।





राजस्थान का किसान गाता है !

डा० मनोहर शर्मा

सेठ आर० एम० रूइया काले

रामगढ (शेखावाटी) राजस्थान



राजस्थानी लोकगीतो मे कृषिकार का सम्पूर्ण जीवन गाया गया है। खेती सम्बन्धी कोई भी काम नही है जिसके साथ अनेक गीत जुडे हुए नही। जमीन को साफ करने मे लेकर अनाज को घर पहुचाने तक के सभी प्रसग गीतो से गुजायमान है। ये गीत श्रम को सरल बनाने मे असाधारण योग देते हैं। किसान का मन गीतो की राग मे इतना रम जाता है कि वह अपने तन मे किसी भी प्रकार के श्रम मे थकान अनुभव नही करता और पूर्णतया कर्मठ जीवन का आनन्द प्राप्त करता रहता है।

खेती के गीतो की रसधारा जलागमन के साथ प्रवाहित होती है। मोरो के देश राजस्थान मे वर्षा—मगल के समान सुखद समय और क्या हो सकता है ? इस समय जड प्राकृतिक और चेतन जीव सभी उत्फुल्ल-विकसित हो उठते हैं। किसानो के लिए तो यह अवसर जीवनाधार ही है। ऐसे अवसर पर उनके हृदय की राग अपने आप गूँज उठती है—

सुरगी रुत आई म्हारे देस,
भलेरी रुत आई म्हारे देस,
मोटी-मोटी छाट्या ओसर्‌यो, ए बदली,
तो छाट-घडे के मान, मेवा-मिसरी
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
मुन्याणो मोज्याणो सैं भर्‌या, ए बदली,
तो घोल-पालियो ठेलम-ठेल, मेवा मिसरी,
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
यो कुण बोवे बाजरो, ए बदली,
तो यो कुण बोवे हरिया मोठ, मेवा मिसरी,
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ।
ईसरराम बावे बाजरो। ए बदली,
तो कान्हीराम बावे हरिया मोठ, मेवा मिसरी
सुरगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥

"हमारे देश मे सुरगीऋतु आई है, हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है। अरी बदली, तू काफी मोटी बूदो मे बरस पडी है एक एक बूद एक घडे के समान है। हमारे देश मे मेवा और मिश्री के समान सुरगी ऋतु आई है।"

"मुन्याणा" और मोज्याणो नामक कच्चे जोहड पूरे भर गये हैं। 'घोऊपालियो' नामक पक्का तालाब ऊपर तक लबालब हो गया है। बदली, हमारे देश म मेवा और मिश्री के समान सुरगी ऋतु आई है। हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है।

"बाजरा कौन बो रहा है ? हरे मोठ कौन बो रहा है ? हे बदली, हमारे देश मे मेवा और मिश्री के समान ऋतु आई है, हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है।

"ईसरराम बाजरा बो रहा है और कान्हीराम हरे मोठ बो रहा है। हे बादली, हमारे देश मे मेवा और मिश्री के समान सुरगी ऋतु आई है, हमारे देश मे बडी भली ऋतु आई है।"

इन्द्र देव के मिलन-महोत्सव मे पृथ्वी अपना शृ गार सजाती है। सर्वत्र शोभा एव सुख का वातावरण प्रकट होता है। खेतो मे हल चलने लगते है। राजस्थान का किसान बोता हुआ भी गाता है। गाये बिना तो उससे रहा ही नही जाता है। जब प्रकृति मे सर्वत्र आनन्द है। तो वह उससे अप्रभावित कैसे रह सकता है ? जुताई के समय का 'तेजा' गीत सुप्रसिद्ध है। यह गीत काफी लम्बा है और इसमे गो भक्त तेजाजी की जीवन गाथा गाई जाती है जो एक लोकदेवता के रूप मे पूजित है। गीत काफी ऊचे स्वर म गाया जाता है। जब किसान इसे गाता है तो मानो सम्पूर्ण वातावरण भी उसके साथ गाने लगता है। तेजागीत राजस्थानी हलवाहो का स्वस्तिवाचन है। यह उनके जीवन का गीत है।

गीत के प्रारम्भिक बोल इस प्रकार हैं।

भरियोजी भरियो मेवालिया जोम, म्हारा लाडेसर रे,
भरियोजी भरियो मेवालिया मे जोम रे,
कोई बोलण भी लाग्या रे, पपैया बैठा डूगरा।
चालैजी चालै मेवलिया री बाल रे म्हारा लाडेसर रे।
कोई खरसो तो उतर्यो रे, चौमासो बैठा लागियो।
सूज्योजी सूज्यो घर घर हलसाज रे, म्हारा लाडेसर रे,
कोई अलिये तो अलिये का रे, खेती भी ये लागियो।

"हे मेरे लाडले बेटे, बादलो मे पूरा वेग भर गया है और पहाडो मे पपीहे पक्षी बोलने लगे है।"

'हे मेरे लाडले बेटे, बादलो की ठडी हवा चलने लगी है, अब गर्मी को तपन मिट गई है और चौमासा लग गया है।"

"हे मेरे लाडले बेटे, अब घर घर मे हल का साज तैयार किया जा रहा है और पास पडौस के सभी लोग खेती के काम मे जुट पडे है।"

खेत की बुवाई के बाद निनाण अथवा निराई होती है। जब अनाज के पौधे कुछ बडे हो जाते है तो अनावश्यक और स्वयरुह घास से उनकी रक्षा करना जरूरी है अन्यथा अनाज बढ नही पाता और उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इस कार्य मे शीघ्रता की आवश्यकता होती है। अत समवेत-श्रम द्वारा इसे जल्दी ही पूरा करने की चेष्टा की जाती है आसपास के सब किसान उस खेत मे इकट्ठे हो जाते हैं, जिसकी निराई स्वय किसान—परिवार पूरी नही कर पाता है। वे सब सामूहिक रूप से उसकी निराई कर डालते हैं। यह श्रम-सहयोग देखने लायक होता है। ऐसे अवसर पर खेत के मालिक को सब साथियो के लिए अपनी ओर से मीठे भोजन का प्रवन्ध करना पडता है। इसे लोक भाषा मे "ल्हास" कहा जाता है। "ल्हास" के अवसर पर आये हुये श्रमवीर बडे उत्साह और स्फूर्ति मे काम करते हैं। वे काम करते समय गाते भी हैं। यह सामूहिक श्रमगान बडा प्रिय लगता है। इस समय विविध विषयो के प्रचलित दोहे ऊचे स्वर मे गाये जाते है इन्हे 'सिन्वूडा' कहते हैं और इनके मूल मे प्रेरणा का भाव है कुछ चुने हुये दोहे द्रष्टव्य है—



घर जाता, ध्रम पलटता, त्रिया पड़तां ताव ।
तीन विहाड़ा मरण रा कहा रंक कहा राव ।। हो

पावू कहू क परसराम, अरजन कहू क भींव ।
तैरा परवाड़ा कुण गिण्या, धन धाधल का भींव ।। हो

फालै मु ह की गावड़ी, खाया सूना खेत ।
आसी फौज हमीर की, लेसी खाल समेत ।। हो

सिंघ गमन सापुरस वच, केल फले इक वार ।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़े न दूजी वार ।। हो

निराई के समय अनेक गीत भी गाये जाते है। समूहगान का एक नमूना यहा प्रस्तुत किया जाता है —

तन्नै यथाको फोकर लाग्यो, छोरा राम धनियां।
तू तो माड़ो कैयां होगो, छोरा रामधनियां ।
तेरे दो भाया की जोड़ी, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो भावज कमावै, छोरा रामधनिया ।
तेरे चढ़वा ने दो घोड़ी, छोरा रामधनियां ।
तेरे दो दो ऊट लदीजै, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो दो भैंस्या दूजे, छोरा रामधनिया ।
तेरे च्यार च्यार गाया दूझै, छोरा रामधनिया ।
तेरे ऊचे चोक तिबारी, छोरा रामधनियां ।
तू तो काला कैयां पड़गो, छोरा रामधनियां ।

"अरे रामधन, तुझे किस चीज की चिन्ता लगी है जो तू कमजोर हो गया है ?"

"रामधन, तेरे दो भाइयों की जोड़ी है और दो भाभी है, जो सब कामों में पूरा सहयोग देती है ।"

"रामधन, सवारी करने के लिए तेरे घर मे दो घोड़िया बधी हुई है और बोझा लाने के लिए घर मे दो ऊट है ।"

"रामधन तेरे दूध देने वाली दो भैंस और चार गायें है ।"

"रामधन, तेरे मकान का चौक ऊंचा है और फिर उसमें तिबारी है । इतने सब ठाठ होने पर भी तू काला पड़ गया है फिर ?"

इस गीत में सुखी एवं सब प्रकार से सम्पन्न तथा सद्भावनापूर्ण गृहस्थ की यशोगाथा गाई गई है, जो हरी खेती के वातावरण में बड़ी सरस लगती है । खेतों में कठिन काम करने के कारण और धूप की तेजी के कारण किसान का चेहरा अपने स्वाभाविक रंग को छोड़ कर काला-सा प्रतीत होता है परन्तु यह उसकी तपस्या का रूप है । इस गीत में प्राचीन भारत के सुखी एवं सम्पन्न किसान जीवन का मनोरम चित्र देखने को बनता है ।

निराई के सामूहिक गीतों के बाद खेत में यही अवसर "लावणी" (कटाई) के समय फिर देखने को मिलता है । इस अवसर के अनेक गीत और "दोहे" लावणी के समय फिर गाये जाते है परन्तु कई गीत अतिरिक्त भी हैं ।

उनमे "दातियों" (हसिया) गीत विशिष्ट है। यह समय किसान के लिए अपनी तपस्या की फल-प्राप्ति का है। अत उसकी पूर्ण उमंग इस गीत मे भरी है। गीत इस प्रकार है।—

उगूणं ढैरा मे ओ देवर, आयगी ओ भल लावणी।
देवर तो मोजई ओ आपा, करस्या ओ भल लावणी।
सासू तो सरावै मेरा देवर, करस्या, ओभल लावणी।
नीम तले लुव्हारी ओ देवर, घडवा दे दातियो।
तने असल खेडी को घडवाघु ए भावज, खरो सो दातियो।
डाडी तो दिवा दे ओ देवर, चन्दण काठ की।
मैं तो चुडले के रलकै से ओ देवर, वावूली दातियो।
थे तो छिरगं के फटकारं देवर, वावोना दातियो।
थे तो पूचे के रलकै से भावज, बावोना दातियो।
थे तो घूघट के फटकारे भावज, बावेना दातियो।
मनै घूघरिया घडवा दे देवर, रूपे के झोल का।
मैं तो एडो के ठिणके से देवर, वावुला दातियो।
मै तो डेर्या डेर्या वावूलो देवर, खरो सो दातियो।

"मेरे देवर, पूरब की ओर वाले खेतो मे कटाई का समय आ गया है। देवर भाभी मिलकर ऐसी कटाई करे, जिसकी सराहना मेरी सास करने लगे।"

"मेरे देवर, नीम के नीचे लुहारी है। उसमे मुझे एक हसिया बनवा दो।"
"भावज, तुम्हारे लिए पक्के लोहे का अच्छा-सा हसिया बनवा दूँगा।"

"मेरे देवर, उस हसिये का डाडा (पकडने का भाग) चदन की लकडी का बनवाना। मैं अपने चुडले को हिलाते हुए उसे पौधो पर चलाऊगी और तुम अपना हसिया सिर के छिरगे को हिलाते हुये चलाना।"

"भावज, तुम अपना हसिया हाथ का पूरा जोर लगाते हुए चलाना। उसे अपने घूघट को हिलाते हुए चलाना"
"देवर, मेरे लिये चादी के घुघरु भी लगवाना। मैं एडी के ठिणके से आवाज करते हुये अपना हसिया चलाऊगी।"

"मैं खेत की सभी डेरियो मे भले से हसिये का प्रयोग करूगी।"

इस गीत मे भाभी-देवर का सवाद सर्वथा सहयोग और श्रम का सूचक है। हल से जो क्रिया प्रारम्भ होती है उसका फल हसिये से प्राप्त किया जाता है। पके हुये भरे-पूरे खेत मे यह गीत आश्चर्यजनक निर्मल रस-धारा प्रवाहित करता है। जब इसका सामूहिक गान ऊचे स्वर मे गूजने लगता है तो मानो सम्पूर्ण प्रकृति भी इसमे अपना योग देने लगती है।

खेती के गीतो मे किसान के साथ उसकी पत्नी की साधारण झलक दिखाई गई है। परन्तु अपने पति के साथ उसे भी खेती को सफल बनाने मे कम तपस्या नही करनी पडती।

आगे किसान-पत्नी के जीवन का एक सरल तथा स्वाभाविक चित्र द्रष्टव्य है, जिसमे कृषि-कर्म की सम्पूर्ण झाकी प्रकट हुई है—





काली तो पीली ए मां मेरी बादली, घमक र बरस्यो मेह,
बाबोजी ने, कहज्यो, हाली ने बेटी भल देई ।
सोला बलदा को ए मा मेरी नीरणो ।
आठ हाल्यां की झाझी छाक,
बाबोजी नै कहज्यो हाली न बेटी मत दीज्यो ।
द्योर जिठाण्या सं मा मेरी औलणो,
कुण उठावे झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
ऊंचो तो धालो ए बाई म्हारी चू तरो,
मचक उठायो झाझी छाक बाबोजी ।।
धोरा तो धोरा ए मा मेरी मै फिरी,
कठे ए न लाद्यो म्हानै खेत ।। बाबोजी ।।
धौरे तो ढलती ए मां मेरी आखडी,
झक्कर ढुलगी बाला छाछ ।। बाबोजी ।।
टीबै तो ओलै ए मा मेरी टीबडी,
जै तले हालीडा रो खेत ।। बाबोजी ।।
देवर जेठा सं एमा मेरी ओलणो,
कूण तो उतारै झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
काठो तो कसल्यो ए बाई म्हारी लाडणो,
मचक उतारो झाझी छाक ।। बाबोजी ।।
धौरा तो धोरां ए मा मेरी बाजरो,
ढैरा मे कोड्याली जवार ।। बाबोजी ।।
ढेरा तो ढेरां ए मा मेरी काकडी,
टीवा पर गुडै छै मतीर ।। बाबोजी ।।
कोठी तो कुठला ए मा मेरी से भरया,
बाकी को गाड्यो ऊडी खास ।। बाबोजी ।।

"मुसराल मे नई बहू आई है । खेती का मौसम है । वह घर के धन्धो मे लग जाती है और अपनी माता को ससुराल के सम्बन्ध मे सदेश भेजती है । वह कहती है—

"काले-पीले बादलो की घटा उमडी और काफी जोर की वर्षा हुई । मेरे बाबोजी को कहना कि उन्होंने हल चलाने वाले किसान को अपनी बेटी देकर बडा अच्छा किया ।"

फिर घर के काम का भारी बोझा उस पर अचानक आया तो वह कुछ घबरा गई और फिर उसने नया सदेश इस प्रकार भेजा —

"माता, यहा सोलह बैलो को चारा-पानी देना पडता है और आठ हल चलाने वालो के लिए भारी मात्रा मे खेत पर भोजन बनाकर पहुचाना पडता है । बाबाजी से कहना कि ऐसे किसान के घर मे अपनी बेटी कभी न देवे ।"

'मेरी देवरानी और जिठानी रूठी रहती है। इसलिए इतनी बड़ी छाक (भोजन) मेरे सिर पर कौन उठावे ? बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान को अपनी बेटी कभी न देवे।"

इसके उत्तर मे उसकी माता सदेश भिजवाती है "बेटी, बड़ा सा एक चबूतरा बना ला और उस पर छाक का पात्र रखकर फिर जोर लगाकर उसे उठाओ। ऐसे करने पर तुम्हें ससुराल भली लगेगी।"

"माता, मैं सिर पर छाक का भार लेकर धोरों (टीलों) मे खूब घूमी, परन्तु मुझे तो वह खेत मिला ही नहीं। तुम बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे अपनी बेटी न देवे।"

"माता, एक टीले से उतरते समय मेरा पैर जरा फिसला और छाक मे रखी हुई छाछ बिखर गई। बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे अपनी बेटी न देवे।"

'माता, एक बड़े टीले के पीछे छोटा टीला है। उसके दूसरी तरफ आखिर मुझे खेत मिल ही गया। बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे बेटी न देवे।"

"माता मेरे देवर और जेठ रूठे हुये हैं। फिर इतनी बड़ी छाक का भार मेरे सिर पर से कौन उतारे ! बाबोजी से कहना कि ऐसे घर मे किसान को वह अपनी बेटी न देवे।"

माता ने उत्तर भेजा—"बेटी, अपने घाघरे के नाड़े को अच्छी तरह कसलो और फिर जोर लगा कर मचके से सिर की छाक नीचे उतार लो। बाबाजी को यही सदेश भिजवाना कि किसान को अपनी बेटी देकर उन्होंने अच्छा काम किया।"

अपने खेत का वैभव देख कर अत मे उसने सदेश भेजा—"माता, हमारे खेत के टीलो पर भरपूर बाजरा खड़ा है और नीचे वाली धरती पर खूब ज्वार है। माता, नीचे वाली धरती काकडी से भरी हुई है और टीलो पर मतीरे-फल लुढक रहे हैं। बाबोजी को कहना कि ऐसे घर मे बेटी देकर उन्होंने बड़ा अच्छा काम किया।"

जब फसल पकने पर खेत का अनाज घर मे आ गया तो फिर उसने अपने पीहर सदेश भेजा—

"माता, हमारे घर मे जितने छोटे-बड़े कोठी-कुठाले (अनाज रखने के भांड) है वे सब भर गये और फिर भी काफी अनाज सुरक्षित करने के लिये बचा तो उसे जमीन मे गहरी सी "खास' (अनाज रखने का सुरक्षित स्थान) बना कर उसमे भर दिया। बाबोजी से कहना कि ऐसे किसान के घर मे अपनी बेटी आगे भी सदा ही देते रहे।"

इस प्रकार हमारा किसान अपने श्रम से केवल अपने जीवन को ही नही, वह हमारे देश के जीवन को भी सुखी एव समृद्ध बनाने मे योगदान करता है। अत वह सम्मान का पात्र है।

जय जवान, जय किसान !



राजस्थान की मण्डन-कला (मांडणा)

कु० स्नेहलता



बैठने के स्थान को कुत्ता भी पूछ से झाड लेता है। मनुष्य की विशेषता तो इससे आगे बढने मे है। मनुष्य की पशु-जीवन से आगे बढने की यही प्रवृत्ति उसे कला-प्रेमी बना देती है। घर का छोटा-बडा, कच्चा-पक्का होना तो गृहस्वामी की आर्थिक दशा पर निर्भर होता है, परन्तु उसका कलात्मक उपयोग निश्चय ही गृहस्वामिनी की सुरुचि-सम्पन्नता का परिणाम होता है। इसीलिए 'गृहिणी गृहमुच्यते' की उक्ति लोक मे प्रचलित हुई है। ससार के सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ ऋग्वेद मे भी कहा गया है—'जायेदस्तम्' अर्थात् जाया ही घर है। कला और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय गृहस्थ-जीवन ही माना गया है और गृहिणी उसकी सूत्रधारिणी मानी जा सकती है। नारी से ही नर को अर्द्ध से पूर्ण बनने का अवसर व सौभाग्य प्राप्त होता है। अपत्नीक जीवन-यज्ञ मे भाग लेने का अधिकारी नही होता। श्रद्धा-स्वरूपा नारी से मिल कर पुरुष सत्य-स्वरूप बनता है और इन दोनो का उत्तम मिथुन स्वर्गलोक का सृजन करता है। फूस का साधारण झोपडा भी नारी के हाथो से सस्कार लाभ करके ज्योतिर्मय-जीवन का अधिष्ठान बन जाता है।

वर और वधू के रूप मे पहली बार मिलन झोपडे को 'चतरसार' (चित्रशाला) मे परिवर्तित कर देता है। यही पति की सहचरी बन कर वधू पहली बार अपने आगन को सजा कर नन्दन-वन का रूप देने और ओवरी को कला के बागे पहना कर देवलोक के विमान जैसा बनाने का सकल्प लेती है। जीवन भर उसका यह सकल्प 'नवो नवो भवति जायमान' के रूप मे साकार होता रहता है। अभावो मे असमय मृत्यु को प्राप्त होती हुई आशाए—आकाक्षाए भी उसको इस सकल्प से नही डिगा पाती। कलाकृतियो के रूप मे हृदय की भावनाओ का साकार रूप देते रहना ही उसके जीवन का व्रत बन जाता है और वह देवताओ को मनाती हुई प्रार्थना करती है कि कही अपने व्रत को अधूरा छोड कर वह मर न जाय। इस रूप मे उसका छोटा-सा सकल्प जीवन मे मृत्युंजयी साधना का स्वागत सोपान बन जाता है। सुखदु खमयी भावनाओ की लोकगीतो मे अभिव्यक्ति होती है तो जीवन के उल्लास और आशावाद को लोक-कलाओ मे अभिव्यक्ति मिलती है।

विवाह के उपरान्त पतिगृह मे प्रवेश पाने पर पहला त्योहार आते ही कुलवधू से माडणे माडने के लिए कहा जाता है। नणद, जिठानी, पडोसिनें आदि माडणा माडने मे उसकी सहायता कर सकती है, परन्तु माडणे की रेखाकृति तैयार करने का काम वधू ही करती है। यह एक प्रकार से उसकी सुघडता की परीक्षा ही होता है। बचपन से ही माता, बुआ, भौजाई आदि से उसे इसकी शिक्षा मिलती है। सबसे पहले वह 'भैंतल' देती है।[1] इससे माडणा का स्थान समतल हो जाता है। सूख जाने पर वहा राती गार को गोबर मे मिला कर लीपती है। जितने विस्तार मे माडणा होगा उतनी जगह मे वह पुन गोहली देती है और उस स्थान पर हिरमिच से माँडणे की आधारभूत रीगटिया (रेखाए) 'ढोलती' हैं। उनके सहारे पाडु या खडिया मिट्टी से माडणे की रेखाकृति उठाती है। सीधी रीगटियाँ खींचने

१ भैंतल शब्द सस्कृत भक्ति शब्द से विकसित हुआ है। राजस्थानी के भात, भेंत, भेंतल आदि शब्दों का प्रयोग भक्ति के अर्थ मे होता है।

के लिए पुट्टे आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। गोलाकार आकृतियों का उठान भी बिना किसी उपकरण के, अन्दाज से ही उठाया जाता है। रेखाकृति का उठान तैयार हो जाने पर बीच के गोलाकार, तिकोने या चौकोर भाग में आड़ी-तिरछी रेखाओं से भराव किया जाता है। भराव करने को भरण कहा जाता है। कहीं चावटे का, कहीं ... कहीं चोटी या नारियल का भरण किया जाता है। भरण पूरा हो जाने पर आसपास चार गीगटिया चौगान की खींच कर उनको तिरछी गीगटियों से भरा जाता है। आसपास पाट्या, अवे आदि बनाए जाते हैं। मांडणे के आकार में सूरज, चांद, बावड़ी, गाय के खुर, स्वस्तिक आदि मांडे जाते हैं। प्रत्येक मांडणा विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक रूप का द्योतन करता है। इसीलिए प्रत्येक त्योहार के मांडणे अलग प्रकार के होते हैं। वधू के लीपने, गारनी देने, टापन, आकृति उठाने, भरण करने, चौगन भरने, अन्य सहकृतियां के बनाने आदि को घर की बड़ी बूढ़िया और पड़ोसिनें बड़े ध्यान से देखती हैं और अपने अनुभव के आधार पर वह के उसे हुए हाथ को साक्षी बना कर उस नवीन गृहस्थी की सफलता की घोषणा कर देती है और नयी वधू की प्रशंसा करते नहीं थकती, परन्तु यदि वधू में कलात्मक रुचि की कमी हो, उसका हाथ शिल्प के क्षेत्र में सधा हुआ न हो अथवा अल्हड़पन के कारण वह इस पहले ही शकुन को बिगाड़ दे तो सब सयानी स्त्रियां शंका करने लगती हैं कि वह कभी गृहस्थी का सुसंचालन भी न कर सकेगी।

मांडणे सारे भारत में ही मांडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान की गृहिणी ने इस क्षेत्र में अपने शिल्प-कौशल और वैविध्य-युक्त कलात्मक अभिरुचि का परिचय देकर इस प्रदेश को बहुत आगे बढ़ा दिया है। मांडणे का कोई प्रतिरूप, एक अवसर या एक स्थान हो तो कहा जाय। एक सूचना के अनुसार केवल बूंदी—झालावाड़ क्षेत्र में ही ३०० से अधिक मांडणों के प्रतिरूप हो चुके हैं। खेद है कि सारे राजस्थान के मांडणों के प्रतिरूप अभी एकत्र नहीं किए जा सके और नारी-शिल्प की इस अमूल्य निधि को स्थायी रूप में सुरक्षित रखने की दिशा में अब तक कोई ठोस कार्य नहीं हुआ।

घर का सत्कार करने के लिए गृहिणी प्रतिवर्ष होली—दीपावली पर घर की भीतों को लीपती है। बाद में पाण्डु या खड़िया से दीवारों को पोता जाता है। पक्के मकान को चूने से पोता जाता है। भीत का निचला हिस्सा लाल-मिट्टी से पोत दिया जाता है। फिर सीधी लकीरें खींच कर पोते दिये जाते हैं। कोनों में विविध प्रकार की भातें निकाली जाती हैं। कई गांवों में पोते आधी दीवार से भी ऊंचे होते हैं। नीचे विविध पशु-पक्षियों के चित्र, पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुषों के रेखाचित्र या उनके किसी लोकविश्रुत कार्य के सांकेतिक-चित्र अंकित किये जाते हैं। सक्रान्ति, नव-वर्षारम्भ आदि के अवसर पर द्वार के कूले पर मयूर-कलश आदि, गायों पर चिड़िया, हाथी या श्रवण कुमार आदि तथा अन्य उत्सवों पर किसी न किसी प्रकार के सांकेतिक चित्र बनाये जाते हैं। अक्षय-तृतीया को कूले पर दोनों ओर पीले रंग से ज्वार या बाजरे का पौधा फल-सहित अंकित किया जाता है। नव-वर्ष के लिए उन्नति फसल होने की शुभेच्छा का संकेत है। कभी केवल साथिया या हाथ की थाप ही मेहंदी से या हल्दी से अंकित की जाती है। दीपावली पर मेडे (द्वार का ऊपरी भाग) पर वन्द गणेश का ऋद्धि-सिद्धि सहित चित्र अंकित किया जाता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर दीवार पर गोबर की लगा कर बेमाता[1] का चित्र बनाया जाता है। चौथ के व्रत का उद्यापन करते समय त्रिशूल और सात टपकिया लगा कर पूजा की जाती है। त्रिशूल प्रकृति के सत्व-रज-तम गुणों के प्रेरक शिव का और सात टपकिया सप्त-षष्ठी या सप्तमातृका के रूप में सुजान सृजनशक्ति के प्रतीक हैं। दुर्गाष्टमी को हाथ की थाप दीवार पर लगाकर उसको सिन्दूर-चर्चित करके पूजा जाता है। हाथ क्रिया-शक्ति का प्रतीक है। ये सब भित्ति पर अंकित होने वाले मांडणे हैं। विवाहादि के अवसर पर चितेरे से दीवारों पर चित्र बनाने की प्रथा भी प्रचलित है। इन चित्रों में राजस्थानी जन-जीवन की झांकी देखने को मिलती है।

---

१ बेमाता या वृद्धिका-माता को षष्ठायां या बिहाई (अन्य प्रान्तों में प्रचलित नाम) भी कहा जाता है। महाभारत वनपर्व (२३०।२६) तथा कादम्बरी में वृद्धा और वद्धिका नाम प्रयुक्त हुए हैं। सूतिकागृह में इसकी पूजा की जाती है। यह ब्रह्म की शक्ति-सृजकप्रकृति ज्ञात होती है। बिहाई के गीत भारत भर में प्रचलित हैं।



७ टोलना—[illegible] या हिरमिच [illegible] । [illegible] साफ करने के लिए भी टोलना [illegible] प्रयुक्त [illegible] है । [illegible] अकित करना टोलना कहा जा सकता है ।

८ पूरना—आटा आदि [illegible] । [illegible] जाने का [illegible] किया है ।

९ पोते देना—[illegible] ।

१० [illegible] ।

११ [illegible] ।

१२ [illegible] स्थान को समतल बनाने [illegible] ।

के लिए पुटे आदि का प्रयोग नही किया जाता। गोलाकार आकृतियो का उठान भी बिना किसी उपकरण के, आधार के ही उठाया जाता है। रेखाकृति का उठान तैयार हो जाने पर बीच के गोलाकार, तिकाने या चौकोर टाको मे आडी-तिरछी रीगटियो से भराव किया जाता है। भराव करने को भरण कहा जाता है। कही कापडे का, कही फूल का और कही चोटी या नारियल का भरण किया जाता है। भरण पूरा हो जाने पर आसपास चार रीगटिया चीरण की खीच कर उनको तिरछी रीगटियो से भरा जाता है। आसपास लाडू, झवरे आदि बनाए जाते है। माडणे के आसपास सूरज, चाद, बावडी, गाय के खुर, स्वस्तिक आदि माडे जाते है। प्रत्येक माडणा विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ का ध्वनित करता है। इसीलिए प्रत्येक त्यौहार के माडणे अलग प्रकार के होते है। वधू के लीपने, गोबली देने, ढोलने, रेखाकृति उठाने, भरण करने, चीरण भरने, अन्य सहकृतियो के बनाने आदि का घर की बडी बूढिया और पडोसिने बडे ध्यान से देखती है और अपने अनुभव के आधार पर वह के जमे हुए हाथ का साक्षी बना कर इस नवीन गृहस्थी की सफलता की घोषणा कर देती है और नयी वधू की प्रशसा करते नही थकती, परन्तु यदि वधू मे कलात्मक रुचि की कमी हो, उसका हाथ शिल्प के क्षेत्र मे जमा हुआ न हो अथवा अल्हडपन के कारण वह इस पहले ही शकुन को बिगाडे दे तो सब सयानी स्त्रिया शका करने लगती है कि वह कभी गृहस्थी का सुख-सगीत मे भर सकेगी।

माडणे सारे भारत मे ही माडे जाते है, परन्तु राजस्थान की गृहिणी ने इस क्षेत्र मे अपने शिल्प-कौशल और वैविध्य-युक्त कलात्मक अभिरुचि का परिचय देकर इस प्रदेश को बहुत आगे बढा दिया है। माडणे का कोई प्रतिरूप, एक अवसर या एक स्थान हो तो कहा जाय। एक सूचना के अनुसार केवल बूदी—झालावाड क्षेत्र मे ही ३०० से अधिक माडणो के प्रतिरूप हो चुके है। खेद है कि सारे राजस्थान के माडणो के प्रतिरूप अभी एकत्र नही किए जा सके और नारी-शिल्प की इस अमूल्य विद्या को स्थायी रूप मे सुरक्षित रखने की दिशा मे अब तक कोई ठोस कार्य नही हुआ।



चितेरा तो अपना काम करके चला जाता है। दीवारो पर पोते देना आगन मे चौक माडना द्वार पर चौक पूरना, घर फर्श को माडणे से सजाना आदि काम तो स्त्रियो को ही करना पडता है। गृहिणी को यह पता रहता है कि होली दीपावली के माडणे तो लाल-मिट्टी और गोबर मे लिपे आगन मे माडे जायेंगे और तीज आदि के माडणे बरसाती हरे गोबर से लिपी हुई आधारभूमि पर ज्यादा खुलेंगे। द्वार पर चौक पूरने के लिए गृहिणी हल्दी और आटा देती है। सुलभ होने पर रग-बिरगी गुलाल का प्रयोग भी किया जाता है। साधारण समय पर लिपे आगन मे केवल पाडू या खडिया मिट्टी से माडे जाते हैं होली, दीपावली, सक्रान्ति आदि पर्वो या विवाहादि के अवसर पर रेखाकृति गेरु या हिरमिच से तैयार की जाती है और भरण आदि मे पाडू या खडिया का प्रयोग होता है। आँगन बडा हुआ तो उसके वर्ग या आयताकार को दृष्टि मे रखते हुए बडे माडणे माडे जाते है। आगन लम्बा अधिक हुआ तो दो या तीन माडणे भी चित्रित किये जा सकते है। ऐसा ही बडा माडणा विवाह के अवसर पर माया के घर मे[3] उसके सारे फर्श पर अकित किया जाता है। इसे राजस्थानी भाषा मे पसरण (सभवत प्रसरण-फैलाव का लोक-भाषा मे विकसित रूप) कहा जाता है। विविध भित्तियो से दीवारे और पसरण से फर्श के सुसज्जित होने के कारण ही कदाचित वर-वधू के प्रथम मिलन के स्थान इस घर को 'चतरसार' भी कहा जाता है। इस घर मे प्रवेश को लेकर ही लोक 'घर मे लेना' प्रचलित हुआ है।

केलदि श्रीबसवराजेन्द्र-विरचित 'शिवतत्त्वरत्नाकर' मे ६४ कलाओ मे चित्रालेखन का भी उल्लेख है। 'समरागणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ मे इस कला का विशद रूप मे विवरण दिया गया है। वहा चित्रकला के ६ अग वर्णित हैं-१ रूपभेद अर्थात् रगो की मिलावट आदि का ज्ञान, २ प्रमाण अर्थात दूरी, गहराई, अनुपात आदि का ज्ञान, ३ भाव और लावण्य योजना, ४ सादृश्य, ५ वर्णिका अर्थात् रगो का सामजस्य और ६ भग अर्थात् रचना-कौशल। भारतीय स्त्रिया इस कला मे बडी निपुण होती थी। आज भी वे इस परम्परा को निभाती चली आती हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवो पर दीवारो और फर्श पर चित्रित किये जाने वाले माँडणे इसकी साक्षी देते हैं। सीमित साधनो और रगो से स्त्रिया घर-आगन को चमका देती है।

राजस्थान के विशिष्ट माँडणो मे कुछ के नाम है—चौक, ओल टपकियो के रेखाचित्र और स्थानीय उत्सवो सम्बन्धी माडणे। चौक कई तरह के माडे जाते है—यथा, मुकुट का चौक, सिंहासन का चौक, जलहरी का चौक, जलेबी का चौक, स्वस्तिक-चौक आदि। राजमहलो आदि मे युद्ध, आखेट, नौका-विहार आदि के चित्रो के चौक भी बनाये जाते रहे हैं, परन्तु अधिकतर ये चित्र भित्तियो पर ही अकित किये जाते थे। दीपावली को गायो और बैलो की पूजा करते समय उनकी पक्ति के सामने एक लम्बा माडणा माडा जाता है जिसे ओल कहा जाता है। यह लगभग दो हाथ चौडी होती है और इसकी लम्बाई उतनी होती है जितनी दूर तक गायें या बैल पूजने के लिए खडे किये जाते है। इसके पास सामने की ओर हल-जूडा भी माडा जाता है और पीछे की ओर गायो के खुर के निशान माडे जाते हैं। ऐसी ही ओल विवाह या गगोज्ञ (गगोत्सव) की रसोई के समय या घर मे मेहमान आने पर वहा माडी जाती है जहा उनको भोजन के लिए बिठाना होता है।

टपकियो के माडणे महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशो मे भी माडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान के ऐसे माडणे अपनी विशिष्टता रखते है। उनमे जालियो के नमूने अकित किये जाते है। तीज, गणगौर आदि राजस्थान के विशिष्ट उत्सव है। इनसे सम्बन्धित माडणे राजस्थान की अपनी विशेषता रखते है।

ये माडणे गृहसज्जा के साधन तो होते ही हैं, इनका भावात्मक महत्व भी कम नही है। इसीलिए प्रत्येक उत्सव मे सम्बन्धित माडणे अलग-अलग तरह के होते है। भारत की अध्यात्म-प्रधान सस्कृति की झलक इन माडणो मे

३ माया के घर मे विनायक बिठाने से लेकर अन्य सारे पूजाकार्य सम्पन्न होते हैं और इसी में सुहागरात की व्यवस्था की जाती है।

भी मिल जाती है। रक्षाबन्धन पर माडे जाने वाले माडणों में श्रवणकुमार पौराणिक कथानक की ओर संकेत करता हुआ पुत्रधर्म का विज्ञापन करता है तो हाथी इन्द्र का प्रतीक है और शची द्वारा इन्द्र के राखी बांधने की पौराणिक गाथा की महत्ता की उद्घोषणा करता है। चिड़िया वैदिक सुपर्णविद्या को संकेतित करती है। होली पर ढाल-तलवार और गेहूं की बाली माडी जाती है। उस समय यह प्रथा भी प्रचलित है कि बच्चे गोबर के ढाल तलवार बनाते हैं और इन्हे होलिका-दहन मे ईंधन बनाते हैं। स्त्रियां खाडे-डबूले मे जलती हुई आग को शान्त करती हैं परन्तु इसके पहले उसमे गेहूं की बालियों को सेंक कर 'दहगी' बना ली जाती है। यह इस बात का संकेत है कि आक्रमण और रक्षा के साधन पारम्परिक अविश्वास के द्योतक हैं। सामाजिक-सामञ्जस्य इनकी होली जला कर उनकी आग का शुभ-कार्यों मे उपयोग मे लेने से स्थापित होता है। बुराइयों को पुण्यकार्यों की अग्नि में ईंधन बना कर ज्योति-लाभ का साधन बना लेना चाहिए।

दीपावली पर मांडे जाने वाले हल-जूडे के चित्र कृषि-प्रधान भारत की सामर्थ्य के सूचक हैं। 'हीड' आध्यात्मिक-ज्योति का लाभ करने की प्रेरणा देती है। 'सिंहासन का चौक' शरद-इन्दिरा के स्वागत के लिए मांडा जाता है। 'दीपदानी' आध्यात्मिक-ज्योति प्राप्त करने के लिए साधना करते रहने के सकल्प का प्रकट करती है। प्राचीन-काल मे गुरुकुलों मे जाते समय शिष्य इसी भाव को प्रकट करने के लिए समित्पाणि हुआ करता था। संक्रान्ति पर कूंडा माडा जाता है जो भौतिक समृद्धि का संकेतक है। एक लोकगीत मे प्रार्थना की गई है—

कूंडो भर कर दूध गावडी दीजे म्हारा नाथ।

इस प्रार्थना मे जिस भाव को साध्य रूप मे प्रस्तुत किया गया है उसे ही माडणे द्वारा सिद्ध रूप मे प्रकट किया जाता है। राष्ट्र की शस्यसम्पदा के प्रतीक के रूप मे वट आदि वृक्ष, लताएँ, फूल, फल आदि को माडणों में उत्कीर्ण किया जाता है। कई स्थानों पर मांडणे के भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कलाकारों ने उनको प्रस्तराकित कर दिया है। ऐसे माडणों मे समदर-लहर और चौक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के अनेक भागों मे पाये जाने वाले गुहा-चित्र भी लोककला को सुरक्षित रखने के सफल प्रयत्न माने जा सकते हैं। कुए, बावडियों की जगत पर अनेक स्थानों पर चौपड, नाडहमार आदि उत्कीर्ण रहते हैं। इनका उपयोग लोग खाली समय मे मनोरंजन के लिए करते हैं। कई स्थानों पर खडहरों मे भण्डचौक अंकित किये गये मिलते हैं जिनमे अश्लील काम-क्रीडाओं के चित्र उत्कीर्ण रहते हैं। कुछ जातियों मे सर्मावियाने के मेहमान आने पर मजाक के लिए ऐसे चित्र बनाने की प्रथा है। ऐसा होना बहुत कम है। अधिकतर वर्गों मे तो शृगारिक भावों को यौन-प्रतीकों के माडणे माड कर व्यंजित किया जाता है।

स्पष्ट है कि माडणे लोक-जीवन से अभिन्न सम्बन्ध रखते हैं। ये विविध भावों को व्यक्त करने वाले प्रतीकात्मक-संकेत माने जा सकते हैं जिनका उपयोग कुशल गृहिणियां अपने घर-आंगन को सजाने के लिए भी कर लेती हैं। लेखनकला को 'लिपि' नाम से अभिहित किया जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि प्रारम्भ मे कभी फर्श को लीप कर उन पर चित्रांकन करके भाव प्रकट किये जाते रहे होंगे। इस प्रकार माडणे लिपि के पूर्वज हैं और अब भी भावांकन के सशक्त साधन के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। उनके प्रतीकात्मक स्वरूप का अध्ययन करने पर हमारी संस्कृति के अनेक अछूते पहलू हमारे सामने आ सकते हैं।

मडन-कला सम्बन्धी लोकभाषा के कुछ पारिभाषिक शब्द—

१ उठान—रेखाओं के सहारे माडणे की रूपरेखा खडी करना।
२ ओल—आयताकार माडणा, पंक्ति अर्थ में भी प्रयुक्त।
३ खुलना—सुशोभित होना।
४ चीरण—तिरछी रेखाएं भर कर माडणे की सीमाएं बनाना।
५ गोहली जहां माडणा माडना है उस स्थान को गोलाकार में लीपना।
६ डावा—त्रिकोणात्मक, वर्गात्मक या गोलाकार खाली स्थान।





७ ढोलना—गेरु या हिरमिच की आधार रेखाए खींचना। सभवत इसका अर्थ परिष्कार करना है। मूग साफ करने के लिए मूग ढोलना शब्द प्रयुक्त होते हैं। गोहली की सफाई करके उस स्थान पर रेखाचित्र अकित करना ढोलना कहा जा सकता है।

८ पूरना—आटा आदि भुरक कर माडणा तैयार करना। सूर ने कृष्ण-जन्म के समय मोतियो के चौक पूरे जाने का वर्णन किया है।

९ पोते देना—लिपाई और पुताई के बीच मे खडिया से सीधी सीमारेखा का अकन।

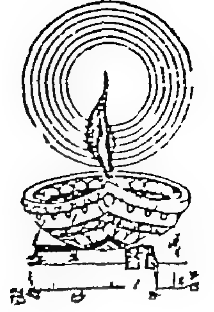
१०. रींगटिया-रेखाए।

११ भरण-भराव करना।

१२ भैतल-भक्तिल, भक्ति वाला, पूरी माडणा माडने की क्रिया का द्योतक, अर्थसकोच से केवल माडणे के स्थान को समतल बनाने के लिए गारा लगाना व लीपना।

राजस्थान के मांडणे

कु० विद्या बंसल
किशनगढ़ (राज०)



कला का विकास नारी द्वारा हुआ है। वह अपने शरीर की सज्जा के लिए विविध वस्त्राभूषण पहनती है, मेंहदी, लाक्षारस आदि का उपयोग करती है और विविध प्रकार की गन्धों का उपयोग करती है। इसी तरह अपने घर आगन की सजावट के लिए भूमि-अलकरणो का प्रयोग करती है। माडणा भूमि-अलकरणो मे गिना जाता है। यह शब्द सस्कृत की मड भूषायाम् धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार इसका अर्थ है—सुसज्जित करना या शोभा बढाना। माडणा मडन का राजस्थानी रूप है। माडणा उन कलापूर्ण रेखाचित्रो की सज्ञा है जिन्हे स्त्रिया घर-आगन को सुसज्जित करने के लिए भूमि पर या घर की दीवारो पर बनाती है। भूमि-अलकरण के लिए माडणो का उपयोग भारत भर मे होता है। गुजरात मे इन्हे 'साथिया' महाराष्ट्र मे रगोली या रागोली (रगावली) बिहार मे 'अाइपन' नेपाल व उसके समीपवर्ती उत्तरप्रदेश के जिलो मे 'आपना' या 'अलपना', बगाल मे 'अल्पना' तथा मध्यप्रदेश मे 'चौक पूरना' या 'सान रखना' कहते है। अल्पना शब्द सस्कृत 'जल्' धातु मे व्युत्पन्न हुआ है और इसका अर्थ माडणा के समान ही 'सुसज्जित करना' है। राजस्थान मे कभी-कभी माडणो का हल्दी आदि मे त्वरित रूप तैयार किया जाता है और इसे 'कलपना' कहते हैं जो सस्कृत की 'कल्प' धातु का विकसित रूप ज्ञात होता है। 'कृप' या 'कल्प' धातु का प्रयोग मिलना या विचारना अर्थ मे होता है। राजस्थानी का कलपना शब्द माडणे मे रगो का सामजस्य बिठाना और विचारपूर्वक भावाकृतिया तैयार करने की ओर सकेत करता है। माडणे गृहसज्जा के लिए अपनाई गई निरर्थक रेखाकृतिया मात्र नही हैं, वरन् ये विशिष्ट भावो के प्रतिपादक भी हुआ करते है। ये भारत की आध्यात्मिक सस्कृति को प्रकट करने वाले प्रतीक तो होते ही हैं साथ ही अनेक लौकिक भावो की सृष्टि करने वाले कलात्मक-साधन भी होते हैं।

अब तक की खोज के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि राजस्थान माडणो की एक समृद्ध और वैविध्य-युक्त परम्परा का पोषक रहा है। यद्यपि अब तक माडणो के नमूने एकत्र नही किये जा सके है, परन्तु यह निश्चित है कि राजस्थान इस क्षेत्र मे बहुत आगे है और यहा माडणो की सख्या अन्य प्रान्तो से बहुत अधिक है। एक वृद्धा स्त्री से पूछने पर पता चला कि अकेली उसको कम से कम १५० माडणो की रेखाकृतिया ज्ञात है। यहा के माडणो पर इस प्रदेश की प्राकृतिक-सम्पदा, लोकरीतियो और वीरत्व की परम्परा का व्यापक प्रभाव पडा है।

राजस्थानी माडणो के प्रकार

राजस्थानी माडणो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ पर्वोत्सव-सम्बन्धी मांडणे-सक्रान्ति, अक्षयतृतीया आदि पर्वों पर तथा दीपावली, होली आदि उत्सवो पर मांडे जाने वाले माडने इस वर्ग मे आते है। इन माडनो के द्वारा पर्व या उत्सव से सम्बन्धित विशिष्ट सांस्कृतिक भावो को सकेतित किया जाता है।

२ सस्कारोत्सव सम्बन्धी माडणे—जन्मोत्सव, मुडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि सस्कारो के समय भारतीय परिवारो मे उत्सव मनाये जाते हैं। इन अवसरो पर उन उत्सवो मे सम्बन्धित भावो की सूचना देने वाले प्रतीकात्मक माडणे माडने की प्रथा चली आती है। ऐसे माडणे इस वर्ग मे परिगणित किये जा सकते हैं।



३ गृहसज्जा सम्बन्धी माडणे-- वैसे तो सभी माडणो का उपयोग गृहसज्जा मे होता है, परन्तु कुछ माडणे किसी प्रकार की प्रतीकात्मकता के बिना केवल गृहसज्जा के लिए उपयोगी होते है। फूल, पत्ती, बेलें, विविध प्रकार की जालियो आदि के रेखाचित्र इस वर्ग मे आते है। अतिथि आने पर उसके स्वागत को ऐसे सौन्दर्य उपादानो से सजाया जाता है।

४ पूजा सम्बन्धी माडणे —पूजा के लिए गणेश, शिव, गौरी, गोवत्स, वैमाता आदि के रेखाचित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती है। ऐसे देवविग्रहो के रेखाचित्र या उनके प्रतीको के सकेतचित्र इस वर्ग मे आते है।

मडनकार

विशेष अवसरो पर मांडे जाने वाले इन माडनो को माडने वाले हाथ एक नही होते। सामान्यत द्वार पर द्वाराचार के लिए चौक घर की नाइन पूरती है। मृत्यु आदि के अवसर पर सारा घर शोक-सतप्त होता है, उस समय पर तीसरे, नवें या ग्यारहवें दिन लीपना और माडणे माडने का काम नाइन ही करती है। विवाह मे कन्यादान के उपरान्त वर के पिता की गोद मे कन्या को बिठाने की प्रथा प्रचलित है। उस समय वर के पिता को चौकी पर बिठा कर पूजा जाता है—वस्त्रादि देकर उसका सम्मान किया जाता है। चौकी के नीचे हल्दी-चून का चौक माडा जाता है। इसे कुल का राव या उसकी पत्नी माडती है। राखी के माडणे बहिन माडती है। भैयादूज पर भी बहिन ही इस कार्य को करती है। बालक को पहली बार पालने मे सुला कर बडा करते समय, अन्नप्राशन के समय, उसके पहली बार कही बरात मे जाकर लौटने पर या उपनयन आदि सस्कारो के समय माडणे माता माडती है। अन्य अवसरो पर कुल की शुभकामना से सम्बन्ध रखने वाले माडणे बहिन-बेटिया माडती हैं, जैसे घर मे 'उकीरा' (विवाहपत्रिका) आते समय या भाई के पुत्रजन्म होने पर विविध उत्सवो सम्बन्धी माडणें कुलवधू द्वारा चित्रित किये जाते हैं। पारिवारिक-जीवन के उल्लास को व्यक्त करने वाले विवाहादि के चौक, माया के घर की पमरण आदि काकी-भाभियो द्वारा माडे जाते है। होली, गणगोर आदि के माडणे भी काकी-भाभिया ही माडती है। साझी के भित्तिचित्र कुवारी कन्याओ या ब्याह के पहले साल युवतियो द्वारा अपने पितृगृह मे अकित किये जाते है। अक्षय-तृतीया पर पोल के कूले पर पलाश के रग मे ज्वार के पौधे का चित्र ग्वाले की पत्नी या परिवार से सम्बन्ध रखने वाले चर्मकार की पत्नी माडती है। दीपावली पर ओल गृहस्वामिनी गोबर पाथने वाली सेविका की सहायता से माडती है। गोवर्द्धन पूजा के समय माडणे पासपडौस की सुहागिनो के साथ मिलकर गृहस्वामिनी माडती है। पुत्रजन्म के समय वैमाता का चित्र बालक की बुआ अकित करती है। इस प्रकार लोकजीवन म पाई जाने वाली विविधता के दर्शन यहा भी होते हैं। विविध अवसरो पर माडने वाले हाथ एक नही होते।

माडणे के साधन

भीतो पर माडे जाने वाले माडणे हिरमिच या पलाश आदि के रगो से माडे जाते है। कभी ऊँचे पोते लगा कर नीचे बची हुई जगह मे खडिया या पाडू से भित्तिचित्र अकित किये जाते हैं। नीचे जमीन पर अकित किये गये माडणें भी खडिया या पाडू से ही माडे जाते है। इनकी प्रारम्भिक रेखाकृति गेरु या हिरमिच से अकित की जाती है। इसी के आधार पर माडणे का उठान उठाया जाता है। रेखाकन के लिए खजूर या कास की बारीक कूची बनाई जाती है। भरण के लिए सिर के बालो की कूंची बनाई जाती है। यह केवल पाडूं आदि को घोल भरने और निश्चित दबाव के साथ छोडते रहने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होती है। शेप काम तो माडणा माडने वाली की अगुली ही करती है। पूरे जाने वाले माडणो के लिए हल्दी, आटा, गुलाल आदि का प्रयोग होता है। राजस्थानी नारी का हाथ इतना सधा हुआ होता है कि वह सीधी रेखा खीचने के लिए फुटे का, वृत्ताकार-आकृति बनाने के लिए प्रकार का अथवा अन्य प्रकार के उपकरणो का उपयोग नही करती। अन्य प्रान्तो मे ऐसे उपकरणो का प्रयोग होता है। साझी के भित्तिचित्रो मे पत्ते, फूलो की पखुडिया, पन्नी आदि भी प्रयोग मे आते है। स्थानीय स्वल्पतम साधना से सुन्दर कलाकृति तैयार कर देना कुशल नारी के कलात्मक रुझान से ही सभव है। राजस्थान की गृहिणी इस रुझान म बहुत आगे है।

अन्य प्रान्तों में माडणे के साधनोपकरणों की लम्बी सूची होती है। गुजरात में मंडनकार के पास चित्रकला के लिए अपेक्षित सारी सामग्री, यथा-कागज, ब्रश, पक्का रंग, विविध रंगों की कटोरियां, रंग, फुटा आदि होता है। अन्य प्रान्तों में भी विविध रंग आदि जुटाने पड़ते हैं। इसके विपरीत राजस्थानी नारी गेरु या लाल मिट्टी, खड़िया या पाडू आदि से ही भव्य माडणा तैयार कर देती है। वह सभी प्राप्त साधनों का यहां तक कि अपने बालों तक का उपयोग कर लेती है।

माडणों की रंग-सज्जा

भारत के दूसरे प्रान्तों में माडणों में विविध रंगों का उपयोग किया जाता है, परन्तु राजस्थान में सामान्यतया दो ही रंगों का प्रयोग होता है, वे हैं लाल और श्वेत। लाल रंग शौर्य का प्रतीक है जबकि श्वेत रंग हृदय की पवित्रता का सूचक है। इन रंगों के माध्यम से राजस्थान की भूमि के संस्कार यहाँ के निवासियों के चरित्र में जागते हैं। इस प्रक्रिया के लिए राजस्थान में एक मुहावरा प्रयुक्त होता है। यह मुहावरा है—"भूमक्या जागना"। जब लोगों में अपने अपने क्षेत्र की भूमि के संस्कार जागते हैं तभी उनके द्वारा सच्चे राष्ट्र का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार राष्ट्र उनके निवासियों की उस विशिष्ट मनोभूमि का नाम है जो कला, शिल्प, साहित्य आदि में विविध रूपों में व्यंजित होती रहती है।[2] राजस्थानी माडणे यहाँ के निवासियों में राजस्थान की 'भूमक्या जागने' के श्रेष्ठ उदाहरण माने जा सकते हैं। लाल और श्वेत रंगों का आधिक्य भी इसी बात को प्रमाणित करता है।

लाल रंग के लिए 'रानी गार' या गेरु का और श्वेत के लिए खड़िया या पाडू का प्रयोग होता है। गहरी लालिमा लाने के लिए हिरमिच का प्रयोग भी किया जाता है। ये माडणे रानी गार मिले हुए गोबर के लीपणे पर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। श्रावण-भादव मास में माडणा बरसाती हरे गोबर के लीपणे पर माडा जाता है। कुछ विशिष्ट माडणों में पलाश के केसरिया और रंगीन गुलाल के विविध रंगों का प्रयोग भी होता है। भित्ति पर अंकित की जाने वाली मांडी में फूलों की पंखड़ियों आदि के द्वारा रंगसज्जा की जाती है। गुलबास के फूलों के गुलाबी, तुरई और कुम्हड़े के फूलों के पीले, कुछ अन्य जंगली स्थानीय फूलों के नीले, लाल और उदई तथा पत्तों के हरे और पन्नी के चमकीले रंगों से मांडी की रूपाकृति अत्यन्त सुन्दर बन जाती है। अन्य प्रान्तों में माडणों में सूखे रंगों का उपयोग भी होता है, परन्तु राजस्थान में हल्दी और चून आदि से केवल द्वार पर चौक पूरे जाते हैं। स्थानीय साधनों की सहायता से दो-तीन रंगों द्वारा ही माडणों की सुन्दर रूपाकृतियाँ तैयार कर देना राजस्थानी गृहिणी की हस्तकुशलता का जीता-जागता प्रमाण है।

विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक माडणे

ऊपर कहा जा चुका है कि गृहसज्जा के लिए बनाये जाने वाले कुछ माडणे किसी न किसी मानवीय-भावनाओं के प्रतीक होते हैं और इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक भावनाओं को साकार करने वाले महत्वपूर्ण साधन माने जा सकते हैं। प्राचीन मन्दिरों, विहारों आदि के भित्ति-आलेखनों के प्रेरणास्रोत लोक की कलात्मक अभिरुचि को व्याप्त करने वाले ये माडणे माने जा सकते हैं।

कलात्मक सज्जा में प्रायः प्रकृति के क्षेत्रीय उपादानों की ही सहायता ली जाती है। काश्मीर की कोई भी कलाकृति चिनार के पत्ते के बिना अधूरी मानी जाती है इसी तरह राजस्थान के आलेखनों में स्थानीय फूलपत्तों, बेलों, पशु-पक्षियों आदि को स्थान मिल जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार रूपसज्जा की सामान्य सरल और संश्लिष्ट आकृतियाँ भी मानव पर स्थानीय प्रकृति के प्रभाव की सूचक होती हैं। अन्य जिन माडणों का अंकन ही किसी न किसी भाव की सृष्टि करने के लिए होता है उनका सांस्कृतिक महत्व तो अतुलनीय होगा ही।



१ डा० बद्रीप्रसाद पंचोली-राष्ट्ररक्षा विचार और व्यवहार, विश्वज्योति, मार्च १९६७

२ डा० बद्रीप्रसाद पचोली-वैदिक स्वराज्य-भावना, विश्वज्योति, दिसम्बर १९६६



प्राय सस्कारोत्सव सम्बन्धी माडणे उन भावो के प्रकाशक होते हैं जो उन सस्कारो के उपलक्ष मे की जाने वाली क्रियाओ के मूल मे विद्यमान होते है। पुत्रजन्म के समय वैमाता या वृद्धिका देवी का चित्राकन करके उसकी पूजा की जाती है। ऐसा सन्तान के लिए दीर्घायुष्य की कामना से किया जाता है। अन्य देवताओ का अकन और पूजन सन्तान के लिए विविध प्रकार की समृद्धि, आरोग्य आदि की कामना करते हुए किया जाता है। द्वार पर मगल-सूचक चौक पूरा जाता है। आगन मे सिंहासन का चौक माडा जाता है जो सभवत माता की इस भावना का सूचक है कि उसके आगन मे खेलने के लिए किसी दिव्य शक्ति का आविर्भाव हुआ है। उसी के स्वागत के लिए सिंहासन का चौक अकित किया जाता है। यह कहना न होगा कि भारत मे स्त्रीत्व की सार्थकता मातृत्व मे मानी जाती है और प्रत्येक भारतीय माता अपनी गोद मे 'नन्दलाल' और 'रामरघुनाथ' को खिलाने के लिए लालायित रहती है।

यज्ञोपवीत सस्कार के उत्सव के समय आगन मे जनेऊ और स्वस्तिक-चौक माडा जाता है। जनेऊ के माडणे के द्वारा यज्ञोपवीत के नौ तारो से व्यक्त होने वाले आदर्श व्यक्तित्व के नौ गुणो की ओर सकेत किया जाता है। स्वस्तिक चौक बालक की सर्वतोमुखी प्रगति की कामना को सकेतित करता है। स्वस्तिक का विकास प्रणव से माना जाता है।[3] इस माडणे से प्रणव-साधना द्वारा आत्मोन्नति करने की प्रेरणा भी मिलती है।

विवाह सस्कार के समय माया के घर मे माडी जानी वाली पसरण जीवन मे आत्मीयता के विस्तार और पारिवारिक भावना के विकास की सूचक है। इस समय जलेबी चौक माडा जाता है। जो इस बात की सूचना देता है कि गृहस्थधर्म अनाडी के लिए जलेबी की तरह उलझन से भरा हुआ है। उसे लोक मे निनानवे का चक्कर इसीलिए कहा जाता है। इस समय माया के घर मे कुछ माडणे भित्ति पर यौनभावनाओ के प्रतीक के रूप मे भी अकित किये जाते हैं।

अन्य सस्कारो के समय भी इसी प्रकार के भावपूर्ण माडणे माडे जाते है। पूजा सम्बन्धी माडणो मे या तो देवता की मूर्ति भित्ति पर बनायी जाती है या उसके किसी प्रतीक-चिह्न को अकित किया जाता है। यथा-दुर्गाष्टमी को भित्ति पर सिन्दूर से पजे का चिह्न अकित किया जाता है। हाथ का पजा शक्ति का प्रतीक है। उसकी पाच अगुलिया पचतत्वो की प्रतीक ज्ञात होती है। शक्तिरूपा प्रकृति का प्रतीक हाथ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। चौथ के दिन शक्ति का ही एक अन्य प्रतीक त्रिशूल अकित किया जाता है। उसके निकट सिन्दूर की आठ टपकिया लगाई जाती है। ये टपकिया अष्टमूर्ति शिव की और त्रिशूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति या त्रिपुरसुन्दरी का प्रतीक है। गणगौर पर गौरी का विग्रह अकित किया जाता है। वट-सावित्री के व्रत के दिन आगन मे वट वृक्ष माडा जाता है। वट ससारी रूप अश्वत्थ वृक्ष का सूचक है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मत्र की ईश्वर और जीव विषयक भावना को व्यक्त करने वाला एक चित्र मोहनजोदडो की एक मृण्मुद्रा मे उत्कीर्ण है। इससे पता चलता है कि वृक्ष को ससार के प्रतीक के रूप मे अकित करने की परम्परा भारत मे सिन्धुघाटी सभ्यता के काल से भी प्रचलित थी।

व्यास-पूर्णिमा को गृहिणी पुस्तक और पलाशदण्ड माड कर अपने पुत्र को योग्य गुरु से उत्तमशिक्षा दिलवाने की कामना व्यक्त करती है। श्रावणी पूर्णिमा को द्वार पर श्रवणकुमार का रेखाचित्र अकित किया जाता है। यह हमारी सस्कृति की पितृसेवा की भावना की ओर सकेत करता है। एक चिडिया को अकित करके उसके मुँह मे राखी दी जाती है। पक्षी वैदिक सुपर्ण विद्या का प्रतीक है। यह कथा चली आती है कि गायत्री सुपर्ण रूप धारण करके सौर-मडल से अमृत ले आई थी। यह चित्र इसी भाव का सकेतक ज्ञात होता है। राखी अमृत की स्थानापन्न है और इस बात की सूचक है कि बहिन इस स्नेह सूत्र को भाई के लिए अमर-जीवन की कामना करते हुए बांधती है।

कजली तीज का गृहिणी झूला और लहरिया माडती है। ये जीवन की रागात्मिका-वृत्ति के सकेतक हैं। विजयादशमी को घोडे, खाडे आदि के माडणे माडे जाते है। ये माडणे हमारे राष्ट्रीय जीवन मे ओतप्रोत वीरत्व का

३ भारतीय प्रतीक-विद्या डा० जनार्दन मिश्र, पृ० ३९

सूचित करते है। दीपावली पर श्री और समृद्धि की कामना को सूचित करने वाले अनेक भावपूण माडणे माडे जाते हैं। एक जलहरी का चौक माडा जाता है जो पूर्ण-जीवन की कामना को व्यक्त करता है। सक्रान्ति पर कूडा माडा जाता है जो कूडा भर कर धान्य पाने की भावना को व्यक्त करता है। होली पर ढाल, तलवार गेहू की बाली आदि माडे जाते है। यह इस समय होली मे ढाल तलवार जला दिये जाते हैं और होली की ज्वाला मे अनाज की बालिया सकी जाती है। इस बात का सूचक है समाज से आक्रमण के साधनो के साथ भय के सूचक रक्षा-साधन भी नष्ट हो जाने चाहिए। उनका सामाजिक हितकार्यों मे अन्यथा उपयोग कर लेना चाहिए।[1] होली समाज मे पूरी तरह से निर्भयता के सम्पादन करने की दिशा का मार्ग प्रदर्शित करती हैं और ये माडणे भी उसी भावना को व्यक्त करते हैं।

भारत पर्व और उत्सवो का देश है। उन पर सर्वत्र विशेषतया राजस्थान मे विशिष्ट भावनाओ के प्रतीक माडणे भी माडे जाते हैं। यहाँ पर कुछ ही माँडणो के विषय मे प्रतीकात्मक सकेत किये गये है। वस्तुत इस दृष्टि से राजस्थानी माडणो का विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन हमारी सस्कृति के महत्वपूण तथ्यो पर प्रकाश डाल सकेगा यह आशा की जा सकती है। राजस्थानी माडणो का ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण भारत की मडन-कला के सास्कृतिक-अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर देगा।



१ डॉ० बद्रीप्रसाद पचोली-धूलि-वन्दना, कादम्बिनी १९६५

राजस्थान के देवी-देवताओं के गीत : सांस्कृतिक मूल्यांकन



श्री भागचंद जैन, एम० ए०
राजकीय माध्यमिक शाला, किशनगढ (राज०)

लोकगीतो मे देवी-देवताओ के गीतो का विशिष्ट स्थान है। इन गीतो मे घुली हुई हार्दिक श्रद्धा, पावन प्रेम और पारिवारिक सहयोग-भावना त्रिवेणी सगम से कम नही है। इनकी पक्तियो मे कूट-कूट कर भरा हुआ आत्म-विश्वास उज्ज्वल भविष्य की मधुर कामना का मागलिक दर्शन कराता है—इनमे गहरे एव हृदय-स्पर्शी भावो का उद्रेक सरल भाषा के माध्यम से हुआ है।

इन गीतो मे भक्त-हृदयो की भक्ति-पूर्ण श्रद्धा झकृत होती है। वे अपना सर्वस्व मनुहार के साथ सादर समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। राजस्थान मे मनुहार का स्थान व्यावहारिक जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसे शिष्टाचार का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। यही रूप भक्ति क्षेत्र मे भी उभरा है। कही कही तो भोले बालक सी सरल, सहज एव निष्कपट भावनाओ के दर्शन होते हैं। भारतीय सस्कृति का वास्तविक रूप इनकी प्रत्येक पंक्ति से शब्दवेधी बाण चलाता-सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पक्तियो मे विनायकजी (गणेशजी) की स्तुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है। परम्परानुसार इनका स्थान सर्वोपरि है। शुभ कार्यों में सर्वप्रथम इनको स्मरण किया जाता है। विनायकजी प्रत्येक कामना को पूर्ण करने वाले है, ऐसा अटल विश्वास लोकजीवन मे व्याप्त है—

गढ रणत भवर से आवो विनायक करो अनचीती बिडदडी।
बिडद विनायक दोनू जी आया, आय पवास्या सिलैबडतलै।
बूझत बूझत नगर पवास्या पोल बताओ दशरथ राय की।

आपकी कृपा से सरवर का पानी शीतल हो जाता है, बाग हरे भरे हो जाते हैं तथा पेडो से पथिको को अगम छाया प्राप्त होती है—

पे' लो तो बासो सरवर बसियो, सरवर भरियो ठण्डे नीर से।
दूजो तो बासो बाडी जी बसियो, बाडी भरियो विझोवना।
फल फूल वाडी सुफल फलियो, कुञ्जां जी मरवा केवडा।
अगणो लो वासो बड तले बसियो, बड नारेला छाईयो।

विवाह के अवसर पर फेरो के समय वेदी पर बैठे हुए दूल्हा-दुल्हिन के लिए सौभाग्य एव दीर्घायु प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। दुल्हिन के पीहर व ससुराल मे आनन्द-मगल हो ऐसी सामूहिक प्रार्थना अटूट विश्वास के साथ प्रस्तुत गीत मे द्रष्टव्य है—

छठो तो वासो फेराजी वसियो फेरा मे बैठ्या लाडो लाडली।
म्हारी लाडल को चीर वढज्यो, राई वर को बढ़ज्यो वीटली।
वढज्यो वढज्यो ए लाडी गोद थारी, एक पीहर दूजो सासरो।

प्रत्येक घर मे भडार भरपूर रहे, धन-धान्य मे परिपूर्ण रहे तथा जीवन मे लाभ ही लाभ मे मगलमय एव सुखमय दिनो का आगमन होता रहे। प्रस्तुत पक्तियो मे आशावादी उच्च भावनाओ के मगलदर्शन होते है—

> सातवो तो वासो ओवरडा वसियो, ओवरडो गुड घी भरियो ।
> एक चून चावल कि एक मैदा, बरकत करो विनायकजी,
> एक कोथलडी द्रव देईयो, विनायक लाडले के वाप ने ।

वे अपने जीवन मे नम्रता, मधुरवाणी एव आदर्श सयुक्त-परिवार का वरदान मागते है। यही तो भावनाए जीवन मे आगे चलकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार का आधार बनती है—

> बा तो मीठी सी बोले, नमन्र चले जस रवै बा के व्याह मे ।
> एक बाँहडली बल देइयो विनायक लाडल के वीर ने,
> एक भात मे जस देइयो विनायक लाडली के नाना मामा ने ।
> एक आरतै जस देइयो विनायक लाडलै की भुवा भैण ने ।

विवाह मे सर्वप्रथम विनायक को निमन्त्रणपत्र ढोल के ढमके के साथ दिया जाता है तथा श्रद्धा के साथ उन पर आशा ही नही पूर्ण विश्वास भी रखा जाता है। इन गीतो मे लोक जीवन मे व्याप्त भाग्यवाद एव आस्तिकता के पावन दर्शन होते है। उनकी दृष्टि मे भगवान की प्रसन्नता पर ही सम्पूर्ण कार्य की सफलता निर्भर है।

आराध्यदेव को प्रसन्न करने के लिए सत्कार भरा हृदय उडेल दिया जाता है तथा तन्मयता के साथ सुगन्धित वातावरण का आयोजन कर पलक-पाँवडे विछा दिये जाते है। लोकजीवन मे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भी दर्शन होते है—

> 'एक आवै गूगल की वास सुगधी कुण ए सुहागण गणपत पूजियो ?
> गणपत पूजै लाड लडै की माय सुहागण ज्या घर विडद उतावली ।।

दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी-पूजन के समय विनायकजी को पहले स्मरण किया जाता है तथा उनका प्रतीक स्वास्तिक सर्व प्रथम अकित कर उसका पूजन भी किया जाता है। यहा घर-घर इस पावन चिह्न के दर्शन होते हैं। सभी मागलिक अवसरो पर गणपति पूजन अगाध श्रद्धा के साथ किया जाता है।

जीवन मे सुस्वास्थ्य एव शाति शीतलता आदि के लिए 'शीतला माता' का पूजन परम श्रद्धा के साथ किया जाता है। माता के मन्दिर को लीपा व ढोला जाता है। चादी के थाल मे कुकुम रोली, मोली व नैवेद्य आदि सामग्री के साथ मा के सुसज्जित मडप मे जाकर भक्ति-भाव से अर्चन किया जाता है। गलतफहमियो के फलस्वरूप इसे अन्धविश्वास का ही प्रतीक माना जाता है, परन्तु इसकी अतल गहराई मे उतरने पर अनेक मूल्यवान विचार-कण प्राप्त होते है। जो भी (जन्मदायिनी, सभी प्राणियो का भार उठाने वाली धरती मा) के प्रति पावन प्रेम व गहन श्रद्धा को मूर्त रूप देने मे अद्वितीय योगदान देते हैं। सामूहिक रूप से पूजन-समारोह सम्पन्न होता है। ऐसे गीतो, कार्यक्रमो मे हमारी सस्कृति के मूल आधार एकता, प्रेम व सहयोग के बीज अज्ञात रूप मे विद्यमान है। शीतला का पूजन बहू पुत्रप्राप्ति के लिए करती है—

"आज भकरी की माता मडप मे विराजै, वो मडप पूजन जाऊ ए भवानी एक बालडा देई।"

सास—पीली पाटु भरियो छावडो बहू थे, सिद्ध चाल्या जी।

बहू—आज भकरी की माता मडप मे विराजै वो मडप लीपण जीऊ ए भवानी-गोद जडूलो देई।

प्राचीन समय मे प्रजा व राजा के मध्य प्रेम और श्रद्धा का सचार करने मे इन्ही गीतो का स्थान महत्त्व-पूर्ण रहा है। सुख, शान्ति का अजस्र-स्रोत बहाने वाली ये ही गीत की पक्तिया द्रष्टव्य हैं।





"(राजा का नाम लेते हुए) दरवाजा खोल था पर मैयाजी करछे माता शीतला।
राजा द्वारा उत्तर-म्हाने काई फरमावे माता शीतला ।

थाने देसी गढ तिलडी रो राज शीतला।

हमारी सस्कृति बडो के साथ श्रद्धापूण व्यवहार तथा छोटो के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार, एकता व प्रेमपूरित समाज की व्यवस्था करती है। लोकगीतो मे कुछ ऐसे है जो परिवार के अविवाहित सदस्यो के मरणोपरान्त गाये जाते है। वे प्रेम मगलकामना और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो से प्लावित है। पारिवारिक मनोहारी उद्यान मे वे कलियो, फूलो व लताओ के साथ खेलकर मरणोपरान्त भी वरदान-स्वरूप सिद्ध हो रहे हैं। प्रेम की अनूठी सीख इनमे पीयूषधारा के रूप मे प्रवाहित हो रही है—"दादासा रा बाग मे उडयो चमेली रो रुख जी म्हारा छोटा-सा पीतर कलिया मे खेल, मोगरा मे खेल, हरख हरख फल देय।

इसी प्रकार लोकगीतो के अन्तर मे छुपे हुए तत्त्व नारी-ससार मे एकता, प्रेम व आदरभाव को प्रकट करते हैं। कभी कभी पुरुष प्रथम विवाहित स्त्री की मृत्यु के बाद द्वितीय स्त्री से विवाह करता है तो पहली वाली के लिए कितना श्रद्धापूण स्थान हृदय मे रहता है? इन भावो का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

बडी जी तो आया जी ल्होडी के प्यारा पावणा।
चौकी तो ढलावा जी बडी जी थानै बैसना,
दूध पखा लागा पाव, बडी जी तो

नव-वधू बडी जी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के साथ ही साथ उन्हे हमेशा अपने साथ समझती है। उनके अग प्रत्यग की शोभा का स्मरण हो आता है। उनके प्रति आराध्य देव के तुल्य सेवा-भाव प्रकट किया जाता है। गीत की पक्तियो मे सेवा और त्याग का रूप दर्शनीय है—

"जीमत नीरखा जी बडी जी थारा आगली, मुलकत नीरखागा थारा दात जी। मूगफली सी जी बडी जी थारी आगली दात दाडू का बीज।"

बहूरानी ससुराल मे सास और श्वसुर का अपने माँ बाप की भाति ही आदर सत्कार करती है तथा उसके हृदय मे ससुराल के सभी सदस्यो के लिए श्रद्धा और प्रेम की गगा यमुना बहती रहती है। वह सवदा उनकी प्रगति, स्वास्थ्य आनन्द एव समृद्धि के लिए भगवान से प्रार्थना करती है। उसका हृदय विशाल सागर की भाति पेम-तरगो से तरगित रहता है, भेदभाव की तग गलियो को छोडकर व्यापकता धारण करती है। दूसरो के हित व सेवा-काय मे ही अपने जीवन की सफलता मानती है। वह अपने अमर सुहाग के प्रतीक चुडले (पति के लिए) के लिए, अपने पुत्र (दादासा के पौत्र) के दीर्घायु होने के लिए देवी-देवताओ को ढोकती है—उनसे प्रार्थना करती है—

"सुसरा जी म्हारा थे हो धरम का बाप जी म्हारा थे छो धरम का मायेत जी, थारा हस्तीणा सीणगारो म्हे वालाजी ने ढोकस्या।"

कोइरा खातर भवण बोली छै जात ए भवण बोली छै जात ए

सुसरा—ये तो काहेरा खातर बजरग जी ने ढोकस्यो।

बहू—कवरा री खातर मे तो बोली छै जात जी म्हारै चुडलैरी खातर वालाजी ने ढोकस्या।

उपर्युक्त पक्तियो मे परिवार के ऐश्वय, पर्दाप्रथा के अभाव आदि का भी स्पष्ट सकेत मिलता है।

इतना ही नही वह देवर और देवरिया के उज्ज्वल एव मगलकारी भविष्य के लिए भी उत्सुकता व हार्दिक कामना प्रकट कर आदर्श सयुक्त परिवार की स्थापना करती है। प्रस्तुत पक्तियो मे देवर आदि से बालाजी ढोकने के लिए कह रही है—

"देवर म्हारा देवरिया चतुर सुजान जी, थारा करहलिया ललकारो म्हे वालाजी ने ढोकस्या,
कवरारी खातर वालाजी ने ढोकस्या जी, थारै जीवडा री खातर वालाजी ने ढोकस्या ।

पतिव्रता नारी की सुन्दर एव स्तुत्य भावनाए गीतो मे उमडी पडती है। हमारे देश का सास्कृतिक पक्ष इस दृष्टि से अत्यन्त सबल दृष्टिगत होता है। प्यार और त्याग मे डूबा लोकजीवन सर्वदा एक दूसरे के प्रति मागलिक-कामना करता रहता है तथा उज्ज्वल भावी जीवन के लिए हार्दिक-श्रद्धा ईश-चरणो मे अर्पित करता रहता है ।

लोक मे व्याप्त हरिजस के माध्यम से अतिथिसत्कार की पुनीत भावनाओ के दर्शन होते है। लोग विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट रस भरे व्यजन तैयार कर अपने आराध्यदेव को मनुहार के साथ जिमाने के लिए हार्दिक अभिलाषा व्यक्त करते है। उनके लिए अतिथि देव ही आराध्यदेव के तुल्य है। प्रेमपूरित भावना है—

"म्हारी कुटिया मे आवो दीनानाथ जिमावु थाने मिजवानी ।
चावल दाल गुवा का फलका, खूब बनायो साग ।
पुडी, पकौडी और कचौडी मठडी बनाई मजेदार ।

गरीब व्यक्ति विभिन्न पक्वानो के अभाव मे साधारण भोज देने को उत्सुक है। उसमे घुला हुआ है श्रद्धा और प्रेम का मधुरस । वह अपनी दीन अवस्था के लिए क्षमा-याचना करते हुए अनाथ को अपनाने की अनुनय विनय करता है। भगवान भाव के भूखे है। वे सुदामा के स्नेहपूरित चावलो का चवाने मे नही चूकते, भीलनी के जूठे बेर खाने मे नही हिचकिचाते तथा करमा बाई का खीचडा खाने मे भी आगे-पीछे नही सोचते। लोक-गीतो मे छुआ-छूत एव छोटे बडे की सकीर्ण भावनाओ को प्रश्रय नही मिला है। वरन् प्राणीमात्र को प्यार करने की निर्मल भावनाओ के पावन-दर्शन होते है। ऐसी स्थिति मे ही विश्वबन्धुत्व की पुनीत-भावनाओ को बल मिलता है। यही हमारी सस्कृति का मूलमन्त्र व मुख्य लक्षण है।

प्रस्तुत है करमाबाई को खीचडलो—

"थे तो आरोगोजी मदनगुपाल करमाबाई को खींचडलो ।
मैं छू अनाथनी नहीं जानु पूजा फन्द ।
नयो नवायो, झेलियो यो धन्धो गोकुलचन्द,
तू ही राखणियो भगत की बाजी श्याम ।

इसमे भक्त के सरल, सादगीपूर्ण एव आडम्बरहीन जीवन के पावन दर्शन होते हैं। उनके जीवन मे परि-व्याप्त विनम्रता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है ।

अस्तु निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजस्थान के देवी-देवताओ सम्बन्धी लोकगीतो मे आशावाद सादगी, सरलता, श्रद्धा, प्रेम, नम्रता, आस्तिकता, एकता एव सहयोग से पूर्ण जीवन के दर्शन होते है। यहा के लोक-जीवन मे हर्षोल्लास की मधुर ध्वनि गुजायमान है।

ये गीत लोकजीवन मे वेदमन्त्रो की तरह ही व्याप्त है। गीतो के बिना जीवन की गाडी आगे नही बढ सकती। प्रत्येक हर्ष और उल्लास के समय लोग अपने कुलदेवता, कुलदेवी, गगाजी, भेरूजी, बालाजी, पितर, नाग-देवता, कुआ-बावडी के थानक पर विराजने वाले विशिष्ट देवता आदि को याद करते हैं, अपने पशुधन की रक्षा के लिए हीरामन, तेजाजी आदि लोक-वीरो की स्तुति करते है और अपनी सास्कृतिक-दाय को सुरक्षित बनाये रखने के लिए राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषो के चरित्रो का गान करते हैं। इन सबके लिए वे गीतो का उपयोग करते है। ऐसा कोई भी उत्सव नही है जो देवी-देवताओ के गीतो के बिना सम्पन्न हो जाता हो और ऐसा कोई भी धार्मिक या सामाजिक आयोजन नही होता जिनमे देवी-देवताओ की स्तुति न की जाती हो। इन गीतो और स्तुतियो मे हमारे सास्कृतिक-वैभव का स्पष्ट चित्र अकित रहता है और लोक की सतरगी भावभूमि का स्पष्ट दर्शन होता है जिसको जाने बिना कोई राष्ट्र अपने स्वरूप को बनाये नही रख सकता ।



राजस्थान के चैत्र-मासीय पूजोत्सव-गीतों में नारी-जीवन



डा० रामप्रसाद शर्मा
गवर्नमेन्ट कालेज, किशनगढ (राज०)

साहित्य समाज का दर्पण है, पर जिन रचनाओ को साहित्यिक कहा जाता है उन पर तो रचनाकार वाछित-अपेक्षित-व्यवहारो एव सभ्यता और साहित्य के निर्धारित आदर्शों का आवरण डाल देता है जिसके फलस्वरूप उसका वह साहित्य तो उक्त समाज का निखरा और कुछ कृत्रिम प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है। यो कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सत्य, शिव, सुन्दर के आधार पर निर्मित साहित्य-दर्पण तो समाज का आदर्श और व्यवहार से समन्वित प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करना है जो वास्तविकता से उतना ही परे होता है जितना 'फिनिशिंग' किया हुआ केमरे का फोटो। इसके विपरीत लोक-साहित्य द्वारा उक्त जनपद के जीवन का वास्तविक और अप्रच्छन्न रूप प्रकट किया जाता है। साहित्यक गीतो और लोक-गीतो के माध्यम से प्रकट होने वाली सामाजिक-सास्कृतिक जन-जीवन की झाकी मे भी स्वरुपत यही अन्तर विद्यमान रहता है।

लोकगीतो की गणना अपरिष्कृत-साहित्य मे भले ही की जाती हो पर उनमे प्रकट होने वाले सामाजिक-सास्कृतिक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट और सत्य होते हैं। यहा लोक-मानस का नग्न, अनावृत और विशुद्ध चित्र प्रकट होता है। लोकगीतो मे मन का स्वच्छन्द-आलाप छन्द-स्वर से परे हटकर और यहाँ तक कि मनोविकारो-उद्वेगो के स्वाभाविक प्रवाह को बाधित करने वाली सामाजिक मान्यताओ-सीमाओ को तोडकर वन्यवायु की भाति बेखटके चलता है। अस्तु लोकगीत ही जन-मन और जीवन की सत्यता को भाषित करने वाले होते हैं।

लोकगीत जीवन के अनेक सस्कारो, सामाजिक-व्यवहारो, रीतिरिवाजो, वैयक्तिक अनुभवो साधारण-असाधारण परिस्थितियो से सम्बन्धित होते है जिनके आधार पर उक्त समाज के जीवन का अध्ययन किया जाता है। यहा हम राजस्थान के चैत्र-मासीय व्रत-पूजा-उत्सव-पर्वादि पर प्रचलित लोकगीतो के आधार पर यहा के नारी-जीवन का चित्रण करना चाहते हैं। राजस्थान एक वृहद् भूभाग है जहा अनेक बोलियाँ और जनभाषाए व्यवहृत होती है जिनके समन्वित रूप को मरुभाषा या राजस्थानी कहा जाता है। मरुभाषा अथवा मारवाडी की साहित्यिक शैली डिंगल है जो बोल-चाल व्यवहार की साधारण भाषा मारवाडी से भिन्न हो गई है। आज जिसे मारवाडी कहा जाता है उसी भाषा मे यहा के व्रत-उत्सव-त्यौहार और सस्कार सम्पन्न किये जाते है। इसी माध्यम से यहा के विभिन्न उत्सवो-पूजापर्वो पर महिलाओ द्वारा गीत गाये जाते है जिनमे जनपदीय-जीवन की सामाजिक सास्कृतिक-परम्पराओ का अध्ययन किया जा सकता है।

राजस्थान का नारी-समाज धर्म-प्राण है जिसके जीवन मे आये दिन एक न एक पूजा और व्रतोत्सव का विधान है। वसन्त, पावस और शरद ऋतुए जीवन मे विशेष स्फूर्ति और चेतना प्रदान करती है और यही कारण है कि हमारे जीवन मे सारे पूजा-महोत्सव और त्यौहार लगभग इन्ही ऋतुओ मे आते है। होली, दशहरा, रक्षाबन्धन, दीवाली आदि त्यौहार और अनेक व्रत-उपवास-पूजा के पर्व इन्ही दिनो आते है। राजस्थान मे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा से चैत्र मास तक तीन महत्वपूर्ण पूजोत्सव मनाये जाते है—होली, शीतला और गणगौर। इन पूजोत्सवो मे यहा के नारी

जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्य निहित हैं। होलिकादहन से एक मास पूर्व फाल्गुन की प्रतिपदा को होली-रोपण किया जाता है और उसी दिन से गीतों की लहर उमड पडती है। गांवो, शहरो, मोहल्लो मे चग और डफ पर फागु-गीत गाये जाते हैं। महिलाए और पुरुष अलग-अलग समूहगान करते हैं। ऋतुराज वसन्त की प्रेरणा से युवतियाँ लोकगीतो के माध्यम से स्थूल शृ गार का चित्रण करती हैं। जिनमें मन की निरकुशता और काम परवशता व्यक्त होती है। होलिकादहन के अवसर पर महिलाए भी पूजन करती है तथा वे होली मे ऐकमगल की कामना करती है। होलिका-पूजा के समय ग्रामीण बालाए जो गीत गाती है उसमे जीवन की सरसता, भोलापन और वसन्तोल्लास की भावना प्रकट होती है। आज उनके जीवन मे होली और फूलो से लदा वसन्त दोनो साथ-साथ आये है, इसी वेला मे उनका कान्ह जैसा नन्हा सुकुमार भाई केसरिया वस्त्र पहिने खेल रहा है। ऐसे मगल-अवसर पर उन्हे प्रह्लाद जैसे भाई की कुशलता के अतिरिक्त और क्या चाहिये ? हर वर्ष होली पर उनका भैया प्रफुल्ल मन से खेलता रहे, यही उनकी चिर-अभिलाषा है —

> होली आई हे फूलाँ री झोली झरमटियो ल।
> श्रो कुण खेल' हे केसरियो वागा झरमटियो ल ॥
> ओ खेल' हे म्हारो कान्हुडो वीरो झरमटियो ल।
> ओ खेल' हे पहलाद ज्यू प्यारो झरमटियो ल ॥

चैत्र मास की कृष्णा सप्तमी-अष्टमी को यहा शीतला पूजन किया जाता है जो प्राय दो दिन तक चलता है। शीतला चेचक नामक भयकर रोग को शान्त करने वाली देवी समझी जाती है। चेचक भारत का प्रबलतम सक्रामक रोग है जिससे प्रतिवर्ष हजारो बच्चे मरते हैं और कुरूप हो जाते हैं। अध्यात्म-प्राण संस्कृति मे पलने वाले भारतीय नारी-समाज ने इस रोग को देवी का प्रकोप माना है और इससे बचने तथा स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए शीतला-पूजन का विधान स्वीकार किया है। वैज्ञानिक युग मे चेचक के चमत्कारी टीको का आविष्कार हो चुका है फिर भी आज इसकी रोकथाम और इसका उपचार असाध्य है। शीतला पूजन का परम्परागत विश्वास ही आज इस असाध्य रोग को सहने का आत्मबल देता है। चाहे हम इसे वैज्ञानिक-आलोक मे अनभिज्ञ अर्द्धसभ्य नारी-हृदय का अंधविश्वास कहे, फिर भी पूजन का महत्व कम नही है जो सुकुमार अवस्था के बाल रोगी एव उसके सतप्त मातृ-हृदय को असीम कष्ट-सहिष्णुता और आत्मबल देता है। शीतला की कृपा से असाध्य रोग से बच जाने का आत्मविश्वास रुग्णावस्था मे प्राण फूकता है। यही आतरिक उपचार है जिसके अभाव मे कितनी ही मूल्यवान ओषधिया देने पर भी छोटे रोग भी मृत्यु के कारण बन जाते हैं।

शीतला-पूजन यहा सभी वर्णों और जातियो की माताए करती है। इस दिन दही से बनी 'रावडी' या ओल्या मे देवी शीतला को शीतल किया जाता है। माताए दो दिन बासी भोजन करती है और शीतला से सतान के मगल की प्रार्थना करती है। यह व्रतोत्सव और पूजन माता के वात्सल्य का प्रतीक है। बच्चे माता के लिए अमूल्य निधि हैं। उन बच्चो के सौन्दर्य की सुरक्षा करने वाली तथा चेचक रोग मे जीवन प्रदायिनी-माता शीतला ही यहा की माताओ के लिए सर्वपूजा सर्वेश्वरी देवी है—

> ओर माता आलपाल साची माता सीतला।
> गोरा ने काला करै काला ने किडकावरा।

शीतला-पूजन नारी हृदय की देवी-आस्था, परम्परागत विश्वास और उसके पवित्र वात्सल्य-भाव का प्रतीक है जिसमे व्यष्टि और समष्टि के कल्याण की कामना निहित है। नारी हृदय के अगाध-वात्सल्य को व्यक्त करने वाला यह पूजन अंधविश्वास-अज्ञान की परिधि से परे है। यह पूजन शिक्षित परिवार की महिलाए ही नही करती वरन् चिकित्सकों-डाक्टरो की पत्नियाँ भी इसकी उपेक्षा नही करती। चाहे विज्ञान के विश्वासी इस आस्था को नारी का अंधविश्वास ही कहे और चाहे नर इसका विरोध ही क्यो न करे फिर भी इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा क्योंकि यह





पुत्रवती नारी का आग्रह है जिसके सतानप्रेम की तुलना मे पतिप्रेम भी नगण्य है। इस पूजन मे प्रसविनी मातृ हृदय की दृढ आस्था है। जिसने प्रसव-पीडा का कटु-अनुभव किया है, क्या वह कठिन साधना से प्राप्त सतान की मगल-कामनाओ के अवसर छोड देगी ? नारी-हृदय अत्यन्त कोमल और भावुक होता है जिसे व्यष्टि से परे समष्टि की पीडा का अनुभव भी शीघ्र ही होता है। अत वह कैसे सह सकती है कि चेचक का प्रकोप समाज पर हो और उसके तथा समाज के नौनिहाल महामारी द्वारा छीन लिये जायें ? किसी की आख चली जाय तो किसी के सौन्दर्य और प्राणो का अपहरण ही हो जाय ? भावुक और करुण नारीहृदय किसी का रुदन नही देख सकता। उसकी छाती पराये दुख से फटने लगती है। उसका हृदय वात्सल्यातिरेक से पडौसी के निधन पर भी सिसकिया भरने लगता है, किसी बालक की सद्य मृत्यु पर वर्षों पूर्व की हृदय-द्रावक स्वानुभूतिया उसे स्वत ही रुलाने लगती है। नारी मे सृष्टि की पालयित्री शक्ति का निवास होता है, जिसके स्तनो को दुग्ध-धारा से सृष्टि पलती है तो सहानुभूति मे बहने वाली अश्रुधारा मे लोककल्याण पलता है। 'आचल मे है दूध और आखो मे पानी' वाले नारी व्यक्तित्व का यही रहस्य है। यह शीतला पूजन मातृ-हृदय के इन्ही रहस्यो को प्रकट करता है।

शीतला-पूजन सप्तमी की अर्द्धरात्रि से प्रारम्भ होता है तथा अष्टमी तक चलता रहता है। गाव के किसी एक स्थान पर शीतला देवी का मडप होता है जिसे हम चबूतरे के रूप मे बना छोटा मदिर कह सकते हैं, जहा सारे भेदभाव-जातपात को भूलकर सभी माताए पूजन करती हैं। महिलाओ के सरस-स्वर मे बडी ही श्रद्धा के साथ बच्चो की रखवाली (बालूडी रखवाली) माता शीतला का पूजा गीत गाया जाता है। गाती हुई वे कहती हैं—"बछडो और बालको के तन पर चेचक का आगमन हुआ है।" सेढल (सीतला) मा का देश मे पधारणा हो रहा है, शिशु-धन उसी का है। उसका पूजन ही उपचार है। अत हम पीले वस्त्र, दीपक अक्षतादि से उसे पूजेंगी। उसके मडप को स्वच्छ करके सजायेंगी। शीतल भोजन करेंगी—

माता (सेढ़ल) आई ई देस मे हे माय। बालूडा रखवाली माता सीतला ॥
धडकी छ बालूडारी हे माय ॥
दडक्या छ टोडा-टोरडी य माय।
माता रो मडो चूणस्या री माय ॥
माता रो मडो ढोलस्या हे माय।
माता रो मडो चरचस्या हे माय ॥ बालूडा—
घर घर दीवलो जोवस्या हे माय।
नौ नेवज कर पूजस्या हे माय ॥
ऊजली अठाई पूजस्या हे माय।
सइय सवारो पूजस्या हे माय ॥ बालूडा—
मोती रा आखा चढ़ास्या हे माय।
पीला पोटला सू पूजस्या हे माय ॥
टावर-दूबरा ढुखास्या हे माय।
बालूडा रखवालो म्हारी सीतला हे माय ॥

राजस्थान के स्त्री-समाज मे राजतन्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा विद्यमान है। सुयोग्य राजाओ के कुशल-उदार प्रशासन को वे आज भी कृतज्ञतापूर्वक याद करती हैं। शीतला के पूजागीत मे राजतन्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा और मगलकामना प्रकट हुई है। इन गीतो मे माताए आज भी स्थानीय राजाओ के मगलमय भविष्य की कामना करती हैं तथा अपने से पूर्व उनकी पारिवारिक कुशलता एव वशवृद्धि की बलवती कामना करती है। गीतो मे अपने पारिवारिक पूर्वजो से पूर्व क्षेत्रीय राजा का नामोच्चारण करती हैं। जो उनके हृदय का पुरातन मोह है। राजस्थान की सभी रिया-सतो का भारतीय सघ मे विलीनीकरण हुये बहुत समय हो चुका है, पर स्त्रीशिक्षा के अत्यल्प प्रसार के कारण यहा

आज भी इन प्राचीन राजतन्त्रीय-विश्वासो-परम्पराओ का अवसान नही हुआ है, शीतला-पूजन का प्रस्तुत गीत इसी तथ्य का द्योतक है—

सुमेरसिंह सा (किशनगढ के वर्तमान राजा) हो दरवाजा खोल—
था पर दैया जी करेली माता सीतला।
म्हान' काई जी फुरमाय माता सीतला।।
थाने देसी जी गढ़ दिल्ली रो राज—
थाने देसी जी भाई भतीजाडारी जोड—
थाने देसी जी बेटा पोता री जोड। था पर—
सासू-बुवा हो ओवलिया (कोटरी) खोल –,
थाने देसी जी फूलडीया रो वेस—,
थाने देसी जी पीलडो रो वेस—,
थाने देसी जी सासू बुवा री जोड--,
थाने देसी जी दोर जीठाणिया री जोड। था पर

राजस्थान के स्त्री-समाज का सर्वश्रेष्ठ उत्सव गणगौर पूजन है। ईसर-गणगौर का यह पूजन अपने मूल मे शिव-पार्वती की युगलोपासना है। यह पूजा चैत्र कृष्णा प्रतिपदा से सोलह दिन तक चलती है। अविवाहित किशोरी बालिकाए—सुयोग्य वर की प्राप्ति के लिए तथा विवाहित युवतिया अपने सुख-सुहाग की मगल-वृद्धि के लिए गौरी पूजन करती हैं। सोलह दिन तक पूजा और व्रत का विधान निरन्तर चलता रहता है। गौरी पूजा के लिए मोहल्ले के किसी एक घर पर जहा स्त्री-समूह सरलता से एकत्र हो सकता है, वहा ईसर-गणगौर का भित्तिचित्र बना लिया जाता है तथा वही पूजन क्रम चलता है। बालिकाए और युवतिया गौरी पूजा के लिए दूर्वादल और पुष्प लेने उपवनो मे जाती हैं तथा जलाशयो से स्वच्छ जल के कलश भर कर लाती हैं। फिर दूर्वादल से सजे पवित्र जल के कलशो को माथे पर लिये प्रस्तुत गीत समवेत स्वरो मे गाती हुई पूजास्थल पर चली आती हैं—

बाडी वाला, बाडी खोल, बाडी की किवाडी खोल, छोरिया आई दूब ने
थे कुण्या जीरी बेटी हो, कुण्या जीरी भैण, काई थारो नाम छ ?
म्हें वीरमा जीरी बेटी हां ईसरदास जी री भैण गौरा म्हारो नाम छ।।
म्हें आया ये फलसार बार धई घमोडा गुजरी।
घमोडाये ईसरदास घर नार आछी घोली पायली।
म्हें पातलियां न पातलयां द्वार सीघासण बैठस्यां।
म्हें देस्या तिलडी रो हार हरीया मु ग मरोडस्यां।। म्हें आया—गुजरी।

ईसर—गणगौर के भित्ति-चित्र की पूजा दूर्वादल-पुष्प-जल से की जाती है और सोलहवें दिन आटे और गुड से बने 'फल' का भोग लगाया जाता है। पूजा करते समय प्रतिदिन निम्न वरदान गीत गाया जाता है—

गौर हे गणगौर माता खोल हे किवाडी।
बायर ऊबी थांरी पूजन हारी।
पूजो हे पुजारीयां बायां काई काई मागो।
म्हे मागा हलखल कूडो छाछ मचूडो।
हिया सवाणो गोबर मागा कड्या सवाणी लाद है।
अलजल जामी मांगा राता देई मां है।
काण्ह कुवर सौ वीरो मागा राई सी भोजाई।
बडा घूमालो काको मांगा चूडला वाली काकी।





फूस उडावण फूफो मागा हांडाबोवण भुआ।
कार्जलियो बहण्योई मागा सदा सुहागण भैण हे।
महला चढ़ता साहिब मागा ज्याको म्हे घरनार हे।
इतरा तो दे म्हारी गौरज्या इतरो सो परवार।
बाप तो कव' बेटी लाडली मा कव परदेस।
बीरो तो कव बनड बीजली चमक' छ चारो देस।
गाजू नो घोरू बीरा मालवरे बरसू बाबाजी रु देस।
बरस नीपजाऊ मोठर बाजरी र कोड्याती जु वार।
टका रो मण बाजरो र पइसा रो मण मोठ।
झाला तो झाला बीरा बाजरो र गाडा गाडा मोठ।

यदि हम राजस्थान की ग्रामवासिनियो के जीवन का दर्शन करना चाहते हैं, तथा उनके भावी जीवन के प्रति उनकी अभिलाषा-आशा, उत्साह उमग, व्यावहारिक परिकल्पना को परखना चाहते हैं तो गीत की व्याख्या कर ले। गणगौर मे राजस्थानी युवतिया न केवल सुख-सुहाग, आमोद-प्रमोद ही मागती हैं वरन् वे उनसे सरल, श्रमसाध्य जीवन और सयुक्त परिवार का वरदान भी चाहती हैं। वे कहती हैं—हे गणगौर, आप हमे भरापूरा कृषक परिवार देना, जिसमे हल कुआ बैलादि खेती के समस्त साधन हो तथा जिसमे खूब दूध-दही होता हो। हम कर्म मे विश्वास करती हैं, श्रम ही हमारा जीवन है अत हमे बहुत-सा पशुधन देना जिसके गोबर खाद से हम अपने खेत भर दे। सरल हृदय वाले पिता देना, खर्चीला-रोबीला काका देना, सुन्दर भाई देना, राई-सी भोली भाली भाभी देना, भरपूर कपडे देने वाली मा देना, सुन्दर चूडे वाली काकी देना, कामकाज मे हाथ बटाने वाले फूफा-फूफी देना, सजीला-रगीला बहनोई देना, सदा सुहागिन बहन देना, तथा निरन्तर हमारे ही साथ रमण करने वाला पति देना। मारवाड की सूखी मरुधरा के इस नारी-जीवन मे कितना उल्लास-उत्साह भरा हुआ है। वे श्रम और कर्त्तव्य के प्रति कितने सजग है? उनमे सामूहिक परिवार की भावना कितनी दृढ है? उनका मानस कितना सरस और भावुक है? तथा वे कितनी सयत होकर आडम्बर रहित सच्चे आनन्दमय जीवन की परिकल्पना करती है? यह जीवन शहरी आडम्बरो से परे, छूछी चमक-दमक और थोथी कल्पना से दूर कितना सरल और व्यावहारिक है? जिसमे फूहड ग्राम्यत्व नही। आज पाश्चात्य परिधान मे अपने तन को आधुनिकतम फेशन से सजाने वाली तथा मन को 'सिने-ससार' की आसमानी कल्पनाओ से रगने वाली युवतिया क्या शताश मे भी भारतीयता के पूर्ण ठोस व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जिस जीवन का मूलाधार कृषि और पशुधन है?

राजस्थान का यह गणगौर पूजापर्व सामत-काल मे आकर राजसी और शाही उत्सव बन गया। यदि हम ईसर-गणगौर के भित्ति चित्र को देखें तो उसमे राजपूतकालीन वेषभूषा और चित्रशैली दिखाई पडती है। राजस्थान के प्राचीन राज्यो मे यह पर्व शाही तरीके से मनाया जाता था, प्रत्येक राज्य मे ईसर-गणगौर की काष्ठ-प्रतिमाए रखी जाती थी जिन्हे गणगौर पर्व पर खूब अलकृत किया जाता था और धूम-धाम मे उनकी सवारी निकाली जाती थी। आज भी जयपुर का गणगौरपर्व दर्शनीय बना हुआ है। गणगौर राज्य के मान-अपमान का प्रतीक भी बन गई थी, ऐसी कई घटनाए हुई है जब कि एक राजा ने दूसरे राजा की गणगौर प्रतिमा को बलपूर्वक मगवा लिया। इस प्रकार की छीना-झपटी और अप्रत्याशित लूट के कारण गणगौर-समारोह पर रक्तपात भी होता रहा था। स्वतन्त्रता के बाद राज्यो के विलय मे गणगौर का उत्सव अब उतना समारोह-पूर्वक और शाही ढग से तो नही मनाया जाता फिर भी आज इस पर्व के प्रति प्रत्येक हिन्दू परिवार मे पूर्ववत् उत्साह और आस्था वर्तमान है। आज भी वह प्रत्येक सुहागिन स्त्री के सुहाग का मगल दिन बना हुआ है। प्रवासी प्रियतम इस दिन अवश्य आते है और अपनी पत्नी के सुख-सौभाग्य का सम्मान करते हैं। आज के दिन पति से अलग रहना पत्नी का दुर्भाग्य है और यदि पति गणगौर पर आने से किसी प्रकार असमर्थ रहता है तो वह इस गीत द्वारा लज्जित किया जाता है—"निकल गई गणगौर मोल्या मोटो आया।" यो कहना चाहिए कि गणगौर आज दाम्पत्य जीवन के उत्साह और उमग का मगलपर्व है जिसमे पत्नी ही गणगौर है और पति ईसर, और वे शिव-पार्वती के जोडे की भांति अपने लिए भी चिर-साहचर्य की कामना करते है।

इस पर्व पर और भी कई पूजा उत्सव गीत प्रचलित हैं जिनमे गणगौर-आरती, गणगौर पाणी प्यावण गीत, वधावा, सीठना और विदाई गीत गौर पूजा से सम्बन्धित है। अन्य उत्सव गीत हैं जो नारी-जीवन के सुख-सुहाग-विलास के परिचायक है। इन गीतो मे यौवन की उदात्त-भावना के दर्शन होते हैं।

साथ ही इन गीतो मे स्त्री जीवन के परम्परागत-विधान भी समाये हुए है, जिनमें हमे राजस्थानी नारी के जीवन-स्तर, वेषभूषा-अलकार, आचार-विचार का भी ज्ञान होता है। मैमद (मृगमद-कस्तूरी का तेल) रखडी (बार-सुहाग का प्रतीक शीर्ष अलकार) कुण्डल, कण्ठी, वेसर, लहगा, चूनडी, पायल आदि शब्दो के सहारे प्रस्तुत गीत मे वर्णित आभूषणो-अलकारो मे सजी राजस्थानी महिला का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है —

म्हारे माथे न' मैमद ल्याय म्हारा हजा मारु याहीं रहवो जी।
म्हारे काना न कुण्डल ल्याय— — —
म्हारे गल मे कठी ल्याय— — —
म्हारो नाक मे वेसर ल्याव— — —
याहीं रहवो उगन्ता सूरज याहीं रहवो जी।
— — वरसन्ता बादल— —।
म्हाक कालें छ गिणगौर म्हारी हजा मारु याहीं रहवो जी।
जावा द्यो नखराजी-छिणगारी नार जावा द्यो न,जी ।
म्हारा भायला जोवे छ बाट मिरगानैणी नार जावा द्यो जी।
म्हारा पुचा न चुडलो ल्याय म्हारा हजा मारु याहीं रहवो जी।
— बाया न बाजूबन्द ल्याय — —
— पगल्या न पायल — —
— आगल्या न बीछिया — —
थाने आया पुजावा न'गिणगौर म्हारी मिरगानैणी जावा द्यो न जी।

इन्ही दिनो यहा की महिलायें जवाँरा-पूजन भी करती है। मिट्टी के पात्र मे जो गेहू की पौध लगाई जाती है और प्रत्येक परिवार के पुरुषो का नाम लेकर खेत मे मृग ताडने का सकेत करती हुई महिलायें अपने पुरुषो को कृषिकार्य की ओर विशेष प्रेरणा देती है और गुरुतर भार को अपने और विश्व कल्याण के लिए निभाने का मधुरतम उपदेश देती है। ५-७ दिन गीत गाती है। गीत मे प्रकट होता है कि —

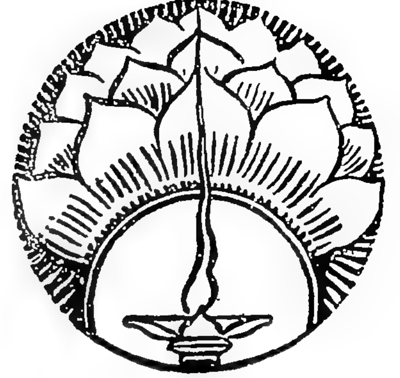
म्हारा हरीआ जुआरा ललीआ जुआरा-जोह चिरन्ता मृगला।
मृगा ताडो न लालचन्द जी का—कृष्ण लाल जी मृग ला—॥

इस प्रकार हम राजस्थानी के इन चैत्रमासीय महत्वपूर्ण पूजोत्सव मे यहा के महिला समाज के अनेक तथ्यो का उद्घाटन कर आये हैं। वास्तव मे यहा के वर्णित नारी-जीवन मे भारत की प्राचीन-सस्कृति आज भी साँस ले रही है। यहा की नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पति और पुत्र के कल्याण मे समाया हुआ है और वह विश्वकल्याण का पोषक है।



हाड़ौती प्रहेलिका साहित्य की परम्परा

डॉ० नाथूलाल पाठक
एम० ए० (हिन्दी, सस्कृत), पी-एच० डी०
गवर्नमेण्ट कालेज, कोटा (राज०)



हाडौती लोक मे प्रचलित प्रहेलिका के नाम

हाडौती प्रदेश मे पहेली के लिये दो शब्द-पयाली और पारसी-प्रचलित हैं। सामान्यत पयाली शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। पयाली शब्द सस्कृत के 'प्रहेलि' शब्द का विकृत रूप है। सस्कृत 'प्रहेलि' शब्द की व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग हिल् धातु मे इन् प्रत्यय जोडकर हुई है। हिल् धातु केलिक्रीडा या रमणेच्छा प्रकट करने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। मनोरजन का साधन होने से पयाली ने अपने धात्वर्थ को भी नही छोडा है। प्रहेलि शब्द के अतिरिक्त प्रहेलिका शब्द भी सस्कृत साहित्य मे पहेली के लिये प्रयुक्त हुये हैं। वैदिक साहित्य मे पहेली को ब्राह्मोघ कहा गया है। पहेली के लिये भारत की प्रान्तीय भाषा मे भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग मिलता है। अवधी लोक-भाषा मे इसके लिये 'हियाली' और हरियाणा की जनभाषा मे फाली शब्द प्रचलित है, जो हाडौती पयाली से मिलते जुलते हैं। बुन्देली मे पहेली को बुझोवल और पजाबी मे बुझारत कहते हैं। कही इसको उखाणा भी कहा जाता है।

हाडौती लोक भाषा मे पहेली के अर्थ मे प्रयुक्त दूसरा 'पारसी' शब्द विस्मयजनक-सा प्रतीत होता है। यह शब्द हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की कविता मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। समझाने मे कठिनता के भाव को लेकर यह नामकरण किया गया है। पारसी भाषा की कठिनाई और पहेली की रहस्यमयता व दुरूहता का समन्वय होकर 'फारसी' या 'पारसी' पहेली का वाचक बन गया। आजकल भी विद्यालय मे पढने वाला बच्चा गाँव मे जाकर अपने अशिक्षित परिवार वालो के सामने जब हिन्दी बोलता है, तब वे लोग यह कहते हैं कि अग्रेजी बोला रह है।

हाडौती लोक-प्रहलिका की परम्परा

हाडौती की बौद्धिक-परम्परा मे पहेली का अपना विशेष स्थान है। इन पहेलियो का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग के विकसित चिन्तन और परिष्कृत अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल मे जो परम्परा विद्यमान है, वही इनमे भी चली आ रही है। उदाहरण के लिये हाडौती लोकमुख मे सचरमाण निम्न पहेली को देखा जा सकता है।—

"च्यार ठडा च्यार ताता, च्यार झरण्या झरे।
एक टाग सू बारा हरण्या, न्यारी न्यारी चरे॥"

"चार ठडे है, चार गरम हैं और चार मे झरने झरते हैं। बारह हरणिया एक पैर मे खडी होकर अलग अलग चरती है।"

हाडौती लोक मे प्रचलित इस पहेली मे शीत, ग्रीष्म व वर्षा-तीन प्रधान ऋतुओ तथा बारह महीनो का सकेत किया गया है। इसके साथ ऋग्वेद के प्रथम मडल के पिचानवें सूक्त का प्रथम मत्र द्रष्टव्य है—

'द्वे विरूपे चरत स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्या भवति स्वधावान् शुक्रो अन्यस्या ददृशे सुवर्चा ।
(ऋग्वेद १-९५-१)

अर्थात् (विरूपे) विभिन्न-रूपो से सयुक्त (द्वे) दोनो दिन और रात (स्वार्थे) शोभन प्रयोजन के लिये (चरत) विचरण करते है। (अन्यान्या) दोना ही अपने अपने (वत्स) बछडे की (उपधापयेते) रक्षा करते है। (अन्यस्या) एक (रात्रि) के पास से (हरि) सूर्य (स्वधावान् भवति) अन्न प्राप्त करते है और (अन्यस्या) दूसरे (दिन) के पास से (शुक्र) चन्द्र (सुवर्चा) शोभनदीप्ति से युक्त होकर (ददृशे) प्रकाशित होते हैं।

विद्वानो ने इसके गूढार्थ को स्पष्ट करते हुए दोनो को दिन और रात बतलाया है। उनके वत्स चन्द्र और सूर्य है। ऋग्वेद के इस मत्र मे वही चरन अर्थ मे "चरत" क्रिया का प्रयोग किया गया है। हाडौती पहेली मे बारह महीने तथा एक टाग से एक राशि का भाव प्रदर्शित होता है। दोनो स्थलो पर पशु के माध्यम से समय के रहस्य को बताया गया है।

अपने रूपकात्मक कलेवर मे हाडौती की उक्त पहेली ऋग्वेद के इस मत्र के समकक्ष रखी जा सकती है। लोक प्रसिद्ध उपकरणो द्वारा वर्ण्य-विषय को ध्वनित करने वाले लाक्षणिक प्रयोगो से युक्त इस प्रकार के अलकृत प्रयोग हाडौती के प्राचीन लोक-साहित्य मे अब भी उपलब्ध होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि मानव-सस्कृति के विकास के साथ वैदिक युग मे चिन्तन की अभिव्यक्ति-पद्धति के द्वारा सुसस्कृत वर्ग वाले विद्वानो का अतुलनीय साहित्य प्रकाश मे आया। दूसरी ओर स्वल्प सस्कृत वर्ग मे गतिशील अभिव्यक्ति का दूसरा रूप सामान्य-जीवन मे पनपता रहा, जो लोकसाहित्य के रूप मे समय-समय पर प्रकाश मे आता रहा। इसीलिये आज भी दोनो धाराओ के मूल मे विद्यमान चिन्तन की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

रहस्यमूलक अभिव्यक्ति का यह प्रकार मानव की सहजात-प्रवृत्ति है। इसी कारण विश्व की विभिन्न भाषाओ मे यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेद सहिताओ मे प्रहेलिका ने साहित्य और कर्मकाण्ड के क्षेत्र मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया है। ऋग्वेद को प्रहेलिकाओ का वेद कहे, तो अत्युक्ति न होगी। वैदिक युग मे जिस समय लम्बे सोम-यागो की परम्परा थी, उस समय सवनो के मध्य, अवकाश के समय यज्ञकार्य मे प्रवृत्त ऋत्वजादि ब्रह्मोद्य द्वारा मनोरजन किया करते थे। यही बौद्धिक परम्परा यज्ञानुष्ठानो के समान ही प्रचलित सस्कारादि विभिन्न उत्सवो और विभिन्न मागलिक अवसरो पर अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगी। यही प्राचीन परम्परा आज भी समयानुकूल परिवर्तनो के साथ हाडौती समाज मे चली आ रही है।

हाडौती लोकप्रहेली का प्रयोजन

हाडौती लोक प्रहेलिकाओ का प्रमुख उद्देश्य बुद्धिविलास द्वारा मनोरजन होता है। वक्ता के बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन और श्रोता की बुद्धि-परीक्षा के लिये इनका उपयोग किया जाता है। बुद्धि को तीव्र करने, स्मरण शक्ति को बढाने और वस्तु ज्ञान के प्रति मेधा को प्रेरित करने का कार्य प्रहेलियो द्वारा सम्पन्न होता है। प्राचीन काल से इनका उपयोग क्रीडा, गोष्ठी और विनोदकाल मे होता चला आ रहा है। भोजराज ने सस्कृत प्रहेलिकाओ के उपयोग के विषय मे लिखा है कि खेल, गोष्ठी और विनोदकाल मे प्रहेलिका जानने वाले नागरिक पारस्परिक विचार-विनिमय एव श्रोताओ को आश्चर्यचकित करने के लिये इनका उपयोग करते हैं।[1]

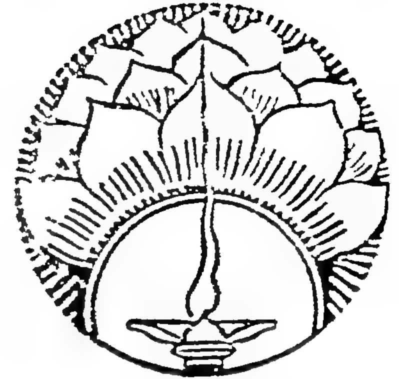


हाडौती के गावो मे जामाता की बुद्धिपरीक्षा के लिये ससुराल मे प्राय पयाली पूछी जाती है। यदि जामाता ससुराल मे अकेला ही पहुचा हो तो गाव के युवक पहेलियो का उत्तर देने मे उसकी सहायता करते है। हाडौती प्रान्त मे

१ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्ण मत्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥

हाड़ौती प्रहेलिका साहित्य की परम्परा

डॉ० नाथूलाल पाठक
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०
गवर्नमेन्ट कालेज कोटा (राज०)



हाड़ौती लोक मे प्रचलित प्रहेलिका के नाम

हाड़ौती प्रदेश मे पहेली के लिये दो शब्द-पराली और पारसी-प्रचलित है। सामान्यतः पराली शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। पराली शब्द संस्कृत के 'प्रहेलि' शब्द का विकृत रूप है। संस्कृत 'प्रहेलि' शब्द की व्युत्पत्ति प्र उपसर्ग हिल् धातु से इन् प्रत्यय जोड़कर हुई है। हिल् धातु केलिक्रीडा या मनोरंजन अर्थ के रूप मे प्रयुक्त होती है। मनोरंजन का साधन होने से पराली ने अपने वाच्यार्थ को भी नहीं छोड़ा है। प्रहेलि शब्द के अतिरिक्त प्रहेलिका शब्द भी संस्कृत साहित्य मे पहेली के लिए प्रयुक्त हुये है। वैदिक साहित्य मे पहेली को ब्रह्मोद्य कहा गया है। पहेली के लिये भारत की प्रान्तीय भाषा में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। ब्रजी लोक-भाषा मे इसके लिये 'हियाली' और हरियाणा की जनभाषा मे फाली शब्द प्रचलित है जो हाड़ौती पराली से मिलते जुलते हैं। बुन्देली मे पहेली को बुझौवल और पंजाबी मे बुझारत कहते हैं। कहीं इसको उखाणा भी कहा जाता है।

हाड़ौती लोक भाषा मे पहेली के अर्थ में प्रयुक्त दूसरा 'पारसी' शब्द विस्मयजनकता प्रतीत होता है। यह शब्द हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की कविता मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। समझाने में कठिनता के भाव को लेकर यह नामकरण किया गया है। पारसी भाषा की कठिनाई और पहेली की रहस्यमयता व दुरूहता का समन्वय होकर 'फारसी' या 'पारसी' पहेली का वाचक बन गया। आजकल भी विद्यालय मे पढ़ने वाला बच्चा गाव मे जाकर अपने अशिक्षित परिवार वालो के सामने जब हिन्दी बोलता है, तब वे लोग यह कहते हैं कि अंग्रेजी बोल रहा है।

हाड़ौती लोक-प्रहेलिका की परम्परा

हाड़ौती की बौद्धिक-परम्परा मे पहेली का अपना विशेष स्थान है। इन पहेलियो का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग के विकसित चिन्तन और परिष्कृत अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल मे जो परम्परा विद्यमान हैं वही इनमे भी चली आ रही है। उदाहरण के लिये हाड़ौती लोकमुख मे संचरमाण निम्न पहेली को देखा जा सकता है।—

> 'च्यार ठडा च्यार ताता, च्यार झरप्या झरे।
> एक टाग सूं बारा हरण्या न्यारी न्यारी चरे ॥"

"चार ठडे हैं, चार गरम हैं और चार मे झरने झरते हैं। बारह हरिणिया एक पैर से खड़ी होकर अलग अलग चरती हैं।"

हाड़ौती लोक मे प्रचलित इस पहेली मे शीत, ग्रीष्म व वर्षा-तीन प्रधान ऋतुओ तथा बारह महीनो का संकेत किया गया है। इसके साथ ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पिचानवें सूक्त का प्रथम मंत्र द्रष्टव्य है—

"द्वे विरूपे चरत स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्या भवति स्वधावान् शुक्रो अन्यस्या ददृशे सुवर्चा ।
(ऋग्वेद १-९५-१)

अर्थात् (विरूपे) विभिन्न-रूपो से सयुक्त (द्वे) दोनो दिन और रात (स्वार्थे) शोभन प्रयोजन के लिये (चरत) विचरण करते है। (अन्यान्या) दोनो ही अपने अपने (वत्स) बछडे की (उपधापयेते) रक्षा करते है। (अन्यस्या) एक (रात्रि) के पास से (हरि) सूर्य (स्वधावान् भवति) अन्न प्राप्त करते है और (अन्यस्या) दूसरे (दिन) के पास से (शुक्र) चन्द्र (सुवर्चा) शोभनदीप्ति मे युक्त होकर (ददृशे) प्रकाशित होते है।

विद्वानो ने इसके गूढार्थ को स्पष्ट करते हुए दोनो को दिन और रात बतलाया है। उनके वत्स चन्द्र और सूर्य हैं। ऋग्वेद के इस मत्र मे वही चरने अर्थ मे "चरत" क्रिया का प्रयोग किया गया है। हाडौती पहेली मे बारह महीने तथा एक टाग से एक राशि का भाव प्रदर्शित होता है। दोनो स्थलो पर पशु के माध्यम से समय के रहस्य को बताया गया है।

अपने रूपकात्मक कलेवर मे हाडौती की उक्त पहेली ऋग्वेद के इस मत्र के समकक्ष रखी जा सकती है। लोक प्रसिद्ध उपकरणो द्वारा वर्ण्य-विषय को ध्वनित करने वाले लाक्षणिक प्रयोगो से युक्त इस प्रकार के अलकृत प्रयोग हाडौती के प्राचीन लोक-साहित्य मे अब भी उपलब्ध होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि मानव-सस्कृति के विकास के साथ वैदिक युग मे चिन्तन की अभिव्यक्ति-पद्धति के द्वारा सुसस्कृत वर्ग वाले विद्वानो का अतुलनीय साहित्य प्रकाशमे आया। दूसरी ओर स्वल्प सस्कृत वर्ग मे गतिशील अभिव्यक्ति का दूसरा रूप सामान्य-जीवन मे पनपता रहा, जो लोकसाहित्य के रूप मे समय-समय पर प्रकाश मे आता रहा। इसीलिये आज भी दोनो धाराओ के मूल मे विद्यमान चिन्तन की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

रहस्यमूलक अभिव्यक्ति का यह प्रकार मानव की सहजात-प्रवृत्ति है। इसी कारण विश्व की विभिन्न भाषाओ मे यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेद सहिताओ मे प्रहेलिका ने साहित्य और कर्मकाण्ड के क्षेत्र मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया है। ऋग्वेद को प्रहेलिकाओ का वेद कहे, तो अत्युक्ति न होगी। वैदिक युग मे जिस समय लम्बे सोम-यागो की परम्परा थी, उस समय सवनो के मध्य, अवकाश के समय यज्ञकार्य मे प्रवृत्त ऋत्वजादि ब्रह्मोद्य द्वारा मनोरजन किया करते थे। यही बौद्धिक परम्परा यज्ञानुष्ठानो के समान ही प्रचलित सस्कारादि विभिन्न उत्सवो और विभिन्न मागलिक अवसरो पर अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगी। यही प्राचीन परम्परा आज भी समयानुकूल परिवर्तनो के साथ हाडौती समाज मे चली आ रही है।

हाडौती लोकप्रहेली का प्रयोजन

हाडौती लोक प्रहेलिकाओ का प्रमुख उद्देश्य बुद्धिविलास द्वारा मनोरजन होता है। वक्ता के बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन और श्रोता की बुद्धि-परीक्षा के लिये इनका उपयोग किया जाता है। बुद्धि को तीव्र करने, स्मरण शक्ति को बढ़ाने और वस्तु ज्ञान के प्रति मेधा को प्रेरित करने का कार्य प्रहेलियो द्वारा सम्पन्न होता है। प्राचीन काल से इनका उपयोग क्रीडा, गोष्ठी और विनोदकाल मे होता चला आ रहा है। भोजराज ने सस्कृत प्रहेलिकाओ के उपयोग के विषय मे लिखा है कि खेल, गोष्ठी और विनोदकाल मे प्रहेलिका जानने वाले नागरिक पारस्परिक विचार-विनिमय एव श्रोताओ को आश्चर्यचकित करने के लिये इनका उपयोग करते हैं।[1]

हाडौती के गाव मे जामाता की बुद्धिपरीक्षा के लिये ससुराल मे प्राय पयाली पूछी जाती है। यदि जामाता ससुराल मे अकेला ही पहुचा हो तो गाव के युवक पहेलियो का उत्तर देने मे उसकी सहायता करते है। हाडौती प्रान्त मे



१ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्ण मत्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥



बालक और महिलायें ही प्रहेली कहने-सुनते देखे जाते है। वैसे स्त्री-पुरुष सभी मे इसके प्रति रुचि रखते है किन्तु प्राय देखा गया है कि इस कला मे स्त्रिया ही अधिक प्रवीण होती है। प्राचीन काल से पहेली को स्त्रियो की कला समझा जाता रहा है। जैन कल्पसूत्र मे प्रहेली को स्त्रियो की एक कला बताया गया है। कल्पसूत्र मे वर्णन आता है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को जिन चौसठ कलाओ का ज्ञान कराया था, उनमे एक प्रहेलिका भी थी। प्राचीन समय मे पहेली द्वारा वर-वधू एक दूसरे के बौद्धिक स्तर का मूल्यांकन करते हुये परस्पर मधुर भाव का तादात्म्य स्थापित करते थे। इसीलिये यह विकसित परम्परा शिक्षित एव अशिक्षित सभी परिवारो मे पाई जाती है।

विवाहसंस्कार मे कवर कलेऊ पर, वधू को लेने आये हुये अतिथियो के लिये, सगाई सम्बन्ध के अवसर पर, बाईजी को लिवाने के लिए नणदोई के प्राप्त होने पर अथवा समधी समधिन के आगमन पर संध्या के समय हाडौती प्रदेश मे गीत गवाने की प्रथा प्रचलित है। सारे गीतो की समाप्ति होने पर अतिथि की बुद्धि-परीक्षा के लिये एकत्र हुई महिलाओ के द्वारा पहेलिया बूझी जाती हैं। स्त्रिया पहेलिया गाती है और अतिथि उनका उत्तर देते हैं। आज-कल भी यह पद्धति इसी रूप मे विद्यमान है, किन्तु परम्परा का निर्वाह मात्र ही इस प्रथा का एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है।

हाडौती लोक-प्रहेली पूछने का ढग

हाडौती पहेलिया महिलाओ द्वारा रागविशेष अलापकर गायी जाती हैं। सगीत और साहित्य के इस अनुपम सामजस्य से श्रोताओ की हृत्तत्री झकृत हो उठती है। पहेलियो को गाते समय अपने प्यारे पाहुनो के लिये अनेक विशेषण लगाये जाते हैं। जामता के लिये कवर विहारी और राजकवार, समधी के लिये रसिया व्याई जी, भोला व्याई जी, चतर-विहारी आदि तथा सामान्य अतिथियो के लिये रगीला फाऊणा, छबीला फाऊणा और प्यारा फाऊणा विशेषण प्रयोग मे लाये जाते हैं। कभी-कभी श्रोताओ के उत्साहवर्धन के लिये "पडत जोसी रगे बन्यार, या साथ्या मे कुण सरदार"—इस अर्द्धालिका का पाठ किया जाता है। पहेली पूछने का ढग निम्न प्रकार है —

> **जी वियाइजी, घोली जी धोली वेलडी, धोला छाया फंल**
> **फँग्या सुं दुख नीपजै, लागे घर्णो सरूप**
> **चतर म्हाकी फ्याली को फल खोज्यो जी**
> **क अन्तर कपट्या छो जी वियाईजी,**
> **वोलो न, अमरत वोल।**

श्रोता की वुद्धि पर शाण चढाने के लिये महिलायें पहली पूछती हुई उत्तर अर्द्धालिकाओ मे यहा तक कह देती है कि यदि हमारी पहेली का उत्तर न दे सको तो अपनी मा पत्नी को हमारे गिरवी रखकर इसका उत्तर पूछिये। यदि अतिथि पहेली का उत्तर न दे सके तो उसे हार स्वीकार करनी पडती है। पहेली प्रस्तुत करने समय ही महिलाये कह देती है कि हमारी पहेली न वता सको तो नाक कटा कर यहा से उठिये। यदि कोई अतिथि सकटा वन जाये और हार स्वीकार न कर सके, तो उसे स्त्रियो द्वारा गाव वलाई या मीणे का पुत्र कहकर सम्बोधित किया जाता है। फ्याली के फल को न वता सकने पर महिला मडल द्वारा नाको मे तीर-चलाना तो साधारण वात है। इसके साथ ही हार जाने वाले श्रोता को चक्की—चलाने का विधान भी वना दिया जाता है। हर प्रकार उत्तर में विफल होते रहने पर महिलायें यहा तक कह देती हैं कि जो हमारी इस पहेली का फल न वतावेगा, वह कालीसिंध नदी का पत्थर होगा। यहाँ तो उनकी वचनावलि की सीमा समझनी चाहिये, क्योकि सेवा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की चेतना के स्पदन की यहा समाप्ति हो जाती है।

हाडौती प्रहेलिकाओ की प्रकृति

ज्ञान की थाह लेने वाली पहेलियो की रचना कई प्रकार से होती है। वक्ता भेद से उनकी प्रकृति भिन्न-

भिन्न प्रकार की हो जाती है। प्रकृति के अनुसार हाडौती पहेलियो का वर्गीकरण निम्नप्रकार मे किया जा सकता है —

(१) सामान्य वर्णनात्मक

(२) स्वय परिचयात्मक

(३) आत्मानुभूत

(४) परवस्तु-निदेशक

(१) सामान्य वर्णनात्मक प्रकृति वाली पहेलियो मे वक्ता सामान्य वर्णन के द्वारा वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की पहेलियो की सख्या सर्वाधिक है। उदाहरण के लिये निम्न पहेली देखी जा सकती है —

"एक लाखडी अडड, जे बोलै चड्ड।
जीं की छाल छल्लादार, जीने खावे बल्लादार।"[1]

(२) स्वय परिचयात्मक पहेलियो मे वर्ण्य-विषय या अप्रस्तुत स्वय अपनी विशेषताओ का परिचय देता है। जैसे—

"जैपर म्हारो सासरो, बूदी म्हारो पीर
कोटे म्हारी भाइली, ऊमे म्हारो जीव।"[2]

(३) आत्मानुभूत पहेलियो मे वर्ण्य विषय नही, वक्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव को प्रदर्शित करते हुये पहेली प्रस्तुत करता है। जैसे —

"जल भरी झारी म्हारै सराणै धरी
सारी मारी रात म्हू तो तसाया मरी।"[3]

(४) परवस्तु-निदशक पहेलियो मे दो सम आकारवाली वस्तुओ का निर्देश किया जाता है। उस प्रकार के नाम साम्य वाली तीसरी वस्तु का नाम श्रोता की स्मरण शक्ति अथवा अनुभव से निकलता है जैसे —

"एक तो सूड गवानन की, दूसरी सूड हाथी की।
तीसरी आप बता दीज्यो, न तर याकी लोठी नै गणे मैलो जी।"[4]

हाडौती प्रहेलिकाओ के वर्ण्य-विषय

हाडौती पहेलियो के वर्ण्य विषय विविध है। साधारण से साधारण वस्तु भी पहेली का विषय बन जाती है। ज्यो ज्यो सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यो त्यो इनकी सख्या बढती जाती है। यह भी देखने मे आता है कि एक ही वस्तु पर कई प्रतिभाओ का ध्यान जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से उस वस्तु का चित्रण प्रस्तुत होता है। उदाहरण के लिये सिंघाडे के लिये निम्नाकित चार पहेलिया दृष्टि-पथ मे आई हैं।

(क) ऊची सी छतरी टूक की, मोदण कतरे जी पान।
कतर कतर बडला करया, चावो राजकवार॥

(ख) रग रग्यो, तीन सींग्यो।
घोली गाय, दूध मीठो॥



---

१ गन्ना २ बीजणी या पखा ३ इत्र की शीशी ४ चरस।



बालक और महिलायें ही प्रहेली कहते-सुनते देखे जाते है । वैसे स्त्री-पुरुष सभी म उनके प्रति रुचि देखी जाती है, किन्तु प्राय देखा गया है कि इस कला मे स्त्रिया ही अधिक प्रवीण होती हैं । प्राचीन काल से पहेली का स्त्रियो की कला समझा जाता रहा है । जैन कल्पसूत्र मे प्रहेली को स्त्रियो की एक कला बताया गया है । कल्पसूत्र मे वर्णन आया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को जिन चौसठ कलाओं का बोध कराया था, उनमे एक प्रहेलिका भी थी। प्राचीन समय मे पहेली द्वारा वर-वधू एक दूसरे के बौद्धिक स्तर का मूल्याकन करते हुये परस्पर माधुर्य भाव का तादात्म्य स्थापित करते थे । इसीलिये यह विकसित परम्परा विकसित एव अविकसित सभी परिवारो मे पाई जाती है ।

विवाहसस्कार मे कवर कलेऊ पर, वधू को लेने आये हुये अतिथियो के लिये, सगाई सम्बन्ध के अवसर पर, बाईजी को लिवाने के लिये नणदोई के प्राप्त होने पर अथवा समधी-समधिन के आगमन पर सध्या के समय हाडौती प्रदेश मे गीत गवाने की प्रथा प्रचलित है । गाल-गीतो की समाप्ति होने पर अतिथि की बुद्धि-परीक्षा के लिये एकत्र हुई महिलाओ के द्वारा पहेलिया बूझी जाती हैं । स्त्रिया पेहलिया गाती है और अतिथि उनका उत्तर देते हैं । आजकल भी यह पद्धति इसी रूप मे विद्यमान है, किन्तु परम्परा का निर्वाह मात्र ही इस प्रथा का एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है ।

हाड़ौती लोक-प्रहेली पूछने का ढग

हाडौती पहेलिया महिलाओ द्वारा रागविशेष अलापकर गायी जाती है । सगीत और साहित्य के इस अनुपम सामजस्य से श्रोताओ की हृत्तत्री झकृत हो उठती है । पहेलियो को गाते समय अपने प्यारे पाहुनो के लिये अनेक विशेषण लगाये जाते हैं । जामता के लिये कवर विहारी और राजकवार, समधी के लिये रसिया ब्याई जी, भोला ब्याई जी, चतर-बिहारी आदि तथा सामान्य अतिथियो के लिये रगीला फाऊणा, छबीला फाऊणा और प्यारा फाऊणा विशेषण प्रयोग मे लाये जाते हैं । कभी-कभी श्रोताओं के उत्साहवर्धन के लिये "पडत जोसी करो बच्यार, या साथ्या मे कुण सरदार"—इस अर्द्धालिका का पाठ किया जाता है । पहेली पूछने का ढग निम्न प्रकार है —

जी बियाइजी, धोली जी धोली बेलडी, धोला छाया फैल
फैरया सुं दुख नीपजै, लागे घणीं सरूप
चतर म्हाकी पयाली को फल खोज्यो जी
क अन्तर कपट्या छो जी बियाईजी,
वोलो न, अमरत बोल ।

श्रोता की बुद्धि पर शाण चढाने के लिये महिलायें पहेली पूछती हुई उत्तर अर्द्धालिकाओ मे यहा तक कह देती है कि यदि हमारी पहेली का उत्तर न दे सको तो अपनी मा पत्नी को हमारे गिरवी रखकर इसका उत्तर पूछिये । यदि अतिथि पहेली का उत्तर न दे सके तो उसे हार स्वीकार करनी पडती है । पहेली प्रस्तुत करते समय ही महिलाये कह देती हैं कि हमारी पहेली न बता सको तो नाक कटा कर यहा से उठिये । यदि कोई अतिथि नकटा बन जाये और हार स्वीकार न कर सके, तो उसे स्त्रियो द्वारा गाव बलाई या मीणे का पुत्र कहकर सम्बोधित किया जाता है । पयाली के फल को न बता सकने पर महिला मडल द्वारा नाको मे तीर-चलाना तो साधारण बात है । इसके साथ ही हार जाने वाले श्रोता को चक्की—चलाने का विधान भी बना दिया जाता है । हर प्रकार उत्तर मे विफल होते रहने पर महिलायें यहा तक कह देती है कि जो हमारी इस पहेली का फल न बतावेगा, वह कालीसिंध नदी का पत्थर होगा । यहाँ तो उनकी वचनावलि की सीमा समझनी चाहिये, क्योकि मेधा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की चेतना के स्पन्दन की यहा समाप्ति हो जाती है ।

हाडौती प्रहेलिकाओ की प्रकृति

ज्ञान की थाह लेने वाली पहेलियो की रचना कई प्रकार से होती है । वक्ता भेद से उनकी प्रकृति भिन्न-

भिन्न प्रकार की हो जाती है। प्रकृति के अनुसार हाडौती पहेलियो का वर्गीकरण निम्नप्रकार मे किया जा सकता है —

(१) सामान्य वर्णनात्मक

(२) स्वय परिचयात्मक

(३) आत्मानुभूत

(४) परवस्तु-निदेशक

(१) सामान्य वर्णनात्मक प्रकृति वाली पहेलियो मे वक्ता सामान्य वर्णन के द्वारा वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की पहेलियो की संख्या सर्वाधिक है। उदाहरण के लिये निम्न पहेली देखी जा सकती है —

> "एक लाकडी अडड, जे बोलै चडूड।
> जीं की छाल छल्लादार, जीने खावे बल्लादार।"[1]

(२) स्वय परिचयात्मक पहेलियो मे वर्ण्य-विषय या अप्रस्तुत स्वय अपनी विशेषताओ का परिचय देता है। जैसे—

> "जैपर म्हारो सासरो, बूदी म्हारो पीर
> कोटै म्हारी भाइली, ऊमे म्हारो जीव।"[2]

(३) आत्मानुभूत पहेलियो मे वर्ण्य विषय नही, वक्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव को प्रदर्शित करते हुये पहेली प्रस्तुत करता है। जैसे —

> "जल भरी झारी म्हारै सराणै धरी
> सारी मारी रात म्हू तो तसाया मरी।"[3]

(४) परवस्तु-निदेशक पहेलियो मे दो सम आकारवाली वस्तुओ का निर्देश किया जाता है। उस प्रकार के नाम साम्य वाली तीसरी वस्तु का नाम श्रोता की स्मरण शक्ति अथवा अनुभव से निकलता है जैसे —

> "एक तो सूड गजानन की, दूसरी सूड हाथी की।
> तीसरी आप बता दीज्यो, न तर याकी लोठी नै गंणे मैलो जी।"[4]

हाडौती प्रहेलिकाओ के वर्ण्य-विषय

हाडौती पहेलियो के वर्ण्य विषय विविध है। साधारण से साधारण वस्तु भी पहेली का विषय बन जाती है। ज्यो ज्यो सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यो त्यो इनकी संख्या बढती जाती है। यह भी देखने मे आता है कि एक ही वस्तु पर कई प्रतिभाओ का ध्यान जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार मे उस वस्तु का चित्रण प्रस्तुत होता है। उदाहरण के लिये सिघाडे के लिये निम्नांकित चार पहेलिया दृष्टि-पथ मे आई हैं।

(क) ऊची सी छतरी टूक की, मोदण कतरे जी पान।
  कतर कतर बडला कर्‌या, चावो राजकवार ॥

(ख) रग रग्यो, तीन सींग्यो।
  धोली गाय, दूध मीठो ॥



---

१ गन्ना २ बीजणी या पखा ३ इत्र की शीशी ४ चरस।



(ग) कालो फाणी दमका कर, भैंस्या पटी पचास ।
झोट्या झोट्या छाटज्यो, ज्या को दूध उफाणो जावे ।।

(घ) रींग गींग्यो, तीन सींग्यो ।
खाल कड्डी, मास मीठो ।

प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की योजना का जो विधान पहेलीकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उसमे ग्रामीण वातावरण स्पष्टत प्रतिविम्बित होता है। ऐसे उपमानो का सयोजन वर्ण्य विषय के साथ प्राय नही किया जाता, जिनकी प्रतीति सामान्य मनुष्य की पकड के बाहर हो। विषय के अनुसार हाडौती पहेलियो को मोटे तौर पर निम्न लिखित वर्गों मे बाटा जा सकता है—(१) धर्म सम्बन्धी (२) कृषि सम्बन्धी (३) प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी (४) गृहवस्तु सम्बन्धी (५) वस्त्र भूषण सम्बन्धी (६) भोजन सम्बन्धी (७) वृक्षफलादि सम्बन्धी (८) पशुनरीसृपादि सम्बन्धी (९) व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी (१०) शरीरावयव सम्बन्धी ।

१ धर्म सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत ईश्वर, मन्दिर, धार्मिकसिद्धान्त तथा पूजा सम्बन्धी उपकरणो का समावेश किया जा सकता है । हाडौती की जनता आस्तिक है और भक्ति को प्रधानता देती है। भोजन करने से पूर्व प्रतिदिन मन्दिर मे बैठे हुये भगवान के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

"म्हा तो थ्हारै आवा जावा, अन्न फाणी न खावा ।
थ्हा तो म्हासू मुखण न बोलो, गुण म्हा खुण का गावा ।"

इस पहेली का रहस्य 'थ्हां' शब्द मे छिपा हुआ है। एक आस्तिक भोजन से पूर्व मन्दिर पर नित्य दर्शन करने जाता है। भगवान की प्रतिमा मुह से नही बोलती, फिर गुणगान किसका किया जाये ? इस पहेली मे मनुष्यो के प्रत्यक्ष व्यवहार को लेकर ईश्वर सम्बन्धी सामान्य व्यजना प्रदर्शित की गई है। शख के सम्बन्ध मे एक पहेली इस प्रकार है—

"भूरी भैंस भराडो पाडो ।
पकड्यो सीग, करयो अड्डाटो ।"

इस पहेली मे भूरी भैंस (शख का कीडा) ने भराडे (नाटे) पाडे को जन्म दिया है। शख के पिछले भाग रूपी पाडे के सीग ज्यो ही पकडे, त्यो ही वह अर्राा उठता है अर्थात् शख को पकड कर फूक मारने से वह बज उठता है।

२ कृषि सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत कृषि-कर्म उपकरण, फसले, खेत आदि आते हैं। चने के पौधे के के लिये एक पहेली इस प्रकार है —

'एक नर सूतो माल मे, ओढ्या हरी जी सोड,
नीचै लटकै घूघरा, ऊपर मोत्या का पान ।"

एक नर माल मे हरी (सोड) चादर ओढकर सो रहा है। नीचे घूघरे लटकते हैं और ऊपर मोती के पत्ते हैं। चना पुल्लिग होने से नर कहा गया है। उसके शयन के स्थान और ओढने की दुलाई का सकेत करते हुये नीचे लटकते हुये गुच्छो द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान कराया गया है। पत्तो पर खार जम जाने से वे मोती जैसे चमकते हैं।

३ प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी पहेलियो मे ऋतु, मास, आकाश, चन्द्र, चन्द्रिका, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थ उपमित होते हैं। चन्द्रिका का मानवीकरण करते हुये एक पहेली इस प्रकार कही गई है ।

"धोली साडी धोलो घाघरो, धोलो मारुणी को रूप ।
उजली बतीसी, बडला पान का, मोत्या तपै छै ललाट ।"

श्वेत साडी, श्वेत लहगा, श्वेत रूप, श्वेत दन्त-पक्ति और नक्षत्र रूपी श्वेत मोती जिसके ललाट पर चमकते है चन्द्रिका के सर्व श्वेतमय रूप की इस पहेली मे झाकी प्रस्तुत की गई है ।

नक्षत्रो के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

"माली की वाडी फुल री र लाल, जी ने तोडवा हालो कुण छै ?
रगीला फाऊणा रै लाल छबीली फाऊणा रै लाल ।"

"ईश्वर रूपी माली की आकाश रूपी वाडी फूल रही है । इसे तोडने वाला कोई नही है । नक्षत्रो से भरे हुये आकाश का रूपक इस पहेली मे बाधा गया है ।"

(४) गृहवस्तु सम्बन्धी पहेलियो मे चक्की, किवाड, साकल, कुन्दा, ताला, सिगडी, पखा, टिकटी, नवा खुरचणा, चमचा, थावणा, रई, तराजू आदि घर-गृहस्थो के प्रतिदिन उपयोग मे आने वाली वस्तुओ पर बनी हुई पहेलिया आती है । छाछ बिलौने के लिये रई पर निम्न पहेली कही गई है—

'धार धडूक्या चक चक बोली, बोली अमरत वाणी ।
भर्या समदर मे जा पडी, ऊपर सू मांग्यो पाणी ।"

सर्व प्रथम दही के भाण्ड मे रई डालकर धीरे धीरे चलाई जाती है । उस समय वह चक चक शब्द करती है मानो अमृतमय वाणी बोल रही हो । भरे हुये (माट रूपी) समुद्र मे गिरने के पश्चात् भी ऊपर से पानी मागती है । मक्खन निकालने के लिये माट मे ठण्डा पानी डाला जाता है ।

अनाज पीसने की चक्की के लिये निम्न पहेली प्रस्तुत —

"एक सींग की डागरी, जतरो नीरै, जतनोई खावै ।
चतर म्हाकी पयाली को फल खैंचो जी ।"

इस पहेली मे चक्की को एक सीग की डाँगरी (गाय आदि पशु-डगर) कहा गया है । एक सीग से तात्पर्य चक्की चलाने के लिये लगे हुये हत्थे (हातली) से है । चक्की में जितना डालते है, उतना ही खा जाती है । इस पहेली मे वस्तु सम्बन्धी सामग्री तो ऊपर की ही पक्ति मे है । दूसरी पक्ति तो पाद पूर्ति के लिये कही गई प्रतीत होती है ।

५ वस्त्राभूषण सम्बन्धी पहेलियो मे पगडी, कचुकी, अगरखी, धोती आदि वस्त्र तथा चूडा, नथ, कान की गुट्टी, मोती बिछिया, फोलरी आदि आभूषण आते है । पगडी का रहस्य निम्न पहेली मे कहा गया है । इसमे स्त्री वक्ता व्यक्तिगत अनुभव व्यक्त करती हुई कहती है ।

"सोला सोला हात की साडी म्हारे सराणे धरी ।
सारी सारी रात म्हू तो स्याई मरी ।"

पगडिया प्राय सोलह हाथ की हुआ करती हैं । साडी के स्थान पर उसका उपयोग नही किया जा सकता । यहाँ केवल पगडी की लम्बाई का और शरीर पर पहनी जाने मे असमर्थता का सकेत करके रहस्य को छिपाया गया है । चूडे के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

"हरियो जी पेलो लीलडो, आय कसूमल रग ।
नारी ज्यू परण चढ़ै, दन ऊतरे न रात ।"

हरा, पीला, नीला, मध्यम मे कसूमल रग वाला, नारी के विवाह के समय से ही चढता है जो दिन और रात उतरता ही नही है । चूडा स्त्रियो का सुहाग चिह्न माना जाता है । उसमे उक्त विविध रग होते है ।





६ भोजन सम्बन्धी पहेलियो मे दूध, दही, मक्खन, छाछ, रोटी, पापड, गदोडा, जलेबी नमक, मिर्च, शहद पान, सुपारी आदि वस्तुए आती हैं। मक्खन विषयक निम्न कहावत द्रष्टव्य है —

"सल डूबै, लोडी तरै, जल मे छायो पाप।
एक अचम्भो मैं सुण्यो, बेटी ने जायो बाप।"

'शिला डूबती है और बटटा (लोडी) तैरता है। जल मे पाप छा गया है। मैने एक अचम्भा सुना है कि पुत्री ने पिता को पैदा किया है।" इस पहेली का शब्दार्थ तो इस प्रकार है। इस मे दही को शिला (जो पानी मे डूब जाती है) और मलाई को बट्टा(जो पानी मे तैरता है) कहा गया है। जल डालते ही मक्खन पाप के रूप मे ऊपर छा जाता है। छाछ रूपी बेटी मक्खन रूपी बाप को जन्म देती है यह आश्चर्य की बात है। शहद के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

"बन कडछू, बन खुरचणो, बन फाणी बन आग।
सुन्दर सीरो कर रही, होयो ब्होत सवाद।"

बिना कडाही, बिना पल्टे, बिना पानी और बिना अग्नि के सुन्दरी हलुआ बना रही है। वह बहुत ही स्वाद बना। शहद की मक्खी रूपी सुन्दरी द्वारा शहद का निर्माण का यह रूपक बडा हृदयग्राही है।

७ वृक्ष फलादि सम्बन्धी पहेलियो मे आम, जामुन, तेंदू, अनार, सिंघाडा, रेंण, कैंथ, खजूर, खरबूजा, इमली निम्बोली, मूगफली, ककडी, बैंगन, नारियल, प्याज आदि पदार्थों से सम्बन्धी पहेलिया आती हैं। आम की गुठली के लिये निम्न पहेली कही जाती है —

"गगन सतारा हींदती, मुखडै पडती लाल।
थ्हाहीं जमारो धारती, चामडी चामडी बाल।"

आम की गुठली आकाश मे नक्षत्रो के साथ झूलती है। उसके मुख से लार गिरती है। ऊपर ही जन्म लेती है और जिसकी चमडी पर बहुत अधिक बाल होते है। सिंघाडे के लिये प्रस्तुत एक पहेली इस प्रकार है —

"ऊची सी छतरी टूक की, मोदण कतरै जी पान।
कतर कतर वडला कर्‌या, चाबो राजकवार।"

जामाता का सिंघाडे द्वारा मानसी स्वागत करने के लिये वातावरण के चित्रण द्वारा सिंघाडे का रहस्य बताया गया है। टोंक के बाहर की एक पहाडी के नीचे की एक झील मे सिंघाडे बहुत होते हैं। सिंघाडे वाली स्त्रिया इनको तिकोना काटती है। पान की तरह इनको बना देती है। सिंघाडे को चबाया जाता है। अत यहा चबाना क्रिया का प्रयोग किया गया है, जो उपयुक्त है।

८ पशुपक्षीसरीसृपादि सम्बन्धी पहेलियो मे सूकरी, साप, बिच्छू, दीमक, बीरबहूटी, आदि जीवो पर पहेलियाँ कही गई हैं। दीमक पर पहेली निम्न प्रकार है —

"अत्तर तोडू, पत्थर फोडू, फोडू सीसम सीसा।
बना फाणी के म्हैल बणादू, म्हू कारीगर कैसा ?"

"पृथ्वी की परत तोडने वाला, पत्थर और सीसे को फोडने वाला तथा बिना पानी के महल बना देने वाला कारीगर कैसा ?"

वीरबहूटी के लिये "हरया खेत मे लोई को टपको" कहा जाता है। सावन के दिनो मे हरियाली के बीच मे वीरबहूटी की उपमा रक्त की बूद से दी गई है।

९ व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी पहेलियो मे भिन्न-भिन्न उद्योगो की साधन-भूत वस्तुओ पर कही गई पहेलियाँ सम्मिलित होती हैं। इस वर्ग मे कागज, कलम-दवात, तलवार, सारगी, तराजू, मशक पतल आदि वस्तुये आती है। सारगी पर एक पहेली निम्न प्रकार है —

> "चार चतर चाल्या चाकरी, लाया उडदगी नार।
> न तो खावै न जल पीवै, बोलै सारी रात।"

"चार चतुर (सगीतज्ञ) चाकरी मे चले। एक उडदगी स्त्री को ले आये। वह न खाती है और न पानी पीती है, किन्तु सारी रात बोलती रहती है।" ऊपर की पक्ति मे वृत्त्यनुप्रास की छटा दर्शनीय है। योद्धा की तलवार के विषय मे पहेली इस प्रकार है —

> "काली छी, कोडाली छी, काला वन मे रै छी।
> लाल पाणी पै छी, मरदा क खादै रै छी।"

"तलवार काले म्यान मे रखी जाती है। धार पर अबर वाली अन कौडाली होती है। रक्त रूपी लाल पानी पीती है और मर्दों के ही कन्धे पर शोभा देती है। नामर्द इसे धारण नही कर सकता।"

१० शरीरावयव सम्बन्धी पहेलियो मे आख, नाक, कान, हथेली आदि का वर्णन होता है। आख पर एक पहेली निम्न प्रकार कही जाती है —

> "तल जतनी सी ओवरी, जो जतनो सो क्वाड।
> जीमे सूदर सापडी, रपट पड्या मोट्यार।"

तिल के बराबर कोठरी और जौ के बराबर किवाड है। उसमे सुन्दर वन्द है। उसे देखते ही युवक रपट पडते है। सुन्दर नेत्रो के प्रति आकर्षण स्वभावत होता है। इसी प्रकार हथेली के विषय मे पहेली इस प्रकार है —

> "पाच पीपल्या पदम तलाई।"

शब्दार्थ है कि कमलो की तलैया पर पाच पीपल के पेड खडे हैं। कितना सुन्दर रूपक है। हथेली को उपमा कमल से सर्वत्र दी गई है। हथेली के मध्य भाग को कमलो की तलैया और पाँच अगुलियो को पाच पीपल की उपमा दी गई है। हाथ को कमल की उपमा शिष्टसाहित्य मे प्रचुर मात्रा मे दी जाती रही है।

बाल प्रहेलिकायें

छोटे-छोटे बच्चो मे प्रहेलिका के प्रति जिज्ञासा भाव पैदा करने तथा उन्हे प्रहेलिका साहित्य का शिक्षण देने के लिये बालोपयोगी पहेलिया हाडौती लोक साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। ये पहेलिया युवको एव प्रौढ व्यक्तियो से पूछी जाने वाली पहेलियो की अपेक्षा सरल होती हैं। इनमे उलझनें कम होती है। बाल-मनोविज्ञान का पूरा-पूरा ध्यान इनमे रखा जाता है। जिस अवस्था मे जितना वस्तुज्ञान अपेक्षित है, उसके अनुसार ही पहेलिया होती हैं। वृद्धा माता, दादी या नानी सोने समय रात्रि मे बच्चो से पहेलिया पूछती हैं। बच्चे पहेली की शब्दावली को सावधानी से सुनते हैं। माता या मातामही के मुख से ज्यो ही "अधेरा घर मे दी को टपको"—पहेली निकली कि बच्चे का मस्तिष्क दही जैसी सफेद और टपके जैसी गोल वस्तु की खोज मे लग जाता है। अब तक जितने सफेद और गोलपदार्थ उसके अनुभव मे आये हैं उन सबका नक्शा उसके सामने आ जाता है। वह कभी दही-वडा और कभी बताशा बताने लगता है। जब माता ना ही करती जाती है और बालक की बुद्धि मे थकावट बढती जाती है, तब वह कह उठता है कि माँ तू बता। तब माता "चाँदी का रुपया" कह कर उसकी जिज्ञासा को शान्त कर देती है। इसी प्रकार थोडे बडे बच्चो से माता पूछती है —





"छोटो सो मनीराम, बडी भारी पूछ ।
ऊ ग्यो मनीराम पकड लाओ पूछ ।"

वालक के सामने यह पहेली आते ही उसको लम्बी पूछ वाले मनीराम की तलाश होती है । बडी पूंछ वाला चूहा बाल-बुद्धि मे आता है । इस प्रकार अन्य वस्तुओ का निर्देश करता हुआ वालक थक जाता है, तो माता सूई-डोरा बताकर उसकी जिज्ञासा शान्त कर देती है । बालक के अनुभव और ज्ञान की परिधि मे आने वाले विषयो पर ही बालको से पहेलियाँ पूछी जाती है ।

अनन्वयफल-प्रहेलिकायें

कभी कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि पुरुष-श्रोता-वर्ग महिलाओ द्वारा पूछी गई प्रहेलिकाओं का उत्तर देता चला जाता है और स्त्रियां पहेली कहते कहते थक जाती हैं । ऐसी परिस्थिति मे कुछ ऐसी पहेलिया कही जाती है, जिनका कोई उत्तर नही होता । इस प्रकार की पहेलियो को हाडौती लोक भाषा मे "ओरावण्याँ" कहा जाता है । ये आरोवणा पहेली का अर्थ बताने वाले को चक्कर मे डालने के लिये कही जाती हैं । जैसे ही श्रोता इन पहेलियो के अर्थ को जानने के लिये अपनी बुद्धि को दौडाता है वैसे ही महिला समाज को कुछ विश्राम मिल जाता है । इन पहेलियो का अर्थ नही निकलता । प्रत्यक्ष रूप मे तो यह विश्वास नही होता कि इनका कोई अर्थ नही है । ओरा-वण्यो के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है —

"पैली सूना राखडी, पैली चणा की माल ।
रगीला फाऊणा रे लाल, छबीला—फाऊणा रे लाल ।"

दूसरी इस प्रकार है —

"चींटी ने मूत्या मूतणो, जी की धार बलींडे जाय ।
रगीला फावणा रै लाल, छबीला फाऊणा रै लाल ।"

हाडौती पहेलियो की रचना बडी सरल है । इनमे अनुप्रास, रूपक, श्लेष आदि अलकारो की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है । कही ध्वनिवैचित्र्य और शब्दवैचित्र्य द्वारा वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है । कही-कही दृष्टिकूट शैली द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा की सृष्टि की जाती है, जिनका सम्बन्ध ढूढने पर भी नही मिलता ।

कुछ पहेलिया शृ गारिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं । कही-कही ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जो यौन विज्ञान से सम्बन्धित हैं । अर्धसभ्य और असभ्य जातियो मे ये शब्द चित्र पर्याप्त सख्या मे मिलते हैं किन्तु अन्य जातियो मे ये स्वल्प मात्रा मे और सयत है । इस प्रकार की पहेलिया अबोध श्रोता के अवचेतन मन मे विद्यमान यौन ततुओ को स्पन्दित कर देती हैं ।

हाडौती पहेलियो का भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है । इनमे प्रयुक्त भावो और शब्दो का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि कुछ भाव और शब्द तो अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है । वैदिक साहित्य से उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है । कालक्रम के अनुसार हाडौती पहेलियो का अध्ययन कष्टसाध्य है । इनके सम्यक् विश्लेषण, अध्ययन और मनन से ज्ञात होगा कि युगो से चली आती हुई प्रहे-लिका की सबल परम्परा के अमिट स्वर आज भी लोक मानस मे गुजायमान है । हाडौती प्रहेलिका साहित्य की गरि-मामयी परम्परा का अनुशीलन कर विद्वान प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की रहस्यमय ग्रन्थियो को खोलने मे समर्थ हो सकते है ।

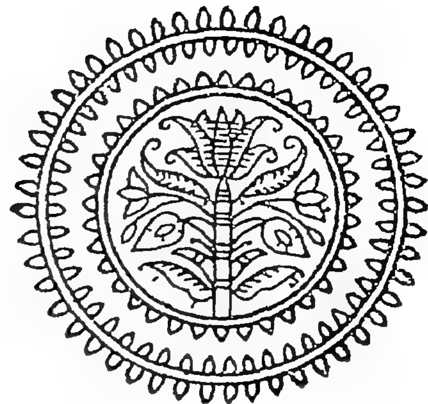
●

हाड़ौती लोकगीत में प्रकृति-चित्रण

डा० चंद्रशेखर भट्ट

एम० ए०, पी-एच०डी०

निदेशक, शिक्षा मूल्यांकन विभाग, अजमेर



हाडौती लोकगीतो मे वनस्पति-जगत् का हलके गहरे-रगो का छायातप, पक्षियो का स्वर-लय तरगित सगीत आदि का सश्लिष्ट वर्णन लोकगीतो के माध्यम से हुआ है। आकाश मे मुक्त विचरण करते हुए पक्षी, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन मे फैली हुई ऊषा की अरुणिमा और रजनी मे तारो से खचित नीलाकाश — यह समस्त प्रकृति का शृगार मानव के मन के भावो को सौन्दय-स्थिति प्रदान करता है। आसू तथा बरसात की बूंदो का यथातथ्य वर्णन एक गीत मे सरस हुआ है —

> **नैण बरसे सेज पर जी,**
> **आगण बरसे मेह।**
> **होडा-होड लग रही जी,**
> **इत सावण उत नेह।**

कैसी तुलना है एक वियोगिनी आसुओ की सावण की झडी से इधर बरसात की झडी है उधर उसके आसुओ की झडी है। इधर सावण का जोर है, तो उधर स्नेह की कमी नही है।

सावण आते ही क्या क्या साथ आ जाते हैं इसका भी एक लोकगीत मे वर्णन हुआ है —

> **लूम झूम नदिया लेहर**
> **ढोला बाग पतग भर बाथ।**
> **मोरा, सोर, ममोलिया रे**
> **सावण लायो साथ।**

एक और गीत मे लहराती नदियो के बहने का सश्लिष्ट वर्णन है —

> **अरड-खरड भैरु नदिया बहे छे**
> **बीचे जल का धोरा-बाबा मैं जी --**
> **—थाने ढोकवा आई रे घाटी का भैरु लाडला ।**

आलम्बन रूप से प्रकृति वर्णन तीन रूपो मे किया जाता है —

आह्लाद भाव से, आनन्दानुभूति से और आत्मतल्लीनता से

आह्लाद-भाव से प्रकृति दर्शन करते समय जन-कवि प्रकृति-वर्णन मे रम जाता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रग, रूप, ध्वनि आदि से मुक्त सौन्दय की कल्पना गहराई से करता है, और इस कल्पना मे फिर प्रगाढ सुख की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म कर कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। हाडौती गीत मे फूलो का आश्रय लेकर इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है --



फूल्यो जी करेलो, लटपट छा रही बेल
इत मरवो उत मोगरो, गुल तुर रौर गुलाव
मदमाती म्हेला चढी, पिय जाणें मेहताव,
प्यारा थाके आगन जी, फूल्यो जी करेलो
लटपट छा रही बेल।
बागा जाओ सायवजी, नीवू लाज्यो चार
नारगी मत ल्यावजो, सौकडल्या को सार
प्यारा थाके आगन फूल्यो जी करेलो,
लटपट छा रही बेल।

आलम्बन की स्थिति मे कवि की अनुभूति अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नही वरन् भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौन्दर्य साहचर्य मे कवि स्वय अपने को सजग पाता है, और यह सजगता विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त होती है—

चादा थारी चादणी सी रात रऽ
नणद भौजायां पाणी निसरी,
घड्ल्या तो मेल्यो छै समदर तीर
नणद तो खींचे छै भोजाई झेले री
झूमकी तो टाकीं छे बोर्या झाड के
रमबा ने चाल्या चम्पा वाग मे।

आत्म-तल्लीनता की स्थिति मे जन-गायक प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है। और उसके मन मे यह सौन्दर्य आनन्द के रूप मे स्वय अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है—

हरियाला आबा क'नीचे पालणो घलायो
हरियाला नीम क'नीचे पालणो घलायो
चिडिया बोली चूं चूं चूं
सो ज्या नन्हीं यू यूं यू
हरियाला रूखा पै बैठी
चिडियां बोली च्यू च्यू च्यू

ऐसे विरल सौन्दर्य-चित्र हाडौती गीतो मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। एक विरहिणी तो पावस के उद्दीपक चित्रो मे अन्दर ही अन्दर सिमटती-सी जा रही है, उसे चारो ओर सूना ही सूना नजर आ रहा है—

काली काली बादली मे
बिजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो बरसे रे,
भीजे म्हारी नुंई नुंई कोर
डूगर मे बोलरिया छै मोर,
विन साजन सू तडफू एकली
किया धराऊ धीज।

इधर पपैया वोल रहा है उधर वह अकेली डोल रही है परन्तु—

पपइयो बोल्यो एऽऽ
एजी मू बागा फिरू अकेली,
भवर भागा मे आज्यो जी
छैल बागा मे आज्यो जी
वैरी पपइयो कूके, जी थे ।
किण विध जीवू जी
पपइयो बोल्यो एऽऽ
ए जी मू बागा फिरू अकेली
भवर बागा मे आज्यो जी ।

हाडौती गीतो मे अलकारो के माध्यम से कई सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—

रेत का तो खेत बणाया
पानी की गुलक्यारी
चाद सूरज का बैल बणाया
राम लगाया हाली ।

इसी प्रकार एक अन्य गीत मे गोरी की उपमा गुलाब के फूल से दी गई है—

गोरी फूल गुलाब की जी
पडयो पलग के बीच
कलिया लूटो भवरजी ज थें
लाल नणद का वीर

हाडौती जन-साहित्य प्रहेलिकाए भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है जिनमे अलकारो के माध्यम से प्रकृति को प्रस्तुत किया गया है—

जी ऊची ढाण चरस का डोरा
लाग्यो चार पातला, पाणत करऽ
गोरी फर फर जाय—(भैंस)
जी लम्बा नल की मोरडी
बैठी जाजम राल
जी आधो पगल्यो मालवो
आधो नागर चाल—(हुक्का)

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवी-करण है । यह प्रवृत्ति वैदिक काल से चली आई है । सूर्य, चन्द्र, वायु, जल और मेघ आदि को देवत्व प्रदान करना ही मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है । वह अपने समाचार तोते से कहती है—

उड रे सूवा तू पचरग्या
जाजे रे मार' पीयर, घू की आमलियाँ ।
म्हारा दादाजी मले तो यू कीजै
थाकी बेट्या वसे छै परदेस
घू की आमलियाँ





म्हारा बीराजी मले तो यू कीजै
थाकी बहन बसे छै परदेस
घू वी आमलियां

विरहिणी ऐसी दुखिनी होती है कि उसकी व्यथा से सारे जगल की वेलें, वृक्ष एव लताए भी भुरने लग जाती हैं, एक विरहिणी कुरजा को सन्देश देती हुई कहती है—

कुर्जडी मारी वेनजी, पांख उदारिल्या
पीव मल्या उच्छव करा मे, भलकर पाछीद्या
गगन उडा बेचु गा अदबिच वासिल्या
मे परदेशी कुर्जडा पाख कुणीन ददरा।

एक भाई अपनी वहिन से मिलने के लिये जा रहा है, वह पशु को भी अपने समान समझता है, उससे तदात्मय स्थापित करता है, और उसे जोश दिलाता हुआ कहता है—

चालो म्हारा बलद्या उतावला रे
म्हारी मां की जाई जोवे बाट
चाल्यो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे बाट
गाडो तो रलकी रेत मे रे बीरा
हो गई गगना—गोट
बलद्या का चमक्या सींगडा रे
म्हारे बीराजी की पचरग पाग

रहस्यमय प्रकृति मे जन-कवि परमतत्व के दर्शन करता है, और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्म के दर्शन का माध्यम बन जाती है। 'शिकार गीत', जिसमे शिकार के माध्यम मे लोगो को परम-तत्व की याद दिलाई है।

अठीन' डू गर अठीन मारवर
अध बिच घेरो घाल्यो राज
छोड छोड रे सपन सुरगा
कई हठ लाग्यो रे

इधर मोह-ममता का फन्दा है, तो इधर माया ने अपनी हाट सजा दी है और बीच मे भोला मानव दिग्भ्रमित सा चक्कर लगा रहा है, उसके चारो तरफ घेरा डाला हुआ है।

ऐ मानव, उठ! निद्रा को त्याग। इन सुनहरे स्वप्नो को भूल जा, ज्यादा हठ ठीक नही हैं।

इन गीतो मे आध्यात्मिकता की गगा प्रवाहित हुई है, वहा मीरा-सी तन्मयता भी है। पचरग चोला प्रेम माधुर्य से भीज रहा है—

काली काली बादली मे
विजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो वरसे रे।
भींजे म्हारी नुई नुई कोर

डुगरिया में बोले छे मोर
उजली चादर राखू ज्यू की ज्यू
रेण अधेरी बिजली झपके रे
काली काली बादली मे
बिजली चमके रे

हाडौती गीतो मे ऐसे प्रयोग प्रचुरता से हुए है। हरियाली सृजन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। लोक-जीवन के लिये हरियाली से बढकर कोई अन्य सुख नही है। इसलिए किसी भी समय, किसी भी पर्व पर आशीर्वाद भी दिया जाता है तो हरियाली से बाहर के कोई उपमान ही नही सूझते। बहिन भाई को आशीर्वाद देती है, तो कहती है—

वधज्यो रे बीरा, बड पीपल ज्यू
फलज्यो रे बीरा, कडवे नीम ज्यू
बीरा वधज्यो ओ हरियाली दूब।
वधज्यो रे बीरा बेला ज्यू
फलज्ये ए भावज, फल फूला ज्यू
वधज्ये ए, भावज, मायली दूब ज्यू
बीरा फूलज्यो रे फलज्यो आमा री डाल ज्यू

जहाँ पक्षियो का वणन हाडौती लोक-गीतो मे प्रचुरता से हुआ है, वहा पशु भी पीछे नही रहे। विवाह के अवसर पर घोडी को वधू की तरह सिणगारा जाता है—

घोडी ने तुररा री झडप उडाय
केसरियो लाडो परणवा ने जाय
घोडी ने नीरा नागर पान
केसरियो नीरो परणवा ने जाय।

गाय उसके परिवार की मुख्य सदस्या है, एक लोकगीत मे इनकी त्वरता का भी वर्णन हुआ है—

साथीडा म्हारा, गायां ने बेगी छोड रे
हा रे रग मरदाना
गाया ने बेगी छोडो रे
दनडो ऊगो आयो रे
सथीडा म्हारा गाया ने थोडी ढाबो रे
हा रे रग मरदाना
गाया ने थोडी ढाबो रे।

गाय जहाँ उसकी मातृ-स्वरूपा है, तो बैल उसके भाई हैं, सुख-दुख के साझी, हिम्मत बधाने वाले, अकाल और कष्ट से पार लगाने वाले। फिर लोक-गायक क्या उन्हे भूल सकने हैं? देरी हो रही है, भाई को बहिन के घर जाना है। कही देर न हो जाय, कही बहिन कुछ और न सोच ले, वह बैलो को शीघ्रता से चलने के लिये प्रोत्साहित करता है—

चालो म्हारा बलद्या उतावला रे
म्हारी मा क जाई म्हाले वाट
चालो म्हारा धोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे वाट।





गाडी तो रलकी रेल से रे वीरा
हो रही गगना गोट
बलदा का चमदया सींगडा रे
म्हारे वीरा जी की पचरगी पाग

भारतीय जीवन कृषि प्रधान है, यहा प्रकृति का मुक्त रूप देखा जा सकता है। भारत के विभिन्न गावो की तरह हाडौती ग्रामो का भी एक अनोखा आकर्षण है। इन गीतो मे खेत-खलियान, नदी-नाले, पग-डडिया, कच्चे-रास्ते गाडी-गडार, कुए, सरवरिया री पाल तथा उद्यानो आदि का सहज वर्णन हुआ है। हाडौती जन-जीवन सामान्य जीवन है। पति खेत मे हल चला रहा है, स्वय बैलो को हाक रहा है।[1] स्त्री रोटियाँ और छाछ लाई है।[2] स्त्री गाव के किनारे स्थित सरोवर जाती है, समदर तालाब से घडा भर कर लाती है।[3] उसका काकड वाला खेत है।[4] जहा उसका पति हल चलाता है। वह खुश है। अपने पति के विषय मे वडे भाई के प्रति आभार प्रदर्शन करती हुई कहती है, हे भाई ! धन्यवाद है। तुमने ठीक किया, सो हाली सा बहनोई चुना। हे पिता ! तुम भले ही परणाई इस घर मे, अच्छा जवाई ढूंढा है—

भला ही जणी छी री म्हारी
राता देयड माय
भलो ही हालीडो वर हेर्‌यो
भला ही परनाई र म्हारा जरमर बामी वाप
कान्ह कवर वीर, भला ही हालीडों वर हेरियो।

उमे इससे ज्यादा चाहिए क्या ? सुखी जीवन है, ग्राम है, स्वय का निर्मित मकान है, सुन्दर पति है, खेत है, खलिहान है, उसका पति हल चलाता है, वह खाना पहुँचाती है और दोनो मिलकर हस-हस कर खाते है, इससे ज्यादा सुख उमे चाहिए ही क्या ?

घर लिपे-पुते हैं, जिसमें गोबर और पीली मिट्टी होती है।[5] वह अपनी झोपडी को ही स्वर्ग समझती है, विशालमहलो के समकक्ष मानती है।[6] उसके महलो के वजर किवाड है।[7] उसके महल की ऊँचाई इतनी ऊँची

---

१ मु हल हाकू ए गोरी आपणू, बौड घडो भर ल्याव।

२ माय' हो लीन्हीं जी हाली भस की डाल, हाथ रोट्या अर छाछ।

३ झड झड झडया छे हालण का मोर, दौडी गई कुवा बावडी देख्या देख्या समद तलाब।

४ कस्यो ओ दीखे री बाई थारो काकड खेत
तो दो हल हाकै री थारा घर धणी।

५ या तो गोबर पीली की कीच मची
म्हारो घर लीप्यो ई जाय।

६ भवर म्हारे मेला ग्राज्यो जी
ऊची अटाडी दिवलो वले।

७ तोडया जी तोडया वजर किवाड।

है कि वह चढते-चढते ही थक जाती है।[1] ऊपर चढकर वह अपने पति की वाट जोहती है, झरोखे से झांकती है।[2] घर उसका लिपा-पुता होता है, केसर और कूंकू की गार डाली जाती है। और चंदण चौक पुरा जाता है।[3]

हाडौती के कई लोक-गीतो मे बाजार, गलियो, दुकानो आदि का वर्णन भी आया है।[4] प्रवेश द्वार मे वृक्ष का होना शुभ माना गया है। विशेषत केले का वर्णन मिलता है।[5]

ग्राम-मार्गो पर दौडती हुए बैलगाडियो का सौन्दर्य-वर्णन गीतो मे बडी ही स्वाभाविकता से उतारा गया है। मायके की ओर जाने वाली गाडी की उडती धूल तो उसे केसर और कुकुम से भी ज्यादा सुहावनी लगती है।[6]

हाडौती लोक-गीत प्रकृति-चित्रण से ओत-प्रोत है। प्रकृति के प्रत्येक छोटे से छोटे वर्णन का, दृश्य का अथवा क्षण को इतनी तन्मयता, स्वाभाविकता एव मर्मस्पर्शिता से ढाला गया है कि इन भोले अज्ञात अनाम जन-गायको के प्रति श्रद्धा से हमारे मस्तक झुक जाते है जिन्होंने ग्राम्य-संस्कृति-हाडौती लोक संस्कृति को सदा के लिये, गीतो मे बांधकर अक्षुण्ण बना दिया है।

---

१ थाको तो थाको बना रग जी ओ मेल,
चढता उतरतां थाको म्हारा राज।

२ मेला चढी ने जोवू राज री ओ वाट।

३ केसर कू कू की गार घुलाऊ चन्दण चोक पुराऊ।

४ कोटा रे बाजार से ये पाटडा घडाइजो—।

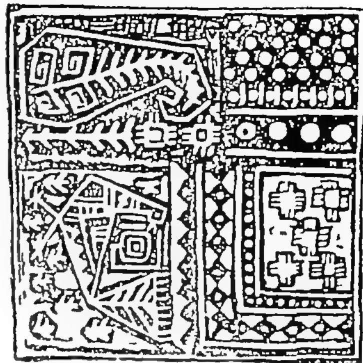
५ सूरज सामी म्हारा राज री पोल आगणिये
मे केल झबूकिया जो खाय।

६ म्हारे पीयरिये री गाडी झीणी उडे रे गुलाल
झीणो केसर कुआर माता जी ये आगल खोल ज्यो।



हाड़ौती अंचल के व्रत तथा उत्सव

श्री हरिवल्लभ 'हरि'
कोटा (राज०)



हाडौती अचल का सम्पूण जीवन उत्सवमय है, आवालवृद्ध-वनिता वर्ण भर किसी न किसी उत्सव मे व्यस्त रहते है । उत्सवो की परम्परा के उत्स की कल्पना करके हृदय आश्चर्य से भर जाता है । कितना समृद्धिशाली होगा वह जीवन, कितना निर्द्वन्द्व और कितना निश्छल । जातीयता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत तत्कालीन लोक-जीवन मे हर्षोल्लास से परिपूर्ण जिन व्रतो और उत्सवो की उद्भावना हुइ, वे आज भी लौकिक-सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए है ।

प्रकृति ने रग बदला और लोक जीवन हर्ण से उन्मत्त होकर नाच उठा, युगान्तरकारी किसी धर्म प्रवर्त्तक का जन्मदिन आया और धर्मप्राण लोक-जीवन मे श्रद्धा तथा भक्ति की लहर दौड गई, व्यक्ति गत सस्कार मृत्यु, विवाह, अठमासा भी आनन्द के प्रतीक बनकर सम्पूर्ण जाति एव समाज के लिए उत्फुल्लकारी बन गये । वर्ण का कोई महीना ऐसा नहीं जिसमे कोई निश्चित उत्सव न मनाया जाता हो ।

लोकोत्सव कुछ स्थायी होते हैं और कुछ सामयिक । स्थायी उत्सव निश्चित तिथि पर प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं । होली, दशहरा, दीपावली जैसे बडे उत्सव तो इसके अन्तर्गत है ही, तेजा दशमी, जैसे वीर-पूजोत्सव भी इसी श्रेणी के है । कथाओ एव स्त्रियो के अनेक व्रत भी इसी कोटि मे आते हैं । सामायिक उत्सव अधिकतर व्यक्तिगत होते हैं, किन्तु उनमे जातीयता एव सामाजिकता का पूरा योग रहता है, लोकजीवन मे मैथिलीशरण गुप्त का इस पक्ति का वडा महत्त्व है —

'सुख बढ जाता, दुख घट जाता, जब है वह बट जाता ।'

लोक-जीवन व्यक्तिगत सुख और दु ख को भी सब मे बाट कर भोगता है । फलत उल्लास कारी उत्सवो मे तो सम्पूर्ण जाति, समाज और परिवार का योग रहता ही है, मृत्यु जैसी भयकर, किन्तु सुनिश्चित चीज भी सामाजिकता का बाना पहनकर उत्सव बन जाती हैं ।

लोक-जीवन जिन तत्त्वो से प्रभावित होकर आन्दोत्सव मनाने को ललक उठता है, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सास्कृतिक और प्रकृति जन्य होते हैं । पुत्रोत्पत्ति, पुत्र-पुत्री के विवाह, यज्ञोपवीत आदि अवसर तो व्यक्तिगत उल्लास के होते ही हैं, यहाँ तक कि मरण भी उत्सव बन कर लोक-जीवन मे व्याप्त मृत्यु-भय का निराकरण करने मे समर्थ होता है । किसी की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी द्वारा सामूहिक भोज (मृत्यु-भोज जिसे सरकार ने कानून से बन्द कर दिया है, पर लोक-जीवन मे आज भी वह अनिवार्य माना जाता है ।) मरणोत्सव का ही प्रतीक है । लोक-रूढि के अनुसार यह भोज मरने वाले व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए होता है, जिसे मृतव्यक्ति के 'मुह की राख निकालना' कहा जाता है, यह भोज लोक-जीवन मे उतना ही आवश्यक माना जाता है जितना मृतक की भस्मी को गगाजी या किसी नदी मे प्रवाहित करना । यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता की मृत्यु पर भोज देने मे असमर्थ होता है या समर्थ होकर भी किसी सिद्धान्त-वश नही देता तो वह लोकउपालम्भ का शिकारी बनता है और यह मान

लिया जाता है कि उस 'कपूत' के माता-पिता को सद्गति नही मिल सकती। फलत आधुनिक शिक्षा प्राप्त तथा 'नुकते' के विरोधी युवक भी लोकापवाद से बचने के लिए तथा अपने माता-पिता को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के प्रलोभन से किसी न किसी रूप मे 'नुकता' कर ही देते हैं।

धाकड, मीणो गूजरो जैसी जन-जातियो मे तो आज भी मृत्यु भोजो मे दखल देने वाली पुलिस को येन केन प्रकारेण सतुष्ट कर दिया जाता है और 'नुकता' निर्विघ्न सम्पन्न हो जाता है।

मरणोत्सव का दूसरा अवसर 'टीके' का होता है। मृत व्यक्ति धनी हो या निर्धन, उच्चवर्ण का हो या निम्नवर्ण का, जाति तथा व्यवहारी लोगो की उपस्थिति मे उसके उत्तराधिकारी को 'पगडी' बंधवाना तथा 'टीका' करना अनिवार्य प्रथा है। कहते हैं कि 'राजा मर गया, राजा कभी नही मरता'। इस सिद्धान्त के अनुसार राजसिंहासन कभी खाली नही रहता। राजा के मरने पर उसकी अन्त्येष्टि बाद मे की जाती है, पहले उसके उत्तराधिकारी का अभिषेक होना है। लोक-जीवन मे भी इस नियम की झलक मिलती है। मृत पिता की पगडी उत्तराधिकारी के सिर पर बाँधी जाती है। तत्पश्चात् समागत सम्बन्धी तथा व्यवहारी उसका तिलक करके अपनी-अपनी ओर से पगडी बधवा कर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हैं। उत्सव की समाप्ति यही नही हो जाती। एकत्र जन समुदाय उत्तराधिकारी को उसी रूप मे मन्दिर पर ले जाता और भगवान को साक्षी बनाकर उनके आर्शीवाद की उत्तराधिकारी के लिए याचना करता है। आगे-आगे ढोल बजता है। जिस पर डके की चोटे इस प्रकार मारी जाती है कि हर्षोत्सव एव शोकोत्सव मे स्पष्ट भेद किया जा सकता है। ढोल की ध्वनि को सुनकर ही पहचाना जा सकता है कि यह किस अवसर पर बजाया जा रहा है। इधर घर पर एक-दो गीत रस्मी तौर पर गाये जाते हैं और मरणोत्सव के साथ-साथ नये उत्तराधिकारी का टीकोत्सव सम्पन्न होता है।

यह सही है कि उक्त उत्सव पर हर्ष तथा उल्लास की मात्रा नही होती, पर भोज, टीका, मन्दिर दर्शन, ढोलवादन, गीत आदि सारी रस्मे वे ही होती हैं, जो शुभ कार्य मे होती हैं। इनके लिए तैयारी भी व्यक्ति के मरने के तीसरे दिन से ही प्रारम्भ हो जाती है। निमन्त्रण भेजे जाते है, परिवार सबधियो को सूचना दी जाती है, जिसमे विवाह आदि सस्कारो के निमन्त्रणो के अनुसार 'दन च्यार पैली पधारज्यो' जैसा आग्रह तो नही होता, पर 'द्वादशे' की तिथि दिन की सूचना अवश्य होती है। इस प्रकार यह व्यक्तिगत शोक का अवसर भी सामाजिक उत्सव बन जाता है।

जन्मोत्सव

हाडौती की लोक-मान्यता मे 'जनम, परण और मरण' जीवन के महत्त्वपूर्ण अग हैं। मरणोत्सव का वर्णन सक्षेप मे किया जा चुका है। पुत्र-पुत्री जन्म पर जो उत्सव मनाया जाता है, वह स्त्रियो तक ही सीमित रहता है। पुत्र-जन्म पर अधिक खुशी मनाई जाती है। कन्या का जन्म अभिशाप माना जाता है, पर आवश्यक प्रथा सूरज पूजन, चूडा पहनना आदि कन्या जन्म पर भी की जाती हैं। प्रथम सन्तानोत्पत्ति पर लडकी के पीहर से 'जामणा' आने की प्रथा भी बहुप्रचलित है, जिसमे दामाद तथा कन्या के लिए वस्त्रो के अतिरिक्त नवजात शिशु के लिए कई जोडी झगूले, आभूषण, खिलौने आदि होते हैं।



विवाहोत्सव

'परण' (परिणय) जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव है, ससार की सभी जातियो मे इसे विभिन्न रूपो मे मनाने की प्रथा है। हाडौती मे विवाहोत्सव लोक-जीवन मे विशिष्ट स्थान रखता है। विवाह की निश्चित तिथि से लगभग एक महीने पूर्व से ही उत्सव प्रारम्भ हो जाता है। 'विनायक स्थापना' के साथ ही लडका-लडकी 'लाडा-लाडी' बन जाते हैं। मान्यता है कि 'विनायक आयो, नाज लायो' अर्थात् विनायक स्थापना होते ही विवाहोत्सव की सारी सामग्री एकत्र होने लग जाती है। लाडा-लाडी गणेश-पूजन किये बिना भोजन नही करते। गणेश का मूर्तिमान्

चडी चुडगल्ला वासे बैठ्या ।
झालर बाज घडावल बाजी,
सझ्या फूली, तारा ऊग्या,
छोडो मून, सिताफल लाग्या
मूनी जी का मून छूटी,
मूनी बाबा राम ! राम !!

और कन्या 'राम-राम' कह कर अपना मौन भग कर देती है ।

'बडी मून' ससुराल मे ली जाती है । कन्या अब बडी और समझदार हो जाती है । इसलिए मौन लेते और भग करते समय किसी अन्य से 'राम-राम' कहने की आवश्यकता नही होती । सध्या का सुनहरापन आकाश मे फैलते ही वह स्वत 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और प्रथम तारे का दर्शन कर स्वत ही 'राम-राम' कह कर भग कर देती है ।

गार्हस्थ्य-जीवन मे गृहिणी के लिए यह सध्याकालीन मौन अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए इसका अभ्यास एक-एक वर्ष के लिए दो बार कराया जाता है । पति, देवर तथा घर के अन्य लोग खेतो, खलियानो मे दिनभर काम करके सध्या को हारे थके घरो को लौटते है । श्रम से उनके स्वभाव मे चिडचिडापन आ जाना स्वाभाविक है । उधर बच्चे भी खेल-कूद कर सध्या को घर पर आते है । सारा घर चहल-पहल और कोलाहल से भर जाता है । कोई कुछ चाहता है, तो कोई कुछ । कोई डाट-फटकार दिखाता है तो कोई ताने मारता है । बेचारी अकेली गृहिणी और यह जजाल, किस-किसको उत्तर दे ? किस-किस को सतुष्ट करे ? अत वह मौन रहकर अपना सध्याकालीन कार्य सम्पन्न करती रहती है । थकी वह भी कम नही होती, पर यदि वह भी चिडचिडी होकर बडबडाने लगे तो घर गृह-कलह का अड्डा ही बन जावे । सद्‌गृहिणी अपने मौन द्वारा घर को कलह की आग मे जलने से बचाती है । दोनो प्रकार के 'मौन' के अभ्यास का यही महत्त्व है ।

स्त्रियो के अन्य व्रतोत्सव—कन्याओ के व्रत योग्य पति की प्राप्ति तथा भावी गार्हस्थ्य जीवन मे सुख और शान्ति की कामना से किये जाते है । विवाहित स्त्रियो के व्रतो मे उस जीवन के स्थायित्व एव सफलता की कामना सन्निहित होती है । गार्हस्थ्य जीवन मे शान्ति और सुख का मुख्य तत्त्व गृहस्वामी का स्वस्थ, सकुशल एव कर्मठ होना है । सधवा स्त्रियो के लगभग सभी व्रत पति की मगल कामना के लिए ही किये जाते हैं । सच तो यह है कि भारतीय नारी का जीवन ही पतिमय है । पति के बिना वह अपने जीवन की कल्पना भी नही कर सकती । अत वह जीवन भर अपने पति की कुशल कामना के लिए व्रत किया करती है । इन व्रतो मे उसकी आराध्या पार्वती होती है । जिसने अपने अनेक जन्मो मे एकमात्र शिव को ही पति रूप मे वरण किया था । 'आठ सौभागती, करवा चौथ, गणगौर, श्रावणी तीज, वट सावित्री अमावस्या, आदि इसी प्रकार के व्रत हैं ।

नारी का सम्बन्ध दो कुल से होता है । एक कुल की वह पुत्री होती है, दूसरे की पुत्रवधू । एक कुल मे जन्म लेकर उसने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण समय बचपन बिताया है और भावी जीवन की तैयारी की है, दूसरा कुल उसकी तैयारी का प्रयोग-स्थल है । एक कुल मे उसका जीवन क्रीडाओ और किलकारियो मे बीता है, दूसरे कुल मे वह मर्यादित हो गई है । पति-गृह उसके शेष जीवन का आलम्बन होते हुए भी उसके लिए प्रारम्भ मे नया और अटपटा होता है । इस तथ्य से अनभिज्ञ पतिगृह के व्यक्ति सास, ससुर, देवर, ननद, आदि कभी-कभी नववधू के मस्तिष्क मे उलझन पैदा कर देते हैं । वे उसके पीहर के लोगो की यदाकदा निन्दा करने मे ही अपनी प्रशसा समझते हैं और नवागत वधू के समक्ष यह प्रकट करने का प्रयत्न करते है कि उसके पीहर के घर तथा लोगो से हमारा घर धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शिक्षा, सभ्यता आदि मे कही बढकर है । पीहर के उन्मुक्त वातावरण मे स्वच्छन्द हिरणी के समान किलोलें करने वाली कन्या इस नये जीवन मे घुटन का अनुभव करने लगती है । उसके जीवन की सारी आशाए

धूमिल हो जाती है। पतिगृह उसके लिए कारागार बन जाता है। वह अनेक गीतों के माध्यम से अपने पिता-माता, भाई आदि को याद कर-कर के रोती है और समय-समय पर ऐसे व्रत करती है जिनमें उसके माता-पिता विशेष कर उसके भाई की मंगल कामना रहती है। ससुराल में पति और पितृगृह में भाई ये दो ही उस अबला के आश्रयदाता हैं। अतः वह जीवन भर इन्हीं के सुखमय दीर्घ जीवन की कामना करती रहती है।

श्रावणी पूर्णिमा पर वह अपने भाई के हाथ में रक्षा का सूत्र (राखी) बाँध कर उसे संसार के समस्त अनिष्टों-कष्टों से बचाने की कामना करती है, ताकि समय आने पर वह उसकी भी रक्षा कर सके। वर्ष में दो बार 'भैयादूज' (भ्रातृद्वितीया) पर भाई को तिलक करना बहिन का पवित्र कर्त्तव्य होता है। वह भाई के घर जाकर उसके मस्तक पर रोली अक्षत से तिलक करती और 'वारणे' लेती है। प्रातःकाल अपने घर पर मिट्टी या आटे के शिव-पार्वती, सर्प आदि बनाकर उनकी पूजा करती है। किसी स्यानी स्त्री से कहानी सुनती है, जिसमें बहन के व्रत के प्रभाव से भाई की संकटों में रक्षा होने की बात होती है।

पति तथा भाई—इन्हीं दोनों की मंगल-कामना के लिए वह कभी वटवृक्ष की पूजा करती है तो कभी नाग-देवता की। ज्येष्ठ की अमावस्या को वटवृक्ष की पूजा और तत्सबंधी कहानी तो नागपंचमी को नागदेवता की पूजा और कहानी। लोक जीवन में अज्ञात काल से प्रचलित ये कहानियाँ ही उनके लिए शास्त्रीय वचन हैं। यहाँ वेद-शास्त्र, रामायण, भागवत, गीता किसी का इतना महत्त्व नहीं, जितना इन कहानियों का है। सच तो यह है कि वेद शास्त्रों के लोक जीवन में नाम ही नाम हैं। लोक-हृदय की निश्छल श्रद्धा ने इन कहानियों को लोक-जीवन में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया है।

प्राकृतिक तथा सामाजिक उत्सव—वैयक्तिक व्रतों तथा उत्सवों की धारा नारी-जीवन में सतत प्रवाहित रहती है। पुरुष जीवन में उसकी गति मन्द पड़ जाती है। पुरुषों के उत्सव अधिकतर प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर होते हैं। प्रकृति के उल्लास के साथ लोक-जीवन भी उल्लसित हो उठता है। यह उल्लास उत्सवों के रूप में प्रकट होकर लोकहृदय की सरलता, पवित्रता एवं निश्छलता की अभिव्यक्ति करता है। सावन आता है। प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ धरती पर अवतरित होती है। बादल घिर आते हैं। बिजलियों की झमाझम और घटाओं के गर्जन के साथ कभी-कभी रिमझिम और कभी मूसलधार वर्षा होने लगती है और इधर लोक-जीवन नाना उत्सवों, व्रतों और त्यौहारों से भर जाता है। अलगोजे, बांसुरी और ढोलक खनक उठते हैं और सामूहिक गीतों की धारा बहने लगती है। प्रति सोमवार को लोग गांवों और नगरों से बाहर स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में पहुंच जाते हैं। झूलते हैं, नाचते हैं और समस्त वातावरण को अपने सरस गीतों से रसमग्न कर देते हैं।

उफनती हुई बरसाती नदियाँ, धरती पर नवांकुरित शस्य, ग्रीष्म से तप्त वृक्षों पर नई हरियाली, नृत्यशील मयूर, कूकती हुई कोकिलाएं एक ओर, और झूलों पर झूलती हुई ग्राम बालाओं के कलकण्ठों से निसृत नाना भाव समन्वित रसीले गीत, पुरुषों द्वारा अलगोजों पर मस्ती में गाये जाने वाले रसिया और मल्हार तथा अनेक रंगों के केसरिया, कसूमल वस्त्रों की छटा दूसरी ओर प्रकृति और पुरुष मानो समवेत हो जाते हैं।

खेतों में ज्वार बाजरा छांट दिया गया है, वह अंकुरित होकर धरती के ऊपर आ गया। कच्चे मकानों को आषाढ़ की प्रथमवर्षा के बाद ही 'संग' लिया गया है। गृहलक्ष्मियां 'देव सोने से पूर्व ही अपने प्रियतम के घर लौट आई हैं। घरों के 'टापरों' पर तोरई, कद्दू और तूमड़े की बेलें छा गई हैं। उल्लास के सारे कारण उपस्थित हैं। फिर लोक-जीवन क्यों न प्रकृति की क्रीडाओं का रसास्वादन करने के लिए उसकी गोद में जावे?

वर्षा के बाद बसंत का स्थान है। होली का संगठन पर्व-बसंत में ही आता है। नीच ऊंच, छोटे-बड़े का भेद भुला कर नर-नारी, बालवृद्ध रसमग्न हो जाते हैं। रंग और गुलाल के साथ कीचड़ और धूल भी एक दूसरे को विरूप करके प्रेम प्रदर्शित करने के काम में आते हैं। संभवतः दरिद्रता ने ही रंग और गुलाल के स्थान पर कीचड़ और धूल की प्रतिष्ठा की है, पर वह लोक-जीवन के हार्दिक उल्लास को कम करने में समर्थ नहीं हो सकी।





होली जलाने की प्रथा के साथ कई वैदिक, पौराणिक तथा सास्कृतिक परम्पराएँ जुडी हुई है, जिनमे से लोक-जीवन ने होलिका और प्रह्लाद के कथानक को ही प्रकट रूप मे स्वीकार किया है, परन्तु परोक्षरूप मे वह 'दहगी' (गेहू की वालें) को होली की आग मे सेक कर दिक नव शस्येष्टि को तथा रग वैगुलाल और पारस्परिक मिलन के द्वारा उसके सास्कृतिक तथा सामाजिक महत्त्व को भी स्वीकार करता है ।

वडगाँव की वनजारा जाति मे होली का उत्सव विशिष्ट ढग से मनाया जाता है । युवको और युवनियो की टोलियाँ बन जाती हैं । नमक से भरी बोरी को एक लम्बे मोटे रस्से से बाँध कर रस्मे के दूसरे सिरे को खुला छोड दिया जाता है । युवतियाँ हाथो मे कोडे और लाठियाँ लेकर बोरी की रक्षा पर टट जाती हैं । युवक रस्से को खींचकर वोरी को ले जाने का प्रयास करते हैं । युवतियो के डण्डो की मार से बचते, मार खाते, युवक वोरी को खीच कर निश्चित स्थान तक ले जाते हैं । इस प्रयास मे कई युवक घायल हो जाते हैं और कई हिम्मत हार कर वैठ जाते हैं। अन्त मे जो युवक बोरी को अपने अधिकार मे कर लेता है, उसे जयमाल पहनाई जाती है और राग रग, खान-पान में समवेत नर-नारी निमग्न हो जाते हैं । इसे 'नेजा तोडना' कहा जाता है । पुरुषो के पुरुषार्थ तथा शौर्य की परीक्षा का कैसा अद्भुत ढग है ?

जातिगत, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणो से होली मनाने के विविध ढग प्रचलित हैं, पर सब मे एकत्व की, सगठन की, मैत्री की और वैर भाव भुलाकर जीवन विताने की भावना सन्निहित होती है।

होली से प्रारम्भ होकर उत्सवो की जो परम्परा चलती है वह अक्षयतृतीया पर जाकर विराम लेती है। नहान-होली, गणगौर, भैयादूज, शीतला-अष्टमी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी आदि सामाजिक, सास्कृतिक एव धार्मिक उत्सवो मे लोक-जीवन सलग्न रहता है । फसल खेतो मे पक रही होती है, किसान और मजदूर के पास खेती सम्बन्धी विशेष-कार्य नही होता और लहलहाते हुए गेहू-चने अलसी के खेत उसे उमगित करते रहते हैं ।

वीरपूजोत्सव—लोक-जीवन उन वीरो का प्रति वर्ष कृतज्ञता एव श्रद्धापूवक स्मरण कर उत्सव मनाता है जिन्होने कभी अपने सत्व वीरता एव साहस से लोकरक्षण के पवित्र कार्य मे अपने प्राणो की आहुति दी थी । पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर पुरुषो की कहानियाँ तो लोक जीवन मे मान्य हैं, पर पूजनीय वही लौकिक वीर पुरुष हैं, जो उसकी आवश्यकताओ, भावनाओ तथा आशाओ को पूरा करने मे आज भी समर्थ माने जाते हैं । 'वीर तेजा' का नाम कौन नही जानता है ? जिसने दस्युओ से साहसपूर्वक लडकर गायो की रक्षा की । लडते-लडते सारा शरीर घावो से जर्जर हो गया, पर तक्षक को दिये हुए वचन की रक्षा के लिए अपने अनाहत अग-जीभ को तक्षक के सामने कर दिया। लोकविश्वास के अनुसार साँप के काटे के गले मे तेजा के नाम को 'डसी' (कपडे की रस्सी) बाँध देने पर व्यक्ति मर नही सकता और तेजादशमी के दिन तेजाजी के चबूतरे पर 'डसी' को काटने के वाद तो वह सर्प विष से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

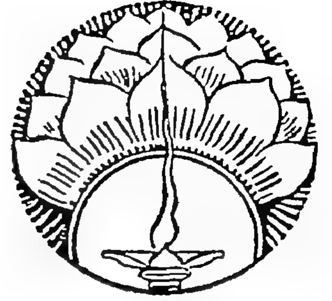
देव जी, फावूजी, हीरामन जी, ताखा जी आदि भी ऐसे ही लोक पूज्य वीर देवता है, जिनकी जयन्तियाँ गावो मे समारोहपूर्वक मनाई जाती हैं । स्थान-स्थान पर इनके नाम के थानक, चबूतरे आदि बने होते हैं, जो वर्ष मे एक वार ढोल, नगारे, अलगोजा, बाँसुरी के वादन तथा लोगो के सस्वर गायन से मुखरित हो उठते हैं ।

अन्त मे एक ऐसे उत्सव का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध केवल बालको से होता है । भादो सुदी चतुर्थी को 'गणेशचौथ' के रूप मे मनाया जाता है । गणेशजी विद्या बुद्धि प्रदाता हैं । बालको को और क्या चाहिए ? इस दिन बालक अच्छे वस्त्र आभूषण पहन कर 'चतरा' वनते हैं । एक दिन पूर्व अच्छी तरह स्नान करके हाथो मे मेहदी रचाते है और रग-विरगे सुडौल डडे वजाते हुए एक-दूसरे के घर पर जाते हैं । डडो के साथ अवसर के लिए लोक-प्रचलित कुछ पद्य पक्तियाँ सस्वर उच्चरित करते हैं, जिनमे अन्तत गणेशजी मे बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना होती है । बालको को घरो पर प्रसाद के रूप मे मोदक वितरित किये जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इस उत्सव मे अध्यापको का भी सहयोग रहता था, परन्तु अब शिक्षा के यन्त्री-करण तथा अतिबौद्धिकता के प्रभाव से शिक्षक अभिभावको के इस अनाहूत एव अनौपचारिक सम्मेलन का अवसर ही समाप्त हो गया ।

निमाड़ का जीवन और संस्कृति

श्री रामनारायण उपाध्याय

(खण्डवा म० प्र०)



हिन्दुस्तान के नक्शे मे विन्ध्य और सतपुडा के अचल मे जो भू-भाग वसा है, वह निमाड के नाम से परिचित है। सगीत की धाराओ की तरह नर्मदा और ताप्ती जिसके वायें और दाये होकर वही है। और सब ओर की हवाओ का खुला स्वागत करने के लिये विन्ध्य और सतपुडा जिसके दो छोरो पर वाहे फैलाये मे खडे हैं। सतपुडा की एक वाईस फुट ऊँची श्रेणी पर स्थित आसीरगढ का किला यहा के प्राचीन इतिहास की कहानी सुना रहा है और हृदय की तरह मध्य मे स्थित ओकारेश्वर नामक तीर्थ यहा की लक्ष-लक्ष जनता के प्रणाम और पूजा का केन्द्र रहा है। निमाडी यहा की लोक भाषा है और सोलहवी शताब्दी के महान् सत सिंगाजी ने अपने आध्यात्मिक भजनो को उसी के माध्यम से जन-जन मे प्रसारित किया है।

गगा के किनारे अगर गागेय सभ्यता पनपी है तो नर्मदा को निमाड की सस्कृति के निर्माण का श्रेय रहा है। गगा को ज्ञान का रूप माना गया है क्योकि उसके किनारे ऋषियो ने ज्ञान की प्राप्ति की और यमुना को प्रेम का प्रतीक माना गया है क्योकि उसके किनारे भक्ति का प्रसार हुआ। नर्मदा भी एक भावना का प्रतीक है और वह है तपस्या और आनन्द की भावना। उसके किनारे ऋषियो ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के वीच वहने के कारण यह उत्तर की आर्य और दक्षिण की द्रविड सस्कृति का सदेश भी वहन करती है। यहाँ की ऊवड-खावड जमीन के वीच भी लहलहाने वाली खेती, अमाडी की भाजी और ज्वार की रोटी से पुष्ट होने वाले जीवन और झुलसा देने वाली गरमी के वीच भी मुस्कराने वाले पलाश के फूल से मानो एक ही सदेश गूँज रहा है—तपस्या का आनन्द।

यहा की जमीन का ही तरह यहा के जानपद जन मटमैला गेहुँआ रग लिये होता है। हलकी नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुये ढेलो की तरह जिनके चेहरो पर सदियो का दु ख-सुख आसानी से पढा जा सकता है।

स्वभावत यहाँ का जानपद जन अत्यन्त ही मेहनती और सहनशील होता है। यहा की ऊवड-खावड जमीन को समतल खेतो मे वदल देने का श्रेय उसे ही रहा है। उसने इतने कष्ट सहे है कि कष्टो को मुस्कराकर पार कर जाना उसके सस्कारो मे विंध गया है। वह विश्वास पर विक जाता है। धर्म पर झुक जाता है। सवकी सहता है पर कभी शिकायत नही करता, सवकी सुनता है पर कभी अपनी ओर से नही कहता। वह कभी थककर नही वैठता, झुककर नही चलता और परिश्रम मे भी विश्राम का आनन्द पाता आया है। दु ख का पहाड आ जाये या सुख की क्षीण रेखा, वह सदा मुस्कराता है और अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नही छोडता। वह अशिक्षित भले ही हो, सुसस्कृत रहा है। स्नेह पारस्परिक-सहयोग और सहकारिता जैसे गुण उसके जीवन के अभिन्न अग वन चुके है।

धार्मिक रीति-रिवाज

यहा राम, कृष्ण, शिव और विष्णु की समान रूप से उपासना की जाती है। उत्तर भारत की तरह यहा के प्रत्येक गाव मे एक हनुमान मन्दिर होता है। विना हनुमान मन्दिर के कोई गाँव नही वसाया जा सकता। यह एक

आश्चर्यजनक सयोग की बात है कि यहा के अधिकाश गावो मे मदिर प्राय राम के पाये जाते है लेकिन घरो पर पूजा बालमुकुन्द के रूप मे कृष्ण की जाती है। भगवान राम का आदर्श जहा सावजनिक रूप मे समूचे ग्राम को प्रेरणा देने की क्षमता रखता है वहा भगवान कृष्ण का बालस्वरूप पारिवारिक जीवन के अधिक से अधिक नजदीक पडता है। निमाड को यदि राम-कृष्ण के समन्वय का उपासक कहे तो भी अत्युक्ति नही, यही वजह है कि जिससे यहा रामलीला और रास-मण्डल दोनो समान रूप से मनाये जाते है। साथ ही रामकृष्ण के साथ शिव की उपासना भी की जाती है।

वेश-भूषा

यहा पर पुरुष धोती कुरता और सिर पर लाल रग की पगडी पहनते है। कही मेहमान आदि जाने पर पगडी के ऊपर से एक पचा (दुपट्टा) लपेटने का भी रिवाज है। यह सम्मान सूचक माना गया है। कुछ वृद्ध पुरुष अगरखा भी पहनते है। जिसमे बजाय बटन के बगल मे कसने के बद लगे रहते है। धोती दोनो सिरो को पीछे की ओर कच्छ लगाकर पहनी जाती है।

स्त्रियाँ लहगा साडी और काचलई (कचुकी) पहनती है कचुकी मे बजाय सामने के पीछे की ओर बद होते है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सधि रेखा पर बसे होने के कारण यहा की वेशभूषा मे दोनो का सम्मिश्रण पाया जाता है। कही पर साडी उत्तर भारत की तरह बिना कच्छ के पहनी जाती है और कही पर दक्षिण भारत की तरह कच्छ लगाकर।

बच्चो मे झगा, टोपी और चडडी पहनने का रिवाज है।

यहा पर पहने जाने वाले वस्त्रो के नाम निम्न है—

पुरुषो के वस्त्र

अगा—अग (शरीर) मे पहनने का वस्त्र।
अगरखा—अग (शरीर की) रक्षा करने वाला वस्त्र।
बालाबडी—दोहरे पल्ले की बनियान।
दुपट्टा—दो पुट करके गले मे डालने का वस्त्र।
पचा—पगडी के ऊपर लपेटने का सम्मान सूचक वस्त्र।
अगोछा—अग लपेटना का छोटा वस्त्र।
मुकस्तर—मुख वस्त्र।
धोती, पगडी, साफा, कुरता आदि।



स्त्रियो के वस्त्र

लुगडा—जनानी धोती।
काचलई—पीछे वाली बन्द कचुकी।
चोलई—सामने बद वाली कचुकी।
अगिया—अग (शरीर) मे पहनने का चुस्त वस्त्र।
परकोर—अधोवस्त्र
घाघरा—घेरदार लहगा।

पेलो—पीला वस्त्र

मेंघराटी—हाथ की बनी साडी

पोलचो—कमल के फूल वाला वस्त्र

कापडो—कचुकी का कपडा

बच्चो के वस्त्र

लडको के—कुरता, टोपी, चड्डी।

लडकियो के—झग, वन्नी-ओढनी, घाघरी-लहगा।

खान-पान

यहा का मुख्य भोजन ज्वार की रोटी और तूवर, मूग आदि की दाल से बनी साग हैं। चावल का उपयोग बहुत कम होता है। ज्वार की रोटी गरम पानी मे आटा सानकर बनाई जाती है जिससे वह शीघ्र हजम होने वाली तथा बिस्कुट की तरह आसानी से टूटने वाली होती है। जिससे उसे खेत मे काम करते समय भी खाने मे सुविधा होती है। शाम को घाट, दाल (ज्वार की दलिया) अथवा चावल-दाल से बनी खिचडी खाने का रिवाज है। भोजन दिन मे तीन बार किया जाता है। बडी सुबह ज्वार की रोटी का नाश्ता करके किसान खेत मे जाता है। दोपहर का भोजन प्राय खेत मे ही होता है। स्त्रिया घर से रोटी बनाकर खेत मे ले जाती हैं और उसे १२ बजे से १ के बीच मे खाया जाना है। शाम का भोजन, सूर्यास्त मे बाद खेत मे आने के पश्चात् ६ से ७ बजे तक चलता है। सुबह नाश्ता, दोपहर को भोजन, और शाम को पुन हल्का फुल्का भोजन करने का रिवाज है।

आवास-निवास

यहा पर दो तरह के मकान बनाये जाते हैं एक झोपडीनुमा कच्चे घर, दूसरे ईंट मिट्टी के पक्के मकान। झोपडिया मिट्टी की दीवाल से बनी होती हैं और उनकी छतपर घास फूस छाया होता है। गरीब लोग ज्वार और तूवर के डठलो को बाधकर ऊपर से मिट्टी का प्लास्टर चढाकर दीवार बना लेते हैं। ऊपर सन की काडी छाने का भी रिवाज है। जिसमे से एक बूद भी पानी टपकने नही पाता। दूसरे प्रकार के मकान, ईंट, मिट्टी और लकडी से बने होते हैं। जिन पर छाने के लिये गाँव मे ही बने खपरेल काम मे लाये जाते हैं।

बर्तन

घरो मे प्राय तावे, पीतल के बर्तनो का उपयोग होता है। गरीब लोग एल्यूमिनियम और मिट्टी के बर्तन भी काम मे लाते है। अनाज रखने के लिये पहले मिट्टी की कोठिया और बेंत के कनगे काम मे लाये जाते थे, अब उनका स्थान लोहे की कोठिया लेने लगी है। लेकिन मिट्टी मे उत्पन्न अनाज मिट्टी की कोठियो मे जितना सुरक्षित रहता था उतना टीन की कोठियो मे नही। मिट्टी की कोठियो म उसकी सोधी गध और ताजापन नष्ट नही होने पाता था जबकि टीन की कोठियो मे वह ऐसा लगता है जैसे किसी ने अपने बच्चे को शिशु कल्याण केन्द्र मे रख दिया हो जहा उसके मुह से बजाय दूध के, दवाईयो की गध आती है।

तावे पीतल के बर्तनो के अलावा आज भी गावों मे निम्नलिखित मिट्टी के बर्तन पाये जाते हैं।

मकोरा—ग्लासनुमा पानी पीने का बर्तन

करवा—लोटेनुमा पानी लेने का बर्तन

घेंडई—घडेनुमा पानी रखने का बर्तन

माथली—बटलोईनुमा पानी रखने का बर्तन



आश्चयजनक सयोग की बात है कि यहा के अधिकाश गावो मे मन्दिर प्राय राम के पाये जाते है लेकिन घरो पर पूजा बालमुकुन्द के रूप मे कृष्ण की जाती है। भगवान राम का आदर्श जहा सावजनिक रूप से समूचे ग्राम को प्रेरणा देने की क्षमता रखता है वहा भगवान कृष्ण का बालस्वरूप पारिवारिक जीवन के अधिक से अधिक नजदीक पडता है। निमाड को यदि राम-कृष्ण के समन्वय का उपासक कहे तो भी अत्युक्ति नही, यही वजह है कि जिससे यहा रामलीला और रास-मण्डल दोनो समान रूप से मनाये जाते हैं। साथ ही रामकृष्ण के साथ शिव की उपासना भी की जाती है।

वेश-भूषा

यहा पर पुरुष धोती कुरता और सिर पर लाल रग की पगडी पहनते है। कही मेहमान आदि जाने पर पगडी के ऊपर से एक पचा (दुपट्टा) लपेटने का भी रिवाज है। यह सम्मान सूचक माना गया है। कुछ वृद्ध पुरुष अगरखा भी पहनते है। जिसमे बजाय बटन के बगल मे कसने के बद लगे रहते हैं। धोती दोनो सिरो को पीछे की ओर कच्छ लगाकर पहनी जाती है।

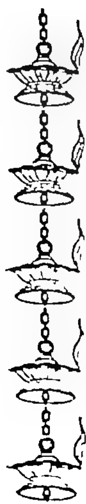
स्त्रियाँ लहगा साडी और काचलई (कचुकी) पहनती है कचुकी मे बजाय सामने के पीछे की ओर बद होते है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सधि रेखा पर बसे होने के कारण यहा की वेशभूषा मे दोनो का सम्मिश्रण पाया जाता है। कही पर साडी उत्तर भारत की तरह बिना कच्छ के पहनी जाती है और कही पर दक्षिण भारत की तरह कच्छ लगाकर।

बच्चो मे झगा, टोपी और चड्डी पहनने का रिवाज है।

यहा पर पहने जाने वाले वस्त्रो के नाम निम्न हैं—

पुरुषो के वस्त्र

अगा—अग (शरीर) मे पहनने का वस्त्र।
अगरखा—अग (शरीर की) रक्षा करने वाला वस्त्र।
बालाबडी—दोहरे पल्ले की बनियान।
दुपट्टा—दो पुट करके गले मे डालने का वस्त्र।
पचा—पगडी के ऊपर लपेटने का सम्मान सूचक वस्त्र।
अगोछा—अग लपेटना का छोटा वस्त्र।
मुकस्तर—मुख वस्त्र।
धोती, पगडी, साफा, कुरता आदि।



स्त्रियो के वस्त्र

लुगडा—जनानी धोती।
काचलई—पीछे वाली बन्द कचुकी।
चोलई—सामने बन्द वाली कचुकी।
अगिया—अग (शरीर) मे पहनने का चुस्त वस्त्र।
पन्डो—[illegible]वस्त्र
घाघरा—घेरदार लहगा।

पेलो—पीला वस्त्र

मेघराडी—हाथ की बनी साडी

पोलचो—कमल के फूल वाला वस्त्र

कापडो—कञ्चुकी का कपडा

बच्चो के वस्त्र

लडको के —कुरता, टोपी, चड्डी ।

लडकियो के—झग, बन्नी-ओढनी, घाघरी-लहगा ।

खान-पान

यहा का मुख्य भोजन ज्वार की रोटी और तूवर, मूंग आदि की दाल से बनी साग हैं। चावल का उपयोग बहुत कम होता है। ज्वार की रोटी गरम पानी मे आटा सानकर बनाई जाती है जिससे वह शीघ्र हजम होने वाली तथा बिस्कुट की तरह आसानी से टूटने वाली होती है। जिससे उसे खेत मे काम करते समय भी खाने मे सुविधा होती है। शाम को घाट, दाल (ज्वार की दलिया) अथवा चावल-दाल से बनी खिचडी खाने का रिवाज है। भोजन दिन मे तीन बार किया जाता है। बडी सुबह ज्वार की रोटी का नाश्ता करके किसान खेत मे जाता है। दोपहर का भोजन प्राय खेत मे ही होता है। स्त्रिया घर से रोटी बनाकर खेत मे ले जाती हैं और उसे १२ बजे से १ के बीच मे खाया जाता है। शाम का भोजन, सूर्यास्त मे बाद खेत में आने के पश्चात् ६ से ७ बजे तक चलता है। सुबह नाश्ता, दोपहर को भोजन, और शाम को पुन हलका फुलका भोजन करने का रिवाज है।

आवास-निवास

यहा पर दो तरह के मकान बनाये जाते है एक झोपडीनुमा कच्चे घर, दूसरे ईंट मिट्टी के पक्के मकान। झोपडिया मिट्टी की दीवाल से बनी होती हैं और उनकी छतपर घास फूस छाया होता है। गरीब लोग ज्वार और तूवर के डठलो को बाधकर ऊपर से मिट्टी का प्लास्टर चढाकर दीवार बना लेते है। ऊपर सन की काडी छाने का भी रिवाज है। जिसमे मे एक बूद भी पानी टपकने नही पाता। दूसरे प्रकार के मकान, ईंट, मिट्टी और लकडी से बने होते हैं। जिन पर छाने के लिये गाँव मे ही बने खपरेल काम मे लाये जाते है।

बर्तन

घरो मे प्राय तावे, पीतल के वर्तनो का उपयोग होता है। गरीब लोग एल्यूमिनियम और मिट्टी के वर्तन भी काम मे लाते हैं। अनाज रखने के लिये पहले मिट्टी की कोठिया और बेंत के कनगे काम मे लाये जाते थे, अब उनका स्थान लोहे की कोठिया लेने लगी है। लेकिन मिट्टी मे उत्पन्न अनाज मिट्टी की कोठियो मे जितना सुरक्षित रहता था उतना टीन की कोठियो में नही। मिट्टी की कोठियो मे उसकी सोधी गध और ताजापन नष्ट नही होने पाता था जबकि टीन की कोठियो मे वह ऐसा लगता है जैसे किसी ने अपने बच्चे को शिशु कल्याण केन्द्र मे रख दिया हो जहा उसके मुह से बजाय दूध के, दवाईयो की गध आती है।

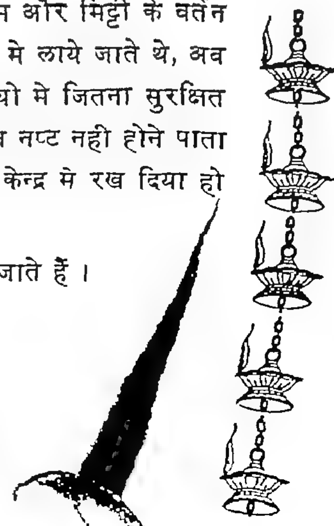
तावे पीतल के वर्तनो के अलावा आज भी गावों मे निम्नलिखित मिट्टी के वर्तन पाये जाते हैं।

सकोरा—ग्लासनुमा पानी पीने का वर्तन

करवा—लोटेनुमा पानी लेने का वर्तन

घेंडई—घडेनुमा पानी रखने का वर्तन

मायली—बटलोईनुमा पानी रखने का वर्तन





मटका – पानी रखने का वडा वर्तन

राजण – कोठीनुमा पानी रखने का वर्तन

हडी—दाल वनाने का वर्तन

दुतली—दूध दूहने का वर्तन

दवणी—दही वनाने का वर्तन

घागर –तेल रखने का वर्तन

ढाकणी—इन सबका ढक्कन

आभूषण

यद्यपि वदलते हुये समय तथा वढते हुए फैशन के कारण आभूपणो का रिवाज कम होता जा रहा है लेकिन निमाड मे नख से शिख तक पहनने के निम्नलिखित आभूपणो का प्रचलन पाया जाता है।

वेला—पैर के अगूठे मे पहनने का आभूपण

टीचा—पैर की सवसे छोटी अगुली मे पहनने का आभूपण

इच्छा और मच्छी—पैर की वीच की तीन अगुलियो मे पहनने का आभूपण

ग्रनवट—पैर के अगूठे के ऊपर पहनने का जजीरनुमा गुथा हुआ आभूषण

पिजणी—(पायल) पाव मे पहनने का आवाजदार आभूपण।

झाझरिया—छोटी छोटी घु घरियो से गठा हुआ पाँव मे पहनने का का आभूपण

रमझोल—चेन और घु घरियो से गठा हुआ पाव मे पहनने का आवाजदार आभूपण

कडा—पाव का ठोस चादी का आभूपण

कल्ला—पाव का पोला आभूपण

तोडा—चादी का घुमावदार कडियो से वना पाव का आभूपण

काम्या—पाव के पजे तक फैला हुआ टेडा कलात्मक आभूपण

कदरा—कमर मे पहनने का आभूपण

मू दी या छल्ला—हाथ की अगुली मे पहनने का आभूपण

आरसी—हाथ के अगूठे मे पहनने का काच से जडा आभूपण

हाथ साकल्या—हाथ के पहुचे पर पहनने का जजीर से गुथा आभूपण

वद—पहुचे पर पहनने का आभूपण

चूडा—हाथ मे पकडने का लाख मे वना नक्काशीदार सौभाग्य सूचक आभूपण

कावलइ—हाथ मे पहनने की चूडिया

करोदी—चूडिया के वीच पहनने का आभूपण

गजरी—कलाई पर पहनने का गू था हुआ आभूपण

कडा—कलाई मे पहनने का ठोस चादी का आभूपण

भावट्या—वाह मे पहनने का चादी के तारो का गूथा आभूपण

वाजूवद—वाह मे पहनने का आभूपण

दुलरी—गले का आभूषण

हारसाकल्या—गले मे पहनने का जंजीरनुमा आभूषण

मंगलसूत्र—गले मे पहनने का सौभाग्य सूचक आभूषण

हार—गले का सोने का आभूषण

नवसर्‌यो हार—गले का नौ सर का आभूषण

टकावल्या—गले मे पहनने का चांदी के सिक्को का आभूषण

वजट्टी—गले का सोने के दानों से बना आभूषण

तुल्सी—गले का सोने के दानो से युक्त आभूषण

तागली—गले का अर्द्धचन्द्राकार आभूषण

झुमका—कान मे झूलने वाला आभूषण

टोंडी—कान का फूल-सा आभूषण

वालई—कान का गोल आभूषण

करणफूल—कान का फूलदार आभूषण

लोलक—नाक मे झूलते हुये पहिनने का मोती का आभूषण

वेसर—नाक मे पहनने का आभूषण

नथ—मोतियो से गठा नाक मे पहनने का सुन्दर आभूषण

कांटा—नाक मे पहनने का कीलानुमा आभूषण (सोने का)

टीकी—सिर मे लगाने का सौभाग्य सूचक आभूषण (बिंदी)

भवर—कपाल पर लगाने का आभूषण

झब्बो—कपाल पर लगाने का आभूषण

राखडीबोरा—सिर के बालो का गूथने का आभूषण



जैसलमेर के कतिपय लोक-विश्वास

मोहनलाल पुरोहित
बीकानेर (राज०)



लोक-विश्वासो की परम्परा बहुत ही लम्बी है। निसदेह इनके पीछे इनका अपना हजारो वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। लोक-साहित्य की जहाँ अपनी एक विशेषता रही है-असम्भव को सम्भव मानकर चलना होता है, यहा अविश्वास नाम का कोई प्रश्न ही नही उठता। तर्क को लोक-साहित्य मे स्थान नही दिया जाता। ठीक इसी प्रकार हम लोक-विश्वासो मे भी देखते आ रहे है—वे समाज मे एक प्राचीन-परम्परा को लिए चले आ रहे है। लोग इन्हे क्यो मानते है ? इसका यहा कोई प्रश्न ही नही उठता। समाज मे ऐसा ही लोक-प्रचलित-विश्वास है। अत समाज इसे अपनी छाती से चिपाए, अपने पूर्वजो की धाती, बडी सावधानी से इसकी रक्षा किए, इसका आज भी पालन करता आ रहा है। स्थानीय रीति-रिवाजो, विश्वासो, टोना-टोटको और लोक-देवताओ की पूजा-पाठ को लेकर भले ही इनमे थोडा-बहुत अन्तर पाया जा सकता है। लेकिन जो टोना-टोटका राजस्थान-प्रान्त मे प्रचलित है सम्भव है वही महाराष्ट्र, मध्यभारत, और बगाल अथवा किसी अन्य स्थान मे, किसी दूसरे रूप मे प्रचलित हो सकता है। साथ ही विभिन्न-प्रान्तो एव स्थानो मे स्थानीय-विशेषताओ के साथ ही एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नए-नए टोटको और विश्वासो का प्रचलित होना भी स्वाभाविक है। अत यह समझलेना कि जो लोक विश्वास यहाँ दिए जा रहे हैं, वे राजस्थान भर मे सर्वत्र ही समान रूप से प्रचलित है, अथवा उनकी सख्या एव गणना इतने मे ही इति श्री हो गई है – ऐसा नही है।

प्रस्तुत हमारा विषय तो जैसलमेर के कतिपय 'लोक विश्वासो' को लेकर है। राजस्थान के अन्य जन-पदीय लोक-विश्वासो पर तो स्वतत्र-रूप से लिखने की आवश्यकता है। अस्तु

चोप

आख मे खेलते समय अथवा असावधानी वश चोट लगने से एक-प्रकार की लाली-सी आ जाती है—इसे चोप कहते है। चोप को निकालने के लिए बूढी-बडेरी एक कासी के कटोरे मे पानी भर लेती है। एक टुकडा मूज का ले लिया जाता है। उसे घी अथवा तेल मे डुबो लेते है। फिर उसे जलाया जाता है। बुढिया अथवा चोप-निकालने वाली एक तरफ एक कोने मे बैठ जाती है और उसके सामने वह व्यक्ति, जिसे चोप की पीडा हुई होती है, बैठ जाता है। चोप निकालने वाली उसे सावधान करते हुए विशेष आदेश देती है—इस कटोरे मे ध्यान से देखते रहना, तुम्हारी चोप झडी जा रही है। और वह फिर इस प्रकार से कहना प्रारम्भ करती है—

चोप चोप झर जा
आडेरी, पाडे री,
आए री, गए री,
मेलँरी, छैलँरी,
कुत्तेरी, मिनी री,

नेणीरी, तरोरीगी,
ओचीरी, धोचीरी,
नाईरी, धोबीरी,
नानीरी, लुहारगी,
चोप चोप झड़ जा,

इस प्रकार चाक निकालने वाली सात बार यह कह कर अन्त में, 'चोप-झड़ै, आव ठरै' कहती है और चाक निकालने वाला "उसे हर बार यही उत्तर में कहता है 'झड़ै।'

ऐसा विश्वास किया जाता है, इस प्रकार से आंख की पीड़ा जो एक-प्रकार से होती है, ठीक हो जाती है।

रोई-झोई

कभी-कभी ऐसा भी संयोग रहता है—शहर से बाहर ३-४ मील दूर किसी मेले आदि में स्त्रियों को जाना होता है। छोटे-छोटे बच्चों को घर पर तो नहीं रखा जा सकता अकेले में सम्भव २-३ वर्ष-वाले बच्चों के लिए ही ऐसा कुछ किया जाता हो। उन्हें भी साथ लेना ही होता है। उस समय जब औरतें मेले आदि से वापिस शहर में आती हैं, तो शहर के प्रमुख-द्वार पर अथवा उस दरवाजे के बाहिर जहां से पहिले गमन किया होता है - वहीं बैठ जाती है। वहां वे सात छोटी-छोटी पत्थर की कंकरी लेती है। बच्चे के सिर के ऊपर से उन्हें सात-बार घुमाकर हवा में ऊपर को फैंक देती है यह कहती हुई —

रोई झोई
रोवणिया री कणीया लारे,
हसणिया कूदणीया आगै।

उनका ऐसा विश्वास है—यदि ऐसा नहीं किया जाए, तो बच्चा घर आकर फिर रोता ही रोता रहता है। वह चुप नहीं कर लेता, जब तक उसे शहर के बाहर लेकर, उस पर 'रोई-झोई' न की जाए।

गूजर

एक व्यक्ति की पहली पत्नी के मर जाने पर उसकी जो दुबारा शादी होती है, उस पत्नी को हमारे यहां "लौडी" कहते हैं। और यदि दूसरी वाली यह पत्नी "लौडी" भी दुर्भाग्यवश मर जाए, और वह व्यक्ति यदि छोटी-उम्र में हो तो उसका तीसरा-विवाह भी सम्भव हो जाता है। ऐसे मौके पर उस तीसरी पत्नी को 'गूजर' की संज्ञा दी जाती है।

गूजर के साथ विवाह हो जाने पर भी व्यक्ति विशेष को एक-प्रकार का भय-सा लगा रहता है—कहीं यह भी न मर जाए! अतः विवाह कर लाने के बाद वह घर में प्रविष्ट होने से पूर्व इस प्रकार का टोटका करता है। वह अपने दुपट्टे का छोर उस 'गूजर' के रंगीले साळू से बांधे घर के मुख्य दरवाजे पर आकर ठहर जाता है। फिर उस 'गूजर' के सिर पर दो-तीन छोटे पानी के भरे बर्तन रख दिए जाते हैं। कन्या-पक्ष से एक औरत 'गूजर' की ओर से बोलती है —

कोई लो भई, कोई लो दई,
कोई लो गूजर, मट काली,

और वर उसके उत्तर में कहता है —



हू लू मई,
हू लू गई,
हू लू गूजर मटकाली

इम प्रकार कन्या पक्षवाली स्त्री सातवार ऐसा कहती है और वर उसके उत्तर मे सात ही वार यही उत्तर देता है—

हू लू भई,
हू लू दई,
हू लू गूजर मटकाली,

ऐसा 'विश्वास' है—इस प्रकार का टोटका करने से व्यक्ति-विशेष की तीसरी वाली पत्नी की मृत्यु नही होती।

ठीक इसी प्रकार के अन्य कई टोटके एव 'लोक-विश्वास' है, जिन्हे यहा विज्ञ-पाठको की सेवा मे सक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं।

छोटे बच्चे को पानी के घडे अथवा मटकियाँ आदि जहा रखी रहती हैं, वहा नही ले जाते। ऐसा ख्याल किया जाता है—इसे वहा ले जाने पर टट्टिया लग जाएगी। यह क्रम उसका मुडन-सस्कार न किया जाए, तब तक रहता है। यदि ऐसा कही असावधानी से हो जाता है—वह भाग दौड कर पानी की मटकिया जहा रखी हुई है, पहुच जाता है, तो उसे टट्टिया लगनी प्रारम्भ हो जाती हैं। इसका प्रतिकार घर के ऊपर से पानी निकलने की मोरी (Out let) से अनाज उडेल कर किया जाता है। उस बच्चे विशेष के कपडो में बाजरी अथवा गेहू रात्रि मे बांधकर उसके सिरहाने रख देते है। सुबह घर का कोई भी व्यक्ति चुप-चाप कोठे पर चढकर कुछ दाने तो चारो-ओर चारो दिशाओ मे उडाता है और शेष को मोरी, जिसे हमारे यहा 'रवाल' कहते हैं, उसके रास्ते से नीचे आगन मे उडेलता है।

छोटे बच्चे को कही नजर न लग जाए! अत माताए नाना-प्रकार के टोने-टोटके किया करती हैं। बच्चे के गले मे घोडे का खुर, जरख का दान्त, छोटा-सा चाकू मजबूत डोरे मे पिरो कर पहना देती है। उसके काली टीकी लगाते है और ललाट मे एक किनारे पर काजल से चाद बना देती हैं। बच्चे के दोनो हाथो मे भी काजल की टीकिया लगा देती है। बच्चे के नजर लगने पर उसके ऊपर से रुई की बाती को घी अथवा तेल मे भिगोकर सात बार घुमा-फिराकर फिर उसे भीत पर चिपका देते है और बच्चे को उस ओर देखने के लिए कहा जाता है। नजर लग जाने पर रोटी और एक लोटा पानी का भर कर उसे सात वार बच्चे पर घोलकर बाहर पाराहे पर रोटी रख आते है और रोटी के चारा और एक गोल-वृत्ताकार कर दिया जाता है। नजर के लग जाने पर नमक लेकर उसे सात बार बच्चे के सिर पर से घुमाकर अग्नि मे जला देते हैं। नजर लग जाने पर पीसी हुई लाल-मिर्चे भी इसी प्रकार सातवार बच्चे के ऊपर से घुमा-फिरा कर अग्नि मे डाल देते है। इसी प्रकार नजर लगने पर फिटकरी को सातवार सिर पर से घुमा फिरकर उसे अग्नि मे डाल देते है। फिटकरी के जल-भुन जाने पर उसे निकाल लेते है। फिर उसे अपने पैरो से कुचलकर बाहर गली मे फैंक देते हैं। यह समझकर कि अमुक व्यक्ति की कुदृष्टि, नजर बच्चे पर लगी है—उसके पैर की धूल (स्त्री हो तो दाया और पुरुष हो तो सीधा पैर) लेकर उसे भी सात बार सिर के ऊपर से घोलकर अग्नि मे फैंक देते है।

बच्चो के दात बडी कठिनाई से निकला करते है। अत इसी विश्वास से कि इन्हे कष्ट भी न हो और दात भी आसानी से निकल सके इनके, इन्हे हाथी-दात की चूडिया पहना देते हैं। बच्चो को कान नही दिखाया जाता। ऐसा माना जाता है, इससे उनके दात कठिनाई से निकलते हैं। बच्चे के मुह मे अगुली भी इसीलिए नही डालते कि

इसके दांत कठिनाई से निकलेंगे। हां, यदि बच्चे की बूआ मुंह में अंगुली डाल दे, तो बच्चे के दांत आसानी से निकला करते हैं—ऐसी दृढ़-धारणा है।

छोटे-बच्चे अक्सर सूखने लग जाते हैं—वे सूखकर कांटा हो जाते हैं। हमारे यहाँ इसे 'सूख गो पड गयो' कहते हैं। ऐसे मौके पर घर के ऊपर की छत पर दीवार के सहारे गोबर का एक पुतला (बच्चे के बराबर गोबर को तोलकर उतना बड़ा पुतला बनाया जाता है) बनाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है—जैसे जैसे यह गोबर का पुतला सूखता जायगा, बच्चा बढ़ता चला जायगा। बच्चे को गुड़ के बराबर तोल कर, गुड़ गायों को दे देने पर भी बच्चे का सूखना बन्द हो जाता है, एक ऐसा भी विश्वास किया जाता है। जंगल में 'खेजड़' के पेड़ की जड़ जो जमीन से काफी ऊपर को उठी हुई हो—बच्चे को उसके नीचे से सात बार निकालने से-भी सूखे पन का रोग हट जाता है—ऐसी भी मान्यता रही है।

कभी-कभी बच्चों को Articaria हो जाती है। हमारे यहां 'पित्ति' को 'छपाका' कहते हैं। इसके निकल जाने पर बच्चे को बेसन की हुई मिठाई खाट के सुतलो (नाखो) से से सातबार नीचे-ऊपर को लेकर खिलाते हैं। ऐसा विश्वास है—छपाका इस प्रकार के टोटके से ठीक हो जाता है।

बच्चे की आयु बढ़े, यह लम्बे-वर्षों तक जीवित रहे, हर मा-बाप की ऐसी मनो-कामना रहती है। इसके गले में बूढ़े व्यक्ति के मरने पर उसके ऊपर से उछाले हुए रु० पैसों का लेकर उनमें सुराख बनाकर पहना देते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है एक के बाद एक इस प्रकार व्यक्ति के कई बच्चे मर जाते हैं। अत बच्चे के नाक मे 'बुलाक' अथवा सोने की बाली डाल देते हैं। उसका नाम बहुत ही विचित्र एव निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के समान रख देते हैं। उसे नमक के बराबर तोलकर मोल ले लेते हैं। किसी व्यक्ति को बेचकर, उससे दुबारा पैसे देकर मोल ले लेते हैं। उसे मांगे हुए कपड़े पहिनाते हैं।

अधिक लड़कियां, बच्चियां किसी के पैदा होने पर उनका नाम 'धापि', 'शान्ति', आदि रखा जाता है। ऐसा विश्वास है। इस प्रकार के नाम रखने पर बच्चियां फिर पैदा नहीं होतीं।

रजस्वला स्त्री का पापड़ों को बनते समय देख लेने पर पापड़ बिगड़कर खट्टे हो जाते हैं। उन्हें सेकने पर वे लाल रंग के हो जाते हैं—ऐसा विश्वास है।

गर्भवती-स्त्री को ग्रहण मे बाहर नहीं निकलने दिया जाता। वह चन्द्र-ग्रहण अथवा सूर्य-ग्रहण नहीं देख सकती। कारण-ऐसा विश्वास है उसके ऐसा करने पर ग्रहण की छाया से होने वाले बच्चे के पागल होने की सम्भावना होती है। गर्भवती की भोजन-सम्बन्धी इच्छाओं पर समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी मान्यता है—यदि उसकी इच्छाएं पूरी न की जाए, तो होने वाली सन्तान के मुंह में से लार टपका करती है। यह एक विश्वास बड़ा ही बल प्राप्त कर चुका है—गर्भवती यदि काले सांप को देखले तो सांप अंधा हो जाता है। गर्भवती को बिच्छू आदि काटने पर एवं भूत-भूतनी, प्रेत आदि लगने पर उस पर झाड़ा अथवा मंत्र करने वाले का झाड़ा एव मन्त्र खोटा हो जाता है। गर्भवस्था मे किसी स्त्री के मर जाने पर ऐसा ख्याल किया जाता है—यह भूतनी ही होगी। कारण यह अशुद्ध अवस्था मे मरी है, इसकी सद् गति नहीं हो सकती। ऐसे समय में उसकी अर्थी के पीछे काफी तादाद मे राई उछाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि न तो वह इतनी राई बटोर ही सकेगी और न हमारे घर में फिर से प्रविष्ट हो सकेगी।

नए गहने पहिनने पर कहीं नजर न लग जाए। अत उन्हें काले डोरे से बांध दिए जाते हैं। नया मकान बनवाते समय भी नजर का भय, इसका भूत तो सवार रहता ही है। अत उसके दरवाजों पर खिड़कियों के किवाड़ों पर, गोखों पर, घर के छज्जों पर काले कपड़े की छोटी-छोटी पट्टियां बांध देते हैं। खीर पकाते समय डर लगा





रहता है—दूध सफेद है और सफेद वस्तु पर हर किसी की कु-दृष्टि ठहर सकती है। अतः घी पकाते समय उसमें एक कोयले का टुकड़ा डाल देते हैं। गाय के बच्चा देने पर, कहीं उसके दूध को नजर न लग-जाए, उसके थनों को तवे की कालस से काला कर देते हैं। दूल्हे को शादी के समय नजर न लग जाए, उसके ललाट में एक किनारे पर काजल से चन्द्रमा का आकार बना देते हैं।

विवाह के समय दूल्हा एवं दुल्हिन के हाथों में लोहे की छड़ी, जिसे हमारे यहाँ 'गेडायो' कहते हैं, दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय भी ऐसा उसे रखने का आदेश रहता है। ऐसा विश्वास किया जाता है इस प्रकार की क्रिया से प्रेतात्माओं से किसी प्रकार के अनिष्ट होने की आशंका नहीं रहती। बच्चे का खाली झूला नहीं झुलाया जाता। ऐसा करने से बच्चे का पेट दर्द करेगा। विश्वास किया जाता है। रात्रि में भी बच्चे को झूले में नहीं सुलाया जाता।

रात्रि के समय घर में बाहिर से मिष्ठान्न आदि नहीं लाया जाता। और यदि कभी सम्भव भी हो तो घर में लाने से पूर्व उसमें से हर मिष्ठान्न का थोड़ा-थोड़ा अंश तोड़कर बाहिर गली में फेंक देना होता है।

जहाँ गधा लेटा हो, उस स्थान पर चलने से पांवों में 'सरणे' (एक प्रकार का मीठा-मीठा थकान के समान दर्द) चलने लगती है, ऐसा विश्वास किया जाता है।

बिल्ली द्वारा रास्ता काट लेने पर आगे पांव धरना लड़ाई का निमन्त्रण देना समझा जाता है। जूता फेंककर फिर आगे पांव रखना, इस दोष का प्रतिकार करते देखा गया है।

दीवाली एवं अक्षय तृतीया आदि शुभ-पर्व के दिन बिच्छू आदि का निकलना शुभ माना जाता है। इस दिन बिच्छू को मारा नहीं जाता-मिट्टी की एक हंडिया में गोबर, दही, शक्कर आदि डाल कर उसे घर में ही रख दिया जाता है। त्यौहार आदि समाप्त हो जाने पर उसे बाहर छोड़ा जाता है।

राह चलते समय राह में रु० पैसा आदि का मिल जाना शुभ माना जाता है। इसे खर्च नहीं किया जाता-सम्भालकर भीतर पेटी में रखा जाता है अथवा पूजा में रखा जाता है। चांदी का इस प्रकार प्राप्त होना शुभ एवं सोने को अशुभ समझा जाता है। सोना मिल जाने पर उसे मन्दिर में भगवान् के भेंट कर दिया जाता है।

घी का ढुल जाना अशुभ एवं तेल का ढुल जाना शुभ समझा जाता है।

स्याही की दवात का गिर जाना शुभ माना जाता है।

रसोई करते समय यदि तवा हंसता हुआ दिखाई दे तो उसे शुभ समझा जाता है।

जूती का दूसरी जूती पर चढ़ जाना कहीं यात्रा करनी होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

हिचकी आने पर ऐसा विश्वास किया जाता है हमारा स्वजन प्रवास में हमें अवश्य याद कर रहा है।

हमने यहाँ कुछ जैसलमेर के 'लोक-विश्वास' थोड़े में रखे हैं। विज्ञ-पाठक इससे सहज ही में अनुमान लगा सकते हैं—ये सभी केवल अंध-विश्वास मानकर अपेक्षित किए जाएं, अथवा ये सभी अंध-विश्वास मूलक हों, ऐसा नहीं है। इनमें लम्बी संख्या में बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें स्वास्थ्य एवं विज्ञान की दृष्टि से सही माने जा सकते हैं। इन सब पर आज मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन करना आवश्यक है। इस प्रकार के 'लोक-विश्वास' सैंकड़ों की संख्या में खोजने पर मिल सकते हैं। इन पर स्वतन्त्र-रूप से लिखा जाना आवश्यक समझा गया है।

भूत-व्याधि चिकित्सार्थ ब्रज के मंत्र



श्री रामशरणदास गुप्त एम० ए०

शोध-छात्र (हिन्दी विभाग) राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राज०)

विश्व की प्रत्येक संस्कृति में भूत-प्रेत की सत्ता में विश्वास किया जाता रहा है। भूत-प्रेत क्या है ? लोक मान्यता के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा ही भूत है। कुछ मनुष्यों की असमय में मृत्यु हो जाती है। इस मृत्यु के कारण होते हैं आग में जलना पानी में डूबना, आदि। जिन मनुष्यों की असामयिक मृत्यु होती है, वे भूत बन जाते हैं। लेकिन भूत बनने की यह अनिवार्य शर्त नहीं है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कितने ही ऐसे मनुष्य हैं जिन की मृत्यु उस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के कारण नहीं हुई लेकिन वे मृत्यु के पश्चात् भूत बने हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न ग्रामों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। ये भूत उन मनुष्यों को पीडित करते हैं जिनसे इनकी मानवीय-जीवन में शत्रुता रही होती है अथवा जिनके द्वारा इनका किसी प्रकार का अहित हुआ होता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार की सत्ता पीडित करती है, उस समय वह उन्मादग्रस्त हो जाता है। लोक मान्यता के अनुसार बैठे-बैठे चीखना, उन्मादिनी स्थितिका होना, अनेक प्रकार की आचरण-हीन क्रियाएं करना, गुम-सुम हो जाना, एक साथ बेहोश होना तथा इन क्रियाओं की पुनरुक्ति होना ही इस के बात के लक्षण है कि इस व्यक्ति पर भूत-प्रेत का प्रभाव हो गया है, इसी को ब्रज, खड़ी बोली, कन्नौजी आदि क्षेत्र में भूत का आना, ब्यारका झटका होना, ब्यार का असर होना, हवा का आना आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। इस की चिकित्सा के लिए लोक-चिकित्सक विभिन्न मंत्रों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य में उग्र मानसिक विकृतियां इन भूतों के प्रभाव के कारण होती है अस्तु, हमने इन मंत्रों को यहां भूत-व्याधि चिकित्सार्थ मंत्रों की संज्ञा से अभिहित किया है।

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए यंत्रों का प्रयोग विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में किया जाता रहा है। भारत में ही यदि इसके इतिहास पर विचार किया जाय तो लोक जीवन के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में भी इसके संकेत ही नहीं अपितु अनेक मन्त्र मिलते हैं जिन का उपयोग भूतापसारण के लिये किया जाता था। अथर्ववेद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अथर्ववेद में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों में भूत-प्रेत की सत्ता में विश्वास और निवारण हेतु मन्त्रों के प्रयोग के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। डा० मथुरालाल शर्मा के अनुसार—We have clear references also to beliefs in ghosts, goblins, evil spirits and other Super-Natural beings meddeing with man's affairs Spells were practiced to ward off their influences and schemes Some of spirits live on the earth and some in the air People stood in Constant Terror of them and appeared them by offerings [1]

लंकावतार सूत्र में इसप्रकार के विभिन्न अनिष्टकारी प्रभावों के मोचन हेतु निम्नलिखित मंत्र दिया गया है।—

---

1 Dr Mathura Lal Sharma, Magical Beliefs and Superstitions in Buddhism, The Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1931 Vol Page 147



"Tutte Tutte Vutte Vutte Patte Patte Katte Katte amale amale Vimale Vimale nime nime hime hime vame vame Kale Kale Kale Kale atte Matte vatte tutte nette Katte Katte latte Patte dime dime cale cale pace pace bandhi bandhi añche mañche dutāre patāre arkke arkke sarkke sarakke Carkke Carkke dime dime hime hime tu tu tu tu du du du du ru ru ru ru phū phū phu Svāhā (2)

इस प्रकार भूत-प्रेत व्याधि अथवा प्रभाव आदि के विमोचन हेतु मन्त्रों के प्रयोग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज भी भारतवर्ष की विभिन्न जीवित वाणियों उपभाषाओं एवं भाषाओं में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्रचलित हैं। विभिन्न हिन्दी की उपभाषाओं एवं बोलियों में भूत-प्रेत व्याधि निवारण के विभिन्न मन्त्र आज भी प्रचलित हैं यहां इन मन्त्रों का विवेचन ब्रज-भाषा क्षेत्र में प्राप्त सामग्री के आधार पर किया जाता है—

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए लोक-मान्त्रिक तीन प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। प्रथम प्रकार के वे मन्त्र हैं जिन का प्रयोग भूत-प्रेत आदि के भय के निवारण-हेतु किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति को मार्ग में जाते समय भूत आदि का भय प्रतीत होता है। तो वह इन मन्त्रों का स्मरण मन ही मन जाप करता है। इसके साथ ही इन मन्त्रों से मान्त्रिक छोटे २ बच्चों को झाड़ा देते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों द्वारा झाड़ा देने से बच्चा आदि पर भूत-प्रेत के प्रभाव का भय नहीं रहता। दूसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं जिनका प्रयोग रोगी विशेष पर भूत को बुलाने के लिये किया जाता है। प्राय ऐसा होता है कि भूत-प्रेत के प्रभाव से रोग-ग्रस्त व्यक्ति प्रत्येक समय अचेतन अवस्था में या असामान्य अवस्था में नहीं रहते अपितु जिस समय भूत का प्रभाव होता है तभी वे एक उन्मादकारिणी अवस्था में हो जाते हैं लेकिन भूत के जाने पर उनकी सामान्य स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में लोक-चिकित्सक ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करते समय मन्त्र के प्रभाव से इन आसुरी सत्ताओं को बुला लेता है। तत्पश्चात् रोगी की विधिवत् चिकित्सा करता है। तीसरे प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग भूत प्रभाव-मोचन हेतु किया जाता है। इन्हें क्रमशः 'चौकी या भूत का असर रोकने' 'भूत बुलाने या भूत बाधने' एवं 'भूत उतारने के मन्त्र कहा जाता है। हम इन्हें यहां क्रमशः, भूत भयहारी, भूताकर्षक एवं 'भूतापसारक' मन्त्रों की संज्ञा दे सकते हैं —

भूत-भय-हारी मन्त्र—भूतभयहारी मन्त्रों का सम्बन्ध नरसिंह एवं हनुमान से है। अस्तु, इन्हें नरसिंह की चौकी तथा हनुमान की चौकी भी कहा जाता है। मन्त्रों में प्राय उस उद्देश्य को व्यक्त कर दिया जाता है जिसके लिये मन्त्र विशेष का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इनमें इस प्रकार के किसी उद्देश्य का निर्देशन नहीं हुआ है। नरसिंह से सम्बन्धित मन्त्र का जाप करते हुए मान्त्रिक भूत-भय की आशंका से मुक्त करने के लिये झाड़ा दे देता है। मन्त्र इस प्रकार है।

"मनका मनका मनकवीर मनका हकारौ।
तू कहिये परचड वीर, तेरा नांउ डहारौ ॥
कहतौ पीछे जाउ, कहू मारू वजरगा ॥
तेरे ही अरक दरक, तेरौ वजरगा ॥
बाघ गरज झूठे करे हाक देत नरसिंहा।
फलै मन्त्र ईश्वरी, मेरे गुरु का सबद साचा ॥"

हनुमानजी से सम्बन्धित एक मन्त्र में प्रथम उनके पराक्रम का वर्णन है, तत्पश्चात् उनकी पूजा करने का विधान है और अन्त में हनुमानजी द्वारा सीता की खोज का वर्णन करते हुए मान्त्रिक ने अपने ऊपर कृपा करने का निवेदन किया है। यदि हनुमान उस पर कृपा नहीं करेंगे तो उन के प्रति अनेक शपथों का विधान भी मन्त्र में वर्णित है —

---

1 Luñkāvātār Sutra—Page 260-261, Edited by Bunyin Nanjiokyoto, Otani University Press 1923

"काप चढे हनुमन्त ममुद माहसै वन्दु
मन मे करी निसक
वीर वाघ आगै वरे
कहा वीर की कान कहा वृक्ष की छाया
मवा मेर का रोट लगोट हनुमन्त को चढाया
तेरी पूजा पान सुपारी
ये पूजा अपनी ले ओ
ये पूजा गहरी रचू
अप समान वल देउ
सेंचिया ब्रह्म की खैंच वाध हनुमन्त
आदू हकार मल्लहा की
वीर वीर से लडै
नरसिह वीर भैरो की निन्द्रा करै
उठाय पाव गुदी पै धरे
वे हनुमन्त जती लागुरा
सीता माता की गैसा कूं गये
ऐसी गैसा मेरी ना करौगे
तीनो लोक चौदह मे उ अस्तान के मारे परौगे
माता अजनी का दूध पीकै हराम करौगे
फले मत्री ईश्वरी वाचा मेरे गुरु का सवद साचा ।।

हनुमान सम्बन्धी दूसरे मत्र मे हनुमान के साथ ही अन्य अतिमानवीय शक्तियो का समावेश किया गया है। इस मे एक ओर हनुमान के पराक्रम का वर्णन है। हनुमान वलवान है, उनके हाथ मे लड्डू है और मुख मे पान है। जव वे कोपते हैं तो गिरि, ममुद्र, महरावण आदि चलायमान हो जाते है। दूसरी ओर "अरुआ करुआ वीर मसान" एव "ताईया सल्लाक महमदावीर" से पाप एव दोप आदि का विचार किये विना ही मारते हुए (हनते)को मारने (हनिये) के लिये प्रार्थना की गई है। इस कार्य के हेतु इन्हे हनुमान की आन दी गई है। भैरो को ब्रज के ताले को लोहे की कुजी लगा कर रक्षा करने हेतु वैठने का आदेश दिया गया है —

"गिरि चले पर्वत चले
चले ससुन्दर सात
महरावन फिर तीसरी
तव कोये हनुमान
अरुआ करुआ वीर मसान
ताईया सल्लाक महमदा वीर
हनते को हनियै
पाप दोष नही गनियैं
हनुमान वलवान





हाथ मे लड्डू मुह मे पान
भैरो की चौकी हनुमान की थान
लोहे की तारी वज्जर का तारा
ठोक वैठे भैरो मतवारे
इस चोले का हनुमन्त रखवारा ।।"

भूताकर्षकमन्त्र —ये मन्त्र काली, चामड एव महम्मदावीर से सबधित है। काली से सबधित मन्त्र मे काली का ब्रह्मा एव इन्द्र के साथ सबन्ध व्यक्त करते हुए उस से निवेदन किया गया है कि जहा मै तुम्हारा स्मरण करू वही आकर उपस्थित हो। तत्पश्चात् काली देवी को इक्कीस लोग के जाडो एव पान के बीडो का प्रलोभन देकर नदी, नाले माडी, घाट आदि के भूत-प्रेत, खईस, मसान को बाध कर लाने का आदेश दिया है। यदि देवी मात्रिक के इस आदेश का पालन नही करती है तो वह धोबी की नाद तथा चमार के छोंडे मे गिरेगी—

"काली काली महाकाली
विरम्हा की वेटी इन्दर की साली
दोनो हाथ वजावे ताली माला लिये खडी तेरी माली
जव सुमरू जब हाजिर ठाढो
खाय बोकरा पीवे दारू
नदी कू नवारे कू गैल के घाट कू
खईस कू, मसान कू, चुरैल कू, भूत कू
बाध-बाध कै मुसकें चढावैगी
इक्कीस लौंग को जोडा पान को बीडा पावैगी।
मेरी बाचा ते टरेगी धोबी की नाद मे गिरैगो।
चम्बाली के चमडे मे गिरैगी।
जो मेरे बचन को टारैगी।"

चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे चामड के साथ काल भैरो एव नरसिह वीर का समावेश किया गया है। मन्त्र के आरम्भ मे चामड की प्रार्थना और पूजा का विधान है—"हे चामड माता! तू गुणो को देने वाली है। मैं तेरा पुत्र हू, तू मेरी माता है। मैं तुझ पर घटाघोर (प्रचुर मात्रा मे) सिंदूर चढा कर ऊपर मे लाल शाल उढाता हू।" तत्पश्चात् काल भैरो को भूत की छाती पर चढ कर (भूत की) मुश्के बाधने के लिए तथा नरसिह वीर को भूत की गर्दन और पैर बाधकर सोते हुए को जगाकर, बैठे हुए को उठाकर लाने का आदेश दिया है —

चावड माता गुन की दाता
हू तेरा पुत्र तू मेरी माता
घटाघोर सदूर चढाऊ
ऊपर सालू लाल उढाऊ
आगै लें कालिया भैरो
चढ छाती पै मुसकें बाधै

सोते कू जगाला, वैठे कू उठाला
गुदी पाव वदला
छोटो वडो नाहरसिंह
देखू तेरा कीया
फलै मन्त्री ईश्वर वाचा
मेरे गुरु का सवद साचा ।।

मोहमदापीर सवधी मन्त्र मे मोहमद पीर जिद, मसान, खईम, भूत एव चुडैल को वाध कर लायेगे । —

"कारा घडा कारा जीन
जा पर चढै महमदापीर
महमदा वीर कहा चले ?
कजरी वन कू ।
कजरी वन से कहा लाओगे ?
सवा मन की साग वनवा के लायेंगे
सवामन की जजीर वनवाँ कै लायेंगे
जजीर ते कौन कौन-कू वाधि के लाओगे ?
जिद कुँ वाधि कै लायेंगे, मसान कू वाधि कै लायेंगे ।
प्रेत कूँ वाधि के लायेंगे, खईम कू वाधि के लायेगे ।
भूत कू वाधि के लायेंगे, चुडैल कू वाधि कै लायेंगे ।
कहा कहा के ?
मेडे के, मरघट के, गोडे के, गिरारे के
चौराहे के, पनघट के, गैल के, घाट के
इतने कू वाधि के ना लायेगा
(तो) अपनी माता अजनी का दूध पीकै हराम करैगा ।।"

भूत उतारने के मन्त्र —भूत उतारने के मन्त्र काली, चामड, हनुमान, ककाल भैरो, नरसिंहवीर, विनौला वीर, मुहमदावीर 'कमालखा, जैंनखा, डाकिनी, विसमिल्ला, रहमान रहीम, अस्माइल जोगी से सवधित है। इन मन्त्रो मे मान्त्रिक के भूत-प्रेत आदि को भगाने के उद्देश्य की व्यजना अत्यन्त तीव्र स्वर मे हुई है। मान्त्रिक काली को सवोधित करते हुए कहता है—"हे काली काली महाकाली ! तेरा वचन खाली नही जाता है। तेरे दाहे हाथ मे गदा है और वाए हाथ मे डौरू है। मा, तू खप्पर मे खाती है और श्मशान मे लेटती है। इस ससार मे ऐसा कोई है, जो तेरी पूजा न करे ? अर्थात् ससार मे सभी तेरी पूजा करते है। (अस्तु) हे मा ! तू नदी, नाले, मार्ग, घाट, कुआ, पनघट आदि पर निवास करने वाले भूत-प्रेत मसान आदि को वाध वाध कर डाल दे। यदि ऐसा नही करेगी तो काली मा नही कहलायेगी तथा माता के दूध को पीकर हराम करेगी।"[1] चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे मान्त्रिक कहता है— "हे गुणो को देने वाली चामड माता, अपने पुत्र की रक्षा तू ही करेगी क्योंकि क्योकि तू पापी को छोड कर धर्मात्माओ



१ मन्त्र सख्या १७९, ३०२ इ, ३०२ उ। लेखक के अपने सकलन से।

हाथ मे लड्डू मुह मे पान
भैरो की चौकी हनुमान की आन
लोहे की तारी बज्जर का तारा
ठोक बैठे भैरो मतवारे
इस चोले का हनुमन्त रखवारा ।।"

भूताकर्षकमत्र —ये मत्र काली, चामड एव महम्मदावीर मे सबधित है। काली से सबधित मन्त्र मे काली का ब्रह्मा एव इन्द्र के साथ सबन्ध व्यक्त करते हुए उस से निवेदन किया गया है कि जहा मै तुम्हारा स्मरण करू वही आकर उपस्थित हो। तत्पश्चात् काली देवी को इक्कीस लोग के जोडो एव पान के बीडो का प्रलोभन देकर नदी, नाले माडी, घाट आदि के भूत-प्रेत, खईस, मसान को वा॰ कर लाने का आदेश दिया है। यदि देवी मान्त्रिक के इस आदेश का पालन नही करती है तो वह धोबी की नाद तथा चमार के छोडे मे गिरेगी—

"काली काली महाकाली
बिरम्हा की बेटी इन्दर की साली
दोनो हाथ बजावे ताली माला लिये खडौ तेरौ माली
जब सुमरू जब हाजिर ठाढो
खाय बोकरा पीवे दारू
नदी कू नवारे कू गैल के घाट कू
खईस कू, मसान कू, चुरैल कू, भूत कू
बाध-बाध कै मुसकें चढावैगी
इक्कीस लौंग कौ जोडा पान को बीडा पावैगी।
मेरी बाचा ते टरेगी धोबी की नाद मे गिरैगी।
चम्बाली के चमडे मे गिरैगी।
जो मेरे बचन को टारैगी।"

चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे चामड के साथ काल भैरो एव नरसिह वीर का समावेश किया गया है। मत्र के आरम्भ मे चामड की प्रार्थना और पूजा का विधान है—"हे चामड माता ! तू गुणो को देने वाली है। मैं तेरा पुत्र हू, तू मेरी माता है। मैं तुझ पर घटाघोर (प्रचुर मात्रा मे) सिंदूर चढा कर ऊपर ने लाल शाल उढाता हू।" तत्पश्चात् काल भैरो को भूत की छाती पर चढ कर (भूत की) मुश्कें बाधने के लिए तथा नरसिह वीर को भूत की गर्दन और पैर बाधकर सोते हुए को जगाकर, बैठे हुए को उठाकर लाने का आदेश दिया है —

चावड माता गुन की दाता
हू तेरा पुत्र तू मेरी माता
घटाघोर सदूर चढाऊ
ऊपर सालू लाल उढाऊ
आगै लें कालिया भैरो
चढ छाती पै मुसके बाधै

सोते कू जगाला, बैठे कू उठाला
गुदी पाव बदला
छोटो बडो नाहरसिंह
देवू तेरा कीया
फलै मन्त्री ईश्वर वाचा
मेरे गुरु का सबद साचा ।।

मोहमदापीर सबधी मन्त्र मे मोहमद पीर जिंद, मसान, खईस, भूत एव चुडैल को बाध कर लायेंगे । —

"कारा घडा कारा जीन
जा पर चढै महमदापीर
महमदा वीर कहा चले ?
कजरी वन कू ।
कजरी वन ते कहा लाओगे ?
सवा मन की साग बनवा के लायेंगे
सवामन की जजीर बनवा कै लायेंगे
जजीर ते कौन कौन-कू बाधि के लाओगे ?
जिंद कूं बाधि कै लायेंगे, मसान कू बाधि कै लायेंगे ।
प्रेत कूं बाधि के लायेंगे, खईस कू बाधि के लायेंगे ।
भूत कू बाधि के लायेंगे, चुडैल कू बाधि कै लायेंगे ।
कहा कहा के ?
मेडे के, मरघट के, गोडे के, गिरारे के
चौराहे के, पनघट के, गैल के, घाट के
इतने कू बाधि के ना लायेगा
(तो) अपनी माता अजनी का दूध पीकै हराम करैगा ।।"

भूत उतारने के मन्त्र —भूत उतारने के मन्त्र काली, चामड, हनुमान, ककाल भैरो, नरसिंहवीर, विनोला वीर, मुहमदावीर 'कमालखा, जैनखा, डाकिनी, बिसमिल्ला, रहमान रहीम, अस्माइल जोगी से सबधित हैं। इन मन्त्रो मे मान्त्रिक के भूत-प्रेत आदि को भगाने के उद्देश्य की व्यजना अत्यन्त तीव्र स्वर मे हुई है। मान्त्रिक काली को सबोधित करते हुए कहता है—"हे काली काली महाकाली ! तेरा वचन खाली नही जाता है। तेरे दाहे हाथ मे गदा है और बाए हाथ मे टौल है। मा, तू खप्पर मे खाती है और श्मशान मे लेटती है। इस ससार मे ऐसा कोई है, जो तेरी पूजा न करे ? अर्थात् ससार मे सभी तेरी पूजा करते है। (अस्तु) हे मा ! तू नदी, नाले, मार्ग, घाट, कुआ, पनघट आदि पर निवास करने वाले भूत-प्रेत मसान आदि को बाध बाध कर डाल दे। यदि ऐसा नही करेगी तो काली मा नहीं कहलायेगी तथा माता के दूध को पीकर हराम करेगी।"[1] चामड से सम्बन्धित मन्त्र मे मान्त्रिक कहता है— "हे गुणो को देने वाली चामड माता, अपने पुत्र की रक्षा तू ही करेगी क्योकि क्योकि तू पापी को छोड कर धर्मात्माओ



---

१ मन्त्र सख्या १७९, ३०२ इ, ३०२ उ। लेखक के अपने सकलन से।

की सहायता करने वाली है, तू मार्ग, घाट, कुआ आदि के खईस, चुडैल एव भूत का बाध ले । यदि इन को बाध कर नही लायेगी तो काली गऊ के रक्त मे कौलारे के थान पर बैठ कर स्नान करेगी —

"चामड माता गुन की दाता
तू राखै पुत्र कू माता
देखू तेरे तरकसे
देखू तेरे वामन वीर
चामड बिलौनी साची कहाई
पाप कू छोडि धर्म कू धाई
ऊध वाचा ब्रह्म वाचा
जो तू मेरी वाचा से हटे
बाधि ले जिद मसान, खईस, चुडैल भूत ।
गैल, घाट, कुआ, पनघट, गोडा, गिरारा मे से,
छत्तीसौ कौमकू बाधि कै नही लावैगी
काली गऊ के रक्त मे बैठिकै
कौलारे के थान पै नहायगी
जो तू मेरी बाचा से टरैगी ।।

इसी प्रकार हनुमान, नरसिह, कमालखा, विसमल्ला रहमान रहीम को मान्त्रिक ने मार्ग, घाट, पनघट, नदी, नाले, पास के पडौस के भूत-प्रेत, जिदा, खईस, मसान, चुडेल, डाकिनी, शाखिनी आदि को रोगी के चाम-चाम, गूद-गूद, हाडे-हाड, नोज नाडी एव बहत्तर सौ कोठो से खीच-खीचकर बाध-बाध कर लाने का आदेश दिया है । आदेश के न मानने पर इन अलौकिक सत्ताओ के प्रति अनेक प्रकार की शपथ एव अभिशाप की अभिव्यक्ति की है ।

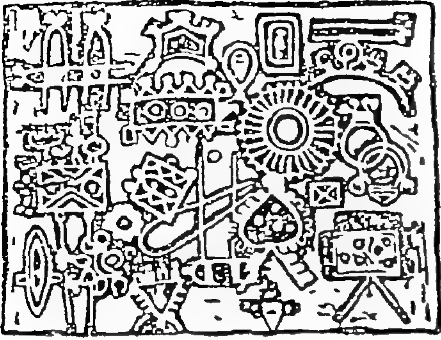
हनुमान के प्रति शपथ विधान उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है —

१ "तीन लोक चौदउ अस्तान के मारे परौगे ।"

२ "राजा रामचन्द्र के सिहासन के मारे परौगे ।"

३ अजनी का खीर खैंचो हलाल न कियो हराम कियौ ।"

इस प्रकार भूत-व्याधि चिकित्सा के लिये प्रयुक्त अनेक मन्त्र लोक मे प्रचलित है । इन मन्त्रो को गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है । गुरु मौखिक रूप से शिष्य को मन्त्र दिया करता है । शिष्य जब मन्त्र सीख जाता है, तब वह गुरु के निर्देशानुसार उन्हे सिद्ध करता है । सिद्ध करने के पश्चात् उनके गुरु दारा निर्देशित विधि के अनुसार ही प्रयोग मे लाता है । इन मन्त्रो के प्रयोक्ता एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे अनेक विद्यमान हैं ।



षष्ठ खण्ड



अंग्रेजी-भाषा-निबन्ध

ANTIQUITY OF JAINA CULTURE

DR MOHAN LAL MEHTA, M A , Ph D



Culture is that complex which includes knowledge, belief, art, morals, rules, customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society In other words, culture is the sum total of man's learned behaviour The culture of the individual is mainly dependent on the culture of the society to which that individual belongs Thus, the acquisition of culture is predominantly a social phenomenon The application of a particular culture may be social as well as individual

There are individual differences in a group or class or society Similarly, we find social differences in the world Some of these differences are purely non-cultural, whereas some differences are definitely cultural A number of causes, individual as well as social, may be attributed to these cultural differences

Indian Culture

Indian culture is remarkable for its peculiarities It consists of two main trends · Śramaṇic and Brāhmanic The Vedic, Aryan or Hindu (in a restricted sense) traditions come under the Brāhmanic trend The Śramanic trend covers the Jaina, Buddhist and similar other ascetic traditions The Brāhmanic schools accept the authority of the Vedas and Vedic literature The Jainas and Buddhists have their own canons and canonical literature and accept their authority

Jaina Culture

Jainism is one of the oldest religions of the world It is an independent and most ancient religion of India It is wrong to say that Jainism was founded by Lord Mahāvīra Even Lord Pārsva cannot be regarded as the founder of this great religion It is equally incorrect to maintain that Jainism is nothing more than a revolt against the Vedic religion The truth is that Jainism is quite an independent religion It is even older than the Vedic religion The Jaina culture, which represents now the Śramanic culture in India, is in negative terms, non-Vedic, non-Aryan and non-Brāhmanic It has its own peculiarities It is flourishing on this land from times immemorial The Indus Valley civilization of Mohenjodaro and Harappa sheds some welcome light on the antiquity of the Jaina culture Of course, we cannot deny that there has been a good deal of mutual influences on both the currents of Indian culture In fact, Indian culture is a composite culture The two most predominant currents in the stream of Indian culture are Brāhmanism and Śramanism They have greatly influenced each other and, thereby, contributed to the composite Indian culture It is true that they have some similarities and certain common principles But it is equally true that they have their own peculiarities and marked differences



Iconism and Nudity

The time assigned to the Indus Valley civilization is 3000 B C The Indus culture is quite different from the Aryan culture in the Vedic period A comparison of the Indus and Vedic cultures shows that they were unrelated The Vedic religion is generally not iconic At Mohenjodaro and Harappa iconism is everywhere apparent In the houses of Mohenjodaro the firepit is conspicuously lacking There have been discovered at Mohenjodaro many nude figures which depict personages who are no other than ascetic Yogis Iconism and nudity have been two chief characteristics of the Jaina culture

The nude figures of Mohenjodaro clearly indicate that the people of the Indus Valley not only practised Yoga but also worshipped images of Yogis Along with the seated deities engraved on some of the Indus seals the standing deities on them also show the Kāyotsarga posture This posture of Yoga or meditation is peculiarly Jaina

Followers of Arhats

There existed in India sects different from the Vedic faith long before Mahāvīra and Buddha Arhats and Arhat-caityas were also in existence before their birth The followers of those Arhats were known as Vrātyas They had a republican form of Government They had their own shrines, their non-Vedic worship and their own religious leaders They with their well-built cities and non-violent, non-sacrificial cult were the indigenous rivals and enemies whom the first Aryans had to encounter for settling and extending in this country In the Vedic period some saints were known as Yatis who probably belonged to the non-Vedic group, i e , the Śramanic society Some of the saints are described as naked which indicates that they practised stern asceticism Such people who liked renunciation and abandoned all pleasures were the pillars of the Śramanic society, i e , the society of the non-Aryans The Brāhmanic view of life was quite different It longed for long life, heroic progeny, wealth, power, abundance of food and drink and the defeat of the rivals It seems that the idea of renunciation did not much appeal in the beginning to the Brāhmanic society, i e , the society of the Aryans

Jaina Philosophy

The Jaina philosophy, no doubt, holds certain principles in common with Hinduism and Buddhism, but this does not disprove its independent origin and free development If it has some similarities with the other Indian systems, it has its own peculiarities and marked differences as well Its animism, atomic theory, Karmic theory etc are quite peculiar

Jaina Culture and Dravidian Culture

In the opinion of some scholars the Jaina culture is identical with the pre-Vedic Dravidian Culture Both are simple, unsophisticated, clear cut and direct manifestation of the pessimistic outlook Jainism believes in pessimism, i e , the conviction that life is full of misery No trace of this type of pessimism is available in the optimistic attitude of the Vedic Aryans An atheistic attitude and a kind of dualism between soul and matter characterize both the Dravidian religion and Jainism The doctrines of transmigration and Karma are peculiar to both the religions They were unknown to the early Brāhmanas The general tendency of scholars has been in favour of the theory that the Indus people were of Dravidian stock The Mohenjodaro people were Dravidian, their language was a purely Dravidian language and their culture was also Dravidian

Jainism and Buddhism

Jainism and Buddhism now represent the Śramanic culture If we examine the antiquity of Jainism from the Buddhist and Jaina records, it will be clear that Jainism is older than Buddhism The Nigantha Nātaputta of the Buddhist scriptures is none else but Lord Mahāvīra, the last Tīrthankara (Fordmaker) of the Jainas The place of his death is mentioned as pāvā The Buddhists often refer to the Jainas as a firmly established rival sect Buddha made several experiments in the quest of enlightenment But such was not the case with Mahāvīra He practised and preached the old Nirgrantha Dharma He made no attempt to found or preach a new religion Buddha is even said to have entered the Śramanic (Nirgrantha or Jaina) order of ascetics in his quest of enlightenment

The Sāmaññaphala-sutta of the Dīgha-nikāya refers to the four vows (Caturyāma) of the Nirgrantha Dharma It shows that the Buddhists were aware of the older traditions of the Jainas Lord Pārsva who preceded Lord Mahāvīra, had preached the four-fold law (Cāturyāma Dharma) Mahāvīra adopted the same but added one more vow to it and preached the five-fold law (Pañcayāma Dharma) This is clear from the Uttarādhyayana-sūtra of the Jainas There is a nice conversation between Kesi, the follower of Pārsva and Gautama, the follower of Mahāvīra, in this canonical text In this conversation the two leaders realise and recognise the fundamental unity of the doctrines of their respective teachers They discuss the view-points of the four vows (non-injury, truth non-stealing and non-possession) and five vows (chastity added) and come to the conclusion that fundamentally they are the same

Historicity of Pārsva

The historicity of Pārsva has been unanimously accepted He preceded Mahāvīra by 250 years He was the son of King Asvasena and Queen Vāmā of Varanasi At the age of thirty he renounced the world and became an ascetic He practised austerities for eighty-three days On the eighty-fourth day he obtained omniscience Lord Pārsva preached his doctrines for seventy years At the age of a hundred he attained liberation on the summit of Mount Sammeta (Parasnath Hills)

The four vows preached by Lord Pārsva are not to kill, not to lie, not to steal and not to own property The vow of chastity was, no doubt, implicity included in the last vow, but in the two hundred and fifty years that elapsed between the death of Pārsva and the preaching of Mahāvīra, abuses became so abundant that the latter had to add the vow of chastitly explicity to the existing four vows Thus, the number of vows preached by Lord Mahāvīra was five instead of four

Neminātha

Neminātha or Aristanemi who preceded Lord Pārsva, was a cousin of Krsna If the historicity of Krsna is accepted, there is no reason why Neminātha should not be regarded as a historical person He was the son of Samudravijaya and grandson of Andhakavrsni of Sauryapura. Krsna had negotiated the wedding of Neminātha with Rājīmati, the daughter of Ugrasena of Dvārakā Neminātha attained emancipation on the summit of Mount Raivata (Girnar)

Other Tīrthankaras

The Jaina tradition believes in the occurrence of twenty-one more Tīrthankaras They preceded Neminātha Lord Rsabha was the first among them It is not an easy job to establish the historicity of these great souls



Mahāvīra

Mahāvīra was the twenty-fourth, i e , the last Tīrthankara According to the Pali texts he was a contemporary of Buddha but they never met The early Prakrit texts do not mention the name of Buddha They totally neglect him This indicates that Mahāvīra and his followers did not attach any importance to Buddha's personality and teachings On the other hand, Mahāvīra is regarded as one of the six Tīrthankaras of Buddha's time in the Pali Tripitaka This shows that Mahāvīra was an influential personality and a leading venerable ascetic

According to the tradition of the Śvetāmbera Jainas the liberation of Mahāvīra took place 470 years before the beginning of the Vikrama Era The tradition of the Digambara Jainas maintains that Lord Mahāvīra attained liberation 605 years before the beginning of the Śaka Era By either mode of calculation the date comes to 527 B C Since the Lord attained emancipation at the age of 72, his birth must have been around 599 B C This makes Mahāvīra a slightly elder contemporary of Buddha who probably lived about 567-487 B C

There are many references in the Buddhist canon to Nātaputta and the Niganthas, meaning Mahāvīra and the Jainas The Buddhist canon refers to the death of Nātaputta at Pāvā at a time when Buddha was still engaged in preaching According to Hemacandra, Mahāvīra attained liberation 155 years before Candragupta's accession to the throne This leads to a date around 549-477 B C for Mahāvīra and places his death slightly later than that of Buddha Some scholars support this view

There is no doubt that Pārśva preceded Mahāvīra by 250 years The Jaina canon clearly mentions that the parents of Mahāvīra were followers of Pārśva whose death took place 250 years before that of Mahāvīra (527 B C) Since Pārśva lived for a hundred years, his date comes to 877-777 B C

Mahāvīra was not the inventor of a new doctrine but the reformer of a law already long in existence The Uttarādhyayana-sūtra gives a good account of this fact The following is the essence of this account —

There was a famous preceptor in the tradition of Lord Pārśva His name was Keśi Surrounded by his disciples he arrived at the town of Śrāvastī In the vicinity of that town there was a park called Tinduka There he took up his abode in a pure place

At that time there was a famous disciple of Lord Mahāvīra His name was Gautama Surrounded by his pupils he too arrived at Śrāvastī In the vicinity of that town there was another park called Kosthaka There he took up his abode in a pure place

The pupils of both, who controlled themselves, who practised austerities, who possessed virtues, made the following reflection

"Is our law the right one or the other ? Are our conduct and doctrines right or the other ? The law as taught by Lord Pārsva, which recognises only four vows, or the law taught by Lord Mahāvīra (Vardhamāna), which enjoins five vows ? The law which forbids clothes for a monk or that which allows an under and an upper garment ? Both pursuing the same end, what has caused this difference ?"

Knowing the thoughts of their pupils, both Keśi and Gautama made up their minds to meet each other Gautama went to the Tinduka park where Keśi received him With his

permission Keśi asked Gautama "The law taught by Pārśva recognises only four vows, while that of Vardhamāna enjoins five Both laws pursuing the same end, what has caused this difference? Have you no misgivings about this two-fold law?" Gautama made the following reply "The monks under the first Tīrthankara are simple but slow of understanding, those under the last are prevaricating and slow of understanding and those between the two are simple and wise Hence, there are two forms of the law The first can but with difficulty understand the precepts of the law and the last can but with difficulty observe them But those between them can easily understand and observe them" This answer removed the doubt of Kesi He asked another question "The law taught by Vardhamāna forbids clothes but that of Pārśva allows an under and upper garment Both laws pursuing the same end, what has caused this difference?" Gautama gave the following reply "The various outward marks have been introduced in view of their usefulness for religious life and their distinguishing character The opinion of the Tīrthankaras is that right knowledge, right faith and right conduct are the true causes of liberation" This answer too removed the doubt of Kesi He, thereupon, bowed his head to Gautama and adopted the law of five vows

It is clear from the account of the Uttarādhyayana sūtra that there were two main points of the difference between the followers of Pārśva and those of Mahāvīra The first point was relating to vows and the second was regarding clothes The number of vows observed by the followers (monks) of Pārsva was four, to which Mahāvīra added the vow of chastity as the fifth It seems that Pārsva had allowed his followers to wear an under and an upper garment, but Mahāvīra forbade the use of clothes Preceptor Kesi and his disciples, however, adopted the law of five vows without abandoning clothes Thus, Mahāvīra's composite church had both types of monks with clothes (Sacelaka) and without clothes (Acelaka)

Mahāvīra was the son of Ksatria Sidhārtha and Trisalā of Kundapura or (Kundagrāma), the northern borough of Vaisālī He belonged to the Jñātr clan He was born on the thirteenth day of the bright half of the month of Caitra when the moon was in conjunction with the Hastottarā costellation As the family's treasure of gold, silver, jewels etc went on increasing since the prince (Mahāvīra) was placed in the womb of Trisalā, he was named Vardhamāna (the Increasing One) He was known by three names Vardhamāna, Śarmana (Ascetic) and Mahāvīra (Great Hero) The name of Vardhamāna was given by his parents He was called Śramana by the people, as he remained constantly engaged in austerities with spontaneous happiness Since he sustained all fears and dangers and endured all hardships and calamities, he was called Mahāvīra by the gods

Vardhamāna lived as a house-holder for thirty years When his parents died, with the permission of his elders he distributed all his wealth among the poor during a whole year and renounced the world After observing fast for two days and having put on one garment, Vardhamāna left for a park known as Jñātrkhanda in a palanquin named Candraprabhā He descended from the palanquin under an Aśoka tree took off his ornaments, plucked out his hair in five handfuls and entered the state of houselessness with one garment He wore the garment only for a year and a month and then abandoned it and wandered about naked afterwards



The Venerable Ascetic Mahāvīra spent his second rainy season in a weaver's shed at Nālandā, a suburb of Rajagrha Gośāla, the Ājīvika, approached the Venerable Ascetic and

Sudharman also attained emancipation. He was the last of the eleven Ganadharas to die. Jambū, the last omniscient, was his pupil. He attained salvation after sixty-four years of the liberation of Mahāvīra. Bhadrabāhu, belonging to the sixth generation since Sudharman, lived in the third century B. C. He died 170 years after Mahāvīra. He was the last Śrutakevalin (possessor of knowlege of all the scriptures). Sthūlabhadra possessed knowledge of all the scriptures less four Pūrvas (a portion of the Drstivāda). He could learn the first ten pūrvas with meaning and the last four without meaning from Bhadrabāhu in Nepal. Thus, knowlege of the canonical texts started diminishing gradually. There are still a good many authentic scriptures preserved in the Śvetāmbara tradition. Of course, some of them have, partly or wholly, undergone modifications. The Digambaras believe that all the original canonical texts have vanished.

Up to Jambū there is no difference as regards the names of successors in the Digambara and Śvetāmbara traditions. They are common in both the branches. The name of Bhadrabāhu is also common, although there is a lot of difference regarding the events relating to his life. There is no unanimity with regard to the name of his own successor too. Besides, the names of intermediary successors are also different. Judging from the total picture it seems that in fact there had been two different preceptors bearing the name of Bhadrabāhu in the two traditions. Probably they were contemporary. The Śvetāmbara account mentions that the death of Śrutakevalī Bhadrabāhu occurred 170 years after the liberation of Mahāvīra, whereas the Digambara tradition maintains that Bhadrabāhu died 162 years after Mahāvīra.

According to the tradition of the Śvetāmbaras, preceptor Bhadrabāhu had been to Nepal and remained there engaged in some specific course of meditation. Sthūlabhadra and some other monks went to Nepal to learn the Drstivāda from Bhadrabāhu.

The Digambara tradition believes in a migration of Bhadrabāhu and other monks to South India. It holds that the head of the Jaina church in the time of Candragupta's reign (322-298 B. C.) was Bhadrabāhu. He was the last Śrutakevalin. He prophesied a twelve-years famine and led a migration of a large number of Jaina monks to South India. They settled in the vicinity of Śravana Belgolā in Mysore. Bhadrabāhu himself died there. King Candragupta, an adherent of the Jaina faith, left his throne and went to Śravana Belgolā. He lived there for a number of years in a cave as an ascetic and finally embraced death.

Samprati

Sthūlbhadra's pupil Suhastin had won King Samprati, the grandson of and successor to Asoka, for Jainism. Samprati was very zealous in the promotion and propagation of Jainism. He showed his enthusiasm by causing Jaina temples to be erected over the whole of the country. During Suhastin's stay at Ujjain (Samprati's capital), and under his guidance, splended religious festivals were celebrated. The devotion manifested by the king and his subjects on such occasions was great. The example and advice of King Samprati induced his vassals to embrace and partonize Jainism. He had sent out missionaries as far as to South India. In order to extend the sphere of their activities to non-Aryan countries, Samprati sent there Jaina monks as messengers. They acquainted the people with the kind of food and other requisites which Jaina monks may accept as alms. Having thus prepared the way for them, Samprati induced the superior to send monks to those countries. Accordingly missionaries were sent to the countries of Andhra and Dramila in South India.



made a request to admit him as his disciple. Mahāvīra did not entertain his request. Gośāla again approached the Venerable Ascetic when he had left the place at the end of the rainy season. This time his request was, however, accepted and both of them lived together for a considerable period. While at Siddhārthapura, Gośāla uprooted a sesamum shrub and threw it away challenging Mahāvīra's prediction that it would bear fruits. Owing to a lucky fall of rain the shrub came to life again and bore fruits. Seeing this Gośāla concluded that everything is pre-determined and that all living beings are capable of reanimation. Mahāvīra did not favour such generalisations. Gośāla, then, severed his association with Mahāvīra and founded his own sect known as Ājīvika.

Mahāvīra had travelled up to Lādha in West Bengal. He had to suffer all sorts of tortures in the non-Aryan tarritory of Vajrabhūmi and Śubhrabhūmi. Many of his hardships were owing to the adverse climate, stinging plants and insects and wicked inhabitants who set dogs at him. The Venerable Ascetic had spent his ninth rainy season in the non-Aryan land of the Lādha country.

Mahāvīra passed twelve years of his ascetic life with equanimity performing hard and long penances and enduring all afflictions and calamities with undisturbed mind. During the thirteenth year on the tenth day of the bright fortnight of the month of Vaiśākha the Venerable Ascetic obtained omniscience under a Śāla tree in the farm of Svamīka on the northern bank of river Rjupālikā outside the town of Jrmbhikagrāma. He preached the law (Dharma) in the Ardhamāgadhī language, taught five great vows etc., initiated Indrabhūti (Gautama) and others and established the four-fold order (monks, nuns, male lay-votaries and female lay-votaries).

Jamāli, who was the son-in-law of Mahāvīra and had entered his church, left the order after some time and founded a new sect known as Bahurata. He is regarded as the first schismatic (Nihnava) in the Jaina church.

Lord Mahāvīra passed the last thirty years of his life as the omniscient Tīrthankara. He spent his last rainy season at Pāpā (Pāvāpurī). On the fifteenth day of the dark fortnight of the month of Kārttika the lord attained liberation there at the age of seventy-two. The eighteen confederate kings of Kāśī and Kośala (and eighteen Kings) belonging to the Mallaki and Lecchaki clans were present there at that time. Thinking that spiritual light of knowledge has vanished with the passing away of the Lord they made a material illumination by lighting lamps.

Lord Mahāvīra was the head of an excellent community of 14000 monks, 36000 nuns, 159000 male lay-votaries and 318000 female lay-votaries. The four groups designated as monks, nuns, laymen and laywomen constitute the four-fold order (Tīrtha) of Jainism. One who makes such an order is known as Tīrthankara. Tīrthankara Mahāvīra's followers comprised three categories of persons: ascetics, lay-votaries and sympathisers or supporters. Indrabhūti (monk), Candanā (nun) etc. form the first category. Śankha (layman), Sulasā (laywoman) etc. come under the second category. Śrenika (Bimbisāra), Kūnika (Ajātasatru), Pradyota, Udāyana, Cellaṇā etc. form the third category. The Tīrthankara's Tīrtha or Sangha consisted of only the first two categories.

Sudharamun, Jambū, Bhadrabāhu and Sthūlabhadra

Of the eleven principal disciples (Ganadharas) of Lord Mahāvīra, only two, viz., Indrabhūti and Sudharman survived him. After twenty years of the liberation of Mahāvīra

Sudharman also attained emancipation He was the last of the eleven Ganadharas to die Jambū, the last omniscient, was his pupil He attained salvation after sixty-four years of the liberation of Mahāvīra Bhadrabāhu, belonging to the sixth generation since Sudharman, lived in the third century B C He died 170 years after Mahāvīra He was the last Śrutakevalin (possessor of knowlege of all the scriptures) Sthūlabhadra possessed knowledge of all the scriptures less four Pūrvas (a portion of the Drstivāda) He could learn the first ten pūrvas with meaning and the last four without meaning from Bhadrabāhu in Nepal Thus, knowlege of the canonical texts started diminishing gradually There are still a good many authentic scriptures preserved in the Śvetāmbara tradition Of course, some of them have, partly or wholly, undergone modifications The Digambaras believe that all the original canonical texts have vanished

Up to Jambū there is no difference as regards the names of successors in the Digambara and Śvetāmbara traditions They are common in both the branches The name of Bhadrabāhu is also common, although there is a lot of difference regarding the events relating to his life There is no unanimity with regard to the name of his own successor too Besides, the names of intermediary successors are also different Judging from the total picture it seems that in fact there had been two different preceptors bearing the name of Bhadrabāhu in the two traditions Probably they were contemporary The Śvetāmbara account mentions that the death of Śrutakevalī Bhadrabāhu occurred 170 years after the liberation of Mahāvīra, whereas the Digambara tradition maintains that Bhadrabāhu died 162 years after Mahāvīra

According to the tradition of the Śvetāmbaras, preceptor Bhadrabāhu had been to Nepal and remained there engaged in some specific course of meditation Sthūlabhadra and some other monks went to Nepal to learn the Drstivāda from Bhadrabāhu

The Digambara tradition believes in a migration of Bhadrabāhu and other monks to South India It holds that the head of the Jaina church in the time of Candragupta's reign (322-298 B C) was Bhadrabāhu He was the last Śrutakevalin He prophesied a twelve-years famine and led a migration of a large number of Jaina monks to South India They settled in the vicinity of Śravana Belgolā in Mysore Bhadrabāhu himself died there King Candragupta, an adherent of the Jaina faith, left his throne and went to Śravana Belgolā He lived there for a number of years in a cave as an ascetic and finally embraced death

Samprati

Sthūlbhadra's pupil Suhastin had won King Samprati, the grandson of and successor to Asoka, for Jainism Samprati was very zealous in the promotion and propagation of Jainism He showed his enthusiasm by causing Jaina temples to be erected over the whole of the country During Suhastin's stay at Ujjain (Samprati's capital), and under his guidance, splended religious festivals were celebrated The devotion manifested by the king and his subjects on such occasions was great The example and advice of King Samprati induced his vassals to embrace and partonize Jainism He had sent out missionaries as far as to South India In order to extend the sphere of their activities to non-Aryan countries, Samprati sent there Jaina monks as messengers They acquainted the people with the kind of food and other requisites which Jaina monks may accept as alms Having thus prepared the way for them, Samprati induced the superior to send monks to those countries Accordingly missionaries were sent to the countries of Andhra and Dramila in South India



Khāravela

Somewhere near Samprati's time there lived King Khāravela of Kalinga His inscription in a cave of Khandagiri, dating around the middle of the second century B C, tells among other things of how he constructed rock-dwellings and gave abundant gifts to Jaina devotees There are some Jaina caves in sandstone hills known as Khandagiri, Udayagiri and Nilagiri in Orissa The Hāthīgumphā or Elephant Cave, as it is now known, was an extensive natural cave It was improved by King Khāravela It has a badly damaged inscription of this king. The inscription begins with a Jaina way of veneration

Kālkācārya and Gardabhilla

In the first century B C, when Gardabhilla was the king of Ujjain, there lived a famous Jaina preceptor known as Kālakācārya King Gardabhilla carried off Sarasvatī, a Jaina nun, who was the sister of Kālakācārya After repeated requests and threats when Kālakācārya found that the king was not prepared to set the nun free, he travelled west of the Indus and persuaded the Śakas to attack Ujjain and overthrow Gardabhilla The Śakas attacked Ujjain and established themselves in the city Vikramāditya, the successor to Gardabhilla, however, expelled the invaders and reestablished the native dynasty He is said to have been won for Jainism by some Jaina preceptor

Jaina Stupa at Mathura

An inscription of the second century A D has been found in the ruins of Jaina stupa excavated in the mound called Kankali Tila at Mathura The inscription says that the stupa was built by gods The truth underlaying this type of belief is that at that time the stupa was regarded as of immemorial antiquity The sculptures and inscriptions found at Mathura are of great importance for the history of Jainism They corroborate many of the points current in the Jaina traditions For instance, the series of twenty-four Tīrthankaras with their respective emblems was firmly believed in, women also had an influential place in the church, the order of nuns was also in existence, the division between the Śvetāmbaras and Digambaras had come into being, the scriptures were being recited with verbal exactitude

Kumārapāla and Hemacandra

Coming to the medieval period, King Siddharāja Jayasimha (A D 1094-1143) of Gujarat, although himself a worshipper of Śiva, had Hemacandra, a distinguished Jaina preceptor and writer, as a scholar member of his court King Kumārapāla (A D 1143-1173), the successor to Jayasimha, was actually converted to Jainism by Hemacandra Kumārapāla tried to make Gujarat in some manner a Jaina model state On the other hand, Hemacandra, taking full advantage of the opportunity, established the basis for a typical Jaina culture by his versatile scientific work He bacame famous as the Kalikālasarvajña, i e, the omniscient of the Kali Age In South India the Gangas, Rāṣṭrakūtas and Hoysalas were Jainas They fully supported the faith

Digambaras and Śvetāmbaras

There were both types of monks, viz Sacelaka (with clothes) and Acelaka (without clothes), in the order of Mahāvīra The terms Sacelaka and Śvetāmbara signify the same sense and Acelaka and Digambara express the same meaning The monks belonging to the Śvetāmbara group wear white garments, whereas those belonging to the Digambara group wear no garment The literal meaning of the word Digambara is sky-clad and that of the Śvetāmbara is white-clad It was, probably, up to Jambū's time that both these groups

formed the composite church Then they separated from each other and practised the faith under their own heads This practice is in force even in the present time The Śvetāmbaras hold that the practice of dispensing with clothing has no longer been requisite since the time of the last omniscient Jambū

The following main differences exist between the Digambaras and Śvetāmbaras —

1 The Digambaras believe that no original canonical text exists now The Śvetāmbaras still preserve a good number of original scriptures

2 According to the Digambaras the omniscient no longer takes any earthly food The Śvetāmbaras are not prepared to accept this conception

3 The Digambaras strictly maintain that there can be no salvation without nakedness Since women cannot go without clothes they are said to be incapable of salvation The Śvetāmbaras hold that nakedness is not essential to attain liberation Hence, women are also capable of salvation

4 The Digambaras hold that Mahāvīra was not married The Śvetāmbaras reject this view According to them Mahāvīra was married and had a daughter

5 The images of Tīrthankaras are not decorated at all by the Digambaras, whereas the Śvetāmbaras profusely decorate them

The two main Jaina sects, viz , the Śvetāmbara and the Digambara, are divided into a number of sub-sects There are at present three important Śvetāmbara sub-sects Mūrtipūjaka, Sthānakavāsī and Terāpanthī The number of present important Digambara sub-sects is also three Bīsapanthī, Terahapanthī and Tāranapanthī The Mūrtipūjakas worship images of Tīrthankaras etc The Sthānakavāsīs are non-worshippers The Terāpanthīs are also not in favour of idol-worship Their interpretation of non-violence (Ahimsā) is slightly different from that of the other Jainas The Bīsapanthīs use fruits, flowers etc in the idolatry ceremony, whereas the Terahapanthīs use only lifeless articles in it The Tāranapanthīs worship scriptures in place of images All these sub-sects have their own religious and other works in addition to the common ones They have their own temples and other religious and cultural centres

BIBLIOGRAPHY

1 Jainism—The Oldest Living Religion—Jyoti Prasad Jain—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951
2 Doctrine of the Jainas—Welther Schubring—Motilal Banarasidass, Delhi, 1962
3 Heart of Jainism—Sinclair Stevenson—Humphrey Milford, London, 1915
4 Sources of Indian Tradition—Motilal Banarasidass, Delhi, 1963
5 Cultural Heritage of India, Vol I—Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1958
6 Philosophy of Culture—N K Devaraja—Kitab Mahal, Allahabad, 1963
7 Most Ancient Aryan Society—Ram Chandra Jain—Institute of Bharatalogical Research, Ganganagar, 1964
8 Jaina Sūtras—Hermann Jacobi—Motilal Banarasidass, Delhi, 1964
9 Archeology of World Religions—Jack Finegan—Princeton University Press, 1965
10 Pacifism and Jainism—Sukhlal Sanghavi—Jain Cultural Research Society, Banaras, 1950





THE CONCEPT OF ARAHANTA (ARHAT) IN JAINISM

DR K C SOGANI, M A, Ph D
(Department of Philosophy, University of Udaipur, Udaipur)

The supreme objects of devotion enumerated by the Jaina are five, namely, Arahanta, Siddha, Acarya, Upadhyaya and Sadhu The same may be expressed by saying that Deva, Sastra and Guru deserve our highest reverence Again, we come across a different expression that the four objects, namely, Arahanta, Siddha, Sadhu and Dharma preached by Arahantas, are most auspicious and unexcelled in the universe These ways of expression are essentially one, and each is inclusive of the rest To make it clear, Arahanta and Siddha are comprised under the category of Deva, Acarya, Upadhyaya and Sadhu are styled Gurus, and the religion preached by the Arahantas is called Dharma or Sastra Considered from the perspective of mystical realisation, Arahanta and Siddha stand at par But as the former enjoys embodied liberation, and the latter, disembodied one, it is alleged that Siddha occupies a higher status In view of this it may appear that disrespect is shown to Siddhas, inasmuch as Arahantas are everywhere bowed first, Siddhas, next But the conviction of the Jaina is that it is through Arahantas that we have been able to recognise Siddhas, and it is through his intervention that Apta, Agama and Padartha have been made intelligible [1] Hence this supreme Guru is entitled to receive our preferential obeisance Thus Arahanta is the perfect Guru owing to the delivering of sermons for general beneficence, and is also called perfect Deva on account of the complete actualisation of the divinity potential in Himself It is through his medium that mystical life has been possible on earth Hence he must have our highest gratitude and reverence

Thus the concept of Arahanta in Jainism plays a double role the role of the perfect Deva, and the role of the perfect Guru And this is quite consistent with the view-point of spiritual experience, and the consequent upliftment of mankind at large through preaching Guruhood refers to the outward manifestation of intuitive experience, while Devahood signifies simply the inward spiritual realisation Thus the concept of Arhat stands for the consistent identification of Devatva and Gurutva, of the inward experience and the outward expression In the state of the Siddha, there is no outward representation of mystical experience, which, on the other hand, is integrally connected with the life of Arahanta Because of this double role, Arahanta is bowed first in preference to the Siddha who is simply the Deva on account of his being incapable of preaching Dharma Prof A N Upadhvaya rightly remarks "The magnanimous saint, the Jaina Tirthankara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience is the greatest and ideal teacher and his words are of the

1 Ṣat Vol I, P 53

highest authority" This does not imply the belittlement of the Siddha, but simply the glorification of the Arahanta as the supreme Guru, Gurutva being his additional characteristic.

Now, two kinds of Arahanta, namely Tirthankara and non-Tirthankara have been recognised The distinction between the two is this that the former is capable of preaching and propagating religious doctrines in order to guide the mundane souls immersed in the life of illusion, and his sermons are properly worded by the Ganadharas, while the latter is not the propounder of religious faith or principles, but silently enjoys simply the sublimity of mystical experience These two tendencies of the perfected mystics or Arahantas may be compared with the *"activistic" and "quietistics" tendencies of the mystics[1] Thus the word Arahanta should be primarily esteemed as referring to the Tirthankara and only secondarily to the ordinary omniscient souls[2] It is only the privilege and prerogative of those rare souls to have the designation of Tirthankara Arahanta, who in the past or the present life have accumulated in themselves the potency of revealing truth by the performance of virtuous activities resulting from their dedication to the sixteen kinds* of reflections[3] According to the Jaina dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited, i e , twentyfour[4]

Thus Arahanta is the ideal saint, the supreme Guru and the divinity-realised soul; hence he may be designated as Paramatman or God Siddha has also been called God But "neither Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating, supporting and destroying the world The aspirant receives no boons, no favours, and no curses from him by way of gifts from the divinity The aspiring souls pray to him, worship him and meditate on him as an example, as a model, as an ideal that they too might reach the same condition"[5] But it should not be forgotten that unified, singleminded devotion to Arahantas or Siddhas accumulates in the self the Punya of the highest kind, which, as a natural consequence, brings forth material and spiritual benefits Samantabhadra observes that the adoration of Arahanta occasions great heap of Punya[6] He who is devoted to him realises prosperity and he who

* The sixteen kinds of reflections are --

(1) Transcendental awakening, (2) Possession of reverential attitude towards the Guru and the spiritual path, (3) Observation of vows and renunciation of passions for the proper pursuance of vows, (4) Application of oneself constantly to the earning of spiritual knowledge, (5) Due apprehension of worldly miseries, (6) Charity in the matter of food, shelter and knowledge, (7) Pursuance of proper bodily austerities without the concealment of strength, (8) Removal of obstacles from the path of a Muni, (9) Nursing of the virtuous souls, (10) Devotion to Arhats, (11) Devotion to the Teacher, (12) Devotion to the Learned, (13) Devotion to the Sastra (14) Performance of the essential duties, (15) Influencing the society through the medium of knowledge, austerity, charity, Bhakti and adoration, and (16) Having an affectionate attitude towards the spiritual breathern (Sarvartha VIII-9)

1 Mysticism in Maharashtra Preface P 28
2 Moksamarga P 6
3 Sarvartha VI 24
4 PP Intro P 36
5 PP Intro P 36
6 Svayambhu P 58



casts aspersions, sinks to perdition, in both these Arahanta is astonishingly indifferent[1] The aspirant, therefore, should not breathe in despondency for the aloofness of God (Arahanta and Siddha) Those who are devoted to him are automatically elevated The ultimate responsibility of emancipating oneself from the turmoils of the world falls upon one's own undivided efforts, upon the integral consecration of energies to the attainment of divine life Thus every soul has the right to become Paramatman, who has been conceived to be the consummate realisation of the divine potentialities

We shall now dwell upon the characteristics of Arahantas, the effects of transcendental life, the effects which the realisation of Paramatman produces upon the perfected mystic The Acaranga tells us that the Arahanta is established in truth in all directions[2] He is Ātmasamāhita[3] He has freed himself from anger, pride deceit, greed, attachment, hatred, delusion, birth, death, hell, animal existence and pain[4] Arahantas lead a life of supermoralism, but not of-a-moralism It is inconceivable that the saint who has attained supremacy on account of the realisation of perfect Ahimsā may in the least pursue an ignoble life of Himsa, a life of vice He is no doubt beyond the category of virtue and vice, good and evil, Punya and Pāpa, auspicious and inauspicious psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul, though the pursuit of virtuous life is incapable of binding him to the cycle of life and death[5] Samantabhadra ascribes inconceivability to the mental, vocal and physical actions of Arhat, since they are neither impelled by desire nor born of ignorance[6] Whatever issues from him is potent enough to abrogate the miseries of the tormented humanity Hundred of souls get spiritually converted by his mere sight, forsaking their sceptical and perverted attitude towards life His presence is supremely enlightening Even his body causes amazement to indra in spite of his beholding it with thousand eyes[7] As he has transcended human nature and is revered and worshipped even by celestial beings, he is supreme God[8] Thus he is the embodiment of mystical virtues, and is the spiritual leader of society[9] He is beyond attachment aversion and infatuation, and consequently, he is absolutely dispassionate[10] By virtue of his intuitively apprehending the nature of reality, as also the implications of the sacred text, all his doubts have been resolved[11]

The perfected mystic has been able to adorn himself with self-control, since he has abandoned all Himsa and has resisted the temptations of senses and mind He has also subdued anger, lust, greed etc by performing the internal and external austerities[12] In

---

1 *Ibid* p 69
2 Acara p 199
3 *Ibid* p 131
4 *Ibid* p 171
5 Jnana LXII-33
6 Svayambhu p 74
7 *Ibid* p 89
8 *Ibid* p 75
9 *Ibid* p 35
10 Prava p 1-14 and Comm Amrta
11 Prava p 1-14, 11-105
12 Prava Comm Amrta p 1-14

mystical language we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it the conquest over the mind, the senses, and the passions becomes natural to him i e, a thing flowing from his intrinsic nature By virtues of his self-realisation, and of having achieved sublime concentration and owing to his simultaneous establishment in the triune path of right belief, right knowledge and right conduct, he has transcended the dualities of friends and enemies, pleasure and pain, praise and censure, life and death sand and gold [1] And yet in spite of this transcendence, he embrances reconcilable contradictions, he is self-established yet all pervading, is knowing all things yet detached, is associated with great longevity, yet devoid of senility [2] The transcendent mystic has manifested pure consciousness, has destroyed the destructive Karmas, and has attained supersensuous knowledge*, infinite potency and unique resplendence [3] As a consequence of which all his desires for bodily pleasure and pains vanish immediately [4]

The infinite life of the mystic has rendered possible the emergence of omniscience which possesses the *potency of completely simultaneously and intuitively or unassistedly*** apprehending all the substances along with their present and absent modifications† in contradistinction to the limited life of sensuous knowledge which congnises substances incompletely, successively and intellectually or assistedly [5] In view of the fact of possessing omniscience, it will not be contradictory to say that the omniscient being is all pervading, and that all the objects are within him, since Arahanta is the embodiment of knowledge and all the objects are the object of knowledge [6] The omniscient being neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity[7], but only witnesses and apprehends the world of objects without entering into them, just as the eyes see the objects of sight [8] Yogindu, in a similar vein, proclaims that the universe resides in the Parmatman, and he resides in the universe[9], but he is not the universe The pure soul, according to him, is all pervading in the sense that when delivered from the Karmas he comprehends, by his omniscience, physical and superphysical words [10] The knowledge which is independent, perfect, immaculate, intuitive and extended to infinite things of the universe may be identified with bliss on account

---

1 Prava p 1-14, III—41, 42

2 Visapahara Stotra p 1

* That is called supersensuous knowledge which knows any substance, with or without space points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed (Prava I-41 Trans Upadhya p 6)

3 Prava p 1-15, 19

4 *Ibid* I-20

** Unassistedly—Without the help of senses light, and mind (Sat Vol I, p 191)

† Absent modifications—Those which have never originated and those in fact that have been and are already destroyed are the absent modifications (Prava I-38, Trans Upadhaya p 5)

5 Prava I-21, 51

6 *Ibid* I-26

7 *Ibid* I-32

8 *Ibid* I-29

9 PP I-41

10 *Ibid* I-32



of the absence of discomposure arising from the knowledge which is dependent imperfect, maculate, mediate[1] and, extended to limited things In other words, the consciousness of the perfected mystic is not only omnipotent and intuitive but also blissful Bliss is naturally consequent upon the destruction of the undesirable and accomplishment of the desirable

The consummate mystic experiences unprecedented bliss, which originates from the innermost beings of self and which is supersensuous, unique, infinite, and interminable [2] A legitimate question is apt to be asked, what does the culminant mystic who has swept away the dense destructive Karmas, who intuits all the entities, who does not allow even an infinitisimal fragment of the objects to escape his all-comprehensive knowledg, and who is free from doubts, meditate upon ?[3] This may be replied by saying that the consummate Atman who is supersensuous, bereft of senses, free from all hindrances, permeated by knowledge and happiness, meditates upon the happiness supreme [4] According to Kundakunda he is the real contemplator of the Atman who after removing the filth of delusion, overthrowing attachment and aversion, detaching himself from the objects of pleasure, restraining his mind, and attaining indifference to pleasure and pain, is established in the intrinsic nature of the Atman, he thus attains inexaustible bliss [5] The perfected mystic is the exemplary illustration of this sort of living Thus the mystical or spiritual consciousness is intuitive, blissful and all-powerful We may conclude by saying that the cognitive, conative and affective tendencies of the perfected mystic reveal their original manifestation in his supreme mystical experience, which is ineffable and transcends all the similies of the world [6]

Bibliography and Abbreviations

1 Acaranga-Sutra (Sacred Books of the East Vol XXII) (Acara)

2 Jñānārnava of Subhacandra (Jñānā) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

3 Mokṣamārgaprakasaka of Pt Toderamala (Moksamarga) (Bhāratiya Digambara Jaina Sangha, Chewasi Mathura)

4 Mysticism in Maharastra by R D Ranade (Oriental Book Agency, Poona)

5 Paramatmaprakasa, Introduction by A N Upadhya (PP Intro) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

6 Pravacanasāra of Kundakunda with the Commentary of Amṛtacandra (Prava Comm Amṛta) Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)

7 Sarvarthasiddhi of Pujyapāda (Sarvartha) (Bhārativa Jñānapitha, Kasi)

8 Satkhandagama Vol I of Puspadanta and Bhūtabali with the Commentary of Virasena (Ṣat Vol I) (Jaina Sahitya Uddharaka Fund Karyalaya, Amroti)

9 Svayambhustotra of Samantabhadra (Svayambhu) (Viraseva Mandira, Delhi)

10 Visāpahāra Stotra of Dhananjava (Mulacanda Kisanadasa Kepadiya, Surat)

---

1 Prava I-59 and Comm Amrta
2 Prava I-13
3 Prava II-105
4 *Ibid* p 106
5 Prava II p 103, 104
6 Jnana LXII p 76, 77, 78

JAINISM AT A GLANCE*

MRS SUSHILA S SINGHVI



The word "Jain" is derived from a Sanskrit word "Jina" which means the conqueror who has conquered his lower nature, who has reached the divinity, and in whom the soul asserts the supreme and perfected powers The saint is also termed as "Jina"—the victor, and his disciples, therefore, "Jainas"—the followers of the victor The name Jainism indicates predominantly the ethical character of the system

Historical Background

According to historians, the foundation of Jainism was systematically laid down by Lord Mahavira in 600 B C Jainism is contemporary to Buddhism, and both faiths have prospered since then However, the history asserts that Jainism is much older than Buddhism The credit of recognizing the historical existence of Mahavira goes, surprisingly enough to a German scholar in the field of Indology, Professor Herman Jacobi who made an English translation for the first time of the Jain literature, and published it with a masterly introduction in the series called the "Sacred Books of the East" in 1884 Ancient historical research has made some progress since then, and today Indian historians freely recognize not only that Mahavira was a historical personage but also his predecessor Lord Parshvanath had historical existence who lived 1200 years before Lord Mahavira

According to Jainism there are twenty-four "Tirthankaras" or teachers In "Kalpa-Sutra" a great religious book, we can find a brief life-history of all twenty-four teachers The first teacher was Lord Rishabhdev, and the last teacher was Lord Mahavira whose life-history is given in a great detail in "Kalpa-Sutra"

Life of Lord Mahavira

Lord Mahavira, the last Tirthankara of Jainas, was a supreme personality and a leader of thought He was born in 599 B C into the royal family of King Siddharatha and Queen Trishala After His conception in the family, the family had increased in wealth, power and prosperity So His parents named Him "Vardhamana"—the Increasor of Prosperity in the Family Later on He was called by His followers as "Mahavira"—the great hero Although a born prince, He showed great indifference to pleasure and pain from His very boyhood At the age of thirty He renounced the world and remained engaged in deep meditation and hard penances for a full twelve years At the age of forty-two, He had become "Kevlin"—Omniscient All Knowing Teacher He then preached his lofty philosophy and message of

---

* This article is based on a speech delivered by Mrs Sushila S Singhvi at St John's Methodist Church, Dover, New Hampshire on February 13, 1966 The author expresses her sincere thanks to Mr Surendra S Singhvi and Dr D C Jain for their suggestions

universal love and service far and wide for the next thirty years and attained salvation in 527 B C at the age of seventy two

Lord Mahavira's Teachings

Lord Mahavira's first and foremost principle is that of non-violence and universal love, which changed the very hearts of the people at that time The principle of non-violence or non-injury had visible effects It has had salutary effect on man's habitual diet Those who came under the influence of Lord Mahavira's personality and teachings gave up eating meat and fish for food and adhered to a vegetarian diet The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal injustice of ancient India The principle of compassion was also encouraged by Him

In His last sermon, when asked by one of His disciples, which principle is the most fundamental of His teachings He replied "Of all my teachings, the first of my five commandments is the most important Do not kill or hurt any living being by word, thought, or deed Do not kill animals Do not hunt or fish, never kill even the smallest creature at any time Do not go to war Do not step upon a worm on the roadside Even the worm has a soul "

The message of "Ahinsa" or non-violence to living beings was the greatest heritage Lord Mahavira has left to mankind The principal of non-violence may also be explained—if we cannot give life to a living being, what right do we have to take life of others Mahatma Gandhi also followed and preached the same principle for freedom of India in the twentieth century

The other four commandments of Lord Mahavira are

1 Never to tell a lie,
2 Never to steal any thing which belongs to others,
3 To lead a life of chastity, and
4 To renounce the pleasures in external objects

The Jain Philosophy

The Jain philosophy consists in attaining the infinite bliss The ultimate object, according to Lord Mahavira, is "Nirvana," which consists in peace, deliverence, and liberation This can be attained by leading a painful and hard life, by practising penances thereby destroying sinful deeds of past lives and not affecting to new ones

Jainism believes in the birth and rebirth-cycle and emphasizes the doctrine of soul The soul never perishes The body is just the cover of the soul One should not think for the comforts of the body, rather one should try to free his soul from birth and rebirth This state of liberation can be attained by disregarding the comforts of the body and doing severe austerities Today the world is becoming materialistic and there is rapid advancement in luxuries and comforts Yet in spite of these comforts there is no real peace and happiness People are constantly striving for happiness and peace but their approach is wrong because the infinite bliss, according to Lord Mahavira, can only be attained by leading a life of austerity

Some other cardinal principles taught by Lord Mahavira sum up in the right knowledge, right faith and right virtue or conduct There is no right conduct without right belief, and no right belief without right knowledge The virtue can be attained by avoiding

sins The path of right knowledge, right faith and right virtue leads to the destruction of sins and to perfection Austerity and meditations are two other very important factors in Jain philosophy These lead to "Nirvana" a state of peace

Classifications in Jainism

With respect to its sub-division, Jainism can be compared to Christianity Just as Christianity has been divided into Catholicism and Protestantism, and Protestantism further sub-divided into Methodists and Presbyterians, Jainism has also been divided into Digambaras, whose monks are clad in white Swetambaras are further sub-divided into Derawasi, or temple-goers and worship idolatrous, and Sthanakwasi those who believe in private worship, being non-idolatrous and having no temples, and Terapanthi, a small group which emphasizes on thirteen principles and is also non-idolatrous

Just as all the Christians, whether Catholic or Protestant believe in Lord Christ, all Jainas whether Swetambaras or Digambaras worship the twenty-four teachers The goal is the same for all Jainas although the means to achieve it differ slightly from each other

About a Jain Monk

Leading the life of a Jain monk is like a hard nut to crack A Jain monk or a nun lives away from his or her family and travels from one place to another on foot For him, the whole world is his family He usually lives in a group of five or six or more monks He keeps very limited clothes and things which he gets from his followers He does not keep money with him The eldest among them lectures every morning and many followers visit them to listen to their lectures One of the monks goes out from house to house in order to collect food He is respected by all Jainas, and they feel greatly honoured if visited by a monk The reason for collecting food from house to house is that he keeps himself away from monatary attachments The whole day he studies religious books, meditates for a few hours and performs routine religious duties During the rainy season for four months from July to October, he does not go out from one city to another city If it rains the whole day he does not go out to collect food and observes fast on that day The reason for not travelling from one place to another during the rainy season is that there are too many insects and worms on the roadside due to the rain and mud, and he is not supposed to kill them in keeping with the principle of non-violence Thus in modern times also he lives a very hard life, observes several fasts a month, and does not eat before sunrise or after sunset

Jain Temples

Temples are also important for those Jainas who are temple-goers There are hundreds of Jain temples in India Jainas visit them every day Some of them are well known for their architecture For example, Delwara Temple of Abu, which is located in North Western India on a mountain is very famous for its architecture and beauty Among other temples, Palitana (Saurastra), Kesariyaji (Rajasthan), Shikharji (Bihar), Ranakpura (Rajasthan), and others have greater historical significance

Jain Festivals

The festivals of Jainas are of great interest The important festivals are "Paryushana", "Samvatsari", "Divali", "Gyan Panchami", and others Since austerity is emphasized in Jainism to attain the infinite bliss, Jainas are supposed to observe fast on the festival days.



universal love and service far and wide for the next thirty years and attained salvation in 527 B C at the age of seventy two

Lord Mahavira's Teachings

Lord Mahavira's first and foremost principle is that of non-violence and universal love, which changed the very hearts of the people at that time The principle of non-violence or non-injury had visible effects It has had salutary effect on man's habitual diet Those who came under the influence of Lord Mahavira's personality and teachings gave up eating meat and fish for food and adhered to a vegetarian diet The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal injustice of ancient India The principle of compassion was also encouraged by Him

In His last sermon, when asked by one of His disciples, which principle is the most fundamental of His teachings, He replied "Of all my teachings, the first of my five commandments is the most important Do not kill or hurt any living being by word, thought, or deed Do not kill animals Do not hunt or fish, never kill even the smallest creature at any time Do not go to war Do not step upon a worm on the roadside Even the worm has a soul "

The message of "Ahinsa" or non-violence to living beings was the greatest heritage Lord Mahavira has left to mankind The principal of non-violence may also be explained—if we cannot give life to a living being, what right do we have to take life of others Mahatma Gandhi also followed and preached the same principle for freedom of India in the twentieth century

The other four commandments of Lord Mahavira are

1 Never to tell a lie,
2 Never to steal any thing which belongs to others,
3 To lead a life of chastity, and
4 To renounce the pleasures in external objects

The Jain Philosophy

The Jain philosophy consists in attaining the infinite bliss The ultimate object, according to Lord Mahavira, is "Nirvana," which consists in peace, deliverence, and liberation This can be attained by leading a painful and hard life, by practising penances thereby destroying sinful deeds of past lives and not affecting to new ones

Jainism believes in the birth and rebirth-cycle and emphasizes the doctrine of soul The soul never perishes The body is just the cover of the soul One should not think for the comforts of the body, rather one should try to free his soul from birth and rebirth This state of liberation can be attained by disregarding the comforts of the body and doing severe austerities Today the world is becoming materialistic and there is rapid advancement in luxuries and comforts Yet in spite of these comforts there is no real peace and happiness People are constantly striving for happiness and peace but their approach is wrong because the infinite bliss, according to Lord Mahavira, can only be attained by leading a life of austerity

Some other cardinal principles taught by Lord Mahavira sum up in the right knowledge, right faith and right virtue or conduct There is no right conduct without right belief, and no right belief without right knowledge The virtue can be attained by avoiding

sins The path of right knowledge, right faith and right virtue leads to the destruction of sins and to perfection Austerity and meditations are two other very important factors in Jain philosophy These lead to "Nirvana" a state of peace

Classifications in Jainism

With respect to its sub-division, Jainism can be compared to Christianity Just as Christianity has been divided into Catholicism and Protestantism, and Protestantism further sub-divided into Methodists and Presbyterians, Jainism has also been divided into Digambaras, whose monks are clad in white Swetambaras are further sub-divided into Derawasi, or temple-goers and worship idolatrous, and Sthanakwasi those who believe in private worship, being non-idolatrous and having no temples, and Terapanthi, a small group which emphasizes on thirteen principles and is also non-idolatrous

Just as all the Christians, whether Catholic or Protestant believe in Lord Christ, all Jainas whether Swetambaras or Digambaras worship the twenty-four teachers The goal is the same for all Jainas although the means to achieve it differ slightly from each other

About a Jain Monk

Leading the life of a Jain monk is like a hard nut to crack A Jain monk or a nun lives away from his or her family and travels from one place to another on foot For him, the whole world is his family He usually lives in a group of five or six or more monks He keeps very limited clothes and things which he gets from his followers He does not keep money with him The eldest among them lectures every morning and many followers visit them to listen to their lectures One of the monks goes out from house to house in order to collect food He is respected by all Jainas, and they feel greatly honoured if visited by a monk The reason for collecting food from house to house is that he keeps himself away from monatary attachments The whole day he studies religious books, meditates for a few hours and performs routine religious duties During the rainy season for four months from July to October, he does not go out from one city to another city If it rains the whole day he does not go out to collect food and observes fast on that day The reason for not travelling from one place to another during the rainy season is that there are too many insects and worms on the roadside due to the rain and mud, and he is not supposed to kill them in keeping with the principle of non-violence Thus in modern times also he lives a very hard life, observes several fasts a month, and does not eat before sunrise or after sunset

Jain Temples

Temples are also important for those Jainas who are temple-goers There are hundreds of Jain temples in India Jainas visit them every day Some of them are well known for their architecture For example, Delwara Temple of Abu, which is located in North Western India on a mountain is very famous for its architecture and beauty Among other temples, Palitana (Saurastra), Kesariyaji (Rajasthan), Shikharji (Bihar), Ranakpura (Rajasthan), and others have greater historical significance

Jain Festivals

The festivals of Jainas are of great interest The important festivals are "Paryushana", "Samvatsari", "Divali", "Gyan Panchami", and others Since austerity is emphasized in Jainism to attain the infinite bliss, Jainas are supposed to observe fast on the festival days.



The fasts are very strict in which they do not eat or drink anything except boiled water during the day time

"Paryushana", the last eight days of the Jain year, is known as the festival of fasts Some Jainas observe fast for one month, others for eight days, and many for one to three days depending upon their will-power and health The last day of "Paryushana" is known as "Samvatsari" All Jainas are supposed to observe fast on this day All the holy places are crowded with followers making their confessions At the close of meetings everyone present asks forgiveness from his relatives, friends, and neighbours for any offence he may have committed intentionally or unintentionally They also write letters to relatives and friends asking for their forgiveness

"Divali", the festival of light is celebrated by all people in India However, for Jainas it has special significance because on that day Lord Mahavira reached "Nirvana", a state of peace

"Gyan Panchami" is another Jain festival when a fast is observed On this day all Jain sacred books are worshipped

Conclusion

So far we have discussed in brief the historical background of Jainism, the life and teachings of Lord Mahavira, the philosophy of Jain, the life of a Jain monk, Jain temples and festivals Before concluding this article, a few additional important aspects need to be discussed here

First, India is a country of vastness and variety There is hardly any religion or faith that does not flourish on her soil According to the 1961 census conducted bv the Government, there are 366 million Hindus, 47 million Muslims, 11 million Christians, 7 8 million Sikhs, 3 3 million Buddhists and 2 million Jainas Although the population of Jainas is very small in comparision with other religious groups, Jainas are inhabited in large numbers in a few states in India

Second, there are many small scale schools where the principles of Jainism are taught to youngsters as well as to adults In some schools, there are courses on Jainism offered along with other courses At college and university levels, the teaching on Jainism is limited Generally, Jainas learn about the religion at home and also at religious places by attending sermons given by monks and nuns

Third, the World Jain Mission and the International Academy of Jain Wisdom and Culture was founded in 1951 by the late Dr Kamta Prasad Jain It brings out each month a journal called "The Voice of Ahinsa" The headquarters of the mission are located in Aliganj (U P), India The objective of the mission is to propagate and spread Lord Mahavira's gospel of Ahinsa, and the Universal brotherhood, giving a spiritual trend to the erring humanity, and bringing peace and equality between people and people, through the "Voice of Ahinsa "

It seems that the fundamental principles of Jainism are of great importance to the present day turmoiled world The challenge lies in spreading these principles across nations

BIBLIOGRAPHY

Lord Mahavira, edited and published by the World Jain Mission, Aliganj, India, 1962

Diwakar, S C *Glimpses of Jainism*, Delhi, 1964

Shastri, I C *Jainism and Democracy*, Delhi (All India S S Jain Conference), 1964

Lathe, A B *An Introduction to Jainism*, Delhi, Jain Mitra Mandal, 1964

Lalwani, Genesh (Compiled), *Thus Sayeth Our Lord* (Teachings of Lord Mahavira), Calcutta Jain Bhavan, 1965 (Pamphlet)

Diwakar, S C "Jainism and Peace", *The Voice of Ahimsa*, Vol XV, No 7-8 (July-August, 1965)

Bool Chand, *Lord Mahavira* Delhi, 1948

Law, B C "Mahavira," *His Life and Teachings*

Stevenson, E *The Heart of Jainism*



SRAMANIC FOUNDATIONS OF ANCIENT EGYPT

RAM CHANDRA JAIN, Advocate,
(Hony Director, Institute of Bharatalogical Research Ganganagar)



Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful There is grief, suffering and woe which none cherishes, then why bring grief, suffering and woe to a fellow human being, nay, to any being on earth enjoying life The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society This permanent substance came to be called Ātman or soul The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of mankind Human efforts conditioned the nature of society The efforts of the individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum The ideal individual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings This second discovery of the Efficacy of effort became the driving force of the Soul or Ātman This is what we call Sama in Prākrta and Srama in Sanskṛt Sama in Prākrt[1] and Srama in Sanskrt[2] means Efforts The rightness of the efforts is indicated by the word "N", both in Prākrt[3] and Sanskrt[4] The word Samana or Sramana, thus, means Right Ātmic Efforts The way founded on right Ātmic effort is called Sramaṇalogy The basic foundations of the science of Sramanalogy are the five well known tenets of Non-Violence (Ahimsā), Truth, Non-Stealing, Continance and Non-Attachment, (Aparigraha)

A group of expert mariners, led by great engineers and accompanied by spiritual leaders, under the supreme leadership of Menes, reached the shores of Egypt in the middle of the fourth millenium B C He was the first Pharaoh, the supreme leader of the people, who founded the great city of Memphis and excavated a lake on the north and west sides of the city [5] He peacefully developed the new country as the interpretation of the Slate Palette of Narmer indicates[6] Menes and his people remembered their original home as Punt The root of the word is Pwn, the T being the usual feminine ending for a foreign country[7] The Pwn may be identified with Pani of Bhārata Punt, thus means "the country of the Panis" The Panis of the Ahi sub-race were a great sea-faring adventures of Bhārata Menes, thus, appears to be a great Pani leader who took his Sramanalogical culture and civilization from Bhārata to Egypt

The Sramanalogical beliefs of the ancient Egyptians are contained in the Book, "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead" The essential parts of this book originated in the most ancient times This book claims to be a revelation from Thoth The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid He belonged to the fourth dynasty and lived circa 2800 B C Thoth is the same as Tet He flourished circa 3350 B C This Thoth was later regarded as essentially the god of learning,

he was the master of the words of god, i e , Hieroglyphies, he was the scribe and messenger of the gods, he was the Measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters Thoth or Tet and Hesepti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the first Dynasty and lived also during the times of Menes[8]

The Egyptians believed in Soul, its Right Effectiveness, Transmigration of Soul and its final Attainment (Siddhi) They believed in body and intelligence, Matter and Spirit[9] The five Sramanalogical tenets of the Egyptians are given with manifold details in the 125th chapter of the Book This chapter "Hall of Truth" is very significant This chapter contains 48 Sramanalogical tenets of Non-Violence, Truth, Non-Stealing, Continance and Non-Attachment along with three tenets of Right Knowledge, Right Conduct and final aim of Siddhi[10]

These Sramanalogical beliefs of the most ancient Egyptians were at the foundations of their political, social and economic institutions

Sramanalogy reflects itself in political institutions as a Republican system Kingship, Ganapatiship and dictatorship is abhorrent to it Menes was the first great personage at the dawn of the Egyptian history who united the two regions of upper and lower Egypt Menes, Mena or M'ns means the establisher of the station[11] He is the first pharaoh At first no single minister stood between the Pharaoh and the various branches of the administration There was no grand vizier The vizierata was, however, introduced under the fourth Dynasty[12] The Egyptian state was divided into various nomarchs Nomarch was the local administrator resembling the modern pattern of a provincial executive head Nomarch Nesutnefer, of the fifth Dynasty, is marked by his title as "Leader of the Land" He led the people, he did not govern them Perhaps the people selected him and the Pharaoh nominated him He enjoyed the confidence of both the pharaoh and the people The election or selection of this official was dependant on the moral virtues of the incumbent of the office The ideal official was "the silent man", who is respectful of established authority and just, since maat (which means Truth, Justice, Rightness) is part of the world order of which his royal master, the pharaoh is the champion The silent man is not the meek sufferer, but the wise, self-possessed, well-adapted man, modest and self-effacing upto a point but deliberate and firm in the awareness that he is thoroughly in harmony with the world in which he lives[13] His idealism was not of the coward, it was of the brave Pharaoh, the supreme leader of the people, possessed these qualities almost to a point of perfection He was the best and the noblest servant of the people Men of high moral fibre, possessing great intellectual and spiritual qualities, self-effacing, having little material possessions occupied high public offices with no hereditary rights This ancient type of republican society flourished in Egypt till circa 2200 B C

Sramanalogy reflects itself in the social sphere as freedom, equality and progress of the individual and the group This was the age of Tīrthankar Mallinath when the first servant of Egypt, under the leadership of Menes, went from Bhārata to their new home Egypt imported custom of matrilineal descent from here first immigrants Monogamy was the general custom The position of women was of equality and prestige She was economically independant and enjoyed status and freedom She would attain the position of a priestess She could go anywhere without molestation All landed property descended in the female line from mother to daughter[14] Family was the social unit and based on a single



individual was of necessity small The marriage took place outside the family Monogamy was compulsory Polygamy was unknown to the inhabitants of the Nile Valley Women constantly appeared in public, were equal in the eye of law, could ascend the throne and administer the government of the country The Nobles also limited themselves to a single wife whom one made the partner of his cares and jovs and treated her with respect and affection[15]

The economic life of the ancient Egyptians was marked by simplicity equality, peace and progress Though the people voluntarily granted certain privileges to the priests for their specific services, their general living was marked by simplicity[16] The society generally was composed of middle classes They lived in one-storeved or two-storeyed simple houses Side by side the houses of the common people, we find massive, huge, spacious and palatial buildings, pyramids and temples Private houses and community buildings characterise the individual and state-governed economic life of the people It was a mixed economy

Egypt in the fourth millenium B C was the granary of the civilised world The peasantry was simple It was really free from the entire class of restrictions and interferences It was not vaxatiously interfered by the Government It had freedom of choice with respect of crops and farming operations[17] The common people were mostly tied to the land which they tilled for their own living and for the maintenance of the State[18] The Egyptian peasants lived wonderfully simple and unpretending[19] The Egyptians were good and industrious peasants and employed improved methods of husbandry Their natural intelligence was remarkable as they were free tenants of their land They had not to render forced labour They employed elaborate system of canals, with embankments, slimes and flood-gates and counstructed reservoirs for flood water Land was extensively reclaimed from marshes for cultivation They had abundant surplus yields

The Egyptian industries were diversified and individual-owned The most important Egyptian industries were building, stone-cutting, weaving, furniture-making, glass-blowing, potterv, metallurgy, boat-building and embalming[20]

The sarplus agricultural and industrial outputs were stored by the society in the community buildings It appears that the internal trade was left largely in private hands The international trade was centrally organised by the community Pharaoh was the wholesale merchant Foreign trade was the royal monopoly[21]

The earliest immigrants into Egypt peacefully developed their new home Fgypt shows its peaceful development till the fourth Dynasty Snefru built a fleet of sixty ships of one type for trade purposes His times were free from wars[22]

This picture of the most ancient Egyptian people reveals their basic character The society was organised on the basic principles of human freedom, equality and harmony The people lived like brothers in peace and happiness Though the pattern of family earning was private, there was no greed and vulgarity attached to it as private wealth was counter-balanced by community wealth There was no private or public display of wealth The disparities in incomes and possessions appear to be negligible hence there were no classes There might have been high and low people but that was not on account of the differences in material possessions That was due to the inherent merit in intelligence and character of the individual

The society was happy and prosperous for want of social tensions It was an integrated society

This study of this integrated society of the most ancient Egypt is of prime importance in the present age of disintegration wrought by the Āryan materialism of history that established its hegemany over the whole world by the beginning of the first millenium B C The communist tribalism and the capitalist tribalism both, the ultimate dialectical developments of the Āryan materialism, stand at the brink of self-annihilation Matter is characterised by division and disruption It has divided, disrupted and disintegrated the human soul and the human society How the materialistic tribal force displaced the Sramanic free society is an interesting chapter of history The fundamental way that would regain to humanity its lost freedom, equality and peace has to be rightly understood and followed This is the imperative necessity of the age This purpose of the age forces upon us the necessity of undertaking the Sramanalogical research on an international scale The imperialistic necessity gave birth to the science of Oriental Research The human necessity has to give birth to the science of Sramanalogical Research to discover the principles which may lead to the establishment of an integrated society of mankind

REFERENCES

1 M D T Seth, Pāi-Sadda-Mahannavo, 1928, page 1081
2 Monier-Williams, A Sanskrta-English Dictionary, 1956, page 1096
3 H D T Seth, op cit, page 467
4 Monier-Williams, op cit, page 431
5 Herodotus, The Histories, 955, page 138
6 (1) M A Murray, The splendour that was Fgypt, 959, Plate LXVIII on page 196
(2) R C Jain, The Most Ancient Āryan Society, 1964, Chapter 2, Sec VII "Origins" The Plate is given detailed interpretation here
7 M A Murray, op cit, page XXI
8 (1) G Rawlinson, Ancient Egypt, 1881, Vol I, page 136, Vol II, pages 38, 31, 28
(2) M A Murray, op cit, pages 330, 161
9 J H Breasted, Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959, pages 52, 55, 56, 418
10 (1) James B Pritchard, Ancient Near Eastern Texts, Relating to the old Testament, 1955, page 34-36
(2) R C Jain, op cit, These tenets have been re-classified and re-organised in the chapter "The Sramanic Way" of M A A S
11 G Rawlinson, op cit, page 27
12 H Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1956, page 84
13 H Frankfort, op cit, page 87
14 M A Murray, op cit, pages 101-104
15 G Rawlinson, op cit, Vol I, pages 534, 539, 552, Vol II, page 324
16 G Rawlinson, op cit, Vol I, page 439
17 G Rawlinson, op cit, Vol I, pages 151-155
18 H Frankfort, op cit, page 90
19 G Rawlinson, op cit, Vol II, page 42
20 G Rawlinson, op cit, Vol I, page 483
21 H Frankfort, op cit, pages 98-99
22 M A Murray, op cit, page 97



THE JAIN CONCEPTION OF AHINSA

G L AMAR
(M A , Shastri, Kavyatirtha, Sahityaratna)



What is Ahinsa

Jainism[1] is a practical religion, and consistent with temporal activity and prosperity It does not inculcate laziness, or inertness It is not the fatalism of the idle do-nothing-fellow It is a religion which can be practised while one is engaged in the daily transactions of life in this world A good Jain may happen to be engaged in any kind of persuit He may be a king, a statesman, a military commander, a soldier, a trader, an artisan or an agriculturist, and yet he is in a position to adopt the vow of Ahinsa and other vows, to the extent of his limitations and capacities, situation and circumstances in life, and be a good and true Jain

The word Ahinsa is the negative form of a Sanskrit word Hinsa meaning violence, killing, slaying, destruction, injury, mischief, wrong, harm, hurt, etc in any shape or form It is defined as injury to the vitalities, caused through want of care and caution The vitality, literally Prana is of two kinds Bhava Prana, conscious vitalities, are the attributes of Jiva, the soul, such as consciousness, peacefulness, happiness, power, etc Dravya Prana, material vitalities, are ten the five senses (Indriya) of touch, taste, smell, sight and hearing, the three forces of body, speech, and mind, and breathing and age The conscious vitalities are possessed by all Jivas alike So far as the material vitalities are concerned, a Jiva may possess at least four and at the most all the ten of them

Ahinsa is either Autsargiki Nivritti or Apavadiki Nivritti The first is defined as complete Ahinsa in nine ways, by self, through another, or by approbation, and in each case through mind, body and speech That which is not complete, is Apavadiki, and its degrees and forms are innumerable, varying from the slightest to that which just falls short of being complete

Hinsa is also classified as Sankalpaja or Arambhaja Sankalpaja is what which is committed with the sole intention of Hinsa, without any justifying reason whatsoever behind it Arambhaja is committed unavoidably, by householders in the performance of various duties and occupations This kind of Hinsa may be sub-divided as Udyami, Griharambhi, and Virodhi Udyami is Hinsa unavoidably committed in the exercise of one's profession Griharambhi Hinsa is that which is unavoidably committed in the performance of necessary domestic purposes Virodhi is Hinsa unavoidably committed in defence of person and

1 This essay is based specially upon the PURUSHARTHASIDDHYUPAYA of Amritachandracharya, edited by Ajit Prasad

property against thieves, enemies, etc One who has renounced all household connection and has adopted the discipline of a saint, practices complete Ahinsa A true believer in the householder's stage, abstains from Sankalpaja Hinsa, but is unable to abstain from Arambhaja, although he tries his best to avoid it as far as possible, and is ever making progress in such endeavour

Passion The Root Cause of Hinsa

Influenced by passion, one injures his own conscious vitalities as well as the material ones, he may further injure the vitalities of others Passion thus necessarily leads to Hinsa Assuredly, the non-appearance of attachment and other passions is Ahinsa, and their appearance is Hinsa

There never is Hinsa when vitalities are injured, if a person is not moved by any kind of passion and is carefully following Right Conduct A saint duly observing the rules of conduct walks along, carefully looking ahead, and intend on avoiding injury to the crawling creatures If by chance any insect is then injured or trampled under foot, he will not be responsible for Hinsa And, if one acts carelessly, moved by the influence of passions, there certainly advances Hinsa in front of him whether a living being is killed or not Whenever there is passionate and careless thought activity there is Hinsa, most certainly, because injury is caused to one's own vitalities He who has not taken a vow of Ahinsa, must necessarily have an inclination towards Hinsa, whether he indulges in it or not This attitude makes him liable for Hinsa A mere contact with external objects, will not make a person guilty of Hinsa Even then, for the purification of thought, one ought to avoid external causes leading to Hinsa He, who, ignorant of all real points view, takes shelter therein in practice, is a fool, and being indifferent to external conduct, he destroys all practical discipline

One who does not actually commit Hinsa, becomes responsible for the consequences of Hinsa, and another who actually commits Hinsa would not be liable for the fruit of Hinsa All depends on the nature and intensity of thought and intention If one is ever thinking of causing harm to another, he is guilty even though he does not actually cause any injury, and another who intends upon not causing any injury, becomes the unconscious instrument of Hinsa, would not be penalised for such a result A burglar who fails in robbing an honest citizen is punished as felon, and a surgeon, even though his patient may die during an operation skillfully performed, with all attention, is not responsible for such death

To one trifling Hinsa brings in time serious result, to another grievous Hinsa at time of fruition causes small consequence The degree of Hinsa varies with the motive which causes it The building of a temple may occasion injury to innumerable beings, but the person who builds carefully compassionate attention commits only such Hinsa as is unavoidable Again, take the cause of what we call a sportsman, who goes out hunting for the sake of pleasure only He pursues a timid innocent deer, who runs about among bushes and fields for shelter Yet the hunter bent on killing the inoffensive creature relentlessly follows him on, and utters a shout of triumph when he overtakes and kills him He seizes his dead body and gloats in the thought of having a delicious dish of venison in the company of friends, and deer's skin for decoration and other uses The amount of evil deed generated and acquired by the temple builder, is much less than what the hunter becomes responsible for, though the farmer has killed living being beyond recoming, and the latter only one The reason is the comparative degree of passion which actuates the action





Even when simultaneously committed by two persons, the same Hinsa at the time of function, curiously enough causes severe retribution to one and a mild one to another One goes out to kill another, and takes his servant with him Both master and servant join the murder The master all along feels an excitement, pleasure and satisfaction in having got rid of one whom he hated The servant however, for fear of losing his job unwillingly joins the master in the foul deed and all along regrets, curses himself and repents for his weekness in serving such a master and enjoying such a foul deed Both are equally guilty but the degree of culpability varies because of the degree of evil intentions entertained by them In effect the same Hinsa committed by both, will affect them differently

Because of intention, Hinsa is culpable sometimes before it is committed, sometimes at the time of commission, sometimes even after it has been committed, and sometimes for attempt to commit it, even when it is not committed, because of the intention to commit Hinsa A person has been contemplating and devising schemes to commit murder, but for some reason incapacitated from carrying out his intention another commits murder, a third commits murder, and thereafter continues to gloat over his act, and a fourth attempts but fails in the attempt to murder All the four are culpable, and have to suffer from Hinsa It is the intention which makes one culpable

Hinsa is committed by one, and there are many who suffer the consequences, many commit Hinsa, and only one suffers the consequence for Hinsa A person commits murder The many persons who look approvingly on, take interest in and apptaud the deed, have to suffer the consequences thereof Again a whole army fights and kills but the responsibility for all the carnage committed under his order lies with the king

Hinsa gives to one at the time of frution, the consequence of Hinsa only, to another the same Hinsa gives considerable Ahinsa rewards A number of persons happen to witness lynching by a mob One of them sympathises with the victim and puts forth his best efforts to save him from the fury of the assailants Another excites and encourages the mob in the lynching The latter is guilty of Hinsa and the former acquires the merit of Ahinsa

In result, Ahinsa gives to one the consequence of Hinsa, to another Hinsa gives the benefit of Ahinsa A person protects and saves an innocent victim of oppression Another declaims against this act of Ahinsa, and wishes that the victim were not so protected and saved By such thought he becomes liable for Hinsa Again it the person who interferes to protect and save an innocent victim fails in the attempt be would acquire the merit of Ahinsa, though Hinsa has been caused by some one else

Having thus correctly understood what is meant by Hinsa, its consequence, its victim, and perpetrator, persons who embrace the doctrine should always avoid Hinsa, to the best of their capacity

Physical Sphere of Ahinsa

Those who desire avoiding Hinsa, should, first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the five Udumbara fruits

The five Udumbara trees are Gular, Anjeera, Banyan, Peepal and Pakar, all belonging to the fig class

Wine stupifies the mind, one whose mind is stupified forgets pity, and the person who forgets pity commits Hinsa without hesitation And wine is said to be the worth-place of many creatures which are ganerated in liquor, those who are given up to wine, necessarily commit Hinsa Pride, fear, disgust, ridicule, ennui, grief, sex-passion, anger etc , are forms of Hinsa, and all these are concomitants of wine

Flesh cannot be procured without causing destruction of life, one who uses flesh, therefore commitits Hinsa, unavoidably If the flesh be that of buffalo, ox, etc , which has died of itself, even then Hinsa is caused by the crushing of creatures spontaneously-born therein Whether pieces of flesh are raw, or cooked, or in the process of cooking, spontaneously-born creatures of the same genus are constantly been generated there He who eats, or touches, a raw, or a cooked piece of flesh certainly kills a group of sponteneously-born creatures constantly gathering together

Even the smallest drop of honey very offen represents the death of bees Even if one uses honey which has been obtained by some trick from honey comb, or which has itself dropped down from it, there is hinsa in that case also, because of the destruction of creatures of spontaneous-birth born there

Honey, wine, butter and flesh are extreme fermentations Those with vows would not eat them Therein are born creatures of the same genus

The Udumbaras i e Gular, Anjeer, Peepal, Banyan and Pakar are birthplaces of mobile beings Therefore Hinsa of those creatures is caused by eating them Again, it they, the above five fruits be dry, and free from mobile beings, on account of effect of time, even then in using them there is Hinsa, caused by the existence of an excessive desire for them A person would not think of eating such prohibited things, unless he has strong desire for them, and one who has a strong uncontrollable desire is certainly injuring his pure character and is likely to be tempted into the use of the forbidden things The pratice of drying vegetables for use is reprehensible, because of the strong desire for the thing itself Those pure intellects, who renounce the above eight things which cause painful and insufferable calanily, render themselves worthy of Jain discipline

The use of all Ananta-Kaya vegetables must be given up, because in destroying one, infinite (one-sensed living being) are killed Ananta-Kaya vegetable is that which infinite Jivas adopt as their one and common body Vegetables are either Pratyeka or Ananta-Kaya or Sadharana In Fratveka vegetable only one Jiva pervades through the body, whereas in Ananta-Kaya infinite Jivas adopt the vegetable as their one and common body, and it is therefore called Sadharana also There are many distinctive characteristics of Sadharana vegetables Most of the vegetables which fructify under ground belong to the Sadharana class such as potatoe, ginger, radish, etc

Fresh butter if not at once melted on fire and strained away, becomes the places for generation of innumerable Jivas This is visibly apparent in what is called fermentation Fermentation in the case of butter, actually commences at once, though it is not visible early As examples of other prohibited articles may be mentioned, curd after twenty four hours of its preparation, milk if not boiled within forty eight minutes of its being taken out, water which has been kept in a leather vessel Jivas do not generate in butter for forty eigth minutes after its preparation Even then it is prohibited, and has been included with wine, flesh and honey



Those who take their meals at night cannot avoid Hinsa Therefore obstains from Hinsa, should give up night-eating Day is the natural time for work and taking food Food is more easily, with greater care, and with less probability of injury to living beings prepared in the day than at night The light of the sun makes it easy to pick out, to separate unwholesome stuff, and to remove the worms and small insects which find place in provisions There are many insects which are not even visible in the strongest artificial light There are also many small insects have a strong affinity for food stuffs and which do not appear in day light It is not possible then to avoid Hinsa when food is taken day and night Hearing this observation a carping critic might exclaim that one may well give up eating in the day and take his meals at night only This is obviously improper It is established that he who has renounced night-eating, through mind, body and speech, always observes Ahinsa

International Sphere of Ahinsa

Those who have been impressed with the highest Ahinsa-Elixir, which leads to immortality, should not be distressed on being improper behaviour of the ignorant

"Sacred religion is very subtle, and there is no wrong in committing Hinsa for the sake of religion" People should not allow themselves to be thus deceived in the name of religion and should never kill embodied beings Never entertain the wrong idea that religion flourishes through Gods, and that therefore everything may be offered to them It is a a preverse nation that religion sanctions Hinsa, or that the Gods are pleased at sacrifices of living beings offered in their name Gods are good, and religion is peacegriving, and can never encourage or sanction what gives pain to living being Animals should not be killed for guests in the belief that there is no harm in killing goats, etc , for the sake of persons deserving respect With the idea that a meal prepared from the slaughter of one living being is preferable to that produced by the destruction of many lives One should never kill a living being of a higher grade

Some people urge that be Jains believe that there is life in all vegetables, and further that there are innumerable, and even infinite Jivas in some vegetables Vegetable food would therefore lead to the killing of innumerable lives, and it would be preference to kill one animal for food rather than cut up and cook a number of vegetables This argument is misleading and false It ignores the fact that the body of an animal has innumerable mobile and immobile beings therein The presence of innumerable Amaebae in a drop of blood is a matter which has been proved to demonstration by science , microscopic examination also show the presence of infinite germs in faces, urine and in all parts of the body Thus there is, comparatively speaking, the least Hinsa in injuring the motionless one-sensed living beings belonging to the vegetable kingdom The higher of vitalities possesses a Jiva, the greater it is Hinsa in killing it

Beings which kill others should not be killed in the belief that the destruction of one of them leads to the protection of many others The plausible argument is often raised by sportsman They defend hunting on the ground that by doing so they protect huminitv from the revages of ferocious animals The wanton shooting off birds, and fowls, of pig and fox, of deer and rabbit, and fishing or obviously indefencible Lion hunt is a pastime The hunters go in larger parties for the excitement of sports, and not for freeing mankind from the possible attack of the lion In fact the poor lion is beaten and brought out from his seclusion for being shot at for the fun of the big men who level their guns at him from a safe distance

and take pleasure in watching his death agonies The rare case of a person going out to kill a man-eating tiger now requires to be discussed In this case also, it may safely be said that the feelings which actuate him or the hope of a reward, praise, renown, the expectation of being called a bold man, and excitement of sport, rather then the pure desire of saving his fellow men The argument, is in fact, and an apology and on excuse

To proceed further You cannot make some happy by destroying others The feelings of anmity, hostility, and revage are the cause of pain and misery, dread and fear It has been known that serpants and tigers have approached and gone part the saintly ascetics who, wrapped up in their meditation had in them no fear of, and no hostility towards them The serpant or the tiger attacks man, not because, as is wrongly supposed, it is his nature to do so, but because it apprehends harm from man and strikes it self-defence If man, the most intelligent of all creatures, himself cast aside all fear and looked at a serpant or a tiger fearlessly, eye to eye, it would simply be magnitised or hypnotised, would obey his will and never think of injurying him This is the scientific explanation of the miraculous fact that tigers and serpants, bears and scorpions, crawled at the blessed feet of the Munis and Rishis of Yore

"These kill many lives, and accumulate grave sin" Doing this act of mercy, those who injure others should not be killed This is also a fallacious argument Killing does not mean an extinction of life for ever The only way to stop the accretion of bad deads is by self-restraint Loss of life is only a last of the opportunities for spiritual advancement By killing such living being you incur sin and retard the spiritual progress of vourself and of those when you kill

"Those in great suffering will on being killed soon obtain relief from agony" Do not even kill *the distressed one by having grosped the* sword of such misconception The wrong notion that by killing a dog or a horse, permanently disabled, or suffering from incurable wounds You would relieve of his pain, and would then do good to him is very commonly prevalent In Egypt some people considered it a pious religious duty to stab their old parents to death, in the belief that by doing so they relieved them of the miseries and infirmities of old age This false belief arises from an ignorance of the law of Karma The pain and suffering which a living being has to endure and go through is inevitable, and a necessary consequence There is no possible escape from it It must be undergone now, or hereafter, in this life or the next the bad Karmas which bring it about must be worked out You cannot reduce the effect of Karmas The chief influencing cause in the killing is that you cannot bear to see the misery of the suffering of the living *being and wish to put an end to the disagreeable* sight or the piteous means by the cheap process of killing him outright Such an act of Hinsa It is wrongly called and believed to be an act of mercy or commiseration One may well help the distressed by nursing or helping otherwise Veternary hospitals should take as much care of the sub-human class, as other hospitals do for huminity All hospitals should be free There should be no fee charged for medicine, attendance, or surgical operations This is the primary duty of individual citizens Municipal Corporations, and of the State Its neglect is a culpable omission

It is difficult to obtain happiness The happy shall, if killed, continue to be happy Do not please adopt the weapon of this (false) reasoning for killing those who are happy Happiness and misery depends upon one's own acts thoughts *We cannot make the happy*



state, one is in, continue by killing him Cessation of one form of existence does not mean the wiping of all evil Karmas previously acquired, and the continuence of the good Karmas in operation at the time he is killed

A disciple desirous of piety should not cut off the head of his own preceptor when he, by means of constant practice has attained such perfection of concentration, as leads to a good condition of life Here is another illustration of Hinsa committed by misguided fanatics in the name of religion Some persons believe that if the soul of person in deep concentration, and thus in close communication with the super-soul, is separated from the body while in that condition, he will attain everlasting bliss This is a false belief The person in concentration, make, if he is sufficiently spiritually advanced continue the concentration throughout and enjoy the bliss of communion If he is not so advanced, death cannot add to his spiritual advancement The killing is not only useless, but positively harmful as bringing evil Karmas in bondage

Do not believe in the doctrine of "Pot-breaking immediate solvation" inculcated by Kharapatikas, impelled by their thirst for small riches, in inducing such belief in their pupils The sect of Kharapatikas now extinct, believed that the soul was imprisoned in the body, just like a light covered by a pot When the pot is broken the light becomes free and spreads out in all directions The body being destroyed the soul would be free This doctrine was inculcated by wicked priests in order to get rid of their votaries who stayed with them, and whose belongings were on their death likely to come into possession of the priests Much crime was once committed in the name of religion, and the unsuspecting credulity of ignorant people was exployted by criminal sophits

One should not kill himself by zealously giving one's own flesh as food to another starving person, seen approaching in front Self-sacrifice, literally speaking was also at one time considered an act of religious piety It is undoubtedly Hinsa Attempt at suicide is a criminal offence

Ahinsa in the Lyman's Life

One who has perfectly renounced Hinsa will not utter a word which is likely to give pain another, will not do any act which may cause injury to another, will not harbour any thoughts prejudicial to another, will not make anybody else utter words likely to cause pain another, nor commit acts likely to injure another, nor entertain feelings of ill will towards another, and will not opprobate or encourage other who by words, deeds or thought cause pain to another The nine-fold renunciation is Perfect Renunciation If the renunciation is limited in respect of mobile or immobile or of any one or more of the nine kinds of the commission, it would be Imperfect Those who, even offer listening to the doctrine of Ahinsa are not able to renounce the Hinsa of immobile beings should at least give up the Hinsa of mobile beings

Whatever any wrong statement is made through Pramada Yoga (careless activities of body, mind or speech), it is certainly known as falsehood Pramad Yoga having been stated to be the cause of all false speech, sermon, preaching the renouncement of viores and the performance of religious duties, would not be a falsehood, even it should be distasteful, or cause mental pain to the listener Pramada Yoga, chief cause of Hinsa is present in all the false Speeches, therefore Hinsa comes, certainly, in falsehood also Those who are not able to

give up Savadya untruth (All speech which makes another engage in piercing, cutting, beating, plaughing, training, stealing etc), as is unavoidable is arranging for articles of use, should renounce all the other untruth forever

The taking, by Pramada Yoga, of objects which have not been given, is to be deemed theft and that is Hinsa because it is cause of injury The person who thinks of stealing, injures the purity of his own inner nature, and if defected in the act of stealing, he is punished and suffers pain He causes pain to the person whom he deprives of the things stolen, which deprivation even bring about death, what to say of inconvenience and trouble The presence of desire and the injury to self in the form of a moral and a spiritual fall, and to the person deprived, resulting there from, constitute Hinsa A layman is not able to follow this high discipline, but he also should obtain taking things which are not given him except such as may be appropriated without permission

Abrahma is copulation arising from sexual desire The vagina is said to be full of humerous living organisms, being constantly and spontaneously born there and those would of course, be killed in the function brought about on sexual intercourse Again, whatever indulgence of the sex-passion is had in unnatural ways on acount of lust, it always brings about Hinsa because it had its rise in desire etc Many a householder is not sufficiently advanced to give up sex-desire altogether It is only the ascetics who do so The householder also should however, observe the vow of Brahmacharya to a limited extent by total obstinece from all sexual desire with reference females other than his own wife

Attachment itself should be understood to be Parigraha It may be object that if Parigrah *is defined as mental attachement to things than there can be no external Parigrah* The answer is that the Parigrah (Possession of goods) creats an attachment to them It is therefore necessary to give up all external possession to avoid any possibility of an attractions for them Thus Parigraha is of two kinds, external and internal, actual possession of property is external (Bahiranga), while an inclination for possession is internal (Antaranga) All the internal attachment should be suppressed and all external attachments whether living or non-living should also be avoided and if one is unable to wholly renounce cattle, corn, servants, buildings, wealth etc, he also should at least, limit them Such limitation will act as a beleficial check on greed

One should fix the limit of his activities, in all the ten directions and thus complete vow of Ahinsa as regards what in beyond these limits, because of total absence of non-restraint there Then, again, one should fix a limit within those limits for a fixed time in order to shorten the area and duration of Hinsa He who deliberately renounces all the unnecessary sins, e g evil thinking, evil instruction, careless dealings, gift of instruments of offence, evil-hearing and gambling etc leads his Hinsa vow ceaselessly upto admirable victory One with Partial Vows who obserbs with 48 hours in the prescribed way, may, well, during the period, be said to have practically reached the stage of a saint He is not actually a saint because the Karmic tendencies which obstract the observance of ideal conduct are not extenct One with partial vows incurs Hinsa arising from the use of articles of Bhoga (enjoyment of an object which can only be used once, such as food and drink, fruit, and flowers), and Upabhoga (enjoyment of an object which can be used several times, such as furniture, dresses, ornaments, buildings), and not otherwise He should therefore ascertain the reality of things, and renounce these two also, in accordance with his own capicity In making a gift one gets over greed,



which is a form of Hinsa, and hence gifts made to a worthy recipient amount to a renunciation of Hinsa Mutilation, beating, trying up, overleading, withholding food and drink, are the five transgressions of the vow of Ahinsa, such acts would not be transgressions if indicated for correction or by way of punishment, by one having due authority, and without ill will

Thus knowledge and continued practice will bring about graduated renunciation, and hence it is that a limitation to the use of objects necessary for a healthy growth is inculcated Gaduated renunciation, with increasing enlightenment, will lead to total renunciation, and perfect conduct, the path of liberation In the practice of Sallekhana (renunciation of the body), all passions, which cause Hinsa, are subdued Like the other vows this also helps, strengthens, and leads to Ahinsa Sallekhana, also called Sannyasa, or Samadhimarana, is adapted when in the event of an incurable disease, extreme old age, famine, or calamity, one finds that death is certainly approaching He then obtains forgiveness from all friends and relatives, and with perfect peace of mind, gives up all possessions, gradually reduces his meals, and engages in spiritual contemplation

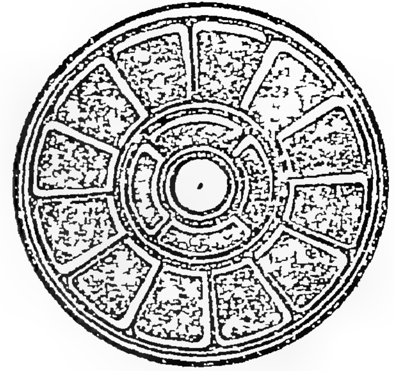
Conclusion

The philosophy of Ahinsa is liable to be misunderstood Ahinsa must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses, Pramada, are manifested in the animal impulses of anger, pride, decoit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such a vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind

The concept of Ahinsa is not negative One has no right to take the life of another creature for his self-gratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man The true hero is he who has mastered the animal in him

Ahinsa is in reality the basic social ethic It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion and creeds These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness Ahinsa therefore aims at the eradication of all the prodivities of men Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahinsa has naturally been by far the strongest and the most powerful

REALITY AND RELATIVITY OF SPACE AND TIME IN JAIN METAPHYSICS AND MODERN PHYSICS



MUNI SHRI MAHENDRA KUMARJI "DVITEEYA"
B Sc (Hons)

Introduction

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity Every now and then waves of question spring forth in it Man tries to find answers to them by his rational, intellectual and intuitional power Philosophy and Science are two powerful branches of the same stream of knowledge, which has been ceaselessly flowing to satisfy the curious mind of man Some of the questions tackled by Philosophy as well as Science are regarding the nature of space and time What are space and time ? Do they really exist ? Are they the forms of matter—or consciousness or some independent entities ? etc

A comparative study of the views of Philosophy and Science can be of great assistance in answering these questions The well-known modern physicist, Sir Edmund Whittaker rightly remarks, "It is still true that may central philosophical questions cannot be discussed profitably without reference to the physical universe, and recent advances in physics have exhibited some classical philosophical problems in a new light Among this is a question as to the nature of physical space "[1]

The different philosophies have given different solutions to the above problem To give a full account of their efforts is a bit lengthy task In this short paper, the concepts of Jain metaphysics and modern physics are discussed and compared

A *Jain Metaphysical Concept*

In Jain philosophy, a very eloborate, characteristic and systematic exposition of the theory of the universe is to be found But we shall have to confine ourselves only to a brief review of its metaphysical exposition of space and time

Space

Space, which is termed as '*Ākāsa*' is defined as that substance which acts as a container of other substances It is an independent objective reality different from matter, energy and consciousness It is infinite in extent and is composed of infinite number of space-points. It is eternal an existence It is immovable, continuous in texture, non-atomic and invisible It is imagined to be devided into two parts, on account of the existence of other substances

1 The portion of space, which is occupied by other substances is termed *Loka-Ākāsa* i e universal space

2 The rest of space, which is empty is called *Aloka-Ākāsa* i e non-universal space.

1 *From Euclid to Eddigton*, p 1

Thus the universe is infinite and is surrounded in all directions by the non-universe which is boundless The problem of the finiteness of the universe is solved by the Jain theory thus There are two substances, called *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya*, which can be translated as 'positive ether,' and 'negative ether' respectively, for they are considered to be the indispensible media of motion and rest respectively They exist only in the finite universal space, and hence, no substance can move or be at rest in the non-universal space That is, in no condition or under no force, a substance can travel or stay in the non-universal space

The *Loka-Ākāsa* or the universe has a definite size and shape

Its volume is believed to be 343 cubic *Rajjus* Rajju being an astrophysical unit Though the value of a *Rajju* cannot be stated in round numbers, it is definitely greater than X light-years[1], where

$$\left(10^{134 \text{ times}} \right)$$

$$X = K^{K^{K^{K^{K}}}}$$

$$\text{where, } K = 10^{10^{10^{43}}}$$

The space of the *Loka-Ākāsa* is similar to a solid figure consisting of three pyramids with rectangular base but with the tops chopped up, which are put one above another, smaller faces of the lowest and middle and the bigger faces of the middle and top touching together

Time

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of space there is considerable disagreement amongst the Jainas themselves regarding time One school does not accept time as an ultimate reality, but maintains that the unceasing mutability of other substances like souls and matter, etc is in itself symbolised into an 'existent' called time On the other hand, another school of thought considers it to be an ultimate reality Both the schools, however, agree to the fact that the, *Samaya* is the absolute mathematical unit of time The *Samaya* is defined to be the indivisible unit of time Though it is beyond our numerical comprehension, it has a definite value[2] Roughly speaking, one second is greater than X *Samayas* the number 'X' being defined above

1 For the discussion of Rajju, see the author's *Visva Prahelika*

2 For the discussion of the mathematical computation of *Samaya*, see *Ibid*

B *Newtonian Concept*

Newton conceived space as some absolute entity His concept of absolute space was "Absolute space, in its own nature, without regard to anything external, remains always similar and immovable" [1] According to Newton, "All things are placed in space as regards order of situation " It means that the earth and the heavenly bodies are situated in an immovable container of boundless extent—which exists and has always existed, independently of whether it is observed by perceiving minds or not, and independently of whether it is occupied at any particular place or not, it is the scene of all that happens in the physical universe, at any instant, every material body is located somewhere in it, and has the possibility of changing from one location to another Its size is infinite, its character uniform, its texture continuous, and its geometry Euclidean [2]

Newton's concept of time was "Absolute true, and mathematical time, of itself, and from its own nature, flows equally without regard to anything external "[3]

C *Theory of Relativity and Modern Concept*

After the advent of the theory of relativity, the concepts of space and time were changed According to Dr Einstein, "Space and time are forms of intuition which can no more be divorced from consciousness than our concepts of colour, shape or size Space has no objective reality except as an order or arrangement of the objects, we perceive in it, and time has no independent existence apart from the order of events by which we measure it "[4]

The philosophical interpretation of the theory of Relativity in Einstein's view is "The universe is a four-dimensional space-time continuum, which is not simply a mathematical construction, all reality exists both in space and in time, and the two are indivisible [5]

Some Scientists have interpreted the Theory of Relativity in a different way According to, Hans Reichenbach, "From conventionalism the consequence was derived that it is impossible to make an objective statement about the geometry of Physical space, and that we are dealing with subjective arbitrariness only, the concept of geometry of real space was called meaningless This is a misunderstanding Although the statement about the geometry is based upon certain arbitrary definitions, the statement itself does not become arbitrary once the definitions have been formulated, it is determined through objective reality along which is the actual geometry Let us use our previous example although we can define the scale of temperature arbitrarily, the indication of the temperature of a physical object does not become a subjective matter By selecting a certain scale we can stipulate a certain arbitrary number of degrees of heat for the respective body, but this indication has an objective meaning as soon as the co-ordinative of the scale is added On the contrary, it is the significance of co-ordinative definitions to lend an objective meaning to physical measurement "[6]

Thus although Reichenbach has accepted the Theory of Relativity, he has maintained that the absolute space and time have objective existences In the concluding chapter of his



1 *Principia Mathematica*, Tr By Motte & Canjore, p 6
2 Cf Sir Edmund Whittaker, *From Euclid to Eddington*, p 13
3 *Principia Mathematica*, p 6
4 *The Universe and Dr Einstein* by Lincoln Barnett, p 21
5 *Ibid* p 76
6 *The Philosophy of Space and Time*, p 37

work on space and time he observes "The statement that physical space has three dimensions has, therefore, the same objective character as, for instance, the statement that there are three physical states of matter, the solid, liquid and gaseous state, it describes a fundamental fact of the objective world

"We may therefore regard the following statement as the most general assertion about space-time order everywhere and at all times there exists a space-time co-ordinate system

"This result implies the topological distinguishability of space and time In a space-time co-ordinate system one of the dimensions is to be considered as time and the three others as space "[1]

D *Newtonian Concept and Jain Concept*

The Newtonian Concept of absolute space has striking similarities with the Jain Concept of *Ākāsa* Both the concepts regard space as an independent objective reality which is single, continuous, infinite and immovable substratrum of all other substances and which exist even in the absence of the external substances Nevertheless, there is an important difference in the two Concepts In the Newtonian physics, the problem of motion was tried to be solved by postulating a material medium called 'ether' which was supposed to fill the whole space and act as the medium of all kinds of motion including the wave motion On the contrary the problem of motion and rest is solved in Jain metaphysics by the principal of *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya* which are non-material media of motion and rest respectively It was the postulation of material ether in Newtonian Concept, which was responsible for creating an insoluble enigma for the physicists, as a consequence of which they had altogether discarded in the new theory, viz the Thoery of Relativity But, as far as the question of reality of Newton's space is concerned, it can be said that its logical consistency is still unobjected The renowned western philosopher, Bertrand Russell accepting this fact observes "The Newtonian theory of obsolute space meets the difficulty of attributing reality to not being To this Theory there are no logical objections The chief objection is that absolute space is absolutely unknownable, and cannot, therefore, be a necessary hypothesis in an empirical science The more practical objection is that physics can get on without it" [2]

Thus it becomes clear that Newton's theory of absolute space and the Jain Theory of *Ākāsa* are irrefutable on logical basis Newton believed that absolute true, and mathematical time exists, Jain metaphysics also asserts that the *Samaya*, etc are absolute mathemetical time-units Thus both the concepts are quite akin to each other There is however a slight variance in them In Newton's physics there is no conception of finite velocity of light, and hence it does not accept the space-time relation which has emerged out because of the finiteness of the velocity of the light, whereas the Jain metaphysics has no objection to such relation

E *Post-Einstenian Concept and Jain Concept*

There are two aspects of the theory of relativity regarding the nature of space and time

1 The relativity of space and time
2 The reality of space and time

---

1 *The Philosophy of Space and Time*, p 27
2 *History of Western Philosophy*, pp 90-91

We shall first discuss the former

The special theory of relativity of Dr Einstein states "It is impossible to determine the absolute motion of any uniformally moving system by any experiment whatsoever On the basis of the theory, it is usually interpreted that there is no existence of absolute space If this is the true interpretation, the Theory of Relativity does not become consistent with the Jainmetaphysics But, fortunately, the above interpretation is not unanimously accepted, and it seems that is not the true interpretation

Subjective Inability or Objective Indeterminacy

First of all it is necessary to find out whether the 'impossibility' stated in the theory of relativity is 'subjective inability' or 'objective indeterminacy' If our inability to know the absolute motion of any system in uniform motion is, in reality, the subjective inability, then it does not mean that the absolute motion does not really exist On the basis of the Jain metaphysical concept, it can be said that the said impossibility is a result of subjective inability, and not that of objective indeterminacy Reinchenbach has very well explained this confusion in his wellknown treatise He observes

"Thus we are accused of having confused subjective inability with objective indeterminacy

"There are, indeed, many cases where physics is unable to make measurements Does this mean that the magnitude to be measured does not exist ? It is impossible, for instance, to determine exactly the number of molecules in a cubic centimeter of air, we can say with a high degree of certainty that we shall never succeed in counting every individual molecule But can we infer that this number does not exist ? On the contrary we must say that there will always be an integer which denotes this quantity exactly The mistake of the theory of relativity is supposed to consist in the fact that it confuses the impossibility of making measurement with objective indeterminacy"[1] Thus it becomes clear that it would be wrong to infer on the basis of the theory of relativity that the absolute space has no existance at all

Dr Heisenberg on Absolute Space

One of the top-most physicist of our age, Dr Heisenberg has also made an attempt to remove the above misunderstanding He writes, "The hypothetical substance 'ether', which had played such an important role in the early discussions on Maxwell's theory in the ninteenth century, had—as had been said before—been abolished by the theory of relativity This is sometime stated by saying that the idea of absolute space has been abandoned But such a statement has to be accepted with great caution"[2]

Thus although Heisenberg has not accepted that there exists an independent reality called space, he has at least, accepted that abolition of material ether does not mean abolition of absolute space At another place, Heisenberg quotes an argument of the critics of the Theory of Realtivity Here also though he has not accepted this view he has asserted "It is seen at once that this argument cannot be refuted by experiment, since it is yet makes no assertions which differ from those of the theory of special relativity"[3]



1 *The Philosophy of Space and Time*, p 28
2 *Physics and Philosophy*, p 107
3 *Physics and Philosophy*, p 120

The argument of the critics of the theory of relativity is

"The non-existence of absolute space and absolute time is by no means proved by the theory of special relativity It has been shown only that true space and true time do not occure directly in any ordinary experiment, but if this aspect of the laws of nature has been correctly taken into account, and thus the correct 'apparent' times have been introduced for moving co-ordinate systems, there would be no arguments against the assumption of an absolute space It would even be plausible to assume that the centre of gravity of our galaxy is (atleast approximately) at rest in absolute space The critics of the special theory of relativity might add that we may hope that future measurements will allow the unambiguous definition of absolute space (that is, of the hidden parameter of the theory of relativity) and that the theory of relativity will thus be refuted"[1]

Prof Margenau's Construct

Another Eminent Philosopher-scientist Prof Margenau calls absolute space a possible 'construct', which is his term for 'reality' He writes "The advocate of absolute space bases his attitude on the simple fact that he can intuit three-dimensional space even when it is vacant of objects This kind of space is a possible construct, and it is absolute within the frame-work of the initial question"[2]

Further, Prof Margenau has explained that this kind of absolute space is not adopted by the scientist onlv because it is not useful to them But it does not mean that the absolute space has ceased to exist

The *Ākāsa* of the Jain metaphysics is also an absolute space, and this theory of *Ākāsa* cannot be refuted on the basis of the theory of relativity, yet we have to accept that in the empirical science, such passive space is of no use, and hence, the physicists may not take account of its reality, as stated by Russell Thus, we may conclude that space is essential in the logical field, lest it is not so in the field of empirical science It should be remarked here that the scientists are not able to solve some other aspects of the enigma of the universe probably on account of their abandoning the absolute space

The Reality of Space-time

The second aspect of the theory of relativity is regarding the reality of space and time We have already seen that all the scientists are not unanimous regarding it Whereas Einstein, Jeans etc consider space and time as merely the intuition of consciousness, Reichenbach, Hiesenberg do not deny their reality To reach some definite conclusion, first of all it is necessary to clearly understand some scientific concepts, such as space, time four-dimensional continuum of space-time, gravitational field, meterical field, ether etc It will be also fruitful to know their relation with the metaphysical concept of '*Ākāsa*' 'time' *Dharma* and *Adharma*

Finstein, etc mean by space an 'order of things, Raichanbach etc conceive space as an independent reality, besides such an order, the Jain metaphysics define *Ākāsa* as an objective reality or real substance giving room to other substances This concept of Jain metaphysics is quite different from the Einsteinian concept But if we accept the Einsteinian concept, the problem of the substratum of the substances is not solved We therefore, on the logical

1 *Physics and Philosophy*, p 12

2 *The Nature of Physical Reality*, p 153

grounds, have to abandon the Einstinian concept, moreover the Einstein definition is not sufficiently clear For the general theory of relativity unifies space with the gravitational field or the matrical field Then space no more remains a mere order of things but takes the form of some reality or field which has curvature Now the question is whether this field is an independent reality ? If the answer to this question is not in negative then this field would be probably not much different from the 'real space'

It is generally believed that such a field or curvature is generated only due to the presence of the mass of the substances That is to say anything possessing the mass creates a gravitational field around itself, just as magnet creates magnetic field or an electric current creates an electromagnetic field around it If this is so the gravitational field cannot be considered as an independent reality *But this is not strictly true Even in absence of matter or* mass, there exists a sort of residual curvature or field in the space This is clearly expressed by Sir Arthur Eddington, the renowned physicist thus "In a region where there is no recognised matter or electromagnetic field there is still a certain small natural curvature, viz that specified by the famous "cosmical constant" The mass, momentum and stress equivalent to this curvature ought therefore to be ascribed to whatever we suppose to occupy such a region, i e to the space, field or ether[1], whichever term we are using "[2] This question makes it clear that even in complete vacuum there exists something which we have to consider as an independent realitv The '*Ākāsa*' of Jain metaphysics may be even different from this The twin ethers *Dharma* and *Adharma* seem to be responsible for this natural curvature of space Though we cannot say anything certainly about this, at least it becomes clear that the Einsteinian definition of space falls short in this respect Also the above discussion makes it clear that the concepts of *Ākāsa*, which is given by the Jain metaphysics is not fulfilled by the concepts of space, ether or field of the modern physics

Now, we shall consider the curvature or field, which is different from the natural curvature denoted bv the cosmical constant, and which is created by the masses The general theory of relativity proposed by Dr Einstein is supposed to replace the Newton's Law of Gravitation by its Law of Curvature of Space According to this law, the properties of space or even the existence of space depends upon the material bodies and energy or masses that are present Where there is a mass, a field or space is generated around it If the mass is removed from that place, the field or space is also removed In other words, as said before this field is connected with a magnet The philosophical interpretation of this phenomenon would be that a gravitational field or metrical field is essentially an atribute of matter and not an independent reality in itself Hence it is clear that the realities represented by *Ākāsa*, *Dharma* and *Adharma* of the Jain metaphysics are quite different from this gravitational field produced by a mass

Next we consider the concept of four-dimensional continuum of space and time This Einsteinian concept is a bit different to be understood As said before Einstein, Jeans, etc



1 Sir Arthur Eddington has given a clear conception of ether According to him the theory of relativity has abolished the material ether, but a non-material ether still exists Also he believes that there is no space without ether and no ether which does not occupy space Thus he makes ether, space and matrical field a single thing (c f *New Pathways in Science*, p 48-41)

2 *New Pathuays in Science*, p 47

consider it not to be an objective reality The universe, in their view, is nothing but a four-dimensional continuum of space and time [1]

Also, they believe that the universe consists not of things but of events, and that these events are the various modes of the four-dimensional continuum of space and time Such a picture of the universe is certainly quite confusing On one hand, it is believed that the matter causes curvature in the four-dimensional continuum This belief is clearly expressed in the following anology "Just as a fish swimming in the sea agitates the water around it, so a star, a comet, or a galaxy distorts the geometry of the space-time through which it moves' [2] On the other hand, all these objects which constitute the universe are taken to be the modes of the four-dimensional continuum itself Such ambiguous concepts have weakened the philosophical or more precisely the metaphysical aspect of Einstein's theory Contrary to this, Reichenbach's concepts are quite clear He accepts the fact that space, time and matter are related to each other, but at the same time he does not deny their independent existences Also it is his clear view that calling time a dimension of space on the basis of the concept of the four-dimensional continuum would be wrong He remarks, "Whereas the conception of space and time as a four-dimensional manifold has been very fruitful for mathematical physics, its effect in the field of epistemology has been only to confuse the issue Calling time the fourth dimension gives it an air of mystery "[3] He concludes "We may therefore retain the perceptual difference between space and time without fear of contradicting the mathematical representation The properties of time which the theory of relativity has discovered have nothing to do with its treatment as fourth dimension "[4]

The Jain metaphysical concepts are more logical and clear than Einsteinian concepts By accepting the *pudgala* (i e matter), *Ākāsa* (i e space) and *Kāla* (i e time) as independent substances The Jain theory does not seem to contradict the theory of relativity The Jain view is that the material atributes of *pudgala* such as mass, motion etc should have no effect on the structure of *Ākāsa* On the basis of the Jain concept, it can be said that the gravitational field, etc generated by matter or material effects should be material and hence the changes or modifications brought about thus also should be connected with matter and not with space

Russell's Conceptual Space

Russell's theory of space is of great value in understanding the confused concepts of the scientists He, in the conclusion of a philosophical discussion on space, states "We have, on this view, two spaces, one subjective and one objective, one knwon in experience and the other merely inferred But there is no difference in this respect between space and other aspects of perception, such as colours and sounds All alike, in their subjective forms, are known empirically all alike in their objective forms are inferred by means of a maxim as to causation There is no reason whatever for regarding our knowledge of space as in any way different from our knowledge of colour and sound and smell "[5]

The two kinds of space interpreted by Russell can be called perceptual space and conceptual space The Jain metaphysical *Ākāsa* can be compared to the conceptual space of

1 *The Universe and Dr Einstein*, p 76
2 *The Universe and Dr Einstein*, p 92
3 *Philosophy of Space and Time*, p 110
4 *Ibid*, 112
5 *History of Westirn Philosopho*, p 144

Russell, while the space of the physicists is akin to the perceptual space of Russell But, on logical basis without accepting the reality of conceptual space, the problem of substratum of substances cannot be solved

Zeno's Nest of Space

The Jain metaphysical concept of *Ākāsa* is based on the logical necessity of the substratum of all the substances Against such a concept the general argument which is the well-known paradox of Zeno, is as follows "If all that exist were in space, space also would have to exist in space and so *ad infinitum* "[1] "The answer to this argument is as follows If the substratum of the other substances is conceived to be a material substance, there would be a fallacy of *regressus ad infinitum*, for experience tells us that any material substance cannot stay without a substratum We, therefore, have to conceive of some non-meterial substratum Thus *Akasa* or space, which is a non-meterial substratum is defined as that substance, which is self-supported and which can support other substances Hence we need not think of any other substance to support the space

Thus we can conclude that the Jain metaphysical concept of *Ākāsa* is not only irrefutable by the theory of relativity but also unobjectionable on logical grounds

Physical Aspects of the Theory of Relativity

After having discussed the philosophical aspect of the theory of relativity, now, we shall discuss some its physical implications

Shape of the Universe

Einstein's theory of the universe imply that the universe has no definite shape This is expressed by Lincon Barnett thus "And the most remarkable of these assumptions is that the universe is not a rigid and immutable edifice where independent matter is housed in independent space and time, it is on the contrary an amorphous continuum, without, any fixed architecture Wherever there is matter and motion, the continuum is disturbed" Such a picture of universe does not seem to be logical, for, if the total mass of the universe is constant its effect on the four-dimensional continuum also should remain constant Even when a body moves in the space from one place to another place there is no change in the total mass contained in the universe Hence, the total curvature of the universe which should depend upon the total mass contained in the universe should remain constant and subsequently, there should be no change or distortion in its architecture

The Jain theory also states that the shape of the universe which is in fact the shape of the *Loka-ākāsa*, *Dharma* and *Adharma* remains the same inspite of the motion of the masses inside it

Fitzgerald Contractions

One of the important implication of the theory relativity in the field of physics is the contractions in space and time-dimension which are popularly known as Fitzgerald Contractions Their mathamatical values can be found by the Lorentz equation According to this theory of contractions when a system moves, there accurs a contraction in the space-and-time dimensions In other words, the length of the moving body contracts in the directions of the



1 *Cf* Margenau, *The Nature of Physical Reality*, p 457

motion, and a clock placed in such a system moves slowly Such contraction in the length of the moving body, is generally spoken of as the contraction in space Now, if we consider it to be the contraction of the real space, it would not be correct For this contraction is the result of thechange in the state of the material substance, and not that of the non-meterial entity like space in which the meterial body exists

The contraction in time-dimension is a bit difficult to comprehend Let us take a simple illustration Imagine that a star is 40 light-years away from the earth Now, if rocket moves with the speed of 240,000 Kilometers/second, how much time would it take to reach from the earth to the star ? The theory of relativity gives to answers to this question —

(1) For the observer on the earth, the rocket will take

$$\frac{300000 \times 40}{240000} = 50 \text{ years}$$

to reach the star (300000 km/sec is the velocity of light)

(2) For the passanger who is travelling in the rocket, there will be contraction in the time-dimension according to the laws of Fitzgerald Contraction This contraction will be in the ratio of 10 6 i e for the passenger in the rocket, it will take

$$\frac{50 \times 6}{10} = 3 \text{ years}$$

to reach the star

This illustration explains the contraction in time-dimension But, there is still a confusion in the philosophical aspect of this contraction The question arises whether the natural processes of man (one of which is his age) are affected by this contraction, that is to say, whether the natural processes of man will take place according to the contraction in time created by his motion ?

The scientists are probably not unanimous regarding its answer Prof Margenau, for example, states "That the length of rigid bodies is different when it is measured by an observer moving relative to these bodies from what it is when measured by an observer at rest with respect to them Similarly, clocks have their tempo changed when read by moving observers These are empirical facts which are not subject to metaphysical interpretation, they are true and real in every ordinary sense of these words "[1] Contrary to this, the famous physicist Sir Arthur Eddington in answer to the above question writes "In the early days of the theory of relativity one of the most frequent questions asked by my correspondents was, 'Is the Fitzgerald Contraction real or apparent ? Is it really true that a, rapidly moving rod becomes shortened in the direction of its motion ?' The answer which I have given in *the Nature of the Physical World* (pp 32-34) is too long to quote here, but having pointed out with an example that we often draw a distinction between things which are 'true' and things which are 'really true', I explained that on the same principles the contraction of the moving rod would be described as true but not really true "[2]

This statement of the renowned scientist makes it clear that the contraction in space and time are not real from the point of view of absolute truth Our commonsense also forbid

1 *The Nature of Physical Reality*, p 149

2 *New Pathways in Science*, p 278

us to believe that the age of man travelling in rocket will increase with his velocity Thus, we can say that the absolute units of space and time have real existence, and that they are not affected by the external phenomena of motion, etc If this had not been the case how the velocity of the light, would remain absolutely constant ? For velocity is measured in space units per time—units

The above contractions, when considered in the light of Jain metaphysics, seem to be only material changes, for only material can be relative and the ultimate units of space and time are absolute

Space and time related to each other

In the theory of relativity space and time are related which each other, because of the finite velocity of light Heisenberg has explained this in this way ' In the theory of relativity we have learned that the situation is different Future and past are separate by a finite time interval the length of which depends on the distance from the observer Any action can only be propagated by a velocity smaller than or equal to the velocity of light Therefore, an observer can at a given instant neither know of nor influence any event at a distant point which takes place between two characteristic times The one time is the instant at which a light signal has to be given from the point of the event in order to reach the observer at the instant of observation The other time is the instant of the observation, when it reaches the point of the event The whole finite time interval between these two instants may be said to belong to the 'present time' for the observer at the instant of observation "[1] Thus it becomes clear that the knowledge which we obtain through our senses and external equipment cannot be obtained faster than the velocity of light Hence, the definition of simultaneity, also depends upon the spatial distance between the event and observer Consequently, in any event, the space and time becomes related to each other So far, it is unobjectedly acceptable But, the question, whether the velocity of light is the maximum possible velocity or not, is certainly not uncontroversial

It is a fundamental assumption of the theory of relativity that the velocity of light is the maximum possible velocity Now, if we re-examine this assumption in the light of Jain metaphysics, we find that this assumption is not strictly true According to the Jain theory, out of the six substances constituting the universe, only matter and soul are capable of moving The soul, besides capable of moving in space from one place to another, is also capable of getting knowledge of the things situated at far distances without taking help of the external means The actual motion of soul takes place when any living thing moves from one place to another, when a soul transmigrates from one body to another, when an imancipated soul transverses to the end of the universe and also when gods or persons with special powers travel with high speeds from one place to another The epistemological motion is not the actual change of place in space, but in it the soul perceives, intuits or transcends a distant object by its epistemological powers In both the types of motions, a soul can travel at a velocity higher than that of light In the transmigration, a soul can travel with a maximum velocity of one *Rajju* per one *Samaya* Also, in epistemological motion, an omniscient soul can transcend an object *Rajjus* away within a *Samaya*

The above is the possibility of the velocity of soul Now, matter is also capable of moving with surprising speeds The ultimate indivisible particle of matter known as *parmanu*



1 *Physics and Philosophy*, pp 102-3

(the ultimate atom), is also capable of moving with a velocity of 14 Rajjus/Samaya This is the maximum velocity of matter

Now, if we examine the theory of relativity in light of the above facts, we find that the fundamental assumption of the theory of relativity may not hold good in microcosmos Another interesting thing is that in accordance with the theory of relativity, the velocity of any thing may become greater than that of light, if it has no mass The Jain metaphysics asserts that the ultimate atoms and certain types of bodies composed of infinite number of the ultimate atoms are completely massless Mass, according to the Jain theory, is not the fundamental property of matter Thus, if such massless bodies travel with a velocity greater than that of light the theory of relativity would have to accept it

We may also note here that in the modern age, together with the developments of the techniques of space-travelling, the mind of the scientists are eager to cross the speed limit set by the velocity of light In one of the advanced scientific works on the exploration of space Arthur Clarke expressing this possibility writes "Before closing this chapter we must deal with two questions which any discussion of interstellar travel inevitably raises In the first place, despite the categorical remarks made a few pages ago, can we be absolutely certain that the speed of light will never be surpassed ? The theory of relativity is, after all, only a theory May it not one day be modified, just as it modified Newton's law of gravitation, which had remained inviolate for centuries and was generally regarded as being absolutely correct ?

"Any attempt to answer this question would lead us to the deep waters of Philosophy and would involve such ideas as the fundamental structure of space and time It is doubtful if anyone alive today could contribute much of real value to such a discussion the verdict must be left to the future "[1]

The above question supports the plausibility that the barrier of velocity of light may be practically overcome one day, and if it actually happens, the foundation, on which the theory of relativity stands, itself would fall to the ground

Macrocosmos and Microcosmos

The truthfulness of the theory of relativity will probably be certified only when the law of the macrocosmos would hold good in the microcosmos The amount of knowledge about the microcosmos possessed by the present day physics is also quite small

In such a condition nothing can be said finally about the truthfulness of the laws of physics As far as the theory of relativity is concerned, its experimental basis is also not satisfactorily strong The renowned atomic physicist, Werner Heisenberg himself has accepted this fact thus "In the present state of astronomical observation the questions about the space-time geometry on a large scale cannot yet be answered with any degree of certainty But it is extremely interesting to see that these questions may possibly be answered eventually on a solid empirical basis For the time being even the general theory of relativity rests on a very narrow experimental foundation and must be considered as much less certain than the so-called theory of special relativity expressed by the Lorent transformation "[2]

---

1 *The Exploration of Space*, p 175

2 *Physics and Philosophy*, p 111

In the articles and the books written on this aspect of science often it is expressed that it the future experiments of science disprove the laws of the past, it would not be much surprising In one of such articles Robert C Cowen has expressed a doubt about the theory of relativity He remarks "Thus even though the experimental basis of relativity has been substaintially strengthened, physicist will continue to ask in this larger context—Was Einstein right ?"[1] Cowen has tried to show in his article that inspite of the experimental verification the theory of relativity, its certainty will always be doubted

Even if we neglect the views of other scientists regarding Einstein's theory, we can not neglect Einstein's own wordings where he frankly states "No amount of experimentation can ever prove me right, a single experiment may it anytime prove me wrong" This statement, on the one hand, shows the humbleness of this great scientist, whereas on the other hand, it also clearly manifests the imperfectness of science

The whole discussion may be summarised as follows Firstly the veracity of the concepts of space and time based on the theory of relativity is not unequivocal, secondly, its philosophical interpretation is not uncontrovertible The philosophical concepts of Einstein etc are not clear and logical

The Jain methaphysical theory presents more consistent and logical conepts of space and time In fact the Jain theory is a philosophy of existence The origin of its concepts and theories are not reason but intuition and transcedental knowledge in which the reality is directly experienced Logic can only be a criterion for its theories The why of reality probably may never be known through reason, physical equipments or sensory knowledge Prof Margenau has rightly remarked somewhere in the end of his famous work on the nature of reality "I know how unwise it is now-a-days to write systematic philosophy—the why of experience and hence the why of reality are problems it does not endeavour to solve To be sure, reality can have no cause in the physical sense of the word This invalidates our phrasing of the questions but not its meaning At this point, the scientist bows out, and the philosopher of existence enters the scene "[2]





1 "*Was Einstein Right ?*" in *Bharat Jyoti, Bombay*, 31st July 1963

2 *The Nature of Physical Reality*, p 458

THE NATURE OF REALITY IN JAINISM AND BUDDHIST PHILOSOPHERS



DR BHAGCHANDRA JAIN, Sahityacharya,
M A (Sanskrit), M A (Pali), Ph D (Ceylon)
Head of the Deptt of Pali & Prakrit, Nagpur University,
Gandhi Chauk, Sadar, Nagpur

Conflicting views and heated arguments about the nature of reality confused the minds of people to such a degree that it became essential to reconsider this burning philosphical question in a conciliatory spirit This important step was taken by the Jainas through the theory of Anekāntavāda, which postulates a theory of manifold methods of analysis (Nayavāda) and synthesis (Syādvāda)

According to Jain philosophy, an entity consists of infinite characteristics which cannot be perceived all at once Therefore one who perceives a thing partially, must be regarded as knowing one aspect of truth as his position permits him to grasp Even though he is not aware of the entire truth, the aspect he has come to know cannot be altogether disregarded or ignored

The question arises as to how to the whole truth of reality could be known According to Jaina standpoint, all the theories contain a certain degree of genuineness and hence should be accepted from a certain point of view but the nature of reality in its entirety can be perceived only by means of the theory of manifoldness (anekāntavāda) The Jaina philosophers synthesize all the opponents' views under this theory

The nature of reality, according to this theory, is permanent in change It possesses three common characters, viz utpāda (origination), vyaya (destruction) and dhrauvya (permanence through birth and decay) It also possesses the attributes (gunas) called anvayī, which co-exist with substance (dravya) and modification (parayāyas) called vyatirekī, which succeed each other[1] Productivity and destructivity constitute the dynamic aspect of an entity and permanence is its enduring factor This view a blanded form of the completely static view held by the Vedantins and the completely dynamic view held by the Buddhists

All this has nicely been described by Dr Padmarajah in his book entitled Jaina Theories of Reality and Knowledge He also pointed out three different views with regard to the relation of guna and paryāya with a substance (dravya), viz the bhedavāda, abhedavāda and the bhedabhedavāda[2] The bhedavada represents the view that the attributes and the modifications are a combination with the substance which gives birth to the triple characters (dravya, guna and paryāya) of an entity[3] Both, guna and paryāya are to distinctive elements

---

1 Utpādavyayadhrauvyayuktam sat, Tsū 5 30, Saddravyalaksanam, Tsū 5 29, Gunaparyayavaddravyam, Tsū 5 38 See for explanations the Tattvārthavārtika of Akalanka

2 P P 258 also see the Darsana aura Cintana, Khanda, 2, P 163

3 Atho khalu davvamao davvāni gunappagāni bhanidāni Pravacanasāra, 119

in this view The former is called sahabhāvī or intrinsic, while the latter kramabhāyī or extrinsic [1] This ideology was promulgated by Kundakunda and supported by Umāsvāmi, Samantabhadra and Pūjyapāda

According to abhedavāda, the gunas and the paryāyas are synonymous signifying the conception of change inherent in which are both, external modifications of all realities without creating any contradictory position [2] Siddhasena Divākara is the chief supporter of this view and he is supported by Siddhasenagani, Haribhadra and Hemachandra

The third view (bhedabhada) held by Akalankadeva has been accepted by all his commentators and followers such as Prabhāchandra, Vādirājasūri and Anantavīrya This view appears in a more developed and hormonized form and clarifies further the relation between guna and paryāya in opinion of Dr Padmarajah On commenting on the Sūtra "Gunaparyaya-vaddravya" of the Tattvārthasūtra, Akalanka suggests that gunas are themselves a distinct category from, as well as identical with paryāyas [3] It means gunas always exist with realities and their modifications which follow one after another Prabhāchandra[4] gives a more critical and comprehensive explanation

All these three views are not fundamentally different from one another, since they unanimously accept the common factors, utpāda, vyaya and dhrauvya simultaneity (sahabhā-vitya) and modifications with successivity (kramabhāvitva) The Buddhist philosophers are familiar with the first and last view but they do not make any distinction between them This view shall be examined through the Buddhist literature itself

Samantabhadra explains the triple characters which abide with a substance at one and the same time They are not mutually independent Utpāda can never exist without vyaya and dhrauvya The other two characters are mutually dependent Samantabhadra uses an example to clarify this view If a jar made gold is turned into a crown it will please a man who has an attachment to the crown, but it will displease a man who dislikes the crown, while the third man who is neutral about the crown but is interested in the gold, will have no objection to it at all Here origination, destruction and permanence abide in one reality

Another example is presented to make this controversial point clearer He says he who takes a vow to live on milk, does not take curd, he who takes a vow to live on curd, does not take milk, and he who takes a vow to live on food other than that supplied by a cow, takes neither milk nor curd Thus Samantabhadra concludes that utpāda, vyaya, and dhrauvya may exist in a relative sense

Na sāmānyātmanodeti na vyeti vyaktamanvayāt
Vyetudeti visesātte sahaikatrodayādi sat
Ghatamaulisvarnārthī nāsotpādasthitisviyam
Śokapramodamādhvasthyam jano yāti sahetukam.



1 Pravacanasāra, Jayasena's commentary, p 121
2 Sanmati Tarka Prakaraṇa, 2 9—14,
3 Gunabhāvādayuktiriti cet, na, arhatpravacanahrdayādiṣu gunaopādesāt, guna evā paryāya iti va nirdesah, visesanānupapattirarthābhedaditi cet, na, matāntaranivrttyar-thatvat Tattvārtha Vārtika, 5 37 2—4
4 Navaya Kumauda Cand p 363

Payovrato na dadhyattı na payottı dadhıvratah
Agorasavrato nobhe tasmāttattvam trayātmakam [1]

The etymology of the word "dravya" ıtself ındıcates that a thıng ıs permanent-ın-change takıng a new form sımultaneously wıth the dısappearance of the prevıous form [2] Thıs vıew was also accepted by Durvekamısra accordıng to Krdanta sectıon [3] Śāntaraksıta[4] and Arcata[5] have also recorded thıs conceptıon ın theır respectıve works

Trayatmakavāda and Arthakrıyāvāda

The arthakrıyākārtıva (causal effıcıency) ıs the result of the doctrınes of Bhedvāda, Abhedavā, and Bhedābhedavāda The Satkāryavāda of Sānkhyas, Asatkāryavāda of Naıyāyıkas and Buddhısts and Sadasatkāryavāda of Jaınas are well-known to us ın thıs respect Here we are concerned wıth the vıews of the Buddhısts and Jaınas

The Buddhısts assert that the "Partıcular ıs the only real element of an entıty characterısed as svalaksana (thıng-ın-ıtself) It ıs supposed to be momentary and a congregatıon of atoms A thıng accordıngly ıs born and ımmedıately afterwards ıt ıs destroyed [6] The substance ıs nırhetuka (devoıd of causes) ın the sense that ıt orıgınates wıthout the assıstance of causes other than ıts own cause of orıgınatıon Each moment produces another moment destroyıng ıtself and thus ıt presents a sort or contınuıty of exıstence Thus ıt manages to maıntaın a cause and effect (kāryakāranabhāva) relatıonshıp

Accordıng to Buddhısm, momentarıness (ksanabhangaratā) and causal effıcıency (kāryakāranabhāva) are ınseparable It treated momentarıness, effıcıency, causalıty and realıty as synonyms and hence argued that an entıty ıs momentary because ıt was effıcıent and ıt was effıcıent because ıt was momentary On the basıs of thıs ıdea, the Buddhısts crıtıcıse causal effıcıency ın a permanent thıng They say that entıtıes come ınto beıng eıther sımultaneously (yugapadena) or successıvely (kramena) But ın a permanent thıng, both these ways cannot be effectıve, sınce they are not able to orıgınate ıt ımmedıately due to the non-proxımıty of a cause In the fırst alternatıon, the substance should orıgınate all the possıble effects ın the very fırst moment of ıts exıstence As regards the type of causal effıcıency that takes place sımultaneously, a permanent thıng cannot have any effects, because ıt can be neıther perceıved nor ınferred As Śāntaraksıta say after havıng brought about all the effects sımultaneously, the nature of a thıng comprısıng ıts capacıty for effectıve actıon, dısappears, and therefore

1 Ātmamīmāmsā, 59-61 quoted ın Pramāna Vārtıka Svavrtı Tīkā by Karnagomın, p 333, Durvekamıśra quotes one more kārıka ın the Hetubındutīkāloka, p 371
Na nasena vınā soko notpādena vınā dhrtıh
Sthıvā vınā na mādhyasthyam tasmāt vastu tryātmakam

2 Laghīyastrya, 30 Pramānamīmamsā, p 24

3 Dravyasabdena dravatı paryāyena gacchatı tı vutpatyā dharmī parınāmīnıtyo vıvaksıtah Paryayasabdena ca parısamantadetyetı dravyamıtı vyutpatyādharmah, Hetubındutīkāloka, p 337

4 Tattvasangraha, Atmaparīkṣā I utılızed ıts Englısh translatıon ın the artıcle

5 Hetubındutīkā, p 98

6 Yo yatraıva sa tatraıva yo yadaıva tadaıva sah
Na desakālayor vyāptır bhāvānāmıha Vıdyate Quoted ın the prameyaratnamālā, p 4 See Jaına theory of knowledge and realıty Also see the VIII chapter of the Tattvasangraha

the momentary character of thing is an essential factor for causal effeciency Further more they point out that auxiliaries (sahakārī) must follow the things with which they are connected These auxiliaries, as a matter of fact, cannot abide with permanent things, because the peculiar condition produced in a thing by auxiliaries would neither be similar nor dissimilar It they make any difference, the efficiency of the permanent thing in producing the cause is compromised and becomes dependent upon other things in order to be efficient If, on the contrary, they are not able to make any difference, the arguments for inoperative and ineffective (akiñcitkara) elements in a thing have no meaning The Buddhists, therefore, conclude that causal efficiency is the essence of the simple and unique moments each of which is totally different from the others [1]

On the other hand, the Jainas believe that a substance is dynamic (pariṇāmī) in character It means thing is eternal from the real standpoint (niscayanayena) and momentary from a practical viewpoint (vyavahāranayena) Causal efficiency, according to them, is possible neither in a thing which is of the static nature (kūtasthanitya) nor in a thing which does not suite to the doctrine of momentariness (ksanikavāda), but it is possible only in a thing which is permanent-in-change To clarification of this view, they say that efficiency takes place either successively or simultaneously Both these alternations cannot be effective in the momentary existence, since the spetial as well as temporal extension which requires the notion of "before" and "after" for efficiency are absent from the momentary thing of the Buddhists Santana (continuous series) is also not effective in this respect, since it is too momentary in the opinion of the Buddhists

> Pūrvam naśvarācchaktātkāryam kinnāvinasvarāt
> Kāryotpattirviruddhyeta na vai kāranasattayā
> Yadyadā kāryamutpitsu tattadotpādanātmakam
> Kāranam kāryabhedena na bhinnam ksanikam yathā [2]

This view of the Jainas is recorded by Durvekamiśra in the Hetubindutīkaloka A writer of the Vādanyava called Syādvādakeśarī who is supposed to be the same as Akalankadeva, is said to have defeated the opponents and established the Jaina Nyāya Vādirāja pays homage to him by saying "tārkikalokamastikamani" in the Nyāyaviniscayavivarana, and Prabhāchandra "Syādvādakesarasatasatatīvramūrtiḥ" in the Nyāyakumudachandra

According to Syādvādkeśarī, Durvekamiśra says, every entity is anaikāntika (having infinite characters), which is the basis of arthakriyā (casual efficiency) Kulabhūśaṇa, a commentator on the Vādanyaya explains this view that "anyathānupapatti" is the main character of reality, and arthakriyā is possible only in that character

Tathācāvādīt vādanyāye Syādvādakeśarī—"akhilasya vastuno'nekāntikaatvam sattvāt anyathārthakriyā kutah" iti etacca vyācaksanena Kulabhūsanena tīkākrtā evam vyākhyātamupapāditanca

> Anyathānupapannatvam yasyāsau heturiṣyate
> Drastantau dvāvapistām vāyācā tau hi na kāranam [3]



---

1 See Tattvasangraha, 340-346 Also see, HBT p 213

2 Siddhi Viniscaya, 3 11-12 Also see Nyāyakumudacandra, p 379

3 Hetubindutīkāloka, p 373-74



He, then, on the basis of above view, tries to point out defects in the theory of absolute momentariness and absolute eternalism stating that causal efficiency is not possible in either of these theories of reality Clarifying his own position, Kulabhūsana asks whether momentary character has causal efficiency during its own existence or in another If the first alternative is accepted, the entire universe would exist only for a moment The effect produced by a certain cause during its own existence would be a cause of others, despite being caused itself, and this series will never end The argument "Cause makes an effect during its own existence and an effect comes into being during the existence of others' is not favoured, since an effect is supposed to be originated during the existence of its own cause and not of another" Otherwise, an effect cannot take place and there will be defect of "Samanantara-virodha', according to which the effects would emerge in the distant future

Tanna tāvadakṣaniko bhāvah kāryam kartum śaknoti, tasya kramayaugapadyābhyā-marthakriyāvirodhāt nāpi kṣaniko bhāvah kāryam kartum prabhavati tathāhi kim kṣaniko bhāvah svasattākāle kāryakāranasvabhāve'thānyadā Yadi prathamavikalpastada tadaiva kuryāt svasattākṣane ca kāryakrtau sarvam jagadekakṣanavarti prāpnoti tathāhi kāranam svasattākṣana eva yat kārvamakrta tadapyanyasya kāranamiti tadapi tadaiva svakāryam kuryāt [1]

The next moment is also not powerful to generate the thing, since it is not a creator Otherwise, what would be the difference between sat and asat, and kṣanika and akṣanika We could conclude, therefore, that arthakriya is possible only in permanent-in-change character

Tarhi kāryamapi tadaivotpadyeta'nyada tatkālam parihrtya kāryotpattirvirudhyata [2]

Afterwards, Durvekamisra tries to criticise the view of Syādvādakeśarī not by advancing arguments but merely hurling insults As a matter of fact, whenever the Buddhist philosophers came across people whose views were different to theirs, especially when they could not refute their theories, they resorted to the practice of rediculing them by means of ironical speech It is in this manner that the arguments of the Jainas against the theory of kṣanikavāda came to be dismissed by pandit Durvekamiśra with cursory remarks that a wiseman should disregard the above objects raised by the "Ahrīkas" or Digambaras (yadi nāmahrīkoktirupekṣanīya prekṣāvatām) [3] He then tries to show that only the momentary character has a capacity of casual efficiency

Śāntarakṣita also refers to a view which seems to belong to the Jaina tradition, but it is attributed to Bhadanta Yogasena, who is claimed by certain scholars to be a Buddhist philosopher For instance, Bhattacharya says in his introduction to the Tattvasangraha that "nothing definite is known about Yogasena, he is not mentioned in the Nanjio's catelogue of the Chinese Tripitaka nor in any of the Tibetan catalogues" He then tries to prove that Yogasena was a Buddhist philosopher on account of his appellation "Bhadanta" saying "But the word 'Bhadanta' is always used in the Tattvasangraha to denote a Buddhist, or more preferably a Hīnayāna Buddhist Our authors have not made a confusion in this respect anywhere in this book, and on this ground we can take Yogasena to be a Buddhist "[4]

---

1 *Ibid* p 374
2 *Ibid* p 374
3 *Ibid* p 374
4 Tattvasangraha, introduction, p 1

But Śāntarakṣit has not indicated anywhere that the word "Bhadanta" should be limited only to the Buddhist Āchāryas It has been widely used in Jaina literature as a term of respect to elder Bhikhus [1] It is, therefore, not impossible that Yogasena has been a follower of Jainism or has been influenced by its conceptions, as his views against Kṣaṇikavāda represent the Jaina standpoint Further Śāntarakṣita did not mention anywhere explicitly the criticism made by Jainas against Kṣaṇikavāda Moreover, it is unlikely that in such a comprehensive work he should forget to mention the refutation of the Buddhist theory of momentariness by the Jainas, when the Jainas were their greatest opponents

Some schools of thought opposing the doctrine of momentary (kṣaṇikavāda) were rising even within the Buddhist system For instance, Śāntarakṣita refers to the views of Vātsaputrīyas who classified things under two headings momentary and non-momentary [2] The conception of soul, according to them has been also refuted by Śāntarakṣita [3] Stcherbatsky mentions the Vātsaputrīyas who admitted the existence of a certain unity between the elements of a living personality In all probability they have been influenced by the Jaina views as their arguments are very similar to the Jaina arguments raised against the view of Kṣaṇikavāda and Anātmavāda

There are, however, two important points of difference between the Buddhist and the Jaina in the meaning they attach to dravyavāda in their common denunciation of the view which connects this notion of arthakriyākāritva with dravyavāda First the Buddhist is against dravyavāda of any kind, while the Jaina is against ekāntadravyāvada Secondly, the Buddhists attack actually turns out whatever his profession may be, to be on the hypothesis of the static (kūṭasthanitya) dravya whereas the Jainas s attack is also on the same hypothesis but only as a contrast to his own theory of the dynamic (pariṇāmī) dravya [4] We have already discussed the Jaina's view against ekāntadravyavāda

Dual character of an entity

Some systems of thought accept only the Universal (sāmānya) character of reality Advaitvādins and the Sānkhyas are the typical representatives of the view Some other schools led by the Buddhists recognise only particular (viśeṣa) character of reality The third school of thought belongs to Nyāya-Vaiśeṣikas, who treat Universal and Particular (sāmānya and Viśeṣa) as absolutely distinctive entities

Śāntarakṣita first establishes the Jainistic view on the nature of reality He says that according to Jainism, an entity has infinite characteristics which are divided into two categories, viz Universal and Particular Just as different colours can exist in a lustrous gem without conflicting with each other, so the universal and particular elements could abide in a reality

We find two kinds of existence of own nature (svarūpāstitva) The former tries to separate the similar (sajātīya) and dissimilar (vijātīya) substances and indicates their independence This is called Vertical Universal (Ūrdhvatāsāmānya), which represents unity (anugata-



1 Uttarādhyayana, 20 15, 23 28, 26 9,28 16, Bhagawati 73 209 , Dasvai 4 etc

2 Tattvasangraha, 352

3 *Ibid* 336-349

4 Nanvanekātmakam vastu yathā mecakaratnavat,
Prakṛtyaiva sadādīnām ko virodhastathā sati Tattvasangraha, 1709



pratyaya) in plurality of different conditions (vyāvṛttapratyaya) of the same individual In other words, the permanent character of an entity is called Ūrdhvatasāmānya [1]

Sādraśyāstitva, the so-called Tiryakasāmānya (horizontal) represents unity in the plurality of different individuals of the same class [2] The word "cow" is used to denote a particular cow and it also refers to others of the same class, because of similarity [3] Likewise, Viseṣa is also of two kinds, paryāya and vyatireka The former distinguishes the two modes of same entity, while the latter makes a distinction between the two separate entities

Thus each and every reality is universalized-cum-particularized (sāmānya-viśeṣātmaka) along with substance with modes (dravya paryāyātmaka) Here "dravva" represents the particular character of a thing The adjective "sāmānya-viseṣātmaka" indicates the apprehension of Tiryakasāmānyātmaka and Vyatirekasāmānyātmaka, while "Dravyaparyāyātmaka" *points out the ūrdhvatāsāmānya and Paryayaviseṣātmaka character if a reality*

Both these types of sāmānva have dealt with by Śāntarakṣita, Karnakagomin and Arcaṭa They take the traditional example of a jar (ghaṭa) made of gold which can be changed into several modes, while preserving gold as a permanent substance [4]

Another example has been given by Buddhist philosophers on behalf of Jainas They say that the identical-in-difference (bhedābheda) between the substance and the modes is accepted by the Ahrīkas as the nature of reality [5] When a substance is spoken of as one, it is with reference to space, time and nature, when it is spoken of as different, it is with reference to number, character, name and function For instance, when we speak of a jar and its colour and its other attributes, there is difference of number, and name, there is also a difference of nature, inasmuch as an inclusiveness or comprehensiveness is the nature of the substance of the jar, while exclusiveness or distributiveness is the nature of successive factors in the form of colour and so forth There is also a difference of function, inasmuch as the propose served by the two are different Thus the substance is not totally undifferentiated, as it does become differentiated in the form of the successive factors

Deśakālasvabhāvānāmabhedādekatocyate
Sankhyālaksanasañjnārthabhedāt bhedāstu varnyate
Rūpādayo ghataśceti sankhyāsañjnā vibheditā
Kāryānuvṛttivyāvrtti lakṣanārthavibheditā
Dravyaparyāyayorevam naikāntenaviśesavat
Dravyam paryāyarūpena viśesam yāti cet svayam [6]

---

1 Tāsu tāsu hyavāsthāsu sa evāyam nara iti anuvrttipratyayahetor naratva jāterūrdhvatā-sāmānya sabdābhilāpyastāsu cāvasthāsu Hetubindutīkāloka p 343 cf Parāpara-vivārtavyāpi dravyam ūrdhvtā mrdiva sthasādisu, Pramāna Mimamsa, 4 5 Ekasmin dravye kramabhāvinah parināmah paryayah ātmani harṣaviśādivat, ibid , 4 8

2 Tiryakasāmānyavyavrttipratyayaheto——Hetubinduṭīkāloka, p 343 cf Sadrsaparinamastiryaka khandamundadisu gotvavat Pramāna Mīmāmsā, 4 4

3 Arthantaragato visadrasaparināmo vyatireko go-mahisādivat, p 4 9

4 Pramāna Vārtika, Svavrtti Tīkā, p 333, Hettubindutīkāloka, p 369, etc.

5 Hetubindutīka, p 98

6 Tattva Sangraha, 313—315, also see, Hetubindutīka, pp 98

Kamalasīla explains the Jaina view as to why it stresses on the Universal-cum-particular character He says, as the Jainas assert "If the above doctrine is to be den ed, all things would have to be recognized as one If a certain thing spole of, for instance, as a jar was not different from other things, such as cloth, then there would be no difference between the jar and sky flower (i e sky-flower is a thing that does not exist at all-hence an absurdity) (ākāśa-kusuma) Likewise a thing that is always differentiated from all other things, can have no other state save that of the sky-flower Consequently, the general character in shape or universal entity, has to be admitted"

Kiñcidvivaksitam vastughatādi, sa yadi gharādirbhāvah patādinā bhāvāntarenatulyah syāt-tato yadi vyāvrttah syāt, tadā khapuspānna tasya visesah syāt, sarvathā vastvantarād-vyāvrttatvāt, na ca vastvantarādvyāvrttasyānyagatih sambhavati, khapuṣpatām muktvā tasmāttasya vastunah khapuspatulyattvamabhyupagacchatā bhāvāntaratulyatvam vastutvam nāma sāmānymabhyupagantavyamiti siddham sāmānyātmakam [1]

Kamalasīla further explains the Jaina conception of the particular character of an entity He says that if the same entity, jar, was devoid of dissimilarity, then the jar could not be regarded as anything different from the cloth etc in the form of "this is jar", "that is cloth", but in fact it does differ from other things Therefore the particular character is always present in reality [2]

As the Buddhists do not admit the universal character of an entity, the Jainas endeavour to convince them that the universal character is merged in the particular character of an entity They set forth the argument that if any entity is not similar to other things, it ceases to be entity For, that which is excluded from an entity, could have no position, but non-existence, as in the case of a sky-flower

Sarvathāpi hyatulyatve hybhipretasya vastunaḥ
Vastvantarena niyatam vastutvamavahīyate
Vastuno hi nivrttasya kvānyā sambhāvinī gatih
Laksyate nāstitam muktvā tārāpatha sarojavat [3]

In support of the aforesaid view, another argument is presented, on behalf of the Jainas, that is, if an entity were not similar to or different from every other entity, how then is it possible that the common idea of "being an entity" found to appear only in connection with the jar and such things, and not in connection with the crow's teeth It is so because the said restriction is due to have a certain capacity in their natures Though, according to Jainism, all things in the form of entities are not different from one another, their capacity may be regarded as the required "communality" [4] This is also called the "Niyatavṛtti" Without accepting this limitation anything could be transformed into thing else



1 Tattvasangraha Pañjika, p 487

2 Sa eva ghaṭādirbhāvā yadi patādinābhvena yadatulyatvam tena vihīnaḥ syāṭ tadāyam ghato'yam ca paṭa iti patādibhyo ghatādirbhinno na siddhyet, svarūpavat bhidyate tasmādvisesātmakatvamapi siddham—TSP 487

3 Tattva Sangraha, 1712—13

4 Anyathā hi na sa buddhirbalibhugdaśanādisu
Vartate niyatā tvesa bhāveṣveti kim krtam
Sārūpyanniyamo'yam cet sāmānyam ca tadeva nah

Later the Jainas dealt with the difference among things They say that if a jar were entirely devoid of dissimilarity to those other things, then there being no difference between them, the jar could not be anything different from those things This would involve a self-contradiction When one is ready to accept some sort of difference among things, he has also to accept dissimilarity as a particular character [1]

Thus according to the Jainas view, like the gleaming sapphire, every entity, while being one has several aspects Of these, some are apprehended by inclusive notions Those that are apprehended by inclusive notions, are inclusive, and hence spoken of as "common", while others, which are apprehended by exclusive notions, are exclusive and hence said to be "particular" The inclusive notion appears in non-distinctive form of "This is an Entity", while the exclusive notion appears in the distinctive form "this is jar, not cloth"

> Vastvekātmakamevedamanekākāramiṣyate
> Te cānuvṛttivyāvṛttibhuddhigrāhyatayā sthitah
> Ādyā ete'nuvṛttatvātsāmānyamiti kīrtitah
> Viśesāstvabhidhīyante vyāvrttatvāttatato'pare [2]

Refutation of Jaina conception of reality in Buddhist literature

The Buddhist philosophers criticised the Jaina conception of reality on the grounds of self-contradiction, commingling, doubt, etc The main arguments of the foremost Buddhist logicians were as follows

Nāgārjuna (about 150-250 A D), the profounder of Śūnyāvāda made the charge that the theory of triple character is itself a self-contradiction formula, as it cannot be associated with reality, since such a thesis is faulty on account of anavasthā-doṣa (regressus ad infinitum) [3]

Dharmakīrti remarks that the Anekāntavāda is mere non-sensical talk (pralāpamātra) He then mentions the Jainas' view "all is one, and all is not one" and points out why the Jainas do not recognize the jar or pot itself as a general character, since Dravyatva is in all of them according to Jainism (Sarvam sarvātmakam na sarvam sarvātmakam) [4]

Dharmakīrti is of the view that the Jaina theory of dual character, viz universal and particular, is so formulated that the character of particularity is relegated to the background and made less significant He explains this with reference to the famous example of camel and curd If the particularity which distinguishes camel from curd or vice-verse is not an important factor, he says, one may as well eat a camel when he wants to eat curd He tries by this argument to demolish the Jaina theory as he understood that curd is not only curd by itself (svarūpena) but also camel in a relative sense (pararūpena) According to Dharmakīrti, these cannot be a universal character between camel and curd and even if such a character

---

> Svabhāvānugatāsaktiranenaivopavarnitā
> Atyantabhinnatā tasmādghatate naiva kaśyacit
> Sarvam hi vasturūpena bhidyate na parasparam —Tattva Sangraha, 1714-16

1 *Ibid*

2 *Ibid* 1720-1721

3 Mādhyamika Karikā, 45-46

4 Pramana Vartika, 1-183

exists, their mutual difference or particularity is all that matters for both identification and use.

> Sarvasyobhayarūpatve tadvisesan rākrtah
> Codito dadhi khādeti kumustram nābhidhāvati
> Athāstyatiśayah kaścit yena bhedena vartate
> Sa eva dadhisonyatra nāstītyanubhayam param[1]

Prajñākaragupta (660-720 A D) the well-known commentator and a pupil of Dharmakīrti also refutes the Jaina theory of reality on the line of arguments submitted by Nāgārjuna He says origination, destruction and permanence cannot exist together If it is destroyed how can it be a reality, if it is permanent, how can there be destruction, and if it is permanent, it should always be in mind He then argues that the reality cannot be realised as both eternal and non-eternal It should be accepted as either eternal or non-eternal[2]

Samantabhadra's view mentioned in the "dravyaparyāya orikyam" and "sañjñāsankhyāviśesaśca" has not been refuted by Dharmakīrti Whatever may be its reason it is criticised by his commentator Arcata who followed the arguments of Nāgārjuna[3] At another place he tries to refute the Bhedābheda vāda (identity-in-difference) conception which means the substance and its modes cannot be separated from a realistic standpoint, but they are different in name number nature, place, etc from a practical viewpoint It appears as if he does not see much difference between ubhaya vāda of Vaiśesikas and bhedābhedavāda of Jainas That is the reason why he conceives the substance as being completely different from its modes He refutes the view first in prose under the heading "Ahrīkādisammatasya dravyaparyāyayoh bhedābhedapaksasya nirāsah", and then the same arguments are repeated in fourty-five stanzas

Arcata refers to the Jainas view that they analyse reality through sui-generis (jātyantara) which exposes the combination of identity and difference, although it makes a distinction between the particular and general character of reality For instance, Narasimha is a combination of man and lion which is not self-contradictory because of the theory of sui-generis

Opposing this theory, Arcata points out that Narasimha is a compendium of atoms which cannot be transformed into Narasimha Due to a combination of the forms which is called Śabalarūpa, a place of existence of diverse natures How then could a unity in nature be proved ? Arcata finally remarks that is the philosophy of block-heads (darsanakrto yam viprayāso mūdhamatīnām)

This criticism is based on the understanding that the nature of reality is completely in two different forms This is the view of Vaisesikas, not Jainas This criticism made by Āranyakas is answered by the later Jaina philosophers such as Vādirājasūri, Anantavīrya, Prabhācandra



---

1 Ibid 1 184-185

2 Athotpādavyayadhrauvyayuktam yattatsadisyate
Esameva na satvam syāt etadbhavadhiyogatah
Yadā vyayastadāsatvam katham tasya pratiyate
Pūrvam pratīte satvam syāt tada tasya vyayah katham
—Pramānavārtikalankāra. p 142

3 Hetubindutīkā, p 233

Śāntarakṣita examined the Syādvāda doctrines of Jainas in a separate chapter of his Tattvasangraha He points out there that if the oneness between substance and modes is real (aguna), then the substance also should be distructive like the form of the successive factors or those successive factors themselves should be comprehensive (anugatatmaka) in their character, like the substance Therefore it should be admitted that either there is absolute destruction of all characters or it consists of the elements of permanence, exclusiveness and inclusiveness, which cannot exist in any single thing

Hence he turns to the universal and the particular character of an entity He says there would be a commingling (sānkarya) and a confusion (sandeha) in the dual nature of reality, the result of which would not be helpful to decide which is general and which is particular If the general and the particular are regarded as non-different from one and the same thing, how could there be any difference in the nature of these two character ? And being non-difference why should it not be regarded as one ?

Karnakagomin in the Pramānavārtikasvavṛttitīkā and Jitāri in the Anekāntavādanirāsa refuted the Jaina conception of reality on the same arguments put forth by their predecessors

Evaluation

As a matter of fact, the Buddhist philosophers misunderstood the theory of Syādvāda, since they treated the dual characteristic of the nature of reality as absolutely different from each other The theory is originally belonged to the Vaiśesikas

The foremost argument against this doctrine is the violation of the Law of Contradiction, which means that "be" and "not be" cannot exist together But the Jainas do not accept this formula in toto They say that the validity of the Laws of Thoughts should be considered by the testimony of Experience (samvedanā) and not by pre-conception [1] Experience certifies that the dual character of entities exists in respect of its own individuality and does not exist apart from and ourside this nature (sarvamasti svarūpena pararūpena nāsti ca) In relativistic standpoint, both, being and non-being can exist together Everything is real only in relation to and distinction from every other thing The Law of Contradiction is denied absolutely in this respect The point is only that the absolute distinction is not a correct view of things, according to Jainism

As regards the triple character (origination, destruction, and permanece) of reality, the Jainas support it through "anyathānupapannatvahetu" as explained before The permanent element possesses the character of identity-in-difference (bhedābhedavāda) Identity is used in the sence that the substance and its modes cannot be sparated from a realistic standpoint, and difference in the sence that they are different in name, number, etc from a practical viewpoint [2] In other words, the modes are not absolutely different from substance, as in that case, the modes would not belong to the substance With past reflections the substance is transformed into present modes and proves itself as a cause for future modes that are necessary for the understanding of the permanent character of an entity

To preserve the unity of terms in relation to different characters, the Jainas assert an element which is called Jātyantara (sui-generis or unque) [3] This is illustrated by the instance

1 The Jaina Philosophy of Non-Absolutism, p 4

2 Nyāyaviniscaya, 117-18

3 Anekāntajaya Patākā, vol 1 p 72

of Narasimha which is criticised by the Buddhist philosophers Prabhāchandra says in response to the Buddhist criticism that it is neither nara nor simha, but because of their similarities they are called Narasimha While having mutual seperation they exist non-differently in relation to substence and like wavas in water they emerge and sink in each other Thus there is no self-contradiction in a dual character of an entity in relative sence, as the Jainas assert

> Na narasimharūpatvan na simho nararūpatah
> Śabdavijnānakāryānām bhedāt jātyantaram hi tat
> Na naro nara eveti na simhah simha eva hi
> Samānādhikaranyena narasimhah prakīrtitah [1]

Dharmakīrti urged with regard to the Universal-cum-particular character of reality that this theory compelled one to recognize the curd and camel as one entity In connection with the fallacious middle term (hetvābhāsa), Akalanka points out that the Buddhist philosophers discover defects to censure the Jainas on the basis of invalid arguments (mithyājāti) [2] For instance, Dharmakīrti ignores the formula "sarvobhāvāstadātatsvabhāvah" and tries to establish equality between curd and camel Hence he questions why one who intends to eat curd, does not go to eat a camel in place of curd, since according to Jainsim, both have the universal character

Akalanka tries to disaram critics like Dharmakīrti by pointing out the definition of sāmānya and viśesa Vādirāja, a commentator of Akalanka explains that the similar transformation of a thing into its modes (sadrasaparināmo hi sāmānyam) is called sāmānya [3] According to this definition the modes of curd and camel are not similar, they are really completely different, as well as similar How is it then possible that there elements are mixed ?

Another argument used for the refutation of the Buddhist standpoint is that the identity is only among the modes of curd, as hard, harder, hardest, etc , but they have never any sort of relation with the modes of camel Hence, they can never be mixed with each other Vādirāja refers here to a traditional fiction the Dharmakīrti proved himself as a Vidūsaka (jester) because a good knowledge of the opponents theory [4]

Akalanka again criticises the view of Dharmakīrti saying that if the argument that "the atoms of curd and camel may have been mixed sometimes before and the atoms of curd have still the capacity to be transfered into the modes of camel" is to be raised, it would not be advisable For the past and the future modes of an entity are different, and all transactions and transformations run according to present modes The curd is for the purpose of eating, while the camel is for riding The words for them are also completely different from each other The word "curd" can be applied only to curd, not camel It is the same case with the word "camel" too



Akalanka further points out that if in relation to past modes, the unity between curd and camel is derived then Sugata was Mrga (deer) in his previous birth and the same Mrga

---

1 Nyāya Kumuda Canda, p 369, Anekānta Pravesa Ṭīkā, p 15
2 Nyāyaviniscayavivarana, vol 2 p 233
3 Nyāyaviniscayavivarana, vol 2, p 233
4 Pūrvapakṣamavijñāyāṇāva duṣko'pi viduṣakah Nyāyaviniscayavivarna vol 2 p 233

become Sugata Why then should Sugata only be worshipped and Mrga be considered edible ?[1]

> Sugato' pi Mrgo jāto Mṛgo'pi Sugatah smṛtah
> Tathāpi Sugato vandyo Mrgah khādo yatheśyate
> Tathā vastubalādeva bhedābhedavyavasthiteh
> Codito dadhi khādeti kimustramabhidhāvati

Thus he tries to prove that as the tranformations of Sugata and Mṛga are quite different, and their being worshipped and eaten are related to their modes, all substances have the capacity to be transformed only to their possible modes, not to others Therefore the identity between the modes of curd and came cannot leed to the truth Their transformations do not have the tādātmyasambandha and niyatasambandha [2]

In fact, Akalanka and other Jaina philosophers tried to meet the arguments of the Buddhist philosphers in forceful words The innumerable examples of scathing attacks against Buddhists can be seen in Akalanka's and othere Jaina Ācāryas works The caustic remarks, such as "Jādyahetavaḥ", "ahnīkalaksanam", Paśulaksanam" etc made by Dharmakīrti himself on opponents' views are criticised by Akalanka in the Pramāna-sangraha [3]

Thus the Jaina philosophers do not accept any self-contradiction in the nature of reality in Jainism Likewise, the other defects such as confusion, commingling etc which are based on the self-contradiction, are also proved as "mithyādosāropana", And, according to them, the criticism made by the Buddhists or others is not effective in this context As matter of fact, in their opinion, the nature of reality in Jainism has no defects provided it is clearly understood

Nature of relation of an entity

The nature of an entity is also a controversial point among the philosophers For instance, the Naiyāyikas, the extreme realists, think that relation is a real entity According to them, it connects the two entities into relational unity through conjuntive relation (samavāya sambandha) Samavāya is said to be eternal, one, and all-pervasive [4]

The Vedāntins and the Buddhists, the idealists, are against the view of Naiyāyikas The Buddhists assert the subjective view of relations A relation, according to Dharmkīrti, is a conceptual fiction (sambandhah kalpanākrtah), like universal, and hence it is unreal [5] He also rejects the two possible ways of entertaing a relation in universal They are dependence (pāratantra sambandha) and interpenetration (rupaslesa sambandha) [6]

---

1 Nyāyaviniścaya, 2 204-5 Likewise at another place
Akalanka commenting on the Bauddhist Ācāryas, especially Dharmakīrti says
> Dadhyādau na pravartete Buddhah tadbhuktye janah
> Adraśyam saugatim tatra tanum samśankamānakah

2 Nyāyaviniścayavivaraṇa, pt ii p 172

3 Pramāna Sangraha, p 115-116

4 Tarkabhāsā, pt 1 p 5

5 Pramānavārtika, p 3 237

6 Nyāyakumudacanda, p 305

On the other hand, the Jainas, on the basis of non-absolute standpoint, try to remove the extreme externalism of the Naiyāyikas and the extreme illusionism of idealism of Buddhism and Advaitism They maintain that a relation is a deliverance of the direct and objective experience Relation is not merely as inferable but also as an indubitaly perceptual fact Without recognising relation, no object can be concrete and useful and atoms would be existing unconnected [1]

As regards the rejection of two possible ways of relation, the Jainas says, that they should not be rejected For, pāratantyasambandha is not mere dependence, as the Buddhists ascribe, but it unifies the entity Rupaslesa is also untenable for this purpose [2]

The two points are here to be noted the first is that, according to Jainism, the entity never lose their individuality Thy make internal changes having consistent internal relation with the external changes happening to them In adopting this attitude the Jainas avoid the two extremes of the Naiyāyikas, 'externalism and the Vedānin' internalism

Another point is that the Jainas consider relation to be a cobination of the reality in it as something unque or sui-generis (jātyantara) It is a character or trait in which the natures of reality have not totally disappeared but are converted in to a new form For instance, nara-simha is a combination of the units of nara and simha They are neither absolutely independent, nor absolutely dependent, but are indentity-in-difference Hence the Jainas are of view that relation is the structer of reality which is identity-in-defference [3]

Conclusion

From these comments we may conclude that .—

(i) Arthakriyā is the essence of Syādvāda conception According to Jainism, the arathakriyā is possible in only the dynamic (parināmī) substance

(ii) The nature of reality is universal-cum-particular, and the nature of relation of an entity is deliverence of the direct and objective experience

(iii) There is neither self contradiction nor any other defect which the Buddhist philosophers tried to point out in Jaina conception of reality





1 Jaina Theory of Reality and Knowledge

2 Nyāvakumudacanda, p 307

3 Jaina theory of reality and knowledge, p 233

JAINA ETHICS
Its Ideal and Viewpoint

S C JAIN
M A, Ph D



Indian systems of philosophy are marked for their spiritual and moral outlook Almost all of them have a common feature of ethical inclination Jaina system of philosophy is no exception to the general philosophic trend of the country Some thinkers are of opinion that the most important part of Jaina philosophy is its ethics "Metaphysics or epistemology-infact, knowledge of any kind is useful for the Jaina in so far as it helps him to right conduct "[1] Still we find that Jaina has not been overpowered by this general trend of Indian philosophy but is sufficiently vigilent as regards the critical examination of the various ethical concepts Ethics, Metaphysics and other branches of philosophy constitute the philosophic system Jaina philosophy lays due emphasis on its various aspects It recognizes the claims of all the branches of the system with respect to the system as a whole and also in their mutual relationship in accordance with the spirit of Anekanta philosophy

So there is a close relation between ethics and Metaphysics without explaining the metaphysical intricacies of a system we may not be able to probe deep into its ethics It is said that the postulates of ethics are the conclusions of Metaphysics We fail to draw a clear line of demarkation between Metaphysics and ethics on account of their close relationship William Rashdall remarks, "It is impossible that our views on the ultimate problems of ethics should not be influenced by our attitude towards Reality as a whole, or that our view of reality as a whole should not be influenced by our attitude towards morality" [2] Neither ethics nor Metaphysics can be studied well in their mutual isolation In constructing an ethics without taking the necessary metaphysical problems into consideration we shall be constructing an ethics without necessary foundation, or shall be unwrittingly assuming the validity of the implied metaphysical conceptions

Like many other sciences ethics has a number of axioms and for the validity of these axioms we shall have to resort to Metaphysics It is why a system of Metaphysics is said to build the foundation of the connected system of ethics Metaphysics deals with the fundamental nature of reality which the Jaina finds to be anekantika So Jaina Ethics cannot shut its eyes to this basic nature of reality Actions performed by an individual may be attributed

1 Datta A Chatterjee An Introduction to Indian Philosophy, p 114
2 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 193

to him is the primary postulate of morality [1] It may be a general postulate common to all system of ethics, but different schools of metaphysics will give different answers to this problem of moral accountability In a similar way other postulate of morality like the immortality of the self, the existence of God, freedom of will and the real existence of evil in the world will be explained in different ways One more axiom seems to be admitted in Jaina Ethics, and it is the possibility of liberation i e the possibility of the attainment of the ethical ideal Jaina Ethics presupposes that 'liberation must be an actual event in the life history of the soul' [2] As regards the metaphysics behind this postulate it is said, 'this aspect of Jaina philosophy did not much attract the attention of the Jaina thinkers themselves Like others they also did not doubt the possibility of liberation, because this possibility is the very hope for which an entire system of philosophy is constructed [3] Jaina Ethics is not much in disagreement with other systems in respect of these axioms, but the connected metaphysics to explain them must be different on account of the anekanta nature of Jaina philosophy This anekanteka reflection on the problems of Ethics is a singular contribution to the ethical studies by the Jaina and it has given a distinct feature to Jaina Ethics

No less important are the psychological researches to the study of ethics The Jaina writers show a satisfactory insight into the psychological aspect of the ethical problems The truth of psychological Hedonism seems to be admitted in the proposition 'All living beings in the three worlds desire sukha (Happiness or pleasure) and fear pain' [4] 'The summum bonum of life is the attainment of unalloyed bliss'[5] but perhaps very few may be found to be conscious of this high ideal On account of the psychological factors this basic urge for unalloyed bliss is changed into a lust for pleasure The very capacity which, in the absence of obstructing conditions, could have been directed towards the ideal is turned towards the worldly pleasures The capacity for unalloyed bliss and worldly pleasures is fundamentally the same as Aurbindo has observed 'pleasure can become pain or pain, pleasure, because in their secret reality they are the same thing differently reproduced in the sensation and emotion [6] A drift from the psychological Hedonism to the ethical one does not require a special proof, if the truth of karma psychology is accepted Karma psychology explains the devirations from the pure functions of the self by means of Karma forces which vitiate and delimit its cognitive and conative energies in various ways

McDougall gives another psychological truth in the form of purposiveness He holds that purposiveness is the essence of mental activity We rightly feel that we did not act as a mere machine, but the action was a purposive action in which our nature was truly expressed, and we may confidently infer that the goal was forseen, however vaguely and incompletely, at the time of action" [7] So purposiveness means that every living organism is guided by the idea of the end or purpose in view in its behaviour It is not simply impelled to action by a push of causing factors from behind, but also feels a pull from ahead The idea of the end



1 Willam Rashdall Theory of Good and Evil, p 203
2 S C Jain The structure and the function of the soul in Jainism, p 295
3 *Ibid* p 300
4 Daulatram Chhahadhata, 1 1
5 C R Jain Key of Knowledge, p 10
6 Aurbindo The Divine Life, p 339
7 McDougall An outline of Psychology, p 49



and the effort to attain it are the facts of psychology in which the truth of the ethical ideal is grounded The vision of the ideal and the effort to attain it will be proportionately clear and energetic to the absence of the disturbing factors in one's psychology Karma psychology conceives these disturbing factors as originating from the karma forces bound with a soul Besides, psychological knowledge of the self proves very helpful to one who aims at ethical attainments He can make a satisfactory diaganosis of his self for ethical purposes by introspecting his own mental states At the same time he will be able to eliminate such components from his vision of the ideal and from his efforts to attain it as may be determined by his psychology Right assessment of this vision and of the required efforts seems to be very essential in the path of ethical progress

In ethics conception of the ethical ideal occupies the most important place Every proposition in the sphere of ethics is formulated with respect to the ideal Ethics is a study of reality with respect to the ethical ideal Mainly two theories regarding the nature of the ethical ideal are in vogue One is Hedonism for which the ethical ideal is sensibility varying from grossest pleasure to its most refined form The other theory is Rationalism which difines the ethical ideal to the pure reason free from all sensibility Just to reconcile these two diverse views there comes Eudaemonism—a theory which recognizes the due claims of sensibility and reason All these theories are based on their conception of the self Hedonism finds the self to be of sensuous nature, while for Rationalism it is all reason Eudaemonism conceives the self as constituted of reason and sensibility both The Jaina bases his theory of the ethical ideal on the possibility of riddance from karma forces The state of the self which results from the breach of karma forces is the ethical ideal of Jaina philosophy In this state the soul's capacities for cognition and feeling are free from the vitiating influence which brought about limited and deluded knowledge and an inclination for worldly pleasures In the absence of the vitiating influence the soul becomes free to cognize every thing and enjoy unalloyed bliss This the state wherein there is no conflict between the cognizing and the feeling faculties of the soul

Jaina ethics recognizes one ingredient of the ethical path in the form of right faith which implies such an attitude of the mind as would direct the process of cognition and conation in congruence with the ideal in view In the presence of this attitude all knowledge and conduct the considered to be right i e leading to the ideal Just as limited knowledge in the presence of right faith is found to be helpful in the attainment of the ultimate ideal, so the lower forms of conduct in the presence of right faith must be held equally helpful on the ethical path Judged from this point of view we find no opposition between reason and sensibility, nor do we need the reconciliation effected by Eudaemonism In the ethical ideal reason must develop into full knowledge and sensibility into an enjovment of the pure state of the soul Jaina Ethics does not totally condemn reason or sensibility, but when they are not directed towards the ideal of pure self for want of right faith, they become undesirable

The true ethical ideal for an individual is the pure state of his own soul,[1] though he may get a good guidance from the study of other pure souls 'Swasamaya or self absorption is the essential goal to be aimed at by the Soul struggling to be free from the fetters of mundane bondage of karmas'[2] Kundakunda's theory of samayasara or the essence of the soul

1 Amrtacandra Purusarthasiddhyupaya, verse 15
2 J L Jaini Commentary on Samayasara, p 2

refers to this ethical ideal All this points to a distinction between the ideal and the actual The ideal is implied by the actual, and the actual is actual only with respect to the ideal There is nothing like the absolute actual and the absolute ideal Advaita Vedanta s dictum 'that thou art' may be similarly interpreted 'That' refers to the ideal and 'thou' to the actual Kundakunda himself has differentiated his position from the Samkhyam absolutism on this very ground [1] From this stand-point we find a newer type of consistency in Bradley's concept of "my station and its duties' One may be at any station in life, his duties must be in congruence with the ethical ideal Ethically the actual must agree with the ideal This is the way how we apply this criterion to judge the worth of lower Ethics The Jaina has to justify the householde's Ethics in this very way The lower ideals are simply means to the higher ones, and they are so admitted to make the gradual ethical progress possible These very ideals, when not accompanied by right faith i e when they are not in congruence with the ultimate ideal, are said to be false ideals

A closer study of the nature of the ethical ideal will provide a better faculty for moral judgment An action found to be in agreement with the ethical ideal must be called moral A motive itself is an action of the mind If it is in agreement with the ethical ideal though only as a motive, will be morally valuable Consequences are something external to the self, and they may in agreement with the internal state of the self If this agreement between the self and the consequences is conductive to the attainment of the ideal of pure soul the consequences may also be said to be morally valuable This problem of moral judgment is basically the problem of moral accountability which in Jaina Ethics is technically called the theory of the soul's bondage The self bound by the karma forces gives us the structure of the self of the karma psychology The actions which lead to this bound state of the self are said to have no ethical value while those that bring about a free state of the self from such bondage are ethically valuable

One more implication of the Jaina theory of ethical ideal is that in Jaina Ethics pure view point takes the most significant position No doubt the ultimate ideal of Ethics is the pure soul From the point of view of the ideal it must be found as self contained and free from all external vestiges [2] But according to Jaina logic no view point can be adopted in an absolute manner i e with total negation of other view points The truth yielded by such view points is faithful to reality, if they are accomodating to each other [3] So inspite of the fact that the ideal view point occupies a very important place in Jaina Ethics it must be accomodating to the actual view point The letter view point sees the soul as it is found to be i e in relation with its setting and environment while the ideal viewpoint presents to us the picture of our ideal, the actual viewpoint gives us the actual position and situation in which the self happens to be placed Both the viewpoints are equally essential on the ethical path If the ideal viewpoint is upheld in an absolute sense, there is a danger of falling into the position of the Sankhya for whom the Purusa is absolutely immutable When we enter the region of Ethics we have to take cognizance of the actual condition of the self and have to keep the picture of our ideal always in view The standpoint of Ethics just brings about what we call the division of the self into the higher and the lower The higher self passes judgments and issues commands for the lower self As the ethical ideal of an individual is the



1 Kundakunda Samavasara, verses 126-127

2 Samayasara verse 16

3 Samantabhadra Aptamimansa, verse 108

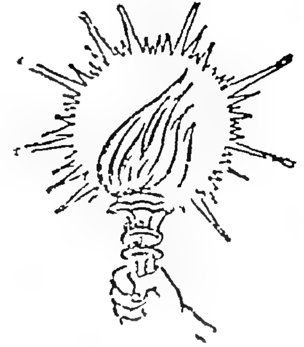


pure state of his own soul, the moral saction is considered to be internal to the self The same self when qualified by the vision of the ideal becomes the higher self, and when it is disenabled by the forces of karma it is called the lower self Thus the contant consciousness of the ethical ideal proves to be the real guide of an aspirant on his path to the highest goal of life

From the psychological point of view and also from the ethical point of view as seen above the individual nature of the self seems to be an unquestionable truth Whether it is the theory of Hedonism, Rationalism, Eudaemonism or the Jaina theory of pure soul the individual nature seems to be admitted beyond doubt Bantham and Mill think that the object of every rational being is to obtain the greatest portion of happiness for himself Inspite of this overwhelming egoistic tendency in their systems both of them try to accomodate Altruism, though at the cost of a serious deviation from their fundamental position. Every egoistic system has to answer the above question The advocates of Altruism seem to presuppose that not only the psychological but also the ethical life of an individual is possible only in the society of selves In other words the self is to be seen in its setting and environment and not as divorced from all its relations The Jaina also has to face the problem Anekanta system of thought propounds that a real is a compendium of the relational and the non-relational A real has an existence which implies its identity as abstracted from its setting and also as related to its environment i e how it occupies its position in its setting To think it as absolutely independent of its relations or as absolutely dependent on its relations is the one sided view it yields The anekanta nature of existence accounts for the egoistic cum-altrustic trend of Jaina ethics To hold that a soul is the architect of his own destinity or that it accepts the influence of other factors is a partial way of thinking We may adopt the one or the other view as it suits our purpose but the true position is identified with neither In this way a soul admits of the good of the other souls in achieving its ideal without losing its own identity and contributions in the process of self attainment The way to attain the ideal is two fold i e with respect to the soul itself and also with respect to the other helping factors The very fact that the soul is prepared to admit the influence of other factors, though after the fashion of 'nimitta' causation, opens an avenue for Altruism in Jaina ethics Love of those who walk on the right path, propogation of truth among the people, care to bring those who have deviated from the right path back on the right path and due encouragement in the form of revealing the merits and concealing the faults of those who have faith in the right path are considered as the very organs of right faith, the most important constituent of the path to liberation The admission that a right faith wanting in any organ will prove impotent in breaking the cycle of births is a clear proof of Altruism in Jaina Ethics It may be said that the position of Altruism explained above is valid only from the practical view point, but one should bear in mind that the practical view point is at least a view point, and it yields, like many other view points, a partial truth Hence in Jaina philosophy, if Altruism is taken to be condemned with respect to Egoism, then Egoism will be equally condemnable with respect to Altruism, while the true position is safe-guarded in Egoism-cum-Altruism The very nature of existence, and hence of the self is antagonistic to absolute Egoism and absolute Altruism On the ethical path the position of the soul seems enriched both by Egoism and Altruism, and the egoistic and the altruistic traits of the self are found in it simultaneously Such a position does not give us any opposition between Egoism and Altruism, but the two are held complementary to each other and go to constitute the good of the self at the various stages of its ethical progress

MAN-MADE GOD

K B JINDAL
(M A LLB IRS)



More than half the world believes without question, or argument that "God created man in his own image"[1] Cool consideration will however show that it was man who created God in his own image, The gods of the Greeks were conceived as finite beings, differing from human being only in degree They lived in Olympus and thought and acted like any one of us Only, they thought more rationally and acted more wisely They were deified ancestors or apotheosized men The incarnated gods of Hindus were also human beings There was nothing supernatural about Rama He was the essence of all that is best and noble in man

As long as religion is a matter of individual conscience, and as long as no priestly caste comes in between God and man, God will continue to be like us Each has his own God and conceives Him after his own fashion And since most of us are similar in physiognomy our God tends to be one

The Church Fathers of the middle ages created a great gulf between God and man They made him a Deity and took him away from us as our brother-man They imputed to him the whole creation of the Universe, and such of man also There is much to fear from Him People cease to do wrong not because their higher self impels them to do so but because there is somewhere some mute glorious power that is their arbiter, They work lest the "talent" may lodge with them useless and God "returning chide" "The eternal selfconsciousness communicates to human consciousness the idea of social good"[2]

It is profoundly interesting to find Shelley, laying down, a century ago, quietly in his room, the laws by which modern scholars govern themselves His "Essay on Christianity" is a below directed against the popular and orthodox form of religion, as corrupted by churches into a despotism He speaks of Christ as an historical character and as a man To bind him up with miracle is to enfeeble his influence When the miraculous elements are left out, Jesus Christ remains, not indeed Deity, but loving humanity Shelley's 'Necessity of Atheism" sets abroad the spirit of free intellectual inquiry The spirit of science philosophy, and Geology questions the existence of God That earth was result of millions of years of formation is more reasonable than that God made earth in six days Engrossed in the problem of personal immortality, Tennyson and Browning reach a compromise in 1860 That compromise is embodied in three lines

1 Book of Genesis ch 1, verse 27

2 Greene's "Idealism"

' Nothing worth the proving can be proven
Nor yet disproven, therefore thou be wise
Cleave ever to the sunnier side of things "

For every individual the world is his own idea of it The reality is not to be found in any intellectual theory but in the blind impulses of man This is the "Pathetic symphony of the Nineteenth Century", and Hardy uses it to prove that God is a figment of the imagination, a mere make-believe All his life Hardy was much troubled by the questions of good and evil, and how it should be that evil was permitted by Deity who could presumbly have so easily checked it Because there is sin and evil in this world, God has not created it for He could not be such an incompetent architect as to desopoil has own creation

"Are God and Nature at strife
That Nature sends such ugly dreams ?
So careful of the type she seems
So careless of a single life "

Thus God ceases to be our Redeemer, our King of kings, our Heavenly father He has not made the Universe and so could not have "created man in his own image " It is man's infirmity to refuse to be satisfied with evolution He demands a ruddier presentation of the sum of his experience To nature and law, he prefers Destiny and God Where reason fails he reduces every phenomenon, every circumstance to some suitable "*mise-en-scene*" Since the child has been brought up in the belief that there is some supernatural power who controls his and his parent's destinies, we can very well imagine the child's query as to what this power is like And the child pictures God to something after his own shape This is the inherent psychology when we pronounce that "God created man his own image "

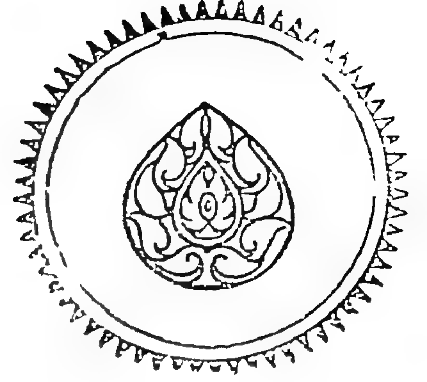
Of all human institutions, religious beliefs and practices are the most tenacious But they too must change with the changing times The note of disillusion-ment has been struck by Schopenhauer, and we cannot raise the child's faculty of make-belief to the *nth* power We are all the while conscious that God is our own creation and still we continue to say that God created us We must march back through centuries and tear a page from Greek History At best we can regard God as super-man, a supper-soul, a PARMATMA Man is his self-redeemer He is God himself The Jivatma will one day become Parmatma for—"God in man is one with Man in God"

☆

JAIN SATIRISTS IN KANNADA LITERATURE

DR B S KULKARNI

M A Ph D, Reader in Jainism, Karnatak University, Dharwar



Kannada literature has a history of one thousand years The pioneers in the field are Jain poets, though Jainism is supposed to have come from the North The Jain poets, though wel-versed in Sanskrit and Prakrit, preferred to write in the local tongue That is why Jain poets have become the pioneers in creating literature not only in Kannada, but also in Tamil There are a good number of inscriptions in Kannada to show that good literature might have come up as early as 6th or 7th century A D But no written book is available till the 9th Century A D The first written book is "Kavirājamārga"—written in the court of Nripatunga—the Rāstrakūta King who reigned from 814-877 A D This is a book written mainly on Rhetorics When a book comes out on Rhetorics it is sufficient proof to show that there must have come a lot of literature But to ones' surprise there is not a single work traced so far till we come to the 10th century A D

The first work on poetry is "Ādipurāna" written by the first Kannada poet "Ādipampa" in 941 A D in the court of Arikesari II a Chalukyan King Pampa has written another master piece called "Pampa Bhārata" He has written these two works in Champu form There is a fine blend of Sanskrit, Prakrit and Kannada in his works In Ādipurāna the poet has tried to explain his own religion i e Jainism along with pure poetry In his "Bhārata" the poet has given the story of Vyāsa Bhārata in Kannada This method of the first poet was followed not only by the poets of his own times but by the poets of later centuries also But the latter poets could not raise to the height of the poets of the 10th Century That is why 10 Century is called the Golden period in the history of Kannada Literature

The literature produced during this golden perid does contain praise of the poet's of the poet's own religion In Ādipurāna, Pampa gives unique picture of a controversy among different religions viz, Cārvāka, Buddhism and Jainism The poet pleads in a very good sportive manner for each religion His satire towards each religion is entirely objective He never brings in low taste nor condemnation of any one religion The same case is with poet Ranna He praises Jainism but never depicts low taste for other religions

But this attitude did not continue during the later centuries During the 12th century a lot of change took over in the field of religious and social life of the people of Karnatak Jainism began to decline There was no royal help nor protection to Jain poets Vīraśaiva



Śaranas and poets changed the course of Kannada literature The Champu form gave way to Ṣaṭapadı, Trıpadı, Sāngatya, etc , and the common man's language was taken as the medium of expression in poetry also Apart from all these things, the literature was made a direct means to propagate the religion But during this period, the 10th century spirit was not maintained The literature, of course, was used to propagate the religion, but the poets of this period brought in the literature, not only the praise of their own religion, but also the abuse of other religions So the literature produced during this period, has become "Vāda Sāhitya" (वाद साहित्य) and contains satire of other religions Jain poets of this period did not lag behind, even though, they were in a weak position They did produce literature containing defence and praise of their religion i e Jainism and satire of other religions Glimpses of this attitude, may be seen in many poets of this period, but in this article, mention may be made only to outstanding three poets They are "Nayasena", ' Brahmasiva" and "Vritta-vilāsa"

Poet "Nayasena" was a Jain monk and has written "Dharmāmrita" in the year 1112 A D He lived in Mulgunda, now a village in the Dharwar District, Mysore State "Dharmāmrita" contains 14 chapters In each chapter the poet has written a story connected with "Darśana" and its eight folds viz , Niśanksā, niskānksā, nirvichikitsā, amūdhadṛstitva, upagūhana, sthitikarana, vātsalya, dharmaprabhāvanā and five anuvritas viz , Ahimsā, Satya, Asteya, Brahmacarya and Aparigraha

In all these stories the poet has tried to maintain the supremacy of Jainism The follies of other Faiths are depicted in a very high type of satire In one story a priest of another Faith condemns Jain monks This very priest is made to live and eat like Jain monks for only a temporary period The priest is made to eat food prepared out of Ghee etc , and is kept in a room duly locked After some hours he feels thirsty but no water is given till the next day's food time He is made to live without bath like Jain monks and within a week's time his body becomes abode of itchees etc He could not live like Jain monks and he openly admitted the greetness of Jain monks who have full control over all limbs The fine staire in this story is clear evidence to show that poet "Nayasena" was a master in that art Examples of such fine satire are full of his work Nayasena has written his work in the Champu form He is not in favour of writing a book mixing up both Kannada and Sanskrit This attitude of the poet is seen throughout his book Though there are Sanskrit words, his book contains pure Kannada spirit Poet Nayasena uses Kannada proverbs and similia His similia are another noteworthy point in his work The poet give similia one after another and they are all from the local stock and tongue The effect of such fine similia is ever lasting and unforget-able pleasure Because of this 'Deshi' (देशी) 'Dharmāmrita" has earned a permanent place in the heart of Kannadigas apart from its religious tinge and satire

Poet Brahamashiva lived during the first half of the twelfth century and has written two works viz , "Samayaparīkshā" and "Trailokyachudāmanistotra"

In "Trailokvachudamanistotra" the poet condemns the worship of Tree Sea, River, Sun etc , and says that they are all not gods To be liberated, the poet advises, to follow the path of Jina The 36 verses in this work depict poetry of high order

'Samayaparīkshā" is a masterpiece of poet Brahmaśiva This work is a mirror to the contemporary society that existed in Karnatak during the first half of the 12th century from

religious, social and political points of view All these aspects are depicted with historical sense It is from this point of view that "Samayaparikshā" gets unique place in the history of Kannada literature The poet describes the decline of Jainism and all other different Faiths which had gathere in Karnatak claiming supremacy over each other and leaving the common man in despire This work contains 15 chapters The poet has tried to show that Jainism was a very ancient religion and held its sway all over the country According to the poet every temple, religious place, one day or the other belonged to Jain Faith, and it is the best Faith to be followed His verses in praise of "Jina" display a very good poetry Brahmasiva condemns blind or foolish beliefs The poet takes references in the epics of other Faiths and describes the follow of them He has done this part of satire without any mercy He condemns the ten incarnations (avatāras) of Vishnu He condemns the idea of "Ardhanārinateshvara" He does not believe in the "Svayambhu" (स्वयम्भू) existance of any man or idol He mercilessly critisises the manners, food drinks etc of other Faiths The satire of Brahmashiva may be felt harsh but as history admits with him, all the honour becomes due to him His book really satisfies the saying that "Literature is the mirror of contemporary life" The satire of Brahmashiva has become a boon to the students of history and here lies the poet's greatness

Poet Vrittavilāsa has written two works viz, 'Dharmaparīkshī' and 'Shāstrasāra" He has not given any thing regarding his date, place, parantage etc So it is difficult to say about his definite date etc He is supposed to have lived during the year 1360 A D His "Dharmaparīkshā" is based on poet Amitagati's "Dharmaparīkshī" written in Sanskrit Vrittavilās has written his work in the Champu form "Dharmaparīkshī" contains ten chapters The poet has taken stories from Vaidic sources and has tried to show the follies there in The satire is direct and forceful His technique of telling the stories and condemning them is fine He has taken two friends viz Manovega and Pavanavega Manovega was a believer in Jain "Siddhānta" Pavanavega was a believer in Vaidic system Manovega wanted to make his friend a believer in right things and not in false ones He wanted to do this without hurting the feelings of his friend So, he adopted a method as if for a fun and at last convinces his friend and brings him to the right path He took his friend to Pataliputra (Patna) in different garbs such as woodcutter, hunter etc, and going to 'Brahma" temple, in the debates, he defeated the learned party Manovega followed the method of telling a fantastic story The other party did not believe and questioned its reality Then Manovega asked them about such stories which were in their religious books Then told a story and asked "If this is true, mine is also true, if this is not true then mine is also not true" The story is a powerful medium to win our the minds of listeners So, Manovega wins over his friend without hurting his feelings and brings him to Jain Siddhānta When Manovega was in the disguise of a shepherd he told a story as follows "We two went to a forest with our herd We saw a tree full of fruits Then we cut of our heads and went up the tree and ate fruits As our heads ate fruits, the bellies of the bodies lying at the trunk of the tree became full After eating a lot the heads come down and attached themselves to the bodies Meanwhile the sheep are missing and we are in search of them The learned people did not believe and questioned its possibility Then Manovega gave a good number of examples from Vaidic Epics such as the birth of Jarāsandha, Ghatodgaja and Rāvana cutting his heads and made them sit silent" During another occasion he took a cat and told the learned people that the price of the cat was 1000 'Varāhas' Being surprised they asked the speciality of the cat





Manovega told that that cat could smell the presence of a mouse round about 1000 'Yojanas' When the cat was examined it was found that its ear was torn and it was bleeding When asked the reason for bleeding, Manovega said "Yesterday night when the cat was sleeping a mouse came and bite the ear" When they laughed Manovega told them stories of inconsistancy from Vaidic sources The work is full of such interesting stories full of satire

Though "Dharmaparīkshā" is a translation it is very useful addition to the Kannada field Vrittavilāsa's satire and poetry is of very high standard

In his second work "Shāstrasāra" also poet Vrittavilas has tried to condemn 'mithyavāda' and has given 'Samyaktva' for common man But this work has not been published so far

To praise one's own religion is something But one should not condemn the religion of others Ofcourse this should be the spirit of the poets as well as common men in general But things shape themselves in the light of the time and circumstances So, one should not worry about such things In Karnatak, "Vādasāhitya" was produced in the light of the times, and Jain poets also contributed their might, though they were in a declining stage and the names of these satirists stand immortal in the history of Kannada literature



SOUL IN JAINISM

KHEM CHAND JAIN
M A



Almost all the Indian thinkers have accepted two entities i e soul (jeeva) and non-soul (Ajeeva) According to Jain view soul is that element which knows, thinks and feels The fourfold characteristics of Anant-Jnana, Anant-Darshan, Anant-Sukh and Anant-Virya are found in the soul Ajeeva in all respects is the opposite of Jeeva Touch, taste colour smell etc are the attributes attached to it Ajeeva is divided in to Pudgal, Dharam, Adharm, and Kala

Acharya Nemi Chandra Siddhant-Chakravarti lays down the eight characteristics of Jīva

Jivo uvaogamao amutti katta sadehaparimano
Bhotta samsarattho siddho so vissasoddhagai

—Dravya Samgraha 1-2

The folloing verses from Panchastikayasamayasara by Kund-Kundacharya is exactly similar to this verse of Dravya-samgraha —

Jivotti havadi cheda uvaoga visesido pahu katta
Bhotta ya dehamatto nahi mutto kamma samjutto

—Panchastikaya Samayasara 27

Kamma mal vippa mukko uddham logassa ant-madhiganta

—Panchastikaya Samayasara 28

1 *Upayoga*

It is the sole characteristic of Jiva It is a sort of inclination which arises from consciousness This inclination is either towards Darshan or Jñana The detailless knowledge or indefinite cognition is called Darshan In Jñana the details are also known If the attention is directed merely to an awareness that something is present to it but cannot be described, it is Darshnopayoga If it is directed to know this something definitely, it is Jnanopayoga Darshan is divided into four parts i e Chakshu, Achakshu, Avadhi and Kevala So there are four kinds of Karma which obsure each of these varieties By removal, cessation or mitigation of one or more of these varieties of Karmas the corresponding class or classes of Darshan is or are evolved Jñana is of eight kinds viz , Mati, Śruta, Avadhi, Manah-parya, Kevala, Kumati, Kusurat, Kuavadhi It is also divided into two pratyaksha and paroksha Direct contact of

Jiva with the object is called, pratyaksha Sense perception or mediate knowledge is paroksha Avadhi Manah-parya and kevaljñan are pratyaksha and Mati and Srutajñana are paroksha

Charvaka-view accepts sense perception as pratyaksha and gives maximum importance to sense perception, Jain view stands against it The nyaya system recognises the difference between a quality and the possessor of a quality but by saying that Jiva consists of a quality Upayoga which is made up of Jñana and Darshan, the theory of nyaya is upset

According to Vyavahara Naya the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jñana and four kinds of Darshana But according to Shuddha Naya pure Jñana and Darshan are the characteristics of Jiva

2 *Amurta*

Jiva in its natural or real state is invisible When the soul is attacked by passians, desires etc it takes on the Karmic material fit for the bondage of Karmas The Karmic materical mixes with the soul as milk mixes withwater or fire with iron Due to karmic material the Jiva becomes Samesari and it has to travel in to four Gatis When the soul becomes free from karmic bondage it attains complete liberation or Moksha According to Vyavahara Naya the Jiva is Murta or with karmic form and it is Amurta according to Nischaya Naya, i e without karmic bondage It has no colour, taste, smell or touch

3 *Karta*

According to Vyavahara Naya Jiva is the doer of Pudgalkarmas According to Nischaya Naya, Jiva is the doer of Bhava-karmas And according to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas

> Puggalakammadinam katta vavaharado du nichchayado
> Chedana kammanada Shuddhanaya Suddhabhavanam
>
> —Dravya-Samgraha 1-8

Anger, pride, attachment, aversion etc are the bhava-karmas of Jivas Jiva being the doer of these karmas influx Pudgalkarmas or Dravyakarmas Vyavahara Naya says that Jiva is doer of Dravyakarmas but in reality it is the agent of its own bhavas Vedanta considers the whole universe as one spiritual brahama but Jainism asserts different units of Jivas Unlike Charvaka which declares that the universe is made up of matter only, it holds the view that universe has Jiva and Matter both They act and react and a constant state of activity is going on Sankhyas believe Purusha as indifferent or inactive where as Jain philosophy confirms Jiva as an agent or doer of actions

4 *Swadehaparimana*

According to Vyavahara Naya the conscious Jiva becomes equal in extent to a small or large body by contraction or expansion, but, according to Nischaya Naya, it is existent in innumerable pradeshas A soul can occupy the space represented by ant or elephant or mahamachha found in the greatest ocean Svayambhuramana It may also occupy the body of Nigodas As the gases like oxygen or hydrogen fill up the whole of the space within different jaras of different capacities So is the case with Jivas Tatvartha Sutram also confirms this principal

> Pradesh samhara visarpabhyam pradipvat
>
> —Tatvarth Sutram 5-16

5 *Bhokta*

Jiva enjoys misery and happiness, according to Vyavahara Naya According to Nischaya Naya Jiva enjoys concious Bhavas only Broadly Jiva has the thinking and action in terms of attachment and aversion Due to this, these states of Jivas, there is influ of matter in them Jiva has to undergo misery or happiness as the fruits of pudgal-karmas As Jiva is an agent or doer of actions, it has to assimilate karmas These karmas maintain a series of Sata (happiness) or Asata (misery) for coming incarnations The fact that Atma is Karta and Bhokta refutes the doctrine of the Buddhistic philosophy that an agent does not enjoy the fruits of karmas

In this world we see that 'A' is happy and 'B' is unhappy 'A' is rich whereas 'B' is poor 'A' is healthy and 'B' is unhealthy, why ? Jainism gives satisfactory answer to these questions The proverb, "As you sow, so shall you reap" or Jo jas karahu so tas phal chakha (Tulsidass) gives the proper reply Every soul in the course of evolution is knower, enjoyer and the acter-jñata, Bhokta and karta In Sankhya school purusha as a chetana entity is knower and enjover But he is not karta Prakriti (pudal) is considered karta Jain thinkers object to this view They say if purusha is non-active (Akarta) how can be become bhokta (enjover) of actions carried out by some other agency Hence the tripolar declaration (jñata, karta and bhokta) of Jain school solves all such problems

6 *Samsarasth*

Jiva or soul is mainly of two kinds—Samsara Jiva and Moksha Jiva The soul with Karmic bondage is Samsari Jiva It has to adopt the cycle of birth and rebirth It has to take birth in four gatis or classes The chaturgati Bhraman-cycle is subject to birth and death This cycle is called Samsara i e "Samsarnam Sansarah" "Each samsaric soul is born with a body and continues to live as embodied soul subject to growth, old age, decay and death, when it has to quit its body in search of another body, it acquires another body consistent with and determined by its own karmic conditions This Samsara Jiva associated with its own corporeal existence is considered to be uncreated and therefore beginningless For the Jaina meta-physician Sansar is Anadi Other schools of Indian thought agree in this particular point that Samsara is Anadi" *

7 *Siddha*

When the soul destroys eight karmas by constant Tapa and Nirjara, it becomes free from karmic bondage It attains intrinsic purity This perfect self attains a state of existence which is permanent, immutable and incomparable A siddha has nothing to do with the cycle of Samsara Moksha is a state of perfect liberation, peace and bliss



Swami Samantbhadra defines Moksha —

> Janam jara bhaya marnaer shokaer dukhaer Bhayaeschparimuktam
> Nirvanam Shuddhsukhi, Nihshreyasmishyate nityam
>
> —Ratnakarand Sharavakachara 6-131

Mukta Jeevas enjoy four infinities—Anant Jñana, Anant Darshan, Anant Sukh and Anant-virya and enjoy them for ever The following verse describes that every Mukta Jiva enjoys and will enjoy absolute self with four infinites

---

* [illegible]

Jiva with the object is called, pratyaksha Sense perception or mediate knowledge is paroksha Avadhi Manah-parya and kevaljñan are pratyaksha and Mati and Srutajñana are paroksha

Charvaka-view accepts sense perception as pratyaksha and gives maximum importance to sense perception, Jain view stands against it The nyaya system recognises the difference between a quality and the possessor of a quality but by saying that Jiva consists of a quality Upayoga which is made up of Jñana and Darshan, the theory of nyaya is upset

According to Vyavahara Naya the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jñana and four kinds of Darshana But according to Shuddha Naya pure Jñana and Darshan are the characteristics of Jiva

2 *Amurta*

Jiva in its natural or real state is invisible When the soul is attacked by passians, desires etc it takes on the Karmic material fit for the bondage of Karmas The Karmic materical mixes with the soul as milk mixes withwater or fire with iron Due to karmic material the Jiva becomes Samesari and it has to travel in to four Gatis When the soul becomes free from karmic bondage it attains complete liberation or Moksha According to Vyavahara Naya the Jiva is Murta or with karmic form and it is Amurta according to Nischaya Naya, i e without karmic bondage It has no colour, taste, smell or touch

3 *Karta*

According to Vyavahara Naya Jiva is the doer of Pudgalkarmas According to Nischaya Naya, Jiva is the doer of Bhava-karmas And according to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas

> Puggalakammadinam katta vavaharado du nichchayado
> Chedana kammanada Shuddhanaya Suddhabbhavanam
>
> —Dravya-Samgraha 1-8

Anger, pride, attachment, aversion etc are the bhava-karmas of Jivas Jiva being the doer of these karmas influx Pudgalkarmas or Dravyakarmas Vyavahara Naya says that Jiva is doer of Dravyakarmas but in reality it is the agent of its own bhavas Vedanta considers the whole universe as one spiritual brahama but Jainism asserts different units of Jivas Unlike Charvaka which declares that the universe is made up of matter only, it holds the view that universe has Jiva and Matter both They act and react and a constant state of activity is going on Sankhyas believe Purusha as indifferent or inactive where as Jain philosophy confirms Jiva as an agent or doer of actions

4 *Swadchaparimana*

According to Vyavahara Naya the conscious Jiva becomes equal in extent to a small or large body by contraction or expansion, but, according to Nischaya Naya, it is existent in innumerable pradeshas A soul can occupy the space represented by ant or elephant or mahamachha found in the greatest ocean Svavambhuramana It may also occupy the body of Nigodas As the gases like oxygen or hydrogen fill up the whole of the space within different jaras of different capacities So is the case with Jivas Tatvartha Sutram also confirms this principal

> Pradesh samhara visarpabhyam pradipvat
>
> —Tatvarth Sutram 5-16

Vidyadarshan shakti swasthya prahlad trapti sudhi yujah
Nirati shaya nirvadhyo, Nihshreyasamavasanti sukham

—Ratnakarand Shravakachara 6-132

Every mukta Jiva like purest form of gold possesses the magnificance and radiance of its auspicious soul

8 *Urdhvagami*

A Jiva which destroys karmic fatters becomes liberated It goes upward, right vertically to the end of Loka or universe

Tadanantaamurddham gachhatya lokantat

—Tatvarthasutram, 10-5

Being void of eight Karmas a Jiva finds eight qualities in it They are Samyaktva, Jñana, Darshan, Virya, Sukshma, Avagahena, Aurulaghu and Avyavadha corresponding to the destruction of Mohaniya Jñanavaran, Darshanavarana, Antaraya, Nama, Aayu, Gotra and Vedaniya Karma

The upward motion of a Jiva is due to four considerations 1) Purvaprayogata—like a potter's wheel, 2) Asangatvat—like an empty gourd coated with clay, 3) Bandhachchadat—like the castor-been, 4) Tathagatiparinamat—due to the soul's nature to go upwards, like the flames of fire Because of the non-existence of Dharmastikaya or the medium of motion the soul does not rise higher than the extreme limit to Loka or universe All Siddha Jivas enjoy four infinites individually in Siddhaloka This refutes the doctrine of vedanta which accepts one supreme being and other souls being part of it

Stages of Atma

With the development or decrease of Ratnatraya i e Right belief, Right knowledge and Right conduct, the soul has three stages

1 **Bahiratma** —The soul which accepts his body as soul It does not believe in good or bad deeds, punya or paap The lack of self-confidence and right knowledge leads a Jiva to the circle of chaturgatis

2 **Antaratma** —Antaratma is he who has faith in himself, who wants to attain salvation Antaratmas are of three types

(A) Uttamantaratma is he who has won over emotions, passions, avarice etc who has full faith in four infinites, who completely follows the principle of non-possessiveness and owns twenty-eight Moolgunas

(B) Madhyama Antaratma is he who has faith in Ratnatraya and follows five Anuvratas He is called Deshvrati Due to the chhayopsama Mohaniya-Karma he cannot attain full conduct (purna charitra) like uttamantaratma

(C) *Jaghanya Antaratma* —It is also a laity or householder like Madhyama Antaratma He does not observe any vow Thus he is Abrati Still he has faith in his soul and strives for salvation without renouncing the social responsibilities

3 Paramatma—is of two types Sakal and Nikal Parmatma

(A) Sakal Parmatma —At the end of twelvth gunasthana the aspirant destroys other ghati karmas and attains four infinites This stage is known as Sayog kevali because the activity of mind, speech and body continues A Sakal Paramatma is called 'Arhat'

(B) Nikal Paramatma —This is the highest stage of the soul Here the soul is free from the bondage of Aghati Karmas The soul being free from karmic bondage rests on the Siddhshila Nikal Parmatma is the perfect self-enjoying Anant Chatustaya

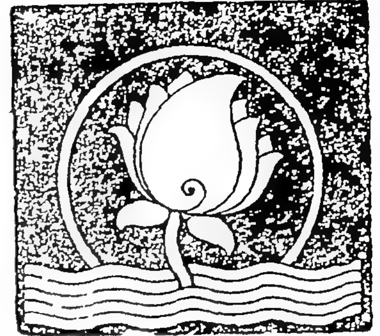
Conclusion

The chaos and the confusion in the present world is all due to the ignorance about the essential qualities and characteristics of the soul and the knowledge and faith that flow therefrom The realisation of the self is the only penacea for the solution of the crisis of confidence and collapse of national character "Live and let live" as preached by Mahavira and other great saints can be possible only when the individuals realize that their soul is akin to other souls and all are striving for perfection The dreams of saints will become null and void and the who'e universe will be thrown in to the abyss of universal destruction if we throw compassion, mercy, non-violence, peace and love—the true attributes for a happy life—over board



THE BUDDHIST CONCEPT OF VINNANA

Prof P CHANDPA
University of Saugar



Viññāna (variously translated as consciousness, congnition and intellect) is one of the most significant Buddhist concepts Few others have attracted an equal amount of attention from the editors of the Pali Canon This term has been used in a wide variety of meanings and contexts and no accuracy seems ever to have been maintained in this respect Is it necessary, or even probable, that all the different imports of this word were prevalent at the same time ? The Buddhist Canon, as is now almost universally accepted, was not produced at one time There are discernible in it many strata of antiquity Perhaps some ideas were peculiar to the earlier strata while others characterize the developed stage *Viññāna* is one of those few important ideas which seem to have been common to all the stages of the Canon's development This can only mean that this particular concept must have had a process of growth all of its own If it is true that there are earlier and latter strata in the Pali record and that *viññāna* is referred to in both, a mere change of centext would necessitate a change of meaning

It is not intended here to take up the whole complicated issue of a sound and acceptable criterion for ascertaining the relative antiquity of Buddhist ideas This problem has been us for a long time already, and we are not much nearer its solution Here, we can at best try to discover why some meenings of the term *viññāna* should be considered earlier then the others And this can be done only in general term, on the basis of widely accepted tenets Going into the merits and the details of the arguments, however, would be out of the scope of the present paper

There are some considerations that may help us in this search We have been told by generations of anthropologists that some form of animism-the belief that there is something within every living body which enlivens it—characterized all early religious thought Questions based on this belief are found in as late a Buddhist work as the *Milinda-pañho* [1] Similarly, there is little difference of opinion that there was a tendency towards a dualistic analysis of the human personality in almost all the earlier speculations on man Dualism, it is said, comes naturally to a beginner in the field of philosophy Finally, the movement of the thought-process is usually considered to have been from simple to complex, from homogenous, less exhaustive and less dogmatic to heterogenous, all-comprehensive and rigidly dogmatic

---

1 *The Questions of King Milinda*, SBE vol 35, by T W Rhys Davids 1890, pp 86 ff, vol 36, pp 85-86, where water is held alive

By a combined application of these ideas, we can discern two different connotations of the concept of *Viññāna* One occurs in an evidently dualistic analysis of the personality, with clearly animistic overtones and without the scholastic acumen usually found in the Pali texts The other finds a place in the oft-repeated analyses of personality which are pluralistic in approach, free of animism and fairly critical and dogmatic As Dr E J Thomas has observed, "The Buddhist conception of the individual, the person consisting of a material and immaterial part, is a quite definite theory, which at first appears without any polemics "[1] However, to quote him again, "It was the analysis into khandhas which became the established form for the analysis of the individual, underwent further elaboration and comment "[2]

According to Rhys Davids and Stede, the ecclesiastical dogmatic considers *viññāna* under the categories of (a) *khandha*, (b) *dhātu*, (c) *paticca-samuppāda* (d) *āhāra* (e) *kāya*[3] Now, it can hardly be doubted that such a thorough and exhaustive analysis could not have been the work of the earliest Buddhist monks It apparently presupposes some development in acumen and much deliberation on the part of its propounders Earlier under the same entry the two scholars inform us that *viññāna* among other things meant "a mental quality as a constituent of individuality the bearer of (individual) life life-force (as extending over rebirths), principle of conscious life, general consciousness (as functions of mind *and* matter) regenerative force, animation, mind as transforming (according to individual *kamma*) one individual life (after death) into the next " All these epithets fit only that conception of *viññāna* which we have considered to be the earlier one

The editors of the Pali Canon manifestly made no attempt to keep the two levels separate and distinct In fact, we find both the dualistic and the scholastic analysis running side by side in the whole Canon It is not uncommon to find that what almost looks like a problem needing interpretation when confined to one level becomes quite apparent the moment we take into consideration the other level also An attempt to discern the two levels of antiquity in the use of this particular concept, therefore, would not be wholly unwarranted However, we propose to confine ourselves to what we consider the early use, and to the reasons for considering it so

II

Let us begin with the frequently recurring phrase, 'body-with consciousness' (*sa-viññānaka-kāya*[4] It was obviously a way of pairing body and consciousness dualistically, and is almost equivalent to our modern way of speaking in terms of body-and-soul It is plain that *viññāna*, when thus used, must include all the mental or spiritual contents of the personality Here it combines those attributes of personality which cannot be grouped under body or physical constituents At one place, however, the term *saññā* replaces *viññāna* In the *Samyuttā-Nikāya*, the Buddha tells *devaputta* Rohitassa that the ill was in this 'fathom-long carcase with its impressions and ideas, *(Vyāmamatte kalevare saññimhi)*[5] Nevertheless, no change in the meaning is warranted by the context The point of emphasis is their being non-material That *viññāna* or *saññā* are not to be confused with the factors of existence of



1 *History of Buddhist Thought*, 1933, p 96

2 *Ibid* p 97

3 PTS Pali-English Dictionary, qv

4 S N , ii, 253, iii, 80, 169, *A N.*, i, 132, iv, 53 etc

5 i, 62



the same name, should also be quite plain In the standard and detailed analysis of the personality, it is never admitted that any one of the four non-material factors could replace the other three All the four are on the same plane When one of them assumes the role of all, as here, the conclusion is forced on us that we are dealing not only with two different meanings, but also with two levels of antiquity Such basic change of import is hardly understandable otherwise

Almost the same thing can be said about the often-repeated phrase to which Oldenberg has referred [1] 'This is my body, the material, framed out of the four elements, begotten by my father and mother but that is my consciousness *(viññāna)*, which clings firmly there to, is joined to it ' This way hardly differs from the common man's understanding of the subject There is nothing specifically Buddhistic in it Dr Thomas believes that, "Either we have here a more rudimentary analysis, or the sensations and thoughts are implicit in consciousness "[2] That is rudimentary is borne out by its nearness to the dualistic mode of thinking, and if it is dualistic, then all the mental attributes are bound to be implicit in consciousness

III

If consciousness is synthetically attached to the body, without any way forming a part of it, it can be imagined that, if transmigration were accepted in the earlier strata of Buddhist thought, it would be left for consciousness to accomplish it In other words, as the body cannot move from existence to existence, and as its destruction was visible to everyone, it certainly could not help in perpetuating the chain of existence Consciousness, as we saw above, combines in itself all the spiritual functions, and hence if there is to be a moving on, it would be the moving on of the consciousness And that is exactly what we find Transmigration was accepted in Buddhism from the very beginning, and there are many passages which directly point towards *viññāna* when the need of finding out the link between two lives was felt We are referring to the passages that talk about the "*descent*" into the mother's womb to form another name-and-shape Foremost among such passages is the *Mahānidāna Sutta* of the *Dīgha-Nikāya* The Buddha is explaining the links of the causal chain to Ananda In what way does the *viññāna* cause the comming about of *nām-rūpa* (name-and-shape) ? "If *viññāna* were not to descend (okl amissatha) into the mother's womb, would *nāma-rūpa* take form therein ?" He asks In order to bring about new person, nothing short of the descent of consciouseness into a new womb is needed Further, if the *viññāna* become extinct after the descent the new person would not take birth Consciousness is not only responsible for the origin of a new personality, it has to foster it into full growth as well [3] This passage eludes all explanation unless some sort of a belief in animism is presumed on the part of early Buddhism The very idiom is based on a prior acceptance of a living principle inside the body which moves on to form another person And here also, it is difficult to see how consciousness could have been used in the sense it is used in the five-factor analysis As we saw in the passage quoted ealier, the body is what is brought about by father and mother, but the consciousness comes from outside and joins it

The way the Buddha mentions the desent in a *Samyutta* passage is interesting inasmuch as the Buddha, instead of offering it as an explanation, takes for granted as an established fact

1 *Buddha His Life, His Doctrine, His Order*, Tr by W Hoey, 1882, p 253
2 *op cit* , p 95
3 *D N* , ii, 63, *D B* , ii, 60

the moving of a particular *viññāṇa* Explaining *jāti* (birth), he says, 'That which of this and that being in this or that group, is birth, continuous birth, descent (*okkanti*), reproduction, appearance of component factors, acquiring of sense-spheres '[1] The Buddha does not speak as if he was saying something new, as was the case in the Mahānidāna passage Here he is talking of an established fact Latter,[2] we are told that the *viññāṇa* descends in the case of those who are given to sense-pleasures, and thus it causes *nāma-rūpa*, causing the perpetuation of the chain of misery

An *Anguttara* passage[3] has even greater animist contents "Based on the six elements monk's there is descent into the womb (*gabbhassāvakkanti*) This descent taking place name-and-shape come to pass " The six elements are earth water air space and consciousness The human body is generally to consist of the first four elements[4] Space and consciousness, in other words, along with the elements constituting the body cause the perpetuation of the chain of existence In the earlier passages, the four elements play no part in the descent But in what way the elements act, and what it is which specified

"The animistic implication adhering to this term (i e descent *okkamissatha*) would of course, have no significance for Buddhist doctrine we are assured ' Says Keith, ' but the assurance appears to beg the question ' According to him ' The phrase 'descent of the consciousness' certainly implies a continuity of consciousness between the old and the new lives, and it may imply that this consciousness was accompanied by some form of body if we take the word 'descent' literally,[5] Nyanatiloka however experiences no difficulty in accepting descent, and he even considers it to be evidence for the Buddha's belief in three successive lives[6] All the same, Keith appears to be correct in concluding that the animistic implication here would be 'that there is a continuity of consciousness, which the Buddha seems frankly to admit Dr Thomas sees in this statement a refutation of the view that it was only *karma* which transmigrated For him, too, the descent is quite real, and definitely from outside[7]

The one notable feature of all these passages is the fact that *viññāṇa* is shown to move on in some sense This is what might have prompted Pischel to equate *viññāṇa* with the *lingaśarīra* of Sānkhya-Yoga[8] Consciousness must have been conceived in some extra-mental sense, because ideas cannot descend The process of rebirth here looks like transmigration pure and simple

IV

That the *viññāṇa* was held to be visible in some way is borne out by some other passages also The *Samyutta-Nikaya* reports two cases of suicide committed by monks who were already free of the *āsavas*, that is, were liberated After this happening, the Buddha



1 *K S* , ii, 3, *S N* , ii, 13
2 *S N* , ii, 91
3 *A N* , i, 176, *G S* , i, 160
4 E g , at *D N* , i, 76, *S,N* , i, 15
5 *Buddhist Philosophy in India and Ceylon*, 1923, p 80
6 *Guide Through the Abhidharma Pitaka*, 1938, p 141
7 *op cit* , p 105
8 Quoted by Thomas, E J in *The Life of Buddha*, 1927, p 193-4



along with some disciples visited the scene—to find the *Māra* in the shape of a smoky cloud, going in all directions to find out where the *viññāna* of the deceased had established itself (*patitthan*) As it was established nowhere, the deceased being a liberated person, he failed to find it [1] It is no use arguing that the Buddha migt have been speaking in figurative terms The physical reference is only to obvious And here, as earlier, the *viññāna* cannot be treated in the limited sense of being one of the four non-material *khandhas* It quite plainly represents the life itself The *Māra*, in fact, is the power that maintains the cycle of rebirths His failing to find somebody's consciousness means his inability to keep that person in the chain of rebirths And how does he come to lose his hold upon a particular individual ? Through that individual's succeeding in eradicating the fetters, and thus rendering the *viññāna* untraceable And an untraceable entity cannot descend into a new womb It has been asserted by Rhys Davids[2] and Childers that it was not any part of the personality that transmigrated but the individual's karma However, the authors of this argument appear to have already decided against the possibility of the transmigration of the living principle, because they did find the transmigration of the soul maintained in the *Pali* Canon, and they had to ascribe rebirth to something In the opinion Dr Thomas, 'no envidence has ever been given for this views [3]

V

It appears that *nāma rūpa* was another way of describing the personality dualistically After an animistic descent in the womb, the *viññāṇa* caused the arising of the *nāma-rūpa* complex Now what is *nāma rūpa* ? Sāriputta explains in the *Sammā-ditthi Sutta* by equating the *nama* with the mental attributes, *vedanā*, *saññā*, *cetanā*, *phassa*, and *manasikāra* (feeling, perception volition, contact, and attention respectively), and *rūpa* with the four great elements [4] This is good evidence of the fact that whatever the standard analysis of the person later became this dualistic interpretation was part of early Buddhism *Viññāna* is related to the two in the same way in which a transmigrating soul is related to the newly-created being in the popular terminology The soul causes the coming into being of a new person, but it never leaves the new person as long as he is alive Probably in the same way, *viññāna* also caused a new *nāma-rūpa*, but stayed in it in the form of the mental attributes Although *viññāna* was not equated with the *nāma*, it would not be unreasonable to suppose them denoting the same object, because the early Buddhists evidently realized the distinction between mental and physical, *viññāna* has elsewhere been indentified with the mental factors Thomas also considers *nāma-rūpa* to have been adopted from popular usage, which failed to become the standard form for the analysis of the individual [5]

VI

Nibbāna or liberation affected the *viññāna* in an inexplicable manner It was certainly not annihilated, but it became untraceable This has been told in many passages describing many happenings As we saw above, in the case of the suicidas, the *viññāna* became untraceable even to the *Māra* Two more instance are now dealt with

1 S N , i, 122 and iii, 124

2 *Hibbert Lecture*, 1881, 4th ed 1906, p 92

3 *op cit* p 105

4 [illegible] i, 53

5 [illegible] p 97

In the *Brahma-jāla Sutta*, we are told that after winning the truth, the *Tathagata's* body *(kāya)* remains but that which binds him to rebirth is no more *(ucchinna-bhava-nettiko)* [1] He would become untraceable after death Now, what is *bhava-netti ko* ? And what is that which would become untraceable after death ? Obviously, not the body, but some other factor which must have been there along with the body and on which depended the future becoming That factor could only be the mental constituent, or *viññāna* although is has not been specified in as many words *Alagaddūpam Sutta* is more clear "When his (a monk's) heart is thus delivered, not Indra or Brahma or Pajāpati with all their trains, can succeed in tracking down aught on which depends a truth-finder s consciousness And why ?—Because, say I, already, here and now, the truth-finder is untraceable "[2] Both these passages clearly define the role *viññāna* plays in transmigration As long as something is left on which a person's *viññāna* could depend, in other words, as long as there are ignorance cravings and the *āsavas* present in him—he cannot be liberated After death such a person s consciousness fall under the sway of the *Māra* which means that it will move on to inhabit another womb But if that person has conquered the fetters his conciousness will have no support, and will thus be in a condition immune from the unpleasant liability to move on

That the consciousness can persists only through depending on some object appears to have been clearly recognized in the Canon Thus, in *Samyutta-Nikāya*, we learn that it is volition which furnishes a station for the consciousness, thus enabling it to grow and bring about the perpetuation of the series of suffering [3] There is no rebirth if the consciousness is refused a standing space Similarly, at another place, the factors of body perception, feeling and predispositions are declared to be the home of consciousness, and thus the latter becomes a "home-haunter" [4] This can only suggest that at least some considered conciousness to be more fundamental than the other factors Does it mean that there were two levels even among the five factors ? It is declared later that it was through attachment to body and the *sankhkhāras* (predispositions) that the *viññāna* persisted There could be no coming or going, or the decease or the rebirth of conciousness, without the other four factors By abandoning lust for these four, one cuts off the platform for consciousness, and rebirth is no more [5] Almost the same idea is put forward in the *Anguttara*[6] where *viññāna* is compared to a seed sown in the field of *karma*, which is fostered by the moisture of craving, and thus brings about rebirth

It appears that all the passages where *viññāna* is coupled with body dualistically, or is treated as more fundamental than the other factors, or finally, is assigned a key role in the transmigration, should be considered as hinting at an earlier stratum of Buddhist teaching The developed scholastic doctrine has assuredly none of these characteristics No matter how intermingled these two currents are in the Canon, they can be sorted out by close examination But this should not be understood as a denial of the modifications affected by the Buddhist monks in the somewhat naive and uncritical concept of *viññāna* Passages suggesting such transformations are many



---

1 D N , i, 46

2 M N , i, 140, Furth, Dial , i, 98-9

3 *'ārammane sati patitthā viññānassa hoti, tasmim patitthe viññāne virūlhe āyatim punabbhavābhinibbatti hoti '* S N , ii, 65

4 *'rūpadhātu kho gahapati viññānassa oko'* ete S N , iii, 9 K S iii, 11

5 S N , iii, 53

6 A N , i, 233



along with some disciples visited the scene—to find the *Māra* in the shape of a [illegible] cloud going in all directions to find out where the *viññāṇa* of the deceased had established itself (*patiṭṭhan*) As it was established nowhere the deceased being a liberated person, he failed to find it [1] It is no use arguing that the Buddha might have been speaking in figurative terms The physical reference is only too obvious And here, as earlier, the *viññāṇa* cannot be treated in the limited sense of being one of the four non-material *khandhas* It quite plainly represents the life itself The *Māra*, in fact is the power that maintains the cycle of rebirths His failing to find somebody's consciousness means his inability to keep that person in the chain of rebirths And how does he come to lose his hold upon a particular individual Through that individual's succeeding in eradicating the fetters and thereby rendering the *viññāṇa* untraceable And an untraceable entity cannot descend into a new womb It has been asserted by Rhys Davids[2] and Childers that it was not any part of the personality that transmigrated but the individual's karma However, the authors of this argument appear to have already decided against the possibility of the transmigration of the living principle because they did find the transmigration of the soul maintained in the *Pali* Canon, and they had to ascribe rebirth to something In the opinion Dr Thomas, 'no evidence has ever been given for this view' [3]

V

It appears that *nāma rūpa* was another way of describing the personality dualistically After an animistic descent in the womb, the *viññāna* caused the arising of the *nāma-rūpa* complex Now what is *nāma rūpa* ? Sāriputta explains in the *Sammā diṭṭhi Sutta* by equating the *nama* with the mental attributes, *vedanā, saññā, cetanā phassa*, and *manasikāra* (feeling, perception, volition, contact, and attention respectively), and *rūpa* with the four great elements [1] This is good evidence of the fact that whatever the standard analysis of the person later became this dualistic interpretation was part of early Buddhism *Viññāna* is related to the two in the same way in which a transmigrating soul is related to the newly-created being in the popular terminology The soul causes the coming into being of a new person but it never leaves the new person as long as he is alive Probably in the same way, *viññāna* also caused a new *nāma-rūpa*, but stayed in it in the form of the mental attributes Although *viññāna* was not equated with the *nāma*, it would not be unreasonable to suppose them denoting the same object, because the early Buddhists evidently realized the distinction between mental and physical, *viññāna* has elsewhere been indentified with the mental factors Thomas also considers *nāma-rūpa* to have been adopted from popular usage, which failed to become the standard form for the analysis of the individual [5]

VI

Nibbāna or liberation affected the *viññāna* in an inexplicable manner It was certainly nor annihilated, but it became untraceable This has been told in many passages describing many happenings As we saw above, in the case of the suicidas, the *viññāna* became untraceable even to the *Māra* Two more instance are now dealt with

---

1 S N , i, 122 and iii, 124

2 *Hibbert Lectures*, 1881, 4th ed 1906, p 92

3 *op cit* , p 105

M N , i, 53

op cit , p 97

In the *Brahma-jāla Sutta*, we are told that after winning the truth, the *Tathagata's* body *(kāya)* remains but that which binds him to rebirth is no more *(ucchinna-bhava-nettiko)* [1] He would become untraceable after death Now, what is *bhava-netiko*? And what is that which would become untraceable after death? Obviously not the body, but some other factor which must have been there along with the body and on which depended the future becoming That factor could only be the mental constituent or *viññāna* although is has not been specified in as many words *Alagaddūpam Sutta* is more clear "When his (a monk's) heart is thus delivered, not Indra or Brahma or Pajāpati with all their trains, can succeed in tracking down aught on which depends a truth-finder's consciousness And why — Because, say I, already, here and now, the truth-finder is untraceable' [2] Both these passages clearly define the role *viññāna* plays in transmigration As long as something is left on which a person's *viññāna* could depand, in other words, as long as there are ignorance, cravings and the *āsavas* present in him — he cannot be liberated After death, such a person's consciousness fall under they sway of the *Māra*, which means that it will move on to inhabit another womb But if that person has conquered the fetters his conciousness will have no support, and will thus be in a condition immune from the unpleasant liability to move on

That the consciousness can persists only through depending on some object appears to have been clearly recognized in the Canon Thus, in *Samyutta-Nikāya*, we learn that it is volition which furnishes a station for the consciousness, thus enabling it to grow and bring about the perpetuation of the series of suffering [3] There is no rebirth if the consciousness is refused a standing space Similarly, at another place, the factors of body perception, feeling and predispositions are declared to be the home of consciousness, and thus the latter becomes a "home-haunter" [4] This can only suggest that at least some considered conciousness to be more fundamental than the other factors Does it mean that there were two levels even among the five factors? It is declared later that it was through attachment to body and the *sankkhāras* (predispositions) that the *viññāna* persisted There could be no coming or going, or the decease or the rebirth of conciousness, without the other four factors By abandoning lust for these four, one cuts off the platform for consciousness, and rebirth is no more [5] Almost the same idea is put forward in the *Anguttara*[6] where *viññāna* is compared to a seed sown in the field of *karma*, which is fostered by the moisture of craving, and thus brings about rebirth

It appears that all the passages where *viññāna* is coupled with body dualistically, or is treated as more fundamental than the other factors, or finally, is assigned a key role in the transmigration, should be considered as hinting at an earlier stratum of Buddhist teaching The developed scholastic doctrine has assuredly none of these characteristics No matter how intermingled these two currents are in the Canon, they can be sorted out by close examination But this should not be understood as a denial of the modifications affected by the Buddhist monks in the somewhat naive and uncritical concept of *viññāna* Passages suggesting such transformations are many



---

1 D N, i, 46
2 M N, i, 140, Furth, Dial, i, 98-9
3 *'ārammane sati patiṭṭha viññānassa hoti, tasmim patiṭṭhe viññāne virūlhe āyatim punabbhavābhinibbatti hoti'* S N, ii, 65
4 *'rūpadhātu kho gahapati viññānassa oko'* ete S N, iii, 9 K S iii, 11
5 S N, iii, 53
6 A N, i, 233

VII

The special characteristic of Buddhist thought was its thorough and relentless emphasis on the facts of change, movement and becoming These were, in fact, some of the points on which early Buddhism broke away from contemporary thinking Oldenberg has correctly remarked that, 'We must here divest ourselves of all customary modes of thinking Here as everywhere it (i e Buddhism) condemns that fixity which we are prone to give to the current of incidents that come and go by conceiving a substance to in which they might happen '[1] It would be out of place here to go into the details of this point, but this much can certainly be said that of all the current ideas accepted by early Buddhism, not one remained unaffected by the dynmic point of view The concept of *viññāna* could hardly have been an exception

First let us examine the use of *viññāna* as an *āhāra* (sustenance) and see to what extent this usage is free of the standpoint of being On being asked, 'Who feeds on consciousness-sustenance ?' The Buddha replied, 'Not a fit question ' The possible reason for saying so could only have been his refusal to deal in terms of being, as is evident from the answer he actually did give The proper question, according to him would be 'of what' and not 'who', and the answer would be 'consciousness-sustenance is the cause of renewed becoming, of rebirth in future '[2] Mark the basic shift in the emphasis It is difficult to believe that the same text that talked of *descent and of untraceability* of conciousness at one place, could talk in these rigidly causal and dynamic terms unless the two passages were of different date

The best example of the manner in which *viññāna* underwent transformation to suit the doctrine of becoming is found in the passage dealing with Sāti s heresy The monk Sāti entertained the view that consciousness runs on and continues without break of identity *(viññānam sandhāvati samsarati, anaññan ti)* [3] When the Buddha asked him to define *viññāna* he said that he meant by it 'that speaking and sentient (self) which experiences the ripened fruits of good or bad conduct in this or that earlier existence ' It is plain that Sāti is quite near the popular conception of the living principle, and even some Jain ideas can here be discerned The Buddha replied, 'Have I not foolish man, laid it down in many a figure that consciousness only arises by causation and that, without assiganable conditions, consciousness does not come about ?' Further, the Buddha explained that whatever form of conciousness arises from an assignable condition is known by that condition's name

It hardly needs very great understanding of Buddhism to discover that what the Buddha was denying was not the fact of the movement of conciousness, but that it moves on unchanged In fact, movement was part and parcel of early Buddhism Only fixity or changelessness came into conflict with this philosophy of change As Keith has observed, "Now the chain of causation explains clearly enough the posssibility of change in consciousness, for it does not contemplate an autonomous consciousness, which, of course, adequately shows that there is alteration "[4]

The *Milinda-Panho* seems to carry this point of view further The king asked, "Where there is no transmigration *(sañkamana)*, Naga-sena, can there be rebirth *(patisandahati)* ?"

---

1 *op cit* , 253

2 *K S* , ii, 9

3 *M N* , i, 256, Furth, Dial , i, 184

4 *op cit* , p 79

Nagasena declares that there could be, just as one lamp can be lighted from another, or a pupil can learn a verse from his teacher [1] In both these cases, one thing or person is causing something in another, without any actual movement No descent is here spoken of

That the Buddha was teaching a new doctrine is clearly hinted by the force and vehemence that he used against the popular conception, represented by Sāti Could it be that the Buddha and Sāti were talking of two different objects ? What we learn about the arising and naming of consciousness here would lead us to believe that it is fallacious to talk about the consciousness , as we do when we refer to descent or even to untraceability We should speak only of so many consciousnessess, each produced by and named after a particular sensefaculty How shall we reconcile these apparently incompatible ideas ? There is at least some possibility that at some earlier stage in his carear, the Buddha did accept *viññāna* in the then current sense Sāti must have concluded that if the Buddha had gone to that extent in agreeing with contemporary thought, he would go all the way Whatever, it may be, it does not seem that the same stratum of ideas is reflected in the earlier passages and the present one

A NOTE ON ABBREVIATIONS AND REFERENCES .

D N	Dīgha-Nikāya, Edited by Rhys Davids and Carpenter, 1890, reprinted 1932, in three volumes
D B	Dialogues of the Buddha, Tr by T W Rhys Davids and C A F Rhys Davids, in three volumes, SBB vols 2, 3, 4
M N	Majjhima-Nikāya, Edited by V Trenckner and Lord Chalmers, in three volumes, reprinted 1935
Furth Dial	Further dialogues of the Buddha, Tr by Lord Chalmers 1926
S N	Samyutta-Nikāya, Edited by L Feer in five volums, reprinted 1932
K S	The Book of the Kindred Sayings, Tr in five volumes by Mr Rhys Davids and F L Woodward, 1917-1930
A N	Anguttara-Nikāya, Ed by R Morris and E Hardy, in five volumes, 1885-1900
G S	The Book of the Gradual Sayings, Tr by F L Woodward and E M Hare, 1932-1936



1 op cit , vol 35, p 111

THE PLACE OF YAKSHA IN ANCIENT DEMONOLOGY

R N MISRA
Saugar University



Yakshas have been variously designated, sometimes broadly and sometimes specifically, for instance *punyajana*,[1] *vaisravanakāyika devas*,[2] *amanussā*,[3] *vānamantara gods*[4] *bhummadevas*[5] or *rukkha-devas*[6] This group of words indicates that Yakshas formed a kindred group *deva-jāti* (*Amarakosa* I 1 6) along with other various gods such as deva Yaksha, Nāga Gandharva, Apsaras, Asura, Kinnara, Suparna, Siddha, Sādhya and Vidyādharas[7] Some of these are older as demi-gods than Yakshas It would be interesting to study how the Yakshas may have derived some of their characteristics from them The Yakshas shared characteristics with the Gandharvas in so far as they liked fragrance[8] They both were the fertility deities and granted

---

1 *Atharvaveda*, VIII 10 28 (*Itarajana* in the *Paippalāda* version) *Mahābhārata* XVIII 4 18

2 *Bhagavatī Sūtra*, III 7 167 p 406

3 *Vinaya Piṭaka*, I 277 D I 116, S I 91 *amanussa* is a Yakkha, a spirit, a ghost The commentary explains that "they are either Yakkhas or men, who, having departed, desire to return" cf *Vinaya Piṭaka*, I p 147 note 2 According to the *Pali English Dictionary*, *amanussa* is "not human being (but not a sublime god either), a being half-deified and of great power as regards influencing people (partly helpful partly hurtful)

4 *Uttarādhyayana Sūtra*, 36 206 Jacobi or *Vyantara devatā* cf *Tattvārtha Sūtra* IV 1-12 which enumerates four orders of gods of Jaina pantheon, namely *bhavanavāsi*, *vyantara*, *Jyotishka* and *vaimānika* and each of these four classes has ten grades, *viz*, *Indra*, *Sāmānika*, *Trāyastrimsa*, *Pārishada*, *Ātmarakshа*, *Lokpāla*, *Anīka*, *Prakīrnaka* *Ābhiyogya and Kilvishaka* The gods of the Vyantara region are Kinnara, Kimpurusha, Mahoraga, Gandharava, Yaksha, Rākshasa, Bhūta and Pisāca All these seven classes of Vyantara gods except Rākshasa live in the uppermost stratum of the first earth *ratnaprabha*

5 *Dīgha Nikaya*, II 254-257 The word includes other demi-gods such as Naga, Supanna, Yakkha, Asura and Gandharva

6 *Petavatthu*, II 9 Cf also Coomaraswamy *Yaksa* 2, Addenda p 7

7 Some of these gods are *naivāsikā gods*, "genii loci", in the Buddhist sense of the term Cf Bailey H W, *B S A O S*, Vol XIX (1957) p 50 ff *Jātaka*, V 171 uses a word *bhūtabhavyāni* i e fully developed and embryo deities which may include some of the deities of the above list For *bhavya* as a class of gods cf *Vishnu Purāna*, III 12

8 Cf *Brihatkathāslokasamgraha*, XIX 110 p 207 (Yaksha-Kardama)

offspring[1] and had the same region as their habitat,[2] they possessed women,[3] had control over speech[4] and possessed the highest wisdom[5] as well as great beauty[6] Lastly, they were both music-lovers[7] The Apsaras, etymologically meaning 'moving in waters' *ap sārinī*[8] and being the 'celestial water-nymphs' according to their oldest conception, also have certain common features with the Yakshas In the post-Vedic literature they are very often spoken of as frequenting forests, lakes and rivers, in the later Samhitās their "sphere extends to earth and in particular, trees"[9] They, like Yakshas, inhabit banyan and the sacred *asvattha* tree in which their cymbals and lutes resound,[10] or else they inhabit *udumbara* and *plaksha*[11] trees Like Yakshas dancing, singing and playing are their favourite pastimes[12] Then both Apsaras and Yakshas are fond of dice and bestow at play,[13] both are capable of causing mental derangement,[14] great beauty[15] as both are, they are occasionally enjoyed by human-beings[16] The Vedic

---

1 *Pancavimsa Brāhmana*, XIX 3 1 where Gandharvas along with Apsaras are prayed for granting offspring and Yakshas in the *Vipāka Sūtra*, VII 28 p 84 f

2 *Gandharvasya dhruve padam*, *Rigveda*, I 22 14 Sāyana explains *dhruve padam* as *antariksha* and quotes a statement of *Nrisimha-Tāpinyopanishad* I 2 that the sky is inhabited by *groups of Yaksha, Gandharva and Apsaras* Also *Sutta Nipāta Comm*, I 370 (*Ākāsattha Vimāna*)

3 Gandharva, *Rigveda*, X 85 40-44 and Yaksha in *Dhammapada Comm*, III 208 f *Jātaka*, VI 194

4 Gandharvas are said to impart upon women an auspicious speech according to the *Yājñavalkya Smriti*, I 3 71 in the marriage ritual Cf Kubera *Mahābhārata*, III 159 1 ff, *Shanti Parva*, 75 3

5 Gandharvas are described as the resceptacles of secrets *Atharvaveda*, II 1 2 and Yakshas are repository of wisdom, they ask pungent questions regarding existence, cf, *Yaksha-Prasna*, *Mahābhārata* III 296-297, *Sutta Nipāta*, Hare, I 9 10, II 5

6 Gandharva, *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 7 and Yakshas in *Meghadūta*, II 19

7 Gandharvas are celestial singers in epics but not so in the Vedic literature Macdonell, *Vedic Mythology*, 137, Yakshas in *Vimānavatthu*, III 4 ff *Vimānavatthu Commentary*, 131 f

8 Yāska, *Nirukta*, V 13, *Rigveda*, X 10 4 calls them *apyā-yoshā*, "aqueous nymphs"

9 Macdonell, *Vedic Mythology*, 134, Vedic Yakshas too are immensely connected with waters Cf *Atharvaveda*, XI 2 24, *G B* I 1

10 *Atharvaveda*, IV 37 4, 5 for Yakshas

11 *Taittirīya Samhita*, III, 4 8 for Yakshas

12 Cf Yakshas in Bharata's *Natyasāstra* V 20, 47

13 Apsaras, *Atharvaveda*, IV 38, Yakshas in *Jātaka* VI 137, *Kathāsaritsāgara*, IX 17

14 Apsaras, *Athārvaveda*, II 2 5, for Yaksha *Sutta Nipāta*, Hare, I 10 p,29, *Carakasamhitā*, Nidānasthānam, VII 11 15

15 Apsaras, *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 8, Yakshas, *Manjusrimūlakalpa*, I 200

16 Apsaras in *Rigveda*, X 95 10-17, Yakshas in *Manjusrimūlakalpa*, II 293 *Brihatkathā-ślokasamgraha* XI X 75 ff and XIX 130 ff



Rākshasas[1] and also the Piśācas stand in close proximity with the Yakshas Rākshasa is 'by far the most frequent generic name in the *Rigveda* for terrestrial demons and goblins[2] They, like Yakshas, have beastly or birdly forms[3] Sometimes, as Rākshasas destroy offsprings[4] so the Yakshas are dreadful on those accounts[5] Both have been regarded as having the most uncommon appearance and monstrous deformity[6] Their food-habits too are akin Thus, the *Mahābhārata* (XIII 101 60) tells the food of Yakshas and Rākshasas must be a mixture of meat and liquor In the same context (XIII 101 40) it is said that the *aguru* scent was a choice of all Yakshas, Rākshasas and Nāgas As for the Piśācas, atleast some common habits with Yakshas may be discerned in them too inasmuch as they ate raw flesh or corpse[7] These parities between the demi-gods or demons in their Vedic conception and Yaksha in their Vedic and subsequent conception confirm that Yaksha was a compound of different and in essence disparable ideas, that Yakshas obtained different elements of various demi-gods to cotribute towards their own ultimate and mature personality This absorption continued for long As a matter of fact, this process of mutual subsistence sustained the Yaksha cult to survive the grim struggle for existence with the subsequent cult gods, e g , Siva Vishnu, Buddha, and Tīrthankaras These later gods exerted their influence to dislodge the Yaksha cult Although this struggle had some abiding effect in the reduction of prestige of the cult it could not be completely wiped off

---

1 Kubera-Vaisravana, the king of Yakshas according to his fully developed conception, is earlier called the king of Rākshasas Cf *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 10 *Sankhāyana* S S XVI 2 16-17, *Āsvalāyana S S* uttaraṣatkah IV 7, this transformation of Kuvera confirms the statement of Keith, *Rel and Phil of Veda and Upanishad*, p 181 in reference to S 1 33, where Piśācas replace Gandharva, that "this is the case where demons have been allowed to obtain a name which is not theirs by their right, and which has been as a result of some obscure or vivid contact" This proximity between Yakshas and Rākshasas helps their reciprocal identification Thus the *Krodhavasas*, 'Northern Rakshasas' *(Mahābhārata*, III 152 20, V 50 24*)* are implied as Yakshas (Ibid , III 155 23) Hopkins has remarked that "Yakshas and Rakshasas in the account of battle (in the *Yaksha yuddha* parva) are exchangeable terms !" The relationship between Kubera and Rāvaṇa, the son of Pulastya in the *Rāmāyana*, is too well known but whereas the former is called Yaksha, the latter the Rākshasa

2 Macdonell, *op cit* , p 162

3 Compare, Suciloma 'Porcupine' or Khara 'donkey' in *Sutta Nipāta*, Hare, II 5 Gardabha in *Gilgit Mas* III Part I p, 16 and Rākshasa in *Rigveda*, VII 104, 18-22

4 *Atharvaveda*, VIII 6

5 *Jātaka*, nos 510 & 513, *Gilgit Mss* III Part I p 16

6 Compare Yakshas in the *Rāmāyana*, I 33, 18, *Rasavāhini*, p 99 ff and Rākshasa in *Atharvaveda*, VIII 6

7 Compare *Piśācas* in *Atharvaveda*, V 29 9 ff, Yakshas in *Visuddhimaggo*, II. p 665, *Gilgit Mss* , I p 13, *Jātaka*, III 132, V 257 However it has been remarked that "In many respects they (Yakshas) correspond to the Vedic Piśācas though different in many others and of different origin *Pali-English Dictionary* sv *Yakkha*

In the epics the Yakshas are found brushing shoulders with Indra in being the opulent repository of wealth As lord of wealth Kubera shared the role of Indra[1] with whom he shares the northern districts Indra rains gold in the epics[2] and his wealth is proverbial, he is sometimes specially grouped with Kubera-Dhanesvara as contrasted with other divinities[3] But soon, Kubera, the lord of Yakshas, supplanted the other gods, *e g*, Indra, Yama and Varuna[4] and became the "norm of exhaustless wealth "[5]

A common list of attendants is encountered in the *Mahabharata* in connection with the Yaksha king Kubera and Kārttikeya Thus, one of the attendants of Kārttikeya as well as of Kubera and some of the latter's *grahas* (III 219 42) are all called *Dhanada*[6] While one attendant of Skanda is called *Vasudā*, 'the giver of wealth', still another has the name Pingākshī, an epithet of Kubera[7]

The Yakshas and Devas are inseparably interconnected by their nature and attitudes as well as in carrying that designation[8] The elements of tree-worship which had been considerably popular during the prehistoric,[9] the chalcolithic and the Vedic age,[10] have been found in the Yaksha cult Sometimes the deity living in a tree has been called *devatā* but that can be identified as Yaksha[11] from it various attributes Besides, there were certain common features between the tree-spirit (called *devatā*) and the Yakshas such as that they granted wishes and their mode of worship was more or less similar Just as trees were the abodes of the spirits they were also the abodes of Yakshas

---

1 Indra is *Dhanada* and Dhanapati in *Rigveda* I 32 2

2 *Mahābhārata*, XII, 29 22f

3 Hopkins, E W, *Epic Myth*, p 146

4 *Ibid*

5 Cf *Mahābharata*, II 52 Appendix I 37 25 For a proximity between Kubera and the Mothers Cf Hopkins, *op cit* 1, p 146

6 *Ibid*

7 *Ibid* p 145, 229

8 For details Cf my paper "A Semantic study of the words, Deva, and Yaksha "*Madhya Bharati* 1959 p 1 ff The words, 'Yaksha' 'Devata' are identical and voluntarily applicable for each other Cf *Kindered Sayings*, I 273 9 note 1

9 Sri S K Pandey of the Department of Archaeology, University of Saugar has collected a number of pre-historic rock-paintings from Madhya pradesh many of which indicate the idea of tree-worship

10 *Rigveda*, X 97, *Atharvaveda*, VI 136 1, *Taittiriya Samhitā*, II 1 5 (Plants hinder child-birth and their favour is procured by offering an animal victim) Cult of Vanaspati in *Rigveda*, X 64 8, Cf also Keith, *op cit* p 184 ff, and Shine *Foundations of the Atharvanic Civilisation* B O I, Poona

11 *Petavatthu*, II 9 In sculptures also somtimes god of a particular tree is called *Yaksha* for instance, Yaksha Candramukha of *Vakula* tree Cf Sivaramamurti, *Amaravati Sculptures*, p 82



In the Pali works, Yakkhas have been associated with the *Kinnaras* and Petas[1] A later Jain work the *Vividhatīrthakalpa* (p 33) speaks of a Yaksha whose proper name is Kinnara The art of singing[2] appears to be a common attainment of Yakshas and Kinnaras They are beautiful and besides in the Jataka stories there are various instances where creatures having a composite human and equine form have been called Yakkha or Yakkhi[3] The *Rāmāyana* (IV 42 30) too speaks of an Asvamukhī woman and her *niketa* 'abode' The Kinnaras, as a matter of fact, have been included in the *Yaksha-Kula* in the *Lalitavistara* (Ch 6) Hopkins has cautiously assigned Kimpurusha of Kinnaras a place among Gandharvas Yātudhanas and Rākshasas and these four according to him represented four different classes of Yakshas in the *Mahābhārata* (III 139 5)[4] Elsewhere,[5] in a reference to the four classes of Yakshas the Kinnaras have been omitted and the list, entirely different one, consists of three classes viz, Karotpani Mālādhara and Sadāmatta basides Yambhāka[6]

No description about the affinity of the personality of Yaksha with the other demi-gods and consequent interchanges could be complete without their comparative study vis-a-vis the Guhyakas The Guhyaka attend Kubera[7] who is the lord of hidding[8] and as a natural corrollary to it the Guhyakas have mysterious power over hidden treasures[9] In the *Mahabharata*, Kubera sends through a Guhyaka an eyewash, which enables Rama to see what is hidden Hopkins[10] surmises that 'Guhyaka' was probably a general name for all the spirits of concealment though sometimes (they) made a special class The association of Guhyakas with Kubera goes back to the *Atharvaveda* which refers to the milking of universe by Rajatanabha the son of Kubera[11] But, with the Yakshas as his attendants, Kubera for the first time appears in the *Dharmasutras*[12] although the association of Kubera and Guhyakas continues even later It

---

1 The Yakshas "range in appearance immediately above the Petas, many successful or happy Petas are in fact, Yakkhas" *Pali-English Dictionary*, sv Yakkha

2 *Vimānavatthu Comm* 131 ff

3 *Kunāla Jātaka*, V 222, *Padakusalamānava Jātaka* III 431 ff For Yakkhini Assamukhī

4 The word *Cāturguna* here may as well be differently explained Cf Hopkins *op cit*, p 148

5 *Mahāvastu*, I 25 and II 108

6 Yambhāka or Jrmbhaka have been referred to elsewhere also as in the Jaina *Kalpasūtra* 89 Jacobi, p 248 note 1 where it is said that they lived in the *tiryaka*-world and like Yakshas served the god Vaisramana Cf also *Avaśyaka Sūtra*, I p 257 *Mahāvastu* also makes an intersting reference to Yambhāka class of Yakkhas who were in the service (*anattikaras*) of the Kinnaras The translator remarks that they "do not seem to be mentioned elsewhere, nor can their name be etymologically explained But instead, these few references undoubtedly indicate that however less known, they were a class of Yaksha alright

7 *Mahabharata*, VI 7 32

8 *Atharvaveda*, VIII 10 28

9 *Mahabharata*, III 273 9-11

10 *op cit* p 144, also p 148 89

11 *Atharvaveda*, VIII 10 28 Kubera here is a son of Visravana.

12 Keith, *op cit*, p 242

appears that Yakshas could not dislodge Guhyakas, their predecessors, from their proximity with Kubera so they chose to coexist with them and earned their connection with Kubera as also with the riches Later, they have been identified with each other[1] Kubera is, however, referred to as *Guhyakādhipati* in the *Mahābhāshya* of Patanjali There seems a complete identity between Yakshas and Guhyakas in so far as assumptions of any form,[2] possession of riches, its concealment and also the service of Kubera are concerned They are more or less synonymous However the Yakshas inherited the lordship of Kubera from the Guhyakas as they inherited many other features already described

Kumbhandas were the other demi-gods in the service of Kubera The name has an interesting etymological interpretation It is said that they had huge stomachs and their genitals were as big as pots, hence their name

This attempt at comparison and reciprocities between Yaksha and a number of other demi-gods shows that Yaksha cult swelled as a result of borrowings Although Yaksha is only Yaksha, he is none of Rākshasa, Gandharva, Apsaras, Pisāca or Kinnara but he is so closely associated with this kindred group that it is sometimes difficult to alienate him from another. Precisely, all these demi-gods or cult-personalities are manifestation of a folk-element in the society and therefor, a unity binds all of them There has never been any remarkable difference among folk-gods upto the present times because of the factor of their being manifestation of the simple popular beliefs That the Yakshas were very much near the masses or the tribal settlements of India, can be specifically substantiated The Jaina work *Āvaśyaka Cūrṇi* informs us that one Ādambara Jakkha also known as Hiradikka Jakkha was worshipped by Mātangas who were a 'low class people' Similarly Dombas worshipped a Ghantika-Jakkha[3]

It is thus beyond doubt that Yakshas and other demi-gods were the gods of aboriginal settlers of India and with this idea in background it is perhaps not anachronistic to believe that the personality of Yaksha as also of other demi-gods should have imbibed the aboriginal's beliefs For this reason probably various folk gods have palpably similar characteristics which so much overlap that sometimes a dividing line is difficult to draw among them

---

1 The *Vāyu Purāna* (Ch 69) says that Punyajana, Guhyaka and Devajana Yakshas, all under the category of Guhyakas, For more about Guhyakas, see Hopkins, *op cit*, p 148, Jain J C, *Life in Ancient India* p 218 f and *Kathāsaritsāgara*, I App I where it is said "They are often synonymous with the Yakshas"

2 Compare *Mahābhārat*, III 147 22 and *Mañjusrimūlakalpa*, III 626

3 Kubera on the other hand was earlier the kind of Rakshasas Cf *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 10 and *Supra*, p 4 note 6 Such types of adjustments pertaining to different cults an classes are as intersting as they are numerous

4 *Pali-English Dictionary* sv Kumbhanda

5 Cf Shah, U P, *J O I*, III (1) p 59 In Karnataka there is still a *Jakkulu* community having balled concert and theatrical activities as their traditional pursuits and it has been surmised that they may be the desendants of ancient Yakshas I am thankful to Dr S V Joga Rao of Andhra University for this information This Modern habitation of *Jakkulus* further corroborates the tribal connection of Yakshas





Yakshas have thus many demonological traits It may be pointed out here that Yaksha is not always a personage It indicates, at times, a pure and simple word having an appellative sense The wholesale demonisation of Yaksha came only at the later stages In some cases as for instance, in the Bharhut labels, Nāga king Virūdhaka has been designated 'Yaksha' To explain this anamoly Barua had suggested that "term-Yaksha has been used in the Barhut labels in a special sense to denote a mighty hero or warrior "[1]

Historically, Yakshas have been called the "remnants of ancient demonology" and regarded as "of considerable folklorist interest as in them, the old animistic beliefs are incorporated and as they represent creatures of wild and forest "[2] It may suffice here to say that their demonological features are portrayed by their food habits their supernatural powers, physical features such as unwinking red eyes, the legs turned the other way, their malevolence as well as their beneficience and many other similar attributes and modes of worsh p etc A rich folklore has also gathered around the personality of Yaksha as indicate his numerous references in the Brahmanical and non-Brahmanical texts Mention may here be made of the *Kathāsaritsāgara* the *Jātakas* and the *Brihatkathāmañjarī* In the folklore as in literature traditional beliefs on various aspects of Yaksha exist in different parts of India, particularly in South where even the word *Yaksha* has been retained The Yaksha as a potential malefic or village god exists in present times in all the villages of India either in the guise of different names or under specific terms such as *Jakkhaiyya* in the Mathura region[3] or *Jakkha* in Gujerat [4] Among the individual Yakshas mention may be made of Mānik Pīr (Manibhadra Yaksha) whose worship is still very much in practice in Bengal



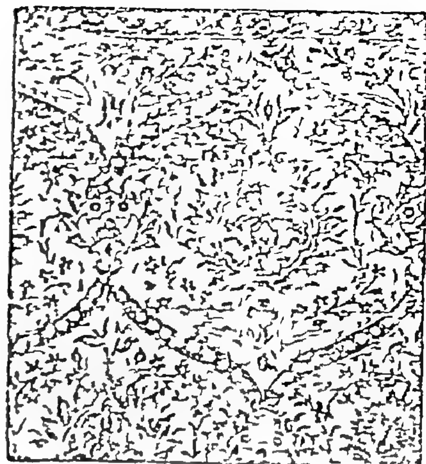
1 Barua and Sinha, *Barhut Inscriptions*, p 66

2 *Pali-English Dictionary*, sv Yakkha

3 Prof K D Bajpai has kindly given the information about it

4 Crooke, *Religion and Folklore of Northern India* p 194 Crooke further says that in the Western India are worshipped such maleficent goddesses as Jakhin, Jakhai, Jokhai, Mokai, Nagulai or Alavantin About the village gods cf also Whitehead, *Village gods of South India*

BANAVASI AND JAINISM



B R GOPAL
M A Ph D, Dharwar

Banavāsi is now a small town in the Sirsi Taluk of the North Canara district of the Mysore State It is one of the very few cities which has a continuous history from at least the historical times It has been referred to also as Vaijayanti and is mentioned in the Epics of India, specially the *Mahābhārata* Banavāsi was one of the important centres of Buddhism right from the days of Asoka Not only do we know from Buddhist literary sources like the *Mahāvamsa*, that Asoka sent his missionaries to Banavāsi besides several other places, but we have also an epigraphic evidence in the inscription found at Nāgārjunakonda, the Buddhist centre in Andhra Pradesh This inscription is engraved on the pedestal of the Lord Buddha wherein it is stated that the Buddhist missionaries converted hordes of people of Kashmir and several other countries and regions of which Vanavāsa, i e, Banavāsi, figures as one

It is, however, not so well-known that Banavāsi was also a centre for Jainism In the history of the Jaina canonical literature, of the Digambara tradition, Banavāsi figures as a prominent place Original canonical knowledge was preserved only by the word of mouth passed on from the *Guru* to his disciples and this continued right upto the middle of the 2nd century A D All the Digambara *Pattavalis* begin from Bhadrabāhu II (c 37-14 B C) who had the knowledge of Nine Angas and his successor was Lohāchārya (c 14 B C -38 A D) Thereafter there were five *ekāngaradhāris*, viz, Arhadbali, Māghanandi, Dharasena, Pasupadanta, and Bhūtabali Of these the last three Dharasena, Pushpadanta and Bhūtabali are considered to have been responsible for the redaction of the surviving canonical knowledge There is no unanimity of opinion among scholars regarding the dates of these *Gurus* While some hold the opinion that they lived in the period between 38-156 A D, others think that the monks who undertook this task have to be assigned to a period after 156 A D However, all are agreed that the original canonical tradion in the memory of authorised saints survided upto 156 A D and that whereafter no such saint is known to have existed

An interesting story regarding this redaction of the *Angas* is told and it is in this connection that Banavāsi figures prominently Dharasena mentioned above was one of the very few who were considered as learned in canonical knowledge It was feared that this knowledge may not be available to posterity unless somebody who was qualified enough could commit it to writing With this desire, Dharasena sent an invitation to the saints (*āchāryas*) of the south who had assembled then at Mahima, which is described as Venākatatīpura Vena



is obviously the river Krishnā known also as Krishnavena and the place has been identified with Mahimanagara in the Satara district When this message reached them, they discussed the matter and chose Pushpandata and Bhūtabali, two scholars of repute, to be sent to Dharasena

To these two Dharasena revealed the canonical knowledge and they were asked to reduce it to writing The subject he dealt with is said to be *Mahākarma-prakriti-prābhrita* After bidding farewell to the teacher and receiving his blessings, the two saints set on their homeward march They first halted at Ankuleśvara (modern Broach) where they spent the rainy season

Dharasena was living in the Chandra-gupha (Moon cave) of the mount Ūijayit in Girnar i e, Junagadh It may be noted that Girnar is the place where the inscription of the grandson of Jayadāman (either Damaysada or Rudrasimha I), of the 2nd century A D is found, besides the famous record of Rudradāman This record refers to men who had attained perfect knowledge (*Kevali-Jñāna*) and were free from *Jarāmarana*, old age and death This record is found engraved in a cave wherein symbols like the *svastika*, *bhadrāsana*, and *mīnayugula* are found carved suggesting that it was probably the abode of Jaina monks It is probably here that Dharasena was residing It may also be noted that this inscription is considered to be the earliest record that refers to the Jaina monks claiming the attainment of perfect knowledge

When the rainy season came to a close the two monks rendered their march and of the two, Pushpadanta proceeded towards Banavāsi-desa while Bhūtabali marched on towards Dramiladeśa, i e, Tamilnad Pushpadanta had been joined by his nephew Jinapālita who was also initiated into the order It was at Banavāsi that Pushpadanta composed the first twenty cardinal *sūtras* relating to *Satprarūpana-adhikāra* which was the first of the eight *adhikāras* of *Jīvasthana-khanda*,

In may be incidentally noted that according to the *Śrutāvatāra* of Indranandi the two monks spent their rainy season at Kurisvara-pattana from where they proceded further This place has not been identified but it is probably the same as Ankulesvara From here they marched to Karahata which is the same as Karad in the Satara district of Maharashtra It was here that Jinapālita joined his uncle

Jinapālita was sent to Bhūtabali by Pushpadanta after he had completed the *Sūtras*, with the manuscript he had prepared It was left for Bhūtabali to complete the work which came to be divided into six *Khandas* Hence, it came to be known as *Shatkhandāgama-siddhānta* The work was completed on the fifth day of the bright half of the month of Jyeshtha and this day is a day of festival among the Jainas It is called *Śrutapanchami* and on this day the Jaina scriptures are worshipped

It has been said that Pushpadanta was responsible for the redaction of a part of this canonical work, and that he did so after he migrated to Banavāsideśa Where exactly in Banavāsideśa he lived is not known and it is probable that he settled down at Banavāsi itself which by then was a prominent centre We are not sure also as to when exactly these works were reduced to writing although obviously it was during the last years of the 2nd century A D

It is seen above that the work of reducing the canonical knowledge to writing took place probably only after c 156 A D The Girnar inscription referred to is assigned to about the 2nd century A D It is tempting to suggest that it was at that time that Dharasena w

living But all this is based on traditions which came into existence much later Therefore, it is not possible to be absolutely sure about it

This traditional account of the redaction of the Jaina canonical knowledge is thus connected with Banavāsi Jainism, according to tradition, had been introduced into Karnataka much earlier, in the 3rd century B C, when Chandragupta Maurya and his teacher Bhadrabāhu came to the South Before the establishment of the Kadamba kingdom the Banavāsi region was under the sway of the Śātavāhanas in the 2nd-3rd centuries A D and thereafter under the Chutus Traditions and legends incorporated in the literary compositions of the Jaina writers of later age suggest that the Śātavāhanas came under the influence of Jainism Pratisthanapura, i e, Paithan, which was their capital, was a stringhold of Jainism However, this was in the Andhra country and there is nothing to show that the Banavāsi region came under the influence of Jainism in this early period

The tradition around Simhanandi who was responsible for the establishment of the Ganga kingdom suggests that the faith had continued its hold and it had facilititated his efforts in investing the princes Dadiga and Mādhava of the Ganga family with royal authority and making them rulers of the kingdom The date of the foundation of this kingdom has been much disputed However, there are reasons to suggest that the two earliest kingdoms of Karnataka, of the Kadambas of Banavāsi and the Gangas of Talakad came to be founded almost simultaneously in the early part of the 4th century A D However while the Gangas are known to be the followers of Jaina creed, the Kadambas were definetely Hindus who worshipped Śiva

Yet, the Kadambas were tolerant towards other religions The Halsi copper plate refers to a grant of land situated in the village called Kheta, made by the Kadamba king Kākusthavarma to the Jaina general Śrutakīrti We have other records which register similar grants by kings like Mrigesavarma Several grants of this king were issued from Vaijayanti i e, Banavāsi He even had a *Jinālaya* built at Halasige His Devagiri grant of his 4th year of rule is interesting because it registers a gift of the village Kālavangā which was divided into three parts each of which was given respectively the great god Jinendra, the holy Arhat, to the Svetapatamahā Samgha and to the Nigranthamahāsramana Samgha This indicates the existence of the Svetambara sect also in this part of the country from very early times

But we know that a few centuries later Jainism became an influential religion in this part of Karnataka In spite of this, however, so far as Banavāsi is concerned it is surprising that there is no relic of such antiquity that would connect it with Jainism All that remains now is a Basadi which is of a much later date, and within the precincts of which a few *nishidi* stones are found with inscriptions of the XII-XIII centuries A D

The earliest of these records belongs to the period of rule of the Kadamba chief of Hāngal, Kāmadeva It is dated his 7th year of rule, the cyclic year Pingala, Māghaśu 5, Monday The details of the given date are irregular, but the equivalent christian date would probably be 1198 A D, January 14 On this day, the record says, that a follower of Jina, whose name is not clear, passed away It mentions Desi-gana

The second record refers to the death by *Samādhi-vidhi* of Bhogave wife of Tippisetti of Sateya who was a disciple of Sakalachandrabhattāraka of Kondakunda-ānvaya, Deśgana and Pustaka-gachchha The record probably belongs to the reign of Kadamba Kāmadeva, and the



details of date given, viz , year 12, Durmati, Kārttika ba, 5, Monday, may possibly correspond to 1201 A D , October 18 The third record also probably belonging to the same chief, is fragmentary The extant portion refers to the cyclic year Īsvara, Vaisākha, śu 3, Sunday probably corresponding to 1213 A D ?, April 10 This record is set up in memory of a Jaina devotee, Kāla-gāunda, son of Boppa-gāunda

Record No 4 refers to a Jaina teacher Nāgachandrabhattāraka of Mūla-sangha and Surastha-gana Other details of the record are not known as this also is a fragment The transliterated texts of these records are given below

I

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravarti kaligalaṁku-
2 sa Kāvadeva [va] rsha, 7neya Pimgala samvatsarada mā-
3 gha śuddha pamchami Somavāradam-
4 du Desi-ganada mayābhara
5 mudra mudipi su

The rest of the record is lost

II

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravartti kaligalamkusa gamdara davani Vīra-
2 [Ka] mavarshada 12 Durmati samvatsarada Kārttika bahula pamchami Soma
3 vāradamdu Deśi-ganada Pustakagachchha Komdakund-ānvayada Sakalacham-
4 dra-bhaṭṭārakara guddi Tippiseṭti Sāteyana hemdati Bhogave
5 samādhividhiyim mudi [pi] sugati prāptiyādalu
6 Mamgala mahā śrī śrī śrī

III

1 siraschumbi chandrachāmarachārave trailokya
2 śambhave Svasti Śrīmatu Kadamba chakrava
3 Īśvara samvatsarada Vaisākha śu 3 Ādivara
4 ya Boppagāunda na maga Kālagāvunda

IV

1 Śrī Mūlasamgha vidita
2 tra Surasta sadgana nīśvara
3 Nāgachandra-bhattārakasya ta
4 kritavān achalam



THE HUNAS IN ANCIENT INDIAN LITERATURE

K L AGRAWAL
University of Saugar

Homeless and lawless, the Hūnas are most prominent in ancient Indian history They disturbed the peace and order of the Indian people, and during the last quarter of the 5th and the beginning quarter of the 6th Centuries ruled over the greater part of the North India In order to have a clear picture of the Hūnas as described in ancient Indian literature, the topic will have to be discussed fully

Epics

Epics are our earliest sources where the mention of the Hūnas is found A causual reference to the Hūnas occurs in one of the manuscripts of the Rāmāyana,[1] though their eloborate description is never found The next reference we find in the Sabhaparvan of the Mahābhārata where Arjuna is said to have led an expedition in the North-West, just as Raghu did in the Raghuvamśa of Kālidāsa But there the Bālhikas, the Daradas, the Kambojas, the Risbas and the Param-risibas rather than Hūnas are mentioned as his main opponents [2] Further in the same epic the Śakas, the Tuṣāras and the Kankas are said to have presented horses to Yudhisthira on the occasion of his Rājasūyayagñya [3]

1 The St Petersburg Dictionary records only one reference to the Hunas in the Rāmāyana, namely as a varia lectio in the Bengal recension (ed Gorresio, Paris 1845, IV, 40 25) Here instead of दण्डकूलाश्च, one manuscript has पल्हूणाश्च ।

2 तत परमविक्रान्तो बाल्हीकान् पाकशासनि ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ।।
गृहीत्वा तु बल सार फल्गु (वल्गु) चोत्सृज्य पाण्डव ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनि ।
प्रागुत्तरा दिश ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यव ।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभु ।।
लोहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितास्तान् महाराज व्यजयत्पाकशासनि ।। *Mbh* 2 27 22-27

3. चीनान्हूणाञ्शकानोड्रान्पार्वतान्तारवासिन ।
वार्ष्णेयान्हारहूणाश्च कृष्णान्हैमतास्तथा ।। *Mbh* , 2 47 19
शकास्तुखारा कङ्काश्च रोमशा शृङ्गिणो नरा ।
महागमान्दूरगमान्गणितानर्बुद हयान् ।। *Ibid* , 2 47 26

Purānās

Wilson has pointed out that the Hūnas are mentioned along with the Yavanas, the Ghandharas, the Sauiras, the Madras, the Kunindas, and at least two references are found in the Visnupurāna, that can be laid in the support of his contention The author, first gives the vivid description of India, which shows his fairhand knowledge of its extent, mountains, divisions and rivers, principal nations and those living in the far east Speaking of the Hūnas, Wilson says "By the Hūnas we are to understand the white Huns or Indo-Scythians, who were established in the Punjab and along the Indus at the commencement of our era, as we know from Arrian, Strabo and Ptokmy, confirmed by recent discoveries of their coins "[1]

The second reference is found in the detailed list of the different peoples Among "ferocious and uncivilized races, are included Śakridgrahas, Kulutas, Hūnas and Pūrasibas "[2] The Brahamanda, the Kūrma and the Vayu Purānas also refers to the Hūnas [3]

Raghuvimsa

The greatest luminary in the galaxy of the Sanskrit peots is the poet Kālidasa whose work has not only been appreciated by the Indologists of his own country but of far and wide in the world The mention of the Hūnas is found in the Raghuvamsa as bearded horsemen Nearly twenty ślokas have been devoted to the description of Raghu's ambitious victory over the western tribes, including the Hūnas The date of this poet is not certain, though "the balance of evidence is in favour of the view that he flourished in the sixth Century A D " Prof K B Pathak has translated three verses[4] referring to Raghu as follows

---

1 *Visnupurāna*, trans , p 177 note 6

2 *Ibid* , p 194, II 3 17,

सौवीरा सैन्धवा हूणा साल्वा कोशलवासिन ।
माद्रारामास्तथाम्बष्ठा पारसीकादयस् तथा ॥

Vayupurāna also mentions the Śakas, the Tusāras (Tukhāras, the stock of Yue-Chi), Lampakas (a people akin to the Śakas)

सान्ध्रास्तुपारान् लम्पकान्पल्हवान्दरदाञ्छकान् ।
एताञ्जनपदाञ्चक्षु प्लावयन्ती गतोदधिम् ॥ *Vayupurāna*, 47 44

Also, तुषारान्बर्बरकान्पल्हवान्पारदाञ्छकान् ।
एताञ्जनपदाञ्चक्षु प्लावयित्वोदधिं गता । *Matsyapurana*, 121 45

3 *Sircar, Geog of Ant Med India*, p 36

4 कर्णप्रावरणाश्चैव हूणा दार्वा स-हूहुका ।
तत प्रतस्थे कौवेरी भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनै ।
दुधुवुर्वाजिन स्कन्धाँल्लग्नकुङकुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधाना भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोल पाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ 4 66-68

Cf *Ind* , *Ant* , Vol XV, p 24, *New Ind Ant* , Vol IV, p 36, IHQ , Vol XII, p 532, *Bhandarkar Commemoration Volume*, p 65

"Thence Raghu marched against the regions of Kubera Subjudging the northern kings with arrows as the Sun drinks up the water with his rays

"His horse relieved of the fatique of the journey by rolling on the banks of the Vanksu (Indus) shook their bodies which had saffron flowers clinging to their names

"There the redness of the Cheeks of the Hūna queens testified to Raghus achievement in which his powers was displayed against their husbands"

It is still controversial whether in the above cited verses, the reading 'Sindhu' is correct or 'Vanksu' Mallinātha the great commentator of the epic Dr D R Bhandarkar[1] and Hodiwala[2] are of the opinion that the reading 'Sindhu' should be accepted But Prof K B Pathak[3] challenging the view, argues that the correct reading is 'Vanksu', and identifies it with the oxus Drs S K Aiyangar[4] and B C Law[5] have also endorsed this opinion The Nagpur stone inscription of Narvarmadeva dated V S 1161 (A D 1104-1105) is more helpful in ascertaining the correct reading It elaborately describes the victorious campaign of Laksamadeva, the brother of Narvarmadeva One of the verses refers to the encampanent of Laksamadeva, where his victory over the king of the Kīras is mentioned The translation of the verse is as follows

"Being encamped on the banks of the Vanksu, which were even softer than nature made them because the saffron filaments on them were withering under the rolling of the team of frisky horses, presented by the Turuska, whom he had eradicated with ease, he taught the Kīra chief to utter most flattering speeches, who on account of proximity of the Sarasvatī was eloquent beyond measure and who was like a parrot shut-up in a big cage"[6]

The first line of the verse is simply a repetition of the Raghuvamsa Dr Buddha Prakash remarks that "a glance of the imagery and phraseology of these verses leaves no room for doubt that the author of the Nagpur prasasti, who was probably Narvarmadeva himself had in mind the conception of Kālidasa and recapitulated it in almost the same style"[7] It appears from above references that the Hūnas probably had some relation with India Dr Buddha Prakash places this "conquests of Raghu to the oxus between 390 A D and 399 A D and that Kālidāsa's reference to the Hūnas on the oxus belongs to that period"[8]

Brhatsamhitā

The Brhatsamhitā composed in the glorious days of the Guptas contains important details about Astronomy, Geography, Architecture, Sculpture Medicine, Psychology,

1 *JRASB*, (Letters), Vol XII, (1947), pp 36-37
2 *JBBRAS*, (1930), pp 282-83
3 *Ind Ant*, (1912), p 266
4 *Ibid*, (1919), pp 65, 74
5 *Geographical Aspects of Kālidasas works*, p 2
6 Ep Ind, Vol II, p 188
खेलोत्खातनुरुष्कदत्तविकटस्फाराश्ववेल्लनत्रास्यत्कुङ्कुमकेसरानुविमृदीवक्षूपकण्ठस्थले ।
येनावाप्य समस्तनीतिविदुनामाविक्रमगाक्पाटवञ्चाद्रनुकटपञ्जरगत कीराधिपाऽध्यापयन ॥
7 *Journal of Indian History*, Vol XXXV, p 92
8 *Ibid*, p 135

Physiology, Physiognomy and several other subjects Twice atleast Hūnas are referred to, in this monumental work of Varahamihira as white Hūnas [1]

Chāndravyākarana

A few references to the Hūnas are found in the Śūtra-vrtti of the Chāndravyākarana, where the phrase 'Ajvad-gupto (or japto) Hūnān' is presented as an illustrion of the incomplete use to express an event which happened in the time of the author [2] Dr R C Majumdar says that this probably refers to the victory of Skandagupta over the Hūnas [3] Further, Somadeva,[4] a Jaina author, mentions a tradition that a Hūna king conquered Chitrakūta Dr Majumdar[5] suggests that this probablv refers to Mihirokula

Chaturbhānī

The Chaturbhānī, a work of the later-Gupta period, records that the Hūnas had become prominent in Eastern places like Pataliputra In the Pādatāditakam of Śvamilaka, the Vita finds Bhatti Maghavarman, the son of Commander Senaka, opening the door and entering the house of somebody [6] It appears from this work that Ujjayini the Hūnas had become so powerful and predominant that they could break the house of any body and enter it The terror of the Hūnas was so much that local people could also take the law into their hands in their garb

Harsacharita

The Hūnas are referred to in several passages of the Harsacharita It is mentioned by Bāna[7] that Prabhākaravardhana was a lion to the Hūna deer The peot[8] again speaks of Rājyavardhana, who defeating the Hūnas of the North-West, had returned to the capital with limbs emaciated and long white bandages abounding with arrow wounds received in battle

---

1 उल्काभिताडिताशिख शिखी शिव शिवतरोऽतिवृष्टो य ।
अशुभ स एव चोलावगाणसितहूणचीनानाम् ।। 11 61
गिरिदुर्गपह्लवश्वेतहूणचोलावगाणमरुचीना ।
प्रत्यन्तधनिमहेच्छव्यवसायपराक्रमोपेता ।। 16 38

2 *Belvalkar, System of Sanskrit Grammer*, p 58 See, *JRAS* , 1909, p 114, JBORS , XIX , pp 115-16

3 *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197

4 श्रूयते किल हूणाधिपति पथ्यपुटवाहिभि
सुभटैं चित्रकूट जग्राह ।।८।। (एल० एल० शास्त्री द्वारा सम्पादित) पृ० २६१

5 *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197

6 "अये कस्य खल्वयमहूणे हूणमण्डनमण्डित आर्य घोटक पाटलिपुत्रिकाया पुष्पदास्या भवनद्वारमाविष्करोति ।" (निर्वर्ण्य) आ ज्ञात एभिरिहाबद्धश्वेतकाष्टकर्णिकाप्रहसतिकपोलदेशैर्बद्धकरैरसज्जमप्यसक्तसज्जमिति साजलिप्रतिवादिभिर्लाटडिडिभि सूचित सेनापते सेनकस्य अपत्यरत्नभट्टि मघवर्मा भविष्यति। तन्न शक्यमेनमनभिभाष्यातिक्रमितुम् ।।
Ed by Dr Motichandra, p 181-82

7 "हूणहरिण केसरी" Calcutta ed , p 343

8 "हूणनिजयसमरशरव्रणवद्धपट्टकैर्दीर्घधवलै" Chowkhambha ed , p 301

Kuvalayamālā

We find an interesting account of the Hūna king, Toramāna, in a Jaina work called Kuvalayamālā (A D 778)[1] It is mentioned in the work that "on its bank (Chandrabhāgā) is the celebrated town of Pavvaiya where lived Śrī Torāya or (according to the Poona manuscript Toramāna enjoying the sovereignty of the world"[2] Śrī N C Mehta[3] says that "Torarāya is the celebrated Hūna monarch, Toramāna, who shook the Gupta empire to its very foundations and extended the sway as far as Mālwa (C 499-510 A D)

Navasāhasānkacharita

The Paramāra Sivaka II is mentioned in this historical epic to have conquered a Hūna chief though his identity is not clearly known[4] Dr H C Ray,[5] however, conjectures that the Hūna prince might have died in the battle with Paramāra king The tenth Canto[6] of this epic mentions that Sindhurāja, too defeated a Hūna king This fact is corroborated by the Udaipur Prasasti[7] of the Mālwa king

Rājatarangini

Both the Hūna kings, Toramāna and Mihirakula, are referred to in the Rājatarangini, the chronicle of Kashmir One of the verse runs 'Then his son Mihirakula a man of violent acts and resembling Kāla (death), ruled in the land—which was overrun by hoardes of Mlecchas"[8] Kalhana, the illustrious author of this historical epic further mentions Mihirakula as a powerful king of Kashmīr and Gandhāra, who conquered India and Ceylon His heart-rendering deeds of cruelty are briefly mentioned in the work Dr M A Stein[9] the translator of this great work, thinks this Mihirakula is undoubtedly identical with the great ruler of the Hūnas After making a careful and detailed study of the evidences of the inscriptions of Eran and Mandsor with the datas of Rājatarangini, Hiuen Tsang, Sung-Yun and coins Dr Fleet[10] also holds the same opinion However, Dr R C Majumdar is of different opinion He argues that "Rājatarangini also refers to Toramāna, but he flourished long after Mihirakula about eighteen kings intervening between the two The career of this Toramāna hardly fits in with what we know of the Hūna chief of that name from other sources, though the age assigned to him fits in with that of later"[11] In the absence of more corroborative

---

1 JBORS, Vol XIV, pp 28 ff

2 'Tīrammi tivapayada Pavvaiyanām rayanasohillā I
Jtthithi thie muttā puhajam siritorayena II
JBORS, Vol XIV, p 34

3 In a recently published paper it has been suggested that "he (Toramāna) was a Huna king" IHQ, Vol XXXIII, p 33

4 अकं हूणमकेनूनमनृपृन्नृपु ममेवलम् ।
हूणावरोधवैधव्य दीक्षादान् व्यवत्त य ॥ 11 90

5 *DHNI*, Vol, II, p 850

6 अपरत्र मत्र नमदे नवान भीमेनमापि हूणनृपनिर्वाच्छति । 10 14

7 *Ep Ind*, Vol, I, p 235

8 I, 289 ff III, 102 ff ed by Dr Stein

9 Translation p 43

10 *Ind Ant*, Vol XV, pp 245 ff

11 *Classical Age*, p 35, Also, *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197

dates it would, however, not be wrong to presume that Mihirakula of the Rājataraṅginī is identical with the Mihirakula of the epigraphs

Kathāsaritasagara

An interesting story[1] of the king, Udayana, is given in the Kathāsaritasāgara, 'the Ocean of Story' It is mentioned in this work that king Udayana who subdued the king of Sindhu at the head of cavalry, destroyed the Mlecchas, as Rāma had destroyed the Rakṣasas The cavalry of the Turuskas was shattered The king beheaded the Pārasikas This was the final blow to the Hūnas Dr B N Puri remarks that "the value of this tale might be nil but it clearly throws welcome light on the grouping of these powers situated in the close proximity to each other The Pārsikas were at that time living some where in Rājputānā, close to Sindhu and nearer to the Hūna territory "[2]

Dvyāsrayakāvya

The Hūnas are also mentioned by Hemachandra, a Jaina author, in his Dvyāsrayakāvya It is mentioned there that the Chalukya king, Durlabharāja who succeeded the throne of Anhilapātāna in A D 1009, won his queen Durlabhādevī in a Syavamvara and fought for her with a number of kings of Anga, Kāśī, Avantī, Hūnadesa, Mathura and Vindhya [3]

The Social States of the Hūnas

The Harakelinātaka throws welcome light on a different interesting aspect It refers to that the Hūnas were no longer barbarians but had some literary taste Some portions of this drama are found in the Ajmer slab inscription[4] which was composed by Vigraharāja and engraved by Bhaskara, son of Mahipati and grandson of Govinda, who was born in a royal Hūna family He was a favourite of king Bhoja Rājaśekhara[5] also mentions that the Hūna ladies were noted for the lusture of their cheeks Some of the medieval inscriptions have preserved a few examples of Hūnas and other chiefs being married into Brāhmana families Allata (10th Century A D)[6] of the Guhilas of Mewar married a Hūna lady named Hariyādevī Similarly Karnadeva, of the Kalachuri family married a Hūna princess, Āvalldevī [7]

The above analysis reveals that the Hunas had started gaining favour in the Indian Society of that period They are mentioned in the list of thirty-six royal clans of Rajputs, which is a further proof that they definitely earned a high social status

---

1 सिन्धुराज वशीकृत्य हरिसैन्यैरनुद्रुत ।
क्षपयामास च म्लेच्छान्राघवो राक्षसानिव ॥1(8॥
हूणहानिकृतस्तस्य मुखरीकृतदिड्मुखा ।
कीर्तिर्द्वितीया गङ्गेव विचचार हिमाचले ॥108॥ Bihar Rāstra-Bhāsā ed

2 *JUPHS* , Vol V, (new series), p 5

3 हूणाण राइणा इह जअ रायणो इमे पहु रमन्ते ।
अङ्गाण रण्णा राइणो तह सगेण राएण ॥ 461

4 *Ind Ant* , Vol XX, p 210 ff
'कुकुमपकजचर्चित हूणतरुणी।'

5 *Bālaramāyana*, VII, 59, p 198 Cf *Kāvyamimānsā*, (Bos), Chap XVIII, p 109
'हूणानाम् कुरुते मधुकमुहुलम् लावण्यलुठकम् ।'

6 Ep Ind , Vol XXIII , p 108
'(यस्य हूणक्षोणीशवशराजाहरियदेवी)', Also, p 373

7 C I I Vol IV, p 289 ff
'कणदेव अजनि कलचुरीणा स्वामिना तेन हूणान्वय जलनिधिलक्ष्म्या श्रीमदावल्लदेव्या ।'

मरुधरकेसरी
अभिनन्दनग्रन्थ



परिशिष्ट

विद्वान् लेखक—जिनके चित्र प्राप्त हो सके



डॉ० नरेन्द्र भानावत



लालचन्द नाहटा



प० दरबारीलाल कोठिया



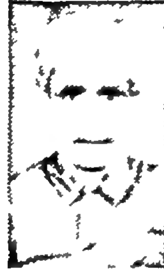
रिखबराज कर्णावट



कन्हैयालाल लोढा



शिखरचन्द कोचर



मिलापचद कटारिया



अनन्त लूणिया



जयन्तीप्रसाद जैन



हीरालाल शास्त्री



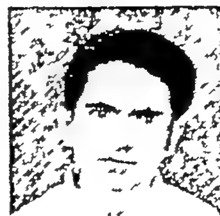
अजितकुमार शास्त्री



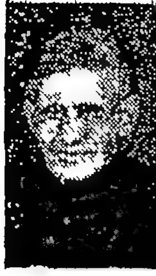
सौभाग्यमल जैन











प० चैनसुखदास जैन



प्रेमसुमन जैन



दयाचन्द्र साहित्याचार्य



डा० मंगलदेव शास्त्री



पारसमल 'प्रसून'



डा० हरीन्द्रभूषण जैन



सुन्दरलाल वैद्य



डा० ज्योतिप्रसाद जैन



डा० मोहनलाल मेहता



प० गोपीलाल अमर



श्री परमानन्द जैन



ब० पी० शास्त्री



पुरुषोत्तमलाल मेनारिया



श्रीचन्द्र जैन



डा० स्वप्ना बनर्जी



के० भुजबली शास्त्री



देव कोठारी



पन्नालाल साहित्याचार्य



राजकुमार गोयल



गुरुनाथ जोशी



डा० परमेष्ठीदास



सूर्यनारायण व्यास



डा० कन्हैयालाल सहल



कन्हैयालाल अग्रवाल



भागचंद जैन, किशनगढ



भंवरलाल नाहटा











भागचद्र जैन]



राजकुमार जैन



लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'



रामनारायण उपाध्याय



डॉ० देवेन्द्रकुमार
रायपुर



डा० राजाराम जैन



डा० गोकुलचन्द्र जैन



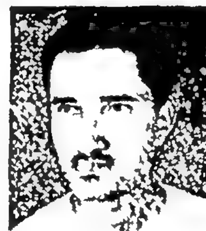
डा० बी० एस० कुलकर्णी



गणेशप्रसाद जैन



अगरचन्द नाहटा



डा० जयसिंह नीरज



के० बी० जिंदल



डॉ० कन्हैयालाल सहल



खेमचन्द्रजी जैन



जयभगवान वकील

अर्थ सहायक-चित्रावली

(प्रथम-श्रेणी)



आप आगेवा निवासी, उदारमना श्रावक ... आपके श्री लक्ष्मीचन्दजी एवं शान्तिलाल ... दोनों सुपुत्र बड़े आज्ञाकारी एवं सेवाभावी ... आपका व्यवसाय मद्रास और मैसूर दोनों ... बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।

●

आप मारवाड़निवासी स्व० सहना बख्तावर-... जी के सुपुत्र हैं। आप में धर्म के प्रति ... लगन है। आपके सुपुत्र उत्तमचन्दजी ... विनीत एवं सुशील हैं। व्यवसाय ... टैंकनेट में चलता है।



श्री ...

श्री अन्नराजजी गादिया



आप आगवा (मारवाड़) के निवासी बड़े उदारमना हैं। आपने अपने स्वधर्मी भाइयों व सम्बन्धियों की स्थिति विचारणीय देख कर पूज्य मरुधरकेसरीजी म० के सम्मुख ही उनसे जो १० हजार रकम मांगते थे उसे तमाम कर खाते बराबर कर दिये। इसके अलावा आपने और भी समाज हित के कार्यों में भाग लिया। आपके भ्राता श्री धनराजजी भी बड़ी सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। आपके दत्तक पुत्र श्री पुखराजजी भी बड़े सरल एवं आज्ञाकारी हैं।



आप मारवाड़ में ... के निवासी ... आपका व्यवसाय ... मद्रास में ... आप सरल हृदय व धर्म-प्रेमी सज्जन ... आपके भ्राता श्री किशनलालजी की तथा ... सुपुत्रों की लगन प्रशंसनीय है।

●

आप पीपलिया मारवाड़ के निवासी ... अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ तथा परिश्रमी व्यक्ति ... आपके सुपुत्र श्री ...चन्दजी लूणिया भी ... मिलनसार एवं निरभिमानी युवक हैं। ... समय आपने उदार दान दिया।



स्व० श्री किशनलालजी लूणिया

श्री इन्दरसिहजी मुणोत



आप जोधपुर निवासी श्री गणेशमलजी मुणोत के सुपुत्र हैं। बडे मेधावघी, व्यापार-कुशल, आधुनिक विचारो के सुधारवादी नवयुवक है। व्यवसाय जोधपुर मे ही सुन्दर ढग से चल रहा है।

•

आप सादडी निवासी कुन्दनमलजी सा० मेहता के बडे पुत्र हैं। पेढी पृथ्वीराज रतनचन्द के नाम से बम्बई मे है। सादडी स्था० समाज के नेता, मूक सेवक और उदारदिल है।



श्री दीपचन्दजी मूथा



आप चण्डावल निवासी श्रीकेसरीमलजी मूथा के सुपुत्र है। आप सोजतरोड स्थानकवासी समाज के प्रमुख हैं। धार्मिक लगन वाले उत्साही कार्यकर्त्ता हैं। आपकी सोजत रोड मे जालमचन्द दीपचन्द नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री पन्नालालजी जागडा



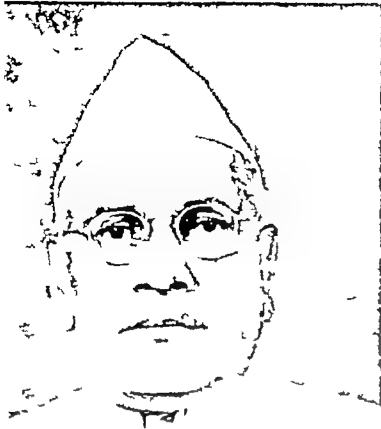
आप मारवाड कापरडा के निवामी हैं। पिता का नाम श्री धनराजजी जागडा हैं। उदारमना, धर्मपरायण तथा समाजसेवी हैं। जालना मे धनराज पन्नालाल के नाम से प्रसिद्ध फर्म।

•

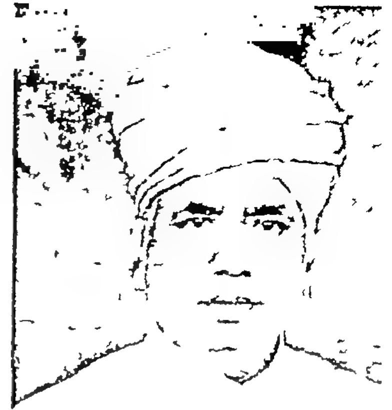
आप 'शालिभद्र' के नाम से प्रख्यात थे। दानी, सदाचारी, मितभाषी थे। व्यवस्था-शक्ति बडी सुन्दर थी। आपके सुपुत्र श्री पारसमलजी भी योग्य उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय ब्यावर मे ही चल रहा है।



। कावडिया गजराजजी छोगमलजी



श्री चम्पालालजी डूगरवाल



○

○

प उत्साही, शेरदिल, समाज के स्तम्भ । आप छोगमलजी कावडिया के सुपुत्र जारो रुपया का सद्व्यय किया। पूना नगराज गजराज के नाम से आपकी फर्म है।

●

प सोजत निवासी वावू घीसूलालजी है। श्री मदनराजजी सा० के कनिष्ठ हैं। भ्रातृप्रेम सराहनीय है। सामाजिक मे हजारो का दान देते है। अपने सबधिया वसाय मे साझे मे रखकर सम्पन्न बना है। आपका व्यवसाय कटक मे चलता है।



श्री जवरीलालजी नाहटा

श्री घीसूलालजी मरलेचा

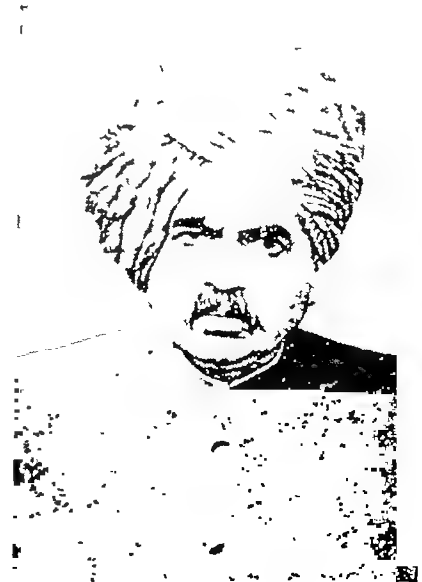


आप स्व० सेठ गुलावचन्दजी मरलेचा के दत्तक पुत्र थे। धर्मपरायण एव दानवीर थे। किन्तु अल्प वय मे ही स्वर्गवासी हो गये। आपके दत्तकपुत्र श्रीरणजीतमलजी भी उत्साही युवक है।

आप मारवाड म मालियो की क के निवासी है। व्यवसाय श्री चम्प चैतन्यप्रकाश के नाम से वेगलोर मे है की लगन प्रशसनीय है। अपने ही परि ऋद्धि उपार्जित की है।

●

आप चावन्डिया निवासी श्री गुलाव पोखरना के सुपुत्र है। उत्साही नवयुवक आपका व्यवसाय पैराम्बूर मद्रास मे च है। धर्म के प्रति बडी लगन है तथा गुरुदेव के अनन्य भक्त है।



श्री चान्दमलजी पोखरना



आप श्रीमान घीसूलालजी बोरूदिया के तृतीय पुत्र थे। हजारो का दान किया। बडे उदारदानी थे। अजमेर सम्मेलन पर खुले दिल से खर्च किया। श्री मरुधरकेसरीजी म० के अनन्य भक्तो मे से एक थे। ३१ वर्ष की अल्पायु मे ही काल कवलित हो गये।

●

आप भावी निवासी श्री घीसूलालजी सेठिया के सुपुत्र और मोहनलालजी के बडे भ्राता थे। आप बडे होनहार नवयुवक थे परन्तु अल्प समय मे ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपके पिताजी तथा लघु भ्राता दोनो ही पिता-पुत्र धर्म स्तम्भरूप है। आपकी घीसूलाल सोहनलाल सेठिया फर्म मैसूर मे है।



श्री मदनराजजी सुराणा



आप जोधपुर निवासी श्री मगनराजजी सा० के सुपुत्र थे। आप पुलिस विभाग मे उच्च पद पर कार्य करते थे। आपने समाज की तन-मन से खूब सेवा की थी। उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज के शिष्य के दीक्षा-महोत्सव की व्यवस्था करते हुए आपका स्वर्गवास हो गया।

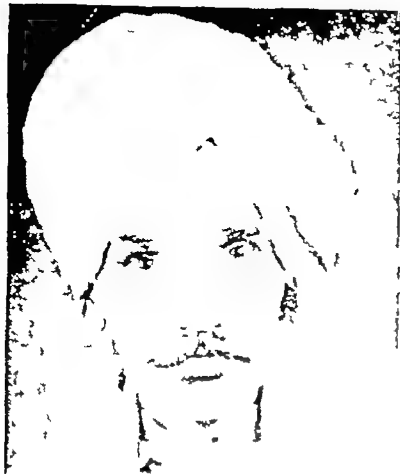
आप बिलाडा निवासी बहादुरमलजी कटारिया के सुपुत्र है। बडे उत्साही एव मिलनसार है। बिलाडे मे बादरमल चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

●

आप मादलिया निवासी श्री हस्तीमलजी मूथा के दत्तक पुत्र है। आप स्थानकवासी समाज के सेक्रेटरी उदारमना शास्त्र-श्रवण प्रिय सज्जन है। आपने अपने कुटुम्बियो को आर्थिक दृष्टि से उन्नत एव सुदृढ बनाया है।



श्री अनूपचन्दजी वोहरा



आप अटपडा निवासी है । वडे परिश्रमी एव धर्मसाधना मे लीन रहने वाले पुरुष है ।

•

आप वुसी निवासी स्व० सेठ दीपचन्दजी सेराजी के दत्तक पुत्र है । होनहार नवयुवक है । आपके दान से हास्पिटल, जैन स्थानक, वहुत सी प्याऊ एव धर्मशालाए वनी है । व्यवसाय मुडागेरी [मैसूर] मे है ।



श्री देवीचन्दजी वोहरा

श्री सुन्दरवाई विनायकिया



आप श्रीमान् देवीचन्दजी विनायकिया पट्टा की कर्मावास (मारवाड) निवासी की धर्मपत्नी है । श्री किशनलालजी की मातेश्वरी है । धर्म कार्यों मे रस लेनेवाली महिला है । आपके परिवार का व्यवसाय ताम्बरम् मद्रास मे है ।

श्री जुगराजजी वरमेचा



आप अटपडा मारवाड के निवासी आपके खीवराजजी केवलचन्दजी दो ह भाई है । तीनो भाई धमप्रेमी, समाज एव दानवीर है । चिकित्सालय भवन निर्माण कराया, हाईस्कूल के और स्थानक के निर्माण मे पूरा हाथ रहा है ।

•

आप वडे मिलनसार एव उत्साही पुरुप आपके सुपुत्र श्री जुगराजजी तथा श्री सम्प राजजी होनहार युवक है । सामाजिक क मे अच्छा रस लेते है । आपका व्यवस सिकन्दरावाद दक्षिण मे चलता है । गुरुदेव अनन्य भक्त है ।



श्री पुखराजजी मुणोत

श्री चौथमलजी खींवसरा



व्योपारी-मारवाड निवासी श्री पन्नालाल-जी खीवसरा के चतुर्थ पुत्र है। आपने चारो ब्रध कर रखे है। धर्माराधना मे अग्रसर है। आपके बडे भ्राता श्री साहबचद जी चिक-मगलूर मे सुन्दर ढग से व्यवसाय चला रहे हैं छह भाइयो का सपन्न परिवार है।

●

आप सादडी निवासी वेद मूथा है। आप का व्यवसाय बम्बई मे है। आप समाजसेवा मे सुन्दर सहयोग करते है



श्री रूपचन्दजी बोहरा



आप वूसी निवासी सेठ चन्द्रभानजी बोहरा के सुपुत्र है। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमाणकचन्द जी अपना व्यापार मद्रास मे सुन्दर ढग से चला रहे है। बोहराजी धर्मप्रेमी तथा स्थानकवासी समाज के प्रमुख पुरुष है

श्री एम० मंगलचन्दजी जैन



●

कु० मगलचन्दजी सहवास निवासी सेठ मिश्रीमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। श्री मोहनलालजी आपके कनिष्ठ भ्राता हैं। दोनो भाई सम्मिलित रूप से मद्राम मे अपना व्यवसाय चला रहे हैं। गुरुदेव के परम भक्त हैं।

●

आप नीलम—मारवाड जकशन निवासी श्री फौजमलजी सा० के तृतीय पुत्र हैं। राणा-वास छात्रालय को एक मुश्त इक्कीस हजार रुपया प्रदान किया। लोकाशाह अर्ध सहस्रा-ब्दी पर भी हजारो खर्च किये। बडे भद्र, दानवीर एव धर्मनिष्ठ हैं।



श्री पुखराजजी बोहरा



राणीवाल निवासी सेठ गणेशमलजी के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता रीलालजी हैं। आप राणीवाल के रह चुके है। आजकल प्रेमराज गण- फेक्ट्री पीपलिया (मारवाड) के र उत्साही, धर्मप्रिय, नवयुवक हैं।

●

ा की कर्मावास (मारवाड) निवासी ठ पुखराजजी विनायकिया की धर्म- ।या श्री मोहनलालजी मोहनलालजी किया की मातेश्वरी हैं। आप की से बच्चों मे धार्मिक प्रेम पनपा हैं। ील महिला हैं। व्यवसाय ताम्बरम् ता है।



श्री पुखराजजी कटारिया



मवाज निवासी श्री हिम्मतमलजी कटारिया के सुपुत्र है। वड दयालु, दानवीर धमपरायण, वयोवृद्ध सज्जन हैं। आपके लघुभ्राता श्री अनराजजी एवं सुपुत्र श्री पारसमलजी मिलनसार तथा गुरुदेव के भक्त है।

श्री अमरचन्दजी पीतलिया



सिरियारी निवासी दानवीर सेठ वि लालजी के सुपुत्र है। आपके बडे भ्रात बच्छराजजी बडे मिलनसार एवं अ नवयुवक है। धन एवं धर्म दोनों कमा कुशल हैं। आपका व्यवसाय रत्ना म है।

●

आप चाउडिया निवासी जीवराजजी के पौत्र और वृद्धिचन्दजी सा० के सुपुत्र श्री हीरालालजी तथा अमोलकचन्दजी अ चाचा है। आप उदारमना नवयुवक व्यवसाय मद्रास म है।



श्री राजमलजी मरलेचा



आप गुडागिरी, सोजत रोड निवासी सेठ ांशमलजी मरलेचा के दत्तक पुत्र है। पके सात पुत्र एव पुत्रिया है। आप विशेष तृभक्त है। आपकी धार्मिक श्रद्धा अच्छी ।

●

आप जयतारण निवासी श्री देवराजजी सा० वरी की धर्मपत्नी है। और श्री शान्ति-लजी व श्री धर्मीचन्दजी की मातेश्वरी । आप परम गुरुभक्त है और भाग्यवती । आपके सुपुत्र तिरुपति, मद्रास मे प्रख्यात वसाय का सचालन कर रहे है।



श्री सुगालचन्दजी तालेडा



आपकी जन्मभूमि चाउण्डिया (मारवाड) है। आपके लघुभ्राता का नाम श्री जुगराज-जी है। बैंगलोर मे दोनो भाइयो का व्यव-साय सम्मिलित रूप मे बडे सुन्दर ढग से चल रहा है। आप देव-गुरु के परम भक्त है।

श्री कन्हैयालालजी जैन



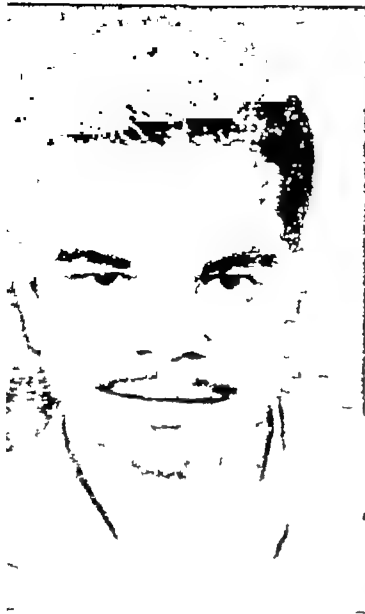
कु० कन्हैयालालजी, मादलिया निवासी सेठ मिश्रीमलजी मूथा के पौत्र तथा श्री सम्पतराजजी सा० के सुपुत्र है। आपके पिताजी ने अपना कारोबार कुप्पल तथा गगावती मे चला रखा है। पिता-पुत्र की गुरुभक्ति, त्याग तथा तपस्या अनुकरणीय है।

●

आप सोजत निवासी श्री सिरेमलजी पगारिया के सुपुत्र है। आप क्रान्तिकारी विचार वाले खादीभक्त एव धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। आपके सम्पतराजजी बदरीचन्दजी आदि तीन सुपुत्र है। आपका कारबार निश्बार रमेडी मे सुन्दर ढग से चल रहा है।



श्री उत्तमचन्दजी अलिजार



श्री घीसूलालजी लोढा



[ ] जयतारण, मारवाड निवासी श्री
[ ]ल अलिजार के सुपुत्र हैं। आप व्यव-
[ ]गलोर मे चलाते हैं। बडे मिलनसार
[ ]ान नवयुवक है।

●

मुकनचन्दजी वालिया मारवाड के
श्रीमन्त थे। आपने लाखो का दान
[ ]ी दानी नही कहलाने का सकल्प
[ ]। श्री हस्तीमलजी आपके बडे पुत्र
[ ]श्री मोहनलालजी माणकचन्दजी आदि
बडे सदाचारी, मिलनसार तथा शान्त
[ ] वाले है।

श्री सोहनराजजी कन्हैयालालजी जैन



यह राणीवाल निवासी बोहरा सोहनराज जी तथा गूदडमलजी सुराणा की सयुक्त फर्म है। दोनो सज्जन समाज सेवा मे खूब रस लेते है। बडे कार्यकुशल नवयुवक है।

आप जाउवा की देवली के नि[ ]
सुन्दर गायक एव कवि है। अपने ह[ ]
ही सम्पत्ति उपार्जित करके सदुपयाग[ ]
रहते है। आपका जवाहिर प्रि० प्रेस [ ]
मे जोधपुर मे प्रेस है।

●

आप खारिया (मीठापुर) निवास[ ]
छगनमलजी खिवसरा के सुपुत्र है। [ ]
बडे उदार एव धर्मपरायण व्यक्ति है। अ[ ]
व्यवसाय मद्रास मे है।



श्री मुकनचन्दजी वालिया



श्री पारसमलजी खिवसरा

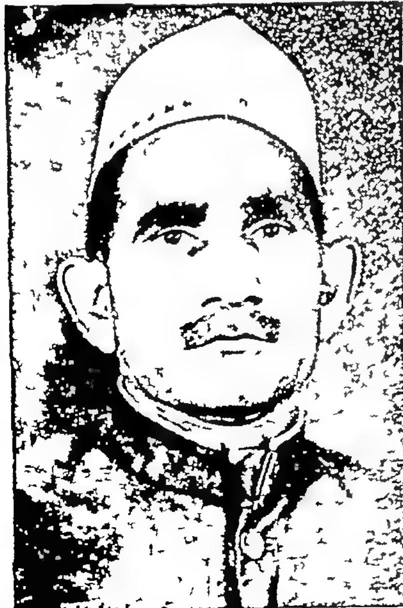
श्री मानमलजी चोरडिया



आप पिच्याक (मारवाड) निवासी सेठ छोटमलजी मालिक फर्म श्री खेमचन्दजी भवरलालजी चोरडिया के दत्तक पुत्र हैं। आप प्रकृति से उत्साही वीर एव हिम्मतवर व्यक्ति है। आपकी बडी जमीदारी है आप शस्त्र सचालन मे भी निपुण हैं।

●

आप सोजत निवासी श्री समथमलजी नावरिया के सुपुत्र है आप दिल के बडे उदार एव धर्मनिष्ठ है प्रकृति से मिलनसार व हसमुख है।



श्री मुन्नालालजी नावरिया

श्री मोहनलालजी भडारी



आप विलाडा निवासी गणेशमलजी भडारी के सुपुत्र व स्था० जैन श्रावक सघ के प्रमुख है। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री पारसमलजी है। दोनो भाइयो का प्रेम राम-लक्ष्मण सा है। दोनो उत्साही हैं। व्ययसाय विलाडे मे ही है।

श्री माणकचन्दजी कोठारी



आप कुरडाया निवासी सेठ सुखराजजी के पौत्र मोहनलालजी के पुत्र है। आप बडी धार्मिक लगन वाले श्रावक है। आप की प्रेरणा से गाँव मे धर्म का अच्छा प्रसार हो रहा है।

●

आप बुसी निवासी स्व० सेठ चन्दन-मलजी वोहरा के सुपुत्र हैं। आप मे धर्म के प्रति लगन, समाज-प्रेम खूब है। आपकी गुरुभक्ति अनूठी है। आप आदर्श युवक है। आप से समाज को बडी आशाए है।



श्री मोतीलालजी वोहरा

श्री सोहनराजजी मूथा



आप मादलिया मारवाड के निवासी हैं। आपके पिता का नाम श्री जेवन्तराजजी है। पिता पुत्र दोनो ही समाज के रत्न है। गगावती (रायचूर) मे अपना व्यवसाय चलाते है।

●

विलाडा निवासी श्री गणेशमलजी ललवाणी के सुपुत्र है। विलाडा स्थानकवासी सघ के प्रमुख है। राज्यसम्मानित श्रीमान् है। आप के सुपुत्र पारसमलजी एव शान्तिलालजी व्यापार मे अच्छा रस लेते है। आपकी अनेक बसे भी चलती है।



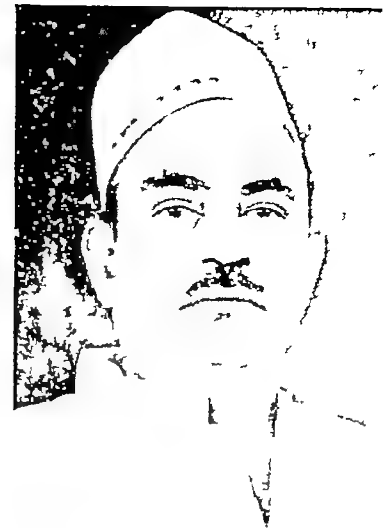
[illegible]

श्री माणकचन्दजी मेहता



आप जयतारण मारवाड के निवासी हैं। बडे ही शान्त, गम्भीर एव गुरुभक्त व्यक्ति है। आप मे सज्जनता कूट-कूट कर भरी है। आपकी कुप्पल मे माणकचद सूरजमल नाम की फर्म एव ओइल मिल है।

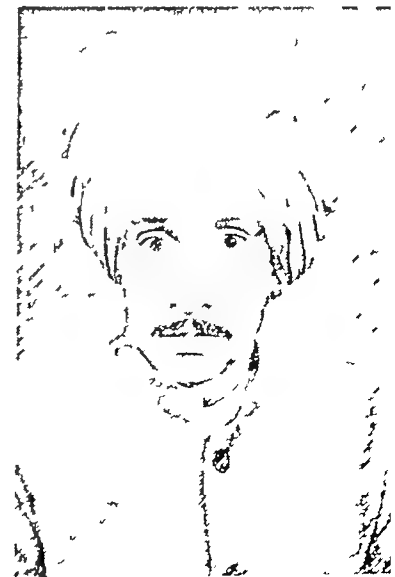
श्री बलवन्तराजजी काठेर



आप बगडी निवासी दिलेर, उत्साही
क्रान्तिकारी विचारो के नवयुवक है। आप
धमपत्नी श्रीमती सज्जनकवर बाई भी
धमपरायण एव विवेकशील है। श्री काठे
का व्यवसाय मद्रास मे है। बगडी के हाईस
तथा छात्रावास के लिये आपकी महा
प्रशसनीय रही है।

●

चाउन्डिया निवासी श्री ताराचन्दजी
सुपुत्र हैं। आपके लघुभ्राता श्री जुगराज
सघ के मत्री, एव सगीतज्ञ है। आपकी व
धनकुँवरजी ने भागवती दीक्षा अगीकार
है। आपका व्यवसाय यही चल रहा है।



श्री पुखराजजी कोठारी

श्री जुगराजजी सचेती



आप सीरवाडा-सोजतरोड निवासी स्व० सेठ वक्तावरमलजी के सुपुत्र थे। कुशल व्यापारी, धर्मनिष्ठ एव सहृदय थे। आप गुरुदेव के परम भक्तो मे थे। आपके बडे पुत्र भवरलालजी है।

●

आप चाउण्डिया निवासी बालचन्दजी वोहरा के सुपुत्र और टीकमचन्दजी, सरपच चाउडिया के बडे भ्राता है। उदार और मिलनसार नवयुवक हैं।



श्री कुशलराजजी कटारिया



आप सोजत निवासी धूलचन्दजी कटारिया के सुपुत्र हैं। उत्साही युवक है। - ा व्यवसाय द० सिकन्दराबाद मे चलता है।

श्री खींवराजजी वोहरा



आप चाउण्डिया निवासी वृद्ध, उत्साही एव धर्मपरायण व्यक्ति थे। आपके सुपुत्र श्री सुगालचन्दजी व अन्नराजजी मारवाड व मद्रास मे अच्छा व्यवसाय चला रहे है।

●

आप चाउण्डिया के निवासी है। आपका व्यवसाय आइनावरम् (मद्रास) मे चलता है। आप धर्मप्रेमी, उत्साही गुरुभक्त नवयुवक है।



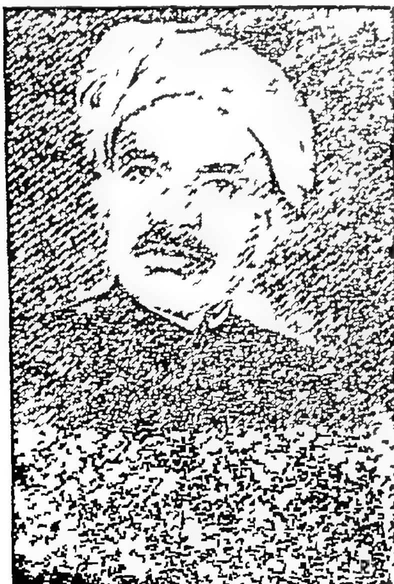
श्री वशीलालजी पीतलिया



आप सिरियारी-साजन निवासी धर्मपरायण पुरुष हैं। खद्दर के पूर्ण प्रेमी हैं। सामाजिक कार्यों में गुप्त रूप से मदद करना बहुत पसंद करते हैं। आपका व्यवसाय मनमाड में चल रहा है।

•

आप राम (मारवाड) के निवासी श्री गजमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। प्रकृति से भद्र, उदार और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। आपने सामाजिक क्षेत्रों में धन का अच्छा उपयोग किया। आपकी धर्मपत्नी श्री दाखी बाई भी बडी धर्मपरायण महिला हैं।



श्री सम्पतराजजी बोहरा

श्री सूरजमलजी सकलेचा



आपकी फर्म श्री हीराचन्द भीकमचन्द के नाम से जोधपुर में मशहूर है। आपके पूज्य भाई सा० भीकमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया है। आपके लघु भ्राता श्री इन्दरमल जी भी आप ही के समान, सरल, उदार एवं पू सादगी पसंद हैं। आप दोनों भाइयों को तथा श्री भीकमचन्दजी सा० के सुपुत्र श्री पारसमलजी को समाज सेवा का बहुत चाव है। बडी सहृदयता से समाज सेवा का लाभ लेते हैं। आप मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के स्तंभ हैं।

श्री घीसूलालजी राका



कुशालपुर निवासी प्रसिद्ध श्रावक हैं। घोर तपस्वी हैं। कई मासखमण और ५१ दिनों तक की तपस्या की है। दानी हैं। आप के सपुत्र फतेहचन्दजी चम्पालालजी मद्रास में व्यवसाय करते हैं।

•

आप चाउण्डिया निवासी श्री चुन्नीलालजी तालेडा के सुपुत्र हैं। आप बडे भद्र एवं धर्मनिष्ठ पुरुष हैं। मद्रास में विभिन्न स्थानों पर आपकी चार प्रसिद्ध फर्में हैं।



श्री गीसुलालजी तालेडा

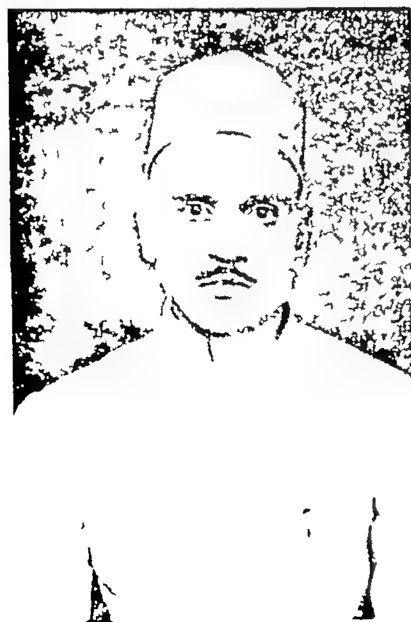
श्री मिश्रीलालजी बाफणा



आप श्री हीरालाल जी साहब के सुपुत्र थे। श्री मोहनलाल जी आपके लघुभ्राता है। बाफणा जी की उदारता और धर्मप्रियता प्रशसनीय है।

●

आप करमावस (मालियाँ का) के निवासी श्री छगनमलजी के सुपुत्र है। आपके कनिष्ठ भ्राता मागीलालजी है। दोनो उत्साही, धर्मप्रिय एव गुरुभक्त है। व्यवसाय मद्रास और वेलूर मे है।



श्री बालावक्षजी बोहरा



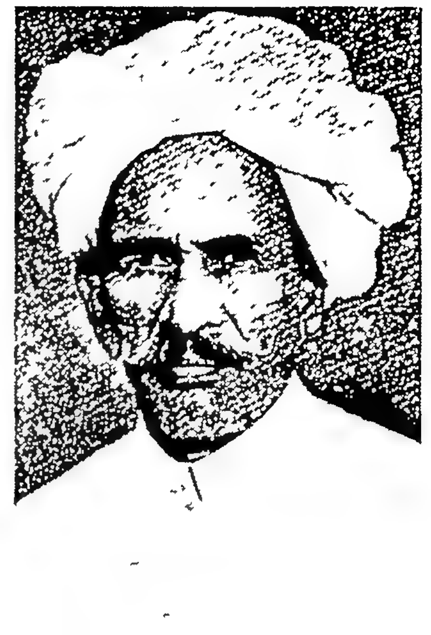
आप राणीवाल मारवाड के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोरा के सुपुत्र है। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी होनहार उत्साही और धर्मप्रिय है। इनमे विजयराजजी प्रत्येक कार्य मे विशेष उत्साह से भाग लेते है।

●

आप चाउण्डिया निवासी धर्मनिष्ठ एव तपस्वी श्रावक थे। आपके मदनलालजी विजयराजजी आदि तीन सुपुत्र है। आपका व्यवसाय रायपेट मद्रास मे बडे सुन्दर ढग से चल रहा है।



श्री मुलतानमलजी मूथा



आप डासपा (मारवाड) के निवासी धर्मज्ञ श्रावक है। आपके श्री हस्तीमलजी ताराचन्द जी आदि पुत्रो ने बेंगलोर मे सुन्दर व्यवसाय चला रखा है। हजारो का दान देते है।

●

आप चाउण्डिया निवासी वयोवृद्ध श्रावक हैं। आपके सुपुत्र भवरलालजी वा सोहनलाल जी समाजसेवा मे खूब रस लेते हैं। देव-गुरु के श्रद्धावान हैं।



श्री केवलचन्दजी मूथा, मादलिया



आप मादलिया के निवासी सरल प्रकृति व्यक्ति है। धर्म मे आपकी पूर्ण आस्था। मैसूर मे केवलचन्द रामसुख नाम की पकी प्रसिद्ध फर्म है।

•

आप बाग्वडी निवासी, उत्साही युवक। आपका व्यवसाय मद्रास मे चल रहा। यहा भी अच्छी जमीदारी है।



श्री रिखबचन्दजी मरलेचा

द्वितीय श्रेणी

श्री स्व० सुजानमलजी बोहरा



आप पीपाड (मारवाड) निवासी थे। आपके सुपुत्र श्री सम्पतराजजी वाहरा है। आपके खानदान मे से उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० एव महासती श्री तेजकँवरजी म० ने भगवती जैन दीक्षा ग्रहण की। आपका व्यवसाय यवतमाल मे है।

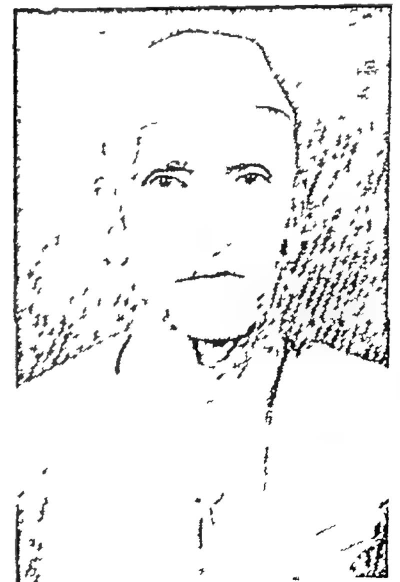
श्री नेमीचन्दजी राजमलजी कोटेचा



आप धर्मपरायण, जनसेवी एव उदार मना व्यक्ति है। आपका व्यवसाय यवतमाल मे अच्छे ढग से चल रहा है।

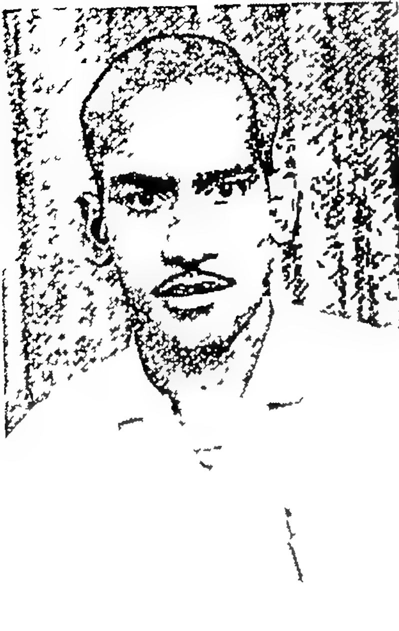
•

आप बडे विनयवान विवेकशील व्यक्ति है। आपका व्यवसाय यवतमाल मे उत्तम रीति से चल रहा है।



श्री नेमीचन्दजी उदयचन्दजी वरलोटा

श्री सी० जवरीलालजी कटारिया



आप सोजत निवासी श्री चुन्नीलालजी कटारिया के सुपुत्र है। आपका व्यवसाय मैंमूर मे चल रहा है। आपकी बहिन विमल कुंवरजी ने स्था० जैन भगवती दीक्षा अगीकार की है। आप उत्साही युवक हैं।

•

आप बीजाजी का गुढा (मारवाड) के निवासी हैं। आप धर्मध्यान मे दृढ और पक्के गुरुभक्त है। मारवाड मे बीजाजी का गुढा और चिंगलपेट मद्रास मे आपका व्यवसाय चल रहा है।



श्री शेषमलजी सकलेचा

श्री घीसालालजी मूथा



आप अटवडा निवासी हैं। आप बडे भद्रिक एव जनप्रिय सज्जन व्यक्ति हैं। आपके सुपुत्र श्री लादूरामजी राजनैतिक क्षेत्र के सुन्दर कार्यकर्त्ता है। आपका व्यवसाय मद्रास तथा अटवडा मे चल रहा है।

•

आप वृद्ध एव धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। आपका मादलिया मे प्रेमराज जवरीलाल के नाम से फर्म चलता है।



श्री प्रेमराजजी लोढा

स्व० श्री घेवरचन्दजी पगारिया



र कुशालपुरा निवासी समाज प्रेमी थे । आपके सुपुत्र भी धर्मप्रिय और गुरुभक्त हैं ।

प्र

ाप अटपडा निवासी उदारमना -सेवी सज्जन हैं । आपके सुपुत्र श्री रीलालजी भी आपही के गुणों का ण कर रहे हैं ।



श्री घीसूलालजी गधैया

श्री मोहनलालजी वोहरा



आप कुशालपुरा मारवाड निवासी गाढमलजी वोहरा के सुपुत्र हैं । आपको जिन-वाणी श्रवण का बहुत शौक है । स्वोपार्जित लक्ष्मी का सदुपयोग कर रहे हैं । आपके बाबूलालजी ऋषभराजजी आदि चार सुशील व आज्ञाकारी सुपुत्र हैं । आपका व्यवसाय मारवाड एवं मद्रास दोनों जगह चलता है ।

आप धूंधला निवासी हैं । समाज में क्रान्ति पैदा करने वाले तथा दृढ धर्म श्रद्धा वाले सज्जन हैं । आपके सुपुत्र श्री लालचन्दजी एक योग्य व्यक्ति हैं । आपका व्यवसाय मद्रास में है ।



श्री हीराचन्दजी धोका

श्री हिम्मतमलजी गुलेच्छा



आप व्यावर निवासी श्री केसरीमलजी गुलेच्छा के सुपुत्र है। आपके कनिष्ठ भ्राता का नाम श्री खीवराजजी था। बचपन से ही आपमे धार्मिक लगन अच्छी है। आपके दत्तक पुत्र श्री उदयराजजी नवयुवक एव सुशील है।

●

आप सिरियारी (मारवाड) के प्रसिद्ध मेहता खानदान के पीतलिया गोत्रीय धर्मज्ञ पुरुष है। आपकी ओसवाल समाज मे अच्छी ख्याति है। भगवद् वाणी के बहुत प्रेमी है। आपके परिवारजनो मे अच्छी धार्मिक भावना है।



श्री बादलचन्दजी काकरिया



आप चौकडी (बडी) निवासी हस्ती-मलजी सा० काकरिया के सुपुत्र हैं। आप उत्साही एव बडे उदार व्यक्ति है। साथ ही कवि, गायक एव कलाकार है। आजकल आप मद्रास मे रुबी जनरल इन्स्योरेन्स कम्पनी मे उच्च पद पर काय कर रहे है।

●

आप श्री शिवराजजी बोकडिया के सुपुत्र है। आपमे धार्मिक लगन अच्छी है। आपकी जसराज नेमीचन्द के नाम से पाली मे प्रसिद्ध फर्म है। आप मूलत खागटा के निवासी है।



अर्थसहायको का संक्षिप्त परिचय, जिनके चित्र प्राप्त न हो सके

श्री एम० मिश्रीमलजी मूथा

आप जयतारण निवासी श्री समरथमलजी मूथा के सुपुत्र हैं। आप दृढ श्रद्धावान् एवं गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं। आपने अपने ही परिश्रम से धनराशि उपार्जित की है। एम० मिश्रीमल जैन के नाम से नाम्बरम्, मद्रास में आपकी फर्म चलती है।

श्री चम्पालालजी सकलेचा

आप बलूंदा निवासी श्री घीसूलालजी सकलेचा के बड़े पुत्र हैं। आप प्रसिद्ध व्यापारी, समाज-सेवी, उदार दिल नवयुवक हैं। आपके सबसे छोटे भाई सिद्धराजजी भी होनहार नवयुवक हैं। दोनों भाइयों का व्यवसाय सम्मिलित रूप से जालना में चलता है। वहाँ घीसूलाल चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

श्री घीसूलालजी रिखबाजी पुनमिया

आप बड़े ही उत्साही, समाजसेवी युवक हैं। आप धर्म के वरद पुत्र हैं। सारी श्री एवं समृद्धि स्वोपार्जित है। आपकी नाईगाँव बम्बई में घीसूलाल रिखबाजी नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री चन्दनमलजी लालचन्दजी कोठारी

आप खवासपुरा के निवासी हैं। आजकल [illegible] में आपका व्यवसाय लालचन्द मोहनलाल के नाम से चलता है। आप समाज के अग्रणी हैं। सब श्री लालचन्दजी मोहनलालजी तथा चम्पालालजी चारों ही भाई बड़े श्रद्धालु एवं गुरुदेव के परम भक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी गुलेच्छा

आप बिलाड़ा के निवासी हैं। उदार दिल धर्मप्रिय पुरुष हैं। आपके सुपुत्र श्री उदयराजजी मद्रास में वकालत करते हैं। आपका व्यवसाय आटनावरम मद्रास में अच्छे स्तर पर चल रहा है।

श्री जयवन्तराजजी सुगनचन्दजी बाफणा

आप कुसालपुरा निवासी हैं। आपका व्यवसाय बैंगलोर तथा मद्रास दोनों स्थानों पर अच्छा चलता है। आप दोनों धर्मप्रेमी व्यक्ति हैं।

श्री भँवरलालजी रांका

आप ब्यावर के प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। आप अच्छे तार्किक एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। आप एवं आपके पिता श्री जुगराजजी गुरुदेव के परम भक्त हैं। आपकी वकालत जोधपुर, जयपुर, अजमेर, ब्यावर एवं देहली में अच्छी चलती है।

श्री रामचन्द्रजी सकलेचा

आप सरवाड़ निवासी जुहारमलजी सकलेचा के पौत्र और श्री गणेशमलजी के सुपुत्र हैं। आप धर्मानुरक्त, उदार एवं परम विनीत व्यक्ति हैं। आपकी बड़नेरा में जुहारमल गणेशमल नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री रिखबचन्दजी गाँधी

आप राणावास निवासी श्री नैनमलजी के सुपुत्र हैं। खादीप्रेमी समाजसेवी शान्त, पुरुष हैं। आपकी धार्मिक लगन बड़ी सराहनीय है। आपका व्यवसाय यवतमाल में चलता है।

श्री पारसमलजी सुराणा

आप साजत निवासी श्री केसरीमलजी सुराणा के सुपुत्र है। आपके काका गभीरमलजी सा० व कनिष्ठ भ्राता श्री मदनराजजी तथा सुपुत्र सोहनलालजी एव सुदशनलालजी आदि सम्पूर्ण परिवार धर्मानुरक्त, विनयशील, एव समाजसेवी परिवार है। आप गुरुदेव के अनन्य भक्त है। आपका कुभकानम् मद्रास तथा मैसूर मे अच्छा व्यवसाय चलता है।

श्री नथमलजी भसाली

आप जाजणवास निवासी श्री पन्नालालजी भसाली के सुपुत्र है। आप सरल हृदय नवयुवक है। आपका व्यवसाय अपने गाँव मे मद्रास मे पन्नालाल नथमल के नाम से चलता है।

श्री फुटरमलजी राजमलजी बरलोटा

आप सादडी निवासी बरलोटा खानदान के है। आपने लौकाशाह जैन गुरुकुल सादडी (मारवाड) को एक मुश्त बीस हजार तथा सादडी सम्मेलन के अवसर पर भी एस मुश्त बीस हजार फूटरमल दानमल के नाम से दिये है। और अनेक सस्थाओ को आप खुले हाथो से दान देते रहते है। आपका व्यवसाय पूना मे सुन्दर ढग से चल रहा है।

श्री फूलचन्दजी धर्मीचन्दजी डूँगरवाल

आप धावला निवासी है। स्व० फूलचन्दजी सा० ने अनेक दीक्षाएँ दिलाई थी। वे समाज के प्रमुख व्यक्ति थे। आपकी स्मृति मे स्थानक का निर्माण कराया गया है। आप सन्तो की भक्ति मे लीन रहनेवाले धमचुस्त व्यक्ति थ। आपका व्यवसाय धावला मे ही चलता है।

श्री विसनराजजी कटारिया

आप सहवाज निवासी श्री वक्तावरमलजी कटारिया के सुपुत्र है। वडे परोपकारी एव समाजसेवी पुरुष है। आप अन्धश्रद्धा से दूर रहने वाले है। आपका व्यवसाय मद्रास मे सुन्दर ढग से चल रहा है।

श्री भवरलालजी नौरतनमलजी सेठ

आपकी फर्म ब्यावर मे गणेशदास समीरमल के नाम से प्रसिद्ध ह। आपने स्वोपार्जित चचल लक्ष्मा का सदुपयोग मे व्यय करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। आप धमपरायण एव दानी है। दोनो भाइयो का अटूट स्नेह है। आप अपनी जन्मभूमि निमाज मारवाड मे एक बडी धनराशि व्यय करके धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे है। आपकी पूजनीया भौजाई साहब तो दयालु महिलाओ मे वेजोड है।

श्री राजमलजी नथमलजी बरलोटा

आप मारवाड सादडी के निवासी है। वडे दानी एव समृद्धिशाली पुरुष है। आप लगभग चार लाख की कीमत की जमीन तथा ३१ हजार रुपये नकद श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल को समर्पित कर यशस्वी बने है। तथा अब सादडी मे एक सुन्दर जैन स्थानक का निर्माण करवाना चाहते है। आपका व्यवसाय पूना तथा बैंगलोर मे चल रहा है।

श्री मिश्रीमलजी कटारिया

आप सहवाज निवासी सेंसमलजी सा० के सुपुत्र है। स्वोपार्जित लक्ष्मी का खूब सदुपयोग कर रहे है। आपका व्यवसाय मद्रास मे चलता है।

श्री हेमराजजी सिंगी

आप कुमारपुरा निवासी तपस्वी, धर्मानुरागी, एव दृढप्रतिज्ञ पुरुष है। आपने अनेक जगहो पर अपनी चचल लक्ष्मी का दान कर सच्चे लक्ष्मीपति होने का परिचय दिया है। नये जैन धर्मानुयायी खटीक भाइयो के लिये

एक मुश्त पचहत्तर हजार रुपया प्रदान करके अपने धर्मप्रेम का परिचय दिया है। आपका व्यवसाय रायपेट मद्रास में सुचारु रूप से चल रहा है।

जवरचद जी बोहरा

आप कुशालपुरा निवासी शाह केसरीमलजी के सुपुत्र हैं। उत्साही नवयुवक हैं, हँसमुख हैं। सामाजिक कार्य में तत्पर रहते हैं। कारबार यहीं है।

श्री भँवरलालजी मकलेचा

आप बीजाजी का गुड़ा के निवासी श्री गुलाबचन्दजी मकलेचा के सुपुत्र हैं। उत्साही, भद्र और सरल व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय बैंगलोर में है।

श्री बालाबगसजी विजेराजजी बोरा

आप राणावास मारवाड़ के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोरा के सुपुत्र हैं। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनराजजी तीनों ही बड़े होनहार उत्साही और धर्मप्रिय व्यक्ति हैं। इनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह से भाग लेते हैं। आपका व्यवसाय मारवाड़, मद्रास, और गुजरात में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री लालचन्दजी मोहनलालजी दूगरवाल

आप बरमावस निवासी हैं। व्यापार सिकन्दराबाद में सुन्दर चल रहा है। दोनों भ्राता प्रसन्न, उत्साही और सेवाभावी हैं।

श्री केवलचन्दजी चोपड़ा

आप सोजत निवासी दानवीर, समाजभूषण हैं। आपने गौतम जैन गुरुकुल श्री उम्मेद गौशाला, आदि अनेक संस्थाओं में तथा सामाजिक कार्यों के लिए लगभग तीन लाख रुपये व्यय किये हैं। आप गोपालचन्दजी सा० चोपड़ा के पुत्र हैं। आपके पास से कोई भी व्यक्ति सहायतार्थ पहुँच कर निराश नहीं लौटता। आप खद्दर भक्त हैं और तीन स्कन्ध भी रखते हैं। आपके लघु भ्राता श्री फूलचन्दजी हैं। आपका व्यवसाय बम्बई में श्री केवलचन्द चम्पालाल के नाम से चलता है।

श्री चुन्नीलालजी सम्पतराजजी बरडिया

फर्म के सर्वाधिकारी श्री सम्पतराजजी बरडिया जोधपुर के निवासी हैं। आपके दो कनिष्ठ भ्राता भी आप ही की भाँति के कार्यकर्ता हैं। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के मंत्री हैं।

श्री मदनराजजी नाहटा तथा श्री जवरीलालजी नाहटा

दोनों भाई हैं। आप सोजत निवासी बाबू धीसूलालजी नाहटा के सुपुत्र हैं। आपके लघु भ्राता श्री जवरीलालजी नाहटा हैं। दोनों भाइयों में असीम स्नेह है। आप बड़े विशाल हृदय के हैं। सामाजिक कार्यों में मुक्तहस्त से दान देते हैं। आपने परिवार तथा अन्य सम्बन्धियों को अपने व्यवसाय का साझेदार बनाकर उन्हें भी सम्पन्न बना दिया है। आपका व्यवसाय कटक-उड़ीसा में चलता है। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सचिव भी हैं।

श्री प्रेमराजजी कामदार

आपका जन्म चाउन्डिया (मारवाड़) में हुआ। आप जवानमलजी तालेड़ा के सुपुत्र हैं। आप राज्य शासन के कार्यसंचालन में बहुत कुशल हैं। वर्तमान में आपका व्यवसाय बैंगलोर शहर में चल रहा है। जहाँ आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

श्री पुखराजजी सीमोदिया

आप ब्यावर निवासी श्री हीरालालजी के सुपुत्र हैं। आप वीर वर्धमान सघ के प्रमुख हैं और अनेक सस्थाओं के प्रमुख कार्यवाहक हैं। श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति के अध्यक्ष हैं। आप बडे कुशाग्र-बुद्धि, व्यवसायकुशल, धर्मप्रेमी और अनुशासनप्रिय व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय पाबूदान हीरालाल तथा हीरालाल पुखराज, नाम से ब्यावर और अजमेर मे चलता है। जिसकी और शाखाऐं भी है।

श्री बालचन्दजी बाफना

आप सादडी निवासी सन्तोकचन्दजी सा० बाफणा के सुपुत्र है। आप श्रीलोंकाशाह जैन गुरुकुल सादडी के अध्यक्ष है। बडे धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपने धर्मकार्यों के लिये हजारो रुपयों का दान मुक्त हस्त से दिया है। आपने अपने ही हाथों से सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्जित की है। श्री शान्तिलाल रूपचन्द के नाम से आपकी पेढी प्रसिद्ध है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पानीबाई व सुपुत्र श्री रूपचन्दजी सदैव धार्मिक कार्यों के प्रति जागरूक है।

द्वितीय श्रेणी

श्री अमरराजजी बुधराजजी कटारिया

आप सहवाज निवासी श्री जवानमलजी कटारिया के सुपुत्र है। आप दोनो भ्राता व्यापारकुशल एव सरल युवक है। व्यवसाय मद्रास मे चल रहा है।

श्री रघुनाथमलजी तालेडा

आप सोजत निवासी श्री गुलाबचन्दजी के सुपुत्र हैं। आपका वेलूर मद्रास मे बहुत बडा व्यवसाय है। आप बडे परोपकारी है। वेलूर के भारतविख्यात मिशन अस्पताल मे रोगियों के लिए देश के कोने २ से जो रोगी आते है उनको वहाँ स्थान दिलवाना और उनकी सेवा करना आपका नित्य कर्म बन गया है। इसमे जो कुछ भी खर्च होता है वह आप सहन करते हैं। और ऐसा करने मे अपना अहोभाग्य समझते हैं। आप पूर्ण गुरुभक्त हैं।

श्री जयवन्तराजजी विजयराजजी बोहरा

आप जयतारण निवासी एव जयवन्तराजजी विजयराजजी फर्म के मालिक हैं। आप जीरे के बडे प्रसिद्ध व्यापारी हैं। आपका समाज मे उच्च स्थान है। आप खूब गुप्त सेवा करते है। अभी २ आपने बैंगलोर, मद्रास आदि दूसरे प्रान्तो मे व्यवसाय हेतु रहने वाले जयतारण निवासी स्वधर्मी बन्धुओं से स्वय भ्रमण करके सवा लाख रुपये इकट्ठे किये है और यहां एक विशाल धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे हैं।

श्री पारसमलजी धोका

आप सोजत के स्थानकवासी समाज के मत्री है। बडे उत्साही व धर्मानुरागी व्यक्ति है। बडे व्यवस्थाकुशल है। पूज्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय के भी आप मत्री है। आपने कठोर परिश्रम से पुस्तकालय को अपने पैरों पर खडा कर दिया है।

श्री दीपचन्दजी हस्तीमलजी सकलेचा

आप सहवाज निवासी पटवारी गुलाबचन्दजी सकलेचा के सुपुत्र है। दोनो भाइयों के हृदय मे धर्म की गहरी लालिमा है। आपका व्यवसाय गुडियातम मद्रास मे हैं।

श्री पुखराजजी रिखबचन्दजी राका

आप कुमारपुरा निवासी, आधुनिक विचारों के नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय मद्रास मे है।

श्री पुखराजजी रायचन्दजी छाजेड

आप रायपुर निवासी, धर्मपरायण एव योग्य व्यक्ति है। आपकी धर्मपत्नी श्री फूलीबाई घोर तपस्विनी है। उनके निरन्तर एकान्तर चलता है। आपका बैंगलोर मे बहुत ही व्यवस्थित व्यवसाय है।

श्री प्रतापमलजी मगराजजी भलगट

आप केसरसिंहजी का गुडा के निवासी हैं। समाज के प्रमुख श्रावक हैं। आप सन्त एवं सतियों की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं। आपका व्यवसाय गाँव में ही चलता है।

श्री लिखमीचंदजी खारीवाल

आप सोजत निवासी नारमलजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आपकी धर्म के प्रति गहरी लगन है। आपका व्यवसाय बैंगलोर में है।

श्री सिणगारबाई खारीवाल

आप सोजत निवासी नारमलजी खारीवाल की धर्मपत्नी हैं। आपके सुपुत्र लिखमीचन्दजी एवं पारसमलजी बड़े आज्ञाकारी हैं और आप स्वयं धर्मपरायण महिला हैं।

श्री सुगनीबाई खाबिया

आप सोजत रोड निवासी हेमराजजी खाबिया की धर्मपत्नी हैं। आपके सुपुत्र श्री रतनचन्दजी बड़े मिलन-सार धर्मानुरागी व्यक्ति हैं। श्री सुगनीबाई गृहकार्य में दक्ष हैं। आपका स्वभाव बचपन से ही बहुत अच्छा है। आपका व्यवसाय मद्रास में है।

श्री हरकचंदजी कन्हैयालालजी कोठारी

आप खवाशपुरा निवासी हैं। आप सात भाई हैं। सबकी प्रकृति सुन्दर एवं मिलनसार हैं, पूर्ण उत्साही हैं। समाज के कार्य में दत्तचित्त रहते है। आपका व्यवसाय मद्रास, गोठन, एवं खवाशपुरा में है।

श्री चन्दनमलजी भीकमचन्दजी राका

आप कुशालपुरा मारवाड़ निवासी बावडी वाले राका के नाम से प्रसिद्ध है। समाज में आपका गौरवपूर्ण स्थान है। आपका व्यवसाय मारवाड़, मद्रास, चालीसगांव, और कोयम्बटूर में चलता है। समाजोन्नति के कामों में खूब हाथ बटाते हैं और हमेशा अग्रणी रहते हैं।

श्री चम्पालाल खारीवाल

आप कुशालपुरा निवासी अनराजजी खारीवाल के सुपुत्र हैं। आप सरल हृदय, सेवाभावी, एवं उदार-मना व्यक्ति हैं।

श्री मागीलालजी रेड

आप जोधपुर निवासी श्री मेघराजजी रेड के सुपुत्र हैं। आप ने जीवन में खूब उतार चढाव देखे हैं। साहसी उत्साही नवयुवक हैं। गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।

श्री नेमीचन्दजी बाठिया

आप बगडी निवासी शाह हीराचन्दजी के सुपुत्र थे। उदारमना थे। एकमुश्त तीस हजार बगडी जैन हाई-स्कूल को तथा सत्तरह हजार सोजत रोड जैन स्थानक को दिये तथा पचास हजार प्रकीर्णक दान दिए। आपकी धर्म-पत्नी श्रीमती मदन कुंवरबाई आप के पद चिह्नों पर चलती हुई लक्ष्मी का सदुपयोग कर रही है। कारबार आरकाट मद्रास में चल रहा है।

श्री जवरचन्दजी बोहरा कुशालपुरा

श्री चम्पालालजी खारीवाल कुशालपुरा

श्री मिश्रीमलजी नगराजजी गोठी, बिलाटा (बीलीवाक्कम)

आप तीनों सज्जन भी परम उत्साही, धर्मप्रेमी और गुरुदेव के भक्त हैं।

तृतीय श्रेणी के सहायदाता

१ श्री अमोलकचन्दजी छगनमलजी धारीवाल, बगडी (आरकोनम)
२ श्री अभयराजजी रामलालजी कोठारी, (दूगड) कुरडाया
३ श्री केशरीमलजी तेजराजजी भडारी, पीपाड (मैसूर)
४ श्री अमोलकचन्दजी भवरलालजी नाहर, कालू आनदपुर (मद्रास)
५ श्री कातिलालजी चादमलजी पुनमिया, सादडी
६ श्री गणेशमलजी चादमलजी काँठेड, कोटडा
७ श्री गणेसमलजी सुकनराजी पोकरना, सामाजी का गुडा (मद्रास)
८ श्री गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलिया, सिरियारी, (हैदराबाद)
९. श्री गहरीलालजी भवरलालजी पगारिया, बिलाडा (मद्रास)
१० श्री घीसूलालजी भवरलालजी लुकड, सोजत सीटी, (बैंगलोर)
११ श्री जमराजजी चन्दनमलजी सोमावत, सिरियारी, (मद्रास)
१२ श्री जेबतराजजी पारसमलजी कोठारी, (दूगड) कुरडायाँ
१३ श्री जोगीलालजी कन्हैयालालजी हिरण, बिलाडा
१४ श्री जुगराजजी जवरीलालजी नाहर, हरियाडाणा, (मद्रास)
१५. श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
१६ श्री जुगराजजी गजराजजी कटारिया, सेवाज
१७ श्री देवीचन्दजी रूपचन्दजी साकरिया, (साडेराव)
१८ श्री धूलचन्दजी पुखराजजी सिंगी, सिरियारी (हैदराबाद)
१९. श्री धनराजजी चम्पालालजी समदडिया, केलवाज, (बेंगलोर)
२० श्री प्यारी बाई, जालोर
२१ श्री प्रेमराजजी मोतीलालजी मूथा, चावण्डिया, (मद्रास)
२२ श्री पुखराजजी विरदीचन्दजी चौधरी, जेतारन (मद्रास)
२३ श्री प्रेमराजजी विरदीचन्दजी गुगलिया, राणावास (सिकन्दराबाद)
२४ श्री पुखराजजी विरदीचन्दजी गाधी, बुसी
२५ श्री प्रेमचन्दजी बाबूलालजी बोहरा, बुसी
२६ श्री प्रेमराजजी हस्तीमलजी सोलकी, देवली आऊवा की
२७ श्री प्रतापमलजी दुलहराजजी कटारिया, सेवाज
२८ श्री बसीलालजी मीठालालजी सिंगी, सोजत सीटी, (बंगलोर)
२९ श्री बस्तीमलजी बाठिया, सोजतसीटी (मद्रास)
३० श्री भवरलालजी लुकड व चम्पालालजी नाहर, बंगलोर सीटी
३१ श्री भवरलालजी विरधीचन्दजी कोठारी, (दूगड) कुरडाया
३२ श्री मोतीलालजी काठेर, कोटडा (बंगलोर सीटी)
३३ श्री मगलचन्दजी नेमीचन्दजी बोहरा, केलवाज, (बंगलोर)
३४ श्री मिश्रीलालजी पूनचन्दजी दना, बीजाजी का गुडा (मद्रास)

३५. श्री मिश्रीमलजी जीवराजजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
३६ श्री मिश्रीलालजी मोतीलालजी नाहर, केलवाज, (मद्रास)
३७ श्री माणकचन्दजी रगलालजी राका, कुसालपुरा (मद्रास)
३८ श्री सोहनराजजी गणेशमलजी नाहर, देवली (आऊवा की)
३९ श्री मदनलालजी जसवन्तराजजी सुराणा, सोजत (कुम्भकोणम्)
४० श्री मोतीलालजी सरदारमलजी कोठारी (दूगड) कुण्डाया (मद्रास)
४१ श्री मिश्रीबाई शोभागमलजी की धर्मपत्नी, जेतारण
४२ श्री लालचन्दजी सम्पतराजजी कोठारी, कुसालपुरा (बंगलोर)
४३ श्री लिखमीचन्दजी नेमीचन्दजी करणावट, जोधपुर
४४ श्री विनयचन्दजी हीराचन्दजी पीतलिया, सोजतरोड
४५ श्री सेसमलजी भवरलालजी गेलडा, बडा गुडा (आरकोनम)
४६ श्री हिम्मतमलजी प्रेमचन्दजी साकरिया, साडेराव
४७ श्री मिश्रीलालजी चादमलजी जामड भवाल (मारवाड)
४८ श्री अभेराजजी चनणमलजी सकलेचा जेतारण (मारवाड)
४९ श्री जेवतराजजी केसरीमलजी सोलकी सादडी
५० श्री सोहनलाल खुबालाल मदनलाल कावडिया सादडी

चतुर्थ श्रेणी के सहायदाता

१ श्री केवलचन्दजी अमृतलालजी कोठारी, बगडी (आरकोनम)
२ श्री कुकमलजी धनराजजी सुराणा, बागरदा
३ श्री गणेशमलजी बाबूलालजी गुगलिया, राणावास, (सिकन्दराबाद)
४ श्री गुलाबचन्दजी अचलदासजी भडारी, जोधपुर
५ श्री चम्पालालजी देवराजजी सीसोदिया, इन्दावड
६ श्री जीवराजजी उगमराजजी दरडा, पुजलू
७ श्री जसराजजी नौरतमलजी बोहरा, कालू (मैसूर)
८ श्री जीवराजजी नेमीचन्दजी सीसोदिया, इन्दावड
९ श्री जवतराजजी चम्पालालजी सिगी, कालू आनन्दपुर (आम्बुर)
१० श्री जमराजजी पारसमलजी देवीचन्दजी सिगी, सिरियारी (हैदराबाद)
११ श्री जसराजजी रामचन्दजी बलगट, केसरसिंगजी का गुडा (हैदराबाद)
१२ श्री जीवराजजी भीकमचन्दजी काठेड, कोटडा, (वेलीपुरम्)
१३ श्री दाखीबाई (नवरीबाई) कन्हैयालालजी चोरडिया की धर्मपत्नी चावावतो का नोखा
१४ श्री धूलचन्दजी चादमलजी ललवाणी, खारिया मीठापुर (मद्रास)
१५ श्री पूनालालजी महावीरचन्दजी गादिया, सोजत (बंगलोर)
१६ श्री पुखराजजी मोतीलालजी लुणावत, बलुन्दा, मैसूर
१७ श्री पुखराजजी हीराचन्दजी खिवसरा, बोपारी, (हैदराबाद)
१८ श्री फौजमलजी जेठमलजी चौधरी, जालोर
१९ श्री वस्तीमलजी शान्तिलालजी काठेड, सोजत
२० श्री मोतीलालजी शान्तिलालजी समदडिया, केलवाज (बंगलोर)
२१ श्री मोहनलालजी सोहनराजजी रेड, मादलिया, मैसूर

२२. श्री मगलचन्दजी मीठालालजी चौधरी, जालोर

२३ श्री मोतीलालजी महावीरचन्दजी श्रीश्रीमाल, सोजत, (कुम्भकुलम)

२४ श्री मागीलालजी काठेर, कोटडा

२५ श्री रतनचन्दजी मीठालालजी आचलिया, कोटडा (मद्रास)

२६ श्री शोभाचन्दजी लुणावत, बगडी (मैसूर)

२७ श्री सैसमलजी भवरलालजी बव सोजत, (मैसूर)

२८ श्री साकलचन्दजी लालचन्दजी चौधरी, जालोर

२९ श्री मिश्रीलालजी मीठालालजी सचेती धुबला (काजीवरम)

३०. श्री मोहनलालजी केवलचन्दजी काठेड वगडी (बीडकी)

३१ श्री सोहनलालजी रमेशकुमारजी सचेती, सोजतरोड

३२ रतनचन्दजी, चान्दमलजी, मकाना नीमाज (चगल पेठ)

अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति प्रवन्धकारिणी

१ अध्यक्ष— श्री पुखराजजी शीशोदिया, ब्यावर

२ उपाध्यक्ष—श्री बालचन्दजी बाफणा, सादडी (मा०)

३ उपाध्यक्ष—श्री केवलचन्दजी चौपडा, साजत सीटी

४ मत्री—श्री सम्पतराजजी बरडिया, जोधपुर

५ सहमत्री—श्री मदनराजजी तालेडा, चावडिया

६ सहमत्री—श्री सोहनराजजी सुराणा, सोजत सीटी

७ सहमत्री—श्री मदनराजजी नाहटा, सोजत सीटी

८ सहमत्री—श्री मदनराजजी बाठिया, सोजत सीटी

९ कोषाध्यक्ष—श्री इन्दरमलजी सकलेचा, जोधपुर

१० सलाहकार—श्री पारसमलजी बोका, सोजत सीटी

११ " श्री प्रेमराजजी कामदार, चावडिया

१२. " श्री श्री भवरलालजी सेठ, ब्यावर

१३ " श्री चिम्मनसिंहजी लोढा, ब्यावर

१४ " श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, ब्यावर

१५ सदस्य—श्री सोहनलालजी राठोड, सोजत रोड

१६ " श्री मानमलजी पोकरना, चावडिया

१७ " श्री पारसमलजी सुराणा, सोजत सीटी

१८ " श्री चम्पालालजी सकलेचा, बलुंदा

१९ " श्री माणकचन्दजी गुलेच्छा, सोजत सीटी

२० " श्री लालचन्दजी कोठारी, गोठन

२१ " श्री देवीचन्दजी बोहरा, बुसी

२२ " श्री रिखबचन्दजी गाधी, राणावास

२३ " श्री मोहनलालजी भडारी, बीलाडा

२४ " श्री लाभचन्दजी मूथा-पीतलिया, सिरियारी

२५ " श्री मुन्नालालजी नाहरिया, सोजत सीटी

२६ " श्री हम्मीरमलजी मुलतानमलजी मूथा, दामपा

२७ " श्री पुखराजजी लुंकड, साजत सीटी

२८ " श्री जुगराजजी कोठारी, चावन्डिया

२९ " श्री पुखराजजी गादिया, आगेवा

३० " श्री पारसमलजी मूथा, पीपाड सीटी

३१ " श्री जुगराजजी मुणोत, मारवाड जकशन

३२ " श्री बादलचन्दजी काकरिया, चौकडी बडी

३३ " श्री घीसूलालजी मेठिया, भावी

३४ " श्री निहालचन्दजी मेहता, सादडी

३५ " श्री फूलचन्दजी लूणिया, पीपलिया

३६ " श्री चम्पालालजी डूगरवाल, करमावस,

३७ " श्री बच्छराजजी पीतलिया, सिरियारी

३८ " श्री दीपचन्दजी मूथा, साजत रोड

३९ " श्री छोतमलजी खिवसरा, बोपारी

४० " श्री रामचन्दजी सकलेचा, सेवाज

४१ " श्री पन्नालालजी जागडा, जालपणा

४२ " श्री पारसमलजी बालिया, ब्यावर

४३ " श्री माणकचन्दजी मूथा, कुप्पल

४४ " श्री लालचन्दजी मुणोत, सिकन्दराबाद

४५ " श्री मुनीम मूथा लादुरामजी कामदार, बर

४६ " श्री पुखराजजी बोहरा, राणीवाल

४७ " श्री मानमलजी चौरडिया पिंचियाक,

४८ " श्री रामलालजी कोठारी, कुरडाया

४९ " श्री रूपचन्दजी लुणावत, पीपाड सीटी

५० " श्री बम्मीमलजी मूथा, पाली

५१ " श्री भवरलालजी राका एडवोकेट, ब्यावर

ग्रन्थ-प्राप्ति के स्थान

(१) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री हीरालालजी भीकमचन्द

सुमेर मार्केट, जोधपुर (राज०)

फोन न० ५४२

•

(२) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री पुखराज सीसोदिया

लोहिया बाजार, ब्यावर (राज०)

फोन न० ३१७

•

(३) श्री मरुधरकेसरी-अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

श्री तेजमलजी पारसमलजी धोका

सोजत सीटी (राजस्थान)



पण्डिताचार्यजी के समय तक जैन न्याय मे नव्य शैली लोकप्रिय हो चुकी थी, पर उसे अधिकाधिक प्रतिष्ठा देने का उद्देश्य भी प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना का एक कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई उद्देश्य ग्रन्थकार ने व्यक्त नही किया है जैसा अमुक व्यक्ति को पढने आदि के लिए प्रमेयरत्नमालाकार आदि ने किया है।[१]

यदि हम पण्डिताचार्य चारुकीर्ति को उच्चतम कोटि का शब्दशिल्पी कहे तो प्रमेयरत्नालङ्कार की भाषा उसके लिए ज्वलन्त उदाहरण होगी। न्याय मे भी काव्य की-सी रमणीयता पण्डिताचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थकारो का ही काम है। न्यायशास्त्रो मे प्राय सर्वत्र पायी जाने वाली शुष्कता, दुरूहता और प्रवाहशून्यता प्रमेयरत्नालङ्कार मे कदाचित् कही भी नही मिलेगी। न्याय की नव्य शैली की सुदीर्घ पदावली भी इस सुन्दरता से प्रस्तुत की गयी है कि भाषा मे उद्वेगकारी विच्छिन्नता के बदले एक आकर्षक प्रवाहमयता प्रस्तुत हो गयी है, ये देखिए दो झाँकियाँ

'ननूक्तरीत्याऽपूर्वार्थव्यवसायस्यैव प्रमात्वे भगवद्ज्ञाने केवलाख्ये ऊक्तलक्षणस्याव्याप्तिस्तस्य निश्चितार्थ विषयकत्वेनापूर्वार्थविषयकत्वाभावात्। न चार्थेषु प्रतिक्षण विभिन्ना पर्याया उत्पद्यन्ते। तदुक्तम्,

'अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्याया प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥'

इति। तथा च तत्तत्पर्यायविशिष्टतया पूर्वमग्रहान्नाव्याप्तिरिति वाच्य, तथा सति केवलज्ञानस्य सदा कतिपयार्थग्राहित्वेन कदापि सर्वविषयकत्वानुपपत्ते इतिचेन्न अपूर्वार्थविषयकत्व च सर्वविषयकत्वाभावगृहीतग्राहित्वोभयाभाववत्व धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानेपूभयसत्त्वाद् व्यावृत्ति।'[२]

"नैयायिकास्तु 'पदाना बोधजनकतावच्छेदकशक्तिमत्त्वरूपयोग्यत्वमप्रामाणिकमेव, शक्तिरूपपदार्थान्तरस्यैवाप्रामाणिकत्वेन वह्न्यादावपि दाहानुकूलशक्तेरभावात्। किन्तु अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसकेत एव शक्तिशब्देनोच्यते स एव पदपदार्थयो सम्बन्ध, इति वदन्ति।"

अप्रचलित, कठिन या कटु शब्दो का प्रयोग कही नही मिलता। खण्डन-मण्डन के चक्र मे पडकर भी भाषा कही असयत नही होने पायी है।

सक्षेप मे हम कहेगे कि प्रमेयरत्नालङ्कार सरल, सरस और प्रवाहमय सस्कृत गद्यो मे लिखा गया है।

न्याय की नव्य शैली की स्थापना विक्रम की तेरहवी शती मे गङ्गेश उपाध्याय ने की थी। अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा मे जकडी हुई भी यह शैली उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। सत्रहवी शती तक आते आते यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी। उपाध्याय यशोविजय के खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ इसी युग की देन है। इसी परम्परा और शैली मे प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना हुई। शेष बातो मे शैली की दृष्टि से प्रमेयरत्नालङ्कार मे पूर्वाचार्यो की परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीवर्धमान के भजन से होता है। फिर आचार्य अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र की वन्दना की जाती है। इसके पश्चात् ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा लेकर ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रकट की है। प्रारम्भिक

---

१ 'वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधत।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका॥' —परीक्षामुख, आदि पद्य सख्या ५।

२ प्रमेयरत्नालङ्कार की मेरी पाण्डुलिपि।